वेदका वेद्य

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

(भ. गी. अ. १५)

"मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहता हूँ और मैं ही वहां प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।" (१४)

"मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रह रहा हूँ। मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ। मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूँ। और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ। (१५)"

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर बी. ए.
भारतमुद्रणालय स्वाध्याय-मण्डल पो. 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' (जि. सूरत)

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी

(भाषाटीका)

श्रीमद्भगवद्गीता यह सातसौ श्लोकोंका छोटासा ग्रन्थ सबबकीक पाठकोंको अत्यंत प्रिय होने योग्य है। यह गीता ग्रन्थ इतना छोटा है तथापि अर्थकी गंभीरताकी दृष्टिसे इसकी योग्यता बहुत बडी है। इसीलिये महात्मा गांधी जी जैसे अनासक्तिके पथपर स्वयं चलने और जनताको चलानेवाले अहिंसाधर्मका पुनरुज्जीवन करनेवाले कर्मयोगीने इसको यों वर्णन कहा है—

'गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुन्दर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारणकी चीज है और इसलिये उसमें एक ही बात अनेक तरहसे कही गई है। अतएव गीतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते जायेंगे। पर गीताका मूल मन्त्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीतिसे यह मन्त्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीतिसे जिज्ञासु इसका जो चाहे अर्थ करें।'

श्री महात्मा गांधीजीने निरंतर ४ वर्ष गीताका मनन किया और गीताके उपदेशके अनुसार आचरण किया और पश्चात् यह मत दिये इसलिये इनके विरुद्ध शब्द लिखना सहज होने नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ एकबार पढनेसे ध्यानमें नहीं आ सकता मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, थोडेसे मननसे गीताग्रन्थका गूढार्थ समझमें नहीं आ सकता। श्री तिलकजीने ४० वर्ष गीताका मनन किया और गीता रहस्य ग्रन्थ लिखा, म. गांधीजीने ४ वर्ष मननके साथ आचरण किया और उसका भाषान्तर प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें वे कहते हैं कि—

गीताके अनुसार आचरण करनेमें प्रतिदिन निष्फलता होती है इस निष्फलतामें हम सफलता की जगती हुई किरणोंकी झांकी देखते हैं।'

वास्तवमें इस प्रकार तपस्या करनेवालेके ये शब्द निःसंदेह गीताके उपदेशकी गंभीरताके सूचक हैं। परन्तु जो लोग आचरण नहीं करते और मनन भी नहीं करते उनके लिये गीता ग्रन्थका कोई विशेष मूल्य नहीं होता है। मनन के बिना गीता ग्रन्थको देखा जाय तो उसमें पुनरुक्ति, असंबद्धता अस्पष्टता और परस्पर विरुद्ध विधान भी पाये जायेंगे। कइयोंने गीताके विषयमें ऐसे ही अनुदार ग्रन्थ लिखे हैं, जो उनके अज्ञानताके सूचक हैं।

केवल संस्कृत भाषा अथवा अनुवादकी भाषा जाननेसे गीताका आशय, मनन न करते हुए, ध्यानमें आना करीब करीब असंभव है। वेद, उपनिषद् और गीता इन सभी ग्रन्थोंकी अवस्था यही है। प्रायः सारे ऋषिग्रन्थोंके विषयमें यही बात है। विशेष मननके बिना उनका गूढार्थ समझना अति कठिन कार्य है। यह इस लिये होता है कि ये ग्रन्थ विशेष मनोभूमिकाकी अवस्थामें लिखे होते हैं और उनके दृष्टिकोण भी भिन्न होते हैं। जबतक उनका दृष्टिकोण समझमें नहीं आता तबतक उनके उपदेश समझमें आना कठिन है।

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य अनेक आचार्योंने यह कहा है कि 'वैदिक धर्म' के सत्य सिद्धांत कालान्तरसे जनताके मनसे दूर हुए, अतः उनको पुनः उज्ज्वलित करके जनताके सम्मुख रखनेके लिये गीताशास्त्र कहा गया है। यह आचार्योंका कथन नितांत सत्य है। वैदिक धर्मके गूढ सिद्धांत उज्ज्वल रूपमें देखने की इच्छा हो तो गीता पढी जाय। स्वयं गीतामें चतुर्थ अध्यायके प्रारंभमें यही बात कही है—

श्रीभगवान् बोले- यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान्से कहा था, उसने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परंपरासे आया हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकालके कारण नाशको प्राप्त हुआ। वही पुरातन रहस्य

रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है क्योंकि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है।"

यहां स्वयं भगवानके द्वारा कहा गया है कि, गीता कोई नया शास्त्र नहीं है; परन्तु प्राचीन परंपरासे जो ज्ञान आदिकालसे चला आया है वही पुनः यहां कहा गया है। 'वेद' ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे चला आता है। परन्तु मानवी अज्ञानके कारण इस मार्गसे मनुष्य दूर चले जाते हैं। इसलिये जनताको जगानेवाले उत्तम पुरुष बारबार आते हैं वे आकर जनताको जगाते हैं और पारम्परिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् 'ऋषि-मानस, उत्तम पुरुष' किंवा पुरुषोत्तम थे और इस हेतुसे ही उन्होंने गीताशास्त्रका उपदेश किया। इससे स्पष्ट हुआ कि गीताशास्त्रमें जो ज्ञान कहा है वह ज्ञान परंपरासे चला आता है वह ज्ञान इससे पूर्वके ग्रन्थोंमें भी मिल सकता है वह नया नहीं है।

इस पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकामें यही बात दर्शायी जायगी कि वेद उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अर्थात् वे ही गीताके सिद्धान्त प्राचीन ग्रन्थोंमें किस रूपमें हैं। यह बात इस समय तकके किसी टीकाकारने विशद नहीं की है प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ अंश बताया है परन्तु इसका विशेष वर्णन किसीने अभीतक नहीं किया है। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस पुरुषार्थबोधिनी टीकाका मुख्य उद्देश है अथवा यही इसकी विशेषता है। गीतापर इतनी टीकाएं होते हुए पुनः यह टीका लिखनेका यही एक मात्र हेतु है।

पचालीस वर्ष पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सार्थरूपसे गीताका रूपान्तर प्रकाशित किया था और गीताके कई शब्दोंके अर्थ वैदिक मन्त्रोंमें निश्चित करनेके लिये भी कई लेख समय समयपर लिखे थे। तबसे यह पुरुषार्थ-बोधिनी टीका लिखनेका संकल्प है और तबसे गीताका विचार हो रहा है और प्राचीन मन्त्रवचनोंकी तुलना गीता वचनोंके साथ तबसे की जा रही है। इतने समयके मननसे मेरे मनका यह निश्चय हुआ कि वेद उपनिषद् और गीता इनका तात्पर्य एक ही है जो भेद किसीको दीखता है वह अज्ञानके कारण है। यदि निःपक्षपातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि यथाभिमान की कलुषित दृष्टि दूर होगी किसी कालमें संभव हो जायगा तो इन तीनोंका एक ही तात्पर्य स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सम्मुख उपस्थित होगा इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यह बात निश्चित है कि यह गीताशास्त्र लोगोंके विचारोंमें मतभेद बढानेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ अपितु विभिन्न मतोंका संगतीकरण करके, उनसे प्रकट होनेवाली विषमता दूर करके उनके अंदर जो अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानको आकर्षित करानेके लिये ही गीताशास्त्रकी रचना हुई थी। यद्यपि एसे एकता अथवा समताका प्रचार करनेवाले ग्रन्थपर भी आजतक विभिन्न मत लादे गये हैं। परन्तु मूलतः देखा जाय तो विभिन्न तत्त्वोंमें व्याप्त रहनेवाला अभिन्न तत्त्व बतानेके लिये और उन सबका समन्वय करनेके लिये इस गीताशास्त्रकी उत्पत्ति है। अर्थात् यह भेद बढानेके लिये नहीं है अपितु घटानेके लिये ही है।

यही दृष्टि यदि पाठक रखेंगे, तो उनको गीताका परिशीलन ठीक होवेगा और वे गीताके उपदेशके अनुसार आचरण करके अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुनको उस समय इस भगवान्के गीत ने मार्ग दर्शाया उसी प्रकार इस समय भूले भटके और मोहित हुए सबोंको भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नतिका पथ सबके लिये खुला कर देगी। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि– सब अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मत कर। (भ. गी. १८।६६)

जो विश्वास रखेंगे और देवकार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे उनको यही अनुभव आयेगा।

निवेदक–

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,



श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकासे युक्त]

प्रथमोऽध्याय

अर्जुन विषाद-योग

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच- धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वय- हे संजय ! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः पाण्डवाः च एव किं अकुर्वत ?

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय ! धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्र हुए, मेरे और पाण्डु के पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

भावार्थ- जिस समय अपने लोग किसी युद्धमें संमिलित होते हैं, उस समय युद्धका ठीकठीक वृत्तान्त शीघ्र जानना और विजयप्राप्तिके लिये अपने लोगोंकी उचित सहायता करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है ।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थका जब वास्तविक रीतिसे "श्रीभगवान्‌के मुखसे गाई गई" ऐसा होता है। श्रीभगवान् उवाच द्वितीय अध्यायके द्वितीय श्लोकसे प्रारंभ होता है इसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंबन्ध बतानेवाला प्रस्तावनारूप भाग है। इस प्रथम अध्यायमें अर्जुनके मनमें विषाद उत्पन्न होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है। परन्तु इस प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विषाद भी नहीं है। इसमें तो धृतराष्ट्रकी चिन्ता है। अर्थात् इस अनुपमेय ग्रन्थका प्रारंभ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ। भला यह धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था यह बात सब जानते ही हैं। परन्तु यहां धृतराष्ट्र एक विशेष भूमिका लिये हुए है। यह 'धृत-राष्ट्र' है। यह राष्ट्र को धृत अर्थात् हरण कर बैठा है। जो वास्तविक अपनी चीज नहीं अपितु दूसरेकी है उसपर अन्यायसे आप पापकी बलसे अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रहा है। दूसरे का राष्ट्र पापकी बलसे अपने अधीन करना उसपर अपना अधिकार सदाके लिये स्थिर रखनेका यत्न करना और उसके अधिकारी पुरुष अपना स्वराज्य वापस मांगने लगे तो उन-का न देनेके लिए प्रयत्न करना और उनको अनधिकारी

सिद्ध करना, यही धृतराष्ट्र यहां कर रहा है। इसी कारण इसको चिंता हो रही है और यह पूछ रहा है कि 'संजय! आज युद्धका पहिला दिन है उस युद्धमें क्या हुआ?'

धृतराष्ट्र और हतराष्ट्र

धृत-राष्ट्र और हत-राष्ट्र के बीच यह युद्ध हुआ है। हमेशा ऐसे ही युद्ध हुआ करते हैं। कौरव धृतराष्ट्र के पक्षपाती और पाण्डवोंका पक्ष हतराष्ट्र का था। हतराष्ट्र वे होते हैं कि जिनका राष्ट्र छीना गया होता है और जो अपना गया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं। इनका राष्ट्र छीना गया होनेका कारण और ये राजकीय अवनतिकी चरम सीमा तक पहुंचे होनेके कारण यदा युद्धमें पराजय होने पर भी हतराष्ट्रोंकी और अधिक हानि होनेकी संभावना न होनेके कारण हतराष्ट्र उत्साहसे युद्धकी तैयारी करते हुए भी चिन्तासे व्याकुल नहीं होते। युद्धका परिणाम अनुकूल हुआ तो हतराष्ट्र लोग 'स्वराज्य' प्राप्त करेंगे यह आशा इनको रहती है, पर यदि युद्धमें पराजय हुई तो भी इनकी पहिलेसे ही राज्य छीना जानेके कारण और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है अतः इनको चिन्ता दुःख नहीं देती; प्रत्युत अपना लक्ष्य होनेके कारण और राज्य प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण इनके अन्दर एक प्रकारका अपूर्व उत्साह रहता है।

धृतराष्ट्रकी हानि

परन्तु धृत-राष्ट्र के पक्षकी बात ऐसी नहीं है। यदि इनकी विजय हुई तो इनको लाभ कुछ भी नहीं होती है जो युद्धके पूर्व था, वही अधिकसे अधिक इनके पास स्थिर रहेगा; युद्धमें पराजय हुई तो अनेक अन्याय और क्रूरत्व करके कमाया हुआ राष्ट्र हाथसे चला जायगा; और अब किया पराजय होनेपर युद्धसे इनकी हानि ही हानि होती है, इस कारण ये धृतराष्ट्र के पक्षके लोग रातदिन चिन्तासे व्यग्र रहते हैं युद्धमें जय मिली तो भी इनको कोई लाभ नहीं है युद्धमें पराजय हुई तो भी इनकी हानिकी सीमा नहीं है और दोनों अवस्थाओंमें संपूर्ण अपयशकी निंदा इनके ही माथे आयेगी। इस चिन्तासे व्याकुल होकर इस श्लोकमें धृतराष्ट्र पूछ रहा है कि "मेरे पुत्र और पाण्डु के पुत्र युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए थे, तत्पश्चात् क्या हुआ? इस प्रश्नमें जो भय है वह ऊपर दर्शाया ही है। यह भय सामान्य नहीं इसी चिन्तासे सब धृतराष्ट्र पक्षके मनही मनमें दिन रात जलते रहते हैं।

अन्धा धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र अन्धा भी होता है। वह भला अन्धा क्यों न हो? मनुष्य शराबी बनके कारण अन्धा होता है, परन्तु जिसके पास शासकी बल अमर्यादित होता है वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अन्धा होता है। शासकी बल पास आनेके कारण ही वह दूसरोंका राष्ट्र अपने आधीन करके उसका उपभोग लेता रहता है, और इस कारण उसका धन भी बढता है। इस अधिक धनके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। बल और धन पास रहनेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बन ही जाता है परन्तु इनके साथ यदि शासना विकार अनियंत्रित रीतिसे हाथमें आ गया तो अन्धा बन जानेकी कोई सीमा ही नहीं रहती। बल, धन और अधिकार के मदसे भरा हुआ मनुष्य न्याय और अन्याय धर्म और अधर्म कर्तव्य और अकर्तव्य नीति और अनीति युक्त और अयुक्त देखनेमें असमर्थ होता है। वह शरीरके नेत्रोंके कारण अन्धा हो या उसकी आंखें अच्छी हों इसका कोई संबंध नहीं सत्य रीतिसे वह अन्धा ही बनता है स्थूल शरीरके अन्धत्वकी अपेक्षा उसका जो मानसिक और आत्मिक अन्धत्व होता है वह बहुत ही भयानक होता है, वह न केवल उसीको चिन्तामें डालता है अपितु जितने भी उसके पक्षमें होते हैं उन सबको अपरिमित चिन्तासागरमें डुबा देता है।

अन्धेके अन्धे अनुयायी

धृतराष्ट्रकी पत्नी भी आंखें होती हुई अन्धी बनी थी। क्यों न बनेगी? अन्धे धृतराष्ट्रके जो साथी होते हैं उन सब का हाल ऐसा ही होता है। यह ठीक है कि, गांधारी देवीने पातिव्रत्य व्रतके कारण अपनी आंखें बांध रखी थीं। यह निःसन्देह वैसा ही होगा। परन्तु यह गांधारी अपने घरमें अपने पुत्रद्वारा चलाये हुए अत्याचारका प्रतिबन्ध करनेमें समर्थ नहीं हुई। इस देवीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अत्यन्त अत्याचार हुआ तब कुछ बोल उठी थी। इससे प्रतीत होता है कि वह देवी पतिदेव धृतराष्ट्रकी संमतिके बहुत प्रतिकूल जाना नहीं चाहती थी। यदि वह

दुःशासनको अपने पूरे बलसे रोक लेती, तो उसके पतनकी रक्षा होना संभव था। मानो इस देवीने जान बूझकर अपने आँखोंपर परदा डाल रखा था और सचमुच था भी ऐसाही। धृतराष्ट्र तो चाहता ही था कि यदि किसी न किसी प्रकार पाण्डवोंकी जड़ कट जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके अधीन हो तो अच्छा ही है। पतिव्रता होनेके कारण और पुत्रलोभके कारण देवी गांधारीका भी अन्दरसे ऐसा ही मत हुआ होगा। पुत्रोंके मोहसे और पतिके अनुकूल रहनेके बलसे स्त्रियोंके अन्दर इस प्रकारकी कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छाको व्यक्त करना नहीं चाहतीं इसलिये आँखें होती हुई भी उनको अन्धा बनना ही पड़ता है। यही अवस्था गांधारी देवीकी हो गई थी।

अन्धे धृतराष्ट्रके पुत्र भी एकसे एक अन्धेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्योधन दुःशासन दुःसह दुःशल दुर्धर्ष दुर्मर्ष दुर्मर्षण दुर्मुख दुष्कर्ण दुर्मद दुर्विगाह, दुर्विमोचन दुष्प्रधर्ष दुराधर ये पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नामका आरंभ " दुः " अर्थात् दुष्ट बुरा आदि नामोंसे हो रहा है। यद्यपि वीर्यकी दृष्टिसे इनके वर्ग में कोई बुराई नहीं है तथापि दुष्टबुद्धिके लिये इनके वीर्य का उपयोग होनेके कारण इनके वीर्यका दुरुपयोग ही हुआ। जो शक्ति धर्मकार्यके लिये लगती है, वही उत्तम आदरणीय है परन्तु जो वीर्य आसुरी कार्यके लिये लगता है, वह वीर्य कितना भी बढ़कर हो तो भी वह दुःख बढ़ानेवाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामोंसे भली प्रकार समझमें आ सकती है। धृत राष्ट्र अर्थात् जो दूसरोंका राज्य अन्यायसे हरण कर बैठा होता है उसके परिवारके लोग और उसके अनुयायी लोग उसको मदद देनेके कारण और उसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण उसके दोषके भागी हो जाते हैं। इन नामोंकी योजनासे यही स्पष्ट दीखता है। दुर्योधन वस्तुतः सुयोधन अर्थात् उत्तम लड़नेवाला था परन्तु उसने अपना युद्धकौशल दुष्ट अधर्मकार्य लिये लगानेके कारण वह 'सु योधन होता हुआ भी दुर्योधन' बन गया।

सामुदायिक पाप

यही अवस्था भीष्मपितामह द्रोणाचार्य आदिकोंकी हो गयी थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो वे भारी धुर पुरुषार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुरुष थे। अनुकरणीय और प्रातःस्मरणीय थे। परन्तु उनका सारा शौर्य दुष्ट धृतराष्ट्र पुत्रोंकी अनीतिके पक्षके लिये करनेमें व्यर्थ हुआ!! इतने आदर्श पुरुष होते हुए भी बुरी अनीतिके पक्षपक्षमें रहनेके कारण वे वधके योग्य समझे गये। सामाजिक अथवा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे युद्धोंमें सूखेके साथ गीला भी पीसा जाता है। और ऐसी अवस्थामें जो भले लोग पीसे जाते हैं उनको कोई बचा नहीं सकता। अतः इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मद्रोणादि सज्जनों को बचा नहीं सके।

वैसे देखा जाय तो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य जानते थे कि पाण्डवोंका सत्यपक्ष है और धृतराष्ट्रका असत्यपक्ष है। उनका असंदिग्ध मत था कि पाण्डवोंको स्वराज्य अति शीघ्र मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विघ्न खड़े कर रहे हैं यह अधर्म हो रहा है यह भी वे जानते थे और वे समय समयपर वैसा कहते भी थे। परन्तु धृतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले उनका उपदेश माननेको तैयार नहीं थे। दुर्योधन इनके मतको कोई मूल्य नहीं देता था। बूढ़ेकी बड़ बड़ कौन सुनता है? अधिकारमदसे उन्मत्त हुए पुरुष सदुपदेश और धर्मका उपदेश सुननेको तैयार नहीं होते, कभी तैयार नहीं हुए और आगे भी सुननेको तैयार न होंगे। वे तो उस समय सुननेको तैयार होते हैं कि, जिस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हो जाते हैं।

पापसे मृत्यु

दुर्योधन यह कहता था कि अपने पास ११ अक्षौहिणी सेना है भीष्म द्रोण कर्ण जैसे महावीर सहायक हैं संपूर्ण प्रकारके सामान हैं, साम्राज्यका संपूर्ण धन अपने पास है इतना होनेपर पाण्डवोंकी थोड़ीसी स्वराज्यविषयक हलचलसे डरकर अपने हाथमें आया साम्राज्य क्यों छोड़ें? पाण्डवोंकी सेना छोटी उस सेनाको बहुत अनुभव नहीं है उनके पास इतना धन नहीं अर्थात् अपनी शक्तिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों डरें? केवल युद्धका सामान ही देखा जाय तो दुर्योधनका कहना सत्य ही था, परन्तु वह यह नहीं जानता था कि अपने किये हुए अनेक पापोंके कारण अपने सब योद्धा (निहत्था पूर्ण

भेद न भी ११।३६) करीब करीब मरे हुए हैं। वह दुर्योधन आँखें होते हुए भी इस बातको देखनेके लिए पूरा अन्धा था। अपने पापोंके कारण सब जनताका और अपने बहुतसे सैनिकोंका भी मन पाण्डवोंकी ओर झुका है, यह बात वह नहीं देखता था। सभी विजय उसको प्राप्त होती है कि जिसको सारी जनता अपने मनसे विजययुक्त देखना चाहती है और यह जनताका आशीर्वाद सदा धर्म के पक्षपातियोंको ही प्राप्त होता है। पाण्डवोंका यह धार्मिक बल दुर्योधनके ध्यानमें नहीं आया था वह केवल अपना पापकी बल ही गिनता रहता था और अपने अतुल पापकी बलके मदसे वह उन्मत्त भी हुआ था।

परन्तु अन्धे धृतराष्ट्रके मनमें यह बात खटकती थी। वह अन्धा होते हुए भी अपने पापोंको सबसे अधिक जानता था। और इसी कारण वह युद्धका समय उपस्थित होनेपर सबसे अधिक भयभीत हुआ था और वह भय मनमें रखते हुए ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि "हे संजय! युद्धकी इच्छासे मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए इतना तो तुमने मुझे बताया, पश्चात् क्या हुआ?"

अपने पापका भय

यह भय इसलिए उसके मनके सामने अपने सभी पातक उपस्थित हुए हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। वह मनमें कहता था कि हमने भीमपर विषप्रयोग किया उसको जलमें डुबा दिया, लाक्षागृहमें सब पाण्डवोंको जलानेका यत्न किया, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी पतिव्रता द्रौपदीका सभामें अपमान कर दिये, पाण्डवोंसे कपटद्यूत करके उनका राज्य कपटसे हरण किया, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके कष्ट उनको दिये, इतना होनेपर भी उन्होंने उनके अन्दर रहकर कष्ट सहे, शक्ति होते हुए भी कोई अत्याचार नहीं किये, धर्मात्माकी वृत्तिसे रहे सब प्रतिज्ञा पालन करके वे अब अपना स्वराज्य वापस मांग रहे हैं और वह हम उनका वापस नहीं देते। हमने उनको स्वराज्य वापस देनेकी कई बार घोषणा भी की थी परन्तु वह देनेकी इच्छासे नहीं की थी, कालहरण करनेकी मनीषासे ही की थी। इतने हमारे द्वारा अत्याचार और कपट व्यवहार होनेपर भी पाण्डवोंने अन्तमें केवल पांच ग्राम ही मांगे परन्तु वे भी हमने नहीं दिए और कहा कि युद्धके बिना सूचीभर भूमि भी नहीं मिलेगी! ये सब अत्याचार हमने पाण्डवोंपर किये हैं। इतने हमने पाप किये हैं इन पापोंके कारण जनताके मनकी प्रवृत्ति पाण्डवोंके अनुकूल और हमारे प्रतिकूल हुई है। इस कारण यद्यपि हमारा पक्ष पापकी शक्तिसे प्रबल है तथापि आत्मिक शक्तिसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी धर्मके साथ स्थिति होनेके कारण उनका आत्मिक बल कई गुना हमसे अधिक हुआ है। धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता थी रात दिन वह मनही मन इस चिन्तासे जल रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह आतुरताके साथ पूछ रहा है कि युद्धका आगे क्या हुआ?

धर्मवचनोंका दुरुपयोग

अन्यायसे दूसरोंका राज्य हरण करनेवाले और उसके ऊपर अधिकार स्थिर करनेका यत्न करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बना देनेका यत्न करते हैं। जिन लोगोंने युद्धनिवारक धर्मशास्त्रके मतको जागृत करना, अपूर्व मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना, उनको युद्धके प्रहारसे निवृत्त करना, इसी प्रकार जगत् नश्वर है इत्यादि विचार उनमें स्थिर करना इत्यादि प्रकारका प्रयोग भी धृतराष्ट्र के पक्षवालोंने पाण्डवोंपर किया ही था!!! कहते हैं कि शैतान भी धर्मपुस्तकोंका वचन अपने पक्षके लिये उद्धृत करता है। इसी प्रकार विजेता लोग धर्मवचनोंको अपने पक्षके अनुकूल बनाते हैं बड़े बड़े तत्त्वज्ञान और शांतिवचन बोलके जगदुद्धारके लिये हम यत्न कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इस सबका तात्पर्य यह है कि वे लोग इन वचनोंसे मोहित होकर स्वराज्यप्राप्तिके लिये कोई प्रयत्न न करें और सदा पराधीनतामें संतोष मानें। कौरवोंने पाण्डवोंके ऊपर भी ऐसा ही धर्मप्रयोग किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे इस प्रसंगका संबन्ध है इसलिये इस प्रसंगका वर्णन सारांशसे यहां करते हैं।

उद्योग पर्वमें (अध्याय २ से अ १२ तकके बारह अध्यायोंमें) संजययान-पर्व है। पाठक मूल महाभारतमें यह संपूर्ण पर्व पढ़ें। इसके पढ़नेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अर्थात् अर्जुनको विषाद क्यों हुआ और अर्जुनका मन यहांके दर्शनमें ही उदासीन और विरक्त क्यों हुआ यह बात ठीक प्रकार समझमें आ सकती है। धृतराष्ट्रके

पाञ्चालोंने पांडवोंको धर्मवचनद्वारा युद्धसे हटा देनेका जो अंतिम प्रयत्न किया था वह प्रयत्न साम्राज्यवादियोंकी चालाकीका प्रदर्शक है। धृतराष्ट्र जानता था कि पाण्डव धर्मप्रवृत्तिके लोग हैं इसलिये धर्मवचनोंके जालमें अवश्य फसेंगे। अतः उसने इस कार्यके लिये संजयको पांडवोंकी छावनीमें भेजा था और उसने वहां पांडवोंको जो उपदेश किया था वह अर्जुनके मनमें जमगया था, युद्धका समय जब फिर सम्मुख आते ही उन विचारोंने अर्जुनके मनपर प्रभाव जमा दिया और अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ। ऐसा होगा ही यह बात धृतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे धृतराष्ट्र पूछता है कि दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेके बाद क्या हुआ? अर्थात् हमने जो धर्मवचनोंका प्रयोग पांडवोंपर किया था, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं। यही जाननेकी आतुरता धृतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संजययानपर्वके अनुसंधानसे भगवद्गीताका पठनाध्याय पढेंगे वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे उद्योग पर्वके प्रारंभके जो (अ. १ से ३१ तकके) बारह अध्याय सूक्ष्म दृष्टिसे पढें। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम यहां सारांश रूपसे वह भाग बता देते हैं-

(उद्योग अ. २२ में) धृतराष्ट्र संजयसे कहता है कि हे संजय! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और उनसे कह कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पाण्डवोंके वापस आने देखकर वह को बड़ा ही आनंद हुआ है। धृतराष्ट्र पाण्डवोंसे युद्ध करना नहीं चाहता अपितु पाण्डवोंसे संधि करना चाहता है इस लिये पाण्डव भी संधि करनेके लिये तैयार हो जायें। हे संजय! ऐसी इसी प्रकारकी बातें कह कर पाण्डवोंका युद्ध विषयक जोश ठंडा पडजाय ऐसा यत्न कर।

इससे स्पष्ट होता है कि धृतराष्ट्र शान्ति करनेका इच्छुक नहीं था, परन्तु स्वराज्यप्राप्तिके लिये युद्ध करनेके पाण्डवोंके उत्साहको कम करनेका इच्छुक था। देखिये साम्राज्यवादियोंकी राजनीति कहां तक गहरी होती है।

आगे चलकर (अ. २७ में) संजय पाण्डवोंसे कहता है- हे धर्मराज! देखो आप सब पाण्डव सज्जन हैं कठिनप्रसंगमें भी धर्मका अतिक्रम आप नहीं करते आप धन्य हैं। आपने तो कौरवोंके इतने अपराधोंको क्षमा किया है ऐसे धर्मात्मा आप सब अब अपने ही भाइयोंका दुर्योधनादिकोंका वध करनेका घोर कार्य करेंगे यह कदापि नहीं हो सकता। इससे कम मेरा मन तो यही कहता है कि ऐसा कुलक्षय आप कभी नहीं करेंगे। हे धर्मराज! क्षत्रियों का धर्म तो केवल कसाइयोंका धर्म है वह आप जैसे धर्मात्माओंके लिये शोभा नहीं देता!! मैं निश्चयसे मानता हूं कि आप ऐसा क्रूर कर्म युद्धकर्म कभी करेंगे नहीं। आप जानते ही हैं कि बूढा धृतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है परन्तु वह बिचारा क्या करेगा? साम्राज्यमदसे अंधा हुआ दुर्योधन उसकी सुनता नहीं है। क्या इसलिये उसके सब पुत्रोंको मार कर वृद्ध धृतराष्ट्रको पुत्रशोकमें डाल देनेमें आप प्रवृत्त होंगे? यह तो आपके धर्म मार्गके लिये सर्वथा अनुचित है। हे अजातशत्रो! तुम्हारे मनमें तो शत्रु भाव भी नहीं है। धन्य हो! तुम ही सच्चे धार्मिक हो। तुमने इतने दुःख सहन किये हैं और अपना धर्म रक्षण किया है क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे क्षात्रियका बर्ताव नहीं करोगे? हे धर्मराज! तुम्हारे सब भाई भी धर्मात्मा हैं। इसलिये यह कुलक्षय हटाना अब तुम्हारे हाथमें है। मैं समझता हूं कि सबको सुख प्राप्त हो ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा है तो तुम इस समय कौरवोंसे संधि करो और अपने कुलकी रक्षा करनेका यश संपादन करो।

(अध्याय २७)

(अ. २५) 'हे पाण्डवो! धृतराष्ट्र तो शांति करनेके लिये अत्यंत उत्सुक है। आप सभी पाण्डव जन्मसे दयालु धर्मात्मा और उदार हैं। आप जैसे सज्जनोंको युद्ध जैसा क्रूरकर्म करना कदापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुरुषोंने थोडासा भी हीन कर्म किया तो वह आपके अपयश के लिये ही कारण होगा। कौरव जो दुष्ट हैं ही उनके नीच कर्मोंकी तो कोई सीमा ही नहीं परन्तु आप वैसे नहीं। आपने इस समय तक धर्मका उल्लंघन नहीं किया है इसलिए अब आपको युद्धका क्रूर कर्म नहीं सजता है। इस युद्धमें जय मिली तो भी वह पराजयके समान ही है और इसमें कुलक्षय तो निःसंदेह होगा ही, इसलिए आप जैसे धार्मिक लोगोंको यह घोर युद्ध करना उचित नहीं है। किस पक्षकी जय होगी यह भी नहीं कहा जा सकता, किसीकी भी जय हो और किसीकी भी पराजय हो, दोनों अवस्थाओंमें निश्चित बात यही है कि संपूर्ण कुलका नाश

होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है ! हे धर्म ! तुमने इतने दिन धर्मका पालन किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये उद्यत हुए हो ! युद्ध करना तो नीच पुरुषोंका कार्य है तुम्हारे जैसे धार्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। कौरव भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा परम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमने ऐसा ही किया जिस समय गंधर्वोंने कौरवोंको पराजित करके बांध दिया था उस समय तुम पाण्डवोंने ही तो उनकी रक्षा की थी ! जिनकी तुमने रक्षा की क्या तुम अब उनका ही वध करोगे ! नहीं नहीं यह तो कसाइयोंका कार्य है यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इसलिये आप शांति धारण करनेका कार्य कीजिये।

(अ २०) 'हे धर्मराज ! तू तो धर्मात्मा है। तू जानता है कि जीवन नश्वर है। यहाँ कौन शाश्वत रहनेवाला है ! क्या कौरवोंका नाश करके पाण्डव चिरंजीवी होंगे ! यह कदापि नहीं होगा ! तुम्हारा स्वराज्य था और वह कौरवोंने छीना यह भी सत्य है परन्तु वे तुम्हारे भाई ही हैं इसलिये राज्यादि क्षत्र भोग तुम्हारे पास रहें या उनके पास रहें उसमें क्या है ! यदि उन्होंने तुम्हें स्वराज्य न भी दिया तो तुम भिक्षावृत्तिसे उत्तम धर्मका पालन कर सकते हो। इसका त्याग करते हुए यदि तुम अपने कुलका संहार करोगे तो बड़ा अधर्म होगा। मनुष्यजीवन अल्प है इसलिए स्वजातियोंका वध करके राज्य भी कमाया तो कितने दिन तुम लोग उसका उपभोग करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मात्माओंको क्रूर युद्ध करके और संहार करके राज्य कमाना किसी प्रकार भी शमकारी नहीं है। विषयवासना ही मनुष्यको ऐसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त करती है इसलिये ऐसी तुच्छ वासनाका तुम संयम करो। तुम्हारे जैसे ज्ञानी पुरुषका ऐसी तृष्णा धारण करना उचित नहीं ! पृथ्वीका राज्य मिलनेपर भी सुख कहां होता है ! केवल धर्मसे ही सुख होता है। हे धर्मराज ! तू ज्ञानी है ब्रह्मचर्यपालन तुमने किया है अतः ऐसी विषयवासनामें फंसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे ज्ञानी मनुष्यका इस लोककी अपेक्षा परलोकका विचार करना अच्छा है। परलोकके लिए इस लोकके सुखका त्याग करना तुम्हें उचित है। तुम अब आत्मसाधन करो ब्रह्मज्ञानमें रत हो। इससे परलोककी प्राप्ति होगी।

ऐसे क्रूर युद्धसे क्या लाभ होगा ! युद्धसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ तो भी वह चिरकाल तो नहीं टिकेगा। अतः धर्म-संचय करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो ! यदि स्वार्थ भावसे तुम लोगोंने स्वकुलका नाश किया तो तुम सबको चिरकाल तक नरक भोगना पड़ेगा। हे धर्मराज तुमने इस समय तक लोभका आश्रय नहीं किया है परन्तु आश्चर्य है कि इसी समयके पश्चात् तुम्हें विपरीत बुद्धि हो रही है ! हाय ! युद्ध करके तुम लोग पूज्यपाद भीष्म पितामहका और द्रोणाचार्यका भी वध करोगे ? तुम्हारे सब बन्धु बांधवोंका वध होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कौनसा सुख होगा ? इसलिए हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर इस क्रूर कर्मसे निवृत्त हो शांतिका अवलंब करो और कौरवोंसे युद्ध करनेका विचार छोड़ दो।

सावधानीकी सूचना।

इस प्रकार संजयने पांडवोंको युद्धके पूर्व धर्मका और शान्तिका उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे ही किया गया था। अर्जुनका विषाद इसीका प्रतिबिंब है। अर्जुनके मनमें यह उपदेश जम गया और वह समझने लगा कि सचमुच स्वराज्यके लिए भी धर्मयुद्ध करना पाप है और भिक्षावृत्तिसे रहना पुण्य है। अर्जुनके मनपर ऐसा भाव स्थिर करनेके लिए ही यह व्यूह रचाया गया था। यदि अर्जुनके मनपर यह उपदेश पूर्ण रीतिसे जम जाता तो कौरवोंका साम्राज्य स्थिर हो जाता और पाण्डव हमेशाके लिए राज्यभ्रष्ट रहते। देखिए, कैसे लोग स्वयं अशान्त होनेपर भी शत्रु लोगोंको धर्मका उप-देश दे देकर और उच्च तत्त्व बता बताकर स्वराज्यके प्रयत्न करनेसे किस प्रकार रोक रखते हैं !! अतः स्वराज्य प्राप्ति करनेवालोंको उचित है कि, वे शत्रुपक्षके धर्मो-पदेशकोंके उपदेश भी बड़ी दक्षतासे सुनें और सावधान रहके उनके अनुसार चलें। नहीं तो अर्जुन जैसी अवस्था ऐन युद्धके समय बनेगी और सब प्रयत्न निष्फल बनेगा। पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजय पाण्डवोंको ही शान्तिका उपदेश दे रहा है जैसे कि पाण्डव ही अशान्तिके कारण हों। सब अन्याय धृतराष्ट्र पक्षका है और वे ही इस ऐन युद्धके समय शान्तिकी स्थापनाके बारेमें उपदेश देते हैं !! वे ही कह रहे हैं कि युद्धमें घृणा है वैराग्य भाव है हिंसा करके राज्य कमानेकी अपेक्षा शान्तिसे भीख मांगना उत्तम है और आत्मसाधन करना चाहिये !!

देखिए विजेता लोग कैसे निकल जाते हैं और अपनी साम्राज्य रखनेके लिये धर्मवचनोंका भी कपट युक्तिसे कैसा आश्रय करते हैं] । ऐसे धर्मवचनोंका प्रयोग धृतराष्ट्रने पांडवों पर किया था और वह समझता था कि, इस प्रयोगका परिणाम पाण्डवोंपर अवश्य होगा क्योंकि पाण्डव ' धर्म ' के अनुगामी हैं ।

पुण्यस्थानका प्रभाव

दूसरी बात यह है कि ये दोनों पक्षके सैनिक ' धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र ' में युद्धके लिए इकट्ठे हुए हैं । साधारण चोर और लुच्चे भी धर्मक्षेत्रमें गए, तो कुछ न कुछ धर्मप्रवृत्ति करते ही हैं, तीर्थ क्षेत्रोंमें अन्यस्थानोंकी अपेक्षा धर्मकी प्रवृत्ति अधिक रहती ही है । इसलिए धृतराष्ट्र समझता है कि अपनी योजनासे संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्रमें आनेके पश्चात् पाण्डवोंके मनपर अधिक परिणाम करेगा और शायद वे कुलक्षय करनेवाले युद्धसे विमुख हो जावेंगे । मनमें यह भाव धारण करके वह संजयसे पूछता है कि हे संजय ! धर्मक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंकी सेनाने युद्धकी इच्छासे इकट्ठा होकर क्या किया ? पूछनेका तात्पर्य यह है कि पाण्डव तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्धक्षेत्र छोडकर वापस गए या नहीं ? तुमने जो उपदेश किया उसका परिणाम उनपर कैसा हुआ ? धृतराष्ट्रकी चिन्ताका यह स्वरूप है । इस पूर्व वर्णनका अनुसन्धान करके पाठक यदि इस प्रथम श्लोकका विचार करेंगे तो उनको इस प्रश्न करनेके समय धृतराष्ट्रके मनकी चिन्तामय स्थितिकी ठीक कल्पना हो जायगी ।

पराजयकी संभावना

धृतराष्ट्र यह भी जानता था कि अपने पक्षके वीरोंमेंसे दुर्योधन दुःशासन कर्ण आदि थोडे वीरोंके अतिरिक्त भीष्मद्रोणादिक सब बडे वीर दिलसे लडनेवाले नहीं हैं । वे दिलसे पाण्डवोंको स्वराज्य देनेके पक्षमें हैं । इस दृष्टिसे अपने पक्षमें सैन्यबल बडा होनेपर भी दिल कच्चा होनेके कारण अपना पक्ष निर्बल है । परन्तु पाण्डवोंके पक्षमें इस दृष्टिसे देखा जाय तो हरएक वीरको या बदला लेनेकी अपनी ओरसे पूरी पूरी तैयारी किए हुए हैं । अर्जुन भीम आदि वीर तो अपनी शक्तिसे कई गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे । इस कारण पाण्डवोंका सैन्यबल थोडा होनेपर भी हरएक वीर दिलसे कार्य करनेवाला होनेके कारण इनका पक्ष सबल है इस दृष्टिसे संभवतः अपनी पराजय भी हो जाय । इसलिये हृदयमें दुःख करता हुआ धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है कि दोनों सेनाएं इकट्ठी हो जानेपर आगे क्या हुआ ? वह मनमें समझता ही था कि यदि युद्ध छिड गया, तो अपने पक्षका पराभव निश्चितसा ही है ।

धर्मयुद्ध

हमेशा ' धृतराष्ट्र ' और ' धृतराष्ट्र ' इन दो पक्षोंमें युद्ध हुआ करता है । धृतराष्ट्र दूसरेका राज्य अन्यायसे छीनता है और उसको अपने अधीन रखनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होता है इसलिए उसकी ओरसे जो युद्ध होता है वह अधर्म युद्ध कहलाता है परन्तु जो हृतराष्ट्र पक्षमें लोग होते हैं वे अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये धर्मपूर्वक यत्न करते हैं इसलिए उनका सत्यपक्ष होनेके कारण उनकी ओरसे जो युद्ध होता है वह ' धर्म युद्ध ' होता है । एक ही युद्धमें दो पक्ष एक ही स्थानपर संमिलित होते हैं तथापि उनमें एक धर्मयुद्ध करता है और दूसरा अधर्मयुद्ध करता है । यह धर्मयुद्ध और अधर्म युद्धका विचार उत्तम प्रकारसे स्मरणमें रखें ।

धर्मका पक्ष

पाण्डवोंका पक्ष ' धर्म ' का पक्ष था । इस पक्षका मुखिया ' धर्म ' नामका राजा था यह बात गौण है परन्तु महाभारत इस पक्षके लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले थे यही इस कथाद्वारा बताया है । धर्मराज भी यहां धर्मके प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका लिये हुए हैं । धर्मराज युधिष्ठिर हैं अर्थात् वह जिस भूमिकाको लेकर युद्धमें उपस्थित होता है उससे पीछे नहीं हटता । युद्धमें अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बडा कार्य हुआ करता है । 'युधि-स्थिर ' शब्दद्वारा युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहनेका उपदेश किया है । धर्मयुद्धमें उपस्थित होनेवाले लोग युद्धमें स्थिर रहना सीखेंगे तो अच्छा होगा । विजय प्राप्तिके लिये ' धर्म ' का अनुयायी होना और (युधि स्थिर) युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थानसे पीछे नहीं हटना यह अत्यंत आवश्यक बात है । वीर पुरुष अपने स्थानसे आगे बढें कभी डरकर पीछे न हटें ।

द्वेषभावरहित मन

यह धर्मराज ' अजात-शत्रु ' भी है । जिसका कोई शत्रु

नहीं है उससे कम जो किसीसे द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता शत्रुसे भी द्वेष नहीं करता शत्रुका भी सुधार होनेके लिये यत्न करता है शत्रुमें भी गुण देखता है। यह धर्मकी भूमिका है। जिस के मनसे वाणीसे और कर्मसे द्वेष भाव दूर हुआ है जो शत्रुसे भी द्वेष नहीं करता प्रत्युत जो शत्रुमें भी गुण देखता है वह अजातशत्रु पाण्डवोंका मुखिया है। सब पाण्डव इस अजातशत्रु धर्म की आज्ञा शिरोधार्य मानकर उस आज्ञाके अनुसार चलनेमें अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची वीर भीम जैसा बलवान् योद्धा नकुल सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी शान्तिकामी अजातशत्रु धर्मकी आज्ञा-अपने मतके विरुद्ध होनेपर भी प्रतिकूलताका भाव न रखते हुए मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं इसीमें उनका बल है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्मराज ही अनत्याचारी समतावादी और अजातशत्रु था। भीम तो स्वभावतः युद्धकी तरफके प्रमाद अत्याचारी ही था अपने स्वभावके कारण धर्मराजपर क्रोध भी करता था धर्मराजके हाथ जलानेके लिये भी तैयार होता था; अर्जुन यद्यपि भीमसेनके इतना क्रोधी नहीं था तथापि धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था। नकुल सहदेव तो अर्जुनके पीछे पीछे चलनेवाले थे। और इनकी धर्मपत्नी श्रीमती द्रौपदी इनको सदा काम भीमकी ही पसन्द करती थी। अर्थात् धर्मराजके साथ समविचार रखनेवाला इनमें एक भी नहीं था परन्तु देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मराजकी अनत्याचारी न होनेसे सभी इतर पाण्डव त्रस्त हुए थे। इतना मतभेद होनेपर भी धर्मकी आज्ञा सब मानते थे और अन्त तक किसीने भी उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया मानो धर्मराजका धर्म ही अनत्याचार का धार पाण्डवोंके जीवित किया ऐसा बनाया था। यदि धर्मराज आध्यात्मिक करनेवालोंका अनत्याचारी धर्मराज नेता माना जाय तो उसके पीछे शान्तिसे अनत्याचारी बने हुए थे सब लोग काम करते थे, ऐसा मानना पड़ता। अर्जुन भीम जैसे नकुल सहदेव और स्वयं द्रौपदी ये उत्साही वीर बड़े चतुर ज्ञानी पुरुषों तथा स्त्री [illegible] क्योंकि परिस्थिति जाने जा सकते हैं। और ऐसा मानकर भिन्न भिन्न मतोंके मत विभिन्न होनेपर भी एक अनत्याचारी नेताकी आज्ञाके अनुसार वे सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे और ऐसे काम करते हुए उन्होंने अपनी उत्तम संघटना की यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि ये विभिन्न मतके वीर प्रथम समयमें धर्मराजके अनत्याचारी मार्गोंमें न रहते और स्वयं अत्याचार करनेमें प्रवृत्त हो जाते, तो कौरवोंको इनको विना आयास पीस सकते और इनके ऊपर चढ़नेकी कोई बाधा न रहती। परन्तु धर्मराजकी सहज धर्म प्रवृत्ति होनेसे और तदनन्तर पाण्डवोंके लिये अनेक पापकी अत्याचार चुपचाप सहते रहनेसे, संपूर्ण जनताकी सहानुभूति तथा कई कौरवोंकी भी अनुकूल बुद्धि पाण्डवोंके लिये सहायक हो गई और इस कारण अन्तमें रणसमय प्राप्तिके अन्तिम युद्धमें विजय होनेयोग्य शक्ति इनको प्राप्त हो गई। अर्थात् अनत्याचारी वृत्तिसे रहकर अत्याचारके मार्गसे आते हुए होनेवाले अनेक कष्टोंको शान्तिसे सहन करनेसे जनताकी सहानुभूतिका अद्वितीय बल प्राप्त होता है यह बल प्रथमसे अत्याचार करनेवालोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता यह बात निःसन्देह सत्य है।

ईश्वरकी सहायता

यहां दूसरी विलक्षण बात यह है कि अधिवासी-द्वारका निवासी भगवान् मन मोहन श्रीकृष्ण पाण्डवों के संचालक और परम सहायक थे। वे सब प्रकारसे ज्ञानी शूरवीर और युद्ध विद्याकुशल होते हुए भी मैं हाथ में शस्त्र नहीं धरूंगा मैं युद्ध नहीं करूंगा ऐसी युद्ध न करनेकी अनत्याचारकी प्रतिज्ञा करके पाण्डवोंकी सहायता करनेके लिये आया थे। धर्मराज जैसा स्वभावतः शमवादी और अजातशत्रु था और भगवान् मन मोहन श्रीकृष्ण इस प्रकार युद्धसे निवृत्त रहनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे। इस प्रकार पाण्डवोंके दोनों मुखिया शमवादी थे।

धर्मकी विजय

शमवादी होनेपर भी उनको युद्ध करना पड़ा और इन शमवादियोंकी अनुकूलतामें रहनेसे ही पाण्डवोंको अन्तमें विजय प्राप्त हुई। विजय धर्म का भाई और परमेश्वरका सखा तथा भक्त ही हुआ करता है। विजय कभी अधर्मका भाई नहीं होता और राक्षसोंका भी मित्र नहीं हो सकता।

सनातन उपदेश

इनके सम्बन्धमें विचार करनेसे पाठकोंको पता लगा ही

होता कि 'धर्म, अजातशत्रु, अर्जुन, विजय' आदि नाम किसी व्यक्तिके बेशक हों परन्तु यहां वे नाम एक सनातन सत्य बतानेके लिये रखे हैं। "धर्म के पक्षमें ही विजय होती है अधर्मके पक्षमें नहीं। धर्म" के पक्षमें ही बलवान् भीम होते हैं अन्य पक्षमें नहीं। क्योंकि धर्मसे बल बढता है और अधर्मसे बल घटता है। धर्म पक्षकी ही परमेश्वर सहायता करता है और धर्मका पक्ष प्रारंभमें बलमें कम होनेपर भी उसको परमेश्वरका बल प्राप्त होनेके कारण अन्तमें उसीको बल प्राप्त होता है।

धर्म के पक्षमें न कुल (पाणिनी अष्टा० ६।३।७५) अर्थात् किसी कुलवालेके न होने पर भी न [illegible] प्राप्त करते हैं और वही धर्मका पक्ष सह-देव अर्थात् देवोंकी शक्तिसे युक्त होता है। धर्मके पक्षका यह माहात्म्य है। परमेश्वरके सहायक बननेपर उसकी शक्ति अधिक होगी ही इसमें कोई संदेह नहीं है।

ये सब शब्द किसी एक कुटुंबके मनुष्योंके वाचक भले ही हों, परन्तु यहां एक सनातन सत्य बतानेके लिये ही विशेष हेतुसे प्रयुक्त किये गये हैं। इन धर्म पक्षवालोंके ये नाम देखिये और साथ साथ दुर्योधन दुःशासन आदि अंधे धृतराष्ट्रके अनुयायियोंके नाम देखिये। दोनोंके नामोंकी तुलना करनेसे एक पक्ष साम्राज्यवादीके पाशवी बलका पक्षक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियोंके आध्यात्मिक बलका प्रदर्शक स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दो पक्षोंमें हुआ था। सारे जगत्में ऐसा ही होता आया है। साम्राज्यवादियोंका व्यवहार कपटसे प्रारंभ होता है, उनकी मध्यस्थिति चिन्तासे परिपूर्ण होती है और अन्तमें उनका पूर्ण नाश होता है। और स्वराज्यवादियोंके धर्म पक्षका प्रारंभ सत्य धर्म अहिंसा ब्रह्मचर्य समता पवित्रता ईशभक्ति त्यागवृत्ति आदि सद्गुणोंसे होता है इन को बीचमें बहुत कष्ट भोगने पडते हैं परन्तु अन्तमें उनका अचल यश ही सर्वोपरि जगत्भरमें फैल जाता है जो हमेशा सबके मार्गदर्शक होनेका सामर्थ्य रखता है।

धृतराष्ट्र नित्य देखता था कि हम साम्राज्यवादियोंके द्वारा अनेकानेक कपट प्रयोग होनेपर भी स्वराज्यका यत्न करनेवाले पाण्डव बच ही जाते हैं और प्रतिवर्ष पाण्डवोंकी शक्ति और वैभव बढता ही जाता है। इसलिये इस युद्धके मामलेमें वह अधीर होकर पूछता है कि युद्धका समाचार क्या है? इस प्रश्नका सत्य उत्तर तो स्वयं श्रीमद् भगवद्गीताके अन्तमें देगा कि जहां धर्मका पक्षपाती धनुर्धर अर्जुन है और उसका सहायक भगवान् है वहां ही विजयश्री निश्चयसे रहेगी। (भ. गी. १८।७८) यह तो अन्तिम उत्तर है। परन्तु यह उत्तर श्रवण करनेके लिये संपूर्ण भगवद्गीताका अध्ययन होना चाहिये। इसलिये धृतराष्ट्रका प्रश्न सुनते ही संजयने जो युद्धका वृत्तांत सुनाया वही पहिले यहां देखेंगे।

आध्यात्मिक भाव।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भगवद्गीताकी भूमिका इससे पूर्व बता दी है और उस भूमिकामें बताया है कि धर्म, अर्जुन आदि व्यक्तियोंके ऐतिहासिक होनेपर भी जिस ढंगसे इस कथाका वर्णन है उस ढंगसे उनकी वैयक्तिक सत्ताका कोई विशेष महत्व नहीं है, परन्तु उनके नामोंसे अलंकार दृष्टिसे जो मुख्य उपदेशतत्त्व बताया है वह बताना ही कथाका मुख्य उद्देश है। यह युद्ध कुटिल मनुष्यों तथा धर्मनिष्ठावालोंके मध्य हुआ और उसमें धर्मानुयायियोंकी विजय हुई। यह तो एक रीतिसे विचार हुआ। इसी युद्धपर दूसरा एक विचार अध्यात्मका है।

अध्यात्मविचार यह होता है कि जो (अधि+आत्मा) आत्माके आश्रयसे रहनेवाले पदार्थोंके संबंधमें होता है। आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, सब प्राण, पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और शरीर इतने पदार्थ रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें सत् और असत्प्रवृत्ति रहती है और इन भली और बुरी वृत्तियोंमें सदा झगडा चलता ही रहता है। हर समय यह झगडा मानवके अन्तःकरणमें चलता रहता है। इसकी साक्षी प्रत्येक मनुष्य दे सकता है। किसी समय मनुष्यके अन्तःकरणमें ईश्वर भक्तिकी लहर आती है और किसी समय भोग प्रवृत्तियां अधिक प्रबल होती हैं। दोनों वृत्तियां परस्पर झगडती हैं और दोनों वृत्तियां इस शरीररूपी क्षेत्रपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। जो वृत्ति दब जाती है वह प्रबल नहीं होती परन्तु जो प्रबल हुई है वही शरीरपर अधिकार कर लेती है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
(भ. गी. १३।१)

इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। यह कर्म करनेका क्षेत्र है इसलिये इसको धर्मक्षेत्र अथवा कुरुक्षेत्र कहा गया है। यह कुरुक्षेत्र प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें है और इस कुरुक्षेत्रमें भली और बुरी चित्तवृत्तियोंका युद्ध चलता है। इस युद्धका वर्णन इस महाभारत युद्ध द्वारा किया है ऐसा आध्यात्मिक लोगोंका कहना है।

अठारहकी संख्या

महाभारतकी रचना कुछ विशेष उद्देश्यसे की गई है यह सन्देह तो ऊपर ऊपरकी दृष्टिसे महाभारतका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें भी हो सकता है इसलिये—

१ महाभारतके पर्व १८ हैं

२ भगवद्गीताके अध्याय १८ हैं

३ भारतीय युद्ध १८ दिन चलता रहा

४ उभय सैन्य १८ अक्षौहिणी था

यह १८ वाली संख्या कुछ विशेष हेतुसे रखी प्रतीत होती है क्योंकि १८ अवयव होते हैं। संभव है इसका इस अध्यात्मसे कुछ विशेष संबंध हो।

" पुरुषो वाव यज्ञः (छां उ ३।१६।१)

पुरुष अर्थात् मनुष्य एक विशेष यज्ञ है। यदि मनुष्य यज्ञ है तो उसमें १८ ऋत्विज होंगे ही। २ आंख २ कान १ नाक १ स्पर्शेन्द्रिय २ हाथ २ पांव १ मूत्रेन्द्रिय १ गुदा, १ मुख १ वागिन्द्रिय १ मन १ चित्त १ अहंकार ये १८ ऋत्विज आदि हैं। आत्मा यजमान है और बुद्धि यजमानपत्नी है यह शरीर यज्ञशाला है। यह यज्ञ १०८ वर्ष तक चलता है। इसका पहिला भाग प्रातःसवन २४ वर्षका है द्वितीय भाग ४४ वर्षका माध्यंदिन सवन है और तीसरा भाग ४० वर्षका सायंसवन है। तीनोंका समय मिलकर १०८ वर्षोंकी अवधि होती है। मनुष्यका जीवन ही एक बड़ा भारी यज्ञ है। इस यज्ञमें ये १८ ऋत्विज् काम कर रहे हैं। इस यज्ञके नाश करनेके लिए लोभ क्रोध मोह दुर्वासना ईर्ष्या मत्सर आदि राक्षस हैं। इनका युद्ध इस युद्धभूमिमें होता है अर्थात् इस यज्ञमें भी १८ संख्या है।

भगवद्गीता (अ १ श्लो ४-६) में जो पाण्डवोंके विशेष योद्धा गिनाये हैं वे भी अठारह ही गिनाये हैं। देखिये १ भीम २ अर्जुन ३ युयुधान (सात्यकि) ४ विराट ५ द्रुपद ६ धृष्टकेतु ७ चेकितान ८ काशिराज ९ पुरुजित् १० कुन्तिभोज ११ शैब्य, १२ युधामन्यु १३ उत्तमौजा १४ सौभद्र अभिमन्यु १५-१८ द्रौपदीके पांच पुत्र ये अठारह ही हैं। इस यज्ञके यजमान धर्मराज और यजमानपत्नी द्रौपदी है। इस यज्ञके विघ्नकर्ता दुर्योधनादिक कौरव हैं। यह सारा वर्णन अकस्मात् नहीं हुआ है। विशेष हेतुसे यह किया है ऐसा इसके देखनेसे ही पता लगता है।

यज्ञकी उत्पत्ति

कौरवपाण्डवोंके यज्ञका वर्णन देखनेसे भी उसमें विशेष हेतु स्पष्ट प्रतीत होता। व्यास देव (आत्मा) त्रिविध क्षेत्रमें (सत्व रज तमात्मक प्रकृतियोंमें) अपने बीजसे त्रिविध संतति उत्पन्न करता है जैसे तमोगुणात्मक अन्धा धृतराष्ट्र रजोगुणी पाण्डु और सत्वगुणी विदुर। तमोगुणी अन्धा होता ही है इसमें कहना क्या है रजोगुणी भोगी होता है और भोगसे रोगी होता है सत्वगुणी ज्ञानी होता है। एक ही आत्मशक्ति त्रिविध प्रकृतियोंमें जाती है और उससे त्रिविध सृष्टि पैदा होती है। (पृ. १५ पर चित्र देखिये)

श्रीमद्भगवद्गीता (अ. १४ श्लो. ३-१८) में यह विषय बताया है उसका संक्षेपसे भाव यह है- त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें मैं गर्भ रखता हूं सब भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (आत्मा) ही सब भूतोंका बीज देनेवाला पिता हूं। इसमें सत्वगुण सुख देनेवाला रजोगुण वासनाओंको बढानेवाला और तमोगुण मोह तथा प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। सत्वगुणसे ज्ञान रजोगुणसे लोभ और भोग तथा तमोगुणसे प्रमाद मोह और अज्ञान (अंधकार) की उत्पत्ति होती है। यह गीताका वचन महाभारतमें यह प्रतिपादन करता है— सत्वगुणी विदुर ज्ञानी शुद्ध और पवित्र है। रजोगुणी पाण्डु राज्यका अधिकारी पुरुषार्थी, परन्तु भोगी होनेके कारण रोगी (भोगसे रोगभय) होकर अकालमें ही मरता है। तमोगुणी धृतराष्ट्र सब प्रकारसे अन्धा अज्ञानी मोहयुक्त मूढ जो करता है उसमें फंसनेवाला है।

एक बीज होनेपर भी क्षेत्रप्रकृतिभेदके कारण ये तीन प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। सत्वगुणी विदुर ज्ञान बुद्धिवाला होनेसे किसी राज्याधिकारमें अपना अधिकार नहीं रखता। स्वभावतः उसका यही स्वरूप है। इनका किसीसे झगडा भी नहीं है। झगडा तो रज और तममें ही होता है। धृतराष्ट्र अन्धा होनेसे बडा होनेपर भी अनधिकारी हुआ और पाण्डु छोटा

ब्रह्म+महद्योनि त्रिगुणात्मक प्रकृति
[मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत
भ गी १४-३]
(ब्राह्मण ; व्यास+अम्बिका अंबालिका,—दासी)

[आसुरवर्ग । तम+रज=अन्ध]
धृतराष्ट्र+गान्धारी

विदुर
[धर्मावतार, सत्त्वगुणी ज्ञानी]

[दैवसम्पद । सत्त्व+रज]
कुन्ती + पाण्डु + माद्री

धर्म — धर्मवृत्ति
भीम — बल-विनय-वृत्ति
अर्जुन — वीरवृत्ति
नकुल — ज्ञानवृत्ति
सहदेव — देवभक्ति

(दैवी संपत्ति भ गी १६।१-३)

दुर्योधन दुश्शासन इत्यादि सैकड़ों अधर्मवृत्तियोंकी उत्पत्ति ।
दंभ, दर्प अभिमान क्रोध पारुष्य इ० आसुरी संपत्ति
(भ गी. १६।४-२१)

॥ दैवासुरसंपद्विभागयोग ॥
(भ गी अ १६)

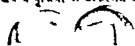
होनेपर भी उसको राज्याधिकार मिला जैसा कि रजोगुणी मनुष्यको मिलना योग्य है। परंतु भोगी रोगसे मरता है और उस भोगीके द्वारा भोग प्रवृत्तिसे ही परंतु धर्मसे मर्यादित होकर-स्त्रियोंसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं। धर्मवृत्ति बलवृत्ति वीरवृत्तिवाले वीर्योंसे इन ही तीन प्रवृत्तियोंके क्रमशः धर्म भीम और अर्जुन ये तीन सन्तान एक क्षेत्रमें महाभारतमें हुए। दूसरे क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) वृत्ती और दमवृत्तिवाले वीर्यसे क्रमशः नकुल और सहदेव ये दो संतान हुए। अर्थात् रजोगुणसे धर्म बल वीर; चिकित्सा (ज्ञान) और दमभाव ये पांच प्रवृत्तियां प्रकाशित हुईं और इस कारण परमेश्वर इनका सहायक हुआ। रजोगुणसे यदि धर्मकी ओर प्रवृत्ति होगई तो उसका अन्तमें भला ही होगा। शुद्ध सत्त्वगुणी विदुर जैसा अपने अन्दर ही संतुष्ट (आत्मन्येवात्मना तुष्टः। भ. गी. २।५५) रहेगा इस कारण उससे जगत्में धर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती। इस कार्यके लिये धर्ममें बहुत रजोगुण चाहिये, जो पूर्वोक्त रूपकमें पांडु (शुद्ध कलंकरहित) द्वारा बताया है इससे पांच श्रेष्ठ चित्तवृत्तियां धर्म बल (निर्भयता) वीरभाव ज्ञान और ईशभक्ति ऐसी उत्पन्न होती हैं। वास्तवमें मनुष्यका सब कुछ जीवन इन्हींके अधीन रहना चाहिये किंवा सब अवस्थामें इन वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये परंतु ऐसा होना कठिन है।

इन वृत्तियोंमें भी धर्मवृत्तिके अधीन ही बल और वीर ये दोनों भाव होने चाहिये तथा ज्ञान और भक्ति ये भी भाव धर्मके अधीन ही चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो बल (भीम) धर्मकी आज्ञा न मानेगा और (अर्जुन) मनमाना वर्तन करेगा ज्ञान (न-कुल) धर्मका पक्ष छोड देगा और भक्तिभाव (सह-देव) धर्मानुकूल ईश्वर भजनमें लगनेकी अपेक्षा भूतप्रेतपिशाचराक्षसोंकी उपासना संपादन करनेमें लगेगा और इस प्रकार ये चारों-बल वीर ज्ञान और भक्तिवृत्तियां मनुष्यको निःसंदेह गिरा देंगी। इसीलिये इनको यहां धर्म वृत्तिकी आज्ञामें रखा है। जब ये धर्मवृत्तिके अनुकूल रहती हैं तभी इनको ईश्वरकी सहायता मिलती है नहीं तो नहीं। निःसन्देह मनुष्यके जीवनपर इनका शासन होना चाहिये और सब जगत्पर इन्हींका राज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा कहां होता है?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अंकुरित होने लगती हैं। तबसे ही दम्भ दर्प अभिमान क्रोध पारुष्य लोभ आदि घोर राक्षसी वृत्तियां उनपर हमला करती हैं और इन सद्वृत्तियोंको दबानेका यत्न करती हैं। तमोगुणी धृतराष्ट्र की संततिके रूपमें इन्हीं आसुरवृत्तियोंको बताया है। धर्म प्रवृत्तियोंको ये आसुरी प्रवृत्तियां बचपनसे ही दबाती हैं, यह बतानेके लिये पांडवोंको बालपनसे कष्ट प्राप्त होनेका वर्णन महाभारतमें है। अन्ततः कपटसे आसुरी वृत्तियां धर्मवृत्तियोंके राज्यमें घुसती हैं वहां अपना अधिकार जमा लेती हैं और धर्म वृत्तिको अन्तःकरणके राज्यमें नहीं आने देतीं। धर्मवृत्ति और उसके अनुयायी सद्भावोंको परमेश्वरके आश्रयसे उस कारण ही युद्ध करना पडता है और जिन्होंने इनको बढाया उन्हींको मारना पडता है। भाव इन्द्रियगण यहां ज्ञानेन्द्रियां मन चित्त अहंकार आदि होते हैं इनसे ज्ञान प्राप्त किया यह सत्य है; तथापि जब ये ही असद्भावोंके सहायक होने लगते हैं, तब इनका ही दमन और संयम करना पडता है। यहां अहंकार अश्वत्थामा है जो अन्योंकि प्रमाद एक दो दिनोंके प्रयत्नसे नाशको प्राप्त नहीं होता। १८ दिनोंके युद्धमें इसका दमन करनेके लिये १ दिन लगे हैं, तब भी यह मरा नहीं; यह अन्तमें अपनी इच्छासे ही शांत हुआ। क्योंकि यह समाधि सिद्ध होने तक रहता है पश्चात् यह स्वयं शांत होता है। मन द्रोणाचार्य है, यह सबको सिखाता है, परन्तु इसको भी शांत करना पडता है। इसी प्रकार अन्यान्य कौरव वीरोंकी व्यवस्था है। कौरव सैकडों हैं (नानाशस्त्रप्रहरणाः। भ. गी. १। ९) क्योंकि नाना वासना काम क्रोधादिके शस्त्रोंको हमेशा इस हृदयमें फेंकते हैं। इस प्रकार यह कौरव सेना मनुष्यके हृदयमें होता है।

अध्यात्मभूमिमें यही भारतीय युद्ध मानवी हृदयकी भूमिकापर होता है। इस युद्धमें दंभ दर्प अभिमान क्रोध आदि विकार बडे प्रयत्नसे शांत किये जाते हैं और परम आत्माकी कृपासे धर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और इन्हींको भूमि और स्वर्गका राज्य मिलता है। प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें यह सत् और असत्वृत्तियोंका युद्ध होता है और इसीका वर्णन रूपकालंकारसे महाभारतमें किया है। प्राचीनकालसे अध्यात्मवादियोंका यह मत है।

यह मत स्वीकार करनेपर भी धर्म और दुर्योधन आदि ऐतिहासिक व्यक्ति थे इसका खंडन नहीं होता है। इस



संजय उवाच– दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

(२) पांडवसैन्य–वर्णन

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अन्वयः— संजय उवाच– तदा तु पाण्डव अनीकं व्यूढ दृष्ट्वा दुर्योधनः आचार्यं उपसंगम्य (इदं) वचनं अब्रवीत् । हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥

संजय बोले- उस समय पाण्डवोंकी सेनाके व्यूह-रचना को देख कर राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्यके पास जाकर कहने लगे ॥ २ ॥ हे द्रोणाचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है ऐसी पाण्डवोंकी इस बडी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

भावार्थ- शत्रुसेनाका हमला अपनी सेनापर होनेके पूर्व ही अपने और शत्रुके सैन्यके बलाबलका विचार करना योग्य है ।

नामके या अन्य नामके कोई नरेश हुए होंगे । परंतु इस ग्रंथके लेखकने उन व्यक्तियोंके सूचक नाम लिये और अपना ग्रंथ रचा है और यह रचना सहेतुक की है, यह बतानेके लिये कौरवादिकोंकी अन्यकी कहानियां इस ग्रंथमें अस्वाभाविक लिखी हैं । इस प्रसंगमें इस विषयपर अब अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यह भारतीय युद्ध भारती अन्तःकरणकी भूमिपर हुआ हो अथवा कुरुक्षेत्रमें हुआ हो मनुष्य जीवनके सुधारके लिये दोनोंका परिणाम एक जैसाही है । ऐसे युद्धोंमें धर्म के सत्यकी ' विजय ' होती है और स्वार्थसे अन्धे बने हुए असत्यका नाश होता है । यह सिद्धान्त मनुष्यको अपने मनमें स्थिर करना चाहिये ।

आततायीओंसे बचे हुए मनुष्य अपना नाश देखते हुए भी अपनी जयकी आशा करते ही रहते हैं और इसलिए पूछते हैं कि ' अब यह युद्ध छिडगया है, आगे क्या होगा !' इस प्रश्नका उत्तर संजय किस प्रकार देते हैं सो देखिये ।

(१) इस प्रथम दिनके युद्धमें कौरवोंकी महासेनाका वज्र नामक व्यूह भीष्मपितामहने रचा और उन्होंने अपने सैनिकोंको संबोधन करके उनका उत्साह बढानेके लिये ऐसा भाषण किया कि- हे क्षत्रियो ! यह युद्ध स्वर्गका द्वार तुम्हारे लिये खुला हुआ है इसमें स्थिर होकर चाहे तुम इन्द्रलोकमें जाओ अथवा ब्रह्मलोकमें

१ (टि पी)

तुम्हारे पूर्वजोंने इसी मार्गका आश्रय किया और उत्तम गति प्राप्त की थी । घरमें बिछौनेपर आनेवाली मृत्यु क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है । रणक्षेत्रमें शस्त्रधाराके तीर्थमें जो मृत्यु आती है वही क्षत्रियको सद्गति देनेवाली होती है । (म भा भीष्मपर्व अ १७) यह पक्षिव्यूह ऐसा होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और जिधर चाहे उधर उसका मुख हो सकता है, इसलिये किसी भी दिशासे इस प्रकार हमला करना शत्रुके लिए कठिन होता है इस ढंगसे कौरवसेनाका व्यूह होनेपर धर्मराज अर्जुनसे कहने लगे कि- हे अर्जुन ! महर्षि बृहस्पतिका कथन है कि सेना थोडी हो तो संघसे हमला करना चाहिये और यदि बडी सेना हो तो फैलाकर हमला करना चाहिये । हमारा सैन्य शत्रुसेनाकी अपेक्षा बहुत कम है अतः सूचीमुखाकार व्यूह रचकर हमें तैयार होना चाहिये । इस आज्ञाको सुनकर धनुर्धारी अर्जुनने अपनी सेनाका ' वज्र ' सज्ञक व्यूह द्रुपदराजाके पुत्र द्वारा रचा (म भा भीष्म अ० १९) यह व्यूह नोकदार होनेके कारण शत्रुसेनापर हमला करनेके लिये अत्यंत योग्य है । इस प्रकार उत्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंकी सेना थोडी होनेपर भी कौरवोंकी बडी सेनाके लिये भी भारी होगई । अतः घबराहुआ दुर्योधन किंचित् चिन्तासे व्यग्र होकर द्रोणाचार्यजीसे कहने लगे ।

(३-६) इन श्लोकोंमें भीम, अर्जुन आदिकी विराट्

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वयः— अत्र भीमार्जुन-समाः युधि शूराः महेष्वासाः युयुधानः विराटः च महारथः, द्रुपदः च ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुः चेकितानः वीर्यवान् काशिराजः च पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बड़े धनुर्धारी योद्धा युयुधान (सात्यकि) विराट्, महारथी द्रुपदराजा ॥ ४ ॥ धृष्टकेतु, चेकितान पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ विक्रमी युधामन्यु वीर्यशाली उत्तमौजा सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदीके (पांचों) पुत्र हैं और ये सभी महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— शत्रुसेनामें जो जो प्रधान वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हों उनके गुणदोषों और युद्धकौशलको ठीक ठीक प्रकार जानना चाहिये और अपने वीरोंसे उनकी तुलना करनी चाहिये ।

युयुधान धृष्टकेतु चेकितान काशिराज कुन्तिभोज शैब्य युधामन्यु, उत्तमौजा अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच पुत्र [धर्मराजसे प्रतिविन्ध्य भीमसे सुतसोम अर्जुनसे श्रुतकीर्ति नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतकर्मा] ये ग्यारह महारथी नामनिर्देशसे कहे गये हैं । महारथी वे कहलाते हैं कि जो दस हजार धनुर्धारी वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध कर सकते हैं देखिये—

एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः ॥

महारथीका अधिकार इतना बड़ा है । भावोंका जन्म तब होना चाहिये युद्धविद्यामें अधिकार संपादन करनी चाहिये और दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेकी शक्ति चाहिये तब 'महारथी' यह उपाधि प्राप्त हो सकती है । यह पद तो विशेष कर्तृत्व करनेपर राजाकी अनुमति पूर्वक मिलता है । यहां यह बताया है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच वीर पुत्र आयुकी दृष्टिसे छोटे होनेपर अर्थात् उनकी आयु बीस पचीस वर्षोंसे अधिक न होनेपर भी उनकी गिनती महारथियोंमें होने लगी थी । पाण्डवोंके समय की कुमारोंकी पढाई कैसी होती थी, इसकी कल्पना इससे हो सकती है । इतना सामर्थ्य कुमारोंमें होता था इसी लिये उस समयकी आर्य जाति जीवित थी और विजयी थी ।

यह तो कुमारोंकी अवस्था है, भीम अर्जुन तो अधर वर्षकी अवस्थामें पहुंच चुके थे विराट् और द्रुपद तो इनसे भी बहुत ही वृद्ध थे । इतनी बडी आयु होनेपर भी ये वीर तरुणोंके समान लडनेका सामर्थ्य रखते थे । कवच और मस्ती भरका वीर हाथमें तलवार, सदा कमरमें धनुष्यबाण लेकर युद्धभूमिमें अपने स्वराज्य स्थापन करनेके लिये युद्धमें करता है यह दृश्य जीवित राष्ट्रमें ही हो सकता है । *पराधीनतामें आयु क्षीण होती है और मन भी निरुत्साह* पूर्ण होता है । स्वराज्य न होनेसे ये हानियां हैं और स्वराज्य होनेपर कुमारों और वृद्धोंका भी महारथी होना संभव है ।

(म. भा. उद्योग अ. १६८-१७१ में) दोनों ओर की सेनाके रथी महारथी और अतिरथियोंका वर्णन है उनमें अध्याय १६९ में भीम और अर्जुनका वर्णन है । अ. १७० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पांचों पुत्रोंका वर्णन है । इसीमें उत्तमौजा सात्यकि और युधामन्युका वर्णन है । अ. १७१ में शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु का वर्णन है ।

(३) कौरवसैन्य-वर्णन

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वयः– हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् निबोध । ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवान्, भीष्मः च, कर्णः च समितिंजयः कृपः च अश्वत्थामा, विकर्णः च तथा एव च सौमदत्तिः ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः युद्धविशारदाः (सन्ति) ॥ ९ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य) ! अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं उनके नाम सुनिये । आपको केवल सूचना देनेके लिये उनके नाम कहता हूं ॥ ७ ॥ आप स्वयं भीष्म कर्ण रणविजयी कृप अश्वत्थामा विकर्ण तथा सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥ और भी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ– अपने सेनापति और सेनानायक किस योग्यताके हैं और वे किस किस विद्यामें प्रवीण हैं और उनमें कौन वीर किसके करनेवाले हैं यह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७–९ ॥

(म १९९–२०१) इन अध्यायोंमें पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देखने योग्य है । युधिष्ठिर कुन्तिभोज एक ही वीरका नाम है । वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध योद्धा सात्यकि था । युधामन्यु और उत्तमौजा पांचाल वीर थे और चेकितान यादव कुलोत्पन्न था । शिशुपालके राजा शैब्य थे । इस प्रकार पाण्डव वीरोंका वर्णन दुर्योधनने किया है । अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है—

(७–९) यहां दुर्योधन अपनी सेनाके मुख्य नायकों का वर्णन कर रहा है । सबसे मुख्य द्रोणाचार्य भीष्मपितामह ये वयोवृद्ध अनुभवी गिने गये हैं । अठारह दिनोंके युद्धमें भीष्मपितामह १० वर्षके वृद्ध होनेपर भी पूरे दस दिन घोर युद्ध करते रहे द्रोणाचार्य करीब ९ वर्षके होने पर भी इसके बाद पांच दिन युद्ध निभानेमें समर्थ हुए । ये ऐसे बड़े वीर थे । इनके पश्चात् कर्ण कृपाचार्य भूरिश्रवा (सोमदत्ति) अश्वत्थामा विकर्ण आदि गिने हैं । युद्धमें इनके काम भी इसी क्रमसे हुए हैं । इन सब वीरोंके महा बलवान होनेपर भी दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर ही था । इसलिये कर्णको (समितिंजय) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला यह विशेषण उनके और कृपाचार्यके लिये प्रयुक्त किया गया है । और (अन्ये मदर्थे त्यक्तजीविताः) दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं । ऐसा कहा है । दुर्योधन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामहसे बात चीत कर रहा है ऐसे प्रसंगमें दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनतक देनेको तयार हैं ऐसा कहनेका तात्पर्य यही दीखता है कि यह आप भीष्म और द्रोण विशेष योग्यता रखनेवाले वीर हैं यह सच है परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कार्यके लिये जैसा दिलसे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है यह उनको बतलाना चाहता है । दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर था तथापि वह ऐसी विकट परिस्थितिमें था कि वह गुरुके मुखसे भीष्म द्रोणको युद्धभूमिसे हटा नहीं सकता था । अतः पहिले दिनके महायुद्धका कार्य उन्होंने भीष्मपितामहके ऊपर सौंप दिया । इसका तात्पर्य यह था कि यदि उत्तम अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें बूढे पितामहकी समाप्ति हुई तो दूसरे

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वयः- अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तं (अस्ति) ॥ १० ॥

भीष्मद्वारा रक्षित हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है परंतु भीम द्वारा रक्षित हुआ उनका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

भावार्थ- युद्ध करनेवाले राजाको उचित है कि वह सब साधनों और अवस्थाओंका विचार करके अपनी सेनाके और पराई सेनाके बलाबलका विचार करे और निश्चय करे कि किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है, और यदि अपना बल अपूर्ण प्रतीत हो तो उसकी पूर्णता करनेका यत्न करे ॥ १० ॥

गुरु द्रोणाचार्यको आगे करेंगे और उनकी समाप्तिपर मेरा कार्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्णको सेनापति का अधिकार देंगे। पश्चात् उस कर्णके युद्ध कौशलसे अपना विजय तो निःसंदेह सिद्ध ही होगा। वास्तवमें अपना उत्साह होता है इसलिये ये दोनों गुरु अनुभवसे शीघ्र ही समाप्त किये जायेंगे। पश्चात् अपने कार्यके लिये जीवन तक देनेवाले कर्ण जैसे वीर आयेंगे, तो अपना कार्य निःसंदेह यशस्वी होगा। यह छुपा हुआ भाव दुर्योधनके इस वर्णनमें दिखाई देता है। यदि भीष्म और द्रोणपर कुछ भी संदेह उसके मनमें न होता तो अन्य वीर मेरे लिए जीवन देनेको तैयार हैं, ऐसे शब्दोंसे वह अन्योंका सन्मान इनके सन्मुख न करता, उनके स्थानपर भीष्म और द्रोणका ही सन्मान करता।

जिस प्रकार अन्य वीर मेरे कारण अपना जीवन देनेको तैयार हैं वैसे तुम दोनों नहीं तुम्हारा मन शत्रुओंकी दिशामें तत्पर है। इस प्रकार स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें दुर्योधन उस समय नहीं था। क्योंकि जिस समय युद्ध उपस्थित हुआ हो उस समयमें मुख्य राजाको योग्य नहीं कि वह अपने वीरोंको निरुत्साहित करे। परन्तु दुर्योधन भीष्म-द्रोणके विषयमें अपने मनमें शंकित था और बाहरसे भयका भाव प्रकट करनेमें असमर्थ था, इसलिए उक्त प्रकारका भाषण उसने किया और अपने आशयका भाव संदिग्ध रीतिसे कुछ अंशमें प्रकट किया।

युद्ध करनेका एक नियम है कि विजय चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो तीन विभाग कर और एक विभाग युद्ध भूमिपर आगेमें लगावें और दूसरा पीछे बचाकर रखें। जब अगली आगे की सेना थक जाय तब उसको विश्राम दिया जावे और बचाकर रखी हुई सेना आगे लायी जावे। इस प्रकार नये उत्साहवाली सेना आगे आनेसे उनकी आशा विजय होती है। दुर्योधनने भीष्मद्रोणको युद्धमें आगे रखा था और कर्णको बचावकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था। दुर्योधनकी इच्छा थी कि भीष्मद्रोणके वधके पश्चात् कर्णका युद्धकाल विशेष होगा। परन्तु वास्तवमें अवस्था हो गया यह बात और है। दुर्योधन इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, यह उसका आशय अब देखिये-

(१) इस श्लोकमें दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्योधनने की है। यह तुलना करनेके समय उसने अपने सैन्यके लिए अपर्याप्त कहा है और पांडवोंकी सेनाको पर्याप्त कहा है। इसका ठीक ठीक आशय समझमें आनेके लिए श्लोक ७ से ९ तककी टिप्पणी पाठक देखें। 'पर्याप्त और अपर्याप्त' शब्दके संस्कृत भाषामें दो परस्पर विरोधी अर्थ होते हैं। पर्याप्त (१) पूर्ण बल काफी, (२) (परितः आप्त) चारों ओरसे घेरने योग्य अर्थात् थोडी। अ-पर्याप्त = (१) अपूर्ण बल नहीं काफी नहीं बहुत; (२) (न परितः आप्तुं शक्यं) घेरी जानेके लिए अशक्य अर्थात् बड़ी। ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः यहां कौनसा अर्थ अपेक्षित है यह विवाद टीकाकारोंमें बहुत दिनोंसे चला आरहा है। उद्योगपर्व अ० ५७ श्लोक १-७ में दुर्योधन कहता है कि—

मेरी सेना बड़ी और गुणवान् है इसलिए मेरी विजय होगी। इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, युद्धके पूर्व दुर्योधनका यह विश्वास था कि उसकी सेना

विनाशक है, और सेनापति अच्छा योद्धा है, इसलिए जीत अपनी होगी। दूसरी बात यह है कि कोई राजा युद्धके प्रसंगमें अपनी सेनाको अपूर्ण अपर्याप्त और अल्प कहकर निरुत्साहित नहीं करेगा। अपनी सेना थोड़ी होनेपर भी हमारा बल बड़ा है विजय अपनी होगी ऐसा ही कहेगा।

यह सब ठीक है। इस दृष्टिसे इस श्लोकका अर्थ यह होगा कि- 'हमारी सेना भीष्मके द्वारा रक्षित है और बड़ी होनेके कारण घेरी जाने योग्य नहीं है परन्तु पांडवों की भीमके द्वारा रक्षित सेना थोड़ी है अतः घेरी जाने योग्य है, अर्थात् हमारी सेना पांडवोंकी सेनाको घेर लेगी और उसका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ७ अक्षौहिणी थी। अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बड़ी होनेमें किसीको संदेह हो ही नहीं सकता।

ग्यारह अक्षौहिणी सेना सात अक्षौहिणी सेनाको घेर सकती है इसमें क्या संदेह हो सकता है? दुर्योधनका विश्वास पहिलेसे इसी प्रकार था। परन्तु हस्तिनापुरमें जो जो विविध घटनाएं हुईं और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरोंके जो भिन्न मत अनेक सभाओंके भाषणोंमें प्रकट हुए, उनसे दुर्योधनका करीब करीब यह निश्चय बनता गया कि युद्धके समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बलसे लड़ेंगे नहीं। इसी प्रकार अन्तिम संधिसभाके प्रसंगमें जब दुर्योधनने श्रीकृष्ण भगवान् को पकड़नेकी अनुचित आज्ञा की उस समय उस सभामें उपस्थित हुए पुरुषोंमें बहुतसे सरदारोंके पाण्डवोंके और श्रीकृष्ण भगवान्‌के अनुकूल होनेकी बात दुर्योधनने प्रत्यक्ष देखी थी। (म भा उ अ १३१) इस प्रकारकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेसे दुर्योधनके मनमें यह बात करीब करीब आ चुकी थी कि हमारा बल अधिक होनेपर भी वह सबका सब हमारे काममें नहीं आवेगा। सैन्यसंचालक भीष्म और द्रोण यदि पूरे बलसे न लड़े तो शेष सेना दसगुनी या सौगुनी होनेपर भी क्या काम हो सकता है? इसीलिए श्लो० ३ में पाण्डवसेनाको महती चमू कहा है। वस्तुतः वह छोटी थी परन्तु आन्तरिक उत्साहसे बड़ी थी।

इस बातका प्रमाण देखनेके लिए बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं। (इसी प्रथम अध्यायके श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्योधनका भाषण द्रोणाचार्यको ही उद्देश्य करके हुआ है। राजा भाषण करता है और अपनी तथा परायी सेनाके विषयमें कुछ कहता है कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है, तथापि द्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं!!! यह देखकर (अ १ श्लो १२ से) भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख बजाया परन्तु वे भी कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल बोले नहीं। सम्राट्‌के इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख सेनानायक एक शब्द भी बोलते नहीं और मूकके समान चुप रहते हैं इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि इनकी आन्तरिक प्रतिकूलता सम्राट् की राजनीतिके साथ है सम्राट् बोलता है सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते हैं, यह देखकर सम्राट्‌के अन्तःकरणमें इनसे होनेवाले युद्धके विषयमें पूर्ण निराशा हुई होगी और इस निराशाको प्रकट करनेके लिए उसने यह कहा होगा कि, 'हमारी सेना दसगुनी बड़ी होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के आधिपत्यमें रहनेके कारण छोटी होनेके समान ही बनी है और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपर भी) क्योंकि भीमके नेतृत्वमें होनेके कारण बड़ी (होनेके समान प्रभाव वाली बनी) है।'

सेना प्रत्यक्षमें छोटी हो या बड़ी हो सेनापतिके उत्साहसे कार्य करनेके कारण वह प्रभाववाली बनती है और सेनापालकके निरुत्साह होनेपर बड़ी सेना पराभूत होती है। यही बात कौरवोंकी छावनीमें हो गई थी। दुर्योधन की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे पाण्डवोंका हित चाहते थे तथा युद्ध करके पांडवोंका नाश करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। यदि इनका मत कर्णके समान पांडवोंके विरुद्ध होता तो दुर्योधनकी जीत होती। यह अवस्था दुर्योधन ठीक ठीक जानता था परंतु भीष्मद्रोणको युद्धभूमिसे हटा देना भी योग्य नहीं समझता था। इसके मनका यह भेद इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है। और यह दर्शानेके लिये द्रोण से कहता है कि- हमारी सेना भीष्मके आधिपत्यके कारण अपूर्ण है और पांडवोंकी सेना भीमके आधिपत्यके कारण पूर्ण है।

परन्तु खुले शब्दोंमें सेनापतिका अपमान करना भी योग्य नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी जलती हुई बात उसने

(९) दुर्योधनकी आज्ञा

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वयः– भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

(अब) आप सब (वीर) मिलकर सब अयनों अर्थात् सेनाव्यूहोंके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दृढ़ रहकर भीष्मकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ– युद्धके समय सैनिकोंका कर्तव्य है कि वे अपने अपने स्थानोंमें रहें, डरकर पीछे न भागें और सेनापतिद्वारा कहा हुआ कर्तव्य तत्परतासे करनेको तत्पर रहें और सब मिलकर सेनापति और सेनानायकोंकी रक्षा करें, और अपने पक्षको जितानेके लिये अपने पराक्रमकी पराकाष्ठा करें ।

ऐसे वाक्योंद्वारा कहीं कि द्रोणके कोपित होनेपर इसी वाक्यका दूसरा तरह अर्थ करके बताया जावे और अपमान करनेके हेतुसे यह वाक्य उच्चारा नहीं गया ऐसा बताया जावे । जिस प्रकारकी मनोभूमिकामें दुर्योधन था, उस अवस्थामें दो प्रकारके अर्थ बोध करनेवाला वाक्य उच्चारा जाना ही सहज प्रतीत होता है । इसी प्रकारका श्लोक भीष्मपर्व (अ ५१।४ ६) में भी है और वहां भी यही अर्थ अपेक्षित समझना योग्य है ।

यद्यपि १ वें श्लोकमें कहा है कि कौरवसेनाके अधिपति भीष्म हैं और पांडवसेनाके भीम हैं । वस्तुतः पांडवोंके सैन्यके अधिपति धृष्टद्युम्न थे । मुख्य सेनापति धृष्टद्युम्न थे यह बात सत्य है परंतु प्रथम दिनके वज्रसंज्ञक व्यूहकी रक्षा करनेके लिये विशेष कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमको रखा गया था । इसलिये पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है ऐसा दुर्योधनने वहां कहा, क्योंकि यह बात उसको वहां सामने प्रत्यक्ष दीख रही थी । प्रत्यक्ष की बात देखकर ही दुर्योधन भीमको पांडवोंका सेनारक्षक मानता है और वैसा ही कहता है । इसी प्रकार (म भा भीष्म अ ११।१ में) पाण्डवोंकी सेनाको ' भीमनेत्र अर्थात् भीमद्वारा चलाई जानेवाली और कौरवसैन्यको भीष्मनेत्र ' अर्थात् भीष्मद्वारा प्रेरित होनेवाला कहा है । अतः गीताके इस श्लोकमें कहा हुआ वचन पूर्वापर इतिहाससे संगत है ।

कई लोग कहते हैं कि यदि भीष्मद्रोण विरुद्ध थे तो उनको उचित था कि वे कौरवोंके पक्षको छोडकर पांडवोंके पक्षमें संमिलित होते । परन्तु बडे लोगोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता । यदि इस समय वे भीष्म द्रोण कौरव पक्षको छोड देते तो जनता कहती कि ' वे डरके मारे भाग गये ' । किसी कार्य सत्यके अन्ततकमें युद्ध और मृत्युसे डरने और उस डरके कारण अपना स्थान छोडनेका विचार तक नहीं आना चाहिये यह शिक्षा जगकी संतानको देनेके लिये उनको अपना पक्ष छोडना उचित न था । दूसरी बात यह है कि भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि हस्तिनापुरके कौरवोंकि गद्दीकी मैं रक्षा करूंगा । महापुरुषोंको प्रतिज्ञाभंग करना कदापि उचित नहीं होता है । तीसरी बात यह है कि जिस पक्षमें कार्य किया उसी पक्षमें मरना ठीक है, मर जैसा प्रसंग उपस्थित होनेपर दूसरे पक्षमें जाना सर्वथा अयोग्य है । भीष्मद्रोण तो जानते ही थे कि इस युद्धमें अपने पक्षकी पराजय होगी और हम मारे जायेंगे । यह जानते हुए भी वे युद्धभूमिमें खडे रहे । यही उनका कर्तव्य था यदि वे पाण्डवोंके पक्षमें मिल जाते तो आर्य जातिके लिये वे बहुत बुरे उदाहरण हो जाते । जो भीष्मद्रोणने किया वही उनके लिये उस समय करना अत्यंत योग्य था । उनके आचरणोंको देखकर ही हम लोग अपने कर्तव्योंको समझ सकते हैं । अस्तु । इस भाषणके पश्चात् दुर्योधन अपने सैनिकोंको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से ११ तक राजा दुर्योधनका भाषण द्रोणाचार्यको संबोधन करके हुआ था । इसको सुनकर भी द्रोणाचार्य चुप रहे और कुछ भी बोले नहीं ! यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्योधन कुछ देर स्तब्ध हुए । तब भी आचार्यजीसे कुछ उत्तर नहीं आया ! संभव है कि, राजा

(९) शंखनाद

संजय उवाच– तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वयः– तस्य हर्षं संजनयन्, प्रतापवान्, कुरुवृद्धः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनद्य शङ्खं दध्मौ ॥१२॥ ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त । सः शब्दः तुमुलः अभवत् ॥ १३ ॥

संजय बोले– (दुर्योधनके मनको) हर्षित करनेके लिये प्रतापी कौरवोंमें अति वृद्ध (भीष्म) पितामहने ऊँचे स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् अनेक शंख नौबतें ढोल मृदंग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे । वह ध्वनि बहुत ही भयंकर हुई ॥ १३ ॥

दुर्योधनने आचार्यजीके चुप रहनेका कारण मन ही मनमें समझा होगा । द्रोणाचार्य पांडवोंके विनाशके लिये चलाये इस युद्धमें सर्वथा प्रतिकूल थे । इसलिये उनसे उत्तर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, और अधिक छेडनेपर कदाचित् वहां ही युद्धभूमिमें खडे होकर कुछ प्रतिकूल बातें सुनावेंगे इस कारण इस समय द्रोणाचार्यजीको छेडना अच्छा नहीं है, ऐसा समझकर वे चुप हो गये ।

इस श्लोकमें दुर्योधनने कहा है कि सब सैनिक भीष्म की रक्षा करें । वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी योद्धा थे और उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी । तथापि उनको एक डर था वह यह कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि शिखंडी पर शस्त्र न चलाऊंगा । क्योंकि शिखण्डी पुरुष न था किसी उपायसे पीछे पुरुष बन गया था । भीष्म पितामह वीर थे और स्त्रीसे लडनेके लिये तैयार न थे । शिखण्डी भी महारथी था, परंतु स्त्री रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसपर शस्त्र चलानेके लिये वे तैयार न थे । अतः यदि पांडवोंने शिखंडीको सामने खडा किया, तो भीष्म उसपर शस्त्र न चलावेंगे और व्यर्थ मारे जावेंगे । यह दुर्योधन जानता था । इस डरसे सब सैनिकों और सेनाध्यक्षोंको संबोधित करके राजा दुर्योधनने ऐसा कहा कि हे सैनिको ! तुम्हारे अधीन जो जो दल हैं उनको तैयार करो अपने सेनाविभागके आगे सेनापति खडे रहें, सब सावधान होकर अपने स्थानमें डटकर रहें हरएक अपने अपने अफसरकी आज्ञाका पालन करे कोई वीर अपने स्थानसे पीछे न भाग जावे हरएक अपने स्थानमें रहते हुए उत्तम प्रकार लडे तथा आप सब मिलकर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें क्योंकि इस युद्धको चलानेका संपूर्ण भार उन्हींपर रखा है । इस प्रकार सब सैनिकों सेनाध्यक्षों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बाद भी द्रोणाचार्यको चुप खडे रहे देखकर दुर्योधन भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे । भीष्मपितामह भी कुछ बोले नहीं परन्तु उन्होंने गर्जना करके अपना शंख बजाया, उसका वृत्तांत आगे देखिये

(१२) यहां संजयने कहा है कि भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख फूंका, वह दुर्योधनको हर्षित करनेके लिए था । परन्तु सत्य रीतिसे देखा जाय तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धके विरुद्ध थे । और यदि उनके मनमें दुर्योधनको हर्ष देना सचमुच होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते । कुछ भी न बोलते हुए केवल सिंहनाद करते हैं और शंख बजाते हैं इससे यहां भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें अनेक शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है । पाठक इसका विचार करें । समय समयपर भीष्मपितामहकी जो वक्तृताएं हुई हैं वे भी दुर्योधनकी नीतिसे विरुद्ध हैं । द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह राज्य शासनके अधिकारी होनेके कारण राजाज्ञा होनेपर आज्ञाका पालन करते हुए अपने सेनापतिके स्थानपर खडे हुए, यह नियमपालनकी दृष्टिसे बडा योग्य है । परन्तु वे अपने दुर्योधनको हर्ष देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते थे ऐसी बात नहीं थी । समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

अन्वयः– ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाञ्चजन्यं धनंजयः देवदत्तं भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः महारथः शिखण्डी च धृष्टद्युम्नः विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, द्रौपदेयाः च महाबाहुः सौभद्रः च हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् शङ्खान्, दध्मुः ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् सफेद घोडोंवाले बडे रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शंख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शंख अर्जुनने देवदत्त शंख और भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शंख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक महान् शंख और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ॥ १६ ॥ बडे धनुष्यधारी काशिराज महारथी शिखण्डी धृष्टद्युम्न राजा विराट कभी पराजित न हुए सात्यकि राजा द्रुपद द्रौपदीके सब पुत्र सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सबोंने अपने अपने शंख बजाये ॥ १७-१८ ॥

भावार्थ- युद्धके समय रणवाद्य बजाकर अपने सैनिकोंको उत्साहित करना चाहिये ।

और दिलसे इस नीतिके साथ सहानुभूति रखना दूसरी बात है । द्रोण और भीष्म केवल कर्तव्य करते थे । दुर्योधनकी नीति उनको पसंद न थी ।

(१२) भीष्म पितामहके सिंहनाद और शंखनादको सुनते ही कौरवोंकी सेनामें रणवाद्योंका घोर घोष हुआ । शंखनाद और रणवाद्योंका नाद युद्धके आरम्भका सूचक है रणवाद्योंका नाद सुनते ही सैनिकोंका भय दूर होता है युद्धकी कल्पना शरीरमें संचार करती है और वीरोंका उत्साह द्विगुणित होता है । कौरवोंकी सेनाने इस प्रकारका रणवाद्योंका घोष करके पाण्डवोंको एक प्रकारसे आह्वान किया कि हम युद्धके लिए तैयार हैं तुममें युद्धके लिए हमारे सम्मुख आनेका धैर्य है तो आओ । पाण्डवोंकी ओरसे भी पहिले से ही तैयारी थी । कौरवोंके सैन्यके रणवाद्योंका घोष सुनते ही पाण्डवोंने भी वैसा ही उत्तर दिया । इसका विस्तारपूर्वक वृत्तान्त देखिये

(१४ १९) पाठक यहां देखें कि भीष्मपितामहके शंखनादका वर्णन कौरवसेनाके वर्णनके अन्तर्गत किया है । उसमें द्रोणाचार्य० भी शंखनादका वर्णन नहीं है; कई बडे कौरव वीरोंने विशेष आह्लादसे शंखनाद किये होते तो उनका वर्णन अवश्य यहां किया जाता । परन्तु यहां अन्दरका निज आह्लाद ही नहीं है जो केवल वेतन लेनेके कारण ही युद्ध भूमिमें आये हुए हैं और जिनमेंसे कई वीर समझते हैं कि अपना पक्ष अधर्मका है उनसे शंखनाद विशेष उत्साह करके बजाये नहीं जा सकते । जिनका शंख अभिमानके

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

(७) अर्जुनका सेनानिरीक्षण

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अन्वय— सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन् धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥ अथ कपिध्वजः पांडवः धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति) धनुः उद्यम्य ॥ २० ॥ (हे) महीपते ! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह—

वह भय उत्पन्न करनेवाला शब्दनाद आकाश और पृथ्वीमें गूंजने लगा और उसने धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधनादिकोंके हृदयोंको फाड डाला ॥ १९ ॥ इसके अनंतर हनुमानकी ध्वजावाले अर्जुनने कौरवोंको उत्तम व्यवस्थासे खडे देख शस्त्र चलानेका समय आनेपर धनुष्य उठाया ॥ २० ॥ और हे राजन् ! श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—

भावार्थ— युद्धका समय उपस्थित होनेपर अपनी पूर्ण तैयारी करके आगे बढना चाहिये ।

ओरसे बजता है उसीका प्रभाव विशेष होता है। इस प्रकार के शंख तो कौरवोंकी ओरसे बजे ही नहीं !! परन्तु पाण्डवोंकी ओर देखिये वहां एक एक वीरका नाम ले लेकर उसके शंख बजानेका वर्णन किया है क्योंकि वैसे ही विशेष बलसे पाण्डवोंके शंख बजे थे। इसका कारण यह है कि पाण्डवोंकी ओरके सब वीरोंका निश्चय हो चुका था कि या तो हम मर जायेंगे अथवा अपना गया हुआ राज्य अपनी शक्ति और सामर्थ्यसे प्राप्त करेंगे। तीसरा विचार उनमें नहीं था।

इस शंखनादका वर्णन ही देखा जावे तो पता लगता है कि कौरवोंके वीरोंमें वैसा उत्साह नहीं था जैसा कि पांडवोंके वीरोंमें दिखाई देता था। इसका विचार करके देखा जाय तो १० वें श्लोकका अर्थ भीष्मके सैन्यमें जो हमारा (कौरवोंका) सैन्य है वह अपूर्ण है परन्तु भीमके सैन्यमें जो पांडवोंका सैन्य है वह पूर्ण है । ऐसा ही प्रतीत होगा। दुर्योधन अपनी सेनाकी अवस्था देखकर ही अपना आशय व्यक्त कर रहा है। इस श्लोकका अर्थ करनेके समय ये प्रकरण भी देखने आवश्यक हैं।

इस प्रकार युद्धसूचक शंखनाद होते ही वीर अर्जुन अपनी और परायी सेनाका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे आगे बढते हैं, उसका वर्णन अब देखिये—

(२०) धृतराष्ट्रका सैन्य उत्तम रीतिसे खडा और युद्धके लिये तैय्यार हुआ देखकर अर्जुनने अपना धनुष चढाया और युद्ध प्रारंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णजीसे निम्नलिखित वाक्य कहा। यह इस श्लोकका आशय है।

इस स्थानपर अर्जुनके लिये कपि-ध्वज शब्दका प्रयोग किया है। अर्जुनकी ध्वजापर कपि अर्थात् बन्दर किंवा हनुमानजीका चिह्न था। महाभारतमें कई प्रसंगोंमें सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वजदण्डपर बैठे थे, ऐसा ही वर्णन है। कई स्थानोंपर तो युद्धके प्रसंगमें हनुमानजीके भुभुकारशब्द करनेका भी वर्णन है। इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वजदण्डपर विराजमान थे। परंतु साधारणतः देखा जाय तो रथपर जो ध्वजा होती है वह कपडेकी होती है और उसपर कुछ चिह्नविशेष होते हैं। इसी प्रकार अर्जुनकी ध्वजापर हनुमानजीका चित्र होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हरएक वीरकी ध्वजापर अलग अलग चिह्न थे द्रोणाचार्यकी ध्वजापर कमंडलु था

इसी प्रकार अन्यान्य वीरोंकी ध्वजापर अन्यान्य चिह्न थे।

कपि शब्दका अर्थ 'सूर्य' ऐसा भी है। 'क' नाम उदक उसका पान करनेवाला। सूर्य उदकको आकर्षित करता है इसलिए उसका यह नाम है। यदि यह अर्थ यहां लिया जाय तो अर्जुनकी ध्वजापर सूर्यचिह्न था ऐसा भी कहा जा सकता है। अथर्ववेदमें ऐसा देखतेहैं: सूर्यध्वज। (अथर्व ५।२१।१२) अर्थात् सूर्य चिह्नवाली ध्वजाओंको ऊपर ले उठाते चलती हैं, ऐसा वर्णन है। आर्यवीरोंका सूर्यध्वज होना स्वाभाविक है परंतु महाभारत या रामायणमें सूर्यचिह्नवाली ध्वजाका वर्णन नहीं है। अर्जुनकी ध्वजा तो बंदर चिह्नवाली (हनुमानजीके चिह्नवाली) महाभारतमें लिखित है। इसलिये कपि शब्दके दूसरे कई अर्थ हों तो यहां 'हनुमान' यही अर्थ अपेक्षित है इसमें संदेह नहीं।

अर्जुनकी कपिध्वजा क्या सूचित करती है? उसकी चंचलता सूचित करती है। बंदरकी चंचलता स्पष्ट है। बंदर चंचल है और वही अर्जुनकी ध्वजा, उसका अथवा चिह्न है। अर्जुनकी मानसिक चंचलताका अनुभव अभी थोडी देरमें पाठकोंको हो जायगा। अनुमानतः पांडवोंके पक्षका पूर्ण विश्वास था अर्जुन युद्ध करेगा तो ही हमारे पक्षकी जीत होगी, यदि अर्जुन युद्ध न करेगा तो पांडवोंको स्वराज्य कभी मिलनेकी आशा नहीं ऐसी अवस्था है यह बात अर्जुन भी जानता था परंतु स्वभाववश दूर होना कठिन है अर्जुन युद्धकी तयारीसे रणक्षेत्रपर आगया, रथपर सवार होते ही युद्धकी इच्छासे धनुष उठाने लगा; अब दोनों सेनाओंके वीरोंका निरीक्षण करनेकी इच्छा कर रहा है और अब [illegible] मोहित होकर युद्धसे पीछे हटनेका विचार करता है! यह चंचलताकी परम सीमा है! ऐसे वीरकी कपि ध्वजा होना ही स्वाभाविक है।

[illegible] जिस प्रकार [illegible] वीरको इस प्रकार चंचल होना न रह सकता है [illegible] और [illegible] होनेके लिये इसमें चंचलता नहीं होनी चाहिये [illegible] और युद्धको मन नैराश्य होनेसे [illegible] इस युद्धके समय युद्ध छोडने रहें और इससे स्वराज्यकी हानि होती। [illegible] यह अवस्था था इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् उसके

सहायक थे; अतः उन्होंने सदुपदेशद्वारा अर्जुनकी चंचलता दूर की और उसको स्थितप्रज्ञ बनाया। तत्पश्चात् अर्जुन युद्ध करनेमें समर्थ हुआ और विजयी बना। मनकी चंचलता दूर करनेके बाद ही मनुष्य अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्जुनकी यह मनोभूमिका उसकी कपिध्वजासे विदित हो सकती है।

इसमें दूसरी भी एक बात है। अर्जुन इन्द्रका पुत्र है। इन्द्र नाम सामान्यतः 'विद्युत्' का अथवा अन्तरिक्षस्थानीय मेघमंडलमें संचार करनेवाली विद्युत्का वाचक प्रसिद्ध है। इसीका एक अंश मनुष्यका मन बना है। अन्य सूर्यादि देवताओंके अंशोंसे अन्य इंद्रिय बने हैं। देखिये–

इन्द्र (विद्युत्)	मन
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण
दिशा	कान
अग्नि	वाणी
आप्	रसना

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंशोंसे अन्यान्य इंद्रियाँ बनी हैं। जैसा विश्वमें इंद्र सब देवोंका राजा है इसी प्रकार देहमें मन संपूर्ण इंद्रियों (देहस्थानीय देवताओं) का राजा है। मनकी विजय होनेसे सबकी जीत और मनके पराजयसे सबकी हार होती है। जैसे पांच पांडवोंकी विजय अर्जुनपर निर्भर थी उसी प्रकार इंद्रियोंकी विजय मनपर निर्भर है। यह समता पाठक विचार करके जान लें। मनके साथ प्राणका संबंध निश्चित है। अब योगशास्त्रमें यह बात स्पष्ट कही है। यह प्राणवायुका मंत्र है।–

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ० उ० १

वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ। यह प्राण मनका सहचारी है। इस विषयमें योगशास्त्रमें कहा है–

मारुते धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥
ह० यो० प्र० १।८९

मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते॥
ह० यो० प्र० २।४२

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्॥
ह० यो० प्र० २।२

अर्जुन उवाच- सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अन्वयः- हे अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं ? ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ॥ २३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! दोनों सैन्योंके मध्यमें मेरा रथ खडा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहां उपस्थित हुए इन वीरोंको मैं देखता हूं । मुझे इस युद्धमें किसके साथ लडना है ! ॥ २२ ॥ और दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे आ ये यहां इकट्ठे हुए हैं इन लडनेवाले वीरोंको मैं देख लूं ॥ २३ ॥

भावार्थ- युद्ध करनेवाले वीरका कर्तव्य है कि वह अपने सम्मुख विरुद्ध पक्षमें युद्धके लिये उपस्थित हुए वीरोंको अच्छी प्रकार देखे उनकी योग्यता ठीक प्रकार जाने और तदनुसार उनसे युद्ध करें ॥ २१-२३ ॥

मारुत अर्थात् वायु स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त होता है । मारुत अर्थात् वायु-प्राण-मध्य संचारी हो गया तो मन स्थिर होता है । प्राण चंचल हुआ तो मन चंचल होता है और प्राणके स्थिर होनेसे मन भी स्थिर हो जाता है । इन सब वचनोंसे पता लग सकता है कि प्राणका और मन का घनिष्ठ संबन्ध है ! ऊपर बताया है कि मनुष्य देहमें इन्द्रका पुत्र मन और वायुका पुत्र प्राण है । कपि हनुमान मारुति जो अर्जुनके ध्वजस्तम्भपर था वह भी वायु पुत्र ही है । कितना साम्य है यह देखिये । यह साम्य यों ही नहीं हुआ है यह विशेष हेतुसे ही है । इस शरीररूपी रथमें मन 'धर्म' के निश्चयके लिये प्रयत्न करता है प्राण इसकी सहायता करता है और ये सब 'धर्म' के कार्यमें लगे रहे तो भगवान् इनकी सहायता करते हैं ।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और वायुपुत्र (मारुति) हनुमानके रूपकका यह तत्त्व है । इसलिए मारुति अर्जुनकी ध्वजापर है । यह सनातन तत्त्व यहां इस रूपकसे दर्शाया है । ऐसा विचार करेंगे तो पाठकोंको वायुपुत्र मारुतिका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा और भगवान्के द्वारा चलाये जानेवाले रथपर ये दो कैसे बैठे हैं इसका ज्ञान होगा । अस्तु ।

*

अपना अर्जुन अब क्या कर रहा है देखिये--

(२१-२३) यहां अर्जुन भगवान् अच्युत श्रीकृष्णसे कहता है कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा करो, ताकि मैं इन सब वीरोंको देखूं । यहां भगवान् श्रीकृष्णका नाम अच्युत आया है । इसका अर्थ 'जो कभी पतित नहीं होता जो अपने स्थानपर दृढ रहता है जो सदा ध्रुव है जो कभी गिरता नहीं जो स्थिर रहता है जो चंचल नहीं है जो अविनाशी और सनातन है सदा एकसा रहनेवाला है और जो हटता नहीं । अर्जुन चंचल है उसका विचार स्थिर नहीं रहता किन्तु उसका निश्चय डाँवाडोल होनेपर भी उसका सहायक मित्र ध्रुव दृढ स्थिर है । अर्जुनका विश्वास इस सनातन मित्रपर दृढ है, इसीलिए अर्जुन इस युद्धसे पार हुआ विजयी हुआ और धर्मका राज्य जगत्में स्थापित करके यशका भागी बना । नर और नारायण एक ही रथपर बैठे हैं । नर प्रयत्न करता है और नारायण उसकी सहायता करता है । जो नर पुरुषार्थी मनुष्य-नारायणको अपना सच्चा मित्र मानता और उसपर दृढ विश्वास रखता है उसका बेडा पार होता है । प्रत्येक नर युद्धभूमिमें खडा है, इसलिये नारायणपर विश्वास रखना हरएकके लिये लाभकारी है ।

सञ्जय उवाच—एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वयः- संजय उवाच- हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उक्तः हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा, पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य इति उवाच ॥२४-२५॥

संजय बोले- हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जब अर्जुनके कहने पर श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके मध्य भागमें उत्तम रथको खड़ा करके कहा कि हे अर्जुन ! इकट्ठे हुए वीरोंको देख ऐसा कहा ॥ २४-२५ ॥

अथवा अर्जुन जब युद्धभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है आगे क्या करता है देखिए-

(२४ २५) इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णका नाम ' हृषीकेश ' आया है। हृषीक याने इंद्रियोंका जो ईश है वह हृषीकेश है। जिसके स्वाधीन अपनी इंद्रियां हैं, जो इंद्रियोंके अधीन नहीं हुआ अथवा जिसके अधीन इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको उत्तम सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है और जिसकी इंद्रियां स्वभावतः ही बुरे कर्मोंकी ओर नहीं जातीं वह हृषीकेश है। श्रीकृष्ण हृषीकेश (हृषीक+ईश) थे, इसीलिये अच्युत अर्थात् अविनाशी स्थिर और दृढ थे। जो सुदृढ और ध्रुव बनना चाहता है उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इंद्रियां स्वाधीन रखे और उनको कभी बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त न करे। इन्द्रियां स्वाधीन रखनेसे ही 'धनंजय' अर्थात् भाग्यवान् बनना संभव है और तभी वह 'श्री कृष्ण' अर्थात् धनको अपनी ओर खींचनेवाला किंवा 'कृष्ण' अर्थात् सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है। पुरुषोत्तम (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) बननेकी यही युक्ति है।

इन श्लोकोंमें अर्जुनका नाम ' गुडाकेश ' आया है। गुडाका अर्थात् निद्राका जो ईश अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसने निद्रा सुस्ती आलस्य आदि दोषोंको जीत लिया है। जब चाहे तब जिसको सुस्ती या निद्रा नहीं आती। विश्राम लेना या न लेना जिसके अधीन है। निद्रा जिसकी आज्ञामें है अर्थात् जब वह विश्राम लेना चाहे और जितनी देरतक विश्राम लेना चाहे, तब और उतनी देरतक ही जो गाढ निद्रासे युक्त हो सकता है, अथवा विश्रांति ले सकता है वह गुडाकेश है। जिसको दस बीस पल निद्रा लेनेकी इच्छा हुई तो झट गाढ निद्रा ले सकता है और ठीक दस बीस पलोंके बाद उठकर कार्य करने लगता है जो निद्राके वश होकर घण्टोंतक सोता पड़ा नहीं रहता वह ' गुडाका-ईश ' किंवा ' निद्रा-स्वामी ' है। जगतमें बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं कि जिनका ऐसा प्रभुत्व निद्रापर होता है। प्रायः सभी लोग सोनेके लिये भी १।१॥ पल बिस्तरोंपर करवटें बदलते रहते हैं और उठानेके लिये वैसे ही जगाने पड़ते हैं। जिस प्रकार जो किसी क्षणमें झट जाते हैं उस प्रकार जो समयपर झट गाढ निद्राके वश हो जाते हैं और समयपर बिना सुस्ती हुए उठते हैं उनके अधीन निद्रा है ऐसा हम कह सकते हैं। यह एक बड़ी भारी सिद्धि है जो उस समयके सम्पूर्ण भारतीय वीरोंमें अकेले अर्जुनको ही प्राप्त थी। यह सिद्धि अत्यन्त कठिन है अतः एक विशेष अभ्यासके करनेपर ही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

तीसरे श्लोकके व्याख्यानके प्रसंगमें बताया है कि अर्जुन इन्द्रियजय होनेके कारण आत्मसंयमके विचारसे शरीरमें मन-स्वाधीन है। पाठक जान सकते हैं कि मन ही निद्राका स्वामी है उसके सोनेपर ही निद्रा आती है। अन्य इंद्रियां कितनी भी शान्त हो जायें या स्थिर हो जायें जबतक मन अपने व्यापारोंसे निवृत्त नहीं होता तबतक कभी निद्रा नहीं आती। यह देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वयः- अथ पार्थः उभयोः सेनयोः अपि तत्र स्थितान् पितॄन् पितामहान् आचार्यान् मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ श्वशुरान् सुहृदः, च एव अपश्यत् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य ॥ २७ ॥ परया कृपया आविष्टः विषीदन् इदं अब्रवीत् ।

तब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें वहां उपस्थित हुए अपने ही बडों पितामहों आचार्यों, मामाओं भाइयों पौत्रों तथा मित्रों ॥ २६ ॥ ससुरों और स्नेहियोंको देखा । वह अर्जुन उन सब भाइयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत करुणासे व्याप्त हुआ उदास मनसे कहने लगा ।—

भावार्थ- कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करता है । अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये ।

अर्थात् (गुडाकेश) निद्राका स्वामी है । अर्जुनको भी यह नाम इसीलिये दिया गया है कि इसी कारण यह कौरव पांडव वीरोंमें यहां अर्जुन एक निद्राका स्वामी कहा गया है । शरीरके अन्दर भी अकेला मन ही निद्राका स्वामी है । पाठकगण यह साम्य देखें और समझें कि यह समानता किसी विशेष हेतुसे लिखी है ।

इन श्लोकोंमें भारत नाम धृतराष्ट्रके लिये आया है । आगे कई प्रसंगोंमें यह नाम अर्जुनके लिये भी प्रयुक्त होगा । महाभारतमें अन्यान्य स्थानोंमें यह शब्द युधिष्ठिर आदि अन्यान्य वीरोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ है ' भारत देशका हित चाहनेवाला, भारत देशके निवासियों का हित करनेवाला भारत देशकी माता जिसकी जन्मभाता है और उसपर जिसका प्रेम है, तथा भारत देश भारतीय लोग और भारतीय भाषाका हित करनेके लिये जो आत्म समर्पण करनेको तैयार है अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होना स्वाभाविक है । ' धृतराष्ट्रका और दुर्योधनका यह कर्तव्य था परंतु उन्होंने यह नहीं किया, अर्जुनादि पांडवोंका यही कर्तव्य था और उसके लिये अर्थात् भारतभूमिमें ' धर्म ' का राज्य स्थापन करने और अधर्मका राज्य हटानेके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था । यही धर्मराज्य का स्थापन करना ईश्वरका कार्य है जो इस कार्यको करते हैं वे अपने कर्मसे परमेश्वरकी ही पूजा करते हैं । इसलिये कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया और पांडवोंने कर्तव्यका पालन उत्तम रीतिसे किया, और इस कारण परमेश्वरका सहाय्य उनको प्राप्त हुआ । जो ऐसा करेंगे उनका सहायकारी निःसंदेह ईश्वर होगा ।

यहां कहा है ' रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें रखो ' । अध्यात्म पक्षमें रथ शरीर ही है जो बुरे और भलेके बीच सदा खडा रहता है । ' शरीरं रथमेव तु । इंद्रियाणि हयानाहुः ' (कठ उ १।३।३,४) शरीर रथ है और इंद्रियां घोडे हैं । यहां मन इंद्रियोंका संचालक है । इत्यादि बातें पाठक अब विचार करके जान सकते हैं ।

अब अर्जुन दोनों सेनाओंका निरीक्षण करता है उसमें उन्होंने क्या देखा और उसका परिणाम उसके मनपर कैसे हुआ सो अब देखिये—

(२६-२८) यहां अर्जुन दोनों सेनाओंमें युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए अपने सब इष्टमित्रों भाईबंधुओंमें और पूज्य पुरुषोंको देखकर अत्यंत कृपासे खिन्न होता है । अर्जुनके मनमें बडी कृपा तथा अथवा करुणा उत्पन्न हुई है, युद्धका डर उसको नहीं था । वह वीर था और अपने पराक्रमको भी जानता था । इसलिये उसको विजय का विश्वास था कि युद्ध शुरू होनेके पश्चात् इन सबका संहार अवश्य होगा ।

(८) अर्जुनका खेद
शरीरपर परिणाम

अर्जुन उवाच- दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वय- हे कृष्ण ! इमं स्वजनं युयुत्सुं समुपस्थितं दृष्ट्वा ॥ २८ ॥ मम गात्राणि सीदन्ति मुखं च परिशुष्यति मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते ॥ २९ ॥ हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते त्वक् च एव परिदह्यते अवस्थातुं च न शक्नोमि मे मनः भ्रमति इव ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण ! ये अपने संबंधी जनोंको युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए देखकर ॥२८॥ मेरे अवयव शिथिल हो रहे हैं मुख सूखने लगा है मेरे शरीरमें कँपकँपी होकर मेरे रोएँ भी खडे होते हैं ॥ २९ ॥ गाण्डीव धनुष्य हाथसे गिरने लगा है शरीरकी चमडीमें दाह हो रहा है मुझसे खडा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥ ३० ॥

भावार्थ- मोह और करुणा बडे वीरको भी दुर्बल बना देती है। मोहसे शरीरका बल घटता है। इसलिये मोहके वश में नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

इनके बचनेकी कोई आशा नहीं है। अपने शौर्य और युद्ध कौशल्यके कारण और भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम योजनाके कारण निःसंदेह हमारी विजय होगी और हमारे [illegible] ही भय है कि भीष्म, द्रोण तथा अश्वत्थामा बडे पूज्य पुरुष मारे जायँ उनमेंसे कोई न बचे सब भाईयोंकी समाप्ति हो जावे। अपने निज वीर्यके कारण धनुर्धरके वीरोंसे बच सकनेकी कोई आशा ही नहीं है ऐसा अर्जुनके मनमें निश्चय हुआ था। इसलिये उनको उनपर दया आगई और उनके मनमें अत्यन्त खेद हुआ और वह दीन होकर कहने लगा—

(२८-३०) युद्धके लिये सन्मुख उपस्थित हुए स्वजनों को देखकर अर्जुनको करुणा आ गई और ऐसे युद्धमें कि जिसमें स्वजनोंके वधके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं होगा, अर्जुनके अन्तःकरणको बडा कष्ट हुआ। युद्धका डर तो उसको था ही नहीं। जिसने स्वयं भगवान् उमापति शंकरसे यु[illegible] नहीं माना था और जिसने निवात कवच [illegible] राजाओंका पूर्ण नाश किया [illegible] डर जानेकी संभावना ही [illegible] कहने लग

संबंधियोंके वधका भयानक चित्र खडा हुआ, और वह कहने लगा कि हाय हाय ! हम यहां क्या करने आये हैं ! उसके मनमें दया आगई करुणासे मन भर गया, स्वजनोंके प्रेमने विचारशक्तिको घेर लिया वह व्याकुल हो गया और इस मोहसे हतबल हो गया !!

पाठक यहां भगवान्के द्वारा प्रेरित संजयके शान्तिके उपदेशका स्मरण करें। धार्तराष्ट्रादिकोंके फैलाये मोहजालसे मनुष्यका आत्मा कैसे कर्तव्यमार्गसे दूर भाग जाता है वह देखिए। उस संजयके कपटमय उपदेशका परिणाम अर्जुनके मनपर होगया और वह पूर्ण रीतिसे शिथिल और उत्साह रहित होगया। इस अवस्थामें दया उत्पन्न होना भी बहुत ही बुरा है और धर्मकर्म करते हुए खेद उत्पन्न होना तो उससे भी बहुत बुरा है। आततायी शत्रुओंके कपट उपदेशके कारण इस प्रकार स्वराज्यके लिये प्रयत्न करनेवाला आर्य वीर मोहित हो गया और स्वकर्तव्यसे पीछे हट गया।

खेदका शरीरपर परिणाम

खेद मोह दया तथा करुणासे सबसे प्रथम शरीरकी शक्ति घट जाती है। और [illegible] पुरुष

भी अत्यन्त निर्बल हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण भ्रमरका देते हैं। भ्रमर सूखी और कठिन लकडीमें भी सुराख करता है अर्थात् उसमें छेद कर डालता है, ऐसा समर्थ भ्रमर जब कमलमें रातके समय बंद हो जाता है तो वह कमल की कोमल पत्तीको भी काट नहीं सकता। प्रातः आनेका समय भी क्यों न प्राप्त हो जावे वह कमलमें सुराख करके बाहर नहीं निकलता। संसारमें बहुत वीर पुरुष भी और मदिराके मोहके कारण कैसे विवेकभ्रष्ट और दुर्बल हो गए हैं इसकी साक्षी इतिहास दे रहा है। यही अवस्था अर्जुनकी इस समय होगई है।

खेदके कारण शरीरका रक्त ही बिगड जाता है शरीरके हरएक धातुकी ओजःशक्ति नष्ट होती है इसी कारण सब अंग ढीले पड जाते हैं, मुख सूख जाता है क्यों कि लालाग्रंथियोंसे मुखमें लालात्मक रसका स्राव होना बंद हो जाता है, इसका परिणाम पाचनशक्तिके ऊपर भी होता है और यदि यह खिन्नता बहुत दिनतक रही तो पाचनशक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। नपुंसकोंकी पुरुषशक्ति अथवा मननशक्ति भी खेदसे नष्ट होनेके उदाहरण हैं। (अर्जुन तो अज्ञातवासमें खेदसे ही नपुंसक बना था।) क्योंकि खेदसे सभी अंग शिथिल निर्बल और निस्तेज हो जाते हैं। शरीरका बल कम होनेके कारण शरीर कांपने लगता है रोएं खडे हो जाते हैं शरीरभरमें एकदम सनसनीसी पैदा हो जाती है हाथकी पकडनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है पांवकी खडे रहनेकी शक्ति दूर हो जाती है चमडीमेंसे चिकनाहट दूर हो जाती है वह शुष्क हो जाती है और पश्चात् अन्दरका मल वहां संचित होकर वहां जलन पैदा कर देता है।

खेदके कारण बाहरसे खाया अन्नका पाचन न होनेसे शरीर बल नहीं बढता, तथा अन्दरके मलोंको बाहर फेंकनेकी क्रिया बंद हो जानेके कारण सब मल अन्दर ही अन्दर रुधिरमें संचार करने लगते हैं इस कारण मन चक्कर खाने लगता है और मस्तिष्क विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है अतः यदि यह खेदकी अवस्था बढ गई अथवा कई दिनतक रही तो मनुष्य मर भी जाता है पागल बन जाता है और इहपरलोकके कर्तव्य करनेमें असमर्थ हो जाता है देखिए एक मोहका कितना घातक परिणाम होता है। और यदि इसके साथ काम क्रोध मद और मत्सर मिल जावे तो उसके नाशकी कोई सीमा ही नहीं रहेगी।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने संजयके द्वारा जो कपट धर्मोपदेशका जाल पाण्डवोंपर फैलाया था उस कारण अर्जुनके मनमें मोह और मोहसे खिन्नता उत्पन्न हो गई थी। अन्य दोष उसमें मनमें घुसने नहीं पाये थे। यदि पाण्डवोंके वीर स्वराज्यका प्रयत्न करते हुए कौरव पक्षकी कुमारिकाओंके प्रेमके वश हो जाते यदि कौरवोंके धनके लोभमें पड जाते अथवा कौरवोंके राज्यशासनमें बडी ओहदे डेपुटीके स्थान प्राप्त करनेके लोभमें फंस जाते, उन प्राप्त अधिकारोंके मदसे हम बडे होगये ऐसा मानने लग जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते तो उनको पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं रहती।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंके विचारमें परिवर्तन करते हैं, उनमें आत्मविश्वास रहने नहीं देते, उनमें कर्तृत्व शक्ति बढने नहीं देते उनमें काम उत्पन्न हो जाय इसलिये भी प्रयोग भी करते हैं, उनको नाना प्रकारके प्रलोभन देते हैं और स्वराज्यविषयक प्रयत्नसे उनको दूर रखते हैं उनमें वृथा घमंड उत्पन्न करते हैं उनमें आलस्यका मत्सर बढा कर उनके अन्दर आन्तरिक कलह बढाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रयोग कौरवोंने पाण्डवोंपर किये थे। उनको राज्यशासनका अनुभव न रहे इसलिये उन्होंने १३ वर्ष राज्यशासनसे उनको बाहर रखा था। इतने समयमें युद्धका भी अनुभव उनको न आवे और वे स्वराज्यके लिये पूर्ण नालायक बिलकुल जंगली जैसे बन जांय। यह साम्राज्यवादी कौरवोंकी इच्छा थी। अन्तमें संजय द्वारा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कुशिक्षाका फैलाना भी साम्राज्यवादियोंने प्रयत्न किया जिसका फल अर्जुनके इस प्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होनेमें प्रत्यक्ष दीखता है। इसी कारण अन्य लोगोंसे धर्मोपदेशकी या अन्य शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करना भी जित लोगोंके योग्य नहीं। क्योंकि वे लोग उस कुशिक्षा द्वारा किस प्रकारका विष जित लोगोंके मनमें भर देंगे इसका भी पता नहीं चलता। इसी उपदेश द्वारा सिखाये विषके कारण वीरोंमें अग्रणी प्रबल वीर अर्जुन कैसा निर्बल बन गया है देखिये।

उसका शरीर तो बिलकुल शिथिल बन गया यहांतक निर्बल बना कि, वह अपने हाथसे अपना गाण्डीव धनुष्य भी धारण नहीं कर सकता और अपने पांवसे खडा भी नहीं हो सकता!! फिर लडना तो दूर रहा!! अर्जुन जैसे आर्य वीर लगनमें प्रभुके चोटीकी शिक्षा प्राप्त की हो

खेदका मनपर परिणाम

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वय - हे केशव ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि । आहवे च स्वजनं हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ॥ ३१ ॥

हे केशव ! अब मुझे सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं । तथा अपने संबंधियोंको युद्धमें मारकर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

उसका क्या बन गया देखिये । वह पहिले सिंह था तो शत्रुके उपदेशोंसे शिक्षा लेकर भेड़ बन गया; वह पहिले लोहा था तो उसका मोम बना । यह है शत्रुके मधुर वचनों पर विश्वास रखनेका परिणाम ! इसीसे तो अर्जुनका शरीर और मन बिगड़ गया !

अनुभवका अभाव

साम्राज्यवादी लोग जिन लोगोंको राज्यशासनका अनुभव और युद्धका अनुभव न हो, अनुभव लेनेका अवसर नहीं देते । पांडवोंको उन्होंने १२ वर्ष जंगलमें इसीलिये रखा था कि वे जंगलीसे बन जायें और १ वर्ष अज्ञातवासमें इसलिये रखा था कि इस समय उनके स्वाभाविक क्षात्रसामर्थ्यका प्रकाश करनेका थोड़ा भी अवसर उनको न मिले और इस समय यदि वे पकड़े गये तो फिर वह १२ वर्ष का चक्र घूमना ही पड़ेगा !! वीरोंको १२ वर्ष जंगलमें और १ वर्ष अज्ञातवासमें रखनेसे वे कितने बदल जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंको विराटपर्वके पढ़नेसे लग सकता है । उस समय तो अर्जुन केवल पूर्ण नपुंसक ही बन गया था !! केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे अर्जुन जैसा महारथी वीर यदि नपुंसक बन जाता है; तो जो लोग उससे वीरतामें कम होंगे उनका क्या बनेगा ! और वे यदि १२ वर्षसे अधिक वर्ष पराधीनतामें रहें तो उनकी क्या अवस्था होगी इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं ।

नपुंसकता

अर्जुनकी स्थिति नपुंसक जैसी बनी थी यह बात कौरवोंको पता होगी या न होगी, तथापि संजयके कपटी उपदेशने वीर अर्जुनके ही मनमें घर कर लिया था इसका कारण यही था कि वह एक वर्षतक विराट नगरीमें नपुंसक ही बन गया था अर्थात् इतना निर्वीर्य बन गया था कि इसको स्त्रीपरिवारमें रखनेमें भी किसीको संकोच न हुआ था । कुछ उपायोंसे यह उसका दोष एक सालके पश्चात् दूर हुआ परंतु नपुंसकके संस्कार रहे और एक वर्षतक स्त्रियोंकी संगतिमें रहनेके कारण मोह दया करुणा आदि जो गुण स्त्रियोंमें विशेष रहते हैं वे इसमें बढ़ गये ! अतः संजय का कपट उपदेश अर्जुनके मनमें जैसा जमगया वैसा किसी अन्य पांडव वीरके मनपर नहीं जमा । इससे संस्कारोंके महत्त्वका पता लग जाता है । इसीलिये साम्राज्यवादी ऐसी नीति करते हैं कि जिन लोगोंके उच्च संस्कार लुप्त हो जायें और उनमें हीन संस्कार दृढमूल हो जायें, जिससे वे कभी न उठ सकें और अपना स्वराज्य कभी वापस न ले सकें ।

अर्जुनके शरीर और मनपर तो इतनी शिथिलता आ गई । इससे वह युद्धके लिये तो पूर्ण रीतिसे निकम्मा बन गया । उसके अंदर ही केवल उदासीनता आई थी यह बात नहीं थी उसकी बुद्धि भी इतनी विवेकभ्रष्ट हुई कि उसको सारा जगत् उदास प्रतीत होने लगा । देखिये वह आगे क्या कहता है—

(३१) देखिये यह अर्जुन कह रहा है कि 'सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं।' ऐसा मनके बिगड़नेसे होता है । मन बिगड़नेसे सारे संसारमें विपरीत भाव दिखाई देता है । मन बिगड़ा तो सब कुछ बिगड़ जाता है । मनके हारे हार है मनके जीते जीत । अर्जुनका मन हार गया था इसलिये उसको संपूर्ण जगत्में अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे । मनमें उत्साहके रहनेपर संपूर्ण जगत्में शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं । यह सब मनका खेल है । इसीलिये युद्धके पूर्व साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने अर्जुनके मनको ही मोहित करनेका प्रयत्न किया था । जिस समय अर्जुन युद्धभूमिमें आया था उस समय जिस जगत्में उसको एक भी विपरीत लक्षण दिखाई नहीं देता था उसी जगत्में उसी

(९) स्वजनोंका मोह

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अर्जुनको अब सब लक्षण उलटे दीखने लगे हैं ! ! इसका कारण ही यह था कि जिस समय अर्जुन युद्धभूमिपर आया उस समय उसके मनमें उत्साह था, और अब वह उत्साह दूर होचुका था। जगतमें कोई फर्क नहीं हुआ। अपनेमें फर्क होनेसे जगत् बिलकुल अलग मालूम होने लगता है। पाठक यह नियम स्मरणमें रखें, कि मनुष्य जो मनका भाव लेकर जगत्के पास जायगा, ठीक वैसा ही उसको जगत् दीखने लगेगा ! कामिलारोगवालेको सब जगत् पीला दिखाई देता है इसका कारण उसके नेत्रका दोष है, बुखार आनेके समय सब जगत्में सर्दी भरनेका अनुभव आता है इसका कारण हमारे शरीरका दोष है। उदास मनुष्यको सब जगत उदास दीखता है और उत्साही पुरुषके लिए सब जगत् उत्साहपूर्ण हो जाता है इसका कारण उसका मन ही है। बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं अथवा ईश्वर आदि कहते हैं परंतु वस्तुतः देखा जाय तो जगत्में कोई दोष या गुण नहीं है। यदि मनुष्य अपने में शुभ गुणोंका उत्कर्ष करेगा तो उसको जगत्में भी शुभ दीखेगा और यदि इसके अंदर दोष होंगे तो जगत् भी इसके साथ दुष्टता करेगा। इसलिये 'आत्मशुद्धि' का महत्व शास्त्रकारोंने कहा है।

अर्जुनके मनपर जो बैठ्य परिणाम हुआ उससे उसका मन दोषयुक्त बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत लक्षण दिखाई देने लगे। जबतक उसके मनमें यह दोष नहीं था तबतक उसका उत्साह बढ रहा था। जगत् एक शीशेके समान है जो भाव हम लेकर उसके पास जावेंगे वैसा ही ठीक प्रतिबिंब उसमें दीखेगा। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि जब उसको चारों ओर विपरीत लक्षण दीखने लग जावें तब वह समझे कि अपनेमें कुछ दोष है, और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका यत्न करे। अपने अंदरके दोष दूर होते ही उसको जगत्में शुभ लक्षण अवश्य ही दिखाई देंगे। अपने सुधारसे जगत्के सुधारका प्रारंभ होता है।

अर्जुन दूसरी बात कहता है कि 'स्वजनोंका वध करके कुछ कल्याण होगा ऐसा नहीं दिखाई देता है।' स्वजनोंका वध करके क्या लाभ होगा? यहां शत्रुको अर्जुन 'स्वजन' कह रहा है। रक्तके नातेसे स्वजन और परजन देखे नहीं जाते। स्वजनोंका नाम आप्त पुरुष है। और आप्त पुरुष वे होते हैं कि, जो कभी अनाचार नहीं करते कभी अधर्म की बात नहीं करते कभी असत्य नहीं बोलते। शास्त्रोंका तो यह लक्षण है। आप्त पुरुषका समान शास्त्रकारोंने इतना किया है कि जिसके लिए कोई मर्यादा ही नहीं है। जिन्होंने पाण्डवोंका राज्य कपटसे छीन लिया उनको देशसे बाहर कर दिया हर प्रकारसे उनको कष्ट दिये, बेइज्जती की और अन्तमें जो अपना वचन तोडनेको भी तैयार हुए वे किस प्रकार 'स्वजन' हो सकते हैं?

बडा उत्तरदायित्व

यहां अर्जुनपर केवल अपना छीना हुआ राज्य वापस लेनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी इससे बढकर एक बडा उत्तरदायित्व अर्जुनपर था। वह यह कि, जगत्में अन्याय करनेवालोंके संघको तोडना और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके लिए अनुकूल वायुमंडल तैयार करना। भगवान् मन-मोहन श्रीकृष्ण इस कामके लिए कटिबद्ध थे और अर्जुनको भी उन्होंने इस कार्यका भार उठानेके लिए तैयार किया था। अर्थात् अर्जुनके स्वार्थके साथ यह महान् परोपकार होनेवाला था। इसी कारण सच्चे स्वजन कौन हैं और सच्चे शत्रु कौन हैं, इस विषयमें अर्जुनको मोह होना इष्ट नहीं था। परन्तु जो होना नहीं चाहिये वही समयपर बन जाता है। और एकबार बुद्धिके गिरनेपर उसकी गिरावट भी सीमातक पहुंच जाती है। इसी प्रकार एकदम अर्जुन परमेश्वरके जगत्पालक धर्मकार्यका भागी होनेके समान नीय महत्-स्थानसे जो विमुख बना तो वह परिवारके मोहके कीचडमें ही फसा। परिवारके मोहके संकुचित वायुमंडलसे ही यह अब बोल रहा है। इस संकुचित विचारके प्रवाहमें पडनेसे उसके विचार कितने कायरता पूर्ण हो गये—

(३२-३४) परिवारके मोहके कारण अर्जुन राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछे हटता है! वास्तवमें देखा जाय तो

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वयः- हे कृष्ण ! विजयं न काङ्क्षे राज्यं सुखानि च न (कांक्षे)। हे गोविन्द नः राज्येन किम् ? भोगैः जीवितेन वा किम् ? (३२) येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितम् भोगाः (कांक्षिताः) सुखानि च (कांक्षितानि), ते इमे आचार्याः, पितरः पुत्राः तथा एव च पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा, युद्धे अवस्थिताः ॥ ३२-३४ ॥

हे कृष्ण ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूं। हे गोविंद ! हमें राज्यसे क्या करना है ? भोगोंसे भी क्या और हमारे जीवित रहनेसे भी क्या काम होगा ? ॥ ३२ ॥ जिनके लिये हमने राज्यकी और भोगों तथा सुखोंकी इच्छा की थी वेही ये आचार्य चचे बूढे पुत्र, दादा मामा ससुर नाती साले और संबंधी अपने प्राण और धनकी आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

राष्ट्रकार्यके लिए पारिवारिक सुखको त्यागना चाहिये। परन्तु यह भारतका नेता उल्टी बातें बोल रहा है ! ! यह यहां तक भूला है कि मुझे विजय नहीं चाहिये (विजयं न कांक्षे) ऐसा स्वयं कहता है ! वस्तुतः यह स्वयं ही विजय है इसलिए मैं विजय नहीं चाहता इसका अर्थ मैं अपने आपको भी नहीं चाहता यही होता है। परन्तु इसका अर्थ क्या ? मैं अपने आपको नहीं चाहता यह तो मूर्खका बोलना है बोलना भी ज्ञान रखनेवाला मनुष्य ऐसा आत्मघातका वाक्य बोल ही नहीं सकता। परन्तु अर्जुनके मनपर जिस आत्मघातकी विचारोंका प्रभाव जम गया था उसका प्रभाव वहां स्थिर रहने तक वह दूसरे विचार बोल ही नहीं सकता ! ! मनुष्य अपर विचारको स्वीकार करनेपर वैसे ही विपरीत विचारोंका प्रवाह शुरू होता है। इसीलिए बुद्ध लोग कहते हैं कि अपनी सभ्यता की रक्षा ही सदा करनी चाहिए और अशुभ विचारोंके पीछे अपने मनको दवाना नहीं चाहिए।

जन्मका उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य जन्मता है वह अपनी विजय प्राप्त करनेके लिए ही जन्मता है। प्रत्येक मनुष्य चार पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिए जन्मता है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य पालन करना धन कमाना, धर्मानुकूल भोग भोगना और बंधनसे मुक्त होना ये चार पुरुषार्थ मनुष्यको करने चाहिये। कर्तव्य करना पहिला काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वातन्त्र्य प्राप्त करना अन्तिम साध्य है। मानवका जन्म इसीलिए है। स्वातन्त्र्य प्राप्त करना मेरा विजय कमाना ही है। इसलिए किसीको अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि मैं विजय नहीं चाहता। ऐसा कहना चतुर्विध पुरुषार्थके सर्वथा विरुद्ध है। अर्जुन यहां यह धर्म विरुद्ध बात कह रहा है। यही उसका मोह अर्थात् अज्ञान है।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और भी कह रहा है कि, मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये। पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमेंसे 'विजय नहीं चाहिये' कहकर इसने कहा कि मुझे मोक्ष स्वतन्त्रता अथवा बंधनिवृत्ति नहीं चाहिये मैं बंधनमें ही रहूंगा अर्थात् जिस कार्यके करनेके लिए वह जन्मा है वही काम करना उसको पसंद नहीं है ! ! अब वह कह रहा है कि मुझे सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये ! ! येही 'अर्थ और काम' दो पुरुषार्थ हैं, वे भी हमको नहीं चाहिये ! ! अर्थ काम और मोक्ष ' ये तीनों पुरुषार्थ नहीं चाहिये ऐसा कहते ही यह स्पष्ट होता है कि इसने जन्म किस कार्यके लिए लिया है ? जिसको ये चार पुरुषार्थ करना अभीष्ट नहीं क्या वह जीवित रहनेका अधिकारी भी है ? अर्जुनने जब कहा कि मुझे सुख भोग स्वराज्य और विजय नहीं

चाहिये। उसी समय उसके ही मनमें यह बात आगई कि, 'मैं अब जीवित रहकर भी क्या करूं? क्योंकि किस लिये इससे जीवित रहना है? यह बात उसके ध्यानमें आकर यही स्पष्ट कहता है कि अब भला मेरे जीवित रहनेसे भी अब क्या काम है।' अर्थात् जिस रीतिकी खेदमयी विचार परंपरा उसके मनमें शुरू हो गई थी, उस विचार परंपराके अन्तमें उसका मृत्यु शीघ्र स्वीकार करना ही योग्य हुआ!! खेदमय विचारकी परंपरा कितनी घातक है यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अतः कोई मनुष्य खेदमय विचारोंको अपने पास आने न दें और सदा उत्साहमय पुरुषार्थी विचार अपने मनमें स्थिर करें।

संबंधियोंका मोह

अर्जुन अपने संबंधियोंके मोहमें फंस गया है। वह कहता है कि आचार्य, दादा, मामा, पिता, भाई, साले, ससुर, नाती, पुत्र आदिकोंके लिये सुख देनेके उद्देश्यसे ही भोगके साधन इकट्ठे किये जाते हैं। परंतु इस युद्धमें तो यही अपने प्राण और धनकी पर्वाह छोडकर यहां उपस्थित होगये हैं। यदि इनकोही मार दिया, तो उनकी मृत्युके पश्चात् इस युद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं? जिनके लिये सुख देना है वेही यहां मारे जायेंगे, फिर सुखप्राप्तिका प्रयत्न किसके लिये करना है? ये मेरे संबंधी हैं इसलिये मुझे उचित नहीं कि मैं इनका वध करूं। यदि तुम कहोगे कि मैं इन संबंधियोंका वध करूं तो इनके साथ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न मारूं? ये भी भाई हैं और वे भी भाई हैं। अर्जुन कहता है—

हे कृष्ण! तुम्हें गोविन्द कहते हैं, क्योंकि तुम 'गो' नाम इंद्रियोंको 'विन्द' अर्थात् स्वाधीन रखते हो। अतः तुम्हारे जैसा इंद्रियवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला ज्ञानी ऐसे आप्तजनोंके वध करनेके अनर्थकारक कार्यमें मुझ किस प्रकार प्रवृत्त कर रहा है? क्या यही तुम्हारा इंद्रिय संयम है? और इसी प्रकार तुम मुझे संयम सिखाओगे? क्या मैं अपने सुखके लिये आचार्यों और अपने सब आप्तोंका वध करूं? और उनका वध करनेके बाद स्वयं सुख भोगूं?

कुटुंब और राष्ट्र

यहां अर्जुन अपने संबंधियोंको सुख देनेके लिये राष्ट्र कार्यमें विघ्न कर रहा है। जनतामें युद्ध और वध अनिवार्यता स्वीकारना कार्य एक ओर है तो दूसरी ओर स्वजनों का सुख है। यहां अर्जुन जनताके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुंबियोंके सुखको अधिक मान रहा है। कौरव साम्राज्यके शासनाधिकारपर किसी न किसी प्रकार आरूढ हो गये थे। अर्थात् श्रेष्ठ पदपर थे। जो मनुष्य श्रेष्ठ पदपर रहता है उसपर एक उत्तरदायित्व रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा बुरा आचरण कदापि न करे कि जो जनताके लिये बुरा आदर्श हो जावे। श्रेष्ठ पदपर स्थित मनुष्य जैसा आचरण करता है वैसा ही अन्य मनुष्य आचरण करते हैं। (भ. गीता ३।२१) इसलिये श्रेष्ठ मनुष्यपर अन्य साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है। क्या इस उत्तरदायित्वका कौरवोंने पालन किया था? बिलकुल नहीं। साम्राज्य बढानेके लिये इन्होंने कइयोंको तो जहर पिलाया, कइयोंको अग्निमें जला दिया, कइयोंकी भूमिहरण की, कइयोंके राज्य कपटसे हरण किये, कइयोंका प्राणोंसे वध किया, कई स्त्रियोंकी बेइज्जती की, सदा सर्वदा असत्य वचन कहते रहे, अपना दिया हुआ एक भी वचन इन्होंने पालन नहीं किया, नाना प्रकारसे आशायें दिखलाते रहे; परंतु एककी भी पूर्ति नहीं की। अन्तिम शांतिसभामें तो इन्होंने स्पष्ट कहा कि, युद्धके बिना एक सूईके अग्रपर रहनेवाली मिट्टी भी नहीं दी जायगी। क्या ये ही आदर्श हैं कि जिनपर जनता चले? और यदि सम्राट् और उसके मंत्रीगण ऐसी कुनीतिसे चलने लगें तो संपूर्ण जनताकी स्थिति किस प्रकार होगी? इसलिये कुनीतिसे चलनेवाले इन दुराचारी कौरवोंको साम्राज्य पदपरसे हटाना और उनके स्थानपर धर्ममर्यादासे चलने वाले श्रेष्ठ संयमी राजपुरुषोंको स्थापित करना उस समयके राष्ट्रीय नेताओंका महान् राष्ट्रीय कार्य था। इसलिये उस समयके लोगोंका धर्म था कि वह राष्ट्र कार्य करें और धर्मकी मर्यादा पुनः स्थापित करें। यदि कोई मनुष्य यह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवारके अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, माता, पिता, दादा आदिकोंके सुख देनेके कार्यमें ही अपने आपको समर्पित करेगा तो वह समझ लिया जाय अधर्म होगा। विवेक उत्पन्न हुए और कार्याकार्यका विचार करनेवाले लोगोंको उचित है कि वे परिवारके मोहसे राष्ट्र कार्यमें विघ्न उत्पन्न न करें। अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यसे विमुख हुआ था। यही उसका अधर्म था। इसी वृत्तान्तसे प्रेरित होकर यह ज्ञान कहना

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वयः- हे मधुसूदन ! (मां) घ्नतः अपि एतान्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं न इच्छामि किं नु महीकृते ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत ॥ ३६ ॥ तस्मात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः । हे माधव ! स्वजनं हि हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम ? ॥ ३७ ॥

हे मधुसूदन ! यद्यपि ये मुझे मारने लग जावें तो भी इनको त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी मारनेकी इच्छा मैं नहीं करता, फिर तो भला पृथ्वीके राज्यके लिये इन्हें क्या मारना है ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इस कारण अपने भाई इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है । हे माधव ! अपने ही संबंधी जनोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥

है—

(३५-३७) अर्जुन अपने स्वजनोंके मोहसे दीन होकर कहता है कि— यद्यपि ये लोग मुझे मारने भी लगें तो भी मैं इनको नहीं मारूंगा । इनको मारनेसे स्वर्गलोक भूलोक और पाताललोकका राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होनेपर भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूंगा । फिर केवल भूलोकके राज्यके लिये इनका वध किस प्रकार करूं ? ये लोग अपने भाई हैं इसलिये इनका वध करनेके पश्चात् हमें कदापि सुख प्राप्त नहीं होगा । ये आततायी हैं यह सत्य है, तथापि इनके वधसे हमें पाप ही लगेगा । क्योंकि अपने संबंधियोंका वध करनेसे भला कोन कैसे सुखी हो सकता है ?

आततायीका वध

आततायीका वध करनेके विषयमें शास्त्रकी आज्ञा स्पष्ट है । स्मृतिग्रंथोंमें कहा है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥
(शुक्रनीति)

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा ।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥
भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः ।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥
आततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
(मनु ८।३५ -३५१)

'अग्नि लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रसे मारनेवाला, भूमि की और धन छीननेवाला, शाप देनेवाला, अथर्ववेदोक्त मारक प्रयोग करनेवाला, राजासे चुगली करनेवाला, स्त्री का धन छीननेवाला, दूसरोंका छिद्र ढूंढनेमें तत्पर इत्यादि सभी आततायी समझने चाहिये । आततायी गुरु बालक वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमेंसे कोई हो जो आततायी होकर आवे उसको विना विचार ही मारना चाहिये । लोगोंके सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार हुए

आततायीको मारनेसे मारनेवालेका कुछ भी दोष नहीं होता क्योंकि इसका क्रोध उसके क्रोधसे हट जाता है।'

आततायीका वध तत्काल करना चाहिये, एसी स्मृति-शास्त्रकी आज्ञा है। तथापि अर्जुन कह रहा है कि आततायीका वध करनेसे हमें पाप लगेगा!! साम्राज्यगद्दीपर आरूढ हुए कौरव सबके सब आततायी हैं इस विषयमें अर्जुनको भी कोई संदेह नहीं था। वह स्वयं उनको आततायी कहता है। आततायीका वध शास्त्रसे दूषित नहीं है यह बात भी वह जानता था परन्तु आततायी होनेपर भी वे अपनेही संबंधी हैं अतः रक्तका संबंध होनेसे इनका वध हमको नहीं करना चाहिये अपने सम्बन्धी लोग कितनी भी दुष्टता करते रहें फिर भी उनको दण्ड देना नहीं चाहिए ऐसा अर्जुनका मत इस समय बन गया था!!

यदि संबंधी कौरव न होते और उस समय साम्राज्य शासक कोई दूसरे विदेशी लोग होते तो अर्जुन इस प्रकार न बोलता। उदाहरणार्थ मान लें कि हस्तिनापुरमें इस समय किसी विदेशी असुर जातिका राज्य होता तो अर्जुन उनसे युद्ध करता और उनका नाश करता और उनसे अपना राज्य प्राप्त करता।

परन्तु कौरव उसीके अपने कुलके देशके और रक्तके संबंधी इसलिये वह कहता है कि विधातकतत्त्व जैसे विदेशी प्रभावोंका तो मैं वध करूंगा, परन्तु अपने संबंधियोंका वध कैसे किया जा सकता है? स्वदेशी और विदेशी राजाका अपराध समान ही क्यों न हो अपने राजाका पक्ष-पात करना चाहिये ऐसा इस समय अर्जुनका मत बन गया है। युद्ध तो परकीयोंसे ही करना चाहिये स्वकीयोंसे युद्ध कैसे किया जावे!

पर वास्तवमें यदि देखा जाय तो जिस प्रकार विदेशी राजाके प्रजाजनोंको सताने पर उसका प्रतिकार करना चाहिये, उसी प्रकार अपने देशका अपनी जातिका अपने कुलका अथवा अपना मित्र भी क्यों न हो अथवा अपने रक्तका संबन्ध रखनेवाला राजा भी प्रजाजनोंको सताने लग जाय, तो उसका भी योग्य रीतिसे प्रतिकार करना चाहिए। पुत्रको विष देकर मारनेवाली माता भी आततायिनी होती है। इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी क्रूर हुआ और प्रजाको सताने लगा तो उसको भी वैसा ही दण्ड देना चाहिए जैसा विदेशी राजाको दिया जाता है।

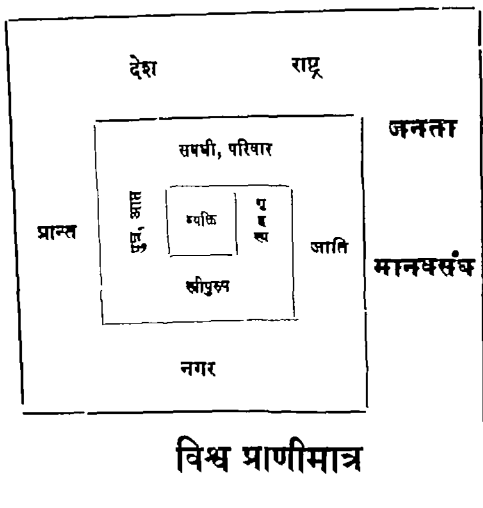
स्वजन होनेसे उनका क्षमा करनेका जो विचार अर्जुन कर रहा है वही उसकी भ्रान्ति है, वही मोह, वही अविद्या और वही अज्ञान है।

मनुष्य क्रमशः उन्नत होता है और जैसे जैसे वह ऊपर चढता है वैसे वैसे हरएक सीढीपर उसका कर्तव्य भिन्न भिन्न होता है। ज्ञान शौर्य तथा बल बढ जानेसे उसपर विशेष प्रकारके उत्तरदायित्व आता है, अतः अपने अन्दर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी क्रम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उसके कर्तव्य कैसे बढ जाते हैं, यह बात आगे बताये चित्रमें पाठक देख सकते हैं—

(आकृति १८ पृष्ठपर देखो)

इस चित्रमें पाठक देख सकते हैं कि व्यक्तिका सामर्थ्य बढनेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें काम करनेका अधिकारी वीर लोभ वा मोहके वशमें होकर अपने गृहस्थ या अपने परिवारके मोहमें फंस जाय और पारिवारिक सुख के लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न करे अथवा कुटुंबपालनके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे तो वह पापी बनेगा और गिर जायगा। अर्जुनकी यही अवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अकेला और बिलकुल स्वतंत्र नहीं है, सब जगत्के साथ उसका घनिष्ट संबन्ध है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी व्यक्तिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये व्यष्टिका समर्पण अवश्य करे।

पूर्व चित्रका विचार पाठक इस प्रकार करें। मनुष्य जिस क्रमसे उन्नत होता उस क्रमसे उसपर समर्पणका भार अधिक आता है। जो व्यक्ति केवल शरीरधर्मसे जीवित रहता है वह पशुवत् है। कई पशु भी सबसे रहते हैं और सबके लिये मरते हैं। अन्ततः मनुष्य पशुसे उच्च होनेके कारण उसको संघटित रहना ही चाहिये, अन्यथा उसकी अधोगति होगी। कुटुंब स्थितिमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है इससे उच्च होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्मसमर्पण करता है इससे भी उच्च होकर वह मनुष्य मनुष्य जनसमाजके लिये आत्म-समर्पण करता है। अर्थात् उसका आत्मसमर्पणका प्रारंभ कुटुंब स्थितिसे आरंभ होता है। यही बात आगे विस्तृत करना होता है। जिसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है यदि वह अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित करने लग जाय तो वह पापी बनता है और गिर जाता है।



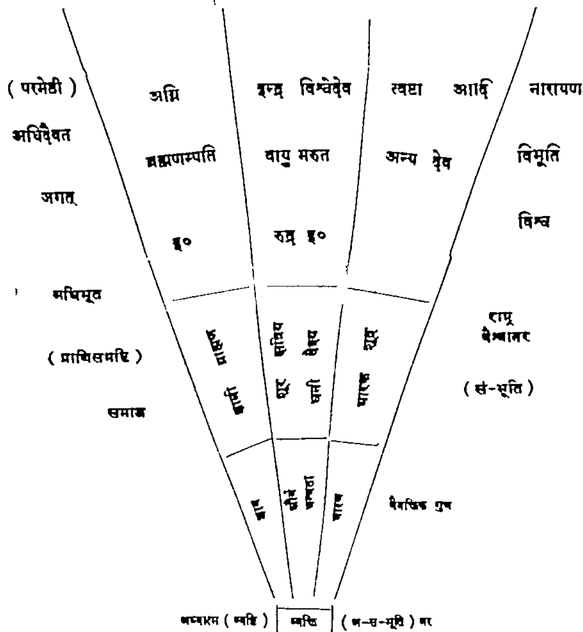
उन्नतिके क्रम साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतानेवाला चित्र

जिस मनुष्यने गृहस्थ स्थितिको स्वीकार किया है वह यदि स्त्री पुत्रादिकोंके भरणपोषणका भार त्याग दे और उन की पर्वाह न करे तो वह पापी बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंपर राष्ट्रके हितका भार है अन्योंपर भी है परन्तु इनके पास ज्ञान, बल और धन अधिक होनेके कारण अन्योंकी अपेक्षा इनपर भार अधिक है। अर्जुन क्षत्रियवीर था इसलिये धर्मकी व्यवस्था मर्यादा के अनुकूल रखनेका भार इसपर विशेष था। आततायी कौरव धर्ममर्यादाको तोड रहे थे और अपने स्वार्थके लिये धर्मका नाश करनेको तैयार थे। इसलिये उनको दण्ड देना अर्जुन जैसे वीरोंका आवश्यक कर्तव्य था। परन्तु छोटे परिवारके मोहमें फंसकर वह अपने विस्तृत कर्तव्यसे भ्रष्ट होने लगा है। यही इसका भाव है।

इस जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हुए हैं संपूर्ण जगत्के स्थिर चर पदार्थ मिलकर संगठित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् चर अचर सब पदार्थ मिलकर एक ही विराट् देह है और उसका एक अंश मैं हूं ऐसा मानकर मनुष्यको व्यवहार करना चाहिये

यह व्यष्टिसमष्टिका संबन्ध बतानेवाला चित्र आगे दूसरा देखिये—

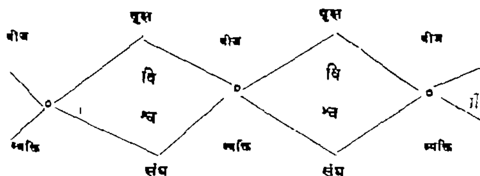
[ब्रह्माण्ड और व्यक्तिका संबंध बतानेवाला चित्र]



इस चित्रको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि कोई व्यक्ति बिलकुल स्वतन्त्र नहीं। विश्वका अंश व्यक्ति है। अतः व्यक्तिको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढ़ावे और उसका उपयोग जनताकी भलाईके लिये करे।

विश्वका संकोच होकर व्यक्तिका रूप बना है और व्यक्तिका परम विकास ही इसका जगत् रूप है। इस विषयमें उपनिषदोंके वचन सुरम्य हैं।

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः ॥ ६० ॥ (ऐ० उ० १।४)



नासिका उत्पन्न हुई उससे प्राण बना और प्राणसे वायु हुआ। आँखें बनीं आँखोंसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य बन गया। इसी प्रकार अन्य शक्तियोंसे विश्वकी अन्य शक्तियाँ बनीं। अर्थात् व्यक्तिकी शक्तियोंका परम विकास यह सब विश्व है। इसी प्रकार इस विश्वका बीज एक व्यक्ति है। इसकी आकृति देखिये—

इस विषयमें प्रमाण देखिये—

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्-
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। इ०।
(ऐ उ [illegible])

वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ सूर्य चक्षु बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हुआ। इसी रीतिसे अन्य विश्व-शक्तियोंसे वैयक्तिक सूक्ष्म शक्तियाँ बनीं। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिंदु है और विश्वरूप उसके परमविकासकी अवस्था है इसका चित्र ऊपर दिया है—

इसका ठीक विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि विश्वमें व्यक्ति और व्यक्तिमें विश्व है। एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। विश्वका व्यापन व्यक्तिके सूक्ष्मरूपमें है और व्यक्तिका सूक्ष्मरूप विश्वके सर्वरूपमें परिणत होता है। बीजका वृक्ष और वृक्षका बीज होनेके अथवा वीर्यबिंदु का पुरुष और उससे फिर वीर्यबिंदु होनेके समान ही यह बात है। यही बात इस प्रकार कही है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
तथा- (भ. गी. ६।२९)
यस् [illegible]

सर्वभूतस्थमात्मानम्० ॥ (ईश. उ. ६)

जो सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।' वही तत्त्वतः विश्वको जानता है। जब यह दृष्टि उत्पन्न होगी, तब उसमें कुटुंब या परिवारका मोह कहाँ रहेगा? वह तो समझेगा कि व्यक्तिके दोषसे संपूर्ण समाज दूषित हो रहा है इसलिये दोष करनेवालेको उस स्थानसे हटाना चाहिये और यदि दोष करनेवाला एक संघ है तो उसको भी हटाना चाहिये। फिर चाहे वह दोष करनेवाला व्यक्ति या संघ अपने स्वजन हो या परकीय हो। स्वजन होनेपर भी हटाना चाहिये और परकीय होनेपर भी हटाना ही चाहिये। जिस प्रकार व्यक्तिके शरीरमें सदोष अवयवको काटकर दूर करना पड़ता है न काटा जाय तो सब शरीर विषमय हो जाता है ठीक उसीप्रकार दोष करने वाले व्यक्ति या संघ संपूर्ण मानवी जनताके बिगाड़ होनेके कारण दण्ड देकर दूर करने योग्य हैं। आततायी हैं परन्तु वे अपने हैं इसलिये क्षमा करना सर्वथा असंभव है। क्योंकि वे स्वजन भी संपूर्ण ब्रह्माण्ड-देहके भाग हैं और यदि वह अवयव सड़ने लग जाये तो उससे सब विश्वकी शान्ति अवश्य बिगड़ जायगी। अतः कहा है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

'कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको ग्रामके हितके लिये एक कुलको राष्ट्रके हितके लिये एक ग्रामको त्यागना चाहिये। इसी प्रकार राष्ट्रके हितके लिये साम्राज्यपर कुशासन करने वाले कौरवोंको हटाना चाहिये। क्योंकि इन साम्राज्यवादियोंकी कुनीतिसे संपूर्ण विश्वमें अशान्ति फैल रही है।

विश्वरूप

जिस समय भगवद्गीताके उपदेशका प्रसंग था उस समय भगवान् श्रीकृष्ण विश्वरूप थे और अर्जुन व्यक्तिरूप अथवा अपने परिवाररूप था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके मनमें मोह हुआ और इस मोहका निराकरण विश्वरूप बने भगवान् श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य व्यक्तिरूप होते हैं, कई परिवाररूप कई जातिरूप या राष्ट्ररूप कई मानवसमाजरूप, कई प्राणिसमष्टिरूप और कई विश्वरूप होते हैं। इनके विचार और आचार विभिन्न होते हैं। जो व्यक्तिरूप हैं वे वैयक्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है परन्तु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जाय तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्ररूप होनेकी जगह स्वार्थमें था अतः पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य 'परिवाररूप' होता है वह परिवारके मनुष्यके दुःखसे दुःखी होता है उसका दुःख दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिए स्वयं कष्ट भी भोगता है। इसी कारण यहां अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचानेके लिए स्वयं राज्य त्यागकर भिक्षावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जैसा परम श्रेष्ठ आत्मा विश्वरूप बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें बिगाड करनेवालोंकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता, विश्वमें धर्मकी स्थिति सुरक्षित रखनेके लिए वह कटिबद्ध रहता है और उस कार्यको करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। इसकी दृष्टि विश्वरूप होनेके कारण अर्थात् अति विस्तृत होनेके कारण कर्तव्य करनेके समय इसको शोक और मोह कष्ट नहीं देते और वह कभी कर्तव्यभ्रष्ट भी नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीताका संवाद उन दो आत्माओंमें हुआ है कि जिनमेंसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक ममत्वमें मोहित हुआ है और दूसरेका आत्मा विश्वरूप स्थितिमें आनन्दमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारसे और समग्र के महापरिवारसे अलग समझने लगा। राष्ट्रका और जगत्का चाहे भी अहित क्यों न हो जाय मैं अपने परिवारको ही सुखी रखूंगा मुझे सार्वभौमिक दृष्टिसे विचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है ऐसा कहने लगा!! यही उसका बड़ा दोष इस समय हो गया था। ये 'स्वजन' हैं इसलिए 'आततायी' होने पर भी इनको सुरक्षित और सुखी रखना मेरा कर्तव्य है, यह अर्जुनका कथन स्पष्ट बताता है कि, उसकी दृष्टि अत्यंत संकुचित होगयी थी। दृष्टिका संकोच होनेसे ही पाप होता है और उस समय यही पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहां अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको 'मधुसूदन' कहा है इसका अर्थ 'मधुदैत्यको मारनेवाला' है। मधुदैत्य भगवान् श्रीकृष्णका स्वजन संबन्धी सजातीय या स्वदेशीय नहीं था। यह विदेशी असुर था। यह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्णको बताया कि 'हे कृष्ण! तुमने जो मधुदैत्यको मारा वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। वैसे तो मैंने विदेशी शत्रु निवातकवचोंको भी मारा है।'

कौरवोंका वध करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि वे मेरे आप्त हैं। हे भगवान्! यदि तुम कहोगे कि मैंने अपने मामा कंसको मारा है वह भी उदाहरण मेरे योग्य नहीं है, क्योंकि एक तो भीष्मद्रोणके समान कंसका प्रेम तुमपर कभी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुम तो जनार्दन (जन+अर्दन) हो अर्थात् सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है उसमें तुम किसीको रखना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हो जो सभीको मारनेवाले हैं उन्होंने अपने मामाको मार दिया तो उसमें विशेष क्या किया! इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिए कैसे योग्य नहीं है। तीसरी बात यह है कि तुम माधव (मा+धव) हो अर्थात् केवल लक्ष्मी अपने पास रखनेकी तुम्हारी हमेशा इच्छा रहती है। जो लक्ष्मी-धनसंपत्ति-को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा वह मामाको या किसी संबन्धीको मार देगा!! ऐश्वर्य या राज्यके लिए अपने पिताको भी लोग मार चुके हैं। परन्तु मैं वैसा नहीं हूं। मैंने तो इसी कारण त्रैलोक्यका भी राज्य मुझे नहीं चाहिये ऐसा तुमसे कहा है क्योंकि यह लक्ष्मीका मोह ही मनुष्यसे स्वजनवध जैसे घोर कर्म कराता है। अतः मैं कहता हूं कि मुझे राज्य भोग या सुख भी नहीं चाहिये और अपने सुखके लिए मैं इन आततायी कौरवोंको भी कभी नहीं मारूंगा।'

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वयः-यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन ! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि ये कौरव लोभसे भ्रष्टचित्त होनेके कारण कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक, नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥ तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें दीख पड़ता है इसलिये हम इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न करें ॥ ३९ ॥

भावार्थ-क्षत्रियोंने यदि धर्म और अधर्मका विचार छोड़ दिया है तो यह उसका दोष है हमें वैसा दोष नहीं करना चाहिये और धर्ममर्यादाका विचार अवश्य ही करना चाहिये ।

इस प्रकार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ अंशमें दुर्बलताका भागी किया और फिर कहने लगा—

(३८-३९) अर्जुन कहता है कि यद्यपि ये कौरव लोभके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक नहीं देखते हैं तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता कि हम पातकको न देखें या देखकर भी उससे निवृत्त होनेका उपाय न करें । लोभी मनुष्य किसी भी बुरे कर्ममें दोष या पातक नहीं समझता अवसर मिलता चाहे बुरा कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है अधिकार प्राप्त होने पर अपने किये बुरे कर्मोंको भी अपेक्षित अच्छा बतलानेकी चेष्टा करता है । यह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये करते ही हैं । परन्तु जो मनुष्य अपना गया हुआ राज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको वैसा अन्याय करना उचित नहीं । उनकी दृष्टि तो आत्मशुद्धिकी ओर होनी चाहिये । अपने आचरणमें कौनसा दोष है इसकी परीक्षा उनको सदा करनी चाहिये । और जहां दोष और पातकी संभावना हो वहांसे वह दोष दूर करनेका यत्न करना उचित है । कुलक्षय मित्रद्रोह पितृद्रोह बन्धुवध, गुरुहत्या संतानोंका उच्छेद सभ्यता का लोप ये सब पाप भयानक हैं । थोड़ीसी पृथ्वीके एक भागके राज्यवैभवके लिए क्या हम ये पाप करें ? यदि स्वराज्य प्राप्तिके इच्छुक लोग स्वयं ये पातक करने लग जावें तो उनका अधिकार ही क्या है कि वे साम्राज्य वादियोंकी इन्हीं दोषों और पातकोंके लिये निन्दा करें ? दोनोंके पातक समान ही होनेसे फिर एक पापियोंको हटाना और दूसरे पापियोंको उनके स्थानपर रखनेकी क्या आवश्य कता है ? कौरवोंने कुछ पातक तो किये हैं, परन्तु इस युद्ध के करनेसे हमसे जितने पातक होंगे उतने तो उन्होंने निःसन्देह नहीं किये हैं । कुलक्षय गुरुहत्या मित्रद्रोह, बन्धुवध सन्तानोंका उच्छेद और इनके नाशसे होनेवाला धर्म नाश आदि हमसे होगा यदि हम युद्ध करेंगे । इनमेंसे कौरवोंने क्या किया है कौरवोंने ऐसा एक भी दोष नहीं किया है । कौरवोंने हमारे (पाण्डवोंके) साथ अन्याय किया एक स्त्रीकी मानहानि भी कुछ और ऐसे थोड़ेसे पातक भी किये परन्तु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उससे हो सकती है ? यदि उनके थोड़ेसे पातकोंके कारण उनसे उन सबोंको राज्यगादीसे हटाना है तो उनसे अधिक पातक करनेके कारण हमारा राज्यपर हक कैसे सिद्ध हो सकता है ?

दोनोंका दोष

'हे कृष्ण ! तुम कहोगे कि युद्धमें दोनों ओरके वीर एक दूसरेको मारेंगे अतः पितृवध गुरुहत्या मित्रद्रोह आदि दोष दोनों ओर समान होंगे इसमें कोई कौरवोंका दोष कम और पाण्डवोंका अधिक नहीं है । यह कथन ठीक है । दोष तो दोनों ओर समान होंगे ही । परंतु

(११) कुलक्षयका परिणाम

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अन्वयः— कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिभवति ॥ ४० ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन अर्थात् परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर हो जाता है ॥ ४० ॥

यहां प्रश्न होता है कि यदि वे इस युद्धमें दोष नहीं देखते हैं, तो यह उनका बर्ताव सिद्ध करता है कि लोभके कारण उनकी बुद्धि मारी गई है। हमारी बुद्धि तो वैसी मारी नहीं गई है और यदि हम इसमें दोष स्पष्ट देखते हैं तो ऐसे भयानक दोषमय कर्मोंसे हम पीछे क्यों न हटें? किसीने लोभ या मोहसे बछड़ा मार दिया तो दूसरोंको जरूर ही गायका वध करना चाहिये ऐसी तो बात नहीं है। इसी लिये मैंने कहा कि पृथ्वीके राज्यके लिए क्या त्रिभुवनके *राज्यके लिये भी मैं कुलक्षयादिक घोर पातक नहीं करूंगा।*

कांटेसे कांटा निकालना

अर्जुनका यह कथन है। युक्तिवाद बड़ा मोहक है परन्तु एक कांटा शरीरमें घुस जावे और वह बाहर न निकले तो दूसरा कांटा फिर शरीरमें घुसाकर ही पहिलेको निकालना पड़ता है। उस समय यह युक्तिवाद करना कि भला एक कांटा तो पहिले ही शरीरमें घुसा हुआ है फिर और दूसरा शरीरमें क्यों घुसावें ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरा कांटा शरीरमें डालनेके बिना पहिला निकलेगा ही नहीं अतः दूसरा कांटा उपकारक और पहिला अपकारक समझा जाता है। इसी न्यायसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंके द्वारा चलाया युद्ध साम्राज्यवादियोंके दोषको दूर करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्दोष है और उसी युद्धमें साम्राज्यवादीकी ओरसे जो किया जाता है वह सदोष होता है। इसके अतिरिक्त एक साधारण नियम यह है कि जो लोग शासनाधिकार में रहते हैं, उनके हाथमें अधिकार होनेके कारण वे ही अधिक दोष करते हैं वैसा दोष उनसे कदापि नहीं हो सकता कि जिनके हाथमें अधिकार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि माना जाय कि इस स्वराज्यप्राप्तिके युद्धमें बन्धुवधविषयक दोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं तो उसमें साम्राज्यवादी कौरवोंके पूर्व कालके सब पातक यदि मिलाए जावें तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पाण्डवोंके पापोंसे निःसंदेह अधिक हो जायेंगे। अतः पाण्डव तुलनासे भी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं। इसलिए अर्जुनका यह युक्तिवाद अज्ञानसे पूर्ण ही है।

और भी एक बात है वह यह कि पाण्डवोंने शान्तिकी इच्छासे केवल पांच ही ग्राम मांगे थे। इतनी अल्पसन्तुष्टता दिखाई केवल युद्ध टालनेके लिए। पाण्डव सारे राज्यके स्वामी होकर केवल पांच ग्रामोंपर ही सन्तुष्ट होते हैं और केवल शान्तिके लिये इतना स्वार्थत्याग करते हैं इसका विचार करनेसे इस युद्धका कोई दोष पाण्डवोंपर नहीं आता है। जो कुलक्षयका अथवा बन्धुवधका दोष है वह केवल कौरवोंपर ही आता है। जो अधिकारसे उन्मत्त होते हैं और न्यायकी बातें भी नहीं सुनते उनपर सब दोष आता है। इस नियमानुसार युद्ध करके इतने वीरोंका वध करनेपर भी पाण्डव दोषी नहीं और कौरव ही इस वधके दोषी हैं। अतः अर्जुनका युक्तिवाद भ्रममूलक ही है।

अब आगे अर्जुन क्या कहता है देखिए—

(२ १५) युद्ध करनेके लिए प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें युवक लोग ही सम्मिलित होते हैं। आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्। (वात्स्यायन) सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके पुरुष युद्ध करनेके लिए रणभूमिपर उपस्थित होते हैं। भीष्म द्रोण जैसे अतिवृद्ध पुरुष भी क्वचित् युद्ध करते हैं परंतु यह नियम नहीं है। अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अन्वयः- हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति । हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ॥ ४१ ॥ संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति), हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

हे कृष्ण ! अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ तो कुलस्त्रियाँ दुराचारमें प्रवृत्त होती हैं । हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण ! स्त्रियोंके दोषयुक्त होनेसे वर्णसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्णसंकर होते ही कुलघातकी पुरुष और उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है और इनके पितर पिण्डप्रदान और जलतर्पण आदि क्रिया लुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

है शत्रुके साथ युद्ध करना ही होते हैं । इस कौरवपाण्डवोंके भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी मिलकर १८ अक्षौहिणी सेना उपस्थित थी । अक्षौहिणीका प्रमाण यह है-

७ ८ १　२
अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात् गज २१८७० ; रथ २१८७० ; अश्व ६५६१० , मनुष्य १०९३५० सब मिलकर २१८७०० अक्षौहिणीकी संख्या होती है । इसमें प्रत्येक हाथीके साथ रहनेवाले एक चार मनुष्य प्रत्येक रथके साथ रहनेवाले बीस पचीस मनुष्य घोड़ेके साथ रहनेवाले दोतीन मनुष्य भी गिनाना उचित है । इनकी गिनती करनेसे अक्षौहिणीमें मनुष्यकी संख्या आठ दस लाख हो जाती है । महा अक्षौहिणीका प्रमाण ११२११२९ गिना है-

० ० १　४२ (१ १ १
अयुतं नियुतं प्रयुतमर्बुदं न्यर्बुदं खर्वं निखर्वमेवं शङ्कुभिः ॥
महाक्षौहिणी प्रोक्ता संख्यागणितकोविदैः ॥

महाभारतीय युद्धमें १८ अक्षौहिणी सेना थी । न्यूनसे न्यून भी गिनतीकी जाय तो अनके कम ९ लाख छोटे बड़े थोड़े वीर इस युद्धमें संमिलित थे यह बात निश्चित है ।

थे । लाख वीर उस समयकी भारतीय जातिके परिपक्व फल थे । भारतीय जातिकी सारी आशा इनमें इकट्ठी हुई थी । ये भारतीय सभ्यताकी जीवित मूर्तियाँ थीं । भारतीय युद्धमें इनमेंसे गिनतीके दसपांच आदमी ही बचे ! अन्य सब कटे गये ! इनके कट जानेसे भारतीय सभ्यता प्रायः नष्टसी होगई । इस युद्धके पश्चात् राष्ट्रमें कुछ बूढ़े कुछ बालक और कुछ स्त्रियां बची होंगी । और कुछ पुरुषार्थहीन पुरुष रहे होंगे । युद्धमें जखमी होकर कुछ पुरुष बचते हैं तो वे हाथपांव कटजानेके कारण राष्ट्रमें निकम्मे होकर रहते हैं ।

इस प्रकार महायुद्ध होनेसे राष्ट्रीय सभ्यता जातीय परंपरा और कुलपरंपरा टूट जाती है । और राष्ट्रकी दृष्टिसे तथा और जातीय दृष्टिसे तथा अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं । इसी हानिका वर्णन अर्जुन कर रहा है । अर्जुन कहता है कि यदि हमने यह युद्ध किया तो इस समयतक चली आई हुई सारी सभ्यता नष्ट हो जायगी । हमारी आर्य जातिद्वारा लाखों वर्षोंसे प्रयत्नसे बनायी वैदिक संस्कृति लुप्त हो जायगी । युद्धके पश्चात् बचे हुए कुछ एक बोड़े देशमें मर जायेंगे और प्राचीन सभ्यताकी परंपराको चलानेवाला कोई मनुष्य इस जातिमें नहीं रहता ।

जो बालक बचेंगे वे सभ्यतामें अनभिज्ञ होनेके कारण

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वय- हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं वासः भवति इति अनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ अहो ! बत महत्पापं कर्तुं वयं व्यवसिताः यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वासस्थान होता है ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ अहो ! कितना बड़ा भारी पाप करनेके लिये हम तैय्यार हुए हैं, जो राज्यसुखकी लालसासे हम अपने भाइयोंको ही मारनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

भावार्थ- कुलके सब पुरुषोंका वध होनेसे स्त्रियां दुराचार करती हैं और दुराचारसे कुलका सर्वस्व नष्ट होता है अतः कुलका नाश करना बड़ा अनर्थकारक है।

सभ्यताकी रक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ होंगे और जब वे दुष्ट बनेंगे तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी। क्या उस समय वे आत्मकल्याण करने योग्य रहेंगे ? कभी नहीं।

जो स्त्रियां बचेंगी उनमें कुछ गर्भिणी होंगी उनके बच्चोंपर भी आनुवंशिक शुभ आचारके संस्कार कौन डालेगा ! अतः वेभी संस्कारहीन ही बनेंगे। जो तरुण युवतियाँ पति मरनेके कारण विधवा हो गई होंगी उनमेंसे कुछ सती बनकर पतिके साथ चल जायेंगी शेष बची स्त्रियोंमें कुछ थोड़ी पतिव्रतकी रक्षा कर सकेंगी ऐसा मानने पर भी चालीस लाख तरुणोंकी तरुणी सब स्त्रियां पतिव्रता धर्मसे रहेंगी और उनसे कोई बुरा आचरण नहीं होगा ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि वह तारुण्यका देहधर्म है और वह एक स्वाधीन रखना अति कठिन है इस कारण उनसे व्यभिचार आदि कुत्सित व्यवहार हो जायगा और इस कारण कुलकी शुद्धता मारी जायगी।

चालीस लाख वीरोंका संहार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी उनके व्यभिचारका पातक तो इस युद्ध करनेवालों पर ही आयगा। व्यभिचारसे कुलकी शुद्धता नष्ट होगी कुलपरंपरासे चले आये सदाचार नष्ट हो जायेंगे और ऐसी प्रजा बनेगी कि जिनको पूर्वेतिहासके विषयमें कुछ भी अभिमान नहीं रहेगा और जिनको पुरातन प्रथाओंका बोध भी ज्ञात नहीं होगा। जो स्त्रियां व्यभिचारके लिए प्रवृत्त हो जायेंगी वे तो स्ववर्णमें या स्वजातिमें ही व्यभिचार करेंगी ऐसा नियममें कोई नियम नहीं होगा। क्योंकि अनाचारमें नियम किस प्रकार रह सकता है ? यदि उनमें प्रतिलोम व्यभिचार होगया अर्थात् हीन वर्ण या हीन जाति अथवा हीन संस्कारोंके मनुष्योंसे व्यभिचार हो गया और वह वर्णसंकरसे बिगड़ा हुआ कुल जीवित भी रहा तो उसमें कुसंस्कार के बीज घुसनेके कारण, उससे सभ्यताकी इतनी हानि हो जायगी कि वह किसी प्रकार भी फिर ठीक नहीं हो सकती।

वर्णसंकरसे आर्यकी जाति नष्ट हो जाती है। आज तो प्रत्येक कुलका अभिमान एक एक वीरमें है वह इस रीतिसे नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके थोड़ेसे लोग दीख पड़ते हैं उनकी ही संख्या दुगुनीमें बढ़ जायगी। अर्थात् इस युद्धसे हम आज आर्यत्व और परंपरासे चली आयी आर्यधर्मकी सभ्यताका ही नाश कर रहे हैं !! इस युद्धसे लाभ होनेकी तो कोई आशा दीखती ही नहीं है। इसलिए युद्ध करना बड़ा भारी पाप है।

राज्य और सुखके लिए आर्यत्व ही समूल नाश करना कदापि योग्य नहीं है अतः मैं युद्ध नहीं करता, यह अर्जुन के कथनका आशय है।

जो युद्धका भयानक चित्र अर्जुनने भाषणमें खींचा है वह सत्य है इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक महायुद्धमें ऐसा हुआ ही करता है। परन्तु महायुद्ध ऐसे समय होते हैं कि उससे पूर्व एक या अनेक दलोंके पातक बहुत ही इकट्ठे हुए होते हैं और पातकोंके कारण अनर्थोंके अंत-कालोंकी

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः— यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः तत् मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र मुझ निःशस्त्र हुए और प्रतिकार न करनेवालेको इस रणक्षेत्रमें मार डालें, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

अवस्था ऐसी विचित्र अवस्था हो जाती है कि उस समय उन दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसा ही अपरिहार्य था प्रयत्न करनेपर भी इसको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। वे पातक केवल दुर्योधनके द्वारा ही हुए ऐसी बात नहीं है, वे इसके पूर्वसे हो रहे थे। शन्तनुराजाका बूढा अवस्थामें द्वितीय विवाह करना, सत्यवतीके पुत्रको राज्याधिकारी निश्चित करना और सच्चे युवराजका अधिकार भीष्मप्रतिज्ञाके कारण छीना जाना ये और ऐसे अनेक पातक इससे पूर्व हो चुके थे और क्रमशः हो रहे थे। मानो राज्याधिकारियोंको पातक करनेका अभ्यास हो गया था। राष्ट्रमें ऐसे पातक जमा होते हैं और वे राष्ट्रके मनपर कुसंस्कार डालते रहते हैं, ऐसे कुसंस्कार जमते जमते एक समय ऐसा आता है कि जिस समय राष्ट्रीय मन अधिक कुसंस्कारोंका भार सहनेमें असमर्थ हो जाता है और थोडेसे निमित्तसे झगडा छिड जाता है तथा युद्धकी अग्नि भडक उठती है। कोई संधि करनेका प्रयत्न करता है तो उसका कथन दूसरा समझ ही नहीं सकता। और जो जो प्रयत्न संधिके लिये किये जाते हैं वेही युद्धकी अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये कारण हो जाते हैं!!!

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं। इस समय यदि अर्जुन जैसा प्रभाव वीर युद्धसे निवृत्त हो जाए, तो उसके स्थानपर दूसरा खडा हो जाता है और युद्ध होता ही है। अतः ऐसे समय अर्जुनके समान युद्धसे भाग जानेका निश्चय करना भी युक्त नहीं होता। क्योंकि वह समय ऐसा होता है कि एक वीरके भाग जानेसे या मर जानेसे युद्ध बंद होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बन्द उस समय होता कि जब एक पक्ष पूरा कमजोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्णतया युद्ध करके थक जावें।

अर्जुनने जो युद्धके भयानक परिणाम वर्णन किये वे सत्य हैं परन्तु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनका भागना ठीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे सन्यास लेकर भागभी जाता तो युद्ध कभी बन्द नहीं होता। यही समय को न जानना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय जैसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था वैसा ही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्य ही हुआ था। उस समय भी सहस्रों क्षत्रियकुलोंका संहार हुआ। भारतीय युद्धमें भी लाखों क्षत्रिय विनष्ट हुए। द्रोण, कृप और अश्वत्थामाकी बात छोड दी जाय तो शेष प्रायः सबके सब क्षत्रियवीर ही थे। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर क्षत्रिय ही युद्ध करते थे। परन्तु यदि राष्ट्रके हरएक व्यक्तिको युद्धदीक्षा लेनेका प्रसंग उत्पन्न हो, तो सब लोगोंमें केवल एक ही क्षात्रगुणका उत्कर्ष होता है और ज्ञान विचार वाणिज्य व्यापार कुशलता और कारीगरी ये ब्राह्मणों वैश्यों और शूद्रोंके गुण प्रायः दब जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दब जानेसे भी राष्ट्रपर आपत्ति ही आती है। यह भी एक प्रकारका वर्णसंकर समझिये अथवा वर्णनाश समझिये जो महायुद्धके कारण हो जाता है ब्राह्मण सहायके लिये क्षात्रकर्म करने लग जावें तो वह भी एक प्रकारसे वर्णसंकर ही हो जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मणके वैश्यकर्म करनेसे भी उसके ब्राह्मणगुण न्यून होते हैं। इसकारण वर्णभ्रष्टता हो जाती है। दीर्घयुद्ध तथा महायुद्धके कारण ये सब हानियां होती हैं। अर्जुन इन हानियोंका अनुभव कर रहा है, इसलिये वह युद्ध करनेसे निवृत्त होनेका निश्चय करता है।

यहां श्लोक ३१ में श्रीकृष्णको वार्ष्णेय अर्थात् वृष्णी के कुलमें उत्पन्न वीर कहा है इस शब्दसे अर्जुनने यहां यह सूचित किया है कि तुम भी तो वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम स्वयं चाहते हो कि तुम्हारे कुलका ऐसा नाश हो जाय और वर्णसंकर होकर कुलका धर्म नष्ट हो जाय? जैसे तुम्हारा कुल तुम्हें प्रिय है वैसेही हमारा कुल हमें प्रिय है। इसलिये मुझे ऐसा घोर कर्म करनेकी इच्छा नहीं है ऐसा तुम्हारे लिये उचित नहीं है।

सञ्जय उवाच— एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वय:— संख्ये एवं उक्त्वा, शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे उपाविशत् ॥ ४७ ॥

सञ्जय बोले— इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर शोकसे व्याकुल चित्त होकर अर्जुन धनुष्यबाण छोड़कर रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इसप्रकार अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय कहता है—

(४७) युद्धसे होनेवाला भयानक कुलका नाश अर्जुनने देखा और उसके आगे जाकर होनेवाले सन्तानके नाशरूपी भयंकर परिणामका भी उसने विचार किया और उसने युद्ध न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं युद्ध न करनेपर भी भी विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही इस विषयमें वह कहता है कि "यदि मेरे शान्त निर्वैर रहनेपर शत्रु मुझपर शस्त्र चलावें तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।" क्योंकि जनता कहेगी कि 'अपनी ओरसे अर्जुनने तो शान्ति रखनेका पराकाष्ठाका यत्न किया, साथ एवं रहनेपर भी अहिंसात्मकका अवलम्ब किया तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवोंने अपनी पाशवी शक्तिके मदमें न्याय और अन्याय न समझते हुए, निःशस्त्र और विरोध न करनेवालेका बिना कारण वध किया। निःशस्त्र निर्वैर और अहिंसावादी मनुष्योंपर पाशवी बलसे आक्रमण करना और उनपर शस्त्र चलाना यही अधोगतिको पहुँचे हुए साम्राज्यवादियोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता।' जनता ऐसा कहेगी और जनताके ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होनेके सूचक हैं। यहाँ अर्जुनका भाषण समाप्त होता है।

(४७) सञ्जयने धृतराष्ट्रसे यह सब वृत्तान्त कहकर सूचित किया कि अर्जुन तो अपना धनुष्यबाण त्यागकर अपने रथमें दुःख करता हुआ बैठ गया। अर्थात् युद्ध करनेका उसका संपूर्ण उत्साह नष्ट हुआ उसकी वीरवृत्ति चली गई उसका हृदय दुःखसे भर गया और वह पूर्ण रीतिसे उदास हो गया है।

सम्भव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्रके मन ही मनमें अत्यंत आनंद हुआ हो क्योंकि संजयद्वारा उसने जो उपदेश पांडवोंको करवाया था उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्रको अभीष्ट था वही उसने संजयके मुखसे श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले पांडवके सन्मुख देख आनाके समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्यवादी धार्तराष्ट्रोंके सामने अपना साम्राज्य कंटकरहित होकर चिरस्थायी होनेकी आशा खड़ी हुई! परंतु होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्यका प्रयत्न करनेवालोंकी बारबार होनेवाली निराशासे ही उनकी परमेश्वरपर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नवशक्ति मिलती है और साम्राज्यवादियोंके विजयोंसे ही उनका घमंड बढ़ जानेके कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्मविद्यासे मिश्रित हुए, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विषादयोगका विचार

'श्रीमद्भगवद्गीता' एक अपूर्व ग्रन्थ है इसी कारण इसकी इतनी मान्यता इस देशमें और इस देशके बाहरके देशोंमें भी हो गई है। हिंदूमात्रका प्रेम इस भगवद्गीतापर असीम है। पुराने विचारके अनुयायी हिंदू प्रतिदिन गीताका पाठ श्रद्धासे करते हैं। संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको धन्य समझते हैं। भाषाज्ञानी हिंदू गीतापर टीकाटिप्पणी रूपान्तर भाषान्तर अथवा अन्य प्रकारका प्रबन्ध या निबन्ध लिखनेमें आनन्द मानते हैं। इस कारण इस भारतवर्षमें इस 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर इतने ग्रन्थोंकी रचना हुई है कि उन सबका संग्रह करना किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका काम है। बहुतसे भारतीय कवियोंने इसका रूपान्तर अपने अपने भिन्न छन्दोंमें किया है सैकडों भाषान्तरकर्ताओंने गद्यमें विविध भाषान्तर किये हैं नवीन ग्रन्थकार अपने मतकी पुष्टिके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दिये बिना सन्तुष्ट नहीं होते। क्योंकि भोजनके पूर्व उच्चारे जानेवाले मंत्रोंमें भी भगवद्गीताका एक श्लोक 'अहं वैश्वानरो भूत्वा०' (भ. गी. १५।१४) संमिलित हुआ है, जिससे प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि कि कोई हिंदू भगवद्गीताका श्लोक पढनेके बिना भोजन नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीताने इतना महत्त्वका स्थान हिंदूके हृदयमें प्राप्त किया है इससे ग्रन्थकी श्रेष्ठता ज्ञात हो सकती है।

भारतवर्षकी भाषाओंसे भिन्न विदेशकी कई भाषाओंमें भी उन देशके निवासियोंने ही सबसे अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किये हैं। जिसका जो धर्मग्रन्थ है वह उसका प्रचार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है यह बात स्वतन्त्र है। इस प्रकार हिंदू लोगोंने गीताका रूपान्तर अन्यान्य देश भाषाओंमें किया होता तो कोई विशेष बात नहीं होती; परन्तु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्यान्य भाषाओंमें हुआ है वह हिंदुओंद्वारा नहीं हुआ है अपितु अन्य देशके विद्वानोंने इस गीताकी विशेषताका अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसे ही इसके विचार अपनी अपनी भाषामें प्रथित किये। ग्रन्थकी योग्यताका निश्चय करनेमें यह एक बात जैसी श्रीमद्भगवद्गीताके अनुकूल है, वैसी किसी अन्य धर्मग्रन्थके विषयमें नहीं है।

इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष माननीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिये इसका विचार करनेका यत्न यहां किया जाता है। सबसे प्रथम इसके नामका विचार करना योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताका नाम

गीता

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'भगवद्गीता' अथवा 'गीता' ये इसके नाम सबके मुखमें स्थिर हो चुके हैं। इन नामोंका अर्थ 'भगवान्‌का गीत' है अर्थात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे इसके प्रकट होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है यह बात हरएक मान सकता है अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनको यह उपदेश किया यह बात सभी मानते हैं। 'धर्मसंरक्षण करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जन्म लिया था और जो धर्म उन्होंने कहा और आचरण करके दिखाया वही धर्म इस 'गीता' में कहा है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस मानवी धर्मका उपदेश किया अथवा धर्मतत्त्वोंका गायन किया वही 'श्रीमद्भगवद्गीता' अथवा 'भगवद्गीता' है। यह नाम ही इस उपदेशके भगवान्‌के मुखसे दिये जानेकी बात सूचित करता है और इसलिये भक्तका आत्मविश्वास बढता है कि यदि मैं इस उपदेशके अनुसार चलूं तो निःसन्देह मेरा बेडा पार हो जायगा, क्योंकि इस उपदेशके अनुसार चलनेका अर्थ ही यह है कि भगवान्‌के कथनके अनुसार चलना।

'गीता' शब्दका अर्थ 'गायी' गयी है। इस समय तक अनेक गीत गाये गये हैं, परन्तु 'गीता' शब्द सबसे प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीताके लिये प्रयुक्त हुआ क्योंकि इस को देखकर लोगोंको यह निश्चय हो गया कि यदि कोई सच्चा मानवधर्मका गीत गाया गया है, तो वह यही है। इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है। ऐसा कहते हैं कि

इस सुपुत्रको जन्म देनेसे वह माता ' माता ' बनी अर्थात् जन्म मातापुत्रको प्रसव करनेवाली स्त्री निःसंदेह होती हैं, परन्तु सुपुत्रके कारण ही माताका नाम यशस्वी होता है इसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो अन्य ग्रन्थोंमें वह होते हैं वे सब गीत ही हैं। परन्तु इस गीतासे मनुष्य परम धन्य हो सकता है इसलिये यही सच्चा गीत है, अतः इसका नाम गीता प्रसिद्ध हुआ और सबको यही नाम अत्यंत प्रिय हुआ। भगवद्गीताके पश्चात् सैकडों गीतायें बनीं। रामगीता अनुगीता आदि सैकडों गीताग्रंथ हैं परन्तु जनतामें गीता नाम श्रीमद्भगवद्गीताका ही सच्चा नाम समझा है अतः गीता' शब्दसे किसी अन्य गीताका बोध नहीं होता केवल इस भगवद्गीताका ही बोध होता है।

इस गीताके प्रत्येक अध्यायसे अन्तका संकल्प इस प्रकार रहता है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽ] ध्यायः ॥ १५ ॥

इसमें आये श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद ' इन पांच शब्दोंमेंसे हरएक नाम इस ग्रंथका हो सकता है। इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता ' होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है। इसी प्रकार इसका नाम उपनिषद् भी है सभी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

संपूर्ण उपनिषद् सभी जितनी गौवें हैं उनका सारभूत यह दूध श्रीकृष्ण भगवान्ने दुहा है, अर्जुन नामक बुद्धिमान् बछडा उस दूधका सेवन करता है। इस प्रकार यह उपनिषदोंका सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह उपनिषद् का अर्थ (उप) समीप (नि) निःसंदेह (षद्) पहुंचानेवाला ज्ञान है। इस गीतामें कहा हुआ ज्ञान मनुष्यको निःसंदेह ईश्वरके समीप जाकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है इसलिये इसका नाम उपनिषद् ' है।

इस गीताका नाम ब्रह्मविद्या ' भी है। ब्रह्म ' नाम अति महती शक्तिका है उस महान् शक्तिका ज्ञान (विद्या) जानना और अपनी शक्ति बढाना इस ब्रह्मविद्याका उद्देश है। हरएक मनुष्य अपने अन्तरमें अनुभव करता ही है उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी शक्तिका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे साधक अपनी शक्ति अतिविस्तृत कर सकता है।

इस गीताका नाम योग-शास्त्र ' भी है। इस गीतामें अठारह योग कहे हैं। प्रत्येक अध्यायमें एक एक योग कहा है। सब अठारह योग मिलकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा अतः यहां इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रन्थका नाम ' श्रीकृष्णार्जुनसंवाद ' भी है। यह पूर्ण पुरुष और साधकका संवाद है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष हैं और अर्जुन (अर्जन) प्राप्त करनेवाला साधक है। पूर्ण पुरुषसे पूर्ण बननेके साधनका ज्ञान यह साधक प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, और ज्ञान प्राप्त होते ही वह वैसा ही आचरण करता है। इसमें एक साधकका इतिहास होनेसे हरएक साधकको यह अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यदि मनुष्य मात्र साधक माना जाय तो यह संवाद मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक होना संभव है

ये पांच नाम गीताके अध्यायके अन्तिम संकल्पमें हैं। इनमें ' योगशास्त्र यह एक नाम है। गीतामें योग नाम ' कर्मयोग के लिये आया है इसी लिए स्वर्गीय श्री लो. बालगंगाधर तिलक महोदयजीने अपनी भगवद्गीताकी टीकाको कर्मयोगशास्त्र नाम दिया है। इसीको आपने श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताका रहस्य कर्मयोग ही है इसमें किसी का विरोध नहीं हो सकता। किस प्रकारके कर्म करनेसे मनुष्य बंधनमें नहीं आता इसका संपूर्ण विवरण इस गीतामें है, इसलिए इसका नाम कर्मयोगका शास्त्र योग्य ही है।

इनके पश्चात् श्री महात्मा मोहनदास करमचंद गांधी जीने श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद गुजराती भाषामें किया,

जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्तियोग' रखा इस विषयमें वे अपने इस प्रकार लिखते हैं-

गीताका आशय तो आत्मार्थीको आत्मदर्शनका अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदूधर्ममें यत्रतत्र बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें भलीभाँति सिद्ध की है कर्मफलत्याग ही वह अद्वितीय उपाय है। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। पर कर्म मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोषस्पर्शोंसे कैसे छूटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जवाब यों दिया है-निष्काम कर्मसे। यज्ञार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर। 'शारीरिक या मानसिक कोई भी चेष्टा कर्म है तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधमुक्त कैसे रहेगा? यह पहेली गीताजीमें जिस तरह बूझी गई है मैं नहीं समझता कि दूसरे किसी एक भी धर्म ग्रंथमें वह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,- फलासक्ति छोडो और कर्म करो निराशी बनो और कर्म करो, निष्काम बनकर कर्म करो यह गीताजीकी कभी न भूलने योग्य ध्वनि है कर्म छोडनेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोडनेवाला चढता है।

यह गीताकी विशेषता है अतः अनासक्तियोग यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीताको दिया है यह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको कर्मयोग शास्त्र कहा और महात्मा गांधीजीने इसीको 'अनासक्ति-योग' नाम दिया उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको देनेकी परंपरा पहिलेकी नहीं है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम देनेका यत्न नहीं किया। श्रीमच्छं-कराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

दीर्घेण कालेन ... अधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे जगतः स्थितिं परि-पिपालयिषुः स आदिकर्ता .. विष्णुः ... कृष्णः किल सम्बभूव। ..नः ... शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय अर्जुनाय ... वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय — उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध॥ तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं ... । तस्यास्य गीताशास्त्रस्य ... पतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं ...॥'

(गीताभाष्यम्)

बहुत समय जानेके पश्चात् ... अधर्म बढनेपर जग... सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिपुरुष विष्णु कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। उन्होंने अर्जुनके ऊपर ... करते हुए वेदके दोनों-प्रवृत्ति निवृत्तिरूप-धर्मोंका उ... अर्जुनको ... दिया। भगवान्ने जैसा उपदेश किया ... ही उस धर्मको वेदव्यासजीने गीता नामक सा... श्लोकोंमें ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वे... सार ही है... । उस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन श्रेयस है ।

इस प्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम गीत... ... माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और यह नाम दिया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती भी इसको गीताशास्त्र ही ... है देखिये—

परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ १ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ॥ २ ...

(मधुसूदनसरस्वती टीका...

श्रीधरस्वामी भी इसी नामसे पुकारते हैं।

यथामति समालोच्य गीताव्याख्यां समारभे ॥ १...
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः ॥ २ ॥

(श्रीधरस्वामी-टीका...

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका ... गीता इतना ही स्वीकार करते हैं और कोई नया ... नहीं देते। इसी-प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन स... गीता ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् 'गीता' इतना ही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत ... सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये ... भी हैं। परंतु जितना 'गीता' शब्द प्रचलित है उतने वे प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं ... उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तवमें देखा जाय तो भगवद्गीतोपनिषद् इतना इसका नाम होना योग्य परन्तु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारने भी इ...

वैयासमात्र नाम स्वीकार नहीं किया, अर्थात् उनके समयमें भी 'गीता' इतना ही नाम सर्वसंमत था।

जो तिलक इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको 'अनासक्तियोग' कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है अतः ये दोनों नाम नये होने परभी योग्य हैं। परंतु ये साधकका मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्ति कर्म करे यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। प्रायः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो 'उपनिषद् और ब्रह्मविद्या' ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्य की सूचना देते हैं। 'योगशास्त्र' यह नाम 'कर्मयोगशास्त्र' माननेपर साधकका मार्ग बताता है यह सत्य है; परंतु गीतामें 'योग' शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है यह बात सत्य नहीं है। 'समत्वं योग उच्यते' (भ. गी. २।४८) समत्वका नाम योग है ऐसी योगकी व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धांत है इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पमें 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ 'समताशास्त्र' (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका 'समत्व' ही साध्य है। ईश्वरभक्ति ब्रह्म-प्राप्ति आदिका भी यही अर्थ है कि परिधको छोडकर मध्य केन्द्र जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापित होना चाहिये उसके विचार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें राष्ट्रमें और जगत्में स्थापित होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिये तडप रहा है तो इसी समताके लिये तडप रहा है। यह समत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शाया है अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है, तो 'समताशास्त्र' ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' ऐसा शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। यहां योगका अर्थ कर्मयोग नहीं है। क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ समत्व है ऐसा स्वयं गीतावचनोंने कहा है आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मोंसे समता स्थापित हो सकती है यह बात निःसंदेह है परंतु अनासक्तियुक्त कर्म-कौशलरूप कर्मयोग (भ. गी. २।५०) साधन है और उसका साध्य 'समता' है।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'जोडना' है किसीसे अपना संबन्ध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबन्ध सबसे पहिले विषाद (खेद) के साथ जोडा था, इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबन्ध पुरुषोत्तम (ईश्वर) से जोडेगा तो वह उसका पुरुषोत्तमयोग होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबन्ध 'उत्तम पुरुष' से करना ही भगवद्गीताका साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था वही गीतोपदेशका श्रवण कर उत्तम पुरुष से युक्त होकर नरका नारायण बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, बनाना ही गीताका ध्येय है। इसलिये इसका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' अथवा 'नारायणयोग' भी हो सकता है। इसके १५ वें अध्यायमें पुरुषोत्तमयोग कहा है वही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है क्योंकि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' होना चाहिये। यह नाम संयोग्य भी है और जो जो उपाय कहे हैं वे सबके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो 'समतायोग' का नाम उसके बाद ध्यानमें आ सकता है यह नाम भी संयोग्य ही है।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
(भ. गी. ६।३३)

आपने जो समतारूपी योग कहा है वहां 'साम्य योग' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत्में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये गीता कही गई है। यहां ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है कि यह गीता तो युद्ध भूमि पर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है समता बतानेवाली नहीं। यह शंका विचार

जिसका नाम उन्होंने अनासक्तियोग रखा है उस विषयमें वे स्वयं इस प्रकार लिखते हैं-

गीताका आशय तो आत्मार्थीको आत्मदर्शनका अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें अलग अलग बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें भलीभाँति सिद्ध की है, कर्मफलत्याग ही वह अद्वितीय उपाय है। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। पर कर्म मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोषस्पर्शसे कैसे छूटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जवाब यों दिया है-निष्काम कर्मसे। यथार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर। शारीरिक या मानसिक कोई भी चेष्टा कर्म है तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धमुक्त कैसे रहेगा? यह पहेली गीताजीमें जिस तरह बूझी गई है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एक भी धर्म ग्रंथमें यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,- फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो निराशी बनो और कर्म करो निष्काम बनकर कर्म करो यह गीताजीकी कभी न भूलने योग्य ध्वनि है कर्म छोड़नेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोड़नेवाला चढ़ता है।

यह गीताकी विशेषता है अतः अनासक्तियोग यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीताको दिया है वह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको कर्मयोगशास्त्र कहा और महात्मा गांधीजीने इसीको अनासक्तियोग नाम दिया उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको इनसे पहिलेकी परंपरा नहीं है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम इसका अन्य नहीं किया। श्रीमच्छंकराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

दीर्घेण कालेन... प्रवर्तमाने धर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता...विष्णुः कृष्णः किल सम्बभूव। स... लोकानुग्रहं कुर्वन्... वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय —उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं। तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं ॥'

(गीताभाष्यम्)

बहुत समय जानेके पश्चात् अधर्म बढ़नेपर जगत्की सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिकर्ता विष्णु कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। उन्होंने जनताके ऊपर कृपा करते हुए वेदके दोनों-प्रवृत्ति निवृत्तिरूप-धर्मोंका उपदेश अर्जुनको दिया। भगवान्ने जैसा उपदेश किया वैसा ही उस धर्मको वेदव्यासजीने गीता नामक सातसौ श्लोकोंमें ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वेदोंका सार ही है। इस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन निःश्रेयस है।

इस प्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम गीताशास्त्र माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और न दूसरा नाम दिया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती भी इसको गीताशास्त्र ही कहते हैं देखिये—

परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ १ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ॥ २ ॥

(मधुसूदनसरस्वती टीका)

श्रीधरस्वामी भी इसी नामसे पुकारते हैं।

यथामति समालोच्य गीताव्याख्यां समारभे ॥ १ ॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः ॥ २ ॥

(श्रीधरस्वामी-टीका)

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका नाम गीता इतना ही स्वीकार करते हैं और कोई नया नाम नहीं देते। इसी-प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन सबमें गीता ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् गीता इतना ही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत और सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये नाम भी हैं। परंतु जितना गीता नाम प्रचलित है उतने वे भी प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात् उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद वे कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तवमें देखा जाय तो श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् इतना इसका नाम होना योग्य है, परन्तु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारने भी इतना

केवलमात्र नाम स्वीकार नहीं किया अर्थात् उनके समयमें भी 'गीता' इतना ही नाम सर्वसंमत था।

श्री तिलक इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको 'अनासक्तियोग' कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है अतः ये दोनों नाम नये होने परभी योग्य हैं। परंतु ये साधकका मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्ति कर्म करे यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। साधः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो 'उपनिषद्' और 'ब्रह्मविद्या' ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्य की सूचना देते हैं। 'योगशास्त्र' यह नाम *'कर्मयोगशास्त्र' माननेपर* साधकका मार्ग बताता है यह सच है; परंतु गीतामें 'योग' शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है यह बात सत्य नहीं है। 'समत्वं योग उच्यते (भ. गी. २।४८)' समत्वका नाम योग है ऐसी योगकी व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धांत है, इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पके 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ 'समताशास्त्र' (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका 'समता' ही साध्य है। ईश्वरप्राप्ति ब्रह्म-प्राप्ति आदिका भी यही अर्थ है कि व्यक्तिको छोडकर मध्य केन्द्र जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापित होना चाहिये उसके विचार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें राष्ट्रमें और जगत्में स्थापित होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिए तडप रहा है तो इसी समताके लिये तडप रहा है। यह समत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शाया है अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है तो 'समताशास्त्र' ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' ऐसा शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। यहां योगका अर्थ कर्मयोग नहीं है। क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ समत्व है ऐसा स्वयं गीताकारने कहा है आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे समता स्थापित हो सकती है यह बात निःसंदेह है परंतु अनासक्तियुक्त कर्म-कौशलरूप कर्मयोग (भ. गी. २।५०) साधन है और उसका साध्य 'समता' है।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'जोडना' है किसीसे अपना संबन्ध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबन्ध सबसे पहिले 'विषाद' (खेद) के साथ जोडा था, इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुनविषाद योग' है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबन्ध 'पुरुषोत्तम (ईश्वर)' से जोडेगा तो वह उसका पुरुषोत्तमयोग होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबन्ध 'उत्तम पुरुष' से करना ही भगवद्गीताका साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था वही गीतोपदेशका श्रवण कर 'उत्तम पुरुष' से युक्त होकर नरका नारायण बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम बनानाही गीताका ध्येय है। इसलिये इसका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' अथवा नारा-यणयोग भी हो सकता है। इसके १५ वें अध्यायमें पुरुषोत्तमयोग कहा है यही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है क्योंकि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' होना चाहिये। यह नाम यथोचित भी है और जो जो उपाय कहे हैं वे उसके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो 'समतायोग' का नाम इसके बाद ध्यानमें आ सकता है यह नाम भी यथोचित ही है।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
(भ. गी. ६।३३)

आपने जो समतारूपी योग कहा है यहां साम्य योग शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत्में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये गीता कही गई है। यहां ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है कि यह गीता तो युद्ध भूमि पर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है समता बतानेवाली नहीं। यह ऐसा विचार

करनेके पूर्व सत्य प्रतीत होती है, परन्तु थोडासा विचार करनेपर वह शंका स्वयं ही असत्य होती। जो युद्ध श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनसे करवाया वह समताके स्थापनके लिये करना अपरिहार्य था। कौरवोंने विषमता उत्पन्न की थी; वे विषमताके लिये अपनी शक्ति लगा रहे थे समझानेपर भी वे समझनेकी अवस्थामें नहीं आये, अतः कौरवोंको विषमतासे हटानेके लिए युद्ध अत्यंत आवश्यक होगया था। अर्थात् भारतीय युद्ध हत्याके लिये नहीं हुआ था अपितु शत्रुकी हत्याकी वृत्तिको रोककर जगत्‌की विषमता दूर करनेके लिये और समताकी स्थापनाके लिये हुआ था। यही कारण है कि युद्ध भूमिपर यह समताका संदेश भगवान्‌ने कहा और अर्जुनके द्वारा जगत्‌को सुनाया ताकि लोगोंकी जनता जगत्‌में समता स्थापन करनेका यत्न करे।

अध्यायोंके नामोंका विचार

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अध्यायोंके नामोंका विचार करते हैं। इन नामोंका विचार करनेके समय एक बात प्रमुखतासे सामने आती है वह यह कि वे अध्यायोंके नाम हरएक टीकामें भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। गीता सर्वमान्य ग्रन्थ है इसलिये उसके अपार आदरकी सुरक्षा करना उसके अनुयायियोंका कर्तव्य है परन्तु अध्यायोंके नामोंके विषयमें बड़ी विभिन्नता दिखाई देती है इस बातका स्पष्ट करनेके लिये हम कई टीकाकारोंके दिये हुए अध्यायोंके नाम यहां कोष्टकमें देते हैं इनको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि एक ही टीकाकारके ग्रन्थमें भी अध्यायोंके नाम मूलमें और टीकामें भिन्न भिन्न दिये हैं। देखिये वे हैं कोष्टक—

[कोष्टक ५४ और ५५ पृष्ठपर देखो]

श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यमें छपे ग्रन्थमें १३ वें अध्यायका नाम मूलमें प्रकृतिपुरुषविवेकयोग छपा है और इसी अध्यायके भाष्यमें इसी अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ योग' मुद्रित हुआ है। यह ही मुद्रण और इसकी अवस्था है।

ज्ञानेश्वरजीने अनुष्टुभकी अलौकिक मराठी टीका की है उसमें मूलमें अध्यायोंके नाम और टीकामें अध्यायोंके नाम भिन्न है। वे टीकाकार भाष्यकारके अनु-यायी होनेपर भी शांकरभाष्यमें दिये अध्यायके नामोंसे भिन्न नाम इनके मूलमें पाये जाते हैं और इनकी टीकाओंमें तो उससे भी अधिक भिन्नता है।। ये तीनों कोष्टक पाठक स्वयं तुलना करके देखें।

लो. तिलक मुद्रित 'गीतारहस्य' में भी छठे अध्यायके मूलमें 'अध्यात्मयोग' छपा है और अर्थमें 'ध्यानयोग' नाम छपा है। तेरहवें अध्यायका नाम मूलमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञवि-भागयोग है और अर्थमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग छपा है।

अन्य छपे पुस्तकोंके अध्यायोंके नाम पाठक इन कोष्टकोंमें देखकर उनकी विविधताका अनुमान कर सकते हैं वास्तवमें देखा जाय तो ये नाम एक ही होने चाहिये और इनमें इस प्रकार विविधता नहीं होनी चाहिये। परंतु इस प्रकारकी विविधता चली आती है और अभीतक इसका निर्णय नहीं हुआ, यह निःसंदेह खेदकी बात है।

इनमें कई नाम अर्थकी दृष्टिसे एकरूपके बोधक माने जा सकते हैं परंतु कई नाम विभिन्न ही हैं और उनमें संगति लग नहीं सकती। जैसा जो तिलकजीके छठे अध्यायके मूलमें अध्यात्मयोग और अर्थमें उसीका नाम 'ध्यान योग' छपा है। ये एक अर्थके नाम नहीं हैं। इसी प्रकार भी शांकर भाष्यमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग और मूलमें 'प्रकृति पुरुषविवेकयोग' है या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग है अर्थात् यहां विवेकयोग हुए है या केवल योग हुए है यह शंका रहती है।

चतुर्थ अध्यायके 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग ब्रह्मार्पणयोग ज्ञानयोग ब्रह्मविभागयोग कर्मसंन्यासयोग, कर्मब्रह्मार्पण योग इतने नाम हैं इनमें कुछ भिन्न हैं पर कइयोंकी संगति अर्थदृष्टिसे लग भी जायगी। इसी प्रकार अन्य अध्यायोंके विषयमें कुछ भिन्नता पर कुछ समानता भी है।

इतनी विभिन्नता होनेपर भी हम अध्यायोंका तात्पर्य देखकर पर अध्यायके सारांश पहिला विचार करके अध्या-योंके नाम हम समयमें भी निश्चित कर सकते हैं। इस विषयमें हमारा अभ्यास इस प्रकार है—

पहिले अध्यायका सर्वसंमत नाम अर्जुनविषाद योग है। किसीका इस विषयमें मतभेद नहीं है। वास्तवमें यह विषाद-योग ही है। 'अर्जुन नाम अर्जुन कहेगा

कैसा है। धर्मार्जन, ज्ञानार्जन, मोक्षार्जन ये विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका भाव प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका प्रारंभ विषाद स्थितिमें होता है। (विषसीदन्निदमब्रवीत्। भ गी अ १।२८) यह श्लोक इस अध्यायका नाम सूचित करता है।

२ द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' बहुसंमत है। केवल अकेले मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें इसका 'भगवीतासूत्रम्' दिया है। वस्तुतः द्वितीयाध्यायके श्लोक ३९ तक ही सांख्यमतका सिद्धांत वर्णन किया है। एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (भ गी २।३९)' यह सांख्यसिद्धांत तुमसे कहा अब योगसिद्धान्त सुन। ऐसा कहकर सांख्यमत बताया और इसके पश्चात् ४० वें श्लोकसे योगमत कहना प्रारंभ किया है। इसके अनंतर ५५ वें श्लोकसे 'स्थितप्रज्ञके लक्षण' और 'ब्राह्मीस्थिति' के लक्षण वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत स्थितप्रज्ञलक्षण और ब्राह्मीस्थिति इनका वर्णन इस अध्यायमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमतके प्रतिपादनके लिये गया है इस कारण इस अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको 'सांख्य+योग' कहा होगा।

३ तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' सर्व टीकाकारोंको संमत है और इसमें किसीकी विप्रतिपत्ति नहीं है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यास' जो टीकाकारोंने माना है वह ठीक है क्योंकि अपना ज्ञान और कर्म ब्रह्मार्पण करनेसे ईश्वरार्पण करनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अध्याय में कहे हैं उन सबमें ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता वर्णन करके वह यज्ञ (ब्रह्मार्पणं। भ गी ४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे योगयुक्त होकर श्रेष्ठ शांति प्राप्त होती है ऐसा यहां कहा है। कई दूसरे इसका नाम 'ब्रह्मार्पणयोग' अथवा 'कर्मब्रह्मार्पणयोग' मानते हैं ये नाम भी पूर्वोक्त नामके समान अर्थ वाले ही हैं इसलिये ये नाम माननेपर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु 'ज्ञानविभागयोग' आदि नाम भिन्न हैं।

५ पंचम अध्यायका नाम 'संन्यासयोग' अथवा 'कर्मसंन्यासयोग' है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। भ गी ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके संयमी मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अध्यायका विषय करीब करीब एकसा ही है।

६ षष्ठ अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्यायमें मनकी एकाग्रता करके ध्यानयोग का अभ्यास करनेकी विधि कही है। इसीसे आत्मसंयम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् 'आत्मसंयमयोग' कहते हैं वह अनुचित नहीं है।

७ सप्तम अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' बहुसंमत है। अकेले मधुसूदनसरस्वतीने इसका नाम पृथक् दिया है। इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें ही 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान मिदं वक्ष्यामि' (भ गी ७।२) कहा है। इसमें 'ज्ञान विज्ञान' का संबंध इस अध्यायसे है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८ अष्टम अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' प्रायः सर्वसंमत है। 'अक्षरब्रह्म', 'ब्रह्माक्षर' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एक ही है। इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें 'अक्षरं ब्रह्म परमं' शब्द हैं जो इस अध्यायके विषयके सूचक हैं।

९ नवम अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' सब को संमत है। और ये शब्द 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं' (भ गी ९।२) इस श्लोकमें ही आगये हैं।

१० दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है इस विषयमें किसीका विरोध नहीं है। 'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (भ गी १०।१९) इस श्लोकमें विभूतिकथनकी बात स्पष्ट कही है।

११ ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शन' है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ 'योग' शब्द लगाने में किसी किसीका मतभेद है।

भ गी ११।१६ में 'विश्वेश्वर विश्वरूप' ये शब्द अध्यायके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त 'ऐश्वरं रूपं' (श्लो ३९) 'ऐश्वरं योगं' (श्लो ८) 'अर्जुनरूप' (श्लो ३८) ये शब्द भी इस अध्यायके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवें अध्यायका नाम 'भक्तियोग' एक मतसे सब मानते हैं। इस अध्यायमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (भ १२।१५) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है वह

[इनमें जो शंकराचार्यके समान जो नाम हैं वहां (—) ऐसा चिह्न है और जहां नाम दिया नहीं वहां (   ) ऐसा चिह्न किया है ।]

श्रीमच्छंकराचार्य मूलग्रंथ	श्रीमच्छंकराचार्य भाष्य	मं० वि प्र लिमये भाषार्थ	मूल	मधुसूदनस०	श्रीधरस्वामी	गाथासंग्रह
१ अर्जुनविषादयोगः	।		१ —		।	१ —
२ सांख्ययोगः		—	२ —	सर्वगीतार्थसूत्रणं		२ —
३ कर्मयोगः	—	--	३ —	—		३ —
४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः	--	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	ब्रह्मार्पणयोगः	ज्ञानयोगः	४ ज्ञानविभागयोगः
५ संन्यासयोगः		—	५ —	स्वस्वरूपपरिज्ञानं—	—	५ —
६ ध्यानयोगः		—	६ आत्मसंयमयोगः	अभ्यासयोगः	अभ्यासः	६ अभ्यासयोगः
७ ज्ञानविज्ञानयोगः		—	७ ज्ञानयोगः	ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादनत्व- ब्रह्मविस्वरूपं नाम	—	७ ज्ञानयोगः
८ ब्रह्माक्षरनिर्देशः	--	—	८ अक्षरपरब्रह्मयोगः	अक्षरपरब्रह्मविवरणं,	महापुरुषयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः ।
९ राजविद्याराजगुह्ययोगः		—	९ —	—	—	९ —
१ विभूतियोगः		—	१ —	—	—	१ —
११ विश्वरूपदर्शनं नाम	--	—	११ —	—	—	११ —
१२ भक्तियोगः		—	१२ —	—	—	१२ —
१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः		...	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः	—	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१४ गुणत्रयविभागयोगः		—	१४ —	—	—	१४ —
१५ पुरुषोत्तमयोगः	--	—	१५ —	—	—	१५ पुरातनपुरुषोत्तमयोगः
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोगः		—	१६ —	—	—	१६ —
१७ श्रद्धात्रयविभागयोगः		—	१७ —	—(विवरणं)	—(विवरणं)	१७ —
१८ मोक्षसंन्यासयोगः	—	—	१८ संन्यासयोगः	—(प्रतिपादनं)	मोक्षयोगः	१८ संन्यासयोगः
[मरेकर मुद्रित] (श्रीमच्छंकराचार्यजीके समान)				[आनंदाश्रम मुद्रित]		[मरेकर-मुद्रित]

लो० बा० गं० तिलक मूळ	लो० बा० गं० तिलक अर्थ	दामोदर सांवळाराम मुद्रित गीतापंचरत्न सार्थ (मराठी)	म० गांधी (गुजराती)	निर्णयसागरमुद्रित
१ —	—	१ —	१ —	१
२ —	—	२ —	२ —	२
३ —	—	३ —	३ —	३ --
४ —	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	४ —	४ कर्मब्रह्मार्पणयोगः
५ —	—	५ संन्यासयोगः	५ कर्मसंन्यासयोग	५ कर्मसंन्यासयोगः
६ अभ्यासयोगः	ध्यानयोग	६ आत्मसंयमयोगः	६ —	६ आत्मसंयमयोगः
७ —	—	७ ज्ञानयोगः	७ —	७
८ अक्षरब्रह्मयोगः	अक्षरब्रह्मयोग	८ अक्षरब्रह्मयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोग	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ —	—	९ —	९ —	९
१० —	—	१० —	१० —	१०
११ —	विश्वरूपदर्शनयोग	११ — (नाम) (योगः)	११ विश्वरूपदर्शनयोगः	११ विश्वरूपदर्शनयोगः
१२ —	—	१२ —	१२ —	१२
१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः
१४ —	—	१४ —	१४ —	१४
१५ —	—	१५ —	१५ —	१५ --
१६ —	—	१६ सुरासुरसंपत्तियोगः	१६ —	१६
१७ —	—	१७ —	१७ —	१७
१८ —	—	१८ संन्यासयोग	१८ संन्यासयोगः	१८ संन्यासयोगः
(प्रथमवार मुद्रित- मराठी) (तृतीयवार हिंदी)		(इंदुप्रकाशमुद्रित)	(नवजीवनमुद्रित)	

कई बार कहा है इसलिये इसका नाम भक्तियोग होनेमें कोई शंका नहीं है।

१३ तेरहवें अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञमव्ययम्' (भ. गी० १३।२) ये शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें ही आगये हैं। श्रीशंकराचार्यजीने इसका नाम प्रकृतिपुरुषविवेकयोग मूलमें दिया है और भाष्यमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग दिया है। दोनोंका अर्थ समान ही है।

१४ चौदहवें अध्यायका नाम गुणत्रयविभागयोग सर्वसंमत है। इस अध्यायमें सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पन्द्रहवें अध्यायका नाम पुरुषोत्तमयोग है अनेक गीतासंग्रहकर्ताने पुराणपुरुषोत्तम योग नाम लिखा है और वह अनावश्यक है।

१६ सोलहवें अध्यायका नाम 'दैवासुरसंपद्विभागयोग' है। मुंबईके म. दामोदर सांवळाराम मुद्रित पंचरत्नगीतामें सुरासुरसंपद्योग नाम लिखा है। यह भिन्न नाम अनर्थक है। दैवी [संपत्] शब्द अध्याय (भ. गी. १६।३, ५, ६) में आगये हैं वहां सुर [संपत्] नहीं है।

१७ सत्रहवें अध्यायका नाम श्रद्धात्रयविभाग योग है। केवल मधुसूदनसरस्वती और श्रीधरस्वामीने योग शब्दके स्थानपर विभाग शब्द रखा है। अन्तमें योग शब्द रखना ही गीताकी परिपाटीके अनुकूल है।

१८ अठारहवें अध्यायके नाम मोक्षसंन्यासयोग अथवा मोक्षयोग' तथा संन्यासयोग ये दिये हैं। बंधनसे मुक्त होनेके लिये किस प्रकार संन्यास और त्याग करना चाहिए इसका वर्णन इस अध्यायमें है अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं अध्यायमें आये हुए शब्दों के और वर्णनोंके साथ जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब इन अठारह अध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या बोध मिल सकता है वह देखेंगे—

प्रथम अध्यायका नाम

विषादयोग

पहिले अध्यायका नाम 'विषादयोग' है। यह विषादयोग द्वितीय अध्यायके श्लोक ८ या ९ तक है वहांतक विषादकी बातें अर्जुन कह रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हठयोग राजयोग ज्ञानयोग, कर्मयोग भक्तियोगके समान यह 'विषादयोग' कोई योगमार्गका मार्ग है या यहां योग शब्दका कुछ और अर्थ है। योगके किसी ग्रन्थमें भी विषादयोग नामक कोई योग नहीं कहा है और न इस विषादयोग का किसी स्थानपर अनुष्ठान किया जाता है। हठयोगका अनुष्ठान किया जा सकता है राजयोगका अनुष्ठान होता है भक्तियोगका अनुष्ठान हो सकता है पर इस विषादयोग का अनुष्ठान नहीं होसकता। क्योंकि अनुष्ठान करने योग्य यह योग नहीं है। न इसपर कोई प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तक है। फिर इसको यहां योग' क्यों कहा!

लेखकका योग

'विषाद' का अर्थ है 'खिन्नता, खेद, उत्साहका क्षीण होना अपनी शक्तिकी न्यूनता होना, यह कोई अनुष्ठान करके प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग कर्मयोग भक्तियोग ये सब योग ऐसे हैं कि जो अनुष्ठान करने योग्य हैं लोग स्वेच्छासे इनका अनुष्ठान करते हैं और उस अनुष्ठानसे ' मनका उत्साह बढता है। खेद हटता है सहजानन्द प्राप्त होता है अपनी शक्तिका विस्तार होता है अपनी शक्ति बढनेका अनुभव होता है। अर्थात् विषादयोग का परिणाम शक्तिकी न्यूनता है तो अन्य योगोंका परिणाम शक्तिका विकास है।

पाठक यहां देखें कि योग शब्द कैसे विभिन्न अर्थोंमें यहां प्रयुक्त किया है। इसका संबंध भगवद्गीतामें और अन्य गीताओंसे भी है, देखिये। इसका विचार करनेके लिये मनसे कुछ शब्दोंकी कल्पना करनी भी पडेगी। [निम्नलिखित कोष्टकमें गीतामें कहे योग स्थूल अक्षरसे दिये हैं और उनके विरुद्ध कल्पनासे रखे योग सूक्ष्म अक्षरसे दिये हैं] यह विचार इस प्रकार है—

योगोंका सापेक्ष संबंध

(आमोदयोग)	विषादयोग (अ. १)
पुरुषोत्तमयोग (अ. १५)	(हीनपुरुषयोग)
दैवीसंपद्योग (अ. १६)	आसुरसंपद्योग (अ. १६)
(सत्त्व) गुणयोग (अ. १४)	(रजतम) गुणयोग (अ. १४)

(सत्त्व) श्रद्धायोग (अ० १७)	(राजस) श्रद्धायोग (अ० १७)
मोक्षयोग (अ० १८)	(बंधयोग)
सन्यासयोग (अ० ५)	(भोगयोग)
कर्मयोग (अ० ३)	(आलस्ययोग)
ज्ञानविज्ञानयोग (अ० ७)	(अज्ञानकुज्ञानयोग)
सांख्ययोग (ज्ञानयोग। अ० २)	(अविवेकयोग, मोहयोग)
ब्रह्मार्पणयोग (अ० ४)	(अहंकारयोग)
(ईश्वरार्पणयोग)	(आसुरभावयोग)
ध्यानयोग (अ० ६)	(चांचल्ययोग)
आत्मसंयमयोग (")	(असंयमयोग)
अक्षरब्रह्मयोग (अ० ८)	(क्षरविषययोग)
विभूतियोग (अ० १)	(अमूर्तियोग)
विश्वरूपदर्शनयोग (अ० ११)	(व्यक्तिरूपमोहयोग)
राजविद्यायोग (अ० ९)	(कुविद्यायोग)
राजगुह्ययोग ( )	(गुह्यहानियोग)
भक्तियोग (अ० १२)	(भक्तिहीनत्वयोग)
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग (अ० १३)	(विवेकहीनतायोग)
क्षेत्रयोग ( )	(क्षेत्रवियोग)
क्षेत्रज्ञयोग ( )	(क्षेत्रज्ञवियोग)

इस कोष्टकमें पाठक देख सकते हैं कि विषादयोगके साथ भी उतने ही योग हैं कि जितने आनंद योग अथवा पुरुषोत्तमयोगके साथ हैं। यहां प्रथमाध्यायमें जो विषाद योग कहा है वह अकेला नहीं है उसके साथी इतने या इससे भी अधिक हैं, अर्जुनके मनको इन सबने घेर लिया था जिसके परिणाम स्वरूप अर्जुनको विषाद हुआ। इन सब कुयोगोंने अर्जुनके मनको घेर लिया था इसलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें इतने सुयोग कहे गये और इन सुयोगोंके बलसे अर्जुनकी कुयोगोंको दूर किया गया। गीताके हरएक सिद्धान्तके उपदेशके इस प्रकार कारण हैं, कोई उपदेश व्यर्थ नहीं किया गया है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सब कुयोग बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होते हैं और सब सुयोग विलक्षण प्रयत्नोंसे साध्य करने पडते हैं। असंयमके लिये बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है परंतु संयम करनेके लिए अनेक नियमोंका पालन करना पडता है। पशु बननेके लिए बहुत प्रयत्न नहीं करना पडता परंतु पशुको दूर करनेके लिये ही सब व्यापार करने पडते हैं। गिरना आसान है परंतु चढना कठिन है।

विषादयोगका एक महत्त्व भी है। विषाद होनेके बिना आनंदका महत्त्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पडनेके बिना स्वाधीनताका महत्त्व विदित नहीं होता। निर्बलताके बिना बलका महत्त्व ध्यानमें नहीं आसकता। यद्यपि विषाद प्रयत्नसे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है तथापि उससे ही आनन्द और उत्साहकी प्रेरणा अधिक उत्पन्न होती है।

यदि पारतंत्र्यका दुःख अनुभवमें न आवे तो कौनसा वीर स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न करेगा? यदि बंधन न हो तो मुक्तिके लिए कौन प्रयत्न करेगा? इसी प्रकार यदि विषाद अथवा खेद न हो तो उत्साह और आनंदका रसास्वाद किसको प्राप्त होगा? जगत्के व्यवहारमें इस सापेक्ष संबंध से ही कार्य चलता है। यहां एक युद्धके प्रसंगमें अर्जुन जैसे वीरको खिन्नता हुई और मोह हुआ इसीलिये [illegible] सुननेयोग्य यह भगवद्गीता प्रकाशित हुई!!!

शिष्यके मनकी भूमिका योग्य रीतिसे तैयार न होने पर उसके मनमें कोई उपदेश स्थिर नहीं हो सकता। जितनाही विषाद खेद और निराशा मनमें उत्पन्न हो उतनाही आनंद, उत्साह और आशावादका उपदेश मनमें जम जाता है। जिस प्रकार खेतमें हल चलाकर भूमिको उखाड देते हैं और पश्चात् उसमें बीज बोया जाता है, इसी प्रकार मनोभूमिकामें विषाद या खेदरूपी हल चलाकर मनको उखाड दिया जाता है और फिर उसमें आशावादके उपदेशका बीज बोया जाता है।

यह विषाद केवल अर्जुनको ही भारतीय युद्धभूमिपर हुआ था ऐसी बात नहीं है; हरएक मनुष्यको यह विषाद किसी न किसी अर्जन करनेके समय होता ही है। विद्यार्जन, धनार्जन, स्वाधीनतार्जन आदि जो मनुष्यके लिए आलम्ब्य होते हैं उनके प्राप्त करनेके पूर्व उदासीनता खेद या विषाद किसी न किसी रूपमें मनुष्यके मनमें आते ही हैं। इस संसारमें विचारवान् मनुष्य कितने प्रसंगोंमें खिन्न होता रहता है यह देखनेसे विषादयोगका मानवी जीवनसे कितना घनिष्ठ संबंध है इसका ज्ञान हो सकता है। और यह ज्ञान होते ही गीताका उपदेश हरएक मनुष्यको ऐसे विषादके प्रसंगमें सहायक होसकते हैं यह बात ध्यानमें

जावेगी और इससे यह निश्चय हो जायगा कि, यह गीता मनुष्यमात्रका खेद दूर करके उसको जीवनका आत्मानंद देनेवाली है अतएव यह मनुष्यमात्रको उच्च मार्ग दर्शानेवाला ग्रंथ है।

संजयका उपदेश और अर्जुनका मोह

हमने पहले बता दिया है कि अर्जुनका मोह संजयके ऊपर पूर्व उपदेशके कारण हुआ था। यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां संजयके ऊपर पूर्व उपदेशके कुछ वचन देते हैं और उसके साथ साथ अर्जुनके मनपर उसका कितना गहरा परिणाम हो गया था सो बतानेके लिये अर्जुनके भी वचन देते हैं। देखिये —

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं ते वै पुत्राः
सुहृदो बान्धवाश्च। उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयुस्ततः
कुरूणां नियतो वै भवः स्यात् ॥८॥ ते चेत्कुरूननु
शिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं
ज्ञातिवधेन साधु ॥९॥ (म भा उद्योग अ २५)

वे लोग धन्य हैं कि जो अपनी जातिका कल्याण करते हैं और वे ही धन्य पुत्र मित्र और बांधव हैं। वे निंदित जीवनका त्याग करनेके लिये करें जिससे कौरवोंका कल्याण हो जाय। ऐसा न करते हुए यदि तुम पाण्डव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरनेके समान ही हो जायगा क्योंकि ज्ञातिवधके कारण तुम्हारा जीना कलंकित होगा।

जैसा कहा है देखिये, ज्ञातिवध करनेवालोंकी अधोगति अवश्य होता है और अपने देखनेवालोंका नाश करनेसे पाप लगेगा ऐसा कहता है। इसका प्रतिबिंब अर्जुनके भाषणमें हुआ है देखिये—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
(गीता अ १)

धार्तराष्ट्र पुत्रोंको मारकर हमारा क्या हित होगा? इन आततायियोंको मारनेसे ही हमको पाप लगेगा इसलिए हमारा कोई लाभ नहीं है। तथा आगे देखिये

नाकाङ्क्षे जयं नैव राज्यं च
नि श्रेयसं नाऽधिगच्छामि किंचित् ॥११॥
(म भा उ अ २५)

मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता हूं। यही संजयका कहना अर्जुनके मनपर कैसे जम गया है वह द्वितीयाध्यायमें देखिये—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
(भ गी २।६)

हम कौरवोंको जीतेंगे अथवा वे हमें जीतेंगे, इनमेंसे क्या होगा और इनमेंसे कौनसा हमारे लिये अच्छा है यह भी मेरी समझमें नहीं आता है। वेही शब्द संजयके उपदेशसे कैसे मनमें जम गये हैं देखिये। तथा और भी—

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥१२॥
(म भा उ २५)

पाण्डव धर्मात्मा हैं, वे नीचे कुलमें उत्पन्न हुए हीन मनुष्योंके समान (युद्ध करनेका पाप) कर्म कभी नहीं करेंगे।' अर्थात् पाण्डवोंकी प्रशंसा करके उनको युद्धसे हटानेके लिये यह कपटपूर्ण भाषण संजयने कहा है। अर्जुन वही भाव अन्य शब्दोंमें बोल रहा है, देखिये-

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ॥३७॥
(भ गी १)

इसलिये हम अपने भाई धार्तराष्ट्र पुत्रोंका वध करनेके लिए योग्य नहीं हैं। अर्थात् यदि हम युद्ध करके उनका वध करेंगे तो हम नीच हो जावेंगे। इसी प्रकार देखिये-

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ॥
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः ॥१॥
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ॥
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥२॥
(म भा उ १०)

हे पाण्डवो! आपके सब कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं यह विश्वमें आपकी कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध है। मनुष्यका

जीवन अनित्य है यह आप जानते ही हैं, अतः इसका विचार कर युद्धसे हम सबका नाश मत कीजिये। हे युधिष्ठिर! यदि कौरव लोग युद्धके बिना आपका राज्य वापस न दें, तो आप सब पाण्डव भिक्षा मांगकर अन्धक और वृष्णी देशमें रहिये। युद्ध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर रहना अधिक अच्छा है। इसी भीख मांगनेकी प्रतिध्वनि अर्जुनके इस कथनमें है–

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके॥ (भ. गी. २।५)

गुरुजनोंका वध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर इस लोकमें जीविका निर्वाह करना अच्छा है। इसी प्रकार–

विधिवशी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥ ५॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥ ६॥

हे युधिष्ठिर! तृष्णा अधर्ममें डालनेवाली और धर्मका नाश करनेवाली है। अतः जो धर्म स्वीकार करता है वह ज्ञानी कहलाता है। उत्तम धर्म कर्म करनेसे आपका तेज सूर्यके समान फैलेगा। परन्तु धर्म छोड़कर आपने इस पृथ्वीका राज्य भी प्राप्त कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है।

पाठक यहां देखें कि यह संजय पाण्डवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है क्योंकि दुष्ट कारस्थान जानता हुआ भी यह अपनी अविचारी स्वामिभक्तिका पाण्डवोंका प्रयत्न परोक्ष है ऐसा कहता है यही विचार मनमें रखकर अर्जुन कहता है–

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥
(भ. गी. १)

मैं इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता हूँ। हे कृष्ण! यदि त्रैलोक्यका राज्य भी मिल जाय तो भी मैं यह पाप नहीं करूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये कौन करेगा? शत्रुके कपटपूर्ण उपदेशोंसे देखिये नवयुवक कैसे फँसते हैं इसका यह उत्तम उदाहरण है। और भी—

अस्तं गत्वा कर्मणां मा प्रसक्थाः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः॥ १५॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।
निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्महेतोः॥ १६॥
(म. भा. उद्यो. अ. २७)

हे पाण्डव! सत्य, आत्मसंयम सरलता तथा मृदुताका मार्ग न छोड़िये। अश्वमेध राजसूय आदि यज्ञ करके पश्चात् आप इस युद्धके पापमार्गसे जायेंगे यदि धर्म छोड़कर इस पापमार्गमें आप जाना चाहते हैं तो अनेक वर्ष वनवासमें रहिये इस पापसे वनवास अच्छा है। देखिये एकराज्यके लिए प्रयत्न करनेवालोंको ही सात्म्यवादी वनवासमें जानेका उपदेश करते हैं!!! कौरव दुराचार करें और राज्य भोगें और पाण्डव धर्म पालन करें और वनवासमें रहें। यही सबके विचार अर्जुन बोल रहा है–

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
(भ० गी० १।४५)

हम जो राज्यके लोभसे अपने बांधवोंका वध करना चाहते हैं यह बड़ा भारी पाप हम कर रहे हैं। 'संजयके कपटपूर्ण उपदेशसे अर्जुन इस प्रकार भ्रमित हो गया था। और देखिये–

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात्॥ १४॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात्
यद्विन्देयास्तदनुब्रूहि पार्थ॥ १५॥

सर्वव्यापीमां पृथिवीं साधयन्तौ
जरामृत्यू नैव हि त्व प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
एवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यमानो यदि कामस्य हेतोः
एवं युक्तं कर्मचिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रमः स्वं महत्यैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥ २७ ॥
(म भा उ अ २७)

हे धर्मराज ! कौन बुद्धिमान् पुरुष युद्धरूपी पापको करनेकी इच्छा करेगा ? आपको क्षमा ही शोभा देती है ! भोग भोगना क्या है ! जहां भीष्म और अश्वत्थामासहित द्रोण मारे जावेंगे कृपाचार्य शल्य सोमदत्त विकर्ण विविंशति कर्ण दुर्योधन मारे जावेंगे वहां तुमको कौनसा सुख मिल जायगा ? हे धर्मराज ! यदि तुम्हें सब पृथ्वीका भी राज्य मिल जावे तो भी मृत्यु तो तुम्हें नहीं छोडेगी । फिर युद्ध करनेसे क्या काम होगा ? अपने मंत्रियोंकि आग्रहसे तुम युद्ध करनेको तैयार हुए हो तो उनको जो चाहे सो देकर तुम देवयान मार्गसे भ्रष्ट न हो जाओ । युद्ध करनेसे तो देवयानमार्गसे भ्रष्ट हो जाओगे ।

देखिये यह कौरवोंका उपदेशक पाण्डवोंको ही देवयान मार्गका उपदेश करता है ! ! यदि देवयान मार्गपर इसका सच्चा विश्वास है तो यह अपने साम्राज्य चलानेवाले भाई योंको ही क्यों नहीं यह उपदेश सुनाता ? परन्तु पाण्डवोंको इस युद्धसे हटाना इसका प्रयोजन और अब मनोरथकी सिद्धिके लिये धर्मका प्रचार इसने किया है । अर्जुनके मनमें इसीकी प्रतिध्वनि दीख पडती है–

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥ (म गी अ १)

तथा

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
(म गी अ २)

जिनके लिये हमें राज्यादि कमाना है वे ही यहां मरनेके लिये आपये हैं, अतः इनका वध मैं नहीं करूंगा । पूजा करने योग्य इन भीष्मद्रोणोंके ऊपर मैं बाण कैसे चलाऊं ? इस प्रकार अर्जुन शत्रुके कपटपूर्ण उपदेशोंका ही अनुवाद करता है !

शत्रुके विचारोंसे मन प्रभावित होनेका परिणाम ऐसा ही होता है । अतः जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने विचारोंको शत्रुके कपटपूर्ण उपदेशोंसे प्रभावित होने न दें । विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो बाह्य जगत्के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है । परन्तु यदि मन ही दब गया तो फिर पराधीनता हटना कठिन है ।

शत्रुका कपटपूर्ण उपदेश और अर्जुनका खेद देखनेसे और दोनोंके वाक्योंकी इस प्रकार तुलना करनेसे स्पष्ट पता लगता है कि शत्रुके उपदेशोंद्वारा किये गये धर्मोपदेश भी राजकीय हेतुको केन्द्रमें रखकर ही किये होते हैं । अतः उनको बडी सावधानीसे सुनना चाहिये और सुननेपर भी बडी सावधानीसे ही उनपर विचार करना चाहिये । अन्यथा मोह और विषाद जैसा अर्जुनके पल्ले पडा वैसे ही सब लोगों जानलीके भी पल्ले पडेगा ।

इस विषादयोगके अध्ययनसे यह सावधानीकी सूचना मिलती है । पाठक इस सूचनाको मनमें धारण करें । अब आगे भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं वह उपदेश द्वितीय अध्यायमें देखिये–

अर्जुन विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त

प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक

१ अपना और शत्रुका बल

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम्
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम् ॥ १० ॥

(भ गी १।१०)

' हमारा बल अपूर्ण है । और इन (शत्रुओंका) बल पूर्ण है । ' अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हरएक रीतिसे बढानेका यत्न करना तथा शत्रुका बल थोडा हुआ तो भी उसका पूर्ण मानकर उसके प्रतिकारका यत्न करना विजयेच्छु पुरुषको योग्य है ।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

(भ गी १।११)

सब प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने स्थानमें दृढतासे रहते हुए आप अपनी सब ओरसे रक्षा कीजिये । देह-द्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ये शत्रुके अन्दर प्रविष्ट होनेके स्थान होते हैं । इन प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाके प्रबन्ध होनेपर शत्रुका प्रवेश अन्दर नहीं हो सकेगा । अतः इन प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये । यह रक्षाका सूत्र है इससे व्यक्तिकी घरकी नगरकी राष्ट्रकी अर्थात् सबकी रक्षा हो सकती है ।

३ संयमीसे प्रश्न पूछना

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा ... प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते ... हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह ॥

(भ गी १।२० -२१)

युद्धके समय इंद्रियोंका जिसने संयम किया है ऐसे संयमी पुरुषसे ही (जो कुछ मालूम हो वह) पूछना योग्य है ।) असंयमी पुरुषसे पूछा जाय तो कठिन होगा । युद्धके समय आत्मसंयम करनेवालेकी ही संमति लेनी योग्य है ।

४ शत्रुका निरीक्षण करना

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम् ... ॥२२॥ (भ गी १।२२)

जिनके साथ मुझे लडना है उनको मैं पहिले देखता हूं । युद्धके पूर्व शत्रुकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है । इस जगत्‌में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें लडता है अत उसको उचित है कि वह अपने शत्रुओंकी तैयारियां कैसी हैं, इसका पहिले अवलोकन करे और वैसी लडनेकी अपनी तैयारी रखे ।

५ स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।

(भ गी १।३१)

अपने लोगोंपर शस्त्र चलानेसे कोई कल्याण नहीं होगा । अपने ही लोगोंपर हथियार चलाकर स्वयं अपने बंधुभाइयोंका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है । तथा-

नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् । (भ गी १।३७)

हमें अपने ही भाइयोंका वध करना उचित नहीं है । और भी कहिये-

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम ? ॥

अपने ही लोगोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? जो लोग समझते हैं कि अपने लोगोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जायेंगे वे भ्रममें पडे हैं; क्योंकि वे अपने ही प्रयत्नसे अपना नाश कर रहे हैं । शत्रु तो हम दोनोंको खानेके लिये बैठा है वह जैसे हमको खायेगा वैसाही हमारे भाइयोंको भी खा जायगा । ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही भाइयोंका वध किया तो उससे शत्रुका बल बढेगा और हमारा घट जायगा अतः स्वजनोंपर शस्त्र चलाना अयोग्य है । इसलिये कहा है--

... महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुख-लोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

(भ गी १।४५)

जो राज्य सुख और लोभसे अपने ही लोगोंका वध करते हैं वे बडा भारी पाप करते हैं । भूमि नौकरी वेतन अथवा धन या मान प्राप्त करनेके लिये जो लोग अपने ही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं व बडा भयंकर पाप करते हैं ।

६ पापसे बचना

यद्यप्येते न पश्यन्ति दोषं—पातकम् ।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥
(भ गी १।३८-३९)

यदि ये (दूसरे लोग) इसमें दोष अथवा पाप नहीं देखते तथापि इस पापसे दूर होनेका उपाय हम क्यों न सोचें ? दूसरे लोग किसी दुष्कर्ममें दोष या पाप नहीं देखते हैं और पाप करते हैं इसलिए यह आवश्यक नहीं कि हम भी वैसा ही दोष और पाप करने लग जायें। यदि उसमें हम पाप देखते हैं तो उससे निवृत्त होनेका प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

७ कुलक्षयसे धर्मनाश

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
(भ गी १।४०)

कुलका नाश होनेसे कुलके साथ सनातन कालसे चले आये धर्म नष्ट हो जाते हैं। कुल परंपरासे चली आयी विद्या कला आदि कुलके नाशके साथ नाशको प्राप्त होती है अतः वंशबीजकी रक्षा करना उचित है।

८ कुलस्त्रियोंकी गिरावट

अधर्माभिभवात् प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
(भ गी १।४१)

अधर्मप्रवृत्ति बढ जानेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं।

९ स्त्रीदोषसे वर्णसंकर

स्त्रीषु दुष्टासु जायते वर्णसंकरः॥ (भ गी १।४१)

स्त्रियोंके दोषी होनेसे वर्णसंकर होता है। अर्थात् व्यभिचार आदि दोषोंसे वर्णसंकर होता है, अतः स्त्रियोंकी व्यभिचारादि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना समाजकी शुद्धि के लिये अत्यंत आवश्यक है। व्यभिचारादि दोषसे रक्षा तो जैसी स्त्रियोंकी वैसी पुरुषोंकी भी होनी चाहिये।

१० वर्णसंकरसे नरक

संकरो नरकायैव ((भ गी १।४२)

वर्णसंकरसे नरक अर्थात् मनुष्य अवनत होता है। न-रक अर्थात् छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य। वर्ण शुद्ध रहनेसे मनुष्य उन्नत होता है और वर्णसंकरसे अवनत होता है। अतः व्यभिचारादि दोषसे वर्णसंकर होने देना योग्य नहीं है।

११ निःशस्त्रका वध

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ (भ गी १।४६)

यदि बदला न लेनेवाले मुझ निःशस्त्रको शस्त्रधारी (शत्रु) वध करेंगे तो मेरा अधिक कल्याण होगा। निःशस्त्र अहिंसक शांत और बदला न लेनेवाले निर्वैर मनुष्य का वध यदि शस्त्रधारी क्रूर शत्रुने किया तो उस शस्त्रधारी आक्रमणकी निन्दा सब लोग करते हैं, और उस निःशस्त्र निर्वैरके लिये जगत्की सहानुभूति मिलती है। इस प्रकार सभ्य भूमिकापर अहिंसकको विजय और हिंसकको पराजय होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी

प्रथमाध्यायकी विषयसूची

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सांख्ययोग ।

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषेध ।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः— संजय उवाच– तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥
श्रीभगवान् उवाच हे अर्जुन ! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम् ? ॥ २ ॥
हे पार्थ ! क्लैब्यं मा स्म गमः । त्वयि एतत् न उपपद्यते । हे परंतप ! इदं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

संजय बोले– इस प्रकार कृपासे व्याप्त और अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले खिन्नहृदय उस (अर्जुन) को मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने ये वचन कहे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले– हे अर्जुन ! (अनार्य ही जिसका आचरण करते हैं किंवा) आर्य जैसा कभी आचरण नहीं करते जिससे स्वर्गप्राप्तिमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है ऐसी यह मनकी उदासीनता इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहांसे प्राप्त हो गई ॥ २ ॥ हे पृथाके पुत्र ! तू नपुंसक मत बन । तेरे लिये यह योग्य नहीं है । हे शत्रुओंको ताप देनेवाले ! अन्तःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर (युद्धके लिये) खड़ा हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— हीन अथवा असभ्य हुए मनुष्योंके समान आचरण करना किसीको भी योग्य नहीं है; श्रेष्ठ सज्जन जो कार्य कभी नहीं करते वैसा कार्य भी कोई न करे । जिससे उच्च लोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना यश कलंकित हो वैसा करना भी किसीको योग्य नहीं है । प्रत्येक मनुष्य सदा सावधानतासे अपना कर्तव्य करे परंतु प्रतिकूल अवस्थाओंमें तो विशेष ही दक्षतासे स्वकर्तव्य करे । प्रतिकूल समयमें मनकी उदासीनताको अपने पास आने न दे । कोई मनुष्य कायर न बने । अपने अन्तःकरणमें सदा वीरता धारण करे और हृदयकी दुर्बलताको पूर्णतासे छोड़ देवे ॥ १-३ ॥

सांख्ययोग

पूर्व अध्यायमें वर्णित रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न हो गई और उस कारण वह अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख हुआ । यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते हैं यह प्रसंग संजयके मुखसे इस प्रकार धृतराष्ट्रने सुना—

(१) हे राजन् ! अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दयाका भाव उत्पन्न हुआ क्योंकि उसको इस बातका निश्चय ही था कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये अस्त्रशस्त्र लेकर खड़ा हुआ तो इनमेंसे कोई नहीं बचेगा। सबके सब निश्चयपूर्वक मारे जायेंगे । इस आत्मविश्वासके कारण उन सबकी मृत्युका भयानक चित्र उसके आंखोंके सम्मुख खड़ा हुआ और उसको देखकर अर्जुनके आंखमें आंसू भर आये हृदय गद्गद हो गया, अन्तःकरण दयासे भर गया और मन अत्यन्त खिन्न दुःखी और शोकपूर्ण होगया और इस कारण युद्ध न करनेका निश्चय उसने किया युद्ध करनेके विचारसे उसको बड़ा तिरस्कार हुआ और उस कारण वह अपने युद्धके विचारकी ही निंदा करने लगा ।

जब यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्णने देखी तब वह आश्चर्यसे चकित हो गये और वे उससे इस प्रकार बोधवचन कहने लगे—

आर्यत्वकी रक्षा

(२-३) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आर्यत्वकी रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं क्योंकि आर्यत्वकी रक्षामें सब मानवधर्मकी रक्षा आ गई है। 'आर्य' शब्दका अर्थ " सुयोग्य श्रेष्ठ, सम्मान्य तथा उच्चकुलोत्पन्न स्वामी सदाचारसे बर्ताव करनेवाला " है। जैसा आचरण इस समय अर्जुन कर रहा है वैसा कोई आर्य कदापि नहीं करेगा। (अनार्य जुष्टं) जो अनार्य होते हैं वे ही समयका महत्त्व न जानकर जैसा चाहे वैसा हीन व्यवहार करते रहते हैं। परंतु वैसा करना आर्योंके लिये कदापि योग्य नहीं है। मर्यादा श्रीरामचंद्र जनक आदि आर्य राजाओंका आदर्श जीवन सम्मुख रखो और समय-का विचार करो।

विषम समय

(विषमे) शत्रु तो तुम्हारे शिरपर नाच रहा है तुम्हारे नाश करनेके लिये इस समयतक उसने हजारों कपट प्रयोग किये इस समय भी शत्रु कमर कसके तुम्हारा नाश करनेके लिये तैयार है और तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। तुम्हारा राज्य तुम्हारे शत्रुके अधीन है उसका सैन्यबल धनबल और अधिकारबल तुमसे कई गुना अधिक है तुमने इस समयतक इतने कष्ट सहे सत्यधर्ममें स्थिर रहे कभी अधर्मकी ओर रुचि नहीं की उसके अत्याचार करनेपर भी तुमने शांति धारण की तो भी तुम्हारे शत्रुका अत्याचार करनेका स्वभाव कम नहीं हुआ। अन्तिम सन्धि-सभामें जब सन्धिकी बातें चलीं उस समय दुर्योधनने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि बिना युद्ध किये सूचीमात्र भूमि भी तुम्हें प्राप्त नहीं होगी। इतना अनुभव दुःखमय है वह तुम्हें स्वराज्य कदापि सुखसे नहीं देगा। इस बातका पूर्ण निश्चय होनेके बाद ही युद्ध करनेका निश्चय धर्म-संमतिसे किया। धर्मराज भीम नकुल सहदेव सती द्रौपदी तथा तुम्हारे अन्यान्य हितचिंतकोंकी सम्मतिसे युद्ध करनेका निश्चय किया।

युद्धकी तैयारी

युद्धके लिये ही तुमने कैलासोंमें भ्रमण करके भगवान् शंकरसे पाशुपत अस्त्र और इन्द्रसे दिव्य अस्त्र भी प्राप्त किये। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के भयंकर कष्ट सहन करके अपने सब दुःखों और कष्टोंका परिमार्जन करनेके लिये तुम यहां रणक्षेत्रमें आये हो।

पापी बलका नियमन

इसके अतिरिक्त जगत्में अधार्मिक दुष्ट मनुष्य मनमाना अत्याचार पापी बलके जोरके कारण न करें और धार्मिक निर्भय होकर जगत्में संचार करें इस प्रकारकी धर्ममर्यादा स्थापन करनेके हेतुसे यह युद्ध हम कर रहे हैं। ऐसे धर्म युद्धमें तुम्हारे जैसे आर्य वीरको आनंदके साथ अपना कर्तव्य करना चाहिये।

परंतु तुम तो अनार्योंके समान अपने कर्तव्यको न समझते हुए कार्यक्षेत्रसे पीछे हटते हो! क्या यह तुम्हारे जैसे आर्यवीरको योग्य है! तुम्हारे पूर्वज आर्योंमेंसे कोई भी आर्यवीर इस प्रकार युद्धके समय मोहित भी नहीं हुआ, और न युद्धसे पीछे हटा था। क्षत्रियके कुलमें तुम उत्पन्न हुए हो और उसके ही आप वंशके यशको कलंकित कर रहे हो! इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो! अनार्य मत बनो।

स्वर्गद्वारका मार्ग

यह युद्ध क्षत्रियोंके लिये मानो स्वर्गद्वार खुला हुआ है। यदि तुम इस रणक्षेत्रसे भाग जाओगे तो तुम्हारे स्वर्गप्राप्तिमें (अ-स्वर्ग्यं) बड़ी बाधा आजायगी। युद्धसे भागने वाले क्षत्रियको कभी स्वर्ग मिल नहीं सकता।

दुष्कीर्ति

यदि तुम इस प्रकार रणक्षेत्रसे भाग गये तो तुम्हारा यश (अकीर्ति करं) कलंकित होगा। क्षत्रियकी ऐसी अपकीर्ति होना या किसी भी मनुष्यकी ऐसी दुष्कीर्ति होना योग्य नहीं। दुष्कीर्तिसे मरण उत्तम है। अतः दुष्कीर्तिके मार्गसे जाना तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी दुर्बलता

(कश्मलं) यह मनकी मलिनता है जो अनार्य जनोंमें मनुष्यको जानेमें प्रवृत्त करती है। मनकी यह मलता 'मल' ही है। यह मनकी मलिनता उसको उच्च पद प्राप्तिमें असफलता उत्पन्न करती है।

(२) रुधिरसे भरे भोग

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वय — अर्जुन उवाच — हे मधुसूदन ! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि ? हे अरिसूदन ! (एतौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा, इह लोके भैक्ष्यं भोक्तुं अपि श्रेयः। गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले- हे मधुसूदन ! मैं भीष्म और द्रोणके साथ युद्धमें बाणोंसे कैसे लडूँ ? हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण ! ये पूजा करने योग्य हैं ॥ ४ ॥ अत्यंत उदार अन्तःकरणवाले इन गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भीख मागकर खाना भी अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि गुरुजनोंका वध करके यहां उनके रक्तसे भरे हुए अर्थ और भोगही भोगने पडेंगे ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! तू अर्जुन अर्जन प्राप्त करनेवाला स्वराज्य पावन आनेका यत्न करनेवाला है। यह समय तुम पाण्डवों के लिए प्रतिकूलताका है। यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाथमें मिट्टी पकडते हैं, तो उसका सोना बनता है और तुम लोगोंने हाथमें सोना पकडा तो उसकी मिट्टी बनती है। तुम्हारे शत्रु अधर्माचरण और अत्याचार करते हुए बढते जाते हैं और तुम धर्ममार्गपर पैर रखकर चलते हो तो भी गिरते जाते हो। ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मन की उदासीनता किंवा मनकी दुर्बलता धारण करना सर्वथा अयोग्य है। मनमें बल धारण करनेका यही समय है। परिस्थिति विपरीत होनेपर भी मनमें बल धारण करना चाहिये तभी उस विपरीत परिस्थितिसे मनुष्य पार हो सकता है। अतः (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुर्बलता दूर कर और अपने मनमें बलको धारण कर।

वीरवृत्ति

(क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसक न बन, नामर्द न हो। हे अर्जुन ! हमने सुना है कि जब तू अमरावतीमें देवराज इन्द्रके पुत्र विभावसमें दैवी अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गया था उस समय वहांकी स्वेच्छासे व्यवहार करनेवाली विदेशी सुंदर गौरवर्ण उर्वशी नर्तकीका तुम्हारेसे कुछ प्रेमसंबंधका वार्तालाप हुआ था। उस समय आर्य-कुमारका शोभा देनेयोग्य बर्ताव तुमने किया था, यह सुनकर हमने आनंदका काम किया था। उस समय उस स्वेच्छाविहारिणी कुमारिकाके जालमें तुम नहीं फंसे यह तुमने उत्तम किया। परंतु उसके प्रस्तावका तिरस्कार करनेके कारण उसने तुमको नपुंसक बन जानेका शाप दिया यह भी हमने सुना है। क्या इस समय तुमपर उसका कुछ परिणाम हो रहा है ? फिर ऐसे वीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्दके समान आचरण क्यों कर रहे हो ? उर्वशी जैसी विदेशी लडकियाँ इच्छाभंग होनेपर वैसा दुराग्रह करती ही हैं, परंतु तुम जैसे वीरोंको उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे उस विचारका प्रतीकार करें। तुम यदि अपना मनोबल बढाओगे और अपने धैर्यपर स्थिर रहोगे तो उस नर्तकीके क्रोधके कहनेका कोई परिणाम तुमपर नहीं होगा। ऐसे विपरीत समयमें (एतत् त्वयि न उपपद्यते) ऐसी मनकी दुर्बलता धारण करना तुम जैसे आर्य-वीरोंको शोभा नहीं देता है।

हे अर्जुन ! तुम (परं-तप) शत्रुको ताप देनेवाले शत्रुका नाश करनेवाले प्रबल महावीर हो ! तुम्हारा प्रचंड घोष सुनकर शत्रु भाग जावेंगे तुम्हारे बाणोंके प्रहार के सामने कौन ठहर सकता है ? अतः तुम्हें ऐसी मनकी कमजोरी ऐसे विपरीत और अनिष्ट समयमें धारण नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकारका आग्रहपूर्वक उपदेश सुनकर अर्जुन अपने मनके भाव फिर कहता है—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय — नः कतरत् गरीयः ? यत् वा (वयं) जयेम यदि वा (ते) नः जयेयुः एतत् अपि च न विद्मः । यान् हत्वा न जिजीविषामः ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसम्मूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि । यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तत् मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥ हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं सुराणां च अपि आधिपत्यं अवाप्य, यत् मम इन्द्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे लिये इन दोनोंमेंसे कौनसा श्रेष्ठ है ? क्या हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे ? यह भी समझ नहीं पड़ता । जिनको मारकर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते वे धृतराष्ट्रके संबंधी हमारे सम्मुख (युद्धके लिये) खड़े हुए हैं ॥ ६ ॥ दीनताके दोषसे मेरी स्वाभाविक वीरवृत्ति मारी गई है अतः कर्तव्य निश्चय करनेमें मेरा चित्त मोहित हुआ है । इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं । जो निश्चयसे कल्याणकारी हो वह मुझे कहो । मैं तुम्हारा शिष्य हूं । मुझ शरणागतको समझाओ ॥ ७ ॥ क्योंकि इस पृथ्वीमें निष्कंटक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वामित्व भी मिल जाय तो भी मेरे इन्द्रियोंका शोषण करनेवाले इस शोकका दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता ॥ ८ ॥

(६–८) अर्जुन युद्धसे विमुख होनेके अपने कारण बता रहा है । हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! देखो मातापिता आदि पूज्य पुरुषोंकी सेवा करना हमारे लिये योग्य है न कि उन का वध करना । यहां भीष्मपितामह हमारे पूज्य पितामह हैं । द्रोणाचार्य तो हमारे अत्यंत आदरके योग्य आचार्य हैं, जिनसे मैंने सब विद्या प्राप्त की । क्या इनपर ही मैं बाण छोड़ूं ? जिनकी पूजा करनी योग्य है, ऐसे गुरुजनोंका ही मैं वध करूं ? यह मुझसे कैसे होगा ? जिनसे मैं स्वप्नमें भी वैरभाव नहीं रखता उनका प्रत्यक्ष वध मैं कैसे करूं ? जो शास्त्रविद्या मैंने सीखी क्या वह सब इन अपने विनाश करनेके लिये ही है ? जिन्होंने विद्या सिखाई उस गुरुकी क्या यही गुरुदक्षिणा है कि मैं उनका प्राण वध करूं ? जिन्होंने बचपनसे हमारा पुत्रवत् पालन किया उस पितामहकी सेवा करनेके स्थानपर क्या मैं उनके पवित्र शरीरपर बाणोंसे प्रहार करूं ? वे भीष्म द्रोण दयाके सागर हैं, विद्याके निधि हैं अनेक गुणोंकी मानों खान हैं । ऐसे उत्तम धर्मात्माओंको मारकर जो भी कुछ भोग प्राप्त होंगे उनको भोगते हुए हमें कदापि सुख नहीं मिलेगा । किसीके मतसे इस प्रकार प्राप्त किये राज्यभोग सुखदायक हों परंतु मैं इनको सुख-दायक नहीं मानता हूं । मैं तो इससे भीख मांगकर जीवन धारण निभाना अच्छा समझता हूं । अथवा पूर्वके समान वनवास भी भोगना पड़े तो भी मैं उसको निर्दोष समझता हूं । जो कुछ हो मैं ऐसे महानुभावोंपर राज्य भोगनेकी लालसाके लिये कदापि बाण नहीं चलाऊंगा ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने तो मधु राक्षसको मारा है अन्यान्य शत्रुओंको भी मारा है परंतु वे प्रसंग इससे भिन्न हैं । भीष्म-द्रोण जैसे मान्य सत्पुरुषोंका वध करनेका प्रसंग आप पर कभी नहीं आया था । जिससे वैरभाव उत्पन्न होनेकी अवस्थामें हम जीवित भी रहना नहीं चाहते वे ही संग्राममें इस समय मेरे सम्मुख खड़े हैं । इनका वध करनेके पश्चात् हम जीवित रहना ही नहीं चाहते ऐसे ये पूजनीय पुरुष हैं । । इसलिये मेरे सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मारूं या इस युद्धक्षेत्रको छोड़कर जंगलमें जाऊं ? इनमेंसे कौनसा कार्य करना उचित है यह भी मेरी

(२) अर्जुनका न लड़नेका निश्चय ।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप । 'न योत्स्य' इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अन्वयः— संजयः उवाच- परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवं उक्त्वा 'न योत्स्ये' इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥ हे भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं [अर्जुनं] हृषीकेशः प्रहसन् इव इदं वचः उवाच ॥ १० ॥

संजय बोले- शत्रुको ताप देनेवाले और निद्राको जीतनेवाले (अर्जुन) ने इन्द्रियोंको स्वाधीन करनेवाले श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा और अन्तमें 'मैं न लड़ूँगा' कहकर वह चुप हो गया ॥ ९ ॥ हे धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओंके बीच खिन्न होकर बैठे हुए (अर्जुन) से इन्द्रियसंयमी श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥

समझमें इस समय नहीं आता है। मैं क्या करूँ?

युद्ध छिड़नेपर उसका परिणाम हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा यह भी किसको पता है! जिससे हमारी जीत होगी या उनकी होगी इस समय संदेहकी ही बात है। अतः ऐसी संदेहकी अवस्थामें हम गुरुजनोंका वध करना प्रारंभ करें यह निःसंदेह अनुचित बात है। इस युद्धमें इन पूज्य गुरुओंका वध करके हमें जय भी प्राप्त हुआ तो भी वह पराजयसे अधिक दुःखदायक होगा। क्योंकि इनके रक्तसे भीगे भोग भोगते समय इनका स्मरण होता रहेगा और उससे जो दुःख होगा वह कई गुना अधिक कर देगा!

इस प्रकारके विचारसे मेरे अंदरकी स्वाभाविक वीरवृत्ति नष्ट हुई है। मैं दीन बना हूँ और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसके विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है। धर्मकी दृष्टिसे इस समय मेरा कर्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूं। हे श्रीकृष्ण! मैं इस समय आपके शरणागत हुआ हूं आपही इस समय मुझे योग्य उपदेश द्वारा सन्मार्ग बतानेमें समर्थ हैं। परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि पृथ्वीका निष्कंटक साम्राज्य प्राप्त हुआ अथवा देवोंके स्वर्ग का राज्य अर्थात् इन्द्रपद भी प्राप्त हुआ तो भी मेरे इंद्रियों को सुखानेवाले इस शोकको दूर करनेवाला कोई उपाय प्राप्त होगा ऐसा मुझे नहीं प्रतीत होता है। इस प्रकार इस समय मेरी दिङ्मूढ हो गई है मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है। अतः प्रार्थना है कि आप योग्य उपदेश करके मुझे उचित मार्ग बताइये।

(९-१०) [गुडाकेश और हृषीकेश इन दो शब्दों की टिप्पणी भ. गी. अ. १ श्लो. २४ के स्थानपर देखिये।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता प्रकट की और 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा कहकर वह चुप हो गया। यह आश्चर्यकारक घटना देखकर श्रीकृष्ण भगवान् आश्चर्य चकित हुए, क्योंकि अर्जुन जैसे आर्य-वीर के मनमें ऐसी दीनता उत्पन्न होना संभव ही नहीं था!! क्या कभी सूर्य अंधेरेमें छिपाया जा सकता है? कभी मेरु-पर्वत राईके दानेमें दबाया जा सकता है? क्या आकाशको समेटकर रखना संभव है? क्या कभी महासागर सुखाया जा सकता है? जैसे ये बातें कभी नहीं सकतीं, वैसे ही आर्य वीरके अन्तःकरणमें दीनता आना भी कभी संभव नहीं है। परंतु जो कभी होनेवाला नहीं था वही आज हो गया!!! यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण किंचित् मुस्कराये और मनमें समझे कि यह अर्जुनकी अवस्था कोई आगंतुक कारणसे नहीं हुई है। इसके मूल कारणका विचार करनेसे उनको उसी समय पता लगा कि इसका कारण बड़ा गहरा है। मनुष्यपनके समझनेकी विवेकका उपदेश अन्तिम समयमें किया था वही इस दयालु पुरुषके मनपर जम गया है। शत्रुकी शिक्षा जैसीकी वैसी स्वीकार करनेसे इनकी मति भ्रष्ट हो गई है। अतः इसके अन्तःकरणका यह दोष बिना विशेष उपदेश किये नहीं धोया जा सकता। अपना कौन और पराया कौन है अथवा संबंधी कौन और दूसरा कौन इस का तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विचार इनको समझाना चाहिये। ऐसा विचार करके भगवान्ने इनको इस प्रकार उपदेश

सांख्ययोग

(४) पण्डितोंकी समवृत्ति

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः। प्रज्ञावादान् च भाषसे। पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले– जिनका शोक करना योग्य नहीं है उनका ही शोक तू करता है और ज्ञानकी बड़ी बड़ी बातें बोलता है। परंतु ज्ञानी लोग मरे हुओंका अथवा जीवितोंका शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं उनके विषयमें शोक करनेमें अपना समय गँवाना किसीको भी योग्य नहीं है। बिना जानेसीखेका संबन्ध उससे बड़े ज्ञानियोंके वाक्य बोलकर अपनी झोंकी पंडिताई बताना भी किसी को योग्य नहीं है। ज्ञानी लोग कदापि मरोंके बारे अथवा रहनेका शोक नहीं करते।

कथन आरंभ किया—

अध्यायका नाम

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्य योग' है तथापि यहांके इन श्लोकोंमें सांख्य तत्त्वज्ञानकी बात बिलकुल नहीं है। इसी प्रकार इसी अध्यायके ३९ श्लोक तक ही सांख्य तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
(भ. गी. २।३९)

यहांतक तुझे सांख्य ज्ञानका उपदेश किया आगे योगका तत्त्वज्ञान श्रवण कर ऐसा कहा है। वस्तुतः यहांतक ही सांख्य मार्ग कहा है और इसके आगे योगमार्ग कहा है। परंतु सांख्य और योगमें बहुत भेद नहीं है। दोनों मार्ग कुछ समयके पश्चात् एकरूप हो जाते हैं कई लोग सांख्य का 'निरीश्वर-योग' कहते हैं और योग का 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं। इतनी दोनों शास्त्रोंकी एकरूपता मानी है। भगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
(भ. गी. अ. ५)

मूढ लोग कहते हैं कि सांख्य और योग पृथक् हैं पर पण्डित नहीं। इनमेंसे एकका अनुष्ठान करनेसे दूसरे का भी फल मिल जाता है। जो स्थान सांख्योंको मिलता है वही योगियोंको भी प्राप्त होता है। अतः सांख्य और योग एक हैं, ऐसा जो जानता है वही ठीक बात जानता है।'

इस कथनसे स्पष्ट होता है कि सांख्यमार्ग और योगमार्ग परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं। इतना ही नहीं परन्तु बहुत अंशोंमें एकरूप ही हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'सांख्य-योग' रखा है यद्यपि इसमें जैसा सांख्य मत कहा है उसी प्रकार योगमत भी कहा है। इस नामसे भी दोनोंकी एकरूपता ही सिद्ध होती है।

सांख्य शब्दका अर्थ

सांख्य किसको कहते हैं इसका विचार यहां करना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानको 'सांख्य' नाम क्यों दिया गया इसका हेतु देखिये। 'संख्या' शब्दसे 'सांख्य' शब्द बना है और इसका अर्थ यह है—

चर्चा संख्या विचारणा। (अमरकोशः)
संख्यैकत्वादौ विचारे च। (हेमचन्द्रः)
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः। (मधुसूदनसरस्वती गी. टीका २।३९, ५।४)
सम्यक्ख्यानं सत्त्वात्मपार्थक्येन ज्ञानम्।
([illegible] १९५)
पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम्। (मधुसूदन गी. १८।१३)

" सङ्ख्या शब्दका अर्थ (सम्यक् ख्याति) विचार करना, तत्त्वनिश्चयके लिये वादविवाद करना है। सङ्ख्या शब्दका दूसरा अर्थ आत्मविषयक निश्चित ज्ञान है। क्रमपूर्वक युक्तियोंसे खोलकर जिसमें सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है उसको सांख्य कहते हैं। इस जगत्में जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी सङ्ख्या बतलाकर उनका यथावत् ज्ञान जिस शास्त्रमें कहा होता है उसको सांख्य कहते हैं। यह सांख्य शब्दका अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाण प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥
(म० भा० शान्ति अ० ३१२।८१)

'किसी सिद्धान्तके विचारमें दोषों और गुणोंके प्रमाण का विचार करनेका नाम सङ्ख्या है।' अर्थात् इसमें दोष पाँच हैं और गुण दस हैं तो यह अच्छा है। दोषोंकी संख्या जिसमें अधिक है वह ठीक नहीं इस प्रकारका निश्चय करनेका नाम संख्या है इस तरह तत्त्वनिश्चय जिस शास्त्रमें किया होता है उसको सांख्यशास्त्र कहते हैं। सांख्यशास्त्रमें सबसे प्रथम विश्वके अंदरके जड चेतन पदार्थों-की संख्या निश्चित की है वह पदार्थोंके कार्यों और चेतनके कार्योंका निश्चय किया है इस प्रकार तत्त्वनिश्चय करनेसे इस शास्त्रका नाम सांख्य हुआ इस सांख्यशास्त्रके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके बिना दूसरा कोई साधन नहीं है। और अपना और 'पराया' इस संबंधका मोह दूर करनेके लिये सांख्यशास्त्र जैसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई शास्त्र नहीं है। क्योंकि इस शास्त्रमें जगत्के संपूर्ण तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान दिया है जिसको ज्ञात करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर हो सकता है।

दो प्रकारके लोग

जगत्में दो प्रकारके लोग प्राणी अथवा पदार्थ होते हैं- (१) एक "गतासु" और (२) दूसरे "अगतासु" जिनके प्राण चले जाते हैं उनको गतासु कहते हैं और जिनके प्राण शरीरमें कार्य करते हैं, उनको अगतासु कहते हैं। भाषामें 'गतासु' का अर्थ मृत और 'अगतासु' का अर्थ 'जीवित' होता है। 'पण्डित लोग जीवित और मृत इनमेंसे किसीका शोक नहीं करते।' यह एक पण्डितोंका स्वभावधर्म इस श्लोकमें कहा है। यहाँ पण्डित वे कहे गये हैं जो इस सांख्य तत्त्वज्ञानको

	अगतासु (जीवित)		गतासु (मृत)
राजा	आत्मा	प्रथम कक्षा	आत्मा
रानी	बुद्धि	द्वितीय कक्षा	बुद्धि
मुख्यमन्त्री	सुषुप्तिका मन		सुषुप्तिका मन
उपमन्त्री	जागृतिका मन	तृतीय कक्षा	जा ग्र त म न
रक्षक	प्राण	चतुर्थ कक्षा	प्रा … ण
कार्यवाहक	इंद्रियाँ	पंचम कक्षा	इं द्रि याँ
कर्मचालक	शरीर	षष्ठ कक्षा	श री र
कर्मक्षेत्र	जगत्	सप्तम कक्षा	जगत्

अगतासु और गतासुका चित्र

॥ ॥ ज्ञानी मनुष्य मरे हुओंका और जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते ।

अगतमें सब लोग पण्डित नहीं है । पण्डित उनको कहते है कि जिनको (स्वतः) आत्माके विषयमें यथार्थ ज्ञान (हुआ) प्राप्त हुआ है । अर्थात् आत्माका यथार्थ ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते । यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकोंकी इच्छा है तो 'गतासु और अगतासु' शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवान्‌जीका आशय समझमें आ सकता है । इनके स्थानपर मृत और जीवित शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखनेसे वह आशय समझमें नहीं आ सकता । सांख्यशास्त्रके अनुसार मृत और जीवित ऐसा भेद नहीं है, परंतु गतासु और अगतासु ऐसा भेद जगत्‌में है । अब इस विषयमें बात यह है (पृ ७१ पर चित्र देखें)

एक बड़ा मंदिरकी कल्पना कर लीजिये । राजा-रानी अंदरकी प्रथम कक्षामें रहते हैं । रातके समयका एक और दिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रियोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है । चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है । दशविध प्राण इसके कार्यवाहक मुख्य प्राणकी आज्ञासे सब शरीरभरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षायें हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है ।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक या पहरेदारका कार्य करनेवाला है । वही असु है । वह कुछ कालतक शरीरमें रहता है और कुछ कालके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है तब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं क्योंकि प्राणके ही अधीन रहकर वे कार्य कर सकती हैं। बस प्राणके रहने और चले जाने से प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवालोंपर कोई परिणाम नहीं होता प्राणके चले जानेसे तृतीय कक्षासे सप्तम कक्षातकके जो कार्यवाहक हैं, उनपर परिणाम होता है, परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालोंपर प्राणके चले जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है ।

बहादुरशाही देखिये– राजाके महलका पहरा द्वारपालके एक दि

या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती । अधिकसे अधिक यही होगा कि राजा रानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालको रखेंगे । यहां भी यही होता है प्राण जब जाने लगता है तो मणिमन्त्रौषधिके प्रयोगसे प्राणकी स्थापना शरीर में की जाती है और इस उपायसे भी प्राण यदि स्थिर न रहा तो आत्मा, बुद्धि और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था ।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपाल होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोडकर चला जाय तो कोई रोते पीटते नहीं, क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है । उसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि प्राणके चले जानेपर भी आत्मा बुद्धि और मन वैसेके वैसे ही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं होती तो वे क्यों शोक करेंगे ? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है, वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें वैसेके वैसे ही हैं । चतुर्थ कक्षा दूर भी जाए तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं वैसीकी वैसी ही रहती हैं । इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है अतः वे (गतासु) मृत और (अगतासु) जीवित दोनोंमेंसे किसी भी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते । क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है वह दोनों अवस्थाओंमें वैसाका वैसा ही है ।

यहां शंका होसकती है कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा ? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं। देखिये––

१ ज्ञानी जानते हैं कि इस शरीरके प्राप्त होनेके पूर्व भी कई बार शरीर प्राप्त हुआ था और हरएक बार वह नाशको भी प्राप्त हुआ अतः कितने शरीरोंके विषय में शोक करें ? यही एक शरीर मिला है ऐसी बात नहीं है। हरएक बार शरीर मिलता है और वह नाशको प्राप्त होता रहता है । यह इसका स्वभाव ही है। फिर स्वभावके लिये रोना क्या है ।

२ वे भी अवश्य नाशको प्राप्त होता ही । ...

नाश होनेवालेका नाश हुआ तो उस विषयमें शोक किसका करना ?

पहरेदार पहरेपर आते हैं और बीच बीचमें कार्य छोड़ कर या नौकरी छोड़कर चले भी जाते हैं। अतः वे रहे या गये तो भी किसी प्रकार शोक करना उचित नहीं। हां घरका स्वामी मालिक नष्ट होजावे तो वह शोकका विषय हो सकता है, परंतु आत्मा अविनाशी होनेसे न वह कभी जन्म लेती है और न कभी वह मरती है, अतः इस विषयमें शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है।

ज्ञानी लोग पूर्ण रीतिसे यह बात जानते हैं, अतः जीवित या मृत अवस्थाके कारण वे कभी शोक नहीं करते। परंतु जो लोग पण्डित नहीं होते हैं परंतु मूढ या साधारण लोग होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे समझते हैं कि प्राण जानेके पश्चात् आत्मा भी मरती है और इस कारण प्राण जाते ही रोने लगते हैं। परंतु घरके मालिकके जीवित रहनेतक पहरेदार नौकरी छोड़कर चला गया तो घरके मालिकको कारण रोनेपीटनेकी क्या जरूरत है जब उसको दूसरा पहरेदार मिलनेवाला है ?

यदि यह विचार पाठक समझेंगे तो जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित जन क्यों शोक नहीं करते इस वाक्यका भाव ध्यानमें आवेगा। इस प्रकार इस श्लोकार्धसे ही भगवान्‌ने अर्जुनका मोह दूर करनेका यत्न किया परंतु इतने संक्षेपसे कहा भाव साधारण जनकी समझमें नहीं आ सकता; अतः आगे इसका स्पष्टीकरण होगा।

(गतासून्) मृत किंवा (अगतासून्) जीवित लोग ये सबके सब (अ-शोच्य) शोक करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि जो मुख्य आत्मतत्त्व है उसकी स्थितिकी दृष्टिसे इन दोनों अवस्थाओंमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार घरका स्वामी जाग्रत रहा किंवा सो जावे तो कोई शोकका विषय नहीं होता है उसी प्रकार यह है। अतः मृत या जीवित कोई अवस्था हो किसी अवस्थाके लिये शोक करना योग्य नहीं है।

अर्जुन ज्ञानी जैसी बड़ी बड़ी बातें तो बोलता है परंतु ये सब आप्त जन मर जावेंगे ऐसा मानकर शोक कर रहा है। अर्थात् जो ज्ञानके कारण वह शोक रहा है उसका भाव उसकी समझमें बिल्कुल नहीं आया है यह सत्य है। इसी कारण यह तत्त्वज्ञान उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

अरे अर्जुन ! ऐन युद्धके समय तूने यह क्या प्रारंभ किया है ? तू अपनेको बड़ा ज्ञानी मानता है, परंतु अपना अज्ञान छोड़ना नहीं चाहता। तुमको कोई सिखलाने का विचार करे तो तू स्वयं सयानेपनकी बातें बोलने लगता है ! जैसा जन्मान्ध बालक होता है और उस पागलपनमें इधर उधर नाचने लगता है वैसी तेरी अवस्था बन गयी है ! अरे, तू अपने आत्माका स्वरूप तो जानता नहीं और औरोंके लिये शोक करता है। कितना आश्चर्य है ! इस विश्वकी रचना अनादि कालसे चली आई है और उसका संचालक प्रभु सर्वसमर्थ है यह सब तू भूल गया। तूही इस सब जगत्का उत्पादक तो नहीं है ? जगत्के पालन वाले प्रभुने ये सब प्राणिमात्र उत्पन्न किये और उसीने सब उनकी जन्ममृत्युकी योजना की है। तूने तो यह योजना नहीं की है ? क्या तूही अकेला इनका नाश करनेवाला है और यदि तूने इनका नाश नहीं किया तो क्या ये अमर रहेंगे ? क्या तूही इनको मार सकता है और तेरे बचानेसे ही ये मर सकते हैं? क्या यह तेरा विचार ठीक है ? तूने इनका वध नहीं किया तो ये चिरजीव रहेंगे ? यही तेरा विचार है न ? अरे अनादिसिद्ध विश्वकी महती रचना कैसी चल रही है और उसमें उत्पत्तिविनाश ये स्वयं कैसे चल रहे हैं इसका जरासा विचार तो कर तो तुझे पता लगेगा कि इनका जीना या मरना तेरे प्रयत्नके आधीन नहीं है। यह किसी अन्य प्रचण्ड शक्तिके आधीन है। अतः तूने इनको न मारा और उस प्रचण्ड शक्तिके मनमें इनको मारनेका विचार हुआ तो ये यहां बच नहीं हो सकेंगे। अतः किसीके जीने या मरनेके कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते और तेरे जैसे मोहित भी नहीं होते। तुमको अब यहां इसी बातका विचार करना चाहिये कि उस नियामक प्रभुके विश्वचालक प्रचण्ड कार्यका साथी बनकर यहांका अपने ऊपर आया हुआ कार्य करना है अथवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाह वैसा मनमाना व्यवहार करके उसका परिणाम भोगना है। हम सब इसी समय इस जगत्‌में देह धारण करके आये हैं पहिले कभी नहीं थे और आगे भी कभी नहीं होंगे यह बात ठीक नहीं है।

यथावत् जानते हैं। वे सत्य तत्त्वज्ञानी मनुष्य मरे हुओंका अथवा जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते।

जगत्में सब लोग पंडित नहीं हैं। पंडित उनको कहते हैं कि जिनको (पण्डा) या आत्म विषयमें यथार्थ ज्ञान (दृढ) प्राप्त हुआ है। अर्थात् आत्माका यथार्थ ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते। यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकोंकी इच्छा है तो गतासु और अगतासु शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवान्‌जीका आशय समझमें आ सकता है। इसके स्थानपर मृत और जीवित शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखनेसे यह आशय समझमें नहीं आ सकता। लोकव्यवहारके अनुसार मृत और जीवित ऐसा भेद नहीं है, परंतु 'गतासु और अगतासु' ऐसा भेद जगत्में है। अब इस विषयमें बात यह है (पृ ७१ पर चित्र देखें)

एक घर मकानकी कल्पना कर लीजिये। राजा रानी अंदरके प्रथम कक्षामें रहते हैं। राजके समयका एक और जिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रियोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है। चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है। इसलिये प्राण इनके कार्यवाहक मुख्य प्राणकी आज्ञासे सब शरीरभरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षाएं हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक या पहरेदारका कार्य करनेवाला है। यही असु है। यह जब तक शरीरमें रहता है और जब इसके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है जब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं क्योंकि इसके ही अधीन रहकर वे कार्य कर सकती हैं। जब इसके रहते बाद चले जानेके प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवाला कोई परिवर्तन नहीं होता इसके चले जानेसे तृतीय कक्षामें अन्य कक्षाओंके जो कार्यवाहक हैं उनका परिणाम होता है परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालोंपर इसके चल जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है।

दृष्टान्तसे देखिये- इसके अनुसार यहां करनेसे द्वारपालके एक दिन चले जानेपर राजाकी शक्तिमें पहिले

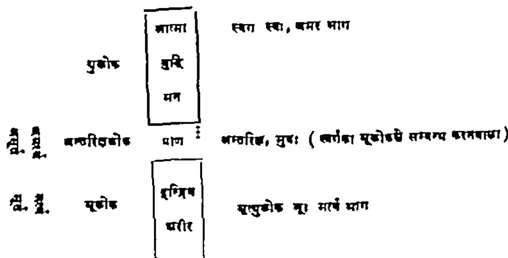
या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती। अधिकसे अधिक यही होगा कि राजा रानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालको रखेंगे। यही भी नहीं होता है प्राण चले जाने लगता है तो मणिमन्त्रौषधिके प्रयोगसे प्राणकी स्थापना शरीर में की जाती है और इस उपायसे भी प्राण यदि स्थिर न रहा तो आत्मा, बुद्धि और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपाल होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोडकर चला जाय तो कोई रोते पीटते नहीं; क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है। इसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि प्राणके चले जानेपर भी आत्मा बुद्धि और मन वैसेके वैसे ही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं होती तो वे क्यों शोक करेंगे? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें वैसेके वैसे ही हैं। चतुर्थ कक्षा दूर भी जाए तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं जैसीकी वैसी ही रहती हैं। इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है, अतः वे (गतासु) मृत और (अगतासु) जीवित दोनोंमेंसे किसी भी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते। क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है वह दोनों अवस्थाओंमें वैसाका वैसाही है।

यहां शंका होसकती है कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं। देखिये--

१ ज्ञानी जानते हैं कि इस शरीरके प्राप्त होनेके पूर्व भी कई बार शरीर प्राप्त हुआ था और इसके बाद भी प्राप्त होगा अतः किनके शरीरोंके लिये वे शोक करें? यही एक शरीर मिला है, ऐसी बात नहीं है। इसके बाद शरीर मिलना है और यह बारबार प्राप्त होता रहता है। यह उसका स्वभाव ही है। फिर स्वभावके लिये शोक क्या है।

२ शरीर का अवश्य नाश होना ही। यदि यही कहते हैं कि जो (जीवेने) प्राप्त होता है। फिर



मरनेवाला भाग साकार और स्थूल है तथा न मरनेवाला जो अमर भाग है वह निराकार और सूक्ष्म है। यहां हमें पता लगा कि जो अमर भाग जिसको हम यहां आत्मा कहते हैं, वह शरीरके नाशके पश्चात् भी रहनेवाला है और शरीरके जन्मके पूर्व भी वह होता है। जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व रहता है और शरीरके मरनेके पश्चात् भी रहता है, वही अमर कहाने योग्य है।

इस युद्धभूमिमें जो कौरव पाण्डव वीर युद्धके लिए उपस्थित हैं, उनके अन्दर भी एक अमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर ऐसे दो भाग हैं। इन सबकी आत्मा अमर होनेसे वह इन सबके जन्मके पूर्व भी थी और इनके मरनेके पश्चात् भी रहेगी। यही दर्शानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा कि तू, मैं और ये सब राजा पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी रहेंगे। अर्थात् इनमेंसे कोई भी न शरीरके जन्मके साथ जन्मा है और न शरीरकी मृत्युसे मरेगा। अतः हम सब नित्य हैं। और यदि नित्य हैं तो नित्य वस्तुके लिये शोक करनेका क्या कारण?

वायुके चलनेसे समुद्र जलमें तरंगें उठती हैं वायुके शान्त होनेसे तरंगें भी विलीन हो जाती हैं। परन्तु तरंगोंके उठने या नाश होनेसे जिस प्रकार जलमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है इसी प्रकार प्राणवायुके चलनेसे प्रकृतिके समुद्रमें यह शरीर रूपी एक तरंग उत्पन्न हुई और प्राणवायु शान्त होनेसे वह तरंग भी शान्त हुई। इससे यहांकी आत्माकी अमरता नहीं जा सकती। जैसे वायुके शान्त होनेपर जल और उसका आधार जैसेके वैसे ही हैं, उसी प्रकार कुछ अंशमें पाठक यहां आत्माके विषयमें समझें।

इसका तात्पर्य यही है कि शरीरमें रहनेवाली आत्मा अमर है और शरीर नाशवान् है। शरीरके मरनेपर भी वह जैसाका वैसा ही रहता है। शरीरके नाशके साथ आत्माका कुछ भी बिगड़ता नहीं यह बात यहां स्पष्ट हो गई। अतः अर्जुनके सामने ये भीष्मादि कौरव मरेंगे ऐसी जो अर्जुन की शंका थी उसका यह वास्तविक उत्तर है कि न यही मरेंगे। शरीर कितनी बार भी जन्मे या मरे इससे आत्मा की अवस्थामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है।

इतना विचार करनेके पश्चात् यह शंका उपस्थित होती है कि आत्मा नित्य है और देह अनित्य है। यह सत्य है परन्तु जीवित रहनेतक देहके साथ आत्मा है यह हम देखते हैं। देहके नाशके पश्चात् उस आत्माका क्या होता है यह हमें पता नहीं लगता अतः मरनेका शोक होना योग्य है।

इस शंकाका उत्तर अगले श्लोकमें श्रीभगवान् देते हैं—

(५) हम सब सनातन हैं।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अन्वयः— अहं जातु न आसम् (इति) न तु एव त्वं (जातु न आसीः इति) न इमे जनाधिपाः (जातु न आसन् इति) न अतः परं च सर्वे वयं भविष्यामः (इति) न एव ॥ १२ ॥

मैं किसी कालमें नहीं था (ऐसा) नहीं तू (कभी नहीं था ऐसा) नहीं ये राजा लोग (कभी नहीं थे ऐसा भी) नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे (ऐसा) भी नहीं है (अर्थात् हम पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे) ॥ १२ ॥

भावार्थ— सब देह धारण करनेवाली आत्मायें (वे देह धारण करें या न करें) नित्य हैं। वे देह धारण करनेके पूर्व भी देह धारणके पश्चात् भी वैसे ही होतीं और देहपातके पश्चात् भी रहेंगी ॥ १२ ॥

(१२) जगत्में दो पदार्थ हैं। (१) एक देह जिसको शरीर कहते हैं और (२) दूसरा आत्मा जिसको जीवात्मा कहा जाता है। शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं परन्तु आत्मा अविनाशी और अजन्मा है। देहकी उत्पत्तिके साथ आत्मा जन्मती नहीं और शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश भी नहीं होता है। शरीर मिले या न मिले तो भी आत्मा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है और अपनी शक्तियोंके साथ वैसाका वैसा ही रहती है। शरीरकी शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है। साधारण लोग शरीरको ही मनुष्य कहते हैं और यह मनुष्य जन्मको प्राप्त हुआ, तरुण या वृद्ध हुआ और अन्तमें मरा ऐसा भी मानते हैं। इन साधारण अबोध पुरुषोंको जन्मसे आनन्द होता है और मृत्युसे दुःख होता है। परंतु जो ज्ञानी लोग मनुष्यको स्थूल शरीरकी दृष्टिसे देखते नहीं अपितु आत्माकी दृष्टिसे देखते हैं उनको तो उनमें जन्म और मृत्यु होनेवाला कोई पदार्थ दीखता ही नहीं क्योंकि उनके सम्मुख सदा नित्य आत्मा ही रहती है यह बोध इन शक्तियोंके परिशीलनसे मिलता है। यह सिद्धान्त दर्शाता ही है कि 'आत्मा बुद्धि मन ये अविनाशी हैं और 'इंद्रियां और शरीर ये नाशवान हैं और प्राण दोनोंका संबंध करनेवाला है। मनुष्यके दो भाग हैं एक मर्त्य भाग है और दूसरा अमर भाग है।

साधारण मनुष्य अपने मर्त्य भागको जानता है और अपने अन्तरकी अमर शक्तिको नहीं जानता, इस कारण वह मरता और वह जन्मता ऐसी भाषा बोलता है। यदि वह अपनी अमर शक्तिको जान सका तो वह न किसीके जन्मसे आनन्दित होगा और न किसीकी मृत्युसे दुःखी ही होगा क्योंकि वह जन्म, जीवन और मरण इन तीनों अवस्थाओंमें समानतया रहनेवाली इसकी अमर शक्तिको जानता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।
(कठ उप० ५।५)

प्राण और अपानसे मनुष्य जीवित नहीं रहता किंतु अन्य शक्तिके कारण जीवित रहता है जिसमें ये प्राण और अपान आश्रित होते हैं। इस उपनिषद्के वचनमें भी वही अमर सत्ता कही है जो इस गीताके वचनमें कही है। इसको ही आत्मा कहते हैं। इसके आश्रयमें प्राण इंद्रियां और शरीर इनकी स्थिति होती है। इसी विषयमें और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं
चामृतं च० ॥ १ ॥ ... इदमेव मूर्तं यदन्य-
त्प्राणात्० ॥ ४ ॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चाय-
मन्तरात्मन्नाकाश एतदमूर्तं० ॥ ५ ॥
(बृहदा० उ० २।३।१)

ब्रह्मके दो रूप हैं- (१) एक अमूर्त और अमर और (२) दूसरा मूर्त और मर्त्य। प्राणसे भिन्न जो इंद्रियां और शरीर आदि हैं वे मूर्त अर्थात् साकार हैं और मर्त्य अर्थात् मरनेवाले हैं। जो अमूर्त प्राण आदि (मन बुद्धि आत्मा) हैं वे अमूर्त अर्थात् निराकार हैं और अमर हैं।

इस उपनिषद्वचनमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्यके अन्दर 'मरनेवाला एक भाग है और दूसरा अमर भाग है।'

वह सनातन है वह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन जैसा होता है ॥ २६ ॥ तू स्त्री है और पुरुष भी है तू कुमार है और कुमारी भी है। वृद्ध होनेपर तू हाथमें लाठी लेकर चलता है और जब तू नवीन जन्मता है तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७ ॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है इनमें ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है। मनमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है। पहिले जन्मा था वही अब गर्भमें पुनः आ गया है ॥ २८ ॥

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है वह स्त्रीके शरीरमें स्त्री और पुरुष शरीरमें पुरुष होती है। वह कुमार कुमारी वृद्ध-तरुण जरापीड़ित होती है यह शरीरकी अवस्था के कारण ही होता है, ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार वह किसीका पिता किसीका पुत्र किसीका बड़ा भाई और किसीका छोटा भाई होता है। वह मनमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है मनके अन्दर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहती है और एकबार यही जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् बारबार जन्मता है।

इसका सच्चा मतलब यही है कि वह आत्मा नित्य है अतः वह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः वह पुरुष नहीं परन्तु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें भी वह स्त्री नहीं। बालकके शरीरमें वह बालक और कुमारीके शरीरमें वह कुमारी होती है परन्तु ये भी शरीरके धर्म हैं। वस्तुतः वह न कुमार है और न कुमारी है। इसको कोई पिता कहते हैं कोई पुत्र और कोई बड़ा या छोटा भाई कहते हैं यह कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है। वस्तुतः वह किसीका पिता नहीं; किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है। वह पहिले एकबार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आया है। इसका अब स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और वह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है।

इस प्रकार इसको बालक तारुण्य वार्धक्य जैसे प्राप्त होता है उसी प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है। यह बात वेदमन्त्रोंद्वारा भी इस प्रकार कही गई है। वेदमें जीवात्माका प्रथम तारुण्य एकबार पुनर्जन्म बतानेके लिये 'चन्द्रमा' का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता शुक्ल अष्टमीतक बालकसा रहता है पूर्णिमातक पूरा जवान होता है पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणता आती है और अमावास्याकी रात्रिमें इसका देहपात होता है और वह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चन्द्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं वैसी ही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं। इस प्रकार साम्य वेदमें वर्णित है। यह इसीलिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नवः = पुनर्नवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसी होनेवाली है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है—

यथोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।

(ए. उ. ३।४)

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठ उ. १।६)

यहां आयु होनेके पश्चात् इस लोकमें आता है और पुनः जन्म लेता है। वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मुझ मृत्युके) वशमें होता है।

पूर्वोक्त स्थानमें त्वं स्त्री त्वं पुमानसि० इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद्में (४।३) में आया है पाठक वहां उसका संबन्ध अवश्य देखें। इस श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक मन्त्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥(श्वे २।१६;वा य ३२।४)

यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है। यह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आता है। (सः जातः) यह एक बार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा। यह हरएक मनुष्यमें रहता है। इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं उतने सब इसके मुख ही हैं।

इसी कारण इसको मातरिश्वा अर्थात् माताके गर्भमें रहनेवाला कहते हैं। क्योंकि यह बारबार माताके गर्भमें आता है और जन्म धारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है और वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार वह बारबार माताके गर्भमें रहकर बारबार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है।

इत्यादि स्थानोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंने वर्णन किया है। अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करती

(६) पुनर्जन्म

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अन्वय — देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा तथा देहान्तरप्राप्तिः । तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहधारी (आत्मा) को इस देहमें जिस प्रकार बालपन, तरुणपन और बूढ़पन होता है, उसी प्रकार (आगे उसी आत्माको) दूसरी देह भी प्राप्त होती है। इस कारण इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ— बालपन तारुण्य और वृद्धावस्था ये जैसी तीन अवस्थाएं हैं उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति भी एक चतुर्थ अवस्था है। अतः पूर्व तीन अवस्थाओंके पश्चात् क्रमशः चतुर्थ अवस्था प्राप्त होती ही है इसमें कोई संदेह नहीं ॥१३॥

पूर्वदेह			वर्तमानसमयकी देह					दूसरी देह				
वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म	बालपन	तारुण्य	वार्धक्य	मृत्यु	जन्म
आ			त्मा			आ		त्मा		आ		त्मा

(१३) शरीरकी तीन अवस्थाएं यहां कही हैं परंतु वस्तुतः यहां छः अवस्थाएं होती हैं। (जायते) उत्पन्न होना (अस्ति) होना रहना (वर्धते) बढ़ना (विपरिणमते) परिणाम होना (अपक्षीयते) क्षीण होना और (नश्यति) नाशको प्राप्त होना। इन छः अवस्थाओंमें बालपन तारुण्य और वृद्धपन क्रमशः होता है। बालपनके पश्चात् तरुणपन और तारुण्यके पश्चात् बुढ़ापा क्रमपूर्वक होता है। किसी शरीरका नाश तारुण्यमें हो जाय तो वार्धक्य नहीं आवेगा और किसीकी मृत्यु बालपनमें हो जाय तो उसको तारुण्य और वार्धक्य नहीं आवेगा यह सत्य है, परंतु यदि किसीकी दीर्घायु हुई और क्रमशः तीनों अवस्थाएं प्राप्त होती हैं तो पहिली आयुमें बालपन मध्य आयुमें तरुणपन और पश्चात्की आयुमें वृद्धपन आवेगा। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रम कदापि नहीं बदलेगा। पहले बीज ही वृक्षोंका और वृक्षोंसे बीज होता जाता है। यह बात सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें होनेसे इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। इस देहकी तीनों अवस्थाएं इसमें रहनेवाले आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता है। इसके बालपनमें आत्मा बाल नहीं होती इसी प्रकार इसके तारुण्य और वृद्धपनके साथ भी आत्मा तरुण या वृद्ध नहीं होती। वह सदा एक जैसी रहती है। जैसी ये तीनों अवस्थाएं हैं उसी प्रकार इस देहकी प्राप्तिसे पहिले जो अवस्था थी वह भी एक चौथी अवस्था है। आत्मा जैसे पहिले तीन अवस्थाओंमें रहती हुई एक जैसी रहती है उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति होनेपर भी वैसी ही रहती है और इसी प्रकार इस जन्मके पूर्व भी पूर्व देहकी अन्तिम अवस्था में वह थी। इस प्रकार ये चारों या पांचों अवस्थाएं क्रमपूर्वक आत्माको देहके कारण प्राप्त होती हैं यह साधारणतः समझनेसे आत्मा कैसे नित्य है और देह कैसे अनित्य है यह बात ठीक प्रकार समझमें आ सकती है।

जिस निश्चयसे बालपनके अनंतर तारुण्य आता है, उसी निश्चयसे उसके बाद वार्धक्य आता है और उसी निश्चयसे आयुके बाद दूसरा देह भी प्राप्त होता है। हमने बालपनका त्याग किया और तारुण्यको प्राप्त किया तो कोई शोक करते नहीं; इसी प्रकार हमने इस देहका त्याग करके दूसरा देह प्राप्त किया तो भी उसमें दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि उसकी चार अवस्थाओंमें यह भी एक अवस्था है और यह यथाक्रम प्राप्त होती ही है। वेदमें यह बात अन्य रीतिसे कही है देखिये—

> समानमेवमानुषं ... ॥ २६ ॥ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
> त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८
> (अथर्ववेद १०।८)

वह सनातन है, वह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन बना होता है ॥ २६ ॥ तू स्त्री है और पुरुष भी है तू कुमार है और कुमारी भी है। वृद्ध होनेपर तू हाथमें लाठी लेकर चलता है और जब तू नवीन जन्मता है तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७ ॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है, इनमें श्रेष्ठ है और कनिष्ठ भी है। सबमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है। पहिले जन्मा था वही अब गर्भमें पुनः आ गया है ॥ २८ ॥

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है वह स्त्रीके शरीरमें स्त्री और पुरुष शरीरमें पुरुष होती है। वह कुमार कुमारी वृद्ध-तरुण आदि विविध होती है यह शरीरकी अवस्था के कारण ही होता है, ऐसा समझते हैं। इसी प्रकार यह किसीका पिता किसीका पुत्र किसीका बड़ा भाई और किसीका छोटा भाई होता है। यह सबमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है सबके अन्दर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहती है और एकवार यही जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् वारंवार जन्मता है।

इसका सच्चा मतलब यही है कि यह आत्मा नित्य है अतः यह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः वह पुरुष नहीं परन्तु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें भी वह स्त्री नहीं। बालकके शरीरमें वह बालक और कुमारीके शरीरमें वह कुमारी होती है परन्तु वे भी शरीरके धर्म हैं। वस्तुतः वह न कुमार है और न कुमारी है। इसको कोई पिता कहते हैं कोई पुत्र और कोई बड़ा या छोटा भाई कहते हैं पर कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है। वस्तुतः वह किसीका पिता नहीं, किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है। वह पहिले एकवार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आता है। इसका अब स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और वह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है।

इस प्रकार इसको बचपन तारुण्य वार्धक्य जैसे प्राप्त होता है वैसे ही प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है। यह बात वेदमन्त्रोंद्वारा भी इस प्रकार कही गई है। इसमें जीवात्माका जन्म तारुण्य आदि और पुनर्जन्म बतानेके लिये चन्द्रमा का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता पूर्व बालकीय बालकला रहता है पूर्णिमातक पूरा जवान होता है पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणत्व आती है और अमावास्याकी रात्रिमें इसका देहपात होता है और यह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चन्द्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं, वैसी ही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं। इस प्रकार आत्म वेदमें वर्णित है। यह इसीलिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नव = पुनर्णवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसी होनेवाली है। इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है—

यथोगतः प्रेति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते ।
(ऐ उ ३।७)

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठ उ २।६)

यहां आयु होनेके पश्चात् इस लोकसे जाता है और पुनः जन्म लेता है। वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मृत्युके) वशमें होता है।

पूर्वोक्त स्थानमें त्वं स्त्री त्वं पुमानसि० इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद्में (४।३) में आया है पाठक यहां इसका संबन्ध अवश्य देखें। इस श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक मन्त्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे २।१६।वा य ३२।४)

यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है। यह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आता है। (स जातः) वह एक बार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा। यह हरएक मनुष्यमें रहता है। इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं उतने सब इसके मुख ही हैं।

इसी कारण इसको मातरिश्वा अर्थात् माताके गर्भमें रहनेवाला कहते हैं। क्योंकि यह वारंवार माताके गर्भमें आता है और जन्म धारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है और वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह वारंवार माताके गर्भमें रहकर वारंवार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है।

इत्यादि स्थानोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंमें वर्णन किया है। अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करती।

(७) अमर बननेका सामर्थ्य

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः आगमापायिनः अनित्याः । हे भारत ! तान् तितिक्षस्व ॥ १४ ॥ हे पुरुषर्षभ ! हि यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति सः अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (इन्द्रियोंके) बाह्य पदार्थोंके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण सुख और दुःख देनेवाले हैं, ये कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते, अतः ये अनित्य हैं। इस कारण, हे भरतकुलमें उत्पन्न ! उनको तू सहन कर ॥१४॥ हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! क्योंकि जिस सुख-दुःखको समान माननेवाले धीर पुरुषको ये पीडा नहीं देते वह अमरपनके लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढाना मनुष्यको योग्य है क्योंकि जिसको ये द्वन्द्व कष्ट नहीं दे सकते वही मनुष्य अमर होनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ १४-१५ ॥

है। इसी प्रकार इष्ट मित्र सम्बन्धी, गुरु आदि नातेका जो संबन्ध है वह भी शरीरकी अपेक्षासे ही है। वह सम्बन्ध आत्माकी अपेक्षासे नहीं है। अर्थात् इस तत्त्वज्ञानके बलसे अर्जुनको यह ज्ञान दिया कि जिनको अर्जुन गुरु पिता, दादा मामा आदि आप्तजन समझता है वह नाता केवल इस समयके अनित्य शरीरके संबन्धसे उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः सबके अन्दर जो नित्य आत्मा विद्यमान है, उसकी दृष्टिसे इस प्रकारका कोई नातेका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह न कभी किसीका गुरु है और न दादा मामा होता है। अतः यह संबंध अनित्य है। अर्थात् इस अनित्य संबन्धके कारण शोक मोहमें फंसना किसीको भी योग्य नहीं है।

यहां प्रश्न होता है कि वर्तमान शरीर-संबंधसे उत्पन्न होनेवाला यह दादा मामा भाई आदि संबंध भले ही अनित्य हो यह संबंध इस शरीरके पूर्व भले ही न हो, तथा आगे नाश होनेवाले शरीरके साथ भी न रहे परंतु इस समय तो है न ? फिर यह समझ इस समयका संबंध नाश होते देखकर शोक क्यों न किया जाय ? अर्जुनका मोह भी इसी कारण था। अतः इसका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

(१४ १५) जिससे शोक या आनन्द होता है, वह संबंध नित्य नहीं है। इन्द्रियोंका संबंध जगत्के साथ होनेसे सुख दुःख शीत उष्ण, शोक या आनंद इत्यादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। यह संबंध न होनेपर ये नहीं होते। यह संबंध कभी होता है, कभी नहीं भी होता है। अर्थात् यह संबंध अनित्य है। इस कारण इनसे मोहित होनेकी अपेक्षा इन द्वन्द्वोंको सहन करना अधिक आवश्यक है।

' मात्रा ' का अर्थ

' मात्रा ' का अर्थ है प्रकृति प्राकृतिक जगत्, प्राकृतिक तत्त्व, [इसी मात्रा शब्दसे अंग्रेजी Matter ऐसा शब्द बना है और उर्दूका ' माद्दा ' शब्द भी बना है।] गीतामें—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
(भ. गी. ५।२१)

अर्थात् बाह्यस्पर्शके विषयमें जो आसक्ति नहीं रखता उसको आत्मिक सुख मिलता है। ऐसा कहा है। यहांका बाह्य-स्पर्श और इस श्लोकका मात्रा-स्पर्श ये दोनों शब्द प्रायः एक ही भाव बतानेवाले हैं। मात्राका अर्थ है बाह्य जगत्के विषयोंका भोग यही अर्थ मात्रास्पर्श का भी है। इस विषयमें अनासक्ति भी इसी लिये आवश्यक है कि ये बाह्य स्पर्श सुख दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाले हैं। मनुस्मृतिमें कहा है—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥
(म. स्मृ. ६।५७)

'लाभ न होनेपर खेद न करे और लाभ होनेपर हर्ष न करे। इस प्रकार (मात्रा-संग-विवर्जितः) प्राकृतिक भोगोंसे अपना संबंध छोडकर जीवन-यात्रा चलावे।' यह कथन भी न गीताके समदुःखसुखी होनेके उपदेशके समान ही है। यहां मात्रासंग शब्द है। यहां 'मात्रा शब्दका अर्थ प्राकृतिक भोग-साधन' स्पष्ट है। मात्रा का यही अर्थ यहां अपेक्षित है। कई लोग मात्रा शब्दका अर्थ इंद्रिय करते हैं। यद्यपि यह इस शब्दका अर्थ है, परंतु वह यहां अभीष्ट नहीं है, ऐसा हमें प्रतीत होता है। मात्रा शब्दका इंद्रिय अर्थ करनेपर मात्रास्पर्श' का अर्थ इंद्रियोंका स्पर्श जो प्राकृतिक भोगोंसे होता है वह सुखदुःख देनेवाला है यह अर्थ करना होगा।

इस प्राकृतिक जगत्‌के साथ जिस समय मनुष्यकी इंद्रियोंका संबंध होता है उस समय शीत उष्ण सुखदुःख आदिका भान होता है। जिस समय वह संबंध नहीं होता उस समय सुख दुःखादि द्वन्द्वोंका भान भी नहीं होता। संबंध होनेपर ही केवल सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका भान होता है, परंतु उस समय सच्चा सुख या सच्चा दुःख होता है या नहीं यही एक विचारणीय बात है।

'मात्रा' का स्पर्श

पृथ्वी आप तेज वायु आकाश इन पांच महाभूतोंके गंध रस रूप स्पर्श और शब्द ये गुण हैं। इन गुणोंका ग्रहण क्रमशः नासिका जिह्वा नेत्र त्वचा व कान इन पांच इंद्रियों द्वारा होता है और उससे सुख-दुःख हानि-लाभ हुआ करता है। इंद्रियोंका महाभूतोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होता है स्पर्श होते ही तत्त्वोंके गुणोंसे संबंध होता है और इससे शीत उष्ण आदिकी प्रतीति होती है।

नासिका गंधका ग्रहण कर सकता है। इस कारण पृथ्वीमें रहे सब प्रकारके गंध अर्थात् सुगंध या दुर्गंध उसके अनुभवमें आते हैं। सुगंधसे इसको सुख और दुर्गंधसे दुःख होता है। जिह्वा रसका ग्रहण करती है आप्‌तत्त्वसे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है मधुर रससे इसको आनन्द होता है और कटुसे रससे इसको दुःख होता है। प्रकृतिभेदके अनुसार किसीको खटाई प्रिय होती है तो किसीको नमकीन चीज पसंद होती है। जिसको जो रस प्रिय होता है उसको उससे सुख और अप्रिय रससे दुःख होता है। नेत्र रूपका ग्रहण करता है तेजसे रूपकी प्राप्ति होती है। सुंदरतासे इसको आनन्द और कुरूपतासे दुःख होता है। त्वचासे यह स्पर्शका ग्रहण करता है वायुसे इसको बहुविध स्पर्श अनुभव होता है। मृदु स्पर्शसे इसको सुख और कठोर स्पर्शसे दुःख होता है। कानसे इसको शब्द सुनाई देता है आकाशका शब्द गुण है वहांसे इसको मंजुल और कर्कश शब्द श्रवणमें आते हैं। मधुर शब्दसे यह प्रसन्न होता है और कठोर शब्दसे अप्रसन्न होता है। इस प्रकार यह सुखदुःखके अनुभवका विस्तार है।

इंद्रियोंका प्राकृतिक तत्त्वोंसे (मात्रास्पर्शाः) स्पर्श होनेपर (शीतोष्ण-सुख-दुःख-दाः) शीत उष्ण सुख दुःख आदिकी प्राप्ति होती है। प्राकृतिक तत्त्वोंसे इंद्रियोंका स्पर्श न हुआ तो शीत उष्ण, सुख दुःख आदि नहीं प्राप्त होते। उदाहरणके लिये देखिये- एक मनुष्य जन्मान्ध है, उसकी नेत्र इंद्रिय जगत्‌के रूपका ग्रहण कर ही नहीं सकती, इसलिये न उसको सुंदर रूपसे संतोष होता है न ही कुरूपतासे दुःख होता है। इसी प्रकार बहिरे मनुष्यको कोमल आलापसे सुख भी नहीं होता और कठोर गालियोंसे दुःख भी नहीं होता। इससे सिद्ध है कि जगत्‌के साथ इंद्रियोंका संबंध होनेपर ही सुख दुःख होना संभव है अन्यथा नहीं।

द्वन्द्वोंकी अनित्यता

इसमें और एक बात है कि एक ही संबंध देर तक होनेसे उसका सुख जाता रहता है। जैसा जलेबीका स्वाद प्रारंभमें सुखदायक लगता है परंतु घण्टे दो घण्टे केवल जलेबी ही जलेबी खाई जाय तो वह पहिले स्वाद देने वाला पदार्थ ही आगे दुःखदायक होता है। इसी प्रकार मृदु स्पर्श भी बारंबार और लगातार मिलनेसे पहिले जैसा सुख नहीं देता। इसी तरह सब ही स्पर्श अन्य सुखोंके विषयमें है। इसमें दूसरी बात यह है कि सुख लेनेवालेकी आन्तरिक तैयारी भी चाहिये। स्वादु भोजन आनन्द देता है परन्तु पेटमें भूख होनेपर ही स्वादु अन्नसे आनन्द मिलता है। जिसकी पाचन-शक्ति बिगडी है और जिसके मुखमें स्वाद नहीं है उसको उत्तमोत्तम अमृततुल्य अन्नसे कोई सुख नहीं होता। इसी प्रकार अन्यान्य स्पर्शजन्य सुखोंके विषयमें जानना योग्य है। इसमें तीसरी बात यह है कि

एक ही पदार्थसे सबको सर्वदा एक जैसा सुख या दुःखका अनुभव नहीं होता है। मनुष्य विष्ठाको त्यागकर सुखका अनुभव करता है, तो उसीकी प्राप्तिसे सूअरको परम आनन्द होता है। मनुष्योंमें भी यह विभिन्नताका अनुभव स्वाभाविक है।

इस जगत्में जो बाहरसे जड़ सुख कहा जाता है वह भी कर्मेन्द्रियोंकी आंतरिक अवस्था इंद्रियकी योग्यता और अनुकूल बाह्य परिस्थिति इनमें बने रहनेपर ही मिलता है अन्यथा नहीं मिलता। यदि सुख प्राप्त रहना चाहिये सुख ठीक अवस्थामें चाहिये वह भी उत्तम चाहिये। इनका संयोग होनेसे सुख होता और इनमेंसे किसी एकका वियोग होनेसे दुःख होगा।

आन्तरिक इंद्रियकी
+
स्थिति अवस्था
—— —— = सुखदुःख आदि
बाह्य जगत्का संबन्ध

यह सुख दुःख (आगम-अपायिन) आता है और जाता भी है। यह हमने ऊपर देखा ही है कि एक ही पदार्थसे प्रारंभमें सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है परन्तु कुछ कालके पश्चात् नहीं होता है। सर्दीके दिनोंमें गर्मीसे सुख अनुभव होता है परन्तु गर्मी आनेपर वही गर्मी दुःखदायक होती है और उस समय सर्दी सुख देने लगती है। इस विचारसे सुख दुःखकी अनित्यता (अनित्याः) स्वयं सिद्ध होती है। त्रिकालमें नित्य सुख और नित्य दुःख होगा ऐसा पदार्थ इस प्राकृतिक जगतमें एक भी नहीं है।

शीत उष्ण सुख दुःख हानि लाभ जय पराजय, अन्नाग्नि जठराग्नि आदि सब द्वन्द्व हैं और इन सब द्वन्द्वोंकी अनित्यता इस कारणसे सिद्ध है। मनुष्य इनमेंसे एकको स्वीकार कर और दूसरेको न कर ऐसा नहीं हो सकता। मनुष्यकी आंखें जबतक खुली हैं तबतक सुरूप या कुरूप जो भी सामने आ जाय वह उसको देखना ही होगा। कान जबतक खुले रहेंगे तब तक उसको बुरे भले शब्द सुनने ही होंगे। यह मनुष्यकी विवशता है। यदि उसको आनन्द अनुकूल पदार्थोंका ग्रहण करना है तो प्रतिकूलका स्वाभाविक अनुभव उसको मिलना ही। जगत्से संपूर्ण प्रतिकूल पदार्थोंका हटाना सर्वथा असम्भव है और यह असम्भवता तब बढ़ जाती है जब यह बात अनुभवमें आती है कि एक ही वस्तु एकको अनुकूल तथा दूसरेको प्रतिकूल रहती है और एकके लिये भी एक समय जो अनुकूल होती है वही थोड़े समयके पश्चात् प्रतिकूल हो जाती है। इसलिये बाह्य जगत्के प्रतिकूल पदार्थोंको सर्वथा हटाना असम्भव है।

तितिक्षा

यदि बाह्य जगत्से प्रतिकूलता नहीं हटाई जाती तो जिन आंतरिक अवस्थाओंके कारण बाह्य जगतमें प्रतिकूलताका अनुभव होता है, वह अपने अंदरकी अवस्था सुधारना योग्य है, इसी कारणसे (तितिक्षस्व) 'सहन कर' ऐसा कहा है। अपनी सहन-शक्ति बढ़ानेसे बाह्य जगत्की सबकी सब प्रतिकूलता हट जाती है। देखिये मनुष्य घरमें रहता है और सदा कपड़ोंमें वेष्टित रहता है इस कारण शीत और उष्ण सहन करनेकी इसके शरीरकी शक्ति न्यून होती जाती है। यदि यह शनैः शनैः कपड़े कम पहननेका अभ्यास करे और घरके बाहर जितना रहना संभव हो उतना रहे धूपमें और सर्दीमें बिना कपड़े पहने रहनेका अभ्यास बढ़ावे ठंडे पानीसे स्नान करे और सूर्यकी धूपमें शरीर तपावे तो उसकी शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति बढ़ जायगी, किसान सर्दीगर्मीमें खेतोंमें काम करते हैं, क्योंकि वे शीत और उष्ण सहन कर सकते हैं। शहरोंमें जो रहते हैं वे थोड़ी देर धूपमें घूमें तो उनका सिर चक्कर खाने लगता है और थोड़ी सर्दीमें भ्रमण करते करते वे कई दिन शीत ज्वरसे रोगी होते हैं। उसी सर्दी और गर्मीमें किसान आनंदसे रहते हैं। क्योंकि उनका द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास बढ़ा हुआ होता है। यही तितिक्षा है। इसीका अवलंबन करनेका उपदेश इस श्लोकसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको किया है।

जो तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता शीतोष्णके विषयमें आवश्यक है वही सुखदुःख, हानिलाभ जयपराजय आदि अनेक द्वन्द्वोंके विषयमें आवश्यक है। सहन शक्तिसे ही इन द्वन्द्वोंके कष्ट दूर किये जा सकते हैं। शीतोष्ण सहन करते हुए मनुष्य देखे जाते हैं कि जहां गर्मी और वृष्टिमें सदा बाहर रहते हुए बिल्कुल कपड़ा नहीं पहनते और ऐसे

आरोग्य सम्पन्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य द्वन्द्वोंके सहन करनेकी शक्ति भी मनुष्य अपने अन्दर बढ़ा सकता है। यही तप है। इस द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे मनुष्य बड़ा सुख प्राप्त कर सकता है।

धीर पुरुष।

जिस पुरुषने इन द्वन्द्वोंके सहन करनेकी शक्ति अपनेमें बढ़ाई है, अर्थात् (यं हि न व्यथयन्ति) ये शीतोष्णादि द्वन्द्व जिस पुरुषको व्यथा नहीं पहुँचा सकते, सर्दीका भी जिसके शरीरपर कोई हानिकारक परिणाम नहीं होता है और गर्मीका भी नहीं होता तथा अन्य द्वन्द्वोंका भी नहीं होता, उसको (समदुःखसुखं धीरं) सुख दुःख को समान समझनेवाला धीर कहा जाता है। सुखसे भी वह फूल नहीं जाता और दुःखसे भी वह हताश नहीं होता हरएक अवस्था प्राप्त होनेपर वह समानतया कर्तव्यनिष्ठ रहता है उसको धीर कहते हैं। सुख प्राप्त होनेपर घमंड न करना और दुःख आनेपर हताश न होना यही बड़ा धैर्यका काम है। इसी प्रकार धनी या निर्धन बननेपर मनको समान रीतिसे रखना बड़े धैर्यका काम है। अन्य द्वन्द्वोंके सहनेके विषयमें भी यही बात है।

जिसके मनकी समवृत्ति कोई भी द्वन्द्व हटा नहीं सकते वही पुरुष (समदुःखसुखः) अनुकूलता और प्रतिकूलता के समय मनका समभाव रख सकता है। यह एक बड़ी भारी शक्ति है जो प्राप्त करनेसे मनुष्यका असाधारण सामर्थ्य हो जाता है। यही मनुष्य (धी-रः) बुद्धि देनेमें अर्थात् दूसरोंको श्रेष्ठ सलाह देनेमें समर्थ होता है। जो थोड़ेसे कामसे घमण्ड करता है और थोड़ीसी हानि होनेपर प्राण देनेको तैयार होता है वह कायर मनका मनुष्य जगत्‌में क्या कार्य कर सकता है और उसकी मन्त्रणासे किसका काम होता है?

अमरपनकी प्राप्ति

परन्तु जो मनुष्य अपनी अनुकूल परिस्थितिमें अथवा प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने मनको स्वाधीन रखता है और परिस्थितिके प्रवाहमें बहने नहीं देता वही बड़ा सामर्थ्यवान् है। यही धीर मानसिक समता रखनेवाला मनुष्य (अमृतत्वाय कल्पते) अमृतत्वको प्राप्त करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर रखता है। वह जिस समय चाहे उस समय अमरपन प्राप्त कर सकता है। क्योंकि आघातोंसे अपने मनको चञ्चल होने न देना ही अमर बननेका सामर्थ्य प्राप्त करना है। इस विषयमें एक उदाहरण देखिये-छोटासा दीप थोड़ीसी वायुके चलने पर काँपने लगता है और बुझ भी जाता है। क्योंकि इस वेगको सहनेकी शक्ति उसमें नहीं होती। परन्तु वही ज्योति जब बढ़ती है और बड़े जंगलको जलाने लगती है उस समय वायुका कोई डर उसको नहीं होता इतना ही नहीं वायु वह उसको सहायकारी होती है। इसी प्रकार हानि लाभ आदि द्वन्द्वोंके वेगसे जो काँपता नहीं अपितु विपरीत परिस्थितिमें भी धैर्यसे अपने प्रगतिके पथपर स्थिर रहता है उसका सामर्थ्य विपरीत परिस्थितिसे ही अधिकाधिक बढ़ता जाता है। परिस्थितिके कारण वह दबता नहीं अपितु वह विपरीत परिस्थितिको दबाता है। यही मनुष्य अमर बननेकी शक्ति अपनमें बढ़ाता है

मृत्यु और अमरपन

मृत्यु क्या है और अमरत्व किसका नाम है, इसका विचार यहाँ करना आवश्यक है। परिस्थितिके अन्दर दब जाना मृत्यु है और परिस्थितिके दबावको हटा देना अमरत्व है। विमत्त होना मृत्यु है और अविमत्त रहना अमरत्व है। आघातकके साथ रहनेसे मृत्युका भय होता है और अविनाशीके साथ रहनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। मनुष्यके पास जो उच्च अमर साधन हैं उनका आश्रय करनेसे अमरपन प्राप्त होता है और उसीके नाशवान् मर्यादित साधनोंके साथ रहनेसे मृत्युके वश होना पड़ता है इसलिये—

[अमर और मर्त्य साधनोंकी तालिका पृष्ठ ८२ पर देखिये।]

क्रम-उन्नतिका पथ।

साधारणतः सामान्य अवस्थामें मनुष्य अपनी शरीर-स्थितिमें ही रहते हैं, उनको उच्च अवस्थाका कोई अनुभव नहीं होता। वे लोग समझते हैं कि मैं शरीरके साथ जन्मता हूँ और शरीरके साथ मरता हूँ। इससे थोड़े उच्च बने मनुष्य शरीरसे भिन्न इन्द्रिय शक्तियाँ हैं ऐसा अनुभव करते हैं। वे लोग इन्द्रियोंके वेगोंके साथ बहते जाते हैं सुखदुःख शोकमोह आदि द्वन्द्वोंके वशमें वे रहते हैं। इससे ऊपरकी श्रेणीके मनुष्य प्राणायामादि साधन करके

[illegible]	आत्मा	की स्थितिमें स्वाभाविक आनंद ।		[illegible]
	बुद्धि	„ „	ज्ञान	
[illegible]	सुषुप्तिके दिक्कालातीत मन		कालातीत और स्थलातीत अनुभव	[illegible]
	जागृतिके दिक्कालावच्छिन्न मन	„	देशकालादि भेदोंका अनुभव	
	प्राण	„	अपनी विभाजक शक्तिका अनुभव	
[illegible]	इंद्रियों	„	द्वन्द्वोंका अनुभव	[illegible]
	शरीर		जन्ममरणका अनुभव	

अपने प्राणके शरीरपर प्रभुत्व पाते हैं, वे अनुभवसे जानते हैं कि यह एक ही प्राण सब शरीरके अवयवों और इन्द्रियोंमें जाकर विभक्तसा दीखता है। यहां एक ही वस्तु विभक्त स्थानोंपर विभक्तसी किस प्रकार दीखती है, इस बातका अनुभव वे लोग लेते हैं। इस समय इनको भिन्नोंमें व्यापनेवाली अविभक्त वस्तुकी कल्पना आने लगती है। इनसे निचले दोनों मनुष्य शारीरिक विभक्तता और इंद्रियोंकी विभक्तता ही देखते हैं, परन्तु प्राणशरीरको स्वाधीन करनेवाला और उसके व्यापारको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य विभिन्न पदार्थोंमें व्यापनेवाली अभिन्न वस्तुका थोडासा अनुभव करने लगता है।

यहां यह योगी मरनेवाले शरीरको और इंद्रियोंको अपनेसे भिन्न देखता है और अपनी शक्तिसे इन मरनेवालोंका अर्थात् देह और इंद्रियोंका जीवन होता है, इस बातका निश्चय करता है। तथापि इसमें प्राणात्मक भेदका अनुभव होता है।

प्राणायामसे प्राणकी स्थिरता प्राप्त होकर मन स्थिर होने लगता है। और मनके स्थिरताके साथ यह मनके रूपका पता होता है। इस अवस्थामें भी संकल्पविकल्प इसके चलते ही हैं और इसका आन्दोलन चलता ही रहता है। इस समय इसको बड़ी शान्ति प्राप्त होती है। यह इसके इन्द्रिय शक्तिकी अवस्था है। यह इस समय जो अवस्था बनाता है निद्र होती है मानो यह जागृत अवस्थाके बुझके बीच बैठा होता है। इसका हानिकर भी इसको विशेषका अनुभव नहीं होता है।

जागृत इस समय मनका अनुभव कल्पनाओंसे इधर उधर बदलनाओंमें लिया जाता है ध्यानावस्थामें इसको शान्ति होती है और अन्तमें इसका संकल्पविकल्प करनेवाला तथा दिक्कालमें कार्य करनेवाला जागृतिका मन स्थिर या स्तब्ध हो जाता है। जिस क्षणमें यह स्तब्ध होता है उसी क्षणमें सुषुप्तिका मन (दिक्कालातीत मन) कार्य करने लगता है। भगवद्गीतामें ही कहा है—

जागृति और निद्रा।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(भ० गी० २।६९)

'जो सब प्राणियोंकी रात्री होती है उसमें संयमी जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनिकी रात्री होती है। अर्थात् साधारण जन या प्राणी अपनी जागृतिके मनके साथ जागते हैं इनका जो यह उच्च मन निद्रित रहता है। परन्तु योगी मुनि उसी उच्च मनसे सदा जागते हैं और इस व्यावहारिक मनसे मानो, सोते हैं। यहां पाठक यह समझें कि मुनियोंकी जो जागृति है वह सामान्य जनोंकी गाढ निद्रा है और उनकी जो निद्रा है वह सामान्य जनोंकी जागृति है। इसका विपरीत भी यह—जागृति और गाढनिद्रा जैसा इन दो मनोंके साथ अनुभवमें आता है। जब ध्यानसे यह संकल्पविकल्पात्मक मन एक तरह सोता है तब वह समाधि मन जागता है।

इस समय मनुष्य 'समाधि' स्थितिमें पहुंचता है। जब यो जगत्के संकल्पविकल्प छोड़कर योगयोग शुद्ध है ऐसा अनुभव होता है। जगत्के लोग क्यों लड़ते हैं, क्यों मोहित होते हैं क्यों दुःखी होते हैं इस अवस्थामें आकर काल और देशकी मर्यादाका उल्लंघन क्यों नहीं करते और ज्ञानस्वरूपका आनंद क्यों नहीं लेते ऐसा वे कहते हैं !!!

यहां पाठक स्मरण रखें कि अर्जुन काल और देशके अन्दर था मन, उसका प्राण शत्रुओंके मोहमें फंस कर

(८) अविनाशी सत् ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अन्वयः—असतः भावः न विद्यते सतः अभावः न विद्यते । तत्त्वदर्शिभिः तु उभयोः अपि अनयोः अन्तः दृष्टः ॥ १६ ॥

जो 'असत्' है उसका भाव नहीं हो सकता और जो 'सत्' है उसका अभाव नहीं होता । तत्त्वज्ञानी लोगोंने इस प्रकार इन दोनोंका अन्तिम निश्चय किया है ॥ १६ ॥

दुःखी होता था । इस दुःखकी निवृत्ति और इस मोहको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उसको कालातीत और देशातीत अवस्थाकी कल्पना बता रहे हैं । आत्मा नित्य और देह अनित्य कहकर, इस देहसे भिन्न इसके आत्माकी जो कालातीत और देशातीत स्थिति है उसकी कल्पना इससे पूर्व बताथी । यहाँ द्वन्द्वातीत स्थितिकी कल्पना बताते हैं । इस उच्च मनकी भूमिकापर कार्य करनेवाले मनुष्य किसी स्थानपर बैठकर किसी अन्य स्थानकी बात प्रत्यक्ष जैसी देखते हैं इसी प्रकार अन्य कालकी बात भी उनको प्रत्यक्ष होती है । मानो वह नित्य वर्तमानकालमें रहने लगते हैं । इसके ऊपरकी दो भूमिकाएं इससे ऊंची और अवर्णनीय हैं । जो समदुःखसुख की साम्यावस्था है उसकी पूर्णता इस अवस्थामें होती है इसका प्रारंभ तो शारीरिक अवस्था में भी होता है, परन्तु उसकी पूर्णता यहां होती है ।

हठयोग और राजयोग

हठयोगी यम नियम आसन प्राणायामद्वारा प्राण स्थिर करके इस अवस्थाको प्राप्त करते हैं और राजयोगी सुविचार से मनकी स्वाधीनता प्राप्त करके इस भूमिकामें आते हैं दोनों यहां आकर समान स्थानमें बैठनेके अधिकारी होते हैं । इस स्थितिमें जो होते हैं, उनको ही समदुःखसुखी धीर आदि शब्द पूर्णतासे लगते हैं । प्राणयोगियोंको योग मार्गी और राजयोगी या मनोयोगीको सांख्यमार्गी अथवा 'ज्ञानमार्गी' कहते हैं । आगे (भ. गी. ५।४–५में) कहेंगे कि 'सांख्य और योग एक ही है' उसका भाव यही है । जन्ममृत्युसे परे अमरत्व नाम इस भूमिकामें आता और कार्य करता है । हरएक मनुष्य सुषुप्तिमें अनजान रीतिसे इस अवस्थामें जाता ही है परन्तु अपने सामर्थ्यसे जिस समय चाहे उस अवस्थाका जाग्रति जैसा अनुभव लेना यह सामर्थ्य दुर्लभ है ।

जिसका इस भूमिकाका थोडा भी अनुभव होगा वह तो किसीकी मृत्युसे या जन्मसे दुःखी या सुखी नहीं होगा । जो लोग इस जगत्में रहते हुए अन्योंसे अधिक समदुःखसुखी दिखाई देते हैं उनका वह कालातीत मन कुछ अंशमें उनके आधीन हुआ होता है । इसके लक्षण ये हैं कि अन्योंसे पहिले इनको कर्तव्याकर्तव्यका निश्चित ज्ञान होता है, किसी विषयका निश्चय भी इनको अन्योंकी अपेक्षा अति शीघ्र हो जाता है, और ये तर्कवितर्कके बिना अपनी दृष्टिकी वृत्तिसे ही निश्चित परिणामतक अति शीघ्र पहुंचते हैं, अर्थात् ये पहिले निश्चित सिद्धांत बोलते हैं और पीछेसे वही तर्कसे युक्तिसे और प्रमाणोंसे सिद्ध हो जाता है ! । जिनके व्यवहारमें जिस प्रमाणसे ये लक्षण दिखाई देते हैं, उस प्रमाणसे समझना चाहिये कि, उनके अन्दर यह दिक्कालातीत मन विशेष रीतिसे कार्य करने लगा है ।

इस प्रकार मनकी दिक्कालातीत अवस्थाका विचार करने पर उससे परे रहनेवाली आत्मा भी इसी प्रकार दिक्कालातीत होनी चाहिये इस विषयमें किसीका संदेह नहीं हो सकता । परन्तु इतना माननेपर भी एक शंका बाकी है कि, जिस प्रकार यह शरीर साधारणतया १०० वर्ष जीवित रहता है, योगसाधनादिद्वारा २०० वर्ष या उससे अधिक भी इसको जीवित रखा जा सकता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी कुछ विशेष अवधिके पश्चात् नाशको प्राप्त होगी या नहीं । इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

(१६–१७) जो सत्य है उसको किसी भी प्रकार असत्य बनाना असंभव है । यह कभी न बदलनेवाली बात है । इसी प्रकार जो असत्य है उसको भी सत्य बनाना असंभव है । इस जगत्में मनुष्य अपना व्यवहार करते समय सत्यको असत्य और असत्यको सत्य बनानेका प्रयत्न करते हैं और इस व्यवहारसे अपना लाभ होता है ऐसा वे मानते भी

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्वयः— विद्धि येन इदं सर्वं ततं तत् तु अविनाशि। अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति ॥ १७ ॥

यह तू जान कि जिसने यह जगत् फैलाया है वह अविनाशी है। इस अव्ययका विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

भावार्थ— सत्य कभी असत्य नहीं होता और जो असत्य है उसका कभी सत्य नहीं बन सकता। तत्वज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है।

है। परन्तु यह उनका भ्रम है। सत्यमेव जयते नानृतं अर्थात् सत्यकी ही विजय होती है क्योंकि वही सदा रह सकती है। जो असत्य है वह देरतक टिक नहीं सकता।

सत् और असत्

सत् उसीको कहते हैं कि जो 'है' किंवा जिसका अस्तित्व है जिसकी सत्ता बनी रहती है। जिसका अस्तित्व नहीं है परन्तु किंचित् काल जिसका अस्तित्व भासमान होता है उसको असत् कहते हैं। जो भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें एकसा रहता है उसको सत् कहते हैं और इन तीनों कालोंमें जिसकी सत्ता एक जैसी नहीं रहती उसको शास्त्रकार अ-सत् (सत् नहीं) अर्थात् पूर्वोक्त सत् से भिन्न पदार्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस जगत्में केवल दो ही पदार्थ हैं एक सत् और दूसरा असत्। ये परस्पर भिन्न हैं अलग हैं और भिन्न भिन्न गुणधर्मोंसे भी युक्त हैं।

इस विषयका सिद्धान्त (अन्त तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः) तत्त्वज्ञानी लोगोंने अनुभव किया है। अर्थात् सत् और असत् ये दो पदार्थ भिन्न हैं इस विषयमें ज्ञानी लोगोंको संदेह नहीं है। यहां अन्त शब्द है। इसका अर्थ अन्तिम निर्णय है। सिद्धान्त (सिद्ध+अन्त) राद्धान्त (राद्ध+अन्त) और अन्त ये तीनों शब्द अन्तिम निर्णयके ही वाचक हैं।

जो सत् है जिसका अस्तित्व है उसका कालान्तरसे भी अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है अर्थात् जिसकी हस्ती नहीं उसका कभी भाव नहीं हो सकता। यह अटल सिद्धान्त तत्त्वज्ञानी लोगोंने किया है।

जगत्का निर्माता।

(तत् अविनाशि येन सर्वं ततम्) वह सत्ता अवि-नाशी है जिसने इस सब जगत्का विस्तार किया है। इस का कारण यह है कि वह जगत् बननेके पूर्व इसका निर्माण करनेवाला था और इस जगत्का नाश होनेपर भी वह रहेगा, अतः वह तीनों कालोंमें रहता है इसलिये वह 'सत्' है। परन्तु जगत् भूतकालमें नहीं था, अब बना है परन्तु नाशको अवश्य प्राप्त होगा और नाश होनेके बाद कभी नहीं रहेगा, अर्थात् इसका अस्तित्व केवल वर्तमानकालमें ही है, और वह चञ्चल अस्तित्ववाला है, अतः इसको न सत् कहा जाता है।

रचना करनेवाला रचित पदार्थके पूर्वकालमें रहता ही है। घडा बननेके पूर्वकालमें कुम्हारका अस्तित्व अवश्य होता है। इसी प्रकार इस जगत्के फैलनेके पूर्वकालमें इसके फैलानेवालेका अस्तित्व अवश्य था यदि वह पूर्व कालमें न होता तो इस जगत्को बना ही नहीं सकता था। इससे जगद्रचना करनेवालेका अस्तित्व जगत्के पूर्व कालमें सिद्ध होता है।

जगत्का प्रत्येक पदार्थ बनता है और नाशको प्राप्त होता है कोई भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं आता कि जो है परंतु जो न बना हो और जो न बिगडता हो। बनने बिगडनेका धर्म प्रत्येक पदार्थका होनेसे सब पदार्थोंके समुदायरूप इस जगत्का भी यही धर्म अवश्य निश्चित होता है। इस जगत्के नाशके पश्चात् जगत् नहीं रहेगा यह निश्चित है परंतु उसका कर्ता रहेगा या नहीं रहेगा इस विषयमें किसीको संदेह हो सकता है। अतः इस विषयमें विचार करना आवश्यक है।

पूर्वके समान रचना।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
(ऋ० १० । १९० । ३)

विधाताने इस जगत् सूर्यचन्द्र द्युलोक अन्तरिक्ष और भूमि आदि सब पदार्थोंको (यथापूर्व) पूर्वके समान ही बनाया है। अर्थात् यह सृष्टि अनेक बार बनी है और हरएक बार पूर्वके समान बनायी गई है। जिस प्रकार दिन रात पूर्वके समान होते हैं उसी प्रकार जगत् बनना दिन और प्रलय होना रात्रीके समान है, अतः य विधाताके दिन रात सदा समान ही होते हैं क्योंकि परमेश्वरके गुण सदा समान रहते हैं, इस कारण वह जो कुछ बनाता है वह पूर्ण ही बनाता है; पूर्ण बननेके कारण उसमें हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अतः वह जो बनावेगा वह एकसा ही होगा।

पूर्णकी पूर्ण कृति।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(उपनिषच्छान्ति)

वह (विधाता) पूर्ण है यह (जगत्) पूर्ण है क्योंकि पूर्णसे जो बनता है वह पूर्ण ही होता है। पूर्णसे इस पूर्णकी उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण जैसाका वैसा ही रहता है। इसी प्रकार—

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते॥

(अथर्व १ ।८।२९)

पूर्णसे पूर्णका उदय होता है पूर्णसे पूर्णको जीवन मिलता है। अतः हमें उस कारणको हम जानें कि जिससे इसको जीवन मिल रहा है।

इत्यादि मंत्रभागोंमें स्पष्ट कहा है कि इस जगत्का निर्माण करनेवाला पूर्ण है उसमें अपूर्णता नहीं है अतः उसकी जगत् रूपी कृति भी पूर्ण अर्थात् जैसी चाहिये वैसी है। इस प्रकार जगन्निर्माताकी पूर्णता और उसकी कृतिकी पूर्णता सिद्ध होनेपर वह इसी प्रकार जगत् बारबार बनता है यह सिद्ध होगा क्योंकि उसकी जगन्निर्माण करनेकी शक्ति उसके पास सदा रहती है अतः उसने जिस कारणसे इस जगत्का निर्माण किया उसी कारणसे उसने इससे पूर्व भी जगत्का निर्माण किया होगा और आगे भी वह वैसाही निर्माण करेगा। अर्थात् वह निर्माण कर्ता जगतके पूर्व जगत्की स्थितिके समय तथा इसके विनाशके पश्चात् एक जैसा रहेगा। वह पूर्ण होनेसे उसमें घट बढ होना असंभव है। आत्माके जगन्निर्माण या जगत्का फैलाव करनेके संबंधमें भगवद्गीताके निम्न लिखित वचन भी यहां देखने योग्य हैं—

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(भ. गी. ८।२२)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥
(भ. गी. ९।४)

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ (भ. गी. ११।३८)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
(भ. गी. १८।४६)

जिसके बीचमें सब भूत हैं जिसने इन सबका फैलाव किया है। मुझ अव्यक्तमूर्ति (आत्मा) ने यह सब फैलाया है। हे अनन्तरूप देव! तूने यह विश्व फैलाया है। जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जिसने यह सब फैलाया है।

यहां (मैं, तू, वह इन) तीनों सर्वनामोंसे एक ही अर्थ कहा है। इससे यही सिद्धान्त सुदृढ हुआ कि एक अद्वितीय आत्माने इस जगत्का विस्तार किया है।

(अस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति) इस आत्माका विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। कोई कितना भी सामर्थ्यवान् क्यों न हो वह इसका नाश नहीं कर सकेगा। इसलिये इसको 'अ-व्यय' कहा जाता है। जिसका व्यय नहीं होता जिसमेंसे कुछ खर्च नहीं होता, उसको 'अ-व्यय' कहते हैं। इतने बडे विश्वकी रचना करनेपर भी इसकी शक्तिका व्यय नहीं हुआ क्योंकि यह 'अ-व्यय' है। इसीलिये पूर्वोक्त उपनिषच्छान्ति मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि- पूर्ण (आत्मा) से इस पूर्ण (जगत्) की उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण (आत्मा) जैसाका वैसा ही पूर्ण रहता है। उसमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता है। 'अ-व्यय' शब्दकी ही यह व्याख्या है।

इन दो श्लोकोंका विचार करते हुए पाठकोंके मनमें यह बात आजायगी और आगेके कुछ श्लोक देखकर यह दृढ हो जायगी कि अर्जुनकी शंका तो भीष्मद्रोणादिके शरीरोंके नाश होनेके विषयमें थी। शरीर देह और आत्मा युद्धमें नष्ट हो जायेंगे ऐसा अर्जुन समझता था। इसका उत्तर इस

१७ वें श्लोकमें ऐसा दिया है कि, जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है, उस अव्ययका कोई विनाश कर नहीं सकता। यह उत्तर विश्वकी रचना करनेवालेके अविनाशी होनेके विषयमें योग्य है। परंतु अर्जुन तो विश्वचालक परमात्मा इस भारतीय युद्धसे नाशको प्राप्त होगा ऐसा मानता नहीं था। उसको तो अपने संबंधियोंके विनाशकी चिन्ता थी। ऐसी अवस्थामें इस उत्तरसे उसकी चिन्ता कैसे दूर होगी? देखिये—

अर्जुनका प्रश्न- भगवान्! इस युद्धसे भीष्मद्रोणादिकों का नाश होगा इसलिये मैं यह युद्ध कैसे आरंभ करूं?

भगवान्‌का उत्तर- अरे अर्जुन! जिसने यह विश्व फैलाया है वह अविनाशी है उस अविनाशीका नाश कोई नहीं कर सकता। (श्लो० १७)

क्या यह उत्तर ठीक है? भीष्मद्रोणादिकोंने तो (इदं ततं) यह सब विश्व फैलाया नहीं था। तत का अर्थ फैलाना, रोपना, व्यापना और सुरक्षित रखना है। इनमेंसे कोई अर्थ लेनेपर भी यह अर्थ भीष्मद्रोणोंपर घट नहीं सकता। जिसने इस विश्वको फैलाया रोपा व्यापा या सुरक्षित रखा है, वह अर्जुनके संबंधियोंमेंसे कोई एक भी नहीं है वह इन सबसे भिन्न है।

प्रश्न करनेवाला अर्जुन कि कर्तव्यता-मूढ हुआ है उसका मोह दूर करके उसको कर्तव्य पथपर लाना है। इस कार्यके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश दे रहे हैं उसमें प्रश्नको टालकर उत्तर श्रीकृष्णके मुखसे कदापि आ नहीं सकता। इसलिये इस उपदेशका अर्थ [illegible] रीतिसे मनन करना चाहिये।

पिण्ड ब्रह्माण्डका एक नियम।

पिण्ड ब्रह्माण्डका नियम एक है। यदि ब्रह्माण्डका उत्पत्तिकर्ता ब्रह्माण्डका विस्तार करके स्थिर रह सकता है तो वही नियमके पिण्डका जनक भी पिण्ड बनानेके पूर्व और पिण्डके नाशके पश्चात् अमर रहेगा। जैसे जीवात्मा का शरीर यह पिण्ड है उसी प्रकार परमात्माका शरीर ब्रह्माण्ड है। जीवात्मा परमात्माका अंशांशी संबंध भी है देखिये—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(भ० गी० १५।७)

हे अर्जुन! इस जीवलोकमें मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिकी पांच इन्द्रियों और मनको आकर्षित करता है।' यहां जीवात्माको परमात्माका अंश कहा है। अग्निका अंश अग्नि समान होता है पिताका अंश पुत्र है और वह पिताके समान होता है। यह साम्य देखिये—

जीवात्मा	परमात्मा
पुत्र	पिता
पिण्डदेही	ब्रह्माण्डदेही
देह [क्षेत्र]	ब्रह्माण्ड [सृष्टि]
मन	विद्युत्
पांच इन्द्रियां	पञ्च महाभूत
नासिका	पृथ्वी
जिह्वा	आप
नेत्र	तेज
त्वचा	वायु
कर्ण	आकाश

अब पाठकोंके मनमें यह बात आगई होगी कि दोनों स्थानके नियम एक जैसे किस प्रकार हैं। ये पिता पुत्र एक ही नियमसे काम करते हैं। पिताका अनुकरण करनेसे पुत्रका कर्तव्य कर्म होता है क्योंकि यह पुत्र भी पिताके समान बननेवाला है। देखिये—

मत्कर्मकृन्मत्परमो ... मामेति सोऽर्जुन॥
(भ० गी० ११।५५)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः॥
(भ० गी० १४।२)

मेरा कर्म करनेवाला मुझे परम प्राप्य माननेवाला ... मुझे प्राप्त होता है। इस ज्ञानको प्राप्त करके मेरे साधर्म्यको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आगे कहा जायगा। इससे यह पुत्र इस समय अल्प होनेपर भी आगे पिताके समान पिताके गुणधर्मवाला निःसंदेह बनेगा। पुत्रका पुरुषार्थ अनन्त बनेगा। अतः दोनोंके नाम गुण धर्म और कर्म वेद आदि शास्त्रोंमें एक जैसे कहे हैं। अतः परमात्माका

(९) नित्य आत्माके अनित्य देह

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः — अ-नाशिनः अ-प्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः। हे भारत ! तस्मात् युध्यस्व ॥ १८ ॥ यः एनं हन्तारं वेत्ति यः च एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः अयं न हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अविनाशी अमाप, नित्य शरीरधारी (आत्मा) के ये देह नाशवान् हैं ऐसा कहते हैं। हे भरत कुलोत्पन्न ! अतएव तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ इस (आत्मा) को जो मारनेवाला जानता है या जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों नहीं जानते हैं। यह (आत्मा) न मारता है और न ही मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ — आत्माका कभी नाश नहीं होता उसका माप या वजन नहीं किया जा सकता। वह नित्य है। इस आत्माके देह अनेक होते हैं इसलिये धर्मयुद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है ॥ १८ ॥ जो समझता है कि आत्मा किसीका वध करता है अथवा वह स्वयं मारा जाता है उसको सच्चा ज्ञान नहीं है। यह आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

वचन ही अल्प कालक्षेत्रमें जीवात्मपरक होता है। यह सनातन नियम है इसीलिये इस वचनसे अर्जुनकी शंका दूर हुई। और अर्जुन समझने लगा कि इन भीष्म द्रोणादिकोंके आत्मा अजर और अमर हैं और इनके देह ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं।

यही आशय अन्य शब्दोंसे आगेके श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(१८-१९) आत्मा कैसी है और शरीर कैसा है इस का अधिक वर्णन इन श्लोकोंमें करते हैं– आत्मा (अ विनाशी) कभी नाशको प्राप्त नहीं होती कितने भी शरीर मर जावें और कितने नये प्राप्त हो जावें पर यह आत्मा वैसीकी वैसी रहती है। इसीलिये इसको नित्य अर्थात् सदा एकसी रहनेवाली कहा जाता है। यह अ प्रमेय है अर्थात् इसका माप नहीं किया जा सकता इसका यथार्थ वर्णन करना असंभव है इसको प्रत्यक्ष बताना असम्भव है तथा इसका किसी अन्य प्रकार समझाना भी असम्भव है। यह अ व्यय है अर्थात् इसमेंसे कुछ भी खर्च नहीं होता अतः यह अनादि कालसे एक जैसीही है।

परन्तु इसके देह नाशवान् हैं वे देह जन्मते बढ़ते क्षीण होते और नाशको प्राप्त होते हैं। अतः उनको अ नित्य कहते हैं। वे प्रमेय हैं अर्थात् इनका माप लंबाई चौड़ाई मोटाई आदि किसी प्रमाणसे किया जाता है। शरीरका वर्णन किया जा सकता है, शरीरको प्रत्यक्षरूपसे बताया जा सकता है। इसका स्पर्श करना, सूंघना आदिसे भी ज्ञान होता है इसका 'व्यय' होता है प्रतिदिन इस-का व्यय हो रहा है इसी कारण अन्नादिसे इसकी पूर्ति करना प्रतिदिन आवश्यक होता है। यह शरीर पूर्वकालमें नहीं होता भविष्यमें भी नहीं होता मध्य समयमें रहता है।

नाशवानके देहका नाश हुआ तो उसमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है आत्माका किसी भी अवस्थामें–[अर्थात् देह रहनेपर अथवा नाश होनेपर]– नाश नहीं होता इस कारण उसके विषयमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिये हे अर्जुन ! जिस कार्यके लिये इतनी तैयारी तूने की यह युद्ध कर और विजय प्राप्त करके अपने राज्यको प्राप्त कर और प्रजा कल्याण करनेके कार्यका भागी बन।

केवल आत्मा किसीका वध नहीं कर सकता और केवल शरीर भी जड़ होनेसे किसीका वध नहीं कर सकता। वध करने करानेवाला इनसे भिन्न है। आत्मा अकर्ता है। इस आत्माको यदि तू मारनेवाला या मरनेवाला समझता है तो तुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, यह सत्य है। हे अर्जुन ! तू इन शत्रुओंको मारनेवाला नहीं और ये शत्रु तेरे द्वारा कोई मरनेवाले भी नहीं हैं। इन सबका आत्मा अविनाशी और नित्य है। उसका नाश करनेमें तू अथवा दूसरा कोई

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वयः—अयं कदाचित् न जायते न वा म्रियते, (अयं) भूत्वा भूयः अभविता न । अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न तो कभी जन्मती है और न मरती ही है। यह होकर फिर अभावको प्राप्त होगी ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता ॥ २० ॥

किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। अतः तू अपना कर्तव्य कर।

इस प्रकारका वचन उपनिषद्में है वे उपनिषद्वचन भी देखिये—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं
पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥ हन्ता
चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ
तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
(क० उ० १।२।१८-१९)

यह आत्मा न जन्मती है और न मरती है। यह कहीं नहीं रहती हो ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा नित्य शाश्वत और पुराना है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है। वधकर्ता यदि इसका वध करनेकी इच्छा करे और मरनेवाला भी यदि अपने आपको मारा गया माने तो उन दोनोंको सत्य-ज्ञान नहीं है। यह न मारता है और न मारा जाता है।

आत्माके अमरत्वके विषयमें उपनिषद्का यह वचन यहां मनन करने योग्य है। मरने मारनेके लिये काल कारण है यह विषय महाभारत शान्तिपर्व अ० २५ में विस्तारपूर्वक कहा है वहांके कुछ श्लोक अब देखिये—

कालका कार्य

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः ॥ ११ ॥
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥
घ्नन्ति चाप्यपरानन्ये तानप्यन्ये तथा परे।
संज्ञैषा लौकिकी राजन् हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥
नात्माऽपि धार्य न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥ १६ ॥
(म० भा० शां० अ० २५)

कालके बिना कोई नहीं जन्मता है और न ही मरता है। कालसे ही बालक बोलने लगते हैं। कालसे परिपक्व हुए राजा लोग मरते हैं। एक दूसरेको मारता है और वह मरता है यह लौकिक अर्थात् व्यवहारकी बातोंकी भाषा है। वस्तुतः आत्मा न मरती है और न मारी जाती है। जिस प्रकार यह पृथ्वी मेरी है और सब अन्य प्राणियोंकी भी है, उसी प्रकार यह आत्मा मेरी है और अन्योंकी भी है।

यहां कालसे प्राणी जन्मते और मरते हैं ऐसा कहा है और यही मत भ० गीतामें भी कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु-
मिह प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
(भ० गीता ११।३२)

मैं लोकोंका नाश करनेवाला महाकाल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिये यहां आया हूं। जो प्रतिपक्षी यहां खडे हैं वे तेरे बिना भी जीवित नहीं रहेंगे। अर्थात् वे कालसे परिपक्व होकर मरनेवाले ही हैं। अतः हे अर्जुन! तू अपने आपको इनका वधकर्ता न मान। इसमेंसे भी यदि समझमें न आता हो तो आगे देखो—

(१९-२१) [बीसवां श्लोक कुछ पाठभेदके साथ कठोपनिषद्में आया है वह पूर्व श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिया है। पाठक उसको वहां देखें।]

यह आत्मा कभी जन्मको नहीं प्राप्त होता है। यह कभी मरता भी नहीं। (भूत्वा अभविता न) यह एकवार

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

(१०) वस्त्र बदलना

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वयः- हे पार्थ ! यः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति कं हन्ति ? ॥ २१ ॥ यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति; तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि संयाति ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसा किसको मर सकता है और किसको मारता है ? ॥ २१ ॥ जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रोंको त्यागकर, दूसरे नये वस्त्रोंका ग्रहण करता है उसी प्रकार देहधारी आत्मा जीर्ण शरीरोंका त्याग करके नये शरीरोंको धारण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- अजन्मा आत्माका जन्म नहीं होता उसकी मृत्यु नहीं होती अव्ययका कुछ भी व्यय नहीं हो सकता नित्य वस्तुका कभी अभाव नहीं होता ॥ २१ ॥ जैसा मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, वैसा ही आत्मा अपने देहोंको बदलता है ॥ २२ ॥

होकर पुनः इसका अभाव नहीं होगा। जो जन्मता है और मरता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि, (भूत्वा अभविता) यह होकर कुछ कालके पश्चात् अभाव को प्राप्त होगा, जैसे देह। यह एकवार जन्मती है अर्थात् जन्मकर 'भाव' को प्राप्त होती है और पश्चात् (न भविता) यह देह अभावको प्राप्त होती है। संपूर्ण देहोंके विषयमें ऐसा ही कहा जाता है। परन्तु आत्माका कभी अभाव नहीं होता।

इसी प्रकार (न भूत्वा भविता न) पहिले न होता हुआ भी पीछेसे बनता है ऐसी भी बात नहीं है। जो जन्मता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है परंतु जो जन्म नहीं लेता है उसको न होकर भी पीछेसे होनेवाला ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यदि इसका जन्म शरीरके साथ होता है और शरीरके साथ इसकी मृत्यु होती है ऐसा माना जायगा तो भी (भूत्वा भविता) होकर फिर होनेवाला यह आत्मा है ऐसा माना जा सकेगा। परंतु यह बात तभी होगी जब देहके धर्म इसपर आरोपित किये जायँगे। परंतु एकके धर्म दूसरे पर आरोपित करना यह अज्ञानका द्योतक है इसलिये यह आत्मा एकवार होकर फिर वारवार होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(न भूत्वा न भविता) वस्तुतः देखा जाय तो यह एकवार न होकर फिर होनेवाली भी नहीं। तात्पर्य किसी प्रकार भी यह आत्मा जन्म मृत्युको प्राप्त नहीं होती। इस बीसवें श्लोकके द्वितीय पादके विषयमें बहुत टीकाकारोंमें मतभेद है। कहीं कई 'भूत्वा भविता' ऐसा पद मानते हैं। और कई 'भूत्वा अभविता' ऐसा मानते हैं। यहां टिप्पणीमें दोनों प्रकारके पदोंकी संगति बताई है। पाठक इसका विचार करें।

यह अजन्मा, नित्य शाश्वत् अर्थात् चिरकाल तक रहने वाला है। यह पुराण (पुरा+नवः = पुरानवः = पुराणः) पूर्व कालसे होता हुआ भी इस समय नवीन जैसा है। यह अत्यंत पुराना होता हुआ भी अत्यंत नवीन जैसा सदा रहता है। यह कभी जीर्ण क्षीण या दुर्बल नहीं होता।

इसका शरीर जन्मवाला अनित्य अशाश्वत है और जब यह शरीर पुराण अर्थात् वृद्ध होता है तब नवीन जैसा नहीं रहता है अर्थात् शरीरके गुणधर्म इसके गुणधर्मोंके साथ बिलकुल विपरीत हैं। इस शरीरके मरने या मारे जानेपर भी यह आत्मा मारी नहीं जाती अर्थात् शरीरके मरनेपर भी यह आत्मा अमर रहती है।

हे अर्जुन ! जो इस आत्माको इस प्रकार अविनाशी, अव्यय अजन्मा अतएव नित्य जानता है वह किसको मार सकता है ? और आत्मा ऐसा मारनेका काम करनेपर भी कैसे मर सकती है ? अर्थात् आत्माके मरने मारनेकी कल्पना अज्ञान है। इस विषयमें और देखिये—

(२२) यदि किसीने अपने पुराने वस्त्र फेंक दिये और नये उत्तम वस्त्र धारण किये तो उसमें शोकका कोई विषय नहीं है। किसीने पुराना जीर्ण मकान छोड़कर नये घरमें प्रवेश किया तो भी आनन्दका विषय है। इसी प्रकार आत्माने पुराना, जीर्ण या सड़ा शरीर फेंक दिया और नया शरीर धारण किया तो इसमें शोकका क्या कारण हो सकता है? इस विषयमें बृहदारण्यक उपनिषद्में निम्न लिखित वचन देखने योग्य है—

यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥ ३ ॥
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते० ॥ ४ ॥
(बृ० उ० ४।४।३, ४)

जिस प्रकार घासपर रहनेवाला कीड़ा पहिले आगेके तिनकेके अग्रभागपर जाता है, वहाँ अपना आधा भाग पीछेके तिनकेपर रखकर अपने दूसरे आगेका भाग दूसरे तिनकेपर रखता है और वहाँका आधार स्थिर हो जानेपर अपने शरीरका शेष भाग उस दूसरे तिनकेपर ले जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीरके नाश होनेके समय अविद्याके द्वारा दूसरे देहका आश्रय करके पश्चात् इस देहसे अपनेको समेटता है ॥ ३ ॥ जैसे चित्रकार चित्र बनानेके समय किसी आश्रय करके नया चित्र तैयार करता है इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरका नाश होने पर कुछ अविद्याके द्वारा दूसरा नया उत्तम शरीर धारण करता है ॥ ४ ॥

जैसे वस्त्र पहिननेवाले भी नवीन सुंदर वस्त्र बनाते या मोल लेते हैं और पुराना त्याग करते हैं अर्थात् नया तैयार होनेके या मिलनेके बाद जीर्ण वस्त्र छोड़ते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा नवीन देह तैयार होनेके बाद उसमें इस जीर्ण देहको छोड़कर प्रवेश करता है। जीवका यह (लिङ्ग) शरीर ... है उसमें इसका कुछ ज्ञान नहीं होता है। ... और पुराना छोड़ देता है। विचार करनेवाला मनुष्य नया अधिक अच्छा मकान बनवाता है। उसपर अपना सर्वस्व लगाता है और पहिले मकानसे अपना सामान हटाता है। इसी विषयमें महाभारतमें कहा है—

यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५८ ॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्मना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५९ ॥
(म० भा० शां० अ० १५)

जैसे मनुष्य नये घरमें प्रवेश करता है वैसे ही जीवात्मा भी नये शरीरोंको प्राप्त करता है। पुराने देहोंको त्यागता है और नये देहोंको प्राप्त होता है। इस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त तथा नित्य है और देह अनित्य है। देहके नाशसे आत्माकी कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं होती। अतः हे अर्जुन! यदि भीष्मादि धर्मशील पुरुषोंके देहोंका नाश इस युद्धमें हो जाय, तो उनको (अपने धर्माचरणके फल) नवीन और अधिक सुन्दर दिव्य देह प्राप्त होंगे जिनसे वे अलौकिक सुखका भोग करनेमें समर्थ होंगे। इसी प्रकार जो दुर्योधनादि पापी पुरुष हैं जिनके पाप पुण्य संबन्धमें विचार नहीं है उनकी प्राप्ति युद्धभूमिमें होनेसे स्वर्गप्राप्ति होगी। इस प्रकार उनका भी लाभ ही है। अतः धर्मयुद्ध करना योग्य है। इस श्लोकमें (नवानि शरीराणि संयाति) नवीन शरीरोंको (अन्यत् ...) उत्तम रीतिसे प्राप्त होता है ऐसा जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि इस युद्धभूमिपर मरनेसे उनको उत्तम अवस्था निःसंदेह प्राप्त होगी उनका कल्याण होगा। इस विषयमें संदेह नहीं है।

पुराने पुस्तककी नयी जिल्द बनाते समय पुरानी जिल्द फाड़कर फेंकनी पड़ती ही है। इस समय पुरानी जिल्द फाड़कर फेंकना आवश्यक है न कि अनावश्यक। इसी प्रकार दिव्य शरीरकी प्राप्ति आवश्यक होती है उससे इन भीष्म द्रोणादि पुण्यात्माओंके विषयमें तो निःसंदेह कल्याण होगा। इसमें शोक करनेका कोई कारण नहीं है।

इस श्लोकमें (जीर्णानि वासांसि विहाय) पुराने कपड़े (नवानि गृह्णाति) नये लेनेके समान ही (जीर्णानि

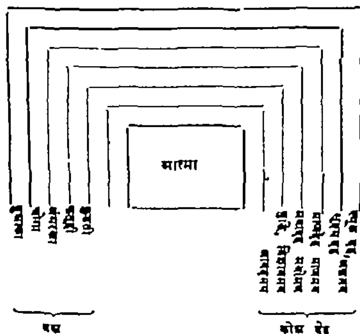
(११) आत्माका वर्णन

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३॥

अन्वयः— एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति एनं पावकः न दहति एनं आपः न क्लेदयन्ति एनं च मारुतः न शोषयति ॥२३॥

इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते इसको अग्नि नहीं जलाती इसको पानी नहीं भिगोता और इसको वायु नहीं सुखाती ॥ २३ ॥

शरीराणि विहाय) अनेक जीर्ण शरीरोंको त्यागकर (नवानि संयाति) अनेक नये देहोंको प्राप्त करती है ऐसा बहुवचनमें प्रयोग करके बताया है कि मनुष्यके पास तीन या तीनसे अधिक देह हैं। मनुष्य जैसा कुरती (वासकट) अन्दर अंगरखा और ऊपरसे काश्मीरी चोगा पहनते हैं, अर्थात् तीन वस्त्र कमसे कम पहनते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण-शरीर आदि अनेक शरीर एकके ऊपर दूसरा धारण करता है।



इस विषयमें भगवद्गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(भ. गी. ३।४२)

शरीरसे इन्द्रियाँ परे इन्द्रियोंसे मन परे मनसे बुद्धि परे है और जो बुद्धिसे भी परे है वह आत्मा है। इस प्रकार ये शरीर एकके ऊपर एक हैं। जो मृत्यु कही जाती है उससे सम्पूर्ण देहोंका एकदम नाश नहीं होता है। केवल एक स्थूल देहका ही नाश होता है और सूक्ष्म देह वैसे ही रहती है। कालान्तरमें सूक्ष्मदेहके भी नष्ट हो जाने पर महादेह अथवा कारण-देह जैसेका वैसा ही रहता है। अर्थात् इस कोशमें जिसको मृत्यु कहा जाता है उससे बाहरके वस्त्र बदलते हैं अन्दरके वस्त्र बदस्तूर रहते हैं। यह स्थिति ध्यानमें धारण करनेसे मृत्युकी वास्तविक कल्पना होगी और मृत्युका भय इस विचारसे दूर होगा।

आवश्यक कार्य करनेके समय यदि अंगरखा फट गया तो अंगरखेके बचावके लिये कोई मनुष्य कर्तव्य कर्म करनेसे पीछे तो नहीं हटेगा इसी प्रकार अर्थात् आवश्यक कर्तव्य कर्म

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अन्वयः— अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः अयं अक्लेद्यः, (अयं) अशोष्यः एव । अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः ॥ २४ ॥ अयं अव्यक्तः, अयं अचिन्त्यः, अयं अविकार्यः उच्यते । तस्मात् एनं एवं विदित्वा (त्वं) अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

यह (आत्मा) छेदी नहीं जा सकती, यह जलायी नहीं जा सकती यह भिगोयी नहीं जा सकती और सुखायी भी नहीं जा सकती। यह नित्य सर्व स्थानमें गत स्थिर अचल और सनातन है ॥ २४ ॥ यह अव्यक्त अचिन्त्य और विकाररहित है ऐसा कहते हैं। इसलिये इसको ऐसा जानकर, तुझे शोक करना योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

करनेके समय स्थूल देह नष्ट भी होनेकी हुई तो भी कर्तव्य कर्मसे तो पीछे हटना नहीं चाहिये। कर्तव्य कर्म करनेके समय देहपात होनेसे जो हानि होगी उससे अधिक हानि कर्तव्य कर्मसे पीछे हटनेसे होगी। अतः हे अर्जुन! तू पीछे न हट। युद्धरूपी यह प्राप्त कर्तव्य कर्म कर। युद्धके प्रघात आत्माको काट नहीं सकते इस विषयमें कहते हैं—

(२४ २५) इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते क्योंकि यह निरवयव है। अतः इसके ऊपर शस्त्र छेदनका कार्य कर नहीं सकते इसको अग्नि नहीं जला सकती इसको पानी भिगा नहीं सकता और वायुसे इसको शुष्क करना भी असंभव है। इसी प्रकार पृथ्वीका गंधगुण इसमें नहीं, अतः सूंघकर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आप् तत्त्वका रसगुण इसमें नहीं है अतः जिह्वासे यह चखी नहीं जाती और इसलिये इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नितत्त्वका रूपगुण इसमें नहीं है अतः आंखसे यह देखी नहीं जा सकती। वायुतत्त्वका स्पर्शगुण इसमें नहीं है, इस कारण स्पर्शसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार कानसे इसका शब्द सुनना भी असंभव है। अतः पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे इस आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस कारण इसको 'अव्यक्त' कहते हैं। मनसे भी इसका चिंतन होना कठिन है क्योंकि जिसका मनसे ग्रहण हो सकता है उसीका मनसे चिंतन हो सकता है अतः इसको 'अचिन्त्य' कहते हैं।

इसपर किसी अन्य वस्तुका कोई परिणाम नहीं होता इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती, छेदनभेदन आदि नहीं होता इसको जलाना भिगोना तथा सुखाना असंभव है इसमें अन्तर नहीं हो सकता अतः इसको 'अविकारी' कहते हैं, यह नित्य सर्वगत स्थिर अचल और सनातन है।

इस आत्माकी सत्तासे ही मन चित्त आदि सब मनन और चिन्तनके कार्य कर सकते हैं। मन और चित्त अपनेसे अधिक स्थूल पदार्थोंका मनन किंवा चिंतन कर सकते हैं, अतः वे अपनेसे सूक्ष्म किंवा निरवयव आत्माका मनन कैसे कर सकेंगे? आत्मासे स्फूर्ति प्राप्त होकर संकल्प विकल्प करते हैं, अतः वे संकल्प- विकल्प आत्माका मनन कैसे कर सकते हैं? आंखोंपर चश्मा लगानेपर भी आंखोंमें दर्शनशक्ति रहनेपर ही चश्मासे देखा जा सकता है परन्तु वह ऐनक स्वयं आंखोंको देखनेमें असमर्थ होती है। इसी प्रकार आत्माके ऊपर मन ऐनकके समान है उससे जगत् सृष्टि देखी जाती है परन्तु उसके अन्दरके आत्माका दर्शन होना असंभव है। अतः मन आत्माका ग्रहण कर उसका मनन नहीं कर सकता। इसलिये आत्माको 'अचिन्त्य' कहा है।

यह आत्मा ऐसी है, यह जानकर इस विषयमें शोक करना योग्य नहीं है। आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। यह जैसी हे अर्जुन! तुम्हारे देहमें उसी प्रकार भीष्मद्रोणादिकोंके देहोंमें भी है। एक ही आत्मा सर्वगत होनेसे सबके अनेक देहोंमें व्यापक है। अतः किसी एक देही देहके नाशसे सर्वगत आत्मामें कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये भीष्मद्रोणादिकोंके मरनेसे आत्मामें कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि जो आत्मा भीष्म द्रोणादिकोंमें है, वही सर्वगत होनेसे तुममें अन्दर भी है। चाहे जीवित रहें या उनकी मृत्यु हो गई तो इससे

इस प्रकार आत्मामें कोई अदलबदल नहीं होगी, इस हेतु युद्ध करनेके समय शोक करनेका कोई कारण नहीं है।

इस प्रकरणके पूर्वोक्त श्लोकोंमें आत्माके कई गुणबोधक नाम आगये हैं, इन सबका एक स्थानपर विचार होनेसे आत्माका ज्ञान हो सकता है और साथ साथ उसके विरुद्ध गुणधर्मवाले देहका भी ज्ञान होनेमें सुविधा होगी अतः वे शब्द नीचे देते हैं—

आत्मावाचक शब्द	देहवाचक शब्द
आत्मा	देह अनात्मा
पुरुष	प्रकृति
अमर	मर
सत्	असत्
देही	देह
अविनाशी	विनाशी
अनन्त	अन्तवान्
अनादि	आदि
नित्य	अनित्य
अज	जन्मवाला
(न जायते)	(जायते)
शाश्वत	अशाश्वत
पुराण (पुरा अपि नवः)	बदलनेवाला
(न हन्यते)	(हन्यते)
(न म्रियते)	(म्रियते)
अप्रमेय	प्रमेय
अव्यय	व्यय
अच्छेद्य	छेद्य
(एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति)	(शस्त्राणि छिन्दन्ति)
अदाह्य	दाह्य
(एनं पावकः न दहति)	(पावकः दहति)
अक्लेद्य	क्लेद्य
(एनं आपः न क्लेदयन्ति)	(आपः क्लेदयन्ति)
अशोष्य	शोष्य
(एनं मारुतः न शोषयति	(मारुतः शोषयति)
सर्वगत	एकदेशीय
स्थाणु (आधार)	आधेय
अचल	चल
सनातन	नश्वर
अव्यक्त	व्यक्त
अचिन्त्य	चिन्त्य
अविकार्य	विकार्य

पूर्वोक्त श्लोकोंमें ये शब्द आगये हैं। इनमेंसे कुछ शब्द पूर्वापर अनुसंधानसे आदरसे लिये हैं। पाठक स्वयं उनको अर्थके अनुसंधानसे यहां देख सकते हैं। इन शब्दोंका विचार करनेसे आत्माके गुणधर्म क्या हैं और देहके गुणधर्म उनसे कैसे भिन्न हैं इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है। गीताके 'सांख्य सिद्धांत' का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेकी यदि पाठकोंके मनमें इच्छा हो तो वे इन शब्दोंको कण्ठ करें और इनका खूब मनन करें। इन शब्दोंके मननसे गीतामें कहे सांख्य तत्त्वका ज्ञान हो सकता है।

इन शब्दोंमें (श्लोक २४ में कथित) सर्वगत शब्द आत्माका वाचक है। यह शब्द विशेष महत्त्वका है। सर्वव्यापक आत्मा है ऐसा इसका आशय है। सब स्थानोंमें आत्मा है कोई स्थान उससे खाली नहीं है। इसी कारण उसको अ-चल भी कहा है। क्योंकि सब स्थानमें उपस्थित होनेसे वह चल नहीं सकती। यदि गीताके सांख्य सिद्धान्तके अनुसार आत्मा अणु होती या अल्प परिमाणवाली होती तो वह सर्वगत और अचल नहीं हो सकती। अणुपरिमाणवाली वस्तु एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जा सकती है और उसको चल कहा जायगा और वह एकदेशी भी होगी। अर्थात् सर्वगत और अचल ये दो शब्द स्पष्ट बता देते हैं कि गीतामें कहे सांख्य सिद्धांतके अनुसार एक आत्मा सर्वस्थानमें परिपूर्ण है और वही सब जीवोंका आत्मा है, जिसके ये पूर्वोक्त नाम हैं। इस प्रकार आत्माकी दृष्टिसे सबकी एकता और देहोंकी दृष्टिसे सबकी भिन्नता यहां दर्शाई है। सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा किसी एक या अनेक देहोंके नाश होनेसे नाशको प्राप्त नहीं हो सकती यह ठीक ही है।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाशके किसी स्थानपर अभ्र छिन्न होने और जुड़नेसे सर्वव्यापक कैवल् तत्त्वमें कुछ भी बदल नहीं होता। उदाहरण–एक सभामें बिजलीके लाखों दीप लगाये हैं। उनमें कई लाल हैं और कई पीले नीले हरे आदि विविध रंगोंके हैं। कई छोटे हैं और कई

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अन्वयः— अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः, अयं अक्लेद्यः, (अयं) अशोष्यः एव । अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः ॥ २४ ॥ अयं अव्यक्तः, अयं अचिन्त्यः, अयं अविकार्यः उच्यते । तस्मात् एनं एवं विदित्वा (त्वं) अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

यह (आत्मा) छेदी नहीं जा सकती यह जलायी नहीं जा सकती यह भिगोयी नहीं जा सकती और सुखायी भी नहीं जा सकती। यह नित्य सर्व स्थानमें गत स्थिर अचल और सनातन है ॥ २४॥
यह अव्यक्त अचिन्त्य और विकाररहित है ऐसा कहते हैं। इसलिये इसको ऐसा जानकर, तुझे शोक करना योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

करनेके समय स्थूल देह मर गयी, या मरनेवाली हुई तो भी कर्तव्य कर्मसे तो पीछे हटना नहीं चाहिये। कर्तव्य कर्म करनेके समय देहपात होनेसे जो हानि होगी उससे अधिक हानि कर्तव्य कर्मसे पीछे हटनेसे होगी। अतः हे अर्जुन ! तू पीछे न हट। युद्धरूपी यह प्राप्त कर्तव्य कर्म कर। युद्धके शस्त्रादि आत्माको काट नहीं सकते इस विषयमें कहते हैं—

(२३-२५) इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते क्योंकि यह निरवयव है। अतः इसके ऊपर शस्त्रादि छेदनका कार्य कर नहीं सकते इसको अग्नि नहीं जला सकती इसको पानी भिगो नहीं सकता और वायुसे इसको शुष्क करना भी असंभव है। इसी प्रकार पृथ्वीका गंधगुण इसमें नहीं, अतः सूंघकर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नि तत्त्वका रूपगुण इसमें नहीं है, अतः जिह्वासे यह चखी नहीं जाती और इसलिये इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अग्नितत्त्वका रूपगुण इसमें नहीं है, अतः आंखसे यह देखी नहीं जा सकती। वायुतत्त्वका स्पर्शगुण इसमें नहीं है, इस कारण स्पर्शसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार कानसे इसका शब्द सुनना भी असंभव है। अतः पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे इस आत्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस कारण इसको अव्यक्त कहते हैं। मनसे भी इसका चिंतन होना कठिन है क्योंकि जिसका आंखसे ग्रहण हो सकता है उसीका मनसे चिंतन हो सकता है अतः इसको अचिन्त्य कहते हैं।

इसका किसी अन्य वस्तुका कोई परिणाम नहीं होता इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती छेदनभेदन आदि नहीं होता इसको जलाना भिगोना तथा सुखाना असंभव है इसमें विकार नहीं हो सकता अतः इसको ' अविकारी ' कहते हैं, यह नित्य सर्वगत स्थिर अचल और सनातन है।

इस आत्माकी सत्तासे ही मन, चित्त आदि अपना मनन और चिन्तनके कार्य कर सकते हैं। मन और चित्त अपनेसे अधिक स्थूल पदार्थोंका मनन किंवा चिंतन कर सकते हैं अतः वे अपनेसे सूक्ष्म किंवा निरवयव आत्माका मनन कैसे कर सकेंगे ? आत्मासे स्फूर्ति प्राप्त होकर संकल्प विकल्प करते हैं, अतः वे संकल्प-विकल्प आत्माका ग्रहण कैसे कर सकते हैं ? आंखोंपर चश्मा लगानेपर भी आंखोंमें दर्शनशक्ति रहनेपर ही चश्मासे देखा जा सकता है परन्तु यह केवल स्वयं आंखोंको देखनेमें असमर्थ होती है। इसी प्रकार आत्माके ऊपर मन ऐनकके समान है उससे ज्ञान वृद्धि होती जाती है परन्तु उससे अन्दरके आत्माका दर्शन होना असंभव है। अतः मन आत्माका ग्रहण कर उसका मनन नहीं कर सकता। इसलिये आत्माको ' अचिन्त्य ' कहा है।

यह आत्मा ऐसी है यह जानकर इस विषयमें शोक करना योग्य नहीं है। आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। यह जैसी है अर्जुन ! तुम्हारे देहमें उसी प्रकार भीष्मद्रोणादिकोंके देहोंमें भी है। एक ही आत्मा सर्वगत होनेसे सबके अनेक देहोंमें व्यापक है। अतः किसी एक देहके नाशसे सर्वगत आत्मामें कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये भीष्मद्रोणादिकोंके मारनेसे आत्मा की कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि जो आत्मा भीष्मद्रोणादिकोंमें है वही सर्वगत होनेसे तुममें अन्दर भी है। कोई जीवित रहे या अन्योंकी मृत्यु हो गई तो उससे

अद्वैतका अनुभव होता है। इस समय उसको ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त होती है देखिये—

समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता। (सांख्यदर्शन)

सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है। यह शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है। सुषुप्तिमें तमोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता समाधिमें रजोगुणप्रधान ब्रह्मरूपता और मुक्तिमें सत्त्वगुणप्रधान ब्रह्मरूपता होती है इस प्रकार माननेसे इन अवस्थाओंकी कुछ कल्पना पाठकोंको हो सकती है। जाग्रतिका मन स्थिर होनेसे ही सुषुप्ति या समाधिकी अवस्थाका प्राप्त होना संभव है और जाग्रतिका मन ही द्वैतका अनुभव करनेवाला है, यह १५ वें श्लोककी टिप्पणीमें बता दिया है। इस संकल्पविकल्पात्मक मनके स्थिर होनेपर द्वैतका अनुभव हट जाता है और जबतक मन स्थिर रहता है तब तक द्वैतका अनुभव नहीं होता। किसी भी द्वन्द्वका अनुभव मनकी स्थिरताके पश्चात् नहीं होता। मनकी स्वस्थता होनेके पश्चात् जो अनुभव आता है वह अद्वैतका ब्रह्मरूप अवस्थाका ही अनुभव है। इसका वर्णन उपनिषदोंमें इस प्रकार किया है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं ॥१॥ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्य-द्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्य-न्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्० ॥१॥ (छां. उ. ७।२३-२४)

सुपूर्णभूमाऽहमिति भावय। (मुक्ति उ. २।७३)

जो भूमा अवस्था है वह सुख है और जो अल्प अवस्था है, उसमें सुख नहीं। निश्चयसे भूमा सुखकी अवस्था है। जहां दूसरेको देखता नहीं दूसरेको सुनता नहीं दूसरेको जानता नहीं वह भूमा अवस्था है और जहां दूसरेको देखता है दूसरेको सुनता है और दूसरेको जानता है वह अल्प अवस्था है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है। मैं पूर्ण भूमा हूं ऐसी भावना करो।

यहां दो अवस्थाएं कही हैं- (१) एक भूमा अवस्था जिसमें देखना, सुनना जानना आदिका कार्य हो नहीं सकता अर्थात् जिसमें न स्पर्श भोग नहीं किये जाते यह अवस्था सुषुप्ति समाधि और मुक्तिकी अमर अवस्था है। इसमें अलौकिक सुख निश्चितरूपसे ही मिलता है। (२) दूसरी अल्प अवस्था है जिसमें मनुष्य देखता सुनता और जानता है और जिसमें प्राकृतिक स्पर्श भोग किये जाते हैं। यह मनुष्यकी जाग्रति और स्वप्नकी अवस्था है यही मर्त्य अवस्था है। 'भूमा' (भू-मन्) शब्दका ही अर्थ (बहोः भावः) बहुत या विपुल होनेका भाव है। मनुष्यकी आत्मा सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ऐसी विपुल व्यापक अवस्थामें जाती है कि जो अवस्था इस जाग्रतिकी संकुचित अवस्थासे कहीं उच्च अवस्था है। पाठक यहां ये शब्द देखें—

भूमा	अल्प
सुषुप्ति, समाधिका अनुभव	जाग्रतिका अनुभव
अमर्त्य	मर्त्य
सुख	दुःख
पूर्णता	अपूर्णता
सर्वगत	एकदेशीय
अभेद	भेद
व्यापक	अव्यापक
अचल	चल
सर्वभूतात्मभूतात्मा	भिन्नात्मा
सर्वभूताधिपति	देहाधिपति
सर्वात्मभाव	देहात्मभाव

जिस प्रकार जाग्रतिका अनुभव सत्य है उसी प्रकार सुषुप्तिका अनुभव भी सत्य है। सुषुप्तिमें यदि भूमा अवस्था होती है तो वह अद्वैतकी अवस्था है। इस अवस्थाको अद्वैत इसलिये कहते हैं कि यहां द्वैत भेद या द्वन्द्वका अनुभव नहीं होता। इस विषयमें उपनिषदोंका कथन यहां मनन करने योग्य है, देखिये—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति
तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं रसयते
तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणो-
ति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृश-
ति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्व-
मात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं
जिघ्रेत् तत्केन कं रसयेत् तत्केन कमभि-
वदेत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत

जाते हैं। उनमेंसे कुछ दूट गये या फट गये अथवा सूख गये तो सब बातोंमें व्यापक विजलीके समुद्रमें कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं होती है। इसी प्रकार आत्माका सर्वव्यापक बड़ा विद्युत्समुद्र है और उससे कुछ अज्ञात कारणवशात् अनेक शरीररूपी विद्युद्दीप जलाये हैं इनमेंसे कई सात्त्विक हैं उनका श्वेतवर्ण, राजसिक प्रकृतिवालोंका पीला और लाल रंग है और तमोगुणी प्रकृतिवालोंका नीला या काला रंग है। इनमेंसे कुछ किसी कारण बुझ जाते हैं और कई नये प्रकाशित होते हैं। बुझनेसे या जलनेसे उस आत्माके समुद्रमें कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं होता। भीष्म द्रोणादि बड़े लोग इस शरीरसे वियुक्त हुए और कई नये लोग जन्मको प्राप्त हुए तो विश्वव्यापक सर्वगत आत्मामें कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकता। इस प्रकारके विचार से ही इस 'सर्वात्मभाव' की कल्पना हो सकती है। यही बात भगवद्गीतामें कथन की है—

१ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
(भ. गी. ६।३१)

२ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
(भ. गी. १०।२०)

३ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
(भ. गी. १५।१४)

(१) सर्व भूतोंमें स्थित मुझको जो भजता है। (२) मैं आत्मा संपूर्ण भूतोंमें रहता हूं। (३) मैं वैश्वानररूपसे सब प्राणियोंके देहोंमें हूं।' भगवान् इन श्लोकोंमें कहते हैं कि मैं ही सब भूतोंका एक आत्मा हूं। यह अन्तिम सिद्धि है, ऐसा निम्नलिखित श्लोकमें स्पष्ट कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(भ. गी. ५।७)

योगका आचरण करनेवाला शुद्धात्मा, जिसने अपने आत्मा और इंद्रियोंपर विजय पाया है ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जब (सर्व-भूत-आत्मा-भूत-आत्मा) सब भूतोंकी आत्मा हुई है जिसकी आत्मा, ऐसा बनता है तब वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। कर्मका लेप न होनेके लिये इसे सर्वात्मभावकी सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् 'सर्वात्मभाव' की स्थितिपर न और 'अद्वैत देहात्मभाव' की स्थितिपर भी न कर्मका लेप न होनेके लिये सर्वात्मभावकी अवस्था प्राप्त होनी आवश्यक है। गत १५ वें श्लोककी टिप्पणीमें शम मनकी भूमिकामें पहुंचे हुए महात्माका वर्णन किया है उसकी जो अवस्था होती है वह 'सर्वात्मभाव' की अवस्था है। अतः वह पूर्ण उन्नतिकी अवस्था है यह बात पाठक ध्यानमें धारण करें।

सर्वगत आत्मा परमात्मा है और वैयक्तिक 'देहस्थ' आत्मा जीवात्मा है यह परिभाषा व्यावहारिक है। यही परिभाषा सबके समझमें आनेवाली है इसमें संदेह नहीं। योग सिद्ध अनुभवके एक बिन्दुसे गीतामें 'सर्वगत' आत्मा है ऐसा कहा है और उपनिषदोंमें भी कहा है यह अनुभवका एक-बिंदु भी अधिक विवेकसे अनुभवमें आनेवाला है।

जीवात्म सर्वगत आत्मभाव और सर्वात्मभाव की कल्पना अथवा 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' अवस्थाकी कल्पना यदि पाठक समझना चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं। मनुष्यके अनुभवकी चार अवस्थाएं हैं और उन चार अवस्थाओंका अनुभव भिन्न है देखिये—

१ जाग्रति – द्वैतका अनुभव, भेदका अनुभव अर्थात् भिन्नताका अनुभव।

२ स्वप्न – द्वैतका ही अनुभव परंतु भासमात्र होते हुए सत्य जैसा प्रतीत होता है

३ सुषुप्ति – अद्वैतका अनुभव। द्वैतके अनुभवका अभाव। इस अवस्थामें अखण्ड स्थिति होती है।

४ तुर्या – [यह तीन अवस्थाओंका अनुभव लेनेवालेकी एक अवस्था चौथी ही मानी जाती है] इसका अनुभव साधारण मनुष्योंको नहीं है।

पहिली तीन अवस्थाएं हरएक मनुष्यको अपना आपसे प्रायः प्रतिदिन प्राप्त होती हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि हरएक मनुष्य जाग्रतिमें पूर्ण शुद्ध द्वैतका अनुभव करता है और सुषुप्तिमें अद्वैतका अनुभव करता है। सुषुप्तिमें

(१२) नित्य जनन और नित्य मरण।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अन्वयः— अथ च एनं नित्यजातं नित्यं वा मृतं मन्यसे तथापि हे महाबाहो ! त्वं एवं शोचितुं न अर्हसि ॥ २६ ॥ हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य च जन्म ध्रुवं तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥ २७ ॥

और यदि तू ऐसा मानता है कि यह आत्मा नित्य जन्मती है और नित्य ही मरती है, तो भी, हे महाबाहो अर्जुन ! तुझे इसका शोक करना उचित नहीं ॥ २६ ॥ क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित ही है। इस लिये इस अपरिहार्य बातका शोक करना तुझको उचित नहीं ॥ २७ ॥

भावार्थ— जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है। यह नाश अपरिहार्य है; अतः इसका शोक करना किसीको उचित नहीं है।

'सर्वगत' शब्दसे वर्णन किया गया है।

अर्जुनकी शंका थी कि 'भीष्मद्रोणादिक मेरे पूजनीय गुरुजन युद्धमें मारे गये तो उनका पूर्ण नाश होगा अतः युद्ध करना अयोग्य है।' इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उसे समझाया कि भीष्मद्रोणादिकोंके शरीर तो नाशवान् हैं ही और आत्मा (सर्वगतः) विभु अचल और (स्थाणुः) आधाररूप है वह जैसा भीष्मद्रोणादिकोंके शरीरोंमें है उसी प्रकार अर्जुन कर्ण आदि पाण्डव वीरोंके शरीरोंमें भी है, वह सबमें व्याप्त है। अतः किसीके शरीरका नाश होनेपर भी इस सर्वगत आत्माका नाश नहीं होता। अतः आत्माके रूपसे भीष्मद्रोणादिकोंकी स्थिति जैसी इस शरीरपातके पूर्व थी, वैसी ही इस शरीरकी प्राप्ति होनेपर है और इस शरीरके नाश होनेपर भी वैसी ही स्थिति रहेगी उसमें कोई विकार नहीं होगा। अतः हे अर्जुन ! तू यह अपना प्राप्त कर्तव्य कर।

भाव: यहां सांख्य तत्त्वज्ञान समाप्त हुआ है। सब प्राणिमात्रोंकी आत्मा एक है और वह (सर्वगतः) विभु है वह नाशवान् शरीरोंसे भिन्न है और तीनों कालोंमें अविनाशी है। इस सिद्धांतका यहां प्रतिपादन किया गया है।

इससे भिन्न और भी आत्मवादी कई प्रकारके हैं। उनमेंसे एक मतके आत्मवादी कहते हैं कि सबोंका आत्मा अखण्ड अचल (सर्वगतः) विभु है। इनके मतसे अनंत विभु आत्मा हैं। दूसरे मतके आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक जीवका आत्मा अणुप्रमाणवाला है और पृथक् है। इन दोनों मतोंमें जीवात्माओंकी अनंत संख्या स्वीकृत है। ये सब मतवादी आत्माको अविनाशी आदि विशेषणोंसे युक्त मानते हैं। परंतु अणुप्रमाणवादी ऐसा मानते हैं कि जीव अणुप्रमाण होता हुआ भी अपने प्राप्त शरीरतक अपनी शक्तिसे व्यापता है।

इनसे भिन्न और एक आत्मवादी हैं जो मानते हैं कि आत्मा तो शरीरके साथ जन्मता और शरीरके साथ ही मरता है, इस प्रकार आत्मा बारबार जन्मता और मरता है। इस मतको माननेवाले ऊपर दिये अविनाशी आदि आत्माके विशेषण नहीं स्वीकारते। उनके मतसे तो शरीरके साथ नाश होनेवाली आत्मा है। यदि अर्जुन इस पक्षमें यह मत स्वीकार करने लगेगा तो इस मतका विचार करना भी भगवान् श्रीकृष्णको योग्य है। अतः वे इस मतका अनुवाद करके विचार करते हैं—

(२६-२७) जो लोग मानते हैं कि शरीरके साथ आत्मा नित्य जन्म लेता है और शरीरके साथ ही मरता है, उनके पक्षमें भी युद्धमें मरनेवालों या जन्मने मरनेवालों का शोक करना अयोग्य है। क्योंकि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरेगा ही। वह आज मरे या कल मरे यह बात भिन्न है परंतु उसकी मृत्यु अपरिहार्य है। इसी रीतिसे जो मरता है उसका जन्म लेना भी अनिवार्य है। अर्थात् जन्मके

तत्केन कं स्पृशेत् तत्केन कं विजानीयात्
येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्
स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते
विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥

(बृ० उ० ४।५।१५)

जहाँ द्वैतता होता है वहाँ एक दूसरेको देखता सूँघता चखता बोलता, सुनता, विचार करता स्पर्श करता और जानता है, परंतु जहाँ इसका सब आत्मा ही होता है उस समय कौन किसको देखे सूँघे चखे बोले सुने, विचार करे और स्पर्श करे ? जिससे सब जाना जाता है वह भला कैसे जाना जायगा ? यह नहीं यह नहीं इस रीतिसे इस आत्माका वर्णन होता है, इसका ग्रहण करना कठिन है जो सबको जानता है उसको किस साधनसे भला हम जानें ?

जाग्रति और सुषुप्तिमें कैसा अनुभव होता है इसका उत्तम वर्णन इस उपनिषद्‌वचनमें हुआ है। यही वचन और बृहदारण्यक उपनिषद् (बृ० २।४।१४ के स्थान) में भी आया है अर्थात् एक ही उपनिषद्‌में दो बार है।

शतपथ ब्रा० कां० १४।५।४। १५-१६ और कां० १४।७।३। १३-१५ इन दो स्थानोंमें है। जिस समय जाग्रतिका द्वैतका अनुभव होता है उस समय एक दूसरेसे द्वैतका व्यवहार करता है, परंतु सुषुप्तिदशामें वैसा द्वैतका अनुभव नहीं है; क्योंकि उस समय (सर्व आत्मा एव अभूत्) सब आत्मा ही हुआ होता है। दूसरा कोई आत्मासे भिन्न नहीं होता अतः वहाँ कौन किससे व्यवहार करेगा ? जो आत्मा सबको देखती है उसको कौन देखे ? अर्थात् उस समय आत्मरूप ब्रह्मरूप, भूमा आत्मा सर्वगत आत्मस्थिति सर्वात्मभावस्थिति किंवा अद्वैतस्थिति होती है। ये सब शब्द उस एक उत्तम अवस्थाके वाचक हैं।

जो पाठक द्वैत और अद्वैतके झगड़ोंमें फँसे हों उनको प्रथम उपनिषदोंकी दृष्टिसे जाग्रति और सुषुप्तिके अनुभवका यथायोग्य रीतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् द्वैताद्वैतके झगड़ोंमें पड़ना चाहिये। वास्तविक रीतिसे हर एक मनुष्य जाग्रतिमें शुद्ध द्वैतका अनुभव लेता है और सुषुप्तिमें शुद्ध अद्वैतका अनुभव करता है। दोनों अनुभव सत्य हैं। परन्तु उनमें भी जाग्रतिके अनुभवको अल्प और सुषुप्तिके अनुभवको भूमा अर्थात् बड़ा कहा है।

जिस रीतिसे द्वैताद्वैतके झगड़े होते हैं वह अविचार मूलक है। जो उपनिषदोंमें कहा है उसका खंडन नहीं हो सकता। पक्षाभिमान मनोवृत्तिसे अधिक झगड़ा करनेवाले लोग अद्वैतवचनोंको खींचते हैं और कोई द्वैतवचनोंको खींचते हैं। हम तो दोनों प्रकारके वचनोंको पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें पूर्वोक्त रीतिसे यथार्थ देखते हैं; अतः हमें किसी वचनकी खींचातानी करनेकी बिलकुल आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जो पाठक इस प्रकार अनुभवद्वारा इन वचनोंको समझनेका यत्न करेंगे, उनको भी द्वैत अद्वैतके वचन पूर्वोक्त रीति उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेसे वह कैसे नहीं और योग्य रीतिसे ग्रंथवचनोंकी संगति लग जायगी।

गीता, उपनिषद् और वेदमें भी द्वैत और अद्वैतके वचन स्थान स्थानपर हैं। कोई ग्रंथ इन वचनोंसे खाली नहीं है। और होना भी ऐसा ही चाहिये। उदाहरणके लिये कठोपनिषद्का भाग देखिये। नचिकेताने यमसे पूछा कि 'मरनेके पश्चात् क्या अवशेष रहता है ?' इसका उत्तर यमने इस प्रकार दिया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो
गुहायाम् ॥ २० ॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

(कठ उ० २)

सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् आत्मा इन प्राणीके हृदयमें है। अनित्य शरीरोंके अन्दर रहनेवाले शरीररहित महान् विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

यहाँ भी नचिकेताके प्रश्नके उत्तरमें अर्थात् मरनेके पश्चात् रहनेवाला विभु आत्मा है, विभु होनेसे वह गीता-के वचनके अनुसार सर्वगत है ऐसा स्पष्ट कहा है। नचिकेताका प्रश्न शरीरके नाशके पश्चात् क्या शेष रहता है ? यह है। उत्तरमें कहा है कि जो हृदयमें महान् आत्मा है वही विभु आत्मा रहता है। मरणोत्तरकी स्थिति निद्राके समान ही महा निद्रा कहलाती है, इसलिये वह भूमा अवस्था ही है जिसको गीतामें

(१२) नित्य जनन और नित्य मरण।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अन्वयः— अथ च एनं नित्यजातं नित्यं वा मृतं मन्यसे तथापि हे महाबाहो! त्वं एवं शोचितुं न अर्हसि ॥ २६ ॥ हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य च जन्म ध्रुवं; तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥ २७ ॥

और यदि तू ऐसा मानता है कि यह आत्मा नित्य जन्मती है और नित्य ही मरती है, तो भी, हे महाबाहो अर्जुन! तुझे इसका शोक करना उचित नहीं ॥ २६ ॥ क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित ही है। इस लिये इस अपरिहार्य बातका शोक करना तुझको उचित नहीं ॥ २७ ॥

भावार्थ— जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है। यह नाश अपरिहार्य है, अतः इसका शोक करना किसीको उचित नहीं है।

'सर्वगत' शब्दसे वर्णन किया गया है।

अर्जुनकी शंका थी कि 'भीष्मद्रोणादिक मेरे पूजनीय गुरुजन युद्धमें मारे गये, तो उनका पूर्ण नाश होगा' अतः युद्ध करना अयोग्य है।' इस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उसे समझाया कि, भीष्मद्रोणादिकोंके शरीर तो नाशवान् हैं ही और आत्मा (सर्वगतः) विभु अचल और (स्थाणुः) आधारस्तंभ है वह जैसा भीष्मद्रोणादिकोंके शरीरोंमें है उसी प्रकार अर्जुन धर्म आदि पांडव वीरोंके शरीरोंमें भी है वह सबमें व्याप्त है। अतः किसीके शरीरका नाश होनेपर भी इस सर्वगत आत्माका नाश नहीं होता। अतः आत्माके रूपसे भीष्मद्रोणादिकोंकी स्थिति जैसी इस शरीरधारणके पूर्व थी वैसी ही इस शरीरकी प्राप्ति होनेपर है और इस शरीरके नाश होनेपर भी वैसी ही स्थिति रहेगी उसमें कोई विकार नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तू यह अपना धर्म्य कर्तव्य कर।

प्रायः यहां सांख्य तत्त्वज्ञान समाप्त हुआ है। सब प्राणिमात्रोंकी आत्मा एक है और वह (सर्वगतः) विभु है वह शाश्वत, शरीरोंसे भिन्न है और तीनों कालोंमें अविनाशी है। इस सिद्धांतका यहां प्रतिपादन किया गया है।

इससे भिन्न और भी आत्मवादी कई प्रकारके हैं। उनमेंसे एक मतके आत्मवादी कहते हैं कि "सर्वेषाम् आत्मा अचल अक्षय (सर्वगतः) विभु है। इनके मतसे अचल विभु आत्मा है। दूसरे मतके आत्मवादी कहते हैं कि प्रत्येक जीवका आत्मा अणुपरिमाणवाला है और पृथक् है। इन दोनों मतोंमें जीवात्माओंकी अनंत संख्या स्वीकृत है। ये सब मतवादी आत्माको अविनाशी आदि विशेषणोंसे युक्त मानते हैं। परंतु अणुपरिमाणवादी ऐसा मानते हैं कि जीव अणुमात्र होता हुआ भी अपने प्राप्त शरीरको अपनी शक्तिसे व्यापता है।

इनसे भिन्न और एक आत्मवादी हैं जो मानते हैं कि आत्मा तो शरीरके साथ जन्मता और शरीरके साथ ही मरता है इस प्रकार आत्मा बारबार जन्मता और मरता है। इस मतको माननेवालेके ऊपर दिये अविनाशी आदि आत्माके विशेषण नहीं स्वीकारते। इनके मतसे तो शरीरके साथ नाश होनेवाली आत्मा है। यदि अर्जुन इस प्रसंगमें यह मत स्वीकार करने लगेगा तो इस मतका विचार करना भी भगवान् श्रीकृष्णको योग्य है। अतः वे इस मतका अनुमान करके विचार करते हैं—

(२६-२७) जो लोग मानते हैं कि शरीरके साथ आत्मा नित्य जन्म लेता है और शरीरके साथ ही मरता है, उनके पक्षमें भी युद्धमें मरनेवालों या जन्मकर मरनेवालों का शोक करना अयोग्य है। क्योंकि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरेगा ही, वह आज मरे या कल मरे यह बात भिन्न है परंतु उसकी मृत्यु अपरिहार्य है। इसी रीतिसे जो मरता है उसको जन्म लेना भी अनिवार्य है। अर्थात् जन्मके

तत्केन कं स्पृशेत् तत्केन कं विजानीयात्
येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्
स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते
विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥

(बृ० उ० ४।५।१५)

जहाँ द्वैतसा होता है वहाँ एक दूसरेको देखता, सूँघता, चखता, बोलता, सुनता, विचार करता, स्पर्श करता और जानता है; परंतु जहाँ इसका सब आत्मा ही होता है उस समय कौन किसको देखे सूँघे चखे बोले सुने विचार करे और स्पर्श करे? जिससे सब जाना जाता है वह भला कैसे जाना जायगा? वह नहीं, वह नहीं इस रीतिसे इस आत्माका वर्णन होता है, इसका ग्रहण करना कठिन है जो सबको जानता है, उसको किस साधनसे भला हम जानें?

जाग्रति और सुषुप्तिमें कैसा अनुभव होता है इसका वर्णन स्पष्ट इस उपनिषद्‌वचनमें हुआ है। यही वचन और बृहदारण्यक उपनिषद् (बृ० २।४।१४ के स्थान) में भी आया है अर्थात् एक ही उपनिषद्में दो जगह है।

शतपथ ब्रा० कां० १४।५।४। १४-१५ और कां० १४।७।३। १४-१५ इन दो स्थानोंमें है। जिस समय जाग्रतिका द्वैतका अनुभव होता है उस समय एक दूसरेसे द्वैतका व्यवहार करता है परंतु सुषुप्तिअवस्थामें वैसा द्वैतका अनुभव नहीं है; क्योंकि उस समय (सर्व बाह्य एवं आन्तर) सब आत्मा ही हुआ होता है। दूसरा कोई आत्मासे भिन्न नहीं होता अतः वहाँ कौन किससे व्यवहार करेगा? जो आत्मा सबको देखती है उसको कौन देखे? अर्थात् उस समय आत्मरूप अवस्था, अथवा उसको सर्वगत आत्मस्थिति अथवा ब्रह्मभावस्थिति किंवा अद्वैतस्थिति होती है। ये सब शब्द एक ही स्थित अवस्थाके वाचक हैं।

जो पाठक द्वैत और अद्वैतके झगड़ोंमें पड़े हों उनको प्रथम उपनिषदोंकी दृष्टिसे जाग्रति और सुषुप्तिके अनुभवका यथायोग्य रीतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् द्वैताद्वैतके झगड़ोंमें पड़ना चाहिये। वास्तविक रीतिसे हर एक मनुष्य जाग्रतिमें शुद्ध द्वैतका अनुभव लेता है और सुषुप्तिमें शुद्ध अद्वैतका अनुभव करता है। दोनों अनुभव सत्य हैं। परन्तु उसमें भी जाग्रतिके अनुभवको अल्प और सुषुप्तिके अनुभवको भूमा अर्थात् बड़ा कहा है।

जिस रीतिसे द्वैताद्वैतके झगड़े होते हैं, वह रीतिभ्रम व्यर्थ है। जो उपनिषदोंमें कहा है उसका खंडन नहीं हो सकता। पक्षाभिमानके मर्यादासे अधिक प्रबल करके द्वैती लोग अद्वैतवचनोंको खींचते हैं और अद्वैती द्वैतवचनोंको खींचते हैं। हम तो दोनों प्रकारके वचनोंको पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें पूर्वोक्त रीतिसे यथार्थ देखते हैं; अतः हमें किसी वचनकी खींचातानी करनेकी बिलकुल आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जो पाठक इस प्रकार मननपूर्वक इन वचनोंका समन्वय यत्न करेंगे, उनको भी द्वैत और अद्वैतके वचन पूर्वोक्त रीति उनके अन्तःकरणमें स्पष्ट होनेसे कभी नहीं और योग्य रीतिसे वेदवचनोंकी संगति लग जायगी।

गीता, उपनिषद् और वेदमें भी द्वैत और अद्वैतके वचन स्थान स्थानपर हैं। कोई भी इन वचनोंसे खाली नहीं है। और होना भी ऐसा ही चाहिये। उदाहरणके लिये कठोपनिषद्‌का भाग देखिये। नचिकेताने यमसे पूछा कि 'मरनेके पश्चात् क्या अवशेष रहता है?' इसका उत्तर यमने इस प्रकार दिया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो
गुहायाम् ॥ २० ॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

(कठ उ० १।२)

सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बड़ेसे भी महान् आत्मा इस प्राणीके हृदयमें है। अस्थिर शरीरोंके अन्दर रहनेवाले शरीररहित महान् विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

यहाँ भी नचिकेताके प्रश्नके उत्तरमें अर्थात् मरनेके पश्चात् रहनेवाला विभु आत्मा है विभु होनेसे वह गीताके वचनके अनुसार सर्वगत है ऐसा स्पष्ट कहा है। नचिकेताका प्रश्न शरीरके मरनेके पश्चात् क्या शेष रहता है? यह है। उत्तरमें कहा है कि जो हृदयमें महान् आत्मा है वही विभु आत्मा रहता है। आत्मीयताकी स्थिति निद्राके समान ही अद्या निद्रा शब्दसे माना जाता है इसलिये वह भूमा अवस्था ही है जिसको गीतामें

(१३) आश्चर्यपूर्ण अवर्ण्य आत्मा।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

के लिये इस व्यक्त स्थितिमें रखना तेरे अधीन नहीं है। ये अपने स्वभावसे ही कुछ समयके पश्चात् अव्यक्त अवस्थाको प्राप्त होंगे ही। यदि यह बात कोई भी टाल नहीं सकता तो इस विषयमें तू शोक क्यों करता है? तेरे शोक करनेपर क्या ये लोग सदाके लिये इस व्यक्त स्थितिमें रहेंगे? और जो तू इनके विषयमें इतना शोकातुर हुआ है, वह तू भी क्या अन्तमें अव्यक्त स्थितिको नहीं प्राप्त होगा? फिर इस शोक-मोहसे कौनसा लाभ होगा?

यही प्रश्न भगवद्गीतामें आगे दूसरे शब्दोंमें कहा जायगा—

व्यक्त और अव्यक्त

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
(भ. गी. ८।१८)

'(ब्रह्माके) दिनके आरम्भमें अव्यक्तसे सब पदार्थ व्यक्त होते हैं और इसीकी रात्रि प्रारम्भ होनेपर वे सब पदार्थ उसी अव्यक्तमें लीन होते हैं।' अर्थात् ब्रह्माके दिनके प्रारम्भमें सबकी उत्पत्ति होकर सबकी व्यक्तता होती है और उसकी रात्रिके समय फिर सबकी अव्यक्त स्थिति हो जाती है। कोई इससे छूटता नहीं इसलिये यह अपरिहार्य है। इस अपरिहार्य बातका शोक करना सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है। महाभारत स्त्रीपर्वमें यही विषय अन्य शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥१॥
अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते॥२॥
अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥३॥
(म. भा. स्त्रीपर्व, अ. २)

'सब संचय क्षय होनेतक रहनेवाले हैं, सब ऊपर चढ़ना पतन होनेतक ही है, सब संयोग वियोग होनेतक रहते हैं और मृत्यु आनेतक जीवन होता है। युद्ध न करनेवाला मर जाता है और युद्ध करनेवाला भी जीवित रहता है। हे महाराज! काल प्राप्त होनेपर कोई बचता नहीं। सब भूत उत्पत्तिके पूर्व अभावरूप होते हैं, मध्य समयमें भावरूप होते हैं और मृत्युके पश्चात् फिर अभावको प्राप्त होते हैं। इसमें शोक करनेका कारण क्या है?'

इस स्थलमें श्रीमद्भगवद्गीताके 'अव्यक्त' शब्दके स्थान पर 'अभाव' शब्द है। अर्थात् यह श्लोक गीताके श्लोकके अर्थको स्पष्ट करता है। इसी प्रकार और एक श्लोक है—

अदर्शन और दर्शन।

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥
(म. भा. स्त्रीपर्व अ. २।१३)

सब भूत पहिले अदर्शन अर्थात् अवस्थामेंसे पश्चात् दर्शन (दृष्ट) स्थितिमें हो गये और पुनः अदर्शन (अदृष्ट) स्थितिमें पहुंच गये। ऐसी अवस्थामें शोकके लिये कारण क्या है? वास्तवमें देखा जाय तो ये तेरे नहीं हैं और तू इनका नहीं है।

यहां 'अदर्शन' शब्द इसी अर्थमें आगया है अर्थात् ये शब्द एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। देखिये—

आदि	मध्य	अन्त
अव्यक्तादीनि	व्यक्तमध्यानि	अव्यक्तनिधनानि (भ. गी. २।२८)
अव्यक्ताद्	व्यक्तयः प्रभवन्ति	प्रलीयन्ते (भ. गी. ८।१८)
अभावादीनि	भावमध्यानि	अभावनिधनानि (म. भा. स्त्री. २।६)
अदर्शनाद् आपतिताः	दर्शनं गताः	अदर्शनं गताः (म. भा. स्त्री. २।१३)

इसप्रकार ये शब्द एक दूसरेके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं। अतः किसीके नाशको देखकर शोक करनेका कोई कारण नहीं, ऐसा कहकर आत्माका अविनाशित्व पुनः कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अन्वयः— हे भारत! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव तत्र परिदेवना का? ॥ २८ ॥

हे भरतकुलमें उत्पन्न! उत्पत्तिके पूर्व सब भूत अव्यक्त, मध्य समयमें व्यक्त और मृत्युके पश्चात् फिर अव्यक्त होते हैं। ऐसी अवस्थामें शोक करनेका क्या कारण है? ॥ २८ ॥

पश्चात् मृत्यु और मृत्युके पश्चात् जन्म, फिर मृत्यु और फिर जन्म इस क्रमसे यह चक्र [illegible] होनेतक चलता ही रहता, इसमें अन्त नहीं होता। अतः यह अपरिहार्य है और इसमें कोई हानि भी नहीं, क्योंकि यह यथाक्रम होता ही रहेगा। जो अनिवार्य है और किसी प्रकार भी टल नहीं सकता, उसके विषयमें शोक करना मूर्खताका कार्य है।

सूर्योदय होता है, पश्चात् अस्त होता है, अस्तके अनंतर उदय और फिर अस्त, ये जैसे क्रमपूर्वक होते हैं उसी प्रकार इन प्राणियोंके जन्मरूपी उदय और मरणरूपी अस्त क्रमपूर्वक होते हैं। जो यथाक्रम होनेवाले हैं उनके विषयमें शोक न करना चाहिये।

यथाक्रम जन्म और मरण होता है ऐसा आस्तिकवादियोंका यह मत है। वस्तुतः इन बातोंको [illegible] नहीं है क्योंकि यह [illegible] है। तथापि [illegible] [illegible] यदि यह मत किसीने स्वीकृत किया तो उस [illegible] यह है। यह मत स्वीकृत करनेपर भी दुःखसे [illegible] होना अयोग्य है। [illegible] [illegible] [illegible] जिसके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो जाता है वे उसके नहीं [illegible] उसका [illegible] नहीं जानता, ऐसा यदि [illegible] कौन मूर्ख कहेंगे और उसके [illegible] नहीं करेंगे। इसी प्रकार इन प्राणियोंकी उत्पत्ति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible]। तथापि उसका मत पूर्वोक्त [illegible] [illegible] भी उत्तम [illegible] पुरुषार्थ [illegible] [illegible] नहीं होता, अपितु शोक छोड़कर [illegible] ही योग्य है ऐसा सिद्ध होता है।

अपने कर्मके अनुसार यथाक्रम जन्म और मृत्यु होनेवाले हैं [illegible] जैसा कर्म होगा वैसा ही ठीक उसका जन्म या मृत्यु होगी। अर्थात् वे यदि अपने कर्मानुसार मरनेवाले हैं तो उनकी मृत्युका दोष तुझपर नहीं है। यदि तू निमित्तमात्र हुआ तो भी मुख्य कारण उनका कर्म है। और यदि उनकी मृत्यु हुई तो उनको [illegible] [illegible] अवश्य प्राप्त होगी ही। इसलिये उनकी [illegible] कोई हानि नहीं होती। फिर शोकका कारण ही क्या है? मृत्यु तो उनके कर्मानुसार उनको पूर्व समय [illegible] [illegible] [illegible] समय उनका [illegible] [illegible] न रहेगा। फिर तूने उनकी रक्षाकी इच्छा भी की तो भी उनका बचाव नहीं होगा। ऐसे [illegible] तुझे उनके लिए शोक करना योग्य नहीं है।

यहां शंका ऐसी होती है कि जिन देहोंके साथ हमारा [illegible] हुआ है उनका नाश होते हम प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः उनका नाश देखकर मनमें खेद होता है। इसकी निवृत्ति करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

(२८) जो जो उत्पन्न होता है उसको 'भूत' कहते हैं। यहां भूत शब्दसे जगत्में दिखाई देनेवाले सब पदार्थ लिये जाते हैं। पंचमहाभूत, पृथ्वी आदि सब लोक, सब प्राणी आदि सब भूत हैं, क्योंकि वे सब उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य, पशुपक्षी आदि भी भूत हैं क्योंकि वे उत्पन्न हुए हैं। इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है (भ. गी. २।२७) उत्पन्न पदार्थोंकी उत्पत्ति होनेके पूर्वकी स्थिति 'अव्यक्त' होती है, उत्पन्न होनेके पश्चात् भी 'अव्यक्त' हो जाती है। बीचमें कुछ समय व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। फिर जो [illegible] अव्यक्त स्थितिमें [illegible] [illegible] [illegible] अव्यक्त पश्चात् उसी अव्यक्त स्थितिमें जाते [illegible] [illegible] विषयमें शोक करनेका क्या प्रयोजन है? यह तो इस जगत्का नियम ही है, इसको [illegible] आश्चर्य किसीको भी नहीं है, यह अपरिहार्य है। अतः इस विषयमें शोक करनेका क्या प्रयोजन है? वे तेरे पूजनीय भीष्मद्रोणादिक उत्पत्तिके पूर्व अव्यक्त स्थितिमें थे और मरनेके पूर्व व्यक्त स्थितिमें आये हैं, इनको [illegible]

(१२) आश्चर्यपूर्ण अगम्य आत्मा।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

के लिये इस व्यक्त स्थितिमें रखना तेरे अधीन नहीं है। वे अपने स्वभावसे ही कुछ समयके पश्चात् अव्यक्त अवस्थाको प्राप्त होंगे ही। यदि यह बात कोई भी टाल नहीं सकता, तो इस विषयमें तू शोक क्यों करता है? तेरे शोक करनेपर क्या वे लोग सदाके लिये इस व्यक्त स्थितिमें रहेंगे? और जो तू इनके विषयमें इतना शोकातुर हुआ है, वह तू भी क्या अन्तमें अव्यक्त स्थितिको नहीं प्राप्त होगा? फिर इस शोक-मोहसे कौनसा लाभ होगा?

यही भाव भगवद्गीतामें आगे दूसरे शब्दोंमें कहा जायगा—

व्यक्त और अव्यक्त

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

(भ. गी. ८।१८)

'(ब्रह्माके) दिनके आरंभमें अव्यक्तसे सब पदार्थ व्यक्त होते हैं और उसीकी रात्रि प्रारंभ होनेपर वे सब पदार्थ उसी अव्यक्तमें लीन होते हैं। अर्थात् ब्रह्माके दिनके प्रारंभमें सबकी उत्पत्ति होकर सबकी व्यक्तता होती है और ब्रह्माकी रात्रिके समय फिर सबकी अव्यक्त स्थिति हो जाती है। कोई इससे छूटता नहीं इसलिये यह अपरिहार्य है। अतः अपरिहार्य बातका शोक करना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है। महाभारत स्त्रीपर्वमें यही विषय अन्य शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ ३ ॥
अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥ ५ ॥
अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ६ ॥

(म. भा. स्त्रीपर्व अ. २)

सब संचय क्षय होनेतक रहनेवाले हैं, सब ऊपर चढ़ना पतन होनेतक ही है, सब संयोग वियोग होनेतक रहते हैं और मृत्यु आनेतक जीवन होता है। युद्ध न करनेवाला मर जाता है और युद्ध करनेवाला भी जीवित रहता है। हे महाराज! काल प्राप्त होनेपर कोई बचता नहीं। सब भूत उत्पत्तिके पूर्व अभावरूप होते हैं, मध्य समयमें भावरूप होते हैं और मृत्युके पश्चात् फिर अभावको प्राप्त होते हैं। इसमें शोक करनेका कारण क्या है?

इस स्थानमें श्रीमद्भगवद्गीताके 'अव्यक्त' शब्दके स्थानपर 'अभाव' शब्द है। अर्थात् यह श्लोक गीताके श्लोकके अर्थको स्पष्ट करता है। इसी प्रकार और एक श्लोक है—

अदर्शन और दर्शन।

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥

(म. भा. स्त्रीपर्व अ. २।१३)

सब भूत कहींसे अदर्शन (अदृष्ट) अवस्थामेंसे पश्चात् दर्शन (दृष्ट) स्थितिमें हो गए और अनंतर पुनः अदर्शन (अदृष्ट) स्थितिमें पहुंच गए। ऐसी अवस्थामें शोकके लिए कारण क्या है? वास्तवमें देखा जाय तो वे तेरे नहीं हैं और तू उनका नहीं है।

यहां अदर्शन शब्द उसी अर्थमें आगया है अर्थात् ये शब्द एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट कर सकते हैं। देखिए—

आदि	मध्य	अन्त	
अव्यक्तादीनि	व्यक्तमध्यानि	अव्यक्तनिधनानि	(भ. गी. २।२८)
अव्यक्तात् प्रभवन्ति	व्यक्तयः	प्रलीयन्ते	(भ. गी. ८।१८)
अभावादीनि	भावमध्यानि	अभावनिधनानि	(म. भा. स्त्री. २।६)
अदर्शनात् आपतिताः	दर्शनं गताः	अदर्शनं गताः	(म. भा. स्त्री. २।१३)

इसप्रकार ये शब्द एक दूसरेके अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं। अतः किसीके नाशको देखकर शोक करनेका कोई कारण नहीं; ऐसा कहकर आत्माका अविनाशित्व पुनः कहते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वयः— कश्चित् एनं आश्चर्यवत् पश्यति तथा एव च अन्यः एव आश्चर्यवत् वदति अन्यः च एनं आश्चर्यवत् शृणोति, श्रुत्वा अपि च कश्चित् एनं न वेद ॥ २९ ॥ हे भारत! सर्वस्य देहे अयं देही नित्यं अवध्यः। तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥ ३० ॥

कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है और कोई इसका वर्णन आश्चर्यसे सुनता है परंतु सुनकर भी कोई इसको नहीं जानता ॥ २९ ॥ हे भरतकुलमें उत्पन्न! सबके देहमें रहनेवाले इस शरीरके स्वामी आत्माका कभी वध नहीं हो सकता। इसलिये तुझे सब भूतमात्रके विषयमें शोक करना योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

भावार्थ— यह आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है इसका वर्णन सब करते और सब सुनते भी हैं। परन्तु इसको यथार्थ रीतिसे जानना कठिन है। सबके देहोंमें यह रहता है, परन्तु इसका वध कोई कर नहीं सकता। यह आत्मा अमर होनेके कारण इसके विषयमें शोक करना किसीको उचित नहीं है। (२९-३०)

(२९-३०) आत्मा अत्यंत अद्भुत पदार्थ है। वस्तुतः देखा जाय तो इसका यथार्थ वर्णन करना ही असंभव है। इस समयतक इसका यथार्थ वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं होता अतः सब लोग इसको देखकर अपने ही अन्दर आश्चर्यसे चकित हो जाते हैं और इसको देखते देखते सब जगत्का भान भी भूल जाते हैं। जब महात्मा लोग स्वानुभवसे इसका वर्णन करने लगते हैं तब वे भी वर्णन करते करते हर्षमें तन्मय होते हैं और शेष बातोंको भूल जाते हैं। कोई लोग यह वर्णन सुनते ही इसकी अद्भुतताका विचार कर चकित हो जाते हैं। इस प्रकार सब लोग जो कोई इसका विचार करते हैं वे सब आश्चर्यसे स्तब्ध होते हैं। मानो उनकी मति कुंठित हो जाती है। इतना होनेपर भी कोई इसको यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता, इतनी इसकी अगाध महिमा है!

सब प्राणिमात्रोंके देहोंमें सर्वगत होकर रहनेवाला यह आत्मा स्वयं सदा अमर अथवा अवध्य है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तो भी इसका वध कोई कर नहीं सकता। हे अर्जुन! किसीके आत्माका वध करना तेरी शक्तिके अधीन नहीं है। अब तेरे युद्ध करनेसे तेरे शस्त्रबाण द्वारा किसीकी आत्मा मारी या काटी नहीं जा सकती तो फिर तू किसका शोक कर रहा है?

प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर इस अमर आत्माकी सत्ता है ऐसा मानकर विचारद्वारा इस सत्ताका अनुभव अपने अन्दर करे और मैं स्वयं ऐसा अजन्मा, अजर अमर अशरीरी देहका स्वामी नित्य शाश्वत, पुराण पुरुष अवध्य, अच्छेद्य अशोष्य सनातन अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी और सर्वगत तथा अणुसे अणु और महान्से महान् हूं ऐसा विचारसे देखे और मनन करके अपने अन्दर इसका अनुभव करनेका यत्न करे। इससे अपना आत्मिक बल बढेगा और जैसे जैसे यह बल बढेगा वैसे वैसे उसको उच्च भूमिकाके ऊपर स्थान प्राप्त होगा। अस्तु। यही वर्णन कठोपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार आया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥
(कठ उ० २।७-८)

बहुत लोगोंको जिस आत्माका वर्णन सुननेका अवसर भी नहीं मिलता सुननेपर भी जिसका ज्ञान बहुतोंको नहीं होता कुशलतापूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाले और उत्तम रीतिसे इस ज्ञानको समझानेवालेका प्राप्त होना एक आश्चर्यकी ही बात है। तथा निपुण गुरुके पाससे जिसने ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा ज्ञाता गुरु मिलना भी एक आश्चर्यकी ही बात

है। जिसका बहुत प्रकारसे विचार किया जाता है, ऐसा यह आत्मा साधारण उपदेशकद्वारा समझाया जानेपर समझमें नहीं आ सकता। दूसरे ज्ञानीके द्वारा उपदेश होनेके बिना इस आत्मामें गति नहीं होती। क्योंकि यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म होनेके कारण अतर्क्य है।

इस रीतिसे उपनिषदोंमें कहा है। हजारों मनुष्योंमें कुछ थोड़े मनुष्य इस आत्मज्ञानके विषयको सुननेकी इच्छा करते हैं। इच्छा होनेपर उत्तम रीतिसे समझानेवाला गुरु मिलना कठिन है। उपदेशक मिलनेपर भी जो उत्तम गुरुके पास रहकर पूर्ण ज्ञानी हुआ है ऐसा अद्भुत मिलना तो अत्यन्त ही कठिन है इतना सब अनुकूल होनेपर भी सुने हुए ज्ञानको समझना और उसको आत्मसात् करना अत्यंत कठिन कार्य है। क्योंकि यह विषय सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। भगवद्गीतामें भी आगे यही बात कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(भ० गी० ७।३)

'हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एक मनुष्य सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी विरले ही मुझ (आत्मा) को वास्तविक रीतिसे पहचानते हैं।' इस विषयकी अत्यंत सूक्ष्मता होनेके कारण इसकी कठिनता इसमें होती है। जो समझता है कि 'मैंने इसको जान लिया' उसको भी यह समझा नहीं होता, यह एक आश्चर्यकी बात यहां है। देखिये—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
(केन उ० खं० २)

जो समझता है कि इसका मनसे आकलन नहीं होता वही इसको जानता है, परन्तु जो समझता है कि मैंने इसको ठीक प्रकार जान लिया वह कुछ भी समझा नहीं है। जो समझ गया ऐसा मानता है उसको इसका ज्ञान नहीं हुआ है परंतु जो कभी ठीक नहीं समझा ऐसा मानता है उसको ज्ञान हुआ होता है। क्योंकि यह अतर्क्य अचिन्त्य और अज्ञेय है इसलिये समझना बड़ा कठिन है। इसलिये इसका वर्णन करना और समझना एक अद्भुत आश्चर्यकारक बात है ऐसा गीतामें कहा है।

आश्चर्य !

यह अद्भुत आश्चर्य क्या है ? ऐसा यहां कोई पूछेगा उस को कुछ दिशा बतानेके लिये यहां इस विषयके आश्चर्यकारक भागका कुछ अंश बताते हैं—

जो विचार करता है और आत्माकी शक्तिसे चमत्कार देखता है, उसको आश्चर्य ही आश्चर्य प्रतीत होता है। जब बालक जन्मता है उस समय वह स्तन पीने लगता है। बिना सीखे सिखाये स्तनपान कर सकना कितना आश्चर्य है ! मनुष्य देखता सुनता स्पर्श करता चखता और सूंघता है और समझता है यह कितना आश्चर्य है ! ये सब व्यापार कितने शीघ्र होते हैं और कैसे होते हैं यह देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। मनुष्यके मनमें कुछ भाव होता है और उसका प्रदर्शन करनेके लिये वह बोलता है। बोलनेमें एकके पीछे दूसरा ऐसी शब्दपरंपरा जल-प्रवाहके समान चलती है। जो इस बातका विचार करेगा वह दंग रहजायगा। मनमें आते ही मनुष्य उठता है दौड़ता है जो मनमें आवे कार्य करता है यह मनकी शक्ति कितनी आश्चर्यमयी है। मनुष्यका शरीर उठानेके लिये चार मनुष्य लगते हैं, ऐसा भारी वजनका शरीर बिना आधार केवल इच्छाशक्तिसे उठाया जा रहा है। इतना ही नहीं अद्भुत सरकसवाले उसका तारपर नचाते हैं और छलांग मारनेवाले छलांगें मारते हैं यह अद्भुत शक्ति जिसकी है, उसकी आश्चर्यमयी शक्तिका क्या वर्णन हो सकता है !

यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।

यह आत्मा मूकको वाचाल बनाती है पंगुको पहाड़ोंकी सैर कराती है ! अर्थात् जो शरीर स्वयं बकबक नहीं कर सकता, उस मूक शरीरसे वक्तृत्व हो रहा है ! इसी प्रकार जो शरीर स्वयं हिल नहीं सकता वही पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ रहा है !! यह चमत्कार आत्माकी अद्भुत शक्तिसे ही हो रहा है।

बालकका व्यवहार सीखेकी सिखाये चलता रहता है परंतु इस शरीरमें रुधिरका व्यवहार सीखनेसे भी स्वतःही अंत चलता

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वयः- कश्चित् एनं आश्चर्यवत् पश्यति तथा एव च अन्यः एनं आश्चर्यवत् वदति, अन्यः च एनं आश्चर्यवत् शृणोति; श्रुत्वा अपि च कश्चित् एनं न वेद ॥ २९ ॥ हे भारत ! सर्वस्य देहे अयं देही नित्यं अवध्यः; तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥ ३० ॥

कोई तो इसकी ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है और कोई इसका वर्णन आश्चर्यसे सुनता है परंतु सुनकर भी कोई इसको नहीं जानता ॥ २९ ॥ हे भरतकुलमें उत्पन्न ! सबके देहमें रहनेवाले इस शरीरके स्वामी आत्माका कभी वध नहीं हो सकता। इसलिये तुझे सब भूतमात्रके विषयमें शोक करना योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

भावार्थ- यह आत्मा एक अद्भुत पदार्थ है इसका वर्णन सब करते और सब सुनते भी हैं। परन्तु इसको यथार्थ रीतिसे जानना कठिन है। सबके देहोंमें यह रहता है, परन्तु इसका वध कोई कर नहीं सकता। यह आत्मा अमर होनेके कारण इसके विषयमें शोक करना किसीको उचित नहीं है। (२९-३)

(२९-१) आत्मा अत्यंत अद्भुत पदार्थ है। वस्तुतः देखा जाय तो इसका यथार्थ वर्णन करना ही असंभव है। इस समयतक इसका यथार्थ वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं होता अतः सब लोग इसको देखकर अपने ही अन्दर आश्चर्यसे चकित हो जाते हैं और इसको देखते देखते सब जगत्का भान भी भूल जाते हैं। जब महात्मा लोग स्वानुभवसे इसका वर्णन करने लगते हैं तब वे भी वर्णन करते करते इसीमें तन्मय होते हैं और शेष बातोंको भूल जाते हैं। कोई लोग यह वर्णन सुनते ही इसकी अद्भुतताका विचार कर चकित हो जाते हैं। इस प्रकार जब लोग जो कोई इसका विचार करते हैं वे सब आश्चर्यसे स्तब्ध होते हैं। मानो उनकी मति कुंठित हो जाती है। इतना होनेपर भी कोई इसको यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता, इतनी इसकी अगाध महिमा है।

सब प्राण धारकोंके देहोंमें सर्वगत होकर रहनेवाला यह आत्मा स्वयं सदा अमर अथवा अवध्य है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तो भी इसका वध कोई कर नहीं सकता। हे अर्जुन ! किसीके आत्माका वध करना तेरी शक्तिके अधीन नहीं है। तब तेरे युद्ध करनेसे तेरे शस्त्रप्रयोग द्वारा किसीकी आत्मा मारी या काटी नहीं जा सकती तो फिर तू किसका शोक कर रहा है ?

प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर एक अमर आत्माकी सत्ता है ऐसा मानकर विचारद्वारा इस सत्ताका अनुभव अपने अन्दर करे और मैं स्वयं ऐसा अजन्मा, अजर अमर अशरीरी देहका स्वामी नित्य, शाश्वत, पुरातन पुरुष अवध्य अच्छेद्य अशोष्य अदाह्य सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य अविकारी और सर्वगत तथा अणुसे अणु और महत्से महान् हूँ, ऐसा विचारसे देखे और मनन करके अपने अन्दर इसका अनुभव करनेका यत्न करे। इससे अपना आत्मिक बल बढ़ेगा और जैसे जैसे यह बल बढ़ेगा वैसे वैसे उसको इस भूमिके ऊपर स्वराज्य प्राप्त होगा। अस्तु। यही वर्णन कठोपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार आता है-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः।
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥
(कठ उ. व. १।२।७-८)

बहुत लोगोंको जिस आत्माका वर्णन सुननेका अवसर भी नहीं मिलता, सुननेपर भी जिसका ज्ञान बहुतोंको नहीं होता, कुशलतापूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाले और उत्तम रीतिसे उस ज्ञानको समझानेवालेका प्राप्त होना एक आश्चर्यकी ही बात है। तथा निपुण गुरुके पाससे जिसने ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा ज्ञाता गुरु मिलना भी एक आश्चर्यकी ही बात

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः । येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ३७
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वयः- महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते, येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥ तव सामर्थ्यं निन्दन्तः तव अहिताः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति । ततः किं नु दुःखतरम् ? ॥३६॥ हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे हे कौन्तेय ! तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे लाभालाभौ जयाजयौ समे कृत्वा ततः युद्धाय युज्यस्व । एवं पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सब महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे भागा हुआ मानेंगे और जिनमें इस समय तू बड़ा माननीय है, उनकीही दृष्टिमें तू तुच्छ हो जायगा ॥ ३५ ॥ तेरी सामर्थ्यकी निंदा करते हुए, तेरे शत्रु बहुतसे न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे। इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा ? ॥ ३६ ॥ मर गया तो स्वर्गको जावेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इसलिए हे अर्जुन ! युद्धका निश्चय करके उठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःख लाभहानि और जयपराजयको समान समझ कर, फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

सामने शत्रुको युद्धके लिये खड़ा हुआ देखकर स्वयं डरकर उसको पीठ दिखाना, लोकोंमें लज्जित होनेवाली हीन दशा का अवलंबन करना, ये सब बातें क्षत्रियका नाम कलंकित करनेवाली हैं।

धर्मके पक्षमें रहकर सत्यके लिये लड़ना क्षत्रियका परम धर्म है। (अथवा) दुःखसे प्रजाओंकी (दुःखसे) रक्षा करना क्षत्रियका परम धर्म है। हे अर्जुन ! तू ऐसे उत्तम अवसर आज युद्धमें उत्पन्न हुआ है। क्षत्रियका तो ऐसे धर्मयुद्धसे बढ़कर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है। तू धर्मके ही पक्षमें है और धर्मकी रक्षाके लिये ही लड़ रहा है। जो शत्रु धर्मके शत्रु हैं, वे कितने भी बड़े साम्राज्य का शासन कर रहे हों कितने भी बली हों और कितने भी सामर्थ्यवान हों वे धर्म और सत्यके विरोधी हैं। क्योंकि बलात् और कपटसे अपना साम्राज्य बढ़ाया है इस कारण अन्दर अन्दरसे इनकी निंदा करनेवाले तथा इनकी नीतिका विरोध करनेवाले इनके पक्षमें बहुत हैं, अतः इनके पक्षसे ही इनका पक्ष कमजोर हो गया है।

तुम्हारा पक्ष धर्मका है उसके विजयके लिये तुम अब तैयार हुए हो अतः तुम्हारे पक्षके लिये लोकमत अनुकूल हुआ है। इस प्रकार यह धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ है। सच्चे क्षत्रिय तो ऐसे ही युद्धोंको पसंद करते हैं। ऐसे धर्मयुद्धसे अधिक श्रेयस्कर क्षत्रियके लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

ऐसा युद्ध मानों स्वर्गका खुला हुआ द्वार ही है। इस स्वर्गके द्वारके समान युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें क्षत्रिय आनन्दसे प्रवेश करते हैं। कोई क्षत्रिय इस युद्धरूपी स्वर्ग-द्वारको छोड़कर कभी नहीं भागेगा। आनन्दसे युद्ध करेगा और उसमें आत्मसमर्पण करेगा।

धार्मिक सज्जनोंकी रक्षा, दुष्ट दुर्जनोंका नाश और मानवी व्यवहारकी सुव्यवस्था करनेके लिये जो युद्ध किये जाते हैं उनको धर्मयुद्ध कहते हैं। इसी प्रकारका यह धर्मयुद्ध है। इस समय ये कौरव शासक जो साम्राज्यवादी शत्रु तेरे सामने खड़े हैं वे धर्मयुद्धोंका नाश कर रहे हैं, इन्होंने दूसरोंके राज्य कपटसे छीने हैं अपनी शक्तिसे धर्मपक्ष दूसरोंको दबा रहे हैं योग्य पुरुषोंको अधिकारसे हटाया है, सत्पुरुषोंको देशसे बाहर निकाला है स्त्रियोंकी बेइज्जती की है और क्या क्या कहा जाय इनके कुकर्मोंसे तो इनके ही लोग तंग आ गये हैं। अतः इन दुष्टोंको दण्ड देना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे युद्धमें कई लोग मर जायँगे कई शासक होंगे

(१४) क्षात्रधर्म ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि । धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् । संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अन्वयः— स्वधर्मं च अपि अवेक्ष्य विकम्पितुं न अर्हसि । हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥३१॥ हे पार्थ ! यदृच्छया च उपपन्नं इदं अपावृतं स्वर्गद्वारं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥३२॥ अथ त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि चेत्, ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥३३॥ अपि च भूतानि ते अव्ययां अकीर्तिं कथयिष्यन्ति । संभावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते ॥३४॥

स्वधर्मकी ओर देखकर भी इस प्रकार कांपना तुझे योग्य नहीं है । क्योंकि क्षत्रियके लिए धर्मयुद्धसे बढकर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य नहीं हो सकता ॥३१॥ हे पृथापुत्र अर्जुन ! अनायास प्राप्त हुए खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप ऐसे युद्धको भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ॥३२॥ अतएव यदि तू इस धर्मयुद्धको न करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पापको ही प्राप्त करेगा ॥३३॥ इतनाही नहीं अपितु सब लोग बहुत काल रहनेवाली तेरी दुष्कीर्तिका ही कहते रहेंगे । और संमाननीय पुरुषकी दुष्कीर्ति मरणसे भी बढकर होती है ॥३४॥

है । इसको कर्मगतिसे चलानेवाली यह आत्मा कितनी अद्भुत सामर्थ्यवाली होगी ! बाहरके पदार्थोंकी गर्मीके दिनोंमें उष्णता अधिक होती है और सर्दीके दिनोंमें शीतता अधिक होती है परंतु यह शरीर देखिये यहां सर्दी गर्मीमें एक सा उष्णताका प्रमाण रहता है अर्थात् इसके अंदर ऐसी शक्ति है कि जो बाहरकी सर्दीगर्मीकी परवाह नहीं करती । यह कितना आश्चर्य है ! वायुको सम प्रमाणसे अंदर लाना और बाहर फेंकना और रक्तको शरीरमें विविध प्रकारसे घुमाना आदि जो कार्य यहां हो रहे हैं वे कितने आश्चर्य कारक हैं ! इस प्रकार पृथ्वी आप् तेज वायु आदि महाभूतोंके द्वारा मनुष्य बनानेवाली जो शक्ति अंदर बैठी है, वह कैसी आश्चर्य करने योग्य है !

बाहरके दो पदार्थ एक दूसरेसे घिसे जावेंगे तो वे दोनों घर्षणसे न्यून होते हैं परंतु यहां शरीरमें देखिये जहां रगड होती है वहांकी चमडी बढती है और अधिक मजबूत हो जाती है व्यायामसे पुट्ठे पुष्ट होते हैं स्नायुओंकी शक्ति इसप्रकार अद्भुत होती है इस प्रकार बाह्य जगतके विरुद्ध अनुभव यहां आता है यह आश्चर्यकारक घटना जो शक्ति कर रही है, उसके विषयमें विचार लोगोंमें अद्भुत आश्चर्यका भाव क्यों नहीं रहेगा ?

शरीरपर घाव अथवा व्रण हो जाय अथवा शरीरमें रोग हो जाय तो उसको ठीक करनेका उपाय शरीरके अन्दरसे ही एक शक्ति कर रही है यह कितनी आश्चर्यकी बात है ! ऐसे सहस्रों आश्चर्य यहां हो रहे हैं इनकी गिनती करना असंभव है ।

ऐसे अनेकानेक आश्चर्य इस शरीरमें हो रहे हैं, परन्तु इनको विचारकी दृष्टिसे देखनेवाला चाहिये । पाठक इस प्रकार अपने अंदर देखें और अपनी आत्माकी शक्ति कैसी विलक्षण कार्य कर रही है यह जानें और अपनी शक्तिका ही अनुभव करें ।

यहांतक सांख्य तत्त्वका उपदेश करके अर्जुनको एक समय जाननेयोग्य कर्तव्यका उपदेश किया । आगे स्वधर्म अर्थात् क्षत्रियके धर्मके अनुसार विचार करके उसका कर्तव्य बताते हैं—

(३१-३८) अब क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे विचार करके अर्जुनको समझाते हैं कि इस प्रकार युद्ध देखकर कांपना, युद्धमें होनेवाले हानिलाभके डरसे स्वकर्तव्यसे पीछे हटना

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः । येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ३७
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वयः- महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते, येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥ तव सामर्थ्यं निन्दन्तः तव अहिताः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति । ततः किं नु दुःखतरम् ? ॥ ३६ ॥ हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे हे कौन्तेय ! तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे, लाभालाभौ जयाजयौ समे कृत्वा, ततः युद्धाय युज्यस्व । एवं पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सब महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे भागा हुआ मानेंगे और जिनमें इस समय तू बड़ा माननीय है, उनकीही दृष्टिमें तू तुच्छ हो जायगा ॥ ३५ ॥ तेरी सामर्थ्यकी निंदा करते हुए, तेरे शत्रु बहुतसे न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे। इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा ? ॥ ३६ ॥ मर गया तो स्वर्गको जावेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इसलिये हे अर्जुन ! युद्धका निश्चय करके उठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःख लाभहानि और जयपराजयको समान समझ कर फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

सामने शत्रुको युद्धके लिये खड़ा हुआ देखकर स्वयं डरकर उसको पीठ दिखाना, भीरुतामें परिणत होनेवाली हीन दया का अवलंबन करना, ये सब बातें क्षत्रियका नाम कलंकित करनेवाली हैं ।

धर्मके पक्षमें रहकर सत्यके लिये लड़ना क्षत्रियका परम धर्म है। (क्षतात्) दुःखसे प्रजाओंकी (त्रायते) रक्षा करना क्षत्रियका परम धर्म है। हे अर्जुन ! तू ऐसे उत्तम महत्व शाली कुलमें उत्पन्न हुआ है। क्षत्रियका तो ऐसे धर्मयुद्धसे बढ़कर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है। तू धर्मके ही पक्षमें है और धर्मकी रक्षाके लिये ही लड़ रहा है। जो शत्रु धर्मके शत्रु हैं, वे कितने भी बड़े साम्राज्य का शासन कर रहे हों कितने भी धनी हों और कितने भी साधनसम्पन्न हों वे धर्म और सत्यके विरोधी हैं। क्योंकि अन्याय और कपटसे अपना साम्राज्य बढ़ाया है इस कारण जनता अन्तरसे उनकी निंदा करनेवाले तथा उनकी नीतिका विरोध करनेवाले उनके पक्षमें बहुत हैं, अतः उनके पासके ही उनका पक्ष कमजोर हो गया है।

दुराचार यह धर्मका है उसके निवारणके लिये तुम अब तैयार हुए हो अतः तुम्हारे पक्षके लिये लोकमत अनुकूल हुआ है। इस प्रकार यह धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ है। सच्चे क्षत्रिय तो ऐसे ही युद्धोंको पसंद करते हैं। ऐसे धर्मयुद्धसे अधिक श्रेयस्कर क्षत्रियके लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

ऐसा युद्ध मानों स्वर्गका खुला हुआ द्वार ही है। इस स्वर्गके द्वारके समान युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें क्षत्रिय आनन्दसे प्रवेश करते हैं। कोई क्षत्रिय इस युद्धरूपी स्वर्ग द्वारको छोड़कर कभी नहीं भागेगा। आनन्दसे युद्ध करेगा और उसमें आत्मसमर्पण करेगा।

धार्मिक सज्जनोंकी रक्षा दुष्ट दुर्जनोंका नाश और मानवी व्यवहारकी सुव्यवस्था करनेके लिये जो युद्ध किये जाते हैं उनको धर्मयुद्ध कहते हैं। इसी प्रकारका यह धर्मयुद्ध है। इस समय ये कौरव नामक जो साम्राज्यवादी शत्रु तेरे सामने खड़े हैं वे धर्मपुत्रोंको कष्ट दे रहे हैं, इन्होंने दूसरोंके राज्य कपटसे छीने हैं, अपनी शक्तिकी घमंडसे दूसरोंको दबा रहे हैं योग्य पुरुषोंको अधिकारसे हटाया है सत्पुरुषोंको देशके बाहर निकाला है, स्त्रियोंकी बेइज्जती की है और क्या क्या कहा जाय इनके कुकर्मोंसे तो इनके ही लोग तंग आगये हैं। अतः इन दुष्टोंको दण्ड देना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसे युद्धमें कई वीर मर जायेंगे कई घायल होंगे

(१२) योगविचार ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन । बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अन्वयः– हे पार्थ ! एषा ते सांख्ये बुद्धिः अभिहिता; योगे तु इमां (बुद्धिं) शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः (त्वं) कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥ इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते, अस्य धर्मस्य स्वल्पं अपि (अनुष्ठानं) महतः भयात् त्रायते ॥४०॥ हे कुरुनन्दन ! इह व्यवसायात्मिका एका एव बुद्धिः । अव्यवसायिनां हि बुद्धयः अनन्ताः बहुशाखाः च ॥४१॥

शत्रुओंके अन्य प्रकारके कष्ट होंगे वह सब होगा ही, परन्तु वह अपरिहार्य है और आवश्यक भी है। इस समयतक जो इस आविद्वारा बड़ा पाप हुआ है उसको धोने और उसके द्वारा आत्मशुद्धि करनेका यही एकमात्र उपाय है।

यदि ऐसा यह धर्मयुद्ध तू न करेगा, तो तू स्वधर्मसे च्युत होगा और अपकीर्ति भी कमा बैठेगा। इतना ही नहीं परन्तु बड़े पापका भागी बनेगा। क्षात्रधर्मसे च्युत हुआ तू पवित्र नहीं रहेगा। जैसे उष्णतारहित होनेपर अग्नि अग्नि नहीं रहती वैसे ही स्वधर्मसे पतित हुए मनुष्यके विषयमें समझो। धर्मसे ही आत्मकी स्थिति है। तू इस प्रकार युद्धसे भाग गया, तो तू क्षात्रधर्मसे पतित हो जायगा, फिर तेरा मूल्य क्या रहेगा ? आज जो तेरा सन्मान हो रहा है और आज जो तेरे नामसे ही तेरे शत्रुओंको भय होता है वह तेरे अन्दर जैसा अलौकिक क्षात्रतेज है, इस कारण ही है। एक बार तूने अपना धर्म छोड़ दिया तो फिर तेरा इस प्रकार सन्मान कोई नहीं करेगा ! सब लोग खुले तौरपर तेरे सम्मुख तेरा उपहास करेंगे। वह उपहास सुनकर तुझे मृत्युसे भी अधिक दुःख होगा।

अर्जुन युद्धसे डरके मारे भाग गया। ऐसा सब जगत्में सब लोग कहते फिरेंगे। फिर उनको रोकना तेरे अधीन नहीं होगा। जो महारथी अतिरथी और अति-महारथी तेरा आज सन्मान करते हैं वेही तेरा ऐसा उपहास करेंगे कि उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। परमेश्वर करे आप ऐसा दिन न आवे। जो तुम्हें इस समय बड़ा धन्य कहते हैं वेही तुम्हें तुच्छ मानेंगे। तेरे शत्रु तो जो मनमें आ जाय वह तेरे विषयमें कहेंगे। सुननेके अयोग्य उन शत्रुओंके वचनोंको सुनकर जो तुझे दुःख होगा उसकी क्या सीमा हो सकती है ? अतः इस जीवनके मार्गको छोड़कर वीरताके मार्गमें स्थिर हो जा।

ऐसे धर्मयुद्धमें तू मर जायगा तो स्वर्गको प्राप्त होगा और जीतेगा तो अपना स्वराज्य प्राप्त करेगा। तात्पर्य तेरे लिये तो इस युद्धकी हार और जीत दोनों लाभ-दायक हैं और यश बढ़ानेवाली भी हैं। इस कारण युद्धका निश्चय करके उठ खड़ा हो।

सुखदुःख, लाभहानि जयपराजय आदिका विचार ही न कर। जो होना वह होने दे। दोनोंको समान समझ और अपने स्वराज्यकी ऊपर जबरदस्ती अधिकार चलानेवाले इन शत्रुओंको दूर करनेके लिये, अतीव शान्त हुए इस धर्मयुद्धमें उपस्थित होकर अपने आपको लगा दे। इस समय दूसरा विचार मनमें न लाने दे। इस अवसरपर युद्ध करना ही तेरा धर्म है। युद्ध ही तेरा आवश्यक कर्तव्य है। अतः यह धार्मिक कर्तव्य करनेसे युद्धमें तथा इस धर्मयुद्धमें सम्मिलित होनेवाले अन्यान्य वीरोंके किसी प्रकार पाप नहीं लगेगा। पापसे मुक्त होनेका उपाय ही इस समय यह धर्मयुद्ध करना है। तू इस धर्मयुद्धके करनेसे पापसे मुक्त होकर पवित्र होगा और युद्ध न करनेसे पापके भागी बनेगा।

इस प्रकार बुद्धिवादसे क्षात्रधर्मका तत्त्व समझाकर अर्जुनको बतलाया कि इस समय धर्मयुद्ध करना ही उसका परम कर्तव्य है। सांख्यसिद्धान्त और बुद्धिवादका उपदेश करनेके पश्चात् अब योगसिद्धान्त के अनुसार क्या करना चाहिये इसका विचार करते हैं—

हे अर्जुन ! तुझे यह सांख्यमतानुसार विचार कहा; अब योगमतानुसार विचार सुन, जिस विचारके आश्रयसे तू कर्मबन्धनको दूर करेगा ॥३९॥ यहाँ आरंभ किये हुएका नाश नहीं होता इसमें विघ्न भी नहीं होते। इस धर्मका थोड़ासा भी आचरण किया जाय तो वह बड़े भयसे बचाता है ॥४०॥ हे अर्जुन ! इस मार्गमें व्यवसायमें स्थिर रहनेवाली एक ही बुद्धि होती है। व्यवसाय न करनेवालोंकी अनेक बुद्धियाँ और उनकी शाखाएं भी बहुत होती हैं ॥४१॥

भावार्थ- इससे पूर्व सत् और असत्का विचार करके कर्तव्यका निश्चय किया। अब इसके पश्चात् आचारधर्मका विचार करके कर्तव्यका निश्चय करनेका उपदेश देते हैं। इस मार्गमें जो किया जाय वह व्यर्थ नहीं जाता जमा रहता है; इसके आचरणमें विघ्नोंसे रुकावटें नहीं होती और इसका थोड़ासा भी आचरण किया जाय तो वह बड़े भयको दूर करता है। यहाँ एकाग्रतासे कर्म करनेकी तत्परता ही केवल चाहिये जिससे सिद्धि प्राप्त होती है। जो ऐसा न करनेवाले होते हैं, उनकी मति चञ्चल होती है और कभी एकाग्र नहीं होती अतः उनको कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥ ३९-४१ ॥

(३९-४१) यहाँतक युक्तिवादकी दृष्टिसे विचार हुआ। जो इससे पूर्व कहा गया उसको 'सांख्य, सांख्य-मत, सांख्य शब्द सांख्य-ज्ञान अथवा ज्ञानमार्ग' कहा जाता है। 'आत्मा अविनाशी है जगत् नाशवान् है अपूर्वके नाश होनेसे आत्मामें अन्तर कुछ भी नहीं होता' इत्यादि विचार इस मतमें मुख्य हैं। यद्यपि सांख्य-मतका यह सिद्धान्त है तथापि यहाँ जो कुछ कहा गया है वह सब सांख्यशास्त्रका मत या सांख्य मार्गियोंका सिद्धान्त है ऐसा नहीं है। यहाँ 'सांख्य-बुद्धि' शब्द आया है इस सांख्य-बुद्धिका अर्थ युक्तिवाद अथवा तर्कवाद यहाँ अपेक्षित है। (सं+ख्या) उत्तम रीतिसे जो समझाया जाता है, युक्ति-प्रमाणोंसे जो दूसरोंको कहा जाता है, उस युक्तिवादको भी 'सांख्य-ज्ञान' कहते हैं। यह अर्थ यहाँ विशेषतया अभीष्ट है। अर्जुनकी शंका थी कि 'युद्ध करनेसे भीष्मद्रोणादि मारे जायँगे।' इसका निराकरण पूर्वोक्त युक्तिवादसे किया गया और दर्शाया गया कि 'युद्धसे शरीरनाश होनेपर भी उन शरीरोंमें निवास करनेवाला आत्मा अमर रहता है और उसका नाश कोई कर नहीं सकता।' इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्तका आश्रय करके युक्तिवादसे आत्माका अमरत्व दर्शाया गया। परंतु इसपर भी एक शंका रहती है कि 'युद्धरूप हिंसारूप पापकर्म करनेसे जो दोष लगता है वह कभी न कभी बाधा करेगा ही। अतः हिंसामय युद्ध करना अयोग्य है।' अर्जुनके मनमें यह शंका रही जिसका उत्तर देना अत्यंत आवश्यक है। यह उत्तर देनेके लिये ही योगमार्ग अथवा कर्मयोगमार्गका विचार करना अत्यंत आवश्यक हुआ। अतः यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

जिस प्रकार 'सांख्य बुद्धि' का अर्थ कपिल ऋषिका सांख्य मत ही केवल नहीं, उसी प्रकार 'योग-बुद्धि' का अर्थ भी पतञ्जलि महामुनिका योग ही केवल नहीं। भगवद्गीतामें ये दोनों शब्द विशेष व्यापक अर्थमें प्रयुक्त किये गये हैं। पाठक इस व्यापक अर्थको अच्छी प्रकार स्मरण रखें। यहाँ 'योग बुद्धि' का अर्थ 'निष्काम कर्मका अनुष्ठान करनेवाली मति' है। इसी अध्यायमें आगे 'योग' का अर्थ 'कर्मकुशलता' (भ गी २।५०) और 'समत्व' (भ गी २।४८) यह कहा जायगा। भगवद्गीताके योग शब्दका अर्थ कर्मप्रवीणता और सिद्धि असिद्धिके विषयमें समबुद्धि है। प्रत्येक कर्म योग्य रीतिसे होनेके लिये कुशलता और तत्परता अवश्य चाहिये। यहाँ इसीका नाम 'योग-बुद्धि' है। यह पतञ्जलि महामुनिका कहा योग नहीं है यह वैदिक कर्म योग है और इसीको भगवद्गीताने आगे 'निष्काम कर्म योग' नामसे कहा है। वाजसनेयी संहितामें कहा है कि—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥
(वा यजु ४०, ईश उ १-२)

(१) अतः त्याग देकर भोग कर (२) मत ललचा (३) भला धन किसका है? (४) ऐसे (निष्काम) कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर (५) यही एक मार्ग है दूसरा मार्ग नहीं है। (६) इस प्रकार (किया हुआ निष्काम) कर्म कर्ताको कलंकित नहीं करता।

यह वैदिक *निष्काम कर्म-योग* है इसीका विचार यहाँ भगवद्गीतामें किया जायगा। इस व्यापक वैदिक कर्म-मार्गका

वाङ्मयका योग एक छोटासा भाग है। यद्यपि योग शब्द दोनों स्थानोंपर प्रयुक्त होता है तथापि उसका आशय प्रकरणानुसार भिन्न भिन्न है। पाठक आगे देखेंगे कि पूर्वोक्त वैदिक कर्म-योगका ही भगवद्गीताका निष्काम कर्म-योग विस्तार है। फलका छोडकर त्याग भावसे अनासक्तीसे कर्म करना ही योगबुद्धि है। इसको योगबुद्धि कहिये अथवा ज्ञयोगबुद्धि कहिये, इसको निष्काम कर्मबुद्धि (गीता) अथवा अध्वरम कर्मबुद्धि (वा. यजु. १।१) भी कह सकते हैं। इस रीतिसे कर्मका बन्धन दूर किया जा सकता है। इस विषयमें गीताके कथनके साथ वेदके उपदेशकी तुलना कीजिये—

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।
(भ. गी. २।३९)

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(वा. यजु. ४०।२)

इस बुद्धिसे युक्त होनेपर कर्मबन्धन नहीं होता। यही मार्ग है दूसरा नहीं। इस प्रकार कर्म बन्धनकारक नहीं होता। ' ये दोनों कथन कितने सदृश हैं यह देखिये। इनकी तुलनासे दोनोंका एक ही प्रकारके कर्ममार्गका उपदेश करना अभीष्ट है यह बात इस विवरणसे सिद्ध होगी।

मान लिया जाय कि यह निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है और इसके अनुसार कर्म करनेसे कर्मका बंधन नहीं होता। इतना माननेपर भी इसमें तीन शंकाएं आती हैं। वे शंकाएं इस प्रकार हैं—

(१) यदि किसीने कर्म प्रारंभ किया और उसके समाप्त होनेके पूर्व ही उस कर्ताकी मृत्यु हुई तो वह अधूरा कर्म निष्फल होगा या नहीं?

(२) बीचमें विघ्न आनेपर कर्मका परिणाम विपरीत तो नहीं होगा? और—

(३) थोडासा कर्म हुआ और आगे न हो सका तो उससे क्या बनेगा?

ये तीन प्रकारकी शंकाएं कर्मकर्ताके मनमें उत्पन्न होती हैं। अर्जुनके मनमें भी ये तीनों शंकाएं उत्पन्न हुईं इनका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

इह अभिक्रमनाशः न अस्ति। (भ. गी. २।४०)

यहां आरंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है। इस मार्गमें रहते हुए, इस मार्गके मुख्य नियमोंके अनुसार जो लोग कर्म करते हैं, उनके प्रारंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता है। जिसने जो कर्म जितना प्रारंभ किया होता है उसका उतना कर्म उसके कार्यक्षेत्रमें रहता है। मान लीजिये कि एक मनुष्य कर्मयोगके अनुसार कुछ कर्म करते हुए मर गया तो भी वह किया हुआ कर्म उतना ही संस्कार रूपसे उसके साथ रहता है। वेद भी यही बात कहता है। देखिये—

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ (वा. य. ४०।४,
काण्व यजु. ४०।४, ईश उ. ४)

(मातरि-श्वा) माताके गर्भमें रहनेवाला अर्थात् पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाला जीव (तस्मिन्) उस आत्मामें (अपः दधाति) सब कर्मोंको धारण करता है। शरीर छोडकर दूसरा देह धारण करनेकी तैयारीमें लगा हुआ जीव दूसरी माताके गर्भमें रहता है। उस समयमें भी उसके पूर्वजन्मके सब कर्म परमात्माके अटल नियमके अनुसार उसी आत्मामें रहते हैं। कोई मनुष्य आज सायंकालतक कुछ कार्य करता है रात्रिमें सो जाता है और कल सवेरे उठकर पुनः कलका अधूरा कार्य आगे पूर्ण करने लगता है। रात्रिका समय व्यतीत होनेसे पूर्वदिनका किया कार्य नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार कोई मनुष्य इस जन्ममें कुछ कार्य करता है, मृत्युकी महारात्रि आती है, उस समय वह महानिद्रामें सो जाता है। जब जगत्-निर्माताका दिन शुरू होता है तब उसको जाग आती है और वह पूर्वजन्मका अधूरा काम आगे करके समाप्त करता है। दोनों स्थानोंमें रात्रिकी लंबाईमें भेद है कर्मकी उपस्थितिमें भेद नहीं है। पाठकोंको यहां स्मरण रखना चाहिये कि आगे छठे अध्यायमें यही विषय फिर आता है—

हे अर्जुन! इसमें लोगोंका नाश न इस लोकमें होता है और न परलोकमें। कल्याणमार्गपर जानेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस योगमार्गमें अपूर्ण साधन करनेवाले जन पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेते हैं अथवा वैसे ज्ञानवान् योगीके ही कुलमें जन्म लेते हैं, वहां उनको पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिये आगे प्रगति करते हैं। पूर्व अभ्यासके कारण उनकी प्रवृत्ति उसी

मार्गमें होती है। इस प्रकार यत्नचित्त होकर प्रयत्न करनेवाला योगी अनेक जन्मोंसे शुद्ध बनकर परम गतिको प्राप्त करता है। (भ० गीता ६।४४-४५)

इस रीतिसे भगवद्गीतामें आगे यही विषय विस्तारसे कहा जायगा। इससे स्पष्ट है कि, आरंभ किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता। इस बातकी सत्यता हम अपने अन्दर भी देखते हैं। जो पूर्व आयुमें योग्य रीतिसे ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक विद्याभ्यास करते हैं, उनको उत्तर आयुमें उत्तम सुखका लाभ होता है। यहाँ इस बातका विचार करना योग्य है कि पूर्व आयुमें शरीरके कार्य करनेवाले अणुजीव भिन्न होते हैं और उत्तर आयुके सुख भोगनेवाले अणुजीव भिन्न होते हैं। इसी प्रकार जिस राष्ट्रके लोग अपने प्रयत्नसे अपना स्वतंत्र स्वराज्य अपने अधीन रखते हैं, उनकी आगेकी संतान भी उस स्वराज्यका अनुभव करके सुखी रहती है। यहां राष्ट्रको एक व्यक्ति (पुरुष) मानकर पूर्व समयके राष्ट्र-पुरुषका कार्य उत्तरसमयके राष्ट्र पुरुषको प्राप्त होता है, कार्य करनेवालोंके मर जानेपर भी वह कार्य स्थिर रहकर उत्तराधिकारियोंको सुख देता रहता है, इसकी ही बात देखनी चाहिये। यहां शरीर और राष्ट्रकी समता पाठक देखें। अर्थात् किया हुआ कार्य अवश्य रहता है, उसका नाश नहीं होता। अब दूसरी शंकाका निराकरण करते हैं—

प्रत्यवायो न विद्यते। (भ० गी० २।४०)

इसमें विघ्न नहीं होते। अर्थात् सत्कर्म करते रहनेसे विघ्न दूर होते जाते हैं। अहिंसा सत्य अस्तेय आदि योग-मार्गके अनुसार कर्म करते रहनेसे विघ्न स्वयं दूर होते जाते हैं, इस मनुष्यका अधिकार अथवा पुण्यसंचय बढ़ता जाता है, अथवा विघ्न आनेसे इसके किये हुए सत्कर्मका विपरीत फल भी नहीं होता है।

सत्कर्ममें रत रहनेवाले सज्जनके कार्यमें प्रारंभमें दुर्जन कष्ट प्रद करते हैं और कभी कभी ऐसा भी होता है कि इसका कार्यक्षेत्र प्रतिक्षण व्यापक होता जाता है, इसलिये इसको उपद्रव देनेवाले दुर्जनोंकी संख्या कदाचित् बढ़ती भी जाती है। परंतु इसमें तप अर्थात् कष्ट सहन करनेकी शक्ति बढ़ जानेके कारण उन दुर्जनोंके करे किये विघ्न इसके सत्कर्मके फैलानेमें प्रतिबंधक नहीं होते। इतना ही नहीं अपितु इस सत्पुरुषका वध किया जानेपर भी उसका प्रारंभ किया हुआ प्रशस्ततम कर्म जगत्में फैलता ही जाता है। अर्थात् जो प्रतिबंध दुष्टोंको प्रकाशित करनेवाले होते हैं, वे ही इस सत्पुरुषका कार्य फैलानेवाले अर्थात् इसके कार्यके पोषक होते हैं। अतः ये विघ्न इसके लिये विघ्न नहीं होते। अब तीसरी शंकाके विषयमें देखिये—

*

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(भ० गी० २।४०)

इस धर्मका थोड़ासा भी पालन किया जाए तो वह बड़े भयसे बचाता है।' सत्कर्मका पालन थोड़ा भी हुआ तो भी उससे बहुतसे लाभ होते हैं। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह पवित्रता संतोष तप स्वाध्याय ईश्वर भक्ति आदि अनेक सत्कर्म हैं और इनके योगसे अनेक व्यवहारोंमें किये हुए कर्म सत्कर्म ही होते हैं। इस कर्मयोग रूप मानव धर्मका थोड़ा भी आचरण किया जाय तो वह बड़े भयसे बचाता है। उदाहरणके लिये एक मनुष्य बहुत आयुतक असत्य बोलता है परंतु यदि किसी समयसे प्रतिज्ञापूर्वक सत्य भाषण करने लग जाय तो उसका सम्मान होने लगता है और जनता उसके पूर्व दोषोंको भूल जाती है और वह उस नियमपर दृढ रहा तो उसको वंदनीय मानने लगती है। इसी प्रकार अन्यान्य सदाचारके विषयमें जानना योग्य है। इसलिये ही कहा है कि 'इस धर्मका थोड़ा भी आचरण किया जाय तो बड़े भयसे बचाव होता है। अतः सब लोगोंको उचित है कि, वे इस कर्मयोगके मार्गपर आ जांय और अपने आपको कृतार्थ करें।

कई लोग यहां पूछेंगे कि, 'इस मार्गसे जानेके लिये जो अनेकानेक साधन आवश्यक होंगे वे हमारे पास न होनेपर हम कैसे इस मार्गसे चल सकेंगे?' इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि यहां तो बहुत साधनोंकी आवश्यकता ही नहीं है, केवल व्यवसायात्मिका एकमात्र बुद्धि यहां आवश्यक है–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
(भ० गी० २।४१)

इस सत्कर्मयोगके मार्गमें प्रवृत्त होनेवाले मनुष्यके लिये केवल एकमात्र व्यवसायात्मिका बुद्धि चाहिये। यह बुद्धि जिसके पास होगी वह इस मार्गपर चल सकेगा। व्यवसायात्मिका बुद्धिका अर्थ है प्रयत्न करनेकी निश्चित धारणा

करनेवाली बुद्धि, उद्योगतत्पर बुद्धि, पुनः पुनः प्रयत्न करने-का उत्साह धारण करनेवाली बुद्धि। व्यवसाय का अर्थ प्रयत्न उद्योग निरन्तर काम करना, कर्मण्यता, पुनः पुनः अथक प्रयत्न करनेका स्वभाव, निश्चय, व्यापार व्यवहार आचार सदाचार, युक्ति, उपाययोजना, कर्म कुशलता, चातुर्य इत्यादि है। जिसकी बुद्धिमें व्यवसायधर्म होते उसको व्यवसायात्मिकाबुद्धि है ऐसा कहा जायगा। व्यवसाय करना जिसका धर्म है उसका बुद्धि नाम है व्यव-सायात्मक बुद्धि। जो प्रयत्न किये बिना रह नहीं सकता, उसकी बुद्धि व्यवसायात्मक है। जो पुरुष अखंड प्रयत्नशील होते हैं और अपनी कर्मकुशलताले महान् महान् कार्य करके दिखाते हैं उनकी बुद्धि व्यवसायात्मक है ऐसा समझना चाहिये। ऐसे व्यवसायात्मक बुद्धिवाले पुरुष इस योगमार्गमें सुयोग्य काम करके दिखा सकते हैं। बुद्धिकी एकाग्रता इसमें मुख्य है। एक विषयमें युक्त रहनेवाली बुद्धि सिद्धिके लिये अवश्य चाहिये। जिनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती वे किसी भी कर्ममें कुशलता प्राप्त कर नहीं सकते। इसके विषयमें आगे कहा है

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
(भ० गी० २।४१)

'निरन्तर प्रयत्न न करनेवालोंकी अनेक बुद्धियां और उनकी अनेक शाखाएं भी हैं।' अनेक बुद्धियां अर्थ चंचल अथवा अस्थिर बुद्धि है। जो लोग अव्यवसायी होते हैं वे आज एक कार्य करेंगे उसमें थोडासा कष्ट होनेपर कल दूसरा आरंभ कर देंगे उसमें थोडी हानिकी संभावना हुई तो कार्यको बीचमें छोड कर देंगे। इस प्रकार किसी भी प्रयत्नमें स्थिर बुद्धिसे काम नहीं करेंगे। तथा एक ही कार्यमें एक रीतिका अवलंबन करके कभी काम करेंगे, दूसरी रीतिसे दोपहरको करेंगे और तीसरी ही पद्धतिसे शामको करेंगे। परन्तु किसी एक मार्गपर स्थिर नहीं रहेंगे। इस चंचल मन की अवस्थाके कारण इनका हरएक कार्यमें निश्चयसे हानि ही हानि होती है। किसी कार्यपर इनका विश्वास नहीं होता किसी शास्त्रपर इनकी श्रद्धा नहीं होती किसी मन्त्रका आश्रय करके योग्य इनके अन्दर आस्था भी नहीं होती। अतः इनकी अश्रद्धा और अस्थिरता होती है। इसका परिणाम ऐसा होता है कि इनकी श्रद्धा जो अपने अन्दरसे भी नष्ट जाती है अतः इनमें आत्मविश्वास नहीं रहता और अन्तमें ये अश्रद्धावान् लोग न इस लोकके रहते हैं न पर लोकके ही। इसीलिये श्रद्धाका महत्त्व इस प्रकार कहा है

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(भ० गी० १७।३)

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(भ० गी० ६।४७)

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(भ० गी० १२।२)

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(भ० गी० १२।२०)

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(भ० गी० ३।३१)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः॥
(भ० गी० ४।३९)

जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही वह होता है। परम श्रद्धासे जो भजन करते हैं वे अधिक योग्य हैं। परम श्रद्धावाले भक्त मुझे प्रिय होते हैं। श्रद्धावान् और निर्वैर भाव धारण करनेवाले कर्मबन्धनसे छूटते हैं। श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। यहां जो श्रद्धाका माहात्म्य वर्णन किया है, वह यह बतानेके लिये किया है कि अश्रद्धासे चित्त अस्थिर होता है अश्रद्धासे चंचलतासे बढती है, जो श्रद्धाहीन पुरुषोंका समूल नाश करती है। अतः कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(भ० गी० ४।४०)

अज्ञानी श्रद्धाहीन और संशयी मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। संशयी मनुष्यके लिये न यह लोक है न परलोक, उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता।

अव्यवसायी चंचल मतिवालोंका यह वीरत्व है। अतः इस युक्तिसे अपना बचाव करना हरएकका कर्तव्य है। अर्जुनका व्यवसाय क्षात्रधर्मका पालन करना और युद्ध करना था। इस व्यवहारमें उसकी मति स्थिर थी। परन्तु अपने आप्तजनोंके दर्शनसे उसके मनमें चंचलता आगई और उसकी बुद्धि अपने स्वाभाविक व्यवसायमें स्थिर नहीं

(१९) भोगवादियोंकी स्थिति ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! वेदवादरताः अन्यत् न अस्ति इति वादिनः अविपश्चितः, कामात्मानः स्वर्गपराः भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां जन्मकर्मफलप्रदां यां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति; तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका (भूत्वा) समाधौ न विधीयते ॥ ४२-४४ ॥

हे अर्जुन ! वेदके विषयमें वादविवाद करनेमें बड़ी रुचि रखनेवाले और इस (वादविवाद) को छोड़कर दूसरा कुछ (भी कर्तव्य) नहीं है ऐसा कहनेवाले अज्ञानी लोग स्वार्थकी कामना करते हुए, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ मानकर, भोग और ऐश्वर्य प्राप्तिकी विशेष क्रियाओंका वर्णन ही जिसमें बहुत है और जिससे केवल जन्ममरणरूप कर्मफल ही प्राप्त होते हैं ऐसी प्रफुल्लित वाणी बोलते हैं उससे जिनका चित्त आकर्षित होता है उन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हुए मनुष्योंकी बुद्धि (कभी) व्यवसायात्मिका होकर एकतामें स्थिर नहीं होती ॥ ४२-४४ ॥

भावार्थ— केवल वादविवाद करनेवाले कुछ भी कर्तव्य न करनेवाले स्वार्थी भोगी ऐश्वर्यकी आकांक्षा करनेवाले अज्ञानी लोगोंके मोहक भाषणसे जिनकी मति ऐश्वर्यभोगोंमें आसक्त होती है उनकी बुद्धि किसी सत्कर्ममें एकाग्र होकर स्थिर नहीं होती सदा चंचल ही रहती है ॥ ४२-४४ ॥

रही। युद्ध करूं या आत्मघात का उपाय लूं, ऐसी अनेक चंचल भावनाएं उसके मनमें खड़ी होने लगीं। उसके मन में अनेक विचार और अनेक कल्पनाएं उठने लगीं, किसी विचारपर मन स्थिर न रहा। भगवान् श्रीकृष्ण उसके सहायकारी थे परन्तु उनपर भी उसका अटल विश्वास उस समय न रहा। अर्थात् जो अर्जुन पहिले व्यवसायात्मिका बुद्धिसे युक्त था वही प्रभुका उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् अव्यवसायी बन गया!! शत्रु सदा ही जित राष्ट्रके व्यवसायी लोगोंको अव्यवसायी चंचल अमर्याद असंगठित और आपसमें भिन्न बनाना चाहते हैं। अतः यह वर्णन केवल अर्जुनका है मगर सामान्यतः सब चंचल प्रकृतिवाले मनुष्योंका भी है।

अव्यवसायी चंचल प्रकृतिवाले मनुष्य सुखकी कल्पनासे कैसे भ्रांतिचित्तसे भटकते रहते हैं इसका वर्णन भगवान् इस प्रकार करते हैं—

(४२-४४) भोगवाद और त्यागवाद ये दो वाद अनादि कालसे प्रचलित हैं। वैदिक धर्म त्यागवाद का सन्देश जगत्को देता है इसलिये '(त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजु ४ ।१) त्याग देकर बचेहुएका भोग कर' यह वेदने आज्ञा दी है। अब बुद्धिके लोग कहते हैं कि जीवित रहनेतक सुखसे भोग करो। इस प्रकार ये दो वाद जगत्में प्रचलित हैं। इनमें भी भोगवाद बहुसंख्योंमें सम्मिलित है और पापमयी वृत्तिवाले लोगोंमें भी फैला हुआ है। त्यागवाद जगत्में प्रचलित करना और मनुष्योंके जीवनमें इसको ढालना वैदिक धर्मका उद्देश है। भगवद्गीता भी यहां इस वैदिक सिद्धान्तका प्रचार करती प्रतीत होती है और इसका विशद वर्णन आगे भी आनेवाला है। इस उपदेशके ग्रहण करनेकी पाठकोंकी तैयारी करनेके हेतुसे भोगवादियोंकी चंचल वृत्तिका यथावत चित्र इन श्लोकोंमें खींचा है। इन श्लोकोंमें जिन भोगवृत्तिवालोंका वर्णन है उनका वर्णन अब क्रमशः करते हैं—

१ अविपश्चित् = (अ-वि-पश् चित् = न विशेषेण पश्यन् चिन्तयते) = जो विशेष रीतिसे देखता है और देखे हुए विषयपर अच्छी प्रकार विचार करता है उसको (विपश्चित्) ज्ञानी कहते हैं और जो किसी विषयको विशेष दृष्टिसे देखता भी नहीं और देखे हुए विषयपर जो कभी विचार नहीं करता, उसको (अविपश्चित्) अज्ञानी कहते हैं। मनुष्यका धर्म है कि वह विषयोंको देखे और विचार करे। जो मनुष्य इस धर्मका पालन नहीं करता वह द्विपाद पशु ही है, क्योंकि पशु ही आंख खुले रहनेपर भी देखते नहीं और कभी किसीका विचार भी नहीं करते। जो मनुष्य न देखने और न सोचनेके कारण पशुवत् आचरण करता है और पशुके समान ही आहार निद्रा और मैथुनमें ही रत रहता है उसको मनुष्य किस प्रकार कहा जा सकता है ? वह यदि मनुष्य है तो पशुकोटिका मानव है। इसी कारण वह भोगवादी होता है।

२ वेदवादरता = पूर्वोक्त अज्ञानी मनुष्य वेदका वाद करनेमें बड़ा चतुर होता है। वेदविषयपर शास्त्रार्थ करनेमें बड़ा पण्डित है। वेदके सबके सब उसे सिद्धान्त ज्ञात हैं ऐसा उसको घमण्ड होता है। आद्योपान्त वेदवचन न पढ़नेकी अवस्थामें भी जो कहता रहता है कि मैंने वेदके तत्त्वको यथावत् जाना है। स्वयं वैदिक भाषासे अनभिज्ञ होनेपर भी जिसको वैदिक सिद्धान्त समझनेका घमंड होता है। वह तो जन्मभरसे भी सदा अज्ञानी रहता है इसके अज्ञानकी कोई सीमा ही नहीं है।

३ न अन्यत् अस्ति इति वादी = वैदिक सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करने और कर्मकाण्डके आडम्बर पुष्पित करनेके अतिरिक्त अपने लिये कोई विशेष कर्तव्य है ऐसा वह कभी मानता ही नहीं। वेदका वादविवाद करनेसे ही अन्तिम सिद्धि मुझे मिलेगी अथवा सब प्रकारकी सिद्धियां मुझे प्राप्त ही हैं मैं मुक्तिकी अवस्था भी जानता हूं ब्रह्मका भी देखे हुए समान वर्णन करता हूं ब्रह्मकी पूर्वस्थिति मुझे मालूम है मुक्तिके पश्चात् क्या होगा वह भी मुझे ज्ञात है परमेश्वरके विषयमें सब ज्ञान मैं जानता हूं इस प्रकार वह अनेक ऐसी बातें कहता जाता है और अपने उद्धारके लिये आवश्यक कर्तव्य तक नहीं करता। वेदमन्त्रों के सिद्धान्त बोलनेसे ही मानव-जातिका उद्धार होगा वेद सिद्धान्तके जाननेके पश्चात् और कुछ कर्तव्य मनुष्यके लिये अवशिष्ट नहीं रहता ऐसा वह मानता है। इस प्रकार इसका अज्ञान भयानक होता है।

४ कामात्मा = (काम+आत्मा) = काम अर्थात् विषय भोगकी इच्छा ही जिसकी आत्मा है जो स्वभावसे भोग भोगनेमें तत्पर रहता है कामभोगोंको छोड़कर दूसरा जिसको कुछ सूझता नहीं है। अज्ञानी लोगोंको ज्ञानकी बातें तो सूझती नहीं हैं अतः वे शरीरके पालनके कर्ममें ही तत्पर रहते हैं और गिरते जाते हैं।

५ स्वर्गपरा = स्वर्गके भोग प्राप्त करना ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ऐसा जिसका विचार निश्चित हुआ है स्वर्गके भोग प्राप्त करनेके लिये यहां जो कुछ करना हो वह करता रहता है। उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करता। यहांकी सामाजिक राजकीय अथवा वैयक्तिक सुस्थितिके लिये अत्यन्त आवश्यक बातें भी करता नहीं इस कारण वह इहलोकके जीवनमें असमय अवस्थाको प्राप्त होता है इस कारण इहलोकके सुखसे वह वंचित रहता है। परलोकका सुख तो अनिश्चित ही है अतः वह न इस लोकका और न ही परलोकका रहता है। इसको पता नहीं है कि स्वर्गके कामियोंकी कल्पना अथवा अन्य भोगोंकी कल्पना यहांके भोगोंके समान ही अवनतिकारक है। ऐहिक विषयभोग और स्वर्गके विषयभोग दोनों ही भोग होनेके कारण हेय-मय ही हैं। अतः आत्मोन्नति चाहनेवाले मनुष्यको इन दोनों भोगोंपरकी आसक्ति छोड़ना उचित है। अतः योगदर्शनके भाष्यमें भगवान् व्यासमुनि इस प्रकार कहते हैं—

> स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ (यो द १।१५)

स्त्रियों अन्नपान ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं स्वर्गादि आनुश्रविक विषय हैं। इन दोनों विषयभोगोंसे विरक्त होना और अपने इंद्रियोंका संयम करना वैराग्य कहलाता है। यह योगाभ्यासके लिये अतीव आवश्यक है। जो मनुष्य इस योगमार्गपर चलना और यहांकी उन्नति प्राप्त करना

चाहते हैं उनको उचित है कि वे इस लोकके भोगों और स्वर्गलोकके भोगोंके विषयमें अपने मनका संयम रखें, भोगोंपर आसक्त न हों। भोगोंमें न फँसें। जो भोगकामना में फँसते हैं, वे योगमार्गकी उन्नति प्राप्त करनेमें असमर्थ होते हैं।

६ भोगैश्वर्यगतिं प्रति जन्मकर्मफलप्रदां क्रिया विशेषबहुलां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति = भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करनेके लिये जन्ममरणादि फल देनेवाली विविध क्रियाएं करते हैं और उन क्रियाओंका समर्थन करने के लिये बड़ा दंभाचौरा शब्दाडम्बरयुक्त बोलीका भाषण करते हैं। अपने भाषणसे अन्य अज्ञ लोगोंको अपने मतमें आकर्षित करते हैं और इस प्रकार अपना अपना भोग प्रधान मत जगत्में फैलाते हैं अर्थात् वे स्वयं अन्ध होते हुए भी दूसरे अन्धोंको अपने साथ जमा करते हैं और दोनों पतित होते हैं।

७ तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका समाधौ न विधीयते = पूर्वोक्त लोगोंके बोलीके चातुर्यसे उनके पन्थमें कई मूढ लोग आकर्षित होते हैं। वे लोक प्रतिदिन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त होते हैं और प्रतिक्षण भोगोंमें फंसते जाते हैं। भोगोंके अतिसेवनसे रोगी होते हैं और विविध दुःख भोगते हैं। इस प्रकारके मूढोंके अनुयायी हुए अतिमूढोंकी बुद्धि सत् और असत्का विचार करनेमें असमर्थ होती है, किसी एक व्यवसायमें स्थिर नहीं होती और किसी स्थान पर एकाग्र भी नहीं होती। इनकी बुद्धि सदा चंचल होती है और चंचलताके कारण वे कुछ भी कार्य योग्य रीतिसे समाप्त करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

भोगवृत्तिवाले लोग इस कारण सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करनेके लिये असमर्थ हो जाते हैं इस कारण उनका जीवन निरर्थक हो जाता है। ऐसे जीवनसे क्या लाभ है? मनुष्य योनिमें जन्म लेकरके इन्होंने क्या कमाया? पशुओंसे अपनी अवस्था उच्च है ऐसा इन्होंने किस रीतिसे सिद्ध किया? जो मनुष्य पशुवृत्तिसे ही जीवित रहते हैं उनके जीवनको धिक्कार है।

इन श्लोकोंमें 'वेदवादरत' पद है इसको लगानेसे कई लोग मानते हैं कि इससे गीताने वेदके धर्मका खण्डन किया है। परंतु यह भूल है। क्योंकि इसी भगवद्गीतामें अन्यत्र कहा है कि—

वेदानां सामवेदोऽस्मि। (भ. गी. १०।२२)
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (भ. गी. १५।१५)
वेदविदेव चाहम्। (भ. गी. १५।१५)
(अहं) ऋक्सामयजुरेव च। (भ. गी. ९।१७)

वेदोंमें मैं सामवेद हूं। सब वेदोंसे मेरा (आत्माका) ज्ञान होता है। मैं ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद हूं।'

यदि भगवद्गीताकारको वेदोंका खंडन अभीष्ट होता तो उसी ग्रंथमें ऐसे कथन कदापि न आते। इन कथनोंसे स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता-लेखक वेदोंको परम धर्मका ग्रंथ मानता है अन्तिम गुह्य ज्ञान देनेवाला वेद है यही भगवद्गीताका सिद्धांत है। इससे स्पष्ट है कि यहां 'वेदवादरत' पदसे वैदिक सिद्धांतोंका केवल शाब्दिक वादविवाद और शास्त्रार्थ करनेवालोंका ही खण्डन किया है, न कि वैदिक धर्मका। जो वेदवाद करते हैं परन्तु वैदिक उपदेशके अनुसार आचरण नहीं करते उनकी निन्दा यहां की है और वह योग्य ही है। उपनिषदोंमें भी कहा है ऋग्वेदादि चारों वेद अपरा विद्या है और परा विद्या दूसरी है, जिससे ब्रह्म ज्ञान होता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि ऋग्वेदादि वेदोंमें शब्दोंसे ज्ञान दिया है वह जब ज्ञान तब होगा जब वह क्रियात्मक होगा। जैसा जल शब्द जलपदार्थका वाचक है, परन्तु जिसने जल स्वयं देखा न हो और चाखा न हो उसको जल शब्द जाननेमात्रसे क्या लाभ होगा? अतः जो विद्या केवल शब्दमात्र है वह अपरा अर्थात् निचली विद्या है, परन्तु जो विद्या अनुभवसिद्ध है वही श्रेष्ठ (परा) विद्या है। इसी दृष्टिसे यहां वेदका केवल वादविवाद करनेवालोंकी निन्दा की है। यह निंदा वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालोंकी स्तुति करनेके लिये ही है। केवल शब्दवाद करनेवालोंकी निंदा तो स्वयं वेद ही कर रहा है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋ. १।१६४।३९)

(१७) द्वन्द्वातीत होना ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः । त्वं निस्त्रैगुण्यः नित्यसत्त्वस्थः निर्द्वन्द्वः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव ॥४५॥ यावान् अर्थः उदपाने (तावान्) सर्वतः संप्लुतोदके (भवति । तथा यावान् अर्थः) सर्वेषु वेदेषु तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति) ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! वेद तीन गुणोंके विषयोंसे युक्त हैं । इससे तू तीनों गुणोंके परे अर्थात् नित्य सत्त्वगुणमें स्थित द्वन्द्वोंसे मुक्त वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षाका विचार न करनेवाला और अध्यात्म आत्मज्ञानसे युक्त हो ॥ ४५ ॥ जो कार्य छोटे कुंएसे होते हैं, वे सब कार्य जलसे परिपूर्ण बडे सरोवरसे सहजहीमें बनते हैं । इसी तरह जो संपूर्ण वेदोंमें है, वह सब ब्रह्म जाननेवाले विशेष ज्ञानीको सहजहीमें प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ- सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंका वर्णन वेदोंमें है। यह वैदिक ज्ञान प्राप्त कर तू तीन गुणोंसे परे अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त, द्वन्द्वोंसे दूर योगक्षेमके झंझटमें न फंसनेवाला और श्रेष्ठ आत्मिक बलसे युक्त बन । तात्पर्य तू बडा बन । क्योंकि जो कार्य छोटे जलाशयसे बनते हैं वे सरोवरसे स्वयं बन जाते हैं इसी रीतिसे वेदोंके उपदेशसे जो लाभ होगा वह तो ब्रह्मको जाननेवाले आत्मानुभवी ज्ञानीको सहजहीसे प्राप्त हो सकता है ॥४५-४६॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ (ऋग्वेद १०।७१।४)

वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें सब देवोंकी शक्तियां निवास करती हैं । जो इस ज्ञानको अनुभवसे नहीं जानता उसको वेदमंत्रसे क्या लाभ होगा ? परन्तु जिसको वह ज्ञान प्राप्त होता है वहीं उस स्थानपर विराजता है । कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि मंत्रको देखते हैं परंतु न देखनेके समान ही उनका देखना होता है । कई लोग मंत्रपाठको सुनते हैं, परन्तु उनका श्रवण न श्रवण करनेके समान ही व्यर्थ होता है । (परंतु जो लोग मंत्रको देखकर अथवा सुनकर उसका तात्पर्य जानते हैं) उनके लिये उस विद्यासे वैसा अद्भुत सुख प्राप्त होता है जैसा कि सुदर्शीको उत्तम पतिव्रता स्त्रीसे प्राप्त होता है ।

इन मंत्रोंमें पढके स्वयं वेद न जाननेवालोंकी, परन्तु वाद करनेवालोंकी बहुत ही निन्दा की है । यही बात भगवद्गीताने इन तीन श्लोकोंमें कही है । अतः यह निन्दा वेदकी अर्चना करनेके लिये ही है ।

अर्जुन भी बडी बडी ज्ञानकी बातें बोल रहा था परंतु स्वकर्तव्य करनेसे भाग रहा था । अतः उसको बताया कि यह वाग्वाद कुछ कामका नहीं है । इससे तो बडी अवनति होती है, अतः इस वाग्वादमें रुचि न रखो और जो हो सकता है, अपना कर्तव्य दत्तचित्तसे करो । ' सबको ऐसा ही करना चाहिये—

(४५-४६) पूर्वोक्त भोगवादियोंकी चंचल वृत्ति दूर करके द्वन्द्वातीत बननेका उपदेश अब करते हैं । द्वन्द्वातीत और गुणातीत स्थितिका परिचय होनेके लिये गुण कितने हैं और द्वन्द्व क्या है इसका ज्ञान प्रथम होना चाहिये । गुण तीन हैं— सत्त्व रज और तम । इन तीनों गुणोंका वर्णन वेदमें है । इस वर्णनका सारांश यह है—

सत्त्व	रजः	तमः
देवपूजा	राक्षसपूजा	प्रेतपूजा
स्निग्ध भोजन	रूक्ष भोजन	अपवित्र भोजन
कर्तव्यतत्परता	दांभिकता	अज्ञानीपना
देवकार्यार्थ-दान	मनुष्यकार्यमें इच्छासे दान	देशकालके अयोग्य दान

अविभक्तभाव	पृथग्भाव	तुच्छभाव
निष्काम कर्म	सकाम कर्म	मोहमय कर्म
निर्विकार	विकारी	शठ
अहिंसक	हिंसक	आलसी
यथार्थबुद्धि	अयथार्थबुद्धि	विपरीत बुद्धि
ऊर्ध्वगति	मध्यस्थिति	अधोगति

साधारणतया सत्त्व, रज तम इन तीनों गुणोंका स्वरूप इस कोष्टकसे पाठक जान सकते हैं। जो विशेष देखना चाहते हैं, व भ. गीताके १७ वें और १८ वें अध्यायमें देख सकते हैं। वेदमें सत्त्वगुणके देवता ब्रह्मणस्पति बृहस्पति ब्रह्म वरुण आदि हैं, रजोगुणके देवता इन्द्र, रुद्र मरुत् आदि हैं और तमोगुणके प्रतिनिधि वेदमें वृत्र, असुर आदि हैं।

इन वेदमन्त्रोंके उदाहरण इस प्रकार हैं। तमोगुणका उदाहरण सबसे प्रथम देखिये—

दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ (ऋ. १।३२।१)
महीनामाग्मापिनाममिमाः मोघ मायाः ॥

(ऋ. १।३२।४)

इन्द्रके शत्रु वृत्र असुरने दीर्घतम अर्थात् गाढ अंधकार फैलाया है। इन कपटी असुरोंके कपटी मायाजाल इन्द्रने दूर किये। इस प्रकार तमोगुणी असुरोंका वर्णन वेदमें आया है। इनका अन्तमें नाश और अधोगति होना स्वाभाविक है। वेदमें, तमोगुणी असुरोंका नाश हुआ है ऐसा दर्शाया है। इसको देखनेसे तमोगुणी असुरोंकी अन्तमें क्या अवस्था होती है उसका पता लग सकता है। इन असुरोंका नाश देखनेसे कौन मनुष्य तमोगुणको अपनाकर पसन्द करेगा? अर्थात् इस प्रकार वेदका उपदेश श्रवण करनेसे सुननेवालेकी प्रवृत्ति अपनेमेंसे तमोगुणको दूर करनेकी ओर होती है।

तमोगुणको दूर करके मनुष्य अधोगतिसे बचता है और भोगासक्त रजोगुणको अपनाता है। इस समय इसके सामने इन्द्रदेव आते हैं। इन्द्रदेवका वर्णन वेदमें इस प्रकार है—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ १ ॥ अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ॥ २ ॥

(ऋग्वेद १।३२ १-२)

वज्रधारी वीर इन्द्रने जो पराक्रम किये उन पराक्रमोंका वर्णन मैं करता हूं। इन्द्रने शत्रुको मारा पर्वतोंपरके किलोंको तोड दिया पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुका वध किया। इस समय त्वष्टाने इन्द्रको उत्तम वज्र दिया था।' इन्द्रदेवका ऐश्वर्य प्रभाव पराक्रम राज्यवैभव शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य आदि श्रेष्ठ गुण देखनेसे वह मनुष्य इनपर मोहित होता है और स्वयं इन्द्र जैसा बननेका यत्न करता है। इन्द्रका एक-एक गुण अपनाता है और रजोगुणके कारण परम पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्राप्त करता है। ऐश्वर्यके साथ इसके भोग बढते हैं और भोगोंके कारण रोगोंसे व्याप्त होना पडता है। (भोगे रोगभयं) भोग भोगनेमें रोगका भय होता है। इस रीतिसे शारीरिक रोग राष्ट्रवैभवमें विविध शत्रु, इस प्रकार अन्दर और बाहर दुःख शोक रोग शत्रु और भयसे व्याप्त होता है। प्रबलशक्ति बढता है, इस कारण इसके झंझट और भी बढ जाते हैं और उस प्रमाणसे इसकी चिन्ता बढती है। अन्तमें वह वेदमें पढता है कि इन्द्र भी अपने इन्द्रपदसे च्युत होता है पराजित होता है दुःख भोगता है उसके राज्यपदपर दूसरा इन्द्र आ बैठता है। तब उसके मनमें निश्चय होता है कि यह रजोगुणी वैभव कुछ कामका नहीं है। जहां इस प्रकारका दुःख नहीं वह स्थान प्राप्त करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर वह रजोगुणसे विरक्त हो सत्त्वगुणकी प्राप्तिमें यत्नवान् होता है इस समय इसके सामने ऐसे मंत्र आते हैं —

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(अथर्व १० ।८।४४)

निष्काम धैर्यवाली अमर स्वयंभू, रससे तृप्त कहीं भी न्यून नहीं-सर्वत्र परिपूर्ण अजर तरुण आत्माको जानकर मृत्युसे डरता नहीं।

वे वेद पढनेसे अमर और सर्वथा परिपूर्ण शुद्ध आत्माके अस्तित्वका बोध उसे होता है और मानो वह मर्त्य जगत्से अमर जगत्में प्रविष्ट होता है ।

इसके आगे शुद्ध आत्मा ब्रह्म लोक ब्रह्म, स्वास्थ्य आदि देवताके मंत्र पढता है और इनके अध्ययनसे उसके अन्दर सत्वगुणका प्रभाव होता है । इसके बाद उसको रजोगुण और तमोगुणके दोष और सत्वगुणका महत्व विदित होता है । तब वह नित्य सत्वगुणमें स्थिर रहनेका यत्न करता है ।

वेदमें इस प्रकार सत्व रज और तमोगुणोंका वर्णन है और इन वेदमंत्रोंके पढनेसे मनुष्य तमोगुणके ऊपर चढकर क्रमपूर्वक सत्वगुणमें आकर स्थिर रहता है । वेदमंत्रोंके यथायोग्य अध्ययनसे इस प्रकार मनुष्य तमोगुणसे सत्व गुणमें प्रवेश करता है ।

इसलिये गीताके इस श्लोकमें कहा है कि ' (त्रैगुण्यविषया वेदाः) वेद तीन गुणोंके विषयोंका वर्णन करते हैं, परंतु उसके अध्ययनसे मनुष्य (निस्त्रैगुण्यः भव) तीन गुणोंसे परे पहुंचनेका यत्न करे । तीन गुणोंका वर्णन वेदमें है तू तीनों गुणोंके परे हो यह वर्णन पढते ही बहुत लोग ऐसा विचार करते हैं कि वेदमार्गको छोड देनेका उपदेश गीता करती है ! ! परंतु ऐसा भाव गीताका कदापि नहीं है [इस विषयमें गीताके ४२-४४ श्लोकोंकी टिप्पणीमें विशेष रीतिसे कहा है वह पाठक अवश्य देखें] यहां गीताका आशय यही है कि वेदका तीन गुणोंका वर्णन पढकर ही मनुष्य पहिले तमोगुण छोडता है पश्चात् रजोगुण त्यागता है और अन्तमें केवल अकेले सत्वगुणमें स्थिर रहता है । त्रिगुणातीत होनेका अर्थ सत्व रज और तम गुणोंको छोडना नहीं है केवल सत्वगुणका अपनेमें उत्कर्ष करनेका ही नाम गुणातीत होना है । जबतक तमोगुण और रजोगुण मनमें रहते हैं तबतक सत्वगुण भी इनसे दूषित होता है रज और तम गुणका थोडासा अंश होनेपर भी अन्दरका सत्वगुण योग्य रीतिसे प्रकाशित नहीं हो पाता । जैसे शुद्ध दूधमें थोडा भी मैल लग जाए तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शुद्ध सत्वगुणके साथ थोडे भी रजोगुण या तमोगुण रहे तो वे अंश उस सत्वगुणके अंश प्रकाशको ठीक तरह फैलने नहीं देते । अतः तमोगुण और रजोगुण पूर्णतया दूर करके सत्वगुण ही अपनेमें पूर्णतया प्रकाशित होने देना चाहिये । मनुष्यकी यही उच्च अवस्था है । और इसीको गुणातीत अवस्था कहते हैं । (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः । गी० १४।१८) सत्वगुणी लोग उच्च होते हैं ऐसा गीतामेंही कहा है । गुणातीत होनेका वर्णन गीतामें इस प्रकार आया है—

अर्जुन बोले- हे प्रभो ! इन गुणोंसे परे रहनेवालेके क्या लक्षण हैं ? उसके आचार कैसे होते हैं ? और वह इन तीन गुणोंसे परे किसतरह होता है ? (भ० गी० १४।२१)

श्रीभगवान् बोले- हे अर्जुन ! प्रकाश प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होते हुए भी जो द्वेष नहीं मानता और पदार्थोंके प्राप्त न होनेपर इनकी इच्छा नहीं करता उदासीनके समान जो स्थिर है जिसे गुण हिलाते नहीं, गुण ही अपना काम करते हैं-यों मानकर जो स्थिर रहता है और हिलता नहीं जो सुखदुःखमें समता रखता है स्वस्थ रहता है जिसके ढेले पत्थर और सोनेको समान मानता है प्रिय या अप्रिय वस्तुके मिलनेपर एकसा रहता है, अपनी निन्दा या स्तुतिमें जिसका मन समान है ऐसा बुद्धिमान्, जिसके लिए मान और अपमान एकसे हैं जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनोंके प्रति समान भाव रखता है और जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है । (भ० गी० १४ २१-२५)

इसीका नाम निस्त्रैगुण्य यहां कहा है, इसीको तीन गुणोंसे परे कहते हैं । शुद्ध सत्वगुण अपनेमें स्थिर रहनेपर ही इस स्थितिकी प्राप्ति होना संभव है । इसी हेतुसे आगे (नित्य सत्व स्थ-नित्य सत्वगुणमें स्थिर रह) कहा है । क्योंकि सत्वगुणमें स्थिर रहनेसे ही वह उच्च अवस्था प्राप्त हो सकती है । यदि निस्त्रैगुण्य का अर्थ सतरजतम इन तीनों गुणोंको छोडना होता तो इसी श्लोकमें नित्य सत्व-स्थ (= नित्य सत्वगुणमें निवास करनेवाला) यह शब्द निरर्थक हो जाता । यदि नित्य सत्वगुणमें रहना उन्नतिके लिये आवश्यक है तो निस्त्रैगुण्य का अर्थ तम और रजोगुणको ही छोडनेवाला और केवल सत्वगुणमें स्थिर ऐसा ही करना उचित है । पाठक यहां समझें कि—

निस्त्रैगुण्यः गुणातीतः

नित्य-सत्व स्थः

इन शब्दोंका अर्थ एक दूसरे शब्दके अनुसंधानसे ही

करना चाहिये । श्रीमच्छंकराचार्यजीने निस्त्रैगुण्य का अर्थ (निष्कामो भव) निष्काम हो अर्थात् स्वार्थकी कामना छोड़ दो ऐसा अर्थ किया है। और नित्यसत्त्वस्थः का अर्थ (सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव) सदा सत्त्वगुणका आश्रय कर ऐसा किया है। ये दोनों शब्द साथ-साथ होनेसे सत्त्वगुणका त्याग दोनों स्थानमें अभीष्ट नहीं यह बात स्पष्ट हो जाती है। सत्त्वगुणका त्याग करनेसे वहां स्वारस्य कुछ भी रहता नहीं है। उच्च अवस्था तो सत्त्वगुणसे ही होती है अतः उसको त्यागना किसी समयमें भी इष्ट नहीं है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
नित्यसत्त्वस्थः । (गी २।४५)

तीन गुणोंका विषय वेदमें है उसको देखकर तू तीन गुणोंसे परे हो अर्थात् नित्य सत्त्वगुणसे युक्त होकर रह। इस प्रकार ये वचन एक दूसरेके सहायताके लिये आये हैं। निस्त्रैगुण्य शब्दसे कदाचित् किसीके मनमें सत्त्व गुणको दूर करनेका संदेह उत्पन्न न हो जाय अतः उस संदेहकी निवृत्ति करनेके उद्देश्यसे ही आगे नित्य-सत्त्व-स्थः यह पद उसी श्लोकमें रखा है। पाठक इस योजना को देखें और समझें कि सत्त्वगुणका परिपोष करना ही यहां अभीष्ट है। तात्पर्य सत्त्वगुणी मनुष्यको ही गुणातीत' कहते हैं।

निर्द्वन्द्व अर्थात् सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त होना भी सत्त्वगुणी होनेके पश्चात् ही संभव है। इससे पूर्व जो गुणातीतके लक्षण बताये हैं, उनमें समदुःखसुखः समलोष्टाश्मकाञ्चनः तुल्यप्रियाप्रियः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः (भ गी १४।२४ २५) ये गुण हैं। सुख दुःख मिट्टी सोना प्रिय अप्रिय निंदा स्तुति मान अपमान मित्र शत्रु ये सब द्वन्द्व जिसको सम प्रतीत होते हों वह गुणातीत है उसीको यहां निर्द्वन्द्व कहा है। अर्थात्—

निर्द्वन्द्व द्वन्द्वातीत गुणातीत निस्त्रैगुण्य ।

ये सब शब्द एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट करनेवाले हैं। सब द्वन्द्व जिसके लिए बराबर होते हैं वही निर्द्वन्द्व है इसीको द्वन्द्वातीत कहते हैं। द्वन्द्वोंके परे होनेका उपाय इसी अध्याय के श्लोक १४ १५ की टिप्पणीमें अधिक विस्तारसे कहा है, पाठकको वह टिप्पणी यहां पुनः द्रष्टव्य है।

निर्योगक्षेम अर्थात् योगक्षेमका संझट अपने पीछे न रखनेवाला मनुष्य हो ऐसा यहां कहा है। किसी पदार्थ की प्राप्तिका नाम ' योग ' है और उसकी रक्षा करनेका नाम ' क्षेम है। संसारमें रहनेवाले सभी मनुष्य इस योग क्षेमके झंझटमें फसे रहते हैं। अप्राप्य वस्तुकी प्राप्त करने और प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेके कार्यमें सब रातदिन लगे रहते हैं। इसी प्राप्ति और रक्षाके कार्यके कारण मनुष्य सदा सुखदुःख और हानिलाभमें फंसता है। यदि किसी युक्तिसे यह प्राप्ति और रक्षाका झंझट मनुष्यसे दूर हो जावे तो उसका द्वन्द्वातीत होना सहज हो सकता है। द्वन्द्वातीत होनेके लिये योगक्षेमका झगड़ा दूर होना चाहिए। योगक्षेमका अर्थ सामान्यतया संसारसुख है। जगत्के निर्वाहके लिये जिन चीजोंकी आवश्यकता होती है उनका अन्तर्भाव योगक्षेममें होता है। द्वन्द्वातीत गुणातीत और सत्त्वस्थ हुआ मनुष्य ही योगक्षेमके झगड़ेसे परे हो सकता है।

' आत्मवान् होनेको इस श्लोकके अन्तमें कहा है आत्म वान् का अर्थ विशेष प्रभावित आत्मबलसे युक्त । वैसा तो हरएक प्राणी आत्मावाला होता ही है। आत्मा न हो तो मनुष्य अथवा कोई प्राणी जीवित ही नहीं रह सकता। अतः वस्तुतः सभी प्राणी आत्मवान् हैं। परन्तु इसका यह सामान्य अर्थ यहां अपेक्षित नहीं है। जिसके अन्दर आत्माका बल विशेष प्रभावित हुआ होता है उसको आत्मवान् कहते हैं। प्रशस्त आत्मिकबलसे युक्त कौन हो सकते हैं ? इसका उत्तर इसी श्लोकमें दिया है। यही श्लोक यदि भिन्नदृष्टिसे देखा जाय तो आत्मवान् बननेका उपाय भी इसीसे ज्ञात हो सकता है—

' जो मनुष्य वेदमें (त्रैगुण्यविषयाः वेदाः) तीनों गुणों का वर्णन पढ़ते हैं पढ़नेके पश्चात् तम और रजो गुणको छोड़कर (निस्त्रैगुण्य) गुणातीत होकर अर्थात् (नित्य सत्त्वस्थः) सदा सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है (निर्द्वन्द्वः) सुखदु आदि द्वन्द्वोंसे परे होता है (निर्योगक्षेमः) वस्तु प्राप्ति और वस्तुरक्षाके झंझटमें नहीं फंसता वह (आत्म वान्) प्रशस्त आत्मिकबलसे युक्त होता है ।

(१८) कर्मयोग।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वयः- ते अधिकारः कर्मणि एव, कदाचन फलेषु मा; कर्मफलहेतुः मा भूः; ते सङ्गः च अकर्मणि मा अस्तु ॥ ४७ ॥

तेरा अधिकार कर्म करनेमें है, कदापि फलोंपर नहीं। कर्मोंके फलका हेतु धारण करनेवाला न बन और तेरी रुचि कर्म न करनेमें न होवे ॥ ४७ ॥

भगवद्गीता यद्यपि अर्जुनसे कही है तथापि वह हरएक मनुष्यके लिए ही कही है। गीताके कथन कुछ थोडे फर्कसे पढे जावें तो उनमेंसे हरएक मनुष्यको ऊंचे योग्य बोध मिलता है। जिसको लेकर मनुष्य उन्नतिके पथमें चल सकता है। इस दृष्टिसे यह श्लोक देखनेसे मनुष्यको इसीसे आत्मविकासका उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार आत्मवान् अर्थात् विशेष आत्मशक्तिसे युक्त बना हुआ मनुष्य कितना श्रेष्ठ होता है, इस विषयका वर्णन आगेके श्लोकमें कहा है-

जो कार्य छोटे कुंएसे होता है वह बडे तालाबमें बडे सरो वरसे हो सकता है, इसी तरह जो कार्य वेदके जाननेसे होता है वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मज्ञानमें प्राप्त होता है। यह योग्यता 'आत्मवान्' मनुष्यकी है। आत्मवान् मनुष्यके लिये यहां (विजानतः ब्राह्मणस्य) विज्ञानी ब्राह्मण ये शब्द आये हैं। ब्रह्म जाननेवाला विशेष ज्ञानी पुरुष ही ब्राह्मण कहलाता है और उसीको आत्मवान् भी कहते हैं। कई लोग इस श्लोकका अर्थ ठीक रीतिसे समझते नहीं और मानते हैं कि यहां भी वेदका हीनत्व दर्शाया है और ब्रह्म प्राप्ति वेदसे नहीं होती ऐसा भी इसीसे अनुमान निकालते हैं॥ वस्तुतः ऐसा भाव तो श्लोकके पदोंका अर्थ यह है जो ज्ञान संपूर्ण वेदोंके पढनेसे होता है वह ब्रह्मज्ञानीको स्वयं होता है। इसमें वेदकी निन्दा बिलकुल नहीं है। ब्रह्मज्ञानी होनेका साधन वेदाध्ययन है। इस कारण वेदका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् जब वह ज्ञान ठीक-ठीक अनुभवमें आता है तब वह मनुष्य ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण ज्ञानी अथवा विज्ञ आत्मवान् आदि कहलाता है। अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् पहिले किया हुआ अध्ययन गौण होता है। जैसा कोई कहे कि शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण मनुष्यको वह ज्ञान कचहरीमें होता है जो प्रथम श्रेणीमें पाठशालाके विद्यार्थियोंको पाठशालामें अध्यापक पढ़ाते हैं। यह तो निःसंदेह सत्य है क्यों कि शास्त्री परीक्षामें उत्तीर्ण मनुष्य उन अवस्थाओंके क्रम क्रमसे गुजरा हुआ होता है। इससे पूर्वके अध्ययनकी निन्दा तो नहीं होती प्रत्युत उसी अध्ययन क्रमोंसे गुजरनेसे वह मनुष्य शास्त्री बना है अर्थात् वह अध्ययनका मनुष्यका शास्त्रीकी योग्यता देनेवाला है यह उसकी महिमा ही है। इसी प्रकार संपूर्ण वेदोंका यथायोग्य अध्ययन करनेसे मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होता है और जब उसको ब्रह्मज्ञान होता है तब वह ब्रह्मपरायण होता है ब्रह्मका अनुभव लेता है तब फिर उसको वेदका ज्ञान सहज प्राप्तसा होता है, यह कथन तो वेदोंकी अत्यंत प्रशंसा करनेवाला है। हमें आश्चर्य होता है कि जो श्लोक वेदप्रशंसापर लिखे हैं उनमेंसे वेद-निन्दा किस प्रकार ये लोग मानते हैं! इसीलिये अन्यत्र भी कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। (कठ उ० २।१५)

सब वेद जिस पदका वर्णन करते हैं और सब प्रकारके तप जो कहते हैं। वह ब्रह्मपद है। इस प्रकार उपनिषदोंमें वेदका महात्म्य वर्णन किया है। भगवद्गीतामें भी (भ० गी० १५।१५) यही कहा है अतः इसमें वेदकी निन्दा कोई नहीं करता। यहां वेदको गौणत्व दिया होता है वह शब्दज्ञान और अनुभवज्ञान का भेद करके, अनुभव ज्ञानसे शब्दज्ञानका गौणत्व कथन किया होता है और वह योग्य ही है। कौन कहेगा कि अनुभवज्ञानसे केवल शाब्दिक ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है? पाठक भगवद्गीताके वचनोंको इस रीतिसे समझेंगे तो उनको सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। इस प्रकार इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्यकी परम उन्नति होनेका उपाय अतिसंक्षेपसे कहा है। हरएक मनुष्य इस रीतिसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। अब इसके आगे कर्मयोगका उपदेश करते हैं-

भावार्थ— मनुष्यको केवल कर्म करनेका ही अधिकार है कर्मके फलोंपर उसका अधिकार नहीं। कोई मनुष्य कर्मके फलोंका सदा ध्यान करनेवाला न बने। और कर्म न करनेमें भी किसीकी प्रवृत्ति कभी न हो ॥ ४७ ॥

(४७) प्रत्येक मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है। इतना ही नहीं अपितु हरएक प्राणीका स्वभाव ही कर्म करना है। इसीलिये भगवद्गीतामें आगे जाकर कहा है कि—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(भ. गी. ३।५)

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
(भ. गी. ३।८)

' वस्तुतः कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंके वशमें होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है॥ तेरे (मनुष्यके) शरीरका व्यवहार भी कर्म किये बिना नहीं चल सकता। इतना प्राणीका संबंध कर्मके साथ है। एक क्षणभर भी जीवन धारण करना कर्म किये बिना असंभव है। मानों जीवन का आधार ही कर्म है हरएक प्राणी श्वास-उच्छ्वास करता है, मूत्रपुरीष त्यागता है अन्न खाता और जल पीता है, निमेष-उन्मेष करता है इन्द्रिय व्यापार करता है अन्य शरीरके व्यापार चलते हैं ये सब कर्म ही हैं। केवल जीवित रहनेके साथ इतने अनेक कर्मोंका संबंध आता है। ये न किये जाय तो जीवित रहना ही असंभव है। आहार निद्रा भय और मैथुन ये सब प्राणिमात्रोंके स्वाभाविक धर्म वा कर्म हैं। केवल स्वाभाविक अवस्थामें रहनेवालोंके लिये भी ये कर्म करना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य तो सबसे ऊंचा प्राणी है अतः उसका कर्मक्षेत्र बडा ही विस्तृत है। मनुष्यको वैयक्तिक कौटुंबिक गृहस्थधर्मसंबंधी संतानविषयक मनुष्योंके संबंधमें अधिक समाजके राष्ट्रके और संपूर्ण जनता अथवा प्राणिमात्रके विषयमें अनेकानेक कर्तव्य करने होते हैं। इतनी कर्मक्षेत्रकी व्याप्ति अन्य प्राणियोंके लिये नहीं है। उनकी शक्ति अल्प उनका अधिकार छोटा अतः उनका कार्यक्षेत्र भी मर्यादित है। मनुष्यकी शक्ति बडी अधिकार भी बडा अतः इसका कार्यक्षेत्र भी बडा विस्तृत है। मनुष्यको अपने स्वभावधर्मसे और अधिकारकी दृष्टिसे भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है इसी कारण वेदका आदेश यह है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(वा. य. ४०।२)

यहां मनुष्य प्रशस्त कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। यही एकमार्ग है दूसरा नहीं कर्मका बंधक मनुष्यमें लगता नहीं। वेदकी यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेकी प्रेरणा दे रही है। वेदकी दृष्टिसे तो मनुष्यका उपास्य देव विश्वकर्मा परमेश्वर ही है जो विश्वका कर्म करता है अथवा जो सब कर्म करता है। उपास्य देवके समान बनना उपासकका कर्तव्य है, अतः प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारक्षेत्रमें विश्वकर्मा बने अर्थात् जो-जो कर्तव्य उसको करना आवश्यक हों, वे सब कर्तव्य वह करे, और उनके करनेमें संकोच न करे। जब मनुष्य इस प्रकार कर्म करेगा, तभी विश्वकर्मा देव उसको मुक्तिका मार्ग बतायेगा। इसी विषयमें वेदका नियम यह है—

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः। या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥

ये पश्यामसमनु धीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च। अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः (अथर्व २।३५।३)

जो तेजस्वी लोग यह मनुष्योंको अपने मन और चक्षु द्वारा अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं उन्हें ही प्रजाजनोंके साथ रमण करनेवाला विश्वकर्मा देव सबसे प्रथम मुक्त करता है। जनताके हितके कर्म जो करता है वह मनुष्य शीघ्र मुक्त होता है और जो इन कर्मोंको करनेसे हिचकता है वह पीछे पडता है। इसका सीधा भाव यह है कि परमेश्वर 'विश्वकर्मा' होनेसे वह उन मनुष्योंपर प्रेम करता है कि जो विश्वका हित करनेके कर्म निरलस वृत्तिसे करते हैं। यह कभी संभव ही नहीं है कि विश्वकर्मा देव आलसी लोगों पर कभी प्रेमदृष्टि करे।

शतक्रतु इन्द्र।

मनुष्यके शरीरमें अनेक इंद्रियां हैं। प्रत्येक इंद्रियमें इन्द्र अपनी शक्ति रखता है मानों, इन्द्र अपनी शक्ति इंद्रियद्वारा प्रकट करता है। इस इन्द्रका नाम शत-क्रतु वेदमें और लौकिक संस्कृतमें है शत क्रतु का अर्थ सैकडों कर्म करनेवाला है। अर्थात् मनुष्यका जीवात्मा जो इसके शरीर

के मध्य केन्द्रमें बैठकर कार्य करता है वह स्वभावतः सैकड़ों कर्म करनेवाला है। विश्वकर्मा बननेका आशय भी यही है। इसीलिए कहा है—

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः।
(अथर्व ४।२४।६)

जो प्रथम स्थानमें रहनेवाला आत्मा बड़ा कर्म करनेके लिए ही प्रकट हुआ है। तथा—

कर्म कृण्वन्ति मानुषाः। (अथर्व ४।२४।३)

मनुष्य कर्म करते हैं। क्योंकि कर्म करना उनका स्वभाव है। कर्म किए बिना वे जीवित नहीं रह सकते। इसी आशयसे गीताके श्लोकमें कहा है कि—

कर्मण्येव ते अधिकारः। (भ. गी. २।४७)

हे मनुष्य! कर्म करना ही तेरा अधिकार है। 'कर्म करना ही तेरे अधिकारमें है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका अधिकार भी होता है। प्रकाश करना सूर्यका धर्म है और वही उसका काम और अधिकार भी है। इसी प्रकार मनुष्यका अधिकार कर्म और धर्म कर्म करना है। परन्तु—

मा फलेषु कदाचन। (भ. गी. २।४७)

फलोंपर तेरा अधिकार नहीं है।' कर्मके अनेक फल होते हैं परन्तु किसी भी फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है। जगत्‌के लिए सूर्य प्रकाशदानरूप कर्म करता है परन्तु प्रकाशपर उसका अधिकार नहीं है क्योंकि उसका प्रकाश दूसरोंके लिए है। अपने लिए नहीं है।

यह श्लोक कर्मयोगके चार सूत्र कहता है इसलिए गीतामें इस श्लोकका महत्त्व विशेष है। संपूर्ण गीता कर्मयोग प्रतिपादक है अतः मानना कि यह श्लोक सब गीताधर्मका सिद्धान्त प्रतिपादन कर रहा है। इस श्लोकमें चार सूत्र ये हैं—

१ मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है अर्थात् उसको कर्म करना चाहिए अथवा कर्म करना कर्तव्य है
२ फलके ऊपर उसका अधिकार कदापि नहीं
३ फलका हेतु कर्मों कारण बनना नहीं बन
४ कर्म न करने (निष्क्रियता) की ओर मनुष्यकी रुचि न हो।

अर्थात् मनुष्य सदा शुभकर्म करे, फलकी इच्छा मनमें प्रबल होने न दे, फलके लिए ही कर्म करता है अन्यथा नहीं ऐसा भाव मनमें धारण न करे और कभी आलस्यमें अपनी आयु न गँवावे।

जगत्‌में भी पृथिवी दूसरोंको धारण करनेके लिए स्थिर है, जल दूसरोंको शान्ति देनेके लिए बह रहा है, अग्नि और सूर्य जगत्‌का अँधेरा दूर करनेके लिए प्रकाशित हो रहे हैं, वायु सब प्राणियोंको जीवन प्रदान करनेके लिए चल रहा है, आकाश दूसरोंको अवकाश देनेके लिए सर्वत्र उपस्थित है, चन्द्रमा दूसरोंको आल्हाद देनेके लिए उदय होता है, इस प्रकार यह सम्पूर्ण दैवत जगत् जो कर्म कर रहा है वह अपने लिए नहीं, अपितु स्वभावसे ही सब जगत्‌के लिए कर रहा है। यदि इन्होंने अपना कर्म करना छोड़ दिया तो जगत्‌की स्थिति ही नहीं रहेगी और इन देवोंका देवत्व भी नष्ट हो जायेगा। यदि सूर्य न प्रकाशेगा तो उसको सूर्य कौन कहेगा, जो दीप न जलेगा उसको दीप कैसे कहा जायगा, इसी प्रकार स्वकर्म करनेपर ही इन देवोंका देवत्व और जगत्‌की स्थिति निर्भर है।

इसी प्रकार मानवी शरीरके अंदर भी आँख देखती है वह अपने लिए नहीं अपितु सब शरीरकी भलाईके लिए। कान सुनते हैं वे अपने लिए नहीं अपितु सब शरीरकी भलाईके लिए। जिह्वा रसग्रहण करती है वह अपने लिए नहीं अपितु सब शरीरकी पुष्टिके लिए। इसी प्रकार अन्यान्य अवयव अपना अपना कार्य कर रहे हैं वे अपने लिए नहीं अपितु सब शरीरकी भलाईके लिए ही कर रहे हैं। यदि इनके कार्य केवल अपने ही लिए होने लगें तो उसी क्षण शरीरका नाश प्रारंभ हो जायगा। फिर यदि मुखद्वारा खाया हुआ अन्न अपनेमें ही रखके और उसका रस बनाकर सब शरीरभरमें भेजनेका व्यवहार न करे तो उदररोगी होकर मनुष्य मरने लगेगा। इसी प्रकार ये इन्द्रियगण यदि अपने लिए विषय भोगने लगेंगे, भोगमें तत्पर होंगे और संपूर्ण शरीरकी भलाई करनेका विचार छोड़ देंगे तभी समग्र शरीरका नाश होने लगेगा। जो नियम शरीरके अन्दर कार्य करता है और जगत्‌में कार्य करता है वही नियम मानवी-समाजमें कार्य कर रहा है।

मानवसमाजमें कुछ लोग अधिकारका कार्य करते हैं,

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

कुछ चातुर्यका कुछ लोग पर पाकमध्य कुछ अन्य कार्य करते हैं। यदि वे अपना कार्य मानवसमाजकी भलाईकी दृष्टिसे नहीं करेंगे और अपने सुख बढ़ानेके लिये ही करेंगे तो स्वार्थकी मात्रा बढ़ जानेके कारण जगत्में अशान्ति फैलेगी। इसलिये जैसे गौ केवल लोगोंके लिये नहीं देती अपितु शरीरके लिये दूध देती है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपना कर्म अपने स्वार्थके लिए न करे अपितु कर्तव्य समझके समाजकी भलाईके लिये निःस्वार्थभावसे करे। जैसे सूर्य अपने स्वभावसे प्रकाशता है और उसके प्रकाशसे जगत्का उपकार स्वयं होता है सूर्यमें परोपकाररूप कर्मफलकी अपेक्षा नहीं परोपकार होगा तो ही मैं प्रकाशूंगा ऐसा भी वह नहीं कहता और कभी प्रकाश न करनेका भी यत्न नहीं करता। उसी प्रकार मनुष्य स्वभावसे परमार्थशील बने कर्मफलकी इच्छा न करे फलके हेतुसे कर्म न करे और कदापि कर्म करना न छोड़े।

कर्ममार्गके ये चार सूत्र हैं और इन चार सूत्रोंका पालन करनेसे ही मनुष्य कर्म करनेसे बद्ध नहीं होता और क्रमसे उन्नत होता जाता है। इन चार सूत्रोंमें कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है, यह पहिला सूत्र है जो जिसके अधिकारमें होता है वह उसका कर्तव्य ही होता है उसके करनेसे उन्नति और न करनेसे अवनति होती है जैसा कहा है—

कर्मणा द्यामपि यान्ति। (तै ब ३।८।११)
कर्मसु चामृतम्। (मु उ १।१।८)
पुण्यस्य कर्मणा दूराद्गन्धो वाति।
(म भा व ८।१)

कर्म करके देवता स्वर्ग भोगते हैं। कर्मोंमें अमृत है। पुण्य कर्मोंकी सुगन्ध दूरतक जाती है। और वह दूसरोंको भी आनंद देती है।

इस प्रकार कर्मका अधिकार मनुष्यको है इसलिये शुभ कर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। कर्ममार्गका दूसरा सूत्र फलपर अधिकार नहीं है यह है। जैसा कर्मका शुभ करना मनुष्यके अधिकारमें है, परन्तु उसका फल प्राप्त होना और काम आना उसका आपकी अधिकारमें नहीं क्योंकि उसके साथ कई बाह्य कारणोंका संबंध आता है अकाल पड़ा वृष्टि न हुई, कुंएका पानी सूख गया, बिजली गिरकर वृक्ष जल गया किसीने तोड़ दिया तो फल आना असम्भव हो जाता है। इसलिये फलपर मनुष्यका वैसा अधिकार नहीं है जैसा कर्म करनेपर अधिकार है। इसी कारण तीसरे सूत्रमें कहा है कि फलकी अभिलाषासे कर्म न कर। इसका कारण स्पष्ट है कि जिसपर अपना अधिकार नहीं उसकी अभिलाषा मनमें धारण की तो क्या लाभ होगा? जो बात अपने अधिकार क्षेत्रके बाहरकी है, उसको अपना उद्देश बनाना योग्य नहीं है।

यदि किसीने फलको अपना उद्देश बनाया तो वह बड़े भ्रमोंमें फँसता है। जो विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करनाही अपना जीवनोद्देश बनाते हैं वे परीक्षामें अनुत्तीर्ण होनेपर पागल बन जाते हैं अथवा आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होते हैं। परंतु जो लोग परीक्षाके उद्देशसे अध्ययन नहीं करते वे विद्वान् भी होते हैं परीक्षा भी उत्तीर्ण करते हैं और कदाचित् किसी समय अनुत्तीर्ण हुए तो शान्तिसे पुनः यत्न करते हैं। फलपर आसक्त होनेवालोंके समान पागल नहीं बनते। फलपर आसक्त न होनेसे यह प्रत्यक्ष लाभ है।

कर्मयोगका अन्तिम सूत्र कर्म न करनेकी और रुचि न रख यह है। कर्म न करनेकी रुचि अथवा आलस्यमें रुचि रहनेसे मनुष्यकी उन्नतिकी ओर जाना नहीं है। क्योंकि इस आलसी मनुष्यने अपना निज स्वभावधर्म ही छोड़ा होता है। निजधर्म छोड़नेवालेकी उन्नति कैसी होगी। निजधर्मके छोड़नेका मतलब अस्तित्व ही खोना है। जो अग्नि अपना उष्णतारूप निजधर्म छोड़ती है वह अग्नि नहीं रहती। इसी प्रकार जो मनुष्य अपना कर्म करनेका अधिकार ही त्यागता है और आलसी बनता है वह मनुष्यत्वसे गिरता है। अतः कर्महीनताकी ओर रुचि रखना मनुष्यके सर्वथा अयोग्य है। इस प्रकार कर्म करना मनुष्यके लिये अनिवार्य है तथा करनेके पश्चात् मनुष्य कर्म किस रीतिसे करे और उसके शुभ परिणामसे किस प्रकार बचे इसका उपदेश करना अत्यंत आवश्यक है। वह उपदेश आगे करते हैं—

अन्वय- हे धनञ्जय ! सङ्गं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा योगस्थः कर्माणि कुरु । समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! आसक्ति छोड़कर सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समबुद्धि रखकर योगमें स्थिर होकर कर्म कर । समत्वको ही योग कहते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ- फलकी आसक्ति छोड़कर सिद्धि हुई या न हुई तो भी मनकी वृत्ति समान रखनी चाहिये । इस प्रकार की चित्तकी समवृत्तिको योग कहते हैं । इस योगसे युक्त होकर मनुष्य अपने सब कर्म करे ॥ ४८ ॥

---

(४८) इस श्लोकमें योगकी निर्दोष पद्धतिसे कर्म करनेकी युक्ति कही है । योगकी रीतिके अनुसार कर्म करनेसे कर्मके दोष कर्ताको नहीं चिपकते । योग किसका नाम है ? समत्व का नाम योग है । समत्वका अर्थ समभाव सम भाव वृत्तिकी एकरूपता चित्तवृत्तिकी एकरूपता । पातंजल योगदर्शनमें भी—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (यो० द० १।२)

योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध कहा है । चित्तकी वृत्तियोंकी सदा चंचलता अनुभवमें आती है । प्रत्येक मुहूर्तमें यह वृत्तियोंकी चंचलता मनुष्य अनुभव कर सकता है । प्रत्येक मनुष्य जिस समय जगत्में कार्य करता है उस समय शीतोष्ण हानिलाभ जयपराजय सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उसके सन्मुख आते हैं और द्वन्द्वोंकी उपस्थितिके कारण इसकी चित्तवृत्ति भी वैसी ही विभिन्न होती है । सुख होनेपर आनन्द और दुःख होनेपर कष्टकी वृत्ति बनती है । लाभ होनेपर मनुष्य गर्व करता है और हानि होनेपर वह निरुत्साहित होता है । जय होनेसे इसको घमंड होता है और पराजयसे वह उदास होता है । इस प्रकार मनुष्यकी वृत्ति चञ्चल होती है इस वृत्तिकी चञ्चलताके कारण मनुष्य निर्दोष रीतिसे कर्म करनेमें असमर्थ हो जाता है । जो वीर किसी युद्धमें जय पानेसे गर्व करेगा अथवा किसी युद्धमें पराजित होनेसे दुःखी होकर प्राण त्यागनेकी करेगा वह वृत्तिकी चञ्चलताके कारण किसी कार्यको यथायोग्य रीतिसे कर नहीं सकता । जो मनुष्य जय प्राप्त होनेपर घमंड नहीं करता और पराजय होनेपर भी अपना मस्तिष्क शान्त रखता है । अर्थात् इन दोनों अवस्थाओंमें अपने मनकी समता स्थिर रखता है वही कुछ कर सकता है । साधारण मनुष्य द्वन्द्व प्राप्त होनेपर अपने मनको भी वैसे ही द्वन्द्वरूप बना देते हैं वे कदापि योगमार्गसे कर्म करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । शुभाशुभ स्थिति प्राप्त होनेपर जो अपने मनकी समवृत्ति स्थिर रखता है उसको योगी कह सकते हैं अथवा उसका मन सम है ऐसा कह सकते हैं ।

कई लोग गर्मी होनेपर हाय हाय करते हुए कर्तव्य छोड़ बैठते हैं, सर्दी लगनेपर सुकड़ कर बिस्तरोंमें ही पड़े रहते हैं वृष्टिके होनेपर बड़े नाराज होते हैं और आंधीके चलनेपर भी बड़े बेचैन हो जाते हैं; इन सबकी मनोवृत्ति बाह्यपरिस्थितिके कारण बदलती रहती है । बाह्यपरिस्थिति कैसी आवे पर जिसकी वृत्तिमें चञ्चलता नहीं होती, वह कुछ कर्तव्य पालन कर सकता है ।

मनोवृत्तिकी चञ्चलताके अनेक कारण और भी हैं । मनुष्य आंखसे सुंदर रूप देखना चाहता है कुरूप देखनेसे दुःख होता है; कानसे मधुर शब्द सुनना चाहता है कठोर शब्द सुननेसे गर्म होता है; जिह्वासे मीठे पदार्थ खाना चाहता है वैसे न मिले तो रुष्ट होता है । ऐसे ही मनुष्य भोग ऐश्वर्यकी इच्छा करता है और प्रतिकूल परिस्थितिमें कष्टका अनुभव करता है । इस प्रकार जैसी बाह्य अवस्था होगी वैसी ही इसकी चित्तवृत्ति बन जाती है । और बाह्य अवस्था क्षणक्षणमें बदलती रहती है । इस कारण इसकी मनोवृत्ति भी उसी प्रकार क्षणक्षणमें बदलती रहती है । इस रीतिसे मनोवृत्तिकी चंचलता मनुष्यको स्वकर्तव्यसे हटा देती है और गिराती भी है । इसीलिये मनुष्यको योगमार्गका अवलंबन करना चाहिये और योगाभ्याससे अपने चित्तको सम रखना चाहिये । बाह्य परिस्थितिके बदलनेपर भी जिसका चित्त चंचल नहीं होता, उसने समत्वकी स्थिति प्राप्त की है ऐसा हम कह सकते हैं । चित्तवृत्तियोंके निरोधसे भी यही साध्य होता है । चित्तवृत्तिका बाह्य परिस्थितिके आधीन न रखकर अपनी चित्तकी वृत्ति अपने आधीन रखनेका नाम योग है । इसीका नाम समत्व योग है ।

इस श्लोकमें (समत्वं योग उच्यते) समत्वका नाम योग है ऐसा कहा है । इस समत्व शब्दका अर्थ द्वन्द्व की बाधा जहां नहीं होती वह स्थिति है । इसीका स्पष्टी-

कारण इसी श्लोकमें (सिद्ध्यसिद्ध्योः, समो भूत्वा) सिद्धि और असिद्धिके विषयमें मनकी समवृत्ति रखना इन शब्दोंसे किया है। द्वन्द्वोंसे दूर रहनेकी यह स्थिति है। जिसको द्वन्द्वोंकी बाधा नहीं होती, उसको समत्वकी स्थिति प्राप्त होती है। सिद्धि और असिद्धि इस एक द्वन्द्वके संकेतसे अन्य संपूर्ण द्वन्द्व यहां लेने योग्य हैं। कैसी भी अवस्था प्राप्त हो मनकी वृत्ति सम रखकर अपने कर्तव्यको उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

(संगं त्यक्त्वा) फलकी आसक्ति भी त्यागनी चाहिये। संगसे ही अनेक आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। इसीलिये कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ६३
(भ गी २)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्तिसे कामना होती है, कामनासे क्रोध होता है क्रोधसे मूढता होती है, मूढतासे भ्रम होता है भ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेसे मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। विषयोंके संगसे अथवा आसक्तिसे ही ऐसा नाश होता है इसलिये आसक्ति छोडनी चाहिये। आसक्ति छोडकर चित्तवृत्तिकी समता धारण करके जो कर्म किये जाते हैं वे अपनी पवित्रता करनेवाले होते हैं, इस विषयमें भगवद्गीतामें ही कहा है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११
(भ गी ५)

जो मनुष्य आसक्ति छोडकर ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मोंको करता है, वह पानीमें कमलपत्रकी भांति पापसे लिप्त नहीं होता। योगी लोग आसक्ति छोडकर शरीरसे मनसे बुद्धिसे अथवा केवल इंद्रियोंसे भी आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं। इस रीतिसे आसक्ति छोडकर अर्थात् परमात्माको समर्पण करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं वे आत्माकी उन्नतिके लिये साधक होते हैं। इसलिये आगे कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
(भ गी १८)

हे पार्थ ! मेरी निश्चित और उत्तम संमति यह है कि ये सब कर्म आसक्ति छोडकर और फलेच्छाका त्याग करके करने ही चाहिये। कर्तव्य समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलकी इच्छा छोडकर किया जाता है उसीको सात्त्विक त्याग कहते हैं।'

यहां ब्रह्मार्पण अथवा ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्मकरनेका अर्थ क्या है इस बातका विचार करना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कर्म करता है वह स्वार्थसे करता है स्वार्थका अर्थ (स्व+अर्थ) अपने लिये, अपने एक जीव अथवा आत्माके सुखके लिये करता है तब एक आत्माके सुखको प्रधानता दी जाती है उस समय स्वयं ही सर्वात्मा अथवा परमात्माका विचार गौण होता है। अर्थात् सकाम कर्म करनेवाला मनुष्य अपने अंशरूप आत्माको प्रधान और सर्वव्यापक पूर्ण परमात्माको गौण मानता है। वस्तुतः परमात्मा मुख्य सर्वव्यापक परिपूर्ण है और व्यक्तिगत आत्मा उसीका अंश होनेसे गौण है। संपूर्ण सूर्य परमात्मा है तो उसकी एक किरण जीवात्मा है। किरणको प्रधान मानना और सूर्यका विचार न करना अज्ञानका काम है इसलिये कहते हैं कि कामनावृत्तिके लिये कर्म करना अज्ञानका द्योतक और ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर्म करना ज्ञान है। यह ज्ञान है इसीलिये इसका नाम यहां बुद्धियोग कहा है। इस विचारसे पाठक जान सकते हैं कि सकाम कर्मसे क्यों दोष होता है और निष्काम कर्मसे क्यों उन्नति होती है।

इस प्रकार प्रारंभसे अन्ततक श्रीमद्भगवद्गीतामें संगत्याग अर्थात् आसक्तिका त्याग और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेका उपदेश है। और यही कर्मयोग है। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्ताके लिए बाधक नहीं होते प्रत्युत कर्ताकी उन्नति करते हैं। भगवद्गीतामें जो समाधान कहा है वह यही है आसक्तिका त्याग कर सिद्धि असिद्धिके

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वय- हे धनंजय ! कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरं हि । बुद्धौ शरणं अन्विच्छ । फलहेतवः कृपणाः ॥ ४९ ॥ इह बुद्धियुक्तः उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । तस्मात् योगाय युज्यस्व । योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

हे अर्जुन ! (केवल सकाम) कर्म (समत्वरूप) बुद्धियोगसे बहुत कनिष्ठ है । अतः (समत्व) बुद्धिका आश्रय कर । फलके हेतुसे कर्म करनेवाले (लोग) निकृष्ट होते हैं ॥ ४९ ॥ इस जगत्में (समत्व) बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृतको छोड देता है । इसलिये (तू समत्वरूप बुद्धि) योगका साधन कर । (समत्व बुद्धि) योग कर्मोंमें कुशलता है ॥ ५० ॥

भावार्थ— केवल सकाम कर्म करनेकी अपेक्षा समभावकी बुद्धिसे निष्काम कर्म करना बहुत ही उत्तम है अतः मनुष्य समत्वबुद्धि धारण करे । केवल फलेच्छासे कार्य करना मनुष्यकी निकृष्ट अवस्थाका सूचक है ॥ ४९ ॥ इस जगत्में फलाशा छोडकर समत्वबुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य पापपुण्यसे दूर रहता है । इसलिये मनुष्य इस समत्वबुद्धिसे उद्योग करे । कर्म करनेकी कुशलताको ही समत्वबुद्धि योग कहते हैं ॥ ४९-५० ॥

सिद्धिमें सम भावना रखकर इस समत्वभावसे कर्म कर यह उपदेश अर्जुनको भगवान् यहां दे रहे हैं । हे अर्जुन ! तू युद्ध भूमिपर खडा है इस समय युद्ध कर्तव्यरूपसे तुम्हारे पास उपस्थित है अतः तू इस युद्धको ईश्वरार्पण कर इसकी सिद्धि अथवा असिद्धिका विचार न कर और अपना कर्तव्य समझकर कर । युद्ध करना तेरे अधिकारमें है इस युद्धका फल तेरे अधिकारमें नहीं है युद्धके फलकी इच्छासे युद्ध न कर और युद्ध न करनेमें भी रुचि न रख । यह उपदेश जैसा अर्जुनके लिए है वैसा ही सब जनताके लिए भी है । इस प्रकार कर्मयोगका उपदेश देनेके पश्चात् इसीका अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—

(४९-५) यहां कर्म और बुद्धि अथवा बुद्धि योग शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुए हैं । यहां कर्म शब्द का अर्थ सकाम कर्म है और 'बुद्धि अथवा बुद्धियोग' का अर्थ समत्वभावसे किये निष्काम कर्म है । इन दोनों की तुलना करके यहां बताया है कि सकाम कर्मकी अपेक्षा निष्काम कर्म अत्यंत श्रेष्ठ है । अतः सकाम कर्म और निष्काम कर्मका स्वरूप यहां स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक है—

सकाम	योग बुद्धियोग
सकाम कर्म	निष्काम कर्म (२।४७)
	(कर्मण्येवाधिकारः)
	अपना कर्ममें अधिकार ।
	(मा फलेषु कदाचन)
फल अपने लिये चाहना ।	फलपर अधिकार न रखना ।
	(मा कर्मफलहेतुः भूः)
फल हेतुसे कर्म करना ।	फलहेतुसे कर्म न करना ।
	(मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि)
आलस्यमें रुचि रखना ।	आलस्यमें रुचि न रखना ।
	(२।४८)
	(संगं त्यक्त्वा)
फलासक्तिसे कर्म करना ।	आसक्ति छोडकर कर्म करना ।
	(सिद्ध्यसिद्ध्योः समः)
सिद्धिसे आनंद और असिद्धिसे विषाद करना ।	सिद्धि असिद्धिमें निर्विकार समबुद्धि रखना ।
	(योगस्थः कुरु कर्माणि)
योग छोडकर कर्म करना ।	योगसे कर्म कर ।
	(५।१०)
	(ब्रह्मण्याधाय कर्माणि)
स्वार्थसे कर्म करना	ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करना ।

इस कोष्टकसे सकाम और निष्काम कर्मका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है । फलपर आसक्त न होते हुए समता धारके परमेश्वरको समर्पण करनेकी इच्छासे जो सब कर्म किये जाते हैं वे बुद्धियोगके युक्त कर्म हैं और फलासक्तिकी तीव्र इच्छासे, विषम भावनासे प्रेरित होकर अपने भोग बढानेके हेतुसे जो किये जाते हैं उनको सकाम कर्म केवल कर्म या तुच्छ कर्म कहते हैं ।

कामनासे जो किये जाते हैं उनका नाम सकाम कर्म है। यहाँ कामनाका अर्थ अपने भोग भोगनेकी कामना ही है। इस कामनावालोंका वर्णन १६ वें अध्यायमें निम्नलिखित प्रकार आया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
(भ॰ गी॰ १६)

वे कहते हैं कि जगत् असत्य है, निराधार है और इसका नियन्ता कोई नहीं है यह जगत् एक दूसरेके संयोगसे नहीं हुआ अपितु स्वयं हुआ है विषयभोग भोगनेके सिवाय इसका कोई दूसरा हेतु नहीं है। इस प्रकारके विचारोंको धारण करनेवाले भयानक कर्म करनेवाले मन्दबुद्धि दुष्ट लोग जगत्का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। कभी तृप्त न होनेवाली वासनाओंसे भरे हुए, दम्भी, मानी मदान्ध अशुभनिश्चयवाले मोहसे दुष्ट इच्छाओंको धारण करके दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। प्रलयतक समाप्त न होनेवाली अपरिमित चिन्ताका आश्रय करके कामभोगोंमें तत्पर भोगको ही सर्वस्व माननेवाले सैकड़ों आशाओंके जालमें फँसे हुए, कामी क्रोधी, अपने विषयभोग बढ़ानेकी इच्छासे अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। आज मैंने यह प्राप्त किया है इसके पश्चात् यह मनोरथ पूर्ण करूँगा, इतना धन आज मेरे पास है कल इतना हो जायगा इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरोंको भी ऐसे ही मार दूँगा मैं सामर्थ्यवान् हूँ, मैं भोग भोगनेवाला हूँ मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं श्रीमान् और कुलीन हूँ मेरे जैसा दूसरा कौन है! मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनन्द मनाऊँगा अज्ञानसे मूढ़ बने लोग इस प्रकारके विचार किया करते हैं। वे अनेक भ्रमोंमें पड़ते हैं, मोहजालमें फँसते हैं विषयभोगमें आसक्त होकर अपवित्र नरकमें गिरते हैं। अपनेको बड़ा माननेवाले घमंडी धन और मानसे मस्त बने लोग दंभसे विधिहीन यज्ञ करते हैं। वे लोग अहंकार बल घमंड काम और क्रोधका आश्रय करनेवाले निन्दा करनेवाले और उनके और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निंदा करते हैं। इन नीच द्वेषी क्रूर अमंगल आचरणोंको ईश्वर इस संसारकी अत्यन्त हीन आसुरी योनियोंमें बार-बार डालता है॥

पाठक इन श्लोकोंका मनन करेंगे तो सकाम कर्मोंके अन्तमें कैसा अनर्थ होता है इसका ज्ञान उनको हो सकता है। स्वार्थ अपने सुख बढ़ानेकी कामना अपने लिये दूसरोंके हकोंपर छुरी चलानेकी प्रवृत्ति आदि सब पाप कामनासे कर्म करनेसे होते हैं। एक बार कामना तृप्तिके पीछे पड़ा हुआ मनुष्य असुर बननेतक गिरता ही जाता है। हरएक इन्द्रियका सुख मुझे चाहिये मैं वह सुख प्राप्त करूँगा। उसका भोग करूँगा उस सुखके लिये हरएक प्रकारका यत्न करूँगा जो उसमें मेरा विरोध करेंगे उनका नाश करूँगा यदि धर्मानुकूल रहते हुए सब सुख मुझे नहीं मिले तो मैं जिस प्रकारके व्यवहार करनेसे सुख मिलेंगे वैसे व्यवहार करूँगा। यदि दूसरोंको कष्ट करके मुझे सुख मिलेंगे तो भी वह क्रूर कर्म मैं करूँगा। इस प्रकार प्रवृत्ति कामनाके पीछे पड़े हुए मनुष्यकी बनती जाती है। इस प्रकार गिरनेवालेको गिरावट क्रमशः होती रहती है। इसीलिये गीतामें फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करनेका विधान किया है। (इच्छा

फलहेतवः) फलकी कामनासे कर्म करनेवाले दीन और हीन हैं वे अतिनिकृष्ट दर्जेके मनुष्य हैं। जिन कर्मोंसे बन्धन होता है वे येही सकाम कर्म हैं।

कामना छोड़कर फलकी इच्छाका त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये कर्म कर्ताको दोष नहीं लगाते, इसी विषयमें वेद और उपनिषदोंके निम्नलिखित उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य हैं—

तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।
(बृ ४।४।२३)
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईश १।२)

उस परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर मनुष्य पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। इसलिये त्याग करके परोपकार करके-भोग कर मत ललचा मत (गृध = [illegible]) प्रजा [illegible] है सब प्रजाओंके हितके कार्य करनेके लिये ही सब धन है। इन कार्योंकी सिद्धिके लिये आवश्यक विविध कर्म करते हुए मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा कर ऐसा करनेसे कर्मका दोष नहीं लगता। ये वेद और उपनिषदोंके वचन हैं, इसके अनुसार गीताका उपदेश देखिये

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
(भ गी ४।१४)
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(भ गी ५।७)
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(भ गी ५।१०)
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
(भ गी १८।१७)

मेरे कर्मके फलकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्मका दोष नहीं लगता। समत्व बुद्धियुक्त योग करनेवाला पवित्र आत्मा संयमी और इंद्रियनिग्रही तथा सर्व भूतमात्रको अपने समान माननेवाला कर्म करता हुआ भी दोषोंसे अलिप्त रहता है॥ जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्तिरहित होकर करता है वह कर्मके दोषोंसे दोषी नहीं होता जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ नहीं भीगता॥ जिसको अहंकार नहीं और जिसकी बुद्धि मलीन नहीं है वह इन लोगोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और उस कर्मके कारण बन्धनमें भी नहीं पड़ता॥'

यहां ईश्वरार्पण कर्म करनेका अर्थ क्या है, निष्काम कर्मका आशय क्या और आसक्ति छोड़नेका भी क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट हुआ है। इसका आशय यह है- ' यस्य नाहंकृतो भावः) जिसके अन्दर अहंकार नहीं, मैं करता हूं और मैं भोक्ता यह स्वार्थभाव जिसमें नहीं है, जो जितेंद्रिय, आत्म-संयम करके शास्त्रविधिसे कर्म व्यवहार करता है और जो (सर्व-भूत आत्म भूत-आत्मा) सब भूतोंकी आत्मा जिसकी अपनी आत्मा है सब प्राणिमात्रोंको जो अपने आत्माके समान प्रिय मानता है सब प्राणीमात्रोंका हितसे जो अपना हित मानता है साधारण मनुष्यको अपने भोग बढ़नेसे जैसा संतोष होता है उस प्रकार सब भूतमात्रोंका हित साधन करनेमें जिसे समाधान होता है जो सब प्राणीमात्रोंके हित साधनका कार्य करना अपना कर्तव्यकर्म मानता है वह मानो ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करता है। सब भूतोंको अपनी आत्माके समान माननेकी कल्पनाके पाठकोंके मनमें स्थिर होनेपरही वे जान सकेंगे कि निष्काम और आसक्तिरहित कर्म कैसे किये जाते हैं। जो सब भूतोंको अपनी आत्माके समान नहीं मान सकता वह निष्काम कर्म कर नहीं सकता।

कई मनुष्य कहते हैं कि फलासक्ति न रखनेपर उत्तम तत्परतासे कर्म नहीं हो सकता परन्तु वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विरुद्ध होती है। फलासक्ति छोड़नेपर ही उत्तमसे उत्तम रीतिसे कर्म होना संभव होता है। इस जगत्में साधुसंत महापुरुष देश और धर्मके लिये कार्य करनेवाले जितने महात्मा हो गये हैं वे सबके सब स्वार्थकामनाको छोड़कर ही कार्य करते रहे इसीसे उत्तम विशेष कार्य हो सके और इसी कारण उनका नाम इस समयतक लिया जाता है। आज भी हम देखते हैं कि साधारण स्वार्थसाधक लोगोंकी

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अन्वयः— हि बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

इसलिये (समत्व) बुद्धिसे युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका (त्याग) दान करके जन्मबन्धनसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थानको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थ— मनुष्य ज्ञान प्राप्त करे समतारूप बुद्धिको अपने अन्दर धारण करे, और कर्म करे तथा उस कर्मके फलका सर्वभूतोंका हित करनेके लिये दान करके, जन्म और बंधनसे मुक्त होवे और दुःखों और क्लेशोंसे रहित परम पदको प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

अपेक्षा स्वार्थ छोडनेवाले ही विशेष कार्य कर रहे हैं।

जब मनुष्य अकेला होता है और जबतक उसके मनमें स्वार्थत्यागकी भावना नहीं जाग्रत होती तबतक वह केवल अपने लिये ही कार्य करता रहता है। जब वह गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होता है तबसे अपनी अर्धांगिनी धर्मपत्नीके लिये स्वार्थत्याग करता है यदि स्त्री पुरुषके लिये और पुरुष स्त्रीके लिये आत्मत्याग नहीं करेंगा तो वे गृहस्थाश्रमका सुख प्राप्त करनेमें असमर्थ होंगे। यहां स्वार्थत्याग आत्मसमर्पण अथवा दूसरेके लिये स्वत्वत्याग करनेका पहिला पाठ मिलता है। जब पुत्र उत्पन्न होता है तब मातापिता दोनों उस पुत्रके लिये आत्मसमर्पण करते हैं और पुत्रप्राप्तिका सुख प्राप्त करते हैं। अपने परिवारमें जिस प्रमाणसे परिवारिकोंकी संख्या बढती है उसी प्रमाणसे आत्मसमर्पणकी मात्रा बढती है। इसके पश्चात् जातिकी रक्षाके लिये और राष्ट्रकार्यके लिये आत्मत्याग करते हैं। इनमें स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण है। स्वार्थका विस्तार और आत्मसमर्पणका भी विस्तार होता जाता है और अपने अन्दरके निष्काम भावका भी साथ साथ विस्तार होता जाता है। अर्थात् मनुष्य इस रीतिसे निष्काम कर्मका पाठ सीखता है।

पाठक यहां अनुभव करें कि जो गृहस्थका कार्यमें जीवन होता है और जो केवल क्षुद्रविषयोंकी ओर ही देखता है ऐसा स्वार्थी मनुष्य भी यदि अपने कौटुंबिक जीवनमें सुख प्राप्त करना चाहे तो उसको आत्मसमर्पण करना पडता है जिस कुटुंबमें एक व्यक्ति दूसरेके लिये समर्पण करता है उसीमें आनंद प्राप्त हो सकता है। स्वार्थकी कामना छोडनेसे सुख और स्वार्थ बढानेसे दुःख होनेका अनुभव हरएक स्थानपर आता है। फिर जब मनुष्य सर्वभूतात्मा होता है अर्थात् सब भूतमात्रोंको आत्मवत् जानकर उनके लिये आत्मसमर्पण करेगा तब उसका आनन्द असीम होगा इसमें संदेह ही क्या हो सकता है? इसीलिये इन श्लोकोंमें कहा है कि (कृपणाः फलहेतवः) फलकी कामना करनेवाले कृपण दीन हीन अथवा अनुदारचित्त होते हैं। क्योंकि आनन्द प्राप्त करनेकी संभावना होते हुए भी वे दुःखके मार्गसे जाते हैं।

कर्म करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है परन्तु वह कर्म ऐसी युक्तिसे करना चाहिये कि जिससे मनुष्यको दोष न लगे और आनन्द प्राप्त होकर साथ साथ उन्नति भी हो। इसके साधनका नाम ही योग है देखिये— (योगः कर्मसु कौशलम्) कर्म करनेमें जो कुशलता है उसका नाम ही योग है। जो मनुष्य कुशलतासे कार्य करता है वह उसका उत्तम निर्दोष रीतिसे बनाता है। अर्थात् निर्दोष रीतिसे कार्य करनेका नाम योग है। वह निर्दोष रीति इन श्लोकोंमें कही है कि— आसक्ति छोडकर समत्वबुद्धिसे सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समवृत्ति रखकर कार्य करना और उस कार्यको सब भूतमात्रके हितके हेतुसे ईश्वरार्पण करना। इस युक्तिसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है। भगवद्गीता की विशेषता इस कर्मयोगकी युक्तिमें है। निष्काम भावसे कर्म करनेका वैदिक उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। इसी विषयमें आगेके श्लोकमें अधिक स्पष्टीकरण है। वह अब देखिये—

(५१) इस श्लोकमें सारांशसे वही बुद्धियोग कहा है कि जो पूर्वस्थानपर कहा था। यहां तीन नियम कहे हैं—

(१) बुद्धियुक्त होना, (२) मनीषी बनाना और (३) कर्मफलका दान करना।

इन तीन नियमोंके पालन करनेके दो फल कहे हैं (१) एक जन्म आदि बन्धनोंसे छूटना और (२) दूसरा दुःख-

फलहेतवः) फलकी कामनासे कर्म करनेवाले दीन और हीन हैं वे अतिनिकृष्ट दर्जेके मनुष्य हैं। जिन कर्मोंसे बन्धन होता है व वेही सकाम कर्म हैं।

कामना छोड़कर फलकी इच्छाका त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये कर्म कर्ताको दोष नहीं लगाते इसी विषयमें वेद और उपनिषदोंके निम्नलिखित उपदेश ध्यानमें धारण करने योग्य हैं—

तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।
(बृ ४।४।२३)

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईश १।२)

इस परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर मनुष्य पापकर्मोंसे लिप्त नहीं होता। इसलिये त्याग करके परोपकार करके-भोग कर मत ललचा, धन (कस्य = प्रजापतेः) प्रजा पालन कर्ताका है उन प्रजाजनोंके हितके कार्य करनेके लिये ही सब धन है। इस कार्यकी सिद्धिके लिये आवश्यक विविध कर्म करते हुए मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करे ऐसा करनेसे कर्मका दोष नहीं लगता। ये वेद और उपनिषदोंके वचन हैं इनके अनुसार गीताका उपदेश देखिये

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
(भ गी ४।१४)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(भ गी ५।७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(भ गी ५।१)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
(भ गी १८।१७)

मेरी कर्मोंके फलकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्मोंका दोष नहीं लगता। समत्व बुद्धिरूप योग करनेवाला पवित्रात्मा संयमी और इंद्रियनिग्रही तथा सर्व भूतमात्रको अपने समान माननेवाला कर्म करता हुआ भी दोषोंसे अलिप्त रहता है॥ जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्तिरहित होकर करता है वह कर्मके दोषोंसे दोषी नहीं होता, जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ नहीं भीगता॥ जिसको अहंकार नहीं और जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है वह इन लोकोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और उस कर्मके कारण बंधनमें भी नहीं पड़ता॥'

यहां ईश्वरार्पण कर्म करनेका अर्थ क्या है, निष्काम कर्म का आशय क्या और आसक्ति छोड़नेका भी क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट हुआ है। इसका आशय यह है- (यस्य नाहंकृतो भावः) जिसके अन्दर अहंकार घमंड नहीं 'मैं करता हूं और मैं भोगूंगा यह स्वाभाव जिसमें नहीं है, जो जितेंद्रिय आत्म-संयम करके, शान्तबुद्धिसे कर्म व्यवहार करता है और जो (सर्व भूत-आत्म भूत-आत्मा) सब भूतोंकी आत्मा जिसकी अपनी आत्मा है उन प्राणिमात्रोंको जो अपने आत्माके समान प्रिय मानता है, सब प्राणीमात्रोंका हितके जो अपना हित मानता है साधारण मनुष्यको अपने भोग बढानेसे जैसा संतोष होता है उस प्रकार सब भूतमात्रोंका हित साधन करनेमें जिसे समाधान होता है, जो सब प्राणीमात्रोंके हित साधनका कार्य करना अपना कर्तव्यकर्म मानता है, वह मानों ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करता है। सब भूतोंको अपनी आत्माके समान माननेकी कल्पनाके पाठकोंके मनमें स्थिर होनेपरही वे जान सकेंगे कि निष्काम और आसक्तिरहित कर्म कैसे किये जाते हैं। जो सब भूतोंको अपनी आत्माके समान नहीं मान सकता वह निष्काम कर्म कर नहीं सकता।

कई मनुष्य कहते हैं कि फलासक्ति न रहनेपर उत्तम तत्परताके काम नहीं हो सकता परन्तु वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विरुद्ध होती है। फलासक्ति छोड़नेपर ही उत्तमसे उत्तम रीतिसे कर्म होना संभव होता है। इस जगत्में साधुसंत सत्पुरुष देश और धर्मके लिये कार्य करनेवाले जितने महात्मा हो गये हैं वे सबके सब स्वार्थकामनाको छोड़कर ही कार्य करते रहे इसीसे उत्तम विशेष कार्य हो गये और इसी कारण उनका यश इस समयतक चला आता है। आज भी हम देखते हैं कि साधारण स्वार्थपरायण लोगोंकी

मालूम हमें ठीक पता लगेगा, अतः दानके तीन भेद अब देखिये—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
(भ. गी. १७)

यह समझकर कि दान देना योग्य है जो दान बदलेकी आशा न रखकर देश काल और पात्रका विचार करके दिया जाता है वह सात्त्विकदान है। जो दान बदलेकी आशासे या फल विशेषकी इच्छासे और दुःखी होकर दिया जाता है वह दान राजसिक है। देशकाल और पात्रका विचार किये बिना तथा आदर सत्कारके बिना तथा तिरस्कारपूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामसदान कहा जाता है।

यहां तीन प्रकारके दान कहे हैं। इनमें कर्तव्यबुद्धिसे देशकाल पात्रके विचारसे दिया हुआ दान श्रेष्ठ, बदलेकी और फलकी आशासे तथा बड़े कष्टके साथ जो दिया जाता है वह मध्यम और जो देशकाल पात्रापात्रका विचार न करके तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह अधमदान है। उत्तमका फल उत्तम और अधमका अधम फल होता है। इसलिये जो त्याग और दान श्रेष्ठ होगा उसीका फल बन्धनसे मुक्ति और क्लेशहीन अवस्थाकी प्राप्ति होना स्वाभाविक है।

इतने विचारसे हम कह सकते हैं कि जो कर्मके फलका त्याग अथवा दान करता है अथवा (१) कर्तव्य समझकर (२) निरपेक्षतासे (३) लोभ छोड़कर (४) प्रत्युपकारकी इच्छा न रखकर (५) योग्य देशमें (६) योग्य समयमें (७) योग्य पात्र देखकर और (८) योग्य रीतिसे जो किया जाता है वही बन्धनसे मुक्ति करनेवाला और आनन्द देनेवाला होता है।

कर्मका फल अपने लिये न रखकर उसका सब जनताकी भलाईके लिये योग्य रीतिसे समर्पण करना चाहिये। यही एक युक्ति है जिससे मनुष्य पारतन्त्र्यसे मुक्त होकर आनन्द प्राप्त कर सकता है, त्यागका अर्थ यह है और यही मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है। एक कृषीवल प्रयत्न करके उत्तम खेतीका कार्य करे जो इस कर्मका फल धान्य रूपसे प्राप्त होगा उसका सत्पात्रमें जनताकी भलाईके लिये समर्पण करे। इसी प्रकार अन्यान्य कर्मफलोंके त्याग करनेके विषयमें जानना योग्य है। पाठक इस फलत्याग विषयको इस ढंगसे समझनेका यत्न करें। अब इसके पश्चात् इस त्यागसे होनेवाले दो फलोंका विचार करेंगे। बन्धनमुक्तता और आनन्दमय स्थानकी प्राप्ति ये दो फल इसके हैं। इनसे क्या लाभ मिलता है इसका अब हम विचार करते हैं—

साधारणतः मनुष्य अनेक बंधनोंमें पड़े हैं, और बंधनोंके कारण विविध दुःख भोगते हैं। बंधन पारतन्त्र्य परवशता पराधीनता ही दुःख है। इस दुःखको दूर करनेके लिये ही यह कर्मयोग है और इस कर्मयोगका यथावत् करनेके लिये कर्मफलका त्याग करनेकी युक्ति यहां कही है। अर्थात् बंधन अथवा पारतंत्र्य दूर करनेके लिये कर्मफलका त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। कर्मका फल अपने लिये रखनेसे बंधन होता है और वह फल सब जनताके लिये दान करनेसे बंधनकी निवृत्ति होती है। इसके लिये एक उदाहरण हम देते हैं।

एक ग्राम है और उसमें सौ कुटुंब रहते हैं और उस ग्राममें हजार बीघे भूमि है। अर्थात् प्रत्येक कुटुंबके भागमें दस बीघा भूमि आती है। यह विभाग इसीलिये इस बीघेकी मर्यादा बतानेवाली बाड़ लगानी पड़ती है। प्रत्येकका स्वार्थ-अलग अलग होनेके कारण प्रत्येककी मर्यादाका दर्शानेवाला बन्धन हरएकके चारों ओर होना अनिवार्य है। परन्तु यदि हरएक मनुष्यने अपनी भूमिका दान सब ग्रामकी भलाईके लिये दिया अथवा सब ग्रामीण लोग अविभक्त रहे और अविभक्त रहकर सब मिलकर संपूर्ण ग्रामकी खेती आदि व्यवहार यथान्याय करने लगे तो उस समय विभक्त अवस्थाके कारण होनेवाली मर्यादाके बंधन लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी। एक ग्राम अविभक्त होनेके कारण अथवा हरएकका स्वार्थ समुदायके हितके लिये समर्पित होनेके कारण अथवा व्यक्तिका स्वार्थ समुदायका स्वार्थ हो जानेके कारण वैयक्तिक मर्यादाका बंधन रखना अनावश्यक हो जाता है। इसी प्रकार जितनी बातें

रहित स्थानको प्राप्त करता । क्रमशः अब इनका विचार करते हैं—

(बुद्धियुक्तः) बुद्धियुक्त होना । बुद्धि का यहाँ प्रकरणानुकूल अर्थ समत्व भावनासे युक्त बुद्धि है जो इस कर्मयोगमें अत्यंत आवश्यक है । जातिके भेद रंगके भेद और इनके भेद न देखकर मानवमात्रकी जो विशेष समता है, उसको मनमें स्थिर करनेसे यह समत्व बुद्धि प्राप्त की जा सकती है । शीतउष्ण हानिलाभ सुखदुःख जयपराजय होनेपर भी उनके द्वारेमें कलुषितता न लाकर अपने कर्तव्य कर्मपर स्थिर रहना यह भी एक प्रकारकी बुद्धिकी समता ही है । इस प्रकारकी बुद्धिसे जो मनुष्य युक्त होते हैं, अर्थात् जिनकी ऐसी बुद्धि होती है उनको यहां बुद्धियुक्त कहा है । कर्मयोगके विषयोंके अनुसार चलनेके लिये इस समतारूप बुद्धिकी अत्यंत आवश्यकता है ।

(मनीषिणः = मनस ईशे इति मनीषी) अपनी मनकी काबिमें जो मनुष्य रखता है उसको मनीषी कहते हैं मन आदि सम्पूर्ण इंद्रियोंको अपने आधीन रखनेवाला मनीषी कहलाता है । इंद्रियोंका स्वैर संचार जिसने बंद किया है और अपने सब इंद्रियोंको जो विवेक मार्गपरसे ही चलाता है, वही इंद्रियसंयमी मनुष्य यहांके मनीषी शब्दसे लेना योग्य है । इस श्लोकमें जो पद कहे हैं वैसे ही मनुष्यको मिलते हैं । मनीषी शब्दका दूसरा अर्थ ज्ञानी है परन्तु वह भाव पूर्वोक्त बुद्धियुक्त शब्दसे व्यक्त हुआ है, अतः यहां मनीषी शब्दसे केवल ज्ञानी अभीष्ट नहीं है अपितु अपने ज्ञानसे जिसने अपने इंद्रिय स्वाधीन किये हैं ऐसा आत्मसंयमी यहां अभीष्ट है ।

समत्व बुद्धिसे युक्त बनकर अपनी इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य (कर्मजं फलं त्यक्त्वा) कर्मसे उत्पन्न हुआ फल त्यागकर बन्धनोंसे मुक्त होता है । अब यहां विचार करना चाहिये कि कर्मफलत्यागका अर्थ क्या है ? त्यागका अर्थ अस्वीकार प्रसिद्ध है परन्तु केवल अस्वीकार अर्थ करनेसे यहां पूर्णता नहीं होती है । मान लीजिये कि एक किसान है जिसने अपना खेत बोया है इसके कृषिरूप कर्मसे उसको बहुत धान्य प्रतिदिन अथवा फल प्राप्त हुआ है । इसके इस फलको वह कृषीबल त्यागना चाहता है वह कैसे त्याग करे ? यह प्रश्न यहां है । भूमिमें धान्य न डालना एक त्याग होता है भूमिपर स्थित धान्य वहां फेंक दूसरा त्याग होता है, प्राप्त धान्यका गरीबोंको योग्य रीतिसे दान देनेसे तीसरा त्याग होता है । ऐसे अनेक प्रकारके त्याग संभव हैं इनमेंसे कौनसा त्याग अच्छा योग्य है और किस प्रकारके त्यागसे वह किसान अथवा हरएक मनुष्य बन्धनबन्धनसे मुक्त होकर शेवटीत स्थानको प्राप्त कर सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारे मतसे यहां त्याग शब्दसे दान अर्थ अभीष्ट है और जब अपने कर्मफलका कोई मनुष्य लोगोंकी भलाईके लिये समर्पण करता है, उसी समय वह बंधनोंसे मुक्त होकर आनन्द प्राप्त कर सकता है । इसलिये यहां त्याग कितने प्रकारका है इसका विचार करते हैं भगवद्गीतामें तीन प्रकारके त्यागोंका वर्णन है—

> त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥
> नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
> मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
> दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
> स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
> कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
> संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः
> ॥९॥ (भ. गी. १८)

त्याग तीन प्रकारका है, मोहवश होकर जो त्याग होता है उसको तामसत्याग कहते हैं । दुःखदायी समझ कर शरीरके कष्टके डरसे जो त्याग होता है उसका राजस त्याग कहते हैं और इसलिये उसे त्यागका फल नहीं मिलता । कर्तव्य समझकर नियत कर्म आसक्तिको त्याग किया जाता है उसका नाम सात्त्विकत्याग है । ' इस स्थान पर भगवद्गीताने कर्मत्यागके तीन भेद कहे हैं तथापि हमारा मतः हम ऐसा बोध इससे ले सकते हैं कि (१) मोहसे होनेवाला त्याग अधर्म है (२) कष्टोंके डरसे होनेवाला त्याग मध्यम और (३) कर्तव्यबुद्धिसे होनेवाला त्याग उत्कृष्ट है । इस कसौटीसे यदि हम देखेंगे तो हमें पता लगेगा कि पहिले दोनों प्रकारके त्याग कुछ काम देनेवाले नहीं हैं केवल तीसरा सात्त्विकत्याग श्रेयस्कर है । इनमें प्राय यदि हम इनोंके तीन भेद यहां देखेंगे तो इनका

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला । समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अन्वयः— यदा श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः निश्चला (भूत्वा) समाधौ अचला स्थास्यति तदा योगं अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब अनेक प्रकारके वक्तव्य श्रवण करनेसे तेरी घबराई हुई मति निश्चल होकर एकाग्रतामें स्थिर होगी, तब तू इस समत्वयोगको प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

भावार्थ— साधारण मनुष्यकी मतिपर मोहके मल लगे रहते हैं, उनको धोकर मतिको पवित्र करना चाहिये। मतिके इस प्रकार पवित्र होनेसे ही विषयभोगोंके संबंधमें विरक्तता होती है। इस वैराग्यसे मतिकी चंचलता दूर होती है और वह स्थिर होती है तत्पश्चात् मनुष्य इस समत्वरूप योगका आचरण करनेमें समर्थ होता है ॥ ५२–५३ ॥

(२) [निर्वेदं गन्तासि] = विरक्त होना

(३) [निश्चला बुद्धिः] = बुद्धिका चंचलतारहित होना,

(४) [समाधौ अचला स्थास्यति] = समत्व-बुद्धिमें स्थिर रहना और अन्तमें—

(५) [योगं अवाप्स्यसि] = इस योगको प्राप्त होना

साधारण मनुष्यकी बुद्धि इन चार अवस्थाओंमेंसे गुजर कर पांचवी योगावस्थामें स्थिर होती है। इन चारों अवस्थाओंका विचार अब करना चाहिये—

सबसे पहिली मोह-कलिलावस्था है। इस अवस्थामें स्थित मनुष्य मोहके कीचडमें फँसा रहता है। अब मोहसे यह मलिनताकी अवस्था समझिये। मोहके कारण मनुष्य विषयोंके कीचडमें फंसता है। शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये पांच विषय कर्ण त्वचा नेत्र रसना और नासिका इन इंद्रियोंके हैं। जब मनुष्य मोहसे इन इंद्रियोंद्वारा इन विषयोंके कीचडमें फसता है तब उसका बल क्षीण होता है उसको मलिनता प्राप्त होती है और परतंत्रताका दुःख भोगना पडता है। इस अवस्थामें रहता हुआ मनुष्य मानता है कि 'बाह्य विषयोंके उपभोगसे ही मुझे आनन्द मिलता है' इस भ्रमके कारण वह बाह्य विषय बढाता जाता है और जैसे जैसे उसके विषय बढते जाते हैं वैसे वैसे उसका दुःख भी बढता जाता है। इस रीतिसे जब वह दुःख, शोक और क्लेशमें फसा हुआ तडपता है और अन्तमें किसी सद्गुरुकी प्रेरणासे उसको विदित होता है कि इस मोहजालसे दूर होनेके बिना दूसरा कोई उपाय आनन्द प्राप्त करनेके लिये नहीं है। जब यह उसका निश्चय हो जाता है तब वह मोहके कीचडसे दूर जानेका यत्न करता है।

यहां पाठकोंको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि यह कीचड या मल किस रीतिसे धोया जाता है? यहां हम संक्षेपसे उदाहरणके लिये इसकी रीति बताते हैं। सबसे बडा कीचड काम का है विशेषतः स्त्रीविषयक भोगेच्छाका धर्ममर्यादाका अतिक्रमण करवाना बहुत ही भयानक है। इसमें फंसा हुआ मनुष्य अनेक तरहसे गिरता है। इससे बचनेका उपाय ब्रह्मचर्य पालन है। ब्रह्मचर्यपालनसे वीर्यरक्षण होता है, शारीरिक बल बढता है मनका उत्साह अचल रहता है और कामके कीचडसे मुक्तता होती है। ब्रह्मचर्यका अर्थ (ब्रह्म) महती शक्ति प्राप्त करनेके लिये (चर्य) विशेष प्रकारका आचरण करना। ब्रह्म का अर्थ महत्व श्रेष्ठ शक्ति आत्मा परमात्मा। इसकी प्राप्ति करनेके लिये आवश्यक सदाचरण करना। मनुष्यके अन्दर जो दिव्य आत्मशक्ति है उसका पूर्ण विकास करनेके लिये योग्य आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। संपूर्ण इंद्रियोंका संयम करनेसे ही इस ब्रह्मचर्यकी पालना होती है और इसके पालन करनेसे काम के कीचडसे मुक्तता होती है।

दूसरा कीचड लोभ का है। इसको धोनेके लिये अपरिग्रहके पालन करनेकी आवश्यकता है। अपरिग्रहका अर्थ अपने पास संग्रह न रखना है। घर खेत पदार्थ धनधान्य आदि अनेक प्रकारके संग्रह मनुष्य अपने पास बढाता है और क्रमशः लोभके कीचडमें फंसता है। अतः अपरिग्रह व्रतके पालनसे मनुष्य लोभरूपी दोषको दूर करे। तीसरा दोष क्रोध का है। इसको दूर करनेके लिये अहिंसा व्रतका पालन करना चाहिये। अहिंसाका अर्थ दूसरोंकी हिंसा न करना ही केवल नहीं है अपितु मन विचार उच्चार और व्यवहारसे दूसरोंको दुःख हो ऐसा कोई कार्य न करना।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अन्वयः— यदा ते बुद्धिः मोह कलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि ॥ ५२ ॥

जब तेरी मति मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनताको दूर करेगी, तब तुझे सुने हुएके और सुननेके विषयोंके संबंधमें उदासीनता प्राप्त होगी ॥ ५२ ॥

उसकी वैयक्तिक स्वार्थकी मर्यादा दूर जायगी उतने ही बंधन दूर होंगे। अपने कर्मका फल मैं भोगूंगा यह वैयक्तिक अभिमान जब समुदायके हितके लिये नष्ट होगा इस प्रकार एक-एक अहंकार नष्ट होते होते व्यक्तिक मर्यादा जो परमेश्वरकी अमर्याद स्थिति है उस अमर्याद सत्ताके लिये ही सब कर्म और कर्मोंके फल समर्पित होंगे तब पूर्वोक्त कारणसे ही कोई बंधन अवशिष्ट नहीं रहेंगे क्योंकि उस समय एक भी वैयक्तिक अहंकार बंधन उत्पन्न करनेके लिये स्थानपर नहीं होता।

वैयक्तिक सत्ताका अभिमान और उसकी भोगवासना अवशिष्ट रहनेके कारण जन्म लेना आवश्यक होता है और जन्मके पश्चात् विविध दुःख भोगना भी अपरिहार्य होता है। परंतु जब पूर्वोक्त प्रकार जन्मका मूल कारण वैयक्तिक अभिमान समूल नष्ट होता है अथवा आत्मसर्वस्वका पूर्णतया समर्पण परमेश्वरके लिये हो जाता है तब जन्म और बंधनका कोई कारण शेष नहीं रहता और वह जन्म-बंधनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार बंधनसे जो छूटा ही उस अनुपम आनन्दके स्थानको प्राप्त करता है। जहां दुःखका लेश भी नहीं है और केवल शिव आनन्द ही जहां है वह स्थान उसीको प्राप्त होता है जिसके वैयक्तिक अहंकारका नाश समूल नाशको प्राप्त होता है।

इसी अध्यायके श्लोक २१-२९ की व्याख्याके प्रसंगमें बता दिया है कि जागृतिमें अल्प अवस्था रहती है और सुषुप्तिमें भूमा अवस्था जीवात्माको प्राप्त होती है। [यह सब टिप्पणी पाठक वहां देखें।] जाग्रत अवस्थामें व्यक्तिगत अभिमान जाग्रत रहनेके कारण आत्मा अल्प अवस्था में रहता है और शरीरके दुःख भोगता है; परंतु जब इसीकी जागृति नष्ट होती है और साथ-साथ अल्पा-वस्था भी नष्ट होती है और जब वह सुषुप्तिमें पहुंचकर भूमा अवस्था का अनुभव लेने लगता है तब इसको शरीरके कोई दुःख कष्ट नहीं पहुंचा सकते। अल्प अवस्थाके पद को छोडने और भूमा अवस्थाके महानन्द अर्थात् दुःख रहित पद को प्राप्त करनेसे ही मनुष्यको अनुपम आनन्द मिलता है। ये दो (पद) स्थान भिन्न-भिन्न हैं।

मनुष्यका शरीर अनेक रोगोंसे कुष्ठादिकोंसे युक्त होनेपर भी जब वह जागृतिके पदको छोडकर सुषुप्तिके पदको प्राप्त करता है उस समय शरीरके समस्त दुःखोंसे मुक्त रहता है। यह अनुभव हरएकको प्राप्त है। यहां पाठक यह भी जान सकते हैं कि जैसा जागृतिके पदमें निवास करनेतक वैयक्तिक अहंकार जाग्रत रहता है वैसा सुषुप्तिके पदमें निवास होनेपर नहीं रहता अतः यह कहना अयोग्य नहीं है कि वैयक्तिक अभिमान जाग्रत रहनेतक ही दुःखका अनुभव होता है और जिस समय यह अहंकार क्षीण हो जाता है तब उस अहंकारके साथ सब दुःख भी दूर हो जाते हैं और वह मनुष्य उस पदपर पहुंचता है कि जहां शिव आनन्द ही आनन्द है और दुःखका लेश भी नहीं है। यह अवस्था मनुष्य तब प्राप्त कर सकता है जब कि वह—

१ (बुद्धियुक्तः) समबुद्धिसे युक्त
२ (मनीषी) मन आदि इंद्रियोंका दमन करनेवाला और—
३ (कर्मजं फलं त्यक्त्वा-इत्वा) कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलका सब भूतमात्रोंके हितके लिये समर्पण करनेवाला बनता है। जब ये इसके लिये स्वभाव बनते हैं तब उसको यह सहज आनन्द स्वभावतः प्राप्त होने लगता है। यही मानवी उन्नतिकी अन्तिम सीमा है। इस सीमातक कौन मनुष्य पहुंच सकते हैं अर्थात् इस परम पदको प्राप्त करनेकी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये इसका मार्ग आगेके दो श्लोकोंमें बताया है—

(५२-५३) इन श्लोकोंमें साधारण मनुष्यकी बुद्धिके उन्नत होनेका क्रम बताया है।

(१) [मोहकलिलं बुद्धिः व्यतितरिष्यति] = मोहके कीचडसे बुद्धिका पार होना,

(१९) स्थितप्रज्ञके लक्षण

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव । स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अन्वयः- अर्जुन उवाच- हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ? स्थितधीः किं प्रभाषेत ? किं आसीत ? किं व्रजेत ? ॥ ५४ ॥

अर्जुनने पूछा- समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? स्थितप्रज्ञ किस तरह बोले कैसे बैठे और कैसे चले ? ॥ ५४ ॥

भोगोंमें आसक्त हुए मनुष्योंकी चञ्चल बुद्धि समाधिमें स्थिर नहीं रहती और भोगसे विरक्त मनुष्योंकी बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें स्थिर रहती है और समत्वरूप योग मार्गका आक्रमण करती है । इन दो श्लोकोंका साथ साथ मनन करनेसे बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस रीतिसे साधारण मोहके कीचड़में फँसा हुआ मनुष्य क्रमशः उन्नत होता हुआ अपना चित्त स्थिर करके योग-साधनसे परम उन्नतिको प्राप्त कर सकता है । इन श्लोकोंमें जो उन्नतिका क्रम बताया है, वह हरएक साधकको बड़ा बोधप्रद हो सकता है । अतः पाठक इन श्लोकोंका उत्तम प्रकार मनन करें ।

यहां श्रुति-विप्रतिपन्ना बुद्धि ये शब्द भेदर उत्पन्न करनेवाले हैं । श्रुति शब्दका अर्थ श्रवणसे प्राप्त ज्ञान यह एक होता है और वेद यह इसका दूसरा अर्थ है । कई लोग यहांके श्रुति शब्दका वेद अर्थ लेकर इस श्लोकका ऐसा अर्थ करते हैं कि वेद-श्रवणसे बिगड़ी या चञ्चल हुई मति जिस समय चञ्चलता छोड़ देगी तब वह समाधिके लिये समर्थ होगी । यह अर्थ इस श्लोकका नहीं है और यहां 'श्रुति' शब्दसे वेद अर्थ अभीष्ट भी नहीं है । इसके पूर्वके श्लोकमें श्रुत श्रोतव्य ये दो शब्द जिस अर्थमें पड़े हैं उसी अर्थका श्रुति शब्द यहां है । ये तीनों शब्द श्रुत श्रुति और श्रोतव्य एक ही धातुसे बने हैं और यहां उनका अर्थ भोगोंके वर्णनोंका श्रवण इतना ही है । विविध मतवाले लोग अपने अपने मतमें आनेसे उनको बहुतसे भोग मिलेंगे ऐसा श्रवणमधुर भाषण करते हैं । वह भाषण श्रवण करनेसे त्यागके योगमार्गके आचरणमें करनेकी प्रवृत्ति हट जाती है और उन भोगोंको प्राप्त करनेमें रुचि बढ़ती है । ऐसे बहुतसे उपदेश श्रवण करनेसे बिगड़ी बुद्धि जब विरक्तिसे शान्त होगी, तब वह समाधिके लिये तथा समत्वरूप योगसाधनके लिये समर्थ होगी, यह आशय यहां है । यहां वेदकी निन्दा नहीं है । क्योंकि (स्वर्वेद मुञ्जीथाः, मा गृधः । यजु ४० । १) त्यागसे भोग कर मत ललचा । यही वेदका उपदेश त्रिकालसे यहां कहा है जो इस कर्मयोगका मूल सूत्र है । अतः श्रुति शब्दका अर्थ यहां सामान्य उपदेशोंका श्रवण ऐसा लेना योग्य है ।

अर्जुनका मन दयावादि प्रमुख उपदेशकोंके उपदेश श्रवण करनेसे चञ्चल हुआ था, वह उस कारण अपना स्वाभाविक कर्म छोड़नेको और विपरीत मार्गपर चलनेको तैयार हुआ था । अतः यहां भगवान् कहते हैं कि ऐसे विपरीत उपदेशकोंके व्याख्यान सुननेसे तुम्हारा मन चञ्चल हुआ है । जब उसकी यह चञ्चलता दूर होगी तब इस समत्वरूप योगका आचरण करनेके लिये वह स्थिर होगा ।

इतना उपदेश भगवान्के मुखारविन्दसे सुननेके पश्चात् अर्जुन जानना चाहता है कि स्थिरबुद्धि होनेसे क्या लाभ होता है मनुष्य क्या करता है उसका आचरण कैसा होता है इत्यादि स्थिरबुद्धिवाला अर्जुनका प्रश्न—

(५४) श्रीमद्भगवद्गीताका आदर्श मनुष्य 'स्थितप्रज्ञ' शब्दसे बताया है । मनुष्योंके दो भेद होते हैं एक 'स्थितप्रज्ञ' और दूसरे चञ्चलप्रज्ञ । जिनकी प्रज्ञा चञ्चल होती है वे हीन अवस्थाको प्राप्त होते हैं और जिनकी प्रज्ञा स्थिर होती है वे उच्च अवस्थामें विराजते हैं । चञ्चलप्रज्ञ मनुष्य सब जगत्में भरे हैं स्थितप्रज्ञ ही विरले हैं । उन्नति चाहनेवाले हरएक मनुष्यकी बुद्धिकी चञ्चलता छोड़नी और स्थिरता प्राप्त करनी आवश्यक है । इस प्रकार स्थितप्रज्ञ बना मनुष्य एक तो समाधिमें रहता है अथवा जागृतिमें व्यवहार करता है । जागृतिके व्यवहारमें भी उसकी बुद्ध

इतना ही नहीं अपितु अपने विचारसे मानसमें और आचरणसे दूसरोंको दुःख हो ऐसा आचरण करना। इस अहिंसाके बोधका मल दूर हो जाता है इसके साथ साथ सत्य-पालन अस्तेय अर्थात् चोरी न करना अर्थात्, वाणी मन आदिकी पवित्रता रखना, संतोषकी वृत्ति धारण करना, शीतोष्ण सहन करनेका तप आचरण करना उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन करना और सदा परमेश्वरकी भक्ति करना ये और ऐसे अनेक उपाय हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने मलोंको दूर कर सकता है और मोहके कीचडसे अपने आपको बचा सकता है।

मनुष्यके पास कान त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका ये इंद्रियें हैं और इनसे शब्द स्पर्श रूप रस और गंधका भोग किया जाता है। इन भोगोंमें फंसनेवालोंको रोगादिकोंका दुःख भोगना पडता है अतः भोगोंमें न फंसनेका यत्न करना अत्यंत आवश्यक है। इसलिये मनुष्य निश्चय करे कि मैं अच्छे शब्दोंका ही श्रवण करूंगा अच्छे ग्रंथ ही पढूंगा और अच्छे शब्द ही बोलूंगा, रसनाकी स्वाधीनताके लिये स्वादमें न फसूंगा और अ-स्वाद अन्नका सेवन करूंगा स्वास्थ्यके लिये जिस अन्नकी आवश्यकता है, वैसा ही अन्न खाऊंगा और स्वाद बढानेवाला अन्न न खाऊंगा। स्पर्शके विषयमें तथा रूपादिके विषयमें इसी प्रकार अन्यान्य अन्योंके विषयमें भी मैं यत्नपूर्वक संयमका मार्ग स्वीकार करूंगा। इस रीतिसे प्रयत्न करनेपर मनुष्य मोहके आवरणको तोड सकता है कीचडको धो सकता है और आवरक अन्धकारको दूर कर सकता है। इस रीतिसे व्यवहार करनेपर मनुष्य अपनी बुद्धिके मोहरूप आवरणको (बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति) हटा सकता है और अपनी बुद्धिको स्वच्छ पवित्र और मलहीन कर सकता है।

इसी कारणसे मनुष्यकी बुद्धि जैसी जैसी शुद्ध होती जाती है वैसा वैसा वह मनुष्य भोगोंसे विरक्त होता जाता है। (निर्वेदं गन्तासि) भोगोंके विषयमें उदासीन होनेके बिना मनुष्य कदापि अध्यात्मविद्याका ग्रहण नहीं कर सकता। अतः बुद्धिका मल धोना और विषयभोगोंके संबंधमें उदासीनता धारण करना ये दोनों कार्य साथ साथ होते जाते हैं। ये एक दूसरेपर अवलंबित हैं। जितनी भोगविषयमें विरक्ति होगी उतना ही (मोहकलिल) मोहका कीचड धोया जायगा।

इस प्रकार इन दो कार्योंमें प्रगति होनेपर (निश्चला बुद्धिः) बुद्धिकी चंचलता दूर होती जायगी। भोगी लोगोंकी बुद्धि ही चंचल होती है क्योंकि एक ही भोग बहुत काल तक भोगा नहीं जाता, थोडे समयके पश्चात् उससे ऊब हो जाती है और दूसरे भोगमें रुचि उत्पन्न होती है। इस कारण भोगी लोग चंचलवृत्तिवाले होते हैं। इसी अध्यायमें पूर्वस्थलमें कहा है कि—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।
(भ. गी. २।४१)

अव्यवसायी अर्थात् भोगी लोगोंकी बुद्धियां अनन्त और उनकी भी अनन्त शाखाएं होती हैं। इस कारण उनका चित्त समाधिके लिये योग्य नहीं होता है। (इस प्रसंगमें भ. गी. अ. २ श्लो. ४१—४४ तक टिप्पणी-सहित देखने योग्य है पाठक उसको यहां अवश्य देखें।) तात्पर्य यह है कि भोगी लोगोंकी चित्तवृत्ति चंचल होती है अर्थात् भोगसे निवृत्त हुए विरक्त लोगोंकी चित्तवृत्ति (बुद्धिः निश्चला) शान्त होती जाती है। पूर्वोक्त प्रकार विरक्त हुआ मनुष्य अपनी चित्तवृत्ति शान्त हो रही है इस बातका अनुभव करता है।

चित्तवृत्तिकी शांति जब बहुत देरतक स्थिर रहने लगती है अथवा जब वह स्वभाव बन जाता है तब इसकी बुद्धि (समाधौ अचला स्थास्यति) परमात्मामें स्थिर रहती है। यहां ये दो श्लोक साथ साथ देखने योग्य हैं—

अयोगबुद्धि	योगबुद्धि
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां ... बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (भ. गी. २।४४)	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। ... तदा गन्तासि निर्वेदं। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि (भ. गी. २।५२-५३)
भोगी लोगोंकी बुद्धि समाधिके योग्य नहीं होती।	जब बुद्धि मोहमलसे दूर होती तब विरक्ति होती और तत्पश्चात् समाधिमें बुद्धि स्थिर होकर योगके योग्य होती।

इन दो श्लोकोंमें परस्परविरुद्ध बुद्धियोंका वर्णन है।

अन्वयः— हे पार्थ ! यदा (नरः) मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति आत्मनि एव आत्मना तुष्टः (भवति) तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥५५॥ दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः, वीतराग-भय-क्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥५६॥ यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥ कूर्मः अङ्गानि इव, यदा च अयं इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियाणि सर्वशः संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

हे अर्जुन ! जब मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका त्याग करता है और अपने आत्मामें आत्माद्वारा ही सन्तुष्ट रहता है तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥ दुःखोंमें जिसका मन उदास नहीं होता और सुखोंमें जिसकी आसक्ति नहीं होती प्रीति भय और क्रोधसे जो रहित होता है उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं ॥५६॥ जो पुरुष सर्वत्र आसक्ति रहित होकर शुभ तथा अशुभको प्राप्त करनेपर न आनंदित होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई होती है ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार कछुआ अपने सब अवयव समेट लेता है उसी तरह जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे अपने सब इन्द्रियोंको समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

भावार्थ- जो मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न हुए सब कामनाओंको छोड़ता है और अपने आत्माके लिए आत्मरूपसे ही आनंदित होता है, जो दुःखोंसे उदास नहीं होता और सुखोंमें आसक्त नहीं होता जो किसीपर आसक्त नहीं होता, किसीसे डरता नहीं और किसीपर क्रोध भी नहीं करता, जो अलग वृत्तिसे रहता है और शुभकी प्राप्तिसे आनंदित नहीं होता और अशुभसे द्वेष भी नहीं करता; जो अपने सब इंद्रियोंको उनके भोगोंसे हटाता है उसकी बुद्धि स्थिर हुई, ऐसा कह सकते हैं ॥ ५५-५८ ॥

(५५-५८) इन श्लोकोंमें स्थितप्रज्ञके लक्षण कहे हैं। इनमें पहिला लक्षण (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) मनोगत सब कामनाओंका त्याग करना है। यहां केवल अशुभ कामनाओंका त्याग करना और शुभ कामनाओंको शुरू करना अभीष्ट नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों कामनाओंका त्याग यहां अभीष्ट है। साधकावस्थामें ही शुभ कामनाओंका पोषण करके अशुभ कामनाओंका परित्याग करना होता है। मनको सुविधा देनेके लिये यह अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासावस्थामें अशुभ कामनाओंके त्याग करनेसे थोड़ी उदास अथवा अधिक वासनाओंका त्याग होता है। इस अभ्यासमें अशुभ वासनाओंके त्यागके मिषसे वासनात्याग करनेकी शिक्षा मिलती है। इस वासनात्यागकी शिक्षासे ही शुभ वासनाओंको भी मनसे हटानेका अभ्यास होता। मनुष्यका मन शुभाशुभ वासनाओंके कारण आसक्तिके अनेक रूपोंमें व्यग्र होता रहता है, उसकी व्यग्रता दूर करना अभीष्ट है। मनुष्य स्थितप्रज्ञ तब हो सकता है जब उसके मनकी व्यग्रता पूर्णतया हटती है। सामान्य मनुष्यका मन शुभ और अशुभ वृत्तियोंसे सदा व्यग्र रहता है यह चित्तवृत्तियोंका विरोध करने और मनकी व्यग्रता दूर करनेसे स्थिर होता है। अभ्यासकी प्रथमावस्थामें अशुभ वृत्तियोंको हटानेसे आधी अस्थिरता दूर होती है परन्तु आगे चलकर पता लगता है कि शुभ वृत्तियोंसे भी मनकी चञ्चलता होती है उस समय वह शुभ वृत्तियोंको हटानेका यत्न करता है। इस यत्नकी सफलता होनेसे मनुष्य निश्चल वृत्तिवाला होता है इसीका नाम स्थितप्रज्ञ है। शुभ और अशुभ कामनाओंको हटानेकी सूचना देनेके लिये ही इस श्लोकमें (सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब कामनाओंको हटानेका उपदेश किया है। सब कामनाओंमें जैसी शुभ वैसी ही अशुभ कामनाएं भी आती हैं। मनकी शांतिके लिये इन दोनों कामनाओंको हटाना आवश्यक है।

यहां बहुत लोगोंको यह शंका हो सकती है कि मनुष्यके मनसे शुभ कामनाओंको हटानेसे क्या लाभ होगा ? अशुभ कामनाओंके हटानेमें किसीका विरोध होना संभव नहीं है। जो आशंका है वह शुभ वृत्तियोंके हटानेके विषयमें है। अतः इस बातका विचार करना यहां आवश्यक है। मुक्ति समाधि और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें एकरूपता होती है। हम केवल सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्राका ही विचार करेंगे क्योंकि गाढ निद्राकी यह अवस्था सबके अनुभवकी

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

तीन अवस्थाएं होती हैं एक बोलना अथवा विचार प्रकट करना, दूसरी किसी अवस्थामें स्थिर रहना और तीसरी व्यवहार करना। इन अवस्थाओंके प्रश्न अर्जुनने यहां पूछे हैं।

[१] (समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?) समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं? अर्थात् जिस समय वह स्थितप्रज्ञ समाधिमें ब्राह्मी स्थितिका अनुभव लेता रहता है उस समय वह कैसा होता है? उस समय उसके क्या लक्षण होते हैं? उस अवस्थामें वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है? किन लक्षणोंको देखनेसे वह स्थितप्रज्ञ ज्ञानी समाधिमें है ऐसा जाना जा सकता है? 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इस स्थानमें भाषा शब्दका अर्थ 'लक्षण अथवा व्याख्या' है। यहां लक्षण अर्थमें भाषा शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाषा शब्दका अर्थ 'भाषण वक्तृत्व' ऐसा होता है परन्तु वह यहां अभीष्ट नहीं है। अर्थात् यहां समाधिस्थके लक्षण पूछे हैं।

जब समाधि अवस्था छोडकर जागृतिमें आता है तब वह स्थितप्रज्ञ कैसा आचरण करता है? जागृतिमें सभी मनुष्य समान दिखाई देते हैं सभी बोलते हैं, सभी बैठते हैं और सभी व्यवहार करते हैं। इन सब मनुष्योंमें इस जागृतावस्थामें कार्य करनेवाले सब मनुष्योंमें जो स्थितप्रज्ञ मनुष्य है वह कैसे व्यवहार करता है। [२] (स्थितधीः किं प्रभाषेत?) स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है? किस प्रकारके शब्द उच्चारता है? किस प्रकारके विचार प्रकट करता है? समाधि अवस्थाके जागृतिमें आया मनुष्य किन भावोंको प्रकट करता है? क्या वह सामान्य मनुष्योंके समान ही बोलता है अथवा कुछ विशेषता उसमें रहती है? समाधिका अनुभव करनेवाले और न करनेवालेके भाषणोंमें कौनसा भेद है? इस भाषणसे कैसे पहचानें कि यह समाधिसुख लेनेवाला मनुष्य है और यह मनुष्य समाधितक नहीं पहुंचा है?

जब जागृतिमें रहता हुआ मनुष्य समाधिमें जाना चाहे, तब [३] (किं आसीत?) कैसे बैठे? कैसे आसन लगावे? किस अवस्थामें स्थिर रहे? किस स्थितिमें स्थिर रहनेसे जागृतिकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य समाधि अवस्थामें जा सकता है? हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य समाधिकी तैयारी कर रहा है?

[४] (व्रजेत किं?) वह मनुष्य अपना चालचलन कैसे रखता है? स्थितप्रज्ञ मनुष्य जब जागृतिमें रहता है तब वह कैसे व्यवहार करता है? किस प्रकारके व्यवहार देखनेसे हम जानें कि यह मनुष्य स्थितप्रज्ञ है?

स्थितप्रज्ञ मनुष्य अन्य मनुष्योंके लिये आदर्श होता है। अन्य अल्पप्रज्ञ साधारण मनुष्य यदि उन्नत होना चाहें तो इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका आचरण देखें और वैसा अपना आचरण करें। वह कैसे आत्मस्थितिका अनुभव करता है वह देखकर स्वयं वैसा करें। वह जिस प्रकारके भाव अपने भाषणोंमें व्यक्त करता है वह देखकर वैसे भाव स्वयं लेके अपनी वाणी वैसी बनावे। इस रीतिसे वह आदर्श मनुष्य दूसरोंका मार्गदर्शक होता है। अतः अर्जुन पूछ रहा है कि, 'इस प्रकारके स्थितप्रज्ञके लक्षण क्या हैं?'

स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि ये दोनों शब्द एक ही भाव बताते हैं। चञ्चल मनवाला मनुष्य किसी कार्यके करनेमें समर्थ नहीं होता। परन्तु स्थिर मनवाला मनुष्य बडे महान् कार्य योग्य रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ होता है। स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यकी इतनी योग्यता होनेसे यहां उसके लक्षण पूछे हैं।

अर्जुनके ये चार प्रश्न सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण विस्तारसे उत्तर देते हैं—

और जिस आत्माको प्रकाशित करनेके लिये यह शरीर मिला है उस आत्माका विचारतक कोई नहीं करता! अतः कहा है कि जब मनुष्य शुभाशुभ कामनाओंका त्याग करता तभी उसको अपनी आत्मामें स्थित आनन्द स्वयं प्राप्त होगा।

आत्माकी शक्ति अनंत है, उसकी थोड़ीसी शक्ति इस शरीरमें आ गई है और वह अनेक इन्द्रियोंमें विभक्त हो गई है। यदि मनुष्य इंद्रियतृप्तिमें लगेगा तो उसको थोड़ीसी शक्तिका अनुभव आवेगा; परन्तु यदि वह आत्माके असीम स्रोतमें गोता लगावेगा तब उसको अपार शक्ति मिलेगी, क्योंकि आत्माकी शक्ति अपार है। इस कामकी दृष्टिसे भी मनोगत कामनाओंके फन्देमें फंसना मनुष्यको उचित नहीं है, परन्तु अकाम बनकर आत्माकी शक्ति प्राप्त करना योग्य है। आत्मा अकाम है इसलिये अकाम बनकर ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। देखिये—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न
कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो
रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ (अथर्व० १०।८।४४)

आत्मा (अकामः) कामनारहित (धीरः) धैर्यवान् अथवा (धी र।) बुद्धिप्रदाता अमर स्वयंसिद्ध रससे तृप्त कहीं भी न्यून नहीं (अ-जरः) जरारहित तरुण जैसा है उसीको जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य मृत्युसे डरता नहीं। यहां आत्माको अ-काम कहा है यह कामना रहित होनेसे कामनाओंको छोड़नेवाले ही इसको प्राप्त कर सकते हैं। कामनाओंके छोड़नेवाले अकाम बनते हैं, अतः अकाम के साथ उनका मेल होना सुगम होता है। अकाम की प्राप्ति सकाम को कैसे हो सकती है? अतः कहा है—

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदति
वर्तन्ति धीराः॥ (मुण्डक उ० ३।२।१)
तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं
शोकान्तरम्॥ (बृ० उ० ४।३।२१)
योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्मा
प्येति॥ (बृ० उ० ४।४।६)
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि
श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्
नुते॥ (बृ० उ० ४।४।७)

'जो कामना छोड़नेवाले धीर मनुष्य परम पुरुषकी उपासना करते हैं वे निःसंदेह वीर्य नाश करते हैं। यही इसका रूप है जो कामनारहित, आत्माकी कामनावाला अथवा कामनारहित है, वही शोकरहित है। जो कामनारहित है वही आप्तकाम आत्मकाम निष्काम अथवा अकाम कहा जाता है। उसके प्राण नहीं जाते वह ब्रह्म बनकर ब्रह्ममें ही रहता है। जब हृदयकी सब कामनाएं दूर होती हैं तब वह मरणधर्मवाला अमर बनता है और यहां ही ब्रह्म प्राप्त करता है।'

यहां इन उपनिषद्वाक्योंमें अकाम होनेका महत्व वर्णन किया है। यहां 'अकाम' का अर्थ निष्काम आप्तकाम आत्मकाम कहा है यह अर्थ ध्यानमें रखने योग्य है। जिसकी सब कामनाएं शान्त हो गई हैं, कोई कामना शेष रही नहीं जिसकी केवल आत्माका अनुभव करनेकी ही कामना रही है उसको अकाम या निष्काम कहते हैं। बृहदारण्यक वचनमें तो स्पष्ट कहा है कि हृदयकी सब कामनाएं नष्ट होते ही मर्त्य अमर बनता है। मनुष्य तबतक ही मर्त्य कहलाता है कि जबतक उसमें कामनाएं भरी रहती हैं। कामनाओंके मनमें रहनेसे मृत्युका भय होता है और कामना मनसे दूर होने पर मृत्युका भय दूर हो जाता है। परमात्मा अकाम होनेसे मृत्युभयसे दूर है जीवात्मा सकाम होनेसे बारबार मृत्युके भयसे भयभीत होता है। अतः मनोगत संपूर्ण कामनाओंको दूर करनेसे ही मृत्युका भय दूर होता है यह बात सिद्ध हुई। अमर बननेके इच्छुक इसका विशेष विचार करें।

इसीको (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) अपने अन्दर अपनी आत्मासे संतुष्ट हुआ कहते हैं। अकाम या निष्काम बना मनुष्य (आत्मना तुष्ट) आत्मासे सन्तुष्ट होता है और सकाम या भोगी मनुष्य जगत्के भाग भोगनेमें सदा व्यग्र रहता है। अकाम और सकामकी कल्पना निम्नलिखित कोष्टकसे सुबोधतया हो सकती है—

अकाम	सकाम
निष्काम	वर्धमानकाम
आप्तकाम	कामोपभोगपरम
आत्मकाम	विषयभोगकाम

है। यदि पाठ चित्तमें प्राप्त विशुद्ध अवस्थाकी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी है तो मनसे अशुभ विचार जैसे दूर करने चाहिये वैसे ही शुभ विचार भी दूर करने चाहिये। मनमें शुभ विचार जबतक चलते रहेंगे तबतक चित्त शान्त नहीं होगी। चित्तके लिये जैसे अशुभ विचार हानिकारक हैं वैसे ही शुभ विचार। अशुभ विचारोंसे अन्य प्रकारकी हानि होगी यह बात और है, परंतु दोनों विचारोंके रहते हुए तक चित्त शान्त नहीं होती, यह सत्य है। इससे स्पष्ट बोध होगा कि चित्त जैसी तमोगुणी विकृत ब्राह्मी अवस्थाका अनुभव लेनेके लिये भी शुभाशुभ वृत्तियोंका त्याग करना आवश्यक है, फिर उससे उच्च समाधि अवस्था और उससे भी सर्वोत्कृष्ट मुक्ति अवस्था जिसको क्रमशः रजोगुणी मध्यम और सत्वगुणी उत्तम ब्राह्मी स्थिति कह सकते हैं, प्राप्त करनेके लिये शुभाशुभ वासनाओंका त्याग करना चाहिये इसमें संदेह ही कैसे हो सकता है? अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये जैसे अशुभ वासनाओंका त्याग अभीष्ट है, वैसे ही शुभ वासनाओंका भी त्याग आवश्यक है।

व्यवहारकी दृष्टिसे मनका अभ्यास बढानेके लिये अथवा मनको सम स्थितिमें रखनेके लिये अशुभ वासनाओंका ही त्याग करनेका प्रारंभ करना योग्य है परंतु अभ्यास बढनेके पश्चात् एक अवस्था ऐसी आती है कि जिसमें शुभ वासनाएं भी छोडनी पडती हैं। चित्तके लिये तथा समाधिके लिये जैसी स्वार्थकी वासना बाधक है उसी प्रकार परोपकारकी इच्छा भी बाधक ही है। चित्तकी एकाग्रता करनेका अभ्यास करनेवालोंको इसका अनुभव तत्काल हो सकता है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा है—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ॥
(भ. गी. ९।२८)

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
(भ. गी. १२।१७)

तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं । नाभिनन्दति न द्वेष्टि० ।

बन्धन करनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंसे मुक्त होगा। जो शुभका और अशुभका त्याग करनेवाला है वह भक्तिमान् मुझे प्रिय है। जो शुभ मानिसे आनंदित नहीं होता और अशुभ प्राप्त होनेपर उससे द्वेष नहीं करता। इत्यादि स्थानोंमें शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग आवश्यक है, यह बात स्पष्ट कही है। यहां स्पष्ट हुआ है कि जैसा अशुभ कर्म बंधनकारक है, वैसा ही शुभ कर्म भी बंधनकारक है। परन्तु अशुभ अवनति करनेवाला होनेके कारण प्रारंभमें छोडना चाहिये और शुभ उन्नतिमें सहायक होनेके कारण कुछ अवस्थाके बाद छोडना योग्य है इतना ही इसमें विवेक है।

उदाहरणके लिये मान लीजिये कि किसीका मकान जलने लगा है और घरके मनुष्य अन्दर हैं। यदि वे शीघ्र बाहर न आयेंगे तो अन्दर ही अन्दर जल मरेंगे। यदि ऐसी अवस्था में घरके लोग घरमें स्थित अशुभ पदार्थोंके संग्रहमें अथवा समय व्यर्थ करेंगे तो जैसे वे जल जायेंगे उसी प्रकार शुभ पदार्थोंके लोभमें फंसेंगे तो भी जल मरेंगे। अतः यदि उनको अपना बचाव करना अभीष्ट है तो दोनों शुभ अशुभ पदार्थोंका मोह दूर करना चाहिये। यही बात संसारके सामाजिक और राष्ट्रीय बन्धन दूर करनेके विषयमें सत्य है। अस्तु। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि शुभाशुभ कामनाओंका परित्याग करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ बन सकता है।

यहां (मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति) सब मनोगत कामनाओंका त्याग अभीष्ट है। प्रारंभमें त्याग इच्छापूर्वक होता है। अभ्याससे त्याग करते करते आगे मनका वैसा ही त्यागमय स्वभाव बन जाता है। जब मनुष्यका ऐसा स्वभाव बन जाता है तब उसकी स्थितप्रज्ञता स्वभावसे ही सिद्ध होती है।

मनोगत कामनाएं अपने अन्दर न्यूनता दूर करनेके लिये उत्पन्न होती हैं। प्यास लगनेपर जलकी कामना, भूख लगनेपर अन्नकी कामना, सहवासके लिये स्त्रीकी कामना इस प्रकार अनन्त कामनाएं होती हैं। प्रतिक्षण इस प्रकार न्यूनताकी पूर्ति की जाती है। परन्तु शरीरकी न्यूनताएं कभी दूर होनेवाली नहीं हैं अतः शारीरिक न्यूनताओंकी पूर्ति करनेका यत्न कभी सिद्ध नहीं होता। यह सिद्ध न होने वाली बात है। शरीरकी एक एक कामना पूर्ण करनेके कारण मनुष्यको अपने आत्माका विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं रहती और मनुष्यका अपने आत्माकी उन्नतिका विचार करना ही मुख्य कर्म है। शरीर तो एक साधनमात्र है। परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि मनुष्य इस शरीररूपी साधनकी परिचर्यामें सब समय बिताते हैं

आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वम् ॥

(छां० उ० ७।२६।१)

आत्मासे प्राण, आशा, स्मर, आकाश तेज जल, अन्न बल ज्ञान ध्यान चित्त संकल्प, मन वाणी नाम मन्त्र कर्म तथा यह सब जगत् उत्पन्न होता है। जगत्का प्रगट होना और पुनः लय होना आत्मासे ही होते हैं। यह आत्मा जो संकल्प करता है, वह उसका संकल्प सिद्ध होता है। इतनी शक्ति इसमें है। इसीलिये आत्माकी प्राप्ति करनेका उपदेश सब शास्त्रकारोंने किया है। आत्माकी प्राप्तिका अर्थ सबसे बड़ी शक्तिकी प्राप्ति ही है। जगत्के विषयोंमें आत्माकी अपेक्षा अत्यन्त अल्प शक्ति है। जगत्में अल्पताका अनुभव क्षण क्षणमें आता है और आत्मामें (भूमा) विपुलताका अनुभव है। कौन ज्ञानी मनुष्य अल्प शक्तिमें सन्तुष्ट होगा? वह तो विशाल शक्ति ही प्राप्त करनेकी इच्छा करेगा। सब शक्ति आत्मामें होनेसे ही आत्माकी प्राप्ति ही अन्तिम ध्येय कहा गया है। आत्मामें अपनी विशाल शक्तिके अनुभवसे ही संतुष्टि होती है। आत्मामें सभी आनन्द इस को इच्छामात्रसे प्राप्त होते हैं। अतः यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था है। (आत्मन्येव आत्मना तुष्टः) वह आत्मामें ही आत्मासे तुष्ट होता है क्योंकि इस समय सुखके लिये इसको बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे अन्दर इसको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण वह सदा तुष्ट रहता है और तुष्ट रहनेके कारण कोई कामना इसको हिला नहीं सकती इसलिये इसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ विशेष शक्तिसे संपन्न होता है।

साधारण लोग '*सर्वान् मनोगत कामनाओंको छोड़ देने*' का अर्थ 'कुछ भी कार्य न करना' करते हैं। वे समझते हैं कि मनमें कामना रहनेसे ही मनुष्यसे कुछ न कुछ कार्य होता है और कामना न रहनेसे कुछ भी कर्म नहीं होता। साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो यह विचारसरणी ठीक प्रतीत होती है परन्तु विशेष विचार करनेपर इसमें सत्यता नहीं है यह बात स्पष्ट होगी। श्रीकृष्ण भगवान् जो कि इस उपदेशके वक्ता हैं अपने विषयमें कहते हैं कि—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

(भ० गी० ३।२२)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(भ० गी० ३।२५)

हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका कार्य नहीं है। जो प्राप्त करनेयोग्य है जो नहीं मिला हो सो भी नहीं पर फिर भी मैं कर्ममें लगा ही रहता हूं ॥२२॥ जिस तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं उसी तरह ज्ञानी लोगोंको आसक्तिरहित होकर निष्काम- भाव-लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिये ॥ २५ ॥

यहां ज्ञानी स्थितप्रज्ञको भी निष्काम भावसे परोपकारके कार्यमें लगना चाहिये ऐसा स्पष्ट कहा है। सकाम मनुष्य स्वार्थसे अपने ही हितके कर्म करता है और निष्काम मनुष्य संपूर्ण जनताकी भलाईकी दृष्टिसे जनताके हितके कार्यमें दत्तचित्त होकर कार्य करता है। सकाम मनुष्यका कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है। इसीलिये उसको सदा प्राप्त करके विशेष विशाल शक्ति प्राप्त करनी होती है। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् योगी आप्तकाम, स्थितप्रज्ञ और पूर्ण पुरुष होनेपर भी उस समयके राजकीय और धार्मिक कार्यक्षेत्रमें उतरकर सबसे अधिक काम करते रहे हैं यह बात इतिहासमें प्रसिद्ध है। जनकादि राजाओंका भी उदाहरण इसी प्रकारका है। वामन नारद याज्ञवल्क्य आदिकोंके उदाहरण भी इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। इसका विचार करनेपर पाठकोंको निश्चय होगा कि निष्काम अकाम आत्मकाम, स्थितप्रज्ञ आत्मतुष्ट होनेपर मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है। उसके पास बड़ी विस्तृत शक्ति जीवित और जाग्रत होती है इस कारण उसके समीप जनता खींच आकर्षित होती है और वह ऐसे महान् कार्य कर सकता है जैसे साधारण मनुष्यसे कदापि नहीं बन सकते। इस विषयमें गीताके *निम्नलिखित* श्लोक अवश्य देखने चाहिये—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

(हि० गी०)

आत्मतुष्ट	असन्तुष्ट
अमर	मर्त्य
धीर	अधीर, धैर्यहीन
शोकरहित	शोकयुक्त
दुःखमें शांत	दुःखमें अशांत
सुखमें निःस्पृह	सुखमें लुब्ध
भयक्रोधरहित	भयभीत और क्रोधी
विरक्त	आसक्त

अकाम और सकाम मनुष्य ऐसा होता है। पाठक इसका विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि अकाम होनेमें कौनसा सुख है और सकाम होनेमें कौनसा दुःख है। सब जानते हैं कि, वासनाक्षयसे सुख होता है, जैसे प्यास लगी तो जल-प्राप्तिकी वासना उठती है, इस वासनाका क्षय जल प्राप्त होनेसे होता है अतः जलप्राप्तिसे सुख होता है। जबतक जलप्राप्तिकी वासनाका क्षय न होगा तबतक सुख भी नहीं होगा। जितना जिस वासनाका क्षय होता है उतना ही सुख होता है। इसी प्रकार अन्य वासनाओंके उनके विषयमें समझना चाहिये। वासनाके बने रहनेपर सुख नहीं होता। वासनाक्षय होनेका ही नाम 'आप्त-काम' है। जिसकी कामना तृप्त हुई है वह आप्तकाम कहलाता है। वही सुखी है। इसीको अकाम निष्काम अथवा आत्मकाम कहते हैं।

जब बालक जगत्के किसी पदार्थकी कामना नहीं होती तब वह आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है। जैसे छोटा नीरोग और हृष्टपुष्ट बालक माताका दूध पीनेके पश्चात् अपने ही आनन्दमें मस्त रहता है उस समय उसको किसी बाह्य पदार्थसे आनन्द प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस समय उसकी एक ही आवश्यकता होती है वह भूख लगनेपर माताके दूधकी है। उसकी कामना पूर्ण होते ही वह अकाम बनता है और अपने आत्माके निजानन्दसे प्रफुल्लित होता है। यह स्वाभाविक बाल्य स्थिति अधिकसे अधिक दो तीन वर्षतक रहती है पश्चात् ऐसी वैसी अनेक कामनायें बढ़ती हैं, और अन्तमें वह स्वर्गीय अवस्थामें विहार करनेवाला देवपुत्र दुःखमय अनेकोंमें गिरता है।

कामना उत्पन्न होते ही जीव आत्मानन्दसे दूर होकर जगत्के विषयोंमें फंसता है और कामना नष्ट होते ही फिर आत्मामें वापस आकर विराजता है और वहां वापस आनेसे ही सुखी होता है। अर्थात् जगत्की ओर आकर्षित होनेसे दुःखी और आत्मामें वापस आनेसे सुखी होता है। सुख-दुःखका तात्पर्य यह स्वरूप है। यहां पाठक अनुभव करें कि अकाम होनेका संबंध आत्मप्राप्तिसे और सुखी होनेसे कितना घनिष्ठ है। अतः इस श्लोकमें कहा है कि सब मनोगत कामोंको हटानेसे वह (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें ही निज शक्तिसे संतुष्ट होता है। यही स्थित-प्रज्ञ है।

(आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) आत्मामें आत्मासे ही सन्तुष्ट होना श्रेष्ठ अवस्था है। परन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि आत्मामें ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिससे निष्काम मनुष्य केवल आत्मासे ही सन्तुष्ट हो सकता है? इसका विचार करनेके लिये निम्नलिखित वचन देखिये-

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प
आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः
सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥२॥
एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो
लोकेभ्यः ॥३॥ एतद् ब्रह्म ॥४॥
(छांदोग्य उ० ३।१४)

मनरूप प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाशस्वरूप जिसके संकल्प सत्य होते हैं ऐसा वह आकाशवत् आत्मा है। वह कर्मपरिपूर्ण और कामनाओंसे युक्त सर्वगन्धयुक्त, तथा सब रसोंसे परिपूर्ण है। यह आत्मा मेरे हृदयके अन्दर है वह पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकसे भी बड़ा है इन लोकोंसे बड़ा यह ब्रह्म है। अर्थात् इस आत्माकी शक्ति बड़ी है। सब शक्तियां पूर्णतासे इसमें निवास करती हैं। जो जगत्में सत्य है वह सब इसमें है, जो इसमें है उसका अल्प अंश ही जगत्में है, इतनी इसकी महती शक्ति है और देखिये—

आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर
आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप
आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न-
मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान
मात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन

आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्म
तः कर्माण्यात्मत एव इदं सर्वम् ॥

(छां उ ७।२६।१)

आत्मासे प्राण, आशा, स्मर, आकाश तेज जल अन्न बल ज्ञान ध्यान चित्त संकल्प, मन वाणी नाम मन्त्र कर्म तथा यह सब जगत् उत्पन्न होता है। जगत्‌का प्रलय होना और पुनः उत्पन्न होना आत्मासे ही होते हैं। यह आत्मा जो संकल्प करता है वह उसका संकल्प सिद्ध होता है। इतनी शक्ति इसमें है। इसीलिये आत्माकी प्राप्ति करनेका उपदेश सब शास्त्रकारोंने किया है। आत्माकी प्राप्तिका अर्थ सबसे बड़ी शक्तिकी प्राप्ति ही है। जगत्‌के विषयोंमें आत्माकी अपेक्षा अत्यन्त अल्प शक्ति है। जगत्‌में अल्पताका अनुभव कम अधिक आता है और आत्मामें (भूमा) विपुलताका अनुभव है। कौन ज्ञानी मनुष्य अल्प शक्तिमें सन्तुष्ट होगा? वह तो विशाल शक्ति ही प्राप्त करनेकी इच्छा करेगा। सब शक्ति आत्मामें होनेसे ही आत्माकी प्राप्ति ही अन्तिम ध्येय कहा गया है। आत्माको अपनी विशाल शक्तिके अनुभवसे ही संतुष्टि होती है। आत्मामें सभी आनन्द इस को इच्छामात्रसे प्राप्त होते हैं। अतः यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था है। (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) यह आत्मामें ही आत्मासे तृप्त होता है क्योंकि इस समय सुखके लिये इसको बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे अन्दर इसको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण वह सदा तृप्त रहता है और तृप्त रहनेके कारण कोई कामना इसको हिला नहीं सकती, इसलिये इसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ विशेष शक्तिसे संपन्न होता है।

साधारण लोग ' संपूर्ण मनोगत कामनाओंके छोड देने ' का अर्थ ' कुछ भी कार्य न करना ' करते हैं। वे समझते हैं कि मनमें कामना रहनेसे ही मनुष्यसे कुछ न कुछ कार्य होता है और कामना न रहनेसे कुछ भी कर्म नहीं होता। साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो यह विचारसरणी ठीक प्रतीत होती है परन्तु विशेष विचार करनेपर इसमें सत्यता नहीं है यह बात स्पष्ट होगी। श्रीकृष्ण भगवान् जो कि इस उपदेशके वक्ता हैं अपने विषयमें कहते हैं कि—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
१८ (हि गी)
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

(भ गी ३।२२)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(भ गी ३।२५)

हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका कार्य नहीं है। जो प्राप्त करनेयोग्य है जो नहीं मिला हो सो भी नहीं पर फिर भी मैं कर्ममें लगा ही रहता हूं ॥२२॥ जिस तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं उसी तरह ज्ञानी लोगोंको अनासक्तचित्त होकर निष्काम-भाव-लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिये ॥ २५ ॥

यहां ज्ञानी स्थितप्रज्ञको भी निष्काम भावसे परोपकारके कार्यमें लगना चाहिये ऐसा स्पष्ट कहा है। सकाम मनुष्य स्वार्थसे अपने ही हितके कर्म करता है और निष्काम मनुष्य संपूर्ण जनताकी भलाईकी दृष्टिसे जनताके हितके कार्यमें दत्तचित्त होकर कार्य करता है। सकाम मनुष्यका कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है। इसीलिये उसका यश प्राप्त करके विशेष विशाल शक्ति प्राप्त करनी होती है। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् योगी आप्तकाम स्थितप्रज्ञ और पूर्ण पुरुष होनेपर भी उस समयके राजकीय और धार्मिक कार्यक्षेत्रमें उतरकर सबसे अधिक कार्य करते रहे हैं यह बात इतिहासमें प्रसिद्ध है। जनकादि राजाओंका भी उदाहरण इसी प्रकारका है। वामन भारत याज्ञवल्क्य आदिकोंके उदाहरण भी इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। इसका विचार करनेपर पाठकोंको निश्चय होगा कि निष्काम अकाम आत्मकाम स्थितप्रज्ञ आत्मतुष्ट होनेपर मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है। उसके पास बड़ी विस्तृत शक्ति जीवित और जाग्रत होती है इस कारण उसके प्रभावसे जनता शीघ्र आकर्षित होती है और वह ऐसे महान् कार्य कर डालता है जैसे साधारण मनुष्यसे कदापि नहीं बन सकते। इस विषयमें गीताके निम्नलिखित श्लोक अवश्य देखने चाहिये—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
(भ गी ३।)

जो मनुष्य आत्मामें रममाण होता है और जो आत्मामें ही तृप्त रहता है और आत्मासे ही सन्तुष्ट होता है, उसका कोई भी (निज) कर्तव्य नहीं रहता। कर्म करने और न करनेमें उसका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता और भूतमात्रसे उसका कोई (निजी) स्वार्थ साधन करना नहीं रहता। इस हेतुसे तू आसक्तिरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है।' तात्पर्य निष्काम मनुष्यको निजी स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता, कर्म करने और न करनेमें उसका जरा भी स्वार्थ नहीं होता। इसमें हेतु यह है कि वह निष्काम भावसे लोकसंग्रहके- अर्थात् जनताके हितके कार्य करता रहे। ऐसे कार्य करनेका अधिकारी वही होता है। यहां भ० गीताने ही निष्काम मनुष्यको परोपकारके कर्म सतत करनेकी आज्ञा दी है अतः इस विषयमें अब किसीको संदेह नहीं रह सकता।

सकाम और निष्काम मनुष्योंके कर्मोंमें भेद यह है कि सकाम मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थसे अल्प क्षेत्रमें कर्म करता है और अकाम मनुष्य सम्पूर्ण जनता-समाजके हितके लिये अति विस्तृत क्षेत्रमें कार्य करता है। सकाम मनुष्य स्वार्थी है और निष्काम मनुष्य परमार्थी है। अतः कामना छोड़नेवाला पत्थर जैसा कर्महीन होता है ऐसा मानना अशुद्ध है। कामना छोड़नेवाला अति विस्तृत कार्यक्षेत्रमें प्रवेश करनेकी तैयारी करता है।

स्थितप्रज्ञका तृतीय लक्षण (दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः) दुःखोंमें उद्वेग न होना, (सुखेषु विगतस्पृहः) सुखोंमें लुब्ध न होना (वीत-राग-भय-क्रोधः) आसक्ति, भय और क्रोध छोड़कर और (मुनिः) मौन धारण करना है। प्रायः सामान्य मनुष्य दुःखसे भागते हैं, डरते हैं और बारबार दुःख होनेपर उद्विग्न होते हैं यह उनकी निर्बलताका लक्षण है। इसी प्रकार मनुष्योंमें दूसरी निर्बलता यह रहती है कि यह सुख प्राप्त होनेपर गर्व करता है उन्मत्त होता है अंधेरी बनता है, धर्माधर्मकी पर्वाह नहीं करता और सुखमें ही लुब्ध होकर कर्मभ्रष्ट होता है। सामान्य मनुष्यमें ये दोनों निर्बलताएं रहती हैं। जिस प्रकार वायुके प्रवाहसे पत्ता इधर उधर चपल होकर चलता है अपने स्थानमें स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार सामान्य निर्बल मनुष्य दुःखकी हवासे कंपित होकर उदासीनताके कीचड़में गिर जाता है अथवा सुखकी लहरसे मोहित होकर उन्मत्त बनो होता है। अर्थात् इसके पांवके तले कोई अपना स्थान नहीं रहता। (दुःखसे अपनी भूमिकासे जाकर भयभीत होता अथवा सुखसे रागकी भूमिकामें जाकर वहां आसक्त होता, यही इसकी निर्बलताके कारण इसके मार्गमें होता है।) इसकी पराधीनता कहीं समाप्त नहीं होती। अर्थात आम बारबार दुःख आनेपर वह दुःख देनेवालोंपर क्रोधित होता है और सुख न मिले अथवा कम प्राप्त होने लगा तो भी इसका क्रोध बढ़ता है। इस प्रकार यह दोनों अवस्थाओंमें क्रोधके वशमें होता है। यह सब इसकी निर्बलताके कारण होता है। निर्बलता ही अधमत्वकारक है। मनुष्य निर्बलताके लिये उत्पन्न नहीं हुआ। मनुष्य तो अपना आत्मिक बल विकसित करनेके लिये ही इस जगत्में प्रकट हुआ है। इसलिये यदि मनुष्यने इस जन्ममें आत्मिक बल प्राप्त करके सुखदुःखकी लहरियोंसे कंपायमान न होनेकी शक्ति अपने अंदर स्थिर न की तो इसके जन्म लेनेसे क्या बना? जन्म व्यर्थ गया। जन्मकी सार्थकता होनेके लिये इसको उचित है कि, यह दुःखसे उदासीन न हो और सुखमें लुब्ध भी न बने। इसी प्रकार यह निर्भय बने क्रोध और लोभ अथवा आसक्ति छोड़े। यह सब केवल आत्मिक बलसे ही प्राप्त हो सकता है।

जगत्में तो इंद्रियविषयोंकी अनेक लहरें हैं अनुकूलकी लहरें भी प्रबल हैं प्रतिकूलकी भी प्रबल हैं। वहां तो लोभ मोह और क्रोध पग पगपर इसे निगल जानेके लिये बैठे ही हैं। इसलिये जब यह इंद्रियोंके विषयभोगोंकी ओर न झुकेगा और (आत्मनि आत्मना तुष्टः) अपनी आत्मामें अपनी निजशक्तिसे संतुष्ट होगा तभी इसको कोई भी दुःख अपने स्थानसे हिला नहीं सकते। और कोई भी सुख इसको मोहित कर नहीं सकते। इसीसे यह राग भय और क्रोधसे दूर रहेगा।

इस श्लोकमें मनोगत कामनाओंको दूर करनेका जो यत्न कहा है उसीसे यह सिद्धि सिद्ध हो सकती है। सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति यही मनोगत कामना मनुष्यके

अन्दर होती है। सुखके विषयमें प्रीति और दुःखके द्वेष मनुष्यके मनमें रहता ही है। इन दोनोंके विषयमें निर्विकार मनका होना ही आत्माकी शक्ति प्रकट होनेका चिह्न है। किन्तु ऐसी दशासे वह दुःख आ जाय अथवा कैसे भी सुखके न होनेका समुद्र बहते हों मनुष्यको अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होना चाहिये। इसीका नाम धर होता है। जो सुखोंमें नहीं रमता उसीको धर (न+रम्) कहते हैं।

मनुष्यमें सुखकी इच्छा न हो तो इसकी दुःख भी नहीं सता सकते। यदि वह सुखके विषयमें नि स्पृह बनेगा, तो एक भी दुःख इसको सता नहीं सकेगा। बाहरके सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषा करना भी एक बड़ी भारी कमजोरी है क्योंकि इसकी आत्मामें ही सब आनन्दका भण्डार है बाह्य सुख उसके सामने तुच्छ हैं। परन्तु सम्राट् भीख होकर भिखारी होनेके समान यह स्वयं आनन्दका मूल स्रोत होने पर भी बाहरके दुःखसे दुखी होता है और बाह्य सुखसे सुख प्राप्त करनेका इच्छुक है। ज्ञानके विचारोंसे यही इसकी भ्रांति दूर करती है और इसके अन्दरकी अद्वितीय आत्म-शक्तिको जागृत करता है। जिसकी यह अन्तःशक्ति जागृत होती है वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

इस समय यह मुनि अर्थात् मौनावलंबी होता है यह बोलता नहीं। मौनका अर्थ अपनी शक्तिका व्यय न करना है। मनुष्य जैसे अन्य इन्द्रियोंद्वारा अपनी शक्तिका व्यय करता है वैसे ही वक्तृत्वके द्वारा भी अपनी बहुत शक्ति खर्च करता है। अन्य इन्द्रियोंद्वारा शक्तिका व्यय करनेमें मनुष्य और पशुपक्षियोंकी समानता है। वाणीद्वारा अपनी शक्तिका शक्तिसे अधिक व्यय करनेवाला एक ही मानव प्राणी है अतः मनुष्यको अपनी शक्तिका अपने अन्दर संग्रह करनेके लिये मौन धारण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इतर अन्य इंद्रियोंद्वारा होनेवाली शक्तिका व्यय न करनेकी भी सूचना मिलती है। इसीका नाम संयम है। प्रायः देखा जाय तो मनुष्य अपनी वाक् शक्तिका बहुतसा अपव्यय करता है बुरा उपयोग करता है। इस जगत्में जो झगड़े और फसाद हो रहे हैं वे सबके सब इसकी वाणी के दुरुपयोगसे ही होते हैं। यदि यह मनुष्य वाणीका सदुपयोग करेगा अथवा मौन धारण करेगा तो जगत्के बहुतसे झगड़े मिट जायेंगे और लोग अधिक आनन्दमें

रहेंगे। मनुष्य दिनरात जो शब्द बोलता और जो लेख लिखता है, उनमें शांति फैलानेवालेके कितने और अशांति पैदा करनेवाले कितने होते हैं इसका विचार करनेसे मेरा यह कथनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

मनको स्वाधीन करनेके लिये भी मौनकी बड़ी सहायता होती है। मनको स्थिर करनेमें मौन बहुत ही सहायक होता है। मौन धारण करना बड़ा कठिन कार्य है। पाठक एक दो दिन मौन धारण करके देखेंगे, तो उनको इसकी कठिनताका पता लग जायगा। वस्तुतः मौन सहज साध्य होनेवाला है परन्तु मनुष्यको बोलनेका अभ्यास इतना अधिक हो गया है कि उसको यह सहज साध्य मौन भी असाध्यसा प्रतीत होता है। स्थितप्रज्ञ होनेके लिये कम बोलना अथवा कुछ मर्यादातक मौन धारण करना आवश्यक है।

जो स्थितप्रज्ञ होना चाहता है वह (सर्वत्र-अनभिस्नेहः) सब पदार्थोंपर या किसीपर स्नेह प्रीति या आसक्ति न रखे। यहां स्नेह शब्दका अर्थ आसक्ति लेना चाहिये। जो पूर्वोक्त 'राग शब्दका अर्थ है वही यहां इस का अर्थ है। पूर्व श्लोकमें वीत-राग शब्द है उसीका स्पष्टीकरण सर्वत्र अनभिस्नेह' शब्दसे इस श्लोकमें किया है। इसी प्रकार इस श्लोकमें (शुभं प्राप्य न अभिनन्दति) शुभको प्राप्त करके आनंदित नहीं होता और (अशुभं न द्वेष्टि) अशुभका द्वेष भी नहीं करता ऐसा कहा है। यह सब कथन पूर्व श्लोककी व्याख्या ही है देखिये—

(श्लोक ५६)	(श्लोक ५७)
वीतरागः।	अनभिस्नेहः
सुखेषु विगतस्पृहः।	शुभं न अभिनन्दति।
दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः।	अशुभ न द्वेष्टि।
वीतक्रोधः वीतभयः।	अशुभं न द्वेष्टि।

तुलनासे इन वाक्योंका विचार करनेसे पता लग जायगा कि पूर्व श्लोकका अधिक स्पष्टीकरण ही दूसरे श्लोकमें है और सुबोधताके लिये यह किया गया है। ५५ वें श्लोकमें संपूर्ण मनोगत कामनाओंको दूर करने और अपनी आत्मामें ही सन्तुष्ट होने की बात कही है वही बात अगले ५८ वें श्लोकमें कछुवेके उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं। जैसे कछुवा अपने अंग अपने अन्दर समेट लेता है, इस प्रकार जो मनुष्य

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अन्वयः— निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते । अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥ हे कौन्तेय ! प्रमाथीनि इंद्रियाणि यततः विपश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि ॥ ६० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः आसीत । हि यस्य वशे इंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अपने इंद्रियोंको विषयोंसे समेटता है अथवा विषयोंसे पीछे हटाता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है । प्रत्येक इंद्रिय अपने अपने विषयमें स्वभावसे ही जाती है। उसकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उसका विषयसे निवृत्त करने और वापस लानेका काम संयम है और अपने मनोगत कामनाओंको दूर करना भी इसीका काम है। कछुवेके अवयव समेटनेके दृष्टान्तसे भगवद्गीताके इस श्लोकमें जो कहा है, वही बात नदियोंके दृष्टान्तसे यजुर्वेदमें कहा है। वह मन्त्र यहां देखिये

> सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति
> सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयु-
> स्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥
> (वा० यजु० ३४।५५)

सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें स्थित हैं मानो यह शरीर सात ऋषियोंका आश्रम ही है। ये सातों ऋषि इस आश्रम की रक्षा चूक न करते हुए करते हैं। सात नदियां सोनेवालेके स्थानका वापस जाती हैं। उस समय उस यज्ञमें दो देव निद्रा न लेते हुए जागते रहते हैं। आंख रसना नेत्र त्वचा कर्ण वाणी और मन ये सात इंद्रियां मानो सात ऋषि ही हैं। शरीररूपी आश्रममें ये सात ऋषि तपस्या करते हैं। इनको ऋषि तपस्वी योगी अथवा मुनि बनाना चाहिये। वस्तुतः ऋषि होते हुए भी स्वभावाधीन असंयमी मनुष्यने इनको राक्षस बनाया है। अतः इनको ऋषि बनानेका यत्न करना आवश्यक है। यदि इनको संयमके पथपर चलाया जाय तो ये मार्गदर्शक श्रेष्ठ ऋषि बन सकते हैं। ये सात ऋषि इस शरीररूपी क्षेत्रमें सत्र-सांवत्सरिक यज्ञ-सत्र-करते हैं जो वर्षोंमें यह सत्र पूर्ण होनेवाला है। परंतु लोभादि विविध राक्षस इस पवित्र यज्ञभूमिका नाश करना चाहते हैं इसको अपवित्र करना चाहते हैं। विघ्नकर्ता राक्षस इसमें कुविचार दुराचार आदि उत्पन्न करते हैं और यों यज्ञके पूर्व ही इस यज्ञका विध्वंस करते हैं। इस यज्ञके रक्षणार्थ दो कुमार निद्रा न लेते हुए तैयार रहते हैं। ये दो कुमार प्राण और अपान हैं। ये न सोते हैं और न विश्राम करते हैं, अपितु राक्षसोंका नाश करके केवल इस शरीररूपी यज्ञक्षेत्रकी रक्षा करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। ये सात ऋषि जिस समय सोते हैं उस समय (स्वपतः) सोनेवालेकी आत्माके बाहर बहनेवाली सात नदियां इनके सोनेके समय वापस उसीमें बहती हैं। अर्थात् ये सात नदियां जागृतिके समय आत्मासे बाहरकी ओर बहती हैं। इस समय इनका प्रवाह बाहरकी ओर होता है और सोनेके समय ये ही सात नदियां वापस अन्दरकी ओर बहने लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि नेत्रादिक सात इंद्रियप्रवाह जागृतिके समय बहिर्मुख होते हैं और जब ये प्रवाह अन्तर्मुख होते हैं उसी समय सुषुप्ति समाधि अथवा मुक्ति होती है।

इस अलंकारमें भी वेदमन्त्रद्वारा इन इंद्रियोंको ऋषि बनानेका उपदेश है इंद्रियोंका प्रवाह बहिर्मुखी न कर अन्तर्मुखी करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। ये सब उपदेश आत्माकी और इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत बल है यह बात बताते हैं। स्थितप्रज्ञ बननेके लिये इन प्राणोंको संयमी ऋषि बनाना चाहिये और अन्तर्मुखी करना चाहिये। इनके प्रवाहोंको अन्तर्मुख करनेका ही अर्थ 'अपने सब मनोगत कामनाओंको छोडना वीतराग होना निष्काम बनना और अपनी आत्मामें ही अपनी आत्मशक्तिसे संतुष्ट होना है। अब अधिक स्पष्ट शब्दोंसे इन्द्रियसंयमका महत्त्व बताते हैं—

देहधारी मनुष्यके निराहार होनेपर विषय तो निवृत्त होते हैं परन्तु उन विषयोंका रस अर्थात् विषयोंकी लालसा बनी रहती है। यह लालसा परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर ही निवृत्त होती है ॥५९॥ हे अर्जुन ! मथनेवाली इन्द्रियाँ प्रयत्न करनेवाले ज्ञानी पुरुषके मनको भी बलात्कारसे खींच लेती हैं ॥६०॥ इन सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर योगी योगका अवलम्बन करके मुझमें तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इन्द्रियाँ होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

भावार्थ– मनुष्य जब भोगोंसे निवृत्त होता है, तब उससे सब भोगके विषय तो दूर होते हैं परंतु भोगेच्छा वैसीकी वैसी बनी रहती है। वह भोगेच्छा परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद ही हट जाती है। इन्द्रियोंका वेग इतना प्रबल है कि वे इन्द्रियाँ विवेक प्रयत्न करनेवाले दक्ष मनुष्यके मनको भी जबरदस्ती विषयभोगकी ओर खींच लेती हैं। इसलिये योगी उन सब इन्द्रियोंका संयम करके योगका अवलंबन करता हुआ परमात्मामें मन लगाकर तन्मय होवे। क्योंकि जिसके वशमें इन्द्रियाँ होती हैं उसीको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५९-६१ ॥

इन्द्रियोंका प्रबल वेग

(५९-६१) देहधारी मनुष्यके देहमें अनेक इन्द्रियाँ होती हैं और इनमेंसे प्रत्येक इन्द्रियका वेग बहुत ही बड़ा है। साधारण प्रयत्नसे इन्द्रियोंका संयम करना कठिन है। इन्द्रियोंके संयम करनेका जो यत्न करते हैं उनको ही पता होता है कि इन्द्रियोंका वेग कितना प्रबल है ! जो संयमका यत्न ही नहीं करते, उनको इन्द्रियोंके वेगका ज्ञान कैसे हो सकता है ? प्रवाहमें बह जानेवालोंको प्रवाहके वेगका पता नहीं लगता अपितु प्रवाहको रोकनेवालेको ही उसका ज्ञान हो सकता है।

साधारण मनुष्य समझते हैं कि विषयोंको अपने पास न रखनेसे अथवा विषयोंका भोग न भोगनेसे इन्द्रियोंका संयम हो सकता है। परंतु यह भ्रम है। उदाहरणके लिये अन्नका नाम लेना रसनाका विषय है। कोई मनुष्य उपवास करता है। इसके उपवास करनेसे अन्न इससे दूर तो होता है अथवा अन्नसे यह दूर रहता तो है; परंतु अन्नकी वासना मनमें बनी रहती है। हरएक इन्द्रियके उपवासके विषयमें यही बात है। विषयोंसे दूर रहनेसे विषय तो दूर हो जाते हैं परंतु उसके रहते विषयमें प्रीति मनमें बनी रहती है। उपवास करनेवाला मन ही मनमें मिष्ट पदार्थोंके स्वादका विचार करता है। उपवास करनेवाला तो भूखकी व्याकुलताके कारण उपवासके समय ही अन्नके स्वादका विचार करता रहता है। अर्थात् संपूर्ण इन्द्रियोंके उपवासका बारबार प्रयत्न करनेसे मनुष्यके भोगके विषय दूर हो जाते हैं परंतु विषयोंकी चाह दूर नहीं होती। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक यह चाह नहीं हटती। परमात्म-साक्षात्कार होते ही उसको परम अमृत रसका आस्वाद मिलनेसे विषयोंके क्षुद्र रसोंकी लालसासे वह अनायास ही मुक्त हो जाता है। परमात्माका साक्षात्कार होनेतक जो विषयोंके भोगकी चाह बनी रहती है वह किस समय उसको विषयोंके कीचड़में फँसा देगी यह कोई कह नहीं सकता। इन्द्रियोंका वेग बड़ा भयानक है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयोंकी ओर मनुष्यको खींचना चाहती है। थोड़ीसी असावधानीके होनेपर बड़े ज्ञानीके मनको भी इन्द्रियाँ विषयोंके जालमें खींच लेती हैं और जब इस प्रकार मनुष्य गिरने लगता है तब उसके गिरनेकी कोई सीमा नहीं रहती। इसलिये मनुष्यको सदा अत्यंत सावधान रहना चाहिये।

इन्द्रियोंका संयम करनेके लिये मनुष्य ऐसा यत्न करे कि वह पहिले तो विचारसे और बुद्धिसे विषयोंसे इन्द्रियोंको दूर रखे योगमार्गका अवलंबन करके निरोध दृढतापूर्वक अपना दैनिक व्यवहार धर्मपूर्वक चलावे और मनको परमात्मामें निमग्न करे। इस प्रकार दृढनिश्चयपूर्वक निरंतर प्रयत्न करनेसे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं और जिसके वशमें इन्द्रियाँ होती हैं उसीको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इन्द्रियाँ वशमें होनेसे इसकी शक्ति व्यर्थ व्यय नहीं होती वह इसके अन्दर संगृहीत होती है; इस कारण ऐसा संयमी मनुष्य अपनी संगृहीत शक्ति किसी उत्तम कर्ममें लगाकर उसकी सिद्धि कर सकता है और बड़े यशका भागी बन सकता है।

अब आगे बताते हैं कि विषयोंका ध्यान करनेसे मनुष्य

(२०) विषयोंके ध्यानसे नाश ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अन्वयः— विषयान् ध्यायतः पुंसः सङ्गः तेषु उपजायते । संगात् कामः संजायते । कामात् क्रोधः अभिजायते । क्रोधात् संमोहः भवति । संमोहात् स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः । बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६२-६३ ॥

विषयोंका ध्यान करनेवाले मनुष्यको उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्तिसे कामना होती है कामनासे क्रोध होता है क्रोधसे विवेकहीनता पैदा होती है विवेक नष्ट होनेसे स्मृतिमें भ्रम पैदा होता है स्मृति भ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेसे उसका पूर्ण नाश ही होता है। ॥ ६२-६३ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य सतत विषयभोगोंका चिन्तन करता है उसके मनमें विषयजात भोगोंकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छाकी तृप्तिके लिये वह बहुत विषयभोग प्राप्त करनेका यत्न करता है। विषयभोग प्राप्त करनेमें किसीने प्रतिबंध किया अथवा देरी लगी तो इस कारण वह बड़ा क्रोधित होता है। क्रोधके समय कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार उसके मनमें नहीं रहता और उसका चित्त मोहित भी हो जाता है। इस मोहके कारण उसकी पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है स्मृतिके नाश उसके ज्ञानका भी नाश हो जाता है। जिस मनुष्यका ज्ञान नष्ट हो जाता है उसका मानो सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है ॥ ६२-६३ ॥

कैसे गिरता है और उसको किस उपायसे अपने आपका बचाव करना चाहिये—

(६२-६३) इन श्लोकोंमें विषयोंका ध्यान करनेवालेकी कैसी अधोगति होती है और उसकी बुद्धिकी कैसी दुष्ट अवस्था होती है इसका उत्तम वर्णन है। इन दो श्लोकोंमें विषयी पुरुषकी अधोगतिका क्रम बताया है।

विषयी मनुष्य अपने मन ही मन विषयोंका ऐसा ध्यान करता रहता है— मुझे ये विषय भोगने हैं आज इसका भोग करूंगा कल ये विषय मुझे मिलेंगे मैं अधिकसे अधिक भोग प्राप्त करके अधिक सुख भोगूंगा। इस प्रकार वह मन ही मन भोगोंकी कल्पना करता रहता है कल्पनाके विषय भोग भोगनेके चित्र अपने सामने खडे करता है। ऐसा सतत ध्यान करनेसे उसके मनमें भोगोंके विषयमें आसक्ति बन जाती है। भोगोंके बिना अपना जीवन नहीं चल सकता ऐसा वह समझता है। इस समय उसके सम्मुख भोगप्राप्ति ही एक ध्येय रहता है। अधिकतम भोगोंकी भावना उसके अन्तःकरणमें बढती जाती है और वह हरएक इंद्रियके भोग बढानेका यत्न करता है। इस भोगबुद्धिके प्रयोगमें वह प्रथम धर्मानुकूल बर्ताव करता है परंतु आगे जाकर अधर्म अत्याचार और अनाचार करनेमें भी प्रवृत्त होता है। धर्मसे भोग प्राप्त न हुए तो अधर्मसे या किसी भी रीतिसे भोग चाहिये यह एकमात्र धुन उसमें बढती है। भोगोंके विषयमें भी यह नियम है कि एक ही भोग बहुत देरतक भोगते रहनेसे सुख नहीं होता। एक ही प्रिय पदार्थ बहुत देरतक खानेसे दुःखदायक प्रतीत होता है यही प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके भोगोंके विषयमें है। अतः भोगी मनुष्य भोगोंमें विविधता चाहता है। भोगोंकी विविधता प्राप्त होनेपर कुछ समयतक वह भोगोंमें रमता है, परंतु आगे एक समय ऐसा आता है कि जिस समय भोगोंकी विविधता भी उसको आनंद नहीं देती। देखिये स्वादके भोगके लिये मीठा कड़ुवा तीखा खट्टा, नमकीन कषाय इन छ रसोंमें विविधता उत्पन्न करनेके बाद भी जिह्वा इनका रस लेते लेते थक जाती है और कितना भी उत्तम पदार्थ बनाया जाय तो भी इसको रुचिकर प्रतीत नहीं होता। मधुर पदार्थ बनानेके लिये भोगी लोग देश देशके बड़े उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते हैं परन्तु स्वामीकी जिह्वा पदार्थोंकी रुचि लेनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वादिष्टसे पदार्थ रुचिकर प्रतीत नहीं होते।) जो पदार्थ अन्योंको बडे रुचिकर प्रतीत होते हैं वेही इसको नरसाहु लगते हैं। इस कारण वह सेवकोंपर क्रोध करता है। जो अवस्था भोगीके

पदार्थोंकी है वही अन्य इन्द्रियोंके भागोंके विषयमें है । भोग भोगते भोगते प्रत्येक इन्द्रिय भोग ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती है । इस कारण भोगीको कुछ समयके बाद भोगसे सुख नहीं होता और इससे इसका क्रोध बढ़ता है ।

भोगीको क्रोध अन्यान्य कारणोंसे भी आता है । इसके भोग प्राप्त करनेमें जिसने रुकावट उत्पन्न होती है उसपर यह क्रोधित होता है । इसके भोगोंके विषयोंपर दूसरा आसक्त हुआ तो दोनोंकी क्रोध बढ़ता है क्योंकि एक ही वस्तु दोनोंको चाहिये जो कभी मिल नहीं सकती, अतः क्रोध आना स्वाभाविक है । पहिले समयमें स्त्रीके कारण खून रक्तपात अत्याचार और लड़ाइयाँ होती थीं भूमिके कारण भी होती रहीं हैं देशदेशान्तरोंमें व्यापार व्यवहार करनेके लिये इस समय युद्ध छिड़ते हैं । सबमें सुख भोग चाहिये और मेरे मार्गके बीचमें जिन करनेवालेका मैं नाश करूंगा यही भावना रहती है । इस तरह सब विषयोंकी प्राप्तिमें रुकावटें पैदा होनेके कारण भोगीका क्रोध बढ़ता है । यह बात सामान्य व्यवहारसे लेकर बड़े बड़े व्यवहारोंमें भी सत्य है । पाठक इसकी सत्यता सर्वत्र देख सकते हैं ।

वस्तुतः भोग भोगनेमें भोगीकी शक्तिका स्वयं व्यय होता है अतः इसके पचनादि अवयव बिगड़ जाते हैं और जिसके अवयव बिगड़ते हैं, उसमें क्रोध आना अत्यंत स्वाभाविक है क्रोध जिस समय बढ़ता है, उस समय इसके जीवन-तन्तु मरते हैं, खूनका दौरा शरीरमें अव्यवस्थित होता है मस्तिष्कमें रक्तप्रवाह अधिक होनेसे मस्तक बिगड़ जाता है और शरीरका ऐसा कोई भी अवयव नहीं कि जो क्रोधके कारण न बिगड़ता हो । अतः आरोग्य चाहनेवालोंको क्रोधसे दूर रहना चाहिये । क्रोधी मनुष्य प्रायः अल्पायु होते हैं और शांत गंभीर मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं । इस लिये भी क्रोधसे दूर रहना मनुष्यके लिये अत्यंत लाभदायक है ।

क्रोधके कारण मनुष्यका मस्तिष्क बिगड़ता है और इसकी विवेकशक्ति नष्ट होती है । इसका मन मोहित, भ्रांत और कर्तव्याकर्तव्य विवेक-हीन बन जाता है । इस कारण इसकी स्मरणशक्ति भी नष्ट हो जाती है । अतः इस समय यह क्रोधी मनुष्य भी भाई बन्धु सम्बन्धी पिता माता गुरु गुरुपत्नी राजा, पुरोहित जिसने पहिले उपकार किये हैं इत्यादिकोंके संबंधमें अपना कर्तव्य क्या है इनके साथ मेरा कैसा व्यवहार होना चाहिये इत्यादि विवेक भूल जाता है और वह सामने जो आये उसपर अत्याचार करने लगता है । जब यह क्रोध प्रमाणसे अधिक हो जाता है तब इसका मस्तिष्क बिगड़ जाता है यह पागलसा बन जाता है और कुछका कुछ कर बैठता है ! ! जब क्रोधकी मात्रा अत्यधिक होती है तब क्रोधावेशसे मनुष्य मर भी जाता है ।

सामान्यतः क्रोधके समय मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धिभ्रष्ट होनेसे मनुष्य पूर्णतया नष्ट होनेके समान बन जाता है । बुद्धिके शान्त और गंभीर होनेके समय मनुष्य अपने मनुष्यत्वसे युक्त रहता है, परन्तु वही मनुष्य जब क्रोधावेशसे पागल बन जाता है तब बुद्धिहीन होनेके कारण पशुत्व या राक्षसत्वको प्राप्त होता है । अर्थात् क्रोधसे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, इतना अनर्थ क्रोधके कारण होता है । अतः सब शास्त्रकार कहते हैं कि क्रोधको दूर रखना चाहिये । देखिये—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(भ. गी. ३।३७)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(भ. गी. ३।४१)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
(भ. गी. ५।२६)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(भ. गी. ५।२३)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥
(भ. गी. १६।२१)

रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध बहुत खानेवाले और बड़े पापी हैं इनको अपने शत्रु समझ । इस कारण तू अपने इंद्रियोंको स्वाधीन करके ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले इन पापी (क्रोध और काम) का त्याग कर

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

मूलान्वयः— विधेयात्मा तु रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति ॥६४॥ प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते । प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

परंतु जिसका मन अपने स्वाधीन है; वह प्रीति और द्वेषसे रहित अपने स्वाधीन इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥६४॥ चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःख दूर होते हैं और प्रसन्नचित्त होनेसे उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६५ ॥

भावार्थ— परंतु जिसका मन स्वाधीन है वह किसीपर आसक्त नहीं होता और किसीसे द्वेष भी नहीं करता । वह अपने सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनकेद्वारा विषयभोग लेता हुआ भी चित्तकी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त करता है । इस प्रसन्नताके कारण उसके सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

जिसने काम और क्रोधको दूर किया है जो अपनेको वश जानता है और जिसने मन स्वाधीन कर रखा है ऐसे व्यक्तिको सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है । देहान्तसे पूर्व इसी देहसे जो मनुष्य काम और क्रोधके वेगोंको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है वही योगी है और वही सच्चा सुखी है । काम क्रोध और लोभ ये आत्माके नाश करनेवाले नरकके तीन द्वार हैं, इसलिये मनुष्यको इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥

इस प्रकार क्रोधके विषयमें भगवद्गीताकी सम्मति है । विषयोंके ध्यानसे इस क्रोधकी उत्पत्ति होती है इस कारण विषयोंको दूर करना चाहिये अन्यथा पूर्वोक्त क्रमसे नाश निश्चित होगा । यह तो विषयोंका ध्यान करनेवालोंकी अधोगति कैसी होती है इसका विचार हुआ । अब बुद्धिकी स्थिरता किस रीतिसे होती है इसका विचार देखना चाहिये—

(६४ ६५) बुद्धिकी स्थिरता और प्रसन्नता— जिसे व्यक्तिका स्वभाव (राग द्वेष वियुक्त) विषयोंपर आसक्ति अथवा काम और द्वेषभाव अर्थात् क्रोध इन दोनोंको छोडता है । मनुष्यके मनसे राग द्वेष जबतक छूटते नहीं तबतक इसकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । रागद्वेष छोडना यह उन्नतिका पहिला साधन है । दूसरा साधन (आत्मवश्यानि इंद्रियाणि) अपने स्वाधीन संपूर्ण इंद्रियोंका रखना है । ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि किसी भी कारण इंद्रियोंमेंसे एक भी इंद्रिय विषयाधीन न बने और अपने ऊपर अधिकार चलाने न पावे ।

इंद्रियोंको रागद्वेषरहित करने और उनको अपने स्वाधीन करनेके साथ साथ (विधेय-आत्मा) अपनी आत्मा अर्थात् अन्तःकरणको विशेष प्रकार, बनाकर निश्चित करके अपने अधीन करना चाहिये । मन अपनी इच्छासे ही विचार करे, अन्तःकरणमें कभी गिरावटके विचार न आवें कोई इंद्रिय स्वैर व्यवहार न करे किसीपर आसक्ति और किसीसे द्वेष न किया जावे; इस प्रकार करनेसे इंद्रियोंसे विषयोंका उपभोग लेनेपर भी उसका चित्त प्रसन्न रहता है ।

पाठक यहां समझ गये होंगे कि जब संयमी मनुष्य मन और इंद्रियोंको अपने अधीन रखकर और अन्तःकरणको शुद्धिद्वारा युक्त करके जो विषयोपभोग लेता है, वे सर्वथा मर्यादित और अल्प ही होंगे । वास्तविक विषयसेवन भी उससे होना असंभव ही है । धर्ममर्यादाके अनुकूल अर्थात् अल्प विषय-सेवन करनेमें जो संयम होता है और जो उससे ब्रह्मचर्यका पालन होता है उसीसे उस संयमी मनुष्यके चित्तकी प्रसन्नता होती है । विषयभोगसे चित्तकी प्रसन्नता कभी नहीं होती, विषय तो चित्तको दूषित करते रहते हैं । विषयसेवनको मर्यादित करनेसे विषयोंसे दूर रहनेका जो बल होता है उसीसे चित्तकी प्रसन्नता होती है । यहां ब्रह्मचर्य और संयमका महत्त्व वर्णन किया गया । यहां जो (इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति) इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है ऐसा

(२१) असंयमीका घोर दुःख ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः— अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति अयुक्तस्य च भावना न (अस्ति)। अभावयतः शान्तिः न (अस्ति)। अशान्तस्य सुखं कुतः ? ॥६६॥ चरतां इन्द्रियाणां हि यत् मनः अनुविधीयते तत् अस्य प्रज्ञां हरति वायुः अम्भसि नावं इव ॥६७॥ तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य इंद्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

(समत्वरूपी) योगका अभ्यास न करनेवालेकी बुद्धि (स्थिर) नहीं होती और उसमें श्रद्धाभक्ति भी नहीं होती। श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको सुख कहांसे होगा ? ॥ ६६ ॥ विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौड़ता है वह इसकी बुद्धिको वैसेही खींच लेता है जैसे वायु जलके अन्दर नावको (खींचता है) ॥७०॥ इसलिये हे महाबाहु अर्जुन ! जिसकी सब इन्द्रियाँ विषयोंसे सब प्रकार हटकर अपने वशमें होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

भावार्थ— मनुष्यको स्थिरबुद्धि और श्रद्धाभक्तिके रहनेसे ही उसको सुख मिलता है। पूर्वोक्त समत्वयोगके अभ्याससे ही मनुष्यकी बुद्धि स्थिर होती है और उसके मनमें श्रद्धाभक्ति भी बढ़ती है। जिसकी बुद्धि चंचल है और जिसके मनमें श्रद्धा नहीं उसका मन अशान्त रहता है अतः उसको कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि सुखके लिए शांत मनकी आवश्यकता रहती है। जिस मनुष्यका मन विषयोंके पीछे दौड़नेवाली इंद्रियोंके साथ दौड़ता रहता है, उसका मन कभी शांत नहीं हो सकता। अपार अर्थात महासागरमें प्रचंड वायुवेगसे नौका जिधर चाहे उधर भटकती रहती है और उस नौकाके यात्रियोंकी उस समय जो अवस्था होती है वैसी ही अवस्था विषयसमुद्रमें पड़े मनुष्यके मनकी होती है। इसलिये जिसकी इंद्रियें विषयोंमें नहीं फंसती और पूर्णतया स्वाधीन रहती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है उसीके मनमें श्रद्धाभक्ति निवास करती है और उसीका मन शांत होता है। इसी मनुष्यको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥ ६६-६८ ॥

वाक्यके पूर्वके (रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः) राग द्वेषरहित स्वाधीन इंद्रियोंसे ' ये विशेषण छूट जायेंगे तो अर्थका अनर्थ हो जायेगा। जिस प्रकार कैदी और अधिकारी ये दोनों कारागृहमें रहते हैं, परंतु एक ही स्थानपर रहते हुए भी कैदी बंधनमें रहता है और अधिकारी स्वतंत्र रहता है उसी प्रकार भोगी और त्यागी दोनों विषयभोग करते हैं परंतु भोगी उनमें आसक्त होकर भोग लेता है अतः चित्तको दूषित करता है और त्यागी अनासक्त वृत्तिसे अति अल्प प्रमाणमें विषयसेवन करता है अतः वह चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है।

चित्तकी प्रसन्नता होनेसे सब दुःख दूर होते हैं और शीघ्र ही बुद्धि भी स्थिर होती है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ होता है। इस प्रकार भोगी और त्यागीका वर्णन करके बताया कि त्यागीको ही सच्चा आनंद प्राप्त होता है। अब आगे बताते हैं कि जो स्थितप्रज्ञ बननेके लिये इस संयमादिका साधन नहीं करता उसकी अवस्था कैसी भयानक बनती है—

(६६-६८) यहाँ 'युक्त' शब्द 'योग-युक्त' इस अर्थमें और 'बुद्धि' शब्द 'स्थिर बुद्धि' के अर्थमें प्रयुक्त है। अतः 'अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति' का अर्थ जो योगाभ्यासी नहीं है उसकी बुद्धि स्थिरताको प्राप्त नहीं होती इस प्रकार समझना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ 'समत्व योग' है यह बात इसी अध्यायमें श्लोक ४८-५ की व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट हो चुकी है। इस समत्वरूप योगके जो अभ्यासी हैं वे ही

अपनी बुद्धिको सम अर्थात् स्थिर कर सकते हैं। जो अयुक्त अर्थात् योगाभ्यासी नहीं हैं, उनकी बुद्धि चञ्चल और बहुशाखावाली होती है।

जिनकी बुद्धि चञ्चल होती है उनकी बुद्धि क्षणक्षणमें अन्यान्य विषयोंपर दौड़ती है और किसी एकपर स्थिर नहीं होती। इस चञ्चलताके कारण मनुष्य बेचैन होते हैं। यह बेचैनी ही दुःखकी जननी है। चञ्चल मन किसीपर भी श्रद्धा विश्वास या भक्ति नहीं रख सकता। यदि रखेगा तो उसकी चञ्चलता ही नहीं रहेगी। चञ्चल मन अश्रद्ध अविश्वासी और भक्तिभाव हीन होता है और अशान्तिमय चञ्चल हुआ करता है। दोनों दुर्गुण एक दूसरेके आश्रित रहते हैं।

यहां 'भावना' का अर्थ श्रद्धा विश्वास अथवा भक्ति है। बहुत लोग परमेश्वरपर विश्वास रखते हैं, कई लोग अपने आत्मापर विश्वास रखते हैं कइयोंका विश्वास कर्मपर होता है कई धर्मग्रन्थोंपर विश्वास करते हैं और कई लोग साधुसन्तोंपर श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार श्रद्धा भक्ति और विश्वास शब्दोंमें भेद हैं। सब विश्वासके अंदर यह भाव है कि 'जो धर्मका आचरण मैं यहां करता हूं उससे मेरा कल्याण यहां होगा और परलोकमें भी होगा' इस प्रकार धर्मपर विश्वास होना भी एक बड़ी बात है। इसीलिये किसी एक विश्वासके होनेपर उसके साथ साथ अन्य विश्वास स्वयं आ जाते हैं। इस प्रकारकी श्रद्धा और भावना मनुष्यके मनको शान्ति देती है यह विश्वासके बड़े कार्य करता है और अन्तमें भावहीन होता है अश्रद्ध और भक्तिभावना-हीन मनुष्य अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण कदापि उच्च अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकते। ऐसे चञ्चल वृत्तिवाले अशान्त मनुष्यको सुख कहांसे प्राप्त होगा?

लोभी और चञ्चल वृत्तिवाले लोगोंका किसी रीतिसे भी समाधान नहीं होता। वे सदा अशान्त उदास लोभी और दुःखी रहते हैं। भला अशान्त मनवालोंको सुखका लाभ कैसे होगा? क्योंकि अशान्तिमय मन दुःख और शान्तिमय मन ही सुख है।

यहां ध्यान रहे कि जिस प्रकार चञ्चल मनुष्य कर्म करता है उसी प्रकार शान्त और गम्भीर मनुष्य भी कर्म करता ही है। दोनोंका चित्त सब समय किसी न किसी कार्यमें लगा रहता है। परंतु चञ्चल वृत्तिवाला मनुष्य एक कर्म अधूरा छोड़ता है स्थिर लगाकर नहीं करता एकको अधूरा छोड़कर दूसरेको प्रारंभ करता है, करनेका कार्य नहीं करता अतः सर्वत्र असफलता प्राप्त करता है और असफलताके कारण अत्यंत दुःखी होता है। परंतु शान्त गंभीर प्रकृति मनुष्य श्रद्धाभक्तिसे जो काम करता है स्थिरतासे कर करता है, अतः हरएक कार्यमें सफलता प्राप्त करता है। अतः सफलतासे उसको आनंद मिलता है और किसी कार्यमें सफलता न भी मिली तो भी ईश्वरपर विश्वास होनेसे उसका मन शान्त रहता है और विफलताकी अवस्थामें भी वह मनकी शान्तिका अनुभव करता है। इसलिये हरएक अवस्थामें भावनायुक्त व्यवसायी उत्तम मनुष्य श्रेष्ठ होता है।

दोनों प्रकारके मनुष्य अपना सब समय किसी न किसी कर्ममें खर्च करते हैं परंतु चञ्चल वृत्तिवाला अशान्त मनुष्य सदा दुःखका भागी बनता है और शान्तवृत्तिवाला शान्त मनुष्य सदा सुखका अनुभव करता है। इससे 'समत्वयोग' का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

चञ्चल वृत्तिवाले मनुष्यके मनकी अशान्त अवस्था समुद्रमें प्रचण्ड वायुवेगसे इधर उधर डोलती नौकाकी डोलनेसे उपमा दी गई है। अगाध महासागरमें एक छोटीसी नौका वायुके प्रचण्ड वेगसे बही जाती है। यदि तो महासागरमें चारों ओर कोई आश्रयका स्थान नहीं होता जहां जाकर नौकाके यात्री विश्राम ले सकें। समुद्रका जल अथाह होनेसे पानीके नीचे जाकर थाह ढूंढ़ना मरना है चारों ओर कोई स्थान न होनेसे उन यात्रियोंको तो चारों दिशाएं भयानक ही प्रतीत होती हैं। उनकी दिशामें तो जाना असम्भव है जब वे किस दिशामें जायें और कहांसे आधार प्राप्त करें ऐसी अवस्थामें यदि प्रचंड झंझावात चल पड़े और जरा आधार उखड़ने लगे तो उनके सामने महामृत्युका कराल रूप आ खड़ा होगा। वायुका वेग उस नौकाको किस ओर ले जायगा इसका पता भी नहीं होता। किसी समय ऐसा भी होना संभव है कि जिस ओर नौकाके यात्री जाना चाहते हैं उसकी विरुद्ध दिशाको ही वायुके वेगसे नौका बह जाय

अथवा बीचमें ही जलमें डूब जाय। हरएक अवस्थामें बिना कर्णधारकी नौकासे प्रवास करना बड़ा कष्टदायक है।

इसी प्रकार बिना धर्मरूपी कर्णधारके संसार सागरमें चलाई हुई मानवी जीवनकी नौका विषयोंके झंझावातसे डाँवाडोल होती हुई किस जगहके पत्थर पर जाकर टूटेगी, इसका कोई पता नहीं है। यदि बीचमें ही टूट गई तो काम क्रोधादि भयानक नक्र अपने कराल मुख फैलाए हुए इन यात्रियोंको खा जानेके लिये बैठे ही हैं। चारों ओर भयानक दुःखका महासागर अपने भयानक रूपमें सब यात्रियोंको हड़प करनेके लिये तैयार ही है। मनुष्य अपने आपको ऐसी नौकाका यात्री समझेगा तो विषयाधीन इन्द्रियोंसे क्या विरक्ति होगी इसकी कल्पना उसको हो सकती है।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंकी ओर मनको खींचती हैं। एक एक इन्द्रियका वेग वायुवेगसे कई गुना अधिक है। इस विषय-प्रवृत्तिरूपी वेगसे मन एक क्षणमें इस ओर और दूसरे क्षणमें दूसरी ओर खींचा जाता है। अनेक इन्द्रियोंके द्वारा विविध विषयोंमें इस प्रकार खींचा गया मन एक स्थानमें स्थिर रह नहीं सकता सदा चंचल बना रहता है। ठीक भँवरमें पड़ी हुई नौकाकी स्थिति इसकी होती है। यही मनकी चंचलता है और सब प्रकारकी चंचलता दुःखका हेतु है। जो मन इन्द्रियाधीन होकर विषयोंके पीछे पड़ा है वह पराधीन ही है पराधीन (पर+अधीन) होनेका अर्थ शत्रुके अधीन होना है। कौन शत्रुके वशमें होकर सुख भोगनेकी अभिलाषा कर सकता है? शत्रुके वशमें होनेवालेको तो सदा दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको विषयोंके अधीन होने न दे और अपने ही अधीन रखे।

जिसकी इन्द्रियें (इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि) विषयोंसे सब प्रकार निवृत्त होती हैं, उसीकी (प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) बुद्धि स्थिर, शान्त गंभीर और प्रतिष्ठा वाली होती है और उसीको सब सुख प्राप्त होते हैं।

इन्द्रियोंको विषयोंमें स्वैर वृत्तिसे छोड़नेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है और इसी अशक्ततासे मनुष्यको दुःख भोगना पड़ता है परंतु जो मनुष्य अपने इन्द्रियोंका संयम करता है और उनको विषयोंके जालमें फँसने नहीं देता उसकी शक्ति उसके अंदर भरी रहती है। इसी अपनी निज शक्तिसे मनुष्य सुख प्राप्त करता है। शक्तिकी क्षीणता दुःख है और शक्तिकी वृद्धि सुख है। जिस दिशामें जो अशक्तता होगी उस दिशामें उतना ही दुःख होगा। यहाँ ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसीको सुख प्राप्त होना है तो वह अपनी निज शक्तिसे ही प्राप्त होगा दूसरोंसे प्राप्त की हुई शक्तिसे कदापि नहीं होगा। अतः यदि प्रत्येक मनुष्य सुखका अभिलाषी है तो प्रत्येकका अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके अपने अधीन रखनेका अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषयमें उपनिषदोंमें एक उत्तम उपमा दी है वह यहाँ विचार करने योग्य है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥
(कठ० उ० अ० १ व० ३)

आत्मा रथमें बैठनेवाला है शरीर उसका रथ है बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इन्द्रियरूपी घोड़े इस रथमें जुते हुए हैं, जो अपने अपने विषयोंमें जानेकी प्रवृत्ति रखते हैं। आत्मा इन्द्रिय और मन मिलकर जो होता है उसको ज्ञानी लोग भोक्ता कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञानहीन होता है और जो अपने मनका योगसे संयम नहीं करता उसकी वे इन्द्रियें स्वाधीन नहीं होतीं। उसकी स्थिति वैसी भयानक होती है जैसी अशिक्षित या दुष्ट घोड़ोंवाले रथमें बैठे किसी सारथीकी होती है। परन्तु जो ज्ञानी है और जो योगद्वारा अपने मनका संयम करता है, उसकी इन्द्रियें

(२२) मुनिकी जाग्रति और निद्रा ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अन्वयः— या सर्वभूतानां निशा, तस्यां संयमी जागर्ति । यस्यां भूतानि जाग्रति सा पश्यतः मुनेः निशा ॥ ६९ ॥

जो सब भूतोंकी रात्रि होती है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिस अवस्थामें सब प्राणिमात्र जागते हैं, वह आंखें खोल कर देखनेवाले मुनिकी रात्र होती है ॥ ६९ ॥

भावार्थ— साधारण लोग और संयमी विचारशील ज्ञानी इन दोनोंके व्यवहार दिन और रात्रिके समान परस्पर भिन्न होते हैं । साधारण लोग जिसको व्यर्थ मानते हैं, वह ज्ञानियोंकी दृष्टिसे अज्ञान होता है और साधारण लोग जिसके विषयमें अज्ञान रखते हैं वह विषय ज्ञानियोंको सुस्पष्ट होता है ॥ ६९ ॥

उसके अधीन होती हैं और इसका वैसा ही दुःख प्राप्त होता है जैसा उत्तम शिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठे मनुष्यको होता है । जो मनुष्य स्वयं ज्ञानहीन मनको स्वाधीन न रखनेवाला और अपवित्र होता है वह उस उच्च स्थानको कदापि प्राप्त नहीं कर सकता वह गिरता ही जाता है । परन्तु जो ज्ञानी मनको स्वाधीन रखता है और पवित्र रहता है वह उस स्थानको प्राप्त करता है जहांसे बारबार गिरना नहीं होता । जिसका सारथी ज्ञानसे संयुक्त हुआ है जिसके मनरूपी लगाम स्वाधीन हैं वही मार्गके पार हो जाता है और भगवान्‌का परम पद अर्थात् श्रेष्ठ आनन्दका स्थान प्राप्त करता है ।

ये उपनिषद्वचन अत्यंत स्पष्ट हैं अतः इनकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । भगवद्गीतामें घोडोंके उदाहरणसे जो बात बताई है वही इन उपनिषद्वचनोंमें रथके दृष्टान्तसे बताई है । जिस रथके घोडे शिक्षित नहीं हैं और जो सारथीकी इच्छानुसार नहीं चलते वा मार्ग छोड कर जिधर चाहें उधर दौडते हैं उस रथमें बैठे रथीकी जो अवस्था होगी वही अवस्था स्वैरचारी इंद्रियोंवाले मनुष्य की होगी । वह किस गढेमें पडेगा इसका किसीको भी पता नहीं होता ।

जो धीर शिक्षित घोडोंवाले रथमें बैठा होता है जिसके घोड़े अच्छे मार्गसे केवल इशारे मात्रसे जाते हैं, उसको जैसा सुख होता है और जिस प्रकार वह बिना आयास अपने स्थानको सुखसे प्राप्त होता है ठीक उसी तरह संयम से इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य सुखपूर्वक श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त कर सकता है ।

पाठक यहां श्रीमद्भगवद्गीताके वचनोंकी तुलना इन उपनिषद्वचनोंके साथ करेंगे, तो वे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं । अब आगे संयमी और असंयमी मनुष्यका भेद स्पष्ट करते हैं—

(१९) सर्वसाधारण जनताका आचरण कैसा होता है और विचारवान् ज्ञानी लोगोंका आचरण कैसा भिन्न होता है यह श्लोकमें बताया है । दिन और रात्रिके समान इन दोनोंके आचरणोंमें भेद होता है । उदाहरणके लिये भोगी और त्यागी लोगोंके जीवन देखिये । भोगी लोग तो अपने भोग बढानेके लिये अन्य लोगोंपर मनमाने अत्याचार करते रहते हैं दूसरोंका खून चूसकर अपना पेट भरना अपना कर्तव्य मानते हैं और अपने पैसेके लिए दूसरोंके गलोंपर छुरी चलाते ही हैं । परंतु जो त्यागी लोग होते हैं वे सब लोगोंका भला करनेके लिये अपने सर्वस्वका न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं जनताकी भलाईके लिये अपना समर्पण करते हैं । इतना ही नहीं अपितु जनताके हितके बढानेके यत्नमें यदि उनका जीवन भी चला जाए तो भी वे अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं । देखिये दोनोंकी दृष्टियोंमें कितना भेद है !

सामान्यतः देखा जाय तो भी साधारण लोग नाटक, सिनेमा, होटल आदिमें व्यर्थ समय बिताते हुए रात्रिमें दिनके समान जागते हैं और कर्म करनेके लिये बनाये दिनमें रात्रिके जागरणके कष्ट दूर करनेके लिये सोते हैं । इस प्रकार इनके लिये रात्रिका दिन होता है और दिनकी रात्रि बनती है । अतः वे भोगी रोगी होकर अल्पकालमें ही मृत्युके अतिथि बनते हैं । परंतु संयमी, योगी, पुरुषार्थी धार्मिक

प्रायः दिनके समय विविध पुरुषार्थ करते हैं और धन कमाते हैं तथा रात्रिके समय योग्य निद्राका सुख लेकर आरोग्य कमाते हैं और दीर्घायु तथा बलवान् होते हैं।

कई लोग उत्तर रात्रिमें जिस समय सामान्य लोग सोते रहते हैं उस समय उठकर परमेश्वरका ध्यान करते हैं और उससे अतुल शांति प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिस अध्यात्मके विषयमें सब लोग अज्ञान रखते हैं उसीके विषयमें उच्च ज्ञानी मनुष्य उत्तम ज्ञान प्राप्त करते हैं। और इन ज्ञानी मुनिजनोंको विषय-भोगोंके संबंधमें ऐसा अज्ञान रहता है कि जैसा विषयी लोगोंको परमार्थके विषयमें अज्ञान होता है।

साधारण लोग विदेशी वस्त्र तथा अन्यान्य विदेशी पदार्थ लेकर अपने स्वदेशी कारीगरोंको बेकार बनाकर उनको भूखे मारनेके लिये तैयार रहते हैं; इसी प्रकार विदेशी वस्त्रादिका व्यापार व्यवहार करते हुए अपने ही देशवासियोंके खूनसे धनी बनना चाहते हैं। परंतु जो संयमी और ज्ञानी होते हैं, वे स्वदेशी व्रतका आचरण करते हुए स्वेच्छासे स्वयं स्वीकृत दारिद्र्यमें रहते हुए, अपने लोगोंको आर्थिक कष्टोंसे बचानेका उद्योग करते हैं, इस कारण इनका सम्मान होता है। अर्थात् इनके दारिद्र्यमें देशकी सधनता है और पूर्वोक्त व्यापारियोंकी धनिकतामें देशका परम दारिद्र्य है। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमें दोनों दृष्टिकोण एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।

संयमी मनुष्य अपने संपूर्ण इंद्रियोंको स्वाधीन रखता है किसी इंद्रियको विषयोंमें भटकने नहीं देता। इस कार्यके लिये नियमपालन, सदाचरण और आत्मसंयम करता रहता है और विषयसेवनको न्यून करनेसे अपने आपको धन्य मानता है और सचमुच धन्य होता है। परंतु विषयी मनुष्य अपनी संपूर्ण इंद्रियोंको स्वैर गतिसे छोडता है हरएक इंद्रियका यथेच्छ भोगोंमें फंसाना अपना कर्तव्य समझता है न किसी नियमका पालन करता है और न अपने आपको स्वाधीन रखनेका यत्न करता है विषयोंके भोगोंको बढानेका यत्न करता है अतः विविध रोगोंसे ग्रस्त होकर ऐसा दुःखी बनता है कि अन्तमें बडी विपत्तिमें पडनेपर भी संयमके मार्गपर नहीं आता। इस प्रकार ये दोनों मार्ग प्रकाश और अन्धकारके समान परस्पर भिन्न हैं।

एक 'जगत्की सेवा करनेके लिये मैं हूं' ऐसा मानता है और दूसरा 'मेरी सेवा करनेके लिये जगत् है' ऐसा समझता है। एक अपने आपको परमेश्वरका सेवक मानता है तो दूसरा परमेश्वरको भी नहीं मानता!! इस प्रकार सामान्य मनुष्य और संयमी मुनिका दृष्टिकोण परस्पर भिन्न होता है।

सामान्य मनुष्य अपने कुटुंबियोंकी भलाईके लिये अपने कर्तव्य कर्मसे विमुख होता है जैसा कि अर्जुन अपने संबन्धियोंके मोहसे अपने कर्तव्यरूप युद्धसे विमुख हुआ था। परंतु उसी समय जो संयमी विचारी और ज्ञानी होता है वह अपने कुटुंबियोंकी सुरक्षितताकी दृष्टिसे कदापि कर्तव्य भ्रष्ट नहीं होता। यहां अर्जुनको सामान्य जनोंकी भूमिकामें दर्शाते हैं। अपने सगे-संबंधी मारे जायेंगे केवल इसी कारण वह स्वकर्तव्यरूप युद्धसे पराङ्मुख हो रहा है। इसी युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण संयमी स्थितप्रज्ञकी भूमिका दर्शाते हैं इसलिये न संबन्धी और इष्ट मित्र मरते हैं या जीते रहते हैं इसका विचार न करते हुए अपना जो कर्तव्य है उसकी पूर्णता करनेकी पराकाष्ठा करते हैं। कौरवोंके पक्षमें इन दोनोंके संबन्धी और इष्टमित्र तो थेही। परंतु मनके संकोचके कारण अर्जुन मोहित हो गया। और भगवान् श्रीकृष्ण शान्त रहकर कर्तव्य करते रहे। इसी प्रकार जो कर्तव्य करेंगे और मोहित नहीं होंगे वे धन्य बनेंगे और जो लोभ-मोहमें फंसेंगे वे दीन होते जायेंगे। अर्थात् जो अपने आपको भोगोंसे भरपूर करना चाहते हैं वे अन्दर ही अंदरसे खोखले होते जाते हैं और जो त्यागसे आत्मशुद्धिके मार्गसे जाते हैं वे अपने आपका अन्दरसे बलवान् होनेका अनुभव करते हैं। इस प्रकार इन दोनोंका अनुभव परस्परविरुद्ध होता है। भोगोंको अन्दर भरनेसे खाली होनेका अनुभव और विषयोंको अन्दरसे हटानेसे परिपूर्ण होनेका अनुभव आता है। यह एक स्वानुभवका विलक्षण उदाहरण है। इससे ही स्थितप्रज्ञ मुनि और सामान्य मनुष्यकी अवस्थाका ज्ञान हो सकता है।

आगे शांतिकी सिद्धिका उत्तम वर्णन है वह अब देखिये—

(२२) ब्राह्मी स्थिति ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥
अन्वय — आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति स शान्तिं आप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥ यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः निरहंकारः (भूत्वा) चरति सः शान्तिं अधिगच्छति ॥ ७१ ॥ हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः एनां प्राप्य न मुह्यति अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति ॥ ७२ ॥

चारों ओरसे पानी भर आनेपर भी अचल रहनेवाले समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियाँ चली जाती हैं उसी प्रकार जिसमें सब विषय प्रवेश करते हैं उसे ही सच्ची शांति मिलती है ॥ ७० ॥ जो पुरुष सब कामनाओंको छोडकर निःस्पृह, ममत्वरहित और अहंकाररहित होकर व्यवहार करता है वही शांति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥ हे अर्जुन ! यही ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर कोई मोहित नहीं होता है । अन्तकालमें भी इस स्थितिमें रहकर वह ब्रह्मनिर्वाणको पाता है ॥ ७२ ॥

भावार्थ— चारों ओरसे नदी आके समुद्रमें आ रहे हैं । इनका जल भर आनेपर भी समुद्र गंभीर रहता है और अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, इसी प्रकार जो मनुष्य विषयभोग भोगता हुआ भी अपनी धर्ममर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसीको शांति प्राप्त होती है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य अपनी भलोभाव स्वार्थकी कामनाओंको छोडता है निरिच्छ होकर मैं और मेरा इस मोहजालमें नहीं फंसता अर्थात् छोड देता है संबंधियोंके मोहको दूर करता है और इस प्रकार वृत्तिसे जगत्के सब व्यवहार करता है उसको ही शांति मिलती है ॥ ७१ ॥ हे अर्जुन ! ब्रह्मप्राप्त हुए, ब्रह्मरूप बने मनुष्यका यह लक्षण है इसप्रकार इस स्थितिके प्राप्त होने पर उसको कदापि मोह नहीं होता । यदि किसीको यह स्थिति मरनेके समय भी प्राप्त हुई तो भी उसको ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष मिलता है ॥ ७२ ॥

(७०–७२) मनुष्यको जो उत्तमसे उत्तम अवस्था प्राप्त होती है वह ब्राह्मी स्थिति है । इस ब्राह्मी स्थितिका स्वरूप इन श्लोकोंमें वर्णित किया है इसका अब विचार करेंगे—

समुद्रकी उपमा ।

ब्राह्मी स्थिति समुद्रके समान है । समुद्रमें गंभीरता है गहराई है शान्ति है इसके साथ साथ पूर्णता भी है । पूर्णत्व उसको कहते हैं कि जिसमें न्यूनता और अधिकता नहीं होती । समुद्र भी इसी प्रकार पूर्ण है क्योंकि उसमें प्रति दिन अनंत नदियां मिलती हैं तथापि वह अपनी मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करता तथा सूर्यके तापसे उसका पानी भाप रूप में ऊपर जाता है तथापि वह न्यून नहीं होता । जिसमेंसे व्यय होनेसे न्यूनता न हो और जिसमें भरनेसे अधिकता न हो वह पूर्ण है । इस पूर्णताका ज्ञान देनेके लिये समुद्रकी उपमा सर्वोत्कृष्ट है ।

ब्रह्म भी इसी प्रकार पूर्ण है । इस ब्रह्मकी शक्ति जगत्की उत्पत्तिके कार्यमें लगती है तथापि जगत् उत्पन्न होनेसे उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती । इसी प्रकार जगत्की वृद्धि और क्षय होनेसे उसकी शक्तिमें कुछ अन्तर भी नहीं

होता। अतः कहते हैं कि वह पूर्ण है। उसमें गम्भीरता गहराई और शांति है। वह गम्भीरता गहराई और शांति उसीको प्राप्त होती है कि जिसको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है अथवा जिसकी ब्राह्मी स्थिति होती है। इस स्थितिकी तुलना पूर्वोक्त प्रकार समुद्रके साथ की जाती है।

समुद्रमें जिस प्रकार नदियोंका पानी पहुंचने पर भी समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार जगत्के अनंत भोग प्राप्त होनेपर भी जो पुरुष अपनी धर्म मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसकी स्थिति समुद्रवत् गंभीर होती है और वही मनुष्य ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है। इतने बड़े विस्तीर्ण जगत्के बनने और बिगडनेपर भी जिस प्रकार ब्रह्ममें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती उसी प्रकार जगत्के सुखदुःखके प्राप्त होनेपर भी जिसमें थोडीसी भी चंचलता नहीं होती उसीकी ब्राह्मी स्थिति होती है। साधारण मनुष्य तो थोडेसे सुख प्राप्त होनेपर घमंड करता है और थोडासा दुःख होनेपर तो आत्महत्या करनेको तैयार होजाता है।! मनुष्यकी हीन स्थिति का यही लक्षण है। जो सुख-दुःखोंकी लहरियोंसे इधर उधर डोलायमान होते हैं और अपने स्थानपर स्थिर नहीं रह सकते वे हीन हैं। परंतु जो उक्त वेगोंको सहन करके अपनी मर्यादाके अन्दर रहते हैं वे धीर गंभीर कहलाते हैं। इनको पूर्ण पुरुष कहते हैं।

शरीर सुंदर और बलवान् रहा नीरोग रहा, धन प्राप्त हुआ उत्तम परिवार रहा पुत्र-पौत्र बढ गया लोगोंसे मान्यता और आदर मिलने लगा अधिकार हाथमें आ गया लोगोंका भला बुरा करनेका साधन हाथमें हुआ तो मनुष्य घमंडी बनता है अकडने लगता है दूसरोंकी पर्वाह नहीं करता, अन्याय भी करता है और दूसरोंको कष्ट देता है। इससे पता लगता है कि वह मनुष्य अभी उच्च कोटिमें नहीं पहुंचा है। जो उच्च कोटीमें पहुंचा होता है वह उक्त साधन और सुख प्राप्त होनेपर भी धर्ममर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करता और जितना अधिकार अधिक मिलता है उतना वह अधिक परोपकार करता जाता है और उतनी अधिक आत्मशुद्धि करता है। पाठक यहां इन दोनों उच्च और नीच मनुष्योंकी अवस्थाका विचार करें और जानें कि इस मंत्रमें समुद्रकी उपमा देकर भगवद्गीताने कौनसा उपदेश दिया है और उसका ग्रहण मनुष्योंको किस प्रकार करना चाहिये।

भोगप्राप्ति।

इस श्लोकमें (सर्वे कामाः य प्रविशन्ति) जिसमें सब कामोपभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं (सः शांतिं आप्नोति) वह शांति प्राप्त करता है ऐसा कहा है। सब कामोपभोग एक साथ स्वयं प्रवेश करते हैं, इसका अर्थ ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ यह मनुष्य सब कामोंको एक ही समयमें प्राप्त करता हुआ भी नहीं चंचल होता ऐसा है।

साधारण मनुष्य एक समयमें एक ही भोग प्राप्त कर सकता है, क्योंकि इसका मन जिस समय एक इंद्रियके साथ संलग्न होता है उस समय दूसरा विषय ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है। परंतु ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य एक समयमें सब भोग प्राप्त कर सकता है। इसका कारण यह है कि वह भोगोंके पास नहीं जाता परंतु इसके अन्दर (सर्वे कामाः प्रविशन्ति) संपूर्ण काम स्वयं घुसते हैं जिस प्रकार समुद्र नदियोंके पास नहीं जाता अपितु नदियां स्वयं समुद्रमें घुसती हैं। यहां समुद्रप्राप्ति यह नदियोंका ध्येय है। इसी प्रकार आप्तकाम पुरुषमें प्रविष्ट होकर कृतार्थ होना यह भोगोंका ध्येय बनता है बिना मांगे सब भोग इसमें एक ही समय घुसते हैं अर्थात् इसको अनायास प्राप्त होते हैं। जब यह भोगोंका इच्छुक होता था तब वह एक समय एक एक भोगको प्राप्त करता था परंतु जिस समय वह भोगोंके विषयमें निःस्पृह हुआ तब सब भोग इसकी प्राप्ति की इच्छा करने लगे और इसी कारण स्वयं इसके पास उपस्थित होने लगे। अत एक ही समयमें बिना आयास इसके पास सब भोग उपस्थित होने लगे।

कामकामी और आत्मकामी।

इस श्लोकमें दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन है। एक मनुष्य (काम-कामी) कामोपभोग प्राप्त करनेका इच्छुक है अत एव अपने आपको अपूर्ण समझता है। अतः अपनी पूर्णता कर लेनेकी इच्छासे भोगोंको प्राप्त करनेका यत्न करता है। इसीको (पूर्णमायु) बाहरके भोग लाकर पूर्णता किया जानेवाला कहते हैं। भोगप्राप्तिके लिये इसको इधर उधर भटकना पडता है इसलिये इसमें (चक्रः) चंचलता रहना स्वाभा

स्थिर है। इसी चंचलताके कारण इसकी अप्रतिष्ठा भी होती है। साथ ही साथ जो आप्त-काम होता है वह (आपूर्यमाणः) भरा जानेपर भी वैसा ही पूर्ण रहता है जैसा भरनेके पूर्व पूर्ण था (अचलः) स्थिर क्योंकि वह सदा तृप्त होनेसे भोगोंकी ओर जानेकी इसको आवश्यकता नहीं होती अपने स्थानमें स्थिर रहनेके कारण (अचल-प्रतिष्ठः) इसकी प्रतिष्ठा स्थिर होती है। जो दर दर मांगता फिरता है उसको प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त होगी? जो अपने घरमें रहता है और जिसको मांगनेकी आवश्यकता नहीं है, उसीकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार आत्मकामी और कामकामीकी स्थिति विचार करने योग्य है। देखिए—

आप्तकामी	कामकामी
आत्मकामी	भोगकामी विषयी
अकाम निष्काम	सकाम
पूर्ण	अपूर्ण
स्थिर अचल	अस्थिर चंचल
प्रतिष्ठावान्	अप्रतिष्ठ
परिपूर्ण	पूर्यमाण
इसके पास	इसका भोगोंके
भोगोंका आना	पास जाना
ब्राह्मी स्थिति	संसारी स्थिति
शान्त	अशांत
तृप्त	अतृप्त

इस रीतिसे विचार करनेपर आत्मकामी और कामकामी की स्थिति जानी जा सकती है। हरएक मनुष्यको दुःख बढानेवाली कामकामीकी स्थितिसे दूर होकर आत्मकामी की श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। हरएक मनुष्य इसी मार्गमें है। यहां अब विचार करना है कि आत्मकाम मनुष्यको एक ही समय सब भोग स्वयं कैसे प्राप्त होते हैं? और कामकामीको एक समय एक ही भोग क्यों प्राप्त होता है? इसका विचार इस प्रकार है—

साधारण मनुष्य अपने अन्दर किसी विषयकी न्यूनता अनुभव करता है और उसकी पूर्णता करनेकी इच्छासे किसी विषयको प्राप्त करना चाहता है। जैसा तृषित मनुष्य अपने अन्दर जलकी न्यूनताका अनुभव करता हुआ जल-प्राप्तिका यत्न करता है उसी प्रकार अप्राप्त भोगोंके विषयमें समझना चाहिये। न्यूनताके अनुभवसे दुःख और पूर्णताके अनुभवसे सुख है। अब देखिये कि जो मनुष्य सदा तृप्त है वह अपने अन्दर सब प्रकारकी पूर्णताका अनुभव करता है अतः वह किसी बाह्य विषयको नहीं चाहता मानो सब विषय और सब काम उसको यथेच्छ प्राप्त हैं कोई विषय उसको कभी अप्राप्त नहीं जिसके घरमें सब आवश्यक पदार्थ भरपूर हों, उसको किसी बातकी चिन्ता नहीं होती वह तो सदा सुखी रहेगा। इसी प्रकार आत्मकाम सदा सुखी रहता है और उसको इच्छामात्रसे सब भोग, जो उसमें उपस्थित रहते हैं उसे मिलते हैं। सब काम सदा प्राप्त होनेके समान रहनेका नाम ही आप्तकाम, आत्मकाम अकाम आदि है। पाठक यहां कल्पना करें कि यदि किसीके अन्दर ही अन्दर सब कामनाओंके भोग स्वयं प्राप्त होते हों और उनके लिये किसी बाह्य पदार्थकी आवश्यकता न हो तो उसके चलायमान और चंचल होनेका कारण ही क्या है? वह तो सदा शान्त गंभीर, अचल स्थिर, प्रतिष्ठायुक्त और सदा तृप्त होगा। यही बात इस श्लोकमें कही है। समुद्रमें नदियोंके प्रविष्ट होनेके समान जिसमें विविध कामभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं वही शान्तिका अनुभव करता है। वह शान्ति कामभोगोंके पीछे पड़े हुए मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार कामकामी और आत्मकामी मनुष्यके व्यवहारमें महान् अन्तर है दोनोंका जीवन भिन्न होता है। मनुष्यको कामकामी बनना नहीं चाहिये और आत्मकामी बनना चाहिये। मनुष्य आत्मकामी कैसे बने इसका उपाय अगले श्लोकमें कहा है।

कामना त्याग

जो मनुष्य (कामान् विहाय) सब कामनाओंको छोड़ता है सब स्वार्थके भाव दूर करता है अर्थात् (निःस्पृहः) निरिच्छ होता है निष्काम बनता है अकाम होता है तथा (निर्ममः) मैं और मेरा यह भावना छोड़ता है यह मेरा है अतः इसको मैं प्राप्त करूंगा और यह पराया है अतः इसको दूर करूंगा ऐसा नहीं कहता अपितु सबके साथ सम भावनासे बर्ताव करता है और (निरहंकारः) अहंकार [illegible] कभी नहीं [illegible] उसको शांति मिलती है। [illegible] शांति प्राप्त [illegible] है सब कामनाओंका त्याग

करना चाहिये यह पहिला अनुष्ठान है। जबतक मनके अन्दर कामना रहेगी तबतक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती यह तो स्पष्ट ही है कि कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य उस काम नाके पीछे पीछे दौड़ता है और इस दौड़नेके कारण अशान्त रहता है। मनुष्यको अशान्त करनेवाली ये विविध काम- नायें हैं। प्रत्येक इंद्रियका एक एक विषय होता है और मनुष्य प्रत्येक इंद्रियकी तुष्टिके लिये एक एक विषयकी कामना करता रहता है। हरएक कामनाके कारण वही विभिन्न विषयोंके क्षेत्रोंमें खींचा जाता है। उनमें इस विषयक्षेत्रसे दूसरे उससे दूसरे विषयक्षेत्रमें भ्रमण करना इसको आवश्यक होता है। और इसी भ्रमणसे उसको अशान्त होना पड़ता है। अर्थात् यदि अशान्तिको दूर करके शान्तिकी प्राप्ति करनी है तो पहिले इन विषयोंकी कामना- ओंको छोड़ना पड़ेगा।

अकामका कर्म।

यहां कई लोग शंका उठा सकते हैं यदि सब कामनाओंका त्याग मनुष्यने किया तो उसकी हलचल ही बंद होजायगी फिर मनुष्यके इस लोकमें जन्म लेनेसे क्या लाभ हो सकता है? यह शंका ठीक है परन्तु भगवद्गीताके उपदेशानुसार कामनाओंका त्याग करनेसे मनुष्य पत्थर जैसा जड़ नहीं बनता यह दर्शानेके लिये ही इस श्लोकमें (निस्पृहः चरति) निष्काम होकर व्यवहार करता है ऐसा कहा है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि सब कामनाओंका त्याग करनेपर भी मनुष्य कुछ विशेष रीतिसे (चरति) आचार व्यवहार करता ही है। वह पत्थर जैसा नहीं बनता। सामान्य मनुष्य ऐसा मानते हैं कि कामना छोड़नेपर मनुष्य कर्म करनेमें असमर्थ होगा, परंतु यह ख्याल गलत है। कामनाओंका (विशेष) त्याग करनेपर ही मनुष्य विशेष कर्म करनेमें समर्थ होता है। कामनाओंके बन्धमें बंधा हुआ मनुष्य ही विशाल पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ होता है। कामनाओंके बन्धनमें फंसा मनुष्य अपनी सुखवृद्धि करनेका यत्न करेगा तो उससे विस्तृत कर्म नहीं हो सकता। परंतु स्वार्थकी कामनाओंका त्याग करनेवाला परमार्थके विशाल कार्यक्षेत्रमें कार्य करेगा यही भाव दर्शानेके लिये इस श्लोकमें 'चरति' पद है। चरति का अर्थ व्यवहार करता है। निस्पृहः चरति निस्पृह अथवा निरिच्छ बना हुआ मनुष्य व्यवहार करता है ऐसा जो इस श्लोकमें कहा है वह पूर्वोक्त कुशंका को दूर करनेके हेतुसे ही कहा है। निष्काम बनकर जो व्यवहार होते हैं वे अधिक शुद्ध होते हैं और अधिक उच्च होते हैं, अतः इनका महत्व विशेष है।

अहंकार और ममत्व

निस्पृह, निर्मम और निरहंकार ये तीन शब्द एक दूसरेके साथ सम्बन्धित हैं। अहंकारसे ममत्व होता है और ममत्वके कारण स्पृहा अर्थात् इच्छा होती है। यदि किसीके मनसे अहंकार हट जाए तो उसके मनसे ममत्व भी हट जाता है और ममत्वके दूर होनेसे स्वयं ही कामनाओंका नाश भी होजाता है।

अहंकार का अर्थ है मैं-पन '। जगत्में मैं हूं मैं इस जगत्का भोग लूंगा मैं इसमें विजयी हूंगा, मैं ऐसा और वैसा करूंगा यह सब ' मैं-पन का खेल है। यदि ' मैं-पन ही हट जाए तो मैं से उत्पन्न होनेवाला मेरा- पन ' कैसे रहेगा? ममत्व ' का अर्थ है मेरा-पन । मैं-पन के साथ ही मेरा-पन संबंधित है। एकके चले जानेसे दूसरा भी दूर होजाता है। यदि यहां एक ऐसे मनु ष्यकी कल्पना की जाय जिसके मनसे यह (अहंकार) मैं पन और (ममत्व) मेरापन पूर्णतासे हट गया है, तो ज्ञात होगा कि ऐसे मनुष्यके अन्दर कोई कामना उत्पन्न ही नहीं होती। क्योंकि कामना उत्पन्न होनेके लिये अहंकारकी अत्यंत आव श्यकता रहती है। इस विचारसे यह बात ज्ञात होगई होगी कि अहंकारके नाशसे ममत्वका नाश और ममत्वके नाशसे कामनाका नाश होता है इस प्रकार निष्काम होकर मनुष्य किस प्रकारके कर्म कर सकेगा इसका विचार अब करना चाहिये।

स्वार्थ और परमार्थ।

यहां स्वार्थ और परमार्थका भेद ध्यानमें लाना योग्य है। स्वार्थी मनुष्य अपने हितकी कामना करता है और अपने सुखके लिये दूसरोंका नाश भी आवश्यक हो तो वह भी कर देता है। इसी प्रकार परमार्थी मनुष्य परम अर्थ अर्थात् सबके श्रेष्ठ हेतुसे प्रेरित होता है। परमार्थी मनुष्यके सम्मुख सब जनताकी भलाईका लक्ष्य होता है अन्य निःस्वार्थ आदि श्रेष्ठतत्वोंका ध्येय उसके सम्मुख होता है। यदि सब जनताकी भलाईके लिये आवश्यक प्रयत्न हुआ तो

आत्मसमर्पण भी करदेता है। यह स्वार्थी और परमार्थी मनुष्यके अंतरका भेद है। स्वार्थी मनुष्य अपने सुख बढ़ानेके लिये दूसरोंकी बलि देता है और परमार्थी मनुष्य अन्योंके सुख बढ़ानेके लिये अपनी बलिका अर्पण करनेको तैयार होता है। इसीके व्यवहारोंमें यह भेद होता है। स्वार्थी मनुष्यको सकाम कहते हैं और परमार्थी मनुष्यको निष्काम अकाम आत्मकाम किंवा अकाम कहते हैं (यह बात इसी अध्यायके श्लोक ५५-५८ की व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दिखाई है।) स्वार्थी मनुष्य अपनी सेवा करता है और परमार्थी मनुष्य ईश्वरकी सेवा करता है स्वार्थ छोटा है और परमार्थ बड़ा विस्तृत है। अतः निष्काम मनुष्य छोटे अर्थका छोड़कर विस्तृत अर्थकी सिद्धिमें दत्तचित्त होता है। इसी कारण निष्काम कर्मका महत्त्व बड़ा भारी है।

संकुचित वायुमंडलमें मनुष्यको आनन्द नहीं होता जब वह विस्तृत वायुमंडलमें जाता है तब वह आनन्दका भागी बनता है। पर्वतकी चोटीपर चढ़ा मनुष्य खुले विस्तृत वायुमंडलमें पहुंचनेके कारण आनंदित होता है परंतु बन्द की पाठशालामें बैठा मनुष्य संकुचित वायुमंडलमें रहनेके कारण दुःखी होता है। यही बात स्वार्थके कार्यमें है। यह बात कई बार इससे पूर्व बताई है कि स्वार्थके कारण जगत्में अशान्ति द्वेष और युद्ध होते हैं और परमार्थके कारण शान्ति मित्रता और प्रेम बढ़ता है। अशान्ति द्वेष और युद्धसे शक्तिकी क्षीणता होती है और शान्ति मित्रता और प्रेमके कारण शक्तिकी वृद्धि होती है। प्रेममें और मित्रतामें जो शक्ति है वह किसी अन्य भावनामें नहीं है। यद्यपि मनुष्य जानता है और समझता है तथापि वह अमृतरूप प्रेमका प्यासा है। यदि उसको प्रेमके अमृतरस मिलनेकी आशा न होती तो वह कदापि जीवित भी नहीं रहता। कोई प्राणी अशान्तिके लिये जीवित नहीं रहता शान्तिकी आशासे ही सब जीवित रहते हैं। यह शांति परमार्थसे ही मिलती है स्वार्थके भावसे नहीं। इसीलिये इन श्लोकोंमें कहा है कि स्वार्थकी सब कामनाओंका तथा अहंकार ममत्व और लोभकामनाओंका त्याग करके परमार्थके विस्तृत कार्यक्षेत्रमें निष्काम भावसे कर्म करो। ऐसा करनेसे ही शान्ति प्राप्त होगी। दूसरा कोई मार्ग शान्तिके लिये नहीं है।

यः कामान् विहाय निःस्पृहः चरति स शान्तिम् अधिगच्छति ॥७१॥ आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विचरन् परम् प्रसादम् अधिगच्छति ॥६४॥

इसी अध्यायके ये दोनों श्लोक समान भाव बताते हैं। पहिलेमें कहा है कि 'कामना छोड़कर व्यवहार करनेवाला शान्तिको प्राप्त करता है' और दूसरेमें कहा है 'अपने स्वाधीन रहनेवाली इंद्रियोंसे विषयोंमें विचरता हुआ प्रसन्नता प्राप्त करता है।' इन दोनों श्लोकोंका भाव अर्थकी दृष्टिसे समानही है। कामनाका त्याग करने और अपने आधीन इंद्रियोंको रखनेका एक उद्देश्य एक ही है। क्योंकि कामनाका अर्थ इंद्रियोंका विषयाधीन करना है। जिसकी इंद्रियें स्वाधीन हैं वह सुखी और जिसकी इंद्रियें स्वच्छंदी हैं वह दुःखी होता है। इंद्रियोंको स्वैर रखनेवालेको कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार कामनाओंका त्याग करने और निःस्पृहतासे व्यवहार करनेसे मनुष्य ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मी स्थितिका अर्थ स्थितप्रज्ञकी सम्पूर्ण अवस्था है। इसी अध्यायमें स्थितप्रज्ञका वर्णन (श्लोक ५५ से) चल रहा है। श्लोकमें—

सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (श्लोक ५५)

सब मनोगत कामनाओंका त्याग करना यह स्थितप्रज्ञका पहिला लक्षण कहा है। यहां इन शब्दोंमें (सर्वान् कामान् विहाय) सब कामनाओंको छोड़नेका उपदेश किया है। कामना छोड़नेकी एक ही बात इस अध्यायमें बारबार कही है यह इसलिये कि यह भाव पाठकोंके मनमें उत्तम प्रकार स्थिर हो जाय।

सब कामनाओंको मनसे हटानेसे ही ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। मनुष्यको यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई तो समझो कि उसकी परम उच्च उन्नति होगई। मनुष्य जिस उच्चतम भूमिकाके ऊपर पहुंच सकता है वह यही अवस्था है। यहीं ही वह परम आनन्द होता है। जीवका शिव बनना इसीको कहते हैं। अपने आत्माको ब्रह्म माननेकी यही स्थिति है अतः इसको ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मरूप स्थिति कहा करते हैं। इसीका नाम पूर्व श्लोकमें तुरीया अवस्था कहा है। (देखो श्लोक ६९-७० की व्याख्या।) साधारण स्थितिमें मनुष्य अपनी जड़ और मलिन अवस्था देखता

मानता है परंतु पूर्वोक्त रीतिसे उन्नत होनेपर इसको अनुभव होता है कि अपनी अवस्था भूमा ब्राह्मी अथवा शिवा अवस्था है। सामान्य मनुष्यके अनुभवसे इस अवस्थामें विलक्षण अनुभव आता है अतः कहा है कि—

एनां प्राप्य न मुह्यति।

इस अवस्थाको प्राप्त करके मनुष्य मोहवश नहीं होता मोह तो इस अवस्थाको प्राप्त होनेतक ही रहता है। एकवार मनुष्यने इस स्थितिका अनुभव किया तो वह कभी भ्रममें नहीं फंसता। अन्तकालमें भी इस अवस्थाको प्राप्त करनेपर उसको ब्रह्मपद प्राप्त हो सकता है अर्थात् अन्त समयतक इसको प्राप्त करनेसे भी विलक्षण लाभ हो सकता है। अब इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करनेका वर्णन वेदमंत्रोंमें किस ढंगसे आया है वह देखिये—

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥

(अथर्व १०।२)

ऊपर नीचे तिरछे आदि सब दिशा विभागोंमें यह पुरुष फैला हुआ है ब्रह्म नगरीको जो जानता है उस पुरीमें बसनेके कारण इसका पुरुष नाम प्रसिद्ध हुआ है। अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न सब अन्य देव चक्षु प्राण और प्रजा देते हैं। जो ब्रह्मनगरीको जानता है उसके चक्षु और प्राण उसकी वृद्धावस्थाके पूर्व नहीं छोडते इस पुरीमें बसनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं। आठ चक्रों और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या अर्थात् युद्ध करके जीतनेके अशक्य नगरी है। उसमें सुवर्णमय कोश है। जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग ही है तीन आरे जिसमें लगे हैं और तीन आधारोंपर जो विराजमान है, उस सुवर्णमय कोशमें पूज्य और चैतन्य पूर्ण देव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। जिसकी कभी पराजय नहीं हुई ऐसी सुवर्णमय तेजस्वी मनोहर और यशस्वी ब्रह्मकी नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है ॥ २८-३३ ॥

इन मंत्रोंमें ब्रह्मपुरीका वर्णन है और उसको प्राप्त करनेवालेकी स्थिति अर्थात् ब्राह्मी स्थितिका भी कथन है। अतः इन मन्त्रोंका विशेष विचार करना चाहिये। इस ब्रह्मपुरीका वर्णन इस प्रकार है—

ब्रह्मपुरी

इस ब्रह्मकी नगरीमें (नव-द्वारा) नौ द्वार हैं इन द्वारोंके नाम दो आंख दो कान दो नाक एक मुख ये सिरमें सात द्वार और गुदद्वार और मूत्रद्वार ये दो मिलकर नौ द्वार हैं। ये द्वार बडे प्रसिद्ध हैं इसलिये इसके द्वारा पुरी द्वारका आदि भी अनेक नाम हैं। इसमें आठ चक्र हैं (१) मूलाधार पृष्ठवंशके मूलमें (२) स्वाधिष्ठान जननेंद्रियके पीछे (३) मणिपूरक और (४) सूर्यचक्र नाभिस्थानमें (५) अनाहत हृदयमें (६) विशुद्धि गलेमें (७) आज्ञाचक्र भूमध्यमें (८) सहस्रारचक्र मस्तिष्कमें इस प्रकार ये आठ चक्र इस पृष्ठवंशमें मज्जा-तंतुके केन्द्रस्थान हैं। इन चक्रोंमें अनन्त शक्ति है और वह शक्ति मज्जातन्तुके आश्रयसे शरीरभरमें फैलाई जाती है जिससे यह शरीर चल रहा। यह ब्रह्मपुरी मनुष्यका शरीर है ब्रह्मलोक ब्रह्मनगरी, ब्रह्मपुरी अयोध्या द्वारिका ये सब नाम इसी मनुष्य शरीरके हैं। इसी शरीरमें ब्रह्मका अंश रहता है इसलिये इसका इतना महत्त्व है। अतः कोई यह न समझे कि यह शरीर हीनदीन और मलिन है। यह तो ब्रह्मका निवासस्थान है। जिसको ब्रह्मने अपना निवास स्थान बनाया उसको मलिन कौन कह सकता है ? तथापि मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे इसमें राक्षस और पिशाचको घुसने न दे और इसमें ब्रह्मका ही प्रकाश होने दे। इस प्रयत्नका नाम ही धर्माचरण है।

यह ब्रह्मकी नगरी (प्रभ्राजमाना) तेजस्वी है (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है इसमें मनुष्यके साथ रहनेवालोंको दुःख नहीं होता (यशसा संपरीवृता) यशसे युक्त है इसमें रहनेवालेको यश प्राप्त होता है पुरुषार्थके

करनेवाले इसमें रहकर यश प्राप्त करते हैं (न पराजिता) इसकी पराजय कोई कर नहीं सकता न (अयोध्या) युद्ध करके इसका नाश कोई कर सकता है यह युद्ध करके जीतने योग्य नहीं है अर्थात् एक बार ब्रह्मरूप बनकर जो इसमें रहता है वह कभी मोहरूप अन्धकारमें नहीं फसता। इस प्रकारकी ब्रह्मपुरीमें जो ब्रह्म बनता है जो ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होता है वह (अविवेश) प्रविष्ट होता है। अन्य लोग गुलाम दास भावसे इसमें रहते हैं राजा होकर दासरूपसे रहते हैं परन्तु जो ब्रह्मरूप बनते हैं वे इसमें सम्राट् बनकर प्रविष्ट होते हैं। अतः इसमें कोई दास बनकर न रहे अपितु सम्राट् बनकर विराजे।

इस ब्रह्मनगरीमें एक (कोश) खजाना है सब शक्तियों का मुख्य स्थान है यह स्थान (त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) तीन आरोंपर और तीन आधारोंपर स्थित है। यह कोश (हिरण्यय) सुवर्ण जैसा तेजःपुंज है इसकी कान्तिका वर्णन करना कठिन है। यही (स्वर्गः) स्वर्ग है इस स्थानपर जो प्रभु बनकर जाते हैं उनको ही स्वर्गसुख मिलता है अपने अन्दर ही यह स्वर्गस्थान है यहां (देवानां पूः) देवोंका वासस्थान है देवोंके अंशोंसे यह परिपूर्ण है और यहां (ज्योतिषा आवृता) इतना तेज है कि मानों सब देवोंका पुंज ही यह है। इसी स्थानमें (आत्मन्वत् यक्ष) आत्मावाला स्वरूप एक पूजनीय देव है इसका ज्ञान सामान्य मनुष्योंको नहीं होता उसे तो केवल (तद् ब्रह्मविदः विदुः) ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं यह वस्तु नहीं है यहीं ब्रह्म है यहीं अमृत शक्ति है यहां क्षेम भय अज्ञान भी नहीं है।

इस पुरीमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं। (पुरशयः इस पुरीमें शयनेवालेका (पुरुष नाम) पुरुष कहते हैं। इस पुरीमें अधिकारपूर्वक वास्तव्य करनेका फल यह है—

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
(अथर्व १०।२।२९)

उसको ब्रह्म और ब्राह्मण उत्पन्न हुए सब अन्य देव चक्षु प्राण और प्रजा देते हैं। ब्रह्मनगरीको जानना ब्रह्मपुरीमें प्रविष्ट होना, ब्रह्म प्राप्त करना अथवा ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचना एक ही है। इस स्थितिमें पहुंचे हुएको ब्रह्म स्वयं इस पारिलौकिक देता है और ब्राह्मण तथा सूर्यादि सब देव भी इसकी उचित सहायता करते हैं। इस मन्त्रमें ब्रह्म और ब्राह्मण ये दो शब्द हैं। ब्रह्मशब्द परमात्माका वाचक और ब्राह्मण शब्द अग्नि वायु रवि विद्युत् आदि अन्यान्य सब देवताओंका वाचक है। अग्निसूर्यादि सब देव और उनका अधिष्ठाता परमात्मा ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्यको चक्षु, प्राण और प्रजा ' देते हैं।

चक्षु प्राण और प्रजा

प्रजा शब्द सन्तानवाचक प्रसिद्ध है। ब्रह्मज्ञानी बनना ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त मनुष्यका ब्रह्म प्रसन्न होकर उत्तम सुसन्तान देता है इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी स्थिति को पहुंचा मनुष्य गृहस्थधर्ममें रहकर सुप्रजा उत्पन्न करता है। ब्रह्मकी कृपासे प्राप्त होनेवाली सन्तान औरस ही होगी, दत्तक पुत्रके लिये ब्रह्मकी कृपाकी कोई आवश्यकता नहीं है। औरस सन्तान उत्पन्न होनेके लिये स्त्रीके साथ रहना आवश्यक है और धर्मानुकूल गृहस्थधर्मका पालन करना भी आवश्यक है। पुत्र उत्पन्न होने योग्य शरीरकी तरुणावस्था भी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मी स्थिति तरुणपनमें प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी पात्रताकी अवस्था चाहिये कि युवा अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मपुरीको जाने और उसमें अधिकारसे प्रविष्ट हो सके और पश्चात् सुप्रजा निर्माण कर सके। सुप्रजा निर्माण करना या होना ब्रह्मज्ञानका एक फल यहां वेदमन्त्रमें वर्णित है।

ब्रह्मकी प्रसन्नतासे दूसरी चीज जो प्राप्त होती है वह प्राण है। प्राणकी प्राप्तिका अर्थ प्राणकी स्वाधीनता, प्राणको अपने आधीन रखना अथवा प्राणोंमें दीर्घ आयुकी प्राप्ति है। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेसे मनुष्यको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है अर्थात् अल्पायुमें मृत्यु नहीं होती। दीर्घ जीवन प्राप्त होनेका अर्थ यह है कि वह इस दीर्घ आयुमें विशेष महत्त्वके पुरुषार्थ करता रहे। वह पुरुष आलसी जैसा स्वस्थ नहीं रहता अपितु ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करता है कि जो जनताके लिये मार्गदर्शक हो जाय।

ब्रह्मप्राप्तिसे जो तीसरा लाभ होता है वह चक्षु की प्राप्ति है। चक्षु शब्दका अर्थ नेत्र है परन्तु यह शब्द यहां उपलक्षण है यहां चक्षु शब्दसे नेत्र आदि संपूर्ण इंद्रिय अन्य अवयव लेने चाहिये। ये सब इंद्रिय और अवयव उत्तम रहे

स्थानमें रहते हैं वृद्धावस्थाके पूर्व क्षीण नहीं होते यह इसका तात्पर्य है। इसीको अधिक स्पष्ट रूपसे अन्यत्र ही किया है–

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

जिसमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसके नेत्र और उसके प्राण वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते।' अर्थात् अतिवृद्ध अवस्थातक उसकी संपूर्ण इंद्रियें और अवयव कार्यक्षम रहते हैं और वह सुदृढ अवयवोंके साथ उत्साहपूर्ण दीर्घ जीवनका अनुभव लेता है।

सुमनका निर्माण करना, दीर्घजीवन प्राप्त होना और अन्ततक संपूर्ण अवयव सुदृढ अवस्थामें रहना ये तीन काम ब्रह्मज्ञानसे होते हैं। ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचे हुए मनुष्यको ये तीन लाभ मिलते हैं। भगवद्गीतामें (यः कामान् विहाय निःस्पृहः चरति) कामना छोडकर निस्पृह होकर व्यवहार करता है ऐसा कहा है। इसमें (चरति) व्यवहार करने का अर्थ इन मंत्रोंके साथ संगति देखनेसे स्पष्ट हो जाता है ब्रह्मज्ञानी मनुष्य अतिदीर्घ आयुतक अपने सुदृढ अवयवोंके साथ उत्तमोत्तम पुरुषार्थ करता है। वेदमन्त्र और गीताके उपदेशकी संगति इस प्रकार है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,
योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें,
सांख्ययोग नामक द्वितीय अध्याय
समाप्त हुआ ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायपर विचार।

सांख्य और योग

सांख्य तत्त्वज्ञानका महत्त्व

आर्य तत्त्वज्ञानमें सांख्य और योग ये दो मार्ग विशेष महत्त्वके हैं, उनमें भी सांख्यका मान विशेष है। सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल महामुनि अपनी ही विभूति हैं ऐसा 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (भ० १० । २६) इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वयं कहा है। सांख्यशास्त्रका इतना महत्त्व है। इसी कारण अन्यसिद्धान्तोंका उल्लेख करनेके पूर्व इस श्रीमद्भगवद्गीतामें भी सांख्यसिद्धान्त सबसे प्रथम कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायका नाम ही सांख्ययोग है और भगवद्गीताके इसी अध्यायसे उपदेशका प्रारंभ होता है। इस द्वितीय अध्यायमें ११ वें श्लोकसे वस्तुतः उपदेशका प्रारंभ है। इसमें श्लोक ११ से ३० तकके करीब २० श्लोकोंमें सांख्य-तत्त्वज्ञान कहा है श्लोक ३१ से ३९ के नौ श्लोकोंमें क्षात्रधर्मबोधक सामान्य उपदेश है और श्लोक ४० से श्लोक ५३ तक योगमार्गका तत्त्वज्ञान कहा है और अन्तमें श्लोक ५४ से ७२ तक स्थितप्रज्ञके लक्षण बताये हैं यही ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। इस प्रकार देखा जाय तो केवल इस अध्यायके २० श्लोकोंमें ही सांख्य-तत्त्वज्ञान कहा है। यह तत्त्वज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होनेके कारण इसका यहां सारांशरूपसे पुनः मनन करनेका विचार है।

सांख्यसिद्धान्त।

सांख्य-तत्त्वज्ञान (सम्यक् प्रकारसे) बुद्धिवादसे उत्तम प्रकार समझाया जा सकता है इसीलिये इसको सांख्य (सम्यक् ख्यान) कहा है। अपने आर्यतत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें अधिकतर ग्रन्थ इसी तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले हैं। उपनिषदोंमें सनत्कुमार आदिकोंने जो प्रतिपादन किया है वह यही तत्त्वज्ञान है। इस सांख्यशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त एकात्मवाद है। आत्मा एक है और वह सर्वत्र व्यापक है इस बातकी सूचना देनेवाले ये हैं—

१ सर्वगतः (श्लोक २४)

आत्मा एक है और वह सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है। जितने भी पदार्थ जगत्‌के अन्दर हैं उनके अणुरेणुमें और उनके बाहर भी वह (सर्वगत) आत्मा पूर्णतया पहुँचे हुए है। कोई पदार्थ अथवा किसी पदार्थका कोई अवयव इससे बिना नहीं है। जगत्‌के पदार्थ इसी भाव हों या न हों, उनमें वह पूर्णतया व्यापक है। मनुष्यादि प्राणियोंके अनन्त देह हैं परन्तु उनमें वही एक आत्मा व्यापक है, इसी प्रकार अपूर्ण जड पदार्थोंमें भी वह व्यापक है।

२ अचलः (श्लोक २४)

यह एक आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक होनेसे ही न चल अर्थात् न चलनेवाला है। जो सर्वत्र उपस्थित होगा वह एक स्थानसे दूसरे स्थानको चलकर नहीं जा सकता क्योंकि जहां वह नहीं हो ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां वह जानेका यत्न करे। पहिलेसे ही वह वहां उपस्थित है इसीलिये वह अचल, अचंचल, किंवा अचर है।

यहां एक शंका ऐसी आती है कि यह जो सर्वगत आत्मा है वह सबका मिलकर एक है अथवा हरएककी आत्मा अलग अलग सर्वगत किंवा सर्वव्यापक है? अनन्त जीवोंकी अनन्त आत्मा हैं उन सबको सर्वव्यापक अथवा विभु मानना असंभव है।

इस द्वितीयाध्यायमें कहे सांख्य मतानुसार अनंत आत्मायें सर्वव्यापक नहीं हैं। सबका एक ही सर्वव्यापक आत्मा है यह इस अध्यायके सांख्य तत्त्वज्ञानका सिद्धान्त है। इस विषयके प्रमाण यहां देखिये—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(श्लो० १८)

इस श्लोकमें शरीरधारी (नित्यस्य) नित्य एक आत्माके (अन्तवन्तः इमे देहाः) नाश होनेवाले अनेक देह हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् अनेक शरीरधारियोंका मिलकर सबमें व्यापक

एक आत्मा है ऐसा इस स्थानपर भगवान श्रीकृष्णको कहना है। इसी प्रकार अपका श्लोक इसी विषय में देखिये—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
(श्लो ३०)

यह देहधारी अवध्य नित्य आत्मा सबके देहमें उपस्थित है। इस श्लोकमें भी सबके देहमें एक आत्मा है ऐसा ही कहा है। यहां यद्यपि सबके देहोंमें ऐसा नहीं कहा है, तथापि आत्मा (सर्वगत) सर्वव्यापक है और वह सबके देहमें है इतना कहनेसे एक सर्वव्यापक आत्मा सर्व देहोंमें है ऐसा स्वयंसिद्ध होता है। इसके सिद्ध करनेके लिये अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है यदि किसीको प्रमाण चाहिये तो भगवद्गीताका निम्नलिखित श्लोक देखें—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
(भ गी १०।२०)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
(भ गी १५।१४)

मैं एक आत्मा सर्व भूतोंके अन्दर रह रहा हूं। मैं विश्वका नेता होकर सब प्राणियोंके देहका आश्रय करके रह रहा हूं। यहां एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है ऐसा कहा है। इन श्लोकोंका विचार करनेसे पूर्वोक्त शंकाका निराकरण हो जाता है और भ. गीताके तत्त्वके अनुसार एक आत्मा सब देहोंमें है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यहां कोई पूछेंगे कि यदि सबकी एक आत्मा है और वह भूमा है तो एकका सुखदुःख दूसरेको क्यों नहीं होता? इस शंकाका उत्तर भगवद्गीताके किसी श्लोकमें नहीं दिया है। उपनिषदोंमें इस विषयमें इतना ही कहा है कि सुषुप्तिमें भूमा अवस्थाका-एकत्वावस्थाका अनुभव मनुष्य करता है इसलिये उसको उस समय किसी दूसरेका भान नहीं होता वही एकत्वका अनुभव करनेवाली आत्मा जागृतिकी अवस्थामें द्वैतका अनुभव करती है। अर्थात् एक ही मनुष्य जागृतिमें द्वैत स्थितिमें और सुषुप्ति-समाधि मुक्तिमें अद्वैत स्थितिमें रहता है। यदि यह सत्य है तो सुषुप्तिमें उसको सबके सुखदुःखका अनुभव होना चाहिये। परंतु इसमें बात यह है कि जो अपने शारीरिक सुखदुःख हैं वे भी सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल शरीरका संबंध छूट जानेके कारण किसीको भी नहीं होते। अपने शरीरके छोटे कृमियोंका दुःख भी निद्रामें मनुष्यको अनुभवमें नहीं आता तो दूसरेके शारीरिक दुःख का कैसे अनुभव होगा? इसलिये शारीरिक सुखदुःखका अनुभव तो भूमावस्थामें नहीं होगा। परंतु शुद्ध मनके प्रेरित विचार काल और स्थानका अन्तर न मानते हुए दूर देशमें सुषुप्ति अवस्थामें स्थित मनुष्यके मनतक पहुंचते हैं इस अनुभवसे पता लगता है कि मनुष्यको यह भूमा अवस्थाके अद्वैतका अनुभव होना संभव है। उपनिषदोंमें यहांतक ये विचार स्पष्ट रीतिसे कहे हैं गीतामें भी उसी का अनुवाद 'सर्वगत आत्मा' है ऐसा कहकर किया है।

मनुष्यका अनुभव निःसंदेह द्वैतका है भिन्न आत्मा होनेका है। साथ ही साथ मनुष्य अपने आपको अपक्व, अल्प अल्पज्ञ, क्षीण, परिमित क्षुद्र मरनेवाला जीर्ण और वृद्ध होनेवाला अनुभव करता है। परन्तु शास्त्र कहता है इसके विरुद्ध। शास्त्रानुसार आत्मा नित्य, विभु ज्ञानी अपरिमित महान्, भूमा अमर, अजर अदम्य सदा तरुण, अव्यय आदि रूप है। साधारण मनुष्यके अनुभव और शास्त्रमें इतना महान् अन्तर है। वेदमें भी जीवात्मा परमात्माके सब नाम एक जैसे ही हैं। दोनोंके एक जैसे नाम होनेसे ही दोनोंके गुणधर्मोंकी एकता भी सिद्ध होती है। गीतामें भी—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(भ गी १५।७)

मेरा (परमात्माका) एक सनातन अंश जीवलोकमें जीव बना हुआ है ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसे अग्निका अंश भी अग्निरूपही होता है वैसे ही परमात्माका अंश परमात्मरूप होता है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि सर्वव्यापक एक आत्मा है यह यहां कहे हुए सांख्यमतका निश्चित सिद्धान्त है। इस आत्माके गुणबोधक विशेषण ये हैं—

१ नित्य (श्लो० १८,२०,२१,२४,२५,३०)

नित्य अर्थात् सदा एक जैसा रहनेवाला तीनों कालोंमें एकसा रहनेवाला जिसका कभी नाश नहीं होता है अत- एव उसको—

२ शाश्वत (श्लो २० सनातन श्लो० २४)

सदा रहनेवाला हमेशासे जो एक जैसा रहनेवाला है

जो अनादि कालसे है उसे शाश्वत और सनातन कहते हैं। यह कब नहीं था, आज है और कब नहीं रहेगा, ऐसी बात नहीं यह सब कालमें एकसा विद्यमान है। इस कारण इसके निम्नलिखित नाम सार्थक होते हैं

५ अज (श्लो० २०,२१)

यह जन्मता नहीं न ही यह उत्पन्न होता है यही भाव व्यक्त करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे हैं

न जायते। (श्लो० २०)

यह जन्मता नहीं इसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। यहां कोई कहेंगे कि यद्यपि यह जन्मता नहीं तथापि इसका नाश तो होताही होगा इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये निम्नलिखित पद कहे हैं–

६ अनाशी (श्लो० १८) अविनाशी (श्लो० २१) अव्यय (श्लो० २१) नित्य अक्षय (श्लो० ३०) अच्छेद्यः (श्लो० २४)

इसका नाश नहीं होता, इसका क्षय नहीं होता इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती इसका वध नहीं होता इसको छिन्न भिन्न किया नहीं जा सकता यह हमेशा अक्षय है। ये सब पद इसका नाश नहीं हो सकता यह बात व्यक्त कर रहे हैं। यही भाव अधिक स्पष्ट करनेके लिये निम्नलिखित वाक्य कहे गये हैं–

न म्रियते (श्लो० २०) न हन्यते (श्लो० १९) हन्यमाने शरीरे न हन्यते। (श्लो० २०) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि (श्लो० २३)

यह मरता नहीं, यह मारा नहीं जाता शरीरके मारे जानेपर भी यह मारा नहीं जाता इसको शस्त्र काट नहीं सकते ये सब स्पष्टीकरण पूर्वोक्त शब्दोंके भावको अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। इन सब कथनोंका विचार करनेसे इसके अमर और अजन्मा होनेका स्पष्ट ज्ञान होता है। यह कहेंगे कि यह एकवार शरीर धारण करता होगा पश्चात् शरीर नष्ट होनेके बाद इसकी कैसी स्थिति होती होगी? इस विषयमें क्या कैसे कहोगे? इसका उत्तर देनेके लिये गीतामें कहा है कि–

भूत्वा भविता न। (श्लो० २०)

एकवार शरीरधारण करनेपर फिर कभी शरीर धारण नहीं करेगा ऐसा नहीं एक बार जैसे हुआ है वैसे ही आगे भी होगा। इसीका अधिक स्पष्टीकरण अगले श्लोकमें कहा है–

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥
(भ० गी० २)

मैं किसी कालमें नहीं था ऐसा नहीं तू कभी नहीं था ऐसा नहीं ये राजा लोग भी कभी नहीं थे ऐसा भी नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे ऐसा भी नहीं है। अर्थात् हम पहिले थे इस समय हैं और आगे भी होंगे। देहधारी आत्माको इस देहमें जिस प्रकार बालपन तरुणपन और वृद्धपन प्राप्त होता है, उसी प्रकार आगे उसी आत्माको दूसरी देह भी प्राप्त होती है। इस कारण इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता। इस प्रकार इसका अजन्मत्व अविनाशीपन कथन करनेके साथ साथ यह वारवार देह धारण करता है ऐसा भी कहा है। देह धारण करते हुए भी यह अजन्मा है इसके मरनेपर भी यह अमर है देहके धारण और धारणत्व होनेपर भी यह सदा एकसा है। इसे देह प्राप्त होनेपर भी इसमें नहीं पुराणपन विकार आता है अतः इसको–

७ पुराण (श्लो० २०)

'पुराणपुरुष कहते हैं।' (पुरा अपि नवः पुराणः) यह पुराना होता हुआ भी नया जैसा है, यह कभी पुराना नहीं होता यह सदा एक जैसा तरुण बना रहता है। अतः कहा है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(भ० गी० २।२२)

जैसे कोई मनुष्य पुराने कपडे फाडकर नये लेता है वैसे ही देह जीर्ण होनेपर देही आत्मा नये देह लेता है।' इस रीतिसे यह पुराना होता हुआ नया बनता है। देहके मरनेपर भी यह नहीं मरता देहके जीर्ण होनेसे भी यह जीर्ण

नहीं होता। इस विषयमें और देखिये—

८ अदाह्य, अक्लेद्य अशोष्यः (श्लो० २४)

अर्थात् यह जलाया भिगोया अथवा सुखाया नहीं जाता इसीका स्पष्टीकरण निम्नलिखित वाक्योंमें है—

न एनं दहति पावकः न चैनं क्लेदयन्त्यापः ।
न शोषयति मारुतः । (श्लो० २३)

' अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको भिगा नहीं सकता, और वायु इसको सुखा नहीं सकती । ' इन पञ्चभूतोंका इसपर कोई परिणाम नहीं होता। इसीलिये—

अविकार्योऽयमुच्यते (श्लो० २५)

इसको अविकारी कहते हैं। अविकारी वह होता है जिसपर कोई परिणाम न हो। जो एक ही स्वरूपसे सदा रहता हो वह—

९ स्थाणु (श्लो० २४)

स्थिर है न हिलनेवाला न चलनेवाला और न विकृत होनेवाला तथा सबको आधार देनेवाला है। परन्तु यह—

१० अव्यक्त, अचिंत्य (श्लो०)

अप्रमेयः (श्लोक १८)

व्यक्त नहीं, यह दिखाई नहीं देता इसका चिंतन नहीं किया जा सकता इसका परिमाण भी नहीं हो सकता इस प्रकारकी यह आत्मा है परन्तु जब इसके विषयमें—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं
वेद न चैव कश्चित् । (श्लो० २९)

हरकोई इसको आश्चर्यचकित होकर आश्चर्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है परन्तु कोई इसका यथार्थ रीतिसे ज्ञान नहीं पाता । ' इसकी शक्ति सब आश्चर्योंसे भी बढ़कर आश्चर्य है। यह ऐसा गूढ आश्चर्य है कि इसका पूर्ण ज्ञान किसीको हो नहीं सकता। बड़े विशेष ज्ञानियोंको इसका ज्ञान होता है परन्तु वे दूसरोंको वह ज्ञान बता नहीं सकते क्योंकि शब्दोंसे उसका वर्णन करना कठिन है। इस कारण इसको स्वसंवेद्य अर्थात् स्वयं जानने योग्य कहते हैं। अस्तु, इस प्रकारका एकात्मभाव भागवद्गीतामें उपदेशके आरम्भमें कहा है इस बातको ध्यानमें लाना चाहिये।

सारूप्यविचार ।

जो आत्मा मेरे अन्दर है वही अन्य मनुष्योंके अन्दर और वही कीट पिपीलिका पतंग आदिकोंमें भी है, यह बात स्वीकार करनेपर आत्मिक दृष्टिसे सबकी एकता है ऐसा मानना पड़ता है। इसका सरल अर्थ यह है कि यदि मैं किसीकी हिंसा करूं तो वह मेरी ही हिंसा होगी किसीके साथ मैं असत्य बोलूं तो मेरे साथ ही असत्य बोलनेके समान होगा किसीकी चोरी मैं करूं तो वह अपनी ही चोरी करने जैसा होगा यदि किसीके साथ व्यभिचार किया तो वह अपने साथ ही व्यभिचार होगा जो जो अत्याचार मैं दूसरेके साथ करूंगा वह सब अत्याचार मेरी आत्माके साथ अर्थात् मेरे साथ होगा अत्याचारी मनुष्य इस बातको चाहे न समझे न माने किंवा इस बातकी ओर ध्यान न दे परन्तु यदि सबकी आत्मा एक होगी तो दूसरेके साथ करता हूं ऐसा मानकर किया हुआ अत्याचार और उपकार कभी न कभी अवश्य ही अपने ऊपर आजायगा क्योंकि इस जगत्में दूसरा कोई नहीं है ' इसीलिये कहा है कि—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति । य इह नानेव
पश्यति । कठ ४।१ ११; बृ उ ४।४।१९

जो यहां भिन्नता देखेगा वह मृत्युसे भी बड़े मृत्युको प्राप्त होगा। ' दूसरेके साथ किया अत्याचार अपने ऊपर लौट आयेगा और दूसरेपर किया उपकार भी अपनेको प्राप्त होगा यह ज्ञान जनताके मनमें स्थिर होगा तो निःसंदेह जनताका व्यवहार सुधर जायगा।

कौरव जो मरनेवाले हैं वे अपने ही अत्याचारके कारण मरते हैं दूसरेके मारनेसे कोई नहीं मरता, जो सब मरते या दुरवस्थाको प्राप्त होते हैं, वे अपने ही कर्मके कारण होते हैं। यह निश्चित रीतिसे श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनको यहां बताया यही बात सबको ध्यानमें धारण करने योग्य है।

कोई मनुष्य दूसरेके ऊपर अत्याचार क्यों करता है? कौनसी बुद्धि इसके अन्दर है जिसके कारण वह अत्याचार में प्रवृत्त होता है, बुराई करने लगता है अथवा अत्याचारके पथमें जाने लगता है? वह समझता है कि मैं अलग हूं और वह दूसरा मेरेसे भिन्न है मैं अधिक सुखी होना चाहता हूं इसलिये उसपर मैं अत्याचार करके उसके भोग मैं लूटूंगा और सुख भोगूंगा। यह अपने सुख बढ़ानेकी बुद्धि मनुष्य

को बुरे मार्गकी ओर चलनेमें प्रवृत्त करती है। यदि इस समय इसको ज्ञात हो कि मेरे अत्याचार करनेसे अन्तमें मेरा ही दुःख बढ़ेगा तो निःसन्देह ठीक मार्गपर चलेगा। तथा दूसरोंका भला करनेसे मेरा सुख बढ़ेगा ऐसा यदि इसका निश्चय हुआ, तो निःसन्देह यह दूसरोंकी सेवा करेगा। परन्तु साधारण मनुष्यको सीधा मार्ग सीधा है ऐसा प्रतीत नहीं होता विपरीत ही ठीक प्रतीत होता है, इसलिये शास्त्रके उपदेशोंकी आवश्यकता होती है। शास्त्र क्या कहता है देखिये—

सुखदुःखकी समानता

इस अध्यायमें जो विशेष महत्त्वकी बात कही है वह सुख और दुःखको समान मानना यह है। सुखको प्राप्त और दुःखको दूर करनेकी लालसासे ही मनुष्य अत्याचार करनेकी ओर झुकता है। परन्तु यदि इसके मनमें सुख और दुःखके विषयमें समान भाव रहें, तो वह सुखको प्राप्त और दुःखको दूर करनेमें यत्न ही क्यों करेगा? जिसके मनमें सुख और दुःख समान हैं वह किसको दूर और किसको पास करेगा? और वैसा क्यों करेगा देखिये—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। (३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते (१५)
शुभाशुभं नाभिनन्दति न द्वेष्टि (५७)
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। (५६)

सुखदुःख लाभ अलाभ जय पराजय और शुभ अशुभको समान मानने शुभसे आनन्द न मानने और अशुभका द्वेष न करने शुभपर प्रेम न करने और अशुभपर क्रोध न करनेसे मनुष्य अमृतकी प्राप्तिके लिये योग्य होता है। मनुष्य क्या और अन्य प्राणी क्या स्वभावतः सुखका लोभी और दुःखका द्वेषी है। स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसी है परन्तु शास्त्र कहता है कि अमृत अविनाशी सुख तो तब मिलेगा कि जब मनुष्य सुख दुःखको समान मानेगा। यह बात इसी कारण है कि बहुत मनुष्योंको सुखदुःख हानिलाभ जय पराजय शुभ अशुभ शीतउष्ण आदि द्वन्द्वोंको समान मानना ही असम्भव प्रतीत होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने आपको अनुभव करता है और मानता है कि मैं जीवित हूँ। इसी प्रकार द्वन्द्व विषयमें है। अपनी भूखप्यासे दुःख पाता और दूसरोंको नहीं पाता यह जो होता है वह कि इसके न चाहनेपर भी दुःख इसपर आता है और चाहनेपर भी सुख इसको नहीं मिलता। यदि मनुष्य विचार करके देखेगा कि अपने चाहनेके साथ या न चाहनेके साथ सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंकी प्राप्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है, वे तो अन्य कारणोंसे प्राप्त होते या नहीं होते हैं, तो इसको पता लगेगा कि सुखदुःखोंको समान माननेकी जो शास्त्रकी आज्ञा है वही अधिक लाभकारी है। इतना अनुभव करनेके पश्चात् यह मनुष्य शास्त्रकी आज्ञा अवश्य पालन करेगा और द्वन्द्वोंको समान मानने लग जायगा।

द्वन्द्वोंको समान माननेका अर्थ क्या है? सुखको और दुःखको समान कैसे माना जाय? क्या कभी लाभ और हानि समान हो सकती है? क्या कभी पुत्रजन्म और पुत्रमरण समान हो सकते हैं? जगत्की सृष्टि और प्रलय प्रकट ये क्या कभी समान मानसे देखे जा सकते हैं? क्या इनमें कोई भेद नहीं है? और यदि इतना अन्तर है तो जन्म मृत्युको समान देखना कैसे हो सकता है? क्या कभी कोई मान सकता है कि मनुष्यका जीवित रहना और मरना समान ही है?

इस प्रकार शंका करना साधारण मनुष्यके लिये योग्य ही है। परन्तु द्वन्द्वोंको समान माननेका भाव पहिले समझना चाहिये और पश्चात् शंका करनी चाहिये। इसलिये इस प्रकार शंका करनेवाले सबसे प्रथम द्वन्द्वोंको समान मानने का तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार समझें—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। (५६)
सर्वत्रानभिस्नेहः। (५७)

दुःख आनेपर मनको उद्विग्न होने न दें और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें लुब्ध न हो तात्पर्य किसी विषयमें अधिक स्नेहभाव न धारण करें। यह सुखदुःखको समान माननेका भाव है। इसीको अधिक स्पष्ट करनेके लिये ऐसा कहा जा सकता है कि जय होनेपर घमंड न करे और पराजय होनेपर उदास न होवे लाभ होनेपर उन्मत्त न होवे और हानि होनेपर उदास न होवे शुभकी प्राप्ति होनेपर आनंदसे एकदम न फूले और अशुभ प्राप्त होनेपर दुःखके दूर न करे अर्थात् सुख न माने और मृत्युसे दुःख भी न माने। इसीको सुखदुःखको समान मानना कहते हैं।

साधारण मनुष्य धन मिलनेपर इतना उन्मत्त होता है कि किसीकी परवाह न करता हुआ मनमाने अत्याचार करने

जमाता है, तथा धननाश होनेपर वही मनुष्य इतना रोता पीटता है कि अन्तमें पागल बनकर व्यवहारके लिये निकम्मा हो जाता है। परन्तु जो सुखदुःखको समान माननेवाला है लाभहानिको एक जैसा माननेवाला है वह बहुत धन प्राप्त होनेपर भी मनकी समानता दूर होने नहीं देता अथवा धन नष्ट होनेपर भी दुःख नहीं करता उसके विपरीत दोनों अवस्थाओंमें अपने मनको समानतया कर्तव्यदक्ष बनाये रखता है। इसीको द्वन्द्वोंको सम मानना कहते हैं।

मनुष्यको सुखके लिये प्रयत्न करना चाहिये परन्तु सुख मिलनेपर कर्तव्यभ्रष्ट नहीं होना चाहिये तथा मनुष्यको दुःखनिवृत्तिके लिये यत्न करना चाहिये, परन्तु दुःख प्राप्त होनेपर हताश बनकर कर्तव्यमूढ नहीं होना चाहिये; तात्पर्य सुख मिले अथवा दुःख मिले दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यकर्मको भूलना नहीं चाहिये। बाह्य सुखदुःख क्षणिक हैं और अपना कर्तव्य पालन करना अपना श्रेष्ठ धर्म है। क्षणिक बातोंके लिये श्रेष्ठधर्मको दूर करना अयोग्य है। सुख दुःखको समान माननेका यह अर्थ है। इसके लिये कुछ उदाहरण देखिये- पत्थर सर्दीमें और गर्मीमें अपने स्थानपर स्थिर रहता है समुद्र अतिवृष्टि और अनावृष्टिमें अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता वृक्ष अपनी छाया जैसे पोषण करनेवालेको देता है वैसे ही काट (छेदन) करनेवालेको भी देता है मनुष्य भी इसी प्रकार सुखदुःख हानिलाभ जय पराजय और सर्दी गर्मी प्राप्त होनेपर अपनी धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करे।

आज सर्दी है इसलिये मैं आज अपना कर्तव्य नहीं करूंगा आज बड़ी गर्मी है इस कारण मैं अपना कर्तव्य नहीं कर सकता आज मुझे बहुत धन प्राप्त हुआ अतः मुझे अब कर्तव्य पालनकी क्या आवश्यकता है? आज तो मेरा सब धन नष्ट हुआ है मैं उदास हुआ हूं और मुझसे कर्तव्य पालन नहीं होसकता आज पुत्रजन्मका महोत्सव है इस लिये आज कर्तव्य करनेके लिये फुरसत नहीं है आज तो उसकी मृत्यु होगई अतः दुःखके कारण कर्तव्य पालन कैसे हो सकता है? इस प्रकार जो लोग कहते हैं वे द्वन्द्वोंके आघातोंको सह नहीं सकते। वे द्वन्द्वोंसे पराभूत होते हैं। परन्तु पूर्वोक्त अवस्थाएं होनेपर भी जो अपने कर्तव्य पालन करनेमें दत्तचित्त होते हैं वे ही द्वन्द्वोंके आघातोंको सह सकते हैं और वे ही द्वन्द्वोंको सम मानते हैं और जो द्वन्द्वोंको सम मानते हैं वे ही शांति और अमरत्वको प्राप्त करते हैं।

इसका दूसरा भी एक अर्थ है। सम शब्दका अर्थ परब्रह्म परमात्मा किंवा ईश्वर है क्योंकि वह सबत्र सम है, सबमें समानतासे व्याप्त है उसकी सर्वत्र सम अवस्थिति है। देखिये—

निर्दोषं हि समं ब्रह्म। भ. गी. ५।१९)
समं पश्यति योऽर्जुन। भ. गी. ६।३२)
समोऽहं सर्वभूतेषु। भ. गी. ९।२९)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(भ. गी. १३।२७)
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
(भ. गी. १३।२८)

ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है। जो सर्वत्र सम ब्रह्मको देखता है (वह परम योगी है।) मैं आत्मा सर्व भूतोंमें सम हूं। सब भूतोंमें सम परमेश्वरको देखें। इस प्रकार सर्वत्र सम अवस्थित होनेके कारण परब्रह्म परमात्मा अथवा परमेश्वरको 'सम' कहते हैं। इस अर्थको लेनेसे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।(३८)
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। (१५)

सुखदुःख हानिलाभ जयपराजय (समे) सम अर्थात् परमात्मा मानकर अपना कर्तव्य कर। (समदुःखसुखं धीरं) सम अर्थात् परब्रह्मरूप सुखदुःखको माननेवाले धैर्यवाले मनुष्यको अमृतकी प्राप्ति होती है। यहां शंका होगी कि सुख तो परमात्मारूप होगा परन्तु दुःख परमात्मा रूप कैसे होगा? इस शंकाके उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि जिसको हम सुख या दुःख कहते हैं वस्तुतः वह सच्चा सुख भी नहीं होता और सच्चा दुःख भी नहीं होता। देखिये कोई विद्यार्थी खेलमें सुख और पढाईमें दुःख मानता और अनुभव भी वैसा ही करता है परन्तु वस्तुत बात उलटी है। कोई शत्रु जो पराभूत होता है वह दुःख करता है परन्तु पराभूत होनेके कारण उसको अपनी शक्तिसे स्वातंत्र्य कमानेका अवसर प्राप्त होता है इससे उसके बलकी वृद्धि होती है फिर उसमें दुःखके लिये स्थान कहां है? इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि जिनको हम सुखदुःख अथवा हानिलाभ मानते

है वे वैसे हैं इस विषयमें विवाद नहीं है। परमेश्वर मनुष्योंके कर्मानुसार सबको यथायोग्य अवस्थाएं देता है जिन अवस्थाओंमें रहकर मनुष्य अपनी आत्मोन्नति कर सकते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ होनेसे और उसका बर्ताव सबके साथ सम होनेसे वह हरएक अवस्था मनुष्यको उन्नत होनेके लिये जैसी आवश्यक होती है वैसी ही देता है चाहे हम उसको सुखावस्था समझें चाहे दुःखावस्था समझें वह परमेश्वरकी कोशलसे प्राप्त होनेसे कारण मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक है। इसलिये मनुष्य उसको परमात्माकृत समझे। और दोनों अवस्थाओंमें सम भावसे अपने मनको रखे। किसीपर प्रीति न रखे और किसीसे द्वेष न करे। अपितु दोनों अवस्थाओंमें अपना कर्तव्य दक्षतासे करता रहे। इस दृष्टिसे पाठक निम्नलिखित उपदेशोंका मनन करें—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते (भ गी २।४८)
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते। (भ गी ४।२२)
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ॥
(भ गी १२।१९)

सिद्धि असिद्धि, शत्रु मित्र, मान अपमान शीत उष्ण सुख दुःख निन्दा स्तुति आदि द्वंद्वोंके विषयमें सम भावना रखनी चाहिये। किसी एककी भक्ति करना और दूसरोंसे द्वेष करना अयोग्य है। इस प्रकार सम दृष्टि रखनेसे केवल से मुक्तता हो जाती है। ' कोई अवस्था प्राप्त हो उस समय परमेश्वरकी भक्ति मनमें दृढ रखकर अपना कर्तव्य पालन करनेसे निःसन्देह उन्नति और इससे विपरीत भावना से अधोगति होती है।

सब केलेवालोंको इन द्वंद्वोंके विषयमें समभाव रखना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा थोडीसी विपरीत अवस्था प्राप्त होते ही व्रत भंग होनेकी संभावना होगी जितने भी बडे कर्मण्यवान् पुरुष हो गये हैं, उनके चरित्र देखें तो पाठकोंको पता लगेगा कि वे सुखदुःखादि द्वंद्वोंको सम माननेवाले थे। इस समयतक कोई ऐसा पुरुष यशस्वी नहीं हुआ है कि जो सुखदुःखोंसे व्यथित होकर कर्तव्यच्युत हुआ

हुआ भी महत्त्व स्थानपर आरूढ हो सका है। अर्थात् मनुष्य को उन्नत होनेकी इच्छा हो तो उसको अवश्य ही द्वंद्वोंको सहना पडेगा। दूसरा कोई मार्ग उन्नतिके लिये नहीं है।

मनुष्यकी इच्छा रहती है कि उसकी कामना पूर्ण हो। और मनुष्यकी कामना एक ही होती है कि सुख अपने पास आवे और अशुभ दूर होवे। यही कामना सब समयमें मनुष्यको इन्द्रियोंके वशमें अटका देती और उसे दुःख प्राप्त करा देता है। अतः कहा है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति (७१)

मनकी सब कामनाओंका त्याग करके जो निःस्पृह अहंकाररहित और ममत्वरहित होकर व्यवहार करता है वह शान्ति प्राप्त करता है। ' मनकी सब कामनाओंका त्याग करना ही इस सिद्धिका अनुष्ठान है। इन्द्रियोंके भावनाओंसे दूर रहनेकी जिसको इच्छा हो उसको उचित है कि वह अपने अन्तःकरणसे सब कामनाओंका त्याग करे। कामना त्याग करनेका जिसने अभ्यास किया है और जो अपने मनको निष्काम बना सकता है अथवा जो अपने मनको निर्विकार कर सकता है, उसकी मानो उच्चतम अवस्था हो चुकी है। जिस उच्चतम अवस्थाकी प्राप्ति का जैसा उपदेश सब शास्त्रोंमें है वह मनके निष्काम होनेसे ही प्राप्त हो सकती है। इसका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है इसका विचार निम्नलिखित श्लोकोंमें किया है—

इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते। (५८)
यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः
निगृहीतानि। (६८)

इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना ' यह अनुष्ठान है। इन्द्रियोंके विषय निश्चित हैं। उन विषयोंकी ओर इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इस प्रवृत्तिसे इन्द्रियोंको हटानेका नाम अनुष्ठान करना है। इस इन्द्रियोंके बाह्य और स्वच्छ होनेसे पश्चात् ही उच्च अवस्थाका अनुभव आता है। इन्द्रियोंका सहनेका अनुष्ठान भी तब होगा जब कि इन्द्रियां विषयोंसे हटेंगी और—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः। (५५)

अपनी आत्मा अपनी आत्मासे ही संतुष्ट होवे। इस

समय बाह्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे सन्तोष होता है ऐसा हरएक मनुष्यका स्वभाव है। परंतु यह भ्रम है। बाह्यविषयोंसे मनके दूर जानेपर ही वास्तविक सन्तोष होता है। मनुष्यमात्र जिन विषयानन्दके लिये प्रयत्न करते हैं उससे कई गुना निर्विषय आनन्द श्रेष्ठ है और आत्माके आत्माकी तुष्टिका आनन्द भी सर्वोपरि है। इस प्रकार निर्विषयता प्राप्त होनेसे मनसे कामना करनी ही नहीं पड़ती, उपभोग स्वयं इसके पास आते हैं, वे इसके संकल्पमात्रसे इसके पास उपस्थित होते हैं।

कामाः आपूर्यमाण मचलप्रतिष्ठं प्रविशन्ति । ७०

जो स्वयं पूर्णताका अनुभव करता है और स्थिर रहता है उसके पास सब काम उपभोग स्वयं पहुंचते हैं।' उसको कामोंके पास चलके जाना आवश्यक नहीं होता। उसको इस प्रकार संकल्पसिद्धि होती है। यह संकल्पसिद्धि तब प्राप्त होती है जब इसके मनके सब काम पूर्णतया दूर होते हैं। यहां देखिये कि जब वह सुखोंकी कामना करता है तब इसके पास दुःख पहुंचते हैं और सुख दूर जाते हैं। परन्तु जब वह कामनाओंका त्याग करता है निरिच्छ निःस्पृह निष्काम और शान्त बनता है तब बिना मांगे सर्व आनन्द इसके पास स्वयं चलकर आते हैं। देखिये निष्काम होनेका महत्त्व कितना है !!

सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त और उसका अनुभव करनेका अनुष्ठान जो इस द्वितीय अध्यायमें कहा है उसका सारांश है यह स्वरूप है। इस अध्यायमें कहा हुआ दूसरा मार्ग योगमार्ग है उसका स्वरूप अब देखिये—

योगमार्ग ।

सांख्यमार्ग इस समय तक कहा अब योगमार्गका स्वरूप श्लोकोंसे बताते हैं। योगकी व्याख्या इस अध्यायमें इस प्रकार कही है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते । (४८)
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (५१)

सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव रखना चाहिये। इस समताका नाम योग है। इस प्रकारकी समबुद्धिसे युक्त मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको दूर करता है अतः तू इस योगका आचरण कर कर्म करनेमें कुशलता का ही नाम योग है। इस प्रकार योगकी व्याख्या करते हुए भी सुखदुःखके विषयमें समभावना रखनेका नाम योग कहा है। सिद्धि असिद्धि हानिलाभ जयपराजयके विषयमें सम मन रखना और हरएक कर्तव्य कुशलताके साथ करनेका नाम योग है। यहां इस योगका अर्थ ही 'समत्वयोग' है। सब कर्म इस योगके द्वारा करने चाहिये ऐसा निम्नलिखित श्लोकमें कहा है—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय । ४८

योगका आश्रय करके सब प्रकारके कर्म करो और कामनाका संग छोड दो।' सब कर्म करनेके समय इस उपदेशका स्मरण रखना चाहिये। द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखनेका नाम योग है। इस प्रकारका समभाव रखते हुए अर्थात् सुखदुःखका विचार मनसे हटाकर कर्तव्य करने चाहिये। सुख हुआ तो भी कर्तव्य करूंगा और दुःख हुआ तो भी कर्तव्य करता रहूंगा ऐसा मनमें निश्चय करके अपने कर्तव्यपर सदा स्थिर रहनेका नाम योग है। यहां योगका तात्पर्य 'कर्तव्यके साथ अपना संबन्ध जोडना' है। कैसी भी अवस्था प्राप्त हो तो भी कर्तव्यकर्म न छोड देना भाव यहां है। साधारण मनुष्य सुखदुःख न होते ही कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु समत्वरूप योग करनेवाले हरएक अवस्थामें कर्तव्यदक्ष रहते हैं। समबुद्धि का अर्थ परमेश्वरमें स्थिर बुद्धि ऐसा भी होता है क्योंकि सम ब्रह्मका अर्थ परमात्मा है इस विषयका विवरण इसके पूर्व आचुका है। द्वन्द्वोंके आघात होनेपर भी ईश्वरका विस्मरण न होनेका भी नाम समबुद्धि है। प्रायः दुःखके समय परमेश्वरका विचार जाग्रत होता है परन्तु सुख लाभ जय विशेष धनप्राप्ति विशेष अधिकारलाभ होनेपर वह अपना ही महत्त्व है ऐसा मनुष्य मानता है और परमेश्वरको भूलता है। इस भूलनेके कारण विषम बुद्धि होती है। योगी लोग जैसे दुःखके समय वैसे ही सुखके समय भी ईश्वरमें श्रद्धा रखते हैं और कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होते। अतः इस समत्वयोगके अनुसार मनुष्यको अपना आचरण रखना चाहिये। इस विषयका दूसरा नियम यह है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥(४७)
कृपणाः फलहेतवः ।(४९)

मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें है कदापि फलपर नहीं कर्मके फलका हेतु मनमें धारण न कर और कर्म न करनेमें तेरी रुचि न हो। फलका हेतु मनमें धारण करने वाले मजदूर होते हैं।

यह मुख्यनियम है। हरएक मनुष्यका उचित है कि वह इस नियमको अपने अन्तःकरणमें स्थान दे। कर्म करना अपने अधिकारमें है ऐसा समझे क्योंकि कोई प्राणी कर्म किये बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकता उसकी इच्छा हो या न हो प्राणीके हाथसे कर्म होता ही है। यदि ऐसा है तो मनुष्य योग्य रीतिसे यह कर्म क्यों न करे? इसीलिये कहा है कि मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है। इसको कर्म करना ही चाहिये। परन्तु फलपर इसका कोई अधिकार नहीं है। इसके कर्मका फल इसको मिलेगा ही। जो कर्म करेगा उसको उसका फल अवश्य मिलेगा। परन्तु फलपर उसका अधिकार नहीं। देखिये एकने आमका वृक्ष लगाया, उसका अच्छा पालन किया यह तो उसके अधिकारमें था परन्तु उसका फल आना उसके अधिकारमें अवश्य होगा ऐसी कोई निश्चित बात नहीं। जिसने घर बनाया था वह उसके अधिकारमें था परन्तु उसमें रहना उसके अधिकारमें निःसंदेह है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिसने पाठशाला चलाई और उसमें विद्यार्थियोंको पढाना आरंभ किया वह तो उसके अधिकारमें था परन्तु हरएक विद्यार्थीको एक विद्वान् बनाना उसके अधिकारमें नहीं है। क्योंकि फलका संबंध तो कई अन्य बातोंके साथ होता है अतः वह उसीके अधिकारमें नहीं रहता। इस कारण कहा है कि फलपर कर्मकर्ताका अधिकार नहीं है।

जब फलपर इसका अधिकार नहीं है, तब फलका हेतु मनमें धारण करके कार्य करना निःसंदेह अयोग्य है। यहां कोई पूछेंगे कि फलका हेतु मनमें न धारण किया तो मनुष्यकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर कैसे होगी? यह प्रश्न ठीक है। साधारण मनुष्यकी प्रवृत्ति फलके हेतुके बिना कर्म करनेकी ओर नहीं होती यह सत्य है इसीलिये साधारण मनुष्य कम बाल हैं और फलाशावाले बद्ध होते हैं। बिना फल सात्त्विक हेतुके स्वभावसे ही कर्म होना चाहिये। जैसा दीप प्रकाश देता है वह किसी अपेक्षासे नहीं परन्तु उसका स्वभाव ही दूसरेको प्रकाश देना है। इस प्रकार स्वभावतः शुभ कर्म करनेका बनना चाहिये। और उसमें कोई फलेच्छाकी प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिये।

मनुष्यमें जो फलेच्छा रहती है वह स्वार्थकी इच्छा ही है जो कर्म मैं कर रहा हूं उसका फल मुझे मिले और मैं उसके भोगसे सुखी बनूं। इस वृत्तिसे किये कर्म बंधनकारक रहते हैं। यदि मनुष्यसे यह स्वार्थकी प्रवृत्ति दूर जाय और वह जाति और राष्ट्र हितकी भावनासे कर्म करे तो उससे अधिक निर्दोष कर्म होंगे। परन्तु व्यक्तिका स्वार्थ एक व्यक्तितक परिमित रहता है और राष्ट्रका स्वार्थ राष्ट्रकी मर्यादातक सीमित होता है यद्यपि वैयक्तिक स्वार्थसे राष्ट्रीय स्वार्थ अधिक विस्तृत है तथापि वह स्वार्थ ही है और जो दोष वैयक्तिक स्वार्थमें अल्प प्रमाणमें होते हैं वेही दोष राष्ट्रीय स्वार्थमें विस्तृत प्रमाणमें होते हैं। इसलिये संपूर्ण मानव जातिके अर्थात् जनताके कल्याणकी दृष्टिसे अथवा संपूर्ण प्राणीसमष्टिके कल्याण करनेके विचारसे उत्पन्न हुए जो कर्म होते हैं वे ही निर्दोष होते हैं। यही परमेश्वरसेवा है और विश्वरूपमें परमेश्वरकी पूजा करनेकी विधि यही है। इस रीतिसे ही मनुष्यसे निर्दोष कर्म होते हैं। इस प्रकारके कर्मोंमें आत्मप्राप्तिकी या प्राणिमात्रकी भलाईके लिये कर्मोंके फलका त्याग करना होता है। अतः इसमें कर्मफल मुझे प्राप्त होना चाहिये यह भावना नहीं रहती।

अन्तमें कहा है कि 'कर्म न करनेमें तेरी प्रवृत्ति न हो।' अर्थात् तू आलसी न बन। क्योंकि शरीरकी स्थिति भी कर्म करनेके बिना नहीं होगी। अतः कर्म न करनेकी ओर प्रवृत्ति कदापि करना उचित नहीं है। 'मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि' इसका और भी एक अर्थ होता है- 'तेरा संग अकर्म अर्थात् अयोग्य कर्मोंमें न हो।' अनुचित कर्म करनेकी ओर तेरी प्रवृत्ति न हो। क्योंकि अयोग्य कर्म करनेसे मनुष्यकी निःसंदेह अवनति होगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य शुभयोग्य कर्म निःस्वार्थबुद्धिसे करे। कर्म करनेके लिये मनुष्यको व्यवसायात्मिका बुद्धि चाहिये—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। (१)

व्यवसाय करनेकी एक ही बुद्धि इस कर्मयोगीको चाहिये। अव्यवसायी लोगोंकी कल्पनामें बहुत बुद्धियां उत्पन्न होती हैं और वे मनकी एक स्थिरताके लिये बाधक

जाती है। अतः मनुष्य इनसे सावधान रहे। इस योगमार्ग में प्रवृत्त मनुष्य व्यवसायी तो बने परन्तु उसको आत्म-विश्वासी भी बनना चाहिये अतः कहा है

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। (४५)

मनुष्य द्वन्द्वोंसे मुक्त हो, नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर रहे किसी वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षाका विचार करने वाला न हो और आत्मिक बलसे युक्त हो। ' इस प्रकारके मनुष्यसे ही योगमार्गसे उत्तम कर्म होते हैं क्योंकि इसमें आत्मिक बल और आत्मविश्वास होता है। मैं शुभकर्म करूंगा मुझसे वह कर्म होगा इस प्रकारका आत्मविश्वास उसमें रहता है अतः उससे शुभ कर्म होते हैं। मुझसे कर्म होगा या नहीं ऐसा संदेह इसके मनमें नहीं होता। आत्मिक बल भी उसमें बड़ा होता है। इससे उसमें बड़ा भारी सामर्थ्य होता है।

द्वन्द्वोंसे यह मुक्त होनेसे उसमें भोगकी आसक्ति और अभोगसे द्वेष नहीं होता है। न वह किसी पर प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है। इसप्रकारके द्वन्द्व भावसे रहित होनेके कारण ही उससे कर्म निर्दोष होते हैं। जो मनुष्य किसीपर प्रीति करेगा उसके लिये वह पक्षपात करेगा और जो जिससे द्वेष करेगा उसके प्रतिकूल वह कार्य करेगा। इस प्रकार उससे दोनों अवस्थाओंमें सदोष कार्य होंगे। परंतु जो मनुष्य रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित होगा उससे प्रेममूलक अथवा द्वेषमूलक कोई दोष होनेका कारण न रहनेसे उससे निर्दोष कर्म होंगे। द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका यह महत्त्व है।

सांख्य और योग

इस रीतिसे योगमार्गका उपदेश इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः इन वचनोंकी तुलना करके देखनेसे इन दोनों मार्गोंमें बहुत अन्तर है ऐसी बात नहीं सांख्यमार्ग और योग मार्गमें बहुत अन्तर नहीं है, यह बात स्वयं गीताकारने भी कही है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥
(भ. गी. अ. ५)

' सांख्य और योग ये दो पृथक् हैं ऐसा मूढ लोग कहते हैं, ज्ञानी नहीं कहते, क्योंकि इनमेंसे एकका ठीक रीतिसे अनुष्ठान करनेसे दोनोंका फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है वही योगियोंको मिलता है अतः सांख्य और योग एक है ऐसा जो देखता है वही ठीक देखता है इस ढंगसे सांख्य और योग ये दो मार्ग भिन्न नहीं एक ही हैं ऐसा भगवद्गीताका कथन है। अतः सांख्य योग नामवाले इस द्वितीयाध्यायमें ' योग ' का भी उप देश किया है। यदि इनमें बहुत बड़ा भेद होता तो दोनोंका उपदेश इस प्रकार साथ साथ न होता।

योगका उपदेश आगे आनेवाला है उस समय इसका अधिक विचार करेंगे। अतः इस विषयमें यहां इतना ही पर्याप्त है।

द्वितीय अध्यायका विचार समाप्त।

द्वितीयअध्यायके कुछ सस्मरणीय श्लोक

(१) नपुंसकत्व छोड़ ।

क्लैब्यं मा स्म गमः ।

नपुंसकत्वको न प्राप्त हो। ' मनुष्य पुरुषार्थ करे पराक्रम करे और यशका भागी बने परंतु कभी नपुंसक और भिखारी न बने। (भ गी २।३)

(२) हृदयकी दुर्बलता छोड़ ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ ।

क्षुद्रता उत्पन्न करनेवाली हृदयकी दुर्बलता दूर फेंक दो और परम पुरुषार्थ करनेके लिये उठकर खड़ा हो। हर एक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनसे क्षुद्र विचार दूर करे और उच्च विचार धारण करे। (भ गी २।३)

(३) शोक न कर ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

मरे हुओं और जीवितोंके विषयमें ज्ञानी लोग शोक नहीं करते। ज्ञानी लोग तो कदापि शोक नहीं करते। वे प्राप्त अवस्थामें योग्य कर्तव्यकर्म करते हुए उन्नतिके मार्ग पर चलते हैं। वे व्यर्थ समय शोकमें नहीं व्यतीत करते। (भ गी २।११)

(४) मोह न करना ।

धीरस्तत्र न मुह्यति ।

धीर कभी मोहयुक्त नहीं होता। उसको बुद्धियुक्त कहते हैं कि जो कभी मोहवश नहीं होता। (भ गी २।१३)

(५) भाव और अभाव ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

जो है उसका कभी अभाव नहीं होता और जो नहीं है उसका कभी भाव नहीं होता। यह शास्त्रका महासिद्धान्त है (भ गी २।१६)

(६) जन्मवालेका नाश ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ।

जिनकी उत्पत्ति हुई है उनका नाश निश्चयसे होगा। अतः किसीका नाश हो तो उस बातके लिये रोने पीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। (भ० गी २।२७)

(७) क्षत्रियका धर्म ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।

धर्मसे प्राप्त युद्धकी अपेक्षा दूसरा कोई श्रेयस्कर कर्म क्षत्रियके लिये नहीं है। अतः क्षत्रियको उचित है कि वह धर्मयुद्ध करनेके लिए सदा तैयार रहे। (भ गी २।३१)

(८) युद्ध न करनेसे अकीर्ति ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

यदि तू इस धर्मयुद्धको न करेगा तो स्वधर्मसे भ्रष्ट होगा तेरा अपयश जगत्में होगा और स्वधर्मसे पतित होनेसे पाप भी लगेगा। अतः धर्मयुद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है। (भ गी० २।३३)

(९) अकीर्ति मरनेसे बुरी है ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।

' संभावित–प्रतिष्ठित–मनुष्यकी अपकीर्ति मरनेसे भी बढ़कर होती है। " अतः कोई मनुष्य अपयशके लायक कुत्सित काम न करे। (भ गी २।३४)

(१०) निन्दाका दुःख ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ?।

तेरे सामर्थ्यकी निन्दा होने लगी तो उससे अधिक दुःखदायक कौनसी अवस्था है ? अपने सामर्थ्यकी निन्दा होना ही सबसे अधिक दुःखदायक है। अतः कोई मनुष्य धर्मयुद्धसे पीछे न हटे। (भ गी २।३६)

(११) अव्यवसायीकी चंचलता ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।

उद्योग न करनेवालोंकी बुद्धि चंचल और अनिश्चित होती है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह व्यवसाय-शील बने। (भ गी २।४१)

(१२) कर्मका अधिकार।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

' कर्म करनेमें तेरा अधिकार है, उसके फलपर नहीं। कर्मके फलकी अभिलाषा मनमें धारण न कर। अकर्म करनेमें तेरी रुचि न हो।' मनुष्य प्रयत्न कर्म करे। फलकी आकांक्षा न करे। कर्मफलका समर्पण करे। कर्म न करनेमें रुचि न करे आलसी न बने। (भ० गी २।४७)

(१३) कर्मयोग।

योगस्थः कुरु कर्माणि।

योगके अनुसार कर्म कर' सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव धारण करके कर्म कर। यही योगमार्ग है। (भ गी २।४८)

कृपणाः फलहेतवः।

' फलका हेतु धारण करके कर्म करना हीनताका द्योतक है। फल मुझे प्राप्त हो इस विचारसे किया हुआ कर्म हीन है। (भ गी० २।४९)

समत्वं योग उच्यते।
योगः कर्मसु कौशलम्।

समताका नाम योग है। भ गी २।४८
कर्ममें कुशलताका नाम योग है। (भ गी २।५०)
इस समत्व योगके साथ कर्म करने चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची ।

अथ तृतीयोऽध्याय

कर्मयोग

(१) अर्जुनकी शंका

अर्जुन उवाच–
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन । तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे । तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अन्वयः– हे जनार्दन ! कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी ते मता चेत्, तत् हे केशव ! घोरे कर्मणि मां किं नियोजयसि ? ॥१॥ व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव । तत् निश्चित्य एकं वद, येन अहं श्रेयः आप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! कर्मकी अपेक्षा (सम) बुद्धि श्रेष्ठ है (ऐसा यदि) तुम्हारा मत है तो हे केशव ! (इस प्रकारके युद्धरूप) घोर कर्ममें मुझे क्यों लगाते हो ? ॥ १ ॥ संदिग्ध जैसे भाषणसे मेरी मतिको तुम मोहित जैसी कर रहे हो । इसलिए निश्चय करके एकही बात मुझे कहो जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— इससे पूर्व कर्ममार्ग और समबुद्धिका ज्ञानमार्ग ये दो मार्ग कहे हैं। इनमेंसे किस मार्गसे जानेसे निश्चयपूर्वक कल्याण होगा इसका विचार करके जो अपने लिए अधिक योग्य होगा, उसीसे जाकर कल्याण प्राप्त करना चाहिये। अनेक मार्गोंसे जानेका यत्न करनेसे कोई लाभ नहीं होगा।

अर्जुनकी शंका

(१-२) पूर्व अध्यायमें ' कर्मयोग और समत्व-बुद्धि-योग ' ये दो योग कहे हैं और यह भी कहा कि समत्व-बुद्धियोगसे कर्म बहुतही कनिष्ठ है (भ. गी. २।४९) अर्थात् कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है यह बात निश्चित रीतिसे कही गई । इतना होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ' हे अर्जुन ! तू युद्धका निश्चय करके उठ । तू युद्धमें लग जा । (भ. गी. २।३७, ३८) और युद्ध तो बडा घोर कर्म है ! ! यदि केवल समबुद्धि का ऐसे कर्म छूट सकता है समबुद्धि होनेसे मनुष्यको ब्राह्मी स्थिति भी मिल सकती है और इस समबुद्धिसेही परम उच्च अवस्था भी मनुष्यको प्राप्त हो सकती है तो फिर युद्ध जैसे घोर कर्म करनेकी प्रेरणा भगवान् क्यों कर रहे हैं ! सम-बुद्धिकी प्राप्ति करनेका अनुष्ठान करनेकी प्रेरणा करनाही उनको योग्य है अतः अर्जुनकी यह शंका यथार्थ है ।

दूसरी बात यह है कि समत्व-बुद्धियोगकी स्थिरप्रज्ञ होनेके पश्चात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेका निश्चय पूर्व अध्याय (भ. गी. २।७१, ७२) में कहा इस प्रकारका कोई अद्भुत फल कर्मयोगसे प्राप्त होता है ऐसा वहां नहीं कहा । इसलिये अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है । यदि बुद्धियोगसे निश्चयपूर्वक ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है और वैसी स्थिति कर्मयोगसे होनेका वर्णन नहीं किया जाता तो फिर क्यों कहा जाता है कि तू युद्ध कर ? ऐसी अवस्थामें अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि निश्चयपूर्वक ब्राह्मी स्थितिको देनेवाला बुद्धियोग क्यों न किया जाय ? और जिसको कनिष्ठ करके स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है उस कर्मयोगका अनुष्ठान क्यों किया जाय ? क्या कनिष्ठ मार्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ मार्गसे जाना अच्छा नहीं है ?

अर्जुनकी मति स्वकर्तव्यके विषयमें संशयित हो गयी थी युद्ध करनेसे उत्तम गति होगी अथवा युद्ध न करनेसे होगी इस विषयमें उसको संदेह हुआ था । अपनी शंका दूर करनेके लिए अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णजीसे सवाल पूछा । भगवान्ने उत्तरमें कहा कि बुद्धियोगसे ब्राह्मी स्थिति मिलती है तथापि तू कर्म कर तू युद्ध कर । इस उत्तरमें

(२) दो साधन-मार्ग

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अन्वयः- हे अनघ ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा पुरा मया प्रोक्ता सांख्यानां ज्ञानयोगेन योगिनां कर्मयोगेन ॥ ३ ॥ कर्मणां अनारम्भात् पुरुषः नैष्कर्म्यं न अश्नुते। (कर्मणां) च संन्यसनात् एव सिद्धिं न समधिगच्छति ॥ ४ ॥

हे पापरहित ! इस लोकमें दो प्रकारकी साधनकी वृत्तियां हैं यह मैंने पहिले ही कह दिया था सांख्योंकी ज्ञानयोगमें और योगियोंकी कर्मयोगमें ॥ ३ ॥ केवल कर्मका प्रारंभ न करनेसे ही मनुष्य निष्कर्मताको नहीं प्राप्त होता और केवल कर्मके त्यागनेसेही सिद्धिको नहीं पा सकता ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस जगत्में धार्मिक लोगोंकी दो प्रवृत्तियां हैं। कई मनुष्य ऐसे हैं कि जो सत्य ज्ञान प्राप्त करनेमें तत्पर होते हैं और दूसरे कई ऐसे होते हैं कि जो सत्कर्म करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। इस विषयमें कोई यह न समझे कि कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसेही केवल कर्मके दोष दूर हो सकते हैं अथवा कर्मका त्याग करनेसेही केवल किसी सिद्धिकी प्राप्ति होना संभव है। ये दोनों विचार गलत हैं ॥ ३-४ ॥

अर्जुनकी शंका दूर होनेकी अपेक्षा और भी बढ गई !! उपदेश करनेका यह कैसा ढंग है कि शिष्यकी शंका मिट जानेकी अपेक्षा बढ जाय !! अतः अर्जुनने पूछा कि यदि कर्मोंकी अपेक्षा समबुद्धि श्रेष्ठ है तो मुझे कहो कि समबुद्धि की धारणा कर। ऐसा उपदेश न करते हुए हे भगवन् ! आप मुझे घोर युद्ध करनेकी प्रेरणा क्यों कर रहे हैं ? यह घोर युद्ध पापकी खान है, इसमें युद्ध करनेका उपदेश आप मुझे क्यों कर रहे हैं ? यह आपका कथन ऐसा है कि जैसा एक रोगी किसी वैद्यसे चिकित्सा करवानेके लिये उसके पास गया उसे वैद्यने कहा कि विष मृत्यु लानेवाला है और यह औषध निःसंदेह आरोग्य देनेवाला है तथापि तू इस विषको पी जा।' ऐसी अवस्थामें जो अवस्था उस रोगी की होगी वही इस प्रसंग मेरी हुई है। यदि किसी अन्धेने सीधा मार्ग पूछा, तो उसको सीधा मार्ग ही बताना चाहिये; उसका ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'यह सरल मार्ग है परन्तु इस टेढे मार्गसे ही तू जा।' भगवन् ! आपने तो ऐसा ही मुझे भ्रममें डाल दिया है !! अतः प्रार्थना है कि मुझे इस समय जो कुछ करना चाहिये उसका निश्चय करके कोई एक मार्ग मुझे बताइये जिससे मुझे शीघ्रही कल्याण प्राप्त हो जाय।

अर्जुनकी यह शंका भगवान् श्रीकृष्णने श्रवण की और उसकी भ्रांति अधिक ही बढ गई यह जानकर उसका समाधान करनेकी इच्छासे वे कर्मयोगका तत्त्व कहने लगे—

दो प्रवृत्तियां

(३-४) इस जगत्में धार्मिक मनुष्योंमें साधारणतया साधन करनेकी दो निष्ठाएं अर्थात् दो प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। यहां निष्ठा शब्दका अर्थ (नि-स्था) किसी बातमें अत्यन्त स्थिर रहना है। ज्ञानमार्गमें अत्यंत स्थिर रहना और वहांसे विचलित न होनेका नाम 'ज्ञान-निष्ठा' है और कर्ममार्गमें अत्यन्त तत्परताके साथ स्थिर रहनेका नाम 'कर्म-निष्ठा' है। ज्ञान और कर्म ये दो साधन जिस वस्तुकी सिद्धिके लिये निश्चित हैं। कई मनुष्य ज्ञाननिष्ठावाले होते हैं और दूसरे कई कर्मनिष्ठावाले होते हैं। ज्ञाननिष्ठावाले कर्मको तुच्छ मानते हैं और कर्मनिष्ठावाले ज्ञानको अगम्य अर्थात् कठिन मानते हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें परस्परविरोध सा दिखाई देता है। सांख्य लोग ज्ञानपर श्रद्धा रखनेवाले और योगी कर्मपर श्रद्धालु होते हैं। साधारण लोगोंका यह ख्याल है कि ये दोनों मार्ग बिलकुल भिन्न हैं और उनमें परस्पर मेल नहीं है।

शरीरमें ज्ञान और कर्मके साधन

अपने शरीरमें भी आंख नाक कान रसना, त्वचा

और मन ये ज्ञाननिष्ठावाले इंद्रिय हैं। और हाथ, पांव, मुख उपस्थ और गुदा ये कर्मनिष्ठ इन्द्रिय हैं। ये भी एक दूसरेका कार्य प्रायः नहीं करना चाहते ये सदा अपनेही सामर्थ्यमें मस्त रहते हैं। यहां यह विचार करना है कि उक्त इन्द्रियोंमें कर्मशील इन्द्रिय श्रेष्ठ हैं वा ज्ञानशील इंद्रिय श्रेष्ठ हैं। पाठक विशेष विचार न करनेपर भी कहेंगे कि हाथ पांवकी अपेक्षा आंख नाक कान श्रेष्ठ हैं। जो काम शरीरमें ज्ञानेंद्रियोंसे हो सकता है वह काम कर्मेंद्रियोंसे नहीं हो सकता यह बात निःसन्देह सत्य है। आंख अपनी दर्शन-शक्तिसे सूर्यलोकके भी परे प्रवास करती है, परन्तु कर्मयोगी हाथ पांव पृथ्वी छोडकर बहुत दूर जा नहीं सकते। आंख दृष्टिक्षेपसे निमेषार्धमें सूर्यको घेर सकता है वैसा हाथ या पांव भूमिकी प्रदक्षिणा करना चाहें तो कई वर्ष लगेंगे। शरीर-स्थानीय इन ज्ञानदेवों और कर्मदेवोंमें शक्तिकी इतनी न्यूनाधिकता एवं विभेद है। यह भेद कदापि मिट नहीं सकता।

कर्मदेव और ज्ञानदेव

पाठक यहां ज्ञानदेवोंकी शक्तिका विचार करें। अपना मन यह इच्छाशक्तिसे और ज्ञान शक्तिसे युक्त है। इसमें इन्द्रविद्युत् की चपलता है और सोमकी शांति भी है। यह मन क्षणमात्रमें बिजलीके समान ब्रह्मांडमें कहीं भी जा सकता है। आंख कितनी दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन कर सकते हैं, कान कितनी दूरके शब्द सुनता है और नाक भी गन्ध वास ग्रहण करके पदार्थका स्वभावधर्म जान सकता है। इतनी शक्ति इन शरीरस्थानीय कर्मदेवोंमें निःसंदेह नहीं है। पांव दौडने लगे तो कहां तक दौड लगावेंगे? हाथ तो कुछ यंत्रादि साधन बनाकर दौडका वेग बढा भी सकते हैं। मुख शब्दोच्चार और उपदेश आदि द्वारा कुछ विशेष कार्य कर भी सकता है परन्तु इतना होनेपर भी ज्ञानदेवोंका सामर्थ्य इन कर्मदेवोंमें नहीं है। इस रीतिसे विचार करनेपर इस बातका निश्चय हो जाता है कि ज्ञाननिष्ठावालोंकी योग्यता कर्मनिष्ठावालोंकी अपेक्षा बहुत ऊंची है। अत कहा है—

अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः।
स एक आजानदेवानामानन्दः॥
(बृ उ ४।३।३३)

स एको ब्रह्मण आनन्दः। (तै उ २।८)

कर्मदेवोंके सौ आनन्दोंके बराबर देवोंका एक आनन्द है और देवोंके हजारों आनन्दोंके बराबर ब्रह्म-ज्ञानका एक आनन्द है। स्थूल कर्मेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलनेवाला आनन्द सूक्ष्म अन्तःकरणसे होनेवाला आनन्द और आत्मानुभवसे प्राप्त होनेवाला आनन्द इनमें बहुत अन्तर है और वह अन्तर उक्त प्रमाणसे बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म-साधनोंकी अपेक्षा ज्ञान-साधन कई गुना श्रेष्ठ हैं और उसी प्रमाणसे उनसे होनेवाले फलोंमें भी भेद है। अर्थात् कर्म और ज्ञानके साधन मार्ग तथा आदिमें भी इसी प्रकारका भेद है। तथापि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय एक ही मनआत्माइसे ज्ञानतन्तुओंसे और आत्मशक्तिसे प्रेरित होनेके कारण दोनोंमें एक ही शक्ति कार्य कर रही है इस दृष्टिसे दोनोंमें समानता भी है। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गमें श्रेष्ठ कनिष्ठ होनेका भेद इसलिये किये अपने शरीरके ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी जिनमें प्रवृत्त इंद्रियोंमें की स्वाभाविक तरतमता है वह यहां हमने देखी और उनमें समानता भी देखी।

परन्तु यह विचार भी कोई अन्तिम निर्णय नहीं है, क्योंकि आंखने देखा और रूप ग्रहण किया वह ज्ञानेंद्रिय होते हुए भी देखनेका कर्म करता है मन अन्तर्ज्ञानका इंद्रिय होते हुए भी मननका कर्म करता ही है इस प्रकार ये सब ज्ञानेन्द्रिय एक रीतिसे कर्मेन्द्रिय ही हैं। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी सबको आन्तरिक प्रेरणा देनेका कर्म करता ही है। इस रीतिसे सभी कर्ममार्गी हैं। इसलिये दोनोंमें इस दृष्टिसे अभेद भी है। पाठक यहां देखें कि दोनोंमें भेद कहां है और अभेद किस रीतिसे है।

मनुष्योंके प्रवृत्तिभेद

सांख्यमतवाले लोग ज्ञाननिष्ठ हैं और योगमतवाले कर्मनिष्ठ हैं। जगत्में धार्मिक लोगोंमें ये दो प्रकारकी वृत्तियां हैं। कई लोग तत्त्वज्ञानमें रमते हैं और कई लोग अनुष्ठान पर बल देते हैं। कई कहते हैं कि बहुत शब्दज्ञान प्राप्त कर लेनेसे क्या लाभ होगा? जो भी कुछ थोडा ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसको अपने आचरणमें ले आवो। दूसरे कोई ऐसा कहते हैं— शरीरके कर्ममें व्यापृत रहनेसे क्या लाभ होगा? आद,

ज्ञानसे अपने मनको शुद्ध करो। मन शुद्ध हुआ तो सब शुद्ध हो जायगा। ये इस प्रकार दोनों मत जगत्‌में प्रचलित हैं। इस विवादका विचार करके निश्चय करना चाहिये कि इनमें सत्य क्या है।

कर्मसे दोषकी सम्भावना

कर्म करनेसे मनुष्यको कुछ न कुछ दोष लगता है और यदि पूर्वोक्त कथनके अनुसार ज्ञानमें भी कुछ न कुछ कर्म होनेका संभव हुआ, अथवा ज्ञानके साथ साथ कर्म होनेकी भी संभावना माननेकी आवश्यकता हुई तब तो दोनों दृष्टान्तोंमें कुछ न कुछ कर्म होगा और कर्मके साथ कुछ न कुछ दोष भी होगाही। यहां प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार सब दोषकी संभावना है तो दोषसे बचना किस प्रकार होसकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें दो विवादियोंने दो युक्तियां सन्मुख रखी हैं। वे युक्तियां ये हैं—

१ कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्म न होगा और मनुष्य निर्दोष रहेगा, अथवा—

२ कर्मका प्रारम्भ हुआ हो तो आगे कर्मका त्याग करनेसे दोषसे भी मुक्ति होगी।

ये दो युक्तियां विवाद करनेवालोंने प्रस्तुत की हैं और उनके मनमें ऐसा विचार आया कि कर्मके दोषसे छूटनेकी युक्ति मुझे हस्तगत हो चुकी है। परन्तु इस भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि— "कर्मका प्रारंभ न करनेमात्रसे ही मनुष्य निष्कर्मी नहीं हो सकता और कर्मका त्याग करनेमात्रसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।" यह भगवान् की चेतावनी सुननेसे ही विवाद करनेकी पूर्वोक्त दोनों धारणाएं उनको अपने मनसे दूर करनी पड़ीं। और फिर कर्मका दोष हटानेके लिये क्या किया जाय? इसकी चिन्ता उनके पीछे जैसीकी वैसी लगी रही।

भगवान् कहते हैं कि कर्मका प्रारंभ न करनेसे मनुष्य कर्महीन नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्यने कुछ भी कर्म नहीं किया तो भी वह कर्म न करता हुआ स्तब्ध रहना भी एक कर्म ही है। कर्म न करनेपर भी वह कर्म बनता ही है इससे कैसे छूट सकता है? अर्थात् कर्मका प्रारंभ न करनेसे कर्मरहित होना असम्भव है।

अच्छा कर्म करके उसका त्याग करनेसे मनुष्य कर्मरहित होगा या नहीं? भगवान् कहते हैं कि, वह भी नहीं होगा। क्योंकि कोई मनुष्य किसी समयमें चुपचाप बैठा, उसने कुछ भी हलचल नहीं की तो यह उसका चुपचाप बैठनेका जो कर्म है वह किस प्रकार त्यागा जायगा? क्योंकि वह तो गत समयमें हो चुका है। जो हो चुका है या अपने पीछे पड़ गया उसका त्यागना कैसे हो सकता है? अतः इस कर्मका भी त्याग असंभव है। इस कर्म तो हो चुका है और वह अपने ऊपर आ चुका है। अर्थात् कर्मका प्रारंभ न करना भी असम्भव है और कर्मका त्याग तो उससे भी असाध्य है क्योंकि कर्मका त्याग भी एक कर्म ही है, फिर उसकी त्यागना कैसे सम्भव हो सकता है?

यहां कई लोग पूछेंगे कि 'कर्मसे इतना क्यों डरा जाता है? कर्मसे दोष लगता है ऐसा जो कहा जाता है, वह कैसे सच है? कर्मसे दोष क्यों लगता है और कैसे लगता है?' इसका विचार अब यहां करेंगे—

मनुष्यका कोई भी कर्म लीजिये। मान लीजिये कि मनुष्य चुपचाप बैठा है बिलकुल हलचल नहीं करता ऐसी अवस्थामें उससे कालका निरर्थक व्यय होनेका दोष हो रहा है। इस प्रकार कर्म न करनेसे चुप बैठनेसे किंवा कर्म न करनेका जो उसने कर्म किया उससे ही यह दोष बन गया! अब दूसरा कर्म देखिये— कोई मनुष्य अन्नदान करनेके लिये अन्न पकाता है, उस पकानेमें असंख्य जीवोंकी हत्या होती है, यह दोष अनिवार्य है। तीसरा कर्म देखिये एक मनुष्य गुरुके पास विद्या पढ़ रहा है उसमें अनेक प्रकारसे गुरुको कष्ट देनेका दोष अनिवार्य है। इस रीतिसे कोई कर्म कितना भी उत्तम क्यों न हो उसमें किसी न किसी रीतिसे कोई दोष अवश्य होता ही है। दोषरहित कर्म करना प्रायः असम्भव है। कई कर्मोंके दोष हम देख सकते हैं और कई कर्मोंके दोष बहुत विचार करनेपर हमें ज्ञात हो सकते हैं। कोई दोषरहित कर्म नहीं हो सकता यह बात सत्य है। तथापि अनेक कर्मोंके उदाहरण अपनी विचारकी दृष्टिके सामने रखकर उनके गुणदोषोंका विचार करें और कर्मके साथ दोष और गुण कैसे आते हैं इसका विचार करें। यहां कोई यह न समझे कि कर्मसे केवल दोषही होते हैं और गुण नहीं होते। गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। परन्तु गुणोंका पक्ष अच्छा होनेके कारण मनुष्य सदा उसको चाहता ही है।

(३) प्रकृतिधर्म

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वयः- कश्चित् जातु क्षणमपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः हि अवशः कर्म कार्यते ॥ ५ ॥

कोई कभी एक क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न गुण पराधीन बनाकर सबसे कर्म कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति ऐसी है कि उस कारण एक क्षणभर भी वह बिना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृतिके गुणोंसे पराधीन बना हुआ हरएक प्राणी कर्म करताही रहता है ॥ ५ ॥

परन्तु दोषोंकी बात वैसी नहीं है। दोषोंसे दुःख होता है, वह भोगनेके समय उसको दुःख होता है अतः उसको दूर करनेका विचार मनुष्य सदा करता रहता है। अतः कर्मके दोषोंसे बचनेका उपाय कथन करनेके लियेही शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। इस गीताशास्त्रने कर्मके दोषोंसे बचनेका सबसे उत्तम उपाय कहा है यही गीताशास्त्रकी विशेषता है। यह अत्यंत आवश्यक विषय क्रमसे आगे आ जायगा। इसी विषयका उपक्रम करनेकी इच्छासे शरीरके स्वभावका वर्णन भगवान् करते हैं—

कर्म अनिवार्य है

(५) प्राणिमात्रका सहज प्रकृतिधर्म यहां कहा है। प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति ऐसी है कि वह क्षणमात्र भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। इच्छासे करे अनिच्छासे करे स्वभावसे करे अथवा किसी भी वृत्तिसे करे, उससे कर्म होताही है। कुछ भी करो। कर्म छूटता नहीं। मनुष्य स्तब्ध रहा तो भी उस समय उससे स्तब्ध रहनेका कर्म होता है। अथवा, स्तब्ध रहना या चुप बैठना यह कर्म न माना जाय तो भी स्तब्ध रहा मनुष्य बिना आयास दूसरेके शब्द सुनता है यह उसका अवश्यका कर्म है उसके नाकमें सुगंध या दुर्गंध गया, तो उसका ग्रहण स्वयं होता ही है यह नाक ग्रहणका कर्म हुआ। आंख खुले रहने पर बाहरका दृश्य दीखताही है इस रीतिसे उससे दृश्य देखनेका कर्म होता है। बाहरकी हवामें सर्दी और गर्मी रही तो कुछ भी किये बिना उसके शरीरको उस सर्दी और गर्मीका भास होता है अर्थात् चुप बैठा मनुष्य सर्दीगर्मी लेनेका कर्म करता रहता है और मलत्याग मूत्रका उत्सर्ग पसीना आना छींक आदि अनेक स्वाभाविक कर्म उससे स्वभावतया होते रहते हैं। मनुष्यका शरीर स्तब्ध रखा गया तो भी उसके मनके व्यापार बंद नहीं होते; वह मनसे मनन करके अनेक कर्म करता रहता है। निद्रा आनेका कर्म होताही है तथापि उसमें स्वप्न आने लगे तो वह स्वप्न देखनेका भी कर्म करता है, यह कर्म कैसे रोका जाय? स्वप्न अवस्थापर किसका नियन्त्रण है? और देखिये, यह सब न हुआ ऐसा भी क्षणभरके लिये मान लीजिये; परन्तु हरएक प्राणी जीवित रहनेका काम तो करता ही है! श्वास-प्रश्वास, हृदयकी धडधड, आंखोंका खोलना और मूंदना ये कर्म शरीरके स्वभावसेही होते हैं, इसके अतिरिक्त, शरीरका जीर्ण होना रोगी होना निरोग रहना आदि कर्म होते हैं; अन्तमें यदि मर गया तो मरनेका भी एक कर्म उससे होता है!! जन्म लेनेका कर्म और मरनेका कर्म ये दो बडे भारी कर्म हैं जो हरएक प्राणी करता है। इस प्रकार विचार करनेपर पाठकोंको पता लगेगा कि, कुछ कर्म न करनेका निश्चय करनेपर प्राणिमात्रसे इतने असंख्य कर्म प्रकृतिके स्वभावसेही होते रहते हैं। अतः मनुष्यका कर्मोंका प्रारंभ न करनेका निश्चय और कर्मोंके त्याग करनेका निश्चय ये दोनों निश्चय अव्यवहार्य हैं। कर्म न करना तो एक क्षणमात्र भी संभवनीय नहीं है।

परवशता

कर्म करनेके विषयमें जैसे सब प्राणी वैसा मनुष्य भी पराधीन है। उसकी प्रकृतिके अधीनही वह रहता है और उसकी प्रकृति उससे कर्म कराती है। जिस प्रकार इसकी प्रकृतिके गुणधर्म नचाते हैं उस रीतिसे वह नाचता रहता है। प्रकृतिके तीन गुण हैं-सत्त्व रज और तम। तमोगुणसे आलस्य रजोगुणसे प्रवृत्ति और सत्त्वगुणसे समता रहती है। इन गुणोंके न्यूनाधिक प्रमाणसे इसमें विविध कर्म वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अतः इसने कहा कि मैं कर्म नहीं करूंगा तो भी वह प्रतिज्ञा व्यर्थ है। प्रकृति इस

दाम्भिक लोग

(६) इस श्लोकमें दाम्भिक लोगोंकी मूढ़ताका वर्णन किया है। ये लोग कर्मेन्द्रियोंको तो स्तब्ध रखते हैं परन्तु ज्ञानेन्द्रियोंसे और विशेषतः मनसे भोगोंका मजा उठानेका विचार करते रहते हैं ये लोग रातदिन विषयोंकी प्राप्तिके लिये तड़पते हैं परन्तु बाहरसे शरीरको साधुके समान बनाकर स्तब्ध रखते हैं। ये मूढ़ और मिथ्या व्यवहार करनेवाले हैं। इनकी अधोगति होती है। ये समझते हैं कि शरीरसे कर्म न करनेमात्रसेही सिद्धि होती है। परन्तु यह भ्रम है। शरीरसे तथा कर्मेन्द्रियसे किंवा ज्ञानेन्द्रियसे कर्म न भी किया जाय परन्तु मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे, तो अवश्य दोष होता है। कर्मेन्द्रियोंको और शरीरको स्तब्ध रखनेके साथ साथ यदि मन शुद्ध न रहा तो दोषोंसे मुक्तता नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ देखिये जो लोग किसीको वाणीसे गालियां तो नहीं देते परन्तु मनमें गाली देनेका विचार करते हैं अथवा मनही मन गालियां देते भी हैं। उनके वाणीको स्तब्ध रखनेसे क्या लाभ हो सकता है? उनके मनमें जो दोष करना था वह किया ही है केवल व्यक्त शब्दोच्चारण उसने किया नहीं। परन्तु इससे वह निर्दोष नहीं हो सकता।

कामविषयक प्रवृत्तिके लोग बाह्य शरीरसे न भी कामोपभोग करें परन्तु मनसे यदि कामका विचार बारंबार करेंगे सुंदरताका वर्णन बारंबार पढेंगे, वैसे चित्र बारंबार देखेंगे मनमें उनसे संगति होनेकी कल्पना करेंगे तो निःसंदेह कामातिसेवनका दोष उनसे होगा, उस दोषका परिणाम उनके शरीरपर होगा वे शरीरसे क्षीण और वीर्यहीन बनेंगे और अन्तमें प्रमेहविकारके शिकार बन जायेंगे। केवल मनसे विचार करनेसे कितनी हानि होती है इसकी स्पष्ट कल्पना यहां पाठकोंको हो सकती है। काम मनमें ही उत्पन्न होता है अतः उसका नाम मनसिज है और शरीरसे कुकर्म हो या न हो वह मनही मनमें रहकर वहां और शरीरमें बडे दोष उत्पन्न करता है जिसका परिणाम दुःसंगतिमें रहे अनेक दुर्दीन तरुणोंको आयुभर भोगना पड़ता है।

शरीरकी स्वस्थता

यहां कोई यह न समझे कि शरीरको स्वस्थ रखनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो है ही। जो शरीरसे पवना चाहता है वह शरीरको स्तब्ध अवश्य रखे, परन्तु साथही साथ मनको भी शुद्ध रखनेका यत्न करे।

योगसाधनोंके अभ्यासमें शरीरको स्तब्ध और निश्चल रखनेकाही अभ्यास मुख्य है। कुछ समय शरीर बिलकुल शांत रखा जाय और यदि वह शरीर सचमुच निश्चल रहा तो मनकी स्वाधीनता होनेमें बड़ी सहायता होती है। योगके आसन शरीरको अचंचल करनेके लिये प्राणायाम प्राणको स्थिर करनेके लिये और ये दोनों मनको स्थिर करनेके लिये अनुकूल हैं। यह हठयोगका क्रम है जो शरीरको स्थिर करता हुआ मनको स्थिर करनेकी अभिलाषा करता है। परन्तु इसमें यह बात है कि शरीरके स्थिर करनेके अनुष्ठानके साथ साथ मनको शुद्ध पवित्र और स्थिर करनेका अनुष्ठान होना चाहिये। शरीरको स्तब्ध रखना और मनको विषयोंमें भटकने देना कभी इष्ट नहीं। ऐसा करना तो दांभिकता है। हठयोगमें इस प्रकारकी दाम्भिकताका लेश भी नहीं है।

राजयोगमें मनको विचारसे और ज्ञानसे शांत करनेका अनुष्ठान करना होता है। राजयोगियोंकी रीतिसे मनको शांत करनेसे प्राण शांत होता है और इन दोनोंकी शांतिसे शरीर शान्त और अचंचल होता है। राजयोगी ऊपरसे नीचे आता है और हठयोगी नीचेसे ऊपर जाता है। परंतु यहां इन दोनों योगोंमें किसी एकको स्तब्ध रखना और दूसरेको विषयोंमें जैसा देनेका बिलकुल भाव नहीं है। प्रथम तो कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय, प्राण और मनको शान्त शुद्ध गंभीर और अचञ्चल करनेके लिये प्रयत्नसे करना चाहिये। केवल कर्मेन्द्रियोंको स्तब्ध रखकर मनमें विषयोंका मजा उठानेसे कार्य नहीं चलेगा। यह दांभिकता भलेही अन्य समाजमें आदर मिलानेमें सहायता देवे परन्तु इससे किसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। इससे निश्चयपूर्वक गिरावट ही हो सकती है। ऊपर स्वस्थ रहता है परन्तु उस स्वस्थताका नाम शांति नहीं है और इस प्रकारकी स्वस्थतासे कुछ उन्नतिकी भी कोई आशा नहीं है। मनुष्य कर्म करता हुआ शांतिका अनुभव करे यह ध्येय है। मनुष्यपर जिम्मेवारियां आनेपर वह न डरे यह अभीष्ट है। कर्म करता हुआ भी मन समान शान्त रहे यह सिद्धि किस प्रकार प्राप्त कर लेनी हो सकती है इसका विचार अगले श्लोकोंमें किया है। वे श्लोक अब देखिये—

(१०)

(५) अनासक्तियोग

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन । कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यः तु मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते, सः विशिष्यते ॥ ७ ॥ त्वं नियतं कर्म कुरु, अकर्मणः हि कर्म ज्यायः । ते शरीरयात्रा च अपि अकर्मणः न प्रसिद्ध्येत् ॥ ८ ॥ यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः । हे कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः तदर्थं कर्म समाचर ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंको वशमें रखके आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान करता है वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ इसलिये तू नियत कर्म कर । कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है । तेरे शरीरका निर्वाह भी बिना कर्म किये नहीं होगा ॥ ८ ॥ यज्ञके लिये किये गये कर्मोंके सिवाय अन्य कर्मोंसे इस लोकमें बन्धन होता है । इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! आसक्ति छोड़कर यज्ञके निमित्त कर्म कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— मनुष्य अपने इन्द्रियोंको अपने अधीन रखे, उसको इधर उधर भटकने न दे और आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करे । जो इस रीतिसे कर्म करेगा वही श्रेष्ठ होगा । विहित कर्म मनुष्यको करनाही चाहिये । कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है । कर्म न करनेसे शरीरका जीवन भी चल नहीं सकता । यज्ञके लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धनकारक नहीं होते; स्वार्थका हेतु धरकर जो किये जाते हैं, उनसेही कर्ताको बन्धन होता है, इसलिये आसक्ति छोडकर मनुष्य यज्ञके लिये कर्म करे ॥ ७-९ ॥

कर्मयोगका आचरण

(७-९) इन श्लोकोंमें कर्मयोगका अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसका उपदेश किया है । कर्मयोगका आचरण करनेवाले लोग इन श्लोकोंका उत्तम मनन करें । इस कर्मयोगके अनुष्ठानके कुछ सिद्धान्त इन श्लोकोंमें वर्णन किये हैं, इनका क्रमशः विचार करते हैं—

नियत कर्म करना

आठवें श्लोकमें " नियतं कुरु कर्म त्वं " अर्थात् तू नियत कर्म कर ऐसी आज्ञा की है । इसके दो अर्थ होते हैं । देखिये—

१ ' त्वं नियतं कर्म कुरु ' = तू [अपने धर्मके अनुसार तुम्हारे लिये कर्तव्यरूपसे] निश्चित हुआ कर्म कर । अथवा—
२ ' त्वं कर्म नियतं कुरु ' = तू कर्म सदा कर ।

पहिले अर्थमें ' नियत शब्द कर्म ' शब्दका विशेषण है और दूसरे अर्थमें नियत शब्द क्रियावाचक अव्यय है । इन वाक्यका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये नियत शब्दके अर्थका अधिक विचार करना चाहिये । कोशोंमें इसके निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

नियत (१) मर्यादासे युक्त जो मर्यादामें है, जो मर्यादाओंसे मर्यादित हुआ है, जो अपने अधिकारमें है नियमानुसार जो कर्तव्य हुआ है आत्मसंयमसे जो निश्चित हुआ है जिसमें मर्यादाका अतिक्रमण नहीं हुआ है, निश्चित अनुशासनसे निर्धारित नियम समानता स्थिर, सदाके लिये उसके अधीन अपरिवर्तनीय स्वभावसे निर्धारित या निश्चित स्वीकृत व्रतके अनुसार कर्तव्य । (२) सदा हमेशा निरन्तर । निश्चयसे अचूक रीतिसे स्थिरतासे अवश्य अवश्य ।

नियत शब्दके ये अर्थ हैं । दूसरा अर्थ लेकर इस आठवें श्लोकका ऐसा अर्थ होता है कि— (त्वं कर्म नियतं कुरु) तू कर्म सदा करता रह क्योंकि (हि अकर्मणः कर्म ज्यायः) कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अच्छा है आलसी बैठनेकी अपेक्षा सदा कुछ न कुछ कर्म करना उत्तम है । (अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्) आगे

बैठे रहोगे, तो तेरे शरीरकी स्थिति भी ठीक रीतिसे नहीं होगी।" अर्थात् शरीरका स्वास्थ्य उत्तम अवस्थामें रहनेके लिये शरीरके अवयवोंसे कुछ न कुछ कर्म करा लेना चाहिये। शरीरको कर्महीन आलसी अथवा इसप्रकारसे रखा जाय, तो इस शरीरका स्वास्थ्य भी आलस्यके कारण बिगड़ जायगा। अतः आलस्यमें समय गमानेकी अपेक्षा कुछ न कुछ कर्म करना बहुतही अच्छा है। कमसे कम शरीर यात्रा भी तो चलती रहेगी। इस हेतुसे मनुष्य सदा कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहे। प्रयत्नहीन मनुष्यकी अपेक्षा प्रयत्नशील मनुष्य बहुत अच्छा है।

ऐच्छिक और स्वाभाविक कर्म

पञ्चम श्लोकमें कहा है कि कोई एक क्षणके लिये भी खाली नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुण बलात् उससे कर्म कराते रहते हैं। इस स्वभावसिद्ध नियमके अनुसार कोई कर्महीन नहीं रह सकता। यह सत्य है, तथापि ये कर्म स्वभावधर्मसे होनेवाले हैं। जैसा रेलमें बैठा मनुष्य पैदल न चलता हुआ भी रेलकी गतिसे सफर करता है रेलके स्वभावके आधीन होनेसे रेलके गुणधर्म इससे बलात् सफर कराते हैं, उसी प्रकार जीव प्रकृतिके आधीन होनेसे प्रकृतिके गुणधर्म उससे कर्म कराते हैं। परन्तु जिस प्रकार रेलकी सफर और पैदल सफरमें भेद है उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म और ऐच्छिक कर्ममें भी भेद है। पैदल सफर करनेवालेका शरीर सुदृढ होता जाता है और रेलसे सफर करनेवालेका शरीर अकड जाता है। इसी तरह प्रकृति स्वभावसे होनेवाले कर्मोंसे जीवकी शक्तियाँ अकड जाती हैं, परन्तु ऐच्छिक सत्कर्म करनेसे जीवकी शक्तियाँ विकसित होती हैं। इसलिये स्वाभाविक कर्मोंकी अपेक्षा ऐच्छिक नियत कर्म कई दर्जे श्रेष्ठ हैं।

पञ्चम श्लोकमें शारीरधर्मसे होनेवाले कर्मोंका वर्णन है। ये कर्म तो जीवमात्रसे होतेही रहते हैं। उनसे न किसीकी उन्नति होगी और न अवनति। ये कर्म न करनेसे खराबी अवश्य होगी। परन्तु मनुष्यको ऐच्छिक श्रेष्ठ कर्म अपनी उन्नतिके लिये अवश्य करने चाहिये। ये ऐच्छिक कर्म उत्तम रीतिसे किये तो उनका अच्छा फल अर्थात् भला होगा। कम करनेमें त्रुटि हुई तो गिर होकर अवनति होगी। परन्तु दोनों अवस्थाओंमें कुछ न कुछ

(अ० ३ श्लोक १-४ का विवरण देखिये)। इसलिये कई लोग आलस शरीरको रोकते हैं उनके विषयमें छठे श्लोकमें कहा है कि– 'जो ऊपर ऊपरसे इन्द्रियोंको रोक कर भीतरही भीतर विषयोंका मजा उठानेका विचार करता है वह मिथ्याचारी किंवा ढोंगी है।' इस प्रकार आलससे शरीरको रोकनेसे कोई लाभ नहीं है। इस तरह शरीरको रोकनेसे कुछ न कुछ कर्म करना अच्छा है आलसी रहनेसे उद्योग करना अच्छा है" ऐसा मनुष्यकी कर्मकी ओर प्रवृत्ति करनेके उद्देश्यसे अष्टम श्लोकमें कहा है।

परन्तु (त्वं कर्म नियतं कुरु) तू सदा कर्म कर इतनाही इसका अर्थ करनेकी अपेक्षा नियत शब्दका पहिला अर्थ लेकर इसका (त्वं नियतं कर्म कुरु,) तू [धर्ममर्यादाके अनुकूल तुम्हारे लिए] निश्चित हुआ कर्म कर ऐसा अर्थ करना अधिक योग्य है। अथवा 'तू अपने लिये निश्चित हुआ कर्म सदा कर' ऐसा अर्थ करना भी अधिक योग्य है। इसमें दोनों अर्थोंका आशय आ जाता है। मनुष्यको कर्म करना आवश्यक है अतः वह नियत कर्मही सदा करे। यहां नियत कर्म कौनसा है इसका विचार करना चाहिये–

नियत कर्म

नियत कर्म का आशय दो प्रकारसे व्यक्त हो सकता है। एक नियत कर्म वह है कि जो धर्मशास्त्रके द्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये निश्चित हो चुका है। शम-दम तप आदि ब्राह्मणके लिये, शौर्य युद्धसे अपलायन दान आदि क्षत्रियके, लिये, कृषि गोरक्ष वाणिज्य वैश्यके लिये और कारीगरी तथा परिचर्यादि कर्म शूद्रके लिये धर्मशास्त्रद्वारा निश्चित हुए कर्म हैं। चार वर्णोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके इस प्रकारके चतुर्विध कर्म धर्मशास्त्रद्वारा निश्चित हैं। ये ही कर्म नियत कर्म हैं और जिस वर्णमें जो उत्पन्न हुआ है उसके लिये वेही नियत कर्म हैं। अपना वर्ण और अपना आश्रम इनके लिये जो कर्म धर्मशास्त्रने नियत हुआ है वह उस मनुष्यको सदा करना चाहिये। नियतं कर्म कुरु अपने लिये नियत हुआ कर्म कर इसका एक आशय यह है। भगवद्गीतामें आगे इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

शास्त्र प्रमाण

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके समय तुझे शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये और शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है उसको समझकर तदनुसार इस लोकमें कर्म करना तुझे उचित है। यहां शास्त्रका अर्थ आप्त तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा रचित मानवी धर्मके ग्रंथ है। यदि धर्मनियमोंमें बदल करना हो तो मनुष्य-समाजकी परिस्थिति देखकर आप्त-पुरुष वैसा बदल धर्मग्रंथोंमें करें। यह अधिकार सामान्य मनुष्यको नहीं है। धर्मशास्त्रकी रचना आप्त पुरुष करें और अन्य लोग उन नियमोंके अनुसार आचरण करें। इस प्रकार करनेसे कोई मनुष्य अयोग्य कर्म कर ही नहीं सकता, किसी मनुष्यसे अधर्म हो नहीं सकता, मनुष्य-समाज सदा सन्तुष्ट और आनन्दमय रह सकता है और आत्मोन्नति करनेके लिये उसको बहुत अवसर भी मिल सकता है।

यहां प्रस्तुत विषयमें इसका आशय यह है कि अर्जुन क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होनेके कारण उसका धर्म शौर्य तेज धैर्य दक्षता, युद्धसे पीछे न हटना, दान और प्रभुत्वका भाव ये हैं। (भ. गी. १८।४३) इन क्षत्रियोंके धर्मोंमें (युद्धे अपलायनं) युद्धसे पीछे न हटना यह एक धर्म है। शौर्य धैर्य तेजस्विता प्रभुत्वका भाव ये भी धर्म उसके साथ हैं। क्षत्रियके कुलमें उत्पन्न हुए एक मनुष्यके लिये ये नियत कर्म हैं अर्थात् ये उसको सदा करने अत्यंत आवश्यक हैं। यदि किसी क्षत्रियको अपने कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें भ्रम उत्पन्न हुआ तो इस शास्त्रवचनको देखे—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
(भ. गी. १८।४३)

इस प्रकारके अन्यान्य वचन वेद और शास्त्रोंमें देखे और अपने कर्तव्यका निर्णय स्थिर करे। वेदोंमें इन्द्र, मरुत्, रुद्र आदि क्षात्र देवताओंके मंत्रोंमें क्षत्रियके धर्म और कर्म कहे हैं। मनु आदि स्मृतियोंमें वेही धर्म वेदके अनुसार स्पष्ट शब्दोंमें कहे हैं। पुराणोंमें क्षत्रियोंके उत्तम चरित्र हैं जिनके पठनसे क्षत्रियके धर्म निश्चित हो सकते हैं। इसमें और विचारके लिये आधुनिक युगके श्रेष्ठ क्षत्रियोंके जीवन-चरित्र लिये जा सकते हैं, तथा आधुनिक विचारकोंके सद्विचार भी विचारके लिये लिये जा सकते हैं। श्रुति स्मृति सदाचार और आत्मतुष्टि ये धर्मके चार लक्षण हैं और इनसे जो निश्चित होता है वह मनुष्यका नियत कर्म है।

अर्जुन क्षत्रिय है, अतः उसका धर्मशास्त्रके अनुसार कर्तव्य "युद्धसे न भागना" अर्थात् "युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुके साथ युद्ध करना" है। यह कर्तव्य अर्जुन नहीं करता प्रत्युत शास्त्रके विरुद्ध आचरण करता है। इस समय अर्जुन नियत कर्मका त्याग कर रहा है यह बड़ा भारी पाप उससे हो रहा है। इस पापसे बचानेके लिये भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू नियत कर्म कर। अन्य हीन कर्म करनेसे अथवा आलस्यमें सड़नेसे नियत कर्म करना बहुत अच्छा है। वर्णाश्रमधर्मके अनुसार क्षत्रिय-कुलोत्पन्न वीरका जो नियत कर्म है वह उसको करनाही चाहिये। न करनेसे दोष होगा। यह दोष कितना भयानक है देखिये—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(भ. गी. १६।२३)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे व्यवहार करता रहता है वह न तो सिद्धि को पाता है न सुख प्राप्त करता है और न परम गतिको प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार उसकी सब प्रकारकी उन्नति मारी जाती है। शास्त्रविधिका उल्लंघन करनेका कितना घोर परिणाम है, यह देखिये। अर्जुन इस समय शास्त्रसे निश्चित हुआ नियत कर्म छोड़कर स्वेच्छासे व्यवहार करना चाहता है ऐसा करनेसे उसको न किसी प्रकारकी सिद्धि मिल सकती न सुख प्राप्त हो सकता और न परलोकमें उच्च गति मिल सकती है। फिर किस आशासे यह मनुष्य स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होवे?

पाठक यहां नियत कर्म करनेका यह सिद्धान्त ठीक रीतिसे समझें। श्रेष्ठ दूरदर्शी विचारी निष्पक्षपाती महाज्ञानी आप्त पुरुषोंने चार वर्णों और चार आश्रमोंमें रहनेवाले मनुष्योंको जो कर्म करने चाहिये ऐसा कहा और जो उनका वर्णन किया है उसका नाम शास्त्र है। प्रत्येक मनुष्यका इस शास्त्रके अनुसार नियत कर्म निश्चित हुआ है। प्रत्येक मनुष्यको यह कर्म अवश्य करना चाहिये। इस विषयमें गीतामें कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
(भ गी १८)

' अपने अपने नियत कर्ममें रत रहकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने यह संसार फैलाया है, उसकी पूजा जो मनुष्य अपने निज कर्मसे करता है, वह सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ सुष्ठु परधर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित निजधर्मही अधिक कल्याणकारी है। स्वभावसे नियत हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ सहज कर्म सदोष होता हुआ भी नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि दोष तो सब कर्मोंके साथ रहते ही हैं।

सहज कर्म

इस वर्णनसे नियत कर्मका अर्थ निश्चित होगा। ' स्वकर्म स्वधर्म स्व-भाव-नियत कर्म सहज कर्म " ये शब्द नियत कर्मका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वके हैं। सह-ज कर्म का अर्थ है- अपने जन्मके साथ जन्मा हुआ कर्म ।'प्रत्येक मनुष्यके साथ उसका कर्म निश्चित रूप से जन्मता है। इसी प्रकार स्व-भाव-नियत कर्म का अर्थ- अपने भाव अर्थात् सद्भाव किंवा जन्मके साथ नियत हुआ कर्म। इन दोनों शब्दोंका अर्थ प्रायः एकही है। यहां स्वभाव का अर्थ शील नहीं है प्रत्युत स्वजन्म है। चार वर्णोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके जन्मके साथही उनके कर्म भी उत्पन्न होते हैं। और वे उनको करनेही चाहिए। *इस प्रकार अर्जुनका ' सह ज अथवा स्व-भाव नियत* कर्म युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना था। वह (सदोष) हिंसारूप दोषसे युक्त हो (विगुणः) गुणरहित हो सत्त्वगुणरहित हो इससे (परधर्मः) ब्राह्मणादिकोंका शमदम रूप धर्म कितना भी (स्वनुष्ठितः) करनेको सुकर क्यों न हो और कितना भी गुणवान् क्यों न हो अर्जुनका क्षत्रिय होनेके कारण कर्तव्य था कि वह (स्वकर्मणा त मभ्यर्च्य) युद्धरूप स्वकर्मके द्वारा ही परमेश्वरकी पूजा करे और परम सिद्धि प्राप्त करे। युद्धसे निवृत्त होना ब्राह्मण और वैश्यके लिये अधर्म न हो परंतु क्षत्रियके लिये युद्धभूमिसे भागना बड़ा घोर अधर्म होगा और उससे उसका पतन होगा। प्रत्येक वर्णका नियत कर्म इस प्रकार उसके जन्मके साथ निश्चित हुआ है और वह उसको करना ही चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको जो नियत कर्म करनेका उपदेश कर रहे हैं उसका यह तात्पर्य है।

नियत कर्म का अर्थ इंद्रियसंयमसे किया हुआ कर्म ' ऐसा भी होता है। यह अर्थ स्वीकारनेपर इस श्लोकका यह अर्थ होगा कि हे अर्जुन! तू (नियतं कर्म-कुरु) अपनी इंद्रियोंको नियमनमें रखकर कर्मोंको कर (अकर्मणः कर्म ज्यायः) क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक उत्तम है। " यह अर्थ इसके पूर्व श्लोकके आशयके साथ संगत भी है तथापि यह अर्थ यहां अपेक्षित है या नहीं इस विषयमें मुझे बड़ी शंका है। यदि केवल इंद्रिय-संयमसे किये हुए कर्म ही यहां अपेक्षित हैं, तब तो अर्जुन आत्मसंयमपूर्वक तपस्या करनेकी तैयारी करकेही बैठा था। वह वनवासी होकर कन्दमूल फलाहारी होता हुआ भिक्षावृत्तिसे शमदमका मार्ग अवलंबन करनाही चाहता था। वह ब्राह्मधर्मका अनुयायी होकर अधिकसे अधिक आत्मसंयमके मार्गसे जानेका इच्छुक था। अतः यदि भगवान् को केवल इंद्रियसंयमसे किया हुआ नियत कर्म ही अभीष्ट था तो वे उसको क्यों रोकते और क्यों युद्धमें प्रवृत्त करते ? इस रीतिसे विचार करनेपर विदित होगा कि यह अर्थ इस स्थानपर संगत नहीं है। यहां तो अर्जुनको जन्मके साथ प्राप्त (सहज) और स्वभाव नियत युद्धरूप कर्म संयमसे करनेका उपदेश भगवान् कर रहे हैं। और अन्यान्य मनुष्योंको भी वर्णाश्रमके अनुसार प्राप्त कर्म करनेका उपदेश अंतरसे दे रहे हैं। मनःसंयम से विहित यादृच्छ कर्म करनेका भाव यहां नहीं है क्योंकि अर्जुन भी किसी प्रकार अधर्मकर्ममें प्रवृत्त नहीं था केवल क्षत्रियसे भिन्न वर्णके कर्ममें तो निःसन्देह प्रवृत्त था। अतः भगवान् चाहते थे कि वह अपने निजधर्ममें प्रवृत्त हो और अन्य वर्णके धर्मसे उसकी निवृत्ति हो।

परिस्थितिसे प्राप्त कर्म

' नियत कर्म का अर्थ और भी एक है। जो परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य होता है और टालनेसे अपाय होता

कि उस समय यह कर्म अवश्य करने योग्य होता है। देश काल-वर्तमानकी परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य है वह भी 'नियत कर्म' कहा जा सकता है। यह नियत कर्म मनुष्यको करना अत्यंत आवश्यक है। यह अपरिहार्य कर्म है। जैसा राष्ट्रपर बड़ी भारी आपत्ति आगई, शत्रुकी बड़ी सेना आगई और उसके सम्मुख केवल अकेले क्षत्रिय ठहर नहीं सकते ऐसी अवस्था प्राप्त होनेपर ब्राह्मण वैश्य आदि लोगोंने भी राष्ट्रके स्वयंसेवक बनकर अपने स्वयंसेवक पथक बनाकर शस्त्र धारण करके युद्धभूमिमें जाकर शत्रुपर चढाई करना चाहिये अतः कहा है—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥४८॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥४९॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥५०॥
(मनु० अ० ८)

जब धर्मसे आततायी लोग बाधा उत्पन्न करेंगे तब सब द्विजातियोंको शस्त्र लेकर युद्धके लिये तैयार होना चाहिये। जब सब वर्णोंपर आपत्ति आवे, आत्मरक्षाकी सभा हो, सबको युद्ध करना आवश्यक हो, स्त्रीकी रक्षा और ब्राह्मणकी रक्षा करनेका प्रसंग हो, उस समय हरएक मनुष्यको शस्त्र धारण करना चाहिये। आततायीका वध हरएक मनुष्य करे उससे दोष नहीं लगता। इस प्रकारकी जब राष्ट्रपर आपत्ति आती है तब हरएकके लिये शस्त्र धारण करना और युद्धके लिये समरभूमिमें जाना आवश्यक होता है। इस प्रकारके अनेक प्रसंगोंमें जो भी कर्तव्य कर्म उपस्थित हो *वह उस समयके लिये 'नियत कर्म' कहा जा सकता है* और वह उसके वर्णाश्रमके अनुकूल न भी हुआ तो भी वह उसको करनाही चाहिये।

'नियत कर्म' का यह अर्थ निःसन्देह है परन्तु अर्जुनके लिये ऐसी कोई आपत्ति नहीं थी। उसके पास जो 'नियत कर्म' आया था वह उसका सहज प्राप्त क्षत्रिय धर्मानुकूली युद्धरूप कर्म था। इसलिये अर्जुनके प्रसंगमें यह अर्थ संगत नहीं होता तथापि किसी अन्य मनुष्यके लिये किसी विशेष प्रसंगमें यह अर्थ योग्य होगा। तथा आजकल जहां प्रायः वर्णाश्रमधर्म लुप्त हुआ है और लोग शास्त्रमर्यादाके अनुसार नहीं चलते हैं उस समय इस प्रकारका अर्थ 'नियत कर्म' का मानकर बोध प्राप्त करना योग्य है।

कोई मनुष्य किसी ओहदेपर अथवा स्थानपर होता है उस ओहदे अथवा स्थानके कारण उसके लिये कुछ कर्म नियत होते हैं। वे कर्म उसको करने चाहिये। 'नियत कर्म' इसका यह आशय पाठक ध्यानमें धारण करें।

आलस्य और प्रयत्न

इसके आगे 'हि अकर्मणः कर्म ज्यायः' कहा है। इसका अर्थ ऐसा होता है कि 'कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है।' 'आलस्यसे पुरुषार्थ प्रयत्न अच्छा है।' आलसी रहनेकी अपेक्षा उद्योगी होना बहुत उत्तम है। कर्महीन होनेसे कर्मयुक्त होना अच्छा है। यहां 'अकर्म' का अर्थ कर्म न करना आलस्य आदि है। इसी 'अकर्म' शब्दका अर्थ 'निष्काम कर्म' ऐसा आगे आनेवाला है। उसी समय उस अर्थका विचार करेंगे। यहां आलस्य इतनाही इसका अर्थ है। इसी लिये आगे इसी श्लोकमें कहा है कि (शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः) आलस्यसे तेरे शरीरका भी निर्वाह नहीं होगा। क्योंकि शरीरकी सुस्थितिके लिये भी मनुष्यको उद्योग करना चाहिये। वैद्य कहते हैं कि आलस्य रोग है और उद्यमशीलता स्वास्थ्यका चिह्न है। इसलिये मनुष्य समझे कि जिस समय सुस्ती आ जाय उस समय उसमें कुछ रोगबीज घुसे हैं और जिस समय उसमें उद्योग करनेका उत्साह बढ रहा हो उस समय वह स्वास्थ्यसंपन्न है। अस्तु। यहांतक इस आठवें श्लोकमें कहा कि 'मनुष्यको नियत कर्म करना चाहिये, आलसी रहनेकी अपेक्षा कर्मण्यता कल्याणकारिणी है, आलस्यसे शरीरका स्वास्थ्य भी ठीक तरह नहीं रह सकता।' इस आज्ञाके अनुसार कर्म करना आवश्यक हुआ। अब विचारना चाहिये कि वह कर्म किस तरह किया जावे? इसका उत्तर सप्तम श्लोकमें इस प्रकार दिया है—

विशेष श्रेष्ठ मनुष्य

१ मनसा इन्द्रियाणि नियम्य = मनसे इन्द्रियोंका संयम करे और—

२ असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते = आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करे।

१　स　विशिष्यते　= जो ऐसा कर्मयोग करता है उसकी योग्यता विशेष होती है ।

इस मन्त्रमें किस प्रकारका आचरण करनेसे विशेष मनुष्य होता है यह दर्शाया है। मनसे अपने इन्द्रियोंका संयम करना और आसक्ति छोडकर कर्मयोगका आचरण करना इससे मनुष्यकी योग्यता अधिक दर्जेकी होती है। अर्थात् इस विषय मनुष्यके लक्षणसे हमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं यह बात विदित होती है। देखिये—

१ विशेष मनुष्य　जो इन्द्रियसंयम करते हैं और आसक्तिरहित होकर नियत कर्म करते हैं

२ सामान्य मनुष्य– जो इंद्रियदमनका विशेष विचार नहीं करते परन्तु सकाम कर्म धर्मानुकूल करते हैं

३ अधम मनुष्य- जो अपने इन्द्रियोंको विषयोंमें फंसाते हैं, अपने भोगोंको बढानेके लिये जो मर्जी चाहे करते जाते हैं । किंवा जो बिलकुल आलसी होते हैं और बिलकुल यत्न नहीं करते ।

मनुष्यको उचित है कि वह विशिष्टता प्राप्त करनेका यत्न करे । सामान्य और अधम कोटिमें अपने आपको रखनेका कभी यत्न न करे । हरएक मनुष्य विशेष बनने का यत्न करे । इस प्रकारका उत्साह मनुष्यमें उत्पन्न करनेके हेतुसे ही इस सप्तम श्लोकमें विशेष बननेका मार्ग कहा है। इसीका नाम अनासक्तिका कर्मयोग है।

इन्द्रियोंका संयम

इस अनासक्तिके कर्मयोग' के लिये सबसे पहिली आवश्यक बात इन्द्रियोंके संयमकी है । (मनसा इन्द्रियाणि नियम्य) मनसे इन्द्रियोंका दमन करना चाहिये । मनके अधीन सब इन्द्रियां हैं इसलिये मनको इन्द्रियोंका राजा कहते हैं इस राजाके अधीन ये सब इन्द्रियां रहें यह राजा भी समत्वमें स्थिर रहे अर्थात् मनके सहित संपूर्ण इन्द्रियां धर्ममार्गमें संयमके साथ विचरें। कोई इन्द्रिय स्वेच्छाचारी न बने ।

इन्द्रियोंका संयम होनेके पश्चात् कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण आसक्ति छोडकर करे। इसी कर्मयोगके विषयमें पूर्व स्थानमें (भ गी अ २ श्लोक ४७–५१ तक) विशेष रीतिसे कहा है वह उपदेश पाठक वहां अवश्य पढें ।

आसक्ति छोडकर सिद्धि और असिद्धिके विषयमें सम बुद्धि रखकर योगमें स्थिर होकर कर्म कर । इस समत्वको ही योग कहते हैं । फलके हेतुसे कर्म करनेवाले निकृष्ट होते हैं अतः तू समत्वबुद्धिका आश्रय कर। इस जगतमें समत्वबुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और दुष्कृतको दूर करते हैं । इसलिये तू समत्वरूप बुद्धियोगका साधन कर। कर्मोंमें जो कुशलता है उसको योग कहते हैं । इसलिये समत्वबुद्धिसे युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फल-का त्याग करके जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थानको प्राप्त होते हैं । (भ गी २।४८-५१)

इस रीतिसे अनासक्तिरूप कर्मयोगका वर्णन इससे पूर्व आ गया है। कर्मका फल अपने भोगके लिये नहीं रखना कर्मके फलको जगत्की भलाईके लिये समर्पण करना, इसी-को कर्मफलका त्याग अथवा दान कहते हैं इसीका नाम अनासक्ति और इसीका नाम कर्मयोग है। जो इस रीतिका कर्मयोग करता है वही विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है।

एक राजा उत्तम राज्यशासन चलाता है। जो कर प्रजासे लेता है उसको अपने भोग बढानेमें खर्च न करता हुआ वह प्रायः सब करका धन प्रजाकी सच्ची उन्नति करनेमें खर्च करता है । वह राजा कर्मयोगी है । परन्तु जो राजा राष्ट्रका धनकोश अपनी चैनके लिये खर्च करता है वह भोगी है । कर्मयोगी राजा राष्ट्रशासनका धनरूपी फल जनताकी सच्ची उन्नतिके लिये समर्पित करता है परन्तु भोगी राजा सब धन अपनी चैन और अपने विलासोंके लिये खर्च करता है । इसी कारण पहिले राजाको विशेष श्रेष्ठ राजा कहते हैं और दूसरेको अधम पापी कहते हैं । इस रीतिसे अनासक्तिसे विशेषताकी प्राप्ति होती है। अनासक्ति कर्म फलत्याग निष्कामता आदि शब्दोंका भाव यही है और यही भाव आगेके अष्टम श्लोकमें अधिक स्पष्ट हुआ है—

कर्मयोग

(यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः) यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन यज्ञ कर्मोंसे मनुष्य को बंधन नहीं होता, परन्तु जो दूसरे कर्म मनुष्य करता है उनसे मनुष्यको बन्धन होता है । इस कारण (तदर्थं कर्म मुक्तसंगः समाचर) यज्ञके लिये आसक्ति छोडकर कर्म

(६) सहयोगी यज्ञ

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अन्वयः- पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा 'अनेन पूर्यं प्रसविष्यध्वम्, एषः वः इष्टकामधुक् अस्तु' इति उवाच ॥ १० ॥ अनेन (यूयं) देवान् भावयत ते देवाः वः भावयन्तु (यूयं) परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके, इस यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे यह तुम्हें इच्छित कामनाओंको देनेवाला होवे ऐसा कहा ॥ १० ॥ इस यज्ञसे तुम लोग देवोंको सन्तुष्ट करते रहो और ये देव तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए तुम सब परम कल्याणको प्राप्त करो ॥ ११ ॥

कर। अर्थात् यज्ञकर्मसे मनुष्य बन्धनसे छूटता है, मनुष्य निर्दोष होता है और यज्ञरहित अन्य कर्मोंसे मनुष्यको बन्धन होता है। यहाँ यज्ञ शब्दका केवल होमहवन अर्थ नहीं है। आगे भ. गीता अ. ४ में श्लोक २५ से ३२ तक विविध यज्ञ कहे हैं। उनमें ये मुख्य हैं-इंद्रियसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादि। यज्ञोंमें होमहवनरूप एक यज्ञ है परन्तु उससे भिन्न अनन्त यज्ञ हैं, मानो मनुष्यके जीवनव्यवहारमें सब कर्म यज्ञ हो सकते हैं, मनुष्यकी आयु यज्ञमय होनी चाहिये। मनुष्यका बोलना चालना खाना पीना सोना और जागना सब यज्ञरूप होना चाहिये। भगवद्गीताका यही उपदेश प्रसंगसे अन्ततक एक रीतिसे दीखता है।

अतः यज्ञका अर्थ क्या है, इसका यहाँ विचार करना चाहिये। "यज्ञ" धातुके देवपूजा, संगतिकरण, दान ये तीन अर्थ हैं। सिर्फ पवित्रता, ज्ञानमें निष्ठा, दम, शम, स्वाध्याय, तपश्चर्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शांति, मृदुता, निर्लोभवृत्ति आदि दैवी संपत्तियोंके कार्योंका नाम देव है। इनका सत्कार करना, संगतिकरण करना अर्थात् संगठन करना और दान करना, ये तीन बातें यहाँ होती हैं, इन कर्मोंका नाम यज्ञ है। सत्कार, संगठन और उपकार ये तीन अर्थ यज्ञके हैं। जिन कर्मोंसे सामान्य मनुष्योंका सत्कार होता है, जनताका संगतिकरण-संगठन होता है, जिससे विनाश नहीं होता तथा जिससे दीनोंपर उपकार किया जाता है, वह यज्ञ कहलाता है। अपने कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला फल जनताकी भलाईके लिये त्यागनेकी

तैयारीके बिना कोई यज्ञ नहीं होता। इसी यज्ञसे मनुष्य उच्च होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस समयतक जितने मनुष्य उच्च कोटिके हो चुके हैं, उन्होंने किसी न किसी रूपसे अपनी आयु यज्ञरूप बनायी थी।

इस प्रकारके यज्ञके हेतुसे जो कर्म होते हैं उनके कर्ताको कोई दोष नहीं लगता, परन्तु जो कर्म अपने स्वार्थके लिये होते हैं, अपनी चैन बढानेके लिये होते हैं, उनसे मनुष्य दोषी बनते हैं। इस प्रकारके यज्ञकर्म आसक्तिरहित होकर निःस्वार्थ भावसे मनुष्य करे।

यहाँ 'अनासक्तियोग' के अनुष्ठानके लिये- (१) इंद्रियोंका दमन (२) मनका संयम (३) फलपर आसक्ति न रखना (४) नियत कर्म करना (५) यज्ञरूप कर्म करना, इन पाँच मर्यादाओंकी आवश्यकता है ऐसा कहा है। मनुष्यके लिये यह यज्ञ स्वाभाविक है या नहीं, यह शंका यहाँ हो सकती है, इसका उत्तर देनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण भगवान् मनुष्यके साथ ही यज्ञकी उत्पत्ति होनेका वर्णन करते हैं, वह उत्तम बोध अब देखिये—

सहज यज्ञ

(१ -११) यहाँ जो मुख्य बात कही है वह यह है कि यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ। यहाँ कोई यह न समझे कि केवल मनुष्योंके साथही यज्ञ उत्पन्न हुआ है। नहीं यह यज्ञ तो प्राणियों और वृक्षादिकोंके साथ भी उत्पन्न हुआ है। परन्तु मनुष्य ज्ञानसम्पन्न प्राणी है, इसलिये उसको उचित है कि इस यज्ञकी अपने साथ उत्पत्ति हुई है, यह

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् १३

अन्वयः- यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते । तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुङ्क्ते, सः हि स्तेन एव ॥ १२ ॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते । ये तु आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अघं भुञ्जते ॥ १३ ॥

यज्ञसे सन्तुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे उन्हींका दिया हुआ उन्हें कुछ भी न देकर उसका भोग जो स्वयं करता है वह सचमुच चोर है ॥ १२ ॥ यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको खानेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । परन्तु जो अपने लिये ही अन्न पकाते हैं वे पापी लोग पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— परमेश्वरने प्रजाको यज्ञके साथ उत्पन्न किया है और ऐसी जगत् की रचना की है कि जो यज्ञ करेंगे उन्हींकी वृद्धि होगी और उन्हीं की कामनाएं तृप्त होंगी । जो यज्ञ नहीं करेंगे वे नाशको प्राप्त होंगे और उनकी इच्छाएं कभी तृप्त नहीं होंगी ॥ यज्ञसे मनुष्य देवोंकी सन्तुष्टि करेंगे तो देव भी मनुष्योंको तृप्त करेंगे । इसी रीतिसे एक दूसरेकी सहायता करते हुए सब कल्याणको प्राप्त होंगे ॥ यज्ञसे सन्तुष्ट हुए देव मनुष्योंको इष्ट भोग अवश्य देंगे परन्तु उन इष्ट भोगोंमेंसे कुछ भाग यदि मनुष्य उन्हें श्रद्धासे वापस नहीं देंगे और सब अपने लिये ही रखेंगे तो वे निःसन्देह चोर होंगे। यज्ञ करनेके पश्चात् जो अवशिष्ट बचता है उसका ही जो मनुष्य अपने लिये स्वीकार करते हैं वे पुण्यके भागी होते हैं । परन्तु जो अपने भोगोंकी ही चिन्ता करते हैं वे पापका भोग करते हैं ॥ १० - १३ ॥

जाने और उसका अनुष्ठान करे । पशु-पक्षी वृक्ष वनस्पति पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत तथा अन्यान्य सजीव अथवा निर्जीव वस्तुमात्र अपने साथ यज्ञकी सहज उत्पत्ति हुई है यह बात न जानते हुए स्वभावसेही यज्ञ करते रहते हैं मानो उनका यज्ञ स्वभावसे ही हो रहा है परंतु मनुष्यको यह यज्ञ बुद्धिपूर्वक करना चाहिये । क्योंकि मनुष्य ज्ञानवान् है और वह अपने धर्मसम्बन्धी कर्तव्य ज्ञानके साथ करता है ।

जगत्में यज्ञ

यहां कई पाठक पूछेंगे कि सब स्थिरचर पदार्थोंके साथ यज्ञ उत्पन्न हुआ है इस विषयमें प्रमाण क्या है ?' इस विषयमें उत्तर इतनाही है कि पाठक अपने आंख खोलकर जगत्के अन्दर देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि सब जगत्के स्थिर-चर पदार्थ न जानते हुए स्वभावसेही यज्ञ कर रहे हैं। देखिये इस जगत्में द्युलोक-निवासी भगवान सूर्य प्रकाशता है वह जगत्की भलाईके लिये अपनी शक्तिका समर्पण कर रहा है आत्मसमर्पण कर रहा है अपने तेजसे दूसरोंका सत्कार कर रहा है सबको संगठित होनेके लिये अवकाश देता है, निशाचरों और चोरोंको दूर करता है, सज्जनोंका मार्ग खुला करता है जगत्को जीवनशक्ति देकर उनको जीवित रखता है यह सब सूर्यका यज्ञ ही है। सूर्यके अंतर अन्तरिक्ष-निवासी वायु सब जीवोंका और वृक्षादिकोंका भी प्राण बना है वह अपना समर्पण करके दूसरों को जिलाता है । यदि क्षणमात्र यह वायु आत्मसमर्पण करना बन्द करे तो उसी क्षण सब प्राणी मर जायेंगे। इसी प्रकार अन्तरिक्ष स्थानीय मेघको प्रजापति भी कहते हैं क्योंकि इस प्राजापत्य यज्ञसे जीवोंके यज्ञका बहुतसा भाग भरा पड़ा है। यह मेघ केवल परोपकारके लिये ही जीवित रहता है केवल परोपकारके लिये जगत्में विचरता है और जगत्की भलाईके लिये ही वृष्टिसे बरसता है मानो अपने प्रत्येक अंशका समर्पण यह परोपकारके लिये करता है। परोपकारके लिये आत्मसमर्पण करनेमें मेघकी बराबरी कोई कर नहीं सकता। मेघमें जितने भी जलबिंदु होते होंगे उन सबका वह यज्ञ करता है निःस्वार्थ-भावकी और पूर्ण परोपकारक भाव की इसमें परम सीमा है । अपने लिये कुछ भी न रखते हुए अपनी सब सत्ता परोपकारार्थ समर्पण करनेमें मेघकी बराबरी कोई अन्य कर नहीं सकता। परोपकाररूपी यज्ञकी परम सीमा मेघमें पाठक अनुभव कर सकते हैं।

इस ढंगसे द्युलोक और अन्तरिक्षकी देवताओंका स्वभावसे होनेवाला यज्ञ देखनेके पश्चात् पाठक इस पृथ्वी पर अवलोकन करेंगे, तो उनको यहां भी सर्वत्र यज्ञ चल रहा है यह अनुभव स्थान स्थानमें प्रत्यक्ष होगा। पहिले भगवती पृथ्वीकोही देखिये। यह सबको आधार देती है, सबको आधार-स्थान देनेके लिये ही उसका अस्तित्व है। कितनी इस मातृभूमिकी सहनशीलता है! हम उसपर चलते हैं खोदते हैं, ठोकते हैं, परन्तु वह रुष्ट नहीं होती और हमें आधार देतीही रहती है। इस विषयमें वेद स्वयं ऐसा उपदेश दे रहा है—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥
(अथर्व १२।१।२८)

उठनेवाले बैठनेवाले खडे होनेवाले और चलनेवाले हम सब दांये और बांये पांवोंसे भूमिके ऊपर हम अधिक दुःख उत्पन्न न करें। इस रीतिसे यहां इसका कारण करनेको कहा है कि अपने चाल-चलनसे भूमिपर अधिक दुःख उत्पन्न न होवे। सबका दिया हुआ दुःख सहन करती हुई यह भूमिमाता हम सबको आधार दे रही है, यह तो इसके परोपकारकी पराकाष्ठा है। परोपकारमें इसकी बराबरी कौन कर सकता है? इसकोही नहीं परंतु यह भूमि हमें हरएक ऋतुमें कन्द मूल फल शाक और विविध अन्न तथा रस देकर तुष्ट कर रही है ये इस माता के कितने उपकार हैं! यह मातृभूमि हमारे कष्ट सहती है और—

ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं
घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥ (अथर्व १२।१।२९)

यह भूमि पुष्टि देनेवाला अन्नभाग हमारे लिये धारण करती है। बारंबार हमें अन्न देती है ये इस मातृभूमिके हमपर अनंत उपकार हैं। इनका कितना वर्णन करें? इसी प्रकार जलका हमपर उपकार हो रहे हैं जलदेव अपने मधुर रससे हमारी तृप्ति करता है अपने अमृत रससे हमारे दोष दूर करता है अतः इसको अमृत कहते हैं। यह जल स्वयं स्थान स्थानमें जाकर वृक्षों वनस्पतियों पशुपक्षियों और मानवोंका जीवन स्वतीन करनेमें सहायक होता है। यह इसका महान यज्ञ है। इसी प्रकार वृक्षों और वनस्पतियोंको देखिये। ये तो अपने मधुर रसवाले फलों और फूलोंसे हमारी सहायता कर रहे हैं उसके लिये तो कोई मर्यादाही नहीं है। इनका यज्ञ तो ऐसा है कि ये अपने आपको पूर्णतासे स्वाहा करके हमारा सुख बढानेमें अपनी शक्तिकी पराकाष्ठा कर रहे हैं। देखिये घास अपना समर्पण करके गौ आदि पशुओंका पोषण करता है यह इनका कितना स्वार्थ त्याग है अथवा स्वार्थका पूर्ण समर्पण है? धान्य खा कर हम अपने शरीर बढाते हैं। एकही हमारे भोजनके लिये धान्यका स्वाहाकार होता है। देखिये इस प्रकार विचार करके कि अकेले मनुष्यके लिये किस रीतिसे यह सब जगत् यज्ञ कर रहा है और यहां अनुभव कीजिये कि इसके लिये जगत्के सब भूतमात्र कितना त्याग कर रहे हैं।

यहां पाठक सब जगत्की ओर इस दृष्टिसे देखें और इस जागतिक यज्ञका अनुभव करें। इस जागतिक यज्ञसे अपना अस्तित्व है यह बात इस विचारसे जानें और मनमें खूब विचार करके समझें कि अपने अस्तित्वके लिये सम्पूर्ण जगत्में कितना त्याग हो रहा है अपने अस्तित्वके लिये इस त्रिलोकी द्वारा कितना बडा यज्ञ हो रहा है इसी यज्ञपर अपना अस्तित्व है। यदि यह यज्ञ न होता तो मनुष्योंका जीवित रहना भी असंभव है। यदि मनुष्यके लिये सब अन्य जगत्से इस प्रकार यज्ञ हो रहा है तो क्या मनुष्यको जगत्के लिये कुछ समर्पण करना नहीं चाहिये? अवश्य करना चाहिये क्योंकि इसी यज्ञपर सब जगत्की स्थिति है यज्ञसेही सब जगत् चल रहा है। यज्ञ करनेके बिना सुख भोगना चोरी करना है। अतः कोई मनुष्य चोर न बने। यज्ञ करनेसेही मनुष्यका चोरीका अपराध दूर हो सकता है इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शरीरमें यज्ञ

जैसा पाठकोंने सम्पूर्ण जगत्में यज्ञ देखा उसी रीतिसे अपने शरीरमें यज्ञ चल रहा है इसका अनुभव पाठक विचार की दृष्टिसे करें। यदि यहां यज्ञ न होता तो यह शरीर क्षण-मात्र भी जीवित नहीं रहेगा। इसका जीवन पूर्णतया यज्ञपरही निर्भर है। देखिये आंख देख रही है वह सब शरीर की भलाईके लिये देख रही है मानो अपनी दर्शन शक्तिका वह सब शरीरकी भलाईके लिये समर्पण कर रही है। इसी तरह कान सुनता है नाक सूंघता है हाथ काम करते हैं,

पांव इस शरीरको उठाकर स्थान स्थानपर ले जाते हैं। ये इन सब अवयवोंके यज्ञ इस सब शरीरकी भलाईके लिये हो रहे हैं, मानो ये अपनी सब शक्तियोंका शरीरके लिये यज्ञ कर रहे हैं। आंख किसी फलको देखता है नाक उसका वास सूंघकर निश्चय करता है कि यह शरीरके लिये हितकारी है या नहीं पश्चात् पांव शरीरको उसके पास ले जाते हैं हाथ उसको लेते हैं और मुखके अर्पण करते हैं मुख चबाता है और पेटके पास भेज देता है, पेट भी उसको पचाता है और रस बनाता है वह रुधिरमें परिणत होता है और सब शरीरके अणुरेणुके पास उस फलका अंश पहुंचाया जाता है। इसमें एकका भी स्वार्थ नहीं है। प्रत्येक अवयव अपनी शक्तिकी पराकाष्ठा करता है और सब शरीरकी भलाईके लिये अपने शक्ति-सर्वस्वका समर्पण करता है। यही यज्ञ है, जबतक यह यज्ञ यहां चलता है तबतकही यह शरीर जीवित रहता है और जिस समय इनमें कोई एक भी अवयव स्वार्थी बनता है उसी समय शरीरकी मृत्यु होती है।

इसका उदाहरण देखना हो तो कल्पना कीजिये कि अपने पेटने अपना यज्ञ करना बंद किया और जो अन्न पेटमें आ जाय उसको पाचन करके सब शरीरभर उसका रस पहुंचानेका यज्ञरूप कर्म करना बंद किया और जो अपने पास आ जाय उसको अपने पासही रख लेना आरंभ कर दिया तब पेट फूल जायगा पेटमें गुब्बारा बन जायगा वायु कुपित होगा और अन्तमें मरण होगा। अर्थात् जबतक इस पेटका यज्ञ चल रहा है तभीतक शरीरका जीवन है और जब यह यज्ञ बंद होगा तब इसकी मृत्यु होगी। इस प्रकार यज्ञसे जीवन और अयज्ञसे मरण होता है।

इस शरीरमें ३३ करोड अणुजीव हैं, ये जीवित हैं, ये जन्मते खाते पीते कर्म करते और क्षीण होकर मर जाते हैं। हरएक अंगमें और अवयवमें इनमेंसे लाखों जीवाणु निवास करते हैं। मानो यह इनका नगर है मानो यह शरीररूपी इन तेंतीस करोड जीवाणुओंका एक प्रचण्ड राष्ट्र है। प्रत्येक अवयवमें जो जीवाणुओंका संघ है उसके पास विशेष प्रकारका कार्य दिया हुआ होता है कोई भी जीवाणु खाली बैठा बैठा नहीं है हरएक जीवाणु किसी न किसी कार्यमें निमग्न है और वह सब शरीरकी भलाईके लिये अपने कर्मोंका समर्पण कर रहा है। आंखमें निवास करनेवाले जीवाणु अपने देखनेके कार्यको सब शरीरकी भलाईके लिये समर्पण करते हैं इसी प्रकार पेटके प्रदेशमें निवास करनेवाले जीवाणु अपने पाचनरूपी कर्मको सब शरीरकी सुस्थितिके लिये समर्पित कर रहे हैं। इसी प्रकार हरएक अणुजीवका कर्म संपूर्ण शरीरके ३३ करोड अणुजीवोंकी भलाईके लिये हो रहा है। इनमेंसे कोई भी अपने यज्ञको योग्य रीतिसे न करेगा तो उसी स्थानमें रोगकी उत्पत्ति होगी और सब शरीरपर मृत्युकी आपत्ति आवेगी।

शरीरके किसी भागमें विजातीय रोगकृमि आकर निवास करने लगे और उनको यदि उस प्रदेशके अणुजीवोंने योग्य समयमें नहीं हटाया तो शरीरके सब जीवाणुओंको उस रोगके अधीन होना पडता है और पश्चात् चिकित्साका बडा प्रयास करनेसे नीरोगता प्राप्त हुई तो होती है, नहीं तो रोगकी या मृत्युकी परवशता स्वीकारनी पडती है।

यहां पाठक देखें कि यज्ञसे शरीरका धारण कैसा होता है और अयज्ञसे शरीरका नाश कैसा होता है। जब ये सब अंग शरीरकी भलाईके लिये आवश्यक कर्म करना छोड देते हैं और अपने अपने ही विषयोंमें लुब्ध होते हैं 'शरीरका कुछ भी बन जाय, उसकी मुझे क्या पर्वाह है मैं यथेच्छ सुख भोगूंगा।' ऐसा स्वार्थयुक्त निश्चय करते हैं तब शरीरपर अनर्थ आजाता है। एक-एक इंद्रियके स्वार्थसे शरीरका नाश हो सकता है फिर अनेक इंद्रियाँ भोगवश हो गईं तो शरीरके नाशकी कोई सीमाही नहीं रह सकती। यहां इस रूपसे विचार करके पाठक जानें कि यज्ञसे शरीर की स्थिति कैसी हो रही है और अयज्ञसे उसका नाश कैसा होता है।

राष्ट्रमें यज्ञ

जो यज्ञ हमने शरीरमें देखा वही विस्तारसे राष्ट्रमें देखा जा सकता है। राष्ट्रमें ज्ञानी लोग सिरके स्थानमें वीरलोग बाहुओंके स्थानमें वाणिज्यादि व्यवहार करनेवाले लोग नाभि-स्थानमें और कारीगर या श्रमोपजीवी लोग पांवके स्थानमें हैं ऐसी कल्पना कर लीजिये। यह कल्पना हो गई तो शरीरका न्याय राष्ट्रमें और राष्ट्रका न्याय शरीरमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देगा और राष्ट्रीय महायज्ञके विषयमें किसीके मनमें कोई शंका बाकी नहीं रहेगी। जो ज्ञानी लोग हैं उनको उचित है कि वे अपने ज्ञानका यज्ञ राष्ट्रकी

समाईके लिये करें जो वीर लोग हैं वे अपनी वीरतासे राष्ट्रका संरक्षण करके अपनी शक्ति राष्ट्रके लिये समर्पित करें इसी प्रकार अन्यान्य लोग अपनी शक्तिका समर्पण राष्ट्रकार्यके लिये करें। जबतक इस प्रकारका यज्ञ होता रहेगा तबतकही उस राष्ट्रका तेज फैलेगा उसका वीर्य बढेगा अपरिमित संपन्नता होगी और अन्यान्य सुख होंगे जनता आनन्दमें रहेगी और सर्वत्र जनताकाही कल्याण होगा।

परंतु यदि किसी जातिमें वर्गमें अथवा वर्णमें किंवा संघमें स्वार्थ उत्पन्न होगा और वह जाति वर्ग अथवा वर्ण अपने हितके लिये राष्ट्रका घात करनेके कार्यमें प्रवृत्त होगा अथवा अपनी शक्ति राष्ट्रके हितके लिये समर्पित नहीं करेगा अथवा अपनी स्वार्थ साधनाके लिये राष्ट्रका घात करनेको प्रवृत्त होगा तो उस राष्ट्रका नाश होगा। राष्ट्रमें और शरीरमें नियम एक जैसाही है। अपना शरीर संकुचित राष्ट्र है और अपना राष्ट्र विस्तृत देह ही है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि राष्ट्रमें यज्ञका भाव रहनेसे राष्ट्रकी सुस्थिति और राष्ट्रके लोगोंमें अयज्ञकी ओर प्रवृत्ति होनेसे राष्ट्रकी दुःस्थिति होगी। जो राष्ट्रकी जनताकी बात है वही सर्वत्र जनताके विषयमें समझना चाहिये अतः उसका विचार अलग करनेकी आवश्यकता नहीं है। अस्तु। इस प्रकार यज्ञका महत्त्व है अतः कहा है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।
(भ० गी ४।३१)

यज्ञ न करनेवालेके लिये जब यह लोक भी नहीं है तब परलोक भी कहांसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् यज्ञ न करनेवालेकी इस लोकमें निःसंदेह दुर्गति होती है फिर उनकी परलोकमें क्या अवस्था होगी यह तो पाठक समझ ही सकते हैं। यह गीता का वचन निम्नलिखित वेद-वचनोंके साथ पढने योग्य है

१ अयज्वान यज्वभिः स्पर्धमानाः। (ऋ १।३३।४)
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥
(ऋ १।३३।५)
३ अपाद्रहस्ते ... (ऋ १।३३।११)

४ शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते।
(ऋ १।१३१।७; अथर्व २०।७२।२)

(१) [अ-यज्वानः सनकाः] यज्ञ न करनेवाले लोग धनवान् होनेपर भी [प्रेति ईयुः] नाशको प्राप्त होते हैं। (२) [अ-यज्वानः यज्वभिः स्पर्धमानाः] यज्ञ न करनेवाले लोग यज्ञ करनेवालोंके साथ स्पर्धा करनेके कारण (शीर्षा परा ववृजुः) अपने सिर नीचे करके भागनेके लिये बाधित हुए। हे उग्र प्रभु! तू [रोदस्योः] द्यावापृथिवीके अन्दरसे [अ-व्रतान् अधमः] व्रत पालन न करनेवालोंको दूर देता है अर्थात् अयाज्ञिकोंको यहां सुखसे रहनेका स्थान भी नहीं प्राप्त होता। (३) यज्ञ न करनेवालोंको ९९ नदियोंके परे दूर फेंक दिया। (४) हे प्रभो! तू यज्ञ न करनेवाले मनुष्यको दण्ड देता है।

इस रीतिसे यज्ञ न करनेवालेकी दुर्दशाका वर्णन वेदमें किया है तथा और देखिये—

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो देवयन्निददेवयन्तमभ्यसत्। सुप्रावीरिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम्॥
(ऋ २।२६।१)

(ऋजुः इत्) सरल आचरण करनेवाला मनुष्य ही (वनुष्यतः वनवत्) घातक शत्रुओंको नाश कर सकता है (देवयन् इत्) देवोपासक ही (अदेवयन्तं अभ्यसत्) देवविरोधकका नाश करेगा। (सु प्र-अवीः इत्) उत्तम रक्षा करनेमें समर्थही (पृत्सु दुस्तरं वनवत्) संग्रामोंमें उग्र शत्रुका नाश कर सकता है और (यज्वा इत्) यज्ञ करनेवालाही (अ-यज्योः) यज्ञ न करनेवालेके भोजन आदि भोग प्राप्त कर सकता है।"

इस मंत्रमें सरलताके द्वारा कुटिल शत्रुका नाश भक्तिसे नास्तिकका नाश आत्मरक्षासे दुस्तर शत्रुका नाश तथा यज्ञसे अयज्ञको दूर करनेका उपदेश स्पष्ट है। इस रीतिसे यह मंत्र बडा बोधप्रद है। इसी प्रकारका एक मंत्र और देखिये

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ (ऋ ...)

(अ-क्रतून्) आलसी, (ग्रथिनः) बकवाद पूरक करने-

वाले, (मृध्रवाचः) असत्य भाषण करनेवाले (पणीन्) सूदका व्यवहार करनेवाले (अश्रद्धान्) श्रद्धाहीन (अवृधान्) वृद्धिका उपाय न करनेवाले (अयज्ञान्, अयज्यून्) यज्ञ न करनेवाले सत्कर्म न करनेवाले ये सब लोग समाजके (दस्यून्) शत्रु हैं, अतः इनको तेजस्वी देव (प्र प्र विवाय) निःशेषतासे अवनत करता है और (अपरान् चकार) नीचे करता है । उनकी उन्नति नहीं होती ।

इस श्लोकमें अयज्ञ लोगोंके साथी कितने हैं देखिये । आलसी केवल पुस्तकें पढनेवाले परन्तु उसके अनुसार व्यवहार न करनेवाले, बहुत बातें करनेवाले परंतु कुछ भी कर्म न करनेवाले असत्यभाषी किंवा बातपातके विचार बकर करनेवाले (पणी) असत्य व्यापार करनेवाले सूद लेनेवाले ये स्वयं कार्य नहीं करते परंतु भारी सूद लेकर अन्योंका नाश करते धर्ममार्गपर श्रद्धा नहीं रखते अपनी उन्नतिका उपाय नहीं करते कुछ भी सत्कर्म नहीं करते । इन सबकी अवनति होती है । इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र देखिये-

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥ (ऋ ८।७०।११)

“ (अन्य-व्रत) अपना कर्तव्य छोडकर दूसराही कर्म करनेवाला (अमानुषं) अमानुष क्रूर कर्म करनेवाला (अ-यज्वानं) यज्ञ न करनेवाला (अदेवयुं) देवकी उपासना न करनेवाला जो होता है, उस (दस्युं) शत्रुको (पर्वतः सखा स्वः दुधुवीत) पर्वत-निवासी मित्र स्वर्गसे दूर करता है। इस मंत्रमें भी अयज्ञके साथी कितने हैं यह देखिये । अपना कर्तव्य छोडता है और दूसराही कुछ करता है अमानुष अर्थात् मनुष्यको शोभा न देनेवाला कर्म करता है और यज्ञ नहीं करता वह समाजका शत्रु है इसको स्वर्ग कदापि नहीं मिलता वह स्वर्गसे भ्रष्ट होता है। इस प्रकार अयज्ञ मनुष्योंकी अधोगति होनेका वर्णन है तथा और देखिये-

अयज्ञियो हतवर्चा भवति ॥
(अथर्व १२।२।३७)

जो यज्ञ नहीं करता उसका तेज नष्ट हो जाता है। वह निस्तेज होता है । इस विषयमें और एक मंत्र देखिये-

यो अन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् । तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥
(अथर्व ११।२।२३)

जो अन्तरिक्षमें रहता है वह देव, यज्ञ न करनेवाले देवविरोधियोंका नाश करता है, अतः उस देवको हम अपनी दस शक्तियोंके साथ नमस्कार करते हैं ।”

इस प्रकार वेदमें यज्ञ न करनेवालोंकी बहुत बुरी अवस्था होती है ऐसा वर्णन है । इसीके आधारपर गीता (अ० ४।३१) में 'यज्ञ न करनेवालोंको इस लोकमें भी शुभ गति नहीं होती फिर उनकी दूसरे लोककी सद्गति *कैसी प्राप्त होगी ? ऐसा कहा है* । पाठक इन मंत्रोंके उपदेशके साथ गीताके उपदेशका मनन करें और यह मनमें ठीक रीतिसे धारण करें कि यज्ञ न करनेसे किसी भी रीतिसे मनुष्यको सुख प्राप्त नहीं हो सकता । क्योंकि यज्ञ तो मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्यका साथी है । यज्ञ तो मनुष्यका 'सह धर्म' है अतः उसका त्याग नहीं हो सकता ।

इसके पूर्व हमने जागतिक यज्ञ शरीरमें यज्ञ मानवी समाजमें यज्ञ ये देखे । जगत्में और शरीरमें जो यज्ञ हो रहा है वह स्वयं हो रहा है स्वभावसे हो रहा है उस स्वाभाविक यज्ञको देखकर और उससे यज्ञकी स्वाभाविकता जानकर मनुष्यको उचित है कि वह अपनी बुद्धिके अनुसार निश्चय करके सुयोग्य रीतिसे अपनी आयुभर यज्ञ करता रहे । मनुष्यकी आयु ११६ वर्षोंकी है ऐसा मानकर उस आयुमें यज्ञ करनेकी कल्पना निम्नलिखित प्रकार वर्णन की है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं० । अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं० । अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनं० । स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥
(छां० उ० ३।१६।१-७)

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है । उसमें २४ वर्षोंका प्रातःसवन, ४४ वर्षोंका माध्यंदिन-सवन और ४८ वर्षोंका

सार्थसवन होता है। इस प्रकार जो अपनी आयुमें यज्ञ करता रहता है वह ११६ वर्ष जीवित रहता है।" इस पूर्ण आयुमें ११६ वर्ष यज्ञरूपके आते हैं, शेष १ वर्षोंकी आयुमें मनुष्यको १ यज्ञ करने चाहिये। इसीलिये जीवात्माका नाम शत-क्रतु है। सौ वर्षकी आयुभर यज्ञ करनेवाला यही यज्ञ पुरुष है।

घरमें यज्ञ

हमने इससे पूर्व शरीरमें यज्ञ देखा जगत्‌का यज्ञ देखा और राष्ट्रमें भी यज्ञ देखा। इसी प्रकार घर-घरमें भी यज्ञ हुआ करता है। सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो घरमें भी मनुष्यको स्वार्थत्यागका पाठ मिलता है। माता अपने पुत्रके लिये स्वार्थत्याग करती है पति पत्नीके लिये और पत्नी पतिके लिये आत्मसमर्पण करते हैं इसी प्रकार अन्यान्य कुटुंबके लोक एक-दूसरेके लिये आत्मसमर्पण करते हैं। ऐसा गृहस्थका कुटुंबही सच्चा गृह होता है परंतु जहां ऐसा आत्मसमर्पण नहीं करते वहां कुटुंबियोंको गृहसौख्य नहीं मिलता। आत्मसमर्पणसे सुख है। यदि पत्नी पतिके लिये समर्पण न करे आत्मयज्ञ न करे तो वह सुखी नहीं हो सकती इसी प्रकार यदि पति अपना अन्तःकरण पूर्णतया पत्नीको नहीं देता तो वह भी सुखी नहीं हो सकता। जो माता-पिता पुत्रके लिये आत्मसमर्पण नहीं करते वे पुत्रोंका सुख प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार यज्ञसेही सुख मिलता है। अतः वेदमें कहा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥
(अथर्व ३।३०)

समान हृदय शुभ विचारोंसे परिपूर्ण मन और परस्पर निर्वैरत्व तुम्हारे अंदर रहे। तुम्हारे अन्दर एक-दूसरेके साथ ऐसा प्रेम रहे जैसा कि गौ नवजात बछडेपर प्यार करती है। पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे वह माताके साथ उत्तम मनसे बर्ताव करे। पत्नी पतिके साथ मीठी और शान्तिपूर्ण वाणी बोले। भाई भाईका द्वेष न करे बहिन बहिनका वैर न करे। सब एकमतवाले होकर एक कर्ममें दत्तचित्त होकर परस्पर उत्तम प्रेमसे वार्तालाप करें।

यहां गृहमें यज्ञ कैसा किया जाता है, यह उत्तम रीतिसे कहा है। मातापिता समझे कि अपने घरमें जो बालक उत्पन्न हुआ है, वह देवताओंका अंश है उसका वैसा आदर करना चाहिये जैसा उपासक अपने उपास्य देवका करता है। पति अपनी धर्मपत्नीको अपनी उपास्य देवी माने और धर्मपत्नी अपने पतिको अपना उपास्य देव माने। इसी प्रकार परस्परकी पूजा करते हुए एकमतसे रहकर परस्परकी सहायता करें। यही सत्कार-संगति दानात्मक यज्ञ घरमें हो सकता है। पशुपक्षी भी अपने बालबच्चोंके साथ स्वाभाविक रीतिसे ऐसाही सत्कारका भाव रखते हैं। मनुष्य उनसे ऊंचा होनेके कारण उसको तो उनसे भी अधिक उच्च भावके साथ सत्कार-संगति-दान रूप यज्ञ करना चाहिये।

पाठक इस प्रकार विचार करके संपूर्ण जगत्‌में कैसा यज्ञ चल रहा है यह जानें। पशुपक्षियोंमें, शरीरमें विश्वमें यह यज्ञ कैसा हो रहा है, इसका भी ज्ञान विचारसे प्राप्त करें और अपने साथ उत्पन्न हुए इस यज्ञको अपनी बुद्धिकी और शक्तिकी पराकाष्ठा करके जहांतक हो सके वहांतक अच्छी तरहसे पूर्ण रीतिसे निभानेका प्रयत्न करें। यज्ञ मनुष्यके जीवनके साथ लगा है अतः यज्ञका महत्त्व है। इसीलिये यज्ञके विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
(छां० उ० २।२३।१)

यदेव विद्यया ... तदेव यज्ञः।
(छां० उ० २।१६।१)

यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्।
(छां० उ० ८।५।१)

सर्वं ब्रह्म सर्वं यज्ञः। (बृ० उ० १।५।१०)
अहं ब्रह्मा अहं यज्ञः। (यजु० ?)
अहं क्रतुरहं यज्ञः। (भ० गी० ९।१६)
विज्ञानं यज्ञं तनुते। (तै० उ० २।५।१)

यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः । (मैत्री ६।१६)
यज्ञेन देवाः दिवं गताः । (महाना उ २१।२)

" धर्मके तीन स्कंध हैं-यज्ञ अध्ययन और दान । सबको पवित्र करनेवाले कर्मका नाम यज्ञ होता है । ब्रह्मचर्य ही यज्ञ है । तू ब्रह्म और तू यज्ञ है । मैं ब्रह्म और मैं यज्ञ हूं । मैं क्रतु और मैं यज्ञ हूं । विश्वरूप यज्ञ फैलता है । यज्ञ प्रजापालक सर्वव्यापक देव है । यज्ञसे ही देव स्वर्गधाम को प्राप्त हुए ।

इस प्रकार सर्वसामान्य यज्ञका वर्णन उपनिषदोंमें है। यही यज्ञ अपने अंदर देखनेका उपदेश उपनिषदोंमें ही कहा है । वह वचन अब देखिये—

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि । [प्राणाग्नि उ १]
शरीरं यज्ञः । (महाना उ ।१२)
वाग्वै यज्ञस्य होता । चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः ।
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता । मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।
(बृ उ ३।१।३ ६)

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुः तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग् होता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत् यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोमपानं ॥
(म नारायण उ ८)

अब अपने शरीरमें यज्ञका परिवर्तन करते हैं । शरीर यज्ञ है । इस यज्ञमें वाणी, चक्षु प्राण और मन ये क्रमशः होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा हैं । इस शरीर-रूपी यज्ञमें आत्मा यजमान श्रद्धा पत्नी शरीर इध्म उर वेदी लोम बर्हि दर्भ वेद शिखा, हृदय यूप काम घृत क्रोध पशु तप अग्नि दम क्रोधका शमन करनेवाला दक्षिणा वाक् होता प्राण उद्गाता चक्षु अध्वर्यु मन ब्रह्मा श्रोत्र अग्नि प्रदीप्त करनेवाला जीवित रहनेतक इस यज्ञकी दीक्षा है । जो खाया जाता है वह हवि है जो पीया जाता है वह सोमरस है ।

इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है । यही शरीर सप्त ऋषियोंका आश्रम है-

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति
सदमप्रमादम् । (वा य ३४।५५)

सात ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं वे सात इस यज्ञस्थान की रक्षा कर रहे हैं । ' यह शरीर सात ऋषिरूप सप्त इंद्रियोंसे युक्त है । इन इंद्रियोंको ऋषिमुनियोंके समान तपस्वी शमदमसंपन्न महर्षि बनाना चाहिये । जब ये हमारी इंद्रियां ऋषि बनेगी तभी यह शरीरका यज्ञ सच्चा यज्ञ होगा । नहीं तो वह बूचडखाना भी बन सकता है ।

हरएक मनुष्यको इसी बातकी चिन्ता करनी चाहिये कि अपने शरीरमें रहनेवाली ये सब इंद्रियां ऋषिमुनिके समान तपस्वी बन जायं और अपना जीवन यज्ञमय बने और (अहं यज्ञः । भ गी ९।१६) मैं सचमुच 'यज्ञ हूं' यह प्रत्यक्ष स्थितिमें अनुभव आवे । बनावटी नहीं स्वभाव ही बने । जिस प्रकार अग्निका स्वभाव धर्म उष्णता है उसी प्रकार यज्ञ अपना स्वभावधर्म बने । क्योंकि यज्ञ सहज है परंतु मनुष्यके जीवनमें उसका अभ्यास होनेके कारण सहज बात भी अस्वाभाविकसी प्रतीत होती है । अस्तु । इस तरह यज्ञ मनुष्यके जन्मके साथ उत्पन्न हुआ है और उसके साथ यह सतत रहेगा । मनुष्य यज्ञसे अलग होनेका यत्न करेगा तो मनुष्यत्वसे गिरेगा । इसलिये कहा है कि-

यज्ञसे उन्नति

अनेन प्रसविष्यध्वम् ।
एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।
(भ गी ३।१०)

इस यज्ञसे तुम लोग वृद्धिको प्राप्त होवो यह यज्ञ तुम्हें इच्छित मनकामनाओंको देगा । अब पाठकोंके ध्यानमें आया होगा कि यज्ञसे वृद्धि किस तरह प्राप्त होगी और मनोवांछित कामनाओंकी भी किस तरह सिद्धता होगी । यज्ञसे ये बातें सिद्ध होती हैं इस विषयमें वेद और ब्राह्मणग्रंथोंके वचन अब देखिये-

अध्वरो वै यज्ञः । (श ब्रा ३।२।४।५; १।४।१।३८)
यज्ञो वै नमः । (यजु १३।८; श ब्रा ७।४।१।३)
यज्ञो वै भुज्युः (यजु १८।४२)
यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति ।
(श ब्रा १।१।२।११)

यज्ञो भगः। (यजु १।१०; श ब्रा ६।३।१।१९)
यज्ञो वा ब्रह्मस्य योनिः। (यजु १।१६; श ब्रा १।३।४।११)
यज्ञो वै मधुसारघम्। (श ब्रा ११।४।३।१३)
यज्ञो वै महिमा। (यजु ११।६; श ब्रा ६।३।१।१८)
यज्ञो वै स्वः। (यजु १।११)
यज्ञो वै सुम्नम्। (यजु १२।६७; श ब्रा ७।२।२।४
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। (यजु १।१; श ब्रा १।७।१।५।
यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि)
(श ब्रा ८।७।३)
ब्रह्म हि यज्ञः (श० ब्रा ३।१।४।१५)
यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः (कौ ब्रा २५।११)
यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। (तै ब्रा ३।९।५।५)
तेजो वा अत्र यज्ञः। (श ब्रा ७।३।२।९)
यज्ञो वा अवति। (तां ब्रा ६।४।५)
भैषज्ययज्ञा वा एते तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। (गो ब्रा उ १।१९; कौ ब्रा ५।१)

" (अ-ध्वरः) अहिंसा यज्ञ है। अध्वर यज्ञ है। यज्ञ भग देनेवाला है। यज्ञ सब भूतोंको भोजन देता है। यज्ञ ऐश्वर्य है सौभाग्य है। यज्ञ कल्याण मूल है। यज्ञ मधुरता है। यज्ञ महिमा है। यज्ञ आत्मतेज है। यज्ञ सुख है। यज्ञ अति श्रेष्ठ कर्म है। यज्ञमें सब भूत रहते हैं। यज्ञ ज्ञान है। यज्ञ भुवनमें श्रेष्ठ है। यज्ञ सब सृष्टिका केन्द्र है। यज्ञ वीर्य-पराक्रम है। यज्ञ रक्षा करता है। ये यज्ञ औषधियोंसे किये जाते हैं अतः ऋतुसंधिके समय किये जाते हैं क्योंकि ऋतुसंधिमें रोग उत्पन्न होते हैं।

इस तरह इन ग्रंथोंमें यज्ञकी महिमा वर्णन की है। इससे सिद्ध हो सकता है कि यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति अवश्य होती है यह इन ग्रन्थोंकी संमति है।

इन वचनोंमें अहिंसा, अध्वरता सत्य, सौभाग्य मधुरता ज्ञान वीर्य रक्षा ये यज्ञके रूप हैं, ऐसा जो कहा है वे वचन अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। आगे जिस समय यज्ञका स्वरूप देखनेका प्रसंग आ जायगा उस समय येही वचन हमें सहायक होंगे। अस्तु। इनमें ग्रंथकारोंकी संमति है कि यज्ञ मनुष्योंका सौभाग्य बढानेवाला है यही बात भगवद्गीतामें

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।
(भ. ३।१०)

इस श्लोकमें कही है। निःसन्देह यज्ञसे मनुष्योंकी सब प्रकारकी तृप्ति और शुभ कामनाओंकी पूर्ति हो सकती है। अभी हम देखेंगे कि यह कैसे हो सकता है, परंतु यहां भी हमने देखा कि यज्ञमें सत्कार संगति दान अथवा आदर संगठन और उपकार ये तीन भाव होते हैं और जहां ये भाव होंगे वहां व्यावहारिक दृष्टिसे भी उन्नति अवश्य हो सकती है। आगे इस यज्ञका स्वरूप स्पष्ट करते हैं-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(भ गी ३।११)

'तुम देवोंको सन्तुष्ट करो और देव तुम्हें सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो। तुम देवोंकी सहायता करो और देव तुम्हारी सहायता करें, इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करो। इसमें परस्परकी सहायता करनाही परम कल्याणप्राप्तिका हेतु है। परस्पर संभावनासे परम कल्याण प्राप्त हो सकता है। भावयन्तः - (भावयति) इसमें भावका अर्थ विचार करना मिलना और शुद्ध करना है। इसीका नाम संभावना है। किसीकी कोई संभावना करता है तो उसके हितके विषयमें वह विचार करता है उसके पास जाकर बैठता है और उसकी पवित्रता करनेमें सहायक होता है इतना आशय है। इसीका दूसरा नाम पूजा सत्कार या समादर है। यज्ञ शब्दके जो तीन अर्थ सत्कार संगति और दान ये ऊपर कहे हैं उनमेंसे सत्कारका भाव इस संभावनामें है, संगतिका भी भाव यहां है और उपकार करनेका भी आशय है। इसलिये परस्परं भावयन्तः ये शब्द यज्ञका हृद्य स्वरूप दर्शाते हैं। परस्परका संमान करना परस्परका मेल मिलाप करना और परस्परकी सहायता करना ये भाव इस परस्परकी संभावना में हैं। मनुष्यमात्रका परम कल्याण इसी परस्पर-संभावनासे होगा।

यज्ञसे उन्नति

(अनेन देवान् भावयत ते देवाः वः भावयन्तु) यज्ञमें

देवोंका आदर करो और वे देव आपका आदर करें इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए उन्नतिका साधन करो। जगत्‌में इसी रीतिसे उन्नति हो रही है। पक्षी अपने घोसलेमें रहे छोटे छोटे बच्चोंके लिये दूर-दूर देशसे आवश्यक भक्ष्य लाकर उनकी पूजा करते हैं। मनुष्य भी करीब करीब ऐसाही करते हैं। ऊपरके श्लोकमें 'देव' शब्दके स्थानपर पिता शब्द रखिये। पितृदेवो भव मातृदेवो भव। यहां पिता माता देव ही हैं। यह अर्थ यहां लेनेसे उक्त श्लोकका भाव गृहस्थ धर्मके संबन्धमें हमें ऐसा मिलता है- घरमें पुत्र मातापिताका आदर करें और मातापिता पुत्रोंका आदरपूर्वक संभाल करें, इस रीतिसे दोनों एक दूसरेका आदरसत्कार करते हुए दोनों सुख शान्तिपूर्वक गृहस्थाश्रमका परम श्रेय सुख प्राप्त करें। भाई भाईका आदर करे बहिन बहिनकी सहायता करे पति पत्नीका और पत्नी पतिका आदरसत्कार करें इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए गृहस्थाश्रममें रहने वाले सब लोग अभ्युदय और निःश्रेयसको उत्तम प्रकार प्राप्त करें। उक्त श्लोकसे यह उपदेश गृहस्थियोंको प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान यज्ञ

शिष्य अध्यापकोंका सत्कार करें और अध्यापक शिष्योंको आदरपूर्वक पढावें शिष्य गुरुकी प्रतिष्ठा बढावें और गुरु शिष्योंकी योग्यता बढावें इस रीतिसे परस्परकी सहायता करते हुए सब गुरु और शिष्य परम उन्नति प्राप्त कर सकते हैं। जो उन्नति परस्पर प्रेमका बर्ताव करने-वाले गुरुशिष्योंकी होना संभव है वसी उन्नति परस्पर विरोध करनेवाले पढने और पढानेवालोंकी कभी नहीं हो सकती। आचार्य देवो भव इस वचनके अनुसार पढाने वाला देव है और उसकी संभावनाका यह फल होता है।

राष्ट्र यज्ञ

राजाको भी देव कहते हैं और राष्ट्रके सब छोटे बडे ओहदेदारोंको भी देव संज्ञा है। सब लोग राजा और राजपुरुषोंका संमान करें और आदर करें तथा राजा तथा राजपुरुष सब प्रजाजनोंका सत्कारपूर्वक पालन करें। इस रीतिसे राजा और प्रजा परस्परका आदर और परस्परकी सहायता करते हुए परस्परकी परम उन्नति करें। प्रजापतिने यह किया इस तरहके वाक्य स्थान स्थानपर आते हैं। प्रजापतिका यज्ञ प्रजापालनरूपही है कोई दूसरा नहीं। प्रजापालनरूप यज्ञ राजा और राजपुरुष करें और राज नियमसे प्रजा राजाका सत्कार करे। इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए दोनों उन्नत हो सकते हैं।

पुरुष यज्ञ

मनुष्यके शरीरमें भी इन्द्रियगण देव हैं आत्मा भी देव अथवा महादेव है। इंद्रियाँ आत्माकी सहायता करें और आत्मा इंद्रियादिकोंकी सहायता करे। इस प्रकार परस्परकी सहायतासे स्थूल शरीर और उसके अन्दरकी संपूर्ण शक्तियाँ सहकार्य करती हुई उन्नतिको प्राप्त हों। परस्पर सहकार्यसे यहां जड चेतनकी उन्नति होनेका वर्णन है।

देव यज्ञ

इस तरह पृथ्वी आप तेज, वायु आकाश सूर्य नक्षत्र वृक्ष वनस्पति आदि अनेकानेक देवताएं हैं। इनसे विविध रीतिसे मनुष्यको लाभ हो रहा है, भूमिसे अन्न जलसे जीवन, वायुसे प्राण आकाशसे स्थान सूर्यसे जीवनविद्युत् आदिकी प्राप्ति होकर मनुष्य यहां सुखसे रह सकता है। इन सब देवताओंके ऊपर मनुष्यका सुख सब प्रकारसे निर्भर है अतः मनुष्यको उचित है कि वह भी इनको प्रसन्न करे इनका आदर करे और इनकी पूजा करे। मातृभूमिकी सेवा करनेसे उसकी उपासना होती है उसकी सुस्थतासे प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी प्रसन्नता करनेके मार्ग विभिन्न हैं। मनुष्यको उचित है कि वह योग्य रीतिसे इन देवताओंका सत्कार करे और देवताओंकी प्रसन्नतासे अपनी उन्नति प्राप्त करें।

इस प्रकार व्यक्तिमें कुटुंबमें राष्ट्रमें और विश्वमें यज्ञका क्रम कैसा है इसका विचार पाठक करें और इस बातको ठीक तरह समझें। यही विषय भ गी ३।१२।१३ तक आवेगा और वहां द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ स्वाध्याययज्ञ प्राणा पानयज्ञ आदि अनेकविध यज्ञ कहेंगे। उनका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये इस विषयकी अत्यंत आवश्य कता है इसलिये यहप्रकरण इतने विस्तारसे यहां लिखा है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे इसका अधिक

मनन करें और व्यापक दृष्टिसे यज्ञकी सर्वव्यापकता अनुभव करें और यह सार्वभौमिक यज्ञ सृष्टिके साथ कैसा उत्पन्न हुआ है उत्पन्न हुएके साथ कैसा रहता है और इस यज्ञसे इसकी उन्नति कैसी होती है यह बात ठीक प्रकार समझें। मनुष्यसे भिन्न सृष्टिमें यह यज्ञ स्वभावसे हो रहा है, वही मनुष्यको ज्ञानपूर्वक प्रयत्नके साथ करना चाहिये। इत्यादि बातें समझकर पाठक अपने मनमें स्थिर करेंगे तो उनको आगेका विषय अधिक सुबोध होगा।

(यज्ञभाविताः देवा इष्टान् भोगान् दास्यन्ते) यज्ञसे संभावित देव सबको इष्टभोग देंगे। यह कथन अब हरएक स्थानमें अर्थात् व्यक्ति समाज राष्ट्र और विश्वमें कैसा घटाना चाहिये यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी। सचमुच संभावित हुए देव इष्टभोग सर्वत्र देते ही हैं और असंभावित होनेपर क्षोभित हुए देव कष्ट भी देते हैं। व्यक्तिमें ब्रह्मचर्यादि सुनियमपालनसे प्रसन्न हुए इंद्रियगण स्वास्थ्य सुख अर्पण करते हैं और अनियमके कारण असंभावित हुए वेही देव अकाल-मृत्यु देते हैं। इसी प्रकार यज्ञसे सब प्रकारकी उन्नति और अयज्ञसे हानि होती है।

(तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुंक्ते स स्तेनः) उन देवोंका दिया हुआ उन्हें कुछ भी न देकर जो स्वयं भोगता है वह चोर है। इसके उदाहरणके लिये हम राज्यव्यवस्थाका उदाहरण लेंगे। राजा और राजपुरुषोंके कारण जनताके धन भोग सुरक्षित रहते हैं अतः प्रजाजनोंको उचित है कि वे भी राजाको करभार देकर अपना आदर व्यक्त करें। अपने स्वराज्य-शासनमें जो लोग कर नहीं देते वे चोर होंगे और दण्डनीय बनेंगे। इसी प्रकार शरीरस्थानीय प्रसन्न हुए इंद्रियरूप देवताओंने जो स्वास्थ्ययुक्त आयु दी है उसका कुछ हिस्सा उनकी सुस्थिति रखनेके उपायोंके लिये लगाना चाहिये अन्यथा सब बिगाड़ हो जायगा। इसी तरह सर्वत्र देवोंको यज्ञभाग समर्पण करनेकी व्यवस्थाका प्रभाव देखना चाहिये। सब यज्ञोंमें देवोंको कुछ भाग समर्पण करनेकी व्यवस्था प्रधान स्थान रखती है। समर्पण करना यज्ञ है और समर्पण न करना चौर्य है।

भूमिपर जितना भी धन उत्पन्न हुआ है वह सब संपूर्ण प्रजाजनोंका है। अतः वह सब धन प्रजाजनोंके लिये ही रखना चाहिये। ऐसा न रखते हुए यदि कोई मनुष्य युक्तिप्रयुक्तिसे बहुत साधन अपने पास संग्रह करके रखेगा तो वह चोर होगा। क्योंकि जिस धनपर अपना अधिकार नहीं और दूसरोंका है उसका अपने पास विशेष संग्रह करना एक प्रकारकी चोरी है। इस दृष्टिसे बहुत मनुष्य चोर सिद्ध होंगे यद्यपि आजकलकी जनता इन संग्रहकर्ताओंको चोर कहके दण्डनीय नहीं समझती तथापि यज्ञकी दृष्टिसे ये अपने पास विशेष धनसंग्रह करनेवाले निःसन्देह चोर हैं। परंतु शासनाधिकार इनकी हाथमें रहनेसे ये दण्डनीय नहीं समझे जाते यह बात अलग है। परंतु यज्ञको व्यापक दृष्टिसे देखनेपर किसीको भी दो तीन दिनकी आवश्यकतासे अधिक संग्रह अपने पास करना अयोग्य है। यही भाव इंसोंकी 'वसुधैव कुटुंबक' वृत्ति है और यही सच्चा यज्ञ है। इस दृष्टिसे बहुतसे लोग अयज्ञ करते हैं और जनतामें कलहोंका दुःख उत्पन्न होनेसे ही भोग रहे हैं। क्योंकि अयज्ञसे दुःख अवश्य होगा।

इसी भावको अन्य शब्दोंमें इस प्रकार अगले श्लोकमें कहा है— (ये आत्मकारणात् पचन्ति ते पापा अघं भुञ्जन्ति) जो अपने लिये ही केवल अन्न पकाते हैं वे पापी पापही खाते हैं। अयज्ञ करनेवाला जो भोग भोगता है वह तो पापही है। पाठक अपने लिये पकानेका भाव केवल अन्न पकाना ही न समझें यहां तो हरएक भोग अपने पास संग्रहित करने और उनको केवल अपने लिये ही रखनेका भाव है। इस स्वार्थीका नाम ही वेदमें 'अ-राति' है। इसका अर्थ 'दान न करनेवाला' है। इसका अर्थ 'आक्रमक शत्रु' होता है। यह ठीक ही है कि जो दान नहीं करता वह अयज्ञ करनेके कारण जनताका शत्रु ही है।

यही भाव वेदमें इस तरह कहा है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप
गच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोप
दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते॥१॥स इद्भोजो
यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते
सखायम् ॥३॥ न स सखा यो न ददाति
सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मा
त्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदि
च्छेत् ॥४॥ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं

ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद १० ।११७)

"दीनोंके क्षुधारूपी मृत्यु गरीबोंके पीछे ही लगाया है ऐसी बात नहीं है क्योंकि यथेष्ट भोजन करनेवाले धनिक लोग भी मर जाते हैं। जो गरीबोंको धनदान करता है, उसका धन कम नहीं होता प्रत्युत बढता है परंतु जो दान नहीं करता उसको सुख देनेवाला एक भी मित्र नहीं मिलता है। वही (मोघः) व्यर्थ भोजन करनेवाला है जो (अन्न-कामाय इच्छाय चरते) अन्नकी इच्छासे द्वारोद्वार भ्रमण करनेवाले इस याचकको (गृहवे ददाति) अन्नको आसपर भव देता है। उसीके पास पर्याप्त समृद्धि होती है और उसीके शत्रु भी मित्र होते हैं॥ जो अपने मित्र और सहायकको भी योग्य दान नहीं करता वह सच्चा मित्र नहीं है उससे दूर भागना चाहिये। (न स लोकः अस्ति) उसका घर सच्चा घर ही नहीं है। दूसरे दाताके पास मनुष्य जाय ॥ जिसको अन्तःकरण नहीं है ऐसे मनुष्यको धन मिलना व्यर्थ ही है। मैं सत्य कहता हूं कि वह उसका धन धन नहीं है वह उसकी मृत्यु है, जो अपने मित्रोंका या सज्जनोंका पालन नहीं करता, वह (केवलादी) केवल स्वयं भोग करनेवाला (केवलाघः भवति) केवल पापरूप बनता है।

यहां 'दान' करनेका उपदेश है। जो दान, उपकार या दूसरोंकी सहायता करता है उसकी सद्गति होती है और अदान करनेवालेकी दुर्गति होती है। इस सूक्तका यह भाव स्पष्ट है। इसके अन्तिम मंत्रमें जो अन्तिम वाक्य है वही भगवद्गीताने इस श्लोकमें अन्य शब्दोंद्वारा कहा है देखिये—

केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ० १० ।११७।६)

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(भ० गी० ३।१३)

केवलादी शब्दकी व्याख्या पचन्ति आत्मकारणात् है इस दृष्टिसे इस वेदमंत्रकी व्याख्या ही इस गीताके श्लोकने की है।

जो अन्न पकाता है या अपने पास बचा लेता करता है वह दान उपकार सत्कार्य अर्थात् यज्ञके लिये ही करना चाहिये। अतः यजुर्वेदमें कहा है-

त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृध कस्यस्विद्धनम् ?

(यजु० ४० ।१)

'त्यागसे भोग कर मत ललचा भला धन किसका है ?" अर्थात् धन संपूर्ण जनताका है अतः जो धन है वह जनता की भलाईके लिये समर्पण करके जितना अपना जीवित रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है उतना ही धन अपने लिये लेकर उसका भोग कर इससे अधिक लालच न कर। यही भाव है। इसीका अधिक स्पष्टीकरण गीता निम्न लिखित प्रकार करती है--

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥

(भ० गी० ३।१३)

"यज्ञ करके शेष बचे हुए भागका सेवन करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होते हैं। यज्ञ-शेषका सेवन करना बड़ा पुण्यप्रद है। धर्मशास्त्रका नियम ऐसा है कि अग्निहोत्रका अन्न सिद्ध होनेके पश्चात् देवयज्ञ और भूतयज्ञ करके अतिथिको भोजन पहिले हो पश्चात् सब घरके आदमी नौकर चाकर भोजन करें तत्पश्चात् जो बचा हो उसमें घरका स्वामी और घरकी स्वामिनी अपनी तृप्ति करें। अपने भोजनके लिये बैठनेपर सब भूतोंके उद्देशसे कुछ आहुतियां पहिले अलग रखकर पश्चात् स्वयं भोजन करना है। जो गृहस्थीके घरके इस पाक-यज्ञकी रीति है यही सब यज्ञोंमें अनेक रूपसे है। इस प्रकार यज्ञशेषका सेवन करना अत्यंत पुण्यकारक है।

यज्ञशेष-भक्षणका दूसरा अर्थ महान् उपकार है। परंतु यह उपकार करना मनुष्यका स्वभाव बनना चाहिये। यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि यह सहज है यह स्वभावसेही होना चाहिये इसमें कोई बनावटी भाव नहीं होना चाहिये। जो ऐसा अपना स्वभाव ही यज्ञरूप बनायेंगे, वेही सब पापोंसे मुक्त हो सकते हैं। यहां यह विषय इतना लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पडी कि लोग यज्ञ शब्दसे होम हवन ही केवल समझते हैं और यज्ञका व्यापक आशय जो प्रत्येक मनुष्यके आचरण में आना चाहिये उस ओर बहुत लोगोंका ध्यान नहीं होता इस कारण उस व्यापक आशयको स्पष्ट करनेके लिये यहां इतना लिखना पडा।

यह विषय आगे अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंमें आने वाला है इसलिये आगे भी इसपर बहुत लेख लिखनेकी आवश्यकता होगी। इस कारण यहां इसका भूमिकामात्र लिखा है अल्पसा वर्णन है। अब इस आगे यज्ञके विषयमें भगवान् क्या कहते हैं सो देखेंगे—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अन्वय — भूतानि अन्नात् भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसंभवः, पर्जन्यः यज्ञात् भवति, यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भूतमात्र अन्नसे होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति पर्जन्यसे होती है, पर्जन्य यज्ञसे होता है और यज्ञ कर्मसे होता है ॥ १४ ॥ कर्म [विधिके] ज्ञानसे होता है और ज्ञान अक्षय परमात्मासे उत्पन्न होता है, इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें सदा रहता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परमात्मासे कर्मविधिका ज्ञान, इस ज्ञानसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप साक्षात् परमात्मा ही नित्य यज्ञमें उपस्थित रहता है ॥ १४-१५ ॥

(१४-१५) इन श्लोकोंमें साक्षात् परमात्मा यज्ञमें उपस्थित होता है, ऐसा कहा है और इस कारण यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है ऐसा दर्शाया है। इसकी विचारपरंपरा देखिये—

अन्नसे भूत

(अन्नात् भूतानि भवन्ति) अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है यह बात सब जानतेही हैं। इस अन्नके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये —

या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्।
(ऐ. उ. ३।१)

अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
(बृ. उ. ५।१२।१)

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। अथो अन्नेन जीवन्ति।
(तै. उ. २।२।१)

अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
(तै. उ. २।२।१)

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्।
(तै. उ. ३।७।१)

परं वा एतदात्मनो रूपं यदन्नम्।
(मैत्री उ. ६।११)

प्राणो वा अन्नस्य रसः। (मैत्री उ. ६।११)

अन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः। (मैत्री उ. ६।१४)

अन्नाद्भूतानामुत्पत्तिः। (मैत्री उ. ६।१०)

ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवति (म. भारत १३।१)

अन्नं वै प्रजापतिः। (प्रश्न उ. १।१४)

अन्नं ब्रह्म। (तै. उ. ३।२।१)

जो स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ वह अन्न ही है। अन्नमें ये सब भूतमात्र रहते हैं। अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है और अन्नसे जीवित रहती है। अन्नसे भूतमात्रकी उत्पत्ति होती है और अन्नसे उनका संवर्धन होता है। अन्नकी निंदा करना योग्य नहीं है, यह व्रत है। प्राण ही अन्न है। आत्माका परम रूप अन्न है। प्राण ही अन्नका रस है। अन्न सबका उत्पत्तिस्थान है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है। औषधी-वनस्पतियोंसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। अन्न ही प्रजापति अर्थात् प्रजाओंका पालन करनेवाला है। अन्न ब्रह्म है।

इस प्रकार अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका और अन्न साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होनेका वर्णन उपनिषदोंमें है। अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति कैसी होती है इस सम्बन्धमें उपनिषदोंमें जो कहा है वह अब देखिये

आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तै. उ. २।१।१)

आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधियां, औषधियोंसे अन्न, अन्नसे पुरुष अर्थात् शरीर, यह शरीर अन्नरसमय है।"

अन्नसे रेत बनता है और रेतसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। सब पशुपक्षी अन्न खाते हैं, उनके शरीरमें उस अन्नसे वीर्य बनता है और उससे संतानोत्पत्ति होती है। वृक्ष-वनस्पतियों

उत्पन्न अपत्य बन जाती हैं उससे बीजादिकी उत्पत्ति होती है और उससे आगे बड़ा विस्तार होता है।

इस तरह सर्वत्र अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होनेका वर्णन है और यह विषय हरएक मनुष्यके अनुभवका ही विषय है। इसलिये इस विषयमें इतनाही लिखना पर्याप्त है।

पर्जन्यसे अन्न

आगे (पर्जन्याद् अन्नसंभवः) वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है। यह तो प्रतिवर्षका मनुष्योंका अनुभव है। वृष्टि न हुई तो धान्य अथवा अन्यान्य वनस्पतियां नहीं उत्पन्न होंगी यह तो निश्चित बात है। कई कहेंगे कि नदीसे, नहरोंके जलोंद्वारा अन्न पैदा होगा परन्तु वृष्टि न हुई तो नहरोंमें भी पानी नहीं आवेगा। इसलिये नदी नहर और कूवेके जलसे खेती हुई, तो भी वह वृष्टिसेही होती है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् पर्जन्यसे अन्नकी उत्पत्ति होती है यह बात सत्य है और अनुभवकी भी यह बात है। वेदमें तो वृष्टिसे आकाशस्थानीय प्राण ही नीचे पृथ्वीपर आता है ऐसा कहा है। देखिये-

यत्प्राणस्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्रवीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्विजायन्ते ॥ ३ ॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
(अथर्व ११।४।३-६)

" जब यह प्राण अपनी बड़ी गर्जनाद्वारा अपना सन्देश औषधियोंसे कहता है उसी समय वे गर्भ धारण करती हैं और बहुत बढती हैं॥ जब योग्य ऋतु आता है और प्राण गर्जना करके औषधियोंसे कहता है तब पृथ्वीके ऊपरके पदार्थ मात्र आनंदित होते हैं॥ जब प्राण अपनी वृष्टि इस बडी भूमिपर गिराता है तब सब पशु आनंदित होते हैं। वे कहते हैं कि हमारी शक्ति बढेगी अथवा हमारा अन्न बढेगा। प्राणके द्वारा वृष्टिसे सिंचित हुई औषधियां प्राणके साथ बोलती हैं कि हे प्राण, तूने हमारी आयु बढा दी है और हमें सुगंधित किया है।

*

यहां बडे मनोरंजक अलंकारसे कहा है कि वृष्टिसे वनस्पतियोंको प्राण प्राप्त होता है और उससे वनस्पतियां फूलती और फलती हैं। इसी प्रकार वृष्टिसेही सब प्रकारका अन्न प्राणिमात्रको प्राप्त होता है।

यज्ञसे पर्जन्य

आगे कहा है कि (यज्ञात् पर्जन्यः भवति) यज्ञसे पर्जन्य होता है। अर्थात् यज्ञ न हुए तो पर्जन्य नहीं होता और अकाल होता है। अकाल होनेसे अन्न नहीं होगा और अन्नके अभावमें सब भूत मृतवत् होंगे। यहांतक यज्ञचक्रका प्रभाव कहा है। यह यज्ञका चक्र ऐसा है—

यज्ञसे मेघ + मेघसे वृष्टि + वृष्टिसे अन्न
( )
कर्मसे यज्ञ शरीरसे कर्म—अन्नसे शरीर

यह यज्ञका चक्र है। यह चक्र क्रमसे भ्रमण होता रहता है। इसमेंसे एक भी यज्ञांश न होगा तो सब चक्र टूट जायगा और भूतमात्रकी स्थिति नहीं होगी। महानारायण उपनिषद्में कहा है—

ताभिः पर्जन्यो वर्षति। पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः
प्रजायन्ते ॥ (म. नारा. १३।१)

" पर्जन्य वृष्टि करता है और वृष्टिसे औषधियां और वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं।" इस रीतिसे यज्ञसे पर्जन्य होकर अन्नकी उत्पत्ति होती है। । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यज्ञसे पर्जन्य कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें मनुका वचन देखिये—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु ३।७६)

" अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यके पास जाती है आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे सब प्रजाकी उत्पत्ति होती है।" यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित प्रकार कहा है

यज्ञात्प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ॥ १० ॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ११ ॥
(म. भारत शां. अ. २६३)

यज्ञसे प्रजा होती है जैसा आकाशसे निर्मल जल प्राप्त होता है। यज्ञकी अग्निमें रखी हुई आहुति आदित्यके पास जाती है आदित्यसे वृष्टि वृष्टिसे अन्न और उससे प्रजा होती है। यज्ञसे वृष्टि होनेके विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें यह वचन है–

पर्जन्येष्टि

स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्ट्या वा यज्ञेन भूयाद्वृष्टिकामो वाऽअस्मीति तथोऽध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्यायेति। अभ्राणि मनसा ध्यायेत्यग्नीध्रं स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्यायेति होतारं सर्वाण्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र यत्रैव ऋत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति॥ (श. ब्रा. १।५।२।१९)

यदि यजमानकी इच्छा वृष्टि होनी चाहिये ऐसी हो तो वह पर्जन्येष्टि करे। उस समय यजमान कहे कि वृष्टिकी इच्छा है अतः अध्वर्यु वायु और बिजलीका ध्यान करे अग्नीध्र अभ्रोंका ध्यान करे होता मेघगर्जना और वृष्टिका ध्यान करे और ब्रह्मा इन सबका ध्यान करे। ऐसे ज्ञानी ऋत्विज जहां होते हैं और वे यदि मनसे ऐसा ध्यान करेंगे और इष्टि करेंगे तो वहां अवश्य वृष्टि होगी

यहां याज्ञवल्क्य मुनि निश्चयपूर्वक कहते हैं कि वृष्टि होगी। इससे पता लगता है कि पर्जन्येष्टिमें इस प्रकार मानस ध्यान करनेसे कुछ अपूर्व बल पैदा होकर वृष्टि होती होगी। हमें इस बातका अनुभव नहीं है और नाही ऐसे मनोबल-वाले ऋत्विज आजकल कहीं मिलेंगे इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना असम्भव है। तथापि वैदिक वाङ्मय देखनेसे पता लगता है कि उस प्राचीन समयमें पर्जन्येष्टिसे यथेप्सित वृष्टि हुआ करती थी।

यदि आकाशमें बादल आये हों और वृष्टि न होती हो तो नीचेसे ऊर्ध्वमुखी तोपें चलानेसे वृष्टि होती है। इसका कारण यह है कि मेघमण्डलमें हलचल होनेसे वृष्टि होती है। आजकल कई स्थानपर अमेरिका और यूरोपमें मेघमंडलमें विद्युत्संचार करानेसे वृष्टि करनेका यत्न किया गया और वह सफल भी हुआ है जहां युद्ध होते हैं और बहुत तोपोंकी मार होती है वहां यदि आकाशमें मेघ रहें तो वृष्टि होती है यह सैनिकोंका अनुभव है। तोपोंमें अग्नि है और यदि उसके दुर्गन्ध पदार्थोंका हवन माना जाय तो भी बात बन सकती है। इससे यदि इतना सिद्ध हो जाय कि मेघमंडलमें इस प्रकारकी हलचल करानेसे कुछ न कुछ वृष्टिकी संभावना होगी, तो यह बात सहसा विधिपूर्वक किये गये हवनोंसे भी होना सम्भव हो सकती है।

आजकल जो घरमें हवन होते हैं वे बहुत ही अल्प प्रमाणमें होते हैं उनका इष्ट या अनिष्ट परिणाम मेघमण्डल-पर होना असंभव है। परन्तु जहां बड़े यज्ञ और महान् सत्र होते हैं जहां कई दिन हवन हवन किये जाते हैं, जहां घृतकी धाराएं हवनमें गिरती हैं और जहांकि हवनका धुआं मीलोंकी दूरीपरसे भी दीखता है, वहांकि हवनका परिणाम मेघमण्डलपर होना संभव है। हवनकी अग्निसे हलकी बनी वायु ऊपर जाती है और वहां चारों ओरकी वायु आ जाती है। इस प्रकार जो गति वायुमंडलमें होती है उससे उस प्रदेशकी ओर चारों दिशाओंमें स्थित वायुकी गति बनती है और यदि यह गति अनेक दिन रही तो उस प्रदेशकी ओर इसके साथ बादल आना भी संभव हो सकता है।

यह गति जिस प्रमाणसे होगी और जितने दिनतक रहेगी उसी प्रमाणसे बादलोंका आना और वृष्टिका होना समयाधीन हो सकता है। यहां कई लोग कहेंगे कि जिस समय बड़े जंगलोंमें आग लगती है वहां उस कारण वृष्टि होती होगी। होती है प्रायः होती है। आजकल भी होती है परन्तु उन दिनोंमें बादलोंकी सम्भावना होनी चाहिये। वर्षाऋतुमें ही पर्जन्येष्टियां की जाती हैं, अन्य ऋतुमें नहीं। जिन देशोंमें बारहमासमें वृष्टि होती होगी उन देशोंमें आकाशमें बादलोंका आना और यज्ञसे वृष्टि होना संभव हो सकता है।

यहां कोई लोग पूछेंगे कि यदि केवल जंगलका लकड़ियां जलानेसे वृष्टि होना संभव होगा तो विधिपूर्वक यज्ञ करनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है कि विधिपूर्वक किये गये हवनसे अन्यान्य लाभ भी होते हैं। पूर्वोक्त स्थानमें कहा है कि वे औषधियोंके महायज्ञ हैं वे ऋतुसंधियोंमें किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधि होते हैं। (गोपथ ब्राह्मण) अर्थात् यज्ञकी सिद्धिमें जो औषधियां डाली जाती हैं अग्निसे उनके सूक्ष्म परमाणु बनकर

वे हवामें जाते हैं, मेघमंडलमें पहुंचते हैं और अन्य स्थानोंके वायुमें भी रहते हैं। घृतके अणु रोगजन्तुओंका संहार करनेवाले हैं; सोमादि औषधियोंके अणु भी इसी प्रकार रोगबीज दूर करते हैं। यज्ञमें हवन किये गये घृतका महत्त्व रोगनाशनके सम्बन्धमें विशेषही है। केवल घृतका हवन करनेसे भी कई सांथिक रोग दूर होना संभव है। जब कोई सांथिक रोग आता है और ग्रामोंमें उसका उपद्रव शुरू होता है तो प्रत्येक घरमें और चौराहोंपर घृतहवन करनेसे रोग दूर होता है।

इस तरह घृतहवनोंके द्वारा जो घृतके और विविध औषधियोंके अणु मेघमंडलमें जाते हैं और हवामें रहते हैं वे वृष्टिजलके साथ भूमिपर आकर उनका भूमिस्थानीय अर्थात् वृक्षों, वनस्पतियों और औषधियोंके लिये एक पौष्टिक और शुद्ध जीवनीय रस मिलता है। वृक्षादिकोंको उत्तम खाद देनेकी यह रीति है। हवाशुद्धि, वृष्टिका नियमन, जलशुद्धि और वृक्षरसोंकी पुष्टि इतनी बातें हवनरूप यज्ञसे सिद्ध होती हैं ऐसा हम हवन विधिके मंत्रोंसे अनुमान निकाल सकते हैं। यह युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है तथापि इसके प्रयोग करके देखने चाहिये और जो बात प्रयोगोंसे सिद्ध होगी, वही माननी चाहिये।

होम हवनरूप यज्ञोंसे वृष्टि किस तरह होती है इसकी रीति हमने यहां देखी। इसी विषयमें निम्नलिखित मन्त्र भी देखना योग्य है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिव-
मुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन।
पृथिवी व्युद्यते। (ऋग्वेद १।१६४।४७)

(अपः वसानाः) जल लेनेवाले (हरयः सुपर्णाः) जलका हरण करनेवाली आदित्यकी किरणें (कृष्णं नियानं) आकर्षणके मार्गसे (दिवं उत् पतन्ति) द्युलोकको जाते हैं। (ऋतस्य सदनात्) उदकके स्थानसे (ते आववृत्रन्) वे आकर उसके द्वारा (घृतेन) जलसे (पृथिवी व्युद्यते) भरपूर की जाती है। अर्थात् पृथ्वीपरका जल सूर्य किरणोंसे वाष्परूपमें ऊपर आकाशमें उड़ता है उसके मेघ बनते हैं वे मेघ वृष्टिरूपसे पृथ्वीपर आकर जल बरसाते हैं। वृष्टि होनेका क्रम वेदमें इस प्रकार बताया है। इसके अनुसार जब सूर्यकिरणोंद्वारा भाप होकर जलके अणु ऊपर जाते हैं उनके साथ हवनके द्वारा सूक्ष्म बनाये गये घृतके और सोमादि औषधियोंके अणु यदि भेजे जायेंगे तो वे जलको औषधि-गुणोंसे युक्त बनायेंगे और वह जल न केवल अन्नको विशेष पुष्टिरससे युक्त बना देगा प्रत्युत प्राणियोंके लिये भी आरोग्यवर्धक होगा।

इस प्रकार सारांशसे (यज्ञात् भवति पर्जन्यः) यज्ञसे पर्जन्य होता है इस विषयका विवेचन है। वैदिक वाङ्मयमें यज्ञविषय बहुत व्यापक और बड़ा विस्तृत है उसका होमहवन विषयक एक भाग है। पाठक यहां यह न समझें कि हवनसे केवल रोगोंका नाश होगा। यह बात नहीं है। हवन एक साधन है और उसका उपयोग विविध कार्योंके लिये होता था। जिस प्रकार रोगनाशक और रोगप्रतिबंधक हवन हैं उसी प्रकार रोगोत्पादक और रोगवर्धक भी हवन हैं। शत्रुके देशमें रोगवर्धक हवन कराये जाते थे। और अपने देशमें रोगप्रतिबंधक हवन किया करते थे। इसी प्रकार वृष्टिवर्धक भी हवन हैं और वृष्टिनिवारक भी हैं। यह एक बड़ा शास्त्र है और यह प्रायः लुप्तसा हुआ है, सोमादि औषधियां भी नहीं मिलतीं। अतः इस विषयमें अधिक लिखा नहीं जाता। विद्वान् संशोधक इसकी खोज करें। हमें यहां गीताका विधान देखना था यह सारांशरूपसे देख लिया। यज्ञके युक्तायुक्तत्वके विवेचनका यहां प्रसंग नहीं है।

पाठक यहां इतनी बात ध्यानमें धारण करें कि जो यज्ञ वृष्टिनिपातक हैं वे होमहवनके ही यज्ञ हैं। परन्तु भगवद्गीतामें जो यज्ञ कहे हैं वे केवल होमहवनरूप ही नहीं हैं, उनमें वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका भी समावेश होता है यही विशेषता है। इस विषयका सामान्य स्वरूप इससे पूर्व (भ. गी. श्लो. ३।९-१३ के विवरणमें) बताया है और आगे भी अनेक स्थानोंपर बताया जायगा। भगवद्गीतामें जो व्यापक यज्ञका रूप कहा है उसका एक भाग होमहवन है। इतनी बात पाठक ध्यानमें रखें।

यज्ञसे पर्जन्य

यज्ञसे जब मेघरूप पर्जन्य और पर्जन्यसे जल होनेमें दूसरी रीतिसे भी एक आत्मसमर्पणरूप यज्ञ हो रहा है। वह यज्ञ भी यहां अब देखना चाहिये। जलका आत्मसमर्पण होकर उसकी भाप बनकर मेघ बनते हैं, अर्थात् मेघोंकी

उत्पत्ति होनेके लिये उसका आत्मसमर्पणरूप यज्ञ होनेकी आवश्यकता है। उसके इस आत्मसमर्पण यज्ञके मेघोंकी उत्पत्ति होती है। मेघ भी इसी प्रकार आत्मसमर्पण करते हैं जिसका नाम वृष्टि है। मानो परोपकारके लिये मेघ अपना अस्तित्वतक समर्पित करते हैं। इस मेघोंके आत्म समर्पणसे संपूर्ण वृक्षवनस्पतिसृष्टि और जीवसृष्टि पाली जाती है अर्थात् किसीका पालन होनेके लिये दूसरेका आत्मसमर्पणरूप यज्ञ होना आवश्यक है यही बात आगेके यज्ञोंमें देखी जाती है। मेघोंसे वृष्टिके द्वारा जल पृथ्वीपर आनेपर वह जल फिर वृक्षों और प्राणियोंके जीवनके लिये आत्म समर्पण करता है। जब यह जल उन वृक्षवनस्पतियों और प्राणियोंके शरीरका भाग बनता है तब उनका जीवन होता है। इनके अस्तित्वके लिये मानो, जलको अपने अस्तित्वका समर्पण करना होता है। इसी प्रकार अन्न भी आत्मसमर्पण करके प्राणियोंके जीवनका हेतु बनता है। प्राणी अपने जीवन भूत रजोवीर्यका समर्पणरूप यज्ञ करके ही प्रजा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यज्ञसे यह सब जगत् चल रहा है। यह यज्ञ परमेश्वरीय नियमसे हो रहा है इसलिये यज्ञ होनेपर भी उनको यज्ञ करनेका पुण्य नहीं प्राप्त होता क्योंकि उनका यज्ञ ईश्वरीय नियमसे हो रहा है। उसमें उनकी इच्छाका भाग कारणीभूत नहीं है।

मनुष्य इस परमेश्वरीय नियमका अवलोकन करे और ईश्वरका यज्ञरूप सर्वत्र कैसा चल रहा है यह देखे तथा स्वयं अपनी इच्छासे आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करे। मनुष्य चूंकि स्वेच्छासे यह आत्मसमर्पण करता है इसलिये उसको पुण्य प्राप्त होता है और यज्ञ न करनेसे उसकी अधोगति होती है। मनुष्यका परमेश्वरने स्वातन्त्र्य रखा है इसलिये अपनी स्वतन्त्र इच्छासे उसको यह यज्ञ चलाना चाहिये यह उसका अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है।

मनुष्यका जीवित जगत्‌के ऊपर अवलंबित है जगत्‌के कारण मनुष्य जीवित रहता है इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं जगत्‌की भलाईके लिये अपनी शक्तिका व्यय करे। उदाहरणके लिये देखिये प्राचीन लोगोंके द्वारा लगाये वृक्षोंके फल मनुष्य खाता है अतः मनुष्यका कर्तव्य होता है कि वह स्वयं नये वृक्ष लगावे जिनके फल भविष्यमें आनेवाले मनुष्य खा सकें। इसी प्रकार प्रत्येक व्यवहारमें आत्म समर्पणके विषयमें जानना चाहिये। मनुष्यका जीवन यज्ञमय होना चाहिये ऐसा जो स्थान स्थानपर कहा है इसका प्रधान हेतु यह है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो यज्ञ शब्द है वह आत्मसमर्पणरूप सामान्य यज्ञका वाचक है। द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ ज्ञानयज्ञ आदि उदाहरण इस सामान्य यज्ञके ही हैं। होमहवनरूप यज्ञ जो किये जाते हैं वे इस आत्मसमर्पणके उपलक्षण मात्र हैं।

गुप्त दान

होमहवन यज्ञका एक उपलक्षण है। जैसा यज्ञमें चन्दन की समिधा जलाई तो उसकी सुगंधि चारों ओर फैलती है। अनेक लोग उस सुगंधिसे आनन्दको प्राप्त करते हुए भी उनको पता नहीं होता कि उनको किस दाताने सुगंधि दी है और यजमान हवन कर्ताको भी पता नहीं होता कि किन को मैंने सुगंधि पहुंचाई है। दाताको लेनेवालेका पता नहीं और दान लेनेवालोंको दाताका परिचय नहीं। इस प्रकारका परम उच्च दानविधि यज्ञसे साध्य होता है। दाताके मनमें प्रत्युपकार लेनेकी इच्छा ही नहीं। इस उच्च रीतिका दान देनेकी विधि इस हवनसे दर्शायी है। भगवद्गीतामें आगे द्रव्ययज्ञ ज्ञानयज्ञ आदि अनेक यज्ञ कहे जायेंगे उनमें होनेवाला दान इस प्रकारका गुप्त दान होना चाहिये। यह यज्ञके दानकी एक विशेषता है। इसको पाठक न भूलें।

कर्मसे यज्ञ

(यज्ञः कर्मसमुद्भवः) कर्मसे यज्ञ होता है। यह कथन हरएक यज्ञके विषयमें सत्य है। यज्ञ एक प्रशस्ततम कर्म है। अतः जो मनुष्य कर्म नहीं करेगा उससे यज्ञ होगा ही नहीं और न होमहवन अथवा द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ ज्ञानयज्ञ अथवा दूसरा कोई यज्ञ होगा। यह तो कर्म करनेपरही सिद्ध होगा। आलसी रहनेपर न कोई कर्म होगा और न यज्ञ। अतः मनुष्य कर्म करे और वे कर्म यज्ञरूप बनावे।

ज्ञानसे कर्म

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) कर्म ज्ञानसे किया जाता है। ब्रह्म शब्दका अर्थ यहां कर्मकी विधिका ज्ञान है। आत्मज्ञान मोक्षज्ञान आदि ब्रह्म शब्दका अन्य अर्थ यहां नहीं है। विविध कर्मों और यज्ञोंके करनेकी विधिका ज्ञान

यहांके 'ब्रह्म' शब्दसे वेद लेना चाहिये। इस ज्ञानके बिना कोई कर्म यथायोग्य करना असंभव है। वेदादि ग्रंथोंमें इस कर्मकी विधिका ज्ञान दर्शाया है अतः वेद और वेदमंत्रोंको ब्रह्म कहते हैं। जिसमें सब कर्मोंका उपदेश है, वह ज्ञान ब्रह्म शब्दसे यहां लेना उचित है।

कई विद्वान् यहांके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ प्रकृति करते हैं और 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' इसका अर्थ कर्म प्रकृतिसे होता है ऐसा अर्थ करते हैं। यह अर्थ भी सुसंगत है और इसमें किसी प्रकार विरोध नहीं हो सकता। जैसे भगवद्गीतामें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(भ. गी. १४।३)

मेरी (ब्रह्म) बडी प्रकृति उत्पन्न करनेवाली है उसमें मैं गर्भ रखता हूं उससे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसा कहा है। यहां ब्रह्म शब्द प्रकृतिके अर्थमें है। यही अर्थ यहां लेनेसे यह अर्थ होता है। तथा महाभारतमें कहा है कि–

यज्ञो यज्ञस्य हर्तैव यो यज्ञस्य फलेप्सया ॥ ३९ ॥
अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा ॥ ३८ ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः ॥४०॥

(म. भा. शां. अ. १८,

यज्ञ वह है कि जिसमें फलकी अपेक्षा न रखते हुए यज्ञादि किया करते हैं। यज्ञके पीछे सब जगत् है और सब जगत्के पीछे यज्ञ है। यज्ञके बिना इस लोक और परलोक किसी भी कालमें सद्गति नहीं होती। इस स्थानपर यज्ञ और जगत् परस्परके अनुसारी हैं ऐसा कहा है इससे भी पता चलता है कि प्रकृतिस्वभावसे कर्म और कर्मसे यज्ञ सिद्ध होता है। शरीरका स्वभाव धर्म कर्म करना है इस कर्मको यज्ञरूपमें परिणत किया तो उद्धार होगा और यह कर्म अयज्ञरूप बना तो अपकार होगा। अस्तु। इस तरह यहां ब्रह्म शब्दका अर्थ प्रकृति लेना भी योग्य है। परन्तु हमारे मतमें यहां कर्मविधिका ज्ञान यह अर्थ है। पाठक इसका अधिक मनन करें।

अक्षरसे ज्ञान

(ब्रह्माक्षरसमुद्भवं ब्रह्म) अक्षरसे ज्ञान होता है। यहां अ-क्षर शब्दसे अव्यय आत्मा लेना चाहिये। आत्मासे ज्ञान प्राप्त होता है। आत्माकाही गुण ज्ञान है। चित्स्वरूप आत्मा है इसलिये उससे ज्ञान प्रकट होता है। कर्मविधिका ज्ञान और मोक्षोपायका भी ज्ञान इसी सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मासे प्राप्त होता है। यही बात उपनिषद्में इस प्रकार कही है—

आत्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वम्॥ (छां. उ. ७।२६)

आत्मासे बल विज्ञान ध्यान चित्त संकल्प मन वाणी नाम मन्त्र कर्म आदि सब होता है। यही भगवद्गीताकी ही बात बतायी है। मानो यह छांदोग्यका विधान गीताके विधानका स्पष्टीकरण है। क्योंकि यहां आत्मासे मन वाणी नाम मंत्र कर्म इस क्रमसे प्रकट होते हैं, ऐसा कहा है और गीतामें केवल अक्षरसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म इतनाही क्रम दर्शाया है अतः पाठक इस उपनिषद्वचनके साथ भगवद्गीताके वचनकी तुलना करें और आत्मासे किस क्रमसे कर्म होते हैं, इसका विचार करें।

यज्ञमें परमात्मा

इतना क्रम बतानेका हेतु यह है कि यज्ञमें परमात्माकी उपस्थिति है, यह बात पाठकोंके मनमें आ जाय। इसलिये अन्तमें कहा है कि—

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें नित्य उपस्थित होता है। *जहां यज्ञ चलता है वहां परमात्मा है ऐसा समझना चाहिये।* जहां पूर्वोक्त कथनके अनुसार सत्कार-संगति दानात्मक कर्म आदर-संगठन और उपकारक प्रकार कर्म होते हैं वहां सर्वव्यापक ईश्वर रहता है। अतः अपने पास सदा परमेश्वरकी उपस्थिति हो ऐसी किसीकी इच्छा हो तो वह ऐसे प्रशस्ततम कर्म करता रहे। जबतक किसी मनुष्यसे ऐसे शुभ कर्म होते रहेंगे तबतक परमेश्वर उसके समीप रहेगा। परमात्माको अपने पास नित्य रखनेका यही एकमात्र उपाय है परमेश्वर-प्राप्ति निःसंशय होनेका भी यही एकमात्र उपाय है। इसलिये आगे कहा है कि–

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः । अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्तयति, सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार चलाये हुए यज्ञचक्रके अनुसार जो मनुष्य इस लोकमें आचरण नहीं करता वह इंद्रियोंके आराममें रमनेवाला मनुष्य पापमय आयुवाला होकर व्यर्थ जीता है ॥ १६ ॥

भावार्थ-- इस तरह यह विश्वव्यापी यज्ञचक्र चल रहा है। जो अपना आचरण इसके अनुकूल करेगा वह यज्ञरूप बननेके कारण पवित्र होगा परन्तु जो अपना जीवन इसके अनुकूल नहीं बनायेगा और जो अपने इंद्रियोंके आराममें रमनेका यत्न करेगा उसका जीवन पापी बननेके कारण व्यर्थ जायगा ॥ १६ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।
(भ. गी. १८।४६)

' जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सबको व्याप्त किया है उसकी पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करनेवाला मनुष्य अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मनुष्यको जो जो कर्तव्य है वह उत्तम रीतिसे करके और उसका फल परमात्माको समर्पण करके मनुष्य कृतकृत्य बन सकता है। अतः आगे यह कर्मका चक्र सतत घुमानेके लिये कहते हैं, वह वचन अब देखिये-

(१६) इस अध्यायके श्लोक १ से १५ तक के ... श्लोकोंमें विश्वव्यापी यज्ञचक्रका वर्णन किया है। यह यज्ञ चक्र परमात्माद्वारा (प्रवर्तित) चलाया जा रहा है। मनुष्यसे भिन्न जितनी भी सृष्टि है वह सबकी सब सृष्टि इस यज्ञचक्रके नियमानुसार परमेश्वरद्वारा चलाई जा रही है। परंतु मनुष्यमें विशेष बुद्धि रखी है अतः उसमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति है। चाहे वह मनुष्य इस यज्ञचक्रके अनुकूल अपना आचरण रखे या न रखे, यह सब इसकी इच्छापर निर्भर है। यदि वह मनुष्य इस विश्वव्यापी यज्ञचक्रके अनुकूल अपना आचरण रखेगा तो वह सुख प्राप्त करता हुआ अन्तमें परम पदको प्राप्त करेगा और यदि वह इस यज्ञचक्रके प्रतिकूल अपना व्यवहार करेगा तो उसको न सुख प्राप्त होगा और न उत्तम गति मिलेगी। मनुष्य और अन्य सृष्टिमें इतना भेद है।

यहां कई पूछेंगे कि यदि मनुष्यसे भिन्न अन्य सृष्टि यज्ञचक्रके अनुकूल आचरण कर रही है तो उसकी मुक्ति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि ' स्वयं प्रेरणासे किये हुए कर्मसे ही मुक्ति हो सकती है। जैसा किसी व्याघ्रने किसी गायका वध किया और उसको खा लिया तो उसमें गायका आत्मयज्ञ नहीं है। आत्मयज्ञ तो तब होगा कि जब गाय अपने आपको स्वेच्छासे व्याघ्रके लिये समर्पित करे। किसी दूसरेके नियमके वशीभूत होकर पराधीनतासे यज्ञ न किया जावे। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको परास्त करके उसको लूटता है, उस अवस्थामें लूटे गये राष्ट्रको आत्मसर्वस्वसमर्पणका पुण्य नहीं लग सकता, परंतु यदि किसीने जगत्के उद्धारके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण किया तो वह पुण्यात्मा बन जाता है। अर्थात् किसीका घर डाका डालनेवालोंने किसी समय लूट लिया तो सर्वमेध नामक यज्ञ करनेका पुण्य उस घरवालेको नहीं प्राप्त होगा परंतु यदि वह गृहस्थी अपना सर्वस्व दीनोंके उद्धारके लिये स्वेच्छासे समर्पण करेगा तो ही वह पुण्यका भागी बनेगा।

दूसरोंसे करा जाता ... पराधीनताका लक्षण " है और पराधीनतासे उन्नति नहीं हो सकती। अशक्त मनुष्य यज्ञ नहीं कर सकता। जो जिसके पास बल होगा, उसका वह दूसरोंकी भलाईके लिये करेगा। जिसके पास ज्ञानका बल है वह ज्ञानयज्ञ करेगा जिसके पास बाहुबल है वह दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंका यज्ञ करेगा, जिसके पास धनका बल है वह दीनोंके उद्धारके लिये अपने धनका यज्ञ करेगा। इसी प्रकार जो बल जिसके पास होगा, उसका यज्ञ वह कर सकेगा। जिसके पास कोई बल नहीं वह कोई यज्ञ कर नहीं सकता। इसलिये यज्ञ करनेके लिये किसी न किसी प्रकारका बल अपने पास संपादित करना चाहिये तत्पश्चात् यज्ञ करनेका अधिकार उसको प्राप्त होगा।

आगे अनुवर्तिभ्यायमें भी १५ से १ तकके ... श्लोकोंमें कई प्रकारके यज्ञ कहे हैं वे सबके सब यज्ञ ...

मनुष्यही कर सकता है। बलहीन मनुष्य अथवा निर्बल राष्ट्र तुच्छ माने योग्य ही है क्योंकि वह यज्ञ नहीं कर सकता। अतः उन्नतिकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह अपने पास कोई न कोई बल धारण करनेका यत्न करे और पश्चात् उस बलका परोपकारार्थ यज्ञ करे। इस तरह यज्ञमें स्वयं प्रेरणासे आत्मशक्तिका त्याग अभीष्ट है।

जो जगत्में परमात्माद्वारा यज्ञ हो रहा है उसमें परमात्माके नियम कार्य कर रहे हैं और मनुष्यसे भिन्न सब प्राणी परवश होकर उस यज्ञचक्रमें घूम रहे हैं इस कारण यद्यपि वे मुक्त नहीं हो सकते तथापि जीवसृष्टिमें उन्नत होते होते जीव मानव योनिमें प्राप्त होते हैं। इन सबकी यह उन्नति इसीलिये हो रही है कि ये सब परमात्माके यज्ञचक्रके अन्दर रहते हैं। जब मनुष्य-योनिमें जीव आता है तब वह अपने प्रयत्नसे अपनी परम उन्नति करनेका अधिकारी बनता है। अतः इस स्वतंत्र मनुष्यके लिये इस श्लोकमें उपदेश दिया है कि– "हे मनुष्य! तू स्वतन्त्र है तू यत्न करेगा तोही तेरी उन्नति आगे होगी। तू प्रयत्न करेगा मुक्तिके लिये खड़ा होगा तभी परमात्मा तेरे रथपर सारथी होकर तेरी सहायता करेगा। अतः तू इस विश्वव्यापी यज्ञको अपने आचरणमें धारण कर अपना आचरण यज्ञरूप बना और पुण्यात्मा बनकर परम उन्नति प्राप्त कर।

यही परमात्माके आत्मयज्ञका आदर्श इसके सम्मुख आता है। परमात्माके आत्मयज्ञसे ही सृष्टिकी रचना हुई है। परमात्माने अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक यज्ञ किया इसीलिये परमात्माको परम उच्च कहते हैं अर्थात् परम यज्ञके साथ परमोच्चता संबंधित है। ब्रह्मके यज्ञके विषयमें इस प्रकार कहा है—

> ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताऽहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति॥ (श. ब्रा. १३।७।१)

११ (हिं. गी.)

स्वयंभु ब्रह्म एक समय तप करने लगा। उसने देखा कि तपमें सचमुच अनन्तता नहीं है। इसलिये मैं अपने आपका सब भूतोंमें और सब भूतोंका अपने आत्मामें यज्ञ करूंगा। पश्चात् उसने अपने आपका सब भूतोंमें और आत्मामें सब भूतोंका यज्ञ किया। इस आत्मसमर्पणरूप यज्ञसे उसने श्रेष्ठता स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया। इसी प्रकार जो आत्मसर्वस्वका यज्ञ करेगा उसको श्रेष्ठता स्वाराज्य और आधिपत्य निःसन्देह प्राप्त होगा।

इसी प्रकार विश्वकर्माके आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेका वर्णन निम्नलिखित वचनमें है। देखिये–

> विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार॥ १०॥ तदभिवादिन्येषर्गभ्यवदति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति॥ ३॥
>
> (निरुक्त दै. १०।२६)

"विश्वकर्मा भौवनने सर्वमेध यज्ञमें प्रथम सब भूतोंका और अन्तमें अपने आत्माका भी यज्ञ किया। इस विषयका वर्णन 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' (ऋ. १०।८१।१) इस मन्त्रमें है। अब वह मन्त्र देखिये —

> य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ (ऋ. १०।८१।१)

हमारा (पिता) परम पिता (ऋषिः) सर्वसाक्षी विश्वकर्माने पहिले अपने सब भूतोंका यज्ञ किया और पश्चात् अपने आत्माका यज्ञ करनेके लिये (न्यसीदत्) बैठ गया। वह (आशिषा) अपनी शुभेच्छासे सबको धन प्राप्त हो ऐसी इच्छा करता हुआ यद्यपि वह (प्रथमच्छत्) मुख्य स्थानमें रहनेका अधिकारी था तथापि (अवरान् आविवेश) नीच स्थानमें रहनेवालोंके पास पहुंचा। इस प्रकार उसने यज्ञ किया।

आत्मयज्ञ यही है। यह जगत् परमेश्वरका निवास है और ये सब भूत उसके हैं। इस परमेश्वरने इस अपने सब ऐश्वर्यका यज्ञ किया। पहिले उसने ये सब भूतमात्र पदार्थमात्र सबकी भलाईके लिये तैयार किये अर्पण किये और पश्चात् उस सर्वसाक्षी पिताने सबकी भलाईके लिये अपने आपका

(७) अनासक्तिसे कर्म

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन । न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९॥

अन्वय– यः तु मानवः आत्मरतिः एव आत्मतृप्तः च आत्मनि एव च सन्तुष्टः स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥ इह कृतेन तस्य अर्थः न एव, अकृतेन (अपि) कश्चन तस्य (अर्थः) न (तथा) सर्वभूतेषु च अस्य कश्चित् अर्थ-व्यपाश्रयः न ॥ १८ ॥ तस्मात् (त्वं) असक्तः (सन्) सततं कार्यं कर्म समाचर हि पुरुषः असक्तः (सन्) कर्म आचरन् परं आप्नोति ॥ १९ ॥

समर्पण कर दिया । इसमें उसकी इच्छा यही थी कि सबको उत्तमसे उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो । इसी एकमात्र परोपकारकी कामनासे उसने स्वयं परमोच्च स्थानमें विराजमान होनेका अधिकार होते हुए भी नीचसे नीच स्थानमें आकर निवास किया ताकि सब भूत उन्नत हों, सब स्थानमें आनन्द रहे और सर्वत्र शांति स्थापन हो । इस परमात्माका आत्मयज्ञरूप महान् आदर्श श्रीमद्भगवद्गीताके इस उपदेशमें है । तथा आगे भगवद्गीतामें इसी अध्यायमें कहा है कि—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ (गी. ३।२२)

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका नहीं है । जो प्राप्त करनेयोग्य है वह न मिला हो ऐसा भी नहीं है तथापि मैं यज्ञकर्ममें लगा ही रहता हूं । यही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका आत्मयज्ञ है । पूर्ण आप्तकाम होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये कर्ममें आत्मसमर्पण करनेका भाव आत्मयज्ञ है । यह यज्ञ स्वयंभु ब्रह्माने विश्वकर्माने और भगवान् श्रीकृष्णने किया । इसलिये ब्रह्मा विश्वकर्मा और श्रीकृष्ण इनका महत्त्व सब गाते हैं । जो इस तरह आत्मयज्ञ करेंगे वे भी इसी तरह महत्त्वके भागी बनेंगे वे श्रेष्ठ बनेंगे वे स्वराज्य प्राप्त करेंगे और वे ही आधिपत्यके योग्य समझे जायेंगे ।

वेद और ब्राह्मणोंमें जिस आत्मसमर्पणरूप यज्ञका इस प्रकार वर्णन है वही इस भगवद्गीताके इस १६ वें श्लोकमें कहा है । परमात्मा विश्वकर्मा आदिके यज्ञपर संपूर्ण जगत् की स्थिति अवलंबित है । अतः जो मनुष्य उस परमात्मा के यज्ञके साथ साथ अपना जीवन यज्ञमय करेगा वह भी उसी प्रकार श्रेष्ठ होगा वही नरका नारायण बनेगा और पुरुषका पुरुषोत्तम बनेगा ।

इस श्लोकमें पापी और पुण्यात्मा कौन होता है, इसका उत्तम रीतिसे कथन हुआ है, वह विषय अब देखिये–

अघायु	पुण्यायु
पापी जीवन	पुण्य जीवन
इन्द्रियाराम	इन्द्रियसंयमी
चक्रं न अनुवर्तयति	चक्रं अनुवर्तयति
स मोघं जीवति	स सफलं जीवति

जो मनुष्य अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है, इन्द्रिय वश करता है परमेश्वरीय महायज्ञमें आत्मार्पण करता है वही सफल जीवन व्यतीत करता है । इससे विपरीत जो स्वार्थका जीवन व्यतीत करता है उसका स्वार्थसंपूर्ण जीवन सुखपूर्ण है ऐसा यद्यपि कुछ समयतक दिखाई देगा तथापि उसके पापी जीवनका भयानक दुष्परिणाम किसी न किसी समय उसको भोगनाही पडेगा इसमें तिलमात्र सन्देह नहीं है ।

कौन पुण्यात्मा है और कौन पापात्मा है इसकी परीक्षा करनेकी यही कसौटी है । जो सर्व भूतोंका हित करनेके लिये अपनी आहुति देता है वह पुण्यात्मा है और जो अपने हितके लिये सब भूतोंकी आहुति देता है वह पापात्मा है । राक्षसी वृत्तिवाले पापात्माओंकी कुछ समय बढती चलती भी है तथापि उससे मोहित होना योग्य नहीं है कुछ समय के बाद पापात्माकी दुर्गति होनेका और यज्ञरूप जीवन करनेवाले पुण्यात्माकी शुभ गति होनेका अनुभव आ जाता है । इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपना जीवन यज्ञमय बनानेका यत्न करे और अपने जीवनको कृतार्थ बनावे । इसी विषयका प्रतिपादन आगेके तीन श्लोक करते हैं । यह बोधप्रद विषय अब देखिये—

जो मनुष्य आत्मामेंही रमता है आत्मासेही तृप्त होता है और आत्मामेंही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता ॥ १७ ॥ यहां जैसा कर्म करनेमें उसका कोई स्वार्थ नहीं होता वैसा ही कर्म न करनेमें भी उसका कोई स्वार्थ नहीं होता है। उसी प्रकार सब भूतोंसे भी उसका कोई निजी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १८ ॥ इस कारण तू संगरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करता रह। आसक्तिरहित होकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्यही परम पदको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिसकी रति तृप्ति और सन्तुष्टि किसी बाह्य पदार्थपर अवलंबित नहीं है परन्तु वह उसको अपने अन्दर ही अंदर प्राप्त होती है उसके लिये कोई कर्तव्य करनेका अवशिष्ट नहीं होता है। *अर्थात् वह कृतकृत्य हुआ होता है॥* इस कारण कर्म करनेसे भी उसको कुछ प्राप्तव्य नहीं होता और न करनेसे भी उसकी कुछ हानि नहीं होती। उसके लिये कर्म करना अथवा न करना समान ही होता है, क्योंकि किसी बाह्य वस्तुके साथ उसका निजी स्वार्थका सम्बन्ध स्वल्प भी नहीं होता। वह अपने अन्दर पूर्णताका अनुभव करता है ॥ इस कारण मनुष्य आसक्ति छोडकर कर्म करता रहे क्योंकि संग छोडकर कर्मका आचरण करनेवाला मनुष्य ही परम श्रेष्ठ मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १७-१९ ॥

मनुष्यकी कृतकृत्यता

(१७-१९) जबतक मनुष्यकी तृप्ति, सन्तुष्टि और रतिके लिये बाह्य पदार्थोंकी और बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है तबतक वह कृतकृत्य हुआ नहीं होता। प्रत्येक साधारण मनुष्य अपने अन्दर अपूर्णता न्यूनता अथवा कमी का अनुभव करता है और रातदिन उसकी पूर्णता करनेके यत्नमें तत्पर रहता है। इसीलिये इसको कर्म करना अत्यंत आवश्यक होता है। क्योंकि कर्मके बिना सुखके साधन इसको प्राप्त नहीं होते और सुखसाधनोंके अभावमें वह दुःखोंसे सदा तडपता रहता है। मनुष्यकी अपूर्णताका यही लक्षण है कि वह सदा अतृप्त रहता है असंतुष्ट दीखता है और सतत बेचैनसा रहता है। रातदिन कर्म करता है आसक्तिसे भोगोंके साधन अपने पास इकट्ठे करता है एक भोगके बाद दूसरा भोग दूसरेके पश्चात् तीसरा इस प्रकार विश्राम न लेता हुआ भोगोंमें रत होता है। कर्मोंसे भोग साधनकी प्राप्ति भोग-साधनोंसे भोग और भोगोंसे क्षणिक सुख सुखके पश्चात् फिर दूसरे भोगोंके लिये कर्म इस प्रकार कर्मभोगके चक्रमें साधारण मनुष्य सदा फंसता है। इस चक्रसे बाहर होना इसको कठिनसा होता है। ये सब स्वार्थके हेतुसे कर्म हैं जिनमें साधारण मनुष्य फसता है। अपने निजी भोगोंमें फंसनेसे मनुष्य सदा गिरता जाता है और अनेकानेक पातकोंसे ग्रस्त होता है इसकी इन पातकोंसे मुक्ति होनेके लिये क्या उपाय किया जाय इसका विचार शास्त्रकारोंने किया है। वे कहते हैं कि बाह्य पदार्थों अथवा बाह्य भोगोंपरसे आसक्ति हटनेसे अपने आत्मामें ही उन सब भोगोंकी प्राप्ति उसको होती है। वैसाही सिद्ध पुरुष (आत्म-रतिः) आत्मामें ही रत होता है अपने आत्माके साथ वह क्रीडा करता है आत्माके साथ ही वह खेलता है और जो आनन्द साधारण लोग दूसरेके साथ क्रीडा करनेसे प्राप्त कर सकते हैं वह आनन्द अथवा उससे भी अपूर्व आनन्द उसको अपने आत्माके साथ क्रीडा करनेसे मिलता है। इसी विषयमें उपनिषदोंमें इस प्रकार कहा है—

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोप
रिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत
आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष
एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरति
रात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्
भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।
अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्य
लोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो
भवति ॥　　　　(छां० उ० ७।२५।२)

“आत्माका आदेश ऐसा है आत्मा नीचे, ऊपर पीछे आगे दायीं और बायीं ओर है। आत्माही यह सब है। जो ऐसा देखता है ऐसा मानता है और ऐसाही अनुभव करता है वह (आत्मरतिः) आत्मामें रमनेवाला (आत्म क्रीडः) आत्माके साथ क्रीडा करनेवाला (आत्ममिथुनः) आत्मासे ही दूसरेके संबन्धसे प्राप्त होनेवाला सुख प्राप्त करनेवाला होनेके कारण उसको (आत्मानन्दः) आत्मासे ही

*

सब आनन्द प्राप्त होते हैं। ऐसा मनुष्य (स्वराट्) पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् पूर्ण मुक्त होता है और सर्व लोकोंमें स्वेच्छासे संचार करनेवाला होता है। परन्तु जो इससे भिन्न भाव अपने पास रखते हैं (अन्य-राजानः) वे दूसरेके अधीन अर्थात् परतंत्र होते हैं उनका क्षय होनेवाला लोक होता है और ऐसे लोगोंकी गति सब लोकोंमें नहीं होती। इस स्थानपर " आत्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स्वराट् " ये शब्द हैं। गीताके " आत्मरति " शब्दका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये उक्त उपनिषद्वचन बहुतही उपयोगी है। तथा और देखिये—

> प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ (मुण्डक ३।१।४)
> शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः॥ (नृ. उत्तर ९)

यह प्राण (आत्मा) ही सब भूतोंके साथ प्रकाशता है इस प्रकार जानता हुआ मनुष्य अधिक वक्तृत्व नहीं करता। यह आत्माके साथ क्रीडा करता है आत्मामें रमता है आत्म की कर्मशक्तिसे युक्त होकर वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ होता है॥ वे शान्त संयमी वैराग्यसंपन्न सहनशील समाहित आत्मरत आत्मक्रीड आत्ममिथुन और आत्मानन्द होते हैं। तथा और देखिये—

> अथ पुरुष प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। (बृ. उ. ४।३।२१)
> अकाममानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो॥ (नृसिं. उत्तर ७, बृ. उ. ४।४।६)

जब यह पुरुष प्राज्ञ आत्मासे घेरा जाता है तब उस को बाहरके किसीका ज्ञान नहीं होता और न अन्दरका किं होता। इसलिये यह रूप (आप्तकाम) शोकरहित अवस्था है और इसको आप्तकाम आत्मकाम अकाम निष्काम कहते हैं इत्यादि वचन हैं जिनका मनन करनेसे आत्म रति शब्दका भाव ध्यानमें आ सकता है। यह आत्मरति तब होगी जब यह (अकाममानः) कामना न करेगा (अकाम) कामनारहित होगा (निष्कामः) निष्काम-भाव अर्थात् किसी स्वार्थकी कामना छोड देगा (आत्मकामः) आत्माकी ही कामना करेगा (आप्तकाम) जिसकी सब कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं जो (आत्मक्रीडः) आत्माके साथही खेलता है जो (आत्मानन्दः) आत्माके आनन्दमें मस्त रहता है जो (आत्ममिथुन) आत्माओंसे जिसको दूसरे पदार्थके संबंधसे प्राप्त होनेवाला आनंद मिलते हैं। ये सब शब्द मनमें रखने और विचार करनेसे " आत्मरति " का अर्थ ठीक तरह ध्यानमें आवेगा। " आत्मतृप्त " और " आत्मनि एव संतुष्टः " इनका अर्थ भी पूर्वोक्त शब्दोंके अर्थोंमें आ चुका है। विशेषतः " आत्मानन्द आत्ममिथुन आत्मक्रीड " इनके अर्थोंके साथ इनके अर्थ संगत होते हैं।

आत्मरति आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि इन तीन शब्दोंमें क्रमशः उत्तरोत्तर अवस्थाका निर्देश है। आत्मरति यह है कि जो एक बार आत्मसाक्षात्कार और आत्मशक्तिका अनुभव आनेपर वही साक्षात्कार सतत रहनेके लिये इच्छा होती है और उसीके लिये प्रयत्न होता है। इसमें मनुष्य रममाण तो होता है परन्तु यह अवस्था पहिली होनेके कारण कुछ अनुभवकी अस्थिरता रहती है। इसका अभ्यास पूरा होनेपर साधकको दूसरी अवस्था प्राप्त होती है जो आत्म-तृप्तिकी अवस्था है। इसमें इसको तृप्त होनेका अनुभव आता है 'इससे अधिक कुछ नहीं चाहिये' ऐसा उसका निश्चय हो जाता है। आत्मरति प्रयत्नसाध्य और उसके बादकी यह आत्मतृप्ति सुसाध्य होती है। इसके पश्चात् आत्मसंतुष्टि की अवस्था है जिसमें बिना आयास सहज और स्थायी संतोष इसको मिलता है। यह परमोच्च अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त होनेपर इसका कोई अन्य इस सन्तोषवृत्तिसे भागी नहीं रहता अर्थात् यह सन्तोष उसका सहज और चिरस्थायी अवस्था सिद्ध होता है। इस श्लोकमें ये जो तीन शब्द हैं वे इस प्रकारके तीन अवस्थाओंके वाचक हैं अर्थात् वे पर्याय शब्द नहीं हैं। स्थिर संतोषवृत्ति होनेके पश्चात् (तरह तरहके न दिखने) उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता क्योंकि वह सिद्ध पुरुष होता है। सिद्ध पुरुष जबतक कर्तव्य कर्म करना आवश्यक होता है एकबार परम पद प्राप्त होकर सहज संतोष वृत्ति स्थिर हो गई तो इसके पश्चात् किस लिये कर्म करना होगा? जो कुछ भी साध्य है उसकी पूर्ण सिद्धता होनेपर और एक भी साध्य अवशिष्ट न रहनेपर कर्तव्य

कर्म नहीं रहता यह बात स्वयं स्पष्ट हो सकती है। यही बात अगले १८ वें श्लोकमें कही है।

(कृतेन तस्य अर्थः न) कर्म करके कुछ अपना स्वार्थ प्राप्त करना है ऐसी बात नहीं। तृप्ति और संतुष्टि होनेपर इसका कोई स्वार्थ रहनेकी संभावना ही नहीं है इसलिये कुछ प्राप्तव्य अवशिष्ट न रहनेके कारण निजी स्वार्थके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं हो सकती। कर्म करनेसे उसको कुछ लाभ होगा अथवा उसकी न्यूनताकी पूर्ति होगी ऐसी भी बात नहीं। यहां कोई कहेगा कि जैसा वस्त्र निर्मल होनेके पश्चात् भी उसकी निर्मलता स्थिर रखनेके लिये उस को बारबार धोना पड़ता है उसी प्रकार आत्मसंतुष्टि प्राप्त होनेके पश्चात् वह स्थिर रखनेके लिये उसको कर्म करने पड़ेंगे और यदि वह य कर्म न करेगा तो उसकी आत्मसन्तुष्टिकी अवस्था हटेगी। परन्तु यह शंका ठीक नहीं क्योंकि (अकृतेन अपि तस्य अर्थः न) कुछ कर्म न करनेसे भी उसकी हानि नहीं है। एकवार आत्मसंतोषकी अवस्था प्राप्त होनेपर वह स्थिति स्थिर रहती है और कभी कम नहीं होती अतः कम न होनेके कारण उसकी स्थिरताके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता भी नहीं होती।

कर्म करनेसे उसका कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं होती और कर्म न करनेसे उसकी कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इसीलिये दोनों अवस्थाओंमें यह आत्मसंतुष्ट मनुष्य एकरूप रहता है। जैसा महासागर अनेक नदियोंसे उसमें पानी भरनेपर भी भरता नहीं और अवर्षण होनेपर भी सूखता नहीं (भ० गी० २।७०) उसी प्रकार यह पूर्ण पुरुष अथवा सिद्ध पुरुष कर्म करनेपर अथवा न करनेपर एक जैसा रहता है इसीलिये उसको आत्मसन्तुष्ट कहते हैं। इसकी सन्तुष्टि किसी बाह्य साधनसे नहीं होती, परंतु अन्दरसेही होती है। आत्मा इसके पास सदा रहताही है इस कारण आत्मासे प्राप्त होनेवाला संतोष उसको सदा प्राप्त होता है। जब अन्दरसेही आनन्दका स्रोत बहने लग जाय तो फिर उसके पास किस बातकी न्यूनता होगी? इसी कारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सकता।

जो सिद्ध पुरुष होता है (सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न) इसका स्वार्थ किसी भी वस्तुके संबन्धसे नहीं होता। साधारण लोगोंको तो यह अनुभव है कि उनको जगत्‌के विविध पदार्थ प्राप्त करनेसे और उनके भोग भोगनेसे सुख मिलता है। परंतु जिसको आत्माका साक्षात्कार हुआ और सहजही आत्मसंतोष प्राप्त हुआ उसके सब आनन्द उसको आत्मासे प्राप्त होते हैं। देखिये—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं
विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः
स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत
आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्म
तोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो
ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो
मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा
आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥
तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं
नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्व
माप्नोति सर्वशः इति० ॥ २ ॥

(छां० उ० ७।२६)

इस प्रकार आत्मानुभव लेनेवालेको आत्मसेही प्राण, स्मरण, तेज, जल, आविर्भाव तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म और सब कुछ प्राप्त होता है। इस विषयमें ऐसा श्लोक है— इस आत्माका दर्शन करनेवालेको मृत्यु रोग और दुःख नहीं होता। वह सब देखता है और सब प्रकार सबको प्राप्त करता है। यदि उसको आत्मामेंही अपने अन्दरसेही सब कुछ संपूर्ण आनन्द प्राप्त होता है तो फिर उसको किस उद्देश्यसे कर्म करनेकी आवश्यकता होगी? इसीलिये पूर्व श्लोकमें कहा है कि (तस्य कार्यं न विद्यते) उसके लिये कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता यह कृतकृत्य होता है यह पूर्ण बनता है।

यह पूर्णता किस तरह प्राप्त होती है? इस प्रश्नका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है। उसमें कहा है कि (असक्तः कार्यं कर्म समाचर) आसक्ति छोड़कर कर्तव्य कर्म कर। आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाला परम पदको प्राप्त करता है। (परं आप्नोति) पर अर्थात् उत्तम अवस्था प्राप्त करता है। आसक्ति छोड़कर कर्म करनेके विषयमें इसी अध्याय[illegible]

पाठक यह विषय वहाँ विशेष रूपसे पढ़ें। यहाँ कर्मका फल अपने लिये न लेकर उसका अनन्तके निमित्त त्याग करनेका नाम आसक्ति छोड़ना है। इसीका नाम परार्थ परमार्थ है। और फल अपने लिये ही रखनेका नाम स्वार्थ है। फलका भोग स्वयं करनेसे परम पद नहीं प्राप्त होता परंतु उसका यज्ञ करनेसे अर्थात् जगत्‌हितके लिये अर्पण करनेसेही परम पद मिलता है।

साधारण मनुष्य जो सिद्ध नहीं बना उसके लिये आवश्यक है कि वह फलका त्याग करनेकी सीखे। फलका त्याग करनेसेही मनुष्यकी पूर्णता होती है। फल अपने भोगके लिये रखनेसे आत्माकी शक्ति संकुचित होनेके कारण गिरावट होती है और फलपर अनासक्ति रखनेसे अर्थात् फलका यज्ञ करनेसे किंवा फलका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेसे इसके आत्माकी शक्ति बढ़ती है। (अनासक्ति त्याग आदिके विषयमें म० गी० अ० २ श्लो० ४ से अन्ततककी संपूर्ण व्याख्या पढ़िये। वहाँ अनासक्तिका विषय बहुत विस्तारसे कहा है।)

म० गी० अ० ३ श्लोक १८ के समान उपदेश अन्य शास्त्रोंमें भी है। वह अब देखिये-

तस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥
(योगवा० ६ उ० ११९।७)

ज्ञानीका कर्मोंका त्याग करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता है और कर्मोंके करनेसे भी कोई प्रयोजन नहीं होता। वह जहाँ जैसी अवस्थामें रहता है, वहाँ वैसी अवस्थामें जो जो कर्म आ पड़े वह वैसाही करता है। तथा और इसी उपदेशके उपसंहारमें कहा है-

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥
(योगवा० ६ उ० ११९।१७)

कर्म करनेसे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है और न करनेसे भी नहीं है। कर्म करना और न करना मेरे लिये एकसा है। जो प्राप्त होता है उसी में रहता हूं। कर्म न करनेका भी आग्रह क्यों किया जाय ? यहां पाठक देखें कि इन दोनोंमें से और पूर्वोक्त " नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन " इस गीताके श्लोकार्धके समान ही है। इसमें शब्दोंका भेद है परन्तु अर्थका भेद कोई नहीं है। और देखिये-

कृतार्थो न मास्त्यं स्यादमयश्यनुष सदा।
मताऽसकृतयथा सुख अनर्थ कम अनुमि॥
(अष्टावक्रगीता १२।१८)

सब प्राणियोंके द्वारा इस प्राणी पुरुषका कुछ प्रयोजन सिद्ध करना नहीं होता, अतः सारोंको अपने अपने कर्म आसक्ति छोड़कर ही करने चाहिये। '

इस तरह गीताके सिद्धान्तोंके समानही उपदेश अन्यान्य शास्त्रोंमें पाया जाता है। इन श्लोकोंकी तुलना करनेसे भगवद्गीताके (३।१८) श्लोकका अर्थ भी स्पष्ट सकता है। अस्तु।

सिद्ध अवस्था मुक्ति परमपद परम आनन्द आत्मसन्तुष्टि आदि सब जो मनुष्यके प्राप्तव्य हैं उनको प्राप्त करनेके लिये अनासक्तिसे कर्म करनेकी आवश्यकता है। मनुष्य भोगोंपर और फलोंपर जितनी मर्यादातक अनासक्ति धारण करेगा, उतनीही मर्यादातक उसकी उन्नति होगी। कई लोग कहते हैं कि फलपर आसक्ति नहीं रही तो मनुष्यसे कर्म नहीं होगा। परन्तु यह बात साधारण भोगी मनुष्यके विषयमें ऐसीही है जो मनुष्य उच्च कोटिके हैं, वे तो स्वभावतः ही आसक्ति छोड़े हुए होते हैं और यह करना उनका स्वभाव बनता है उनका जीवन यज्ञरूप बनता है वे जो कुछ करते हैं उनका उद्देश प्राणिमात्रकी भलाई होता है। उनका यह धर्मही बनता है। जैसा सूर्यका धर्म और कर्म प्रकाशना स्वभावसे है उसमें फलासक्तिका भाव थोड़ा भी नहीं है इसी प्रकार प्राणिमात्रपर अनुकंपा करना उनका स्वभाव धर्म होता है। उनके इन कर्मोंके लिये फलकी आसक्ति प्रेरक नहीं होती। वे तो स्वभावसेही वैसे यज्ञ कर्म अनासक्तिसे करेंगे और फलका समर्पण भी वैसाही स्वभावसेही होगा। इस विषयमें कइयोंको संदेह होगा इसलिये भगवान् श्रीकृष्णही अगले श्लोकोंमें कुछ उदाहरण देते हैं और संदेहनिवृत्ति करते हैं। इसलिये अब अगला श्लोक देखिये

(८) जनकका उदाहरण

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय — हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिं आस्थिताः । (त्वं) अपि लोकसंग्रहं एव संपश्यन् कर्तुं अर्हसि ॥ २० ॥

जनक आदिकोंने भी कर्मसेही परम सिद्धि प्राप्त की थी। उसी प्रकार तुझे भी लोकसंग्रहपर दृष्टि रख कर कर्म करना योग्य है ॥ २० ॥

भावार्थ — जनक अश्वपति आदि पूर्वकालके लोगोंने भी इसी प्रकारके निष्काम कर्म करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इन पूर्वजोंका उदाहरण देखकर तथा लोकसंग्रहकी दृष्टि धारण करके सो मनुष्यको कर्म करना अत्यंत योग्य है ॥ २० ॥

(२०) पूर्वश्लोकोंमें अनासक्तिसे कर्म करनेका उपदेश किया है। तात्त्विक उपदेश श्रवण करनेसे मनुष्यके मनमें योग्य परिवर्तन नहीं हो सकता इसलिये उसको उदाहरण देने पड़ते हैं। जिन मनुष्योंने अपने जीवनमें वह उपदेश ढाल दिया था और उसपर इस उपदेशका परिणाम कैसा हुआ था और उनके जीवनचरित्रसे उस समयकी जनतापर क्या परिणाम हुआ इत्यादि बातें उदाहरणरूपसे जब बताई जाती हैं तब वह उपदेश शिष्यके मनमें जम जाता है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके मनपर निष्काम कर्मयोग किंवा अनासक्तियोग का उच्च तत्त्व स्थिर करनेके उद्देश्यसे जनक आदि पूर्वकालके राजा महाराजाओंके उदाहरण देते हैं। जनक अश्वपति आदि इतिहासप्रसिद्ध पुरुषोंने इसी अनासक्तियोगका आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी। उनके उदाहरण सामने रखकर हे अर्जुन ! तू भी वैसा आचरण करके वह परम सिद्धि प्राप्त कर। यदि जनकको यह निष्काम योग सिद्ध हुआ तो दूसरे मनुष्यको भी वह साध्य हो सकता है। इस तरह प्राचीन पुरुषोंके जीवन चरित्रोंका विचार करके अपने जीवनमें योग्य रीतिसे परिवर्तन करना अत्यंत उचित है।

और भी एक प्रबल हेतु है। मनुष्यमें गतानुगतिकत्व रहता है इस कारण जैसा एक प्रतिष्ठित मनुष्य आचरण करता है वैसा उसके अनुयायी करने लगते हैं। विशेषतः नीचोंका अनुकरण तो शीघ्र करते हैं और गुणोंका भी करते हैं। प्रतिष्ठित पुरुषोंपर यह जिम्मेदारी होती है इसलिये उनको उचित है कि वे अपने आचरण शास्त्रमर्यादाके अनुकूल रखें। क्योंकि इन्होंने असदाचरण किया तो उसका बुरा परिणाम उनके अनुयायियोंपर होगा। एक मनुष्यका अयोग्य आचरण हुआ तो कोई डर नहीं है परन्तु उसके दुराचारसे यदि उसके सहस्रों अनुयायियोंका बिगाड़ होने लगा तो उसका विशेष विचार करना चाहिये।

अर्जुन एक प्रसिद्ध वीर पुरुष था। उसके प्रभावके अंदर लाखों मनुष्य थे। अतः जो काम अर्जुन करेगा वैसा ही उसके लाखों अनुयायी करने लगेंगे। इस समय अर्जुन युद्धसे निवृत्त हो रहा था। इस युद्धनिवृत्तिका अर्जुनके मनका हेतु संभवतः उच्च अनुकंपाही होगा परन्तु उसके सब अनुयायी यह आन्तरिक बात नहीं जान सकते थे। वे तो अर्जुनका युद्धसे निवृत्त होनाही देखेंगे और उससे अनुमान करेंगे कि अर्जुनके अनुसार हम भी युद्धसे पीछे हटेंगे। इस प्रकार बाह्य अनुकरण बड़ा विनाशक होता है। अतः ऐसा समझो लोगोंको उचित है कि वे इस जनताकी प्रवृत्तिको जानकर अपना आचरण ऐसा रखें कि जिससे अनुयायियोंमें अयोग्य कर्म करनेकी ओर प्रवृत्ति न हो। इस दृष्टिसे भी अर्जुनको युद्धभूमिसे पीछे हटना योग्य नहीं है प्रत्युत युद्धमें स्थिर रहकर उचित पराक्रम करनाही योग्य है। इससे उसके अनुगामी लोग उसी प्रकार पराक्रम करेंगे और सबके मिलकर किये पराक्रमसे धर्मके पक्षका विजय होगा।

लोक-संग्रह

इससे भी और एक विशेष हेतु है जिस कारण अर्जुनको युद्धसे निवृत्त होना अयोग्य है। वह हेतु है " लोक-संग्रह " करना। लोकसंग्रह का अर्थ है— (१) (लोक) लोगोंका जनताका (सं—) सम्यक् रीतिसे उचित पद्धतिसे (ग्रह) धारण करना संगठन करना; (२) जनताकी भलाई राष्ट्रकी उन्नति जनताका सुधार मनुष्यमात्रको सन्मार्गपर लाना; (३) जनताकी रक्षा राष्ट्रका संरक्षण; (४) लोगोंकी संघटना राष्ट्रीय संघटना; (५) जनताको

(९) लोकसंग्रह

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय — यत् यत् श्रेष्ठः आचरति तत् तत् एव इतरः जनः (आचरति) । सः यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते ॥ २१ ॥

जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है उसी प्रकार अन्य लोग भी आचरण करते हैं। वह पुरुष जो प्रमाण बताता है लोग उसीका अनुकरण करते हैं ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ मार्गसे चलना उनका अनुकरण करना है । इसका नाम लोक-संग्रह है। इस लोकसंग्रहका काम करना भी लोगोंका कर्तव्य है। विशेषतः विशेष अधिकार पर जो होते हैं उनका तो निःसन्देह कर्तव्य है । वस्तुतः हरएक मनुष्यको यथाशक्ति लोकसंग्रह करनाही चाहिये । परन्तु परमेश्वरकी कृपासे जिनकी योग्यता विशेष उच्च है उनको तो अपना आचरण 'लोकसंग्रह' का विचार करकेही करना चाहिये । और इस आचरणसे लोकसंग्रह होगा या न होगा इसका विचार करके जिस आचरणसे लोकसंग्रह होगा उस कार्यको अवश्य करना चाहिये । इसलिये यहां कहा है कि (लोकसंग्रहं एव अपि संपश्यन् कर्तुं अर्हसि) लोकसंग्रहपर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना योग्य है । यदि तुझे स्वयं कुछ प्राप्तव्य नहीं है तो भी लोकसंग्रहके लिये तुझे कर्म करना योग्य है। कर्म करने और न करनेसे किसीका कुछ हानि लाभ नहीं होता हो तथापि इस लोकसंग्रहका भार उसपर होनेके कारण उसको दक्षतासे कर्म करना योग्य है। यही बात महाभारतमें कही है-

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहम् ।
(म. भा. उद्यो. ५११५७)

[नीलकण्ठी टीका — लोकव्यवहाराप्रवृत्तस्य लोकमध्ये स्थितिः सन्त ।]

ऋषि लोग लोकसंग्रहका विचार करनेमें मुख्य हुए थे । अपने शास्त्रोंमें लोकसंग्रहका विषय विशेष महत्त्वका स्थान रखता है । इसलिये इस विषयमें महाभारतमें कहा है -

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥
(म. भा. शां. २५८।२५)

लोकसंग्रहकारक तथा सूक्ष्म प्रसंगोंपर धर्मार्थका निश्चय करनेवाला सत्पुरुषोंका उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेवने ही बनाया है। इस तरह लोकसंग्रहका महत्त्व अति प्राचीन कालसे आर्यग्रन्थोंमें वर्णन किया है। सब जनताका हित करनेके लिये आत्मसमर्पण करनेकी जो उत्तम कल्पना लोकसंग्रह शब्दसे व्यक्त होती है वैसी किसी अन्य शब्दसे या अन्य भाषाके किसी शब्दसे नहीं होती । अथर्ववेदमें ब्रह्मचर्यकी समाप्तिपर लोकसंग्रहका कार्य करनेको कहा है वह यहां देखना योग्य है—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो
दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादु-
त्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥
(अथर्व ११।५।६)

बड़ी बड़ी मूछवाला दीक्षित ब्रह्मचारी समिधाओंसे तैयार होकर [पढाईकी समाप्तिपर] पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक भ्रमण करके (लोकान् संगृभ्य) लोकसंग्रह जनताके हितके कार्य-करता हुआ लोगोंसे (मुहुः आचरिक्रत्) वारंवार धर्मके आचारोंका ग्रहण कराता है। अर्थात् ब्रह्मचारी विद्यासमाप्तिके पश्चात् लोकसंग्रह करनेके लिये देश देशान्तरमें भ्रमण करता है वहांके लोगोंको धर्मोपदेश देकर सुधारता है और संगठित करता है तदुपरान्त घरमें आकर गृहस्थाश्रमका स्वीकार करता है। इतना लोकसंग्रहका महत्त्व वैदिक धर्ममें माना है।

इसी विषयमें आगेके चार श्लोक हैं जिनमें श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं अपना उदाहरण देकर इसी लोकसंग्रहका महत्त्वपूर्ण उपदेश करते हैं। वह मनोरंजक कथामाला अब देखिये —

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अन्वयः—हे पार्थ ! (यद्यपि) मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्तव्यं न अस्ति अनवाप्तं अवाप्तव्यं च न (अस्ति तथापि) अहं कर्मणि वर्ते एव ॥ २२ ॥ यदि हि अहं अतन्द्रितः (सन्) कर्मणि जातु न वर्तेय (तर्हि) हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥ २३ ॥ अहं कर्म न कुर्यां चेत् इमे लोकाः उत्सीदेयुः संकरस्य च कर्ता स्याम् इमाः प्रजाः च उपहन्याम् ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहा है और कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेकी रह गई है ऐसा भी नहीं है, तथापि मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥ २२ ॥ यदि मैं कदाचित् आलस्य छोड़कर कर्ममें न लगा रहूँ तो हे पार्थ ! लोग भी सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार ही चलने लग जायँगे ॥ २३ ॥ यदि मैं कर्म न करूँगा तो ये लोग भी नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे मैं संकरका कर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनोंका नाश करनेवाला भी मैं बनूँगा ॥ २४ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ लोग जैसा व्यवहार करते हैं, अन्य साधारण लोग भी वैसा ही व्यवहार करते हैं। श्रेष्ठोंके आचरणका दूसरे लोग सदा अनुकरण करते रहते हैं। श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते और बताते हैं अन्य लोग भी उसीको प्रमाण मानते हैं। उत्तम पुरुषोंको करनेका कुछ भी कार्य अवशिष्ट न भी रहा तो भी उनको कर्म करनेमें दत्तचित्त होना चाहिये। यदि वे कर्ममें दत्तचित्त न रहें तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करेंगे और कुछ कर्म न करना ही अपना ध्येय बनायेंगे। इस तरह साधारण लोग आलसी बनेंगे और आलस्यसे नाशको प्राप्त होंगे अथवा संकरके दोषसे दूषित होंगे। इस समाजके नाशका दोष श्रेष्ठ लोगोंके कर्म न करनेपर है। अतः समाजहितकी दृष्टिसे श्रेष्ठ पुरुषोंको लोकहितके लिये कर्म अवश्य करना चाहिये ॥ २२-२४ ॥

श्रेष्ठ लोगोंका उत्तरदायित्व

(२२-२४) श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण ही अन्य साधारण मनुष्योंको धर्ममार्गका दर्शक हुआ करता है। उत्तम लोग जैसा व्यवहार करते हैं अन्य लोग उसको देखते हैं और वैसा आचरण करने लगते हैं। अर्थात् साधारण लोगोंकी प्रवृत्ति अन्धानुकरणमें विशेष होती है। अतः यदि श्रेष्ठ लोगोंके आचरणमें थोड़ा दोष हुआ तो उनके अनुयायियोंमें वही दोष बढ़ जाता है। सत्कर्मोंका अनुकरण करना कठिन कार्य है परन्तु दोषोंका अनुकरण सुगम है। क्योंकि सद्गुण उनकी महान् तपस्यासे उनमें बढ़ हुए होते हैं और उनके दोष उनकी कमजोरीके कारण होते हैं। अर्थात् दोषोंका अनुकरण करना अनुयायियोंकी निर्बलताके कारण उनको सहज होता है और सद्गुणोंका अनुकरण करना तपस्याके अभावके कारण साधारण लोगोंसे असंभव होता है। इस लिये श्रेष्ठ पुरुषोंपर बड़ा उत्तरदायित्व होता है।

यही बात अर्जुनके पक्षमें देखिये। अर्जुनके सव्यसाचित्वका अन्य मनुष्योंके लिये अनुकरण करना असंभव है क्योंकि वह बहुत अभ्याससे सिद्ध होनेवाला कर्म है। परन्तु अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है यह देखकर हरएक मनुष्य युद्धसे निवृत्त हो सकता है; क्योंकि यह सहजहीमें हो सकता है। अर्थात् अन्य साधारण लोग अर्जुनका जो अनुकरण करेंगे वह उसकी धनुर्विद्यामें नहीं प्रत्युत उसकी युद्धनिवृत्तिमें। प्रायः अनुकरण करनेवालोंकी प्रवृत्ति ऐसी होती है। अनुकरणकी प्रवृत्ति निर्बलताकी ही द्योतक है और निर्बल मनुष्य बलवानके कार्य कभी कर नहीं सकते। इसीलिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि अपना अन्धानुकरण साधारण लोग करेंगे यह जानकर अपना आचरण विचारपूर्वक करें ताकि उनका अन्धानुकरण करने भी लगें तो भी वह सुधारक मार्गमें चलें और कभी गिरावटकी ओर न झुक सकें।

यूरोपके राजकारणमें एक उदाहरण है कि एक महाराणी

एक पांवमें फोड़ा होनेके कारण और पांवमें दुःख होनेके कारण हाथमें यष्टि पकड़कर लंगड़ती हुई चलने लगी। ऐसा चलना तो उसके लिये उस समय अत्यंत आवश्यक हो गया था। परन्तु उसका चलना देखकर वहांकी अन्य अच्छी स्त्रियां हाथोंमें सोटी लेकर वैसीही लंगड़ने लगी !! और जबतक वह महाराणी अच्छी नहीं हुई तबतक वहांकी सैकडों स्त्रियोंमें लंगड़ते हुए चलनेकी फैशन बन गई थी ! इसका नाम है अन्धानुकरण। सर्वसाधारण मनुष्योंमें यह ऐसाही हुआ करता है। इसीलिये उपनिषद्में कहा है-

> यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः ॥
>
> (तै० उ० शि० ११। ४)

जो हमारे अनिंद्य कर्म होंगे उनका ही तू सेवन कर दूसरे अर्थात् निंद्य कर्मोंका अनुकरण न कर। जो हमारे सुचरित हैं उनकी तू उपासना कर हमारे कुचरितोंका अनुकरण न कर जब तुझे कर्म और आचरणके विषयमें कभी सन्देह उत्पन्न हो जाय तो वहां जो धार्मिक सत्पुरुष होंगे वे जैसा आचरण करेंगे वैसा वहां तू आचरण कर। अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनोंके सुचरितोंका अनुकरण तू कर और कभी कुचरितोंका अनुकरण न कर। महाभारतमें नारायणीयाख्यानमें यही बात कही है—

> यद्यहं नाचरेयं वै कर्मार्ग परमं शिवम् ॥ १४ ॥
> आत्मनो नार्थयत्कामिविधि मे नाधितात्मनः।
> यथा प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥१५॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि— यदि अरदाता महेश्वर शिवकी मैं पूजा न करूं तो मेरे आत्माकी भी पूजा कोई नहीं करेगा। सब लोग मेरे स्वीकार किये प्रमाणका ही अनुकरण करते हैं। यदि श्रीकृष्ण भगवान् स्नान संध्या और देवपूजा न करेंगे तो जगत्के लोग भी इन कर्मोंसे विमुख हो जायेंगे। यह उत्तरदायित्व नेता लोगोंपर है इसलिये उनको उचित है कि वे अपना आचरण उत्तम और निर्दोष रखें।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां अर्जुनको अपना उदाहरण देते हैं। पहिले जनक राजा (अश्वपति राजा) आदिके उदाहरण दिये हैं। उनके विषयमें अर्जुन शंका करेगा कि जनक राजा आदि तो पूर्वकालके राजालोग थे। कौन जान सकता है कि उन्होंने सचमुच वैसा ही आचरण किया था और अन्य प्रकार नहीं किया था ? उनके चरित्रलेखकोंने उनके चरितोंमें न्यूनाधिक किया होगा। कभीलोग विरुद्ध होते हैं और वे वर्णन करते जाते हैं। अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना संभव है इसलिये अर्जुनके सामने अपनाही उदाहरण रखते हैं। वे कहते हैं-' हे अर्जुन ! अन्योंके उदाहरण को अलग रखो और मेराही आचरण देखो। मुझे इस त्रिलोकीके अन्दर मिलनेवाले सब आनन्द और सुख प्राप्त हैं मैं सदा तृप्त और आप्तकाम हूं। मुझे कोई प्राप्तव्य बाकी नहीं है। इस कारण मैं कृतकृत्य हूं। अतः मेरे लिये कुछ कर्तव्य कर्म शेष रहा है ऐसा भी नहीं है। इस तरह कृतकृत्य होकर भी मैं सदा कर्म करता ही हूं। यह जो मैं कर्म कर रहा हूं यह मेरा प्रारब्धकर्म करता हूं धर्मराजके घरके कार्य करता हूं, दुष्टोंका निर्दलन और सज्जनोंका परिपालन करता हूं, धर्मसंस्थापनाके लिये यत्नवान् हूं आलस्यसे मैं जो इन कार्योंमें निरलस वृत्तिसे लगा हूं वह इससे मुझे कुछ प्राप्त करना है इसलिये नहीं। मैंने ये सब कर्म किये अथवा न किये तो भी मेरे आनन्दमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होगा। तथापि मैं जो ये कर्म कर रहा हूं वह केवल लोकसंग्रहपर दृष्टि रखकर ही कर रहा हूं।

क्योंकि यदि मैं इस प्रकारके कार्य न करूंगा और उत्तम पुरुष। कर्तव्योंमें दत्तचित्त न होऊंगा तो सब लोग मेरा अनुकरण करेंगे। मैं कृतकृत्य आप्तकाम और सब प्रकारसे सुखी और आनन्दी होनेके कारण ही यदि कर्म करनेसे निवृत्त हुआ तो भी लोग जो इस समय सब प्रकारसे दुःखी पराधीन त्रस्त और संकटोंसे ग्रस्त हैं, वे भी मेरा अनुकरण करके कर्मसे निवृत्त होंगे और अधिकाधिक दुःखसागरमें डूबे जायेंगे। मैं तो सब प्रकारसे आप्तकाम होनेसे कर्मसे निवृत्त हुआ था परन्तु यह बात तो अन्धानुकरण करनेवालोंके ध्यानमें क्योंकि ध्यानमें भी नहीं आवेगी और मैं कर्मसे निवृत्त हुआ इसीलिये वेभी निवृत्त होंगे। इस तरह यदि हम लोगोंके

लोग कर्महीन बनकर आलस्यमें रहनेके कारण दुःखी होंगे तो उनके दुःखका हेतु निःसन्देह मैं बनूंगा । अतः लोगोंके इस असदनुकरणका दोष मुझे न लग जाय इसलिये मैं अनासक्त होकर दृढ़तासे इन कार्योंको कर रहा हूँ ।

यदि मैंने कर्म करना छोड़ दिया तो इस प्रकार जनता का नाश हो जायगा । किसी भी प्रकार उनका उद्धार नहीं हो सकता और सबका संकर हो जायगा । '

संकरसे नाश

यदि कर्मत्यागसे संकर हो गया तो सब प्रजाओंका नाश हो जायगा और इस नाशका हेतु मैं बनूंगा । मैं तो कभी जनताके नाशका हेतु बनना नहीं चाहता क्योंकि प्रजापालन का मेरा हेतु है और इसीलिये मैं सदा ये श्रेष्ठ कर्म अनुष्ठित करता रहता हूं । हे अर्जुन ! तू भी इस भारत वर्षमें श्रेष्ठ पुरुष है तेरे अनुयायी भी बहुत हैं । इस कारण यदि तू इस प्रकार कर्मसे निवृत्त हुआ तो तेरे अनुयायी भी वैसे ही कर्मसे निवृत्त होंगे और नाशको प्राप्त होंगे । इसलिये इस समय इस युद्धसे निवृत्त होना तुम्हें उचित नहीं है । अतः हे अर्जुन ! तू जिस धर्मयुद्ध करनेके लिये यहां उपस्थित हुआ है वह करना इस कारण तुझे अत्यन्त उचित है ।

इस प्रकार अपनाही उदाहरण लेकर भगवान् श्रीकृष्णजी ने अर्जुनको उपदेश किया है । यह उदाहरण प्रमाण होनेसे अर्जुनके मनमें स्थिर हो सकता है और उसको कोई शंका नहीं हो सकती ।

इस श्लोकमें कर्म छोड़नेसे संकर और संकरसे प्रजा-ओंका नाश होगा ऐसा कहा है । इस विषयमें यहां थोड़ासा अधिक विचार करना आवश्यक है । क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके कर्म छोड़नेसे जनतामें संकरकी उत्पत्ति क्योंकर हो सकती है और उससे उनका नाश भी किस प्रकार हो सकता है यह बात बिना विशेष विचार किये हरएकके ध्यानमें नहीं आ सकती । इसलिये यहां इसका विचार करते हैं ।

मान लीजिये कि किसी एक समाजके श्रेष्ठ लोगोंने कर्म करना छोड़ दिया तो उसका परिणाम क्या होगा सो देखिये ब्राह्मण वर्णके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अध्ययन, अध्यापन यजन और याजन यह कर्म छोड़ दिया तो ब्राह्मण वर्णके अन्य लोग भी उनका अनुकरण करेंगे और अध्ययन तथा यजन करना छोड़ देंगे और वे स्वयं अशिक्षित रहनेसे वे योग्य रीतिसे अध्यापन नहीं कर सकेंगे, इसी तरह वे याजन कराने में भी असमर्थ होंगे । इस रीतिसे ब्राह्मण वर्ण कर्म भ्रष्ट होनेसे उनका ब्रह्मवर्चस् नष्ट होनेसे वे केवल जातिमात्र ब्राह्मण रहेंगे और दुष्कर्मोंसे उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाय गा । इस प्रकार संपूर्ण ब्राह्मणोंका नाश होनेसे सभी अन्य वर्ण पतित होंगे और इस राष्ट्रके पतनका कारण श्रेष्ठ ब्राह्मणों का स्वकर्म छोड़नेमें ही है यह पाठकोंको विदित होगा ।

यदि श्रेष्ठ क्षत्रियोंने राष्ट्ररक्षा आदि अपना कर्म छोड़ दिया तो उनके अनुयायी दूसरे साधारण क्षत्रिय भी उनका अनुकरण करेंगे और अपना शौर्य तेज आदिकी संवृद्धि करने का कार्य छोड़ बैठेंगे । इस तरह क्षत्रियोंके अन्दरके शौर्य तेज वीर्य युद्धकौशल्य आदि सब शुभ गुण नष्ट होंगे अतः ये गुण दूर होनेसे क्षत्रियोंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं हो सकती शत्रुके हमले होंगे और अन्तमें राष्ट्र शत्रुके अधीन होगा । श्रेष्ठ क्षत्रियोंके स्वधर्म छोड़नेसे यह अनर्थ हो सकता है ।

यदि श्रेष्ठ वैश्योंने व्यापारव्यवहार कृषि पशुपालन आदि अपना कर्म छोड़ दिया तो अन्य वैश्यवर्गके लोग भी काम धन्धा नहीं करेंगे और व्यापार व्यवहार बन्द होनेसे धन नहीं प्राप्त होगा राष्ट्रमें निर्धनता बढ़ेगी बेकारीसे सब लोग वृत्तिहीन होंगे कृषि बन्द होनेसे दुर्भिक्ष बढ़ेगा और इस प्रकार सब राष्ट्रका नाश होगा ।

शूद्रोंकि श्रेष्ठ लोगोंने अपनी कारीगरीकी कला-कुशलता छोड़ दी तो राष्ट्रमें कारीगरीकी न्यूनता होगी बेकारी बढ़ेगी और किसीको भी खानेको नहीं मिलेगा और सबका नाश होगा ।

यदि हरएक वर्णके श्रेष्ठ लोगोंने अपना अपना स्वकर्म छोड़ दिया तो इस प्रकार सब राष्ट्रकी अवनति होगी । इसी तरह किसी भी श्रेष्ठ स्थानपर रहनेवाले मनुष्यने अपना कर्तव्य कर्म छोड़ दिया तो भी सब अन्य लोग उसका अनुकरण करेंगे और वही हानि होगी । अकेला श्रेष्ठ ब्राह्मण अथवा अकेला श्रेष्ठ क्षत्रिय अपना कर्तव्य कर्म छोड़ देगा तो केवल उसीका नाश होगा ऐसी बात नहीं प्रत्युत उसके कर्मत्यागके बुरे संस्कार सब अन्य लोगोंपर भी होंगे और सब लोगोंका नाश होता जायगा । श्रेष्ठ लोग जो आचरण करते हैं इतर जन वैसा ही आचरते हैं यह गीता-

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वयः— हे भारत ! अविद्वांसः यथा कर्मणि सक्ताः (कर्म) कुर्वन्ति तथा लोकसंग्रहं चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः (सन् कर्म) कुर्यात् ॥ २५ ॥ विद्वान् कर्मसंगिनां अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत् (किन्तु) युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् ॥ २६ ॥

हे भारत ! अज्ञानी लोग जैसे आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसेही लोकसंग्रहकी इच्छा करनेवाला विद्वान् आसक्ति छोड़कर कर्म करे ॥ २५ ॥ विद्वान् मनुष्य कर्ममें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी लोगोंकी बुद्धिमें कदापि भ्रम न उत्पन्न करे, किन्तु स्वयं समत्वबुद्धि योगका आचरण करता हुआ लोगोंसे सब कर्म प्रीतिसे करावे ॥ २६ ॥

का सिद्धान्त है और पाठक देखेंगे तो इसकी सत्यता सर्वत्र दिखाई देगी ।

इस तरह विचार करनेपर लोगोंके स्वकर्म छोड़नेसे सब राष्ट्रका कैसा नाश होता है इस बातका ज्ञान हो सकता है । अब देखना है कि स्वकर्म छोड़नेसे संकर कैसा होगा । समझ लीजिये कि ब्राह्मणने अपना कर्म छोड़ दिया और क्षत्रियने भी अपना कर्म छोड़ दिया । ब्राह्मण शम दम ज्ञान आदि ब्रह्मवर्चससे रहित हुआ और क्षत्रिय भी शौर्य तेज वीर्य आदिसे रहित हुआ । तो ऐसे गुणकर्म-रहित ब्राह्मण और क्षत्रियका कौनसा धर्म होगा ? पाठक इसका विचार करें । यदि ब्राह्मणकी शान्तता नष्ट हुई उसने अपना ब्रह्मतेज और शान्ति छोड़ दी तो उसको कौन ऋषि और साधु कहेंगे ? ब्रह्मशक्तिसे रहित ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहेगा और युद्ध शस्त्र न करनेवाला क्षत्रिय भी नहीं कहलावेगा । इसी तरह अध्ययन अध्यापन शमदम आदि गुणोंसे रहित ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने योग्य न रहेगा और शौर्य वीर्य आदि गुणोंसे रहित मनुष्य क्षत्रिय नहीं कहलावेगा । यदि इनको ब्राह्मण और क्षत्रिय कहा जाय तो भी वर्णसंकर ही होगा । क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रियोंके गुणोंसे और धर्मोंसे रहित ये ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाना न जलनेवाले पदार्थको अग्नि कहनेके समान संकरकारी दीखता है ।

दूसरी बात इसमें यह है कि यदि इन लोगोंने अपने स्वकर्मका अधिक होनेके कारण छोड़ दिये और दूसरे कर्मोंके कम सुन्दर होनेके कारण करना आरंभ किया तो निःसन्देह कर्मका संकर ही हुआ । और यह बात निश्चित है कि जिस प्रकार आनुवंशिक कृषक जैसी खेती उत्तम प्रकार कर सकेगा वैसी खेती आनुवंशिक ब्राह्मण कर नहीं सकेगा । इसलिये दूसरेका कर्म करनेसे वह वैसा उत्तम नहीं होगा अतः वह खराब होगा और इस कर्मसंकरके कारण सम्पूर्ण राज्यका नाश ही होगा । इसी प्रकार ब्राह्मण घरमें बैठ बैठ कर कर्म करता है इस कारण वह खेतमें सर्दी गर्मी और वृष्टिमें कार्य करने लगा तो बीमार होगा । इसी तरह किसान घरमें बैठा रहेगा तो परिश्रम न होनेसे उसकी पाचनशक्ति बिगड़ जायगी । इसी रीतिसे विभागके व्यु-त्क्रमसे सबका नाश ही होगा । बड़े प्रयत्नसे किसीको लाभ भी हुआ तथापि सबको लाभ न होनेसे संपूर्ण राष्ट्रके हितकी दृष्टिसे इस प्रकारके कर्मसंकरसे राष्ट्रकी बड़ी हानि होगी । अतः जहां कर्मसंकर होता है वहांकी प्रजा अन्तमें नाशको प्राप्त होती है यह बात सिद्ध हो गयी ।

राजाने अपना कर्म छोड़ा, धर्माध्यक्षने अपना कर्म छोड़ा, इनका अनुकरण अन्य लोगोंने किया तो किसीका कोई नियामक न होनेके कारण व्यभिचारादिके भी अनेक दोष उस समाजमें होंगे और इस अनीतिसे भी अन्तमें तेजोहीन बुद्धि होनेके कारण समाजका बड़ा नाश होगा । अर्थात् किसी भी दृष्टिसे देखा जाय तो स्वकर्म छोड़नेसे संकर और संकरसे नाश होगा यह बात निःसंदेह सत्य है । इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंको उचित है कि वे कदापि अपना कर्तव्य न छोड़ें उनको आवश्यक न होनेपर भी लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि रख-कर स्वकर्मका आचरण छोड़कर सदा करते जावें तभी सब राष्ट्रकी सुस्थिति होगी । इसी विषयका खुलासा अगले श्लोकोंमें देखिये—

भावार्थ—अज्ञानी लोग स्वार्थसे फलभोगकी इच्छा रखकर जितनी तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उतनीही तत्परता पूर्वक विद्वान् मनुष्य लोककल्याण करनेकी कामनासे निःस्वार्थ होकर कर्म करे ॥ फलभोगकी इच्छासे कर्म करनेवाले अज्ञानी लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्त हुई बुद्धिमें विद्वान् मनुष्य कदापि संदेह उत्पन्न न करे उनसे वे सब कर्म आनन्दसे करावे परंतु स्वयं समत्व-बुद्धियोगका आचरण करता हुआ अपना कर्म करे ॥ २५-२६ ॥

(२५-२६) लोकसंग्रहका कार्य करनेकी जिम्मेवारी ज्ञानी मनुष्यपर है यह दर्शानेके लिये इस उपदेशका प्रारंभ है। लोकसंग्रहका अर्थ है– 'लोककल्याण जनताकी भलाई राष्ट्रीय उन्नति लोगोंका अभ्युदय और निःश्रेयस्।' लोककल्याणकी साधना करनेके उद्देशसे ज्ञानी मनुष्य लोकसंग्रहके कार्य करे। ज्ञानी मनुष्य तो निरंकुश आत्मसन्तुष्ट तथा इच्छाद्वेषरहित होता है अतः (तस्य कार्यं न विद्यते। भ गी ३।१७) उसके लिये कुछ कर्तव्य नहीं है। कर्म करनेपर भी उसको कोई माहात्म्य नहीं और न करनेसे भी उसकी कोई हानि नहीं ऐसी स्थिति ज्ञानीकी होनेके कारण उसके लिये कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता यह सच है। परन्तु यदि इस प्रकारके सिद्ध पुरुषने कर्म छोड दिया तो साधारण लोग कहेंगे कि देखो यह ज्ञानी मनुष्य है वह कुछ भी कर्म नहीं करता फिर हम भी क्यों करें! ऐसा कहेंगे तथा कर्म छोड देंगे और कर्मत्यागसे उन सबका नाश होगा। यह जनताका नाश करनेका दोष ज्ञानी मनुष्यके कर्मत्यागसे संबद्ध रहता है अतः ज्ञानी मनुष्यका कुछ स्वार्थसाधनके लिये कर्म भले न हो तथापि लोगोंको बुद्धिभ्रंससे बचानेके लिये उसको उचित है कि वह कर्म करे।

अज्ञानी जन फलका भोग (सक्ताः) करनेकी आतुरतासे अत्यंत तत्पर होकर कर्म करते हैं, इनका कर्म भोगेच्छासे होता है जितनी भोगकी इच्छा अधिक उतनी कर्म करने की भी तत्परता अधिक होती है। प्रायः साधारण लोग इसी रीतिसे कर्म करते हैं।

ज्ञानी मनुष्य भी ऐसीही तत्परतासे कर्म करे। इसके कर्ममें तो स्वार्थका लेश भी नहीं होगा क्योंकि स्वार्थकी पूर्णाहुति होनेके बादही वह ज्ञानी बना होता है। यदि उस को कर्मसे कुछ भी स्वार्थका साधन नहीं करना है तो फिर वह किसलिये कर्म करे ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं अर्थात् लोककल्याण करनेकी इच्छासे वह कर्म करे और सब प्रकार परम दक्षतासे कर्म करे। मेरा स्वार्थ कुछ भी नहीं है, इसलिये जैसे वैसे कर्म न करे। अपनेसे जितनी उत्तमतासे करना संभव है उतनी उत्तमतासे और पूर्णतासे कर्म करे और कर्मका फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसका समर्पण लोककल्याणके लिये करे।

कर्म चार प्रकारसे होता है- सकाम कर्म निष्काम कर्म कर्मसंन्यास और परेच्छासे कर्म। सकाम कर्म दो प्रकारसे हो सकता है एक धर्मानुकूल और दूसरा धर्मविरुद्ध। धर्मविरुद्ध सकाम कर्मको विकर्म ऐसा स्वतंत्र नाम भगवद्गीतामें है। इसलिये सकाम कर्म शब्दका अर्थ यहां 'धर्मानुकूल कर्तव्य कर्म' ऐसा करना उचित है। अभ्युदय-साधक सब कर्म इस प्रकारके सकाम कर्ममें आते हैं। धर्मानुकूल व्यवहारसे धन कमाना उससे अपने सुखसाधन बढाना ऐहिक सुखके लिये कर्म करना ये सब सकाम कर्म हैं। स्वार्थसाधन करते करते मनुष्यमें परार्थसाधन करनेकी श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है। इस समय निष्काम भावसे वह कर्म करता है, अपने स्वार्थकी आहुति वह इस समय परार्थमें देता है। इससे इसका यह निष्काम योग होता है। इस प्रकारके निष्काम कर्मयोगी लोगोंके हितके लिये निरंतर कर्म करते हैं।

स्वार्थसे कर्म करना हो अथवा लोककल्याणके लिये अर्थात् परार्थके लिये कर्म करना हो इन दोनों सकाम और निष्काम कर्ममें कर्मविरोधकोंके दर्शनसे बडा क्लेश होता है। स्वार्थसाधनके सकाम कर्ममें अपने स्वार्थके विरुद्ध प्रयत्न करनेवालोंके दर्शनसे जैसे क्लेश होते हैं वैसेही क्लेश निष्काम कर्मयोगीको निःस्वार्थ बुद्धिसे लोककल्याण राष्ट्रकल्याण अथवा जनताके हितके लिये कर्म करते समय उसका विरोध करनेवालोंके सामने देखनेसे होते हैं। इस प्रकारके क्लेश बारबार होनेसे इन कर्मोंसे वह विरक्त होता है और कर्म संन्यास अर्थात् संन्यास का मार्ग स्वीकारता है। इस संन्यास-मार्गमें वह संपूर्ण मायिक कर्मोंका त्याग करता है और अपने निःश्रेयसके साधनमें लगता है। इस संन्यास मार्गमें मन शांतिका साधन वह करता है और अन्तमें उसको

ऐसी समावस्था प्राप्त होती है, कि जिसमें पहुंचनेसे सुख दुःख लाभालाभ जयपराजय आदि द्वन्द्व उपस्थित होनेपर भी उसके मनकी समता और शान्ति नहीं बिगड़ती। सुखमें जिस सात्विक वह अनुभव करता है दुःखमें भी वह वैसा ही शान्त रहता है। कर्मसंन्यासकी अथवा संन्यासयोगकी यह सिद्धि है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उसको कोई *कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् वह कृतकृत्य बनता है।*

(तस्य कार्यं न विद्यते। गी. ३।१७) ऐसे संन्यास योगका आचरण करनेवाले पुरुषके लिये स्वार्थका अथवा परार्थका कोई कर्म नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें यह परोपकारसे कर्म करता है। कोई मनुष्य, कोई जाति अथवा कोई राष्ट्र संकटोंसे ग्रस्त होनेपर इस सिद्ध पुरुषके पास आता है और कहता है कि- हे महात्माजी! आप हमें इस परतन्त्रताके दुःखसे छुड़ाइये हम सब आपकी शरणमें आगये हैं। इस करुणापूर्ण प्रार्थनासे उसके विरक्त मनमें करुणा उत्पन्न होती है और दयाभावसे उनका दुःख दूर करनेके लिये वह संन्यासयोगी उनके उद्धारके लिये यत्न करता है। यह उसका कर्म भी लोकसंग्रहके लिये होता है। *भगवान् नारायण ऋषि बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे थे वे इसी* प्रकारकी परोपकारसे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त हुए और अर्जुन-श्रीकृष्णके रूपसे भूभार हरणके कार्यमें प्रवर्तित हुए। इसी प्रकारके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि निष्काम कर्मयोगकी दूसरी अवस्थामें भी यह मनुष्य लोकसंग्रहके लिये लोककल्याणका कार्य करता है और सिद्ध अवस्थाके पश्चात् चतुर्थ अवस्थामें भी परोपकारसे लोकसंग्रह अर्थात् लोककल्याणके लिये यह सिद्ध पुरुष कर्ममें प्रवृत्त होता है। दोनों अवस्थाओंमें इससे लोकसंग्रह होता है तथापि पहिली अवस्थामें इसका मन चलायमान होता रहता है, विरोधकोंसे दुःख पाता है और त्रस्त होता है। परन्तु जब यह सिद्ध पुरुष अवस्थाके पश्चात् परोपकारसे प्रवृत्त होकर लोकसंग्रह करनेके लिये लोककल्याणका कर्म करता है उस समय भयानक अनिष्ट परिस्थितिमें भी उसके मनकी शान्ति नहीं टलती वह दुःखोंकी वृष्टिमें भी मुसकुराने लगता है और किसी कारण भी उसका मन अशान्त नहीं होता। ऐसे मनुष्यका (तस्य कार्यं न विद्यते। गी. ३।१७) वस्तुतः कुछ भी कर्तव्य नहीं होता है, यह जो भी कुछ करता है यह परोपकारसे और लोककल्याणके लिये करता है। इसीका जीवन सज्जनोंकी रक्षा दुर्जनोंके विनाश और धर्मसंस्थापना के लिये होता है। इन्हीं मनुष्योंके विषयमें इस श्लोकमें कहा है कि '(लोकसंग्रह चिकीर्षुः) लोकसंग्रह करनेकी इच्छासे (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य (कुर्यात्) कर्म करे।" *यह इसलिये कहा है कि इसमें अपनी निज प्रवृत्ति कर्मोंसे हट* गयी होती है।

(अज्ञानां बुद्धिभेद न जनयेत्) अज्ञ लोग आसक्तिसे कर्म करते हैं, तथापि उनका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। बुद्धिभेदका अर्थ है बुद्धिभ्रंश, बुद्धिनाश, बुद्धिमें संदेह। कोई मनुष्य अज्ञानतासे फलकी इच्छा धारण करके कुछ कर्म करता है। मान लीजिये कि वह स्वर्गप्राप्तिके लिये कुछ कर्म करता है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिये कि जिससे यह मनुष्य अपने अनुष्ठानको छोड दे। (जोषयेत् सर्वकर्माणि) उचित तो यह है कि यह ज्ञानी पुरुष उन लोगोंके कर्मोंको ऐसी युक्तिसे सन्मार्गपर लावे कि उनकी श्रद्धा और भक्ति बनी रहे, उनका दोष दूर होवे और वे सन्मार्गपर आजायें। ऐसा न करते हुए यदि उनका बुद्धिभेद हुआ और उनमें अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी तो उनसे आगे कोई अनुष्ठान नहीं हो सकता।

यहां "बुद्धिभेद" शब्दका अर्थज्ञान होनेके लिये उसका विरोधक शब्द बुद्धियोग है इसका भी साथ साथ विचार करना चाहिये। देखिये—

बुद्धियोग	बुद्धिभेद
समत्वबुद्धि	विषम भाव
शान्ति	अशान्ति
सन्देहरहितवृत्ति	सन्देह
स्थितप्रज्ञ	चंचलमति
वीतरागभयक्रोध	रागभयक्रोधयुक्त

बुद्धिभेद करनेसे इस तरह हानि होती है। जिसकी बुद्धि भिन्न हुई है उससे कुछ भी उन्नतिका साधन करना नहीं हो सकता। इसलिये किसीको भी उचित नहीं है कि वह दूसरे साधारण मनुष्यका बुद्धिभेद करे। इस तरह बुद्धिभ्रंश हुए मनुष्यकी बुद्धि फिर किसी अनुष्ठानमें स्थिर होनेके लिये बडे परिश्रम करने होते हैं और परिश्रम करनेपर भी

(१०) मूढ और तत्त्वज्ञ

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वयः— प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति परन्तु) अहंकारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते ॥ २७ ॥ हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

प्रकृतिके गुणोंके द्वारा कर्म सब प्रकार किये हुए होते हैं । परंतु अहंकारसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य मैं कर्ता हूं ऐसा मान लेता है ॥ २७ ॥ परन्तु हे महाबाहो अर्जुन ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य गुणोंमें कार्य करते हैं ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— प्रकृतिके गुणोंसे सब कुछ कर्म होते हैं आत्मा उन कर्मोंका कर्ता नहीं है वह अकर्ता है । तत्त्वज्ञानी मनुष्य प्रकृतिके गुणोंको और उनसे होनेवाले कर्मोंको यथावत् जानता है और एकके गुणोंका दूसरोंके गुणोंसे संबंध आकर कार्य होते हैं ऐसा जानकर अहंकार-रहित होकर फंसता नहीं । परन्तु जो मनुष्य अहंकारसे विशेष ही मूढ बनता है वह अपने आपको कर्ता मानकर फलमें बद्ध होकर फंसता है ॥ २७-२८ ॥

संदेहरहित श्रद्धा उनके मनमें उत्पन्न होगी या नहीं इस विषयमें संदेह है । इस कारण बुद्धिभेद करना उनके भविष्यको नष्ट करना ही है ।

धूर्त लोगही इस प्रकारका बुद्धिभेद करते हैं और उससे अपना स्वार्थसाधन करते हैं । अर्थात् बुद्धिभेद करना महा धूर्तताका कार्य है । बुद्धिभेदसे मनुष्यकी जितनी हानि होती है उतनी किसी अन्य प्रकारसे नहीं होती । इसलिये मनुष्यको उचित नहीं है कि वह किसी दूसरेके मनमें इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करके उसका आध्यात्मिक दृष्टिसे नाश करे ।

इसलिये कहा है कि वह लोगोंसे सब कर्म इस ढंगसे करावे कि जिससे (लोकसंग्रह) वे भक्तिपूर्वक यज्ञभावसे कर्म भी करते जावें उनकी श्रद्धा बनी रहे और वे सत्य मार्ग-पर भी आजावें । यदि उनका मार्ग अशुद्ध है तो उनको ठीक मार्गपर लानाही चाहिये परंतु वैसा उनको सत्य मार्गपर लानेके समय उनके मनमें संताप उत्पन्न करके उनको अपद बनाना योग्य नहीं है ।

ज्ञानी मनुष्य स्वयं (युक्तः समाचरन्) योगयुक्त होकर अर्थात् समत्वबुद्धियोगके अनुसार अपना कर्तव्य करता रहे कर्म न छोडे परंतु अनासक्तिसे कर्म करे ।

यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि अज्ञानी आसक्तिसे कर्म करता है और ज्ञानी अनासक्तिसे कर्म करता है परंतु कर्मोंसे एकही कर्म होता है । इस प्रकार कर्म होते हुए वे दोनों कदाचित् समान रीतिसेही बद्ध होंगे । बाहरकी दृष्टिसे देखनेवालोंको तो उनमें कोई भेद दृग्गोचर नहीं हो सकता । इस प्रकारकी शंका करनेवालोंका समाधान करनेके लिये और उनकी आशंका दूर करनेके लिये और ज्ञानी तथा मूढ मनुष्योंका भेद स्पष्ट करनेके लिये आगे भगवान् कहते हैं —

गुणोंसे कर्म

(श्लो० २८) कर्म किस प्रकार होते हैं कर्मोंका कर्तृत्व किसकी ओर है इसका विचार इन श्लोकोंमें किया है । साधारण मनुष्य (कर्ता अहं) मैं कर्ता हूं ऐसा मानता है, परंतु तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर वह कर्ता नहीं है ऐसा प्रतीत होता है । वस्तुतः देखा जाय तो—

प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि ॥ २७ ॥

" प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सब कर्म पूर्णतासे किये हुए होते हैं । अर्थात् कर्मोंका कर्तृत्व प्रकृतिके गुणोंके पास है न कि किसी मनुष्यके पास । उदाहरणार्थ हम एक मन्दिर बननेके कार्यका विचार करेंगे । एक स्थानपर सुन्दर मन्दिर बना है । वह ईंटें चूना पत्थर लकडी लोहा आदि पदार्थों के साधनसे कई लोगोंने बनवाया है । अब विचार करना है कि यदि इनोंमें चूनेमें और पत्थर आदिमें वे गुणधर्म न होते कि जिनसे उनमें यह शक्ति आगई है तो कोई मनुष्य

भावार्थ — प्राकृतिक गुणोंसे मोहित हुए मनुष्य प्राकृतिक गुणोंसे बननेवाले कर्मोंको 'मैं करता हूं' ऐसा मानकर उन कर्मोंका स्वयं अपने ऊपर लेप लगाते हैं। ऐसे मूढ लोग फलासक्तिसेही कर्म करते रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य उन मन्दबुद्धि वाले लोगोंको उनके कर्मोंसे विचलित न करे अर्थात् उनका बुद्धिभेद न करे ॥ २९ ॥

प्रकृतिके गुणोंका मोह

(२९) पहिला बोध (प्रकृतेः गुणसंमूढाः) प्रकृतिके गुणोंसे मनुष्य मूढ होता है। सम्यक् मूढ होनेका अर्थ अत्यंत मूर्ख बनना है। प्रकृतिमें सत्त्व रज तम ये गुण हैं और प्राकृतिक पदार्थोंमें सौंदर्य उत्तम आकार उत्तम रुचि आदि अनेक गुण हैं। मनुष्य इन गुणोंमें फंसते हैं। सुरूपता से मोहित हुआ मनुष्य सुरूपवालेके अधीन होता है, तथा उत्तम रुचिके कारण मोहित बना मनुष्य रुचिवाले पदार्थोंके अधीन हो जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंसे मोहित हुए मनुष्य उन गुणियोंके अधीन हो जाता है। इस तरह कोई मनुष्य सुंदर स्त्रीके अधीन कोई धनके अधीन कई अधिकारके अधीन, ऐसे प्राकृतिक गुणोंसे किंवा रस्सियोंसे बंधे हुए मनुष्य परतंत्र हो जाते हैं और बन्धनके कारण दुःखके भागी बनते हैं। इसीलिये कहा है कि (गुणकर्मसु सज्जन्ते) गुणोंसे होनेवाले कर्मोंमें डूब जाते हैं। पूर्वोक्त कथनके अनुसार गुणोंसे कर्म होनेपर भी वे कर्मोंका लेप मूढतासे अपने ऊपर लेते हैं। अर्थात् ये प्रकृतिके प्रवाहसे बह जाते हैं। इसलिये इनको कदापि शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे प्रवाहसे बह जानेवालोंको यहां अकृत्स्न-वित् नाम कहा है। 'कृत्स्नवित्' का अर्थ है पूर्ण ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ और 'अ-कृत्स्नवित्' का अर्थ होता है अ-पूर्ण-ज्ञानी। पूर्ण ज्ञानी किंवा सर्वज्ञ श्रेष्ठ होते हैं इसमें किसी को कोई संदेह ही नहीं है। जो कम उत्तम होते हैं वे अल्पज्ञ किंचिज्ज्ञ किंवा मिथ्याज्ञानी ही होते हैं। उन को किंचित् ज्ञान होता है परन्तु ज्ञान भी किसी विषयका भी नहीं होता अतः उनका व्यवहार अशुद्ध रीतिसे होता है, जो उनके दुःखका हेतु बनता है। जबतक उनका मिथ्या-ज्ञान नहीं हटता और उनको पूर्ण ज्ञान नहीं होता तबतक उनको सुखदायक मार्ग भी शुभ नहीं भासता।

वे अज्ञानी किंवा मिथ्याज्ञानी लोग कर्म तो बहुत करते

रहते हैं कर्म भी बड़ी तत्परतासे करते हैं। 'मैं कर्म करता हूं अतः फल मुझे चाहिये' ऐसा इनका विचार सदा जाग्रत रहता है। अतः वे सदा फलेच्छासे कर्म करते रहते हैं और इस फलेच्छाकी आसक्तिसे पुनः पुनः बन्धनमें पडते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि एक तो इनके अज्ञानसे इनके दुःख बढते हैं और दूसरे इनकी कर्मासक्तिसे वे बन्धनमें पडते हैं। फलकी आसक्तिसे अधिक कर्म करना और अधिक बन्धनमें पडना, यह इनका क्रम इसी प्रकार सदा चलता रहता है। इस तरह आसक्ति और अज्ञान मनुष्यके बन्धनका हेतु होता है। यहां कई कहेंगे कि जो (कृत्स्न-वित्) ज्ञानी हैं वे उपदेशद्वारा उन अज्ञानियोंको इन बन्धनकारक कर्मोंसे निवृत्त करें। ऊपर ऊपर देखनेसे ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं ऐसाही प्रतीत होता है परन्तु गीताका कथन है कि (मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत्) इन मूढोंको ज्ञानी मनुष्य विचलित न करे। क्योंकि इनका बुद्धिभेद करनेसे वे न कर्ममार्गमें दृढचित्त होते हैं और न वे ज्ञानमार्गका आचरण कर सकते हैं। वे इस तरह न इधरके और न उधरके होते हैं और चंचलताके कारण अवनत ही होते हैं।

अनधिकार चेष्टा

आसक्तिसे कर्म करनेवालोंको उस कर्ममार्गका उपदेश करके उनसे उत्तम और शुद्ध कर्मोंमें दृढचित्त करना योग्य है। कर्ममें दृढचित्त होनेसे उनके चित्तकी शुद्धि होगी और वे ज्ञानमार्गके अधिकारी बनेंगे। परन्तु मूढ किंवा अज्ञानी लोगोंको कर्ममार्गसे विचलित करनेसे वे किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकते।

जैसा कोई विद्यार्थी प्रथम कक्षामें पढनेका अधिकारी है। उसको चतुर्थ कक्षामें रखा जाय तो प्रथम कक्षाका पाठ-विधि भी उससे नहीं होता और चतुर्थ कक्षाका तो उसका होना असंभव ही है। इस प्रकार वह दोनों कक्षाओंसे वंचित रहता है। यदि वह प्रथम कक्षामेंही रहता और क्रमसे चतुर्थमें आता है तो उसका अधिक हित हो सकता है। इस

(११) ईश्वरार्पण कर्म

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ३०

अन्वयः— मयि अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व ॥ ३० ॥

मुझमें अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंका समर्पण करके आशारहित ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

भावार्थ— आत्माकी उन्नतिका विचार सदा मनमें रख सब कर्म मुझे समर्पण कर, फलकी आशा छोड ममतारहित हो तथा मनके विरुद्ध बात होनेसे संतप्त न बन और इस तरह अपना आचरण करके युद्ध कर ॥ ३० ॥

प्रकार प्रथम कक्षा आसक्तिसे कर्म करनेकी है दूसरी कक्षा अनासक्तिसे कर्म करनेकी है। प्रथम कक्षामें उत्तीर्ण होनेके विना द्वितीयमें जाना बडा हानिकारक है। इसीलिये कहा है कि ज्ञानी लोग अज्ञानियोंका बुद्धिभेद न करें। उनको आसक्तिसेही कर्म करने दें उनको स्वयं आसक्तिका कटु अनुभव आने दें। अनुभव मिलनेके पश्चात् वे स्वयं सद्गुरुके पास आयेंगे और आगेके मार्गका उपदेश पायेंगे और उस समय दिया हुआ उपदेश उनके मनमें स्थिर होगा। पूर्वका अनुभव किया हुआ होनेके कारण वे चंचल नहीं बनेंगे और क्रमशः उन्नत होते जायेंगे।

मनुष्य किस प्रकार निर्दोष कर्म करे इस विषयमें आगे उत्तम उपदेश करते हैं।

(१) युद्ध अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कर्म किस तरह करना चाहिये और कर्मके दोषसे कैसे बचना चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेश इस श्लोकमें दिया है वह पाठक अवश्य स्मरणमें रखें।

१ ' अध्यात्मचेता। '

सबसे प्रथम मनुष्य अध्यात्मचेता बने। अधि-आत्म चेताः का अर्थ है आत्मामें मन लगानेवाला, जिसका चित्त आत्मामें स्थिर हुआ है जो सदा आत्माका चिंतन करता है जिसके मनमें आत्मा-परमात्मा-परमेश्वरके विषयमें भक्ति है। इस तरह परमेश्वरका भक्त अथवा उसी पर चित्त स्थिर करनेवाला मनुष्य हो।

साधारण मनुष्य शरीरपर भोगोंपर विषयोंपर अथवा जगत्‌पर मन लगाता है। मन आदि इंद्रियोंकी प्रवृत्ति बाहर की ओर अधिक है क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा
नमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनि २।१।१)

स्वयंभू परमेश्वरने इन्द्रियाँ बहिर्मुख अर्थात् बाह्य विषयोंका ग्रहण करनेवाली बनायी हैं इसलिये मनुष्य बाह्य विषय देखता है और अन्तरात्माको नहीं देख सकता। कोई क्वचित् एकाध धैर्यवाला बुद्धिमान्, मोक्षकी इच्छा करता हुआ चक्षु आदि इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर अन्तरात्माको देखता है।" तथा—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति
विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदि
त्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

(कठोपनि २।१।२)

मूढ मनुष्य बाह्य विषयोंके उपभोगोंके पीछे लगते हैं। इसलिये वे मृत्युके विस्तृत पाशोंमें बंधे जाते हैं। परन्तु धैर्यवाले ज्ञानी अमृतत्वको मोक्षको नित्य जानकर, अनित्य विषयोपभोगोंकी इच्छा नहीं करते।

यहां बताया है कि मनुष्यके इंद्रियोंकी प्रवृत्ति स्वभावतः बाह्य विषयोंकी ओर है और अन्तरात्माके विषयमें अप्रवृत्ति है। मनुष्य स्वभावतः "विषयचेता" है और "आत्मचेता" नहीं है। इसीलिये प्रायः मनुष्योंकी प्रवृत्ति विषयभोगोंकी ओर तथा आसक्तिसे कर्म करनेकी ओर विशेष होती है। परन्तु इन आसक्तिके मार्गसे अनंत दुःख भोगने पडते हैं और जैसा जैसा दुःखोंका अनुभव होता है वैसा वैसा मनुष्योंका मन आसक्तिसे कर्म करनेकी ओरसे विमुख होता है। इसीलिये कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥

(कठोपनि० १।२।१-२)

'श्रेय (मोक्ष) अन्य है और प्रेय (भोग) अन्य है। भिन्न अर्थवाले ये दोनों मनुष्यके पास आते हैं। उनमेंसे श्रेयका ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है और जो प्रेय अर्थात् भोग स्वीकारता है वह हितसे दूर होता है। श्रेय (मोक्ष) और प्रेय (भोग) मनुष्यके पास आते हैं। धैर्यशाली बुद्धिमान मनुष्य उन दोनोंका विचार करके पृथक् चुनता है। बुद्धिमान् मनुष्य भोगकी अपेक्षा मोक्षको पसन्द करता है और निर्बुद्ध मनुष्य योगक्षेमके लिये भोगोंको स्वीकारता है।"

यहां दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन है। जगत्में ये दोनों प्रकारके मनुष्य हैं, परन्तु भोगोंका स्वीकार करनेवाले अनंत हैं और मोक्षके लिये यत्न करनेवाले विरला कोई होते हैं। जो प्रेय लेनेवाले होते हैं वे विषयचेताः होते हैं और जो श्रेय लेनेवाले हैं वे आत्मचेताः होते हैं अब इनके लिये जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका विचार कीजिये

अध्यात्मचेताः	विषयचेताः
श्रेय आददानः	प्रेय आददानः
धीरः	बालः मन्दः
आत्मानं पश्यत्	पराङ् पश्यति
अमृतं पश्यति	मृत्युपाशं पश्यति
साधु भवति	अर्थात् हीयते
निराशी	आशापाशबद्धः
निर्मम	अहंकारहतः
विगतज्वरः	ज्वराभिभूतः

इस तरह विचार करनेपर श्रेयमार्गसे जानेवालेका और प्रेयमार्गसे जानेवालेका परिणाम क्या होता है इसका पता लग सकता है। मनुष्य 'अध्यात्मचेता' बने अर्थात् आत्मा-के कल्याणका विचार करे भोगोंमें न फंसे यह पवित्र उपदेश इस श्लोकमें दिया है।

*

आत्मा एक नित्य और अखंड आनन्दवाला है इसलिये भी उसपर चित्त लगानेसे आनन्दकी प्राप्ति होना संभव है, परन्तु प्राकृतिक भोग अनंत हैं, अनित्य हैं, एक क्षणके लिये सुखका भास करनेवाले हैं और दुःख बढानेवाले हैं, इसलिये आत्मापर चित्त लगानेसे हित और भोगोंमें चित्त फंसानेसे अहित होता है। इस दृष्टिसे भी अध्यात्मचेता! होनेसे मनुष्यका लाभ है।

२ ईश्वरार्पण कर्म

' सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य – सब कर्मोंका मुझमें अर्थात् ईश्वरमें संन्यास करनेका उपदेश यहां किया है। परमेश्वरमें सब कर्म समर्पण करने चाहिये। परमेश्वरके लिये सब कर्म समर्पित करनेका अर्थ यह है कि सब कर्म परमेश्वरके लिये करना। कर्म अपने लिये करना और कर्म परमेश्वरके लिये करना इन दो प्रकारोंका तात्पर्य क्या है इसका विचार अब करना चाहिये। जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है वह अपने भोग बढानेके लिये कर्म करता है। अपने लिये कौनसा भोग अभीष्ट है यह देखकर उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है। इससे भोग प्राप्त करके वह उसका भोग करता है। अपने लिये क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये इसका विचार करके जो चाहिये ऐसा प्रतीत होता है वही वह करता है। इसलिये कर्मोंका भला या बुरा फल इसीको भोगना पडता है।

उन्नतिका मार्ग

अब देखिये कि जो मनुष्य अपने कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करता है वह विचार करता है कि परमेश्वर क्या चाहता है उसको क्या प्रिय है क्या करनेसे वह संतुष्ट होता है और किससे वह असंतुष्ट होता है। उसकी बुद्धिसे जो निश्चय होता है वही वह ईश्वरके अर्पणके लिये करता है। पाठक विचार करेंगे तो उनके मनमें इस बातका स्पष्ट प्रकाश हो जायगा कि कर्म परमेश्वरके लिये अर्पण करनेके विचारसे मनुष्यका चित्त उत्तम प्रकार शुद्ध होने लगता है। मनुष्य कितना भी बद्ध क्यों न हो वह अपने कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण करने लगेगा तो उसी समय उसके व्यवहारमें पवित्रता बढेगी। उदाहरणके लिये देखिये-कोई मनुष्य घरमें अपने लिये अन्न पकाता है। यद्यपि वह

स्वार्थ भोगके लिये ही पकता हो तो भी घरकी स्वच्छता और पाककी विशेषताकी ओर वह विशेष ध्यान नहीं देगा। परंतु यदि उसीके घरमें कोई साधुसंत संन्यासी सत्पुरुष राजा अथवा ओहदेदार किंवा कोई बडा मनुष्य आनेवाला हो और उसके लिये भोजन पकना हो तो उस कारण वह मार्गकी घरकी और घरके पदार्थोंकी स्वच्छता करता सब घरके पदार्थ उत्तम सजावटसे लगाता है जो पदार्थ अस्वच्छ हों उनको पीछे रखकर शोभायुक्त पदार्थोंको सन्मुख रखता है और सब घरकी सजावट उत्तमसे उत्तम करता है और खान-पान भी जितना उत्तम होगा उतना उत्तम बनानेका यत्न करता है। प्राकृतिक भोगी मनुष्य भी इस प्रकार अपने भोगके लिये थोडा उदासीन रहता है और मान्य अतिथिके सत्कारके लिये अधिक उत्साह दिखाता है। मनुष्योंमें न जानते हुए भी अपने लिये कर्म करनेकी अपेक्षा दूसरेके लिये कर्म करनेके समय विशेष दक्षता दिखानेका गुण स्वभावतः है। हरएक प्रसंगमें यह गुण नहीं दीखता यह बात सत्य है तथापि किसी किसी प्रसंगमें दूसरेके लिये बडे अतिथिके लिये आदरसत्कार करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है इसमें संदेह नहीं। हमें यहां इतनाही बताना है कि इस सत्कारवृत्तिसे दूसरेके लिये कर्म करनेके समय वह अधिक अप्रमत्त और अधिक निर्दोष करनेमें मनुष्य दक्ष रहता है। यदि मनुष्यके प्रिय राजाके लिये अथवा अतिथिके लिये मनुष्य इतना सत्कार दर्शाता है तो ईश्वर जो राजाओंका भी राजा है और अतिथियोंका भी अतिथि है उसके लिये अपना कर्म समर्पण करनेका विचार जिस समय यह करेगा उस समय कितनी दक्षता धारण करेगा इसका विचार पाठक अवश्य करें। इस विचारसे पता लग जायगा कि कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यके कर्म अधिक शुद्ध होते हैं अधिक निर्दोष होते हैं और इस कारण मनुष्य अधिक पवित्र होता जाता है। मनुष्यकी पवित्रता बढानेका यह एक उत्तम मार्ग है।

मानवी अतिथिके लिये मनुष्य इतना डर नहीं सकता क्योंकि वह किसी एक स्थानमें बैठा रहेगा और दूसरे स्थानमें उसके प्रतिकूल व्यवहार करना असंभव नहीं होगा। परंतु परमेश्वर एक समयमें सर्वत्र उपस्थित और सर्वज्ञ होनेसे उससे छिपाकर कोई भी कर्म मनुष्य कर नहीं सकता। जो मनुष्य परमेश्वरकी सर्वज्ञ सत्ता जानता है, वह सर्वत्र और सर्वदा पवित्र बनता जाता है। और जिस समय वह परमेश्वरके लिये अपने कर्म करता है, उस समय उसके कर्म भी पूर्वोक्त कारणसेही अधिकाधिक पवित्र होते जाते हैं। इस तरह अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेवाला मनुष्य पवित्र होता हुआ क्रमशः सब पदका अधिकारी होता है।

बुरेसे बुरा मनुष्य भी अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे उच्च स्थानको प्राप्त होता है। इसलिये भगवद्गीतामें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां
गतिम्॥३२॥ (भ. गी. ९)

बडेसे बडा दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करे तो यह मानो कि वह साधु होही चुका है। क्योंकि अब उसका व्यवहार सुधर चुका है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनता है और निरंतर शान्ति पाता है। हे अर्जुन तू निश्चयही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे पार्थ! जो पापयोनि हैं, वे भी और स्त्रियां वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरी शरण आ जायँ तो वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।

इन श्लोकोंमें जो कहा है वह नितान्त सत्य है। इस प्रकार मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करने लगा परमेश्वरके लिये कर्म समर्पण करने लगा तो वह शुद्ध होने लगता है। इसीलिये यहां कहा है कि "संपूर्ण कर्म मुझे समर्पण करो।" मनुष्यके सुधारका यही एक सुगम और उत्तम मार्ग है।

३ "निराशीः"

'आशा छोड दो' यह तीसरा आदेश है। मनुष्य कर्मफलकी आशा धारण करता है सुखका इच्छुक होता है भोगोंकी आशा रखता है क्रमशः सुख और भोग

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्वय – ये मानवाः अनसूयन्तः श्रद्धावन्तः इदं मे मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ॥ ३१ ॥ ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः मे मतं न अनुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः नष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य श्रद्धा रखकर और दोषदृष्टिका त्याग कर इस मेरे मतके अनुसार नित्य बर्तते हैं वे सब कर्मों (के दोषों) से छूटते हैं ॥ ३१ ॥ परन्तु जो लोग इसमें दोष निकाल कर मेरे इस मतके अनुसार नहीं बर्तते वे अज्ञानी सर्वज्ञानमें विशेष मूढ हैं और वे नाशको प्राप्त होंगे ऐसा तू समझ ॥३२॥

भावार्थ — केवल दोषोंपर दृष्टि न रख और श्रद्धासे मेरे इस उपदेशके अनुसार आचरण कर । ऐसा करनेसे तू दोषोंसे मुक्त होगा । परंतु जो केवल दोषोंको ही देखेंगे और मेरे इस मतको न मानेंगे वे ज्ञान होते हुए भी मूढ होंगे और निःसंदेह नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३१–३२ ॥

मुझे चाहिये " ऐसा जो आग्रह धारण करता है वह समय आनेपर अन्यायके भी मार्गसे जानेमें प्रवृत्त होता है और गिरता है । अतः यदि वह आशापाश तोड देगा तो उसको बंधमुक्त होनेमें देरी नहीं लगेगी । इसीलिये आगे कहा है—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
(भ. गी. १६)

'आशारूप सैकडों पाशोंसे बंधे हुए और काम क्रोधके परायण हुए विषयभोगकी पूर्तिके लिये अन्यायसे धनादिका संग्रह करते हैं । मरणपर्यंत रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंका आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए और भोग भोगनाही आनन्द है ऐसा माननेवाले लोग सभी दुःख भोगते हैं । इसीलिये इस दुःख और बंधनोंसे बचनेकेलिये कहा है कि निराशी हो। एक आशा छोडनेसे सहस्रों दुःखोंसे मनुष्यका बचाव हो सकता है ।

४ " निर्ममः "

ममत्व छोड दो यह चतुर्थ उपदेश यहां किया है। मेरा ऐसा न कहो । कोई अपना नहीं है । जिसको मेरा या अपना कहा जाता है वह सचमुच अपना नहीं है। मनुष्यको जो दुःख होता है वह ममत्व बुद्धिके कारण ही है । ग्राममें किसीका लडका मर गया तो उसके संबंधियोंको छोडकर शेष आदमी नहीं रोते हैं । संबंधी लोग शोकमें इसीलिये पडते हैं कि वे उसका मेरा लडका मानते हैं । यदि वे इसको मेरा नहीं मानेंगे तो उनको भी दुःख नहीं होगा । अतः जो ममत्व छोड देता है वह तत्काल दुःखसे मुक्त होता है ।

५ " विगतज्वर "

पूर्वोक्त चारों उपदेशोंका ग्रहण करनेसे और उन उपदेशोंको आत्मसात् करनेसे मनुष्य विगतज्वरः होता है । उसका (ज्वर) संताप (वि) विशेषरीतिसे (गत) दूर होता है । क्योंकि जिसकी आशा छूट गयी जिसकी बुद्धिमें ममत्व नहीं रहा जिसका ध्यान परमेश्वरमें स्थिर हुआ और जिसने अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण किये उसको संताप होनेका कोई कारणही नहीं है। अतः वह शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है ।

ऐसा शान्त मनुष्य (युध्यस्व) युद्ध करे । युद्ध करनेमें ऐसे शान्त मनुष्यको कोई दोष नहीं लग सकता । ऐसा मनुष्य जो युद्ध करेगा उस युद्धमें उसकी ममत्वबुद्धि छूटनेके कारण उसका कोई स्वार्थ नहीं होगा आशारहित होनेके कारण युद्धसे कुछ लाभ प्राप्त करनेकी कोई स्वार्थी आशा भी उसमें नहीं होगी उसका चित्त परमेश्वरके ध्यानमें लगा रहेगा और यदि युद्धरूपी कर्म उससे हुआ तो केवल परमेश्वरके लिये ही होगा। ऐसे कर्म करनेसे क्या लाभ होता है वह अब देखिये—

(३१-३२) " जो मनुष्य इस मेरे उपदेशके अनुसार नित्य व्यवहार करते हैं वे कर्मोंके दोषोंसे दोषी नहीं होते। परंतु जो इसमें दोष ढूंढते हैं और इसके अनुसार आचरण नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। " पूर्व श्लोकोंमें जो उपदेश किया है और विशेषतः ३१ वें श्लोकमें जो उपदेश है कि सब कर्म ईश्वरको समर्पण कर आत्माके कल्याणपर दृष्टि रख ममत्व छोडकर आशाको भी त्याग दो। ऐसा करनेसे तुम्हें कर्मका दोष नहीं लगेगा। इस उपदेशके अनुसार जो व्यवहार करते हैं उनका बेडा पार होता है; परंतु जो लोग अपनी कुतर्कशक्ति चलाकर सब कर्म ईश्वर को क्यों समर्पण करें? क्या ईश्वर भूखा है? क्या उसको हमारे कर्मोंकी जरूरत है? आत्मापरही ध्यान क्यों लगाया जावे? क्या शरीरका विचार करना अयोग्य है? ममत्व कैसे छूट सकता है? आशा तो छूटना असंभव है और मुक्तिकी इच्छा भी इच्छाही है इत्यादि प्रकार अनेक तर्क वितर्क आर कुतर्क करके इस गीताके उपदेशके विरुद्ध अन मत बनाते हैं और न स्वयं आचरण करते और न दूसरों को करने देते हैं। ऐसे वितंडी लोग अवनत होते हैं। इन लोगोंकि उन्नतिकी कोई आशा नहीं है।

जो लोग उन्नति प्राप्त कर सकते हैं वे (श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः) श्रद्धालु और दोषदृष्टि न रखनेवाले हैं। सत्पुरुषोंके और सद्ग्रंथोंके वचनोंपर जो विश्वास रखते हैं और तदनुसार जो आचरण करते हैं, उनको श्रद्धावान् कहते हैं। इन श्रद्धालुओंका मार्ग सीधा होता है और इनके मार्गमें कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते। परमार्थ-साधनमें श्रद्धाकी बडी आवश्यकता है। श्रद्धाके बिना इस मार्गसे जाना असंभव है। अतः जो लोग स्वयं श्रद्धा नहीं रखते और अपने वक्तृत्वसे दूसरोंकी श्रद्धा उखाड देते हैं,उनके दोषकी कोई सीमा नहीं है। वे स्वयं तो कदापि उन्नत नहीं हो सकते परंतु उनके दोषसे दूसरोंकी उन्नति भी मारी जाती है।

(अनसूयन्तः) असूयाका अर्थ है दूसरोंके गुणोंपर दोषका आरोप करना। जो लोग दूसरोंके गुणोंको देखकर प्रसन्न नहीं होते परंतु उनके गुणोंपर दोषोंका आरोपण करते हैं उनका मन बडा हीन होता है और गुणोंपर दोषा-रोपण करनेके इस अभ्याससे अधिकाधिक हीन होता जाता है। सद्गुण परमेश्वरके ही गुण हैं उनको देखकर मनुष्यको प्रसन्न होना चाहिये और उनको आत्मसात् करना चाहिये। सद्गुणोंकी परमावधि ही परमेश्वर है अतः सद्गुण दर्शन परमेश्वरके दर्शनके समान पुनीत करनेवाला है। जो लोग असूया करते हैं जो सद्गुणोंके सद्गुण रहनेपर भी वहां दोषही देखते हैं, वे मानो परमेश्वरके स्थानपर असुरकी पूजा करते हैं अतः वे असुर बनते हैं। असूयाके दोषका इतना घोर परिणाम है। मनुष्य जिसका स्मरण करता है जिसका ध्यान करता है वैसा वह बनता है। असूया करनेवाला किसी स्थानपर सद्गुणोंको देख नहीं सकता वह तो सदा दोषही देखता है इसलिये नित्य दोषोंकाही चिंतन करनेके कारण स्वयं दोषी बनता है। अपनेही दोषसे दोषी बननेका यह एक उत्तम उदाहरण है। अत असूया दोषसे मनुष्य अपने आपको सदा बचावे।

इस श्लोकमें असूया-दोषको हटानेका जो उपदेश किया है वह उन्नतिका मार्ग निर्विघ्न करनेवाला होनेसे विशेष हितकारी है। जिसमें असूया नहीं है वह मनुष्य दूसरोंके गुणोंको देखकर प्रसन्न होता है और अपनी अपेक्षा दूसरेने कितनी उन्नति प्राप्त की है यह देखकर उसकी प्रशंसा करता हुआ उसका आदर्श बनाकर उससे भी उस सद्गुणमें अधिकगुण बननेका यत्न करता है और इस तरह उन्नत होता है। परंतु असूया करनेवाले तो दोषचिंतनके कारण गिरते ही जाते हैं।

असूयकोंको (सर्व-ज्ञान विमूढाः) सब ज्ञानसे मूढ बने हुए कहा है। इससे पूर्व अहंकारविमूढात्मा अहंकारसे मूढ बननेका उल्लेख २७ वे श्लोकमें आया है परंतु यहां अहंकारसे किंवा अज्ञानसे विमूढ बननेका भाव न कहते हुए सर्व ज्ञानसे विमूढ होनेका वर्णन है। सर्व ज्ञानसे विमूढ किसप्रकार हो सकते हैं, इसका विचार अब करना चाहिये। कई लोग अज्ञानसे मूढ बने होते हैं दूसरे कई अहंकारसे विमूढ होते हैं, कई तीसरे (धर्म संमूढचेताः। गी २।७) धर्मके वृथा अभिमानसे मूढ हुए होते हैं इनकी मूढता तो पाठक समझ सकते हैं परंतु सर्व ज्ञानोंको प्राप्त करनेपर भी मनुष्य विमूढ हुए कैसे होते हैं, यह समझनेके लिये इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये।

इस श्लोकमें कहा है कि (ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः)

(१२) प्रकृति–स्वभाव

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

अन्वयः— ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते । भूतानि प्रकृतिं यान्ति । निग्रहः किं करिष्यति ? ॥ ३३ ॥

ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्तता है । सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं । वहां हठ क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

भावार्थ— प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुसार व्यवहार करते हैं । इतनाही नहीं परंतु ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलता है । उसमें हठ या बलात्कारसे क्या बनेगा ? ॥ ३३ ॥

जो इन मेरे-भगवान्के-उपदेशकी भी निन्दा करते हैं भगवानके पवित्र उपदेशोंपर दोषोंका आरोपण करते हैं और (न मतं न अनुतिष्ठन्ति) मेरे इस मतके अनुसार आचरण नहीं करते वे (सर्वज्ञान विमूढाः) सब ज्ञान होते हुए भी विशेष मूढ हैं और अत वे (नष्टा) नाश को प्राप्त होते हैं । यहां पाठक देखें कि यद्यपि ये विमूढ कहे गये हैं, तथापि ये पढे लिखे तार्किक ज्ञानवान ही हैं अनाडी निरक्षर नहीं। क्योंकि ये श्रीकृष्ण भगवान् जैसे अद्वितीय ज्ञानीके उपदेश-वचनोंका आशय स्वयं समझते हैं समझकर उनके गुणोंके ऊपर दोषोंका आरोप युक्तिसे करने की बुद्धिमत्ता अपनेमें रखते हैं अर्थात् उन उपदेशवचनोंके गुणोंको जानते हैं परंतु जानकर भी घमंडसे मानते नहीं हैं और उत्तम उपदेशोंको प्रमाणहीन और दोषयुक्त बतानेका तर्क भी करते हैं । किसी उत्तम वक्ता मतिनिष्ठ सदुपदेशोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए ज्ञान अवश्य चाहिये । परंतु यह ज्ञान तर्क वितर्क और कुतर्क करनेवाला होता है । बालकी खाल निकालना, वितंडा करना दूसरोंके मनोंका विपर्यास करना और प्रतिपक्षीकी सरलताका अधिकसे अधिक लाभ उठाना तथा उसका उपहास करके अपनी जीत अपनेआप बतलाना यह इन सर्वज्ञानविमूढोंका कार्य है । यह कार्य निरक्षर अनाडीसे हो नहीं सकता। सत्यको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करनेके लिये आवश्यक तर्क करनेकी विद्याके विना यह असूया हो नहीं सकती। निरक्षर अनाडी मनुष्य प्रायः सरल और श्रद्धालु होते हैं और वे परमार्थसाधनमें शीघ्र उन्नति कर सकते हैं ।

परंतु ये पढलिखकर पढे हुए होनेपर भी मूढ सब प्रकार का शब्दज्ञान होनेपर भी जिनके मनोंपर उस ज्ञानका कुछ भी संस्कार नहीं हुआ है ऐसे ज्ञानामृत-सरोवरमें गोते लगाते हुए भी कोरेके कोरे सर्वज्ञान प्राप्त होनेपर भी विशेष मूढ बडे अजबखोर होते हैं किसीके उपदेशका कोई परिणाम इनपर नहीं होता । ये निःसंदेह नष्ट होनेवाले ही हैं । निरक्षर लोग अनाडी और सरल होनेके कारण अच्छे होते हैं, अहंतु साक्षर भी अच्छे हैं परंतु ये शब्दज्ञान जानते हुए भी अनाडी बहुत ही अवनत होनेवाले हैं ।

इस श्लोकका सर्व-ज्ञान-विमूढ शब्द विशेष महत्व का है और पाठक इसका यह अर्थ ध्यानमें रखें और स्वयं ऐसे न बनें । यहां ज्ञान शब्दका अर्थ सात्त्विक ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान अक्षरज्ञान किंवा तर्कज्ञान है । जो सात्त्विक शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान है उससे कदापि मूढता उत्पन्न नहीं हो सकती । परंतु केवल शब्दज्ञान जिनको हुआ है और जो अभक्ततु लोग तत्त्वको नहीं जानते और कभी अनुष्ठान नहीं करते वे शब्दज्ञान प्राप्त होनेपर भी असूयाका भाव बढनेके कारण विशेष मूढ बनते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं । सब प्रकारका परमार्थ-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वे अनधिकारी होते हैं । इससे सिद्ध है कि उन्नतिके लिये मनुष्यकी तर्कना शक्ति बढनेकी अपेक्षा हृदयकी सात्त्विक श्रद्धा बढनी चाहिये ।

आगे ज्ञानवान् होनेपर भी मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है, इसलिये प्रकृतिका सुधार होनेकी आवश्यकता है यह बात कही है । यह विशेष महत्वकी होनेके कारण अब देखिये—

(३३) प्रत्येक प्राणीकी प्रकृति धर्म भिन्नभिन्न है । सिंह व्याघ्र प्रकृतिस्वभावसे क्रूर हैं और हरिण अथवा गौ प्रकृतिसे

हिंसक नहीं है। प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणी योनि धर्मके अनुसार विभिन्न स्वभाववाले होते हैं। कई शाक-भोजी कई मांसभोजी, कई कृमिभोजी कई भूमिगामी कई जलगामी कई वायुगामी। इसी प्रकार प्रत्येक योनिमें उत्पन्न हुए प्राणियोंकी प्रकृतियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। इनकी जो प्रधान प्रकृतियाँ हैं, वे बदलती भी नहीं जैसा सिंह शाकभोजी नहीं हो सकता और गौ मांसभोजी नहीं बन सकती क्योंकि वह उनका सहज प्रकृति-धर्म है। मनुष्य मनुष्यमें भी प्रकृति-स्वभावकी भिन्नता होती है। कई मनुष्य शान्त प्रकृतिके, कई क्रोधी कई पापकी कई शुद्ध प्रकृतिके होते हैं। इनकी प्रकृति प्रयत्न करनेपर भी बदलती नहीं। इस कारण जो वीर-वृत्तिके लोग होते हैं उनसे शम-दमका कार्य नहीं हो सकता और जो शम दमशील शांत प्रकृतिके लोग हैं, उनसे भयपातक युद्ध नहीं हो सकता। जो वैश्य वृत्तिके लोग हैं और जो एक पैसा देकर देढ पैसेका माल लेनेकी वृत्तिके हैं, वे ब्राह्मणोंके समान त्याग नहीं कर सकते और जो सेवावृत्तिके लोग हैं उनसे वीरवृत्तिका कार्य नहीं बन सकता। इसका कारण प्रकृति-स्वभाव है। अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे यह प्रकृति बनती है और कितना भी हठ किया अथवा बलात्कार किया तो भी यह प्रकृति-स्वभाव नहीं बदलता।

"स्व भाव" शब्दका अक्षरार्थ "(स्व) अपना (भाव) जन्म" है। जिस जन्मसे जो बना होता है वह "स्वभाव" कहलाता है। अन्य पशुपक्षियोंका तो स्वभाव बदलताही नहीं मनुष्योंका भी बदलना कठिन होता है और बड़ा प्रयत्न करनेपर अंशमात्र बदल सकता है। विश्वामित्र जैसेने अपनी क्षात्र प्रकृति थी वह ब्राह्मी बनानी थी परंतु उनके लिये उनको कितना कष्ट पड़े और वह बारबार अपनी क्षात्र प्रकृतिपर कैसा आता था यह बात उनके चरित्रमें स्पष्टतासे दीखती है। प्रकृति-स्वभाव बदलना इतना कष्टसाध्य अथवा असाध्यसा है।

अर्जुन वीर वृत्तिवाला क्षत्रिय है। आप्तजनोंको देखकर युद्धविषयमें उसकी थोडी अप्रवृत्ति हुई है परंतु वह चिर कालतक टिकनेवाली नहीं है। क्षणमात्र उपरति हुई तथापि वह सदाके लिये टिक नहीं सकती। और अर्जुन इस समय लडना नहीं चाहता तो भी थोड़े समयके पश्चात् यह अपने मूल स्वभावपर अवश्य आ जायगा। अतः अर्जुनके विषयमें कहा है।

> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
> अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
> यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
> स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
> कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
> (भ. गी. १८)

"यदि तू अहंकारके वश होकर मेरी बात नहीं सुनेगा तो नाशको प्राप्त होगा॥ अहंकारवश तेरा यह मानना कि मैं न लडूंगा एक मिथ्या निश्चय है। तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा॥ हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू मोहवश होकर जिसे नहीं करना चाहता उसे तू विवश होकर करेगा॥"

अर्जुनके विषयमें यह जो बात कही है वह प्रायः सबके विषयमें सत्य है। प्रकृति-स्वभाव बडा दुस्तर है। अर्जुन अपनी जन्मजात वीरवृत्तिको छोडकर आगन्तुक शान्तवृत्ति धारण करना चाहता था। उसके लिये वह असमर्थ था उससे वह निभना असंभव था। जबरदस्तीसे ऐसा हठ करना किसीको भी योग्य नहीं है। प्रकृतिके अनुकूल चलते हुए जो उन्नतिका मार्ग आक्रमण करता है, वह योग्य है। वही निर्विघ्न मार्ग है। अर्जुनकी उन्नति वीरवृत्तिके वसका कर्तव्य करनेसे ही सकती थी। उनका प्राप्त कर्तव्य युद्ध था वह भी ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया जाता तो उसका मोक्षका मार्ग सुगम हो सकता था परंतु वह प्रकृतिस्वभावानुकूल प्राप्त कर्तव्यसे विमुख होता हुआ अस्वाभाविक परस्वभावका आचरण करना चाहता था। अग्नि यदि जल बनना चाहे या सूर्य चन्द्र बननेका यत्न करे तो उस प्रयत्नमें जैसा उनका नाश है उसी प्रकार अर्जुनका परकीय शान्त प्रकृति स्वीकारनेसे नाश होना था। इसलिये भगवान् और कहते हैं कि—

(ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते) ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करते हैं।" ज्ञानी भी प्रकृतिस्वभावके विरुद्ध कार्य कर नहीं सकते। देखिये—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वय —इन्द्रियस्य अर्थे इन्द्रियस्य रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयो वशं न आगच्छेत् । तौ हि अस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियके विषयके संबंधमें इन्द्रियकी प्रीति अथवा द्वेष स्वभावसिद्ध हैं। उनके वशमें न होना चाहिये क्योंकि वे इसके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—प्रत्येक इंद्रियका इष्ट अथवा अनिष्ट विषय निश्चित हुआ होता है । इष्ट विषयपर इंद्रियकी प्रीति और अनिष्ट विषयके संबंधमें द्वेष होता है । एवं मनुष्य इस रागद्वेषके अधीन न बने क्योंकि ये रागद्वेष उसके शत्रु हैं और शत्रुके अधीन हो जाना किसीको भी योग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनकराघवौ ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्थिताः ॥
(जीवन्मुक्तिविवेक)

कृष्ण भोगी थे शुकाचार्य त्यागी विरक्त थे जनक और रामचंद्र राज्यव्यवहार कुशलतासे कर रहे थे वसिष्ठ यज्ञयाग अध्ययन तथा अध्यापनमें दत्तचित्त थे। यद्यपि वे इस प्रकार अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार विविध कर्म करते थे तथापि वे सब ज्ञानी थे। इसी प्रकार जडभरत चुपचाप रहते थे रैक्व गाडीके नीचे पडे रहते थे व्यासदेव विद्यार्थियोंको पढाते थे दुर्वास ऋषि क्रोधी थे वामदेव शान्त थे इसी तरह कई ज्ञानी विविध प्रकारसे व्यवहार करते थे और करते हुये दीखते हैं। परंतु वे सब ज्ञानी हैं। ज्ञानी होनेपर भी प्रकृति पूर्ण बदलता नहीं। यदि वसिष्ठ युद्ध करने लग जाय जडभरत सेनापति बने और रामचंद्र पौरोहित्य करने लग जाय तो वैसा करनेमें उनकी असमर्थताही सिद्ध होगी। ज्ञानी होनेपरभी वसिष्ठसे युद्धका क्रूर कर्म होना असंभव था और जनकसे याजन होना कठिन था क्योंकि उनकी प्रकृति भिन्न थी। अर्थात् ज्ञानी होनेपर भी सब ज्ञानियोंकी प्रकृति एक जैसी नहीं होती। ज्ञानी होनेपर भी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म नहीं हो सकता। फिर जो ज्ञानी नहीं है उस प्राकृत मनुष्यके विषयमें तो कहनाही क्या है ? उनको तो अपनी प्रकृतिके अनुसारही कर्म करते हुए अपनी उन्नतिका मार्ग ढूंढना चाहिये। अन्यथा प्रकृतिके विरुद्ध कार्य करनेसे उसका नाशही होगा।

बलात्कार निग्रह अथवा हठ करनेसे कोई काम नहीं हो सकता प्रत्युत हठसे हानिही होगी। हानि इसलिये होगी कि प्रकृतिके विरुद्ध कर्म इसने उत्तम रीतिसे होयाही नहीं और प्रकृतिके अनुकूल कर्म तो यह छोड देगा इसलिये यह ' न इधरका और न उधरका ' होगा और इसी कारण विनष्ट होगा।

इस श्लोकमें कहा है कि (निग्रहः किं करिष्यति) निग्रह से क्या बनेगा ? इस कथनसे निग्रह इन्द्रियसंयम दमन आदि नहीं करना चाहिये ऐसा कोई अनुमान न करे। क्योंकि सब इंद्रियोंको वशमें रखकर योगीको मुझमें तन्मय हो जाना चाहिये क्योंकि जिसकी अपनी इन्द्रियों पर काबू है, वह स्थितप्रज्ञ होता है ॥ जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित होकर उसकी वशवर्तिनी हैं वह मनुष्य इंद्रियोंसे काम लेते हुए भी प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥ जिसकी इंद्रियां चारों ओरके विषयोंसे निकल कर अपने वशमें आजाती हैं वह स्थितप्रज्ञ होता है। (भ गी २।६१।६४।६८) इत्यादि स्थानोंमें इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहका जो वर्णन किया है उसका विरोध करनेके लिये यह श्लोक यहां कहा नहीं है। संयम और निग्रह तो अवश्य ही चाहिये। परंतु जो बलात्कारसे हठ किया जाता है और जो आगे हानिकारक सिद्ध होता है उसका निषेध यहां किया है। हठ करनेका अर्थ " संयम " नहीं है। यह बात पाठक यहां एकाग्रतासे ध्यानमें रखें अन्यथा अर्थका अनर्थ होगा।

आगे इसी प्रकृतिका वर्णन कुछ अन्य दृष्टिसे किया है। वह श्लोक अब देखिये—

(३४) इन्द्रियके (अथ अर्थात्) विषय निश्चित हैं। कान त्वचा नेत्र जिह्वा नासिका इन पांच इन्द्रियोंके क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये विषय सिद्ध हैं। ये इनके निश्चित विषय हैं और इसीलिये इनमें परि

वर्तन नहीं हो सकता अर्थात् कानका विषय शब्दही होगा कोई दूसरा नहीं होगा। इसी प्रकार प्रत्येक अन्य इंद्रिय का विषय निश्चित है। ऐसेही इंद्रियका प्रेम और द्वेष भी निश्चित है अर्थात् कानका प्रेम मधुर शब्दपर होगा और कठोर शब्दपर द्वेष। सुन्दर रूपपर नेत्रका प्रेम होगा और कुरूपके विषयमें द्वेष। इसी रीतिसे अन्यान्य इंद्रियोंके रागद्वेषोंके विषयमें जानना चाहिये। इस रीतिसे इंद्रियोंके विषय और इंद्रियोंके राग द्वेष स्वभावसे निश्चित हुए हैं।

सुगंध मधुर रस, सुंदर रूप मृदु स्पर्श और मीठा शब्द इनपर हरएक मनुष्यकी प्रीति होती है जैसे ये विषय साधारण मनुष्यका चित्त आकर्षण करते हैं उसी प्रकार साधुको भी इनसे सुखही होगा। संयमी अथवा ज्ञानी हुआ तो भी सुगंधसे उसको दुःख नहीं होगा और सुंदर रूपके सौन्दर्यकी सुंदरता उसको सुन्दरही दीखेगी। इसी प्रकार दुर्गन्धसे वह दुःखी होगा कुरूप उसको कुरूपही प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि केवल इंद्रियोंकाही विचार किया जाय तो यह बात निश्चित है कि इंद्रियोंके राग और द्वेष निश्चित हुए हैं। इनमें फरक नहीं हो सकता।

साधु हुआ तो भी उसको मधुर रस कडुवा लगेगा और सुंदर रूप उसको भयंकर कुरूप प्रतीत होगा ऐसी बात नहीं है। परंतु जो भेद है और जिससे साधुकी श्रेष्ठता और साधारण मनुष्यकी हीनता व्यक्त होती है वह आचरणमें है। सज्जन वे हैं कि जो सुन्दरताका अनुभव करते हुए भी उससे मोहित नहीं होते मीठे रसको मीठा मानते हुए भी उसकी प्राप्तिके लिये तडपते नहीं इसी तरह अन्यान्य प्रेमके विषयोंके द्वारा आकर्षित नहीं होते और इंद्रियोंके द्वेष्य विषयोंका द्वेष करके या उनको दूर हटानेके लिए अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करते। जो लोग सुंदर रूपको अपने पास रखनेके लिये और कुरूपको दूर करनेके लिये जीवनभर अत्यन्त प्रयत्न करते हैं, वे मूढ हैं और वे अधःपतनके लिये पात्र हैं। कई राजा या बादशाहोंने सुन्दर स्त्रीकी सुंदरतासे आकर्षित होकर परराज्यसे युद्ध करके सहस्रों निरपराध मनुष्योंका क्रूरतासे वध किया था, इसी प्रकार कुरूप लडकेके लिये भी अपनी सामर्थ्य बढाकर हमला किये थे और अत्यन्त नरसंहार की थी। ये

लोग और इसी तरह बर्ताव करनेवाले विषयान्ध लोग राग द्वेषके वशमें हुए होते हैं।

ये रागद्वेष मनुष्यके शत्रु हैं ये (परिपन्थी) बटमार हैं, ये मार्गपर छिपकर रहनेवाले चोर डाकू और लुटेरेके समान हैं। ये मनुष्यकी उन्नतिके मार्गपर मित्रता करनेका बहाना करके रहते हैं और मनुष्य वशमें हो गया, तो उसको जैसा चाहे वैसा नचाते हैं। शहरमें यदि कोई ऐसा चोर मिल तो नगरके अन्ततक प्रेमका बहाना करता है और जब मार्ग जंगलपर अपना क्रूर रूप प्रकट करता है और घात करता है। अथवा जैसा वत्सनाभका विष खानेके लिये मीठा और परिणाममें विनाशक होता है उसी प्रकार इन विषयोंके आनन्द के विषयमें समझना चाहिये। सबको प्रेमका विषय आरंभ में मीठा और परिणाममें घातक होता है। विषयोंपर का राग बढते बढते मनुष्य पापकर्ता या मूढ बनता है यह अनुभव इस जगत्में स्थान स्थानपर आता है। एकके फंसने का अनुभव देखकर दूसरोंको सावधान होना उचित है, परंतु साधारण मनुष्य ऐसे सावधान नहीं होते इसलिये इस श्लोकमें कहा है कि (तौ रागद्वेषौ अस्य परिपन्थिनौ) ये रागद्वेष इसके शत्रु हैं। साधारण मनुष्य इस रागद्वेष रूपी शत्रुओंके अधीन होकर उनके कहनेके अनुसार नाचने लगता है और नष्ट होता है। येही शत्रु इसको बन्धनमें डाल देते हैं। श्रेष्ठ सज्जन भी रागद्वेषोंका अव लोकन करता है परंतु उनके वशमें नहीं होता, उनसे अपने आपको स्वतंत्र रखता है इसलिये अपनी पवित्रता में आनन्दसे रहता है।

विशेषतया यहां युद्धके प्रयोजनसे भक्तिके मार्गसे न जाने और युद्धके डरसे स्वकर्तव्य न छोडनेका उपदेश है। अर्जुन हिंसात्मक युद्ध स्वधर्म होते हुए भी हिंसाके भयसे छोडना चाहता था और अन्यधर्मा परधर्म सुखकर होनेके कारण स्वीकारना चाहता था। यहां सुखरताका मोह और दुःखदताका द्वेष अर्जुनके मनमें हुआ और अर्जुन इन राग द्वेषरूपी शत्रुओंके अधीन हो गया था। इसलिये स्वधर्म करनेके उद्देशसे यह उपदेश सामान्यतया अर्जुनको भगवान्ने किया। परंतु इसका विशेष परिणाम उसपर नहीं हुआ यह देखकर फिर और विशेष स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वय - स्वनुष्ठितात् परधर्मात् स्वधर्मः विगुणः (अपि) श्रेयान् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः । परधर्मः भयावहः ॥ ३५ ॥

सुखसे आचरण करनेयोग्य परधर्मसे अपना धर्म गुणरहित होनेपर भी अधिक कल्याण करनेवाला है । स्वधर्ममें मरना कल्याणकारी है और परधर्म भयंकर है ॥ ३५ ॥

भावार्थ- अपना धर्म आचरणके लिये कितना भी कठिन और कैसाही गुणहीन क्यों न हो और दूसरेका धर्म अनुष्ठानके लिये अत्यंत सुगम और कितना भी गुणवान् क्यों न हो तथापि सुगम और गुणवान् परधर्मकी अपेक्षा कठिन और गुणहीन स्वधर्म ही मनुष्यके लिये अन्तमें श्रेयस्कर सिद्ध होता है । अपने धर्मका आचरण करते हुए मरण आया तो भी वह कल्याणकारक है परंतु परधर्मका स्वीकार करनेसे भयंकर आपत्ति आती है ॥ ३५ ॥

आधिदैविक दृष्टि

(३५) प्रत्येककी स्थिति उसके निज धर्मसे होती है। अग्निका स्वधर्म उष्णता, जलका स्वधर्म शीतलता, वायुका स्वधर्म शुष्कता है और इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंके स्वधर्म भिन्नभिन्न हैं । यदि अग्नि अपने निजधर्मरूपी उष्णतासे घबराने लगा और जलका शीतलतारूपी परधर्म स्वीकारने लगेगा तो उसमें उसका नाश निश्चित है । इसी तरह जिस समय जल अपने शीतलतारूपी निजधर्मको छोडकर उष्णतारूपी परधर्मका ग्रहण करने लगता है उसी समय वह परिमाणमें घटने लगता है । अर्थात् परधर्म-स्वीकारसे नाश निश्चित है यह छुपा नहीं जाता ।

अब यह भी देखिये कि अग्निकी उष्णता जलकी शीतलता वायुकी शुष्कता आदि सभीके सभी विविध धर्म सृष्टिमें अत्यंत आवश्यक ही हैं, फिर इनमें अपने धर्मकी कठिनता से घबराकर परधर्म स्वीकारनेका यत्न करनेमें कामही क्या है ? यह विचार आधिदैविक दृष्टिसे किया । अब आध्यात्मिक दृष्टिसे यही बात अपने शरीरमें देखिये—

आध्यात्मिक दृष्टि

आंखका धर्म देखना है कानका धर्म सुनना है नाकका धर्म सूंघना है जिह्वाका धर्म स्वाद लेना है तथा अन्यान्य अवयवोंके अन्यान्य धर्म हैं । ये सब धर्म यथायोग्य प्रमाणमें रहे तो ही शरीरकी सुस्थिति है अन्यथा दुःस्थिति होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । ऐसी अवस्थामें यदि आंख सुननेका काम करे कान देखनेमें यत्नवान् हो नाक स्वाद लेनेका हठ करे और जिह्वा सुगंध सूंघने लगे तो ऐसा करना उनके लिये अशक्य है और इससे ऐसा परधर्माचरण कोई इंद्रिय करने लगेगा तो निःसंदेह उसका नाश ही होगा ।

यहां पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परधर्म स्वीकार करनेकी अपेक्षा यदि स्वधर्मका आचरण उत्तमसे उत्तम रीतिसे करनेकी चेष्टा की जाय, तो उसमें सबकाही अधिक कल्याण है । आंख नाक कान जिह्वा आदि इंद्रिय अपने अपने धर्मकी पराकाष्ठा करेंगे और संयमसे अपने ही धर्ममें उन्नत होंगे तो उसमें जितना सुख मिलना संभव है उतना सुख स्वधर्म छोडकर परधर्म स्वीकारनेसे कदापि मिलना असंभव है ।

आधिभौतिक दृष्टि

यही बात अब आधिभौतिक जगत्में अर्थात् प्राणिसमष्टिमें देखिये । ब्राह्मणोंका कर्तव्य शमदमपालन अध्ययन अध्यापन आदि है । क्षत्रियोंका कर्तव्य शौर्यवीर्यपराक्रम युद्धमें अपलायन शत्रुनिर्दलन आदि है । वैश्यका कर्तव्य व्यापारसे धन कमाना खेती करना है । शूद्रका कर्तव्य हरएक प्रकारकी कारीगरी करना अथवा त्रैवर्णिकोंकी सेवा करना है । इन चार वर्णोंके इन शास्त्रोक्त कर्तव्योंमें प्रायःसब कार्य जो मनुष्य समाजकी सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं, आते हैं । इन कर्तव्योंमें क्षत्रियोंका कर्तव्य युद्धादियुक्त भय आदि प्रकारका है, कष्टदायक है शूद्रका भी दुःखदायक है ऐसा कइयोंको प्रतीत होना स्वाभाविक है । समझदारी लोग कहते हैं कि—

देखो ये पंडित लोग बैठे खाते हैं ! घरमें बैठकर अध्यापन करना कोई बडी बात नहीं है । देखो क्षत्रिय लोग कितने कष्ट सहते हैं धूप धूपमें कितनी जंगमइलम करते हैं ! हम ऐसे कष्ट क्यों न करें ? क्या कारण है कि वे ही

मौज उडावें और दूसरे कष्ट भोगें । देखो ये पूंजीपति वैश्य आरामसे तकियेके साथ बैठते हैं, घरमें सोने चांदीके ढेर लगे होते हैं। कुछ मेहनत किये बिना ये लोग चैन करते हैं और शूद्र मेहनत करनेपर भी आधे पेटकी रोटी तक नहीं पा सकते ! कितना अन्याय है ! सब मनुष्य एक-जैसे सम समान हैं सबका देह पांचभौतिक है सबमें आत्मा समान है अतः क्यों ऐसी विषमता इस जगतमें रहे ?

जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य दूसरोंपर अत्याचार करते हैं और दूसरोंको सताते हैं, उनके विषयमें ये या इससे भी तीखे विचार प्रकट किये जावें तो कोई बुरा नहीं है। परंतु वैदिक धर्म अथवा वर्णाश्रमधर्म ठीक रीतिसे पालन होनेपर कोई किसी प्रकार किसीपर अत्याचार करही नहीं सकता। श्रुतिस्मृतिके नियम उच्चवर्णियोंको कठोर और नीच वर्णियोंको सुखप्रद ही हैं।

ब्राह्मण लोग बिना परिश्रम मीठे पदार्थ खाते हैं ऐसा दीखता है। परंतु उनके पीछे भी तपस्याका धर्मनियमाचरण लगाता है यह देखा जाय तो कोई दूसरा वर्णीय मनुष्य ब्राह्मण बननेकी इच्छाही नहीं करेगा। क्षत्रियोंके अधीन बडा अधिकार है ऐसा प्रतीत होता है परंतु क्षत्रियको राज्यशकट चलानेका तो दुःखदायी कार्य है उसके लिये ये अधिकार उसके साथ रहनाही आवश्यक है। वैश्य पूंजीपति इसीलिये होता है कि उसका वह संग्रहीत धन राष्ट्रके हितके लिये खर्च करनेका पुण्य प्राप्त हो। ये त्रैवर्णिक आयुष्यका प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रममें तपस्याका कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं उसमें इनके लिये भोगकी प्राप्तिही नहीं है। ब्रह्मचर्यके पश्चात् २०-२५ वर्ष गृहसौख्य भोगते हैं पश्चात् वानप्रस्थ और सन्यास ये तपस्याके आश्रम स्वीकारते हैं। वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पूर्व द्विज प्रायः सर्वमेध यज्ञद्वारा अपनी सब कमाई राष्ट्रके लिये त्याग देता है जातिकी भलाईके लिये अपना सर्वस्व समर्पण करता है। इस प्रकार वैदिक धर्ममें धर्माचरण करनेवाला ब्राह्मण पोप नहीं क्षत्रिय जालिम नहीं और वैश्य भी पूंजीपति नहीं, अर्थात् आजकलके ये निन्दनीय शब्द वैदिक धर्मियोंके लिये प्रयुक्त करना बडा अन्याय करना है। वहां प्रत्येक गृहस्थी इसलिये पारिवारिक जन नौकर चाकर आदि सबका भोजन यथायोग्य रीतिसे होनेके पश्चातही स्वयं भोजन करनेवाला होता है परिवारकोंके पूर्व किसी गृहस्थीका भोजन होना असंभव है और वह भोजन भी अतिथि अभ्यागत होगा वहां विषमतावाद उपस्थितही कैसे हो सकता है ? वर्णाश्रमधर्म समतावादका उत्तम उदाहरण है। इसका विशेष विवरण करनेका स्थल यहां नहीं है तथापि संक्षेपसे जितनी बात यहां दर्शायी है उतनी वैदिक धर्मके साम्यवादका निदर्शन करनेके लिये पर्याप्त है। ये चार वर्ण मिलकर एक राष्ट्रदेह होता है, देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋ. १०।९०।१२)

'ब्राह्मण इस समाजका मुख है क्षत्रिय इस समाजका बाहु बनाया है जो वैश्य है वह इस समाजका ऊरु है और पांवोंके लिये शूद्र है।' इस तरह ये चार वर्ण एक पुरुषके चार अवयवके लिये माने हैं जैसा सिर बाहु ऊरु और पांव ये शरीरकी सुस्थितिके लिये आवश्यक हैं। समतावादियोंके मतानुसार शरीरमें केवल सब अवयव सिर अथवा सर्वत्र बाहु किंवा सब स्थानपर पांव ही पांव बनाये जावें तो अनिष्ट होगा उसी प्रकार समाजकी सुस्थितिके लिये भी सब लोग केवल ब्राह्मण केवल क्षत्रिय केवल वैश्य अथवा केवल शूद्र बनावें अथवा प्रत्येक मनुष्यमें सब वर्णोंकी विशेषता बनानेका यत्न किया जाय तो भी समाजकी वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। वैसा होनेपर समाज बहुत बनेगा और उसमें नावीन्य न रहेगा। इसका कारण यह है कि—

मनकी विषमता

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः। (ऋ. १०।७१।७)

'आंखवाले और कानवाले सभी लोक समान होते हैं परन्तु ये सब मनके वेगमें विषम होते हैं।' इसलिये उनमें विषमता रहती है। समतावादी मनोवेगका विचार नहीं करते इसलिये फंसते हैं। वैदिक वर्णाश्रमधर्ममें इस मनोवेगका विचार उत्तम रीतिसे किया है इसलिये वह एकही धर्म जगत्का उद्धार करनेके लिये समर्थ है।

उपरिलिखित चारों वर्णोंमें क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण कष्टप्रद है यह बात सत्य है और ब्राह्मणका और वैश्यका

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः । अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

(१३) पाप प्रवृत्तिका कारण

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च । यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच- हे वार्ष्णेय ! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव पापं चरति ? ॥ ३६ ॥

अर्जुनने पूछा हे श्रीकृष्ण ! अब (यह बतलाओ कि) किसकी प्रेरणासे यह मनुष्य इच्छा न रहने-पर भी बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भावार्थ— मनुष्यकी इच्छा पाप करनेकी ओर न होते हुए भी किसीके अधीन होकर कार्य करनेके समान यह मनुष्य किसी किसी समय पापाचरण करता है । मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति किस कारणसे होती है ?

परधर्म व्यवहार होनेके कारण उस प्रकारके कष्ट इनमें नहीं हैं यह बात भी सत्य है । परन्तु उसमें बिलकुल कष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं है एक वर्णके धर्ममें एक प्रकारके कष्ट हैं तो दूसरे वर्णके धर्ममें दूसरे प्रकारके कष्ट हैं और एकमें एक प्रकारका सुख है तो दूसरेमें दूसरे प्रकारका सुख है । विचार करनेपर पता लग जायगा कि धर्मसंस्थापकोंने सब वर्णोंके लिये सुख और कष्ट समानतया बांटनेका यत्न किया है और यदि कुछ विशेष किया है तो यही है कि उच्च वर्णियोंको तपका जीवन है और निचले वर्णको भोगका जीवन अधिक रखा है ।

इस प्रकार प्रत्येक वर्णमें कुछ कष्ट और कुछ सुख है, इसीलिये अपने जन्मप्राप्त स्वधर्मविषयक कर्तव्यका त्याग करके दूसरेका धर्म सुसाध्य प्रतीत होता है इसलिये उसका स्वीकार करना मूढताका काम है । जिसको जो कर्तव्य स्वभाव से प्राप्त है स्वधर्मसे आया है सहजन्म-सहवास ही प्राप्त हुआ है वही उसको सुकर है । दूसरेका धर्म आज सुकर प्रतीत हुआ तो भी अन्तमें वह भ्रम था ऐसा ही अनुभव होगा और स्वधर्मत्याग और परधर्मानुष्ठान करनेका यत्न अन्तमें हानिकारक ही सिद्ध होगा ।

इसीलिये कहा है कि (स्वधर्मे निधनं श्रेयः) स्वधर्म आचरण करते करते मरण आगया तो भी वह कल्याणकारी होगा परन्तु परधर्मके आचरणसे कुछ अभ्युदय होता है ऐसा भी प्रारंभमें प्रतीत हुआ तो भी वह (परधर्मो भया वह) परधर्म भयंकर हानिकारक है ।

हानिकारक होते हुए मनुष्य उस पापकर्ममें क्यों प्रवृत्त होता है ? कौनसा अन्दरका भाव है जिससे यह मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है ? यह उत्तम प्रश्न यहां अर्जुनने किया है । यह प्रश्न और उसका उत्तर अब देखिये—

(१६) प्रत्येक मनुष्य पापाचरणके लिये तुला होता है ऐसी बात नहीं । प्रायः मनुष्य जानता भी है कि पापका फल दुःख है और इस कारण वह पापसे बचना भी चाहता है बचनेका यत्न भी करता है । परन्तु उसकी पाप न करनेकी इच्छा होनेपर भी किसीके दबावमें आनेके समान मनुष्य पापकर्ममें खींचा जाता है और इच्छा न रहनेपर भी इससे पाप होता है बचना चाहता हुआ भी बचता नहीं है । यह क्या चमत्कार है ? कौन इसको पापकर्ममें प्रवृत्त कराता है ? मनुष्यका ऐसा कौन चालक है जो इसको पसीट के आता है और पाप करवाता है ?

अर्जुनका यह प्रश्न श्रवण कर भगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हैं—

रजसो लोभ एव च (जायते) ॥ १७ ॥
(भ गी १४)

" भोगतृष्णा और आसक्तिका मूल रजोगुण है यह देह धारीको भोगप्राप्तिके लिये कर्मपाशोंमें बांध देता है ॥ रजो-गुणकर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है ॥ जब मनुष्यमें रजोगुण बढता है तब उसमें लोभ प्रवृत्ति कर्मोंका प्रारंभ करने की रुचि मनकी अशान्त वृत्ति और इच्छाका उद्गम होता है ॥ रजोगुणमें मृत्यु होनेसे कर्मसंगी लोगोंमें जन्म होता है ॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसेही लोभ होता है ॥ " रजोगुणका इस प्रकार वर्णन चौदहवे अध्यायमें है और अठारहवे अध्यायमें देखिये-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
(भ गी अ १८)

जिससे सब भूतोंमें भिन्न भिन्न भेदभाव दिखाई देता है वह राजस ज्ञान है ॥ जो कर्मफलकी इच्छासे होता है जो अहंकारसे किया जाता है और बडे परिश्रमसे होता है वह राजस कर्म है ॥ जो भोगी कर्मफल भोगनेकी इच्छा करनेवाला लोभी हिंसात्मक अपवित्र और हर्ष तथा शोक करनेवाला है वह राजस कर्ता कहलाता है ॥ जिससे धर्म और अधर्म कार्य और अकार्यके विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राजस बुद्धि है ॥ जो विषयों और इंद्रियोंके संबंधसे होता है जो प्रारंभमें मीठा लगता है परन्तु अन्त में विष जैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं॥

इससे रजोगुणका क्या परिणाम है यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है-

रजोगुणसे भोगवृत्ति बढती है उससे भोगतृष्णा होती है अनासक्ति होती है भोगप्राप्तिके लिये कर्म होते हैं, मनुष्य लोभी बनता है मन अशान्त होता है सब कुछ सुख मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है इस प्रवृत्तिसे दुःख बढता है भेद और झगड बढते हैं, अहंकारकी वृद्धि होती है बडे परिश्रमसे नाना सपादन करनेका यत्न होता है हिंसा अर्थात् दूसरेका घातपात करनेकी वृत्ति बढती है अपवित्रता बढती है किसी समय हर्ष और किसी दूसरे समय शोक होता है, धर्म अधर्मका विचार नहीं किया जाता कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखता, विपरीत अर्थात् असत्य ही सत्य प्रतीत होता है इंद्रियोंके विषयोपभोग अधिकाधिक भागनेकी वृत्ति बढती है। यह विषयसुख पहिले मीठासा प्रतीत होता है और अन्तमें वही विषके समान घातक सिद्ध होता है। अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढता है। " सारांससे यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकमें कहा है। इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और कामोंसे भोगमें विघ्न आने लगा तो कामीमें(?) क्रोध उत्पन्न होता है

बडा पेटू काम

यह काम (महा-अशन) बडा खानेवाला है इसने कितना भी खाया, तो भी इसका पेट नहीं भरता; यह सदा भूखा रहता है। कभी मनुष्यको कितने भी भोग प्राप्त हों यह कदापि तृप्त नहीं होता अभी और भोग चाहिये, ऐसाही कहता आता है। भोग प्राप्त करनेमें कितने भी पाप करने पडें उसका विचार यह नहीं करता। इस-लिये उसको (महापाप्मा) बडा कहा है। सब पाप इस कामके आश्रयसे ही होते हैं। हिंसा घातपात कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना आत्मघातक विधिनिषेध न मानना ये और ऐसे अनेक पाप इसीके कारण होते हैं। जिस प्रकार अग्निपर धूएका आवरण होता है और दर्पणपर मलका आच्छादन होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा पर इस कामका आवरण है जिसका मानो कि मनुष्यके ज्ञान पररही यह आवरण है। इसी आवरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है।

यह कामरूपी अग्नि (दुष्पूरः) कभी शान्त न होनेवाला है। इसमें कितनी भी भोगकी आहुतियां डाली तो भी यह शान्त नहीं होता। इस कामका पेट कभी भरता नहीं इसमें कितने भी भोग डाली यह सदा खाली ही रहता है। साथही साथ यह (महा पाप्मा) बडा पापी है। यह

पापकी ओर प्रवृत्ति करानेवाला है । भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा इसका कोई पता नहीं है। यदि धर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा परन्तु यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोगोंमें कुछ न्यूनता आ जाय तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटेगा। सब पाप प्रायः भोगतृप्ति करनेसे ही होते हैं। इसलिये कामको यहां ' महापापी (महापाप्मा) कहा है। जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है शत्रु कहलाता है। क्योंकि पापसे दुःख होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिह्न है।

यहां कह कहेंगे कि जो भोग बहुत समयतक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पापकर्म करनेसे भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं ! क्या उनके उद्धार की कोई आशा नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् स्पष्ट ही कहते है कि ऐसे भोगी लोग सदाके लिये अन्दरसे बिगड जाते हैं ऐसी बात नहीं है, यह एक उनकी शुद्ध आत्मापर आवरणसा आता है। जैसा अग्निपर धूवां दर्पण-पर मल और गर्भपर झिल्ली होती है उसी प्रकार उनकी आत्मापर कामरूप-भोगेच्छाका आवरण होता है। इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि धूवेंके अन्दर प्रदीप्त होनेयोग्य अग्नि विद्यमान रहती है मलके आवरणके नीचे दर्पणका शीशा जैसाका वैसा शुद्ध रहता है और झिल्लीके अन्दर सुन्दर बालक जीवित और जाग्रत रहता है वैसेही भोग भी इच्छाके अन्दर आत्मा रहती है, सदाके लिये बिगडती नहीं । अग्निको धमनीसे फूंका तो अग्नि प्रदीप्त होती है दर्पण धो दिया तो शीशा पुनः स्वच्छ बनता है और झिल्ली हटानेसे अन्दरसे सुन्दर बालक बाहर आता है इसी प्रकार संयमसे भोगेच्छाको दूर किया तो शुद्ध आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ प्रकट होती है । अर्थात् जैसे धूवां रहनेतक अग्नि जलती नहीं अपर मल रहनेतक दर्पण में मुख नहीं दीखता और झिल्लीके अन्दर वेष्टित होनेतक अन्दरका बालक जगत्का अनुभव नहीं करता इसी प्रकार भोगेच्छा बनी रहनेतक ही भोगीकी आत्मा बहुतकसी मलीन होती है। अतः उसको सदाके लिय पतित समझना अयोग्य है तथापि जबतक भोगोंके विषयमें प्रबल इच्छा रहेगी तबतक उस आत्माकी निज शक्तियोंका प्रकाश होना सर्वथा असंभव है और भोगेच्छा रहनेतक दुःखोंसे छूटना भी असाध्य है । इनके संस्कार भी इनके ऊपरसे हटनेके पश्चात् कुछ कालतक अवश्य कष्ट देते रहेंगे ।

यह काम (ज्ञानिनः वैरी) ज्ञानीका वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीके साथ कभी नहीं रहता । सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है। जिस प्रकार सूर्यके साथ अंधेरेका वैर है उसी प्रकार ज्ञानके साथ कामका वैर है । भगवान् शंकरने अपना तृतीय ज्ञाननेत्र खोलकर उसके तेजसे मदनको जला दिया यही कथा पुराणोंमें है। इस कथामें भी श्रीशंकरको " कामारि (काम×अरि) कामका शत्रु कहा गया है। काम और मदन एक ही हैं और श्रीशंकर पूर्ण ज्ञानी हैं । अतः इनका नाम उमा-पति (उमा = विद्या) विद्यापति ज्ञानी है। वे ज्ञानी होनेसे ही कामको जला सके । जो ज्ञानी नहीं होता वह कदापि कामका नाश नहीं कर सकता। इस कथासे भी काम ज्ञानका वैरी है यह बात सिद्ध होती है। जहां काम होगा वहां ज्ञान नहीं रह सकता और जहां ज्ञान है वहां काम नहीं रह सकता । इसीलिये ब्रह्मचर्य आश्रममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा लिखा है, क्योंकि उस आश्रमके पश्चात् विवाहादि होनेपर गृहस्थाश्रममें यदि मनुष्य कामके अधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य कठिन हो जाता है। यह काम ज्ञानका वैरी है इसीलिये (एतेन ज्ञानं आवृतं) ज्ञानको घेर लेता है। ज्ञानका मुख्य इन्द्रिय मन और बुद्धि है जब इनको यह काम घेरता है तब वहां मूढता आजाती है । जैसा शत्रुका सैन्य किलेको घेरता है और किलेके अन्दरके वीरों का संचार रोकता है इसी प्रकार यहां यह काम मनबुद्धि को घेरता है और उसकी स्वतंत्रताका नाश करता है। अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके अधीन होती है और जिस मार्गसे यह ले जाता है उसी मार्गसे जाती है।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां इस तरह मिला है । इच्छा न रहनेपर भी किस कारण मनुष्य पाप करता है यह अर्जुनका प्रश्न था। इसका उत्तर यह है कि जब कामके द्वारा मनबुद्धि घेरी जाती है और कामके वशमें हो जाती हैं तब उसका स्वामी काम हो जाता है और वही उसका चालक होता है। शरीरका वास्तविक चालक और स्वामी आत्मा है तथापि वह प्रभुके अधीन हुए होती है । राजा

१ (हिं गी)

अन्वयः- भगवान् उवाच- रजोगुणसमुद्भवः महाशनः महापाप्मा एषः कामः, एषः क्रोधः (अस्ति त्वं) एनं इह वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥ यथा धूमेन वह्निः यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते, यथा उल्बेन गर्भः आवृतः तथा तेन इदं आवृतम् ॥ ३८ ॥ हे कौन्तेय ! नित्यवैरिणा एतेन दुष्पूरेण कामरूपेण अनलेन ज्ञानिनः ज्ञानं आवृतम् ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते । एषः एतैः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति ॥ ४० ॥ हे भरतर्षभ ! तस्मात् त्वं आदौ इंद्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं एनं पाप्मानं प्रजहिहि ॥ ४१ ॥

श्रीभगवान् बोले — रजोगुणसे उत्पन्न हुआ अत्यधिक खानेवाला और बड़ा पापी यह काम और यह क्रोध (मनुष्यका प्रेरक है । परन्तु तू) इसको इस लोकमें शत्रु समझ ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है और जैसा झिल्लीसे गर्भ वेष्टित होता है उसी प्रकार इस (काम) से यह सब (ज्ञान) आच्छादित होता है ॥ ३८ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सबके नित्यवैरी कभी तृप्त न होनेवाले इस अग्निसदृश कामने ज्ञानीका ज्ञान ढक जाता है ॥ ३९ ॥ इंद्रियाँ मन और बुद्धि उस (कामरूपी शत्रु) का निवासस्थान कहा जाता है यह (काम) इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवात्माको विशेष मोहित करता है ॥ ४० ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! इसलिये तू पहिले पहिले इन्द्रियोंका संयम करके ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापीका परित्याग कर ॥ ४१ ॥

भावार्थ- रजोगुणसे काम और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है । यह काम सदा अतृप्त भूखा और मनुष्यको पापकी ओर प्रवृत्त करानेवाला है । अतः यह मनुष्यका शत्रु है । इस काम और क्रोधसे मनुष्यका ज्ञान नष्ट होता है । मनुष्यके इंद्रिय मन और बुद्धिमें यह घर करके निवास करता है और मनुष्यके ज्ञानको घेर कर उसको मोहित करता है । इसलिये मनुष्य संयमद्वारा अपने मन इंद्रियोंको स्वाधीन करे और ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी शत्रुको सदा छोड़ देवे ॥ ३७ — ४१ ॥

(३७-४१) अर्जुनने प्रश्न किया था कि मनुष्यकी इच्छा न होने हुए भी उसकी पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मनुष्यके इंद्रिय मन और बुद्धिमें काम रहता है यह उसकी इच्छा न होनेपर भी उसको पापकर्ममें प्रवृत्त कराता है । यह काम सदा भूखा और पापमें प्रवृत्त रहता है कभी कितना भी भोग प्राप्त हुआ तथापि तृप्त और शांत नहीं होता । जैसा काष्ठों और घीसे अग्नि शांत नहीं होता प्रत्युत बढ़ता है उसी प्रकार भोगोंसे यह काम कदापि शान्त नहीं होता केवल वृद्धि पाता है । यह मनुष्यका शत्रु है और यह मनुष्यके ज्ञान विज्ञानको घेरकर उसके कल्याणका नाश करता है । इसलिये कोई मनुष्य इस कामके अधीन न बने किन्तु मन इंद्रियोंका संयम करके इसको रहनेके लिये अपनी इंद्रियोंमें कोई स्थान मिलने न दे ।

छः शत्रु

मनुष्यके छः शत्रु हैं । इनके नाम काम क्रोध, लोभ, मोह मद और मत्सर ये हैं । इन सबुओंका मुखिया काम है क्योंकि कामके कारणही अन्य शत्रु मनुष्यमें रहते हैं । देखिये—

कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः (भ. गी. २।६२)

" कामसे क्रोध होता है और क्रोधसे मोह होता है । " कामसे लोभ भी होता है इसी प्रकार अन्यान्य विकार निर्माण होते हैं । अतः काम मुख्य है और शेष विकार उसके अनुयायी हैं । यह कामही मनुष्यका प्रेरक है । यहाँ काम शब्दका अर्थ स्त्रीविषयक भोगभावना है । इसके अति-रिक्त कामका अर्थ इच्छा भी है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा

(ऋग्वेद १०।१२९।४)

(अग्रे यत् मनसः प्रथमं रेतः आसीत्) प्रारंभमें जो मनका पहिला वीर्य प्रकट हुआ वह काम (अर्थात् प्रवृत्ति रूप काम) हुआ । यही (असति सतः बन्धुं निरविन्दन्) असत् सृष्टिके अन्दर सत् आत्माके साथ संबंध करनेवाला है यह बात ज्ञानी लोगोंने मनमें विचार कर निश्चित की है ।

इस मन्त्रमें कहा है कि सृष्टिके प्रारंभमें ईश्वरके मनसे जो वीर्य प्रकट हुआ, वह काम है। कामका अर्थ सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा कार्य करनेकी इच्छा अपनी शक्ति प्रकट करनेकी इच्छा निवृत्ति छोड प्रवृत्तिमें आनेकी इच्छा । यही काम गृहस्थाश्रमियोंमें लोकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रकट होता है और संतान निर्माण करनेकी इच्छाके रूपसे इसी कामका एक अंश गृहस्थाश्रमियोंमें निवास करता है ।

गृहस्थीका परोपकार

वस्तुतः देखा जाय तो वह काम जो परमेश्वरके मनसे प्रारंभमें प्रकट हुआ उसमें यथासंभव सब जीवोंपर उपकार करनेकी इच्छा थी । सब जीवोंको मुक्तिधामका मार्ग खुला हो जाये इसलिये सृष्टि निर्माण करनेका काम भगवान् परमेश्वरके मनमें प्रकट हुआ । इसी प्रकार गृहस्थियोंके मनमें जो सन्तानोत्पत्तिका काम उत्पन्न होता है वह यदि धर्म मर्यादामें ही सीमित रहा तो उसमें भी जीवोंपर उपकार करनेकी ही भावना है । पाठक यहां आश्चर्ययुक्त न हों और गृहस्थीके गर्भाधान करनेमें परोपकार कहां है ऐसा कहकर इस गंभीर विषयका उपहास न करें ! यह गर्भाधानका विषय भी धर्मयुक्त रहनेपर परोपकारका हेतु हो सकता है । विवाह-बंधनसे जो जो पुरुष एकत्रित होते हैं उनके एकत्र सहवासमें धर्मनियमके अनुसार देखा जाय तो अशुभ पापका गन्ध भी नहीं है । शुद्ध आचारसे ही पुरुष अपना संयम रखते हुए और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए, जो गर्भाधानार्थ सहवास करते हैं, उससे जीवात्माओंको इस कर्म भूमिमें आकर अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करनेके लिये पवित्र अवसर मिलता है । यह अवसर देना बडे परोपकारका कर्तव्य है । जिन जीवोंने पूर्व-जन्ममें मुक्तिका आधा मार्ग काटा है और जो शेष मार्ग शीघ्र आक्रमण करना चाहते हैं वे योगभ्रष्ट लोग संयमी योगियोंके घरोंमेंही जन्म लेते हैं । वे आचारभ्रष्टोंके घरोंमें नहीं आ सकते। क्योंकि कहा है—

> प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
> शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
> अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
> एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
> तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
> यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
>
> (भ गी ६)

" पुण्य करनेवाले लोग जिस लोकको पाते हैं उस पाकर वहां दीर्घ कालतक रहकर, योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र योगसाधनसंपन्न धार्मिक घर जन्म लेता है । किंवा वह ज्ञानयोगीके ही घर जन्म लेता है । संसारमें इस प्रकारका जन्म अत्यंत दुर्लभ है । वहां उसे पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वह वहांसे मोक्षके लिये आगे प्रगति करता है । "

इस तरह पाठक जान सकते हैं कि संयमी योगी जो पुरुष जो गर्भाधानके लिये सहवास करते हैं वह अपने काममुखके लिये नहीं प्रत्युत योगी जीवोंको इस जगत्‌में आकर आगे का मार्ग आक्रमण करनेका अवसर दिलानेके लिये ही है । वस्तुतः यह काम इस प्रकार परोपकारका हेतु है परन्तु यह सामान्य भोगी जीवोंके अधीन होनेके कारण इतना तिरस्करणीय हो गया है । यहां जिस भोगरूप कामका तिरस्कार किया है वह यही हीन काम है । यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है । इस विषयमें देखिये-

रजोगुणमय काम

> रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
> तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
> संजयति रजः कर्मणि भारत ॥ ९ ॥
> लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
> रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
> रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥ १५ ॥
> रजसस्तु फलं दुःखम् ॥ १६ ॥

रजसो लोभ एव च (जायते) ॥ १७ ॥
(भ गी १४)

भोगतृष्णा और आसक्तिका मूल रजोगुण है यह देह धारीको भोगप्राप्तिके लिये कर्मपाशोंमें बांध देता है । रजोगुणकर्ममें मनुष्यको प्रवृत्त करता है । जब मनुष्यमें रजोगुण बढता है तब उसमें लोभ महान कर्मोंका प्रारंभ करने की रुचि मनकी अशान्त वृत्ति और इच्छाका प्रबल होना है । रजोगुणमें मृत्यु होनेसे कर्मसंगी लोगोंमें जन्म होता है ॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसेही लोभ होता है ॥ " रजोगुणका इस प्रकार वर्णन चौदहवे अध्यायमें है और अठारहवे अध्यायमें देखिये-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
(भ गी अ १८)

" जिससे सब भूतोंमें भिन्न भिन्न भेदभाव दिखाई देता है वह राजस ज्ञान है । जो कर्म भोगकी इच्छासे होता है जो अहंकारसे किया जाता है और बडे परिश्रमसे होता है वह राजस कर्म है । जो भोगी कर्मफल भोगनेकी इच्छा करनेवाला लोभी हिंसात्मक अपवित्र और हर्ष तथा शोक करनेवाला है वह राजस कर्ता कहलाता है । जिससे धर्म और अधर्म कार्य और अकार्यके विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राजस बुद्धि है । जो विषयों और इंद्रियोंके संबंधसे होता है, जो प्रारंभमें मीठा लगता है परन्तु अन्त में विष जैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं ।

इससे रजोगुणका क्या परिणाम है यह बात सहजमेंही मनमें स्थिर हो सकती है । इसका तात्पर्य यह है-

" रजोगुणसे भोगरुचि बढती है जिससे भोगतृष्णा होती है आसक्ति होती है भोगप्राप्तिके लिये कर्म होते हैं, मनुष्य लोभी बनता है मन अशान्त होता है सब कुछ सुख मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है इस प्रवृत्तिसे पुण्य घटता है भेद और झगड बढते हैं, अहंकारकी वृद्धि होती है बडे परिश्रमसे भोग संपादन करनेका यत्न होता है हिंसा अर्थात् दूसरोंका घातपात करनेकी वृत्ति बढती है अपवित्रता बढती है किसी समय हर्ष और किसी दूसरे समय शोक होता है, धर्म अधर्मका विचार नहीं किया जाता कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखता, विपरीत अर्थात् उलटा ही सब प्रतीत होता है इंद्रियोंके विषयोंसमेत भाविकपनसे भोगनेकी वृत्ति बढती है । यह विषयसुख पहिले मीठासा प्रतीत होता है और अन्तमें वही विषके समान घातक सिद्ध होता है । अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढता है । " सारांशसे यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकोंमें कहा है । इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और भोगोंके भोगमें विघ्न आने लगा तो कामीमेंही क्रोध उत्पन्न होता है

बडा पेटू काम

यह काम (महा-अशनः) बडा खानेवाला है इसने कितना भी खाया, तो भी इसका पेट नहीं भरता यह सदा भूखा रहता है । अर्थात् मनुष्यको कितने भी भोग प्राप्त हों यह कदापि तृप्त नहीं होता आगे भी भोग चाहिये, ऐसाही कहता जाता है । भोग प्राप्त करनेमें कितने भी पाप करने पडें उसका विचार यह नहीं करता । इस लिये इसको (महापाप्मा) बडा पापी कहा है । सब पाप इस कामके आवेशसे ही होते हैं । हिंसा, घातपात कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना आदि पापोंका सिलसिला य ... यही है और ऐसे अनेक पाप इसीके कारण होते हैं । जिस प्रकार अग्निपर धूएका आवरण होता है और दर्पणपर मलका आच्छादन होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा पर इस कामका आवरण है जिससे मानो कि मनुष्यका अन्तःकरणही यह आवरण है । इसी आवरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है ।

यह कामरूपी अग्नि (दुष्पूरः) कभी शान्त न होनेवाला है । इसमें कितनी भी भोगोंकी आहुतियां डाली तो भी यह शान्त नहीं होता । इस कामका पेट कभी भरता नहीं इसमें कितने भी भोग डालो यह सदा खाली ही रहता है । साथही साथ यह (महा पाप्मा) बडा पापी है । यह

पापकी ओर प्रवृत्ति करानेवाला है । भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा इसका कोई पता नहीं है । यदि धर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा परन्तु यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोगोंमें कुछ न्यूनता आ जाय तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटेगा । सब पाप प्रायः भोगतृष्णा बढनेसे ही होते हैं । इसलिये कामको यहां ' महापापी (महापाप्मा) कहा है । जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है शत्रु कहलाता है । क्योंकि पापसे दुःख होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिह्न है ।

यहां कह सकेंगे कि जो भोग बहुत समयतक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पापकर्म करनेसे भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं ? क्या उनके उद्धार की कोई आशा नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान स्पष्ट ही कहता है कि ऐसे भोगी लोग सदाके लिये अन्दरसे बिगड जाते हैं ऐसी बात नहीं है, पर एक उनकी शुद्ध आत्मापर आवरणसा आता है । जैसा अग्निपर धूवां दर्पण-पर मल और गर्भपर झिल्ली होती है उसी प्रकार उनकी आत्मापर कामना-भोगेच्छाका आवरण होता है । इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि धूवेंके अन्दर प्रदीप्त होनेयोग्य अग्नि विद्यमान रहती है मलके आवरणके नीचे दर्पणका शीशा वैसाका वैसा शुद्ध रहता है और झिल्लीके अन्दर सुन्दर बालक जीवित और जाग्रत रहता है वैसीही भोग भी इच्छाके अन्दर आत्मा रहती है सदाके लिये बिगडती नहीं । अग्निको धमनीसे फूंका तो अग्नि प्रदीप्त होती है दर्पण को दिया तो शीशा पुनः स्वच्छ बनता है और झिल्ली हटनेसे अन्दरसे सुन्दर बालक बाहर आता है इसी प्रकार सयमसे भोगेच्छाको दूर किया तो शुद्ध आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ प्रकट होती है । अर्थात् जैसे धूवां रहनेतक अग्नि जलती नहीं ऊपर मल रहनेतक दर्पण में मुख नहीं दीखता और झिल्लीके अन्दर वेष्टित होनेतक अन्दरका बालक जगतका अनुभव नहीं करता इसी प्रकार भोगेच्छा प्रबल रहनेतक ही भोगीकी आत्मा अशान्तसी प्रतीत होती है । अतः उसको सदाके लिए पतित समझना अयोग्य है तथापि जबतक भोगोंके विषयमें प्रबल इच्छा रहेगी तबतक उस आत्माकी निज शक्तियोंका प्रकाश होना

सर्वथा असंभव है और भोगेच्छा रहनेतक दुःखोंसे छूटना भी असम्भव है । इनके संस्कार भी इनके ऊपरसे हटनेके पश्चात् कुछ कालतक अवश्य कष्ट देते रहेंगे ।

यह काम (ज्ञानिनः वैरी) ज्ञानीका वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीके साथ कभी नहीं रहता । सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है । जिस प्रकार सूर्यके साथ अंधेरेका वैर है, उसी प्रकार ज्ञानके साथ कामका वैर है । भगवान् शंकरने अपना तृतीय ज्ञाननेत्र खोलकर उसके तेजसे मदनको जला दिया ऐसी कथा पुराणोंमें है । इस कथामें भी श्रीशंकरको " कामारि (काम×अरि) कामका शत्रु कहा गया है । काम और मदन एक ही हैं और श्रीशंकर पूर्ण ज्ञानी हैं । अतः इनका नाम उमा–पति (उमा = विद्या) विद्यापति ज्ञानी है । वे ज्ञानी होनेसे ही कामको जला सके । जो ज्ञानी नहीं होता वह कदापि कामका नाश नहीं कर सकता । इस कथासे भी काम ज्ञानका वैरी है यह बात सिद्ध होती है । जहां काम होगा वहां ज्ञान नहीं रह सकता और जहां ज्ञान है वहां काम नहीं बढ सकता । इसीलिये ब्रह्मचर्य आश्रममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा किया है, क्योंकि उस आश्रमके पश्चात् विवाहादि होनेपर गृहस्थाश्रममें यदि मनुष्य कामके अधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य कठिन हो जाता है । यह काम ज्ञानका वैरी है इसीलिये (एतेन ज्ञानं आवृत्य) ज्ञानको घेर लेता है । ज्ञानके मुख्य इन्द्रिय मन और बुद्धि हैं जब इनको यह काम घेरता है तब वहां मूढता छायी जाती है । जैसा शत्रुका सैन्य किलेको घेरता है और किलेके अन्दरके वीरों का संचार रोकता है इसी प्रकार यहां यह काम मनबुद्धि को घेरता है और उनकी स्वतन्त्रताका नाश करता है । अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके अधीन होती है और जिस मार्गसे यह ले जाता है उसी मार्गसे जाती है ।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां इस तरह मिला है । इच्छा न रहनेपर भी किस कारण मनुष्य पाप करता है यह अर्जुनका प्रश्न था । इसका उत्तर यह है कि जब कामके द्वारा मनबुद्धि घेरी जाती है और कामके वशमें हो जाती है तब उसका स्वामी काम हो जाता है और वही उनका चालक होता है । शरीरका वास्तविक चालक और स्वामी आत्मा है तथापि यह शत्रुके अधीन हुए होती है । राजा

१ (हिं गी)

(१४) श्रेष्ठ शक्ति

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अन्वयः— इन्द्रियाणि पराणि आहुः इन्द्रियेभ्यः मनः परं, मनसः तु बुद्धिः परा यः तु बुद्धेः परतः सः (आत्मा अस्ति) ॥ ४२ ॥ हे महाबाहो ! एवं (आत्मानं) बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मना आत्मानं संस्तभ्य कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि ॥ ४३ ॥

शरीरसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है वह (आत्मा है) ॥ ४२ ॥ हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (आत्माको) बुद्धिसे भी श्रेष्ठ जानकर अपनी शक्तिसे अपना संयम करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुका नाश कर ॥ ४३ ॥

शत्रुके अधीन होकर राजा शत्रुके कैदखानेमें पड़नेके समान अवस्था यहां बन जाती है। इस तरह जो पराधीन-कामाधीन बनते हैं वे कामके द्वारा अर्थात् शत्रुके द्वारा चलाये जाते हैं। वे कामकी आज्ञानुसार भोगोंमें फंसते हैं और पापमें प्रवृत्त होते हैं। अतः सब लोग इस कामको अपना (नित्य वैरी) शत्रु समझें और सबमसे इसको दबाते रहें इसको प्रबल होने न दें। निष्काम बननेके मुख्य हेतुका पता पाठकोंको यहां लग सकता है।

यह (कामरूपी मदन) कामरूप अग्नि ही है। यह अग्नि यदि किसी मनुष्यके शरीरमें लगा तो यह इस मनुष्यके सब गुणोंको और अस्मालोंको जलाता है। अतः इस अग्निको शान्त करना चाहिये। यदि इसमें भोगकी लकड़ियां बार बार विषयसुखोंका घृत डाला जाय तो यह अग्नि अधिकाधिक प्रदीप्त होगा, और अधिकही बढ़ेगा। अतः इसके नाश करनेका मार्ग इसका पास रखना चाहिये संयम और दम शम तथा निग्रहका जल इसपर छिड़कना चाहिये और वैराग्यके पत्थरपर इसको रखना चाहिये। जिससे इसको प्रदीप्त होनेके लिये कुछ न मिलेगा और यह स्वयं शान्त होगा और आगे किसीको कष्ट नहीं देगा। परन्तु जो मनुष्य भोग बढ़ाकर इस कामको शान्त करना चाहते हैं वे बड़ी गलती करते हैं उनके प्रयत्नसे यह बढ़ता है और सर्वस्वकी आहुति लेता है। अत अनग शस्त्रसे इसका नाश करना चाहिये।

मनुष्यकी बुद्धीमें यह कहता है मैं तुम्हारा हित करूंगा ऐसा बहाना करके मनुष्यके मनको अपने हाथोंके पास आकर्षित करता है और इस प्रकार मुझको देख अपना अधिकार मनपर जमा लेता है। इसलिये मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये और कामके आधीन नहीं होना चाहिये।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ (४१)

इसलिये तू पहिले इन्द्रियोंका संयम करके, ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापीका त्याग कर।' इस कामका त्याग कर अथवा नाश कर। इन्द्रियसंयम मनो-निग्रह यह उपाय है जिससे केवल इसी उपायसे-कामको दबाया जा सकता है। दूसरा उपाय नहीं है।

इस श्लोकमें दो प्रकारसे पदच्छेद होता है। एक (प्रजहिहि) परित्याग कर और दूसरा (प्रजहि) मार डाल, नाश कर। यहां दूसरे पदच्छेदकी अपेक्षा पहिला अच्छा है। क्योंकि काम का नाश—पूर्ण नाश प्राप्तमें अभीष्ट नहीं है परन्तु उसको धर्मयुक्त बना देना अभीष्ट है। इसलिये उसके नाशकी अपेक्षा प्रथम उसको दूर रखना योग्य है। जिस समय धर्मकी आज्ञा होगी उस समय उसको अपने पास बुलाना उसकी आज्ञानुसार कार्य करना और फिर उसको दूर करना योग्य है। यदि उसका बिलकुल नाशही किया जाय तो उससे वह कार्य नहीं हो सकता। त्यागका अर्थ है सर्वदा अपने पास न रखना दूर रखना, और नाश तथा नाश करनेका अर्थ है उसका अस्तित्वही मिटा देना।

अस्तु। आगे यही विषय अन्य रीतिसे कहा है इसलिये वह भाग अब देखिये—

भावार्थ— शरीरपर अधिकार इन्द्रियोंका है, इन्द्रियोंपर मनका प्रभुत्व है मनपर बुद्धि अधिकार चलाती है बुद्धिपर आत्माका शासन है । अर्थात् आत्माका शासन सबपर है । यह बात ठीक प्रकार जानकर आत्माकी सर्वोपरि शासक सत्ताका अनुभव करके, आत्माकी निज विधायात्मक शक्तिसेही उसका समाधान करके, अर्थात् आत्माको शान्त करके मनुष्य इस दुर्जेय कामरूप शत्रुका नाश करे ॥ ४२-४३ ॥

आत्मशासन

(४२ ४३) मनुष्यके शरीरमें किसका शासन चलना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका सबको विचार करना चाहिये । हमने (श्लो १० ४१ में) इससे पूर्व देखा है कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम नामक शत्रु इस शरीरमें शासन चलाता है। कामके पीछे समय समयपर क्रोधरूपी दूसरा शत्रु भी यहां अपना शासन जमा लेता है। किसी समय लोभ मोह मद (घमंड और मत्सर इन महारिपुओंमेंसे कोई एक यहांका राज्य चलाता है । यह बात हम देखते हैं और अनुभव करते हैं कि इस शरीररूपी महाराज्यमें समय समयपर किसी न किसी शत्रुका राज्यशासन होता है !! अतः विचार करना पडता है कि वास्तविक रीतिसे यहां किसका शासन होना चाहिये ? इस शरीररूपी महाराज्यका सच्चा राजा कौन है ? यदि कोई दूसरा सच्चा सम्राट् है तो विचार करना चाहिये कि वह रहता कहां है उसकी शक्ति क्या है उसके होते हुए भी ये शत्रु उसके राज्यपर अधिकार क्यों चलाते हैं ? इसका विचार करनेके लिये ही ये दो श्लोक यहां आये हैं और इनमें सच्चा सम्राट आत्मा है यह विशेष महत्वपूर्ण बात बतायी गई है ।

इस शरीरमें काम करनेवाली आत्माकी शक्तियोंके विचार का नाम है अध्यात्मविचार । इस अध्यात्मविचारके अनुसार आत्मा यहांका सम्राट् है अतः इसीका शासन यहां चलना चाहिये । आत्माकी सहधर्मचारिणी सम्राज्ञी बुद्धि है आत्मा बुद्धिके साथ विचार करके यहांका शासन चलाता है । आत्मा और बुद्धिके नीचे इनका सभापति मन है और इसके आधीन सब प्रान्तोंके अधिकारी हैं । कर्ण त्वचा नेत्र रसना और नासिका ये ज्ञानके प्रांत हैं तथा हाथ पांव मुख मूत्रद्वार और मलद्वार ये कर्मके प्रांत हैं । इन दस प्रान्तोंके अतिरिक्त अनेक विभाग इस शरीरमें हैं, परन्तु उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि इस प्रांतोंपर इस सम्राट् आत्मारामके अधिकारी कार्य करते हैं, परन्तु समय मिलनेपर और आत्मारामके भोले स्वभावके कारण प्रत्येक प्रांतका अधिकारी सूबेदार अपने प्रांतमें स्वतंत्र बनता है और वहां अपने मनके अनुसार जैसा चाहे वैसा बर्ताव करने लगता है !! कई प्रसंगोंमें एकसे अधिक प्रांतोंके अधिकारी मिलकर सम्राट् आत्मारामके शासन का विरोध भी करते हैं और वहां वे असत्याचार और अत्याचार भी करते हैं, क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक अपने स्वार्थके लिये ही प्रयत्न करता है और सबकी भलाईमें अपनी भलाई देखनेवाला इनमें कोई नहीं है ।

कई अधिकारी अनेक बार कामक्रोध आदि दुष्ट शत्रुओंको वश होते हैं और सम्राट्के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं !! समय समयपर इसका ऐसा परिणाम होता है कि उस षड् यंत्रमें इस आत्माका पूर्ण पराजय होता है और इसका साम्राज्य पूर्णतया शत्रुके आधीन हो जाता है । इस आत्मारामके सब अधिकारी वैसेही अविश्वास रखने योग्य हैं और जिस समय यह इनपर पूर्ण विश्वास रखता है उस समय इसी प्रकार फंस जाता है । इसीलिये इन श्लोकोंमें इस आत्माको अपना अधिकार जमानेका और (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निजशक्तिसे अपने शासनकी स्थिरता करके अपने राज्यमें घुसे हुए शत्रुओंको परास्त करनेका उपदेश किया है ।

आत्मा मुख्य और श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त है यह सर्वशक्तिमान् और इसीका शासन सर्वतोपरि है । प्रत्येक मनुष्य यह बात मनमें स्थिर रखे कि मेरी आत्माका शासनही इस शरीरमें चलना चाहिये । मैं अपनी आत्माको ऐसा दृढ और बलवान् बना दूंगा कि जिससे उसीका शासन यहां चलेगा ।

मैं अपनी धर्मपत्नी बुद्धिको धर्मानुकूल चलनेवाली और मेरी सहधर्मिणी बनाऊंगा । समय समयपर काम आदि शत्रु ओंको यह आश्रय देती है और उनके वश हो जाती मुझ आत्माको भी बुरी संमति देती है । परन्तु अब मैं इसको ऐसा करने नहीं दूंगा । मेरी धर्मपत्नी मेरेही अधीन रहे ऐसा

चारिणी न बने। मैं ऐसा सावध रहूंगा कि मेरे मन आदि सब अधिकारी शत्रुके वश होकर मेरे विरुद्ध चलना नहीं मचावेंगे। मेराही शासन यहां चलेगा।

इस प्रकार विचार करके आत्माका शासनही यहां चलाना चाहिये। और यहां ठहरनेके लिये शत्रुको किसी भी समय थोडासा भी स्थान नहीं देना चाहिये।

शरीरको चलानेवाली इंद्रियां हैं यह प्रत्येकका अनुभव है। आंख स्थान देखता है और पांव वहां शरीरको ले जाते हैं। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियां शरीरको चलाती हैं। ये सब इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां-मनके आधीन हैं। यदि मन किसी इंद्रियके साथ संयुक्त न रहा, तो वह इंद्रिय कोई कार्य कर नहीं सकती। जिसके साथ मन होता है वही इंद्रिय अपना कार्य करती है। आंख अथवा कान खुले रहने पर भी यदि मन साथ न रहे तो आंख देख नहीं सकते, और कान सुन नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें है। अतः मनके अधीन ये इंद्रियां हैं।

ऐसेही बुद्धिके अधीन मन और बुद्धि आत्माके अधीन है। इस तरह सबपर आत्माका शासन चलता है। यह आत्माका बडी वैभव है। सब इंद्रियों और अवयवोंको सुशिक्षा देनेके लिये जो योगसाधनमें विविध प्रक्रियाएं लिखी हैं वे इन सबको आत्माके शासनमें रखनेके लिये ही हैं।

संयम

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी वह शक्ति जाने उस निज शक्तिका साक्षात्कार करे। और उसको कार्य करनेमें समर्थ बनावे। यहां जाननेकी पहिली बात यह है कि मैं बुद्धिसे भी अपरके स्थानमें रहनेवाला आत्मा हूं और मेरा शासन यहां चलना चाहिये। यह साक्षात्कार कैसे होगा? इसका उत्तर (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपनी निश्चयात्मिका बुद्धिसे अपने मन आदि सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेसे यह निज शक्तिका साक्षात्कार होगा। जबतक संयम नहीं होगा तबतक अपनी निर्बलताही प्रतीत होगी। इंद्रिय संयम दमन और मनोनिग्रहसे आत्मशक्ति बढती है और निग्रह न होनेसे आत्मा निर्बल हो जाती है।

यहां " आत्मशासन " का पाठ पढाया गया है अपना ही संयम आपसे करना है (आत्मना आत्मानं संस्तभ्य) अपने द्वारा दोष हुए तो अपने आपको स्वयं ही दंड देना चाहिये और अपना दिया हुआ दण्ड स्वयं ही भोगना चाहिये। यहां दूसरा शासक कोई नहीं है। जो अपने ऊपर इस प्रकार आत्मशासन करेगा वही उन्नत होगा।

दूसरोंपर शासन करना, उनको आज्ञा देना तथा उनपर हुकूमत चलाना सुगम है, प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे यह कर सकता है। परन्तु सबसे कठिन बात है आत्मशासन की। अपने दोषके लिये स्वयं अपने आपको ऐसा कडा दण्ड देना चाहिये कि जैसा साधारण मनुष्य दूसरेको देता है। यही आत्मसुधारके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां दिया है। जो पाठक आत्मोन्नति करना चाहते हैं वे इस ढंगसे आत्मशासनद्वारा अपनी उन्नतिका साधन करें।

जिस कामरूप शत्रुको दूर करनेको (श्लोक ४१ में) कहा है वह यदि दूर न हुआ अथवा दूर होकर भी बार बार आकर उपद्रव मचाने लगा तो उसका नाश इस प्रकार आत्मशासनद्वारा करना चाहिये। इसलिये यहां (जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्) कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश कर देना कहा है। पहिले कहा था कि उसको दूर रख और धर्म मर्यादाके अनुसार उससे काम ले। परन्तु यदि वह अनिवार्य हो गया और अधिक उपद्रव देने लगा तो उसका नाशही करना चाहिये यह दूसरा उपदेश यहां दिया है। श्रीभगवान् शंकरका कामको जलाना इसकी अन्तिम सीमा का कार्य है।

आत्माका नाम इन्द्र है अतः आत्माकी शक्तियोंको इंद्रिय कहते हैं। इस इन्द्रके शत्रु अनेक असुर हैं जो देनेवाले काम आदि रिपु हैं यही देव (इंद्रियों अर्थात्) देवोंका राजा है। पुराणोंमें जो देवासुरयुद्ध हैं, तथा वेदमें भी इन्द्रवृत्रयुद्ध है, वे सब युद्ध अंशमें इसी अध्यात्मको लेकर हुए हैं। अस्तु।

श्लोक ४२ में यो बुद्धेः परतस्तु सः इस स्थानके 'सः' शब्दसे आत्मा का ग्रहण करना योग्य है परन्तु कोई कहते हैं कि यहां 'सः' शब्दसे काम का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि आगे उसीका नाश करनेका विधान है। परन्तु उपनिषदोंके वचनमें भी बुद्धिसे परे आत्माके होनेकी घोषणा है देखिये —

इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठोप १।३।१० -११)

"इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है बुद्धिसे (परः महान् आत्मा) श्रेष्ठ महत्तत्व है महत्तत्वसे (अव्यक्त) मूलप्रकृति श्रेष्ठ है अव्यक्त मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है इस पुरुषसे कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि यही सबकी सीमा और सबकी अंतिम गति है।" श्रीमद्भगवद्गीताके विधानसे इसमें अधिक विस्तारसे यही बात कही है। शरीरसे इंद्रियां श्रेष्ठ हैं क्योंकि इंद्रियां शरीरको चलाती हैं, इंद्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे इंद्रियोंके उत्पादक और प्रेरक हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है क्योंकि इन विषयोंका त्याग करना अथवा स्वीकार करना मनके अधीन रहता है मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है क्योंकि किसीके विषयमें निश्चय करके संकल्पविकल्पात्मक मनका नियमन करना इसी बुद्धिका कार्य है बुद्धिसे महत्तत्व श्रेष्ठ है क्योंकि इसीसे (अहं-ममत्व) मैं हूं ऐसा अनुभव आता है अव्यक्तसे मूलप्रकृतिही श्रेष्ठ है क्योंकि मूलप्रकृतिही अव्यक्त महत्तत्वका कारण है। और इस मूलप्रकृतिसे पुरुष चेतन आत्मा स्वयं चेतन होनेसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार आत्मा किंवा पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। यही पुरुष सत्य है। इसलिये अन्तिम आत्मतत्वकी श्रेष्ठताके विषयमें कोई शंका नहीं। उपनिषदोंके सिद्धांतही गीतामें आगये हैं अतः संभवतः इन उपनिषदके मंत्रोंसेही ये गीताके 'इंद्रियाणि पराणि' ये श्लोक बनाये गये हैं। इसलिये 'परतस्तु सः' इस स्थान पर 'सः' शब्दसे आत्मा का ग्रहण होना योग्य है न कि काम का। इस विषयमें कठोपनिषद्के श्लोके दो मंत्र देखिये

इंद्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥
(कठोप २।३ [६]। ७-८)

"इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ मनसे (सत्व उत्तम) बुद्धि अधिक उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, बुद्धिसे (महान् आत्मा) महत्तत्व श्रेष्ठ है; महत्तत्वसे अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति श्रेष्ठ है। मूलप्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, यह पुरुष व्यापक और (अलिंगः) निर्गुण किंवा अतर्क्य है। जिसको जानकर मनुष्य बन्धनसे मुक्त होता है और अमरत्वको प्राप्त होता है।

कठोपनिषद्में ये दोनों प्रकारके मन्त्र हैं। अब गीताके साथ इन कठोपनिषद्के वचनोंकी तुलना करेंगे और उससे क्या बोध मिलता है, इसका विचार करेंगे—

गीता	कठ. अध्याय	कठ. अध्याय
३।४२-४३	१।३।१० -११	२।३ (६)। ७-८
शरीर	शरीर	शरीर
इंद्रिय	इंद्रिय	इंद्रिय
	अर्थ	
मन	मन	मन
बुद्धि	बुद्धि	बुद्धि
	महान् आत्मा (अहंकार)	महान् आत्मा (अहंकार)
—	अव्यक्त (प्रकृति)	अव्यक्त (प्रकृति)
सः	पुरुषः	व्यापकः पुरुषः

इस कोष्टकको देखनेसे पता लग जायगा कि कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायमें अर्थ अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंका उल्लेख अधिक है जो गीतामें तथा कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायमें नहीं है। तथा कठोपनिषद्के दोनों अध्यायोंमें 'बुद्धि' और 'पुरुष' के मध्यमें (महान् आत्मा) महत्तत्व और (अव्यक्त) मूलप्रकृति ये दो तत्व अधिक कहे हैं, जो न गीतामें नहीं हैं। न गीतामें बुद्धिके ऊपर 'सः' कहनेसे यह नहीं सिद्ध होता कि बुद्धि और 'सः' के बीचमें कुछ भी नहीं है अधिकसे अधिक इतनाही कहा जा सकता है कि यहां बीचके दो तत्वोंका उल्लेख किया नहीं है। उल्लेख न करनेसे बीचके तत्व नहीं हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता। अर्थात् गीतामें चार तत्वोंका उल्लेख है और कठोपनिषद्में सात तत्वोंका एक स्थानपर और छः तत्वोंका दूसरे स्थानपर उल्लेख है यह कोई विरोध नहीं। किसीने कहा कि पहिलेकी श्रेणीसे आगेकी श्रेणी श्रेष्ठ है और दूसरेने कहा कि पहिलीसे पंचम और पंचमसे सप्तम श्रेष्ठ है तो

दोनोंमें केवल विस्तारका भेद है मूलतत्त्वका कोई भेद नहीं। भ गीतामें संक्षेपसे कहा और कठोपनिषद्में विस्तारसे कहा इतनाही भेद है। तत्त्वका भेद नहीं है। अस्तु, अब यो बुद्धेः परतस्तु सः इस श्लोकके अर्थके विषयमें थोडा अधिक विचार करेंगे। यहां सः शब्दसे काम का ग्रहण है अथवा आत्मा का ग्रहण है इसका विचार कर्तव्य है। इस विषयमें दोनों मतवादियोंका विचार क्रमशः हम यहां रखते हैं—

" सः = काम "

स का अर्थ काम करनेवाले पहिले आचार्य श्रीमान् रामानुजाचार्य हैं। श्री म मधुसूदन सरस्वती को भी यही अर्थ संमत है और यही अर्थ स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हुए उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं— (१) उपनिषद्का पाठ जैसाका वैसा म गीतामें लिया नहीं है किन्तु यो बुद्धेः परतस्तु सः ऐसा बदल कर दिया है। उपनिषद्से भिन्न पाठ देनेमें कुछ विशेष हेतु है। इस प्रकरणमें (गीता अ ३।३९-४ में) कहीं भी आत्मा शब्द नहीं है अतः सः पदसे यहां आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। सः शब्द तो पूर्व प्रकरण निर्देशक होता है और ऐसा पद पूर्व श्लोकोंमें काम ही है। (२) इस श्रीकृष्णार्जुन संवादमें काम का विषय चल रहा है और यहां इस प्रकरणमें आत्माका नामतक नहीं है अतः प्रकरणके संबंधसे और पूर्वापरसंगतिसे यहांके सः शब्दसे काम का ग्रहण करना और उसको बुद्धिके परे मानना योग्य है। (३) कई लोग कि काम मनका धर्म होनेसे बुद्धिके परे नहीं है परन्तु यह कहना व्यर्थ है क्योंकि—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।
(तै उ २।६।१)

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति।
(बृ उ १।२।४)

पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत ॥ (नारा १)

इसी आत्मा पुरुष अथवा नारायणने पहिली कामना की थी कि मैं बहुत होऊं यह पहिला काम आत्मासे हुआ है और यह बुद्धिके परे है। वस्तुतः काम मनका धर्म नहीं वह चित्तका धर्म है और चित्त बुद्धिसे भी सूक्ष्म है। मन केवल संकल्पविकल्पात्मक है। [illegible] मनपर जब चित्त बुद्धिके पास आरोपित किये जाते हैं, परन्तु जब पहला देखा जाय तो चित्त कामना करता है। यह काम बुरी है ऐसा निश्चित होनेपर भी जिस कामकी प्रेरणासे बुद्धि उस बुरी बातकी ओर प्रवृत्त होती है वह काम निःसंदेह बुद्धिसे परे है। कामनामूलक अहंकार स्वरूप परम सूक्ष्म काम है अतः वह बुद्धिसे सूक्ष्म है। इंद्रियां मन और बुद्धि ये तीनों स्थूल हैं और काम इनपर प्रभाव डालनेवाला है अतः वह इनके ऊपर अथवा परे है। ' एकोऽहं बहु स्यां ' यह ईश्वरका पहिला काम है वही सर्वत्र व्याप्त है। बुद्धि इन्द्रियोंतक वही काम व्यापक है अतः वह सबपर प्रभाव करता है। इस कामका यह प्रकरण चल रहा है और इसका बडा प्रभाव है ऐसा यहां कहा गया है। अतः इस प्रकरणमें सः शब्दसे काम ' का ही ग्रहण करना योग्य है।

इसी विषयमें श्री आचार्य वि म [illegible] लिखते महाविचारक ऐसा कहते हैं कि यो बुद्धेः परतस्तु सः इस श्लोकमें सः का अर्थ काम है। उपर्युक्त (कठ १।३।१०) उपनिषद्वचनमें महान् आत्मा का अर्थ आत्मा नहीं है प्रत्युत अहंकार है। क्योंकि बुद्धिके पर जो तत्त्व है वह अहंकार है और अहंकाररूपी दूसरा नाम काम है। इसके ऊपर अव्यक्त ' (प्रकृति) और उसके भी ऊपर पर पुरुषः (परमात्मा) क्रमसे अधिक श्रेष्ठ हैं। स्वयं गीतामें कहा है कि—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
(गी ३।४०)

इंद्रिय मन और बुद्धि (अस्य=कामस्य) इस कामका अधिष्ठान है। अतः वह इनका अधिष्ठाता है इसीलिये बुद्धिसे परे है। वस्तुतः बात यह है कि ईश्वरकी अहंकार अथवा अस्मितारूप मूल वासना किंवा कामना प्रकृतिमें प्रकट होकर जिससे अहंकार बुद्धि और मन बने वही बुद्धिका प्रेरक काम है। और यही सः शब्दसे यहां लेना योग्य है।

यह अर्थ लेनेपर श्लोक ४२ ४३ का अर्थ इस प्रकार बनता है— इंद्रियां शरीरसे श्रेष्ठ इंद्रियोंसे मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है वह काम है। इस प्रकार इस कामको बुद्धिका भी प्रेरक मानकर अपने आत्माद्वारा [illegible] संयम करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रुका नाश

कर। इस अर्थके साथ महाभारतके एक श्लोककी समति है वह श्लोक देखिये—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥
(म. भा. शां. १७७)

' अपने देहसे जो गिनतीमें सातवां है उस प्रबल शत्रुका नाश करके अवध्य ब्रह्मपुरीको प्राप्त कर मैं राजाके समान सुखी हुआ हूं। " यहां कामको स्थूल देहसे सातवाँ कहा है। शरीर इंद्रियां विषय मन बुद्धि अहंकार काम इस तरह यह शरीरसे सातवाँ है। अस्तु। यह एक पक्षका कथन हुआ। अब दूसरे पक्षके कथनका विचार करेंगे।

' सः-आत्मा '

इस पक्षवाले गीताके अ. ३।४२ में 'सः' शब्दका अर्थ 'आत्मा' मानते हैं। ऐसा माननेवालोंमें प्रमुख श्री मध्वाचार्य हैं इनके बाद इनके अनुयायी टीकाकार श्रीधरस्वामी मधुसूदन-सरस्वती आदि हैं जो तिलक म. गांधी आदि आधुनिक अनुवादक भी यही मानते हैं। मराठी भाषाके प्राचीन और सर्वमान्य टीकाकार श्रीज्ञानेश्वर महाराज अपनी ज्ञानेश्वरीमें इस विषयमें कुछ विवरण नहीं करते। श्रीमायानंद चैतन्यजीने हिंदीमें जो ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है उसमें 'सः' शब्दसे 'आत्मा' का ही ग्रहण किया है। वामन पंडित मोरोपंत मुक्तेश्वर तुकाराम और उद्धवचिद्घन तथा प्रायः सभी सन्तकवि इसी मतके अनुयायी हैं। इनका कथन है कि " अहंकार और मूलप्रकृतिके भी परे जो पुरुष अथवा आत्मा है उसकी शक्ति सर्वोपरि है ऐसा मानकर उस आत्माकी शक्तिसे अपनी सब इंद्रियोंका संयम करके इस दुर्जय कामरूपी शत्रुका नाश करना चाहिये।

जहां ऐसे बड़े आचार्यों और धुरंधर विद्वानोंमें मतभेद हो वहां हम निश्चित मत क्या दे सकते हैं ! पाठकही इसका अधिक विचार करके अपने विचारसे इसका निश्चय करें। हम निश्चित मत इस समय यद्यपि कह नहीं सकते तथापि यहां 'आत्मा' अर्थ लेनेमें जो बहुत आचार्योंकी संमति है वह देखकर बहुपक्षके अनुकूल अपना मत देना ही इस समय हमें योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्रविषयक
श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें कर्मयोग नामक
तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥



श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायपर विचार

कर्मयोग

इस तीसरे अध्यायमें कर्मयोग का विचार किया है। कर्मयोगका मर्म जाननेकी कुंजी इस अध्यायमें है। इतना ही नहीं प्रत्युत गीताका स्वरूप भी इसी अध्यायके मननसे ज्ञात हो सकता है। कर्म क्यों तथा कैसा करना चाहिये, और करनेयोग्य श्रेष्ठ कर्म कौनसा है इत्यादि विषय इस अध्यायमें स्पष्ट होनेसे यह अध्याय विशेष महत्त्वका है और इसी कारण इस अध्यायका नाम ' कर्मयोग ' है।

अर्जुनको कर्तव्यका मोह हुआ और वह मानने लगा कि मेरे युद्ध करनेसे भीष्मद्रोणादि मरेंगे और गुरुजनोंका संहार होगा। इस अर्जुनकी भ्रान्तिको दूर करनेके लिये द्वितीयाध्यायके प्रथम भागमें सांख्यमतानुसार " आत्मा अमर है " इत्यादि तत्त्वज्ञान कहा और बताया कि जैसे ये लोग इस समय यहां हैं, वैसे ही ये पूर्व कालमें थे और भविष्यकालमें भी होंगे। कोई किसीको मार नहीं सकता और कोई मरता भी नहीं। यह सांख्य तत्त्वज्ञान कहनेके पश्चात् अर्जुनको बताया कि " तेरा अधिकार कर्म करनेका है अतः तू युद्धरूप कर्म कर, यद्यपि ज्ञानकी अपेक्षा कर्म गौण है तथापि वही तेरा अधिकार होनेसे तुझे कर्म ही करना योग्य है। " इस प्रकार उसको कर्मयोगका उपदेश किया और फिर कहा कि " निर्मम निरहंकार निःस्पृह और निष्काम होनेसे जो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है वह तो सबसे श्रेष्ठ अवस्था है " ऐसा कहनेसे अर्जुनके मनमें फिर यह शंका उत्पन्न हो गई कि " यदि कर्ममार्ग गौण है और ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है तो मैं दोषयुक्त कर्मका आचरण क्यों करूं ? क्यों मैं ज्ञानमार्गसे सीधा उन्नत होकर ब्राह्मी स्थिति का आनन्द न प्राप्त करूं ? " तृतीयाध्यायके पहिले दो श्लोकोंमें यही शंका अर्जुन करता है और एक उत्तर मांगता है—

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (२)

जिससे मेरा कल्याण होगा उसका निश्चय करके वही (एक बात) एक मार्ग मुझे उपदेश कर। दो मार्गोंका उपदेश करनेसे मुझे भ्रम होता है इसलिये इनमेंसे किस मार्गसे मैं जाऊं वह मुझे बताओ।

मनुष्योंके दो भेद

यह अर्जुनकी शंका ठीक है। इसे सुनकर भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं— इस लोकमें कई लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं और कई कर्मनिष्ठ होते हैं। ज्ञाननिष्ठोंसे कर्ममार्गका आचरण ठीक प्रकार न होगा और कर्मनिष्ठोंसे ज्ञानयोग होना असंभव है। जो लोग तत्त्वज्ञानी होते हैं वे तात्त्विक चर्चाएं ही करते रहेंगे उनसे व्यावहारिक काम होना असंभव है। और कई लोग कर्म करनेवाले होते हैं, वे कुछ न कुछ कर्म मग्न रहते हैं, उनसे तत्त्वज्ञानका मनन होना असंभव है। प्रायः ये दोनों वृत्तियां एक स्थानपर नहीं रहतीं। अतः इस दृष्टिसे मनुष्योंके ये दो वर्ग बने हैं।

धर्मग्रन्थोंकी बात छोडकर हम मनुष्यजातिका जब विचार करते हैं तब हमें सब मनुष्य इन दो वर्गोंमें विभक्त हुए हैं ऐसाही प्रतीत होता है। प्रायः बहुत मनुष्य खेती सुतार लुहारका उत्पादक कामधंधा करनेवाले होते हैं। जातियोंका विचार छोड भी दिया और कहीं यहांके समान जातिभेद न रहा नहीं है, वैसे देशोंमें देखा गया तो वहां भी उत्पादक कामधंधा करनेवालों-स्वभावसे उत्पादक कामधंधा करनेवालोंकी संख्या अधिक होती है और शास्त्रविचार ध्यान-धारणा मनुष्यके मस्तिष्कके गूढ तत्त्वोंका मनन करनेवाले मनुष्यही विरले होते हैं। इनमें भी कृषक सुतार लुहार आदि व्यावहारिक कर्मभक्तिके शास्त्रविचार और ध्यानधारणामें लगाया जाय तो उनसे वह वैसा कार्य नहीं होगा और ध्यानधारणा किंवा तत्त्वविचार करते रहनेवालेको यदि खेतीका कार्य करना पडे तो वह खेती भारी मुश्किलही हो जायगा !! इस तरह इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं और एकका कर्म दूसरेसे नहीं हो सकता। यह व्यावहारिक उदाहरण हमने इसलिये लिया है कि ये दोनोंही मार्ग धर्म हैं यह बात पाठकोंके मनपर व्यवहार देख कर

भी स्थिर हो जाय । व्यवहारमें भी व्यावहारिक कर्म करने-वाले बहुत और व्यवहारका तत्त्वज्ञान जाननेवाले थोड़े होते हैं । इसी प्रकार परमार्थमें भी ज्ञानमार्गी थोड़े और कर्म-मार्गी बहुत होते हैं ।

एकका कर्म दूसरेसे नहीं होता इसीलिये इसको तो 'विकर्म' कहा है । (विशेषेण स्थान) पूर्णतासे जिसमें अवस्थान होता है उसका नाम 'निष्ठा' है ।

जन्मस्वभावसे अर्जुन कर्मनिष्ठ था । अतः उससे ज्ञानमार्गका आचरण होना असंभव था । इसलिये उसको यहां कहा है कि ज्ञानमार्गसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानीकी स्थिति कितनी भी उच्च क्यों न हो तू उस मार्गसे न जा । क्योंकि वह मार्ग तुम्हारेसे आक्रमण नहीं होगा

लोगोंकी भूल

कर्मयोगी तो पहचाने जाते हैं क्योंकि वे कुछ न कुछ कर्म करते हैं परन्तु ज्ञानयोगी की पहचान कठिन है । लोग इसकी पहचानमें बारंबार भूल करते हैं । ज्ञानयोगी कर्म नहीं करता, इसलिये जो कर्म नहीं करता उसको ज्ञानी और ज्ञानी स्थितिको प्राप्त हुआ मानते हैं !!! ज्ञानी योगी और आलसी इनके विषयमें साधारण लोग सदा बड़ी भूल करते हैं । इसी प्रकार अर्जुनने भी भूल की थी । वह कर्म न करना ही ज्ञानीका लक्षण मानने लगा था इसीलिये इसको ४ में कहा है कि कर्म न करनेसे पुरुष ज्ञानी नहीं हो सकता । तत्त्वज्ञानी और आलसी में कर्म न करनेका गुण समान है परन्तु तत्त्वज्ञानीमें यह गुण है और आलसीमें यही दोष है । साधारणतः विरक्त, सिद्ध और पागलोंमें भी लोग भूल करते हैं । इस विषयमें पालक बालक, समर्थ कि इनकी परीक्षा बाह्य आचरण से नहीं हो सकती । जो बाह्य आचरणसे इनकी परीक्षा करने लगेंगे वे सदाही भूल करेंगे ।

जो कर्मेंद्रियोंका संयम करता है परन्तु मनसे विषय भोगोंके लिये तड़पता रहता है उसका नाम मिथ्याचारी लिखा होता है । (श्लो ६) दंभीका लक्षण यहां दिया है परन्तु इसका पता अन्य मनुष्योंको लगाना कठिन है । क्योंकि कौन मनुष्य मनसे विषयोंका चिंतन करता है और कौन नहीं यह बाहरसे कैसे जान सकते हैं ? यह जानना असंभव है अतः लोग बाह्य आडंबरसे फंसते हैं । जो ज्ञानी सीधेसादे रहते हैं और बाह्य आडंबर नहीं करते उनको लोग मान्यता नहीं देते और जो लोग ऐसे मिथ्याचारी होते हैं उनका आडंबर बहुत होता है । संभवतः अधिक सहवाससे कौन ज्ञानी है और कौन ढोंगी मिथ्याचारी है इसका पता लग सकता होगा । प्रायः ज्ञानी और महासिद्ध सिद्ध पुरुष जनसंघसे उपसर्ग न पहुंचे इसलिये बाल उन्मत्त जड़के समान भी रहते हैं इसलिये तो उनकी पहचान अत्यंत कठिन हो जाती है ।

छांदोग्य उपनिषद्में महाज्ञानी रैक्वकी कथा आयी है । जानश्रुति राजा बड़ा धर्मात्मा और पुण्यशील था । उसने एकवार सुना कि महाज्ञानी सयुग्वा रैक्वके समान जानश्रुतिका माहात्म्य नहीं है ।' अतः राजाने अपने परिचारक से कहा कि महाज्ञानी रैक्व कहां रहता है इसका पता लगाओ । नौकरने राज्यमें बहुत तलाश की परन्तु पता न लगा । वह राजाके पास आकर कहने लगा कि सयुग्वा रैक्वका पता नहीं चलता । उस समय राजाने उसे कहा —

यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥
सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश । तं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे ८
(छां उ ४।१)

अरे जहां ब्रह्मज्ञानीकी खोज किया करते हैं वहां उसको देखो । तब उसने ढूंढा तो उसको गाड़ीके नीचे खुजली खुजलाता हुआ एक मनुष्य मिला । उसने समझा कि यही महाज्ञानी रैक्व है । वह उसके पास आदरसे जा बैठा और पूछने लगा कि क्या आप ही भगवान् सयुग्वा रैक्व हैं ? उत्तर मिला कि 'मैंही हूं ।'

यहां महाज्ञानी गाड़ीके नीचे खुजली करते हुए मिले । परन्तु कई मनुष्य गाड़ीके नीचे बैठते हैं और खुजली भी करते हैं । तथापि वे महाज्ञानी नहीं होते । अतः ज्ञानीकी परीक्षा कठिन है—

एवं सब तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति । (छा उ ४।१।४)

साधारण मनुष्य जो सत्कर्म करते हैं वह सबका सब जिसके खाते व्यवहारमें जमा होता है उसको ज्ञानी

करते हैं। उसकी तृष्णा क्षय होनेके कारण उसको सब सुख एक ही समयमें प्राप्त होते हैं। साधारण मनुष्योंको एक एक इन्द्रियका सुख एक एक समय मिलता है। महात्माओंके आंखोंमें कुछ अलौकिक तेज भी होता है मुखपर सहजानन्द दीखता है। परन्तु ये सब लक्षण ऐसे नहीं हैं कि जिनसे महात्मा सहजहीमें पहचाना जाये। अतः मनुष्य भ्रममें पडते हैं और ढोंगियोंको भी सत्पुरुष मान बैठते हैं! अर्जुनने भी मनमें यही निश्चय किया था कि मैंने कर्म छोड दिया तो मैं तत्काल होकर ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होऊंगा। यह उसकी भ्रांति थी और भगवान् श्रीकृष्णजीने कर्म छोडनेसे कोई मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। (श्लो ४) ऐसा कहकर अर्जुनकी भ्रांति दूर की। पाठक यह महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें।

कर्मत्याग असंभव है

सब प्राणी प्रत्येक क्षणमें कुछ न कुछ कर्म करते हैं। (श्लो ५) कर्म छोडना भी एक कर्मही है। शरीरयात्रा निभानेके लिये भी कर्म करना अत्यंत आवश्यक है। (श्लो ८) इत्यादि उपदेशद्वारा यह बताया कि कर्मसंन्यास का आशय आलस्य नहीं है। कर्मत्याग कर्म संन्यास, अकर्म इनका भाव कुछ विशेष है। कर्म न करनेसे संन्यास की सिद्धि हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई प्राणी संपूर्णतया कर्म का त्याग कर नहीं सकता। जीवनही एक बडा भारी कर्म है। अतः जो मनसे इंद्रियोंका संयम करके कर्म करता है उसकी योग्यता विशेष होती है। (श्लो ७) अर्थात् इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहसे मनुष्यकी योग्यता उच्च होती है।

यज्ञके लिये कर्म

यज्ञके निमित्त कर्म करनेसे मनुष्यको कर्मका दोष नहीं लगता। (श्लो ९) इसलिये यज्ञके लिये मनुष्य कर्म करता रहे। सब जगतही यज्ञ पर स्थिर रहा है यज्ञके बिना सब जगतका नाश होगा। इस यज्ञका स्वरूप क्या है यह श्लो० १३ में कहा है "जो मनुष्य अपनी उदरपूर्तिके लिये अन्नका पाक सिद्ध करते हैं वे पापके भागी होते हैं और जो यज्ञके निमित्त पाक उसमेंसे यज्ञ करते हैं और अवशिष्ट का स्वयं भक्षण करते हैं उनके सब पाप दूर होते हैं।" (श्लो १३) अर्थात् केवल अपनी पेटकी पूर्तिके लिये अन्न पकाना पाप है और दूसरोंकी पेटकी पूर्तिके लिये पकाना और उनका पेट भरनेके पश्चात् जो बचे उससे अपने पेटकी पूर्ति करना पुण्य है।

(१) अपनी पेटकी पूर्तिका अर्थ है स्वार्थ (स्व+अर्थ) अपने सुखके लिये कर्म करना।

(२) दूसरोंके सुखके लिये कर्म करनेका नाम है परार्थ (पर+अर्थ)।

(३) और जिसमें स्वार्थ और परार्थ साध्य होता है एकरूप हो जाता है उसका नाम है परमार्थ (परम+अर्थ) बडा अर्थ। यही यज्ञ है।

अर्थात् यज्ञसे (परस्परं भावयन्तः। श्लो ११) अपना हित होता है और दूसरोंका भी हित होता है। सबका हित अविरोधसे साधन करनेका नाम यज्ञ है अथवा यही परमार्थ है। यहां स्वार्थ परार्थ और परमार्थ का भेद पाठक ध्यानमें रखें और केवल स्वार्थके कर्मोंमें केवल परार्थके कर्म-में कैसा दोष होता है और परमार्थके लिये किये जानेवाले यज्ञरूप कर्मोंसे निर्दोष कर्म होनेसे कैसा परम पुरुषार्थ होता है इसका विचार मनमें सुदृढ रखें। यज्ञका यही महत्त्व है।

अंतिम सिद्धि

आत्मरति आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टि पूर्णतासे सिद्ध हुई तो ऐसे सिद्ध पुरुषके लिये कोई कर्तव्य कर्म करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। (श्लो १७-१८) अतः इसको स्वरूप कहते हैं। यह अन्तिम सिद्धि है और इसी सिद्धिकी प्राप्तिके लिये ही सब साधन प्रवृत्त हुए हैं। सिद्ध पुरुषके लिये साधन नहीं हैं वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् वह सिद्ध पुरुष कर्म करेगा अथवा न करेगा। यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक मनुष्यको आगे बढनेके लिये यत्नवान् होना चाहिये।

अर्जुन इस सिद्धितक पहुंचा नहीं था इसलिये यहां (श्लो १९ में) कहा है कि "आसक्ति छोडकर सतत कर्म कर। आसक्तिरहित होकर कर्मयोगका आचरण करनेसे परम सिद्धि प्राप्त होती है।" सब लोगोंके लिये यही मार्ग उत्तम है। स्वार्थ और परार्थ छोडने और (परस्परं भावयन्तः। श्लो ११) सबका हित साधन करनेके लिये आसक्ति छोडनेका यत्न यहां पाठकोंको अवश्य करना चाहिये। अतः कहा है कि (तस्य कर्म सुकर्मणः समाचर।

श्लो ९) यज्ञके लिये आसक्ति छोडकर कर्म कर। इसमें भी अनासक्तिका पाठ दिया है।

लोकसंग्रह और परमार्थ

केवल स्वार्थ बुरा है केवल परार्थ भी सदोष है अतः परमार्थ-साधनमें अपना और सबका सच्चा कल्याण है यही बात लोक-संग्रह के प्रकरण (श्लो २ -२१) में कही है। लोकसंग्रहका अर्थ 'जनताको धारणा जनताकी उन्नति अभ्युदय सुधार, राष्ट्ररक्षा मनुष्यमात्रका कल्याण, जनताको सन्मार्गपर चलाना इत्यादि है। यह न केवल स्वार्थसे हो सकता है और न केवल परार्थसे। इसलिये परमार्थ-साधनसे यह लोकसंग्रह करना चाहिये। यही यज्ञका मूल अर्थ है।

लोकसंग्रह करनेके लिये भी विशेष योग्यता आवश्यक होती है। प्रत्येक मनुष्य लोकसंग्रह करेगा ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण राजा जनक राजा रामचन्द्र ऐसे श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा लोकसंग्रह हुआ था। भगवान् श्रीकृष्णके अनुयायी होनेके कारण लोकसंग्रहके कार्य करनेका सन्मान अर्जुनको प्राप्त हुआ है। भारतीय युद्धमें अर्जुन केवल निमित्तमात्र था। (देखो गी ११।३३) जो निमित्तमात्र है उससे लोकसंग्रहका मुख्य कार्य नहीं हो सकता। उसके कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण जैसे शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष थे। परन्तु इनके कार्यमें निमित्तमात्र होनेका मान प्राप्त होना भी साधारण कार्य नहीं है। इसलिये पाठक यहां यह बोध प्राप्त करें कि प्रत्येक युगमें शुद्ध बुद्ध मुक्त पुरुष आते हैं जनताको मार्ग बताते हैं और लोकसंग्रहके कार्यके लिये प्रयत्न करते हैं। मुख्य प्रेरणा उन मुक्तात्माओंकी ही होती। इस प्रकार लोकसंग्रहके कार्यमें निमित्तमात्र होकर युद्ध-भूमिपर जाकर खडा रहनेका काम करनेके लिये भी हजारों और लाखों लोगोंकी आवश्यकता होती है। ऐसे निमित्त मात्र बननेका मान प्राप्त करना भी एक महत्त्वकी बात है और इस कार्यके लिये योग्यता प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है। इस तरह थोडी योग्यतावाले भी योग्य नेताकी आज्ञामें कार्य करते हुए लोक संग्रह करनेके भागी हो सकते हैं। इस रीतिसे लोकसंग्रह अर्थात् राष्ट्ररक्षण आदि कार्यमें भाग लेनेसे मनुष्यका जीवन-यज्ञ सफल होता है।

इसी लिये श्लो ३५ में कहा है कि कोई साधारण मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कुछ कर्म करता हो तो उसकी श्रद्धा उस कर्मसे हटाना अच्छा नहीं है उसकी श्रद्धा वहीं रखनेसेही उसका कल्याण हो सकता है।

कर्तृत्व

श्लो २७-२९ में कर्तृत्व गुणोंके पास है यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही है। कुम्हार मिट्टीका घडा बनाता है इसका कारण मिट्टीमें घडाकार बननेका गुण है। यह गुण न होता तो कोई भी मनुष्य मिट्टीसे घडा नहीं बना सकेगा। केवल रेतसे घडा क्यों नहीं बनाया जाता ? क्योंकि रेतमें घडाकारमें परिणत होनेका गुण नहीं है। वह मिट्टीमें है इस लिये मिट्टीसे घडा बनता है। इस विचारसे स्पष्ट होगा कि घट बननेका मुख्य हेतु मिट्टीका गुण है। कुम्हारका भी गुण मिट्टीके गुणके साथ मिलकर घटरूपी कार्य होता है। ऐसी अवस्था में कुम्हार यदि घमंड करे कि मैं ही केवल घटका कर्ता हूं तो उसकी वह घमंड कहांतक योग्य हो सकती है ? और मिथ्याज्ञान की हुई घमंड जगत्में अनर्थकारक क्यों नहीं होगी ? वस्तुतः (गुणाः गुणेषु वर्तन्ते। श्लो० २८) एक गुण दूसरेके गुणोंके साथ मिलकर सब कर्मोंको सिद्ध करते हैं। इसलिये ज्ञानीकी दृष्टिसे तो कोई मनुष्य अपने आपको किसी कार्यका कर्ता नहीं कह सकता। यदि इस तरह गुणोंके पासही कर्तृत्व है तो मनुष्य घमंड क्यों करे ? एक वीर है वह घमंडसे कहता है 'कि मैंने युद्धमें विजय पाया। परन्तु सत्य देखा जाय तो शस्त्रास्त्रोंकी उत्तमता साथवाले सैनिकोंकी आज्ञाधारकता परिस्थितिकी अनुकूलता इत्यादि गुणसमुदायसे विजयरूपी फल मिला है। कई वीर सब साधनोंसे संपन्न होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण परास्त होते हैं। इसलिये मनुष्यकी सुजनता तो इसीमें है कि वह कर्तृत्वकी घमंड न करे और प्रकृतिके गुणोंसे यह सब बन रहा है ऐसा मानकर आसक्त न होवे।

आसक्ति और घमंड दूर करनेके लिये यह विचार उत्तम है और जो पाठक अपनी पारमार्थिक उन्नति करना चाहते हैं, उनके लिये यह उपदेश अमूल्य है।

ईश्वरार्पण कर्म

श्लो ३ -३१ में सब कर्म ईश्वरको अर्पण करनेका उपदेश करकर यह भी कहा कि जो ऐसा करते हैं व

बन्धनसे मुक्त होते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। मनुष्य यदि अपने सब कर्म परमेश्वरकी प्रीति संपादन करनेके लिये करने लगे अथवा अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरके लिये अर्पण करने लगा तो उसी क्षणसे वह पवित्र होने लगता है। साधारण मनुष्य समझते नहीं और ईश्वरार्पण कर्म करनेका उपहास भी करते हैं परन्तु इसमें इतनी पवित्रता है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वत्र विद्यमान और सर्वशक्तिमान है और उसको समर्पण करनेके लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं ऐसा निश्चय करते ही उसके मनके अन्दर छिपे हुए हीन विचार दूर भागने लगते हैं। सर्वव्यापक सर्वज्ञ देवको छिपाकर वह हीन कर्म करेगाही कैसे ? और जब वह जानने लगा कि वह ईश्वर सब मनुष्योंमें भी है तब वह जनताका उत्तम सेवक बनेगा दुःखितोंके दुःख दूर करनेमें तत्पर होगा और पीडितोंकी सेवा करना परमेश्वरकी सेवा है, ऐसा वह अन्तःकरणसे समझेगा। साधुओंकी रक्षा दुर्जनोंका निग्रह और धर्मस्थापना करनेके लिये परमेश्वर आता है यह बात मानकर जो सत्पुरुष इन कार्योंमें लगे होंगे उनका अनुगामी होकर इन कार्योंको करनेके लिये वह आत्मसमर्पण करेगा। इस तरह सहस्रों प्रकारोंसे उसके दिन प्रतिदिन शुद्ध और पवित्र कर्म होंगे और अन्तमें वह बन्धनोंसे पार होगा। ईश्वरार्पण कर्म करनेसे ऐसे अनंत लाभ हैं! पाठक इस बात का विशेष विचार करें।

प्रकृति-स्वभाव

मनुष्यका प्रकृतिस्वभाव जन्मसेही विशिष्ट प्रकारका बना होता है उस स्वभावके अनुकूल कर्म उससे ठीक तरहसे हो सकते हैं और प्रकृति स्वभावानुकूल कर्म उत्तम हुआ तो उसीमें उसकी उन्नति होती है। यदि किसीको ऐसा प्रतीत हुआ कि अपना प्रकृतिस्वभावानुकूल प्राप्त कर्म वैसा लाभकारी नहीं है जैसा दूसरेका कर्म है और इस मतानुसार उसने अपना कर्म छोड दिया तो उससे दूसरा कर्म ठीक नहीं होगा और इसका कर्म तो स्वयं इसीने छोडा है। अतः वह यहांसे भी भ्रष्ट और वहांसे भी भ्रष्ट होकर सर्वनाश होगा। इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावानुकूल प्राप्त नियत कर्तव्य हरएकको करना योग्य है। दूसरेका कर्म मनमें मोहक भी दिखाई दिया तथापि वह अन्तमें हानिकारकही सिद्ध होगा।

राष्ट्रमें जो जो विविध व्यवहार चलते हैं वे सबके सब राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये आवश्यक होते हैं। इन सब कर्मोंमें प्रत्येकने उन्नति की तो सामुदायिक उन्नति होनेसे सब का उसमें हित होता है। अतः किसी प्रलोभनमें आकर कोई मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म न छोडे। (श्लो० ३१-३५)

प्रकृतिस्वभावानुकूल प्राप्त कर्तव्य हरएकको करना चाहिये यह उपदेश अत्यंत महत्वका है। यूरोप अमेरिकामें यद्यपि हरएक मनुष्य जो चाहे सो कर्म कर सकता है ऐसे स्वतन्त्र देशोंमें भी (लेबर युनियन) कर्म-संघोंके सदस्य अपने ठेकेका कर्मही करते रहते हैं। यदि किसीने दूसरेका कर्म करनेका साहस किया तो वह उस संघके सभासदत्वसे हटाया जाता है। यह यूरोप अमेरिकाके कर्मसंघोंकी प्रथा देखकर भगवद्गीताद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने दिया हुआ संदेश सब जगत्में कैसा फैल रहा है यह जानकर गीताके सब सिद्धांतोंका निःसन्देह विजय होगा यही निश्चय मनमें स्थिर हो जाता है।

दुर्जय काम

इसके पश्चात् अध्यायसमाप्तितक (श्लो० ३६-४३) दुर्जय कामको जीतनेका विषय कहा है। यह काम रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण भोग बढानेकी प्रेरणा मनुष्योंके अन्तःकरणमें निर्माण करता है। इसीके कारण मनुष्य अनेक पाप करते हैं। और पापोंसे दुःख भोगते रहते हैं। मनुष्यों के अन्तःकरणोंपर मानो इस कामका मल जमा रहता है भोगोंसे इस कामकी तृप्ति कभी नहीं होती इसलिये जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह अपने इंद्रियोंका संयम करे और संयमसे इस दुर्जय कामको जीते। संयमका फल बडा है और मनोनिग्रहसेही इस दुर्जय शत्रुका पराभव होना संभव है।

मनुष्यकी आत्मामें इंद्रियों और बुद्धिसे भी अधिक अनंत शक्ति है। इस शक्तिका विचार करके मनुष्य इस कामके अधीन न बने क्योंकि इस तरह शत्रुके अधीन हो जानेसे मनुष्यकी आत्मा निर्बल हो जाती है। अतः इंद्रिय संयम मनोनिग्रह आदिसे अपने आत्मिक बलके द्वारा इस दुर्जय कामको जीतना चाहिये।

अध्यायका सार

संक्षेपसे अध्यायका यह सार है। इसका भी सार अत्यंत थोडे शब्दोंमें देखना हो तो निम्नलिखित रीतिसे देख सकते हैं—

१ प्रथमसे भोगेच्छाका संयम करना चाहिये। काम दुर्जेय और पापोंमें प्रवृत्त करनेवाला है अतः यह मनुष्यका शत्रु है। संयमसे उसको जीतकर आत्मिक बल बढाना चाहिये।

२ अहंकार त्याग करके, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं इन गुणोंके न होनेपर कोई मनुष्य कर्म नहीं कर सकता ऐसा मानकर अपने आपको कर्ता होनेके अभिमानसे दूर रखना चाहिये।

३ प्रकृतिस्वभावके अनुरूप कर्म होते हैं इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावके अनुरूप जो अपने मनकी निष्ठा हो उसके अनुसार दृढतासे कर्म करने चाहिये।

४ ढोंगसे ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये जो अपने सहज कर्तव्यसे प्रतिकूल हो। इससे ऐसे विरुद्ध कर्म कोई न करे।

५ अपना सहज धर्म आचरण करते समय मृत्यु आया तो भी उसमें कल्याण है। परन्तु ढोंगसे विरुद्ध कर्म करके कुछ काल भी प्रतीत हुआ तथापि अन्तमें वह भयंकर हानि करनेवाला सिद्ध होगा।

६ मनुष्यके लिये सर्वथा कर्मका त्याग असंभव है इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कर्म न छोडे।

७ यज्ञके लिये (अर्थात् श्रेष्ठोंका सत्कार अपनी संघटना और दीनोंके ऊपर उपकार करनेके लिये परमार्थके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे।

८ लोकसंग्रहके लिये (अर्थात् जनताकी रक्षा और उन्नतिके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे।

९ मनुष्यकी उन्नतिके लिये उत्तम उपाय यह है कि वह अपने सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करे। ईश्वरको अपने सम्मुख उपस्थित जानकर उसके लिये कर्म करे।

१० इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्य आत्मरत आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट (अर्थात् आप्तकाम किंवा अकाम) होगा। (यह अवस्था प्राप्त होनेपर उसके लिये कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहेगा।)

सारांशसे इस अध्यायका यह सार है। इन इस नियमों-का मनन करके कर्तव्य कर्म करते रहनेसे मनुष्य उत्तम कर्मयोगी हो सकता है।

ज्ञानयोग और कर्मयोग

अब ज्ञानयोग और कर्मयोग किंवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा अथवा सांख्यमार्ग और योगमार्गकी तुलना करते हैं। इस तुलनासे दोनों मार्गोंकी समानता कहाँ है और विषमता कहां है इसका पता पाठकोंको लग सकता है—

योगोंके नाम

ज्ञानयोग	कर्मयोग (३।३)
ज्ञाननिष्ठा	कर्मनिष्ठा योगमार्ग
सांख्यमार्ग	योग (३।३)
सांख्ययोग सांख्य	योगबुद्धि (२।३९)
सांख्यबुद्धि (२।३९)	(समत्व) बुद्धियोग (२।४९)

कर्मयोगकी व्याख्या

समत्वं योग उच्यते। (गी २।४८)

योगः कर्मसु कौशलम्। (२।५०)

(समाधौ) अचला बुद्धिः योगः। (२।५३)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प योगधर्मा महतो भयात्त्रायते। (२।४०)

मम एका व्यवसायात्मिका बुद्धिः। (२।४१)

बुद्धौ शरणमन्विच्छ। (२।४९)

(समत्व-) बुद्धियोग कर्मणः परः।
(बुद्धियोगात् कर्म अवरं) (२।४९)

आत्माके विषयमें तत्त्वज्ञान

सांख्यमत	अनात्मवाद	योगमत
अविनाशी (आत्मा) । २।१२,२।१७	(स्वतंत्र आत्मा नहीं है)	अविनाशी आत्मा
अप्रमेय ( ) २।१८	नान्यदस्तीति वादिनः । २।४२	अप्रमेय।
अज अमर नित्य शाश्वत पुराण आत्मा २।२	(शरीरके साथ जन्मनेवाला और उसीके साथ मरनेवाला)	अज अमर नित्य शाश्वत, पुराण आत्मा।
अव्यय आत्मा । २।२१	(शरीरके नाशसे नाश होनेवाला)	अव्ययः
अच्छेद्य अदाह्य अक्लेद्य अशोष्य सर्वगत स्थाणु अचल सनातन आत्मा। ।२३-२४	(विकारी एकदेशी, चल, इ)	अच्छेद्य अदाह्य अक्लेद्य अशोष्य, सर्वगत स्थाणु अचल, सनातन आत्मा।
अव्यक्त अचिन्त्य अविकारी आत्मा। २।२५	(व्यक्त विकारी)	अव्यक्त अचिन्त्य अविकारी आत्मा।
आश्चर्यरूप आत्मा । २।२९		आश्चर्यरूप आत्मा।
अवध्य देही (आत्मा) । २।३०	(वध्य)	अवध्य आत्मा।
आत्माके कुछ धर्म		**आत्माके कुछ धर्म**
सत अभावः न विद्यते । २।१६	(सत अपि अभावः भवति)	सतः अभावः न विद्यते।
देही नवानि शरीराणि गृह्णाति। २।२२	(पुनर्जन्म नहीं है)	देही नवानि शरीराणि गृह्णाति।
नित्यस्य (आत्मनः) अन्तवन्तः देहाः। २।१८		नित्यस्य अन्तवन्तः देहाः।
जातस्य ध्रुवः मृत्युः मृतस्य च जन्म ध्रुवम् । २।२७		जातस्य ध्रुवः मृत्युः मृतस्य च जन्म ध्रुवम्।
अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्त निधनानि भूतानि । २।२८		अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्त निधनानि भूतानि।
	शरीरधर्म	
असतः भावः न विद्यते । २।१६ विनाशी अमेय, अन्तवान्, मरणधर्मी अनित्य अशाश्वत नाशवान्, छेद्य दाह्य क्लेद्य शोष्य एकदेशी अस्थिर चल व्यक्त चिन्त्य विकारी वध्य (शरीर)।	असत् शरीरका अस्तित्व है।	असतः (शरीरादेः) भावः न। विनाशी आदि (सांख्यमतानुसार)
	द्वन्द्वातीत स्थिति	
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति । २।११ शीतोष्णसुखदुःखदाः स्पर्शाः अनित्याः। २।१४ (द्वन्द्व) तितिक्षस्व । २।१४ समदुःखसुखः और अमृतत्वाय कल्पते । २।१५	(गतप्राणोंके लिये शोक करना) (सुखदुःख नित्य) (सुखकी इच्छा दुःखकी अनिच्छा) कामात्मान । २।४३ द्वन्द्वमय स्थिति	गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति। सुखदुःख अनित्य। द्वन्द्व-तितिक्षा। निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः निर्योगक्षेमः आत्मवान्। २।४५

साङ्ख्यमत	कर्मारम्भवाद्	योगमत
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः । २।५६	असमानता, विषमता	संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भव। २।४८
सर्वत्रानभिस्नेहः । ५।५७	रागी लुब्धः भोगैश्वर्यप्रसक्तः । २।४४	
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। २।५६	सुखे स्पृहा दुःखे उद्विग्नता।	बुद्धियुक्त सुकृतदुष्कृते जहाति। २।५०
शुभं नाभिनन्दति अशुभं न द्वेष्टि। २।५७	शुभं अभिनन्दति अशुभं द्वेष्टि।	सुखदुःखे समे, लाभालाभौ जयाजयौ समौ कृत्वा पापं न अवाप्स्यसि। २।३८
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न । २।२७	अपरिहार्येऽर्थेऽपि शोकः।	अपरिहार्येऽर्थे शोकः न कार्यः। २।२७
	संयम	
सर्वान्कामान्प्रजहाति आत्मनि आत्मना तुष्टः। २।५५	कामात्मानः स्वर्गपराः। २।४३ भोगैश्वर्यप्रसक्ताः। २।४४ त्रैगुण्यविषयाः। २।४५	मुक्तसंगः मदर्थं कर्म समाचर। ३।९
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरति। २।५८	इन्द्रियाणि संयम्य यः विषयान्स्मरन् आस्ते सः मिथ्याचारः। ३।६	इन्द्रियाणि मनसा नियम्य असक्त कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते स विशिष्यते। ३।७
इन्द्रियाणि संयम्य मत्परः (ईश्वरः) युक्तः आसीत। २।६१	इन्द्रियाणि मनः हरन्ति। २।६०	इन्द्रियाणां रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेत्। तौ अस्य परिपन्थिनौ। ३।३४
इन्द्रियाणि यस्य वशे। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। २।६१	इन्द्रियाणां चरतां मनः प्रज्ञां हरति। २।६७	इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशन पाप्मानं काम प्रजहिहि। ३।४१
यस्य इन्द्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता २।६८	कामकामी शान्तिं नाप्नोति। २।७०	काम क्रोधश्च महापाप्मा महाशनः। त वैरिणं विद्धि। ३।३७
निराहारस्य विषयाः विनिवर्तन्ते। परं दृष्ट्वा रस अपि निवर्तते।	[illegible] । २।४१	आत्मानं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मनात्मानं संस्तभ्य, दुरासदं कामरूपं शत्रु जहि ३।४३
रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादमधिगच्छति। २।६४	विषयान्ध्यायतः तेषु संगः उपजायते संगात्काम कामात्क्रोधः क्रोधात्स-मोहः संमोहात् भ्रम स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। २।६२-६३	इन्द्रियाणि नियम्य असक्त कर्मयोग आरभते स विशिष्यते। ३।७ असक्तः कर्म आचरन् परं आप्नोति। ३।१९
संयमी जागर्ति। २।६९	कामेन ज्ञान आव्रियते। ३।३८ कामः दुष्पूरः अनलः। ३।३९	मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। २।५२
(विषयान्) पश्यती मुने निशा। २।६९	कामस्य अधिष्ठानं इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः। ३।४०	काम शत्रुम नित्यवैरी अतः तं जहि ३।३९
	अंतिम सिद्धि	
आपूर्यमाणं कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिं आप्नोति। २।७०	कामः ज्ञानं आवृत्य देहिनं विमोहयति। ३।४०	कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति। २।५१
सर्वान्कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिमधिगच्छति। २।७१	अकर्मणः शरीरयात्रापि न प्रसिद्ध्येत्। ३।८	(योग-) दूरेण [illegible] २।४९ आत्मरतिः आत्मतृप्तः आत्मसंतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते। ३।१७

सांख्यमत	समासमवाद	योगमत
ब्राह्मी स्थितिं प्राप्य न मुह्यति । २।७२ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते २।६५ अन्तकालेऽपि ब्राह्मी स्थितौ स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति । २।७२	सर्वज्ञानविमूढा अचेतसः । ३।३२	कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । ३।२० श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः । ३।३१ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ३।१८
		कर्मयोग
अकर्मणि संगः । २।४७ कर्मफलहेतुः । २।४७ फलेषु अधिकारः । २।४७ अयुक्तस्य बुद्धिः, भावना शान्तिः सुखं च न । २।६६ अकर्मकृत । ३।५	कर्मणि ते अधिकारः । २।४७ अकर्मणि सङ्गः माऽस्तु । २।४७ कर्मफलहेतुः मा भूः । २।४७ फलेषु ते अधिकारः मा । २।४७ योगस्थः कर्माणि कुरु । २।४८ नियतं कर्म कुरु । ३।८ कश्चित्क्षणमपि तिष्ठति । ३।५ प्रकृतिजैर्गुणैः सर्वो वश कार्यते ।३।५ अकर्मणः कर्म ज्यायः । ३।८ कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं न । ३।४	
		अनासक्तियोग
कामकाम्या कर्म करोति ।		असक्तः कार्यं कर्म समाचर । ३।१९
		ईश्वरार्पण
ये कामकारात्प्रवर्तन्ति ते पापाः । ३।३२		मयि (ईश्वरे) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व । ३।३०
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं जीवति । ३।१६		कर्मैव कुरु । ३।९
		लोकसंग्रह
अज्ञानां बुद्धिभेदः । ३।२६		लोकसंग्रहं कर्तुमर्हसि । ३।२० उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।३।२४ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।३।२१

सांख्यमत	अनात्मवाद्	योगमत
		यज्ञः
	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । ३।९	प्रजाः सहयज्ञाः सृष्टा । ३।१ अनेन प्रसविष्यध्वम् । ३।१ यज्ञः इष्टकामधुक् । ३।१ यज्ञः कर्मसमुद्भव । ३।१४ कर्म ब्रह्मोद्भवम् । ३।१५ यज्ञेन देवान्भावयत देवाः वा यज्ञेन भावयन्तु । परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ । ३।११
		बुद्धिभेदवर्जन
		अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । विद्वान् युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् । ३।२६ कृत्स्नवित् मन्दान् विचालयेत् । ३।२९
		कर्ता
प्रकृति कर्म करती है पुरुष स्वतंत्र है, वह अकर्ता है ।	अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ३।२७	प्रकृतेः गुणैः प्रकृतेः कर्माणि क्रियमाणानि । ३।२७ गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते । ३।२८

पूर्वोक्त कोष्ठकमें सांख्यमत योगमत और इन दोनों मतोंको न माननेवाले विविकमह लोगोंका अनात्मवादात्मक मत संक्षेपसे दिया है। भगवद्गीताके पूर्वोक्त तीनों अध्यायोंमें ऐसे ही मत आ गये हैं। यहां कोष्ठक-रूपमें देनेसे और तीनों मतवादियोंके मत आमने सामने रखनेसे पाठकोंको तीनों मतोंका साथ साथ विचार करना सुगम हो सकता है। जहां गीताके श्लोकका संबंध है वहां अध्याय और श्लोकका अंक दिया है और जहां गीताके श्लोकसे अनुमान किया है वहां श्लोकांक नहीं दिया है।

इस कोष्ठकको देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि सांख्यमत और योगमतमें आत्मतत्त्व शरीरतत्त्व द्वन्द्वातीत स्थिति इंद्रियसंयम मनोनिग्रह इनके विषयमें तत्त्वोंकी समानता है। अर्थात् इनके विषयमें दोनोंके समान उपदेश हैं। जहां कर्मयोग कर्मतत्त्व अनासक्ति, ईश्वरार्पण कर्म लोकसंग्रहार्थ कर्म यज्ञतत्त्व कर्ताका विचार आदिके संबंधमें विचार चलता है, वहांके विचार कर्मयोगके साथ अधिक संबंध रखते हैं। इनमें भी जहां प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं इनका कर्ता आत्मा नहीं है (गी ३।२७-२८) ऐसा कहा है वह विचार सांख्यतत्त्वकाही है ऐसा हमें प्रतीत होता है क्योंकि सांख्यमतमें ही प्रकृति सब कुछ करती है पुरुषका उससे कुछ संबंध नहीं यह तत्त्व प्रधानतया कहा है। यद्यपि भगवद्गीतामें सांख्यमतप्रतिपादक द्वितीयाध्यायमें ऐसा किसी स्थानपर नहीं कहा तथापि सांख्यमतप्रतिपादक सभी ग्रंथोंमें पुरुषको अकर्ता और प्रकृतिको कर्ता माना है। इसी तरह अनात्मवादका तत्त्व भी सांख्यमतके साथ मिलता जुलता है क्योंकि पुरुष प्रकृतिसे भिन्न होनेसे वह स्वभाव

सांख्यमत	आत्मारामवाद	योगमत
ब्राह्मी स्थितिं प्राप्य न मुह्यति । २।७२		कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । ३।२०
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते २।६५	सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः । ३।३२	श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः । ३।३१
अन्तकालेऽपि ब्राह्मी स्थितौ स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति । २।७२		नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ३।१८
		कर्मयोग
	अकर्मणि संगः । २।४७	कर्मणि ते अधिकारः । २।४७
	कर्मफलहेतुः । २।४७	अकर्मणि सङ्गः माऽस्तु । २।४७
	फलेषु अधिकारः । २।४७	कर्मफलहेतुः मा भूः । २।४७
	अयुक्तस्य बुद्धिः, भावना शान्तिः सुखं च न । २।६६	फलेषु ते अधिकारः मा । २।४७
		योगस्थः कर्माणि कुरु । २।४८
	अकर्मकृत । ३।५	नियतं कर्म कुरु । ३।८
		कश्चिदकर्मकृत् तिष्ठति । ३।५
		प्रकृतिजैर्गुणैः सर्वः कर्म कार्यते । ३।५
		अकर्मणः कर्म ज्यायः । ३।८
		अकर्मणः शरीरयात्रापि न । ३।८
		अनासक्तियोग
	आत्मरता कर्म करोति ।	असक्तः कार्यं कर्म समाचर । ३।१९
		ईश्वरार्पण
	ये आत्मकामचारात्पचरन्ति ते नष्टाः । ३।३२	मयि (ईश्वरे) सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीर्निर्ममो युध्यस्व । ३।३०
	अघायुरिन्द्रियारामो मोघं जीवति । ३।१६	कर्माणि कुरु । ३।८
		लोक संग्रह
	अप्रदाय भुंक्ते सः स्तेनः । ३।१२	लोकसंग्रहं कर्तुमर्हसि । ३।२०
		उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः । ३।२४
		यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।३।२१

संयम मनोनिग्रह आदि सभी सांख्य-शास्त्रकी बातें बड़ी आवश्यक हैं।

परन्तु जिसकी बुद्धि मनन, निदिध्यासन और आत्मानुसंधानमें स्थिर नहीं रहती बारबार विचलित होती है और इस चंचलताके कारण जो ऊपर भूमिकामें आ नहीं सकता उस मनुष्यको विविध प्रकारके कर्म करते हुए चित्तकी शुद्धि करना आवश्यक है। ऐसे मनुष्योंके लिये यह कर्मयोगका मार्ग है।'

इंद्रियोंका संयम करना राग द्वेषोंके वश न होना अपनेको जीवका जीवका संयम करना शरीर इंद्रियाँ मन और बुद्धिके पर आत्म-तत्त्व है और वह विशेष शक्तिमान् है ऐसा मानना और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना बड़ा आवश्यक है।

इसके लिये फलाशाका त्याग कर कर्म करना चाहिये क्योंकि विषयमें सम बुद्धि रखनी चाहिये प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिये और फल परमात्माके लिये समर्पित करना चाहिये। कर्म न करनेसे कर्म करना उत्तम है। कोई प्राणी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म उससे होताही रहता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपना नियत कर्म करे और उसका फल दूसरोंकी भलाईके लिये अर्थात् परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे'

जनताके हितके लिये लोक-संग्रहकी बुद्धिसे मनुष्य सब कर्म आचरण करे और उसका फल लोक-हितके लिए समर्पित करे। यही यज्ञ है। यज्ञसे सब जगत्‌की धारणा होती है। अतः मनुष्य यथाशक्य कर्म अवश्य करे। ऐसे कर्म करनेसे चित्त-शुद्धि होगी और मन स्थिर होने लगेगा। पश्चात् सांख्य-मार्गमें कहे आत्मानुसन्धानसे बड़ी ऊंची स्थिति उससे प्राप्त होगी।

' इससे स्पष्ट है कि अकेला एकमात्र सर्वगत आत्मा है। इसका अनुभव करनेके लिये सब जनताके हितके लिये सब प्राणिमात्रकी भलाईके लिये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी दीक्षा कर्मयोग देता है। कर्मयोगी लोक-संग्रह लोक-हित जन हित आदि बुद्धिसे कर्म करता है उस कर्मका फल जनताके लिये सौंप देता है इससे भी न समझते हुए वह 'सर्वगत आत्मा' की ही उपासना करता है। ऐसा करते करते उसको किसी न किसी सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार होता है। इस तरह कर्ममार्गी कर्म करता हुआ पहिले स्वार्थसे, अंतर परार्थके लिये पश्चात् परमार्थके लिये कर्म करता हुआ चित्तको स्थिर करता है और अन्तमें वैसाही कृतकृत्य होता है।

इस प्रकार सांख्य और योगका तत्त्वज्ञान है इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्यके लिये योगमार्ग किंवा कर्मयोग मार्ग सुगम है। अतः वही सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये सदा श्रेयस्कर है।

तृतीय अध्यायका विचार समाप्त

सही अनासक्त है । इसीलिये अनासक्तिसे वह मुक्ति अर्थात् निजानन्दावस्था प्राप्त करता है और आसक्तिसे बद्ध होता है ।

भगवद्गीताका अभ्यास करनेवाले पाठक जो हैं, वे यदि अध्ययन किये हुए गीताके श्लोकोंसे इस प्रकार छांट छांट कर एक एक विषयके वचन अलग अलग करेंगे तो उनको प्रत्येक विषयके संबंधमें भगवद्गीताका कथन निश्चय स्पष्ट क्या है इसका ठीक पता लगेगा । पाठकोंकी सुबोधता के लिये और सांख्य और योगकी तुलना करनेके लिये यहां दो कोष्टक दिये हैं । इनमें दोनों मतोंकी समता कहां है और विषमता क्यों है, यह बात पाठक देख सकते हैं । साथ ही तीसरा भी एक कोष्टक है उसमें आत्मघातके विचार संगृहीत किये हैं । इनकी भी तुलना पूर्वोक्त दोनों मतोंके साथ करके पाठक बोध प्राप्त कर सकते हैं । ये कोष्टक पूर्ण नहीं हैं प्रयत्नसे इनको परिपूर्ण बनाया जा सकता है । केवल इसकी अभ्यासमें उपयुक्तता है, यह दर्शानेके लिये ही ये अपूर्ण कोष्टक यहां दिये हैं । इस प्रकार विवेचनापूर्वक प्रयत्न करते रहनेसे कभी न कभी ये कोष्टक पूर्ण बनना संभव है । अब हम इन कोष्टकोंका भी सार निकाल कर प्रत्येक मतका स्वरूप अति संक्षेपसे लिखते हैं—

ज्ञान-योग

सांख्य-तत्त्व

'मनुष्यके शरीरमें जो आत्मा है वह अजन्मा अविकारी अमर अव्यय अविनाशी नित्य सनातन पुराण अप्रमेय अवर्ण्य अचिन्त्य आत्मप्रेरक सर्वगत अच्छेद्य अदाह्य अक्लेद्य अशोष्य और अवध्य है ।

यह शरीर जन्मता है पुष्ट अथवा कृश होता है तरुण वृद्ध और क्षीण होता है तथा अन्तमें मरता है । यह शरीर शस्त्र अस्त्र अग्निसे जलाया भिगोया अथवा सुखाया जाता है । यह शरीर विकारी व्यक्त और एकदेशी है ।"

शरीर जन्मता है अतः उसका मृत्यु अवश्य होगा । शरीर मरनेपर भी उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा वैसाका वैसा रहता है । शरीरका जन्म होनेसे अथवा नाश होनेसे आत्मामें कोई फरक नहीं होता । जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोडकर नये धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा पुराने शरीर छोडकर नये शरीर धारण करता है ।

" जैसा आकाश अनेक घरोंमें और अनेक घडोंमें रहता है कोई घर बन गया अथवा एकाध घडा टूट गया तो आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं होता वैसाही शरीरके नाशसे या बननेसे आत्मापर कोई परिणाम नहीं होता । "

'सुख दुःख शीत-उष्ण, आदि द्वन्द्व शरीरको होते हैं, आत्मा इनसे अलिप्त है । यह जानकर धैर्यसे तितिक्षा-वृत्तिसे और सम भावनासे अपने आपको इन द्वन्द्वोंसे अलिप्त अनुभव करना और सदा हर्ष शोकसे दूर रहना चाहिये । इससे अमृतत्व प्राप्त होता है ।

'मनमें उत्पन्न होनेवाली सब कामनाएं छोडकर इंद्रियों को विषयोंसे अलग कर उनका संयम कर इन्द्रियोंसे इंद्रियोंको मुक्त कर सब इंद्रियोंको अपने वशमें रखकर निःस्पृह निर्मम निरहंकार होकर अपने आत्मामें मग्न होकर आत्माकाही चिंतन करता हुआ जो विचरता है, उसको प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

विषयोंकि हमलेसे अपना बचाव करनेके लिये सदा सावध रहना चाहिये । विषयोंको देखते हुए भी मन निर्विकार रखना चाहिये जैसा कि विषय देखेही नहीं । जो ऐसा निर्विकार रहता है, वह मुक्त होता है । "

प्रकृतिसे कर्म हो रहे हैं, आत्मा अकर्ता है ऐसा जो अनुभव करता है वह महात्मा बनता है '

यह सांख्य-तत्त्व है । वारंवार मनन करनेसे ध्यान करने से इसी विचारको मनमें स्थिर करनेसे यह तत्त्व सूर्यके प्रकाशके समान स्पष्टतया अनुभवमें आता है । और यही सहज अकृत्रिम स्थिति हो जाती है । इस तरह इसका साक्षात्कार हुआ और उसके सहवासकी अखंड स्थिति हो गई तो समझना चाहिये कि इसको अन्तिम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई । श्रवण मनन निदिध्यासन और आत्मानुसंधानसे यह स्थिति प्राप्त होती है । इसमें सब कर्म छोडकर और केवल आत्मानुसंधान करना आवश्यक है । यह मार्ग केवल ज्ञानविज्ञानवालोंसेही आक्रमण किया जा सकता है ।

कर्म-योग

योग-तत्त्व

आत्माका अमरत्व और शरीरका विनाशित्व आदि जो वर्णन सांख्य मार्गमें कहा है वही यहां मान्य है । इस

संयम मनोनिग्रह आदि सभी सांख्य-तत्त्वकी बातें यहां आवश्यक हैं।

परन्तु जिसकी बुद्धि मनन, निदिध्यासन और आत्मानुसंधानमें स्थिर नहीं रहती बारबार विचलित होती है और इस चंचलताके कारण जो उच्च भूमिकामें आ नहीं सकता उस मनुष्यको विविध प्रकारके कर्म करते हुए चित्तकी शुद्धि करना आवश्यक है। ऐसे मनुष्योंके लिये यह कर्मयोगका मार्ग है।

इंद्रियोंका संयम करना राग-द्वेषोंके वश न होना कामकी बीरता औरका शमन करना शरीर इंद्रियाँ मन और बुद्धिसे पर आत्म-तत्त्व है और वह विशेष सामर्थ्यवान् है ऐसा मानना और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये यत्न करना यहां आवश्यक है।

इसके लिये कर्मयोगका मार्ग धर कर्म करना चाहिये इन्द्रोंके विषयमें सम बुद्धि रखनी चाहिये प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिये और फल परमार्थके लिये समर्पित करना चाहिये। कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है। कोई प्राणी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म उससे होताही रहता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपना नियत कर्म करे और उसका फल दूसरोंकी सहायताके लिये अर्थात् परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे

जनताके हितके लिये लोक-संग्रहकी बुद्धिसे मनुष्य सब कर्म अवश्य करे और उसका फल लोक-हितके लिये समर्पित करे। यही यज्ञ है। यज्ञसे सब जगत्की धारणा होती है। अतः मनुष्य यज्ञरूप कर्म अवश्य करे। ऐसे कर्म करनेसे चित्त शुद्धि होगी और मन स्थिर होने लगेगा। पश्चात् सांख्य-मार्गमें कहे आत्मानुसंधानसे वही ब्राह्मी स्थिति उससे प्राप्त होगी।

इससे स्पष्ट है कि अखंड एकरस सर्वगत आत्मा है। इसका अनुभव करनेके लिये सब जनताके हितके लिये, सब प्राणिमात्रकी सहायताके लिये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी दीक्षा कर्मयोग देता है। कर्मयोगी लोक-संग्रह लोक-हित जन हित आदि बुद्धिसे कर्म करता है उस कर्मका फल जनताके लिये सौंप देता है इससे भी न समझते हुए वह 'सर्वगत आत्मा' की ही उपासना करता है। ऐसा करते करते उसको किसी न किसी सर्वगत आत्मा का साक्षात्कार होता है। इस तरह कर्ममार्गी कर्म करता हुआ पहिले स्वार्थसे अंतर परार्थके लिये पश्चात् परमार्थके लिये कर्म करता हुआ चित्तको स्थिर करता है और अन्तमें वैसाही कृतकृत्य होता है।

इस प्रकार सांख्य और योगका तत्त्वज्ञान है इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्यके लिये योगमार्ग किंवा कर्मयोग-मार्ग सुगम है। अतः यही सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये सदा श्रेयस्कर है।

तृतीय अध्यायका विचार समाप्त

तृतीय अध्यायके सुभाषित

(१) निश्चययुक्त भाषण कर

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

संदिग्ध भाषणसे बुद्धिमें मोह उत्पन्न होता है । अतः निश्चय करके एक उपदेश करो कि जिससे मेरा कल्याण होगा ।

संदिग्ध भाषणसे मोह होता है निश्चित भाषणसे मोह दूर होकर कल्याण होता है । इसलिये निश्चित भाषण करना योग्य है ।

(२) कर्मत्यागसे सिद्धि नहीं

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मका संन्यास करनेसे कर्म छोड देनेसे सिद्धि नहीं मिलती । सिद्धिके लिये कर्मकी आवश्यकता है ।

(३) कर्म प्रकृतिधर्म है

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

क्षणभर भी कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता । प्रकृतिके गुणोंसे सबके द्वारा कर्म कराये जाते हैं ।

प्रकृतिधर्मसेही कर्म करता है। कर्म-त्याग करके कोई मनुष्य जीवित रह नहीं सकता ।

(४) ढोंगी

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो इंद्रियोंका संयम करता है पर मनसे विषयोंके भोगोंका चिन्तन करता है वह ढोंगी है ।

ऐसा ढोंग करनेसे धर्मानुकूल विषयभोग करना कल्याणकारी है । ढोंग करनेसे भयानक अवनति होती है । परन्तु धर्मानुकूल भोग स्वीकार करनेसे संयमका भी अभ्यास होता है और ढोंग करनेसे होनेवाली अवनतिसे भी साधक बच जाता है ।

(५) अनासक्तियोग

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जो मनसे इंद्रियोंका संयम करता है और इंद्रियोंसे कर्मयोग करता हुआ भोगके विषयमें अनासक्त रहता है उसकी योग्यता विशेष होती है ।

इंद्रियोंका संयम कर धर्मानुकूल उनसे व्यवहार कर भोगके विषयमें आसक्ति छोड । इससे तुम्हारी उन्नति होगी ।

(६) यज्ञरहित कर्मसे बंधन

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ॥९॥

यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं उनसे मनुष्यका बंधन नहीं होता । इससे भिन्न कर्म मनुष्यके लिये बंधनकारी होते हैं । इसलिये मनुष्य सब प्रकारके यज्ञरूप कर्म करे । देवपूजा संगतिकरण, दान ये यज्ञरूप कर्म हैं । सज्जनोंका सत्कार सबकी संघटना और दीनोंकी सहायता ये यज्ञरूप कर्म बंधनसे मुक्ति करनेवाले हैं ।

(७) पाप

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो अपने लिये ही केवल पकाते हैं वे पाप ही खाते हैं अर्थात् जो यज्ञ- (पूज्योंकी पूजा-संघटना-दान) न करते हुए स्वार्थसे अपने लिये ही भोग भोगते हैं, वे पापी होते हैं ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

जो केवल अपने इंद्रियोंके लिये ही आराम देता है वह पापी है उसका जीवन व्यर्थ है ।

केवल इंद्रियोंको आराम देना अयोग्य है । सदा कर्तव्य पालन करनाही मानवके लिये योग्य है ।

(८) अनासक्तिसे श्रेष्ठता

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

भोगोंपर आसक्ति न रखते हुए जो कर्म करता है वह

श्रेष्ठता प्राप्त करता है।

भोगोंपर आसक्ति रखनेसे हीनता और भोगोंके विषयमें अनासक्ति धारण करनेसे श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

(९) लोकसंग्रहके लिये कर्म

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

लोकसंग्रह करनेके लिये तू अवश्य कर्म कर।

जनताकी सभी उन्नतिका धर्म लोकसंग्रह है। सब कर्म ऐसेही करने चाहिये कि जनताकी संघटना हो और सब प्रकार की उन्नति भी साथ होती जाय।

(१०) श्रेष्ठ पुरुषका उत्तरदायित्व

यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा व्यवहार करता है, वैसा अन्य लोक करते हैं। श्रेष्ठ जिसको प्रमाण मानता है वही प्रमाण अन्य लोक मान्य करते हैं।

श्रेष्ठोंपर यह उत्तरदायित्व है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषोंको अच्छाही कर्म सदा करना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुष कर्म नहीं करेंगे तो सब अन्य लोग आलसी होंगे और सब राष्ट्र अवनतिमें गिर जायगा।

(११) बुद्धिभेद न कर

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

श्रेष्ठ लोगोंको उचित नहीं है कि वे अपनी बुद्धिकी श्रेष्ठताके कारण कम बुद्धिवालोंके मनमें संदेह उत्पन्न करें। वे सबके कर्मोंको उत्साहपूर्वक कराते हुए, उनको ठीक मार्गसे चलाते रहें।

कई बुद्धिमान् मनुष्य कम बुद्धिवालोंको तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं। यह योग्य नहीं है। प्रत्येक मानव अपने अपने स्थानमें सुयोग्य ही है। उसकी प्रकृतिके अनुरूप कर्म उससे किया जावे। यही बुद्धिमानोंका कर्म है।

(१२) अहंकार न कर

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७॥

शरीर प्रकृतिके गुणोंके अनुकूल ही कर्म मनुष्यसे होते हैं। इस कारण जो मूढ है वही कहता है कि मैं इस कर्मका कर्ता हूं।

शरीरकी प्रकृतिके गुण सत्व रज तम होते हैं और उन से सात्विक राजस, तामस कर्म होते हैं। जिसकी जैसी प्रकृति है वैसे कर्म उससे होने चाहिये। प्रकृतिकेही गुण कर्म करते हैं इसमें कर्तृत्वका अहंकार कौन कैसा धारण कर सकता है ?

(१३) स्वधर्म कल्याणकारी है

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

सुखसे करने योग्य परधर्मसे कष्टसे सिद्ध होनेवाला स्वधर्म अधिक कल्याणकारी है। स्वधर्ममें कष्ट हुए तो भी वे हितकर हैं। परधर्म भयंकर है।'

सात्विक प्रकृतिसे सात्विक कर्म होंगे वह राजस कर्म करना चाहेगा तो उससे वे ठीक नहीं होंगे। इसी तरह राजससे तामस और तामससे सात्विक विषयमें जानना योग्य है। जैसी जिसकी प्रकृति होगी उसके अनुकूल कर्म वह करे। दूसरेके लिये योग्य होनेवाले कर्म कितने भी गुणदायी प्रतीत हुए तो भी वह वे न करे। क्योंकि हरएक मानवसे अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्मही ठीक तरह होंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी

तृतीयाध्यायकी विषयसूची

तृतीय अध्याय समाप्त

अथ चतुर्थोऽध्याय

ज्ञान-कर्म संन्यास-योग

(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व

श्रीभगवानुवाच—

इम विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एव परपराप्राप्तमिम राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्ट परतप ॥ २ ॥
स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्य ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— अहं अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान् । विवस्वान् मनवे प्राह । मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥ १ ॥ हे परंतप ! एवं परंपराप्राप्तं इमं (योगं) राजर्षयः विदुः । सः योगः इह महता कालेन नष्टः ॥ २ ॥ सः एव अयं पुरातनः योगः मया अद्य ते प्रोक्तः । (त्वं) मे भक्तः सखा च असि इति हि एतत् उत्तमं रहस्यम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले— मैंने यह अविनाशी योग विवस्वान्‌से कहा था विवस्वान्‌ने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना था परन्तु यह योग इस पृथ्वीपर बहुत समयसे लुप्तप्राय हो गया ॥ २ ॥ वही यह पुरातन योग मैंने आज तुझे कहा क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय मित्र है तथा यह योग भी उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

भावार्थ— ज्ञानयोग और कर्मयोग रूप जो ज्ञान इससे पूर्व कहा था वह कभी नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है । वह सत्य होनेसे अविनाशी और त्रिकालाबाधित है । भगवान्‌से वह विवस्वान्‌को उससे मनुको और उससे आगे ज्ञान इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ था । इन राजर्षियोंकी परंपरासे वह ज्ञान पृथ्वीपर बहुत समय तक रहा था परन्तु बहुत समयके पश्चात् लोग इस ज्ञानको भूल गये । अतः वही सनातन ज्ञान आज तुझ अर्जुनको दिया है । यह कोई नयी मनकल्पित बात नहीं है । तू भगवद्भक्त और ईश्वरका सखा बना है अतः यह उत्तम रहस्यका ज्ञान तुझे आज दिया है । इसको तू अपने मनमें स्थिर रख इसका अनुसरण कर और कृतकृत्य हो ॥ १-३ ॥

(१-३) पूर्व अध्यायोंमें कथित ज्ञानयोग कर्मयोग किंवा कर्मसंन्यासयोगके विषयमें अधिक स्पष्टीकरण इस चतुर्थ अध्यायमें है । इन दो विषयोंमें मनमें कई शंकाएं उपस्थित होती हैं, उनका विशेष स्पष्टीकरण पाठक इस चतुर्थ अध्यायमें देख सकते हैं । इसीलिये इस अध्यायका नाम ज्ञान कर्म-संन्यास-योग रखा गया है ।

सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान

यहां पहिली शंका है कि जो कुछ भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा वह केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये कहा। अतः उसको विशेष प्रमाण मानना अयोग्य है । किसी न किसी युक्तिसे युद्धसे निवृत्त हुए वीरको युद्धके लिये प्रवृत्त करना था । वह कार्य श्रीकृष्ण भगवान्‌ने किया । अतः यह वचन सार्वकालिक और सार्वभौमिक महत्त्वका नहीं हो सकता क्योंकि इसमें सामयिक महत्त्वकारी उपदेश है इसलिये हम इसको प्रमाण क्यों मानें ? पुरातन सनातन *सार्वभौमिक और सार्वकालिक धर्मतत्त्वकोही हम मानेंगे ।* सामयिक तत्त्व तो एककालिक होनेसे सबके लिये सदा माननीय नहीं हो सकता । '

कई लोग इस प्रकारकी शंकाएं करते हैं । अतः इन शंकाओंको दूर करनेके लिए और इस ज्ञानकी सार्वभौमिकता और सार्वकालिकताकी सिद्धता करनेके लिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि— यह योग मैंनेही प्राचीन समयमें विवस्वान्‌से कहा था, इसीको विवस्वान्‌ने मनुसे कहा और उसने इसीको इक्ष्वाकुसे कहा था । इस तरहसे यह कर्मयोग

का ज्ञान श्रेष्ठ राजाओंमें परंपरासे बहुत समयतक प्रचलित रहा था, अर्थात् विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजा लोग अपना राज्य शासनमें इसी योगके अनुसार चलाते रहे और कृतकृत्य बने। यह कर्मयोग राजर्षियोंके लिये बडा उपयोगी है। अर्जुन राजशासन चलानेवाला प्रसिद्ध क्षत्रिय है इस कारण उसको भी यही योग पालन करना उचित है।

ज्ञानका लोप

यद्यपि इक्ष्वाकु आदि राजालोग इस कर्मयोगका आचरण करते रहे और राजा-महाराजा क्षत्रिय और राजपुरुषोंकी पाठविधिमें यह पढाईका विषय था, तथापि मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिमें थोडीसी शिथिलता रहती है इस कारण सत्य सनातन धर्मनियम भी, बारबार चालना न हुए तो लुप्तप्राय हो जाते हैं। इस रीतिके अनुसार " वह ज्ञान भी इस पृथ्वीपरसे बहुत कालसे लुप्त हुआ। " इस ज्ञानके लुप्त होनेसे ही अर्जुन इस धर्मयुद्धसे निवृत्त होनेकी चेष्टा करने लगा और उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये इतना उपदेश फिरसे सुनाना अत्यंत आवश्यक हुआ!! अर्थात् यह उपदेश जो कि श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा वह कोई नया उपदेश नहीं है। वह अविनाशी सनातन ज्ञान है, इतनाही नहीं अपितु यह बडी रहस्यकी भी बात है। अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान्‌का परम मित्र और बडा भक्त था इस कारण भगवान्‌के द्वारा यह योगामृत उसको पिलाया गया। नहीं तो ऐसी रहस्यकी बात कौन किसको बताता है?

इस प्रकार यहां बताया गया कि यह ज्ञान कोई नव-कल्पित उपदेश नहीं है। जो सिद्धकार्यप्रवर्तक सनातन, सत्य ज्ञान विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु आदि राजाओंको प्राचीन कालमें दिया गया था और जिस ज्ञानसे वे राजर्षि कृतकृत्य हुए थे वही सनातन ज्ञान इस समय अर्जुनके द्वारा सब संसारको दिया गया है। अर्थात् यह सनातन सत्य ज्ञान है। अतः प्रति भारतवासी इसको यह मानना और आचरणमें लाना चाहिये।

प्राचीन इतिहासकी साक्षी

विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु आदि राजा जिनका अर्जुनने कहे स्मरणीय पूर्व भारतवर्षमें हुए थे। वे सूर्यवंशके बडे प्रतापी राजा थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण क्षत्रिय-वीर और यादव थे चन्द्रवंशी थे। श्रीकृष्ण स्वयं चन्द्रवंशमें प्रतापी महापुरुष थे। अर्जुन भी चंद्रवंशका विख्यात वीर था। चन्द्रवंशमें भी कई वीर बडे धुरंधर और विख्यात हुए थे तथापि उस समय भी सूर्यवंशके राजालोगोंका मान चन्द्रवंशियोंसे कई गुना अधिक माना जाता था इसमें संदेह नहीं है। पृथु, मांधाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, मान्धाता, अंबरीष, सिंधुद्वीप, रघु, दशरथ, राम आदि सूर्यवंशी राजाओंके नाम महाभारतमें बारबार आते हैं और आदर्श राजा करके इनका उल्लेख महाभारतमें बारबार हुआ है। सूर्यवंशी राजाओंने भारतवर्षमें और भारतवर्षके बाहरके देशोंमें भी अपना बल फैलाया था। श्रीरामचन्द्रजीने लंका जीतके विरोधी रावण राजाका नाश करके भारतवर्षीय जनता को और त्रिविष्टपके ३३ कोटि देवर्षियोंको रावणके भयसे मुक्त किया था। इससे त्रिविष्टप भारतवर्ष और पातालतकके भूभागपर सूर्यवंशी राजाओंका प्रभाव सबके लिये आदरणीय हुआ था, इस कारण इस समयतक भी रामराज्य की प्रसिद्धि है।

राजा भगीरथके प्रयत्नसे गंगा नदीका भारतवर्षमें आना और उत्तर भारतवर्षको उससे एक और उपजाऊ बनानेका कार्य सुप्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तो प्रसिद्ध है। मनुने सबसे प्रथम जनताको धर्मशास्त्र दिया था। इसलिये धर्मशास्त्रके इतिहासमें पहिला धर्मप्रवर्तक होनेका सन्मान इसीको प्राप्त हुआ है। इक्ष्वाकुके प्रभावके कारण उसके नामसे ही एक राजवंश प्रसिद्ध हुआ है। सूर्यवंशके कई राजाओंकी देवराज इन्द्रको भी सहायता हुई है और इन्द्रपदके विषयमें स्पर्धा भी हुई है। इत्यादि कारणोंसे सूर्यवंशीय राजाओंका प्रताप सर्वतोपरि माना जाता था।

इसीलिये अर्जुनको समझानेके समय श्रीकृष्णभगवान्‌ने यहां सूर्यवंशके तीनों नाम लिये हैं और पूर्व अध्याय (३।२०) में जनक नामक सूर्यवंशी राजाका नाम भी अर्जुनको आदर्श बतानेके लिये सैमानके साथ लिया है। सोमवंशी दो वीर आपसमें वार्तालाप करते समय अथवा एक दूसरेको तत्त्वज्ञान समझानेके समय सोमवंशियोंके नाम न लेते हुए सूर्यवंशियोंके नाम लेते हैं इससे हमारी पूर्वजों की प्राचीनता और विशेष वीरता स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होती है। विष्णुगीता (अ० १) में भी जहां प्रत्येक अनिका

उल्लेख करके उस जातिके मुख्य मुख्य विभूतिका नाम लिया है वहां वृष्णियोंमें वासुदेव पाण्डवोंमें धनंजय ये दो नाम चन्द्रवंशियोंके कहे हैं। वृष्णि जातिमें वासुदेव और पांच पाण्डवोंमें धनंजय मैं हूं ऐसा कहकर सूर्यवंशी वीर रामचन्द्रका जिस समय उल्लेख किया है, वहां-

रामः शस्त्रभृतामहम्। (भ. गी. १०।३१)

संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें श्रीरामचन्द्र जैसे श्रेष्ठ हैं, वैसा मैं हूं ऐसा कहा है। सूर्यवंशियोंमें राम मैं हूं ऐसा नहीं कहा, परन्तु जगत्में जितने भी शस्त्र धारण करनेवाले वीर हैं, उन सबमें दाशरथी राम सबसे श्रेष्ठ है, वह मैं हूं ऐसा कहा। अर्थात् इससे सूर्यवंशी वीरोंकी सार्वभौमिक श्रेष्ठता सिद्ध होती है। श्रीरामचन्द्र तो सूर्यवंशी राजाओंमें श्रेष्ठ हैं ही परन्तु साथ साथ इस भूमंडलके संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि द्वीपान्तरीय भयंकर शत्रुका पराभव उन्होंने किया और देवराज्य और मानवराज्यको पुनः पूर्ण स्वातंत्र्य प्रदान किया।

यहां और एक दृष्टिसे भी सूर्यवंशी और सोमवंशियोंकी तुलना हो सकती है। सोमवंशी कौरव-पाण्डव भाई भाई होते हुए भी आपसमें लडकर अपने देशकेही १८ अक्षौहिणी वीर सैनिकोंका नाश करनेके लिये कारण हुए! यादव तो आपसमें लडमरकर नष्टही हुए!! अर्थात् इनकी आपसकी दुरवस्था यहांतक पहुंच चुकी थी कि इनमें बुद्धि और शीलता रहते हुए भी ये आपसकी संघटना करके आगे जीता न बन सके। यदि युधिष्ठिरका धर्मविज्ञान भीम दुर्योधनका बल भीष्म-द्रोणका युद्ध-कौशल अर्जुन-कर्णका शरसंधान और श्रीकृष्णजीकी युक्ति इनकी आपसमें संघटना हो जाती तो ये कौरव पाण्डव और यादव मिलकर निःसंदेह सब भूमंडलपर दिग्विजय कर लेते! भगवान् श्रीकृष्णजीका कौरव-सभामें जाकर आपसमें समझौता करनेका यत्न इसी लिये था परन्तु कौरवोंकी मन स्थिति यहांतक गिर चुकी थी कि वह संघटना बन नहीं सकी। अब श्रीरामचन्द्रजीके समयकी स्थिति देखिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण नगरसे बाहर किये गये थे। वे शक्ति रहनेपर भी अपने भाइयोंसे न लडे न पितासे लडे। केवल शान्तिसे वनमें गये और वहांके वानर जातियोंकी संघटना करके वानरोंके सैन्यद्वारा और अपने आत्मबलका मेल करके भारतवर्ष और त्रिविष्टपको सताविनयोंसे पारतंत्र्यमें रखनेवाले विदेशी लंकाद्वीपस्थ स्वार्थी और भोगी राक्षस-सम्राट् दशमुख रावणका पूर्ण पराभव करके आर्योंका स्वराज्य पुनः स्थापित कर सके और देवजातिको भी रावणके बंदिवाससे मुक्त कर सके!!! यहां तुलना यह करनी है कि सोमवंशी लोग आपसमें लड कर नष्ट होते हैं और सूर्यवंशी आपसमें लडनेका अवसर आनेपर भी न लडते हुए विविध जातियोंका मेल करके अपने संघटित प्रयत्नोंसे अपने देशका और लोगोंका यश बढाते हैं और अपना पूर्ण स्वतंत्र स्वराज्यशासन अपनी मातृभूमिमें स्थापित करते हैं। इस कारण श्रीरामचन्द्रजी-को आदर्श विभूति मानना सर्वथा योग्यही है। प्रायः सभी सूर्यवंशी राजाओंका ऐसाही प्रताप है। इसलिये भगवद्गीता में इनकोही आदर्श करके अर्जुनके सामने रखा है।

अस्तु। प्राचीन इतिहास कहते हुए जो सूर्यवंशियोंका उल्लेख भगवद्गीतामें आगया है उससे यह अनुमान उस समयके इतिहासके विषयमें होना संभव है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें।

पूर्वजोंका अनुभव

यहां कई कहेंगे कि पूर्वजोंके नाम लेनेसे क्या होता है? क्या कभी यह माना जा सकता है कि पहिली बात पूर्वजोंने मानी थी अथवा की थी इसी कारण वह अच्छी और निर्दोष है? यह शंका स्वाभाविक है और यह कोई निःसंदिग्ध नियम नहीं है कि प्राचीन कालसे मानी गई बातें सबकी सब अच्छीही होती हैं। तथापि जो विचार या ज्ञान बहुत समयसे प्रचलित रहता है और जो आचार दीर्घ कालतक बडे पुरुषोंके आचरणमें रहता है वह सुसंमत रहनेके कारण सहजहीमें तिरस्करणीय नहीं हो सकता। इतनाही नहीं प्रत्युत वह बहुत काल से जनताके लिये उपयोगी कामदायक और सुखकारक होनेमें भी कोई शंका नहीं हो सकती। इसी दृष्टिसे पूर्वेतिहासके अध्ययनका महत्त्व है। विवस्वान्, मनु इक्ष्वाकु और अन्य इनका नाम निर्देश करके अर्जुनके मनपर यह विश्वास स्थिर करनेका यहां यत्न किया गया है कि ये प्रतापी वीर भी इसी कर्मयोगसे श्रेष्ठ पदवीको प्राप्त हुए थे। और इसी कारण यदि अर्जुन यह ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार चलेगा तो वह भी उनके समान संमाननीय होगा। सोमवंशीय वीरोंके

नाम यहां न देनेका कारण यह भी एक हो सकता है कि वे अपनेही हैं। अपने वंशीयोंके उदाहरणोंकी अपेक्षा इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले यदि दूसर देशवासियोंमें दूसरे वंशोंमें अथवा दूसरी जातियोंमें मिले तो इस तत्त्वज्ञानका महत्त्व सार्वभौमिक रीतिसे स्वयं सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टिसे भी सूर्यवंशियोंके उदाहरणका महत्त्व अधिक है। यदि यह तत्त्वज्ञान विशेष उपयोगी न होता तो विवस्वान्, मनु इक्ष्वाकु जनक जैसे प्रतापी और यशस्वी राजा लोग इसका स्वीकार क्यों करते? जिस कारण इन्होंने इस ज्ञान को माना इसके अनुसार वे चले और कृतकार्य बने, इसीसे इस ज्ञानकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इसी कारण आजके वीरोंको भी इसका स्वीकार करना योग्य है।

विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु, जनक आदि राजाओंकी परंपरा से यह ज्ञान चला आया है। स्वयं भगवानने विवस्वान्‌को और उसने अन्य राजाओंको कहा। इस कथनसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिये कि यह कर्मयोगके ज्ञानकी परंपरा इतनीही है। महाभारतमें इस परंपराका विशेष वर्णन है वह यहां देखिये—

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम्॥
फेनपा ऋषयश्चैव त धर्मं प्रतिपेदिरे
वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं त प्रतिपेदिरे॥
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः॥
यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद्धर्मः परिश्रुतः॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्॥
ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप।
वालखिल्यानृषीन्सर्वान्धर्ममेतमपाठयत्।

(म. भा. शां. ३४८।११-१८)

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन हि॥
पितामहाय दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ।
ततो ज्येष्ठाय दौहित्रं प्रादाद्दक्षो नृपोत्तम॥
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वान् जगृहे ततः।
त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ॥
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
नारदेन तु संप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप॥

(म. भा. शां. ३४८।४८-५३)

इस स्थानपर कहा है कि ब्रह्मदेवके सात जन्म हुए और उनमेंसे प्रत्येक जन्ममें नारायणसे यह धर्म ब्रह्माजीको प्राप्त हुआ। पहिली बार नारायणसे ब्रह्माको ब्रह्मासे फेनप ऋषियोंको उनसे वैखानस ऋषियोंको और उनसे राजा सोमको प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् शिथिलता उत्पन्न होकर इस धर्म का लोप हुआ।

जब ब्रह्मदेवका द्वितीय जन्म चाक्षुष नामसे हुआ, तब चाक्षुषने सोमसे इस धर्मको प्राप्त किया उसने रुद्रको और रुद्रने वालखिल्य ऋषियोंको पढाया। तत्पश्चात् कालान्तरसे पुनः इसका लोप हुआ। इस प्रकार यहां, (म. भा. शां. अ. ३४८ में) ब्रह्माजीके छः जन्मोंका वृत्तान्त दिया है।

पश्चात् पद्मजरूपसे ब्रह्माका सातवां जन्म हुआ और नारायणने यह धर्म उसको पढाया। ब्रह्माने दक्षको और दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र पुत्रको सिखाया। उससे यह विवस्वान् को उससे मनुको और उससे इक्ष्वाकुको प्राप्त हुआ।

नारद मुनिने भी यही धर्म रहस्य और संग्रहके साथ स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था। इस तरह देखनेसे पता चलता है कि यह परंपरा वैखानस और वालखिल्य आदि ऋषियोंतक पहुंचती है। यहां भगवद्गीतामें दो तीन नाम लेकर संक्षेपसे कहा है परन्तु इस धर्मकी परंपरा इस प्रकार अति प्राचीन है। इस परंपराकी कालमर्यादा निश्चित करना इस समय अति कठिन कार्य है।

" इस तरह यह योग इस प्राचीन परंपरासे प्राप्त है। ऐसा जो यहां कहा है वह इतनी प्राचीन परंपरा बतानेके उद्देश्यसे ही है। तथा (इमं राजर्षयो विदुः) यह योग राजर्षियोंमें जाना था। इससे कई लोग यह अनुमान किया करते हैं कि इस ज्ञानका पता ब्राह्मणोंको न था। यह विद्या केवल क्षत्रियोंके पासही थी। परन्तु महाभारतोक्त नारायणीयोपाख्यानसे ऊपर लिखे उपरि लिखित श्लोकोंके संवादसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विद्या जैसी मनु इक्ष्वाकु आदि क्षत्रियोंको प्राप्त थी उसी प्रकार उससे पूर्व यह विद्या नारद वालखिल्य वैखानस आदि ब्राह्मण ऋषियोंको भी ज्ञात थी। किंवा यह विद्या प्रारंभमें ब्राह्मण

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(२) पुनर्जन्म

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ६

अन्वयः—अर्जुन उवाच–भवतः जन्म अपरं विवस्वतः जन्म परं (अतः) त्वं आदौ एतत् प्रोक्तवान् इति (अहं) कथं विजानीयाम् ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् उवाच—हे *परंतप अर्जुन ! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि, तानि सर्वाणि अहं वेद त्वं न* वेत्थ ॥ ५ ॥ (अहं) अजः अव्ययात्मा अपि सन् भूतानां ईश्वरः अपि सन् स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय आत्ममायया संभवामि ॥ ६ ॥

अर्जुनने पूछा—हे भगवन् ! आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वान्‌का पुराने समयमें हुआ था इसलिये आदि कालमें यह ज्ञान उससे कहा था यह मैं कैसे मान लूं ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं इन सबको मैं जानता हूं, परन्तु तू नहीं जानता ॥ ५ ॥ मैं अजन्मा अविनाशी आत्मा तथा सब भूतमात्रका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको स्वाधीन रखकर, अपनी शक्तिसेही जन्म लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—गुरु और शिष्यका समय एकही होना चाहिये । गुरु इस समयमें है और उसका शिष्य प्राचीन समयमें हो चुका हो, यह कैसे माना जा सकता है ? ॥ ४ ॥

आत्मा अजन्मा और अव्यय है तथापि उसको अनेक जन्म प्राप्त होते हैं । जो ज्ञानरहित होते हैं, वे इस पुनर्जन्मके विषयको नहीं जान सकते । परन्तु जो तत्त्वज्ञानी हैं वे जन्मजन्मान्तरका विषय प्रत्यक्षवत् जानते हैं । जो जीव बद्ध हैं वे तो स्वकर्मवश होते हुए जन्म लेकर सुखदुःखादि भोग भोगते हैं परन्तु जो अपने ईश्वर-भावका अनुभव करनेवाले और शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाववाले हैं वे भी विशेष धर्मकार्य करनेके उद्देश्यसे दिव्य जन्म लेतेही हैं ॥ ५ ६ ॥

को प्राप्त होनेके कारण ब्रह्मऋषिके पास थी और उससे इन ऋषियोंने प्राप्त की । श्रीमद्भगवद्गीता और नारायणीय धर्म संप्रदायका बड़ा घनिष्ठ संबंध है और सिद्धान्तोंके विषयमें भी दोनोंकी तुलनासे अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस प्रकार यह धर्म प्राचीन परंपरासे चला आया है यह बात वीर अर्जुनने ज्ञात की और जब उसने यह सुना कि इस धर्मका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णनेही विवस्वान्‌से कहा था तब उसके मनमें एक शंका उठी कि भगवान श्रीकृष्णजी तो मेरे सम्मुख हैं । वेही हजारों वर्षोंके पूर्व विवस्वान्‌को धर्मोपदेश कैसे कर सकते हैं ? इनको जन्म धारण करके कुछ सौ वर्ष भी नहीं हुए ! अतः वे विवस्वान्‌को उपदेश कैसे दे सकते हैं ? यह अर्जुनकी शंका उसीके शब्दोंमें प्रकट करते हैं (४) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके सम्मुख उपस्थित थे । उनकी आयु भी अर्जुनके समानही थी । अर्थात् कृष्ण और अर्जुन समानवयस्क थे । विवस्वान् तो इस कल्पके प्रारंभमें हुए थे । अब इस समयके श्रीकृष्णके द्वारा कल्पके आदिमें जन्मे हुए विवस्वान्‌को धर्मज्ञानका बोध हुआ होगा यह बात किस प्रकार संभवनीय हो सकती है ? अर्जुनकी शंका स्थूल शरीरकी दृष्टिसे नितान्त सत्य है परन्तु भगवान् श्रीकृष्णजीका कथन कारण शरीरकी दृष्टिसे था । यह बात अर्जुनके ध्यानमें नहीं आयी अतः उसने प्रश्न की है । स्थूल दृष्टिवाले अर्जुनको अब भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं । यह पुनर्जन्मका महत्त्वपूर्ण विषय अब देखिये —

पूर्व जन्मका स्मरण

(५–६) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि " हे अर्जुन ! इस समयतक मेरे और तेरे अनन्त जन्म हो चुके

है, परंतु तेरी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण है इसलिये तुझे उन जन्मोंका स्मरण नहीं है और मेरे पास वह अज्ञान न होनेसे मैं उन सब जन्मोंको यथावत् किंवा प्रत्यक्षवत् जानता हूं। अतः मुझे स्मरण है कि मैंने यह योग-विद्याका ज्ञान कल्पके प्रारंभमें विवस्वान्‌को दिया था। उस समय विवस्वान्‌ने क्या किया और मैंने भी क्या किया यह सब मैं इस समय प्रत्यक्षवत् जानता हूं। परन्तु हे अर्जुन! तुझे तो इस देहके द्वारा किये हुए सब कर्मोंका भी स्मरण नहीं है, फिर पूर्व जन्मोंका स्मरण कहांसे हो सकता है ?"

अर्जुन कोई सामान्य मनुष्य नहीं था, वह (परं-तपः) बड़ा तप करनेवाला (गुडाकेश) निद्राका स्वामी और परम भक्त था, अर्थात् वह असाधारण योग्यताका मनुष्य था। तथापि पूर्व जन्मोंका ज्ञान होनेयोग्य निर्मल बुद्धि उसको प्राप्त नहीं हुई थी। बुद्धिमें मल रहनेके कारण उसकी बुद्धि स्थूल थी और स्थूलताके कारणही वह स्थूल शरीरसे परे देखनेमें असमर्थ था।

मनुष्यके तीन शरीर

मनुष्यके स्थूल सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन शरीर ये मुख्य हैं। स्थूल शरीर जन्मसे मृत्युतक रहता है सूक्ष्म शरीर वासना-क्षय होकर मोक्ष निवृत्ति होनेतक रहता है और कारण-शरीर कल्पपर्यंत रहता है। अब जो लोग स्थूल शरीरके ऊपर अपना अधिष्ठान रखकर कार्य कर सकते हैं वे तो केवल स्थूल शरीरको ही जानते हैं अतः इनको स्थूल दृष्टिवाले लोग कहा जाता है। सामान्यतः सब लोग ऐसेही हुआ करते हैं। इसके ऊपरके श्रेणीके जो लोग होते हैं वे जैसा स्थूल शरीरपर वैसाही सूक्ष्म शरीरपर अपना अधिष्ठान रखते हैं और दोनों शरीरोंपर जागृतवत् कार्य करते हैं। इससे भी ऊंचे दर्जेपर जाकर कार्य करनेवाले विरले लोग ऐसे होते हैं कि जो कारण-शरीरके अधिष्ठानपर जागृतवत् कार्य करते हैं। उनको पूर्व और उत्तर कल्पका ज्ञान यथावत् रहता है। और वे लोग कल्पके प्रारंभकी भी बात आज प्रत्यक्षवत् देखते हैं और कल्पके अन्त-समयकी भी बात उनको वैसीही प्रत्यक्षसी हो जाती है। भूत तथा भविष्य उनके लिये वर्तमान जैसे होते हैं। वे सदा आत्मस्वरूप जागृत रहते हैं। उनके स्थूल शरीर आते हैं और जाते हैं तथापि आकाशमें मेघ आने और जानेपरभी जैसा आकाश एकसा निर्मल रहता है वैसेही वे एकरूप और निर्मल रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इस उच्च श्रेणीके अर्थात् इसी उत्तम थे अतः उनको विवस्वान्‌के समय क्या हुआ था, इसका यथावत् ज्ञान था और उनको अपने अनेक जन्म होनेपर भी उत्तम स्मरण था।

अर्जुनकी दृष्टि स्थूल थी अतः वह स्थूल शरीरसे परे देखनेमें असमर्थ था। अतः उसको शंका हुई कि मेरे सम्मुख उपस्थित हुए श्रीकृष्ण कल्पके आदिमें विवस्वान्‌को कैसे उपदेश करते रहे ? वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा अजन्मा अविनाशी अनन्त और अव्यय होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णजीका आत्मा जैसा अर्जुनके समय था, वैसाही विवस्वान्‌के समयमें भी था न उस कालमें कुछ उसको बदल हुआ और न व्यय हुआ। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् जो उपदेशका कार्य इस समय कर रहे हैं, वही कार्य विवस्वान्‌के समय कर रहे होंगे; अपने कम व्यापकी पूर्ण साधनेपर वह कार्य उस समय उनसे होना स्वाभाविक है। परन्तु स्थूल-दृष्टि अर्जुनको यह ज्ञान कैसे हो सकता था ! यह ज्ञान तो आत्म भावमें सदा जागृत रहनेवाले श्रीकृष्णकोही हो सकता है। शाश्वत अव्यय और अविनाशी आत्मस्वरूपमें अपना अस्तित्व प्रत्यक्ष जाननेसे उसको भूत-भविष्य ज्ञान वर्तमान जैसा हो सकता है क्योंकि अविनाशी अक्षर आत्माके लिये सदा वर्तमान काल किंवा काल रहित अवस्था ही रहती है। परन्तु जो विनाशी शरीरकोही देखते रहते हैं, उनको उत्पत्ति स्थिति और विनाशका अनुभव होता है। अतः वे उत्पत्ति और विनाशसे मोहित होते हैं और अक्षय तत्त्वको देख नहीं सकते। श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुनकी दृष्टिमें यह भेद था इसलिये दोनोंके अनुभव भिन्न हैं।

यहां सुबोधताके लिये एक उदाहरण देते हैं। एक मनुष्य है उसकी आयुके प्रारंभके ८ वर्ष बालपनमें आगे १४ वर्ष गुरुकुलके विद्याभ्यासमें इसके पश्चात्‌के १ वर्ष गृहस्थाश्रममें और शेष आयु संन्यासाश्रममें व्यतीत हुई। आयुके इन चार खण्डोंमें रहता हुआ वह मनुष्य बालपनके किये कर्मोंको भी यह मैंने किया ऐसा कहता है और गृहस्थाश्रममें या संन्यासाश्रममें किये कर्मोंको भी यह मैंने किया ऐसाही कहता है। इन चारों अवस्थाओंमें जैसा वह एकही भावसे रहता है उसी प्रकार शरीरान्तरकी अवस्था भी

इसमें संमिलित की जावे तो दूसरे शरीरके द्वारा किये कर्म भी "मैंने ही किये" ऐसा वह कह सकता है। परन्तु उसको यह तब मालूम होगा कि जब वह अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करने लगेगा। अर्थात् जो इस प्रकार अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता हो वही पुनर्जन्मका स्मरण रख सकता है।

पुनर्जन्मके प्रकार

पुनर्जन्मके कई प्रकार हैं। पहिले आत्मा प्राणके साथ मिलकर मेघ मंडलका आश्रय करता है और वृष्टिके साथ वृक्ष-वनस्पतियोंपर सिंचित होता है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है। इसका यह पहिला जन्म है।

यह जब वृक्ष वनस्पतियां पीती हैं जिससे यह वृक्ष-वनस्पतियोंमें रहने लगता है। यह इसका दूसरा जन्म है। इस समय यह 'अन्नात्मा' कहलाता है।

वृक्ष-वनस्पतियोंका जब स्त्री-पुरुष खाते हैं, उससे उनके शरीरमें रज और वीर्य बनता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इस समय इसको 'वीर्यात्मा' कहते हैं।

इस वीर्यसे स्त्रीके शरीरमें गर्भाधान किया जाता है। यहां गर्भाशयमें यह रहता है। यह इसका चौथा जन्म है। इस समय इसको 'गर्भात्मा' किंवा 'मातरि-श्वा' (माताके उदरमें रहनेवाला) कहा जाता है।

गर्भ स्थितिके अंतर दशम मासमें माताके उदरसे यह बाहर आता है यह उसका पांचवां जन्म है। इसको 'पुरुषात्मा' कहते हैं। इस तरह पांचवे जन्ममें जीवनपूर्ण एक मनुष्य-रूपमें परिणत होता है। (पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। छां. उ. ५।९।१)

इसके अंतर उपनयन संस्कारसे द्विज बालकोंका नया जन्म होता है। यह छठा जन्म है। इसको 'ज्ञानात्मा' कहते हैं।

आगे ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम करकर विविध कर्म करता है इस समय इसको 'कर्मात्मा' कहते हैं। यहां कर्मके कारण सातवां जन्म होता है। विशेष प्रशस्ततम कर्म करके यह अग्रहुत्य बनता है। सब कर्म करके इष्ट-पूर्ती भी प्राप्त कर लेता है। नर करणी (कर्म) करनेसे नरका नारायण बनता है। यह इसका 'कर्मजन्म' है।

कदाचित् संन्यासाश्रम लेनेपर सब कर्मोंका संन्यास करता हुआ यह 'चिदात्मा' बनता है। यह इसका आठवां जन्म है। यहां इसको आनंदात्मस्वरूपका अनुभव होता है। इस समय यह (चिदानन्दरूपः शिवः केवलोऽहम्) मैं आनंद-घन हूं ऐसा अनुभव करता है।

इस तरह मनुष्यका आत्मा कई जन्म लेता है। इनमें पिताके देहसे माताके देहमें और माताके देहसे जगत्में जन्म होना मुख्य पुनर्जन्म है। यहां एक पक्ष ऐसा भी मत प्रतिपादन करता है कि पिता ही पुत्ररूपसे पुनर्जन्म पाता है अर्थात् पिता पुत्र या पुत्री रूपसे नया जन्म लेता है। तात्पर्य जितने पुत्र या पुत्रियां होंगी उतने पुनर्जन्म पिताने लिये ऐसा समझना चाहिये।

> आत्मा वै पुत्र नामासि॥　　(कौषी. उ. २।११)
> स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैति अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति।　　(बृ. उ. १।५।१७)

'स्वयं ही पुत्ररूप होता है। जो ज्ञानी बनकर यहांसे चला जाता है यह अपने प्राणोंसे पुत्रमें प्रविष्ट होता है' इत्यादि अनेक रीतिसे पिताका पुत्रमें पुनर्जन्म होनेका वर्णन शास्त्रोंमें है।

इसके अतिरिक्त एक और भी 'कर्म-जन्म' नामसे पुनर्जन्म हुआ करता है। जैसा राजा प्रधान सेनापति आचार्य आदिके कर्म सब देशोंमें चलते ही हैं। जब वे मरते हैं या स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं, तब दूसरे मनुष्य वहां स्थानापन्न होते हैं। एक राजा दूर होनेपर दूसरा आता है प्रधानके स्थानपर दूसरा नियुक्त होता है सेनापति जानेपर दूसरा किया जाता है और आचार्यके स्थानपर दूसरा अधिष्ठित होता है। पहिलेका पुनर्जन्म दूसरेमें होता है। यह 'कर्मजन्म' है। जिस राष्ट्रमें इस प्रकार कर्मसे पुनर्जन्म होते रहते हैं वह राष्ट्र सजीव रहता है और जिस राष्ट्रमें मृत मनुष्यका कर्मसे पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसका स्थान रिक्त रहता है वह राष्ट्र निर्जीव समझना चाहिये। अपने देशमें कार्यकर्ता नेता-लोगोंके स्थान रिक्त रहते हैं या मर जाते हैं यह देखनेसे हम जानते क्या लगेगा कि हमारा देश कैसा है।

इस प्रकार कई तरहके पुनर्जन्म हैं। यहां संक्षेपसे इनका निर्देश इसलिये किया है कि पाठकोंको अनेक प्रकारके

पुनर्जन्मोंकी ठीक कल्पना हो और वे इनका विचार कर सकें। परन्तु गीतामें जिस पुनर्जन्मका उल्लेख है वह एक शरीर छूटनेपर उस आत्माको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है उस पुनर्जन्मका है और भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है कि मेरे और तेरे कई जन्म बारबार हुए हैं। इनको मैं जानता हूँ परन्तु तू नहीं जानता।

इस जन्मके भी दो भेद हैं। एक स्वेच्छासे किंवा स्वतंत्रतासे और दूसरा नियमके बंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे। श्रीकृष्ण भगवान्‌के जो अनेक जन्म हुए वे उनकी स्वतंत्र इच्छासे हुए हैं और जो अर्जुनके जन्म हुए हैं वे नियम बंधनसे अर्थात् परतंत्रतासे हुए हैं। इस विषयमें क्रमशः श्लोक देखिये—

मुक्तका पुनर्जन्म

अजः अव्ययात्मा भूतानां ईश्वरः सन् अपि
मां स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय आत्ममायया
संभवामि ॥ (भ. गी. ४।६)

"अजन्मा अव्यय अर्थात् अविनाशी आत्मा मैं हूँ और सब भूतोंका ईश्वर भी मैं हूँ। इतना होनेपर भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर मैं आत्मशक्तिसे स्वयं जन्म लेता हूँ।" इसमें परमात्मस्वरूपी श्रीकृष्ण किस प्रकार जन्म लेते हैं इसका वर्णन है। इसमें निम्नलिखित विधान हैं–

(१) (अ-जः) आत्मा अजन्मा जन्मरहित है तथा (अज=प्रेरकः) सबका प्रेरक चालक किंवा मुख्य नेता है।

(२) (अ-व्ययः) आत्माका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह अविनाशी है।

(३) (आत्मा अतति इति) आत्मा सतत गति या प्रयत्न करनेवाला किंवा सर्वत्र व्यापक है।

(४) (भूतानां ईश्वरः) सब भूतमात्रके ईशोंमें मुख्य ईश सब जगत्‌का मुख्य स्वामी सबका एकमात्र चालक और पालक।

(५) (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर अपनी प्रकृतिका स्वामी बनकर अपनी प्रकृतिको चलानेवाला होकर अपनी प्रकृतिका निरीक्षण करके।

(६) (आत्म-मायया संभवामि) अपनी शक्तिसे जन्म लेता हूँ किंवा शक्तिसे सम्यक्‌तया प्रकट होता हूँ अपनी शक्तिसे प्रकट होता हूँ।

श्रीकृष्ण भगवान्‌के अवतार या जन्म लेनेके विषयमें इन श्लोकोंमें ये छः बातें कहीं हैं उनका मनन सबको अवश्य करना चाहिये। इससे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ईशका जन्म कैसा होता है और बद्धका जन्म कैसा होता है इस महत्त्वपूर्ण बातका निर्णय होता है। अतः पाठक इस ओर विशेष ध्यान दें।

यहां श्रीकृष्ण भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव-युक्त हैं और अर्जुन बद्ध स्थितिमें है। दोनोंके (बहूनि जन्मानि व्यतीतानि) अनेक जन्म हुए हैं, ऐसा पांचवें श्लोकमें कहा है। इसलिये यह बात स्पष्ट हो गई कि मुक्त भी जन्म लेता है और बद्ध भी जन्म लेता है। अतः इस बातका विचार करना चाहिये कि इन दोनोंके जन्म लेनेमें कौनसा भेद है? पूर्वोक्त स्थानपर मुक्तके जन्म लेनेके विषयमें छः बातें कही हैं उनका सार यह है—

(मुक्त आत्मा अनुभवसे यथावत् जानता है कि) अपना आत्मा जन्मरहित नाशरहित सबका चालक सर्व व्यापक और सबका मुख्य स्वामी है। (वस्तुतः उसको जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि विशेष कार्य करनेके लिए वह) अपनी प्रकृतिको अपने अधीनमें रखकर अपनी शक्तिसे ही स्वयं जन्म लेता है। (भ. गी. ४।६)

इस तरह भगवान् श्रीकृष्णके अनेक जन्म होते हैं। जन्म लेनेका वास्तविक कोई कारण न होते हुए भी वे क्यों जन्म लेते हैं? इसका हेतु (भ. गी. ४।७-८ में) आगे कहा जायगा। यहां जिस तरह जन्म लिया जाता है इसी ही बातका कथन किया है। अब इसके विपरीत बद्ध मनुष्यका पुनर्जन्म कैसा होता है वह देखिये। पूर्वोक्त मुक्त स्थितिके सर्वथा विरुद्ध उसकी अवस्था है। देखिये–

बद्धका पुनर्जन्म

(बद्ध मनुष्य अपने आपको शरीरसे परिमित समझनेके कारण सचमुच मानता है कि) मैं शरीर हूँ और मैं जन्म लेता हूँ (बढ़ता हूँ क्षय होता हूँ और) मरता भी हूँ। मेरा चालक दूसरा है। मैं एकदेशी और छोटा हूँ मेरे अधिकारमें कुछ भी नहीं है प्रकृतिस्वभावके अनुसार मुझे कार्य होंगे मैं सर्वथा असमर्थ हूँ और ईश्वरकी शक्तिसे मुझे

अपने कर्मानुसार पुनः पुनः जन्म प्राप्त होगा । " इस प्रकार बद्ध दूसरेकी शक्तिसे घुमाया जाता है और मुक्त अपनी शक्तिसे सब कुछ कर सकता है ।

इसके लिये एक उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है कि एक नगरमें एक कारागृह है उसमें राज्य-प्रबंधसे कुछ बंदिवान् रखे हैं । एक दिन उस कारागृहका निरीक्षण करनेके लिये राजा स्वयं अपने मंत्रियोंके साथ कारागृहमें गया । जब तक राजा वहां रहा, तबतक उसी कारागृहमें जैसा राजा और उसके मंत्री होंगे उसी प्रकार कैदी भी होंगे। वस्तुतः इस समय राजा भी जेलखानेमें है और कैदी भी है । परन्तु राजा स्वतंत्र है और कैदी परतंत्र हैं। यही भेद मुक्तके शरीरधारण करनेमें और बद्धके जन्म लेनेमें है । दोनों इस जगत्में जन्म लेकर कार्य करते हैं परन्तु एक (स्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता है और दूसरा प्रकृतिका दास । भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकृतिके स्वामी और अर्जुन प्रकृतिका दास था । अर्जुनकी योग्यता अन्य मनुष्योंसे कई गुना अधिक थी क्योंकि उसके सौभाग्य से भगवान्के कार्यमें प्रमुख भाग लेकर ईशकार्य करनेका अवसर उसे प्राप्त हुआ था । इसलिये अर्जुनका जन्म सार्थक हुआ । जो भगवत्कार्यसे दूर रहते हैं, उनकी दुरवस्थाका विचार ही न करना अच्छा है ।

इस प्रकार बद्ध और मुक्तके जन्म किस तरह होते हैं इस बातका विचार हुआ । अब इस विषयमें वेदमें क्या लिखा है सो अब देखिये

अजका पुनर्जन्म

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्त स्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

(वा० य ३१।१९)

(प्रजापतिः) सब प्रजाओंका पालक (गर्भे अन्तः चरति) गर्भके अंदर विचरता है । वह (अ-जायमानः) कभी न जन्मनेवाला है तथापि (बहुधा वि जायते) अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है । (धीराः तस्य योनिं परि पश्यन्ति) धीर लोग उसके मूल स्थानको देखते हैं। (तस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसीमें ये सब भुवन रहे हैं । "

इसी तरह अगला वेदमंत्र भी देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्य माणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

(वा य ३२।४)

' यही देव सब दिशा-उपदिशाओंमें है । वह (पूर्वः जातः) पहिले हुआ था और फिर (सः गर्भे अन्तः) वही गर्भमें आगया है । वही पहिले हुआ और भविष्य में होनेवाला है । हे लोगो ! वही सर्वत्र मुख करके अवस्थित होनेवाला (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थमें है । '

तथा और देखिये—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते० ॥

(ऋ ६।४७।१८ बृ उ २।५।१९)

प्रत्येक रूपके लिये वह (प्रतिरूपः) आदर्श बना है । यह इसका रूप (प्रतिचक्षणाय) देखनेयोग्य है । यह (इन्द्रः) प्रभु अपनी (मायाभिः) शक्तियोंसे प्रत्येक रूपका नमूना बना है ।

इन मंत्रोंका और गीताके श्लोकका बहुत साम्य है देखिये—

गीता श्लोक	वेद मंत्र
अजोऽपि सन्	अजायमानः
भूतानामीश्वरोऽपि सन्	प्रजापतिः एषः इन्द्रः
संभवामि (संभवति)	बहुधा वि जायते
	चरति गर्भे अन्तः
बहूनि मे व्यतीतानि	जातः जनिष्यमाणः
जन्मानि	(पुनः) गर्भे अन्तः
संभवाम्यात्ममायया	इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।

इस तरह वेदके मंत्रोंमें जो विषय है वही भगवद्गीतामें इन दो श्लोकोंमें संगृहीत किया है । अस्तु । इस प्रकार बद्ध और मुक्त इन दोनोंके पुनर्जन्म किस तरह होते हैं इसका यहां तक वर्णन हुआ । अब भगवान् कहते हैं कि उनके जन्म किस कारण हुआ करते हैं । यह बोधप्रद और चिर स्मरणीय विषय अब देखिये—

(३) भगवान्के जन्मका उद्देश्य

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अन्वयः- हे भारत ! यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य (च) अभ्युत्थानं भवति तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥७॥ साधूनां परित्राणाय दुष्कृतां विनाशाय धर्मसंस्थापनार्थाय च अहं युगेयुगे संभवामि ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न ! जब जब धर्ममें शिथिलता और अधर्मकी प्रबलता होती है तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं अर्थात् मैं जन्म लेता हूं ॥ ७ ॥ साधुओंकी रक्षा दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युगयुगमें जन्म लेता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ— जब धर्म दबाया जाकर अधर्म फैलता है तब सज्जनोंकी रक्षा दुर्जनोंका नाश और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता है ॥ ७-८ ॥

(७-८) इन दो श्लोकोंमें मुक्त पुरुष भगवान् शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला आत्मा अथवा ईश्वर किस उद्देश्यसे जन्म लेता है इसका वर्णन किया है । इन दोनों श्लोकोंमें अवतारके पांच उद्देश्य कहे हैं—

अवतारके पांच उद्देश्य

(१) जब (धर्मस्य ग्लानिः भवति) धर्मकी ग्लानि होती है धर्म दब जाता है, धार्मिक लोगोंके ऊपर अधार्मिक लोग अत्याचार करते हैं धार्मिक सज्जनोंका कथन कोई सुनता नहीं और अत्याचारी लोगोंके अधीनही सब राज्यतंत्र रहते हैं अत्याचारी लोग बिना रोकटोक अत्याचार करते हैं तब धर्मके सहाय्यार्थ भगवान् अवतार धारण करते हैं ।

(२) (अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति) मनुष्यों-की प्रवृत्ति अधर्मकी ओर होती है अधर्म करनेसे अधिक सुख प्राप्त होनेकी संभावना जनताको प्रतीत होती है उस समय धर्मका उत्कर्ष करनेके हेतुसे भगवान् अवतार लेते हैं

(३) जिस समय सज्जनोंको उनके सत्य धर्माचरणके कारण कष्ट दिये जाते हैं सम्मान्य पुरुषोंको अरण्यवास कारा-गृहवास वधदण्ड अथवा अन्य प्रकारके दण्ड दिये जाते हैं धर्मका दण्ड भूमिपर गिरता है और उसका त्राता पृथ्वीपर कोई नहीं रहता उस समय (साधूनां परित्राणाय) सज्जनोंकी रक्षाके लिये भगवान्‌का अवतार होता है ।

(४) दुष्कर्म करनेवालोंकी जिस समय बढती होती है सब अधिकार और वैभव दुष्कर्मियोंके अधीन होते हैं, दुष्ट कर्म करनेवालोंकीही जिस समय मानमान्यता बढती है, उस समय (विनाशाय दुष्कृतां) दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये और उनका नाश करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है ।

(५) (धर्म संस्थापनार्थाय) धर्मकी संस्थापना अर्थात् मानव-धर्मकी सुव्यवस्था करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है ।

ये पांच हेतु हैं जिनके लिये भगवान्‌का अवतार होता है । सारांशसे (१) धर्मकी ग्लानिके समय (२) अधर्मके प्राबल्यके समय (३) साधुओंके संरक्षणके अर्थ (४) दुष्टोंका दमन और (५) धर्मव्यवस्था करनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है ।

इसके मननसे पाठक जान सकते हैं कि किस समय और किस कारण भगवान्‌का अवतार होता है । जिस समय धार्मिकोंको कष्ट होगा अधार्मिकोंके अत्याचार होंगे धार्मिक साधुओंको कष्ट पहुंचेंगे और दुष्टोंका नाश करनेके बिना धर्मकी व्यवस्था नहीं होगी जब ऐसा समय उपस्थित होगा, तब उत्तम-पुरुषका अवतार अवश्य होगा ।

देवोंका अंशावतार

वास्तवमें प्रत्येक प्राणीमें किंवा हरएक मनुष्यमें आत्मा का और अग्नि वायु इन्द्र चन्द्र आदि सब देवोंका अंशावतार होताही है । आंखमें सूर्य नासिकाके प्राणमें वायु मुखमें अग्नि रेतमें जल, अस्थियोंमें पृथ्वी नाभिमें मृत्यु आदि अनेक स्थानोंमें अनेक देवोंका अंशावतार होता है और जीवात्माके रूपमें परमात्माका अंश आकर मनुष्यके

हृदयस्थानमें विराजता है । इस दृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य अवतारही है—

> अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥
> (ऐ उ २।४)

यह विषय प्रायः बहुत उपनिषदोंमें वर्णित हुआ है। अतः उसका यहां पुनः अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य अवतार है और यह वैसा मनुष्योंमें उसी प्रकार राक्षसोंमें भी होता है तथापि यहां जो अवतार शब्द आया है वह विशेष महत्त्वके सामर्थ्ययुक्त पुण्य पुरुषके जन्म लेनेके लियेही समझना चाहिये।

जनताका उद्धार

महात्मा सत्पुरुष मुक्तात्मा पुण्यात्मा वे तो अपने तपसे नरके नारायण-स्वरूप बने होते हैं। वे भी जनताकी निकृष्ट अवस्था देखकर उनका उद्धार करनेके लिये स्वयं अपनी इच्छा अथवा परमेश्वरकी आज्ञा प्राप्त करके इस भूमण्डलपर आते हैं। किंवा इस भूमंडलपरकी जनता जब अत्यंत दुःखी होती है और किसी प्रकार भी अपने उद्धारका मार्ग नहीं देखती तब जोरसे दुष्टोंका उत्पात देखकर हताश होती है उस समय अशरण होकर परम पुरुषकी प्रार्थना करती है कि 'हे प्रभो ! हम सब तेरी शरणमें आगए हैं। अब तू ही हमारी रक्षा कर। हमें दूसरा मार्ग नहीं दीखता है।' जब सब जन ऐसे प्रभुकी कृपा चाहते हैं और हृदयसे उसकी प्रार्थना करते हैं तब वह दीनदयालु प्रभु भक्तोंकी प्रार्थना निःसंदेह सुनते हैं और अंशावतारसे अवतीर्ण होते हैं, किंवा अपनी प्रेरणासे किसी महात्मा मुक्तात्माको प्रेरित करते हैं। इस तरह इन श्रेष्ठात्माओंके जन्म लेनेको "अवतार" कहते हैं। वे इस भूमण्डलपर आते हैं और दुष्टोंको दण्ड देकर सज्जनोंकी रक्षा करते हैं और धर्मव्यवस्था करके अपना अवतारकृत्य समाप्त करते हैं।

अनुभवकी बात

प्रत्येक देश, जाति, राष्ट्र और जन-समाजमें अत्यन्त अवनतिके समय अत्यन्त तेजस्वी पुरुष आते हैं और विशेष कार्य अद्भुत सुकरताके साथ करते हैं। यह बात हरएक देशके इतिहासमें देखी जाती है। जो बात साधारण मनुष्यकी कल्पनामें भी नहीं आती वह काम ये लोकोत्तर पुरुष करके दिखा देते हैं और लोगोंपर ऐसा प्रभाव जमा देते हैं कि ये अपने प्रभावसे विरोधियोंको भी अनुकूल बना देते हैं तथा साधारणतः न बननेवाले कठिनसे कठिन कार्य सहजहीमें करके दिखा देते हैं ॥ पाठक प्रत्येक जातिके इतिहासमें ऐसे पुरुषोंके कार्य देख सकते हैं। ये पुरुष महात्मा मुक्तात्मा, श्रेष्ठात्मा, दिव्यात्मा अथवा परमात्मा किंवा पुरुषोत्तम होते हैं। जो लोग तपसे और अपने सदाचारसे मुक्त हुए होते हैं उनका नाम महात्मा मुक्तात्मा श्रेष्ठात्मा और दिव्यात्मा होता है। और परमात्मा पुरुषोत्तम और नारायण उसका नाम है कि जो इस जगत्का कर्ता, धर्ता और संहर्ता प्रभु है। भगवद्गीताके कथनानुसार श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमका अवतार है और उनके सहचारी श्रेष्ठात्मा-गण हैं। यह बात आगे अनेक स्थानोंपर स्पष्ट रीतिसे कही है। अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। तथापि सुबोधताके लिये यहां थोडेसे वचन उद्धृत किये जाते हैं-

(१) उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥
(भ गी १५)

(२) भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(भ गी ५।२९)

(३) अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
(भ गी ७)

(४) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः
(गी ९)

इत्यादि प्रकारके अनेक श्लोक भगवद्गीतामें हैं जिनमें

(४) दिव्य जन्म और कर्म

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! यः मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति सः देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म न एति, (किंतु सः) मां एति ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधाः मन्मयाः मां उपाश्रिताः ज्ञानतपसा पूताः बहवः मद्भावं आगताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह देह छोड़नेके बाद अर्थात् मरनेके बाद पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता, परंतु वह मुझे प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ राग भय और क्रोधसे रहित मुझमें तल्लीन मुझे ही शरण माननेवाले और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने हुए बहुतसे लोग मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— भगवान्‌के जन्म भी दिव्य होते हैं और उनके कर्म भी दिव्य होते हैं । उनके रहस्यको जो यथावत् जानता है वह पुनर्जन्मके बंधनमें कदापि नहीं फंसता परन्तु वह निःसंदेह भगवत्स्वरूपको प्राप्त करता है । जो लोग राग भय और क्रोधसे दूर रहते हैं जो भगवद्भक्तिमें तल्लीन हुए हैं, जो प्रभुकी शरणमें जाते हैं और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने होते हैं, वे परमात्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परमात्मरूप बनते हैं ॥ ९-१० ॥

कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण परमात्मा हैं । देखिये इनका भावार्थ इस प्रकार है- " (१) परमात्मा उत्तम पुरुष है और मैं ही लोक और वेदमें पुरुषोत्तम कहलाता हूं । (२) यज्ञोंका भोक्ता महेश्वर सबका मित्र मैं ही हूं । (३) मैं सब जगत्‌की उत्पत्ति स्थिति और लय करता हूं । सूत्रमें मणि रहनेके समान मुझमें यह सब पिरो रहा है । (४) मुझ अव्यक्त आत्माके द्वारा यह सब जगत् फैलाया गया है यह सब मुझमें ही है । इस तरहके वर्णन भगवद्गीतामें अनेक बार आये हैं । इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त निश्चयसे यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वरके पूर्ण अवतार हैं और उन्होंने पूर्वोक्त पांच कर्म करनेके लिये जन्म लिया है । प्रजापति गर्भमें आता है । वह पहिले हुआ था इस समय गर्भमें है और भविष्यमें भी होगा । इस प्रकारका आशय व्यक्त करनेवाले वेदमंत्र एवं श्लोक (भ. गी. ४।५-६) के व्याख्यानके अवसरपर दिये हैं । इनकी भगवद्गीताके वचनके साथ संगति लगानेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार भगवान्‌का जन्म होना संभवनीय है ।

अस्तु । इस ढंगसे यहां बताया कि पुरुषोत्तमका दिव्य जन्म किस तरह होता है मुक्तात्माओंका जन्म क्यों होता है और अन्य बद्ध जीवोंका जन्म किस प्रकार होता है । पाठक इन सब प्रकारके जन्मोंका विचार करें और जानें कि जगत्‌में ये तीन प्रकारके जन्म हैं । इनमें पुरुषोत्तमके दिव्य जन्म और उसके कर्मका ही मनन करना चाहिये । क्योंकि इसीसे मननसे मनुष्यका उत्कर्ष होता है । देखिये इसी विषयमें आगेके श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णजी स्वयं वर्णन करते हैं—

दिव्य जन्म और कर्म

(९-१०) (जन्म कर्म च मे दिव्यं) भगवान्‌के ही जन्म और कर्म दिव्य होते हैं, परन्तु अर्जुनके जन्म और कर्म दिव्य नहीं हैं । यह बात यहां देखनेयोग्य है । यहां स्मरण रखना चाहिये कि अन्योंके जन्मके समान भगवान्‌का जन्म नहीं होता है । वह कुछ आदितीय अद्भुत और दिव्य किंवा स्वर्गीय होता है । एक दिव्य जन्म है और दूसरा पार्थिव जन्म है । पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन स्थान हैं । पृथ्वीरूप अर्थात् स्थूल रूप होनेवाला जन्म पार्थिव जन्म कहलाता है अन्तरिक्षरूपमें अर्थात् वायव्य प्राणादिके रूपमें होनेवाला जन्म अन्तरिक्ष-जन्म होता है और द्युलोकके रूपमें अर्थात् स्वर्गीय रूपमें होनेवाला जन्म दिव्य जन्म कहा जाता है । ब्रह्माण्डके तीनों स्थान पिण्डकी व्यक्तिमें इस तरह होते हैं—

(ब्रह्माण्ड)			(पिण्ड)
पृथ्वी	भूः	स्थूल	शरीर
अन्तरिक्ष	भुवः	सूक्ष्म	अन्तःकरण
द्यौः	स्वः	कारण	बुद्धि

पार्थिव जन्मका अर्थ है स्थूल शरीरका जन्म। यह जन्म संपूर्ण प्राणिमात्रको प्राप्त है। सबका जन्म उनके स्थूल शरीरके साथही होता है। यह जन्म अत्यंत साधारण अथवा निकृष्ट है।

इसके ऊपरकी श्रेणीवालोंका जन्म अंतःकरणमें अथवा मनमें होता है। द्विजोंका ऐसा जन्म होता है। इस समय इसकी माता सावित्री और पिता आचार्य होता है। यह आचार्यजीकी आज्ञासे विद्यामातामें, अन्तरिक्षके शरीर स्थानीय मतिनिधिभूत अन्तःकरणके स्थानमें होता है। यह आधिभौतिक जन्म है। इस जन्मसे उस मनुष्यमें बड़ा परिवर्तन होता है। इसके स्थूल शरीरका जन्म किसी भी कुलमें हुआ हो परन्तु आचार्यद्वारा विद्यासंस्कारोंसे इसका जो दूसरा जन्म इसकी मनोभूमिकामें होता है वह इसकी विशेष योग्यता बनाता है। इस विषयमें मनुस्मृतिका वचन है—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा।
(मनुस्मृति २।१४७।१४८-

मातापिता जो आपसमें मिलकर इस पुत्रकी उत्पत्ति करते हैं और जो मातासे उत्पन्न होती है वह उसकी जाति नाममात्र है। पर वेदके पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्रीसे इसे यथाविधि जन्म देता है, वह जाति सत्य अजर और अमर है।

इस प्रकारके सावित्र जन्मके कारण व्याम वसिष्ठ अगस्त्य विश्वामित्र आदि ऋषि साधारण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी महर्षि-पदको प्राप्त हुए। यह जन्म आचार्यकी कृपा सावित्रीकी भक्ति और अपना योगाभ्यास इनके बलसे प्राप्त होता है। यहां स्थूल शरीरके जन्मकी बहुत प्रधानता नहीं है। यह द्विजत्व मनोभूमिकामें किया जाने वाला संस्कार है। इससे मनकी शक्तिमें विलक्षण परिवर्तन होता है।

दिव्य जन्मका ज्ञान

इससे भी ऊंचा जो जन्म होता है वह दिव्य जन्म कहलाता है। यह तो आत्मा बुद्धिके सहमें दैवी स्फुरणसे हुआ करता है। किसी अद्भुत कारणसे या भगवत्कृपासे अथवा भगवदिच्छासे किसीकी बुद्धिके क्षेत्रमें दिव्य प्रेरणा दिव्य इच्छा दिव्य प्रभाव या दिव्य स्फुरण होता है और उस मनुष्यमें इतना परिवर्तन होता है कि उसको देखकर अन्य मनुष्य चकितही होते हैं !! इसका नाम दिव्य जन्म है। इससे मनुष्यका जीवन बुद्धिकी वृत्ति और आत्माका तेज विलक्षण अद्भुत और असामान्य हो जाता है। प्रारंभिक जीवनमें व्यभिचारी रहा मनुष्य भी आगे उत्तम ब्रह्मचारी होता है। पीछेकी अवस्थामें निःशक्त रहा मनुष्य आगे प्रचंड सामर्थ्यके कर्म करता है। यह सब परमात्माकी दिव्य ज्योतिका प्रकाश उसकी आत्मामें होनेसे होता है। किसी मनुष्यमें यह परमात्माकी ज्योतिका आविर्भाव गर्भमें या बालपनमें होता है और किसीमें आयेकी आयुमें होता है। परमात्मा इसी प्रकार स्फुरणसे दिव्य जन्म लेते हैं। परमात्मरूप बने हुए महात्मा भी इसी प्रकार शरीर धारण करते हैं। इनको माताके गर्भमें नौ महिने पड़े रहनेकी आवश्यकता नहीं होती। जिनका केवल पार्थिव जन्म होता है उनको माताके गर्भमें शरीरके साथ नौ मास पड़ना पड़ता है।

यहां तीन जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले तीन शरीरोंका उल्लेख हुआ है। ये तीन शरीर यद्यपि एक दूसरेके अन्दर होते हैं तथापि यह कोई नियम नहीं है कि इनमेंसे एक बलवान् होनेपर दूसरा अवश्यही बलवान् होगा। जिसका स्थूल शरीर बलिष्ठ होगा, उसके अन्दरके दो शरीर बलवान् होंगे इस विषयमें कोई नियम नहीं है। "बलिष्ठ शरीरमें बलिष्ठ मन" इस अर्थकी एक कहावत है परन्तु यह सत्य नहीं है। कई योगी और ऋषि पार्थिव शरीरसे अत्यंत दुर्बल थे, परन्तु उनका आन्तरिक शरीर अर्थात् मनोदेह अथवा बौद्धिक देह बड़े शक्तिशाली था। दिव्य जन्म तो बौद्धिक और आत्मिक देहके साथ संबंध रखता है। जिसके अन्दर दिव्य जन्मसे यह दिव्य देह होता है वह अपने बौद्धिक और आत्मिक सामर्थ्यमें विलक्षण विशेष समर्थ होता है। उसका अन्य देह उसकी आवश्यकतानुसारही रहते हैं। प्रायः महात्मा

स्थूल देह बड़ा प्रबल रहता है परन्तु उसके आन्तरिक दृढ़ बलहीन होते हैं।

यद्यपि शारीरिक जन्मके साथ दिव्य जन्मसे प्राप्त दिव्य देहका कोई संबंध नहीं तथापि जिसको दिव्य देह प्राप्त होता है उसके स्थूल और सूक्ष्म देह निःसन्देह शुद्ध और पवित्र होते हैं।

इन जन्मोंको दूसरे नाम भी हैं। दिव्य जन्म को अयोनि-संभव और पार्थिव जन्म को योनि संभव कहा जाता है। अर्थात् भगवान् इस प्रकारके स्फुरणसे या आकाशसे (अर्थात् नीचे उतरकर) आते हैं। अवतारके माने नीचे उतरना और (अव-तारण) सबको तारण करना भी है। भगवान् अपनी शक्तिसे योग्य भूमिका में सज्जनोंका तारण करनेके लिये उतरते हैं। जिस तरह कोई मनुष्य दूसरे मंजिलसे पहिले मंजिलपर उतरता है उसी प्रकार अपनी शक्तिसे प्रभु योग्य मनुष्यमें उतरते हैं किंवा अपना स्फुरण उसके अन्दर करते हैं।

यहां कई शंका करेंगे कि " सर्वव्यापक परमात्मा इस छोटेसे देहमें किस तरह समा जाते हैं ? " यह शंका व्यर्थ है क्योंकि सर्वव्यापक परमात्माकी जितनी संपूर्ण शक्ति है, उतनीही उसके एक छोटेसे अल्पभागरूप अंशमें किंवा स्फुरणमें है। संपूर्ण परमेश्वर जैसा पूर्ण है वैसाही उसका एक अंश भी पूर्ण है और अंशमें शक्तिकी न्यूनाधिकता नहीं है। (पूर्णमदः पूर्णमिदं) यह भी पूर्ण है और वह भी पूर्ण है क्योंकि (पूर्णात् पूर्णं उदच्यते) उस पूर्णसे इस पूर्णकी उत्पत्ति हुई है। इस वर्णनके मननसे उक्त शंका नहीं रह सकती। भगवान्‌का अंश हो क्योंकि उतरना हो सबका भाव एकही है और सबका तात्पर्य भी एक ही है। जैसा लोहेमें या काष्ठमें अग्निका अवतार हुआ तो वह लोहा या काष्ठ अग्निरूप बनता है अग्निके सब कार्य करता है और प्रत्यक्ष अग्निही हो जाता है अग्निमें और उसमें कोई भेद नहीं रहता और वहां यह प्रश्न भी नहीं उठता कि इसमें सब अग्नि आगयी है या थोडीसी आगयी है ? क्योंकि थोडी और सब ऐसा यहां कोई भेद ही नहीं है। लोहा या काष्ठ अग्निरूप बनते ही वह प्रत्यक्ष अग्निही हो जाता है। बस इसी तरह जब विभूतिमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति का प्रकाश हुआ या अवतार हुआ तो वह भगवद्रूपही होता है। यही दिव्य जन्म है। सर्वत्र धर्मकी स्थापना, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका नाश करनेके लिये जब धर्मकी ग्लानि होनेपर और अधर्मकी बढती जब सर्वत्र होती है, उस समय यही भगवान्‌का दिव्य जन्म इस प्रकार होता है।

यह एक प्रकारसे परम शक्तिका आविर्भाव है। यह किस तरह होगा, इस विषयमें कोई नियम नहीं कहा जा सकता। यह जैसा गर्भमें होगा, वैसा ही बालकमें होगा और वैसा ही बडे मनुष्यमें भी हो सकता है। जहां होनेसे योग्य कार्य बनेगा वहां वह स्फुरण होगा। (यः दिव्यं जन्म तत्त्वतः एवं वेत्ति) जो यह भगवान्‌का दिव्य जन्म तत्त्वतः इस प्रकार जानता है, वह (मां एति) मेरा स्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् वह भगवान् बन जाता है। इतना महत्त्व भगवान्‌के दिव्य जन्मका ज्ञान प्राप्त करनेका है।

जो मनुष्य इस तरह भगवान्‌के दिव्य जन्मका यह तत्त्व जानता है वह निश्चयसे मानता है कि जो मनुष्य अपने आपको भगवान्‌के अवतार होनेयोग्य पवित्र और शुद्ध बनावेगा उसकी निःसन्देह उन्नति होगी। इस प्रकारके विश्वाससे वह जिस नियमसे अपनी पवित्रता करता है और इससे वह उन्नत होता जाता है। पवित्रतासे वह परमेश्वरके समीप पहुंचता है और एक समय ऐसा आता है कि वह परमेश्वरकी कृपाके लिये पात्र बनता है फिर उद्धार होनेमें देरी क्यों लगेगी ?

ऐसा मनुष्य (देहं त्यक्त्वा) मरनेके पश्चात् (पुनर्जन्म न एति) जन्ममरणके चक्रमें नहीं पडता परन्तु वह (मां उपैति एति) परमेश्वरको प्राप्त करता है। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट नहीं होती। जिस प्रकार लोहा अग्नि को प्राप्त होनेसे अग्नि बनता है, उसी प्रकार यह मनुष्य जब परमेश्वरको प्राप्त करता है तब परमात्मरूप किंवा परमेश्वरही बन जाता है।

दिव्य कर्मका ज्ञान

इसी प्रकार (यः मे दिव्यं कर्म एवं तत्त्वतः वेत्ति) जो मेरे दिव्य कर्मोंको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह भी परमेश्वरको प्राप्त करता है। जो फल भगवान्‌के " दिव्य जन्म " जाननेवालेको प्राप्त होता है वही फल उनके

"दिव्य कर्म" जाननेवालेको भी मिलता है । दिव्य जन्मका विचार इससे पूर्व स्थानमें किया, अब दिव्य कर्मका विचार करना चाहिये ।

उक्त प्रकार प्रभु अपने स्वरूपसे दिव्य जन्म लेनेके पश्चात् जो कर्म करते हैं, उनकाही नाम दिव्य कर्म है । अब यारी पुरुषके जो कर्म होते हैं वे दिव्य कर्मही हैं । उन कर्मोंके अन्दर जो तत्त्व रहते हैं, वह जाननेसे मनुष्य उन्नत होता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है । अवतार लेकर भगवानने कैसे कर्म किये किस प्रकार दुष्टोंका नाश किया, किस तरह सज्जनोंका पालन किया किस रीतिसे धर्मकी स्थापना की, उस समय धर्मग्लानि कैसी हुई थी और उस ग्लानिको किस तरह दूर किया इसका विचार करनेसे मनुष्यको दिव्य कर्मका ज्ञान होता है और इससे उसको यह भी ज्ञान होता है कि स्वयं किस प्रकार कर्म करने चाहिये । इस ढंगसे मनन करनेवाला मनुष्य स्वयं उसी प्रकारके दिव्य कर्म करनेका प्रयत्न करता हुआ उन्नत होता जाता है और अन्तमें परम पदको प्राप्त करता है ।

"दिव्य कर्म" का अर्थ "दैवी गुणोंसे युक्त कर्म" है । भगवद्गीताके १६ वे अध्यायके प्रारंभमें दैवी गुणोंका वर्णन इस प्रकार है- "अभय अन्तःशुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा दान इंद्रियदमन यज्ञ स्वाध्याय तप सरलता अहिंसा, सत्य अक्रोध त्याग शान्ति, निंदा न करना भूतदया अलोलुपता मृदुता मर्यादापालन, अचंचलता तेजस्विता क्षमा धैर्य, पवित्रता अद्रोह, निरभिमान ये दैवी गुण हैं । जिन कर्मोंमें ये गुण दीखते हैं अथवा इन गुणोंसे जो कर्म होते हैं उनको "दिव्य कर्म" कहा जाता है । श्रेष्ठ पुरुषोंके व्यवहारोंमें और उनके कर्मोंमें इन गुणोंका साक्षात्कार हो सकता है । इसलिये जो मनुष्य अवतारी पुरुषोंके अथवा श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके व्यवहारोंमें मननके द्वारा इन दिव्य गुणोंका दर्शन करते हैं उनको ये कर्म दिव्य हैं और ये कर्म दिव्य नहीं हैं इस बातका निश्चित ज्ञान हो जाता है और इस प्रकारका निश्चय होनेही वह मनुष्य स्वयं यत्न करके दिव्य कर्म करता है और सतत दिव्य कर्म करता हुआ क्रमशः उन्नत होता है । पाठक यहां स्मरण रखें कि प्रयत्न करनेपर भी प्रारंभमें वैसे दिव्य कर्म होंगे ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु मनमें वह महत्त्वाकांक्षा रही और उसके लिये योग्य दिशासे प्रयत्न होने लगे तो क्रमशः उन्नतिकेही पथपर उनका आक्रमण होने लगता है । यही क्रम-उन्नतिकी रीति है । दिव्य विभूतिके दिव्य कर्मोंका मनन करनेसे इस तरह उन्नति होती है और अन्तमें पूर्वोक्त रीतिसे वह परम पदको प्राप्त करता है । इसीलिये यहां कहा है कि "जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मको इस प्रकार तत्त्वतः जानता है उसको पुनर्जन्मके दुःख नहीं भोगने पडते और वह सीधा परमेश्वरको प्राप्त करता है । (भ. गी. ४।९)

जन्म-मरण छूटना

यहां इसको 'पुनर्जन्म नहीं होता है' ऐसा कहा है यह विचारणीय बात है । क्योंकि इसी अध्यायके प्रारंभके श्लोक ५ में कहा है कि "जैसे भगवानके अनेक जन्म हुए हैं वैसे ही अर्जुनके भी हुए हैं । " यदि भगवान्को भी अनेक जन्म लेने पडते हैं तो भगवत्स्वरूपको प्राप्त हुए मुक्तात्माको जन्म-मरण किस प्रकार छूट सकते हैं ? इस शंकाका विचार अब करना चाहिये-

इससे पूर्व भगवान् "दिव्य जन्म" कैसे लेते हैं इसका वर्णन किया है । वे स्वेच्छा, अपनी लीला और अपनी निज शक्तिसे किसी सुयोग्य विग्रहमें उतरते हैं । वहां किसी प्रकारका बन्धन उनके लिये नहीं होता । इसी प्रकार जो परमात्म-स्वरूपको प्राप्त हुए मुक्त पुरुष हैं वे भी ऐसे ही स्वकीय इच्छासे और लोकानुग्रह करनेकी बुद्धिसे स्वयं किसी सुयोग्य शरीरका धारण करते हैं । उनके लिये भी किसी प्रकारकी परतंत्रता नहीं होती । वे विग्रह धारण करें या न करें इस विषयमें वे पूर्णतया स्वतंत्र हैं । किसी दूसरेके नियमसे बद्ध होकर वे नहीं आते । वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव होनेके कारण इनमें परम दया-भाव स्वभावसे रहता है । जैसा परमेश्वर स्वभावसे परम कारुणिक है वैसे ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुए मुक्त जीव भी वैसेही स्वभावसे परम कारुणिक होते हैं । इस कारण जब वे भूमंडलकी जनता अत्यंत दुःखमें पडी देखते हैं उसके दुःखसे हृदय भेदक नाद सुनते हैं और उसकी असहाय स्थिति देखते हैं तब स्वाभाविक और अकृत्रिम करुणासे कारण स्वयं अपने सुख-स्वरूपसे नीचे उतरते हैं विग्रह धारण करते हैं और जनताके मार्गदर्शक होते हैं । इनका यह दिव्य जन्म इनकी

स्वतन्त्रतासे होता है और सामान्य जनताका पार्थिव भौतिक पुनर्जन्म परमेश्वरीय नियमकी परतन्त्रताके कारण होता है। इसमें नियमानुसार इनको पुनर्जन्म लेनाही पड़ता है। ये पुनर्जन्म लेनेकी इच्छा करें या न करें परवश होते हुए ये पुनर्जन्ममें खींचे जाते हैं। ऐसी परवशता परमात्मस्वरूप बने हुए मुक्तात्माओंकी नहीं होती पुनर्जन्म धारण करनेके लिये इनको कोई बाधित नहीं कर सकता। परन्तु लोकानुग्रह करनेके स्वभावसे ये स्वयं किसी योग्य शरीरमें उतरते हुए स्वयं 'दिव्य जन्म' धारण करते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये कैदी जेलखानेके नियमानुसार परतन्त्रतासे कारागृहमें खींचे जाते हैं और कोई प्रतिष्ठित नागरिक स्वेच्छासे कारागार देखनेके लिये अथवा कैदियोंको धर्मतत्त्वका उपदेश करनेके लिये स्वेच्छासे और स्वतन्त्रतासे जाता है। इसी तरह सामान्य बद्ध जीवोंका पुनर्जन्म और मुक्तात्माका दिव्य जन्म और कर्म जाननेसे पूर्वोक्त शङ्का दूर हो सकती है। यह विषय भगवद्गीतामें बारबार आनेवाला है, इसलिये इसका पाठक अच्छी प्रकार मनन करें।

परमेश्वर-प्राप्ति

(स मां याति) वह मुझे प्राप्त होता है अर्थात् परम पदको प्राप्त करता है ऐसा यहां कहा है। यहां परमेश्वर प्राप्तिका अर्थ क्या है इसका थोड़ासा विचार करना चाहिये। इस प्रकारके परमेश्वरप्राप्तिके सूचक वाक्य भगवद्गीतामें अनेक बार आगये हैं, देखिये—

(१) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ (गी ४।१०)
स योगी मयि वर्तते ॥ (गी ६।३१)
मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (गी ७।२३)
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ (गी ९।२५)
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ (गी ८।१५)
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (गी ९।२८)
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (गी ११।५५)
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (गी १८।६६)

(२) ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गी २।७२)
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥ (गी ४।३१)
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (गी ५।६)
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ (गी ५।२०)
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ (गी ६।२७)
ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ (गी १३।३०)
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (गी १४।२६)

(३) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् । (गी २।५१)
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (गी ३।१९)
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (गी ५।२८)
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ (गी ६।४५)
स याति परमां गतिम् ॥ (गी ८।१३)
ततो याति परां गतिम् ॥ (गी १३।२८ १६।२२)
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ (गी १५।२०)

इस तरहके अनेकानेक वाक्य भगवद्गीतामें हैं। ये ही वाक्य अन्तिम सिद्धिका स्वरूप बतलानेवाले हैं। इस अन्तिम सिद्धिका विचार हम आगे योग्य समय करेंगे। यहां केवल इतनाही बताना है कि

१ मुझे प्राप्त करता है, मेरे धामको प्राप्त होता है, मेरा स्वरूप प्राप्त करता है।

२ ब्रह्मको प्राप्त होता है ब्रह्ममें स्थिर होता है ब्रह्मरूप बनता है ब्रह्मके समान महान् होता है।

३ तीसरा स्थान प्राप्त करता है उत्तम स्थान प्राप्त करता है मुक्त होता है श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, कृतकृत्य होता है।

इन सब वाक्योंका आशय और तात्पर्य एकही है कि वह परमात्मस्वरूपको प्राप्त होता है। इसके विषयमें वेदमें कहा है-

तदपश्यत् तदभवत्, तदासीत् ॥

(वा य ३२।१२)

वह उसने देखा वही बन गया क्योंकि वही था।

इसमें कहा है कि इस उपासकने (तद्) उस परमात्माका दर्शन किया तब वह उपासक (तत् अभवत्) परमात्मा बन गया क्योंकि तत्त्वरूपसे यह उपासक (तत्) वही (आसीत्) था। तथा—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ (वा य ३२।११)

(ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सत्यके प्रथम प्रवर्तककी उपासना करनेसे (आत्मना आत्मानं) अपनी आत्मासे परमात्मामें (अभि सं विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है।

इस तरहके मन्त्रभागोंमें परमात्मसाक्षात्कारके पश्चात् वह आत्मरूप बननेका विधान है। तथा उपनिषद्में भी कहा है-

शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्म नात्मानं य एवं वेद ॥ (माण्डूक्य० १२)

ओंकार आत्मा कल्याणमय और अद्वैतरूप है। यह जो जानता है उसकी आत्मा परमात्मामें प्रविष्ट होती है। तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति
नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥ स यो ह वै
तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवि
त्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

(मुण्डक ३।२)

"जैसी बहनेवाली नदियां अपने नामों और रूपोंका त्याग करके समुद्रमें विलीन होती हैं उस तरह ज्ञानी मनुष्य नाम और रूपसे मुक्त होकर दिव्य परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है॥ जो इस परब्रह्मको जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है। इसके कुलमें कोई अज्ञानी मनुष्य उत्पन्न नहीं होता। वह शोक और पापसे दूर होता हुआ अविद्याग्रंथीसे मुक्त होकर अमर होता है" -

इन सब वचनोंका आशय यही है कि जो (मां एति) मेरे पास आता है" और (मद्भावं आगच्छति) मेरे भावको प्राप्त होता है वह जीव शिव बनता है। नरका नारायण किंवा पुरुषका पुरुषोत्तम बनता है। परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जाननेवाला उपासक नरका नारायण होता है। इसकी क्रम उन्नति कैसी होती है इसका विचार आगेके श्लोक (४।१) में किया है। यह विचार गीताके उपदेशका आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वका होनेसे अब उसका विचार करते हैं-

उन्नतिकी चार अवस्थाएं

इस श्लोकमें उन्नतिकी चार अवस्थाएं कथन की हैं। परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म कैसे होते हैं और जन्म सामान्य मनुष्योंके जन्म और कर्म कैसे होते हैं, इसका मनन करनेवाला मनुष्य इन चार अवस्थाओंमेंसे गुजरता है-

(१) मन्मयः = ईश्वरके दिव्य जन्म और कर्मोंमें मन लीन करता है सर्वत्र ईश्वरका रूप देखता है, सब ईश्वरमय है ऐसा अनुभव करता है।

(२) मां उपाश्रितः = ईश्वरका पूर्णतया आश्रित होता है सब काल और स्थानमें अपने आपको ईश्वरकी शरणमें रखता है।

(३) वीतरागभयक्रोधः = (राग) आसक्ति भय और क्रोधसे रहित होता है।

(४) ज्ञानतपसा पूतः = ज्ञान और तपसे पवित्र होता है और-

(५) मद्भावं आगतः = मेरे अर्थात् परमेश्वरके भावको अर्थात् ईश्वरस्वरूपको प्राप्त होता है।

यहां अब मनुष्य इन चार अवस्थाओंसे कैसा गुजरता है इसका विचार करना चाहिये। भगवद्गीतामें जो तत्त्व कहे हैं वे आचरणमें लाने चाहिये केवल उन्हें रटनेसे कार्य नहीं होता। अतः आचारमें लानेकी दृष्टिसे इन चार अवस्थाओंका मनन करना चाहिये। पहिली अवस्था भगवन्मय होनेकी है-

(१) भगवन्मय (मन्मयः)

भगवान्‌के महात्माओंके अवतारी पुरुषोंके अथवा विभूतियोंके जीवन-चरित्रमें तल्लीन होनेकी अवस्था यह होती

(५) कर्मकी सिद्धि

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वय — ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथा एव अहं भजामि । हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥११॥ कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः (मनुष्याः) इह देवताः यजन्ते हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति ॥ १२ ॥

जो मनुष्य जिस तरह मेरा आश्रय लेते हैं उन्हें मैं वैसाही फल देता हूं। हे अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकारसे मेरेही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस लोकमें देवताओंकी पूजा करते हैं क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मकी सिद्धि अति शीघ्र प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

भावार्थ — जो जिस भावसे परमेश्वरका आश्रय लेता है उसको वैसाही फल ईश्वरीय नियमसे प्राप्त होता है। जो बीज बोया जाता है वही प्राप्त होता है। सब मनुष्य परमेश्वरके मार्गका ही अनुसरण करते हैं। इस मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिये फलकी इच्छा धारण करनेवाले मनुष्य अनेक देवताओंकी आराधना करते हैं और उनसे अभीष्ट सिद्धि करते हैं । ११-१२ ॥

एक समय करके अपने आपकी परीक्षा करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है इसका निश्चय हो सकता है । सदा परलोक पाठकोंको यह श्लोक बडा सहायक होगा । प्रयत्नशील मनुष्य शुभ कर्म करते रहते हैं और अवश्यही सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस विषयमें किसीके मनमें संदेह हो तो वह आगेके दो श्लोक देखे—

(११-१२) कर्म करनेपर उसका फल मनुष्यको प्राप्त होता है या नहीं इस विषयमें कई मनुष्य शंका करते हैं। इस आशंकाको दूर करनेके लिये कर्मकी सिद्धि निःसन्देह प्राप्त होती है ऐसा भगवान् कहते हैं।

कर्मका अटल नियम

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते) जो मनुष्य जैसे मुझे प्राप्त होते हैं, जो मनुष्य जिस इच्छासे मेरा आश्रय करते हैं जो मनुष्य जिस मनोभावनासे मेरे पास आते हैं, जो मनुष्य जिस प्रयोजनसे मुझे भजते हैं (तान् तथैव अहं भजामि) उनको वैसा ही फल देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूं । अर्थात् जो फलभोगेच्छासे सकाम कर्मद्वारा मेरी उपासना करते हैं उनका अभीष्ट फल भोग देता हूं । जो निष्काम कर्म-योगद्वारा मुझे भजते हैं, उनको मैं ज्ञान देकर उन्नत करता हूं । जो मुमुक्षु हैं उनको मुक्ति देता हूं । जो केवल दुःख दूर करनेके इच्छुक हैं, उनका दुःख दूर करता हूं । इस प्रकार जिस आकांक्षासे लोग मेरे पास आते हैं, मैं उनकी वह आकांक्षा पूर्ण करता हूं ।

ईश्वरमें राग-द्वेष नहीं है अतः वह किसीको प्रीतिसे पास या द्वेषसे दूर नहीं करता । जो जैसा कर्म करता है वह वैसाही कर्मके नियमानुसार फल पाता है । कर्मका नियम अटल है ।

अर्थका अनर्थ

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

इस श्लोकका अर्थ कई लोग ऐसा करते हैं कि " जो मेरेसे जैसा बर्ताव करता है, वैसा मैं उससे करता हूं ।" ऐसा अन्वयार्थ करके उसका तात्पर्य ऐसा मानते हैं कि दुष्टके साथ दुष्ट बनना, शत्रुके साथ शत्रु बनना, शठं प्रति शाठ्यं करना, क्रोधीके साथ क्रोधका व्यवहार करना । इत्यादि आचरण करना धर्म है और यही भगवदुपदेश है । परन्तु यह अर्थका अनर्थ है ।

शठके साथ शठता करना दुष्टके साथ दुष्ट बनना यह तत्त्व एक बार स्वीकृत किया तो इसका परिणाम आगे ऐसा भयंकर होता है कि उसका वर्णन करना कठिन है । किसीने एक बार मारा तो उसको बार बार मारना । किसीने एक बार व्यभिचार किया तो उसके बदलेमें बार बार करना इस प्रकार दुष्ट व्यवहारका प्रवाह चलता रहा तो दुराचारको कोई सीमा नहीं रहती और अन्तमें मनुष्य पशुत्वसे भी गिरता है ।

इस श्लोकका इस तरहका कुत्सितार्थ बहुत लोग करते हैं परन्तु यह अर्थ इस श्लोकमें नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है कि 'मनुष्य जिस भावसे ईश्वरकी उपासना करते हैं वैसा फल उनको मिलता है।' इस उत्तम धर्मनियमका इतना अनर्थ करना किसीको भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्मका नियम भी 'शठं प्रति शाठ्यं' नहीं है। 'शठं प्रति सत्यं' यही धर्मका नियम है। देखिये–

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥
(म. भा. उ. ३९।७३)

अक्रोधसे क्रोधको, साधुतासे दुष्टको, दानसे कृपणको और सत्यसे असत्यको जीतना चाहिये। यही धर्म है। अतः भगवद्गीताके इस श्लोकका 'शठके प्रति शठता करना' ऐसा अर्थ समझना धर्मका अनर्थ करना है। इसलिये पाठक इसका ऊपर दिया अर्थही ग्रहण करें और भगवदुपदेशका सार जाननेका यत्न करें। धर्मका अनर्थ करके विपरीत अर्थ समझना सर्वथा अयोग्य है।

अस्तु। इस श्लोकमें कर्मका अटल नियम कहा है। जो जैसा करेगा वैसाही फल उसको प्राप्त होगा। यह जानकर मनुष्य अच्छा कर्म करता रहे और बुरे कर्मसे दूर रहे। इतना कर्मका अटल नियम कह कर आगे कहा है—

ईश्वरका मार्ग

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(४।११)

"मनुष्य सब तरहसे परमेश्वरके मार्गकाही अनुसरण करते हैं। मनुष्य किसी प्रकारका भी व्यवहार क्यों न करते हों वे परमेश्वरके पास जानेके मार्गपरही हैं वे परमेश्वरको प्राप्त करनेके मार्गपरही किसी न किसी दिन अवश्य आ मिलेंगे। मनुष्य बुरे मार्गमें लगे हैं, ऐसा दीखता है। परन्तु बुरे मार्गका अनुभव लेनेके पश्चात् वे अवश्य परमपदको पहुंचानेवाले मार्गपर आ जायेंगे। सब मानवोंको परमेश्वरकी प्राप्तिही अभीष्ट है। यह कम लोग जानते हैं और बहुत लोग नहीं जानते। न जानते हुए भी उनका वही मार्ग होता है। सब धर्म इतनाही होता है कि मनुष्यको सरल मार्ग बताया जाय। धर्ममार्गसे जानेसे मनुष्य परम पदकी प्राप्ति अति शीघ्र कर सकता है परन्तु जो आज अधर्मसे चल रहे हैं वे दूर भटकते हुए अन्तमें किसी एक दिन इसी परमपद-प्राप्तिके मार्गपर आ जायेंगे। शीघ्र या देरीसे पहुंचना इतनाही भेद है।

यहां अतिसंक्षेपसे दर्शाया कि भगवद्गीतामें कहा हुआ ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका मार्गही सबका साध्य है। अनेकानेक धर्मों मतों और पन्थोंसे जानेवाले सभी लोग इसी मार्गको आकर मिलेंगे। जो इस भगवन्मार्गपर चलते हैं वे तो सीधे मार्गपर पहिलेसे ही हैं इस कारण उनके प्रयासके श्रम न्यून और अन्य मार्गियोंको अधिक होंगे। परन्तु सब अन्य मार्ग इसी सीधे मार्गमें आकर मिलते हैं। यह जाननेसे इस मार्गकी उच्चता स्वयं सिद्ध होती है।

यही श्लोकार्ध इससे पूर्व भ. गी. ३।२३ स्थानमें भी आ गया है। शब्द वेही हैं परन्तु वहां पूर्वापर-संबन्धसे अर्थ थोडासा भिन्न है। वहांके श्लोकका अर्थ ऐसा है 'यदि मैं आलस्य छोडकर कर्ममें न लगा रहूं तो (मम वर्त्म) लोग भी सदा मेरे मार्गके अनुसार ही चलते रहेंगे।' शब्द एक ही होनेपर भी वहांका आशय भिन्न है। यह अर्थ इस अपने (भ. गी. ४।११) स्थानमें लिया, तो इस श्लोकका अर्थ इस तरह होगा– 'सब लोग मेरा अनुकरण कर रहे हैं इसलिये मैं लोगोंको वैसाही फल देता हूं कि जैसे भाव धारण करके लोग मेरे पास आते हैं।' अर्थात् सब लोग भी अपने राग द्वेषको दूर रखकर दूसरे लोगोंके साथ ऐसा ही निरपेक्षताका यथायोग्य वर्ताव करें। कोई किसीसे अयोग्य व्यवहार न करे। अस्तु।

हमारे मतसे तो 'सब मनुष्य परमेश्वरकी प्राप्तिके मार्गको आकर मिलते हैं,' यही आशय यहां अभीष्ट है। इसी प्रकारका एक श्लोक है–

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार परमेश्वरको ही पहुंचता है। अन्यमतानुयायियों द्वारा जो किये देव और देवता पूजा अर्चा अथवा नमस्कार अपने पास नहीं रख सकते, वे तो उनके पास आया हुआ नमस्कार आदि परमेश्वरके पास पहुंचा देते हैं। तथा भगवद्गीताके नवम अध्यायमें इसी भावका एक श्लोक है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
(भ गी ९।२४)

जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं वे भी विधि विहीनही क्यों न हो मेरा ही पूजन करते हैं, क्योंकि मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता हूं । यहां भी किसी अन्य देवताका किया हुआ पूजन परमात्माको प्राप्त होता है ऐसा स्पष्ट कहा है । तथा वेदमें भी कहा है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।
(ऋ १।१६४।४६)

' एक ही सत् वस्तुका-अर्थात् एक ही परमात्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे करते हैं । अर्थात् परमेश्वरका कोई भी नाम लिया तो उसी एक अद्वितीय परमात्माका नाम लिया ऐसा होता है क्योंकि वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है फिर नामका झगडा क्यों किया जाय ? कोई नाम लिया किसी देवताकी पूजा की अथवा किसी मार्गसे गये तो वह परमात्माकी ही उपासना होती है । इस तरह का उदार मत माननेवाले लोग धर्मप्रचारकों द्वारा अन्य लोगोंको अपने मतमें लानेका यत्न नहीं कर सकते क्यों कि उनका विश्वास है कि (सर्वे मनुष्याः सर्वशः ईश्वर वर्त्म एव अनुवर्तन्ते) सभी मनुष्य सर्वथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गपर ही चलते हैं । किसीका मार्ग पासका सीधा है और किसीका टेढा अथवा दूरका है । यदि किसीको टेढा दूरका मार्ग पसंद हो तो वह उसीपरसे चले । एकके पास घण्टेमें सौ कोस जानेवाला विमान है दूसरेके पास बीस कोस दौडनेवाली मोटर है तीसरेके पास घण्टेमें दो कोस जाने वाली घोडागाडी है और चौथा पैदल चलनेवाला है । जिसके पास जैसा धनका साधन है वैसा उसने वाहन प्राप्त किया है । सब जानेवाले हैं एक ही स्थानपर परन्तु गति की न्यूनाधिकतासे कोई शीघ्र पहुंचता है और दूसरा देरी से । यहां विचारकी बात यह है कि जो मनुष्य पैदल चलनेवाला है उसके पास वाहन लेनेके लिये धन नहीं है फिर वाहनमें बैठनेवाले लोग उसका उपहास क्यों करें और उपहास किया भी जाय तो उसको वाहन मिलेगा भी कहांसे ?

इसी तरह ज्ञान-मार्गी योग मार्गी कर्म-मार्गी और भक्ति-मार्गी एक दूसरेका उपहास न करें । उपहास करनेसे क्या काम होगा ? क्योंकि ज्ञान-मार्गीका गूढ ज्ञान भक्ति-मार्गीके समझमें ही नहीं आवेगा । कर्म निष्ठावाला मनुष्य ज्ञान निष्ठाका विचार समझ ही नहीं सकता (भ गी ३।१-४) फिर मतप्रचारक एक दूसरेकी निंदा क्यों करते हैं ?

भागवतधर्मी मनुष्य मानता है कि सब लोग ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गमें ही लगे हैं । कई दूरके मार्गपर हैं और कोई समीपके । जो वाहन जिसके पास है उसमें वह बैठा है और उसी मार्गपर चल रहा है । परन्तु—

मनोजवेष्वसमा बभूवुः । (ऋ १०।७१।७)

प्रत्येक मनुष्य ' मनके वेगमें भिन्न होने ' के कारण एक जिस तत्त्वका ग्रहण कर सकता है उसीको दूसरा नहीं कर सकता । इसलिये मनुष्योंका बुद्धिभेद न करते हुए (भ गी ३।२६) सबको सत्कर्ममें प्रवृत्त रखना चाहिये । इससे सबकी क्रमशः उन्नति हो सकती है ।

देवोंका यजन

(कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं) कर्मके फलकी इच्छा करने वाले लोग (इह देवता यजन्ते) यहां देवताओंका यजन करते हैं । यहां देवताओंकी उपासनाका तात्पर्य तो है ही परन्तु अन्य भी भाव है । फलकी इच्छासे अनेक देवताओं की पूजा जगत्में चल रही है जो आज भी प्रत्यक्ष है ।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥
(भ गी ९।२५)

देवताओंके पूजक देवताओंको प्राप्त करते हैं पितरोंके पूजक पितरोंके पास जाते हैं भूतप्रेतोंके पूजक भूतप्रेत होते हैं । और परमेश्वरका भजन करनेवाले परमेश्वर भावको प्राप्त करते हैं । आज भी भूत-प्रेतोंके और मुर्दोंके उपासक पिशाच-वृत्तिसे व्यवहार करते दीख रहे हैं और विविध देवोंके उपासक उन देवताओंके सदृश दीखते हैं । तथा एक ईश्वरकी उपासना करनेवाले भी हैं । उपासक अपनी उपास्य देवताके समान बनता है क्योंकि उसको उपास्यका ध्यान सदा होता है । राजस और तामस उग्र रूपोंकी उपासना करनेवाले राजस और तामस होते हैं और सात्त्विक उपास्यदेवताकी उपासना करनेवाले सत्त्व-गुण-संपन्न होते हैं । इसलिये मनुष्य अपनी अपनी योग्यताके

(६) चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं तस्य कर्तारं अपि मां अव्ययं अकर्तारं विद्धि ॥ १३ ॥

मैंने गुण और कर्मके विभागके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था निर्माण की है। उसका कर्ता होते हुए भी मैं अविनाशी अकर्ताही हूं ऐसा तू समझ ॥ १३ ॥

भावार्थ— गुणों और कर्मोंके अनुसार जो वर्णीकरण किया है, उसको चातुर्वर्ण्य कहते हैं। यह जैसा मनुष्योंमें है वैसा अन्य सृष्टिमें भी है। यह चातुर्वर्ण्य गुणों और कर्मोंको देखकर किया है इसलिये इसका कर्तृत्व गुणकर्मोंके पास है, व्यवस्थापक उसका कर्ता नहीं है। क्योंकि गुण और कर्म न होते तो वह उसे न बना सकता ॥ १३ ॥

अनुसार इष्ट देवताकी उपासना करते हुए उनसे अपना इष्ट फल चाहते हैं। यहां उपासकोंकी प्रकृतिके अनुसार उपास्य पसंद किया जाता है यह बात स्मरण रखनेयोग्य है। प्रेतोपासकोंको उत्तम सात्विक देवता कभी पसंद नहीं होगी। अतः लोग अपनी प्रकृतिके अनुसार देवता चुनते हैं और उनका आराधन करते हैं और आराधनासे इष्ट फल प्राप्त करते हैं। क्योंकि (मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं भवति) इस मनुष्य लोकमें कर्मसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। इस कारण मनुष्य तत्परतासे सतत कर्मका आचरण करते हैं।

संगतिकरण

यजन का अर्थ पूजन संगतिकरण और दान ऐसा तीन प्रकारका है। पूजनका अर्थ हमने देखा अब देवताओंके संगतिकरणका विचार करना चाहिये। प्रत्येक प्राणिमें और पदार्थमें ईश्वरका अंश है अतः प्रत्येक पदार्थ और प्राणी ईश्वरीय शक्तिसे युक्त होनेके कारण देवता है। इन देवताओंका संगतिकरण अर्थात् मिलाप करनेसेही मनुष्यका व्यवहार चलता है। जितना उसका संगतिकरण और उपयोग उत्तम होगा उतना मनुष्यका सुख अधिक बढेगा। इस दृष्टिसे यह संगतिकरण-रूप यजन बहुत महत्वका विषय है। मनुष्य आपसमें और विविध पदार्थोंसे संगतिकरण करता हुआ कुछ न कुछ सुख प्राप्त करता रहता है। तथापि जिस समय वह इसका उपयोग दूसरेकी हिंसा करनेमें करता है तब दुःखका भागी होता है। अतः यह संगतिकरण दान किंवा त्याग भावसे करना चाहिये तभी मनुष्यका सच्चा कल्याण होगा। यहां प्रश्न होता है कि यह दान-भावसे संगतिकरण किसने, कहां किया है? इसके उत्तरमें चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण कैसा उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

संगतिकरण और व्यवस्था

(१३) इस जगत्के पदार्थोंके मनुष्य पशु औषधि और खनिज ये चार भेद हैं। इनमें भी उपभेद अनेक हैं। ये भेद गुणकर्मोंसेही हुए हैं। मनन कर सकता है इसलिये (मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः । निरु०) मनुष्य कहलाता है। केवल देखता है (पश्यति इति पशुः) इस कारण उसको पशु कहते हैं वह मनन नहीं कर सकता। (दोषं धयति इति ओषधिः । निरु०) शरीरस्थ दोषोंको दूर करती है इसलिये वनस्पतिको ओषधी कहते हैं- और खानोंमें उत्पन्न होनेवाले सोना तांबा आदि पदार्थोंके खनिज पदार्थ कहते हैं। यह वर्णीकरण इन गुणोंके कारण हुआ है। फिर गुणकर्मोंका अधिक विचार करनेसे इन प्रत्येकमें कई भेद माने जा सकते हैं उनमें चातुर्वर्ण्य मुख्य है।

पिण्ड और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य

जैसा मनुष्यका शरीर एक है और उसमें मनन करनेवाला मस्तिष्क रक्षणका कार्य करनेवाले बाहु और छाती, सर्वत्र रस पहुंचानेवाला पेट नाभि या मध्य-स्थान और शरीरका बोझ उठानेका कार्य करनेवाले पांव इस तरह गुणकर्मोंसे ये पिण्डके अवयवोंके चार वर्ण होते हैं, इसी प्रकार मानवसमाजरूपी एक शरीरमें मनन विचार और विचारका मस्तिष्कका कार्य करनेवाले ज्ञानी ब्राह्मण, बाहु और छातीका रक्षासंबंधी कार्य करनेवाले कर्मवीर क्षत्रिय वर्ण,

औषधि और गोरस उत्पन्न कर सबकी पेटकी पूर्तिका साधन करनेवाला पुरोपति वैश्य; और उक्त तीनोंके कर्मोंमें हरएक प्रकारकी सहायता करनेवाला अर्थात् सबके कर्मोंका बोझ उठानेवाले शूद्र ये चार भेद गुणकर्मोंके अनुसार होते हैं।

सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। समता प्रयत्न और मन्दता ये इन तीन गुणोंके क्रमशः स्वरूप हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे ये चार वर्ण होते हैं, इसका प्रमाण इस तरह समझना योग्य है–

वर्ण	धर्म	कर्म
१ ब्राह्मण	सत्त्व रज तम । ।. ।	शम दम तप शुद्धि शांति ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य।
२ क्षत्रिय	रज सत्त्व तम । .। '	शौर्य तेज धैर्य दक्षता अपलायन दान और स्वाभिमान।
३ वैश्य	रज तम सत्त्व ।. ।. ।.	कृषि गोरक्षा और वाणिज्य।
४ शूद्र	तम सत्त्व, रज .।। । ।.	सेवा, अथवा हुनर।

इस रीतिसे सत्त्व रज तमकी न्यूनाधिकताके कारण मनुष्योंके चार भेद होते हैं और उनके कर्म भी इसी कारण भिन्न होते हैं। क्योंकि रजोगुणप्रधान मनुष्य स्वभावसे चपलतापूर्वक कर्म करता है सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य शांति और समवृत्तिसे रहता है और तमोगुणी मन्द बुद्धिवाला होनेके कारण पूर्वोक्त वर्णोंके आश्रयसे रहकर अपना गुजारा चला सकता है।

ये चार प्रवृत्तिके लोग प्रत्येक ग्राम प्रान्त देश और राष्ट्रमें होते हैं। भारत वर्षमें इस चातुर्वर्ण्यकी उत्तम व्यवस्था की और आनुवंशिक शिक्षाद्वारा इन गुणोंका विशेष परिपोष करनेकी अपूर्व योजना बनायी है। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक राष्ट्रमें हो सकती है और ऐसी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था करनेसे मानवी समाजका पूर्ण कल्याण होगा। परन्तु यह बात अन्य देशीयोंके ध्यानमें अबतक नहीं आयी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे (अध्याय १८ श्लो. ४१-४८ में) यह चातुर्वर्ण्य इस तरह वर्णित हुआ है—

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(२) ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

(३) स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥ ४५ ॥

(४) स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

(५) सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ४८

(भ. गी. १८)

"(१) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इनके कर्म (स्वभाव प्रभवैः गुणैः) अपने जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे भिन्न भिन्न हुए हैं। (२) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रके कर्म (स्व-भाव-ज) अपने जन्मके साथ बने हैं। (३) अपने कर्ममें तत्पर होनेसे मनुष्यको उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है (४) (स्व-भाव-नियत) अपने जन्मसे निश्चित हुआ कर्म करनेसे पाप नहीं लगता। (५) (सह-ज कर्म) अपने साथ उत्पन्न हुआ कर्म सदोष हुआ तथापि उसको छोड़ना नहीं चाहिये।

सहज कर्म

इसमें इन श्लोकोंमें चार वर्णोंके कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहा है। अर्जुन क्षत्रिय था। अतः उसका सहज और स्व-भाव ज कर्म युद्ध करना था। उसमें हिंसारूप दोष होनेपर भी उसको छोड़ना उसके लिए अनुचित था। इन श्लोकोंमें–

स्व-भाव-प्रभव कर्म
स्व-भाव-नियत कर्म
स्व-भाव ज कर्म
सह ज कर्म
स्व कर्म

इन सब शब्दोंका अर्थ एकही है। अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य जन्मसे सिद्ध है। कोई तप-प्रभावसे विश्वामित्र जैसे उदाहरणोंमें वह बदल भी सकता है परन्तु यह अपवाद मात्र है क्योंकि श्रीकृष्ण धर्मराज भीष्मपितामह ये धर्म तत्त्वज्ञ होनेपर भी ये क्षत्रिय ही कहे गये विदुर धर्मज्ञ होनेपर भी शूद्र माना जाता था और द्रोणाचार्य ब्राह्म गुण

सफल होनेपर भी ब्राह्मण माने जाते थे। अर्थात् वर्णान्तर वर्तन होता है यह तत्त्वतः माननेपर भी उसकी संभावना अपवादमें मानी जाती थी और सार्वत्रिक नियम यह असंभव है ऐसाही कहा गया है। अर्थात् भगवद्गीताका सर्वसामान्य सिद्धान्त चातुर्वर्ण्य जन्म गुण और कर्मसे है यही है। इसीलिये कहा—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि
तत् ॥ ६० ॥ (गी १८)

'अहंकार वश होकर तेरा हठ है कि मैं नहीं लड़ूंगा। यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभावही तुझे युद्धके साथ पछीटे ले जायगा। अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता उसे विवश होकर करेगा। स्वभावका इतना बल है। अस्तु।

स्व-भाव शब्दका अर्थ 'शील' ऐसा कई करते हैं, परन्तु यह भी जन्मसे ही होता है। अपने जन्मसे जो प्राप्त है और जो अपनी प्रकृति है उसीका नाम स्व-भाव है। प्रकृति-गुण बदलना अत्यंत कठिन है। इस तरहके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका विचार करके यह चातुर्वर्ण्य निर्माण किया गया है।

जब प्रारंभमें चारों वर्णोंका वर्गीकरण किया उस समय मनुष्योंकी स्वभाव-प्रवृत्ति देखकर ही इसका यह वर्ण इसका यह वर्ण ऐसा निश्चय करके राजशासनके द्वारा सबके विवाहकी व्यवस्था देकर इन वर्णोंको जन्मद्वारा शुद्ध किया गया। तत्पश्चात् वर्ण माननेसे नियत गुणोंका उनमें विशेष परिपोष होने लगा और जन्म-स्वभावसे ही गुण-कर्मोंका निश्चय होने लगा।

भारतवर्षमें ब्राह्मण, राजपूत बनिये इत्यादिकी जातियाँसे बहुत गिरावट होनेपर भी इस समयमें वही प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रभाव आनुवंशिक संस्कारोंका है। बीचके कालमें वर्णसंकरता हुई पर फिर आचार्योंने वर्णव्यवस्थित रचना की। पूर्वकालमें पितृ-मातृपक्ष समान मिलाकर हुई, इस कारण आनुवंशिक शुद्धता जैसी चाहिये वैसी नहीं रही पर इस समय भिन्न वर्णोंमें लोगोंकी प्रवृत्ति दीखती है। तथापि आनुवंशिक संस्कार आज भी दिखाई देते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

वर्णोंका निश्चय जन्मसे वर्णोंके कर्म शास्त्रद्वारा नियत किये हुए और कुल-परंपरासे गुणोंका परिपोष यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका सिद्धान्त है। वर्ण-धर्मों और वर्ण-कर्मोंका निश्चय करना शास्त्रकारोंका कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचन प्रमाण मानकर अपना नियत कर्म करता रहे दूसरा नियत करनेका उसको अधिकार नहीं है। शास्त्रमें बदल करना हो तो समय समयके ज्ञानी पुरुष समयका विचार करके योग्य बदल करें। प्रत्येक मनुष्य शास्त्रवचनका ज्ञान प्राप्त करके नियत कर्म करता रहे, इसीसे उसकी उन्नति होगी।

इस तरहकी नियम बद्ध वर्ण-व्यवस्था सब देशोंमें होगी, तो सबका कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं है। परन्तु किसी अन्य देशमें ऐसी व्यवस्था नहीं है और भारतवर्षमें भी परकीयोंका अनुकरण करनेकी शिक्षा बढ़नेसे मनुष्योंमें मनमाने कर्म करनेकी प्रवृत्ति बढ़ गयी है, जिससे चातुर्वर्ण्य संस्था टूटनेके समान हुई है।

अपने धर्मके आश्रमव्यवस्था और वर्णव्यवस्था ये दो मुख्य स्तंभ हैं। परन्तु ये इस समय पूर्णतया शिथिल हो गये हैं और भाविकालमें राज्यशासनका आश्रय मिलनेकी संभावना न होनेके कारण भविष्यमें ये स्तंभ स्थिर रहेंगे, इसका भी कोई निश्चय नहीं होता। अस्तु।

इस तरह यह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका तत्त्व है। यह व्यवस्था प्रारंभमें गुणकर्मोंको देखकर निर्माण की थी और जब इसकी पुनर्रचना करनी होगी तब भी मनुष्योंके गुण-कर्मोंके अनुसार ही व्यवस्था करनी होगी तथा राजशासन व्यवस्था-द्वारा आनुवंशिक संस्कारोंसे उसको चिरस्थायी और दृढ करना होगा।

मनुष्योंकी तरह यह व्यवस्था पशु, पक्षी वृक्ष वनस्पतियोंमें भी है। यहां भी प्रारंभमें वर्गीकरण स्वाभाविक उत्पत्ति सिद्ध गुणकर्मोंको देखकर किया जाता है और पश्चात् उन गुणकर्मोंको शुद्ध करनेके लिये आनुवंशिक रीतिसेही उत्पन्न करना है। वारंवार भिन्न दूसरे बीजका मिश्रण होनेसे वर्ण बिगाड़ होता है इसीलिये कुत्ते घोड़े, गाय आदि पशुओंकी उत्पत्ति शुद्ध बीजसे ही करते हैं। यह रीति सर्वत्र सर्वमान्य है और यह अत्यंत योग्य है। अस्तु।

गुण कर्मोंको देखकर (गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्य सृष्ट) चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था हुई । इसमें रचनाकी संभावना गुणों और कर्मोंके कारण होती है इसलिये चातुर्वर्ण्यका कर्तृत्व गुण-कर्मोंके पास जाता है व्यवस्था करनेवाली एक व्यक्ति हो अथवा संस्था हो वह गुण कर्मोंके न होनेकी अवस्थामें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था करनेमें असमर्थ होनेसे उसके पास चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका कर्तृत्व नहीं जाता । इसी उद्देश्यसे कहा कि (तस्य कर्तारं अपि मां अकर्तारं विद्धि) ' उस चातुर्वर्ण्यकी रचना करनेपर भी मुझे उसका अकर्ता समझ । क्योंकि कर्तृत्व गुणोंका है मेरा नहीं ।

इसका बोध होनेके लिये एक उदाहरण देते हैं कि एक ग्राममें कई बालक हैं । उनमेंसे किसीने पढ़ाईके लिये कुमारोंको और कुमारियोंको अलग कर उनके कुमार-गुरुकुल और कुमारिका-गुरुकुल बना ये और उनकी पाठ विधि निश्चित की । या ये दो संस्थायें निर्माण होनेका वास्तविक कर्तृत्व कुमार कुमारियोंके अस्तित्वमें होता है । ये न होते तो वह कैसे बनता ? इस कारण उन बालकोंमें जो कुमारपन और कुमारिकापन था वही उक्त संस्थाका कर्ता है मनुष्य केवल योजक है । इसी तरह भगवान् कहते हैं कि मैंने मनुष्योंके गुण-कर्मोंको देख कर चार वर्णोंकी योजना की । इस वर्ण व्यवस्थाके कर्ता स्वाभाविक गुण हैं मैं नहीं हूं । मनुष्य भी गुणोंके पास कर्तृत्व है ऐसा मानें और अपनेमें कर्तृत्वका अभिमान न बढावें । [इसी विषयमें पाठक भ गी अ ३ श्लो २७ २९ विवरणसहित देखें ।]

सगतिकरण

संगतिकरणसे वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है । समान गुण कर्म वाले वर्ग बनाकर उनकी संगति करना अथवा इन्हींका आपसमें मिलाप सख्य होने देना यह धर्मका रहस्य है । इसके साथ एक जातिके गुण धर्मवालोंसे भिन्न गुण धर्मवालों का संबंध तोडना भी उतना ही आवश्यक है । समान गुण-धर्मवालोंका सख्य करना और उनका विषम गुण धर्मवालोंसे दूर रखना यही गुण-पोषणकी रीति है । मानवी धर्मका विकास इसीसे होगा । परन्तु इससे भेद शक्ति बढेगी और विरोधभावी बढेगी । इसी कारण वर्णीकृत लोगोंकी अपेक्षा अवर्णीकृतोंमें हमेशा समरसता अधिक होती है । परन्तु वर्णी-करण ही प्राचीन है और गुण-विकासकी दृष्टिसे इसका महत्त्व अधिक है ।

एकवार वर्गीकरण अथवा वर्णीकरण आवश्यक समझा गया तो ही वर्गीकरण खानपानमें रहनसहनमें ऊंच नीच भावोंकी न्यूनाधिकतामें कल्पनाओंमें इत्यादि सब स्थानोंमें दिखाई देता है । इसके लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है-ब्राह्मणोंकी त्याग-वृत्ति होनेसे वे भोग कम करनेमें लगेंगे और क्षत्रियोंकी भोग-वृत्ति होनेसे वे भोग बढावेंगे । ब्राह्मणोंको विचारके कार्यमें लगे रहनेसे लघु भोजन खाना आवश्यक है और शूद्रोंको कष्टके कर्ममें लगे रहनेसे अधिक भोजन आवश्यक है । इस कारण चार वर्णोंकी भिन्नता माननेसे आगे अनेक प्रकारकी भिन्नता होती जाती है वही रहनसहनके हरएक पहलूमें दिखाई देती है । इसलिये धर्म विचारकोंको आवश्यक है कि वे ऐसी कुछ व्यवस्था करें कि पूर्ण भेद रहनेपर भी उन सबमें मिलकर अभेद होनेके लिये कुछ ऐसे उत्सव रचनेका यत्न करें कि जिनसे चारों वर्णोंका आपसमें मेल होनेका अवसर आ जाय । वह यहांसे यही संघटनाका कार्य प्राचीन समयमें होता रहा ।

अव्यय कर्ता और अकर्ता

म अव्यय कर्ता हूं और अव्यय अकर्ता भी हूं ।
(गी ४।१३) ऐसा यहां कहा है । इस विधानसे एक बडे सिद्धान्तका उपदेश यहां किया है । कर्ता जिस समय कुछ कर्म करता है उस समय उसकी शक्तिका कुछ न कुछ व्यय होता है । कर्मका अर्थ ही अपनी शक्तिका व्यय है और यह व्यय करनेसे फल प्राप्तिरूप काम होता है । कर्ममें अपनी शक्तिका व्यय न किया तो फल भी नहीं प्राप्त होगा । अर्थात् फल चाहिये तो कर्मके लिये शक्तिका व्यय करनाही चाहिये ।

भगवान् यहां कहते हैं कि मैं अव्यय कर्ता हूं । क्योंकि मैं अव्यय अकर्ता हूं । यहां अकर्ता का अर्थ कर्म न करनेवाला नहीं है परन्तु विशेष रीतिसे कर्म करनेके कारण अकर्ता है । इस विशेष रीतिसे कर्म करनेके कारण ही यह कर्ता होता हुआ भी अव्यय अकर्ता होता है !! वह कौनसी विशेषता है कि जिससे कर्म भी होते रहें और (अव्ययः) अपनी शक्तिका व्यय भी न हो ? और वह विशेष रीति हम जैसे मनुष्योंको साध्य हो सकती है या नहीं ? ये सब यहां विचारणीय हैं ।

(७) फलासक्तिसे बन्धन

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५॥

अन्वयः— कर्मफले मे स्पृहा न (अतः) कर्माणि मां न लिम्पन्ति। इति यः मां अभिजानाति सः कर्मभिः न बध्यते ॥ १४ ॥ एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम्। तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं एव कर्म कुरु ॥ १५ ॥

कर्मके फलमें मेरी लालसा नहीं है (इसीलिये) कर्मोंका लेप मुझे नहीं लगता। इस तरह जो मुझे भली भाँति जानता है वह कर्मोंसे बाँधा नहीं जाता ॥ १४ ॥ यह जानकर पूर्व समयके मुमुक्षु लोगोंने भी कर्म किये थे। अतः पूर्वके लोगोंद्वारा किये हुए प्राचीन कालके कर्मोंके समान ही तू कर्म कर ॥१५॥

भावार्थ— जिसकी कर्मके फलभोगोंपर आसक्ति नहीं होती उसको कर्मोंसे कोई बाधा नहीं होती। कर्मोंके कारण जो बाधा होती है उसका प्रधान कारण फलासक्ति है। अतः जो फलासक्ति छोड़ता है वह कर्मके बंधनसे मुक्त होता है। यह नियम जानकर प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये थे और वे बद्ध भी नहीं हुए थे। इसलिये इस समय भी फलासक्ति छोड़कर कर्म करके मनुष्य कर्म बन्धनसे मुक्त हो सकता है ॥ १४-१५ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
(ऋ० १।१६४।२०)

एक वृक्षपर दो पक्षी हैं उनमेंसे एक उसका मीठा फल खाता है और दूसरा केवल चमकता है अर्थात् फल नहीं खाता।

जीव और ईश्वर ये दो पक्षी प्रकृतिके ऊपर बैठे हैं। जीव फलभोग करता है और ईश्वर नित्य तृप्त है। यहां हमें पता लगता है कि जीवको फल भोगकी इच्छा है इसलिये फल प्राप्त्यर्थ कर्म करनेमें अपनी शक्तिका व्यय करना पड़ता है। और परमात्मा नित्य तृप्त होनेसे वह अपने भोगके लिये कुछ नहीं करता अतः वह सदा अकर्ता रहता है और अकर्ता रहनेसे उसकी शक्तिका व्यय नहीं होता। उससे जो होता है वह सहज कर्म होता है इसलिये उसको अकर्ता ([illegible]) कहते हैं।

शक्तिकी रक्षा

यदि अपनी शक्ति क्षीण न करनी हो तो नियम हमें ज्ञात हुआ। यदि कोई मनुष्य पूर्ण अर्थात् अकाम बिना निष्काम हुआ [illegible] अपने भोग बढ़ानेका कर्म न किये तो उनके निष्काम भावसे कर्म होनेपर भी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होगी। वह कर्म करते हुए भी अ-कर्ता होगा। यही हेतु है भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोगका उपदेश करनेका। निष्काम कर्मका यह महत्त्व है। इस निष्काम कर्मयोगसे अधिक सामर्थ्य होता है।

साधारण लोग अपने भोग बढ़ानेके लिये विविध कर्म करके उनके फल स्वयं भोगते हैं और भोगोंमें रोगी होते हुए अन्तमें क्षीण होते हैं। इस तरह सकाम कर्म क्षीणता करनेवाला है। यह दोष न रहनेके कारण निष्काम कर्म अपनी शक्ति बढ़ानेवाला है। यही विचार अगले श्लोकोंमें अधिक स्पष्ट कर दिया है।

आसक्तिका दोष

(१४-१५) मानवी व्यवहार तथा प्राणियोंके व्यवहारमें हम देख सकते हैं कि आसक्तिसे ही बंध होते हैं। देखिये—

कुरंग मातंग पतंग भृंग
मीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।

हरिण हाथी पतंग भृंग और मछली ये पांच क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस और गंधपर आसक्त होनेसे मर जाते हैं। हरिण मधुर ध्वनिपर मुग्ध होनेके कारण पकड़ा जाता है हाथी हथिनीपर आसक्त होनेसे पकड़ा जाता है पतंग दीपके रूपपर मोहित होनेके कारण मरता [illegible]

फँस जाता है, भ्रमर मधुर रसपर आसक्त होनेसे कमलमें बँधा जाता है और मछली आमिषपर आसक्त होनेसे जालमें बद्ध होती है।' मनुष्योंकी अवस्था भी इन्हींके समान है।

मिष्ट भोजन और मधुर शब्द धन तथा अपने अधिकारपर कई मनुष्य आसक्त होते हैं और उस आसक्तिके कारण अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जो मिष्ट भोजनपर आसक्त है उसको दूसरा भोजन प्राप्त होनेसे बड़ा दुःख होता है। वह मिष्ट भोजनमें सुख मानता है परन्तु सदा मिष्ट पदार्थ भक्षण करनेसे रोगी होकर कष्ट भोगता है। इसी तरह धनमें भी आसक्त होनेवालोंको कष्ट ही होते हैं। अधिकारासक्त मनुष्य अपने हाथमें अधिकार रखनेके हेतुसे इतने अत्याचार करते हैं कि उसकी कोई सीमा नहीं होती। इतिहास-कालमें राजनैतिक और धार्मिक अधिकार-लालसाके कारण जितने रक्तपात हुए हैं उससे इतिहासके पृष्ठ कलंकित हो गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आसक्तिसे अनन्त दोष होनेसे मनुष्यके दुःख बढ़ते हैं।

एक मनुष्य विशिष्ट प्रकारके मिष्ट भोजनपर ही आसक्त है और दूसरा जो सात्विक शाक-भोजन आ जाय, उसको पसन्द करते हुए होता है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि विशिष्ट भोजनपर आसक्त रहनेवालेको अधिक दुःख और यदृच्छया प्राप्त शाक-भोजनपर संतुष्ट होनेवाले स्वाद-जय करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। इससे आसक्तिके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

"मैं इस कर्मका भोग करूँगा यह फलभोग भविष्यतक मैं अविच्छिन्न बना रखूँगा सब सुख मुझे ही चाहिये।" इस प्रकार आसक्तिसे सुखकी इच्छा करनेवाला मनुष्य धर्म मार्गमें सुख प्राप्त न होनेपर अधर्म-मार्गका अवलंबन करता है और सुखका यत्न करनेपर भी सदा दुःखमें फँसता है! इसलिये अति आसक्ति छोड़कर यदृच्छासे प्राप्त होनेवाले भोगोंपर सन्तुष्ट रहनेसे ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं कि (कर्मफले न स्पृहा न) कर्मके फलपर मेरी लालसा नहीं है। मैं जो कर्म करता हूँ वह फलके विषयमें आसक्त न होकर कर्तव्य-बुद्धिसे करता हूँ। इस कारण (न मां कर्माणि लिम्पन्ति) कर्मों का लेप या दोष मुझे नहीं लगता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाले दोष मुझे दोषी नहीं करते। यदि मैं कर्मफलके भोगपर आसक्त रहूँगा तो कर्मके दोष मुझे बाधा देंगे।'

यहाँ अपने आचरणसे भगवान् श्रीकृष्णजीने बताया है कि इस आसक्तिरहित वृत्तिसे ही मनुष्य दोषमुक्त होता है। इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। अवतारी पुरुषके जीवन-चरित्र इस तरह जनताके लिये मार्गदर्शक होते हैं। साधारण मनुष्योंको जहाँ संदेह हो वहाँ अवतारी पुरुषोंके जीवन-चरित्रोंसे धर्म-मार्गका निश्चय इस रीतिसे हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सब तरहसे पूर्ण समर्थ थे तथापि वे जो प्रयत्न करते थे वह अपना सुख बढ़ानेकी लालसासे नहीं, प्रत्युत जनतामें धर्म-व्यवस्था स्थिर हो जाय सज्जनोंकी रक्षा हो और दुष्टोंका नाश हो जाय अर्थात् सब जनताको पूर्ण सुखी करनेके लिये वे यत्नवान् होते थे। इसी तरह सबको यत्नवान् होना चाहिये। यही उत्तम मार्ग है और इसी मार्गसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है।

भगवान्के अवतारका यह रहस्य जो जानता है वह इसी प्रकारका सर्व जन हितकारी कर्म करता हुआ किये कर्मोंसे भी बद्ध नहीं होता। कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होनेकी यह रीति है। एक ही युद्ध स्वार्थ-भोगोंके लिये किया सर्व जन हित संवर्धनके लिये भी किया जा सकता है। जो युद्ध स्वार्थ भोगेच्छासे होता है वह बन्धनकारक और जो सब जनताके हित-साधनके लिये किया जाता है वह युद्ध मुक्तिका साधन बनता है। युद्ध तो सदा हिंसामय कर्म है तथापि जनताके कल्याणके लिये करनेसे वह निर्दोष है और स्वार्थ भोग लालसासे करनेपर सदोष होता है। यहाँ किससे बन्धन होता है और किससे मुक्ति होती है यह विषय स्पष्ट हुआ। चाहे कर्म हो वह किस उद्देश्यसे किया जाता है इस उद्देश्यके कारण वह बन्धनकारक अथवा मुक्तिकारक बनता है। इसलिये फलेच्छारहित कर्म करना सबको योग्य है। भगवान् श्री कृष्णजीके जीवन-चरित्रमें प्रारंभसे अन्ततक फल-आसक्तिरहित कर्म ही दिखाई देते हैं। इस कारण उनका पवित्र जीवन सब मनुष्योंके लिये आदर्श माना गया है।

ब्राह्मणका कर्म ज्ञानार्जन, क्षत्रियका कर्म प्रजापालन करना, वैश्यका कर्म वाणिज्यव्यवहार और शूद्रका कर्म कर्मोद्योगका

(८) कर्मके भेद

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अन्वयः— किं कर्म किं अकर्म इति अत्र कवयः अपि मोहिताः । तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥ कर्मणः (तत्त्वं) हि अपि बोद्धव्यं विकर्मणः च (तत्त्वं) बोद्धव्यं तथा अकर्मणः (तत्त्वं) च बोद्धव्यं कर्मणः गतिः गहना ॥ १७ ॥ यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, अकर्मणि च यः कर्म पश्येत् सः मनुष्येषु बुद्धिमान्, स युक्तः (सः) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषयमें ज्ञानी लोग भी मोहित होते हैं इसलिये मैं उस कर्मके बारेमें तुझे कहूंगा, जिसको जानकर तू अशुभसे छूट जायगा ॥ १६ ॥ कर्मका तत्त्व जानना चाहिये, विकर्मका तत्त्व जानना चाहिये और अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥१७॥ जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् वही योगी और वही संपूर्ण कर्मोंका यथावत् करनेवाला है ॥ १८ ॥

भावार्थ— कर्म अकर्म और विकर्मका विचार करनेके समय बड़े बड़े ज्ञानी लोगोंको भी भ्रम होता है। इसलिये कर्मका तत्त्व समझ लेना चाहिये। कर्ममें अकर्म होता है और अकर्म करनेपर भी कर्म होता है यह बात जो समझ लेता है वह ज्ञानी योगी और सब कर्म योग्य रीतिसे करनेवाला समझना चाहिये। इस तरह कर्मका तत्त्व यथावत् जाननेसे मनुष्य अशुभ स्थितिसे मुक्त होकर शुभ स्थिति प्राप्त कर सकता है ॥ १६-१८ ॥

है। इन चारों वर्णोंके ये यथायोग्य कर्म हैं। कर्तव्य बुद्धिसे करनेसे ये कर्म बाधक नहीं होते। परन्तु यदि ब्राह्मण बहुत धन कमानेके लिये विद्याध्ययन करेंगे क्षत्रिय अपने भोग बढानेके लिये युद्ध करके साम्राज्य बढाने लग जायें यदि वैश्य धन इकट्ठा करके अपने पास ही रखेंगे और शूद्र स्वार्थवश कुशलतासे कर्म करने लगेंगे तो इस तरह किये कर्म स्वार्थ और भोगासक्तिके कारण बंधनके हेतु बनेंगे।

कर्मोंका समर्पण जो भगवत्कार्य श्लोकोंमें कहा है वह यज्ञ है और यज्ञ वह है जिसमें एक-दूसरेके लिये आत्मसमर्पण होता है। जहां आत्मसमर्पण नहीं वहां दोषोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये भोगेच्छारहित कर्तव्य बुद्धिसे आत्मसमर्पण करनेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

(एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः कर्म कृतं) यह भोगेच्छारहित आत्म-समर्पणका तत्त्व जानकर प्राचीन-कालके मुमुक्षु लोगोंने कर्म किये और वे इस कर्ममार्गद्वारा मुक्त भी हुए। मुमुक्षु वह है कि जो बंधनसे छुटकारा चाहता है। ऐसा मुमुक्षु कर्तव्य-कर्म भोगेच्छारहित आत्म-समर्पण बुद्धिसे करता हुआ बंधनसे छुटकारा पाता है। प्राचीन-कालके सत्पुरुष इस तरह कर्म करके मुक्त हुए।

इसलिये मनुष्योंको उचित है कि वे भी पूर्वजोंके समान भोगेच्छारहित त्यागभावसे तथा आत्मसमर्पणभावसे कर्तव्य कर्म करें और परतंत्रतासे छुटकारा प्राप्त करें। इस कर्मका तत्त्व यथावत् जाननेके लिये कर्म क्या है और कौनसा कैसा है इसका अवश्य विचार करना चाहिये। यह विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

कर्मके तीन भेद

(१६-१८) कर्म अकर्म और विकर्म ये कर्मके तीन भेद हैं। कर्मोंमें धर्म अर्थ और कामके लिये जो कर्तव्य करके निश्चित हुआ है वह कर्म है। जो इसके विरुद्ध है जो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है उसका नाम विकर्म है और जो कर्म न करता हुआ आलस्यमें चुपचाप रहता है उसको अकर्म कहते हैं। कर्मके इन तीन भेदोंके ये लक्षण प्रसिद्ध हैं और इन विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं है।

यहाँ पाठक पूछेंगे कि कर्म और अकर्मका निश्चय करनेमें (कवयः अपि मोहिताः) कवि (ज्ञानी) लोग भी मोहित होते हैं वह क्यों ? कर्म, अकर्म और विकर्ममें ऐसी कौनसी बात है कि जिसके कारण कवियोंको भी मोह हो जावे ? बात ऐसी होती है देखिये— एक मनुष्य चुप चाप बैठा है, अथवा ध्यान करता हुआ बैठा है और उसका पिता उसके सम्मुख बैठा है। ऐसी स्थितिमें कोई गुण्डा आकर पिताको मारनेके लिये उसपर हमला करता है। यह देखता हुआ भी यदि पुत्र चुपचाप बैठा रहे अथवा अपना सन्ध्याकर्मही करता रहे, तो उसका वह अकर्म अर्थात् कर्म न करना भी 'विकर्म' अर्थात् विरुद्ध किंवा निषिद्ध कर्म बनता है। यहां कुछ न करनेसे भी बड़ा विकर्म बन गया। अब देखिये कि केवल चुप रहनेसे भी बड़ा हानि-कारक निषिद्ध कर्म बनता है !! निषिद्ध कर्म करनेकी उसकी इच्छा नहीं थी परन्तु जिस समय अपने पिताकी रक्षा करना आवश्यक था उस समय वह चुप बैठ गया यह सर्वथा अनुचित कर्म था। इसी प्रकार कोई शुभ कर्म कीजिये। वह समयपर किया जाय तो सहायक होता है नहीं तो बाधक हो जाता है। इससे पाठक जान गये होंगे कि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी विकर्म होगा। यह सब परिस्थिति समय अवस्था आदिपर अवलंबित होनेसे इन कर्म अकर्मादिका निर्दोष कथन करना असंभव है। साधारण लक्षण तो ऊपर दिया है परन्तु यह बदलनेवाले समयके कारण कभी कभी असिद्ध होता है। इसलिये कहा है कि बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी भी कर्म अकर्म और विकर्मका निश्चय करनेमें भ्रमितसे हो जाते हैं, मूढ बनते हैं।

कर्म अ-कर्म और वि-कर्म (विरुद्ध कर्म) कौनसा है इसका यथावत् ज्ञान न होनेसे अशुभ स्थिति अर्थात् दु:खद अवस्था प्राप्त होती है क्योंकि वह कदाचित् कर्म समझ कर अकर्म करता है अथवा किसी अच्छे कर्मको विकर्म मानकर छोड भी देता है और इससे मोहित मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त होता है। परन्तु जो समयपर यह कर्म है यह अकर्म है और यह निःसंदेह विकर्म है ऐसा असंदिग्ध रीतिसे जानता है वह शुभ अवस्था प्राप्त करता है।

इस हेतुसे (कर्मणः बोद्धव्यं) कर्म अकर्म और विरुद्ध कर्मका तत्त्व किंवा स्वरूप जानना चाहिये। कमसे कम इसके जाननेका यत्न तो अवश्यही करना चाहिये। (कर्मणः गतिः गहना) कर्मकी गति गहन है कर्मका तत्त्व अथवा स्वरूप बड़ा गूढ है और कर्मका परिणाम बड़ा विलक्षण होता है।

अकर्म शब्दका यहां और एक अर्थ है। जिस कर्मसे बिलकुल दोष नहीं लगता अर्थात् निर्दोष होनेके कारण जो कर्म न करनेके समान होता है वह कर्म भी अकर्म कहलाता है। निष्काम-भावसे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म होता हुआ भी अकर्म कहलाता है। अर्थात् इन श्लोकोंमें अकर्म शब्दके दो अर्थ हैं—एक आलस्य अर्थात् कर्म न करना और दूसरा निष्काम भावसे निःस्वार्थ-भावसे फलकी आसक्ति छोडकर किया हुआ कर्म। ये अर्थ लेकर पाठक अठारहवें श्लोकका भाव देखें

(कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्म किया जानेपर भी जो कर्म न करनेवालेके समान निर्दोष रहता है जिसका कर्म निष्काम-भावसे किया जानेके कारण जिसको दोष नहीं लगता कर्म करनेपर भी जो कर्म न करनेके समान शुद्ध रहता है वह बड़ा बुद्धिमान् योगी है। शरीरसे कर्म होनेपर भी वह आत्म स्वरूपमें अकर्ता होकर रहता है इसवे वह बड़ा ज्ञानी और योगी है और वही सब कर्म यथायोग्य रीतिसे कर सकता है। कर्म करनेपर भी जो अपने आपको निर्दोष अकर्ता अनुभव करता है वह श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्णजी कर्ता होनेपर भी अपने आपको अकर्ता मानते हैं (देखो गी० ४।१३) इसका तत्त्व यह है।

(अकर्मणि च यः कर्म पश्येत्) अकर्ममें जो कर्म होनेका अनुभव करता है। आत्मा अकर्ता होनेपर भी जो शरीरसे कर्म करता रहता है। जैसा वाहनमें बैठा हुआ मनुष्य अपने आपको स्थिर अनुभव करता हुआ भी गति-मान् रहता है और उसी अवस्थामें भी वह स्थिर होता है इसी तरह शरीररूपी कर्ममय वाहनमें बैठा हुआ वह मोक्ष-धामका यात्री शरीरद्वारा कर्म होनेपर भी अपने आपको अकर्ता अनुभव करता है और स्वयं आत्म-स्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी शरीरसे कर्म करता ही है। इस तरह जिसका अनुभव है वही बुद्धिमान् योगी और सब कर्म करनेका वही अधिकारी है। क्योंकि वही निष्काम कर्मका

(९) कर्मम अकर्मता

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अन्वयः— यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं बुधाः पण्डितं आहुः ॥ १९ ॥ (यः) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि, न एव किंचित् करोति ॥ २० ॥ निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥ २१ ॥ यदृच्छा लाभ-संतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः कृत्वा अपि न निबध्यते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञाय आचरतः मुक्तस्य कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसके संपूर्ण कर्मोंके आरंभ कामना और संकल्पसे रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए होते हैं उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जिसने कर्म-फलकी आसक्ति छोड दी है जो नित्य तृप्त और बिना दूसरेके आश्रयसे अर्थात् अपनी शक्तिसे जो रहता है वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ नहीं करता ॥ २० ॥ जिसने फलकी आशा छोड दी है अन्तःकरणका संयम किया है और सब भोग साधनोंका त्याग किया है ऐसा पुरुष केवल शारीरसंबंधी कर्म करनेपर भी पापका भागी नहीं होता ॥ २१ ॥ जो सहज प्राप्त वस्तुसे संतुष्ट सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त ईर्षासे रहित और सिद्धि असिद्धिके विषयमें सम भाव धारण करनेवाला है, वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥ जो आसक्ति-रहित और ज्ञानमय चित्तयुक्त है केवल यज्ञके लिये ही कर्म करनेवाले उस मुक्त पुरुषके कर्म पूर्णतासे लय होते हैं ॥ २३ ॥

तत्त्व जानता है और निष्काम-कर्म यथायोग्य रीतिसे कर सकता है।

यहां बुद्धिमान् का अर्थ मम-बुद्धि और युक्त का अर्थ योगयुक्त अथवा योगी है तथा कृत्स्नकर्मकृत् का अर्थ संपूर्ण कर्म यथायोग करनेपर भी कर्मोंके दोषोंसे निर्लेप रहनेवाला पूर्ण ज्ञानी योगी।

इन तीनों श्लोकोंमें कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म कौनसे हैं, उनके लक्षण क्या हैं, कर्मका तत्त्व गूढ होनेपर भी वह कर्म किस तरह करनेसे मनुष्य दोषमुक्त होता है इसका उत्तम वर्णन है। इसका विचार करके मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करके दोषमुक्त होकर शुभ गति प्राप्त कर सकता है।

कर्मका और एक अर्थ

अकर्म कर्म और विकर्म का और एक अर्थ है। विकर्म शब्दका अर्थ विरुद्ध हानिकारक निषिद्ध करनेवाला कर्म यह तो सिद्ध ही है। कर्म और अकर्मका भी दूसरा अर्थ है। अकर्मका दूसरा अर्थ यह है कि केवल अपने अस्तित्वके लिये किया जानेवाला कर्म अर्थात् भोजन स्नान श्वासोच्छ्वास आदि जिससे मनुष्यका केवल अस्तित्व रहता है। ये कर्म तो पशुपक्षी कृमिकीट और वृक्षवनस्पति भी करते हैं ! मनुष्य जैसा उत्तम कर्मदेह प्राप्त होनेपर भी मनुष्य केवल कृमिकीटकोंके समान ही रहा तो उसका जीवन निरर्थक ही होगा ! ऐसे सब कर्म जो केवल मनुष्यके वैयक्तिक अस्तित्वके साधक हैं वे सब अकर्म हैं।

जिन कर्मोंसे व्यक्ति और समाजकी स्थिति होती है और उसका उत्कर्ष होता है ऐसे जो यथायोग्य वास्तव कर्म हैं उनका ही नाम कर्म है। वे सामूहिक हितके और वैयक्तिक हितके भी कर्म जानना चाहिये और ऐसे वैयक्तिक

भावार्थ—भोगोंकी इच्छा और भोगमकल्पको छोड़कर जो मनुष्य सदैव कर्तव्य-कर्म करता है और जिसके कर्म ज्ञानसे शुद्ध हुए हैं वह पण्डित है ॥ कर्मका फल भोगनेकी कल्पना छोड़कर अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट हुआ हुआ जो मनुष्य अपनी शक्तिसे अर्थात् बिना दूसरेके आश्रयसे रहता है उसका शरीर कर्ममें प्रवृत्त हुआ ऐसा दीखनेपर भी उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता वह अकर्ता रहता है ॥ फल भोगकी इच्छाका त्याग करनेवाला संयमी मनुष्य सब भोग-साधनोंका त्याग करके शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले स्वाभाविक कर्म करनेपर भी उनके दोषोंसे दोषी नहीं होता ॥ सहज-प्राप्त हुए लाभमें सन्तुष्ट द्वन्द्वोंसे रहित, ईर्ष्यासे दूर और हानि-लाभके विषयमें सम-बुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता ॥ फलका भाग करनेके विषयमें जो उदासीन जिसका मन ज्ञानसे परिपूर्ण हुआ वह यज्ञके लिये कर्म करनेपर भी कर्मके दोषोंसे मुक्त रहता है मानो उसके सब कर्म लय हो चुके हैं ॥ १९—२३ ॥

और सामूहिक अवनतिकारक कर्मोंसे दूर रहना आवश्यक है इस तरहके विकर्म ये हैं यह भी ज्ञात होना चाहिये। इस प्रकार अपने वैयक्तिक अस्तित्वकी रक्षा तथा सामुदायिक उन्नतिके लिए आवश्यक कर्म और दोनोंकी अवनति करनेवाले विरुद्ध कर्म जाननेसे मनुष्य ज्ञानी योगी अर्थात् कुशलतासे कर्म करनेवाला और सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करके वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति करनेवाला होता है। यह कर्म विवेकका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। अब आगेके ५ श्लोकोंमें कर्म करते हुए भी निर्दोष होनेकी युक्ति श्रीभगवान् कहते हैं—

कर्मके दोष

(१९-२३) इन पांच श्लोकोंमें कर्मोंके करनेपर उनके दोषोंसे बचनेका उपाय कहा है और इसीका नाम यहां कर्ममें अकर्मता अर्थात् कर्म करके कर्म न करनेके समान निर्दोष रहना है। यहां अकर्मका अर्थ आलस्य नहीं परन्तु निर्दोषता है। यहां कई शंका करेंगे कि कर्ममें दोष कहां होते हैं? क्या सभी कर्म दोषपूर्ण हैं? इस विषयमें पूर्व स्थान (भ० गी० ३।९) में कुछ लिखा है, तथापि यहां भी पुनः कुछ लिखना चाहिये। प्रत्येक कर्ममें कुछ न कुछ दोष उत्पन्न होता है। देखिये श्वास और उच्छ्वास ये स्वाभाविक कर्म हैं। इन कर्मोंके कारण वायुमें स्थित असंख्य सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होती है। जब श्वास अन्दर लिया जाता है तब अन्दरकी उष्णतासे वायुके सूक्ष्म कृमि मरते हैं। तथा जब उच्छ्वासके समय वायु बाहर आता है तब वह दोषयुक्त होता है। इस तरह स्वाभाविक कर्ममें भी हिंसाका दोष है। ऐसे ही भूखोंको भोजन दान करनेके लिये अन्न पकानेका कर्म किया तो भी उस परोपकारके कर्ममें अग्नि जलाने आदिके कारण हिंसा होती है। इस तरह कर्म स्वार्थके हों अथवा परोपकारके हों हिंसा आदि दोष दूर करना कठिन है। इसके साथ अन्यान्य दोष भी होते ही हैं जिनका विचार पाठक स्वयं करें। किसीने अपने पास धान्यादिका आवश्यकतासे अधिक संग्रह किया तो कई दूसरे मनुष्योंको भूखा रखनेका दोष उसको लगता है। राज्यमें अधिकार रहनेपर जो कर्म किये जाते हैं उनमें अनेक दोष होते हैं जिनके कारण अधिकारहीन मनुष्योंको सर्वदा कष्ट होते हैं।

इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रत्येक कर्ममें दोष होते हैं और कर्म करनेसे ये दोष लगेंगेही। इनसे बचना असंभव है। इन दोषोंसे बचनेके लिये फलकी आसक्ति छोड़नेका उपाय भगवद्गीताने बताया है। देखिये एक मनुष्य स्वर्ग भोगकी प्राप्तिके लिये यज्ञरूपी कर्म करता है। उसका विश्वास है कि 'यह कर्म निर्दोष हुआ तो मुझको स्वर्ग भोग अवश्य प्राप्त होगा।' भोगपर आसक्त होनेके कारण यज्ञमें जब विघ्न या त्रुटि होगी तब वह क्रोधी होकर उसके सरीखा रक्षक और आयु भरता। इस तरह फलासक्तिसे यह दोष होता है। फलासक्ति छोड़ी जाय तो यह दोष होना संभवही नहीं है। इसी रीतिसे आसक्ति और संग छोड़नेसे बहुत दोष दूर हो सकते हैं। इसका अनुभव पाठकोंको स्वयं आ सकता है। फलासक्ति, फलसंग या भाग कामना किस प्रकार दूर सकती है इसके लिये क्या करना चाहिये फलाशा छोड़नेवाला मनुष्य कैसा व्यवहार करता है इत्यादिक विषयमें इन पांच श्लोकमें निम्नलिखित यह विशेष मनन करने योग्य है—

त्याग भाग

(१) यस्य काम-संकल्प वर्जिताः सर्वे समारंभाः।

(गी० ४।१९)

" जिसके सब कार्य भोगोंके विचारसे रहित होते हैं । " जो भोग प्राप्त करनेके हेतुसे कोई कर्म नहीं करता अपने भोग बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं है । जो कर्म करता है, परन्तु फल-भोगकी इच्छा उसकी मनमें नहीं होती है । जो सब कर्म यथायोग्य करता हुआ भी भोगेच्छारहित रहता है काम-भोगका संकल्प भी जिसके मनमें नहीं उठता है, जो (स) एकीकरण या संघटनाके लिये (आरंभ) कर्म प्रारंभ करता है परन्तु अपने भोगोंकी लालसा उसमें नहीं होती ।

(२) निराशीः । (गी ४।२१)

भोगोंकी आशा जिसमें नहीं है । अपने भोगके लिये विविध भोग चाहिये ऐसी इच्छा जिसके मनमें नहीं है अपने लिये भोग प्राप्त करनेकी आकांक्षा भी नहीं धारण करता ।

(३) गत-संग । (गी ४।२३)

जिसने भोगोंका संग छोड दिया । जिसके मनसे फलके भोगनेकी इच्छा दूर हो गयी है जिसके मनमें विषय भोग करनेकी इच्छाही नहीं उत्पन्न होती ।

(४) कर्मफलासंगं त्यक्त्वा । (गी ४।२०)

जो कर्मफलके भोग करनेकी इच्छाका त्याग करता है । अपने कर्मके फलका भोग स्वयं भोगना चाहिये ऐसी इच्छा जिसके मनमें नहीं है कर्मके फलका भोग करनेकी इच्छासे भी दूर रहता है ।

(५) त्यक्त-सर्व-परिग्रह । (गी ४।२१)

जिसने सब वस्तु-संग्रह करना छोड दिया है । जो अन्य वस्तुओंका संग्रह अपने पास नहीं करता जो अपनी भोगेच्छामें कम करता है जो न्यूनसे न्यून वस्तुओंसे अपना निर्वाह करता है ।

(६) निराश्रय । (गी ४।२०)

जो किसी दूसरेपर अपना आश्रय नहीं करता । जो स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है जो अपनी शक्तिसे अपने अन्दरही सन्तुष्ट रहता है जो अपने सुखके लिये किसी दूसरेपर या दूसरे पदार्थपर अवलंबित नहीं रहता जो अपने ही आधारपर रहता है ।

(७) नित्य-तृप्तः । (गी ४।२०)

जो सदा तृप्त रहता है । जो सदा सन्तुष्ट सुखी और आनन्दपूर्ण रहता है । जिसको अपने अन्दरसेही आनंद प्राप्त होता है ।

(८) यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टः । (गी ४।२२)

जो सहज-प्राप्त हुए भोग-वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है । जो अधिक भोग करनेकी अभिलाषा धारण नहीं करता, जो भोग सहज प्राप्त होता उससेही जो आनन्दित रहता है भोग कम मिलनेपर अप्रसन्न नहीं होता ।

(९) यत-चित्तात्मा । (गी ४।२१)

जिसने अपना मन, चित्त अथवा अन्तःकरण अपने अधीन रखा है । जो अपने मनको स्वैर भटकने नहीं देता जिसका मन उसकी आत्मामेंही स्थिर रहता है वह भोगोंपर नहीं जाता ।

(१०) सिद्धौ असिद्धौ च समः । (गी ४।२२)

जो सिद्धि और असिद्धिके विषयमें सम भाव धारण करता है । " सुख मिलनेपर जो गर्वित नहीं होता और दुःखसे जो हताश नहीं होता, लाभसे जो घमंड नहीं करता और हानिसे जो त्रस्त नहीं होता कर्मको सिद्धि मिलनेपर जो उन्मत्त नहीं होता और असिद्धि होनेसे जो खिन्न नहीं होता अर्थात्—

(११) द्वन्द्वातीतः । (गी ४।२२)

जो सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके परे पहुंचा है । द्वन्द्वोंसे जो पराभूत नहीं होता द्वंद्वोंके होनेपर जो अपने समत्वसे भ्रष्ट नहीं होता द्वन्द्वोंका हमला होनेपर भी जो अपने समत्वके स्थानमें स्थिर रहता है ।

(१२) विमत्सरः । (गी ४।२२)

जो दूसरेका उत्कर्ष देखकर ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं करता । " जो किसीका मत्सर नहीं करता दूसरेके वैभवके विषयमें जिसके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं उत्पन्न होता ।

(१३) मुक्त । (गी ४।२३)

वह मुक्त कहलाता है । जो पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त है उसको मुक्त कहते हैं । इस मुक्तके और दो लक्षण हैं-

(१४) ज्ञानावस्थित-चेताः । (गी ४।२३)

ज्ञानमें जिसका चित्त स्थिर रहता है । " ज्ञानका अर्थ है (मोक्षे धीः) मोक्षके विषयमें बुद्धिका स्थिर होना । इस मोक्षविषयक ब्रह्मज्ञानमें जिसका चित्त तत्पर होकर

रहता है कभी उस ब्रह्म-ज्ञानको छोड़कर दूसरे भोग-विषयों में नहीं भटकता, स्वभावसेही जिसका चित्त ब्रह्म ज्ञानमें लगा है तथा—

(१५) ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्मा। (गी ४।१९)

जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो चुके हैं।' ब्रह्म-ज्ञान किंवा मोक्ष-ज्ञान प्राप्त होनेसे जिसमें अपने भोग-वर्धनके लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रही है जो केवल यज्ञरूप किंवा आत्मरूपसे रहता है, वास्तविक भोगोंके विषयमें जिसकी प्रवृत्तिही नहीं रहती शुद्ध ज्ञानसे जिससे शुद्ध यज्ञरूप कर्म होते हैं, वह मुक्त है।

(१६) यज्ञाय आचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।
(गी ४।२३)

" पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य यज्ञके लिये जो कर्म करता है, वह कर्म सबका सब लयको प्राप्त होता है। " अर्थात् उस कर्मका दोष उसको नहीं लगता। यज्ञमें तीन कर्तव्य होते हैं-(यज्ञ=देवपूजा-संगतिकरण-दान) (१) जो सत्कार करनेयोग्य हैं उन सज्जनोंका यथायोग्य सत्कार करना। (२) संगतिकरण अर्थात् संघटनाद्वारा जनतामें बलकी वृद्धि करना और (३) दीनोंकी सहायता करना। इस त्रिविध कर्मका नाम यज्ञ है। इस प्रकारके यज्ञ-कर्म वह करता है। परन्तु वे कर्म करते ही क्षीण हो जाते हैं इसलिये ऐसे कर्मोंका दोष उसको नहीं लगता। यही बात निम्नलिखित वचनोंमें कही है-

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।
(गी ४।२)
कृत्वाऽपि न निबध्यते। (गी ४।२२)
केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति।
(गी ४।२१)

वह मुक्त अथवा अनासक्त मनुष्य ' कर्म ' करनेके लिये प्रवृत्त हो तो भी कर्म न करनेके समान निर्दोष रहता हुआ बद्ध नहीं होता। केवल शारीरिक कर्म करनेपर भी वह पापका भागी नहीं होता। शरीर रक्षणार्थ आवश्यक कर्म करनेपर भी उसको उन कर्मोंसे दोष नहीं लगता।

कर्ममें अकर्मता

इन पांच श्लोकोंमें यह एक ही विषय कहा है। (कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्ममें अकर्म देखनेका उपदेश श्लोक १८ में कहा है। इस तरह कर्ममें अकर्मका अनुभव कौन कर सकता है ? इस प्रश्नका उत्तम विवरण इन पांच श्लोकोंमें है। जो इन गुणोंसे युक्त है वह कर्ममें अकर्म देखता है, अर्थात् कर्म करके भी न करनेके समान शुद्ध रहता है किंवा उन कर्मोंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होता। कर्मके दोषोंसे बचने की यह युक्ति है। भोगोंपर आसक्ति न रखनेसे सब कर्मोंके दोष दूर होते हैं। अब कौन मनुष्य कर्मके दोषोंसे बद्ध होते हैं इसका विचार देखिये—

भोग मार्ग

(१) जो लोग अपने कामोपभोग बढानेके लिये ही कर्मका प्रारंभ करते हैं, (२) जो अनेक आशा-पाशोंसे बद्ध रहते हैं, (३) जो फल भोगोंपर आसक्त हैं, (४) जो भोगोंका संग करते हैं, (५) जो अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करते हैं (६) जो अपने सुखके लिये दूसरोंपर अवलंबित रहते हैं (७) जो सदा अतृप्त और भूखे होते हैं (८) जो प्राप्त वस्तुमें कभी सन्तुष्ट नहीं रहते (९) जो अपने मनको भोगोंमें स्थैर भटकने देते हैं, (१०) लाभ होनेपर जिनको घमंड होती और हानि होने पर जो उदास होते हैं (११) इस तरह सब द्वन्द्वोंसे जो अभिभूत होते हैं (१२) जो भाग्यवानोंका मत्सर और द्वेष करते हैं, जो उनसे ईर्ष्या करते हैं, (१३) जो इन भोगों के बन्धनोंको तोड़ना नहीं चाहते (१४) जो आत्मज्ञान का द्वेष करते हैं और भोगोंके विषयोंकाही सदा विचार करते हैं, (१५) जो अपने स्वार्थके लिये सब कर्म करते हैं, वे अपने कर्मोंके दोषोंसे प्रतिसमय बंधे जाते हैं। वे जो कर्म करते हैं उसके संपूर्ण दोषोंसे दोषी होते हैं, और उन दोषोंके कारण पाप और दुःखके भागी होते हैं। ऐसे जो पुरुष पाठकोंके परिचित होंगे उनके दुःखोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि यह मार्गोंकी वास्तविकता मार्ग निःसन्देह दुःखकारक है।

शारीर कर्म

यहां (शारीरं केवलं कर्म) केवल शारीर कर्म करने वाला संयमी मनुष्य (किल्बिषं नाप्नोति) पापका भागी नहीं होता ऐसा कहा है। अतः यहां 'शारीर कर्म' का अर्थ क्या है इसका विशेष विचार करना आवश्यक है। यह विचार अब करते हैं-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१

जिसने आशा छोड़ दी है अन्तःकरणका संयम किया है और सब वस्तुओंका संग्रह करना भी छोड़ दिया है उसका केवल शारीरिक कर्म करनेपर पाप नहीं लगता। " यह इस श्लोकका आशय है।

ईश-दास्यके कर्म

आशा छोड़नेसे वासनात्मक कर्म नहीं होता अन्तःकरणका संयम करनेसे मनका काम नहीं होता तथा वस्तुसंग्रह न करनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति रक्षा, वृद्धि आदिके विषयमें जो यत्न करने चाहिये वे नहीं होते। इस तरह सब कर्म स्वयं ही बंद होते हैं। जिसके मनमें भोग प्राप्त करनेकी आकांक्षा है अन्तःकरण स्वैर संचार करता है और जो भोग-साधनोंका संग्रह करता है वही सदा सर्वदा भोगोंके कार्यमें व्यग्र रहता है। परन्तु जिसकी आशा नष्ट हुआ चित्तका संयम हुआ और जो वस्तुसंग्रह नहीं करता उससे किस हेतुसे कर्म होंगे? अर्थात् आशानाश ख्व और मनःसंयम होते ही वह ब्रह्मरूप आत्मासे युक्त हुआ उसमें निजकी कोई प्रेरणा नहीं रही अतः उसके जो कर्म होंगे वे परमेश्वरीय प्रेरणासे होंगे। उसका चित्त भी शांत है उससे कर्म न होगा अतः उसके शरीरसे ही जो कुछ होगा वह शारीर कर्म बनेगा। इस तरह जो शारीरिक कर्म बनता है उसमें इस कर्ताकी प्रेरणा न होनेसे इसको उस शारीरिक कर्मका दोष नहीं लग सकता। अतः वह शारीरिक कर्म करनेपर भी वह निर्दोष रहता है।

उदाहरणार्थ देखिये कि एक गुलाम या दास है। स्वामी की आज्ञासे वह कार्य करता है मनमें न होते हुए भी उसको कर्म करने पड़ते हैं। अतः किये हुए कर्मोंसे वह दास दोषी नहीं होता क्योंकि उस कर्ममें उसका मन नहीं होता। इसी तरह भक्त परमेश्वरका अनन्यशरण दास होता है। उसकी मन बुद्धि चित्त अहंकार आत्मा आदि सब परमेश्वरमें लीन होती हैं। उसका केवल शरीर ही यहां जागृत रहता है। वह ईश्वरीय प्रेरणासे सब कार्य करता है और उससे जो कुछ शारीरिक कर्म होते हैं, उससे उसको कोई दोष नहीं लगता। जब अपने सुखके लिये उसकी प्रेरणा ही नहीं है जब उसका शरीर परमेश्वरका साधन बना तब उस शरीरसे हुए कर्मसे उसको दोष किस तरह लग सकता है?

शरीर निर्वाहके कर्म

यहां "केवलं शारीरं कर्म" का अर्थ 'शरीरसे होनेवाले स्वाभाविक कर्म' किंवा 'शरीर निर्वाहके लिये अत्यंत आवश्यक कर्म' ऐसा दो प्रकारसे होता है। जब उसने भोगोंकी आशा पूर्णतासे छोड़ दी सब इंद्रियोंका संयम किया और सब भोग-वस्तुओंके संग्रह करनेका भी त्याग किया तब उससे भोग-प्राप्त्यर्थ कर्म होनेकी कोई संभावना ही नहीं है। इसका मन इस समय ऐसे कर्मोंमें नहीं लग सकता यह तो इस समय महात्मा बन जाता है। जबतक शरीर रहेगा तबतक शरीर निर्वाहके लिये उससे कुछ कर्म अवश्य होंगे परंतु ऐसे शरीर निर्वाहार्थ किये कर्मोंसे पाप नहीं हो सकता क्योंकि इन कर्मोंका प्रभाव उसपर नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास मल-मूत्रादि उत्सर्ग भोजन शयन स्नान आदि सब कर्म शारीरिक कर्म हैं—शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले ये कर्म हैं— अतः ये इसको बाधक नहीं हो सकते।

कर्मेन्द्रियोंके कर्म

यहां इस श्लोकके विषयमें कइयोंका ऐसा मत है कि यहां 'शारीरं कर्म' का अर्थ 'शरीर या कर्मेंद्रियोंसे होनेवाले कर्म' ऐसा है। इस प्रकार अर्थ करनेके लिये वे प्रमाण देते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(गी० ५।११)

कर्मयोगी शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे मोक्षवासना छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं। यहां जिस भावसे कर्माचरण किया है वही अर्थ—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।
(गी० ४।२१)

यहां है। इस तरहके कर्मवादी कहते हैं कि यहांके 'शारीरं कर्म' का अर्थ 'शरीर धारणके लिये कर्म' नहीं है, परन्तु 'कर्मेंद्रियोंसे होनेवाले कर्म' ऐसा ही यहां अर्थ है। इस मतका विचार इस स्थानपर अवश्य करना चाहिये

(१०) यज्ञ-विचार

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

जो कहते हैं कि 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् इसका अर्थ कर्मेन्द्रियोंसे ही कर्म करनेवाला पापका भागी नहीं होता' है, तो इस अर्थका तात्पर्य यह होगा कि मन बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियोंसे जो कर्म होते हैं, उनके करनेपर उस कर्मका कर्ता पापका भागी अवश्य होगा। क्योंकि यहां केवलं शारीरं कर्म ऐसा उल्लेख है। यदि केवल शारीर कर्मसे पाप नहीं लगता तो मानसिक या बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा ! परन्तु आशारहित संयमी और अपरिग्रहशीलको मानसिक या बौद्धिक कर्मसे पाप लगेगा यह कल्पनाही अयुक्त प्रतीत होती है । इस कारण उक्त मतवादियोंका अर्थ अयोग्य है ।

शारीरं कर्म का अर्थ शरीरद्वारा किया कर्म ऐसा करके उसका दोष कर्ताको नहीं लगता ऐसा श्लोकका आशय माननेपर ऐसा मानना पडेगा कि शरीरद्वारा अथवा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा निषिद्ध कर्म करनेपर भी कर्ताको दोष नहीं लगते । परन्तु निषिद्ध कर्मोंके करनेसे दोष नहीं लगता ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका आशय मानना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि निषिद्ध कर्म सर्वकाल निषिद्ध ही हैं। यदि उसका अर्थ शास्त्रविहित कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता ऐसा माना जाय तो शास्त्रविहित कर्मोंसे दोष लगता है ऐसा किसीका भी मत नहीं है । अतः भगवान्‌ने ऐसा व्यर्थ उपदेश क्यों किया ? इस तरह दोनों रीतियोंसे यह उपदेश व्यर्थ और अनर्थकारक सिद्ध होता है। अब शारीर कर्म का अर्थ यहां शरीरद्वारा किया कर्म ऐसा नहीं है परन्तु शरीरयात्राके लिये अत्यंत आवश्यक कर्म, ऐसा ही मानना उचित है ।

शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले कर्म आशारहित संयमी पुरुषको बाधक नहीं होते । इसका और भी एक हेतु हो सकता है । जो शरीर परमेश्वरने दिया वह उसीकी सेवामें अर्पण करनेसे उसका पालन परमेश्वरीय नियमोंसेही होना योग्य है । अतः शरीर-निर्वाहके लिये कर्म करनेका अर्थ ही परमेश्वरीय नियमोंका पालन करना है । परमेश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे किसीको दोष लगनेकी संभावना ही नहीं है ।

अति-संग्रहका दोष

मनुष्य सामाजिक जीवनमें अपने पास अतिसंग्रह करनेका दोष करता है । अति-संग्रह करना बडा दोषकारक है क्योंकि किसी एकके पास वस्तुओंका अति-संग्रह हुआ तो दूसरेके पास उतने प्रमाणसे न्यूनता होगी । किसी एकने भोग्य पदार्थोंका अति-संग्रह अपने पास किया, तो दूसरे कई भूखे मरेंगे । अर्थात् यह अति-संग्रही मनुष्य दूसरोंको भूखे मारनेका दोषी होता है । हरएक बातमें अर्थात् अधिकार, धन विद्या राज्य-शासन आदि सब व्यवहारोंमें अति-संग्रह बडा भारी दोष है । अति-संग्रह करनेकी इच्छाके कारण इस जगतमें जितने युद्ध हुए हैं उतने किसी अन्य कारणोंसे न हुए होंगे । इस तरह दोषोंका जनक यह अति-संग्रह है । इसको दूर करनेके लिये त्यक्त सर्व-परिग्रह यह आदर्श भगवद्गीता-द्वारा जनताके सम्मुख रखा गया है । संग्रह-त्याग किंवा अपरिग्रह व्रत लेनेका अर्थ अपने पासका वस्तुसंग्रह सब जनताको भलाईके लिये समर्पण करना और पश्चात् जीवन निर्वाहकी अपेक्षासे अधिक संग्रह न करना । अब पाठकोंके मनमें इस बातका प्रकाश हुआ होगा कि अति-संग्रह की वृत्तिसे पाप किस तरह होता है और अपरिग्रह की वृत्तिसे मनुष्य किस रीतिसे निष्पाप होता है ।

आगे (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते) यज्ञके लिये कर्म करनेवालेका किया हुआ कर्म संपूर्णतया नष्ट होता है और कर्म नष्ट होनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य शुद्ध होता है । इस विधानका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये यज्ञ कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये । यह बातका विचार अगले श्लोकोंमें किया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति । सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वय — ब्रह्म अर्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् ॥ २४ ॥ अपरे योगिनः दैवं एव यज्ञं पर्युपासते, अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन यज्ञं एव उपजुह्वति ॥ २५ ॥ अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति ॥ २७ ॥ अपरे संशितव्रताः द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः तथा च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः यतयः (सन्ति) ॥ २८ ॥ तथा अपरे अपाने प्राणं प्राणे च अपानं जुह्वति । (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (सन्ति) ॥ २९ ॥ अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः (सन्ति) ॥ ३० ॥ हे कुरुसत्तम ! यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति कुतः अन्यः ॥ ३१ ॥ एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः (सन्ति त्वं) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि । एवं ज्ञात्वा (त्वं) विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥ हे परन्तप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । हे पार्थ ! सर्वं अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

(यज्ञमें) अर्पण (की क्रिया) ब्रह्म है हवनकी वस्तु ब्रह्म है ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मने हवन किया है (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिसे सभी कर्म ब्रह्मरूप हुए हैं वह ब्रह्मको ही प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ कोई कोई कर्मयोगी देवताओंके संबन्धका यज्ञ करते हैं और कोई ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञकाही हवन करते हैं ॥ २५ ॥ और कोई श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं और कोई दूसरे शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २६ ॥ और कई लोग ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें सब इन्द्रियकर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥ दूसरे कोई अति कठिन व्रत करनेवाले द्रव्यसे यज्ञ करनेवाले तपसे यज्ञ करनेवाले योगसे यज्ञ करनेवाले और स्वाध्यायके ज्ञानसे यज्ञ करनेवाले यति होते हैं ॥ २८ ॥ तथा दूसरे कई अपानमें प्राणका और प्राणमें अपानका हवन करते हैं और दूसरे कोई प्राण और अपानकी गतिको रोक कर प्राणायाममें तत्पर होते हैं ॥ २९ ॥ और कई लोग आहारको नियमित कर प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं ये सभी लोग यज्ञके जाननेवाले और यज्ञद्वारा अपने पापको दूर करनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥ हे कौरवश्रेष्ठ अर्जुन ! ये यज्ञ करके अवशिष्ट रहे अमृतका भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवालेके लिये जब यह लोक (सुखदायक) नहीं है तब भला उसको परलोक कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अनेक तरहके यज्ञ ब्रह्माके मुखमें (वेदमें) विस्तारित हुए हैं। तू यह समझ कि ये सब कर्मसे होते हैं। यह ज्ञान होनेसे तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है। क्योंकि हे पार्थ ! सब प्रकारके कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें ही होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— यजमान, अग्नि, हवन सामग्री, अर्पणक्रिया किंवा यज्ञके सब साधन ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जो अनुभव करता है, वह ब्रह्म बनता है ॥ कई लोग देवताके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और कई ब्रह्मके उद्देश्यसे यज्ञका समर्पण करते हैं ॥ कई लोग इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें विषयोंको इंद्रियोंमें और इंद्रियोंके और प्राणोंके कर्मोंको आत्मसंयमाग्निमें हवन करते हैं ॥ कई लोग द्रव्यसे तपसे योगसे और अध्ययनसे अथवा ज्ञानसे यज्ञ करते हैं और संयम करते हैं। प्राणायामाभ्यासी कोई योगी अपानका प्राणमें और प्राणका अपानमें यज्ञ करते हैं ॥ दूसरे कई योगी आहारको नियमित करके प्राणका प्राणमें यज्ञ करते हैं, ये सब लोग यज्ञद्वारा अपने पापका नाश करनेवाले हैं ॥ यज्ञ करके जो बच जाता है, उस अमृतका जो सेवन करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञसे जैसा इस लोकमें सुख मिलता है उसी प्रकार परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ऐसे अनेक यज्ञ वेदमें ही वर्णित हुए हैं वे सब यज्ञ कर्मसेही सिद्ध होते हैं। सब यज्ञोंकी सिद्धता कर्मसे होती है यह तत्त्व जो जानता है वह मुक्त होता है ॥ द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करनेवाला है क्योंकि सब कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमेंही होता है इस कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ २४—३३ ॥

विविध यज्ञ

(२४-३३) इन दस श्लोकोंमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन है। ये यज्ञ भी संक्षेपसे कहे हैं। परन्तु इनके विचारसे यज्ञकी व्यापक कल्पना पाठकोंको हो सकती है। यहां जो यज्ञ कहे हैं उनकी सुबोधताके लिये उन यज्ञोंको तालिकाके रूपमें यहां रखते हैं—

मुख्य यज्ञ	भेद		यज्ञभेद	गीताऽध्याय	यजमान	देवता	अग्नि	हवि	साधन	फल
१ ब्रह्मयज्ञ	१	१	ब्रह्म यज्ञ	४।२४	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्म	ब्रह्मरूपता
परमात्मयज्ञ			आत्मयज्ञ		आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	आत्मा	
			अहं क्रतु।	९।१६	अहं	अहं	अहं	अहं	अहं	,,
			जीवयज्ञ		जीव	परमात्मा	परमात्मा	जीव	जीव	
			यज्ञ	४।२५	यज्ञ	यज्ञ	ब्रह्म	यज्ञ	यज्ञ	,,
			(आत्म) ज्ञानयज्ञ		ज्ञाता	ब्रह्म	शिष्य	ज्ञान	वाणी	,,
२ द्रव्ययज्ञ	२	२	द्रव्ययज्ञ	४।२८				यज्ञाग्नि		पापनिवृत्ति
दैवयज्ञ		३	दैवयज्ञ	४।२५	योगी	दैवत				चित्तशुद्धि
३ शरीरयज्ञ	२	४	ज्ञानेंद्रिययज्ञ	४।२६			संयम	ज्ञानेंद्रिय		
		५	विषययज्ञ				इंद्रिय	विषय		,,
४ वाग्यज्ञ	१	६	स्वाध्यायज्ञान यज्ञ	४।२८			(शिष्य)	(ज्ञान)		
			ज्ञानयज्ञ							
			विज्ञानयज्ञ							
५ प्राणयज्ञ	४	७	प्राणयज्ञ	४।२९			अपान	प्राण		
		८	अपानयज्ञ				प्राण	अपान		
		९	प्राणापानयज्ञ	,,				प्राणापान		,,
		१	आन्तरप्राणयज्ञ	४।३			प्राण	प्राण		

१ बुद्धियज्ञ	१	११	योगयज्ञ	४।२८	समबुद्धि	स्थितबुद्धि
२ कर्मयज्ञ		१२	तपोयज्ञ	४।२८		
		१३	जपयज्ञ	१०।२५		
		१४	इन्द्रियप्राण-कर्मयज्ञ	४।२७	आत्मसंयम योगाग्नि	प्राणकर्म इन्द्रियकर्म

ब्रह्म यज्ञ

इन यज्ञोंमें सबसे पहिला यज्ञ ब्रह्म-यज्ञ है। ब्रह्म शब्दके परमात्मयज्ञ, जीवात्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ ये तीन अर्थ हैं। जो ब्रह्मयज्ञ नामक अनुष्ठान नित्य करते हैं वह ज्ञान-यज्ञ है। इस ज्ञानयज्ञके भी और दो भेद हैं एक भौतिक ज्ञान यज्ञ जिसको विज्ञानयज्ञ भी कह सकते हैं और दूसरा (मोक्षे धीर्ज्ञान) मोक्षज्ञानयज्ञ। भौतिक ज्ञानयज्ञमें सब पदार्थोंकी विद्या शिष्यको दी जाती है जिससे सांसारिक सुखोंकी वृद्धि हो सकती है। दूसरा मोक्षज्ञानयज्ञ है इससे शान्ति अथवा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस विषयमें अथर्व वेदका यह मंत्र देखनेयोग्य है-

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥
(अथर्व ११।८।२३)

"(विद्या) ब्रह्मज्ञान (अविद्या) प्राकृतिक विज्ञान और जो कुछ उपदेश करने योग्य क्रियाकर्म है वह सब ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और (ब्रह्म) अथर्ववेद रूप सब ज्ञान (शरीरं) मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है।"

यहां दो प्रकारके ज्ञान और उपदेश्य कर्म मनुष्यमें वेद रूपसे प्रविष्ट हुए हैं ऐसा कहा है। आत्मज्ञान सांसारिक व्यवहारज्ञान और अनुष्ठानसंबंधी ज्ञान यह सब ज्ञान प्राप्त करनेयोग्य हैं। यहां कई लोग अविद्या शब्दका अर्थ ठीक प्रकार समझते नहीं और अज्ञान अर्थमें यह शब्द है ऐसा मानते हैं। इसलिये उसके अर्थके विषयमें थोडासा अधिक मनन करना चाहिये-

आत्मज्ञान	अनात्मज्ञान
ब्रह्म ज्ञान	सृष्टि ज्ञान
आत्मविद्या	अनात्मविद्या
ब्रह्म विद्या	अब्रह्म-विद्या
ईश-विद्या	भौतिकविद्या
( ) विद्या	( ) अविद्या

'विद्या' और 'अविद्या' शब्दोंका यह अर्थ है। विद्या शब्दका अर्थ आत्माकी विद्या और अविद्या शब्दका अर्थ अनात्मा अर्थात् सृष्टिकी विद्या है। यही अर्थ निम्नलिखित वेदमंत्रमें है -

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(वा. य. ४०।१२-१४; ईशोप. ९-११)

केवल (अ-विद्या) सांसारिक विद्यामें जो रहते हैं, वे भी दुःखी होते हैं और जो केवल (विद्या) आत्मज्ञानमें रमते हैं [और उदरपोषणादिके लिये भी कुछ काम नहीं करते] वे भी अधिक कष्ट अनुभव करते हैं। सांसारिक विद्यासे एक काम है और ब्रह्मविद्यासे दूसरा काम है। अतः जो मनुष्य (उभय सह) दोनों विद्याओंको साथ साथ प्राप्त करना हितकारी मानता है वह सांसारिक विद्यासे कष्टोंको दूर करके ब्रह्मज्ञानसे अमृतमय मोक्ष प्राप्त करता है।

पाठक मननपूर्वक इस ज्ञानयज्ञका महत्त्व जानें और उससे अपना इह-पर-लोकमें कल्याण साधन करें। मनुष्यको इहलोकमें उत्तम व्यवहार चलानेके लिये सृष्टि-विद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और पारलौकिक कल्याणके लिये भी ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति करनी चाहिये। ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेसे ही मनुष्यका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्रह्मयज्ञ में जो ऋषियोंका और उनके ग्रन्थोंका नामनिर्देश है वह इन दोनों प्रकारके ज्ञानका पोषक है। पाठक इसका विचार करके और ब्रह्मयज्ञद्वारा दोनों प्रकारका यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करके अपनी उन्नतिका साधन करें। इस विषयमें वाजसनेयी यजुर्वेदमें इस तरह लिखा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । क्षत्राय राजन्यम् ॥ ५ ॥
नृत्ताय सूतम् । गीताय शैलूषम् ।
धर्माय सभाचरम् ॥ ६ ॥ हेत्यै धनुष्कारम् ॥ ७ ॥
(वा. यजु. ३०)

'मोक्षज्ञानकी प्राप्ति करनेके लिये ज्ञानीके पास, शौर्यके लिये वीरके पास, नृत्य सीखना हो तो नर्तकके पास, गायन सीखनेके लिये गायकके पास, धर्म-नियम जानना हो तो धर्म-सभाके सदस्यके पास और हथियार प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हथियार बनानेवालेके पास जा। इस तरह सांसारिक और पारमार्थिक विद्याकी प्राप्तिके विषयमें वेदमें कहा है। यह सब मनन करनेयोग्य है।

वस्तुतः ब्रह्मयज्ञका विषय बड़ा विस्तृत है, परंतु उसकी सब व्याप्तिका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है। अतः यहां इस विषयमें इतना ही विवेचन पर्याप्त है। पाठक इतनाही स्मरण रखें कि इस ब्रह्मयज्ञमें ऋषिविद्या और ब्रह्म विद्या ये दोनों विद्याएं प्राप्त करनेका उपदेश किया है। यही ज्ञानयज्ञ है। यह ज्ञान गुरु अपने शिष्यके अन्तःकरणमें हवन करता है। इस यज्ञमें गुरु यजमान है, शिष्यका अन्तःकरण अग्नि है और उसमें इस ज्ञानरूपी हविकी आहुतियां डाली जाती हैं।

परमात्माका आत्मयज्ञ

ब्रह्मयज्ञका दूसरा अर्थ है परमात्मयज्ञ अर्थात् ब्रह्मका यज्ञ अथवा जीवात्मयज्ञ। प्रथमतः हम परमात्माके अथवा ब्रह्मके यज्ञका विचार करेंगे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणमें निम्नलिखित पंक्तियां मनन करनेयोग्य हैं—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति । तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत् । तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेध्यान् हुत्वा सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति ॥ (श. ब्रा. १३।७।१।१)

स्वयंभु ब्रह्मने तप किया, उसने देखा कि तपमें सचमुच आनन्त्य नहीं है। इसलिये उस ब्रह्मने कहा कि मैं अपने आत्माका सब भूतोंमें और सब भूतोंका आत्मामें हवन करूंगा। पश्चात् उसने अपने आत्माका सब भूतोंमें और आत्मामें सब भूतोंका हवन किया। इससे उस ब्रह्मको श्रेष्ठता स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त हुआ। इस तरह जो मनुष्य अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्रके लिये करता है, वह श्रेष्ठता स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है।

यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञका वर्णन है। स्वयंभु ब्रह्म अपने ही तेजसे प्रकाशित था, तब उसको किसीने नहीं जाना। परंतु जब उसने अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र या संपूर्ण जगत्के लिये किया तब उसकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई, उसको स्वाराज्य प्राप्त हुआ और सब जगत्का आधिपत्य इसी कारण उसको मिला। ब्रह्मने जब अपने सर्वस्वका यज्ञ दूसरोंकी भलाईके लिए किया तब उसकी श्रेष्ठता मानी गयी। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसर्वस्वका यज्ञ मनुष्यमात्र की अथवा प्राणिमात्रकी भलाईके लिये करेगा, तब वह श्रेष्ठता प्राप्त करेगा, उसको 'स्वाराज्य' और राष्ट्रमें अधिकारका स्थान प्राप्त होगा। यहां स्वयंभु ब्रह्मके आत्मयज्ञ द्वारा सब मनुष्योंको उपदेश दिया है कि वे भी इसी तरह ब्रह्मयज्ञ अर्थात् आत्मयज्ञ करें। यहां ब्रह्मयज्ञ और आत्मयज्ञ ये दोनों शब्द आत्म-सर्वस्व-समर्पणके अर्थमें हैं। इसी तरह विश्वकर्मा (विश्वकी रचना करनेवाले परमात्मा) के आत्म-यज्ञका उल्लेख देखिये—

विश्वकर्माका आत्म-यज्ञ

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवांचकार तदभिवादिन्येषर्गभवति । य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति ।
(निरु० १०।२६)

भुवनोंके निर्माता जगत्कर्ता परमात्माने आत्मसर्वस्वका यज्ञ किया। उसने प्रथम सब भूतोंका यज्ञ किया और अन्तमें अपने आत्मसर्वस्वका भी पूर्णतया समर्पण किया। यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥ (ऋ. १०।८१।१)

(यः नः पिता) जो हम सबका पिता (ऋषिः) ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा है उसने इन सब भुवनोंका समर्पण

किया और यज्ञकी इच्छा करनेवाला वह (प्रथम ज्येष्ठ) पहिले स्थानके लिये योग्य होता हुआ भी (म सदान् मा पियेश) कनिष्ठोंमें मिलकर रहने लगा।

यही उसका आत्मयज्ञ है और यही उसकी महत्ताका हेतु है। वह उच्च स्थानपर विराजमान होनेका अधिकारी होनेपर भी वह कनिष्ठोंके साथ मिल-जुलकर रहने लगा। परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, तथापि वह निकृष्टसे निकृष्टके साथ रहता है और उसमें चैतन्यका प्रकाश करता है। इसी कारण उसकी सामर्थ्य सबसे अधिक हुई है। इसी तरह जो मनुष्य अपनी उच्चताकी घमंड छोड़कर नीचसे नीच दशी हुई जातिके उद्धारके लिये आत्मसमर्पण करेगा उसका महत्त्व अधिक होगा। यह परमात्माके आत्मयज्ञका स्वरूप है। इस प्रकार जो आत्मयज्ञ करता है वही विश्वविजयी होता है—

विश्वजित् विश्वभृद्विश्वकर्मा। (अथर्व ४।११।५)

" जो विश्वके सुखके लिये कर्म करता है, जो विश्वका भरण-पोषण करनेके लिये बलवान् होता है वही (विश्वजित्) विश्वविजयी होता है। ' अर्थात् जो जगत्के लिये आत्मसमर्पण करता है वही विश्वविजेता हो सकता है। आत्मयज्ञसेही जगत्में विजय करना संभव है। इसी विषयमें और देखिये—

नारायणका आत्म-यज्ञ

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स एतं पुरुषमेधं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत् तेनायजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते॥ (शत० ब्रा० १३।६।१।१)

" परमपुरुष—नारायण—ने इच्छा की कि मैं सब भूतोंमें श्रेष्ठ होऊं और मैं ही सब बनूं। उसने वह पुरुष-यज्ञ किया और वह सब भूतोंमें श्रेष्ठ बना। जो इसका तत्त्व जानता है वह आत्म-यज्ञ करनेद्वारा सब भूतोंमें श्रेष्ठ बन सकता है। "

इस तरह ब्राह्मणग्रंथोंमें परमात्माके आत्म-समर्पणका महत्त्व वर्णन है। यही वेद-मंत्रोंका तात्पर्य है। यह ब्राह्मण-ग्रंथोंकी मनगढन्त बात नहीं है। इस विषयके कुछ मंत्र ऊपर दिये हैं। इस परमात्माके आत्म-समर्पण-सम्बन्धी आत्मयज्ञका सीधा तात्पर्य यह है— परमात्मा विश्वरूपमें था। उस समय उसको जाननेवाला और उसकी श्रेष्ठता पहचाननेवाला कोई नहीं था। उसने अपनी शक्तिका समर्पण करके सब सृष्टिकी रचना की, उसका पालन किया, उसकी व्यवस्था की। इस आत्म-समर्पणके कारण वह इस जगत्का अधिपति बना, समर्थ बना और उसका यश सर्वत्र हुआ। इसी तरह जो मनुष्य आत्मसमर्पणद्वारा सब मनुष्योंका हित करनेका यत्न करनेमें अपनी शक्तिसमर्पणकी पराकाष्ठा करेगा, वही इस जनतामें माननीय यशस्वी और श्रेष्ठ पुरुष बनेगा। अर्थात् आत्मयज्ञसे महत्ता प्राप्त होती है। आत्म-यज्ञ परमात्म-यज्ञ नारायण-यज्ञ पुरुष-यज्ञ आदि सब्दोंसे यह तात्पर्य पाठक यहां देखें और इसको अपने आचरणमें लानेका यत्न करें।

मनुष्यका आत्म-यज्ञ

आत्म-यज्ञ तो जैसा परमात्मा करता है उसीके अनुसार जीवात्माको अर्थात् मनुष्यमात्रको करना आवश्यक है। मनुष्यकी उन्नतिका यही एकमात्र साधन है। श्रीमद्भगवद्गीताने यज्ञका जो महत्त्व वर्णन किया है, उसका यही हेतु है। प्रत्येक यज्ञके लिये परमात्माका प्राथमिक यज्ञ आदर्श है। पूर्व-स्थानमें परमेश्वर बड़ा था तथापि वह (अधराद् मा पियेश) कनिष्ठोंमें भी आकर प्रविष्ट हुआ, उनमें आवेश उत्पन्न करने लगा, कनिष्ठोंके साथ रहने लगा, ऐसा जो कहा है, वह सब मनुष्यमात्रको आदर्श समझना योग्य है। सब मनुष्य यह आदर्श अपने सामने रखें और अपने अधिकारकी घमंड मनमें न रखते हुए कनिष्ठ मनुष्योंके पास जावें उनकी अवस्था देखें उनका सुधार करनेका यत्न करें और उनकी सेवामें अपनी कृतकृत्यता होगी, ऐसा विचार मनमें धारण करें। यही तत्त्व उक्त परमात्म-यज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञमें है और भगवद्गीतामें कहे 'सर्वभूतहिते रताः' (भ० गी० ५।२५; १२।४) सब भूतोंके हितमें रममाण होनेकी कल्पनामें है।

" ब्रह्म-यज्ञ शब्दके अर्थोंमें ' ब्रह्मद्वारा अथवा परमात्माद्वारा हुआ यज्ञ ' यह एक अर्थ है। इसका विचार यहां तक किया। ब्रह्म-यज्ञका दूसरा अर्थ ज्ञानद्वारा होनेवाला यज्ञ है। इसका विचार इस लेखके प्रारंभमें किया है। ब्रह्म-यज्ञका तीसरा अर्थ जीवात्माद्वारा अथवा मनुष्य

द्वारा किया जानेवाला ज्ञान-यज्ञ है। इसका वर्णन मनु स्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनु ३।७०)

'अध्यापनही ब्रह्म-यज्ञ है, ऐसा कहकर किया है। यह ब्रह्म-यज्ञ अध्ययन अध्यापनकी प्रथाकी यथायोग्य रीतिसे चलानेसे हो सकता है। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः (गी ४।२८) इस पदद्वारा इस ब्रह्म-यज्ञका वर्णन यहां हुआ है। स्वाध्याय-प्रथाकी यथायोग्य रीतिसे चलनेपर मनुष्यका और राष्ट्रका कल्याण निःसन्देह हो सकता है। जिस राष्ट्रमें स्वाध्याय बंद होगा वह राष्ट्र गिर जायगा। ब्रह्म-यज्ञका चतुर्थ अर्थ 'ब्रह्मरूप बननेके लिये किया जानेवाला यज्ञ है। यह अनुष्ठान करनेकी विधि (गी ४।२४ में) कही है। "यजमान ब्रह्मरूप है अग्नि ब्रह्म है हवनीय पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, यज्ञ-साधन ब्रह्मरूप हैं, यज्ञ-क्रिया ब्रह्म है हवन किये पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। इस तरह सर्वत्र ब्रह्म रूप-दर्शन जिसको होने लगा वह ब्रह्म बनता है। सब जगत् ब्रह्ममय आत्मामय है अतः उसको वैसाही देखना यही ज्ञान है। इसी विषयमें उपनिषदोंका कथन देखो है–

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। (मांडूक्य २)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छां उ ३।१४।१)
ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वं। (मैत्रि उ ४।६)

यह सब ब्रह्म है।" सब ब्रह्ममय है सब ब्रह्मरूप है अतः सबको ब्रह्मरूप मानना सत्य ज्ञान है। सब ब्रह्म रूप है, इसका अर्थ सब आत्मरूप है ऐसा भी होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि यदि मैं आत्मरूप और दूसरा भी आत्मरूप है तब एक दूसरेका सहायक सेवक अथवा भक्त हुआ, तो वह दूसरेका सहायक सेवक और भक्त नहीं होगा प्रत्युत 'स्वयं अपने आत्माकाही सहायक सेवक अथवा भक्त होता है।" जिस समय सर्वत्र सब आत्मरूप दिखाई देता है उस समय किसी मनुष्यने जनताके लिये आत्म-समर्पण किया तो उसका अर्थ आत्माने आत्माके लिये ही समर्पण किया ऐसा होता है। (सर्वभूतहिते रताः) सब भूतमात्रके हितमें तत्पर होनेका अर्थही आत्म-हितमें तत्पर होना है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मरूपता दिखाई देने लगी तो उस समय कोई यह अलग और मैं उससे भिन्न यह कल्पनाही नहीं रहती। इस समय परोपकार भी स्वार्थ बनता है और स्वार्थ भी परोपकार होता है। देखिये—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(वा. यजु. ४०।७; ईश उ ७)

जिस समय ज्ञानी मनुष्यके अनुभवमें सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मनुष्यको शोक और मोह नहीं हो सकते। शोक मोह तो मैं तू और वह का भेद रहनेतक ही होते हैं। जब सर्वत्र ब्रह्मदर्शन हुआ और भेद मिट गया उस समय शोक मोहको स्थान ही कहां है?

'यजमान अग्नि ऋत्विज हवन-सामग्री, यज्ञसाधन सब ब्रह्मरूप हैं ऐसा अनुभव होना चाहिये यह बात यहां (गी ४।२४ में) कही है। यदि किसीको यह अनुभव हुआ कि वह दूसरेको मारने लगा तो अपने आत्माको ही मारता है तथा दूसरोंके हितके लिये आत्म-समर्पणरूप यज्ञ करने लगा तो भी वह अपने आत्माके हितके लियेही समर्पण करता है और भूखेको अन्न देना तृषितको जल देना दुःखी मनुष्यके दुःख दूर करनेके लिये यत्न करना यह सब आत्मपूजा परमात्मोपासना अथवा ब्रह्म-यज्ञ ही है तो वह जीता ब्रह्म बनता है। इस तरह मनुष्य धार्मिक-स्थितिसे अन्तिम परमोच्च अवस्थाको प्राप्त होता है। प्रत्येक जन स्वार्थमें ब्रह्म यज्ञ का आचरण कैसा किया जाता है इस का विवेचन यहांतक किया है। इससे यह ब्रह्म यज्ञका विषय पाठकोंके ध्यानमें आगया होगा। अब सबकी ब्रह्मरूपताके विषयमें एक वचन देकर इस ब्रह्म-यज्ञके विचारको हम समाप्त करते हैं–

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् य एव वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद॥ (बृ उ १।४।१०)

प्रारंभमें ब्रह्म था उसने अपने आपको देखा और ज्ञान किया कि मैं ब्रह्म हूं तब वह सब बना। जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूं वह यह सब बनता है। परन्तु जो मैं भिन्न हूं और उपास्य देवता भिन्न है, ऐसा भेदभावसे

देखता है, वह अज्ञानी है। इस तरह यज्ञ-यागकी अन्तिम स्थितिका वर्णन उपनिषदोंमें है। वेदमें यज्ञ पदसे यही वर्णन किया गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(ऋ० १।१६४।५० ; १०।९०।१६)

देव यज्ञके द्वारा यज्ञका यजन करते थे। ये प्रारंभके धर्म थे। इस यज्ञको करनेवाले बडे होकर स्वर्गको प्राप्त हुए, जहां पूर्व समयके साधक पहुंच चुके थे। यहां यज्ञसे यज्ञका यजन करनेका क्या तात्पर्य है इसका विचार करना चाहिये। इसी मंत्रपर निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रंथमें इस तरह लिखा है-

साध्या देवास्ते अग्ने अग्निनाग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन्। आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च तेऽग्नीनग्निमयजन्त। ते स्वर्गं लोकमायन्।

(ऐ० ब्रा० १।१६ निरुक्त १२।४१)

साध्य आदित्य और अंगिरस इन देवोंने प्रारंभमें अग्निद्वारा अग्निका यजन किया। पाठक यहां देखें कि पूर्व स्थानके यज्ञ शब्दके स्थानपर यहां अग्नि शब्द है। इसका अर्थ देखनेके लिये निम्नलिखित शब्दोंका परस्पर संगतिसे विचार करिये-

ब्रह्मणा ब्रह्म हुतम् (गी० ४।२४)
यज्ञेन यज्ञं जुह्वति। (गी० ४।२५)
यज्ञेन यज्ञ अयजन्त (ऋ० १।१६४।५०)
अग्निना अग्निं अयजन्त। (ऐ० ब्रा० १।१६)
,, (निरुक्त १२।४१)
विश्वकर्मा आत्मानं जुहवांचकार। (निरुक्त १०।२६)
यः पिता ,, जुहृत्। (ऋ० १०।८१।१)
स्वयंभु ब्रह्म आत्मानं जुहोति। (श० ब्रा० १३।७।१।१)
आत्मना आत्मानं अयजन्त।
अहं क्रतुः अहं यज्ञः अहं हुतम्। (गी० ९।१६)

इन सब शब्दोंका अर्थ (आत्मना आत्मानं अयजन्त) आत्माने आत्माका यजन किया यही है। वेद-मंत्र, ब्राह्मण-ग्रंथ और आधुनिक ग्रंथोंमें भिन्न भिन्न शब्दोंका प्रयोग होता है परंतु उन सबका आशय एक ही है यह बात इस तरह तुलना करनेसे विदित हो सकती है। यह अध्यात्मकी बात है और पाठकोंके ध्यानमें आना आवश्यक है इसीलिये यहां इतना विस्तृत विवेचन किया है। गीतामें जो ब्रह्मका ब्रह्ममें हवन होनेका वर्णन है वही वेदमंत्रमें यज्ञका यज्ञद्वारा यजन इन शब्दोंमें है। शब्द भिन्न हैं परंतु अर्थ एक ही है। अस्तु। इस तरह यहां ब्रह्म-यज्ञका विचार समाप्त करते हैं। यद्यपि इसका अधिक विवरण अभीष्ट है तथापि यहां स्थानाभावके कारण इतनाही पर्याप्त है।

गीतामें निम्नलिखित दो श्लोक परस्पर-समान हैं और वे एक दूसरेका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बडे उपयोगी हैं-

गीता (४।२४)	गीता (९।१६)
	अहं क्रतुः
	अहं यज्ञः
ब्रह्म अर्पणं	स्वधाऽहं
	अहं औषधं
	मंत्रोऽहं
ब्रह्म हविः	अहं एव आज्यं
ब्रह्म अग्नौ	अहं अग्निः
ब्रह्मणा हुतम्	अहं हुतम्

जो बात ब्रह्म शब्दद्वारा श्लोक ४।२४ में बताई है, वही अहं शब्दद्वारा श्लोक ९।१६ में कही है। अतः ब्रह्म और अहंका एक ही आशय है, यह बात इससे सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य क्रतुमय अथवा यज्ञरूप है। प्रत्येक मनुष्य यज्ञरूप जीवनवाला बनना चाहिये, यह बात छांदोग्य उपनिषद्में कही है—

अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति। (छां० उ० ३।१४।१)

'मनुष्य यज्ञमय है। जैसा यज्ञ करता है वैसा वह बनता है। इसीलिये अहं क्रतुः अहं यज्ञः ऐसा गीतामें कहा है और इससे दर्शाया है कि मनुष्यका जीवन यदि यज्ञ रूप बनना चाहिये। क्योंकि यही ही उन्नति करनेका एकमात्र साधन है। उन्नतिके लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

मनुष्य आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेसे उच्च अवस्था प्राप्त करता है यह विषय पूर्वोक्त विचारसेही स्पष्ट हुआ। किसी राजाके लिये यदि कोई मनुष्य आत्म-समर्पण करता है तो वह राजा उसका योगक्षेम चलाता है फिर उन्नति

के लिये यदि किसीने आत्म-समर्पण किया और वह उसका सेवक बना तो वह प्रभु उसको कभी नहीं भूलेगा। पाठक इस विषयमें पूर्ण निश्चय रखें।

देव-यज्ञ

अब योगियोंके देव-यज्ञका विचार करेंगे। यहां योगी शब्दका अर्थ कर्मयोगी है। ज्ञानयोगीके यज्ञोंका विचार आगे (श्लो० २० २६ ३ में) आनेवाला है। कर्मयोगीका अर्थ है शास्त्रोक्त कर्म कुशलतासे करनेवाला। य कर्मयोगी देवताओंके उद्देश्यसे पूजा-संगतिकरण दानात्मक यज्ञ कर्म करते हैं। मनुष्यका जीवितही देवताओंके संगतिकरणपर अवलंबित है। देवताओंके संगतिकरणसे मनुष्यको सहायता न मिली तो वह जीवित भी नहीं रह सकता। देखिये जलजल और प्रकाश ये दो देवताएं हैं। इनकी संगतिकरणसे धान्य उत्पन्न होकर यज्ञके लिये योग्य बनता है। तथा मनुष्यके लिये खानेयोग्य बनता है। भूमि और जल इन दो देवोंके संगतिकरणसे बीजका वृक्ष बनता है और उसके फल खाकर मनुष्य सुखी होता है। गृह और वृक्ष बनता है। इनके संगतिकरणसे मनुष्य गृहमें रहता और उद्यानमें विचरता है।

इस तरह देवताओंका सत्कार संगतिकरण और दानरूप यज्ञ करनेसेही मनुष्यका जीवन चल रहा है। और देखिये- गौ आप वृक्ष और सूर्य ये देवताएं हैं। गौका जल, वृक्ष और सूर्य प्रकाशके साथ संगतिकरण सत्कार और उसको योग्य नैवेद्य समर्पण करनेसे वह सुप्रसन्न होकर मनुष्यको उत्तम अमृतरूप दूध देती है जिससे मनुष्य पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। यज्ञमें विविध पदार्थोंका हवन किया जाता है और यज्ञमें सूर्य अग्नि वायु भूमि आदिका सम्बन्ध आता है इससे इनका संगतिकरण होकर मनुष्य सुखी होता है। न समझते हुए वह संगतिकरणकी बात यज्ञ-विधिसे सिद्ध होती है और उससे अन्यान्य काम भी होते हैं। देवताओंमें उद्देश्यसे कर्मयोगी यज्ञ करते हुए उससे शुभ फल प्राप्त करते हैं।

मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर ये भी देव हैं। इनका सत्कार और संगतिकरण करनेसे राष्ट्रका व्यवहार चलकर अनंत मनुष्योंका कल्याण होता है। नर-मेध नामक यज्ञ मनुष्यों का संगतिकरण करनेके लिए और राजसूय यज्ञ राष्ट्रपर अधिकारी पुरुषके लिये होता है। अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम सोमयाग आदि विविध प्रकारके यज्ञ मानवी संगतिकरणके लिये रचे गये हैं। गो-मेधसे गौओंका महोत्सव किया जाता है जिससे गो-समृद्धि होती है। इस तरह प्रायः अनेक यज्ञ संगतिकरणके तत्त्वपर रचे हैं और इनसे मनुष्यमात्रको सुख होता है। इन यज्ञोंके विषयमें और एक बात विचारणीय है, वह अब देखिये—

> भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
> ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
>
> (गोपथ ब्रा० उ० १।१९)
>
> ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति।
>
> (गोपथ ब्रा० उ० १।२।११)

ये यज्ञ औषधियोंके महात्म्य होते हैं, अतः ऋतुओंकी संधियोंमें प्रयुक्त होते हैं। क्योंकि ऋतुओंकी संधिमें व्याधियाँ होती हैं। औषधियोंमें यज्ञ प्रतिष्ठित होते हैं।

इस तरह यज्ञमें जो औषधियोंका संगतिकरण होता है उससे रोग दूर होनेसे मनुष्यके सुखकी वृद्धि होती है। सब आयुर्वेदकी प्रक्रियाएं औषधि देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुई हैं। संपूर्ण सूप-शास्त्र देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुआ है। समाज-शास्त्र राज्य शासन-शास्त्र राष्ट्रीय अर्थशास्त्र तथा कई अन्य शास्त्र इसी देवता-संगतिकरणके फल हैं। इसका नाम देव-यज्ञ है। यह महत्त्वपूर्ण विषय है तथापि यहां इसका संक्षेपसे स्वरूप कथन किया है जिसके पढनेसे पाठक इस विषयको समझ सकते हैं। आजकल देव-यज्ञका एक अंश हवनरूपसे अवशिष्ट रहा है और शेष सब लुप्त हुए हैं। पूर्वोक्त रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको संपूर्ण देव यज्ञकी कल्पना हो सकती है।

यज्ञका यज्ञ

आगे पचीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें ब्रह्माग्निमें यजक द्वारा यज्ञका हवन करते हैं ऐसा कहा है। इस यज्ञके स्वरूप का कथन तो पूर्व-स्थानमें ब्रह्म-यज्ञके वर्णनके प्रसंगमें हो चुका है तथापि यहां इतना कहना आवश्यक है कि यज्ञ द्वारा यज्ञका यज्ञमें यजन यह अद्भुत समर्पण-योग है। सर्व भूतोंके हितके लिये आत्म-समर्पण करनेका यह एक यज्ञ है। यह समर्पणरूप यज्ञ करनेके समय भी आत्म

समर्पण इस बड़ा महत्त्वपूर्ण काम कर रहा हूं इससे मैं सब जनताका कल्याण करनेवाला हूं। इस तरहका अहंकार उत्पन्न होता है और इस अहंकारसे मनुष्यका अधःपात होता है। इसलिये यहां कहा है कि 'अपने आत्म समर्पणरूप यज्ञका भी परमात्मामें पूर्णतया समर्पण करना चाहिये।' और अहंकारको समूल दूर करना चाहिये। यह भाव यज्ञका यज्ञाग्निमें हवन करनेका है। अर्थात् आत्म-समर्पण करना चाहिये इतनाही नहीं, परन्तु (यज्ञेन यज्ञं) आत्म-समर्पणका भी समर्पण करना चाहिये और 'मैं परोपकारका कृत्य करता हूं' इसका भी ज्ञान कर्ताको नहीं होना चाहिये। यज्ञ करना कर्ताका स्वभावधर्म बनना चाहिए।

संयमाग्निमें हवन

सब इन्द्रियोंके और सब प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानसे प्रज्वलित हुए आत्म संयमरूप योगाग्निमें हवन करना चाहिये। (गी ४।२७) इस स्थानपर आत्मसंयम करनेका उपदेश है। ज्ञान अर्थात् आत्म ज्ञानसे परमेश्वरविषयक ज्ञानके बिना यह ज्ञान होनेसे पूर्ण आत्म-संयम हो सकता है इससे एक यथाशक्ति अथवा यथाप्रमाण होगा। सामान्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति भोगोंकी ओर होती है। जैसा पशु हरे घासकी ओर आकर्षित होता है वैसाही सामान्य मनुष्य भोगकी ओर आकर्षित होता है। इसको असंयम कहते हैं और यही मनुष्योंकी गिरावटका कारण है। अतः आत्म ज्ञानसे आत्म-संयमको प्रदीप्त करके उसमें इन्द्रिय कर्मोंकी और प्राण कर्मोंकी स्वाहा करना चाहिये। इसका सरल और सुबोध अर्थ यह है कि आत्म संयम से इन्द्रियों और प्राणोंके कर्म जितने होंगे उतने करने चाहिये। इन्द्रियोंको स्वैर नहीं छोडना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे मनुष्य भोग भोगता है यदि इन इन्द्रियोंका संयम न किया जाय तो मनुष्य अत्यधिक भोगोंमें प्रवृत्त होगा और गिरेगा। संयमसे भोगेच्छा और भोग मात्रकर इन्द्रियोंका नियमन करनेसे भोग-प्रवृत्ति मर्यादित रहकर मनुष्यकी उन्नतिकी संभावना होगी। (२६ वें श्लोकमें भी) श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमाग्निमें हवन करनेका तात्पर्य यह है। सामान्य मनुष्य इन्द्रियों और इन्द्रियोंके विषयोंका भी भोगाग्निमें हवन करते हैं। वैसा नहीं करना चाहिये। इनका हवन संयमाग्निमें करना चाहिये और वह संयमाग्नि ज्ञानसे प्रदीप्त करना चाहिये। इसका अर्थ अपने मोक्षसंबंधी ज्ञान है। इसीसे संयम सिद्ध होता है और उसका इष्ट परिणाम इन्द्रियों और प्राणोंके कर्मोंपर होता है।

आगे (श्लोक २८ में) (१) द्रव्य-यज्ञ (२) तपो-यज्ञ (३) योग-यज्ञ और (४) स्वाध्यायज्ञानयज्ञ करनेवाले नियमपालक यतियोंकी प्रशंसा है। ये चार यज्ञ करनेवाले लोग क्या क्या करते हैं इसका थोडासा विचार करना यहां आवश्यक है-

(१) द्रव्ययज्ञाः=द्रव्यका यज्ञ करनेवाले। द्रव्यका अर्थ धन-दौलत और पदार्थमात्र ऐसा दो प्रकारका है। जो धनवान् होते हैं, वे अपने पासका धन जनताके कल्याणके लिये अर्पण करते हैं, इनको द्रव्य-यज्ञ करनेवाले कहा जाता है। शाला, कूप, तालाब, अन्न मंदिर, धर्मशाला, पाठशाला, गुरुकुल, अनाथालय आदि अनेक संस्थाएं जो जनतामें चल रही हैं, वे द्रव्य-यज्ञसेही चल रही हैं। राष्ट्रमें मनुष्य जितना अधिक द्रव्य-यज्ञ करेंगे उतनी ऐसी संस्थाएं अधिक कार्य करेंगी और उतनी जनताकी उन्नति अधिक होगी। दूसरे प्रकारका जो द्रव्य-यज्ञ है वह अपने पासके पदार्थ देनेसे होता है- जैसा गुरुकुलोंको गौओंका दान देना, दुर्भिक्षमें धान्य आटा आदि देना, वस्त्र, घी, गुड, फल, पुस्तक आदि पदार्थ दान करके पूर्वोक्त संस्थाओंकी मदद करना अथवा गरीबोंकी सहायता करना आदि। यह यज्ञ भी बडा उपयोगी है। ऐसे द्रव्य यज्ञसे अनेक संस्थाएं चलती हैं और जनतापर बडा उपकार होता है।

(२) तपोयज्ञाः = तपोयज्ञ करनेवाले। तपका अर्थ शीत उष्ण आदि सहन करके बलवान बनना व्रत नियम उपवास आदिके द्वारा अपनी परिमित संग्रह करना। तप आत्मशुद्धिके लिये बडा उपयोगी है। प्रायः मनुष्य पर्याप्त करना चाहता है परन्तु थोडे भी दुःख ना सहता। अत चंचल होकर वह कार्य छोड देता है, परन्तु जो शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति रखता है वह कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता और अपने ध्येयमें दृढनिश्चय रहता हुआ उन्नत होता जाता है। यह ओर

भास्करका है । इस विषयमें निम्नलिखित वचन देखनेयोग्य है–

ऋतं तपः सत्यं तपः, श्रुतं तपः शान्तं तपो,
दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो
भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥
(महाना उ १।१)

तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा । (केन उ ३३)
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । (तै उ १।९।१)
तपसा प्राप्यते सत्त्वम् । (मैत्रि उ ४।३)
तपसाऽपहतपाप्मा । (मैत्रि उ ४।४)
सत्यस्तपसा ह्येष आत्मा । (मुण्डक ३।१।५)
तपो ब्रह्मचर्यम् । (प्रश्न उ १।१५)
तपो वैराग्यम् । (महा उ २)

" सरलता, सत्य, विद्याध्ययन, शांति, इंद्रियदमन, मनःसंयम, दान, यज्ञ, अथवा (भूः) अस्तित्व (भुवः) ज्ञान और (स्वः) आनन्दके लिये प्रयत्न करना (ब्रह्म) ब्रह्म-प्राप्तिका अनुष्ठान करनेका नाम तप है । तप, दम और कर्मही सबका आधार है । स्वाध्याय और उपदेश करना यह तप है । तपसे बल प्राप्त होता है । तपसे पाप दूर होता है । तपसे आत्माकी प्राप्ति होती है । ब्रह्मचर्य तप है और वैराग्य भी तप है । "

इन वचनोंके मननसे तपकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । तप सर्वत्र कामनाशक होनेसे तपका जीवन न व्यतीत करना हानिकारक है ।

(३) योग-यज्ञाः= योगका अनुष्ठान करनेवाले । यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा, और समाधिरूप अष्टांग योगका अनुष्ठान करनेवाले योगी यह योग-यज्ञ करके आत्मोन्नति प्राप्त करते हैं ।

योग का दूसरा अर्थ मेल करना है । वैद्य-शास्त्रमें अनेक औषधियोंका संयोग करनेके लिये योग शब्द प्रयुक्त होता है । दीर्घायुयोग, जीवनीय योग आदि औषधि-योगसे शरीर-स्वास्थ्य, दीर्घायु-प्राप्ति, निरोगता-प्राप्ति आदि करते हुए अपना तथा जनताका हितसाधन करते हैं । वैद्यशास्त्रों- में यही योग किया जाता है जिससे रोगियोंके रोग दूर होकर बड़ा लाभ होता है । यह योग बड़ा उपकारक है । इसी तरह विविध शास्त्रोंमें योग शब्दके विभिन्न अर्थ हैं । पाठक विचार करके जो यहां युक्त हो सकते हैं, उनका समावेश इस विभागमें करें ।

(४) स्वाध्याय-ज्ञान यज्ञाः= स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञानयज्ञ करनेवाले । स्वाध्यायका अर्थ है, (स्व- अध्याय) अपनी उन्नतिके लिये जो जो आवश्यक विचार हैं, उनका अध्ययन करना । ज्ञान-यज्ञका अर्थ है जो ज्ञान अपनेको विदित हुआ है वह दूसरोंको सिखाना अर्थात् अध्ययन और अध्यापन ये दोनों बड़ेभारी यज्ञ हैं और ये दोनों संपूर्ण मानव-समाजकी उन्नति करनेवाले हैं । क्योंकि ज्ञानसेही सबका अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध होता है । जगत्के प्रारंभसे इस समयतक जो ज्ञानका प्रवाह बहता आया है वह कितने मनुष्योंके लिये उपकारक हुआ है इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । मानवी समाजकी जो कुछ उन्नति इस समय हरएक राष्ट्रमें दीख रही है वह सब इसी स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान यज्ञ अर्थात् पठन और पाठनसेही हो रही है । यहां स्मरण रहे कि यह पठन और पाठन यज्ञ रूप होना चाहिये । आजकल यह एक धंदा हुआ है और ऐसे ग्रंथोंका पठन-पाठन किया जाता है कि जिससे मनुष्यकी प्रवृत्ति बिगड कर धर्मकी ओर न जाती हुई अधर्मकी ओर होती है । इसलिये इससे मानव-समाज बिगड रहा है । अतः इसको सुधारनेके लिये स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञरूप होना चाहिये अर्थात् वह पवित्रताका केन्द्र होना चाहिये ।

प्राणायाम

प्राण और अपानके अर्थ भाषामें कुछ भिन्न हैं और यहां कुछ भिन्न हैं । यहां जो अर्थ है उसका स्वरूप यह है–

(१) प्राण = मुख अथवा नासिकाद्वारा जो वायु बाहर जाता है उसका नाम प्राण है ।

(२) अपान = मुख अथवा नासिकाद्वारा जो वायु अन्दर भीतरकी ओर आता है उसका नाम अपान है ।

भाषामें इसके बिलकुल विपरीत अर्थ हैं । अतः गीताके श्लोकका अर्थ करनेके समय ये अर्थ स्मरण रखें । (अपाने प्राणं जुह्वति) जो अपानमें प्राणका हवन करते हैं वे पूरक प्राणायाम करते हैं और (प्राणे अपानं) जो प्राणमें अपान वायुका हवन करते हैं, वे रेचक प्राणायाम करते हैं और प्राण तथा अपानकी गतिका निरोध करनेवाले

कुंभक प्राणायाम करते हैं। प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेका अर्थात् जिस प्राणवायुकी स्वाधीनता हो जावे, उसीमें दूसरे प्राणोंका अर्पण करके अन्तमें सब प्राणोंको स्वाधीन करते हैं। वायुको बाहर निकाल कर बाहर रोकना, अन्दर भरकर अन्दर रोकना बाहर जानेकी और अन्दर आनेकी इन दोनों गतियोंको रोक कर प्राणको स्थिर करना और सम गतिसे प्राणायामको चलाना ये विविध प्राणायाम हैं। प्राणायाम विशेष महत्त्वका विषय है और यह सुयोग्य गुरुके पास रह कर अध्ययन किया जाय तो ही यह आयुरारोग्य तथा योग सिद्धि देकर मनुष्यको समाधिसिद्धितक पहुंचाता है। परन्तु इसमें यदि दोष हुए तो विविध रोग उत्पन्न होते हैं। इस लिये इसका विशेष अभ्यास पुस्तक पढकर नहीं हो सकता अतः प्राणायामोंका सविस्तर वर्णन यहां करना उचित नहीं है। जो पाठक प्राणायामका विशेष अभ्यास करना चाहते हैं वे किसी उत्तम योगीके आश्रममें रहकर उसका साधन करें।

प्राणायाम करनेवालोंको नियताहार अर्थात् नियमित भोजन करना चाहिये। पेट भर भर कर आकण्ठ भोजन करनेवालोंसे प्राणायाम नहीं होगा। दो भाग अन्न और एक भाग जल समझके पश्चात् एक भाग पेट खाली रखना चाहिये। गायका दूध घी आदि सात्त्विक भोजन करना योगाभ्यासियोंको उचित है। राजस अथवा तामस भोजन करनेवालोंको प्राणायामसे कदापि सुख नहीं होगा। उत्तम गुरुके पास रहकर प्राणायाम करनेसे साधक (क्षपित कल्मषाः) दोषरहित हो जाता है और अपने आत्माकी शान्तिका अनुभव होता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। (३१)

यज्ञ करनेपर जो अन्न शेष रहता है उसको अमृत कहते हैं। इस अमृतका भोजन करनेवाले लोग सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे ब्रह्मरूप बनते हैं। इसीका अर्थ यज्ञ करके अपने सर्वस्वका अर्पण करनेके पश्चात् जो कुछ बचता है उसका भोग अपने लिये करनेसे मनुष्यका आत्मा उन्नत होता है। दान करके जो अवशिष्ट रहता है वही अपने भोगके लिये रखना चाहिये। यही बात यजुर्वेदके निम्न लिखित मंत्रमें कहा है —

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृधः।
कस्य स्विद्धनम्? (वा. य. ४०।१; ईश. १)

इस कारण त्यागसे दान करके भोग कर। मत ललचा। किसका भला धन है? अपने पास जो धन धान्य, विद्या तथा अन्य पदार्थ होगा, उसका दान जनताकी भलाईके लिये करके जो कुछ बचेगा उसका स्वयं भोग करना योग्य है, इससे अधिक भोगोंकी लालच धारण करना अधम है क्योंकि धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है। सबके स्वत्वका है। इसीलिये जो अपने पास अधिक जमा करते हैं, वे पापी होते हैं और जो अपने पाससे यथाशक्ति दान द्वारा यज्ञ करते हैं, वेही उसका यथायोग्य उपयोग करते हैं, अतः वे पुण्यात्मा होते हुए शान्तिको प्राप्त करते हैं।

(न अयं लोकः अयज्ञस्य) यज्ञ न करनेसे इस लोकमें भी सुव्यवस्था नहीं होती। यदि मनुष्योंमें दान-भाव त्याग भाव अर्थात् यज्ञ-भाव लुप्त हो जाय तो वे मनुष्य ही नहीं रहते। मनुष्योंका मनुष्यपन यज्ञ-भावसे ही स्थिर रहता है। मनुष्यके साथ यज्ञकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जो भ. गी. ३।१० में कहा है वचन यही द्योतक है। मनुष्य-वाचक नर शब्द (न रमते) जो भोगमें नहीं रमता, जो त्याग-भावसे रहता है जो यज्ञरूप जीवन व्यतीत करता है इस अर्थका वाचक है। मनुष्य-वाचक जन शब्द संतान उत्पन्न करनेके अर्थमें है। यहां वीर्यका यज्ञ करनेका भाव है। वीर्यका यज्ञ करनेका अर्थ धर्मानुकूल गृहस्थ-धर्मका आचरण करना है। मनुष्य-वाचक अन्य मानवः पञ्चजनाः आदि शब्द सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेका अर्थ बतानेवाले हैं। सामुदायिक जीवन यज्ञसे ही सुखकर हो सकता है। स्वार्थी भोगी लोगोंका संघ अन्तमें दुःखदायक ही सिद्ध होगा। इस तरह देखनेसे मनुष्यका संबंध यज्ञके साथ नित्य है यह बात स्पष्ट होती है। अर्थात् यदि इस लोकमें यज्ञके बिना उन्नतिकी संभावना नहीं है तो भला (कुतः अन्यः) परलोक यज्ञके बिना प्राप्त होगा यह कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् इह-पर-लोकमें जो उन्नति प्राप्त होती है वह यज्ञ और त्याग भावपर ही अवलंबित है।

इस तरह अनेक यज्ञ (ब्रह्मणः मुखे = ज्ञानके मुख्य मार्गमें) वेदमें कहे हैं। ये सब यज्ञ (कर्मजान् विद्धि) कर्मोंसे सिद्ध होनेवाले हैं, कर्म न करनेपर एक भी यज्ञ सिद्ध नहीं होगा। यह बात जाननेसे (एवं ज्ञात्वा वि

(११) ज्ञानका महत्त्व

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वयः— प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ज्ञानं ते उपदेक्ष्यन्ति तत् (त्वं) विद्धि ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव ! यत् ज्ञात्वा (त्वं) पुनः एवं मोहं न यास्यसि येन भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि ॥ ३५ ॥ (त्वं) सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि पापकृत्तमः असि चेत्, सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥ ३७ ॥

प्रणाम विवेकके साथ प्रश्न और गुरुकी सेवा करनेसे तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी तुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे। उनसे उस ज्ञानको तू जान ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव ! जिस ज्ञानको जाननेसे तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और जिससे सब भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें तू देखेगा ॥ ३५ ॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी सब पापको ज्ञानरूप नौकासे तू उत्तम रीतिसे पार कर जायगा ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको जला डालती है वैसेही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको दग्ध करती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ— यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करनेका इच्छुक है तो वह सद्गुरुके पास जावे उसको दण्डवत् प्रणाम करे, नम्रभावसे उसकी सेवा करे और अपने मनोगत प्रश्न विवेकपूर्वक और निष्कपट-भावसे उसे पूछे। शिष्यकी सेवासे सन्तुष्ट होकर वह सद्गुरु उसको सत्य ज्ञानका उपदेश करेगा ॥ इसी सत्य ज्ञानसे मनुष्य मोहजालमें नहीं फँसता और सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतमात्रमें देखता है ॥ अत्यन्त पापी मनुष्य भी इसी ज्ञानसे पापसे पार हो जायगा ॥ क्योंकि ज्ञानसेही सब कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधन दूर होते हैं ॥ ३४-३७ ॥

मोक्षपदसे) विशेष रीतिसे मनुष्य मुक्त होगा। कर्मोंसे भाव सिद्ध होते हैं इतनी बात जाननेसे मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है कर्म करनेसे सब प्रकारके छोटे बडे फल सिद्ध होते हैं, इससे उसको ज्ञान होता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त होती है इसका यह आशय है। यही बात अगले श्लोकमें कही है—

द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । (गी० ४।३३)

द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है अधिक कल्याण करनेवाला है। धन द्रव्य गौ भूमि तथा अन्य पदार्थ अथवा ज्ञानके सिवा किसी वस्तुका दान करनेसे जो लाभ होते हैं, उससे कई गुना अधिक लाभ ज्ञानका दान करनेसे होता है। अध्यापक गुरु आचार्य शिक्षक आदिका जो महत्त्व है वह इसी कारण है। वे राष्ट्र-निर्माता हैं। शिक्षासे ही सब कुछ उन्नति प्राप्त होती है। (ज्ञानात् मोक्षः) ज्ञानसे मोक्ष होता है ज्ञानसे स्वातंत्र्य प्राप्त होता है ज्ञानसे स्वाधीनता प्राप्त होती है ज्ञानसे अभ्युदय और निःश्रेयस् मिलता है, यह बात सत्य है। जहां जैसा लौकिक ज्ञान लौकिक-व्यवहारका साधक है उसी तरह पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक सिद्धिको प्राप्त करानेवाला है। अर्थात् दोनों स्थानोंमें ज्ञानसे शुभ अवस्था मिलती है। अतः कहा है—

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते । (गी० ४।३३)

सब कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें होती है। ज्ञानमें कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् आत्मज्ञान होनेके पश्चात् कर्म नहीं रहते। क्योंकि आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान अन्तिम है, जो प्राप्त होनेके पश्चात् कुछ भी प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। यह ज्ञान किस तरह प्राप्त होता है इस विषयमें अगले श्लोकोंमें बडा महत्त्वका उपदेश है उसका अब मननपूर्वक अवलोकन कीजिये—

ज्ञान प्राप्तिके साधन

(३४-३७) ज्ञान किस तरह प्राप्त किया जा सकता है इसका उपदेश यहाँ किया है— (१) प्रणिपात (२) परिप्रश्न और (३) गुरुसेवा करनेसे ज्ञान प्राप्त होता है। आजकलके लोग कहेंगे कि ' फीसके रुपये भरनेसे ज्ञान प्राप्त होता है फिर इन तीन बातोंकी आज क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि आजकल जो विद्या फीस देनेसे प्राप्त हो रही है, वह जगत्में भयानक वैर-भाव उत्पन्न कर रही है। इससे जगत्का जितना नाश हो रहा है, उतना नाश रोगपीड़ासे अथवा क्रूर जानवरोंसे भी नहीं होता। अतः यह विद्या अथवा ज्ञान कहलानेके योग्य भी नहीं है। यह तो अविद्या अथवा अज्ञान है जो फीस देकर खरीदा जाता है। यह भी अध्यापकको प्रणाम करके उनसे प्रश्न पूछकर और उनके पास बैठकर ही प्राप्त होता है। एक न एक रूपमें इन तीन बातोंको पूरा करके ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन तीन बातोंकी आवश्यकता है यह बात निर्विवाद है। अतः ऋषिपरंपराके अनुसार अहंभाव छोड़कर सद्गुरुकी सेवा करके, उनकी संगतिमें रहकर, उनके आचरण देखते हुए, यदि ज्ञान प्राप्त करनेसे निःसंदेह अधिक लाभ होगा। आजकल या सदाके लिये यही पद्धति ज्ञान प्राप्त करनेके लिये लाभदायक है।

आज भी गुरु-शिष्यका विश्वास एकत्र होना चाहिये, यह तत्त्व सर्वसम्मत हुआ है। केवल विश्वास हुआ परंतु गुरुके विषयमें शिष्यके *अन्तःकरणमें श्रद्धा भक्ति न* हुई और शिष्य अपनीही ऐंठमें अकड़कर रहने लगा तो उसे क्या लाभ होगा ? इसलिये शिष्यमें नम्रता होनी चाहिये उसके मनमें अहंभाव नहीं रहना चाहिये और गुरुके विषयमें भक्ति चाहिये। ऐसा शिष्य यदि गुरुके समीप रहकर गुरुसे प्रश्न पूछेगा तो गुरु उसे योग्य ज्ञान देगा। यदि वह शिष्य मनोभावसे गुरुकी सेवा शुश्रूषा करेगा और गुरुका प्रेम संपादन करेगा तो उसमें जो विशेष दिव्यता होगी वह सब पाठक अपनी कल्पनासे जान सकते हैं। इस तरह प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा करनेसे ही गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है। अध्यात्म ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान तो सद्गुरुकी सेवा करनेसे ही प्राप्त होना संभव है। यह मोक्ष देना अर्थात् है और यहाँ जो *ज्ञान* कहा जाता है वह विशेषतः इसी मोक्षविषयक ज्ञानके लिये आया है। अतः इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो ये तीन शर्तें पूरी करना आवश्यक है। यह ज्ञान हरएक पंडित दे नहीं सकता, जो (तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः) तत्त्वदर्शी ज्ञानी होंगे वे ही मोक्ष-ज्ञानका उपदेश करनेमें समर्थ होते हैं। अतः जो इस ज्ञानके इच्छुक हैं वे सद्गुरुकी सेवा शुश्रूषा करके उनसे प्रश्न पूछ कर और उनको नम्रभावसे नमन करके वह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानके फल

यह ज्ञान प्राप्त होनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है, इसका विचार अब करना चाहिये क्योंकि फलके लिये लोग मनुष्य उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नवान् होंगे। आगेके तीन श्लोकोंमें इस ज्ञानका चार प्रकारका फल कहा है, जो सारांशसे इस प्रकार है—

१ मोहका दूर होना। (मोहं न यास्यसि । ३५)
२ अपनेमें सब भूतोंको और सब भूतोंमें अपनेको देखना। (भूतानि आत्मनि द्रक्ष्यसि । ४।३५)
३ पापके पार होना। (वृजिनं संतरिष्यसि ४।३६)
४ कर्मोंके दोषोंसे (बचना। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते। ४।३७)

ज्ञान प्राप्त होनेसे ये चार फल मिलते हैं। इनमें पापके पार होना (४।३६) और कर्मोंके दोषोंसे बचनेका (४।३७) आशय एक ही है। अतः इन दोनोंको एक माननेसे फल तीन ही फल रह जाते हैं। मोहके कारण मनुष्य पाप करता है अयोग्य कर्म अयोग्य रीतिसे करता है और वह मोहयुक्त मनुष्य ऐसे कर्म करता है कि जिससे उसकी सारे कर्मों की इच्छा तृप्त होनेका संभव हो। इसी कारण वह इन कर्मोंसे बद्ध होता है। अर्थात् मोह, पाप और कर्मोंसे इनका निकट संबंध है। मोहका अर्थ अज्ञान है अतः ज्ञान होनेसे मोह दूर होता है मोह दूर होनेसे पापप्रवृत्ति हटती है और पाप प्रवृत्ति हटनेसे कर्म अयोग्य नहीं होते इस तरह मोह-परंपराके ये दोष ज्ञानसे अज्ञान दूर होनेसे स्वयं नष्ट होते हैं।

अज्ञान	ज्ञान
मोह	मोह-नाश
पाप-प्रवृत्ति	पुण्यशीलता
कर्म-दोष	दोषरहित कर्म
बन्ध	मुक्ति

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानसे क्या लाभ है और अज्ञानसे कौनसी हानि है। अर्जुन अज्ञानके कारणही मोहवश हुआ था। भगवद्गीताका उपदेश श्रवण करनेसे उसमें ज्ञानका प्रकाश होकर अज्ञान दूर हुआ। अतः वह स्वकर्तव्य करनेमें समर्थ हुआ। ज्ञानका यह फल गीतामें दीखता है अतः कहा है-

मोह-नाश

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।

(गी ४।३५)

"हे अर्जुन! ज्ञान प्राप्त होनेसे तुझे ऐसा मोह फिर नहीं होगा। यह ज्ञानसे पहिला लाभ है। आगेके श्लोकोंमें कहा है कि अत्यंत पापी मनुष्य भी इस ज्ञानको पानेसे पापके पार हो जाता है। (गी ४।३६) यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि पापीको ज्ञान कैसे प्राप्त होगा और वह ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापके पार किस तरह होगा? पापी मनुष्य मोहवश होनेसे उसको ज्ञान नहीं होता यह सत्य है परंतु किसी अज्ञात कारणसे अथवा पाप भोगकी समाप्ति होनेपर उसके मनमें पापके विषयमें दोष-दृष्टि होनेसे सत्संगति करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। किसी समय अकस्मात्से सत्संगति प्राप्त करके उसको पश्चात्ताप होनेसे, वह सद्गुरुको शरण जाकर उसकी सेवा करके अपने उद्धारके विषयमें प्रश्न पूछता है। पश्चात् गुरुकी कृपासे उसको सत्य ज्ञान प्राप्त होकर वह पापी भी उत्तम ज्ञान नौकापर चढकर दोष-समुद्रके पार होता है। इस जगत्‌के इतिहासमें ऐसे कई पापी देखे गये हैं कि जो थोडासा कारण होनेसे बडे पवित्रात्मा बने हैं पश्चात्ताप होतेही वे सीधे मार्गपर आ चुके हैं। पश्चात्ताप सच्ची शुद्धि करनेवाला है। पश्चात्तापसे तप्त हुआ मनुष्य जिस एकाग्रतासे सद्गुरुकी शरणमें जाता है जिस पवित्र और अहंकार-रहित भावसे सद्गुरुकी सेवा-शुश्रूषा करता है उसमें उस की शुद्धताके बीज अंतर्भूत होते हैं। एकवार इस तरह सत्यज्ञान हुआ मनुष्य कदापि फिर पापवृत्तिमें नहीं फँसता। इससे पाठक जान सकते हैं कि अत्यंत पापी मनुष्य भी किस तरह ज्ञानप्राप्ति करके पुण्यात्मा बन सकता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। सत्संगतिका ऐसाही महत्त्व है। पहिले कितने भी पापोंके पर्वत हुए तो भी ज्ञानाग्निसे उनका भस्म होता है और शरीर-भोग रहनेपर भी वह मनुष्य स्वानन्द-सुखमें मग्न रहता है। इसके लिए एक उत्तम उदाहरण दिया है—

कर्म-दोष-क्षय

जैसे लकडियोंके बडे ढेरको अग्नि लगी तो वह अग्नि सब लकडियोंको जलाकर भस्म कर देती है उसी तरह ज्ञानरूप अग्नि लगनेपर सब भले बुरे पूर्व समयमें किये हुए कर्म वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके सब दोष जल जाते हैं। उनमेंसे एक भी कर्म और उसका दोष शेष स्थिर नहीं रहता। फिर मनुष्य कितना भी पापी हुआ तो भी उसके सब कर्म और उन सब कर्मोंके दोष ज्ञानाग्निसे जल जाने पर उसके पास क्या अवशेष रह सकता है, जो उसको प्रतिबंध कर सके? यहां पाठक इस उपमा और उपमेयका अच्छा विचार करें। और देखें कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते।

(गी ४।३७)

ज्ञानरूप अग्निसे संपूर्ण कर्म (और उनके दोष) जल जाते हैं, उनमेंसे एक भी कर्म नहीं रहता कि जिसको भोगनेकी आवश्यकता रहे। पाठक यहां पूछेंगे कि इस श्लोकमें (सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते) सब कर्म भस्म होते हैं, ऐसा लिखा है उन कर्मोंसे उत्पन्न हुए दोष जल जाते हैं, ऐसा नहीं लिखा। अतः वे कर्मोंके दोष अवशिष्ट रहते होंगे। परन्तु यह शंका व्यर्थ है क्योंकि कर्मके नाश होनेपर कर्ताकी स्थिति कर्म न करनेवालेके समान होगी कर्ता होता हुआ भी वह अकर्ता होगा (भ गी ५।१३) कर्म करनेमें भी अकर्म अर्थात् कर्म न करनेके समान रहनेकी अवस्था होती है (भ गी ४।१८) कर्म करनेपर भी वे सब कर्म लय होते हैं यह जो उपदेश भगवद्गीतामें अन्यत्र किया है उसका आशय यही है कि ज्ञान होनेसे कर्म और कर्म-दोष सब लय होते हैं और मनुष्य शुद्ध होता है।

पापी मनुष्यके दुष्कर्मोंसे पार होनेकी बात भगवद्गीतामें आगे भी इस तरह कही है-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां
गतिम् ॥ ३२ ॥ (भ० गी० ९)

अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य-भावसे मेरा भजन करे, तो वह मानो कि वह साधु होही चुका है ; क्योंकि अब उसका संकल्प शुभ हुआ है । वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति पाता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता । हे अर्जुन ! जो पापयोनि हैं, वे भी और स्त्रियां वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरी शरण रहें तो वे परम गतिको पाते हैं ।

प्रभुको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे शरण जानेसे सच्चा पश्चात्ताप होनेसे उत्तम गुरुके पास जाकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेसे पापी मनुष्य भी पवित्र होकर सद्गति प्राप्त करता है । किसी भी मार्गसे मनुष्य गया तो भी वह अन्तमें ज्ञानप्राप्तिद्वाराही परम पद प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं है ।

ज्ञानसे सब दोष दूर होनेका एक उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है कि किसी एक धनी मनुष्यके बालपनेमें बहुत गुप्तधन गाड़ा गया और उसका दिवाला निकला । पश्चात् वह बहुत दिन विपद्-दशामें रहा । एक दिन किसीने उसके घरमें भूमिगत द्रव्य होनेका ज्ञान उसको दिया । उसने खोदकर वह धन लिया और फिर उसी क्षणमें वह भाग्यवान बना । अपने धनी होनेका ज्ञान होतेही उसका संपूर्ण दारिद्र्य नष्ट हुआ और वह फिर उसको सतानेके लिये नहीं रहा । इसी तरह अज्ञानके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष ज्ञान होतेही नष्ट होते हैं ।

ज्ञानके इतने लाभ हैं । अब और भी एक लाभ सबसे महत्त्वका है उसका विचार करेंगे ।

सर्वभूतात्म-भाव

भूतानि अशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।
(गी० ४।३५)

भूतमात्रको पूर्णरूपसे अपने आत्मामें और मुझमें देखेगा ।' यही अन्तिम सिद्धि है और विशेष महत्त्वकी है, अतः इसका विशेष विचार करना चाहिये । इसी अर्थके वाक्य अनेक स्थानपर हैं उनको देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते ॥
(ईश० ६ ; काण्व० ६)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गी० ६।२९)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गी० ६।३०)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(भागवत ११।२।४५)

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
(भागवत [illegible])

जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है, उससे कुत्सित कर्म नहीं होते । सब भूतोंमें आत्मा और आत्मामें सब भूत हैं, ऐसा जो योगयुक्त आत्मा देखता है उसकी दृष्टि सम हुई होती है । जो मुझे सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है उसका भिन्न मैं और मेरा भिन्न वह भी कभी नष्ट नहीं होता । जो सब भूतोंमें भिन्न भगवत्स्वरूप देखकर सब भूत परमात्मा हैं यह अनुभव करता है वह उत्तम भागवत है । जो सब भूतोंमें भगवान् और अपना आत्मा है ऐसा देखता है और सब भूत भगवान्में और अपने आत्मामें हैं ऐसा जो अनुभव करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ।" ये सब वचन एकही भाव बताते हैं ।

यहां परमात्मा सब भूतोंमें है इतना कहनेसे परमात्मा सर्वव्यापक है सब स्थिर-चरमें विद्यमान है यह बात स्पष्ट हुई है । परब्रह्म परमात्मा अथवा आत्मा सर्वव्यापक सर्वगत (गी० २।२४) है यह बात इसके पूर्व स्थानमें भी कई बार बतायी है ।

अहं आत्मा सर्वभूताशयस्थितः। (गी० १०।२०)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजति। (गी० ६।३१)
अहं प्राणिनां देहं आश्रितः। (गी० १५।१४)
सर्वभूतात्मभूतात्मा न लिप्यते। (गी० ५।७)
महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा। (कठ उ० २।२१)

इन वचनोंका आशय यही है कि 'एक आत्मा सब भूतोंमें व्यापक है।' जो सब भूतोंमें आत्माके समान ममता है वह दोषोंसे मुक्त होता है। अर्थात् सब भूतोंमें स्थिरचरोंमें एक आत्मा व्यापक है और वह सर्वत्र एकरस ओत प्रोत भरा है यह जो अनुभव करता है और उसी तरह मैं अर्थात् मेरी आत्मा भी सब भूतोंमें भर गई है ऐसा जिसको अनुभव है उसको अपनी आत्मा और परमात्मामें अभेदका अनुभव होना स्वाभाविक है। यह एक अनुभव है।

दूसरा अनुभव यह है कि (मयि) परमात्मामें और अपनी (आत्मनि) आत्मामें सब भूत हैं, अर्थात् मैं और आत्मा एक तत्त्व है और उसके अन्दर सब संसार है, ये दो अनुभव ज्ञान प्राप्त होनेसे साक्षात् प्रत्यक्षवत् होते हैं। जिस समय यह अनुभव होगा उसी समय समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ। ज्ञानका अर्थ शब्दोंका अर्थ जानना नहीं है। ज्ञानका अर्थ यही है कि मेरी आत्मा सब भूतोंमें और सब भूत मेरी आत्मामें हैं यह प्रत्यक्ष अनुभव होना। यह ज्ञान अन्तिम सीमाका है। यह ज्ञान प्राप्त होतेही इसके सब कर्म और कर्मोंके सब दोष भस्मसात् होते हैं, नष्ट होते हैं, दग्ध होते हैं किंवा बन्धन करनेके लिये पीछे नहीं रहते। पापीसे पापी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करनेसे पापसे पार हो जाता है और इसी ज्ञानके प्राप्त होनेके बाद उसको कभी मोह नहीं होता।

पाठक ध्यानमें रखें कि यहां ज्ञान का अर्थ यही है। अन्य व्याकरणादिक किंवा प्रासंगिक ज्ञान इससे भिन्न है। जिस ज्ञानका महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया है वह ज्ञान प्रासंगिक ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान सर्वात्मभावका अनुभविक ज्ञान है। इसी विषयमें छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है-

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥ यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति, लवणमिति, मध्यादाचामेति, कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमिति अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार, तच्छश्वत्संवर्तते तं होवाचात्र वाव किल सत्सौम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि० ॥ ३ ॥ (छां० उ० ६।१३)

इस छांदोग्य उपनिषद्में निम्नलिखित गुरुशिष्य-संवाद है। यह अत्यंत बोधप्रद है अतः पाठक इसका विशेष विचार करें—

गुरुजी— हे शिष्य! इस पात्रमें जो उदक है उसमें यह नमक डाल और सवेरे यह मेरे पास ले आ।

शिष्य— अच्छा गुरुजी।

[पश्चात् शिष्यने वैसा किया, तब दूसरे दिन प्रातःकाल गुरुजी शिष्यसे पूछते हैं-]

गुरु— हे प्रिय शिष्य! कल रात्रिके समय जो नमक तूने जलमें रख दिया था वह नमक मेरे पास ले आ।

शिष्य— [शिष्यने उस जलमें देखा परंतु उसमें नमक उसे नहीं मिला तब उसने कहा कि] हे गुरो! वह नमक तो यहां नहीं दीखता!

गुरु— वह जलमें मिल गया होगा अस्तु, अब तू जल ऊपरसे थोडासा पीकर देख कि इसकी रुचि कैसी है?

शिष्य— गुरुजी! यह नमकीन है!

गुरु— अच्छा अब बीचमें थोडा पीकर देख कैसा लगता है?

शिष्य— यह भी नमकीन है।

गुरु— अच्छा अब सबसे निचले भागका थोडासा जल पीकर देख तो सही, वह कैसा लगता है?

शिष्य— गुरुजी! यह भी नमकीनही लगता है।

गुरु— हे प्रिय शिष्य! अब तुम पता लगा कि यह

(१२) ज्ञान प्राप्तिके उपाय

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अन्वयः— हि इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न विद्यते । तत् (ज्ञानं) स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान् तत्परः संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते । ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति ॥ ३९ ॥ अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा विनश्यति । संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति न परः (लोकः) न (च) सुखम् (अस्ति) ॥ ४० ॥

क्योंकि इस लोकमें ज्ञानके समान दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है । उस ज्ञानको स्वयं योगद्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध हुआ मनुष्य योग्य समयपर अपनी आत्मामें प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥ श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रियसंयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है । ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्रही उसको परम शांति मिलती है ॥ ३९ ॥ जिसे ज्ञान नहीं श्रद्धा भी नहीं और जो संशयग्रस्त मनुष्य है उसका नाश होता है । संशयग्रस्तको न यह लोक है न परलोक और न उसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—ज्ञानके समान पवित्रता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है । समत्व बुद्धि-योगसे सिद्ध हुआ मनुष्य आपही यह ज्ञान योग्य समयके अनुष्ठानके पश्चात् प्राप्त करता है ॥ ईश्वरपर श्रद्धा रखनेवाला अनुष्ठानमें तत्पर और अपने इंद्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त होनेसे उसको शांति प्राप्त होती है ॥ अज्ञानी अश्रद्ध और संशयी मनुष्यका नाश होता है । संशयी मनुष्यको तो इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता फिर परलोकमें कैसा मिलेगा ! ॥ ३८-४० ॥

जबतक इस बर्तनके साथ एकरूप हुआ आकाश में पैठ गया या उसमें व्याप्त रहा है अतः वह तुझे अलग नहीं दीखता है । यद्यपि वह नहीं दीखता तथापि वह उसीमें है । इसी तरह यह आत्मा इस सब भूतमात्रमें व्यापक हुआ है वही सत्य वस्तु है उसीको आत्मा कहते हैं वही आत्मा तू है ।

यह उपमा और संवाद परमात्माकी व्यापकता दर्शानेके हेतुसे यहां दिया है । छांदोग्य उपनिषद्के इस छठे अध्याय में यही विषय है । जैसा जलमें नमक और नमकमें जल है उसी प्रकार सब भूतोंमें आत्मा और आत्मामें भूतमात्र है । जो मनुष्य इस आत्माका साक्षात्कार करता है उसको ज्ञान हुआ है और वही मोह पाप और कर्मोंके दोषोंसे दूर होता है।

यह ज्ञान मनुष्यको प्राप्त होनेके पश्चात् और कुछ भी ज्ञातव्य उसके लिये अवशिष्ट नहीं रहता । इतना इस ज्ञानका महत्त्व है । क्योंकि जब मनुष्यको मेरे अन्दर जो आत्मा है वैसीही और वही आत्मा सब भूतोंमें है यह ज्ञान अनुभवसिद्ध रीतिसे होगा तब उसके अन्दर आत्मौपम्यबुद्धि स्वभावसे जाग्रत रहेगी और उसको अन्याय्य उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी । वह स्वयं अपने समान ही दूसरोंपर दया करेगा उनकी सहायता करना उन का भला करेगा सबको अभ्युदयके मार्गमें चलानेका करेगा उनपर आत्मवत् प्रीति करेगा उनके साथ प्रेमका व्यवहार करेगा सबके साथ न्यायसे व्यवहार करेगा, किसीको धोखा नहीं देगा किसीका अपहरण नहीं करेगा किसीकी हिंसा नहीं करेगा किसीके साथ द्रोह न करेगा, अधिक लोगोंका अधिक कल्याण करनेकी पराकाष्ठा करेगा, सबके साथ आत्मभावके साथ बर्ताव करेगा । वह उत्तम सत्य व्यवहार करेगा अतः उसको व्यवहारसम्बन्धी उपदेश करनेकी आवश्यकताही नहीं रहेगी । सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थिति जिसको प्रत्यक्ष हो गयी है वह अपने सब व्यवहार मानो ईश्वरके साथ करनेके समान करेगा फिर उसके व्यवहारमें कपट छल असत्य आदि दोषोंका उदय कैसे होगा ! वह आदर्श मनुष्य बनेगा । मनुष्यकी पराकाष्ठाकी उच्च स्थिति यही है । इसलिये यह ज्ञान श्रेष्ठ है ।

यह ज्ञानका महत्त्व है । यह ज्ञान किन उपायोंसे प्राप्त होता है यह विषय अब भगवान् बताते हैं

ज्ञान प्राप्तिके उपाय

(३८-४) (श्रद्धावान्) ईश्वर गुरु और सत्य धर्म-ग्रंथोंके वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाला; (तत्परः) अनुष्ठानमें तत्पर अर्थात् दूसरे विचारोंमें अपना समय न गँवानेवाला कर्तव्य-कर्ममें दत्तचित्त रहकर उत्तम निर्दोष रीतिसे अपना कर्तव्य करनेवाला परमेश्वरमें तल्लीन और (संयत इन्द्रियः) अपने इंद्रियोंको अपने स्वाधीन रखनेवाला इंद्रियनिग्रही और संयमी मनुष्यही अर्थात् (स्वयं योग सं-सिद्धः) स्वयं समत्व-बुद्धियोगद्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध बना हुआ मनुष्य योग्य (कालेन) समयतक अनुष्ठान करके अपनी आत्मामें ज्ञानका प्रकाश हुआ है, इस बातका अनुभव करता है।

इस ज्ञानप्राप्तिके चार उपाय हैं– (१) श्रद्धा (२) तत्परता, (३) इंद्रियसंयम और (४) योगसंसिद्धि, जिससे मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धामें बड़ा बल है। जो ईश्वरपर अटल श्रद्धा रखता है वह ईश्वरके साथ अपना संबंध अतिशीघ्र जोड़ता है और शीघ्रही तन्मयता प्राप्त करता है। गुरुके वचनोंपर और शास्त्रकी आज्ञाओंपर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य अपने मनको इधर या उधर न भटकाता हुआ एकही बिन्दुमें केन्द्रित करके अनुष्ठान करता है। इंद्रियसंयम करनेवाला मनुष्य अपने इंद्रियोंको वशमें रखकर उनको विषयमें न फँसाता हुआ ब्रह्मचर्यादि शुभनियमोंका पालन करके शान्तिसे अपने मार्गका आक्रमण करता है। इसी तरह योगसे सम्यक् सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् समत्व बुद्धिरूप योगसे सम्यक सिद्धि प्राप्त करके वह अपने अन्दर पूर्वोक्त ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा कर्तव्य-तत्परता इंद्रिय संयम और समत्व-बुद्धियोग इन चार साधनोंद्वारा मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करता है। यहां ज्ञानका अर्थ–" आत्माका सब भूतोंमें और सब भूतोंका आत्मामें निवास देखना है। (गी ४।३५, ६।२९, ६।३) यह ज्ञान श्रद्धा तत्परता, संयम और समबुद्धिसे प्राप्त होता है। और यह ज्ञान प्राप्त होनेसे–

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

(गी ४।३९)

शीघ्रही बड़ी शान्ति प्राप्त होती है। यह ज्ञान अत्यंत पवित्र है। जहां यह ज्ञान प्रकट होता है वहां पवित्रता होकर सब प्रकारकी अपवित्रता दूर जाती है। यह पवित्र ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसको इस लोकमें सुख और परलोकमें भी आनन्द प्राप्त होता है।

संशयसे नाश

परन्तु जो स्वयं अज्ञानी अश्रद्ध और संशयग्रस्त है उसका नाश होता है। वह जैसा इस लोकमें दुःखी होता है वैसाही परलोकमें भी वह अनिश्चित स्थितिमें रहता है। यहां श्रद्ध और अश्रद्ध ऐसे दो प्रकारके मनुष्योंकी स्थिति वर्णन की है। देखिये उनकी क्या स्थिति होती है–

श्रद्धावान् (३९)	अश्रद्दधानः (४०)
तत्परः (३९)	चञ्चलः
संयतेन्द्रियः (३९)	भोगपरः असंयमी
योगसंसिद्धः (३८)	चंचलबुद्धिः
स्थिरप्रज्ञः	संशयात्मा (४०)
ज्ञानवान्	अज्ञः (४०)
पवित्रः (३८)	अपवित्रः मलिनः
अविनाशी	विनश्यति (४०)
सुखमयः	दुःखरूपः
शान्तः	अशान्तः

श्रद्धालु क्या बनता है और अश्रद्ध मनुष्यकी कैसी गिरावट होती है यह बात यहां उत्कृष्टतासे विशद हुई है। श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेसे शांति-सुख प्राप्त होता है परन्तु अश्रद्ध और भ्रममय जीवन बननेसे सब प्रकारकी गिरावट होती है।

अब यह है कि जिसको परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है तथा सब संसार परमात्मामें है इसका पता न हो। इस तरहका अज्ञ मनुष्य किसीपर अर्थात् ईश्वर गुरु और शास्त्र वचनोंपर श्रद्धा नहीं रखता और इस अश्रद्धाके कारण वह संशय-सागरमें डूबता रहता है। ईश्वर नहीं होगा यह सृष्टि स्वयं बनी होगी क्या इसका कोई कर्ता होगा ? मृत्युके पश्चात् इस जीवका क्या होता है ? इत्यादि विषयमें उसके विचार संशयित होते हैं। इस कारण वह कहीं भी श्रद्धा नहीं रखता कुछ भी अनुष्ठान नहीं करता और यहां दुःखी रहता हुआ मृत्युके पश्चात् भी वह दुःखीही रहता है। संशयी मनुष्यको सत्य मिथ्या अनुकूल प्रतिकूल हित अहित कार्य-अकार्य धर्म अधर्म आदिका ज्ञान नहीं होता और

(१३) सन्देह—निवृत्ति

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः । छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे धनंजय ! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥ हे भारत ! तस्मात् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं आत्मनः एनं संशयं ज्ञानासिना छित्त्वा योगं आतिष्ठ उत्तिष्ठ (च) युध्यस्व ॥ ४२ ॥

हे युद्धमें विजयी अर्जुन ! जिसने योगद्वारा अपने सब कर्मोंका संन्यास किया है जिसने ज्ञानसे सब संशय दूर किये हैं जो आत्मिक बलसे युक्त है उसको कर्मसे बंधन नहीं होते ॥ ४१ ॥ हे भारतीय वीर ! इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले इस हृदयके संशयको अपने ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग का आचरण कर और युद्ध करनेके लिये उठकर खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

भावार्थ—कर्मयोगके अनुसार अपने सब कर्म कर ज्ञानसे अपने संदेह दूर कर, आत्मिक बलसे युक्त हो तब तुझे कर्मोंके बंधन नहीं लगेंगे । अज्ञानसे संदेह होते हैं उनको ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर कर्मयोग कर और युद्ध करनेके लिये उठ ॥ ४१ ४२ ॥

वह हितको अहित और अहितको हित मानकर चलता है और प्रतिसमय दुःखमें रहता है । यह दुःख हटानेकी इच्छा हो तो श्रद्धा तत्परता संयम और योगाभ्यास आदि मार्गोंका अवलंबन करके अपने ज्ञानसेही ज्ञानप्राप्तिद्वारा अमर बनना चाहिये । यही बात आगेके दो श्लोकोंमें कही है—

कर्म-बंध निवृत्ति

(४१ ४२) जो मनुष्य (योग) बुद्धिकी समता (गी० २।४८) और कर्मकुशलता (गी० २।५०) रूप योगके द्वारा (संन्यस्त-कर्मा) सब कर्मोंकी उत्तम प्रकारसे (न्यास) व्यवस्था करता है किंवा कर्मोंके फलों का जगत्की भलाईके लिये समर्पण करता है और जो (ज्ञान संछिन्न संशय) परमात्माके सर्वत्र व्यापक होनेके अनुभविक ज्ञानसे अपने सब संशयोंको काटकर नष्ट करता है, तथा जो (आत्मवान्) आत्मिक शक्तिसे संपन्न है ऐसे मनुष्यको उसके किये कर्मोंका (कर्माणि न निबध्नन्ति) बंधन नहीं होता । अर्थात् कर्मोंके बंधनसे छूटनेके तीन उपाय ये हैं—

(१) बुद्धिकी समता और कर्मोंकी कुशलताके साथ कर्तव्य कर्मोंको यथायोग्य रीतिसे करना, (योग-संन्यस्त-कर्मा)

(२) (ज्ञान-) परमेश्वर सबमें और सब कुछ परमेश्वरमें है, इसका अनुभव करना और परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है ऐसा अनुभव करके (संछिन्नसंशय) संशय दूर करना और उसीकी उपासनामें उसकी संतुष्टिके लिये अपने कर्तव्य कर्म करना, और—

(३) (आत्मवान्) आत्माके बलसे युक्त होकर ममत्वरहित रीतिसे अपने कर्तव्य करना ।

इन तीन कर्तव्योंका पालन करनेसे मनुष्य कर्मोंके बंधनसे मुक्त होता है और इस तरह वह जो कर्म करता है, वह कर्म उसको बंधन करनेके लिये रहता ही नहीं । अर्थात् वह सब कर्म निर्दोष रीतिसे करता है अतः कर्म दोषोंसे अलिप्त रहता है । यह निर्दोषता कहाँ सिद्ध होती है इसकी ओर ध्यान दीजिये । कर्मोंके बंधनसे मुक्त होनेके लिये कर्मसे दोषकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । यह निर्दोष कर्म किस तरह साध्य होता है इसका मनन करना चाहिये । समता, कुशलता, प्रभुकी समीपता अपनी आत्मशक्ति और फलका समर्पण करनेसे कर्मोंके दोषोंसे मुक्ति होती है ॥

अब एक एकका विचार करेंगे—

(१) (योग) समता

अपना-पराया ऊँच नीच उच्च नीच आदि विषमता

मनमें रही तो कर्म विषम होते हैं और विषम कर्मोंसे विविध दोष होते हैं। परंतु इनके विषयमें (योग) सम भाव मनमें रहा 'मैं और दूसरा' यह भेद मिट गया और सबके साथ समान व्यवहार होने लगा तो वैसे व्यवहारसे दोष नहीं होते। यह पुत्र मेरा है और यह दूसरेका है ऐसा भेदभाव मनमें रहेगा तबतककी वक्त दोनों पुत्रोंके साथ विषम व्यवहार होनेसे दोष होगा परंतु जिस समय यह भेदभाव मिटकर अपने और पराये पुत्रके साथ समान व्यवहार होगा तो उस समय विषमता मिटनेके कारण कर्मसे दोष नहीं होंगे और कर्म भी बाधा नहीं करेंगे। सब प्रकारके इन्द्रियोंके विषयमें समबुद्धि होनेसे इसी तरह सब प्रकारकी विषमता दूर जाती है और ऐसी अवस्थामें जो कर्म होते हैं वे बाधा करनेवाले नहीं होते।

(२) (योग) कुशलता

कुशलतासे कर्म निर्दोष होते हैं यह सब जानतेही हैं। एक कारीगर अपने कर्ममें कुशल है और दूसरा नहीं है। उनमें जो कुशल हो उसीके कर्म निर्दोष होंगे वैसे दूसरेके नहीं हो सकते। और निर्दोष कर्म बाधक न होकर उद्धारक हो सकते हैं।

योग के दो अर्थ हैं- समता और कुशलता। इन दोनों अर्थोंको देखनेसे पाठकोंको ज्ञान हुआ होगा कि इस ज्ञानसे किये कर्म दोषरहित और कर्ताको मुक्त करनेमें समर्थ होंगे। (योग-संन्यस्त-कर्मा) जो इस प्रकारसे योगके साथ कर्तव्य करता है, वह बंधनसे मुक्त होता है।

(३) प्रभुकी उपस्थिति

परमेश्वर सर्वत्र है और सब परमेश्वरमें हैं इसका मुख्य अर्थ है प्रभुकी सर्वत्र प्रत्यक्ष उपस्थिति। मनुष्य जहां जाय वहां उसको यदि प्रभुकी उपस्थिति प्रत्यक्ष हो 'प्रभु मेरे कर्म देख रहा है' ऐसा उसको प्रतीत होता हो और उस प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये मैं यह कर्म कर रहा हूं, यह इस का निश्चय हो तो निःसंदेह उसके कर्म उत्तम और निर्दोष होंगे। स्वामीके उपस्थित रहनेसे जहांतक हो सके वहांतक सेवक प्रमादरहित होकर सब कर्म करता है। फिर सर्वसाक्षिमान् तथा सर्वद्रष्टा प्रभु मेरे सम्मुख है ऐसा जिस भक्तके अन्तःकरणमें विश्वास होगा वह उसकी अवस्थामें निर्दोष कर्म करेगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। ([illegible]-सहायः) ज्ञानसे उसके संदेह नष्ट होते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ है या नहीं? वह मेरे कर्म जानता है या नहीं? इस प्रकारके संदेह दूर होनेसे वह प्रभुको सर्वत्र उपस्थित जानता है और वह जो कुछ करता है वह उसीकी संतुष्टिके लिये करता है।

(४) आत्म बल

अपने बलसे कर्म करनेसे कर्म निर्दोष होता है। दूसरेकी सहायतासे जो कर्म होंगे उनमें दूसरेके बलपर निर्भर रहने की परतंत्रता होनेके कारण पारतन्त्र्यका बड़ा दोष उसमें है। यह दोष इतना भयानक है। आत्म-बलसे कर्म करनेवालेमें वह पारतन्त्र्यका दोष नहीं रहता यही इसकी निर्दोषता है। (आत्मवान्) आत्मिक बल सबसे श्रेष्ठ बल है अतः जिसके पास यह बल होता है वह श्रेष्ठ बलयुक्त होनेके कारण अन्य कनिष्ठ बलवालोंकी अपेक्षा निःसंदेह श्रेष्ठ है और उसी प्रमाणसे वह निर्दोष भी है।

(५) कर्म-फलका समर्पण

अपने (संन्यस्तकर्मा = कर्मफलसंन्यासः) कर्मोंसे जो फल प्राप्त होगा वह अपने भोगके लिये न रखते हुए सब जनताकी भलाईके लिये उसका समर्पण करनेवाला मनुष्य इसी त्याग-भावके कारण निर्दोष होता है। क्योंकि स्वार्थभोगवासना उससे पूर्णतया दूर जानेके कारण और उससे जो होता है वह सब जनताकी भलाई भूतमात्रका हित (सर्वभूतहिते रताः। गी० ५।२५। १२।४) करनेमें तत्पर होनेके कारण और उसकी स्वसुख निरपेक्षताके कारण जो कर्म उससे होते हैं उनका दोष उसको बाधक नहीं होता।

इस प्रकार इस श्लोकमें कर्मोंके दोषसे मुक्त होनेके जो उपाय कहे हैं उनका विचार पाठक करें। इस स्थानपर संक्षिप्त विवरण यहां किया है इससे पाठकोंके मनमें इसका तत्त्व ठीक प्रकार आ जायगा ऐसी आशा है। कर्म-दोषसे मुक्त होनेके विषयमें इतना उपदेश करनेके पश्चात् अन्तिम श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि- अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले और हृदयमें रहनेवाले संशयको ज्ञानरूप शस्त्रसे काटकर अपनी उन्नतिका उद्योग कर।

(संशयात्मा विनश्यति । गी० ४।४०) जिसके अन्तःकरणमें संदेह है उसका नाश होता है ऐसा पहिले कहा है। अतः इस संशयको हटानेका उपाय ज्ञान है यह बात यहां कही है। ज्ञानका अर्थ यहां परमेश्वरकी सर्वत्र उपस्थिति और सबकी परमेश्वरमें उपस्थितिकी प्रत्यक्षता' है। इस प्रकारका ज्ञान होनेसेही सब संदेह दूर होते हैं और कर्माकर्मके विषयमें निश्चय होता है। इस तरह जिसका निश्चय होता है वह अपने अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये कर्म-योगका आचरण करता हुआ उन्नति प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित, ब्रह्मविद्यासे मिश्रित हुए योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर विचार

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

कर्मका सूक्ष्म विचार

इस चतुर्थ अध्यायमें ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग कहा है अर्थात् ' ज्ञानपूर्वक कर्मोंका संन्यास करके कर्मोंके दोषोंसे छूटनेकी युक्ति ' कही है अतः इसमें कर्मोंका बड़ा सूक्ष्म विचार किया है। इस दृष्टिसे यह सब विचारका प्रकरण बारंबार मनन करनेयोग्य है। अध्यायके प्रारंभमेंही इस गीताशास्त्रकी अखंड परंपरा प्राचीनकालसे चलती आयी है और इस अनादि परंपराका पुनरुद्धार करनेके लिये अपना जन्म है यह बात भगवान्के मुखारविंदसे प्रकट हुई है। श्रीभगवान् कहते हैं कि ' मैंनेही पूर्व समयमें विवस्वान्को इस शास्त्रका उपदेश किया था उससे मनु और इक्ष्वाकुको यह योग प्राप्त हुआ पश्चात् यह लुप्त हो चुका। उसका पुनरुद्धार करनेके उद्देश्यसे मैंने तुझे यह उपदेश दिया। ' इस तरह भगवान् स्वयं बारंबार अवतीर्ण होते हैं और इस योगकी पुनःपुनः जागृति करते हैं। ऋग्वेदमें भी इसी आशयका कथन है—

पूर्व-वृत्त-कथन

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥ (ऋग्वेद ४।२६।१-३)

मैं मनु हुआ, मैं सूर्य बन गया था, मैंने बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि बनकर (ज्ञानका प्रसार किया था।) मैंने अर्जुनीके पुत्र कुत्सको अपने अधीन रखा था और मैंही महाकवि उशना अर्थात् शुक्राचार्य बनकर (विद्याका प्रचार बहुत किया था।) यह मेरा कार्य देखो ॥ मैंनेही आर्योंको यह भूमि समर्पण की। दाता परोपकारी मनुष्योंके हितके लिये मैंही वृष्टि करता हूँ और उन्नतिके लिये मैं नदियां बहाता हूं। और सब देव मेरेद्वारा प्रचारित हुए इस ज्ञानको अनुसरते हैं ॥ मैंने शम्बर नामक शत्रुके ९९ किले तोडकर और सौवां नगर आर्योंके रहनेयोग्य बनाकर आर्योंको दिया और अतिथिपूजक दिवोदासकी रक्षा युद्धमें मैंनेही की थी।

इस स्थानपर ऋषि बनकर धर्मोपदेशका कार्य और क्षत्रिय बनकर आर्योंकी रक्षा करनेका कार्य मैंने किया था ऐसा श्रीभगवान्का कथन है। यह कथन गीताके इस वचनके साथ तुलना करनेयोग्य है। इसी प्रकार ऋ० ४।१८-२९ और १०।१२५ ये सूक्त इसी दृष्टिसे देखनेयोग्य हैं। अर्थात् जैसा भगवद्गीतामें कहा है कि, ' मैंने पूर्व-युगमें ऐसा किया और वैसा किया ' इसी तरह वेदमेंभी कई सूक्तोंमें कहा है।

पिताका पुनर्जन्म

चतुर्थ अध्यायके श्लोक ५-६ के विवरणमें पिताका पुनर्जन्म पुत्ररूपसे होता है, यह विषय कहा है। यही विषय महाभारतमें अधिक स्पष्ट शब्दोंमें साथ आया है। अतः वे श्लोक यहां अवश्य देखिये—

> भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
> जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः॥ ३७
> आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
> तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम्॥ ४१॥
> (म भा आदि अ ७४)

पति बीजरूपसे अपनी स्त्रीमें प्रविष्ट होकर पुनः पुत्र रूपसे जन्मता है। इस तरह पतिको पुत्ररूपसे उत्पन्न करनेके कारण धर्म-पत्नीको जाया नाम सार्थ होता है ऐसा प्राचीन ज्ञानी मानते हैं॥ स्वयं अपनाही जन्म होकर पिताही पुत्र बनता है, ऐसा ज्ञानीयोंका मत है। इसलिये पुत्रकी माता अर्थात् अपनीही धर्म-पत्नीको पुत्र-जन्मके पश्चात् (मातृवत् पश्येत्) अपनी माताके समान देखना उचित है।"

इस रीतिसे यहां कहा है कि पिताका पुत्ररूपसे पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्मके कई भाव भगवद्गीता अ० ४ श्लो ५-६ के विवरणमें बताये हैं उन भावके विचारलेयोग्य यह श्लोक है इसलिये पाठक यहां स्मरण रखें।

ईश्वर–भावकी प्राप्ति

अब भगवद्गीताका उद्देश्य पूछते हैं कि नरका नारायण बने पुरुषका पुरुषोत्तम हो जाये जीवका शिव बने किंवा—

ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। (गी ४।१०)

'ज्ञान और तपसे पुनीत होकर (मद्भावं) परमेश्वरके भावको प्राप्त होते हैं। जो ज्ञान और तपसे पवित्र बनेंगे वे ईश्वर-भावको प्राप्त होंगे। जैसा अग्नि-भावको लकडी या लोहा प्राप्त हुआ तो वह अग्निही होता है, इसी तरह ईश्वर-भावको जो मनुष्य प्राप्त होता है वह साक्षात् ईश्वर बनता है। कई पाठक इस विषयमें संदेह करते हैं अतः श्रीमद्भगवद्गीताका इस विषयमें निश्चित सिद्धान्त क्या है, यह अब देखेंगे। भगवद्गीतामें इस प्रकारके भगवद्भावसे युक्त बन जानेको "सिद्धि अथवा परम सिद्धिको प्राप्त होना" कहा है। अतः वे श्लोक यहां देखिये–

परम सिद्धि

> परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
> यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥
> (गी १४।१)

> असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
> नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
> (गी १८।४९)

उत्तमसे उत्तम ज्ञान यह है कि जो ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अनेक मुनि यहांसे परम सिद्धिको पहुंचे हैं॥ जिसकी भोगोंपर आसक्ति नहीं है जिसने अपने मनको जीता है जिसने भोगेच्छाओंका त्याग किया है वह संन्यासद्वारा परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

यहां परम सिद्धि प्राप्त करनेके साधन 'ज्ञान अनासक्ति मनका संयम और भोगोंकी अनिच्छा' कहा है तथा और भी देखिये–

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> (गी १८।४६)

'जिसके द्वारा सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई और जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वरकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।'

ईश्वर-पूजा करनेका और सिद्धि प्राप्त करनेका यह अति सुगम उपाय है। प्रत्येक मनुष्य जो कामधंदा करता है अथवा जिस कर्ममें नियुक्त हुआ है वही कर्म वह परमेश्वरको अपने सम्मुख उपस्थित जानकर और उसको सन्तुष्ट करनेके लिये करे। इससे वह परम सिद्धिको प्राप्त करता है। पुरुष हो या स्त्री हो स्वकर्म करता हुआ वह इस प्रकार उच्च होता है। किसी भी मनुष्यको किसी भी अवस्थामें इस मार्गसे जानेमें किसी भी प्रकारका प्रतिबंध नहीं हो सकता। माता अपने पुत्रको उत्तम रीतिसे सुसंस्कृत करके सिद्धि प्राप्त कर सकती है; पत्नी अपने पतिविषयक और पति अपने पत्नीविषयक कर्तव्य करते हुए उन्नत हो सकते हैं; इसी तरह नौकरपेशा, व्यापारी कारीगर कर्मचारी तथा हरएक मनुष्य अपना कर्म परमेश्वरको संतुष्ट करनेके लिये

करता रहेगा, वो निःसन्देह उन्नत होगा। इसमें दोही बातें मुख्य हैं—

(१) परमेश्वरको अपने सम्मुख उपस्थित मानना और—

(२) अपना कर्म उसको संतुष्ट करनेके लिये करता हूं ऐसा मानकर कर्म करना।

इतनेहीसे मनुष्य शुद्ध पवित्र और उन्नत होता है। दुष्ट, दुराचारी मनुष्य भी ये दो बातें मानेगा तो थोडेही समयमें दुष्टता और दुराचारसे दूर होगा, फिर सदाचारी मनुष्यकी उन्नति होनेमें क्या संदेह हो सकता है? तात्पर्य यह अत्यंत सुगम उपाय है। यही बात अन्य शब्दोंसे निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गी० १२।१०)

"यदि तू योगादि साधनोंका अभ्यास करनेमें समर्थ नहीं है, तो तू मेरे लिये कर्म कर। मेरे लिये कर्म करनेसे ही तू सिद्धिको प्राप्त करेगा।"

मनुष्योंमें मनुष्य ऐसे होते हैं कि जो योगादि साधन नहीं कर सकते। इस प्रकारकी असमर्थता होनेपर भी उन मनुष्योंका हताश होनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्य यदि अपने कर्म परमेश्वरकी संतुष्टिके लिये करेंगे अथवा अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करेंगे तो वे सिद्धि प्राप्त करेंगे।

कई यहां शंका करेंगे कि केवल अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसे किस तरह उन्नति होगी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक मनुष्य कोई स्नान सन्ध्या करता है। यदि वह कर्म केवल राजाके लिये करता हो तो वह कितनी लगनसे करेगा? अपना कर्म राजा देखेगा इतना विचार होनेसे उसका वह सन्ध्यादि कर्म निर्दोष होता है फिर राजाधिराज भी जो राजा है उस सर्व-समर्थ परमेश्वरके लिये जब वह अपना कर्म समर्पण करेगा तब उसकी शुद्धता पवित्रता और उन्नति होनेमें संदेही क्या होगा? अर्थात् अपने कर्म परमेश्वरार्पण करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संदेह नहीं है।

इस तरह सिद्धि प्राप्त होनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है। यह सिद्धि प्राप्त होनेके साधन ये हैं

(१) भोगोंपर अनासक्ति,

(२) आत्मसंयम अर्थात् संयम और—

(३) कर्मफलोंका त्याग।

यदि ये साधन कोई मनुष्य न कर सके तो वह मनुष्य

(४) अपने कर्म परमेश्वरको अर्पण करे।

यह अत्यंत सुगम उपाय है। इसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य उन्नतिके पथपर जा सकता है। मनुष्य जो कर्म करता है वह परमेश्वरको समर्पण करे। इससे अति सुगम उपाय क्या हो सकता है? यहां सुगम साधनकी परम सीमा हो चुकी है। मनुष्य अपना जीवन परमेश्वरके लिये समर्पण करेगा तो सिद्धिको अवश्य प्राप्त करेगा।

परंतु "सिद्धि" शब्दसे किसी भी निश्चित अवस्थाका बोध स्पष्टतया नहीं होता। सिद्धि का तात्पर्य क्या है? मनुष्य जब सिद्धिको प्राप्त करता है तब उसको क्या मिलता है और मनुष्यको जबतक सिद्धि नहीं मिलती तब तक उसमें किस बातकी न्यूनता रहती है इसका विचार करना चाहिये। इसका निश्चय होनेसेही परम सिद्धिकी कल्पना ठीक प्रकार आ सकती है अतः इस बातका अब विचार करेंगे।

विशेषता

जिस मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई उस सामान्य मनुष्यकी अपेक्षा जिसको सिद्धि प्राप्त हो चुकी है ऐसे सिद्ध पुरुषमें कुछ न कुछ विशेषता होती है जैसा निम्नलिखित गीता-वचनोंसे प्रतीत होता है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गी० ७।१७)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
(गी० ६।९)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गी० ३।७)

इनमें नित्य योगानुकूल व्यवहार करनेवाला अकेले मेरी (ईश्वरकी) भक्ति करनेवाला ज्ञानी विशेष योग्यता रखता है। मैं ज्ञानीको प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है।

सम हृदयवाला मित्र, शत्रु, पक्षपातरहित मध्यस्थ, द्वेषी बन्धु, साधु और पापी इन सबपर जो सम भाव रखता है वही विशेष श्रेष्ठ है ॥ जो मनुष्य मनके द्वारा इन्द्रियोंको अपने अधीन रखता है और भोगमें आसक्त न होता हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है वह विशेष श्रेष्ठ होता है।

इस तरह— (१) योगयुक्त व्यवहार (२) ईश्वर भक्ति (३) सर्वत्र सम भाव (४) इंद्रिय-संयम (५) अनासक्ति और (६) कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष उच्च होती है," यह गीताका कथन है। पूर्व स्थानमें " परम सिद्धि प्राप्त करनेके लिये " अनासक्ति, संयम वासना-त्याग और प्रभुको अपने कर्म समर्पण करना ये चार बातें लिखी हैं। यहां मनुष्यको ' विशेषत्व ' प्राप्त करनेके लिये छः बातें कही हैं, जिनमें आधी पूर्वोक्त दुबारा कही हैं।

विशेषत्व प्राप्त करनेका भी क्या आशय है? सामान्य मनुष्योंमें कौनसी हीनता होती है और विशेष मनुष्यमें कैनसी पूर्णता होती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब तक इस बातका निश्चय नहीं होगा तबतक विशेषता प्राप्त होनेका आशय ध्यानमें नहीं आवेगा। अतः इसकी खोज करनी चाहिये।

श्रेय'प्राप्ति

यहां कई कहेंगे कि श्रेय प्राप्त होनेसे मनुष्यकी योग्यता विशेष श्रेष्ठ होती है। सामान्य मनुष्य श्रेय-मार्गसे दूर रहते हैं और विशेष मनुष्य श्रेय-मार्गमें प्रवृत्त होते हैं। दोनोंमें यही भेद है। इस श्रेयको प्राप्त करनेका उपाय भ. गीतामें निम्नलिखित श्लोकमें कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(गी. ३।११)

" तुम यज्ञद्वारा देवोंकी संभावना करो और वे तुम्हारी संभावना करेंगे। इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए तुम परम श्रेयको प्राप्त करो।" यहां परम श्रेयप्राप्तिका साधन परस्पर सहायता है ऐसा कहा है। समाजमें अथवा राष्ट्रमें द्विविध लोग रहते हैं। पूंजीपति और कर्मचारी ज्ञानी और अज्ञानी अधिकारी और उनका कार्य और वस्तु द्विज और द्विजेतर इस प्रकार अनेकविध लोग समाजमें रहते हैं, इनकी परस्पर सहायतासेही सबका पूर्ण हित हो सकता है। ज्ञानी अशक्त होंगे और कर्मचारी सशक्त होंगे तो ज्ञानी लोग कर्मचारियोंकी सहायता ज्ञानद्वारा करें और कर्मचारी अपने शारीरिक बलसे ज्ञानियोंको आराम पहुंचावें। इस तरह परस्पर सहायतासे सबका कल्याण होता है और आपसके झगड़ेसे सबकी हानि होती है। यह बात सहजहीमें सबके ध्यानमें आ सकती है। यहां कल्याण अथवा श्रेय शब्दसे इह-पर-लोकमें प्राप्त होनेवाला सुख माना जाता है।

सिद्धि, परम सिद्धि, विशेषत्व श्रेय परम श्रेय और कल्याण ये सब शब्द संदिग्धार्थी हैं। इनसे कुछ अवस्था विशेषकी कल्पना मनमें उत्पन्न होती है यह सत्य है तथापि उस अवस्थामें क्या लाभ है और वह अवस्था प्राप्त न होनेसे क्या हानि है इस बातकी निश्चित कल्पना इन शब्दोंसे नहीं होती है अतः इस बातकी खोज और करनी चाहिये।

मायाके पार होना

इस स्थानपर कई लोग कहेंगे कि श्रेयप्राप्तिका अर्थ मायाके पार होना है। जिसका वर्णन इस प्रकार किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गी. ७।१४)

मेरी यह तीन गुणोंवाली दैवी माया पार करना बड़ा कठिन कार्य है। जो लोग मेरी शरण लेते हैं, वही इस मायासे पार जाते हैं।

इस श्लोकमें कहा है कि संसारमें रहनेवाले सामान्य मनुष्य इस दैवी मायाके पाशोंसे बंधे होते हैं। इस मायाका बन्धन तोड़ना कठिन कार्य है, परन्तु जो मनुष्य परमेश्वरकी शरणमें जाते हैं, केवल वेही इस मायाके बंधनोंको तोड़कर मुक्त होते हैं। यहां कुछ न कुछ विशेष अवस्थाकी कल्पना होती है। माया नामकी दैवी शक्ति है उसके तीन गुण हैं वेही बड़े पाश हैं। साधारण अज्ञानी मनुष्य इन पाशोंसे बंधे जाते हैं। जो विशेष ज्ञानी परमेश्वरकी भक्ति करते हैं, वेही इन पाशोंको तोड़कर मुक्त होते हैं।

यद्यपि यहां माया और गुण (रस्सी पाश) इन शब्दोंसे

कुछ बन्धनकी कल्पना आती है, तथापि 'माया' शब्दसे किसी निश्चित पदार्थका बोध नहीं होता और गुणों (पाशों) में मनुष्य कैसा बांधा जाता है, इसका भी बोध ठीक तरह नहीं होता है। अतः इस विषयकी अधिक खोज करनी चाहिये।

पुनर्जन्म न होना

यहां कई विद्वान् कह सकते हैं कि मायाके पाशोंमें बद्ध होनेके कारण जीवको वारंवार जन्म-मरणके चक्रमें परवश होकर घूमना पडता है, परन्तु जो माया-पाशोंसे दूर रहता है वह पुनर्जन्ममें नहीं आता। अतः कह सकते हैं कि साधारण मनुष्य जन्ममरणके चक्रमें फंसीहें जाते हैं परन्तु विशेष महत्ता प्राप्त करनेवाले मनुष्य जन्म-मरणके प्रवाहके बाहर हो जाते हैं।' इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक विशेष विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(गी ५।१७)

ज्ञानसे जिनके पाप धुल गये हैं वे पवित्रात्मा लोग ईश्वरका ध्यान करते हैं, ईश्वरमें अपनी आत्माको लगाते हैं ईश्वरकी भक्ति करते हैं और ईश्वरपरायण होते हैं और इससे वे जन्म-मरणके प्रवाहसे छूट जाते हैं। तथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गी ८।१६)

' ब्रह्म-लोकसे लेकर सब लोक जन्ममरणकी यातना भोगनेवाले हैं। परन्तु जो मनुष्य मुझे (ईश्वरको) प्राप्त करते हैं उनको पुनः जन्म नहीं लेना पडता।"

इस प्रकार यहां कहा कि परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले महात्मा आस्तिक लोग परमेश्वरको प्राप्त होनेके पश्चात् पुनः पुनः जन्म-मरण लेनेके फन्देमें नहीं पडते हैं। यहां निश्चय हुआ कि सिद्धि प्राप्त होना श्रेष्ठ अवस्था विशिष्ट अवस्था प्राप्त करना इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य परमेश्वरको प्राप्त करना है। परमेश्वरको प्राप्त करनेसेही मनुष्य परम-सिद्ध होता है परम श्रेय प्राप्त करता है और पुनर्जन्मसे पार होता है। परमेश्वरको प्राप्त करनेका विषय गीतामें तथा और अन्य शास्त्रोंमें यथा वारंवार आ गया है। इसका निश्चित अर्थ समझनेकी इच्छा है, तो नीचे लिखे श्लोकका अर्थ तरह मनन कीजिये—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
(गी १४।२)

इस ज्ञानको प्राप्त करके उपासक ईश्वरके गुण-धर्मोंके समान गुण-धर्मोंसे युक्त होता है तत्पश्चात् उसको सृष्टिकी उत्पत्तिके समयमें भी जन्म लेना नहीं पडता और प्रलय कालमें भी उसको व्यथा नहीं होती।

यहां परम सिद्धिकी कल्पना स्पष्ट हो गई है। परमेश्वरके जो जो गुण-धर्म हैं वे गुण-धर्म इसको प्राप्त होते हैं, मानो वह परमेश्वरके समान बन जाता है। जैसा अग्निमें लोहा अपनी दाहक-शक्ति बढाकर अग्नि बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव शिव-स्वरूप हो जाता है। (मम साधर्म्य = ईश्वर-साधर्म्य) ईश्वरके समान धर्मवाला बनना ही अन्तिम सिद्धि है। ईश्वरके समान गुण-धर्म होनेसे वह जन्म-मरणके क्लेशोंसे दुःखी नहीं होता। जैसा ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है वैसाही वह बनता है फिर इसको दुःख क्लेश कैसे हो सकेंगे ? जन्म-मरणके चक्रोंसे दूर होनेका हेतु और भी एक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥
(गी १३।२३)

जो मनुष्य गुणमयी प्रकृति और पुरुषको यथार्थ जानता है, उसको सब तरहका बर्ताव अर्थात् सब कर्म करनेपर भी फिरसे जन्म लेना नहीं पडता।"

प्रकृति पुरुषका यथार्थ ज्ञान होनेपर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करनेका उपाय ज्ञात होता है और इस कारण उसको पुनर्जन्म लेनेका कारण नहीं रहता। अस्तु। इस तरह परम सिद्धि प्राप्त करनेका अर्थ परमेश्वरके समान गुण-धर्मोंसे युक्त बनना है अर्थात् निर्दोष निर्लेप व निष्कलंक बनना है। इस निर्लेपताका स्वरूप अब देखिये—

निर्लेपता

मनुष्य इस संसारमें विचरता है, अतः अनेक रीतिसे उसपर दोष लगनेका संभव होताही है। ऐसा संभव होनेपर भी श्रीमद्भगवद्गीताने एक अपूर्व युक्ति दर्शायी है

जिसका प्रयोग करनेसे मनुष्य निर्लेप या निष्कलंक, शुद्ध और पवित्र बन सकता है। निर्लेपताको प्राप्त करनेकी युक्ति यह है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गी० ५।१०)

"कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करके जो मनुष्य आसक्तिरहित होकर सब व्यवहार करता है वह पानीमें जैसा कमल-पत्र निर्लेप रहता है, वैसा पापसे कलंकित नहीं होता।"

यहां निष्कलंक रहनेकी दो युक्तियां कही हैं— (१) कर्म परमेश्वरको समर्पण करना और (२) भोगोंका संग छोडना। इस युक्तिसे मनुष्य सब प्रकारके कर्म करता हुआ भी निर्दोष रह सकता है। पापी मनुष्य भी इस ज्ञानसे निर्दोष होगा। देखिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(गी० ४।३६)

"सब पापियोंसे भी तू अकेले बडा पापी हुआ तो भी इस ज्ञानरूपी नौकाद्वारा तू संपूर्ण पापोंसे पार हो जायगा।"

इस तरह इस ज्ञानसे और पूर्वोक्त युक्तियोंसे मनुष्य निष्कलंक हो सकता है।

मनुष्य जो जो कर्म करता है वह परमेश्वरके लिये करे और उसके फल-भोगकी इच्छा न करे। बस इतनी युक्ति करनेसे वह निर्दोष रहेगा। कर्म करनेपर भी कमल-पत्रके समान निर्लेप रहेगा। वस्तुतः तत्त्व-दृष्टिसे जैसा आकाश घरमें रहनेपर भी घरके दोषसे दोषी नहीं होता इसी तरह यह आत्मा सर्वव्यापक होनेसे शरीरसे बने कर्मोंके दोषोंसे दोषी नहीं बनता। देखिये इस विषयमें भगवद्गीताका कथन किया गया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
(गी० अ० १३)

यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहते हुए भी न कुछ करता है और न किसीसे लिप्त होता है। जैसे सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता वैसेही सब देहोंमें रहनेवाला आत्मा भी लिप्त नहीं होता॥

यही उपदेश उपनिषदोंमें भी कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥
(कठ उप० २।५)

"जैसा अग्नि एक है, तथापि वह भुवनोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तुमें अलग अलग दीखता है, इसी तरह सब भूतोंकी अन्तरात्मा एक है परंतु वह प्रत्येक रूपमें भिन्न रूपवाला दीखती है और उसके बाहर भी वह है। वायु जैसा एक है परन्तु प्रत्येक पदार्थमें प्रविष्ट होकर विभिन्न रूपवाला दीखता है उसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है, परन्तु वह प्रत्येक रूपमें अलग अलग दीखता है और वह उसके बाहर भी है। जैसा सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण सबका चक्षु जैसा है तथापि किसीसे अलग होनेके कारण दोषयुक्त नहीं होता वैसाही सब भूतोंकी अन्तरात्मा एक है तथापि वह लोगोंके दोषोंसे दोषी अथवा लोगोंके दुःखसे दुःखी नहीं होती।"

आत्मा सर्वगत-सर्वव्यापक-है, यह बात पूर्व स्थानमें (गी० २।२४ में) कही है। यह सर्वगत होनेसेही तत्त्वतः निर्दोष है। जैसा थोडा जल बिगडता है नदीनाले गंदे होते हैं, परन्तु वह दोषपूर्ण जल महासमुद्रमें पहुंचनेपर उसका जल कभी भी बिगडता नहीं सदा पवित्र रहता है। (सागरे सर्व-तीर्थानि) महासमुद्रमें सब प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं, यह सागर-जलकी पवित्रता उसके "महत्त्व" के

कारण है, चूंकि सागर बहुत बड़ा है इसलिये वह योग्य है। आत्मा भी सबसे बड़ी है अतः वह निर्दोष है। 'सूक्ष्म' और 'बड़ा' का विचार इससे पूर्व (गी० २।२३-२५ के विवरणमें) किया है वह यहां अवश्य देखें। जो दोष होता है वह अल्पमें होता है अतः व्यक्तिगत संकुचित भावकी दृष्टिसे कर्म करनेपर दोष होते हैं और सामुदायिक विस्तृत सार्वभौमिक भावकी दृष्टिसे कर्म करनेपर निर्दोषता सिद्ध होती है। अतः वैयक्तिक भोगतृष्णा दूर करनेसे सब दोष दूर जाते हैं, ऐसा जो बारंबार कहा है वह युक्तियुक्त है।

इस निर्दोषताका अर्थ कर्मके बन्धसे निवृत्ति है। यह कर्म-बन्ध किस तरह दूर होता है यह विचार भी बड़ा सूक्ष्म है यह अब देखिये—

कर्म-बन्ध निवृत्ति

कर्मसे बन्धन उत्पन्न होता है और प्रत्येक जीवित मनुष्य सदा कर्म करता है अतः प्रत्येक मनुष्य कर्म-बन्धमें फंसता है। ऐसी अवस्थामें कोई मनुष्य किस तरह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकता है? इस तरह विचार करनेसे मनुष्य अपनी मुक्तिके विषयमें निराश होता अतः भगवद्गीताने कहा है कि हे मनुष्य तू निराश न हो क्योंकि योग-युक्त रहनेपर कर्मके बंधन नहीं रहते। यह सिद्धान्त बतानेके उद्देश्यसे गीतामें कहा है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (गी० ४।२३)

जो भोगोंपर आसक्त नहीं है जिसका चित्त ज्ञानसे पूर्ण है और जो यज्ञके लिये कर्म करता है उस मुक्तके सब कर्म नष्ट होते हैं।

भोगोंपर आसक्त न होनेसे और ईश्वरविषयक ज्ञानसे चित्त पूर्ण करनेसे मनुष्यके सब कर्म नष्ट होते हैं सब कर्मोंका क्षय होता है अतः बन्धन उत्पन्न करनेके लिये वे कर्म उसके पास अवशिष्ट नहीं रहते। इसी तरह कर्म-योगके द्वारा कर्मके बन्धन दूर किये जा सकते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
(गी० २।३९)

यह सांख्य तत्त्वज्ञान तुझे बताया, अब कर्मयोगका ज्ञान बताता हूँ सो तू श्रवण कर। इस ज्ञानसे तू कर्मके बन्धनोंको तोड़ सकेगा।"

कर्म-योगकी रीतिसे कर्म करनेपर कर्मके दोषसे बंधन नहीं होता है। कर्म-दोषसे मुक्त होनेकी यह युक्ति है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
(गी० ५।३)

जो मनुष्य किसीका द्वेष नहीं करता और किसी भोग की इच्छा भी नहीं करता जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे दूर रहता है वह सच्चा संन्यासी होनेसे बन्धनसे मुक्त होता है।"

यहां बन्धनसे छूटनेके तीन उपाय कहे हैं- (१) अद्वेष (२) निरिच्छता और (३) निर्द्वन्द्वता। जिस मनुष्यके आचरणमें ये तीनों सहजहीसे रहते हैं वह मनुष्य कर्मके दोषोंसे बद्ध नहीं होता। किसीका द्वेष न करो भोगकी कामना न करो और सुखदुःखादि द्वन्द्वोंके विषयमें समभाव रखो। ऐसा करनेसे मनुष्य मुक्त होता है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गी० ३।३१)

" जो लोग श्रद्धा रखकर और द्वेषका त्याग करके, इस मेरे कथनके अनुसार अनुष्ठान करते हैं वे भी कर्मके बन्धनसे मुक्त होते हैं।"

इस वचनमें भी— (१) श्रद्धा, (२) अद्वेष और (३) भगवान्‌के मतानुकूल व्यवहार करना, ये तीन उपाय कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये दिये हैं। भगवान्‌के मतानुसार अनासक्त और कामनारहित कर्म करना, इत्यादि बातें गीतामें कहा हुआ है। अब कर्म बंधन न होनेके लिये क्या करना चाहिये इस विषयमें देखिये —

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(गी० ४।१४)

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते॥
(गी० ४।२२)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
(गी० ४।४१)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
(गी० १८।१७)

' मुझे कर्म फलकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्मोंका लेप नहीं होता। इस तरह जो मुझे भलीभाँति जानता है वह कर्मोंसे बाँधा नहीं जाता ॥ जो सहज प्राप्त हुए वस्तुसे सन्तुष्ट रहता है जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहता है जो ईर्ष्यारहित होता है और जो सफलता और निष्फलताके विषयमें मनमें सम भाव रखता है, वह कर्म करते हुए भी बंधनमें नहीं पड़ता ॥ समत्वरूपी योगद्वारा जिसने कर्म-फलका त्याग किया है ज्ञानके कारण जिसके सब संदेह दूर हो चुके हैं और जो आत्म-ज्ञानसे युक्त है, उसको कर्मोंके बन्धन नहीं होते ॥ जिसमें अहंकार-ममत्व- नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं हुई है वह इन सब लोगोंको मारते हुए भी नहीं मारता और फिर कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ता ।"

इन चार श्लोकोंमें कर्मोंके द्वारा होनेवाले बन्धन दूर करने के उपाय कहे हैं। कर्म-बन्धन तोड़नेके उपाय ये हैं—
(१) कर्मफलकी अनिच्छा (२) यदृच्छा-लाभमें सन्तोष (३) द्वन्द्वातीत होना (४) मत्सर-रहित होना (५) सिद्धि-असिद्धिमें सम भाव रखना (६) योगसे कर्मोंका त्याग (७) ज्ञानसे संदेह-रहित होना (८) आत्म ज्ञानसे युक्त होना (९) अहंकार न होना (१०) अलिप्त निर्मल बुद्धि रखना इन दस उपायोंसे कर्मोंके बन्धन दूर होते हैं। ये दस युक्तियाँ जिसने साध्य की हैं वह सदा कर्म करता रहा तो भी बद्ध नहीं होता, यथा—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गी० ५।७)

' जो समत्वरूपी योगका आचरण करता है जिसका हृदय शुद्ध है जिसने अपने मनको जीता है और जिसने इन्द्रियोंका संयम किया है और जो सब भूतमात्रको अपनी आत्माके समान अनुभव करता है वह कर्म करते हुए भी अलिप्त रहता है।

यहाँ (१) समत्व-योगका आचरण (२) हृदयकी शुद्धता (३) आत्म विजय (४) इंद्रिय-संयम और (५) सर्वभूतात्मभाव ये पाँच साधन कर्म-दोष निवारणके लिये कहे हैं। इनमेंसे कई पूर्वोक्त साधनोंमें आ चुके हैं और शेष उनके साथ साथ सिद्ध होनेवाले हैं।

इन श्लोकोंका मनन करनेसे हमें पता लगता है कि मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होनेका आशय कर्मके दोषोंसे दूर होना है। कर्मोंके करनेपर भी जो निर्लेप रहता है, उसको सिद्ध पुरुष समझना चाहिये इसीको मुक्त कहते हैं।

मुक्ति अथवा मोक्ष

मनुष्यको सिद्धि मिली मनुष्य विजय योग्यतासे युक्त हुआ कर्म बन्धनसे दूर रहा निर्लेप या निष्कलंक हुआ तो कहा जाता है कि वह मुक्त हुआ। यह मुक्ति प्राप्त करना मनुष्यका मुख्य ध्येय है अतः इस मुक्तिके विषयमें गीतामें क्या कहा है उसका यहाँ विचार करना चाहिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
(गी० ९।१)

'तू द्वेष-रहित है, इसलिये तुझे यह गुह्य ज्ञान मैं कहता हूँ इस ज्ञानसे तू अपने आपको अशुभसे मुक्त करेगा।

यहाँ मुक्तिका अर्थ अशुभसे बचना है और यह मुक्ति शुभ ज्ञानसे प्राप्त होती है। तथा—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
(गी० १८।७१)

' जो मनुष्य श्रद्धालु और द्वेष न करनेवाला है वह यदि मोक्षका ज्ञान श्रवण करेगा तो निःसंदेह मुक्त होकर शुभ कर्म करनेवालोंके पुण्य-लोकोंको प्राप्त होगा।"

यहाँ मुक्त होनेके तीन साधन कहे हैं- (१) श्रद्धालुता (२) द्वेषराहित्य और (३) मोक्षमार्गका ज्ञान। श्रद्धाहीन और द्वेष करनेवाले लोग बारंबार बन्धनमें फँसते हैं अतः मुमुक्षु मनुष्यको उचित है कि वह श्रद्धासे मोक्ष ज्ञान प्राप्त करे और द्वेष भाव मनमें न धारण करे। ईश्वरकी शरणमें जानेसे भी मोक्ष प्राप्त होता है देखिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गी० १८।६६)

' सब विभिन्न धर्म-कल्पनाओंका त्याग करके तू मेरी

(ईश्वरकी) शरणमें आ । मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा अतः तू शोक मत कर । ''

यहां एकनिष्ठासे परमेश्वरकी शरणमें आनेसे मुक्ति मिलती है ऐसा स्पष्ट कहा है । अन्य विचार छोडकर शुद्ध भावसे परमेश्वरकी शरणमें आनेसे मनुष्य मुक्त होता है । परमेश्वर मनुष्यका हृदय देखता है । उसमें श्रद्धा-भक्ति होगी और सत्य निष्ठासे शरणमें आनेका भाव होगा तो उसकी मुक्ति होनेमें क्या देरी है ? इस तरह शरण आनेवालेको साधनोंके विविध आडंबर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । यह भक्तिसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति है । ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली मुक्तिका वर्णन यह है ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(गी. १०।३)

" जो मनुष्य मुझ सब लोकोंके महेश्वरको अजन्मा और अनादि स्वरूपमें यथावत् जानता है वह सब लोगोंमें ज्ञानी होकर सब पापोंसे मुक्त होता है ।

यहां ईश्वरको यथावत् जाननेसे अर्थात् ज्ञान-मार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेका वर्णन है । परमेश्वरका दिव्य स्वरूप जाननेसे इस तरह मुक्ति होती है । अब योग-मार्गसे मुक्त होनेके विषयमें देखिये—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(गी. ५।२८)

जो मोक्षपरायण मुनि अपने इंद्रिय मन और बुद्धिको अपने वशमें रखता हुआ इच्छा भय और क्रोधसे रहित होता है वह सदा मुक्त ही है । ''

यह मुक्ति अनुष्ठान तथा योग-साधनसे प्राप्य है । इंद्रियादिकोंका संयम करना और इच्छा कामना वासना भय क्रोध आदिसे दूर होना, यही यत्नसाध्य है । यह साध्य होनेसे ही मुक्ति सिद्ध होती है । मुक्तिका अर्थ इंद्रिय-मन-बुद्धि की स्वाधीनता और इच्छा-भय-क्रोधरहित होना है । इसका नाम मुक्ति है । पूर्वोक्त निर्द्वन्द्व आदि स्थिति इससे स्वयं सिद्ध होती है ।

यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि बन्धन-निवृत्ति पापसे अथवा कर्म-बन्धनसे छूटना आदि जो मुक्तिके वर्णन हैं, वे विशेष भाव-दर्शक हैं । अभावकी बात यहां नहीं होती यह अभाव-कथन है । अभाव रूपमें मुक्त स्थितिमें क्या होता है इसकी कल्पना नहीं होती । अतः मुक्तिका भावरूप लक्षण क्या है इसका विचार करना आवश्यक है ।

शान्तिकी प्राप्ति

मुक्तिमें ' शांति ' रहती है । यह मुक्तिका भावरूप वर्णन है । आपने देखा कि मुक्तिमें निर्द्वन्द्व स्थिति होती है । इसका अर्थ झगडे झगडा है और निर्द्वन्द्व स्थितिका अर्थ शांति है । इसी तरह इच्छा-भय-क्रोध ये अशान्तिके लक्षण हैं और इनसे दूर होनेका नाम मोक्ष अथवा शांति है । इस तरह मुक्तिके जो अन्यान्य साधन कहे हैं उनसे अशांति हटकर शांति प्राप्त होती है । इसका अनुसन्धान पाठक करें । इस शान्तिके विषयमें भगवद्गीतामें निम्नलिखित वचन मनन करनेयोग्य हैं-

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गी. २।७१)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गी. ५।१२)

सब कामनाओंको छोडकर जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार-रहित होकर विचरण करता है वही शांति प्राप्त करता है ॥ समत्वरूप योगका आचरण करनेवाला कर्मफलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करता है । परन्तु समत्व रूप योगका आचरण न करनेवाला कामनाके वशमें होकर फलासक्तिके कारण बंधनमें फंसता है ।

यहां परम शांति प्राप्त करनेके ये साधन कहे हैं (१) कामना अथवा वासनाका त्याग, (२) निःस्पृह वृत्तिका धारण (३) ममत्वका त्याग (४) अहंकारका त्याग (५) समत्वरूप योगका आचरण (६) कर्म-फलका त्याग ।

पाठक यदि पूर्व स्थानमें मोक्ष बन्धन-निवृत्ति तथा सिद्धि आदि प्रकरण देखेंगे तो उनको वेही साधन यहां भी दिखाई देंगे अर्थात् यद्यपि इन शीर्षकोंके शब्द भिन्न हैं, तथापि उनसे बोधित होनेवाली स्थिति एकही है । क्योंकि वेही सब साधन हरएक स्थानमें भिन्न भिन्न रूपसे आते हैं । यही बात और देखिये-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गी. ४।३९)

" श्रद्धालु और तत्पर पुरुष इंद्रिय-संयम करके ज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्रही उसको परम शांति मिलती है।

यहां श्रद्धा तत्परता इंद्रिय-संयम ये साधन ज्ञान-प्राप्तिके लिये कहे हैं और ज्ञानसे शांति प्राप्त होनेका उल्लेख यहां भी है। योगसे भी शांति मिलती है, देखिये—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
(गी. ६।१५)

' जिसका मन इस तरह नियममें रहता है वह योगी आत्माको परमात्माके साथ मिलाता है जिससे वह मुझ परमात्मामें रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त करता है। "

इस तरह ध्यान-योगी भी परम शान्ति प्राप्त करता है। इसके साधनोंमें भी—(१) मनका संयम, (२) ध्यान योग (३) ईश-भक्ति ये शांतिके साधन कहे हैं। इनमें मनःसंयम पूर्वोक्त साधनोंमेंसे एक है। परमेश्वरको जाननेसे भी शांति मिलती है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥
(गी. ५।२९)

यज्ञ और तपके भोक्ता सब लोकोंके श्रेष्ठ ईश्वर और सब भूतमात्रोंका हित करनेवाले, सब भूतोंके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले मुझ परमेश्वरको जानकर मनुष्यको शांति प्राप्त होती है। "

यहां परमेश्वरको यथावत् जाननेसे शान्ति प्राप्त होनेका कथन है। यहां जो सब भूतोंका हित करनेका गुण परमेश्वरमें है, ऐसा कहा है वही सब भूतोंका हित करनेका स्वभाव अथवा सब भूतोंके हितमें आत्म-समर्पण करनेका स्वभाव बनाना (सर्वभूतहिते रताः। गी. ५।२५; १२।४) सबको योग्य है। ईश्वरके गुणोंका ज्ञान होनेसे उन गुणोंका अपनेमें धारण करनेकी और प्रवृत्ति होकर उससे उपासकमें प्रति समय ईश्वरीय भाव बढता है और अन्तमें शान्ता-वस्था प्राप्त होती है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें है।

परमेश्वर सब लोकोंका महान् ईश्वर है इसलिये सब भूतमात्रोंका हित करनेका कार्यक्षेत्र उसके लिये बहुतही विस्तृत है। जो मनुष्य जितना बडा होगा उस प्रमाणसे उसका सब भूतोंका हित करनेका कार्य क्षेत्र बडाही होगा।

जैसा उदाहरणके लिये देख सकते हैं कि- एक ग्राम निवासी ग्राम-नेताका भूतहित करनेका कार्य-क्षेत्र ग्राम किसी प्रांतके नेताका कार्य क्षेत्र प्रांत और राष्ट्रके नेताका कार्य क्षेत्र राष्ट्र होगा इस तरह कार्य-क्षेत्र न्यूनाधिक होगा। परमेश्वर सब विश्वका नेता है इस कारण वह सब विश्वका हित करता है। कार्य-क्षेत्र छोटा हो या बडा हो, उसमें अपनी योग्यतानुसार सब भूतोंका हित करनेका नियम सर्वत्र समान है, जो उन्नतिका हेतु है। परमेश्वर सब विश्वका हित करता है इसीलिये वह विश्वका नेता है। यह योग्यता उसके इस कर्मके कारण उसे प्राप्त हुई है। अर्थात् जो मनुष्य जितना कार्य-क्षेत्र अपने लिये विस्तृत करेगा, उतनीही उसकी योग्यता बढना संभव है और उसी प्रमाणसे वह शांतिका अधिकारी होगा। तथापि अपना कर्तव्य कर्म करनेकी शांति तो कर्तव्य करनेपर प्रत्येक कर्ताको प्राप्त होगी। अब त्यागसे प्राप्त होनेवाली शांतिके विषयमें देखिये

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गी. १२।१२)

' अभ्याससे ज्ञान-मार्ग श्रेयस्कर है ज्ञानसे ध्यान विशेष है ध्यानसे कर्म-फलका त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि इस त्यागसे तत्काल शांति प्राप्त होती है। "

यहां योगाभ्यास ध्यान ज्ञान आदिसे कर्मफलका त्याग अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि इस त्यागमात्रसेही शांति प्राप्त होती है ऐसा जो कहा है वह शांति प्राप्त करनेकी दृष्टिसे विशेष महत्वकी बात है। कर्म-योगियोंको तथा अन्योंको भी फल त्यागसेही शांतिकी संभावना है। अब शांत मनुष्यकी स्थिति कैसी होती है सो देखिये—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
(गी. २।७०)

"चारों ओरसे पानी भर जानेपर भी अचल रहनेवाले समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियां स्वयं चली जाती हैं उसी प्रकार जिसमें सब विषय (स्वयं उसकी कामनाके बिना) प्रवेश करते हैं उसीही सच्ची शांति मिलती है। जो कामोपभोगोंकी इच्छा करता है उसको शांति नहीं मिलती।"

यहां उपमा और उपमेयका विचार करना चाहिये। समुद्र चाहता नहीं कि नदियां अपनेमें पानी लावें वह तो पहिले भी पूर्ण होता है, ऐसे स्वयं-पूर्णमें नदियोंने पानी भर दिया तो भी वह वैसाही पूर्ण रहता है जैसा पहिले था। नदियोंने पानी न लाया तो भी वह अपूर्ण नहीं होगा। नदियोंसे पानी आवे और न आनेपर समुद्रकी पूर्णता अवलंबित नहीं है वह तो दोनों अवस्थाओंमें पूर्ण है इसी कारण वह शांत है। जो नदियोंके पानी आनेसे भर जावेगा और न आनेसे सूख जायगा उसमें यह पूर्णताकी शांति नहीं होगी। इसी तरह जिसको विषय प्राप्त होनेसेही सुख होगा और न प्राप्त होनेसे नहीं होगा वह उसकी अपूर्णताका लक्षण है। जिसमें ऐसी बात नहीं है जो दोनों अवस्थाओंमें सम रहता है उसीको शांति प्राप्त होती है।

मनुष्य शांति चाहता है। यह शांति प्राप्त होनेके साधन ये हैं- (१) कर्म-फलका त्याग (२) समत्व योगका आचरण (३) मनका संयम (४) कामना-त्याग, (५) निस्पृहता (६) ममत्व छोडना (७) निरहंकार होना (८) प्रशान्त होना (९) ईश्वर-उपासना (१०) इंद्रिय-संयम करना (११) परमेश्वरको जानना (१२) परमेश्वर सबका मित्र है ऐसा जानना (और वैसा स्वयं सबका मित्र बनना) (१३) स्वयं परिपूर्ण रहना। इनमें बहुतसे पूर्व स्थानमें आगये हैं। इसका विचार करनेसे पता लगता है कि शांति प्राप्त करनेका साधन भी पूर्णत्व सिद्धि प्राप्त करना है। सुख प्राप्त होनेके साधन भी ऐसेही हैं। देखिये-

अक्षय्य सुख

मनुष्य प्रति समय कुछ न कुछ सुख प्राप्त करता है परन्तु वह सुख क्षणिक होता है अतः प्राप्त होतेही नष्ट होता है और फिर मनुष्य दुःखका अनुभव करने लगता है। इस तरह सुखके अनंतर दुःख और दुःखके अनंतर सुख ऐसा सुखदुःखादि द्वन्द्वोंका चक्र चलनेके कारण मनुष्य त्रस्त होता है। इस त्राससे मुक्त होकर अक्षय्य सुख प्राप्त करना, यह मनुष्यका ध्येय है। सब धर्मशास्त्र मनुष्यको अक्षय सुख प्राप्त करनेका सीधा मार्ग बतानेके लिये हैं। यह अक्षय्य सुख कैसा मिलता है इस विषयमें भगवद्गीताका उपदेश देखिये-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥
(गी० ५।२१)

जो बाह्य-स्पर्श-विषयोंपर आसक्त नहीं है उसको अपनी आत्मामें सुख प्राप्त होता है, वह ब्रह्मके साथ अपनी आत्माका योग करनेवाला मनुष्य अक्षय्य सुख प्राप्त करता है।

इसमें अक्षय सुख प्राप्त करनेके दो उपाय कहे हैं- (१) विषयोंपर अनासक्ति और (२) परमात्माके साथ योग। पाठक विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह बात आ जायगी कि इन दोनों उपायोंमें विषयोंपर अनासक्ति रखनाही मुख्य बात है क्योंकि बाह्य विषयोंपर आसक्ति न रही तो स्वयंही अन्तरात्मा परमात्मामें संयुक्त हो जाती है। अतः अक्षय सुख प्राप्त करनेके साथ विषयोंका मोह छोडनेका कितना घनिष्ठ संबंध है इसका पाठक यहां विचार करें। संपूर्ण मानवी उन्नति अर्थात् मानवोंकी आत्यंतिक उन्नति विषयोंपर अनासक्त होनेसेही सिद्ध होती है फिर उसका नाम अक्षय-सुख-प्राप्ति हो अथवा सिद्धि परम सिद्धि, परम गति इत्यादि हो। नामभेदोंसे कल्पना-भेद किया भी हुआ तथापि भोगोंमें अनासक्त होना ही सबकों में मुख्य साधन है इसमें सन्देह नहीं है। यही बात यहां कही है-

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥
(गी० ५।१३)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
(गी० ६।२८)

"सब कर्मोंका मनसे त्याग करके, संयमी पुरुष नौ द्वारवाले इस देहरूपी नगरमें स्वयं कुछ न करता हुआ और कुछ न कराता हुआ सुखमें रहता है। आत्माके साथ

निरन्तर अनुसन्धान करनेवाला निष्पाप योगी सहजहीमें ब्रह्म-प्राप्तिसे मिलनेवाला अत्यन्त सुख अनुभव करता है।

पहिले श्लोकमें भोगोंपर अनासक्तिका और दूसरेमें पर मात्माके साथ अपनी आत्माका सम्बन्ध करनेका विषय कहा है। इससे बिना आयास अपने अन्दरही अन्दर अनन्त और अक्षय सुख प्राप्त होता है। मनुष्य भोगोंपर आसक्त होनेसे दुःखोंमेंही फँसता जाता है। इस तरह क्षणिक सुखके पीछे लगकर अक्षय सुखसे वंचित होता है। यही बात और अन्य शब्दोंसे कही है देखिये—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
(गी ६।२७)

जिसका मन भली भांति शान्त हुआ है, जिसके विकार नष्ट हुए हैं वह ब्रह्मरूप बना हुआ निष्पाप योगी निःसन्देह उत्तम सुख प्राप्त करता है।

यहां भी भोगोंपर अनासक्ति और ब्रह्मके साथ योग येही दो साधन उत्तम सुखकी प्राप्तिके लिये कहे हैं। यही विषय भारतीयसे पुनः अन्य शब्दोंद्वारा कहते हैं, देखिये—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(गी ५।२३)

जो मनुष्य यह देह छूटनेके पूर्व काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है वही योगी और वही सुखी है।"

यहां काम-वेग और क्रोध-वेगको सहन करनेसे सुख प्राप्ति की बात कही है। यहां मनुष्य मात्रपर काम और क्रोधके वेगका आक्रमण होता है ऐसा कहा है। जो मनुष्य श्रेष्ठ योगी होता वह उन काम-क्रोधके हमलोंको सहता है अर्थात् उस वेगके अधीन नहीं होता, उनका आक्रमण होने पर भी अपनी स्थितिमें अचल रहता है अतः सुखी रहता है। परन्तु जो मनुष्य कमजोर होता है, वह कामके वेगसे कामी और क्रोधी बनता है और क्रोध-वेगसे क्रोधी बनकर उन वेगोंके साथ बहता जाता है अतः निरंतर दुःखी होता है। सुखदुःखका यह सूत्र आप पाठक ध्यानमें धारण करें। इसी अक्षय सुखको अमृत कहते हैं। अतः अमृत प्राप्त करनेके विषयमें गीताका उपदेश देखिये—

अमृतत्वकी प्राप्ति

मरनेका नाम दुःख है और न मरने अर्थात् अमर होनेका नाम सुख है। परन्तु यहां विचार ऐसा करना होता है कि मनुष्य अपने मर्त्य देहमें रहता हुआ अमर कैसे हो सकता है? मर्त्य-देह कभी न कभी मरेगाही इसलिये अमरत्व प्राप्ति मनुष्यको किस उपायसे होना संभव है? इस विषय में गीताका सनातन उपदेश ध्यानमें नित्य धारण करनेयोग्य है। देखिये—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गी २।१५)

सुख-दुःखको समान माननेवाले जिस धैर्यशाली मनुष्य को ये विषय पीडा नहीं देते वह अमरत्वके लिये योग्य होता है।'

यह पुरुष अमरत्वका अधिकारी है। सुखदुःखको समान मानना यह एक बडी भारी तपस्या है। सुखमें कदाचित मनुष्य सम रहेगा, परन्तु दुःख आनेपर भी सम-वृत्ति रख-कर कर्तव्यसे न गिरना बडा कठिन कार्य है। इसी तरह विषयोंसे दूर रहना भी एक तपस्या है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर पाठकोंको यह बात विदित होगी कि यह सब भोगोंपर अनासक्ति रखनेसेही प्राप्त होना संभव है। इसी विषयमें और देखिये—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
(गी १४।२०)

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(गी १३।१२)

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंसे पार होकर देहधारी मनुष्य जन्म मृत्यु, जरा आदि दुःखोंसे छूटता है और अमरत्वको पाता है॥ जिसे जाननेवाला अमरत्व प्राप्त करता है वह ज्ञेय वस्तु क्या है सो मैं तुम्हें कहूंगा। वह अनादि परब्रह्म है उसे न सत् कहते हैं और न असत्॥"

इस तरह मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है। शान्ति अक्षय सुख अमरत्व परम सिद्धि आदिका अर्थ एकही है। इसीको

अनामय-अव्यय-शाश्वत पद कहते हैं, इसके विषयमें गीताके वचन देखिये–

अनामय अव्यय-शाश्वत पद

'अनामय' का अर्थ यहां रोगादिकोंसे रहित नहीं है, जो नीरोग स्थान है। 'अव्यय' का अर्थ यहां व्यय अर्थात् शक्तिका नाश नहीं होता है, शक्ति अबाधित रहती है और 'शाश्वत' का अर्थ चिरकाल रहनेवाला कभी नाश न होनेवाला। ये सब शब्द अक्षय सुख देनेवाले स्थानके वाचक हैं। इनके संबंधका वर्णन गीतामें निम्न लिखित श्लोकोंमें आगया है–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(गी० २।५१)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गी० १५।५)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गी० १८।५६)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि
शाश्वतम्॥ (गी० १८।६२)

"कर्मज-बुद्धियोग करनेवाले ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके, जन्मबन्धसे मुक्त होकर दुःखरहित स्थानको प्राप्त होते हैं॥ जिन्होंने मान और मोहका त्याग किया है, जिन्होंने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो अध्यात्मविचारमें मग्न हैं, जिनकी विषय-वासनाएं शान्त हो चुकी हैं, जो सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे रहते हैं वे अविनाशी पदको प्राप्त करते हैं॥ मेरा (ईश्वरका) आश्रय करके सदा सब कर्म करनेवाला मनुष्य मेरी (ईश्वरकी) कृपासे शाश्वत अविनाशी स्थान प्राप्त करता है॥ अतः तू उसी ईश्वरकी शरणमें जा। उसीकी कृपासे तू परम शान्तिसे परिपूर्ण शाश्वत पद प्राप्त करेगा।

इन श्लोकोंमें शाश्वत स्थान प्राप्त करनेके साधन निम्न लिखित दिये हैं– (१) कर्म-फल त्याग (२) जन्म बन्धका निवारण (३) मनकी स्वाधीनता (४) मान और मोह छोड़ना, (५) भोग-दोषोंसे दूर होना, (६) कामना-त्याग (७) द्वन्द्वोंको छोड़ना (८) आत्म-विचार ईश-ध्यानमें तत्परता, (९) सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना (१०) परमेश्वरकी शरणमें जाना। इन साधनोंसे शाश्वत सुखका स्थान मिल सकता है। इनमें यही त्याग बुद्धि भोग निवृत्ति और ईश्वरपरायणता है जो इसके पूर्व हमने देखी है। शाश्वत पदका ही अर्थ परम गति है अतः इस विषयमें गीताका सिद्धान्त देखिये–

परम धाम और परम गति

परम गति, परम धाम और शाश्वत पद एकहीके अनेक नाम हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखनेयोग्य हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गी० ८।२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गी० १५।६)

जिसका नाम अव्यक्त और अक्षर है उसको परम गति भी कहते हैं जिस स्थानको प्राप्त होनेसे पुनर्जन्म नहीं होता, वही स्थान (मेरा) परमेश्वरका परम पद है। सूर्य चन्द्र अथवा अग्नि उस स्थानको प्रकाशित नहीं करते, जहां पहुंचकर फिर वापस आना नहीं होता वही मेरा (परमेश्वरका) परम स्थान है॥"

अर्थात् परमेश्वरका जो परम स्थान है, उसीको परम पद परम स्थान परम धाम परम गति आदि नाम हैं। यह स्थान धाम अथवा गति प्राप्त करनेसे वारंवार जन्म मरणके कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। [illegible] प्राप्त करनेसेही यह स्थान मिलता है–

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ (गी० ८।२८)

इस ज्ञानको प्राप्त करनेपर वेद यज्ञ तप और दानसे जो पुण्य फल मिलते हैं उन सबका अतिक्रमण करके योगी

जाय ऐसे स्थानको प्राप्त करता है।

ज्ञान अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेसेही योगीको इस परम स्थानकी प्राप्ति होती है। योग-मार्गसे भी मनुष्य इस परम गतिको प्राप्त करता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
(गी. ६।४५)

प्रयत्नसे योगाचरणमें दृढ़ रहनेवाला योगी पापसे मुक्त होकर और अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे शुद्ध होकर परम गतिको पाता है।

कर्म-योगके अनुष्ठानसे इस तरह परम गति मिलती है। ॐकारके जपयोगसे भी परम गति मिलती है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(गी. ८।१३)

ॐकारका उच्चार करता हुआ और मेरा (ईश्वरका) चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देहत्याग करता है वह परम गतिको प्राप्त करता है।"

इसी तरह नित्य ईश्वर-स्मरण करनेवाला भी पुण्यात्मा बनता है। यहां परम गति प्राप्त होनेका साधन ॐकार-जप और ईश्वर-ध्यान कहा है। तथा—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
(गी. १३।२८)

"जो मनुष्य ईश्वरको समभावसे सर्वत्र उपस्थित देखता है, और स्वयं अपने आत्माका आत्मघात नहीं करता वह इस कारण परम गतिको पाता है।

यहां भी परमेश्वरके सर्वव्यापक होनेका ज्ञान प्राप्त करनेसे परम गति प्राप्त होनेका विधान स्पष्ट है। जो परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित जानता है वह अपने साथ परमेश्वरकी उपस्थिति देखता है और अपने आपको हीन कर्मोंसे दूर रखता है इसलिये उन्नत होता है। यही बात निम्नलिखित श्लोकमें कही है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गी. ९।३२)

जो पापयोनि हैं वे तथा स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र भी, जो मेरी, ईश्वरकी शरणमें आते हैं वे परम गतिको प्राप्त होते हैं। अर्थात् परम गति प्राप्त करनेका सरल और सीधा उपाय परमेश्वरकी शरणमें जाना है। तथा—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गी. १६।२२)

(काम क्रोध लोभ) इन तीन नरक-द्वारोंसे जो मनुष्य दूर रहता है और अपनी आत्माका कल्याण करता है वह उस कारण परम गतिको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें काम-क्रोध-लोभसे दूर रहनेसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है। यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक व्यवहारमें ला सकता है। अन्य मार्ग भी सुकर हैं परन्तु काम क्रोध और लोभके द्वार प्रत्येक क्षणमें मनुष्यके सम्मुख खुले होकर आनेही उनसे दूर रहनेका यत्न करनेसे मनुष्यकी उच्च गति होने लगती है। इसका अनुष्ठान करनेका अवसर मनुष्यको प्रतिदिन मिलनेवाला है। सामान्य मनुष्यको आगेके श्लोकमें कहा है कि शास्त्र-मर्यादानुसार न चलनेसे उन्नति सुख प्राप्ति और परम-गति नहीं होती—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गी. १६।२३)

जो मनुष्य शास्त्र-विधि छोडकर स्वेच्छासे भोगोंमें रमता है वह न तो सिद्धिको प्राप्त करता है न सुख कमाता है और न परम गतिको पाता है।"

अर्थात् मनुष्य शास्त्र मर्यादाके अनुसार चलते रहें तोही उनको परम-गति सुख और सिद्धि मिलती है। मनुष्य इस बातका अनुसंधान करें और शास्त्र विधिके अनुसार चलकर अपना कल्याण करें। शास्त्र-मर्यादाके अनुसार चलनेसेही मनुष्य उन्नत होता हुआ कृतकृत्य होता है।

कृतकृत्यता

मनुष्य कृतकृत्य किस रीतिसे होता है इस विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका कथन यह है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(गी. १५।२०)

यह अत्यंत गुह्य-शास्त्र मैंने तुमसे कहा है इसे जान कर मनुष्य समत्व बुद्धिसे युक्त बनता है और कृतकृत्य भी होता है। "

अर्थात् इस गीताशास्त्रके अनुसार मनुष्य कर्तव्य-कर्म करने लग जायेंगे तो वे निःसन्देह कृतकृत्य बनेंगे। शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य कर्म करनेसे मनुष्य पर (ब्रह्म) को प्राप्त होता है।

श्रेष्ठ अवस्थाकी प्राप्ति

जो दूर अति दूर होता है जो श्रेष्ठ, अति श्रेष्ठ होता है, उसको पर कहते हैं। जो मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य है उसको भी पर कहते हैं। इस परकी प्राप्ति करनेके लिये मनुष्य निम्नलिखित ज्ञानको प्राप्त करे और अनासक्तिसे कर्तव्य कर्म करे-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
(गी. १३।३४)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गी. ३।१९)

जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति पुरुषके भेदको देखता है और पूर्वोक्त प्रकृति-बंधसे मोक्ष होनेका उपाय भी जानता है, वह पर (ब्रह्म) को प्राप्त करता है॥ इसलिये तू संगरहित होकर निरंतर कर्तव्य-कर्म करता रह। आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे मनुष्यको पर (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है।

इस तरह प्रकृति जीवात्मा और परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके तथा मोक्ष-साधक ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञानमार्गकी उन्नति है। अनासक्ति धारकर सतत कर्तव्य-कर्म करनेसे भी मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है। यह कर्म-मार्गकी उन्नति है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अर्थात् प्रकृति जीव और ईश्वरका ज्ञान-चक्षुसे निरीक्षण करनेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है ऐसा जो ऊपर कहा है उस ज्ञानचक्षु द्वारा निरीक्षण करनेका तात्पर्य क्या है और उस ज्ञानचक्षुका अर्थ क्या है? ज्ञान-चक्षु दिव्य चक्षु दिव्य-दृष्टि ज्ञान-दृष्टि आदि शब्दोंके अर्थ क्या हैं? इस ज्ञान-चक्षुसे वह किस तरह देखा जाता है, इसका विचार इस स्थानपर अब करेंगे-

ज्ञान चक्षुसे देखना

मनुष्य परमेश्वरको देखता है परन्तु वह चर्मचक्षुसे नहीं ज्ञान-चक्षुसेही देख सकता है इस विषयमें कहा है-

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
(गी. १५।१०)

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
(गी. १५।११)

जानेवाले स्थिर रहे भोग करनेवाले और गुणोंसे युक्त होनेवाले ईश्वरके अंशको मूर्ख लोग नहीं देखते, परन्तु ज्ञानचक्षुवालेही देखते हैं॥ यत्न करनेवाले योगी अन्तःकरणमें रहनेवाले इस ईश्वरको देखते हैं, परन्तु यत्न-शुद्धि न करनेवाले मूढ लोग इसको नहीं देखते॥

यहां ज्ञान-चक्षुसे परमेश्वरका दर्शन शक्य है और इस ज्ञान-चक्षुसेही ईश्वरको हम जानते फिरते और उसे हम देख सकते हैं। यही बात विश्वरूपदर्शनके समयमें भी कही है-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
(गी. ११।८)

इस अपने चर्म-चक्षुसे तू मुझे (ईश्वरको) नहीं देख सकता अतः तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूं इससे तू मेरा ईश्वरीय योग देख।

यहां दिव्यचक्षु किंवा ज्ञानचक्षु प्राप्त कर ईश्वरका विश्व-रूप अर्जुनने देखा है। यहां कहा है कि ईश्वरका विश्वरूप साधारण आंखोंसे नहीं दीख सकता वह केवल दिव्य दृष्टिसेही दीख सकता है। अर्जुनने दिव्यचक्षुका लाभ करनेपर परमेश्वरका विश्व-रूप देखा है उसका वर्णन यह है—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥८॥
(गी० ११)

'मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख। ये अनेक प्रकारके रंगरूपोंसे युक्त हैं। (वसु) अग्नि पृथिवी वायु, अन्तरिक्ष आदित्य द्यौ चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु मरुत्, अश्विदेव आदि सब मेरे रूप तू देख। यहां बहुतसे आश्चर्य तू देख। इस मेरे देहमें सारा स्थावर जंगम जगत् और जो तू देखना चाहता है सब यहां देख।

यह भगवान् श्रीकृष्णका वचन श्रवण करके अर्जुनने जो विश्वरूप देखा वह यह है—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१२॥
(गी० ११)

'अनेक मुख और अनेक आंखवाला अनेक अद्भुत दर्शनवाला अनेक आभूषणोंसे युक्त अनेक आयुध धारण करनेवाला दिव्य माला और वस्त्र धारण करनेवाला दिव्य चन्दन लगाया हुआ आश्चर्यमय अनन्त देवका सर्वत्र मुखवाला यह रूप था। उस ईश्वरके देहमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ सब जगत्का एकत्र रहा रूप उस पाण्डवने देखा। यही रूप अर्जुनने कैसा देखा सो देखिये—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥२०॥
(गी० ११)

"हे ईश्वर! मैं आपकी देहमें सब देव सब प्राणी ब्रह्मा सब ऋषियों और सर्पोंको देखता हूं। आपके अनेक बाहु पेट, मुख और नेत्र हैं और अनन्त रूप हैं, आपके विश्वरूपका आदि मध्य और अन्त नहीं है। आपकी आंख सूर्य तथा चन्द्र हैं अग्नि मुख है और आप सब जगत्को तपा रहे हैं। आकाश पृथ्वी और सब दिशाओंमें अकेले आपही व्याप्त हैं।"

यह परमेश्वरका विश्वरूप है। विश्वरूपका अर्थ 'सर्व रूप' किंवा सब विश्वका अर्थात् जगत्का रूप है। परमेश्वरका विश्वरूप वही है जो सब जगत्के अन्दरके सब पदार्थोंका रूप है। इस विश्वरूपमें मनुष्य सर्प आदि प्राणी संमिलित होनेके कारण इस परमेश्वरके विश्वरूपके असंख्य मुख असंख्य आंख असंख्य हाथ, असंख्य पेट और असंख्य पांव हैं। सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि सब उसीके शरीरके अवयव हैं। जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही मूल नमूना होनेके कारण जगत्का सम्पूर्ण रूप उसी ईश्वरका 'विश्व रूप' है।

जैसी मनुष्यकी जीवात्मा पूर्ण निराकार है, तथापि उस निराकार जीवात्माके आधारपर रचा हुआ यह शरीर साकार है अतः उस निराकार जीवात्माका यह साकार शरीर है उसी तरह निराकार परमात्माका साकार शरीर यह विश्व है अतः विश्वका रूप उसकाही रूप है। तथापि इस विश्वरूपके बनने बिगड़नेसे उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती है। यही बतानेके लिये परमेश्वरकी अपरा प्रकृतिका वर्णन गीतामें निम्नलिखित प्रकार किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
(गी० ७।४)

"पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार यह मेरी (ईश्वरकी) आठ प्रकारकी प्रकृति है अर्थात् यह ईश्वरका शरीर है। जीवात्माकी भी यही अपरा प्रकृति शरीर है। इस अपरा प्रकृतिमें मनुष्य शरीर

जीवात्म-शरीर और परमात्म-शरीरकी समता है । जीवात्म शरीर छोटा और परमात्म शरीर बडा इतनाही इसमें व्यवस्था-भेद है । जैसा जीवात्मा शरीरमें रहता हुआ शरीरसे सदा पृथक् है उसी प्रकार परमात्मा इस संपूर्ण विश्व-रूपमें रहता हुआ भी विश्व-रूपसे पृथक् है । उपासकको अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरका ज्ञान और दर्शन तथा उसमें प्रवेश करना चाहिये । यह इसलिये लिये कहा है-

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥
(गी. ११।५४)

ईश्वरका ज्ञान दर्शन और परमेश्वरमें सदा प्रवेश करना चाहिये । " ये तीनों बातें पूर्वोक्त विश्वरूपकी कल्पना लेनेपरही संभव हैं । विश्वके रूपमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना विश्वके रूपमें ईश्वरका दर्शन करना और उसीके विश्वरूपमें प्रवेश करना अर्थात् मैं सर्वव्यापक परमेश्वरमें विचरता हूं, इस बातका अनुभव करना यह त्रिविध अनुभव पूर्वोक्त विश्वरूपको परमेश्वरका रूप माननेपरही संभव है । नहीं तो (द्रष्टुं) ईश्वरको देखना कैसे संभव हो सकता है ? देखना तो विश्व-रूपकोही हो सकता है । यही बात और देखिये-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।
(गी. ६।३०)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गी. ६।२९)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गी. १३।२७)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गी. ५।१८)

जो मुझे (ईश्वरको) सब जगह देखता है और सब का मुझमें (ईश्वरमें) देखता है उसके लिये मैं (ईश्वर) कभी दूर नहीं हूं और वह मेरे लिये (ईश्वरके लिये भी) कभी दूर नहीं है अर्थात् हम दोनों परस्परके साथी होते हैं ॥ अपने समभावसे देखनेवाला योगयुक्त आत्मा सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है । सब भूतोंमें समभावसे परमेश्वर है और वह विनष्ट होनेवाले पदार्थोंमें अविनाशी है यह जो जानता है वही सत्य जानता है ॥ विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें गौमें हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको पकानेवालेमें अर्थात् सबमें ज्ञानी लोग सम (भावसे अवस्थित ब्रह्म) को देखते हैं । अर्थात् वह सबमें एकसा है, इसका अनुभव करते हैं ।

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये किस तरहकी ' समदृष्टि ' चाहिये उसका वर्णन इन श्लोकोंमें है । इस समदृष्टिकाही नाम ' ज्ञान दृष्टि ज्ञानचक्षु, दिव्यदृष्टि अथवा दिव्य चक्षु ' है । इसी दृष्टिसे ईश्वरका विश्व-रूप-दर्शन हो सकता है और जब विश्व-रूपमें एकरस ईश्वरका दर्शन होने लगा तो अन्तिम उच्च अवस्था प्राप्त हुई ऐसा मान सकते हैं । यह एक दृष्टि है । और भी एक दृष्टि है वह अब देखिये—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
(गी. १३।२९)

"जो इस बातका अनुभव करता है कि सब कर्म प्रकृतिसे होते हैं, और आत्मा अकर्ता है वही सत्य ज्ञान जानता है । " यह भी दृष्टि मुक्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है । अन्तिम स्थितिको प्राप्त करनेके लिये प्रारंभमें अनेक अनुभव के मार्ग हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(गी. १३।२४)

कई ध्यानसे कई सांख्यसे कई योगसे और कई कर्मयोगसे अन्तःकरण आत्मामें आत्माको देखते हैं । " अर्थात् स्वयं अपने अंदर परमेश्वरका दर्शन करते हैं । यह आत्मा सब आश्चर्योंमें एक बडा भारी अद्भुत आश्चर्य है-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कोई तो इसकी ओर आश्चर्य पूर्ण दृष्टिसे देखता है वैसे ही कोई दूसरा इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन करता है और कोई इसका वर्णन आश्चर्यसे सुनता है परन्तु सुनकर भी

कोई इसको नहीं जानता। जगत्में अत्यंत आश्चर्यका विषय यही आत्माके ज्ञानका विषय है। यह अत्यंत अद्भुत होनेसे इसको यथावत् जानना कठिन है और शास्त्रोंद्वारा जाननेपर भी इसका यथावत् अनुभव करना तो अत्यन्तही कठिन कार्य है इसी कारण महाज्ञानी विरला होते हैं। और इसीलिये महात्माकी महती वर्णन की गयी है और इसीलिये इस लेखमें अन्तिम अवस्थाकी कल्पना शब्दोंमें वर्णन करनेका यत्न किया है। अस्तु। यहांतक जिस दृष्टिसे मनुष्यकी उन्नति होती है उसका स्वरूप बताया तथापि इस विषयमें और एक श्लोक देखिये—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(गी ६।३१)

सब भूतोंमें रहनेवाले मुझ-ईश्वर-को जो अभेद दृष्टिसे भजता है वह योगी चाहे जिस तरह बर्तता रहे मुझ ईश्वरमेंही रहता है। यहां ऐसा कहा है कि जीव अन्तमें परमेश्वरमें रहता है। यह अन्तिम स्थिति है और इसीका नाम ईश्वर-प्राप्ति है। अब इस स्थितिका विचार करते हैं—

परमेश्वर प्राप्ति

यहांतक जो विचार किया उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति विविध मार्गोंसे करता हुआ अन्तमें परमेश्वरको प्राप्त करता है इसीका नाम सिद्धि, मुक्ति, परमपद प्राप्ति आदि है। यह विषय सबसे मुख्य है इसलिये इसका विशेष मनन करना चाहिये। परम पुरुषकी प्राप्तिके विषयमें भगवद्गीतामें कहा है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गी ८।८)

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ (गी ८।१०)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।
(गी ८।२२)

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ (गी १५।४)

"जो चित्तको अभ्यासद्वारा स्थिर करके उसको इधर उधर भटकने नहीं देता अर्थात् एकाग्र बनाता है वह उसीका चिन्तन करनेके कारण उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करता है॥ जो मनुष्य प्रयाण-समयमें अचल मनसे भक्तियुक्त होकर योगबलद्वारा भृकुटीके बीच ठीक प्रकार प्राणको प्रविष्ट करता है, वह उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है॥ जिसमें सब भूत रहे हैं और जिसने सब व्याप लिया है उस उत्तम पुरुषको केवल अनन्य भक्तिसेही पाते हैं॥ जिससे सब जगत्की प्रवृत्ति फैला रही है उसी आदि पुरुषकी शरणमें मनुष्य जाये और उस पदकी खोज करे कि जिसे प्राप्त करके फिरसे जन्ममरण आना नहीं होता।

इन श्लोकोंमें परमेश्वर प्राप्तिके विषयमें स्पष्ट निर्देश है। अतः परमेश्वर-प्राप्ति मनुष्यका अन्तिम साध्य है, इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसी परमेश्वर प्राप्तिके विषयमें निम्न लिखित श्लोक देखनेयोग्य हैं। इनमें परमेश्वर वाचक शब्दके स्थानपर (मा) मुझे इस शब्दका प्रयोग किया है। भगवद्गीतामें भी परमेश्वरके अर्थमें 'मैं' शब्द कई बार आगया है। अब ये श्लोक देखिये—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गी ४।९)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।
(गी ७।१८)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गी ७।१९)

मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ (गी ७।२३)

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गी ८।७)

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(गी ८।१५)

यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (गी ९।२५)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(गी ९।२८)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गी ९।३४)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गी १०।१०)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गी ११।५५)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी १२।४)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।
(गी १८।६५)

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(गी० १८।६८)

“ जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मके रहस्यको जानता है वह देह छोड़नेके बाद फिरसे पैदा नहीं होता परन्तु मुझे पा लेता है ॥ ये चार भक्त अच्छे हैं पर मेरी समझमें ज्ञानी तो मेरी आत्माही है । क्योंकि वह ज्ञानी यह जानकर कि मुझे पानेसे बढ़कर दूसरी अधिक अच्छी गति नहीं है मेराही आश्रय लेता है ॥ बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है सब वासुदेवही है, इस ज्ञानका अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं ॥ मुझमें मन और बुद्धिको लगानेसे तू अवश्य मुझे पावेगा ॥ मुझे पाकर परम गतिको पहुँचे हुए महात्मा लोग पुनः दुःखोंका घर अशाश्वत पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ मेरा भजन करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं ॥ इससे तू शुभाशुभ फलदायी कर्मबन्धसे छूटेगा और संन्यासयोगसे युक्त होकर मेरे पास आवेगा ॥ मुझमें मन लगा मेरा भक्त बन मेरे लिये यज्ञ कर मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें परायण होनेसे और मेरे साथ आत्माका योग करनेसे मुझेही प्राप्त होगा ॥ मुझमें इस तरह तन्मय होकर रहनेवाले भक्तों और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ जो सब कर्म मेरे लिये करते हैं जो मुझमें तल्लीन होते हैं, जो मेरे भक्त हैं, जो आसक्ति छोड़ते हैं और सब भूतोंका द्वेष नहीं करते वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ जो अपने इन्द्रियसमूहको अपने वशमें रखते हैं सर्वत्र सम भाव रखते हैं, वे सब भूतोंके हितमें लगे रहनेके कारण मुझको पाते हैं ॥ मेरेमें मन लगा, मेरा भक्त बन मेरे लिये यजन कर मुझे नमन कर । ऐसा करनेसे तू मुझेही पावेगा मेरी यही सत्य प्रतिज्ञा है ॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहता है, वह मेरी परा भक्ति करनेके कारण निःसन्देह मुझे प्राप्त करता है ॥ ”

इन श्लोकोंमें 'मुझे पाता है' इसका अर्थ 'परमेश्वरको प्राप्त करता है' ऐसा है । इन स्थानपर परमेश्वर-प्राप्तिके साधन जो कहे हैं वे ये हैं—

(१) परमेश्वरके अवतार और कर्मके रहस्यका ज्ञान, (२) आत्मज्ञान (३) सब जगत्में ईश्वरके निवासका दर्शन (४) ईश्वरभक्ति (५) ईश्वरको सब कर्मोंका अर्पण (६) संन्यासयोग (७) ईश्वरमें तल्लीनता (८) ईश्वरको नमन (९) ईश्वरसे अपनी आत्माका योग (१०) अनासक्तिसे कर्म करना (११) इन्द्रियदमन (१२) सर्वत्र समभाव (१३) सब भूतोंके हितमें तत्पर (१४) ईश्वरके साथ तन्मय (१५) यह गुह्य ज्ञान भक्तोंको देना । इतने अनुष्ठानसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त करता है ईश्वरके साथ रहता है, ईश्वरके पास रहने लगता है अथवा ईश्वरको अपनाता है । इस ईश्वर-प्राप्तिका अर्थ क्या है इसका विचार करनेके लिये निम्नलिखित श्लोक देखने-योग्य हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गी १२।८)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गी ८।१४)

अपना मन मुझ (ईश्वर) में लगा अपनी बुद्धि

ईश्वरमें स्थिर कर इससे तू मुझमेंही निवास करेगा ॥ जो अनन्यचित्त होकर निरन्तर मेराही स्मरण करता है उस नित्य योग करनेवाले योगीको मैं सुगमतासे मिलता हूं ॥"

यहां परमेश्वर-प्राप्तिका अर्थ परमेश्वरका सहवास दर्शन होना लिया है। कई मनुष्योंको राजाका दर्शन कठिन होता है परन्तु कइयोंको सहजहीसे होता है। अर्थात् जिनके लिये राजाका दर्शन सुलभ होता है उनकी योग्यता विशेष होती है। राजाकी सहायतासे वे जनताका बहुत कल्याण कर सकते हैं। इसी तरह जिनको परमेश्वरका दर्शन सुलभ है वे उस शक्तिसे बहुत लोगोंका कल्याण कर सकते हैं। परमेश्वर प्राप्ति किंवा ईश्वरका सुलभ दर्शन होनेका क्या भाव है वह साध्य होनेसे कौनसी शक्ति इसे प्राप्त होती है इसका विचार करनेके लिये निम्न लिखित श्लोकोंका मनन करिये—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
(गी० ४।१०)

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(गी० ८।५)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥
(गी० १३।१८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(गी० १४।१९)

राग भय और क्रोधसे रहित ईश्वरके ध्यानमें तत्पर ईश्वरकी शरणमें आनेवाले ज्ञान और तपसे पवित्र होकर ईश्वरके भावको प्राप्त करते हैं ॥ जो अन्त-समयमें ईश्वरका स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है वह ईश्वरके भावको प्राप्त करता है इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ इस तरह क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धमें संक्षेपसे कहा है। इसे जानकर ईश्वर का भक्त ईश्वर भावको प्राप्त होता है ॥ जब ज्ञानी यह देखता है कि गुणोंको छोड़कर दूसरा कोई कर्ता नहीं है वह गुणोंसे परे आत्माको जान कर ईश्वर भावको प्राप्त करता है ॥

यहां कहा है कि— (१) राग, भय और क्रोधको दूर करता है (२) ईश्वरमें तल्लीन होता है (३) ईश्वरकी शरणमें आता है (४) ज्ञान और तपसे पवित्र होता है (५) अन्त-समयमें ईश्वरका स्मरण करता है, (६) क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयको जानता है (७) प्रकृतिके गुणोंसे सब किया जा रहा है ऐसा जानकर जो आत्माको अकर्ता अनुभव करता है और आत्माको गुणोंके परे अनुभव करता है, वह ईश्वर-भावको प्राप्त होता है।

ईश्वरके गुणोंका अपनेमें उत्कर्ष होनेसे अपनेमें ईश्वर भाव आता है। उदाहरण— अग्निमें कुछ समय लोहा रहा तो अग्निके गुण धर्मोंको धारण करता है मानो वह अग्नि भावको धारण करता है। अग्निभाव लकड़ी लकड़ीमें भी आता है। जब लोहा अग्निकी उपासना (उप-समीप आसन-बैठना) करता है अनन्य होता है अर्थात् वह किसी अन्यके सहवासमें नहीं आता, परन्तु केवल अग्निकेही समीप रहता है जब पूर्णतया अग्निकीही शरणमें रहता है तब अग्निके गुणोंसे प्रभावित होता है तब अग्नि भावको धारण करता है और अग्नि भावसे युक्त होनेसे अग्निही बनता है, अर्थात् अग्निके कर्म करता है। मनुष्यकी उन्नतिके भी येही नियम हैं। जब मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है, ईश्वरके पास बैठता है अनन्य भावसे ईश्वरकी शरणमें आता है कभी दूसरा भाव मनमें नहीं लाता और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें धारण करता है तब वह ईश्वर भावसे युक्त होता है। यही नरका नारायण अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम जीव का शिव अथवा मर्त्यका अमर बनना है। जो अन्तिम पद परम स्थान, परम सिद्धि आदि शब्दोंसे सब धर्मग्रंथोंमें वर्णन किया है। मनुष्यका जन्म इस ईश्वर भावको प्राप्त होनेके लियेही है। जो इस ईश्वर-भावको प्राप्त करता है उसका जन्मका सार्थक हुआ और अन्य लोगोंने व्यर्थ जन्म लिया ऐसा कह सकते हैं।

ब्रह्म–प्राप्ति

इस समयतक जो बात ईश्वर-प्राप्ति शब्दसे कही गयी वही बात ब्रह्म-प्राप्ति शब्दद्वारा अब कही जाती है। देखिये—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥
(गी० ५।६)

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(गी ८।२४)

योगाभ्यासके बिना ब्रह्मप्राप्तिका आचरण दुःसाध्य है। योगाभ्याससे ज्ञानी मुनि-जन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥ उत्तरायणके छः मासोंमें शुक्ल पक्षके दिनके समयमें सूर्यकी ज्योति पूर्ण तेजस्वी रहनेके कालमें और शरीर आत्मामें यथाविधि प्रज्वलित रहनेके समय जो इहलोक छोड़कर जाते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥" यहां ब्रह्म प्राप्त होनेका विधान है॥ "मेरी प्राप्ति ईश्वर-प्राप्ति और ब्रह्म प्राप्ति" एकही स्थितिका नाम है। इसीका नाम ब्रह्म-निर्वाण है—

ब्रह्म-निर्वाण

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
(गी २।७२)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
(गी ५।२४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी ५।२५)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
(गी ५।२६)

"यह ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद मनुष्य फिर कभी मोहवश नहीं होता और अन्त-समयमें भी यह ब्राह्मी स्थिति रही तो ब्रह्म निर्वाणको पाता है॥ जिसको अन्दरसे सुख मिलता है जिसके अन्दर शांति है तथा जिसके अन्दर आत्म-प्रकाश हुआ है वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्म निर्वाणको पाता है॥ जिनके पाप नष्ट हुए हैं, जिनके द्वैतभाव दूर हो चुके हैं जिनका संयम हुआ है जो सब भूतमात्रके हितमें लगे हैं, वे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं॥ जिन्होंने काम और क्रोध छोड़ दिया है जो संयमी हैं, और जिनको आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे यतियोंको सर्वत्र ब्रह्म निर्वाणका अनुभव होता है॥"

यहां ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होनेके कुछ साधन कहे हैं— (१) पापोंका नष्ट होना, (२) द्वैतभाव दूर होना, (३) आत्मसंयम करना (४) सर्व भूतोंके हित करनेमें आत्म-समर्पण करना (५) काम-क्रोध छोड़ना (६) इंद्रिय-संयम करना (७) आत्मज्ञान होना। इन सबोंसे ब्रह्म निर्वाणकी स्थिति प्राप्त होती है।

इस स्थितिमें जो अनुभव होता है, वह भी इन्हीं श्लोकोंमें कहा है—(१) अपने अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, (२) अन्दरसे शांतिका अनुभव होता है (३) अन्दरसे प्रकाश होनेका अनुभव होता है (४) ब्रह्मरूप अवस्था होती है, (५) सदाके लिये मोह दूर होता है, (६) सर्वत्र ब्रह्मरूपताका अनुभव होता है। यह अनुभव ब्रह्म-निर्वाण होनेके अनंतर होता है।

इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि ब्रह्म-निर्वाण जबतक प्राप्त नहीं होता है तबतक निम्न लिखित अनुभव होता है— (१) बाह्य विषयोंसे सुख प्रतीत होता है (२) अन्दरसे और बाहरसे अशांति रहती है (३) अन्दर और बाहर अन्धेरा मोह और अज्ञान रहता है, (४) असत्यताका अनुभव होता है, (५) मोहयुक्त व्यवहार होता है, (६) सर्वत्र भेदताका अनुभव होता है। ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त न होनेकी अवस्थामें मनुष्यकी यह अवस्था होती है। यह अवस्था साधारण मनुष्यके प्रतिदिनके अनुभवकीही है।

इतना विचार करनेके पश्चात् 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'निर्+वा' धातुका अर्थ बुझी शान्त वायुमें बैठकर शान्त होना है। और निर्वृत् धातुका अर्थ सन्तुष्ट करना, तृप्त होना, मिलना, विजय प्राप्त करना, प्रीति करना, साथ होना, उसीमें रहना है। यही तात्पर्य 'निर्वाण' शब्दमें प्रकट रहा है। अतः 'ब्रह्म निर्वाण' का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है— (१) ब्रह्मके साथ मिलकर शांति प्राप्त करना, (२) ब्रह्मकी उपासना करना (३) ब्रह्मके साथ मिलना, (४) ब्रह्मके रूपमें एकरूप होना (५) ब्रह्मकी शक्ति पाकर विजय कमाना (६) ब्रह्मके साथ प्रीति करना, (७) ब्रह्मके साथ होना (८) ब्रह्ममें रहना। ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होनेके ये साधन हैं।

ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त न होनेकी अवस्थामें क्या होता है, इसका अनुमान इसीके विचारसे हो सकता है, जैसा— (१) विषमतामें रहनेसे अशान्त होना, (२) बन्धके साथ रहनेसे जड़ बनना (३) द्वैतमें फँसना (४) संकुचित स्थितिमें रहना (५) पराजित होना प्राकृतिक भय भी पराजयही है, (६) ईश्वरका द्वेष करके मोहोत्पादक पदार्थोंपर प्रेम करना, (७) विषयोंके साथ रहना (८) इन्द्रियोंके युद्धमें फँसना इत्यादि अनुभव ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त न होनेतक होते हैं। सामान्य जनोंके दैनिक अनुभव येही हैं।

कई लोग निर्वाण का अर्थ 'पूर्ण नाशको प्राप्त होना' करते हैं। विशेषतः विधर्मी प्रचारक लोग निर्वाणका सत्य अर्थ ध्यानमें न धारण करके, निर्वाणमें पूर्ण नाश होनेका अर्थ है ऐसा मानते हैं और स्वयं भ्रममें फँसकर दूसरोंको भ्रममें फँसाते हैं। इनको इस सत्य अर्थका विचार करना चाहिये। ब्रह्म-निर्वाणमें जब कैसी अवस्था होती है। जोह। पत्थर अग्निरूप अवस्थाको प्राप्त होता है उस अवस्थामें लोहेका नाश नहीं होता परन्तु उसके अणु-रेणुमें विशेष महासाक्तिका स्फुरण होता है। इसी तरह साधारण मनुष्य प्रापंचिक द्वन्द्वोंमें दुःख भोगता है पर दुःख उससे दूर होकर यम-नियमादि तपके द्वारा वह शुद्ध होता हुआ ब्रह्मकी संपूर्ण शक्तिसे आविर्भावित होता है मानो ब्रह्मके समान होता है। अतः इसको पूर्ण विनाश कहना मूर्खता है। हां यह तो मान सकते हैं कि इसमें जो त्रुटियां थीं उनका नाश इस समय हुआ है परन्तु यह इसका नाश नहीं। ब्रह्म-निर्वाणमें वह स्वयं 'आनन्दमय' बनता है। जैसा सूर्यके अन्धेरेका पता तक नहीं होता, इसी तरह ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होनेके पश्चात् उसको अपनेही अन्दरसे इतना आनन्द मिलता है और इतनी शान्तिका अनुभव होता है कि उसके पश्चात् उसको दुःख और अशान्तिकी कल्पना भी नहीं रहती (यन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिः। गी ५।२४) अन्दरसे सुखी अन्दरसे शान्त अन्दरसे प्रकाश पूर्ण होनेका नाम ब्रह्म-निर्वाण अथवा निर्वाण है। अतः कोई यह न समझे कि निर्वाण प्राप्त होनेका अर्थ सर्वस्व नाश होना है प्रत्युत 'सर्वथा पूर्ण' होनेका नाम निर्वाण है। इस विषयमें ये श्लोक देखने योग्य हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गी १४।२६)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गी १८।५३)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गी १८।५४)

" जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा ईश्वरकी सेवा करता है वह प्रकृतिके गुणोंसे होनेवाले बंधनको तोड़कर ब्रह्मरूप बननेके लिये समर्थ होता है॥ अहंकार बल दर्प काम क्रोध और भोगसाधनोंका संग्रह छोड़कर, ममत्व भावको छोड़ता है वह ब्रह्मरूप बननेयोग्य है॥ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहता है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी वासना करता है। वह भूतमात्रके विषयमें समभाव रखता हुआ, ईश्वरकी परमोच्च भक्तिमें मग्न रहता है॥ "

यहां ब्रह्मरूप बननेके साधन कहे हैं और ब्रह्मरूप बनने पर कैसी अवस्था होती है इसका भी निरूपण किया है। ब्रह्मरूप बननेके साधन ये हैं-(१) ईश्वरकी एकनिष्ठ भक्ति (२) गुणातीत होनेका प्रयत्न (३) काम क्रोध लोभ अहंकार मद आदिकी घमंड छोड़ना (४) शान्त होना (५) ममत्व छोड़ना (६) शोक और कामनाका त्याग करना (७) सर्वत्र समभाव धारण करना इससे मनुष्य ब्रह्मरूप अवस्थाको प्राप्त होता है।

ब्रह्मरूप बननेपर उसकी स्थिति ऐसी होती है- (१) प्राकृतिक विषयोंसे बाधा नहीं होती (२) अनुपम शान्ति रहती है (३) शत्रुओंका हमला नहीं होता (४) सदा प्रसन्नता रहती है (५) कामना और शोकका दूर होना है (६) सबसे समान व्यवहार होता है (७) ईश्वरकी परमोच्च भक्तिमें रहता है। ब्रह्मरूप बना हुआ मनुष्य इन गुणोंसे युक्त होता है। अतः यह कहना कि निर्वाण प्राप्त होनेपर पूर्ण नाश होता है यह अज्ञानका द्योतक है। इस स्थितिका स्वरूप गीताने और अधिक स्पष्ट किया है वह अब देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(गी ५।२०)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(गी १३।३०)

' जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है जिसका मोह नष्ट हुआ है जो ब्रह्मको जानता है और जो ब्रह्ममें आश्रित है, उसको प्रियकी प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होनेसे दुःख नहीं होता । जब वह मनुष्य भूतमात्रका अस्तित्व भिन्न होते हुए भी एकमें समाया है ऐसा देखता है और वहांसेही सबका विस्तार है ऐसा समझता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है । " अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे (१) बुद्धि स्थिर होती है (२) मोह दूर होता है (३) प्रिय अथवा अप्रियकी प्राप्तिसे सुख-दुःख नहीं होता (४) विभिन्न भूतोंका उगम एक तत्त्वमें है और वहांसे ही फिर सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है इसका ज्ञान होता है । ब्रह्मप्राप्तिके ये और अन्य पूर्वोक्त फलोंके साथ देखने योग्य हैं ।

अस्तु । यहांतक अन्तिम सिद्धिका स्वरूप क्या है और उस समय सिद्ध पुरुषमें कौनसी शक्ति बढती है और कैसा अनुभव होता है इस विषयमें सारांशसे विवरण किया । इस चतुर्थ अध्यायमें इस सिद्धिके निदर्शक वाक्य ये हैं—

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति ॥ (गी ४।१२)
पुनर्जन्म नैति । (गी ४।९)
कर्मभिर्न स बध्यते । (४।१४)
कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ (गी ४।२२)
कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (गी ४।२१)
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति । (गी ४।४१)
मोक्ष्यसेऽशुभात् । (गी ४।१६)
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे । (गी ४।३२)
ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि । (गी ४।३६।)
परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति । (गी ४।३९)
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् । (गी ४।२४)

" इस मर्त्य-लोकमें मनुष्यको सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है । सिद्धि प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता । कर्मोंका बन्ध दूर होता है । कर्म करनेपर भी पाप नहीं लगता । आत्मबल प्राप्त होनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता । अशुभ दूर होगा । बन्धनसे मोक्ष प्राप्त होगा । पाप दूर होगा । परं शांति प्राप्त होगी । ब्रह्म प्राप्त होगा । " इतने वाक्य इस अध्यायमें हैं इनका बोध यथायोग्य रीतिसे होना अत्यन्त आवश्यक है । भगवद्गीताका यह मुख्य विषय है और मनुष्यको प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है । इस विषयके गीताके पाठकोंकी निश्चित कल्पना होनी चाहिये। तभी गीताका सिद्धांत समझमें आ जायगा । सिद्धि क्या है ब्रह्मप्राप्ति होनेपर क्या लाभ होते हैं, न होनेपर हानि कौनसी है इत्यादि विषय मुख्य हैं और इसका निश्चित ज्ञान पाठकोंको होना अत्यंत आवश्यक है । अतः सिद्धिके विषयमें संपूर्ण भगवद्गीतामें जो जो वाक्य विविध स्थानोंमें आये हैं उनको प्रकरणशः यहां एकत्रित करके संगति लगायी है । जो पाठक इसका मनन करेंगे उनको इस विषयकी निश्चित कल्पना हो जायगी ।

अब इस लेखका अक्षेपसे सार निकालते हैं । आगे परम सिद्धिके साधन और फल लिखते हैं इससे पाठकों को बिना परिश्रम पता लग जायगा कि सिद्धिके साधन कौनसे हैं और सिद्धि प्राप्त होनेपर कौनसे फल प्राप्त होते हैं । यह विषय इससे पूर्व आ चुका है अतः यहां केवल सूचक शब्दही दिये जाते हैं जिन शब्दोंसे अनेक पाठक साधनों और फलोंका स्वरूप जान सकेंगे—

सिद्धिके साधन

(१) चित्तकी एकाग्रता

चित्तकी एकाग्रता अथवा स्थिरता सिद्ध करनेके लिये 'मनःस्थैर्य' अर्थात् मनकी स्थिरता और 'बुद्धिस्थैर्य' अर्थात् बुद्धिकी स्थिरता सिद्ध करनी चाहिये । मनकी चंचलताही मन परमार्थ सिद्ध होनेमें विघ्नरूप है ।

(२) संयम

अन्तिम सिद्धि अथवा परम-पद-प्राप्तिके लिये संयम करना अत्यंत आवश्यक है इस विषयमें यह मंत्र हैं—

यदृच्छालाभसंतुष्ट = यदृच्छासे जो प्राप्त होगा उसमें संतोष मानना अधिकाधिक भोगसाधन प्राप्त करनेकी इच्छा न करना; इसके लिये " भोगवासना-त्याग " करना

चाहिये। मनमें भोग-वासना उत्पन्न हुई तो उसका त्याग करना। तथा कामत्याग, कामवासनात्याग भोगत्याग सम्रहत्याग करना चाहिये। आत्मजय चित्तसंयम आत्मसंयम इन्द्रियसंयम जितेन्द्रियता मनोनिग्रह मनःशान्ति ये शब्द संयमकी व्याप्ति बता रहे हैं। मनुष्यके अंदर दोष रहनेसे उसका मन चंचल होता है, अतः आत्मशुद्धि दोषत्याग कामक्रोध-लोभत्याग, भोगमयत्याग मोहत्याग अहंकार-गर्वत्याग मानत्याग, ममता-त्याग करना चाहिये। इस कार्यके लिये 'कामक्रोधवेगोंको सहन करना चाहिये। अन्यथा वेही सिरपर चढ बैठेंगे। इतना करनेपर मनुष्य आत्म-बलसे युक्त' होगा।

(३) अनासक्ति

विषयों और भोगोंपर तथा कर्मफलपर आसक्ति न रखनेसेही संयम साध्य हो सकता है। इसके लिये असंगभाव कर्मफलमें अनासक्ति कर्मफलत्याग, बाह्य सुखोंपर अनासक्ति निष्कामता निःस्पृहता कर्मफलके विषयमें निःस्पृहता निःस्पृह बुद्धि धारण करना चाहिये।

(४) निर्द्वन्द्वता

निःस्पृह और अनासक्त बननेके लिये निर्द्वन्द्व बनना चाहिये। सुखदुःख हानिलाभ आदि अनेक द्वन्द्व हैं, इनमेंसे किसीमें भी फसना नहीं चाहिये इसकी सूचना देनेवाले शब्द निर्द्वन्द्वता सुखदुःखसमबुद्धि ये हैं। जिससे प्रेम और अप्रियका द्वेष न करना भेदोंमें अभेदका अनुभव करना यही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनेका साधन है।

(५) अद्वेष

अद्वेष अनसूया मत्सररहित्य वैरत्याग द्वेषनिवृत्ति ये शब्द अद्वेष भावकी साधना करनेके सूचक हैं।

(६) आत्मवद्भाव

सबको अपनी आत्माके समान देखनेसे द्वेषभाव और द्वन्द्वसे दूर रहनेकी संभावना होती है। आत्मवद्भाव सब-भूतहितरतत्व सर्वभूतमित्रता ये शब्द इस भाव बढानेका अभ्यास करनेकी सूचना दे रहे हैं।

(७) गुणातीतता

निर्गुण, गुणातीतत्व निर्मल बुद्धि' ये शब्द गुणातीत होनेकी कल्पना दे रहे हैं।

(८) सम-बुद्धि

सम-बुद्धि होनेसे मनुष्यको पूर्वोक्त सिद्धि मिलती है। इसके सूचक शब्द सर्वत्र समबुद्धि, बुद्धियोग समत्व योग सर्वत्र समदर्शन सर्वत्र समता ये हैं।

(९) कर्म-योग

समबुद्धिसे कर्म करनेसे मनुष्य पूर्ण उन्नतिका अधिकारी होता है। इसके सूचक शब्द- यज्ञार्थ कर्म शास्त्रोक्त कर्म ईश्वरार्पणके लिये कर्म पुण्य कर्म कर्तव्य कर्म इन्द्रियसंयमपूर्वक कर्मयोगाचरण समत्व-योग-पूर्वक कर्माचरण कर्मयोग स्वकर्माचरण नित्य योगाचरण परस्पर सहायतार्थ कर्म इत्यादि हैं। इन शब्दोंकि मननसे प्रारंभसे अन्ततक सम्पूर्ण कर्मयोगके मार्गका ज्ञान होता है।

(१०) ज्ञान-योग

"ज्ञान प्रकृति पुरुष-विज्ञान क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान ईश ज्ञान ब्रह्मज्ञान आत्मज्ञान ज्ञान विज्ञान" ये शब्द ज्ञानका स्वरूप बताते हैं। यह ज्ञान और विज्ञान महत्वका विषय है जो जाननेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे निष्पापता संशयनिवृत्ति स्वयंपूर्णता, आत्मबल आत्मनिष्ठा आत्माके अकर्तृत्वका अनुभव आत्मदर्शन अपनी प्रसन्नता और पवित्रता आन्तरिक सुखशान्ति और ज्योतिका अनुभव होनेका वर्णन गीतामें स्पष्ट है। इसीका नाम 'ब्रह्मयोग' है इसके लिये मोक्षतत्पर मनुष्य योग्य अधिकारी है ॐकार जप इसका एक साधन है। प्रकाशमार्गका अवलंबन करना इस साधक लिये योग्य है। आत्मघात न करते हुए इस मार्गका आक्रमण करना चाहिये। इससे मूल प्रकृति-बन्धनसे मुक्ति होती है।

(११) ईश्वर भक्ति

ज्ञानसे ईश्वर-भक्ति जाग्रत होती है। ज्ञानसेही मन ईश्वरपरायणता ईश्वरप्रेम ईश्वर बुद्धि ईश्वरश्रद्धा ईश्वर-शरणता ईश्वर ध्यान तत्परता ईश-पूजन

ईश्वर-स्मरण, ईश्वराश्रय एकनिष्ठ भक्ति एकाग्र भक्ति और परा भक्ति होती है। इससे आगे सर्वत्र आत्मदर्शन सर्व भूतोंमें ईश्वरदर्शन सर्वत्र ब्रह्म दर्शन ईश्वरमयता अर्थात् प्रकृति और पुरुषका संबंध ज्ञात होता है और इस ज्ञानसे आत्माका विश्वरूपी परम पुरुषमें प्रवेश होता है और इसीसे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है।

इस तरह 'नरका नारायण बननेका साधनयोग है। यहां वह अतिसंक्षेपसे इसलिये दिया है कि वह सूत्ररूपसे पाठकोंके सम्मुख सदा रहे। इनमेंसे ये सूचक शब्द भगवद्गीतामें कौनसे स्थानपर हैं, यह यदि किसी पाठकको देखना हो तो वह पूर्व प्रकरणोंमें देख सकता है। परंतु इतने विस्तृत लेख देखनेका समय जिसके पास न हो उनके लिये येही शब्द श्लोकके संकेत साथ प्रकरणशः दिये हैं-

परम सिद्धिकी प्राप्तिके साधन

(१) सिद्धिकी प्राप्ति

ज्ञानप्राप्ति (गी० १४।१), सर्वत्र असक्त-बुद्धि, आत्म जय, निस्पृहता, संन्यास (१८।४९), स्व- (वर्णा श्रम) कर्मसे देवपूजा (१८।४६), ईश्वरके लिये कर्म करना (१२।१०)

(२) विशेषताकी प्राप्ति

नित्य योगाचरण, एकाग्र भक्ति, ईश्वर-प्रेम (गी ७।१७), सर्वत्र समबुद्धि (६।९), इंद्रिय-संयमपूर्वक कर्मयोगाचरण (३।७)

(३) श्रेयःप्राप्ति

परस्परसहायता (गी ३।११)

(४) मायाके पार होना

ईश्वर-प्रपन्नता (गी ७।१४)

(५) पुनर्जन्ममरण दूर करना

ईश्वरबुद्धि, ईश्वरध्यान ईश्वरपरायणता, ज्ञान से निष्पाप होना (गी ५।१७); ज्ञान-प्राप्ति (१४।२), प्रकृति पुरुष विज्ञान (१३।२३)

(६) निर्लेपता

कर्म ईश्वरको समर्पण (गी ५।१०), असंगभाव (५।१०), ज्ञान (४।३७), निर्गुणत्व (१३।३१)

(७) कर्म-बन्ध-निवृत्ति

असंगभाव ज्ञाननिष्ठता यज्ञके लिये कर्म करना (गी ४।२३); बुद्धियोग (२।३९); संक्षेप निष्कामता, निर्द्वन्द्वता (५।३); श्रद्धा अनसूया (गीताके अनुसार) नित्य अनुष्ठान (३।३१); कर्मफलमें निःस्पृह (४।१४); यदृच्छालाभसंतुष्टता द्वन्द्वातीतता, मत्सर राहित्य सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समता (४।२२), समत्वयोगसे कर्मफलत्याग, ज्ञानसे संशयनिवृत्ति आत्मवशसे युक्त होना (४।४१); अहंकारत्याग, निर्मल बुद्धि (१८।१७); योगाचरण आत्मशुद्धि आत्मजय जितेंद्रियता सब भूतोंके साथ आत्म भाव (५।७)

(८) मुक्ति

ज्ञान विज्ञान (गी ९।१) श्रद्धा अदोष, पुण्य कर्म (१८।७१), ईश्वरशरण होना (१८।६६), ईशकार्य (१ ११), इंद्रियसंयम मनोनिग्रह मोक्षपरायण इच्छा-भय-क्रोध-त्याग (५।२८)

(९) शान्ति

कामनात्याग निःस्पृहता ममतात्याग, अहंकारत्याग (गी २।७१) कर्मफलत्याग (५।१२), श्रद्धा इंद्रियसंयम ज्ञान (४।३९), मनोनिग्रह, योगाचरण (६।१५), सर्व भूतोंसे मित्रता (५।२९); कर्मफलत्याग (१२।१२), अपनेको स्वर्गधर्मोंका निष्कामता (२।)

(१०) अक्षय सुख

बाह्य सुखोंपर अनासक्ति ब्रह्मयोग (गी ५।२१), कर्म संन्यास (५।१३); योगाचरण (६।२८), मनःशान्ति योगाभ्यासका (६।२०), कामक्रोधोंके वेगको सहना (५।२३)

(११) अमृतकी प्राप्ति

सुखदुःखादिविषयमें समता (गी २।१५); गुणातीत होना (१४।२), ब्रह्मज्ञान (१३।१२)

(१२) अनामय शाश्वत पदकी प्राप्ति

बुद्धियोग कर्मफलत्याग (गी २।५१), मानमोहका त्याग आसक्ति दोषका त्याग आत्मनिष्ठा कामना त्याग

निर्द्वन्द्वता, मोहत्याग (१५।५); ईश्वरका आश्रय (१८।५६); ईश्वरशरण (१८।६२)

(१३) परम धाम

सतत योगाचरण (गी. ६।१५); ईश्वरभजन (८।१३) सर्वत्र समदर्शन आत्मघात न करना; (१३।२८); ईश्वर शरण (१।६२); कामक्रोधलोभत्याग (१६।२२); शास्त्र-विधिके अनुसार आचरण (१६।२३)

(१४) कृतकृत्यता

ज्ञान (गी १५।२)

(१५) श्रेष्ठ अवस्था

क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय गी १३।३४); अनासक्ति कर्तव्यकर्माचरण (३।१९)।

(१६) ज्ञान-चक्षुकी प्राप्ति

सर्वत्र आत्मदर्शन (गी. १५।१ -११); विराट देहमें सब जगत्को देखना (११।६-१३); अपरा प्रकृतिको ईश्वरका देह मानना (७।४); इस विराट् पुरुषका ज्ञानसे दर्शन करके उसमें प्रविष्ट होना (११।५४) सर्वत्र समदृष्टि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन (६।२९-३ ; १३।२७ ५।१८); आत्माको अकर्ता और प्रकृति कर्मकर्त्री है, इसका अनुभव (१३।२९); अपने अन्दर परमात्मदर्शन (१३।२४); आत्मदर्शनसे आश्चर्यका अनुभव (२।२९); सर्व भूतोंमें परमेश्वरका दर्शन (६।३१)

(१७) ईश्वर-प्राप्ति

एकाग्रचित्त (गी ८।८); भक्ति (८।२२); योग साधन स्थिर मन (८।१); ईश्वरशरण (१५।४); परमेश्वरज्ञान (७।९); अपने मन बुद्धिको ईश्वरमें लगाना (८।७); ईश्वरपूजन (९।२५); सन्यासयोग (९।२८); ज्ञान (७।१८); सर्व ईश्वर है इसका अनुभव (७।१९); ईश्वरके लिये कर्म करना ईश्वरकी भक्ति करना, भोग संगत्याग वैराग्य (११।५५); इन्द्रियसंयम सर्वत्र सम बुद्धि सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्परता (१२।४); सतत योगाचरण श्रीतिपूर्वक भक्ति (१० ११) इस ज्ञानका प्रचार (१८।६९) ईश्वरमें मन बुद्धिको लगाना (१२।८); अनन्यचित्त होना ईश्वरका नित्य स्मरण (८।१४); भोग भय क्रोध दूर करना ईश्वरमयता, ईश्वरका आश्रय ज्ञान तपसे पवित्रता (४।१); ईश्वर-स्मरण (८।५); क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयका अनुभव (१३।१८); गुणातीत आत्माका ज्ञान (१४।१९)

(१८) ब्रह्म प्राप्ति

योगयुक्त सन्यास (गी ५।६); प्रकाशमार्गसे जाना (८।२४)

(१९) ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति

अपने अन्दर सुख शान्ति और ज्योतिका अनुभव (गी ५।२४); निष्पाप होना द्वैतनिवृत्ति, आत्मसंयम, सर्व भूतहितमें तत्परता (५।२५) कामक्रोधत्याग चित्तसंयम (५।२६); एकनिष्ठ भक्ति, गुणातीत होना (१४। ६); अहंकार दर्प कामक्रोध संग्रह और ममता इनका त्याग (१८।५३); सर्वत्र समता परा-भक्ति (१८।५४); प्रियसे प्रेम और अप्रियसे द्वेष न करना, बुद्धिकी स्थिरता, मोह त्याग ब्रह्मज्ञान (५।२); भेदमें अभेदका अनुभव (१३।३)

साधनमार्गका विचार करनेवाले पाठकोंको ये शब्द इस विषयका स्पष्ट बोध करा सकते हैं। सब भूतोंमें ब्रह्मकी प्रत्यक्षवत् अपरिच्छिन्न ज्ञान होनेसे और सब भूतोंमें एक आत्मा है और उसी आत्मामें सब भूत हैं, इसका प्रत्यक्ष वत् ज्ञान होनेसे मनुष्यका मोह दूर होता है वह नर नारायणरूप हो जाता है क्योंकि उस अवस्थामें विश्वरूप नारायणमें वह भी एकरूप हुआ होता है। जब नारायण विश्वरूप है, तब उससे भिन्न नरका अस्तित्व ही कैसा होगा? क्योंकि विश्वरूपमें इस नरका रूप भी संमिलित है। इस की यथावत् प्रत्यक्षता करनाही अन्तिम अनुभव है जो होनेके बाद और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रहता और जो अनुभव होनेही मनुष्य शोकमोहादिसे मुक्त होता है। यही परम पदकी प्राप्ति है।

चतुर्थ अध्यायका विचार समाप्त।

चतुर्थ अध्यायके सुभाषित

[१] श्रेष्ठका आत्मयज्ञ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ (४।६)

मैं अजन्मा अविनाशी और भूतोंका ईश्वर होनेपर भी (जगत्कल्याण करनेके लिये) अपनी प्रकृतिसे जन्म लेता हूं ।

जगत्के कल्याणके लिये ईश्वर स्वयं इतना आत्मयज्ञ करता है यह देखकर राजा महाराजा, सरदार, साहुकार धनी और बडे समझे जानेवाले लोगोंको भी सर्व भूतोंका हित करनेके कार्यमें अपना समर्पण करना चाहिये। जो ऐसा करेंगे वेही श्रेष्ठ बनेंगे अन्य स्वार्थी लोग गिरते जायेंगे । बडे लोग दलितोंकी सुधारके लिये आत्मयज्ञ नहीं करते इसी लिये जगत्में दुःख बढ रहे हैं ।

[२] विपत्ति निवारणार्थ कर्म ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
[४।७]

" जहां धर्मकी हानि और अधर्मकी प्रबलता होती है वहां [धर्मस्थापनाके लिये] मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं । "

जहां जगत्में अनीति अन्याय और सज्जनोंका क्षय होता है वहां श्रेष्ठोंको पहुंचना चाहिये और वहां धर्म न्याय आदिकी स्थापना करनेके लिये आत्मार्पण करना चाहिये । तथा पराधीन लोगोंको स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये जो कर्म करने होते हैं, उसमें स्वयं यत्नवान् होना चाहिये ।

[३] तीन कर्तव्य ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ [४।८]

साधुओंकी रक्षा दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युगयुगमें अवतीर्ण होता हूं ।

मनुष्यको सत्पक्षकी रक्षा, असत्पक्षका नाश और धर्मस्थापनाके कार्यमें अपने आपको लगाना योग्य है । इसीसे मनुष्य कृतकृत्य होता है ।

[४] योग्य आचरण ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
[४।११]

" जो जैसे मुझे शरण आते हैं उनको वैसाही फल देता हूं । "

मनुष्यको उचित है कि वह दूसरोंके साथ यथायोग्य आचरण करे ।

[५] कर्मसिद्धि ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।
(४।१२)

' मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे शीघ्रही सिद्धि प्राप्त होती है ।

मनुष्यको कर्म करनेसेही सिद्धि मिल सकती है ।

[६] स्वार्थसे दोष ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
[४।१४]

कर्मके फलपर मेरी दृष्टि नहीं है, इसलिये कर्मोंका दोष मुझे नहीं लगता ।

फलभोगकी इच्छा होनेसे कर्मका दोष लगता है । स्वार्थके कारण दोष लगता है ।

[७] गहन कर्मतत्त्व ।

गहना कर्मणो गतिः ॥ [४।१७]

कर्मका तत्त्व बडा गहन है । "

कर्म अच्छा है वा बुरा इसका निश्चय करना बडा कठिन काम है ।

[८] पण्डित ।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
[४।१९]

" जो मोहेच्छा छोड़कर कर्म करता है उसके सब दोष ज्ञानसे जल जाते हैं अतः इसीको ज्ञानी पण्डित कहते हैं।"

मोहेच्छा छोड़नेसे कर्मके दोष दूर होते हैं।

[९] यज्ञार्थ कर्म।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ [४।२३]

" यज्ञके लिये जो कर्म होता है उस कर्मका दोष पूर्णता से नष्ट होता है।

सब भूतोंके हित करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म यज्ञरूप होते हैं वैसे कर्म करनेसे किसी प्रकारका दोष नहीं होता।

[१०] ब्रह्मकर्म।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ [४।२४]

कर्ता कर्म विधि और साधन ये सब जिसको ब्रह्म रूप प्रतीत होते हैं उसको सर्वत्र ब्रह्म दीखनेके कारण वह स्वयं ब्रह्म ही बनता है।

संपूर्ण जगत् में और संपूर्ण व्यवहारमें जिसको परमात्माका रूप दिखाई देता है वह स्वयं परमात्मा बनता है।

[११] कर्महीनकी दुर्गति।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः ॥ [४।३१]

' कर्म न करनेवालेको यहां सुख नहीं होता फिर उसको परलोक कहांसे प्राप्त होगा?

कर्म न करनेसे अपना भी हित नहीं होता और दूसरे की भी उन्नति नहीं होगी और न परलोक मिलेगा। अतः सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

[१२] ज्ञानदान श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः ॥ [४।३३]

' द्रव्यदानसे ज्ञानदान अधिक कल्याण करनेवाला है। द्रव्य देनेसे ज्ञान देना दोनोंका भला करनेवाला है।

[१३] ज्ञानसे पापनाश।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ [४।३६]

ज्ञानकी नौका सब पापसमुद्रके पार ले जावेगी।"

ज्ञानसेही सब दोष दूर होकर सब सुख प्राप्त होंगे।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ॥ [४।३७]

' ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्मोंके दोष जल जाते हैं।"

ज्ञानसे सब दोष दूर होकर गुण पास आते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। [४।३८]

ज्ञानके समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है।

ज्ञान सबसे पवित्रता करनेवाला है।

[१४] श्रद्धासे ज्ञानप्राप्ति।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥ [४।३९]

" श्रद्धालु, तत्पर और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।'

[१५] ज्ञानसे शान्ति।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ [४।३९]

" ज्ञानसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।"

[१६] संशयसे नाश।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। [४।४०]

अज्ञानी अश्रद्धालु और संशयी मनुष्यका नाश होता है।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ [४।४०]

संशयी मनुष्यको न इस लोकमें सुख होता है और न परलोकमें।

क्योंकि संशयसे नाश निश्चित है।

[१७] आत्मबलसे निर्दोषता।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति ॥ [४।४१]

आत्मिक बलसे युक्त हुए मनुष्यको कर्मोंका दोष नहीं लगता।

[१८] अज्ञान दूर कर।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ [४।४२]

" हे भारतीय! हृदयस्थ अज्ञानजन्य संशयको ज्ञानसे दूर कर और उत्थान करनेके लिये उठ।"

ज्ञान प्राप्त कर अपना संदेह दूर कर और अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करनेकी इच्छा स्थिर हो।

चतुर्थ अध्यायकी विषयसूची

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

कर्मसन्यासयोग

(१) कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है ?

अर्जुन उवाच—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अन्वय — अर्जुनः उवाच - हे कृष्ण ! कर्मणां सन्यासं पुनः योगं च शंससि, एतयोः यत् एकं श्रेयः तत् मे सुनिश्चितं ब्रूहि ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण ! आप एक बार कर्मोंके सन्यासकी और दूसरी बार कर्मके योगकी प्रशंसा करते हो इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग निश्चयसे मेरे लिये कल्याणकारी हो, वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये ॥ १ ॥

भावार्थ— गुरुको उचित है कि वह शिष्यको एकही निश्चित और श्रेयस्कर मार्गका उपदेश करे । अनेक मार्गोंकी प्रशंसा करके शिष्यके मनमें भ्रम उत्पन्न न करे ।

(१) पूर्व अध्यायमें कई श्लोकोंमें सर्व-कर्म-संन्यास करनेकी प्रशंसा की है; जैसे—

सन्यासकी प्रशंसा

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ।

(गी ४।१८)

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं ॥ (गी० ४।१९)

यदृच्छालाभसंतुष्टः ॥

(गी ४।२२)

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(गी ४।३३)

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ॥

(गी ४।३०)

जो कर्ममें अकर्म देखता है जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हुए हैं जो यदृच्छासे प्राप्त वस्तुसे संतुष्ट रहता है सब कर्म ज्ञानमें समाप्त होते हैं ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं । इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानमार्ग अर्थात् सर्व-कर्म-संन्यास-मार्गकी प्रशंसा की है । यह प्रशंसा पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य संन्यासका आश्रय करे क्योंकि सब कर्मोंका अन्त यदि संन्यासमेंही होता है तो वही संन्यास प्रारंभसेही क्यों न किया जावे ? इस तरह मनुष्यकी प्रवृत्ति इस संन्यास-प्रशंसाके उपदेशोंसे कर्म-संन्यास करनेकी ओर होती है ।

इस प्रकार कर्मसंन्यासकी ओर प्रवृत्ति करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि—

कर्मयोगकी आज्ञा

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (गी ४।४२)

" हे भारत संशय छिन्न करनेके लिये प्रवृत्त हुए वीर ! इस सन्देहको काटकर कर्मयोगका आचरण करनेके लिये उठ । " इस उपदेशद्वारा फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त हो ऐसा कहा है । यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि कर्मका संन्यास किया जाय अथवा कर्मयोगका आचरण किया जाय ? दोनों मार्ग परस्पर भिन्न हैं, ठहरो और भागो इन दो आज्ञाओंमें जितना परस्परविरोध है उतनाही विरोध कर्म करो और कर्मत्याग करो इन आज्ञाओंमें है । जिस समय गुरु कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं, उस समय शिष्य क्या करे कर्म करे या कर्म छोड देवे ? मार्ग पूछनेवालेसे यदि कोई कहे कि तुम पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे जाओ अथवा पश्चिमकी ओर जानेवाले मार्गसे जाओ तो वह पांथस्थ किस मार्गसे जावे ? इसी तरह यहां अर्जुनके मनमें पूर्वोक्त कारणसे बडा संदेह उत्पन्न हुआ । अतः वह कह रहा है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर होगा उसका मुझे उपदेश करो " अर्थात् अनेक मार्गोंका उपदेश करके पहिलेसे भ्रान्त हुए मेरे चित्तको अधिक भ्रममें न डालो इस समय मेरा निश्चित रीतिसे कल्याण किस तरह होगा इसकाही उपदेश करना आपको उचित है । इस प्रकार अर्जुनका प्रश्न श्रवण करके भगवान् उसका सन्देह दूर करनेके लिये समझाते हैं—

(२) कर्म और सन्यास एकही है

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः— श्री भगवान् उवाच- संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ, तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ॥ २ ॥ यः न द्वेष्टि न (च) कांक्षति सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो ! हि निर्द्वन्द्वः बन्धात् सुखं प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ सांख्ययोगौ पृथक् (इति) बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः, एकं अपि सम्यक् आस्थितः (पुरुषः) उभयोः फलं विन्दते ॥ ४ ॥ यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते तत् योगैः अपि गम्यते, यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति सः (एव) पश्यति ॥ ५ ॥

भगवान् बोले— कर्मोंका संन्यास और कर्मोंका योग ये दोनोंही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्यासकी अपेक्षा (तेरे लिये) कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसीकी प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करता उसे नित्य संन्यासी समझना उचित है। जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है वही सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥ अज्ञानी लोग सांख्यमार्ग (संन्यासयोग) और योगमार्ग (कर्मयोग) को पृथक् पृथक् मानते हैं परंतु ज्ञानी जन ऐसा नहीं मानते । क्योंकि इनमेंसे किसी एकका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेसे मनुष्यको दोनोंका फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ जो स्थान सांख्यमार्गियोंको प्राप्त होता है वह योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य और योगको एकरूप देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— ज्ञान और कर्म ये दोनों निःसन्देह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं । तथापि सर्वसाधारण मनुष्यके लिये कर्मही विशेष लाभकारी है । जो किसीका द्वेष नहीं करता अथवा किसीपर प्रेम भी नहीं करता वही सच्चा संन्यासी है फिर वह ज्ञानमें तत्पर हो अथवा कर्ममें लगा हुआ हो । द्वन्द्वोंसे जो दूर रहता है वह सुखसे बन्धनसे छूट जाता है । ज्ञान और कर्म ये दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा मूढ लोग मानते हैं, परंतु ज्ञानी लोगोंका मत ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि इनमेंसे किसी एकका भी यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका फल प्राप्त होता है । जो उच्च स्थान ज्ञानियोंको मिलता है वही कर्ममार्गियोंको भी प्राप्त होता है । अतः अन्तिम साध्यकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं है। इस तरह ज्ञान और कर्मको अन्तकी दृष्टिसे एक जानना ही सत्य ज्ञान है ॥ २—५ ॥

(१-५) पूर्व अध्यायमें ज्ञान और कर्मकी समान प्रशंसा सुनकर अर्जुनके चित्तमें संशय उत्पन्न हुआ यह जानकर इस सन्देहको दूर करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यास और कर्म

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥ (५।२)

“ संन्यास और कर्मयोग ये दोनों निःसंदेह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं ” यहां गीताशास्त्रमें संन्यास और कर्मयोग ये शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त किये हैं। निम्नलिखित कोष्टक देखनेसे इनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—

कर्म	संन्यास
„ योग	सांख्य, ज्ञान
कर्ममार्ग	संन्यासमार्ग
„	सांख्यमार्ग
कर्मयोग	संन्यासयोग
„	सांख्ययोग
„	ज्ञानयोग
„	बुद्धियोग
योगबुद्धि	सांख्यबुद्धि
कर्म	अकर्म

इस तरह इन दोनों मार्गोंके नाम हैं। यदि पाठक इन नामोंको स्मरण रखेंगे तो उनको किस शब्दसे किसका बोध होता है इसका उत्तम ज्ञान हो सकता है। इससे पूर्व तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

दो निष्ठा

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गी ३।३)

इस संसारमें दो प्रकारकी प्रवृत्तिवाले लोक होते हैं। सांख्योंकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर और योगियोंकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर होती है। ” यह मनुष्यका स्वभाव-धर्म है। जो जिसकी निसर्ग-प्रवृत्ति होती है, उसके अनुकूल चलनेसेही उसका कल्याण होता है। निसर्ग-प्रवृत्तिके विरुद्ध चलनेसे अर्थात् प्रकृतिका विरोध करनेसे बडी हानि होती है, जब कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी ३।३३)

ज्ञानी भी अपने प्रकृतिस्वभावके अनुसार बर्तता है। सब प्राणिमात्र अपने स्वभावके अनुसार चलते हैं, ऐसी अवस्थामें बलात्कार करनेसे क्या काम हो सकता है? इस कारण अपने निज निसर्गस्वभावके अनुकूल मार्गसे चलना उचित है यह पहिले दर्शाया है। इस नियमके अनुसार जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञानमार्गकी ओर हो वह ज्ञानमार्गसे जावे और जिसकी निज प्रवृत्ति कर्ममार्गकी ओर हो वह कर्ममार्गका अनुष्ठान करे। ये दो मार्ग पूर्वोक्त दो प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लिये होनेसे दोनोंकी समान प्रशंसा होनेपर भी मनुष्यको संदेहमें पडनेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि मनुष्यको उचित है कि वह अपनी निज प्रवृत्ति देखें और उस प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग हो उसका अनुष्ठान करे और अपनी निज प्रवृत्तिके विरुद्ध मार्गसे न जावे। भगवान् श्रीकृष्णजी महाराजने चतुर्थ अध्यायमें संन्यासयोग और कर्मयोगकी समानतया प्रशंसा की है यह सत्य है परंतु इससे उसके चित्तको भ्रम होनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

*

अर्जुनको उचित था कि वह अपनी निज प्रवृत्ति देखता और उस निज प्रवृत्तिके अनुकूल जो मार्ग है उसपर चलता। परंतु अर्जुन भ्रमसेही युद्धरूप स्वभावोचित कर्म छोडनेको अर्थात् अपना कर्म छोडनेको प्रवृत्त हुआ था, और भिक्षा वृत्तिसे रहनेके लिये उद्युक्त हुआ था। नैष्कर्म्यसे आकिंचन संन्यासवृत्तिसे रहना उसका प्रवृत्ति धर्म नहीं था युद्धरूप कर्ममार्गका अवलंबन करके शत्रुपर विजय प्राप्त करके, राजा बनना उसके प्रवृत्तिके अनुकूल था। परंतु अर्जुन स्वाभाविक प्रवृत्तिका कर्म त्याग रहा था और बलात्कारसे निज प्रवृत्तिके शमदमादि संन्यासधर्मका आश्रय करनेमें दत्तचित्त था। इसीलिये अर्जुनसे श्रीकृष्ण महाराजने आगे कहा है कि—

प्रवृत्तिकी प्रबलता

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥
(गी १८)

' यदि अहंकार-वश होकर तू मैं नहीं लडूंगा ऐसा निश्चय करेगा तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ होगा क्योंकि तेरा स्वभावही तुझे उस ओर घसीट ले जायगा। अपने स्वभावानुकूल स्वकर्मसे बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहता उसे तू ही विवश होकर करेगा। ” यह अन्तमें उपदेश इसलिये किया कि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिके विरुद्ध चल रहा था। बलात्कारसे ऐसे प्रकृतिधर्मका विरोध करना अन्तमें लाभदायक नहीं होता है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तिको जानकर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल कर्म करेगा तो उसको कभी अपयश नहीं प्राप्त होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें आगे सत्व रज तम आदि गुणोंका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिका स्वभावगुणधर्म जाननेका आदेश दिया है। यदि मनुष्य सत्व प्रकृतिवाला हो तो सात्विक ज्ञानमार्गसे जानेका निश्चय करे और यदि रजोगुणी प्रकृतिवाला हो तो कर्ममार्गमें प्रवृत्त होवे।

सोलहवें अध्यायमें दैवी गुणोंवाले और आसुर गुणोंवाले लोगोंकी प्रवृत्ति कैसी भिन्न होती है इसका वर्णन है। इस

का विचार करके मनुष्य अपनी कौनसी प्रकृति है इसका निश्चय कर सकता है। इसी तरह सत्रहवें और अठारहवें अध्यायमें सत्त्व रज और तम प्रकृतिवाले लोगोंका वर्णन है इसका विचार करके मनुष्य जान सकता है कि अपनी प्रकृति कौनसी है। इन अध्यायोंमें जो विचार किया है वह मनुष्य को आत्मपरीक्षा करनेके लिये साधक हो सकता है। इसके समझनेसे मनुष्य अपनी परीक्षा करके निश्चय करे कि मेरा प्रकृति सात्त्विक है या राजस है अथवा तामस है? इसी तरह अपनी ज्ञाननिष्ठा है या कर्मनिष्ठा है? इस प्रवृत्तिको जानकर उस प्रवृत्तिके अनुकूल जो कर्तव्य हो वह करनेमें प्रवृत्त हो। अर्जुनने इस अपनी स्वभाव प्रवृत्तिका विचार नहीं किया और एकदम विवशतावश होकर स्वभावोचित युद्धकर्मका त्याग कर बलात्कारसे ज्ञाननिष्ठ सन्यास लेकर भिक्षावृत्तिका आश्रय करनेमें प्रवृत्त हुआ। इसीलिये उसने यही समझा कि भगवान् श्रीकृष्णजीने जो सन्यास और कर्म इन दोनों मार्गों की प्रशंसा की वह अपने लियेही है ये दोनों मार्ग मेरे लियेही कहे गये हैं, ऐसा समझकर उसमें पड़ा और प्रश्न करने लगा कि इन दोनों मार्गोंसे कौनसा मार्ग अपने लिये अधिक श्रेयस्कर है?

यदि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिको जान लेता, तो यह प्रश्नही उसके मनमें न उठता क्योंकि उसकी निसर्गप्रवृत्ति शम दमादि साधनकी ओर झुकनेवाली नहीं थी किन्तु योग-प्रधान थी। इस तरह अर्जुनके मनमें अहंकारकी प्रधानता होनेके कारण उसने अपना स्वभावज कर्तव्य छोड दिया और दूसरा भिक्षुधर्म स्वीकारना चाहा अतः उसके मनमें सन्देह हुआ और उसने शंका की, जिसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं। वे कहते हैं कि " सन्यासमार्ग और कर्ममार्ग ये दोनों निःसंदेह कल्याण करनेवाले हैं। " यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या ये दोनों मार्ग प्रत्येक मनुष्यका हित करनेवाले हैं? अथवा प्रत्येक मार्ग भिन्न भिन्न प्रकृतिवालोंकाही हित करनेवाला है?

पूर्वापरसंबन्धका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट है कि सन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठावालोंके लिये कल्याणकारी है और योगमार्ग कर्मनिष्ठावालोंके लिये हितकारी है। इसी उद्देश से संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मार्ग मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं ऐसा सामान्यतया उपदेश यहां कहा है। इसमें ये दो मार्ग किन लोगोंका कल्याण करते हैं यह गुप्त है। इसके आगे भी ऐसाही कहा है कि—

कर्मयोगकी विशेषता

तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥
(गी ५।२)

इन दोनोंमें भी संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है। " परन्तु यह कर्मयोग जो श्रेयस्कर है वह सब लोगोंको श्रेयस्कर है अथवा किसी विशेष प्रकारके मनुष्योंको श्रेयस्कर है इसका विचार करना चाहिये। जनतामें दो प्रकार के मनुष्य होते हैं (गी ३।३) एक प्रकारके पुरुषोंको कर्म निष्ठ कहते हैं और दूसरे प्रकारके पुरुषोंको ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है। जगत्में सब मनुष्य एकही वृत्तिके नहीं होते और उक्त दो निष्ठाओंसे तीसरी निष्ठा जगत्में नहीं है। एक बार यह निश्चित होनेसे संन्यासयोग और कर्मयोग किन मनुष्योंके लिये हितकारी है यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि संन्यासमार्ग ज्ञाननिष्ठ-वालोंके लिये हितकारी है और कर्मयोग शेष सब लोगोंके लिये लाभकारी है। जगत्में ज्ञानी लोग थोडेही होते हैं अतः कर्मयोग सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये लाभकारी है यही विशेषता इसकी है।

जो मनुष्य अत्यन्त विरक्त होते हैं भोगवासनाओंसे स-माधतः दूर रहते हैं वैराग्य जिनका स्वभावधर्म बना है, जो मुक्त होनेकी एकमात्र कामना धारण करते हैं अथवा जगत् के व्यवहार छोडकर जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लियेही अपना जीवन बितानेको सिद्ध हैं वे संन्यासमार्गसे जाकर अपना जीवन सफल कर सकते हैं। इनके लियेही सन्यासमार्ग श्रेयस्कर है।

नामसंन्यासी

यहीं तो जो आजकलके वेषधारी नाममात्र संन्यासी हैं, जिन्होंने आजीविकाके लिये संन्यास-ग्रहण किया है संन्यास-ग्रहण करनेके पश्चात् भी विविध भोगवासनाके साधनोंमें ही फंसते रहते हैं जिनका चित्त ब्रह्मप्राप्तिकी अपेक्षा भोगप्राप्ति-में अधिक लगा होता है जिनको मनके अन्दर संन्यास ग्रहण करनेके कारण पश्चात्ताप होता है वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। वे वस्तुतः कर्मयोगके अधिकारी हैं। कर्म करके

जिसकी पूर्णता करनेसे इनकी उन्नतिका मार्ग सुकर होता है। ऐसे लोगोंका उद्धार कर्मयोगद्वारा होता है।

पूर्वोक्त सन्यासमार्गके अधिकारी जगत्‌में थोडे होते हैं। उनको छोडकर शेष सब लोग कर्मयोगसे अपनी उन्नतिका साधन कर सकते हैं, अर्थात् इस कर्मयोगके अधिकारी इस जगत्‌में अधिक हैं। हरएक मनुष्य कर्ममार्गसे अपना कल्याण कर सकता है यही (कर्मयोगो विशिष्यते। ५।२) कर्मयोगकी विशेषता है। मानो इस तरह सभी लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं। यह कर्मयोग सब लोगोंका कल्याण करनेवाला है। जैसे अधिकार न रहते हुए किये हुए संन्याससे सन्यास लेनेवालेकी गिरावट होती है वैसी गिरावट कर्मयोगसे किसीकी भी नहीं हो सकती। क्योंकि सभी लोग इसके अधिकारी हैं। अल्पनिष्ठावाले लोग भी यदि कर्म करेंगे तो वे गिरेंगे नहीं परन्तु कर्मनिष्ठावाले संन्यास लेंगे तो उनका अधःपात हो सकता है क्योंकि उनसे संन्यास निभ नहीं सकता। यह कर्मयोगकी विशेषता है।

संन्यासका मुख्य लक्षण भोगेच्छाकी पूर्ण निवृत्ति है। अतः जिसमें भोगेच्छा है उससे संन्यास कदापि नहीं हो सकता। संन्यासधर्मकी यही कठिनता है क्योंकि प्रायः मनुष्य भोगेच्छायुक्त होते हैं। अब ऐसे भोगेच्छावाले मनुष्य अपनी उन्नति किस तरह प्राप्त करें? उत्तरमें गीता ने कहा है कि वे कर्मयोगसे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसमें भोगेच्छाका पूर्ण त्याग करना आवश्यक नहीं है, थोडा भोग और थोडा त्याग ऐसा मेलमिलापसे साधन करते हुए इसमें उन्नति प्राप्त करना होता है। इसलिये प्रत्येक प्रवृत्ति-पर मनुष्य इस कर्मयोगसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। अब इसलिये निवृत्ति सन्यासके मुख्य लक्षण कहे हैं—

संन्यासीके लक्षण

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५।३

नित्य संन्यासी के लक्षण ये हैं

(१) यः न द्वेष्टि = जो किसीका द्वेष नहीं करता किसीका शत्रुत्व नहीं करता

(२) यः न काङ्क्षति = जो किसीकी इच्छा नहीं करता जो किसी भोगकी प्राप्तिकी कामना नहीं धारण करता जो भोगोंके विषयमें निरिच्छ है,

(३) यः निर्द्वन्द्वः = जो सुखदुःख हानिलाभ राग द्वेष, शत्रुमित्र, उष्णशीत, आदि द्वन्द्वभावसे दूर रहता है, सुख हो अथवा दुःख हो दोनों अवस्थाओंमें जिसका मन सम रहता है

(४) यः नित्यसंन्यासी = जो पूर्वोक्त संन्यासीके लक्षणोंसे सदा युक्त रहता है अर्थात् थोडी देर भोगी और थोडी देर त्यागी नहीं रहता परन्तु सदा सहजतया रागद्वेष रहित रहता है

वही सुख प्राप्त करके बन्धनसे मुक्त होता है। यहां चार लक्षण संन्यासीके कहे हैं, (१) द्वेष न करना, (२) भोगेच्छा न होना (३) द्वन्द्वभावसे दूर होना और (४) इन तीनों गुणोंका सतत होना ये चार लक्षण जहां होंगे वह संन्यासमार्गका अधिकारी है। इसमें चतुर्थ लक्षण विशेष महत्त्वका है। कई मनुष्य थोडी देरतक किसीका द्वेष करना छोड देंगे किसी भोगकी कामना भी नहीं करेंगे कदाचित् शत्रुमित्र भावादि द्वन्द्वोंसे भी दूर रहेंगे परन्तु यह सब भाव उनसे थोडी देरके लिये होगा। इस तरह जो लोग थोडी देरतक उक्त लक्षण धारण करनेका यत्न करेंगे वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। परंतु जिनमें उक्त तीनों लक्षण नित्य रहते हैं स्वभावसे सहज वृत्तिसे और नित्य अभ्यास रहते हैं वे संन्यासी हैं।

जिनमें द्वेष करनेकी प्रवृत्ति नहीं जो स्वभावसे सन्तुष्ट हैं, अतः भोगवासना जिनमें उठती नहीं जो अनुकूल या विपरीत अवस्थामें सम-वृत्तिसे रहते हैं और ये तीनों वृत्तियां जिनमें सदा रहती हैं, वेही सच्चे संन्यासी हैं। और वेही संन्यासमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

सन्यासका अनधिकारी

पूर्वस्थानमें संन्यासयोगका अधिकारी कौन है इसके लक्षण कहे। अब उक्त विचारसेही कौन संन्यासका अधिकारी नहीं है इसका विचार हो सकता है। संन्यास लेनेका जिनको अधिकार नहीं है उनमें निम्नलिखित लक्षण होंगे—

(१) यः द्वेष्टि = जो द्वेष करते हैं निन्दा करते हैं, शत्रुत्व करते हैं जो असहनशील हैं,

(२) यः काङ्क्षति = जो कामना धारण करते हैं मुझे सुख चाहिये ऐसा मानकर जो कामनाके पीछे दौडते हैं

(३) यः द्वन्द्वयुक्तः = जो सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें फंस

होते हैं जो सुखसे हर्षित और दुःखसे उदासीन होकर कर्तव्य करते हैं।

(४) यः मस्वसमयसंन्यासी = जो थोडी वैराग्यसे संन्यास मार्गको स्वीकारना चाहते हैं, और पश्चात् पुनः भोगोंमें लिपट जाते हैं।

इस तरहके लक्षणोंसे जो लोग युक्त होंगे वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। उनको उचित है कि वे कर्मयोगसे अपने चित्तकी शुद्धि करें और क्रमशः उच्च भूमिकाको प्राप्त करते जायं। ये लक्षण यद्यपि श्रेष्ठ संन्यासीके हैं तथापि कर्मयोगी भी इन लक्षणोंको अपने अन्दर क्रमशः बढा सकता है और कर्मयोग करते हुए भी संन्यासी होनेका फल प्राप्त कर सकता है। इसीलिये येही लक्षण पूर्वस्थानमें कर्मयोगीके वर्णनमें आगये हैं देखिये—

कर्मयोगीके लक्षण	संन्यासीके लक्षण
निर्द्वन्द्वः (२।४५)	निर्द्वन्द्वः (५।३)
शुभाशुभ-परित्यागी (१२।१७)	
सिद्ध्यसिद्ध्योः समः (२।४८)	
न द्वेष्टि (१२।१७)	न द्वेष्टि (५।३)
वीतक्रोधः (२।५६)	
न कांक्षति (१२।१७)	न कांक्षति (५।३)
संगं त्यक्त्वा (२।४८)	,
फलं त्यक्त्वा (२।५१)	
कामं जहि (३।४३)	,,

इस तरह कर्मयोगी अपने कर्ममार्गपर चलता है, और शनैःशनैः उन उच्च गुणोंको प्राप्त करता है, जो गुण ज्ञानमार्गियोंको प्राप्त होते हैं और इस तरह कर्मयोगी भी उसी स्थानपर पहुंच जाता है जहां ज्ञानमार्गी पहुंच जाता है। कर्मयोगी यद्यपि भोगप्राप्तिके उद्देश्यसे प्रारंभमें कर्म करता है, तथापि उसको आगे आगे त्याग करनाही पडता है और जितना उसका त्याग उच्च होता है उतना उसको अधिक त्याग करना अत्यंत आवश्यक होता है। अर्थात् शनैः शनैः उसमें त्यागभाव बढता है और भोगभाव कम होता है इसी तरह जिस प्रमाणसे उसमें त्यागकी मात्रा बढती है उसी प्रमाणसे उसमें इच्छाकी मात्रा भी न्यून होती जाती है। ऐसेही उत्तम कर्मयोगी होनेके लिये उसको सम बुद्धि धारण करनी पडती है, यहां उसको निर्द्वन्द्व होनेका फल मिलता है। इस रीतिसे इस कर्मयोगीमें कर्मयोग आचरण करते करते संन्यासीके लक्षण विकसित होने लगते हैं, मानो इस प्रकार उन्नत होनेपर कर्मयोगी और संन्यासी एकही अवस्थामें हैं ऐसा दिखाई देता है। इसीलिये कहा है कि—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् (५।४)
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति। (५।५)

मूर्ख लोग मानते हैं कि सांख्यमार्ग भिन्न है और योगमार्ग भिन्न है, परंतु ज्ञानी लोग जानते हैं कि दोनोंका फल एकही है। क्योंकि इनमेंसे किसी एक मार्गका अच्छी प्रकार आचरण किया जाय तो दोनोंका फल प्राप्त होता है। जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है वही योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है अतः फलकी दृष्टिसे दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा जो जानता है वही सच्चा ज्ञानी है।'

यहां स्पष्ट रीतिसे कहा है कि सांख्य और योग किंवा ज्ञान और कर्म अथवा संन्यास और कर्मयोग एकही अन्तिम फल देनेवाले हैं। जो फल एकसे प्राप्त होता है, वही दूसरेसे मिलता है। दोनों मार्गोंसे एकही अन्तिम साध्य सिद्ध होता है। यदि ऐसा है, तो दोनोंकी समान तथा प्रशंसा करनेमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि दोनों सुखसे मनुष्य इन मार्गोंसे जायगा और अन्तिम सिद्धि दोनों मार्गोंसे जानेवालोंको समानतया प्राप्त होगी। इसलिये मनुष्य इस मार्गसे गये अथवा उससे गये तो उसमें कोई हानिकी संभावना नहीं है। मनुष्य अपनेमें विचार करे कि अपने लिये सुगम मार्ग कौनसा है? अपनी स्वभावतया कर्मनिष्ठा है या ज्ञाननिष्ठा है। अपनी स्वभावतः जो निष्ठा होगी उसके अनुकूल अपने योग्य मार्ग द्वारा चलनेसे मार्गक्रमण कष्ट-रहित हो जाता है, अन्यथा थोडे कष्ट होंगे। जो विचार करना चाहिये वह केवल इसी बातका सबसे प्रथम करना चाहिये।

'दोनों मार्ग फलकी दृष्टिसे समान हैं' ऐसा उपदेश श्रीकृष्णजी महाराजका भाषण श्रवण करके अर्जुनको बडी प्रसन्नता हो गई और वह मनही मनमें मानने लगा कि

(२) सन्यासके लिये योगकी आवश्यकता

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगत । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! अयोगतः संन्यासः तु दुःखं आप्तुं योगयुक्तः मुनिः नचिरेण ब्रह्म अधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहु अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखसे साध्य होनेवाला है, परन्तु कर्मयोग करनेवाला मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— कर्मके बिना ज्ञानयोग सिद्ध होना अत्यंत कठिनही नहीं अपितु प्रायः असंभव है । परन्तु पुरुषार्थरूप कर्मयोग करता हुआ मनुष्य क्रमपूर्वक उन्नत होकर अन्तमें निश्चयसे ब्रह्म प्राप्त करता है, सबसे उच्च पदको प्राप्त करता है मुक्त होता है अर्थात् बन्धनसे दूर जाता है ॥ ६ ॥

' जो मैंने स्वयं भैक्ष्यचर्य स्वीकारके द्वारा भिक्षु या संन्यासी होकर तपस्वी होनेका मार्ग आक्रमण करनेका निश्चय किया है, वह भी निःसंदेह उन्नति करनेवाला है अतः अब युद्ध न करते हुए उसी संन्यास-मार्गपर चलना मेरे लिये अच्छा है ।' इस तरह अर्जुनके मनमें संन्यासी बननेके विचार चलही रहे थे इनमेंसे उसके भावोंको उसके मुखाभिर्भावसे जानकर उनके वक्ता तत्वज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—

(१) पूर्वस्थानमें ज्ञानयोग और कर्मयोगका फल एकही है किंवा फल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे ये दोनों मार्ग एकही हैं, ऐसा कहा । इस कथनसे कोई साधक मान सकता है कि ये दोनों मार्ग समानतया सुगम हैं, आरंभसे अन्ततक अनुष्ठानकालमें भी एकसा सुख देनेवाले हैं, कोई साधक किसीभी मार्गसे चलने लग जाय तो उसकी सुगमताकी दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं इस तरहका विचार साधकके मनमें आ सकता है। इसलिये इस दृष्टिसे इन दो मार्गोंमें जो भेद है उसका निवारण करनेका उपक्रम भगवान् इस श्लोकमें करते हैं ।

अयोगतः संन्यासः दुःखं आप्तुं । (५।६)

"योगके न करनेपर संन्यास किया तो उससे दुःखही दुःख प्राप्त होगा । " परन्तु संन्यास न लेते हुए योगका अनुष्ठान किया जाय तो दुःख नहीं होता । इस कथनसे इस बातकी स्पष्टता होती है कि सबसे प्रथम मनुष्य योगका अनुष्ठान करे यहां योग का अर्थ कर्मयोग निष्काम कर्मयोग कर्ममार्ग, योगसाधन, योगमार्ग अथवा पुरुषार्थ मार्ग है । जो साधक प्रारंभमें इस कर्मयोगका करता है वह शुद्ध साधकके पश्चात् ज्ञानयोगका अधिकारी होता है और उस समय उसने संन्यासमार्गका स्वीकार किया तो उसको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता ।

जो मनुष्य पूर्वजन्मके सत्कर्मोंसे जन्मसेही सिद्ध होते हैं वे उस सिद्धिके कारण कर्मयोगके अनुष्ठानके बिना भी संन्यास ग्रहण करके मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं । परंतु जो ऐसे जन्मसे सिद्ध नहीं होते हैं वे सामान्य मनुष्य ब्रह्मचर्यादि आश्रममें रहते हुए, और सर्वेऽपि योगाभ्यास करते हुए अपने आपको संन्यासमार्गके अधिकारी बनावें और पश्चात् संन्यास लें अर्थात् ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका आचरण करना आवश्यक है ।

इसके लिये एक उदाहरण देते हैं— एक सुंदर अमृत जैसे शुद्ध और पवित्र जलका सरोवर है उसमें ऐसा उत्तम जल है कि जिस जलका सेवन करनेसे मनुष्य नीरोग, पुष्ट दीर्घजीवी और सुखी होता है । अतः प्रत्येक मनुष्य उस अमृत जलको प्राप्त करनेका इच्छुक है । उस सरोवरके पास जानेके दो मार्ग हैं एक सीधा और सुगम है परंतु पंद्रह सौ कोस लंबा है दूसरा अति समीपका है बीचमें एक पर्वतपर चढकर एक दो दिनोंमें दूसरी ओर उतरनेसे सरोवरके समीपके तीरपर पहुंचता है । पर्वतपरका मार्ग केवल दो दिनोंका है और दूसरा सीधा मार्ग चलनेके लिये दो अथवा तीन मास लगते हैं । परंतु उस पर्वतपर चढना कठिन है मार्ग अत्यंत विकट है । पांव फिसल गया तो निश्चयसे मृत्यु होती है जंगलमें सांप बिच्छू सिंह व्याघ्र आदि पशु भी हिंसा करनेके लिये तैयार हैं । कुछ लुटेरे दस्यु भी मारपीट करनेके लिए तैयार हैं इस कारण वह मार्ग साधारण मनुष्यके जानेके लिये अत्यंत कठिन है । दूसरा दूरका सीधा मार्ग यद्यपि दो मास लगेंगे तथापि सबका सब सुगम है उसपर पत्थर या गड्ढे नहीं हैं सुखदायी वाहन हैं, बीचबीचमें धर्मशालाएं अतिसुंदर बनी हैं, अब

खानपानकी सामग्री है इस तरह सुंदर दृश्य देखते हुए मनुष्य आनंदसे वहां पहुंच सकता है। इस विचारसे यह बात निश्चयसे ज्ञात होगी कि समीपके मार्गसे यह दूरका मार्ग सर्वसाधारणके लिये हितकारी है। जो विशेष वीर-धीर शूर और विशेष समर्थ हों वे पर्वतके मार्गसे जावें परंतु सर्वसाधारण मनुष्योंको इसी सीधे दूरके मार्गसे जाना योग्य है।

यही बात संन्यासमार्ग और कर्ममार्गकी है। सर्वसाधारण मनुष्य संन्यासधर्मका यथायोग्य पालन कर नहीं सकता अतः ऐसा मनुष्य संन्यास लेकर गिर जाता है परंतु वही कर्ममार्गसे क्रमशः उन्नति प्राप्त करता हुआ अपने परम धामको प्राप्त कर सकता है। योग्यता न होते हुए अनधिकारी लोग संन्यास लेकर अपनी और दूसरोंकी गिरावट करनेके लिये कैसे कारण होते हैं इसकी प्रत्यक्षता इस समयके भगवाधारी संन्यासी दे रहे हैं। इस समय बहुत थोडे संन्यासी सच्चे संन्यासी हैं, वे अपना और समाजका उद्धार करते हैं। परंतु अन्य संन्यासी केवल वेषधारी होनेसे राष्ट्रमें मिथ्या अधर्म करके बडे धूर्त होते हैं यह विचारी मनुष्य अपने चारों ओर देखकर जान सकते हैं। इसलिये वेषधारी भगवान् संन्यासियोंका निर्बंध होना चाहिये इसमें संदेह नहीं है।

अब कर्मयोग क्या है और उससे उन्नतिका सीधा मार्ग सबके लिये कैसा खुला होता है इसका यहां संक्षेपसे विचार करना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दोंके उपयोग ऐसे किये जाते हैं कि किसका कहां कौनसा अर्थ है इसका निर्णय करना विचारवान् पाठकोंको भी दुर्घट कार्य हो जाता है जैसा सांख्य संन्यास ज्ञान इनके साथ योग अथवा मार्ग शब्द लगाकर सांख्ययोग सांख्यमार्ग संन्यासयोग संन्यासमार्ग ज्ञानयोग ज्ञानमार्ग ये शब्द बनते हैं। ज्ञान इसका अर्थ गीतामें समान है परंतु 'ज्ञान' शब्दका अर्थ लौकिक विज्ञान शब्दज्ञान आत्मज्ञान आदि मानकर कई लोग अपना भ्रम करते हैं। ज्ञानमार्ग आदि शब्दोंका अर्थ गीतामें निश्चित है ज्ञानका अर्थ मोक्षविषयक ज्ञान आत्मज्ञान है वह सर्वव्यापक है प्रत्येक मनुष्यमें इसकी शक्ति काम कर रही है वही परमात्मा भी हृदयमें है उसका पूर्ण ज्ञान होनेपर उस साधकको सांसारिक सुख तुच्छ लगता है, परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव प्राप्त करनेकी अभिलाषा बढती है, वैसे लोग हैं और वह आंतरिक आतुरतासे निश्चय करता है कि इस सर्वव्यापक परमात्माका साक्षात्कार किये बिना मैं नहीं रहूंगा। ऐसे अटूट निश्चयसे वह सब प्रपंच छोडता है और परमार्थ साधनमें दत्तचित्त होता है। यह ज्ञानमार्गका अथवा संन्यासमार्गका अधिकारी है। बाकी सब लोग कर्मयोगके अधिकारी हैं।

कर्ममार्ग, कर्मयोग योगमार्ग ये सब शब्द एकार्थक हैं। मनुष्य निकृष्टसे निकृष्ट भी क्यों न हो वह अपनी उन्नति इस मार्गसे चलकर निःसन्देह प्राप्त कर सकता है। संन्यासमार्गके समान यहां गिरावटका डर नहीं है। कर्ममार्गमें दो भेद हैं- (१) सकाम-कर्म और (२) दूसरा निष्काम-कर्म। सकाम कर्मकी सीढी नीचे है और निष्काम कर्मोंका स्थान ऊंचा है। साधारण मनुष्य पहले सकाम कर्म करे। सकाम कर्मोंका अर्थ अपने मायाके लिये सुखके लिये अथवा यशके लिये किये जानेवाले कर्म। मुझे सुख प्राप्त होना चाहिये ऐसा मानकर मनुष्य पहिले सकाम कर्म ही करता है। क्योंकि निष्काम-कर्म बडा कठिन अर्थात् स्वयं प्रयत्न करना और उसका फल न लेना यह बडा स्वार्थत्यागसे होनेवाला है।

मनुष्य गुरुकी कृपासे ब्रह्मचर्य पालन करता व लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करता है इस ब्रह्मचर्याश्रम अध्ययनमें उसको सिद्ध पुरुषोंका जीवनचरित्र विदित होता है उससे पारमार्थिक उन्नतिकी स्वाभाविक इच्छा जागती है। पश्चात् उस गुरुकी बतानेके लिये वह गृहस्थाश्रम स्वीकारता है विवाह करके सहधर्मचारिणीके साथ रहने लगता है तो उसको अपनी पत्नीके लिये स्वार्थत्याग करनेका पाठ मिलता है पीछे समयके पश्चात् उसकी सन्तान होते हैं, उस समय वह उनके लिये अपने सुखका त्याग करनेका पाठ सीखता है। इसी तरह उसका परिवार विस्तृत होता है उनका अपना सुख त्यागना और दूसरोंके हितके लिये प्रयत्न करना वह सीखता है। वही अपने सुखका दूसरोंकी भलाईके लिये संन्यास करता है। वह कर्ममार्गमें संन्यासका पाठ इस तरह सीखता है।

गृहस्थधर्ममें स्वार्थत्यागके अभ्यासोंसे इस रीतिसे स-

सुखत्याग करनेसे महत्सुख मिलनेका अनुभव गृहस्थीको प्राप्त होता है। पुत्रादिके हितके लिये स्वसुखका त्याग करनेसे उसको बड़ा सुख मिलनेका अनुभव आता है। इसी तरह कर्ममार्गसे आत्मसमर्पणका पाठ उसको मिलता है। आगे इसी तरह अपने कुटुंब परिवार जाति तथा राष्ट्रके लिये आत्मसमर्पण करनेको यह कर्मयोगी तैयार होता है, अन्तमें अपने धर्मके लिए मरनेकोभी सिद्ध होता है यह इसका बड़ा स्वार्थत्याग है। जब यह जाति राष्ट्र और धर्मके लिये आत्मसमर्पण करनेको तैयार होता है, तब यह त्यागी अथवा संन्यासी होनेका अधिकार अथवा योग्यता धारण करता है। इस स्थानपर कर्मयोग और संन्यासयोग इनका संमिलन होता है।

कर्मयोगके अनुसार पहिले सकाम और पश्चात् निष्काम कर्म करनेवाला कर्ममार्गी प्रारंभिक अवस्थामें अपने सुखके लिये कारणीभूत जो आदिकी उपासना करता है। धन देने वाले धनिकके पास बैठता है, अधिकार देनेवाले राजाका अनुसरण करता है, इहपरलोकमें सुखभोग देनेवाले विविध देवताओंकी उपासना करता है। इस तरह सकाम कर्म करते करते उसमें दैवीशक्तिकी जागति होती है। प्रारंभमें अपने उपास्यमें यह देवताकी कल्पना करता है और अन्यत्र देव नहीं है ऐसा मानता है। परंतु उपासना होते होते चित्तके मल दूर होते हैं कुछ अवण मनन भी करता है और इस तरह उन्नत होकर सब भूतोंमें परमात्माकी उपस्थिति है ऐसा जानता है और यह विश्वही परमात्माका विश्वरूप है यह बात उसके मनमें स्थिर होती है।

इस ढंगसे कर्मयोगी सकाम कर्मको छोडकर निष्काम कर्म द्वारा परमेश्वरकी पूजा करता है। इस समय वह मानता है कि-

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गी १८।४६)

स्वकर्मद्वारा उस परमात्माकी पूजा करनेसे मनुष्यको परम सिद्धि प्राप्त होती है। " इस स्थानपर उसको परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका पता लगता है और वह उसका साक्षात्कार करनेको उद्युक्त होता है। यहां इस रीतिसे कर्मयोगी और संन्यासी एक सीढीपर होते हैं।

अपने वर्णके धर्मकर्म और आश्रमधर्म बतानेवाले सब शास्त्र इसी कर्मयोगकाही वर्णन करते हैं और आजकल जो भी सार्वजनिक हितके अथवा राष्ट्रहितके कार्य जनताके सम्मुख आये हैं, वे सब तथा वैयक्तिक उन्नतिके सब कार्य इसी वर्णाश्रमधर्ममें किसी न किसी स्थानपर अवश्यमेव रहते हैं। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले लोग वैयक्तिक सामाजिक धार्मिक नैतिक औद्योगिक राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी उन्नतिमें कदापि पीछे नहीं रहेंगे। अतः हम कहते हैं कि हमारा वर्णाश्रमधर्म सर्वांग परिपूर्ण है और चिरस्थायी अत एव सनातन कहने योग्य है।

कर्मयोगका यह विचार यहां इसलिये किया कि स्वार्थी मनुष्य भी जैसा जैसे जैसे उन्नत होता हुआ अन्तमें परमार्थी बनकर संन्यासमार्गका अधिकारी होता है अथवा कर्मयोगसेही वह परम पद प्राप्त करता है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होता है, यह बात पाठकोंके ध्यानमें ठीक रीतिसे आ जाय। कर्मयोगसे चित्त शुद्ध होनेकी जो संभावना है वह इस तरह है। थोडासा विचार करनेसे पता लग सकता है कि इस कर्मयोगसे प्रत्येक मनुष्य चढकर उन्नतिका मार्ग प्राप्त कर सकता है। अन्तिम अवस्थामें संन्यासी और कर्मयोगी एकसे बनते हैं इसका तत्त्व यह है। अतः कहा है—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ (५।६)

कर्मयोगका आचरण करनेवाला मुनि शीघ्र ही ब्रह्मपद प्राप्त कर सकता है। " कर्मयोगका अधिकार यह है। इस योगमार्गमें पातंजलयोग हठयोग भी संमीलित है। नीरोगता मनःस्वास्थ्य आदि सुख प्राप्त करनेके हेतुसे मनुष्य इस आसनादि अभ्यासको स्वीकारता है और अभ्यास करते करते वह समाधितक पहुंचता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। इसका प्रारंभ सकाम कर्म अर्थात् अपने सुख बढानेके कर्मके प्रारंभसे होता है, इसलिये यह मार्ग हरएकको पसंद आता है और ये कर्म करते करते मनुष्य निष्काम कर्म करने लगता है और पश्चात् ब्रह्मका भोगका अधिकारी होता है।

कर्मयोगमें शास्त्रवचनने जो कर्म बताये हैं वेही करना चाहिये। जो शास्त्रने कहा, वह करो; न कहा वह न करो। शास्त्रपर विश्वास रखो शास्त्रही आगेका मार्ग बता देगा। इस विचार पद्धतिसे निष्काम कर्मकी दीक्षा मिलती है और मनुष्य निष्काम कर्मयोगी बनकर उच्च अवस्था प्राप्त करता है। पाठक यहां ध्यान रखें कि इस कर्मयोगके लिये अनेक

(४) उन्नतिका क्रम

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

अन्वयः- योगयुक्तः विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जो योगका आचरण करता है जिसका हृदय शुद्ध है जिसने अपने आपको जीत लिया है जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है और जिसकी आत्मा सब भूतोंकी आत्मा बना है वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो कर्मयोगमें दृढस्थित है जिसने अपना शरीर मन और इंद्रियां स्वाधीन कर ली हैं, और सब प्राणियोंकी आत्माही जिसकी आत्मा हुई है वह कर्म करनेपरभी उन कर्मोंके पुण्यपापसे दूर रहता है अर्थात् निष्कलंक होता है ॥ ७ ॥

मनुष्य अधिकारी है वह कर्मयोग किसीको दूर नहीं करता स्वार्थीसे स्वार्थी मनुष्यभी इस मार्गसे उन्नतिके पथपर चलकर उन्नत हो जाता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। (कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गी ५।२)

कर्मयोगी किस प्रकार अपनी उन्नति करता है। इसकी उन्नतिका क्रम कैसा है यह अब बताते हैं—

(७) कौन मनुष्य कर्मके दोषसे दूर होते हैं और कौन कर्मके दोषसे दोषी होते हैं इसका विचार इस श्लोकमें किया है। इस श्लोकमें कर्मयोगीकी उन्नतिका क्रम भी बताया है। इसमें सबसे प्रथम कर्मयोगमें तत्पर होना चाहिये ऐसा कहा है—

योग युक्त

योग-युक्त शब्दसे यही बात कही है। योगयुक्तका अर्थ कर्मयोगतत्पर है। योगयुक्तका अर्थ योगकी रीतिसे अपने दैनिक कर्म करनेवाला है। वह जो कुछ कर्म करे कर्मयोगकी रीतिसेही करता है। उसका चलना बोलना बैठना उठना सब कुछ कर्मयोगके अनुकूल होता है अर्थात् कर्मयोगाचरण जिसका स्वभावधर्मसा बना है वह मनुष्य योगयुक्त, कर्मयोगी अथवा योगी है। कर्मयोगसे अपनी उन्नति सिद्ध करनेवालेको उचित है कि वह इस प्रकार अपने आपको कर्मयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगमें दृढस्थित करे अपना जीवन योगमय करे अपना चलनाफिरना रहना सहना आदि योगमय करे। योगका अर्थ समता और कर्मकुशलता है। (गी २।४८, ५०) अपने द्वारा जो कुछ कर्म हो वह सब योगही बने इस तरह जो कर्मयोगी अपना सब व्यवहार योगमय करता है वह मानो दिनरात योगाचरणही करता है उससे अहिंसाकी तोभी वह योग होगा और हिंसा की तोभी वह योगही होगा। जो उससे होगा वह सब योगही होगा। इस तरह कर्मयोगमय जीवन व्यतीत करनेवालेको क्रमसे शुद्धि होती है।

विशुद्ध आत्मा

अपना जीवन उक्त प्रकार योगमय करनेसे वह शुद्ध होने लगता है। अपना जीवन योगमय करना बड़ा कठिन कर्म है। यह सहज साध्य नहीं है तथापि मनुष्यको यह कार्य सिद्ध करनेके लिये तत्परतासे यत्नवान् होना चाहिये। यह प्रयत्न करनेपर वह योगमयता अपना स्वभाव बन जाती है। जो आचरण किया जाय उसमें समता है या नहीं इस का विचार करनेसे अपने आपको पता लग सकता है कि वह आचरण योगयुक्त हुआ या नहीं। ऐसी विचारसे अपने आचरणकी परीक्षा करनेसे कुछ समयके पश्चात् अपना आचरण योगानुकूल होने लगता है। और अपनी शुद्धि होने लगती है।

इस आचरणमें अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह शौच संतोष तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान प्रधानता रहती है। अपने मन आदि इंद्रियोंसे अहिंसादि सात्विक कर्मही करने चाहिये और हिंसा असत्य चोरी, और अपने पास वस्तुसंग्रह करना अपवित्रता असंतोष श्रमको सहन न होना अध्ययन न करना और ईश्वरसे विमुख होना आदिकी ओर नहीं जाना चाहिये। क्योंकि आचरणपर यही पाद है। इस पाठका अभ्यास करते रहनेसे अपना अपवित्रपन दूर होता है और पवित्रताकी ओर जाता है। इस तरह क्रमपूर्वक जितना अभ्यास होगा उतनी पवित्रता उसकी होती जायगी। कर्मयोगसे इस तरह पवित्रता होती

है।

विशुद्धात्मा शब्दमें यद्यपि विशुद्ध हुई आत्मा ये शब्द हैं तथापि यहांका आत्मा शब्द शरीर इंद्रिय, मन बुद्धि, आत्मा का वाचक है। यहांका शब्द अपना वाचक है। अर्थात् कर्मयोगसे जो पवित्रता होती है वह शरीरकी इंद्रियोंकी मनकी बुद्धिकी और आत्माकी होती है। मानो वह अन्तर्बाह्य शुद्ध होता है। उसका शरीर निर्दोष नीरोग और निर्मल होता है उसकी इंद्रियां सुसंस्कारसंपन्न होती हैं और कुपथमें नहीं भटकतीं उसका मन शुभसंस्कारयुक्त होता है उसकी बुद्धि निर्मल होती है और आत्मा सदा प्रसन्न होती है। कर्मयोगीका स्थान इस समय इस द्वितीय भूमिकापर होता है। इस शुद्धता और निर्मलतासे वह अपनी इंद्रियोंको जीतनेमें समर्थ होता है।

विजितात्मा, जितेन्द्रिय

कर्मयोगसे पवित्रता और पवित्रतासे इंद्रियनिग्रह होता है। यह उन्नतिका क्रम है। कर्मयोगसे पवित्रता और निर्दोषता किस तरह सिद्ध होती है इसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। अब उस पवित्रतासे इंद्रिय-निग्रह किस तरह सिद्ध होता है इसका विचार करना है। पवित्रता साध्य करनेका ध्येय अपने सन्मुख रखनेमात्रसेही सब प्रकारकी अपवित्रतासे दूर रहनेकी ओर रुचि होती है। सत्यका अवलंबन करनेकी प्रतिज्ञा करनेसेही सब प्रकारके असत्यसे दूर रहना आवश्यक हो जाता है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेका निश्चय करनेसे संपूर्ण प्रकारकी हिंसासे दूर रहना पडता है। इस प्रकार सब तरहके असद्व्यवहारोंसे दूर रहनेसे इंद्रियोंको संयमकी शिक्षा मिलती है।

सामान्य मनुष्यके सन्मुख सत् और असत् ये दोनों प्रकारके व्यवहार उपस्थित होते हैं और वह किसी समय सद्व्यवहारमें आता है और किसी समय असद्व्यवहारमें फंसता है। यह स्थिति असंयमकी है। असंयमका अर्थ विषयोंसे पराभव होना है। जो विषय सामने आता है वह इसको पराभूत करता है और इसको अपने आधीन कर लेता है और यह मनुष्य पराधीनतासे विषयमें फिसल जाता है। तथा प्रसंगविशेषमें यह अनर्थ भी कर लेता है। काम क्रोध लोभ, मोह मद और मत्सर ये इसको पराभूत करते हैं और इसको बांधकर जैसा चाहे वैसा इससे आचरण कराते हैं। यह पूर्ण पराधीन अवस्था है। इससे उन्नत होनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह सबसे प्रथम असद्व्यवहारसे दूर रहे और सद्व्यवहारमें ही दृढचित्त हो। यही आत्मशुद्धिका मार्ग है और इसीसे इंद्रियजय मनोजय और आत्मजयके पाठ मिलते हैं। सद्व्यवहारमें मग्न रहनेसे निश्चयसेही असद्व्यवहारके झगडेसे मनुष्य बच सकता है, और उतना उसका संयम होता है और उतनीही उसकी विजय होती है। इस रीतिसे शनैः शनैः वह आत्मसंयममें अपना कदम आगे बढाता हुआ विजितात्मा और जितेंद्रिय बनता जाता है। इस दृष्टिसे पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि आत्मशुद्धि करनेके साथसे ही आत्मजय होता है। शुद्ध और अशुद्ध व्यवहारमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, परंतु जो आत्मशुद्धिकी इच्छासे शुद्ध व्यवहारमें अपने आपको रखता है और अशुद्ध व्यवहारसे बचता है उसने मानो सैंकडों पचास प्रलोभनोंसे अपना बचाव निःसन्देह किया है। और असद्व्यवहारमें प्रलोभनोंकी संभावना अधिक होनेसे जो मनुष्य केवल सद्व्यवहारमें ही अपने आपको रखता है वह प्रायः सभी प्रलोभनोंसे दूर रहता है। यही आत्मजय और इंद्रियजय है।

इस तरह योगतत्पर होनेसे आत्मशुद्धि आत्मजय और इंद्रियजय क्रमशः साध्य होते हैं। विजितात्मा और जितेंद्रिय का अर्थ शरीर इंद्रिय मन बुद्धि और आत्माको जीतना है। साधारण स्थितिमें इंद्रियांही हुकूमत करती हैं, शासन करती हैं अर्थात् इंद्रियां जो चाहती हैं वही करना पडता है अर्थात् यहां शासन इंद्रियोंका होता है *न कि आत्माका। जिस समय आत्माकी विजय होती है* उस समय शरीर इंद्रियां मन और बुद्धि आत्माके आधीन रहती हैं और स्वेच्छाचार नहीं करतीं। यह आत्माका राज्य है, इसीको आध्यात्मिक स्वराज्य किंवा वैदिक भाषामें बोलना हो तो स्वाराज्य कहते हैं।

सर्वभूतात्मभूतात्मा

साधक मार्गमें शुभकर्ममें रत होता है उस कर्मसे वह निर्दोष बनता है इंद्रियजय तथा आत्मजय करके संयमी होता है और अन्तमें 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है। सर्व

भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा बनी है उसको 'सर्व-भूत-आत्म भूत-आत्मा' कहते हैं। यह अन्तिम उन्नतिकी अवस्था है। सर्वसाधारण लोगोंका अनुभव प्रारंभावस्थामें मेरी आत्मा भिन्न है और दूसरेकी आत्मा भिन्न है तथा प्रत्येककी आत्मा भिन्न है ऐसा होता है। यह भिन्नभावकी अवस्था है यही सब दुःखोंका कारण है। इस अवस्थामें मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरोंके गले घोटता है। दूसरोंका नाश करके अपने सुख बढानेके यत्नमें तत्पर रहता है। इससे उसको अनंत दुःख भोगने पडते हैं। दुःखोंके अनुभवके पश्चात् यह स्त्रीपर प्रेम करने लगता है यहांतक इसके प्रेमकी व्याप्ति फैली होती है यहांतक उसकी आत्मा फैलती है। पहिली वैयक्तिक आत्माकी अवस्था छोडकर यह कुटुंबात्मा बनता है और अपने स्त्रीपुत्रादिकोंपर अपनी आत्मासमान प्रेम करता है उनके सुखसे सुखी और उनके दुःखोंसे दुःखी होता है। इस कुटुंबात्माकी अवस्थाका कुछ समय यह अनुभव करता है इस समय इसका प्रेम अपने कुटुंबपर रहता है। अपने कुटुंबके सुखके लिये दूसरे कुटुंबोंका घातपात करनेमें इस समय यह प्रवृत्त होता है, इससे कुटुंबोंमें झगडे होते हैं। इस अवस्थासे उन्नत होकर यह 'जात्यात्मा' बनता है। अपनी जातिपर प्रेम करने लगता है इस समय इसकी आत्मा जातितक फैलती है। इस अवस्थामें यह जातिके हितके लिये अपने और अपने कुटुंबकी आहुति देनेमें धन्यता मानता है। जातिके लिये आत्मसर्वस्व समर्पण करता है परंतु दूसरी जातिसे युद्ध करता है और अपनी जातिके लिये दूसरी जातिका नाश करनेमें प्रवृत्त होता है। इससे भी जगत्‌में दुःख बढनेका अनुभव होता है।

इसके अनंतर यह राष्ट्रात्मा बनता है। अपने राष्ट्रके हितके लिये अनुपम स्वार्थत्याग करता है परंतु दूसरे राष्ट्रोंके साथ द्वेष करता है युद्ध करता है दूसरे राष्ट्रवासियोंका घातपात करता है उनको लूटता है इस कारण जगत्‌में द्वेष बढता जाता है और इस द्वेषसे सबको अत्यंत दुःख भोगना पडता है। इसके पश्चात् मानव मनुष्यकी आत्मा बनता है इसकी आत्मा मानवमात्रतक फैलती है। इस समय यह जाति पाति राष्ट्र आदि बन्धनसे मुक्त होकर बडे विस्तृत कार्यक्षेत्रका अनुभव करता है। संपूर्ण मानवोंको अपने परिवारमें मानता है और भेद मिटनेका कारण बडा सुख अनुभव करता है। तथापि इस समय यह मानवेतर प्राणियोंको अपना भोग्य समझता है और मानवोंका भोक्ता समझता है। इस दोषके कारण फिरसे उसको दुःखोंका अनुभव होता है। इन दुःखोंसे तडपता हुआ जब जागता है तब उसको प्रतीत होता है कि अपने आत्माकी व्याप्ति भूतमात्रतक बढानी चाहिए तभी शांतिकी संभावना है।

इस ज्ञानके अनुसार यह अपने प्रेमका फैलाव भूतमात्र तक करता है। यह संन्यास लेकर अपने प्रेमका विस्तार सब भूतोंतक करता है। जितना उसका प्रेम विस्तृत होता है उतनीही उसकी आत्मा फैलती है क्योंकि प्रेमही आत्माका गुण है। इस समय यह 'मैं किसीका हित नहीं करूंगा' ऐसा संकल्प करके सब भूतमात्रके हितके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
(गी. ५।२५)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गी. १२।४)

'जिनके पाप नष्ट हुए हैं जिनका द्वैतभाव नष्ट हुआ है जिन्होंने अपने आत्माका संयम किया है, जिनके इंद्रियगण वशमें हुए हैं, जिनकी सर्वत्र समबुद्धि हो चुकी है, जो सब भूतोंके हित करनेके कार्यमें रमते हैं, वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं।' यहां हमें ईश्वरकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है और ईश्वरसे दूर होनेका मार्ग कौनसा है इसका ज्ञान होता है। देखिये—

ईश्वरप्राप्तिका मार्ग	ईश्वरसे विमुखताका मार्ग
पापनाश	पाप
द्वैतनाश	द्वन्द्व युद्ध
आत्मसंयम	असंयम
इंद्रियसंयम	इंद्रिय स्वैराचार
समबुद्धि	विषम बुद्धि
सर्वभूतहितरति	अपने हितमें रति
ईशप्राप्ति	असुरत्वप्राप्ति

(५) तत्वज्ञानी योगी

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

अन्वयः— युक्तः तत्त्ववित् पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन्, अपि इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् अहं किंचित् न एव करोमि इति मन्येत ॥ ८-९ ॥

योगयुक्त तत्त्वज्ञानी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, पलक खोलते और बंद करते समय "केवल इन्द्रियां ही अपने विषयमें स्वयं वर्तती हैं, और मैं कुछ भी नहीं करता" ऐसा अनुभव करे ॥ ८-९ ॥

आत्मशक्ति　　　　अनन्तशक्ति
मुक्ति स्वातंत्र्य　　　　केवल परब्रह्म

पाठक यहां विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि सर्वभूतहितमें रममाण होनेसे पापनाशादि सभी गुण प्राप्त होते ही हैं। प्रस्तुतके श्लोकमें योगयुक्त विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय और सर्वभूतात्मभूतात्मा ये शब्द मुख्य हैं। इस श्लोकमाही भाव पूर्वोक्त दो श्लोकोंमें है देखिये—

क्षीणकल्मषाः (५।२५)	विशुद्धात्मा (५।७)
यतात्मा	विजितात्मा "
संनियम्येन्द्रियग्रामः	जितेन्द्रियः "
सर्वभूतहिते रताः (५।२५,१२।४)	सर्वभूतात्मभूतात्मा
सर्वत्र समबुद्धिः (१२।४)	योगयुक्तः "

पाठक इन शब्दोंकी परस्पर तुलना करेंगे तो उनको उक्त उपदेशोंमें कितनी समानता है इसका ज्ञान हो सकता है। अस्तु। सर्व भूतोंके हितमें रमनेकी अवस्था उच्चतम अवस्था है। व्यक्तिहित कुटुंबहित, जातिहित राष्ट्रहित मानवसमाजहित और सर्वभूतहित इस क्रमसे मनुष्यकी उच्चावस्था होती है और पहिले जो अपने हितके लिये संपूर्ण जगत्की स्वाहा करना चाहता था वही अन्तमें सबके हितके लिये अपना सर्वस्व समर्पण करता है वही सर्वभूतहितमें रत होता है और वही सर्वभूतात्मभूतात्मा बनता है। इस समय उसको कोई दूसरा दीखताही नहीं। सबकी भलाईमें अपनी भलाई होती है इस बातका अनुभव वह इस समय करता है। सब भूतोंका हित करनेसेही अपना सच्चा हित होता है यह बात इस समय वह स्वानुभवसे जानता है। संपूर्ण जगत्में एकही आत्मा सर्वव्यापक है और वही मैं हूं, मुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। यह भाव सर्वभूतात्मभूतात्मा की अवस्थामें अनुभवमें आता है। इस समय न कोई मेरा है न कोई पराया है और न कोई अपनेसे भिन्न है यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस समय जो वह सब भूतोंके हितमें रमता है वह मानो अपनेही हितमें रमता है क्योंकि अपनेसे भिन्न कोई पदार्थ का अस्तित्वही उसे प्रतीत नहीं होता।

एकात्मप्रत्ययसारं शिवं ॥ (मांडूक्य उ०)

एक आत्माका प्रत्यय इस समय उसको आता है। इस समय चाहे आप ऐसाभी मान सकते हैं कि इसकी आत्मा सब भूतोंमें व्यापती है अथवा यह भी मान सकते हैं कि (सर्व भूतात्मभूतात्मा) सर्व भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा (सर्वात्मभावसे) बनी है। सबकी आत्मा (सर्वगतः। गी २।२४) एकही होनेसे उक्त दोनों कथनोंका भाव एकही होता है।

पूर्वोक्त स्थानमें मनुष्यकी उन्नतिका क्रम स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। साधक इस क्रमका अवश्य मनन करे। कर्मयोगसे आत्मशुद्धि होकर मनुष्य कैसा उन्नत होता है, अन्तमें सर्वात्मभावको कैसा प्राप्त होता है, इसका यहांका वर्णन बडाही मननीय है। इस तरह सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ साधक अब साधक नहीं रहता परंतु सिद्ध बनता है और—

कुर्वन्नपि न लिप्यते। (गी ५।७)

कर्म करनेपरभी वह कर्मके गुणदोषोंसे लिप्त नहीं होता है। सदा एकसा निर्दोष निष्कलंक अथवा निष्पाप रहता है। कर्मके बंधनसे छूटता है मुक्त होता है अथवा महात्मा बनता है। इस समय इसकी मनोभावना कैसी होती है इसका वर्णन अब देखिये—

भावार्थ— साधक सबसे पहिले संपूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे और पश्चात् अपना जीवन योगमय बनावे इससे धीरे धीरे उसकी कर्मविषयक अहंकारबुद्धि कम होती जायगी और अन्तमें ऐसी एक उच्च अवस्था उसके अनुभवमें आ जायगी कि जिसमें इन्द्रियोंके सब व्यवहार बिना इसकी अहंकारयुक्त प्रेरणाके स्वयं हो रहे हैं और उनका कर्तृत्व इसके साथ थोडासाभी नहीं है ऐसा अनुभव उसको आ जायगा ॥ ८-९ ॥

तत्त्ववित्

(८ ९) इन दो श्लोकोंका मिलकर एक वाक्य है। इसमें कहा है कि साधक पहिले तत्त्ववित् योगी बने। तत्त्ववित् का अर्थ तत्त्वज्ञानी तत्त्वोंके गुणधर्म जानने वाला। तत्त्व कुल पच्चीस हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषः इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ (सांख्यदर्शन १।६१)

' सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्थाका नाम प्रकृति है। इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है महत्तत्त्वसे अहंकार निर्माण होता है अहंकारसे पांच तन्मात्रा पांच कर्मेंद्रिय और पांच ज्ञानेंद्रिय तथा मन बनते हैं पञ्चतन्मात्राओंसे पांच स्थूल भूत बनते हैं और पच्चीसवाँ आत्मा है इसका आशय यह है—

सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंकी सम अवस्था अर्थात् किसी एक गुणकी न्यूनाधिकता न होना प्रकृतिका स्वरूप है। इसी साम्य अवस्थाको प्रकृति प्रधान अव्यक्त कारण मूल प्रकृति आदि नाम प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्वका अर्थ है सब जगत्में व्यापनेवाला बुद्धितत्त्व। जागतिक बुद्धि ऐसा भी इसका नाम हो सकता है। मूल प्रकृतिसे पहिला कार्य यह बना है।

इस महत्तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति हुई। अहंकारका अर्थ मैंपन है। मैं भिन्न हूं और दूसरा भिन्न है, इस प्रतीतिका नाम अहंकार है। इसी अहंकारके कारण इस जगत्के बीचमें मर्यादा भेदभाव द्वैतभाव आदि उत्पन्न होते हैं।

इस अहंकारसे शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएं हुई। तन्मात्राका अर्थ मूल सूक्ष्म तत्त्व जिनसे इन पांच गुणोंका बोध होता है वे मूल शुद्ध तत्त्व। इनसे पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय बने हैं। श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं; और वाक् हाथ पांव, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। ये दस इन्द्रिय पूर्वोक्त तन्मात्राओंसे क्रमपूर्वक बने हैं। इन दस इंद्रियोंको बाह्य इंद्रिय कहते हैं। दूसरा आभ्यंतर इंद्रिय मन है यहभी अहंकारसेही बना है। इसमें अहंकार होनेसे प्रत्येक इंद्रियका गुण कर्म और स्वभाव भिन्न भिन्न होता है। गुण कर्म-स्वभावोंकी अर्थात् धर्मकर्मकी भिन्नताही अहंकारका लक्षण है। पांच तन्मात्रा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और मन मिलकर सोलह पदार्थ अहंकारसे बने हैं।

पञ्च तन्मात्राओंसे पांच स्थूल भूत बने हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश ये पांच स्थूल भूत हैं।

मूल प्रकृति महत्तत्त्व, अहंकार पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेंद्रिय मन पांच महाभूत और आत्मा मिलकर पच्चीस तत्त्व हैं इनका यथावत् ज्ञान होनेका नाम तत्त्वज्ञान है। जो इनका यथावत् ज्ञान प्राप्त करता है, उसीको तत्त्व-वित् कहते हैं। जो कुछ पदार्थमात्र भिन्न है, वह नहीं है। इस पक्षमें प्रायः आजकलके सभी तत्त्व आते हैं। आजकलके विज्ञानके जितने भी तत्त्व हैं, वे सबका समावेश इस पक्षमें होता है और आत्माका विशेषतया इसमें परिगणन करके कहा है जिसकी ओर आजकलकी पदार्थविद्याका ध्यान कम है। यही प्राचीन और अर्वाचीन तत्त्वविधिमें भेद है। अस्तु। इससे ज्ञात होगा कि योगमें जिसको तत्त्ववित् कहा है वह ज्ञानविज्ञानसे संपन्न है, अर्थात् वह भौतिक विज्ञानशास्त्र और आत्मिक ज्ञानको जानने वाला है। यह अधिकार कोई साधारण नहीं है। अत्यन्त यत्नसे आत्मसात् करनेसेही यह अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस तरह जिसने शब्दोंके द्वारा तथा मननके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् जिसने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया परंतु शब्दों द्वारा तत्त्वको जाना है वह (तत्त्ववित् युक्त) तत्त्वज्ञानी योगयुक्त होवे अर्थात् शब्दोंद्वारा प्राप्त किये ज्ञानका अनुभव किंवा साक्षात्कार करनेके लिये योगका अभ्यास करे

योगी

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० द० १।२)

योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध है । गीतामें योगके दो अर्थ दिये हैं—

समत्वं योग उच्यते ॥ (गी० २।४८)
योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (गी० २।५०)

सिद्धि और असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयमें मनकी सम भावनाका और कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है। ' अर्थात् योगी योगयुक्त किंवा युक्त बननेका तात्पर्य यही है कि अपनी चित्तवृत्तियोंका निरोध करना द्वन्द्वोंका परिणाम अपने ऊपर न होने देना और कर्मकी कुशलता संपादन करना। इसमें समत्व का अर्थ विशेष रीतिसे ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यका मन सदा विषम रहता है। स्वकीय और परकीय भावकी विषमता सुख-दुःख हानि लाभ जय-पराजय, उच्च नीच सिद्धि असिद्धि आदि अनेक प्रकारकी विषमता इस जगत्में है । इस विषमताका परिणाम मनपर न हो और किसी भी अवस्थामें मनकी सम वृत्ति न बदले इसका नाम योग साधन योगाभ्यास किंवा अभ्यास है। यही समत्वका अभ्यास है। चित्त-वृत्तिका निरोध करके यही समत्व प्राप्त करना चाहिये। जिसका मन इस प्रकारके समभावसे सदा युक्त होता है और कितनी भी विपरीत परिस्थिति उत्पन्न होनेपर उसमें थोडी भी चंचलता उत्पन्न नहीं होती उसको योग सिद्ध हुआ ऐसा मान सकते हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि मनकी चंचलता अनुकूल परिस्थितिसे जैसी होती है वैसी ही प्रतिकूल परिस्थितिसे भी होती है। धन प्राप्त होनेपर मनुष्य उन्मत्त होता है और निर्धनता आनेसे वह खिन्न होता है। परन्तु जिसका मन सम हुआ है जिसने समत्व योगका अभ्यास उत्तम रीतिसे किया है और जिसको समत्वकी सिद्धि हो चुकी है उसका मन किसी भी अवस्थामें चंचल नहीं होता । कठिनसे कठिन प्रसंगमें भी उसकी सदानंद-वृत्तिमें न्यूनता नहीं होती। जिसको यह स्थिति पूर्णतया प्राप्त हुई है उसकोही 'योगी' कह सकते हैं और जिसको पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है और जिसने यह योग भी साथ साथ सिद्ध किया है उसको तत्त्ववित् योगयुक्त कह सकते हैं।

तत्त्ववित् योगी

ऐसा तत्त्वज्ञानी योगी कैसा व्यवहार करता है यह बात इन दो श्लोकोंमें कही है। " चलने बोलने सूंघने आदि व्यवहार करते समय ये कार्य मैं नहीं करता, परंतु इंद्रियोंसे स्वयं ये कर्म हो रहे हैं, ऐसा अनुभव उस तत्त्वज्ञानी योगीको सदा होता है। प्रथमतः यह बात समझना जरासा कठिन है। कोई व्यभिचारी अत्याचारी और दुराचारीभी ऐसे कहेगा कि मैं तो व्यभिचार, अत्याचार या दुराचार नहीं करता मेरे इंद्रियही ये व्यवहार करते हैं। परंतु यह उसका कथन सिद्धान्त असत्य है । क्योंकि तत्त्ववित् योगी होनेपर उससे ऐसे हीन आचार होना सर्वथा असंभव है । तत्त्ववित् योगीही कह सकता है कि मेरे इंद्रियों द्वारा जो कुछ हो रहा है उससे मेरा संबंध नहीं वह मैं नहीं करता परंतु उसका कर्ता मुझसे भिन्न है। इसका अनुभव लेनेकी रीति निम्न लिखित स्थानपर दी है उसका अनुभव पाठक स्वयं ले सकते हैं।

अकर्तृत्वका अनुभव

श्रीमद्भगवद्गीतामें अकर्तृत्वका अनुभव कई श्लोकोंमें कहा है। पाठक भी यह अनुभव थोडेसे अभ्याससे ले सकते हैं। उक्त श्लोकोंमें जो कर्म लिखे हैं वे ये हैं—

पश्यन्	(देखना)	नेत्र का कार्य
शृण्वन्	(सुनना)	कान
स्पृशन्	(स्पर्श करना)	त्वचाका
जिघ्रन्	(सूंघना)	नाक
अश्नन्	(खाना)	मुख
गच्छन्	(जाना)	पांवों
स्वपन्	(सोना)	मन
श्वसन्	(श्वास लेना)	नाक
प्रलपन्	(बोलना)	मुख
विसृजन्	(छोडना)	गुदा
गृह्णन्	(लेना)	हाथ
उन्मिषन्	(पलक खोलना)	प्राण
निमिषन्	(पलक बंद करना)	

ये तेरह कर्म यहां कहे हैं। परंतु पाठक अनुभवके लिये अल्पाल्प काल भी विचारमें ले सकते हैं। प्रथम पलक खोलना और बंद करना (उन्मेष और निमेष) ये कार्य ला. प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि मैं नहीं करता ये स्वयं होरहे हैं। अर्थात् इस निमेष-उन्मेषका अनुभव मेरे काम नहीं है। इस का कर्ता कोई हो परंतु वह मैं नहीं हूं। इस विषयमें

अकर्तृत्वका अनुभव प्रत्येक मनुष्यको स्वयं है।

इस तरह गुदाका कार्य छोड़नेका है। यद्यपि शौच छोड़ने पर मनुष्यका थोड़ा स्वाधीन है जिस समय चाहे वह शौच जाता है जिस समय चाहे नहीं जाता तथापि अधिक वेग आनेपर यह शौचका कार्य भी करने न करनेका अधिकार मनुष्यके अधीन नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त केवल शौच करना ही विसर्जन का कार्य नहीं है। शरीरके संपूर्ण रोमरंध्रोंसे जो मलत्याग पसीनेका त्याग आंख नाक कान आदिसे मलत्याग होता है, वह भी विसर्जनका ही कार्य है और वह मनुष्यके आधीन बिलकुल नहीं है। शरीरमें शौचका कार्य केवल गुदासेही होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है। शरीरके लाखों रोमरंध्रोंसे शौचका कार्य हो रहा है और वह मनुष्यके अधीन बिलकुल नहीं है। इसका कर्तृत्व मनुष्य अपने पास है ऐसा किसी तरह नहीं मान सकता।

इसके पश्चात् (स्वपन्) सोना देखिये। सोनेका कार्य भी मनुष्य अपने कर्तृत्वसे कर सकता है ऐसी बात नहीं है। मैं अब निद्राको लाता हूं ऐसा कहकर कोई निद्रा लानेके लिये प्रयत्न करे तो निद्रा आना बंद होता है। निद्रा लानेका उपाय इंद्रियों और मनको निष्क्रिय करनाही है। अर्थात् अपने कर्तृत्वका अभिमान छोड़नेसेही निद्रा आनेकी संभावना होती है। कर्तृत्वका अहंकार पूर्ण नष्ट हुआ मन स्थिर और शान्त हुआ कर्मप्रवृत्ति बंद हुई तो निद्रा आती है। इसलिये (स्वपन्) सोनेका कार्य अपने कर्तृत्वसे होता है ऐसा कहना असंभव है।

(श्वसन्) श्वास लेने और छोड़नेका कार्य भी मनुष्यके अधीन नहीं है। प्राणायाम करनेवाले योगी कुछ समय कुंभक करके श्वासको बंद रखते हैं तथापि वे भी सदाके लिये बंद नहीं रख सकते कुंभककी मर्यादा न्यूनाधिक कर सकते हैं। अतः श्वास लेने और छोड़नेका कार्य मनुष्यके कर्तृत्वसे बाहर है। योगी लोग दीर्घ कुंभक करते हैं, उस समय उनके शरीरके सभी रोमरंध्रोंसे श्वास लेने और छोड़नेका कार्य स्वयं होता है वह कार्य तो किसी भी मनुष्यके अधीन नहीं है। अर्थात् यह श्वसनका कर्तृत्व मनुष्यके अधीन है ऐसा मानना अयोग्य है। इसका नियमन किसी दूसरी शक्तिके अधीन है। इसका अनुभव भी साधक ले सकते हैं। किसी निर्जन ऐसे स्थानपर शरीरके साथ लेटकर अथवा किसी अन्य सुखसे बैठनेकी अवस्थामें रहकर साधक अपना शरीर ढीला छोड़ दें और स्वयं श्वासोच्छ्वास करना भी छोड़ दें। प्रयत्नसे श्वास भी न लें और न छोड़ें श्वास लेने-छोड़नेका कोई प्रयत्न न करें। शरीर-स्वभावसे जो श्वासोच्छ्वास होगा वही होने दें। थोड़े अभ्याससे यह बात साध्य हो सकती है और उस समय अनुभव आ सकता है कि अपने श्वास और उच्छ्वास होनेका संबंध थोड़ा भी अपने पास नहीं है और उसका संबंध किसी अन्य शक्तिके साथ है, जो अपने प्रयत्नके बिना ही इस शरीरसे श्वासोच्छ्वासकी क्रिया करा रही है। यह अभ्यास साध्य होनेसेही इस संबंधमें अपने अकर्तृत्व उत्तमतासे अनुभवमें आ सकता है।

यहांतक हमने देखा कि निमेष उन्मेष करना मल त्याग करना सोना और श्वास उच्छ्वास करना ये शरीरमें होनेवाले कर्म किसी स्वतन्त्र शक्तिसे हो रहे हैं, अर्थात् मनुष्यके इन कर्मोंके विषयमें अपने कर्तृत्वका अभिमान धारण करना अयोग्य है। मनुष्यके प्रयत्न न करनेपर भी ये कर्म शरीरमें स्वयं होते रहेंगे। फिर कौन इनका कर्ता है? जिसने किसी विशेष उद्देश्यके लिये यह शरीर निर्माण किया है वह इस शरीरसे ये कर्म कराता है। यदि शरीर निर्माण करनेमें उसका कोई विशेष उद्देश है तो निःसंदेह उसको स्वस्थ रखनेके लिये अत्यंत आवश्यक ये कर्म करना भी उसीके आवश्यक है। अपना शरीर निर्माण करनेका क्या हेतु है इसका पता साधारण मनुष्यको नहीं होता। परंतु यह सब संसार किसी निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बनाया है अतः इस संसारके अन्दर जो जो सब संसारके अवयवरूप अनेक शरीर रचे गये हैं, वे भी उसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही होना संभव है। यह उद्देश हम नहीं जानते परंतु उसका रचना करनेवाला अवश्य जानता होगा। क्योंकि निज उद्देश इस संसारकी रचना मानना अवश्य है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

"ईश्वर सब भूतोंके मनमें बैठा है और सबको अपनी अद्भुत शक्तिसे घुमा रहा है।" सब जगत्का भ्रमण वही कर रहा है। हमें पता नहीं है कि वह सब प्राणियोंको क्यों घुमा रहा है परंतु निःसंदेह वह जानता है। ऐसा मेरा

संसारका एक भाग है। संसारके साथ वह भी बनता बिगडता और घुमाया जाता है। और इससे जो पूर्वोक्त कर्म हो रहे हैं वे उसीकी शक्तिसे हो रहे हैं। ये कर्म न तो हम कर रहे हैं और नहीं करनेकी शक्ति हम रखते हैं। शरीर निर्माण करनेवालाही इसका उद्देश जानता है। यदि ऐसा है तो इस शरीरको उसीके आधीन करो। तुम अपना अभिमान बीचमें लाकर 'मैं यह करता हूं और यह करता हूं' ऐसा क्यों कहते हो? विचार करनेपर तुम्हें पता लगेगा कि यह शरीर तुम्हारे ममत्वके बिनाही चल रहा है और चलता रहेगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
(गी. १८।५९)

अहंकारसे यदि तू कहेगा कि मैं यह (युद्धरूप) कर्म न करूंगा, तो तेरा यह व्यवसाय मिथ्या होगा क्योंकि प्रकृति तुझसे यह कर्म करावेगी।' हमने ऊपर देखाही लिया है कि उक्त कर्म जो शरीरसे हो रहे हैं वे किसी दूसरी शक्तिकी नियंत्रणसे हो रहे हैं, उनके होनेमें मनुष्यका प्रयत्न नहीं है। इन कर्मोंके अतिरिक्त शरीरके अन्दर हृदय की धडक, रुधिरका प्रवाह आदि अनेक कर्म हैं जो उसी परमेश्वरकी शक्तिसे चल रहे हैं। मनुष्य चाहे या न चाहे वे कर्म होते ही रहेंगे। ईश्वरकी सार्वभौमिक शक्ति इन कर्मोंको कराती है अथवा यों कहिये कि इस शरीरनिर्माणमें ईश्वर का कोई विशेष उद्देश है, वह सफल होनेतक यह शरीर बनेगा और इससे ये कार्य होतेही रहेंगे। इसलिये उत्तम यही है कि जिसने यह शरीर निर्माण किया उसीके आधीन इस शरीरको किया जावे उसीके कार्यके लिये यह शरीर समर्पित होवे और अपने अहंकारको बीचमें न लाया जावे। इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।(५।८)

"तत्त्वज्ञानी योगी मैं कुछ भी कर्म नहीं करता ऐसा माने।" मैं अपने अहंकारसे कुछ नहीं करता हूं इस शरीरको उसके निर्माता ईश्वरके आधीन करता हूं इसका कर्ता वही है जिस उद्देश्यसे उसने इसको निर्माण किया है वह उसका उद्देश इस शरीरसे पूर्ण हो जाय उसकी शक्तिकी अपेक्षा मेरी अहंकारकी शक्ति कम है, मैंने न भी इच्छा की तो भी वह कार्य करावेगाही यदि ऐसा है तो मैं बीचमें अपने अहंकारको लाकर सार्वभौमिक कार्यका विरोध क्यों करूं?

इस प्रकारके विचारसे उच्च सार्वभौमिक उद्देशकी सिद्धिके लिये आत्मसमर्पण करनेका भाव अपने अन्तःकरणमें है, यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर होगी।

इसीके समान देखना सुनना स्पर्श करना सूंघना खाना, जाना बोलना और लेना ये कर्म भी पूर्ण पुरुषके शरीरसे वैसेही ईशप्रेरणासे होते रहते हैं, कि जैसे अपने श्वास उच्छ्वास होते हैं। वह अपने स्वार्थसाधनके लिये नहीं देखता, परंतु सार्वभौमिक हितके लिये देखता है, इसी तरह अन्यान्य व्यवहार भी वह सार्वभौमिक प्रेरणासे करता है।

इस बातकी कल्पना ठीक ठीक होनेके लिये एक उदाहरण हम देते हैं। एक सैनिक है वह अकेला शत्रुके साथ युद्ध कर रहा है, अपनी इच्छानुसार शत्रुपर हमले करता है। दूसरा एक सैनिक है वह सेनापतिकी आज्ञानुसार सेनानायकके साथ चलता है स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछ भी नहीं करता परंतु जो कुछ करता है वह सेनापति जैसा कराता है वैसा करता रहता है। इन दो सैनिकोंमें बडी शक्ति किसीकी है? जो स्वयं युद्ध करता है उसकी शक्ति कम है और जो सेनानायकके साथ रहकर सेनापतिकी प्रेरणासे व्यवहार करता है उसकी शक्ति संघके साथ रहनेके कारण कई गुना बढती है।

अहंकारसे अकेले रहकर कार्य करनेसे शक्तिकी हानि कैसी होती है और अहंकार छोडकर संघरूप बनकर सब पतिकी प्रेरणासे कार्य करनेपर कैसी शक्ति बढती है इसका पता यहां लग सकता है। पहिला मनुष्य कर्तृत्वका अहंकार धारण करता है इसलिये अकेला होनेके कारण शक्तिसे क्षीण है और दूसरा अहंकार दूर करनेके कारण संघरूप बननेसे अपनी शक्ति बढाता है। यही बात 'अकर्म' सिद्धिमें है।

एक मनुष्य अहंकारवश होकर अपने आपको कर्ता मानता है और इनकर्मोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है और इस में बद्ध होता है। दूसरा अहंकार छोडकर मैं कुछ नहीं करता परंतु इस शरीरके इंद्रिय विषयोंमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं उनको

(५) निर्दोष कर्म

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

अन्वयः- यः संगं त्यक्त्वा कर्माणि ब्रह्मणि आधाय करोति सः पद्मपत्रं अम्भसा इव पापेन न लिप्यते ॥ १ ॥

जो फलासक्तिको छोडकर कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके करता है वह कमलपत्र पानीसे न लिप्त होनेके समान पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ १० ॥

भावार्थ— कर्मका फल मुझे मिलना चाहिये मैं उसका भोग करूंगा यह फलके साथ संग करनेकी वृत्ति छोड दो, अपने सब कर्म ब्रह्ममें रख दो अर्थात् ब्रह्मके लिये अर्पण करो और फिर सब कर्म करो। इस तरह किये कर्म दोष लगाने वाले नहीं होते अर्थात् इनसे कर्ता दोषी नहीं होता है ॥ १ ॥

मैं प्रेरित नहीं करता हूं, जिसने यह शरीर बनाया उसकी प्रेरणा से यह सब हो रहा है ऐसा अनुभव करता है उसके शरीरमें उसका अहंकार कार्य नहीं करता उस समय परमेश्वरकी सार्वभौम प्रेरणासे उसके शरीरके व्यापार विविध सार्वभौम उद्देश पूर्ण करनेके लिये होते हैं। अतः मानो इसके शरीरसे ईश्वर ही कर्म करा रहा है, अतः इससे महान् महान् कर्म होते हैं। इसीको लोग पुण्यपुरुष महात्मा पुण्यात्मा आदि शब्द प्रयुक्त करते हैं। और ऐसे महापुरुषका प्रभाव बडा भारी होता है।

अपने इंद्रिय अपनी प्रेरणासे कार्य नहीं करते यह बात केवल शब्दोंसेही नहीं होनी चाहिये, परंतु सचमुच अपने अहंकारकी प्रेरणा शून्य होनी चाहिये। अपना अहंकार शून्य होनेसेही वहां परमेश्वरकी प्रेरणा शुरू होती है। जबतक अपना अहंकार रहेगा तबतक परमेश्वरकी शुद्ध प्रेरणा होना संभव नहीं है। शास्त्रोंमें अहंकारका नाश करो ऐसी जो आज्ञाएं हैं उसका हेतु क्या है यह बात इस विवरणसे स्पष्ट हो सकती है।

सचमुच अहंकार नष्ट होकर मैं कुछ भी नहीं करता (नैव किंचित् करोमि। ५।८) ऐसा कहनेका अर्थ मैंने व्यक्तिगत छोटा कार्य छोडकर मैं समूहगत विशाल कार्यमें समर्पित हुआ हूं ऐसा है। इससे गीतामें कहा अकर्मण्य अथवा अकर्मण्य कर्मका अभाव नहीं दर्शाता परंतु सार्वभौमिक महाकर्मकी संभावना बताता है। यही बात आगेके श्लोकमें दर्शाती है—

(१) निर्दोष कर्म करनेकी युक्ति इस श्लोकमें कही है। ये दो कर्मोंकी दो ही बातें हैं—

निर्दोष कर्म	सदोष कर्म
(१) संग त्यक्त्वा। (फलके साथ संग न करना)	(१) संग करना (फलका भोग करने की इच्छा करना)
(२) कर्माणि ब्रह्मणि आधाय। (कर्मोंको ब्रह्ममें रखना)	(२) कर्माणि स्वस्मिन् आधाय। (कर्मोंको अपनेमें रखना)

यहां सदोष कर्म कौनसा है और निर्दोष कर्म कौनसा है इसका स्पष्ट दर्शन होता है। जिस कर्मके फल कर्ता स्वयं अपने भोगके लिये उपभोगना चाहता है जिन कर्मोंका संबंध दूसरोंके साथ नहीं होने देता और जो कर्म केवल अपनी भोगलालसा पूर्ण करनेके लियेही होते हैं, वे कर्म दोष उत्पन्न करनेवाले केवल करनेवाले और कष्ट बढानेवाले होते हैं।

तथा जिन कर्मोंका फल कर्ता अपने भोगके लिये नहीं रखता प्रत्युत दूसरोंके लिये अर्पण करता है, जो कर्म परब्रह्मके लिये परमात्माकी तुष्टिके लिये समर्पित किये जाते हैं, उनका दोष कर्ताको नहीं लगता, उसके बंधन दूर होते हैं और उससे कष्ट नहीं होते।

बंध और मोक्षका इस तरह संग और असंग इनके साथ संबंध है। एक गृहमेंही इसका अनुभव कीजिये। यदि किसी गृहस्थीके घरमें एक मनुष्य भोग बढाने लगता है और अपने गृहमें निवास करनेवालोंको कुछ भी न देकर अकेला सबका भोग स्वयं करता है तो कुछ समयके बाद उसके उस स्वार्थके कारण उस कुटुंबमें विरुद्ध मनोवृत्ति बढकर झगडे शुरू होते हैं। और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है। इसके विरुद्ध यदि कोई गृहस्थी स्वयं कमाये हुए भोगोंको सब गृहनिवासियोंमें बांटता है तो उस घरमें

व लोग आनंदमें रहते हैं और उस कुटुंबका यश बढाते हैं। यही बात ग्रामके विषयमें और राष्ट्रके विषयमें सत्य है। राष्ट्रमें उत्पन्न होनेवाले भोग राष्ट्रनिवासियोंको विना प्रति बंधके मिलने चाहिये। परंतु राष्ट्रमें कई लोग स्वार्थी होते हैं वे भोगसाधनोंका अपने पास संग्रह बढाते हैं और उन्होंने अन्यायसे दूसरोंको भोगोंसे वंचित रखते हैं। यहां उपस्थित विषमविभाग होता है और यही सबके दुःखका कारण है। सबका भोग मैं ही करूंगा और मैं इस सबको अपने लिये रखूंगा दूसरोंको नहीं दूंगा यह प्रवृत्ति दोष मय है। जहां जहां दोष उत्पन्न हुए हैं वहां यहां यही प्रवृत्ति दोषोंके मूलमें रही है। अतः घरकी ग्रामकी अथवा राष्ट्रकी सुव्यवस्थाकी ऐसी रचना करनी चाहिये कि जिससे कोई मनुष्य वंचित न रहे और एकके पासही उसका अमर्यादित संग्रह न होवे।

इस कार्यके लिये (१) स्वत्वत्याग और (२) ब्रह्मार्पण, ये दो उपाय यहां श्रीमद्भगवद्गीताने सूचित किये हैं। प्रत्येक मनुष्य आसक्ति छोडे और अपने कर्म ब्रह्मके लिये अर्पण करे।

कर्मोंको ब्रह्मार्पण करनेका अर्थ क्या है ? ब्रह्मका अर्थ बडा, महान्, भूमा सर्वव्यापक सत्ता है इसके विरुद्ध अल्प है।

ब्रह्म	अल्प
भूमा	थोडा
समष्टि	व्यष्टि, व्यक्ति
संपूर्णता	अपूर्णता
महत्त्व	क्षुद्रत्व
व्यापक भाव	संकुचित भाव
सबके लिये समर्पण	एकके लिये संग्रह
निर्दोषता	सदोषता

मनुष्य जब एक व्यक्तिके लिये अपनेके लिये अपने कर्म करता है तब वह दोषी होता है, परंतु वही जब सबके हितके लिये अपने कर्म करता है तब वही निर्दोष होता है। 'ब्रह्म यही सब है। ब्रह्मार्पण करनेका तात्पर्य सबकी भलाईके लिये समर्पण करना है। यहां निर्दोष की व्याख्या और स्पष्ट होती है। व्यक्तिके हितके लिये सबके हितकी उपेक्षा करना दोषकारक है और समष्टिके हितके लिये व्यक्तिका समर्पण होना निर्दोषत्वका हेतु है। अर्थात् ब्रह्मण्याधाय कर्माणि । (गी० ५।१०) का अर्थ संपूर्णके लिये अपने कर्मोंके फलका समर्पण करना है। कर्म ब्रह्मार्पण करना, परमात्माकी प्रीतिके लिये कर्म करना ईश्वरकी संतुष्टताके लिये पुरुषार्थ करना इस सबका अर्थ एकही है। ब्रह्म परमात्मा अथवा ईश्वर सब विश्वका हित समष्टिका हित सबका हित चाहता है। अपने कर्म ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरको समर्पण करनेका अर्थ अपने प्रयत्न वैयक्तिक लिये समष्टिके हितके लिये सबके हितके लिये करना है। ये कैसे हो सकते हैं ? सार्वजनिक हित करनेकी बुद्धि बढानेसे यह अभ्यास बढ सकता है। अथवा इसी उद्देश्यसे इस श्लोकके पूर्व दो श्लोकोंमें कहे अनुसार ' मैं इस शरीरसे कुछ भी नहीं करता हूं, यह शरीर जिसने निर्माण किया और जो इसका चालक है, उसके लिये मैं यह शरीर समर्पण करता हूं वह जैसी चाहे वैसी प्रेरणा इस शरीरको करे और इस शरीरसे कर्म करावे, अब यह शरीर मेरा नहीं है यह मेरा जीवन उसीके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये समर्पित होवे। ' ऐसा संकल्प करके जो अपने अहं भावको पूर्णतया नष्ट करता है, उसीके अंदर दैवी स्फुरण होता है और उसके शरीरसे दैवी प्रेरणासेही सब कर्म होते हैं। अतः वह सब कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। अपना सब शरीर और जीवन ब्रह्मको परमात्माको अथवा ईश्वर को समर्पित करनेसे अर्थात् अपना अहंकार पूर्णतया नष्ट करनेसे इस शरीरको चलानेवाला ब्रह्म परमात्मा अथवा ईश्वर होता है। और इसी कारण इसके होनेवाले कर्म सार्व भौमिक महत्त्वके होते हैं। ऐसी योग्यता रखनेवाला मनुष्य क्वचित् होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गी० ७।३)

' हजारों मनुष्योंमें कोई एकाद मनुष्य इस सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमेंसे भी विरलाही तत्त्वदृष्टिसे परमेश्वरको जानता है। " इतने थोडे लोग सिद्ध पुरुष अथवा महात्मा होते हैं। परंतु सबको उचित है कि वे इस मार्गसे चलनेका अभ्यास जितना हो सके उतना करें। यह कोई आवश्यकता नहीं है कि एक सिद्धि हमें।

(७) आत्मशुद्धि

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अन्वयः— योगिनः आत्मशुद्धये कायेन, मनसा बुद्ध्या केवलैः इंद्रियैः अपि संगं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति ॥ ११ ॥ युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिं आप्नोति । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी आत्मशुद्धिके लिये शरीरसे मनसे बुद्धिसे अथवा केवल इन्द्रियोंसेभी आसक्ति छोडकर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मयोगी कर्मके फलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करते हैं। परंतु जो योग धारण नहीं करता वह कामनावश होनेके कारण फलमें आसक्त होनेसे बद्ध होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ— साधक योगी अपने शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे भी कर्मयोगके नियमानुसार आसक्ति छोडकर कर्म करते हैं जिससे उनकी शुद्धि होती है ॥ ११ ॥ फलका त्याग करनेके कारण कर्मयोगीको बडी शान्ति मिलती है, परंतु जो लोग फलभोगकी कामनासे फलके ऊपर आसक्त होकर कर्म करते हैं, वे उनकी आसक्तिके कारण बद्ध होते हैं ॥ १२ ॥

कर्ममें मग्न हो । प्रयत्न करनेपर सिद्धि प्राप्त होगी ही, उसका विचार इस समय करनेकी आवश्यकता नहीं है । अस्तु । कर्म ब्रह्मार्पण करनेका आशय इस प्रकार महत्त्वपूर्ण और गंभीर है ।

कर्म ब्रह्मके लिये समर्पण कैसे किये जाते हैं ? यह प्रश्न यहां कोई पूछ सकते हैं। इसका उत्तर सरल है; यह विश्व ब्रह्मका ही रूप है। विश्वमें जितने रूप हैं वे सब ब्रह्मके रूप हैं यह विषय आगे ११ वें अध्यायमें स्पष्ट होनेवाला है। इस ब्रह्मकी सेवा हम जितनी अधिक कर सकें, उतनी करनी चाहिये। यह सेवा अविरोधसे और अहिंसासे होनी चाहिये । अर्थात् हमारा वैयक्तिक द्वेष उसमें नहीं आना चाहिये संग अर्थात् अपने भोगकी मनीषा उसमें नहीं रहनी चाहिये और जितनी सेवा अधिकसे अधिक कर सकें उतनी करनी चाहिये । मानवसमष्टि अथवा प्राणिसमष्टि का कोई काम हम अपने कर्मफल समर्पणके लिये ले सकते हैं । इसका प्रारंभ स्वार्थत्याग छोडने से होगा। एकवार अहंकार और फलभोगकी इच्छा दूर गयी तो अमोघ कार्य उसी परमात्माका है। वह जैसी चाहिये वैसी सेवा हमसे ले सकता है। इसका विचार वह उत्तम रीतिसे कर सकता है ।

पाठक यहां स्मरण रखें कि— (१) फलसंगत्याग और (२) कर्मोंका ब्रह्मार्पण ये दो ही विषय श्रीमद्भगवद्गीताके मुख्य विषय हैं। मनुष्यके प्रत्येक जीवनविभागमें इनका संबंध आता है और जितना इनका पालन होगा, उतना साधक उन्नत होता जायगा। इसीसे आत्मशुद्धि होती है इस विषयमें गीताका उपदेश देखिये—

(११-१२) कर्मयोगी किस तरह कर्मयोगका आचरण करता है उस कर्मयोगके आचरणसे उसको क्या फल प्राप्त होता है, इसका विचार यहां किया है । सामने ये श्लोक बहुत बोध देनेवाले हैं। योगी लोग आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

योगिनः संगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।
(गी. ५।११)

योगी अर्थात् कर्मयोगी कर्म तो करते हैं परंतु आसक्ति छोडकर करते हैं । " जो कर्म मैं कर रहा हूं उस का फल मुझे नहीं चाहिये परंतु वह परमेश्वरको समर्पित हो " इस भावशुद्धिसे वे कर्मयोगी कर्म करते हैं। ब्रह्मार्पणका तात्पर्य समष्टिके हितके लिये समर्पण है, यह बात इसके पूर्वके श्लोकके स्पष्टीकरणमें बतायी है । हमारे शरीरमें हस्तपादादि अनेक अवयव हैं वे व्यक्तिशः कर्म करते हैं परंतु उनके कर्मका फल सब शरीरको मिलता है इससे शरीर स्वस्थ रहता है । जिस समय कोई एक अवयव हठ करके अपने स्वार्थके लिये अधिक पुष्टभाग लेनेका यत्न करता उसी समय वहां रोग हो गया है ऐसा समझना चाहिये। इसका प्रकार सब शरीरभर बन रहा है तो उसमें अनिबंध करके किसी अवयवने अपने लगरही अधिक

एक ईश्वर करनेका हक या स्वार्थ किया तो वहां सूजन शुरू होगी और जो रोग उत्पन्न होगा, उससे सब शरीर दुःखी होगा। एकके स्वार्थसे अर्थात् एक व्यक्तिकी फलासक्तिसे उसको तो कष्ट होतेही हैं, परंतु जिसका वह अंग है उसको भी कष्ट भोगने पडते हैं। एक व्यक्तिके स्वार्थवश होनेके कारण राष्ट्रको परतंत्र होना पडता है, इसके उदाहरण इतिहासमें अनंत हैं। अतः फलभोगकी कामनाका संग छोडनाही उन्नतिका मुख्य साधन है। इस कारण भगवद्गीतामें 'फलका संग छोडने' का उपदेश वारंवार आगया है। संग' में प्रबल आसक्ति होती है। वह प्रबल आसक्तिही दोष उत्पन्न करती है।

फलत्यागसे सबका सुख।

कर्म करनेसे कुछ न कुछ फल उत्पन्न होगा ही। फिर उसका क्या किया जावे? यदि कर्ताने उस फलका संग छोडा तो उसका आगे क्या होगा? वस्तुतः इसका विचार कर्ताको करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिसकी नियंत्रणसे इस संपूर्ण जगत्के सब व्यवहार चल रहे हैं, वह इस फलका वहां वैसा उपयोग करता होगा वहां वैसा करेगा। कर्ताको उसकी चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है।

तथापि इस बातको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण हम देते हैं। किसी एक राज्यमें सब प्रजाजन कर्म करते हैं, और जो उन कर्मोंका फल होता है, वह सबका सब उस राज्यकी शासनसंस्थाको समर्पित करते हैं अर्थात् कर्मफल त्याग करते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र तथा अंत्यज अपने अपने ज्ञान शौर्य व्यापार कारीगरी और सेवा आदि कर्म करते हैं और सब अपने कर्मफलका त्याग करते हैं अर्थात् इनसे जो फल उत्पन्न होता है वह सब प्रजापालकके कोशमें जमा होता है। कोई व्यक्ति अपने पास कोई धन नहीं रखती। प्रजापालक संस्थाही सब प्रजाजनोंकी सब प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करती है। इस प्रकारकी राज्यव्यवस्थामें उत्तम रीतिसे अपना कर्तव्य कर्म करनाही प्रजाजनका कर्तव्य है उसके फलपर उस प्रजाजनका अधिकार नहीं है, फलपर अधिकार तो प्रजापालक शासनसंस्थाका है। प्रजाजनोंके संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंका फल शासनसंस्थाके कोशमें संचित होगा और वहां जिस प्रजाजनको जिसकी आवश्यकता होगी, वहां उसको राज्यप्रबंधसेही वह वस्तु प्राप्त होगी। यह एक प्रजापालक शासनव्यवस्थाका है—

कस्य स्वित् धनम् (वा० य० ४०।१; ईश० १)

' (कः वै प्रजापतिः) क नाम प्रजापालकका है और सब धन उस प्रजा पालनेवालेका है।" धनपर किसी दूसरे का अधिकार नहीं है। धनका अर्थ प्रजाके कर्मोंका फल ही है। जहां इस तरहकी प्रजापालक शासनसंस्था है और जहां सब प्रजाजन अपने कर्तव्यकर्म तो करते हैं, परंतु कर्म का फल अर्थात् धन अपने पास नहीं रखते परंतु प्रजापालकके कोशमें समर्पण करते हैं और प्रजापालक सबके हितसाधनका प्रबंध करता है वहां सब प्रजाजनोंको अधिकसे अधिक सुख आनंद और शान्ति रहती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने पास अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए धन धनोंका संचय करते रहते हैं इसलिये राष्ट्रमें विषम धन संचय होता है और कई मनुष्य इस संचयके कारण विना कर्म कियेही बहुत भोग भोगते हैं और कई ऐसे प्रजाजन होते हैं कि जो बहुत परिश्रम करनेपर भी अपनी न्यूनसे न्यून आवश्यकताओंकोभी पूर्ण करनेमें असमर्थ होते हैं। इस विषमताके कारण इस जगत्में सब दुःख और कष्ट होते हैं। इसलिये उत्तम तो यह है कि—

(१) प्रत्येक मनुष्य अपना नियत कर्म अत्यंत कुशलतासे जहांतक उत्तम हो सके वहांतक उत्तम रीतिसे पूर्ण करे [कर्मण्येवाधिकारस्ते। गी० २।४७]

(२) उस कर्मसे प्राप्त होनेवाले फल (धन) पर अपना अधिकार न रखे उस कर्मसे जो फल (धन) प्राप्त होगा वह सबका सब प्रजापालकके कोशमें संचित होता रहे। [मा फलेषु कदाचन। गी० २।४७।]

(३) अपने कर्मोंका फल (धन) अपने भोगके लिये ही अपने पास संग्रहित करनेकी वैयक्तिक स्वार्थकी कामनासे कोई कर्म न करे। [मा कर्मफलहेतुर्भूः। गी० २।४७]

(४) अपने पास कर्मोंका फल (धन) संग्रहित नहीं होता, इसलिये मैं कर्म ही नहीं करता ऐसा कुविचार भी कोई न करे। [मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। गी० २।४७]

ये चार सूत्र परम उत्तम और सबको सुख तथा शान्ति देनेवाले सर्वहितकारी राज्यशासन संस्थाकी सुव्यवस्थाके निदर्शक हैं, यह बात यहां पाठक समझें। और ऐसी उत्तम

राज्यव्यवस्थामें सब प्रजाजनोंको किस तरह सुख हो सकता है, इसका मनन अपनी कल्पनाशक्तिसे करें। इससे फलका संग छोडनेका महत्त्व सबको अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिके हितके लिये अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करेगी तो सबको अधिक सुख अधिक आनंद और अधिक शान्ति मिल सकती है। ऐसी राज्यव्यवस्थामें एक भी मनुष्य दुःखी नहीं होगा। मनुष्योंके अपने कर्मफलका भाग छोडनेसे (सर्वभूतहिते रताः। गी. ५।२५; १२।४) सर्व भूतोंका हित कैसा होता है इसका विचार पाठक इस विवरणसे जान सकते हैं और फलासक्ति छोडनेके उपदेशका महत्त्व भी जान सकते हैं।

यहां हमने एक ग्राम या राष्ट्रकी शासक संस्थाका ही विचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्व-भूत हित का विचार है। सर्वभूतहितमें केवल मानवसमष्टिही नहीं, परंतु सब प्राणियोंकी समष्टिका विचार है। सब प्राणियोंको अधिकसे अधिक सुख तभी हो सकता है, जब कि सब मानव फलासक्ति छोडकर अपने अपने सब कर्म उत्तमसे उत्तम रीतिसे परिपूर्ण करते रहें और कर्मके बिना अर्थात् बेकार कोई न रहे। उत्तम सत्याकी उत्तमसे उत्तम कल्पना यहां इस तरह भगवद्गीतामें दी। ये उपदेश सब लोगोंके आचरणमें कब आयेंगे इसकी कल्पना आज करना कठिन है परंतु जब ये उपदेश आचरणमें आयेंगे तभी सबको सुख आनंद और शान्ति मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। फलके साथ संग त्यागनेका इतना महत्त्व है। पाठक इस बातको न भूलें।

कर्मसे आत्मशुद्धि।

अशुद्धिसे मल और शुद्धिसे सुख होता है। अशुद्धिसे शरीरमें रोग होते हैं और शरीर शुद्ध होनेपर रोग दूर होते हैं, इसी तरह इंद्रिय मन बुद्धि और चित्तमें अशुद्धता रही तो दोषोंकी उत्पत्ति होती है और शुद्धतासे दोषोंकी निवृत्ति होती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह शुद्ध होगा तभी मानवसमष्टि शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक मनुष्यको मानव समष्टि शुद्ध हुई है या नहीं इसका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है अपनी शुद्धि करनेके लियेही उसको यत्न करना चाहिये। अर्थात् एक मनुष्यभी इस तरह पूर्ण शुद्ध हुआ, तो भी उसमें उतना हितही है। क्योंकि सब अशुद्ध होनेकी अपेक्षा उनमेंसे एक शुद्ध हुआ तो भी उतनी तो समाजकी शुद्धता होगी। इस बातका विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी शुद्धताके लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

अपनी पवित्रता चित्तशुद्धि अथवा आत्मशुद्धि कर्मोंसे होती है। साधारण बातमें भी यह सत्य है। स्नानादि कर्म करनेसे शरीरका बाहरका भाग पवित्र होता है। इस विषय में मनुस्मृतिमें कहा है—

> अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
> विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
> (मनु ५।१०९)

" जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, सत्यपालनसे मन शुद्ध होता है, विद्या और तपसे भूतात्माकी शुद्धि होती है और ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है। " अतःस्नान, सत्यपालन विद्यार्जन तपश्चर्या ज्ञानार्जन ये सब कर्म हैं जिनसे मनुष्यकी शुद्धि होती है। जो उत्तम या निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें कही है, वे सब कर्म चित्तशुद्धि करते हैं।

ब्राह्मणके कर्म शम दम तप पवित्रता, सहनशीलता, सरलता विज्ञान और आस्तिक्य ये हैं। क्षत्रियके कर्म शौर्य, तेज धैर्य दक्षता युद्धसे न भागना, दान और प्रभुत्व है, वैश्यके कर्म कृषि गोरक्षण और वाणिज्य हैं और शूद्रके कर्म कारीगरी और परिचर्या हैं (भ. गी. १८।४२-४४) ये सब कर्म मनुष्यकी पवित्रता करनेवाले हैं। आलस्यसे मनुष्य अपवित्र होता है और शुभकर्मोंसे सब दोष दूर होते हैं।

यहां कोई पूछ सकते हैं कि आलस्यसे दोष क्यों उत्पन्न होते हैं? इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्रको कुछ न कुछ भोग आवश्यकही होते हैं। कमसे कम खान, पान, वस्त्र और घर इतनी तो उसे अत्यंतही आवश्यकता है। आलसी मनुष्य अपने आलस्यके कारण कमाया नहीं करता और सदा दरिद्रतामें फंसा रहता है परंतु भोगोंकी आवश्यकता उसको सतातीही रहती है। इस कारण उसकी प्रवृत्ति चोरी असत्य हिंसा व्यभिचार आदि दुष्कर्मोंकी ओर होती है और इस तरह वह दोषोंकी परंपरामें फंसता है। इसके विचारसे पाठक जान सकते हैं कि कर्म छोडनेसे दोष उत्पन्न होते हैं और कर्म करनेसेही मनुष्य दोषों

कैसा बच सकता है। कर्मसेही धन मिलता है। कर्मही धन है। उससे मनुष्यको आवश्यक उपभोग मिलते हैं। शास्त्रोक्त कर्म करनेमें समय जानेसे उसको बुरा विचार करनेके लिये अवकाश भी नहीं रहता है और सब समयमें कर्म करनेसे कर्मका रूपान्तर आवश्यक उपभोग मिलकर जीवन सुखमय होनेमें होता है इस तरह कर्मसे दोषप्रवृत्ति हटती है और चित्तशुद्धि होती है। अतः मनुष्य अपने आपको शुभ कर्ममें सदा रखे। क्योंकि यही कर्ममार्ग उसकी उन्नतिका साधक है। इसलिये कहा है—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(गी० ५।११)

योगी लोग आत्मशुद्धिके लिये आसक्ति छोड़कर कर्म करते हैं।' इस कर्मयोगसे किस तरह उन्नति होती है इसका ज्ञान इसके विवरणसे पाठकोंको हो सकता है। तथा—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गी० ५।१२)

कर्मयोगी अपने कर्मके अन्तिम फलका सर्व भूतोंके हितके लिये दान करके पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। और कर्मयोग न करनेवाला भोगी मनुष्य अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये अपने पास रखकर बद्ध होता है। यह सब कथन पूर्वोक्त विवरणके अनुकूल ध्यानपूर्वक मनन करनेसे स्पष्ट हो सकता है।

पूर्वस्थानमें इसी विवरणमें यह बात बताई है कि— (१) प्रत्येक मनुष्य उत्तम कुशलतासे अपना कर्तव्यकर्म करे (२) अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला धनरूप फल अपने पास न रखे परंतु प्रजापालकके कोशमें सबके हितके लिये जमा करे (३) कोई मनुष्य अपने भोग बढानेके हेतुसे कर्म न करे तथा (४) कोई मनुष्य कभी कर्महीन न रहे। ये कर्मके नियम ध्यानमें धारण करनेसे पता लगता है कि कर्मफलका त्याग या दान करनेसे परम शान्ति कैसी प्राप्त होती है। प्रजापालक द्वारा अपना सब योगक्षेम होगा ऐसा विश्वास प्रत्येक योगीको रहता है, इससे योगक्षेमविषयक चिन्ता उसकी शान्तिका नाश करनेमें असमर्थ रहती है। तथा अपने कर्मका धनरूप फल भी प्रजापालकके कोशमें जमा होनेसे उसकी रक्षा करनेकी चिन्ताभी कमानेवालेको कष्ट नहीं देती। इस तरह कर्मयोगीको न धनरक्षाकी चिन्ता है और न अपने योगक्षेमकी चिन्ता है। ऐसा निश्चिन्त होनेसे वह परम शान्ति पाता है। ऐसी शान्ति उसको नहीं होती कि जो अपने कर्मका वेतन अपने पास जमा करता है उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता रखता है और अपने योगक्षेमकी सब चीजें खरीदनेके कष्ट उठाता रहता है। पाठक विचार करेंगे तो उनका पता लगेगा कि जो अपनी वैयक्तिक भोगवासनामें लिपटा हुआ मनुष्य होगा वही दुःखी अशान्त और कष्टी होगा और उसीको कम भोग प्राप्त होंगे क्योंकि उसको तो अपनी कमाईकाही उपभोग लेनेकी संभावना है। परंतु जो अपनी कमाई सबभूतहितके दानमें अर्पण करता है उसको सर्व अनंत भोग उपस्थित होते हैं क्योंकि उसका योगक्षेम प्रजापति चलाता है फिर उसको किस बातकी न्यूनता होगी? यहां कर्मयोगीको कर्मफल-समर्पणसे शान्तिकी प्राप्ति और स्वार्थी भोगीको भोगवृत्तिसे अशान्ति कैसी होती है, इसका स्पष्टीकरण हुआ। पाठक इसका विचार करें। अब एकही पंक्ति विचार करनेकी शेष रही है वह है-

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति० (गी० ५।११)

योगी लोग केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे कर्म करते हैं। यह केवल कर्म कैसा होता है इसका विचार करना चाहिये। बालकके व्यवहार मन और बुद्धिके विनाही होते हैं। पंचतत्त्वोंसे बना यह शरीर सब इंद्रियोंके साथ जब सोता है तब मन अकेला स्वप्नमें व्यापार करता है उस समय शरीर और इंद्रियां कर्म नहीं करतीं। जिस समय मनुष्य भ्रम या उन्मादसे युक्त होता है, उस समय जो व्यवहार वह करता है उसका पता उसको नहीं होता, क्योंकि उस समय उसका मन उसमें नहीं होता है। इस तरह साधारण मनुष्यभी समयसमयपर केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करता है। योगी तो मन तथा बुद्धि आदिके संयम द्वारा उनको अलग रखके केवल प्रत्येकसे कर्म करता है अतः कर्मका दोष उसको नहीं लगता। अहंकार न रहनेसे यह निर्दोषता सिद्ध होती है,

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वयः— वशी देही सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नवद्वारे पुरे न एव कुर्वन् न कारयन् सुखं आस्ते ॥ १३ ॥

संयमी देहधारी पुरुष सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके नौ द्वारोंवाले (इस देहरूपी) नगरमें, न कुछ करता और न कराता हुआ सुखसे रहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— अपने सब इंद्रियोंका संयम करो कर्मोंसे मनका संबंध भी छोड दो और अहंकाररहित भावसे कर्म होने दो। ऐसा करनेसे स्वयं कुछ भी न करते और कराते हुए इसी शरीरमें सहजहीसे पूर्ण सुख प्राप्त हो सकता है ॥ १३ ॥

यह बात यहां पाठक स्मरण रखें । जहां अहंकार हुआ वहां दोष हुआही जानो । बालक जो कर्म करता है उसमें उसका अहंकार नहीं होता इसलिये वह कर्म करनेपरभी निर्दोष रहता है । युवती स्त्रीको बालक स्पर्श करता है और एक तरुण युवा पुरुष स्पर्श करता है; परंतु दोनोंके स्पर्शके भीतर आपसमें कितना अंतर होता है इसका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको दोष कहां उत्पन्न होता है, इस बातका पता लगेगा । जब बालक एक युवतीको देखता और उसके अवयवोंको स्पर्श करता है तब वह केवल शरीरसे और आंखसे कर्म करता है अतः उस कर्मसे उसपर कोई विकार नहीं होता, अतः वह निर्दोष रहता है । परंतु तरुण पुरुषका युवतीके शरीरको स्पर्श या उस स्त्रीके अवयवोंका निरीक्षण करनेमें उसके अहंकारका मन-बुद्धिके साथ संयोग होनेसे उसके अंदर विकार उत्पन्न होते हैं इससे दोष होता है ।

जो बालकके समान अवस्था है वही सहजावस्था है । योगाभ्यास संयम दृढ भक्ति वैराग्य आदिसे योगी उस अवस्थाको पुनः प्राप्त करता है । जब वह सहजावस्था प्राप्त होती है तभी योगी केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करके निर्दोष रह सकता है । सहजावस्था प्राप्त होने तक अहंकारको दूर रखनेसे भी वही बात बनना संभव है परंतु वह प्रत्यक्ष समय प्रयत्नसे और दक्षतासे सिद्ध करना आवश्यक है । प्रयत्नमें और दक्षतामें थोडीसी शिथिलता होगई तो अहंकार बीचमें घुसेगा और दोष उत्पन्न करेगा । इस कारण बडा दक्षता धारण करना युक्त है । अभ्यासकालमें ऐसेही दक्षतापूर्वक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है । इस प्रकारके अभ्याससे सिद्ध हुए पुरुषकी स्थिति कैसी होती है इसका वर्णन आगेके श्लोकमें अब देखिये—

(१३) इस शरीरमें नौ द्वार हैं-दो आंखें दो कान दो नासिकाछिद्र मुख मूत्रेन्द्रिय और गुदा ये नौ द्वार इस शरीररूपी नगरीमें हैं । इसी लिये इसको 'द्वारवती' अर्थात् जिसको द्वार हैं ऐसी नगरी कहते हैं । यह परमात्माने इच्छासे बनायी गयी है, अर्थात् यह परमात्माने किसी विशेष हेतुसे बनायी है, इसका स्वामी वह है मैं नहीं हूं । अतः इसपर परमात्माका अधिकार है मेरा नहीं । इस तरह विचार करनेसे देहपरकी अहंकारबुद्धि दूर होती है, और मैं दूसरेके घरमें अतिथि हूं, यहां आनेकी मेरी जैसी वैसी निश्चित नहीं है वैसीही यहांसे जानेकीभी तिथि निश्चित नहीं है । अतः मैं यहां अ-तिथि के रूपमें रहूंगा । ऐसा निश्चय मनमें करनेसे अहंकार दूर होनेमें सहायता होती है ।

इस शरीरके बनानेमें जो परमात्माका उद्देश है वही पूर्ण होना चाहिये । यदि मैंने इस शरीरको अहंकारसे किसी दूसरे कार्यमें लगाया तो कदाचित् इस शरीरका वह उद्देश सिद्ध न होगा और उस उद्देशकी सिद्धिके लिये शरीर धारण करना पडेगा । इस आपत्तिको टालनेके लिये अपना अहंकार बीचमें न लाना आवश्यक है । अहंकार बीचमें न आनेसे अपनी ओरसे कोई भी प्रेरणा होना संभव नहीं है और—

नैव कुर्वन्, न कारयन् । (गी ५।१३)

स्वयं कुछ न करना, और न कराना " यह अवस्था सिद्ध हो सकती है । जबतक अपना अहंकार बीचमें रहेगा तबतक यह अवस्था प्राप्त नहीं होगी । अहंकार कुछ न कुछ करेगा और करावेगाही और इस कारण दुःखमें भी डालता रहेगा । अपने अहंकारको इसी कारण सदा दूर करना चाहिये ।

जैसा प्रवासी दूसरेके घरमें कुछ दिन निवास करता है, वैसा हम भी द्वारकाके शरीररूपी परमेश्वरके मंदिरमें निवास करना चाहिये । यदि पाठक इस शरीरको परमेश्वरका मंदिर मानें और उसमें अपने आपको प्रवासी अतिथि समझ कर

(८) अज्ञानसे मोह

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

अन्वयः— प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं न कर्माणि, न च कर्मफलसंयोगं सृजति । स्वभावः तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥ विभुः न कस्यचित् पापं न च एव सुकृतं आदत्ते । अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं तेन जन्तवः मुह्यन्ति ॥ १५ ॥

ईश्वर लोगोंके न कर्तापनको न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके संयोगको निर्माण करता है । स्वभाव ही सब कुछ करता है ॥ १४ ॥ सर्वव्यापी परमेश्वर न किसीके पापको और न किसीके पुण्यको लेता है । अज्ञानसे ज्ञान आच्छादित हुआ है, इस कारण मनुष्य मोहित होते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— लोगोंका कर्तृत्व उनके कर्तृत्वसे होनेवाले कर्म और उन कर्मोंसे मिलनेवाले फल ये सब ईश्वर नहीं निर्माण करता, स्वभावही सब कुछ बनाता है । ईश्वर किसीके पापको या पुण्यको अपने ऊपर नहीं लेता । लोगोंका ज्ञान अज्ञानसे ढँका रहनेके कारण लोग भले बुरे कर्मका संबंध ईश्वरके साथ जोडते हैं और भ्रममें पडते हैं ॥ १४ १५ ॥

यही वृत्ति अपनेमें स्थिर कर सकें तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेमें विलंब नहीं होगा ।

दूसरेके घरमें रहनेवाला अतिथि जहांतक हो सके वहां तक (यहांही) संयमी रहता है अपनी वृत्तियोंको उच्छृंखल होने नहीं देता, वहांके कर्मचारियोंपर अपना अधिकार नहीं चलाता वहांके कर्मचारियोंसे होनेवाले बननेवाले अथवा बिगडनेवाले कर्म देखता है, परंतु केवल साक्षी होकर वहां रहता है क्योंकि उसको वहांसे थोडी देरके पश्चात् जाना है । अतः वह वहांके कर्मोंके फलके साथ अपना संबंध जोडना नहीं चाहता । (मनसा सम्पन्न सुख मानते) मनसे अपना संबंध वहां नहीं है ऐसा जानकर सुखसे अपने स्थानमें रहता है । वहांके कर्मचारियोंसे केवल ऐसेही चिन्ता उसको नहीं सताती और किसीने कुछ कर्म किया या न किया इसका जानकारी रखनेकी भी उसको आवश्यकता नहीं है । जितना समय वहां विश्राम करना होगा वह चिन्तारहित होकर विश्राम करेगा और जानेका समय प्राप्त होतेही उस स्थानको छोड देगा । इस परमेश्वरके मंदिरमें जो इस तरह अतिथिरूपसे रहेगा वह पूर्ण सुख आनंदहीसे प्राप्त कर सकेगा । इस भी इंद्रियोंवाली नगरीमें कुछ न करते और न कराते रहनेका तात्पर्य यह है ।

इस शरीरका स्वभावही कर्म करनेका है अतः कोई प्राणी क्षणभर भी कर्म न करते हुए रह नहीं सकता (गी ३।५)। यह सच है परन्तु यह कर्म जिसका यह मंदिर है, उसकी प्रेरणासे होता रहे अपनी प्रेरणाका अहंकार बीचमें घुसेडना और उस कारण उत्पन्न होनेवाली चिन्ता आदिका भार अपने अपने ऊपर लेना योग्य नहीं है । अपनी अहंकारकी प्रेरणा पूर्णतया बंद होतेही वहां ईश्वरकी प्रेरणाका प्रारंभ होता है । उस ईश्वरकी प्रेरणासे जो कर्म इस शरीरसे होते हैं, वे सर्वभूतहित (गी ५।२५, १२।४) के लिये होते हैं । क्योंकि वह सर्वव्यापी है और सबका हित करना उसका स्वभाव है । उसकी प्रेरणासे जो कर्म होते हैं, वे शुद्ध होते हैं और उसका दोष साक्षी होकर रहनेवाले जीवको नहीं लगता । इसलिये साक्षी बनकर रहनेका उपदेश यहां किया है । स्वयं अपनी प्रेरणासे कुछ कर्म न करना और न कराना, इस शरीरको परमेश्वरकी प्रेरणाके अनुसार व्यवहार करनेके लिये उसके अधीन करना और जो इससे कर्म होगा उसका निरीक्षण साक्षी होकर करना यह उपाय कर्मके दोषसे बचनेका है । जिसका शरीर इस प्रकार परमेश्वरकी प्रेरणासे सर्वभूतहितके कर्ममें लग गया वही धन्य है । यही धन्यता प्राप्त करना प्रत्येकका कर्तव्य और साध्य है । जो इस तरह धन्य होनेका यत्न नहीं करते उनको अज्ञानसे मोह होता है । इस विषयमें आगेके दो श्लोकोंमें स्मरण रखने योग्य उपदेश कहा है । वह अब देखिये—

(१४ १५) जो मनुष्य अहंकारको नहीं छोडते और फलासक्तिसे कर्म करते हैं वे कर्मोंके दोषोंसे दुःखी होते हैं । जब उनका दुःख असह्य होता है तब वे कहते हैं कि— "हमको परमेश्वरने ये दुःख भुगते दिये हैं, क्या किया जावे ? इस तरह सुखदुःखका कारण परमेश्वर है ऐसा लोग बारबार बोलते हैं । परंतु यह लोगोंका अज्ञान है । क्योंकि जो लोग

(९) ज्ञानसे परम तत्त्वका प्रकाश

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अन्वयः— येषां तु तत् अज्ञानं आत्मनः ज्ञानेन नाशितं तेषां ज्ञानं आदित्यवत् तत् परं प्रकाशयति ॥ १६ ॥ तद्बुद्धयः, तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥ १७ ॥

जिनका वह अज्ञान आत्माके ज्ञानसे नष्ट हुआ है उनका ज्ञान सूर्यके समान उस परम श्रेष्ठ तत्त्वका प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥ उस परमात्मतत्त्वमें जिनकी बुद्धि लगी है, उसीमें जिनकी आत्मा रमती है, उसीमें जिनकी निष्ठा है और उसीमें जिनका ध्यान तन्मयतासे लगा है, उनके पाप इसी ज्ञानसे धुल जाते हैं और वे जन्ममरणके भँवरेमें नहीं फसते ॥ १७ ॥

भावार्थ— ज्ञान प्राप्त होनेसे साधकका अज्ञान दूर होता है और उसी ज्ञानसे परमात्माका प्रकाश उसके सन्मुख हो जाता है। जैसा सूर्य प्रकाशमें दिखाई देता है वैसाही उसको परमात्मा साक्षात् हो जाता है। ऐसा साक्षात्कार होनेके पश्चात् उसकी बुद्धि, अन्तःकरण, निष्ठा और ध्यान ये सब उसी परमात्मामें सदा-सर्वदा तल्लीन हो जाते हैं और वह साधक उसमें तन्मय हो जाता है। जब वह ऐसा तन्मय होता है तब वह पापोंसे मुक्त होकर जन्ममरणके चक्रसेभी मुक्त हो जाता है ॥ १६–१७ ॥

अहंकारसे कर्म करते हैं, वेही उस कर्मके दोषसे प्राप्त होनेवाले दुःखसे दुःखी होते हैं। जब यह दोष या पाप उन्होंने ही किया है, तब उसके लिये ईश्वरपर दोष रखना कैसा योग्य हो सकता है? स्वयं अग्निमें हाथ रखना और जल गया तो ईश्वरने जलाया ऐसा कहना यह कदापि योग्य नहीं है। जिसने अपना अहंकार बीचमें रखा है और जो यह कार्य मैंने किया ऐसा कहता है उसको उचित है कि वह अपनी कमाईका भाग करे। दूसरोंको पुरामका बनानेसे क्यों बनेगा? अपना उत्तरदायित्व दूसरेपर लगा देनेसे कुछ भी नहीं बनेगा। सीधी बात तो यह है कि मनुष्य या तो सबसे पहिले अपना अहंकार दूर करें नहीं तो दुःखभोगनेको तैयार रहें। अपने कर्मसे सुख प्राप्त हुआ तो उस समय 'मैंने किया' ऐसा कहना और दुःख होने लगा तो कहना कि 'परमेश्वरने दुःख दिया' यह केवल अज्ञानका मोह है। मनुष्योंका ज्ञान अज्ञानसे आच्छादित है इसलिये वे ऐसा करते हैं। वस्तुतः सब दोष उनके अहंकार और अज्ञानका है। जो लोग पराधीन हैं दुःखी हैं पीछे रह गये हैं अज्ञानी हैं यह सब उनकाही दोष है और उसका उत्तरदायित्व किसी प्रकार भी दूसरेपर नहीं है। जो जैसा कर्म करते हैं वे वैसा फल प्राप्त करते हैं। यह सब स्वभावसे हो रहा है। परंतु अज्ञानसे मनुष्य अपना दोष दूसरेपर लगाना चाहता है और भ्रमसे वैसा कहता भी है।

जो इस अज्ञानको दूर करते हैं, उनको स्वयं-प्रकाशी ज्ञान कैसा प्रकाशित होता है, यह बात अगले श्लोकोंमें कही है।

(१६–१७) जैसा प्रकाश होनेसे अंधेरेका नाश होता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होनेसे अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्यके अंधेरेकी कल्पना तक नहीं है, उसके गुण का नामभी न सुना होगा वैसा उसकी कभी दृष्टिका अनुभव नहीं करती इसी प्रकार ज्ञान होनेसे भी अज्ञान रह नहीं सकता। मनुष्य जिस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करता है, उस विषयका उसका अज्ञान दूर होता है। यह बात सर्वसाधारण व्यावहारिक विद्याके विषयमेंभी सत्य है। परंतु यहां ज्ञान शब्द परमात्माके संबंधका ज्ञान बताता है। मोक्षविषयक बुद्धिको (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्राप्त होते ही जब आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है तब उसका संपूर्ण अज्ञान अर्थात् आत्माके संबंधका अज्ञान पूर्णतया दूर होता है। यह अज्ञान दूर होतेही उसके सन्मुख सूर्यके समान परमात्माका प्रकाश होता है। इसी विषयमें ऋग्वेदकी श्रुति देखिये—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २० ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ २१ ॥ (ऋ. १।२२)

(१०) समदर्शन

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९

अन्वयः— पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे, गवि हस्तिनि, शुनि श्वपाके च एव समदर्शिनः (सन्ति) ॥ १८ ॥
येषां मनः साम्ये स्थितं तैः इह एव सर्गः जितः ब्रह्म हि समं निर्दोषं तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः ॥ १९ ॥

" ज्ञानी सदा उस सर्वव्यापक परमेश्वरके परम पदको देखते हैं। जैसा सूर्य आकाशमें दिखाई देता है, वैसा उनको परमेश्वर दिखाई देता है॥ विद्वान्, कुशलतासे कर्म करनेवाले बुद्धिमान् और जाननेवाले विशेष ज्ञानीही सर्व व्यापक ईश्वरके परम पदको प्रदीप्त अवस्थामें देखते हैं। अतः गीतामें कहा है कि—

तेषां ज्ञान तत् परं आदित्यवत् प्रकाशयति।
(गी ५।१६)

उन ज्ञानियोंका ज्ञान उनको सूर्यप्रकाशके समान परम पद उनके सामने प्रकाशित करता है।" अर्थात् उनको वह परम पद ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि जैसा आकाश में सूर्य दिखाई देता है। जिसको एक बार उस परम-पदका दर्शन हुआ उसकी वृत्ति स्वाधीन होती है, इस विषय में १७ वे श्लोकमें चार शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

(तद्बुद्धयः) उनकी बुद्धिमें वही एक परमेश्वरका विषय है, अर्थात् दूसरा कोई विषय उनकी बुद्धिमें नहीं रहता केवल परमेश्वरविषयक ज्ञानही उनकी बुद्धिमें जीवित और जाग्रत रहता है। (तदात्मानः) जिनकी आत्मा तद्रूप हुई है जिनका चित्त अथवा अन्तःकरण परमात्मा-मय बना है, जो परमात्माके चिंतनमें रमते हैं। (तन्निष्ठाः) जिनकी निष्ठा परमेश्वरमें दृढ हो गयी है और (तत्परायणाः) जो अपने जीवितका ध्येय वही परम पद है ऐसा मानते हैं। इस तरह ज्ञानी जन परमात्माके रंगसे रंगे होते हैं और इस कारण (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) उनके सब पाप अथवा दोष इस ज्ञानसेही धुल जाते हैं और वे निर्दोष निष्कलंक निर्मल और स्वच्छ होते हैं।

उनकी बुद्धि आत्मा मन और चित्त सबका सब परमात्मरूप परमात्ममय बननेसे उसमें भोगरूपी विषय— हीन कामक्रोधादि विचार-रह नहीं सकते; इसलिये वहां दोनोंकी संभावनाही नहीं होती। अन्तःकरणका ऐसा धर्म है कि उसमें कोई एक विषयही एक समयमें रह सकता है। यदि कामादि विषय उसमें रहे, तो परमात्माकी भक्ति वहां नहीं रहेगी और यदि परमात्ममय अन्तःकरण बना तो वहां वे क्षुद्र विषय नहीं रहेंगे। ऐसा नियम होनेसे साधकको उचित है कि वह अपने अन्तःकरणमें हीन विषयोंको स्थान न दें ऐसा अभ्यास करें कि सदा-सर्वदा अपने अन्तःकरणमें परमात्माका निवास बना रहे। ऐसा करनेसे उसको सदा आनंद प्राप्त होगा। अखंड आनन्द प्राप्त करना हो तो दूसरा कोई उपाय नहीं है। अपना अन्तःकरण कामक्रोधादि विषयोंके खुला रखनेसे किसी समय थोडासा सुख और दूसरे समय थोडासा दुःख मिलता रहेगा। अन्तःकरण विषयी रहनेतक अखंड आनन्द प्राप्त होना असंभव है। अपने आपको परमात्ममय अनुभव करनेसेही असीम अखंड आनन्द प्राप्त होना संभव है। तथा इसके साथ साथ परमात्ममय बननेसे—

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं। (गी ५।१७)
अपुनरावृत्ति होकर दुःखसे मुक्त होते हैं।

अपुनरावृत्तिः परिभ्रमण किंवा पुनरावृत्तिका अर्थ पुनर्जन्म ऐसाभी है और सुखदुःखका चक्र ऐसा भी है। इस प्रपंचमें सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख होता है। यह सुख दुःखका चक्र सदा भ्रमण करता रहता है। इसी तरह दिनरात का कालचक्रभी चलता है। जन्ममृत्युकाभी चक्र है। ऐसे अनेक चक्र यहां हैं। इन चक्रोंमें मनुष्य भ्रमता है, पापमें भ्रमता है दुःखी कभी होता है। जबतक विषयभोगोंमें वह मग्न रहेगा तबतक इस द्वन्द्वोंके चक्रसे मुक्त होना असंभव है। केवल परमात्ममय होनेसेही इसके सब भ्रम दूर जाते हैं और इस चक्रभ्रमणसे इसकी मुक्ति होती है। परमात्म मय बननेसे वृत्ति कैसी होती है इसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया है वे श्लोक अब देखिये—

ज्ञानी लोग विद्या और विनय सम्पन्न ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता और कुत्तेको खानेवाला चाण्डाल इन सबमें सम (भावसे स्थित ब्रह्मको) देखते हैं ॥ १८ ॥ जिनका मन इस साम्यभावमें स्थिर हो चुका है उन्होंने, मानो इसी जीवनमें जन्ममरणको जीत लिया है ब्रह्म ही सर्वत्र सम और सदा निर्दोष है। इसलिये वे (समदर्शी मनुष्य सदा) ब्रह्ममेंही स्थित अर्थात् ब्रह्ममय रहते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो आत्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करते हैं वे आत्मज्ञानी महात्मा लोग ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र चाण्डाल पशुपक्षी वृक्षवनस्पति आदि सब पदार्थोंमें सम भावसे अवस्थित ब्रह्मका अनुभव करते हैं। उनको उन सब विभिन्न पदार्थोंमें अभिन्न ब्रह्मका दर्शन होता है। जिनको इस तरह सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है उन्होंने जन्ममरणको जीतकर अमर पद प्राप्त किया है। क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र सम और दोषरहित है और इसी ब्रह्ममें वे सदा स्थिर होते हैं ॥ १८-१९ ॥

समदर्शन

(१८-१९) मनुष्य जब इस संसारमें देखता है तब उसको जड़-जीव आदि भेद-भावही नजर आता है। संपूर्ण सृष्टिमें यदि कुछ है तो भेदभावही है। साधारण मनुष्य संसारमें इस भेदभावको प्रत्यक्ष देखता है इसलिये आत्माका समदर्शन उसकी समझमेंही नहीं आता है। प्रत्यक्षको छोड़कर अप्रत्यक्षको कौन मानेगा? ऐसीही सब संसारी जीवोंकी भावना होती है। अतः यहां हमें देखना है कि यहां सृष्टिमें सचमुच भेदभाव है या नहीं है?

समत्वगीतामें इन श्लोकोंमें कहा है कि ज्ञानी और सदाचारी ब्राह्मण अज्ञानी और दुराचारी चाण्डाल ये मानव प्राणी तथा गाय हाथी कुत्ता आदि पशु इन सबको समदृष्टिसे देखना चाहिये। अर्थात् इनकी ओर विषम भावसे देखना योग्य नहीं है। इनमें जो सम और निर्दोष तत्त्व है उसको देखना चाहिये। यही ब्रह्म है और उसका दर्शन होनेसे इस संसारमें (सर्गः जितः) विजय प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न होता है कि क्या ब्राह्मण और चाण्डाल समान हैं? क्या मानवप्राणी और पशु समान हैं? क्या गाय और कुत्ता समान हैं? हमारा अनुभव यह है कि ये समान नहीं हैं। हम देखते हैं कि ब्राह्मण सद्विद्या पढ़ता है चाण्डालका रहनसहन मलिन होता है गाय उत्तम पौष्टिक दूध देती है कुत्ते और हाथीसे यह कार्य नहीं होते। यह भेद हमारे अनुभवमें प्रतिदिन आता है फिर हम इनमें समभाव कैसा रखें? क्या ज्ञानी लोग नहीं जानते कि गायका उपयोग भिन्न है और कुत्तेका उपयोग भिन्न है? क्या कभी इन दोनोंकी समानता हो सकती है? इतना भेद प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेपर भी इनको हम समत्वसे कैसे देखें?

सर्वसाधारण मनुष्य इसी प्रकारकी शंकाएं मनमें धारण कर स्थित करते हैं। इनके उत्तरमें इतनाही कहना है कि पूर्ण ज्ञानी मनुष्यभी गायसे उत्तम दूध प्राप्त होता है और कुत्ता उत्तम रक्षा करता है, हाथी बड़ा बोझ उठाता है, इत्यादि भेदोंका अनुभव करताही है। वह कभी दूधके लिये कुत्तेके पास नहीं जाता और रक्षाके लिये गायको कभी नहीं रखता, इतना भेद अनुभव करता हुआभी वह दोनोंकी ओर सम दृष्टिसे देखता है। अर्थात् भेद अनुभव करनेमें साधारण मनुष्य और ज्ञानीका अनुभव समान है, परंतु समदृष्टि रखना ज्ञानीकोही साध्य है। यह सम दृष्टि कैसी हो सकती है इसका विचार यहां करना चाहिये।

उदाहरणके लिये सोनेके आभूषण लीजिये। कई आभूषण सिरमें धारण किये जाते हैं, कई गलेमें कई कानोंपर कई हाथमें कई कमरमें और कई पांवमें धारण करते हैं। सभी लोग भी जानते हैं कि कण्ठा गलेमें धारण की जाती है और कंकण हाथमें धारण करते हैं। ज्ञानी लोग भी हाथमें कण्ठा नहीं धारण करते और न कंकण गलेमें डालते हैं। तथापि वे उन्हीं विविध आभूषणोंमें सुवर्ण-दृष्टिसे समत्वका अनुभव करते हैं। क्योंकि आभूषण कोईसे भी उसका सुवर्णत्व सब आभूषणोंमें समान है। इसी प्रकार मृत्तिकाके घड़ा कुल्हड़ आदि अनेक बरतन होते हैं उन सबमें मृत्तिकाका रूप समान है। यही समत्व इन सबमें है। लोटा-गिलासके अनंत पात्र बनते हैं, प्रत्येक पात्रका व्यवहारकी दृष्टिसे अर्थात् उपयोगकी दृष्टिसे भिन्नत्व है परंतु उनकी धातुत्व या पीतलपनकी दृष्टिसे समानता है। वस्तु कोई हो वह उपादान दृष्टिसे सोना है, या पीतल है अथवा मृत्तिकाही है। यहां क्या कहा कि

व्यवहार-दशामें भेदका अनुभव होता हुआ भी यहां तत्त्वकी दृष्टिसे अभेदका अनुभव होना संभव है।

मच्छर छोटेसे छोटे प्राणी हैं, हाथी बड़ेसे बड़ा प्राणी है। मच्छरका छोटापन और हाथीका बड़ापन भेद है तो दोनों प्राणी होनेमें एक हैं। इसी तरह ब्राह्मण चाण्डाल हाथी गाय कुत्ता और मच्छर भिन्न योनियोंके होते हुए भी प्राणी हैं और प्राणी होनेके कारण प्राणियोंके समान गुणधर्मोंसे युक्त हैं। यही उनमें समत्व है। प्राणी होनेके कारण सबको भूख समान रीतिसे लगती है सबको जीवन समानतासे प्यारा है सबको मृत्युका समान भय है, इस तरह सबकी समानता देखने योग्य है। ब्राह्मणको घोंपसा लगनेसे जैसे क्लेश होंगे वैसेही चाण्डालको होंगे। भिन्नतामें दोनोंकी समान अवस्था होगी। इस तरह विचार करनेपर दोनोंका समत्व ध्यानमें आसकता है। देखिये—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गी ६।३२)

"जो मनुष्य सबको अपने समान देखता है और सुखके विषयमें तथा दुःखके विषयमें समान भाव रखता है वह परम श्रेष्ठ योगी है।" यहां आत्मौपम्य-दृष्टि कही है। जिस अवस्थामें मनुष्य सबको अपने समान देखता है वही श्रेष्ठ अवस्था है। पशुमें और मनुष्यमें यही भेद है। आत्मौपम्यदृष्टिसे पशु कभी नहीं देख सकता। मनुष्यमें यह आत्मौपम्यदृष्टि आ सकती है। इसीलिये मनुष्यकी योग्यता श्रेष्ठ है।

आत्मौपम्य-दृष्टिसेभी समदर्शन अधिक श्रेष्ठ है। समदर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार है।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म। (गी ५।१९)

'ब्रह्मही निष्कलंक और सम है।" सदा निर्दोष और सर्वत्र सम ब्रह्म है। किसी स्थानपर वह न्यून और किसी स्थानपर वह अधिक नहीं है। जैसा आकाश सर्वत्र समानतया अवस्थित है वैसाही ब्रह्म सर्वत्र सम है। अतः समदर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन है।-

पण्डिताः समदर्शिनः। (गी ५।१८)

'पण्डित लोग समदर्शी होते हैं। अर्थात् वे सर्वत्र सदा ब्रह्मदर्शन करते हैं। ब्रह्मका साक्षात्कार उनको सदा-सर्वदा होता है। वे जैसा ब्रह्म ब्राह्मणमें देखते हैं वैसाही चाण्डाल गाय हाथी कुत्ता आदिमें देखते हैं। इसी तरह जगत्‌का प्रत्येक पदार्थ उनको ब्रह्मरूप दिखाई देता है। यह भिन्न ब्रह्मका रूप है ऐसा उनको स्पष्ट प्रतीत होता है। वे किसी पदार्थको देखें उनको ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मही उस रूपको धारण करके अपने सम्मुख उपस्थित हुआ है। इस तरह उनकी सर्वत्र ब्रह्मरूप वृत्ति रहती है। वे ब्रह्म देखते हैं, ब्रह्म सुनते हैं, ब्रह्मकी सेवा करते हैं और अन्तमें ब्रह्मरूप बनते हैं। देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गी ४।२४)

"अर्पण हवनसामग्री, अग्नि हवनकर्ता ये सब ब्रह्म हैं। जिसकी वृत्ति इस तरह ब्रह्ममय हुई वह स्वयं ब्रह्म बनता है।" यही बात यहां कही है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गी ५।१९)

"जिनका मन इस साम्य भावमें स्थिर हुआ वे इहलोकमें ही विजयी हुए हैं। क्योंकि जैसा ब्रह्म निष्कलंक और सम है वैसेही वे निष्कलंक और सम होते हैं।" मनकी समवृत्ति होनाही मनुष्यका अन्तिम साध्य है। पूर्ण पुरुष का यही लक्षण है। सुख दुःखमें समभाव अन्य जीवोंके विषयमें समवृत्ति चराचरके विषयमें समदृष्टि होनाही ब्रह्मरूप बनना है।

प्रायः मनुष्य अपने संबंधियोंके विषयमें पक्षपात करता है और दूसरोंके विषयमें तिरस्कार रखता है। परंतु समदर्शी मनुष्य निष्पक्ष रहता है। वह कभी अपने संबंधियोंका पक्षपात नहीं करेगा और न दूसरोंके विषयमें उदास रहेगा। वह सबके विषयमें सम रहेगा। यही समवृत्ति मनुष्यके श्रेष्ठ होनेकी सूचक है।

अर्जुनकी दृष्टि विषम हो गयी थी। उसने कहा था कि ये मेरे दादा मामा चचा भाई पिता आदि हैं इस कारण इनका वध करना योग्य नहीं। यह पक्षपातका वचन है। ये लोग सत्यपक्षमें हैं या असत्यपक्षमें हैं इसका विचार समभावसे करके अपना कर्तव्य क्या है इसका निश्चय करनेमें

वह असमर्थ था। वह अपने संबंधियोंका पक्षपात करना चाहता था और विपक्षी स्थितिका विचार तक करना नहीं चाहता। यही उसके मनकी विषमता है। यह विषमता हटाकर उसका मन समभावयुक्त करना भगवान्‌को अभीष्ट था। जगत्‌की दृष्टिसे अपना कर्तव्य क्या है इसका निश्चय प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। अपने संबंधियोंके हितके लिये जगत्‌का नाश करना दोषकारक है। समष्टिके हितके लिये व्यष्टिका समर्पण करनाही धर्म है।

समदृष्टि रखनेसे सेवाभाव भी बढता है। क्योंकि सर्वत्र समदृष्टि रखनेसे सदा सर्वदा सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार होनेसे और परमात्मा सबका उपास्य और सेव्य होनेसे इस उपासकमें सेवाभाव बढता जाता है और वह सर्वत्र परमेश्वरकी सेवा ही करता है। यदि वह ब्राह्मण हुआ तो वह अध्यापन द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है यदि वह क्षत्रिय हुआ तो वह दुर्बल-निर्बल और सज्जनपरिपालन द्वारा ईश्वर-सेवा करता है इसी तरह वह अन्य वर्णमें हुआ तो अपने अपने कर्तव्य कर्म करके परमेश्वरकी सेवा करता है। सर्वजनहित करनाही महासेवा है। कोई रोगी सन्मुख आया और साधक वैद्य है तो वह उसको योग्य उपचार करे और इस स्वकर्मद्वारा परमात्माकी सेवा करे। मनुष्य अधिकारपर हो वकील हो नौकर हो, कारीगर हो पूंजी पति हो या दुकान करनेवाला हो वह किसीभी अवस्थामें हो, वह यदि समदर्शी होगा तो वह समदृष्टिसे ईश्वरसेवा करके योग्य आचरण करता हुआ निःसन्देह मुक्त हो सकता है।

समदर्शनसे निर्दोषता भी आती है जिससे विजय प्राप्त होती है, अमरत्व प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष भी मिलता है। समदृष्टि होनेसेही उसके सब बंधन दूर जाते हैं। क्योंकि सब बंधन विषम दृष्टि रहनेसेही सताते हैं।

समदृष्टि होनेसे व्यावहारिक व्यवहारमें समवर्तन नहीं होता। जैसा देखिये कि कोई समदृष्टिवाला महात्मा है तो वह पंडितको भी दान देगा और गधेको भी दान देगा ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। व्यवहारमें आवश्यक भेदभाव रहेगा। परंतु समदृष्टिवाला मनुष्य आत्मभावनासे सब भूतों की ओर देखेगा और वैसाही कहेगा कि "जैसा अन्न तथा जल के बिना मुझे कष्ट होते हैं, वैसेही घासके न मिलनेसे भी प्राणियोंको कष्ट पहुंचते हैं।" इस तरह सर्वत्र एक आत्माका मनन वह करता है और सबके हितके लिये स्वयं सेवा करनेको उद्युक्त होता हुआ सब भूतोंके लिये आत्म-समर्पण करता है सर्वभूतोंकी स्वयं सेवा करता है।

सर्वत्र समदृष्टि होनेसे सर्वत्र ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और वह साधक भी अन्तमें स्वयं ब्रह्म बनता है। जो मनुष्य सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार करेगा, वह आचरणसे भी शुद्ध बनेगा और पवित्र होता हुआ निष्कलंक होगा।

अपनेमें समदर्शन

सर्वत्र समदर्शन करनेका और एक उपाय है। अपने शरीरमें देखिये- मुख, बाहु छाती पेट, जांघें और पांव ये अवयव हैं, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय ये दस इंद्रिय भी हैं। इनमें आंख मुख आदि इन्द्रिय सुन्दर हैं, गुदा मलत्यागका इन्द्रिय है इसलिये वह मलिन है। इतर अथवा अवयव सुन्दर हों या मलिन हों उनमें जीवात्मा कार्य समभावसे साथ हो रहा है। सुन्दर मुखमेंही जीवात्मा है और मलिन पांवमें नहीं ऐसी बात नहीं है। सब शरीरमें वह जीवरूपसे सर्वत्र सम विद्यमान है। पाठक अपने शरीरमें वह आत्माकी समताकी स्थिति देखेंगे तो परमात्माकी विश्वमें समत्वसे अवस्थिति कैसी है इसका ज्ञान उनको हो सकता है। क्योंकि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें नियम एकही है। अतः जो साधक अपनी देहमें आत्मा का समत्व देखेगा वही विश्वमें परमात्माका समत्व जान सकता है। वेदमें भी यही बात कही है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
(अथर्व १०।७।१७)

"जो मनुष्यमेंही ब्रह्मका दर्शन करते हैं, वे ही निश्चयसे परमेष्ठी प्रजापति परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं।" इसलिये सबसे प्रथम अपने देहमें समत्व देखना उचित है। तत्पश्चात् वही ज्ञान संपूर्ण विश्वमें अपनेमें संपूर्ण विश्व समायाही क्या है ऐसा प्रतीत होगा। यही विश्वसमदर्शन है।

इस तरह जिसकी दृष्टि सम होती है वह पूर्ण ब्रह्म बनता है और सबको वंद्य होता है। इसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् । स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

अन्वयः— प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्, अप्रियं प्राप्य च न उद्विजेत् एवं स्थिरबुद्धिः असंमूढः ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥ बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा (सः) आत्मनि यत् सुखं विन्दति (तत्) अक्षयं सुखं सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अश्नुते ॥ २१ ॥

जो प्रिय वस्तुको प्राप्तकर हर्षित नहीं होता और अप्रियकी प्राप्ति होनेसे उद्विग्न नहीं होता वह स्थिर बुद्धिवाला और कभी मोहमें न फसनेवाला ब्रह्मज्ञानी मानो ब्रह्ममें ही स्थिर हुआ है ॥ २० ॥ जो बाह्य विषय भोगोंमें आसक्त नहीं होता वह अपनी आत्मामें जिस सुखको प्राप्त करता है वही अक्षय सुख ब्रह्मयोगमें अपने आपको तत्पर करनेवालेको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ— प्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे हर्ष न करो अप्रिय वस्तु मिली तो दुःख न करो, दोनों अवस्थाओंमें ऐसी समबुद्धि रखो कि वे दोनोंकी अनित्यतामें हो सकती है। इस तरह बुद्धिको स्थिर रखो किसी मोहजालमें न फंसो। इससे मनकी स्थिरता प्राप्त होगी। बाह्य भोगोंमें आसक्त न होनेसे जो मनकी शान्ति होती है, उससे स्वयं अपनी आत्मामें अपार प्रसन्नता होती है। इसी तरह ब्रह्मके साथ अपनी तन्मयता करनेसे भी वैसा ही अक्षय सुख अनुभवमें आता है ॥ २०-२१ ॥

(२०-२१) साधारण मनुष्य और ब्रह्मज्ञानी इन दोनोंकी पहचान किस तरह कर सकते हैं? यह प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है। इसका उत्तर इन श्लोकोंमें दिया गया है।

साधारण मनुष्य

साधारण मनुष्य प्रिय वस्तुको प्राप्त कर ऐसा उन्मत्त होता है कि मानो बेहोशसा बनता है। साधारण मनुष्यको विशेष अधिकार या ओहदा प्राप्त होनेसे बहुत धन मिलनेसे उत्तम स्त्री आदि मिलनेसे बहुतही घमंड करता है किसीकी भी पर्वाह नहीं करता और उन्मत्त होकर ऐसा प्रमाद करता है कि उससे उसका अधःपातही होता है। इसी तरह अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे ओहदेपरसे उतारनेसे अपमान प्राप्त होनेसे स्त्री आदिका साहचर्य नष्ट होनेसे अथवा कोई सांसारिक आपत्ति उत्पन्न होनेसे ऐसा दुःख करने लगता है कि उस दुःखके कारण उसकी बुद्धि निकम्मी हो जाती है इस प्रकारके मनुष्य सुख प्राप्त होनेपर अथवा दुःख प्राप्त होनेपर किसी कामके नहीं रहते और इनका जीवन व्यर्थसा होता है। अनुकूल परिस्थितिमें अत्यधिक घमंड होनेके कारण और प्रतिकूल परिस्थितिमें खेद होनेके कारण उनका मन कोई भी शुभ कर्म करनेयोग्य स्थिर नहीं रह सकता।

एक मनुष्य राजकार्य करता है प्रजाके उद्धारमें दत्त-चित्त होता है इसको राजपुरुष कह देते हैं। यदि इस कष्टोंके प्राप्त होनेपर वह उदास और निरुत्साह बनेगा तो उससे कोई कार्य नहीं बन सकता। अतः मन ऐसा बनाना चाहिये कि जो समयपर फूलोंसे भी मृदु हो और दूसरे समयपर वज्रसे भी कठोर हो, परंतु परिस्थितिके दबावसे न दब जावे। जैसा पर्वत भूगर्भके दबावसे नहीं बहता न वायुके वेगसे उड़ता है मेघोंसे वृष्टि होनेपर भी अटल और स्थिर रहता है उस प्रकार वह स्थिर रहे।

कुछ लोग जब अधिकारपर आते हैं, तब वे सज्जनोंको कष्ट देते हैं, मारते हैं, पीटते हैं अनंत दुःख देते हैं। ये दुःख शरीरको होंगेही। ऐसी कोई बात नहीं है कि महात्माके शरीरपर ताड़न करनेसे उसको दुःख नहीं होता। ताड़नसे भूखसे या अन्य कष्टसे दुःख होना शरीरका धर्मही है। साधारण मनुष्य इन दुःखोंके वशमें हो जाता है इस लिये असमर्थ बनता है। परंतु वह मनुष्य शरीरको ताड़नाके दुःख होनेकी अवस्थामेंभी अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होता। शत्रु उसे ताड़न करें अथवा मित्र उसे सुख देवें उसका शरीर सुखमें रहे या कष्टमें रहे उसका मन सदा समवृत्तिसे शुद्ध और शांत रहता है।

जो परिस्थितिके दबावसे नहीं दबता, परंतु अपने मनको परिस्थितिसे ऊंचा उठाकर उच्च स्थितिमें रखता है वही स्थिरबुद्धिवाला है। जो स्थिरबुद्धि होता है वह मूढ नहीं बनता। जो परिस्थितिके दबावसे दबता है वही मूढ है।

उसका किसी तरह कुछ भी नहीं होता। बस मूढकी बुद्धि संसारके प्रवाहसे बहती चली जाती है। बाहरके दुःखसे दुःखी और बाहरके सुखसे सुखी होनाही संसारके प्रवाहसे बह जाना है। ऐसे प्रवाहसे बह जानेवाले लोग किसी कामके नहीं होते। महा-प्रवाहमें गिरनेपर भी जो अपने बलसे परली पार हो जाते हैं ऐसी स्थिर-बुद्धिवाले बड़े वीर हैं। ऐसे जागृत होते हैं और ऐसेही श्रेष्ठ लोग चक्रवर्ती होते हैं। इनकी तुलना करनेसे बड़ा बोध प्राप्त होता है अतः यहां तुलनाका कोष्टक दिया जाता है।

प्रज्ञाकामी	समूढ
प्रियं प्राप्य न प्रहृष्यति	प्रियं प्राप्य हर्षति
(प्रियसे हर्षित नहीं होता)	(प्रियसे हर्षित होता है)
अप्रियं प्राप्य नोद्विजति	अप्रियं प्राप्य उद्विजति।
(अप्रियसे खिन्न नहीं होता)	(अप्रियसे खिन्न होता है)
असंमूढः।	संमूढः।
(मूढ नहीं बनता)	(मूढ बनता है)
स्थिरबुद्धिः।	चंचलबुद्धिः।
(स्थिर होता है)	(चंचल होता है)
भोगेषु असक्तः।	भोगेषु सक्तः।
(भोगोंमें सक्त नहीं होता)	(भोगोंमें रमता है)
आत्मनि सुखं विन्दति।	बाह्यभोगेषु सुखं विन्दति
(आत्मामेंही सुख पाता है)	(बाह्य भोगोंसे सुख लेता है)
अक्षयं सुखं अश्नुते।	किंचित् सुखं किंचित् दुःखं अश्नुते।
(अक्षय सुख पाता है)	(कभी सुख कभी दुःख अनुभवता है)

इस तरह संसारी और प्रज्ञाकामीका स्वरूप होता है। पाठक यहां यह न समझें कि प्रज्ञाकामी मनुष्य संसारमें विजयी नहीं हो सकता। वस्तुतः वह संसारमें विजय प्राप्त करता हुआ परमार्थका भी साधन कर सकता है। संसारी करके जिसका वर्णन ऊपर दिया है वह सर्वसाधारण मूढ मनुष्य है। संसारमें विजयी होकर रहनेके लिये भी स्थिरबुद्धि और अनासक्त ही बनना चाहिये। अर्थात् प्रज्ञाकामीका जो वर्णन ऊपर दिया है वह संसारके प्रवाहके साथ बहता नहीं परंतु संसारके प्रवाहको अपने पीछे लाता है संसारके प्रवाह को अपने मतानुसार चलाता है संसारका प्रमुख प्राप्त करता है। संसारी मनुष्य संसारके प्रवाहका गुलाम होकर रहता है प्रज्ञाकामी मनुष्य संसारको अपने अधीन रखता है। प्रज्ञाकामी मनुष्य संसारको अपना खेल बनाता है और संसारी जीव स्वयं संसारका खेल बनता है। पाठक यह भेद विचारसे ध्यानमें रखें और दोनोंकी योग्यता जानें।

अन्तःस्रोत

मनुष्यकी आत्मामें आनंदका अखंड स्रोत है। मनुष्यकी बाह्य प्रवृत्ति दूर गयी तो वह शुरू होता है। सर्वसाधारण मनुष्य मानता है कि बाहरके पदार्थ प्राप्त होनेसेही सुख मिलता है, परंतु यह उसका भ्रम है। अनुभवके लिये देखिये कि मनुष्य स्वप्नमें सामान्यतः और गाढ निद्रामें विशेषतः जिस सुखका अनुभव करता है वह किसी भी बाह्य पदार्थके कारण नहीं होता, प्रत्युत वह अन्दरसे उसको मिलता है। प्रत्येक मनुष्य इस सुखका अनुभव प्रतिदिन लेता है। जबतक बाह्य भोगोंमें मनुष्य रत होता है तबतक यह अन्दरका आनंदका अन्तःस्रोत बंद रहता है। जैसी जैसी भोगोंपरकी इसकी प्रवृत्ति दूर जाती है, वैसे वह अपनी आत्माके सुखके अखंड स्रोतका अनुभव करने लगता है। अतः कहा है—

बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि सुखं विन्दति।
(गी० ५।२१)

बाह्य भोगोंपर आसक्त न होनेसे अपनी आत्मामें एक विलक्षण सुख है, इस बातका अनुभव होता है। यही सुख मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। यह सुख अक्षय है, अन्तर्मुख होनेसेही यह प्राप्त होता है। बाह्य भोग क्षणभंगुर हैं। क्षणभंगुर भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख भी क्षणभंगुर ही होगा। क्षणभंगुर सुख क्षणभर रहकर फिर नष्ट होता है। इससे क्या लाभ होगा? मनुष्यको तो अक्षय सुखकी इच्छा है। वह कभी बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

देखिये जल पीनेसे सुख होता है परंतु तृषा उत्पन्न होनी चाहिये और उत्तम जल भी चाहिये। अब्बल, तृषा तो उत्पन्न हो और जल भी मिला तो भी थोडासा जल पीनेसेही तृषा शांत हो जाती है। और जब तृषा शांत होगी तब उस जलसे कोई सुख नहीं होगा। इसी तरह सब बाह्य भोगोंकी बात है। एक क्षणमें जो भोग सुख देंगे वेही भोग दूसरे क्षणमें सुख नहीं दे सकते। ऐसे अनिश्चित परिणामोंपर जो स्थिर

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे कौन्तेय ! ये हि संस्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः आद्यन्तवन्तः एव तेषु बुधः न रमते ॥ २२ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जो उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले भोग हैं वे दुःखके कारण हैं और वे आदि अन्तवाले अर्थात् उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं अतः इनमें ज्ञानी नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—विषयोंका इन्द्रियोंके साथ उत्तम स्पर्श होनेसे जो सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है वह निःसन्देह दुःखका कारण है। और वह सुख उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होनेवाला है अतः बुद्धिमान् मनुष्य उन भोगोंमें नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

रखेंगे वेही भ्रान्त और मूढ पुरुष हैं।

वस्तुतः बाह्य भोगोंमें कोई सुख नहीं होता है। सब सुख अन्दरही अन्दर है। तृष्णा लगतेही मानवकी प्रवृत्ति अन्नकी ओर होती है, अन्न मिलतेही उसकी बहिःप्रवृत्ति हटती है उस समय उसकी वृत्ति स्वरूपमें अर्थात् अपनी आत्मामें होती है यही अन्तर्मुख वृत्ति है। और वृत्ति अन्तर्मुख होतेही सुख होता है। कोई बाह्य विषय किसीको सुख देता है ऐसा मानना मूढताही हो सकता है। मनुष्यको सर्वदा जो सुख होता है वह उसको अपनी आत्मासेही प्राप्त होता है। यही अक्षय सुख है। ऐसा होते हुए सब संसारी जीव भोगोंके समझमें लगे रहते हैं, यही इस जगत्में एक आश्चर्य है! यही मूढता है और यही भ्रम है।

ब्रह्मयोग

मनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख करना और बाह्य प्रवृत्तिको हटाना यही ब्रह्मयोग है। सर्वत्र ब्रह्म है सर्व जगत् ब्रह्ममय है ऐसा अनुभव करना, वह ब्रह्म अपने अन्दर है यह जानकर उसके साथ अपनी आत्माका योग करनेका नाम ब्रह्मयोग है। ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा बनना चाहिये। ब्रह्मके साथ अपनी आत्माका निरंतर योग करनेसे और उस ब्रह्मकी कभी विस्मृति न होनेसे निरंतर ब्रह्मपरायणता प्राप्त होती है। जैसा संसारी जीव सदासर्वदा संसारका विचार करता है वैसाही ब्रह्मज्ञानी महात्मा सदा सर्वदा ब्रह्मपरायण होता है। जो ब्रह्मपरायण होता है वह ब्रह्म बनकर अक्षय सुख प्राप्त करता है।

ब्रह्मपरायण होनेवाला ज्ञानी कभी सांसारिक भोगोंमें नहीं फँसता क्योंकि उसको रहित सांसारिक भोग तुच्छ होते हैं। यही बात आगेके श्लोकमें कही है—

(२१) अब भोग संस्पर्शसे उत्पन्न होनेवाले हैं। स्पर्शके कई भेद हैं स्पर्श सामान्य किंवा सुस्पर्श कुस्पर्श ये

स्पर्शोंका विचार करनेके समय विचारमें लाना योग्य है। स्पर्श शब्द सामान्य संबंधका वाचक है। बुरे दुःखदायी स्पर्शको कुस्पर्श कहते हैं और उत्तम सुखदायी स्पर्शको संस्पर्श किंवा सुस्पर्श कहते हैं। बुरे स्पर्श अर्थात् कुस्पर्शका विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि कोई मनुष्य कुस्पर्शके विषयमें फँसता नहीं। जहांसे कुस्पर्श होता है वहांसे वह भाग जाता है। मनुष्य जो फँसते हैं वे सुस्पर्श अथवा संस्पर्शमेंही फँसते हैं, अतः यहां कहा है कि जो भोग इस उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होते हैं और उनसे जिस सुखका अनुभव होता है ऐसा लोग मानते हैं वह सुख सच्चा सुख नहीं है प्रत्युत वह सुख दुःख बढानेवाला है। अतः उन भोगोंमें फँसना योग्य नहीं है। ये भोग आदि अन्तवाले होते हैं, अर्थात् ये एक समयमें उत्पन्न होते हैं और दूसरे समयमें विनाशको प्राप्त होते हैं। अतः ये क्षणभंगुर हैं इसलिये अस्थायी सुखमें फँसना किसीको योग्य नहीं है इसी कारण ज्ञानी लोग भोगोंमें नहीं फँसते। यह इस श्लोकका आशय है। इसका विशेष विचार करना चाहिये।

सुस्पर्शसे सुख कैसा प्राप्त होता है इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्यका है। जिस समय शीत लगता है उस समय गरम कपडोंका उष्ण स्पर्श सुखदायी प्रतीत होता है परंतु वह उष्ण स्पर्श तबतकही सुखदायक होता है कि जबतक शीत बाधा होती रहती है। जिस क्षणमें शीतबाधा हट गयी उसी क्षण उष्ण स्पर्शसे होनेवाला सुख भी हट जाता है। इसी कारण कहा है कि वह संस्पर्शसे होनेवाला सुख आद्यन्तवान् है।

भूख लगनेकी अवस्थामें मधुर अन्नका स्पर्श सुख देता है। जबतक भूख रहती है तबतक ही अन्नसे सुख होता है। जिस समय भूख दूर होती है उसी समय अन्नसे सुख होना

भावार्थ— मनुष्य इस लोकमें रहता हुआ शरीरका नाश होनेके पूर्व अर्थात् जबतक शरीर है तबतकही काम और [क्रोध]के वेगको सहे उस वेगके वशमें न होवे, परंतु वह वेग आनेपर भी अपने आपको अचल रखे। जो इस वेगको जीतेगा [वह]ी सुखी होगा। इन वेगोंको जीतनाही योग है ॥ २३ ॥

(२३) इससे पूर्व दो प्रकारके योग कहे हैं- (१) [कर्]मेंमें कुशलता [२।५०] और (२) इन्द्रियोंके विषयमें समभाव [२।४८] ये दो योग हैं। तीसरा योग इस [श्ल]ोकमें कहा है (३) कामक्रोधोंके वेगोंको सहना [५।२३] [य]ह भी बडा भारी योग है। इस योगके आचरणसे मनुष्य [क]ो सच्चा स्थायी सुख प्राप्त होता है। कर्म-कौशलरूप योगसे [उत्त]म कर्म बनते हैं, द्वन्द्वविषयक समभावरूप योगसे [इ]न्द्रियोंसे कष्ट नहीं होता और कामक्रोध वेग सहनेसे अपना [बल] बढता है। ये तीनों योग बहुतही महत्त्वके हैं और [आत्म]बलकी निःसन्देह उन्नति करनेवाले हैं।

कामका वेग और क्रोधका वेग ये बडे भारी वेग हैं। विश्वामित्र बडी भारी तपस्या करता था। परंतु एक दिन मेनका नामक एक अप्सरा दर्शन होतेही उसके मनमें काम का वेग ऐसा बढ गया कि अन्तमें वह तपस्यासेही भ्रष्ट [ह]ुआ। दूसरे शुकाचार्य भी बाल ब्रह्मचारी तपस्वी थे उनकी [त]पस्याका भंग करनेके लिये भी एक अप्सरा आयी थी। [प]रंतु वे कामके वेगको सहनेवाले थे अतः कामवेग उस [श]ुकाचार्यजीके मनको चंचायमान नहीं कर सका। यह मनो[बल]का भेद है। विश्वामित्रका मन कामवेग सहन करनेमें [स]मर्थ नहीं हुआ। कदाचित् वहां ऐसा भी कहना संभव है [कि] शुकाचार्यके मनमें काम उत्पन्नही नहीं हुआ और विश्वा[मित्र]के मनको कामवेगने बहा दिया। कामके वेगको सह[ने]की अपेक्षा मनमें कामकी उत्पत्तिही नहीं हुई तो वह [स्थि]ति अधिकही उच्च है इसमें संदेहही नहीं। अस्तु। इन दो [उदाह]रणोंसे पाठकोंके मनमें कामके वेगको सहने और न [सहने]का आशय स्थिर हो सकता है। कामके वेगको न सहने[वाले] ही प्रायः सब संसारी मनुष्य होते हैं। मनकी निर्बल[ताके] कारण इनका कमजोर मन कामके वेगसे चंचल [होता]। होता है मानो जलप्रवाहमें पडे हुए पत्तेके समान [काम]क्रोधके साथ बहता चला जाता है। इस प्रकारके काम[क्रोध]के साथ बहनेवाले मनको कदापि स्थिरता और शान्ति [नह]ीं होती। वह सदा अशान्त तथा तडफडता रहता है। [ ]कितना भी वायुका वेग हुआ तो भी पर्वत स्थिर रहता है क्योंकि वह प्रबल वायुवेगको सह सकता है, परंतु थोडासा वायु वृक्षोंके पत्तोंको हिलाता है क्योंकि वे वायुवेगको नहीं सह सकते। इससे स्पष्ट है कि शत्रुका वेग सहनेके लिये अपने अन्दर विशेष शक्ति चाहिये और शत्रुके वेगसे उखड जानेके लिये अपनी निर्बलताही कारण हो सकती है।

वेदमें सहमान और असह्य ये दो शब्द इसी अर्थके संबंधमें विशेष मनन करने योग्य हैं। सहमान का अर्थ शत्रुके वेगको सहन करके अपने स्थानमें स्थिर रहने वाला, और असह्य का अर्थ जिसका वेग शत्रुको असह्य होता है। ये दोनों शब्द अपने सामर्थ्यके द्योतक हैं। यही भाव कामक्रोधके वेगको सहने का है। कामक्रोधके वेगको सहनेका अर्थ उनसे अपनी शक्ति अधिक करना और उनको अपने वशमें करना है। अपनी शक्ति अधिक करनेसेही शत्रु अपने अधीन हो सकता है और अपनी शक्ति कम होनेसे शत्रुका अधिकार अपने ऊपर होता है।

" जो मनुष्य इसी देहमें, इसी जन्ममें अर्थात् मृत्युके पूर्व कामक्रोधके वेगको सह सकता है अर्थात् कामको और क्रोधको अपने वशमें करता है, अपने ऊपर उनका शासन होने नहीं देता वही योगी और वही सुखी है। "

कामका हमला हुआ और यदि मनुष्यका मन निर्बल हुआ तो मनपर कामका प्रभुत्व होता है इससे सब शरीरमें एक प्रकारकी विलक्षण हलचल शुरू होती है इस हलचल का परिणाम वीर्यपर होता है। वीर्य निकलता है प्रवाह है और सब शरीरकी कमजोरी होती है। मस्तिष्ककी शक्ति क्षीण होती है। इस तरह शारीरिक ओज और मस्तिष्कका बल क्षीण होता है। यदि बारबार कामवेगके हमले शुरू हुए और प्रतिवार इसकी विफलता सिद्ध होने लगी तो क्षयसे क्षय आदि बीमारियां होती हैं और अन्तमें मनुष्य मृत्युके वश होता है।

इसी प्रकार क्रोधके वेगसे शरीरमें रक्तके जीवनकण नष्ट होते हैं और रक्त निर्जीवसा बनता है मस्तिष्कमें भ्रम होता है और यदि क्रोधका वेग बढ गया तो मनुष्य पागल सा

(१२) ब्रह्मनिर्वाण

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः । स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

अन्वय।— यः अन्तःसुखः, अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव सः योगी ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति ॥ २४ ॥ क्षीणकल्मषाः, छिन्नद्वैधाः यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ॥ २५ ॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनां अभितः ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥ २६ ॥

जिसे अन्दरसे सुख प्राप्त होता है जिसके अन्दर शान्ति रहती है तथा जिसके अन्दर प्रकाश (ज्ञान) हुआ है, वह योगी स्वयं ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ जिसके सब पाप न(ष्ट) हुए जिनके सब सन्देह दूर हो चुके हैं जिन्होंने अपना संयम किया है और जो सब प्राणिमात्रके हितमें लगे हुए हैं वे अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्य ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करते हैं ॥ २५ जिन्होंने काम और क्रोधका त्याग किया है अपना संयम किया है अपनेको पहचाना है उन संयमीयोंके लिये चारों ओर सदा ब्रह्मकी शान्ति रहती है ॥ २६ ॥

अशान्तसा बनता है। इस रीतिसे देखा जाय तो काम और क्रोध ये दोनों प्रबल शत्रु हैं अतः उनका वेग बढ़ने नहीं देना चाहिये। गीतामें अन्यत्र कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गी ३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध भोगोंसे तृप्त न होनेवाले और महापापी हैं। इनको तू अपने वैरी समझ।' ये शत्रु हैं ऐसा मानकर इनसे सदा सावधान रहना चाहिये। तथा—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥
(गी १६।१२)

कामी और क्रोधी लोग सैकड़ों आशाओंके पाशोंसे बद्ध होते हैं और अपने विषयभोगोंके लिये अन्यायपूर्वक अपने पास अधिकाधिक द्रव्य संचय करते हैं। और इसी संचयके कारण मनुष्योंके समाजमें विविध कलह बढ़ते हैं तथा—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
(गी ५।२६)

जिन्होंने कामको और क्रोधको परास्त किया है जिन्होंने अपने मनको स्वाधीन रखा है और जिनको अपनी आत्माका ज्ञान हुआ है ऐसे संयमी यतियोंको सर्वत्र ब्रह्म अनुभवमें आता है।" यह है काम और क्रोधके त्यागनेका फल। तथा और देखिये—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
(गी १६।१६)

'जो अनेक भ्रमोंमें पड़े मोहजालोंमें फंसे और काम भोगोंमें आसक्त होते हैं, वे अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

इस तरह कामक्रोधमें फंसनेका परिणाम भयानक अधःपात होनेमें होता है और कामक्रोधका संयम करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इस लिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह कामक्रोधोंके वेगको रोकनेके योगका अभ्यास करे। इस योगका अभ्यास प्रत्येक दिन मनुष्य कर सकता है। रात्रिके सोनेके पूर्व एकान्तमें बैठकर अपने दैनिक जीवनका विचार मनुष्य करे और सोचे कि कामका वेग अथवा क्रोधका वेग कितनी बार अपने ऊपर चढ़ आया, उस समय मैं उस वेगसे बह गया अथवा मैंने उसको दूर किया। इसका विचार करके साधक परमेश्वरकी प्रार्थना करे कि इस वेगके सहनेका बल मुझमें बढ़े और मुझे इस योगकी सिद्धि प्राप्त होवे। पुनः प्रातःकाल उठकर मनुष्य निश्चय करे कि आजके दिन मैं कामक्रोधके वेगको सहूंगा और उस वेगसे परास्त न होऊंगा। इस तरह आत्मपरीक्षा करनेसे मनुष्यमें

भावार्थ— जिनको किसी बाह्य कारणके बिनाही अन्दरही अन्दरसे सुख प्राप्त होता है, जिनके अन्तःकरणमें अटल शान्ति रहती है, जिनको अन्तर्यामी आत्माका ज्ञान हुआ है, जिनके सब पाप और सब सन्देह दूर हो चुके हैं, जिन्होंने अपना पूर्ण संयम किया है तथा जो सब प्राणिमात्रोंके हितमें अपने आपको लगानेमें आनंद मानते हैं, जिन्होंने कामक्रोधका त्याग किया है, उन संयमी अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्योंको ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है ॥ २४-२६ ॥

यह बल बढ सकता है और उसका मन उच्च वेग सहनेमें समर्थ हो सकता है। यही इस योगकी सिद्धि है। इसी सिद्धिको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। इसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें देखिये—

(२४-२६) इन तीन श्लोकोंमें मनुष्यमात्रका अन्तिम ध्येय जो "ब्रह्मनिर्वाण" है वह कौन प्राप्त कर सकते हैं, इस बातका वर्णन है। इन श्लोकोंके मननसे ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करनेवाले और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति न करनेवाले ऐसे द्विविध जन होते हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इन दोनोंके स्वभाव कैसे होते हैं, इसका विचार अब देखिये—

ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करनेवाले	ब्रह्मनिर्वाण जिनको प्राप्त नहीं होता।
अन्तःसुखः- जिनको अपने अन्दरही अन्दर सुख प्राप्त होता है।	(१) जिनको केवल बाह्य विषयोंसेही सुख मिलता है जो कि वास्तवमें दुःखका हेतु है। (५।२२)
अन्तरारामः- जिनकी अन्तरात्मामें शान्ति स्थिर रहती है। जो निजानन्दसे आनन्दित होते हैं।	(२) जिनके अन्दर और बाहर सदा अशान्ति रहती है। जो दिनरात तडपते रहते हैं।
(३) अन्तर्ज्योतिः। विदितात्मा ऋषि जिनके अन्दर प्रकाश है आत्माका ज्ञान हुआ है। जिनकी अन्तःस्फूर्तिसे सब सन्देह निवृत्त होते हैं। जो अतीन्द्रियार्थदर्शी हैं ज्ञानी हैं।	(३) जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ जिनको अन्तःस्फूर्ति नहीं होती जिनको सांसारिक विद्या होनेपर भी आत्मज्ञान नहीं है अथवा दोनों नहीं हैं।
(४) ब्रह्मभूतः- ब्रह्मके समान जो निष्पाप बना है।	(४) जिनके विचार संकुचित हैं जिनकी दृष्टि विशाल नहीं है।
(५) क्षीणकल्मषाः जो निष्पाप हैं।	(५) जो पाप करते हैं।
(६) छिन्नद्वैधाः जिनके संदेह और द्वन्द्व भाव नष्ट हुए हैं।	(६) जो संदेहग्रस्त हैं और जो द्वन्द्वोंमें फंसे रहते हैं।
(७) यतात्मा यत चेतसः यतिः जिन्होंने अपना संयम किया है।	(७) जो स्वैर आचार करते हैं।
(८) सर्वभूतहित रताः सर्व प्राणिमात्रोंके हितमें तत्पर।	(८) दूसरोंका घातपात करके अपना सुख बढाने वाले।
(९) कामक्रोधवियुक्ताः जिन्होंने काम और क्रोधका त्याग किया है।	(९) जो कामी और क्रोधी होते हैं।
(१०) ब्रह्मनिर्वाणं अभितो वर्तते अभितः वर्तते ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त होती है, चारों ओर होती है।	(१०) सदा अशान्त रहते हैं।

पाठक यदि इस कोष्टकका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको पता लगेगा कि किस साधनसे कौन मनुष्य ब्रह्मकी शान्ति प्राप्त करते हैं। इस कोष्टकके मननसे जो ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्तिका साधन निश्चित होता है वह निम्नलिखित है—

ब्रह्मनिर्वाणका साधन

पापका आचरण न करना, पापविचार दूर करना, ज्ञान प्राप्तिसे सब संदेह दूर करना, द्वन्द्वभाव दूर करना, मनके विकार न करना, इंद्रियोंका मनका और आत्माका संयम करना, इंद्रियोंको अपने आधीन करना, स्वैराचार बन्द करना, कामक्रोध आदि अन्तःशत्रुओंका निराम करना, विषयलंपटता छोड देना, सब प्राणियोंका हित करनेमें आत्मसमर्पण करना,

(१३) सदा मुक्त

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः । प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अन्वयः— यः मुनिः बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा चक्षुः च एव भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा, प्राणापानौ च नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिः विगतेच्छाभयक्रोधः मोक्षपरायणः (स्यात्) सः सदा मुक्तः एव ॥ २७-२८ ॥

जो मुनि बाह्य विषयोंको बाहरही त्यागकर दृष्टिको भृकुटीके बीच स्थिर करके, प्राण और अपान को नासिकाके अन्दर संचार करते हुए सम करके इंद्रियां, मन और बुद्धिको वशमें करके इच्छा-भय-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षपरायण होता है वही सदा मुक्त है ॥ २७-२८ ॥

भावार्थ— जो मौनावलंबन करके बाह्य विषयोंको त्यागता है दृष्टिको दोनों भौहोंके बीचमें स्थिर रखता है प्राण और अपानकी गतिको सम करता है इन्द्रियां मन और बुद्धिको वशमें रखता है, इच्छा भय और क्रोधको दूर रखता है और केवल मनकी शान्ति प्राप्त करनेमें तत्पर रहता है, वही सदा मुक्त होता है ॥ २७-२८ ॥

ब्रह्मचारित्व बचन ये हैं साधन जिनसे ब्रह्मप्राप्ति होती है ।

ये साधन करते रहनेसे मनुष्यकी एक एक शक्ति विकास को प्राप्त होती है। और साधनका महत्त्व उसे ज्ञात होता है। जब साधन विशेष अधिक होता है तब निम्नलिखित अनुभव उसे प्राप्त होते हैं—

उसकी आत्मामें अन्दरही अन्दर बिना किसी बाह्य कारण के अपूर्व सुख और आनन्द होता है, वह अकारण आनंद होता है और किसी बाह्य कारणसे वह नष्ट नहीं होता। इसको सहजानन्द कहते हैं। जैसा आनंदयुक्त बालकका मुख प्रसन्न होता है वैसी उसकी वृत्ति सदा प्रसन्न होती है आन्तरिक शान्ति रहती है जगत्का कोई कारण उसको अशान्त करनेमें असमर्थ होता है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अन्दर प्रकाश है ' मैं अपने प्रकाशसे जगत्को प्रकाशित कर रहा हूं ' यह उसका अनुभव होता है। सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान उसका होता है। उसका मन विशाल होता है। संकुचित और संकीर्ण भाव उसमें कदापि नहीं होते। पापकी प्रवृत्ति उसकी दूर जाती है ' मैं अन्य जगत्से भिन्न हूं और जगत् वास्तविक है और वह मुझसे भिन्न है ' यह द्वैतभाव दूर जाता है और द्वैतभावके कारण उत्पन्न होनेवाले सब संदेह दूर होते हैं। स्वभावसे संयम होता है कभी मन विषयोंकी ओर दौडता ही नहीं। सब प्राणियोंका हित करना वह अपना कर्तव्य समझता है इतनाही नहीं परंतु सबका हित करनेसेही उसको आनन्द होता है। सर्वभूत-सेवाको वह अपना आत्मको कृतकृत्य हुआ समझता है। सब भूतोंकी सेवा निष्काम भावसे करता उसके मन सर्वदा निर्भय होता है। वह न कभी कामविषयमें लिप्त होता है और न क्रोधके वश होता है, तथा लोभ और मत्सरसे भी वह दूर होता है।

ऐसे मनुष्यके चारों ओर ब्रह्मकी शान्ति सदा बसती रहती है। अर्थात् वह सदा ब्राह्मी शान्तिका अनुभव करता है। ब्रह्मनिर्वाण का विशेष वर्णन चतुर्थ अध्यायके अन्तमें विवरणमें किया है वह विषय पाठक वहां देखें। अस्तु। यह सब ब्रह्मप्राप्तिका साधन और फल है। पाठक इसका अच्छी प्रकार मनन करें। वही विषय कुछ अन्य शब्दों द्वारा भगवान् पुनः कहते हैं, वह उपदेश अब देखिये—

(२७-२८) इन दो श्लोकोंमें सदा मुक्त रहनेवालेके लक्षण और साधन बताये हैं। इन श्लोकोंका मनन करनेके लिये सदा मुक्त और सदा बद्धके लक्षणोंका विचार करना चाहिये। यह विचार निम्नलिखित कोष्टकमें दिया है—

सदा मुक्त	सदा बद्ध
(१) मुनिः मौन धारण करता है अल्प भाषण करता है।	(१) बहुत बक बक करता है।
(२) स्पर्शान् बहिः कृत्वा- विषयभोगोंका बहिष्कार करता है।	(२) विषयभोगोंमें फंसता है।
(३) चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा- दृष्टिको मध्यमें	(३) दृष्टि चंचल रहती है।

स्थिर करता है । दृष्टिको स्थिर करता है ।	
(४) प्राणापानौ समौ कृत्वा प्राण-अपानोंकी गति सम करता है ।	(४) प्राण अपानोंकी गति विषम होती है ।
(५) यतेन्द्रियमनो बुद्धिः- इंद्रियां मन और बुद्धिका संयम करता है ।	(५) इंद्रियां मन और बुद्धिको स्वैर छोडता है ।
(६) विगतेच्छाभय क्रोधः (गी ५।२८); वीतरागभयक्रोधः (गी २।५६;४।१०) इच्छा भय और क्रोधका त्याग करता है ।	(६) इच्छा भय और क्रोधसे युक्त होता है
(७) मोक्षपरायणः- मुक्तिके मार्गमें तत्पर रहता है ।	(७) मुक्त होनेका विचार ही नहीं करता बंधनमें आनंद से रहता है ।

पाठक इस श्लोकका विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मुक्तिका मार्ग कौनसा है और बंधनका मार्ग कौनसा है । जो बहुत बोलते हैं, व्यसनोंमें फंसते हैं, विषयोंके पीछे पडे रहते हैं, इंद्रियोंको स्वैराचारी बनाते हैं कामनाओंके पीछे दौडते जाते हैं क्रोधसे जलते हुए होते हैं, भविष्यके विषयमें डरते हैं, जो चंचल वृत्तिवाले होते हैं, वे सब बंधनमें बद्ध रहते रहेंगे। जबतक उनके ये आचार रहेंगे तबतक उनकी बंधनसे निवृत्ति होनेकी आशा नहीं है।

परंतु जो मौनावलंबन करते हैं, अथवा अल्प भाषण करते हैं, विषयभोगोंको दूर रखते हैं, दृष्टि स्थिर करते हैं इंद्रियोंका संयम करते हैं कामना भय और क्रोधको दूर रखते हैं अपने बंधनको दूर करनेका उद्योग करनेमें तत्पर होते हैं, वे मुक्त होते हैं ।

साधारणतः बंध और मुक्त होनेका हेतु यह है । अब इसका थोडासा अधिक विचार करना चाहिये । पहली बात मौनकी है । मुनि बनना चाहिये । जो मौन धारण करता है उसको मुनि कहते हैं । अथवा अल्प भाषण करनेवालोंको भी मुनि कहा जाता है । भाषण द्वारा मनुष्यकी बहुतसी शक्ति क्षीण होती है । शब्दोच्चारणमें बडी शक्ति लगती है । यदि वे शब्द अच्छे हुए तो उनसे परिणाम उत्तम होनेके कारण उस भाषणके लिये हुए शक्तिव्ययका शोक करनेका कोई प्रयोजन नहीं है । परंतु यदि भाषणमें बुरे हीन विचार ही प्रकट हुए तो उनसे सुननेवालोंका भी अधःपात होनेकी संभावना होनेके कारण उस भाषणमें जो शक्ति खर्च हुई वह न केवल व्यर्थ गयी अपितु हानिकारक भी बनी । इस लिये मुनि लोग मौनावलंबन करते हैं अथवा जितना कम बोला जाय उतना कम बोलते हैं और जब बोलते हैं तब शिवसंकल्पयुक्त बोलते हैं । इसलिये उनके उच्चारे हुए शब्दोंकि मधुमधुर बात बन जाती है ।

चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये मौन धारण करना एक बडा भारी साधन है । इससे बुरे विचार रुकते हैं और चित्त स्थिर होने लगता है । जो व्यवहारमें पडे हैं वे यदि सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करेंगे तो भी उनको लाभ होगा । परंतु साल दो साल जो मौन धारण करेंगे उनको बहुत लाभ होगा । उत्तम मौन तो वह है कि जिसमें दूसरे मनोंका किसी शब्दसे चिह्नसे वा इशारेसे उत्तर देनेका यत्न न हो । जिसमें लेखद्वारा या चिह्नद्वारा उत्तर दिया जाता है वह मौन करनेमें तो थोडे लाभ करेगा । अस्तु । यहां इतनाही बताना है कि मौन एक उत्तम साधन है जिससे आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है । इससे अपनी आत्माकी शक्ति आत्मामें संग्रहित होती है । बहुत बोलनेवालेकी शक्ति व्यर्थ चली जाती है ।

दूसरा मोक्षका साधन विषयभोगोंपर बहिष्कार है । इंद्रियोंके विषयभोग विविध हैं । उन विषयभोगोंमें पडनेसे भी मनुष्यकी शक्ति क्षीण होती है । इस शक्तिके क्षयसे बचनेके लियेही यह संयमका साधन है । स्पर्शका अर्थ विषयोंसे स्पर्श है । नेत्रका विषय रूप है वह सुन्दर रूपका भोग नेत्रद्वारा होता है और इस उपभोगमें मनुष्यकी शक्तिका बहुत क्षय होता है । परंतु यह क्षयकी परंपरा इससे भी दूरतक चली जाती है । जब मनुष्य सुंदर रूपमें मोहित होता है उस सौंदर्यभोगमें बडा आसक्त होता है तब उसके केवल नेत्रेंद्रियकी शक्तिही नष्ट होती है ऐसी बात नहीं है प्रत्युत उस उपभोगके साथ जिन दूसरे इंद्रियों का संबंध आता है उन सब इंद्रियोंकी शक्ति भी कम होती है । यहां तक कि सौंदर्यके पीछे पडे हुए मनुष्यका

वीर्यनाश होकर उससे शरीरका भी नाश होता है। इसी तरह जिह्वाके स्वादमें आसक्त मनुष्यका पेट खराब होता है जिससे हानि है और अन्तमें शरीर क्षीण होकर मृत्यु होती है। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंके विषयमें भी समझना उचित है। इसलिये धर्मानुकूल विषयसेवन उचित हो वहाँतक सन्तोष करना धर्म है। और अपने आपको उससे बचाना भी धर्म है।

इसी साधनके साथ संबंध रखनेवाला साधन इंद्रिय संयम है जिसमें इंद्रिय मन और बुद्धिका संयम करना होता है। बुद्धिका संयम सुस्थिरमें बुद्धिको रखना और दुष्ट विचारोंसे हटाना होता है मन भी सत्कर्ममें लगाना और दुष्ट कल्पनासे दूर रखना योग्य है। इंद्रियोंके संयमके विषयमें भी यही बात है। इस संयमसे अपनी शक्ति सुस्थिर रहती है, बढ़ती है और आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है।

इसके साथ वासना अथवा तृष्णाका त्याग करनेका साधन है। तृष्णा भय और क्रोधका त्याग करना चाहिये। भयसे जो हानि होती है उसका वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। भयके आवेशमें आकर लोग अशान्त होते हैं अतः भयका नाश होनेपर ही जीवनमें सुरक्षित रहते हैं जिससे जीवनका आधार स्थिर होता है। क्रोध न करनेसे यह उत्तम लाभ है। क्रोधके समय मनुष्यके शरीरके रक्तमें एक प्रकारके [illegible] उत्पन्न होते हैं जिससे मस्तिष्क बिगड़ता है विवेकका नाश होता है स्मृति दूर होती है और मनुष्य पागलसा बनता है। इस समय क्रोधी मनुष्य अनुचित कर्म भी करता है। क्रोधमें यह सब अनर्थ होता है। अतः क्रोधको दूर करनेसे मनुष्य इन अनर्थोंसे बचता है।

[illegible] के कारण मनुष्य जो कुछ करता [illegible] करता है उसके परिणाममें वह आधीन होता है [illegible] है। अतः परिणाम [illegible] होता जैसा उसका मन [illegible] रहता है इस कारण जैसा चाहे कर्म करना मनुष्यको उचित नहीं है कि जिस कारण ऐसी स्थिति उसकी बनी रहे। इसका आशय यह है कि यदि वह होता है तो सब प्रकार दूर किया [illegible] रहना चाहिये।

[illegible] होती है। [illegible]

इस वासनासे मनुष्य मोहित होकर सतत अनवरत कर्म करता है। इससे कुछ समय उसको कुछ भोग प्राप्त भी हुए, तथापि अन्तमें उस भोगवासनाके इतने भयानक ही परिणाम होते हैं कि उनका दुःख न केवल कर्ताको परंतु उसके वंशजोंको भी भोगना पड़ता है। इसलिये मोक्षपरायण मनुष्यको उचित है कि वह भोगेच्छाको दूर करे और [illegible]।

यह सब साधन मोक्षप्राप्तिके लिये सदा मुक्त होनेके लिये कहे हैं। इसके साथ मोक्षपरायण होना भी अत्यंत आवश्यक है। मोक्षपरायणका अर्थ मोक्षपर जिसका लक्ष्य है, जिससे अपने सब बंधन दूर होवें उसका अवलंबन करनेवाला अपने मोक्षका ही ध्यान करनेवाला। यह गुण अत्युत्तम दर्शाता है।

ये सब साधन सदा मुक्त होनेके हैं। सदा मुक्त का अर्थ इस जीवित दशामें भी जो मुक्त होता है। कई मानते हैं कि शरीर रहनेतक मुक्ति नहीं होती। पर इन श्लोकोंमें अच्छी प्रकार बताया है और कहा है कि मनुष्य इसी जीवनमें सदा मुक्त हो सकता है और इसके साधन ये हैं।

इन श्लोकोंमें और दो साधनोंका उल्लेख है जिनका विचार हमने अभीतक नहीं किया। उनमेंसे एक 'भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर करना' है और दूसरा 'प्राणापानको नासाभ्यन्तरचारी करके सम करना' है। इन दो का योग अभ्यास जैसा शारीरिक लाभ है वैसा मन बुद्धि शक्तियोंके साथ भी है। अतः इनका विशेष विचार करना चाहिये।

(चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा) दृष्टि भौंहोंके बीचमें स्थिर रखना चाहिये। दोनों भौंहोंके मध्यमें दृष्टि रखनेसे एक प्रकारकी मूर्च्छासी आजाती है। मूर्च्छा होनेसे न [illegible] न [illegible]। कुछ अधिक रहनेसे जिसे मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ है वे जिसका [illegible] अनुभव [illegible] मनुष्य मूर्च्छा [illegible] [illegible] दृष्टि [illegible] होते हैं। जिसका वर्णन [illegible] नहीं [illegible] [illegible] है। [illegible] कि [illegible] होती है। [illegible] दृष्टि [illegible]

(१४) शान्तिकी प्राप्ति

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृद् सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अन्वयः— यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वभूतानां सुहृदं सर्वलोकमहेश्वरं मां ज्ञात्वा शान्तिं ऋच्छति ॥ २९ ॥

यज्ञ और तपके भोक्ता सब भूतोंके हित करनेवाले सब लोगोंके महान् ईश्वर ऐसे मुझको जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

भावार्थ— जिस ईश्वरके लिये यज्ञ और तप किये जाते हैं, जो सब प्राणीमात्रका हित करता है और जो सब विश्वका एकमात्र मुख्य-स्वामी है, उसको यथावत् जाननेसे मनुष्यको शांति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

शिरोवेदना शुरू होती है और वे अधिक अभ्यास नहीं कर सकते। ऐसे निर्बल लोगोंको उचित है कि वे प्रथम मस्तिष्कका बल बढानेका उपाय करें। और पश्चात् भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थिर करनेका अनुष्ठान करें। जिनकी शिरोवेदना नहीं होती उनका मार्ग सरल होता है। इस दृष्टिका अभ्यास करनेवाले सूर्यदर्शनका अभ्यास करें, मंद सूर्यकी ओर १। १५ मिनिट तक दृष्टिको लगानेसे सब दृष्टिदोष दूर होते हैं। शनैः शनैः यह अभ्यास १ मिनिटसे १५ मिनिटतक बढाया जावे। इस अभ्याससे दृष्टि निर्दोष होती है और भ्रूमध्यमें स्थिरता करना सुगम हो जाता है। मनका स्थान मस्तक है इसको सहस्रार कमल कहते हैं इस सहस्रार कमलमें मनका स्थान है। भ्रूमध्यदृष्टिसे कुछ अभ्यासके पश्चात् प्रकाशदर्शन होने लगता है। आगे उसी प्रकाश में दृष्टि रखनेसे नाना तरहके अनुभव होते हैं। इस तरह भ्रूमध्यदृष्टिसे अनेक लाभ होते हैं।

दूसरा साधन (प्राणापानौ नासाभ्यंतरचारिणौ समौ कृत्वा) प्राण और अपान नासिकामें संचार करने-वाले परंतु सम करनेसे होता है। यहां प्राण-अपान शब्द श्वास उच्छ्वासका बोधक है। मनुष्यके श्वास उच्छ्वास नीरोग अवस्थामें करीब करीब सम रहते हैं और रोगी अवस्था-में विषम हो जाते हैं। उच्छ्वास कम हुआ तो शरीरसे मल दूर नहीं होता और अधिक हुआ तो अशक्तता बढती है। परंतु श्वास और उच्छ्वास सम हुए तो शरीरका स्वास्थ्य सम होनेसे शरीरकी समावस्था दीर्घकालतक रहती है। श्वास और उच्छ्वास सम हुए तो रक्तशुद्धि होनेमें और बलवीर्य बढनेमें सहायता होती है जिससे आरोग्य बढता है। श्वास उच्छ्वास सम होनेसे मन भी सम अवस्थामें रहने लगता है क्योंकि प्राणका मनसे नित्य संबंध है।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

प्राण चंचल होनेसे चित्तकी चंचलता होती है और प्राण समवृत्ति होनेसे चित्त भी समवृत्ति होता है।" इसी कारण प्राणायाम सम होनेसे मन स्थिर होता है। और मनका स्थिर होना मोक्षकी प्राप्तिके लिये एक बडा भारी साधन होता है।

पाठक सदा मुक्त होनेके इस साधनको अच्छी प्रकार मनन करें और इसको अपने आचरणमें ढालकर अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करें। क्योंकि यही एकमात्र मनुष्य जन्मका सार्थक है।

सदा मुक्त होनेका अर्थ अटल शान्ति प्राप्त करना है। इस शांतिकी प्राप्ति कैसी होती है यह विषय अगले श्लोकमें कहा है वह महत्त्वका उपदेश अब ध्यानसे देखिये—

(२९) इस श्लोकमें शान्ति प्राप्त करनेका उपाय कहा है। परमेश्वरका स्वरूप यथावत् जाननेसे मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है। परमात्माका और जीवात्माका स्वरूप वस्तुतः एकही है क्योंकि दोनों स्वरूपतः आत्मा हैं। एकका बडप्पन और दूसरेका छोटापन अलग रखकर दोनोंका विचार किया जाय तो दोनोंका रूप एकही प्रतीत होगा। परंतु इन दोनोंमें भेद भी है, वह भेद यह है कि एक परमात्मा परमेश्वर सर्वभूतहितकर्ता है और दूसरा अल्प अनीश स्वार्थी है। यही भेद मुख्यतः दीखता है और विचारणीय भी है।

एकके पास सर्व अधिकार है और दूसरेके पास कुछ भी अधिकार नहीं है। यह क्यों हुआ ? इसका मनन करना चाहिये। जिसके हाथमें कुछ भी अधिकार नहीं है उसको उचित है कि वह अधिकारवालेके कर्तृत्वका मनन करे और

स्वयं वैसा बननेका विचार करे। पुत्र अपने पिताका कर्तृत्व देखे शिष्य अपने गुरुका गुरुत्व किसमें है इसका विचार करे और उसके अनुसार बननेकी चेष्टा करे। ईश्वरके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करनेका यही हेतु है। इस गीतामें तथा और अन्य ग्रंथोंमें जो ईश्वरके गुणोंका वर्णन जो किया है उसका हेतु यही है। साधक जीव उन परमेश्वरके गुणोंका मनन करे और स्वयं वैसा बननेका प्रयत्न करे।

पुत्र पिताके सदृश बन सकता है शिष्य गुरुके समान विद्वान् हो सकता है इसी तरह आत्मा परमात्मा हो सकती है। यदि साधक नर नारायण होना संभव न होगा, तो फिर उसको परमात्माके गुण जाननेकी आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु शास्त्रोंका सिद्धान्त तो यही है कि यह पुरुष पुरुषोत्तम हो सकता है। इसीलिये इस पुरुषके उद्धारके लिये पुरुषोत्तमके गुणोंका वर्णन किया जाता है। यह वर्णन पुरुष देखे और उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे और प्रयत्नसे पुरुषोत्तम बने।

इस श्लोकमें इसी उद्देश्यसे ईश्वरके कुछ गुण कहे हैं। ईश्वरके गुण अनंत हैं। उन गुणोंका विचार बहुत है। यहां केवल सूचना मात्र थोडेसे गुण कहे हैं। इस श्लोकमें परमेश्वर (१) यज्ञतपका भोक्ता (२) सर्व भूतोंका सुहृद, और (३) सब लोकोंका महेश्वर है ये तीन ही गुण कहे हैं। परंतु इनसे दूसरे अनेक गुण सिद्ध होते हैं। देखिये—

' सर्वभूतानां सुहृद् "

ईश्वर सब भूतोंका मित्र है। उनका हित करनेवाला है। मित्र अथवा सुहृद् वह होता है कि जो सदा हित करनेवाला हो। सुहृद् उत्तम हृदयवालेको कहते हैं। किसीके विषयमें उत्तम हृदयवाला होनेका अर्थ उसका उत्तम हित करना है। ईश्वर सब प्राणिमात्रोंका हित करता है कोई प्राणी ईश्वरकी प्रार्थना करे या न करे वह उसका उत्तम हित करता है। सब प्राणियोंका हित करनेमें ईश्वर सदा तत्पर है। यही ईश्वरका इश्वरत्व है। वह कभी किसीका बुरा करता ही नहीं। अत उसको शं-कर कहते हैं। वह सदा सबका कल्याण करता है।

सामान्य मनुष्य क्या करता है यह तो सबको पता है। मनुष्य अपना हित करनेमें तत्पर रहता है इतनाही नहीं प्रत्युत दूसरोंका नुकसान करके अपना सुख बढाना चाहता है। यहां साधारण मनुष्य और ईश्वरके गुणोंकी तुलना हो सकती है—

ईश्वरके गुण	सामान्य मनुष्यके गुण
सर्व-भूत-सुहृद्।	स्वहितकर्ता।
सब भूतोंका हितकर्ता।	अपनाही हित करनेका इच्छुक।
अपनी शक्तिसे दूसरोंकी पुष्टि करनेवाला।	दूसरोंको सर्वस्व लूटकर अपना स्वार्थ साधन करनेवाला।
सबका आनन्दवर्धक।	अपना सुख बढानेका इच्छुक।
परमार्थी	स्वार्थी
विश्वकुटुंबका हितकर्ता	अपने परिवारका हितैषी
सर्व भूत-हितके कारण कल्याणमय	स्वार्थके कारण सब दूसरोंको अशुभ करनेवाला।

जिन प्रशस्त गुणोंके कारण ईश्वरका सर्वपर प्रभुत्व है और जिन क्षुद्र गुणोंके कारण साधारण मनुष्य मनुष्यतासे भी गिरता है उसका स्पष्टीकरण इस कोष्टकसे हो सकता है। मनुष्यको उचित है कि वह इन गुणोंका मनन करे और अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये वह "सर्व भूतोंका सुहृद" बननेका यत्न करता रहे। जितना उसका सुहृत्त्व व्यापक होगा उतना उसका प्रभुत्व स्थिर होता जायगा। मनुष्यका उन्नतिका क्रम इस तरह होता रहता है। अपना हित कुटुंबका हित परिवारका हित जातिका हित राष्ट्र हित मानवजातिका हित सब भूतमात्रका हित। यह "अपनापन" बढता जाता है। जितना इसका "अपनापन" विस्तृत होता है उतना इसमें प्रभुत्व स्थिर होता है। और जब यह 'सर्वभूतहितरत' होता है तब वह ईश्वरके समान हो जाता है। सब प्राणियोंके हितके विषयमें अपना भाव मनमें स्थिर होना यह एक विशेष उन्नतिकी स्थिति है।

सब प्राणियोंका हित हो जावे इतनी इच्छा तो प्रायः सबमें होती है, परन्तु जो मनुष्य अपना सर्वस्व प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है, वही श्रेष्ठ होता है। सब प्राणिमात्र वासुदेवस्वरूप है, और वासुदेवकी सच्ची उपासना प्राणिमात्रका हित करनेसे होती है ऐसा जानकर जो अपनी शक्तिसे सब प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है उसीकी योग्यता श्रेष्ठ होती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।
(गी १८।४६)

" जो अपना कर्म है, उसके द्वारा सब प्राणिमात्रका हित करनेसे उस वासुदेवकी पूजा होती है। और इसीसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होती है। उदाहरणके लिये देखिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानसे सब भूतोंका हित करे क्षत्रिय रक्षा द्वारा सब भूतोंका हित करे, वैश्य व्यापारसे सब भूतोंका हित करे और शूद्र अपनी कारीगरीसे सबका हित करे। इस तरह चारों वर्ण अपने अपने कर्मोंसे सब लोगोंका हित कर सकते हैं। साधारणतः इन कर्मोंका उपयोग अपने हित संवर्धनके लिये किया जाता है वेही कर्म यदि सर्व भूतोंका हित करनेके लिये किये जायेंगे तो वे कर्म मुक्तिके सहायक बन जायेंगे और उनसे पुरुष सचमुच पुरुषोत्तम बनेगा।

पाठक विचार करके जान सकते हैं कि इस सर्वभूतहितकी दृष्टिसे अपना आचरण कैसा हो रहा है और कैसा होना चाहिये। मनुष्योंको उचित है कि वे अपने अन्दर शुद्धभाव बढावें और द्वेषभाव कम करें। साधकको यही अभ्यास करना चाहिये।

" यज्ञतपसां भोक्ता "

ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता है। " उपासक यज्ञ करते हैं और परमेश्वरकी प्रीति होनेके लिये उसको समर्पित करते हैं। ऐसेही तपस्वी लोग अपने तपको भी परमेश्वरार्पण करते हैं। उन यज्ञोंको और तपोंको स्वीकार करके ईश्वर उनपर संतुष्ट होता है। ईश्वरकी संतुष्टताका यही एक-मात्र साधन है।

यहां यज्ञ क्या चीज है इसका विचार करना चाहिये। देवपूजा-संगतिकरण-दान ये तीन यज्ञके रूप हैं। जनता में ज्ञानदेव बलदेव धनदेव और कर्मदेव ये चार प्रकार के देव हैं इनको चार वर्ण कहा जाता है। इन चार वर्णोंमें जो देव होंगे उनका सत्कार करना आपसमें संगति करना मिलना अथवा संघटना करना, और दीनोंको दान करना ये तीन भाग यज्ञके हैं। यज्ञमें ये तीन बातें अवश्य होनी चाहिये। ये न होनेकी अवस्थामें कोई कर्म यज्ञरूप हो नहीं सकता। इन प्रकारके यज्ञरूप कर्मसे परमेश्वर प्रसन्न होता है वेही यज्ञरूप कर्म परमेश्वरके पास स्वाहूत होते हैं। इन यज्ञरूप कर्मोंकाही ईश्वर भोक्ता है।

तपका अर्थ शीतोष्ण सहन करना है। सत्कर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहनेका नाम तप है। प्रत्येक कर्म करनेके लिये शीतोष्ण हानिलाभ जयापजय भूख प्यास आदि सहन करनाही चाहिये। इस सहन करनेकाही नाम तप है। यह तप ईश्वरार्पणबुद्धिसे करना चाहिये जिससे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। देखिये—

ईश्वरकी प्रसन्नता	ईश्वरकी अप्रसन्नता
यज्ञ	अयज्ञ
यज्ञसे ईश्वरकी प्रसन्नता	यज्ञ न करनेसे अप्रसन्नता
सत्पुरुषोंके सत्कारसे	सत्पुरुषोंको कष्ट देनेसे
आपसकी संघटनासे	आपसके झगडोंसे
दीनोंकी सहायतासे	दीनोंको कष्ट देनेसे
तप	अतप
शीतोष्ण सहनेकी शक्ति बढानेसे	शीतोष्ण सहनेकी शक्ति न होनेसे

इस कोष्टकसे स्पष्ट हुआ कि यज्ञ और तपसे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है और इनके न होनेसे ईश्वर अप्रसन्न होता है। ईश्वरकी प्रसन्नताका विचार अलग रखा जाय और केवल मानवी समाजके हितकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो पाठकोंको स्पष्ट होगा कि यज्ञ और तपसे समाजका हित होता है। देखिये यज्ञसे कैसा हित होता है। श्रेष्ठोंका सत्कार आपसकी संघटना और दीनोंका उद्धार ये यज्ञके तीन भाग हैं। श्रेष्ठ सज्जनोंका सत्कार करनेसे वे समाजको सदुपदेश देते हैं और सन्मार्गपरसे समाजको चलाते हैं। आपसकी संघटना करनेसे संघशक्ति बढती है और दीनोंकी सहायता करनेसे उनकी सामाजिक सुस्थिति उत्तम होनेके कारण वे भी समाजके हित आत्मार्पण करते हैं। इस तरह संपूर्ण समाज और राष्ट्र यज्ञके द्वारा संजीवित सुसंघटित और सबल होता है। यज्ञसे यह प्रत्यक्ष लाभ है। तपसे भी इसी तरह लाभ होता है। प्रत्येक कर्म करते समय जो कष्ट होंगे उनको सहन करनेसे वह कर्म पूर्ण रीतिसे हो सकता है। तथा उसमें बलकी भी वृद्धि होती है। अस्तु। यज्ञ और तपसे इस रीतिसे लाभ होता है। यह लाभ प्रत्यक्ष होनेके कारण इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

परमेश्वरकी प्रसन्नता भी इसीसे होगी जिससे संपूर्ण जनताका काम होगा क्योंकि परमेश्वरका मुख बाहु, उदर और पांव क्रमसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अर्थात् ज्ञानी वीर व्यापारी और कारीगर हैं, (ऋग्वेद १ ।९ ।१२) इसका सरल अर्थ यह है कि जनताही जनार्दनका प्रत्यक्षरूप है। अतः संपूर्ण जनताका काम जिससे होगा उससे निःसन्देह परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी ही और परमेश्वरकी प्रसन्नताका अर्थ भी सबकी प्रसन्नता है क्योंकि—

वासुदेवः सर्वमिति । (गी ७।१९)

वासुदेव अर्थात् परमेश्वरही सब कुछ है अतः वासुदेव तुष्ट और प्रसन्न हुआ तो सब तुष्ट और प्रसन्न होनेमें कोई संदेह नहीं। ईश्वर यज्ञ और तपका भोक्ता होनेमें यह आशय है। पाठक इसका विशेष मनन करें और इससे उचित बोध प्राप्त करें।

" सर्वलोकमहेश्वर "

अब परमेश्वरका यह एक गुण विचारके लिये हमारे सम्मुख है। संपूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर एक मात्र प्रभु है। उसको छोडकर इसका नियंता दूसरा कोई नहीं है। सब जगत्का प्रभु एकही है उसको किसी नामसे पुकारो सबकी प्रार्थना वही सुनता है।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥ तथा—
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥ २४ ॥
(गी अ ९)

" संपूर्ण देवताओंको किया हुआ नमस्कार परमात्माको पहुंचता है। जो लोग अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं वे यद्यपि अविधिपूर्वक पूजा करते हैं तथापि वे परमेश्वरकी ही पूजा करते हैं। क्योंकि वही ईश्वर सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु है।

एक ईश्वरकी कल्पना इससे अधिक पूर्ण रीतिसे कही जानी असंभव है। पाठक एक ईश्वरकी इस पूर्ण कल्पनाको अपने मनमें स्थिर करके अनेक देवतावादको मनसे हटा दें। अनेक देवताएं वैदिक धर्मके अनुसार हैं, परन्तु वे केवल इस एक परमात्माके विविध प्रकाशविभाग ही हैं। परमात्माको छोडकर उन अन्य देवताओंका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

जो लोग इस सर्व लोकोंके महेश्वरको जानते हैं, उनको भय दिखानेवाला इस जगत्में कोई नहीं है। वह निर्भय होकर विचरता है। उसको इस परमात्माका आधार सदा रहता है।

' शान्तिमृच्छति । "

इस प्रकारके परमेश्वरका ज्ञान होनेसे प्रत्येक साधकको शान्ति प्राप्त होती है। क्योंकि जो परमेश्वरको यथावत् जानता है। वह स्वयं परमेश्वर बनता है और परमेश्वर शान्त है, अतः वह साधक भी शान्तिको प्राप्त होता है। देखिए—

ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति ॥ (श्वे उ ३।७)
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(श्वे उ ४।१४)
ब्रह्मविदाप्नोति परम् ॥ (तै उ २।१।१)
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः (ध्या उ ८; गीता ५।२०)
ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिप्रैति ॥ (कौ उ १।४)

ईश्वरको जानकर अमर होते हैं। परमेश्वरको जानकर अत्यंत शान्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञानीको परम पद प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें स्थिर होता है। ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्मको प्राप्त होता है। "

इत्यादि वचनोंमें कहा है कि ईश्वरके ज्ञानसे शान्ति मिलती है और ईश्वरत्व स्थिर होता है। इसीका नाम मन का शान्त होना है।

' मां ज्ञात्वा "

" मुझे जानकर शान्ति मिलती है ऐसा यहां कहा है। यहां " मुझे " (मां) शब्दद्वारा किसका बोध लेना चाहिये यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है। सब लोग जानते हैं कि यहां कहनेवाले भगवान् वासुदेव होनेसे (मां) मुझे इस शब्दद्वारा भगवान्‌कीही प्रत्यक्ष काया बोध है। भगवान् वासुदेव कृष्ण परमेश्वर और परमात्मा इन शब्दोंसे गीतामें एकही सद्वस्तुका ज्ञान होता है यह बात सब जानतेही हैं। निःसन्देह यहांके " (मां) मुझे " इस शब्दसे परमात्मा यह अर्थ निश्चित है। परंतु भगवद्गीतामें जहां जहां अहं मम मां आदि शब्द आते हैं, वहां वहां परमात्मा अर्थ तो है ही परंतु इन शब्दों

साधक भी अपनी आत्माको वहाँ रखकर अपना भावी अनुभव पूर्णपुरुषकी स्थिति आनेके पूर्वही केवल शब्दोंसे जान सकता है ।

साधक कभी न कभी सिद्ध बन सकता है । जब साधक-स्थितिमें उसको सिद्धावस्थाका अनुभव आना असंभव है । तथापि सिद्ध अवस्थामें अपना अनुभव कैसा होगा इसकी कल्पना करनी हो तो गीताके अहं मम मां आदि शब्दोंके स्थानपर भगवानकी कल्पना न करके अपनी कल्पना वहां करके शब्दों द्वारा वह स्थिति यह साधक भी जान सकता है । सिद्धावस्थामें मेरी स्थिति कैसी होगी मैं कैसा उन्नत होऊंगा, और उस स्थितिमें मुझे क्या अनुभव होगा इसका ज्ञान यह उक्त प्रकार पहिले भी प्राप्त कर सकता है ।

जैसा कोई मनुष्य नाटकमें राजाका स्वांग लेकर रंगमें आता है और राजाका आविर्भाव करता है । और सचमुच राजाही अपनेको समझता है । जबतक वह उस रंगमें रहता है तबतक उसको स्वयं राजा न होते हुए भी राजा बननेका अनुभव आता है । स्वयं राजा न होता हुआ भी केवल नाट्यप्रसंगसे जैसा वह राजाके अधिकारका अनुभव ले सकता है वैसाही गीताके मैं मेरा मुझे इन शब्दोंके स्थानमें और केवल भी इन शब्दोंके स्थानमें अपनी कल्पना करके अपनी भावी अवस्थाकी कल्पना उसको हो सकती है । यह कल्पना केवल शब्दोंकी ही है इसमें इस समय सत्यता थोडासा भी नहीं है तथापि इस साधकको इस तरह यह कल्पना करनेसे मैं कहां हूं मेरा कितना साधन हुआ और कितना होना चाहिये इत्यादिक निश्चय करनेके विषयमें इस आत्मपरीक्षासे सुगमता हो सकती है ।

गीताका अभ्यास करनेवाले इस दृष्टिसे भी मनन करें । अभ्यासकी यह एक रीति है । कईयोंको इस अभ्याससे भी बहुत लाभ हो सकता है । यदि मैंने अच्छी तरह अभ्यास किया तो मेरी स्थिति कैसी होगी इसकी कल्पना होनेसे साधकका चित्त अभ्यासपर अधिक स्थिर हो सकता है ।

' मेरा ज्ञान होनेसे शान्ति प्राप्त होती है । ' इसका अर्थ " आत्माका ज्ञान होनेसे शान्ति मिलती है " ऐसा भी है । शरीर इंद्रियां, मन इनमें भिन्नता, विषमता न्यूनाधिकता दोषमयता, विकारमयता और अशांति है । इस लिये इनके ज्ञानसे विषमताही बढेगी और विषमतासे अशान्ति हो सकती है अर्थात् इससे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होगी । परंतु आत्मा ही एक अव्यय अमर अभय निर्दोष निर्विकार है इसलिये आत्माके ज्ञानसेही निर्दोषता होगी और निर्दोषतासे शान्ति भी प्राप्त होगी ।

जिस आत्माके ज्ञानसे यह शान्ति प्राप्त होगी वही आत्मा मेरे अन्दर मेरे अन्तःकरणमें है इतनाही नहीं परंतु वही मेरी अन्तरात्मा है, यह ज्ञान होनेसे अपना बल अधिक हो जाना संभव है । मेरी अन्तरात्मा इस प्रकारकी है यह सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है और इसीसे मनुष्यका उद्धार होता है । गीताके " मैं मेरा मुझे " ये शब्द इसी अन्तरात्माके वाचक हैं । परंतु जब यह अनुभव होगा तभी इसकी सचाई का पता लग सकता है । तब तक यह साधिक ज्ञानही रहेगा ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यामें लिखित हुए योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पंचम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायका थोडासा विचार

कर्म-संन्यास-योग

इस अध्यायका नाम कर्मसंन्यासयोग अथवा संन्यास योग है। कई पुस्तकोंमें सांख्ययोग ऐसा भी मुद्रित है। आत्मा अकर्ता अभोक्ता किंवा निष्क्रिय है, इस बातकी सिद्धता इस अध्यायमें की है इसलिये इसका यह नाम है। इस लिये इस अध्यायमें जिस संन्यासका वर्णन है उसका स्वरूप हमें यहां देखना चाहिये। इस अध्यायके पूर्व भी संन्यासका बहुत मनोरम वर्णन किया और पश्चात् कर्म करनेको भी कहा इसलिये अर्जुनके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (५।१)

हे कृष्ण ! आप एक बार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी बार कर्मोंके योगकी प्रशंसा करते हो इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये कल्याणकारी होवे वह मुझे निश्चित रीतिसे कहिये।

इस प्रश्नसे अर्जुनकी शंकाका कारण स्पष्ट हुआ है। भगवान्‌के मुखारविंदसे जब अर्जुनने संन्यास और कर्मयोग की प्रशंसा समानतया श्रवण की तब उसके मनमें शंका हुई कि कौनसा मार्ग अवलंबन करें ? यदि कर्मसंन्यास श्रेयस्कर है तो उसीका आचरण क्यों न करें ? फिर बार बार कर्म करो ऐसा उपदेश भगवान् मुझे क्यों दे रहे हैं ? ऐसा विचार अर्जुनके मनमें आया। कर्मसंन्यास और कर्मयोगमें मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा योग है यह प्रश्न अर्जुनने यहां किया। इसी प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने इस अध्यायमें दिया है।

संन्यासयोग और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर हैं, परंतु संन्यासकी अपेक्षा अर्जुन जैसे मनुष्योंके लिये कर्म-योग विशेष सुखकारक है। " (गी ५।२) यहां कर्म योगमें कुछ विशेषता है जो विशेषता संन्यासयोगमें नहीं है ऐसा कहकर कर्मयोगकी विशेष प्रशंसा की है। यहां ध्यानमें धारण करना यह है कि अर्जुनका प्रश्न " मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा मार्ग है ऐसा है और प्रश्नके अनुकूल श्रीभगवान्‌का उत्तरभी मेरे लिये कर्मयोग विशेष श्रेय-स्कर है ऐसाही है। यह प्रश्न और यह उत्तर विचारपूर्वक देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कई दूसरे मनुष्योंके लिये संन्यास-योग भी वैसाही श्रेयस्कर होगा जैसा अर्जुन जैसोंके लिये कर्मयोग श्रेयस्कर हैं। क्योंकि (गी ३।३ में कहा है कि) संन्यास-स्वभाववाले और कर्म-स्वभाववाले ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं, उनमेंसे संन्यास-स्वभाववालोंके लिये संन्यास मार्ग श्रेयस्कर और कर्मस्वभाववालोंके लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। इस पूर्वकथित नियमानुसार यहां (५।२ में) कहा है कि अर्जुन जैसे कर्मस्वभाववालोंके लिये कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है।

यदि ऐसा है तो अर्जुन जैसे कर्मयोगी लोग संन्यासका फल कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अथवा उनको संन्यासका फल कभी प्राप्तही नहीं हो सकता ? यदि नहीं तो उनके लिये बडी निराशाकी बात है। परंतु भगवद्गीता निराशाका उप-देश कभी नहीं देती इसीलिये कर्मयोगीको भी संन्यासका फल प्राप्त करा देनेकी युक्ति यहां कही है, जिससे कर्मयोगीको निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। वह इस युक्तिका आश्रय करके कर्मयोगका आचरण करता हुआ भी संन्यासका फल प्राप्त कर सकता है। देखिये—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ (५।३)

जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसीके प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता और जो द्वन्द्वोंसे दूर रहता है, वह नित्यसंन्यासी है और वह सुखपूर्वक बंधनसे मुक्त होता है। यहां (१) इच्छा न करना (२) द्वेष न करना और (३) द्वैतभाव न धारण करना, ये तीन लक्षण नित्य संन्यासीके कहे हैं। जिसके मनसे इच्छा दूर हुई, द्वेषभाव दूर हुआ और द्वैतभाव अलग हुआ वह संन्यासी हुआ समझो। अर्थात् वह गेरुए कपडे पहने या न पहने, वह निश्चित संन्यासी है। सच्चा संन्यासी कौन है और कौन नहीं इस का ज्ञान यथोचित रीतिसे होगा।

नित्य सन्यासी	असन्यासी
न कांक्षति	कांक्षति
(इच्छा न करना)	(इच्छा करता है)
न द्वेष्टि	द्वेष्टि
(द्वेष न करना)	(द्वेष करता है)
निर्द्वन्द्वः	द्वन्द्वः
(द्वैत छोड़ना)	(द्वैतभावका धारण)
बंधात् प्रमुच्यते	बंधात् न मुच्यते
(बंधसे मुक्त होता है)	(बंधमें गिरता है ।)
मोक्ष	बंध

यहां इसके मननसे संन्याससे मोक्ष होनेके अर्थ क्या हैं और संन्यास न होनेसे बंधन होनेका तात्पर्य क्या है इस का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाठक इस कोष्टकका बहुत मनन करेंगे तो उनको व्यवहारमें सब कर्म करते हुए भी नित्य संन्यासी होनेकी युक्ति प्राप्त हो सकती है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन निषेधलक्षणोंसे किन गुणोंका बोध होता ? इच्छाका दूर होना कामनाका हटना और द्वैतका न होना ये तीनों निषेधके लक्षण हैं । निषेधसे किसी सद् लक्षणका बोध नहीं होता अतः इनसे सन्यासीके सद् गुणोंका विचार करना चाहिये।

(१) द्वैतभाव मनसे हट गया तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहां सबमें एक तत्त्वका भाव होगा साधारण अवस्थामें मैं भिन्न हूं और सब जगत् मुझसे भिन्न है ऐसा ही द्वैतका अनुभव मनुष्यको आता है । यह द्वैतानुभव सत्य नहीं है। मैं, तू और वह यह सब मिलकर एक ही अस्तित्व है। क्योंकि वासुदेवः सर्वं" (गी ७।१९) यह महासिद्धान्त है । अतः यदि वासुदेवः सर्वं यह सत्य है तो भेद मायाश्रित कित्पत इस उपनिषद्वचनकी सत्यता भी यहां ही अनुभवमें इसी तरह आ जायगी। अतः निर्द्वन्द्व रूप निषेधलक्षणका विधिलक्षण एकत्वका दर्शन ही है। (एकत्वमनुपश्यतः। ईश ७)

(२) न द्वेष्टि यह नित्य संन्यासीका दूसरा निषेध लक्षण है। जो नित्य संन्यासी होगा वह किसीका कभी द्वेष नहीं करेगा परंतु वह द्वेष नहीं करेगा इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह दूसरोंसे कैसा आचरण करेगा । वस्तुतः द्वेष न करनेका विधिरूप तात्पर्य दूसरेपर ' प्रेम करना ' ही है। वास्तविक तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो यह नित्यसन्यासी किसी दूसरेपर प्रेम नहीं करता वह अपने परही प्रेम करता है । क्योंकि वासुदेवः सर्वं सब कुछ वासुदेवका रूप है। मैं तू और वह ये सब उसके लिये एक तत्त्वके रूप बने हैं। दूसरा कोई जगतमें नहीं है फिर वह द्वेष किसका करे ! यदि कुछ बिगडा है तो भी उसीने बिगाडा है और यदि कुछ सुधरा है तो भी उसीने सुधारा है । इस एकत्वके अनुभवसे द्वेषकी जडही नष्ट होती है । वह किसीका द्वेष कभी नहीं सकता । इस स्थितिमें वह द्वेषरहित होता है इतनाही नहीं अपितु इस समय उसको सर्वत्र आत्माका दर्शन होनेसे तथा आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ न होनेसे सर्वत्र वासुदेवका अखंड रूप दिखाई देता है अतः वह सबपर अखंड प्रेम करता है । अपनी आत्मापर प्रेम करनेके समान वह सबपर प्रेम करता है। संपूर्ण जनता संपूर्ण प्राणीसमष्टी संपूर्ण स्थिरचर जगत् उसके लिये वासुदेवमय परमात्ममय ईश्वरस्वरूप बन गया तब-

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईश ७)

इस तरह एकत्वका साक्षात्कार हुआ तो शोक और मोह कैसे हो सकते हैं ? इस एकत्वानुभवके कारणही वह सबपर अखंड प्रेम करता है । न द्वेष्टि इस निषेध लक्षणका अखंड प्रेम करना यह विधिरूप अर्थ है।

(३) नित्य संन्यासीका तीसरा लक्षण (न-कांक्षति) इच्छा न करना है । जिसको अखंड परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार हुआ उसको और कौनसी कामना होगी ? अन्तिम कामना उसकी सफल होनेके कारण जो अन्तिम प्राप्तव्य था वह उसको प्राप्त हुआ, फिर उसके समीप कौनसी कामना होगी जो उसको सतायेगी ? सब वासुदेव का रूप है इस विषयमें जिसको संदेह न रहा उसको कोई कामना नहीं रह सकती । अतः उसको तृप्त संतुष्ट कहते हैं। इसलिये न कांक्षति का विधिरूप अर्थ नित्य तृप्त अथवा नित्य संतुष्ट है।

इतने विवेचनसे तीनों निषेधरूप लक्षणोंके विधिरूप लक्षण ध्यानमें आ सकते हैं। वे यहां कोष्टकमें देखिये—

नित्यसन्यासीके लक्षण

विधिलक्षण।	निषेधलक्षण।
एकत्वानुभव	निर्द्वंद्व
सर्वत्र प्रेम	न द्वेष्टि
नित्यसंतुष्ट	न कांक्षति

इन लक्षणोंसे 'नित्य संन्यासी' कौन है और कौन नहीं है इसका ज्ञान हो सकता है। जो निःसंग है जिसके अंतःकरणमें सर्वत्र प्रेमका स्रोत चलता है और जिसमें आप-पर भाव नहीं है तथा जो किसीसे द्वेष नहीं करता जिसको कुछ वासना नहीं है और जिसमें द्वंद्वभाव नहीं है वह नित्य संन्यासी है।

कर्म करनेवाला मनुष्य भी द्वन्द्वरहित होने द्वेष छोडने और वासनात्याग करनेसे किंवा नित्य संतुष्ट रहने सर्वत्र प्रेम करने और एकत्वका अनुभव करनेसे नित्यसंन्यासी होनेका लाभ प्राप्त कर सकता है।

नित्य और अनित्य सन्यासी

यहां नित्य संन्यासी और अनित्य संन्यासी का अर्थ भी विचार करके देखना चाहिये। पूर्वोक्त श्लोकमें जो लक्षण दिये हैं वे नित्य संन्यासीके हैं। नित्य संन्यासी वह है कि स्वभावतःही जिसके मनसे वासना द्वन्द्व और द्वेष हट चुके हैं, स्वभावसेही जिसके मनमें संतोष सर्वात्मभाव और प्रेम विद्यमान है। ऐसा मनुष्य कर्म करे अथवा न करे वह सदा संन्यासी है।

परन्तु जो मनुष्य बलात्कारसे वासनाओंको दूर रखना चाहता है चिढानेपर भी प्रयत्नसे द्वेष करना नहीं चाहता द्वैतका अनुभव होनेपर भी सर्वत्र एक तत्त्व है ऐसा मनपरसे जमाना चाहता है उसका वह भाव स्वभावसे नहीं होता परंतु प्रयत्नसे जो इस प्रकार अपने मनको बनाना चाहता है तथा जो मनमें संतोष न रहनेपर भी मनकी वासनाओंको दबाकर संतोषको मनमें स्थिर करना चाहता है दूसरोंका द्वेष मनमें उत्पन्न होनेपर भी विचारसे वह द्वेषको दबाकर प्रेम करनेका यत्न करता है इस प्रकारका मनुष्य यद्यपि बाह्य दृष्टिसे संयमी संन्यासी दिखाई देता है तथापि वह अनित्य संन्यासी ही कहलायेगा क्योंकि उसके स्वभावमें संन्यासीपन परिपूर्ण भरा नहीं वह प्रयत्नसे संन्यासी होता है, इसीलिये जिस समय उसका प्रयत्न ढीला होता है उस समय वह संन्यासी नहीं होता है। इसी हेतुसे उसे अनित्य संन्यासी कहते हैं। जो नित्य संन्यासी है, वह स्वभावतः ही हरएक अवस्थामें संन्यासी है। वह कर्म करे या न करे गेरुए कपडे पहने या न पहने वह वैरागी रहे, उसका संन्यासीपन अबाध है। गीताका कहना है कि मनुष्य उक्त लक्षण अपनेमें स्थिर करे और नित्य संन्यासी बने। कर्म करने या कर्म छोडनेका संबंध गीताकी दृष्टिसे इस नित्य संन्यासके साथ नहीं है। गीताकी दृष्टिसे संन्यासका संबंध मनकी अवस्थाके साथ है; यदि मन द्वेषभाव द्वैतभाव और अपूर्णताके भावसे रहित हुआ और यदि उसमें प्रेम ऐक्य और संतोष रहा तो वह नित्यसंन्यासी हुआ। गीता मनुष्यके मनको देखकर संन्यासी होने न होनेका निश्चय करती है। पाठक इस बातको ध्यानमें धारण करें और नित्यसंन्यासी बननेका यत्न करें। इस अभ्यासके लिये बडा प्रयत्न करना पडेगा परंतु जब वह साध्य होगा, तब संन्यासकी सब सिद्धियां इसके पास आकर सदा रहा करेंगी।

सांख्य और योगकी एकता।

सांख्यमार्ग अथवा संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग भिन्न नहीं हैं एकही हैं, यह भी गीताका एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत विचार करने योग्य है। सब लोग मानते हैं कि संन्यासमार्गमें कर्मोंका त्याग करना आवश्यक है और कर्ममार्गमें कर्मोंका करना आवश्यक है। प्रकाश और अंधकारके समान इन दोनों मार्गोंमें अन्तर है। तथापि गीताका कथन है कि ये दोनों एकही हैं–

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गी. ५।४-५)

“ सांख्य और योग भिन्न हैं ऐसा मूढ मानते हैं ज्ञानी नहीं। किसी एकके अनुष्ठानसे दोनोंका फल प्राप्त होता है, जहां सांख्यमार्गी जाते हैं वहां योगी भी पहुंचते हैं। अतः सांख्य और योगको जो एक देखता है वही सच देखता है। ” इस तरह दोनों मार्ग एकही हैं ऐसा कहा है। दोनोंको पृथक माननेवालोंको मूढ (बाल) भी कहा है और आग्रहके साथ दोनोंकी एकता दर्शायी है। तथापि एकता दर्शाते दर्शाते दोनोंमें कुछ भेद है यह भी

यहांही दिखाया है नहीं तो जो स्थान सांख्यमार्गी प्राप्त करते हैं वह योगी भी प्राप्त करते हैं ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं था। इसी विचारसे ये दो मार्ग कुछ अंशमें भिन्न हैं ऐसा सिद्ध होता है। परंतु यह भेद आचरणकी दृष्टिसे है, अन्तिम सिद्धिकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं क्योंकि दोनोंको एकही स्थान प्राप्त होता है। पाठक पूर्वोक्त संन्यासीयोंकी लक्षण देखें कर्मयोगी भी इच्छा द्वेष और द्वैतभाव छोडकर सन्यासका पूर्ण फल प्राप्त करता है। पूर्ण-फल प्राप्त होनेकी दृष्टिसे दोनोंकी एकताही हो गयी। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे कर्मयोगी और संन्यासयोगी भिन्न दिखाई देंगे तथापि उनकी मनोभूमिपर समान साम्यता होगी। यहां परिणामकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता हमने देखी। और भी एक विचार है जिससे कर्मयोगकी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। कर्मयोगके बिना सांख्ययोग सिद्ध होना अति कठिन है-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
(गी ५।६)

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गी ५।२)

'योगके अभ्यासके बिना सन्यासका अभ्यास करना अति दुःखदायक है। परन्तु जो पहले योगसाधन करके पश्चात् संन्यासका अनुष्ठान करता है वह शीघ्रही ब्रह्म प्राप्त करता है। संन्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं परंतु कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी विशेषता है। यह विशेषता सुगमताके कारण है। यदि कोई मनुष्य दोनों एकही हैं ऐसा मानकर कर्मयोगका त्याग करके एकदम सन्यासका ग्रहण करेगा तो उसको (दुःखं आप्तु अयोगतः। ५।६) निःसंदेह दुःख होगा। परंतु संन्यास न लेते हुए कोई कर्मयोग करेगा तो उसको वैसे कष्ट नहीं होंगे। अर्थात् यह विशेषता सुगमताकी दृष्टिसे है। सर्व साधारण लोगोंको आचरणमें कठिनता प्रतीत न हो इस लिये उनके लिये प्रथम श्रेणीमें रहकर करने योग्य सुगम यह मार्ग है। इसी दृष्टिसे इसकी यह विशेषता कही है। इस मार्गसे जाते जाते आगे इच्छाद्वेष छोड दिए तो इसीसे नित्य संन्यासी बनकर अन्तिम सिद्धि भी मिलती है। इस तरह यह मार्ग सुगम है। प्रारंभमें आचरने योग्य है, इस कारण आगे इसको छोडना पडता है और दूसरा पकडना पडता है ऐसी भी बात नहीं। इसीका आचरण करते करते रागद्वेष और द्वैतभाव छूटनेसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होती है। इस तरह यही मार्ग प्रारंभमें सुकर है अतः अन्तमें सिद्धि प्रद भी है अतः कहा है कि जहां सन्यासी जाते हैं वहां योगी भी जाते हैं। (गी ५।५) अर्थात् योगी पीछे नहीं रहते। शनैः शनैः उन्नत होंगे देरीसे पहुंचेंगे परंतु पहुंचेंगे निःसंशय। इतने विचारसे कर्मयोगकी विशेषता किस दृष्टिसे है यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ चुकी होगी। और दोनोंकी एकता किस दृष्टिसे है इसका भी ज्ञान हुआ होगा।

संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयसकर हैं (गी ५।२) तथापि अर्जुनसे कहा कि तू कर्मयोगही कर ' इसका कारण इस मार्गकी सुगमता है। कोई यहां शंका न करे कि कर्मयोग करनेसे कर्मसंन्यासका फल प्राप्त होता है या नहीं? वह निःसन्देह प्राप्त होता है। क्योंकि गीतामें इसी सिद्धिकी युक्ति कही है। कर्मयोग करते करते इस युक्तिके द्वारा साधक सहजहीमें कर्मसंन्यासका फल प्राप्त कर सकता है वह युक्ति कर्मफलपर अनासक्ति किंवा कर्मफलत्याग है अथवा दूसरे शब्दोंमें इच्छा द्वेष और द्वन्द्वका त्याग करना है। दोनोंका अर्थ एक ही है।

निर्लेपता

'इच्छा द्वेष और द्वन्द्व ये तीन बंधनके हेतु हैं, इनसे युक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्यको कर्मका लेप लगता है अथवा पाप लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कर्मके दोषको हटाना है तो इच्छा द्वेष आर द्वैतभावको दूर करना चाहिये। यहां पाठक पूछ सकते हैं कि इच्छा द्वेष आदिके कारण कर्मका दोष क्यों लगता है? इसके उत्तरके लिये थोडासा विचार करना आवश्यक है। सबसे पहले अज्ञमनमें " मैं अलग हूं और अन्य लोग मुझसे सर्वथा भिन्न हैं " यह विचार सतत जागृत रहता है। इससेही यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरे प्रतिस्पर्धी ये सब अन्य हैं इसलिये इनसे मुझे डर है अतः इनसे सुरक्षित रहनेके लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारके अनेक विचार मनमें उत्पन्न होनेसे मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। इस द्वैतभावका परिणाम कहांतक

मर्गांड विस्माद आदि हैं और अन्तमें मनकी अशान्तिही इसका फल है। तात्पर्य यह है कि द्वैतभावसे द्वेषभावकी उत्पत्ति है। द्वैतभावसेही इच्छाकी उत्पत्ति है क्योंकि मैं अपूर्ण हूं और यह दूसरा पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण होऊंगा इस विचारसे दूसरे पदार्थोंकी प्राप्ति करनेकी कामना होती है इस इच्छा या कामनासे विरोधकके साथ द्वेष और अनुकूलके साथ स्नेह होता है और आगे क्रमसे और अशान्ति होनेमें कोई सन्देहही नहीं है।

इस तरह एकके साथ प्रेम दूसरेके साथ द्वेष युक्त हो गया कि मुझे भोग चाहिये उनके मिलनेके लिये बीचमें जो जो रुकावटें आ जायेंगी उनसे मैं लडूंगा इत्यादि विचारसे जो उत्पन्न होंगे जो जो कर्म इससे वे परिशुद्ध होंगे ऐसा कौन कह सकता है और यदि वे कर्म परिशुद्ध नहीं होंगे तो वे बंधन कारक अवश्य होंगे। इसीलिये कहा है कि इच्छा द्वेष और द्वैत भावसे जो कर्म होंगे वे बंधनके हेतु होंगे। अतः बंधनसे निवृत्त होनेके लिये यदि प्रयत्न करना है तो पहले इच्छा द्वेष और द्वंद्व को मनसे हटाना चाहिये। और मनमें तृप्ति और सर्वात्मभाव स्थिर करना चाहिये। इसी सिद्धिके लिये धर्मग्रंथोंमें विविध विधि कहे हैं, गीतामें भी कहा है-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन्
(॥ ८ ॥)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
(गी ५)

इसतरह कर्मयोगयुक्त परिशुद्धात्मा आत्मविजयी इन्द्रियविजयी और सर्व भूतोंकी आत्माको अपनी आत्माके समान जाननेवाला कर्म करता हुआ भी निर्लेप रहता है। कर्मकी भावना त्याग करता हुआ मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं ऐसा माने। देखने सुनने स्पर्श करने सूंघने खाने चलने सोने श्वास लेने छोडने और बंद करते समय केवल इन्द्रियोंही इन्द्रियोंके विषयोंमें स्वयं वर्तती हैं ऐसा अनुभव करे। सबकी आसक्ति छोड कर कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके जो करता है, वह जलमें पत्तोंमें लिप्त न होनेके समान पापसे अलिप्त रहता है।

यहां गीताने कर्म करते हुए कर्मके दोषोंसे अलिप्त रहनेकी उत्तम युक्ति कही है। पहले मनुष्य जितेन्द्रिय शुद्धात्मा और आत्मसंयमी बने और सर्व भूतोंकी जो आत्मा है वही मेरी आत्मा है ऐसा समझे। कर्मके फलकी आश (संगं त्यक्त्वा) न रखे, ईश्वरको अपने सब कर्म अर्पण करे। अपने आपको कर्मोंका अकर्ता समझे और सब कर्म इन्द्रियों द्वारा हो रहे हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूं ऐसा अनुभव करे। इतने होनेसे कर्मके दोषोंसे मनुष्य अलिप्त रह सकता है। इन चार श्लोकोंमें जो कहा है वही पूर्वोक्त तीन शब्दोंमें कहा है यह बात निम्नलिखित कोष्टकमें देखिये—

न कांक्षति (५।३)=विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः (५।७), नैव किंचित्करोमि (५।८), इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते (५।९), संगं त्यक्त्वा (५।१०), ब्रह्मण्याधाय कर्माणि (५।१०) [फलेच्छा छोड, सब कर्म ईश्वरका शुद्धात्मा होकर कर्मार्पण करे]

निर्द्वन्द्वः न द्वेष्टि (५।३)—सर्वभूतात्मभूतात्मा (५।७) [सर्व भूतोंकी आत्मा अपनी आत्मा है ऐसा माने]

“कामना त्याग द्वैतत्याग और द्वंद्वत्याग” इन तीन त्यागोंसे ये सब उपदेश किस तरह आते हैं यह बात अब पाठक देख सकते हैं। कामनात्यागसेही यह सब हो सकता है क्योंकि राग द्वेष सब कामनाके कारणही होते हैं। ज्ञानी सब कर्म करता हुआ किस तरह अलिप्त रह सकता है इस मंत्रका यह विचार सदा स्मरण रखने योग्य है। फलकी भोगेच्छा छोडनेसे यह सब साध्य हो सकता है। अर्थात् फल भोगनेकी इच्छा छोडना अथवा स्वार्थत्याग अथवा सब ईश्वरकी तुष्टिके लिये करना यही है। सर्व भूतोंकी आत्माही व्यापक आत्मामें ईश्वर

मार्मिक भावामें कहा है। अपने सब कर्मोंके फल उसकी संतुष्टि के लिये समर्पण दान अथवा त्याग करनेसे मनुष्य कर्म दोषसे मुक्त हो सकता है। इसका तात्पर्य देखिये—

ब्रह्मके लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना।

ईश्वरके लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना।

सर्वभूतात्माके लिये सब कर्मफल दान करना।

सब प्राणियोंकी संतुष्टिके लिये अपने कर्मफलोंका दान करना।

प्राणिमात्रको सुख देनेके लिये अपना जीवन दान करना।

अहिंसा व्रत धारण करना और किसीको कष्ट न देना इत्यादि नहीं परंतु सब प्राणियोंका हित करनेके लिये यथाशक्ति यत्न करना। अद्वेष अद्रोह निष्कामता आदि शब्दों का भाव यही है। साधारण हीन मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरोंका घातपात करता है। यह द्वेषमय द्रोहका सकाम अवस्था है। इसमें कर्मदोष लगते हैं। परंतु जब मानव उच्च अवस्थामें पहुंचता है उस समय दूसरोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है, इस समय उसके मनमें अद्वेष अद्रोह और निष्काम भाव होता है अतः वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है। बंधमुक्तकी सिद्धि इस तरह होती है।

सर्वभूतोंकी सेवा परमात्माकी सेवा है क्योंकि (वासुदेवः सर्वं॥ गीता ७।१९) सर्वभूतही वासुदेवका रूप है। वासुदेव नारायण परमात्मा परमेश्वर ईश्वर वस्तुतः अमूर्त है परंतु उसकी मूर्ति ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र गौ, घोडे आदि प्राणी हैं (ऋग्वेद १।९।८१ १२ देखो) अतः परमात्माकी सेवा भक्ति उपासना करनेकी इच्छा हो तो इन मूर्तियोंकी सेवा भक्ति उपासना करनी चाहिये। भगवद्गीताके विभूति-अध्याय (गी १०) और विश्वरूप अध्यायमें (गी ११) यही कहा है। मानवोंमें तथा अन्य प्राणियोंमें जो दुःखी और त्रस्त होंगे उनका दुःख कष्ट और त्रास दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण करनाही परमात्माके लिये अपना जीवन अर्पण करना है। जो पुरुष अपनी मानव जातिमें हीन दीन रोगी दुःखी पददलित दरिद्रपीडित अवस्थामें पडी लोगोंको देखते हैं, और उनको सहायता न करते हुए मंदिरोंमें भोग चढाते हैं, या अन्य रीतिसे अपनी भक्ति बताते हैं, वे ईश्वरभक्तिसे कोसों दूर हैं।

पाठक यहां समर्पण आदि किसके लिये करना चाहिये इसका यह सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें। कर्मफलका त्याग दान समर्पण इसी सर्वभूतात्माके लिये करना चाहिये। इसी सर्वभूतात्माकी भक्ति करना चाहिये। यही सर्वभूतात्मा प्रत्यक्ष और मूर्त परमेश्वर है। यही सबका उपास्य है। यहां कई लोग कहेंगे कि ब्राह्मणमें परमात्माका रूप हम देख सकते हैं परंतु चाण्डालमें परमेश्वर कैसे रह सकते हैं, इस आशंकाके निवारणके लिये इसी अध्यायमें कहा—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।
(गी ५।१९)

ज्ञानी ब्राह्मण अज्ञानी चाण्डाल ये मनुष्य तथा गाय हाथी और कुत्ता आदिमें ज्ञानी लोग समरूपसे ब्रह्म है ऐसा देखते हैं। यह ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्दोष है जिनका मन साम्य स्थितिको प्राप्त होता है वे ब्रह्ममें अवस्थित होते हैं और जन्ममरणको जीतते हैं। इस उपदेशसे ब्राह्मणमें ईश्वरका भाव है और चाण्डालमें नहीं है ऐसा कहना अयोग्य है। सब वस्तुमात्र वासुदेवही है (गी ७।१९) वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण अथवा कुत्ता हो या हाथी। वह सब परमेश्वरकाही मूर्त रूप है। यह समबुद्धि धारण करके इस सर्वभूतात्माकी भक्ति मुमुक्षुको करनी चाहिये। अपने कर्मोंके फलका दान इसीकी संतुष्टिके लिये करना चाहिये। गीतामें कर्मफलत्याग कर्मफलका संग छोडना आदि जो कहा है उसका अर्थ अपने कर्मोंका फल इसी जनताजनार्दन या सर्वभूतात्माका समर्पण करना है। गीतामें कर्मफलत्यागका उपदेश देखिये—

कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा (गी २।४८)
कर्मजं फलं त्यक्त्वा। (२।५१)
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं। (४।२०)
कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति। (५।१०)
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा। (५।१२)
कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। (६।२४)
कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि।
(१८।६)

संगं त्यक्त्वा फलं चैव कार्यं कर्म क्रियते ॥
(गी. १८।९)
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं । (१८।२)
मा फलेषु कदाचन । (२।४७)
फले सक्तो निबध्यते (५।१२)
कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये । (५।११)

अपने कर्मोंका फल केवल मुझेही मिले ऐसी वासना न धारण कर । अपने कर्मोंका जो फल होगा वह सर्वभूतात्माके लिये दान कर । कर्मके फलपर तेरा अधिकार नहीं है। अपने कर्मके फलमें आसक्त होनेसे बंधन प्राप्त होता है। अपने कर्मोंका फल सर्वभूतात्माके लिये समर्पण करनेसे अपनी पवित्रता होती है कर्मफलके त्यागका कारण क्या है इसका विचार करनेके लिये इन वचनोंका मनन करना चाहिये। इस मननसे निश्चित होता है कि कर्मयोगके निम्नलिखित सूत्र हैं—

कर्मयोगके सूत्र

प्रत्येक मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिये।
(गी. २।४७)
किसीको कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है।
(१८।५)
कर्म यथाशक्ति करना चाहिये। (२।४८)
उसके फलपर आसक्ति नहीं धारण करनी चाहिये। (२।४७)
अपने कर्मोंका जो फल प्राप्त होगा वह सर्वभूतोंके हितके लिये समर्पण करना चाहिये।
(५।७, ३।९, ५।२५, १२।४)
अपने कर्मोंका फल अपने लिये रखनेसेही बंधन होगा। (५।१२)
अपने कर्मोंका फल सर्वभूतात्माकी संतुष्टिके लिये दान करनेसे मोक्ष होगा। (५।२५, १२।७)

कर्मयोगके ये सूत्र हैं। पाठक इनका मनन करें। इन सूत्रोंका मनन करनेसे जो मानवधर्म निश्चित होता है वह यह है। ब्राह्मण अपना अध्यापनरूप कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे परंतु जो उससे वेतन मिलेगा, उस ज्ञानरूप धनका दान सब प्राणियोंकी भलाईके लिये करे। क्षत्रिय प्रजारक्षण आदि अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे करे उससे प्राप्त होनेवाला फल अर्थात् धन आदि सब प्राणियोंके हितके लिये अर्पण करे। वैश्य कृषि गोरक्षा और वाणिज्य करे बहुत धन कमावे और उस धनरूप कर्मफलका दान सबकी भलाईके लिये करे। इसी तरह शूद्र अपनी कारीगरी और सेवा उत्तमसे उत्तम करे उससे जो धनरूप फल प्राप्त हो उसका दान वह सबकी भलाईके लिये करे। अर्थात् राष्ट्रके सब लोग उत्तमोत्तम कर्म करें, कोई आलसी न रहे, कोई कर्मसे दूर न रहे जितना उत्तम होना संभव हो उतनी पराकाष्ठा करके उत्तम कर्म करें उस कर्मसे जो फल अर्थात् धन आदि मिले वह फिर अपने पास जमा करके कोई न रखे। सब कर्मफलरूप धन राष्ट्रकोशमें सबकी भलाईके लिये समर्पण होता रहे। उस राष्ट्रकोशसे सब जनताका योगक्षेम चलाया जावे। इसमें मानव जातिका व्यवहार इसी निष्काम भावसे चले तो मुक्ति होगी और सकाम भावसे उत्पन्न हुए बंधनके सब दुःख दूर होंगे।

जगत्के सब बंधन सब कष्ट मानवजातिकी सब आपत्तियां सब व्याधियां अपने कर्मफलका संग्रह कर रही हैं इसी कारण हैं। इसी फलासक्तिके कारण सब आपत्तियां हैं। जिस समय वह फलासक्ति दूर होगी और अपना कर्मफल सर्वभूतात्माके लिये दान करनेका सबका स्वभाव बन जायगा, उसी समय सब आपत्तियां दूर होंगी। इसी त्यागका नाम संन्यास, कर्मसंन्यास है इसीको त्याग कहते हैं। यही मानवी दुःखोंका अन्त करनेवाला है। यही बात निम्नलिखित गीताके श्लोकोंमें कहा है—

निर्द्वन्द्वो हि बंधात्प्रमुच्यते। (गी. ५।३)
कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति (५।१२)
संन्यस्यास्ते सुखं वशी। (५।१३)
ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते (५।२१)
विगतेच्छाभयक्रोधो मुक्त एव (५।२८)
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति (५।२९)

द्वैतभावका त्याग करनेसे बंधनसे मुक्ति होती है। अपने कर्मके फलका दान करनेसे शान्ति होती है। कर्मका संन्यास करनेसे सुख मिलता है। सर्वभूतात्माके साथ मिलनेसे अक्षय सुख मिलता है। वासनात्यागसे मुक्ति मिलती है। सर्वभूतोंके मित्रका ज्ञान प्राप्त करनेसे शान्ति मिलती है। ये सब वचन पूर्वोक्त अर्थकाही अन्य शब्दों द्वारा वर्णन

रहे हैं। मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म करे उसका फल भगवान् नारायणके लिये समर्पित करे इससे वे बंधनसे मुक्त होंगे और उनके सब क्लेश दूर होंगे।

बंधके विषयमें उपनिषदोंका सिद्धान्त इस प्रकार है—

बन्धाय विषयासंगि। (मैत्री उ ६।३४)
बन्धाय विषयासक्तम् (ब्रह्म २)
बन्धो हि वासनाबन्धः। (मुक्ति २।६८)
मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः। (मुक्ति २।६८)

विषयोंपर आसक्त होनेसे बंधन होता है। वासनासे बंधन होता है। वासनाका क्षयही मोक्ष है।" अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करनेकी इच्छाका नाम वासना है। यही सब मनुष्योंके अनंत क्लेशोंका हेतु है। यहांतक जो विचार किया, उससे पाठकोंके मनमें कर्मफलसंग्रहसे दुःख और कर्मफलत्यागसे सुख होता है यह बात स्पष्ट हो चुकी है। त्याग और भोगका सुव्यवस्थित नियम इसीके मननसे ज्ञात होगा।

फलसंग्रहसे दुःख कैसा होता है इसका विचार पाठक कर सकते हैं। कल्पना कीजिये कि एक ग्राममें एक बहुतही बडा धनी मनुष्य है उससे अधिक धन होनेसे वह अन्योंका भला भी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। परंतु भला करनेवाला क्वचित् कोई होता है। मनुष्य स्वार्थी होनेके कारण वह अपने स्वार्थके कारण दूसरोंकी हानि करता है। अतः वह धनवान् मनुष्य अपने धनसे सब धान्य खरीदकर अपने पास रखता है और ठीक भावसे बेचता है। अन्योंके पास इतना धन न होनेसे वे लाचार होते हैं और भूखे रहते हैं। यह अनर्थ अयोग्य धनसंग्रहसे होता है। यदि यह धनी मनुष्य अपने सब धनका व्यय ग्रामके लोगोंके लिये करेगा और इसी तरह ग्रामके सब अन्य लोग अपने अपने कमाईका भाग सब ग्रामकी भलाईके लिये देंगे और ग्रामकी ग्रामसभा अपने सार्वजनिक कोशमें उस धनको रखेगी और उससे सब ग्रामका परिपालन किया जायगा तो उस ग्राममें कोई दुःखी नहीं रहेगा। इस कार्यसे सब ग्राम का अधिकसे अधिक भला होगा। इसीलिये अपरिग्रह अर्थात् संग्रह न करनेका व्रत धारण करनेके लिये कहा है। कर्मफलसंगका त्याग करनेका ही नाम अपरिग्रह है। अपना परिग्रह बढानेसे ही अनंत क्लेश होते हैं। इससे अर्थात् फलसंगका त्याग करनेसे जो फल होता है वह अब देखिये-

ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति। (५।६)
ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः (५।२)
विंदत्यात्मनि सुखम्॥ (५।२१)
स सुखी नरः॥ (५।२३)
ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ (५।२४)
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्॥ (५।२५)
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते॥ (२।२६)
प्रकाशयति तत्परम्॥ (५।१६)
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्॥ (५।१७)

ब्रह्म प्राप्त होता है। वह सुखी होता है। परमपद प्राप्त होता है। दुःखका पुनः पुनः आक्रमण नहीं होता। यह अन्तिम सिद्धि कर्मफलका त्याग करनेसे हो सकती है। ब्रह्मप्राप्तिका अर्थ बडी शक्तिकी प्राप्ति है। ब्रह्म सबसे बडी शक्ति है वह सब स्थिरचरमें व्यापक है। यह ब्रह्म अर्थात् यह बडी शक्ति किस समय प्राप्त होती है? जब यह मनुष्य स्थिरचरकी सुस्थितिके लिये अपने कर्मके फलका समर्पण करता है। इस विषयमें एक उदाहरण हम देखते हैं।

कर्मफलसंग्रह

किसी एक घरमें दस भाई रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला धन अपने लिये अपने पास रखता है। उसमेंसे थोडासा भी दूसरेको नहीं देता। दूसरे मरे या जीवित हैं इसका कुछ भी विचार नहीं करता। प्रत्येक भाई अपने अपने कमरेमें रहता है। यद्यपि इस मकानमें दस भाई हैं तथापि शत्रु उपस्थित होनेपर वे दस नहीं हैं। एक एक अलग अलग है। यदि शत्रुके दो मनुष्य आ जायँ तो वे इस एक एक भाईका नाश करके उनके घरके स्वामी बन सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने कर्मका फल अपने पास रखनेसे अपना सांघिक बल घटता नहीं किन्तु अपना वैयक्तिक बल भी घटता है और अनेक कष्ट होते हैं। इसी लिये कहा है कि कर्मका फल ईश्वरार्पण करो। फलपर आसक्त न होओ।

कर्मफलत्याग

अब कर्मफलत्याग करनेवाले दस भाइयोंके दूसरे घरकी स्थिति हम देखेंगे। इस घरमें वैसेही दस भाई हैं। वे

प्रत्येक उत्तम कर्म करते हैं और जो कमाई होती है वह एकत्र मिलकर रखते हैं। इस सम्मिलित धनसे सबकी भलाईके लिये मिलजुलकर व्यय करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति दसों भाइयोंकी भलाईके लिये व्यय करनेको तैयार रहता है। सब मिलकर परस्पर सहायतासे सब कार्य करते हैं इसलिये प्रत्येक मनुष्य दस भाइयोंकी शक्तिसे युक्त है। ऐसे सुसंघटित दस भाइयोंकी शक्ति प्रत्येककी दसगुनी शक्ति होनेके कारण दसोंकी मिलकर शक्ति सौ के बराबर होगी। यह काम कर्मफलत्याग और अपरिग्रहमतके कारण होता है। इस स्थितिमें वे परम शक्तिसे युक्त होते हैं मानो यही उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति है।

जो एकात्मरूप होता है उसकी शक्ति एक मनुष्यकी शक्तिके समान होगी। परंतु जो सर्वात्मरूप होगा सर्वभूतात्मभूतात्मा बनेगा, उसकी शक्ति सब भूतोंकी शक्तिसे भी अधिक होगी। इसीका नाम ब्रह्म है। ऐसे लोग कर्म करनेपर भी उनके दोषोंसे दूर रहते हैं।

अब विचार करना चाहिये कि इस स्थितिको प्राप्त करने का साधन क्या है कैसा आचरण करनेसे मनुष्य सर्वभूतात्मरूप बन सकता है किस रीतिसे मनुष्य इस उन्नतिके पथपर सीधा चल सकता है? इसके सूचक वचन इसी अध्यायमें जो हैं उनका अब विचार करेंगे—

अज्ञानी बाल

पहले जो अज्ञानी निर्बुद्ध और मूढ हैं उनका वर्णन इस तरह इस अध्यायमें किया है—

बालाः (४) = बालक जैसे नासमझ

अयुक्तः (१२) = योग न करनेवाला प्रयत्न न करनेवाला

कामकारेण फले सक्तः (१२) = स्वार्थसे फलमें आसक्त अपने कर्मका फल अपने लिये अपने पास रखनेवाला

अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति (१५) = अज्ञानसे जिसका ज्ञान ढका है उस कारण मोहमें आ पड़ते हैं।

ये बाल गिने हैं इनका अधःपात होता है इनसे बन्धन होता है। इनमें (अयुक्त) कर्म न करनेसे स्वार्थी कर्मका फल अपने लिये रखनेवाले अज्ञानी मनुष्य आते हैं। इन बालोंके विरोधी शब्दोंसे उन्नतिका मार्ग सूचित होता है वह ऐसा है—

बाल ४	पंडित (धीर) ४
अयुक्तः १२	युक्त (योगी) ८
सक्तः १२	असक्तः १
अज्ञानी १५	ज्ञानी १५, १६
मोहयुक्त	मोहरहित
संमूढ	असंमूढ २

पाठक विचार करेंगे तो उनको यही उन्नतिका शुभ मार्ग श्लोकोंके शब्दोंसे व्यक्त हो रहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा।

तत्त्वज्ञानी पण्डित

जो कर्तव्य और अकर्तव्य यथावत् जानता है वह तत्त्वज्ञानी पंडित है। वह फलासक्ति छोड़कर कर्म करता है। इसका वर्णन इस अध्यायमें निम्नलिखित रीतिसे किया है

पण्डितः (४) पण्डिताः समदर्शिनः (१८) = ज्ञानी बुद्धिमान्, समदर्शी

तत्त्ववित् (८) ब्रह्मवित् (२०) विदितात्मनाम् (२६)—तत्त्व जाननेवाले ब्रह्म जाननेवाले आत्मज्ञानी,

ऋषयः (२५) = अतीन्द्रियार्थदर्शी सूक्ष्मदर्शी

सांख्य (५) ज्ञानमार्गी संन्यासमार्गी

असंमूढ (२०) ज्ञानेन येषां अज्ञानं नाशितं (१६) = जिनकी मूढता दूर हो चुकी है ज्ञानसे जिनका अज्ञान दूर गया है

ज्ञानं तत्परं प्रकाशयति (१६) = ज्ञानसे जिन्हें परतत्त्वका ज्ञान हो चुका है

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (१७), क्षीणकल्मषाः (२५) विशुद्धात्मा (७) = ज्ञानसे जिनके पाप धो गये हैं, जो शुद्ध बने हैं जिनके दोष न्यून हो गये।

येषां साम्ये स्थितं मनः (१९) जिनका मन सम हो गया समभावमें जिनका मन रहता है।

ब्रह्मणि स्थिताः (१९, २०) = जो ब्रह्ममें रहते हैं।

इस तरह जो ज्ञानी मोहरहित पापरहित शुद्धचित्त तत्त्वज्ञानी होते हैं वे असंग होकर अर्थात् कर्मोंका फल अपने लिये न रखते हुए, जनताजनार्दनके लिये अर्पण करते हैं मनुष्य और पशुओंके विषयमें समदृष्टि रखते हैं सर्वत्र एकता आत्मभाव रखते हैं ऐसा अनुभवसे जानते हैं ऐसे तत्त्वज्ञानियोंसे कभी पापाचरण नहीं होता अतः वे पुण्यात्मा होकर बंधनसे मुक्त होते हैं।

योगी

ऐसे योगका आचरण करते हैं और अपना उन्नतिका मार्ग आक्रमण करते हैं। इनके सूचक शब्द ये हैं—

योगयुक्तः (६,७) युक्तः (८) योगी (२४), योगः (५) = योगका आचरण करनेवाले। कर्मयोगमें योग शब्दका विशेष अर्थ है। कर्ममें कुशलता (गी० २।५०) संगत्यागपूर्वक सिद्धि-असिद्धिके विषयमें बुद्धिकी समता (गी० २।४८) और कामक्रोधादि वेगोंको 'सहन करनेकी शक्ति' (गी० ५।२३) ये योगके अर्थ हैं। अर्थात् योगका आचरण करनेका अर्थ कुशलतापूर्वक कर्म करना द्वन्द्वोंके विषयमें सम-बुद्धि धारण करना और कामक्रोधादि वेगोंको सहना है। भगवद्गीतामें योग शब्दका अर्थ यह है। और भी इस शब्दके कुछ विशेष अर्थ हैं उनका विचार किसी अन्य स्थानमें किया जायगा।

कुर्वन् (७) = इस शब्दका अर्थ भी कर्मयोगका आचरण करनेवाला ऐसा है। कर्मयोग प्रयत्नका योग है। प्रत्येक कर्म उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये और अन्ततक उस बीचमें प्रयत्नकी शिथिलता नहीं होनी चाहिये यह तो कर्ममार्गका सर्वसाधारण नियम है ही। इसके साथ साथ—

मोक्षपरायणः (२८) = मोक्ष मिलनेकी इच्छा धारण करना मोक्षप्राप्तिके विषयमें तत्पर रहना मोक्षके सिवाय दूसरा कुछ नहीं सूझना चाहिये। तथा—

तद्बुद्धयः तदात्मानः, तन्निष्ठाः तत्परायणाः (१७) = अपनी बुद्धिमें ईश्वरका स्मरण रखना अपनी आत्माको ईश्वरमय करना ईश्वरपर निष्ठा और भक्ति रखना और ईश्वरपरायण होना। कर्मयोगीको इस प्रकार ईश्वरपरायण होना चाहिये। जिसका ध्यान किया जाता है वैसा वह बनता है इस न्यायके अनुसार ईश्वरपरायण हुआ मनुष्य ईश्वरही बनता है और तद्नुकूल सुयोग्य कर्म करता है। कर्मयोगी अपने सम्मुख अपना आदर्श तारक श्रेष्ठ पुरुषको रखता है और तद्नुकूल बनता है।

संयमका आचरण

कर्मयोगमें संयमके आचरणका अत्यंत महत्त्व है। इसके बिना कर्मयोगकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

मुनिः (६,२८) = मौन धारण करनेवाला यहां भाषा-का संयम है। भाषण द्वारा जो शक्तिका ह्रास होता है वह इस वाक्संयमसे बचाया जाता है। इसका दूसरा अर्थ 'मननशील' भी है। जो मनन करके तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करता है।

यती (१२) यति (२६), विजितात्मा (२५) यतचेतसः (२६), स्थिरबुद्धिः (२०) जितेन्द्रिय (७) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (२८) = ये सब शब्द आत्मा बुद्धि चित्त मन, वाणी इंद्रियां शरीर आदि सबका संयम करनेकी सूचना दे रहे हैं। इसमें बुद्धि चित्त आदि सबका संयम है किसीको छोडना नहीं है। क्योंकि एकको स्वैर छोडनेसे अन्योंका संयम निरर्थक हो जाता है। अतः सावधानतासे सबका संयम करना चाहिये।

ऐसे संयमी मनुष्यही कुशलतापूर्वक कर्मयोगका आचरण करके अपनी परम उन्नति सिद्ध कर सकते हैं। बिना संयमके कर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अतः सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध होनेके लिये संयम अत्यंत आवश्यक है।

निरिच्छता

संयमके साथ इच्छा वासना अथवा कामनाका कम होना भी अत्यंत आवश्यक है। संयम सिद्ध होनेसे इच्छा कम होगी और इच्छा कम होनेसे संयम सिद्ध होगा ऐसा अन्योन्याश्रय इस विषयमें है। इस महत्त्वपूर्ण विषयके सूचक कई वाक्य इस अध्यायमें हैं देखिये—

न कांक्षति (३) = इच्छा नहीं करता वासनाको प्रबल होने नहीं देता। यहां इच्छाका अर्थ भोगप्राप्तिकी इच्छा है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान् (२७), बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा (२१) = स्पर्शका अर्थ बाह्य विषय है। इन विषयोंमें जो आसक्त नहीं रहता इन विषयोंको जो दूर करता है वह कामनारहित होता है। क्योंकि

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते आद्यन्तवन्तः ... न तेषु रमते (२२) = जो विषयभोग हैं वे दुःखके उत्पादक हैं, तथा उनसे जो सुख मिलता है वह अन्तवाला होकर नाश होता है इसलिये ज्ञानी मनुष्य उनमें रमता नहीं, क्योंकि अनंत सुख इन विषयभोगोंसे नहीं प्राप्त होता और उनसे विविध दुःखोंकी उत्पत्ति भी होती है।

इसीलिये कहा है कि—

कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति स नरः सुखी च। (२३)= जो मनुष्य कामके वेगको और क्रोधके वेगको सह सकता है इनका वेग आनेपर जो अपने स्थानसे चलित नहीं होता वेगोंका हमला होनेपर भी जो उन वेगोंको दूर कर सकता है वही योगी है और वही सुखी है। पाठक यह अपने सुखका लक्षण ध्यानमें धारण करें। भोगेच्छासे दूर रहनेसे इस सुखकी प्राप्ति होती है। विषयभोगोंका संग छोडना चाहिये, अपने कर्मके फलका संग करनेकी इच्छाका भी त्याग करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है इसीलिये कहा है—

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति (१२) संगं त्यक्त्वा कर्म करोति (१० ११)= अपने कर्मके फलका त्याग करनेसे शान्ति प्राप्त होती है, कर्मके फलका संग छोडनेसेही निर्दोषता प्राप्त होती है, यह त्याग मनसे करना चाहिये तभी उक्त सिद्धि मिलेगी। इस विषयमें निम्नलिखित प्रमाण देखिये—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी (१३) = सर्व कर्मोंका मनसे संन्यास करता है वह सुखी रहता है। सुख चाहिये तो मनसे कर्मसंन्यास करना चाहिये यह बात सिद्ध है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत (८), नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् (१३)= योगी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता। इस नौ द्वारवाले नगरमें न कुछ करते और न कुछ कराते रहना चाहिये। नगरमें न करते कराते कैसे रह सकते हैं ऐसी आशंका यहां हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक नगरमें एक उत्तम राजा है उसने मंत्री सेनापति आदि स्थानोंपर उत्तमोत्तम सुशिक्षासंपन्न पुरुषोंको नियुक्त किया है। वे कर्मचारी अपना अपना कार्य पूर्ण और उत्तम रीतिसे करते हैं इस कारण उस राजाको कोई कार्य करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। राजाकी शक्ति लेकर वे सब छोटेबडे कार्य करते हैं यह सत्य है तथापि सब कर्मचारी अपने कर्ममें परिपूर्ण और उत्तम सुशिक्षित रहनेके कारण सब कार्य अपने यथास्थान होते हैं और राजाको उनका कार्य देखनेके बिना कुछ भी अपेक्षित नहीं रहता है। इसी तरह योगादि साधनोंद्वारा जिसने अपने सब मन बुद्धि और अन्य इंद्रियोंको सुशिक्षित संयमित शान्त और दान्त बनाया है उसके इंद्रियाँ स्वयं योग्य कर्म करते हैं, कभी स्वेच्छाचारी नहीं होते और इस देहधारीको स्वयं कुछ करनेके लिये अपेक्षित नहीं रहता। ऐसे योगी सहर्षतासे कह सकते हैं कि मैं इस देहमें रहते हुए कुछ भी कर्म नहीं करता मैं कुछ नहीं करता हूं। इस विषयमें अधिक स्पष्टीकरणके लिये निम्नलिखित श्लोक देखिये—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(११)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्। (९)

"केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे और केवल इंद्रियोंसे योगी लोग अपनी शुद्धिके लिये कर्मफलका संग छोडकर कर्म करते हैं। सब इंद्रिय स्वयं अपने अपने निश्चित विषयोंमें वर्तते हैं इस भावसे वे अनुभव करते हैं। प्रत्येक इंद्रिय केवल स्वयं अपने विषयमें सुयोग्य कर्म करनेके लिये यह नितान्त सुशिक्षासे संपन्न और संयमित होना चाहिये इसका विचार पाठक यहां अवश्य करें। नेत्र रूपविषयके देखनेमेंही काम करेगा परंतु उसका कार्य पूर्णतया निर्दोष होनेके लिये उसको उत्तम शिक्षित, संयमित और शान्त बनाना चाहिये। सब इंद्रियोंको ऐसे शिक्षित, संयमित शान्त और दान्त बनानेके लिये योग साधन अत्यंत आवश्यक है। इसका विचार आगे के अध्यायमें आनेवाला है। यहां इतनाही ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल इंद्रियोंसे भी कर्म हो सकता है और वह उत्तमसे उत्तम हो सकता है, योगी लोग ऐसाही कर्म करते हैं। इस कारण वे निर्दोष रहते हैं।

प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्। (२०) = प्रियवस्तु प्राप्त कर लेकर भी बहुत हर्ष न करना चाहिये। क्योंकि यदि प्रियके दर्शनसे हर्ष हुआ तो अप्रियके दर्शनसे अवश्यमेव दुःख होगा। इसलिये यदि अप्रियकी प्राप्तिसे दुःख नहीं चाहिये तो प्रियकी प्राप्तिसे हर्ष भी करना योग्य नहीं है। क्योंकि-

आत्मनि सुखं विन्दति। (२१ = जो सुख मिलता है वह आत्माके अन्दरसे ही मिलता है बाहरसे नहीं। अतः अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थोंको अपने पास

कष्ट करनेकी क्या आवश्यकता है? बाह्य पदार्थोंका आकर्षण जितना कम होता जाय उतना अन्दरही अन्दरसे सुख मिलता है। सुखका स्रोत अन्दर है बाहर नहीं है इसलिये बाह्य पदार्थ प्रिय हों या अप्रिय हों उनके विषयमें सम बुद्धि रखकर सतुष्ट रहनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीसे अन्तरात्मामें सुख मिलने लगता है।

द्वेष न करो

न द्वेष्टि (३), अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत् (२०) = द्वेष नहीं करना चाहिये। अप्रिय पदार्थ प्राप्त होनेसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये। इससे पूर्व कहा है कि प्रिय की प्राप्तिसे हर्ष नहीं करना चाहिये। उसीसे अप्रियसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये यह उपदेश सिद्ध होता है तथापि स्पष्ट बोधके लिये यही सूचित होनेवाला उपदेश यहां स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा है। अप्रियका द्वेष नहीं करना चाहिये और प्रियसे हर्ष नहीं करना चाहिये, इसका आशय यह है–

कामक्रोधवियुक्ताः (२६) विगतेच्छाभयक्रोधः (२८) कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति सः सुखी नरः (२३) = काम और क्रोधका त्याग करना जिसने इच्छा भय और क्रोधको दूर किया जो काम और क्रोधके वेगको सह सकता है, वही मनुष्य सुखी है। 'काम' का अर्थ प्रिय वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा 'क्रोध' का अर्थ अप्रियकी प्राप्तिसे रोष करना। इस तरह जो पूर्व स्थानमें कहा वही यहां कामक्रोध शब्दों द्वारा बताया और कामक्रोधको छोडनेको भी इसी लिये कहा है। ये दोनों दूर गये तो भय भी नहीं रहता। भय तबतक ही रहता है जबतक काम और क्रोध रहते हैं।

द्वन्द्व छोडना

द्वन्द्वसे काम क्रोध भय आदि होते हैं। द्वन्द्वका अर्थ द्वैतभाव है। सुख-दुःख इष्ट-अनिष्ट आदि अनेक द्वन्द्व द्वैतभावकी कल्पनासे होते हैं। अतः कहा है—

निर्द्वन्द्व (३) = द्वन्द्वभावना छोडनी चाहिये। यही सब दुःखकी जड है। यदि किसी प्रकार द्वैतभाव या द्वन्द्वभाव दूर गया, तो किसी कारण भी अपने पास दुःख आ नहीं सकते। इसीलिये बारबार द्वन्द्वोंको दूर करनेको या द्वन्द्व विषयमें सम बुद्धि रखनेको कहा है। सम बुद्धिका अर्थ है। ब्रह्मबुद्धि यदि द्वन्द्वके विषयमें ब्रह्मबुद्धि हो गयी तो द्वन्द्वोंका ही नाश हुआ। द्वैत रहा ही कहां? इसीलिये—

छिन्नद्वैधाः (२५) = द्वैतभाव जिनका छिन्नभिन्न हुआ है, उनकोही ब्रह्मभूत (२४) ब्रह्मरूप बना कहा है। अर्थात् ब्रह्मरूप बनना और द्वन्द्वभाव छोडना एकही है इसीलिये गीतामें ब्रह्मरूपको द्वन्द्वातीत कहा है। जो द्वन्द्वातीत होता है वही—

सर्वभूतानां सुहृद् (२९); सर्वभूतहितरत (२५) सर्वभूतात्मभूतात्मा (७) ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (२१) होता है। जो द्वन्द्वभावके परे जाता है जिसका आपपरभाव छूट गया है, वही सर्व भूतोंका मित्र सब प्राणियोंका सच्चा हितकर्ता सर्व भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा बनी है ऐसा सर्वात्मभावयुक्त और ब्रह्मके साथ संयुक्त हुआ होता है। अर्थात् जिसमें द्वन्द्वभाव है वह ब्रह्मसे दूर है अतः दुःखी है।

इन शब्दों और वाक्योंके मननसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके लिये कौनसा साधन आवश्यक है इस बातकी स्पष्टता हो जाती है। आशा है कि पाठक इसका यथेष्ट मनन करके जो साधन निश्चित होगा उसका अनुष्ठान करके उन्नत होनेका यत्न करेंगे।

योगसाधन

योगसाधनका विषय अगले अध्यायमें आनेवाला है वहां उसका अधिक विचार होगा।

जो अन्तिम सिद्धि होती है ऐसा इस अध्यायमें कहा उसमें योगसाधनके बिना बडे विघ्न उपस्थित होते हैं। योगसाधनके बिना मनुष्यकी योग्य प्रगति होनेमें बडे कष्ट होते हैं (गी. ५।६) ऐसा जो इस अध्यायमें कहा उससे मानवी उन्नतिमें योगसाधनका महत्त्व कितना है इस बातका ज्ञान होता है। अतः जो पाठक अपनी उन्नति करनेका यत्न करते हैं उनको आगेका 'योगाध्याय' भी अच्छी तरह मनन करना चाहिये। इसलिये बीचमें कोई विचार उपस्थित न करते हुए हम भी अब छठे अध्यायका मनन शुरू करते हैं। उसका अध्ययन पाठक करें और अपने आपको मानवी पूर्णताकी अन्तिम सिद्धिके योग्य बनावें॥

॥ पंचम अध्यायका विचार समाप्त ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पंचम अध्यायके

सुभाषित

(१) निश्चित उपदेश करो

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

(गी ५।१)

' इन दोनोंमेंसे जो श्रेयस्कर है वही निश्चय करके मुझसे कहो । ' शिष्यको उपदेश करनेके समय यह भी करो अथवा यह भी करो ऐसा संदेहयुक्त उपदेश नहीं करना चाहिये । निश्चय करके जो उसके लिये हितकारक हो, वही करना चाहिये जिससे शिष्यको संदेह न होगा और उसका कल्याण होगा ।

(२) द्वन्द्व छोडनेसे मुक्ति

निर्द्वन्द्वो—बन्धात्प्रमुच्यते ॥

(गी ५।३)

" द्वन्द्वोंको छोडनेसे मनुष्य बन्धनसे मुक्त होता है । " सुख दुःख हानि लाभ मैं और अन्य आदि अनेक द्वन्द्व हैं । जबतक ये द्वन्द्व भाव मनमें रहते हैं तबतकही बंधनका कष्ट भोगने पडते हैं । ये द्वन्द्वभाव दूर गये तो बंधन भी दूर हो जाते हैं । अर्थात् मुक्तिही प्राप्त होती है ।

(३) शान्तिकी प्राप्ति

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति ॥

(गी ५।१२)

" जो कर्मोंके फलका त्याग करता है वह शान्तिको प्राप्त होता है । " और इसके विरुद्ध—

कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।

(गी ५।१२)

" कामनासे फलमें आसक्त होनेसे बंधन होता है । " यह कर्म भोगकी वह स्वाभाविक स्थिति और इसका तत्त्व दर्शित है ।

(४) स्वभाव बलवान् है ।

स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (गी ५।१४)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥

(गी ३।३३)

प्रकृतिं यान्ति भूतानि ॥ (गी ३।३३)

" प्रकृति-स्वभाव ही सर्वत्र प्रवर्तक होता है । " ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिके स्वभावके अनुसार कर्म करता है । तात्पर्य प्रकृति-स्वभावका अतिक्रमण करना बडा कठिन कार्य है ।

(५) अज्ञानसे मोह

अज्ञानेन—मुह्यन्ति जन्तवः ॥

(गी ५।१५)

" अज्ञानके कारण मनुष्य मोहित होते हैं । " और प्रमाद करके दुःख भोगते हैं । सब दुःख इसी कारणसे होते हैं । अतः ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

(६) ज्ञानसे उन्नति

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(गी ५।१७)

" ज्ञानसे जिनके पाप धोये गये और जो निष्पाप हो गये वे पुनः पुनः कष्टमें नहीं पडते । " उनके सब दुःख दूर होते हैं ।

(७) आसक्ति छोडनेसे सुख

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा—सुखमक्षयमश्नुते ॥

(गी ५।२१)

" बाह्य विषयोंके भोगोंमें आसक्ति छोडनेसे अक्षय सुख मिलता है और विषय भोगोंपर आसक्त होनेसे अनन्त दुःख होता है । क्योंकि—

भोगा दुःखयोनय एव, न तेषु रमते बुधः ॥

(गी ५।२२)

" भोग दुःख बढानेवाले हैं अतः उनमें ज्ञानी नहीं

रमता। " अज्ञानीही भोगोंमें रमता है और दुःख भोगता है। अत सिद्ध है—

शक्नोति यः सोढुं कामक्रोधोद्भवं वेगं,
स सुखी नरः ॥

(गी ५।२३)

" जो काम और क्रोधके वेगको सह सकता है, वही मनुष्य सुखी है। ' परंतु जो कामक्रोधके वेगको सह नहीं सकता वह वेगमें वह जाता है, वह अत्यंत दुःखी होता है।

(८) समताका हित करनेसे ब्रह्मप्राप्ति

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं सर्वभूतहिते रताः ॥

(गी ५।२५)

' सर्व भूतोंका हित करनेमें जो सदा दत्तचित्त होते हैं वे ब्रह्म प्राप्त करते हैं। " जो दूसरोंके हितमें निमग्न करते हैं दूसरोंको कष्ट देते हैं, वे दुःख भोगते हैं।

(९) कामक्रोध छोडनेसे ब्रह्मप्राप्ति।

कामक्रोधवियुक्तानां ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥

(गी ५।२६)

' काम और क्रोध छोडनेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है। " काम और क्रोधके वश होनेवालोंको अत्यंत दुःख होते हैं। तथा—

विगतेच्छाभयक्रोधो मुक्त एव ॥

(गी ५।२८)

जिसने इच्छा भय और क्रोध छोड दिये वह मुक्तही हुआ जानो। " अर्थात् जिसमें वासना भय और क्रोध है वह सदा बद्ध होकर रहता है।

पञ्चम अध्यायकी विषयसूची

॥ पञ्चम अध्यायकी विषयसूची समाप्त ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ध्यान-योग

(१) सन्यासी और योगी

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव । न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अन्वयः— यः कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं कर्म करोति सः संन्यासी च योगी च निरग्निः न अक्रियः च न ॥ १ ॥ पाण्डव ! यं संन्यासं इति प्राहुः तं योगं विद्धि, कश्चन असंन्यस्तसंकल्पः योगी न भवति हि ॥ २ ॥

जो कर्मके फलका आश्रय न करके अपना कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और वही योगी है। जो अग्नि होत्र नहीं करता किंवा जो कोई कर्म नहीं करता वह न संन्यासी है और न योगी ॥ १ ॥ हे अर्जुन ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग समझ। क्योंकि कोई भी (मनुष्य) मनके संकल्प छोड़नेके बिना योगी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीतिसे करेगा परंतु उसका फल अपने उपभोगके लिये अपने पास जमा करके न रखेगा इतनाही नहीं परंतु उसके उपभोग की इच्छाका ही त्याग करेगा वही सच्चा संन्यासी और सच्चा योगी है। जो अग्निहोत्र करना छोड़ता है अथवा कोई कर्म करता ही नहीं आलसी होकर चुपचाप बैठा रहता है वह न तो संन्यासी है न योगी। जो संन्यास है वही योग है और जो सन्यास नहीं वह योग भी नहीं क्योंकि विषयोपभोगोंके सब संकल्प छोड़नेके बिना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता और न ही संन्यासी हो सकता है ॥ १-२ ॥

कर्मफलभोग और कर्मफलत्याग

(१२) मनुष्य कर्म करता है कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है [गी ३।५], मनुष्य कर्मका त्याग कर नहीं सकता कर्मका पूर्णतया त्याग करनेसे मनुष्य जीवित भी रह नहीं सकता [गी ३।८] अतः मनुष्यको कर्म करना अनिवार्य है। इसीलिये कहा है कि कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है परंतु कर्मके फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है। (गी २।४७) इस कारण मनुष्य जैसे कर्मके फलका त्याग कर सकता है वैसे कर्मका नहीं।

यहां मनुष्यके सम्मुख कर्म करना या न करना यह प्रश्न नहीं है अपितु कर्मके फलका स्वयं भोग करना या उसका दान करना केवल यही एक प्रश्न है। मैं कर्म करूं या न करूं ? ऐसा प्रश्न मनुष्य पूछ नहीं सकता क्योंकि मनुष्यकी अपनी प्रकृति ही उससे बलात् कर कर्म करावेगी (गी १८।५९ ६०)। अतः कर्मके त्यागका विचार करना व्यर्थ ही है। दीपका प्रकाशना सूर्यका तेजस्वी होना जितना स्वाभाविक है उतना ही मनुष्यका कर्म करना स्वाभाविक है। इस लिये यदि अग्नि और सूर्यका प्रकाश होना ही है तो वे जगत्के उपकारके लिये प्रकाशते रहें, वैसे ही यदि मनुष्यको कर्म करना अनिवार्य है तो वह सर्वभूतहित करनेके लिये कर्म करता रहे अर्थात् कर्म करे और उसका फल सर्व भूतोंके हितके लिये समर्पण करे (गी ५।२५, १२।४)

सर्वसाधारण मनुष्य कर्म करता है और कर्मका फल अपने उपभोगके लिये अपने पास अपने अधिकारमें संगृहीत करता रहता है। ब्राह्मण विद्यादान करता है क्षत्रिय जन रक्षण करता है वैश्य कृषि करता है धन कमाता है और शिल्पी व्यवहार करता है और प्रत्येक अपने अपने कर्मका वेतन प्राप्त करके उसका स्वयं उपभोग करना चाहता है। यही बद्धताका हेतु है।

कर्मका फल क्या है ? वेतनही कर्मका एक फल है

कर्मके अदृश्य फल पुण्यपापादि बहुत हैं, परंतु उनका त्याग या दान असंभव होनेसे गीताके कर्मफलत्यागके सिद्धान्त का विचार करनेके समय हमें अदृश्य फलोंका विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्मका फल ऐसा चाहिये कि जो सर्व भूतोंके हितके लिये समर्पित किया जा सके। वैसा फल कर्मसे प्राप्त होनेवाला धनादि है। उसका अर्थ रुपया आना पाई ही समझना उचित नहीं। जो भी कर्मके बदले मिल सकता है और जो परोपकारार्थ दान दिया जा सकता है वही कर्मफल यहां अपेक्षित है।

फलका स्वरूप

ब्राह्मण पाठशालामें पढाता है और उसके बदले जो लेता है क्षत्रिय रक्षा करता है और जो कुछ प्राप्त करता है, वैश्य व्यापार करके जो कमाता है शूद्र कारीगरी द्वारा जिस चीजको प्राप्त करता है, सिपाह रक्षा करके जो कुछ लेता है वही कर्मफल है। थोडासा विचार करनेपर पाठकों को विदित होगा कि वह कर्मफल धनादि है। पाठक इस कर्मफलकी कल्पना निश्चयपूर्वक मनमें स्थिर करें, क्योंकि कर्मफलका निश्चय होनेसे उसका संन्यास त्याग दान अथवा अनाश्रय कैसे करना चाहिये इसका निर्णय हो सकता है।

मनुष्योंका संपूर्ण व्यवहार देखनेसे मालूम होता है कि कर्मोंका रूपान्तर कर्मफलमें अर्थात् धनमें होता है और इस धनके बदलेमें फिर कर्म किये जाते हैं। ऐसे कर्मोंका यह सनातन चक्र चल रहा है। एक मनुष्य कर्म करता है उससे वेतन प्राप्त करता है उस धनको देकर वह फिर दूसरोंसे कर्म कराता है। इस तरह कर्मसे फल और फलसे कर्म होकर जगत्का व्यवहार चल रहा है।

गीताका कथन है कि यदि मनुष्य फलके उद्देश्यसे कर्म करेगा तो उसे दुःख प्राप्त होंगे और यदि वह अपने कर्मके फलका त्याग करेगा तो वह दुःखोंसे मुक्त होगा।

फलत्याग

संक्षेपसे इस कर्मफलत्यागकी व्यवस्थाका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और सिपाह अपने अपने कर्म अर्थात् विद्यादान रक्षा कृषि कारीगरी और रक्षा करें अपने कर्मका फल कोई अपने पास न रखे प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य वह फल सर्वभूतहितके लिये समर्पित करे अर्थात् प्रत्येक मनुष्य सर्वभूतहितके लिये आत्मसर्वस्व समर्पण करे, अपने लिये कोई न जीवे, अपितु सर्वभूतोंके लिये प्रत्येक मनुष्य जीवित रहे। जो मनुष्य इस तरह सर्वभूतहित करनेके लिये जीवित रहेंगे, उनका योग क्षेम ईश्वर चलावेगा (गी. ९।२२) यह योगक्षेम कैसे चल सकता है और वह कौन चलाता है इसका विचार हम आगे करेंगे परंतु यहां इतनाही देखना है कि कर्म-फलका आश्रय न करनेका आदेश भगवान् श्रीकृष्ण यहां दे रहे हैं, अतः वे कहते हैं कि (कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं कर्म करोति) जो अपने कर्मके फलका आश्रय अपने उपभोग के लिये नहीं करता, परंतु अपना कर्म उत्तम रीतिसे यथायोग्य करता है वही सच्चा संन्यासी और सच्चा योगी है। अर्थात् संन्यास-मार्गसे और योग-मार्गसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि उसको प्राप्त होती है, जो कर्मके फलका त्याग करता है।

फलका आश्रय

कर्मके फलका आश्रय करना दोषोंका मूल है। जो कर्म-फलका आश्रय करता है वह बद्ध होता है। कर्मफलके आश्रय करनेका अर्थ अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये अपने पास रखना है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा कि आजकल प्रायः सभी लोग अपने कर्मफलोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास संगृहीत करते हैं। क्वचित् कोई मनुष्य साधु सत संन्यासी योगी परोपकारी होकर निःस्वार्थ कर्म करते हैं। इनको छोड दिया जाय तो संसार भरके लोग अपने कर्मफलोंको अपने पास रखने में दत्तचित्त रहते हैं। इसी कारण सब लोग दुःखोंमें पड रहे हैं और जबतक वे अपने कर्मफलको अपने पास रखेंगे तबतक उनका दुःखसे मुक्त होना असंभव है।

कई लोग यथोचित सार्वजनिक होते हैं कई लोग परोपकारार्थ अपना जीवन दान करते हैं कई लोग अपने कर्मफलका कुछ भाग केवल परोपकारार्थ दान देते हैं। परंतु इनकी संख्या अत्यल्प है। प्रायः सब लोग अपने भोगके उद्देश्यसे कर्म करते हैं। जगत् में इनाम कर्म करने वालोंकी संख्या अत्यधिक है। वे सब अपने कर्मके फलका निश्चितभोग अपने भोगके लिये करते हैं। इस कारण बंधन में पडे हैं। इनको बंधनसे मुक्त करना असंभव है।

' मैं और मेरा '

प्रत्येक गृहस्थीकी चित्तवृत्ति देखिये। वह कहता है कि यह घर मेरा है यह भूमि अपनी है, यह धन मेरा है जो कार्य मैं कर रहा हूं उससे प्राप्त होनेवाला वेतन मेरा है, ये स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं। मैं जो कमा रहा हूं वह मैं और मेरे परिवारके लोग भोगेंगे किसी दूसरोंका इस धनपर अधिकार नहीं है। ' इस अधिकारकी सुरक्षाके लिये राज्य शासनके नियम बनाये गये हैं। राजरक्षक न्यायालय तथा अन्यान्य राज्यव्यवस्थाके अंग उपांग सब इस अधिकारकी सुरक्षाके लिये नियुक्त हुए हैं। संपूर्ण न्यायविभाग यदि कुछ करता है तो यही करता है। प्रत्येक मनुष्यका अधिकार उसके कर्मके फलपर है यही सिद्ध करनेके लिये संपूर्ण राज्य-तंत्र चलाया जा रहा है। परंतु गीताका कथन है कि कर्म करनेपर मनुष्यका अधिकार है परंतु फलपर उसका अधिकार नहीं (गी २।४७)। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि आज जगतका व्यवहार गीताका मार्ग छोडकर कहां तक दूर चला गया है। प्रत्येक मनुष्य गीताका पाठ करता है परंतु कोई मनुष्य अपने कर्मके फलपरका अपना अधिकार छोडनेको तैयार नहीं। गीताके अभिमानी इस भारत-वर्षमें थोडे नहीं हैं सभी हिंदू गीताको पूज्य मानते हैं, परंतु उनमें कितने लोग ऐसे हैं कि जो कर्मफल त्यागनेको तैयार हैं ! सभी कर्मफलका आश्रय करते हैं, इसलिये दुःखी हो रहे हैं।

यह न केवल भारतवर्षीयोंका दोष है अपितु सब जगत्‌के लोग अपने कर्मके फलका मोह धारण करते हैं। सभी पूंजीपतियोंका व्यवहार कर्मफलको अपने पास रखनेके लिये ही चल रहा है सब साम्राज्य कर्मफल भोगनेके लियेही बढाये जा रहे हैं। सब गृहव्यवस्था जातिव्यवस्था, राज्य व्यवस्था और साम्राज्यव्यवस्था अपने कर्मफलपर अपना अधिकार सुरक्षित करनेके लिये चलायी जा रही है। यहां पाठक देखें कि गीताने सब जगत्‌के इस समय चलनेवाले व्यवहारकी जडपर कुठाराघात चलाया है। वह कहती है कि ' हे मनुष्य ! तेरा अधिकार केवल कर्मपर है उसके फलपर नहीं (गी २।४७)। अपने कर्मफलका मोह ही सब जगत् को दुःखमें डाल रहा है। गीताके उपदेशको होकर आज पांच सहस्र वर्ष हो चुके हैं परंतु सामूहिक रूपमें कर्म-फल त्यागनेकी बुद्धि जगतमें अभीतक उत्पन्न नहीं हुई और आगे भी कितने सहस्र वर्ष इस निष्काम बुद्धिकी स्थिरताके लिये लगेंगे यह कहना कठिन है ! !

वर्णाश्रमधर्मसे कर्मफलत्यागकी शिक्षा मिलती है। ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासमें फलसंग्रह करना धर्मदृष्टिसे अयोग्य समझा गया है। केवल गृहस्थाश्रममें ही कर्मफल अपने पास रखा जाता है, परंतु वह भी त्यागनेके लिये ही है क्योंकि गृहस्थकोही अन्य तीनों आश्रमोंका प्रतिपालन करना होता है। इस तरह आश्रमव्यवस्थामें त्याग ही धर्म है। वर्णधर्ममें ' ब्राह्मण ' का आदर्श सबके सन्मुख है और ब्राह्मणधर्म त्यागमयही धर्म है। इस तरह वर्णाश्रमधर्मद्वारा त्याग की शिक्षा मिलती है, परंतु इस समय वर्णाश्रमधर्म शुद्ध स्वरूपमें कहीं भी नहीं है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि गीतोक्त कर्मफलत्यागका धर्म इस समय सबके पुस्तकोंमें है परंतु आचरणमें कणमात्र भी नहीं है।

यदि भगवद्गीताने कुछ कहा है तो कर्मफलत्याग ही कहा है। यही गीताकी विशेषता है। यदि गीतासे कर्म फलत्यागकी कल्पना हटा दी जाय, तो गीताकी कोई विशेषता अवशिष्ट नहीं रहती। परंतु इस भारतभूमिमें इस फलत्यागका उपदेश होकर इतना समय बीत गया, इतने समयमें गीतापर इतने भाष्य बने इतनी टीकाएं और टिप्पणियां हो गयीं इतने अनुवाद इतने हो चुके और व्याख्यान भी हो चुके हैं परंतु यह कर्मफलत्यागका सिद्धान्त अभीतक इस भारतभूमिमें सामूहिक रूपमें स्थिर नहीं हुआ ! कितने आश्चर्यकी और खेदकी यह बात है ! !

इस गीताने कर्मफल त्यागनेका उपदेश इतनी बार पुनः पुनः किया है तथापि यह उपदेश हमारे सामूहिक जीवनमें नहीं आया। पाठक इसका विचार अवश्य करें कि भगवद्गीतामें संन्यास कर्म सांख्य ज्ञान भक्ति आदि अनेक मार्ग कहे हैं उन सबमें कर्म-फल त्यागनेकी अत्यंत आवश्यकता कही है। एक भी मार्ग ऐसा नहीं है कि जो बिना कर्मफल-त्यागनेके सिद्ध होनेवाला हो। अतः हम कह सकते हैं कि कर्मफलत्याग मनुष्य मात्रके आचरणमें आना चाहिये यह इच्छा गीताधर्म-प्रवर्तककी निःसंदेह है।

संन्यास और योग

इस श्लोकमें कहा है कि संन्यास और योग एकरूप

(२) योगारूढ

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वयः— योगं आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणं उच्यते, योगारूढस्य तस्य एव शमः कारणं उच्यते ॥ ३ ॥ यदा हि इन्द्रियार्थेषु न कर्मसु न अनुषज्जते तदा सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढः उच्यते ॥ ४ ॥

योगका साधन करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिके लिये कर्म साधन है, और ऐसा कहते हैं कि योगका साधन हो चुकनेपर उसीका साधन शम होता है ॥ ३ ॥ जब मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और सब संकल्पोंका त्याग करता है तब उसको योगारूढ कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- जो योग साधन करना चाहता है उसको सबसे प्रथम मुनि बनना चाहिये अर्थात् मौन धारण करना चाहिये। इस साधनके समय उसको योगसाधनरूप कर्म कुशलतापूर्वक करना योग्य है। जब उसका साधन पूरा हो तब उस सिद्ध पुरुषको बड़ी शान्तवृत्तिके साथ शमका अवलम्बन करना चाहिये। शमका अर्थ इन्द्रियोंके विषयोंमें न फंसना, कर्मोंमें अर्थात् कर्मफलमें लुब्ध न होना और सब संकल्पोंका त्याग करना है। जब ये तीनों सिद्ध होंगे, तब समझना चाहिये कि उसका योग पूर्णतासे सिद्ध हो चुका है ॥ ३-४ ॥

योग करनेसे हो नहीं सकते कर्मफलका त्याग करनेसे ही वे सिद्ध हो सकते हैं। संन्यासी और योगी बननेके लिये निम्नलिखित प्रकार आचरण करना चाहिये—

(१) [कर्मफलं अनाश्रितः] = अपने कर्मके फलका आश्रय न करना अर्थात् अपने कर्मोंके फलका त्याग करना यह करना अथवा संन्यास करना;

(२) [कार्यं कर्म करोति] = कर्तव्य कर्म करना अथवा कर्तव्य कभी न छोड़ना ये दो नियम पालन करनेसेही मनुष्य संन्यासी और योगी हो सकता है। संन्यास और योगमें विघ्न कौनसे हैं इस बातका भी ज्ञान यहां हो सकता है—

(अ) [कर्मफलं आश्रितः]—अपने कर्मोंका फल अपने भोगके लिये अपने पास रखना दूसरेको न देना
(आ) [कार्यं कर्म न करोति] — कर्तव्य कर्म न करना और—
(इ) [अकार्यं कर्म करोति] — जो करना अनुचित है वह करना।

इन विघ्नोंसे संन्यास और योग सफल और युक्त नहीं हो सकते। जो समझा जाता है कि (निरग्निः) जो अग्निमें हवन न करनेसे तथा (अक्रियः) कर्म न करनेसे संन्यास सिद्ध हो सकता है वह भ्रम है। न वह सच्चा संन्यास है और न योग। यहां योगके तीन लक्षण इसमें बताए हुए- (१) कर्मफलत्याग (२) कर्तव्य करना और (३) संकल्प-संन्यास। पाठक पूर्वोक्त योगके लक्षणोंको इसको मिलावें।

वस्तुतः योग और संन्यास एक ही हैं (गी० ५।५), इनको पृथक् पृथक् मानना भ्रम है, यह नासमझीका लक्षण है। इन दोनोंको एक समझना ही सच्चा ज्ञान है। क्योंकि जो संन्यास है वही योग है। (गी० ६।२) इसका हेतु यह है कि (असंन्यस्तसंकल्पो योगी न भवति) मनके संकल्प योगसाधनाओंसे समूल नाश होनेके बिना कोई मनुष्य योगी नहीं हो सकता और संन्यासी भी नहीं हो सकता। इस तरह दोनोंके लिये संकल्पोंका त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। परंतु योगके बिना संन्यास दुःखदायक है (गी० ५।६)। अतः संन्यास साधनके लिये योगकी आवश्यकता है और योगसाधनके लिये तप योगकी आवश्यकता तो है ही। इसलिये यह योग क्या है इसका विचार अब किया जाता है। पाठक इसको ध्यानसे पढें—

आरुरुक्षु और आरूढ

(३-४) इन श्लोकोंमें योगारुरुक्षु और योगारूढ के लक्षण कहे हैं। योगारुरुक्षु वह है कि जो योगसाधन करना चाहता है अतः योगका अभ्यास करनेका इच्छुक है। योगारूढ वह है कि जो योगसाधन कर चुका है

जिसने अपना योगाभ्यास समाप्त किया है। इन दोनोंका अर्थात् साधक और सिद्धका कथन यहाँ बताया है।

जो (योग आरुरुक्षुः) योग-साधन करना चाहता है उसका (कारण कर्म) साधन कर्म है। योगसाधनके जो जो कर्म हैं व उसको करने चाहिये। अर्थात् यम नियमका पालन आसन प्राणायामका अनुष्ठान तथा प्रत्याहार ध्यान धारणाका अभ्यास य सब कर्म उसको करने आवश्यक हैं। यही कर्म उसका साधन है। यदि यह कर्म वह न करेगा तो वह योगारूढ कभी नहीं होगा।

यह साधनरूप कर्म थोड़े समयतक नहीं, वह सतत दीर्घ कालतक करना होता है। अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधान य यम और नियम अत्यंत आवश्यक हैं। इनके लिये कई वर्ष सतत प्रयत्न करना चाहिये। स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह कोई अल्प कालमें सिद्ध होनेवाली बात नहीं है अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्यकी सिद्धि अथवा मनमें स्थिरता अल्प प्रयत्नसे प्राप्त नहीं होती। थोड़ेसे विचारसे पाठकोंके मनमें यह बात स्थिर होगी कि ये योगसाधनरूप कर्म मनुष्यको स्थिर चित्तसे बहुत समयतक करने आवश्यक हैं। जो ये कर्म सतत करता रहेगा उसीको सिद्धि प्राप्त होगी जो कर्म ही नहीं करेगा उसे सिद्धि कैसे मिलेगी?

योगसाधन

यहाँ पाठकोंके मनमें शंका उत्पन्न हो सकती है कि साधकके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता है ऐसा जो यहाँ कहा है उसका अर्थ क्या है? इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये पातञ्जलयोग का थोड़ासा विषय यहाँ प्रस्तुत करना चाहिये-

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
(यो सू २)

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान य योगसाधनमें करनेके क्रियात्मक हैं। क्रियात्मक इस लिये करना चाहिये कि शीघ्र समाधि सिद्ध हो जाय और क्लेश कम हों। 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥३॥ अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अविद्या अस्मिता (अहंता), (राग) विषयप्रीति द्वेष और अभिनिवेश (पक्षपात) ये पाँच क्लेश हैं। इनमें अविद्याके क्षेत्रमें अन्य चार उत्पन्न होते हैं। क्लेश कइयोंमें प्रसुप्त अर्थात् गुप्त रहते हैं कई तपस्वियोंमें ये क्लेश क्षीण होते हैं कइयोंमें विच्छिन्न और उदार होते हैं अर्थात् किसीपर किसीका प्रेम हुआ तो वहाँ उसका क्रोध विच्छिन्न होता है और प्रेमके कारण एक मनुष्य दूसरेपर उदार भी होता है। ये सब मनोधर्म योगसाधनमें कष्ट उत्पन्न करते रहते हैं। क्लेश सुप्त और क्षीण (तनु) भी हुए तथापि वे किस समय कष्ट देंगे इसका कोई नियम नहीं। इस कारण साधकको सावधान रहना चाहिये और इनको दूर करना चाहिये। अब अविद्याका अर्थ देखिये—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

अनित्य अपवित्र दुःख अनात्माको नित्य, पवित्र सुख और आत्मा माननेका नाम अविद्या है। इसीको अज्ञान कहते हैं। प्रायः जगत्के सर्वसाधारण लोगोंका व्यवहार इसी अज्ञानमें चल रहा है। वे नाशवान्को नित्य अपवित्रको पवित्र दुःखको सुख और अनात्माको आत्मा मानते हैं और करते हैं। यही अविद्या और अज्ञान है और इसीसे अनन्त दुःख होते हैं।

योगसाधन करनेवालोंको कर्म करने चाहिये ऐसा जो यहाँ कहा है उस कर्मका स्वरूप संक्षेपसे यह है। इस संबन्धमें जो विषय विस्तारपूर्वक देखना चाहते हैं वे योग दर्शन तथा योगसाधनके अन्यान्य पुस्तक देख सकते हैं। तपमें शीतोष्ण सहन करनेका अभ्यास है, स्वाध्यायमें स्थूल सूक्ष्म तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग मुख्य है ईश्वर प्रणिधानमें सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करना है। इसके अतिरिक्त आसन प्राणायामादि अनेक कर्म योगसाधनके लिये आवश्यक हैं। पाठक ऐसा समझें कि जो मनुष्य यहाँ योगसाधन करना चाहता है उसको दिनभर कुछ न कुछ साधन करना ही पड़ता है। योगसाधनके जो विघ्न गिनाये गये हैं उनको देखनेसे भी योगसाधनके कर्मोंका ज्ञान हो सकता है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ (यो सू ११)

(६) आत्मोद्धार

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अन्वयः— आत्मना आत्मानं उद्धरेत्, आत्मानं न अवसादयेत् । आत्मा एव हि आत्मनः बन्धुः आत्मा एव आत्मनः रिपुः ॥५॥ येन आत्मना एव आत्मा जितः तस्य आत्मनः बन्धुः आत्मा, अनात्मनः तु शत्रुत्वे आत्मा एव शत्रुवत् वर्तेत ॥६॥

मनुष्य आत्माद्वारा आत्माका उद्धार करे, अपनी आत्माकी कभी अधोगति न करे। क्योंकि आत्मा ही आत्माका बन्धु है और आत्माही आत्माका शत्रु है ॥५॥ जिसने अपनी आत्माद्वारा अपनी आत्माको जीत लिया है उसकी आत्माका बन्धु उसीकी आत्मा है; परंतु जिसने अपनी आत्माको जीता नहीं, उसके शत्रुत्वमें उसीकी आत्मा शत्रुके समान वर्तती है ॥६॥

रोग, जडता, संदेह, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति, भोगेच्छा, भ्रम, ठीक स्थानको न प्राप्त करना, चंचलता चित्तको चंचल करनेवाले दोष हैं, अतः ये योगसाधनमें विघ्न हैं। इन विघ्नोंको दूर करनेके लिये थोडासा पुरुषार्थ पर्याप्त नहीं होता। शरीरको व्याधिरहित रखनेके लिये कितना यत्न करना चाहिये इसका विचार पाठक करेंगे तो उनको पता लगेगा कि इन विघ्नोंको दूर करनेके लिये अधिक प्रयत्न करना पडता है। इसी तरह विचार करनेसे योग साधनके कष्टोंका निश्चय भी हो सकता है।

ऐसे कर्म करके मनुष्य योगसाधन करेगा तो कुछ समयके पश्चात् उसको योग साध्य होगा। अच्छे गुरुके पास अच्छा तत्पर शिष्य योगसाधन करने लगेगा तो तीन चार वर्षोंमें समाधितक पहुंच सकेगा। न्यून योग्यतावालोंको अधिक समय लगेगा।

इतना प्रयत्न करनेसे मनुष्य योगपर आरूढ हो सकता है अतः उसको इस समय योगारूढ कहा जाता है। इस समय वह सिद्ध पुरुष हो जाता है। पूर्ण पुरुष होनेकी यह आदिअवस्था है। ऐसी अवस्थामें उसका साधन शम रहता है। शमका अर्थ इंद्रियोंका और मनका निग्रह है। यहां कोई शंका करेंगे कि योगारूढ होनेके पश्चात् शमकी क्या आवश्यकता है? परंतु थोडा विचार करनेपर यह विदित होगा कि योगसाधनसे मनके दोष सुप्त या क्षीण होते हैं बिलकुल नष्ट नहीं होते। इस लिये कई समाधिसिद्ध योगी भी पुनः विषयोंमें फंसते हैं ऐसे कई उदाहरण देखनेमें आते हैं। अतः समाधि सिद्ध होनेपर भी शमका महत्त्व कम नहीं होता। इस कारण आगे भी शमका अभ्यास रखना आवश्यक है। शमका अर्थ इंद्रियों और मनको शांत रखना और भडकने न देना है। इस शमका अभ्यास आगे बहुत समय तक करना चाहिये। जब तक कि अपना स्वभाव ही न बन जाय, तब तक यह शमका अभ्यास करना आवश्यक है। इस अभ्यासके पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि

(१) इन्द्रियार्थेषु न अनुषज्यते = विषयोंमें फंसता नहीं
(२) कर्मसु न अनुषज्यते = कर्मोंमें फंसता नहीं होता
(३) सर्वसंकल्पसंन्यासी = सब मनके संकल्प छोडता है,

तब उसको पूर्णतया योगारूढ कहते हैं। यह इसकी पूर्ण सिद्धि है।

इस तरह योगकी अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेपर उसको योगी कहा जाता है उसको संन्यासी भी कह सकते हैं; क्योंकि जो संन्यास है वही योग है और जो योग है वही संन्यास भी है। (गी. ६।२)।

यहां एक ऐसी शंका आती है कि साधकको यह सिद्धि कैसे प्राप्त होती है? कौन इसमें सहायक होता है? इस शंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि अपना उद्धार स्वयं आपकोही करना होता है। इसमें दूसरेकी सहायता कम ही है। इस विषयमें भगवान्‌का उत्तर विशेष सावधान होके विचारपूर्वक देखना चाहिये—

भावार्थ— मनुष्य अपना उद्धार स्वयं आपही करे। अपने आपको कभी न गिरने दे। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना उद्धारक अथवा सहायक है और स्वयं ही अपना घातक अथवा शत्रु है ॥ जिसने अपने आपको जीत लिया वह स्वयं अपना उद्धारक और सहायक है; परंतु जिसने अपने आपको स्वेच्छाचारी बना दिया है वह स्वयं अपना घातक शत्रु होता है ॥ अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपना मित्र और शत्रु भी होता है। किसी दूसरेसे न सहायता होसकती है और न शत्रुता ही ॥ ५-६ ॥

अपना उद्धार

(५-६) अपना उद्धार कैसे किया जाय इसकी चिन्ता सबको है। प्रत्येक चाहता है कि मैं उन्नत होऊं। कोई भी नहीं चाहता कि अपनी अवनति हो। परंतु बहुत थोडे लोगोंकी उन्नति होती है शेष लोग यथायोग्य अवनतिमें पडे होते हैं। इसका क्या कारण है ? इसका विचार इन श्लोकोंमें उत्तम रीतिसे करके मानवी उन्नतिका मूल मंत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। इस दृष्टिसे ये श्लोक अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

सर्वसाधारण लोग समझते हैं कि अपनी उन्नति दूसरोंके हाथ होगी। मेरा यह सहायक होता है अथवा मारक होता है ऐसी सर्व-साधारण लोगोंकी भावना होती है। परंतु यह विचार सत्य नहीं है। सुख या दुःख हानि या लाभ उन्नति या अवनति उद्धार अथवा अधोगति वही स्वयं करता है दूसरा नहीं।

यदि यह सत्य है तो अकालके लाखों लोग जो दुःख भोगते हुए मर जाते हैं तो क्या वे अपना दुःख स्वयं निर्माण करके भोग रहे हैं ? हां सत्य तो यही है। जिसका जो सुख या दुःख है वही उसका निर्माणकर्ता है, कोई दूसरा नहीं। यह गीताका सिद्धान्त सुनकर सब लोग आश्चर्य करेंगे और बहुतोंका इसपर विश्वास भी नहीं होगा। परन्तु यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

> सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
> परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सुख या दुःखका कोई दाता नहीं। सुख दुःख दूसरेसे मिलता है ऐसा मानना कुबुद्धि है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने सुख या दुःखका स्वयं निर्माण करता है और उसको भोगता है।

यह सिद्धान्त न केवल व्यक्तिगत सुख-दुःखके विषयमें सत्य है अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय सुख दुःख हानि लाभ जय पराजय उद्धार अवनति स्वातन्त्र्य पारतंत्र्य आदिके विषयमें भी पूर्णतया सत्य है। कोई समाज सुखी है तो उसने वैसे कर्म किये हैं। *दूसरा समाज पराजित हुआ* है तो उसने पराजित होने योग्य कुकर्म किये हैं। एक राष्ट्र स्वतन्त्र है तो उसने स्वतंत्र रहने योग्य पुरुषार्थ किए हैं और दूसरा राष्ट्र पराधीन है तो उसने स्वप्रयत्नसे ही पराधीनता अपने ऊपर धारण की है !!

किसी राष्ट्रको दूसरा राष्ट्र परतंत्र कर नहीं सकता और न स्वातन्त्र्य दे सकता है। यहां कौरव-पाण्डवोंके व्यवहारका ही निरीक्षण कीजिये। कौरवोंने पाण्डवोंको द्यूतमें जीत लिया यह वस्तुतः सत्य नहीं है। सत्य यह है कि पांडवों ने ही अपने आपको हरा कर, पराधीन बनाकर कौरवोंके अधीन अपना राष्ट्र कर दिया। इसी लिये जिस समय पांडव अपने स्वातन्त्र्यप्राप्त्यर्थ युद्ध करनेके लिये समरांगणमें खडे हुए उस समय वे विजयी हो गये और पूर्ण स्वतंत्र भी बन गये। यह विजय पाण्डवोंके लिये स्वयं पांडवोंने ही अपने प्रयत्नसे बना दिया। अर्थात् जिस समय उन्होंने अपनी परवशताके लिये द्यूत खेलनेका मूर्ख अपने समान यत्न किया उस समय वे राज्यभ्रष्ट होकर वनवासी हो गये और जिस समय उन्होंने अपनी संघटना द्वारा स्वराज्य स्थापनाका यत्न किया उस समय वे स्वयं शासित स्वराज्यके स्वामी बन गये। पाण्डवोंकी स्वतंत्रता अथवा *परतंत्रताके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न कारण नहीं बना* स्वयं उनका अपनाही प्रयत्न कारण हुआ। इसी तरह प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समाजकी उन्नति-अधोगतिके विषयमें समझना चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिकी उन्नति-अधोगतिके विषयमें भी यही नियम है। जो सर्वसाधारण लोग कहते हैं कि दूसरेने मुझे परतंत्र बनाया और दूसरा मुझे स्वराज्य देगा यह सब भ्रम है। इस भ्रमसे किसीकी व्यक्तिकी समाजकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति नहीं होगी।

यहां कहा है कि अपना उद्धार करनेके लिये अपनीही उन्नति करनी चाहिये। अपनी अधोगति होवे ऐसा कोई कर्म स्वयं नहीं करना चाहिये। क्योंकि किसी भी मनुष्यका मित्र या शत्रु वह स्वयं ही है दूसरा नहीं।

शत्रु-मित्र-लक्षण

आत्मसंयम करनेसे मनुष्य स्वयं आपही अपना मित्र होता है और अपना असंयम करनेसे स्वेच्छाचारसे स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है। अपनी शक्तिका ज्ञान होनेसे मनुष्य उन्नति पथपर चलने लगता है और जिसको आत्माका ज्ञान नहीं है वह अपने ही घातका कार्य करता है। अर्थात् शत्रु और मित्र दूसरा कोई नहीं है, वह स्वयं ही अपना शत्रु या मित्र है। तात्पर्य यह कि आत्माकी स्वाधीनता अपनी ही विचार या अविचारपर निर्भर है।

यह बात व्यक्तिकी उन्नतिमें देखिये। मनुष्य ब्रह्मचर्य न पालनेमें सुख है ऐसा मानता है और भोगतत्पर होता है जिससे वीर्यनष्ट होकर रोगी और अल्पायु होता है। यह दुःख किसी दूसरेके द्वारा नहीं लाया गया अपितु वह स्वयं ही अपने ऊपर लाया है। इसी तरह अहिंसा सत्य अस्तेय शुचिता आदि सब व्यवहारोंके विषयमें भी देखिये। व्यक्तिके व्यवहारमें भी पाठक देख सकते हैं कि वह मिथ्या ज्ञानमें फंसकर सुखको दुःख और दुःखको सुख मानता है और फंसता रहता है। स्वयं अपने अज्ञानसे मोहित होकर दुःख भोगता है। कोई उपदेश करने आया तो भी सुनना नहीं और इस तरह अपने ही अज्ञानसे दुःख बढाता है और उसमें गोता खाता है।

यही बात राष्ट्रीय सुख-दुःखके विषयमें देखिये। मनुष्य दूसरे देशका ऐश्वर्य वैभव देखता है उसके लाभसे मोहित होता है उसका अनुकरण करके भोग बढाता है और प्रति दिन दरिद्रतामें फंसता जाता है। इस रीतिसे विचार करनेपर सब पाठकोंको ज्ञात होगा कि राष्ट्रीय पारतन्त्र्य अथवा स्वातन्त्र्य अथवा व्यापक राष्ट्रीय सुख-दुःख अपनेही प्रयत्नपर निर्भर है। किसी उपदेशकने मार्ग दर्शा भी दिया कि इस तरहसे अपना बचाव करो तो मनुष्य सुनता तक नहीं और अधिकाधिक दुःखमें पडता है। ये सब दुःख और यह मनुष्य स्वयं निर्माण करता है। जो पाठक इस रीतिसे विचार करेंगे उनको यह बात सुगम रीतिसे विदित होगी, अतः इसका वैयक्तिक रीतिसे अथवा सामुदायिक रीतिसे अधिक विचार यहां करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु भी है, यह बात जैसी व्यक्तिकी दृष्टिसे वैसीही राष्ट्रीय दृष्टिसे भी सत्य है। जो विचार करके देखेंगे उनको यह सिद्धांत स्पष्ट दिखाई देगा। वस्तुतः आत्मसंयमके विषयमें भी यही बात सत्य है। क्योंकि जो योगसाधन करना यही मित्र होना है, इस लिये योगियोंको स्वयं इसकी ओर प्रयत्न करना चाहिये।

जीवात्मा और प्रकृत्यात्मा

इन श्लोकोंमें आत्मा शब्दके दो अर्थ लेकर भी एक और उत्तम अर्थ हो सकता है। एक आत्माका अर्थ जीवात्मा है और दूसरा आत्माका अर्थ प्रकृति या सृष्टि है। जड और चेतन ये दो रूप हमारे सम्मुख हैं। जैसे जड, आत्मा प्रकृति पुरुष प्रकृति देव शक्ति, आप सभी इन स्थूल ऐसे अनेक नाम हैं। ये वस्तुतः परस्पर शत्रु हैं, परंतु कई लोग जड सृष्टिको शत्रु मानकर वर्तन करते हैं। विचार करके निश्चय करना चाहिये कि सचमुच प्रकृति जीवात्माका सहायक है अथवा मारक है। हमारा कथन है कि यह सहायक भी है और मारक भी है। अतः ये आत्मा शब्दके दोनों अर्थ लेकर जो अर्थ हो सकता है वह यहां देते हैं—

(आत्मना=प्रकृत्यात्मना) देह सृष्टिरूप स्थूल जगत्की सहायतासे (आत्मानं=जीवात्मानं) जीवात्माका उद्धार करना चाहिये। सृष्टिका ऐसा उपभोग नहीं करना चाहिये कि जिससे जीवात्माकी अधोगति हो जाय। क्योंकि स्थूल जगत् जीवात्माका मित्र भी है और शत्रु भी है। जिसने (आत्मा=प्रकृत्यात्मा) इस जगत् को (आत्मना=जीवात्मना) अपनी आत्मा द्वारा जीत लिया स्वाधीन किया उसके लिये जीवात्माका स्थूल जगत् बन्धुके समान सहायक होता है और जिसने इस स्थूल जगत् का विजय नहीं किया, उसका शत्रु वही बन जाता है।

इस प्रकार मननसे इसका आशय पाठकोंके मनमें आ सकता है तथापि सुबोधताके लिये इसका थोडासा स्पष्टीकरण यहां किया जाता है। कठोपनिषद्में कहा है—

अग्निर्वैश्वानरो(?) ग्रामयामि नित्यम ॥

(कठ उ॰ ।।१।।)

(४) योगीकी आत्माका परमात्मा ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अन्वयः— जित- आत्मनः प्रशान्तस्य परम-आत्मा शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मान-अपमानयोः समाहितः भवति ॥ ७ ॥ ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा कूट-स्थः विजित- इन्द्रियः सम लोष्ट अश्म-काञ्चनः योगी युक्तः इति उच्यते ॥ ८ ॥

जिसने अपने आपको जीत लिया है और जिसने पूर्ण शान्ति पायी है उसकी आत्मा महान् होती है और वह शीत उष्ण सुख दुःख तथा मान अपमानके विषयमें सम बुद्धि रखता है ॥ ७ ॥ जो ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त हो चुका है जो सबसे उच्च स्थानमें स्थिर हुआ है जिसने सब इंद्रियें जीत लीं हैं जिसकी दृष्टिमें मिट्टी पत्थर और सोना समान हो चुके हैं उस योगीका योग सिद्ध हुआ ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— अपनी शक्तियोंको स्वाधीन करने इन्द्रियोंके विषयमें समता धारण करने और चित्त शान्त करनेसे साधककी आत्मा विशाल होकर सर्वत्र समदर्शी होती है ॥ जब वह ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय उच्च और समदर्शी होता है तब उसका योग सिद्ध हुआ, ऐसा कह सकते हैं ॥ ७-८ ॥

अनित्य द्रव्योंसे नित्यकी प्राप्ति होती है। सब साधन अनित्य हैं सब जगत् के साधनरूप पदार्थ अनित्य हैं परंतु उनकी सहायतासे मनुष्य नित्य आत्मसुख प्राप्त कर सकता है। इसी बातका यहां अनुसंधान करना योग्य है

प्राकृतिक जगत् परीमित मर्यादित और सान्त है इसमें संदेह नहीं है परंतु इसका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्य अपना सुख बढा सकता है। अपना भोजन आच्छादन गृह निर्माण आदि कार्य इन पदार्थोंसे ही होता है। योग-साधनमंदिर निर्माण करना हो तो ईंट चूना लकडी आदिसे ही निर्माण होगा। इस स्थूल गृहमें बैठ कर ध्यान-धारणा द्वारा सूक्ष्मकी खोज हो सकती है। इस तरह यह स्थूल जगत् हमारा सहायक होगा।

जो मनुष्य आत्मसंयमी आत्मविजयी होता है वही इस स्थूल विश्वको इस मूर्त जगत् को अपना सहायक बना सकता है। परंतु जो असंयमी और स्वच्छाचारी है वह इसीसे अपने दुःख बढा सकता है। इस तरह यह जगत् अपना शत्रु भी है और बन्धु भी है। जैसा हम इससे व्यवहार करेंगे वैसा यह होगा थोडेसे विचारसे यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है।

इसी लिये कोई मनुष्य इस सृष्टिको तुच्छ न समझे। यदि इसको तुच्छ समझा जाय तो उसके समझनेवालेकी तुच्छता व्यक्त होगी। भगवद्गीताके विचारसे यह सब विश्व का रूप परमात्माका विश्वरूप है और परमात्माका रूप कभी हानिकारक नहीं हो सकता वह सदा सहायक और मित्रवत् ही रहेगा।

इस दृष्टिसे भी इस विश्वरूप में हानिकारकता नहीं है। यदि किसीकी इससे हानि हो सकती है तो उसीके अपने भेदी होनेके कारण होगी अर्थात् विश्वका इससे कुछ संबंध नहीं है। इस तरह सब विश्वरूपको अपना सहायक बनाकर अपनी उन्नतिके पथपर चलनेकी सूचना यहां दी है। जिस भेदसे इससे प्रत्येकका लाभ हो सकता है। इस तरह सब जगत्का सहायक बनाकर योगसाधन करनेवाला कैसे योगी बनता है और उसकी योग्यता कितनी बडी होती है इसका मनोरंजक और बोधप्रद वर्णन आगे देखिये—

(७-८) इन श्लोकोंमें योगकी सिद्धिके लक्षण कहे हैं। और योगीकी आत्मा (परमात्मा) विशाल होती है ऐसा भी कहा है। ये श्लोक विशेष मननपूर्वक पढने योग्य हैं।

आत्मा का परमात्मा महात्मा

ब्रह्म का परब्रह्म

पुरुष का परम पुरुष, परात्पर पुरुष पुरुषोत्तम

नर का नारायण

इन्द्र का महेन्द्र

देव का महादेव

इस तरह अनेक शब्दों द्वारा वेद उपनिषद् तथा अन्यान्य आर्ष ग्रन्थोंमें आत्माकी परमोन्नतिकी सीमाका वर्णन किया है। इसका स्वरूप क्या है इस विषयमें यहां थोडासा विचार करना चाहिये।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा अणु स्वरूप है और परमात्मा विभु स्वरूप है। इस लिये अणुस्थितिमें जीवात्मा दुःखसे हटना चाहता है और सुखमें रहना चाहता है एक समय शीत पसंद करता है और दूसरे समय उष्णको पसंद करता है अपमानके स्थानसे दूर रहकर सन्मानके स्थानमें रममाण होना चाहता है। किसी एक स्थानसे हटना और दूसरे स्थानमें जाना तब हो सकता है कि जब वह अणु या छोटा होगा। यदि वह विशाल होगा तो कहांसे हटेगा और कहां जायगा?

परमात्मा विशाल और सर्वत्र विभु है शीत स्थानमें भी है और उष्ण स्थानमें भी है सन्मानके स्थानमें भी है और अपमानके स्थानमें भी है तथा जैसे सुखदायक स्थानमें है वैसे ही दुःखदायी पदार्थमें भी है। किसी स्थानपर वह नहीं है ऐसी बात नहीं है क्यों कि वह सर्वव्यापक विभु है। जो अणु होगा वही एक स्थानमें है और दूसरे स्थानमें नहीं ऐसा कहा जा सकता है। अणु पदार्थका ही दुःखके स्थानसे दूर होना और सुखस्थानमें रहना संभव है। क्या एक पदार्थ दोनों स्थानोंमें एकही समय रह सकता है। जो आत्मा महद्भाव किंवा परमात्मभावको प्राप्त होता है वह भी वैसा ही शीतोष्ण सुखदुःखोंमें समानतया एकही समय रह सकता है। इस लिये इन श्लोकोंमें कहा है कि जब साधक जितात्मा और प्रशान्त होता है तब वह परमात्मा (विशाल आत्मा) बनकर शीतोष्ण तथा सुख-दुःखोंमें समानतया रहता है। यह महद्भाव या परमात्मभाव प्राप्त होनेकी अवस्थामें नितान्त सत्य है।

जितात्मा

जितात्मा' का अर्थ है जिसकी आत्मा जिसने सब प्रकारके मनोभावोंपर विजय पायी है जो अपने निजानन्दमें मस्त रहता है जिसे अपने अंदरही अखंड आनंद मिलता है। इसके विरुद्ध जो पराजितात्मा है वह सुखकी लालसासे इधर उधर घूमता रहता है बाह्य पदार्थ अपने पास इकट्ठे करता है उनसे सुख मिलता है ऐसा मानता है उनके नाशसे दुःखी होता है उनके पास रहनेसे सुखी बनता है। इस तरह जिसको अपने निजानंदका बिल्कुल अनुभव नहीं वह पराजितात्मा है।

प्रशान्तात्मा वह हो सकता है कि जो जितात्मा होगा जिसने अपने आपको स्वाधीन किया है जिसने अपने आत्मा यदि मन चित्त, अहंकार इंद्रिय बाह्य और शरीर इनपर अपना पूर्ण अधिकार रखा है अथवा इन सबको अपने स्वाधीन कर लिया है। ऐसा संयमी सदा शान्त और प्रशान्तही रहेगा क्योंकि उसके चंचल होनेकी संभावना ही नहीं है। चंचल तो वह होगा जो पराजितात्मा होगा क्योंकि वह पराजित और पराधीन होनेसे जो जिसके अधीन होगा वहांके जिधर वे खींचेगा वहां उसको जाना पडेगा। देखिये जिस समय वह पराजितात्मा होता है उस समय वह नेत्रके अधीन बनकर सुंदर रूपके पीछे दौडता है, जिह्वाके अधीन होकर सुस्वादुवाले पदार्थोंके लिये इधर उधर फिरता है कामवश होकर कामसंतुष्टयर्थ अकार्य करने में भी प्रवृत्त होता है। इस तरह पराधीन मनुष्य चंचल होता है अतः उसका प्रशान्त होना असंभव है। क्योंकि वह दूसरेके अधीन होता है।

अन्तर्मुखी

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लगेगा कि जो इस तरह चंचल होता है वह अपने आपको अणु जैसा अल्पही अनुभव करता है। इसी कारण वह मानता है कि जो सुखदायक सुंदर पदार्थ रुचिकर पदार्थ और कामभोगके पदार्थ इसका आकर्षित कर रहे हैं वे दूसरे स्थानमें हैं जहां वह रहता है वहां वे नहीं हैं। इसी लिये वह उनकी प्राप्तिके लिये बहिर्मुख होकर रहता है। यदि वे सब सुख उसको सदा उपस्थित रहें तो वह दौडभाग किस लिये? अब इसका विश्राम होनेसे इसकी अणुता और

अवस्था दूर जाती है तब इसके पासही सब सुख स्वयं आते हैं इसको सुखोंके पास जाना नहीं पडता अथवा इसीके अन्दर संकल्प होते ही सब सुख उपस्थित होते हैं। जिसके इस तरह संकल्पसेही सब सुख उपस्थित होते हैं उसको चंचल होनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह शान्त और समाहित अर्थात् समबुद्धि हो जाता है। बुद्धि विषम होनेके लिये वहां कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। पूर्ण सिद्ध पुरुषोंका वर्णन उपनिषदोंमें इस प्रकार किया है—

यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समु
त्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ (छां० ८।२।१)

जिस सुखकी वह इच्छा करता है वह सुख उसके सम्मुख उसके केवल संकल्प करनेसेही उपस्थित होता है। पाठक यहां कल्पना करें कि यदि कोई महात्मा ऐसा होगा कि केवल संकल्प करनेसेही सब सुख उसके पास उपस्थित होते हैं तो उसके हिलने अथवा चंचल होनेकी क्या आवश्यकता है! जितात्मा प्रशान्तात्मा समाहितात्मा जो होता है वही परमात्मा अथवा परमात्मासम होता है इसी कारण वह शान्त होता है जैसे किसी एक पात्रमें थोडासा जलके रहनेपर वह जल हिलता है चंचल होता है, उसमें यदि जल आकण्ठ भरा जाय तो उसका हिलना बंद होजाता है। इसी तरह यदि कहीं आत्मा प्रशान्त होती है तो वह परमात्मा (विशाल आत्मा) ही बन जाती है। इस दृष्टिसे यहांका 'परमात्मा' शब्द विशेष हेतुसे प्रयुक्त हुआ है। पाठक इसका विचार करके इसका यह हेतु जानें। इसके अतिरिक्त महाभारतमें 'आत्मा' और 'परमात्मा' का भेद अधिक स्पष्ट कर दिया है। वह वचन अब देखिये।

प्राप्तव्यता

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
(म० भा० शां० १८७।२४)

जब प्राकृतिक गुणोंसे संयुक्त होता है तब उसको केवल आत्मा कहते हैं। जब वे प्राकृतिक गुण उससे दूर होते हैं, तब उसीको परमात्मा कहते हैं। प्राकृतिक गुण सत्त्व रज तम ये हैं। गुणका अर्थ रस्सी होता है। प्रकृतिके इन तीन गुणरूपी तीन रस्सियोंसे जब यह आत्मा बांधी जाती है तब इसको जीव कहा जाता है और जब यह इन बंधनोंको तोडकर अर्थात् गुणातीत होकर अपने तेजसे चमकती है तब उसको परमात्मा कहा जाता है। गुणोंसे युक्त होनेसे जीव और गुणातीत होनेसे शिव हो जाता है। यह महाभारतके वचनका तात्पर्य है।

ज्ञान और विज्ञान

ज्ञान और विज्ञानसे इस समय यह युग (ज्ञान-विज्ञान युगात्मा) होता है। ज्ञान और विज्ञानही मनुष्यकी उन्नतिके सहायक हैं। यहां नौ पदार्थ हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
(गीता अ० ७)

'पृथ्वी जल तेज वायु आकाश अहंकार मन बुद्धि और जीवात्मा ये नौ पदार्थ हैं। इनमें पहले आठोंका नाम अपरा प्रकृति और नौवेंका नाम परा प्रकृति है। यह परमात्माकी प्रकृति अर्थात् उसका शरीर है। इन नौ पदार्थोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथ्वीमें जो जो पदार्थ हैं उनके गुण-धर्म क्या हैं जल क्या है अग्नि विद्युत् आदि तैजस तत्त्व क्या हैं आकाश-तत्त्वका स्वरूप क्या है यह तो भौतिक शास्त्रके अंतर्गत होनेवाला ज्ञान है। भूस्तरशास्त्र भूगर्भशास्त्र खनिजशास्त्र आदि सब पदार्थ-विद्याका ज्ञान इस पदार्थमें आता है। वनस्पतिविद्या धातु विद्या आदि सब की पढाई इसीमें अन्तर्भूत होती है। जलतत्त्वविद्यामें सब रसोंकी विद्या जलसे सिद्ध होनेवाली विद्या आती है अग्नि विद्यामें अग्नि विद्युत् आदिका समावेश होता है वायु विद्यामें संपूर्ण वायु वाष्प आदिकी विद्या है। इस तरह पंच महाभूतोंकी विद्याका संक्षिप्त नाम भूतविद्या है। यह सब स्थूल पदार्थ विद्या है जिसको आजकल पदार्थविद्या कहते हैं। अहंकार मन और बुद्धि की विद्या इससे भी बडी है। आत्मविद्या उससे भी सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। यह सब ज्ञान प्राचीन कालमें गुरुकुलोंमें दिया जाता था। इसका वर्णन छांदोग्य उपनिषद्में निम्नलिखित प्रकार आया है—

जाता है। यहां कोई यह न समझे कि दोनोंके साथ सम वर्तन हो सकता है। ब्रह्मज्ञानकी चिकित्सा करनेके लिये कोई मनुष्य चाण्डाल या कुत्तेके पास नहीं जायगा प्रत्युत वह ज्ञानी ब्राह्मणके पासही जायगा। तात्पर्य यहां मिट्टी, पत्थर और सोनेकी व्यावहारिक विभिन्नताका अनुभव करते हुए भी तत्त्वदृष्टिसे एकही तत्त्वकी यह विभिन्न विकृति है ऐसा मानकर और इन सब विभिन्न पदार्थोंमें एकही अभिन्न तत्त्व है ऐसा समझकर उसका सतत अनुसंधान रखना सम दृष्टिमें है। इतनाही बोध सम दृष्टिका है और किसी प्रलोभनमें न फसना यह दूसरा बोध है। क्योंकि यदि जितात्मा जितेन्द्रिय और विजितेन्द्रिय बनना है तो उसको प्रलोभनोंमें फंसना नहीं चाहिये। जो किसी प्रलोभनमें फंसेगा वह कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। अर्थात् जितात्मा होनेके लिये इस सम दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है।

सम और विषम बुद्धि

जिसकी दृष्टि सम नहीं विषम है वह किसी स्थानपर सोना पडा हुआ हो तो वह उस सोनेको चुरावेगा और अपने पास रखेगा। परंतु जिसकी सम दृष्टि हुई है वह उसको परमात्माका रूप मानेगा किंवा ब्रह्मही सोनेका रूप लेकर मेरे सम्मुख अपनी परीक्षा करनेके लिये आया है ऐसा मान कर उसमें ब्रह्मका साक्षात्कार करके वह उस दुष्कर्मसे पीछे हटेगा और सम वृत्तिसे शान्त रहेगा। इस तरह सम-दृष्टिवाला मनुष्य दुष्कर्मसे अपने आपको बचा सकता है। सम का अर्थ सर्वत्र एक रूपसे अवस्थित ब्रह्म है। सर्वत्र ब्रह्म या परमात्माका दर्शन करनेका नाम सम-दर्शन है। ऐसा ही मनुष्य कूटस्थ अर्थात् उच्च अवस्थामें स्थित होता है क्योंकि उसके गिरनेकी संभावनाही नहीं होती। जो ऐसा होता है वही योगी योगारूढ किंवा युक्त कहलाता है। इस स्थितिकी ठीक कल्पना होनेके लिये यहां अब कोष्टक-रूपसे नीचे धर देते हैं। इनकी परस्पर तुलना करके देखनेसे विशेष अर्थबोध होगा—

बद्धजीवः	मुक्तात्मा महात्मा परमात्मा
स्वेच्छाचारी	विजितात्मा
स्वैरेन्द्रियः	विजितेन्द्रियः
अशान्तः	प्रशान्तः
असम	(शीतोष्णसुखदुःखेषु) समः
विषमः	(मानापमानयोः) समः
असमाधानवृत्तिः	समाहितवृत्तिः
अज्ञानमिथ्याज्ञान-अतृप्तः	ज्ञानविज्ञानतृप्तः
भिन्नदृष्टिः	समलोष्टाश्मकाञ्चनः
अधःस्थः	कूटस्थः
अयोगी (अयोग्यः)	योगी (योग्यः)

इस कोष्टकके मननसे बद्ध जीवकी स्थिति क्या है और मुक्तकी स्थिति कैसी होती है इसकी स्पष्ट कल्पना हो सकती है। अतः पाठक इसका अच्छी तरह मनन करें।

शीतोष्णकी समता

यहां कई पाठक पुनः प्रश्न कर सकते हैं कि जिस समय शीतोष्ण सुख-दुःख मानापमान सम हो जाते हैं, तब क्या उसको शीत पदार्थ उष्ण लगता है और उष्ण पदार्थ शीत लगता है? या क्या होता है शीत और उष्ण पदार्थ समान कैसे लगेंगे? यह शंका ठीक है। मनुष्य बद्ध हो साधक हो अथवा मुक्त हो उसको अग्नि उष्ण लगेगी और बर्फ शीतही लगेगा इसी तरह मृदु पदार्थ मृदुही लगेगा और कठोर कठोर ही लगेगा। शरीरकी संवेदना सबकी समान ही होती है। परंतु बद्धात्माकी अवस्था ऐसी होती है कि वह सुख-दुःख शीत उष्ण होनेपर उनसे पराभूत होता है वैसा मुक्तात्मा पराभूत नहीं होता।

उदाहरणके लिये देखिये कि किसी मनुष्यको कुछ धर्म कर्म करना आवश्यक है। वह उसका कर्तव्य कर्म होकर उसके सम्मुख उपस्थित हुआ है। वह मनुष्य उस कर्तव्यको करना प्रारंभ करता है तब उस कर्तव्यको करनेसे जिसकी हानि होती है वह शत्रु उस कर्तव्यसे उसे हटाना चाहता है। उसको मारता पीटता या अन्य प्रकारसे दुःख देता है। यदि वह बद्धात्मा होगा तो दुःख प्राप्त होतेही कर्तव्य छोड देगा परंतु यदि वह मुक्तात्मा होगा तो वह दुःख सहन करके भी कर्तव्य नहीं छोडेगा प्रत्युत आत्यंतिक दुःखोंके आनेपर भी अपना कर्तव्य करताही रहेगा। बद्ध और मुक्त को शारीरिक क्लेश शरीरधर्मानुसार समानही होंगे परंतु दुःखोंसे पराभूत होकर बद्ध मनुष्य कर्तव्य-भ्रष्ट होगा वैसा मुक्त मनुष्य नहीं होगा। इसी तरह सब अन्य परिस्थितियोंमें

(५) समबुद्धि।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वयः— यः सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु, साधुषु अपि च पापेषु समबुद्धिः (सः) विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बांधव, साधु और पापी लोगोंके विषयमें जिसकी बुद्धि सम हो गई है वही विशेष योग्यताका मनुष्य है ॥९॥

भावार्थ— जो सबके संबंधमें समान भाव रखता है उसीकी योग्यता श्रेष्ठ समझनी चाहिये। परंतु जो अपने और परायेके विषय में केवल अपने और पराये होनेके कारण विषम भाव रखता है वह हीन मनुष्य है ॥९॥

बद्धका और मुक्तका आचरण कैसे होगा इस विषयमें विचार करके पाठक जान सकते हैं। बद्धात्माकी निर्बलता और मुक्तात्माकी समर्थता कैसी होती है इसका ज्ञान इस विचार से स्पष्ट हो सकता है। यह सम बुद्धि कैसी होती है इस का वर्णन आगेके श्लोकमें किया है वह अब देखिये—

मनुष्योंके नौ विभाग

(१) 'सु-हृद्' = वह है कि जिसका हृदय उत्तम है जो अपने हृदयके आंतरिक भावसे भला करता है जो किसी का बुरा कर नहीं सकता दूसरोंको कष्ट देना जिसके स्वभाव में आता ही नहीं जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होता है। 'मित्र' = वह है जो अपने मित्रका सदा हित करनेमें तत्पर रहता है पूछनेपर अथवा न पूछने पर भी जो हितकी सम्मति देता रहता है मान्य करना जिसका उद्देश्य रहता है। 'अरि' = शत्रु, जो अहित करता है घातपात करता है। 'उदासीन' = अपनी हानि अथवा लाभ होनेपर भी जिसको दुःख सुख कुछ भी नहीं रहता। 'मध्यस्थ' = मध्यमें अवस्थित रहता है जो मित्र भी नहीं और शत्रु भी नहीं जो नाश भी नहीं करेगा और सहायता भी नहीं करेगा परंतु निष्पक्ष होकर केवल न्याय्य योग्य सम्मति पूछनेपर देगा स्वयं कुछ कभी नहीं देगा परंतु विवाद उत्पन्न होनेपर जो निष्पक्षपातसे निर्णय देता है। 'द्वेष्य' = जो सबके द्वारा द्वेष करने योग्य है। 'बन्धु' = जो भाई बांधव पारिवारिक अथवा अपना संबंधी है। 'साधु' = जो भला है, सन्त महन्त अथवा महात्मा है। 'पाप' = जो पाप करता है पापी है दुर्गुणी है।

मनुष्य-समाजके ये नौ विभाग हैं। इनके दो पक्ष होते हैं। एक शुभ पक्ष और दूसरा अशुभ पक्ष। देखिये—

शुभ पक्ष	अशुभ पक्ष
१ साधु	१ पापी पाप
२ सुहृद्	
३ मित्र	२ अरि
४ मध्यस्थ	३ द्वेष्य
५ बन्धु	
६ उदासीन	

मनुष्योंके शुभ विभागमें साधु सुहृद् मित्र मध्यस्थ बन्धु और उदासीन इन छहोंका अन्तर्भाव है और अशुभ विभागमें पापी (पाप) अरि और द्वेष्य इन तीनों का समावेश होता है। मानवी जनता इन नौ विभागोंमें विभक्त होती है। प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर देखें और अपने चारों ओरके लोगोंमें कौन साधु है कौन मित्र है तथा कौन मध्यस्थ और शत्रु है इत्यादिका विचार करें। इस तरह देखनेसे उसको विदित होगा कि इन नौ विभागों में ही अपनेसे भिन्न संपूर्ण जनता विभक्त हुई है। इन नौ विभागोंमें विभक्त हुई जनताके साथ मनुष्यको कैसा व्यवहार करना चाहिये इस बातका विचार प्रत्येकको करना चाहिये। प्रति समय मनुष्य इन भले बुरे मनुष्योंके संबंधमें आता है उस समय वह कैसी भावना मनमें धारण करके व्यवहार करे यह प्रश्न यहां है। इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि सम भावना धारण करके मनुष्य व्यवहार करें।

सम बुद्धिका अर्थ

सम बुद्धि सम भाव और सम भावना का अर्थ एक ही है। यहां सम शब्दका अर्थ समान है ऐसा

मानवेवाला एक पक्ष है। वह कहता है कि सबके साथ समान भावसे व्यवहार करो। सम वर्तन करो, ऐसा निष्कर्ष इस श्लोकसे वे लोग निकालते हैं। परंतु 'समबुद्धि धारण करनेका गीताका उपदेश है। सम दृष्टि ' का भी निर्देश अवश्य है, परंतु किसी स्थानपर गीतामें सम वर्तन नहीं कहा है। इस संबंधमें गीताके सब निर्देश देखिये—

(१) सुखदुःखे समे कृत्वा
लाभालाभौ जयाजयौ। (गी २।३८)

(२) सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते॥ (गी २।४८)
समः सिद्धावसिद्धौ च
कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ (गी ४।२२)

(३) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (गी ५।१९)

(४) आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गी ६।३२)

(५) समोऽहं सर्वभूतेषु
न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥ (गी ९।२९)

(६) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ (गी १२।१८)

(७) समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (गी. १३।२७)
समं पश्यन् हि सर्वत्र
समवस्थितमीश्वरम्॥ (गी १३।२८)

(८) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गी १८।५४)

(९) नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
(गी १३।९)

(१०) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गी ६।२९)

(११) विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गी ५।१८)

(१२) संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गी १२।४)

(१३) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ (गी ६।८)
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (गी १४।२४)

भगवद्गीतामें समताका उपदेश करनेवाले निर्देश इतनेही हैं। इन श्लोकोंमें कहा है—

(१) सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको (समे कृत्वा) सम करना

(२) सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयमें (समो भूत्वा) सम होना

(३) सर्वत्र सम ब्रह्म ही है इसलिये उस (साम्ये स्थिताः) साम्यमें स्थिति करना अर्थात् ब्रह्ममें निवास करना

(४) अपनी आत्माके समान सर्वत्र (समं पश्यति) समत्व देखना

(५) सब भूतोंमें (अहं समः) ब्रह्म सम भावसे है ऐसा अनुभव करना,

(६) शत्रुमित्रोंमें (समः) सम भाव रखना

(७) सर्व भूतोंमें (समं परमेश्वरं पश्यति) सम रहनेवाले परमेश्वरको देखना सम ब्रह्मको देखना,

(८) (सर्वेषु भूतेषु समः ब्रह्मभूतः) सब भूतोंमें जो सम होता है वह ब्रह्म बनता है। अर्थात् समताका धारण करके ब्रह्म बनना

(९) (समचित्तत्वं) सम-चित्त होना

(१०) सर्वत्र (समदर्शनः) सम दर्शन करना

(११) ब्राह्मण चांडाल पशु पक्षी आदिपर (सम

दर्शिनः) सम दृष्टि रखना।

(११) सब भूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर संयम करके सर्वत्र सम दृष्टि रखना।

(१२) मिट्टी, पत्थर और सोना आदिके विषयमें (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) सम दृष्टि रखना।

संक्षेपसे यह आशय पूर्वोक्त श्लोकोंका है। इनमें सम करना, सम होना, सम स्थिति रखना, सम देखना, समका अनुभव करना, समचित्त रखना और सम दृष्टि करना इतनाही सार-तत्त्व है। भगवद्गीतामें सम शब्द ब्रह्म वाचक है (गी० ५।१९,१३।२७, १३।२८, १९)। ब्रह्मवाचक आत्मवाचक और ईश्वरवाचकका आशय इसीसे है। यह अर्थ लेकर यदि पूर्वोक्त वाक्योंका अर्थ किया जाय तो ऐसा रूप होगा—

१ सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंको (समे कृत्वा) ब्रह्म रूप करना।

२ सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंके विषयको (समो भूत्वा) ब्रह्म मानना,

३ सर्वत्र ब्रह्म ही है इसलिये, (साम्ये स्थितिः) ब्रह्ममें रहना।

४ अपनी आत्माके समान सबको (समं पश्यति) ब्रह्म देखना।

५ सब भूतोंमें (अहं सम) सम आत्मा ब्रह्म है ऐसा अनुभव करना।

६ शत्रु मित्रमें (सम) ब्रह्मभाव रखना।

७ सब भूतोंमें (समं परमेश्वरं पश्यति) परमेश्वरको ब्रह्मको देखना।

८ (सर्वेषु भूतेषु समः ब्रह्मभूतः) सब भूतोंमें सम होकर ब्रह्म बनना।

९ (समचित्तत्वं) ब्रह्मरूप चित्त बनना।

१० सबका (समदर्शन) ब्रह्मदर्शन करना।

११ ब्राह्मण चाण्डाल कुत्ते आदिमें (समदर्शन) ब्रह्मदृष्टि रखना।

१२ सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर संयम करके सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना।

१३ मिट्टी पत्थर और सोना आदिके विषयमें ब्रह्मदृष्टि रखना।

यहां 'सम' शब्द 'समान' अर्थवाला है इस स्थानको छोड़कर शेष स्थानोंमें जहां जहां सम शब्द है, वहां ब्रह्म आत्मा परमेश्वर ये शब्द रखनेसे उन वाक्योंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है और गीताके कथनका आशय भी ठीक प्रकार समझमें आ सकता है। अर्थात् 'सम बुद्धि रखनेके लिये जो बारबार गीतामें कहा है वहां सम बुद्धिका अर्थ ब्रह्म- ब्रह्मबुद्धि आत्मबुद्धि, परमात्मबुद्धि किंवा ईश्वरबुद्धि है। इस तत्त्वको ध्यानमें रखकर पूर्वोक्त उपदेशोंका आशय देखिये—

[१-२] सुख-दुःख हानि-लाभ जय-पराजय सिद्धि असिद्धि आदि द्वन्द्वोंको सम करने सम मानने और अनुभव करनेका अर्थ दोनोंको समानरूपसे ब्रह्म रूप मानना है। [३] सर्वत्र समानतया ब्रह्म है इसलिये उस स्थितिमें रहनेका नाम अपना ध्यान अपने रूपमें स्थिर करना है। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि जिसकी ब्राह्मीस्थिति ब्रह्ममें हो चुकी उसके सुख दुःखादि द्वन्द्व एकरूप ही हो चुके हैं, क्योंकि वह द्वन्द्व जालसे द्वन्द्वातीत होकर विराजता है। द्वन्द्वातीत महात्माके सुख और दुःख समान एकरूप होना स्वाभाविक है क्योंकि द्वन्द्वोंकी द्वन्द्वरूपता वहां रहती ही नहीं। [४] जैसी अपनी आत्मा स्थित है वैसी ही सर्वत्र समान है यह देखना। यहां भी सर्वत्र आत्मदर्शन करनेका ही उपदेश है। [५] सब भूतोंमें (समोऽहं) समान रूपसे मैं हूं अर्थात् आत्मा हूं। यहां अहं शब्दसे ब्रह्मका अर्थ व्यक्तिकी दृष्टिसे है। [६] शत्रु-मित्रमें भी सदा एक ही आत्माका भाव देखना। जैसा शत्रु ब्रह्म है, वैसा मित्र भी ब्रह्म है। शत्रुमित्र एक आत्मरूप होनेसेही सब मित्र इत्यादि आत्मरूप आदिमें सम बुद्धि हो सकती है। [७] सब भूतोंमें परमेश्वर सम है यह भाव यदि मनमें स्थिर होगा तो शत्रुमित्रमें परमेश्वर बुद्धि बनती ही रहती। वह तो सर्वत्र देखा नहीं है ऐसा मानना, नहीं तो उनमें परमेश्वरको समानतया रखना इससे भिन्न दूसरा मार्ग नहीं है। इसीका नाम समचित्त होना है। यहां चित्त जाय वहां ब्रह्मदर्शन होनेसेही समचित्त होनेको बात सिद्ध होगी। वे चित्तमें आ जाय वह ब्रह्म है, परमात्माका अंश है ऐसा विचार दृढ होनेसे मनुष्य समचित्त हो सकता है।

[११-१९] सब वर्ण सब जातियाँ, सब प्राणी सब पदार्थ सब स्थावरजंगम वस्तु मिट्टीसे लेकर सोनेतक अथवा तिनकेसे लेकर सुवर्णके पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, सबके दर्शनमें ब्रह्म दर्शन होनेसे मनुष्य समदृष्टि होता है।

भगवद्गीतामें 'सम दृष्टि' का जो विचार है उसका स्वरूप यह है।

'वासुदेवः सर्वं' (गी० ७।१९)

'ईश्वर ही यह सब रूप है' इसमें संक्षेपसे जो कहा और जो 'विश्वरूपदर्शन' (गी० अ० ११) में विस्तारसे कहा वही बारबार समदर्शन समदृष्टि आदिसे कहा है। यद्यपि सब ब्रह्मका ही रूप है तथापि सबके साथ 'सम वर्तन' करनेका उपदेश कहीं भी नहीं है। क्षुधा तृषा सब का भाव निःसंदेह है परंतु क्षुधितको अन्न और तृषितको जलही देना चाहिये तथा ब्राह्मण गौ और हाथी ब्रह्मके रूप हैं, परंतु सबको घासही खानेके लिये देना नहीं है। इसी प्रकार जल और अग्नि दोनों ब्रह्मरूप हैं तथापि अन्न पकाने के लिये अग्नि लेनेके स्थानमें जल नहीं लिया जा सकता, अथवा स्नानके पश्चात्‌पर अग्निके स्थानमें जल नहीं रखा जा सकता। इस तरहका सम वर्तन मूढताका निदर्शक है। यहाँ पाठक सम दर्शन और सम वर्तनका भेद ध्यानमें धारण करें। यहाँ कई लोग शंका कर सकते हैं कि यदि शत्रु और मित्र ये दोनों ब्रह्मरूप बनें तो उनसे व्यवहार हम किस तरह करें? उत्तरमें निवेदन है कि दोनोंके साथ हम समानतया धर्मके साथही व्यवहार करें। मित्रके साथ धर्म और अमित्रके साथ अधर्म नहीं करना चाहिये। दोनोंके साथ समानतया धर्मसेही व्यवहार करना चाहिये। इस दृष्टिसे समवर्तन भी हो सकता है। पाठक इस सूक्ष्मताका विचार विवेकपूर्वक ठीक प्रकार समझ लें।

नाटक

सामने शत्रु आता है उसको ब्रह्मरूप कैसे मानें? यह शंका यहाँ हो सकती है। यह बड़ा गहन विषय है तथापि एक उदाहरणसे थोड़ासा स्पष्ट करते हैं। एक नाटक मण्डली है, जिसमें अनेक मनुष्य नाटकका कार्य करते हैं। एक मनुष्य राजा होता है दूसरा रानी बनता है तीसरा नौकर होता, चौथा चोर और इस तरह अन्य लोग अन्य वेष धारण करके रंगमंचपर काम करते हैं। रंगमंचपर रानी अपना नीका कार्य करती है, चोर और रक्षक अपना अपना कार्य उत्तम प्रकार करते हैं, राजा दुष्टोंका दण्ड देता है और सज्जनोंको पारितोषिक देता है। यह सब नाटक चलनेके समय नाटक मंडलीके सब मनुष्य जानते हैं कि यह चोर चोर नहीं और यह राजा राजा नहीं। अपना अपना मित्ररूप सब पहचानते हैं इसलिये चोरको दण्ड और दूसरेको पारितोषिक मिलनेपर वे दोनों उसमें विषाद या हर्ष नहीं मानते। अपितु दोनों ही दोनों परिणामोंके विषयमें सम बुद्धिही धारण करते हैं क्योंकि दोनोंको अपने मित्र सत्य स्वरूपका ज्ञान है। यदि वह सत्य स्वरूप भूलकर जाय और राजा अपने आपको सचमुच राजा मानने लग जाय और चोर अपने आपको सच्चा चोर समझने लग जाय तो इस तरह अपना मित्र सत्य स्वरूप भूलनेसेही दण्ड और पारितोषिकसे दुःख और सुख होना प्रारंभ होगा।

इसी तरह अपना आत्मस्वरूप भूल जानेसे और जगत्‌में जो रूप नजर आते हैं वही सत्य है ऐसा माननेसे सुख दुःख आदि द्वन्द्व सत्य हैं ऐसा प्रतीत होता है और इससे सब प्रकारके कष्ट होने लगते हैं। परंतु यदि ये सब ब्रह्मके रूप ही हैं ऐसा साक्षात् होने लग जाय तो दुःख और सुखके पर पहुंचनेसे उसको दोनों कष्ट बाधा नहीं पहुंचा सकते।

सुवर्णका दृष्टांत

इस विषयमें एक सुवर्णका दृष्टांत दिया जाता है। सोना धातु रूपसे एक है परंतु उसके सिरमें गलेमें छातीमें हाथमें और पांवमें धारण करनेके आभूषण भिन्न भिन्न होते हैं। आभूषण दृष्टिसे भिन्नता है धारण करनेका व्यवहार भी विभिन्न है तथापि सुवर्णकी दृष्टिसे समत्व है एकत्व है अभेद है। सब आभूषणोंको सुवर्ण-रूपसे देखनेवाला भी कानमें डालनेके आभूषण कानमेंही डालेगा और पांवके पांवमेंही रखेगा। समदृष्टि रखनेवाला भी यह व्यावहारिक भेद अनुभव कर सकता है। समदृष्टि होनेसे सम वर्तन नहीं हो सकता इसका यह उत्तम उदाहरण है। जैसी आभूषण दृष्टि विषम दृष्टि है और सुवर्ण-दृष्टि सम दृष्टि है वैसे ही व्यष्टि दृष्टि विषम दृष्टि है और ब्रह्मदृष्टि सम दृष्टि है। ब्रह्मके ही ये सब पदार्थ सोनेके आभूषण बनानेके समान बनाये हैं ऐसी कल्पना करनेसे सम दृष्टिका आशय ध्यानमें आ सकता है। विषमी और ब्रह्मदृष्टिसे कैसे देखा जा सकता है इसका विचार यह है।

(९) योगसाधन

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वयः— योगी रहसि स्थितः एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः (च सन्) सततं आत्मानं युञ्जीत ॥ १० ॥ शुचौ देशे, न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं, आत्मनः स्थिरं आसनं प्रतिष्ठाप्य ॥ ११ ॥ तत्र आसने उपविश्य मनः एकाग्रं कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः (सन्) आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात् ॥ १२ ॥ स्थिरः (भूत्वा) कायशिरोग्रीवं अचलं समं धारयन्, स्वं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य च दिशः अनवलोकयन् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः मनः संयम्य मच्चित्तः मत्परः युक्तः आसीत ॥ १४ ॥ एवं सदा आत्मानं युञ्जन्, नियतमानसः योगी निर्वाणपरमां मत्संस्थां शान्तिं अधिगच्छति ॥ १५ ॥

योगी एकान्तमें अकेला रहकर चित्त और आत्माका संयम करे, भोगवासना छोड दे, भोगवस्तुओंका संग्रह न करे और सतत अपने आपको योगाभ्यासमें लगा देवे ॥ १० ॥ शुद्ध देशमें, बहुत ऊंचा न हो और बहुत नीचा भी न हो ऐसा दर्भ मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक बिछाकर अपने लिये स्थिर आसन बनावे ॥ ११ ॥ वहां आसनपर बैठकर मन एकाग्र करके चित्तके और इन्द्रियोंके व्यापारको वश करके आत्मशुद्धिके लिये योगका साधन करे ॥ १२ ॥ स्थिर होकर, शरीर गर्दन और मस्तक सम रेखामें और निश्चल रखकर अपनी नाककी नोकपर दृष्टि स्थिर करके और इधर उधर दिशाओंमें न देखा करे ॥ १३ ॥ अपने आपको शान्त रखके, भय छोडकर, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए, मनका संयम करके मुझमें ही चित्त लगाकर मेरा ध्यान करनेमें परायण होकर योगमें स्थिति करे ॥ १४ ॥ इस तरह नित्य अपने आपको योगमें तत्पर करनेवाला, मनको स्वाधीन रखनेवाला योगी मोक्षस्वरूप मुझमें स्थित परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

भेदमें सम दृष्टि

यही समदृष्टि वेदमें कही है। वेदमें रुद्रका विश्वरूप दर्शाया गया है। उन मंत्रोंमें रुद्र-देवताके जो रूप बताये हैं वे ये हैं—

क्षेत्रपति भूत (आदमय) वनकर्ता (वन-पति) स्थानस्वामी मंत्री, (वणिक्) वणिया (कक्षी) पैदल सेना (स्तनपति) चोरोंका मुखिया चीवर आव्यपति (स्तायूनाति) डाकुओंका मुखिया (तस्करपति) लुटेरोंका मुखिया सभा, सभापति अश्व अश्वपति गण गणपति सेना सेनानी रथी सारथी क्षत्ता (तक्षा) सुतार रथकार कुम्हार (कुलाल) लुहार निषाद (श्वपति) कुत्ते पालनेवाला। (वा यजु १६)

यहां राज्यके लोग राज्यशासक मंत्री सेनापति सेनानी आदि तथा चोर डाकू आदि सबके सब रुद्रके रूप हैं ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त इसी अध्यायमें जन्म और अन्न पशु वृक्षवनस्पति जलजन्तु आदि सबही रुद्रके रूप हैं, ऐसा कहा है। यदि चोर और मंत्रीको रुद्रदेवताका ही रूप समझकर माना है और उनका नमन करता है, तो शत्रु और मित्रको सम दृष्टिसे अर्थात् ब्रह्म-दृष्टिसे देखनेकी कल्पना ही अन्य शब्दोंमें यजुर्वेदमें है ऐसा हम कह सकते हैं। इसी तरह अन्यत्र वेदका उपदेश है। पाठक इसका विचार करें और जानें कि वेदमें किस तरह शत्रु और मित्रको समदृष्टिसे देखनेका उपदेश किया है। अस्तु। अब योग-साधन किस तरह करना चाहिये इसका विचार प्रस्तुत होता है—

भावार्थ — योग करनेवाला साधक अपने लिये एकान्त शुद्ध पवित्र और रम्य स्थान पसंद करे। वहां अकेला रहे वहां अपना चित्त मन और शरीरको स्वाधीन रखे भोगेच्छा छोड़े और भोगसाधनोंको इकट्ठा करके अपने पास उनका संग्रह करके न रखे। कुशा कृष्णाजिन और वस्त्रका ऐसा आसन अपने बैठनेके लिये बनावे कि जो बहुत ऊंचा न हो और न बहुत नीचा। ऐसे आसनपर बैठे। शरीर गर्दन और मस्तक सम रेखामें स्थिर करके नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर रखकर इधर उधर किसी दूसरी ओर न देखे। अपने आपको शान्त निर्भय और संयमित करके ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ परमात्मामें चित्त स्थिर करे। इस रीतिसे अभ्यास करनेसे परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ १-१५ ॥

योगाभ्यासकी तैयारी

(१०-१५) योगाभ्यासकी तैयारी करनेकी रीतिका वर्णन इन श्लोकोंमें है इसलिये साधककी दृष्टिसे इन श्लोकोंका महत्व अत्यन्त है। योगसाधनमें (१) साधककी तैयारी, (२) साधकके मनकी स्थिरता और (३) योगसाधन इन तीन बातोंका समावेश होता है। इनके विषयमें आवश्यक निर्देश यहां इन श्लोकोंमें हैं अतः इनका विवरण देखिये—

साधककी तैयारी

योगी आत्मानं सततं युञ्जीत। (गी ६।१०)

' योगसाधन करनेवाला अपने आपको निरन्तर योगसाधनमें तत्पर रखे। साधनकी सिद्धता होनेतक केवल एक मात्र योगसाधन करे। क्योंकि साधनावस्था में अन्यान्य बातोंका अभ्यास करनेके लिये समय देनेसे योगसाधन सिद्ध होनेमें विलम्ब देरी लगती है। और चित्तकी एकाग्रताका ही नाम योग है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पा यो द १।२) अतः चित्तवृत्ति एकाग्र करनेके लिये उसको अनेक वृत्तियोंमें फंसना नहीं चाहिये। इस कारण साधकको अपने दिनके संपूर्ण कालविभाग केवल एकमात्र योगसाधनके लिये देना योग्य है। निद्रासे जागृतिमें आनेके समयसे निद्रामें जानेके समयतकका सब समय योगसाधनमें व्यतीत करना चाहिये। योगके ग्रंथ पढ़ना योगके साधन का विवर्ण सुनना योगीके चित्र देखना, योगीकी परिचर्या करना, शरीरसे आसनादिका अभ्यास करना मनसे योग साधनका मनन करना बुद्धिसे आनेकी स्थितिकी कल्पना करना इस तरह अपनी सब शक्तियोंको योगसाधनमें तत्पर करनेसे अल्प समयमें योगकी सिद्धि हो सकती है।

ऐसा न करते हुए यदि कोई मनुष्य सबेरे कुछ आसन करे तत्पश्चात् थोड़े समय धौतिक्रिया सीखे अनन्तर स्नान करके कुछ थोड़ा प्राणायाम करे तदनंतर भोजन करके नौकरीके कार्य करे सायंकाल थककर आनेके पश्चात् थोड़ी संध्या और प्राणायाम करे और रात्रीमें भोजनके बाद सोवे तो ऐसा चंचल व्यवहार करनेवाला सिद्धिको नहीं प्राप्त कर सकता। हां, योगसाधन अंशतः होनेसे अन्योंकी अपेक्षा उस की वृत्ति निःसन्देह सात्विक बनेगी, परंतु साधनकी पूर्ण सफलता नहीं होगी। क्योंकि उसने अनेक व्यापारोंमें अपना चित्त भ्रान्त किया है इसलिये चित्तकी एकाग्रता ही नहीं होती।

कई लोग पूछते रहते हैं कि हमारा चित्त एकाग्र क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर गीतामें यहां दिया है। उनका चित्त एकाग्र नहीं होता। क्योंकि विविध कर्मोंमें इस चित्त को वे स्वयं भ्रान्त कर रहे हैं। इसलिये कहा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
(गी २।४१)

साधककी बुद्धि एक ही योगसाधनके व्यवसायमें लगनी चाहिये। क्योंकि बुद्धिके अनेक कार्योंमें व्यग्र हो जाने पर योगसाधनका व्यवसाय नहीं हो सकता।" इसलिये कहा है कि (योगी आत्मानं सततं युञ्जीत। ६।१०) साधक अपने आपको सतत निरंतर सदा जीवनमें कार्यान्तर न करते हुए योगसाधनमें दत्तचित्त रखे। इस तरह प्रतिदिन निरंतर योगसाधन करनेसे साधकको शीघ्र ही सिद्धि मिल सकती है। साधकके अभ्यासकी बुद्धिके अनुसार तीनसे पांच वर्षोंके अन्दर निरन्तर साधन करने वाला साधक सिद्धि प्राप्त कर सकता है परंतु बहुशाखा बुद्धिवाला तो आयुभर साधन करते रहने पर भी सिद्धिसे दूर ही रहेगा।

अकेला रहना

(एकाकी) अकेला रहे परिवारको साथ न रखे। परिवारको साथ रखनेसे उनका संगोपन करने उनकी

व्यावहारिकतासे विघ्न उत्पन्न होने आदिकी सम्भावना है। इसलिये अकेला रहे ऐसा यहाँ कहा है।

अकेला रहे ऐसा कहनेसे किसी गुरुके पास भी न रहे ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि योगीके पास रहकर ही योगसाधन करना उचित है। एक बार योगीके पास रहकर सिद्ध दशाका ज्ञान होनेकी अवस्था पानेके पश्चात् अपनी प्राप्त भूमिकाको पुष्ट करनेके लिये स्वयं अकेला किसी स्थानमें रहकर अपना अभ्यास दृढ़ करना योग्य है। परंतु साधक प्रारंभिक अवस्थामें किसी सुयोग्य योगी गुरुके घर परसे चले जाये आश्रममें रहकरही अभ्यास करे। योग साधनका अभ्यास केवल योगसाधनकी पुस्तकें पढ़कर करने से बहुत लाभ होनेकी आशा नहीं है। कदाचित् अंशतः कुछ हानिकी भी सम्भावना होगी।

योगमठ

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना॥१२॥
अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतम्।
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥
(हठयोगप्रदीपिका १।१२।१३)

जहाँ उत्तम राज्य है जहाँ धार्मिक लोग रहते हैं जहाँ हरएक पदार्थ सस्ता मिल सकता है जहाँ दंगा फिसाद नहीं होता जहाँ शिला अग्नि और जलसे पीड़ा होनेका संभव नहीं है ऐसे एकान्त स्थानमें मठ बनाकर साधकको अभ्यास करना चाहिये। उस मठके द्वार थोड़े हों सुराख विवर आदि न हों कृमि कीट मकोड़े न हों मठ अन्दर बाहर सुंदर और स्वच्छ हो, बाहर कूप मंडप वेदि आदि उत्तम बने हों बाहर प्राकार हो एवं सुरम्य उपवनसे युक्त अतीव रमणीय स्थान हो। वहाँ अभ्यास किया जावे॥

अभ्यास करनेके लिये मठ ऐसा चाहिये कि जो पक्का बनाया हो जिसी भागमें कीट कीड़े आदिके बिल विवर आदि न हों वह अंदरसे नद कर हवाको रोकता न हो नहीं नमीसे उसका अन्तर्भाग खराब मत रहनेवाला हो इस कार्यके लिये मठके अंदरकी दीवारें पतली न हों अपितु बड़ी मोटी हों जिससे बाहरकी सर्दीगर्मी अन्दर न पहुँच सके। बहुत प्रकाश और बहुत वायु अन्दर न आवे किसी प्रकार बिच्छू, साँप किंवा अन्यान्य प्राणियोंका वहाँ उपद्रव न होवे ऐसा सुरक्षित स्थान हो। अभ्यासके समय साधक निश्चिन्तताके साथ वहाँ बैठे और अभ्यास करे अपने सुरक्षितताकी चिन्ता किसी कारण भी उसके मनमें उत्पन्न न हो। मठमें योगियोंके चित्र हों, योगसाधनके लिये आवश्यक सामग्री वहाँ रहे कोई अन्य सामान वहाँ न रखा जाय, बाहरके स्थानमें गड़बड़ अथवा बड़ा शब्द होनेकी कोई परिस्थिति न हो मठके बाहर उत्तम उद्यान हो उसमें सुंदर फल फूलके होनेवाले वृक्ष हों उत्तम जल हो उसमें हो उसके लिये उत्तम पक्का बना हुआ कूप हो क्योंकि जलवायुका फल ऋतुके अनुसार अधिक थोड़ा और अधिक उत्पन्न होता है योगका फल भी बदलता रहता है, इसका फल सब ऋतुओंमें सम रहता है इस देशमें जैसी ऋतु अनुकूलता हो वैसा किया जाय। इस प्रकारके आश्रममें गुरुके पास साधक रहे और अभ्यास करे। इसके साथ जो दूसरे शिष्य हों उनके साथ बातचीत करनी हो तो वह केवल योगसाधनकी ही हो अन्य वैयक्तिक वार्तालाप वहाँ न हो सब वातावरण शुद्ध पवित्र और उच्च हो तीव्र अशुद्ध मन का प्रवेश वहाँ न उत्पन्न हो।

प्रत्येक योगिराजके आश्रममें अनेक शिष्य हों तो प्रत्येकके साधनके लिये अलग अलग कमरा हो एकका शब्द दूसरेको सुननेका अवसर न हो। इसका कारण यह है कि यदि एक साधक ध्यानमें मग्न हो और उस समय दूसरा साधक बड़ा करने लगा तो पहिलेको उपसर्ग होगा। इसी कारण कोई उपसर्ग किसीको न पहुँचे ऐसे साधकके स्थान हों।

एकान्त-सेवन

(रहसि स्थितः) एकान्त सेवन करे एकान्तमें रहकर योगसाधन करे यह उपदेश इसीलिये दिया है। पूर्ण एकान्त न रहनेसे साधनमें व्यत्यय हो जाता है और अभ्यास सिद्ध होनेमें देरी लगती है और विघ्न भी होता है। एक गुरुके पास अनेक शिष्य हों तो प्रत्येकको पूर्ण एकान्त देने योग्य स्वतंत्र स्थान निर्माण करनेके लिये बड़ा व्यय और बड़ा प्रबन्ध चाहिये। इसका विचार साधक कर सकते हैं। पर्वतकी गुफामें साधनका स्थान बना देनेमें नहीं देते हैं

के वहां सर्दी गर्मीसे उष्णता सम रहती है गड़बड़ करने वाला वहां कोई नहीं रहता इस तरह बहुतसी अनुकूलता होती है।यही कारण है। कि साधक लोग पर्वतकी गुहा पसंद करते हैं। हमारे विचारसे ऐसे साधकके लिये सुयोग्य आश्रम बनाये जा सकते हैं, केवल उसके लिये धनी पुरुषों की आर्थ सहायता मिलनी चाहिये। किसी निसर्गरमणीय स्थानमें ऐसे आश्रमोंकी रचना करनेसे बहुत साधकोंका हित होना संभव है। मुख्य आशय यह है कि वहां पूर्ण एकान्त साधकको प्राप्त हो जाय। अधिक मनुष्योंकी भीड़ होनेसे मनमें विक्षेप होते हैं और योगसाधनकी प्रगति रुक जाती है। इस कारण (रहसि स्थितः) एकान्तमें रहना चाहिये ऐसा यहां कहा है।

भोग साधन छोड़ना

(अ-परिग्रहः) योगसाधन करनेवाला साधक अपने पास विषयभोग करनेके साधन इकट्ठे करके न रखे क्यों कि ऐसा करनेसे उसका मन उन विषयभोगोंमें फँसेगा चित्त व्यग्र होगा ब्रह्मचर्य न रहेगा जिह्वा-स्वाद-जय नहीं होगा उन भोगसाधनोंकी रक्षाकी चिंता मनको व्यग्र करेगी; इस तरह अनंत उपाधियाँ बढ़ेंगी। अतः जबतक योगसाधन करना है तब तक भोग साधन अपने पास रखना योग्य नहीं है। इसको निष्परिग्रह वृत्ति कहते हैं। इसी लिये कहा है कि पारिवारिक जन अपने पास न रखे और (एकाकी) अकेलाही साधकाश्रममें जाकर अभ्यास करे। जब तक साधन करना है तब तक अपने अधिकारमें कोई वस्तु है ऐसा भी न समझे। मैं और अपना योगसाधन इतनाही ध्यानमें रखे। जब तक भोगसाधन पास रहेंगे तब तक कोई योगसाधन नहीं होसकेगा।

भोगवासनात्याग

(निराशीः = निः+आशी) भोगवासना भी छोड़नी चाहिये। केवल भोगसाधन अपने पास न रखनेसे कार्य नहीं होगा। क्योंकि अपने पास किसीने भोगसाधन न रखे परंतु उसने अपने पास भोगकी इच्छा रखी तो उसका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। भोगसाधन अपने पास रखनेसे अथवा भोग भोगनेसे भी जितना बुरा परीणाम नहीं हो सकता उतना बुरा परिणाम मनसे भोगोंका चिन्तन करनेसे हो सकता है। प्रत्येक भोगके विषयमें यह सत्य है। इसलिये कहा है कि साधक भोग-वासना भी छोड़ दे।' भोगवासना कैसे छोडी जा सकती है? इसका उपाय यह है कि योगसाधनके प्रारंभ करनेके ही पूर्व मनसे पूर्ण संकल्प करना चाहिये कि साधन यथायोग होनेके लिये भोगवासना छोड़नेका यत्न रखूंगा। इस लिए विचार करके मनको सुयोग्य शिक्षा देनी चाहिये और इस प्रकारकी सुशिक्षासे सुसंस्कारसंपन्न करके उसको भोगवासनाओंसे दूर रखना चाहिये। भोगवासनाओंसे दूर रहना एक प्रकारकी अन्तःकरण शुद्धि ही है।

आश्रममें सद्गुरुके पास सत् शिष्योंके साथ रहनेसे भी भोगवासना नहीं सता सकती। भोगसाधन अपने पास रखनेसे उनके दर्शनसे भोगवृत्तियां उठती हैं, अतः अपने सामने भोगसाधन न रहें तो भोगवासनाएँ कष्ट नहीं दे सकतीं। इसलिये सद्गुरुके आश्रममें पवित्र अन्तःकरण वाले सच्छिष्योंमें रहना उत्तम है।

संयम

(यत चित्त-आत्मा) अपने चित्त, मन इन्द्रियां शरीर आदिको स्वाधीन करना इनको स्वैराचारी न करना। इन्द्रियोंका संयम और दमन करना इनको प्रथम सत्कर्ममें प्रवृत्त करना। संयम करनेका उपाय यह है कि मनुष्यके इन्द्रिय सत् और असत् कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, इसलिये उनको केवल सत्कर्मोंमेंही प्रवृत्त करना और असत्कर्मोंसे हटाना चाहिये। नियमपूर्वक और दृढतासे इन्द्रियोंको सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेसे उनकी सत्कर्ममें रुचि बढती है और कुछ समयके पीछे वे असत् प्रवृत्तिसे स्वाभाविक रीतिसेही दूर रहते हैं। जब अपने बाह्य और आन्तरिक इन्द्रिय सत्कर्ममेंही प्रवृत्त होने लगते हैं और कभी असत्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते उस समय सत्कर्मोंके फलका त्याग करनेका अभ्यास बढाना चाहिये अर्थात् अपने सत्कर्मका जो भी फल मिले वह अपने भोगके लिये अपने पास नहीं रखना चाहिये प्रत्युत सब भूतोंके हितके लिये (५।२५; १२।४) उसका समर्पण करना चाहिये। इस अभ्याससे भोगवासना दूर होकर इन्द्रियसंयम सिद्ध होता है। यहां पाठक ध्यानमें धारण करें कि उन्नतिका क्रम यह है— (१) असत्कर्ममें प्रवृत्ति (२) केवल सत्कर्ममें प्रवृत्ति (३) कर्मफलका

सर्वस्वुहितके लिये समर्पण (४) स्वार्थ-वासनात्याग और (५) संयम-सिद्धि। इस प्रकार यह संयम सिद्धिका क्रम मननीय है।

शुद्ध देशमें निवास

(शुचौ देशे) योगसाधन करनेवाला मनुष्य शुद्ध पवित्र निर्मल नीरोग निर्भय प्रदेशमें निवास करे। कई देश ऐसे होते हैं कि वहां रहनेसे हिमज्वरकी पीड़ा होती है ताप तिल्ली बढ़ती है पचनशक्ति घटती है अजीर्ण होता है इस तरह नाना प्रकारके क्लेश होते हैं। अतः साधकको उचित है कि वह अपने लिये ऐसे पवित्र स्थानको चुने कि जहां ऐसे कोई उपद्रव होनेकी संभावना न हो। प्रायः नर्मदा-नदीका जल वायु इस साधन कार्यके लिये सुयोग्य समझा जाता है। योगसाधकके बहुतसे आश्रम भी नर्मदाके किनारे-पर हैं। जल भी अच्छा है। साधक अथवा प्रारंभिक योग-साधन वहां करें और उत्तर आयुमें गंगा-तटपर निवास करें। तथापि गिरनार आदि पर्वत हिमालयके मनोरम स्थान तथा अन्यान्य सुयोग्य प्रदेश भी योगसाधनके लिये अच्छे हैं और यहां परंपरासे चले आये योगाश्रम भी हैं। जो जिसके लिये योग्य और प्रसन्नता देनेवाला प्रतीत हो वह वहां रहकर अपना साधन करे।

आसन

आसनके लिये (चैल-अजिन-कुश-उत्तरं) भूमिपर दर्भासन बिछाया जाय उसपर कृष्णाजिन फैलाया जावे और उसपर धोती दो चार तह करके बिछायी जावे। भूमिपर दर्भासन उसपर कृष्णाजिन और उसपर वस्त्र इन तीन पदार्थोंका आसन बनाया जावे। भूमि उत्तम होवे ऊंची नीची न होवे। पत्थरका स्पर्श न हो क्योंकि वह सर्दीमें बड़ी ठंढ होगा। यदि पत्थर नीचे हो तो उसपर ऐसा होवे कि जो न शीत हो और न उष्ण। यदि भूमि अच्छी सम न हो तो बीच लकड़ीका तख्ता रखा जाय और उसपर पूर्वोक्त आसन रखा जावे।

(नात्युच्छ्रितं नातिनीचं) आसन न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा। ऊंचा हुआ तो चित्तैकाग्र होनेके समय झुकाव होकर गिरनेकी संभावना होगी। मान लीजिये कि किसीने एक ऊंची चौकीपर अपना आसन जमाया और साधन करने लगा तो संभव है कि मानसिक एकाग्रता करनेके समय यदि उसका किसी एक ओर झुकाव हुआ तो वह उस ओर गिर जायगा। और यहां स्मरण रखना उचित है कि इस समय यदि किसीका शरीर इस तरह गिरा तो बड़ी भारी चोट लगती है और उससे भी मानसिक आघात तो बहुत ही बड़ा होता है। इस आघातसे अकस्मात् मृत्यु उसकी भी संभावना हो सकती है। इसलिये आसन बहुत ऊंचा न किया जावे। आसन बहुत नीचा करनेसे भूमिकी सर्दी बाधा पहुंचा सकती है। इस लिये कहा है कि आसन न नीचा हो और न ऊंचा हो। सामान्यतया विचार किया जाय तो भूमिसे तीन चार अंगुल ऊंचा आसन हो ऐसा हम कह सकते हैं।

कई लोग आसनके लिये गद्देका उपयोग करते हैं, परंतु वैसा करना अयोग्य है, क्योंकि गद्देकी रुई बैठनेसे दब जाती है और कई मासोंके पश्चात् आसन ऊंचा नीचा हो जाता है और उस कारण बैठनेवालेका चित्त व्यग्र होता है। इसलिये गद्देका आसनके लिये अयोग्य है। दूसरी बात यह है कि गर्मीके दिनोंमें गद्देसे बहुत गर्मी आनेके कारण उसपर बैठनेवालेको कुछ समयके पश्चात् आसन गर्म होनेका अनुभव आता है। और उस कारण स्थानपर चित्त स्थिर नहीं होता अथवा आसनकी गर्मीसे ऊब जाता है। रुई कपड़ेके स्थानपर गर्म कंबल रखनेसे भी गर्मीके दिनोंमें बड़ा कष्ट होता है। इसीलिये निम्न क्रमसे ऊपर आसनके लिये दर्भ कृष्णाजिन और धुली हुई धोती कही है वही योग्य है। यह अनुभवसिद्ध और हितकर आसन है।

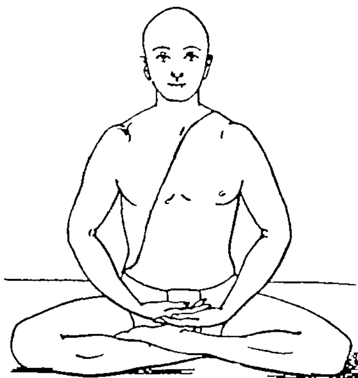
आसन (स्थिरं) स्थिर हो हिलनेवाला न हो। थोडासा भी हिलनेकी संभावना न हो। चित्त एकाग्र होनेके समय थोडासा भी धक्का लग जाय तो बडे अनर्थ होनेकी संभावना होती है। इस धक्केके लगनेसे साधकका मन चित्त इंद्रियों और शरीरपर बहुत बुरा परिणाम होता है। इसलिये आसन स्थिर रहनेवाला होना चाहिये। यदि दर्भ कृष्णाजिन और धोती सीधी भूमिपर बिछायी जाय तो आसनके हिलनेकी संभावना नहीं होती परंतु यदि भूमिपर तख्ता या कोई रखकर उसपर अपना पूर्वोक्त आसन लगाया हो और यदि वह तख्ता भूमिपर सीधा न बैठा तो हिलनेकी संभावना रहती है। अतः आवश्यक है कि भूमिपर सीधे तख्ता रखना होवे

इसे स्थिर करना चाहिये और पश्चात् उसपर कुश अजिन और धोती बिछाना योग्य है। यह अत्यंत महत्त्वकी बात है इसलिये यहां सावधानीकी सूचना दी है। यह यहां स्मरण रखने योग्य है कि जितनी चित्तकी एकाग्रता अधिक होती है उतनी स्वल्प आवाज भी बडी भारी प्रतीत होती है। एक सुई भी जमीनपर गिर गई तो उसका छोटासा शब्द बहुत बडा सुनाई देता है और बडाभारी धक्का छातीपर लगता है। ऐसे समयमें यदि आसनमें थोडीसी हिलावट हो गयी तो कितना धक्का लगना संभव है, इसकी कल्पना ही पाठक कर सकते हैं। इसी लिये (आत्मनः स्थिरं आसनं) अपना आसन स्थिर अर्थात् न हिलनेवाला ऐसा यहां कहा है वह अत्यंत योग्य है। अतः साधकको ध्यानमें धारण करने योग्य है।

आसन

(तत्र आसने उपविश्य) वहां आसनपर बैठकर (आत्म-शुद्धये योगं युञ्ज्यात्) आत्मशुद्धिके लिये साधक योगसाधनका अनुष्ठान करे। इस समय सिद्धासन सुखासन आदि कोई सुखपूर्वक स्थिर रहनेवाला आसन साधक करे। हठयोगमें कई आसन हैं, परंतु वे केवल शरीरको स्वाधीन करनेके लियेही हैं। शरीरकी नसनाडीयोंमें रुधिर प्रवाह ठीक प्रकार प्रचारित हो और शरीर पूर्णतया अपने अधीन रहे इसलिये वे आसन हैं। कई आसन पचनशक्तिकी वृद्धि करनेवाले हैं, कई आसन मस्तिष्ककी कमजोरी दूर करनेवाले हैं कई मलपरिहार करनेवाले हैं और कई ध्यानके उपयोगी हैं। जो आसन यहां इसके अनुष्ठानके लिये आवश्यक हैं वे ध्यानसाधक आसन ही हैं। तथापि साधकको योग्य है कि वह प्रथम शरीर शुद्ध करे। बस्ति धौती नेति त्राटक कपालभाति इन षट्कर्मों द्वारा शरीर शुद्ध होनेके पश्चात् ध्यानादिका अनुष्ठान करनेसे सिद्धि सुगम हो जाती है। शरीरमें मलसंचय रहनेसे चित्तका विक्षेप होता है और ध्यान ठीक प्रकार नहीं लगता।

(आत्मशुद्धये योगं युञ्ज्यात्) साधक आत्मशुद्धिके लिये योगसाधन करे ऐसा यहां कहा है। इस आत्मशुद्धि का अर्थ अपनी पूर्ण शुद्धि है। शुद्धिमें शरीरशुद्धि, प्राण इन्द्रियशुद्धि अन्तःकरणशुद्धि, इन सब शुद्धियोंका अन्तर्भाव होता है। इस विषयमें यहां थोडासा लिखना योग्य है—



सिद्धासन

(१) बस्तिविधि

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥२६॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥२७॥
धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्याद्
अभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥२८॥ (हठयोग प्र. २)

नाभि जितने जलमें स्थित होकर एक नली जिसका छेद्र चिकना हो और जिसकी छः अंगुल लंबाई हो, ऐसी लेकर उसको तेल लगाकर उसका गुदामें चार अंगुल प्रवेश कराया जावे। पश्चात् उत्कटासन करके मूलाधारका आकुंचन करे जिससे जल गुदाके अन्दर प्रविष्ट होगा। पश्चात् नौलि करके पेटका घुमाना जाय। पश्चात् कुछ समयके पश्चात् शौच विधि किया जाय। यह भोजनके पूर्व करना चाहिये। इससे गुल्म प्लीहा उदर जलोदर वात पित्त कफके सब रोग दूर होते हैं। बस्तिकर्मसे रस रुधिर मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र पंच ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त अहंकार, इनके सब दोष दूर होते हैं इनकी प्रसन्नता होती है जठराग्नि प्रदीप्त होती है सब रोगोंके कारण दूर जाते हैं शरीर तेजस्वी होता है और आरोग्य लाभ होता है।

किसी योगीके पास एक दो मास रहनेसे यह बस्तिविधि साध्य होता है। बड़े पात्रमें बैठकर भी यह पानी अंदर चढ़ाया जा सकता है। बड़े पात्रमें करनेसे शुद्ध पानी मिल सकेगा नदीमें करनेसे मल अंदर जानेकी संभावना है। जल शीत उष्ण जैसा चाहिये वैसा रखनेमें प्रबंध भी हो सकता है।

डाक्टरी विधिसे बस्तिविधिके सुगम साधन मिल सकते हैं। रबरकी नलकीके साथ सब साधन बाजारोंमें २-५ रुपयोंमें मिलते हैं। और यह डाक्टरीय बस्तिविधि एक मास भरमें सीखी जा सकती है। युरोप-अमेरिकामें इस जल्द स्नान विधिके कई कीमती यंत्र मिलते हैं और वे सब यंत्र न्यूनाधिक मूल्यसे मिलते हैं। और डाक्टरोंसे इसका उपयोग सीखा जा सकता है।

योगबस्तिसे अन्तरकी नाड़ोंमें विकृति नहीं होती परंतु यंत्रबस्तिसे अधिक दिन और बारबार यंत्रबस्ति किया जाय तो अन्तरमें आन्त्र बढ़ते जाते हैं। इस तरह आन्त्र बढ़नेसे आगे अपचनके रोग होनेकी संभावना है। अतः यंत्रबस्ति करनेवालोंको उचित है कि वे बहुतसे जल थोड़ा ही और नौलिद्वारा उसको अच्छे घुमावें। जिससे यह दोष नहीं होगा। योगबस्ति बिना यंत्र साधनके हो सकता है। इस लिये यह यंत्रबस्तिसे अच्छा है। बस्तिविधिसे गुदाके पासका बितस्ति मात्र आन्त्रभाग स्वच्छ होता है, जिससे बड़ा आरोग्य लाभ हो सकता है। दीर्घदृष्टी लोग इससे लाभ उठा सकते हैं।

(२) धौति

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥२४॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥२५॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः
(ह० प्र० २)

चार अंगुल चौड़ा और पंद्रह हाथ लंबा पतला (मलमल जैसा) वस्त्र लेना और उसको किंचित् उष्ण जलमें भिगाकर सद्गुरुकी बताई रीतिके अनुसार ग्रास करते जाना। पहिले दिन थोड़ासा वस्त्र ग्रास करना, दूसरे दिन एक हाथ तीसरे दिन दो हाथ इस तरह प्रति दिन बढ़ाकर बारह पंद्रह दिनोंमें एक हाथ बाहर रखकर सब वस्त्रका ग्रास करनेका अभ्यास करना योग्य है। स्मरण रहे कि एक बीतसे कुछ अधिक वस्त्र मुखके बाहर अवश्य रखना चाहिये अन्यथा संपूर्ण वस्त्र पेटमें जाकर उसको बाहर निकालना कठिन होगा। इस लिये एक बीत वस्त्र स्मरणपूर्वक बाहर रखना चाहिये। जब सब पेटमें चला जाय तब शेष बाहर वस्त्रको दांतसे पकड़कर अन्दर जानेसे रोकना चाहिये। पश्चात् शीघ्र नौलि करके उसका प्रक्षालन करना चाहिये। उदर संचालन करनेके बाद मुखसे वस्त्रको शनैः शनैः बाहर निकालना चाहिये। वस्त्र बाहर निकालनेके समय पेट थोड़ा ऊंचा और सिर नीचा करनेसे वस्त्र सुगमताके साथ बाहर खींचा जाता है। वस्त्र पेटमें बहुत देर रखना नहीं चाहिये। बहुत देर रहा तो नीचे चला जाता है और निकलना कठिन होता है। अतः धौतिकर्म शीघ्र समाप्त करना चाहिये।

धौती करनेसे खांसी श्वास दमा, प्लीहा, कुष्ठ, सब बीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं। कई लोग पहिले पहिले वस्त्र निगल नहीं सकते उनको उचित है कि वे किंचित् उष्ण जलमें थोड़ी मिश्री मिला दें और उसमें वह वस्त्र भिगो दें जिससे वस्त्रका निगलना सुगम हो जायेगा।

सूचनार्थ निवेदन है कि यह धौतिकर्म कोई मनुष्य पुस्तक पढ़कर न करे परंतु अच्छे योगीके पास रहकर सीखे और पश्चात् करे। इससे कष्ट नहीं होवे।

…कई लोग अधिक ज्यादा वस्त्र पसंद करते हैं। यह सब गुरुसे ज्ञात हो सकता है। इसमें काम बहुत हैं परंतु पुस्तक पढ़कर करनेका यह विषय नहीं है।

डाक्टरी यंत्र भी रबरकी नलीसे बनाये धौतिविधिके लिये मिलते हैं। किसी डाक्टरके पाससे इसका उपयोग करनेकी रीति सीखी जा सकती है। योगकी धौति डाक्टरी यंत्र की धौतिसे अच्छी है। धौति होनेके पश्चात् वह धौतिका वस्त्र साबुन लगाकर गर्म जलसे उत्तम प्रकार धोकर सुखाकर और शोध कपड़े कर डिब्बीमें सुरक्षित रखना चाहिये। मक्खियोंसे इसको हमेशा दूर रखना चाहिये।

(३) नेति

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥२९॥
कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥३०॥
(हठयोग प्र. २)

एक सूत भी दस अथवा पंद्रह गुना करना और एक बीत लंबा बनाना थोड़ा अधिक लंबा रहा तो कोई दोष नहीं होगा। वह चिकना हो, ग्रंथि आदि न हो, खुरदरा न हो। प्रातःकाल उसका नासिकामें उसका प्रवेश किया जावे। नासिकासे प्रविष्ट होकर वह गलेमेंसे मुखमें आवेगा। पश्चात् पकड़ करके मुखसे रेचक करनेसे मुखमें आ जाता है। इस तरह आधा सूत्र अन्तिम भाग अंगुलिसे पकड़ कर धीरे धीरे अंदर बाहर संचालित करना चाहिये। इसी तरह दूसरे नासिका छिद्रमें करना चाहिये। इसकी विधि भी अच्छे गुरुके पास रहकर सीखना चाहिये। पुस्तक पढ़कर इसका अनुष्ठान कोई न करे।

इस नेतिसे कपाल नासिका और कपालका नासिकाके पीछेका भाग स्वच्छ होता है दृष्टिके दोष दूर होते हैं और गलेके ऊपरके सब रोग इस विधिसे हट जाते हैं।

(४) त्राटक

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥३१॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
(हठयोग प्र. २)

एकाग्रचित्त करके निश्चल दृष्टि रखकर सूक्ष्म लक्ष्यके ऊपर टकटकी लगाकर देखना। जबतक नेत्रमें जल नहीं आवे तब तक देखते जाना नेत्रमें जल आते ही बंद करना। इसे त्राटक कहते हैं। इससे नेत्ररोग दूर होते हैं और तन्द्रा भी नहीं आती।

त्राटकका अभ्यास करनेसे पश्चात् नेत्रके अश्रुबिंदु हटाकर घृतका एक बिंदु आंखके भीतर छोड़नेसे श्रम दूर होते हैं।

(५) नौलि

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रशस्यते ॥३३॥
मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि-
संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥३४॥ (हठयोग प्र. २)

कंधे नीचे करके हाथ घुटनोंपर जमाकर अपने पेटको वेगसे दाहिनी ओर और बाईं ओर भंवरके समान घुमाने का नाम नौली है। यह योगक्रियाओंमें बड़ी महत्त्वकी क्रिया है। इससे मंदाग्नि दूर होती है पचनशक्ति बढ़ती है भूख बढ़ जाती है सदा आनन्दका अनुभव होता है दोष शुद्धि होती है। पेटमें होनेवाले अनेक वात आदि दोषोंका नाश करनेवाली यह क्रिया है।

यह थोड़े प्रयत्नसे साध्य हो सकती है। परंतु जिसको हृदयकी बीमारी बहुत है वह स्वयं इसे न करे। करना हो तो अच्छे गुरुके समीप रहकर वह करे। अन्य लोग इसका अभ्यास कर सकते हैं।

(६) कपाल–भाति

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥३५॥
(हठयोग प्र. २)

लुहारकी धौंकनीके समान वेगसे रेचक और पूरक करनेसे कपाल भाति विधि होती है। इससे कफदोष दूर जाते हैं और श्वासमार्ग दोषरहित हो जाता है।

इस षट्कर्मसे शरीरकी शुद्धि होती है। शरीर शुद्ध होनेसे सब रोग दूर होते हैं और आरोग्यका सहजानंद मिलता है। इस प्रकार शरीर शुद्ध होनेके पश्चात् प्राणायाम का अनुष्ठान करना उचित है।

प्राणायाम

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥
(हठयोग प्र० २)

पूर्वोक्त षट्कर्मोंसे स्थूल मेद, कफ आदि दोष और अन्य शारीरिक मलोंको दूर करनेके पश्चात् साधक प्राणायामका अभ्यास करे। इससे अनायाससे प्राणायामकी सिद्धि होगी। कई आचार्योंका मत है कि केवल प्राणायामके अभ्याससे सब शरीर शुद्ध हो जाता है अतः पूर्वोक्त षट् क्रिया करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। जिनका खानपान परिमित है या आरोग्यसम्पन्न हैं, जिनके शरीरमें बहुत दुर्गन्ध नहीं आती हो वे षट् कर्म न करें और केवल प्राणायाम ही करें। परंतु जिनके शरीरमें दुर्गन्ध है मुखमें दुर्गन्ध है तथा शरीरमें मलसञ्चय है पेटमें आम रहता है पेट स्थूल है वे पूर्वोक्त षट् क्रिया करें।

नासिकासे श्वास भीतर लेनेका नाम पूरक, भीतर रखने का नाम कुम्भक और बाहर छोड़नेका नाम रेचक है। पूरक कुम्भक रेचककी कालमर्यादासे तथा न्यूनाधिक रीतियोंसे प्राणायाम अनेक प्रकारके होते हैं। पुस्तक पढ़कर प्राणायाम करना किसीको भी योग्य नहीं है। अच्छे गुरुके पास उनकी निगरानीमें रहकर प्राणायाम सीखना और तदनुसार अभ्यास करना योग्य है। किसको कौन-सा प्राणायाम योग्य है इसका उपदेश परीक्षित गुरुही कर सकता है तथापि उज्जायी प्राणायाम सुगम होनेसे यहाँ उसकी विधि देते हैं—

उज्जायी प्राणायाम

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ ५३ ॥
(हठयोग प्र० २)

मुख बंद करके नाकसे वायुका कण्ठके साथ घर्षण अर्थात् वायु अन्दर जानेके समय कण्ठसे हृदयतक शब्दके साथ जाय, ऐसा पूरक करके इच्छानुकूल कुम्भक करके पश्चात् रेचन किया जावे। इसमें स्वरके साथ पूरक और रेचक होने चाहिये। इस प्राणायामसे कफदोष दूर होते हैं, शरीरकी कान्ति तथा पाचन-शक्ति बढ़ती है। तथा नाड़ियोंमें रहनेवाला रस और शरीरमें रहनेवाले धातुओंमें जो जो दोष होते हैं वे सब इससे नष्ट होते हैं। यह उज्जायी प्राणायाम चलते फिरते और स्थिर रहनेके समय भी किया जा सकता है।

यह सुगम है और बड़ा लाभकारी है। इसकी मर्यादा कम करनेसे इसकी सुगमता और अधिक बढ़ती है। जो भी पाठक प्राणायामका अभ्यास करना चाहते हैं वे अच्छे गुरुके पास जाकर उनसे प्राणायामका अभ्यास करें। इस विषयमें कहा है—

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥ २ ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥
अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥ १४ ॥
प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायत निश्चितम् ॥ १९ ॥
वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥ (हठयोग प्र० २)

प्राण स्थिर होनेसे चित्त स्थिर होता है। जब तक प्राण चंचल है तब तक चित्त भी चंचल होता है। नाड़ी मलरहित होनेके पश्चात् ही प्राण स्थिर होता है। प्राणायाम का अभ्यास करनेके समय प्रथम केवल दूध और घीका ही सेवन करना चाहिये। जिनमें विशेषतया प्राणायामकी सिद्धि करनी हो उन्हें दिनमें केवल चार बार मिलाकर डेढ़ सेर दूध और छटाक भी घी पीना रहे और दूसरा कुछ न खावे तथा दोपहर के पूर्वमें एक दो बार अभ्यास करनेसे ही प्राण

में शरीर शुद्ध होता है। अन्य अपथ्य पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये। (यह गायका दूध और घी शुद्ध या अधिक अच्छा है यह न होनेपर जो मिले वह लिया जावे।) योग्य रीतिसे प्राणायाम करनेसे सब रोग दूर होंगे परंतु अयोग्य रीतिसे प्राणायाम करनेपर सब रोग पीडा कर सकते हैं। (अत प्राणायामका अभ्यास योग्य गुरुके पास रहकर ही करना चाहिए।) जब नाडीशुद्धि होती तब शरीरकी स्थूलता (शरीरकी मेद) दूर जाती है और शरीर तपस्वी होता है। मेदका हटना मुखकी प्रसन्नता कण्ठकी स्फुरता नेत्रकी निर्मलता शरीरकी नीरोगता वीर्यकी स्थिरता, अग्निकी प्रदीप्तता इस योगसे सिद्ध होती है।

इस तरह आत्मशुद्धि अनेक रूप है। बस्तिसे नाभिके नीचेके भागकी शुद्धि, धौतिसे नाभिके ऊपरके पेटकी शुद्धि नेतीसे नासिकाके अन्तःभागकी शुद्धि त्राटकसे नेत्रकी शुद्धि कपालभातिसे प्राणमार्गकी शुद्धि नौलिसे पसलियोंकी सहायता प्राणायामसे प्राणकोशकी पवित्रता और मनकी स्थिरता होती है ध्यानधारणासे अन्तःकरणकी पवित्रता होकर चित्तकी एकाग्रता होती है। इस तरह योगसाधन निःसन्देह आत्मशुद्धि करनेवाला है। इस लिये कहा है कि (आत्मशुद्धये योग युञ्ज्यात्) योगका अभ्यास करके अपनी शुद्धि करनी चाहिए अपनी शुद्धिका अर्थ अपनी देह इंद्रिय प्राणसंस्थान मज्जातंतुजाल मन आदि सबकी शुद्धता पवित्रता और मलहीनता है।

मनकी एकाग्रता

आगे आत्मशुद्धिके विषयमें विशेष निर्देश किया है। (यतचित्त-इन्द्रिय क्रिय तत्र मनः एकाग्रं कृत्वा,) चित्त और सब इंद्रियोंकी सब क्रियाओंका संयम करके मनकी एकाग्रता करनी चाहिये। मनकी एकाग्रताके लिये संपूर्ण इंद्रियों का संयम करना चाहिये अन्यथा मनकी एकाग्रता असंभव है। इंद्रियोंको क्रियाएं निश्चित हैं जैसेकी पांवसे चलना हाथसे पकडना, विसर्जन इंद्रियोंसे मलविसर्जन करना मुखसे बोलना आंखसे देखना कानसे सुनना नाकसे गंध लेना इत्यादि इंद्रियोंके कर्म हैं इन सबका संयम करना चाहिये अर्थात् इन क्रियाओंको स्वाधीन करना चाहिये। क्योंकि यदि इंद्रियने कुछ कर्म करनेका यत्न किया तो उस ओर मन चला जायगा। अतः एकाग्र नहीं होगा। इस लिये मन एकाग्र करनेके समय शरीरसे कुछ भी कर्म नहीं करना चाहिये।

यहां कोई पूछेगा मस्तिष्कसे विचार किया जाय या नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि विचाररूप कर्म भी नहीं करना चाहिये। यदि विचार-प्रवाह चलता रहेगा तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। हृदयकी हर्ष-शोक विषाद आदि भावनाएं भी नहीं होनी चाहिये। कोई ऐसा विषय सम्मुख नहीं आना चाहिये कि जिससे हर्षशोकादि भाव हृदयमें उत्पन्न हो सकें क्योंकि जिस समय ये भाव हृदयमें उत्पन्न होंगे उस समय मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त मूत्रका वेग शौचमूत्रादिका वेग तथा अन्य वेगोंके होनेके समय भी मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। इसी प्रकार आठ भूख लगनेपर अधिक खानेपर भोजनके पश्चात्, निद्राके आनेके समय अति जागरण होने पर सबके समय मनकी एकाग्रता नहीं होती। मालूम होते ही बैठनेसे कदाचित् निद्राका आना संभव है। इस तरह मनकी एकाग्रताके कई विघ्न हैं जिनका विचार करके पाठक स्वयं जान सकते हैं और इन विघ्नोंसे दूर रहनेका यत्न करके चित्तकी एकाग्रता सिद्ध कर सकते हैं। चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होनेसे मनुष्य अद्भुत प्रसन्नताका लाभ पाता है। यह प्रसन्नता अपनेही अन्दरसे मिलती है और इससे जो समाधान प्राप्त होता है वह किसी अन्य उपायसे नहीं होता। अतः इस ओर साधकका ध्यान आकर्षित होना योग्य है।

सम स्थिति

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। (१३)

साधक अपना शरीर मस्तक और गला सम रेखामें धारण करे तथा शरीर अचंचल और स्थिर रखे। किसी अवयवकी थोडी भी हलचल न हो सब शरीर स्तब्ध निश्चल शान्त और स्थिर रहे। केवल श्वास और हृदयका स्पन्द होता रहे। श्वास रोकना कुछ समयतक बंद भी किया जा सकता है परंतु हृदय स्वयं चलता रहता है उसपर साधक का अधिकार नहीं है। इस तरह स्वयं चलनेवाले अवयव अपना कार्य करते रहें। परंतु जो अवयव अपनी प्रेरणा से कार्य करते हैं उनको पूर्णतया स्तब्ध करके शान्त

रखना चाहिये। अपने अन्दरसे कोई प्रेरणा करनी नहीं है। प्रेरणाकी वृत्ति बिलकुल बंद करनी है जैसा कि यह शरीर अपना है ही नहीं ऐसी वृत्ति रखनी चाहिये। क्योंकि मैं इसको स्वस्थ रखना चाहता हूं ऐसा कहनेसे भी यह एक मनोवृत्ति उठाने लगती है जिससे स्वस्थता का भंग हो जाता है। अतः जबरदस्तीसे शरीरका स्वस्थ करनेकी अपेक्षा वह स्वयं स्वस्थ हो जाय ऐसा यत्न करना चाहिये। इस स्थितिका नाम सम स्थिति है।

सहस्रार
आज्ञा
१
विशुद्धि
६
अनाहत
५
सूर्य
मणिपूरक
स्वाधिष्ठान
२
(कुंडलिनी)
मूलाधार
३

पृष्ठवंश (१ १ १)

मस्तक गर्दन और पीठ सम रेखामें रखनेसे पृष्ठवंशमें मज्जा प्रवाह निष्प्रतिबंध चलने लगता है। मस्तकसे पृष्ठवंशके निम्नभागतक मज्जा प्रवाह चलता है। इसमें चल अचल प्रवाह है। अन्यथे सम प्रवाह भी है। इस प्रवाहकी निष्प्रतिबंधतामें संपूर्ण शारीरिक मज्जातन्तु संस्थानकी निर्दोषता अवलंबित है। योगसाधनसे सिद्ध होनेवाला जो आनन्द है वह इस समस्थितिकी सिद्धतासेही प्राप्त हो सकता है। किसी भी आसनपर शान्त और निश्चल स्थिर रहनेका अभ्यास होनेसेही सब शरीरकी निश्चलता सिद्ध होकरही साधक को अवर्णनीय आनन्दका अनुभव आने लगता है। कोई भी मनुष्य इसका साधन कर सकता है। किसी शान्त और एकान्त शुभ स्थानमें बैठकर शरीरको स्वस्थ और सम करना। पूर्वोक्त प्रकार सम स्थितिमें निश्चल बैठना और कुछ न करना, मन आदि सब शान्त करना। केवल इससे ही इस बैठे मनमें बहुत प्रसन्नता होती है। शरीरके हलचल आदि दूर होनेसेही आन्तरिक प्रसन्नताका प्रारंभ होता है। केवल इस सम स्थितिकी सिद्धता होनेसे ही प्रकाश-दर्शनका अनुभव साधकको हो सकता है। केवल शरीरकी समता का साधन भी उच्च अनुभव देनेमें इस तरह समर्थ है।

नासिकाग्र दृष्टि

इस समसूत्र स्थितिमें नासिकाग्रपर दृष्टि रखनी चाहिये। (संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं) अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार समसूत्र स्थितिमें रह कर नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे थोडीसी देरमें शून्यताका अनुभव आता है। इस भूमिकामें सर्व चित्तवृत्तियोंकी द्वैत स्थिति दूर होकर समाधिकी अद्वैतावस्था प्राप्त होती है। यह उच्च भूमिका योग्य साधन स्थिर होनेसे प्राप्त होती है। नासिकाके अग्रभागपर (गी. ६।१३) अथवा भ्रूमध्यमें (गी. ५।२७) दृष्टि स्थिर करनेका वर्णन गीतामें है। ये दोनों साधन एक ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये उपयोगी हैं।

नासाग्रपर दृष्टि रखना हो अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टि स्थिर करनी हो तो इन दोनों साधनोंके अनुष्ठान करनेके समय नेत्रोंको बहुत श्रम होते हैं। अतः साधन करनेके बाद श्रमपरिहार करनेके लिये नेत्रोंमें एक दो घृतबिन्दु डालने चाहिये जिससे श्रम दूर होकर नेत्रोंका बल बढेगा। इस साधनकी अवस्थामें धूपमें बहुत भ्रमण करना, अथवा पात न धारण कर उष्ण स्थानमें भ्रमण करना आदि नेत्रोंको कष्ट देनेवाले व्यवहार करना योग्य नहीं है। भोजन भी लघु और स्निग्ध तथा सुपच करना चाहिये।

यह साधन करते समय नासिकाग्रपर दृष्टि रखनी चाहिये और इधर उधर (दिशश्चानवलोकयन्) देखना नहीं चाहिये। एकही स्थानपर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। दृष्टिको इधर उधर भगानेसे मन चंचल होता है और साधन बिगडता है। नासाग्र दृष्टि और भ्रूमध्य दृष्टिका अनुष्ठान करनेसे प्रारंभमें नेत्रोंको बहुतही कष्ट होते हैं वे अपने

सामने कोई रमणीय पदार्थ चित्र बिन्दु आदि अपनी इच्छाके अनुसार कोई पदार्थ रखें और उसपर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास करें। आकाशमें किसी एक नक्षत्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे थोड़े समयके पश्चात् संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक नक्षत्र है और शेष सबका सब आकाश शून्य मैला है और दूसरा कोई तारा आकाशमें नहीं है ऐसा दीखता है। इसका नाम एक-तत्त्व है। एक तत्त्व अनुभव और एक तत्त्वकी स्थिरता होने तक इस दृष्टि स्थिरताका अनुष्ठान करना योग्य है। संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक तारा है सब आकाशमें नीलवर्णके सिवाय और कुछ नहीं है ऐसा अनुभव आते ही एक प्रकारका आश्चर्य प्रतीत होता है। दृष्टिकी स्थिरता होनेतक एक तत्त्वका अनुभव और दृष्टि थोड़ीसी चञ्चल हो गई तो अनेकत्व तत्त्वका अनुभव होता है। घरके अंदर कमरेमें भी किसी चित्र मूर्ति या बिन्दु पर दृष्टि जमानेसे भी थोड़े समयके पश्चात् एक तत्त्वता अनुभवमें आती है और उस पदार्थके सिवाय दूसरा कुछ भी वहां नहीं है ऐसाही दीखता है। जब अनेक पदार्थोंका अनुभव हो तब समझना चाहिये कि दृष्टि स्थिर नहीं हुई। प्रारंभमें बाहर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास करना और वह अभ्यास दृढ हो तब नासाग्र अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टि रखना। इस तरह अभ्यास करनेसे सुगमताके साथ साथ साधनमार्गमें प्रगति होती है। दृष्टि स्थिर होनेसे कुछ अभ्यासके पश्चात् अन्तर्यामीके प्रकाश बहुत दिखाई देते हैं। जब वे दिखें तबसे इनपर ही दृष्टि स्थिर करके अपना साधन आगे बढाना चाहिये।

(प्रशान्तात्मा) इस अभ्यासके समय साधक अपने आपको शान्त रखे चञ्चल होने न दे मन शान्त रखे मनको किसी कारण भी व्यग्र होने न दे। (विगतभीः) निर्भय होकर एकनिष्ठासे अपना अभ्यास बढावे। साधन कालमें विविध कल्पना-तरंग मनमें उठते हैं किसी समय भय उत्पन्न होता है किसी समय उदासीनता आती है किसी समय मन उदास होता है परंतु इन कुतर्कोंके आप उठनेसे साधक को अपना साधन बंद करना अनुचित है। जितना साधन अधिक बढेगा उतने ये विघ्न अधिक सतावेंगे। इनसे नहीं डरना चाहिये। भयरहित होकर अपना अभ्यास बढाना चाहिये।

(ब्रह्मचारिव्रते स्थितः) ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। यही योगसाधनकी बुनियाद है। ब्रह्मचर्य पालन न होनेसे अनेक आपत्तियां विघ्न करनेके लिये खडी होती हैं परंतु ब्रह्मचर्यका बल अप्रमाण रहा तो कोई आपत्ति साधकके सामने खडी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्यका अर्थ केवल वीर्य रक्षण इतनाही मर्यादित नहीं है। किसी भोग्य विषयकी ओर प्रवृत्ति न जानेका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। जैसे बालककी वृत्ति एक निर्विकार होती है कोई कामवासनाका विकार उसके मनपर नहीं दिखाई देता वैसी सहज निर्विकार स्थितिका नाम एक ब्रह्मचर्य है। यह अखंड ब्रह्मचर्य सिद्ध होनेसेही अन्तिम स्थितितक मनुष्य पहुंच सकता है। पाठक इस अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतकी कल्पना अपने मनमें स्थिर करें और वैसा ब्रह्मचर्य दृढ करनेका प्रयत्न करें।

अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतमें संपूर्ण कामनाओंकी जय होती है। जैसे बालकके मनमें कामवासना होती ही नहीं उत्पन्न भी नहीं होती वैसेही उसके मनमें वासना होती नहीं। भोग वासनाकी लहर उत्पन्न होकर उसको दबाना यह साध्य है परंतु भोगवासनाकी उत्पत्ति ही न होना मुख्य है। इसके लिये जिह्वाकी जय होनी चाहिये। स्वादकी जय होनेसे अन्य इन्द्रियोंकी जय हो सकती है। इस प्रकार जब इन्द्रिय जय संपूर्ण रूपसे होगी तब इस अखंड ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिष्ठा हो सकती है। केवल जनन इंद्रियका निग्रहरूप जो ब्रह्मचर्य है वह अंशभूत ब्रह्मचर्य है पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।

भोगचर्य और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ (ब्रह्म) परमात्मामें (चर्य) विचरना है, ब्रह्मरूप बनकर विचरना। इस सार्वत्रिक स्थितिके समयमें मनुष्य भोगरूप बनकर विचरता है इसलिये इसके जीवन का नाम भोगचर्या है। जब वह इस भोगरूपताको छोडकर ब्रह्मरूप बनकर विचरेगा तब इसकी ब्रह्मचर्या सिद्ध होगी। पाठक भोगचर्य और ब्रह्मचर्यका भेद ध्यानमें धारण करें और भोगचारी न बनकर ब्रह्मचारी बनें।

मनःसंयम

(मनः संयम्य) पूर्वोक्त जो साधन कहा है, वह मनका संयम करके करना चाहिये। (तत्र एकाग्रं मनः कृत्वा) एकाग्र मन करके बैठकर साधन करे ऐसा जो पूर्व (श्लो० १२ में) कहा है उसमें मनका संयम

(७) योग्य आहार विहारका महत्त्व

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः । न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

करनेकी सूचना केवल मिली ही है। मन एकाग्र करनेका आशय यही है कि मनको इधर उधर भटकने न देना। जो अपने मनको भटकने देगा उससे यह योगसाधन कदापि नहीं होगा। मन एकाग्र करना यह पहला अभ्यास है और मनका संयम करना यह दूसरा अभ्यास है। संयम करनेके लिएही मन एकाग्र करना होता है। संयमित मन स्वभावसे ही एकाग्र होगा। इसलिये साधक अपने मनको सम्यक्तया स्वाधीन रखे। सम्यक् मनका अर्थ संयम है।

(मच्चित्तः) मुझपर चित्त लगावे। यहां 'मत् (मुझपर) यह शब्द भगवान् श्रीकृष्णके लिये है और परमेश्वरके लिये भी है। अपना सब चित्त भगवान्के चरित्रमें लगाने का नाम मच्चित्त होना है। भगवान् श्रीकृष्णका जीवन चरित्र कैसा है ? उन्होंने दुष्ट निर्दलन सज्जन-संरक्षण और धर्मसंस्थापनके लिये कैसे प्रयत्न किये, कितने कष्ट उठाये, अन्यान्य दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी संघटनाके लिये कौनसे यत्न किये तथा अन्यान्य प्रसंगोंमें उनका आचरण कैसा रहा इसका चिंतन करना इसका नाम उसपर चित्त लगाना है। श्रीकृष्ण भगवान् आदर्श पुरुषोत्तम हुए इस लिये उनके चरित्रपर चित्त लगानेसे साधकमें भी वे गुण आ सकते हैं और साधककी उन्नति हो सकती है।

(मत्परः) मेरे विषयमें तत्पर होना अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें तत्पर होना परमात्माके विषयमें तत्पर होना ये दोनों अर्थ यहां हैं। दूसरा कोई विषय मनमें न लाकर भगवान् श्रीकृष्णकी जीवनीका ही परम आदर्श मानना उसमें तल्लीन होना यह भाव यहां है। तत्पर होनेका आशय दूसरे स्थानसे मनको हटाना है और भगवान् के गुणोंमें लगाना है। जाग्रत और स्वप्नमें मन भगवत् स्वरूपमें या भगवद्गुणोंमें लगाना चाहिये। दूसरा कोई विचार मनमें नहीं आना चाहिए। ऐसी एकाग्रता हो गई तो समझना चाहिये कि योगसाधन ठीक हो रहा है। अतः कहा है कि इस तरह (युक्त आसीत ६।१४) योगसाधनमें अपने आपको लगा देवे। इस रीतिसे लगा देनेसे मनुष्य जिस योग-सिद्धिको प्राप्त कर सकता है उसका वर्णन आगेके श्लोकमें किया है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। (१५)

इस तरह नियम करके अपनेको योगमें तत्पर करनेवाला, मनको स्वाधीन रखनेवाला योगी कैसी उच्च अवस्था प्राप्त करता है देखिये—

मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिं अधिगच्छति। १५

मुझमें रहनेवाली मोक्षरूप परम शान्तिकी अवस्थाको प्राप्त करता है। अर्थात् जहां किसी प्रकारकी अशान्ति अथवा बेचैनी नहीं होती ऐसी अखंड शान्ति प्रसन्नता उसको प्राप्त होती है। यही अन्तिम उच्चतम अवस्था है और योगसाधन करनेवाला मनुष्य इस तरहसे साधन करनेसे इस परमोच्च स्थितिको प्राप्त करता है।

साधनका मार्ग

यहां इस योगसाधनके साधनका मार्गका संक्षेपसे पुनः वर्णन करना साधककी दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक है। अतः सुबोधताके लिये वैसा करते हैं- [१] शुद्ध पवित्र और एकान्त स्थानमें अकेला साधक रहे [२] ऐहिक सुखभोगकी इच्छा छोडे [३] योगसाधनोंका संग्रह करके रखे [४] अपने सब इन्द्रियोंका संयम करे [५] कुश, कृष्णाजिन और चौकीपर स्थिर आसन बनाकर उसपर साधन करनेके लिये बैठे [६] मन शरीरकी क्रियाओंको संयमित कर मन एकाग्र करके यहां योगसाधन करे [७] धड गला और सिर समसूत्रमें रखे सब शरीर स्थिर अचल और शान्त रखे इधर उधर न देखते हुए अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर करे [८] अपने आपको शान्त रखे [९] भय छोडे [१०] ब्रह्मचर्य पालन करे [११] मनका संयम करे [१२] भगवत्परायण और मत्परायण होवे [१३] सब इन्द्रियोंका संयम करे सब प्रकार अपना संयम करे। इस तरह योगसाधन करनेवाला मोक्षरूप परम शान्तिको प्राप्त कर सकता है।

इस योगसाधनके योगसे दुःख दूर होते हैं उसका विचार आगेके श्लोकोंमें किया है वह उपयोगी विषय अब देखिये—

अन्वय— हे अर्जुन ! अति-अश्नतः तु योगः न अस्ति एकान्तम् अनश्नतः च न अतिस्वप्नशीलस्य च न जाग्रतः न एव ॥ १६ ॥ युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य योगः दुःखहा भवति ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ! बहुत खानेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता और न बिलकुल न खानेवालेका न अति निद्रा लेनेवालेका और न अत्यन्त जागनेवालेका भी योग सिद्ध होता है ॥ १६ ॥ यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले कर्मोंको यथायोग्य करनेवाले यथायोग्य निद्रा लेनेवाले और योग्य समयमें उठनेवालेका यह योग दुःख दूर करनेवाला होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ— बहुत खाना बहुत पीना बिलकुल भूखा रहना अति निद्रा लेना या बिलकुल निद्रा न लेकर जागते ही रहना यह योगसाधनमें बड़ा विघात करनेवाला है। ऐसे अव्यवस्थित व्यवहार करनेवालेको कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। योग्य मर्यादित आहारविहार करनेसे कर्मोंको सुव्यवस्थित रीतिसे करनेसे योग्य समयपर योग्य कर्म करनेसे जागने सोने और विश्रान्तिकी मर्यादा योग्य रखनेसे ही साधकका योगाचरण सुखदायक होता है। अत्याचार अनाचार और अयोग्य व्यवहार करनेवालेसे कदापि योग नहीं होगा और यदि उसने किया तो उसका दुःख कदाचित् बढ़ेगा भी। अतः योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपना आचरण योग्य रखे ॥ १६ ॥

(१६-१७) योगसाधन करनेवाला मनुष्य कैसा खावे कैसा पीवे सोवे और जागे अन्यान्य कर्म कैसे करे इस विषयमें योग्य निर्देश यहां किए हैं। जो साधक योगसाधन करना चाहते हैं, वे इसका अधिक मनन करें।

अतिभोजन

(न अत्यश्नतः योगः) अति भोजन करना योग्य नहीं इससे न केवल योगसाधनमें विघ्न होगा अपितु आरोग्य भी बिगडेगा। अतिभोजन करनेसे पेट बडा फूलता है श्वासोच्छ्वास ठीक नहीं होते पचनशक्ति बिगड जाती है और अनेक रोगोंकी संभावना होती है। इसलिये अतिभोजन करनेसे बल बढता है यह कहना भ्रम है। वस्तुतः अतिभोजनसे शक्ति क्षीण ही होती है। अति भोजन करनेसे प्राणायाम नहीं हो सकता आसन नहीं होते ध्यानधारणा नहीं हो सकती कामविषय प्रबल होना संभव होता है, ब्रह्मचर्यादि पालन होना असंभव होता है चित्तकी एकाग्रता नहीं होती इस तरह अति भोजन योगसाधनका बडा भारी विघ्न है।

उपवास, अतिनिद्रा और जागरण

इसी तरह (अनश्नतः) उपवास करना (जाग्रतः) जागना (अतिस्वप्नशीलस्य) अधिक सोना भी हानिकारक है। उपवाससे कुछ लाभ अवश्य हैं परंतु रोगनिवृत्तिके लिये योग्य वैद्यकी निगरानीमें शास्त्रयुक्त रीतिसे उपवास करना लाभदायक हो सकता है। परंतु अन्य समयमें एक बार अधिक भोजन करना और दूसरी बार उपवास करना ये दोनों प्रकार विषमता उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण हानिकारक हैं। अतः योगसाधन करनेके कालमें उपवास और अत्यशन तथा जागरण और अतिनिद्रा भी हानिकारक है। जागरणसे रूक्षता बढती है और अतिनिद्रासे सुस्ती आती है। दोनों हानिकारक हैं। रूक्षता बढनेसे प्राणायाम नहीं हो सकता सिरदर्द आदि पीडा होती है। सुस्ती आनेसे आसन प्राणायाम योग्य रीतिसे नहीं हो सकते। ध्यानधारणाके समय निद्रा आवेगी तो कैसे ध्यान होगा? और सिद्धि भी कैसे मिलेगी? इस तरह इन बातोंका अतिरेक करना जैसे योगीके लिये अयोग्य है वैसे ही स्वास्थ्य बल और दीर्घायुके इच्छुकके लिये भी अयोग्य है

युक्त चेष्टा

अतः मनुष्य आहारविहार और व्यवसायमें आचरणमें, निद्रा और जागरणमें तथा अन्यान्य कार्यव्यापारोंमें योग्य रीतिका व्यवहार सम प्रमाणसे करे। किसी प्रकार विषमता कहीं भी न करे। ध्यान रखे कि जहां विषमता होगी वहां कष्ट होंगे। इस प्रकार करनेवालेको युक्तचेष्ट कहते हैं। सदा सर्वदा युक्तचेष्ट होनेसे सब प्रकारके लाभ होते हैं।

इस तरह सामान्य निर्देश यहां किए हैं जो सब लोगोंको सर्वदा उपयोगी हैं। इतना सामान्य विवेचन होनेके पश्चात्

भी खानपान आदि कैसा करना चाहिये इसका यहाँ थोड़ासा अधिक विचार करना चाहिये। क्योंकि यह बड़ा उपयोगी विषय है अतः इसका यहाँ संकेतमात्र छोड़ देना योग्य नहीं है।

खान-पान

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥५८॥
कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक—
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
अजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल—
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥
भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं तथा ॥६१॥
गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं ।
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥६३॥
युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ६४
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥
(हठयोग १)

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥
(अभियुक्तवचन)

योगसाधन करनेवालोंका भोजन ऐसा हो—

उत्तम स्निग्ध अर्थात् घृतयुक्त मधुर भोजन हो। पेटके दो भाग अन्नसे भरे जायँ एक भाग पानीसे भरा जावे और एक भाग वायुसंचारके लिये खुला रखा जावे। इस तरहके भोजनको मिताहार कहते हैं। इस प्रकारके मित भोजनसे आत्माकी प्रसन्नता होती है। यह भोजन योगियोंके लिये हितकारक है। कड़ु अम्ल तीक्ष्ण लव-णयुक्त (जिसमें बहुत नमक है) बहुत उष्ण, खट्टा भाजी तिलतैल सरसों मद्य मांस (सब प्रकार) बकरा दही छाछ कुलथी बेर खिलपिंड हिंग लसन ये सब पदार्थ योगीके लिये सेवन करना अयोग्य हैं। ये पदार्थ हानिकारक होनेसे इनका सेवन साधक न करे।

जो अन्न एक बार शीत होनेपर पुनः उष्ण किया जाय है वह रूक्ष अर्थात् खुश्की उत्पन्न करनेवाला होनेसे उसका सेवन करने अयोग्य है। अति खट्टा अति नमकीन और शाकयुक्त ऐसा भोजन साधक न करे। योगसाधन करनेवाला दुष्ट लोगोंके देशमें न जावे अग्निके पास बैठना छोड़ दे प्रवास न करे स्त्रीसंग न करे प्रातः स्नान न करे (क्योंकि आसनादि करनेके पश्चात् शरीर गरम हो जाता है अतः पसीना जानेके पश्चात् शरीर ठंडा करके स्नानका समय आता है।) उपवास न करे। इस तरह शरीरको क्लेश होनेयोग्य कोई क्रिया न करे (क्योंकि क्लेश होनेपर प्राणायामादि नहीं हो सकते।) योगसाधन करनेवालेके लिये भोजन करने योग्य पदार्थ ये हैं। गेहूँ चावल जौ साठी चावल श्यामा नीवार आदि शुभ अन्न दूध मीठा दही मक्खन घी, शर्करा मिश्री शहद सोंठ परवल (पटोल) जमीकंद, सूरन रतालू चलाई (अर्थात् चौलाई वास्तुमूल्य भाजी मेथनाद इत्यादि) मूंग अरहर आदिका सेवन करना योग्य है। (दिव्य उदक) वृष्टिसे जो पानी प्राप्त होता है वह पीया जावे। (गंगा नदीका पानी उत्तम है। उत्तम गहरे कुएँ झरनेका पानी योग्य है। अन्यथा कुएँ तालाबसे भरकर पानी छानकर लिया जावे इसकी योग्यता दिव्य उदक जैसी होती है)। योगीका भोजन पुष्टिकारक स्निग्ध अर्थात् घृतयुक्त, गायके दूध आदि पदार्थोंसे युक्त वीर्य बढ़ानेवाला मनको अच्छा लगे ऐसा हो। इससे विपरीत न हो। इस तरहका भोजन करके योगाभ्यास करनेसे वृद्ध व्याधित दुर्बल मनुष्य युवा हो भी अभ्यास करनेसे सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। योग्य रीतिसे अभ्यास करनेसे सिद्धि होती। अभ्यास न करनेसे सिद्धि किस तरह प्राप्त होगी? केवल शास्त्र पढ़नेसे किसीको सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

ऊपर जो दिव्य जल पीनेको कहा है वह दिव्य जल इन्द्रिय उदक है इन्द्रिका उदक समझकर अपूर्व जल

(८) योग-सिद्धि

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

अन्वयः — यदा विनियतं चित्तं आत्मनि एव अवतिष्ठते सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः तदा युक्तः इति उच्यते ॥ १८ ॥ यथा निवातस्थः दीपः न इङ्गते सा उपमा आत्मनः योगं युञ्जतः यतचित्तस्य योगिनः स्मृता ॥ १९ ॥ योगसेवया निरुद्धं चित्तं यत्र उपरमते, यत्र च एव आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

चाहिये । पहिली छुरिका छोड़ देना क्योंकि इसमें मिट्टी उसमें मिली होती है । दूसरी छुरिका जल लेना चाहिये परंतु ऐसी युक्तिसे कि किसी प्रकार मिट्टी आदि उसमें संगृहीत न हो सके । घरमें शुद्धजलसे बनाया पानी भी वैसाही गुणकारी है ।

अब भगवद्गीतामें जो भोजनके निर्देश किये हैं, उनका मनन कीजिये—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
(गी. १७)

आयु बल बल आरोग्य सुख और रुचि बढ़ाने वाला रसयुक्त स्निग्ध पौष्टिक हृदयको आरोग्य देनेवाला भोजन सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होता है । कटु अम्ल नमकीन अति उष्ण तीक्ष्ण रूक्ष दाह करनेवाला भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होता है । इससे दुःख शोक और रोग बढ़ते हैं । पहरके पूर्व तैयार हुआ रसहीन सड़ा हुआ दुर्गंधियुक्त बासी उच्छिष्ट अपवित्र भोजन तामस मनुष्यको प्रिय लगता है । सात्त्विक भोजन स्वास्थ्य बढ़ाने वाला तथा राजस और तामस भोजन अस्वास्थ्य बढ़ाने वाला अर्थात् हानिकारक होता है । इससे कौनसा भोजन साधकको करना योग्य है इसकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है । उपनिषदोंमें कहा है—

अन्नमयं हि सोम्य मनः । आपोमयः प्राणः ।
(छां. उ. ६।५।४)

अन्नमय मन है जलमय प्राण है । इस लिये अन्न और जलके उत्तम रहने पर ही मन और प्राण उत्तम अवस्थामें रहते हैं । किसका मन कैसा है इसकी परीक्षा कौनसा अन्न उसे प्रिय है इससे हो सकती है । जिसको राजस अन्न प्रिय होता है उसकी संपूर्ण मन आदि इन्द्रियें राजस होंगी इसमें संदेह नहीं । अतः यदि किसीका मन शुद्ध करना अर्थात् सात्त्विक बनाना है तो उसको सात्त्विक भोजन सेवन करना उचित है । कोई यह कहे कि मैं राजस या तामस भोजन करूंगा, तो उसको ध्यानमें धरना चाहिये कि उसका मन भी राजस या तामस ही बनेगा । अन्नसे मन बनता है यह बात ध्यानमें धारण करना साधकके योग्य है । इससे मनको सात्त्विक बनानेकी युक्ति प्रत्येक साधकको विदित हो जायगी ।

सात्त्विक अन्न ही सेवन करना चाहिये । परंतु वह परिमित और योग्य रीतिसे सिद्ध किया हुआ होना चाहिये । पथ्यकारक मित आहार होना चाहिये । प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार भी उसमें योग्य और आवश्यक न्यूनाधिक करना योग्य है । इस तरह साधक अपने आहारपानका विचार करे । प्राणायामका विशेष अभ्यास करनेके समय केवल दूध और घृत इतना ही भोजन लेना योग्य है यह बात पूर्व स्थानमें बताई ही है । भोजनके अतिरिक्त अन्य व्यवहार भी धर्ममर्यादाके अनुकूल ही होने चाहिये यह बात इतने विवरणसे पाठकोंके मनमें स्थिर हो चुकी होगी ।

इस साधनकी सिद्धता होनेपर साधककी कैसी उच्च स्थिति होती है इसका वर्णन आगे करते हैं सो अब वाक्य देखें—

जिस समय अच्छी प्रकार स्वाधीन किया हुआ चित्त आत्मामेंही स्थिर होता है। और साधक सपूर्ण कामनाओंसे स्पृहारहित होता है तब उसे योगयुक्त कहते हैं॥ १८॥ जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप चलायमान नहीं होता यह उपमा आत्माके योगका अनुष्ठान करनेवाले स्थिरचित्त योगीके लिये कही गयी है॥ १९॥ योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जहां स्थिर होता है वहां वह आत्माद्वारा आत्माको देखता हुआ, आत्मामें ही संतुष्ट होता है॥ २०॥

भावार्थ— सब प्रकारसे स्वाधीन हुआ चित्त जब अपनी आत्मामें स्थिर होता है जब उसकी सब चंचलता दूर होती है और जब साधक संपूर्ण भोगवासनाओंसे पूर्णतया निवृत्त होता है, तब वह योगमार्गमें उत्तम रीतिसे जमा है, ऐसा हम कहते हैं। इस योगीका मन वैसेही स्थिर होजाता है, जैसे कि वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप हिलता नहीं। इस तरह योगाभ्याससे स्वाधीन हुआ चित्त जिस समय स्थिर होता है उस समय वह आत्माको आत्माद्वारा साक्षात् करके अपने आत्मामें ही संतोषको प्राप्त करता है॥ १८-२०॥

(१८-२) योगसाधन यथायोग्य रीतिसे होनेपर साधकोंको कौनसे अनुभव प्राप्त होते हैं इसका वर्णन अब भगवान् करते हैं। (चित्तं आत्मनि अवतिष्ठते। १८) साधकका चित्त आत्मामेंही स्थिर और स्वस्थ होकर रहता है। साधक जो अपना चित्त पहलेसेही (वि नि यतं) विशेष प्रकारसे नियमपूर्वक अनुष्ठानद्वारा स्वाधीन करता है एकाग्र करता है। अतः उसके चित्तको एक स्थानपर स्थिर होनेका अभ्यास पहलेसे होता है। साधारण मनुष्यका मन अत्यंत चंचल रहता है परंतु जिसने योगसाधनमें सुयोग्य परिश्रम किये होते हैं उसका चित्त संपूर्ण वृत्तियोंका निरोध होनेसे स्थिर हुआ होता है। यह चित्त बाह्य विषयभोगोंसे तो निवृत्तही हुआ है। ऐसी अवस्थामें वह आभ्यन्तरीय आत्मामें स्थिर होता है। चित्त जब बाह्य पदार्थोंसे हट जाता है तब वह अपने अन्दर शान्त रूपसे स्थिर होता है इसीको आत्मावस्थान कहते हैं। अतः योगदर्शनमें कहा है-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ (यो० द० १)

चित्तवृत्तिके निरोध करनेका नाम योग है। जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है तब द्रष्टा आत्माकी अपनेही रूपमें स्थिति होती है। यही बात भगवद्गीतामें यहां कही है। इस समय चित्त आत्मामें रहता है। साधारण समयमें चित्त बाह्य विषयोंमें लगा रहता है। एक क्षणमें एक विषयमें और दूसरे क्षणमें दूसरे विषयमें इस तरह क्षण-क्षणमें चित्तकी दौड़ चलती रहती है। इस दौड़के कारण इसको बड़े परिश्रम होते हैं इस दौड़में कहीं शान्ति नहीं होती रहती है। यही दुःख है। इस दुःखनिवृत्तिका एक मात्र साधन चित्तको अपनी आत्मामें स्थिर करना है। जब वह अपने आत्मामें शान्त होता है, तब इसको अपूर्व आनंदका अनुभव होता है। यह आनंद दौड़के अभावमें है, शान्तिमेंही यह आनंद है। अतः मनुष्य शरीर मन चित्त, इंद्रियोंको केवल शान्त ही रखेगा तोभी उसको विलक्षण आनंद मिलेगा। आनंद प्राप्त करना कितना सुगम है! परंतु करता कौन है? मनुष्यको प्रतीत तो ऐसा होता है कि बहुत हलचल करनेसे बहुत सुख मिलेगा, परंतु वास्तविक अवस्था इसके बिलकुल विपरीत है। मनुष्यका चित्त विविध संकल्पोंमें लगा रहता है उनको वहांसे निवृत्त करके उसका किसी एक स्थानमें स्थिर करनेसे आनंद प्राप्त होगा।

पाठक पूछेंगे कि 'इसका अनुभव क्या है?' प्रतिदिन इस बातका अनुभव मिलता है परंतु कोई देखता नहीं। देखिये अपनी दिनचर्या। जब रात्रिके समय सोते हैं तब संपूर्ण विषयोंसे चित्त हटता है और आत्मामें स्थिर होता है। और जब चित्त स्थिर होता है तब गाढ निद्रा आती है। निद्रासे कितना आनंद सुख और समाधान होता है कितना स्वास्थ्य प्राप्त होता है पुष्टि भी होती है। चित्त स्थिर करनेसे कौनसा आनन्द मिल सकता है इसका विचार पाठक अपनी निद्राकी स्थितिका विचार करके कर सकते हैं। विषयोंका आनंद इसके सामने तुच्छ है। इस समय ऐसा माना है कि विषयोंको छोडकर मनुष्य भिखारी बनता है। इस विषयमें यदि पाठक विचार करें तो उनको पता

आत्मानंदका अनुभव भी मिल सकेगा । इसी लिये कहा है कि (निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः । १८) सब भोगकामनाओंसे विरक्त बनो तभी तो चित्तकी आत्मामें स्थिति हो सकती है । यदि मनमें भोगोंकी स्पृहा शेष रही तो चित्तकी स्थिरता कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकेगी । भोगेच्छाओंको दूर करनेका यत्न ही मुमुक्षुको अपने पास करना है । इस तरह योग सिद्ध होनेके ये चिह्न हैं—

योगसिद्धि	असिद्धि
विनियत चित्तं (चित्तका संयम)	चित्तका असंयम ।
चित्त आत्मनि अवतिष्ठते (चित्तकी आत्मामें स्थिति)	विषयोंमें चित्तका अवस्थान
सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः (सब भोगोंसे विरक्तता)	सब भोगोंकी कामना

सिद्ध पुरुषका कौनसा लक्षण है और जिसको योगसिद्धि नहीं हुई उसकी अवस्था कैसी होती है, इस विषयका विवरण इस तरह यहां हुआ है ।

दीपकी उपमा

(यथा निवातस्थो दीपः न इंगते । १९) जैसे वायु-वेग-रहित स्थानमें रखा हुआ दीप नहीं हिलता अपितु अचल रहता है प्रकाशित होता रहता है उसमें गतिके तेजस्वी होता है वैसेही—

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः । १९

जिसने अपने चित्तका संयम किया होता है उस योगीका चित्त दीपवत् स्थिर होता है और साथ साथ उसकी आत्माकी ज्योति विशेष प्रकाशमान होती है उसकी गति बन्द होती है उसका तेज बढता है और उसे अद्भुत निजानन्द प्राप्त होता है । वे धन्य हैं कि जिनके अन्दर ऐसी निश्चल आत्मज्योति प्रकाशती रहती है और जिनके अन्दर किसी प्रकार विषय-भोग वासनाकी कालिमा या धुआं ज्योतिपर छा नहीं जाता । हरएक साधकको यही अवस्था प्राप्त करनी है । प्रत्येक साधक यत्न करे । यत्न करनेपर उसे अवश्य ही उस स्थानकी प्राप्ति होगी ।

आत्मयोग

इस योगका नाम आत्मयोग है । (आत्मनः योगं युञ्जतः । १९) यह आत्माके योगका अभ्यास है । क्योंकि जब शरीर स्तब्ध होता है, इंद्रियां विषयोंसे निवृत्त होनेके कारण शान्त होती हैं, मनकी चंचलता दूर जाती है चित्त चिन्तन-कर्मसे निवृत्त होता है तब आत्माके बाहरका सब परिवार पूर्णतया निवृत्त हो जानेके कारण केवल अकेली एकही आत्मा रहती है, जिसका परमात्मामें योग होता है । मन आदि सबके हलने चलना स्तब्ध होनेतक यह आत्मयोग किसीभी प्रकार बन नहीं सकता । पाठक यह बात स्मरण रखें कि यह आत्मयोग अन्तमें होता है । पहले शरीरयोग आसनोंद्वारा होता है, इससे शरीरकी चंचलता दूर हो जाती है पश्चात् इंद्रिययोग जिसमें इंद्रियोंको स्वाधीन किया जाता है पश्चात् प्राणयोग जिसका प्राणायामसे सिद्ध किया जाता है, इससे प्राण स्थिर हो जाता है । प्राणकी स्थिरता होनेसे मन स्थिर होता है इसका नाम मनोयोग है । चित्तयोग और बुद्धियोग ये क्रमद्वारा ध्यान-धारणादि साधनसे सिद्ध होनेवाले हैं । जब इन सब योगों-की सिद्धता होगी तभी आत्मयोग करनेकी योग्यता साधकमें आ सकती है । जब पहले सब योग हो चुके होते हैं आत्मयोगका साधन सहज होता है क्योंकि उस अवस्थामें बिना आयास आत्माकी परमात्मामें अवस्थिति होती है । यह आत्माकी परम-गति है ।

आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥ २०

जब योगसाधन द्वारा चित्त विषयोंसे निवृत्त होता है तब इस आत्मयोग करनेका अवसर आता है । इस समय—

आत्मा आत्माको देखती हुई आत्मामें ही संतुष्ट होती है । इस समय इसके सामने ऐसा कोई विषय नहीं होता जिसको यह आत्मासे भिन्न देख सके । अतः यह आत्माको देखता है आत्माका अनुभव करता है आत्माकाही भोग करता है और आत्मामेंही आनंदका अनुभव करता है । अपने अन्दर कितना आनंद है इसका अनुभव इस समय यह करता है । सब आनंद सब सुख सब प्रसन्नता आत्मामें ही होती है इसका आस्वाद यह इस समय लेता है । केवल अखंड संतोष इसको इस समय प्राप्त होता है मानो आनंदका अखंड स्रोत अन्दरही अन्दरसे चलता रहता है । यह न

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः २१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते २२
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा २३

अन्वयः— यत्र यत् तत् बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियं आत्यन्तिकं सुखं वेत्ति यत्र च स्थितः अयं तत्त्वतः न एव चलति ॥ २१ ॥ यं च लब्ध्वा ततः अधिकं अपरं लाभं न मन्यते यस्मिन् स्थितः गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते ॥ २२ ॥ तं दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं विद्यात् सः योगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः ॥ २३ ॥

जिस अवस्थामें जो यह केवल बुद्धिसे ही ग्रहण होने योग्य और इंद्रियोंसे जिसका ग्रहण नहीं हो सकता ऐसा आत्यंतिक सुख अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थिर होनेसे यह योगी आत्मतत्त्व को छोड़कर विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥ और जिसको प्राप्त करनेपर, उससे अधिक दूसरा कोई लाभ है ऐसा वह नहीं मानता, और जिस अवस्थामें स्थिर हुआ योगी बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं होता ॥ २२ ॥ उसको दुःखसंबंधका नाश करनेवाला योग समझना चाहिए उस योगका अनुष्ठान साधकको प्रसन्न चित्तसे और दृढ़ निश्चयसे करना उचित है ॥ २३ ॥

भावार्थ — अपना योगसाधन सिद्ध होनेपर उस सिद्ध पुरुषको ऐसे अद्वितीय अनन्त सुखका अनुभव होता है कि जो केवल बुद्धिद्वारा ही जाना जाता है। इंद्रियोंसे जिसका ज्ञान नहीं होता जिससे अधिक और कोई सुख होगा ऐसा भ्रम ही उसमें अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् इस सुखसे ऐसी तृप्ति हो जाती है कि जिसके बाद अपूर्णताका भास ही नहीं होता, बड़ेसे बड़ा दुःख होनेपर भी जिसका वह आनन्द सुख नहीं हटता अतः वह परमात्मासे कदापि विचलित नहीं होता अपितु वह सदा परमात्मामेंही रहता है। इस आत्मयोगसे ये लाभ होते हैं इसलिये साधक इसका अनुष्ठान प्रसन्नतापूर्वक निश्चयसे करे और अतुल सुखको प्राप्त करे ॥ २१-२३ ॥

कभी लक्षित होता है और न इसमें किसी प्रकारकी मिलावट रह जाती है। इस स्थितिकी अवस्था ठीक जाननेके लिये निम्नलिखित तालिका देखिये—

योगसिद्धि	असिद्धि
निवातस्थ दीपवत् स्थिरता	वायुप्रकम्पित दीपवत् चंचलता
शान्तचित्त	चित्तका असंयम
आत्मयोग	अनात्मयोग
निरुद्ध चित्त	भ्रान्तचित्त
आत्मासे आत्मदर्शन	इंद्रियोंसे विषय दर्शन
आत्मामें संतोष	भोग-सुख असंतोष

आत्मयोग करनेवाले योगीकी कैसी अवस्था होती है और आत्मयोग न करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है इसका निर्णय यहां इस कोष्टकको देखनेसे हो सकता है। अब हम आत्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होनेपर साधकको अनुभव आता है इसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें देखिये—

आत्मयोगकी सिद्धि

(२१-२३) आत्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् उस सिद्ध पुरुषको अनुभव किस प्रकार होता है, वह इन श्लोकोंमें दिखाया है। इस समय उसे आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है। जिस सुखका अनुभव साधारण मनुष्यको नहीं हो सकता ऐसा यह अलौकिक अनिर्वचनीय सुख है। मनुष्यका यह अनुभव है कि वह अपने इंद्रियोंसे ही सुख ले सकता है। पदार्थोंके मिठासका सुख जिह्वासे मिलता है, सुंदर रूपका सुख नेत्रसे अनुभवमें आता है और मृदु स्पर्शका सुख कर्मेन्द्रियसे प्राप्त होता है। इस तरह पाठक तर्क कर सकते हैं कि यह जो आत्मज्ञानसे प्राप्त होनेवाला सुख है वह किस साधनसे अनुभवमें आता है। इस प्रश्नके उत्तरमें गीताका कथन है कि यह (अतीन्द्रिय सुखं) सुख इंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला नहीं है। इंद्रियोंके सिवाही इसका अनुभव होता है। अब इस ज्ञानेन्द्रियकी बाहरके विषयोंकी ओर ही सदा प्रवृत्ति रहती है क्योंकि ये बाहरके विषयोंको ही ले सकती हैं। अतः

आत्मयोगका साधन बाहरके विषय छोड़नेके पश्चात् ही हो सकता है इसलिये जो इन्द्रियाँ बाहर जानेवाली हैं व इससे प्राप्त होनेवाला सुख कदापि प्राप्त कर नहीं सकतीं। इस लिये मन आदि इन्द्रियाँ इस सुखका लाभ करनेमें असमर्थ हैं।

अतीन्द्रिय का अर्थ यह है। इन्द्रियोंकी जहाँ पहुंच नहीं हो सकती वह विषय अतीन्द्रिय कहलाता है। फिर यहाँ शंका हो सकती है कि यदि इन्द्रियोंसे इस सुखका ग्रहण नहीं हो सकता तो कौन इसका ग्रहण कर सकता है? और जो कहा जाता है कि यह अत्यन्त बड़ा सुख है, तो इसका बड़प्पन किसने अनुभव किया? इन प्रश्नोंके उत्तरमें गीताका कथन है कि उस सुखका (बुद्धिग्राह्य सुख) बुद्धिद्वारा अनुभव होता है बुद्धिसे जाना जासकता है, क्योंकि बुद्धि बाह्य विषयोंमें भटकनेवाली नहीं है वह तो आत्माकी सहधर्मचारिणी है वह नीचे उतरकर विषयोंके कीचड़में फसना नहीं चाहती वह तो अन्तर्मुख होकर ही कार्य करती है। जिस समय इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे निवृत्त होती हैं मन भी स्तब्ध होता है और सब चित्त वृत्तियोंका निरोध होता है उस समय सब नीचे प्रवृत्त होनेवाली वृत्तियाँ शान्त होती हैं और पश्चात् यह बुद्धि कार्य करने लगती है। इसका काम इतना ही है कि यह आत्मानन्द को अनुभव करे। इसलिये इस सुखको बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय कहते हैं।

यह सुख (आत्यन्तिकं) आत्यंतिक है इसका अनन्त अपार अपरिमेय शाश्वत सुख कहते हैं। और जो भोगोंसे प्राप्त होनेवाला सुख है वह अल्पतर अल्प और दुःखपर्यवसायी है। क्योंकि इन्द्रियाँ थक जाती हैं इसलिये जो सुख एक समय उनसे ग्रहण हो सकता है वही वैसा दूसरे समय नहीं ग्रहण हो सकता इसलिये सुखकी न्यूनाधिकता हो जाती है। दूसरा कारण भोगविषय भी बदलते रहते हैं, अतः जो विषय एक समय जैसा सुख देता है वैसा सुख वही विषय सदाके लिये दे नहीं सकता। इसलिये इन्द्रियग्राह्य सुख अस्थिर अल्प और परिमित तथा दुःखपर्यवसायी होता है यह तो प्रत्येक मनुष्यका सदा का अनुभव ही है। प्रतिदिन मनुष्यको जो सुख मिलता है वह इसी प्रकारका अस्थिर सुख है। अब जो सुख आत्मयोगकी सिद्धिसे मिलता है वह अखंड सुख है। इसका कारण यह है कि यह तो आत्माद्वारा आत्माका दर्शन करके आत्मामें संतुष्टि प्राप्त करनेसे (गी ६।२०) प्राप्त होनेवाला सुख है। आत्मा स्वयं सदा एकरस है सदा एकसी रहती है, उसमें अदलबदल नहीं होता। अखंड सत्य स्वरूपवाली आत्मा है इसलिये इससे प्राप्त होनेवाले सुखमें अदलबदल नहीं होता। बुद्धि भी आत्माकी सहधर्मचारिणी होनेसे उसका सामर्थ्य भी अखंडही रहता है अर्थात् आत्मा एकरस है और बुद्धि भी अबाधित है इस कारण इन्द्रियोंके और भोगोंके कोई दोष यहाँ इस सुखको कम नहीं कर सकते। यहाँ आत्माका ज्ञान बुद्धिद्वारा करना होता है, इसी कारण इसका सुख अपरिमेय अनन्त और अबाधित है। इस विचारसे पाठकोंको ज्ञात हो सकता है कि भोगसुख अल्प क्यों और आत्मसुख अपरिमित क्यों। इसीलिये मनुष्यको आत्मसुख प्राप्त करना आवश्यक है। उसका समाधान भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सुखसे नहीं हो सकता।

यह आत्मसुख किसी बाहरके पदार्थ मिलनेसे प्राप्त होनेवाला नहीं है। अपनी आत्माका निजरूप ही आनन्दमय है इस लिये यह स्वयं आत्मामें आत्माके द्वारा आत्माको ही प्राप्त होता है। इसमें किसी बाह्य पदार्थका व्यवधान न होनेसे यहाँ शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है। इसलिये इस की अपूर्वता कुछ और ही है। इसलिये कहा है कि इस आनंदके प्राप्त होनेसे इससे बढ़कर कोई आनन्द है ऐसा नहीं प्रतीत होता (गी ६।२२) क्योंकि यही अन्तिम आनंद है इससे अधिक और कौनसा सुख होगा? आत्माके होनेसे ही सब अन्य सुख प्राप्त होते हैं और बिना किसी अन्य पदार्थके आश्रयके यह आत्मसुख मिलता है। इस लिये इसका सुख निरपेक्ष सुख है और सब अन्य सुख सापेक्ष होते हैं। इस कारण इससे अधिक आनंद देने वाला कोई दूसरा सुख नहीं है।

इस आत्मयोगमें (दुःखसंयोगवियोगं) दुःखका जिससे संयोग होना संभव है उसीका वियोग होता है। किससे दुःखका संयोग मनुष्यको होता है? इस विषयमें गीतामें पहले कहा ही है कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
(गी २।१४)

(९) आत्म-योगका साधन

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

भोगोंके इंद्रियोंके साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण सुख दुःख देनेवाले होते हैं। भोगोंका इंद्रियोंसे संबंध होनेसे किसी समय सुख और किसी समय दुःख होता है। यही दुःखसंयोग है। यह दुःखका संयोग हुआ इस बातका ज्ञान मनसे मिलता है। अर्थात् भोग इन्द्रियका संबंध और मन इनका संबंध होनेसे यह दुःखका ज्ञान होता है। इसीका नाम दुःखसंयोग है।

आत्म-ध्यानमें यह दुःखसंयोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसके अनुष्ठानके समय ही इंद्रियाँ विषय भोगोंसे निवृत्त हुई होती हैं और मन भी स्वतन्त्र होता है। इसलिये दुःखके कारणके समीप उपस्थित होनेपर भी उस दुःखके साथ संबंध करनेवाला कोई साधन न रहनेके कारण दुःखके साथ संयोग नहीं होता। इस कारण इस योगको (दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। गी. ६।२३) दुःखके संयोगका वियोग करनेवाला कहा है। अतः इस योगकी सिद्धि होनेपर कोई क्लेश इसको सता नहीं सकते। इसलिये कहा है—

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥
(गी. ६-२२)

इस आत्मध्यानकी सिद्धि होनेपर बड़े दुःखके प्राप्त होनेपर भी यह सिद्ध पुरुष विचलित नहीं हो सकता। क्योंकि कितना भी बड़ा दुःख इसके समीप क्यों न आजाय इसका संबंध उस दुःखसे हो ही नहीं सकता। दुःखोंके पास आनेपर भी यह आत्मस्थ रहता है। क्योंकि जिनसे दुःखका संबंध होता है उनका आना जाना है उनका यहाँ ही स्थगित हुआ रहता है।

यत्र स्थितः अयं तत्त्वतः नैव चलति। (२१)

जिस सुखरूप अवस्थामें स्थिर होनेपर यह योगी तत्त्वसे ही उसको कभी विचलित नहीं होने देता। किसी कारणसे भी यह ब्रह्मभावसे दूर नहीं होता। कोई अवस्था मनको आत्मासे पृथक् नहीं कर सकती। वह सदा आनंदमें रहता है, आत्माका उपभोग करता है, आत्माको देखता है, उसे आत्मा ही होता है इसके अन्दर बाहर ऊपर नीचे सब ओर आत्मा ही भरा होता है। फिर वह आत्मासे विचलित भी कैसे हो सकता है?

विचलित होनेका हेतु अधिक सुख प्राप्त करनेकी इच्छा ही है। मनुष्य एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान जाता है इसका कारण यह है कि उसको उस दूसरे स्थानमें पूर्व स्थानकी अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त होगा ऐसा प्रतीत होता है। यदि ऐसा प्रतीत न हो, तो वह पहला स्थान छोड़ता ही नहीं। अब आत्मयोग करके जिसने आत्मप्राप्ति की है उसको ऐसा आनन्द मिलता है कि जिससे अधिक और कोई आनन्द नहीं है। यदि इसका सबसे अधिक आनन्द प्राप्त हुआ तो फिर वह उस अवस्थाको छोड़ता ही क्यों? क्योंकि अन्य सुख इस आत्मसुखकी अपेक्षा कम हैं, हीन हैं। अतः (यत्र स्थितः तत्त्वतः न चलति) जो आत्मामें स्थिति प्राप्त होनेपर वहाँ अपरिमित और अद्भुत आनंद प्राप्त होनेके कारण वहाँ ही स्थिर रहता है और वहाँसे हटकर दूसरे किसी अवस्थामें स्थित होनेके लिये उसका चित्त नहीं चाहता। अतः कोई कारण नहीं है जिसके लिये यह वहाँसे विचलित होवे। उसके सामने किसी प्रकारका दुःख ही नहीं है। सांसारिक सुख उसके लिये तुच्छ हैं इन सुखोंके परे जो महानन्द है वह उसके अन्दर ही उसको अंदरसे प्राप्त होता है। इसलिये उस अवस्थाका त्याग वह क्यों करेगा? इसलिये कहा है कि उस अवस्थाका लाभ करनेपर वह वहाँसे कदापि विचलित नहीं होता।

यह आत्मध्यान सब योगोंमें श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येकको इसका अनुष्ठान नियमपूर्वक करना चाहिये। इस आत्मयोगका साधन कैसे किया जाता है इस बातका व्याख्यान भगवान् अगले श्लोकोंमें करते हैं

अन्वयः— सङ्कल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा मनसा एव इन्द्रियग्रामं समन्ततः विनियम्य ॥ २४ ॥ धृतिगृहीतया बुद्ध्या शनैः शनैः उपरमेत् मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत् ॥ २५ ॥ चञ्चलं अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति ततः ततः एतत् नियम्य आत्मनि एव वशं नयेत् ॥ २६ ॥ प्रशान्तमनसं शान्तरजसं अकल्मषं ब्रह्मभूतं एनं योगिनं उत्तमं सुखं उपैति हि ॥ २७ ॥ एवं सदा आत्मानं युञ्जन् योगी विगतकल्मषः ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं सुखेन अश्नुते ॥ २८ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको पूर्णतया छोडकर मनसेही इन्द्रियसमूहको सब ओरसे अच्छी प्रकार वशमें करके, धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः शनैः विषयोंसे उपरत होवे और मनको आत्मामें स्थिर करके दूसरा कोई भी विचार न करे ॥ २४ २५ ॥ चञ्चल और अस्थिर मन जहां जहांसे बाहर जाने लगे वहां वहांसे उसे रोककर आत्मामें ही वश करके रखे ॥२६॥ इस तरह जिसका मन शान्त रजोगुणसे रहित और पापरहित हुआ उस ब्रह्मरूप बने योगीको उत्तम सुख निश्चयसे प्राप्त होता है॥२७॥ इस रीतिसे सदा आत्मयोगका अभ्यास करनेवाला योगी पापोंसे छूटकर ब्रह्मसंयोगसे अत्यंत सुख आनन्दसे प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ— संकल्प और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली वासनाएं सारीही छोड देवे। अपने मनसे अपने सब इंद्रियोंको अपने आधीन करे बुद्धिसे सब विषयोंसे उपरत होवे। मनको आत्मामें स्थिर करे और दूसरा कोई विचार मनमें न लावे। मन चञ्चल और अस्थिर है वह जहांसे बाहर भागने लगे, वहांसे ही उसको पकडकर अपनी आत्मामें ही स्थिर करनेका यत्न करे। इस तरह जिसका मन स्थिर और भोगवासनासे रहित हुआ वह योगी ब्रह्मरूप होता है और इसको उत्तम सुख प्राप्त होता है। वह योगाभ्यासी अपने सब पापोंसे मुक्त होकर ब्रह्मसंयोगसे प्राप्त होनेवाला अत्यंत सुख सहजहीसे प्राप्त करता है ॥ २४-२८ ॥

१ (२४-२८) यहां आत्मयोगके साधन करनेकी सुगम रीति बतायी है। और इस साधनसे प्राप्त होनेवाला फल भी अन्तमें कहा है।

कामना त्याग

पहला अभ्यास कामना त्याग का है। मनुष्य भोगके अथवा अन्यान्य विषयोंके संकल्प करता है, इन संकल्पोंसे उसके मनमें अनेक कामनाएं होती हैं। ये कामनाएं मनको चञ्चल और अस्थिर करती हैं। अतः संकल्प करना छोड देना चाहिये और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका भी त्याग करना चाहिये (कामान् अशेषतः त्यक्त्वा। २४) इन कामनाओंका त्याग निःशेष होना चाहिये। थोडी भी कामना शेष नहीं रहनी चाहिये। अन्यथा वह अपना विस्तार करके मनको अधिक चञ्चल करेगी। कामना त्यागका अभ्यास साधक ऐसा करे। जो कामना जो विचार जो संकल्प मनमें उठे उसका त्याग करे उसकी अपने लिये आवश्यकता नहीं ऐसा मानकर उसको हटा देवे। इस तरह कामनात्यागका अभ्यास होनेके पश्चात् मनमें विचार तरंग उठना ही बंद हो जायगा।

इंद्रिय-शम

इस अभ्यासके साथ साथ इंद्रिय-शमनका अभ्यास भी करना चाहिये। मनसे अपने सब इंद्रियोंको सब ओरसे संयमित करना चाहिये। कर्मेन्द्रियोंका चलनवलन पूर्ण बंद करना चाहिये। कोई कर्मेन्द्रिय किसी प्रकार भी गति न करे। ज्ञान इंद्रिय भी अपने ज्ञानग्रहणसे विरक्त होवे। यह सब मनसेही करना चाहिये अर्थात् किसी प्रकार दूसरे साधनोंका उपयोग नहीं करना चाहिये। मनसे ही सबको निवृत्त और संयमित करना योग्य है।

बुद्धिका धैर्य

इस तरह ये दोनों अभ्यास सिद्ध होने पर मनमें संकल्प नहीं उठते विविध कामनाओंकी लहरें हलचल नहीं मचातीं और सब इंद्रियें शान्त और स्थिर हो जाती हैं। इस प्रकारकी स्थिरता प्राप्त करनी चाहिये। यह स्थिरता प्राप्त होते ही आगेका अनुष्ठान सहज हो जाता है। बुद्धिमें धैर्य धारण करके अर्थात् किसी प्रकार न डरते धीरे धीरे सब विषयोंसे उपराम होवे। यहां पाठक पूछेंगे कि यहां धैर्य

का क्या कार्य है ? जो अभ्यास करेंगे उनको पता लगेगा कि जब धारणा करते समय तथा इन्द्रियाँ शान्त होने लगती हैं तो कई प्रकारके भय प्रतीत होते हैं। उनसे डरना नहीं चाहिये। वे भय ऐसे होते हैं कि यदि विचार बन्द हो जाय तो फिर मैं विचार कर सकूंगा या नहीं ? यदि इन्द्रियाँ स्तब्ध होजाय तो फिर मैं कार्य कर सकूंगा या नहीं इत्यादि अनेक प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं। इनका भय कुछ अल्पकाल ही होगा और सद्गुरुके पास रहकर अभ्यास करना हो तो उनकी सहायतासे भी ये भय दूर हो सकेंगे। अतः भय रहित बुद्धिसे यह अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्याससे मेरा कल्याण ही होगा कभी अहित नहीं हो सकता। विषयोंको छोडकर परमात्माके संनिध जानेसे किसीका भी अहित नहीं होगा ऐसा विचार सुदृढ करके बुद्धिको धैर्य देकर अपने मनको बाहरसे शान्त रखना योग्य है।

बाहरसे उपराम हुआ मन आत्मामें स्थिर करना चाहिये और इस समय कोई दूसरा विचार मनमें नहीं लाना चाहिये अर्थात् मन विचार रहित करना चाहिये। इस तरह साधक को इस समय अपना मन सुस्थिर करनेका यत्न करना योग्य है। यदि किंचित् स्थिरता मनमें आजाय, तो यह नहीं समझना चाहिये कि मन स्थिर हो चुका। क्योंकि मन ऐसा है कि वह किस समय खिसक जायगा इसका कुछ पता नहीं अतः उसको पुनः पुनः बाहरसे वापस लाना चाहिये।

शिवसंकल्प

(मनः यतः निश्चरति ततः नियम्य) मन जहांसे खिसक कर बाहर भाग जाय वहांसे उसको पकडकर वापस लाना चाहिये। यह वापस लानेका अभ्यास बडे महत्त्वका है। इसलिये मन वश आता है और वशमें होता है। इस विषयमें वेदका कथन है—

(ऋषिः- बन्धवादयो गौपायनाः। देवता-मन आवर्तनम्)

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ॥१॥
यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ॥२॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् ॥३॥
यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ॥४॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ॥५॥
यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ॥६॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ॥७॥
यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ॥८॥
यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ॥९॥
यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ॥१०॥
यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ॥११॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१२॥
(ऋग्वेद १०।५८)

जो साधकका मन बडा प्रयत्न करनेपर भी वशमें नहीं रहता और दूर दूर भागता रहता, है किसी समय स्वर्गमें, किसी समय पृथ्वीपर किसी समय चारों दिशाओंमें समुद्रमें और महासागरमें किसी समय किरणोंमें और औषधि वनस्पतियोंमें किसी समय सूर्यमें उषामें, पर्वतोंमें किसी समय विश्वमें दूर दूरके स्थानोंमें किसी समय भूतकालमें अथवा भविष्यकालमें भटकता रहता है, उसको मरनेके कारणसे वापस लानेके लिये और उसे आत्मामें स्थिर करनेके लिये मैं वापस लाता हूँ। इस तरह अपने मनको वापस लाना चाहिये। जब मन भाग जावे तभी उसको पकडकर वापस लाना चाहिये। इस तरह उसका पीछा करनेसे वह वशमें रहना सीखता है और इधर उधर जानेका यत्न नहीं करता। मनको स्वाधीन करनेका यही उपाय है। गीतामें इसी बातको आगे कहा है-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गी० ६।३५)

निःसन्देह मनका संयम करना कठिन है परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे उसका संयम हो सकता है। अभ्यासका अर्थ इस तरह पुनः पुनः मनको वापस लाना है और वैराग्यका अर्थ विषयोंसे उपराम होना है। यही एकमात्र उपाय है। पूर्वोक्त वेदमन्त्रके सूक्तका ऋषि भी गौपायन है। गो नाम इन्द्रियोंकी (पा) रक्षा करनेवाला गौपायन कहलाता है। इस सूक्तका देवता मन-आवर्तन है। इसका अर्थ मनको वापस लानेका अभ्यास करना है। इससे पाठकोंका निश्चय होगा कि इससे

सुस्थिर करनेका एक मात्र उपाय नहीं है। पाठक यहां देखें कि जो उपाय अर्जुनसे कहा है वही गीतामें कहा है। योगदर्शनमें भी—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो. द.)

“ अभ्यास और वैराग्यसे मनका निरोध हो सकता है। यह अभ्यास मनको धारण करना ही है। जहां मन जाय, वहांसे उसको वापस लाकर आत्मामें स्थिर करना चाहिये। यही अभ्यास है। यह अभ्यास योग्य रीतिसे नियमपूर्वक किया जाए तो छः मासमें ही सिद्धि हो सकती है। इस विषयमें कहा है—

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥
(म. भा. आश्वमे. अनुगीता १९।६६)

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥१९॥
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥२०॥
(अमृतनादोपनिषद्)

इस तरह नित्य अभ्यास करनेवालेको तीन माससे छः मास तक की अवधिमें सिद्धि प्राप्त होती है। जिसका अभ्यास तीव्रतासे नहीं होता उसको सिद्धिके लिए थोड़ा समय अधिक लगेगा। परंतु यह प्रत्येक मनुष्यके भिन्न प्रकृति पर और साधन की तीव्रतापर अवलंबित है। इस तरह योग्य अभ्यास होनेपर सिद्धि अवश्य होगी।

सिद्धिका स्वरूप

सिद्धि होनेका तात्पर्य क्या है? सिद्धि प्राप्त होनेके लक्षण कौनसे हैं? ऐसे प्रश्न बारबार पूछे जाते हैं। इनका उत्तर गीताने इस तरह दिया है। जिसको सिद्धि प्राप्त होती है (प्रशान्तमनः) उसका मन विशेष शान्त होता है। (शान्तरजसम्) उसमें रजोगुण किंवा भोगेच्छा कम होती है। रजसे होनेवाली लोभ क्रोध उन्मत्तता असमाधान आदि होते हैं अतः जिसका रजोगुण शान्त हुआ होता है उसका स्वभाव क्रोधरहित, भोगलालसासे रहित और प्रेम पूर्ण होता है। (अ-कल्मषः) वह निष्पाप बनता है क्योंकि पाप की संभावना रजोगुणसे ही होती है—

रजसो लोभ एव च। (गी. १४।१७)
रजसस्तु फलं दुःखम्। (गी. १४।१६)
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गी. ३।३७)

रजोगुणसे लोभ और दुःख होता है। काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं व वह भोगी और पाप करानेवाले हैं। ये मनुष्यके वैरी हैं। इस तरह रजोगुणसे पाप होता है, और जब मनुष्यका रजोगुण शान्त (शान्तरजसम्) होता है तब वह स्वभावतः ही निष्पाप बनता है। इस समय उसकी पापकी ओर प्रवृत्ति भी नहीं होती। अतः इस का नाम (विगतकल्मष) जिससे पाप दूर हुए हैं ऐसा होता है। जिसका काम शान्त हो चुका जिससे रजोगुण दूर हो चुका उसके पास पाप आही नहीं सकता। इस समय वह (ब्रह्मभूतः) ब्रह्मके समान हुआ होता है। जैसे लोहा अग्निमें रहनेसे अग्निके समान होता है इसी तरह आत्मयोगसे इसका (ब्रह्मसंस्पर्शः) ब्रह्मके साथ उत्तम स्पर्श होता है और ब्रह्मके साथ स्पर्श होनेसे ब्रह्मके गुणधर्म इसमें बढ़ने लगते हैं और यह ब्रह्मरूप बन जाता है। साधारण मनुष्य बद्धरूप होते हैं परंतु यह आत्मयोगी ब्रह्मरूप बनता है। ब्रह्मरूप बननेका अर्थ परमश्रेष्ठ सामर्थ्यसे युक्त बनना है। अतः [अत्यन्तं सुखं अश्नुते] अनंत अनंत शाश्वत सुख इसको प्राप्त होता है। यही अंतिमसिद्धि है। अब इसकी तुलना कीजिये—

मुक्त पुरुष	बद्ध पुरुष
शान्त मन	अशान्त मन चंचल चित्त
शान्तरजस	रजोगुणका प्रकर्ष
अकल्मष विगतकल्मष।	पापी कल्मषी
निष्काम	सकाम
ब्रह्मसंस्पर्श	भोगविषयस्पर्शी
अत्यन्तं सुखम्	अल्पमात्र सुखम्
आत्मयुक्त	भोगयुक्त
योगी पुरुष	अज्ञानी अयोगयुक्त
ब्रह्मभूत	भोगविषयभूत
सुखं अश्नुते	दुःखमश्नुते
उत्तमं सुखं	परमं दुःखं

आत्मयोग करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है और भोगयोग करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है इसका विचार पाठकोंके सम्मुख इस कोष्टकसे स्पष्ट हो सकता है।

(१०) आत्मौपम्य-दृष्टि

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वयः— योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः आत्मानं सर्वभूतस्थं च आत्मनि ईक्षते ॥ २९ ॥ यः मां सर्वत्र पश्यति सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि सः च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥ यः एकत्वं आस्थितः सर्वभूतस्थितं मां भजति सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि, मयि वर्तते ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! यः आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति सः योगी परमः मतः ॥ ३२ ॥

जिसकी आत्मा योगयुक्त हुई है वह सर्वत्र समदृष्टिसे देखता है अर्थात् वह आत्माको सब भूतोंमें और सब भूतोंको आत्मामें देखता है ॥२९॥ जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है उसकी दृष्टिमें मैं कभी नष्ट नहीं होता और वह मेरी दृष्टिमेंसे भी कभी नष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥ जो इस एकत्वपर स्थिर हुआ योगी सब भूतोंमें रहनेवाले मुझ (ईश्वर) को भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझ (ईश्वर) में ही रहता है ॥३१॥ हे अर्जुन ! जो अपने समान सर्वत्र सुख या दुःख सबको समान देखता है वह योगी परमश्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३२ ॥

मनुष्यका जन्म इसी कार्यके लिये है । इस आत्मयोगके फलके विषयमें उपनिषदोंका जो कथन है उसका अब हम विचार करते हैं—

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
> एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥
> नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
> मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥
> तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ॥ १४ ॥
> (कठ उ ५)

> एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
> मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
> नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
> मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

> तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
> ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥
> (श्वेता उ ६)

> अक्षय्य [illegible] अनामय सुखमश्नुते ॥
> (मैत्रा [illegible])

> सुखमक्षयमश्नुते ॥ (मैत्रा [illegible])
> अक्षय्यमपरिमितं सुखमाक्रम्य ॥ (मैत्रा [illegible])

सबको अपने वशमें करनेवाला सब भूतोंके अन्दर रहनेवाला जो एक आत्मा है जो एक रूपको अनेक रूपोंमें विभक्त करता है उसको जो अपनी आत्मामें देखते हैं उनको शाश्वत सुख मिलता है किन्तु दूसरोंको नहीं मिलता। जो अनित्योंमें नित्य और चेतनोंमें जो एक चेतन अनेकोंके जो एक सबकी कामनाएं पूर्ण करता है उसको अपनी आत्मामें जो देखते हैं उनको शाश्वत शान्ति मिलती है । इस सुखको अवर्णनीय परमसुख कहते हैं । यह सुख अक्षय क्षयरहित अव्यय अपरिमित और शाश्वत है ।

इस तरह शाश्वत सुखका वर्णन उपनिषदोंमें है । यही सुख आत्मयोगसे प्राप्त होता है । इस आत्मयोगसे समता उत्पन्न होती है इसका वर्णन आगेके श्लोकोंमें देखिये—

भावार्थ— जिसकी आत्मा योगसाधनद्वारा सिद्ध बनती है उसकी दृष्टि सर्वत्र सम होती है। वह सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं ऐसा देखता है। जो सबमें ईश्वर है और ईश्वरमें सब पदार्थ हैं ऐसा देखता है वह कभी ईश्वरको भूलता नहीं और ईश्वर भी उसको कभी भूलता नहीं अर्थात् दोनों एक दूसरे को सर्वदा प्रत्यक्ष होते रहते हैं ॥ जिसको इस तरहका अनुभव आ चुका है और जो सर्व भूतोंमें अवस्थित ईश्वरको भजता है, वह योगी सब प्रकारका व्यवहार करनेकी अवस्थामें भी सदा ईश्वरमें ही रहता है ॥ जैसा अपनेको सुखदुःख होता है, वैसाही दूसरोंको भी होता है ऐसा समभाव जिसमें स्थिर हो चुका है और जो अपनी आत्माके समान सबको देखता है वह योगी अत्यन्त श्रेष्ठ है। २९-३२

अपनी उपमा

(२९-३२) इन श्लोकोंमें आत्मौपम्य दृष्टिका महत्त्व बताया है। आत्मसम्य दृष्टि का अर्थ अपनी उपमासे सबकी ओर देखना है। अपनी आत्माकी उपमा सबको देना और इस कसौटीसे सब व्यवहारोंकी परीक्षा करना। जैसा मुझे सुख चाहिये वैसाही सबको चाहिये जैसा मुझे दुःख नहीं चाहिये वैसा किसीको दुःख नहीं चाहिये इत्यादि बातें आत्मौपम्य दृष्टिसे सर्वत्र देखनेका भाव बताती है। अपनी आत्मा जैसी मुझे प्रिय है वैसी ही सबको अपनी अपनी आत्मा प्रिय है। यह भाव सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये यही बताती है।

साधारण मनुष्योंमें यह दृष्टि नहीं होती। दूसरोंका घात पात करके अपना सुख बढानेका यत्न जो करते हैं, उनमें समदृष्टिकी संभावना नहीं है। जो आत्मवत् सर्वभूतोंको देखता है वह कभी दूसरोंका घातपात कर नहीं सकता। क्योंकि वह उस समय अपनी उपमा देकर उस कर्मकी परीक्षा करता है। वह अपने आपसे पूछता है कि क्या अपना नाश होनेसे मुझे आनंद होगा? इसका उत्तर आनंद नहीं होता यही है। अतः अपने समान दूसरोंको भी उनका नाश होनेसे सुख नहीं होता यह बात वह जानता है। और वह कभी दूसरोंका घातपात करनेकी ओर प्रवृत्ति नहीं करता इसका नाम आत्मवज्ज्ञान है। यह भाव मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है।

मनुष्यसमाजके जो सब दुःख दरिद्रता क्लेश और विपत्तियाँ हैं वे सबके सब इस आत्मवज्ज्ञानके अभावके कारण हैं। जगत्के व्यवहारमें प्रायः सब मनुष्य अपने समान दूसरोंको देखते ही नहीं। अपितु इसके विपरीत देखते हैं। वे मानते हैं कि अपना नाश देखनेसे यद्यपि दुःख बहुत होवे तथापि मैं दूसरोंका नाश करके अपना सुख बढाऊंगा। ऐसी आसुरी प्रवृत्ति है देखिये। यह आसुरी प्रवृत्ति दूसरोंके विषय भावके कारणही होती है और यही सब अनर्थोंका मूल है।

जब एक मनुष्य दूसरोंका नाश करनेके लिये प्रवृत्त होता है तब दूसरा भी इसका नाश करनेका विचार करता है। इस तरह सब सार्वजनिक व्यवहारोंमें स्वार्थी लोगइच्छासे चलनेवाले सब व्यवहारोंमें यह स्वाभाविक क्रम बढता जाता है जिससे वैमनस्य बढते हैं और झगडोंमें पडना पडता है। जब मनुष्य अपने सुखके लिये दूसरोंका नाश करता है तब वह भी इससे वैर करता है। इसी तरह जब एक देशके लोग दूसरे देशको पादाक्रान्त करते हैं और उस देशको स्वाधीनताके मार्गसे चलनेमें विघ्न पैदा करते हैं तब वे पददलित लोग इन राज्याधिकारियोंसे द्वेष करते हैं। यह युद्ध चलता रहता है द्वेष बढता जाता है, एकका विचार दूसरेके ध्यानमें नहीं आता ऐसी विरुद्ध अवस्था आती है। और अन्तमें दोनों कट मरनेको तैयार हो जाते हैं। इस प्रकारके युद्ध इस जगत्में चल ही रहे हैं। हरएक स्थानमें यही लडाई लगे हैं। इसका उपाय क्या है? आज जगत् ऐसा प्रश्न बारबार पूछती है। इसका उत्तर गीताने दिया है। आत्मवद्भावसे सबको समान देखो। यही इसका उत्तर है।

यह उत्तर ठीक है परंतु अपनी आत्माके समान सबको सम दृष्टिसे देखना अति कठिन कर्म है क्योंकि मनुष्य में ममत्व है। यह मेरा और यह मेरा नहीं ऐसा भाव मनुष्यमें होता है। इस कारण मनुष्यके अन्दर समबुद्धि स्थिर होना कठिन है। यह सुख मेरा है और यह दूसरेका है यह द्वैतबुद्धि सदा रहती है। इसकी आसक्ति रहनेतक समबुद्धि उदय नहीं हो सकती। अपने सुखके समान दूसरेके सुखको देखना अथवा दूसरेके दुःखके समान अपने दुःखको मानना दोनोंमें कोई भेदभाव न मानना अत्यंत कठिन है। सर्वा सुख त्याज्य है इसमें न तो कोई सुख मेरा है और न कोई दूसरेका है सबके सब त्याज्य हैं ऐसा जिस समय माना जायगा उसी समय

(११) मनकी चञ्चलता

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच हे मधुसूदन! यः अयं योगः त्वया साम्येन प्रोक्तः, एतस्य स्थिरां स्थितिं चञ्चलत्वात् अहं न पश्यामि ॥ ३३ ॥ हे कृष्ण! मनः बलवत् दृढं चंचलं प्रमाथि अस्ति हि तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोला हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समत्वभावसे होनेवाला कहा है, इसकी स्थिर स्थिति होनेका उपाय मनके चञ्चल होनेके कारण मैं नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥ हे कृष्ण! यह मन बलवान् बड़ा दृढ चञ्चल और मथनेवाला है। मैं तो उसका निग्रह करना वायुके समान अति दुष्कर मानता हूं ॥ ३४ ॥

भावार्थ— मन अत्यंत चंचल है बड़ा हठीला है अत्यंत प्रबल है बड़ा सामर्थ्यवान् है सबको मथनेवाला है। जैसा वायुको अपने आधीन करना अत्यंत कठिन है किंवा असम्भव है उसी प्रकार मनको स्थिर और स्वाधीन करना असम्भव है। और जबतक मन स्वाधीन नहीं होता तबतक समबुद्धि भी कैसे बनेगी? और यदि समबुद्धि नहीं बनी तो वह योग भी कैसे हो सकेगा? तात्पर्य मनकी चञ्चलताके कारण यह योग होना असम्भव है ॥ ३३-३४ ॥

सब पदार्थोंके विषयमें समबुद्धि होना असम्भवनीय है। इससे भी ऊपर चढ़कर जब सभी पदार्थ परमेश्वरके हैं ऐसा माना जायगा तब तो उनके ही विषयमें समबुद्धि स्थिर हो जायगी परंतु हमारा मन एसा प्रबल और हठीला है कि वह सर्वात्मभाव उसमें स्थिर नहीं होता। अतः इसकी चंचलता दूर करना आवश्यक है। अर्जुनके मनमें भी यह शंका उठी और वह यही प्रश्न पूछता है। पाठक! अब यही मनोरंजक संवाद देखें—

[३३-३४] इन श्लोकोंमें मनकी चञ्चलताके वर्णनके साथ साथ मनकी शक्तियोंका भी उत्तम वर्णन है। मन अत्यंत चञ्चल है इसलिये उससे साम्ययोगका अनुष्ठान होना कठिन है यह अर्जुनका कथन है। (साम्येन) समबुद्धि रख कर जो [योगः] कौशलयुक्त कर्म किया जाता है उसका नाम साम्ययोग है। यह साम्ययोग तब सिद्ध होगा जब मन स्थिर रहेगा।

कोई बुनावटका कार्य करता हो कोई कारीगरी का बुनाईका कार्य करता हो चित्रकारी मूर्तिनिर्माणका कार्य अथवा किसी प्रकारकी कलाकी योजना करनी हो तो ऐसे कौशलपूर्ण कार्योंके लिये मनकी स्थिरताका रहना अत्यंत आवश्यक है। मन चंचल रहनेकी अवस्थामें ये कार्य ठीक प्रकार हो ही नहीं सकते। यदि ये कार्य मन चंचल रहने के समय नहीं हो सकते तो इनसे कई गुणा उच्च कर्म कैसे हो सकते हैं? व्यवहार भी जहाँ मनकी चंचलताके कारण बिगड़ जाता है तब परमार्थ बिगडेगा इसमें क्या संदेह हो सकता है? इसलिये यहां कही हुई अर्जुनकी चिन्ता कि यह योग मनकी चञ्चलताके कारण नहीं होता यह बिलकुल सत्य है। और यह त्रिकालाबाधित सत्य है। मन स्थिर किये बिना मानवी उन्नतिका कोई प्रयत्न सिद्ध नहीं हो सकता।

मन (चञ्चलं) चंचल है अस्थिर है (बलवत्) बलवान् है, सामर्थ्यवान् है (दृढं) सुदृढ है बड़ा प्रबल है और (प्रमाथि) मथनेवाला है सबको मथनेवाला है अतः इसका (तस्य दुष्करः निग्रहः) निग्रह करना बड़ा कठिन कार्य है। यह वर्णन यहां मनका है। इसके विषयमें इससे पूर्व वेद और उपनिषदोंमें मनका क्या वर्णन है, वह देखना चाहिये।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। (ऐ उ ५।२)
प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतम्। (कौ उ २।१)
मनो नाम इच्छावरोधिनी। (कौ उ २।१)
मन एव तेजः। (छा उ २।१२)
मनो ज्योतिः। (बृ ३।९।१ । ११ १०)
मनसा सर्वाणि ध्यानान्याप्नोति। (कौ उ १।७)

गच्छतीव च मनः । (केन उ १)
मनो मनः । (छां उ १।७।३)
मनो ब्रह्म । (छां उ ३।१८।१ बृ ४।१।६)
(तै उ ३।४।१)
अन्नमय हि सोम्य मनः । (छां उ ६।५।४)
प्राणबन्धन हि सोम्य मनः । (छां ६।८।२)
मनो ह्यात्मा मनो ब्रह्म । (छां ७।३।१)
आत्मतो मनः । (छां उ ७।२६।१)
मनोऽस्य दैवं चक्षुः । (छां ८।१२।५)
दैवं मनः । (बृ १।१९)
मनस्त वै मनः । (बृ १।१।२)
सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एकायतनम् । (बृ २।४।११)
रथः शरीरं मनो नियन्ता । (मै उ० २।६)
एकत्व प्राणमनसोः । (मै उ ६।२५)
मनो हि द्विविध प्रोक्तं । (मै उ ६।३४, ब्रह्मबिं उ १)
मन एव कारणं बन्धमोक्षयोः । (मै उ ६।३४
(ब्रह्मबिं २)
मनो रथः । (प्राणा उ ४)
मनः ऐश्वर्य । (महा २)
निर्विषयं मनः कार्यं । (ब्रह्मबिं ३)
मनसा मन्थानभूतेन । (ब्रह्मबिं २)
मनश्चैवातिचञ्चलम् । (अमृत ५)
ध्यानं निर्विषयं मनः । (स्कंद ११)
स्नानं मनोमलत्यागः । (स्कंद १२)
मनः सर्वत्र संयम्य । (योग ३)
मनो यस्य हि शृङ्खला । (मुक्ति २।६९)
अपेदारी स्पर्श मनः । (मुक्ति २।७२)

मनके विषयमें उपनिषदोंका यह कथन है। इसका तात्पर्य यह है—

जो हृदय है वही मन है, प्राण और ब्रह्मका रूप मन है, मन वह प्रत्येक जानेवाला रूपता है, मन तेज अथवा ज्योति है, मनसे सब प्रकारके ध्यान होते हैं, मन गतिमान् अर्थात् वेगवान् है, मन गतिरूप है, मन ब्रह्म अर्थात् महान् है, अद्भुत मन है, प्राणके साथ मन बंधा हुआ है, मनही आत्मा और ब्रह्म है, आत्मासे मन होता है, मन दिव्य देवी है, दिव्य शक्तिवाला मन है, मन दर्शन है, अर्थात् मनका सामर्थ्य दर्शन है, सब सङ्कल्प मनमें होते हैं, शरीर रथ और उसका नियन्ता मन है, प्राण और मन एकही हैं अर्थात् परस्परसम्बन्धित हैं, मन दो प्रकारका है (एक आसक्तिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है) मन बंधमोक्षका कारण है, मन ही बड़ाभारी ऐश्वर्य है अर्थात् ईश्वरका सामर्थ्य है, मनको निर्विषय बनाना चाहिये, मन मन्थनका दण्ड है, मन अति चञ्चल है, मन के मलको दूर करनाही सच्चा स्नान है, मनका सब तरह स्वाधीन करना चाहिये, मनही आत्माकी शृङ्खला है, मनसे प्रथम अपने मनका जय करना चाहिये।

मनके विषयमें उपनिषदोंमें ये वचन हैं, इन वचनोंमें सारांशरूपसे मनके सम्बन्धमें ये उपदेश हैं—

(१) मन सबको प्रेरनेवाला है
(२) मन बड़ा तेजस्वी है
(३) मन बड़ा गतिमान किंवा वेगवान् है (चञ्चल)
(४) मन बड़ा सामर्थ्यसम्पन्न है दिव्य शक्तिसे युक्त है (अमयत् दृढ)
(५) मनमें दिव्य दृष्टि है
(६) मन सबका नियामक है
(७) मन दो प्रकारका है (एक आसक्तिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है)
(८) मनसेही बंध अथवा मोक्ष होता है
(९) मन मथनेवाला मन्थनदण्डही है (प्रमाथि)
(१०) इसलिये मनको जीतना चाहिये।

इन्हीं बातोंको उपनिषद्वचनोंमें कही है। गीताके इन्हीं श्लोकोंमें यह सब सूचनाके लिये इसके विचारके साथ कोष्ठकमें दिये हैं, जिससे पाठकोंको पता लग सकता है कि गीताके कथनके साथ उपनिषद्वचनोंके वचन कैसे समान हो सकते हैं।

मन दो प्रकारका (द्विविध मनः) है ऐसा जो ऊपर कहा है वह बड़ा महत्त्वका कथन है। इसकी मनके ये दो भाग समझिये अथवा इनको दो भिन्न मन मान लीजिये, इनमेंसे एक मन आसक्तिमें कार्य करता है। जब वह मन आसक्तिमें कार्य करता है तब दूसरा मन शान्त होता है अर्थात् कार्य नहीं करता। जब आसक्तिका मन शान्त होता

है तभी दूसरा मन कार्य करने लगता है । यह बात समझने के लिये पाठक ऐसा समझें कि पहलेके मन सोनेके समय दूसरा मन जागता है और दूसरे मनके सोनेके समय पहला मन जागता है । इनमें अपने अपने कार्यक्षेत्रमें प्रत्येक मन प्रबल है परंतु सुषुप्तिमें जागनेवाला मन बड़ाही प्रभावशाली है क्योंकि इसके कार्य देशकालकी मर्यादासे परिच्छिन्न नहीं होते ।

योगमें चित्तवृत्तिनिरोध करके जागतिका मन सुलाया और सुषुप्तिका मन जगाया जाता है । योगका महत्त्व यही है । पर मनोंमें कहा होता है कि मन शान्त करो एकाग्र करो स्वस्थ करो स्थिर करो इन पद वाक्योंका अर्थ एकही है । यह मन चञ्चल है प्रतिक्षण चञ्चलताके व्यवहार करता रहता है इस कारण इस उच्च मनको कार्य करनेका अवसर ही नहीं मिलता । इस उच्च मनको कार्य करनेका अवसर मिल जावे इसलिये इस जागृति कालमें कार्य करनेवाले मनको एकाग्र करनेकी आवश्यकता है ।

द्विविध मन है इस उपनिषद्के महत्त्वपूर्ण कथनमें यह सब भाव है । जागृतिका मन मर्यादित क्षेत्रमें कार्य करता है दूसरा मन अमर्यादित क्षेत्रमें कार्य करनेवाला है । इसलिये उसका महत्त्व विशेष है । सब सन्तों महापुरुषों और साधु सज्जनोंमें यह उच्च मन जागृत रहता है और जागृतिका मन शान्त हुआ रहता है । सज्जनकी श्रेष्ठता उच्चता और पूज्यताका यही चिह्न है । इसीलिये सब शास्त्र कहते हैं कि मन स्वाधीन करो शान्त करो चित्तवृत्तिका निरोध करो । क्योंकि इस जागृतिमें कार्य करनेवाले मनसे उच्च काम होनेकी आशा नहीं इसकी चञ्चलता दूर होनेसेही उत्तम काम होना संभव है ।

इस तरह उपनिषदोंमें जो मनविषयक उपदेश-वाक्य आगये हैं इनका मनन हुआ । अब गीतामेंही अध्याय जो जो मनके विषयमें स्पष्टवचन आये हैं उनका विचार करते

भ्रमतीव च मे मनः । गी० १।३०

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
(गी० २।६०)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्म
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्य
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
मनः समाधाय स सात्त्विकः (कर्ता) ॥ १८।

ये वचन भगवद्गीतामें आये हैं और इनमें जो भाव गुप्तरूपसे सूचित किये हैं वे यहां देखने योग्य हैं । मनका चंचलत्व सभी मान्य होता है । प्रबल कार्य करनेवाले भी विद्वान् पुरुषके मनको प्रबल इन्द्रिय खींचती विषयकी ओर ले जाते हैं । विषयोंमें संचार करनेवाले इन्द्रियोंके पीछे जब मन दौडने लगता है तब इसकी प्रज्ञा मारी जाती है । कर्मेन्द्रियोंका बलात्कारसे संयम करके जो मनसे विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी होता है । जो मनसे अपने सब इन्द्रियोंका संयम करता है वह विशेष उच्च अवस्था प्राप्त करता है । मनका स्थान श्रेष्ठ है यहीं रहकर यह मनुष्यके ज्ञानको घेरकर मोहित करता है । मनसे जो सब कर्मोंका संयम करता है वह सुखसे रहता है । जिसका मन सम होता वही

उधर नहीं जाता उसको वहां ही परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी है ऐसा समझना चाहिए मन एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये योगका अनुष्ठान करना उचित है। मनका संयम करके मनको ईश्वरपर लगाना चाहिये। संपूर्ण कामनाओंका त्याग करके मनसेही सब इंद्रियोंका संयम करना योग्य है। मन आत्मापर लगाना चाहिए। इस समय दूसरा कुछ भी विषय मनमें नहीं लाना चाहिए। जहां मन दौडता है वहांसे उसको वापस लाकर आत्मापर स्थिर करना चाहिये। मन निःसंदेह चंचल और संयम करनेके लिए कठिन है। अभ्यास और वैराग्यसे ही उसको वशमें किया जा सकता है ईश्वरपर मन लगानेसे सब प्रकारकी शान्ति हो सकती है।"

भगवद्गीतामें मनके विषयमें इतने वचन हैं। इनका आशय यह है कि—

१ मन भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। वह मनुष्य को विषयभोगोंकी ओर खींचता है।
२ इसका बलात्कारसे संयम करनेसे कोई काम नहीं होता है।
३ यदि युक्तियोंके साथ संयम हो जाय तो काम होगा।
४ मनको सम अर्थात् चञ्चलतारहित बनाना चाहिये।
५ भावकामनाका त्याग प्रयत्नपूर्वक करनेसे मन निश्चल होता है।
६ ईश्वरभक्तिसे मनको शान्ति मिलती है।
७ सतत प्रयत्न करनेसे मनका संयम हो सकता है।

इतने नियम पूर्वोक्त वचनोंके मननसे दिखाई देते हैं जो मनकी शक्तिपर विचार करनेवालोंको बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अब हम वेदके मंत्रोंमें मनके विषयमें क्या क्या कहा है इसका विचार करते हैं। सबसे प्रथम यजुर्वेदके शिवसंकल्पसूक्त पर विचार करते हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥

(वा० यजु० अ० ३४)

जो जागते हुए दूर दूर भटकता है और सोनेके समय में भी जो वैसाही जाता है; जो दूर जानेवाला दिव्य शक्तिसे युक्त प्रकाशियोंमें भी अधिक तेजस्वी एक मन है, जिस मनकी सहायतासे ज्ञानी विद्वान् पुरुषोंमें सभाओंमें तथा यज्ञोंमें विविध कर्म करते हैं; जो प्रजाजनोंके अन्दर अपूर्व शक्तिसे युक्त पूज्य तत्त्व है जो प्रज्ञान चित्त और धैर्यरूप अमर तेज सब प्रजाजनोंमें है जिसके बिना कोई भी कर्म किया नहीं जाता जिस अमर मनमें यह सब भूत वर्तमान और भविष्य समाया हुआ है जिसके द्वारा सात ऋत्विजों द्वारा होनेवाला यज्ञ चलाया जाता है। जैसे चक्रकी नाभिमें आरे रहते हैं वैसे ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद आदि सब जिसमें रहते हैं, जिसमें सब प्रजाजनोंका चित्त पिरोया है; जैसे उत्तम सारथी लगामोंसे घोडोंका नियमन करता है वैसे जो मन मनुष्योंको चलाता है जो हृदयमें रहता है और जो जरारहित और अत्यंत वेगवान् मन है वह मेरा मन शुभसंकल्पयुक्त होवे।

यजुर्वेदमें यह एक मनका उत्तम सूक्त है। इसमें मनका बडा मनोरंजक और वास्तव वर्णन है। इससे मनकी भिन्न भिन्न शक्तियोंका ज्ञान होता है—

१ मन जाग्रतिमें जैसे भटकता है वैसेही निद्रामें भी भिन्न रीतिसे दौडता है

२ मनमें अपूर्व गति, दिव्य शक्ति तेजस्विता और विलक्षण शक्ति है

३ मन जैसा मनकी सहायतासे ही सब कार्य करते हैं मनके बिना कोई कर्म नहीं हो सकता

४ मनुष्यमें ज्ञान मनन और धैर्य मनके कारणही होते हैं

५ भूत वर्तमान भविष्य सब कुछ मनमें रहता है

६ संपूर्ण वेदशास्त्र मनमें रहते हैं

७ मन हृदयमें है यह अमर दिव्य शक्ति है इससे सब इंद्रियां चलायी जाती हैं,

इस मनके शुभ संकल्पसे युक्त होनेसे उन्नति और अशुभ विचारोंसे युक्त होनेसे अवनति होती है।

उक्त सूक्तमें मनके इतने गुण कहे हैं। इसी प्रकार अन्य वेदोंमें अनेक वचन हैं। परंतु उन सबका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है तथापि थोडासा दिग्दर्शन करनेके लिये एक दो मंत्रभाग यहां देते हैं—

मनो अस्ति भुवं पृहत्। [ऋ ५।३९।३]
(साम २।५२७)

युष्य ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो
जविष्ठं पतयत्स्वन्तः। (ऋ ६।९।५)

मर्ही नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
(ऋ १।१५।१)

मनो ज्योतिर्जुषताम्। (तै सं १।५।३।२)

मनो ज्योतिर्जुषताम्। (वा य २।१३)

मनो दृशाय चोदयन्। (ऋ ८।९९।७)
(अथर्व ९।५८।२)

मनो यज्ञेन कल्पताम् (वा य १८।२९, २२।३३
तै सं १।७।९।२)

मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्।
(तै आ १०।६६) (ओम्)

मन बहुमन अर्थात् ज्ञानयुक्त होना चाहिये सरकार संपन्न होना चाहिये, यह मन दृढ तेजस्वी वेगवान्, दौडने वाला, देखनेवाला और आनंद देनेवाला है, उत्साह करने वाला, बलवान् और कर्म करनेवाला मन है। मन ज्योतिस्वरूप है यह गतिमान है, मनको यज्ञकर्मके कार्योंमें अर्पण करना चाहिये; मन यज्ञसे समर्थ होता है मन वाणी और शरीरके कर्म शुद्ध हों।’ इस तरह मनका वर्णन सामान्य वेद मंत्रोंमें है। यहां भी मनकी चंचलता समर्थता और तेजस्विता वैसीही कही है जैसी गीता और उपनिषदोंमें कही है। इसका विचार करनेके लिये पूर्वोक्त गीता उपनिषद् और वेदके वचनोंमें जो विशेष शब्द आये हैं, वे देखिये

गीता	उपनिषद्	वेदमंत्र
चंचल	चंचलं मनः [गति]	जवीष्ठ
प्रमतीव	चपलतीव	दूरंगम
प्रमाथि	मन्थनमूर्त	
बलवत्		ध्रुवं, हविः
दृढ		दृढ
	ज्योतिः	ज्योति
	देव	एवं दूरं
	आत्मा ब्रह्म	... मर्त्यं, अमृतं
	अनंत	अपूर्व यक्ष
	ऐश्वर्य	गुह्यं, अजिरं, देव,
दुर्निग्रह		

(१) गीता उपनिषद् और वेदके मंत्रोंमें आये मनके गुण वर्णनके ये शब्द देखनेसे यह बात स्पष्ट होती है कि, मनके विषयमें सर्वत्र एक मतही है। मन ऐसा महासामर्थ्यवान् है इसीलिये उसको संयमित करके अपने आधीन रखना चाहिये। जिसमें बडा भारी सामर्थ्य होता है, उसीसे अधिक भय होनेकी संभावना होती है। किसी एक धनी पुरुषका एक नौकर बडा भारी सामर्थ्यवाला है, और उसका धनी बडा निर्बल है। इसी अवस्थामें यह स्वामीही उस नौकरसे डरता रहेगा। परंतु यदि उस स्वामीमें अधिक शक्ति होगी तो उसके आधीन वह नौकर रहेगा और उसका कार्य अनुकूलताके साथ करेगा।

यही अपने प्रकृत विषयमें आत्मा स्वामी है और उसका मन नौकर है। यह नौकर बडा सामर्थ्यवान् अत्यंत चतुर और विशेष प्रभावशाली है। यह अत्यंत तेजस्वी और विशेष प्रभावशाली होनेके कारणही उसका डर सबको प्रतीत होता है। यह क्या करेगा और क्या नहीं करेगा, इस विषयमें सबको भय लगता है। यह नौकर स्वामीके आधीन कैसे रहेगा और स्वामीके अनुकूल काम कैसे करेगा यही

मनुष्य विषयभोगोंमें कभी नहीं फँसेगा ।

इस विषयमें एक उदाहरण दिया जा सकता है । मनुष्य के लिये यद्यपि स्त्रीभोग प्रिय होता है तथापि अपनी पुत्री, भगिनी माता आदि पूज्य स्त्रियोंके विषयमें उसके मनमें सहसा भोगकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि यह बड़ा निंद्य कर्म है ऐसी मनकी भावना होकर उस विषयसे मन हट जाता है । परंतु स्त्री तथा अन्य योषिताओंके संबंधमें वैसा मन हटा हुआ नहीं होता इसलिये स्त्रीदर्शनसे इसके मनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है । यदि यह भोग दूषित है पूजनीयस्त्रीसेवनके समान बुरा है ऐसी भावना उसके मनमें स्थिर हो जाय तो उन भोगोंमें भी इसका मन नहीं जायगा।

मनुष्यके लिये स्वादु भोजन चाहिये । मनुष्यका *मन मिष्टान्नपर आसक्त हुआ होता है । और मिष्टान्न देखकर* उसकी जिह्वापर पानी उत्पन्न होता है । तथापि यदि उसे मालूम हो जावे कि इस अन्नमें विष मिला दिया है, तो उसकी स्वादतृष्णा उस अन्नसे एकदम हट जाती है । फिर वह उस अन्नका स्पर्शभी नहीं करेगा । ऐसा क्यों होता है ? इसलिये होता है कि उसका मन उससे विरक्त होजाता है । उसके भोगसे भय है यह उसके मनमें स्थिर हो जानेसे ऐसा होता है । यदि इसी प्रकार संपूर्ण भोगोंके विषयसे इसका मन हट जायगा तो किसी भोगसे यह फिर आकर्षित नहीं होगा ।

भोग भोगनेसे जो आनन्दका आभास होता है उससे कई गुना आनन्द आत्मासे ही प्राप्त होता है । यदि यह बात मनुष्यके अनुभवमें आजायगी, तो यह कदापि भोगोंकी ओर नहीं दौड़ेगा क्योंकि कोई भी मनुष्य अल्प सुखके लिये महा सुख नहीं खो देता। इस तरह भोगोंमें व्याप्त रहने वाले दुःखका विचार करनेसे मनुष्य भोगोंके विषयमें विरक्त होजाता है । मनको स्थिर शान्त और गंभीर करनेके लिये इस प्रकारके विचार और मनके स्थिर होनेवाले वैराग्यकी अत्यंत आवश्यकता है । वैराग्यके विषयमें योगदर्शनमें कहा है–

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥ (योगद० १)

इसका देखाई देनेवाले और सुनाईदेनेवाले भी विषय भोगोंके विषयमें जब साधककी तृष्णा वशमें आ जाती है, जब उसका मन उन भोगोंसे हट जाता है, जब उसको उन विषयोंके संबंधमें घृणा हो जाती है, और इनमें अब कुछ आनन्द नहीं है ऐसा भाव मनमें स्थिर हो जाता है और इंद्रिय संयम होनेका अनुभव हो जाता है तब उसको साधारण वैराग्य कहते हैं । यही वैराग्य परमात्माके साक्षात्कारसे प्रकृतिके गुणोंके विषयमें तृष्णारहित होकर उसके विषयमें उदासीनताके आलंबनसे उच्च कोटितक पहुंचता है । इस समय इसको परवैराग्य कहते हैं ।

साधारण मनुष्यको इतना परवैराग्य प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्रथमतः विषय भोगमें जो दोष हैं उनके देखनेसे प्रथमावस्थामें अपने लिये जितना आवश्यक वैराग्य चाहिये उतना मिल सकता है । जितना वैराग्य होगा, उतना ही यह भोगोंसे दूर होगा और उतनीही इसकी साधना होती जायगी । इस तरह वैराग्य होनेके साथ साथ अभ्यास भी होना चाहिये । इस अभ्यासके विषयमें पतंजलि अपने योगदर्शनमें कहते हैं–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो
दृढभूमिः ॥ १४ ॥ (योगद० १)

चित्तकी जो सात्विक स्थिति है उस स्थितिमें स्थिर रहनेके लिए यत्न करनेका नाम अभ्यास है। यह अभ्यास दीर्घ कालतक बीचमें न छोड़ते हुए, श्रद्धा व आदरपूर्वक किया जाय तो स्थिर हो जाता है । चित्तको सात्विक वृत्तिमें स्थिर रखनेका नाम अभ्यास है । मनुष्यका मन तामस राजस और सात्त्विक वृत्तिमें सदा भ्रमण करता है। तामस वृत्तिके कारण आलस्य और राजस वृत्तिके कारण भोगभाव रहता है । साधारणतः मनुष्यमें सात्त्विक वृत्ति कमही होती है । राजस तामसमेंही यह वृत्ति भ्रमण करती रहती है । मनुष्य अपना मन आलस्यमें है या भोगमें रमता है अथवा ईश्वरभक्ति आदि सत्वगुणोंमें रमता है इसका विचार करेगा तो अपनी स्थिति कहां है, इसका विचार करसके हो सकता है । मनुष्य इसका विचार प्रथम करे और उसके ऊपर उठनेका यत्न करे । इसका नाम अभ्यास है और अभ्यास निरंतर बहुत देरतक करनेसे स्थिर होता है ।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥(योगद० १)

अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। मनको स्थिर शान्त और गंभीर करना हो तो वैराग्य

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः । वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वयः— असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः । वश्यात्मना यतता तु उपायतः अवाप्तुं शक्यः । इति मे मतिः ॥ ३६ ॥

अपना संयम न करनेवाले मनुष्यसे योग होना असंभव है, परन्तु जो अपने आपको वशमें रखकर प्रयत्न करता है उसको अनेक उपायोंसे योग सिद्ध होना शक्य है ऐसा मेरा मत है ॥ ३६ ॥

भावार्थ— जो आत्मसंयम नहीं कर सकता, उससे योगसाधन होना असंभव है फिर उसको योगकी सिद्धि नहीं होगी, यह कहनेकी क्या आवश्यकता है ? परंतु जो प्रयत्नशील है और आत्मसंयम करनेमें दक्ष है, वह अनेक उपायसाधनोंद्वारा योगसाधन करके अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रयत्न योग्य रीतिसे करनेपर सिद्धि होगी। योग्य प्रयत्न न करनेसे क्या कुछ हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

धारण करना और पश्चात् पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यास करना आवश्यक है। इससे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। मन चाहे कितना भी चंचल हो तथापि इस उपायसे वह शान्त, स्थिर और गंभीर हो जाता है।

यहां ध्यान रखना चाहिये कि मन (प्रमाथि) मथनेवाला है। पूर्व श्लोकके अर्जुनके प्रश्नमें यह शब्द आया है। मन इस शरीरका मंथन करता है। जैसे कि मथन-दण्ड दहीसे मक्खन निकालता है, वैसेही यह मन संपूर्ण शरीरका मंथन करके उससे सार बाहर निकालकर फेंक देता है। जब मनुष्य ध्यान करने लगता है उस समय मन बहुत काल समाहित रहता है परंतु किसी समय विषय-भोगमें प्रवृत्ति हुई तो अन्दर मन ऐसी हलचल मचाता है कि जिससे सर्वत्र क्षोभ होता है और सर्वत्र अशान्तिही अशान्ति उत्पन्न करता है और ऐसी अवस्था करता है कि जिससे पूर्व समयका सब अनुष्ठान व्यर्थ गया ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा प्रबल मथनेवाला यह मन है। इसीलिये इसके संयमका उपाय बडी सावधानीके साथ और होशसे आजतक करते रहना चाहिए। थोडीसी भी असावधानीसे यह अनर्थ मचा देगा। इसीलिये भगवान् आगे कहते हैं—

(३६) यह श्लोक स्पष्ट है। जो प्रयत्न करेगा उसको सिद्धि प्राप्त होगी जो नहीं करेगा उसको नहीं प्राप्त होगी। इस विषयमें विवाद नहीं हो सकता।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
(हठयोग)

पुरुषार्थ करनेपरही सिद्धि होगी प्रयत्न न करनेपर कुछ भी नहीं होगा यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है तथापि इसमें संयतात्मा वश्यात्मा और असंयतात्मा ये शब्द विशेष महत्त्वके हैं। जो अपना संयम करता है और जो अपना संयम करता नहीं उसकी सिद्धिमें वैसाही अन्तर हो जाता है। संयतात्मा आत्मसंयमन करनेवाले पुरुषका नाम है जिसने अपनी संपूर्ण शक्तियोंका संयम किया है। यहां आत्मा शब्द केवल आत्मा मनकाही वाचक नहीं है। संयतात्माका अर्थ मनका संयम करनेवाला इतनाही मानना अशुद्ध है। यहां संयतात्माका अर्थ संपूर्ण अपने आपका संयम करनेवाला ऐसा है।

मनुष्यमें आत्मा बुद्धि मन इंद्रियगण, शरीर आदि सब के सब हैं। इनमेंसे प्रत्येकका जो संयम करता है अर्थात् जो सबका संयम करता है वह संयतात्मा है। अपनी सब क्रिया भावना आदिका जो संयम करता है वह संयतात्मा है। बुद्धिसे ज्ञान लेनेका कार्य होता है। इस ज्ञानमें जैसा सत्यज्ञान है वैसाही सब अन्य ज्ञान भी है। लौकिक ज्ञानमें भला बुरा बहुत है उसमेंसे भलाही अपनी बुद्धिमें लेना और बुरेको अपने पास आने न देना यह इस विषयका संयम है। मन तर्क वितर्क कुतर्क करता है विवेक करता है सोचता है चिंतन करता है। मनका यह धर्मही है सद्धर्मका यह विचार करे और असद्धर्मसे सदा बचा रहे इस तरह मनका संयम होगा। इसी तरह प्रत्येक इंद्रियका संयम करना चाहिये।

बोध करानेवाले पदार्थोंको देख और असत्प्रेरक

(१२) योगभ्रष्टकी गति

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः । अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति । अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः । त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

पदार्थ न खाय, कान उन्नत विचार सुनें और हीन विचार न सुनें, जिह्वा असत्यपूर्ण शब्द बोले और बुरे शब्दोंका उच्चार न करे, मुखसे सात्त्विक पदार्थ भक्षण किये जायें और राजस तथा तामस पदार्थोंका सेवन न किया जाय। इसी तरह शरीरसे संपूर्ण व्यवहार उन्नत ही किये जायें, हीन व्यवहारोंमें वह न फंसा रहे। किसी समाजमें जाना हो तो वहां कैसे लोग हैं, इसका विचार पहले किया जाय और वहां जानेसे सत्संगतिका लाभ होनेकी संभावना हो तो वहां जाना, नहीं तो न जाना। पुस्तकें पढनी हों तो शुद्ध विचार बढानेवाली पुस्तकें ही पढी जायें, विषयवासना बढानेवाली न पढी जायें। इस तरह प्रत्येक इन्द्रियकी प्रत्येक स्थानमें प्रत्येक विचार-उच्चार-आचारमें संयमका विचार है। मानो मनुष्यकी प्रत्येक गति या प्रगतिमें आत्मसंयमका संबंध आता है। कोई व्यवहार इससे बाकी नहीं है। इन संपूर्ण व्यवहारोंमें जो अपने आपका अर्थात् अपने शरीर और मनका संयम करता है उसको 'संयतात्मा' कहते हैं। शेष लोग सब 'असंयतात्मा' ही हैं इसीलिये कहा है—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
>
> (गी० ७।३)

हजारों मनुष्योंमें एकाध मनुष्य योगसिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई विरलाही तत्त्वतः मुझे जानता है। यह इसलिये कहा है कि यत्न करनेवालोंमें भी संपूर्ण रीतिसे संयतात्मा होना यह बडा कठिन काम है। संयतात्मा होनेके लिये अपने संपूर्ण व्यवहार कैसे चलाने चाहिये इसका संक्षिप्त विवरण इससे पूर्व दिया ही है। प्रयत्न करनेपर भी किसी न किसी स्थान पर थोडीसी त्रुटि या शिथिलता रहती है और जहां त्रुटि रही असंयम होता है और सिद्धि दूर हो जाती है।

इसलिये संपूर्ण योगकी सिद्धि प्राप्त करनी हो तो संपूर्ण रीतिसे अपने आपका संयम करना चाहिये। इस तरह वश्यात्मा होनेके पश्चात् भी (यतता) प्रयत्न जारी रखना चाहिये, उन्नतिकी परा काष्ठा करनी चाहिये। प्रयत्नशीलका दूसरा नाम योगी है। अतः प्रयत्न न करनेवाला मनुष्य योगी नहीं हो सकता इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

इसके पश्चात् 'उपायतः' यह एक महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसका विचार यहां अवश्य करना चाहिये। उपाय अनेक प्रकारके करने चाहिये, एक ही उपाय नहीं। साधकको एक मार्गसे जाना असंभव हो तो उसको दूसरे मार्गसे जाना चाहिये। ये सब उपाय गुरुके पाससेही ज्ञात हो सकते हैं। सुयोग्य गुरु अनेक उपायोंद्वारा शिष्यको पार ले जा सकता है। स्वयं भी उपाय सोचना चाहिये। किसीसे कोई आसन नहीं होता, कोई प्राणायाम नहीं कर सकता, कोई अनुष्ठान नहीं होता, तब क्या करना चाहिये? किस युक्तिसे शिष्यसे उक्त अनुष्ठान करवाना चाहिये, इन युक्तियोंका नाम यहां 'उपाय' है। साधनमें यह उपायकी बात अत्यंत महत्त्व रखती है इसलिये साधकोंका इस ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिये।

अब अर्जुनके मनमें एक महत्त्वपूर्ण शंका उठी। यदि कोई साधक इस योगका साधन करने लगा, पर सिद्धि होनेके पूर्व ही उसका देहान्त हो गया तो उसका क्या होगा? अर्थात् योगसिद्धिकी इच्छासे अपने ऐहिक भोगोंका त्याग किया और योगसिद्धिके पूर्व मृत्यु आनेसे सिद्धि भी प्राप्त नहीं हुई। ऐसी अवस्थामें उसकी गति क्या होगी? सब साधकोंके सामने यह प्रश्न है। अतः इस शंकाका उत्तर भगवान् कैसा देते हैं यह ध्यानपूर्वक पाठक देखें—

अन्वय— अर्जुन उवाच— हे कृष्ण ! श्रद्धया उपेतः अ-यतिः योगात् चलितमानसः योगसंसिद्धिं अप्राप्य कां गतिं गच्छति ? ॥ ३७ ॥ हे महाबाहो ! अप्रतिष्ठः ब्रह्मणः पथि विमूढः सः उभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रम् इव न नश्यति कच्चित् ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण ! मे एतत् संशयं अशेषतः छेत्तुं अर्हसि; हि त्वत् अन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण ! (किसी साधककी) श्रद्धा तो है, परंतु उससे पूर्ण यत्न न हुआ और उसका मन योगसे विचलित हुआ तो वह योगकी सिद्धिको न प्राप्त होकर, किस गतिको पहुंचता है ? ॥ ३७ ॥ हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें वह आश्रयरहित और विशेष मोहित हुआ दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर छिन्नभिन्न बादलके समान बीचमेंही नष्ट तो नहीं होता ? ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देहको निःशेष दूर करनेके लिये आपही योग्य हैं क्योंकि आपको छोड़कर इस संशयको दूर करनेवाला कोई नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

भावार्थ— कोई एक साधक योगमार्गपर बड़ी श्रद्धा रखता है कुछ यत्न भी करता है परंतु सिद्धि प्राप्त होने योग्य योगसाधन उससे नहीं होता। इतनेमें कई शारीरिक आपत्तियां आती हैं और उनसे योगसाधन यथासांग नहीं होता और ऐसी अधूरी अवस्थामें उसका देहपात होता है। ऐसे योगसे भ्रष्ट हुए साधककी क्या गति होती है ? वह तो ब्रह्म-नगरीका पथिक था ही परंतु न तो वह ब्रह्मनगरीको पहुंच सका और नाही यहांके भोग भोग सका। दोनों सुखोंसे वंचित रहनेवाले उस योगभ्रष्ट साधकका बीचमेंही नाश तो नहीं होता ? यह संदेह यहां मनको बड़ा भ्रम दता है उसका निराकरण होना आवश्यक है ॥ ३७-३९ ॥

(३७-३९) योगभ्रष्टकी गति क्या होती है ? यह शंका हरएक साधकके मनमें उठती है और जो साधन नहीं करते केवल गप्पे मारनेमें प्रवीण होते हैं, वे तो दूसरोंको चुप बैठानेके लिये ऐसी शंकाएं उपस्थित करतेही रहते हैं। परंतु जो साधक नहीं हैं उनका विचार हमें यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उनका विचार करनेसे किसीका काम होना संभव नहीं है। परंतु जो सचमुच साधना करना चाहता है उसके मनमें भी ऐसी शंकाएं उपस्थित होती हैं। अतः यह शंका महत्वपूर्ण है और इसका यथायोग्य विचार होना चाहिये।

जो साधन साधक कर रहा है उसमें सफलता प्राप्त न करके यदि मृत्यु हो गयी तो किया साधन व्यर्थ गया, अधूरा साधन होनेसे सिद्धि तो प्राप्त होतीही नहीं है, साधन करनेके लिये ऐहिक भोगोंका पहलेही त्याग किया इसलिये इस लोकके सुखसे भी वंचित रहा सिद्धि प्राप्त होनेतक साधना नहीं हो सकी इसलिये सिद्धिके अभावमें परलोकसे भी वंचित रहा। इसके न इधर और न उधर ऐसी स्थिति हो गई ! यह अवस्था बड़ी भयानक है। इस जन्ममें किया साधन दूसरे जन्ममें तो उपयोगमें नहीं आवेगा क्योंकि वहांकी देह दूसरी परिस्थिति दूसरी सब कुछ भिन्न। इस लिये किया हुआ यह साधन तो व्यर्थ ही गया ! फिर अगला जन्म किस योनिमें होगा इस विषयमें भी क्या प्रमाण है ? इसलिये यदि योगसाधन अधूरा रहा तो बड़ी ही हानि होगी। अतः योगभ्रष्टकी गति क्या होती है इसका विचार होना चाहिये।

मनुष्य ब्रह्मनगरीका पथिक है संसार-ग्रामसे ब्रह्मनगरीके मार्गपर वह चल रहा है। यदि संसारग्राममें ही वह रहा तो भी वहां कुछ न कुछ सुख तो उसको मिलेगाही। यदि उसको ब्रह्मनगरीकी प्राप्ति हो गयी तो उसको अखंड आनंद साम्राज्य प्राप्त होगा इसमें भी संदेह नहीं है। परंतु वह यदि बीचमेंही रहा तो इसकी अवस्था क्या होगी ? यह शंका यहां है।

बादल जैसे आकाशमें रहता है और वह आकाशमें रहकर एक प्रकारकी शोभा बढाता है यदि उसकी वृष्टि हो गई तो भी पृथ्वीपरकी शोभा उससे बढ़ती ऐसा माना जा सकेगा। परंतु यदि कोई बादल न आकाशमें रहा और न वृष्टिरूपसे पृथ्वीकी शक्तिको परिपुष्ट कर सका बीचमेंही बिखर होकर नष्ट हो गया तो उस बादलका होना तो व्यर्थही हुआ !

इसी प्रकार योगभ्रष्टकी अवस्था भयानक प्रतीत होती है। तो इस विषयमें सत्य बात क्या है ? यह प्रश्न यहां है। भगवान् इस शंकाका कैसा उत्तर देते हैं वह उनकी अमृतमयी वाणीसेही अब सुनिये—

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वयः– श्रीभगवान् उवाच–हे पार्थ ! न इह न एव (च) अमुत्र तस्य विनाशः विद्यते । हे तात ! कश्चित् कल्याणकृत् दुर्गतिं न गच्छति ॥ ४० ॥ योगभ्रष्टः पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य (तत्र) शाश्वतीः समाः उषित्वा शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते ॥ ४१ ॥ अथवा धीमतां योगिनां एव कुले भवति यत् एतत् ईदृशं जन्म लोके दुर्लभतरं हि ॥ ४२ ॥ हे कुरुनन्दन ! (सः) तत्र तं पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं लभते ततः च भूयः संसिद्धौ यतते ॥ ४३ ॥ तेन एव पूर्वाभ्यासेन सः अवशः अपि ह्रियते । योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्दब्रह्म अतिवर्तते ॥ ४४ ॥ ततः प्रयत्नात् यतमानः संशुद्धकिल्बिषः योगी तु अनेकजन्मसंसिद्धः परां गतिं याति ॥ ४५ ॥

श्रीभगवान्ने कहा– हे पार्थ ! न इस लोकमें और न ही परलोकमें उस (योगी) का विनाश होता है । हे प्रिय ! क्योंकि शुभ कर्म करनेवाला कोई (पुरुष) कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥ योगसे भ्रष्ट हुआ (मनुष्य) पुण्यवानोंको मिलनेवाले लोकोंको प्राप्त होकर और उनमें बहुत वर्षोंतक रहकर पवित्र श्रीमान् लोगोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥ अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है । इस प्रकारका यह जन्म इस लोकमें अत्यंत दुर्लभ है ॥ ४२ ॥ हे कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले अर्जुन ! वहाँ वह पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कारको प्राप्त करता है और उससे वह अधिक सिद्धि पानेका प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ उसी पूर्वजन्मके अभ्याससे वह असमर्थसा होकर (सिद्धिकी ओर स्वयंही) खिंचा चला जाता है । क्योंकि योगका जिज्ञासु भी शाब्दिक ज्ञानवालोंसे बहुतही श्रेष्ठ होता है ॥ ४४ ॥ वहाँसे आगे प्रयत्नपूर्वक योगसाधन करता हुआ पापोंसे छूटकर, परिशुद्ध होकर, वह योगी अनेक जन्मोंसे सिद्धि प्राप्त करके अन्तमें उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

भावार्थ– जो शुभ कर्म करता है उसका कभी नाश कभी किसी प्रकार भी नहीं होता । अतः जो योगसाधन करेगा उसकी हानि किसी प्रकार भी नहीं होगी ॥ योग करते हुए यदि आयु भी बीत जाए, तो उसको उत्तम पुण्य लोकोंकी प्राप्ति होगी । वहाँ उन पुण्य स्थानोंमें वह बहुत समय निवास करेगा और पश्चात् योग्य समयमें पवित्र आचारवाले श्रीमान् साधनकर्ता पुण्यजनोंके घर जन्म पाता है कि जोकि अत्यंतही दुर्लभ है ॥ इस तरह जन्म प्राप्त होनेपर पूर्व योगाभ्यासके कारण पूर्वकेही शुभ संस्कार उसकी बुद्धिमें संकलित होते हैं और वह वहाँसे आगेकी साधना करने लगता है ॥ पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण वह स्वयंही योगाभ्यासमें रुचि लेता है । इसी प्रकार वह योगी आगे आगे योग्य साधनमें स्वयं खींचा जाता है । तात्पर्य, पूर्व जन्मका किया हुआ साधन उसके काममें आता है और उससे आगेका मार्ग वह आक्रमण करने लगता है । योगसाधन का पुरुषार्थ करनेवाला इच्छुक और केवल शब्दमात्र जाननेवाला इनमें पुरुषार्थी योगी बड़ा भारी श्रेष्ठ है क्योंकि वह कुछ न कुछ करता है और उसका फल उसे मिलताही है ॥ यहाँसे आगेकी साधना वह दूसरे जन्ममें करता है उससे उसका चित्त शुद्ध होता है वह पापोंसे मुक्त होकर परिशुद्ध बनता हुआ अनेक जन्मोंके योगसाधनसे इस तरह वह सिद्ध बनता है और अन्तमें आखिरी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४०—४५ ॥

अविनाशी कर्म प्रभाव

(४०-४५) शुभ कर्म करनेवालेका कभी नाश नहीं होता यह भगवान्‌का संदेश यहां पहिलेही हमें प्राप्त हुआ है। यह निर्भयताका संदेश प्रत्येक मनुष्यको सदा स्मरणमें रखना चाहिये। जो चाहे सो हो परंतु सब साधक कल्याण मार्गका पथिक कभी नाशको नहीं प्राप्त होता इस भगवान्‌की घोषणाको कभी न भूलें और शुभ कर्मसे पीछे न हटें। यदि इस जन्ममें शुभ कर्मका पूर्ण फल न मिला, तो अगले जन्ममें मिलेगा परंतु किया हुआ शुभ कर्म व्यर्थ नहीं जायगा यह विश्वास प्रत्येक साधकके मनमें स्थिर रहना चाहिये। फल मिलने या न मिलनेका विचार छोडकर सदा शुभ कार्यमें तत्पर रहना चाहिये। यह एकमात्र कार्य है जो मनुष्यको करना चाहिये। शुभ कर्म करते हुए देहपात भी हो जाये तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि यदि देह चला गया तो दूसरा मिलेगा और पूर्व संस्कार स्थिरही रहेंगे। इसलिये इसमें कोई हानि नहीं है।

जैसे कि एक वैश्य अपनी दुकानदारी करता हुआ अपने वस्तुओंकी थोडी बिक्री आज करता है रात्रिको सोता है फिर दूसरे दिन शेष वस्तुओंकी बिक्री करता है। पहिले व्यापारमें जो लाभ हुआ वह उसके संदूकमें रखा होता है वह उसका दूसरे दिन प्राप्त होता है और उसको इकट्ठा करता हुआ वह अपना व्यवहार आगे बढाता है। इसी तरह इस मनुष्यका संपूर्ण जीवन एक दिन है इस दिनमें वह कुछ व्यापार व्यवहार करता है पश्चात् मृत्युरूपी महा रात्रि आती है उसमें वह कालवश होकर सोता है, पश्चात् दूसरा दिन आता है वही उसका दूसरा जन्म है। इस जन्ममें उसको पहिले दिनकी पूंजी अपनेही संदूकमें मिलती है और उसको लेकर वह अपना व्यवहार बढाता है। यही उसकी साधना है। इस तरह साधक अपने जीवनको बडी व्यापक दृष्टिसे देखे। मनुष्यका जीवन एक देहके जन्मसे प्रारंभ होकर उसके विनाशतक नहीं समझना चाहिये; संसारमें आनेके समय उस जीवनका प्रारंभ होता है और मुक्ति स्थिति प्राप्त होनेहीं वह जीवन परिपूर्ण होता है। मनुष्यका जीवन इतना बडा है।

चित्र अगले स्तंभपर देखो

मुक्ति
जीवन्मुक्ति
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
मृत्यु
जन्म
सूक्ष्म देहकी जन्म मृत्यु
मृत्यु
जन्म
सूक्ष्म देहकी जन्म मृत्यु
स्थूल देहकी मृत्यु
जीर्ण अवस्था—वार्धक्य—
मध्यमावस्था—तारुण्य—
बालपन—स्थूल देह जन्म
जीवके संसारमें आनेका प्रारंभ
संचित जीवनका अनुभव
प्रत्येक जीवनका अनुभव
स्थूल देहका जीवित जीवन
सूक्ष्म देहका जीवित जीवन

इतना छोटा जीवन मनुष्यका है, परंतु मनुष्य अज्ञानके कारण मानता है कि इस एक देहके जन्मसे मृत्युतकही अपना जीवन है। जैसे कोई समझे कि आयु लिखे विज्ञापक ही अंतिम है तो उसकी जैसी मूढता होगी वैसीही मूढता एक देहके जन्मसे मृत्युतकही जीवन है ऐसा माननेमें है। मनुष्यका जन्म तो जब वह इस संसारचक्रमें सबसे प्रथम आया तब हुआ है और इसकी पूर्णता तब होगी जब इसको मोक्षकी स्थिति प्राप्त होगी। इसकी मृत्यु तो कभी होगीही नहीं। परंतु यह सदा मृत्युसे डरता रहता है। यह डर इसके अज्ञानके कारणही होता है। यह देहके नाशकोही अपना नाश मानता है और उससे डरता रहता है।

जन्म-मृत्युका संबंध

स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर और कारण-शरीर ऐसे इसके तीन शरीर होते हैं। स्थूल शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है। परंतु जन्म और मृत्यु केवल स्थूल शरीरकाही है उसके साथ सूक्ष्म देहका कोई संबंध नहीं होता। सूक्ष्म शरीरकी भी उत्पत्ति और विनाश होता है। यह सूक्ष्म शरीर भी वैसाही भिन्न है, जैसा स्थूल शरीर। ये दोनों शरीर बनने और बिगडनेवाले हैं। इस जीवका और एक कारण शरीर है वह मुक्ति मिलनेतक रहता है।

अखंड जीवन

ऊपर बताये अनेक शरीरोंके जन्म और विनाश होते हैं ऐसा कहा वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरके जन्म और विनाश हैं। परंतु मनुष्यका कारण शरीर मुक्तितक इसके पास रहता है इसीमें सब संस्कार रहते हैं। जो सच्चा मानवी जीवन है जो जीवन सहस्रों जन्म मृत्यु होनेपर भी अखंड रहता है वही इसके कारण-शरीरका जीवन है। और यही सच्चा मानवी जीवन है जिसका प्रत्येक मनुष्यको विशेष विचार करना चाहिये। स्थूल शरीरमें जो कुछ बुरा भला किया जाता है वह संस्काररूपसे इसमें संगृहीत होता है। कोई विचार उच्चार अथवा आचार जो मनुष्य करता है उसका बुरा या भला प्रभाव इसपर पडता है। मानो मनुष्यका सब बुरा भला चरित्र यहां सूक्ष्म रूपमें रहता है। इसीलिये मनुष्यको उचित है कि उसके विचार-उच्चार आचारमें सदा पवित्रता रहे। किसी भी समय अपवित्रता न रहे क्योंकि जितनी अपवित्रता की जायगी उतनी किसी न किसी समय भोगनीही पडेगी।

इसलिये ही यहां कहा है शुभ कर्म करनेवाला कभी नाशको प्राप्त नहीं होता है। योगसाधन करनेवाला साधक यदि सिद्धि प्राप्त होनेके पूर्व मर गया तो उसके संपूर्ण संस्कार उसके इस कारण-देहमें संगृहीत रहते हैं, स्थूल सूक्ष्म देहोंके विनाशसे उसमें कोई हानि नहीं होती। यही अपने जीवनका रहस्य है। इसी लिये इस रहस्यको जाननेवाला साधक कभी अपने स्थूल देहकी सुरक्षाके लिये परम धर्मका विच्छेद नहीं करता अपितु सत्य धर्मकी रक्षाके लिये अपने स्थूल देहका नाश होनेका प्रसंग आनेपर उस समय वह आनंदके साथ स्थूल देहका अर्पण करता है। क्यों कि स्थूल देह नाशको प्राप्त होता ही है। जो अखंड रहने वाला देह है वह इससे भिन्न है।

अर्जुन भी जिस नाशके लिये डरता था वह इस स्थूल देहका नाश था। जीवके अखंड जीवनमें इस देहका स्थान एक बिंदुमात्र है। जीवके संपूर्ण अखंड जीवनकी हानि यदि इस स्थूल देहके कारण होने लगी तो कौन ज्ञानी मनुष्य इस बिंदुमात्र जीवनवाले इस स्थूल देहकी रक्षा करेगा? अतः भगवान् अर्जुनको यहां सूचित करते हैं कि 'हे अर्जुन! तू यदि योगसाधनरूप शुभ कर्म करेगा तो तेरा नाश कभी नहीं होगा। इस स्थूल देहके जीवनके लिये तू इस अखंड जीवनका विनाश मत कर। केवल इसी स्थूल देह का जीवन पूर्ण जीवन है ऐसा मानना बडा भारी भ्रम है और यही अज्ञान है।

योगभ्रष्टकी गति

योगसाधनरूप सत्कर्म करते हुए मृत्यु हो गयी तो आगे क्या होगा इस शंकाकी निवृत्तिके लिये योगभ्रष्टकी गति कैसी होती है इसका स्पष्ट निर्देश भगवान् करते हैं। (पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य) वे योगसे विचलित हुए साधक इस स्थूल देहके नाशके पश्चात् ऐसे उत्तमोत्तम लोकोंमें जाते हैं कि जहां पुण्य कर्म करनेवाले लोग रहते हैं और अपने पुण्य कर्मोंका फल भोगते हैं। वे ऐसे पुण्य लोकोंमें जाकर निवास करते हैं। वहां बहुतवर्ष (शाश्वतीः समाः उषित्वा) वहां बहुत समय रहकर फिर आलोक मार्ग आक्रमण करनेके लिये इस कर्मयोनिमें अर्थात् इस

वर्षोंतक स्वर्गमें होते हैं ।

वहां उन पुण्य लोकोंमें वे कितने समय रहते हैं इसका परिगणन करना असंभव है । क्यों कि जैसा जिसका पुण्य होगा वैसा उसका वहां निवास हो सकता है । (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) पुण्यसंचय समाप्त होतेही इस मर्त्यलोककी नानायोनियोंमें जन्म लेनाही पडता है । यहां 'शाश्वतीः समाः' शब्द है । शाश्वत समयका अर्थ सदाके लिये ऐसा होता है । परंतु यहां सदाके लिये ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं है । शाश्वत शब्दका अर्थ और दूसरा कुछ भी नहीं है । यदि चिरकाल वहांही रहना होगा तो पुनरावर्तन नहीं हो सकता और यदि पुनर्जन्म मानना है तो वहां चिरकाल निवास नहीं हो सकता । यह आपत्ति टालनेके लिये 'शाश्वतीः समाः' का अर्थ सभी भाष्य और टीकाकारोंने 'बहुत वर्ष' ऐसा किया है । परंतु 'शाश्वत' शब्दका अर्थ 'बहुत' ऐसा होता है इस विषयमें प्रमाण नहीं है । सभी कोषकार इसका अर्थ 'अनन्त' ऐसा करते हैं । अतः इस 'शाश्वतीः समाः' का अधिक विचार करना उचित है । उपनिषदोंमें और गीतामें यह शब्द आया है वह प्रयोग अब देखिये । प्रथमतः आत्माके विषयमें शाश्वत शब्दका प्रयोग देखिये—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो०
(कठ उ. २।१८; गीता. २।२०)

स्थिरः शाश्वतः । (मैत्रि उ. २।४)
शाश्वतं शिवमच्युतम् । (महानारा. ११।३)
शाश्वतं शान्तं सदाशिवम् । (नृ. पू. ५।१)
शाश्वतं वै पुराणं । (अ. शिर. ५)
शाश्वतेन वै पुराणेन ऊर्जेन । (अ. शि. ५)
ब्रह्म शाश्वतम् । (नाद. १९)
शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् (तेजो. ८)
कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् । (कृष्ण उ. १७)
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् । (गीता १०।१२)
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता । (गीता ११।१८)
शाश्वतस्य च धर्मस्य । (गीता १४।२७)
शाश्वतं पदमव्ययम् । (गीता १८।५६)
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ (गीता १८।६२)

इन उपनिषदोंके और भगवद्गीताके वचनोंका तात्पर्य यह जाता है कि- ब्रह्म परमात्मा पुरुष शिव सदाशिव कृष्ण धर्म परमपद परम स्थान यह सब शाश्वत है । (स्मरण रखना चाहिये कि यहांका सदाशिव कृष्ण आदि शब्द प्रयोग परमात्मपरक है ।) यहां शाश्वत पदका अर्थ सदा हमेशा चिरकाल अनंत काल ऐसाही है । परंतु यह अर्थ पूर्वोक्त गीताके 'शाश्वतीः समाः' पदोंमें नहीं है, क्यों कि जो योगभ्रष्टकी बीचकी अवस्था है वह चिरकालिक नहीं हो सकती । उससे तो वापस आकर उस साधकको आगेका मार्ग चलना होता है । अस्तु । अब अन्य वचनोंमें जो शाश्वत शब्दका प्रयोग हुआ है उसका विचार करेंगे । प्रथम ये वचन देखिये—

स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति
शाश्वतीः समाः ॥ (बृ. उ. ५।१०।१)
अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (ईश उ. ८)
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ (कठ उ. ५।१२;
श्वे. उ. ६।१२)
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् (कठ उ. ५।१२;
ब्रह्म ३)
कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ (गीता १।४३)
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
(गीता ८।२६)

इन वचनोंमें कईयोंमें शाश्वत शब्दका अर्थ अनंत काल ऐसा है और कई वचनोंमें बहुत समय इतनाही तात्पर्य है । इसलिये इतने वचन देखनेपर भी इसका अर्थ निश्चय करनेमें कोई निःसन्देह प्रमाण नहीं मिला ।

आजकल ईसाई और मोहमदीय मतावलंबी लोग मानते हैं कि देहकी मृत्यु होनेके पश्चात् उनकी आत्मा सदाके लिये रहती है और कयामतका दिन जब आता है तब उन कबरोंमेंसे सब लोग उठते हैं परमेश्वर उनका पापपुण्य देखता है और पश्चात् उनकी योग्यताके अनुसार स्वर्ग या नरक चिरस्थायी उनको मिलता है । इस मतमें सदाके लिये स्थिति होती है ऐसा जो वर्णन है उसका कारण उक्त उपनिषद् और गीताके वचनोंमें शाश्वत पदका प्रयोग किया है, उसका अनुवाद करनेवालेके ध्यानमें उसका अर्थ बहुतकाल और अनंतकाल इनमेंसे कौनसा लेना चाहिये इसका ठीक निश्चय नहीं हुआ । यदि वह निश्चय

होता तो वह बहुत समय इधरकी अर्थ करता और जो शान्ति उसके तथा उसके अन्य लोगोंमें हुई है वह न होती।

कालातीत स्थिति

वस्तुतः मरनेसे ऊपरकी स्थिति उसके लिये नहीं हो सकती। वह बहुत समयके लिये होना संभव है। दूसरी बात यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर छूटनेपरकी जो स्थिति है अर्थात् जो कालातीतपनकी अवस्था है उसमें कालके परे की स्थिति होनेके कारण काल मानसे उसका वर्णन करना असंभव है। निद्रामें कालका पता नहीं रहता, हम पूर्व और उत्तर जागृतियें बड़ी देखते हैं और कालका पता लेते हैं। परंतु यदि किसीको दो तीन दिनके पश्चात् उसी समय जाग आवकी तो उसको कितने वर्ष होनेका समय व्यतीत हुआ इसका पता भी नहीं लगेगा। अर्थात् एक मनुष्य रात्रिके १ बजे सोता और चार बजे जगता है, अर्थात् वह छः घण्टे सोता है यदि वह और १२ घण्टे निद्रामें रहा अथवा और ३८ घण्टे निद्रामें रहा और ठीक चार बजे जगा तो भीतरके १२ या ३८ घण्टे सोनेके समयका ज्ञान उसको नहीं होगा। तारीख पत्री देखकर यह ज्ञान होगा यह बात दूसरी है। ऐसा होनेका कारण यह ऐसी भूल अवस्थामें पहुंचा होता है कि जो स्थल और कालके परेकी अवस्था है। मृत्यु के पश्चात् भी यही अवस्था प्राप्त होती है, इसलिये वहांके वर्ष इतने बीते यह कहना असंभव है। क्योंकि वहांका एक क्षण भी यहांके कई वर्ष या सैकड़ों वर्षोंके समान है। इस कालातीत जीवनका वर्णन करनेके लिये यहां शाश्वती समाः ऐसा पद प्रयोग किया होगा।

शुभ जन्म

पूर्वोक्त रीतिसे पुण्य लोकमें स्थिति होनेके पश्चात् जो उसका जन्म होता है उसको शुभ जन्म कह सकते हैं। क्योंकि वह शुद्धाचारी श्रीमान् लोगोंके घर अथवा योगियोंके ही घरमें होता है। जहां इसका आनेका प्रारंभ निर्विघ्न होता ऐसे शुभ पवित्र और पुण्यवान् सात्त्विकवृत्तिवाले मनुष्योंके घरमें जन्म होता है। जिससे बालकपनसेही यह सद्गुण जुड़ता है पराक्रम देखता है सत्कर्मका अनुकरण करता है और उसका प्रतिदिन सुधारही होता जाता है। शुद्धाचारसंपन्न सज्जनोंके घरमें जन्म होनेसे रजवीर्यकी शुद्धता रहनेके कारण उसका शरीर शुद्ध रहता है। खानपान पवित्र रहते हैं आचार विचार पवित्र रहते हैं और सब मर्यादा धर्मानुकूल रहनेके कारण उसकी गिरावट होनेकी संभावना नहीं होती। इसलिये समझना चाहिये कि इस प्रकारका जन्म यह अत्यन्त दुर्लभ है।

पुण्य गृहस्थाश्रम

जो गृहस्थाश्रम पुण्यकारक है वह इन शुद्ध श्रीमान् योगियोंकाही है। ऋतुकालमें गमन करनेसे भी वहां उनको पुण्यही प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसे योगसाधन करनेके लिये जन्म लेनेवाली आत्मा आकाशमें संचार करती हुए अपने लिये जन्म लेनेका अवसर देखती रहती है। यदि मातापिता पर विलासी होंगे, तो वे अपवित्र स्थानमें प्रवेश नहीं करते, परंतु यदि मातापिता पवित्र होंगे तो वैसे योगी जीव जन्म लेकर साधन करनेद्वारा कृतकृत्य बननेके लिये वहां प्रविष्ट होते हैं, इन्हीं गृहस्थियोंका जीवआगमन यज्ञ हुआ करता है इसका वर्णन उपनिषदमें बैसी गंभीरताके साथ किया है, देखिये

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव
समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति ते
ऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः
संभवति स जीवति। (बृ० उ० ६।२।१३)

यह गृहस्थाश्रमका वर्णन एक बड़ा यज्ञ है इसमें वीर्यकी आहुति डाली जाती है और इसी यज्ञसे पुरुषकी उत्पत्ति होती है। वीर्य सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है इससे अधिक मूल्यवान् पदार्थ मनुष्यके पास दूसरा नहीं है। ऐसे अमूल्य पदार्थका दान इस यज्ञमें होता है, इसलिये इसका पुण्य बड़ा भारी है। परंतु यह ऐसेही धार्मिक गृहस्थियोंको प्राप्त होता है अनेक विवाहितोंको यह प्राप्त नहीं होता। जिन वीर्यदानसे ऐसे योगभ्रष्ट पवित्र आत्माका जन्म होता है और उसको अपनी आत्मोन्नति साधन करनेका शुभ अवसर मिलता है। एक योगीको ऐसा साधन करनेका अवसर प्राप्त कर देनेका अधिकार ऐसे गृहस्थियोंकोही है। इसलिये ऐसे गृहस्थाश्रमी बड़े धन्य हैं। अनेक गृहस्थ ऐसा धन्य बने परंतु कितने लोगोंको यह धन्यता प्राप्त होती है इसका विचार पाठक ही करें। जो गृहस्थाश्रम ऐसा पुण्यकारक है वही बालकका पालन स्थान बना हुआ है यह अत्यंत इष्टकी बात है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

पूर्वसंस्कारोंकी प्राप्ति

इस प्रकार ब्रह्मचारी योगियोंके घरमें जन्मा हुआ बालक बाल्यपनसे ही पावन आचार विचारमें बढ़ता है वह ध्यान करनेके लिये उसके सामने दूसरा कोई अशुभ विचार उपस्थित आचार रहता नहीं। पूर्वजन्मके सब योगसाधनके संस्कार उसके कारण-देहमें संगृहीत होते हैं। यहाँ उसके परिशुद्ध वातावरणसे वे पूर्वसंस्कार जाग उठते हैं और वह आत्माका साधन करनेके लिये प्रवृत्त होता है। किसी किसी समय इसकी परिस्थिति खास प्रकारकी हो जाने पर भी आन्तरिक संस्कार उसे योगसाधनकी ओर खींचते हैं और वह परवश-सा होकर योगसाधनमें खिंचा चला जाता है और जन्मजन्मान्तर परिशुद्धता होनेके कारण उसकी उन्नति इस साधनमें शीघ्र होती है। किसी तरह रुकावट न होनेके कारण वह थोड़ेहीमें सिद्धिको प्राप्त करता है। इस समय 'योगभ्रष्ट' की अवस्था बड़ी उच्च होती है।

कई लोग शब्दज्ञ अर्थात् शास्त्रार्थ करनेमें बड़े ही चतुर होते हैं (शब्दब्रह्मणि निष्णाताः) ऐसे शब्दज्ञानी लोग यद्यपि जगत्‌में बड़े चतुर समझे जाते हैं तथापि उनका चातुर्य केवल शब्दोंके वर्णनमें ही होता है। दूसरे कई पुरुष (योगस्य जिज्ञासुः शब्दब्रह्म अति वर्तते) योग साधनमें जिज्ञासा रखनेवाला श्रेष्ठ होता है। फिर योगसाधन करनेवाले तो उससे श्रेष्ठ होनेमें कोई शंका ही नहीं। केवल शब्दज्ञानसे व्यवहारज्ञान अधिक महत्त्वका है इसमें संदेह नहीं है। जैसा स्नानसे शरीरकी पवित्रता होती है। ऐसा शब्दज्ञान किसीको है परंतु वह कभी स्नान नहीं करता उसे इस ज्ञानसे क्या लाभ हो सकता है? परन्तु यदि कोई स्नानके सब गुण नहीं जानता परन्तु प्रतिदिन स्नान करता है तो वह स्नान करनेवाला केवल स्नानके गुण जाननेवालेसे कई गुणा अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि वह आचरण करता है। इस कारण योगके शाब्दिक ज्ञानकी अपेक्षा यथार्थ आचरण अधिक लाभ दायक होता है।

सिद्धिलाभ

पूर्व जन्मके संस्कारोंसे वह योगी उत्तम परिस्थितिमें जन्म लेकर उसी परिस्थितिमें पाला जाकर स्वभावप्रवृत्ति से ही योगसाधनमें तत्पर हो जाता है। (प्रयत्नात् यतमानः) प्रयत्न करता हुआ वह योगी अपने (संशुद्ध किल्बिषः) सब पाप धोकर शुद्ध बनकर (अनेक-जन्म-संसिद्धः) अनेक जन्मोंसे अपनी उन्नति करता हुआ सिद्ध बनकर (परां गतिं याति) परम गतिको प्राप्त करता है। अर्थात् जो मनुष्यजन्मका साध्य है वह उसे प्राप्त होता है अथवा वह कृतकृत्य बनता है। वह परम उच्च स्थिति है वही ब्राह्मी स्थिति है। मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त होनेके लिये ही इस संसारमें आता है, वह स्थिति उसको इस तरह प्राप्त होती है। एकही जन्ममें सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये ऐसा आग्रह किसी कामका नहीं है। प्रयत्न करना साधकके अधीन है। अतः साधक प्रयत्न करे सिद्धि इस जन्ममें न भी मिली तो दूसरे जन्ममें अवश्य मिलेगी। स्मरण इस बातका रखना चाहिये कि—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गीता ६।४०)

" कोई शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं हो सकता। इस परमेश्वरके आश्वासनका स्मरण रखकर मनुष्य अपना योगसाधन करे। कितना समय लगता है इसका विचार साधक न करे क्योंकि गीतामें कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। २।४०
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥ ७।१९
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ६।४५

इस तरह अनेक जन्मोंके संस्कार कार्य करते हैं। इसलिये आज जो अपना कर्तव्य होगा उसको अच्छी तरह इस रीतिसे निभाना चाहिये। तब आगेके जन्ममें सिद्धि अवश्य होती है। शीघ्रता करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। योगसाधन करनेकी अपना उद्देश्य बनाना चाहिये क्योंकि सब साधनोंमें यही साधन श्रेष्ठ है, इस विषयमें भगवान्‌के तेजस्वी वचन देखिये—

अन्वयः— योगी तपस्विभ्यः अधिकः, ज्ञानिभ्यः अपि च अधिकः मतः, योगी कर्मिभ्यः च अधिकः, तस्मात्, हे अर्जुन! त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥ सर्वेषां अपि योगिनां यः श्रद्धावान्, मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते सः मे युक्ततमः मतः ॥ ४७ ॥

योगी तपस्वी लोगोंसे अधिक है, ज्ञानियोंसे भी अधिक माना जाता है, योगी कर्म करनेवालोंसे भी अधिक है, इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो ॥ ४६ ॥ सबही योगियोंमें जो श्रद्धावान् मुझमें अपने अन्तरात्माको लगाकर मुझे भजता है, वह मुझे सबसे अधिक मान्य है ॥ ४७ ॥

भावार्थ— तपस्वी, शास्त्रके ज्ञाता और कर्मकाण्डियोंसे योगी अधिक उत्तम है, इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य योगी बने। इन सब योगियोंमें भी जो अपना अन्तःकरण परमेश्वरमें एकनिष्ठासे लगाता है और श्रद्धासे भक्ति करता है, वह योगी भक्त ईश्वरको अधिक प्रिय होता है अर्थात् वही शीघ्र परम गति प्राप्त करता है ॥ ४६, ४७ ॥

(४६-४७) पूर्व स्थानमें कहा कि शुभ कर्म करनेवाला योगी कभी नष्ट नहीं होता। शुभ कर्म अनेक हैं- जैसे कि तप करना, शास्त्राभ्यास करके ज्ञान संपादन करना, शास्त्रोक्त कर्म करना, योगसाधन करना और भक्ति करना आदि सब मार्ग हैं। इनमें कौनसा मार्ग उत्तम है, अधिक लाभकारी है, निःसन्देह हित करनेवाला है, ऐसी शंका यहां हो सकती है। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि तपस्वियोंसे योगी श्रेष्ठ है। जो हठसे शीत उष्ण सहन करना, उपवास करना, धूम्रपान, चान्द्रायण आदि करना ये और इस प्रकारके तपका अनुष्ठान करते हैं, इन तपस्वियोंसे योगमार्ग अधिक अच्छा है।

दूसरे ज्ञानी हैं, शब्दब्रह्ममें निष्णात (शब्दब्रह्मणि निष्णातः । म. शि. १० मैत्री ६।२२) अर्थात् शाब्दिक ज्ञानमें चतुर व्याख्यान देने, प्रवचन करने, शास्त्रचर्चा करनेमें बड़े निपुण जो होते हैं, जिनका व्याख्यान सुनकर सुननेवालोंको संतोष होता है परन्तु अनुभवका ज्ञान जिनके पास नहीं होता है वे शब्दज्ञानी यहां ज्ञानी शब्दसे लिये जाते हैं, इसके पूर्वके श्लोकमें कहा है।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।

योगका जिज्ञासु शब्दज्ञानीकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है यही बात यहां (ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः योगी) ज्ञानियोंसे योगी अधिक है इस वाक्यमें कही है। शाब्दिक ज्ञानियोंमें कुछ विशेष योग्यता नहीं है। उसके साथ अनुभवका योग चाहिये।

कर्ममार्गी जो श्रद्धासे शास्त्रोक्त कर्म करते हैं वे कुछ भी उपपत्ति नहीं जानते। इसलिये (अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ कठ उ. २।५) अन्धेके पीछे जानेवाले अन्धोंकी उपमा उपनिषत्कारोंने इन कर्मठोंको दी है। इनसे योगी अच्छा है क्योंकि वह जो करता है वह सब कौशल्यसे और समताभावसे करता है। इसलिये कर्मठोंसे योगी अधिक श्रेष्ठ है।

इस तरह हठसे तप करनेवालों, शास्त्रचर्चा अथवा शास्त्रवाद (या वेदवाद) में रमनेवालों और कर्मठियोंसे योगी अधिक उच्च है ऐसा यहां कहा। यहां आया हुआ ज्ञानी शब्द, तपस्वी और कर्मी इनके मध्यमें रखा होनेके कारण इनके साहचर्यसे ज्ञानमार्गीका वाचक नहीं है, केवल सामान्य ज्ञान, शास्त्रज्ञान, केवल शाब्दिक ज्ञानका वाचक है। जिसकी निन्दा इससे पूर्व 'वेदवादरत' (गी. २।४२) 'शब्दब्रह्मातिवर्तते' (गी. ६।४४, इत्यादि स्थलोंमें की है। इसी तपस्वी और कर्मियोंमें यहां शब्दज्ञानी आ सकते हैं। ज्ञानमार्गकी तो अन्तिम श्रेष्ठताकी स्थिति है। क्योंकि कर्म योग आदिसे वह अन्तिम ज्ञान होता है और इसलिये वह ज्ञान योगसे कनिष्ठ नहीं हो सकता। जो ज्ञान योगसे कनिष्ठ है वह शाब्दिक ज्ञानही है। इस विषयमें छांदोग्य उपनिषद् अ. ७ में नारदमुनीका सनत्कुमारसंवाद है। वह देखने योग्य है। नारद सनत्कुमार महात्माके पास गया और उनसे कहा कि मैंने वेद और शास्त्र सब पढे हैं अब मुझे ज्ञानका उपदेश कीजिये। फिर उस सद्गुरुने नारदको उपदेश दिया कि यह वेदशास्त्रके शाब्दिक ज्ञानकी एक अवस्था है और गुरुके उपदेशद्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्मज्ञानकी अवस्था उससे ऊंची है ऐसा स्पष्ट होता है। यही बात यहां गीतामें है।

अब रही एक शंका वह यह है कि योगियों और भक्तोंमें कौन श्रेष्ठ है। इसका उत्तर इसी अध्यायके अन्तिम

श्लोकमें दिया है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि योगियों और भक्तोंमें 'योगी भक्त' परमात्माको अधिक प्रिय है। जैसा ईश्वरको योगी भक्त अथवा भक्त योगी प्रिय है वैसा न तो केवल योगी प्रिय है और नाही केवल भक्त प्रिय है। इसलिये कहा है कि संपूर्ण योगियोंमें 'ईश्वरमें चित्त लगाकर श्रद्धासे ईश्वरभक्ति करनेवाला ईश्वरका अत्यन्त प्रिय है।'

यहांका योगी शब्द कर्मयोगी हठयोगी भक्तियोगी ज्ञानयोगी आदि सब प्रकारके योगियोंका वाचक हो सकता है तथा केवल निष्काम कर्मयोगियोंका भी वाचक हो सकता है। इस श्लोकका मुख्य आशय यह है कि भक्तिके बिना योग व्यर्थ है। योगके साथ भक्ति चाहिये। यही श्रेष्ठ भक्त योगीके तीन विशेष लक्षण यह हैं—

१ मद्गतान्तरात्मा = ईश्वरमें अन्तःकरण लगाना।
२ श्रद्धावान् = श्रद्धा अन्तःकरणमें धारण करना।
३ भजते = भजना सेवा करना।

जो योगी इन तीन लक्षणोंसे युक्त होता है वह सबसे श्रेष्ठ है। इन तीन लक्षणोंके साथ योगीके भी लक्षण साथ साथ देखने चाहिये—

४ कर्मसु कौशलम् = कर्ममें कुशलता (गी० २।५०)
५ समत्वं = समता अर्थात् न इधर झुकना और न उधर झुकना। (गी० २।४८)
६ कामक्रोधोद्भववेगसहने = कामक्रोधादि वेगका सहना (गी० ५।२३)

इनमें ये तीन लक्षण योगीके हैं और पूर्वोक्त तीन लक्षण भक्तके हैं। ईश्वरको केवल पूर्वोक्त तीन लक्षणोंवाला भक्त भी प्रिय नहीं और केवल इन तीन लक्षणोंवाला योगी भी प्रिय नहीं, परन्तु छहों लक्षणोंसे संपन्न भक्त योगी ही प्रिय है।

जो कर्म करनेकी कुशलता संपादन करता है जो इंद्रिय विषयोंमें समभाव रखता है अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल स्थितिमें भी अपना समत्व नहीं छोड़ता और जो कामक्रोधादि रिपुओंका वहाँ वश उसके आधीन नहीं होता वह योगी कहलाता है। यह युक्तमना करता है होके न रहता और कामक्रोधोंका वशमें रखना यह बड़ा मुख्य है। कारण विकार होने या इन्द्रियोंके परिपूर्णता नहीं होती है यह मन न जाने कहाँ चला जायगा। क्योंकि लक्षण भी इनमें सम्मिलित होने पर पूर्णता हो सकती है इसलिये ये लक्षण अब देखिये—

१ ईश्वरमें चित्त लगाना, २ ईश्वरमें श्रद्धा रखना और ३ ईश्वरकी सेवा करना ये तीन लक्षण भक्तके हैं। ईश्वर परमात्मा अथवा परब्रह्म ये शब्द अन्तिम महाशक्तिके वाचक हैं। उस महाशक्तिमें मन लगाना और श्रद्धा रखना। इसका अर्थ ऐसा है कि जहां यह एकाग्र होता है उसका रूप और गुणधर्म वह स्वीकारता है। अतः यह ईश्वरमें लग कर यह ईश्वररूप बन जाता है ईश्वरकी शक्ति उसमें आने लगती है। जैसे कि लोहा अग्निमें रहनेसे अग्निके गुणोंसे युक्त बन जाता है वैसेही मन बुद्धि आत्मा परमात्मासे लग जानेसे तद्रूप बनते हैं अर्थात् उनकी महाशक्ति थोड़ी थोड़ी इनके अन्दर आने लगती है। यह एक विशेष लाभ है जो योगीके लक्षणोंसे विलक्षण है। योगीके लक्षणोंमें यह महाशक्तित्व मिल जाय तो निःसंदेह अधिक सफलता होगी।

अब रही ईश्वरकी भक्ति करनेकी (भजते) 'भजना' है का अर्थ सेवा करना है। भक्ति अथवा भजनका अर्थ नामजप करना है ऐसा लोग समझते हैं, परन्तु यह अर्थ अपूर्ण है। भक्तिका मूल अर्थ सेवा करना है (भज् सेवायाम्) भज का अर्थ सेवा करना है। इसी भज् धातुसे भक्ति, भजन भक्त ये शब्द बने हैं। सेवा सेव्य सेवक ये इसके रूप हैं। स्वामीकी सेवा किस प्रकार करनी चाहिये? इसका उत्तर इतनाही है कि स्वामीका जो कार्य है वह सेवक करे। केवल वेतन पाना या उसकी सेवाका मूल्य होनेसे उसमें सकाम भावना और अवलम्बित सेवा करेगा तो उसकी सेवा अपूर्ण समझी जायगी। अतः सकाम और निष्काम ऐसे दो भेद होते हैं। सकाम सेवासे निष्कामसेवा श्रेष्ठ है इसका आशय यही है।

स्वामीका जो कार्य है वह सेवकको निष्काम भावसे अर्थात् अवलम्बित भावसे करना चाहिये और सेवकको सब प्रकारसे स्वामीकी योजनासे चलना चाहिये। यही भक्तिमार्गमें इष्ट कहा है। अनन्य भावसे सब कार्य करता है और इस प्रकार आत्मोन्नति साधता है।

अब प्रश्न होता है कि यह ईश्वरकी सेवा कैसे करें? इसके उत्तरमें इतना ही कहा जा सकता है कि जब यह

कर्म करे कि जो ईश्वरको अभीष्ट हों । ईश्वरके अभीष्ट कार्य कौनसे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गी० ४।८)

(१) साधुओंका परित्राण (२) दुष्टोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना ये तीन कर्म करनेवाले हैं इन कर्मोंके लिये परमेश्वरको बारबार अवतार धारण करना पड़ता है हमारे प्रभुके ये कर्म विहित हैं । यदि किसी भक्तको परमेश्वरकी सेवा करनी हो तो वह इन कर्मोंको करे इन कर्मोंको फलकी अपेक्षा न करके करे । संक्षेपसे यहां संपूर्ण भक्त योगी के कार्यक्रमका पता लगा । वह इस प्रकार है—

१ भक्त अपने मनमें ईश्वरकी महाशक्तिका ध्यान करे मनको इस महाशक्तिसे परिपूर्ण करे इसको छोड़कर मनमें दूसरे विचार न रखे ।

२ इस महाशक्तिपर दृढ़ विश्वास रखे । कभी अविश्वासी न बने ।

३ अपने प्रभुके कार्य सज्जनोंका परित्राण दुष्टोंका विनाश और मानवधर्मकी व्यवस्था ये तीन हैं ऐसा माने । ये कार्य फलकी इच्छा न करता हुआ ईश्वरकी संतुष्टिके लियेही करता रहे ।

४ ये तीन कर्म अत्यंत कुशलताके (योगः कर्मसु कौशलम्) करे । इन कर्मोंको करनेमें किसी प्रकार दुर्बलता अथवा शिथिलता न करे ।

५ शीत-उष्ण हानि-लाभ आदि द्वन्द्व उपस्थित होनेपर भी उन द्वन्द्वोंको तुच्छ मानकर पूर्वोक्त तीन कर्म तत्परतासे करे ।

६ काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि शत्रुओंके वशमें होकर अपने कर्तव्य न छोड़े अपितु इन शत्रुओंको पराजित करके अपने कर्तव्य करता रहे ।

योगी भक्त अथवा भक्त योगी ये कर्म करता है क्योंकि ये कर्म प्रभुके लिये अत्यंत अभीष्ट होनेसे प्रभु इनसे अत्यंत संतुष्ट होता है । स्वामीके लिये जो प्रिय कर्म हैं उनको जो तत्परतासे करता है उसपर स्वामी संतुष्ट होता है यही बात यहां कही है । प्रभुके कर्म यही हैं, अवतारोंमें तथा महात्मत्व आदिमें यही कर्म प्रभुके हैं ऐसा स्पष्ट लिखा गया है । भगवद्गीतामें अपने यही कर्म हैं ऐसी घोषणा स्वयं अपने शब्दोंमें इसलिये की है कि भक्तोंको संदेह न हो और क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इस विषयमें विवाद उत्पन्न न हो इसलिये प्रभुने स्वयं पूर्वोक्त कर्मोंकी घोषणा की है । इससे सिद्ध है कि (१) सज्जन रक्षा, (२) दुष्ट-विनाश और (३) धर्मव्यवस्था ये तीन कर्म प्रभुको प्रिय हैं और (१) सज्जनोंको कष्ट देना (२) दुष्टोंकी सहायता करना और (३) धर्मकी अव्यवस्था करना ये तीन कर्म अप्रिय हैं । प्रभुको जो कर्म प्रिय हैं वे ही करने चाहियें और जो उसको अप्रिय हैं वे नहीं करने चाहिये । भक्त योगीके कर्तव्य कौनसे हैं और अकर्तव्य कौनसे हैं इसका निश्चित निर्देश इस प्रकार यहां हुआ है ।

इस तरहका भक्त योगी मुझे (युक्ततमो मतः) अत्यंत श्रेष्ठ मान्य है ऐसा जो यहां कहा है उसका रहस्य यही है क्योंकि स्वामीका आज्ञाधारी सेवक । इस कारण सर्वोत्तम प्रिय स्वामीको अधिक होगा ? और ऐसे सेवकपर प्रसन्न प्रभु क्यों न होजायगा ?

भक्तके कर्तव्य निश्चित रूपसे ये हैं । परंतु भक्तके ध्यान मात्रमें भावना बारबार उच्चार करनेवाला और दूसरा कुछ भी न करनेवाला ऐसे समझ गये हैं । यह वस्तुतः इस धर्मका दुर्दैव है । इस कालकी धर्म कल्पनामें ऐसी एक समझ फैल गयी है कि भक्त बिलकुल निकम्मा होता है परंतु पूर्वोक्त रीतिसे देखा जाय तो भक्त योगीही सबसे अधिक उपयोगी है और जनताका सच्चा नेता हो सकता है । ऐसे योगी भक्त बहुतही थोडे होते हैं । और वेही जनताका उद्धार करनेमें समर्थ होते हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यामें लिखित हुए योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ध्यानयोग नामक यह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायका थोड़ासा मनन

ध्यान—योग

इस श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायमें ध्यानयोगका विचार किया है। और ध्यानयोग यह योगसाधनका सातवाँ योगांग है यह योगांग इस छठे अध्यायमें कहा गया है। इस योगके अंग आठ हैं—

यम-नियम आसन-प्राणायाम- प्रत्याहार-धारणा ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥
तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥ शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥ स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥ स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥ (योगदर्शन)(पा ॥२।३॥)

इन योगदर्शनके सूत्रोंमें योगके आठ अंगोंका स्वरूप कहा है। (१) अहिंसा, सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं, (२) पवित्रता सन्तोष तप अध्ययन और ईश्वरभक्ति ये पाँच नियम हैं, (३) स्थिरता से सुख देनेवाला आसन कहलाता है, (४) श्वास और प्रश्वासकी गतिका निरोध करनेका नाम प्राणायाम है (५) अपने अपने विषयोंको छोड़कर चित्तमें ही इंद्रियोंके स्थिर होनेका नाम प्रत्याहार है, (६) किसीपर चित्तको स्थिर करनेका नाम धारणा है (७) वहाँ एकता का अनुभव आनेसे ध्यान सिद्ध होता है (८) वहाँ अपने ध्यान कार्यको भूलना और ध्यानके विषयकाही केवल भान होनेका नाम समाधि है। धारणा ध्यान और समाधि इन तीनोंकी सम्मिलित स्थितिका नाम संयम है।

योगके ये आठ अंग हैं। इनमेंसे सातवें ध्यान नामक योगांगका विचार इस छठे अध्यायमें किया गया है। यह योग साधन परंपरा देखनेसे पाठकोंको इस बातका निश्चय होगा कि इस अध्यायके ध्यानयोगका विचार करनेके समय इसके पूर्वके छओं अंगोंका विचार होना चाहिये और ध्यानसे सिद्ध होनेवाले अन्तिम समाधिका भी थोड़ासा विचार करना चाहिये। इस तरह यह गीताका छठा अध्याय अष्टांग योगकाही विचार करता है।

यहाँ पाठक पूछेंगे कि गीतामें इस अष्टांग योगका प्रकरण क्यों लाया है? इसके उत्तरमें निवेदन है कि व्यक्तिकी परम उन्नति करनेवाली योगविद्या है और भगवद्गीताका ध्येय व्यक्तिकी परम उन्नति है इसलिये यहाँ इस अष्टांग योगका साधन बताया है। वस्तुतः गीतामें यह योगसाधन थोड़ासाही कहा है विशेष साधनाके लिये योगदर्शन, हठयोगप्रदीपिका घेरण्डसंहिता आदि ग्रंथ देखने चाहिये। परंतु गीतामें जितना योगका भाग कहा है उतना हरएक मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक भाग है। कोई साधक योगका विशेष साधन करे या न करे यह उसकी संमति का प्रश्न होगा परंतु सर्व साधारणको गीतामें कहा योग साधन तो अवश्यमेव करना चाहिये। यमनियमादि योग-साधन अविशेषरूपसे भगवद्गीतामें कहा है अतः कोई बात छोड़ी नहीं है। इसका क्रमशः विचार देखिये—

यमोंका साधन

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
(पा द २।३०)

'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।' ये पाँच यम मनुष्यको पालन करने चाहिये। इन पाँचोंके विषयमें गीताका क्या कथन है यह अब देखिये—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥
गी १०।५॥ अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्॥गी १३।७
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्॥
गी १६।२॥ ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते। (गी १७।१४

उपनिषदोंमें भी—

यत्तपो दानमार्जवमहिंसा०॥ (छां उ ३।१७।४)

स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा० ॥ (प्राण उ ५)
ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च ॥ (आरुणेय उ ३)

इस प्रकार उपनिषदोंमें भी अहिंसाको आचरणीय बताया है। पूर्वोक्त गीताके वचनोंमें अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य इन तीन धर्मोंका उपदेश है। अपरिग्रहके विषयमें गीतामें—

निराशीरपरिग्रहः। (गी ६।१० ; जाबालो उ ५ आरुणेय उ ३ नारद उ ५)

इन शब्दोंके द्वारा उपदेश दिया है। अपरिग्रहका अर्थ है भोगपदार्थोंका संग्रह अपने पास न करना। मगर त्यागका तो यह विषयही मुख्य है। भोगोंके विषयमें असंग रहनेका उपदेश गीतामें प्रमुख स्थान रखता है। निम्न लिखित गीता वचनोंसे भोगोंके विषयमें असंगभाव धारण करनेका उपदेश मिलता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः (गी ३।१९) कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् (गी ३।२५) असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति। (गी १८।४९) बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। (गी ५।२१) असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। (गी १३।९)

इस तरह अनेक स्थानोंमें भोगोंके विषयमें असंग भाव धारण करनेका उपदेश गीतामें अनेक स्थानोंपर है। जो असंगवृत्ति धारण करेगा वह भोगसंग्रह अपने पास क्यापि नहीं कर सकता। इस तरह इन दो शब्दोंमें अपरिग्रह शब्दद्वारा इस असंग्रह वृत्तिकी सूचना दी है और अन्यत्र असंगवृत्तिसे उसी भावका वर्णन किया है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार धर्मोंका वर्णन हमने गीतामें देखा। अब हम अस्तेय के विषयमें देखना है सो अब देखिये-

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (गी ३।१२-१३)

जो दान किये बिना भोग करता है वह चोर है जो यज्ञमें दान करके अवशिष्टका भोग करता है वह निष्पाप होता है परंतु जो दान किये बिना भोग भोगते हैं वे महापापी होते हैं। इस तरह दान परोपकार आदि न करनेवालोंको चोर स्तेन आदि प्रकार निन्दनीय शब्द कहे हैं इससे अस्तेयके विषयमें गीतामें इस ढंग प्रकारसे कहा है ऐसा कह सकते हैं। गीतामें जो इन पांचों यमोंके विषयमें कहा है वह यही है। अब पांच नियमोंके विषयमें गीतामें क्या उपदेश आया है सो देखिये-

नियमोंका साधन

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ (यो द २।३२)

पवित्रता संतोष तप स्वाध्याय ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं अर्थात् इन नियमोंका अभ्यासमें परिणत करना चाहिये। इनके विषयमें गीता और उपनिषदोंमें क्या कहा है सो देखिये-

शुद्धताके विषयमें

स्नानं दानं तथा शौचम्। (शाण्डि उ १, अ.ख.१)
शौचमिन्द्रियनिग्रहः। (स्कंद उ १२)
आचार्योपासनं शौचम्। (गीता १३।७)
तेजः क्षमा धृतिः शौचम्। (गीता १६।३)
शौचमार्जवम्। (गीता १७।१४)
शमो दमस्तपः शौचम्। (गीता १८।४२)

संतोषके विषयमें—

संतोषं योगाभ्यासात्। (मैत्र्यु० ६।१९)
धृतिर्दीक्षा संतोषः। (गर्भ उ ५)
संतुष्टः सततं योगी। (गीता १२।१४)
संतुष्टो येन केन चित्। (गी १२।१९)
आत्मन्येव च संतुष्टः। (गीता ३।१७)

तपके विषयमें—

स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। (गी १६।१)
यज्ञस्तपस्तथा दानम्। (गी १७।)
शारीरं वाङ्मयं ...मानसं तप। (गी १७।१४-१६)
शमो दमस्तपः शौचम्। (गी १८।४२)
तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। (केन ३३)
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्म। (तै उ ३।२।१)

तपसा प्राप्यते सत्त्वम् । (मै उ ४।३)
तपसापहतपाप्मा । (मै उ ४।४)
तपसा चीयते ब्रह्म । (मुंड १।१।८)
लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । (मुंड ३।१।५)
मार्दवं तपः सत्यं तपः । (महाना ८।१)

स्वाध्यायके विषयमें

स्वाध्यायान्मा प्रमदः । (तै उ १।११।१)
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥
(तै उ १।११।१)
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपः ।
(गी १७)
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च । (गी ४।२८)

ईश्वरप्रणिधानके विषयमें

समं सर्वेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । (गी १३।२७)

इस तरह गीतामें और उपनिषदोंमें इन पांच नियमोंके विषयमें कहा है । इनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है । योग दर्शनमें ये यम और नियम उपनिषदोंसे तथा गीतासे लिये हैं । इन ग्रंथोंमें जो यम और नियम बिखरे हुए थे उनको पतंजलिने दो सूत्रोंमें बांध दिया है । इस तरह गीतामें स्थानस्थानपर यमनियमोंका उपदेश है । यह बात इस ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले पाठकोंको भूलनी नहीं चाहिये ।

यमनियम क्या है ऐसा प्रश्न यहां कोई कर सकता है । इसके उत्तरमें बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु यहां विस्तारसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं । मनुष्यका वैयक्तिक आचरण और सामुदायिक आचरण किस प्रकारका होना चाहिये इसका विचार यमनियमोंमें होता है ।

मनुष्य दूसरोंके साथ आचरण करनेके समय अहिंसक वृत्ति धारण करे सत्य पालन करे चोरी न करे ब्रह्मचर्य पालन करे अर्थात् व्यभिचारादि न करे और भोगोंका संग्रह अपने पास करके दूसरोंको भूखा रखनेका हेतु न बने । इन पांच सूचनाओंको मनुष्य अपने मनमें धारण करे और तदनुसार अपना आचरण करे ।

जब व्यक्तिगत व्यवहार करनेके समय पांच नियमोंको ध्यानमें धारण करे । स्वयं पवित्र रहे और अपना स्थान पवित्र रखे मनमें संतोषको स्थिर रखे कभी असंतुष्ट न रहे शीतोष्ण सहन करनेका अभ्यास बढावे विद्याध्ययन करके ज्ञानसंपादन करे और ईश्वर भक्ति करे । वैयक्तिक आचार व्यवहारके लिये ये उत्तम हैं । इनसे मनुष्यकी और समाजकी निःसंदेह उन्नति होती रहेगी ।

आसनोंका अभ्यास

स्थिरसुखमासनम् । (यो द २।४६)

जिससे स्थिरतापूर्वक सुख प्राप्त होता है वह आसन कहलाता है । अर्थात् आसनोंके अभ्याससे शरीरके पुट्ठोंमें बल उत्पन्न होता है और सुख होता है । इसको आरोग्यका सुख कहते हैं । आसनोंके विषयमें भगवद्गीतामें कुछ विशेष वर्णन नहीं है । क्योंकि इसमें केवल ध्यानके लिये आवश्यक आसनका ही वर्णन है । आरोग्यके लिये अन्यान्य आसन करने आवश्यक हैं उनका वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४

सीधे सरल और पवित्र स्थानपर अपना स्थिर आसन लगाना उचित है । दर्भासनपर कृष्णाजिन और उसपर धोती रखकर उत्तम मृदु सुखदायी ऊंचा न हो और नीचा भी न हो, ऐसा आसन बनाया जावे । उस आसनपर मस्तक गर्दन और शरीर समरेखामें धारण करते हुए अपना आसन स्थिर करके लगाया जावे । और मन एकाग्र करके सब इंद्रियोंकी क्रियाओंको बंद करके मनका निरोध करके ईश्वरपर चित्त लगाकर परमेश्वरकाही ध्यान करे । इस प्रकार यह ध्यानयोगके लिये सुखासन अथवा इसी प्रकारका कोई आसन लगाना योग्य है । परन्तु जो आसन शरीर स्वास्थ्यके लिये करने होते हैं वे अन्य हैं । उनका उल्लेख स्वतन्त्र ग्रन्थमें पाठक देख सकते हैं । आसनाभ्यासके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये—

प्राणायामका अभ्यास

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः
प्राणायाम (यो द २।४९)

श्वास और उच्छ्वासकी गति बंद करनेका नाम प्राणायाम है। श्वास और उच्छ्वासकी गतिको रोकनेसे जो स्तब्धता आती है वह प्राणायाम कहलाता है। इस प्राणायामके अनेक प्रकार हैं जो योगके ग्रंथोंमें कहे हैं। प्राणायाममें कुंभकका महत्त्व बहुतही है। कुंभकसे शरीरके रोम रोम शुद्ध होते हैं और कार्यक्षम होते हैं। यह काम उनके विशेष महत्त्वका है। इसीसे दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त हो सकता है। इसके अन्य लाभ बहुत हैं उनका वर्णन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। गीतामें भी (अ. ४ श्लो. २९ और ३० में) प्राणायामका वर्णन है पाठक वह वर्णन वहां देखें। इतनाही प्राणायामका वर्णन गीतामें है।

यहां प्राणायामका अभ्यास इसलिये कहा है कि प्राणायामसे प्राणकी चंचलता दूर जाती है और वह स्थिर होता है। और प्राण स्थिर होनेसे मन स्थिर होता है, क्योंकि प्राण और मन दोनों परस्पर संबंधित हैं। चूंकि ध्यानयोगका अनुष्ठान करना है इसलिये मनकी स्थिरता होनी चाहिये। इसके साध्य करनेके जो अनेक साधन हैं उनमें प्राणायाम एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है। इसी दृष्टिसे गीतामें एक दो बार प्राणायामका उल्लेख आया है।

प्रत्याहारका अभ्यास

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेंद्रियाणां प्रत्याहारः। (यो. सू. २।५४)

अपने अपने विषयोंसे इंद्रियोंको हटाकर अपने आत्मस्वरूपकी ओर उनको अन्तर्मुख करनेका नाम प्रत्याहार है। संपूर्ण इंद्रिय विषयोंकी ओर जाते हैं यह स्वभावधर्म है। अतः इस प्रवृत्तिसे रोककर उनको अन्तर्मुख करनेका अभ्यास इस साधनमें होता है। इन्द्रियोंकी बाह्य प्रवृत्ति बंद करके उनको अन्तर्मुख करना ही एक साधकका कर्तव्य है। इससे भी मनकी चंचलता हटती है। क्योंकि बाह्य विषयोंमें चंचलता अधिक है वहां प्रवृत्त होनेसे मनकी चंचलता बढती है और वहांसे निवृत्त होनेसे चंचलता बढनेका कारणही नहीं रहता इसलिये इस साधनका अनुष्ठान ध्यानयोगके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसके अनंतर धारणाका अभ्यास है-

धारणाका अभ्यास

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (यो. सू. ३।१)

किसी स्थानविशेषपर चित्तको स्थिर करनेका नाम धारणा है। किसी चित्र, मूर्ति पदार्थ अथवा वस्तुको सन्मुख रखकर उसपर अपना चित्त स्थिर करना, अर्थात् उस स्थानसे चित्तको न हिलने देना इसका नाम धारणा है। पाठक मनमें समझें कि यहां ध्यानयोगका प्रारंभ हुआ है। क्योंकि ध्यान नाम इसी अभ्यासके आगेका है देखो-

ध्यानका अभ्यास

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो. सू. ३।२)

अनुभवकी एकतानताको ध्यान कहते हैं। जो अपना अनुभव धारणामें आता है वही ध्यानमें दृढ हो जाता है। उदाहरणके लिये देखिये कि रात्रिमें आकाशमें किसी एक नक्षत्रपर आपने धारणा करनेका अभ्यास शुरू किया, तो प्रथम चित्त वहां स्थिर नहीं रहता इधर उधर विचलित होता है। जबतक विचलित होता रहता है तबतक इधर उधरके नक्षत्र दिखाई देते हैं। परन्तु जिस समय चित्त उसी एक नक्षत्रपरही स्थिर होगा उसी समय अन्य नक्षत्र दीखने बंद हो जायेंगे और संपूर्ण आकाशमें केवल वही एक नक्षत्र है, शेष आकाश केवल नीले रंगका है ऐसा दीखेगा। इस तरह केवल एकही नक्षत्रके अनुभव आनेका नाम प्रत्ययकी एकतानता है और यही ध्यान कहलाता है। यह अष्टांगयोगका सातवां भाग है और इसीका विचार गीताके इस छठे अध्यायमें हुआ है। इसीका नाम 'ध्यानयोग' है। अर्थात् इस ध्यानयोगके पूर्व योगके इतने जो अंग हैं उनका अभ्यास पाठकोंको करना चाहिये तब इस ध्यानयोगका अभ्यास होना संभव होगा। यदि कोई मनुष्य इन प्रारंभिक अभ्यासोंको न करते हुए एकदम ध्यानका ही अभ्यास करेगा तो निश्चयसे उसकी प्रगति होगी ऐसा हम नहीं कह सकते परन्तु जो इस प्रारंभिक अभ्यासको करके इस ध्यानयोगका अभ्यास करेंगे उनकी इसमें प्रगति निःसन्देह होगी। इस तरह विदित होगा कि सिद्धिके लिये पूर्व अभ्यासकी अत्यंत आवश्यकता है। अस्तु। इस रीतिसे ध्यानयोगका स्थान कितना उच्च है, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

ध्यानयोगका साधन

ध्यानयोगका अनुष्ठान करनेका उपदेश इस अध्यायमें किया है इसीका विचार अब करना है। सबसे प्रथम आसन तैयार करना है यहां आसन वह है कि जिसपर बैठा जाय

। यहाँ कहा हुआ आसन पूर्वोक्त अष्टांगयोगका ध्यानासन का आसन नहीं है। आसन तयार करनेके विषयमें गीतामें जो कहा है वह इसके पूर्व बताया ही है। दर्भासन उसपर कृष्णाजिन उसपर उत्तम धौत वस्त्र रखकर अधिक ऊंचा न हो और अधिक नीचा न हो ऐसा सुयोग्य आसन बनाना योग्य है। (गी ६।११-१२) ऐसे आसनपर एकाग्रचित्त होकर साधक बैठे और अपना साधन करे। साधनके समय युक्ताहारविहार करे। इस विषयमें कहा है—

युक्ताहारविहार

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन
॥१६॥ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा
॥ १७ ॥ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे
मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तु
मुपायतः ॥ ३६ ॥ (गी ६)

अधिक भोजन करनेवाले बिलकुल उपवास करनेवाले अति निद्रा लेनेवाले अथवा केवल अति जागनेवालेसे योग-साधन नहीं हो सकता। साधक भोजन-आहार विहार तथा कर्म आदि यथायोग्य रीतिसे, नियमित रीतिसे करे किसी प्रकार अनियम न करे। जागना सोना खाना पीना कर्म करना आदि सब यथायोग्य मर्यादासे करे। अपने आपको संयमित रीतिसे मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला साधक योगमें सिद्धि प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो असंयमी है वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ध्यानयोगका साधक किसी भी कारण अनाचार न कर अन्यथा उसका योगसाधन सफल नहीं हो सकता। साधक इस मर्यादाका स्मरण रखें।

मनकी स्थिरता

ध्यानयोगमें मनकी स्थिरता प्राप्त की जाती है। मन अत्यंत चंचल है किसी समय एकाग्र नहीं रह सकता। इस को एकाग्र करनेके लिये ही ध्यानयोगका साधन करना होता है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

मन अत्यंत चंचल है बड़ा हठीला है बड़ा मथनेवाला है बड़ा ही बलवान् है, इसका निग्रह करना कठिन काम है। अभ्याससे अर्थात् बारबार प्रयत्न करनेसे और विषयोंसे दूर रहनेसे मनकी स्थिरता की जा सकती है। यद्यपि वायुकी गठरी बांधनेके समान मनको एकाग्र करना कठिन है तथापि प्रयत्नसे वह साध्य हो सकता है। मन चंचल है अतः वह भटकता रहता है, जहां वह दौडकर जायगा वहांसे उसको वापस लाकर फिर पूर्व स्थानमें स्थिर करनेसे और यह अभ्यास बारबार करनेसे मनको एकाग्र करना संभव हो सकता है। ध्यानयोगका यही अभ्यास है।

पूर्वोक्त आसनपर बैठना और किसी एक वस्तुपर चित्त की एकाग्रता करना। मनके अन्यत्र जानेपर वहांसे उसको वापस लाकर उसी एक वस्तुपर उसको स्थिर करना, यही अभ्यास है। यही बारबार करनेसे ध्यानयोग साध्य होता है। सब अभ्यास इस विधिसे आगता है। पाठक इस विधिको अच्छी प्रकार समझें और तदनुसार अभ्यास करें।

आत्मौपम्य दृष्टि

ध्यानयोगका अथवा सकल योगका साधन करनेके लिये आत्मौपम्य दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है। इसके बिना योगकी सिद्धता नहीं हो सकती। यह दर्शानेके लिये कहा है –

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गी ६।३२)

अपने समान सबको जो देखता है, अर्थात् अपने समान सबको सुख और दुःख होता है, ऐसा जो मानता है उसका परम श्रेष्ठ योगी कहते हैं। आत्मौपम्य दृष्टिसे ही यह परम श्रेष्ठता प्राप्त होती है। किसी देवताका ध्यान करनेवाला मनको उसपर एकाग्र करनेवाला, यमनियम पालन कर प्राणायाम करनेवाला जो योगी है उससे यह गुणा श्रेष्ठ व्यवहारमें यह आत्मौपम्यदृष्टि अपना आचरण

करनेवाला योगी रहता है। क्योंकि सर्वत्र समभावसे देखना ही योगका मुख्य लक्षण है। इसीको सर्वत्र ब्रह्मदर्शन कहते हैं। यह दृष्टि सर्वत्र आत्मसम दृष्टि रखनेसेही प्राप्त होती है।

आत्मौपम्य दृष्टिसे सामाजिक राजकीय और धार्मिक व्यवहारमें भी बड़ा लाभ होता है। अपना आचरण कैसे करना उचित है इसका ज्ञान मनुष्यको इसी दृष्टिसे हो सकता है। अपनेको जैसा सुखदुःख होता है वैसा सबको होता है। यह विचार मनमें आनेसेही क्रूरता दूर होती है। क्रूरताका आधार तब तकही रहता है जब तक यह मनुष्य मानता है कि जैसा मुझेही सुखदुःख होता है वैसा दूसरोंको नहीं होता। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि संपूर्ण धर्मशास्त्र और आचारशास्त्रका उद्गम इसी आत्मौपम्य दृष्टिसे हुआ है। यदि धर्मशास्त्रमेंसे आत्मौपम्यदृष्टि हटाई जायगी तो उस स्थानपर कोई धर्मशास्त्र स्थिर नहीं रहेगा। इतना आत्मौपम्य दृष्टिका महत्व है।

सम बुद्धि

आत्मौपम्यबुद्धिके समानही समबुद्धि धारण करनेका महत्व इस योगसाधनमें अत्यंत है। समबुद्धिके बिना कोई मनुष्य ध्यानयोग कर नहीं सकता। तथा ध्यानयोग करने लगे और समबुद्धि न हुई तो सिद्धि भी उसको प्राप्त नहीं हो सकती। समबुद्धिका वर्णन गीतामें कई स्थानोंपर आया है और इसी अध्यायमें भी इस प्रकार वर्णन है-

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गी. ६।९)

मित्र शत्रु सुहृद द्वेष्य पापी मध्यस्थ, उदासीन बन्धु और सज्जनोंके विषयमें समबुद्धि धारण करनेवाला विशेष योग्यतावाला होता है। साधारणतया मनुष्यका स्वभाव ऐसा होता है कि वह अपने मित्रके साथ प्रेम करता है उसके दोष छिपाता है शत्रुका द्वेष करता है और उसके गुण भी दोषरूपसे देखता है अर्थात् वह समदृष्टि नहीं है। मित्रको ओर देखनेकी दृष्टि और होती है और शत्रुकी ओर देखनेकी दृष्टि और होती है। यह दो प्रकारकी दृष्टि होनेसे वह समदृष्टि नहीं है। इसमें पक्षपातका भाव है। अपने पुत्रके दोष न देखना और दूसरोंके दोषही देखना दुर्गुणोंकाही प्रचार जगत्‌में हो रहा है। यह न हो और सद्गुणोंकाही प्रचार जगत्‌में हो इसलिये इस समदृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मौपम्यदृष्टिसे जगत्‌के झगडे दूर होते हैं और सम बुद्धिसे द्वेषका मूलही नष्ट होता है अर्थात् ये दोनों मानवसमाजके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक विषय हैं। अतः योगीको इनके पालन करनेकी सूचना यहां दी है।

कर्मफलका दान

कर्मफलका भोग न करनेका उपदेश योगमार्गमें विशेष प्रधान स्थान रखता है योगका ही यह योगके लिये कर्म है। और कोई भी कर्म किया जाय तो उसका कुछ न कुछ फल तो कर्ताको मिलता ही रहता है। फल बुरा हो या भला यह बात और है परन्तु फल मिलेगा इसमें संदेह नहीं है। प्रत्येक कर्मका फल मिलनेवाला है। फल मिलनेवाला है इसीलिये उसका फल भोगनेके लिये मुझको मिलना चाहिये ऐसी भोगेच्छा साधकके अन्दर होना अत्यंत स्वाभाविक है परन्तु यह फलभोगकी इच्छा ही योगसाधनमें हानि करनेवाली है। इसलिये कहा कि-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च ॥ (गी. ६।१)

जो मनुष्य कर्तव्यकर्म करता है परन्तु उसका फल अपने भोगके लिये नहीं रखता, वह योगी होता है। अर्थात् योगी होनेके लिए कर्म करना चाहिये परन्तु उसका फल अपने पास न रखते हुए सबकी भलाईके लिये अर्पण करना चाहिये। अनासक्तिके इस विषयमें अध्यायमें निम्न लिखित उपदेश आये हैं—

१ निराशीः = आशारहित फलाकांक्षारहित (६।१०)

२ अपरिग्रहः = जो भोगसाधनोंका संग्रह अपने पास नहीं करता (६।१०)

३ सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः = संपूर्ण भोगपदार्थोंके विषयमें निःस्पृह (६।१८)

४ संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः = संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले कामोंको विशेष रीतिसे त्यागना चाहिए। (६।२४)

५ प्रशान्तरजस् = रजोगुण अर्थात् भोग भोगनेका गुण जिसमें दूर वा शान्त हुआ है। (६।२७)

कर्मका फल अपने उपभोगके लिये न रखनेका निर्देश इसमें स्पष्ट हुए हैं । यहां (कर्मफल अनाश्रितः) कर्मके फलका आश्रय न करनेको कहा है । अपने लिये कर्मके फलका आश्रय न करे। फिर वह कर्मका फल कहां जाय ? क्योंकि फल तो उत्पन्न होनेवाला ही है। यदि वह कर्ताके पास न रहा तो किसी दूसरेके पास वह अवश्य जावेगा । वह किसके पास जावे यह प्रश्न बडे महत्त्वका है। इस बातके विषयमें भगवद्गीतामें कई प्रकारसे कहा है—

कर्मफलसंन्यास = कर्मके फलका सुरक्षित स्थानपर विधिरूपसे रखना

कर्मफलदान = कर्मके फलका किसीको निश्चित उद्देश्यसे दान देना।

कर्मफलत्याग = कर्मके फलका विशेष उद्देश्यके बिना दान देना

कर्मफलसमर्पण = कर्मके फलका अर्पण करना

जगतमें व्यक्ति और समाज ऐसे दो पुरुष हैं। एक व्यष्टि है और दूसरा समष्टि है । प्रत्येक मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल या तो व्यक्तिको मिलता है अथवा समाजको मिलता है । यदि व्यक्तिने अपने कर्मका फल अपने पास रख लिया तो वह व्यक्तिके पास रहेगा परन्तु यदि व्यक्तिने अपने कर्मके फलको अपने पास नहीं रखा तो वह समाजके पास ही जावेगा । इस नियमको अनुभवमें देखनेके लिये हम एक उदाहरण लेते हैं। एक ग्राममें सौ मनुष्य हैं और उस ग्राममें हजार फलके वृक्ष हैं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यके दस दस वृक्ष हुए। प्रत्येक मनुष्य दस दस वृक्षोंका पालन यथायोग्य रीतिसे करता है । यदि किसी एक व्यक्तिने अपने दस वृक्षोंके फल अपने घरमें नहीं संगृहीत किये तो वे सब ग्रामके होंगे और वे सब ग्रामके लोगोंमें वितरण किये जावेंगे अर्थात् स्पष्ट यह समझें कि कर्मका फल या तो व्यक्तिके पास रहेगा अथवा समाजके पास जायगा, वह किसी प्रकार चोरी नष्ट नहीं होगा । इसलिये कर्ता अपने कर्मका फल स्वयं भोगे अथवा उसका त्याग दान भाग या अर्पण करे अर्थात् समाजका रखे, स्वयं भोगे अथवा परोपकार करे स्वयं भोगे अथवा जनताके लिये समर्पण करे। किसी अवस्थामें कर्मका फल नष्ट नहीं होता ।

एक मनुष्य किसी स्थानपर नौकरी करता है और वेतन पाता है । वह वेतन उसके कर्मका फल है । वह चाहे स्वयं भोगनेके लिये अपने पास रखे अथवा जनताकी भलाईके लिये समाजको समर्पित करे । यदि वह व्यक्तिके पास न रहा तो समाजके पास रहेगा परन्तु नष्ट कदापि नहीं होगा । व्यक्तिके पास उपभोगके लिये रहा तो उसको संभालनेका भार उस व्यक्तिपर रहेगा इससे व्यक्तिकी चिन्ता बढेगी चोरी आदिका भय होगा इस तरह चित्त व्यग्र होता रहेगा और चित्तकी एकाग्रता नहीं होगी चित्त शान्त भी नहीं रहेगा । इसलिये कर्मका फल व्यक्तिके पास संगृहीत होकर नहीं रहना चाहिये क्योंकि वह अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण होता है । अतः गीतामें कहा है कि व्यक्ति कर्म तो करे परन्तु (कर्मफलं अनाश्रितः) कर्मके फलका आश्रय न करे (अपरिग्रहः) अपने पास भोग-संग्रह न करे (कर्मफलत्यागः) कर्मके फलका सबकी भलाईके लिये दान देवे । सबकी भलाईमें अपनी भलाई है । जब राष्ट्रके अथवा सब ग्रामके सुख बढने पर उसमें अपना सुख भी बढता ही है । क्योंकि ग्रामसभा ग्रामका और राष्ट्रसभा राष्ट्रका पालन पोषण करेगी उससे प्रत्येक व्यक्तिका पालन पोषण होगा ही । फिर व्यक्तिको इस विषयकी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है ? इस तरह गीताके अनुसार संपूर्ण राज्यव्यवस्था ही अलग ढंग प्रकारकी हो जाती है । वह मानवता राज्यव्यवस्था है जिसमें राज्य शासनसंस्था ही सबका यथायोग्य पालनपोषण और योग क्षेम चलाती है । प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना अपना कर्म पूर्ण कौशल्यसे करनेकी अधिकारी है कर्मफलपर सब समाजका अधिकार है । इस प्रकारकी राज्यशासनसंस्थामें यह योग-क्षेमयोग पूर्णतासे सिद्ध हो सकता है अन्यथा व्यक्तिकी सिद्धिके लिये संपूर्ण जगत्का सर्वनाश ही होजाना पडेगा जो सर्वथा अयोग्य है ।

यहां पाठकोंके ध्यानमें कर्मफलत्यागकी संपूर्ण कल्पना आगयी ही होगी । यह तो एक विशेष शासनसंस्थाकी ओर निर्देश है । मनुष्य जब ऐसी शासनसंस्थाका निर्माण करता तब सबका योगक्षेम उत्तम चलेगा और सबको योगसाधन करनेका अवसर मिलेगा और सबको सुख भी अधिक प्राप्त होगा ।

पत्रकाव्यानोंमें भक्त ईश्वरके कर्म करते हैं और ईश्वर सबका योगक्षेम चलाता है ऐसा दर्शाया है। यही भागवत् धर्मसंस्थाका वर्णन है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिके कार्य करे और समष्टि प्रत्येक व्यक्तिका उत्तम पालन पोषण करे। श्रीकृष्ण भगवान् अपने सब भक्तोंका योगक्षेम चलाते थे इन कथाओंका आशय भी यही है। सब लोग गीताके योगका अनुष्ठान करते थे, कोई भोगी नहीं होता था और उनका योगक्षेम श्रीकृष्ण ही चलाते थे। योगी निरिच्छ होनेसे उसकी आवश्यकताएं भी अत्यंत न्यून होती हैं। आजकल भोगवासनाओंकी वृद्धि होनेसे आवश्यकताएं भी बढ़ गई हैं और आवश्यकताएं बढ़नेसे दुःख भी बढ़ गये हैं। इन सब दुःखोंको दूर करनेके लिये यही एक उपाय है जो कर्मफलत्यागके नामसे गीतामें वर्णित है।

पाठक इस ढंगसे योगीके जीवनका विचार करेंगे तो उनके मनमें एक आदर्श राज्यशासनकी कल्पना आ सकती है जिसमें संपूर्ण जनता इस गीतोक्त योगधर्मसे चलनेवाली होगी और जिसमें सब लोग सुखी होंगे। ध्यानयोग गीताके पुरुषोत्तमयोगका एक भाग अथवा एक साधन मात्र है और कर्मफलत्यागके बिना गीताका कोई योग सिद्ध नहीं हो सकता इसमें संदेह नहीं है।

संकल्पत्याग

कर्मफलत्यागके साथ सर्वसंकल्पत्यागका भी घनिष्ठ संबंध है क्योंकि संकल्पत्यागके बिना फलत्याग हो नहीं सकता। यहां संकल्पोंसे भोगके संकल्प ही अभिप्रेत होते हैं। अतः इसके विषयमें इस अध्यायमें बारबार कहा है—

> न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
> यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
> सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
> असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥३६॥
> (गी० ६)

सर्व संकल्पोंका त्याग किये बिना योगसाधन नहीं हो सकता। सर्व संकल्पोंका त्याग करनेके लिये इंद्रियोंके भोग और कर्मोंके फलके भोग भोगनेकी सब कल्पनाओंको छोड़ना चाहिये। यहां भोगभावनाकी अपनी उपाय दी गयी है। जैसे कि साधक किसी भी भोगकल्पनाको न करता हुआ आत्मरूपसे निर्विकार स्थितिमें रहता है वह निर्विकल्प निर्विकार स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। संकल्पत्याग करनेसेही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

कर्म और शम

योगसाधनके लिये कर्म भी करने चाहिये और इंद्रियोंका शम भी करना चाहिये। प्रारंभमें कर्मकी आवश्यकता विशेष है और आगे शमकी महती विशेषता है। इस विषयमें कहा है—

> आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
> योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ६।३

योगसाधन करनेके समय अर्थात् योग-भूमिपर आरूढ होनेके समय कर्म करने चाहिये और जब योगभूमिपर साधक पहुंचेगा तब उसको इंद्रियशमन सतत करना चाहिये। वास्तवमें कर्म और शम ये दोनों साधन योगमें सतत उपयोगी हैं, परन्तु प्रारंभ अवस्थामें कर्मोंका उपयोग विशेष है और उत्तर अवस्थामें शमका विशेष है। मनिवर्ती (चित्त प्रसादः । ६।२४) चित्तशुद्धिके लिये अनेक अनुष्ठान करने होते हैं वे अनुष्ठान करनेसे जब चित्त शुद्ध होकर स्थिर हो जायगा तब शान्तचित्त योगीके लिये इन कर्मोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है। वह उस समय बाह्य साधनों पर अवलंबित नहीं रहता उस समय उसको आंतरिक साधन ही आवश्यक होते हैं। जिसका नाम शम है इंद्रियोंकी शांति अथवा इंद्रियशमन अथवा इंद्रियदमन है। इस श्लोकमें साधककी प्रारंभिक और उत्तर ऐसी दोनों अवस्थाओंका वर्णन है इनके मननसे पाठक अपनी साधनाके विषयमें बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। यहां जो शम कहा है उसके विषयमें पाठक इंद्रियसंयमका भी प्रयोग कर सकते हैं। शमका प्रारंभ इंद्रियसंयम ही है इस विषयमें इस अध्यायमें ये सूचनाएं दी हैं—

१ विजितेन्द्रियः, जितात्मा=साधक अपने इंद्रियोंको विशेष रीतिसे जीते अर्थात् उनको अपने आधीन रखे उनके आधीन न हो जावे (६।८)

२ यतचित्तात्मा=चित्त और आत्माका संयम करे अपने आपको अपने आधीन रखे, (६।८)

३ मनः संयम्य = मनका संयम करे, (६।१४)

४ नियतमानसः = जिसने मनको स्वाधीन किया है; (६।१५)

५ यतचित्तः-जिसका चित्त स्वाधीन हुआ है (६।१९)

६ मनसा इन्द्रियग्रामं समन्ततः विनियम्य=मनसे अपने अपने इन्द्रियोंको सब ओरसे संयमित करे। (६।२४)

इस तरह इंद्रियसंयम, मनःसंयम और आत्मसंयमके विषयमें कहा है। यही प्रारंभिक साधन है। यह प्रथम मन लगाके करने योग्य है परन्तु आगे सहजही सिद्ध होनेवाला है। जो पाठक इंद्रियोंको स्वाधीन करनेका यत्न करेंगे उनकोही उसके श्रमका पता लग सकता है। यह संयमका कार्य बडी सावधानताके साथ करना चाहिये। इसकी साधना शनैः शनैः होनी उचित है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्॥
(गी ६।२५)

शनैः शनैः धैर्ययुक्त बुद्धिके साथ विषयोंसे निवृत्त हो मन अपने अन्दर स्थिर करे और दूसरे किसी विषय का चिंतन न करे। यह है साधन जो करनेसे मन शान्त स्थिर और प्रसन्न होता है। परन्तु यदि किसीने यह अनुष्ठान शनैः शनैः न किया और इंद्रियोंपर अत्याचारयुक्त दबाव डालनेका यत्न किया तो विरुद्ध परिणाम हो सकता है। क्योंकि सब इंद्रियां आक्रमित करनेके मार्गसे चंचलता मचाती हैं और बेचैनीका निर्माण करती हैं। इसलिये जैसे व्याघ्र अथवा सिंह आदि पशुओंको शनैःशनैः प्रेमके साथ वशमें करते हैं वैसेही इन इंद्रियोंको शनैः शनैः उन्हींकी प्रवृत्तिके अनुसार चलते हुए वशमें करना चाहिये।

उदाहरणके लिय देखिये। यदि जिह्वाको वशमें करना है तो जिह्वाकी प्रवृत्ति देखनी चाहिये। जिह्वा क्या चाहती है यह देखकर उसके अनुकूल रहते हुए परन्तु उसकी स्वेच्छा प्रवृत्तिको धीरेधीरे रोकते हुए उसपर मनुष्य स्वाधिपत्य करना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंको स्वाधीन कर नेका अभ्यास करना चाहिये। हठ नहीं करना चाहिये प्रत्युत प्यारके साथ परन्तु एकही संयमसाधनके उद्देश्यसे यत्नवान् होना चाहिये।

निवातस्थ दीप

इस तरह साधन करते करते अच्छी प्रकार साधना होनेके पश्चात् स्थिरचित्त होनेका अनुभव आता है। इसको गीताने निवातस्थ दीप (६।१९) की उपमा दी है। जैसे वायुरहित स्थानमें दीपकी ज्योति शान्त रीतिसे जलती है वैसेही इस योगीका मन शान्त होकर प्रकाशमान होता है। जब तक दीप वायुसे हिलता रहता है तब तक वह पूर्णतया प्रकाश नहीं दे सकता। वह वायुके वेगसे होनेवाले मान होता है और दीप रहता है या बुझ जाता है इस विषयमें भी संदेह होता है। परंतु शान्त वायुमें जलनेवाले दीपके विषयमें देखिये वह अपने पूर्ण प्रभावसे चमकता रहता है उसके जलनेके विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। यही बात मनके विषयमें समझनी उचित है। सामान्य मनुष्यका मन चंचल रहता है। उस समय उसका कोई प्रभाव नहीं दीखता परंतु साधनसंपन्न मनुष्यका शान्त प्रसन्न और स्थिर हुआ मन विलक्षण प्रभावशाली होता है। व्यवहारमें इस बातका अनुभव देखनेसे पाठकोंको चित्तकी स्थिरताका महत्त्व ज्ञात हो सकता है।

एकान्त-सेवन

योगसाधनके लिये एकान्त-सेवनकी अत्यंत आवश्यकता है। प्रारंभमें बहुत जनसंमर्दमें जाना योग्य नहीं है, इससे मनकी चंचलता होती है। अतः कहा है-

१ रहसि स्थितः- योगी एकान्तमें रहे एकान्तसेवन करे (६।१)

एकाकी- अकेला रहे (६।१)

दूसरे मनुष्यके साथ रहनेपर मानसिक अवस्थामें मनकी व्यग्रता होती है। इसलिये एकान्तसेवन करनेका उपदेश यहां किया है। यहां ध्यान रखना चाहिये कि एककी गुरुके आश्रममें रहनेवाले अनेक शिष्योंके रहनेपर भी उसको एकान्त ही मिल जायगा जैसे कि बाहरके लोगोंका उपसर्ग होकर मनकी व्यग्रता बढती है वैसी आश्रमवासी साधकोंकी संगतिसे नहीं बढती। यह विवेक करनेसे जनसंमर्दसे दूर रहनेका तात्पर्य समझमें आ सकता है। साधकका ऐसा एक समय आता है कि उस समय आश्रमवासियोंके साथ रहनेसे भी कष्ट होता है, उस समयको छोडके अन्य समय आश्रमवासियोंकी संगतिसे लाभही होता है। नगरवासियोंकी संगतिमें अर्थात् नागरिक जीवनमें इतने विक्षेप होते हैं कि उनकी गिनती करना कठिन है। नागरिक जीवन योगसाधनके लिये हानिकारकही है। बहुत लोगोंके साथ साथ

रहनेके कारण हवा खराब रहती है इसलिये प्राणायाम करना असंभव हो जाता है। शहरमें अनेक बीमारियोंके बीज रहनेके कारण यह भी एक बड़ा डर रहता है। नाटक तमाशे नाचे आदि अनेकविध उपसर्गोंके सैकड़ों कारण नगर जीवनमें निसर्गसिद्ध रहते हैं। इसलिये योगके अभ्यासके समय एकान्तसेवन करनेका उपदेश किया है। यह योग्य ही है। यदि भगवद्गीताकी शिक्षाके अनुसार ग्रामायत्त-शासन-संस्था का राज होगा तो उस समय आजकलके नागरिक-उपसर्ग उन नागरिकोंमें नहीं होंगे। परन्तु ऐसा समय इस समयके लोगोंका नहीं है। अतः इस समयके लोगोंको एकान्त सेवन अत्यन्त आवश्यक है।

द्वन्द्व-सहन

योगसाधनमें द्वन्द्व-सहन करनेका महत्त्व विशेष है। वस्तुतः सभी मनुष्योंको द्वन्द्व सहन करनेके काम होना संभव है। उदाहरणके लिये देखिये शीत-उष्ण-सर्दी-गर्मी वृष्टि-आतप आदि ऋतुओंकी जो विषमता है वह कइयोंको सहन नहीं होती और कई लोग ऋतुपरिवर्तनके समय रोगी हो जाते हैं। ऋतुपरिवर्तनके कारण बीमार होनेका कारण ही द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिका शरीरमें न होना है। सभी द्वन्द्वोंके विषयमें यह बात सत्य है। मनुष्यमें द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिके रहनेपर ऋतु बदलनेके समय मनुष्य बीमार नहीं होता द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे इतने प्रत्यक्ष लाभ हैं। व्यावहारिक दशामें भी ये लाभ अनुभवमें आते हैं।

हानिलाभ जयपराजय मानापमान ये भी द्वन्द्व हैं। इनके सहन करनेसे भी साधारण मनुष्यका लाभ होते हैं। जो इनको सहन नहीं कर सकते वे दुर्बल लोग हानि या जय और अपमान होनेसे पागल बनते हैं और उनका मस्तिष्क बिगड़ जाता है और वे पराजयकी अवस्थामें आयुको भी नष्ट होते हैं। इस तरह द्वन्द्वकी असमतासे हानि होती है और द्वन्द्व सहन करनेकी शक्तिसे मनुष्य स्थिर होकर अपने स्थानमें स्थिर रहता है। जय होनेसे वह उन्मत्त नहीं होता और पराजय होनेसे वह उदास भी नहीं होता। दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यमें स्थिर रहता है। ऐसा ही द्वन्द्वोंका सहन करनेवाला मनुष्य इस जगत्में उत्तमसे उत्तम स्थानतक प्राप्त कर सकता है। इस लिये योगमें कहा है कि द्वन्द्वोंको सहन करो।

द्वन्द्वका अर्थ युद्ध भी है। द्वन्द्वको सहन करो का अर्थ युद्धको सहन करो ऐसा होता है। युद्धको सहनेका अर्थ युद्धमें विजय प्राप्त करना है, अपनेमें ऐसा बल बढ़ाना कि युद्धमें अवश्य विजय प्राप्त हो। हरएक मनुष्यके सम्मुख इस जगत्में युद्ध हैं, अथवा यों समझो कि प्रत्येक मनुष्य युद्ध क्षेत्रमें खड़ा है अतः उसको यह द्वन्द्वयुद्ध सहन करना ही चाहिये युद्धमें जो प्रतिपक्षीके आघातोंसे त्रस्त होंगे उनको सहना चाहिये और उनसे आहत होकर भागना नहीं चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो वैयक्तिक सामाजिक राष्ट्रीय लोकविषयक अनेकानेक युद्ध चल रहे हैं और मनुष्यको उनका सामना करना पड़ता है। इन युद्धोंमें विजय प्राप्त करना है तो मनुष्योंका द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपनेमें बढ़ानी आवश्यक ही है। अन्यथा मनुष्यके नाश होनेमें देरी नहीं लगेगी।

मनुष्यका व्यवहार विरुद्ध हो रहा है। देखिये धन मनुष्य अधिक कपड़े पहनता है और चमड़ीकी सर्दी-गर्मी सहन करनेकी शक्ति उस कारण घटती है। इसलिये सर्दी-गर्मीसे वह रोगी बनता है। वनवासी लोग कपड़े भी पहनते इसलिये सर्दी-गर्मीकी बाधा उनको नहीं होती चाहे सर्दी हो या गर्मी वे आनन्दप्रसन्न और स्वस्थ रहते हैं। इसी तरह अन्यान्य द्वन्द्वोंके विषयमें पाठक समझें। योगीके लिये तो द्वन्द्व सहन करनेका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये अन्यथा उसका चित्त दुर्बलता द्वन्द्वोंके साथ युद्ध करनेमें ही लगेगा और उसको एकाग्र होनेमें समय नहीं मिलेगा। अतः गीतामें कहा है—

१ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।
समाहितः। ६।७
१ समलोष्टाश्मकाञ्चनः। ६।८

शीत-उष्ण सुख-दुःख मान-अपमान मिट्टी पत्थर और सोना इनको सम मानना चाहिये। सोनेका अथवा धनका आकर्षण बड़ा भारी है। मिट्टी और सोना समानतासे देखना बड़ा कठिन है। परन्तु यदि साधक ऐसा न देखेगा तो वह सिद्धिको भी नहीं प्राप्त हो सकता। सोनेके लोभमें फँसा मनुष्य उन्नत होही नहीं सकता। शीत उष्णादि द्वन्द्वोंकी अपेक्षा सोने मिट्टीके द्वन्द्व बड़े कठिन हैं। कई अभ्यासी इसी आपत्तिके प्रलोभनमें फँसकर कई शक्ति

हुये हैं। इसीलिये द्वन्द्वोंको सहन करना चाहिये। दुःखका सहन करना सुगम है परन्तु स्वतः प्राप्त होनेवाले वैभव आरामको सहन करना अत्यन्त कठिन बात है। क्योंकि स्वतः प्राप्त हुए अनेक साधन भ्रम उसमें मनुष्यको गिराते रहते हैं। इस तरह विचार करते करते द्वन्द्व सहन करनेका तत्त्व जानना चाहिये और उसका महत्त्व समझकर अपने साथ बर्ते जाना चाहिये।

ज्ञान और विज्ञान

योगसाधकके लिये ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका नाम ज्ञान है और जो सब अन्य शास्त्रज्ञान हैं उनको विज्ञान कहते हैं। सब प्रकारका ज्ञान इसमें आ गया है। भगवद्गीतामें सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञान विस्तारसे कहा गया है। अन्यान्य स्थानोंमें भी कई बार ज्ञानविज्ञानका विषय आया है। भौतिक शास्त्रोंका विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान सबका सब इसमें आता है। योगसाधन करनेवालेको इनके तत्त्व भी अवश्य समझने चाहिये जिससे वह सुख-पूर्वक साधन करके लाभ उठा सकता है। अज्ञानी मनुष्य योगसाधनसे वैसा लाभ नहीं प्राप्त कर सकता जैसा ज्ञान-विज्ञानसंपन्न मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अतः कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा ६।८

२ ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ९।१

ज्ञान और विज्ञान जानकर अशुभसे मुक्त होकर शुभको प्राप्त करेगा। अशुभसे दूर होना और शुभको प्राप्त करना यह ज्ञानविज्ञानका प्रयोजन है और संपूर्ण शास्त्रका उद्देश्य यही एक है। इसलिये योगसाधन करनेवाला साधक यथायोग्य ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करे और उसके प्रकाशमें अपनी साधना करे।

ज्ञान प्रकाशका रूप है और अज्ञान अन्धकाररूप। प्रकाशमें जैसा चलनेका मार्ग दिखाई देता है वैसा अन्धकारमें नहीं दिखाई देता। इसलिये रात्रिके समय किसी स्थानपर जाना हो तो मनुष्य साथ दीप रखते हैं। इसी तरह योगी मुक्तिनगरीका पथिक इस संसारसे अपना मार्ग आक्रमण करना चाहता है। इसको मार्ग दिखानेका काम आत्मज्ञानकी दीप करता है। अतः ज्ञानविज्ञानयुक्त साधक निर्विघ्न रीतिसे अपना मार्ग आक्रमण करता हुआ मुक्तिनगरीको पहुंचता है। पाठक यहां स्मरण रखें कि गीताका मार्ग ज्ञान मार्ग है, इसमें अज्ञानी मनुष्य प्रगति नहीं कर सकता।

निरंतर अभ्यास

साधकको निरंतर अभ्यास करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक साधनाको बीचमें छोडना नहीं चाहिये। आज प्रारंभ किया थोडे दिन छोड दिया फिर कुछ दिन किया, फिर छोड दिया ऐसा नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कुछ न कुछ लाभ तो होगाही, परन्तु संपूर्ण लाभ कदापि नहीं होगा। अतः सिद्धि प्राप्त होनेतक निरंतर योगसाधन करना चाहिये बीच बीचमें दूसरा कार्य करना नहीं चाहिये। जो करना हो वह योगसाधनके लिये हितकारीही किया जावे विरोधक कार्य कभी न किया जावे। इसलिये कहा है—

१ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। ६।१०

२ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। ६।१५

३ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। ६।२१

४ स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। ६।२८

योगी सदा सतत अपना योगसाधन करेगा तो निष्पाप बनकर अपने मोक्षधामको प्राप्त होगा। यहां सतत, सदा ये शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखनेयोग्य हैं। क्योंकि इसीसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा सिद्धि दूर जाती रहेगी। जितना बीचमें व्यवधान होगा उतनी सिद्धि दूर होती रहेगी। जो निरंतर साधन नहीं करेंगे उनकी क्या अवस्था होगी इस शंकाके उत्तरमें गीताने कहा है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
(गी. ६।४५)

प्रयत्नसे योगसाधन करनेवाला साधक निष्पाप बनकर अनेक जन्मोंमें साधनसे सिद्धिलाभ करता हुआ उत्तम अवस्थाको प्राप्त करता है। यहां प्रयत्नसे साधना करनेवालोंकी उन्नति क्रमसे किस प्रकार होती है यह बताया है। इस तरह दोनों प्रकारके साधकोंको अर्थात् सतत साधना करनेवालोंको और यथायोग्य साधना करनेवालोंको

कैसी गति मिलती है यह स्पष्ट कहा है। इससे जो मनुष्य सतत साधन नहीं कर सकते उनको चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि वे सतत अभ्यास कर नहीं सकते तो न सही जितना हो सकता है उतनाही करें। किया हुआ साधना संस्कार कभी नष्ट नहीं होता। वह आगे कभी न कभी उपयोगमें आवेगा ही। इस तरह साधन का महत्त्व है, इसके करनेसे मनुष्य उन्नत होता ही रहता है। इस साधन मार्गमें कोई विघ्न नहीं है और कोई भय नहीं है अतः निर्भय होकर साधना करनेके विषयमें गीतामें कहा है—

निर्भय बनो

भीतिका कोई कारण नहीं है। योगसाधनमें कभी कभी ऐसा भय प्रतीत होता है कि मैं जो साधना कर रहा हूं वह योग्य है या नहीं इससे सिद्धि होगी या नहीं इससे बीचमें कष्ट तो नहीं होंगे बीचमें साधना छूट गयी तो ठीक तो नहीं होगा ऐसे भय बीचमें उत्पन्न होते हैं। इन भयोंसे मनुष्य साधना छोड देता है और साधना स्थानसे अवनति होती है। ऐसा न हो इसलिये कहा है कि—

१ विगतभीः युक्तः। ६।१४

भयरहित होनेवालाही योगाभ्यास हो सकता है। यह बिलकुल सत्य है। डरपोक मनुष्य साधन कर नहीं सकता। योगीको भय अन्दरसे भी होता है और बाहरसे भी होता है। साधना करते करते कुछ अनुभव ऐसे आते हैं कि जिनसे मनुष्य डरता है। जैसा कुंडलिनी उत्थापनके समय बड़ा भारी उष्णता आती है कि मनुष्य बहुत चल भी नहीं सकता। यह अवस्था देखकर मनुष्य घबराता है और योगसाधनसे अकस्मात भागता ऐसा मानकर साधनासे दूर होता है। अन्य इस कठिनतासे या इसीका मार्ग बता सकता है वरना व योग्य साधकका गुरु भी क्या कर सकता है? गुरुपर विश्वास रखकर या स्थिर होना उचित है। इस तरह आन्तरिक उन्नति होते होते स्वानंद प्राप्त होनेतक अन्तानुभव भी समय समयपर भय उत्पन्न करते हैं। इनका त्याग छोडकर अपना मार्ग आक्रमण करना चाहिये या इस तरह न होना हुआ आगे बढेगा वही सिद्धि पा सकेगा।

बाह्य कारणोंसे डर यह है कि किसी समय एकान्तमें बैठकर ध्यान करना होता है। बडे घरमें अकेला रहनेसे भी मनुष्यको डर होता है। यदि कोई ऐसा डरनेवाला होगा तो उससे साधना क्या होगी और उसको फल क्या मिलेगा? इस तरह अन्तर्बाह्य डर छोडनेसे ही योगसाधन होना संभव है अन्यथा नहीं। यह डर विचार और श्रद्धासे ही दूर हो सकता है। और सद्गुरुपर विश्वास रखनेसे भी दूर होता है। जिससे मनुष्य निडर होता है वह विश्वास का बडा भारी काम है। यह श्रद्धाका बल बतानेके लिये कहा है कि—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

जो श्रद्धा रखकर ईश्वरभक्ति करता है, वह उत्तम योगी कहलाता है। श्रद्धाका सामर्थ्य बडा विलक्षण है। यह श्रद्धा और विश्वास बडा सहायक होता है। इससे अनेक कुतर्क विघ्न आदि नष्ट होते हैं और साधनमार्गमें निर्विघ्न रीतिसे चलना संभव होता है। इस तरह मनुष्य साधना करे और आगे बढे।

ब्रह्मचर्य

योगसाधन करनेके समय ब्रह्मचर्य पालन करना अति आवश्यक है। वीर्यस्खलन होता रहा तो साधन होना कठिन है। वीर्यदोषी मनुष्यको एक बिंदुमात्र भी प्रगति साधनमें नहीं हो सकती। इसलिये मार्गमें पराक्रियाएं करीब शुद्धि लिये करते हैं। इन क्रियाओंसे शरीरके प्रभावित होनेपर सब नाडीके दोषदाह हट जाते हैं और शरीरमें वीर्य स्थिर होता है जिससे योगसाधनमें अच्छी तरह प्रगति होती है इस तरह ब्रह्मचर्य साधनका महत्त्व है अतः कहा है—

ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ६।१४

ब्रह्मचर्य पालनके व्रतमें जो स्थिर होता है उससे योगसाधन होता है। ब्रह्मचर्यका पालन जो मनुष्य नहीं कर सकता अर्थात् जिसका वीर्यनाश होता है उससे योगसाधन नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (यो० द०)

ब्रह्मचर्य स्थिर रहनेसे वीर्य प्राप्त होता है वीर्य एक प्रभावशाली शक्ति है। यह शक्ति शरीरकी आन्तरिक और जो बाहरके पुरुषार्थमें है जो शक्ति हमें सहायता दे

है इन सब कर्मोंका कार्य इस वीर्यसेही होता है। वीर्यहीन मनुष्य इसी कारण इन कर्मोंका यथायोग्य कार्य कर नहीं सकता। परन्तु वीर्यवान् मनुष्य ही इसमें प्रगति कर सकता है। इससे पाठक समझ गये होंगे कि वीर्यरक्षणसे योगसाधन किस तरह होता है। साधन तो मनसे ही होता है मन प्राणके साथ मिला रहता है और प्राण वीर्यके साथ संबंधित है। इसतरह संपूर्ण योगसाधन वीर्यके साथ संबंधित है। इसलिये योगसाधनमें ब्रह्मचर्यका बहुतही महत्त्व है।

इस तरह योगसाधनका वर्णन भगवद्गीताके छठे अध्यायमें है। इसका विचार करनेसे प्रत्येक पाठकको इसके अनुष्ठान करनेकी विधि ज्ञात हो सकती है। प्रत्येक पाठकसे यह अनुष्ठान पूर्णतया हो सकता है ऐसा हम नहीं कह सकते परन्तु यदि प्रत्येक पाठक यह साधना करना चाहेगा तो वह कुछ न कुछ अनुष्ठान कर सकता है और उसके अनुसार लाभ भी प्राप्त कर सकता है। जिसका जितना प्रयत्न होगा और जिसका जितना सुकृत होगा, उतना लाभ उसको हो सकेगा। हर एककी आत्मिक योग्यता अलग अलग होती है इसलिये प्रत्येककी प्रगति भी अलग अलग होगी संभव है। परन्तु यह साधन ऐसा है कि करनेका निश्चय करनेपर कुछ न कुछ अवश्य होगा और प्रगति भी होगी। इस प्रकार का अनुष्ठान करनेवालोंका वर्णन इस अध्यायमें निम्न लिखित प्रकार किया है-

युक्तः योगी ॥ ६।७
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
युक्त इत्युच्यते ॥ ६।१८
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
(गी० ६।१९)

योगसाधनमें दत्तचित्त हुए योगीका यह वर्णन है। इस साधनके करनेसे चित्त अपनी आत्मामें स्थिर होता है और बाह्य विषयोंसे दूर जाता है। यही साधनाका फल है। मनुष्यका चित्त बाह्य विषयोंमें रमता है। और योगीका चित्त आत्मामें रमता है। साधारण मनुष्य और योगीमें यही भेद है। परन्तु चित्तका प्रवाह जो सदा बहिर्मुख रहता है उसको अन्तर्मुख करनेके लिये कितने प्रयास करने होते हैं यह बात देखने योग्य है।

प्रवाहकी गति बदलना बडे प्रयासका कार्य है। नदीका प्रवाह जिस दिशामें जाता है उसकी उलटी दिशामें उसे फेरना जितना कठिन कार्य है, उससे भी अधिक दुस्तर कार्य मनके प्रवाहकी दिशा बदलनेका होता है। इस मनके प्रवाहके बदलनेसे इस मनुष्यकी आत्मामें बडा परिवर्तन होता है वही पहले अल्पात्मा रहता है पर मनका रुख बदल जानेके बाद वही महात्मा बन जाता है। इस विषयमें कहा है-

आत्माका महात्मा

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ६।७

(जितात्मा) जिसने अपने आपको जीत लिया वह शान्तिको प्राप्त होता है और वह (परमात्मा) परमात्मा अर्थात् महान् आत्मा बनता है। यहां ही इतनी साधनाके पश्चात् महान् आत्माका 'परम-आत्मा' बनता है। यही आत्माका महात्मापन है। यह सिद्धि तब होती है जब (जितात्मा) आत्मविजय सिद्ध हो जाय (प्रशान्त) उत्तम शांति प्राप्त हो जाय और (समाहित) समाधानवृत्ति स्थिर हो जाय आत्माके परमात्मा बननेके ये लक्षण हैं। मनुष्यकी उन्नतिकी अन्तिम अवस्था यह है जो पूर्वोक्त साधनासे प्राप्त हो सकती है।

साधनका फल

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६।१५
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ६।२०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६।२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६।२२
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ६।२३
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमं उपैति ॥ ६।२७
योगी सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। ६।२८

योगसाधन पूर्वोक्त स्थानमें कहा इसका जो गीतामें वर्णन किया है वह कैसा है इसका अब विचार करना चाहिये। इस कार्यके लिये निम्नलिखित वचन देखिये-

' परमेश्वरके अन्दर जो शांति विद्यमान है वह इसको प्राप्त होती है । इस समय आत्मा अपने अन्दरही तृप्तिका लाभ करती है । इस स्थितिको प्राप्त होनेसे अद्वितीय सुख लाभ होता है । जो सुख मिलनेसे बड़ा दुःख प्राप्त होनेपर भी वह ध्यानी अपने पथसे विचलित नहीं होता । ऐसा अद्वितीय असाधारण सुख मिलता है इसीलिये मनुष्यको इस योगकी साधना करनी योग्य है । इस साधनसे महानन्द का सुख प्राप्त होता है । इस वर्णनसे पता लग सकता है कि मनुष्यका सिद्धि प्राप्त होनेके कौनसा लाभ होना संभव है । यह तो अद्वितीय सुखलाभ है इसलिये इसके लिये यत्न करना हरएकको योग्य है ।

योगीका अनुभव

इस समय वह योगी किस प्रकारका अनुभव करता है वह देखने योग्य है । इसका अनुभव इस प्रकारका है

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥
(गी० अ० ६)

सब भूतोंमें आत्मा है और आत्मामें सब भूत हैं ऐसा जिसके अनुभवमें आता है और जिसकी समदृष्टि हुई होती है और जो योगकी सिद्धि प्राप्त करता है, वह योगी ईश्वरको सर्वत्र देखता है और सबको ईश्वरमें देखता है इसप्रकार इस योगीको सर्वत्र ईश्वरका अनुभव आता है । यही योगीका अनुभव है । जिस स्थानपर योगी देखेगा वहां वहां उसको ईश्वर अथवा आत्मा अर्थात् परमात्मा दिखाई देगा।

सर्वत्र समदर्शनः यह पद अत्यंत महत्त्वका है । इसका अर्थ सर्वत्र सम दर्शन है जिसका सर्वत्र आत्म दर्शन है । सम शब्दका अर्थ आत्मा ईश्वर अथवा ब्रह्म है। सर्वत्र सब स्थानमें आत्माका दर्शन होना ही योगसाधनसे प्राप्त होनेवाली अन्तिम दृष्टि है और इसीको परिपूर्ण दृष्टि कहते हैं। सब ईश्वरकी सत्ताके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है ऐसा अनुभव आने लगा तो समझना चाहिये कि इसको अन्तिम अनुभव प्राप्त हुआ और इसकी अन्तिम उन्नति अवस्था प्राप्त हो चुकी है । जिसको ऐसा अनुभव आ चुका है वह सच्चा भक्त बनता है इस विषयमें कहा है—

सच्ची भक्ति

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सब भूतोंमें रहनेवाले ईश्वरके एकत्वमें स्थिर होनेवाला योगी भक्ति करता है । वह कैसे भी रहे फिर भी वह सदा ईश्वरमें ही रहता है । यह सच्ची श्रेष्ठ भक्ति है । इसीको परा भक्ति कहते हैं । यह भक्ति तब होती है जब योगीको एक परमात्माका अनुभव आता है सब भूतोंमें एक आत्माकी सत्ता है इसका स्पष्ट अनुभव आनेके पश्चात्ही यह भक्ति होनी संभव है तबतक जो कुछ होगी वह गौण भक्ति होगी । जब इस उच्च श्रेष्ठ भक्तिमें मनुष्य लीन होता है तब वह जो कुछ करता है वह स्वभावसेही उच्च कर्म हो जाता है । इस कारण ऐसे भक्तकी योग्यता सर्वश्रेष्ठ समझनी उचित है। जिस श्रेष्ठ भक्तिका वर्णन गीतामें है वह भक्ति यही पराभक्ति है । इस भक्तिमें ईश्वरके साथ एकत्वका अनुभव करनेवाला भक्त होता है। यहां भक्त अपने आपको अलग न समझता हुआ ईश्वरके साथ अपना अभेदभाव अनुभव करता है । इसलिये इसके कर्म सर्वथा निर्दोष हुआ करते हैं। इसी श्रेणीके योगीके विषयमें इसी अध्यायमें और कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

सब प्रकारके योगियोंमें जो योगी अपनी अन्तरात्माको मेरे अन्दर लगाकर श्रद्धाभक्तिसे मेरी भक्ति करता है वह मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है । वह योगी द्वैत छोड़में भी एकत्वका आश्रय करनेवाला नहीं है अपितु अपने अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण करनेवाला है अर्थात् योगका उपास्य —उपासक भेद रहा है । यहां उपासक अपनी आत्माका समर्पण करता है और जो एकत्वका अनुभव करनेवाला होता है वह तो तद्रूप हुआ होनेसे आत्म समर्पण करनेयोग्य उसके पास कुछ अलग नहीं रहता। तथापि यह योगी-भक्त अन्य भक्तोंसे बढ़ही होता है क्योंकि इसने भी अपनी अन्तरात्मा पूर्णतया समर्पित की होती है इसलिये इसके पास भी अपना अलग अस्तित्व अवशिष्ट नहीं रहता । इन दोनोंमें थोड़ासा भेद है जो कम कौन समझमें आ सकता है । यही इस ध्यानयोगका महत्व

है। इसलिये इस अध्यायमें इसका वर्णन बड़े गौरवके साथ किया है-

योगका गौरव

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ६।४४
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
६।४६

केवल शब्दज्ञानीकी अपेक्षा योगका जिज्ञासु भी श्रेष्ठ है अर्थात् अनुष्ठानी योगी श्रेष्ठ है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तपस्वियों शब्दज्ञानियों और कर्मियोंकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है क्योंकि वह कुछ योगके दिखावेसे प्रयत्न करनेमें तत्पर रहता है। अर्थात् केवल उन्च विचारोंके जाननेका महत्त्व नहीं है अपितु सत्कर्ममें अनुष्ठानका महत्त्व है।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६।४०

जो कल्याण करता है उसकी दुर्गति नहीं होती और उसका नाश कभी नहीं हो सकता। यह है योगमार्गपर चलनेवाले योगीका अधिकार। और इसीलिये अन्यान्य मार्गोंसे यह योगमार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें दुर्गतिकी संभावना ही नहीं है। और यदि इसमें कोई साधक प्रवृत्त हुआ और उसका योगसाधन अधूरा रहकर उसकी मृत्यु हो गई तो भी उसमें उसकी हानि नहीं है क्योंकि अगले जन्ममें उसका अधूरा साधन पूर्ण होकर वह सिद्ध बन सकता है। देखिये—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
(गी० अ० ६)

जिसका योगसाधन इस एक आयुमें पूर्ण नहीं हुआ वह मृत्युके पश्चात् लोकान्तरमें अपूर्व सुखलाभ करके इस मानवजन्ममें अवतीर्ण होता है और उसको जो जन्म मिलता है वह योगियोंके कुलमें अथवा बुद्धिमान् धनवानोंके कुलमें मिलता है। सब साधन उसके लिये अनुकूल मिलते जाते हैं और उसकी प्रवृत्ति भी पूर्वजन्मके अभ्यासके बड़ी सात्त्विक हुआ करती है। इसतरह वह सब अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग करके योगका साधन यथायोग्य रीतिसे करता है और परम श्रेष्ठ उच्च अवस्थाको प्राप्त करता है अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है।

इसतरह एक जन्ममें साधनकी पूर्णता न भी हुई तो भी डरनेका कोई कारण नहीं है। यदि एक जन्ममें न हुई तो अनेक जन्मोंमें होगी परन्तु सिद्धि होगी अवश्य। इसीलिये कहा जाता है कि इस योगमार्गमें किसी प्रकारका भय नहीं है स्वल्प आचरण हुआ तो भी उससे बड़े विघ्न दूर हो जाते हैं। इसलियेही इस अध्यायमें कहा है कि तपश्चरण ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गकी अपेक्षा यह योगमार्ग अत्यंत श्रेष्ठ है जिसमें कोई भीति नहीं है और जिसमें अवश्य उन्नति होना संभव है। इसीलिये—

'योगी भव' (६।४६)

कहा है कि हे मनुष्य! तू योगी बन। अन्य सब मार्ग छोड़कर इस योगमार्गका अवलंबन कर। इस योगमार्गका यह महत्त्व जानकर पाठक इसका अवलंबन करके अपने आपको कृतकृत्य बनावें और अपने जीवनका सार्थक करें।

इस अध्यायमें जो योगसाधन कहा है उसका संक्षेपसे यह स्वरूप है। इस साधनकी ठीक ठीक कल्पना पाठकोंके मनमें लानेके लिये इस साधनके सूचक जो पद्य इस अध्यायमें आये हैं उनका विचार अति संक्षेपसे करते हैं-

योगसाधनके पाठ

योगसाधन किस तरह करना चाहिये इसका अति संक्षेपसे विचार करनेका उपक्रम यहां करते हैं। इससे पाठकोंको साधनका मार्ग सुगमतासे समझमें आ सकता है। सबसे प्रथम स्वावलंबनका पाठ पढना चाहिये—

स्वावलम्बनका पाठ

१ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं (५)- स्वयंही अपना उद्धार करनेका यत्न करो।

२ नात्मानमवसादयेत्- स्वयं अपनी अधोगति न करो।

३ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः- स्वयंही अपना बंधु है और

४ आत्मैव रिपुरात्मनः स्वयमेव अपना शत्रु है।

५ बन्धुरात्मा येन आत्मा जितः (६)- जिसने अपने आपको जीत लिया वह अपना बन्धु है।

६ अनात्मनः आत्मा शत्रुः (६)- जिसने अपने आपको नहीं जीता वह अपनाही शत्रु है।

इस प्रकार स्वयं निश्चय करके अपना उद्धार करनेका निश्चय साधक सबसे प्रथम करे। मैं अपने पुरुषार्थसे अपना उद्धार करूंगा उद्धार होनेतक यत्न करता रहूंगा बीचमें नहीं छोडूंगा ऐसा प्रबल निश्चय करना चाहिये। इसके पश्चात् कर्तव्यतत्पर होना चाहिये—

कर्तव्यतत्परताका पाठ

१ कार्यं कर्म करोति यः (१) कर्तव्य-कर्म करो क्योंकि—

२ आरुरुक्षो योगं कर्म कारणं (३)- योगका अनुष्ठान करनेवालेके लिये कर्म करना अत्यंत आवश्यक है अतः कहा है—

३ योगः योक्तव्य (२३) योगका अनुष्ठान करना हरएकको आवश्यक है इस तरह यत्न करनेपर साधक—

४ युक्तः (८ १८ १४); युक्ततमः (४७)- योगसाधन करनेमें तत्पर होता है और जन्ममें—

५ अनेकजन्मसंसिद्धः (४५)- अनेक जन्मोंमें सिद्धि प्राप्त करता है। सिद्धि एक जन्ममें प्राप्त हो अथवा अनेक जन्मोंमें हो सिद्धि मिलती है, इसमें संदेह नहीं है। सत्य रतासे किये कर्मसे सिद्धि अवश्य मिल जाती है। इस योगमें अवनतिकी भीति बिलकुल नहीं है यह इसीलिये कहा है—

६ न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
कल्याणमार्गपर चलकर कल्याणकर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती।

यह सब ध्यान रखकर साधक कर्तव्य-कर्म निश्चयसे करे और अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक यत्न न छोडे।

सतत अभ्यासका पाठ

१ सततमात्मानं युञ्जीत (१०); आत्मानं सदा युञ्जन् (१५ २८)- अपने आपको सतत योगसाधनमें लगाना चाहिये।

२ योगं युञ्जीत् (१२)- इस तरह सतत योगाभ्यास करो।

३ प्रयत्नाद्यतमानस्तु (४५)- प्रयत्नसे अनुष्ठान करो।

४ अभ्यासेन वैराग्येण चार्जं मनः गृह्यते (३५) अभ्यास अर्थात् सतत यत्न और योगविषयक वैराग्यसे मन चंचल रहनेपर भी उसका निग्रह किया जा सकता है।

इस रीतिसे सतत प्रयत्न करनेवालोंको यश प्राप्त होता है यह जानकर साधक अपना मन इधर उधर न दौडाते हुए परिश्रमपूर्वक साधन करके यश प्राप्त करे।

योग्य आचारविचारका पाठ

१ युक्ताहारविहारः (१७)- साधक आहार विहार योग्य रीतिसे करे।

२ युक्तस्वप्नावबोधः (१७)- योग्य समयमें सोवे और योग्य समयमें उठे।

३ कर्मसु युक्तचेष्टः (१७) सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करे।

४ अत्यश्नतः। अनश्नतः अतिस्वप्नशीलस्य च न योगः (१६)- अतिभोजी उपवासी,

अतिशयनेवाला और अतिनिद्रालु ऐसे साधकोंको योग की सिद्धि नहीं होती।

इसलिये आहार-विहार आदिमें साधक कभी अत्या-चार न करे। सम प्रमाणसे आहार-विहार करते हुए साधक योगसाधन करे जिससे सिद्धि हो सकती है।

निर्भयताका पाठ

१ विगतभीः (१४) साधक निर्भय बने निडर होकर साधन करे।

२ अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः (२३)- उत्साहसे और निश्चयसे योगका साधन करना योग्य है।

मन खिन्नता और अनिश्चय छोड़कर साधक योगाभ्यास करे। मन, खिन्नता और अनिश्चयसे योगसाधन नहीं हो सकता।

शुद्धताका पाठ

१ आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात् (१२) अपनी पवित्रता करनेके लिये साधक योगसाधन करे।

२ अकल्मषः (२७) विगतकल्मषः (२८); संशुद्धकिल्बिषः (४५)- निष्पाप बने पाप न करे।

३ ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (१४)— ब्रह्मचर्यका पालन करे।

इस तरह अपनी पवित्रता करनेका यत्न करे जितनी अधिक पवित्रता होगी उतना अधिक अच्छा है, उतना लाभ अधिक होगा।

एकान्त—सेवनका पाठ

योगसाधनके लिये एकान्तसेवनकी अत्यंत आवश्यकता है जिसके विषयमें कहा है—

१ रहसि स्थितः एकाकी (१०)— एकान्तमें अकेला रहे और अपना अभ्यास करे।

जिसका चित्त विक्षिप्त होता है वह इस एकान्तसेवनका अभ्यास करे। इससे चित्तकी विक्षिप्तता दूर होती है। जनसंघमें रहनेसे विविध प्रकारके विचार मनमें उठते हैं और चित्त विक्षिप्त होता है इसकी निवृत्तिके लिये एकान्त-सेवनही एक उत्तम विचार है।

आसनाभ्यासका पाठ

शरीरको स्थिर और शांत करनेका पाठ देनेके लिये यह आसनका अभ्यास करनेको कहा है-

१ शुचौ देशे आसने प्रतिष्ठाप्य (११)— शुद्ध स्थानपर अपना आसन जमाना चाहिये। दर्भासनपर मृग-चर्म और उसपर चैल वस्त्रकी तह रखी जावे। यह आसन बैठनेके लिये मृदु सुखदायी और आसन ऊंचा नीचा न हो। अर्थात् सम और सुखदायी आसन बनाया जावे। ऐसे आसनपर—

२ आसने उपविश्य (१२)— साधक बैठे और—

३ समं कायशिरोग्रीवं धारयन् अचलं स्थिरः (१३)— सिर गर्दन और शरीर समसूत्रमें रखे शरीरकी सब हलचल बंद कर और बिलकुल स्थिर होवे।

कोई साधक इस तरह स्थिरताका अभ्यास करे तो उस को कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् जितनी स्थिरता प्राप्त होगी उतना आनंद प्राप्त होता है।

एकाग्रताका पाठ

इस रीतिसे शारीरिक स्थिरता होनेके पश्चात् मन एकाग्र करनेके अभ्यासके लिए पाठ दिया है। यह अब देखिये

१ एकाग्रं मनः कृत्वा (१२) मन एकाग्र करो। यह वचन कहतेही मन एकाग्र कैसे किया जाता है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है उसके विषयमें कहते हैं—

मन चंचल भटकनेवाला और प्रबल वेगवाला है तथापि अभ्याससे उसकी स्वाधीनता हो सकती है। यह अभ्यास इस तरह करना योग्य है—

१ यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्। ६।२६

जिस मार्गसे मन बाहर जावेगा उसी मार्गसे उसको फिर अंदर लाकर अपने अन्दर वशमें रखना चाहिये।

शनैः शनैः उपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
(२५)- धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः शनैः मनका उपराम करना चाहिये।

४ संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वम्। (१३)— आसनादिकोंके अनन्तर दृष्टि स्थिर करनेसे मन एकाग्र होता है इसी प्रकार नासाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास भी लाभकारी है।

४ दिशश्चानवलोकयन् । (१३)

न किंचिदपि चिन्तयेत् (२५)

इधर उधर न देखना और न किसी विषयका विचार करना इस समय उचित है । इससे स्थिर करने और चित्त स्वस्थ करनेसे इष्ट कार्य होता है ।

५ निवातस्थः दीपः (१९)

स्थितः ततस्ततः न चलति (२६)

निवात प्रदेशमें जैसे दीप न हिलता हुआ रहता है और इधर उधर नहीं हिलता वैसा अपने आपको स्थिर करो । इस समय—

६ मच्चित्तः मत्परः (१४)

मद्गतान्तरात्मना श्रद्धावान् (४७)

ईश्वरपर श्रद्धा रखो उसीमें चित्त स्थिर रखो उसीको मनमें धारण करो उसीमें तन्मय होनेका यत्न करो ।

यह साधन है । इसके करनेसे आपही आप साधनाका मार्ग खुल जाता है ।

ज्ञानप्राप्तिका पाठ

मनुष्यकी उन्नति ज्ञानविज्ञानसेही होती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है । इसलिये साधकको कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (८)

तृप्त होनेतक ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करो । आत्मा का ज्ञान और प्रकृतिका विज्ञान प्राप्त करो और उसको अपने उपयोगमें लाओ तभी सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति होगी ।

इंद्रिय- दमनका पाठ

जैसे कि इंद्रियोंका संयम संसारके सब कार्योंमें अत्यंत उपयोगी है वैसेही योगसाधनमें भी उपयुक्त है । इस विषयमें ऐसा कहा है—

१ जितात्मा (७); यतचित्तात्मा (१०); विजितेंद्रिय (८); यतात्मनेन्द्रियक्रियः (१२); यतचित्तः (१९); विनियतं चित्तं (१८); नियतमानसः (१५) मनः संयम्य (१४); आत्मसंस्थमना (६) निरुद्धं चित्तं (२०)— अपने आपको चित्तको मनको इंद्रियोंका सम्पूर्ण इन्द्रियक्रियाओंका संयम करना चाहिये

२ मनसा इंद्रियग्रामं विनियम्य (२४)— मनसे इंद्रिय समूहका संयम करना चाहिये ।

३ इंद्रियार्थेषु नानुषज्जते (४)— इंद्रियोंके विषयों बद्ध होना योग्य नहीं है ।

४ असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः (३६)— संयम न किया तो योग सिद्ध नहीं होगा परंतु—

५ वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः (३६)— अपने आपको वश करनेवाले को ही योगकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।

६ योगारूढस्य शमः कारणम् (३)— योगमार्गकी उन्नति करनेवालेके लिये अपने इंद्रियोंका शमन करना चाहिये ।

इस तरह इंद्रियदमनका अवश्य योगसाधन करनेवालेके लिये कितना आवश्यक है यह पाठक साधक यह अनुभव करें और लाभ उठावें ।

द्वन्द्व सहनका पाठ

योगसाधनके लिये शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये इसलिये कहा है—

१ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः समाहितः (७)— शीत-उष्ण सुख-दुःख मान अपमान आदि द्वन्द्वोंको समान मानकर सहन करना । तथा—

समलोष्टाश्मकांचनः (८) समदर्शनः (२९) मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान मानना । सबको सम दृष्टिसे देखना ।

१ सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ (९)

मित्र शत्रु हितकर्ता और द्वेषी उदासीन और मध्यस्थ बंधु और पराधीन साधु और पापीको समबुद्धिसे देखना योग्य है । इस प्रकार सर्व द्वन्द्वोंके विषयमें समता धारण करना और सुख हो अथवा दुःख हो सहन करना योगसिद्धिके लिये अत्यंत आवश्यक है ।

उच्च स्थितिका पाठ

जैसेकि कोई मनुष्य उच्च पहाड़के शिखरपर रहनेके कारण निम्न स्थानके दःखोंसे नहीं भोगता उसी तरह साधक अपने आपको उच्च स्थानमें स्थित अनुभव करे यह पाठ निम्नलिखित शब्दद्वारा दिया है

कूटस्थः (८)- पर्वतशिखर, उच्च स्थान उच्च स्थानमें स्थिर भाव धरके अचल रहनेके समान अपने आपको

'जिसने अपनी आत्माका संयम नहीं किया, वह अपनी आत्माकाही शत्रु होता है। जो अपने आपको स्वैर छोड़ता है वह स्वयं अपना शत्रु बनता है।

(१०) महात्मा

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ॥ (६।७)

जिसने अपने आपका जीत लिया और जिसमें शान्ति स्थिर हो गई उसकी आत्मा महान् है। अर्थात् जो स्वेच्छाचारी और अशान्त है उनकी आत्मा छोटी हुई होती है।

(११) सम-भाव

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते । (६।९)

सुहृद् मित्र शत्रु उदासीन मध्यस्थ द्वेषी और भाई तथा साधु और पापीको जो समान भावसे देखता है वह श्रेष्ठ है। जिसमें पक्षपातरहित समदृष्टि है वह श्रेष्ठ है।

(१२) योग कौन नहीं कर सकता ?

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन । (६।१६)
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥ (३६)

अतिभोजी अति उपवासी अति सोनेवाला अथवा जागनेवाला योगसाधन नहीं कर सकता। असंयमी मनुष्य से योग नहीं हो सकता।

(१३) योग कौन कर सकता है ?

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा । (१७)
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (३६)

योग्य रीतिसे आहार विहार करनेवाला सब कर्म यथायोग्य रीतिसे करनेवाला योग्य रीतिसे निद्रा लेनेवाला और योग्य समयपर जागनेवाला जो होगा उसके लिये योगसाधनसे सुख होगा। इन्द्रिय संयम करनेवाला पुरुषार्थी साधक योग साधन कर सकता है।

(१४) संयमका साधन

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।(६।२६)

चंचल मन जहां जहां भागने लगे वहां वहांसे उसको रोककर आत्माके अन्दर स्थिर करना चाहिये। इन्द्रियोंके संयमका यही उपाय है।

(१५) उत्तम सुखकी प्राप्ति

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ (६।२७)

जिसका मन शान्त हुआ है जिसकी भोग-वृत्ति शान्त हुई है पापवृत्ति जिसमें नहीं रही उस ब्रह्मभूत योगीको उत्तम सुख मिलता है। जिसका मन अशान्त है, जिसमें भोगकी इच्छा है पापभावना है उस अल्पात्माको कभी सुख नहीं मिल सकता।

(१६) ईश्वर-सेवा

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥

जो सर्व भूतोंमें रहनेवाले ईश्वरको एकभावमें स्थिर होकर भजता है। वह ईश्वरकी सच्ची सेवा करता है। सर्व भूतोंकी सहायता करनाही सच्ची ईश्वर सेवा है।

(१७) आत्मौपम्य दृष्टि

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यः ॥ (६।३२)

अपने समान सब भूतोंको जो देखता है वह परम योगी है

(१८) मनका संयम

मनो दुर्निग्रहं चलं अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते ॥
(६।३५)

चंचल मनका संयम करना बड़ा कठिन है, परन्तु वह भी वैराग्यसे और दीर्घ अभ्याससे वशमें किया जा सकता है

(१९) शुभ कर्मकर्ताकी दुर्गति नहीं होती

नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति। (६।४०)

शुभ कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। शुभ कर्म करनेवाला उन्नत ही होता है। दुर्गति तो अशुभ कर्म करनेवालेकी होती है।

नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥ (६।४०)

शुभ कर्म करनेवालेका न इस लोकमें और न परलोकमें विनाश होगा दोनों लोकोंमें उसका अभ्युदय ही होगा। दुष्कर्म करनेवालेका तो सर्वत्र नाशही होगा।

(२०) अनेक जन्मोंमें सिद्धिलाभ

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् (४५)

प्रयत्नसे साधन करनेवाला योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मोंमें सिद्धि प्राप्त करके परम गतिको प्राप्त होता है।

गीताके छठे अध्यायके सुभाषित

(१) संन्यासी और योगी

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(६।१)

अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये न लेता हुआ जो अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीतिसे करता है वही संन्यासी और वही योगी है। अग्नि प्रज्वलित न करनेवाला और कर्म न करनेवाला सच्चा संन्यासी नहीं है।

भगवे वस्त्र धारण करना शिखासूत्रका त्याग करना, अग्निमें हवन न करना कर्म न करना ये संन्यासीके लक्षण समझे जाते हैं परन्तु ये लक्षण संन्यासीके नहीं हैं। कर्मका फल अपने भोगके लिये अपने पास संगृहीत करके न रखना और उसका समर्पण जनताकी भलाईके लिये करना ये संन्यासीके सत्य लक्षण हैं।

(२) संन्यास और योग एक है

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि ॥ (६।२)

जिसे संन्यास करके कहते हैं वही योग है ऐसा समझ। अर्थात् जो संन्यास है वही योग है और जो योग है वही संन्यास है।

(३) योगीका संकल्पत्याग

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन । ६।२

संकल्पोंका त्याग किये बिना योगी होना असंभव है। अर्थात् योगी होनेके लिये भोगसंकल्पोंका पूर्ण त्याग होना चाहिये।

(४) कर्मसे योग-साधन

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥ (६।३)

योगमार्गपर चढनेवालेके लिये कर्म साधन है।' अर्थात् जो पुरुषार्थ का प्रयत्न करनेवाला नहीं है उसके योगमार्गका आक्रमण नहीं हो सकता।

(५) योगीका शम-साधन

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (६।३)

योगमें स्थिर हुए मुनिके लिये शम साधन है।' अर्थात् जो योगीके लिये मन आदि संपूर्ण इंद्रियोंका शम अर्थात् भोग संकल्पोंका शमन यह साधन है।

(६) योगीका लक्षण

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते। (६।४)

जो भोगविषयोंमें विरक्त कर्मोंमें (कर्मफलमें) आसक्तिरहित और संपूर्ण भोगसंकल्पोंका त्याग करनेवाला है वह योगी कहलाता है। विषयभोगों कर्मफलों और संकल्पोंका त्याग करनेसे योग सिद्ध हो सकता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः। (६।८)

जो ज्ञानविज्ञानसे संतुष्ट, जितेन्द्रिय शान्त और मिट्टी पत्थर और सोनेको सम दृष्टिसे देखनेवाला है, वह योगी कहलाता है।

(७) आत्मोद्धार

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। (६।५)

अपना उद्धार अपने आपही करना चाहिये अपनी अधोगति होनेयोग्य कार्य कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य अपना शत्रु आपही है। व्यक्ति समाज और राष्ट्रके उद्धारके विषयमें यही नियम है; अपने उद्धारके लिये स्वयं कटिबद्ध होना चाहिये और अपनी अधोगति होने योग्य कोई कर्म स्वयं कदापि नहीं करना चाहिये। मनुष्यका मित्र या शत्रु यह स्वयं ही है। न दूसरा कोई मित्र है और नाही दूसरा शत्रु है।

(८) बन्धु

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। (६।६)

'जिसने अपने आपको स्वाधीन कर लिया है वह अपना बन्धु है। जो अपने आपका संयम करता है वह अपने आपका मित्र हितकर्ता अथवा स्नेही है।

(९) शत्रु

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्। (६।६)

षष्ठ अध्यायकी विषयसूची

२ मत्-आश्रयः— ईश्वरकाही आश्रय करना चाहिये।
३ योग युञ्जन्— ध्यानयोगका साधन करना चाहिये।

इन तीन साधनोंसे आकाशस्थ सूर्यके समान ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है। और ईश्वरके साक्षात्कारकी बाधाओंका भी इसीसे अनुमान किया जा सकता है।

ईश्वरसाक्षात्कारमें बाधाएं

ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होनेमें निम्नलिखित तीन बाधाएं हैं—

१ ईश्वरे (मयि) अनासक्तिः— ईश्वरमें आसक्ति न होना।

२ ईश्वरस्य (मत्) अनाश्रयः— ईश्वरका आश्रय न करना।

३ योग अयुञ्जन्— ध्यानयोगका अनुष्ठान न करना।

पाठक इसका विचार करें और देखें कि कहांतक ये बाधाएं अपने जीवनमें हैं। तब पता लगेगा कि परमेश्वरका साक्षात्कार क्यों नहीं हो रहा है। आजका मानव अपना मन परमेश्वरमें लगानेके स्थानमें विषयोंमें लगाये रहता है परमेश्वरको अपना आश्रय माननेके स्थानमें अपने आपको अथवा भोगोंको अपना आधार मानने लगता है और चित्त एकाग्र करनेके स्थानमें चित्तको भ्रम किये रहता है। इस लिये आकाशस्थ सूर्यवत् परमात्माके सम्मुख खड़ा होनेपर भी उसे सर्वत्र उपस्थित परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं हो पाता। यह दोष किसका है? दोष स्वयं उसकी आंखोंका है। आंखोंपर विषयोंकी धुंध चढ़ी रहती है। जब यह धुंध दूर हो जायगी- मनुष्यको तब दिव्यदृष्टि प्राप्त हो सकेगी तभी प्रभुका साक्षात्कार हो सकेगा।

यही विषय विस्तारसे इस अध्यायमें आनेवाला है और आगेके चार पांच अध्यायोंमें तो इसका क्रमशः और भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा।

ज्ञान और विज्ञान

इस ज्ञानकोही ज्ञान और विज्ञान कहते हैं। यदि एक बार उचित रूपमें यह ज्ञान और विज्ञान प्राप्त हो जाय तो फिर उसके लिये और जाननेयोग्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अर्थात् जो कुछ ज्ञातव्य है जो कुछ जाननेयोग्य है वह सब इसीके अन्तर्गत है। भगवान् श्रीकृष्ण इस अध्यायमें यही ज्ञान देना चाहते हैं।—

कुमार्गमें प्रवृत्ति

मनुष्यकी सदा कुमार्गमें प्रवृत्ति होती है। सन्मार्गकी ओर जानेवाले लोग कम होते हैं। मानवी व्यवहार देखनेसे इसकी सत्यता प्रतिक्षण दिखाई देती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि सहस्रों मनुष्योंमें एकाध कोई विरलाही मनुष्य इस ध्यानयोगकी ओर जाता है और अन्तिम सिद्धि तक यत्न करता है। और ऐसे सिद्धिके लिये यत्न करने वालोंमें भी क्वचित् कोई मनुष्य परमात्माका सत्यज्ञान प्राप्त कर पाता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह विषय इतना कठिन इतना रूखा और समझनेमें इतना असंभव है? उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह परमात्माका ज्ञान इतना कठिन नहीं है रूखा नहीं है और उसका समझना भी असंभव नहीं है। वास्तवमें देखा जाय, तो यह परमात्म विषय अत्यंत रसीला और मीठा है अनंत आनंद देनेवाला है, सुगम है और सर्वत्र उपस्थित होनेसे सुसाध्य भी है। परन्तु मनुष्यकी प्रवृत्तिही भोगोंमें पड़कर दुःख भोगनेमें स्वभावसे चलती है। ईश्वरभक्तिमें सदा आनन्द और अतुल सुख होनेपर भी उस ओर जानेवाले कम होते हैं।

जगत्में यही एक आश्चर्य है। सब सत्पंथ पुकार रहे हैं कि परमात्माही आनंदकन्द सुखका निधान और मंगलका निधि है। सत्पुरुष भी साक्षी दे रहे हैं परन्तु सुननेवाला कौन है? सब जगत् उलटे मार्गसे चल रहा है। मनुष्य विद्वान् हो या अविद्वान् सभी उलटे मार्गसे चल रहे हैं। यही अनुभव करके स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हजार मनुष्योंमें ९९९ मनुष्य उलटे मार्गसे जा रहे हैं और विरला एकाध सीधे मार्गसे जाता है। और सीधे मार्गसे जानेवालोंमें भी अन्तिम मंजिल ठिकानेतक पहुंचनेवाले भी विरलाही है। क्योंकि सीधे मार्गसे चलनेपर भी कई तो बीचमेंही थके होकर बैठते हैं। इस तरह जो परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ऐसे तो बहुतही विरले हैं। यही ज्ञान और विज्ञानका महत्वपूर्ण विषय भी पाठक अब ध्यानपूर्वक देखें-

ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन

प्रत्यक्ष परमात्मदर्शनका विषय यहाँ बतलाया गया है। ध्यानयोगद्वारा किसका किस रूपमें ध्यान करना चाहिये यही विषय यहाँ वर्णित है। जो पाठक इस ध्यानयोगद्वारा अपनी उन्नति करना चाहते हैं उनको इन श्लोकोंका अधिक मनन करना चाहिये। इसी ज्ञानके साथ परमात्माके साक्षात् दर्शनका भी संबंध है। परमात्माके इस साक्षात्कारके पश्चात् ही उसका ध्यान हो सकता है। प्रत्यक्ष दर्शनके बिना ध्यान करना नितान्त असंभव है।

मनुष्यको विषय प्रत्यक्ष दीखते हैं इसलिये वह उनका ध्यान करता है। यदि मनुष्यको ये विषय प्रत्यक्ष न होते तो वह उनका ध्यान कैसे करता? यदि मनुष्यको किसी युक्तिसे आकाशस्थ सूर्यके समान परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय तो अवश्यही साधक उसका ध्यान कर सकेगा। यह प्रश्न हो सकता है कि आकाशस्थ सूर्यके समान अव्यक्त परमात्माका दर्शन कैसे संभव है? परंतु आगेके चार पांच श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है। उपनिषदोंमें कहा है कि—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृ. उ. २।४।५; ४।५।६)

'हे साधक! आत्माको देखो उसका वर्णन सुनो उसका मनन करो और पश्चात् उसका निदिध्यासन करो।' इस उपनिषद्वाक्यमें सबसे प्रथम आत्माको देखनेकी बात कही गई है। इससे भी ज्ञात होता है कि ध्यानयोगके प्रारम्भमें परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी कुछ युक्ति अवश्य होगी अन्यथा उपनिषद् ऐसे प्रसंगमें 'आत्माको देखो सुनो ध्यान करो' ऐसा क्रम न कहता। क्या उपनिषद्के रचयिताको—

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः पश्चात् द्रष्टव्यः।

ऐसा लिखनेके लिये कुछ कठिनता था? इसमें महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी प्रिय धर्मपत्नीको उपदेश कर रहे हैं। वे अपनी धर्मपत्नीको धोखा नहीं दे रहे थे। उन्होंने सोच विचार करही इस ध्यानके अनुष्ठानकी श्रेणियोंको इस क्रममें कहा होगा। ऐसे उपदेशके वर्णनमें—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ऐसा क्रम रखा है। इसमें पहिले आत्मदर्शन है और उसके दर्शन, श्रवण आदि गुणोंकी गणना बादमें की गई है। इसके साथ ही साथ वेद भी कह रहे हैं—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। (ऋ. १।२२।२०)

'ज्ञानी श्रेष्ठ व्यापक परमात्माके परम पदको आकाशमें सूर्यके समान प्रकाशमान रूपमें देखते हैं।' अर्थात् वेदोंमें भी आकाशस्थ 'सूर्यवत्' परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन वर्णित है। इसे अस्वीकार करना भी कठिन है। यदि वेदकी यह बात सत्य होगी तो उपनिषद्के वचनमें जो कहा है वह भी सत्य होगा और तदनुसार जो गीतामें कहा गया है वह भी निःसंदेह सत्य होगा। इसके प्रमाण उपस्थित होनेके पश्चात् इस विषयमें किसीको संदेह नहीं होना चाहिये।

इससे पूर्व गीता २।२५ में परमात्माको अव्यक्त और अचिन्त्य बतलाया गया है और यहाँ उसका आकाशस्थ सूर्यवत् दर्शन वर्णित है जो परस्पर विरुद्ध दीखता है। परन्तु प्रसंगवश यहाँ यह विरोध भासता है। यहाँ हम कुछ भी विचार न करके क्रमशः गीताके उपदेशका विचार करेंगे और ध्यानमें अभ्यासके अनन्तर निरन्तर दर्शनका चमत्कार देखनेके पश्चात् विचार करेंगे कि क्या वस्तुतः यह परस्पर विरोध है?

ईश्वरका समग्र ज्ञान

(असंशयं समग्रं ज्ञास्यसि) यहां स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि अव्यक्त, अचिन्त्य (गी २।२५) होते हुए भी समग्र ईश्वरका ज्ञान यहां बतलाया जावेगा। यहां अचिन्त्यका समग्र ज्ञान कैसे हो सकता है? यह प्रश्न उत्पन्न होगा और इसका भी उत्तर आगे ही मिलेगा। ईश्वरका समग्र ज्ञान कब होगा यह भी इसी श्लोकमें कहा है। अनुष्ठानकी दृष्टिसे यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपदेश है, इसलिये इसका विचार अधिक सूक्ष्मताके साथ करना चाहिये। ईश्वरका समग्र ज्ञान निम्नलिखित तीन बातोंकी अपेक्षा रखता है—

१ मयि आसक्तमनाः— मन पूर्णतया ईश्वरमें लगाना चाहिये।

न तो विप्रतिपत्तिही हो सकती है और न परस्पर विरोधही कहा जा सकता है। जैसे जीव-आत्मा इस कोटरसे शरीरसे भिन्न माना जाता है उसीही विश्वव्यापी ब्रह्माण्ड देहसे परमात्माको भिन्न मान सकते हैं। इस समय विचारशीलोंके लिए इस तरहकी कल्पना करनेसे दोनों स्थानक आत्माकी ठीक ठीक कल्पना की जा सकती है।

शरीरके घटक

यदि शरीरको आत्माका घर मान लिया जाय तो उस शरीरके घटक कौनसे हैं वह किन तत्वोंसे बना है इसका निश्चित ज्ञान हो जाना चाहिये। इसलिए चतुर्थ कोठेमें अष्टधा प्रकृतिका वर्णन किया गया है। यहां शरीरका पृथ्वी, आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंभाव इन आठ तत्वोंका बना हुआ बतलाया गया है। इन आठ तत्वोंसे मनुष्यादि शरीर बनते हैं। ये आठ तत्व जैसे मनुष्यके शरीरमें हैं वैसेही पशुपक्षियोंके शरीरमें भी हैं, और वैसेही परमात्माके ब्रह्माण्ड देहमें भी हैं।

शरीरमें जो घन भाग है वह पृथ्वीतत्वका है जो द्रव भाग है वह आप्‌तत्वका है जो प्राण है वह वायु तत्व है जो अवकाश है वह आकाश-तत्वका भाग है। जो मनन करता है वह मनका अंश है जो ज्ञानग्रहणशक्ति है वह बुद्धि है और जो एक दूसरेसे भिन्नताका तत्व है वह अहंभावका है। इस तरह आठ तत्व हरएक शरीरमें हैं। पाठक अपने शरीरमें इनका अनुभव करें और पश्चात् जगत्के अन्य शरीरोंमें देखें और अन्तमें यही बात ब्रह्माण्डशरीरमें देखें। शरीर और संपूर्ण ब्रह्माण्ड इनही आठ तत्वोंका बना है।

पञ्चतत्वविवेक

जो अष्टधा प्रकृतिका वर्णन यहां किया है उसका अधिक मनन करके निश्चय करना चाहिये कि ये तत्व सचमुच अनुभवमें आते हैं या नहीं। इन आठ तत्वोंमें पहिले पांच तत्व पंचमहाभूतही हैं। ये महाभूत यहां हैं और क्या यहां इनकी परीक्षा मनुष्य अपनीही ज्ञानेन्द्रियोंसे कर सकता है।

पृथ्वी आप् तेज वायु, आकाश ये पंचमहाभूत हैं क्रमशः गंध रस रूप स्पर्श और शब्द इनके पांच गुण हैं। इनका ग्रहण करनेवाली इंद्रियां भी क्रमशः नासिका जिह्वा नेत्र त्वचा और कान ये पांचही हैं। इससे इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके अस्तित्वका अनुभव हो सकता है।

नासिकाद्वारा गंधका ग्रहण करो जहां जहां गंध (सुगंध अथवा दुर्गंध) पाया वहां पृथ्वीतत्व समझना चाहिये। यदि समग्र संसारमें गंधहीन स्थानकी खोज की जाय तो ऐसा स्थान कहीं न मिलेगा जो गंधहीन हो। कारण यह है कि सर्वत्र पृथ्वीतत्व भरपूर है। हमारी विकृत नासिकाको किसी स्थानपर गंधका ग्रहण न भी हो तो दूसरे शुद्ध और योग्य ज्ञानशक्तियुक्त नासिकावालेको वहां गंधका अनुभव होगा। चींटियां पदार्थका कितनी दूरीपरसे गंधसेही ज्ञान लेती हैं। गंध कितनी और कितने सूक्ष्म रूपमें व्यापक है इस बातका इससे सहजमें ही पता लग सकता है। इस तरह गंध सर्वत्र होनेसे पृथ्वीतत्व भी सर्वत्र है यह सिद्ध हो जाता है। इस पृथ्वीतत्वसे रहित कोई भी स्थान इस जगत्‌में नहीं है।

दूसरा आप् तत्व है, इसका गुण रस अथवा रुचि है। जिह्वासे यदि रस ग्रहण किया जाय तो पता लगेगा कि संसारमें कोई भी पदार्थ स्वादहीन नहीं है। रस रुचि अथवा स्वाद सर्वत्रही है। कटु तिक्त, मिष्ट अम्ल कषाय और लवण ये छः रस हैं। पदार्थमात्रमें इनमेंसे एक या एकसे अधिक रस पाये जाते हैं। जगत्‌में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसमें लेशमात्र भी रस या स्वाद न हो।

तीसरा अग्नि तत्व है। इसका गुण रूप है वह नेत्रद्वारा ग्रहण किया जाता है जगत्‌में जो कुछ भी रूपवान् है सब अग्नितत्वसे युक्त है ऐसा समझ लेना चाहिये। संपूर्ण जगत् रूपमय होनेसे सब अग्नितत्वमय है।

चौथा वायुतत्व है इसका गुण स्पर्श है। त्वचासे इसका अनुभव होता है। जहां स्पर्शका अनुभव नहीं हो सकता हो ऐसा स्थान इस विश्वमें कहीं भी नहीं है स्पर्श मृदु हो या कठोर उष्ण हो या शीत स्पर्श सर्वत्र अनुभव होता है स्पर्श सर्वत्र विद्यमान है इसमें कुछ भी संदेह नहीं रह जाता। अतः वायुतत्व सर्वत्र है।

पांचवां आकाश तत्व है इसका गुण शब्द है। सर्वत्र शब्द होता है। कोई स्थान ऐसा नहीं है कि जहां शब्द न होता हो। अवकाशका होना या सर्वत्रही है इसलिये आकाश भी सर्वत्र उपस्थित है।

●

(२) ईश्वरकी प्रकृति

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वयः- भूमिः, आपः अनलः वायुः खं, मनः, बुद्धिः एव च अहंकारः इति अष्टधा भिन्ना मे इयं प्रकृतिः ॥ ४ ॥ हे महाबाहो ! इयं अपरा (प्रकृतिः अस्ति) । इतः तु अन्यां जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि यया इदं जगत् धार्यते ॥ ५ ॥ सर्वाणि भूतानि एतद् योनीनि इति उपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः (अस्मि) ॥ ६ ॥ हे धनंजय ! मत्तः परतरं अन्यत् किंचित् न अस्ति । सूत्रे मणिगणाः इव इदं सर्वं मयि प्रोतम् ॥ ७ ॥

मेरी यह प्रकृति पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारोंमें विभक्त है ॥ ४ ॥ हे महाबाहु अर्जुन ! यह अपरा (अर्थात् गौण प्रकृति) है। इससे भिन्न जगत्को धारण करनेवाली मेरी जीवरूपमें परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है ॥ ५ ॥ सब भूतमात्र इनसे उत्पन्न हुए हैं। तू यह भी समझ कि संपूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका कारण भी मैं ही हूं ॥ ६ ॥ हे धनंजय ! मुझसे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। सूतमें मणियोंके समान यह सब मुझमेंही पिरोया हुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ— ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् शरीरके दो भाग हैं एक गौण और दूसरा मुख्य । गौण विभागमें पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इन आठों तत्वोंका समावेश होता है और मुख्य विभागमें केवल एकमात्र जीवतत्त्व है । इस जीवतत्त्वसे ही संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है । इस गौण और मुख्य प्रकृतिसे संपूर्ण जगत्के पदार्थ तथा प्राणी उत्पन्न हुए हैं । और ईश्वर इस संपूर्ण जगत्के उत्पत्ति पालन और लयका कारण है । इस ईश्वरसे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी संसारमें नहीं है । जिस प्रकार माला बनानेके लिये धागेमें मणियां पिरोई जाती हैं उसी प्रकार इस ईश्वररूपी सूत्रात्मामें ये सूर्यचन्द्रादि महत्त्वपूर्ण मणियां पिरोई हुई हैं। दूसरे शब्दोंमें जैसे सूतके आधारसे मणियां रहती हैं, वैसेही ईश्वरके आधारसे जगत्के सब पदार्थ रहते हैं ॥ ४-७ ॥

ईश्वरका शरीर

(४-७) इन श्लोकोंमें ईश्वरकी प्रकृतिका वर्णन है । यहां प्रकृतिका अर्थ है शरीर । मनुष्यकी प्रकृतिका अर्थ मनुष्यका शरीर होता है उसी प्रकार ईश्वरकी प्रकृति ईश्वरका शरीर ही है । यहां प्रश्न होगा कि ईश्वर तो अशरीरी अर्थात् देहरहित है फिर देहरहित ईश्वरके देहका वर्णन कैसे हो सकता है ? अशरीरीका शरीर होना तो वन्ध्यापुत्रका दर्शन आकाशपुष्पकी माला और भीतकी चित्रकारीके समान है यह प्रश्न तो उचितही है। परन्तु इस प्रश्नका उत्तर अपनेही आत्माके विषयमें विचार करनेसे मिल सकता है।

यं पुच्छे ब्रह्म पितुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
(अथर्व १ ।७।१७)

जो मनुष्यके देहमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करते हैं वे ही परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस नियमके अनुसार जब किसी विषयके परस्पर विरुद्ध होनेकी शंका उत्पन्न हो तब उसके विषयमें अपने आन्तरिक अनुभवपर विचार करना चाहिये । अशरीरीका शरीर होता है या नहीं इस शंकाको अपनेही अन्दर देखें कि अपनेही लिये यह प्रश्न पूछें कि मेरी आत्मा तो शरीररहित है किन्तु उसकी देह है या नहीं। उत्तरमें हरएक कहेगा कि देह तो जीव-आत्माकाही होता है । आत्मा शरीररहित है इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है । इस प्रकार वस्तुतः शरीररहित आत्माका भी शरीर होता है यह बात यहां स्पष्ट है । इस प्रकार जब यह कोयला शरीरही अशरीरी जीव-आत्माका है तो यह ब्रह्मांड भी अशरीरी परमात्माका देह हुआ । इस तरह उन्हें

अपने अंदर समाहित कर लेते हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें यह अहंभाव उपस्थित है। आत्मरूप अपने पसे आदिसे अपनी भिन्नता प्रकट करता है अन्य वस्तुजात अपने भिन्न अस्तित्वसे अपना अहंभाव प्रकट करते हैं। जगत्के प्रत्येक पदार्थमें यह अहंभाव है और यह अहं भाव प्रत्येक स्थानपर कह रहा है कि—

एकोऽहं बहु स्याम् ।

'मैं एक हूँ, मैं बहुत बनूँगा।' देखिये एक गेहूँका दाना अपने अहंभावसे कहता है कि यद्यपि मैं एक हूँ तथापि मैं बहुत बनूँगा। ऐसा कहता हुआ वह भूमिमें जाता है उगता है और अनेकोंमें परिणत हो जाता है। इस तरह १५-२ वर्षोंमें एकही गेहूँके दानेसे सम्पूर्ण पृथ्वीको भर देनेयोग्य असंख्य दाने बन जाते हैं। इसलिए प्रत्येक दाना यही कहता है कि यद्यपि मैं एक हूँ पर मैं बहुत बनूँगा। यह अहंभाव हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक जीव इसी तरह कहता है और एकैकी बढ़ सकता है। अपना नाश दूसरेको न करने देना अपने नीचे किसी दूसरेको दबता न होने देना यही भावना सबमें रहती है। यह सब अह कारकाही प्रभाव है। इस तरह विचार करनेसे यह अहंभाव सर्वत्रही दिखाई पड़ेगा। यही तमोगुण है।

रज = मन

सब प्राणियोंमें मनके अस्तित्वका ज्ञान मनके द्वाराही होता है। तथा अन्यान्य पदार्थोंमें भी विचारकी दृष्टिसे देखा जाय तो मनके अस्तित्वका पता लग सकता है। प्रत्येक पदार्थकी रचना अणु परमाणुओंकी मिलावट अनेकका आकर्षण और दूरीकरण संघटन और विघटन मनद्वारेही हुआ करता है। इन नियमोंमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता। इसीसे मनके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है और यह रजोगुण है।

सत्त्व = बुद्धि

सत्त्वगुणका प्रकटीकरण बुद्धिका रूप है। प्राणियोंमें ज्ञान प्रदान करनेके गुणसे इसका पता लगता है अन्यत्र पारिभाषिक प्रमाणसे इसकी प्रतीति होती है। योग्य मर्यादाके महत्त्वसे बुद्धिका संवर्धन और अयोग्य करनेसे बुद्धिका कम होना सबके अनुभवकी बात है।

इस तरह यह ईश्वरका सर्व व्यापिनी अपरा प्रकृति है। कोई भी स्थान इससे खाली नहीं है। हमारे पास आठ इन्द्रियाँ हैं, इस कारण हम इस प्रकृतिको आठ प्रकारका कहते हैं परन्तु परमेश्वरकी केवल एकही अपरा प्रकृति है जिसको क्षेत्र अपर प्रकृति करके कहा है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
(गी० अ० १३)

पंचमहाभूत अहंकार बुद्धि, अव्यक्त, इन्द्रियाँ मन पञ्च विषय इच्छा द्वेष, सुख दुःख संघात चेतना अर्थात् प्राणादिका व्यापार और धैर्य इन ११ तत्त्वोंके समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं। यह सब इस प्रकृतिकाही विस्तार है। वस्तु इस तरह यह अपरा प्रकृति क्षर प्रकृति है अर्थात् यह बदलती रहती है। यह अपरा प्रकृति सदा बदलती रहती है इसलिये इसमें अनंत विभेद होते हैं।

सत्त्व–रज–तम

यदि प्रकृतिमें सत्त्व रज और तमकी साम्य अवस्था हो जाय तो वही मूल प्रकृति कहलाने लगती है। इसी प्रकार सत्त्व रज तममें विषमता हो जानेसे उस प्रकृतिकी विकृति बन जाती है। यह जगत् उस विकृतिसेही प्रकट होता है। प्रकृति और विकृतिमें इस तरह सत्त्व रज तम गुणोंकी समता और विषमताकाही भेद है। समता हो या विषमता दोनों अवस्थाओंमें यह परमेश्वरकी प्रकृति है, इसमें कोई भी संदेह नहीं। इसी प्रकृतिका एक अंश हमारा शरीर है इसलिये हमारा शरीर भी परमेश्वरके शरीरका एक भाग है। इसी तरह परमेश्वरके शरीरमें सबके शरीर समाते हैं अर्थात् मनुष्यों पशुपक्षियों वृक्षवनस्पतियों स्थावरजंगमों तथा सूर्यचंद्रादिकोंके सब शरीर मिलकर होनेवाला जो यह प्रचंड ब्रह्माण्डरूपी विराट देह है यही परमेश्वरका शरीर है जिसमें हरएकका बिन्दुमात्र शरीर भी समाया है और कोई भी उससे बाहर नहीं है। यही अपना विश्वरूप दर्शन है जो ग्यारहवें अध्यायमें पाठक प्राप्त कर सकेंगे।

अपरा- प्रकृति

यहांतक जिसका वर्णन किया अर्थात् पंचभूत और मन बुद्धि अहंकाररूप जो आठवां प्रकृति है यह अपरा प्रकृति है। यह कनिष्ठ गौण या हीन स्थूल प्रकृति है। यहां कनिष्ठ

इस तरह ये पांच तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये पांच तत्त्व हमारे शरीरमें भी हैं और संपूर्ण जगत्‌में भी हैं। हमारा शरीर तो संपूर्ण जगत्‌काही एक अंश है। इसलिये यह संपूर्ण जगत् इन पांच तत्त्वोंसे बना है। इतना कहनेमात्रसेही सिद्ध हो जाता है कि हमारा शरीर भी पञ्चतत्त्वमयही है।

क्या पञ्चमहाभूत भिन्न भिन्न हैं ?

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये पंचमहाभूत भिन्न भिन्न और एक दूसरेसे बिलकुल पृथक् हैं ? पाठक कहेंगे कि इसमें संदेहही क्या हो सकता है ? पृथ्वी आप नहीं, आप अग्नि नहीं, अग्नि वायु नहीं और वायु आकाश नहीं। परंतु ऐसा स्पष्ट न होनेपर भी यहां संदेह इस कारण हुआ कि इनका विभिन्न अस्तित्व हमारी इंद्रियोंने सूचित किया है। अर्थात् आंखने आकारका निरीक्षण किया उसमें उसको रूपका अनुभव हुआ, उसीका निरीक्षण नासिकाने किया और उसको उसमें गंधका अनुभव हुआ, इस तरह पांचों इंद्रियोंने पांचों गुणोंका अनुभव किया कि ये पांच गुण यहां हैं। बाह्य विश्वमें पांच गुणोंका अस्तित्व दिखनेसे उन गुणोंका धारण करनेवाले पांच महाभूतोंके अस्तित्वकी कल्पना होती है। यह केवल हमारी कल्पनामात्र है। क्योंकि शुद्ध स्थितिमें कोई भी महाभूत इस समयतक किसीको प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, शुद्ध पृथ्वी, शुद्ध आप्, शुद्ध तेज, शुद्ध वायु और शुद्ध आकाश न तो किसीने देखा और न देखनेकी शक्ति अथवा इनको पृथक् पृथक् करके अलग अलग बोतलोंमें भरकर रखनेकी सामर्थ्य किसी महात्मामें है। इसलिये इतना कहा कि पांच इंद्रियोंद्वारा पांच गुणोंका अनुभव होनेसे हमने पांच महाभूत भिन्न भिन्न हैं ऐसी कल्पना की, वस्तुतः ये भिन्न हैं अथवा एकही वस्तुके ये पांच गुण हैं इस बातका पता आज नहीं लगा सकते हैं।

मान लीजिये किसी एक पदार्थमेंही शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये पांच गुण हैं। यदि ऐसा एकही पदार्थ किसी स्थानपर हो तो हमारी पांचों इंद्रियोंसे उस एकही पदार्थके ये पांच गुण ग्रहण किये जायेंगे। यदि जगत्‌के एक मूल तत्त्वमें ये पांच गुण हों तो हमारी इंद्रियोंद्वारा उस एकही वस्तुके ये पांच गुण इसी तरह लिये जायेंगे। हमारी इंद्रियोंसे ये विभिन्न पांच गुण ग्रहण किये जाते हैं इससे जगत्‌में विभिन्न पांच तत्त्व हैं ऐसा निश्चयसे मानना असंभव है। क्योंकि किसी एकही मूलतत्त्वमें इन पांच गुणोंका होना भी संभव है और वैसी स्थितिमें हमारी इंद्रियोंसे इन पांच गुणोंकी उपलब्धि भी वैसीही हो सकती है। हमें पृथ्वी आदि पांच भूत शुद्ध और पृथक् स्थितिमें कहीं भी नहीं मिल सकते, जहां एक पाया जाता है वहां अन्य तत्त्वोंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका अस्तित्व मिलता जाता है इसलिये एकही तत्त्वके ये पांच गुण हैं ऐसा माननाही युक्तियुक्त है। अथवा जब एक तत्त्वका संबंध हमारे आंखसे होनेपर रूप दिखाई देता है, हमारी नाकसे उसी तत्त्वका संबंध होनेपर गंधका अनुभव होता है। इसी तरह उसी एक तत्त्वका अन्यान्य इंद्रियोंसे संबंध होनेसे अन्यान्य गुणोंका ज्ञान होता है। अनुभवके लिये उक्त पंच भूतोंकी विभिन्न पृथक् और मूलतः अलग रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वव्यापक पांच तत्त्वोंका होना भी असंभव है। जब दो पदार्थ एक स्थानपर नहीं रह सकते। ये पंचमहाभूत तो सावयव पदार्थ हैं। इसलिये जहां एक होगा वहां दूसरेका रहना असंभव है। परन्तु हमें तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधका अनुभव सर्वत्र होता है। इसलिये पांच महाभूत अलग अलग हैं ऐसा मानना कठिन है क्योंकि एकही तत्त्वके सर्वव्यापी होनेके कारण उसीके साथ इंद्रियसंबंध होनेसे पांच गुणोंका अनुभव होने पर भी पूर्वोक्त प्रकारका भास होना संभव है।

यही इसकी यह प्रकृति (मे ईश्वरस्य प्रकृतिः) है जो एक होती हुई हमारे इंद्रियभेदोंसे पांच या आठ प्रकारकी दीखती है। इस एक प्रकृतिको हम अपने अनुभवसे पांच प्रकारकी अथवा आठ प्रकारकी कह सकते हैं। परंतु वास्तवमें यह अपरा प्रकृति एकही है।

तम = अहंकार

इसी तरह इस अपरा प्रकृतिमें मन बुद्धि और अहंकारका अनुभव होता है। इसका विचार करनेके लिये अहंकारका विचार कीजिये। इस जगत्‌में सर्वत्र अहंभाव प्रत्येक पदार्थमें दीखता है। पत्थरकी भूमिमें हमको ईंट और मिट्टीके पाये अपने अहंभावके कारण अपनी स्थिरता और दीवारका

अपने अन्दर समाहित कर लेते हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें यह अहंभाव अवस्थित है। आम्रवृक्ष अपने पत्ते आदिसे अपनी विभिन्नता प्रकट करता है अन्य वस्तुमात्र अपने भिन्न अस्तित्वसे अपना अहंभाव प्रकट करते हैं। जगत्के प्रत्येक पदार्थमें यह अहंभाव है और यह अहंभाव प्रत्येक स्थानपर कह रहा है कि—

एकोऽहं बहु स्याम्।

'मैं एक हूं मैं बहुत बनूंगा।' देखिये एक गेहूंका दाना अपने अहंभावसे कहता है कि यद्यपि मैं एक हूं तथापि मैं बहुत बनूंगा। ऐसा कहता हुआ वह भूमिमें जाता है उगता है और अनेकोंमें परिणत हो जाता है। इस तरह १५-२ वर्षोंमें एकही गहूंके दानेके सम्पूर्ण पृथ्वीको भर देनेवाले अगणित दाने बन जाते हैं। इसीलिए प्रत्येक दाना यही कहता है कि यद्यपि मैं एक हूं पर मैं बहुत बनूंगा। यह अहंभाव हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक जीव इसी तरह कहता है और ऐसाही बन सकता है। अपने साथ दूसरेको न बढ़ने देना अपने नीचे किसी दूसरेको ऊपर न होने देना यही भावना बनी रहती है। यह सब अहंकारकाही प्रभाव है। इस तरह विचार करनेसे यह अहंभाव सर्वत्रही दिखाई पड़ेगा। यही तमोगुण है।

रज = मन

सब प्राणियोंमें अपने अस्तित्वका ज्ञान मनके द्वाराही होता है। तथा अन्यान्य पदार्थोंमें भी विचारकी दृष्टिसे देखा जाय तो सबके अस्तित्वका पता लग सकता है। प्रत्येक पदार्थकी रचना अणुपरमाणुओंकी मिलकर अनेकका आकर्षण और दूरीकरण संघटन और विघटन सबमेंही हुआ करता है। इन नियमोंमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता। इसीलिये सबके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है और यह रजोगुण है।

सत्त्व = बुद्धि

सत्त्वगुणका प्रकटीकरण बुद्धिका रूप है। प्राणियोंमें ज्ञान ग्रहण करनेके गुणसे इसका पता लगता है अन्यत्र सात्त्विक प्रभावसे इसकी प्रतीति होती है। योग्य अवस्थाके महत्त्वसे बुद्धिका संवर्धन और अयोग्य अवस्थासे बुद्धिका कम होना सबके अनुभवकी बात है।

इस तरह यह ईश्वरकी सर्व-व्यापिनी अपरा प्रकृति है। कोई भी स्थान इससे खाली नहीं है। हमारे पास आठ होतीं हैं, इस कारण हम इस प्रकृतिको आठ प्रकारका कहते हैं परन्तु परमेश्वरकी केवल एकही अपरा प्रकृति है जिसको आगे क्षेत्र प्रकृति करके कहा है—

> महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
> एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
> (गी० अ० १३)

पंचमहाभूत अहंकार बुद्धि अव्यक्त इन्द्रियाँ मन पंच विषय इच्छा द्वेष, सुख दुःख, संघात चेतना अर्थात् प्राणादिका व्यापार और धैर्य इन ३१ तत्त्वोंके समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं। यह सब इस प्रकृतिकाही विस्तार है। अस्तु, इस तरह यह अपरा प्रकृति क्षर प्रकृति है अर्थात् यह बदलती रहती है। यह अपरा प्रकृति सदा बदलती रहती है इसलिये इसमें अनंत विभेद होते हैं।

सत्त्व–रज–तम

यदि प्रकृतिमें सत्त्व रज और तमकी साम्य अवस्था हो जाय तो वही मूल प्रकृति कहलाने लगती है। इसी प्रकार सत्त्व रज तममें विषमता हो जानेसे उस प्रकृतिकी विकृति बन जाती है। यह जगत् उस विकृतिकेही प्रकट होता है। प्रकृति और विकृतिमें इस तरह सत्त्व रज तम गुणोंकी समता और विषमताकाही भेद है। समता हो या विषमता, दोनों अवस्थाओंमें यह परमेश्वरकी प्रकृति है इसमें कोई भी संदेह नहीं। इसी प्रकृतिका एक अंश हमारा शरीर है इसलिये हमारा शरीर भी परमेश्वरके शरीरका एक अंश है। इसी तरह परमेश्वरके शरीरमें सबके शरीर समाये हैं अथवा मनुष्यों पशुपक्षियों वृक्षवनस्पतियों स्थावरजंगमों तथा सूर्यचंद्रादिकोंके सब शरीर मिलकर होनेवाला जो यह प्रचंड ब्रह्माण्डरूपी विराट् देह है वही परमेश्वरका शरीर है जिसमें हमारा बिन्दुमात्र शरीर भी समाया है और कोई भी इससे बाहर नहीं है। यही उसका विश्वरूप दर्शन है जो ग्यारहवें अध्यायमें पाठक प्राप्त कर सकेंगे।

अपरा प्रकृति

यहांतक जिसका वर्णन किया अर्थात् पंचभूत और मन बुद्धि अहंकाररूप जो अष्टधा प्रकृति है वह अपरा प्रकृति है। यह कनिष्ठ गौण, क्षर किंवा स्थूल प्रकृति है। यहां कनिष्ठ

शब्दका जो प्रयोग किया है वह उसके हीनत्वका द्योतक नहीं है प्रत्युत दूसरेकी अपेक्षा इसकी गौणता बताई है। अब इस गौण अर्थात् गुण-मयी किंवा त्रिगुणमयी प्रकृतिके उपरान्त परा प्रकृतिका विचार करते हैं।

परा-प्रकृति

परमेश्वरकी दूसरी प्रकृति 'परा' है। जिसको 'जीव' भी कहते हैं—

जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि। (श्लो० ५)

इस जगत्का जीवरूप विभाग मेरी (परमेश्वरकी) परा प्रकृति है। मनुष्य पशुपक्षी जलजन्तु वनस्पति स्वेदज अण्डज आदि समस्त जीव-जगत् है। इसमें इच्छा द्वेष सुखदुःख आदिका अनुभव प्रत्यक्ष होता है। वृक्षादिमें भी जीव है परन्तु वह स्थावरस्थितिमें रहनेके समान अर्ध-निद्रित अवस्थामें है। पशु-पक्षियोंमें वह किञ्चित् जाग्रत है और मानव-प्राणियोंमें वह अत्यंत जाग्रत हुआ है। वही स्थावरप्राणियोंमें सुप्त सुप्तावस्थामें है। यह 'जो जीवसृष्टि है वह परमेश्वरकी श्रेष्ठ प्रकृति है' मनुष्य-शरीर की जीवन-कला भी इसीका एक अंश है। परमात्माकी इस जीवनरूप परामहृतिको विशाल सागर मान लेनेसे मनुष्यकी जीवन कला उसका एक बूंदही है। इस दृष्टिसे भी मानवी-जीवन-कला परमात्माकी अखंड जीवरूप प्रकृतिका एक विभागमात्रही है।

ययेदं धार्यते जगत्। (श्लो० ५)

इस जीवनशक्तिसे इस जगत्की धारणा होती है। जगत्के अन्दर जो अनंत पदार्थमात्र हैं वे इसी जीवन-शक्तिसे अपने अपने स्थानमें धारण किये गये हैं। अर्थात् जीव सृष्टि तथा निर्जीव सृष्टि दोनोंको इस जीवनशक्तिका आधार है। इस जीवन-शक्तिके आधारपरही यह सब जगत् चल रहा है। यह अपरा और परा प्रकृति मिलकर परमेश्वरकी प्रकृति बनती है। देखिये—

ईश्वर—[जीवन—परा प्रकृति—अक्षर—अविनाशी—अविकारी
जड —अपरा प्रकृति —क्षर—नाशवंत विकारी

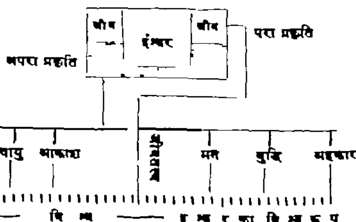
जीवात्मा—[चैतन्य—सूक्ष्म शरीर—अविनाशी—अविकारी
स्थूल शरीर—जड शरीर—विनाशी देह विकारी प्रकृति

जीव और शिवमें यह समानता देखनेयोग्य है। अपने देहके अन्दर देखकर वही बात विराट् रूपमें देखी जा सकती है। इस तरह सर्वत्र यह परा और अपरा प्रकृतिका खेल देखनेसे गीताकी शिक्षाका पता लग सकता है।

भूतोंकी उत्पत्ति

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। (श्लो० ६)

'इस परा तथा अपरा प्रकृतिसे सब भूत अर्थात् सब स्थिरचर उत्पन्न होता है।' यह बात निम्नलिखित चित्रसे विदित हो सकती है।



इस तरह ईश्वर और प्रकृति- [जीवशक्ति + स्थूल भूत] मिलकर सम्पूर्ण जगत् बनता है अतः कहा है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। (श्लो. ६)

(मैं) ईश्वर सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण (हूँ) है। ईश्वर किस रूपमें कारण है यह बात इस समष्टरूपके विवरणसे ज्ञात हो सकती है। मनुष्यके शरीरमें भी जीवनकला और स्थूल शरीर है और आत्मा अन्दर रहती हुई अपनी शक्तिसे शरीरके अन्दरका सब कार्य चलाती है। इसी तरह ईश्वर अपनी शक्तिसे जीव-शक्ति और भूत प्रकृतिमें कार्य करता है जिससे इस विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और विनाश होते रहते हैं।

परतत्त्व

जड़रूप अपरा प्रकृति जीवभूत परा प्रकृति और ईश्वर इन सबमें ईश्वरही सबसे श्रेष्ठ है। इससे और परे अथवा इससे और अधिक श्रेष्ठ तत्त्व कुछ भी नहीं है—

परतरं मान्यत्किंचिदस्ति। (श्लो. ७)

जो कुछ सबसे श्रेष्ठ है जो कुछ भी परात्पर है वही पुरुषोत्तम है। वही अन्तिम प्राप्तव्य है। वहां पहुंचनेपर आगे चलनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि इससे आगे और कुछ भी नहीं है। इसलिये बारबार कहा जाता है कि वहां पहुंचनेपर गति कुंठित हो जाती है। गति कुंठित होने-का अर्थ यही है कि वहांही प्रगतिकी समाप्ति हो जाती है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि अपरा और परा प्रकृति मिल-कर परमेश्वरकी एकही प्रकृति अर्थात् ईश्वरका शरीर बनता है। जैसे अपने शरीरमें स्थूल शरीर और जीवनतत्त्व ये दो विभाग हैं वैसेही परमेश्वरके इस विराट् शरीरमें अपरा और परा प्रकृति ये दो विभाग हैं। हमारे शरीरके ये दोनों विभाग परमेश्वरके विराट शरीरकेही अंश हैं। अर्थात् हम सब प्राणी परमेश्वरके शरीरके सूक्ष्म अंश हैं। जैसे हमारे शरीरमें सूक्ष्म जीवाणु होते हैं वे हमारे शरीरके अंश होते हुए भी स्वतन्त्रतया जीते मरते रहते हैं उनके जीने और मरनेसे हमारे अखंड जीवनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती इसी प्रकार हम सब जीव-जन्तु प्राणियोंके शरीर परमेश्वरके विराट् देहमें जीवाणुओंके समान हैं और हमारे मरने और जन्म लेनेसे उनके अखण्डानन्द जीवनमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती।

इस कारण हम अपने क्षुद्र जीवनका अभिमान न करते हुए किंवा क्षुद्र जीवनके अभिमानसे अपने आपको क्षुद्र न बनाते हुए यदि अपने आपको परमात्माके अखंडानन्द जीवनका अंश अनुभव करने लगेंगे तो हम शाश्वत्जीवन अखंडानन्दके भागी हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको इसपर मनन करना चाहिये।

एक मनुष्य पैदल चलता है दूसरा बैलगाडीमें जाता है तीसरा घोडागाडीमें बिराजता है चौथा मोटरमें दौडता है पांचवा रेलसे भागता है और छठा विमानमें उडता है। यद्यपि सभी गतिमान हैं और सभी प्राप्तव्य स्थानमें जानेके इच्छुक हैं तथापि उनकी गति क्रमशः घण्टेमें ३ ५ १० २० ४० और १०० मीलकी होती है। अब जानेवालोंकोही विचार करना चाहिये कि मैं किस गतिसे जाऊं। यह मनुष्य जिस स्थानका अधिष्ठान देखा वही वेगसे जा सकेगा। इसी तरह यहां भी भोगोंका अल्प आनन्द है और परमेश्वरका महानन्द है। लोग अल्प आनन्द देनेवाले भोगोंमें रमते हैं इसलिये अल्प आनन्द पाते हैं। यदि वे महानन्दमें रमेंगे तो वे अखण्ड महानन्दसे युक्त होंगे। इस कारणही बार बार कहा जाता है कि परमेश्वरकी उपासना करो। इसका तात्पर्य यही है कि हे उपासक साधक ! तू अखंड आनन्द का भागी बन।

परमतत्त्व परमपद परमेश्वरकी शक्तिसे जो काम होता रहता है उसकी किंचित् कल्पना इस विवरणसे आ सकती है। अब हम उसका विचार करते हैं।

सूत्रमें मणि

सातवें श्लोकमें सूत्रमें मणियोंके समान सूत्रात्मामें यह सम्पूर्ण जगत् है ऐसा कहा गया है। इस जगत्में पृथ्वी आप तेज वायु, आकाश सूर्य चंद्र ग्रह नक्षत्र तारा-मंडल वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि जो भी वस्तुमात्र हैं वे मणिरूप हैं और आत्मा उन सबको एक मालामें बांधने वाला सूत्र है। इस तरह इन मणियोंकी सूत्रात्मामें बनी मालाही यह जगत् है।

फूलोंकी माला मणियोंकी माला मोतियोंकी माला ऐसी अनेक मालाएं होती हैं। माला बनानेके लिये सूत्रकी अत्यंत आवश्यकता है। सूत्रसे ही मणियोंका सम्बन्ध जुडता होता है और ही मणियोंका सम्बन्ध जुडता होनेसेही माला बनती है। इस संबन्धके सूत्रके दूर करनेसे माला भी दूर जाती है।

(२) जगत्में ईश्वर

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः । प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् । धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! अहं अप्सु रसः शशिसूर्ययोः प्रभा अस्मि, सर्ववेदेषु प्रणवः खे शब्दः नृषु पौरुषं ॥ ८ ॥ पृथिव्यां पुण्यः गंधः विभावसौ च तेजः अस्मि; सर्वभूतेषु जीवनं तपस्विषु च तपः अस्मि ॥ ९ ॥ हे पार्थ ! मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि अहं बुद्धिमतां बुद्धिः अस्मि तेजस्विनां तेजः ॥ १० ॥ अहं च बलवतां कामरागविवर्जितं बलं अस्मि हे भरतर्षभ ! भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अहं अस्मि ॥ ११ ॥ ये च एव सात्त्विकाः राजसाः तामसाः च भावाः (ते) मत्तः एव इति तान् विद्धि, अहं तु तेषु न (अस्मि) ते मयि (वर्तन्ते) ॥ १२ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं जलमें रस हूं, सूर्य और चन्द्रमें प्रभा हूं, सब वेदोंमें प्रणव अर्थात् ओंकार हूं, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पराक्रम भी मैं ही हूं ॥८॥ मैं पृथ्वीमें उत्तम शुभ गंध हूं, सब प्राणियोंमें मैं ही जीवन हूं, तपस्वियोंमें तप मैं हूं ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! तू समझ ले कि सब भूतोंका सनातन बीज मैं ही हूं मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि हूं और तेजस्वियोंका तेज हूं ॥ १० ॥ मैं बलवानोंका इच्छा प्रेम-रहित बल हूं हे भरतश्रेष्ठ ! सब भूतोंमें धर्मानुकूल वासना भी मैं ही हूं ॥११॥ तुझे मालूम होना चाहिये कि जो भी सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं वे सब मुझसेही उत्पन्न होते हैं। मैं उनमें नहीं हूं, परन्तु वे मुझमें (रहते) हैं ॥ १२ ॥

यहां जो मालाएं बनती हैं वे विजातीय और सजातीय पदार्थोंसे बनती हैं। सूतमें फूल मणि मोती आदि पिरोकर जो माला बनती है वह विजातीय माला है क्योंकि सूतकी जाति और मणियोंकी जाति भिन्न होती है। परन्तु सोनेके तारमें सोनेकी मणि चांदीके तारमें चांदीकी मणि, सूतके धागेमें सूतकी मणि रखनेसे सजातीय माला भी बनती है। सजातीय मालामें जिस तत्त्वकी मणि होती है उसी तत्त्वका धागा होता है और विजातीय मालामें सूत भिन्न तत्त्वका और मणि भिन्न तत्त्वकी होती है।

इस जगत्‌की मणियोंकी माला बननेमें परमात्मा सूत है। उससे यह विश्वरूपिणी मनमोहिनी माला बनी है। यहां प्रश्न होता है कि यह माला सजातीय है अथवा विजातीय अर्थात् जिस धार विश्वात्मा जगत् और जगदात्मा वे विजातीय हैं वा सजातीय हैं? अर्थात् सूत्रात्मामें सूतकी मणियाँ हैं अथवा धातुओंमें सूत्रद्वारा यह माला बनाई गई है? वैसे तो इसका उत्तर स्वयं गीता आगे जाकर देगी, परन्तु इसी अध्यायमें आगे कहा है कि—

वासुदेवः सर्वम् । (गी. ७।१९)

सब कुछ वासुदेवही है। यदि यह कथन सत्य है तो सूत भी वासुदेव है और मणियां भी वासुदेवही हैं, ऐसा मानना पडेगा। नहीं तो केवल सूतही वासुदेव है और मणियां वासुदेव नहीं है ऐसा माननेसे 'वासुदेवः सर्वं' यह कथनही असत्य हो जायगा। वासुदेव सब कुछ है अतः सूत और मणियां एकही तत्त्वके हैं, यही सिद्धान्त भगवद्गीताको अभीष्ट है इसमें संदेह नहीं हो सकता। इस विषयमें जो कुछ कथन करना होगा वह युक्ति प्रमाणोंके साथ हम आगेके व्याख्यान प्रसंगमें करेंगे। यहां इतनाही कहना है कि सूतमें सूतकी मणि सोनेके तारमें सोनेकी मणिके समान यहां जगत् और आत्मा एकही तत्त्वके हैं। इसके स्पष्ट करनेका विवेचन आगे किया जायगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंही यह कुछ कह रहे हैं—

भावार्थ— पृथ्वीमें गंध, जलमें रस, अग्निमें तेज, वायुमें स्पर्श, आकाशमें शब्द, सूर्यमें प्रकाश, चन्द्रकी चंद्रिका, वेदमें ॐकार, प्राणियोंमें जीवन, भूतोंका सनातन बीज, भूतोंकी धर्मानुकूल वासना, पुरुषोंका पराक्रम, बलवानोंका इच्छारहित बल, तेजस्वियोंका तेज और बुद्धिमानोंकी बुद्धि ईश्वर है। इस जगत्के सात्त्विक, राजस और तामस भाव ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर इन विकारोंमें नहीं है, परन्तु ये विकार ईश्वरमें हैं ॥ ८-१२ ॥

ईश्वरका रूप

(८-१२) मनुष्यके सम्मुख यह जगत् है, उस जगत्में परमेश्वर किस रूपमें प्रकट रहता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि—

१ पृथ्वीकी उत्तम सुवास ईश्वर है।
२ जलका रस ईश्वर है।
३ अग्निका तेज ईश्वर है।
४ वायुमें ईश्वरका स्पर्श है।
५ आकाशमें शब्द ईश्वरका रूप है।

अर्थात् पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश इनमें क्रमशः जो गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं, वह परमेश्वरका प्रत्यक्ष रूप है। मनुष्य फूलकी सुगंध लेता है, मधुर जलका मीठा रस चखता है, पदार्थका सुंदर रूप देखकर सौंदर्यका अनुभव करता है, उत्तम पदार्थका स्पर्शसुख अनुभव करता है और जो शब्द सुनता है वह परमेश्वरके रूपकाही अनुभव है। फूलका सुगंध परमेश्वरकाही प्रकट रूप है, मधुरादि रस प्रत्यक्ष परमेश्वरकाही स्वरूप है, पदार्थोंके रूप, स्पर्श तथा शब्दोंका विस्तार सब परमेश्वरकेही प्रत्यक्ष रूप हैं। परमेश्वरके इतना प्रत्यक्ष होनेपर भी मनुष्य कहता है कि परमेश्वर हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये उसको ढूंढकर निकालना चाहिये और उस कार्यके लिये अनेक क्लेश सहने चाहिये।

ईश्वरके विषयमें कितना भ्रम फैला हुआ है ! हमारे चारों ओर जो पंचमहाभूत भरे हैं, उनका सत्त्वांश परमेश्वरही तो है। यदि मनुष्य गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये परमेश्वरके भाव हैं ऐसा सचमुच बिना संदेह मानने लग जाय, तो उसको सर्वत्रही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है।

यही बात हमारे विषयमें भी है। हमारे शरीरमें नासिकाके रहनेवाली नाक गंधका, जिह्वा रसका, नेत्र रूपका, त्वचा स्पर्शका और कान शब्दका ग्रहण कर सकते हैं। इसी तरह इन्द्रिय पंचमहाभूतोंमें इन्द्रिय गुण अनुभवमें आते हैं, यही प्रकट प्रत्यक्ष रूप है, ऐसा समझना चाहिये। यह तो पंचमहाभूतरूप परमात्माका स्वरूप है। अब मनुष्यादि प्राणियोंमें परमात्मा कहां और कैसे रहता है, यह देखिये—

प्राणियोंमें जो जीवनकी कला है, वह परमेश्वरका रूप है। प्रत्येक प्राणी जन्मता है, जीवित रहता है और फिर मर जाता है। जन्मसे मृत्युतक उसका जीवनकाल है, उसमें जो जीवनशक्ति कार्य करती है, वही ईश्वरीय भाव है। मनुष्योंमें भी यह जीवन होनेसे अपनेही जीवनमें परमात्माका अनुभव किया जा सकता है। यह ईश्वरीय जीवन न मिले तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह जीवनका चमत्कार परमेश्वरकाही भाव है।

वीरोंका पराक्रम, बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता, तपस्वियोंकी तपस्या, तेजस्वियोंकी तेजस्विता, बलिष्ठोंका बल, मनुष्योंमें रहनेवाली वासना, यह सब परमेश्वरकाही रूप है। उक्त श्लोकोंमें कहा है कि मैं (ईश्वर) मनुष्योंमें पराक्रम, बुद्धिमत्ता, तेजस्विता, बल, वासना आदि रूपोंमें रहता हूं। इससे सिद्ध है कि ये सब ईश्वरकेही रूप हैं और इन सबमें प्रत्यक्षतया ईश्वर विद्यमान है।

वीरोंसे वीरता कैसे दूर हो सकती है ? बलिष्ठोंसे बलको पृथक् करना कैसे संभव है ? बुद्धिमानोंकी बुद्धि उनसे किस तरह पृथक् की जा सकती है ? ये तो इनकी शक्तियां हैं, इनका पृथक् करना नितान्त असंभव है। परमेश्वर वीरोंमें पराक्रमरूपसे रहेगा, बुद्धिमानोंमें बुद्धिमत्ताके रूपसे, बलिष्ठोंमें बलके रूपमें वह सदा विद्यमान रहेगा। इस तरह मनुष्योंमें परमेश्वरके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है।

यदि वीरता ईश्वरका रूप है तो सब वीर पुरुष परमेश्वरकी विभूतियां हैं। यदि बुद्धिमत्ता परमेश्वरका रूप है तो सब बुद्धिमान् पुरुष परमेश्वरकी विभूतियां हैं। यदि बल ईश्वरका रूप है तो सब बलवान् पुरुष परमेश्वरकी विभूतियां हैं। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। ये गुणही प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला परमेश्वरका रूप है। इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंमें परमेश्वरकी विभूति देखी जा सकती है। इनमें कौन कौन विभूतियां

है इसका विचार आगे १० वें अध्यायमें विभूतिवर्णनके प्रसंगमें किया जायगा। यहां केवल मनुष्योंमें परमेश्वरका भाव कैसे जाना जा सकता है यही देखना है और वह पूर्वोक्त प्रकारसे देखा जा सकता है।

जहां बुद्धिका उत्कर्ष है बलका प्रकर्ष है तेजस्विताका अधिष्ठान है ज्ञानका विकास है वहां परमेश्वरका भाव है ऐसा समझा जा सकता है और जहां इस तरह परमेश्वरका भाव प्रकट हुआ है उसीको पूज्य विभूति कह सकते हैं। इन्हीं विभूतियोंकी पूजा होती है।

प्राणिमात्रमें धर्मके अनुकूल काम अर्थात् वासना और बलवानोंमें इच्छाद्वेषरहित बल, ये सब परमेश्वरके प्रकट रूप हैं। जहां ये भाव होंगे वहां परमेश्वरका रूप प्रकट हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसेही सज्जनोंको महात्मा और पुण्यात्मा कहते हैं और वे ही सत्पुरुष लोकोंमें वंदनीय विभूतियां होती हैं। इसका कारण यही है कि उनमें परमात्म भाव अधिक प्रकट हुआ है।

आगे १२ वें श्लोकमें कहा है कि जो सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं, वे सब (मत्तः=मुझसे) ईश्वरसेही संभूत हैं। स्मरण रखना चाहिये कि सात्त्विक, राजस और तामस ये सब भाव ईश्वरसे होनेकी बात यहां कही है। सामान्य वाचक तो सात्त्विक और राजस-भाव ईश्वरसे या परमात्मासे होते हैं ऐसा मानेंगे परन्तु तामस-भाव भी उसीसे होते हैं यह मानना लोगोंको कठिन होगा। परन्तु यहां स्पष्ट कहा है कि सात्त्विक राजस और तामस ये सब भाव ईश्वरसेही होते हैं। यदि ये तीनों प्रकारके भाव ईश्वरके रूप हैं तो ११ वें श्लोकके कथनका अर्थ थोडा विलक्षण करना पडेगा वहां कहा है कि काम राग (इच्छा-द्वेष) रहित बल और धर्मानुकूल काम ईश्वरका रूप है। यहां काम-रागरहित बलका अर्थ सात्त्विक बल है और धर्मानुकूल कामका अर्थ सात्त्विक और राजस काम है। इससे यह पता चलता है कि कामरागयुक्त राजस बल और धर्मविरोधी तामस बल तथा धर्मविरोधी तामस काम ईश्वरका रूप नहीं है। तात्पर्य केवल सात्त्विक और राजस भाव ही ईश्वरके भाव हैं और तामस गुण ईश्वरके भाव नहीं हैं ऐसा सूचित होता है। परन्तु यह केवल सात्त्विक और केवल राजस भावोंमें प्रकट होनेवाला रूप समग्र ईश्वरका (समग्रं मां ईश्वरं ज्ञास्यसि। ७।१) समग्र रूप नहीं है। ईश्वरका समग्र रूप जो जगत्‌में सात्त्विक राजस और तामस भावोंमें प्रकट होता है वह सब ईश्वरकाही रूप है यह समझ लेनेसे ही समग्र ईश्वरका समग्र रूप जाना जा सकता है।

मत्तः एव इति तान् विद्धि। (७।१२)

मुझ ईश्वरसेही ये तीनों भाव-(सात्त्विक राजस और तामस)-प्रकट होते हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक कहा है। यहां प्रकार किंवा कोई स्थान नहीं है।-निःसन्देह ये सब भाव ईश्वरसेही प्रकट हैं और किसी अन्य कारणसे ये प्रकट नहीं होते। अर्थात् इनको देखनेसे इनके आदिकारण ईश्वरकाही बोध होता है।

यह होनेपर भी इनके विषयमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि—

ते मयि (परमात्मनि)

न त्वहं (परमात्मा) तेषु (गी० ७।१२)

ये भाव परमात्मामें हैं परन्तु उनमें परमात्मा नहीं है। उदाहरणके रूपमें वृक्षमें पत्र फूल, फल होते हैं परन्तु केवल पत्तेमें केवल फूलमें अथवा केवल फलमें संपूर्ण वृक्ष नहीं होता। बीजसे वृक्ष बनता है परन्तु वृक्षके भागमें अलग बीज नहीं दीखता वैसेही परमात्मासे सात्त्विक राजस, तामस भाव बने हैं, तथापि उनमें परमात्मा नहीं है। दूसरा उदाहरण है- बादलोंमें जल होता है परन्तु जलमें बादल नहीं होते। बादलोंसे जलसंघर्षणसे बिजली उत्पन्न होती है परन्तु उस बिजलीमें न बादल होता है और न जल। अग्निसे धूवां निकलता है परन्तु धूवेंमें अग्नि नहीं होती। इसी तरह सात्त्विक राजस और तामस भाव ईश्वरसे हुए हैं परन्तु इनके आश्रयसे परमेश्वर नहीं है।

यहां यह जाननेके लिये ऐसा समझना चाहिये कि सभी भाव परमात्माकी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं और परमात्माके आश्रयसे रहते हैं परन्तु सात्त्विक भावोंके रहनेसेही परमात्माका अस्तित्व है ऐसी बात नहीं। यही बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक और उदाहरण देते हैं। बिजली वेगवाली आग या विद्युच्छक्तिसे युक्त वज्रास्त्र (वज्र् शक्ति) बनता है और वज्रास्त्रके यदि अनेक भेद बनते हैं। उनमें कुछ भेद काटनेवाले कुछ तोडनेवाले और कुछ दूसरा कार्य करते हैं। यहां मुख्य शक्ति वज्रास्त्रमें रहती है वह

(४) मायामोह

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

बहोंमें, वह मुख्य शक्ति विभक्त होकर विभिन्न यंत्रोंको चलाती है । इस स्थानपर कहा जाता है कि मुख्यर्यंत्रकी मुख्य शक्ति विभिन्न यन्त्रोंको चलाती है, परन्तु विभिन्न यंत्रोंकी शक्ति मुख्य यन्त्रकी प्रेरक नहीं है । मुख्य यंत्रकी शक्ति गौण यंत्रोंमें है परन्तु गौण यंत्रोंपर मुख्य यन्त्रकी गति अवलम्बित नहीं है । मुख्य यंत्र चलता तो गौण यंत्र चलते रहेंगे परन्तु गौण यंत्र चलें या न चलें तो उनके साथ मुख्य यंत्रके चलनेका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

और एक उदाहरण लीजिये । स्वतन्त्र राज्यशासनके राजामें मुख्य राजशक्ति है वह महामंत्रीसे लेकर छोटेसे कर्मचारी तक विभक्त होकर कार्य करती है । यहाँ कहा जा सकता है कि राजाकी शक्ति राजपुरुषोंमें कार्य करती है परन्तु कर्मचारियोंकी शक्तिके आश्रयपर राजशक्ति निर्भर नहीं रहती । कर्मचारी रहे या चला जाय तो भी राजशक्ति अबाधित रहती है । परन्तु राजा न रहा तो किसी कर्मचारीकी शक्ति अपना कार्य नहीं कर सकती । इसी तरह परमेश्वरके आश्रय से जगत्‌के सात्त्विक राजस और तामस भाव प्रकट होते हैं परन्तु जगत्‌में इन भावोंके प्रकट होने न होनेपर परमेश्वर का अस्तित्व अवलंबित नहीं है । इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर उनमें नहीं है, अपितु वे ईश्वरमें हैं ।

ईश्वरसेही सूर्य चन्द्र ग्रह, नक्षत्र जल भूमि आदि हुए हैं हमें इनकेही कारण ईश्वरके अस्तित्वका ज्ञान होता है यह सत्य है तथापि सूर्य-चन्द्रके अस्तित्वपर परमेश्वरका अस्तित्व अवलंबित नहीं है । इसलिये कहा जाता है कि ईश्वर में सूर्यादि ग्रह नक्षत्र आश्रित हैं परन्तु सूर्यादि ग्रहनक्षत्रोंके आश्रयसे ईश्वर नहीं रहता । (नाहं तेषु ते मयि) मैं (ईश्वर) उनमें नहीं हूं परन्तु वे मुझ (ईश्वर) में रहते हैं।

परमेश्वरकी प्रत्यक्षता

यहाँतक जो ज्ञान भगवद्गीताने दिया है उसको अच्छी तरह समझनेका यत्न करना चाहिये तभी गीतामें जो परमेश्वरकी कल्पना व्यक्त की है वह ज्ञात हो सकती है ।

जगमें रस परमेश्वरका रूप है । क्या जलसे रस अलग किया जा सकता है ? नहीं जल और रसका अभेद्य संबन्ध है, जलसे रस अलग नहीं हो सकता । जलका स्थूल रूप प्रत्यक्ष दीखता है और रस अव्यक्त होता हुआ भी अनुभव में आता है । यहां जलमें रस परमेश्वरका रूप है जो जलसे अभिन्न है । जैसे कि मिश्री या खाँडका रूप जो आंखसे दीखता है वह प्रत्यक्ष है और उसका मिठास आंखसे अप्रत्यक्ष होनेपर भी जिव्हा स्वादसे जाना जाता है । यह मिठास खाँडको तोडनेसे भी नहीं टूटता । यहां खाँडका एक रूप टूटनेवाला (क्षर) है और उसी खाँडका दूसरा न टूटने वाला रूप (अक्षर) मिठासके रूपमें हमें अनुभव होता है ।

यह क्षर और अक्षर एकही स्थानपर भिन्न होते हुए भी अभिन्नतासे रहते हैं और दोनोंका (सरोकारमात्र) मिलकर एक भाव होता है जो खाँडके रूपमें प्रत्यक्ष है । यही पूर्ण पुरुषोत्तमका रूप है जो केवल क्षरमें भी नहीं और केवल अक्षरमें भी नहीं होता, अपितु क्षराक्षरसे परे होता हुआ भी क्षराक्षरमेंही रहता है । अर्थात् खाँडमें स्थूलरूपी साकार रूप क्षर आकार मिठासरूपी निराकार अक्षर और इन दोनोंका अभेद संबन्ध खाँडरूपसे अनुभव होता है, यही क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम परमात्मा है । अर्थात् इसकी कल्पना ठीक होनेसे पुरुषोत्तम नारायण परमेश्वर परमात्मा की कल्पना भी ठीक रूपसे हो सकती है ।

इसी तरह जलका स्थूल भाग क्षर रूप है इसमें रस अक्षर रूप दिव्य भाग है और यह क्षर और अक्षर मिलकर जो होता है वह सब पुरुषोत्तम किंवा वासुदेव है । इसी प्रकार चन्द्रसूर्यकी प्रभा मनुष्योंमें पौरुष तपस्वियोंका तप बुद्धिमानोंकी बुद्धि बलवानोंका बल इत्यादिके विषयमें क्षराक्षरविवेक समझना चाहिये । यहां इस प्रकार सब पदार्थोंमें परमेश्वरका कैसा भाव है यह मननपूर्वक देखना चाहिये और इन भावोंको देखकर ईश्वरका साक्षात्कार करनेका यत्न करना चाहिये । ईश्वर इतना प्रत्यक्ष होनेपर भी मनुष्योंको वह दूर क्यों दीखता है ? इसमें मोह होनेका क्या कारण है ? यह बात आगेके श्लोकोंमें वर्णित है ।

अन्वयः- एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः इदं सर्वं जगत् मोहितं (अतः) एभ्यः परं अव्ययं मां न अभिजानाति ॥१३॥ एषा दैवी गुणमयी मम माया हि दुरत्यया । ये मां एव प्रपद्यन्ते ते एतां मायां तरन्ति ॥१४॥ मायया अपहृतज्ञानाः आसुरं भावं आश्रिताः दुष्कृतिनः मूढाः नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते ॥१५॥

यह सब जगत् इन तीन गुणयुक्त भावोंसे मोहित हुआ है (इस कारण) इनके परे अविनाशी मुझ (ईश्वर) को यह नहीं समझ पाता ॥ १३ ॥ मेरी (ईश्वरकी) यह दैवी गुणमयी माया दुस्तर है। जो मुझ (ईश्वर) कोही प्राप्त करते हैं वे इस मायासे पार हो जाते हैं ॥१४॥ मायासे नष्ट ज्ञानवाले आसुरी भावको प्राप्त हुए दुराचारी मूढ नराधम मुझ (ईश्वर) को प्राप्त नहीं कर पाते ॥ १५ ॥

भावार्थ- संपूर्ण जगत् पूर्वोक्त सात्त्विक राजस और तामस भावोंसे अर्थात् भोग-पदार्थोंसे मोहित हुआ है इसलिये इनसे परे रहनेवाले ईश्वरको नहीं पहचाना जा सकता। दिव्य शक्तिवाली यह त्रिगुणयुक्त माया पार करना बडा कठिन है। जो ईश्वरको पा लेते हैं वही इस मायासे पार होते हैं। जो ईश्वरको प्राप्त नहीं कर पाते वे नराधम आसुरी वृत्तिसे युक्त होकर दुराचार करते हुए ज्ञानको नष्ट करके मूढ बने रहते हैं और गिरते चले जाते हैं ॥ १३-१५ ॥

मायाका स्वरूप

(१३-१५) मायाका स्वरूप क्या है और उस कारण मनुष्यको कैसे मोह हो जाता है यह एक विचार करनेयोग्य प्रश्न है। मायाके स्वरूपके विषयमें कई अद्भुत कल्पनाएं प्रचलित हैं इसलिये यहां उसका विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। माया शब्दका मूल अर्थ 'कला कौशल हुनर कारीगरी' है। कोई कारीगर अपनी कला कुशलतासे मिट्टीका घडा बनाता है। जब मिट्टी थी तब घडे की कल्पना भी नहीं थी। मिट्टीमें किसी कारीगरकी माया मिलनेसेही घडा बन गया। अर्थात् मिट्टीसे घडा बनना यह मायासे ही हो सकता है इसलिये यह मायाका रूप है यह मायामय रूप बननेसेही मनुष्य उसका उपयोग करके उप भोग करने लगा। यह उपयोग करते करते उसमें ऐसा फंस गया कि इसके मूल रूपको अर्थात् मिट्टीकोही भूल गया। घडे पास रहनेसे आनंदित और घडा टूटनेसे दुःखी होने लगा। यह क्यों हुआ? केवल मायाद्वारा यह रूप बननेके कारणही हुआ। इसी तरह मनुष्य कारीगरीकी अनंत वस्तु इस जगत्में बनाता है और उनमें मोहित होता रहता है।

मनुष्य घर बनाता है उद्यान लगाता है विविध चित्र और मूर्तियां घरमें रखता है यह स्थान मेरा है यहां दूसरा नहीं आ सकता इत्यादि विचार प्रकट होते हैं। इन स्वार्थ विचारसे अनेक झगडे भी उत्पन्न होते हैं। यह सब इसी मायाके कारण है। ईश्वरीय कृतिमें इससेभी अद्भुत माया विचारसे देखी जा सकती है। ये सब इस जगत्के मनुष्य पशुपक्षी स्थावरजंगमादि पदार्थ परमेश्वरकी अद्भुत कारीगरी से अर्थात् दैवी मायासे बने हैं। इसमें परमेश्वरकी माया कार्य कर रही है। यह दैवी मायाका रूप है। वेदमें भी कहा है—

। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋ. ६।४७।१८)

इन्द्र अपनी इस मायाद्वारा अनेक रूप और आकार बनाकर चमत्कार करता है। इन्द्रकी यह माया अद्भुत है। इस मायाको देखनेसे मनुष्य चकित होता है मनुष्यकी मति कुंठित होती है कभी कभी मनुष्य भ्रांत भी होता है। बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित होता है। यह सृष्टि की अद्भुतता कैसी विलक्षण है!! सृष्टिकी यह रमणीयता देखकर उस प्रेमपूर्ण रमणीयतामें मनुष्य फंसता है भ्रांत होता है क्षुब्ध होता है और अनर्थ करता है। अनर्थ ईर्ष्याद्वेष इसी कारण होते हैं। कौन कह सकता है कि यह परमेश्वरकी अद्भुत कारीगरी नहीं है? कौनसा भाग्यवान मनुष्य इसमें लुब्ध नहीं होता है? सुंदर और कुरूप पदार्थोंके सम्मुख आनेपर मनुष्य सुंदरकोही अपने पास लाना चाहता है। यह प्रवृत्ति ऐसी क्यों होती है? इसका विचार करना चाहिये।

मोह

सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोंसे यह संपूर्ण जगत् मोहित हुआ है। जो मोहित होता है वह सत्य और असत्य को यथार्थ रीतिसे जान नहीं सकता। सत्यासत्यका न जान सकनेका ही नाम मोह है। यह मोह जिसको ग्रसता है वह

सबको देख नहीं सकता। सत्वगुणसे सुख होता है रजोगुणसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है और तमोगुणसे आलस्य होता है। मनुष्यमेंही देखिये कि किसी समय मनुष्यमें आलस्य का अनुभव होता है किसी समय मनुष्य पुरुषार्थ प्रधान कार्योंमें दत्तचित्त होता है और किसी समय मनुष्य आलस्यमें रहता है। उक्त तीन गुणोंसे ये वृत्तियां मनुष्यमें दिखाई देती हैं। मनुष्यकी प्रवृत्ति देखकर जान सकते हैं कि किस मनुष्यमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है।

रात्रिके समय मनुष्य सोता है उस समय उसपर तमोगुणका प्रभाव होता है। जिस समय वह प्रयत्नशील होता है उस समय जानना चाहिये कि उसपर रजोगुणका प्रभाव हुआ है और जिस समय वह आनन्दप्रसन्न और शान्त रहता है उस समय उसमें सत्वगुण कार्य कर रहा है ऐसा जानना उचित है। इस तरह पाठक इन तीनोंका अनुभव देख सकते हैं। अपने अन्दर भी इसी तरह कौनसा गुण अधिक बलवान् हुआ है वह प्रत्येक मनुष्य जान सकता है। आगे १७ वें और १८ वें अध्यायमें सत्व रज तमगुणोंकी परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिये इस संबंधका विवेचन बहुतही विस्तारसे आनेवाला है। इसलिये इसका विवेचन वहीं पाठक देख सकते हैं।

यह त्रिगुणोंका साम्राज्य इस जगत्में सर्वत्र है। अन्न तीन प्रकारका है प्राणी तीन प्रकारके हैं मानव तीन प्रकार के हैं सब वस्तुएं तीन प्रकारकी हैं और संस्कारोंसे इन गुणोंका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होता है। इसलिये इन त्रिगुणों की संकीर्णता बहुतही विलक्षण है। मनुष्योंको कर्म प्रवृत्तियां आसपास [illegible] आदि सब सत्व रज और तमोगुणोंके भेदसे त्रिविध होते हैं और मनुष्य इनमें फंस जाता है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये तीन गुण मनुष्यको मोहित करते हैं।

जैसे कई सत्वगुणी पदार्थ सुख देते हैं इसलिये सुखेच्छु मनुष्य उन्हींके पीछे पड़ता है इसी तरह रजोगुणसे चंचल बन कार्योंमें प्रवृत्त होता है और किसी समय तमोगुणके आलस्यमें भी पड़ना पसंद करता है। मानवी जीवनमें इस तरह ये गुण सबको नचाते हैं और इस प्रकार इन गुणोंसे (रस्सियोंसे) बंधा हुआ मनुष्य स्वतंत्र होकर बाहर नहीं जा सकता। (अव्यय परमेश्वर) इनसे जो जो अविनाशी परमात्मा है उसे जान भी नहीं सकता क्योंकि वह इन गुणोंसे जगत्में बांधा गया होता है। जो एक स्थानपर बंधा हुआ होता वह जबतक वहां बंधा रहेगा तबतक दूसरे स्थानपर जा नहीं सकता। इसी प्रकार जो इन तीन गुणोंसे बांधा जाता है वह वहांसे हिल भी नहीं सकता। अर्थात् इनसे परे रहनेवाले परमात्माको वह कैसे जान सकेगा?

ये सात्विक राजस और तामस भाव इसी परमात्मासे होते हैं (गी० ७।१२) परंतु परमात्मा इनसे परे है अर्थात् इन भावोंमें नहीं है वह परे रहता हुआ इन तीनों भावोंका निर्माण करता है अथवा ये उससे निर्मित होते हैं। जब कोई राजा किसी स्थानमें आनेवाला होता है तो उस स्थानके कर्मचारी स्वयं अपने प्रेरणासे ही उस स्थानकी स्वच्छता करते हैं शोभा बढाते हैं और राजाके मनकी प्रसन्नताके लिये प्रत्येक समय व्यवस्था करते हैं। राजाको इसका पता भी नहीं होता। राजा न तो यह करता है और न करवाता है, परंतु सब सजावट राजाके कारणही होती है राजा इसमें नहीं होता परंतु राजाके निमित्त यह होती है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत्का सम्राट् परमात्मा जहां होता है वहां स्वभावसेही प्रकृतिमें सुख (सत्व) रज (भोग) और (स्तब्धता) तम ये भाव होते हैं। इनके बनानेमें परमात्मा नहीं होता तथापि वे उसीके कारण बनते हैं। यही जगत्का सबसे बडा आश्चर्य है। ये भाव बनते बिगडते और विकृत होते रहते हैं परंतु परमात्मा सदा एकही अव्यय आनन्दस्थितिमें रहता है। इतना होनेपर भी मनुष्य सत्व-रज तममें इतना लीन हो जाता है कि वह परमात्माको जाननेका यत्न भी नहीं करता।

यह दैवी माया है। अर्थात् परमात्माकी शक्तिकाही नाम दैव है। इसलिये दैवी शक्तिके बिना उसका मुकाबला करना भी असंभव है। यह गुणमयी है। गुणका अर्थ गुण भी होता है और रस्सी भी होता है। इसमें सत्व रज तम होनेसे यह गुणमयी है अथवा ये गुण बंधनमें डालते हैं इसलिये यह रस्सियोंके समान भी कार्य करती है। यह (दैवी माया) परमात्माकी ही शक्ति है यह बात यदि एकबार सिद्ध हो जाय अथवा समझमें आजाय तो यह स्पष्ट ध्यानमें आ सकता है कि इसका आधार परमात्माकी शक्ति ही है। यदि किसी मनुष्यको किसी राजाकी

(५) भक्तोंके चार प्रकार

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ अर्जुन ! आर्तः जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च (इति) चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः मां भजन्ते ॥१६॥ तेषां नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते । अहं हि ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः (अस्मि), सः (ज्ञानी) च मम प्रियः (अस्ति) ॥१७॥ एते सर्वे एव उदाराः (सन्ति), ज्ञानी तु (मम) आत्मा एव (अस्ति इति) मे मतम् । सः हि युक्तात्मा अनुत्तमां गतिं मां एव आस्थितः (अस्ति) ॥ १८ ॥ ज्ञानवान् बहूनां जन्मनां अन्ते वासुदेवः सर्वं इति (अनुभव) मां प्रपद्यते । सः महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

आज्ञासे कारागृहमें डाल दिया जाय तो उसी राजाकी आज्ञासे ही उसका छुटकारा हो सकता है। उसी प्रकार जो बंधन परमेश्वरकी शक्तिसे होता है उसका निराकरण करनेके लिये भी परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। इसीलिये १४ वें श्लोकमें कहा है कि जो लोग परमेश्वरकी शरण जाते हैं, वे ही इस मायाके बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं अन्य किसी उपायसे इस आक्रमक ईश्वरीय शक्तिको पार करना असम्भव ही है।

जैसे किसी कारीगरकी कारीगरी अथवा कुशलता उस कारीगरसे भिन्न नहीं होती उसी प्रकार यह ईश्वरकी कारीगरी मायाशक्ति उससे भिन्न नहीं है अपितु उसीमें है। शक्ति कभी शक्तिमान्‌से भिन्न नहीं होती। इसी तरह ईश्वरसे माया भी भिन्न नहीं है। इस मायाका डर तबतक ही है जबतक किसीको परमेश्वरकी शक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। एक बार परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त होनेपर माया कष्ट नहीं दे सकती।

देव और असुर

भ. गी. अ. १६ में कहा है कि देव और असुर ये दो प्रकारके प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जिनकी प्रवृत्ति ईश्वरकी भक्ति करनेकी ओर होती है उनका नाम देव है और इसके विरुद्ध प्रवृत्तिवाले जो होते हैं, उनका नाम असुर होता है। इसी दैवासुरभावका विवरण करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय लिखा गया है। वहां इन दोनों प्रवृत्तियोंका विस्तारसे विवरण होगा। यहां अत्यन्त संक्षेपसे कहा है कि (श्लो. १४) जो ईश्वरकी (प्रपद्यन्ते) शरण जाते हैं वे (मायां तरन्ति) मायासे पार हो जाते हैं। परंतु जो (श्लो. १५) ईश्वरकी शरण नहीं जाते, वे असुर भावको प्राप्त होकर (मायया अपहृतज्ञानाः) मायासे मोहित रहते हैं (दुष्कृतिनः) दुराचार करते हैं, (नराधमाः) नीच बन जाते हैं। देव और असुरोंके लक्षण यहां इतनेही कहे हैं, इन्हींका आगे १६ वें अध्यायमें विस्तार होगा। असुरोंका यह अधःपात ईश्वरका स्वरूप न जाननेसे उसकी शरण न जानेसे और उसकी सेवा न करनेसेही होता है।

जिस परमेश्वरकी यह शक्ति है वह सबमें रहके सर्वत्र उपस्थित है। यह उसीका विश्वरूप है। यह प्रभु शक्ति यहां भी है वहां भी है। यह प्रत्यक्षता जिनको नहीं होती वे अपनेही अज्ञानके कारण (मूढ) बने रहते हैं। मूढताके कारण उनको कर्तव्य-अकर्तव्य (अपहृतज्ञानाः) समझमें नहीं आता। इसलिये उनसे कर्तव्य नहीं हो सके। जो कर्तव्य नहीं करते उनसे (दुष्कृतिनः) दुराचार होना स्वाभाविकही है। कर्तव्य कर्म जो नहीं करते वे (नराधमाः) नीच होते जाते हैं। नित्यही हीन कर्म करते हैं और भी अधिक गिरते हैं। ईश्वरका स्वरूप भूलनेका यह परिणाम है। इसलिये उचित है कि परमेश्वरके स्वरूपको जाननेका यत्न किया जाय और जानकर उसकी शरणमें पहुंचा जाय। उसकी सेवा करके उसकी शक्ति प्राप्त करके, इस दैवी मायाके बंधनसे मुक्त होनेका प्रयत्न किया जाय।

इसके आगे उपासक भक्तोंका वर्णन दिया हुआ मिलता है—

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त (दुःखपीडित), जिज्ञासु (तत्त्व जाननेका इच्छुक) अर्थार्थी (भोगप्राप्ति की इच्छा करनेवाले) और (तत्त्व) ज्ञानी ये चार प्रकारके सदाचारी मेरी भक्ति करते हैं ॥ १६ ॥ इनमें नित्य समभाव रखनेवाला योगी और एकनिष्ठ ज्ञानी भक्त विशेष श्रेष्ठ होता है । मैं ज्ञानीको अत्यंत प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है ॥ १७ ॥ ये सबही (उदार) श्रेष्ठ हैं । ज्ञानी तो मेरी आत्माही है ऐसा मैं मानता हूं । क्योंकि वह योगी मुझे श्रेष्ठ गति मानकर मेराही आश्रय लेता है ॥ १८ ॥ ज्ञानी मनुष्य वासुदेवही सब कुछ हैं ऐसी प्रतीति प्राप्त कर बहुत जन्मोंके अनंतर मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है। ऐसा महात्मा बहुतही दुर्लभ है ॥ १९ ॥

भावार्थ— कुछ लोग रोगोंसे और दुःखोंसे अत्यंत पीडित त्रस्त होकर ईश्वरभक्ति करते हैं कुछ तत्त्व जाननेकी इच्छासे भक्ति करते हैं, कुछ धनादि भोग प्राप्त करनेकी इच्छासे ईश्वरकी भक्ति करते हैं और कुछ ईश्वरका सत्य ज्ञान प्राप्त कर उसकी भक्ति करते हैं । ये चारों बडे अच्छे और पुण्यात्मा हैं । इनमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करके एकनिष्ठासे और समत्वभाव रूप योगसे अनुष्ठान करनेवाला ज्ञानीयोगीही अधिक श्रेष्ठ है । ऐसा ज्ञानी ईश्वरको प्रिय होता है और ईश्वर भी ऐसे ज्ञानीको अत्यंत प्रिय होता है । इस तरह परस्पर अत्यंत प्रिय होनेके कारण ये दोनों एक दूसरेमें मिल जाते हैं । ये सभी अच्छे हैं परंतु इनमें ज्ञानी तो आत्मास्वरूपी हो जाता है। वह ईश्वरको अन्तिम प्राप्तव्य मानकर योगयुक्त होकर ईश्वरही का केवल आश्रय करता है और उसीको प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञानी अनेक जन्मोंके अनुभवसे यह सब विश्व वासुदेव काही रूप है ऐसा अनुभव करता है और उसी वासुदेवकी शरणमें अपने आपको सदा समर्पित करता रहता है। इसी समय वह महात्मा बनता है। ऐसा महात्मा इस भूमंडलमें अत्यंत दुर्लभ है ॥ १६-१९ ॥

(१६ १९) इस जगत्में जो लोग परमेश्वरकी भक्ति करते हैं उनके चार वर्ग होते हैं । जिस वर्गमें सबसे अधिक जनता आर्त वर्गकी है।

आर्त

जिनको व्यवहारमें कष्ट हुआ है जो आधिव्याधियोंसे पीडित हैं जिनको व्यापारधंदेमें हानि उठानी पडी है ऐसे लोग अपनी शक्तिसे जब उन्नति प्राप्त करनेकी कोई आशा नहीं देखते उस समय ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। इनके मनमें ईश्वर भक्तिसे अपने कष्टोंको दूर करनेकी अभिलाषा रहती है। यदि व्यवहारके कष्ट न होंतो ये ईश्वरभक्ति भी नहीं करेंगे। व्यवहारसे होनेवाले कष्टोंके अनुपातमेंही इनकी भक्तिका परिमाण रहता है । कष्टोंकी तीव्रता जितनी अधिक होती है भक्तिकी तीव्रता भी इनमें उतनीही अधिक हो जाती है । इसलिये इन भक्तोंकी श्रेणी हीन समझी जाती है । वैसे इनका उद्धार तो होताही रहता है, क्योंकि ईश्वरभक्ति किसी भी तरह की जाय उससे श्रेष्ठता अवश्यही प्राप्त होती है ।

जिज्ञासु

तत्त्वजिज्ञासुओंकी श्रेणी इससे ऊपर है । ये लोग सत्य तत्त्व क्या है ईश्वर क्या है और वह भक्तिसे सहायक होता है, जगत्के अंदर कितने तत्त्व हैं और उनसे परमात्माका क्या संबंध है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रयत्न करते हैं । केवल ज्ञानलालसा इनमें प्रबल रहती है। ऐसे लोगोंको जब निश्चित होता है कि परमेश्वर सर्वोत्तम है तब वे उसकी जिज्ञासु भावसे भक्ति करने लगते हैं और भक्तिसे उन्नत होते चले जाते हैं । इनकी भक्ति दुःखमूलक नहीं होती इनका सब प्रयत्न जिज्ञासाकी तृप्ति करनेके लिये होता है । इनके मनमें तत्त्वजिज्ञासा रहती है और उस कारण ये लोग खोज करते रहते हैं । खोज करते करते इन-को अन्तमें सत्य तत्त्वका ज्ञान होता है । केवल जिज्ञासाके कारण इनके प्रयत्न होते हैं । इसलिये इनकी श्रेणी आर्तोंकी अपेक्षा ऊंची है ।

अर्थार्थी

इंद्रियोंके भोगोंका नाम अर्थ है कुछ लोगोंमें इन भोगोंकी कामना होती है । कई लोगोंको ईश्वरभक्तिसे अनेकानेक भोग प्राप्त हुए ऐसी कथाएं पढकर अथवा सुनकर ये लोग भोगतृष्णाकी शान्ति करनेके लिये ईश्वरकी भक्ति करते हैं। यदि किसी अन्य रीतिसे इनको अपेक्षित भोग प्राप्त हो जायेंगे तो ये कदापि भक्ति नहीं करेंगे। परंतु

जैसे जैसे भोग मिलते जायँगे वैसे वैसे इनकी श्रद्धा बढ़ेगी और वे अधिकाधिक श्रद्धासे ईश्वरभक्ति करते जायँगे। इस तरह इनकी उन्नतिका क्रम है। जिज्ञासुकी अपेक्षा इनकी श्रेणी इसलिये ऊँची है कि ये सकाम भक्ति करनेवाले लोग ईश्वरके अस्तित्वको निश्चयसे मानते हैं और जो जिज्ञासु होते हैं वे अस्तित्वको मानतेही नहीं। दोनोंमें यही भेद है। जिज्ञासु प्रारंभमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानता और अर्थार्थी ईश्वरकी सत्ताको मानता है। यह प्रारंभका भेद है आगे उन्नति होते होते दोनों एक स्थानपर मिल जाते हैं।

ज्ञानी

जो क्षर अक्षर और पुरुषोत्तमको यथावत् जानता है मानता है और उनपर श्रद्धा रखता है वह ज्ञानी है। वह पुरुषोत्तमस्वरूपके अनुभवके लिये यत्न करता रहता है। गुरुके द्वारा स्वरूपानुभव प्राप्त करना श्रवण मनन और निदिध्यासन करना और आत्मप्रतीति संपादन करना ज्ञानीका उद्देश रहता है इसीके लिये वह भक्ति करता है। इस प्रकारकी भक्ति अति श्रेष्ठ होती है। ज्ञानीकी भक्तिका कारण, न तो दुःख है न लोभ है न भोगलालसा है, शुद्ध भक्तिही उसका उद्देश है। इसलिये इस ज्ञानी भक्तकी योग्यता सबसे अधिक है। इसको अहैतुक भक्ति कहते हैं। इसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस तरह कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ११
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥
(श्री भा ३।२९)

जिस प्रकार गंगाका प्रवाह वेगसे महासागरमें जाता है वैसेही जिसका मन परमेश्वरकी ओर दौड़ता है उसको अहैतुकी भक्ति कहते हैं। किसी अन्य कारणके बिना सहज स्वभावधर्मसे मनकी प्रवृत्ति ईश्वरभक्तिमें हो जाना पूर्व जन्मके पुण्यसंचयसेही संभव है। यही श्रेष्ठ भक्ति है इसीको अव्यभिचारी भक्ति कहते हैं। महाभारतमें पूर्वोक्त चतुर्विध भक्तोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम्।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीःकर्मकारिणाम्।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥
(म भा शान्ति ३४१।३३-३५)

चार प्रकारके भक्त ईश्वरभक्ति करते हैं उनमें अन्य किसी देवताकी भक्ति न करते हुए एकही ईश्वरकी उपासना करनेवाले सबसे श्रेष्ठ हैं। फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेवाले भक्तोंका अन्तिम आश्रय ईश्वर है। अन्य तीनों प्रकारके भक्त अर्थात् आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी ये तीनों भक्त फलकी इच्छासे कार्य करते हैं। इसलिये उपासनाके कर्म करनेके कारण वे गिरते हैं परंतु ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ होता है।

नित्ययुक्त ज्ञानी

ज्ञानी भक्त सदा नित्ययुक्त होता है। अर्थात् उसका योगसाधन सतत और निरंतर चलता रहता है। उसके साधनमें खंड कभी नहीं होता। वह अखंड योगसाधन किया करता है। वह जो भी कर्म करता है वह योगही होता है। क्योंकि तत्त्ववित् होनेसे वह कोई भी अनुचित कर्म नहीं करता। उसके कर्ममें कुशलता रहती है, सम बना रहता है अर्थात् योगके सब लक्षण उसके जीवनमें पूर्ण रहते हैं। इसलिये वह जो कुछ करता है, वह योगही होता है। इसी कारण उसका समस्त आचरण अखंड योगयुक्त होता है।

एक भक्ति

यह ज्ञान-योगी एकभक्ति भी होता है। एक ईश्वरकी भक्ति करनेवालेको 'एकभक्ति' कहते हैं। एकनिष्ठसे ईश्वरकी भक्ति करनेवालेको एकभक्ति कह सकते हैं। एकनिष्ठके ही योगसिद्धिकी संभावना रहती है। यदि वह 'एकनिष्ठ' न रहे और 'अनेकनिष्ठ' बन जाय तो उसको कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। एकनिष्ठ होनेसे उसे बड़ा भारी बल प्राप्त होता है। वह बल जिसको प्राप्त होता है वही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

इस तरह एकनिष्ठ भक्त होनेसे आत्मा परमेश्वरको प्रिय होता है। हरएक एकनिष्ठ सेवक इसी तरह अपने स्वामीको प्रिय हुआ करता है। उसकी एकनिष्ठा देखकर स्वामी उसपर प्रसन्न रहता है। इस रीतिसे स्वामीका प्रेम एकनिष्ठ सेवकपर बढ़ जाता है और तुलनामें प्रेम ही स्वाधीनता

होताही है। जहां परस्परके प्रेम मिल जाते हैं वहां वे अधिकाधिक सहायता करते हैं और उनके इस आचरणके कारण उनका पारस्परिक प्रेम दिन प्रतिदिन बढता जाता है। यही बात भक्त और ईश्वरमें होती है। वे एक दूसरेसे प्रेमके अटूट संबंधसे मिले हुए रहते हैं। राजा और प्रजामें स्वामी और भृत्यमें पूंजीपति और कारीगरमें यदि आत्मसमर्पणका संबंध हो जाय तो यह जगत् स्वर्गधाम बन जाय। यह संबंध व्यवहारमें लानेके लियेही यहां ईश्वर और भक्तका पारस्परिक बर्ताव और अटूट संबंध वर्णन किया है। गीताका तत्त्वज्ञान केवल ग्रन्थोंमेंही रखनेके लिये नहीं है यह मनुष्योंके आचरणमें लाना चाहिये और उसका एक एक लोकविलक्षण राज्यशासन बनना चाहिये।

आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी ये सब उदार हैं अर्थात् अच्छे हैं परंतु ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ होता है वही इन सब में मुख्य है जैसे इस शरीरमें आत्मा है वैसेही अन्य भक्तों में वह ज्ञानी होता है। जैसे कोई मनुष्य जिस देशके राजा का आश्रय लेता है उसको असाधारण रीतिसे उस राज्यमें विशेष अधिकार प्राप्त होता है। इसी तरह वह ज्ञानी राजाओंके राजा ईश्वरका आधार लेनेके कारण सबसे अधिक सामर्थ्यवान् होता है।

अनेकजन्मोंसे सिद्धि

यह ज्ञानी भक्त अनेक जन्मोंमें योगसाधन करता हुआ उन्नत होता है। गत छठे अध्यायमें (श्लोक ४ से ४५ तकके विवरणमें) बताया है कि कैसे साधक प्रत्येक जन्ममें पूर्व जन्मके संस्कारोंका बल प्राप्त करके उन्नत होता है। इस जन्ममें जितनी साधना हुई होती है उसके अनुसारही सुयोग्य परिस्थिति अगले जन्ममें प्राप्त होती है वहां वह आगेकी साधना करता है और इस तरह क्रमशः उन्नति करता हुआ आगे बढता चला जाता है। इस प्रकार उन्नत होता हुआ—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।
(गी ६।४५)

अनेक जन्मोंके अभ्याससे उत्तम सिद्धि प्राप्त करनेके पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है। यही बात आगे भी कही है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते॥
(गी ७।१९)

अनेक जन्मोंके पश्चात ज्ञानीभक्त मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है। इन दोनों कथनोंका तात्पर्य एकही है। अनेक जन्मोंकी तपस्याका फल यहां विशेष रीतिसे देखनेयोग्य है—

'वासुदेवः सर्वम्' इति स महात्मा सुदुर्लभः।
(गी ७।१९)

वासुदेवही सब कुछ है ऐसा जिसको ज्ञान हुआ होता है ऐसा महात्मा इस जगतमें अत्यंत दुर्लभ है। सब कुछ जो भी वस्तुमात्र हमारे अनुभवमें आती है वह सब वासुदेवही है ऐसा निःसंदिग्ध माननेसेही यह उन्नति हो सकती है। यही बात वेदादि ग्रंथोंमें भी कही है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋ १ ९ ।२)
ओंकार एवेदं सर्वम्। (छांदोग्य उ २।२३।४)
गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्। (छां उ ३।१२।१)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छां उ ३।१४।१)
प्राणो वा इदं सर्वं भूतम्। (छां उ ३।१५।४)
अहमेवेदं सर्वम्। (छां उ ७।२५।१; ७।२५।१)
एतदात्म्यमिदं सर्वम्। (छां उ ६।८।७)
स एवेदं सर्वम्। (छां उ ७।२५।१)
आत्मा वा इदं सर्वम्। (छां उ ७।२५।२)
स इदं सर्वं भवति। (बृ उ १।४।१०)
इदं सर्वं यदयमात्मा। (बृ उ २।४।६; ४।५।७; नृ उ ५)
इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् (बृ उ २।५।१)
एतद् ब्रह्मैतत्सर्वम्। (बृ उ ५।३।१)
सर्वाणि भूतानि आत्मा एवाभूत्। (ई उ ७)
ओमितीदं सर्वम्। (तै उ १।८।१)
ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्। (मैत्री उ ४।६)
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। (मुण्ड उ १; नृ पू २२; ७।१; नृ उ १)
सर्वमोंकार एव। (मुण्ड उ १)
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म (मुण्ड उ २)
सर्वं ह्ययमात्मा। (नृ उ ७)
ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम्। (नृ उ ७)

(९) अन्य देवोंके उपासक

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्वयः— तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः स्वया प्रकृत्या नियताः (अज्ञानिनः) तं तं नियमं आस्थाय अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते ॥ २० ॥ यः यः भक्तः यां यां तनुं श्रद्धया अर्चितुं इच्छति तस्य तां एव श्रद्धां अहं अचलां विदधामि ॥ २१ ॥ सः तया श्रद्धया युक्तः तस्याः राधनं ईहते ततः च मया एव विहितान् तान् कामान् लभते हि ॥२२॥ तेषां अल्पमेधसां तत् फलं तु अन्तवत् भवति; देवयजः देवान् यान्ति मद्भक्ताः अपि मां यान्ति ॥ २३ ॥

ब्रह्म ह वा इदं सर्वम् । (मु० उ० ७)
सर्वोऽहं सर्वं विश्वोऽहं सर्वम् । (मु० उ० ७)
आत्मा हीदं सर्वं सत्येव । (मु० उ० ८)
सूक्ष्मः पुरुषः सर्वम् (शिरस् उ० १)
नारायण एवेदं सर्वम् । (नारा० उ० १)

इस प्रकार 'वासुदेवः सर्वं' इस वचनमें कही बातही अनेक वचनों द्वारा यहां कही गई है। अथवा यों कहना अधिक सत्य होगा कि वेदादि ग्रंथोंके इन वचनोंमें जो बात कही है वही भगवद्गीताके 'वासुदेवः सर्वं' इस वचनमें कही है। इन सब वचनोंका तात्पर्य यही है कि आत्मा ब्रह्म नारायण पुरुष ओंकार आदिसे भिन्न उसका भिन्न यहां कोई वस्तु नहीं है। इस वर्णनमें पूर्वोक्त श्रुति वचनोंकाही सार कहा गया है।

पंचम अध्यायमें 'सर्वभूतात्म-भूतात्मा' शब्द आया है (भ० गी० ५।७)। इसका आशय है सब भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा है। इससे स्पष्ट है कि एक समय ऐसा आता है कि जिस समय सब भूतोंकी आत्मा एकही आत्म हो जाती है। उस समय ये सब रूप इस एकही आत्माके होते हैं।

पंचम अध्यायमें (श्लो० ५।१८ में) कहा है कि सम-दर्शनः 'सर्वत्र समभावसे अवस्थित ब्रह्मका दर्शन' अथवा यह एक उत्तम ब्रह्मनिष्ठ दर्शन है।

उन उन विविध कामनाओंके कारण जिनका ज्ञान नष्ट हो चुका है और जो अपनी प्रकृतिके अधीन होनेसे पराधीन हो चुके हैं, ऐसे अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न विधिनियमोंके अनुसार दूसरे दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं ॥ २० ॥ जो जो भक्त श्रद्धासे जिस जिस स्वरूपकी भक्ति करना चाहता है उसकी उस श्रद्धाको उस स्वरूपमें मैं सुदृढ करता हूं ॥ २१ ॥ वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उस स्वरूपकी आराधना करता है और उससे मेरे द्वारा नियत कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ इन अल्पबुद्धि लोगोंको जो फल मिलता है, वह नाशवान् होता है। देवोंका भजन करनेवाले देवोंको प्राप्त होते हैं मेरे (ईश्वरके) भक्त मुझे (ईश्वरको) मिलते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ – जिन मनुष्योंमें अनेकानेक भोगकामनाएं बनी होती हैं उनकी बुद्धि उन कामनाओंके कारण नष्ट होती है अर्थात् इन कामनाओंके कारण बुद्धिका विकास नहीं होता। वह अपने शारीरिक प्रकृति-स्वभावके अधीन होकर पराधीन और मूढ बना रहता है। ऐसे अज्ञानी लोग अपने प्रकृतिस्वभावके अनुकूल भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासना करते हैं। जो मनुष्य जिसकी भक्ति करता है उसमें उसीकी श्रद्धा दृढ होती जाती है और उसकी श्रद्धाके अनुसारही उसको फल प्राप्त होता है। इस तरह वे लोग अपनी कामनाओंकी पूर्ति करते रहते हैं। इन अल्पमतिवालोंको मिलनेवाला फल नाशवान् और अनंत अल्प होता है। जो भक्त जिसकी उपासना करता है वह उसकोही पाता है और ईश्वरका भक्त ईश्वरको प्राप्त होता है ॥ २ - ३ ॥

भोगेच्छा

(२० २१) साधारण मनुष्योंमें अनेक भोगकामनाएं रहती हैं और उनकी पूर्तिके लिये उसका सब यत्न चलता है। मनुष्य अनेक भोग भोगना चाहता है मनुष्यकी अनंत कामनाएं होती हैं। इन सबकी पूर्ति ही मनुष्यके लिये सदा अभीष्ट होती है। मनुष्यके सब प्रयत्न अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये ही होते हैं। भोगोंकी इच्छासे मनुष्यकी बुद्धि बाह्यवृत्ति हो जाती है। मानवी बुद्धि भोगोंके इसी संकुचित क्षेत्रमें लगी रहती है। एक कामना ज्यों ही उसकी पूर्ण हो गई, तबतक दूसरी कामना उठती है और उसको पूरा करनेके लिये मनुष्य अपनी बुद्धि दौडाता है। दूसरा विचार करनेके लिये उसको अवकाश नहीं रहता। सत्यज्ञान प्राप्त करके मानवीय उन्नतिको पराकाष्ठातक पहुंचानेके लिये उनके पास समयही नहीं बच पाता। अतः (कामैः हृतज्ञाना) इन कामनाओंके कारण मनुष्योंका ज्ञान नष्ट होता रहता है।

कामनाओंसे नष्ट ज्ञानवाले लोग विविध प्रकार झुकते हैं और विविध देवताओंकी उपासना करनेकी चेष्टा करते हैं। वे लोग विविध देवताओंकी उपासना इसलिये करते हैं कि उनके उनकी कामनाओंकी पूर्ति हो जाय। (अन्य देवता प्रपद्यन्ते)।

७

उपासनाके तीन भेद

कई देवता सात्त्विक हैं कई राजस और कई तामस होते हैं। प्रत्येक देवताकी उपासनाविधि विभिन्न होती है। नियम और उपनियम सबके भिन्न होते हैं। (तं तं नियमं आस्थाय) जो जिस देवताकी उपासना करता है वह उस देवताकी उपासनाके अनेक नियम पालन करता है। क्योंकि इन नियमोंका पालन न किया जाय तो वह देवता प्रसन्न ही न होगा और यदि उसकी प्रसन्नता न हुई तो फल नहीं मिल सकता। इसलिये वह उपासनाके नियम यथायोग्य रीतिसे पालन करता है।

पहिले कहा ही है कि देवता सात्त्विक राजस और तामस होते हैं। (स्वया प्रकृत्या नियताः) लोग अपनी प्रकृतिके अनुसारही देवताओंकी उपासना करते हैं। राजस प्रकृतिके लोग राजस देवताकी और तामस प्रकृतिके लोग तामस देवताकी उपासना करते हैं। इस उपासनासे लोगोंमें वह मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् सात्त्विक राजस और तामस देवताओंके उपासकोंमें अनेक मतभेद उत्पन्न होते हैं और समाजमें बडे भयंकर भेद हो जाते हैं। इनकी निवृत्ति करनेके लिए देवताओंके एकीकरणके भी यत्न सुविज्ञ लोगोंने किये हैं। जैसे कि विष्णु ब्रह्मा और शिव ये

क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस देवताएं हैं। इनका एकीकरण त्रिशिरोधारी दत्तात्रेयकी मूर्तिमें किया गया है और दत्तात्रेयके तीन सिर ब्रह्मा विष्णु महेश हैं ऐसा बताकर तीनों देवताओंके उपासकोंको एक दत्तात्रेयका उपासक बनाकर झगडे मिटानेका भी यत्न किया गया था। परंतु इससे भी सफलता नहीं हुई। क्योंकि इन झगडोंका मूल कारण स्वभाव प्रकृतिमें है इसलिए इन झगडोंका बाह्य यत्न लोगोंसे मिटना संभव नहीं है। पूर्वके विद्वानोंने इन झगडोंको मिटानेका उपाय किया था उसका एक नमूना देखिये—

झगडे मिटानेका उपाय

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥
(श्री भाग १।२।२३)

सत्त्व रज और तम ये तीन प्रकृतिके गुण हैं इनसे युक्त होकर एकही पुरुष विष्णु, ब्रह्मा और शंकर इन तीन संज्ञाओंको धारण करता है और वही जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लय करता है। इस तरह एकही सत्स्वरूप पुरुषके ये तीन नाम हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। इतना होनेपर भी शैव, वैष्णव लोग झगडे न मिटा सके। एक परमात्माकी पूजा करनी चाहिये ऐसा भी भागवतमें स्पष्टतासे कहा गया है देखिये—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥२१॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥२२
(श्री भाग ३।२९)

मैं (ईश्वर) सब भूतोंमें सदा रहता हूं, उसका अपमान कर मनुष्य पूजाकी विडंबना करते हैं। जो सब भूतोंमें रहनेवाले मुझ परमात्मा ईश्वरको त्यागकर मूर्खतासे अर्चा करता है वह मानो भस्ममें हवन करता है। इस तरह अन्यान्य देवताओंकी उपासनाका निषेध किया है और इस प्रकारके कामोंको स्पष्ट रूपसे मूढता कहा है। वेदमें भी इंद्र अग्नि आदि विभिन्न देवताओंकी उपासना करनेका निषेध किया गया है और उन नामोंसे एकही अभिन्न देवताका बोध जानकर उस एक देवकीही उपासना करनेका आदेश दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ १।१६४।४६)
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(वा. य. ३२।१)

इन्द्र मित्र वरुण अग्नि सुपर्ण गरुत्मान् यम मातरिश्वा आदित्य वायु चन्द्रमा ब्रह्म आप प्रजापति आदि नामोंसे एकही परमात्माका बोध होता है। इस तरह विभिन्न नामोंसे अभिन्न देवताकी उपासना करनेका आदेश वेदमें भी है। इतना होते हुए भी लोगकल्याणकी बुद्धिके नष्ट हो जानेके कारण अन्यान्य देवताओंकी उपासना चलती रही है। इससे समयमें कष्ट बढ गये हैं क्योंकि मूढतासे कष्ट और ज्ञानसे दुःखनिवृत्ति होती है। इस प्रकार विविध नियमोंका पालन करके मूढ लोग परमात्माको छोड कर अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं। यह भ्रम है अज्ञान है मिथ्या ज्ञान है और यही दुःखोंका कारण है।

तनुकी उपासना

यः यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्य अचलां श्रद्धां विदधामि ॥ २१ ॥

जो भक्त जिस तनुकी श्रद्धासे पूजा करना चाहता है उसकी वहां ही अचल श्रद्धा हो जाती है। यह ईश्वरका नियम है अथवा यह मनुष्यकाही धर्म है कि वह अपना जहां मन लगाता है वहां ही उसकी श्रद्धा दृढ होती जाती है। यह एक आश्चर्यकी बात है हिंदुलोग मूर्ति और प्रतिमाके पूजक हैं उनके अनेक वैदिक देवता हैं पौराणिक देवता भी कुछ कम नहीं हैं जिनका वर्णन है इसके अतिरिक्त पुराणोंमें जिनका नाम भी नहीं ऐसे भी सहस्रों देवता हैं। इतना होते हुए भी अल्पज्ञान इन्हींके लिये भी वे मारे मारे फिरते हैं!! इनकी मूढता तो पराकाष्ठा पहुंच गयी है। मुसलमान भाई अपने आपको एकेश्वरवादी मानते हैं परंतु उनके पीछे भी मेहराब, कबरस्तान, मस्जिदपरस्ती लगी है और इस कारण वे इतना स्वांग मचाते हैं कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। ईसाई अपने पुराने पंथवाले तो ईसामसीहकी प्रतिमाएं पूजतेही हैं। इनके दूसरे नये पंथमें भी अन्यान्य रीतिसे मिश्रितता है।

संपूर्णको अपूर्ण मानना, अखंडको खंडित मानना यही बुद्धिहीनताका लक्षण है। यहां अव्यक्त का अर्थ अ-व्यक्ति है। जो व्यक्ति नहीं है वह अव्यक्त किंवा अव्यक्ति है। अव्यक्तका अदृश्य आदि जो दूसरा अर्थ है वह यहां अपेक्षित नहीं है। जो एक छोटासी मूर्तिमें सीमित है वह व्यक्ति है और जो संपूर्ण विश्वरूप है वह अ-व्यक्ति किंवा अव्यक्त है। संपूर्ण विश्वरूप होनेसे वह हमें दीखता नहीं यह बात और है परन्तु यहां व्यक्तित्वका निषेध किया है और उसके दीखने न दीखनेका यहां विचार नहीं है। यहां दो ही भाव हैं—

व्यक्ति आपन्नं	=	व्यक्ति न आपन्नं
		अव्यक्ति आपन्नं
		अव्यक्त अव्यक्ति
अपूर्ण		संपूर्ण
व्यष्टि		समष्टि

यहां व्यक्ति बना हुआ और व्यक्ति न बना हुआ इतनाही अव्यक्तं और व्यक्ति आपन्नं का भाव है। और यही भाव यहां मुख्यतः देखनेयोग्य है। मूढ बुद्धिवाले लोग ईश्वरको एक व्यक्ति मानते हैं परंतु वह व्यक्ति नहीं है वह तो संपूर्ण विश्वव्यापक है यह बात वे जानते भी नहीं। उसको संपूर्ण जानना ही ज्ञान है और उसको एक व्यक्ति जितना मानना यह मूढता है। यही यहां कहा है—

श्रेष्ठ भाव

मम परं अव्ययं अव्यक्तं अनुत्तमं भावं अजानन्तः॥ (२४)

ईश्वरकी संपूर्ण अखंड अविनाशी उत्तम सत्ताको ये मूढ लोग नहीं जानते। ईश्वरकी सत्ता सर्वव्यापक है। इसके विपरीत उसको एकदेशी मानना मूढता है अज्ञान है बुद्धिहीनताका लक्षण है।

इसी अध्यायके श्लोक ४ और ५ में कहा है कि पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीवतत्त्व यह अष्टविध परमेश्वरकी प्रकृति है। यह ईश्वरकी प्रकृति संपूर्ण विश्वभरमें व्याप्त है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहां यह न हो इसके टुकडे भी नहीं हैं। जहां यह प्रकृति है वहां पुरुष है अतः पुरुष भी संपूर्ण विश्वभरमें अखंडतया व्याप्त है यह अनेक मूर्तियोंमें है परंतु प्रत्येक मूर्तिके समान सीमित नहीं है। यह प्रत्येक खंडमें होता हुआ भी अखंड है। जो उसको एक अखंडित रूपका जानते हैं वे ज्ञानी हैं और जो इसको प्रत्येक व्यक्तिमें सीमित देखते हैं, वे मूढ हैं।

जिस प्रकार जलमें लहरें होती हैं वैसेही एकरस अखंड प्रकृति पुरुषपर ये मूर्तियां लहररूप हैं। जैसी लहरें जलसे भिन्न नहीं होतीं वैसेही प्रत्येक मूर्ति एकरस अखंड प्रकृति पुरुषसे पृथक् नहीं है। दूसरा उदाहरण मनुष्यके शरीरमें नाक कान आंख हाथ पांव उंगली नाखून बाल आदि हैं, ये शरीरके अंग हैं, परन्तु शरीरसे पृथक् नहीं है। मनुष्य इन सबके पृथक् होनेपर भी अखण्ड है। मनुष्य सब अवयवोंमें अखण्डित भावसे विद्यमान है। किन्तु प्रत्येक अवयव स्वतः भिन्न है यह मनुष्यका अल्पमानना ही है। इसी तरह संपूर्ण विश्वमें जो अखंडित भाव है वही परमेश्वरीय सत्ता है। इस विवरणसे स्पष्ट है कि अखंडका खंडित भाव देखे कितनी मूढता होती है। संपूर्ण राष्ट्रका एक व्यक्तिमें सीमित मानना संपूर्ण जातिको एक व्यक्तिमें सीमित मानना यही अज्ञान है। यह अज्ञान अनेक दुःखोंका कारण है।

अन्योपासनाका दोष

अन्यान्य देवताओंकी उपासनाके दोष पूर्वस्थानमें (श्लोक २ से ११) कहे गये हैं। किसी संपूर्णके व्यष्टि भाग देखना अर्थात् अखंडका खंड समझ लेनाही इन दोषका कारण है। यह सत्य है कि पृथ्वी जल वायु आदि देवताओंकी शक्ति परमेश्वरकीही शक्ति है। किन्तु तब भी इन देवताओंमें परमेश्वरीय शक्तिका एक अंशमात्र व्यक्त हुआ है और परमेश्वरमें वह संपूर्ण शक्ति है। शक्तिकी पूर्णता और अपूर्णताका न समझनाही देवताओं तथा भूतप्रेतादिकों की उपासनाका सबसे बडा दोष है। इसलिये इन उपासनाओं को निर्बुद्ध कहा है।

व्यक्ति यही सर्व खंड है। अखंडका दर्शन नहीं हो सकता। व्यक्ति-विभेद अज्ञानके कारण माने हुए ये अखंड सत्ताके छोटे खंड हैं। जैसे बडा आकाश है उसमें मठाकाश (मठके अंदरका अवकाश) और घटाकाश (घडेके अन्दरका अवकाश) आदि खण्डोंकी कल्पना की जाती है। परंतु आकाशमें यह है कहां? आकाश सर्वत्र अखंड और एकरस है। मठाकाश और घटाकाश ये

मनुष्यकी कल्पना है, वस्तुतः इन छोटे आकारोंका अस्तित्व ही नहीं है । वैसेही किसी खंडित सत्ताका अस्तित्वही नहीं है इनकी अबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता सर्वत्र विद्यमान है ।

परभाव	अपरभाव
अव्यय	व्यय
अनुत्तम	हीन
अव्यक्त	व्यक्त
न व्यक्ति	व्यक्ति
अखंड सत्ता	खंडित भाव
अज	जन्मधारी
वेद	न वेद (अज्ञान)
इच्छाद्वेषरहित	इच्छाद्वेषसहित
निर्द्वन्द्व	द्वन्द्वमोह
मुक्ति	बद्धता

इस तालिकासे श्रेष्ठ और तुच्छ भावोंकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है । सत्यज्ञान प्राप्त करके इस परभावको यथावत् जानना चाहिये और खंडित हीन भावसे मुक्त हो जाना चाहिये । यही मुक्ति है । इससे भिन्न बन्धन है ।

परभावकी प्राप्ति

भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावकी अवस्थामें थे । यद्यपि वे व्यक्तिगत देहमें दीखते थे परंतु वे सर्व इस परभावमें रहकरही बोल रहे थे । प्रत्येक मनुष्य इस परभावको प्राप्त हो सकता है । जो साधन करेगा ज्ञान प्राप्त करेगा वह इस परभावको पहुंच सकता है । भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावमें थे इसीलिये इनको पूर्ण पुरुष कहा जाता है । भगवद्गीतामें इस परभावके विषयमें निम्न वर्णन है—

परमाप्नोति पूरुषः । (गी ३।१९)
प्रकाशयति तत्परम् । (गी ५।१६)
ततो याति परां गतिं । (गी ६।४५;१३।२८;१६।२२)
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो० । (गी ८।२०)
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् । (गी ८।२८)
तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (गी ९।३२)
यान्ति ते परम् । (गी १३।३४)
परां सिद्धिमितो गताः । (गी १४।१)

इस प्रकार भगवद्गीतामें परभावको प्राप्त होनेके विषयमें समस्थित रीतिसे अनेकवार कहा है । प्रत्येक मनुष्यको यह पर अवस्था प्राप्त हो सकती है प्रत्येक मनुष्य इस जगत्में इसीलिये आया है, कि यत्नवान् होकर इस परभावको प्राप्त हो । इसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावके अनुभवपर रहकरही यह उपदेश दे रहे हैं । यहां अर्जुन व्यक्तिभाव पर है और भगवान् श्रीकृष्ण इस अखंड परभावपर । दोनोंके दृष्टिकोणमें जो भेद दीखता है उसका यही कारण है ।

क्या कोई मनुष्य इस मनुष्य देहमें रहता हुआ इस परभावकी अवस्थाका अनुभव ले सकता है ? हां अवश्य इसमें कोई संदेह ही नहीं है । इसीलिये तो गीताग्रन्थकी उत्पत्ति है । इसी गीतामें परभावकी प्राप्तिका मार्ग बताया है । भगवान् श्रीकृष्ण इस देहमें रहते हुए भी सदा इस परभावके अनुभवी थे, यही उनका निजरूप था । संपूर्ण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके इस परभावके निजभावकी साक्षी मिलती है । ऐसा होते हुए भी सबको यह अनुभव नहीं होता इसका कारण क्या है ? इसके उत्तरमें कहा है—

योगमाया

योगमायासमावृतः नाहं प्रकाशः सर्वस्य । (२५)
योगमायासे आच्छादित होनेके कारण मैं सबको प्रकाशित नहीं होता । योगमायाका अर्थ मायाका योग मायाकी कृति, प्रकृतिकी विकृति मूल प्रकृतिसे बनी यह सृष्टि है । जैसे कोई बहुरूपिया अपनी कलाकुशलतासे नाना रूप धारण करता है अर्थात् विविध वेषभूषा पहनकर कभी स्त्री, कभी वीर पुरुष कभी दास कभी राजा और कभी बनिया बनता है । उसकी कुशलताके कारण अन्य लोग उसके मूलरूपको नहीं पहचान पाते । बहुत लोग तो उसे स्त्री-वीर दास-राजा बनिया आदि मानकर धोखा खाते हैं । वह सदा अपनी योगमायासे-बहुरूप धारण करनेकी कलासे आच्छादित रहनेके कारण किसीके द्वारा पहचाना नहीं जाता । पर वह स्वयं किसी भी रूपमें रहे अपने आपको पहचानता ही रहता है । इसी तरह परमेश्वर अपनी योगमायासे अनादिकाल रूपोंमें इस विश्वमें प्रकट हो रहा है परंतु सामान्य मनुष्य समझते हैं कि जो ये रूप इस विश्वमें दीख रहे हैं व किसी अन्य सत्ताके रूप हैं इनमें परमेश्वर नहीं है । परन्तु वस्तुतः परमेश्वरही विश्वके विविध रूपोंमें अपनी योगमायासे प्रकट हो रहा है इस उसे पहचानें या

(७) श्रेष्ठ भावका लक्ष्य

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन । भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत । सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् । ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

मंत्री आदि हैं, उनके नीचे सिपाही चपरासी आदि नौकर होते हैं, उनके नीचे बर्तन मांजनेवाले, झाडू देनेवाले आदि होते हैं। कोई एक मनुष्य राजभवनमें जाना चाहता है, वह महाराजाका मित्र बनकर भी जा सकता है मंत्री और महामंत्रीका परिचित होकर भी जा सकता है चपरासी का साथी होकर भी जा सकता है और झाडूवालेका सखा होकर भी जा सकता है। राजमंदिरमें तो इन सभी मार्गोंसे लोग जा सकते हैं, परंतु महाराजाका मित्र बनकर जानेमें महत्त्व है और चपरासीके माध्यमसे जानेमें अत्यल्प फल है। इस बातका परिचय करवानासे हो सकता है। यहांका नाता देखिये—

देहमें	राष्ट्रमें	विश्वमें
आत्मा	महाराजा	परमेश्वर
मन	महामंत्री	प्रकृति
बुद्धि	मंत्री	महत्तत्त्व
प्राण	प्रांताधिकारी	[illegible]
इन्द्रियगण	कार्यवाहक	देवतागण
देह	प्रजा	जगत्
(पिण्ड)	(राष्ट्र)	(ब्रह्माण्ड)
अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत

इससे पता लग सकता है कि अन्य देवताओंके उपासक कहांतक पहुंच सकते हैं। पिण्डब्रह्माण्डकी व्यवस्थाके मध्य में राष्ट्रव्यवस्था है। तीनों स्थानोंमें नियम एकही है। मुख्य की उपासनासे अधिक लाभ है और गौणकी उपासनासे अल्प लाभ है यही बात यहां दिखाई गई है।

फलप्राप्तिमें भेद

अग्निके उपासक उष्णताही प्राप्त कर सकते हैं जलके उपासक शीतताही प्राप्त कर सकते हैं भूमिके उपासक अन्नही प्राप्त कर सकते हैं, सोमके उपासक दूधही पा सकते हैं। यह देवताकी उपासनासे प्राप्त होनेवाली बात है। उष्णता जिस समय आवश्यक है उस समय अग्नि देवताके पास जाना योग्य है परंतु जिस समय तपा हुआ मनुष्य अग्निके पास जायगा तो वह अति उष्णता प्राप्त करके मर जायगा। इसी तरह उष्णतासे त्रस्त हुआ तृषित मनुष्य यदि जलदेवके पास जायगा तो उसको शांति मिल सकती है परंतु भीगा हुआ शीतसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि जलदेवीके पास जायगा तो उसको शीतके कष्ट अधिक होंगे। गौण देवताओंकी उपासनासे यह भय है। उनकी शक्ति परिमित है उनके पास एक एक शक्ति अल्पप्रमाणमें रहती है। वे अपने पास जो है वही दे सकते हैं और उनमेंसे प्रत्येकके पास एक एकही पदार्थ देनेके लिये होता है। अतः वे दूसरा पदार्थ दे ही नहीं सकते। परंतु एक परमात्मा पुरुषोत्तमके उपासकके पास हरएक पदार्थ जो जिस समय चाहिये वह उसी समय उसको प्राप्त हो सकता है। वहां तो जिस समय उष्णता चाहे उस समय उष्णता और जिस समय शीतता चाहिये उस समय शीतता एकत्वभावसे प्राप्त हो सकती है अथवा यह कहना अधिक सत्य होगा कि वहां पूर्ण समता सदा एकसी रहती है इसलिये उष्णता और शीतता इस तरह मिली होती है कि वहां किसी दूसरी वस्तुकी आवश्यकताही प्रतीत नहीं हो सकती।

इस प्रकार विचार विमर्श करके परमात्मोपासनाका लाभ और गौण देवताओंकी उपासनासे अल्पताकी कैसे प्राप्ति होती है इस बातको जाना जा सकता है और आत्मकी उपासनासे महत्त्व प्राप्त की जा सकती है। अब आत्म आश्रय करनेसे किस प्रकार लाभ होता है यह विषय भगवान् आगे कहते हैं—

अन्वयः — मम परं अव्ययं अनुत्तमं भावं अजानन्तः अबुद्धयः मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते ॥ २४ ॥ योगमाया समावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न । अयं मूढः लोकः अजं अव्ययं मां न अभिजानाति ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! अहं समतीतानि वर्तमानानि च भविष्याणि च भूतानि वेद । कश्चन तु मां न वेद ॥ २६ ॥ हे परंतप भारत ! सर्वभूतानि इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्गे संमोहं यान्ति ॥ २७ ॥ येषां पुण्यकर्मणां जनानां तु पापं अन्तगतं ते दृढव्रताः द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः मां भजन्ते २८

मेरे श्रेष्ठ अविनाशी अव्यक्त और अत्यंत उत्तम भावको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग मुझे व्यक्ति भावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥ योगमायासे घिरा रहनेके कारण मैं सबको प्रगट नहीं होता । अतः ये मूढ लोग मुझ अजन्मा और अविनाशीको ठीक रीतिसे नहीं पहचान पाते ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! मैं भूत वर्तमान और भविष्यके सब प्राणिमात्रको जानता हु । परन्तु मुझे कोइ नहीं जानता ॥ २६ ॥ हे श्रेष्ठ तप करनेवाले भारतीय वीर ! सब प्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखदुःखादि द्वन्द्वरूप मोहमें पडे रहनेके कारण उत्पत्तिके समय बडे भ्रमको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥ परंतु वे दृढमती द्वन्द्वमोहसे मुक्त सदाचारी और नष्ट-पाप लोग मुझेही भजते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— ईश्वर श्रेष्ठ अविनाशी अव्यक्त और सबसे उत्तम है । ईश्वरकी इस सत्ताको जो नहीं जानते उनकोही मूढ कहा जाता है । ऐसे लोग अवतारी पुरुषको केवल व्यक्ति अर्थात् केवल व्यष्टि मानते हैं और उसके व्यापक भावको नहीं जानते ॥ ईश्वर अपनी योगमायासे घिरा रहनेके कारण सबको प्रत्यक्ष नहीं होता अतः वे मूढ लोग इस अजन्मा और अविनाशीको जान नहीं सकते ॥ ईश्वर तीनों कालोंमें अवस्थित भूतमात्रको यथावत् जानता है परन्तु ईश्वरको इनमेंसे कोई नहीं जानता ॥ इच्छा द्वेषके कारणही सब सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं तब इन द्वन्द्वोंके मोहमेंही फंसे रह जाते हैं । जिससे यह बडा भारी भ्रम रहता है ॥ परंतु जो लोग द्वन्द्वोंके मोहसे दूर रहते हैं और अपने सदाचारमें स्थिर रहनेके कारण जो निष्पाप हो चुके हैं व ही निर्भ्रान्त होकर एकनिष्ठासे ईश्वरकी भक्ति करते हैं और उन्नत होते हैं । परंतु जो लोग द्वन्द्वोंके मार्गमें फसे हैं वे ईश्वरकी भक्ति न करते हुए किसी अन्य कार्यमेंही अपने आपका लगाते हैं और गिरते जाते हैं २४-२८

अव्यक्ति और व्यक्ति

(२४-२८) क्षुद्र विषयोंकी उपासना छोडकर महान् की उपासनाद्वारा महत्त्वको प्राप्त करना चाहिये यह यहांतक उपदेशका सार है । अब क्षुद्रत्व क्या है और महत्त्व क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हैं । वह इस प्रकार है—

क्षुद्रत्व	महत्त्व
व्यक्ति (एक)	समूह (संघ)
व्यष्टि	समष्टि
व्यक्त	अव्यक्त
व्यक्ति	अव्यक्ति
एक	बहुत
अ-प मति	स-मूति
किंचित् (अ-अल्प)	सर्व
अणु (अ-विरल)	विश्व
जगत्	जगती
अल्प	भूमा

इन शब्दोंके मननसे क्षुद्रत्व और महत्त्वकी कल्पना हो सकती है । मनुष्य क्षुद्र न बनकर महासामर्थ्यवान् बने इसलिये शास्त्र बनाए गये हैं । इसी उद्देशसे कहा है—

अबुद्धयः अव्यक्तं मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते ॥ २४

निर्बुद्धि मनुष्य अव्यक्त ईश्वरको व्यक्तिके भावको प्राप्त हुआ मानते हैं । अव्यक्त शब्दका अर्थ ' अदृश्य अगोचर, इंद्रियातीत ' है और व्यक्ति का अर्थ 'व्यक्त दृश्य गोचर इंद्रियगम्य व्यक्ति व्यष्टि ' होता है । मूढ लोग अव्यक्त ईश्वरको व्यक्त मानते हैं । यह निःसंदेह एक प्रकारकी मूढता है परंतु यहां जो व्यक्तिविषयक मूढता है वह दूसरे प्रकारकी है । यह अर्थ समझनेके लिये इस वाक्य भिन्न प्रकारसे लिखना चाहिये—

अबुद्धयः अव्यक्तिं मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते ॥ २४

निर्बुद्ध लोग व्यक्ति न बने हुए मुझ ईश्वरको व्यक्ति बना हुआ मानते हैं । अर्थात् बुद्धिहीन लोग अपरिमित संपूर्ण ईश्वरको एक व्यक्तिके समान मर्यादित मानते हैं ।

संपूर्णको अपूर्ण मानना, अखंडको खंडित मानना यही अज्ञान हीनताका कारण है। यहां अव्यक्त का अर्थ न व्यक्ति है। जो व्यक्ति नहीं है वह अव्यक्त किंवा अव्यक्ति है। अप्रकटका अदृश्य आदि जो दूसरा अर्थ है वह यहां अपेक्षित नहीं है। जो एक कायासी मूर्तिमें सीमित है वह व्यक्ति है और जो संपूर्ण विश्वरूप है वह न व्यक्ति किंवा अव्यक्त है। संपूर्ण विश्वरूप होनेसे वह हमें दीखता नहीं वह बात और है परन्तु यहां व्यक्तिताका विवेचन किया है और उसके दीखने न दीखनेका यहां विचार नहीं है। यहां दो ही भाव हैं—

व्यक्ति भावर्ष	=	व्यक्ति न भावर्ष
		अव्यक्ति भावर्ष
		अव्यक्त अव्यक्ति
अपूर्ण		संपूर्ण
व्यष्टि		समष्टि

यहां व्यक्ति बना हुआ और व्यक्ति न बना हुआ इनमाही अव्यक्तं और व्यक्ति भावर्ष का भाव है। और यही भाव यहां मुख्यतः देखनेयोग्य है। मूढ बुद्धिवाले लोग ईश्वरको एक व्यक्ति मानते हैं परंतु वह व्यक्ति नहीं है वह तो संपूर्ण विश्वव्यापक है यह बात वे जानते भी नहीं। उसको संपूर्ण माननाही ज्ञान है और उसको एक व्यक्ति जितना मानना यह मूढता है। यही यहां कहा है—

श्रेष्ठ भाव

मम परं अव्ययं अनुत्तमं भावं अजानन्तः॥ (२४)

ईश्वरकी संपूर्ण सर्वज्ञ अविनाशी उत्तम सत्ताको ये मूढ लोग नहीं जानते। ईश्वरकी सत्ता सर्वव्यापक है। इसके विपरीत उसको एकदेशी मानना मूढता है अज्ञान है बुद्धिहीनताका लक्षण है।

इसी अध्यायके श्लोक ४ और ५ में कहा है कि पृथ्वी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि, अहंकार और जीवतत्त्व यह अष्टविध परमेश्वरकी प्रकृति है। यह ईश्वरकी प्रकृति संपूर्ण विश्वमात्रमें व्याप्त है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहां यह न हो इसके टुकडे भी नहीं हैं। जहां यह प्रकृति है वहां पुरुष है अतः पुरुष भी संपूर्ण विश्वमात्रमें अखण्डतया व्याप्त है यह अनेक मूर्तियोंमें है परंतु प्रत्येक मूर्तिके समान सीमित नहीं है। यह अनेक रूपोंमें होता हुआ भी अखंड है। जो उसके इस अखंडित रूपको जानते हैं वे ज्ञानी हैं और जो इसको प्रत्येक व्यक्तिमें सीमित समझते हैं वे मूढ हैं।

जिस प्रकार जलमें लहरें होती हैं वैसेही एकरस अखंड प्रकृति पुरुषपर ये मूर्तियां लहररूप हैं। जैसी लहर जलसे भिन्न नहीं होती वैसेही प्रत्येक मूर्ति एकरस अखंड प्रकृति पुरुषसे पृथक नहीं है। दूसरा उदाहरण मनुष्यके शरीरमें नाक, कान आंख हाथ पांव पेटकी आंत आमाशय आदि हैं, वे शरीरके अन्दर हैं परन्तु शरीरसे पृथक् नहीं हैं। मनुष्य इन सबके पृथक होनेपर भी अखण्ड है। मनुष्य सब अवयवोंमें अखण्डित भावसे विद्यमान है। किन्तु प्रत्येक अवयव स्वतः भिन्न है यह मनुष्यका अल्पज्ञानही है। इसी तरह संपूर्ण विश्वमें जो अखंडित भाव है वही परमेश्वरीय सत्ता है। इस विचारसे स्पष्ट है कि अखंडका खंडित भाव मानेसे कितनी मूढता होती है। संपूर्ण राष्ट्रका एक व्यक्तिमें सीमित मानना संपूर्ण जातिको एक व्यक्तिमें सीमित मानना यही अज्ञान है। यह अज्ञान अनेक दुःखोंका कारण है।

अन्योपासनाका दोष

अन्यान्य देवताओंकी उपासनाके दोष पूर्वस्थानमें (श्लोक २० से २३) कहे गये हैं। किसी संपूर्णको व्यष्टि भाव देना अर्थात् अखंडका खंड समझ लेनाही इस दोषका कारण है। यह सत्य है कि पृथ्वी जल, वायु आदि देवताओंकी शक्ति परमेश्वरकीही शक्ति है। किन्तु तब भी इन देवताओंमें परमेश्वरीय शक्तिका एक अंशमात्र प्रकट हुआ है और परमेश्वरमें वह संपूर्ण शक्ति है। शक्तिकी पूर्णता और अपूर्णताका न समझनाही देवताओं तथा भूतप्रेतादिकों की उपासनाका सबसे बडा दोष है। इसलिये इन उपासनाओं को निकृष्ट कहा है।

व्यक्ति यानी अर्थ 'खंड' है। अखंडता इसमें नहीं हो सकता। व्यक्ति विभाग अज्ञानके कारण माने हुए इस अखंड सत्ताके छोटे खंड हैं। जैसे एक आकाश है उसमें मठाकाश (मठके अंदरका अवकाश) और घटाकाश (घडेके अन्दरका अवकाश) आदि कल्पनाएं की जाती हैं। ये आकाशके खंड हैं यहां आकाश अखंड अखंड तथा एकरस है। मठाकाश और घटाकाश वह

मनुष्यकी कल्पना है, वस्तुतः इन दोनों भावोंका अस्तित्व ही नहीं है। वैसेही किसी खंडित सत्ताका अस्तित्वही नहीं है एकही अखंडित सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता सर्वत्र स्थित मात्र है।

परभाव	अपरभाव
अव्यय	व्यय
अनुत्तम	हीन
अव्यक्त	व्यक्त
न व्यक्ति	व्यक्ति
सर्वत्र सत्ता	खंडित-भाव
अज	जन्मधारी
वेद	न वेद (अज्ञान)
इच्छाद्वेषरहित	इच्छाद्वेषसहित
निर्द्वन्द्व	द्वन्द्वमोह
मुक्ति	बद्धता

इस तालिकासे भेद और तुच्छ भावोंकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करके इस परभावको यथावत् जानना चाहिये और खंडित हीन भावसे मुक्त हो जाना चाहिये। यही मुक्ति है। इससे भिन्न बन्धन है।

परभावकी प्राप्ति

भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावकी अवस्थामें थे। यद्यपि वे व्यक्तिगत देहमें दीखते थे परंतु वे स्वयं इस परभावमें रहकरही बोल रहे थे। प्रत्येक मनुष्य इस परभावको प्राप्त हो सकता है। जो साधन करेगा ज्ञान प्राप्त करेगा वह इस परभावको पहुंच सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस पर भावमें थे इसीलिये इनको पूर्ण पुरुष कहा जाता है। भगवद्गीतामें इस परभावके विषयमें निम्न वर्णन है—

परमाप्नोति पूरुषः। (गी ३।१९)
मध्याप्नोति तत्परम्। (गी ७।१६)
ततो याति परां गतिम्। (गी ६।४५;१३।२८;१६।२२)
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो०। (गी ८।२)
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्। (गी ८।२८)
तेऽपि यान्ति परां गतिम्। (गी ९।३२)
यान्ति ते परम्। (गी १३।३४)
परां सिद्धिमितो गताः। (गी १४।१)

इस प्रकार भगवद्गीतामें परभावको प्राप्त होनेके विषयमें असंदिग्ध रीतिसे अनेकवार कहा है। प्रत्येक मनुष्यको यह पर अवस्था प्राप्त हो सकती है प्रत्येक मनुष्य इस जगत्में इसीलिये आया है, कि यत्नवान् होकर इस परभावको प्राप्त हो। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण इस परभावके अनुभवपर रहकरही यह उपदेश दे रहे हैं। यहां अर्जुन व्यक्तिभाव पर है और भगवान् श्रीकृष्ण इस सर्वत्र परभावपर। दोनोंके दृष्टिकोणमें जो भेद दीखता है उसका यही कारण है।

क्या कोई मनुष्य इस मनुष्य देहमें रहता हुआ इस परभावकी अवस्थाका अनुभव ले सकता है? हां अवश्य इसमें कोई संदेह ही नहीं है। इसीलिये तो गीताशास्त्रकी उत्पत्ति है। इसी गीतामें परभावकी प्राप्तिका मार्ग बताया है। भगवान् श्रीकृष्ण इस देहमें रहते हुए भी सदा इस परभावके अनुभवी थे यही उनका विशेषत्व था। संपूर्ण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके इस परभावके निदर्शनकी साक्षी मिलती है। ऐसा होते हुए भी सबको यह अनुभव नहीं होता इसका कारण क्या है? इसके उत्तरमें कहा है—

योगमाया

योगमायासमावृतः नाहं सर्वस्य प्रकाशः न। (२५)

योगमायासे आच्छादित होनेके कारण मैं सबको प्रकाशित नहीं होता। योगमायाका अर्थ मायाका योग मायाकी इतनी प्रकृतिसे विकृति मूल प्रकृतिसे बनी यह सृष्टि है। जैसे कोई बहुरूपिया अपनी कलाकुशलतासे नाना रूप धारण करता है अर्थात् विविध वेषभूषा पहनकर कभी स्त्री, कभी वीर पुरुष कभी दास कभी राजा और कभी वनिता बनता है। उसकी कुशलताके कारण अन्य लोग उसके मूलरूपको नहीं पहचान पाते। बहुत लोग तो उसे स्त्री-वीर दास-राजा वनिता आदि मानकर धोखा खाते हैं। वह सदा अपनी योगमायासे-बहुरूप धारण करनेकी कलासे आच्छादित रहनेके कारण किसीके द्वारा पहचाना नहीं जाता। पर वह स्वयं किसी भी रूपमें रहे अपने आपको पहचानता ही रहता है। इसी तरह परमेश्वर अपनी योगमायासे आच्छादित रहनेसे इस विश्वमें प्रगट हो रहा है परंतु साधारण मनुष्य समझते हैं कि जो ये रूप इस विश्वमें दीख रहे हैं वे किसी अन्य मनुष्यके रूप हैं इनमें परमेश्वर नहीं है। परन्तु वस्तुतः परमेश्वरही विश्वके विविध रूपोंमें अपनी योगमायासे प्रगट हो रहा है इस उसे पहचानें या

न पहचानें। वह विश्वरूपमें प्रकट है इसमें सन्देह नहीं है। परमेश्वरही सबसे अधिक कुशल बहुरूपी-विश्वरूपी है। यही बात प्रकट करनेके लिये कहा है—

मूढाः मां नाम मन्यन्ते मामिवाजानाति । (११)

मूढ जन मुझको अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता परन्तु मानता है कि मैं इस शरीरके साथ जन्मा हूं और शरीरके साथ नाशको प्राप्त हो जाऊंगा। यही इन मानवोंकी मूढता है क्योंकि वे इस परमात्माको नहीं जानते।

मिश्रीका एक डेला है, यदि उसके अनेक छोटे छोटे टुकडे किये गये तो मिश्रीके स्थूल भागके टुकडे हो गये परन्तु क्या उसकी मिठासके भी टुकडे हो गये? मिश्रीके डेलेके टुकडे होनेपर भी मिठासके टुकडे नहीं होते। इसी तरह परमेश्वरके अनेक रूप धारण करनेपर तब रूपोंके रहनेपर अथवा नष्ट हो जानेपर भी परमेश्वरकी अखंड सत्तामें कोई भेद नहीं होता।

उदाहरणके लिये— सोनेके अनेक आभूषण बनाये जानेपर सोनेके निजरूपमें कौनसा विकार होगया? सोना आभूषण-रूप बना या न बना पर रहता है वह सोनाही। इसी तरह योगमायासे परमेश्वरने विश्वरूप धारण किया अथवा न किया पर उसकी अखंड सत्तामें कौनसी न्यूनता अथवा अधिकता आती है? भगवद्गीतामें इसी कारण अन्यत्र कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(गी. ४।६)

मैं (ईश्वर) अजन्मा अविनाशी और सब भूतोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर अपनी मायासे विविध रूपोंमें उत्पन्न होता हूं। जैसे कोई नट विविध नटवेशमें नाट्यभूमिपर आता है वैसेही अपनी कुशलतासे यह महान परमेश्वर अपने मायायोगसे विश्वरूप बनकर हमारे सन्मुख आता है। तथा—

इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
(गी. अ. ७)

पंच महाभूत मन बुद्धि अहंकार यह अष्टविधा प्रकृति है। इस प्रकृतिसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। मैं (ईश्वर) ही सब जगत्का उद्भव और लय हूं।' इस तरह प्रकृति और पुरुष मिलकर विश्वरूप बना है। तथा—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
(गी. अ. ९।७-८)

सब भूत कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और कल्पका आरंभ होतेही मैं उन्हें फिरसे पैदा कर देता हूं। अपनी प्रकृतिको वशमें रखके मैं प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले इन भूतोंके समस्त समुदायको बारबार उत्पन्न करता हूं। इस तरह परमेश्वर और उसकी अपनी प्रकृतिसे इस सब विश्वकी उत्पत्ति होती है। यही बात उपनिषदोंमें कही है—

देवोंका पशु

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात् तत्सर्वमभवत्, तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति
(बृ. १।४)

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः, एवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्ति एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥
(बृ. उ. १।४)

आरंभमें एक ब्रह्मही था और 'मैं हूं' ऐसा उसने स्वयं अपने आपको ज्ञान किया। तब 'मैं हूं' ऐसा ज्ञान होनेसेही यह सब बन गया। इस तरह देव ऋषि और

मनुष्योंमेंसे जो कोई ' मैं ब्रह्म हूं ' ऐसा बोध प्राप्त करता है वह ब्रह्मही बन जाता है। ऐसा वामदेव ऋषिको ज्ञान हुआ अतः उसने ' मैं मनु हो गया था मैं सूर्य था ' ऐसा कहा है। (बृहदा १।४।१०) आज भी जो ' मैं ब्रह्म हूं ' ऐसा जानेगा वह विश्वरूप हो जायगा। इस ब्रह्मज्ञानीका पराभव नष्ट करनेके लिये कोई भी देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह इन सबकी आत्मा होती है। इसके विपरीत जो मनुष्य ' मैं उपास्यसे पृथक् हूं और मुझसे उपास्य पृथक् है ' इस भावनासे अन्यान्य देवताओंकी उपासना करता है, वह ब्रह्मके विषयमें कुछ भी नहीं जानता। वह देवोंकी गोशालामें पशुके समान बंधा रहता है। जैसे बहुत पशु एक मनुष्यके उपभोगके लिये होते हैं, उसी प्रकार ऐसे मनुष्य देवताओंके उपभोगके लिये होते हैं। एक पशु चुराया जानेपर भी स्वामीको बुरा लगता है फिर बहुत पशु जानेपर उसको बहुत बुरा लगताही है। इसी कारण मनुष्यको ब्रह्मज्ञान होना इन देवोंको प्रिय नहीं होता है।

अर्थात् ये छोटे छोटे देव चाहते हैं कि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी न बने और इनकीही उपासनामें फंसा रहे। यदि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी बन जाय तो इनकी उपासना कौन करेगा और इनको चढावे कौन चढाता रहेगा ? इसलिये क्षुद्र देव तो यही चाहते हैं कि मनुष्य मूढ रहें ब्रह्मज्ञानी न बनें और सतत इनकेही पीछे चलते रहें।

यहां भ. गी. के इस सप्तम अध्यायके श्लोक २० से २३ तक ' यह उपासक देवोंका पशु है ' ऐसा कहकर अन्यान्य देवताओंकी उपासनाकी निंदा ही की है। उपनिषद् और भगवद्गीताकी इस विषयमें एकही संमति है। इस उपनिषद्वचनमें यह भी कहा है कि ' ब्रह्मही यह सब बना ' और ' जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा वह न केवल ब्रह्म बनेगा अपितु वह सब विश्वरूप बन जायेगा ! ' इस तरह गीता और उपनिषद्वचनकी तुलना करनेसे सत्यज्ञान स्वयं प्रकट होता है, जिसके जाननेसे मनुष्य परमपदतक पहुंच सकता है।

इस उपनिषद्वचनसे यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अन्यान्य देवताओंकी उपासना ब्रह्मोपासनाके समान लाभकारी नहीं है और ब्राह्मी यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करानेमें बाधक हो सकती है। क्योंकि अन्यान्य देवताओंके उपासक इन देवताओंको विविध भोग चढाते हैं इसलिये वे उपासक उपास्य देवताके पशु होते हैं। जैसे हम अपने घरमें गौ रखते हैं वह दूध देती है इसलिये हम उस गौका त्याग करना नहीं चाहते वैसेही वे देवता इन उपासकोंको मुक्त नहीं होने देते अपने फंदेमेंही फंसाये रखते हैं। क्योंकि यदि उपासक मुक्त हो गये तो उपास्य देवताको भूखाही रहना पडेगा। इसलिये क्षुद्रकी उपासना मनुष्यकी आत्यन्तिक उन्नतिमें बडी भारी बाधा है।

यह बाधा सबके सम्मुख उपस्थित होती है इसलिये भगवद्गीताने क्षुद्र देवताओंकी उपासना करनेकी बडी युक्तिसे निन्दा की है। देवतापासक देवोंको प्राप्त होते हैं और ईश्वरके उपासक ईश्वरको पाते हैं। यही तत्व उपनिषद्वचनमें भी कही है।

अहं अतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च
भूतानि वेद (परंतु) कश्चन मां न वेद ॥ (२६)

मैं ईश्वर भूत भविष्य वर्तमान-कालमें उत्पन्न होनेवाले सब विश्वको यथावत् जानता हूं परंतु मुझ ईश्वरको कोई भी नहीं जानता। इसका कारण पूर्व स्थानमें बताया है कि ईश्वर योगमायासे घिरा रहनेके कारण सबको अगम्य होता है। विरलेही तत्वज्ञानी उसको जानते हैं। ऐसा क्यों होता है इसका कारण अगले श्लोकमें कहा है—

भ्रमका कारण

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्वभूतानि
संमोहं यान्ति । (२७)

' इच्छा और द्वेषके कारण सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं और इन सुखदुःखोंके कारण सबको भ्रम होता है। मनुष्य इस भ्रममें फंसकर परमेश्वरको जाननेमें असमर्थ हो जाते हैं। जिस पदार्थकी जिस समय इच्छा होती है उस समय उस पदार्थसे सुख होता है और जो पदार्थ जिस समय नहीं चाहिये वही सम्मुख आ जाय तो दुःख होता है। सुख-दुःख तो किसी पदार्थमें नहीं है वे उसकी इच्छा और द्वेषके कारण होते हैं। परंतु मनुष्य इष्ट पदार्थका लोभ और अनिष्ट पदार्थसे द्वेष करता है और इष्ट पदार्थके साथ अपना संबंध अटल बनाना चाहता है। इसी कारण यह व्यवहार बना है और लोभमोह उत्पन्न हुए हैं।

एक जो जाति है यह परमेश्वरकी एकही प्रकारकी कृति है। परंतु मनुष्य किसीको एक स्त्रीको धर्मपत्नी किसीको माता किसीको बहन किसीको सास इत्यादि कहता है। और इन भेदोंके कारण व्यवहारमें भेद उत्पन्न हो जाता है। आगे चलकर नाना झगड़े भी उत्पन्न होने लगते हैं।

इसी विषयका अन्य एक उदाहरण देखिये। सोना चांदी आदि अनेक वस्तुएं हैं। मूलमें अर्थात् परमेश्वरीय सृष्टिमें इनका कोई मूल्य नहीं है। परंतु मनुष्यको सोना चाहिये और लोहा नहीं। इसीलिये सोनेका मूल्य बढ़ जाता है। इस सोनेकी इच्छा होनेके कारण सोनेकी कितनी मांग बढ़ी इसके कारण कितने झगड़े उत्पन्न हुए कितने कुटुंब बदमाशोंके हाथसे नष्ट हो चुके स्वर्णप्राप्तिकी आकांक्षासे कितने राष्ट्र पादाक्रान्त हुए और इन राष्ट्रोंकी लड़ाईमें कितने मनुष्योंका संहार हो चुका है। केवल मनुष्यके इच्छा-द्वेषके कल्पित भ्रमके कारण यह अनर्थ हुआ। यही द्वन्द्व-मोह है और इसीमें सब मनुष्य फंसे हुए हैं। तत्त्वदृष्टिसे न सुवर्णका मूल्य अधिक है और न लोहेका कम है। परंतु इस विश्व सत्यको मनुष्यने अपने इच्छाद्वेषके कारण होनेवाले द्वन्द्वमोह से विपरीत माना और उसी भ्रममें वह गोते खाता रहा।

इस विषयका दूसरा उदाहरण यह है कि पृथ्वीमें कपास का सूत बनकर कपड़ा बना। बारीक मोटा और मध्यम कपड़ा तैयार हुआ। उसीकी रजाई गद्दी तकिया कोट पतलून पाजामा कुरता अचकन टोपी साफा आदि अनेक वस्त्र पहननेके लिये अथवा विविध उपयोगके लिये बनाये गये। यह सब मायासे अर्थात् कुशलतासे और पृथ्वी कपाससे बने हैं। परंतु इनमेंसे एक अपना दूसरे काममें नहीं आ सकता। अपनीही कुशलताकी कृतिसे यह द्वन्द्व उत्पन्न हुआ और इसी हीनभावने हमारे सब व्यवहारको बांधा हुआ है। तत्त्वदर्शीके समझकी मूलके कपासकी सेवक वर्गोंकी सैनिकोंकी और धनिकोंकी अवस्था जिसकी होती है। एक परमेश्वरीय कृतिमें कोई भेद नहीं है परंतु मनुष्यके इच्छाद्वेषके कारण ये द्वन्द्व बन गये उस कारण यह भ्रम और मोह हुआ और उसीमें फंसकर मनुष्य सब व्यवहार कर रहा है। परमेश्वरीय विश्वमें एकही सृष्टि है उसमें कोई भ्रमका कारण नहीं है। परंतु यह भ्रम मनुष्यने अपनीही कल्पनासे रचा है और उसीमें वह फंसा हुआ है। इससे विवरणसे सिद्ध है कि जगत्में सुखदुःख उत्पन्न होनेमें मनुष्यके इच्छाद्वेषका प्रभाव कितना है। वस्तुतः एक वस्तुकी दृष्टिसे इच्छाद्वेष होनेका कोई कारण नहीं परंतु इसकी कल्पना बड़ी प्रबल है और यह उस कल्पनाके कारण इच्छाद्वेष करता है उससे सुखदुःख भासमान होते हैं और उस भावके कारण मोह होता है। उस मोहमें वह फंसता जाता है और तत्त्वकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती। इस प्रकार मनुष्य परमात्माको जान नहीं पाता और इस द्वैतभावके फंदेमें फंसा रहता है जिससे भोग-विलासमें रत हो जाता है पराधीन बनता है और जन्मपरंपरामें फंसकर दीन बन जाता है।

मनुष्यको उचित है कि वह इच्छाद्वेष छोड़ दे इनमें न फंसे मोहको दूर करे और तत्त्वका दर्शन करे। यही उपदेश अगले श्लोकमें भगवान् करते हैं—

पुण्यकर्मणां पापं अन्तगतं (भवति)
ते दृढव्रताः द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (मां) ईश्वरं
भजन्ते ॥ (२८)

जो पुण्य कर्म करते हैं उनका पाप नष्ट हो जाता है। वे ही दृढव्रती पुण्यात्मा लोग द्वन्द्वमोहसे मुक्त होकर ईश्वरको जानते और उसकी सेवा करते हैं। पुण्य कर्म करनेवालोंके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं। कारण यह है कि वे इच्छाद्वेषसे मुक्त होते हैं, सुखदुःखादि द्वन्द्वमें नहीं फंसते इसलिए भ्रम छोड़कर सत्यका आश्रय करते हैं। दृढव्रत होकर निश्चयसे तत्त्वदर्शन करते हैं। वेही परमेश्वरको पा सकते हैं।

ईश्वर सेवा

(ईश्वरं भजन्ते) यहां ईश्वरका भजन करनेका तात्पर्य ईश्वरसेवा है। केवल नामजप करनाही भजन नहीं है। विश्वरूपी परमेश्वरकी सेवा करना ईश्वरका भजन है। क्योंकि इस विश्वरूपी नारायणका स्वरूप इस तरह कहा है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(ऋ० [illegible])

(सहस्र सिर सहस्र आंख और सहस्र पांवोंसे युक्त एक

(८) मोक्षप्राप्तिका यत्न

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः । प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अन्वयः- ये मां आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति ते तत् ब्रह्म कृत्स्नं अध्यात्मं अखिलं कर्म च विदुः ॥ २९ ॥ ये साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां विदुः ते युक्तचेतसः प्रयाणकाले अपि च मां विदुः ॥ ३० ॥

जो मेरा आश्रय करके जरा और मरणसे मुक्त होनेका यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको संपूर्ण अध्यात्मको और सब कर्मोंको जानते हैं ॥ २९ ॥ जो अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञसहित मुझे जानते हैं वे चित्तका योग करनेवाले वे मृत्युके समय भी मुझे स्मरण करते हैं ॥ ३० ॥

पुरुष भूमिपर सर्वत्र खडा हुआ है। भूत भविष्य और वर्तमान कालमें सब यह पुरुषही है। इसका मुख ब्राह्मण बाहू क्षत्रिय जांघ वैश्य और पांव शूद्र है। इस तरह यह मानवी समाजरूपी सहस्रों हस्तपादादि अवयवोंवाला पुरुष है। संपूर्ण मनुष्यजातिके जितने सिर बाहू पेट जंघाएं और पांव हैं, वे सब इस जगद्योग नारायणके अवयव हैं। यही विश्वरूपी पुरुष मनुष्योंका उपास्य है। (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) द्वन्द्वभावसे उत्पन्न होनेवाले मोहसे मुक्त होकर मनुष्य इसकी सेवा करे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंमें अर्थात् विद्वान्, शूर व्यापारी कारीगर और अन्य मनुष्योंमें अलग अलग भेदभाव करके असमानताका व्यवहार करना व्यवहारमें द्वन्द्वभाव रखना है। मैं अलग मेरी कमाई अलग तू ऐसी अलग ऐसा मानकर द्वैतव्यवहार करना द्वन्द्वमोहमें फंसना है। और

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गी० ५।१८)

विद्वान् ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता चांडाल सबमें ज्ञानी लोग समदृष्टि रखते हैं। इनपर ऐसीही समदृष्टि रखना और ब्राह्मणादि सभी लोग परमेश्वरकेही अवयव हैं परमेश्वरकीही मूर्तियां हैं, ऐसा मानकर अपने आपको उनके सहित अर्थात् सब मानवसमष्टिको उसी नारायण पुरुषका शरीर मानकर अनन्य भावसे उनकी सेवा करना अर्थात् विश्वसेवा करना यह द्वन्द्वभावसे मुक्त होना है। यही पुण्य कर्म है और इसीसे पाप नष्ट होता है।

(इच्छाद्वेषसमुत्थः द्वन्द्वमोहः) मुझे सुख चाहिये और दुःख नहीं इसलिए सुखदुःखकी चर्चा मैं नहीं करता मैं अलग हूं और दूसरा अलग है चाहे दूसरोंको कितना भी दुःख हो मुझे कोई चिन्ता नहीं है मैं केवल अपने सुखको देखूंगा यह विचारसरणी जब मनुष्योंकी होती है वही इच्छा द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला द्वन्द्वमोह है। यही मानवी उन्नतिको रोकनेवाला है। यह द्वन्द्वमोह छोडना चाहिए और पूर्वोक्त प्रकार संपूर्ण प्राणियोंको एकही परमेश्वरके देहमें देखकर उनकी सेवा करके परमेश्वरकी सेवा होगी ऐसा निश्चय पूर्वक मानना चाहिये।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गी० १८।४६)

अपने कर्मसे इस परमेश्वरको पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। यहांतक जो विचार हुआ उससे परमेश्वरका सत्य स्वरूप क्या है और अनन्यभावसे कैसे उसकी सेवा की जा सकती है इसकी कल्पना स्पष्ट हो सकती है। 'अनन्य' शब्द 'न अन्य' का रूप है (अ+अन्य) मैं उपास्यसे पृथक् नहीं हूं ऐसे निश्चयसे अर्थात् मैं उपास्यके देहका एक अंश हूं ऐसा मानकर उपास्यकी अर्थात् परमात्माकी अपनीही सेवा मानकर जो सेवा की जाती है वह अनन्य सेवा है। (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) द्वैतभाव छोडकर जो सेवा होती है वही अनन्य सेवा है। इस तरह जो दृढव्रती मनुष्य अनन्य होकर सेवा करते हैं वे श्रेष्ठ होते हैं। ये लोग ईश्वरको किस रूपमें देखते हैं यह आगे श्लोकमें कहा गया है—

'पंचतत्त्व विवेक'—प्रश्न हो सकता है कि इतने विभिन्न पदार्थोंमें एक अखंड सत्ता कहां और कैसे रहती है ? इसका निश्चय करनेके लिये पंचमहाभूत कहां है और कहां नहीं है इसका निश्चय करना चाहिये । हमारी नाकसे गन्धका ग्रहण होता है और उससे पृथ्वीका पता लगता है । नाकसे गन्धका ग्रहण करनेपर पता लगेगा कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहां किसी प्रकारका गन्ध न हो । रसनासे रसका ग्रहण होता है । रसनाद्वारा रसका ग्रहण करनेपर जहां रस न हो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा । आंखसे रूपका ग्रहण होता है । जहां दृष्टि जायेगी वहां रूपकी उपलब्धता होगीही । यह महत्त्वकी बात है । यह सिद्धान्त है कि विश्वभरमें ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहां रूपका दर्शन नहीं होता है । कोण कहेंगे कि 'दो पदार्थोंके बीचमें जो अवकाश है वहां रूपका दर्शन नहीं होता । परन्तु यह गलत है । दो पदार्थोंके रूपोंके मध्यमें किसी न किसीका रूप अवश्य है । है । रूप सर्वत्र ऐसा एक दूसरेसे इतना चिपका है कि एक त्रसरेणुके बराबर भी जगह बीचमें खाली नहीं है । इसी तरह एकही व्यापक तत्त्व है जिसका रूप सर्वत्र अनुभवमें आ रहा है । त्वचासे स्पर्शगुणका अनुभव होता है । कौनसा ऐसा स्थान है कि जहां स्पर्शका अनुभव नहीं होता ? एक रत्ती जितना भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा कि जहां स्पर्शका अनुभव न हो । इस तरह सर्वत्र अखंड स्पर्श है । आकाश तो सर्वव्यापकही है और उसका गुण सर्वत्र है, इसीलिये सर्वत्र शब्द होता है और होतेही अनुभवमें आता है ।

इसी तरह सर्वत्र और अखंडित रीतिसे शब्द स्पर्श रूप रस गंधका अनुभव आता है । एक सूईके अग्र जितना भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहां इन पांचोंका अनुभव न आता हो ।

कोण कहेंगे कि ये पंचमहाभूत सर्वत्र हैं इसलिये शब्दस्पर्शादिका सर्वत्र अनुभव आता है । इसमें विवेक इस बातका करना है कि हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियों शब्दादि पांच गुणोंका ग्रहण कर सकती हैं वे इंद्रियें गुणोंकाही ग्रहण करती हैं, पदार्थका ग्रहण नहीं कर सकतीं । इसलिये पांच गुणोंका ग्रहण होनेसे इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि पांच गुणोंको धारण करनेवाले पांच तत्त्व परस्पर भिन्न और अलग अलग हैं अथवा एकही सत्य तत्त्वके साथ इन पांचों ज्ञानेन्द्रियोंका संबंध होनेपर पांच गुणोंका ज्ञान होता है ।

पांच अन्धे हाथी देखने गये । जो अन्धा पांवके पास पहुंचा उसको हाथी खंभा जैसा प्रतीत हुआ । दूसरा अन्धा कानके पास पहुंचा उसको सूप (छाज) जैसा प्रतीत हुआ । तीसरा सूंडके पास गया उसको सांप जैसा प्रतीत हुआ । चौथा पूंछके पास गया उसको झाडूके समान दिखाई दिया और पांचवां पेटके पास गया, उसको कपासकी बडीभारी बोरी जैसा प्रतीत हुआ । पांचोंका अनुभव सत्य है परन्तु एकही सत्य वस्तु पांचोंको पांच प्रकार प्रतीत हुआ वह भी उतनाही सत्य है । इन पांचों अंधोंमें प्रत्येकका अनुभव सत्य है इसलिये हाथीके स्वरूपके विषयमें वाद झगडा होगा प्रत्येक दूसरोंका खंडन करेगा वह सब सत्य है, परन्तु जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है वह कहेगा कि वस्तु तो एकही है, यह आंख नाक कानका अनुभव आंशिक अनुभव है पूर्ण अनुभव नहीं है । हमारी इंद्रियोंके अनुभव भी ऐसेही हैं

मन की साक्षी—मनसे विश्वमें देखा तो उसको पांच पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हुए । सत्त्व रज और तम इन तीन प्रकारका अनुभवही उसको प्रत्यक्ष हुआ । संपूर्ण विश्वका मनन करनेसे मनको कई पदार्थ सुख देनेवाले अर्थात् सात्त्विक दीखते हैं कई दुःख देनेवाले अर्थात् तामसी नजर आते हैं और कई मिश्रित मध्यम अर्थात् सुखदुःख देनेवाले दिखाई देते हैं । अतः मनने अपनी साक्षीमें कहा है कि विश्वमें पांच पदार्थ नहीं हैं अपितु कुछ सुखमय हैं कुछ दुःखमय हैं और कुछ मध्यमसी अवस्थाके हैं जिनके वाचक नाम सत्त्व (सुख) रज (मध्यम) तम (दुःख) हैं । इनकी परिभाषा भिन्न विचारकोंने भिन्न प्रकार की है—

सत्त्व	रज	तम
सुख	सुखदुःखमिश्र	दुःख
ज्ञान	कर्म	अज्ञान
सुर	सुरासुर	असुर
मधुरान्न	तीक्ष्णान्न	गतरसान्न
पवित्र	मिश्रभोज्य	अपवित्र
धर्मासक्ति	धनासक्ति	आलस्य

इस तरह मनके माध्यमद्वारा संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका प्रतीत होता है। अतः मन कहता है कि विश्व पाँच प्रकार का नहीं है अपितु तीन प्रकारका है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्धमें भी मनने सुख दुःख और मिश्रित भावही देखे। अर्थात् सुखदायी शब्द, दुःखदायी शब्द और मध्यम शब्द इसी तरह स्पर्शरूपादिके विषयमें भी समझना चाहिये। इस तरह मनका अनुभव होनेसे विश्व पाँच प्रकारका (पञ्च भूतात्मक) है ऐसा जो इन्द्रियोंका अनुभव था वह अनुभव दूर होकर संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका-सत्त्वरजतमात्मक (त्रिगुणरूप) प्रतीत होने लगा। यहाँ भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन तीन गुणोंके पीछे तीन पदार्थ हैं अथवा एकही पदार्थमें ये तीन गुण हैं जो विभिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं? जैसे मिश्री दूधके साथ खानेसे सात्त्विक अचारके साथ खानेसे राजस और वैसेही खानेसे तामस प्रतीत होती है इसी तरह प्रत्येक पदार्थ तीन गुणोंको प्रगट कर सकता है। यदि यह सत्य है तो इन तीनों गुणोंको प्रगट करनेवाला एकही पदार्थ है, वह भी विविधही है। अतः इसपर और अधिक खोज करनी चाहिये। मनकी दृष्टिसे विश्वमें तामही अनुभव हैं।

बुद्धिकी साक्षी— इसके पश्चात् हमारे पास बुद्धि है। बुद्धिको कुछ जड और कुछ चेतन ऐसा द्विविध जगत् प्रतीत हुआ। बुद्धि कहने लगी कि कुछ विश्व द्विविध है जिसको शास्त्रकार ये नाम देते हैं—

जड	चेतन
प्रकृति	पुरुष
आकार	निराकार
रयि	प्राण
मूर्त	अमूर्त
स्थूल	सूक्ष्म
अचेतन	सचेतन
प्रकृति	जीव
क्षर	अक्षर
स्थावर	जंगम
व्यक्त	अव्यक्त

इस तरह बुद्धिने विश्वका निरीक्षण किया। बुद्धि संपूर्ण ब्रह्माण्डमें देख गयी और उसने निश्चय किया कि यहां केवल दोही पदार्थ हैं जो मनको त्रिविध प्रतीत हुए और ज्ञानेन्द्रियोंको पंचविध प्रतीत हुए। वस्तुतः ये दोही हैं। फिर यहां यही प्रश्न आता है कि ये दो पदार्थ परस्परभिन्न हैं अथवा ये एकही सद्वस्तुके विभिन्न पहलू हैं? बुद्धि इसका निश्चय नहीं कर सकती।

आत्माकी साक्षी—इसके पश्चात् अहंकार (अर्थात् अहं का अनुभव = मैंपनका अनुभव) आगे बढ़ा। यही मैं कहनेवाला आत्मा है। विश्वभरमें उसे सर्वत्र एकही अहंकार फैला हुआ प्रतीत हुआ। प्रत्येक पदार्थ कहता है कि मैं हूं। इसके अतिरिक्त आत्मा देखने लगा कि जब मैं जागता हूं तबही विश्व दीखता है और मैं सोता हूं तो विश्व भी लीन हो जाता है। मेरे देखनेपर विश्वका अस्तित्व है। आत्मा ज्ञाता है और विश्व ज्ञेय है। ज्ञाताके बिना ज्ञेयका अस्तित्व कहां है? मेरा अपना अस्तित्व पहिले है और मेरे देखनेपरही विश्वका अस्तित्व ज्ञात होता है। अतः यह विश्व मेरे ज्ञान पर आश्रित है। जो मेरे ज्ञानमें है वह मुझसे भिन्न कहां है? अतः आत्माने कहा कि एकही अहं भाव सर्वत्र है अर्थात् मैंही यह सब कुछ हूं मुझसे भिन्न यह विश्व नहीं है।

यहां निश्चय हुआ जो यह भावका तत्त्व सर्वत्र है, उसका अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियोंको पांच प्रकारसे हुआ उसी का अनुभव मनको तीन प्रकारसे हुआ और बुद्धिको दो प्रकारसे। परन्तु वस्तुतः वह एकही वस्तु है। उसको एक ओरसे देखनेसे क्षर भाव दिखाई देता है और दूसरी ओरसे देखनेसे अक्षर भाव देखा जाता है परन्तु वह वस्तु क्षराक्षर होनेसे केवल क्षर भी नहीं और केवल अक्षर भी नहीं, वह केवल क्षरसे भी श्रेष्ठ और केवल अक्षरसे भी श्रेष्ठ है अतः उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। अतः कहा है—

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(भ. गी. अ. १५।१६-१८)

भावार्थ— परमेश्वरकाही आश्रय करके जो जरामरणसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं वे ही संपूर्ण ब्रह्म संपूर्ण अध्यात्म और संपूर्ण कर्मको यथावत् निःसंदिग्ध रीतिसे जानते हैं। ईश्वरको जब वे सब प्राणीमात्रमें सब देवताओंमें और सब यज्ञोंमें देखते हैं तब उनको ईश्वरके सत्य स्वरूपका स्मरण प्राणके अंतकाल समयमें भी यथावत् रहता है ॥ २९ । ३० ॥

पूर्ण ब्रह्मज्ञान

(२९-३) (मां ईश्वरं माश्रित्य) केवल ईश्वरकाही आश्रय करके साधक लोग अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं। इस चिद्रूपी परमेश्वरका आश्रय करके वे साधक (जरामरणमोक्षाय) वृद्धावस्था और मृत्युपरंपरासे मुक्त होनेके लिये यत्न करते हैं। जीर्ण अवस्थाकी अकाल उसीको होगी जो अपने आपको ईश्वरसे पृथक् मानकर सब क्रियाओंको अपने सिरपर ले लेगा। जो परमेश्वरके रूपमें मिल गया उसकी सभी अवस्थायें परमेश्वरके रूपमें मिल जानेके कारण उसको जरामृत्यु भय किस प्रकार हो सकता है? ब्रह्म क्या है संपूर्ण अध्यात्म क्या है, कर्मप्रवाह कैसे चल रहा है अधिभूत– अधियज्ञके साथ परमेश्वर कैसे है, यह सब ज्ञान देवीही भक्तोंको होता है। यह ज्ञान उन को अति स्पष्ट होनेके कारण उसका चित्त सदा सर्वदा परमात्माके साथ संयुक्त रहता है। इस कारण मरणकालकी अत्यंत पीडा होनेके समयमें भी उनको परमेश्वरका अखंड स्मरण रहता है। फिर अन्य समय ईश्वरका स्मरण होता होगा इसमें क्या संदेह है?

यहां ब्रह्म अध्यात्म कर्म अधिभूत, अधिदैव अधियज्ञ आदि शब्द आ गये हैं। इनका अर्थ अगले अष्टम अध्यायमें आनेवाला है इसलिये इनके विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता है।

सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायका मनन

ज्ञानका अखंड उपदेश

इस अध्यायतक सब अध्यायोंमें अर्जुन प्रश्न करता है और भगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हैं। केवल यही सातवां अध्याय है जिसमें श्रीकृष्ण भगवान्का अखंड उपदेश है। बीचमें चित्तका विक्षेप करनेके लिये किसीका भी प्रश्न नहीं है। इससे पूर्व ५ वें अध्यायमें केवल प्रारंभमें ही अर्जुनका प्रश्न है और ५ वें अध्यायके अन्ततक भगवान् श्रीकृष्णका उत्तर है परंतु वह उत्तर अर्जुनके प्रश्नके निरा करणके लिये दिया गया है स्वयंस्फूर्तिसे नहीं। यह सातवां अध्याय केवल भक्त अर्जुनपर कृपा करनेके लियेही कहा गया है। अपने आश्रित भक्तको तत्त्वज्ञान देना आवश्यक समझकर स्वयं अनुग्रह करनेके लियेही केवल यह ईश्वरके संपूर्ण स्वरूपका विज्ञानसहित वर्णन किया है। यह यथावत् जाननेके पश्चात्—

नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गी. ७।२)

यहां इस संसारमें अधिक जाननेयोग्य कुछ भी अव शिष्ट नहीं रहता। यह जाननेपर भी जाननेकी इच्छा ही यह ज्ञान कहा गया है। यही इस अखंड उपदेशका सार है। इसमें परमेश्वरके अखण्ड स्वरूपका समग्र ज्ञान है इसलिये इसका मनन करके यह ज्ञान आत्मसात् करना चाहिये।

परमेश्वरका समग्र ज्ञान होना अत्यंत कठिन है। क्योंकि परमेश्वर अनंत है कदापि मनुष्यकी मति उसको ग्रहण कर सकती है? मनुष्यकी प्रवृत्ति प्रायःही संसारमें लगी रहती है इसलिये सहस्रोंमेंसे क्वचित् कोई परमेश्वरके स्वरूपको जाननेका यत्न करता है और ऐसे यत्न करनेवालोंमेंसे भी किसी एकाधहीको यथार्थ ज्ञान हो जाता है। (गी. ७।३)

यह अत्यंत दुर्लभ ज्ञान इस अध्यायमें सबके समझमें आनेयोग्य सुगम रीतिसे कहा गया है।

पुरुषकी प्रकृति

पुरुषकी प्रकृति है। यहां प्रकृतिका अर्थ शरीर, देह या वपु है। कुछ लोग समझते हैं कि पुरुष और प्रकृति पूर्ण तथा विभिन्न हैं एक दूसरेसे पृथक हैं। अर्थात् जड प्रकृति सर्वथा भिन्न है और चेतन पुरुष सर्वथा भिन्न है। ऐसा यह भेद केवल कल्पनामात्रही है वस्तुतः इस जगत्में चेतन पुरुष और जड प्रकृति कहीं अलग अलग कोठडोंमें अलग नहीं रखी जा सकती। केवल कल्पनासेही शास्त्रकारोंने ये भेद मान लिये हैं। जैसे खांडका डेला और मिठास ये दो कल्पनाएं विभिन्न हैं, परंतु खांडके डलेसे मिठास कभी पृथक् नहीं होता, वैसेही प्रकृतिपुरुषका पृथक्त्व है। गीता ७।८-११ में कहा है कि 'जिस प्रकार जलमें रस सूर्यमें तेज, चन्द्रमामें चंद्रिका आकाशमें शब्द मनुष्यमें वीर्य, पृथ्वीमें गन्ध अग्निमें उष्णता प्राणियोंमें जीवन तपस्वियोंमें तप बुद्धिमानोंमें बुद्धि तेजस्वियोंमें तेजस्विता बलवानोंमें बल रहता है वैसेही इस विश्वमें ईश्वर है।' इस प्रकार ईश्वर और प्रकृतिका संबंध नित्य बतलाया गया है। पृथ्वीसे गन्ध अलग नहीं हो सकता अग्निसे उष्णता अलग नहीं हो सकती इसी तरह प्रकृतिसे पुरुष अलग नहीं किया जा सकता। मिश्रीके डलेसे मिठास कैसे अलग की जा सकती है? इसी तरह जडसे चेतन अलग नहीं किया जा सकता। जो भेद हम मानते आये हैं, वह कल्पनाका भेद है, वास्तविक नहीं। सूर्य और तेजकी कल्पनामें भिन्नता है, परंतु वस्तुतः अभेद है आकाश और शब्दमें कल्पनाका भेद प्रत्यक्ष है परन्तु वस्तुतः दोनोंकी एकरूपता भी वैसीही प्रत्यक्ष है। तपस्वी बुद्धिमानोंमें तप और बुद्धिमत्तामें हमारी कल्पना भेद देखती है परन्तु इन पदार्थोंको अलग अलग कर देखा यत्न किया जाय तो वे साथमेंही मिलेंगे। इसी तरह माला का उदाहरण देखिये (सूत्रे मणिगणा इव। गी. ७।७) यहां तो सूत्र भी अलग है और मणि भी अलग है परन्तु माला कहनेसे इनमें सूत्र और मणि दोनोंका बोध होता है। इसी तरह प्रकृति (मणि) पुरुष (सूत्र) का परमात्मा (माला) में लय होता है। वस्तुतः ये तीनों केवल कल्पनाएं हैं अखंड आधार वस्तु एकही है। उस पहाडको एक ओरसे देखनेपर जड दीखता है और दूसरी ओरसे देखनेपर वही चेतन दीखता है ये दोनों रूप एकही वस्तुके हैं। (एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. १।१६४।४६) वस्तु एकही है उसका वर्णन अनेक प्रकारसे होता है। यही भाव इस तरह कहा है—

ईश्वरकी प्रकृति

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(भ. गी. ७।४-५)

पृथ्वी, आप् तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारकी भिन्न प्रकृति है और जीवरूप प्रकृति एक प्रकारकी है।' यह सब मिलकर दो प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। यहां प्रकृतिका अर्थ शरीर है। यह परमेश्वरका शरीर है जिसमें जड और चेतन मिलेजुले हैं। मणियोंके स्थानपर पृथिव्यादि पदार्थ हैं सूत्रके स्थानपर जीव-सूत्रात्मा सूत्रवत् सर्वत्र रहनेवाला आत्मा- है और मालाके स्थानपर परमात्मा परमेश्वर नारायण आदि अनेक नामोंसे दर्शित होनेवाली एक शक्ति है। लोग कहेंगे कि यह रूप खंडित है ये टुकडे हैं यहां एकरसता नहीं है। किन्तु जो लोग दृष्टिसे देखते हैं उनको खंडित रूपमें टुकडे टुकडे नजर आते हैं, जो दिव्य दृष्टि देखते हैं, उनको इस एक ही रूपकी अखंडता प्रत्यक्ष हो जाती है।

दिव्य दृष्टि

यह दिव्य दृष्टि क्या है? भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें यह दिव्य दृष्टि अर्जुनको दी गयी (दिव्यं ददामि ते चक्षुः। भ. गी. ११।८) है। यद्यपि संपूर्ण गीतामें किसी भी स्थानपर ऐसा नहीं कहा है कि यह दिव्य चक्षु अथवा यह दिव्य दृष्टि क्या है तथापि गीतामें अनेक स्थानोंपर दिव्य दृष्टिकी प्रशंसा की है। इन स्थानोंमें गी. अ. ७ वें ७-११ ये श्लोक विशेष महत्त्वके हैं। यहां दिव्य दृष्टि क्या है यह विस्तारपूर्वक कहा है। दिव्य दृष्टि दिव्य चक्षु दिव्य नेत्र सुदीप ये सब शब्द इसी दिव्य ज्ञानके बोधक हैं। इससे विपरीत जो ज्ञान है वह अज्ञान है।

'पंचतत्त्व विवेक'—प्रश्न हो सकता है कि इतने विभिन्न पदार्थोंमें एक अखंड सत्ता कहाँ और कैसे रहती है। इसका निश्चय करनेके लिये पंचमहाभूत कहाँ हैं और कहाँ नहीं हैं इसका विचार करना चाहिये। हमारी नाकसे गन्धका ग्रहण होता है और उससे पृथ्वीका पता लगता है। नाकसे गन्धका ग्रहण करनेपर पता लगेगा कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ किसी प्रकारका गन्ध न हो। रसनासे रसका ग्रहण होता है। रसनाद्वारा रसका ग्रहण करनेपर जहाँ रस न हो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा। आँखसे रूपका ग्रहण होता है। जहाँ दृष्टि जावेगी वहाँ रूपकी प्रत्यक्षता होगीही। यह महत्त्वकी बात है। यह सिद्धान्त है कि विश्वभरमें ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ रूपका दर्शन नहीं होता है। लोग कहेंगे कि दो पदार्थोंके बीचमें जो अवकाश है वहाँ रूपका दर्शन नहीं होता। परन्तु यह गलत है। दो पदार्थोंके रूपोंके मध्यमें किसी न किसीका रूप अवश्य है। रूप सर्वत्र ऐसा एक दूसरेसे इतना चिपका है कि एक अणुरेणुके बराबर भी जगह बीचमें बाकी नहीं है। इसी तरह एकही व्यापक तत्त्व है जिसका रूप सर्वत्र अनुभवमें आ रहा है। त्वचासे स्पर्शगुणका अनुभव होता है। कौनसा ऐसा स्थान है कि जहाँ स्पर्शका अनुभव नहीं होता? एक रत्ती जितना भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा कि जहाँ स्पर्शका अनुभव न हो। इस तरह सर्वत्र अखंड स्पर्श है। आकाश तो सर्वव्यापकही है और उसका गुण सर्वत्र है, इसीलिये सर्वत्र शब्द होता है और होतेही अनुभवमें आता है।

इसी तरह सर्वत्र और सर्वोचित रीतिसे शब्द स्पर्श रूप रस गंधका अनुभव आता है। एक सुईके अग्रके जितना भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ इन पाँचोंका अनुभव न आता हो।

लोग कहेंगे कि ये पंचमहाभूत सर्वत्र हैं इसलिये शब्द स्पर्शादिका सर्वत्र अनुभव आता है। इसमें विवेक इस बातका करना है कि हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्दादि पाँच गुणोंका ग्रहण कर सकती हैं। ये इंद्रियाँ गुणोंकाही ग्रहण करती हैं पदार्थका ग्रहण नहीं कर सकतीं। इसलिये पाँच गुणोंका ग्रहण होनेसे इस बातका निश्चय नहीं हो सकता कि पाँच गुणोंके धारण करनेवाले पाँच तत्त्व वास्तव भिन्न और अलग अलग हैं अथवा एकही तत्त्व उसके साथ इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका संबंध होनेपर पाँच गुणोंका भास होता है।

पाँच अन्धे हाथी देखने गये। जो अन्धा पाँवके पास पहुँचा उसको हाथी खंभा जैसा प्रतीत हुआ। दूसरा अन्धा कानके पास पहुँचा उसको सूप (छाज) जैसा प्रतीत हुआ। तीसरा सूँडके पास गया उसको साँप जैसा प्रतीत हुआ। चौथा पूँछके पास गया, उसको झाडूके समान दिखाई दिया और पाँचवाँ पेटके पास गया, उसको कपासकी बड़ीभारी बोरी जैसा प्रतीत हुआ। पाँचोंका अनुभव सत्य है परन्तु एकही अखंड वस्तु पाँचोंको पाँच प्रकार प्रतीत हुआ यह भी उतनाही सत्य है। इन पाँचों अंधोंमें प्रत्येकका अनुभव सत्य है इसलिये हाथीके स्वरूपके विषयमें बड़ा झगड़ा होगा, प्रत्येक दूसरोंका खंडन करेगा यह सब सत्य है परन्तु जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है वह कहेगा कि वस्तु तो एकही है यह पाँच प्रकारका अनुभव आंशिक अनुभव है पूर्ण अनुभव नहीं है। हमारी इंद्रियोंके अनुभव भी ऐसेही हैं।

मन की साक्षी—मनके विषयमें देखा तो उसको पाँच पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हुए। सत्त्व रज और तम ये तीन प्रकारका अनुभवही उसका प्रत्यक्ष हुआ। केवल विचार मनन करनेसे मनको कई पदार्थ सुख देनेवाले अर्थात् सात्त्विक दीखते हैं कई दुःख देनेवाले अर्थात् तामसी नजर आते हैं और कई मिश्रित मध्यम अर्थात् सुखदुःख देनेवाले दिखाई देते हैं। अतः मनमें अपनी साक्षीमें कहा है कि विश्वमें पाँच पदार्थ नहीं हैं अपितु कुछ सुखमय हैं कुछ दुःखमय हैं और कुछ मध्यमसी अवस्थाके हैं जिनके क्रमशः नाम सत्त्व (सुख) रज (मध्यम) तम (दुःख) हैं। इनकी परिभाषा भिन्न विचारकोंने भिन्न प्रकार की है—

सत्त्व	रज	तम
सुख	सुखदुःखमिश्र	दुःख
ज्ञान	कर्म	अज्ञान
सुर	सुरासुर	असुर
मधुरता	तीक्ष्णता	गतरसता
पवित्र	मेध्यामेध्य	अपवित्र
अनासक्ति	पक्षासक्ति	जडता

इस तरह मनके माध्यमद्वारा संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका प्रतीत होता है। अतः मन कहता है कि विश्व पांच प्रकार का नहीं है अपितु तीन प्रकारका है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्धमें भी मनने सुख दुःख और मिश्रित भावही देखे। अर्थात् सुखदायी शब्द दुःखदायी शब्द और मध्यम शब्द इसी तरह स्पर्शरूपादिके विषयमें भी समझना चाहिये। इस तरह मनका अनुभव होनेसे विश्व पांच प्रकारका (पञ्च भूतात्मक) है ऐसा जो इन्द्रियोंका अनुभव था वह अनुभव दूर होकर संपूर्ण विश्व तीन प्रकारका-सत्त्वरजस्तमात्मक (त्रिगुणरूप) प्रतीत होने लगा। यहां भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन तीन गुणोंके पीछे तीन पदार्थ हैं अथवा एकही पदार्थमें ये तीन गुण हैं जो विभिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं? जैसे मिश्री दूधके साथ खानेसे सात्विक मक्खनके साथ खानेसे राजस और वैसेही खानेसे तामस प्रतीत होती है इसी तरह प्रत्येक पदार्थ तीन गुणोंको प्रगट कर सकता है। यदि यह सत्य है तो इन तीनों गुणोंको प्रगट करनेवाला एकही पदार्थ है वह भी विभिन्नही है। अतः इधर और अधिक खोज करनी चाहिये। मनकी दृष्टिसे विश्वमें तीनही अनुभव हैं।

बुद्धिकी साक्षी— इसके पश्चात् हमारे पास बुद्धि है। बुद्धिको कुछ जड और कुछ चेतन ऐसा द्विविध जगत् प्रतीत हुआ। बुद्धि कहने लगी कि कुल विश्व द्विविध है जिसका ज्ञानकार ये नाम देते हैं—

जड	चेतन
प्रकृति	पुरुष
साकार	निराकार
रयि	प्राण
मूर्त	अमूर्त
स्थूल	सूक्ष्म
अचेतन	सचेतन
प्रकृति	जीव
क्षर	अक्षर
व्यय	अव्यय
व्यक्ति	अव्यक्ति

इस तरह बुद्धिने विश्वका निरीक्षण किया। बुद्धि अंतमें असमंजसमें पड गयी और इसने निश्चय किया कि यहां केवल दोही पदार्थ हैं जो मनको त्रिविध प्रतीत हुए और ज्ञानेन्द्रियोंको पंचविध प्रतीत हुए। वस्तुतः ये दोही हैं। फिर यहां यही प्रश्न आता है कि ये दो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं अथवा ये एकही सद्वस्तुके विभिन्न पहलू हैं? बुद्धि इसका निश्चय नहीं कर सकती।

आत्माकी साक्षी—इसके पश्चात् अहंकार (अर्थात् अहं का अनुभव = मैंपनका अनुभव) आगे बढा। यही मैं कहनेवाला आत्मा है। विश्वभरमें इसे सर्वत्र एकही अहंकार फैला हुआ प्रतीत हुआ। प्रत्येक पदार्थ कहता है कि मैं हूं। इसके अतिरिक्त आत्मा देखने लगा कि जब मैं जागता हूं तबही विश्व दीखता है और मैं सोता हूं तो विश्व भी लीन हो जाता है। मेरे देखनेपर विश्वका अस्तित्व है। आत्मा ज्ञाता है और विश्व ज्ञेय है। ज्ञाताके बिना ज्ञेयका अस्तित्व कहां है? मेरा अपना अस्तित्व पहिले है और मेरे देखनेपरही विश्वका अस्तित्व ज्ञात होता है। अतः यह विश्व मेरे ज्ञान पर आश्रित है। जो मेरे ज्ञानमें है वह मुझसे भिन्न कहां है? अतः आत्माने कहा कि एकही अहं भाव सर्वत्र है अर्थात् मैंही यह सब कुछ हूं मुझसे भिन्न यह विश्व नहीं है।

यहां निश्चय हुआ जो अहं भावका तत्त्व सर्वत्र है उसका अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियोंको पांच प्रकारसे हुआ उसी का अनुभव मनको तीन प्रकारसे हुआ और बुद्धिको दो प्रकारसे। परन्तु वस्तुतः वह एकही वस्तु है। उसका एक ओरसे देखनेसे क्षर भाव दिखाई देता है और दूसरी ओरसे देखनेसे अक्षर भाव देखा जाता है परन्तु वह वस्तु क्षराक्षर होनेसे केवल क्षर भी नहीं और केवल अक्षर भी नहीं, वह केवल क्षरसे भी श्रेष्ठ और केवल अक्षरसे भी श्रेष्ठ है अतः इसको पुरुषोत्तम कहते हैं। अत कहा है—

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(भ. गी. अ. १५।१६-१८)

इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं । मूल माल क्षर पुरुष है और उसके अन्तर्यामी पुरुषको अक्षर कहते हैं । उत्तम पुरुष अन्य है जिसको परमात्मा कहते हैं । जो तीनों लोकोंको धारण करता है वह ईश्वरही परमात्मा है क्योंकि वह क्षरसे पर है और अक्षरसे भी उत्तम है इसलिये वह लोकोंमें और वेदोंमें पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध हुआ है ।

यहां प्रश्न हो सकता है कि पुरुषको एक बतलाया गया है, दो भी और तीन भी ? साधारणतः लोग यहां तीन पुरुषोंका वर्णन है ऐसा मानते हैं । परन्तु यह कल्पना अशुद्ध है । बुद्धिके द्वारा विचारमें क्षर और अक्षर दोनों भाव प्रतीत होते हैं । परंतु परमात्मस्वरूप पुरुषोत्तम होनेसे वह क्षरभी है और अक्षर भी है । ये दोनों भाव पुरुषोत्तममें हैं इसलिये वह क्षरसे भी उत्तर और अक्षरसे भी श्रेष्ठ है । अर्थात् उसमें ये दोनों भाव लीन हैं इस तरह केवल पुरुषोत्तम एकही है ।

जैसे कोई एक मनुष्य शरीरभावसे क्षर है आत्मिक भावसे अक्षर है परंतु ये दोनों भाव मनुष्यके रूपमें मिले हुये हैं इसलिये मनुष्य क्षराक्षर-विलक्षण पुरुषोत्तम है । वह मनुष्य केवल क्षर शरीरसे परे है क्योंकि उसमें क्षर शरीरके साथ अक्षर आत्मा भी है । और वह केवल अक्षर आत्मासे भी उत्तम है क्योंकि इसके पास कर्तव्यपुरुषार्थक्षम शरीर भी है । अतः केवल शरीरसे और केवल आत्मासे शरीर और आत्मा मिलकर होनेवाला यह मनुष्य विशेषतर श्रेष्ठ है । यहां स्पष्ट है कि क्षर पुरुष अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम ये कल्पनायें तीन हैं परंतु वस्तु एकही है । पहलुओंके रूपमें इनमें भेद है परंतु वस्तुरूपमें अभेदही है ।

इस बातको समझानेके लिये हम आमका उदाहरण लेते हैं । आमका स्थूल आकार जो आंखको दिखाई देता है वह क्षर भाव लिया क्षर पुरुष है । उसके रसमें जो मिठास है जो आमके टुकड़े होनेपर भी नहीं टूटता वह अक्षर भाव लिया अक्षर पुरुष है । वह अक्षर आंखोंसे नहीं दीखता परंतु अनुभवमें आता है । इन क्षरसे परे और इस अक्षरसे उत्तम जो उत्तम पुरुष है उसकोही आम कहते हैं क्योंकि इसमें क्षर और अक्षरका पूर्ण रूप हुआ है । अतः जो केवल क्षरमें नहीं और जो केवल अक्षरमें नहीं वह सब इस पुरुषोत्तममें है । यहां पाठक देख सकते हैं कि क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम ये कल्पनायें तीन हैं परंतु एकही वस्तुमें ये तीनों कल्पनाएँ अधिष्ठित हैं, उस वस्तुसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है । एकही वस्तुपर ये तीनों कल्पनायें इसलिये की गई हैं कि साधकोंको अब एक सद्वस्तुकी यथायोग्य कल्पना हो जावे और वे उसकी योग्य उपासना करके आनन्दके साथ अपने आपको कृतकृत्य समझें ।

यही दिव्य दृष्टि है इसीको दिव्य चक्षु कहते हैं । इसीसे ज्ञात होता है कि अनेक विभिन्न तत्व एक तत्वमें कैसे लीन होते हैं । प्रथमतः अर्जुन इस जगत्‌में प्रत्येक पदार्थ अलग अलग एकदूसरेसे विभिन्न देख रहा था इस ज्ञानके कारण उसको भ्रम हुआ कि मैं मारनेवाला हूं और ये लोग मरनेवाले हैं । इस भ्रमके कारण उसको शोक तथा मोह हुआ । इस भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन को दिव्य दृष्टिका उपदेश (गी० अ० ७।४-११ इन श्लोकोंमें) किया और बताया कि यहां इस विश्वमें अलग कुछ नहीं है परन्तु संपूर्ण अखंड एकरस एकही तत्व है ।

आत्मासे त्रिगुणोंकी उत्पत्ति

प्रायः लोग मानते हैं कि सात्त्विक भाव आत्मासे उत्पन्न होते हैं परन्तु वे यह माननेको तैयार नहीं होते कि आत्मासे तामस भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं । इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि-

> ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
> मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥
> (गी० ७।१२)

सात्त्विक राजस और तामस भाव परमात्मासेही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि जब वह अखंड एकरस परमात्मा ही सब कुछ है तब किस दूसरेसे तामस भावकी उत्पत्ति हो सकती है ? इसी उद्देश्यसे पहले भी कहा है-

> प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्ने संद्रावयत्यजा ।
> मामंशाङ्गुणो मंत्रोध कस्माद्धहति पूरुषः ॥ १ ॥
> मार्तिस्पर्शितिर्मिकोति कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
> रात्रिः समृद्धिरम्युद्धिर्मथितज्ञितया कृता ॥ २ ॥

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः
कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥
वर्चो को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्ज्योतिम् १५
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत्को वाचं को नृतो दधौ १७
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गोऽज्योतिषावृतः ॥ ३१
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
(अथर्ववेद १०।२)

प्रिय और अप्रिय निद्रा बाधाएं और थकावटें आनन्द और हर्ष ये सब मनुष्यको कैसे प्राप्त होते हैं? पीड़ा दरिद्रता बीमारी कुमति मनुष्यमें कैसे होती है? एवं समृद्धि अदीनता बुद्धि और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है? मनुष्यमें यज्ञ सत्य असत्य मृत्यु अमरत्व कैसे होता है तथा वाक् और तेज मनुष्यमें कैसे उत्पन्न होते हैं? मेधाबुद्धि वाणी और नृत्य कैसे होते हैं? इन सब प्रश्नोंका उत्तर यही है कि आठ चक्र और नौ द्वारोंवाली इस शरीररूपी अयोध्या नामक देवनगरीके मध्यमें एक तेजस्वी कोश है जो तेजोमय स्वर्गधाम है। इस कोशमें आत्मवान् यक्ष रहता है और इसको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। इसीसे सत्य और अनृत सब कुछ होता है।

सब कुछ इसी यक्षसे अथवा आत्मासे होता है। यही भाव भगवद्गीतामें यह अन्यप्रकारसे बताया है—

भगवद्गीता	अथर्ववेद
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि	मेधां अस्मिन्नध्यौहत्
(गीता ७।१०)	(अ १०।२।१७)
बलं बलवतामस्मि	बलं अस्मै प्रायच्छत्
(गीता ७।११)	(अ १०।२।१७)
सात्त्विका राजसास्तामसाश्च भावा मत्त एव	आनन्द हर्ष तन्द्रय (अ १०।२।९)
(गी ७।१२)	

इस तरह वेदका कथन भगवद्गीतामें कैसा प्रतिबिंबित हुआ है यह देखने योग्य है। आनन्द और दुःख उन्नति और अवनति प्रिय और अप्रिय अमृत और मृत्यु सत्य और अनृत समृद्धि और दरिद्रता मति और कुमति ये सब भाव यक्षसे एक आत्मासे होते हैं, जो मनुष्यके हृदयमें रहता है। ये भाव निःसंदेह परस्परविरुद्ध हैं तथापि इनके कारण अनेक नहीं हैं, पर सबका एकही कारण है। जैसे जागृति और निद्रा आत्मासेही होते हैं वैसेही ये सब भाव भी इसी आत्मासे होते हैं। इसीलिये वेदज्ञानानुकूल भगवद्गीतामें कहा है कि सात्त्विक राजस और तामस भाव इसी आत्मासे होते हैं। परंतु इनके उत्पन्न होनेके पश्चात् इनमें फंसनेवालोंको ये बाधाएं अवश्य पहुंचाते हैं।

जैसे एक स्त्रीमें एकही वीर्यबिन्दुसे शरीरके सप्त धातु उत्पन्न होते हैं और शरीरके विविध अवयव उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सबकी उत्पत्ति एकही कारणसे है तथापि विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होनेके पश्चात् उनके विविध धर्म उत्पन्न होकर उनके आधीनही मनुष्यको रहना पड़ता है। इसलिये कहा है कि—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(गी ७।१३)

सत्त्व रज और तम इन गुणोंसे मोहित हुआ यह जगत् परमात्माके भावको नहीं पहचान पाता। क्योंकि जगत्की प्रवृत्ति बाहरकी ओर होती है। मनुष्यके शरीरमें बाह्य और भीतर अचेतन-सा है और इधर शरीर सचेतन-सा है परन्तु इन दोनों अचेतन और चेतनका मूल कारण एकही है। प्राय मनुष्य अचेतन और चेतन भावोंको देखता है परन्तु उनके मूल कारणको नहीं देख सकता। यह मानवका अज्ञान है।

स्थूलदृष्टिवाले मनुष्य स्थूलकोही देख सकते हैं वे सूक्ष्मकी ओर देख नहीं पाते। फिर परमात्माकी उपासना कौन करता है? ऐसी शंका होती है उसकी निवृत्ति करनेके लिये उपासकोंके चार विभाग बताये हैं—

चतुर्विध भक्त

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गी ७।१६)

'दुःखोंसे पीड़ित लोगोंका नाश करनेके लिये आतुर तत्त्वजिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकारके भक्त अपने विविध उद्देशोंसे ईश्वरकी उपासना करते हैं। जब बहुत दुःख

सताने लगते हैं, तब दुःखी मनुष्य ईश्वर-उपासना करता है। प्रायः इस वर्गमें आनेवाले बहुत लोग हैं। जबतक शरीर सुदृढ़ और नीरोग है धन विपुल है जगमें सुख चमेन्द है, तब तक परमेश्वरका विचारतक नहीं करेंगे परन्तु जब एकके पीछे एक आपत्ति आने लगेगी और भौतिक साधनोंकी समाप्ति हो जायगी तब वे आर्त होकर परमेश्वरोपासना करेंगे। दूसरे लोग भोगार्थी हैं, उनको भोग चाहिये इसलिये वे उपासना करते हैं। तीसरे जिज्ञासु हैं वे लोग तत्त्वजिज्ञासाभावसे ईश्वरकी ओर झुकते हैं। चौथे ज्ञानी लोग ये बहुतही थोड़े होते हैं इनको सत्य तत्त्व ज्ञान होनेसे वेही नित्यसे अनन्य होकर ईश्वरभक्ति करते हैं।

अन्तमें इन ज्ञानियोंको (वासुदेवः सर्वं। गी. ७।१९) परमात्माही सब कुछ है यह अनुभव दिव्यचक्षुद्वारा होता है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया है। इस प्रकार इनका सर्वत्र एकही सम तत्त्व है (नेह नानास्ति किंचन। बृ. उ.) यह बात स्पष्ट होती है। जब ऐसा ज्ञान होता है उसी समय वे अनन्य (न+अन्य। अनन्यः) होते हैं और परमेश्वरकी भक्ति करते हैं।

जो विभक्त नहीं होते वेही भक्त हुआ करते हैं। जो परमेश्वरके रूपमें अभिन्नतासे संमिलित हो जाते हैं वेही अनन्य होकर भक्ति कर सकते हैं। जो अन्य न रहे वे अनन्य भक्त हो सकते हैं। अतः वासुदेवही सब कुछ है यही अन्तिम ज्ञान है। यह जिसको हो गया उसके और व्यापक तत्त्वके कुछ भी व्यवहित नहीं रहता। इसलिये भगवद्गीतामें इन लोगोंका (सुदुर्लभः महात्मा) अत्यन्त दुर्लभ महान् आत्मा ऐसा कहा है। यह अवस्था प्राप्त होनेतक आत्मा अलग रहता है इसलिये मैं अलग और दूसरे अलग हैं ऐसा भान होता है। परंतु एकबार आत्माके महान् विभूत हो जानेपर फिर कोई दूसरा रहताही नहीं तब वह अनन्य हो जाता है। फिर उसको शोक और मोह कहाँसे हो सकते हैं?

तनु-भक्ति

जो इस प्रकार अनन्य ज्ञानी नहीं हुए, वे अन्य होकर रहते हैं अर्थात् वे समझते हैं कि उपास्य देव भिन्न है और उनसे मैं भिन्न हूं। इस प्रकारके लोग अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं (प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः) अन्यान्य देवताओंकी शरण जाते हैं।

इसको तनु-भक्ति कहा जाता है। अर्थात् यह अल्प भक्ति है। क्योंकि जितने अन्य शरीर हैं वे सब 'तनु' हैं और तनु-भक्ति बिलकुल स्थूलकी भक्ति है। इससे भेद चेतनकी भक्ति है और पुरुषोत्तमही सब कुछ है ऐसा जानकर अनन्य भावसे पुरुषोत्तमकी भक्ति करना इससे भी भेद है।

तनुभक्तिमें मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजा सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त प्रेतपूजा, पितृपूजा, विभूतिपूजा वीरपूजा आदि पूजायें इसी तनुभक्तिमें आती हैं। वासुदेव सर्व है ऐसा ज्ञान हो जानेपर सभी मूर्तियां परमेश्वरकी मूर्तियां हो जाती हैं अतः इस सर्वोत्पत्तिकी दृष्टिसे मूर्तिपूजामें कोई दोष नहीं है। क्योंकि वेद भी कहता है कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ. ६।४७।१८)

इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करता है इसलिये ये सब रूप परमेश्वरके—इन्द्रकेही हैं दूसरे किसीके नहीं हैं। अतः रूपके आश्रयसे की हुई उपासना अयोग्य नहीं है। परन्तु परमात्माके स्थानपर किसी प्रतिमाकी उपासना करना यह वेदने सदोष बताया है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
(वा. य. ३२।३)

उस ईश्वरकी कोई प्रतिमा नहीं हो सकती जिसका यह महा यश है। पाठक इस तरह मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजामें जो भेद है उसका विचार करें। जो मूर्तियां विश्वमें हैं वे सभी परमेश्वरकी हैं परन्तु उसकी एक भी प्रतिमा नहीं है। इसके अनंतर प्रेतपूजा या कबरपूजा है यह भी मृतोंको भूमिमें गाड़कर उस स्थानकी पूजा होती है। यह निरा अज्ञान है। क्योंकि वह तो बिलकुल अर्थहीन बात है। उसके कुछ ऊंचाईपर पितृपूजकोंका स्थान है, वे पितरोंके घर मानकी पूजा तो नहीं करते अपितु उनके अमर भावका सत्कार करते हैं। प्रेतपूजकोंको अमरकी कल्पनातक नहीं होती। केवल स्थूल शरीरके अन्दर कुछ केवल अमर भाव है इसकी कल्पना हो जायगी तो वहाँ तक पहुँचती लोगोंकी नहीं। प्रेतपूजकोंका तत्त्वज्ञान स्थूल शरीर तकही है और वे प्रेतपूजक समझते हैं कि यह शरीर

शरीर है जो पहिला और अन्तिम है। इसलिये वे समझते हैं कि *ईश्वर जब न्याय करेगा, उस दिन वे सब प्रेत कबरों* मेंसे उठकर खडे हो जीवित और उस समय उनके पाप पुण्योंका निर्णय होगा। यह तत्त्वज्ञान अब कोई मान नहीं सकता। अब तो इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले भी इसे हेय समझने लग हैं।

पितृपूजकोंका तत्त्वज्ञान इससे थोडा ऊंचा है। वे मानते हैं कि स्थूल देहके पीछे कुछ सूक्ष्म चेतन अविनाशी तत्त्व है जो इस स्थूल शरीरके नाशके पश्चात् भी रहते हैं। इनकी खोज कुछ अधिक है। तथापि यह उपासना भी अज्ञानकीही द्योतक है। इसके ऊपर विभूतिपूजा और वीरपूजाका स्थान है और सबसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम के पूजकों का तेजस्वी स्थान है।

सभी मूर्तियां पुरुषोत्तमकी हैं, इसलिये हरएक उपासक को कुछ न कुछ फल प्राप्त होताही है। जैसे कि जो सिपाही से मित्रता करेगा उसको सिपाही थोडासा काम पहुंचा देगा; जो दीवानजीका मित्र बनेगा उसका उससे अधिक काम होगा, परन्तु जो राजाका सखा बनकर रहेगा उसको सब प्रकारका सुख प्राप्त होगा। जैसे यहां सब शक्ति राजासे आती है वैसेही सब देवताओंके अन्दर अंशरूप शक्ति परमेश्वरसेही आती है। इसलिये अन्य देवताओंके उपासकों को अल्प लाभ (अन्तवत्फल) होता है और पुरुषोत्तमके भक्तोंको अनन्त लाभ होता है।

इस पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है और उसकी भक्ति साधना किसप्रकार करनी चाहिये इस सम्बन्धका पूर्ण विचार ११ वें अध्यायमें होगा। तथापि संक्षेपसे यहां इतना कहना पर्याप्त है कि प्राणिमात्र तथा स्थिरचर पदार्थोंको नारायण पुरुषोत्तमका रूप मानकर अपने आपको भी उसीमें संमिलित करनेके पश्चात् मैं उससे भिन्न नहीं ऐसा भाव जब उत्पन्न हो जायगा तब होनेवाला आचरण यथायोग्यही होगा यह मानवीय उन्नतिकी पूर्णावस्था है। यही नरका नारायण और पुरुषका पुरुषोत्तम हो जाना है। इस विषयका विशेष विवरण ग्यारहवें अध्यायमें अत्यन्त विस्तारपूर्वक बतलाकर स्पष्ट रूपसे किया जायगा।

जबतक वासुदेवही यह सब कुछ है ऐसा निश्चय नहीं होता है तबतक मनुष्य क्षुद्र देवताओंकी उपासनामें फंसा रहता है।

द्वन्द्वमोह

जबतक 'वासुदेवही सब कुछ है', इसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता अर्थात् जबतक यहां वासुदेवही एक सद्वस्तु है इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसा निश्चय नहीं होता तबतक मनुष्य द्वैतभाव अर्थात् द्वन्द्वभावमें फंसा रहता है। मैं और मेरा तू और तेरा यह और उसका यह सब द्वन्द्वकाही व्यवहार है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत्का व्यवहार चल रहा है और अनेक झगडे इसी कारण चल रहे हैं। इस जगत्में मनुष्य मैं और मुझसे भिन्न दूसरा ऐसे दो पदार्थ मान बैठा है। वह दूसरोंको लूटकर अपना सुख बढाना चाहता है। जबतक द्वैत रहेगा तबतक यह लूटमार रहेगीही। यही द्वन्द्वमोह है। सभी लोग इस द्वन्द्वमोहमें फंसे हैं।

राष्ट्रोंके युद्ध चल रहे हैं, राष्ट्रोंके अन्तर्गत पक्षविपक्ष बने हुए हैं और एक दूसरेका नाश करना चाहते हैं दूसरों का नाश करके अपनी उन्नति होगी ऐसा विचार ये करते हैं कहीं धनके लिये युद्ध चल रहे हैं, कहीं भूमिके लिये कलह हो रही हैं तो कहीं व्यापारव्यवहार अपने आधीन करनेके लिये झगडे हो रहे हैं, यह सब इस द्वन्द्वमोहके कारणही है।

न्यायालयोंमें जाकर प्रतिपक्षीको दबानेके लिये वकीलोंको धन दिया जाता है और अपने भाईका नाश हुआ मैं जीत गया यह आनंदका विषय होता है। व्यापारमें दूसरोंका नुकसान करके अपना लाभ साधनेका यत्न किया जाता है। जिसके पास ज्ञान है वह ज्ञानके बलसे जिसके पास अधिकार है वह अधिकारके बलसे जिसके पास धन है वह धनके बलसे और जिसके पास कला है वह कलाके बलसे दूसरोंका नाश करके अपनी उन्नति करना चाहता है। हर एक राष्ट्रमें इस समय यही बातें चल रही हैं। सब मनुष्य

(इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन संमोहं यान्ति)

इच्छाद्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वमोहसे संमोहको प्राप्त हुए हैं। प्रायः सभी लोग इस मोहमें फंसे हैं। जबतक वे ऐसे द्वन्द्व मोहमें फंसे रहेंगे तबतक वे झगडे मिटनेकी और मानव जातिको शान्ति प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। दिन प्रति दिन झगडे बढते चले जा रहे हैं अशान्ति फैल रही है इसमें एक मारक बार महामारक [illegible] तैयार किये जा रहे

हैं। यह क्यों हो रहा है? उत्तर केवल यही है कि मनुष्य द्वन्द्वमोहमें फँसा हुआ है।

यह द्वन्द्वमोहही पापका मूल कारण है। इस जगत्में जितने भी पाप हुए हैं वे सबके सब इस द्वन्द्वमोहके कारणही हैं। इसीलिये कहा है कि—

पुण्यकर्मणां जनानां पाप अन्तगतं।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः मां भजन्ते। (गी ७।२८)

द्वन्द्वमोहसे मुक्त पुण्यकर्मी मनुष्योंका पाप नष्ट हो जाता है और वे ही परमेश्वरकी भक्ति करते हैं। यहां स्पष्टतया कहा है कि इस द्वन्द्वमोहके दूर जानेपर पाप नष्ट हो जाते हैं और जबतक द्वन्द्वमोह रहेगा तबतक पाप होतेही रहेंगे और दुःख बढ़तेही जायेंगे। अतः जगत्से सब दुःखोंका निर्मूलन करनेका एकमात्र उपाय यह है कि लोगोंको सत्य ज्ञान देकर उनका द्वन्द्वमोह दूर किया जावे।

द्वन्द्वमोहरहित राज्यशासन

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि जैसा आजकल सर्वत्र द्वन्द्वमोहसे ही मानवीय व्यवहार चल रहा है संपूर्ण राष्ट्रोंका राज्यशासन द्वन्द्वमोहसे चल रहा है वैसेही द्वन्द्वमोहरहित मानवीय व्यवहार और राज्यशासन होना संभव भी है या नहीं? इसके उत्तरमें निवेदन है कि सभी धर्मग्रंथोंमें जहां जहां सत्य युगका वर्णन है वह सबका सब द्वन्द्वमोहरहित समाजवादी वर्णन है। हमारा तो यह विश्वास प्रतिदिन बढ़ता जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णका अवतारही इसलिये हुआ था कि कौरवोंका द्वन्द्वमोहमय दुष्टतावादी राज्यशासन का नाश करके द्वन्द्वमोहरहित सुखदायी धर्मका राज्यशासन शुरू किया जाय। यह कार्य कुछ अंशतः हुआ परन्तु भगवान् श्रीकृष्णका उद्देश आगे किसीने पालन नहीं किया। वस्तुतः भगवद्गीता इसी द्वन्द्वमोहरहित राज्यशासन-प्रणाली का तत्त्व दर्शानेवाला ग्रंथ है और जिस समय इस ग्रंथमें बताये मार्गपरसे जनता अनुसरण करेगी उसी समय मनुष्योंको सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। अस्तु। इस समय हमें द्वन्द्वमोहमयी और द्वन्द्वमोहरहित राज्यशासन प्रणालियोंकी तुलना यहां नहीं करनी है। केवल इस संबंध का इतनाही विचार यहां कह दिया है जिसपर अधिक विचार किया जा सकता है।

द्वन्द्व का अर्थ है युद्ध अथवा झगड़े। युद्ध करके मैं दुर्बलोंका नाश करूंगा और उनकी संपत्ति छीनकर सुख भोगूंगा इस प्रकारकी मनःप्रवृत्ति द्वन्द्व देती है। यही दुःखका और पापका कारण है। संपूर्ण जनता इस प्रवृत्तिमें फँसी है इस कारण जित और जेता ये दोनों दुःख भोग रहे हैं। यह द्वन्द्वमोह अर्थात् युद्धके द्वारा दुर्बलोंका नाश करके सुख भोगनेका मोह जब दूर होगा तभी सुख-का प्रकाश दिखाई देगा। इसीलिये (द्वन्द्वमोहविमुक्ताः) द्वन्द्वमोहसे छूटे लोगोंको पुण्यकर्मा कहा है और यह सत्य भी है।

भगवान् श्रीकृष्णका उद्देश यह था कि मनुष्य-समाज सुखी बने। श्रीमद्भगवद्गीता आजकल वैयक्तिक आत्मो-न्नतिका ग्रंथ समझा जाता है परन्तु यह नितान्त भ्रम-युक्त विचार है। संक्षेपमें भगवद्गीता मनुष्यको व्यावहारिक ज्ञान सिखाती है। मनुष्य किस दृष्टिसे और किस प्रकार समाजमें व्यवहार करें यह गीताके उपदेशसे ज्ञात होता है। सामाजिक स्वास्थ्यके लिये गीताके उपदेश बहुतही महत्त्व पूर्ण हैं। जब क्रियात्मक रूपमें समाज गीताके तत्त्वोंको व्यवहारमें लावेगा उस समय सब दुःख-द्वन्द्वोंकी दुरवस्था चली जायगी।

दुःखमोचन

मनुष्यको दुःखसे मुक्त होनेके लिये यत्न करना चाहिये (जरा-मरण मोक्षाय यतन्ति) वृद्धावस्था भी एक दुःख है। चिन्तासे अकालमें जरा आती है। आजकल जीवनयुद्धके कारण मानवकी चिन्ता बढ़ रही है और अकाल मेंही वृद्धावस्था आ जाती है। यदि मनुष्य द्वन्द्वमोहसे मुक्त रहेगा तो उसकी चिन्ता दूर होगी और जरा भी दूर होगी। मृत्यु भी अधिक मनुष्यको कष्ट देती है क्योंकि मनुष्यके ऊपर युद्धका बहुत बड़ा भार पड़ता है। यदि द्वन्द्वमोहके हटनेसे यह भार दूर हो जाय तो मृत्यु भी इतने कष्ट नहीं देगी। अन्यान्य दुःख भी मनुष्यको इसी कारण हो रहे हैं। द्वन्द्वमोह दूर होनेके कारण वे भी निर्मूल हो जायेंगे। भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वज्ञानका (मां आश्रित्य) आश्रय करके जो समाज अपना व्यवहार करेगा, वह समाज संपूर्ण दुःखोंको दूर कर देगा, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

इस द्वन्द्वमोहरहित तत्त्वज्ञानके ब्रह्मविषय अध्यात्म विषय कर्मविषय अधिभूतविषय आधिदैवतविषय और अधियज्ञविषय ये महत्त्वपूर्ण तत्त्वविभाग हैं, जो साधकको अवश्य जानने चाहिये। इससे मनुष्यको अपने कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय हो सकता है। इनका विवरण अगले अध्यायमें किया गया है।

सप्तम अध्यायका मनन समाप्त ॥

सप्तम अध्यायके सुभाषित

(१) उन्नतिका यत्न

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि…कश्चित् वेत्ति तत्त्वतः॥
(भ. गी. ७।३)

सहस्रों मनुष्योंमें क्वचित कोई विरलाही उसकी उन्नति के लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी क्वचित् कोई निश्चित रीतिसे (अंतिम ध्येय) प्राप्त पाता है। मनुष्य कुछ न कुछ करते तो रहते हैं परन्तु निश्चित ध्येयका प्राप्त करके योग्य मार्गसे जानेवाले दुर्लभ हैं।

(२) मायाको पार करना

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(भ. गी. ७।१४)

जो शुद्ध ईश्वरकी शरणमें जाते हैं, वे इस मायाके पार हो जाते हैं। सभी ईश्वरभक्तिसे कठिनता दूर होती है परन्तु जो अहंकारवश होकर ईश्वरभक्ति नहीं करते वे दुःखकी वृद्धि करते हैं।

(३) कौन ईश्वरभक्ति नहीं करते?

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(भ. गी. ७।१५)

दुराचारी नीच मूढ मोहित-भ्रान्तचित्त और आसुरी वृत्तिके लोग ईश्वरभक्ति नहीं करते। वे अपने भोगोंमें वृद्धि करके दुःख भोगते हैं।

(४) एकनिष्ठाका महत्त्व

एकभक्तिर्विशिष्यते। (भ. गी. ७।१७)

एकनिष्ठासे कार्य करनेवाला सबसे श्रेष्ठ है। चंचल वृत्तिसे कार्य करनेवालेको यश नहीं मिल सकता।

(५) अल्पबुद्धिके लिये अल्प फल

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
(भ. गी. ७।२३)

अल्पबुद्धिवाले लोग जो कुछ करते हैं, उनको नाशवान् अल्प फल मिलता है। विशेष बुद्धिके बिना महत्ता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये बुद्धि सुसंस्कृत और विशाल बनानी चाहिये।

(६) मोहका कारण

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
(भ. गी. ७।२७)

इच्छाद्वेषके कारण सुखदुःखादि द्वन्द्व होते हैं और इसीसे सब लोग मोहित रहते हैं। यही अज्ञान और दुःखका कारण है। जो सुख चाहता है वह इस दुःख हेतुसे दूर रहे।

(७) पुण्य कर्म

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(भ. गी. ७।२८)

पुण्य कर्म करनेवालोंका पाप नष्ट होता है और वे द्वन्द्वमोहसे मुक्त होकर दृढ निश्चयसे ईश्वरका भजन करते हैं।

द्वन्द्वमोह का अर्थ है झगडा करनेका मोह। युद्ध करके दूसरोंका नाश करके अपना सुख बढानेका भ्रम। इसीसे जगत्में युद्ध बढ गये हैं।

(८) अजरामर रहनेकी इच्छा

जरामरणमोक्षाय यतन्ति। (गी. ७।२९)

जरा और मृत्युको दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं।

मनुष्यको यही प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् शरीर शीघ्र वृद्ध न हो और शीघ्र मृत्यु न आवे।

सप्तम अध्यायकी विषयसूची

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षर-ब्रह्म-योग

(१) छः प्रश्न

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन । प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

(२) एकके छः भाव

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् । अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वयः– अर्जुन उवाच— हे पुरुषोत्तम ! तत् ब्रह्म किं ? अध्यात्मं किं ? कर्म किं ? अधिभूतं किं प्रोक्तं ? अधिदैवं च किं उच्यते ? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन ! अत्र अस्मिन् देहे अधियज्ञः कः कथं (च अस्ति) ? प्रयाणकाले च नियतात्मभिः त्वं कथं ज्ञेयः असि ? ॥ २ ॥

श्रीभगवान् उवाच— अक्षरं परमं ब्रह्म, स्वभावः अध्यात्मं उच्यते, भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥ हे देहभृतां वर ! क्षरः भावः अधिभूतं, पुरुषः अधिदैवतं, अत्र देहे च अहं एव अधियज्ञः ॥ ४ ॥

अर्जुन पूछने लगा— हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म कौनसा है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन ! यहाँ इस देहमें अधियज्ञ किस तरह और क्या है ? अन्तसमय संयमी योगी तुझे (ईश्वरको) कैसे पहचान सकते हैं ? ॥ २ ॥

भगवान्ने उत्तर दिया— ब्रह्म अविनाशी और श्रेष्ठ तत्त्व है (उसका) निज भावको ही नाम अध्यात्म है; प्राणियोंके भावकी उत्पत्ति करनेवाले व्यापारका नाम कर्म है ॥ ३ ॥ हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! नाशवान् भावको अधिभूत कहते हैं, पुरुषको अधिदैवत कहते हैं और इस देहमें मैं (ईश्वर) ही अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥

(१-२) सातवें अध्यायके अन्तमें कहा है कि ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मरणकालमें परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये। परन्तु अबतक किसी भी स्थानपर इन शब्दोंके अर्थ नहीं कहे गये हैं, अतः अर्जुनके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि ये हैं क्या ? ब्रह्म किसका नाम है ? अध्यात्म क्या है ? सम्पूर्ण कर्मका क्या तात्पर्य है ? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञसे किस वस्तुका बोध होता है ? अन्तसमय आत्मसंयमनका क्या अर्थ है और उस समय परमेश्वरका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? तथा उस ज्ञानसे क्या काम है ?

इत्यादि प्रश्न अर्जुनने किये और उत्तरकी प्रतीक्षामें था। यही देखकर भगवान् श्रीकृष्ण दयाभावसे उसकी शंकाओंका उत्तर देते हैं।

अर्जुनके प्रश्न बहुत महत्त्वके हैं। भगवान् श्रीकृष्णजीको इनकी दो चार शंकाओंका उत्तर देनेके लिये एक संपूर्ण अध्यायभर अपने व्याख्यानका विस्तार करना पड़ा। इन शंकाओंका तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है।

भावार्थ— (१) ब्रह्म उस श्रेष्ठ तत्त्वका नाम है जिसका कभी नाश नहीं होता (२) प्रत्येक वस्तुमात्रमें जो अपना अपना अलग अलग निजभाव है उसको अध्यात्म कहते हैं, (३) प्राणियोंके अपने अपने भावकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले व्यवहारका नाम कर्म है, (४) जो नाशवान् वस्तुमात्र है उसको अधिभूत कहते हैं, (५) सबमें जो चेतनभाव है, उस चेतन पुरुषको अधिदैवत कहते हैं और (६) प्रत्येक देहमें जो 'मैं मैं' कहनेवाला ईश्वरभाव है उसको अधियज्ञ कहते हैं ॥३-४॥

ब्रह्म क्या है?

(३ ४) पहिला प्रश्न है (किं तद् ब्रह्म) वह ब्रह्म क्या है? इसके उत्तरमें (अक्षरं ब्रह्म परमं) अविनाशी और परम श्रेष्ठ तत्त्वही ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। यहां जितने तत्त्व हैं उन सबमें ब्रह्मही सबसे श्रेष्ठ तत्त्व है और वह अ-क्षर अर्थात् अविनाशी है, अर्थात् (क्षर भिन्न) वह क्षरसे भिन्न है, क्योंकि आगे कहा जायगा कि (क्षरं अतीतः। गी. १५।१८) वह तत्त्व क्षरके परे है क्षरके परे अर्थात् क्षरसे भिन्न, वह अक्षरही है।

इस ब्रह्मको केवल अविनाशीही नहीं कहते परन्तु जब इसके विश्वरूपका दर्शन होगा तब समदर्शीकी (अक्ष रम्) आंखें उसमें रमण करेंगी। जो विश्वरूपमें परमेश्वर का साक्षात्कार करेगा उसके नेत्र उसके विश्वरूपमें रमण करेंगे। आंखों-अक्षों-के लिये उसमें रमणीयता है, इसलिये उसको अक्ष-र कहते हैं। अर्थात् वह ब्रह्म (अ-क्षर) अविनाशी है और (अक्ष-र) आंखोंको रम माण करनेवाला है। मूर्त ब्रह्ममें आंख रममाण होते हैं और अमूर्त ब्रह्म अविनाशी है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च। बृ. उ. २।३।१

ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त अर्थात् मूर्तिमान् ब्रह्म है और दूसरा अमूर्त अर्थात् निराकार ब्रह्म है। मूर्तिमान् ब्रह्ममें आंखें रमती हैं और अमूर्त ब्रह्म अविनाशी है। क्योंकि आकारही आंखको प्राप्त हो सकता है। इस तरह अक्षर शब्दके दोनों अर्थ ब्रह्मके दोनों स्वरूपोंमें सार्थक हो जाते हैं। यह बड़ी अच्छी तरह ध्यान देनेकी वस्तु है इसका आगे विवरण संबंध है।

अध्यात्मका अर्थ क्या है?

दूसरा प्रश्न— (किं अध्यात्मं) अध्यात्म क्या वस्तु है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि (स्वभावः अध्यात्मं उच्यते) स्वभावको अध्यात्म कहते हैं। स्व भाव का अर्थ है स्वकीय भाव अपनी सत्ता अपना अस्तित्व। जो अपना भाव है वही स्वभाव है। परन्तु यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह किसका (स्व-भाव) निज भाव है? उत्तर में निवेदन है कि यह ब्रह्मकाही स्वभाव है। क्योंकि—

अक्षरं परमं (तत्त्वं) ब्रह्म (इति उच्यते) (तस्य ब्रह्मणः) स्वभावः अध्यात्मं (इति) उच्यते।

अविनाशी परम तत्त्वको ब्रह्म कहते हैं और उस अविनाशी परम ब्रह्मतत्त्वका जो स्वभाव अर्थात् निज भाव है, उसीको अध्यात्म कहते हैं। इस तरह यहां इन वाक्योंकी संगति है। अर्थात् परमब्रह्मका निज भाव अध्यात्म कहलाता है। यह निज भाव कहां दीखता है? यह निज भाव स्थूल भूतमें, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक देहमें दीखता है। अध्यात्मका अर्थ प्रत्येक आत्माके आश्रयसे रहनेवाला तत्त्व है। हरएक जीवात्माके देहमें जो सत्य निज स्वभाव है, जो प्रत्येक जीवमें प्रकट होता है वह उस ब्रह्मकाही स्वभाव है। जो ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियोंके द्वारा तथा मन बुद्धि अहंकारद्वारा प्रकट हो रहा है वह ब्रह्मकाही स्वभाव निज भाव निज धर्म है। क्योंकि वह स्वभाव सर्वत्र समानतासे प्रकट हो रहा है। एक वस्तु है वह दीखती है जहां उसका नित्यत्व है वह सर्वत्र अनुभवमें आता है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहां यह निज भाव नहीं है। यह निज भाव क्या प्रत्येक वस्तुका है? नहीं यदि प्रत्येक वस्तुका अलग होती तो उनके अलग होनेके कारण स्वभाव भी अलगही होना चाहिये परन्तु सर्वत्र अस्ति भाति प्रियत्व रूप स्वकीय भाव सर्वत्र एकसाही है इसलिये यह अलग अलग वस्तुमात्रका धर्म नहीं है यह अखंड एकरस रहनेवाले अक्षर परब्रह्मकाही यह स्वभाव है, क्योंकि वही एक वस्तु अखंडतया सर्वत्र विद्यमान है। इसी स्वभावका नाम अध्यात्म है। क्योंकि यह स्वभाव प्रत्येक आत्मामें व्यक्त हो रहा है। प्रत्येक आत्मामें व्यक्त होनेके कारण इसको अध्यात्म (अधि-आत्मा) कहते हैं।

यहांतक दो बातोंका वर्णन हुआ- (१) एक अक्षर ब्रह्म है और (२) दूसरा प्रत्येक आत्मामें व्यक्त होनेवाला उसकाही स्वभाव है। अब तीसरा प्रश्न देखिये—

कर्म क्या है ?

तीसरा प्रश्न (किं कर्म) कर्म क्या है ? जो अनादि कर्मप्रवाह चल रहा है जिस कर्मप्रवाहमें सभी जीव पड़े हैं उस कर्मका क्या स्वरूप है ? इसके उत्तरमें बताया है कि (भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः) भूतभावका उद्भव करनेवाला जो विसर्ग है उसका नाम कर्म है। भूत का अर्थ प्राणिमात्र है इन भूतमात्रोंका जो भाव अर्थात् अस्तित्व है उसका नाम भूतभाव है। प्राणियोंका होना प्राणियोंका रहना और प्राणियोंका अस्तित्व इस भूत भावसे प्रकट हो रहा है। भूतभाव का अर्थ प्राणियों का जीवन ' समझ सकते हैं। सब प्राणी जीवित रहते हैं यही भूतभाव अथवा भूतोंका भाव है। इस भूतभावका उद्भव करनेवाला कर्म है। उद्भव का अर्थ (उत्-भव) उच्च होना उच्चतर अथवा उच्चतम अवस्था प्राप्त करना है। उत् का अर्थ उच्च और भव का अर्थ होना। उद्भवका अर्थ उच्च होना है। अतः भूत-भाव-उत् भव-कर का अर्थ प्राणिमात्रके जीवनको उच्चतम बनानेका यत्न है। जिससे प्राणिमात्रका जीवन अधिक उच्च अधिक विकसित अधिक उन्नत अधिक उत्क्रान्त होगा वह कर्म है। इस उत्क्रान्तिका यत्न विसर्ग रूप होना चाहिये। विसर्गके अर्थ है- ' (१) आगे भेजना, (२) दान करना (३) अपना दान देना अर्पण करना (४) बनाना तैयार करना (५) मुक्त होना (६) प्रकाश करना। इतने अर्थोंके साथ विसर्गका अर्थ देखनेसे कर्मका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। देखिये—

(१) प्राणिमात्रके जीवनको उच्च बनानेके लिये आगे प्रेरित करना (२) प्राणिमात्रके जीवनकी उन्नति करनेके लिये यत्न करना (३) प्राणिमात्रके जीवनका विकास करनेके लिये दान देना अर्पण करना आत्मयज्ञ करना, (४) प्राणिमात्रके जीवनको उच्च बनानेके लिये तैयारी करना सामग्री इकट्ठी करनेकी योजना निश्चित करना (५) प्राणिमात्रके जीवनको उच्च बनानेके लिये मुक्तिकी सिद्धि प्राप्त करना बंधनकी निवृत्ति करना पारतंत्र्यको दूर करनेका यत्न करना स्वाधीनताको प्राप्त करना (६) प्राणिमात्रके जीवनका विकास करनेके लिये प्रकाशका मार्ग दिखाना। इत्यादि अनेक अर्थ भूतभावोद्भवकरो विसर्गः इस वाक्यके हैं। इसका अर्थ समझानेके लिये हरएक शब्दके अर्थ ऊपर दिये हैं। पाठक इन शब्दोंपर यदि अच्छी तरह विचार करेंगे तो उनको इसका संपूर्ण अर्थ स्पष्ट हो सकता है। भूतभावका उद्भव करनेके लिये जो कुछ किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(१) एक अविनाशी परब्रह्म है (२) उसका स्वभाव प्रत्येक आत्मामें प्रकट होता है (३) उस आत्माके प्रकाशके लिये होनेवाले यत्नका नाम कर्म है। इस तरह इन तीनों तत्त्वोंकी संगति है। अविनाशी अनादि अनंत अक्षर ब्रह्म है, उसका स्वयंभू स्वभाव है। वह जीवात्माके भावमें प्रकट होता है। वह प्रकट होना भी अनादि है क्योंकि यही उसका निज स्वभाव है। जैसे ब्रह्म अनादि है वैसेही उसका स्वभाव भी अनादि है। जब आत्मभावमें वह प्रकट होता है तब वहां आत्मभावमें अल्पत्व आ जाता है। इस अल्पत्वका विकास होनाही चाहिये। इस विकासके लिए किया गया प्रयत्न भी अनादिही है क्योंकि जीवात्मभावमें प्रकट होना भी अनादि है और विकासका प्रयत्न करना भी अनादिही है। भूतभाव में आना और भूतभावका उद्भव ' करना तथा 'भूतभावके उद्भवके लिये (विसर्ग) दान करना' ये सब अनादि प्रयत्न हैं अतः इस कर्मप्रवाहको अनादि कहते हैं।

यहां इसका पारस्परसंबंध दर्शनीय है। अनादि कर्मप्रवाह के बड़े महत्वका प्रश्न यहां सविस्तर है। इससे पूर्व—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (गी. ४।२४)
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
(गी. ९।१६)

इन दोनों श्लोकोंमें भी भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा यही भाव कही गई है। एकमें कहा है कि ब्रह्म हवि अग्नि हवन, अर्पणक्रिया आदि है और दूसरेमें कहा है कि मैं क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र घृत अग्नि और हवन हूं।' इस तरह दिखाया गया है कि ब्रह्म और यह एकही भावके द्योतक हो रहे हैं। जो ब्रह्म है वही यह है। यही यहां भी कहा गया है— (१) एक ब्रह्म है (२) उसका स्वभाव आत्मभावमें प्रकट होता है और

अंतसमयकी तैयारी

(५-८) अन्तसमयमें परमेश्वरका स्मरण करनेवाला मनुष्य परमेश्वर-भावको प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है यह पांचवें श्लोकका अर्थ है। देह छोडनेके समय जिसे परमेश्वरका ठीक ठीक स्मरण रहेगा, वह ईश्वरभावको प्राप्त होगा। परन्तु यह है बडा कठिन । अन्तसमयमें संपूर्ण शरीर शिथिल हो जाता है मस्तिष्क कार्य नहीं करता मन बुद्धि चित्त आदि सबही क्षीण हो जाते हैं सोच विचार करना भी असम्भव हो जाता है और किसी किसी समय तो शरीरकी पीडा भी असह्य हो जाती है। कई तो मूर्छितसे हो जाते हैं, ऐसे समयमें परमेश्वरका स्मरण करना कैसे सम्भव हो सकता है ?

यह प्रश्न खडा हो सकता है और प्रत्येक इस प्रश्नको सामने रख सकता है कि मरनेके समय मनुष्य कितना भी क्षीण हो कितना भी त्रस्त या पीडित हो जाय कितनी भी क्षीण हो गई तो भी वह अपने पुत्रोंको समीप बुलाता है और उनको कुछ कहताही है अर्थात् संसारकी बातोंका स्मरण वह करता है । ऐसे कठिन समयमें यदि वह संसारकी बातका स्मरण रख सकता है तो निःसंदेह परमात्माका स्मरण भी कर सकता है। अतः विचार करके देखना चाहिये कि मृत्युके कठिन समयमें भी इसको संसारकी बातोंका स्मरण कैसे होता है ? इसका उत्तर इतनाही है कि संसारकी बातोंका विचार और ध्यान यह मनुष्य दिनरात करता रहता है। दिनरात सांसारिक बातोंका ध्यान करनेके कारणही इसको संसारकी बातों का स्मरण मृत्युके समय भी हो जाता है। यदि यह बात सच है तो हमें एक विशेष महत्त्वपूर्ण नियमका पता लग गया कि मनुष्य जिस बातका दिनरात ध्यान करेगा उस का स्मरण उसको मृत्युके समय होगाही। यही नियम छठे श्लोकमें कहा है जिसका भाव यह है— मनुष्य जिस भावका दिनरात स्मरण करता है उस भावसे प्रभावित (तद्भावभावितः) होनेके कारण वह उस भावको प्राप्त होता है और उसको देह त्यागनेके समय भी वही भाव स्मरण रहता है। मनुष्यका अन्तसमयमें सांसारिक भावोंका स्मरण रहनेका कारण यही है। यदि मनुष्य सदा परमात्मा का ध्यान करेगा तो उसको अन्तकालमें भी परमात्माका स्मरण रहेगाही क्योंकि मनका धर्म एक जैसाही है। जिस भावका स्मरण अथवा ध्यान मन करता है उसमें वही मन समा जाते हैं।

इसमें (तद्भावभावितः) उस भावसे प्रभावित होनेका भाव मुख्य है। यह जिस भावसे प्रभावित होगा वह उसी भावसे युक्त हो जायगा और उसी भावका रूप इसमें दिखाई देगा। उदाहरणके लिये देखिये कि जो मनुष्य कसाई कर्म करनेमें प्रवृत्त रहता है रातदिन इसीमें अपने आपको लगाये रहता है वह उसमें कुछ बुरा नहीं समझता। जो सैनिक हर समय लडाईपर रहता है उसको दूसरोंके प्राण लेनेमें कोई कठिनता नहीं होती और जो दिनरात अहिंसाका चिन्तन करता है वह जीवकी हिंसा होनेके भयसे जल भी छानकर पीता है। इस तरह जो सूद आदि लेनेदेनेका व्यापार करता है उसको गरीब इस व्यवहारसे मरते हैं इसका विचारतक नहीं होता। जो पूंजीपति अपनी पूंजी बढानेकी चिन्तामें रहते हैं वे श्रमिकोंके कष्टोंका विचार नहीं करते। राजामहाराजा प्रजासे कररूपसे पैसा लेते हैं और उसको अपने विलासमें व्यय करते हैं, परन्तु उस धन का उपयोग प्रजाके हितसाधनके कार्योंमें करना चाहिये यह बात वे भूल जाते हैं। यह सब इसी कारण होता है कि मनुष्य (तद्भावभावितः) उसी भावसे रंग जाता है जिसका वह रातदिन विचार करता है। यदि यह सच है तो क्या मनुष्यको दिनरात परमात्माका स्मरण करनेपर भी परमात्माका स्मरण नहीं होगा ? अवश्य होगा।

वनस्पतियोंपर कई कीडे होते हैं, फूलोंपर कई जीव होते हैं, वे उन्हीं रंगोंसे रंगे होते हैं। वे क्यों ऐसे रंगे जाते हैं इसपर विचारना चाहिये। वे जीव उन फूलों और वनस्पतियोंके रंगकाही ध्यान करते हैं अतः उनके शरीर वैसेही बन जाते हैं। इस न्यायसे यदि मनुष्य परमात्मभावमें रंग जायगा तो वह परमात्मभावसे युक्त क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा यही दिखानेके लिये यहां कहा है कि—

स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। (५)
मामेवैष्यस्यसंशयम्। (७)
परमं पुरुषं दिव्यं याति। (८)

ईश्वरभावको प्राप्त होता है परम पुरुषको प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं है। परमात्माको वही प्राप्त कर

(१) आत्मभावका अथवा भूतभावका उद्भव करनेवाला जो प्रयत्न है वही कर्म है। ब्रह्मका स्वभाव उससे भिन्न रह नहीं सकता और उद्भव करना भी उसीका धर्म है अर्थात् ये तीनोंही एकके तीन पहलुओंके तीन वर्णन हैं इस तरह यहां बताया है। परब्रह्म क्या है उसका स्वभाव कैसा है उसका कर्म क्या है ? पहले श्लोकोंमें 'ब्रह्म' का और 'अहं' का कर्मस्वरूप बताया था। वही भिन्न शब्दोंसे यहां बताया गया है। ब्रह्मका स्वभाव अध्यात्म है और उसीका सर्वका प्रकाश करनाही उसका कर्मप्रवाह है। इनकी संगति विशेष ध्यानसे मनन करनेकी वस्तु है।

अधिभूत क्या है ?

चतुर्थ प्रश्न है- (अधिभूतं किं प्रोक्तं) अधिभूत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने दिया है कि (अधिभूतं क्षरः भावः) जो नाशवान् भाव है उसको अधिभूत कहते हैं। इस जगत्‌के समान वस्तुमात्र इस क्षर भावमें आजाते हैं। सप्तम अध्यायमें जो अपरा प्रकृति कही है वही यह क्षर भाव है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गी ७।४)

पंच महाभूत, मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारकी प्रकृति है। यही क्षर है और यही अधिभूत है। इस जगत्‌का प्रत्येक पदार्थ अपरा प्रकृतिका रूप है। यही क्षर भाव है और यही अधिभूत है।

भूतका अर्थ है वस्तु। संसारकी समस्त वस्तुएं भूतमात्र हैं। यह अपरा प्रकृतिका रूप है और यही मूर्त ब्रह्म है अथवा यही ब्रह्मकी देह है। पहिले जिस ब्रह्मका वर्णन किया कि ब्रह्म एक है अध्यात्म उसका स्वभाव है और उसका चलनाही कर्म है। उसीका क्षर भाव क्षर देह अथवा अपरा प्राकृत भाव अधिभूत है। जो संपूर्ण वस्तु समूह है वही अधिभूत है और वही ब्रह्मका विश्वरूप है। यही कहा गया क्षर भावही क्षर पुरुष (भ. गी. १५।१६-१८ में) है। क्षर पुरुष क्षर भाव क्षर सत्ता और अधिभूत एकही है। यहां जो वर्णन हो रहा है वह अनेक तत्त्वोंका नहीं है अपितु एकही तत्त्वके अनेक पहलुओंका है। यह बात सप्तम अध्यायमें भी कही गयी है और वही फिर अन्य प्रकारसे यहां कही जा रही है।

अधिदैवत क्या है ?

पांचवां प्रश्न है कि (अधिदैवं किमुच्यते) अधिदैवत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर है कि (पुरुषः अधिदैवतं) 'पुरुष अधिदैवत है। पूर्व अध्यायमें 'अपरा प्रकृतिको क्षर कहा है और परा जीवरूप प्रकृतिकोही पुरुष शब्दसे कहा गया है।

(सप्तम अध्याय)	(अष्टम अध्याय)
अपरा प्रकृति	क्षर अधिभूत
अपरा प्रकृति	क्षर भाव
परा प्रकृति	अक्षर पुरुष अधिदैवत
जीवभूत	अध्यात्म स्वभावः
अहं	अक्षरं ब्रह्म
(अध्याय ७।४-६)	(अध्याय ८।३ ४)

इस तरह पाठक दोनों अध्यायोंकी तुलना करके देखें अस्तु। अब अन्तिम प्रश्न है—

अधियज्ञ कौन है ?

अर्जुनका छठा प्रश्न है (अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहे) इस देहमें अधियज्ञ कौन है और वह कैसा है उसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने इस तरह दिया है (अत्र देहे अहं एव अधियज्ञः) इस देहमें मैंही अधियज्ञ हूं। इस देहमें जो यज्ञ हो रहा है जो कर्म हो रहा है उसका अधिष्ठाता 'अहं' (मैं) शब्दसे प्रकट होता है।

मनुष्यजीवन एक सौ वर्ष चलनेवाला सत्र, अथवा यज्ञ है इसका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार किया है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति
वर्षाणि तत्प्रातःसवनं ॥१॥ अथ यानि
चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं
॥३॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्
तृतीयसवनम् ॥५॥ (छान्दोग्य ३। १६)

मनुष्यका संपूर्ण जीवन तथा संपूर्ण आयुष्य एक बडा भारी यज्ञ है। इसका प्रातःकाल चौवीस वर्षोंका है मध्यदिन चवालीस वर्षोंका है और सायंकाल अडतालीस वर्षोंका है। इन तीन कालोंमें यह जीवनरूप यज्ञ चल रहा है। इन तीनोंको मिलकर (२४+४४+४८=११६) एक सौ सोलह वर्षोंका यह यज्ञसत्र है। यह मानवीय जीवन उत्तम यज्ञरूप होना चाहिये। इस मानवजीवनरूप यज्ञका अधिष्ठाता ही

अंतसमयकी तैयारी

(५-८) अन्तसमयमें परमेश्वरका स्मरण करनेवाला मनुष्य परमेश्वर-भावको प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है यह पांचवें श्लोकका अर्थ है। देह छोडनेके समय जिसे परमेश्वरका ठीक ठीक स्मरण रहेगा, वह ईश्वरभावको प्राप्त होगा। परन्तु यह है बडा कठिन । अन्तसमयमें संपूर्ण शरीर शिथिल हो जाता है मस्तिष्क कार्य नहीं करता मन बुद्धि चित्त आदि सबही क्षीण हो जाते हैं सोच विचार करना भी असंभव हो जाता है और किसी किसी समय तो शरीरकी पीडा भी असह्य हो जाती है। कई तो मूर्छितसे हो जाते हैं, ऐसे समयमें परमेश्वरका स्मरण करना कैसे संभव हो सकता है?

यह प्रश्न यहां हो सकता है और प्रत्येक इस प्रश्नको समझ सकता है कि मरनेके समय मनुष्य कितना भी क्षीण हो कितना भी त्रस्त या पीडित हो वाणी कितनी भी क्षीण हो गई तो भी वह अपने पुत्रोंको समीप बुलाता है और उनको कुछ कहताही है अर्थात् संसारकी बातोंका स्मरण वह करता है। ऐसे कठिन समयमें यदि वह संसारकी बातका स्मरण रख सकता है तो निःसंदेह परमात्माका स्मरण भी कर सकता है। अतः विचार करके देखना चाहिये कि मृत्युके कठिन समयमें भी इसको संसारकी बातोंका स्मरण कैसे होता है? इसका उत्तर इतनाही है कि संसारकी बातोंका विचार और ध्यान यह मनुष्य दिनरात करता रहता है। दिनरात सांसारिक बातोंका ध्यान करनेके कारणही इसको संसारकी बातोंका स्मरण मृत्युके समय भी हो जाता है। यदि यह बात सत्य है तो हमें एक विशेष महत्वपूर्ण नियमका पता लग गया कि मनुष्य जिस बातका दिनरात ध्यान करता उस का स्मरण उसको मृत्युके समय होगाही। यही नियम इन श्लोकोंमें कहा है जिसका भाव यह है- मनुष्य जिस भावका दिनरात स्मरण करता है उस भावसे प्रभावित (तद्भावभावितः) होनेके कारण वह उस भावको प्राप्त होता है और उसको देह त्यागनेके समय भी वही भाव स्मरण रहता है। मनुष्यका अन्तसमयमें सांसारिक बातोंका स्मरण रहनेका कारण यही है। यदि मनुष्य सदा परमात्मा-का ध्यान करेगा तो उसको अन्तकालमें भी परमात्माका स्मरण रहेगाही क्योंकि मनका धर्म एक जैसाही है। जिस भावका स्मरण अथवा ध्यान मन करता है उसमें वही भाव समा जाते हैं।

इसमें (तद्भावभावितः) उस भावसे प्रभावित होनेकी बात मुख्य है। वह जिस भावसे प्रभावित होगा वह उसी भावसे युक्त हो जायगा और उसी भावका रूप इसमें दिखाई देगा। उदाहरणके लिये देखिये कि जो मनुष्य कसाई बकरे काटनेमें मग्न रहता है रातदिन इसीमें अपने मनको लगाये रहता है वह उसमें कुछ बुरा नहीं समझता। जो हिंसक हर समय कसाईपन रखता है, उसका दूसरेके प्राण लेनेमें कोई कठिनता नहीं होती और जो दिनरात [illegible] करता है वह जीवकी हिंसा होनेके भयसे कब भी [illegible] पीता है। इस तरह जो सूद आदि लेनदेनका व्यापार करता है उसको गरीब इस व्यवहारसे मरते हैं इसका विचारतक नहीं होता। जो पूंजीपति अपनी पूंजी बढानेकी चिन्तामें रहते हैं वे श्रमिकोंके कष्टोंका विचार नहीं करते। राजामहाराजा प्रजाके करक्षसे पैसा लेते हैं और उसको अपने विलासमें व्यय करते हैं, परन्तु उस धन का उपयोग प्रजाके हितसाधनके कार्योंमें करना चाहिये, यह बात वे भूल जाते हैं। यह सब इसी कारण होता है कि मनुष्य (तद्भावभावितः) उसी भावसे रंग जाता है जिसका वह रातदिन विचार करता है। यदि यह सत्य है तो क्या मनुष्यका दिनरात परमात्माका स्मरण करनेपर भी परमात्माका स्मरण नहीं होगा? अवश्य होगा।

वनस्पतियोंपर कई कीडे होते हैं, फूलोंपर कई जीव होते हैं वे उन्हीं रंगोंके रंगे होते हैं। वे क्यों ऐसे रंगे जाते हैं इसपर विचारना चाहिये। वे जीव उन फूलों और वनस्पतियोंके रंगकाही ध्यान करते हैं अतः उनके शरीर वैसेही बन जाते हैं। इस न्यायसे यदि मनुष्य परमात्मभावमें रंग जायगा तो वह परमात्मभावसे युक्त क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा यही दिखानेके लिये यहां कहा है कि—

स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। (५)
मामेवैष्यस्यसंशयम्। (७)
परमं पुरुषं दिव्यं याति। (८)

ईश्वरभावको प्राप्त होता है परम पुरुषको प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं है। परमात्माको यही प्राप्त क

सकेगा जो इस तरहसे परमात्मभावमें रंग जायगा ।

जैसे लोहेको अग्निमें रखनेसे वह कुछ समयमें अग्नि भावसे युक्त होकर अग्निरूप हो जाता है। लकड़ी भी इसी तरह अग्निका रूप धारण कर लेती है। लकड़ी प्रारंभमें जलती नहीं परन्तु जिस समय वह अग्निरूप होती है उस समय अग्निके प्रभावही जलती है, अर्थात् अग्निके सब गुण धर्म लकड़ी और लोहेमें आ जाते हैं। इसी तरह वह सिद्ध पुरुष भी परमात्माके सब गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है अर्थात् वह परमात्मभाव धारण कर लेता है। यदि यह कहा जाय तो भी अनुचित न होगा कि इस समय वह परमात्माही बन जाता है। वह नरसे नारायण बन जाता है जीवसे शिव हो जाता है पुरुषका पुरुषोत्तम बन जाता है।

अपना मन और अपनी बुद्धि ईश्वरमें अर्पण करनेसे (मय्यर्पितमनोबुद्धिः) यह भाव प्राप्त हो सकता है। जब मनुष्य मन और बुद्धि परमात्माको अर्पण कर देता है उसे अपनी बनाकर नहीं रखता तभी वह परमात्मभाव मनुष्य प्राप्त करता है। इसीको अभ्यासयोग कहते हैं।

अभ्यासयोग

अभ्यासयोगके यहां दो लक्षण बताये गये हैं — (१) तद्भावभावितः अर्थात् ईश्वरके भावसे प्रभावित होना और (२) दूसरा अर्पितमनोबुद्धिः अपने मन और बुद्धिको परमात्मामें अर्पण करना। ये दो लक्षण हैं अथवा इनको अनुष्ठानके दो साधन कह सकते हैं। परमात्मभावसे रंगा जाना और परमात्मामें आत्मसमर्पण कर देना यही अन्तिम सिद्धि का साधन है। तीसरा एक साधन है जो चेतसा नान्य गामिना इन शब्दोंद्वारा कहा है। दूसरे किसी विषयमें चित्त न लगाना और परमात्मामेंही अपना चित्त लगाये रखना, तथा उसीमें तन्मय रहना मन बुद्धिके समर्पण करनेसे होता है। अस्तु। इसका नाम अभ्यासयोग है और यह निरंतर किया जानेवाला योग है। निरंतर करनेसे ही यह सिद्ध होता है। यदि कोई कुछ समय करे और कुछ समय न करे तो वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इस सतत अनुष्ठानकी सूचना निम्नलिखित वाक्योंसे होती है—

सदा तद्भावभावितः । (६)

सर्वेषु कालेषु मय्यर्पितमनोबुद्धिः । (७)

सदा उसी भावसे प्रभावित रहना चाहिये। हर समय अपने मन और बुद्धिको ईश्वरार्पण किये रखना चाहिये। यहां सदा और सर्वेषु ये शब्द सतत अभ्यासकी सूचना देते हैं। इस सतत अभ्यास करनेका नामही अभ्यास है। वारवार और सतत यत्न करनेकोही अभ्यास करना कहते हैं। अर्थात् अभ्यासयोग का अर्थ सतत और वारवार परमात्माका ध्यान करना 'ही यहां अभीष्ट है। जो साधक इस तरह अभ्यासयोग करता है वही परमेश्वर-भावको प्राप्त करता है। वह अपनी आत्मामें दिव्य परम पुरुषका भाव देखता है। यही मनुष्यकी अन्तिम सिद्धि है।

इस विषयमें हमने एक अनुभव किया था। कई मास तक निरन्तर हमने यह नियम पालन किया कि जिस समय कोई कार्य न होगा उस समय श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ करेंगे। दो मासके निरन्तर पाठसे यह हुआ कि जब कभी निद्रा टूटती थी उस समय अपनेही आप भगवद्गीताका कोई न कोई श्लोक मनमें उठने लगता था अर्थात् जागृती समयमें भगवद्गीताका श्लोक पढनाही मनका काम हो गया था और यही कार्य निद्रामें भी चलता रहता था। इससे पता लगता है कि मन जिस कार्यमें लग जाता है उसीमें रंग जाता है और तद्रूप हो जाता है।

अन्त समय

यहां अन्तसमयमें देह छोडनेके समय ऐसा वारवार कहा है। देह छोडनेका क्या अर्थ है? इसका अर्थ मृत्यु है ऐसा सब समझते हैं। परन्तु मृत्यु भी कौनसी समझनी चाहिये? क्योंकि क्षणिक मृत्यु दैनिक मृत्यु (निद्रा) अवस्थान्तरकी मृत्यु (बालपनसे तारुण्य आदि) जन्मान्तरकी मृत्यु, (जन्मजन्म-देहत्याग होकर दूसरा जन्म मिलना), देहान्तरकी मृत्यु (महामृत्यु) आदि अनेक मृत्यु हैं। इनमेंसे कौनसी मृत्यु यहां अपेक्षित है? मृत्युको अन्त भी कहते हैं। क्षणिक अन्त दैनिक अन्त अवस्थाका अन्त जन्मका अन्त और देहका अन्त आदि अनेक अन्त हैं। इनमेंसे किस अन्तका उल्लेख यहां अपेक्षित है यह बात विचारणीय है। वस्तुतः सभी अन्त यहां अपेक्षित हैं।

हर प्रकारके अन्तके समय परमात्माका स्मरण करना चाहिये। यदि कोई इसका यह आशय समझेगा तो वही

(४) परम पुरुषका ध्यान

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— कविं पुराणं अनुशासितारं, अणोः अणीयांसं सर्वस्य धातारं अचिन्त्यरूपं तमसः परस्तात् आदित्यवर्णं (विद्यमानं पुरुषं) प्रयाणकाले अचलेन मनसा भक्त्या युक्तः योगबलेन च एव भ्रुवोः मध्ये सम्यक् प्राणं आवेश्य यः अनुस्मरेत् सः तं दिव्यं परं पुरुषं उपैति ॥ ९-१० ॥ वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति (ब्रह्मचारिणः) यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥ सर्वद्वाराणि संयम्य मनः च हृदि निरुध्य मूर्ध्नि आत्मनः प्राणं आधाय योगधारणां आस्थितः ॥ १२ ॥ ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्, मां अनुस्मरन्, यः देहं त्यजन्, प्रयाति सः परमां गतिं याति ॥ १३ ॥

अर्थ होगा कि प्रतिक्षण परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये क्योंकि प्रतिक्षणही मनुष्यकी मृत्यु हो रही है।

निद्रा भी एक मृत्यु है क्योंकि निद्रा-समयमें इस जड़ शरीरको एक प्रकारसे आत्मा त्याग देती है। किसी किसी समय शरीरत्याग होनेका अनुभव भी मनुष्यको होने लगता है। यदि किसी शुभ विचारका स्मरण निद्राके समय मनुष्यको होगा तो संपूर्ण निद्राके समय उसी शुभ विचारका कार्य चलता रहेगा। यदि कोई मनुष्य बीमार हो और निद्राके समय 'मैं नीरोग हूं' यह विचार उसके मनमें स्थिर हो जावे तो निद्रापर्यन्त वही विचार उसके मनमें स्थिर रहेगा और जागनेपर उसको अनुभव होगा कि पूर्वकी अपेक्षा उसे अधिक आरोग्य प्राप्त हुआ है। इसी तरह यदि निद्रा आनेके समय उसके मनमें परमात्माका विचार होगा तो निद्रामें भी वही विचार स्थिर रहेगा और उसका अपूर्व आनंद प्राप्त होगा। जो प्रतिदिन इस तरह अनुभवका अभ्यास करेगा उसका अन्तसमयमें, मृत्युके समयमें भी ... का बेड़ा पार हो

मनुष्यके पास दो मन हैं एक मन जागृतिमें कार्य करता है तथा दूसरा निद्रामें। जो मन निद्रामें कार्य करता है वह जागृतिमें सोता है और जो जागृतिमें कार्य करता है, वह निद्रामें सोता है। जागृतिके मनमें जो संस्कार होते हैं वे निद्राके मनमें संगृहीत होते हैं और निद्राके मनका ऐसा विलक्षण धर्म है कि वह तर्क-वितर्क-कुतर्क नहीं करता। जो भाव मनमें आता है वह वैसाही मानता है और वैसाही बन जाता है। इसीलिये मनके सतत शुभ विचार धारण करनेकी आवश्यकता है। जिसके शिवसंकल्प होंगे उसका मन भी शिवसंकल्पोंसे युक्त होगा।

जिसका उच्च मन परमात्मामें विलीन हो जायेगा वह उसके स्वरूपको प्राप्त करेगा। किन्तु यह काम बड़े अभ्याससे होता है। यहां विचार करनेपर अपने आरोग्य साधनका पता लग सकता है। अपने आत्माकी उच्च अवस्थाका मार्ग और परम धामकी प्राप्तिका उपाय एक ही प्रकार है। इस तरह यह मार्ग मानवीय उन्नतिका साधक है और इससे मनुष्यकी ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति भी होती है। अब ध्यानका मार्ग बताया जाता है।

प्रयाणके समयमें स्थिर मनके द्वारा, भक्तिसे युक्त होकर और योगबलके द्वारा दोनों भौंहोंके बीच भली भाँति प्राणको स्थिर करके जो सर्वज्ञ पुरातन नियन्ता अणुसे भी सूक्ष्म सबका धारणकर्ता अचिन्त्यस्वरूप, अन्धकारसे परे रहनेवाले सूर्यके समान तेजस्वी ईश्वरका स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुषके समीप पहुँचता है ॥ ९-१० ॥ वेद जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं विषयवासना रहित योगी लोग जिसमें मग्न रहते हैं ब्रह्मचारी लोग जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मचर्य व्रतका आचरण करते हैं उस पदको संक्षेपसे तुझे (यहाँ) बताता हूँ ॥ ११ ॥ इंद्रियोंके सब द्वारोंका संयम कर मनका हृदयमें निरोध कर, मस्तकमें अपने प्राणको ले जाकर साधक योगकी धारणावस्थामें स्थिर होवे ॥ १२ ॥ वहाँ (उस अवस्थामें) ओंकाररूपी एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और मेरा (परमेश्वरका) चिन्तन करता हुआ जो साधनकर्ता देह छोड़कर जाता है, वह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ— ईश्वर सर्वज्ञ है अतः उससे कुछ भी अज्ञात नहीं है। वह प्राचीन है और प्राचीन कालसे अर्थात् सदासेही सबका नियन्ता और शासनकर्ता है। वह सब जगत्का एकमात्र सर्वाधिकारी शासक है। वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म है और सबका एकमात्र आधार है। उसके अचिंत्य अनंत स्वरूपका चिंतन करना बहुत कठिन कार्य है। वह स्वयं अनंत तेजस्वी है इसलिये उसके पास अन्धकार नहीं रह सकता। इसी दिव्य परम पुरुषका सबको ध्यान करना चाहिये। प्रयाणकालमें, भक्तियुक्त होकर भ्रकुटीमें प्राणको चढ़ाकर जो इसका ध्यान करता है वह उस दिव्य परम श्रेष्ठ पुरुषको प्राप्त कर लेता है। इसी परम पुरुषको वेदवेत्ता लोग अक्षर कहते हैं, निष्कामी लोग इसीमें प्रविष्ट होते हैं इसीकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उस परम पद परमात्माका अतिसंक्षेपसे यही वर्णन है। इंद्रियोंका संयम करो मनको हृदयमें स्थिर करो और मस्तकमें अपने प्राणको स्थिर करके धारणाका अभ्यास करो। ऐसे समय ओंकारका जप और परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ जो देह छोड़ता है वह निःसंदेह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ ९-१३ ॥

प्रयाण-काल

(९-१३) यहाँ यह बतलाया गया है कि प्रयाणकालमें परम पुरुषका ध्यान किस तरह करना चाहिये। प्रयाणकाल और अन्तकालका मुख्य अर्थ मृत्युका समय है। परन्तु इसका गौणअर्थ प्रतिक्षण भी होता है। क्योंकि मनुष्यकी प्रतिक्षण मृत्यु होती रहती है और प्रतिक्षण देहका कुछ न कुछ भाग नष्ट होता ही रहता है। प्रत्येक शरीर सात वर्षोंमें पूर्णतया नवीन हो जाता है, अर्थात् पहिलेके अणु नष्ट होकर उनके स्थानमें नये अणु आ जाते हैं। यह परिवर्तन शनैः शनैः प्रतिक्षण होता रहता है। यदि मनुष्यके शरीरका बोझ दो मन हो और वह सात वर्षोंमें परिवर्तित हो जाय तो एक दिनमें अढ़ाई तोले अणु नष्ट होकर उतनेही नये अणु आ जाते हैं। इस तरह इतने परमाणुओंकी मृत्यु मनुष्यशरीरमें प्रतिदिन होती है और इतनेही नये बन जाते हैं। उपवास करनेसे यह परिवर्तन शीघ्र होता है। चढ़ाव आयुमें मृत्युकी अपेक्षा परमाणुओंका संवर्धन अधिक होता है इसलिये शरीर बढ़ता है और उतार आयुमें मरनेवाले अणुओंकी संख्या अधिक होनेके कारण शरीर क्षीण हो जाता है। अब प्रतिदिन लगभग ढाई तोले परमाणुओंकी मृत्यु होती है तो प्रतिक्षण कितनी मृत्यु होती है इसका हिसाब लगाया जा सकता है। इस तरह यह क्षणिक मृत्युही दैनिक मृत्यु है। देहको इतना त्याग प्रतिक्षण और प्रतिदिन करना पड़ता है। देहत्यागके समय मनुष्यको परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये। यदि प्रतिक्षण परमाणुओंका अर्थात् देहका अन्त होता रहता है तो प्रतिक्षणही अन्तसमय है।

अन्त-समयकी प्रतीक्षा

इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य प्रतिक्षणको अन्त-समय न माने तो उसे यह पता नहीं लगेगा कि उसका अन्त-समय किस समय आनेवाला है। यदि मनुष्य सौ वर्षोंके बाद देहका अन्त होगा ऐसा मानेगा तो वह भी निश्चित नहीं

कि उसकी आयु १०० वर्षोंकी है ही। यदि वह १०० वर्षोंकी आयुका ख्याल करता रहेगा और बीचमेंही मृत्यु आ जाय, तो इसके लिये प्रस्तुत न होनेके कारण वह अन्तसमयमें परमात्माका ध्यान न कर सकेगा और उसकी आयु व्यर्थ चली जायगी। इसलिये मृत्युके कठिन समयमें ठीक प्रकार परमेश्वरका स्मरण रहनेके लिये उसे प्रतिक्षण परमात्माका स्मरण करना चाहिये। जो नित्य स्मरण करता है उसको स्मरण करनेका नित्याभ्यास होनेसे वह अन्तसमयमें भी ईश्वरका स्मरण कर सकेगा। जो यह कहेगा कि मैं अन्तसमयमें स्मरण करूंगा, इस समयकी कौनसी जल्दी है? वह अवसरपर धोखा खायेगा और उसको स्मरणही नहीं होगा वह तो शरीरकी पीडामेंही फंसा रहेगा। अन्तसमयकी व्यथामें भी परमेश्वरका स्मरण रहे इसलिये साधकको इस बातका नित्य अभ्यास करना उचित है।

प्रयाण-समय

प्रयाण-कालमें ईश्वर स्मरण करनेका उल्लेख यहां किया गया है। यह प्रयाणकाल कौनसा है? सोचनेपर इसको पता लगेगा कि मनुष्य नित्य अर्थात् प्रतिक्षण प्रयाण करता रहता है। यह अपने धामका यात्री है यह नित्य पथिक है। इस संसारकी गाडीमें यह बैठा है और आगे बढ रहा है। जो इसको स्थिर समझते हैं वे भूल करते हैं। यह प्रवासी है पथिक है मार्गस्थ है इसलिये यह प्रयाणमेंही रहता है। इसकी सभी आयु प्रयाणकाल है क्योंकि पथिकके सभी दिन प्रयाणकालही होते हैं। इसका प्रवास तभी समाप्त होगा जब यह निजधामको प्राप्त होगा। तबतक इसका प्रतिक्षण प्रयाणसमयही है। इसलिये प्रयाण समयमें परमात्माका स्मरण करनेका अर्थ प्रतिदिन और प्रतिक्षण परमात्माका ध्यान करना है। अब सदा प्रतिक्षण परमेश्वरका स्मरण कैसे हो सकता है? श्वासके साथ 'सोऽहं' अथवा 'अहं सः' का जप करनेके अभ्यास से जबतक श्वास चलता रहता है तबतक परमेश्वरका ध्यान होता रहता है। 'सोऽहं' अथवा 'अहं सः' में ओंकारही मुख्य है। इसका विवरण यह है—

[स+] ओ [ह+]म् = ओम्
अ [+ह+] म् [+सः] = अ(उ)म्

इस जपमें भी ओंकारही है। इसके अतिरिक्त जो कर्म अपनेआप होता है वह परमेश्वरको अर्पण करते रहनेसे प्रतिक्षण परमेश्वरकीही अखंड सेवा मनुष्य कर सकता है। इस तरह 'स्वकर्मद्वारा परमात्माकी पूजा' (गी. १८।४६) करनेसे परमात्माका अखंड ध्यान होना संभव है। अनन्य मनसे सुदृढ भक्तिसे और योगसामर्थ्य प्राप्त करके, भ्रुकुटीमें प्राण स्थिर करके उस प्रभुका ध्यान करना चाहिये। किन्तु यह तो तभी हो सकता है जब मनुष्य इस योगसाधनमें सदा तत्पर रहे, एकचित्त होकर योग साधन करे। यह सिद्धि थोडेसे अभ्याससे प्राप्त होनेवाली नहीं है। इसके लिये नित्य साधनकी आवश्यकता है। साधन इतना करना चाहिये कि यह मनुष्यका निज स्वभाव बन जाय। तभी देहपातके कठिन समयमें यह प्रभुका स्मरण कर सकेगा।

परमात्माका स्वरूप

परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये और उसके स्मरणका नित्य अभ्यास करना चाहिये, यह बात यहां सिद्ध है। जिस प्रभुका स्मरण करना चाहिये उसका स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। अन्यथा उसका स्मरणही असंभव है। जिसका पहिले ज्ञान होता है जिसका पूर्व अनुभव होता है उसीका स्मरण हो सकता है। जिसने नाम सुना होता उसीको नामका स्मरण हो सकता है। जिसने कभी नामका दर्शन भी नहीं किया, उसको नामका स्मरण कैसे होगा? अतः उपनिषद् आदि ग्रन्थोंद्वारा परमेश्वरके पहिले साक्षात् अनुभवकी बात समझनी चाहिये। अनुभूत विषयके स्मरणकी यह स्थिति है। जो विषय अनुभूत नहीं है उसका स्मरण कभी नहीं हो सकेगा। इसलिये भगवद्गीतामें अथवा अन्य ग्रंथोंमें जहां स्मरण अनुस्मरण चिंतन अथवा इस अर्थके अन्य शब्द प्रयुक्त हुए हों वहां परमात्माके स्वरूपकी अनुभूति पहिले हो चुकी है, यही समझना चाहिये। ऐसा कभी नहीं कह सकता कि अननुभूतका स्मरण और ध्यान कर। यहां भ्रम हो सकता है कि जो साधक अथवा अनुभवहीन पतित आयुवाले लोग आंख बंद करके बैठे हैं वे अनुभवके बिना किसका ध्यान करते हैं? लोगोंने आंख बंद करके बैठनेका अभ्यास यह माना है। इसीलिये कहा है कि—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।
(बृ. उ. २।४।५)

आत्माको देखना और सुनना चाहिये और पश्चात् उसका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये । आत्माके दर्शन श्रवण मनन और विज्ञानसे उसका ज्ञान होता है । यहां (१) आत्माका दर्शन पहिले होना चाहिये पश्चात् (२) उसका वर्णन सुनना चाहिये तभी (३) उसका मनन ध्यान चिंतन अथवा स्मरण करनेकी योग्यता आ सकती है और तभी (४) उसका निदिध्यासन और ज्ञान हो सकता है । यहां स्मरणका तीसरा स्थान है, इस बात पर पाठक ध्यान दें । पहिले परमात्माका दर्शन करना चाहिये पश्चात् उसका वर्णन सुनना चाहिये और तत्पश्चात् उसका चिंतन ध्यान अथवा अनुस्मरण करना चाहिये । यह युक्तियुक्त अभ्यासका क्रम है ।

भगवद्गीता अ. ७ (श्लो. १९) में 'वासुदेवः सर्वं इति' है । वासुदेव अर्थात् ईश्वरही सब कुछ है ।' यह गीताका स्पष्ट मन्तव्य है । यही बात वेदमें—

पुरुष एवेदं सर्वम् । (ऋ. १०।९०)

पुरुष परमेश्वरही यह सब है ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें कही है । उपनिषदोंमें भी यही कहा है— आत्मा वा इदं सर्वम् इत्यादि । तात्पर्य यह कि वेद उपनिषद् और गीतामें 'परमेश्वर यह सब है' ऐसा कहा है । इसका ज्ञान कैसे प्राप्त करना चाहिये यह विधि सप्तम अध्यायमें कही है । जो भी कुछ वस्तुमात्र पंचमहाभूतोंसे बना है जिसमें मन बुद्धि अहंकार और चैतन्य दीखता है वह सब परमेश्वरका शरीर है यह सब परमेश्वरका रूप अथवा प्रकट रूप है ऐसा बताया गया है । सातवें अध्यायका अच्छी प्रकार मनन करनेसे यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है । यह ज्ञान प्राप्त हो जानेपर यह सब परमात्मा या ब्रह्मका विश्वरूप है ऐसा प्रतीत होगा और परमेश्वरमें मैं प्रवेश करता हूं इसका साक्षात्कार होगा । और —

वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति । (११)

वैराग्यसंपन्न यति जिस परब्रह्ममें प्रविष्ट होते हैं । यह बात अनुभवमें आ जाती । परमेश्वरमें प्रविष्ट होनेके लिये पहिले परमेश्वरका दर्शन होना चाहिये । जब साधकको परमात्माके व्यापक (पुरुष एवेदं सर्वं) सगुण रूपका दर्शन होगा तब अपनेको वह उसमें मग्न अनुभव करेगा । परमात्माके अन्दर अथवा सन्मुख प्रवेश है यह बात इस तरह अनायास अनुभवमें आ जानी चाहिये ।

जब इस तरह परमात्माका दर्शन होगा तब वेद उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जो अनेकविध वचन किया गया है वह परमात्माकाही है यह ज्ञान आ सकेगा । दर्शनके पश्चात् श्रवण करनेका अधिकार इस तरह प्राप्त होता है । जब सबही पुरुष है (पुरुष एवेदं सर्वं) यह प्रत्यक्ष होगा तब—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।
(वा. य. ३२।१)

यही अग्नि आदित्य वायु चन्द्र शुक्र, ब्रह्म आप (जल) और प्रजापति है । यह ज्ञान होगा और अग्न्यादि देवताओंके मंत्र पढकर उसका परमात्माका वर्णन पढ रहा हूं यह अनुभवसे विदित होगा, इस रीतिसे—

वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति । (११)

वेदवेत्ता लोग जिसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं उस अक्षर ब्रह्मका वर्णन वेदके संपूर्ण सूक्तोंमें है इसका पता यह ज्ञान उसे हो जावेगा । यह प्रत्यक्ष होनेपरही वह वेद पढने और सुननेका अधिकारी होता है । परमेश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन होनेके पहिले पढनेपर भी वेद उसकी समझमें नहीं आवेंगे और अपने अज्ञानके कारण वह वेद मंत्रोंके ऐसे अंटसंट अर्थ करेगा कि उनसे परस्पर अनबन बढते जायेंगे । परन्तु परमेश्वरका सगुण रूप प्रत्यक्ष होनेपर वह सत्यज्ञानमयका वर्णन वेदमें देखना और उसको स्पष्ट और ठीक अर्थ ज्ञात हो जावेगा । यही इस प्रत्यक्ष ज्ञानका महत्व है ।

यहां परमात्माके स्वरूपका थोडासा वर्णन किया है—

कविं ।

कवि शब्दके अर्थ सर्वज्ञ ज्ञानी बुद्धिमान चतुर प्राज्ञ सुविचारी अर्थसमीप तत्त्वज्ञानी कवि काव्यनिर्माता त्रिकालज्ञानी ऋषि मुनि आदि हैं । क्रान्तदर्शी, अतीन्द्रियार्थदर्शी जो चर्मचक्षुसे नहीं दीखता उसको

अपने जाननेवालोंको देखनेवाला — ये भी इसके अर्थ हैं।

पुराणम् ।

पुराण शब्दके अर्थ पुराना प्राचीन पुरातन, वृद्ध, प्राथमिक आदि होते हैं। पुरा अपि नव प्राचीन होता हुआ भी नवीन ऐसा इस शब्दका अर्थ होता है और यहां यह अर्थ लेना उचित है। क्योंकि यह परमात्मा पुराना है। यह पुरातन होता हुआ भी नवीन है वृद्ध होता हुआ भी तरुण है।

अनुशासिता ।

जो शिक्षा बताता है, आज्ञा करता है, जो यथायोग्यरीतिसे राज्य चलाता है और दुष्टजीवको दण्ड देता है जिसकी आज्ञामें यह सब जगत् स्थित है, उसे अनुशासक कहते हैं।

अणोः अणीयान् ।

सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, जितने भी सूक्ष्म पदार्थ हैं उनमें यह अतिसूक्ष्म है अतः सर्वव्यापक है।

सर्वस्य धाता ।

सबका धारण करनेवाला निर्माणकर्ता बनानेवाला उत्पादक पोषणकर्ता व्यवस्थापक आत्मा परमात्मा।

अचिन्त्यरूपः ।

उसका रूप अचिन्तनीय है परन्तु वह मनन करनेके लिए कठिन है। अतिमहान् रूप होनेके कारण हरएक मनुष्यका छोटासा मन उसका चिंतन नहीं कर सकता।

आदित्यवर्णः ।

सूर्यके समान तेजस्वी प्रकाशस्वरूप तेजस्वी पदार्थोंको भी तेजस्विता देनेवाला।

तमसः परस्तात् ।

यह प्रकाशस्वरूप होनेके कारण अन्धकारके परे है उसके पास अन्धकार नहीं रह सकता। यहां तमः शब्द केवल अन्धकारकाही वाचक नहीं है अपितु अज्ञान आलस्य शिथिलता दोष आदिका भी वाचक है। अतः जो तमसके परे रहता है उसमें तमके दोष नहीं होते अर्थात् अज्ञान आलस्य शिथिलता आदि दोष नहीं रहते अपितु ज्ञान उद्यम उत्साह निर्दोषता आदि गुण रहते हैं। तमस् दोषोंका निर्देश भगवद्गीतामें किया है वह यहां देखना चाहिये —

तमका विचार

(१) तम अज्ञानसे उत्पन्न होता है मोह करता है और इससे प्रमाद आलस्य और निद्रा उत्पन्न होती है। (गी० १४।८) (२) तम ज्ञानको ढकता है। (१४।९); (३) आलस्य अज्ञान अन्धकार अप्रवृत्ति कर्म करनेकी अरुचि प्रमाद और मोह तमसे होते हैं। (१४।१३) (४) तमका फल अज्ञान है। (१४।१६); (५) तमसे अधःपतन होता है। (१४।१८); (६) तामस मनुष्य बासी बिगड़ा दुर्गंधयुक्त उच्छिष्ट अपवित्र और अस्वच्छ अन्न आनंदसे खाता है। (१७।१०)। (७) तामस मनुष्य अन्नदानहीन, विधिहीन, दक्षिणाहीन मंत्ररहित कर्म करता है। (१७।१३); (८) मूढतासे दूसरेको पीडा देनेके लिये अथवा नाश करनेके लिये जो तप किया जाता है वह तामस है। (१७।१९) (९) देश काल पात्रका विचार न करके अपात्रमें जो दान दिया जाता है जिसमें सत्कार नहीं है, वह तामस दान है। (१७।२२); (१०) नियत कर्मका त्याग तामस है। (१८।७); (११) तत्त्वरहित तुच्छ ज्ञान तामस कहलाता है। (१८।२२); (१२) परिणामका हानिका और हिंसाका विचार छोडकर तथा अपने सामर्थ्यका विचार न करते हुए मोहवश हो जो काम किया जाता है वह तामस कर्म है। (१८।२५); (१३) अयुक्त अहंकारयुक्त हठी शठ नीच आलसी, खिन्न तथा दीर्घसूत्री तामस कर्ता होता है। (१८।२८); (१४) अज्ञानसे घिरी अधर्मको धर्म माननेवाली, सबको उलटी देखनेवाली बुद्धि तामस होती है। (१८।३२); (१५) निद्रा भय शोक खिन्नता और मदको न त्यागनेवाली धृति तामस होती है (१८।३५); (१६) प्रारंभमें और अन्तमें आत्माका मोह बढानेवाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है (१८।३९)।

यहांतक तमका स्वरूप भगवद्गीतामें कहा है। इसका संक्षेपसे तात्पर्य अज्ञान, मोह प्रमाद आलस्य अति निद्रा सुस्ती अप्रकाश अन्धकार अप्रवृत्ति अवनति अधर्मको स्वधर्म जानना मूढता दूसरेका नाश करनेकी बुद्धि अविचार हिंसा हठ आलस्य नीचता दीर्घसूत्रता, अहंकार विपरीत ज्ञान आदि है। यही तमोगुण है इस तमोगुणसे परे परमेश्वर है अर्थात् परमेश्वरके पास ये सब

नहीं है। यहां ज्ञान, विज्ञान निर्दोषता अरसाह जागृति प्रकाश, तेजस्विता बढनेकी प्रवृत्ति, शक्ति उत्कर्ष, सर्वोमें एकत्व आतृत्व शुभच्छा सुविचार अहिंसा अक्रोध सरलता मृदुता बेपरवाहिता अवसर योग्य काम करनेकी शक्ति और सत्यता है। जो उन्नति चाहनेवाला मनुष्य है उसका परमेश्वरके इन गुणोंका ध्यान करना चाहिये और इन गुणोंको अपनाना चाहिये। इस तरह परमात्मा तमसे परे है यही इसका अर्थ है। यदि पाठक इसका मनन करेंगे तो उन्हें तमसे परे होनेका मार्ग विदित हो जायगा।

यहां प्रश्न हो सकता है कि पूर्व स्थलमें (गी. ७।१४) में कहा है कि सात्विक राजस और तामस भाव परमेश्वरसेही होते हैं। यदि यह सत्य है तो तामस भाव भी परमेश्वरसेही हुए हैं। अतः तामस भावसे परे परमेश्वर है ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? यह प्रश्न युक्तियुक्त तो है परंतु ऐसा नहीं है। क्योंकि जिस श्लोकमें परमेश्वरसे सत्व रज तम भावयुक्त होनेका वर्णन है उसी श्लोकमें कहा है कि (न त्वहं तेषु ते मयि) ' इन त्रिगुणात्मक भावोंमें मैं नहीं हूं, परन्तु वे मेरे आधारसे हैं। ' क्योंकि वे परमेश्वरके कारण उत्पन्न हुए हैं तथापि परमेश्वर उनमें नहीं है।

उदाहरणके लिये हम कह सकते हैं कि सूर्यके प्रकाशके कारण इस जगतमें प्रत्येक पदार्थकी छाया दीखती है जहां पदार्थ है वहां उसकी छाया है। यह छाया निःसंदेह सूर्य प्रकाशसे होती है परन्तु सूर्यप्रकाशमें वह छाया नहीं होती। इसी प्रकार दीपके प्रकाशसे कमरेके अन्दरकी वस्तुओंकी छायायें उत्पन्न होती हैं तथापि दीपमें वह नहीं होती। इसी तरह परमेश्वरके कारण सात्विक राजस तामस भाव होते हैं परन्तु वे भाव परमात्मामें नहीं हैं।

इसलिए जिसको दीप चाहिये वह यदि छायामेंही रहेगा तो दीप प्राप्त नहीं कर सकेगा। यद्यपि वह छाया दीपके कारणही होती है तोभी उसको छाया छोड देनी पडती और प्रकाशके मार्गसेही दीपके पास पहुंचना पडता। इसी तरह तमोगुण यद्यपि परमेश्वरसेही हुआ है तथापि उस तमोगुणमें परमेश्वर नहीं है जैसे छायामें दीप नहीं होता। क्योंकि छाया प्रकाशके अभावकाही नाम है उसी प्रकार तमोगुण परमात्म- प्रकाशके अभावकाही एक प्रकारका नाम है अतः जो तमोगुणमें रहेंगे वे परमात्माको प्राप्त नहीं होंगे। इस कारण उपासकको तमोगुणका त्याग करके सत्वगुणकाही आश्रय लेना चाहिये। कमरेके अन्दर जो पदार्थ होते हैं उनकी छाया प्रकाशकी विरुद्ध दिशामें जाते पडती जाती है। कमरेमें कुछ भाग प्रकाशसे व्याप्त होता है और शेष भाग छायासे परिपूर्ण होता है। छाया प्रकाशके अभावका नाम है तथापि छायाका संबंध प्रकाशके साथ रहता है। सत्वगुण प्रकाशका रूप है तमोगुण अन्धकार अथवा छाया का रूप है और रजोगुण छाया और प्रकाशका मिश्रण है-

सत्वगुण	प्रकाश
रजोगुण	प्रकाश+छाया
तमोगुण	अन्धकार छाया

सूर्य और दीप कहते हैं कि हमारे कारण प्रकाश प्रकाशप्रकाश और छाया ये तीनों भाव उत्पन्न होते हैं परंतु हम उनमें नहीं हैं वे हमारे आधारसे हैं। इसी तरह परमेश्वरने कहा है कि ' सत्व रज और तम ये तीन भाव मुझसे उत्पन्न हुए हैं परन्तु वे मुझमें नहीं हैं। '

यदि कोई मनुष्य दीपके पास जाना चाहे तो उसका प्रकाश के मार्गसेही जाना पडेगा। वह कितनी भी देर छायामें घूमता रहे कभी दीपके स्थानको प्राप्त नहीं हो सकता यद्यपि छायाकी उपलब्धि दीपके कारणही होती है तथापि दीपकी प्राप्ति करनेके लिये छाया सहायक नहीं हो सकती। इसी तरह तीनों गुण परमात्मासे होते हैं इसलिये कोई मनुष्य तमोगुणमें व्यस्त हो परमात्म प्राप्तिकी इच्छा करेगा तो उसकी इच्छा कदापि सफल नहीं होगी। उसको शुद्ध सत्वगुणमें अर्थात् प्रकाशके मार्गसेही जाना पडेगा। इसी अवस्थामें जाने प्रकाशके मार्ग और अन्धेरेके मार्गका ज्ञान आवश्यक है। उसका संबंध इस विवरणसे है इसलिये यहां इतना लिखना पडा है।

योग-बल

प्राणायामकी शक्तियुक्त अन्त समयके प्राण स्थिर जिसने और योगबलसे प्राणको भृकुटीमें स्थिर करके जो इस परात्पर पुरुष परमेश्वरका ध्यान करते देह त्यागता है वही उसे प्राप्त करता है। यह मरनेके समयकी तैयारी है। जो सिद्ध

(९) परम सिद्धि

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः- हे पार्थ ! यः नित्यशः अनन्यचेताः (सन्) मां सततं स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अहं सुलभः (अस्मि) ॥ १४ ॥ परमां संसिद्धिं गताः महात्मानः मां उपेत्य पुनः दुःखालयं अशाश्वतं जन्म न आप्नुवन्ति ॥ १५ ॥ अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् (सर्वे) लोकाः पुनरावर्तिनः (सन्ति), हे कौन्तेय ! मां उपेत्य तु पुनः जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! अन्य कुछ भी नहीं है ऐसी भावना बनाकर जो सदा मेरा (ईश्वरका) ही सतत स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीको मैं (ईश्वर) सुलभतया प्राप्त होता हूँ ॥ १४ ॥ परम सिद्ध महात्मा लोग मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होनेके पश्चात्, पुनः दुःखके स्थानरूप अशाश्वत जन्मको प्राप्त नहीं करते ॥ १५ ॥ हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक आदि जितने सब लोक हैं वहाँसे (पुनरावृत्ति) पुनः लौटना होता है, हे कुन्तीनन्दन ! परन्तु मेरे (ईश्वरके) पास आनेपर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता ॥ १६ ॥

पुरुष योगसाधन करता है प्राण जिसके वशमें है वह इस तरह योगबल प्राप्त कर सकता है । सर्वसाधारण मनुष्यको यह योगबल प्राप्त नहीं हो सकता । वह योगी तो अपनी इच्छासे अपने मरणकी तैयारी करता है जैसे कोई मनुष्य अन्य ग्राम जाता है वैसेही योगी दूसरा देह धारण करता है । शरीरपर इतनी आधीनता स्थापित करना चाहिये । जो योगाभ्यास करेगा उसीको यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । अन्य लोग यदि निरन्तर परमेश्वरके गुणोंका ध्यान करेंगे तो उन्हें अभ्यासयोगसे अन्तमें परमेश्वरका स्मरण रहेगा और वे कृतकृत्य होंगे । पूर्वोक्त योगमार्ग यद्यपि सबके लिये उपयोगी नहीं है तथापि इस अभ्यासयोगसे अवश्य उपकार हो सकता है ।

जिस परम पदका वर्णन वेदमें सर्वत्र किया है जिसकी प्राप्तिकी इच्छा वैराग्यवान लोग करते हैं जिसकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उस पदका यहां इस तरह वर्णन किया है । सब इन्द्रियद्वारोंका संयम और मनका हृदयमें निरोध करके तथा मूर्धामें मस्तकमें-प्राणको धारण करनेका अभ्यास करना चाहिये । इस धारणाकी अवस्थामें रहकर ओंकारका जप करता हुआ परमेश्वरका स्मरण करके जो देहको छोड़ता है वह निःसंदेह परम गतिको प्राप्त होता है ।

प्रत्येक मनुष्य अभ्यासबलसे यह सब कर सकता है परन्तु निश्चित अभ्यास करना प्रत्येकके अधिकारमें नहीं होता । जो यह साधना कर सकते हैं वे अवश्य करें । जो जितना कर सकते हैं, वे उतना अवश्य करें । परन्तु जिससे यह प्राणधारणरूपी योग सिद्ध न हो वह साधक इतना अभ्यासयोग अवश्य करे । पूर्वोक्त स्थानमें जो अभ्यासयोग कहा है वह निरन्तर अभ्याससे प्रत्येकको साध्य हो सकता है । अस्तु । भगवद्गीतामें ये श्लोक उपनिषद्से लिये हैं ऐसा विदित होता है । ये श्लोक अब देखिये—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ॥ १५ ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो० ॥ १८ ॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो र्निहितो गुहायाम् ॥ २० ॥ (कठ. उ. २)
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ८ ॥ यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्० ॥ ९ ॥ अणोरणीयान्महतो महीयान् ॥ २० ॥

सब वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, जिसके लिये तप किये जाते हैं और जिसके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है वह पद संक्षेपसे कहता हूं, वही ओंकार है । वह आत्मा अजन्मा नित्य शाश्वत और पुराण है । वह छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा है वह प्रत्येक प्राणीके हृदयमें निवास करता है । वह महान् पुरुष अन्धकारसे परे और सूर्यके समान तेजस्वी है । न इससे कोई छोटा है और न कोई बड़ा है । इत्यादि वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है । पाठक तुलना करके देखें । इस उपासनासे प्राप्त होने वाला फल भी देखिये—

भावार्थ— यहां दूसरा कुछ भी नहीं है ऐसा जानकर जो अपना मन सतत ईश्वरमेंही लगाता है और ऐसा अनन्य चित्त होकर जो सतत ईश्वरकाही स्मरण करता है उस नित्य योगसाधन करनेवाले योगीको ईश्वर सहजहीसे प्राप्त होता है। परम श्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मा लोग ईश्वरको पानेके पश्चात् पुनः पुनः दुःखमय अशाश्वत पुनर्जन्मको फिर नहीं प्राप्त होते। ब्रह्मलोकसे लेकर जितने भी लोक हैं उनमें पहुंचे सिद्ध पुरुष पुनः पुनः लौट आते हैं, परन्तु जो सिद्ध पुरुष ईश्वरको प्राप्त होते हैं, उन्हें लौटना नहीं पड़ता अर्थात् उन्हें पुनः जन्म नहीं लेना होता॥ १४ १५ ॥

ईश्वर-स्मरण

(१४ १५) ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर प्राप्त होता है ऐसा यहां कहा है। (स्मरति) ईश्वरका स्मरण करनेके लिये पहिले ईश्वरका अनुभव होना चाहिये क्योंकि स्मरण अनुभूत विषयकाही होता है। जो विषय किसी तरह भी मनुष्यके अनुभवमें न आया हो वह उसका स्मरण कैसे कर सकेगा? मनुष्यके पास कान त्वचा, नेत्र जिह्वा और नाक ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं; मन मनन करनेकी इंद्रिय है; चिंतन करनेकी वाली इंद्रियका नाम चित्त है, ज्ञान ग्रहण करनेवाली बुद्धि है, इनमेंसे किसी इंद्रियद्वारा अथवा सभी इंद्रियोंद्वारा ईश्वरका ग्रहण पहिले होना चाहिये अथवा जिस किसी तरह ग्रहण हो सके उसी तरह ईश्वरकी प्राप्ति करनी चाहिये। ग्रहण होनेके पश्चात्ही स्मरण हो सकता है। इस विषयमें इससे पूर्व (९ से ११ श्लोकोंकी व्याख्याके प्रसंगमें) जो लिखा है वह भी पाठक देखें। इस रीतिसे ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर सुलभतया प्राप्त हो सकता है।

नित्य-स्मरण

(नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत स्मरण करना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन और प्रतिसमय स्मरण होना चाहिये, बीचमें अन्तर नहीं होना चाहिये। निरंतर स्मरण करना मनुष्यके लिये कैसे संभव है? क्योंकि मनुष्यके जीवनमें ऐसे कई क्षण चले जाते हैं कि जिनमें वह ईश्वरका स्मरण नहीं कर पाता। फिर कैसे ईश्वर प्राप्त होगा?

इसलिये उपाय यही है कि ईश्वरके लियेही अपना जीवन समर्पण करना चाहिये। ईश्वरके लिये संपूर्ण जीवन समर्पण करनेसे इस जीवनमें जो कुछ किया जायगा उससे परमेश्वरका स्मरण होता रहेगा। यह कैसे हो सकेगा इसका वर्णन क्रमशः आगे करेंगे। परन्तु यहां इतनाही स्मरण रखें कि ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण करनेका एकमात्र उपाय आत्मसमर्पणही है। आत्मसमर्पण करनेसे अपना कुछ विषय नहीं रहता जिसका कि वह स्मरण करे। अन्य कोई पदार्थही स्मरण करनेके लिये नहीं रहता जो कुछ रहता है वह ईश्वरही ईश्वर रहता है। ऐसी 'अनन्य' अवस्था होनी चाहिये। जिस अवस्थामें ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य नहीं है, ऐसा निश्चय हो जाता है उसको अनन्य अवस्था कहते हैं। जब चित्तकी ऐसी अवस्था हो जाती है, तब उसे 'अनन्य-चेता' कहते हैं। इसी अवस्थामें अनन्यचेता साधक ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण कर सकता है।

अनन्य-चेता

प्रायः मनुष्य 'अन्यचेता' होते हैं। मैं अन्योंसे भिन्न हूं और अन्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। सब पदार्थ परस्पर भिन्न हैं इस प्रकार मनुष्य सदा भिन्नताका दर्शन करता है। यही दुःखका कारण है। पाठक विचार करें और देखें कि जो कुछ झगडे मानवीय जीवनमें हो रहे हैं वे सबके सब इस भिन्नताके कारणही हो रहे हैं। अतः अनन्य का दर्शन होना चाहिये। कोई अन्य नहीं है ऐसा अनुभवही अनन्य दर्शन है। मुझसे भिन्न कोई नहीं है यह अनुभव मनुष्यको हो सकता है। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। सर्वसाधारण मनुष्य अन्यचेता होते हैं, उन्हें अनन्यचेता बनाना चाहिये। जो ऐसा अनन्यचेता बनेगा वही मनुष्य (नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है। यहां कोई शंका करनेवाले पूछ सकते हैं कि वह किस तरह नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है? देखिये ईश्वरसे भिन्न यहां दूसरा कुछ भी नहीं है ऐसा एक निश्चय हो चुका है। एकबार जो ऐसा निश्चय कर चुका उसे जब कुछ भी स्मरण होगा तब परमेश्वरकाही स्मरण होगा क्योंकि दूसरे किसी पदार्थके स्मरण करनेके लिये उसके सामने आनेकी

(९) ब्रह्म-लोक

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

अन्वयः— ये तु अहोरात्रविदः जनाः सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः अहः, तां युगसहस्रान्तां रात्रिं च विदुः ॥ १७ ॥ अहरागमे सर्वाः व्यक्तयः अव्यक्तात् प्रभवन्ति (पुनः) रात्र्यागमे तत्र अव्यक्तसंज्ञके एव प्रलीयन्ते ॥ १८ ॥ हे पार्थ ! स एव अयं भूतग्रामः अवशः (सन्) भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते (पुनः) अहरागमे प्रभवति ॥ १९ ॥

अनन्यगामी नहीं है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि वही मनुष्य ईश्वरका स्मरण नित्य और सतत कर सकता है कोई अन्य नहीं। अर्थात् अन्यचेता ईश्वरका स्मरण सतत और नित्य नहीं कर सकता। जो अनन्यचेता होता वही ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण कर सकता है। इस श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पदका यह महत्त्व ध्यान देनेयोग्य है।

नित्ययुक्त योगी

जो इस तरह ईश्वरका नित्य और सतत स्मरण करता है, उसका नाम योगी है। योगीका अर्थ है जुड़ा हुआ। जो अनन्यचेता होता है जिसके चित्तमें अन्यपरक भाव नहीं है और केवल अनन्यताकाही भाव है उसमें भिन्नता न होनेके कारण वह समझता है कि यह सब जुड़ा हुआही है। वह अपने आपको भी ईश्वरके साथ जुड़ा हुआ अनुभव करता है। अतः वह सच्चा योगी (जुड़ा हुआ) कहलाता है। वह (नित्ययुक्त योगी) नित्य ईश्वरके साथ संयुक्त रहता है, कभी उससे भिन्न नहीं होता। यह एक बड़ी महत्त्वकी बात है। ईश्वरके साथ नित्य संयुक्त रहना कोई सहज कार्य नहीं है परन्तु अनन्यचित्तताका अभ्यास मनमें धारण करनेवालेही ईश्वरके साथ नित्ययुक्त हो सकते हैं; यही अनन्यचित्तताका महत्त्व है।

इस प्रकार जो (अनन्यचेताः) अन्य भाव छोड़कर रहनेवाला (नित्ययुक्तः) नित्य संयुक्त योगी होता है वह (नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण करता रहता है अतः (तस्य सुलभः) उसको ईश्वर सुलभ है अर्थात् उसको ईश्वर सहजहीमें प्राप्त होता है उससे वह दूर नहीं रह सकता।

महात्मा

इस तरह एकवार यदि साधक परमेश्वरके (उप-एत्य) पास पहुँच जाय तो वह महात्मा बन जाता है। इसके पूर्व उसका आत्मा अल्प (अल्पात्मा) रहता है। परमेश्वरकी पूर्णताके साथ उसका मेल हो जानेसे वह पूर्णात्मा किंवा महात्मा हो जाता है और (परमां संसिद्धिं गताः) उसे परम संसिद्धि प्राप्त हो जाती है। यह उन्नतिकी अन्तिम अवस्था है। यह अवस्था जिसको प्राप्त होती है उसको (अशाश्वतं दुःखालयं पुनर्जन्म न) अस्थिर और दुःखमय पुनर्जन्म वारवार प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह जन्ममरणके चक्रसे मुक्त हो जाता है। इस जन्ममरणसे मुक्त होनाही मनुष्यजन्मका अन्तिम ध्येय है।

जबतक वह अल्पात्मा रहता है अर्थात् जबतक इसकी दृष्टि भेदभावसे युक्त होती है, तबतक इसको पुनर्जन्म आता ही रहता है। परन्तु जिस समय इसके चित्तसे अन्य भाव दूर हो जायेगा उसी समय वह महात्मा और अनन्यचेता हो जायेगा और तत्पश्चात् उसे जन्ममरणके दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे। ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक हैं, वे पुनर्जन्म देनेवाले हैं। उन लोकोंको जो प्राप्त होते हैं उन्हें पुण्यक्षय होनेपर पुनर्जन्म लेनाही पड़ता है। परन्तु पूर्वोक्त रीतिसे ईश्वरको प्राप्त करनेके पश्चात् पुनर्जन्मके यह भोगनेकी संभावनाही दूर जाती है। अब ब्रह्मलोक आदि लोकोंका स्वरूप बताते हैं वह देखिये—

महोरात्रका प्रमाण जाननेवाले लोग जानते हैं कि सहस्र युगोंका ब्रह्माका एक दिन और सहस्र युगोंकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है ॥ १७ ॥ ब्रह्माके दिनके आरम्भमें अव्यक्त प्रकृतिसे सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रिके आरंभमें उसी अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन! वही भूतोंका समुदाय परतन्त्रतासे (परवश होकर) बार बार उत्पन्न होकर, रात्रि होतेही लीन हो जाता है और दिन होनेपर फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— कृत त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं इन चारों युगोंका नाम मिलकर महा युग है। ऐसे एक सहस्र महायुगोंका ब्रह्माका एक दिन और उतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है [अर्थात् ब्रह्माका एक अहोरात्र दो सहस्र महायुगोंका होता है। ऐसे ३६ अहोरात्रोंका एक वर्ष और १ वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु होती है।] ब्रह्माके दिनके आरंभ होते ही अव्यक्त प्रकृतिसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होजाती है और दिनकी समाप्ति होकर रात्रिका आरम्भ होनेके समय सब भूतोंका लय उसी अव्यक्त प्रकृतिमें हो जाता है। जो भूतोंका समुदाय हम देखते हैं वह उत्पन्न होने और लय होनेमें स्वतंत्र नहीं है। वह नियमचक्रके अधीन है अर्थात् परतंत्र है। अतः ब्रह्माकी रात्रिके प्रारम्भ में अवश होकर अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और ब्रह्माके दिनके प्रारंभमें अवश होकरही उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है। किसीके मनमें यदि उत्पन्न होने या लीन होनेकी इच्छा न हो तो भी उसका कुछ वश नहीं चल सकता और यह अनादि चक्रमें घूमताही रहता है ॥ १७-१९ ॥

ब्रह्माका दिन

(१७-१९) इस स्थानमें ब्रह्माके दिनका वर्णन है। यह काल गणनाका विषय है। कृतयुगकी अवधि ४ दैवी वर्ष त्रेता युगका प्रमाण ३ दैवी वर्ष द्वापर युगका प्रमाण २ दैवी वर्ष और कलियुगका प्रमाण १ दैवी वर्ष माना गया है। सब मिलकर १ दैवी वर्ष होते हैं। एक युग समाप्त होतेही दूसरा युग प्रारंभ नहीं होता। बीचमें संधिसमय भी होता है। इस संधिसमयकी अवधि निम्न प्रकार मानी गयी है। कृतयुगके आदि अन्तमें चार चार सौ वर्ष मिलकर ८ वर्ष त्रेताके आदि अन्तमें तीन तीन सौ वर्ष मिलकर ६ वर्ष द्वापरके आदि अन्तमें दो दो सौ वर्ष मिलकर ४ वर्ष और कलियुगकी आदि अन्तमें सौ सौ वर्ष मिलकर २ वर्ष सब मिलकर २ वर्ष संधिकालका समय है। मुख्य चार युगोंका समय १ और संधिकालके २ वर्ष मिलकर चारों युगोंका कुल समय १२ दैवी वर्ष होता है। यह चतुर्युगीका समय है इसीको एक महायुग कहते हैं। इस चतुर्युगीके कितने मानवीय वर्ष होते हैं, देखिये—

मानवी ३६ दिनोंका १ दैवी दिन होता है। इस तरह मानवी ३६ वर्षोंका १ दैवी वर्ष होता है। अतः १२ ×३६ =४३२ मानवीय वर्ष एक चतुर्युगके होते हैं। इसका प्रमाण यह है—

३६ मानवी दिन	=	१ मानवी वर्ष = १ दैवी दिन
३६ दैवी दिन	=	१ दैवी वर्ष
१२ दैवी वर्ष	=	१ चतुर्युग = १ महायुग
७१ महायुग	=	१ मन्वन्तर
१४ मन्वन्तर और १५ संधिकाल	=	ब्रह्माका १ दिन अथवा १ महायुग

१४ मन्वन्तरोंके (१४×७१) ९९४ महायुग हुए और प्रति मन्वंतरके पश्चात् कृतयुग जितना (४ दैवी वर्षोंका) संधिकाल होता है। ऐसे १४ मन्वन्तरोंमें १५ संधिकाल होते हैं। अतः (१५×४ मिलकर =) ६ महा युग संधिकालके मिलकर (९९४+६) = १ महा युग एक ब्रह्माके दिनमें होते हैं।

इससे पूर्व महायुगका प्रमाण (१२ +३६ =) ४३२ मानवीय वर्ष बताया है। ऐसे एक सहस्र युग ब्रह्माके एक दिनमें होते हैं अतः ४३२ × १ =४३२ इतने मानवीय वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है। अर्थात् ब्रह्माके अहोरात्रका समय ८६४ मानवीय वर्षोंका है। मनुस्मृतिमें इस विषयमें कहा है—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

(८) पुनरावर्तनका समय

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ २३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः २४
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते २५
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ ! यत्र काले तु प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिं आवृत्तिं च एव यान्ति तं कालं वक्ष्यामि ॥२३॥ अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः (पक्षः) षण्मासाः उत्तरायणं तत्र (काले) प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ॥२४॥ धूमः रात्रिः तथा कृष्णः (पक्षः), षण्मासाः दक्षिणायनं तत्र (काले प्रयातः) योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते ॥२५॥ जगतः एते हि शुक्लकृष्णे गती शाश्वते मते । एकया अनावृत्तिं याति अन्यया पुनः आवर्तते ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस समयमें प्रयाण करनेसे योगी लोग फिर लौटकर नहीं आते और (जिस समयमें प्रयाण करनेसे) पुनः आते हैं वह समय मैं तुझे बताऊंगा ॥ २३ ॥ अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायणके छः महीने, इस समयमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके छः महीने इस समयमें जानेवाले कर्मयोगी चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं ॥ २५ ॥ जगत्के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग सनातन हैं। एकसे लौटकर नहीं आना पडता तथा दूसरेसे पुनः लौटकर आना ही पडता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— जिस समयमें देह त्यागनेसे लौटकर आना पडता है और जिस समयमें प्रयाण करनेसे लौटकर नहीं आना होता, इस विषयमें यह सिद्धान्त है कि उत्तरायणके छः महीनोंके शुक्ल पक्षमें दिनके प्रकाशमें अग्निके जलते रहनेके समयमें जो ब्रह्मज्ञानी इस देहको छोडकर चले जाते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और लौटकर वापस नहीं आते। तथा दक्षिणायनके छः महीनोंके कृष्ण पक्षमें रात्रीके अन्धेरेके समयमें अग्निसे धूम फैलानेके समयमें जो कर्मयोगी देह छोडकर जाते हैं, वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेते हैं। इस जगत्की ये शुक्ल और कृष्ण गति शाश्वत हैं। एकसे पुनर्जन्म और दूसरेसे मोक्ष मिलता है ॥ २३-२६ ॥

परमेश्वर किसी दूसरे स्थानसे आकर प्राप्त नहीं होता। उसके वह अनन्य होनेका आशयही यह है कि वह परमेश्वरका एक भाग बनता है (मीमांसा । अ. १५।७)। वह परमेश्वर का अंश बननेपरही 'अनन्य' हो सकता है। जो अन्य होगा वह कदापि अनन्य नहीं हो सकता। जो स्वभावसे अनन्य होगा वही अनन्य हो सकता है। अतः कहा है कि—

तदपश्यत्, तदभवत् तदासीत्। (वा. य. ३२)

उसने उस ब्रह्मको देखा, एकमेव वह स्वयं ब्रह्म बन गया क्योंकि वह पहिलेसेही ब्रह्म था। यदि वह स्वयं ब्रह्म न होता तो कदापि ब्रह्म न बनता था, इसलिये बन गया। अस्तु। इस तरह—

पर-पुरुष	पर-भाव	परमपद
पर-अव्यक्त	अव्यक्त (सनातन)	मूलप्रकृति
अव्यक्त	अव्यक्त	अक्षर
व्यक्त	विश्व (भूतादि)	पंच महाभूत

जो परम पुरुष है वही परम गति, परम धाम, परम पुरुष, परम भाव आदि नामोंसे वर्णित होता है। उसे मनुष्योंको प्राप्त करना चाहिये।

यहां 'अव्यक्त' शब्द दैवी प्रकृति और अक्षर परब्रह्म इन दोनों अर्थोंमें आया है। अतः (अव्यक्तात् भाव्य' अव्यक्तः) एक अव्यक्तसे दूसरा अव्यक्त, ऐसा यहां अव्यक्त अक्षर ब्रह्मके विषयमें कहा है। अव्यक्त शब्दके ये दोनों अर्थ लेनेसे अर्थकी स्पष्टता हो सकती है। गीतामें 'अक्षर' शब्द भी इसी तरहके दो अर्थोंके साथ प्रयुक्त हुआ है इसका अनुसंधान पाठक अवश्य करें।

अब मरनेके पश्चात् पुनर्जन्म प्राप्त होने और न होनेके विषयमें जो कालकी अवधि नियत है, उस संबंधमें कहते हैं—

(२३-२६) किस समयमें मृत्यु होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है और किस समय मृत्यु होनेसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है, इसका संकेत यहाँ किया है । उत्तरायणके छः महीनोंमें शुक्ल पक्षमें दिनके समय इन्द्राग्निकी ज्योति जहाँ तेज रहनेके कारणमें ब्रह्मज्ञानी देह छोड़ते हैं और वे सीधे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । दक्षिणायनके छः महीनोंमें कृष्ण पक्षकी रात्रिके समय इन्द्राग्नि बुझनेके पश्चात् जो धूआँ फैलता है उस समय जो कर्मयोगी देह छोड़ते हैं, वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं । इनको पुनर्जन्म लेना पड़ता है । ब्रह्मज्ञानियोंकी गति प्रकाशगति कहलाती है और दूसरोंकी धूम्र गति कही जाती है । ये दोनों गतियाँ इस जगत्में सनातन कालसे चल रही हैं जो अर्चिरादि मार्गसे जाते हैं वे मुक्त होते हैं और धूम्र मार्गसे चले जाते हैं वे लौटकर वापस आते हैं।

इन मार्गोंका अधिक विचार करना चाहिये । साधारण व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशके समय मार्ग चलनेसे पथिक बिना विघ्न इष्ट स्थानमें अच्छी तरह पहुँच सकता है । यदि वह गाढ अंधकारकी रात्रिमें धूआँ फैलनेके समय अथवा हिम फैलनेके समय प्रवास करनेके लिये चला जायगा तो उसको मार्ग नहीं दीखेगा ठोकर खायेगा गिरेगा और गन्तव्य स्थानको न पहुँच वापसही लौट आयेगा । यदि अंधकारमें वह अपने साथ दीप लेकर चलेगा तो अपने मार्गको सुगमताके साथ काट सकेगा अर्थात् गन्तव्य स्थानको पहुँचनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता है यह बात प्रत्यक्ष व्यवहारमें तथा अनुभवमें आनेवाली है ।

अग्नि ज्योति दिन शुक्ल पक्षकी चन्द्रिका ये शब्द मार्ग दर्शक प्रकाशके सूचक हैं और धूम रात्रि अंधेरा कृष्ण पक्ष ये शब्द मार्गलोपक अन्धेरेके सूचक हैं । यहाँ शब्दोंका हठ न करते हुए यदि भावकी ओर ध्यान दिया जाय तो पता लग जायगा कि ये शब्द केवल प्रकाश और अंधेरेके सूचक हैं । उत्तरायणमें वृष्टि नहीं होती हिमके पिघलनेसे मार्ग खुल जाते हैं तथा प्रवासके लिये सुगमता हो जाती है । इसी तरह दक्षिणायनमें वृष्टिके कारण प्रवासमें असुविधा होतीही है । अर्थात् प्रकाशके मार्गमें प्रवासकी सुगमता है और कृष्णमार्गमें प्रवासकी कठिनता है । यह बात विचारशील पाठक अच्छी प्रकार समझ सकते हैं ।

यहाँ जो इसमें प्रवास करना है वह ब्रह्मधामका प्रवास है । यदि इस प्रवासमें प्रकाश हमारा साथी रहा तो सुगमता होगी और यदि प्रकाश न रहा और अन्धेरेमें ठोकरमा पड़ा तो बड़ा दुःख होगा । इसलिये आध्यात्मिक ब्रह्मधामके मार्गमें भी प्रकाशकी सहायता अत्यंत आवश्यक है । यहाँ आध्यात्मिक ब्रह्मधामके मार्गमें प्रवासके मार्गमें प्रकाश कौनसा है ? सद्गुरु ही मुख्य प्रकाश देनेवाला अग्निके समान तेजःकेन्द्र है । इसीकी ज्ञानरूप ज्योति साधकको मार्ग दिखाती है । जबतक इस सद्गुरुके ज्ञानरूप प्रकाशमें साधक रहता है तबतक उसे दिनके समान प्रकाश मिलता है । यही आध्यात्मिक प्रवासके पथिकका दिन है । शुक्ल पक्षमें रहनेका अर्थ यही है कि कभी अशुद्ध पक्षका आश्रय न करना मलिन पक्षके लिये अपनी शक्ति कदापि समर्पित न करना । हर समय विचार करते रहना चाहिये कि मैं शुद्ध पक्षमें हूँ अथवा अशुद्ध पक्षमें ? इस तरह जो सद्गुरुरूपी सूर्यके ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित दिनमें रहता है और सदा शुद्ध पक्षका पक्षपाती है उसीका उत्तर-अयन होता है अर्थात् (उत्-तर) अधिक ऊँचा (अयन) गमन होता है वह उच्च अवस्थाको प्राप्त करता है । इस प्रकार मार्गसे जानेवाले ज्ञानी सीधे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं ।

अब इसके विपरीत जो सद्गुरुको प्राप्त नहीं करते वे गाढ अन्धकारकी रात्रिमें धूमसदृश्के समान भ्रान्त हो जाते हैं मार्ग नहीं देख सकते (रात्रि = रमयित्री) रममाण होना- भोग भोगना चाहते हैं भोग भोगते और भोगोंसे रोगी होते चले जाते हैं । इतना होनेके पश्चात् वे अशुद्ध मलिन (कृष्ण) पक्षमें संमिलित हो जाते हैं । इनके लिये कोई मार्गदर्शक नहीं होता और न वे स्वयं मार्ग देख सकते हैं, इस तरह चारों ओरसे कष्ट भोगते हुए, ठोकरें खाते हुए (दक्षिण-अयन) दक्षिण-गतिको प्राप्त होते हैं । दक्षिण यह पितरोंकी गति है यह मृत्युकी गति है यह वारवार दुःख भोगनेकी गति है । वे इसी अधोगतिको प्राप्त होते हैं । यहा उनको कोई सहायक नहीं मिलता । यहीं इनके भोगी और रोगीही साथी होते हैं जो कभी शुद्ध पक्षमें संमिलित नहीं हो सकते । ऐसे पक्षमें संमिलित होनेके कारण वे अंधेरेमेंही ठोकरें खाते हैं । इस प्रकार सरल मार्गसे दूर हो जानेपर इनको कुछ प्रकाश दीखता है । वह प्रकाश स्वयंप्रकाशी ब्रह्मचारी आदित्यका नहीं है, प्रत्युत परप्रकाशी

(७) परम धाम

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति २०
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम २१
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् २२

अन्वयः— यः तु सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति, सः तस्मात् अव्यक्तात् अन्यः अव्यक्तः सनातनः परः भावः (अस्ति) ॥ २० ॥ यः अव्यक्तः (भावः) अक्षरः इति उक्तः तं परमां गतिं आहुः (ज्ञानिनः) यं प्राप्य न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम (अस्ति) ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! भूतानि यस्य अन्तःस्थानि (सन्ति) येन इदं सर्वं ततं सः तु परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या लभ्यः (अस्ति) ॥ २२ ॥

जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता, वह उस अव्यक्तसे भिन्न अव्यक्त और सनातन एक दूसरा भाव है दूसरा पदार्थ है ॥ २० ॥ अक्षर नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त भावकोही परम गति कहते हैं। ज्ञानी जिसे प्राप्त करके फिर नहीं लौटते वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! सब भूत जिसके अन्दर हैं जिसमें यह सब व्याप्त है वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ— ये संपूर्ण भूतमात्र नाशको प्राप्त होते हैं। इन सबके नाश होनेपर भी एक तत्त्व ऐसा रहता है जिसका कभी भी नाश नहीं होता। इस प्राकृतिक अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ जो सनातन टिकनेवाला अव्यक्त पदार्थ है वही सबसे श्रेष्ठ है। जो अक्षर नामसे सुप्रसिद्ध अव्यक्त तत्त्व है वही परम गति है वही परम पद है और वही परम धाम है। इस धामको प्राप्त होनेवाले ज्ञानियोंको फिर पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। वही ईश्वरका श्रेष्ठ धाम है। इसके अन्दर संपूर्ण भूत मात्र हैं और वही सब भूतोंमें व्याप्त है। वही परम पुरुष केवल अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता है। इसकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २०–२२ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥
(मनुस्मृति अ० १)

यह ब्रह्माके दिन और रात्रिका प्रमाण है। कृत युगका समय चार सहस्र वर्षोंका है। इसका संधिकाल भी चार सौ वर्षोंका है। अन्य युगोंका समय प्रत्येकमें एक एक सहस्र वर्षोंसे न्यून और प्रत्येकका संधि-समय सौ सौ वर्षोंसे क्रमशः न्यून होगा। मनुष्योंके चतुर्युगोंकी बराबरी बारह सहस्र वर्षोंकी है। यही देवोंका एक युग है। ऐसे एक सहस्र वर्ष होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है और उतनाही समय रात्रिका होता है यह अहोरात्रकी गणना करनेवालोंका मत है। यही बात निरुक्त अ० १४, खं० ४ में कही गयी है। भगवद्गीताका सहस्रयुगपर्यन्त आदि (८।१७) श्लोक निरुक्तमें भी मिलता है। यही कालगणना महाभारत शान्तिपर्व अ० २३१ और सूर्य-सिद्धान्त १-१५-२ में कही गई है।

ब्रह्माका दिन प्रारंभ होते ही संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है और ब्रह्माकी रात्रि प्रारंभ होते ही सब भूतोंका लय हो जाता है। इस तरह उत्पत्ति और लय चल रहे हैं। ब्रह्माके ऐसे सौ वर्ष व्यतीत होनेपर दूसरा ब्रह्मा आता है। यह क्रम अव्याहत चल रहा है। इसका अन्त नहीं है। अतः इस ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेसे बचाव भी शान्ति नहीं है। जन्ममरणका दुःख बनाही रहता है। यह दुःख मन कभी नहीं हटता। इसके हटानेका उपाय अब कहते हैं

परम धामकी खोज

(१-२१) इन श्लोकोंमें परम धामका वर्णन है। परम धामकी खोज करनेके लिये हमें अपने चारों ओर देखना चाहिये। चारों ओर अनंत पदार्थ दीखते हैं। क्या इन विविध पदार्थोंमें परम धाम है? नहीं। ये सभी पदार्थ ऐसे हैं जो पहिले नहीं थे किसी समयमें उत्पन्न हुए हैं और कुछ समयके पश्चात् नष्ट हो जायँगे। उत्पन्न होना रहना बढ़ना परिणत होना क्षीण होना और नाश होना इन सब पदार्थोंकी ये छः अवस्थाएं होती हैं। जो पदार्थ विकारवान् और नाशवान् हैं वह परम धाम कहलाने योग्य नहीं हो सकते। परम धामकी प्राप्ति तो अविनाशी सनातन होनेसे ही होती है। यदि हमने परम धामके बदले कोई ऐसा विकारी नाशवान् पदार्थ प्राप्त किया तो वह हमें क्षणमात्र सुख देगा और कुछ समयके पश्चात् वह स्वयं नष्ट हो जायगा। ऐसे नश्वर पदार्थसे भला क्या काम होगा? और ऐसी नश्वर वस्तु प्राप्त करनेके लिये इतने परिश्रम करनेकी भी क्या आवश्यकता है? अतः जो परम धाम हमें प्राप्त करना है वह इन नश्वर वस्तुओंके अन्दर नहीं हो सकता।

हम प्रतिदिनके अनुभवसे ऐसा कह सकते हैं कि ये सब पदार्थ नष्ट हो जानेवाले हैं। सब व्यक्त पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, अतः केवल व्यक्त वस्तु परम धाम नहीं हो सकती। इससे परे अव्यक्त है। संभवतः वह अव्यक्त परम धाम होगा। परन्तु यहां अव्यक्त दो प्रकारके कहे गये हैं। एक तो वह है जो इन सब नश्वर वस्तुओंका उपादान कारण महत्तत्त्व अथवा गुणसाम्या मूल प्रकृति है। जैसे मिट्टीसे घड़ेकी उत्पत्ति समान सब वस्तुएं बनती हैं और घड़ेके मिट्टीमें मिल जानेके समान सब वस्तुएं उसीमें लीन हो जाती हैं। इस महत्तत्त्वको और गुणसाम्या प्रकृतिको भी अव्यक्त कहते हैं परन्तु यह अव्यक्त भी परम धाम कहने योग्य नहीं है क्योंकि वह एक समय अव्यक्त स्थितिमें रहता है और दूसरे समय व्यक्त स्थितिमें परिणत होता है अर्थात् सदा एकसा नहीं रहता। जो एकसा नहीं रहता उसके आश्रयपर हम कैसे विश्वास रख सकते हैं? उदाहरणके लिये देखिये तालाबपर जमे हिमपर यदि किसीने निवास किया तो पिघल जानेपर वह उस जलमें डूब जायगा। क्योंकि वह जल एक समय हिमरूपमें कड़ा हो जाता है और दूसरे समयमें प्रवाही बन जाता है। इसी तरह यह गुणसाम्या प्रकृतिरूप जो अव्यक्त है वह एक समय अव्यक्त रहता है और दूसरे समयमें व्यक्त रूप धारण कर लेता है। अतः वह परम धाम होने योग्य नहीं है।

परम धाम ऐसा होना चाहिये जो अखंड एकरस एकरूप और एकस्थितिवाला हो। वही विश्वासयोग्य विश्रामस्थान हो सकता है। मूल प्रकृतिके अनेक पदार्थोंमें एक भी ऐसा नहीं है। इसीका वर्णन इस श्लोकमें इस प्रकार किया है—

अव्यक्तात् अन्यः अव्यक्तः सनातनः परः भावः। (२०)

इस गुणसाम्या मूल प्रकृतिसे (अव्यक्त प्रकृतिसे) दूसरा एक सनातन अव्यक्त (आत्मतत्त्व) है वही सच्चा श्रेष्ठ तत्त्व है।' वही सच्चा परम धाम कहलाने योग्य है क्योंकि यह सदा एकरस, अखंड और सनातन है। वह जैसा आज है वैसाही कल था और वैसाही भविष्यमें रहेगा। संपूर्ण नाशवान् पदार्थोंमें यही अविनाशी है। सबके नाश होनेपर भी यह एकसा बना रहता है। यह विकाररहित है। इसीको—

अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः

अव्यक्त अक्षर कहते हैं। और इसी अव्यक्त अक्षरको—

परमां गतिं आहुः। (२१)

तत् परम धाम। (२१)

परम गति और परमधाम कहते हैं। यही अन्तिम साध्य है। यहां पहुंचनेपर फिर (यं प्राप्य न निवर्तन्ते) दुःखमें लौटना नहीं पड़ता। यहीं अखंड आनन्द प्राप्त होता है। यही परमात्माका पद है। इसीको ईश्वरकी सत्ता कहते हैं। यही ब्रह्मपद है। यही (परः पुरुषः) पर पुरुष परम पुरुष कहलाता है। इसीमें सब भूत हैं और सब भूतोंमें यह रहता है। यही सर्वत्र व्याप्त है। (अनन्यया भक्त्या लभ्यः) अनन्य भक्तिसेही उसकी प्राप्ति हो सकती है। जिसमें अन्य भाव नहीं है, वह अनन्य भाव है और उसके साथ जो भक्ति होती है वह अनन्य भावकी भक्ति है। मैं ईश्वरसे विभक्त नहीं हूं, मैं ईश्वरसे भिन्न नहीं ईश्वरसे अन्य नहीं ऐसे भावसे जो भक्ति होती है जो सेवा होती है वह अनन्य भक्ति है। जो ऐसी अनन्य सेवा करता है उसको परमेश्वर प्राप्त होता है क्योंकि वह परमेश्वरसे अभिन्न होता है अभिन्न होनेके कारणही वह सदा प्राप्त रहता है। उसको

(८) पुनरावर्तनका समय

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ २३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः २४
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते २५
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

अन्वयः— हे भरतर्षभ ! यत्र काले तु प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिं आवृत्तिं च एव यान्ति, तं कालं वक्ष्यामि ॥२३॥ अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः (पक्षः) षण्मासाः उत्तरायणं तत्र (काले) प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ॥२४॥ धूमः रात्रिः तथा कृष्णः (पक्षः), षण्मासाः दक्षिणायनं तत्र (काले प्रयातः) योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते ॥२५॥ जगतः एते हि शुक्लकृष्णे गती शाश्वते मते । एकया अनावृत्तिं याति अन्यया पुनः आवर्तते ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस समयमें प्रयाण करनेसे योगी लोग फिर लौटकर नहीं आते और (जिस समयमें प्रयाण करनेसे) पुनः आते हैं वह समय मैं तुझे बताऊंगा ॥ २३ ॥ अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष उत्तरायणके छः महीने इस समयमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ धूम रात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणायनके छः महीने इस समयमें जानेवाले कर्मयोगी चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं ॥ २५ ॥ जगत्‌के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग सनातन हैं । एकसे लौटकर नहीं आना पडता तथा दूसरेसे पुनः लौटकर आना ही पडता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— किस समयमें इस स्थानसे लौटकर आना पडता है और किस समयमें प्रयाण करनेसे लौटकर नहीं आना होता इस विषयमें यह सिद्धान्त है कि उत्तरायणके छः महीनोंके शुक्ल पक्षमें दिनके प्रकाशमें अग्निके जलते रहनेके समयमें जो ब्रह्मज्ञानी इस देहको छोडकर चले जाते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और लौटकर वापस नहीं आते। तथा दक्षिणायनके छः महीनोंके कृष्ण पक्षमें रात्रीके अन्धेरेके समयमें अग्निसे धूम फैलनेके समयमें जो कर्मयोगी देह छोडकर जाते हैं, वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेते हैं। इस जगत्‌की ये शुक्ल और कृष्ण गति शाश्वत हैं। इनसे पुनर्जन्म और दूसरेसे मोक्ष मिलता है ॥ २३-२६ ॥

परमेश्वर किसी दूसरे स्थानसे आकर प्राप्त नहीं होता। उसके यह अनन्य होनेका आशयही यह है कि यह परमेश्वरका एक भाग बनता है (ममैवांशः । भ १५।७)। यह परमेश्वर का अंश बननेपरही अनन्य हो सकता है। जो अन्य होगा वह कदापि अनन्य नहीं हो सकता। जो स्वभावसे अनन्य होगा वही अनन्य हो सकता है। अतः कहा है कि—

तद्‌पश्यत्, तद्‌भवत् तदासीत्। (वा य ३२)

उसने उस ब्रह्मको देखा देखनेपर वह स्वयं ब्रह्म बन गया क्योंकि वह पहिलेसेही ब्रह्म था। यदि वह स्वयं ब्रह्म न होता तो कदापि ब्रह्म न बनता था इसीलिये बन गया। अस्तु। इस तरह–

पर-पुरुष	पर भाव	परमेश्वर
पर-अव्यक्त	अव्यक्त (प्रधान)	गुणसाम्या प्रकृति
अव्यक्त	अव्यक्त	महत्तत्त्व
व्यक्त	विश्व (भूतादि)	पञ्च महाभूत

जो परम पुरुष है वही परम गति परम धाम पर पुरुष परम भाव आदि नामोंसे वर्णित होता है। वही मनुष्योंको प्राप्त करना चाहिये।

यहां 'अव्यक्त' शब्द दैवी प्रकृति और अक्षर परमात्म इन दोनों अर्थोंमें आया है। अतः (अव्यक्तात् अन्यः अव्यक्तः) एक अव्यक्तसे दूसरा अव्यक्त, ऐसा यहां अव्यक्त अक्षर ब्रह्मके विषयमें कहा है। अव्यक्त शब्दके ये दोनों अर्थ लेनेसे अर्थकी स्पष्टता हो सकती है। और अक्षर शब्द भी इसी तरहके दो अर्थोंके साथ प्रयुक्त हुआ है इसका अनुसंधान पाठक अवश्य करें।

अब मरनेके पश्चात् पुनर्जन्म प्राप्त होने और न होनेके विषयमें जो कालकी अवधि नियत है वह संक्षेपमें कहते हैं—

(२३-२६) किस समयमें मृत्यु होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है और किस समय मृत्यु होनेसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है इसका संकेत यहां किया है । उत्तरायणके छः महीनोंमें शुक्ल पक्षमें दिनके समय हवनाग्निकी ज्योति जहां तेज रहनेके कालमें ब्रह्मज्ञानी देह छोड़ते हैं और वे सीधे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । दक्षिणायनके छः महीनोंमें कृष्ण पक्षकी रात्रिके समय हवनाग्नि बुझनेके पश्चात् जो धूवाँ फैलता है उस समय जो कर्मयोगी देह छोड़ते हैं वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं । इनको पुनर्जन्म लेना पड़ता है । ब्रह्मज्ञानियोंकी गति प्रकाशगति कहलाती है और दूसरोंकी धूम गति कही जाती है । ये दोनों गतियां इस जगत्‌में सनातन कालसे चल रही हैं जो अर्चिरादि मार्गसे जाते हैं वे मुक्त होते हैं और धूम मार्गसे चले जाते हैं वे लौटकर वापस आते हैं।

इन मार्गोंका अधिक विचार करना चाहिये । साधारण व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशके समय मार्ग चलनेसे पथिक बिना विघ्न इष्ट स्थानमें अच्छी तरह पहुंच सकता है । यदि वह गाढ अंधकारकी रात्रिमें धूवाँ फैलनेके समय अथवा हिम फैलनेके समय प्रवास करनेके लिये चला जायगा तो उसको मार्ग नहीं दीखेगा, ठोकर खायेगा, गिरेगा और प्राप्तव्य स्थानको न पहुंच कर वापस ही लौट आयेगा । यदि अंधकारमें वह अपने साथ दीप लेकर चलेगा तो अपने मार्गको सुगमताके साथ काट सकेगा अर्थात् प्राप्तव्य स्थानको पहुंचनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता है यह बात प्रत्यक्ष व्यवहारमें तथा अनुभवमें आनेवाली है ।

अग्नि ज्योति दिन शुक्ल पक्षकी चन्द्रिका ये शब्द मार्ग दर्शक प्रकाशके सूचक हैं और धूम रात्रि अंधेरा कृष्ण पक्ष ये शब्द मार्गरोधक अन्धेरेके सूचक हैं । यहां शब्दोंका हठ न करते हुए यदि भावकी ओर ध्यान दिया जाय तो पता लग जायगा कि ये शब्द केवल प्रकाश और अंधेरेके सूचक हैं । उत्तरायणमें वृष्टि नहीं होती जिससे कीचड़से मार्ग रुक जाते हैं तथा प्रवासके लिये सुगमता हो जाती है । इसी तरह दक्षिणायनमें वृष्टिके कारण प्रवासमें असुविधा होतीती है । अर्थात् प्रकाशके मार्गमें प्रवासकी सुगमता है और कृष्णमार्गमें प्रवासकी कठिनता है । यह बात विचारशील पाठक अच्छी प्रकार समझ सकते हैं ।

यहां जो हमें प्रवास करना है वह अध्यात्मका प्रवास है । यदि इस प्रवासमें प्रकाश हमारा साथी रहा तो सुगमता होगी और यदि प्रकाश न रहा और अन्धेरेमें ठोकरें खाना पड़ा तो बड़ा दुःख होगा । इसलिये आध्यात्मिक प्रवासके मार्गमें भी प्रकाशकी सहायता अत्यंत आवश्यक है । यहां आध्यात्मिक प्रवासके मार्गमें प्रकाशके मार्गमें प्रकाश कौनसा है ? सद्गुरु ही मुख्य प्रकाश देनेवाला अग्निके समान तेजःकेन्द्र है । इसीकी ज्ञानरूप ज्योति साधकको मार्ग दिखाती है । जबतक इस सद्गुरुके ज्ञानरूप प्रकाशमें साधक रहता है, तबतक उसे दिनके समान प्रकाश मिलता है । यही आध्यात्मिक प्रवासके पथिकका दिन है । शुक्ल पक्षमें रहनेका अर्थ यही है कि कभी अशुद्ध पक्षका आश्रय न करना मलिन पक्षके लिये अपनी शक्ति कदापि समर्पित न करना । हर समय विचार करते रहना चाहिये कि मैं शुद्ध पक्षमें हूं अथवा अशुद्ध पक्षमें ? इस तरह जो सद्गुरुरूपी सूर्यके ज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित दिनमें रहता है और सदा शुद्ध पक्षका पक्षपाती है उसीका उत्तर-अयन होता है अर्थात् (उत्-तर) अधिक ऊंचा (अयन) गमन होता है वह उच्च अवस्थाको प्राप्त करता है । इस प्रकार मार्गसे जानेवाले ज्ञानी सीधे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं ।

अब इसके विपरीत जो सद्गुरुको प्राप्त नहीं करते वे मानो अन्धकारकी रात्रिमें धूमलताके समान भ्रान्त हो जाते हैं मार्ग नहीं देख सकते (रात्रि = रमयित्री) रममाण होना- भोग भोगना चाहते हैं भोग भोगते और भोगोंसे रोगी होते चले जाते हैं । इतना होनेके पश्चात् वे अशुद्ध मलिन (कृष्ण) पक्षमें सम्मिलित हो जाते हैं । इनके लिये कोई मार्गदर्शक नहीं होता और न वे स्वयं मार्ग देख सकते हैं, इस तरह चारों ओरसे कष्ट भोगते हुए ठोकरें खाते हुए (दक्षिण-अयन) दक्षिण-गतिको प्राप्त होते हैं । दक्षिण यह पितरोंकी गति है यह मृत्युकी गति है यह बारबार दुःख भोगनेकी गति है । वे इसी अधोगतिको प्राप्त होते हैं । यहां इनको कोई सहायक नहीं मिलता । यहीं इनके भोगी और रोगी ही साथी होते हैं जो कभी शुद्ध पक्षमें संमिलित नहीं हो सकते । ऐसे पक्षमें संमिलित होनेके कारण वे अंधेरेमें ही ठोकरें खाते हैं । इस प्रकार प्रकाश मार्गसे दूर हो जानेपर इनको कुछ प्रकाश दीखता है । वह प्रकाश स्वयंप्रकाशी ब्रह्मचारी आदित्यका नहीं है प्रत्युत परप्रकाशी

(९) मोह निरास

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अन्वयः — हे पार्थ ! एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति तस्मात् हे अर्जुन ! (त्वं) सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव ॥ २७ ॥ योगी इदं विदित्वा वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं, तत् सर्वं अत्येति, आद्यं परं च स्थानं उपैति ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई योगी कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कालोंमें योगसे युक्त हो ॥ २७ ॥ योगीसे इसको जानकर वेद यज्ञ तप और दानके पुण्य फलसे परे जाकर, आद्य और परम श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

बहुभागी होनेके कारण निस्तेजसी चन्द्रमाकी चांदनी होजाती है। बेचारा चन्द्रमा थोडासा प्रकाश सूर्यसे प्राप्त करके उसमेंसे भी कुछ अपने लिये रखकर दूसरोंको थोडासा दे जाता है। उसकी आधी आयु तो आधी अवस्थामेंही चली जाती है। वह पूर्व आयुमें अधिक भोग भोगनेके कारण राज-यक्ष्मासे पीडित हुआ था पश्चात् सोमादि औषधियोंका सेवन करके कुछ तेजस्वी बन जाता है। इस प्रकार स्वयं अशक्त, सदा पर मुखमें रहनेवाला पर-प्रकाशी चन्द्र कुछ मार्गदर्शक बनता है और इसीकी तेजस्वीसे वे बहुत पक्षके लोग अपना मार्ग ढूंढते चले जाते हैं। चन्द्रमाके प्रकाशसे अन्ततक सहायता होना असंभव है क्योंकि कुछ दिन प्रकाश देकर वह स्वयं क्षीण हो जाता है फिर इससे भी प्रकाश नहीं मिलता फिर वह भला दूसरोंको क्या मार्ग दिखा सकता है? इसलिये इन्हें प्रकाश मिला तो मार्ग चलना और प्रकाश न मिला तो स्वयं अन्धेरेमें रहना होता है बारबार ठहरते होते हैं। कोई कार्य पूर्ण होगा यह भी निश्चय नहीं हो पाता। कार्यको अधूरा छोड वापस आना पडता है। इस तरह यह आवागमनके कष्टोंका मार्ग है।

एक सत्पथ होता है और दूसरा असत्पथ होता है। इन पथोंके संस्कृत वाङ्मयमें विभिन्न स्थानोंपर ये नाम आते हैं—

शुक्ल गति	कृष्ण गति
शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
शुद्ध-पक्ष	मलिन-पक्ष
सत्पथ	असत्पथ
संवृद्ध पक्ष	हीन पक्ष
अग्नि ज्योति	धूम, अन्धकार
सूर्य	चन्द्रमा
उत्तर-अयन	दक्षिणायन
ऊर्ध्वतर गमन	अधोगमन
दिन	रात्रि
प्रकाश	अन्धकार
ब्रह्मविदः	अविद्वांसः
अर्चिमार्ग	धूममार्ग
देवयान	पितृयान
देवपथ	असुरपथ
दिव्यमार्ग	मृत्युमार्ग
अमरत्व	मरण

इत्यादि शब्दोंसे दो मार्गोंकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। इन सत्पथ और असत्पथवालोंकी गति कैसी होती है वह यहां बताई गई है। इन शब्दोंसे अच्छी तरह इनकी गतिका निश्चय हो सकता है।

आगे १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्तिका विभाग बताया है। उसके साथ इन दो शुक्ल गति और कृष्ण गतिका बहुत संबन्ध है। इसका विचार करनेसे बहुत ज्ञान प्राप्त हो सकता है। देखिये—

भावार्थ— जो इन दोनों शुक्ल और कृष्ण मार्गोंको जानता है और जाननेके कारण किसी प्रकार किसी भी मोहमें नहीं फँसता। अतः सदा सर्वदा योगका अवलम्बन करना योग्य है। इस तरह जो सदा सर्वदा योगमार्गका अवलंबन करता है वह वेद यज्ञ तप और दानसे मिलनेवाले पुण्यको छोडकर आगे जाकर आद्य परम उच्च स्थानको प्राप्त करता है और वहां विराजता है जिससे श्रेष्ठ और कोई श्रेष्ठ स्थान नहीं है ॥ २७-२८ ॥

नित्य योग

(२७-२८) जो पूर्वोक्त शुक्ल और कृष्ण गतियोंको जानता है वह किसी भी प्रकार मोहित नहीं हो सकता क्योंकि शुक्ल पक्षमें रहनेसे और मलिन पक्षमें रहनेसे क्या होगा इसका उसे यथावत् ज्ञान हो जाता है अतः मलिन पक्षमें प्रतिष्ठित होनेका उसे मोह नहीं होता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि मलिन पक्षका परिणाम कैसा भयानक हो सकता है यह बात उसे मालूम होती है। इसी कारण वह अपने आपको उस हीन मार्गसे बचाता है मोहित होकर उसमें गिरना नहीं चाहता। दोनों मार्गोंका परिणाम स्पष्ट रूपेण उसके सम्मुख होनेसे वह हीन मार्गमें मोहित नहीं होता।

इस अवस्थातक करनेवाले मोहसे छुटकारा पानेका एक मात्र यही उपाय है कि सर्वदा योगके अनुसार अपना आचरण करे। जो कुछ करना हो वह योगके अनुसारही करे। उठना बैठना सोना जागना, संसारका कार्य करना राष्ट्रका कार्य करना अथवा जो भी कुछ करना हो वह सब योगके आदेशानुसारही करे। प्रत्येक क्षण योगसेही युक्त रहे। योगका अर्थ कर्मकी कुशलता सुख दुःखके विषयमें समबुद्धि और योगके विषयमें अनासक्ति है। प्रतिक्षण जो कुछ कर्म हो वह कुशलतासे समतासे और अनासक्तिसेही हो। इसीका नाम सदा योगयुक्त रहना है। जो इस तरह सर्वदा योगयुक्त होता है वह कभी मोहमें नहीं फँसता। योगका दूसरा अर्थ योग्य कर्म है। प्रतिसमय मनुष्य अपने आपसेही पूछे कि मुझे इस समय क्या करना योग्य है? इस प्रश्नका जो उत्तर मिले तदनुसार कर्म करे। मन सुसंस्कृत रहेगा, तो उत्तर भी योग्य मिलेगा।

मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको नित्य योग युक्त रखनेका यत्न करे। पहिले पहिले इस बातमें कठिनता प्रतीत होगी परंतु वारवार अभ्यास करनेसे वह अपने स्वभावका अंग बन जायेगी।

ऐसा नित्य योगयुक्त होनेसे कौनसा लाभ होना संभव है इसका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है। वेद पढने यज्ञ याग करने कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप करने दान देने इत्यादिसे जो पुण्य प्राप्त होता है उससे भी (अत्येति) अधिक पुण्य नित्ययुक्त अर्थात् प्रत्येक कर्ममें योग पद्धतिके अनुसार आचरण करनेसे मिलता है और अन्तमें (आद्य) पहिला और श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है। यही मनुष्यका प्राप्तव्य है।

आद्यका अर्थ पहिला आदिम प्रथम मुख्य स्थान है। उसके प्रथम और सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करनेके लिये केवल एकही उपाय है कि योगपद्धतिके अनुसार अपने संपूर्ण समयका यथायोग्य उपयोग करना अथवा जो करना हो वह योगरूपमें करना योगयुक्त बनना अपना स्वभावही ऐसा बनाना कि अपने द्वारा जो हो वह योगही हो।

अक्षर ब्रह्मके साथ अपना संयोग करनेके लिये यह नित्य-योग यहां कहा है। पाठक इसका आचरण सदा करें प्रत्येक कर्म योगपद्धतिसे करें और पहिला श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करें।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्म-विद्यासे मिश्रित हुए,
योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें अक्षरब्रह्मयोग
नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायका मनन

अक्षर-ब्रह्म-योग

इस अष्टम अध्यायका विषय "अक्षर-ब्रह्म-योग" है अर्थात् इस अध्यायमें अविनाशी ब्रह्मके साथ मिल जानेकी युक्ति कही गयी है। इस दृष्टिसे यह अध्याय अत्यंत महत्त्वका है। 'योग' का अर्थही युक्ति है। प्रत्येक प्राणी जो इस संसारमें आया है इस अक्षर ब्रह्मके साथ मिल जानेके लियेही आया है। अतः यह ध्येय जिस उपायसे साध्य हो सकता है मनुष्यको उसे जानना चाहिये।

अक्षर ब्रह्मका स्वरूप

"अक्षरं परमं ब्रह्म" इन तीन शब्दोंसे अक्षर ब्रह्मका स्वरूप बताया है। "ब्रह्म" का अर्थ महान् शक्तिवाला तत्त्व है। जो एक तत्त्व सबसे विशाल सबसे श्रेष्ठ सबसे समर्थ और सबसे परे है, उसको "ब्रह्म" कहते हैं। ब्रह्मका शब्दार्थ है "बड़ा"। यह सब तरह सबसे बड़ा है। किसी प्रकारकी अल्पता न्यूनता या हीनता इसमें नहीं है। अतः इसको परम ब्रह्म अथवा पर ब्रह्म कहते हैं। सबसे श्रेष्ठ कहने मात्रसे इसकी महत्ताकी कल्पना होती है परन्तु स्वरूपकी पूर्ण कल्पना नहीं होती वही बतानेके लिये यहां "अक्षर" शब्द रखा है।

"अक्षर" का अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है। एक "अ-क्षर" अर्थात् अ-विनाशी और दूसरा "अक्ष-रम्" अक्ष जिसमें रमते हैं। अविनाशी अर्थ अमूर्त ब्रह्म बताता है और अक्ष जिसमें रमते हैं, इस अर्थसे मूर्त ब्रह्म सूचित होता है। ये मूर्त और अमूर्त ब्रह्म मिलकरही "अक्षर परब्रह्म" होता है। देखिये—

> ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृ-
> भोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
> त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ (श्वे. उ. १।९)

एक (ज्ञः) सर्वज्ञ ईश्वर है दूसरा (अज्ञः) अल्पज्ञ जीव है तीसरी (अजा) प्रकृति है जो इसके भोगके लिये बनी हुई है। इसमें जो सर्वज्ञ ईश्वर है वह (विश्वरूपः आत्मा अकर्ता) विश्वरूपी आत्मा अकर्ता है। इन तीनोंका जो (विन्दते) मेल होता है, उसका नाम ब्रह्म है।

इस तरह ब्रह्ममें प्रकृति-भाव जीव भाव और शिव-भाव (त्रयं विन्दते) एकरूप मेल हुआ है। इसमें जीवात्मा और परमात्माका मेल आत्म भावमें है। इसी आत्म-भावको (अ-क्षरः) अविनाशी अमूर्त करके कहा जाता है। भोग्य प्राकृतिक पदार्थ (अक्ष-र) अक्षोंको रमानेवाले होनेसे विनाशी मूर्त समझे जाते हैं। इस तरह *मूर्तामूर्त* ब्रह्म है।

> द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।
> (बृ. उ. २।३।१)

ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त है और दूसरा अमूर्त है। ऐसा जो उपनिषद्में कहा है वह इस तरह है। मूर्तिमान् रूपमें अक्ष रमते हैं इसलिये उसका वर्णन "अक्ष+रम्" शब्दसे होता है और अमूर्त का अविनाशी होनेसे उसका वर्णन 'अ-क्षर' शब्दसे होता है। ब्रह्म मूर्तिमान्, मूर्तिवाला होनेसेही ऊपर लिखे श्वेताश्वतर उपनिषद्के वचनमें "विश्वरूप आत्मा" कहा है। विश्व जो रूप है, वह रूप इस आत्माका है और वही इस ब्रह्मका रूप है। हमारी आंखसे जो रूप दीखता है वह परमात्मा का [illegible] है। जो कुछ दिखाई देता है वह सब विश्वरूप इसी आत्माका है। यह विश्वका रूप किसी दूसरेका नहीं है। यह विश्वका रूप इसी आत्माने धारण किया है मानो इस विश्व रूपमें वह छिपा है। जैसे अपने शरीरका जीवात्मा इस शरीरका रूप धारण करता है वैसेही इस विश्वका परमात्मा विश्व-रूप धारण करता है। यह विश्वरूप कैसा है इसका वर्णन आगे ग्यारहवें अध्यायमें आनेवाला है। यहां इसका अधिक विस्तारसे

वर्णन है। इस अध्यायमें जो विश्व रूप आत्माका स्वरूप कथन किया है वह स्वरूप विश्वरूपसे हमारे सामने दीख रहा है।

अक्षर ब्रह्मका स्व-भाव

इस अक्षर ब्रह्मका स्वभाव अध्यात्म है। स्व-भावका अर्थ है अपना भाव, अपना धर्म। वह इसका निज भाव है जो कभी बदल नहीं सकता। इसीको अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्म का अर्थ है आत्माके ऊपर प्रकट होना। जैसे अपने शरीरमें जो जीवात्मा है उसका प्रभाव इंद्रिय, प्राण और मनबुद्धिद्वारा प्रकट होता है। यही इस शरीरमें दीखनेवाला अध्यात्म है क्योंकि यही इस शरीरस्थानीय आत्माके ऊपर दीखनेवाला आत्माका स्वभाव है जिससे शरीरके अन्दर आत्मा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

इसी तरह ब्रह्माण्डमें जो विश्वात्मा अथवा परमात्मा है उसका स्वभाव किंवा उसका अध्यात्म अग्नि वायु, रवि चन्द्र आदिद्वारा प्रकट होता है। जैसे शरीरमें आंख है वैसेही ब्रह्मांडमें सूर्य है। इसी तरह संपूर्ण सृष्टिके अन्तर्गत सब पदार्थोंमें जो अपना अपना स्वभाव है वह इसी विश्वात्माके कारण है। जो वस्तुमात्रका स्वभाव है और संपूर्ण विश्वका स्वभाव है वह सब (अधि-आत्मं) इस आत्माकाही भाव है, क्योंकि दूसरा कोई पदार्थ नहीं है ही नहीं जिसका कोई भाव प्रकट हो सके।

यहां कई शंका करेंगे कि इस लेखके आरंभमें जीव ईश्वर और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं ऐसा कहा और अब एकही पदार्थ है ऐसा भी कहा जा रहा है। क्या यह परस्पर विरोध नहीं है? इसके उत्तरमें इतनाही कहना पर्याप्त है कि स्थूल भूत जीव-तत्त्व और परमात्मा ये तीन पदार्थ क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम शब्दों द्वारा वर्णित हैं। ये तीन पदार्थ परस्पर भिन्न नहीं हैं। इस विषयमें सातवें अध्यायमें वारवार कहा गया है। जैसे (आमका) ऊपरवाला स्थूल आकार (आमकी) गिठली और दोनोंके मिलापसे होनेवाला आम्रफल ये तीन अवस्थाएं हैं, परन्तु वस्तुमें भेद नहीं है। इसी तरह क्षर (स्थूल भूत) अक्षर जीवतत्त्व (सूक्ष्म जीव) और (दोनोंका अभेद जिसमें है वह) पुरुषोत्तम ये परस्पर भिन्न नहीं हैं, एकही वस्तुके भाव हैं। जड और चेतन ये दो अवस्थाएं भिन्न हैं परन्तु वस्तु एकही है। बहुत लोग मानते हैं कि मिट्टी और जलके समान जड और चेतन बिलकुल भिन्न पदार्थ हैं परन्तु वे ऐसे भिन्न नहीं हैं। एकही सद्वस्तु चेतन रूपमें और स्थूल पदार्थोंके रूपमें दिखाई देती है, अर्थात् एकही वस्तुके ये दो भाव हैं। यह अर्थ यहांकि 'स्व-भाव' शब्दका है। यह इसका स्वभाव अक्षर अध्यात्म है। इसका कभी नाश नहीं होता।

ब्रह्मका कर्म

संपूर्ण विश्वमें इसी ब्रह्मका कर्म स्वभावसे चल रहा है। यह स्वयं कर्म नहीं करता तब भी कर्म चलता रहता है। इसको इस कर्मसे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है कामना कुछ भी नहीं है अतः इसका यह कर्म पूर्ण निष्काम भावसे चल रहा है। पाठक पूछेंगे कि इस निष्काम कर्मसे क्या बन रहा है? उत्तर है कि (भूत-भाव-उद्भवः) भूतमात्रकी सत्ताका उद्भव हो रहा है बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज हो रहा है यह अखंड भूतोंकी उत्पत्ति हो जाती रही है। इसके लिये शक्तिका (विसर्गः) प्रदान हो रहा है। यही ब्रह्मका यज्ञ है। यही विश्वकर्माका आत्मयज्ञ है। इस तरह यह अखंड कर्म-प्रवाह चल रहा है जो पूर्वोक्त स्वभावके अनुकूलही है।

क्षर भाव

इस विश्वमें सर्वत्र क्षर भाव दीख रहा है प्रत्येक वस्तु नाशको प्राप्त हो रही है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह विनाशकी ओर जा रहा है। ब्रह्मलोकसे लेकर भूलोक तक जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब नष्ट हो रहे हैं। जो दीखता है जिसका रूप स्थूल है वह नाशवान् है। इस क्षर भावका संबंध प्रत्येक भूतसे है। प्रत्येक पदार्थ विश्वका एक अंश है। अतः वह मर्यादित है और इसी कारण वह नाशवान् है। अंश नाशवान् होता हुआ भी संपूर्ण विश्व नाशवान् नहीं है। अतः संपूर्ण विश्वरूपमें क्षरत्व नहीं है अपितु प्रत्येक अंशमें क्षर भाव है अतः कहा है (अधिभूतं क्षरो भावः, भूतमात्रमें क्षर भाव है। जब प्रत्येक भूत विश्वमात्रमें मिल जायगा तब इसमें क्षर भाव नहीं रहेगा। अतः यह क्षर होते हुए भी अक्षर है क्योंकि इसमें अक्षरत्वके साथ नाश होनेका धर्म भी है। दूसरा अवस्थामें नाश नहीं है तथा इस क्षर भूतोंमें भी सदा

अविनाशी अक्षर चैतन्य-जीवतत्त्व है ही। इस प्रकार पूर्वोक्त नाश होनेपर भी इस अक्षर जीवतत्त्वका नाश नहीं होता।

पुरुष

इसी कारण अक्षर तत्त्वको पुरुष कहते हैं। 'पुरुष' शब्दका अर्थ (पुरि+वस्) पुरीमें रहनेवाला है। पुरी नाशवान् है और पुरीका नाश होनेपर भी सर्वदा अविनाशी रहनेवाला यह पुरुष है। इसीको देही, आत्मा कहते हैं। जो सूक्ष्मात्म है, वह पुरु है क्योंकि सप्त धातुओंसे यह पूर्ण होता है।

सप्तभिर्धातुभिः पूर्यते इति पुरं शरीरम्।

सप्तधातुओंसे परिपूर्ण है, इसलिये इसका पुर पुरि अथवा शरीर कहा जाता है। यह शरीर पुरि नाशको प्राप्त होनेवाली है परन्तु पुरीका स्वामी अविनाशी है।

यज्ञ-पुरुष

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है, यह सौ वर्ष चलनेवाला यज्ञ है। इस यज्ञका यजमान आत्मा है और यही आत्माका ही यजन होता है। इसका अधिष्ठाता यज्ञपुरुष अधियज्ञ अहं (मैं हूं) ऐसा कहनेवाला ही है। मैं यहां कौन कहता है? जो आत्मा है, जो चेतन तत्त्व है वही कहता है कि यहां मैं हूं और जो ऐसा कहता है वही इस जीवन यज्ञका अधिष्ठाता है। इसका वर्णन ऐसे किया गया है—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

(गी. ९।१६)

मैं क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र घी अग्नि और आहुति हूं अर्थात् यह सब मैं ही हूं। यहां मैं शब्दका अर्थ आत्मा है। यही यज्ञ-पुरुष है। यज्ञका संपूर्ण भाग भी यही पुरुष है इसीलिये इसको यज्ञपुरुष कहते हैं। अब यह कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गी. ४।२४)

ब्रह्म अर्पण, हवि अग्नि यजमान हवन कर्म आदि है। क्योंकि यहां दूसरा कुछ भी नहीं है। यही भाव वेदमें इस रीतिसे कहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

(ऋग्वेद १ ९०।१६)

देव यज्ञसे यज्ञ करते थे। 'यज्ञ' ही यज्ञ शब्द है, यज्ञके सब साधन और यज्ञ एकही वस्तुके नाम हैं। यह स्पष्टतासे कहा है कि जो यज्ञ करनेवाला है उसीके ये सब नाम हैं। कितने नाम हैं? देखिये—

१ (अक्षरं) एक अक्षर नाम है ... ... (ब्रह्म)
२ (क्षरः) दूसरा क्षर नाम है ... (अधिभूत)
३ (स्वभावः) तीसरा स्व भाव है (अध्यात्म)
४ (तत्-भवः) चौथा उत्पन्न होनेका नाम है (कर्म)
५ (पुरुषः) पांचवां पुरीमें बसनेका व्यापक नाम है (अधिदैवत)
६ (यज्ञः) छठा यजनका नाम है ... (अधियज्ञ)

इस तरह यहां इसके छः नाम वर्णित हैं। ये सब यज्ञके नाम हैं। प्रत्येक मनुष्य इस परमात्माका अंश होनेसे वह अपने कर्मोंको परमात्माके विश्व-व्यापक कर्मोंका अंश समझ कर निष्काम भावसे फल-भोगकी इच्छा न करता हुआ परमेश्वरार्पण बुद्धिसे करे। यह बोध यहां मनुष्यको मिलता है।

विश्वके साथ विरोध

परमेश्वरकी सत्ता सार्वभौमिक है उसका विश्वव्यापक कर्म हो रहा है। मनुष्य उसका अंश होनेसे उसको भी अपना कर्म परमेश्वरके कर्मके साथ मिलाकर करना चाहिये। यदि वह अपने विश्व व्यापक यज्ञका विरोध करेगा तब उस को इसका नाश हो जायगा। विश्वके साथ विरोध करनेकी व्यक्तिकी शक्ति कैसे हो सकती है? मनुष्यमें शक्ति ही कितनी है कि विश्वके अन्दर वह विश्वकी शक्तिसे स्वयं विरोध कर सके? देखिये—

मनुष्यकी आंख है यह आंख और उसकी क्या है। क्या इस आंखसे सूर्यका विरोध किया जा सकता है? और यदि आंख सूर्यके साथ विरोध करेगी तो क्या वह जीवित रह सकेगी? सूर्यका विरोध करनेपर तो आंखमें कोई सामर्थ्यही नहीं रहेगा। इसी तरह मनुष्यका प्राण है। क्या वह वायु-तत्त्वके साथ विरोध करके अपना कार्य कर सकेगा? विश्वरूपी वायुके साथ विरोध करनेसे प्राणका नाश ही हो जायेगा। इसी तरह मनुष्यकी अन्य इन्द्रि

विषकी अनुकूलतामें रह करही कुछ कार्य कर सकती हैं। यदि वे विरोध करने लगेंगी तो उनका नाश हो जायगा।

छोटेसे फुफ्फुसोंमें रहनेवाला मनुष्यका प्राण एक विश्व व्यापक प्राणका यह कितना छोटा अंश है? मनुष्यकी आंख सूर्यका कितना छोटा अंश है? मनुष्यका संपूर्ण देह विश्वका, कितना अल्प अंश है? विचार करनेसे पता लग जायगा कि मनुष्यकी शक्ति अत्यंत अल्प है। इसीलिये वह विश्वरूपके साथ विरोध नहीं कर सकता। वृक्षकी एक शाखा अथवा पत्थरके मनुष्यके सिरपर गिरने मात्रसे इसके शरीरका नाश हो सकता है। इसलिये विश्वरूप परमात्माका जो विश्वव्यापक कर्म चल रहा है, उसके साथ अनुकूल होकर मनुष्यका कर्म करना चाहिये। (मत्कर्मकृत्। गी० ११।५५) मनुष्य ईश्वरके कर्ममें सहायक हो ऐसा जो बारबार कहा है उसका यही कारण है। समुद्रमें रहनेवाला एक जलबिंदु संपूर्ण समुद्रका विरोध कैसे करेगा? ऐसेही विश्वरूपमें रहनेवाला एक बिंदुरूप मनुष्य संपूर्ण विश्वरूपका विरोध कैसे कर सकेगा? यह सचमुच असंभव है।

यहां मनुष्यके धर्मका निश्चय हो सकता है। जो विश्व धर्मके अनुकूल है वह मनुष्यका धर्म है और जो प्रतिकूल है वह अधर्म है। इसका निश्चय करनेके लियेही यहां परमात्मा उसका स्वभाव उसका उद्धारक कर्म, अधिभूत क्षर भाव उसका अधिष्ठाता पुरुष और जीवनरूपी यज्ञके अधिष्ठाता आदिका संबंध यहां बताया है। यह बतानेका यही उद्देश है कि मनुष्यका अपनी शक्तिका पता लगे और वह विश्वात्माका विरोध करनेका साहस कदापि न करे। अपने भूलसे भ्रमसे विश्वधर्मका विरोध करनेवाला निःसंदेह मूढ है और इसलिये सब कोई अपने आपको विश्वसेवाके लिये योग्य बनावें। यही इस उपदेशका रहस्य है। पाठक इसपर विचार करें।

मनका धर्म

मनकी शक्ति बडी विलक्षण है। मन जिसका चिन्तन करता है वैसा बन जाता है। मन तदाकार बनकरही किसी वस्तुका अनुभव कर सकता है अतः मन जिसका ध्यान करने लगता है उसको प्राप्त करता है। यदि वह वीरताका ध्यान करेगा तो वीर बनेगा और यदि कायरताका ध्यान करेगा तो सामान्य बनकर नष्ट हो जायगा। यह मन कल्पवृक्ष है क्योंकि यहां जो कल्पना की जायगी वह फलीभूत होगी। मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेसे इसका उपयोग बडी सावधानीके साथ करना चाहिये। यदि अच्छा उपयोग किया जाय तो भला होगा अन्यथा नाश होनेमें कुछ देरही नहीं लगेगी। मनमें बडी शक्ति है इसीलिये इसका सावधानीके साथ अच्छा उपयोग करना चाहिये।

मनका स्वभावही सतत मनन करनेका है। ऐसा एक क्षण भी नहीं जाता कि जिस समय मन किसी न किसीका विचार नहीं करता। यदि ऐसा है तो अच्छेसे अच्छे तत्त्वका ही मनन क्यों न किया जाय? परमेश्वरही सबसे श्रेष्ठ है इस श्रेष्ठ मननसे मनुष्यका मन श्रेष्ठ बने इसी हेतुसे ईश्वरस्मरणका विषय मनुष्यके सामने रखा गया है।

मनका प्रभाव

मनुष्यका मन (तद्भाव-भावितः) मननके विषयके प्रभावसे प्रभावित होता है और तद्रूप हो जाता है। यह मनुष्यकी उन्नतिकी कुंजी है। एक व्यक्तिको अथवा समाजको जैसा बनाना चाहते हैं वैसा बनाया जा सकता है। मनुष्यके मनके सम्मुख जैसा विषय रहेगा वैसा वह बनेगा। अतः मनुष्यके सामने सदा अत्यंत उच्च ध्येय रहना चाहिये। उस उच्च ध्येयमें वह जितना मग्न रहे उतनाही उन्नत हो जायगा। जो मनुष्य निकृष्ट होते हैं उनका मन पहिले निकृष्ट बन जाता है जो मनुष्य रोगी होते हैं उनका मन पहिले रोगी हो जाता है जो मनुष्य श्रेष्ठ महात्मा बनते हैं उनका मन श्रेष्ठ बना होता है। जो अपनी उन्नति चाहते हैं उनको इस मनके धर्मका विचार करना चाहिये। इस मनके धर्मका ज्ञान होतेही अपनी उन्नतिका साधन करनेका ज्ञान हो सकता है।

यदि मनुष्य यह समझता कि मन जिसका ध्यान करता है उस वैसाही बन जाता है तो अपनी उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कदापि अशुभ विचारको अपने मनमें स्थान नहीं देता। क्योंकि अशुभ विचार मनमें आतेही मन अशुभ हो जाता है और उसका परिणाम भोगनाही पडता है। इसलिये वेदमें बारबार कहा है कि—

शिव-संकल्प

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (वा० य० ३४।१-६)

मेरा मन शिवसंकल्पयुक्त हो यह प्रार्थना क्यों किया है ? इसीलिये कि शिवसंकल्प करनेसे मन शिवस्वरूप बन सकता है । और जैसा मन होता है वैसाही मनुष्य बनता है । अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण मनही है । अतः इस तरह गीतामें शुभचिन्तनका मार्ग कहा गया है । मरनेके समय भी यदि शुभ संकल्प मनमें हो तो शुभ गति अवश्य होती है । इस शुभ संकल्पका इतना महत्त्व है । परन्तु मरनेके समय शुभ संकल्प रहनेके लिये मरनेके पूर्व भी शुभ संकल्प धारण करनेका अभ्यास करना चाहिये यही अभ्यास करनेकी सूचना भगवद्गीताने दी है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
(गी. ८।८)

एकाग्रचित्त होकर यह अभ्यासयोग करनेसे मन शुभ संकल्पोंको धारण कर सकता है । यदि शुभ गति चाहिये तो शुभ संकल्पोंको धारण करना पड़ेगा । अशुभ गतिमें ही मनुष्य जाते हैं क्योंकि अशुभ विचार धारण करते रहे हैं । साधारण मनुष्य अशुभ विचारोंके धारणका अभ्यास करते हैं । मनुष्यमात्र इस अभ्यासमें मग्न है । शास्त्रकार कहते हैं कि यदि किसी न किसी विचारके धारणका अभ्यास करनाही है तो शुभ विचारको क्यों न धारण किया जावे ? यदि किसी न किसी प्रकारकी गतिमें अपना आपको रखनाही है तो उत्तम गतिमेंही क्यों न रखा जाय ? संक्षेपसे तात्पर्य यह है कि परम पुरुषका चिन्तन करनेसे साधक परम पुरुषका भाव प्राप्त कर सकता है ।

परम पुरुष कैसा है ?

परम पुरुष सर्वज्ञ (कविः), सदा विद्यमान भूत वर्तमान भविष्यमें रहनेवाला (पुराणः—पुरा अपि नवः) सबका शासक (अनुशासिता) सूक्ष्मसे सूक्ष्म (अणोः अणीयान्) सबका धारक (धाता) चिन्तन करनेके लिये कठिन (अचिन्त्यरूप) तेजस्वी (आदित्यवर्ण) और अन्धकारसे पर (तमसः परः) है । जो साधक परम पुरुषके इन गुणोंका ध्यान करता उसके मनमें इन गुणोंको धारण होनेसे वह भी इन गुणोंसेही युक्त हो जायेगा। इन गुणोंसे युक्त बननेका अर्थही परम पुरुषकी प्राप्ति है । परम पुरुषकी प्राप्ति होनेका अर्थ है कि स्वयं परम पुरुष बन जाना । जिसमें परम पुरुषके गुण स्थिर हो जाते हैं वह परम पुरुषही बन जाता है ।

प्रयाणकी तैयारी

प्रयाण-कालमें इस परम पुरुषके स्मरण करनेसे शुभ काम है । प्रयाण-काल मृत्युसमयका नाम है । मृत्युके समय इस परम पुरुषका ध्यान ठीक प्रकार संभव हो इसके लिये सदाही इसका ध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये । मरणके समय जिसके ध्यानका सतत अभ्यास होगा वहीका स्मरण रह जायेगा ।

यदि मनके द्वारा किसी न किसीका ध्यान सदा होताही है तो वह उत्तम पुरुष का ध्यान क्यों न करे ? मनुष्य सदा अधम और मध्यमकाही ध्यान करता रहता है इसीलिये मनुष्य अधम या मध्यम बन जाता है । यदि वह उत्तमका ध्यान करेगा तो निःसंदेह उत्तम बनेगा । यह रहस्य है उत्तम पुरुष अथवा परम पुरुष के ध्यान करनेका । पाठक इसका विचार करें । क्या कभी कोई मनुष्य मनको खाली रख सकता है ? जब मन खाली (रिक्त) नहीं रह सकता तो उसमें उत्तम पुरुष को क्यों न सुरक्षित किया जावे ?

इस समय जो चाहे सो विचार मनमें आते हैं और वे मनुष्यको मिलतेही रहते हैं । मन अवश होकर किसी न किसी विषयका विचार करता है फिर उसको उत्तम पुरुष का विचार करनेमें क्यों न लगाया जावे ? ऐसा करनेसे मनके धर्मका उपयोग करके साधनके कार्यमें होगा और अद्भुत लाभ होगा ।

मनुष्य वेदका अभ्यास करते हैं तपका पालन करते हैं वैराग्यका पालन करते हैं ब्रह्मचर्य पालन करते हैं इन सबका यही प्रयोजन है कि मनमें प्रभुका स्थायी स्वरूप आ सके और अन्तमें परम पुरुषकी ओर प्रयाण हो । (गी. ८।११)

मनुष्य जीवित रहनेके लिये पुरुषार्थ करते हैं यह ठीक ही है परन्तु उसको प्रयाणकालकी तैयारी करते रहना चाहिये । प्रयाणकालमें प्रभुका ध्यान होनेयोग्य अपना अन्तःकरण सुरक्षित रखना चाहिये और अन्तःकरणमें प्रभु-को प्रभुके गुणगणका मनन करते रहना चाहिये ।

तभी अन्तसमयमें परमेश्वरका स्मरण हो सकता है। अतः इसकी उत्तम तैयारी पहिलेसेही करनी चाहिये।

प्रयाण-काल का अर्थ ग्रामान्तर या स्थानान्तर करनेका समय भी है। इस स्थानान्तरके समय भी ईश्वरका स्मरण करना चाहिये। हम स्थानान्तर एक दिनमें अनेकवार करते हैं। इन समयोंमें भी यदि मनुष्य ईश्वरका स्मरण करता रहे और ईश्वरके गुणोंका विचार करता जाय तो उसका चित्त शुद्ध होगा इसमें संदेह नहीं है।

ईश्वर-स्मरणका स्वरूप

हर-समय ईश्वरका स्मरण करना चाहिये ऐसा वारवार कहा जाता है। स्मरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति किस तरह होती है ? यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। उसकी निवृत्तिके लिये ईश्वर स्मरणमें किन गुणोंका स्मरण करना पडता है इसका विचार पहिले करना चाहिये। यहां नवम श्लोकमें परमेश्वरके जिन गुणोंका कथन किया है वे गुण ये हैं-

(१) ' कवि '

परमेश्वर सर्वज्ञ है इसमें उसके ज्ञान गुणका स्मरण करना होता है परमेश्वर सब जानता है। मुझे वह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह पहिली सूचना है। कवि के और अर्थ क्रान्तदर्शी दूरदर्शी अतीन्द्रियार्थदर्शी ये हैं। मनुष्यके इन्द्रियोंकी जहांतक पहुंच है उससे भी पर परमेश्वर देखता है। यह कविकी दृष्टि मुझे प्राप्त करनी चाहिये यह दूसरी सूचना यहां प्राप्त होती है।

(२) ' पुराणः '

ईश्वर प्राचीन होता हुआ भी नवीन (पुरा अपि नवः) है। मनुष्यको यही शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। मनुष्य वृद्ध होनेपर भी तरुण जैसा उत्साही और कार्यक्षम बना रहे ज्ञान विचार और कर्ममें पुराना होता हुआ भी नवीनताही रहे। पुरानेको नवके साथ मिलाता रहे। यह तीसरी सूचना मिलती है।

(३) ' अनुशासिता '

ईश्वर सबपर अनुकूल अर्थात् हितकारी शासन करता है। सबका यथायोग्य पालन करता है। मनुष्य भी इसी तरह अनुकूल शासन करे पालन करे। चाहे लोगोंका मानके लोगोंका राष्ट्रके लोगोंका अनुकूल शासन करनेका या मनुष्य को जितना भी अधिकार प्राप्त हो उतने अधिकारतक हित कारक शासन करे यह यहां चौथी सूचना है।

(४) ' सर्वस्य धाता '

ईश्वर सबको धारण करता है। मनुष्य अपने अन्दर इस तरहकी धारक शक्ति धारण करे। मनुष्यको अपने परिवार, अपनी जाति तथा अपना राष्ट्रका धारण करना होता है। इसलिये अपने अन्दर धारक शक्ति बढाकर इनको यथायोग्य धारण करनेका यत्न करे यह यहां पांचवी सूचना है। इस धारणमें धारण पालन और पोषणका अन्तर्भाव है यह बात नहीं भूलना चाहिये।

(५) ' अणो अणीयान् '

ईश्वर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। मनुष्य सूक्ष्म रीतिसे विचार कर सकता है अतः विचारोंकी सूक्ष्मता मनुष्य करे और उसमें पूर्णता प्राप्त करे। यहां यह छठी सूचना मिलती है। अपनी आत्मा भी सूक्ष्म है स्थूलरूपी आत्मा नहीं है ऐसा विचार कर अपनी सूक्ष्म शक्तियोंका सामर्थ्य देखे अनुभव करे और उनको बढाये।

(६) ' आदित्यवर्णः '

ईश्वर सूर्यके समान तेजस्वी है। मनुष्य भी अपने अंदर तेजस्विता धारण करे। स्वयं तेजस्वी बने दूसरोंको तेजस्वी बनावे स्वयं मार्ग देखे और दूसरोंका मार्गदर्शक बने। यह सातवीं सूचना है। मनुष्य सूर्यके समान निर्दोष बने सूर्यके समान पवित्रता करे और पवित्र रहे।

(७) ' तमसः परः '

ईश्वर अन्धकारसे परे है। मनुष्य भी अन्धकारसे परे रहे। यहां अन्धकार या तम शब्द तमोगुणका सूचक है और तमोगुण आलस्य अज्ञान आदि अधोगतिदायक आसुरी भावों का सूचक है। मनुष्य आसुरी सम्पत्तिसे दूर रहे यह आठवीं सूचना यहां मिलती है।

(८) ' उत्तम पुरुष '

ईश्वर उत्तम पुरुष है। मनुष्य सबसे उत्तम बननेका यत्न करे। उत्तम पुरुष बननेका प्रयत्न करनेकी यहां नवम सूचना है।

(७) 'अचिन्त्यरूप'

ईश्वर अचिन्त्यरूप है। मनुष्य भी ऐसे श्रेष्ठ कार्य करे कि लोग आश्चर्यसे चकित हो जाँय। दूसरोंको कल्पना भी न हो कि यह कार्य इसने कैसे किया! अद्भुत कुशलतासे 'अचिन्तनीय रूप' बन जावे। यही कौशल बनानेकी इसकी सूचना मिलती है।

इस प्रकार परमेश्वरके गुणोंका स्मरण और मनन करनेसे अनेक उपयुक्त सूचनाएं मिलती हैं जिनका दैनिक व्यवहारमें भी उपयोग करके मनुष्य अपना अभ्युदय कर सकता है। अतः स्थलान्तर देशान्तर अथवा ग्रामान्तर करनेके समय इनका इस तरह मनन करना निःसन्देह निरर्थक नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने मनको इन ईश्वरीय शुभ गुणोंसे भर ले। साथ दूरदर्शि प्राचीन और नवीनका अगम शासनसामर्थ्य आत्मपोषण सूक्ष्मविचार [illegible] तमोगुणसे दूर रहना उत्तम मनुष्य बनना कुशलता ये सब दैवी गुण हैं। इनका मनन करनेसे और इनकी प्राप्ति करनेसे मनुष्यकी उन्नति होनेमें कोई संदेह नहीं है। ईश्वरस्मरणका मतलब यही स्वरूप है। ईश्वरके जितने भी गुण हैं उनकी धारणा इस तरह मनुष्यको करनी चाहिये उनका उपयोग दैनिक व्यवहारमें करना चाहिये और ईश्वरके गुणोंसे अपने आपको परिपूर्ण बनाना चाहिये। ईश्वरके गुणोंका जो वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें विस्तार किया गया है उसका संबंध अभ्युदयके साथ भी है और निःश्रेयस् के साथ भी। इस उपासनाके विषयपर इसी प्रकार विचार करना चाहिये।

इस रीतिसे जो परमेश्वरका सतत स्मरण करता है उन उन गुणोंको अपने जीवनमें ढालता है उसको सतत ईश्वर स्मरण होनेसे उसकी पूर्ण उन्नति होती और ऐसे स्वामीको मृत्युके समयमें भी ईश्वरका स्मरण रहता है जिससे उसको परम श्रेष्ठ गति मिलती है। यही परमेश्वर भक्ति और अन्तिम सिद्धि है।

ईश्वरका दर्शन

यहां कहा है—
मामेव स्मरन्। (गी ८।५)
मां स्मरति नित्यशः। (गी ८।१४)

इस रीतिसे ईश्वरके स्मरण करनेके विषयमें कहा है। स्मरण तो सदा पूर्व कालमें हुए विषयका ही होता है। जो विषय अनुभूत नहीं उसका स्मरण नहीं हो सकता। अब यहां ईश्वरका स्मरण करनेको कहा है इसलिये सिद्ध होता है कि ईश्वरका साक्षात्कार स्मरणके पूर्व होना चाहिये। इसी स्पष्टीकरणमें (मन्त्र-२) की व्याख्यामें ब्रह्मका मूर्तिमान होना बताया है। जिससे ईश्वरके साक्षात्कारका विषय स्पष्ट है। यहां जो इस भी सूर्य रूप है वह ईश्वरका विश्व-रूप है और इस विश्वके रूपमेंही मनुष्यको ईश्वरका साक्षात्कार होता है। 'मनन विश्वरूपी नारायण' का करना है। [illegible] विचारें कि जो रूप इस विश्वमें दीखता है वह खंडित है या अखंडित? उन्हें पता लग जायगा कि यह विश्व रूप अखंडित है ऐसा स्थान कहीं नहीं जहां रूप न हो। जहांतक दृष्टि पहुंचती है वहांतक रूप विद्यमान है। जो अनन्तका अनन्तरूप है वही विश्वरूप है। इस विश्वमें हमारे रूपका भी अन्तर्भाव है इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये। कोई पदार्थ भी इस विश्वरूपसे पृथक् नहीं है।

दैशिक आत्मरूप

जो विश्वरूप इस समयतक कहा है वह दैशिक है अर्थात् देशके साथ संबंध रखनेवाला है। जितना देश है उतना यह विश्वरूप है। जिस दिशामें देखेंगे उस दिशामें यह विश्वरूप दिखाई देगा। किसी भी दिशामें कोई भी स्थान ऐसा नहीं है कि जहां यह विश्वरूप नहीं है। इस दैशिक विश्वरूपके साथ अपना अभेद संबंध देखनेका अभ्यास करना हमारा कर्तव्य है। जिस समय यह अभेद प्रत्यक्ष होगा उसी समय सत्य धर्मका ज्ञान होगा। जिस समय यह अभय प्राप्त होगा उसी समय—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(वा. य. ४०।७)

इस एकत्वका साक्षात्कार करनेवालेको मोह और शोक कैसे होंगे? शोक और मोह उसको कष्ट नहीं देंगे। क्योंकि जितना विश्वरूप है उतना वह एक ही अभिन्न है। वहां कोई अन्य नहीं है यह साक्षात्कार हो जानेपर किसीको शोक कैसे हो सकता है? यहां इसका

प्रकारका मार्गही बनता है ? केवल एकही मार्ग है और वह यह है कि उस विश्वरूपमें अपने आपको समर्पित कर दिया जाय, भगवदिच्छामें अपनी इच्छा समाप्त की जाय और ईश्वरके कार्यमें अपना समर्पण कर रखा जाय। इसीसे यह ईश्वररूप बनकर अपने आपको कृतार्थ कर सकता है।

संपूर्ण भूतमात्र इस तरह आवागमनके चक्रमें भ्रमित होते रहते हैं कोई एकाध साधक अपने आपको प्रभुकी अखंड भक्तिमें समर्पित कर पाता है और—

नश्यत्सु न विनश्यति। (गी ८।२०)

नाश होनेवाले अनेक भूतोंमें जो अविनाशी सत्तत्त्व है उसको प्राप्त करता है और धन्य होता है। जिसमें अनन्त भूत हैं और जिसने यह सब विश्व फैलाया है वही परम पुरुष है और वह इस तरह की अनन्य (भक्त्या लभ्य स्त्वनन्यया। गी ८।२२) भक्तिसेही प्राप्त होनेवाला है और इसको प्राप्त करनाही मनुष्यका एकमात्र मुख्य कर्तव्य है।

दो मार्ग

मनुष्य दो मार्गोंसे चला करते हैं। एक शुक्ल मार्गसे जाते हैं और दूसरे कृष्ण मार्गसे जाते हैं। जगत्के सभी मनुष्य इन दो मार्गोंके पथिक हैं। अतः कहा है कि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
(गी ८।२६)

यह शुक्ल और कृष्ण गति इस जगत्में शाश्वत कालसे चली आयी है। कई लोग शुक्ल (सुर) मार्गसे जाते हैं और कई कृष्ण (असुर) मार्गसे जाते हैं। इनको पाप और पुण्यके मार्ग भी कह सकते हैं। पुण्य मार्ग सुर मार्ग है और पाप मार्ग असुरतामय कृष्ण मार्ग है। पुण्यमार्गसे (अनावृत्ति याति) सिद्धि प्राप्त होती है और दूसरे असुर मार्गसे (पुनः आवर्तते) चक्करमें फंसना पडता है।

सुर पक्ष (शुक्ल पक्ष) और कृष्ण पक्ष (कुटिलताका पक्ष) इनके नाम हैं। पाठक अपने ग्राममें अथवा अपने देशमें देख सकते हैं कि कितने लोग कुटिलताके पक्षमें जाते हैं और कितने सरलताके पक्षमें जाते हैं। यहां शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ये नाम मासिक १५ दिनके हैं और इनमें भेद नहीं है यह समझना बडी भूल करना है। ये तो मानव जातिके सुर और असुर भेदवृत्तिके दर्शक हैं। आगे १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपत्तिका वर्णन आने वाला है। दैवी पक्ष सुर सरल वृत्तिवाला पक्ष है और आसुरी पक्ष कुटिल हिंसक वृत्तिवाला। इसी कारण देवासुर-युद्ध सनातन है। दिन रात, प्रकाश-अन्धेरा, शुक्ल-कृष्ण ये नाम इन दैवासुर मार्गोंके द्योतक हैं। ऐसी मनुष्योंकी शुक्ल और कृष्ण गतियां हैं।

सुर मार्गसे चलनेवाला मनुष्य निश्चित स्थानतक पहुंचता है और असुर मार्गसे चलनेवाला मनुष्य इस स्थानपर नहीं पहुंच सकता यह बात व्यवहारमें भी अनुभव होती है। अतः शुक्ल पक्ष (सुर पक्ष) में रहकर अग्नि के पवित्र मार्गसे चलनेवाला (उत्-तर-अयन) उत्तरोत्तर गतिको प्राप्त होता है। यहां 'उत्तर अयन' उत्तरोत्तर उन्नति बताता है न कि वर्षका एक काल मात्र। अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण आदि शब्द इस मार्गके सूचक हैं। ये दैवी संपत्तिवालोंका मार्ग बताते हैं। इसी तरह धूम रात्रि कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन ये शब्द आसुरी मार्गके लोगोंके व्यवहारके सूचक हैं। ये दोनों गतियां सनातन हैं क्योंकि देवासुर भेद सनातन है। हम भी लोकव्यवहारमें देखते हैं कि सत्पक्ष और असत्पक्ष सदा हैं किसी एकका नाश नहीं होता। इस तरह दोनों मार्गोंका सनातन होना सत्य है।

इन दोनों मार्गोंके विषयमें वेद और उपनिषदोंमें भी इस प्रकार कहा गया है—

ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते अर्चिरभिसंभवन्ति, अर्चिषो अहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षम् आपूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम् आदित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥ अथ ये यज्ञेन... लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम् अपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान्दक्षिणादित्य एति, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा भक्षयन्ति... आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते अथ य एतौ

पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥ (बृ॰ उ॰ ६।२)

छांदोग्य उपनिषद्में भी येही वचन कुछ भेदके साथ आये हैं।

ये श्रद्धा तप इत्युपासते ते अर्चिषमभि संभवन्ति, अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्यमाणपक्षं आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥ १ ॥ मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एनान्ब्रह्म गमयति, एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥ अथ ये यज्ञमित्युपासते ते धूममभि संभवन्ति धूमाद्रात्रिं, रात्रेरपरपक्षं, अपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान् नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशं आकाशाच्चन्द्रमसं एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति, तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥ (छां॰ उ॰ ५।१०)

जो श्रद्धा और सत्यकी उपासना करते हैं, वे (अर्चिः) प्रकाशको प्राप्त होते हैं, प्रकाशसे दिन, दिनसे (आपूर्यमाण पक्ष) पूर्ण पक्ष पूर्ण पक्षसे उत्तर दिशामें सूर्य जानेवाले छः मासोंको उत्तरायणसे संवत्सरको (देवलोकको) संवत्सरसे आदित्यको आदित्यसे चन्द्रमाको चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। उससे भी आगे मानस पुरुषके साथ चलते हुए ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। वहाँ वे अनन्त समयतक रहते हैं। वहाँसे पुनर्जन्म नहीं होता। अब दूसरा मार्ग यह है– जो यज्ञसे अनेक लोकोंको जीतते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रि रात्रिसे अपपक्ष उससे सूर्य दक्षिण दिशामें जानेवाले छः मासोंको दक्षिणसे पितृलोक पितृलोकसे चन्द्रको प्राप्त होकर अन्नरूप बनते हैं। देव वह अन्न भक्षण करते हैं। वहाँसे आकाश वायु वृष्टि पृथिवीको प्राप्त होकर अन्नद्वारा पुरुषमें पश्चात् वीर्यरूपसे स्त्रीमें प्रविष्ट होकर मानव जन्मको प्राप्त होते हैं। इस तरह सकाम कर्म करनेवाले सृष्टिके चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं। इन दोनों मार्गोंको जो नहीं जानते वे कृमि कीट बनते हैं।'

इस प्रकार इन दोनों उपनिषदोंमें परलोकगत मार्गोंका वर्णन है। इसका स्पष्ट बोध होनेके लिये चित्रसे यहाँ बोधक रूपमें देते हैं—

अर्चिरादि मार्ग
(बृहदारण्यक उपनिषद्के अनुसार)

९ ब्रह्मलोक
(मानस पुरुषके साथ)
८ विद्युल्लोक
७ आदित्यलोक
६ देवलोक
५ उत्तरायणके छः महीने
४ आपूर्यमाण पक्ष (शुक्ल पक्ष)
३ अहः—दिन
२ अर्चिः—प्रकाश (ज्योति)
१ श्रद्धा-सत्योपासना

अर्चिरादि मार्ग
(छांदोग्य उपनिषद्के अनुसार)

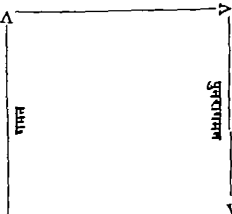
१० ब्रह्मलोक
(मानस पुरुषके साथ)
९ विद्युल्लोक
८ चन्द्रलोक
७ आदित्यलोक
६ संवत्सर
५ उत्तरायणके छः महीने
४ आपूर्यमाण पक्ष (शुक्ल पक्ष)
३ अहः—दिन
२ अर्चिः (ज्योतिः, प्रकाश)
१ श्रद्धा-तप-उपासना

यहां मार्गमें बृहदारण्यकमें जहां देवलोक कहा है वहां छांदोग्यमें संवत्सर कहा है। तथा आदित्यसे विद्युत्‌में जानेका वर्णन बृहदारण्यकमें है वहां छांदोग्यमें बीचमें चन्द्रलोकका एक पड़ाव अधिक कहा गया है। यदि देवलोकका नाम संवत्सर माना जाय और आदित्यके पश्चात् चन्द्रलोकका पड़ाव करके ही विद्युत् तक जाना माना जाय तो दोनोंमें कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती। इस तरह दोनोंकी संगति हो सकती है। इसी तरहका वर्णन छां० उ० ४।१५।५-६ में भी है। वहां इसका नाम देवपथ कहा है। अब धूममार्गका विचार करते हैं

धूममार्ग (बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अनुसार)

पुनरागमन

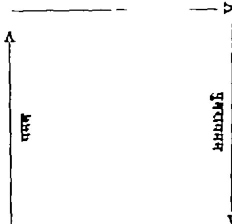
९ देवोंद्वारा भक्षण
८ सोम बन
७ चन्द्र (सोम)
६ पितृलोक
५ दक्षिणायन
४ क्षीण पक्ष
३ रात्रि
२ धूम
१ यज्ञ



१० आकाशमें अवस्थान
११ वायुमें ,,
१२ वृष्टिमें ,,
१३ पृथिवीमें ,,
१४ अन्नमें ,,
१५ पुरुष वीर्यमें ,,
१६ स्त्रीके गर्भाशयमें
१७ मनुष्य-रूपमें जन्म

धूम-मार्ग (छांदोग्य उपनिषद्‌के अनुसार)

१० देवोंद्वारा भक्षण
९ सोम-भक्ष
८ चन्द्रमा (सोम)
७ आकाश
६ पितृलोक
५ संवत्सर
४ दक्षिणायनके छ महीने
३ अपर पक्ष
२ रात्रि
१ धूम



११ आकाशमें अवस्थान
१२ वायुमें ,,
१३ धूममें ,,
१४ अभ्रमें ,,
१५ मेघमें
१६ वृष्टिमें ,,
१७ व्रीहि आदि अन्नमें
१८ अन्न खानेवाले पुरुषमें
१९ स्त्रीके गर्भाशयमें
२० मनुष्य-जन्म

इन मार्गोंमें कुछ पड़ावोंकी अधिकता है परंतु तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। इन पर्वोंका विचार करनेसे मुक्त होने वाला ब्रह्म गतिको कैसे प्राप्त होता है और पुनरावर्तनके चक्रमें घुमाया जानेवाला कैसे वापस आजाता है इसका पता भी लग सकता है। अन्य उपनिषदोंमें भी देवयान और पितृयानके संबंधमें कहा है—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते० ॥१०॥ मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणः० ॥११॥ अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः० ॥ १२ ॥

(प्रश्न १)

संवत्सर प्रजापति है उसके उत्तर और दक्षिण ये दो अयन हैं । जो कर्ममार्गी कर्म करते हैं वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं वे बारबार पुनर्जन्मको प्राप्त होते रहते हैं । अतः जो प्रजाकी इच्छा करते हैं, वे इस पितृयाण मार्ग रयि मार्गका अवलंबन करते हैं । दूसरे ऋषि तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा और विद्याद्वारा आत्माकी खोज करते हैं वे आदित्यको प्राप्त करते हैं । यह आदित्य प्राणोंका आधार है और यही अमृत अभय और परायण है । इसे प्राप्त करनेवाले फिर लौटकर नहीं आते ॥ महीना प्रजापति है उसका शुक्ल पक्ष प्राण है और कृष्ण पक्ष रयि है । अहोरात्र प्रजापति है उसका दिन प्राण है और रात्रि रयि है । यहां स्पष्ट कहा है कि एक प्राणमार्गसे जानेवाले और दूसरे रयिमार्गसे जानेवाले होते हैं । इन दोनोंकी गतियां भिन्न भिन्न होती हैं । मुण्डकोपनिषद्का वचन है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

(मुण्डक ३।१)

सत्य तप ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे यह आत्मा प्राप्त हो सकता है । यह शरीरके अन्दर ज्योतिरूप शुभ्र है जिसे यतिजन यति देखते हैं । सत्यकी जय होती है असत्यकी नहीं । सत्यसेही देवयान मार्गपर गति होती है । आप्तकाम ऋषि इसी मार्गसे जाते हैं और सत्यके परम पदको प्राप्त करते हैं । यहां देवयान-मार्ग कहा है, यही सत्य आत्मातक पहुंचानेवाला मार्ग है । अर्थात् इससे भिन्न जो दूसरा मार्ग है वह मनुष्योंको मोहमें जीवनमें फंसाता है ।

एष देवपथो ब्रह्मपथः । (छां. उ ४।१५।६)

देवपथका नाम यहां ब्रह्मपथ दिया है । जो ब्रह्मको पहुंचाता है वह देवपथ है, यही ज्ञानमार्ग है । यहांतक उपनिषदोंका विचार है । इश केन कठ माण्डूक्य, तैत्तिरीय ऐतरेय श्वेताश्वतर आदि उपनिषदोंमें देवयान पितृयाणके विषयमें स्पष्ट नहीं किया है । प्रश्न मुण्डक छांदोग्य और बृहदारण्यकमें क्रमशः अधिकाधिक वर्णन है । अतः कल्पना होती है कि यह कल्पना पीछेसे बढाई गयी है । पहले इतनी नहीं थी । बृहदारण्यकसे भी आगे बढकर पुराणोंमें यह विषय बहुतही बढाया गया है । इससे यह कल्पना पीछेसे बढाई जानेकी बात और अधिक सिद्ध हो जाती है । कठोपनिषद्में किंचित संक्षेपसे कहा है—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

(कठ उ २।५)

मरनेके पश्चात् आत्माकी कैसी गति होती है यह गुह्य बात कहता हूं । कई आत्मा दूसरा देह प्राप्त करनेके लिये गर्भको प्राप्त होते हैं और दूसरे स्थाणु भावको प्राप्त होते हैं । जैसा जिसका कर्म और जैसा जिसका ज्ञान वैसी गति होती है । यहां कर्ममार्गसे पुनर्जन्म होता है और ज्ञानमार्गसे मुक्ति होती है यह समस्या वैसीही इसका द्योतक है । यही मूल कल्पना है । यही बात अविद्या और विद्याके वर्णनसे ईशोपनिषद्में भी सूचित की गई है ऐसा कई लोग मानते हैं । तथापि वहां विद्या व विद्याका अर्थ आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान है । अत वहांके वर्णनका क्षेत्र दूसराही है । इस तरह देखनेसे पता चलता है कि यह अर्चि और धूम मार्गका वर्णन मार्गमें कुछ और था और पीछेसे बढा दिया गया है ।

वेदमन्त्रोंमें इन मार्गोंके विषयमें कहा है—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ (ऋ १०।८८।१५)

'मनुष्योंकी तथा, पितरोंकी (दो सृती) दो प्रकारकी गतियाँ होती हैं ऐसा हम सुनते आये हैं। जगत् इस माता पितारूपी (द्यावापृथिवीके मध्यके) दो मार्गोंसे जाता है।' यहाँ दोही गतियाँ बतलाई गई हैं। वेदमें इससे अधिक नहीं कहा गया है। इसीका विस्तार आधुनिक उपनिषदोंमें अधिक किया गया है। पुराणोंमें विशेषकर गरुड पुराणमें तो एक एक दिनकी गतिका वर्णन है। इनके अक्षरशः सत्य होनेमें शंका हो सकती है। इस प्रकारके वर्णनमें हम कह सकते हैं कि सभी बातें जो लिखी जाती हैं सत्य नहीं होतीं। उपनिषद्में कई ऐसी बातें हैं जो अक्षरशः सत्य नहीं मानी जा सकतीं। उदाहरणके लिये सूर्यके ऊपर चन्द्रका होना।

कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति। कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेति अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति आदित्यलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति इन्द्रलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति। (बृ ३।६।१)

जल वायुमें वायु अन्तरिक्षमें अन्तरिक्ष गन्धर्वलोकमें गन्धर्वलोक आदित्यलोकमें आदित्य चन्द्रलोकमें चन्द्र देवलोकमें देवलोक इन्द्रलोकमें इन्द्रलोक प्रजापतिलोकमें और प्रजापति ब्रह्मलोकमें ओतप्रोत हुए हैं। यह वर्णन अक्षरशः सत्य मानना कठिन है। क्योंकि आदित्यलोकका आधार चन्द्रलोक नहीं है अर्थात् यह वर्णन स्थूल बुद्धिके अनुभवके विरुद्ध है। तथा—

यदा पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति। स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति। स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति स ऊर्ध्वमाक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः। (बृ ५।१०।१)

जब मनुष्य मरता है तो वायुमें पहुँचता है वहाँसे वह ऊपर सूर्यको प्राप्त होता है सूर्यसे वह ऊपर चन्द्रमाको प्राप्त करता है वहाँसे वह ब्रह्मलोकमें पहुँचता है। वहाँ शोकरहित होकर अनंत समयतक रहता है। यहाँ सूर्यके ऊपर चन्द्रलोक होनेका वर्णन है। या तो यह चन्द्रलोक या हमारा चन्द्रमा नहीं है अथवा कुछ औरही व्यवस्था है। जो कुछ हो यहाँ यह बात स्पष्ट है कि यह सब वर्णन जैसा यथार्थसे दिखाई देता है वैसा नहीं है। यही वर्णन श्रीमद्भागवतमें भी है—

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः॥
(श्री भागवत ५।२२।१)

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानः ॥ ८ ॥ ततः उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो नक्षत्राणि ॥ ११ ॥ तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनतः ॥ १२ ॥
(श्री भागवत ५।२२)

ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है सूर्यसे ब्रह्माण्डकी परिधि पच्चीस कोटि योजन है। चन्द्रमा एक लाख योजन इससे ऊपर है उसके ऊपर तीन लाख योजन नक्षत्र हैं, उनके ऊपर दो लाख योजन शुक्र है। इत्यादि बहुत कहा गया है। यह वर्णन आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध नहीं होता और यदि कोई सिद्ध करेगा तो उसको इसका कुछ दूसरा अर्थ करना पड़ेगा। यही हमने ऊपर कहा है कि इसका अक्षरशः सत्य मानना कठिन है। किसी ग्रन्थमें प्रमाण बिना कुछ संकलित भी हो उससे उसमें विश्वास प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिये केवल वचनोंमें लोगोंकी

स्थितिका वर्णन यद्यपि सिद्ध होनेपर भी मुख्य सिद्धान्तमें बाधा नहीं हो सकती। मुख्य सिद्धान्त आत्माकी स्थितिका है वह अबाधित रहता है। अस्तु।

इससे इतनाही बताया कि जो मरणोत्तर द्विविध गतिका वर्णन किया है उसका उपनिषदोंमें आलंकारिक अर्थ लेना चाहिये न कि उत्तान शब्दार्थ मात्र। इस आलंकारिक अर्थके निदर्शक शब्द ये हैं—

शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
शुद्ध पक्ष	कृष्ण पक्ष
शुद्ध मार्ग	कृष्ण मार्ग
आपूर्यमाण पक्ष	अपक्षीयमाण पक्ष
श्रद्धा तप	यज्ञ
तप ब्रह्मचर्य विद्या	कर्ममार्ग
ज्ञानमार्गी देवयान	पितृयाण
उत्तर अयन	दक्षिण अयन
उत्तर गति, ऊर्ध्वगति	दक्षिण गति

ये शब्द आलंकारिक अर्थके सूचक हैं। एकका नाम शुक्ल और दूसरेका नाम कृष्ण है। यहीं दोनों मार्गोंके स्वरूपका निश्चय हो सकता है। आपूर्यमाण का अर्थ भरनेवाला पूर्ण करनेवाला और अपक्षीयमाण का अर्थ क्षीण करने वाला है। जो शुद्ध मार्ग है उससे जानेवाले अपने आपको प्रतिक्षण परिपूर्ण होनेका अनुभव करते हैं और कृष्ण मार्गसे जानेवाले लोग अपने आपको क्षीण होनेका अनुभव करते हैं। यहां वे पुण्यसंचय के क्षीण होनेके पश्चात् वे स्वर्गसे गिरा दिये जाते हैं। एक मार्गमें ब्रह्मचर्य और विद्या है और दूसरे मार्गमें केवल कर्म है। एक मार्गसे (उत्तर अयन) उन्नत होनेकी संभावना है और दूसरे मार्गसे वैसी संभावना नहीं है प्रत्युत बारबार वापस आनेका निश्चय है। इस तरह ये शब्द दोनों मार्गोंका स्वरूप बताते हैं। इस स्थान पर जो कर्ममार्गका वर्णन है उसके संबंधमें उपनिषद् कहते हैं—

एहि एहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ (मुंडक १।२।६)

आओ आओ यह कहकर यजमानको उसकी आहुतियां बुलाती हैं और सूर्यकी किरणोंसे उसे बहाती हैं मीठा भाषण बोलती हैं। यह पुण्यलोक यजमानके लिये है। इस विषयमें और आगे कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (मुंडक १।२।८)

ये कर्ममार्गी लोग अन्तःकरणमें अविद्या अज्ञानसे भरपूर भरे होते हैं, परंतु अपने आपको बडा बुद्धिमान् और पंडित मानते हैं अतः ये मूढ गिरतेही जाते हैं।

यह कृष्ण मार्गसे जानेवालोंका वर्णन है। अंधवालोंके पीछे अंधवाले चलते हैं। यह शुद्ध मार्गियोंका वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि कौनसा मार्ग अच्छा है और कौनसा कष्टदायक।

एक मार्ग श्रद्धा तप ब्रह्मचर्य, विद्या ज्ञानका है और दूसरा है अन्ध विश्वासयुक्त कर्मका। यहां मार्गोंकी भिन्नता स्पष्ट हो गयी है। शुद्ध मार्ग दैवी संपत्तिका है और दूसरा आसुरी संपत्तिका। अतः एकको 'प्राण' का मार्ग और दूसरेको रयि (भोग) का मार्ग कहा है। भोगमें फंसनेसे गिरावट होती है इसीलिये गीतामें भोगोंपर अनासक्ति रखनेको कहा है।

भगवद्गीतामें यज्ञ, संन्यास योग आदि शब्द नवीन और विशेष अर्थोंके साथ प्रयुक्त किये गये हैं ऐसेही देवयान पितृयाणके शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष तथा ज्योति और धूम आदि सब शब्द विशेष अर्थ रखकरही प्रयुक्त किये गये हैं। यदि इनके उत्तान अर्थ किये जायेंगे तो भगवद्गीताका उपदेश सुसंगत प्रतीत नहीं होगा।

शुक्ल और कृष्ण गति

ये दो शब्दही इन मार्गोंका स्वरूप बता रहे हैं। एक मार्गसे जानेसे शुद्धता आती है और दूसरे मार्गसे जानेसे कृष्णता कालिमा आती है। जगतमें जो भोगोंके पीछे दौड रहे हैं वे कृष्ण मार्गसे जानेवाले और जो त्याग तप और स्वाधीनताके पीछे चल रहे हैं वे शुद्ध मार्गसे जानेवाले हैं। इन मार्गोंके संबंधमें इन दो शब्दोंकाही ध्यान रखनेके पश्चात् अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

इन मार्गोंपर जानेसे ये दो भिन्न परिणाम होते हैं। एक मार्गसे जानेसे स्वाधीनता मिलती है और दूसरे मार्गसे जानेसे अनेक दुःख भोगने पडते हैं। यह जिसे ज्ञान है वह

कभी मोहित नहीं होता अर्थात् कृष्ण मार्गके भोगोंमें न फंसता हुआ त्यागके शुद्ध मार्गसे उन्नत होता चला जाता है। वेदाध्ययन यज्ञ तप और दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है उससे कई गुना अधिक फल प्रत्यक्ष त्यागमार्गका अवलंबन अर्थात् कर्मफलत्यागका आचरण करनेसे होता है। इस अध्यायमें यही मननीय है।

॥ यहां अष्टम अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अष्टम अध्यायके सुभाषित

---

(१) कर्मका लक्षण

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

(भ गी ८।३)

प्राणिमात्रके अपने निज स्वभावकी उन्नति करनेका जो विशेष प्रयत्न है उसका नाम कर्म है। प्रत्येक प्राणीका कुछ विशेष शुभ गुण कर्म स्वभाव होता है, उसके उत्कर्ष करनेके प्रयत्नका ही नाम कर्म है।

(२) सतत मननका प्रभाव

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(भ गी ८।६)

जिस भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य देह छोडता है उस भावसे प्रभावित होकर उसीको प्राप्त होता है। मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा बनता है।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(भ गी ८।७)

ईश्वरमें मन बुद्धि अर्पण करनेसे निःसंदेह ईश्वर प्राप्त होगा। क्योंकि मन और बुद्धिमें सतत जो भाव रहेगा, वैसाही मनुष्य बनेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

(भ गी ८।८)

चित्त एकाग्र कर ईश्वरस्मरणका सतत अभ्यास करनेसे मनुष्य दिव्य पुरुष परमेश्वरको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(भ गी ८।१४)

एकाग्रचित्त होकर जो सतत नित्य ईश्वरका स्मरण करता है उसको ईश्वर सुलभतासे प्राप्त होता है।

(३) ईश्वरस्मरण

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥ (गी ८।७)

सदा ईश्वरका स्मरण कर और युद्ध कर। पहिले ईश्वरका स्मरण कर और पश्चात् युद्ध आदि कर्तव्य कर।

(४) ज्ञानका महत्त्व।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ॥

(भ गी ८।२७)

इन गतियोंको जाननेवाला योगी कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी

अष्टम अध्यायकी विषयसूची



अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्या-राजगुह्य-योग

(१) पवित्र अविनाशी राजधर्म

श्रीभगवानुवाच-

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप । अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वयः — यत् ज्ञात्वा (त्वं) अशुभात् मोक्ष्यसे (तत्) तु इदं गुह्यतमं विज्ञानसहितं ज्ञानं अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ इदं (ज्ञानं) राजविद्या राजगुह्यं उत्तमं पवित्रं अव्ययं प्रत्यक्षावगमं कर्तुं सुसुखं धर्म्यं च (अस्ति) ॥ २ ॥ हे परंतप ! अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः मां अप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले- मैं मत्सररहित तुझे यह अत्यन्त गुप्त ज्ञान विज्ञानसहित बताये देता हूँ। इसका ज्ञान हो जानेपर तू (सदा) अशुभसे दूर रहेगा ॥ १ ॥ यह ज्ञान सब विद्याओंमें मुख्य, सब गुह्योंमें गुह्य उत्तम पवित्र अविनाशी प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला और सुखसे आचरण करनेयोग्य पूर्णतया धर्मरूप है ॥ २ ॥ हे तपस्वी अर्जुन ! धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझको न पाकर लौट लौटकर इस मृत्युमय संसारके मार्गमेंही चक्कर लगाते रहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ — सत्य ज्ञान और सत्य विज्ञान जाननेसेही मनुष्य अशुभ अवस्थासे बच सकता है। यही विज्ञानयुक्त सत्य ज्ञान सबसे श्रेष्ठ विद्या सबसे श्रेष्ठ ज्ञान तथा सबसे गुह्य तत्त्वज्ञान है। यही मानवोंका सबसे उत्तम अविनाशी अर्थात् चिरकाल रहनेवाला पवित्र और प्रत्यक्ष रूपसे हरएकके अनुभवमें आनेवाला तथा सुगमतासे आचरण होने योग्य श्रेष्ठ धर्म है। जो इस अविनाशी परमोच्च धर्मपर श्रद्धा नहीं रखते उन्हें ईश्वरस्वरूपकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती और वे इस संसारमें बारबार मृत्युका दुःख भोगते रहेंगे ॥ १-३ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ- जिस राजविद्याको जाननेसे मनुष्योंकी कभी दुरवस्था नहीं होती वह अत्यंत गुह्य ज्ञान विज्ञानके साथ तुम्हें बताता हूं ॥ १ ॥ (राजविद्या) यह राज्यशासनकी विद्या है, यह श्रेष्ठ राजाओंका (राजगुह्य) राज्यशासन चलानेका गुह्य ज्ञान है यह मनुष्यको (उत्तमं) उत्तम और (पवित्रं) पवित्र करनेवाला ज्ञान है (अ-व्ययं) इसमें कोई अधिक व्यय नहीं होता इससे उत्तम लाभ होता है इसका (प्रत्यक्ष-अवगमं) प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक कर सकता है, यह (कर्तुं सुसुखं) आचरण करनेके लिये भी अत्यंत सुगम है ॥ २ ॥ जो इस राजविद्यापर विश्वास नहीं रखेंगे वे पुरुष- (पुरुष-) उसको प्राप्त नहीं होंगे और मृत्यु तथा विविध दुःखोंको भोगते रहेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ- यह राज्यशासन चलानेकी मुख्य विद्या है। इस प्रकार राज्यकार्यसे मनुष्यको अबाध कल्याण प्राप्त होता है और कभी मनुष्यकी दुर्दशा नहीं होती। यह राज्यशासनकी गुप्त विद्या है यह मनुष्यको नित्य हृदयमें धारण करनी चाहिये। जहां इस तरह राज्यशासन चलेगा वहांके मनुष्य श्रेष्ठ होंगे और अधिक पवित्र होते जायेंगे। इस पद्धतिसे राज्यशासन चलानेके लिये किसी प्रकार भी अधिक व्यय नहीं करना पडता प्रत्युत अन्य शासनोंकी अपेक्षा यह राज्यशासन न्यून व्ययसेही चलाया जा सकता है। इससे मनुष्योंका हित होता है यह बात हरएकके अनुभवमें आ सकती है। यह राज्यशासन चलाना बडा सुगम है। जो लोग इस राज्यशासनपर विश्वास नहीं रखेंगे वे श्रेष्ठ पुरुष नहीं कहावेंगे और वे अनंत दुःख भी भोगेंगे ॥ १-३ ॥

गुह्ययोग

(१ १) भगवान् इस अध्यायमें गुह्ययोगका वर्णन करते हैं। इसीको गुह्ययोग गुह्यविद्या गुह्यविद्या, राजयोग राजविद्या आदि नामोंसे पुकारते हैं। सम्पूर्ण विद्याओंमें शास्त्रोंमें और योगोंमें यह श्रेष्ठ होनेके कारण इसको राजविद्या और राजगुह्य कहा जाता है। हम इसको विद्याओंका राजा गुह्य ज्ञानोंका सम्राट्, राजाओंकी विद्या तथा राजाओंका गुह्य ज्ञान आदि भिन्न भिन्न नामोंद्वारा पुकार कर सकते हैं। परंतु (राज्ञां विद्या राज्ञां गुह्य) इस दूसरे अर्थपर कई विद्वान् विश्वास नहीं रखते, वे कहते हैं कि यह ज्ञान जो श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णजीके द्वारा उपदेशरूपसे दिया गया है वह केवल क्षत्रियोंके लिये ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान तो मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ कहा गया है। जो ज्ञान राजाओं (क्षत्रियों) का गुह्य ज्ञान या गुह्य ज्ञान होगा वह केवल क्षत्रियोंके लियेही हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें किसी एक जाति या वंशको लक्ष्य करके कोई उपदेश नहीं है यहां तो मनुष्यमात्र का उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उपदेश करते हैं ।। जो वैश्य शूद्र पापयोनि अर्थात् चांडाल (गी ९।३२) वे सभी परम गतिको प्राप्त हो सकते हैं। जिससे यह चमत्कार होता है और जो सर्वजनहितकारी ज्ञान है वही भगवद्गीतामें कहा है। 'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे ईश्वरकी भक्ति करे तो वह साधु बन सकता है क्योंकि वह शुभ संकल्प कर चुका है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर चिरन्तर शान्ति प्राप्त करता है। ईश्वर भक्तकी कभी दुःख नहीं पा सकता। (गी ९।३१-३२) प्रत्येक मनुष्यको ऐसीही धारणा बना लेनी चाहिये।

राज-विद्या

अन्य सब विद्याएं विशिष्ट व्यक्तियोंके लिये हैं परंतु यह विद्या ऐसी है कि जिससे संपूर्ण मानव-समाजका हित हो सकता है। इसीलिये इसको राजविद्या अथवा श्रेष्ठ ज्ञान कहते हैं। यहां किसी व्यक्तिविशेषका पक्षपात नहीं है और न इसपर किसी जातिविशेषकाही अधिकार है। यहां इस राजविद्याके पास मनुष्यमात्र आकर विश्राम प्राप्त कर सकता है। राजविद्याका यही अर्थ यहां ध्यान देनेयोग्य है।

राज्य चलानेकी विद्या

राजविद्याके दूसरे अर्थपर अब विचार करते हैं। यह राज्यशासन चलानेकी विद्या है (राज्ञां विद्या) अर्थात् यह राजाओंकी विद्या है। राजपुरुष राज्यका शासन कैसे करें, राज्यका कर्मचारी अपना व्यवहार अर्थात् शासनव्यवहार कैसे करे और राज्यमें रहनेवाला प्रत्येक मनुष्य कैसे वर्ताव करे तथा प्रजाजनोंका परस्पर कैसे वर्ताव हो, यही राज-प्रबंध और प्रजाप्रबंधकी विद्याका यहां वर्णन है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र चांडाल स्त्रियां पापयोनि, श्वपाक पतित गौ, हाथी कुत्ता आदि सभीको समान दृष्टिसे देखा जायगा।' (गी. ५।१८) इस भगवद्गीताके अनुसार जो राज्यशासन चलाया जायगा उसमें सबको सम दृष्टिसे देखा जायगा। अर्थात् जन्म या वर्णके कारण किसी का पक्षपात इस राज्यमें नहीं होगा।

भगवद्गीतोक्त इस राज्यशासनमें सब लोग कर्मफल-त्याग करेंगे कोई अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये नहीं रखेगा। अर्थात् इस भगवद्गीताकी राजविद्याके अनुसार ब्राह्मण विद्या पढावेगा ज्ञान फैलावेगा, लोगोंको ज्ञानविज्ञानसंपन्न करेगा परंतु इस कार्यके लिये वेतन नहीं लेगा। वह अपने कर्मका और कर्मफलका अर्पण प्रजापतिके लिये करेगा। इस राजविद्याके अनुसार क्षत्रिय राज्यका पालन करेगा शासनका प्रबंध करेगा, पहरेदारी करेगा दुष्टोंको दण्ड देगा सबकी रक्षाके लिये आवश्यकताके समय युद्धादि कर्म करेगा। परंतु सारे इन कर्मोंको और अपने कर्मफलोंको प्रजापतिके लिये समर्पण करेगा। ये क्षत्रिय भी अपने कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास संगृहीत नहीं रखेंगे। वैश्य भी कृषि पशुपालन और व्यापारव्यवहार लेन देन आदि सब करेंगे परंतु जो लाभ होगा वह प्रजापतिके पास जमा करेंगे व्यक्तिगत उपभोग-वृद्धिके लिये अपने पास संग्रह करके नहीं रखेंगे। शूद्र भी विविध कलाकौशलकी उन्नति करके समाजकी सेवा करते जायेंगे। इससे उन्हें जो कुछ प्राप्त होगा उसे वे अपने पास संग्रह करके खर्च नहीं करेंगे परंतु वह सब फल प्रजापतिको समर्पित करेंगे। इसी तरह किसान और अन्यान्य लोग अपने कर्मोंके फलोंको

अपने पास संग्रह करके नहीं रखेंगे । अपितु सभी लोग अपने अपने कर्मोंके द्वारा उत्पादित फलोंको प्रजापति (प्रजापालक राजा अथवा राज्यशासक संस्था) को समर्पित कर देंगे ।

ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, शिल्पकारादि सब लोग अपने अपने (सहज जन्मसे प्राप्त) कर्मोंमें अमत उन्नति कर पूर्णता प्राप्त करेंगे जो कम कौन करेंगे अत्यन्त कुशलतासे (योगस्थः कुरु कर्माणि । [गी २।४८] योगः कर्मसु कौशलम् । गी २।५) करेंगे । सिद्धि हो या असिद्धि, उसकी चिन्ता न करते हुए अपना कर्तव्य करना अपना धर्म है ऐसा मानकर हरएक अपना अपना कर्तव्य पालेगा । (सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा गी २।४८, १८।२६) सब लोग अपने कर्मके फलोंको (ब्रह्मार्पण । गी. ४।२४) प्रजापतिके लिये अर्पण करेंगे और कोई भी उन्हें अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहीत करके नहीं रखेगा ।

प्रत्येक मनुष्य समझेगा कि अपने अपने कर्मसे मैं ईश्वरकी सेवा कर रहा हूं । (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।गी १८।४६) । वैद्य रोगीकी चिकित्सा इसी भावसे करेगा कि इस रोगीके रूपमें परमेश्वरही मेरे सामने आया है और इसकी सेवा स्वकर्म द्वारा करना मेरा कर्तव्य है। अध्यापक शिष्यको इसी भावसे सिखायेगा कि 'ईश्वरही इस शिष्यके रूपमें मेरे सम्मुख आया है और अध्यापनरूप कर्मके द्वारा इस शिष्यरूपी ईश्वरकी सेवा करना मेरा धर्म है । न्यायाधीश भी समझेगा कि वादी और प्रतिवादी जो मेरे सामने आते हैं वे इन रूपोंमें परमेश्वरही प्रकट हुए हैं और पक्षपातरहित न्याय करके मैं इनकी सेवा करनेके लिये यहां बैठा हूं । स्त्री करेगी कि मैं अपने जीवनके पतिरूपी परमेश्वरकी सेवा करूंगी और पति करेगा कि परमेश्वरही स्त्रीरूपमें साथी बनकर मेरे सम्मुख आया है अतः अपने पतिव्रतद्वारा उसकी सेवा करना और उसको संतुष्ट रखना मेरा धर्म है । इसी तरह युद्धभूमिपर युद्ध करनेवाला वीर समझेगा कि 'ईश्वरही इन प्रतिपक्षियोंके रूपमें मेरे सामने आकर उपस्थित है और उत्तम युद्धरूप कर्म करके उसकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य है । इस तरह हरएक मनुष्य स्वकीय कर्म उत्तम रीतिसे करके परमेश्वरकी सेवा करेगा और उत्तम सिद्धिको प्राप्त होगा । अपना कर्तव्य करनाही परमेश्वरकी सेवा है ।

(मानुषीं तनुमाश्रितं भूतमहेश्वरं मम । गी ९।११-१२) मानवीय शरीर धारण करके ईश्वरही पंच जनोंके रूपमें मेरे सामने है ऐसा मानकर उनकी यथायोग्य सेवा करना हरएकका कार्य होगा । अपना अपना कर्तव्य पालन करनेपर भी कोई उस कर्मका फल निज उपभोगके लिये अपने पास संग्रहीत करके नहीं रखेगा परंतु समग्र सब कर्मफल प्रजापतिके लिये समर्पित होगा ।

प्रत्येक मनुष्य यदि वह श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यमें रहेगा, तो अनन्य भावसे सेवा करेगा—

अनन्याः पर्युपासते । (गी ९।२२)
अनन्येनैव योगेन ध्यायन्ते । (गी १२।६)

मैं अन्य हूं और जो मेरे सम्मुख उपस्थित है वह अन्य है ऐसा भाव छोडकर हम सबके मिलनेसेही यह विराट् पुरुष बना है, सब मिलकर एकही (वासुदेवः सर्वम् । गी ७।१९) सद्वस्तु है इस अनन्य भावसे अपने अपने स्वभावनियत कर्मद्वारा परमेश्वरकी सेवा करेंगे । इस तरह विश्वसेवा करना उनका निज धर्म निज कर्तव्य और सहज कर्तव्य होगा ।

इस राज्यमें राज्यशासनका नियमन करनेवाली प्रजापति संस्था होगी और उसका नियामक प्रजापति होगा । इसीका दूसरा नाम गणसंस्था और उसका नियामक गणपति कह सकते हैं । उसमें कार्य व्यवस्थाके अनुसार (अर्थात् चातुर्वर्ण्यं गुणकर्मशः । गी ४।१३) गणोंकी व्यवस्था होगी । प्रत्येक गणमें कितने भी पुरुष बालक और तरुण हैं इनकी उत्तम रीतिसे गिनती होगी । कौन कहां है उसका काम क्या है इत्यादि सबका हिसाब रहेगा । गणसंस्थाके बाहर कोई न होगा । प्रत्येक गणका एक अध्यक्ष होगा उसको गणपति कहा जायगा । अनेक गणोंका एक गणमंडल होगा उसका अधिष्ठाता गणमंडलाध्यक्ष कहलायेगा और इन सबका नियमन प्रजापति करेगा ।

प्रत्येक गण क्या कार्य करता है उसका फल क्या होगा उसका विनियोग कैसे करना चाहिये इत्यादि सब बातोंका विचार गणपति तथा गणमंडलाध्यक्ष करेंगे । परंतु यह सब कार्य प्रजापतिसंस्थाद्वारा प्रजापतिही करेगा ।

गणमें रहनेवाले सब लोग अपना अपना कर्म उत्तम रीतिसे करेंगे । अपना कर्म उत्तम रीतिसे करना (कर्मण्येवाधिकारस्ते । गी २।४७) ही हरएक मनुष्यका कार्य होगा ।

गुह्ययोग

(१-३) भगवान् इस अध्यायमें गुह्ययोगका वर्णन करते हैं। इसीको गुह्ययोग गुह्यविद्या गुह्यविद्या राजयोग राजविद्या आदि नामोंसे पुकारते हैं। संपूर्ण विद्याओंमें ज्ञानोंमें और योगोंमें यह श्रेष्ठ होनेके कारण इसको राजविद्या और राजगुह्य कहा जाता है। इस इसको विद्याओंका राजा गुह्य ज्ञानोंका सम्राट्, राजाओंकी विद्या तथा राजाओंका गुह्य ज्ञान आदि भिन्न भिन्न नामोंद्वारा पुकार का सकते हैं। परंतु (राज्ञां विद्या राज्ञां गुह्य) इस दूसरे अर्थपर हमें विश्वास नहीं रहते वे कहते हैं कि यह ज्ञान जो श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णजीके द्वारा उपदेशरूपसे दिया गया है यह केवल क्षत्रियोंके लिये ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान तो मनुष्यमात्रके कामार्थ कहा गया है। जो ज्ञान राजाओं (क्षत्रियों) का गुप्त ज्ञान या गुह्य ज्ञान होगा वह केवल क्षत्रियोंके लियेही हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें किसी एक जाति या वंशको लक्ष्य करके कोई उपदेश नहीं है यहां तो मनुष्यमात्र का उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उपदेश करते हैं॥ स्त्री वैश्य शूद्र पापयोनि अर्थात् चांडाल (गी ९।३२) वे सभी परम गतिको प्राप्त हो सकते हैं। जिससे यह चमत्कार होता है और जो सर्वजनहितकारी ज्ञान है वही भगवद्गीतामें कहा है। 'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे ईश्वरकी भक्ति करे तो वह साधु बन सकता है क्योंकि वह शुभ संकल्प कर चुका है। वह शीघ्रही धर्मात्मा बनकर निरन्तर शान्ति प्राप्त करता है। ईश्वर भक्तका कभी दुःख नहीं पा सकता। (गी ९।३१-३२) प्रत्येक मनुष्यका ऐसीही धारणा बना लेनी चाहिये।

राज-विद्या

अन्य सब विद्याएं विशिष्ट व्यक्तियोंके लिये हैं परंतु यह विद्या ऐसी है कि जिससे संपूर्ण मानव समाजका हित हो सकता है। इसीलिये इसको राजविद्या अथवा श्रेष्ठ ज्ञान कहते हैं। यहां किसी व्यक्तिविशेषका पक्षपात नहीं है और न इसपर किसी जातिविशेषका ही अधिकार है। यहां इस राजविद्याके पास मनुष्यमात्र आकर निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। राजविद्याका यही अर्थ यहां ध्यान देनेयोग्य है।

राज्य चलानेकी विद्या

राजविद्याके दूसरे अर्थपर अब विचार करते हैं। यह राज्यशासन चलानेकी विद्या है (राज्ञां विद्या) अर्थात् यह राजाओंकी विद्या है। राजपुरुष राज्यका शासन कैसे करें, राज्यका कर्मचारी अपना व्यवहार अर्थात् शासनव्यवहार कैसे करे और राज्यमें रहनेवाला प्रत्येक मनुष्य कैसे वर्ताव करे तथा प्रजाजनोंका परस्पर कैसे वर्ताव हो यही राज्य प्रबंध और प्रजापालनकी विद्याका यहां वर्णन है। यहां ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र चांडाल स्त्रियां पापयोनि चाण्डाल, पंडित गौ हाथी कुत्ता आदि सभीको समान दृष्टिसे देखा जायगा। (गी. ५।१८) इस भगवद्गीताके अनुसार जो राज्यशासन चलाया जायगा, उसमें सबको सम दृष्टिसे देखा जायगा। अर्थात् जन्म या धर्मके कारण किसी का पक्षपात इस राज्यमें नहीं होगा।

भगवद्गीतोक्त इस राज्यशासनमें सब लोग कर्मफल त्याग करेंगे कोई अपने कर्मका फल अपने भोगके लिये नहीं रखेगा। अर्थात् इस भगवद्गीताकी राजविद्या के अनुसार ब्राह्मण विद्या पढावेगा, ज्ञान फैलावेगा प्रजाजनोंको ज्ञानविज्ञानसंपन्न करेगा परंतु इस कार्यके लिये वेतन नहीं लेगा। वह अपने कार्यका और कर्मफलका समर्पण प्रजापतिके लिये करेगा। इस राजविद्या के अनुसार क्षत्रिय राज्यका पालन करेगा ग्रामका निरीक्षण करेगा पहरेदारी करेगा दुष्टोंको दण्ड देगा सत्यकी रक्षाके लिये अपनत्वके साथ युद्धादि कर्म करेगा। परंतु इन कर्मोंको और अपने कर्मफलोंको प्रजापतिके लिये समर्पण करेगा। ये क्षत्रिय भी अपने कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास संगृहीत नहीं रखेंगे। वैश्य भी कृषि पशुपालन और व्यापारव्यवहार लेन देन आदि सब करेंगे परंतु जो लाभ होगा वह प्रजापतिके पास जमा करेंगे व्यक्तिगत उपभोग-वृद्धिके लिये अपने पास जमा करके नहीं रखेंगे। शूद्र भी विविध कलाकौशलकी उन्नति करके समाजकी सेवा करते जायेंगे। उनसे उन्हें जो कुछ लाभ होगा उसे वे अपने पास संग्रह करके स्वयं भोग नहीं करेंगे परंतु वह सब फल प्रजापतिको समर्पित करेंगे। इसी तरह स्त्रियां और अन्यान्य लोग अपने कर्मोंके फलोंको

(२) अव्यक्तका प्रभाव

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अन्वयः— अव्यक्तमूर्तिना मया इदं सर्वं जगत् ततम् । सर्वभूतानि मत्स्थानि (सन्ति), अहं च तेषु न अवस्थितः (अस्मि) ॥ ४ ॥ भूतानि च मत्स्थानि न (सन्ति) मे ऐश्वरं योगं पश्य । अहं भूतभृत् (अपि) भूतस्थः न । मम आत्मा च भूतभावनः (अस्ति) ॥ ५ ॥ यथा सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यं आकाशस्थितः (अस्ति) तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि (सन्ति) इति (त्वं) उपधारय ॥ ६ ॥

अव्यक्तमूर्ति मैं (ईश्वर) ने इस संपूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है । सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूं ॥ ४ ॥ तथा सब भूत मुझमें नहीं भी हैं । यह मेरा ईश्वरीय योग तू देख । मैं सब भूतोंका भरणपोषण करनेवाला हूं तो भी मैं उनमें नहीं हूं । तथापि मेरी आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाली है ॥ ५ ॥ जैसे सर्वत्र गमन करनेवाली महान् वायु नित्यही आकाशमें रहती है वैसेही सब भूत मुझमें रहते हैं, यह तू ध्यान रख ॥ ६ ॥

भावार्थ- ईश्वरने संपूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है और वह उसमें व्याप्त है । संपूर्ण पदार्थ मात्र उसके आधारपर हैं परंतु वह ईश्वर इन भूतोंके आधारपर नहीं है अर्थात् वह अपनेही आधारसे है । सब पदार्थ यद्यपि उसीमें हैं तथापि न होनेके समान हैं । यही ईश्वरीय योगका चमत्कार है । ईश्वर सबका पालनपोषण करता है तो भी वह उनमें फँसा नहीं है । इसकी आत्मा, भूतोंकी उत्पत्ति और विकास करनेवाली है । जैसे इस आकाशमें यह वायु है इसी प्रकार ये सब पदार्थ ईश्वरमें हैं । साधक इस बातपर विचार करें ॥ ४-६ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— (अव्यक्तमूर्तिना) अमूर्त राजसत्तासे (इदं सर्वं जगत्) यह संपूर्ण प्रजाविभाग राज्य शासन (ततं) चल रहा है और यही अमूर्त राजसत्ता राज्यमें सर्वत्र फैल गयी है । (सर्वभूतानि) सब लोग इसी (मत्स्थानि) राजसत्ताके आधारसे रहते हैं, परंतु यह राजसत्ता (तेषु न अवस्थिताः) लोगोंके आधारसे नहीं रहती अर्थात् यह लोगोंके आधारसे रहती हुई भी स्वतन्त्र है ॥ ४ ॥ (भूतानि मत्स्थानि) तथा सब लोग राजसत्ताके आधारसे रहते हुए भी स्वतंत्रसेही हैं । यही राजसत्ताका (ऐश्वरं योगं पश्य) ऐश्वर्ययोग देखनेयोग्य है । राजसत्ता सबका (भूतभृत्) भरणपोषण करती है तथापि वह उसमें (न च भूतस्थः) बद्ध नहीं है । राजसत्ताकी जो (आत्मा) आत्मा है वह राज्यके (भूत-भावनः) प्राणिमात्रका अभ्युदय करनेवाली है ॥ ५ ॥ (यथा) जैसे (आकाशस्थितः) आकाशमें (वायुः) वायु होती है और बड़ी होती हुई (सर्वत्रगः) सर्वत्र गमन कर सकती है (तथा) इसी तरह (सर्वभूतानि) प्रजा राज्य शासनमें बंधी रहनेपर भी स्वतन्त्रताके साथ प्रगति कर सकती है ॥ ६ ॥

चाहिये तथा इस राजविद्याका समझ तदनुसार राज्यशासन कर सबको सुखी करना चाहिये ।

निर्मत्सर पुरुषोंको उपदेश

यहां ध्यान रखना चाहिये कि यह उपदेश (अनसूयवे । गी० ९।१) [अनूसा अर्थात् मात्सर्यबुद्धि द्वेषभाव दूसरे का उत्कर्ष सहन न होना आदि दोषोंका जिसमें अभाव होता है उसको अनसूयु कहते हैं इस प्रकारके] निर्मत्सर निर्वैर और दूसरेके उत्कर्षसे प्रसन्न होनेवालोंको दिया गया है । यही इस उपदेशका अधिकारी है । जो लोग दूसरोंसे मत्सर करते हैं, द्वेष फैलाते हैं और जो दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते वे लोग इस उपदेशका विचार नहीं कर सकते और न इस उपदेशके अनुसार चल सकते हैं । ऐसे अविश्वासी मनुष्य दुःखोंको भोगनेके लियेही जीवित रहते हैं ।

भगवान् इसी भावपूर्णका वर्णन गुप्त रीतिसे करते हैं वह अद्भुत वचन देखिये—

उस कर्मके फलका विचार प्रजापति करेगा। क्योंकि जो लोग इस तरह अपने अपने कर्ममें रत रहेंगे और अपने कर्मोंका फल अपने पास नहीं रखेंगे उनका योगक्षेम प्रजापतिही चलावेगा—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।
(गी ९।२२)

इस तरह नित्य अपने कर्ममें दत्तचित्त हुए कर्मनिष्ठ लोगोंका योगक्षेम प्रजापतिद्वारा चलाया जायगा। किसीको अपने योगक्षेमकी चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है। राज्यप्रबंधद्वारा जिसको जैसी आवश्यकता होगी उसको वैसाही मिलता रहेगा और इस प्रकार सबका योगक्षेम उत्तम चलता रहेगा।

हरएक मिलोंमें वृत्तिसे रहेगा लोगोंका ध्यान लोभ संग्रह तथा अस्तेय आदि वृत्तिमें रहेगा इस कारण सबकी आवश्यकतायें कम होंगी। इसीलिये झगडे भी कम होंगे और सब लोग आनंदमें रहेंगे।

इस तरह श्रीभगवद्गीतामें राजविद्या का संक्षेपमें वर्णन है। यदि इसका विस्तारसे वर्णन किया जाय तो बहुत बडा ग्रंथ हो जायगा। अतः यहां अतिसंक्षेपसे इस भगवद्गीतोक्त राज्यप्रबंधकी विद्या के अनुसार चलाये राज्यमें किस तरहका लोकव्यवहार होगा यह बताया गया है। पाठक विचार करके देखें और यथाशक्य आगे उपदेशको राज्यप्रबंधमें बरतें तो उनको स्वयंही श्रीकृष्णभगवान्‌के राज्यशासनकी उत्तम कल्पना हो सकती है। यह राजविद्या अर्थात् राज्यशासन चलानेकी विद्या है और यही राजगुह्य अर्थात् राजाके उत्तम शासनका गुह्य है। यही गुह्य ज्ञान है जिससे राजा और प्रजाको अपेक्षित सुख मिल सकता है। यदि इस प्रकारका राज्यशासन चलता रहेगा तो आगे ऐसा होगा कि सरकारसेही सब शासनव्यवहार आपही आप चलता रहेगा। कार्य होता रहनेपर भी सब लोग स्वतंत्रताका अनुभव करेंगे। उत्तम राज्य वह है कि जहां राजा और राजपुरुषोंको कोई कार्य करना न पडे और सुराज्य और स्वराज्य स्वभावसे चलता रहे।

गुह्य ज्ञान

यह राज्यशासनका गुह्य ज्ञान (राजगुह्यं) है यही सुखका गुह्यतम साधन है और यह श्रीमद्भगवद्गीतामें आलंकारिक अलंकारिक रूपसे कहा होनेपर भी प्रकट नहीं है। क्योंकि यह गुह्य रीतिसेही कहा गया है।

सुख देनेवाला धर्म

जिसका ज्ञान होनेसे मनुष्य (मोक्ष्यसे अशुभात्) अकल्याणसे दूर रह सकते हैं और पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकते हैं वह विज्ञानसहित ज्ञान यहां कहा जायगा। यह (कर्तुं सुसुखं) आचरणमें लानेके लिये अत्यंत सुखदायक है, सहजहीसे हो जानेवाला और अत्यंत सुखप्रद है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव (प्रत्यक्ष-अवगम) किया जा सकता है। यहां इस जन्ममें कर्म करो मरनेपर स्वर्गमें उसका सुख मिलेगा अथवा अगले जन्ममें सुख मिलना ऐसी अप्रत्यक्षता यहां नहीं है। यहां जीते जी प्रत्यक्ष सुखका अनुभव हो सकता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गी २।४०)

इसका थोडासा आचरण भी बडे भयको दूर कर सकता है। इसीलिये यह सबको (सुसुखं) उत्तम सुख देनेवाला ज्ञान है। यह सबको (पवित्रं) पवित्र करनेवाला है सब प्रकारके दोषोंसे दूर करनेवाला और अद्भुत अनंत सुख देनेवाला है। यह संपूर्ण मनुष्योंका (धर्म्यं) धर्म है। इससे सबके कर्तव्य व्यक्त हो जाते हैं। इन कर्तव्योंका पालन करनेसे मनुष्य सुखी और आनन्द हो सकता है इसमें संदेह नहीं है।

अविश्वासियोंको दुःख

श्रीभगवान्‌ने अत्यंत सुखदायी मानवधर्म पूर्वोक्त प्रकारसे कहा है। परंतु कई लोग अविश्वासी होते हैं। जो इस कथन पर श्रद्धा नहीं रखते और कर्मफल भोगने और अपने पास भोगसंग्रह करनेका यत्न करते हैं (अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप) ऐसे लोग इस सत्यधर्मपर विश्वास नहीं रखते और भोग भोगनेमें प्रवृत्त होते हैं। वे ईश्वरको (अप्राप्य मां) कभी प्राप्त नहीं होते और (मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते) मृत्युके दुःखदायी मार्गपरही चलते जाते हैं, अर्थात् उनको बारबार अनंत दुःख होते रहते हैं।

इस प्रकार जो लोग इस मार्गको छोड अन्य मार्गपर चलते हैं वे दुःखके भागी होते हैं। इस बातका विचार कर सबको ईश्वरोक्त कर्मयोगके मार्गपरही चलना

उस कर्मके फलका विचार प्रजापति करेगा। क्योंकि जो लोग इस तरह अपने अपने कर्ममें रत रहेंगे और अपने कर्मोंका फल अपने पास नहीं रखेंगे उनका योगक्षेम प्रजापतिही चलायेगा—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।
(गी ९।२२)

इस तरह नित्य अपने कर्ममें दत्तचित्त हुए कर्मनिष्ठ लोगोंका योगक्षेम प्रजापतिद्वारा चलाया जायगा। किसीको अपने योगक्षेमकी चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है। राज्यप्रबंधद्वारा जिसको जैसी आवश्यकता होगी उसको वैसाही मिलता रहेगा और इस प्रकार सबका योगक्षेम उत्तम चलता रहेगा।

हरएक निर्लोभ वृत्तिसे रहेगा भोगोंका नाश करेगा सद्वृत्त तथा अस्तेय आदि वृत्तिमें रहेगा इस कारण सबकी आवश्यकतायें कम होंगी। इसीलिये झगडे भी कम होंगे और सब लोग आनन्दमें रहेंगे।

इस तरह श्रीमद्भगवद्गीतामें राजविद्या का संक्षेपमें वर्णन है। यदि इसका विस्तारसे वर्णन किया जाय तो बहुत बडा ग्रंथ हो जायगा। अतः यहां अतिसंक्षेपसे इस भगवद्गीतोक्त राज्यप्रबन्धकी विद्या के अनुसार चलाये राज्यमें किस तरहका लोकव्यवहार होगा वह बताया गया है। पाठक विचार करके देखें और यहांतक आगे उपदेशको राज्यप्रबंधमें बरतें तो उनको स्वयंही श्रीकृष्णभगवान्‌के राज्यशासनकी उत्तम कल्पना हो सकती है। यह राजविद्या अर्थात् राज्यशासन चलानेकी विद्या है और यही राजगुह्य अर्थात् राजाके उत्तम शासनका गुह्य है। यही गुह्य ज्ञान है जिससे राजा और प्रजाको अखंडित सुख मिल सकता है। यदि इस प्रकारका राज्यशासन चलता रहेगा तो आगे ऐसा होगा कि सरकारसेही सब शासनव्यवहार आपही आप चलता रहेगा। कार्य होता रहनेपर भी सब लोग नवपूर्णका अनुभव करेंगे। उत्तम राज्य वह है कि जहां राजा और राजपुरुषोंको कोई काम करना न पडे और सुराज्य और स्वराज्य स्वभावसे चलता रहे।

गुह्य ज्ञान

यह राज्यशासनका गुह्य ज्ञान (राजगुह्यं) है यही सुखका गुह्यतम साधन है और यह श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रारंभसे अन्ततक कहा होनेपर भी प्रकट नहीं है। क्योंकि यह गुह्य रीतिसेही कहा गया है।

सुख देनेवाला धर्म

जिसका ज्ञान होनेसे मनुष्य (मशुभात् मोक्ष्यसे) अकल्याणसे दूर रह सकते हैं और पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकते हैं वह विज्ञानसहित ज्ञान यहां कहा जायगा। यह (कर्तुं सुसुखं) आचरणमें लानेके लिये अत्यंत सुखदायक है सहजहीसे हो जानेवाला और अत्यंत सुखमय है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव (प्रत्यक्ष-अवगम) किया जा सकता है। यहां इस जन्ममें कर्म करो मरनेपर स्वर्गमें उसका सुख मिलेगा अथवा अगले जन्ममें सुख मिलेगा ऐसी अवस्थता यहां नहीं है। यहां जीते जी प्रत्यक्ष सुखका अनुभव हो सकता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गी २।४)

इसका थोडासा आचरण भी बडे भयको दूर कर सकता है। इसीलिये यह सबको (सुसुखं) उत्तम सुख देनेवाला ज्ञान है। यह सबको (पवित्रं) पवित्र करनेवाला है, सब प्रकारके दोषोंको दूर करनेवाला और अद्भुत अखंड सुख देनेवाला है। यह संपूर्ण मनुष्योंका (धर्म्यं) धर्म है। इससे सबके कर्तव्य स्पष्ट हो जाते हैं। इन कर्तव्योंका पालन करनेसे मनुष्य सुखी और आनन्द हो सकता है इसमें संदेह नहीं है।

अविश्वासियोंको दुःख

श्रीभगवान्‌ने अत्यंत सुखदायी मानवधर्म पूर्वोक्त प्रकारसे कहा है। परंतु कुछ लोग अविश्वासी होते हैं। जो इस धर्मवचन पर श्रद्धा नहीं रखते और कर्मफल भोगने और अपने पास भोगसंग्रह करनेका यत्न करते हैं, (अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः) ऐसे लोग इस सत्यधर्मपर विश्वास नहीं रखते और भोग भोगनेमें प्रवृत्त होते हैं। वे ईश्वरको (अप्राप्य मां) कभी प्राप्त नहीं होते और (मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते) मृत्युके दुःखरूपी मार्गपरही चलते जाते हैं, अतः उनको वारंवार अनंत दुःख होते रहते हैं।

इस प्रकार जो लोग इस मार्गको छोड अन्य मार्गपर चलते हैं वे दुःखके भागी होते हैं। इस कारण विचार कर सबको ईश्वरोक्त कल्याणके मार्गपरही चलना

(२) अव्यक्तका प्रभाव

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अन्वयः— अव्यक्तमूर्तिना मया इदं सर्वं जगत् ततम्। सर्वभूतानि (सन्ति) अहं च तेषु न अवस्थितः (अस्मि) ॥ ४ ॥ भूतानि च मत्स्थानि न (सन्ति) मे ऐश्वरं योगं पश्य। अहं भूतभृत् (अस्मि) भूतस्थः न । मम आत्मा च भूतभावनः (अस्ति) ॥ ५ ॥ यथा सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यं आकाशस्थितः (अस्ति) तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि (सन्ति) इति (त्वं) उपधारय ॥ ६ ॥

अव्यक्तमूर्ति मैं (ईश्वर) ने इस संपूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है। सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूं ॥ ४ ॥ तथा सब भूत मुझमें नहीं भी हैं। यह मेरा ईश्वरीय योग तू देख। मैं सब भूतोंका भरणपोषण करनेवाला हूं तो भी मैं उनमें नहीं हूं। तथापि मेरी आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाली है ॥ ५ ॥ जैसे सर्वत्र गमन करनेवाली महान् वायु नित्यही आकाशमें रहती है वैसेही सब भूत मुझमें रहते हैं यह तू ध्यान रख ॥ ६ ॥

भावार्थ- ईश्वरने संपूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है और वह उसमें व्याप्त है। संपूर्ण पदार्थ मात्र उसके आधारपर हैं परंतु वह ईश्वर इन भूतोंके आधारपर नहीं है अर्थात् वह अपनीही शक्तिसे है। सब पदार्थ यद्यपि उसीमें हैं तथापि न होनेके समान हैं। यही ईश्वरीय योगका चमत्कार है। ईश्वर सबका पालनपोषण करता है, तो भी वह उनमें फँसा नहीं है। ईश्वरकी आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति और विकास करनेवाली है। जैसे इस आकाशमें यह वायु है इसी प्रकार ये सब पदार्थ ईश्वरमें हैं। पाठक इस बातपर विचार करें ॥ ४-६ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— (अव्यक्तमूर्तिना) अमूर्त राजसत्तासे (इदं सर्वं जगत्) यह संपूर्ण जनताका राज शासन (ततं) चल रहा है और यही अमूर्त राजसत्ता राज्यमें सर्वत्र फैल गयी है। (सर्वभूतानि) सब लोग इसी (मत्स्थानि) राजसत्ताके आधारसे रहते हैं, परंतु यह राजसत्ता (तेषु न अवस्थिता) लोगोंके आधारसे नहीं रहती अर्थात् यह लोगोंके आधारसे रहती हुई भी स्वतंत्र है ॥ ४ ॥ (भूतानि मत्स्थानि) तथा सब लोग राजसत्ताके आधारसे रहते हुए भी स्वतंत्रसेही हैं। यही राजसत्ताका (ऐश्वरं योगं पश्य) देखनेयोग्य देखनेयोग्य है। राजसत्ता सबका (भूतभृत्) भरणपोषण करती है तथापि वह उनमें (न च भूतस्थः) बद्ध नहीं है। राजसत्ताकी जो (आत्मा) आत्मा है वह राजकी (भूत-भावनः) प्राणिमात्रका अभ्युदय करनेवाली है ॥ ५ ॥ (यथा) जैसे (आकाशस्थितः) आकाशमें (वायुः) वायु होती है और बड़ी होती हुई (सर्वत्रगः) सर्वत्र गमन कर सकती है (तथा) उसी तरह (सर्वभूतानि) प्रजा राजशासनमें रही रहनेपर भी स्वतंत्रताके साथ प्रगति कर सकती है ॥ ६ ॥

पाठक यथा इस राजविद्याको समझ तदनुसार राज्यशासन का प्रबंध पूरा किया जावे।

निर्मत्सर वृत्तिवालेको उपदेश

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह उपदेश (अनसूयवे। गी. ९।१) [अनसूया अर्थात् मात्सर्यबुद्धि द्वेषभाव दूसरेका उत्कर्ष सहन न होना आदि दोषोंका जिसमें अभाव होता है उसको अनसूयु कहते हैं, इस प्रकारके] निर्मत्सर स्वभाव और दूसरेके उत्कर्षसे प्रसन्न होनेवालेको दिया गया है। यही इस उपदेशका अधिकारी है। जो लोग दूसरोंसे मत्सर करते हैं द्वेष फैलाते हैं और जो दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते वे लोग इस उपदेशका विचार नहीं कर सकते और न इस उपदेशके अनुसार चल सकते हैं। ऐसे अविश्वासी मनुष्य दुःखोंको भोगनेके लियेही जीवित रहते हैं।

भगवान् इसी मानवधर्मका वर्णन गुह्य शब्दोंसे करते हैं, वह अद्भुत वर्णन देखिये—

भावार्थ— राज्यशासन ऐसा हो कि जो संपूर्ण राष्ट्रके प्रत्येक स्थानमें जीता जागता रहे। उसके आधारसे सबके सब व्यवहार चलते रहें परन्तु किसी व्यवहारमें वह स्वयं बद्ध न हो। सर्वत्र उसका कार्य होता रहे, परन्तु किसीसे वह बाधित न होवे। स्थानस्थानमें ईश रहें और उनका एक अधिष्ठाता ईश-वर रहे। इस प्रकार ईश्वरीय योगसे वह राज्यशासन चलता रहे। सब भूतोंका भरण पोषण होता रहनेपर भी राजा किसीमें आसक्त न हो सब कार्योंसे अलग रहे। अलग रहनेपर भी सबका प्रेरक चालक और अभ्युदयकर्ता रहे। मानो आकाश राजसत्ता है और उसमें वायु प्रजा है। वायु आकाशके आधारसे रहता है आकाशमें विचरता है आकाशमें बंधी होनेपर भी विचरण करनेके लिये उसे पूर्ण स्वतंत्रता है इस प्रकार राजसत्तामें प्रजा रहे उन्नति करे और जीवनको सार्थक बनावे ॥ ४-६ ॥

नित्य संबंध

(४-६) यहां सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये की तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका अधिभूत और अध्यात्म विभागसे क्या संबंध है? जबतक इस संबंधका सम्यक् ज्ञान नहीं होगा, तबतक भगवद्गीतामें जो 'गुह्य राजविद्या' कही है उसका आविष्कार नहीं हो सकता। भगवद्गीतामें राजविद्या और राजगुह्य दोनों हैं यह इस अध्यायके प्रारंभसेही वर्णन किया है। अतः इसमें संदेह नहीं हो सकता। परंतु पाठकोंको यह संदेह हो सकता है कि इस अध्यायमें राजविद्याका वर्णन है या नहीं? प्रायः लोगोंका यही मत है कि इसमें राजविद्याका वर्णन नहीं है। यदि कोई इसको बतानेका प्रयत्न भी करेगा तो उसे खींचातानही समझने लगेंगे। किन्तु यदि वे इसे खींचातानीही समझते हैं तो इसमें उनका कोई अपराध नहीं है क्योंकि इस समयतक प्रवाहही वैसा चल रहा है। इस अध्यायमें राजविद्याका वर्णन है यह बात इस समयतक किसीने भी नहीं बताई। अतः जो लोग इस विषयमें संदेह करेंगे उनको दोष नहीं दिया जा सकता।

वास्तवमें इस अध्यायमें जो तत्त्व बताया है उसका सम्यक् ज्ञान होनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें राजविद्याका भी सुन्दर वर्णन है जिसका प्रतिपादन यथार्थ शास्त्रोंके अनुसार स्पष्ट सिद्ध हो जाता है जैसे—

वेद उपनिषद्, भगवद्गीता तथा अन्यान्य तत्त्वज्ञानके ग्रंथोंमें जो तत्त्वज्ञान कहा है वह अधिदैवत अधिभूत और अध्यात्म इन तीन विभागोंमें विभक्त है। कई स्थानोंमें इनमेंसे केवल एकही विभागका कथन किया है कई स्थानोंमें दोनों विभागोंका कथन है और कई स्थानोंमें तीनोंका वर्णन भी है। जहां तीनोंका यथायोग्य कथन है ऐसे स्थल बहुत ही थोडे हैं। अतः रीतियही यह है कि किसी एक विभागका वर्णन देखकर उसके अनुसंधानसे अन्य विभागोंका ज्ञान भी समझ लेना चाहिये।

बृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषदोंमें 'अथाधिदैवतं अथाध्यात्मं' इत्यादि वाक्योंसे भिन्न विभागका आरंभ कैसा करना है यह समझाया है। परन्तु ऐसे स्थल बहुतही कम हैं।

इस विचारको ठीक ठीक समझनेके लिये इस बातका पता होना चाहिये कि तीनों स्थानोंके नियम एकही जैसे हैं अतः एक स्थानके नियमोंका ज्ञान होनेपर दूसरे स्थानके नियमों का ज्ञान आपही आप हो सकता है। तत्त्वज्ञानके सब नियमोंकी यह सार्वभौमिकताही विशेष ध्यानकी वस्तु है। यह सार्वभौमिक समता समझमें आनेपर अध्यात्मिक तत्त्वज्ञानसे राज्यशासनके नियम कैसे जाने जा सकते हैं, यह बात स्वयं प्रकट हो जाती है।

तीनोंमें एक नियम

(१) अधिदैवत से परमात्मा और अग्न्यादि देवताओंका विचार होता है। (२) 'अधिभूत' से प्राणीसमष्टिका विचार होता है। भूत शब्द यहां मुख्यतया प्राणीवाचक है तथापि इससे मानव-समाजका बोध होता है और तभी इससे राज्यशासन अर्थ लिया जा सकता है। (३) व्यक्तिके शरीरमें जो जीवात्मा और इंद्रियगण हैं अध्यात्म से उनका वर्णन प्रकट हो जाता है। जिज्ञासुको यह समझना चाहिये कि इन तीनों क्षेत्रोंमें एकही नियम कार्य कर रहे हैं। इन्हें ऋषिमुनियोंने इसकर शास्त्रोंमें प्रथित किया है। इसीलिये यह तत्त्वज्ञान अटल और सनातन है। अब ये नियम देखिये—

अधिदैवत	अधिभूत	अध्यात्म
परमात्मा	महाराजा	आत्मा जीवात्मा

प्रकृति-महत्तत्त्व	मंत्री परिषद्	बुद्धि
विद्युत्	नियामक अधिकारी	मन
सूर्यादि देवता	ग्रामप्रांतादिके अधिकारी	चक्षुरादि इंद्रिय
पञ्च-तत्त्व	प्रजाजन	शरीर

संक्षेपसे यदि इतना संबंधही ज्ञात हो जाय तो वही पर्याप्त है। जिस प्रकार परमात्मा सब जगत्का अधिष्ठाता, चालक और पालक है वैसे ही सम्राट अपने साम्राज्यका और जीवात्मा अपने देहका अधिष्ठाता है। परमात्माकी मंत्रणा करनेवाली महत्तत्त्वरूपी बुद्धिके स्थानमें राजाकी मंत्रणा करनेवाली मंत्रीपरिषद् प्रधानपरिषद् अथवा प्रजा प्रतिनिधियोंकी परिषद् है और उसी प्रकार अध्यात्ममें जीवात्माकी बुद्धि है। जैसे परमात्माके अधिष्ठातृत्वमें अग्नि वायु सूर्यादि देव अपने अपने कार्यक्षेत्रमें नियत कार्य करते रहते हैं, वैसेही नेत्र कर्ण हस्तपादादि इंद्रियगण शरीरके अन्दर अपने नियत कार्यक्षेत्रमें जीवात्माके अधिष्ठातृत्वमें अपना यथोचित कार्य करते हैं और उसी प्रकार सम्राट्के अधिष्ठातृत्वमें भी ग्रामपति प्रांताधीश सेनाधीश आदि पदाधिकारी अपने अपने कार्यक्षेत्रमें नियत कार्योंको करते हैं। जैसे मन सब इंद्रियोंका नियामक है उसी प्रकार राज्यव्यवहारमें मुख्य प्रधान सबका नियामक है और विश्वमें सबका नियामक विद्युत्तत्त्व है। इस प्रकार विचार करनेसे सम्यक् ज्ञान हो जायगा कि तीनों स्थानोंमें किस तरह एक जैसे नियम हैं।

तत्त्वज्ञानमें परमात्मा आदि वर्णन विस्तारपूर्वक किया जाता है। इस ज्ञानका अधिभूत स्थानमें विचार करनेसे राजविद्याका ज्ञान होगा और अध्यात्मक्षेत्रमें विचार करनेसे वैयक्तिक उन्नतिके नियमोंका ज्ञान होगा। इसी तरह यदि किसीको आधिदैविक ज्ञानका पता नहीं है तो वह प्रथम सृष्टिमें होनेवाले पदार्थोंका निरीक्षण करें तथा उसके अनुसंधानसे पिंड और राष्ट्रमें कैसा व्यवहार होना चाहिये इसका अनुमान करे।

इस प्रकार अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त ज्ञात करनेसे अथवा तत्त्वज्ञान किंवा ब्रह्मविद्याही ज्ञात करनेसे राज्यशासनके धर्म। सिद्धान्त ज्ञात करनेकी सनातन पद्धति समझमें आ जायगी। इसी विषयके साथ संबंध रखनेवाला कर्मयोग- ज्ञान आदि अनेक विषय भगवद्गीतामें इसके पूर्व कहे हैं।

लोग समझते हैं कि वे केवल मरणोत्तर स्वर्ग और अपवर्गके लियेही हैं परंतु यह मिथ्या विचार है। ये सबके सब नियम साम्राज्य और राष्ट्रशासनमें उपयोग करनेके लियेही कहे गये हैं। इन नियमोंका उपयोग बहुत कालसे आर्योंने नहीं किया इसलिये आर्योंका अधःपतन हुआ। वैसे तो विज्ञानसहित इतना परिपूर्ण ज्ञान अपने पास होनेके कारण आर्योंके पतन होनेका कोई कारण नहीं था। परंतु जब मुख्य तत्त्वज्ञान मानवीय व्यवहारमें आनाही बंद हो गया और उसका उपयोग केवल मरणोत्तरकी काल्पनिक अवस्था विवेचनके लियेही होने लगा तब मानवीय व्यवहार भी शिथिल हो गये। परन्तु यदि इसी तरह तत्त्वज्ञान और गुह्य राजविद्याका मनन होता रहता, तो प्रत्येक अणु रेणुमें जीवित और जाग्रत इस व्यक्तिके शरीरकी तरह आर्यराष्ट्र भी सर्वदा जीवित और जाग्रत रहता।

मनुष्योंकी आजकल यह धारणा है कि तत्त्वज्ञानका राज्यशासनविधासे कोई संबंध नहीं सामाजिक और औद्योगिक उन्नतिके साथ भी तत्त्वज्ञानका कोई सरोकार नहीं। परन्तु भारतीय ऋषिमुनि सब मानवीय व्यवहारोंको तत्त्वज्ञानके साथ सुसंगत समझते थे। इसीलिये उनके धर्म शास्त्र वैद्यशास्त्र यंत्रशास्त्र राज्यशासनशास्त्र आदि सभी शास्त्र तत्त्वज्ञानके सुदृढ आधारपरही रचे गये थे। अतः श्रीमद्भगवद्गीताको (प्रत्यक्षावगमं) प्रत्यक्ष अनुभवमें मानवीय व्यवहारमें आनेवाला शास्त्र समझें और उसमें गुप्त रीतिसे राजविद्या भरी है यह समझ लें। आत्मा परमात्माका वर्णन अर्थात् परमात्मा और प्रकृतिके नियमों कोही राज्यव्यवहारमें परिणत करके देखनेसे राजविद्या हो जाती है। तत्त्वज्ञानके रूपमें कही होनेके कारण यह राज गुह्य राजविद्या है यह अत्यंत गहन राज्यशासनशास्त्र है। जिसका प्रत्यक्षीकरण तत्त्वज्ञानका मानवीय व्यवहारमें लानेके उपरान्त तत्कालही हो जायगा। अब अगले प्रस्तुत श्लोकोंका मनन करके उनमें तत्त्वज्ञानके साथ यह राजनी तिके सिद्धान्तोंकी विवेचना करेंगे।

[१] मयाव्यक्तमूर्तिना इदं सर्वं जगत् ततम्। (४)
अव्यक्त परमेश्वरद्वारा इस संपूर्ण जगत्का विस्तार हुआ है और वह उसमें व्याप्त है। इसी तरह अव्यक्त जीवात्माद्वारा यह शरीर उत्पन्न हुआ और बढा है और यह अपनी शक्तिसे

इस शरीरमें व्यापक है अर्थात् प्रत्येक अंग अवयव और अणुको जीवित रखता है । व्यष्टिमें परमात्मा और देहमें जीवात्माका यह कार्य दर्शनीय है । अब इससे राजविद्याका कैसा तत्त्व व्यक्त होता है यह देखिये—

परमेश्वर अपनी अव्यक्त सत्तासे जगत्का विस्तार करता है और सबमें व्यापक है, क्योंकि कोई भी सत्ता व्यक्त रूपसे व्यापक नहीं हो सकती। वैसेही राजसत्ता भी अव्यक्त है जो राजा है अर्थात् जो व्यक्ति राजगद्दीपर बैठता है, वह अमूर्त राजसत्ताका सगुण साकार रूप है। यद्यपि वह साकार व्यक्ति राजा कहलाता है तथापि उसकी शक्ति मर्यादित है। जो सच्ची राजसत्ता है वह इस व्यक्तिकी सत्तासे अधिक बड़ी और अधिक प्रभावशाली है। यहां उसी अमूर्त अव्यक्त राजसत्ताका विचार किया गया है। राजगद्दीपर बैठनेवाला व्यक्ति जीवित रहे या मर जाय किन्तु यह अमूर्त राजसत्ता राज्यमें अनेक रूपोंमें कार्य करतीही रहती है। यह अमूर्त राजसत्ता इस राज्यको व्यापती है और राज्यके प्रत्येक स्थानमें प्रत्येक अधिकारीमें रहकर सब कार्य करती है।

[२] मत्स्थानि सर्वभूतानि
न चाहं तेष्ववस्थितम्। (४)

उस ईश्वरमें सब भूतमात्र हैं परन्तु वह ईश्वर उन भूतमात्रोंमें नहीं है अर्थात् सब पदार्थ उस ईश्वरके आधारपर हैं परन्तु वह पदार्थोंके आधारसे नहीं है वह स्वतंत्रतासे अपनी निज शक्तिपर आश्रित है। परन्तु अन्य सब पदार्थ उसके आधारसे रहे हैं। उसकी शक्तिके बिना तो कोई अन्य पदार्थ रह नहीं सकता। व्यष्टिमें भी जीवात्मा के आधारसे सब इंद्रियां शरीरके सब अवयव अपने अपने स्थानमें और कार्यक्षम अवस्थामें रहते हैं परन्तु इंद्रियों और अवयवोंके आश्रयसे जीवात्माकी सत्ता है ऐसा नहीं है। इसी तरह राज्यशासनमें भी सम्राट्की सत्तासे सब पदाधिकारी कार्य करते हैं उनमें तेजस्विता रहती है और राष्ट्रकी सब प्रकारकी उन्नति होती है। परन्तु पदाधिकारियों या प्रजाके कार्य व्यवहारपर राजाकी सत्ता अवलंबित नहीं है स्वतंत्र है। राजसत्तासे राज्यके सब कार्य चलते हैं राजसत्ता उत्तम हो तो छोटासा भी राज्य बड़ा प्रबल और प्रभावशाली हो जाता है। इस तरह राजविद्याकी बातें इससे प्रकट होती हैं।

[३] न च मत्स्थानि भूतानि। (५)

परन्तु उसमें सब भूत नहीं भी हैं। अर्थात् यद्यपि सब भूतमात्र परमेश्वरके आधारसे और परमेश्वरमेंही हैं, तथापि उनकी थोड़ी स्वतंत्र सत्ता भी है। जैसे धागेका मोजा बनाया जाता है। मोजा धागेमें है यह भी सत्य है और धागेसे पृथक् भी उसकी सत्ता है, यह भी एक दृष्टिसे सत्य है। इसी तरह जीवात्माके आधारसे इंद्रियां हैं, परन्तु उनकी कुछ स्वतंत्र सत्ता भी है। यह बात राज्यशासनमें अधिक स्पष्ट हो जाती है। राजसत्ताके आधारसे राजसत्ता को केन्द्रही पदाधिकारी कार्य कर सकते हैं, यह निःसन्देह सत्य है तथापि उनको थोड़ीसी स्वतंत्रता भी है। राज्य शासनके नियम कैसे भी हों तथापि अधिकारके स्थानपर रहनेवाले मनुष्यपर उसका परिणाम अवलंबित रहता है, यह आशय यहां समझना चाहिये।

[४] पश्य मे योगमैश्वरम्। (५)

यह प्रभुत्वका योग है। प्रभु होनेका सामर्थ्य यही है। ईश्वरका यही अद्भुत योगसामर्थ्य है। जीवात्मा राष्ट्रात्मा और परमात्मामें यह साम्य समान भावसे रहता है। जैसे शरीरमें जीवात्माका अद्भुत योगबल दीख रहा है वैसेही राष्ट्रमें राष्ट्रात्माका सामर्थ्य प्रकट होता है।

[५] भूतभृत् न च भूतस्थः। (५)

भूतोंका पोषण करता है तथापि वह भूतोंके आधार पर नहीं रहता। वह स्वतंत्र अपनी निजसत्तासे रहता है। परमात्मा संपूर्ण भूतमात्रका पालन पोषण धारण तथा संवर्धन करता है तथापि वह स्वसत्तासे रहता है। इसी तरह जीवात्मा भी शरीर इंद्रिय और अवयवोंका धारण पालन और पोषण करता है, परन्तु उसका अस्तित्व अपनी निज सत्तासे ही है। राज्यमें राजसत्ताके विषयमें भी यह बात सत्य है। राजप्रबंधसे संपूर्ण राष्ट्रका धारण, पोषण संवर्धन होता है, परन्तु राजसत्ता अपनी शक्तिसे रहती है वह केवल प्रजाके आधारपर निर्भर नहीं है।

[६] भूतभावनः आत्मा। (५)

आत्मा सब भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला है। वह सब विश्व उसीने अपनी ऐश्वर्यसे उत्पन्न और धारण किया है। जीवात्मा भी शरीरको उत्पन्न करता और धारण करता है। राजा भी राष्ट्रको प्रभावशाली बना देता

(२) कल्पादि और कल्पक्षय

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय । उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! सर्वभूतानि कल्पक्षये मामिकां प्रकृतिं यान्ति । पुनः अहं कल्पादौ तानि विसृजामि ॥ ७ ॥ (अहं) स्वां प्रकृतिं अवष्टभ्य प्रकृतेः वशात् अवशं इमं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि ॥ ८ ॥ हे धनंजय ! तेषु कर्मसु असक्तं उदासीनवत् आसीनं मां तानि कर्माणि च न निबध्नन्ति ॥ ९ ॥ हे कौन्तेय ! मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं सूयते, अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सब भूत कल्पके अन्तमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और फिर मैं कल्पके आदिमें उन भूतोंको उत्पन्न करता हूं— बाहर छोड देता हूं ॥ ७ ॥ मैं अपनी प्रकृतिके वश होकर पराधीन भूतोंके इस संपूर्ण समुदायको पुनः पुनः उत्पन्न करता हूं— बाहर प्रेरित करता हूं ॥ ८ ॥ हे युद्धमें विजयी अर्जुन ! इन कर्मोंमें आसक्तिरहित होनेके कारण उदासीन रहनेवाले मुझको ये कर्म बंधनमें नहीं डालते ॥ ९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! मेरी अध्यक्षतासे यह प्रकृति जड और चेतन जगत्‌का निर्माण करती है और इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है ॥ १० ॥

भावार्थ— सब बने हुये पदार्थ कल्पके अन्तमें ईश्वरीय प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पके आदिमें पुनः उन की उत्पत्ति होती है । ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके संपूर्ण जगत्‌को उत्पन्न करता है और यह जगत् प्रकृतिके आधीन अर्थात् पराधीन होता है । ईश्वर इन कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, इसलिये इन कर्मोंमें वह बंध नहीं पाता । ईश्वरकी अध्यक्षतामें उसकी प्रकृतिही चर और अचर वस्तुमात्रको उत्पन्न करती है जिस कारण जगत्‌में यह परिवर्तन हो रहा है ॥ ७—१० ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— (सर्वभूतानि) सब प्राणिमात्र (कल्पक्षये) संकल्पित निश्चित कार्यक्रमकी समाप्तिपर केवल अपनी (प्रकृतिं) स्वभावस्थितिको प्राप्त होते हैं ऐसा होनेके पश्चात् पुनः (अहं कल्पादौ) नवीन संकल्पित निश्चित कार्यक्रमकी योजनाका प्रारंभ करके राजा अपनी प्रजाको उस कार्यक्रममें प्रेरित करे ॥ ७ ॥ राजा अपनी (प्रकृतिं) प्रजाके साथ रहता हुआ अपनी अपनी निज स्वभावप्रवृत्ति अनुसार पराधीन होकरके चलनेवाले प्राणिमात्रको इसी तरह पुनः नव निश्चित (कल्पे) संकल्पित कार्यक्रममें प्रेरित करता रहे ॥ ८ ॥ राजा इन कार्यक्रमोंमें (असक्तं) आसक्तिरहित रहे उदासीन (अपने निज भोगके विषयमें) और पूर्ण विरक्त रहे । इससे उन कर्मोंका दोष उसे नहीं लगेगा ॥ ९ ॥ राजा प्रजा [प्रभा] का अध्यक्ष है यह अध्यक्ष राजा अपनी (प्रकृतिः) प्रजासे चराचर वस्तुजातकी (सूयते) उत्पत्ति करावे इसी हेतुसे इस जगत्‌में (विपरिवर्तते) विशेष परिवर्तन होते रहते हैं ॥ १० ॥

है या मिटा देता है । अच्छा तेजस्वी राजा राष्ट्रका निर्माण करता है उसे बढाता है और प्रमादवालोंको दबा देता है ।

[७] यथाकाशस्थितो वायुः सर्वत्रगः
तथा भूतानि तस्थानि । (६)

आकाशमें रहता हुआ वायु जैसे सर्वत्र गमन कर सकता है वैसेही परमात्मामें ये सब भूतमात्र हैं । जैसे आकाशमें वायु आदि पदार्थ चलते फिरते रहते हैं उसी प्रकार परमात्मामें ये सब भूत रहते हैं जो चलते फिरते हैं और वृद्धि करते हैं । शरीरान्तर्गत पदार्थ जीवात्माके आधारपर हैं और इसी प्रकार राजसत्ताके आधारपर सब राष्ट्रका वैभव है ।

इस तरह सर्वत्र अमूर्त शक्तिका अद्भुत प्रभाव है । पाठक इस तरह विचार करके यह उपदेश जान सकते हैं । आगेके श्लोकमें इसी भावार्थका विवरण दर्शन है—

भावार्थ— राजा अपने सब प्रजाजनोंको अपने उत्तम संकल्पपूर्वक निश्चित किये हुए उन्नतिके कार्यक्रमोंमें लगावे और उनको उत्तम योगक्षेमकी ओर प्रेरित करे। पहिले निश्चित किया कार्यक्रम समाप्त हो जाय और प्रजाजनोंका कोई कार्यक्षेत्र न रहे तो वे पुनः अपनी मूल शिथिल वृत्तिपर आ जाते हैं और क्रियाहीन बन जाते हैं। ऐसी स्थिति आनेपर राजा पुनः नवीन सुसंकल्पित आयोजना करे और विविध कार्यक्षेत्रोंमें सब प्रजाको लगावे। उनको क्रियाहीन बेकार अवस्थामें कभी न रहने दे। राजा सदा अपनी प्रजाके साथ रहे प्रजाको छोडकर दूर देशमें जाकर न बसे। प्रजाजन अपने स्वभावधर्मके आधीन रहनेके कारण पराधीनसे रहते हैं अतः उनको बारबार नये नये उन्नतिके कार्यक्रमोंमें संकल्पपूर्वक लगाये रखना चाहिये। यह राजसंस्थाकाही कर्तव्य है। इन प्रजाजनोंके विविध कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंपर कभी राजा अपनी दृष्टि न रखे उन भोगोंको स्वयं न भोगे। उनके विषयमें उदासीन अर्थात् निरपेक्ष रहे। ऐसी निरपेक्ष वृत्तिसे रहनेवाला राजा निष्कलंक रहता है। राजा ही सब प्रजाजनोंका अधिष्ठाता है। वह अपनी मुख्यत्व प्रेरणासे अपने प्रजाजनों द्वारा चर और अचर वस्तुमात्रमें ऐसी उन्नति करावे कि जिससे उदयकी ओर राष्ट्रका परिवर्तन होता रहे ॥ ७-१ ॥

कल्प

(७-१) यहां कल्पके आदिमें परमेश्वर प्रेरणा करता है और कल्पके अन्तमें सबको विश्राम देता है ऐसा कहा है। अतः कल्प की कल्पना ठीक हो जानी चाहिये 'कल्प' शब्द का अर्थ कोशमें इस तरह दिया है- (१) पवित्र नियम, धार्मिक आज्ञा (२) निश्चय निश्चित कार्यक्रम संकल्पित कार्य (३) जगत्का अन्त, (४) ब्रह्माका दिन।

'कल्प्' धातुसे कल्प शब्द बनता है। इस धातुके अर्थ योग्य होना, समर्थ होना पूर्ण करना सिद्धि प्राप्त करना, विजय प्राप्त करना सुव्यवस्था करना होना बनाना सिद्ध करना अनुकूल करना योजना करना, उत्पन्न करना हैं। यह धात्वर्थ ध्यानमें धारण करनेसे कल्प शब्दका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है- योग्यता सामर्थ्य पूर्णता सिद्धि विजय व्यवस्था अनुकूलता योजना उत्पत्ति।

कल्प शब्दके ये भाव ध्यानमें धारण करनेसे कल्प शब्दका ठीक भाव ध्यानमें आ सकता है। परमेश्वर कल्पके आदिमें जगत्की उत्पत्ति करता है और कल्पके अन्तमें सब भूत अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इसका दूसरा भाव यह है कि परमेश्वर द्वारा कल्पमें अर्थात् कालमर्यादामें सम्पूर्ण जीवोंकी उन्नतिका निश्चित सुसंकल्पित कार्यक्रम रचाया होता है। इस संकल्पित काल को चलानेके लिये कुछ पवित्र नियम बनाये होते हैं वही धर्मनियम कहलाते हैं। इन पवित्र नियमोंके अनुसार चलनेसे मानव जीव समर्थ और सुसम्पन्न होते हैं उन्नत होते हैं सिद्ध बनते विजय प्राप्त करते और अनुकूलताके साथ उन्नत होते हैं।

कल्पमें ब्रह्मा इस सृष्टिकी उत्पत्ति इसलिये करता है, कि इसमें उत्पन्न हुए जीव अपना मुक्तिका मार्ग व्यतीत करें और पूर्ण विजयी तथा सिद्ध बनें। इस कल्पनासे परमेश्वर इस विश्वका निर्माण करता है, इसीलिए इस कालमर्यादाको 'कल्प' कहते हैं। इस सम्पूर्ण कल्पमें परमेश्वरकी यह मूलभूत कल्पना और प्रेरणा कार्य करती रहती है। इस कारण कल्पके आदिमें ईश्वरके मानसपुत्र प्रकट होते हैं, अनेक प्रजापति अपने अपने नियत कार्यमें लग जाते हैं और छोटे मोटे देव देवता विभूति आदि अपना कार्य करना प्रारंभ कर देते हैं। इन सबका उद्देश यही होता है कि परमेश्वरके संकल्पके अनुसार सब काम हों और उसकी प्रेरणानुसार संसारमें कार्यबन्धनमें पडे हुए जीवोंकी यथोचित उन्नति हो। यहां परमेश्वर राजा है और जीव उसकी प्रजा है तथा मानसपुत्र प्रजापति देवदेवता और विभूति परमेश्वरके पदाधिकारी हैं, जो ईश्वरके संकल्पके अनुसार कल्पकी मर्यादा समाप्त होनेतक अपना काम करते रहते हैं।

ईश्वर और राजा

इस कल्पके अन्दर ईश्वरका संकल्पित कार्यक्रम चलाया जाता है और उस महान् कार्यके अन्दर ईश्वरके जो अपनी प्रजाजनोंकी उन्नतिका ध्येय होता है यदि यह बात ठीक समझमें आ जायगी तो राजा अपनी प्रजाकी उन्नतिके लिए क्या करे यह बात भी स्वयंही स्पष्ट हो जायगी। सुस्पष्टताके लिये यहां निम्न लिखित कोष्टकमें परमेश्वर और राजाके कर्तव्यकी तुलना करते हैं-

परमेश्वर	राजा
प्रकृति	प्रजा
प्रकृतिरंजन	प्रजारंजन
(अनन्त) जीवोंकी	(अनन्त) प्रजाजनोंके
मुक्तिके लिये	अभ्युदयके लिये
सृष्टिरचना	प्रगतिका प्रयत्न
सूर्यादि देवता (कार्यकर्ता)	पदाधिकारी (राज्यकर्मचारी कार्यकर्ता)
भूतरचना विशेष	प्रजासंगठनद्वारा कार्यक्रम करना
जीवमुक्ति	प्रजाकी बंधननिवृत्ति

इस छोटेसे कोष्टकमें विचारके लिए पर्याप्त सामग्री है। विचारपूर्वक इसको देखा जाय तो परमेश्वरके महाराज्यके व्यवहारके अनुसार राजाको कैसा राज्यव्यवहार करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। वेद उपनिषद् और गीता आदि शास्त्रोंमें जो परमेश्वर और प्रकृतिका वर्णन आया है वह केवल परमेश्वरका व्यवहार जाननेके लिये नहीं है क्योंकि केवल परमेश्वरके कार्यव्यवहारको जाननेसे मनुष्यमात्रके कल्याण होनेकी संभावना नहीं है। मनुष्यको अपने आचरण बदलना है अतः परमेश्वरके व्यवहारको अपने अन्दर मानवीय व्यवहारमें अर्थात् राज्यव्यवहारमें ढालना चाहिये। परमेश्वरके गुणोंका चिन्तन इसलिये करना चाहिये कि वे गुण अपनेमें और राज्यशासनमें ढाले जा सकें। इस तरह विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि परमेश्वरका वर्णन उत्तम पुरुषका आदर्श सामने रखनेके लिये किया गया है और उसीसे आदर्श राज्यव्यवस्था भी प्रकट होती है। इसी विषयका विचार इन श्लोकोंमें इस प्रकार है-

१ अहं कल्पादौ सर्वभूतानि विसृजामि। ७

(मैं [ईश्वर] कल्पके आदिमें सब भूतोंको विशेष प्रकार पृथक्‌पृथक् छोडता हूं।) सब जीव मुक्ति प्राप्त करें अभ्युदय निःश्रेयसका साधन करें इस संकल्पित उद्देश्यसे ईश्वर उनको प्रयासक कर्मप्रवाहमें प्रेरित करता है। इसी प्रकार प्रजा अपना अभ्युदयपूर्वक पूर्ण कल्याण करें इस संकल्पित उद्देश्यसे राजा विविध कार्यप्रवाह प्रारंभ करके उनमें प्रजाको प्रेरित करे। जैसा ईश्वरीय राज्यमें (न हि कश्चित् अकर्मकृत्तिष्ठति। गी. ३।५) कोई जीव कर्म किये बिना नहीं रह सकता वैसेही राजा अपने राज्यमें किसीको कार्यप्रवाहके बिना निष्क्रिय अवस्थामें न रहने दे। ऐसा प्रबंध करे कि किसीको बेकारीका कष्ट न हो सके। ईश्वरके राज्यमें कोई जीव कर्म किये बिना रह नहीं सकता अर्थात् कोई बेकार नहीं है। राज्यमें राज्यप्रबन्धद्वारा बेकारीका पूर्णतया निर्मूलन होना चाहिये। राजा अपनी प्रजाकी उन्नतिकी कोई योजना तैयार करे और उसमें सब प्रजाजनोंको लगावे।

२ कल्पक्षये सर्वभूतानि प्रकृतिं यान्ति (७)

कल्पकी समाप्तिके समय सब भूत प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। संकल्पित कल्पकी समाप्तिपर सब भूत प्रकृतिकी स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। राजाकी प्रेरणासे जो प्रजाकी उन्नतिका कार्य चलाया जाता है उस संकल्पित कार्यक्रमके समाप्त हो जानेपर सब प्रजाजन क्रियाहीन अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, बेकार हो जाते हैं।

प्रकृतिकी अवस्था गुणसाम्य है इसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं होती। सब भूतोंका प्रकृतिमें लीन हो जानेका अर्थ निद्रामें लीन हो जाना है क्रियाहीन हो जाना है। संकल्पित कार्यकी समाप्तिपर प्रजाजनोंकी यही स्थिति हो जाती है। अतः एक कार्य समाप्त होनेसे पहले दूसरा कार्यक्रम तैयार रखना योग्य है। तभी जनताकी बेकारी अथवा क्रियाहीनता दूर होगी। राज्यप्रबन्ध जिस तरह परिपूर्ण होना चाहिये वहां इसकी कल्पना हो सकती है।

इन श्लोकोंमें 'प्रकृति' शब्द दो बार है। एक स्थानपर इससे मूल प्रकृति गुणसाम्यावस्था क्रियाहीन अवस्था विवक्षित है। दूसरे स्थानपर इसका प्रकृतिस्वभाव निज स्वभाव अर्थ है। राज्यविचारमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ प्रजा है और दूसरा अर्थ निजस्वभावधर्म तथा क्रियाशील अवस्थाकी स्थिति भी है। पूर्वापर सम्बन्धके अनुसार योग्य अर्थकी परीक्षा करके श्लोकका भाव समझना चाहिये।

३ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। (८)

[मैं (ईश्वर) अपनी मूल प्रकृतिका आश्रय करके सृष्टिको बारबार उत्पन्न करता हूं।] ईश्वर अपनी निज मूल-

प्रकृतिका आश्रय करके उससे अनंत जीवोंकी उन्नतिके लिये संकल्पित योजनाद्वारा सृष्टिकी रचना करता है। सृष्टिके प्रवाहमें आया जीव आकर अपनी परम उन्नतिकी प्राप्तिके लिये विशेष पुरुषार्थ प्राप्त करते हुए परम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं। यही ईश्वरका कल्प प्रकल्प कल्पना आयोजना है। इसी तरह राजाको उचित है कि वह अपनी प्रजामें रहे और संपूर्ण प्रजाकी परम उन्नति करनेके लिये सफलतापूर्वक आयोजना करे और उस कार्यक्रममें सब प्रजाको लगावे। सम्पूर्ण प्रजा भी इस नियोजित, संकल्पित आयोजनामें रहकर अपनी उन्नति करें। एक योजनाके पश्चात् दूसरी योजना बनाकर बारबार उत्तमसे उत्तम कार्यक्रमकी रचना करके उस कर्ममें प्रजाजनोंको तत्पर करावे और ऐसा प्रबन्ध करे कि जिससे सबको उत्तम सुख परम आनन्द और परम उत्कर्ष प्राप्त हो सके।

४ भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् (८)

संपूर्ण प्राणिमात्र अपनी प्रकृतिके आधीन हैं इस अर्थ में उन्हें पराधीन भी कहा जा सकता है। प्रत्येक प्राणीकी भिन्न प्रकृति होती है वह सात्त्विक राजस और तामस होनेसे वह प्राणी सात्त्विक राजस और तामस हो जाता है। प्राणी अपनी भिन्न प्रकृतिके अनुसार ही कार्य व्यवहार करता है। गौ सात्त्विक दूध देती है सिंह व्याघ्रादि हत्या करते हैं सात्त्विक वृत्तिवाले मनुष्य शम-दम आदिमें तत्पर रहते हैं राजस प्रवृत्तिवाले मनुष्य प्रयत्नशील होते हैं और तमोगुणी मनुष्य आलसी और अपवित्र होते हैं। अनेक प्रयत्न करनेपर भी वह प्रकृति बदलती नहीं। यथा भगवान्ने कहा है कि—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
(गी १८।५८-६)

अहंकारवश तू यह मानता कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह मिथ्या निश्चय है। तेरा स्वभावही तुझ इस ओर बलसे प्रवृत्त कर जायगा। हे अर्जुन! अपने स्वभाव जन्य कर्मोंसे बंधा हुआ तू जिस कामको मोहवश करना नहीं चाहता उसेही परवश होकर करेगा।

इस तरह प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिके स्वभावके अनुसार चल सकता है, प्रकृतिके अनुकूलही कार्य कर सकता है। चाहे कितना भी प्रयत्न किया जाय किन्तु मनुष्य अपनी भिन्न प्रकृतिके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकेगा। अर्थात् तमोगुणी मनुष्य सात्त्विक और राजस कार्य कदापि नहीं कर सकेगा। इसी तरह सात्त्विक मनुष्यको तामस कार्य करना असम्भव है। इस रीतिसे पता लग जायगा कि मनुष्य तथा अन्य प्राणी अपनी प्रकृतिके आधीन होनेके कारण पराधीन हैं। जो जिसका प्रकृतिस्वभावमें है उसीके अनुसार उसका स्वकर्म होगा। वही स्वकर्म उसका स्वधर्म है और वही उसको करना चाहिये।

राज्यप्रबन्धद्वारा सम्पूर्ण प्रजाजनोंकी उन्नतिकी जो विशाल आयोजना बनानी है वह इस स्वभावधर्म पर प्रकृतिधर्म अथवा नियमधर्मका विचार करकेही बनानी चाहिये। अर्थात् सात्त्विक प्रवृत्तिवालोंको सात्त्विक कार्य राजस प्रकृतिवालोंको राजस कार्य और तमोगुणी प्रकृतिवालोंको तमोगुणी कार्य दिये चाहिये। इससे काम भी ठीक होगा और उसकी सफलता और सुफलता भी शीघ्र ही प्राप्त होगी।

ऐसा न करके एकही कार्यमें सबको प्रवीण के करनेसे कार्य भी बिगड जायगा और उनका निरुत्साह भी बढेगा। इसलिये प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृतिके आधीन-परतंत्र है यह बात ध्यानकरही उन्नतिकी आयोजना बनानी चाहिये। मान बोध उन्नतिका और राज्यशासनका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो ध्यानमें रखना चाहिये।

५ तेषु कर्मसु असक्तं उदासीनवद् आसीनं मां तानि कर्माणि न निबध्नन्ति (९)

(ईश्वर इन कर्मोंमें सदा आसक्तिरहित और उदासीन रहता है अत इन कर्मोंका दोष उसका नहीं लगता।) परमेश्वर प्रकृतिद्वारा सब कर्मोंको कराता है। इसमें उसका हेतु इतनाही होता है कि सब जीवोंके लिये अपनी उन्नतिका मार्ग खुला हो। इसके अतिरिक्त उसका उद्देश्य अपने भोग बढाना नहीं होता इस कारण इन कर्मोंसे वह कलंकित नहीं होता। यहां विशेष नियम यह है कि कर्म कर जावे परन्तु उनके फलाभिमानमें न लिपट जाय ऐसा स्वयं

(४) मूढ राक्षसोंकी अवनति

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

ग्रहण न करे आसक्तिरहित और उदासीन रहे । परमेश्वर इस तरह कर्मफलके ऊपर अनासक्त है इसलिये निर्दोष है। जो इस तरह कर्मफलपर अनासक्त रहेगा वह भी दोषरहित होगा। इस नियमको देखकर राजाभी अपने प्रजाजनोंको विविध कर्मोंमें प्रेरित करे उनसे विविध काम करावे अभ्युदय और निःश्रेयसके कर्मोंमें उनको तत्पर करे, परन्तु स्वयं उन कर्मोंके फलोंके विषयमें अनासक्त और उदासीन रहे। उन कर्मोंके फलोंको अपने उपभोगके लिये न रखे प्रत्युत स्वयं उदासीन रहकर प्रजाका समाधान सुख और सन्तोष बढावे। सर्व प्रजासे यथायोग्य कर्म करावे परन्तु उनके फलोंपर स्वयं आसक्त न होवे। क्योंकि फलभोग में आसक्तिके कारणही राजलोग निर्बल की प्रजापर हमला करते उनको लूटते और उस धनसे अपने भोग बढाते हैं। यह सब भोगासक्ति बंधन-कारक है । राजा प्रजासे सुयोग्य कर्म करावे और उन कर्मोंका भोग स्वयं न करे। अर्थात् प्रजाको सुखी करनेके लिये सब कुछ प्रजाकोही समर्पित कर दे। इस तरह राजाको ईश्वरके समान आचरण करना चाहिये।

६ अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । (१०)

परमेश्वरकी अध्यक्षतामें रहकर प्रकृति स्थावर और जंगमको उत्पन्न करती है। परमेश्वर प्रकृतिरूप दैवी शक्तिका अधिष्ठाता है। और उसीकी प्रेरणा द्वारा प्रकृतिसे स्थावर और जंगमकी उत्पत्ति होती है। यहां सूयते का अर्थ 'षु प्रसव-ऐश्वर्ययोः' इस धातुके कारण प्रसव-उत्पत्ति होना और ऐश्वर्य प्राप्त करना होता है। अर्थात् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति स्थावर जंगम सृष्टि उत्पन्न करती है और उस सृष्टिको ऐश्वर्यसंपन्न करती है। राजा भी अपने राष्ट्रमें वैसाही कार्यव्यवहार करे। स्वयं प्रजाकी सब अर्थ समितियोंके व्यवहारका निरीक्षण करे हरएक प्रजाकी सहायता देवे उनकी उन्नति करनेका यत्न करे जहां प्रजाकी शक्ति न्यून प्रतीत होवे वहां अपनी शक्ति देकर कामको बढावे इस रीतिसे हरएक जनव्यवहारको बढाते हुए चर पदार्थों अर्थात् गौ घोडे मानव आदिकी उन्नति करावे तथा अचर पदार्थ अर्थात् वनस्पतियोंसे उत्पन्न पदार्थ उत्पन्न करावे। राजा अपने राज्यमें ऐसे कार्यक्रम चलाए कि जिससे प्रजाजन चर अचरकी उन्नति करनेमें समर्थ स्थावर और जंगम संपत्तिको प्राप्त हों और ऐश्वर्यसंपन्न हों।

विचार करनेपर पता लग जायेगा कि चर अर्थात् जंगमकी उन्नति और अचर अर्थात् स्थावरकी उन्नति कैसे होती है। यह सब उन्नति कर्मयोगसे अर्थात् कौशल्यपूर्ण कर्मोंसे करनी चाहिये। अतः राष्ट्रमें कौशल्य बढाना और सब प्रजाको कर्मतत्पर करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है।

७ हेतुनानेन जगत् विपरिवर्तते । (१०)

इस हेतुसे जगत्में विशेष परिवर्तन होता है। परमेश्वरकी अध्यक्षतामें रहकर प्रकृति चराचरकी उन्नति और समृद्धि करती है, इसलिये जगत् में विशेष परिवर्तन-होकर हो रहा है। तथा जिस राष्ट्रमें राजाकी अथवा श्रेष्ठोंकी प्रेरणासे कलाकौशल्य बढेगा उस राष्ट्रमें परिवर्तनभी शीघ्र होता रहेगा। क्योंकि कौशल्यका अर्थही अधिक सौन्दर्यकी निर्मिति है। इस तरह जनता अधिक सौंदर्यका निर्माण करने लगेगी तो सभीके जीवनमें विशेष रीतिसे परिवर्तन होनेमें देरी नहीं लगेगी।

इस प्रकार परमात्माका व्यवहार जो प्रकृतिमें और इस सृष्टिमें हो रहा है उसे देखकर राजा अपने राष्ट्रमें प्रजापालन के कार्य करता है। यहां इसका संकेत मात्र है। विचार करनेसे अधिकाधिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहारोंका पता लग सकता है। इसीसे गृहव्यवस्थाका भी बोध हो सकता है। घरमें पिता अधिष्ठाता है माता प्रकृति है। संतान सृष्टि है। इसका विचार करके पाठक गृहाश्रमविषयक ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस उपदेशको न जाननेवाले कैसे गिरते हैं इसका वर्णन आगेके श्लोकमें किया है—

अन्वयः— भूतमहेश्वरं मम परं भावं अजानन्तः मूढाः मानुषीं तनुं आश्रितं मां अवजानन्ति ॥ ११ ॥ (ते) मोघाशाः मोघकर्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः मोहिनीं राक्षसीं आसुरीं प्रकृतिं च एव श्रिताः ॥ १२ ॥

प्राणिमात्रके महेश्वररूप मेरे श्रेष्ठ भावको न जाननेवाले मूर्ख लोग मानवीय शरीरके आश्रयसे स्थित मेरी (ईश्वरकी) अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ उनकी आशा उनके कर्म और उनका ज्ञान सभी व्यर्थ है। क्यों कि ये अज्ञानी लोग तो मोहमयी राक्षसी और आसुरी प्रकृतिकाही आश्रय करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— परमेश्वर भूतमात्र का सबसे बडा ईश्वर है। हरएकको इसका श्रेष्ठ भाव जानना चाहिये। यह ईश्वर मानवीय शरीरका आश्रय करके इस जगत्में विचरता है, परंतु मूढ मनुष्य मानवीय शरीरमें निवास करनेवाले ईश्वरको नहीं जान पाते उसकी अवज्ञा अर्थात् निंदा करते हैं। ये लोग मूढ होते हैं और मोहको बढानेवाली राक्षसी आसुरी विशेष प्रकृतिका आश्रय करके अपने व्यवहार करते हैं। अतः इनकी आशाएं, इनके कर्म और इनके ज्ञान व्यर्थ होते हैं। क्योंकि मानवोंकी उन्नतिके लिये इनके आशा-कर्म-ज्ञानका कोई उपयोगही नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ –अमूर्त राजसत्ता सब छोटे छोटे अधिकारियोंके (पर भाव) ऊपर शासन करनेवाली सत्ता है उस राजसत्ताका (भूतमहेश्वर) महत्त्व लोग ठीक प्रकार नहीं समझते। मानवोंमें यह अमूर्त राजसत्ता (मानुषी तनु) विविध अधिकारियोंके अनुसार (आश्रितं) रहती है यह न जानते हुए उस राजाको केवल मनुष्य मानकर उस अधिकारी मानवकी (अवजानन्ति) अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ इन मूढ लोगोंकी आशाएं, कर्म और ज्ञान व्यर्थ होते हैं, क्योंकि अज्ञान उत्पन्न करनेवाले राक्षसी या आसुरी स्वभावको धारण करकेही ये व्यवहार करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—अमूर्त राजसत्ता सबसे ऊपर है। वह राजाके शरीरसे लेकर छोटेसे छोटे अधिकारी पर्यन्तके मानव शरीरोंका आश्रय करके कार्य करती है। इस अमूर्त सत्ताको न जानते हुए मूढ लोग यह मानते हैं कि ये मानवही हैं और इनमें कोई विशेष शक्ति नहीं है। यही समझ कर वे उस अधिकारीके स्थानपर कार्य करनेवाले मानवका अपमान करते हैं, उस समय वह अमूर्त राजसत्ता जो उस मनुष्यके पीछे रहती है, संघटित रूपसे आततायी मूर्खोंका विरोध करती है। इन मूर्खोंकी सब आशाएं, सब कर्म और सभी ज्ञान व्यर्थ होता है। क्योंकि ये लोग मोह उत्पन्न करनेवाले राक्षसी और आसुरी स्वभावको धारण करके ही ऐसा अवैध व्यवहार करते हैं। और इसी कारण ये आततायी लोग दुःख भोगते रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

माहेश्वरी भाव

(११-१२) इस ईश्वर महेश्वर के नाम पहले मनन करने योग्य हैं। ईशोंका अधिकार जिसपर चलता है उसे ईश्वर कहते हैं और अनेक ईशों और ईश्वरोंपर महेश्वर होता है। वस्तुतः महेश्वरही सब विश्वका एकमात्र ईश्वर है। परंतु व्यवहारमें इस ईश्वर महेश्वर शब्द पर्यायवाची माने हैं। यहां महेश्वर शब्दका ग्रहण करके इसके अतिरिक्त ईश और ईश्वर इनसे भिन्न हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। यह भाव राज्यमें व्यापक रहा दिखाई देता है। छोटे ग्रामशासन, ग्रामाधिकारी और नगराधिप ये ईश हैं। प्रांतीय अधिकारी अनेक ईशोंपर शासन करते हैं इसलिये ईश्वर कहे जाते हैं और इन सब अधिकारियोंपर शासन करनेवाला महाराजा महेश्वर कहलाता है। जैसे राज्यमें ईश ईश्वर और महेश्वर होते हैं वैसे ही विश्वमें भी होते हैं। इन सबमें महेश्वरकी अमूर्त सत्ता कार्य करती है। और राज्यमें अमूर्त राजसत्ता सब राजकर्मचारियोंके अन्दर कार्य करती है। दोनों स्थानोंमें यही अमूर्त शक्ति मुख्य है। किसीभी स्थानमें जो अधिकारी मनुष्य काम करते हैं वे अमूर्त शक्तिसे प्रेरित मनुष्यही कार्य कर रहे हैं ऐसा मानना चाहिये। अमूर्त शक्ति उस शरीरमें रहकर कार्य कर रही है यही मानना और अनुभव करना चाहिये।

मनुष्योंमें ईश्वर

महेश्वर सर्वव्यापक है। अतः सभी पदार्थोंमें विद्यमान है तथापि वह मनुष्योंके शरीरमें रहकर कार्य करता है वह बात वेदोंके (इन्द्र) विभूति वर्णनमें बहुत बार दिखाकर (स्पष्ट) बतायी गई है। यहां भी वही बात कही गई है।

मानुषीं तनुं आश्रितं भूतमहेश्वरं (११)

महेश्वर मानवीय शरीरके आश्रित है। प्रत्येक मानवीय शरीरमें ईश्वर रहता है। यही बात वेदमें कही है

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥२॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥११॥
(ऋ. १ -९)

एक पुरुष (ईश्वर) है उसके हजारों मस्तक, हजारों आंख और हजारों पांव हैं। जो हुआ था जो है और जो होनेवाला है वह सब पुरुष (ईश्वर) ही है। इस पुरुष (ईश्वर) का मुख ब्राह्मण बाहू क्षत्रिय ऊरू वैश्य और पांव शूद्र हैं। इस तरह वेदने भी मानुषीय शरीरमें परमेश्वर रहा करता है यह बात कही है। वह मुखका कार्य ब्राह्मणोंमें करता है बाहूका कार्य क्षत्रियोंमें करता है यह तथा जंघाओंका कार्य वैश्योंमें करता है और पांवोंका कार्य शूद्रोंमें करता है। अर्थात् संपूर्ण मानवीय शरीरोंमें वह है और कार्य करता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रही परमेश्वरके शरीर हैं। इस तरह प्रत्येक मानवीय शरीरमें भी वह विद्यमान है और कार्य करता है। साधकको उचित है कि मानुषीय शरीरमें रहनेवाले और वहां कार्य करनेवाले भूतमहेश्वरको देखें और उसका अनुभव करें।

महेश्वर मानवीय शरीरोंमें है और कार्य कर रहा है यह मूढ मनुष्य नहीं देख पाते। वे समझते हैं कि ईश्वर किसी पहाडमें आसमानमें है, वैकुंठमें निवास करता है और मानव उससे बिलकुल भिन्न हैं। ऐसा मानकर वे मूढ लोग मानवोंकी निन्दा करते हैं उनको कष्ट देते हैं उनको ठगते हैं और हर तरहसे उन्हें सताते हैं। अन्य मनुष्योंको ठगनेके मनुष्योंके व्यवहारपर पाठक ध्यान दें। वस्तुतः मनुष्योंमें ईश्वर है ईश्वर अनेक मानवीय रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। उसको सामान्य मनुष्य मानकर उसको ठगनेका यत्न करना उसको कष्ट देनेका यत्न करना कितनी मूढता है। ईश्वरके यहां इसके लिए क्षमा नहीं मिलेगी अपितु यथायोग्य दण्ड मिलेगा।

यदि किसी समय कोई राजा गुप्त वेषसे हमारे सम्मुख आ जाए और हम उसके साथ बुरा व्यवहार करें तो वह हमारे बुरे व्यवहारको राजा प्रत्यक्ष देखेगा और उसके लिए वह योग्य दण्ड भी देगा। कभी क्षमा नहीं करेगा। परंतु यदि मनुष्य यही समझे कि राजा आज भिन्न वेषसे हमें कब देख रहा इसका पता नहीं है अतः हमें उचित है कि हम सदा सुयोग्य व्यवहार करें तो ऐसा मनुष्य सदाही योग्य व्यवहार करनेके कारण उन्नत होगा और दूसरोंको ठगनेवाला अवनत होगा।

इसी तरह प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वर है अथवा ईश्वरही अनेक मनुष्योंका रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। वह कभी शत्रुरूपमें आता है कभी मित्ररूपसे कभी स्त्रीरूपमें तो कभी पुत्ररूपमें आता है। प्रत्येक समयके कर्तव्य भिन्न होते हैं, जो यथायोग्य रीतिसे करने चाहिये। यदि शत्रुके रूपमें ईश्वर उपस्थित हुआ तो उसको यथा योग्य दण्ड देनाही चाहिये, बिलकुल क्षमा नहीं करनी चाहिये। तभी वह परीक्षा उत्तीर्ण कर सकता है। जैसे अर्जुनने भीलरूपके साथ घोर युद्ध किया था। यदि वह उस समय युद्ध न करता तो श्रीशंकर प्रसन्न न होते और उसे अस्त्रोंकी प्राप्ति भी न होती। श्रीकृष्ण मित्ररूपसे उसके सम्मुख खडे थे। अर्जुनने उनके साथ मित्रताका वर्ताव करके उनको प्रसन्न किया था। यहां यथायोग्य वर्तावका पाठ पाठकोंको मिल सकता है।

जो मनुष्य सम्मुख आता है वह उस रूपमें ईश्वरही होता है। चिकित्सकके सम्मुख रोगीके रूपमें ईश्वर आता है। पतिके सम्मुख स्त्रीके रूपमें ईश्वर आता है। पत्नीके सम्मुख पतिरूपसे ईश्वर आता है। मातापिताके सम्मुख पुत्ररूपसे परमेश्वर आता है। वह किसी समय शत्रुरूपसे भी आता है और किसी समय क्रूर रूप धारण करके भी आता है। वहां समझना चाहिये कि यह परीक्षाका समय है। इस परीक्षामें जो उत्तीर्ण होगा वही श्रेष्ठ बनेगा। प्रत्येक स्थानमें हमारा कर्तव्य क्या है इसका विचार करके वैसाही व्यवहार करना चाहिये। कर्तव्यकर्म न करनेपर अधोगति और यथायोग्य कर्तव्य करनेपर उन्नति होती है।

उदाहरणके लिये आततायीके रूपसे परमेश्वर हमारे सम्मुख आजाए, और हाथमें शस्त्र लेकर हरएकका वध करने लगे तो उसका वध करना हमारा धर्म है। यदि हमने

उसका वध कर दिया तो हम अपनी परीक्षामें उत्तीर्ण होंगे और यदि उससे डरकर भाग गये अथवा यह परमेश्वर है इस लिये चुप रहगए तो हम अनुत्तीर्ण हो जायेंगे। इस तरह यह परीक्षा चारों ओर हो रही है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि कौरवपक्षके सभी लोग परमेश्वरके विश्वरूपमें है, परन्तु अर्जुन की शक्तिकी परीक्षाका यह समय है। अतएव परमेश्वर इनके रूपोंमें सम्मुख आकर परीक्षा ले रहा है। यदि इस समय अर्जुन युद्धसे विमुख हो जाता तो परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जाता। अर्जुनने विश्वरूपके दर्शन करनेके पश्चात्‌ही युद्ध किया है क्योंकि उसी समय उसको निश्चय हुआ कि यद्यपि परमेश्वर सम्मुख उपस्थित होनेपर युद्धसे भाग जाना निरी मूर्खता है। इस समय तो युद्ध करना ही एकमात्र उपाय है।

पाण्डवोंका राज्य छीनकर कौरव अपने हाथमें दबाकर बैठे थे और पाण्डव अपना स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। दोनों पक्षोंके मानवीय शरीरोंमें ईश्वर था। पाण्डव यदि युद्ध न करते अथवा उत्तम युद्ध करके कौरवोंको परास्त करके उनके हाथोंसे अपना राज्य न छीन लेते, तो पाण्डवोंको स्वराज्यकी प्राप्ति न होती। यहां परमेश्वर कौरवोंके रूपमें आकर पाण्डवोंकी परीक्षा ले रहा था, कि वे पांडव स्वराज्य प्राप्त करने और उसकी रक्षा करनेके योग्य हैं भी या नहीं इस परीक्षामें पांडव उत्तीर्ण हुए और उत्तीर्ण होनेसेही उनको स्वराज्य प्राप्त हुआ। यहां पता लगता है कि परमेश्वरके विश्वरूपमें शत्रु भी है। उनके साथ वैसा बर्ताव अर्जुनने किया वैसा ही करना चाहिये। जो भी स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं उनको तबतक स्वराज्य नहीं मिलेगा जबतक कि वे युद्ध करके विजयी न होंगे और युद्ध भी पूरे प्रयत्नसे करना चाहिए अर्थात् उसमें न्यूनता नहीं रखनी चाहिये।

मानवीय शरीरोंमें परमेश्वर है (मानुषीं तनुं आश्रितं भूतमहेश्वरं। गी० ९।११) यह बात देखनी चाहिये और सदा ध्यानमें रखनी चाहिये। अनेक मानवोंके साथ हमारा संबंध होता है यह उत्तम योग्य रीतिसे होना चाहिये क्योंकि इन मानवीय शरीरोंमें रहनेवाले परमेश्वरके साथही हमारा संबंध होता है। इस परीक्षामें उत्तीर्ण होना चाहिये।

राजविद्याके पक्षमें अमूर्त राजसत्ता छोटेमोटे कोटरेखमें इन मानवोंके शरीरोंमें आश्रित रहकर कार्य करती है। इसलिये मनुष्यका शरीर समझकर उसका अपमान करना उचित नहीं क्योंकि अमूर्त राजसत्ता वहां है।

अमूर्त परमेश्वरीय भाव व्यक्तिमात्रोंमें है और अमूर्त राजसत्ता अधिकारियोंमें है जो लोग यह भी नहीं जानते वे मूढ हैं। इस अज्ञानके कारण वे अनेक प्रकारके दुष्ट आचरण करते हैं। उसका फल उनको भोगना पडता है। इसलिये कहा है कि उनकी आशायें, उनके कर्म और उनके ज्ञान (मोघाशाः मोघकर्माणो, मोघज्ञानाः) व्यर्थ होते हैं। यदि वे सब भूतोंमें ईश्वरसत्ताको देखें तो उनकी आकांक्षायें उनके कर्म और ज्ञान सफल और सुफल हो जायेंगे। यही एक बात न समझ पानेके कारण उनको मोह होता है और इस मोहसे उनकी राक्षसी और आसुरी प्रवृत्ति होती है। इसके लिये एक उदाहरण है—

सब मनुष्य परमेश्वरीय भावसे परिपूर्ण हैं, सबमानवके सबमें परमेश्वर भरा है इस दृष्टिसे सब एक ही हैं। ऐसा माननेपर एक दूसरेको ठगना परस्पर चोरी करना करना, दूसरेकी वस्तु छीनना आदि दोष समाजमें नहीं रह सकते। फिर ये दोष किस प्रमाणमें रह सकते हैं? जिस समाजके लोग सब भूतोंमें परमेश्वरभावको नहीं मानते, और अनेक व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं परमेश्वर किसी स्वतंत्र स्थानमें है वह प्रत्येक व्यक्तिमें नहीं है यह मानते हैं वे ही एक दूसरेको धमकियां करते हैं चोरी व्यभिचार व्यभिचार आदि करते हैं। इन लोगोंमेंही राक्षसी और आसुरी वृत्ति रहती है। इस आसुरी संपत्तिका वर्णन आगे १६ वें अध्यायमें होगा। कई मानवोंमें भी क्रूर आसुरी वृत्ति दिखाई देती है। ये ही लोग जगत् में अनेक उपद्रव मचाते हैं। इनमें इस वृत्तिके होनेका कारण मानवीय देहमें सूत्ररूपसे सच्चेको न मानना और न देखना ही है।

इस लिये जगत् के अन्दर शान्ति स्थापन करनेकी इच्छा हो तो सब भूतोंमें साक्षी भावको देखनेकी विद्या सीखनी चाहिये।

(५) महात्माओंका स्वभाव

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वयः— हे पार्थ ! दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः महात्मानः तु मां भूतादिं अव्ययं ज्ञात्वा अनन्यमनसः (मां) भजन्ति ॥ १३ ॥ (ते) नित्ययुक्ताः भक्त्या मां सततं कीर्तयन्तः यतन्तः च दृढव्रताः नमस्यन्तः मां उपासते ॥ १४ ॥ अन्ये च अपि ज्ञानयज्ञेन यजन्तः एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखं उपासते ॥ १५ ॥

हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति-स्वभाव-के आश्रित महात्मा लोग तो मुझको ही भूतोंका आदिकारण और अव्यय समझ अनन्य मनवाले हो मेरा ही (ईश्वरका) भजन-सेवन करते हैं ॥ १३ ॥ वे नित्य योगाचरण करनेवाले महात्मा भक्तिसे मेरा (ईश्वरका) सतत कीर्तन करते हैं तथा प्रयत्नशील दृढव्रती नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥ और दूसरे लोग भी ज्ञानयज्ञद्वारा पूजन करनेवाले एकत्वसे पृथग्भावसे अर्थात् अनेक प्रकारोंसे मुझ सर्वतोमुख (ईश्वर) की उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— महात्मा लोग दैवी स्वभाववाले होते हैं। उनको विश्वास होता है कि परमेश्वर संपूर्ण भूतोंका आदिकारण है और वह अविनाशी है। वे इस परमेश्वरको यथार्थ रूपमें जानकर अनन्यभाव मनमें धारण करके उसकी सेवा करते हैं। वे नित्य योगका आचरण करते हैं। सदा प्रयत्नशील पुरुषार्थी होते हैं दृढव्रती अर्थात् नियमपालनमें दृढ होते हैं। वे परमेश्वरको नमस्कार करते हुए उसकी अखंड सेवा करते हैं दूसरे लोग ज्ञानयज्ञ करते हैं। इनमें बहुतसे एकत्व भावको देखकर बहुतसे पृथक्त्वका अनुभव करके अनेकों प्रकारोंसे ईश्वरकी उपासना और सेवा करते हैं। वस्तुतः परमेश्वर सर्वतोमुख है ॥ १३–१५ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ- (दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः) दैवी स्वभाववाले पुरुष (महात्मानः) महात्मा होते हैं वे अमूर्त राजशक्तिको (भूत-आदिं) प्राणिमात्रकी उन्नतिका आदिकारण और (अ-व्ययं) व्यय न करनेवाली अर्थात् आर्थिक सुस्थिति करनेवाली जानते हैं। अतः (अन्-अन्य-मनसः) उस राजसत्ताके साथ अनन्यचित्तवाले होकर अर्थात् उससे अपने आपको भिन्न न मानते हुए उसीमें अपना चित्त लगाकर उसीकी सेवा करते हैं ॥ १३ ॥ वे (नित्य-युक्ताः) सदा योग अर्थात् कौशलयुक्त कर्म करते हैं। (भक्त्या) भक्ति अर्थात् सेवाभावसे उसीका भजन करते हैं। (यतन्तः) उसीके विषयमें प्रयत्न करते हैं। (दृढ व्रताः) शुभ नियमोंका दृढताके साथ पालन करते हैं। (नमस्यन्तः) नम्र अर्थात् मित्रोंके समान सब प्रजाके नम्र और दुष्टोंके प्रबलता दण्ड देनेका विचार करते हुए उसी राजशक्तिकी सेवा करते हैं ॥ १४ ॥ दूसरे कई सत्य (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानका विस्तार करते हैं। बहुतसे लोग (एकत्वेन) एकतासे अर्थात् संघभावसे और बहुतसे लोग (पृथक्त्वेन) पार्थक्यके भावसे अर्थात् व्यक्तिभावसे तथा अनेक रीतियोंसे उसीकी सेवा करते हैं। यह राजसत्ता तो (विश्वतोमुखं) सर्वतोमुखी है अर्थात् प्रत्येक मनुष्यमें रहनेवाली अथवा अनेकविध है ॥ १५ ॥

भावार्थ- दैवी स्वभाववाले अमूर्त राजसत्ताको मानवीय समाजके अभ्युदयका हेतु और स्थूल व्ययसे अधिक लाभ पहुंचानेका साधन समझते हैं। वे दैवी राजसत्ताके साथ मिलकर जनताके उद्धारका कार्य करते हैं। व नित्य कौशलयुक्त कर्म करके सदा सेवाभावसे कार्य करते हुए, पुरुषार्थ करनेका उत्साह धारण करके नियमोंका दृढताके साथ पालन करके अपना व्यवहार करते हैं। वे सज्जनोंके साथ नम्रताका व्यवहार करते हैं। सबका भला करनेके लिये वह दमनका यत्न करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। ज्ञानका विस्तार करते हैं, अनेक उपायोंसे वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि सर्वोंकी उन्नति होनेसे ही सबका यथार्थ कल्याण होता है ॥ १३–१५ ॥

महात्मा लोग

(१३-१५) आसुरी स्वभाववाले मनुष्य क्या करते हैं इसका वर्णन इसके पूर्वके दो श्लोकोंमें किया गया अब दैवी स्वभाववाले लोग क्या करते हैं इसका विचार इन तीन श्लोकोंमें करते हैं । 'प्रकृति' शब्दका अर्थ स्वभाव है । दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी स्वभाववाले लोग महात्मा होते हैं उनकी आत्मा महान् और विशाल होती है। इन महात्माओंमें संकुचित भाव नहीं होते। महात्मापन मनके विशाल भावसेही प्राप्त होता है। जिसकी मन वृत्ति हो जो पक्षपातरहित हो जो शांत और दान्त हो वह महात्मा कहलाता है । ये महात्मा लोग परमेश्वरको (भूतादिं अव्ययं) भूतमात्रका आदिकारण और अविनाशी सत्य तत्त्व जानते हैं और (अनन्य मनसः भजन्ति) अनन्यमनवाले, ऐसे दो प्रकारके लोग होते हैं । अन्यमनवाले अपनेमें ईश्वरमें तथा परायं पदार्थोंमें एवं वस्तुवस्तुमें भेद रखते हैं । यही सामान्य मनुष्योंकी दृष्टि है । इसीको सांसारिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि कहते हैं । इस दृष्टिमें भेदभाव, अन्यभाव स्पष्ट रहता है ।

अनन्यदृष्टि

दूसरी दृष्टि अनन्य दृष्टि है । इसमें उपासक अपने आपको परमेश्वरसे अभिन्न रखता तथा अभिन्नही अनुभव करता है । ईश्वरके साथ अभिन्न होकर अपने आपको वह विभक्त नहीं समझता । ईश्वर अन्य है और मैं उससे अन्य हूं यह भेद भाव इसके मनमें नहीं रहता । यह अन्यभाव सर्वथा मिट गया इसका मन सर्वथा अनन्य होता है । इसी हेतुसे यहां अनन्यमनसः यह पद आया है। जिनके मनसे अपने आपका पर ईश्वरसे अन्य होनेका भाव पूर्णतासे मिट गया है उनका नाम अनन्यमनस् है यह अवस्था केवल महात्माओंकोही प्राप्त हो सकती है अथवा जो इस प्रकार अनन्य होते हैं वही महात्मा कहलाते हैं।

ये महात्मा लोग अपने आपको ईश्वरसे अन न (अन्+अन्य अर्थात् अभिन्न अनुभव करते ईश्वरकी (भजन्ति) भक्ति करते हैं यहां भक्ति करनेका क्या अर्थ है यह विचारना आवश्यक है श्लोकमें भज् धातुका अर्थ है विभाग करना निर्देश करना यथायोग्य रीतिसे दान प्राप्त करना, आश्रय करना अभ्यास करना अपने पास रखना सेवा करना, सम्मान करना पसंद करना, प्रेम जोड़ना अधिकार जमाना प्रेम करना, दान देना, पूजा करना, अनुकूल बनाना अन्न आदि पकाना कर स्वीकार करना तथा सेवन करना ।

भज् धातुके ये अर्थ ध्यानमें रखनेसे भक्ति के योग्य विभाग निर्देश, योग्य दान प्राप्ति आश्रय अभ्यास अपनाना सेवा सम्मान, पसंद सर्वत्र अधिकार प्रेम दान पूजा अनुकूलता अथवा तत्परता आदि अर्थ प्रतीत होते हैं । इन सब अर्थोंका विचार न करके इनमें से तीन मुख्य अर्थोंपरही विचार करेंगे । जैसे सेवा, सन्मान दान, तत्परता ये भक्तिके अर्थ हैं । भक्ति करनेका अर्थ सेवा करना सन्मान करना, दान करना और तत्परतासे कर्तव्य करना है । महात्मा लोग जो ईश्वरभक्ति करते हैं उसमें वे ये सब बातें करते हैं । वे ईश्वरकी सेवा करते हैं, ईश्वरका सन्मान करते हैं ईश्वरके लिये आत्मसमर्पणरूप दान करते हैं और तत्पर होकर स्वकर्तव्य करते हैं।

सेवा करनेयोग्य ईश्वरके रूप

ईश्वरका मनुष्यद्वारा सेव्य स्वरूप यही है जो वेदोंमें कहा है । इस विराट् पुरुष परमेश्वरका मुख ब्राह्मण बाहु क्षत्रिय उरु वैश्य और पांव शूद्र है । (य० ३१ । ११) इस तरह वेदोक्त ईश्वर सेवाके लिए यह वर्णोंके रूपमें हमारे सम्मुख उपस्थित है। इसमें अन्त्यज पंचम आदि सबका समावेश है इस बातको नहीं भूलना चाहिये । चार वर्णोंसे अतिरिक्त कोई मनुष्य वच नहीं सकता । इस तरह परमेश्वरकी सगुण मूर्ति (मानुषीं तनु आश्रित भूतमहेश्वरं मजानन्ति । भ० गी० ९।११) मानुषी देहरूप समाज है यही सिद्धान्त स्पष्ट वेदोंमें कहा गया था और यही भगवद्गीतामें भी कहा गया है। इसलिये ईश्वरकी कैसी सेवा करनी चाहिये यह शंका यहां नहीं रहता। चारों वर्णोंकी सेवा जनताकी सेवा आदिकी सेवा तथा राष्ट्रकी सेवाही परमेश्वरकी सेवा है। जब मनुष्योंको जिसकी सेवा करनी चाहिये वही यह ईश्वरका रूप है । मानुष देहके रूपमें परमेश्वर प्रकट है। जनता-जनार्दनकी सेवा करनेकी विधि भी स्पष्ट है। इस मानुषदेहमें सगुण परमेश्वरानि आ जाती है। कोई मानव शेष नहीं

रहना। इस सबके लिये आत्मसमर्पण करना इसका समग्र कार्य तत्परताके साथ इससे संबंध रखनेवाले कर्तव्य करना यही भक्ति यहां कही है। महात्मा लोग जो ईश्वर भक्ति करते हैं वह यही भक्ति है। इसीका नाम सत्य भक्ति है और इसी भक्तिसे मानवसमाजका उद्धार हो सकता है।

चातुर्वर्ण्य-समाज प्रभुका मूर्तरूप है। यही नारायणका रूप है। यही ईश्वरका सगुण रूप है। इस मानुषी तनुमें आश्रित ईश्वरको महात्मा लोग (गी ९।११।११) यथावत् जानते हैं तथा यही (अव्ययं) अविनाशी रूप है ऐसा अनुभव करते हैं। इसीका (कीर्तयन्तः) वर्णन करते हैं इसीके लिये (यतन्तः) प्रयत्न करते हैं इसीका कार्य करनेके लिये (दृढव्रताः) दृढतासे नियमपालन करते हैं। इसीको (भक्त्या नमस्यन्त) सेवा भावसे नमस्कार करते हैं, इसीके कार्यमें (नित्ययुक्ताः) नित्य लगे रहते हैं इसीका (ज्ञानयज्ञेन यजन्तः) ज्ञानप्रसार द्वारा यजन करते हैं सामर्थ्यानुसार इसीकी (उपासते) उपासना करते हैं, (एकत्वेन) ऐक्यभावसे तथा (पृथक्त्वेन) वैयक्तिक पृथग्भावसे भी अर्थात् (बहुधा) बहुतसी रीतियोंसे (विश्वतोमुखं) जनसमाजरूपी सर्वतोमुखी सगुण परमेश्वरकी (उपासते) उपासना सेवा और भक्ति करते हैं।

राजविद्याका रहस्य

ईश्वरभक्तिका इतना विचार करनेके पश्चात् इन श्लोकोंमें वर्णित राजविद्याके तत्त्वका वर्णन करते हैं।

(दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः) दैवी संपत्तिवाले सत्पुरुष महात्मा लोग (अनन्य-मनसः) अनन्यमन होकर राष्ट्रशक्तिकी (भजन्ते) भजा करते हैं। राष्ट्रशक्ति राष्ट्रके अनेक मनुष्यतक व्याप्त है। वह जानकर अपने आपको उसके साथ (अनन्य मनसः) अनन्यभावसे संबंधित एवं एकरूप समझ उसकी सेवा करते हैं। सेवामें आत्मसमर्पण, प्रयत्न दान और स्वकर्तव्यपालन आदि सब सम्मिलित है।

महात्मा लोग जानते हैं कि यह राष्ट्रशक्ति (भूत-भावन) स्वयं बढनेवाली है अर्थात् सज्जन और सत्पुरुषोंकी अन्य सब रीतियोंकी अपेक्षा इस गीतोक्त दैवी भावकी राज्य पद्धतिसे राष्ट्रोन्नतिमें व्यय कमसे कम होता है। और (भूत-आदि) प्राणिमात्रकी उत्पत्ति उन्नति उत्कर्ष आदि अधिकसे अधिक होता है, इसलिये यह राज्यशासन सर्वोत्कृष्ट है। अतः ये महात्मा लोग इसके लिये आत्मसमर्पण करते हैं इसकी सेवा करनेके लिये जीवन देते हैं और तत्परताके साथ इसी राज्यपद्धतिमें (यतन्तः) प्रयत्न करते हैं। इसी राज्यशासनके लिये (दृढव्रताः) दृढनिश्चयसे उद्योग करते हैं नियमादिका पालन करते हैं। वे जानते हैं कि यह राज्यपद्धति अत्यंत लाभदायक है, इसलिये वे इसका (कीर्तयन्तः) गुण गान करते हैं इसके गुण सबको समझाते हैं तथा (नित्य-युक्ताः) नित्य कुशलतापूर्वक उसके लिये प्रयत्न करते हैं। तथा राज्य शासनमें प्रयत्न करते रहना वे अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं।

(नमस्यन्त) नमन करते हैं महात्मा लोग नमन करते हैं। यह चातुर्वर्ण्यरूपी राष्ट्र-पुरुष जगदीश नारायणका स्वरूप है ऐसा समझ इस दैवी राज्यशासनद्वारा राज्य शासनका कार्य करना उसीकी सेवा करना है ऐसा वे मानते हैं और इसी कारण वे इसको (नमः) नमन करते हैं। इस नमः के तीन अर्थ हैं (१) नमन (२) अन्न और (३) वज्र। ये तीनों अर्थ महात्माओंके नमनमें सम्मिलित हैं। महात्मा लोग सदा नम्र होते हैं सज्जनोंके सम्मुख तो नमते ही रहते हैं। बुभुक्षितोंकी क्षुधा शान्त करनेके लिये अर्थात् उनको पर्याप्त मात्रामें अन्न देनेके लिये व सदा प्रयत्नवान् होते हैं। बेकारीको दूर करने तथा कौशल्य-की उन्नति करनेके लिये और कृषि आदिका सुधार करनेके लिये वे प्रयत्न करते हैं। ये महात्मा लोग वज्रसे दण्डनीय दुष्टोंको यथोचित दण्ड भी देते हैं। चोर लुटेरे दुष्ट आदि पापकर्म करनेवालोंका उचित दण्डद्वारा नियमन भी करते हैं। इस तरह इनके नमनमें ये तीनों क्रियाएं अन्तर्भूत होती हैं जो जगत्की सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। महात्मा लोगोंके नमनका यह प्रभाव है। इससे सज्जनोंका सम्मान होता है बुभुक्षितोंको अन्न मिलता है बेकारी नष्ट होती है तथा दुष्टोंको भी यथोचित मात्रामें दण्ड मिल जाता है।

ये महात्मा लोग जनताको (ज्ञानयज्ञेन यजन्तः) ज्ञानद्वारा सन्मान करते रहते हैं। यह एक प्रकारकी जनता जनार्दनकी पूजा ही है। ये लोग इसलिये (उपासते) इसकी

(९) ईश्वरका स्वरूप

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् । मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वयः- अहं क्रतुः अहं यज्ञः अहं स्वधा अहं औषधं, अहं मंत्रः अहं एव आज्यं, अहं अग्निः अहं हुतम् ॥ १६ ॥ अहं अस्य जगतः माता पिता धाता पितामहः वेद्यं (वस्तु) पवित्रं (वस्तु) ॐकारः ऋक् साम यजुः एव च (अस्मि) ॥ १७ ॥ (अहं) गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं अव्ययं बीजं (च अस्मि) ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! अहं तपामि अहं वर्षं निगृह्णामि उत्सृजामि च अहं एव अमृतं मृत्युः च (अहं एव) सत् असत् च (अस्मि) ॥ १९ ॥

मैं क्रतु, यज्ञ स्वधा औषध मंत्र घृत अग्नि और हवनकर्म हूं ॥ १६ ॥ मैं इस जगत्का माता पिता धारणकर्ता, पितामह ज्ञेय वस्तु पवित्र वस्तु ओंकार ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद हूं ॥ १७ ॥ मैं अन्तिम गति पोषणकर्ता, स्वामी साक्षी, निवासस्थान शरण जानेयोग्य मित्र उत्पत्तिकर्ता लयकर्ता सबकी अवस्थिति अर्थात् सबको रहनेके लिये स्थान देनेवाला भण्डार और अविनाशी बीज हूं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! मैं (सूर्यरूपसे) तपता हूं मैं पर्जन्यको रोकता हूं और पर्जन्यको गिराता भी हूं । मैं अमरता हूं और मृत्यु भी हूं । मैं सत् और असत् हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ — ईश्वर सब कुछ है । भूत वर्तमान और भविष्यत् कालमें जो कुछ था तथा है और होगा वह सब ईश्वरही है । ईश्वरही सबका बीज उत्पत्ति और लय है । वही अमरत्व और मृत्यु सत् और असत् सब कुछ है ॥ १६-१९ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— राज्यशासनही प्रजाजनोंका कर्मकर्ता धारणकर्ता औषधी अवस्थितिके समान रोगोंको दूर करनेवाला मंत्र जपनेवाला तेज बढानेवाला और कर्मफल हेतु है ॥ १६ ॥ राज्यशासनही राष्ट्रका माता पिता, आधार और पितामहरूप है । राज्यशासनही जानने योग्य वस्तु है पवित्र वस्तु है तथा रक्षक भी है । संपूर्ण ज्ञान राज्यशासनसेही होता है ॥ १७ ॥ प्रजाजनोंकी अन्तिम गति राजाही है वही सबका पोषक सबका स्वामी, सबका निवासक सबका आश्रय सबका उत्पत्तिकर्ता और पालनकर्ता है वही सबको रहनेके लिये स्थान देता है सब प्रजाजनोंकी निधि है सबकी उत्पत्तिका अक्षय मूल बीज है ॥ १८ ॥ वही दुष्टोंको दण्डरूप ताप देता है वही जीवनका आधारकर्ता और दण्डदाता जीवन देनेवाला है । वही संपूर्ण जगत्‌की मृत्यु तथा जीवन है । वही सत् और असत् है ॥ १९ ॥

उपासना मानते हैं । बहुतसे महात्मा लोग इस जनसेवा अथवा विश्वसेवाको (एकत्वेन) एकत्व-भावसे अर्थात् समभावसे करते हैं तथा बहुतसे (पृथक्त्वेन) पृथग्भावसे अर्थात् वैयक्तिक भावसे करते हैं, अन्य (बहुधा) अनेक प्रकारोंसे विभिन्न साधनोंसे अथवा भिन्नभिन्न विधियोंसे करते हैं इन सबसे वे (विश्वतः मुखं उपासते) सर्वतोमुखी राष्ट्रपुरुष, जनसमाज या जनताजनार्दनकी सेवा करते हैं ।

दोनोंकी एकता

यहांतक राजविद्याका रहस्य देखनेसे पता लगा कि विश्वरूपी परमात्माकी उपासना और राष्ट्रपुरुषकी उपासना एकही है क्योंकि विश्वरूपी परमात्माका जो प्रमुख रूप मनुष्योंद्वारा उपासित होनेयोग्य है वह चार वर्णोंसे होनेवाला राष्ट्रपुरुष ही है इसकी यथायोग्य सेवा करनेके लियेही समाजकी सुव्यवस्थाका निर्माण हो गया है । यहां ईश्वरोपासना और राष्ट्रोपासना एक स्थानपर भिन्न नहीं है । मानवधर्ममें ईश्वरकी उपासना और राष्ट्रभक्ति दूसरी है और नही सबका दृष्टिकोण है ।

इस तरह महात्माओंका कर्म बतलाकर अब ईश्वरका सच्चा स्वरूप बतलाते हैं ।

भावार्थ— राजशक्तिही प्रजाका उद्धार करनेवाली अथवा नाश करनेवाली है। यदि राजशक्ति प्रजाका हित करती है तो जगत्में प्रजाका अद्भुत अभ्युदय होता है और यदि वही विरोध करने लगे तो उसके प्रभावसे अवनतिके ऐसे गढ़ेमें जा गिरते हैं कि वहाँसे उनका निकलना कठिन हो जाता है। इसलिये कहा है कि राजशक्तिही प्रजाकी अन्तिम गति और सब कुछ है ॥ १६-१९ ॥

(१६-१९) यज्ञमें स्वधाकार, स्वाहाकार हवनार्थ औषधियोंका समूह मन्त्र घृत अग्नि और हवनके कर्म इत्यादिकी आवश्यकता होती है। क्रतु और यज्ञ ये यज्ञके दो भेद हैं। ये सब एकही भगवानके रूप हैं। इससे पूर्व यही भाव कहा गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(गी० ४।२४)

अर्पण हवन अग्नि हवनकी गयी वस्तु और हवन करनेवाला ये सब ब्रह्म हैं। इस श्लोकमें भी यही बात कही है। इसीका रूपान्तर ऐसा किया गया है—

हरिर्दाता हरिर्भोक्ता हरिरन्नं प्रजापतिः ।
हरिर्विप्रशरीरस्तु भुङ्क्ते भोजयते हरिः ॥

दाता भोक्ता अन्न प्रजापालक आश्रयदाता, भोजन खिलानेवाला और विप्रोंका शरीर सब ईश्वरही है। इसका मतलब यह है कि जो कुछ वस्तुमात्रमें भेद दिखाई दे रहा है वह सत्य नहीं है। यद्यपि वस्तुएं अनेक दीखती हैं तथापि वे सब एकही सद्वस्तुके रूप हैं। जैसे एकही सोनेके अनेक जेवर बनाये जाते हैं तथा अनेक जेवरोंके रूपोंमें उनके जानेपर भी सोना पूर्ववतही बना रहता है उसके रूपमें मूलमें अथवा स्वरूपमें कोई भेद नहीं होता इसी तरह जो यह ब्रह्म अथवा ईश्वर है वही इन सब वस्तुओंके रूपमें हमारे सम्मुख उपस्थित है। दूसरा कोई पदार्थ तो नहीं है। फिर यह क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र घृत अग्नि हवन आदि कितने भी रूपोंमें दिखाई देवे यह वस्तु एकही है। यद्यपि यह वस्तुओंका भेद दिखाई देता है तथापि वस्तुतः सत्य नहीं है।

परमेश्वर इस जगत्का मातापिता है क्योंकि वह इसका उत्पादक है। धारण तथा पोषण करनेके कारण उसीको धाता कहते हैं। वह पिताओंका भी पिता है इसलिये उसका नाम पितामह है। वह सब ज्ञाता पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है क्योंकि वह वेद्य है। (वेद्यः) जानने योग्य, मनुष्योंके जन्म ग्रहण करनेके पश्चात् यही एक ईश्वर जाननेयोग्य है। ओंकार यही है। इसको ओंकार कहते हैं। (अवति इति ओं) जो सबका यथायोग्य रीतिसे संरक्षण करता है वही ईश्वर है। ओंकारमें अ-उ-म् ये अक्षर उत्पत्ति-स्थिति-लयके वाचक हैं। जो उत्पन्न होता है जो रहता है और जिसका लय होता है वह सब वस्तुमात्र परमात्माकाही रूप है। इस प्रकार ओंकारके कई अर्थ हैं जिन सबका विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद भी यही ईश्वर है। ऋग्वेदके मन्त्रोंपर आरोहावरोह तथा आलापप्रलापादि गायनके स्वरोंका प्रयोग करनेसे सामवेदके मन्त्र होते हैं। इसलिये कहा है कि—

या ऋक् तत्साम। (छां० उ०)

जो ऋचा है वही साम है। इस तरह ऋग्वेद और सामवेदकी एकरूपता स्पष्ट हो जाती है। अतः ऋग्वेद और यजुर्वेद शेष रहे। ऋग्वेदमें सूक्त (सु-उक्त) सुवचन हैं और यजुर्वेदमें सुकर्म हैं। सुवचन और सुकर्मोंका परस्पर अति निकट संबंध है। प्रथम सुविचार होता है पश्चात् सुवचन बोला जाता है और अन्तमें सत्कर्म किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि सुविचारकाही रूपान्तर सत्कर्म है। अतः ये दोनों या तीनों एकही हैं। क्योंकि रूपान्तरित वस्तु अनेकविध होनेपर भी एकही हुआ करती है।

ईश्वरही सबकी गति है अर्थात् सब जाकर अन्तमें उसीमें विलीन होते हैं क्योंकि उससे परे और कोई नहीं है (भर्ता) वह सबका पालन-पोषण करता है (प्रभुः) वह सबका स्वामी है (साक्षी) वह सबके कर्मोंको यथावत् देखता है (निवासः) वह सबको यथायोग्य रीतिसे स्थान देता है (शरणं) सबको उसीको शरण प्राप्त करनी चाहिये अर्थात् उसकी शरण जानेसेही सबके कष्ट दूर हो सकते हैं। (सुहृत्) वह सबका मित्र है यही सबका हितकर्ता है (प्रभवः) वह सबका

उत्पादक है, तथा (प्रलयः) सबका नाश करनेवाला है वही अव्यक्त (निधान) निधि है इसलिये उसीसे सबको यथायोग्य वस्तुएं प्राप्त होती हैं और वही सब जगत्‌का (अव्यय बीज) अविनाशी बीज है अर्थात् उसकी शक्तिके बिना कुछ भी नहीं बनता और बिगड़ता भी नहीं है। जो कुछ बन रहा है अथवा बिगड़ रहा है वह उसीकी सामर्थ्यसे हो रहा है।

वह सूर्य–रूपमें वही तपता है वह वृष्टिका निरोध करता है और वही वृष्टि करता है। सबको अमरत्व देनेवाला और सबकी मृत्यु करनेवाला वही एक प्रभु है। सत् और असत् कारण और कार्य वही है। वेदमें कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।
(वा० य० ३२।१)

वही ब्रह्म अग्नि सूर्य वायु चन्द्रमा, जल प्रजापति और शुक्र है ये सब उसीके रूप हैं। वही अग्नि होकर जलाता है सूर्य होकर तपाता है वायु होकर सुखाता है, चन्द्रमा होकर आनंद देता है जल होकर भिगाता है प्रजापति होकर प्रजाका पालन करता है और शुक्र होकर सबका बल बढ़ाता है। वेदमंत्रके इस कथनकाही अनुवाद रूपान्तर गीताके इस श्लोकमें किया गया है। इस तरह यह सब ईश्वरकाही रूप है।

राजविद्यासंबंधी बोध

प्रजाजनोंके सब (क्रतु) कर्म और पुरुषार्थ प्रधान (यज्ञ) सब सर्वोपकारक सत्कर्मादि शुभ संघटनात्मक कर्म सब प्रकारकी (स्वधा) अपनी धारणाकी शक्तियाँ सब प्रकारकी (औषधिवनस्पतियोंकी) दोष दूर करनेवाली अर्थात् पवित्रता करनेवाली विधियाँ (मंत्रः) मनन करनेयोग्य गुप्त विद्या (आज्यं) इत्यादि पुष्टिके पदार्थ (अग्निः) उष्णता तेज और प्रकाश करनेवाले पदार्थ (हुतं) सब प्रकारके समर्पण और दान सब राजाके आश्रयही होते हैं। यदि राजा उत्तम प्रजाहित–तत्पर और राष्ट्रहित करनेवाला होगा तथा राज्यशासन प्रजाकी उन्नति करनेवाला होगा तो ये सब राजशक्तिसे संवर्धित होते रहते हैं। जहां राज्यशासन प्रजाके हितका विरोध करनेवाला होता है वहां इन सबका लोप होता है और प्रजा नाशको प्राप्त होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि श्लोकमें 'अहं' शब्द है, इसका अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर हो सकता है। इसका संबंध राजशक्तिकी ओर क्या हो सकता है? यह ठीक है। भगवद्गीतामें जो राजविद्या गुह्य रीतिसे (राजविद्या राजगुह्य) कही है वह यही रीति है। जो जो शब्द ईश्वर परमात्मा आत्मा, ब्रह्म आदिके वाचक यहाँ आयेंगे, वहां उन शब्दोंके अर्थमें राजा राजशक्ति, संपूर्ण राष्ट्र राज्यशासन आदि भाव देखनेसे येही वाक्य राजविद्याके वाचक हो सकते हैं। यह इस गुह्य विद्याके प्रकट करनेका नियम है। इस नियमको ध्यानमें रख भगवद्गीताका अध्ययन करनेसे इसी ग्रंथमें राजविद्याकी सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। ईश्वर शब्द संस्कृतमें जैसे परमात्माका वाचक है वैसेही राजाका वाचक भी है। उसीके बदले यहां अहं शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण जहां जहां अहं शब्द प्रयुक्त करते हैं, वहां अपने ईश्वरभावसे युक्तही उसका अर्थ रखा है। अतः परमात्मपक्षमें उसका अर्थ परमेश्वरपरक जीवात्म पक्षमें उसका अर्थ शरीरधारी जीवपरक और राजविद्याके पक्षमें राजा अथवा राजसंस्थापरक समझना चाहिये। जैसा

अहं अस्य जगतः माता पिता पितामहः धाता
(भविष्य) ४ (१७)
इसके निम्न प्रकारसे तीन अर्थ हो सकते हैं—

(१) परमात्मापरक अर्थ–

परमात्मा– परमेश्वर इस विश्वका मातापिता पितामह और सब प्रकारसे धारणकर्ता है।

(२) जीवात्मपरक अर्थ–

जीव–आत्मा इस (जगत्) चलने फिरनेवाले शरीरका मातापिता पितामहके समान हितकारी किंवा संबंधी और सब प्रकारसे इस शरीरका धारण करनेवाला है। क्योंकि जीवात्मा न रहे तो इस शरीरकी स्थिति क्षणमात्र भी नहीं रह सकती जीवका संबंध छूट जानेसे यह शरीर सड़ने लगता है और शरीरही नहीं रह जाता।

(३) राजपरक अर्थ–

राजाही राष्ट्रका मातापिता पितामह और राष्ट्रका धारण पोषण और संवर्धन करनेवाला है। राज्यशासन प्रजाके अनुकूल रहनेसे प्रजाकी उन्नति होती है। प्रतिकूल राजशक्तिसे

होनेपर राष्ट्रकी अधोगति होती है। अराजक राष्ट्र भी अवनत होता है। जहां सुराज्य और स्वराज्य है वहांही उन्नति संभव है।

इस प्रकार किसी स्थानपर यह शब्द हो अथवा ईश्वर या परमात्मा शब्द हो तो अर्थज्ञानमें कोई व्यत्यय नहीं होता। राजाको भी ईश्वर कहते हैं और ईश्वरको भी जगत्का राजा सम्राट् आदि कहा जाता है अथवा राजाके गुणोंमेंही यह वाक्य है ऐसा समझना योग्य है और उसका अर्थ मैं (राजाही इस राष्ट्रका) मातापिता पितामह और धारण कर्ता हूं। ऐसा अर्थ समझनेसे भी वही अर्थ निकलता है। तात्पर्य यह है कि भगवद्गीतामें जो राजविद्या गुह्य रीतिसे वर्णन की है वह इस तरह ज्ञात हो सकती है। अतः पूर्वोक्त प्रश्नका यह उत्तर है।

यह राजविद्या जाननेयोग्य है

यह राजविद्या हरएक मनुष्यको (वेद्यं) जाननी चाहिये, क्योंकि इससे उसको अपने अधिकारोंका ज्ञान हो जाता है। राज्यव्यवहारके नियम तथा शासनके विधिनियम हरएक मनुष्यको जाननेयोग्य हैं। हरएक मनुष्य उत्तम रीतिसे इन सबको यथावत् नहीं जान सकता, परन्तु इस शासन-विधिके अनुसार अपने कितने अधिकार हैं, यह तो हरएकको विदित होना चाहिये। हरएकको अपने अधिकारोंका ज्ञान होनेयोग्य शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी चाहिये इससे वह भी अनुमान कर सकते हैं।

(पवित्रं) राजशासन तथा राजशक्तिसे मनुष्योंकी पालना यथायोग्य होनी संभव है इसलिये यह राजसत्ता अत्यन्त पवित्र है। (ओंकारः- अवति इति ओं) ओम् का अर्थ संरक्षण है ओंकारका अर्थ रक्षाका कार्य है। राजसत्तासे सब प्रजाजनोंकी उत्तम रक्षा होनी संभव है। ओंकारके अनेक अर्थ हैं उन सबका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। रक्षाके अन्दर अन्य सब प्रकारकी उन्नति आ सकती है। अतः ओंकारके दूसरे अर्थ यहां देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पाठक अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहें वे ओंकारके सब अर्थ देखकर उनको राजविद्यामें घटावें।

(ऋक् साम यजुः) राज्यमें अभ्युदय मार्गोपासना येन साधन कर्म अर्थात् सद्विचार सदुपासना और सत्कर्म सदा चलाना और उन्नत करना राजसंस्थाका कर्तव्य है। (गतिः) राजाही सबकी गति है अर्थात् अन्तिम प्रार्थना राजाके पास जाकरही की जाती है। राजाके पास पहुंचनेसे सर्वोपरि विराजित शक्तिकी प्राप्ति होती है। अधिकारीके लिये अन्यायका परिमार्जन राजाके पास जानेसेही होता है इसलिये भी इसको अन्तिम गति कह सकते हैं। (भर्ता प्रभुः) राजाही सब राष्ट्रका भरण पोषण करे। राजसंस्था-का कर्तव्य है कि वह अपने राज्यके सब प्रजाजनोंको उत्तम अन्न उचित मात्रामें देनेके लिये जो भी उचित हो करे। राष्ट्रमें कोई भूखा न रहे ऐसा प्रबन्ध करना राजसंस्थाका कार्य है।

(साक्षी) राजा साक्षीके समान रहे किसी पक्षके साथ अपना संबंध न रखे। साक्षीके समान सब कार्यों और व्यवहारोंका यथावत् निरीक्षण करे। जैसे साक्षी किसी पक्षके साथ न मिलकर सबको देखता और सत्यही बोलता और करता है वैसेही राजा निष्पक्ष होकर सब कारोबार देख भाल अपना कर्तव्य करे। राजा (निवासः शरणं) सब प्रजाजनोंको रहनेके लिये योग्य स्थान दे और सबके शरणागतको योग्य रीतिसे सहायता करे। (सुहृत्) अपने हृदयका भाव उत्तम रखे सबका मित्र बनकर रहे।

(प्रभव) प्रजाका उत्कर्ष करे (प्रलयः) अशुभ नाश करे (स्थानं) सबको यथायोग्य स्थान देवे (निधानं) अपनी निधि परिपूर्ण रखे क्योंकि निधिके बलसेही राजाका सामर्थ्य बढता है। (अव्ययं बीजं) अविनाशी बीज राजा अपने पास रखे, मानवी उन्नतिके जो साधन हैं उनका अविनाशी बीज अर्थात् बीज वह अपने पास रखे। इन बीजोंसे वह अपनी प्रजाकी उन्नति करे और उनका रक्षण और पुष्टि करे। यदि राजाके पास उन्नतिके बीजोंका नाश हो गया हो तो वह प्रजाकी उन्नति कैसे कर सकता है ? अतः वह सदा उन्नतिके साधन बीज अपने पास रखे जिससे राज्यकी निरन्तर उन्नति हो सके और राज्यका सामर्थ्य सदा बढता रहे।

राजा कहे कि (अहं तपामि) मैं दण्ड देकर दुष्टोंको तपाता हूं अब वह दुष्टोंका उचित दण्ड दे। इस तरह दुष्टोंका दुष्ट भेद कर सब प्रजाका सुखी करे तथा (निगृह्णामि उत्सृजामि) राजा कहे कि मैं दुष्टभावोंका निग्रह

(७) कामकामी और अनन्यभक्त

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी–धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अन्वयः— त्रैविद्याः सोमपाः पूतपापाः मां यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकं आसाद्य दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति ॥ २० ॥ ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा पुण्ये क्षीणे (सति) मर्त्यलोकं विशन्ति एवं त्रयी–धर्मं अनुप्रपन्नाः कामकामाः गतागतं लभन्ते ॥ २१ ॥ अनन्याः चिन्तयन्तः ये जनाः मां पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं अहं वहामि ॥ २२ ॥

तीनों विद्याओंका जाननेवाले सोम औषधिका रस पीनेवाले निष्पापी लोग मेरा (ईश्वरका) यज्ञोंद्वारा यजन करके स्वर्गमें गति प्राप्त करनेके लिये मेरी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यसे प्राप्त होनेवाले देवेन्द्रलोकको प्राप्त होकर उस स्वर्गलोकमें दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं ॥२०॥ वे उस विस्तृत स्वर्गलोकमें सुख भोगकर पुण्य समाप्त हो जानेपर मृत्युलोकमें आते हैं। इस प्रकार तीनों विद्याओंके अनुयायी कामोपभोगी लोग आवागमनके फेरेको प्राप्त होते रहते हैं ॥२१॥ अनन्य होकर विचार करनेवाले जो लोग मेरी (ईश्वर) की उपासना करते हैं उन नित्य योगयुक्त लोगोंका योगक्षेम मैं (ईश्वर) चलाता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थ— जो लोग इस लोकमें भोग भोगते हैं और परलोकमें भी भोग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वे इन भोगोंको अपने अपने पुण्यके अनुसार प्राप्त करते हैं। परन्तु पुण्यकी समाप्तिपर फिर उनके जैसे ऐहिक भोग नष्ट हो जाते हैं वैसे ही स्वर्गीय भोग भी नष्ट हो जाते हैं अर्थात् इन भोगेच्छावालोंको अक्षय सुख प्राप्त नहीं हो सकता। परंतु जो ईश्वरसे अनन्य होकर ईश्वरकी उपासना करते हैं उन नित्य योगियोंका पूर्ण योगक्षेम ईश्वर ही चलाता है तथा उनके आनंदका क्षय कदापि नहीं होता ॥ २०–२२ ॥

(राजविद्यापरक अर्थ और भावार्थ— भोगी लोगोंके भोग नष्ट होते हैं और अन्तमें उन्हें दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु जो निष्काम बुद्धिसे अनन्य होकर सेवा करते हैं, उनको अक्षय सुख मिलता है ॥ २०–२२)

करता हूं और दुष्टोंको मुक्त करता हूं। यही राज्यसंस्था का कार्य है राज्यसंस्थाद्वारा सज्जनोंका निर्वाह होवे और सज्जनोंको सब उन्नतिके कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्रता रहे। (अमृतं मृत्युः) राजा सज्जनोंको निर्भय कर और दुष्टोंको मृत्यु दण्डतक देवे। (सत्–असत्) राजाके पास सत् और असत् दोनों आते हैं। राष्ट्रमें सत् असत् दोनों होते हैं, दोनोंका वह यथायोग्य रीतिसे परीक्षापूर्वक रखे और अपना राज्यशासन चलावे।

यही राजविद्याका आशय है। इस विषयका अधिक विवेचन होना चाहिये। परन्तु स्थानाभावके कारण विवशता है। पाठक इस संबंधमें इस विषयका व्यापक मनन करके स्वयं बहुत कुछ जान सकते हैं।

(२०–२२) तीनों विद्याओंके ज्ञाता लोग अपने भोग बढ़ानेकी इच्छासे ही कुछ करते हैं यहां उनका वर्णन है–

तीन विद्याएं

ऋग्विद्या सूक्त (सु उक्त) सुभाषणविद्या है, सुविचार विद्या है। यजुर्विद्या सत्कर्मविद्या है। सामविद्या उपासना विद्या है। इन तीनों विद्याओंसे मनुष्य सुसंस्कारसंपन्न होता है। सद्विचार सत्कर्म और शुभ उपासनासे मनुष्य अपने भोग बढ़ाना चाहते हैं। सद्विचारोंसे प्रथम अपने मनुष्य सत्कर्म करनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं और शुभ उपासनासे अपना सुख बढ़ानेकी इच्छा करते हैं। भोगेच्छासे युक्त जो मनुष्य अपने विचारों कर्मों और अपनी उपासनाओंसे अपने भोग बढ़ानेका यत्न करते हैं। ऐसे लोग जगत्में बहुत हैं।

धन मिलता है इसीलिये जो यज्ञयाग करते हैं, धन कमा-नेके लियेही जो अच्छे उद्योग करते हैं और यशादि भोग प्राप्तिकी इच्छासे ही जो उपासना आदि करते हैं वे सब सकाम उपासक हैं। इनमें 'सोमपाः' एक वर्ग है। सोमयाग करनेवाले ये लोग होते हैं। संपूर्ण यज्ञयाग करनेवालोंका यही उपलक्षण है मानवी उन्नतिके साथ संपूर्ण यज्ञयागोंका घनिष्ठ संबंध है। अश्वमेध मानवीय उन्नतिका सहायक है, अश्वमेध राष्ट्रीय दिग्विजय करनेके लिये होता है, राजसूय यज्ञमें नये राजाका चुनाव होता है, वाजपेयमें सबको अन्नपानका दान मुख्य है, सर्वमेधमें जनताकी उन्नतिके लिये सर्वस्वका समर्पण होता है। इस प्रकार ये यज्ञ मानवीय उन्नतिके साधक होते हैं, परंतु इनमें अपने ऐहिक-भोग और पारलौकिक-भोग बढानेका हेतुही मुख्य होता है। सोमपान करनेवाले लोगोंका संपूर्ण कर्मोंमें यही हेतु होता है। ये लोग बडे (पूतपापाः) निष्पाप होते हैं, परंतु 'मैं जो कर्म करूंगा उसका फल मुझेही मेरे उपभोगके लिये मिलना चाहिये' यही भाव मुख्यतया इनके सब कर्मोंमें होता है।

ये लोग सुकर्म करते हैं और इस लोकके पश्चात्ही स्वर्गलोकमें भी फल प्राप्त करते हैं- अनेक भोग भोगते हैं आनंद मनाते हैं। परंतु फलकी समाप्ति होनेपर उनके कष्ट वैसेही बने रहते हैं। जैसे भूख लगनेपर भोजन पकाते हैं उससे भूख शांत करते हैं फिर भूख लगती है और यही चक्र चलाना पडता है। यह चक्र सारी आयु चलानेपर भी समाप्त नहीं होता। यही इस चक्रमें दुःख है। अतः इससे शाश्वत सुख नहीं हो सकता।

राष्ट्ररक्षाके लिये सेना रखी जाती है। उसी सैन्यके लिये शस्त्रास्त्र बढाये जाते हैं। उनसे शत्रुओंका पराभव किया जाता है। शत्रु भी अधिकाधिक शस्त्र बढाते हैं। अतः अपनेको जीवित रखनेके लिये शत्रुओंसे अधिक शस्त्रास्त्र रखने चाहिये,। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्र दूसरोंसे अधिक बढाने लगे तो उसकी मर्यादा कहां समाप्त होगी ? इस संरक्षणके भारके नीचेही लोग दब जायेंगे और दुःखी होंगे। इस तरह संरक्षण भी बाधक हो सकता है। इसी प्रकार ये कामोपभोग बढानेके सुखसाधन भी ऐसे भाररूप बनते हैं कि उसके नीचे मनुष्य दब जाता है और अत्यंत दुःखी होता है। भोगी लोगोंके इकट्ठे सुखसाधनोंकी यही अवस्था है। अतः इनके सुख-प्राप्तिके यत्न भी दुःख बढानेवाले होते हैं। इसलिये क्या किया जाय ?

अनन्यभावसे निष्काम कर्म

सकाम कर्मोंसे अपरिवर्जित दुःख होता है अतः अनन्य भावसे निष्काम कर्म करने चाहिये ऐसा वेद उपनिषद् और भगवद्गीताका उपदेश है। यहां 'अनन्य' भावका धारण करनाही मुख्य है। मैं (अन्-अन्यः) दूसरा नहीं हूं, ऐसा समझनेका नाम अनन्य होना है। जो मनुष्य अपने आपको अपने समाजसे भिन्न नहीं मानता, वह अपने सुख बढानेके लिये समाजको हानि नहीं पहुंचा सकता। अनन्य होनेका यह लाभ है। इसके विपरीत मनुष्य 'मैं अलग हूं और अन्य लोग मुझसे अलग हैं' ऐसा मानता है, वह अपने सुखके लिये समाजकी हानि कर सकता है। अन्य भाव धारण करने और अनन्यभाव धारण करनेका यह परिणाम है। अन्यभाव धारण करनेवाले लोग दुःख बढानेके हेतु हो सकते हैं परंतु जो लोग अनन्यभाव धारण करते हैं वे कदापि दूसरोंको कष्ट नहीं देंगे क्योंकि अनन्य होनेके कारण उनके सन्मुख अपनेसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। दूसरोंको कष्ट देनेपर वह पापरूप अपनेको ही मिलता है ऐसा इनका मत है। पाठक यहां 'अन्य भाव' और 'अनन्य-भाव' के इस भेदपर विचार करें। अनन्य भाव धारण करनेवाले लोग भोगेच्छा बढानेके इच्छुक नहीं होते अतः वे निष्काम कर्म करते हैं।

इस तरह अनन्य भाव धारण करनेवाले लोग निष्काम भावसे और ईश्वरसमर्पणबुद्धिसे उपासनादि कर्म करते हैं और इनका यह कर्म एकसाही सतत चलता रहता है। वे जो कुछ करते हैं वह सबकी भलाईके लियेही करते हैं। अतः इनका अपना योगक्षेम कैसे चलेगा ? यदि ये सब अपने लिये कार्य न करेंगे और सभी कर्म परमेश्वरके लिये करेंगे, तो इनका योगक्षेम कैसे चलेगा ? इसका उत्तर यही है कि इनका योगक्षेम परमेश्वरही चलावेगा। यही भाव—

योगक्षेमं वहाम्यहम्। (२२)

इस श्लोकमें कहा है। जो परमेश्वरके लिये अपने कर्मोंका समर्पण करता है उसका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है।

(८) अन्य देवताओंके भक्त

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

अन्वयः— अपि च अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धया अन्विताः यजन्ते ते अपि हे कौन्तेय ! अविधिपूर्वकं मां एव यजन्ति ॥ २३ ॥ हि अहं सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः एव च (अस्मि) मां तु तत्त्वेन न अभिजानन्ति अतः ते च्यवन्ति ॥२४॥ देवव्रताः देवान् यान्ति पितृव्रताः पितॄन् यान्ति भूतेज्याः भूतानि यान्ति मद्याजिनः अपि मां यान्ति ॥ २५ ॥

जो कोई अन्य देवताओंकी श्रद्धासे युक्त होकर भक्ति करते हैं हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! विधिविहीन ही क्यों न हो पर वे मेरा (ईश्वरका) ही भजन करते हैं ॥ २३ ॥ क्योंकि मैंही सब यज्ञोंका भोक्ता हूं। व मेरे सत्य रूपको नहीं पहचानते अतः (वे अन्यदेवताओंके पीछे पड़कर) गिरते हैं ॥ २४ ॥ देवताओंके व्रत करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं पितरोंके पूजक पितरोंको प्राप्त करते हैं, भूतप्रेतादिकोंके उपासक भूतप्रेतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे (ईश्वरके) याजक मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— श्रद्धासे किसी भी देवताकी पूजा की जाय पर न समझते हुए भी वह ईश्वरकीही पूजा होती है क्योंकि केवल एकही अद्वितीय ईश्वर सब यज्ञयागादिकोंका भोक्ता स्वामी है। परन्तु यह समझे लोग ईश्वरको नहीं पहचानते अतः गिरते हैं। जो जिसका अनुयायी होता है वह उसके समान होता है। अतः देव पितर भूत प्रेतादिकोंके अनुयायी देवों पितरों भूतों और प्रेतोंके सदृश आचारवाले होते हैं, इसलिये अपना उपास्य उत्तमसे उत्तम चुनना चाहिये॥२३-२५॥

[राजविद्यापरक अर्थ किसी भी अधिकारीका आदरसत्कार राज्यसंस्थाका अथवा मुख्य राजाकाही आदरसत्कार होता है ॥ २३ ॥ क्योंकि संपूर्ण राज्यमें एकही मुख्य राजा सबके लिये आदरणीय होता है और वही एकमात्र प्रभु स्वामी और सर्वाधिकारी भी होता है। परन्तु सब लोग इसको नहीं जानते इसलिये (अधिकारियोंके पीछे पड़कर) गिरते हैं ॥ २४ ॥ जो जिसका अनुसरण करता है वह उसको पाता है, परन्तु मुख्य राज्यके भक्त करनेवाला राजाकोही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥]

जैसे किसी स्वामीका सेवक स्वामीके लिये काम करता है तो उसका योगक्षेम स्वामीही चलाता है वैसेही एकनिष्ठ भक्तका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है।

इन श्लोकोंका राजविद्यापरक भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमें भी स्वार्थी भोगी लोग दुःखके कारण बनते हैं और निःस्वार्थी परोपकारी महापुरुष सबजनहितकारी होते हैं। वे निष्कामी स्वर्गप्रापक वेतनादिकी अपेक्षा न करते हुए राष्ट्रसेवा राज्यसेवा तथा सर्वजनसेवा करते हैं। अतः इनका योगक्षेम राजाको अथवा राज्यसंस्थाको चलाना चाहिये। इसका विवरण अनेकवार निष्काम भावके वर्णनोंके प्रसंगोंमें आ गया है इसलिये इसका यहां अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो लोग राज्यकी अथवा राष्ट्रकी निःस्वार्थ सेवा करते हैं, उनका योगक्षेम राज्यको अथवा राष्ट्रको चलाना चाहिये।

जो लोग भोगकामी होकर कार्य करते हैं, उनका योगक्षेम चलानेका भार राज्यसंस्थाके ऊपर अथवा राष्ट्रपर नहीं है। क्योंकि वे स्वार्थी अपने उत्तरदायित्वपर कार्य करते हैं और कर्मका फल अपने पास अपने भोगके लिये संग्रहित करके उसका भोग करते हैं। उस फलभोगकी समाप्तिके पश्चात् भोग नष्ट होता है अतः नये भोगोंकी प्राप्तिके लिये पुनः कर्म करते हैं। इनका यह क्रम जन्मजन्मान्तरों चलता रहता है। इनके पोषणका उत्तरदायित्व राष्ट्रपर अथवा राज्यसंस्थापर नहीं है।

ये लोग दो प्रकारके हैं। अन्यभोगियोंकी अपेक्षा अनन्यभोगी लोग उत्तम हैं यह बात स्पष्ट है। इस तरह इन दोनोंप्रकारके लोगोंका विवेचन करके पश्चात् अब अन्य देवताओंके भक्तोंकी भक्तिका विवेचन करते हैं—

भावार्थ— राज्यमें एकही राजा सर्वाधिकारी होनेसे वही सब प्रकारसे आदरसत्कार और संमानके योग्य है परन्तु राजाकी शक्तिके कारणही सब अधिकारी अपना कार्य करते हैं इसलिये उनमें भी राजशक्तिका अंश रहता है। अतः जो उनका सत्कार होता है, वह परंपरासे राजसत्ताकाही सत्कार है क्योंकि यदि उनके पीछे राजसत्ता न हो अथवा वे अधिकारपर न रहें तो उस अवस्थामें उनका वैसे सत्कार होनेकी संभावना नहीं है। इससे सिद्ध है कि अधिकारियोंका सम्मान होनेसे राजाकाही सम्मान होता है। अज्ञानी लोग इस सूक्ष्म बातको नहीं जानते और समझते हैं कि वह अधिकारी पूर्णतया स्वतंत्र है। यही अज्ञान उनकी गिरावटका मूल कारण है। जो जिसका अनुसरण करता है वह उसीसे लाभ प्राप्त कर सकता है। जो अधिकारियोंके आश्रयपर रहते हैं उनको अधिकारियोंके अधिकारतकही सीमित लाभ मिलता है। जो प्रजाजनोंके पीछे चलते हैं, उनका उत्तम संरक्षण होता है। जो प्रजाजनोंके लिये यत्न करते हैं वे प्रजासे बल प्राप्त करते हैं और जो राजाकी प्रीति संपादन करते हैं वे राजाके बलसे युक्त होते हैं ॥ २१-२५ ॥

(२१ २५) ये श्लोक अर्थ और भावार्थ समझनेसे स्पष्ट ज्ञात होनेवाले हैं। अतः इनका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

परमेश्वरका विश्वरूप दर्शन ग्यारहवें अध्यायमें आनेवाला है उसकी सूचना द्वितीय अध्यायसे मिलने लगी है और सातवें अध्यायमें (वासुदेवः सर्वम् । गी ७।१९) ईश्वरही सब कुछ है ऐसी घोषणा करके यही बात कही है। ईश्वरही सब कुछ है इसी कथनका विस्तार ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शनद्वारा होनेवाला है। इसकी बात ध्यानमें आनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत्में ईश्वरसे भिन्न कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी यह अपूर्व शिक्षा है। इसको जो समझ लेगा वह स्पष्ट रीतिसे अनुभव कर सकता है कि एकही ईश्वर सब कुछ है और दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं। यह जाननेके पश्चात्‌ही ईश्वरकी अखंड उपासना हो सकती है। ईश्वरके स्थानपर दूसरे किसी भिन्न पदार्थकी उपासना होना संभव नहीं है।

परन्तु अज्ञ लोग समझते हैं कि ईश्वर किसी सातवें आसमानमें विशेष स्थानपर स्थित है और यहां जगत्में उसके देवदूत आते हैं अतः उनके दूतोंकी भी अनुनय विनय करनी चाहिये। इसी हेतुसे वे लोग अन्यान्य देवताओं पितरों भूतों पिशाचों और महात्माओंकी उपासना करते हैं। इनको इस बातका ज्ञान नहीं है कि इनमें यदि परमात्माकी शक्ति न कार्य करती तो इनका अस्तित्वही संभव नहीं था। इसीलिये कहा है कि अन्यान्य देवोंकी उपासना श्रद्धासे करनेका तात्पर्य इसी ईश्वरकी विधिविहीन उपासना करना है। अब पाठकोंको इस विधानका अर्थ स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो गया होगा।

इस जगत्में एकही प्रभु परमेश्वर है दूसरा उससे भिन्न कुछ नहीं है जो कुछ दीख रहा है वह उसीका विश्वरूप है। अतः वही एक उनका उपास्य पूज्य सम्मान्य और नमस्य है। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। लोग भ्रान्तिसे अन्यान्य उपदेवोंकी उपासना करते हैं और सत्य ज्ञान न होनेसे उनकी गिरावटही होती रहती है।

जो जिसका अनुगामी होता है, वह उसका बल प्राप्त करता है। देवोंके उपासक दैवी बलसे युक्त पितृपूजक पैतृक बलसे युक्त भूतप्रेतोंके अनुयायी भूतप्रेतोंके बलसे युक्त होते हैं और परमेश्वरके भक्त परमेश्वरके अद्भुत बलसे युक्त होते हैं। पाठक यहां देखें कि छोटे छोटे बल प्राप्त करनेकी अपेक्षा बडा बल प्राप्त करनाही श्रेयस्कर है।

राजविद्याकी बात

यहांतकके वर्णनसे राजविद्याकी गुप्त बातें स्वयं स्पष्ट हो सकती हैं क्योंकि पाठक भी परमात्मविद्याके इतने राजविद्याके उपदेश सुननेके अभ्यासी हो ही गये होंगे और इन श्लोकोंमें जो उपदेश दिया गया है वह अत्यंत स्पष्ट होनेसे इन श्लोकोंसे दोनों प्रकारके भाव जानना सुगम भी है, तथापि स्पष्ट ज्ञानके लिये यहां कुछ राजविद्याके विषयमें भी लिखते हैं।

राष्ट्रमें सर्वव्यापी सर्वाधिकारी राजा होता है। इस चातुर्वर्ण्य राजगद्दीका अधिकारी वंशाधिकारसे हो या प्रजाद्वारा नियुक्त हुआ हो इसमें संपूर्ण राज्यशासनकी शक्ति केन्द्रित होती है। इससे थोडी थोडी सत्ता प्राप्त करके छोटे मोटे अधिकारी अपने अपने भागोंका कार्य करते हैं, इसलिये वे अधिकारी छोटे ईश हैं और सर्वव्यापी राजा महा-ईश्वर है। यह बात समझमें आनेसे पता लग सकता है

(९) आत्म-समर्पण

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धने। सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

कि किसी अधिकारीका पद प्राप्त करना गौण मानते राजाकाही पद प्राप्त करना होता है। क्योंकि उसके अन्दर कार्य करनेवाली राजाकीही सत्ता होती है। किसी अधिकारीकी अपनी सत्ता नहीं होती सत्ताका राजाही एक केन्द्र है जिसको प्रभु और कर्मोंका भोक्ता कहा जाता है। जो इस मूल तत्त्वको जानते हैं वे भ्रममें नहीं पडते परन्तु अन्य लोग राजाको दूरस्थ समझकर पदाधिकारी यही है, इसको वशमें करनेसे मेरा कार्य होगा ऐसा मानकर यथाकथंचित् बुरी और भली युक्तिसे उसको वशमें करते हैं और अपना स्वार्थ साधन करते हैं। इससे उस मनुष्यकी गिरावटके अनुसारही उस पदाधिकारीकी भी गिरावट होती है। अतः पदाधिकारीके पीछे लगकर किसीको भी गिरना उचित नहीं है।

जैसे अधिकारियोंके पीछे पीछे लगनेवाले स्वार्थसाधक मनुष्योंके ऊपर अधिकारी प्रसन्न होकर उनके स्वार्थसाधनमें सहायक होते हैं, वैसेही पालकोंके (पुलिसोंके) पीछे पीछे रहनेवाले स्वार्थी लोगोंकी रक्षा पालक लोग करते हैं और इस तरह इनके दोष छिपे रहते हैं। इस प्रकार स्वार्थका साधन करनेवाले लोग अपनी स्वार्थकी इच्छासे स्वयं गिरते हैं और अधिकारियोंको भी गिराते रहते हैं। इस तरह परंपरासे राजप्रबन्धाधिकारियोंका अधःपतन होता है।

बहुतसे लोग इस तरह अधिकारियोंके पीछे नहीं लगते अपितु वे प्रजाजनोंके हितके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करते हैं। ऐसे प्रजाहित-तत्पर लोगोंको प्रजाका बल मिलता है और वे लोग लोकमान्य महात्मा और जनताके नेता बन जाते हैं। यह भी एक बडा भारी सामर्थ्य है। (भूतानि) भूत शब्दका अर्थ यहां प्रजा किया है। इस भूत शब्दका दूसरा अर्थ भूतप्रेतके समान क्रूर दुराचारी लोग भी है। कई लोग ऐसे अधम लोगोंको अपने अधीन करके उनसे भयानक दुराचार कराते हैं। उनको भी उन दुष्टोंका पालक बल प्राप्त होता है। परन्तु वह उनकी गिरावटका कारण होता है। इसी तरह कई लोग भूतोंका अर्थात् पंचमहाभूतोंका बल (विज्ञानकी सहायतासे) प्राप्त करते हैं। भूतविद्यामें प्रवीण हुए पुरुष अद्भुतशक्तिवाले अनेक सुख बना सकते हैं और जनताको सुखी कर सकते हैं। परन्तु सुखकामना बढ जानेसे किसी किसी समय इससे भी पाप होना संभव हो सकता है और वे भूतविद्यापारंगत लोग भी गिरते हैं। इसलिये इनको बडा सावधान होकर रहना चाहिये। भूत शब्दके अर्थ अनेक हैं। यहां विचारार्थ प्रजाजन, भूतप्रेत और पंच भूत ये तीन लिये हैं। इस तरह लोग अपनी शक्ति बढानेका यत्न करते हैं। वे अल्पशक्तिके उपासक कभी न कभी गिरतेही हैं।

दूसरे कई लोग ज्ञानविज्ञानसंपन्न होकर संपूर्ण शक्तियोंका मूल स्रोत जो मुख्य सार्वभौम महाराजा है उसके कार्यमें एकनिष्ठासे लगते हैं। निःस्वार्थी अनेकानेक स्वयंसेवकोंका योगक्षेम चलाना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। अतः कहा है कि राजाके उपासक राजाकोही वशमें करते हैं। राजाके वशमें हो जाने पर संपूर्ण राष्ट्रके वश होनेमें देरी नहीं लगती। अस्तु।

यहांतक इन श्लोकोंमें आया हुआ राजविद्याका विषय समाप्त हुआ। अब इन्हीं श्लोकोंके आशयवाले महाभारतके श्लोक देखिये—

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥
(म. भा. शांति ३४१।३५)

ब्रह्म शिव अथवा दूसरे देवताओंके भक्तोंके साधु पुरुष भी मुझ ईश्वरमेंही आ मिलते हैं।' तथा—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते।
(म. भा. शांति ३४५। २६ २७)

देव पितर गुरु अतिथि, ब्राह्मण और गौ आदिकी सेवा करनेवाले परमेश्वरकीही भजन करते हैं। इस तरह अन्यान्य ग्रंथोंमें भी भगवद्गीतोक्त भाव दिखता है।

अन्वयः— यः भक्त्या पत्रं पुष्पं फलं तोयं मे प्रयच्छति तस्य प्रयतात्मनः भक्त्या उपहृतं तत् अहं अश्नामि ॥ २६ ॥ हे कौन्तेय ! यत् करोषि यत् अश्नासि यत् जुहोषि यत् ददासि यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणं कुरुष्व ॥ २७ ॥ एवं (कृते सति) शुभाशुभफलैः कर्मबंधनैः मोक्ष्यसे संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तः (सन्) मां उप-एष्यसि ॥ २८ ॥

मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे जो पत्र फूल फल अथवा जल अर्पण करता है शुद्ध चित्तवालेके भक्तिद्वारा लाया हुआ वह पदार्थ मैं ग्रहण कर लेता हूं ॥ २६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू जो कुछ करता है जो भक्षण करता है जो हवन करता है जो दान देता है, जो तप करता है वह सब मुझे (ईश्वरको) अर्पण कर ॥ २७ ॥ इस प्रकार सब कर्म मुझे (ईश्वरको) अर्पण करनेपर तू शुभ और अशुभ कर्मबंधनोंसे मुक्त हो जायगा और इस रीतिसे फलसंन्यासयोगमें तेरा अन्तःकरण युक्त होकर, तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

भावार्थ— परमेश्वरको भक्तिसे समर्पित करनेपर अल्पमूल्यवाले पदार्थको भी ईश्वर स्वीकार कर लेता है। मनुष्य जो कुछ करता है वह सब परमेश्वरको अर्पण करे। इस तरह सब कर्म ईश्वरको समर्पित होनेपर कर्ताको शुभ और अशुभ कर्मोंका बंधन नहीं लगता और वह मुक्त हो जाता है ॥ २६-२८ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— जो कुछ मनुष्यके पास हो उसका वह अपने राष्ट्रके हितके लिये समर्पण करे अल्पमूल्यवाले किंतु उपयोगी पदार्थ भी राजकार्यमें स्वीकृत हो जाते हैं ॥ २६ ॥ मनुष्य जो कुछ भी करे वह स्वराज्यके हितके लिये करे ॥ २७ ॥ इस प्रकार सब कर्म अपने राष्ट्रके लिये करनेवाला निर्दोष होता है और उसे कर्मके बंधन नहीं होते ॥ २ ॥

भावार्थ— मनुष्य अल्पशक्तिवाला हो अथवा बडी शक्तिवाला वह शक्ति उसे स्वराज्यके हितके लिये लगा देनी चाहिये। स्वराज्यके लिये हरएक प्रकारकी शक्तिका उपयोग होता है। इस तरह जो लोग अपने स्वराज्यके लिये एकेका आत्मसमर्पण करते हैं, अपने सब कर्मोंके सब फल राष्ट्रको समर्पित करते हैं, उनको उनके शुभाशुभ कर्मोंका दोष नहीं लगता ॥ २६-२८ ॥]

(२६-२८) जो मनुष्य पत्र पुष्प फल अथवा जलका भक्तिसे ईश्वरको समर्पण करता है वह शुद्धात्मा होता है और उसका वह अर्पण ईश्वर स्वीकार कर लेता है। यहां पत्र पुष्प फल और जल ये शब्द हैं इससे केवल इन्हींही पदार्थ अर्पण-योग्य होते हैं यहां ऐसा आशय नहीं है। यह एक उपलक्षणमात्र है। इन पदार्थोंके अतिरिक्त कोई अन्य देता है कोई जान्य वह भी ईश्वरद्वारा स्वीकृत हो जाता है। यहां परमेश्वरको देनेका अर्थ क्या है ? क्या ये पदार्थ स्वयं परमेश्वरको चाहिये ? नहीं ईश्वरको इनकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ईश्वर निष्कृष्ण है। फिर ये पदार्थ ईश्वरको कैसे दिये जायें ? यह एक प्रश्न है जिसका हरएकको विचार करना चाहिये।

परमेश्वरके नामसे जल अथवा पुष्पके अर्पण करनेसे परमेश्वरको प्राप्त होना ऐसा माना जा सकता है। परन्तु थोडासा जल अर्पण किया पुष्प उसके पास रख दिया या अन्य कुछ किया तो वह परमेश्वरके पास पहुंचता है, इसका तात्पर्य क्या है ? वह कैसे पहुंच सकता है ? यह एक विचारणीय विषय है।

मूर्ति-पूजा

यहां पत्र पुष्प फल और जल ईश्वरको अर्पण करनेकी जो बात कही है वह मूर्तिपूजाके साथ संबंध रखती है। श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्व समयसेही मूर्तिपूजा शुरू थी ऐसा इससे प्रतीत होता है। अन्यथा पत्र, फल और जल अर्पण करनेके विधानकी समाधानी नहीं हो सकती।

मूर्तिको पुष्पादिका समर्पण करना एक भावनाका विषय है। जो लोग मूर्तिपूजा करते हैं वे वस्तुतः मिट्टी पत्थर पीतल चांदी, सोना आदिकी मूर्तिकी पूजा नहीं करते। वह तो स्मरणके लिये एक प्रतीक रखा होता है, वस्तुतः उस नामकी विभूतिकी जो आत्मा होती है

क्योंकि भौतिकसे सब पुराणं यज्ञ जप और हवन होते हैं। अतः मूर्ति-पूजा नव-पूजा है ऐसा कहनेवाले अशुद्ध विचार फैलाते हैं। मूर्तिको अलग करके उस विभूतिकी आत्माही पूजी जाती है। परंतु हमें यहां मूर्तिपूजाके विषयका विचार नहीं करना है। यहां केवल इतनाही कहना पर्याप्त है कि यह श्लोक मूर्तिपूजाका सूचक दीखता है अतः हम कह सकते हैं कि, जिस समय यह श्लोक गीतामें लिखा गया उस समयके पूर्वही पत्र पुष्प फल और जलका समर्पण करके पूजा करनेकी विधि प्रारंभ हो चुकी थी।

परमेश्वरकी विभूति

इसका और भी एक प्रकारसे विचार हो सकता है। परमेश्वर ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चार वर्णोंके रूपोंमें है। ब्राह्मण उसका मुख क्षत्रिय उसके बाहु वैश्य उसका पेट और शूद्र उसके पांव हैं। यह वर्णन वेदसे लेकर भगवद्गीता तक समान रूपसे है। यदि ब्राह्मणादि मूर्तियां ईश्वरकीही मूर्तियां हैं तो इनको फल आदि देनेसे वह ईश्वरको देनाही हो सकता है। क्षत्रियको फल देना भूखेको फल देना, विद्वान्‌को पुष्प समर्पण करना भी परमेश्वरकाही अर्पण करना है। गौ आदि पशु भी परमेश्वरकेही मूर्त रूप हैं यह बात आगेके अध्यायमें बतायी जायगी। इसलिये गौ आदि पशुओंको तृण पत्ते आदि देनेसे वे परमेश्वरकोही समर्पित होंगे। इस तरह ये पदार्थ योग्य पात्रको समर्पित करनेसे परमेश्वरकोही समर्पित होते हैं क्योंकि परमेश्वर 'सर्व' है और परमेश्वरकीही ये सर्व मूर्तियां हैं। इन जीती जागती मूर्तियोंको छोडकर जडकी उपासना करना उचित नहीं है और इन परमेश्वरकी मूर्तियोंको तो इन चीजोंसे प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है।

जीवन-समर्पण

इसका और भी एक अर्थ है (तोयं-जीवन) जल का अर्थ जीवन है। ईश्वरको जल समर्पण करना अपने जीवनके समर्पण करनेका सूचक है। मनुष्यको उचित है कि वह अपना संपूर्ण जीवन परमेश्वरको समर्पित कर दे। (फलम्-कर्मफलं) यहां फलका अर्थ कर्मफल है। परमेश्वरको फल समर्पण करनेका अर्थ अपने कर्मफलोंका ईश्वर के लिये समर्पित करना है। यही सच्चा कर्मफलत्याग है। यहां पुष्प हृदयकमल है। हमारे पास हृदयकमलरूप एक पुष्प है जो सचमुच ईश्वरकोही समर्पण करनेयोग्य है। जो ईश्वरको अपना हृदय अर्पण करता है, मानों वह अपना संपूर्ण जीवनही समर्पण कर देता है। कितना अच्छा हो यदि मनुष्य अपना हृदय (पुष्पं) कमल और अपना (तोयं) जीवन ईश्वरकोही समर्पित कर दे। अब रहा पत्रसमर्पण। पत्र और पर्ण एकही है। गीतामें-

छन्दांसि यस्य पर्णानि ॥ (गी० १५।१)

छंद अर्थात् वेद जिसका ज्ञान वे पर्ण अथवा पत्र हैं। यहां अपने ज्ञानरूपी पत्तोंको परमेश्वरार्पण करनेका उपदेश स्पष्ट रूपसे है अर्थात् ईश्वरस्वरूपकी सदा हमारे ज्ञानमें रहे, दूसरा आसुरी रूप रहेही नहीं। यदि मनुष्यको उन्नत होना है तो ऐसाही करना चाहिये। पत्र पुष्प फल और जल ईश्वरार्पण करनेका यही तात्पर्य है ऐसा हमारा विश्वास है। पाठक इस विवरणका ध्यानपूर्वक मनन करें।

भक्तिसे जो भिन्न वस्तु परमेश्वरके अर्पण की जायगी, उसको परमेश्वर स्वीकार कर लेगा और उससे उसकी उन्नति हो जायगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। यह अर्पण केवल पत्र पुष्प आदि पूर्वोक्त प्रकार बाह्यरीत पदार्थोंकाही हो ऐसी बात नहीं है। जो कुछ भी मनुष्य करता है, खाता है पीता है भोगता है हवन करता है दान देता है तप करता है सोता है, उठता-बैठता है बोलता है चलता है युद्ध करता है यह सब ईश्वरको अर्पण करके करना चाहिये। (गी० ९।२७) मनुष्यकी संपूर्ण हलचल परमेश्वरके लियेही होनी चाहिये, यही इसका तात्पर्य है।

बंधन निवृत्ति

इस तरह संपूर्ण जीवन परमेश्वरको समर्पित हो जानेपर

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ॥ २८ ॥

शुभ अथवा अशुभ फल-दायिक कर्म-बंधनोंसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। अर्थात् उन कर्मोंके वे शुभ अशुभ फल नहीं मिलते। इसके लिये एक उदाहरण दिया जा सकता है। एक राज्यके लिये सेनापति तथा सैनिक युद्ध करते हैं। इसमें शत्रुसैनिकोंका वध होता है, परंतु यह वध राज्यके लिये होनेके कारण वे सब सैनिक

(१०) ईश्वरभक्तिसे सबका तारण

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ३१
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ३३

अन्वयः- अहं सर्वेषु भूतेषु समः, न द्वेष्यः प्रियः च न अस्ति (मे) तु ये मां भक्त्या भजन्ति, ते मयि च अहं अपि तेषु (च) ॥ २९ ॥ सुदुराचारः अपि मां अनन्यभाक् भजते चेत् सः साधुः एव मन्तव्यः सः हि सम्यग्व्यवसितः (अस्ति) ॥ ३० ॥ हे कौन्तेय! (सः) क्षिप्रं धर्मात्मा भवति शश्वत् शान्तिं निगच्छति मे भक्तः न प्रणश्यति, (इति त्वं) प्रतिजानीहि ॥ ३१ ॥ हे पार्थ! ये अपि हि पापयोनयः स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः स्युः ते अपि मां व्यपाश्रित्य परां *गतिं यान्ति ॥ ३२ ॥ किं पुनः पुण्याः भक्ताः ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः? (तस्मात्) इमं अनित्यं असुखं इमं लोकं प्राप्य* मां भजस्व ॥ ३३ ॥

तब सबका अशुभ कर्मोंके फलसे मुक्त रहते हैं क्योंकि वे सब सैनिक अपने कर्मफलको राजाके लिये पूर्णतया समर्पित कर देते हैं। अतः जवाबदारी राजाकीही होती है सैनिक सब शुभाशुभ कर्मोंके गुणदोषोंसे सदा मुक्त रहते हैं। इसी तरह अपना जीवन ईश्वरार्पण करनेवालोंके शुभाशुभ कर्मोंका संबंध ईश्वरके साथ होता है और कर्ता उससे मुक्त हो जाता है। परमेश्वरके सदा-मुक्त होनेके कारण वहां कोई दोष रहही नहीं सकता। यह महत्त्वका है और अपने कर्म ईश्वरार्पण करनेसेही यह प्राप्त हो सकता है। इसीका नाम संन्यासयोग है।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तः। (२८)

इस संन्यासयोगके अनुष्ठानसे साधक शुद्ध और बुद्ध बनकर मुक्त हो जाता है। और पश्चात्--

मां उपैष्यसि। (२८)

ईश्वरको प्राप्त करता है। अथवा ईश्वरमें जा मिलता है मानो वह ईश्वरही हो जाता है। जो ईश्वरको प्राप्त कर सकता है वह ईश्वरही बन जाता है। यदि कोई अग्निसे प्राप्त होगा तो अग्निवत् होगा। सम्पूर्ण अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त हो जायगा। ईश्वरको प्राप्त होनेका अर्थही यह है कि ईश्वरके गुणधर्मोंको धारण करके ईश्वरके तुल्य बन जाना। जीवमें सत् चित् और आनंद ये गुण अंशतः हैं। येही गुण जब अनंततया ईश्वर-भाव हो जाते हैं। मनुष्य इस संन्यासयोगसे यही प्राप्त करता है और कृतकृत्य हो जाता है।

राजविद्याका भाव

राजाको प्रजाके द्वारा शुद्ध भावसे (प्रयतात्मनः) स्वकर्म यथाविधि किसी पत्र पुष्प फलरूपमें प्राप्त हो उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। करभार भी इसी रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिये और उसके बदले प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये।

जो वस्तुरूपमें करभार देनेमें असमर्थ हैं, वे राजाके लिये कुछ कर्मही करें। इतनाही नहीं अपितु राजाके लियेही जियें राजाके लियेही खावें आर पियें तप करें और दान दें अर्थात् अपना जीवनही राजाके लिये समर्पण कर दें।

इस तरह जो राजाके लिये पूर्ण आत्मसमर्पण करेंगे उनके सब कर्म उनके निजी सुखके लिये नहीं होंगे प्रत्युत वे सम्पूर्ण राष्ट्रके लिये होंगे। इसलिये इन कर्मोंका शुभाशुभ फल उनको नहीं भोगना पडेगा। वे सर्वथा कर्मोंके परिणामसे मुक्त रहेंगे इस तरह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त हुए वे महात्मा लोग क्रमशः राजाके अधिकारोंको प्राप्त होते हैं। वे स्वयं राष्ट्रके कर्ता धर्ता बनते हैं।

इस प्रकारका राजविद्याविषयक भाव इन श्लोकोंसे ज्ञात होता है। पाठक विचार करके इससे अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह भी राजविद्यामें आवश्यक सन्यासयोगही है

अन्वयः— त्वं मन्मनाः, मद्भक्तः मद्याजी (च) भव मां नमस्कुरु मत्परायणः (सन्) एवं आत्मानं युक्त्वा माम् एव एष्यसि ॥ ३४ ॥

मुझमें मन लगा मेरा भक्त बन मेरे निमित्त यजन कर, मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें परायण होकर मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥ ३४ ॥

भावार्थ— ईश्वरमें मनकी एकाग्रता करना ईश्वरकी सेवा करना, ईश्वरके लिये समर्पण करना ईश्वरकोही नमन करना चाहिये। इस तरह ईश्वरपरायण होकर अपनी आत्माको ईश्वरके साथ संयुक्त करनेसे वह साधक ईश्वरकोही प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

राजविद्यापरक अर्थ और भावार्थ— राष्ट्रहितके कार्यमेंही मन लगाकर मनसे राष्ट्रहितके कार्यका चिन्तन करके राष्ट्रसेवा करके, राष्ट्रहितके लिये आत्मयज्ञ-आत्मसमर्पण करके राष्ट्रहितके सम्मुख नम्र होकर अपने मतभेद एक ओर रखकर यदि अपने सर्वस्वको लगाकर लोग राष्ट्रकार्य करेंगे तो वे निःसंदेह अपने राष्ट्रका नव निर्माण करनेमें सफल हो सकेंगे ॥ ३४ ॥

---

(३४) ईश्वरभक्तिसे मनुष्यका बेडा पार हो जाता है। साधक अपना मन ईश्वरपर लगावे मनमें ईश्वरका ध्यान रखे ईश्वरसे भिन्न कोई पदार्थ मनमें न आने देवे ईश्वरकी सेवा करे जो कुछ शरीरसे हो वह सब ईश्वरके लियेही करे ईश्वरके लिये यजन करे ईश्वरकोही आत्मसमर्पण करे जो कुछ भी पास हो वह सब ईश्वरको अर्पण कर दे, ईश्वरको छोडकर किसी अन्यकी भक्ति न करे किसी दूसरेको नमन न करे केवल ईश्वरके सम्मुखही नमन करनेके लिये सिर झुकावे ईश्वरभावमेंही अपना मन तल्लीन रखे सदा ईश्वरपरायण होकर रहे। इस तरह जो मनुष्य अपनेआपको ईश्वरपरायण करके रखेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा अर्थात् वह मुक्त हो जायगा।

राजविद्याके विषयमें भी यही बात है। जो राष्ट्रकी सेवा करेगा जो राष्ट्रहितके लिये आत्मार्पण करेगा उसे राजशक्ति प्राप्त होगी। यहां राष्ट्र राज्य राजा और राज्यशासन परस्पर विरोधी नहीं हैं अपितु परस्पर हितकारी हैं यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये। जो राज्यशासन प्रजाका हित करता है, जिस राज्यशासनमें राजाका और प्रजाका एकही हित हो उस राजाकोही प्रजा आत्मसमर्पण करे। यदि कोई वेन जैसा राजा प्रजाका नाश करने लगे तो उसके लिये आत्मसमर्पण नहीं करना चाहिये। क्योंकि वेदमें भी कहा है कि—

मा व स्तेन ईशत। माघशंसः (ऋ. [illegible])

हे प्रजाजनो! तुम्हारा राजा चोर न हो पापी दुःशील न हो। अर्थात् जो राजा चोर और पापी हो और जो प्रजाके कार्यमें बाधा डालता हो उसको तो राजगद्दीसे हटा देना चाहिये। उसके शासनमें रहना उचित नहीं। ऐसे दुष्ट राजाको छोडकर सुयोग्य प्रजाहितके लिये यत्न करनेवाले राजाको आत्मसमर्पण करना उचित है।

इत्यादि राजविद्याके गुप्त संकेत जानकर तदनुकूल राष्ट्रमें व्यवहार करना चाहिये।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्म-विद्याके विषयमें हुए योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

नवम अध्यायका मनन

अध्यात्म और राज्यशासन

भगवद्गीताके उपदेशका उद्देश्य मनुष्यके आध्यात्मिक दिव्य जीवनका विकास करना है। इस नवम अध्यायका भी यही उद्देश्य है। परन्तु मानवीय आध्यात्मिक दिव्य जीवनमें वैयक्तिक और सामुदायिक दो प्रकारका जीवन होता है। सामुदायिक जीवनमें राष्ट्रीय अथवा राजकीय जीवन ' एक महत्त्वका भाग है। श्रीमद्भगवद्गीताका उद्देश्य मनुष्यका राज्यशासनतंत्र सुधार कर उसको दिव्य आध्यात्मिक बनाकर उसके दिव्य जीवनका विकास करनेका मार्ग सुगम करना है। इसी उद्देश्यसे इस नवम अध्यायमें पवित्र राजगुह्य राजविद्या गुप्त रीतिसे कही गई है। इसमें ऊपरसे अध्यात्मविद्या है किन्तु उसके अन्दर गुप्त रीतिसे राजविद्या-वर्णन है। इसलिये ऐसा किया गया है कि भगवद्गीताका मुख्य विषय दिव्य अध्यात्म-जीवनही है।

अध्यात्मशास्त्रके आधारपर राज्यशासनकी चर्चा भी यहां कर दी गई है। इसका विवेचन नवम अध्यायके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें तो किया ही गया है, किन्तु अभी कुछ अधिक मननकी आवश्यकता है। अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस प्रकार लागू किये जा सकते हैं यही प्रथम विचारणीय विषय है।

गीताशास्त्रको माननेसे लाभ

भगवद्गीतामें कहा है कि जो लोग इस उपदेशका आचरणमें लाते हैं उनका उद्धार होता है और जो अविश्वासी होते हैं उनका नाश होता है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥११
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥११॥
(गी० अ० ३)

जो लोग श्रद्धायुक्त और दोषरहित होकर इस गीतोक्त मार्गका अनुसरण करते हैं वे बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो लोग इसमें दोष देखकर इसके अनुसार आचरण नहीं करते वे ज्ञानहीन मूढ नाशको प्राप्त होते हैं। यह वचन आध्यात्मिक उन्नतिके विषयमें जैसाही वैसा राजकीय उन्नतिके विषयमें भी सत्यही है। और भी देखिये—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत २०
(गी० १५)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् २३
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥
(गी० १६)

यह अत्यंत गुह्य शास्त्र है। इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। जो मनुष्य इस शास्त्रविधिको छोडकर स्वेच्छाचार करता है उसे सुख सिद्धि अथवा परम गति प्राप्त नहीं होती। कार्याकार्य-निर्णयमें मनुष्यके लिये शास्त्रही प्रमाण है अतः मनुष्य इस शास्त्रको जाने और वैसाही व्यवहार करे। राज्यशासनके विषयमें कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है इसका निर्णय भी इसी शास्त्रके ज्ञानसे हो सकता है। मनुष्यके विकासके जो भी मार्ग हैं उन सबके विषयमें मनुष्यको यह शास्त्र देखकरही अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना चाहिये। गीताके अनुसार राज्यशासनके स्वरूपका विचार करते हुए राजामें भी गीतोक्त आत्माकेही गुण होने चाहिए यही विचारणीय है—

आत्माके और राजाके गुण

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
(गी० २।२४-२५)

आत्मा नित्य सर्वगत स्थिर अचल सनातन अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है। ये आत्माके गुण हैं राजाको भी इन्हीं गुणोंसे युक्त होना चाहिये-

(१) राष्ट्रमें राजाका शासनाधिकार (सर्व-गतः) सर्व स्थानमें सब मनुष्योंतक पहुंचा होना चाहिये। जिस स्थानपर शासनव्यवस्था ठीक न होगी वहांही विद्रोह और

मैं सब भूतोंके प्रति समभाव रखता हूं मेरा कोई शत्रु या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं ॥ २९ ॥ बड़ेसे बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करेगा तो यह समझ लेना चाहिये कि वह साधु हो जायेगा। क्योंकि वह अब सम्यक् व्यवसायमें आ चुका है ॥ ३० ॥ हे कुन्तीपुत्र! वह शीघ्रही धर्मात्मा बनता है और अन्ततक शान्ति प्राप्त करही लेता है। मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता यह तू निश्चय समझ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन! पापयोनिधारी जीव स्त्रियाँ वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरा आश्रय ग्रहण करेंगे तो उत्तम गतिको प्राप्त होंगे ॥ ३२ ॥ फिर पुण्यवान् भक्त, ब्राह्मण और राजर्षिगणका तो पूछनाही क्या? अतएव इस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्म लेकर तू मेरा भजन कर ॥ ३३ ॥

भावार्थ— ईश्वरका भाव सब भूतोंके लिये समान है अतः वह किसीको अपना शत्रु या मित्र नहीं मानता, प्रत्युत सबको समदृष्टिसेही देखता है। जो भक्तिसे ईश्वरकी सेवा करते हैं वे ईश्वरमें मग्न हो जाते हैं। और यह तो सत्य हैही कि उनमें भी ईश्वरका निवास है। दुराचारी भी यदि परमेश्वरकी अनन्यभावसे भक्ति करने लगें तो वे उसी समय सत्पुरुष हो जाते हैं क्योंकि वे सन्मार्गका अवलंबन कर चुके होते हैं। वे तत्काल धर्मात्मा बनकर फिर शान्ति प्राप्त करते हैं। यह एक अमर सत्य है कि ईश्वरके सच्चे भक्तोंकी कभी दुर्गति नहीं होती। कोई भी पापयोनि स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र हो वे भी ईश्वरकी भक्तिसे उन्नतिको प्राप्त होते हैं, फिर जो पुण्य कर्म करनेवाले महात्मा, ज्ञानी ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं उनकी उन्नतिके विषयमें कहनाही क्या है! अतः इस मृत्युलोकमें मनुष्य ईश्वरका भजन करे ॥२९ ३३॥

[राजविद्यापरक अर्थ— राजा सब मनुष्योंको समदृष्टिसे देखे किसीको न अपना मित्र समझे और न शत्रु। जो कोई भक्तिसे सेवा करे उसको अपने आश्रयमें रखे और स्वयं उसके साथ रहे ॥ २९ ॥ यदि कोई पहिले दुराचारी हो किन्तु अब अनन्यभावसे सेवा करने लग जाय तो उसको सज्जनही मानना चाहिये क्योंकि वह अब तो अच्छा कर्म करनेही लगा है ॥ ३० ॥ ऐसा मनुष्य तत्कालही धर्मात्मा बन जाता है और अचल शान्तिको प्राप्त करता है। यह विश्वास (भरोसा) रखें कि अनन्यभावसे सेवा करनेवालेका कभी नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥ पापी स्त्रियां वैश्य शूद्र कोई भी क्यों न हो जो राजाकी अनन्य सेवा करेंगे उनकी उन्नति अवश्य होगी ॥ ३२ ॥ फिर जो ज्ञानी और श्रेष्ठ कर्म करनेवाले उत्तम लोग राजाकी अनन्यभावसे सेवा करेंगे तो उनकी उन्नति होगी इसमें शंकाके लिए स्थानही क्या है! अतः यदि सब लोग अपने अनित्य और दुःखदायी व्यवसायोंको छोड़कर राजाके आश्रयमें रहें और एकनिष्ठासे उत्तम कर्म करें तो निःसंदेह सबको सुख प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

भावार्थ— राजा कभी किसीका पक्षपात न करे सबको समभावसे देखे। पक्षपात करके किसीको मित्र अथवा किसीको दुःख देना राजाको कभी योग्य नहीं है। जो योग्य सेवा करे उसका योगक्षेम राजा चलावे क्योंकि ऐसेही सेवकोंसे राजाकी सुस्थिति और राजाके द्वारा ऐसे सेवकोंकी सुस्थिति होती है। यदि कोई मनुष्य अब अच्छे कर्म करने लगा हो तो उसके पूर्व समयके दोष निकाल निकाल कर उसको दुःख देना योग्य नहीं। मनुष्य अब क्या कर रहा है इसीकी ओर देखना योग्य है। पूर्व समयमें मनुष्य कैसा भी क्यों न हो यदि वह अब अच्छा कर्म करने लगा है, तो वह सुधर चुका है। उसको तो समयपर योग्य सन्मान मिलता रहना चाहिये। इससे उसकी रुचि सत्कर्मोंमें बनी रहेगी और वह फिर बिगड़ेगा नहीं। तात्पर्य यह कि जनतामें यह विश्वास उत्पन्न हो जाना चाहिये कि किसी सत्कर्म करनेवाले मनुष्यको कभी दुःख प्राप्त नहीं होगा। स्त्री हो या पुरुष पहिले पापी रहा हो या पुण्यात्मा यदि वह अब योग्य रीतिसे सेवा कर रहा है, तो उसकी उन्नति होनीही चाहिये। उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट कभी नहीं होनी चाहिये। यदि योग्य पारितोषिक मिलता जायगा तो सब लोग राजाकी योग्य सेवा करेंगे और हरएक प्रकारकी उन्नति कर सकेंगे ॥२९ ३३॥]

(११) ईश्वर-भक्ति

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ईश्वरका सम भाव

(२९ ३१) ईश्वर सबको समभावसे देखता है, अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करता । जो पक्षपाती होता है वह किसीको मित्र मानकर उसका हित करता है और किसीको शत्रु मानकर उसको क्लेश भी देता है । ये सब उसकी अयोग्यताके चिह्न हैं । ईश्वरमें ये दोष नहीं हैं । वह सबके साथ सम दृष्टि रखता है और किसीका पक्षपात नहीं करता ।

हरएकको इस जगतमें ऐसेही निष्पक्ष होकर व्यवहार करना चाहिये । (न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः) मेरा कोई शत्रु भी नहीं है । और मित्र भी नहीं है । ऐसे निष्पक्ष भक्तोंमें (तेषु मयि) ईश्वर निवास करता है और (मयि ते) वे ईश्वरमें निवास करते हैं ।

कोई मनुष्य प्रथम आयुमें दुराचारी रहा हो और पश्चात् ईश्वरमें भक्ति करने लगे (भजस्यनन्यभाक्) अनन्यसेवक बन जाय तो समझना चाहिये कि वह साधुही बन गया है ऐसी अवस्थामें उसकी पूर्व आयुपर दृष्टिपात करना ठीक नहीं । पहिले उसने कुछ भी किया हो पर अब तो वह परिशुद्ध मार्गपरही आ गया है। मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करनेसे तत्काल परिशुद्ध होकर धर्मात्मा बन जाता है । उसका चित्त शान्त होकर वह उन्नत हो जाता है । सबको यह विश्वास रखना चाहिये कि परमेश्वरके भक्तका कभी नाश नहीं होता । पापी भी कैसाही दुराचारी क्यों न हो एकवार यदि वह परमेश्वरकी भक्तिमें लग जाये तो समझना चाहिये कि वह पुनीत हो चुका है । फिर चाहे वह स्त्री हो। या पुरुष बालक हो या वृद्ध हीन जातीय हो या उच्चजातीय अथवा किसी भी अवस्थाका हो वह परमेश्वरका भक्त होतेही उन्नत हो जाता है। जब हीन जातिवाले भी उन्नत होते हैं फिर श्रेष्ठ पवित्र कुलमें उत्पन्न हुए लोग यदि ईश्वरभक्ति करने लग जांय तो वे उन्नत हो जायेंगे इसमें संदेहही क्या है ?

अतः उन्नत होनेका एकमात्र उपाय यह है कि मनुष्य परमेश्वरकी भक्ति करें । ईश्वरभक्तिमें सब दोष दूर करनेकी और सब सद्गुण स्थापन करनेकी शक्ति है । ईश्वरकी भक्तिही मानवकी उन्नतिका एकमात्र साधन है ।

राजविद्याका संदेश

राजा सब जातियों और धर्मोंके मनुष्योंके साथ सम भावसे व्यवहार करे । किसीके साथ पक्षपातसे राग या द्वेष न करे इस तरहका बर्ताव करनेवाला राजाही राजपदपर रह सकता है

जो लोग राज्यरक्षाका कार्य अनन्य भक्तिसे करते हैं उनका योगक्षेम राजा चलावे, क्योंकि राजाका यही एकमुख्य कर्तव्य है । इस कारण अनन्य सेवक और राजामें कोई भेद ही नहीं है । राजा उनके रूपमें है और वे राजाके रूपमें हैं । इस तरह उनका अभेद संबन्ध है ।

यदि कोई दुराचारी मनुष्य अनन्य सेवक बनकर अपना कर्म ठीक प्रकार करता है तो उसको उस समय दुराचारी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह सुयोग्य कार्यमें लग चुका है । जो सुयोग्य काम करता है उसको दुराचारी कहना कभी भी उचित नहीं क्योंकि एक बार सदाचार रत होनेपर मनुष्यकी उन्नतिमें सन्देह नहीं रहता । लोगोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि इस राज्यप्रबंधमें सदाचारी सच्चे मनुष्यका कभी नाश या अनिष्ट नहीं होगा । जिस राज्यमें जनताकी ऐसी धारणा होगी कि इस राज्यप्रबंधमें सच्चे मनुष्यको कभी क्लेश नहीं हो सकता वही सच्चा धर्मराज्य कहलावेगा ।

मनुष्य किसी जन्मका किसी जातिका या रंगका हो, गुण कर्मानुसारही उसकी योग्यता समझी जाय ऐसी सुव्यवस्था राज्यप्रबंधमें होनी चाहिये । जहां जन्म जाति, रंग आदिके कारण उच्चता ठहरायी जाती है वहां गुणोंकी ओर कम ध्यान दिये जानेके कारण बडी अव्यवस्था हो जाती है । अयोग्य मनुष्य बडे पदोंपर पहुंचते हैं और राज्यमें गडबड मचा देते हैं । इसलिये गुणकर्मको प्रधान स्थान देना चाहिये और जन्म कुल वंश आदिको गौण यही इस सब श्लोकों का आशय है ।

अन्वयः— त्वं मन्मना, मद्भक्तः मद्याजी (च) भव मां नमस्कुरु मत्परायणः (सन्) एवं आत्मानं युक्त्वा मां एव एष्यसि ॥ ३४ ॥

मुझमें मन लगा मेरा भक्त बन मेरे निमित्त यजन कर, मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें परायण होकर मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥ ३४ ॥

भावार्थ— ईश्वरमें मनकी तल्लीनता करना ईश्वरकी सेवा करना ईश्वरके लिये समर्पण करना ईश्वरकोही नमन करना चाहिये। इस तरह ईश्वरपरायण होकर अपनी आत्माको ईश्वरके साथ नियुक्त करनेसे वह साधक ईश्वरकोही प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

राजविद्यापरक अर्थ और भावार्थ— राष्ट्रहितके कार्यमेंही मन लगाकर मनसे राष्ट्रहितके कार्यका विचार करके राष्ट्रसेवा करके, राष्ट्रहितके लिये आत्मयज्ञ-आत्मसमर्पण करके राष्ट्रहितके सम्मुख नम्र होकर अपने मनमें एक और केवल यदि अपने सर्वस्वको लगाकर लोग राष्ट्रकार्य करेंगे तो वे निःसंदेह अपने राष्ट्रका भव-निर्माण करनेमें सफल हो सकेंगे ॥ ३४ ॥

(३४) ईश्वरभक्तिसे मनुष्यका बेडा पार हो जाता है। साधक अपना मन ईश्वरपर लगावे मनमें ईश्वरका ध्यान रखे ईश्वरके सिवा कोई पदार्थ मनमें न आने पावे ईश्वर की सेवा करे जो कुछ करीरसे हो वह सब ईश्वरके लियेही करे ईश्वरके लिये यजन करे ईश्वरकोही आत्मसमर्पण करे जो कुछ भी पास हो वह सब ईश्वरको अर्पण कर दे ईश्वर को छोडकर किसी अन्यकी भक्ति न करे किसी दूसरेको नमन न करे केवल ईश्वरके सम्मुखही नमन करनेके लिये सिर झुकावे ईश्वरभावमेंही अपना मन तल्लीन रखे सदा ईश्वरपरायण होकर रहे। इस तरह जो मनुष्य अपनेआपको ईश्वरपरायण करके रखता वह ईश्वरको प्राप्त होगा अर्थात् वह मुक्त हो जायगा।

राजविद्याके विषयमें भी यही बात है। जो राजाकी सेवा करेगा जो राष्ट्रहितके लिये आत्मार्पण करेगा उसे राजशक्ति प्राप्त होगी। यहां राष्ट्र राज्य राजा और राज्य शासन परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु परस्पर हितकारी हैं यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये। जो राज्यशासन प्रजाका हित करता है जिस राज्यशासनमें राजाका और प्रजाका एकही हित हो उस राजाकोही प्रजा आत्मसमर्पण करे। यदि कोई येन केन राजा प्रजाका नाश करने लगे तो उसके लिये आत्मसमर्पण नहीं करना चाहिये। क्योंकि वेदमें भी कहा है कि—

मा न स्तेन ईशत। माघशंसः (ऋ ० ...)

हे प्रजाजनो! तुम्हारा राजा चोर न हो पापी दुष्ट न हो। अर्थात् जो राजा चोर और पापी हो और जो प्रजाके सत्कर्ममें बाधा डालता हो उसको तो राज्यसे हटा देना चाहिये। उसके शासनमें रहना उचित नहीं। ऐसे दुष्ट राजाको छोडकर सुयोग्य प्रजाहितके लिये यत्न करनेवाले राजाको आत्मसमर्पण करना उचित है।

इत्यादि राजविद्याके गुप्त भेदको जानकर तदनुकूल राज्यमें व्यवहार करना चाहिये।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्म-विद्याके निमित्त हुए योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें राजविद्या राजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

नवम अध्यायका मनन

अध्यात्म और राज्यशासन

भगवद्गीताके उपदेशका उद्देश्य मनुष्यके आध्यात्मिक दिव्य जीवनका विकास करना है। इस नवम अध्यायका भी वही उद्देश्य है। परन्तु मानवीय आध्यात्मिक दिव्य जीवनमें व्यक्तिक और सामुदायिक दो प्रकारका जीवन होता है। सामुदायिक जीवनमें राष्ट्रीय अथवा राजकीय जीवन एक महत्त्वका भाग है। श्रीमद्भगवद्गीताका उद्देश्य मनुष्यका राज्यशासनपर्यन्त सुधार कर उसको दिव्य आध्यात्मिक बनाकर उसके दिव्य जीवनका विकास करनेका मार्ग सुगम करना है। इसी उद्देश्यसे इस नवम अध्यायमें कथित राजगुह्य राजविद्या गुप्त रीतिसे कही गई है। इसमें प्रकटरूपसे अध्यात्मविद्या है किन्तु उसके अन्दर गुप्त रीतिसे राजविद्या-वर्णन है। इसलिये ऐसा किया गया है कि भगवद्गीताका मुख्य विषय दिव्य अध्यात्म-जीवनही है।

अध्यात्मज्ञानके आधारपर राज्यशासनकी चर्चा भी यहां कर दी गई है। इसका विवेचन नवम अध्यायके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें तो किया ही गया है किन्तु अभी कुछ अधिक मननकी आवश्यकता है। अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस प्रकार लागू किये जा सकते हैं यही प्रथम विचारणीय विषय है।

गीताशास्त्रको माननेसे लाभ

भगवद्गीतामें कहा है कि जो लोग इस उपदेशका पालन करते हैं उनका उद्धार होता है और जो अभिमानी होते हैं उनका नाश होता है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
(गी अ ३)

जो लोग श्रद्धायुक्त और ईर्ष्यारहित होकर इस गीतोक्त मार्गका अनुसरण करते हैं वे बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो लोग इसमें दोष-दृष्टि रखकर इसके अनुसार आचरण नहीं करते वे ज्ञानहीन मूढ नाशको प्राप्त होते हैं। यह वचन आध्यात्मिक उन्नतिके विषयमें जैसाही राजकीय उन्नतिके विषयमें भी सत्यही है। और भी देखिये—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत २०
(गी १५)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् २३
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥
(गी १६)

यह अत्यंत गुह्य ज्ञान है। इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। जो मनुष्य इस शास्त्रविधिको छोडकर स्वेच्छाचार करता है उसे सुख सिद्धि अथवा परम गति प्राप्त नहीं होती। कार्याकार्य निर्णयमें मनुष्यके लिये शास्त्रही प्रमाण है, अतः मनुष्य इस शास्त्रको जाने और वैसाही व्यवहार करे। राज्यशासनके विषयमें कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है इसका निर्णय भी इसी शास्त्रके जाननेसे हो सकता है। मनुष्यके विकासके जो भी मार्ग हैं, उन सबके विषयमें मनुष्यको यह शास्त्र देखकरही अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना चाहिये। गीताके अनुसार राज्यशासनके स्वरूपका विचार करते हुए राजामें भी गीतोक्त आत्माकेसे गुण होने चाहिये यही विचारणीय है—

आत्माके और राजाके गुण

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
(गी २।२४-२५)

आत्मा नित्य सर्वगत, स्थिर अचल सनातन अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है। ये आत्माके गुण हैं राजामें भी इन्हीं गुणोंके लक्षण होना चाहिये-

(१) राष्ट्रमें राजाका शासनाधिकार (सर्व-गतः) सर्व स्थानमें सब मनुष्योंतक पहुंचा होना चाहिये। जिस स्थानपर शासनव्यवस्था ठीक न होगी वहांही विद्रोह और

राज्यप्राप्तिकी सम्भावना रहेगी। शत्रुके कोपसे होनेतक राजाका शासनाधिकार जीवित और जाग्रत स्वरूपमें रहना चाहिये। एक भी मनुष्य ऐसा न हो जो राज्यशासनका विरोध करे और अनियन्त्रित रह सके।

(२) राज्यशासन (सनातनः) सदाके लिये समान होना चाहिये अर्थात् उसमें एक स्थानपर एक प्रकारका दूसरे स्थानपर दूसरे प्रकारका ऐसा वैषम्य नहीं होना चाहिये। एक समय एक प्रकारका और दूसरे समय दूसरेही प्रकारका नहीं होना चाहिये। अर्थात् उसमें सुधार और उन्नति होती रहे, परन्तु विषमता उत्पन्न न हो जाय। सदा प्रजाकी उन्नतिका साधन समान भावसे होता रहे।

(३) राज्यशासनकी अवस्था (स्थाणुः) सुस्थिर और (अचलः) अचंचल हो। सुस्थिर राज्यशासन वह है कि जो उपद्रवी लोगोंको यथायोग्य दण्ड देनेका और सज्जनोंके परिपालनका कार्य योग्य रीतिसे कर सके। राज्य व्यवस्थामें चंचलता न रहे। प्रजाको व्यवस्थापूर्वक सदा एकसा न्याय मिलता रहे। (नित्यः) नित्य सदाके लिये सुव्यवस्थित और सुसंगठित राज्यशासन समभावसे होता रहे।

(४) राज्यशासन (अविकारी) विकारयुक्त रोगयुक्त न हो। राज्यसंस्थाके रिश्वतखोरी आदि अनेक रोग हैं। ऐसे विकार राज्यशासनमें न होने चाहिये।

(५) राज्यशासन जिस व्यवस्थासे जिस प्रकार चल रहा है उस व्यवस्थाका (अचिन्त्यः) किसीको पता न लगे। कोई भेद इसके गुप्त मन्त्रका न जानने पावे। (अव्यक्तः) सब बातें व्यक्त न रहें अन्दर अन्दर गुप्त रीतिसे चलती रहें। जैसे शरीरमें अन्न जाता है पचन होता है और शरीर पुष्ट होता है परन्तु यह व्यापार व्यक्त न होकर होता रहता है। उसी प्रकार राज्यव्यवहारके सब व्यवहार व्यक्त न रहते अन्दर निरन्तर चलते रहें। सब राज्यतन्त्र छिपा और गुप्त मानससे व्यवहार होता रहे। इसी प्रकार आगे भी

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (गी. २।२०)

आत्मा अज है नित्य शाश्वत और पुराण है शरीरोंके नाश होनेसे उसका नाश नहीं होता।

(६) राजा भी [illegible] अज है। वही [illegible] अज [illegible] है अचल। [illegible] में [illegible]

जीवन दीखता है यह उत्तम राज्यव्यवस्थाकाही लक्षण है। शरीरमें आत्मा रहनेतकही शरीर हलचल करता है वैसे ही राज्यपर सुयोग्य राजा रहनेतकही राष्ट्रकी उन्नति उसमें यथायोग्य हो सकती है।

(७) राजा पुराण भी होना चाहिये। 'पुराण' का अर्थ (पुरा अपि नवः) पुराना होता हुआ भी नवीन जैसा होता है। राज्य कितना भी पुराना क्यों न हो उसमें नवीनका प्रभाव बराबर रहना चाहिये। और भी—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(गी. २।१८)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गी. २।२२)

ये अन्तवाले देह नित्य आत्माके हैं। जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्र फेंककर नवीन धारण कर लेता है वैसेही आत्मा पुराने देहोंका त्याग करके नये देहोंको धारण करता है।'

(८) राज्यशासनमें भी जीर्ण कार्यकर्ता त्यागकर नये उत्तम कार्यकर्ता आते हैं और संपूर्ण राष्ट्र सदा पुराना होता हुआ भी नवीन बना रहता है। राजा वृद्ध होनेपर मर जाता है, उसके स्थानपर उसका पुत्र आ जाता है। इसी तरह मंत्री सेनापति आदिके भी पुराने देह नष्ट हो जाते हैं और राज्यशक्ति नये देहोंमें प्रकट होती रहती है। राज्यसत्ता सनातन और नित्य है परन्तु जिन देहोंके द्वारा यह कार्य करती है वे देह नष्ट होनेवाले हैं। नष्ट होनेवाले अधिकारियोंके देहोंमें अविनाशी सनातन अमूर्त नित्य राज्यशक्ति कार्य करती है। यदि एक अधिकारीको मारडाले या मार भी दिया तो उसके स्थानपर दूसरा आ जाता है और कार्य करने लगता है, क्योंकि एक अधिकारीके रहने न रहनेसे राज्यसत्ताका विच्छेद नहीं हो सकता।

और देखिये—
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसम-
नुस्मरेद्यः। सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ (गी. ८।९)

'आत्मा कवि पुराण अनुशासिता अणुसे भी अणु सबका धारक अचिन्त्यरूप तेजस्वी तथा अन्धकारके परे है। इससे राजाके गुण भी पता लगते हैं।

(९) राजा कवि अर्थात् ज्ञानी विद्वान् हो दूरदर्शी हो सूक्ष्मदर्शी हो राज्यशासन भी दूरदर्शिताके साथ चलाता हो।

(१०) राजा अनुशासिता अर्थात् प्रजाके अनुकूल शासन करनेवाला हो, राज्यशासन भी प्रजाके लिये हित कर हो।

(११) राजा 'अणोः अणीयान्' अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचार करनेवाला हो सूक्ष्मसे सूक्ष्म कार्यमें प्रविष्ट होकर वहां कार्य कर सके। राज्यशासन, सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातमें भी उत्तम व्यवस्थासे कार्य करनेमें समर्थ हो।

(१२) राजा सबका धारण-पोषण करता हो (सर्वस्य धाता) राज्यशासनमें सब प्रजाका धारण पोषण तथा पालन होता रहे। किसीकी भी दुरवस्था न हो।

(१३) राजा ज्ञानका प्रकाशक प्रचारक और (तमसः परः) अज्ञानका नाश करनेवाला हो। साधारण मनुष्य जिसका विचार भी नहीं कर सकता ऐसे अतर्क्य प्रबंध (अचिन्त्यरूपः) द्वारा राज्यको उत्तम रीतिसे चलावे जिससे सबका परम कल्याण हो।

व्यक्त और परभाव

आत्माके अव्यक्त और परभाव अर्थात् श्रेष्ठ भावके विषयमें इस प्रकार कहा है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
(गी. ७।२४)

'आत्मा अव्यक्त है परन्तु मूढ मनुष्य उसे व्यक्त मानते हैं और उसके उत्तम श्रेष्ठ, अव्यय भावको नहीं जान पाते।

(१४) यद्यपि राजा (व्यक्तिं आपन्नः) व्यक्ति होता है तथापि उसमें (अव्यक्त) अमूर्त राजसत्ता होती है। मूढ लोग इस अमूर्त सामर्थ्यको नहीं जानते। वस्तुतः यह अमूर्त सामर्थ्यही उत्तम श्रेष्ठ और अविनाशी होता है।

सबका मूल कारण

सृष्टिमें सबकी उत्पत्तिका भाव निहित है इस विषय में कहा है—

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥
(गी. अ. ७)

'आत्माकी शक्तिही सर्वत्र जीवन देनेवाली सबकी उत्पत्तिका बीज बुद्धिमानोंकी बुद्धि तेजस्वियोंकी तेजस्विता बलवानोंका बल है। सात्त्विक राजस और तामस भाव भी उस आत्माके प्रभावसेही होते हैं। इसी प्रकार राजसत्ताके कारण सब प्रजाकी उन्नति होती है—

(१५) सब प्रजाजनोंके जीवनका बीज राजसत्तामें निहित है। सबकी उत्पत्तिका बीज बुद्धिमानोंकी बुद्धि तेजस्वी लोगोंका तेज बलवानोंका बल सब कुछ राजसत्तापर निर्भर है। प्रजाके सात्त्विक राजस और तामस भाव राजसत्ताके कारणही हैं। अर्थात् प्रजाका सात्त्विक राजस अथवा तामस बनाना राजसत्तापरही निर्भर है। प्रतिकूल राजसत्ता हो तो प्रजा तमोगुणी बनकर पतित हो जाती है और अनुकूल राजसत्ता हो तो सब प्रजा उन्नत हो जाती है। राजा सुजन्य हो तो लोग दिग्विजयी हो जाते हैं और राजा मूढ हो तो प्रजा परास्त होकर अनन्त दुःख भोगती है। इस तरह विचार करनेपर पता लग सकता है कि प्रजाजनोंकी उन्नति अथवा अवनति राजशक्तिपरही अवलंबित है। राजशक्ति अनुकूल हो तो प्रजा उन्नत होती है और प्रतिकूल हो तो प्रजा अवनत होती जाती है। इसलिये प्रजाकी उन्नति (सत्त्व) अधोगति (तम) अथवा मध्यम अवस्थिति (रज) राजाके ऊपरही निर्भर है राष्ट्रमें राजसंस्थाका इतना महत्त्व है। अब राजा और राज्यके छोटे मोटे अधिकारियोंके सम्बन्धमें देखिये—

राजा और अधिकारी

राज्यकी मुख्य अधिकारसत्ता राजाके अधीन होती है चाहे वह राजा आनुवंशिक हो या प्रजाद्वारा नियुक्त हो। राजा अपना काम ग्राम-प्रान्तोंमें करनेके लिये ग्रामाधिकारी मंत्री महामंत्री आदि रखता है और उनको

आवश्यक अधिकार दे देता है। अनजाने लोग किसी किसी अधिकारीकी खुशामद करते हैं, चार अथवा थोड़ासा हित साधन कर लेते हैं। कुछ अधिक मतिमान् लोग मन्त्रीके पास पहुँचते हैं और विशेष योग्यतावाले कुछ राजाके पास भी पहुँच जाते हैं और उनसे प्रत्यक्ष मिल लेते हैं। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ॥ २० ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ २१ ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥
(गी० अ० ७)

विविध कामना करके उनकी तृप्ति करनेकी इच्छासे लोग अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं। जो लोग देवताओंकी आराधना करते हैं उनका थोड़ा लाभ होता है और जो मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है उसको अनंत लाभ होता है।

यह राज्यव्यवस्थामें भी सत्य है। जो किसी द्वार रक्षक चपरासीके पास जायेगा उसको अत्यंत अल्प लाभ होगा जो ग्रामाधिकारी और प्रांताधिकारीके पास पहुँच सकेगा उसको उससे अधिक लाभ होगा और जो मनुष्य महामंत्री अथवा महाराजाके पास जा पहुँचेगा उसको सबसे अधिक लाभ होगा। वस्तुतः अधिकार तो सब राजाकाही है परंतु कोई अधिकारीके पास थोड़ा और दूसरेके पास बड़ा अधिकार होता है। जिसके पास जितनी शक्ति होगी उससे उतनाही लाभ हो सकेगा।

लोग अज्ञानवश जब कोई अधिकारियोंके पास जाते हैं उनसे मिलते हैं, उनकी पूजा करते हैं उन्हें उत्कोच (घूंस) देते हैं और अपना लाभ साधन करते हैं। परंतु इससे उन अधिकारियोंकी अवनति होती जाती है। जहां ऐसे कर्तव्यच्युत अधिकारी होते हैं वहांकी राज्यशासनव्यवस्था भी भ्रष्टही होती है। अतः राज्यव्यवस्थाकी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये उचित है कि कोई मनुष्य किसी अधिकारीसे इस तरह अपने अनुचित लाभके लिये न मिल सके और अधिकारी भी अनधिकार देना न कर सके। जो कुछ दान देना है वह किसी अधिकारीसे न दिया जाये उस दान राजाके पासही जाय क्योंकि राजाही इसका अधिकारी है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
मैं (ईश्वर) ही सब यज्ञदानोंका भोक्ता और प्रभु हूँ। राजाही सब दानोंके स्वीकार करनेका अधिकारी है।

सब एक सर्वेश्वरकीही पूजा करें कोई छोटे छोटे दूसरोंके पीछे न पड़े। इसका राजकीय क्षेत्रमें यह अर्थ बताया जा सकता है कि– जिस राज्यमें हरएक अधिकारी दान लेता होगा वहां न्याय असंभवसा ही है।

चार प्रकारके लोग

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गी० ७।१६)

दुःखी जिज्ञासु धनकी इच्छा करनेवाले और तत्त्वज्ञानी ये चार प्रकारके लोग ईश्वर-भजन करनेवाले सुकृतियोंमें होते हैं। इनसे भिन्न पांचवें प्रकारके दुष्कर्म करनेवाले लोग हैं वे ईश्वरभजनही नहीं करते।

राष्ट्रमें भी दुष्कर्मी और सत्कर्मी लोग होते हैं। दुष्कर्मी लोग तो राज्यव्यवस्थाके प्रतिकूल व्यवहार करते हैं और स्वार्थसाधनमेंही लगे रहते हैं। वे राज्यशासन-व्यवस्थाका दण्डनीय हैं। दूसरे जो सत्कर्मी लोग हैं उनमें कुछ साधनाभावसे दुःखी होते हैं। कुछ धनप्राप्तिके लिये सत्कर्म करते हैं कुछ जिज्ञासु भावसे सत्कर्म करते हैं और कुछ तत्त्वज्ञानी होते हैं। इनका पालन राज्यद्वारा होना चाहिये। राष्ट्रमें दुःखितोंके कष्ट दूर करके उनको सुख मिलनेकी व्यवस्था रखनी चाहिये। राज्यव्यवस्थाका यही कार्य है कि राष्ट्रमें कोई आर्त न रहे आर्तोंका दुःख दूर होवे धनप्राप्तिके मार्गमें किसीको रुकावट न रहे परंतु धनेच्छासे कोई किसीको कष्ट भी न पहुंचावे। जिज्ञासुओंको ज्ञानप्राप्तिके साधन सुगमतासे प्राप्त हों और ज्ञानियोंका उचित आदरसत्कार होता रहे।

दो मतियाँ

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥
(गी० ८।२६)

जगत्में एक शुद्ध मार्ग है और दूसरा अशुद्ध। शुद्ध मार्गपर चलनेसे सुख मिलता है और अपवित्र कृष्ण मार्गपर चलनेसे दुःख भोगना पड़ता है। राजकीय क्षेत्रमें तथा मानवीय व्यवहारमें भी यह सत्य है। मनुष्य पवित्र शुद्ध निष्पाप निर्दोष मार्गसे चले और कृष्ण अपवित्र, अशुद्ध, पापमय दोषयुक्त अधर्म मार्गको छोड़ दे। राजशासकका कर्तव्य है कि वह राज्यमें ऐसा प्रबन्ध करे कि कोई दुर्जन न कर सके और सब लोग सत्पथसे उन्नतिके मार्गपरही चलते चले जायँ।

अधर्ममार्गसे चलनेपर कदाचित् शीघ्र धनादिकी प्राप्ति हो सकती है इसलिये बहुतसे मनुष्य उस मार्गपर चले जाते हैं। परन्तु राज्यप्रबंधद्वारा उनको यथायोग्य दण्डादि मिलनेसे सब लोग अधर्ममार्गसे निवृत्त हो सकते हैं और उनको धर्ममार्गपरही चलना पड़ता है।

प्रकृति-प्रजा-धर्म

प्रकृति और प्रजाके धर्मोंका वर्णन निम्न श्लोकमें मिलता है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी ३।३३)

ज्ञानी मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करता है। सब भूत भी अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करते हैं, फिर निग्रहसे क्या बनेगा?

प्रजाजनोंके जैसे संस्कार होंगे जैसा उनको ज्ञान मिला होगा वे वैसा करेंगे ही। इसलिये उनको दण्ड देनेके पूर्व उनके संस्कार ठीक हैं या नहीं इसका भी विचार करना चाहिये। जिसके संस्कार हीन हैं जो धर्माधर्मको यथावत् जान नहीं पाता, उसको केवल दण्ड देनेसे क्या होगा? अतः राज्यसंस्थाको उचित है कि वह ऐसे संस्कारहीन लोगोंको पहिले सुसंस्कारसम्पन्न करे तथा ज्ञानी बनावें और पीछे उनके ऊपर योग्य कार्य करनेका भार डालें। राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्यमें ऐसा एक भी मनुष्य न रखे कि जो संस्कारहीन तथा हीनसंस्कार हो।

कर्तव्य

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
(गी ४)

भूलोकमें ईश्वर स्वयं आता है और जहां धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान होता है, वहां धर्म राज्य स्थापन करता है। वह साधुओंकी रक्षा दुर्जनोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करता है।

राजा और राजाधिकारियोंका भी यही काम है। राजा और अधिकारी अपने अधिकारके घमण्डमें न बैठे रहें वे अपने राज्यमें स्वयं जाकर प्रजाकी स्थिति देखें। किधर कहीं अधर्म हो रहा है! कौन दुष्ट उपद्रव करता है! इसका निश्चय करके अपराधीको दण्ड दें। साथही सज्जनोंके संरक्षणका प्रबन्ध भी करें और धर्मसे राज्यशासन चलावें। राजा अपनेही राजभवनमें विलास न करता रहे मंत्री और महामंत्री अपने अधिकारके घमण्डमें न रहें। वे गांवगांव नीच लोगोंमें जावें उनमें रहें उनकी अवस्था देखें और उनके उद्धारका यत्न करें।

संपूर्ण जगत्का संचालक परमेश्वर जब दुर्जनोंको दण्ड देनेके लिये स्वयं सर्वत्र उपस्थित होकर यत्न करता है तो उससे श्रेष्ठ राजा अपने आपको कैसे अलग रख सकता है? उसका भी यही कर्तव्य है। यदि इस कर्तव्यको न करेगा तो अपने कर्तव्य-भ्रष्ट होकर पतित हो जायगा।

पिता-माता

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥१७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्॥
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
(गी अ ९)

ईश्वर सबका माता पिता पितामह धाता (पोषक) भर्ता भरणपोषण कर्ता प्रभु साक्षी निवास शरण आश्रयस्थान मित्र उत्पत्ति-कर्ता अमृत मृत्यु आदि है। राजा भी प्रभुके इन गुणोंका विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करे।

वह माता पिता और पितामहके समान सब प्रजाका पालन कर उसका धारण भरण-पोषण करे। सब प्राणियोंके समान तटस्थ रहकर ऐसे प्रजाका सदा आश्रय बना रहे। अपनाससे सदा मित्र बनकर व्यवहार करे। सब लोगोंके उत्कर्षका हेतु बने दुष्टोंका नाश करे सबको उनके योग्य स्थानमें रखे सबकी उन्नतिका मूल बीज (कारण) हो कभी भी अयोग्य कार्यमें भाग न ले सज्जनोंको पोषण और दुष्टोंको मृत्युदण्ड दे इसी तरह सत् और असत् व्यवहारको देखता हुआ प्रजापालनके विषयमें अपना कर्तव्य करे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गी ९।२२)

अनन्य होकर जो लोग कार्य करते हैं उन नित्य योग्य कर्तव्य करनेवालोंका योगक्षेम प्रभु करता है।

राजा भी अपने राज्यमें जो जो लोग नित्य कर्तव्य करनेमें दत्तचित्त होते हैं जो स्वयं आत्मसमर्पण करके अपना कर्तव्य करते हैं उनका सब प्रकारका योगक्षेम करे। राष्ट्रमें कर्तव्य करनेवाले लोग भूखे न रहें ऐसा योग्य प्रबंध राजाको करना चाहिये।

समर्पण

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(गी ९।२७)

तू जो भी करे खावे हवन करे दान दे तप करे वो सब तुम ईश्वरको समर्पण कर। जो कुछ मनुष्य करे वह ईश्वरको समर्पण कर दे। यही भाव राष्ट्रीय दृष्टिसे देखा जाय तो मनुष्य जो कुछ करे वह राष्ट्रहितके लिये करे। अपना जीवन राष्ट्रहितके लिये अर्पण कर दे जो कुछ किया जाय वह राष्ट्रहितके लिए किया जाय। अपना जीवन राष्ट्र एवं लोगोंकी भलाईके लिये है ऐसा मनुष्य समझें और वैसाही आचरण करें। ऐसा करनेपर-

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
(गी९९)

तू शुभ और अशुभ कर्मोंके बन्धनसे छूट जायगा और कर्मफलत्यागरूपी संन्यास भावका भक्त होकर दुःखसे विमुक्त होकर ईश्वरको प्राप्त करेगा। जो मनुष्य सर्व जनिक हित राष्ट्रहित आदिके उद्देश्यसे कार्य करेगा वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त हो जायगा।

सम-व्यवहार

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
(गी ९।२९)

ईश्वर सब भूतोंके विषयमें सम भाव रखता है, किसीसे भी द्वेष या प्रेम नहीं करता। राज्यका राजा व अधिकारियोंका भी प्रजाके साथ ऐसाही बर्ताव रहे। द्वेष और प्रीतिको दूर रखकर सम भावसे सबके साथ व्यवहार करनेसेही योग्य रीतिसे कर्तव्य-पालन हो सकता है। इसेही सम-व्यवहार कहते हैं।

अध्यक्ष

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

ईश्वरकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर सृष्टिकी रचना करती है। इसी हेतुसे जगत्में परिवर्तन होता है।

इसी तरह राज्यमें राजाही सबका अध्यक्ष है। उसकी प्रेरणासे सब कार्य चलाये जाते हैं। इन अनेक कर्मोंसे उस राज्यमें अनेक परिवर्तन होते हैं। राष्ट्रमें उचित दिशामें उचित परिवर्तनोंके लिये प्रयत्न होता रहे। राजा अपनी अध्यक्षतामें सबकी उन्नतिके कार्य चलावे।

राजा भी मनुष्य है केवल इसीलिये कोई उसका अपमान न करे। क्योंकि उसमें विशेष अधिकार रहते हैं।—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गी ९।११)

'मूढ लोग मानवी शरीरधारी ईश्वरकी अवज्ञा करते हैं क्योंकि वे महान् ईश्वरका श्रेष्ठ भाव नहीं जान सके। राष्ट्रमें भी ऐसाही होता है। मूढ लोग समझते हैं कि यह राजा एक मनुष्यही है यह अध्यक्ष भी एक मनुष्यही है, यह अधिकारी भी एक मनुष्यही है। परन्तु वे नहीं जानते कि इनके अन्दर एक अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है। इसी अज्ञानके कारण मूढ लोग राजा और अधिकारियोंको मनुष्य मानकर अपमान करते हैं और हानि उठाते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

(गी ९।१२)

'जो राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तियोंसे मोहित होते हैं उनकी आशाएं, उनके कर्म और उनके ज्ञान व्यर्थ होते हैं। क्योंकि वे भ्रान्तचित्त होते हैं।' अस्तु, इस प्रकार राज्यमें मनुष्यके रूपमें एक अद्भुत शक्ति कार्य कर रही है ऐसा अनुभव करना चाहिये और उस शक्तिका महत्त्व समझना चाहिये।

राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तियोंके मनुष्योंका अन्तमें नाश हो जाता है। इनकी पहिले उन्नति होती है ऐसा दीखता है, परन्तु इनकी उन्नतिही इनके नाशका हेतु होती है। राष्ट्रके उद्धारमें राज्यशासन-शक्तिका अत्यंत महत्त्व होता है। ये राक्षसी वृत्तिवाले लोग उस शक्तिका तिरस्कार करते हैं और इस कारण अन्तमें इनका नाश होता है। अतः राजशक्तिका उपयोग क्या है, प्रजाशक्तिका उपयोग क्या है दोनोंके परस्पर सहायक हो जानेपर क्या लाभ होगा और दोनोंमें विरोध होनेपर क्या हानि होगी इस प्रश्नका पूर्ण विचार करना चाहिये और राक्षसी वृत्ति हटाकर मानवोंमें दैवी वृत्ति बढानी चाहिये। दैवी वृत्तिवाले लोगही उन्नत हो सकते हैं। राष्ट्रके मनुष्योंके संस्कार दैवी और शुभ होने चाहिये। यही यहां उपदेश मिलता है।

राजा और प्रजा

राजा और प्रजाका क्या संबंध है इसका उपदेश निम्नलिखित श्लोकोंमें है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

(गी ९।० ५)

जैसे आकाश व्यापक है और उसमें सब प्राणी रहते हैं, राजसत्ता भी वैसीही सर्वव्यापक है उसमें सब प्रजाजन रहते हैं। जैसे वायुके आधारसे प्राणी हैं वैसेही राजसत्ताके आधारसे प्रजाजन हैं। अव्यक्त आत्मा सब जगत्का विस्तार करती है सब भूत उसीके आधारसे रहते हैं, परन्तु उसकी स्थिति भूतोंके आधारसे नहीं है। इसी प्रकार अमूर्त राजसत्ताके द्वारा सब प्रजाका शासन चलाया जाता है सम्पूर्ण प्रजा उसी अमूर्त राजसत्ताकी शक्ति लेकर विविध कार्य करती है परन्तु वह राजसत्ता व्यक्तिशः प्रजापर अवलंबित नहीं है। प्रजा भी केवल राजसत्ताके आधारपर निर्भर है, ऐसा भी नहीं है। यह दोनोंका एकत्वयोग है। अर्थात् प्रजा और राजा इन दोनोंका संयोग इस ऐश्वर-योगसे हुआ है। ये एक दूसरेपर अवलंबित रहते हुए भी अवलंबित नहीं हैं। परमात्मा (भूतभावनः) भूतमात्रकी उन्नति करनेवाला है। भूतोंका (भूतभृत्) भरणपोषण करनेवाला होनेपर भी (भूतस्थः न) वह भूतोंपर निर्भर नहीं है इसी तरह राजसत्ता सब प्रजाकी उन्नति करती है प्रजाके भरणपोषणका विचार करती है, तथापि वह व्यक्तिशः प्रजापर निर्भर नहीं है।

इस तरह यहां आत्मज्ञानके सिद्धान्तोंके साथ राज्यशासनका उपदेश दिया गया है। इसका मनन करनेपर इस राज्यशासनके तत्त्वका ज्ञान हो सकता है। टिप्पणीमें दिये इन शब्दोंका राज्यशासनपरक अर्थ लेकरही किंचित् विचार करते हैं—

१ अव्यक्त-मूर्ति (राजसत्ता)

राज्यशासन अव्यक्त, अमूर्त रहता है जो राजा है उसकी मूर्तिके अन्दर वह केंद्रित रहता है तथापि उस राजाके शरीरसे राजसत्ताका स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व है। राजसत्ता अमूर्त है। यहां यह ध्यान रखना चाहिये।

२ अव्यक्तमूर्तिना सर्वं जगत् ततम्

अमूर्त राजसत्तासे सब जगत् (मानवसमाज) का शासन-विस्तार किया गया है। जगत् का अर्थ 'मनुष्य और मानव-समाज' है। जगत्का अर्थ विश्व है वह सब जानते हैं, उसीके साथ मनुष्य और मनुष्य-समाज यह अर्थ भी है। यहां राज्यपरक अर्थमें मनुष्य और मनुष्य समाज' अर्थही लेना चाहिये। परमात्मपरक अर्थमें विश्व अर्थ लेना उचित है। अव्यक्त राजसत्ताद्वारा मानव-समाजका शासन विस्तार किया जाता है। सब समाज इस शासनके अन्दर रहता हुआही उन्नति करता है विस्तार करता है।

३ मत्स्थानि सर्वभूतानि

सब भूत अर्थात् सब मानवप्राणिके लोग उस अमूर्त राजसत्तामें रहते हैं। उस राज्यशासनके बाहर कोई नहीं है। नगरोंमें और ग्रामोंमें रहनेवाले तथा वनोंमें रहनेवाले सब मानव उस शासनमें रहते हैं।

४ न च अहं तेष्ववस्थितः

वह राज्यशासन उन मनुष्योंमें नहीं है अर्थात् व्यक्तिका प्रजाके आधारसे नहीं रहता। उसकी प्रजासे पृथक् सत्ता है। वह प्रजाके आधारसे मिलाही सर्वोपरि है। निष्ठुर राजसत्ता प्रजाके विरुद्ध भी उनपर शासन करती है, इसी कारण अनेक देश पारतंत्र्यमें पडे रहते हैं। राजसत्ता सुसंस्कृत होती है और प्रजा असंगठित होती है, तब प्रजापर राजसत्ताका शासन चलता है और इसी कारण यहां कहा है कि (अहं) यह राजसत्ता (तेषु) प्रजाके आधारसे (न अवस्थित) नहीं रहती।

५ न च मत्स्थानि भूतानि

इतना होनेपर भी (मत्स्थानि) राजसत्तामेंही सब (भूतानि च) मानव प्राणि रहती है ऐसी बात नहीं। कई क्रान्ति करनेवाले लोग राजसत्ताके क्षेत्रके बाहर भी होते हैं। महात्मा मुमुक्षु भी राज्यशासनके क्षेत्रसे बाहर होते हैं। किसी समय प्रजा भी राज्यशासनके विरुद्ध हो सकती है। अतः सब प्रजा राजसत्ताके अन्दर रहते हुए भी बाहरही है ऐसा समझना योग्य है।

९ योग ऐश्वर मम

यह ऐश्वरयोग है। ऐश्वरयोगका अर्थ प्रभुत्वयोग है। राजाके एक प्रभु ईश्वर—राजाके आधीन रखनेकी यह युक्ति है। सब राजाके एक राजसत्ताके आधीन रखनेकी जो एक अद्भुत युक्ति है उसका नाम ऐश्वर-योग है। यही ऐश्वर-योग इस नवम अध्यायमें कहा है। इसका वर्णन इस अध्यायके प्रारंभमें ऐसा किया है—

अव्यय राजविद्या

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
(गी० अ० ९)

यह राजविद्याका ज्ञान अर्थात् राज्य चलानेकी शासन विद्याका ज्ञान बड़ा गुह्य है अर्थात् गुहा (बुद्धि) में धारण करनेयोग्य है। जिसको असूया न हो वही इसका अधिकारी है। इस ज्ञानके अनुसार राज्यशासन चलाया जाय तो निःसंदेह किसी प्रकारका अशुभ कष्ट नहीं होगा। यह ज्ञान विज्ञान सहित है। अर्थात् इसमें आत्मज्ञान है और प्राकृतिक विज्ञान भी है। (धर्म्य) यही धर्ममार्ग है, आचरण करनेपर (सुसुखं) यह सुख देनेवाला है। और इसके राज्यशासनका (अ-व्यय) व्यय भी न्यूनसे न्यून होगा है। जो इसका आचरण करेगा, उसे प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष अवगमं) लाभ दिखाई देगा। (धर्म्य) यही उत्तम श्रेष्ठ राज्यशासनका मार्ग है। जो इसपर श्रद्धा नहीं रखेंगे वे दुःख प्राप्त करेंगे।

इस नवम अध्यायमें राज्यशासनकी विद्या गुप्त रीतिसे कही है। प्रकट रीतिसे तो यह अध्याय परमात्मिक ज्ञानका स्वरूप बता रहा है। परन्तु उसी उपदेशके अन्दर गुप्त रीतिसे राज्यशासनका उपदेश दिया है। पाठक इसका विचार करें और गीतोक्त राज्यशासनका ज्ञान इस अध्यायके मननसे प्राप्त करें।

समदृष्टि

इस गीतोक्त राज्यशासनमें समदृष्टि का बहुत अधिक महत्व है। इस समदृष्टिके विषयमें गीताके निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्वके हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥
(गी० अ० ५)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥
(गी० अ० ६)

विद्वान् ब्राह्मण चाण्डाल गौ हाथी और कुत्ता आदिपर समदृष्टि रखनी चाहिये। मित्र उदासीन मध्यस्थ शत्रु बन्धु साधु और पापीपर भी समदृष्टि रखनी चाहिये। अपने समान समभावसे जो सबको देखते हैं सबको अपनेही समान सुखदुःख होते हैं ऐसा जो मानते हैं वेही परमयोगी हैं। जिनका मन इस समतामें रहते हुए सम हो गया, मानों उन्होंने जन्ममरणके दुःख जीत लिये हैं, अर्थात् वे मोक्षके अधिकारी हो गये अथवा उनको ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ है।

इस समदृष्टिके विषयमें जनतामें बड़ी अशुद्ध कल्पना फैली है। सबको समान माननेकी यहां कल्पनाही नहीं है। विद्वान् ब्राह्मण अनाडी, चाण्डाल और कुत्ता या बिल्ली इनको समदृष्टिसे देखना चाहिये इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सब समान हैं, अथवा इनके साथ समान वर्ताव करना चाहिये। यहां यह आशय नहीं है। इसी प्रकार मित्र शत्रु मध्यस्थ उदासीन भाई द्वेषी, साधु और पापी इनको समदृष्टिसे देखना चाहिये इसका अर्थ यह भी नहीं है कि पापीको जो दण्ड मिलना चाहिये वह साधुको भी मिलनाही चाहिये। जो पारितोषिक मित्रको देना चाहिये वही शत्रुको भी देनाही चाहिये। समदृष्टिका स्वरूप यहां नहीं है। जहां ब्राह्मण और गौका समान-दृष्टिसे देखना बताया है वहां गौके सामने जैसे घास रखा जाता है वैसेही ब्राह्मणके सामने रखना चाहिये अथवा ब्राह्मणको जैसे पायसपूरीका भोजन देते हैं, वही गौको देना चाहिये यह भाव इस समदृष्टिमें नहीं है। गीतोक्त राज्यशासनपद्धति इस समदृष्टिपर रची गयी है अतः इस समदृष्टिका अर्थ विशेष मननपूर्वक समझना चाहिए।

इस समदृष्टिका अर्थ समझनेकी एक युक्ति 'आत्मौपम्य' नामसे यहां कही है। जो कर्म करना है वह अपनी उपमा देकर अपनी उपमाद्वारा विचार कर करना चाहिये। यह कर्म करनेसे मुझे सुख होगा अथवा मुझे दुःख होगा इसका निर्णय अपने आपको उसकी अवस्थामें लाकर करना चाहिये। इससे कर्तव्य कर्तव्यका निर्णय ठीक प्रकार हो सकता है।

ब्राह्मण चाण्डाल भी दूसरा पशु, पक्षी मित्र, शत्रु कोई हो उनके साथ व्यवहार करनेके समय अपने आपको उनके स्थानपर रखकर विचार करें, और अपनेको जैसा प्रतीत होगा वैसाही उनको भी प्रतीत होगा ऐसा मानकर मनुष्य व्यवहार करें।

उदाहरणके लिये बालकोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है, वह योग्य है या अयोग्य है इसका निर्णय करनेके लिये अपने आपको बालक समझ कर विचार करना चाहिये कि यदि किसीने मुझसे ऐसा व्यवहार किया तो मुझे कैसा लगेगा? यह विचार करनेसे शीघ्रही अपने अन्दर समदृष्टिका उदय होता है और अपने कर्तव्यका निर्णय हो जाता है। पशुपक्षियोंके साथ व्यवहार करते समय भी अपने आपको उनके स्थानमें समझे तभी उनके साथ जो व्यवहार किया जा रहा है, वह योग्य है या अयोग्य, इसका ठीक निर्णय हो सकता है। गौ, घोडा कुत्ता आदि पशुओंके साथ आत्मौपम्यसे व्यवहार करके देखिये ऐसा व्यवहार करनेसे उसका परिणाम मनुष्यके आचरणमें भी तत्काल दिखाई देता है। जो पशु मनुष्यको शत्रु मानते हैं, वेही मित्र बनते हैं, और आनंदसे समीप आते हैं, और जो मित्रवत् आचरण करते हैं, यह एक अपूर्व चमत्कारयुक्त प्रेमसे मालूम होता है।

मनुष्योंके साथ व्यवहार करनेके समय भी यह मित्र है यह पुत्र है यह शत्रु है ऐसा समझकर उसका पक्ष समर्थन करना और जो शत्रु हैं उनके गुण भी न देखना यह अनुचित व्यवहार है। इसीसे अनेक झगडे उत्पन्न होते हैं, और इन झगडोंका निपटारा कभी नहीं हो सकता। सबको समभावसे देखने, अपने आपको उनके स्थानपर रखने और आत्मौपम्य दृष्टिसे सब व्यवहार करनेसेही अच्छा व्यवहार हो सकता है।

सुख और दुःख जैसे अपनेको होता है वैसेही औरोंको भी होता है ऐसा अनुभव करनेका नाम समदृष्टि अथवा समभाव है। यह एक महाभारी योग है और इस एक समत्व योगसेही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

मैं बड़ा दूसरा केवल इतनेही भावसे मनुष्यकी दृष्टि अशुद्ध हो जाती है। समदृष्टि नहीं रहती। यह समदृष्टि सर्वदा सब समय रखनी चाहिये यही योगसाधन है। यदि इस समदृष्टिसे राज्यशासन चलाया जायगा तो वह स्वर्गका राज्य होगा। इतिहाससे स्पष्ट है कि इस सम दृष्टि आत्मौपम्य दृष्टिके अभावके कारण कितनी लडाइयां,

किया गया था जिससे सब हुए हैं। इस महाभारतके युद्धकी उत्पत्ति भी समदृष्टिके अभावके कारणही हुई है। कौरव यदि मानते कि जैसा राज्य हमें चाहिये वैसाही पांडवोंको चाहिये तो युद्धका कारणही उत्पन्न न होता। परन्तु कौरव तो मानते थे कि सब राज्य हम भोगेंगे और पांडवोंको सूईके अग्रपर जितनी मिट्टी आती है उतनी भी नहीं देंगे। यह विषम दृष्टि थी आत्मौपम्यका अंश भी इसमें नहीं था इसी कारण घोर संग्राम हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता यह आत्मौपम्य-समदृष्टि जनतामें उत्पन्न करना चाहती है, और संपूर्ण राज्यशासन इस समदृष्टिके आधारपर चलानेका उपदेश गीताशास्त्रका है। जो गीतापंथी हैं उनको उचित है कि वे अपने अंदर इस आत्मौपम्य समदृष्टिका जितना अधिक हो सके उतना विकास करें। यदि राष्ट्रकी जनतामें समदृष्टिका उदय हुआ तो अपराध और झगडे नहीं होंगे। समदृष्टिवाले लोगोंपर राज्यशासन करनेके लिये व्यय भी कम होगा। वह एक आदर्श राज्य होगा और स्वर्गीय राज्य कहलायगा।

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें जनताको शिक्षा ऐसी दी जायेगी जिससे जनतामें समदृष्टिका और आत्मौपम्य दृष्टिका उदय होगा और जिससे सब लोग आत्मवद्भावसे व्यवहार करेंगे और अद्भुत सुखके भागी होंगे।

संयम और मिथ्याचार

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें संयमको प्रमुख स्थान प्राप्त है और मिथ्याचारका तीव्र निषेध किया गया है। संपूर्ण शिक्षणही ऐसा होना चाहिये कि जिससे जनता स्वयं संयमकी ओर झुक जाय और मिथ्याचारसे दूर रहे। अथर्ववेदमें कहा है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति ॥ १७ ॥
(अथर्ववेद ११।५)

राष्ट्रमें आचार्य नाम शिक्षाविभागके कर्मचारियों अर्थात् शिक्षकोंका है और प्रजापति नाम प्रजाके पालन विभागके कर्मचारियोंका अर्थात् आरोग्यविभागमें नियुक्त होकर कार्य करनेवाले राजपुरुषोंका है। ये दोनों अर्थात् शिक्षाविभागके और आरोग्यविभागके कर्मचारी स्वयं ब्रह्मचारी हों और न ऐसा काम करें कि जिससे राष्ट्रमें अकर्म और असंयमकी लहर फैल जाय। जहां जिस राष्ट्रमें ऐसे कर्मचारी और ऐसा राजा होंगे वहां आदर्श अवश्य राष्ट्र निर्माण होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। यही बातकी शिक्षा भगवद्गीताने अपनी राज्यव्यवस्थामें की है और संयमको प्रोत्साहन देनेके लिए कहा है।

कामजय और क्रोधजय

संयमकी आवश्यकता सिद्ध होनेपर काम और क्रोधको जीतना चाहिये यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यही संयमका अर्थ है, अतः भगवद्गीताके उपदेशमें कामक्रोधका जीतनेके विषयमें एकही प्रकार है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
(गी० अ० ३)

रजोगुण अर्थात् लोभवृत्तिसे काम उत्पन्न होता है और काममें प्रतिबंध होनेसे क्रोध हो जाता है। यह बड़ा भोगी और पापवृत्ति बढानेवाला है। अतः ये दोनों वैरी हैं। ये मनुष्यके ज्ञानके आवरण हैं और उसको निर्बुद्ध बना देते हैं। इंद्रियां मन और बुद्धि इनका अधिष्ठान है। अर्थात् ये यहां रहते हैं और मनबुद्धिको आवृत कर मनुष्यको मूर्ख बना देते हैं। इसलिये हे भारतीय वीर! तू पहले अपनी इंद्रियोंको वशमें करके इस ज्ञानका नाश करनेवाले पापीको दूर कर।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
(गी० ३।६)

जो कर्मेंद्रियोंका संयम करता है परन्तु मनसे विषयोंका ध्यान करता रहता है वह मूढ मिथ्याचारी होता है। ऐसे लोग राष्ट्रमें नहीं रहने चाहिये। शिक्षकों और आरोग्याधिकारियोंका यह कार्य होना चाहिये कि वे ऐसे मिथ्याचारियोंको शिक्षाद्वारा सुधारें अथवा

इन्द्रियद्वारा भोग करें अथवा अन्य उपायोंद्वारा उनको बढ़ने न दें।

मनका वशमें होना कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य पूर्वक प्रयत्न करनेसे वह वशमें आ जाता है (गी ६।३५) इस तरह चंचल मन वशमें करनेका यत्न करें संयमी बनें ब्रह्मचारी रहें और सदाचारवान बनें। इस तरह संयमी बननेसे मानवोंकी सब प्रकारकी उन्नति होती है। इस विषयमें कहा है—

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी ५।२५)

'जो संयमी-आत्मसंयमी हैं जिनका द्वन्द्वभाव दूर हो चुका है वे सर्वभूतोंका हित करनेमें तत्पर होकर परमोच्च गति पाते हैं भूतमात्रोंका हित करनेसेही परमात्मसेवा होकर मानवोंकी उन्नति हो सकती है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। भूतहित करनाही भगवद्भक्ति है। यह भूतहित संयमी ही कर सकता है। इसलिये भगवद्गीतोक्त राज्य शासनमें संयमका स्थान प्रधान है।

इन्द्रियदमन करके काम और क्रोधको दूर करनेका यही उपदेश है। गृहस्थीको सुसंतान उत्पन्न करनेके कार्यके लिये काम आवश्यक है, उतनाही कार्य उससे लेना योग्य है। धर्मशास्त्रकी यही मर्यादा है। भगवद्गीतोक्त राज्यशासनप्रणालीमें जनताको इस मर्यादाकी रक्षा करनेका ही उपदेश दिया जायगा। इस प्रकार इन्द्रियसंयमी पुरुषही इस राज्यशासनव्यवस्थामें नियुक्त होंगे और न वह मर्यादा बढ़ायेंगे। इसमें कामक्रोधोंके वेगोंको सहनेका महत्त्व है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(गी ५।२३)

जो कामक्रोधका वेग सहन कर सकता है वही सुखी होता है। परन्तु जो कामक्रोधके वेगसे बह जाता है उसके दुःखी होनेमें कोई संदेहही नहीं है। यही समाज और राष्ट्रकी अवस्था है। जिस राष्ट्रमें कामको भड़काया जाता है अनुचित बढ़ानेवाले व्यवहार बढ़ाये जाते हैं वह राष्ट्र भ्रष्ट बनाये माना जाता है। उसको सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। क्रोध और चिड़चिड़ा स्वभाव मानवोंमें बढ़नेसे भी यही अवस्था हो जाती है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि काम और क्रोधका संयम किस तरह किया जाता है? इसके उत्तरमें इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि खान पान व्यवहार, ज्ञान विज्ञान, सत्कार आदिसेही इनका संयम होगा। सात्त्विक भाव बढ़नेसे संयम होगा और राजसिकता बढ़नेसे कामक्रोधकी वृद्धि होगी।

जैसे वायुका वेग बढ़नेसे वृक्षादि हिलने लगते हैं, परन्तु मंदिर नहीं हिलते, क्योंकि उनमें स्थैर्य होता है इसी तरह मनुष्य अपने धर्मभावपर स्थिर रहेंगे तो कामक्रोधके वेगमें वह नहीं आवेंगे। भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें जनताको यही बात इस तरह समझायी जायगी—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(गी ३।३४)

इंद्रियोंका विषयोंसे रागद्वेष निश्चित है उनके आधीन मनुष्य न हो जाय क्योंकि वे उसके शत्रु हैं। शत्रुके आधीन हो जाना योग्य नहीं है। शत्रुको अपने आधीन करना चाहिये। यही बात भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें जनताको समझायी गयी है। ऐसी सभी उपदेशों द्वारा यही बात समझायी गई अर्थात् कामको भड़कानेवाला उपदेश नहीं दिया जावे और संयमका वायुमंडल बनानेका प्रयत्न किया जावे।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गी २।३८)

सुख दुःख हानि-लाभ जय-पराजयको समान मानकर युद्धादि कर्तव्यकर्म करना उचित है। इसका नाम समबुद्धि है। जय मिलनेपर घमण्ड हो जाता है और जय न रहने पर पापकर्म का प्रचार होता है। ये दोनों बातें बहुत बुरी हैं। इन दोनों अवस्थाओंसे जनताको बचाना और अपने कर्तव्यकर्म करनेकी भूमिकामें रखना योग्य है। घमण्ड हो जानेपर मनुष्य गिरता है और विफलता मिल जानेपर भी कर्तव्यच्युत हो जाता है। अतः मनुष्योंको मनोविकारोंको स्वाधीन रखने और कर्तव्यकर्म करनेकी शिक्षा देनी उचित है। यही भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें होगा।

मानस उन्नति

मानसके लिये सब प्रकार मनुष्यमात्रकी उन्नति होती है,

ज्ञानसेही संशयसे निवृत्ति होती है और मनुष्य सुखको प्राप्त कर सकता है। यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है, अतः कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥
(गी० अ० ४)

ज्ञानहीन और श्रद्धा न रखनेवाले संशयात्माका नाश हो जाता है। संशयात्माको न तो इस लोकमें सफलता मिलती है न परलोकमें सुख मिलता है। अतः ज्ञान प्राप्त करके संशय दूर कर और योगयुक्त होकर कर्म कर। जो ऐसा करता है उसको कर्मोंका दोष नहीं लगता। इसलिये हृदयमें स्थित अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संशय ज्ञानसे दूर करके अपनी उन्नतिके लिये उद्योग कर। हे भारतीय! यह तुम्हारा कर्तव्य है।

अर्थात् भारतीयोंका कर्तव्य है कि वे ज्ञान प्राप्त करें संशयको हटाकर अपने कर्तव्यकर्म करके उन्नत हों। यहां ज्ञानसे अज्ञानका नाश करनेका उपदेश है। भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें यही ज्ञान सब जनताको दिया गया है। जो इसे प्राप्त करनेमें समर्थ है उस किसीको भी इससे कदापि वंचित नहीं रखा गया। सार्वजनिक ज्ञानदान, इस शासनका एक मुख्य भाग है। प्रत्येक ज्ञानका अधिकारी ज्ञानसे दूर नहीं रखा गया है। अतः कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गी० ४।३८-३९)

ज्ञानके समान इस जगत्में कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। श्रद्धावान् और संयमी मनुष्यही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जिसको ज्ञान प्राप्त होता है उसे शान्ति भी प्राप्त होती जाती है।

इस जगत्में ज्ञानही पवित्र वस्तु है जिसे यह प्राप्त होता है वह पवित्र बन जाता है। इसीलिये भगवद्गीतोक्त राज्यशासनमें सबको ज्ञान देकर पवित्र बनाया जाता है। कोई भी ज्ञानहीन नहीं रखा जाता। कोई अपनी यदि असावधानतासे ज्ञानसे वंचित रह गया तो वह उसीका दोष होगा। राज्यशासन इसका उत्तरदायी नहीं होगा। पापीसे पापीको भी ज्ञान देकर शुद्ध किया जायगा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(गी० ४।३६)

पापीसे पापी मनुष्य क्यों न हो उसको भी ज्ञान दिया जाने पर उस ज्ञानसे उसके सब पाप दूर हो जायेंगे। पुण्यात्मा लोगोंका भी उद्धार ज्ञानसेही होना यह कहनेकी बात नहीं है। किंवा, केवल एक पातकी कोई भी हो, उसको ज्ञान मिलना और वह ज्ञानसे अपनी उन्नति कर सकेगा। अर्थात् गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें सबको ज्ञान मिलनेकी सुविधा होगी। यहां ज्ञानका अर्थ बडा विस्तृत लेना चाहिये क्योंकि यह ज्ञान दोनों लोकोंमें सुख देनेवाला है, केवल पारलौकिक सुखही देनेवाला नहीं। अतः जनताको दिया जानेवाला कौनसा ज्ञान है, इसका संक्षेपसे उल्लेख इस प्रकार है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
(अ० गी० ७)

पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीव ये नौ पदार्थ और इनमें व्यापनेवाला परमात्मा मिलकर दस पदार्थ जानने चाहिये। इसी विषयमें तेरहवें अध्यायमें भी कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।
(गी० १३।२)

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमात्माका ज्ञान है। अर्थात् परमात्माका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस परमेश्वरके ज्ञानमें पृथ्वीविद्या जलविद्या अग्निविद्या, वायुविद्या आकाशविद्या मनोविज्ञान बुद्धिज्ञान अहंकारज्ञान जीवतत्त्वज्ञान और परमात्मज्ञान इत्यादि सब विद्याएं हैं। भगवद्गीतामें बताया [illegible] ईश्वरको जानना चाहिये

परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अध्यात्मज्ञान कमाना चाहिये ऐसा कहा है इस ज्ञानमें इतनी विद्याएं पढानेयोग्य हैं यह नहीं भूलना चाहिये । ईश्वरके ज्ञानमें ईश्वर और उसकी प्रकृतिका ज्ञान अन्तर्भूत है । ईश्वरकी प्रकृतिमें अपरा प्रकृति और जीवका अन्तर्भाव है । विचार करनेपर पता लग जायगा कि यदि इस आदेशानुसार पाठविधि बनायी जायगी तो उसमें आजकल जो विद्याएं पढानेयोग्य समझीं जाती हैं वे सब तो पढायीही होंगी परन्तु उनके साथ आत्मविद्या भी पढायी होगी । भगवद्गीतामें इतनी बडी पाठविधि है, जो गीतोक्त राज्यव्यवस्थाकी पाठशालाओंमें पढायी जायगी । यहां कहीं एक एक विषयमें अनेक शास्त्र विषय हैं जैसा अग्नि-विद्यामें अग्नि-विद्युत्-सूर्यकिरण आदि अनेक विद्याओंका समावेश है । इसी प्रकार अन्यान्य विद्याओंमें भी समझना चाहिये । यह पाठविधि बडी भारी है और यह सब ज्ञान मनुष्यकी पूर्णता करनेवाला है ।

> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
> ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
> तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
>
> (गी ५)

अज्ञानके आवरणसे ढक जानेपर लोग मोहित हो जाते हैं, अर्थात् उनको कर्तव्याकर्तव्यका ठीक ज्ञान नहीं रहता अतः वे पतित हो जाते हैं । परन्तु जिनका ज्ञान प्राप्त हो जाता है व सूर्यप्रकाशमें रखी वस्तुके समान परमपदको समझ प्राप्त कर लेते हैं फिर वे लौकिक पद प्राप्त करेंगे इसमें संदेहही क्या है ? यही इस ज्ञानका महत्त्व है । यही ज्ञान मनुष्यका सब प्रकारसे उद्धार कर सकता है । इसीलिये गीतोक्त राज्यपद्धतिमें परा और अपरा विद्याका ज्ञान सबको मिलनेकी सुविधा होती है ।

अपरा विद्यामें सब प्रकारकी इहलोकका सुख बढानेवाली विद्या आती है । परा विद्यामें जीवात्माका ज्ञान होता है और परात्पर विद्यासे परमात्माका ज्ञान होता है । इस तरह इनसे इहलोकमें सुख और पारलौकिक आनन्द प्राप्त होता है । जिस समय ये सब विद्याएं जनतामें फैल जाती हैं तब राष्ट्रके सब लोगोंपर इन विद्याओंके सुसंस्कार होते हैं तब उस राष्ट्रमें ऐसी सुस्थिति होती है, जैसी निम्नलिखित उपनिषद्वचनमें वर्णन की है-

> न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नाना-
> हिताग्निः, नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
>
> (छां ५।११।५)

इस राज्यमें चोर कृपण मद्यपी हवन न करनेवाला अविद्वान्, स्वैराचारी और स्वैराचारिणी भी नहीं होगी । सब लोग धर्मानुकूल व्यवहार करेंगे और परस्पर उन्नतिमें सहायक होते हुए सब अपनी सर्वांगीण उन्नति करेंगे । यह सब ज्ञानके प्रचारपर अवलम्बित है राष्ट्रमें जैसा ज्ञानका प्रचार होगा वैसी उस राष्ट्रकी स्थिति होगी । आजकल भेद, कलह और झगडोंका ज्ञान फैलता है इस लिये झगडे और उपद्रव बढ रहे हैं । यदि परिशुद्ध ज्ञानका प्रचार होगा तो जनता उसी परिशुद्ध मार्गसे चलेगी । भगवद्गीताका उद्देश है कि ऐसा परिशुद्ध ज्ञान जनतामें फैल जाय और उसका कल्याण हो ।

उद्योगसे उन्नति

प्रयत्न करनेसेही सब कुछ बनता है । उन्नतिके लिये जो योग किया जाता है उसका नाम उद्यम है । इसीको कर्म कहते हैं इस विषयमें कहा है—

> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
>
> (गी ८।३)

भूत का अर्थ है निर्मित वस्तु-मात्र । इन वस्तुओंका जो अस्तित्व है उसका नाम भूत भाव है । इन वस्तु मात्रके अस्तित्वका जो उद्-भव ऊपर होना-उन्नत होना है अर्थात् विकास है, वही भूतभावोद्भव है । इस विकासका करनेवाला जो वि-सर्ग अर्थात् विशेष सृजन है उसीका नाम कर्म है । कर्म उसको कहते हैं कि जिससे सबकी उन्नति होती है, उद्भव होता है उच्च स्थिति होती है । गीतोक्त राज्यमें सम्पूर्ण जनताका यह कर्मोंकीही शिक्षा दी जायगी । अतः इस राज्यमें लोगोंका निश्चय होगा कि—

> पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
> न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
>
> (गी ६।४०)

शुभ कर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। शुभ कर्म करनेवालेकी सदा उन्नतिही होती रहती है। इस प्रकार विश्वाससे इस राष्ट्रका हरएक मनुष्य सदा शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होगा। शुभकर्म कल्याणकर्म आदिका अर्थ योगयुक्त कर्म है जिसका लक्षण यह है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा
॥ १७ ॥
(गी० अ० ६)

अति भोजन अति उपवास अति निद्रा अति जागरण न करते हुए, योग्य आहारविहार करके योग्य निद्रा और जागरण करते हुए जो लोग योग्य रीतिसे पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं, उनका दुःख दूर होता है। यह योगका फल है। यह योग हरएक कार्यमें किया जा सकता है और प्रत्येक शुभ कार्यसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। गीतोक्त राज्यमें मनुष्यको ऐसे कार्य करनेकी शिक्षा प्राप्त होगी।

इस गीतोक्त राज्यशासनमें जो कर्मकी शिक्षा दी जायगी उससे सब मनुष्य आत्मोद्धार करनेवाले बन जायँगे। जैसा गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
(गी० अ० ६)

स्वयं अपना उद्धार अपनेआपही करना चाहिये। ऐसा कोई आचरण करना नहीं चाहिये जिससे अपनी अवनति हो। क्योंकि मनुष्य स्वयंही अपना मित्र अथवा शत्रु होता है। जिसने अपना संयम कर लिया है वही अपना मित्र है, और जो अपनी उपेक्षा करता है वह अपनाही शत्रु होता है। इस तरह प्रत्येकका अपना शत्रु या मित्र स्वयंही होता है। यह जैसे व्यक्तिके व्यवहारमें सत्य है वैसेही समाज और राष्ट्रके व्यवहारमें भी सत्य है। जो आत्मविजयी है वही कर्मके दोषोंसे अपने आपको बचा लेता है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गी० ५।७)

योगके अनुसार व्यवहार करनेवाला आत्मविजयी, जितेन्द्रिय और सर्व भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा है, वह कर्म करनेपर भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता। यहां शुद्ध गुण सर्वभूतोंकी आत्मा अपनी आत्मा बनती है। साधारणतः प्रत्येककी आत्मा उसकीही व्यक्तिगत होती है, परंतु आत्मा सर्वगत होनेका अनुभव है। मेरी आत्मा, इस व्यक्तिके समान मर्यादित नहीं अपितु वह सर्वभूतोंमें व्याप्त है अर्थात् अनंत व्यक्तियोंकी आत्मा एक है और भिन्न होनेपर भी आत्मा भिन्न नहीं है। यह ज्ञान होनेपर मनुष्यकी दृष्टिही भिन्न हो जाती है। इस अवस्थामें किये गए कर्म निर्दोष होते हैं। गीतोक्त राज्यमें यह शिक्षा सब लोगोंको दी जायगी और उनकी दृष्टि विस्तृत की जायगी।

वहां व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह (गी० २।४१) अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी एकही बुद्धि स्थिर होगी। अनंत बुद्धियोंकी व्याप्ति वहां नहीं होगी। तथा प्रत्येकको यह शिक्षा दी जायगी कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी० २।४७)

कर्म करनाही प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है, उसके फलपर उसका अधिकार नहीं क्योंकि फलका ग्रहण करना कोई कर्म न करे और कर्म न करनेकी ओर भी किसीकी रुचि न हो। उसको उचित है कि—

योगस्थः कुरु कर्माणि । (गी० २।४८)

योग अर्थात् कुशलतासे कार्य किया करे। जितनी कुशलता हो सकती है उतनी कुशलता संपादन करके अपने अपने कर्म करना हरएकको उचित है। कोई मनुष्य कर्म किये बिना न रहे। सब लोग अनंत कुशलताके साथ उत्तम कर्म करें।

कोई जीवजन्तु क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गी० ३।५) जब सबकी प्रकृति उनसे कर्म करा ही लेती है फिर मनुष्य शुभकर्म अनंत कुशलतासे क्यों न करे? मनुष्यमात्रको नियत कर्म करनाही चाहिये।

कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है कर्म न करनेसे शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी क्योंकि बिना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता, अतः मनुष्य अपना नियत कर्म उत्तम कुशलताके साथ करे। कर्म करनेही जनक आदिको संसिद्धि प्राप्त हुई है (गी ३।२०) यदि वे कर्म न करते तो उनको कदापि सिद्धि प्राप्त न होती। अतः हरएक मनुष्यको जनकादिकोंका उदाहरण अपने सम्मुख रखकर प्रयत्नशील होना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य अपने धर्मका निश्चय करे। यह निश्चय करनेकी विधि गीता के १७ वें और १८ वें अध्यायोंमें सत्त्व-रज-तम-निरूपण प्रकरणमें कही। अपने अंदर सत्त्व गुण है रजोगुण है या तमोगुण है, इसका निश्चय करके अपना धर्म निश्चित करे और जो धर्म निश्चित हो उसके अनुसार अपना कर्तव्य कर्म करता रहे। अपने प्रकृतिधर्मके अनुकूल जो कर्म होगा वही उत्तम रीतिसे हो सकेगा। प्रकृतिधर्मके प्रतिकूल कर्मका उत्तम रूपमें हो सकना असंभव है। अतः अपने प्रकृतिधर्मका निश्चय करना और तदनुकूल कर्म करना योग्य है।

गीतोक्त राज्यके शिक्षाविभागमें ऐसी शिक्षा दी जावगी कि जिससे हरएक मनुष्य अपने प्रकृति-स्वभावका निश्चय कर सके और तदनुकूल नियत कर्म करके अपना और सब जनताका कल्याण करनेमें समर्थ होकर यशस्वी हो।

यह सर्वसाधारण कर्मयोगके विषयमें विचार हुआ। गीताकी जो विशेषता है वह कर्मफलत्याग की है। कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है फलपर उसका अधिकार नहीं है यह इसके पूर्व कहा गया है। यह कर्मफलत्याग गीतोक्त राज्यशासनमें कैसे किया जायगा इसपर अब विचार करते हैं।

कर्मफलत्याग

इस कर्मफलत्यागके विषयमें गीताका यह वाक्य विशेष मनन करने योग्य है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गी २।५१)

(कर्मजं फलं त्यक्त्वा) कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोग अना-

स्थानको प्राप्त करते हैं। कर्मके फलका त्याग करना चाहिये अपने पास अपने कर्मका फल संगृहीत करके नहीं रखना चाहिये। कर्मफलके संग्रहमें दोष होता है और कर्मफलत्यागसे निर्दोषता होती है, यह इसका तात्पर्य है। अतः कर्मका फल क्या है, इसका विचार करना चाहिये—

ब्राह्मण विद्यादान करता है क्षत्रिय राष्ट्रका संरक्षण करता है वैश्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य व्यवहार करता है शूद्र कलाकौशल्य और परिचर्या करता है इस तरह सब मनुष्य अपने अपने कर्म करते हैं। इस कर्मका फल उनको वेतनके रूपमें प्राप्त होता है। यह वेतन धनरूपमें हो या अन्य किसी रूपमें भी हो सकता है मिलता है। यह धन कर्म करनेवाला अपने पास संग्रह करके रखे या न रखे? इस विषयमें गीतोक्त राज्यव्यवस्थामें यह कानून है कि यहां कोई भी कर्ता अपने कर्मका फल अपने पास संगृहीत करके न रखे क्योंकि उससे दुःख बढेगा अतः सब लोग अपने कर्मके फलका दान कर दिया करें।

सब जनता चार वर्णोंमें विभक्त हुई है और उनके कर्म निश्चित और नियत हैं। प्रत्येक कर्म होतेही उसका यथायोग्य फल कर्ताको मिलनाही चाहिये। कर्ता उस फलको लेवे परंतु अपने पास उसका संग्रह करके न रखे उसका त्याग करे दान करे समर्पण करे। संग्रह करनेमें दोष और त्यागमें लाभका विचार करनेके लिये मान लीजिये कि एक अध्यापक सहस्र रु. वेतन प्राप्त करता है एक क्षत्रिय दो सहस्र रु. प्राप्त करता है एक कर्मचारी शत रु. प्राप्त करता है। ये लोग अपना वेतन अपने पास संग्रह करके रखेंगे तो पहिले दो प्रतिमास सहस्रों रु. घरमें रखते जायेंगे और तीसरा केवल शत रु. ही प्राप्त कर सकेगा। इसीमें उसका मासिक व्यय भी होगा। अर्थात् पहिले दो धनी बन जायेंगे और तीसरा निर्धनही रहेगा। धनीके लिए अपने पास धन सुर क्षित रखनाही एक समस्या बन जायगी और चाहिये दूर रखनेकी चिन्ता सतत बनी रहेगी। जो निर्धन और भूखे हैं, वे इन धनियोंको दूर देख हैं। इससे द्वेष होता है और असमाधान बढता है। ये निर्धन ऐसा न करें इसलिये रक्षक पालक दल, सेनाभी तथा न्यायालयके कर्मचारी आदि

रखने पड़ेंगे। वे सब प्रबन्ध केवल धनी लोगोंके धनको सुरक्षित रखनेके लिये हैं। यदि मनुष्य अपने पास धनसंग्रह करनेका यत्न न करें तो रक्षाके लिये होनेवाला अनन्त व्यय भी नहीं करना पड़ेगा। इसका दूसराही सदुपयोग हो सकेगा।

विचारणीय विषय है कि हरएक व्यक्तिके अपने पास धन संग्रह करके रखनेसे कितने झगड़े हो रहे हैं, सब न्यायालय इसी कारण चल रहे हैं। मनुष्य यदि इस वस्तुसंग्रहका व्यसन छोड़ देगा और अपरिग्रही बनेगा, तो उसके अनेक दुःख स्वयंही दूर हो जायेंगे।

प्रश्न होता है कि अपने कर्मका जो मूल्य प्राप्त हो वह कहां रखा जावे? यह सब धन प्रजा-पति का है प्रजापालन करनेवालेका यह सब धन है यह धन व्यक्तिका नहीं है। यद्यपि व्यक्तिके कर्मके बदले यह उसको मिलता है तथापि यह सब धन प्रजापति परमेश्वरका है। अतः यह प्रजापतिके पास पहुंचना चाहिये व्यक्तिके संग्रहमें रहना उचित नहीं है।

प्रजापति परमेश्वर कहां है? (वासुदेवः सर्वं। पुरुष एवेदं सर्वं) प्रजापतिही सब कुछ है। इसका मुख ब्राह्मण बाहु क्षत्रिय ऊरू वैश्य और पांव शूद्र हैं। यह चार वर्ण उसके चार अवयव हैं। यह सब जनताही प्रजा-पतिका रूप है। इसको उस सब कर्मका फल समर्पित होना उचित है। यह शासनसंस्थाही प्रजापति है जो गीतामें गुरु और अन्यत्र शासकसंस्थाके नामसे वर्णित है। इसी शासनसंस्थाके पास उनका कर्मफल जमा होता रहे। इसके कई प्रकार हैं—

१ कर्मफलत्याग—इसमें कर्मका फल लिया नहीं जाता परन्तु लेनेके पूर्वही त्यागा जाता है और सीधा शासन संस्थाके कोशमें जमा होता है।

२ कर्मफलदान—कर्मका फल कर्ता लेता है और विशेष उद्देश्यके लिये शासनसंस्थाके कोशमें देता है। वह निर्देश कर देता है कि इस धनका व्यय निश्चित कार्यमेंही होगा।

३ कर्मफलसंन्यास—कर्ता अपने कर्मके फलको लेता है और उसको निश्चित स्थानमें न्यास (Deposit) करता है। कर्ता यह धन सुरक्षित रखता है और इसका काम किसी कार्यविशेषमें देता है। इसके और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं जो पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

इस तरह कर्मके फलका त्याग, दान और संन्यास करनेके कई प्रकार होते हैं। कर्मफलका त्याग कैसे कर सकते हैं इसका मनन करनेसे इसकी विधिका ज्ञान हो सकता है। जैसे किसीको कर्मके फलस्वरूप सौ मिली, तो वह उसका दान गुरुकुल आदि संस्थाको दे सकता है वह किसी छात्रको छात्रवृत्तिके रूपमें दे सकता है इत्यादि अनेक प्रकार हो सकते हैं। कर्मका फल कर्ताके पास संग्रह होकर न रहे, वह जनताकी भलाईके लिये प्रजापालकके पास समर्पित होता जाय यही मुख्य तत्त्व है। यह कर्मफलत्याग गीतोक्त राज्यशासनका मुख्य तत्त्व है, यही इसकी विशेषता है।

यहां प्रश्न होता है कि यदि इस तरह कर्ता अपने कर्मके फलको अपने पास संग्रह न करके उस फलका त्याग करेगा और वह फल प्रजापतिको समर्पित होगा तो कर्ताका योगक्षेम कैसा चलेगा? इसका उत्तर इतनाही है कि उसका योगक्षेम प्रजापति अथवा प्रजापतिसंस्थाके द्वारा होता रहेगा। उसको जिस समय जो आवश्यकता होगी वह प्रजापति-संस्थाके द्वारा पूर्ण हो जायगी। उसका वेतन आरोग्य शिक्षा कुटुंबभरणपोषण आदि ठीक प्रकार शासन संस्थाद्वारा चलता रहेगा। इस विषयकी चिन्ता किसीको न होगी और सबका यथायोग्य योगक्षेम होगा इसी कारण सर्वत्र संतोष रहेगा और चोरी डाका आदिकी इच्छाही किसीके मनमें नहीं होगी। और किसीके मनमें चोरीकी इच्छा हो भी गई, तो किसी व्यक्तिके पास अपना धन न होनेके कारण उस चोरको चोरी करनाही असंभव हो जायगा। चोरी होगी नहीं रक्षाके प्रबन्धकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। इस कारण इस प्रकारकी शासनसंस्था न्यूनसे न्यून व्ययमें चल सकेगी।

राज्यशासनद्वारा जिनका योगक्षेम चलाया जा रहा है ऐसे संन्यासियोंका जैसे आपसमें ईर्ष्याद्वेष होनेकी संभावना नहीं है वैसेही यहां समझिये। आजकलके संन्यासी भी समझते हैं यह सत्य है। परन्तु यह पतित अवस्था है।

उसका विचारही यहां नहीं करना चाहिये। उसके साथ क्षेमका भार शासनसंस्थापर रहेगा, और सब लोग (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः) अपने अपने कर्मोंमें दक्ष रहेंगे (त्यक्तसर्वपरिग्रहः। गी० ४।२१) सब वस्तु संग्रहकी बुद्धिका त्याग करेंगे, (विमत्सरः। ४।२२) मत्सररहित होंगे ईर्ष्याद्वेषसे दूर रहेंगे (अनिकेत) उनका अपना निजी गृह भूमि आदि कुछ नहीं होगा (यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं गी० ४।२३) सब कर्म यज्ञके लियेही करेंगे किसीकी (न कर्मफले स्पृहा। गी० ४।१४) कर्मके फलकी इच्छाही नहीं होगी। इस तरह गीतोक्त राज्यमें जनताका व्यवहार होगा। इस विषयमें यहां अब विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इतने विवरणसे सब बातें जानी जा सकती हैं।

यहां ऐसा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जितने मानव इस गीतोक्त राज्यशासनमें होंगे, उतने सबके सब कर्मफलत्यागी होंगे। उनमें कुछ फलभोगी होंगे उनका नाम सकाम कर्म करनेवाले हैं और जो कर्मफलत्यागी हैं उनको निष्काम कर्म करनेवाले कहते हैं। यद्यपि गीतोक्त राज्यशासनकी विशेषता निष्काम कर्म तथा कर्मफल त्याग है, तथापि सब मानव इसको कर सकेंगे यह कठिन प्रतीत होता है अतः सकाम कर्मका मार्ग गौण रूपसे कहा गया है। वे त्रिवर्गकी प्राप्तिके लोभ सकाम कर्म करें, उससे सुख भोगों और दुःखोंका अनुभव लेते हुए निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आ जांय। इस तरह त्रिवर्गकी श्रेणीके लोगोंका भी यहां प्रबंध किया गया है तथापि सब झुकाव कर्मफलत्याग की ओर है। जो विचार करना चाहते हैं वे इस प्रश्नको ध्यानमें रखकर विचार करेंगे तो उनको गीतोक्त राज्यशासनकी विशेषताका पता लग जायगा।

यहां हमने जो विचार किया है यह कोई परिपूर्ण विचार नहीं है, इसमें अनेक न्यूनताएं होंगी। इस गीतोक्त राज्य शासनके विषयमें बहुतही विचार करके सब शासन-विषयक प्रबंधका निश्चय करना चाहिये। यह विचार ऐसे सहजसे नहीं होगा तथापि यहां थोडासा दिग्दर्शन कराया है, जिससे पाठक विचार करके गीतोक्त राज्यशासनके प्रबंधके विषयमें कुछ न कुछ जान सकें।

यहां कर्मफलका अस्वीकार अनिकेतन अर्थात् अपनी निजी संपत्ति भूमि, घर आदि न होना उनका योगक्षेम राज्यशासनद्वारा चलना इत्यादि बातें देखकर यह उससे बोल्शेविकोंकी शासन-प्रणाली है, ऐसा कोई न समझे, क्योंकि वह ईश्वरहीन राज्यशासन है और गीतोक्त राज्यशासन ईश्वरको अधिष्ठाता मानकर चलता है। इससे दोनोंका दृष्टिकोण बहुतही भिन्न है। दूसरे यह उससे सहस्रों वर्ष पूर्वकी राज्यप्रणाली है। भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें ईश्वरका विश्वरूप बताया है वह समझमें आनेके पश्चात् गीतोक्त राज्यशासनका विचार पाठक कर सकेंगे। अतः निवेदन है कि यह परमेश्वरका विश्वरूप पाठक जाननेके पश्चात् उस विश्वरूपपर राज्यशासन कैसे स्थिर हुआ है इसका मनन करें। जबतक विश्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होगा तबतक प्रजा प्रजापति, प्रजापति-संस्था आदिका ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये आगेके विभूति योग अध्यायका अध्ययन करनेके पश्चात् विश्वरूपका दर्शन करें और संपूर्ण वैदिक धर्म इसी विश्वरूपकी विचारपर कैसा आरूढ है यह जाननेका यत्न करें।

यहां केवल सूचनामात्र संक्षेपसे कहा है और उसमें अतिसंक्षेपके कारण जो अनेक दोष रह गये हों वे आगेके अध्यायोंके स्पष्टीकरणसे दूर हो सकेंगे।

यहां प्रथम अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १ ॥

नवम अध्यायके सुभाषित

(१) ज्ञानविज्ञानसे अशुभकी निवृत्ति।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (९।१)

' विज्ञानसहित ज्ञान प्राप्त करनेसे अशुभकी निवृत्ति हो सकती है। '

(२) राजविद्याका प्रत्यक्ष फल।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (९।२)

राज्यशासनकी गुह्यविद्या पवित्रता करनेवाली उत्तम फलदायी प्रत्यक्ष हितकारी धर्मानुकूल चलनेवाली, सुखसे आचरण करनेयोग्य और थोडे व्ययसे सिद्ध होनेवाली है।

(३) अध्यक्षकी प्रेरणा।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन जगद्विपरिवर्तते॥ (९।१०)

' अध्यक्षके द्वारा प्रकृतिमें प्रेरणा होती है और चराचर जगत्में परिवर्तन होता है। ' अध्यक्ष सभापति अथवा राजा ऐसा प्रेरणा करनेवाला होना चाहिये।

(४) कार्यकर्ताओंका योगक्षेम।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (९।२२)

' अनन्य होकर जो लोग मेरा कार्य करते रहते हैं उन नित्य कार्य करनेवालोंका योगक्षेम मैं चलाता हूं। '

जैसे परमेश्वर अपने भक्तोंका योगक्षेम चलाता है वैसेही राजा अपने सेवकों और स्वयंसेवकोंका योगक्षेम चलावे।

(५) उपासक उपास्यके समान बनता है।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
(९।२५)

' क्योंकि उपासक देव बनते हैं, पितृपूजक पितरोंके समान होते हैं भूतप्रेतोंके पूजक भूतप्रेतोंके समान होते हैं, और ईश्वर उपासक ईश्वरको प्राप्त होते हैं। ' जो जैसा उपास्यादि व्यवहार करता है वह वैसा बन जाता है।

(६) समता धारण करो।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः (९।२९)

' सब प्राणिमात्रोंके साथ मेरा सम व्यवहार है न कोई मेरा मित्र है और न शत्रु। ' सबको सबके साथ ऐसेही सम भावसे व्यवहार करना चाहिये।

(७) साधुका लक्षण।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः (९।३०)

' मनुष्य दुराचारी भी क्यों न हो, यदि वह ईश्वर भजन करने लग जाय और सम्यक् आचार करने लगे तो उसको वह साधुही होसकता है। ' जिसका आचरण अच्छा है और जो ईश्वरका भक्त है वह साधु है।

(८) भक्तका नाश नहीं होता।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति (९।३१)

' ईश्वरकी भक्ति करनेवाला तत्काल धर्मात्मा बनता है और शान्ति प्राप्त करता है। ऐसे भक्तका कभी नाश नहीं होता। '

(९) पापियोंका उद्धार।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९।३२)

' ईश्वरकी भक्तिका आश्रय लेनेसे पापी पापयोनिमें उत्पन्न अथवा वैश्य शूद्र और स्त्रियां भी परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होती हैं। ' इसलिये ईश्वरभक्ति करना सबको योग्य है।

भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी

नवम अध्यायकी विषयसूची

अथ दशमोऽध्याय

विभूति–योग

(१) महत्त्वपूर्ण उपदेश

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः । यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! भूयः एव मे परमं वचः शृणु । प्रीयमाणाय यत् अहं ते हितकाम्यया वक्ष्यामि ॥ १ ॥ सुरगणाः महर्षयः च मे प्रभवं न विदुः अहं हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः आदिः (अस्मि) ॥ २ ॥ यः मां अजं अनादिं लोकमहेश्वरं च वेत्ति सः मर्त्येषु असंमूढः (भूत्वा), सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् बोले–हे महाबाहो ! मेरा एक हितकारी वचन और सुन । तुझे मेरे वचनोंसे संतोष होता है, यह देख मैं तेरे लाभके लिये कुछ और उपदेश देता हूं ॥ १ ॥ देवगण और महर्षि-गण भी मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते क्योंकि मैं देवों और महर्षियोंका भी आदिकारण हूं ॥ २ ॥ जो मुझे अजन्मा, अनादि और सब लोकोंका स्वामी समझता है, वह इस संसारमें अज्ञानसे दूर ज्ञानसम्पन्न हो सब पापोंसे मुक्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— यहां एक विशेष महत्वका कथन यह है कि वह परमेश्वर सब देवों और ऋषियोंका आदि कारण है। इसलिये उसे न तो ये देव जानते हैं और न ऋषिही जानते हैं। ईश्वर कभी पैदा नहीं होता। वह अनादि और अनंत है तथा सबका स्वामी है। यह जो जानता है वह सच्चा ज्ञानी और निष्पाप होकर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १-३ ॥

(१-३) अर्जुन प्रकाशित होकर भगवान् श्रीकृष्णजीके वचनोंसे कुछ तृप्त और अनुगृहीत होने लगा। इसलिये उसके कल्याणकी इच्छासे भगवान् फिर एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं। यद्यपि यह बात अर्जुनने पूछी नहीं थी परन्तु अर्जुनको अब पूछनेकी इच्छा नहीं हुई अतः दयालु परमेश्वर उसके कल्याणकी बात क्यों न कहते? श्री भगवान्‌का हृदय माताका हृदय है जो सदा पुत्रका कल्याणही चाहता है। इस माताके प्रेमसे भगवान् केवल अर्जुनके कल्याणकी इच्छासे उसे यह एक विशेष महत्वकी बात बता रहे हैं। देवगण और ऋषिगण ईश्वरकी उत्पत्तिको नहीं जानते ईश्वर कबसे है किस प्रकार उत्पन्न हुआ इत्यादि वृत्तान्त वे नहीं जानते। वे क्यों नहीं जानते? इसका कारण यह है कि इसी ईश्वरसे इन देवोंकी उत्पत्ति है अतः वह ईश्वर इनके जन्मके भी पूर्वकालसेही विद्यमान है। अतः ईश्वर पिता है और देव तथा ऋषि उसके पुत्र हैं। पुत्र पिताके जन्मको कैसे जान सकते हैं? इसी प्रकार ये देव और ऋषि ईश्वरकी उत्पत्तिको आदिकारणको यथावत् नहीं जान सकते।

जो मनुष्य इन लोकोंके महेश्वरको अजन्मा अनादि तथा अनंत जानता है, वही सत्य जानता है वही ज्ञानी कहलाता है। ईश्वरको अनादि अनन्त जाननाही सत्य ज्ञान है। यह ज्ञानी मनुष्योंमें कृतकृत्य होता है, पापरहित होता है और मुक्त भी होता है। ईश्वरको अनादि अनन्त जाननेसे मनुष्य निष्पाप किस प्रकार होता है यह विचार करनेकी बात है। इसका एकमात्र कारण इतनाही है कि ईश्वर, अनादि अनंत और सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेपर भी सब प्राणियोंके उद्धारके लिए जगत्पालनादि कार्य निष्काम भावसे करता रहता है। इतना बड़ा होता हुआ भी छोटेसे छोटे प्राणियोंके हितके लिये पूर्ण कोशिश करता है, यह उसकी दयालुता है। यह देखकर मनुष्य भी अपनेसे छोटोंकी

(२) विभूतियोग और उसका फल

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः । सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः । भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अन्वयः— बुद्धिः ज्ञानं असंमोहः क्षमा सत्यं, दमः शमः सुखं दुःखं भवः अभावः भयं च अभयं एव च ॥ ४ ॥ अहिंसा समता, तुष्टिः तपः दानं यशः अयशः (इमे) पृथग्विधाः भूतानां भावाः मत्तः एव भवन्ति ॥ ५ ॥ पूर्वे सप्त महर्षयः तथा चत्वारः मनवः मद्भावाः मानसाः जाताः येषां लोके इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥ यः मम एतां विभूतिं योगं च तत्त्वतः वेत्ति सः अविकम्पेन योगेन युज्यते अत्र संशयः न ॥ ७ ॥

बुद्धि, ज्ञान, असमूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, मनःशान्ति, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय और अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश ये प्राणियोंमें उत्पन्न होनेवाले भिन्न भिन्न प्रकारके अनेक भाव मुझ (ईश्वर) सेही उत्पन्न होते हैं ॥ ४-५ ॥ पूर्व कालमें सात ऋषि और चार मनु मेरे (ईश्वरके) मनसे उत्पन्न भाव हैं जिनसे इस लोकमें वर्णित सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है ॥ ६ ॥ जो मेरी (ईश्वरकी) इस विभूतिको और रचनाकी कौशल्यपूर्ण शक्तिको यथार्थ रूपमें जानता है वह अविचलित योगसे युक्त होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थ— बुद्धि, ज्ञान आदि अनेक भाव जो प्राणिमात्रमें दिखाई देते हैं वे ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं। सप्त ऋषि और मनु भी ईश्वरके मानस भावही हैं जिनसे यह सब प्रजा उत्पन्न हुई है। ये सब ईश्वरकी विभूतियां हैं और इन विभूतियोंको उत्पन्न करनेकी कौशल्यपूर्ण शक्ति ईश्वरकी है। इसी शक्तिसे इस विश्वकी सब विभूतियां उत्पन्न होती हैं। जो लोग यह जानते हैं कि ये सब विभूतियां ईश्वरकीही हैं और इन विभूतियोंकी उत्पत्ति उसकी अद्भुत कौशल्यपूर्ण शक्तिसे होती है वे लोग युक्त होते हैं ॥ ४-७ ॥

महात्मा करें उसका हित करें। यह उपदेश जो देते हैं और फिर उसे अपने आचरणमें परिणत करते हैं वे निष्पाप बनते हैं और परिशुद्ध होते हुए मुक्त हो जाते हैं।

देव ईश्वरको नहीं जानते क्योंकि वे उसके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। यह बात ऋग्वेदमें भी कही है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता
कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ
को वेद यत आबभूव ॥

(ऋग्वेद १०।१२९।६)

अथवा यह विसर्ग अर्थात् विस्तार किससे और कहांसे हुआ? इसे अधिक विस्तारपूर्वक कौन कहेगा? इसे कौन निश्चयपूर्वक जानता है? देव भी इस सृष्टिके बननेके पश्चात्ही उत्पन्न हुए हैं फिर यह कौन जान सकता है कि सृष्टि कहांसे उत्पन्न हुई?

इस तरह ऋग्वेदका भी यह कथन है कि देव उसके पश्चात् उत्पन्न होनेके कारण उसको यथावत् नहीं जानते। वेदकीही यह बात भगवान्ने यहां गीतामें दुहराई है।

इतनी भूमिकाके पश्चात् भगवान् अपना कथन करते हैं। यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय है, क्योंकि यह गीताके मुख्य भागकी भूमिका है—

(४-७) इन श्लोकोंमें बुद्धि ज्ञान आदि अनेक भाव जो मनुष्योंमें दिखाई देते हैं, सब ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा है। ये सब ईश्वरके चिन्तनसेही उत्पन्न हुए (मद्भावाः मानसाः जाताः) मानस भाव हैं, वे उस व्यक्तिके भाव नहीं। यह ईश्वरकी विभूति है और यही ईश्वरकी शक्तिका अद्भुत योग है। जो इसी ईश्वरकी विभूति और शक्तिके अद्भुत योगका अनुभव करता है उसका स्थिर योग उत्तम प्रकार साध्य हो जाता

है। यही इस ज्ञानका फल है इसलिये इसका विशेष विचार करना चाहिये। यहां कुल बीस भाव कहे हैं इनमें चार अभाववाचक हैं और सोलह भाववाचक हैं। जिस तरह भावोंके प्रतियोगी अभाववाचक भाव गीताके श्लोकोंमें दिये नहीं हैं, उनके अभाववाचक शब्दोंकी कल्पना यहां करनी चाहिये या नहीं, यह यहां पहली शंका होती है। सुविधाके लिये गीतोक्त शब्द स्थूल अक्षरोंमें और प्रतियोगी भावोंमें कल्पित शब्द सूक्ष्म अक्षरोंमें दिये जाते हैं—

१ बुद्धिः	(अबुद्धिः)
२ ज्ञानं	(अज्ञानं)
३ असंमोहः	(संमोहः)
४ क्षमा	(अक्षमा)
५ सत्यं	(असत्यं)
६ दमः	(अदमः)
७ शमः	(अशमः)
८ सुखं	९ दुःखं
१० भावः	११ अभावः
१२ भयं	१३ अभयं
१४ अहिंसा	(हिंसा)
१५ समता	(विषमता)
१६ तुष्टिः	(असंतोषः)
१७ तपः	(अतपस्विता)
१८ दानं	(अदानं)
१९ यशः	२० अयशः

यहां गीतामें कहे भावोंके पीछे अभाव दिये गये हैं।

सुख	दुःख
भाव	अभाव
भय	अभय
यश	अयश

यदि ये भाव दोनों सयोगी और प्रतियोगीके रूपोंमें दिये हैं तो—

ज्ञान	अज्ञान
सुख	दुःख

इत्यादि दूसरे भाव क्यों दोनों रूपोंमें न दिये जायें? उचित यही है कि ये सब भाव दोनों रूपोंमेंही लिये जायें। इतनाही नहीं, किन्तु यहां अपनी गणित मानवीय मनमें उत्पन्न समस्त भावोंका ग्रहण किया जाना चाहिये। क्योंकि व्यवहारमें केवल इतनेही भाव तो नहीं। प्राणियोंके व्यवहारमें असंख्य भाव दिखाई देते हैं उन सबपर विचार होना चाहिये, जैसे—

अक्रोध	क्रोध
अकाम	काम
शान्ति	अशान्ति
अमत्सर	मत्सर
निर्ममत्व	ममत्व
त्याग	लोभ

इत्यादि अनेक मानस भाव हैं। सभी भाव ईश्वरीय योजनासे होते हैं। ऐसा कोई भाव नहीं है कि जो ईश्वरके साथ संबंध नहीं रखता। अतः यहां जो बीस भाव गिनाये हैं, वे केवल उपलक्षण मात्र हैं, तथा संयोगी प्रतियोगीके रूपमें गिनाये गये भाव भी मानवीय समस्त संभव भावोंके दिग्दर्शक ही हैं। इनसे अन्य भावोंके भी सयोगी और प्रतियोगी भाव ले लेने चाहिये। इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

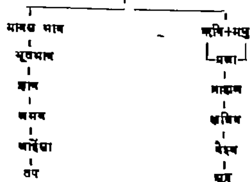
भूतानां पृथग्विधा भावाः मत्त एव भवन्ति।
(गी. १०।५)

'भूतोंके पृथक् पृथक् अनेक भाव ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं। जन्म मृत्यु धन असत्य निर्भयता भय, सुख दुःख ये सभी भाव ईश्वरसे होते हैं। इनमें एक भी भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरसे न हुआ हो। आगे कहा जानेवाला विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन जभी समय समझमें आयेगा तब ये भाव समझमें आ जायेंगे। यह समझना भी अनुचित न होगा कि यहां संक्षेपसे विभूतियोग और विश्वरूपदर्शनयोगकाही वर्णन किया गया है।

महर्षि और मनु ईश्वरके मानस पुत्र हैं। इनसेही इस लोककी प्रजा रची गयी है अर्थात् यह प्रजा भी ईश्वरसेही उत्पन्न हुई है। यह भी विभूतियोगही है और यही विश्वरूपदर्शनमें परिपक्व होनेवाला विचार है।

(१) सतत योगका लक्षण ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥



इस तरह ईश्वरसे मानस भाव हुए और उन मानस भावोंसे प्रजा भी युक्त हुई। ईश्वरसे ज्ञान उत्पन्न हुआ उससे युक्त ज्ञानी ब्राह्मण हुए। ईश्वरसे निर्भयता हुई उससे निर्भयवृत्तिवाले क्षत्रिय बने। ईश्वरसे अहिंसा हुई उस अहिंसा अर्थात् पालन भावसे युक्त पशुपालन करनेवाले वैश्य हुए। ईश्वरसे तप हुआ और इस तपका कार्य करनेवाले शूद्र हुए। ईश्वरसे इसी तरह क्रोध तथा मन्यु हुआ उससे युक्त क्रोधी मनुष्य हुए। इसी प्रकार अन्यान्य भावोंके विषयमें जानना चाहिये।

ईश्वरसे गुणरूप मानस भाव उत्पन्न हुए, और उन गुणोंको धारण करनेवाले मानवादि प्राणी तथा अन्यान्य भूत उत्पन्न हुए। इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि सब भूतोंमें जो अनंत भाव हैं वे सबके सब ईश्वरसे बने हैं, अतः ये सब ईश्वरकी विभूतियाँ हैं और इसी कारण विश्वरूप यह सब इस ईश्वरकाही विश्वरूप है।

ये ईश्वरकी विभूतियाँ हैं और यह ईश्वरीय सामर्थ्यका अद्भुत कौशलयोग है। (वासुदेवः सर्वम्। गी. ७।१९) पूर्व अध्यायमें वासुदेव अर्थात् ईश्वरही सब कुछ है ऐसा कहा गया है। उसीका स्पष्टीकरण है। यह सब कुछ ईश्वर अर्थात् (वासुदेवः सर्वम्।) कैसे है? इस प्रश्नके उत्तरमें गीताने कहा है कि सर्व प्रथम ईश्वरके संकल्पसे मानस भाव उत्पन्न हुए और उनको धारण करनेवाले भूतमात्र बने, वेही ये सब प्राणी हैं। अतः वेही उसकी विभूतियाँ हैं और यही उसका विश्वरूप है और इसीलिये वासुदेवही सब कुछ है।

अविकम्पित योग

जो यह सब जानता है उसका योग स्थिर हो जाता है, क्योंकि योगका अर्थ ईश्वरके साथ मिल जाना है। सुख-दुःख, भय-अभय, भव-अभाव आदि सब भाव परमेश्वरसे हैं और इन भावोंसे युक्त सब प्रजा ईश्वरके मानस-भावोंसेही बनी है जब मनुष्यको यह निश्चित ज्ञान हो जाता है तब उसके सामने जो भी भाव अथवा भूत आते हैं उसे वह परमेश्वरकेही भाव प्रतीत होते हैं। इस तरह उसका परमेश्वरके साथ सतत अखंड योग हो जाता है क्योंकि उसके लिये विश्वका हरएक भाव ईश्वरकाही भाव है। फिर वह ईश्वरसे दूर कैसे होगा? यही कारण है कि वह इस ज्ञानसे—

सः अविकम्पेन योगेन युज्यते। (गी. १०।७)

वह अविचलित योगसे युक्त होता है। अर्थात् उसका सदा ईश्वरके साथ योग बना रहता है। जो वह करेगा, जहाँ वह जायेगा जिसका वह विचार करेगा, वह ईश्वरके साथही संबंधित होगा। इसीका नाम 'अविकंपित योग' है। जबतक सब भाव ईश्वरकेही हैं, यह ज्ञान यथार्थ नहीं हो जायगा तबतक होनेवाला योग विकंपित अथवा चंचल योग होगा। परन्तु जब सभी भाव ईश्वरसे हैं यह ज्ञान निश्चित रूपसे होगा तब इसका योग अविकंपित अविचलित अथवा स्थिर योग होगा। इसका क्रम देखिये—

अन्वय— अहं सर्वस्य प्रभवः (अस्मि) मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इति मत्वा बुधा भावसमन्विताः मां भजन्ते ॥ ८ ॥ मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः परस्परं बोधयन्तः कथयन्तः च नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥ (एवं) सततयुक्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां तं बुद्धियोगं ददामि येन ते मां उपयान्ति ॥ १० ॥ तेषां एव अनुकम्पार्थं अहं आत्मभावस्थः (सन्) भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः नाशयामि ॥ ११ ॥

मैं (ईश्वर) सबका उत्पत्तिकर्ता हूं, मुझ (ईश्वर) सेही सब कुछ प्रवृत्त होता है यह जानकर ज्ञानी लोग श्रद्धासे मेरा (ईश्वरका) भजन करते हैं ॥ ८ ॥ मुझ (ईश्वर) में चित्त लगाकर प्राणतक मुझे (ईश्वरके लिये) ही समर्पण करके परस्पर बोध करते हुए और मेरा (ईश्वरका) वर्णन करते हुए और नित्य संतुष्ट तथा आनन्दित रहते हैं ॥ ९ ॥ इस प्रकार सतत इस योगको करनेवालों और प्रेमपूर्वक मेरा (ईश्वरका) भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूं जिससे वे मेरे (ईश्वरके) पास आ जाते हैं ॥ १० ॥ उनकेही ऊपर दया करनेके लिये मैं उनकी आत्माके भाव (बुद्धि) में रहता हुआ, प्रकाशमय ज्ञानदीपसे उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश करता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ— ईश्वर सबको उत्पन्न करता है, सबको प्रेरणा देता है, उसकी प्रेरणासेही वस्तुमात्र अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त है। यह जानकर साधक श्रद्धाभक्तिसे युक्त होकर परमेश्वरका भजन करते जावें। ईश्वरमें चित्त स्थिर करें ईश्वरके कार्यके लिये अपना जीवन समर्पण करें स्वयं ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करके वह ज्ञान दूसरोंको देनेका यत्न करें ईश्वरके गुणोंका संकीर्तन करें ईश्वरके गुणस्मरणमें आनन्द प्राप्त होनेका अनुभव करें। इस तरह जो लोग सतत योग करेंगे उनको ईश्वरसेही एक अद्भुत बुद्धियोग प्राप्त होगा जिससे वे सदा ईश्वरके साथ रह सकेंगे और ईश्वरसे कदापि दूर न होंगे। उनकी आत्मबुद्धिमें परम ज्ञान प्रकाशित होगा और इस कारण उनका अज्ञान पूर्ण रूपसे दूर हो जायगा और वे कृतकृत्य हो जायेंगे ॥ ८-११ ॥

(८-११) ईश्वरसे सबकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि सृष्टिकर्ता वही है वही एक सबका उत्पन्न करनेवाला है। उसी ईश्वरसे संपूर्ण वस्तुओंकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् ईश्वरकी प्रेरणासे सब विश्वके पदार्थ अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। इस संपूर्ण विश्वमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है कि जो ईश्वरकी प्रेरणासे रहित सर्वथा स्वतंत्र रूपसे प्रवृत्त हुआ हो। अतः यह निश्चय जानना चाहिये कि जो कुछ इस विश्वमें प्रवृत्ति दीखती है वह सभी एक अद्वितीय ईश्वरसे हुई है।

प्रवृत्तिका आदिकारण परमेश्वर है ऐसा सत्यतया निश्चित हो जानेपर परमेश्वरपर श्रद्धा भक्ति और अटल विश्वास स्थिर हो जाता है और ऐसे ज्ञानी भक्त सतत उसीका भजन करने लगते हैं।

वे ज्ञानी ईश्वरमें चित्त लगाते हैं, उसीमें मन स्थिर करते हैं, अथवा उनका चित्त निरंतर उसीपर लगा रहता है। उससे भिन्न कोई वस्तु न होनेके कारण वहां चित्त लगनेपर उनको वहां ईश्वरकाही भाव प्रतीत होगा। जो भाव उनके सामने आता है वह ईश्वरकाही भाव होनेसे ईश्वरको सर्वत्र प्रत्यक्ष करनेके कारण उनका मन सदा ईश्वरहीमें स्थिर रहता है।

उनके प्राण भी ईश्वरके लिये समर्पित होते हैं। ईश्वरका कार्य करनेके लिये उनके प्राण लग जाते हैं, अर्थात् उनका संपूर्ण जीवन ईश्वरके कार्यके लिये समर्पित होता है। उनका जीवन निजी स्वार्थके लिये नहीं होता प्रत्युत ईश्वर-सेवाके लिये होता है। ईश्वरका कार्य करते हुए यदि मृत्यु भी आजाय तो उनको परम आनंद होता है।

वे स्वयं ईश्वरके अद्भुत सामर्थ्यका विचार करते हैं उस सामर्थ्यको समझते हैं और दूसरोंको समझाते हैं। वे इस ज्ञानको दूसरोंको देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं। इसीलिये वे उपदेश देते रहते हैं ईश्वरतत्त्वका ज्ञान संपादन करते रहते हैं प्रवचन करते हैं और ऐसा यत्न वे करते हैं, जिससे ईश्वरके गुण मनुष्योंको विदित हों। व इसी गुणस्मरणसे संतुष्ट होते हैं और प्रसन्न होते हैं।

सतत योगी

जो पूर्वोक्त ईश्वरविषयक तत्त्वज्ञान जानते उपदेश करते हैं और उसीमें रमते हैं जिनका चित्त सदा उसी ईश्वरमें लगा रहता है और जिनका जीवन परमेश्वरको समर्पित हुआ होता है तथा जिनका शरीर, मन वाणी सदा ईश्वरमय होता है उनका सतत योगी कहा

(४) किस किस भावमें ईश्वरका चिंतन करना चाहिये ?

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव । न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः । याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् । केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन । भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अन्वयः- अर्जुन उवाच- भगवान् परं ब्रह्म परं धाम परमं पवित्रं (अस्ति)। सर्वे ऋषयः त्वां शाश्वतं दिव्यं आदिदेवं अजं विभुं पुरुषं आहुः ॥ १२ ॥ तथा देवर्षिः नारदः असितः देवलः व्यासः (कथयति) त्वं च स्वयं एव मे ब्रवीषि ॥ १३ ॥ हे केशव ! यत् मां त्वं वदसि तत् एतत् सर्वं (अहं) ऋतं मन्ये। हे भगवन् ! देवाः दानवाः (वा) ते व्यक्तिं न हि विदुः ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ! त्वं स्वयं एव आत्मना आत्मानं वेत्थ ॥ १५ ॥ (यया) याभिः विभूतिभिः त्वं इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि (ताः) दिव्याः आत्मविभूतयः हि अशेषेण वक्तुं अर्हसि ॥ १६ ॥ हे योगिन् ! सदा परिचिन्तयन् अहं त्वां कथं विद्याम् ? हे भगवन् ! केषु केषु च भावेषु त्वं मया चिन्त्यः असि ? ॥ १७ ॥ हे जनार्दन ! आत्मनः योगं विभूतिं च भूयः विस्तरेण कथय। (यतः) अमृतं शृण्वतः हि मे तृप्तिः न अस्ति ॥ १८ ॥

अर्जुन बोले- आप परब्रह्म हैं परम धाम हैं और परम पवित्र हैं। सब ऋषि आपको शाश्वत दिव्य आदि देव अजन्मा विभु और उत्तम पुरुष कहते आये हैं ॥१२॥ देवर्षि नारद असित, देवल और व्यास भी यही कहते हैं और आप स्वयं भी मुझे ऐसाही कह रहे हैं ॥ १३ ॥ हे केशव ! आप जो भी मुझसे कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूं। हे भगवन् ! देव और दानव आपका स्वरूप नहीं जानते ॥ १४ ॥

जाता है। उनकाही जीवन पूर्ण योगमय होता है उनकाही सदा चार अखंड योग हुआ करता है। जिस अवस्थामें वे रहेंगे उस अवस्थामें उनका योग होता रहेगा यह खंडित नहीं होता। ईश्वरके लिये आत्मसमर्पण करनेसे उनको प्रेम होता है और प्रेम भरे चित्तसे वे सदा यह योग करते रहते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि उनके द्वारा स्वभावसे यह योग होता रहता है।

इस तरह योगियोंकी बुद्धि इसी योगसे युक्त होती है। मानों उनकी बुद्धिमें दूसरा कुछ विषय रहताही नहीं। इस कारण वे सदाही परमेश्वरके पास रहते हैं परमेश्वरका एकत्व प्राप्त कर लेते हैं। उनकी आत्मा बुद्धि कदापि वहांसे नहीं हटती क्योंकि वह हटकर जहां जायगी वहीं ईश्वर प्राप्त होगा। इस अवस्थाका नाम बुद्धियोग है। यह बुद्धियोग जिन्हें प्राप्त हुआ है वे सदा ईश्वरसे संयुक्त रहते हैं उनके ऊपर परमेश्वरकी अनुकम्पा होती है। वे लोग ईश्वरकी दयाके पात्र होते हैं। उनकी आत्मबुद्धिमें परमेश्वर जाग्रत है ऐसा कहा जाता है। सच तो यह है कि परमेश्वर तो सभी लोगोंमें निरंतर जाग्रतही रहता है परंतु उसकी जागृतिका अनुभव उन महानुभावोंकोही होता है जो पूर्वोक्त बुद्धियोगसे युक्त होते हैं। इस तरह आत्मबुद्धिमें सदा परमेश्वरकी ऐसी जागृति होनेपर जो शुद्ध ज्ञान बुद्धिमें स्वयंही जग उठने लगता है और ज्ञानका प्रकाश होतेही अज्ञान अंधकार नष्ट हो जाता है। इस तरह अज्ञानका नाश होनेसे अन्तमें मुक्ति प्राप्त होती है।

श्रीभगवान्के मुखारविंदसे इतना विवेचन श्रवण करनेपर अर्जुन ईश्वरकी सर्वत्र उपस्थित भावनेका यत्न करने लगा। इस यत्न करनेकी अवस्थामें उसके मनमें कुछ शंकायें उपस्थित हुईं, वह अब उनको भगवान्के सम्मुख रखता है—

हे पुरुषोत्तम, भूतोंके उत्पादक, भूतोंके ईश्वर, देवोंके देव और जगत्के स्वामिन् ! आप स्वयंही अपने आपको जानते हैं ॥ १५ ॥ अतः मुझसे अपनी उन दिव्य विभूतियोंका वर्णन पूर्ण रूपसे करिये, जिन विभूतियोंद्वारा आप इन लोगोंको व्याप्त कर रहे हैं ॥ १६ ॥ हे योगिन्! नित्य आपका चिन्तन करते हुए मैं किस तरह आपको जान सकता हूं? हे भगवन्! किन किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूं ? ॥१७॥ हे जनार्दन ! अपने योगसामर्थ्यका और अपनी विभूतियोंका फिर मेरे लिये विस्तारसे वर्णन कीजिये। यह अमृतरूप वर्णन सुननेपर भी मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

भावार्थ— पर ब्रह्म परम धाम, परम पवित्र स्वरूप एकही है। सब ऋषि उसी ईश्वरको सनातन दिव्य, पहिला देव, अजन्मा, अनन्त व्यापक और मुख्य पुरुष कहते हैं। उसका यह वर्णन सत्यही है परन्तु उस ईश्वरको यथार्थ रूपसे जाननेमें उससे भिन्न दूसरा कोई समर्थ नहीं है। वही सबका उत्पत्तिकर्ता, और प्रकाशक है। वह स्वयं अपने आपको जानता है। वह इन सब लोकलोकान्तरोंको किन किन विभूतियोंद्वारा व्याप्त कर रहा है, यह विशेष विचारणीय है। किन किन विभूतियोंके रूपमें साधक उसे देखे पहचाने और समझे कि यह इस रूपमें परमेश्वरही है ? साधकको ईश्वरके उन विभूतियोंको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १२-१८ ॥

(१२-१८) परमेश्वरकोही पर ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र कहते हैं। 'पर ब्रह्म' का अर्थ 'श्रेष्ठ बड़ा व्यापक समर्थ तत्त्व' है। 'परम धाम' का अर्थ श्रेष्ठ स्थान अथवा आश्रय निवासका गृह है और 'परम पवित्र' का अर्थ है अत्यंत शुद्ध, किसी प्रकारकी विजातीय मिलावटसे रहित। जो पवित्रतम वस्तु है वह वैसीही है।

इसीको शाश्वत अर्थात् सदा एक जैसा रहनेवाला सनातन चिरंतन, दिव्य अर्थात् द्युलोकमें आकाश में फैला हुआ, प्रकाशमान्, तेजस्वी सबको प्रकाश देने वाला। आदि देव अर्थात् पहिला देव सबके पूर्व जो रहता था और सबके बाद जो रहेगा; अज अर्थात् (अ-जः) जन्मरहित जो सदासे है तथा जो (अजति) इसजगत्‌का प्रेरणा करता है जो चलाता है; 'विभु' अर्थात् जो विशेष प्रभावशाली व्यापक प्रभाव युक्त है, 'पुरुष' अर्थात् (पुरि वसति) इस विश्वरूपी पुरीमें व्यापक और सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

सब ऋषि तथा नारद असित देवल व्यास आदि भी इस प्रभुका वैसाही वर्णन करते हैं। यहां भगवान् ईश्वरका कहना है वह भी वैसाही है। ईश्वरका कथन और ऋषियोंका वर्णन इसके विषयमें एक है इसमें कोई मतभेद नहीं है। मतभेद न होनेके कारण यह यथार्थ मानना चाहिये।

इतना होनेपर भी देव और दानव ईश्वरको पूर्ण रूपसे जानते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां दानवोंका नाम आया है। अतः यह शंका हो सकती है कि दानवोंकी आत्मज्ञान करनेकी समानता कहां है ? इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है कि देव दानव असुर, दैत्य और राक्षस एकही गुरुकुलमें विद्या ग्रहण करते थे। इस विषयमें छान्दोग्य उपनिषद्में ऐसा वचन है—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे, ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वां-
श्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् इति इन्द्रो
हैव देवानाम् अभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां
तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापति
सकाशमाजग्मतुः ॥

(छां० उ० ८।७।२)

देव और असुर ये दोनों आत्माका जाननेकी इच्छा करने लगे क्योंकि आत्माका ज्ञान होनेसे सब लोकों और सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है। देवोंसे इन्द्र और असुरों मेंसे विरोचन ये दोनों इस विद्याके अध्ययन करनेके लिये प्रजापतिके गुरुकुलमें पहुंचे। ये दोनों बत्तीस वर्षतक इस प्रजापतिके गुरुकुलमें अध्ययन करते रहे। इस तरह सिद्ध है कि देव दानव आदि एक विद्यालयमें पढ़ा करते थे इसीलिये यहां कहा है कि देवों और दानवोंको भी परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान नहीं होता है।

देव दैवी शक्तिसे युक्त होते हैं और असुर आसुरी मायाशक्तिसे युक्त होते हैं। दोनोंकी संस्कृति भिन्न होती

हैं क्योंकि ध्येय भिन्न होते हैं। भेदके ये सब चिह्न स्पष्ट हैं, परंतु वे एक विद्यालयमें पढा करते थे, इसमें कोई संदेह नहीं। ये दोनों अध्यात्मविद्या सीखनेके लिये गुरुकुलमें रहते थे। दैत्य असुर और राक्षस भोगकामी होनेके कारण आत्मज्ञान पूर्णतया प्राप्त होनेतक गुरुकुलमें नहीं रहते थे परंतु देव अध्ययन पूर्ण होनेतक गुरुकुलमें रहते थे। पूर्वोक्त प्रजापति आचार्यके गुरुकुलमें विरोचन असुर केवल ३२ वर्षोंही रहा परंतु देवोंका इन्द्र सौ वर्षतक रहकर अध्ययन करता रहा। विरोचनने केवल प्रथम मनोमयपरीक्षा उत्तीर्ण करकेही अध्ययन छोड दिया। परंतु इन्द्रदेवने आगेकी तीनों परीक्षायें उत्तीर्ण की और उत्तम ज्ञान प्राप्त किया। असुरों और देवोंमें यही भेद है। बली प्रह्लाद, रावण आदि असुरोंमें भी बडे विद्वान् थे यह सुप्रसिद्ध है। अतः उनके विद्या अध्ययन करनेमें कोई शंका नहीं है। इसीलिये गीताके इस श्लोकमें कहा है कि देवों और दानवोंको भी परमेश्वरका सत्य स्वरूप यथार्थ रीतिसे विदित नहीं होता।

परमेश्वर पुरुषोंमें उत्तम है भूतोंका उत्पादक है सबका प्रभव है। देवोंका देव अर्थात् देवोंको भी प्रकाश देनेवाला और संपूर्ण जगत्का स्वामी है। वही अपने आपको यथार्थ रीतिसे जान सकता है।

यद्यपि यह परमेश्वर संपूर्ण विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है यह किसी स्थानपर न हो ऐसा नहीं है तथापि किसी किसी स्थानपर वह अपनी शक्ति अधिक प्रकाशित कर देता है। सर्वत्र परमेश्वरकी भूति है परन्तु जहां उसकी शक्ति विशेष प्रकाशित होती है वहां उसकी वि-भूति है ऐसा कहा जाता है। यही भूति और वि-भूति में भेद है। ईश्वर सब जगह है यह किसीको पता नहीं लगता परन्तु जहां उसका सामर्थ्य अधिक है वहां उसका पता लग जाता है। जैसा अग्नितत्त्व सर्वव्यापक है तथापि आग, विद्युत् और सूर्यमें उसकी शक्ति प्रकट होनेसे इन तीन स्थानोंमें उसकी विभूति है ऐसा कह सकते हैं। अतः यहां अर्जुन पूछ रहा है कि हे भगवन्! आप किन किन विभूतियोंसे इन लोकोंको व्याप्त कर रहे हैं? वस्तुतः परमेश्वर सब अणुरेणुमें भी व्याप्त है इसलिये वह किन विशेष स्थानोंको व्याप्त कर रहा है ऐसा प्रश्न करना अनुचितही है। इस समयतक अनेक स्थानोंपर परमेश्वरकी सर्वव्यापकता कही है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुः। (गी. २।२४)

ऐसे स्थानोंपर वह सर्वगत अर्थात् सब वस्तुओंमें व्यापक है, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो सर्वगत है, वह किन किन स्थानोंमें प्रकाशित होता है? यह प्रश्न वस्तुतः कोई अर्थ नहीं रखता। वास्तविक रूपमें देखा जाय तो सर्वव्यापक यह प्रश्न असंगत है। तथापि उसने जिज्ञासा बुद्धिसे प्रश्न किया है और जिज्ञासुके मनमें यह भी एक अवश्य आनेकी है। अग्नितत्त्व सर्वत्र है तथापि आग बिजली और सूर्यमें वह विशेष प्रकट होती है। इसी तरह यद्यपि परमेश्वर सर्वत्र है तथापि किन किन स्थानोंपर वह अधिक प्रकाशित है? इस जिज्ञासा-भावसे यह प्रश्न उचित है। साधारण मनुष्यके अनुभवमें इस विश्वमें अनेक पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, परन्तु परमेश्वर किसी स्थानपर दिखाई नहीं देता इसलिये यहां प्रश्न किया है कि उसका विशेष प्रकाश कहां देखना चाहिये?

साधक परमेश्वरका चिन्तन करना चाहता है, परन्तु वह किसका चिन्तन करे? सर्वव्यापक, अरूप, अगोचरका चिन्तन कैसे किया जाय? चिन्तन करनेके लिये कोई तो वस्तु सामने रहे जो वस्तुके अन्दर हो उसका चिन्तन किस प्रकार हो? अतः प्रश्न है कि किन किन वस्तुओंमें प्रथम हम परमेश्वरकी विभूति देखें?, परमेश्वरकी व्यापकता वहां कैसे अनुभव करें? परमेश्वर तो रूप रहित है निराकार है ऐसा सभी मानते हैं। इस रूपरहितको हम किस रूपमें देखें? इस निराकारको हम किस आकारमें देखें और कैसे ध्यान करें? कहां किस प्रकार आत्मा सर्वेश्वरका भाव है? और वह हम कैसे जान सकते हैं? यही इस प्रश्नका आशय है।

परमेश्वरकी (विभूति) विशेष भूति कहां है? और उसकी अद्भुत शक्तिका कौशलमय योग कहां दिखाई देता है? यह प्रश्न है। इसका उत्तर संक्षेपसे इसी अध्यायके पहिले सात श्लोकोंमें आ चुका है। यह सुनकरही अर्जुनने विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया है। इस प्रश्नका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण विस्तारसे अब दे रहे हैं, वह अमृतके समान अध्यात्मका सार्थक कथनेवाला उपदेश है—

(५) परमेश्वरकी विभूतियाँ

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः । प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् । मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः । इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् । वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् । यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् । प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् । पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् । मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् । झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन । अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च । अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् । कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् । मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् । जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः । मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् । मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप । एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

अन्वयः— हे कुरुश्रेष्ठ ! हन्त दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः ते कथयिष्यामि मे विस्तरस्य हि अन्तः नास्ति ॥ १९ ॥ हे गुडाकेश ! अहं सर्वभूताशयस्थितः आत्मा भूतानां आदिः मध्यं च अन्तः च अहं एव (अस्मि) ॥ २० ॥ आदित्यानां विष्णुः अहं ज्योतिषां अंशुमान् रविः अहं मरुतां मरीचिः नक्षत्राणां शशी च अहं अस्मि ॥ २१ ॥ वेदानां सामवेदः (अहं) अस्मि देवानां वासवः अस्मि इंद्रियाणां मनः अस्मि भूतानां चेतना च अस्मि ॥ २२ ॥ रुद्राणां शंकरः यक्षरक्षसां च वित्तेशः अस्मि वसूनां पावकः शिखरिणां मेरुः च अहं अस्मि ॥ २३ ॥ हे पार्थ ! पुरोधसां च मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि सेनानीनां स्कन्दः सरसां सागरः अहं अस्मि ॥ २४ ॥ महर्षीणां भृगुः गिरां एकं अक्षरं अस्मि

यज्ञानां जपयज्ञः, स्थावराणां हिमालयः च अस्मि ॥ २५ ॥ सर्ववृक्षाणां अश्वत्थः देवर्षीणां च नारदः, गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलः मुनिः (अहं अस्मि) ॥ २६ ॥ अश्वानां अमृतोद्भवं उच्चैःश्रवसं गजेन्द्राणां ऐरावतं, नराणां नराधिपं च मां विद्धि ॥ २७ ॥ आयुधानां वज्रं अहं धेनूनां कामधुक् (अहं) अस्मि प्रजनः कन्दर्पः अस्मि, सर्पाणां वासुकिः अस्मि ॥ २८ ॥ नागानां अनन्तः यादसां वरुणः च अहं अस्मि पितॄणां अर्यमा च संयमतां यमः च अहं अस्मि ॥ २९ ॥ दैत्यानां प्रह्लादः कलयतां कालः च अहं अस्मि मृगाणां मृगेन्द्रः पक्षिणां वैनतेयः च अहं (अस्मि) ॥ ३० ॥ पवतां पवनः अस्मि शस्त्रभृतां च रामः अहं (अस्मि) झषाणां मकरः अस्मि स्रोतसां जाह्नवी च (अहं) अस्मि ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सर्गाणां आदिः मध्यं च अन्तः च एव अहं (अस्मि), विद्यानां अध्यात्मविद्या, प्रवदतां वादः अहं (अस्मि) ॥ ३२ ॥ अक्षराणां अकारः सामासिकस्य च द्वन्द्वः अक्षयः कालः अहं एव च विश्वतोमुखः धाता च अहं (अस्मि) ॥ ३३ ॥ सर्वहरः मृत्युः भविष्यतां उद्भवः च अहं, नारीणां च कीर्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा (च अहं अस्मि) ॥ ३४ ॥ साम्नां बृहत् साम तथा छन्दसां गायत्री अहं मासानां मार्गशीर्षः ऋतूनां च कुसुमाकरः अहं (अस्मि) ॥ ३५ ॥ छलयतां द्यूतं तेजस्विनां तेजः च अहं अस्मि जयः (अहं) अस्मि व्यवसायः (अहं) अस्मि सत्त्ववतां सत्त्वं अहं (अस्मि) ॥ ३६ ॥ वृष्णीनां वासुदेवः पाण्डवानां धनञ्जयः (अहं) अस्मि मुनीनां अपि व्यासः अहं कवीनां उशना कविः (अहं अस्मि) ॥ ३७ ॥ दमयतां दण्डः अस्मि जिगीषतां नीतिः अस्मि, गुह्यानां मौनं, ज्ञानवतां ज्ञानं अहं अस्मि ॥ ३८ ॥ हे अर्जुन ! सर्वभूतानां यत् बीजं तत् अपि अहं (अस्मि), यत् चराचरं भूतं स्यात् तत् मया विना न अस्ति ॥ ३९ ॥ हे परंतप ! मम दिव्यानां विभूतीनां अन्तः न अस्ति एषः तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः प्रोक्तः ॥ ४० ॥

श्री भगवान् बोले— अच्छा, अब मैं अपनी मुख्य मुख्य विभूतियाँ तुझे बताऊँगा क्योंकि उनके विस्तारका तो अन्त ही नहीं है ॥ १९ ॥ हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं सब प्राणियोंमें रहनेवाला आत्मा हूँ, भूतोंका आदि मध्य अन्त भी मैं ही हूँ ॥ २० ॥ मैं आदित्योंमें विष्णु हूँ ज्योतियोंमें चमकनेवाला सूर्य हूँ मरुतोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चन्द्र हूँ ॥ २१ ॥ मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंमें चेतना भी मैं ही हूँ ॥ २२ ॥ मैं रुद्रोंमें शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर हूँ, मैं वसुओंमें पावक अग्नि हूँ, मैं पर्वतोंमें मेरु पर्वत हूँ ॥ २३ ॥ हे पार्थ ! तू मुझे पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति जान मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें सागर हूँ ॥ २४ ॥ मैं महर्षियोंमें भृगु, वाणीमें एक अक्षर ॐ हूँ यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें हिमालय हूँ ॥ २५ ॥ मैं सब वृक्षोंमें अश्वत्थ देवर्षियोंमें नारद गंधर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ ॥ २६ ॥ मैं अश्वोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा हूँ, ऐसा तू जान ॥ २७ ॥ मैं हथियारोंमें वज्र हूँ गौओंमें कामधेनु हूँ, प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम हूँ और सर्पोंमें वासुकी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥ मैं नागोंमें अनन्त नामक नाग और जलचरोंमें वरुण हूँ । पितरोंमें अर्यमा और नियमन करनेवालोंमें यम मैं हूँ ॥ २९ ॥ मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंमें काल हूँ, पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड हूँ ॥ ३० ॥ पावन करनेवालोंमें मैं पवन हूँ, शस्त्रधारियोंमें राम हूँ, मछलियोंमें मगरमच्छ और नदियोंमें मैं गंगाजी हूँ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! मैं सृष्टियोंमें आदि मध्य अन्त हूँ, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और विवाद करनेवालोंमें मैं वाद हूँ ॥ ३२ ॥ मैं अक्षरोंमें अकार, समासोंमें द्वन्द्व अक्षय काल और सर्वतोमुखी सबका आधार हूँ ॥ ३३ ॥ सबका संहार करनेवाली मृत्यु और भविष्यमें उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण मैं ही हूँ । मैं स्त्रियोंमें कीर्ति लक्ष्मी वाणी स्मृति मेधा धृति और क्षमा हूँ ॥ ३४ ॥ सामोंमें बृहत् नामक साम तथा छन्दोंमें मैं गायत्री छन्द हूँ, महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु हूँ ॥ ३५ ॥ मैं छल करनेवालोंमें द्यूत तेजस्वियोंमें तेज जय तथा निश्चय (दृढ संकल्प) हूँ और सत्त्ववालोंका

सत्त्व भी मैंही हूं ॥ ३६ ॥ मैं वृष्णियोंमें वासुदेव और पाण्डवोंमें अर्जुन हूं मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें उशना कवि हूं ॥ ३७ ॥ शासन करनेवालोंमें मैं दण्ड हूं, विजयके इच्छुकोंमें नीति गुह्य बातोंमें मौन और ज्ञानियोंमें ज्ञान मैं हूं ॥ ३८ ॥ हे अर्जुन ! मैंही सब भूतोंका बीज हूं स्थावरजंगम वस्तुमात्र मुझसे रहित नहीं है ॥ ३९ ॥ हे परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। विभूतियोंका यह विस्तार मैंने केवल दिग्दर्शनके लिये किया है ॥ ४० ॥

भावार्थ— ईश्वर सब भूतोंका आत्मा है वही उनका आदि मध्य अन्त है सब भूतोंका बीज भी वही है। ऐसी कोई वस्तु यहां इस विश्वमें नहीं है जो ईश्वरसे विरहित हो। ईश्वरकी शक्तिसेही सब पदार्थ बने हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी विभूति है। तथापि जहां ईश्वरका विशेष प्रभाव दिखाई देता है उसकोही विभूति कहना हो तो तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य नक्षत्रोंमें चन्द्र इन्द्रियोंमें मन गन्धर्वोंमें चित्ररथ मनुष्योंमें राजा पशुओंमें सिंह पक्षियोंमें गरुड शस्त्रधारी वीरोंमें राम, मुनियोंमें व्यास इस प्रकार ईश्वरकी मुख्य मुख्य विभूतियाँ भी अनंत हैं। इन विभूतियोंको ईश्वरकी विभूति जानकर, उनकी शक्तियोंके चिन्तनद्वारा परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये और परमेश्वरको जानना चाहिये ॥ १९-४० ॥

(१९-४०) यहां भगवान् अपनी विभूतियां कहते हैं। एक भूति है और दूसरी विभूति है। भूति का अर्थ— होना, गुण विभव धन ऐश्वर्य महत्त्व शक्ति आदि है और विभूति का अर्थ विशेष प्रभावित होना विशेष गुण तथा विभिन्न विशेष ऐश्वर्य विशेष महत्त्व विलक्षण शक्ति आदि होता है। ईश्वरकी भूति अर्थात् ईश्वरकी सत्ता तो अणुरेणुमें प्रत्येक वस्तुमें प्रत्येक पदार्थमें है परन्तु उसका विशेष प्रभाव थोडेही पदार्थोंमें अनुभव किया जा सकता है। इसीको विभूति कहा जाता है। अर्थात् मनुष्यकी दृष्टिसे यह विभूति है। क्योंकि ईश्वर तो सम भावसे सर्वत्र है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ॥
(गी १३।२७)

समोऽहं सर्वभूतेषु । (गी ९।२९)

सर्वं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥
(गी १३।२८)

इस प्रकार सम भावसे अवस्थित ईश्वरको मनुष्य पहचान नहीं सकता। अतः जहां अधिक प्रभाव दिखाई देता है वहांही वह ईश्वरकी सत्ताका अनुभव कर सकता है। ईश्वरकी भूति प्रत्येक वस्तुमें है अतः जितने पदार्थ हैं उतनी ईश्वरकी भूतियां हैं। विश्वमें पदार्थ अनंत हैं, इसलिये ईश्वरकी विभूतियां भी अनन्त हैं। इसीलिये कहा है कि—

मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति। (गी १०।१९)

ईश्वरकी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं क्योंकि संपूर्ण विश्व भर उसकी विभूतिही है। मनुष्य कहांतक गिनती करे ? इसलिये (प्राधान्यता) मुख्य मुख्य विभूतियां दिग्दर्शनके लिये कही जाती हैं—

सब भूतोंका आत्मा

परमेश्वर सब भूतोंका आत्मा है और सबके बीचमें, सबके अन्तःकरणमें रहता है। सब भूतोंका और वस्तु मात्रका आदि मध्य, अन्त वही है इससे प्रत्येक वस्तुका संबंध उससे निश्चित है। वह सब भूतोंका आत्मा है, ऐसा कहनेसे सब भूतोंमें उसका प्रभाव है यह स्पष्ट हो चुका है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जहां वह नहीं है और जहां उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता। परंतु देखनेवालेकी दृष्टि अल्प होती है इसलिये देखनेवाला पूछता है कि भला उसका प्रभाव कहां दिखाई देता है यह स्थान बताओ ! वस्तुतः ऐसा एक भी अणुरेणु नहीं है जहां उसका विलक्षण प्रभाव न दीखता हो। इसीलिये कहा है कि जो भूत अर्थात् बने हुए पदार्थ हैं उनका आदि, मध्य और अन्त वही है। आदि मध्य अन्तमें सब पदार्थोंकी सब अवस्थाएं आ चुकी हैं।

सबका बीज ईश्वर है और उसका विस्तार यह विश्व है। अतः सब विश्वही उसकी दिव्य विभूति है। परंतु जिसको यह नहीं दिखाई देता और उसका प्रभाव नहीं समझता उसको समझानेके लिये संक्षेपसे दिग्दर्शनरूपसे यहां कुछ विभूतियां गिना देते हैं। उनको जानकर विचार करनेसे पर्याप्त रूपसे ईश्वरकी विभूतियां कैसी हैं, इसका पता लग जायगा।

अब यहाँ जो विभूतियाँ हैं, उनका वर्गीकरण करके एक एक प्रकारकी विभूतियाँ क्रमपूर्वक पृथक् देते हैं जिससे विचार करनेमें सुविधा हो।

क्षत्रिय–विभूतियाँ

विभूतिसंख्या	विभूति	अध्याय-श्लोक
४६	रामः शस्त्रभृतामहम्।	(१०।३१)
४७	वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।	(१०।३७)
४८	पाण्डवानां धनञ्जयः।	(१०।३७)
४९	नराणां च नराधिपम्।	(१०।२७)
५०	सर्पाणामस्मि वासुकिः।	(१०।२८)
५१	अनन्तश्चास्मि नागानाम्।	(१०।२९)
५२	प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्।	(१०।३०)

शस्त्रधारियोंमें राम, वृष्णियोंमें कृष्ण, पाण्डवोंमें अर्जुन, मनुष्योंमें राजा, सर्पजातिमें वासुकि, नागजातिमें अनन्त, दैत्योंमें प्रह्लाद ये मेरी विभूतियाँ हैं।

संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें राम ईश्वरकी विभूति है। जगत्में जितने भी शस्त्रधारी वीर हैं उनमें राम विशेष प्रभावशाली वीर है अतः सब वीरोंमें इसकी विभूति मानी गयी है। वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव (कृष्ण) यह विभूति है और पाँच पाण्डवोंमें अर्जुन विभूति है। यहाँ एक एक विभूतिके अधिकारकी व्यापकता विचारपूर्वक देखनी योग्य है। रामका विभूतिमत्त्व संपूर्ण शस्त्रधारी वीरोंमें है, इसकी इतनी मान्यता समझनी चाहिये। वासुदेवकी महत्ता वृष्णिवंशकी जनतामेंही है और अर्जुनका महत्त्व केवल पाण्डवोंमेंही है।

अर्थात् जगत्के शस्त्रधारी वीरोंमें अर्जुनकी वह प्रतिष्ठा नहीं जो श्रीरामको प्राप्त है। इस तरह विचार करनेपर एक स्थानपर जो विभूति है वह दूसरे स्थानमें विभूति नहीं मानी जाती। यह बात ध्यानमें आ सकती है।

नरोंमें राजा विभूति है। परन्तु जिस राष्ट्रका जो राजा है वह उसी राष्ट्रमें विभूति हो सकता है। क्योंकि राजाकी सत्ता अपने राष्ट्रमेंही होती है। बाहर उसका प्रभाव कम अथवा नहीं हो सकता। सर्पजाति और नागजातिमें क्रमशः वासुकी और अनन्त ये उनके राजा होनेसे विभूति हैं। यहाँ सर्प और नागको मानवोंकीही दो जातियाँ मानकर विचार किया गया है। जो लोग इनको साँप मान कर विचार करना चाहें वे वैसा कर सकते हैं। महाभारतमें सर्प और नाग ये मनुष्य-जातिके लोग थे ऐसा कहा है और कई स्थानोंमें इनको साँप भी कहा है। ये दोनोंही मान किये जा सकते हैं। नागकन्याओंका विवाह आर्योंसे हुआ है। क्योंकि आज आर्योंके कुछ जाति होनेका भी वर्णन है। इसलिये हमने यहाँ इनको मानव-जातीय माना है। वासुकि सर्पोंका राजा व अनन्त नागोंका राजा था। भारतवर्षमें तक्षक सर्प, नाग इन जातियोंके राज्य थे। तक्षशिला नागपुर इत्यादि ग्रामनाम उनका स्मरण दिला रहे हैं।

दैत्य भी एक मनुष्य-जातिही थी। ये लोग क्रूर कर्मोंको करनेवाले थे इस कारण इनसे द्वेष किया जाता था। प्रह्लाद इनका राजा था धार्मिक वृत्तिवाला होनेसे ईश्वरकी विभूति माना गया है। जबतक प्रह्लाद राज्य करता था तबतक दैत्योंके साथ आर्यों और देवोंका युद्ध नहीं हुआ और जगत्में शान्ति रही। इसलिये प्रह्लादको ईश्वरकी विभूति माना गया है।

स्त्री–विभूतियाँ

५३ कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। (१०।३४)

स्त्रियोंमें कीर्ति श्री वाक्, स्मृति, मेधा धृति क्षमा, ये ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। यह कीर्ति यशकी वाचक नहीं है। इन नामोंकी देवता स्त्रियाँ थीं। कीर्ति, श्री स्मृति, मेधा धृति पुष्टि श्रद्धा क्रिया लज्जा और मति ये दस दक्षकी (म. भा. आदिपर्व अ. ६६।१३–१४) कन्याएँ थीं इनमेंसे पहिली ५ यहाँ गिनाई हैं। इन विभूतिरूप स्त्रियोंका संक्षेपसे वर्णन पुराणान्तरमें ऐसे मिलता है—

कीर्ति– दक्षप्रजापतिकी कन्या धर्मपत्नी (म. भा. आदि ६६) विख्यात राजाकी ज्येष्ठ पत्नी (मनुवंश १।२।१।११) बड़ी धर्मशीला थी।

२ श्री– भृगु और ख्यातिकी कन्या। यह भृगुसे विष्णुको प्रदान की थी। क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई लक्ष्मी। इसकी नारायण श्रीविष्णु ये गृहस्थियोंके हित धारण करके आते हैं।

३ वाक्– अम्भृण ऋषिकी पुत्री (ऋ. १०।१२५ इस की ऋषि) ऋषिका। ज्ञानवालोंमें श्रेष्ठ कन्या और तेजस्वी विचारवाली थी।

४ स्मृति– दक्षकी कन्या अंगिरस् ऋषिकी धर्मपत्नी।
५ मेधा– दक्षकी कन्या धर्मकी पत्नी।
६ धृति– धर्म ऋषिकी स्त्री मनु नामके एक दक्षकी स्त्री।
७ क्षमा– दक्षकन्या, पुलह ऋषिकी स्त्री महत्तामकी कन्या।

यह पुराणोंमें इन स्त्रियोंके वर्णनका संक्षेप है। इससे अधिक विस्तार यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन कालकी सुप्रसिद्ध धार्मिक स्त्रियोंमें इनकी। मान्यता विशेष अधिक होनेसे इनकी गणना ईश्वरकी विभूतियोंमें की गई है। ये नाम स्त्रियोंके हैं और यह जातिके वाचक नहीं हैं, इतनाही यहां स्मरण रखना चाहिये। इन ७ स्त्रियोंकी गिनती यहां की है इसलिय आज–इतिहासमें स्त्रियोंमें केवल सातही स्त्रियाँ हो चुकी थीं और इनसे अधिक नहीं ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहां संक्षेपसेही विभूतियोंकी गणना की है। अतः स्त्रियोंमें इनसे अधिक भी विभूतियाँ होना स्वाभाविक है।

ब्राह्मण–विभूतियाँ

११ पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। (१०।२४)
११ देवर्षीणां च नारदः। (१०।२६)
१५ कवीनामुशना कविः। (१०।३७)
१९ महर्षीणां भृगुरहम्। (१०।२५)
२१ सिद्धानां कपिलो मुनिः। (१०।२६)
१४ मुनीनामप्यहं व्यासः। (१०।३७)

पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति देवऋषियोंमें नारद कवियोंमें उशना महर्षियोंमें भृगु सिद्धोंमें कपिल और मुनियोंमें व्यास ईश्वरकी विभूतियाँ हैं।

देवोंका चतुर पुरोहित बृहस्पति प्रसिद्ध है। दैत्योंका पुरोहित शुक्राचार्य जिसको कवि उशना कहते हैं, विख्यात है। इसीके पास मरेहुवोंकी विद्या थी और युद्ध–संरक्षणकी योग्यता वह जानते थे। नारद सबसे बातचीत थे और इनको दमन करनेमें सदा इनकी बड़ी सहायता रहती थी। त्रिभुवनकी वार्ता संगृहीत करनेमें ये बड़े प्रवीण थे। कपिल मुनि यह तत्ववेत्ता थे अतः व्यास पुराणादि महाभारतादि ग्रंथोंके रचयिता थे। इन विद्वान कार्योंके कारणही इनका विभूतियोंमें लिया गया है। विशेष कर्तृत्वके बिना कोई विभूति बन नहीं सकता।

देवोंमें–विभूतियाँ

६ वेदानामस्मि सामवेदः। (१०।२२)
४९ धाताऽहं विश्वतोमुखः। (१०।३३)
१ आदित्यानामहं विष्णुः। (१०।२१)
२ ज्योतिषां रविरंशुमान्। (१०।२१)
९ रुद्राणां शंकरश्चास्मि। (१०।२३)
३९ पवनः पवतामस्मि। (१०।३१)
३ मरीचिर्मरुतामस्मि। (१०।२१)
३२ वरुणो यादसामहम्। (१०।२९)
१४ सेनानीनामहं स्कन्दः। (१०।२४)
११ वसूनां पावकश्चास्मि। (१०।२३)
४ नक्षत्राणामहं शशी। (१०।२१)
१९ प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः। (१०।२८)

पितरोंमें विभूति

३३ पितॄणामर्यमा चास्मि। (१०।२९)

यक्ष–राक्षसोंमें विभूति

१० वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। (१०।२३)

गन्धर्वोंमें विभूति

२२ गन्धर्वाणां चित्ररथः। (१०।२६)

देवोंमें इन्द्र सर्वतोमुख धाता आदित्योंमें विष्णु, तेजस्वियोंमें सूर्य रुद्रोंमें शंकर पावन करनेवालोंमें पवन मरुतोंमें मरीचि जलचरोंमें वरुण सेनापतियोंमें स्कन्द वसुओंमें पावक अग्नि नक्षत्रोंमें चन्द्र प्रजनन करनेवालोंमें कामदेव पितरोंमें अर्यमा यक्षराक्षसोंमें कुबेर गन्धर्वोंमें चित्ररथ ये सब देवोंमें ईश्वरकी विभूतियां हैं।

पृथ्वीपर आठ अन्तरिक्षमें ग्यारह और द्युलोकमें ग्यारह ऐसे सब मिलकर ३३ देव हैं। इनमें आठ वसु ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य मिलकर इकतीस और इन्द्र तथा प्रजापति मिलकर ३३ देव होते हैं। किसी प्रकार गिनती करो ३३ हैं। इनमें उपर्युक्त विभूतियां हैं। इनमें भी पितर यक्ष राक्षस गंधर्व ये देवोंमें भिन्न जातियाँ हैं। सब विभूतियां देवोंमें हैं। पितरोंकी विभूति अर्यमा है गंधर्वोंकी चित्ररथ है यक्ष राक्षसोंमें कुबेर है और सब देवोंकी विभूतियां ऊपर दी गयी हैं।

सार्वभौमिक विभूतियाँ

कई लोग यमराज और कुबेरको देवोंमें गिनते हैं परन्तु यहाँ गीतामें इनको क्रमशः पितरों और यक्ष–राक्षसोंमें गिनाया है। राक्षस, वानर, दैत्य, असुर, देव, पितर, किन्नर, भूत, आर्य व विभिन्न जातियाँ थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यदि इन जातियोंके साथ भारतके देशों और भूप्रदेशोंसे संबंध लगाया जाय तो भिन्न–भिन्न प्रकार लग सकता है। इसके साथ राक्षसदेश दक्षिण भारतके पास द्वीपदेश आदिरियाके पास असुर देश तिब्बतके पास देवोंका प्रदेश पंचनदोंके पास हिमालय किन्नरका प्रदेश किन्नर जातिका विशेष प्रदेश भूत जातिका भूटान (मोरिया) देश और आर्य जातिका आर्यावर्त देश साधारणतः समझा जा सकता है। आजकल देशोंकी मर्यादाओंमें विभिन्नता हो चुकी है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु तब भी और इस समय भी कुछ देशोंके वही नाम हैं। इसलिए उनका प्रदेश निश्चित करना बहुत आसान हुआ है। जैसे आजकल चीन जापान रूस टर्की यूरोप अमेरिका अफ्रीका भारत आदि देशकी जातियाँ और उनकी संस्कृतियाँ विभिन्न हैं उसी प्रकार भारतीय युद्धके समय पूर्वोक्त नामोंकी जातियाँ पूर्वोक्त प्रदेशोंमें निवास करती थीं। भगवद्गीतामें विभिन्न देशोंमें रहनेवाली कई जातियोंकी विभूतियाँ दिखाई हैं यही हमें देखना है। राक्षसों और देवोंका वैर सुप्रसिद्ध है भूतों और आर्योंके झगड़े भी कम नहीं हुए, सर्पों और आर्योंका कितना वैर था यह सर्पसत्र (सर्पोंका विध्वंस) कार्यके प्रमाणसे समझा जा सकता है। ये सब जातियाँ विभिन्न देशोंकी और विभिन्न सभ्यताओंकी थीं इसमें सन्देह नहीं है। तथापि भगवान् श्रीकृष्णने सभी सार्वजातिकी विभूतियाँ दिखाई हैं सभी राक्षसों भूतों और देव जातियोंकी भी दिखाई हैं। यद्यपि देवजाति आर्योंके साथ मैत्री करती थी तो भी किसी समय राजाने जो यज्ञ करके इन्द्र बननेका यत्न किया तो देव उसमें विघ्न करते ही थे। पहले गणेश तथा भूत आदि देवोंने कई राक्षसोंको वर प्रदान करके व मत्त बनाया था जिससे सब त्रिभुवन पादाक्रान्तमें हुआ गया था। इससे इन जातियोंके पारस्परिक वैरभावकी और मित्रभावकी कल्पना हो सकती है। यहाँ इनके इतिहासकी आवश्यकता नहीं है। बताना केवल इतनाही है कि ये सब जातियाँ विभिन्न होनेपर भी गीताकारने इनमें ईश्वरकी विभूतियाँ मानी हैं।

जैसे आर्योंमें राम, कृष्ण और अर्जुन ईश्वरकी विभूतियाँ थीं वैसेही आर्योंकी शत्रु जातियोंमें अर्थात् दैत्यों राक्षसों और सर्पोंमें भी ईश्वरकी विभूतियाँ होती हैं और उनका वे प्रह्लाद, कुबेर और वासुकि हैं, ऐसा यहाँ माना गया है। इसी तरह आज भी हम जैसे भारतीय आर्योंमें ईश्वरकी विभूतियाँ देख सकते हैं वैसेही चीनियों जापानियों रूसियों जर्मनों फ्रान्सीसियों अंग्रेजों तथा अन्यान्य देशवासियोंमें ईश्वरकी विभूतियाँ देख सकते हैं।

ईश्वरकी विभूतिका तत्त्व सार्वभौम है वह किसी देश अथवा जातितक मर्यादित नहीं है। हम जैसे आर्यधर्मियोंमें ईश्वरकी विभूतियाँ देख सकते हैं वैसेही यहूदी ईसाइयों और मोहम्मदीयों तथा अन्य मतवालोंमें भी देख सकते हैं भगवद्गीताका दृष्टिकोण उदार और व्यापक है यही यहाँ बताया है और विभूतियोगका विचार करनेके समय भी दृष्टिकोण रखना चाहिये। नहीं तो कुछ लोग मान लेंगे कि भारतदेश और आर्य धर्मके अन्दरही ईश्वरकी विभूतियाँ हो सकती हैं, अन्यत्र नहीं। किन्तु यह मिथ्या धारणा है। इस रीतिसे जर्मनीका बिस्मार्क, फ्रान्सका नेपोलियन रूसका टॉल्स्टॉय इंग्लैण्डका वर्ड्सवर्थ इटलीका मिकेलेन्जेलो अमेरिकाका वाशिंग्टन (वाशिंगटन) चीनका कन्फ्यूशियस जापानका इतो आदि ईश्वरकी विभूतियाँ हैं इस प्रकार माननेमें कोई हानि नहीं है। यहाँ हमारा यह आग्रह नहीं है कि इन्हें ही विभूति मानना चाहिये अपितु जो योग्य हो उसका माना जाय। ऐसा माननेसे गीताका तत्त्व ठीक तरहसे समझमें आ सकता है।

गुणियोंके गुणोंमें विभूतियाँ

१८ ज्ञानं ज्ञानवतामहम्। (१०।३८)
४५ [illegible] (१०।३६)
३९ मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्। (१०।३८)
६६ दण्डो दमयतामस्मि। (१०।३८)
५८ तेजस्तेजस्विनामहम्। (१०।३६)
६१ सत्त्वं सत्त्ववतामहम्। (१०।३६)
६७ नीतिरस्मि जिगीषताम्। (१०।३८)

५९ जयोऽस्मि। (१०।३६)
६० व्यवसायोऽस्मि। (१०।३६)
५७ द्यूतं छलयतामस्मि। (१०।३६)

ज्ञानियोंमें ज्ञान, विवादकोंमें वाद, गुप्तोंमें मौन, दमन करनेवालोंमें दण्ड, तेजस्वियोंमें तेज, सत्त्ववालोंमें सत्त्वगुण, विजयाभिलाषियोंमें नीति, जय करनेवालोंमें जय, व्यवसायियोंमें व्यवसाय अथवा निश्चय, छल करनेवालोंमें द्यूत ये ईश्वरकी विभूतियाँ हैं।

उत्तम ज्ञान, उत्तम वादविवादकोंकी उत्तम गुप्तता, उत्तम दण्डशासन, उत्तम तेजस्विता, उत्तम बल, उत्तम नीति, उत्तम जय, उत्तम निश्चय और उत्तम छल, ये सब गुण ईश्वरकी विभूति हैं। ये गुण गुणी पुरुषोंमें रहते हैं।

इसी अध्यायके प्रारम्भमें (श्लोक ४ से ५ तक) बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश ये भाव प्राणियोंमें होते हैं वे ईश्वरकी विभूति हैं ऐसा कहा है। इसीका स्पष्टीकरण यहाँ किया है। यह स्पष्टीकरण इस तरह है—

[भ० १०।४-५]	[भ० ७, ९, १०, १६, १७]	
१ बुद्धिः	बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।	(७।१०)
२ ज्ञानं	ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि।	(१०।३८)
३ असंमोहः (निश्चयः)	व्यवसायोऽस्मि।	(१०।३६)
४ क्षमा	नारीणां क्षमा।	(१०।३४)
	क्षमा (दैवी संपत्।)	(१६।३)
५ सत्यं	सत्यं (दैवी संपत्।)	(१६।२)
६ दमः	दण्डो दमयतामस्मि।	(१०।३८)
७ शमः	शमः -- (दैवी संपत्।)	(१६।२)
८ सुखं	दैवी संपद्विमोक्षाय।	(१६।५)
९ दुःखं		
१० भवः (उत्पत्तिः)	अहमादिश्च मध्यं च।	(१०।२०)
	अहमादिः।	(१०।२)
	उद्भवश्च भविष्यताम्।	(१०।३४)
	यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहम्।	(१०।३९)
	बीजं मां सर्वभूतानाम्।	(७।१०)
११ अभावः	भूतानामन्त एव च (अहं)।	(१०।२०)
	मृत्युः सर्वहरश्चाहम्।	(१०।३४)
१२ भयं	द्यूतं छलयतामस्मि।	(१०।३६)
१३ अभयं	अभयं --- (दैवी संपत्।)	(१६।१-३)
१४ अहिंसा	अहिंसा (दैवी संपत्।)	
१५ समता	समोऽहं सर्वभूतेषु।	(९।२९)
१६ तुष्टिः	तपश्चास्मि तपस्विषु।	(७।९)
१७ तपः	यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।	(१७।२७)
१८ दानं		
१९ यशः		
२० अयशः		

यहाँ कुछ शब्दोंका स्पष्टीकरण नहीं हुआ और शेष भाव कहे भी नहीं गये। इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि ईश्वरके अनंत भाव हैं और यहां दिग्दर्शनके लिये थोडेसे कहे गये हैं और उनमें भी थोडोंकाही स्पष्टीकरण किया गया है। इस तरह प्राणिमात्रमें दिखाई देनेवाले भाव, गुण अथवा विशेष प्रभाव ईश्वरकी विभूति हैं। ये भाव, गुण अथवा प्रभाव जिसमें व्यक्त हुआ हो, उसको भी ईश्वर की विभूति कह सकते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये– ज्ञानगुण ईश्वरकी विभूति है, इसलिये जो ज्ञानी है वह भी विभूति है। उत्तम वाद विवादशैली ईश्वरका गुण है अतः जो उत्तम वादविवाद करता है वह ईश्वरकी विभूति है। जय ईश्वरकी विभूति है, अतः जो जय प्राप्त करता है वह वीर ईश्वरकी विभूति है। इसी तरह गुणों और गुणधारियोंको विभूति होनेमें समझना चाहिये।

विद्यामें विभूतियाँ

४४ अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (१०।३२)
४६ अक्षराणामकारोऽस्मि। (१०।३३)
१७ गिरामस्म्येकमक्षरम्। (१०।२५)
५ वेदानां सामवेदोऽस्मि। (१०।२२)
५१ बृहत्साम तथा साम्नाम्। (१०।३५)
५३ गायत्री छन्दसामहम्। (१०।३५)
४७ द्वन्द्वः सामासिकस्य च। (१०।३३)
१८ यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (१०।२५)

विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अक्षरोंमें अ कार वाणीमें ओंकार वेदोंमें सामवेद साम-गानोंमें बृहत्साम छन्दोंमें गायत्री समासोंमें द्वन्द्व और यज्ञोंमें जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति है।

अध्यात्मविद्या ईश्वरकी विभूति है इसलिये जो ब्रह्म वेत्ता हैं वे भी अध्यात्मविद्याधारक होनेसे विभूतिही हैं।

सामवेद और बृहत्साम ईश्वरकी विभूति होनेसे उत्तम सामगायक भी ईश्वरकी विभूतिही हैं। जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति होनेसे जपयज्ञका नियम अनुष्ठान करनेवाले ईश्वरकी विभूति हैं।

‘ अ ’ कारका विश्वरूप

अक्षरोंमें अ कार ईश्वरकी विभूति है यह ईश्वरकी व्यापकता बतानेके लिये विभूति कही है। अकारकेही परिवर्तित रूप अन्य अक्षर हैं, अकारही अन्य अक्षरोंके रूपोंमें ढाला गया है मानों मूल अकार है और शेष सब वर्णमाला अकारका विश्वरूप है। इसी तरह एक अज परमेश्वर विश्वके विविध रूपोंमें ढाला गया है। जैसे विश्व ईश्वरका विश्वरूप है, वैसेही अकारका विश्वरूप वेदम माला है। दोनोंकी समानता देखनेसे ईश्वरका विश्वरूप विश्वमें कैसे है यह ज्ञात हो सकता है। विश्वरूप का ज्ञानेके लिये यह वाक्य उत्तम है। इस ‘ अ ’ कारके विश्वरूपका मनन करनेपर ‘ ईश्वर ’ का विश्वरूप जाना जा सकता है।

समासोंमें द्वन्द्व समास ईश्वरकी विभूति है। यहां परस्परविरुद्ध भाव एक स्थानपर रहते हैं, यह भाव बताया गया है।

समास (सं+आस)= एक स्थानपर अनेकोंकी उपस्थिति।

द्वन्द्व= एक स्थानपर रहनेवालोंका परस्पर युद्ध।

ये दो शब्द परस्परविरोधी भाव बतानेवाले हैं। एक शब्द इकट्ठा होनेका भाव बता रहा है और दूसरा शब्द अलग होनेका भाव बताता है समासोंमें द्वन्द्व का अर्थ यह है कि एकत्र उपस्थित रहनेवालोंमें झगडा। अब देखिये इस विश्वमें क्या चल रहा है ? वेदोंमें अनेक और अभिन्नतामें विभक्तता एकमें अनेक और अनेकोंमें एक, यही इस जगत्में दीख रहा है। यही भाव समासों में इन शब्दोंद्वारा व्यक्त किया गया है। इस प्रकार विचार करके गूढ अर्थ जानना चाहिये।

पशुपक्षियोंमें विभूति

१८ धेनूनामस्मि कामधुक्। (१०।२८)
२४ उच्चैःश्रवसमश्वानाम्
विद्धि माममृतोद्भवम्। (१०।२७)
१५ ऐरावतं गजेन्द्राणाम्। (१०।२७)
१७ मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्। (१०।३०)
१८ वैनतेयश्च पक्षिणाम्। (१०।३०)
२१ झषाणां मकरश्चाहम्। (१०।३१)

गौओंमें कामधेनु घोडोंमें उच्चैःश्रवा हाथियोंमें ऐरावत पशुओंमें सिंह पक्षियोंमें गरुड मछलियोंमें मगरमच्छ ये

ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। कामधेनुका अर्थ ऐसी उत्तम गौ है जो चाहे जिस समय दूध दे देती है कभी नहीं मारती। उच्चैःश्रवा अश्व वह है जो समुद्र मथनेसे आया है जिसे अश्वों वाली घोड़ा कहते हैं। अश्वों ' शब्द और 'वारण' शब्द एकही है। हाथियोंमें ऐरावत नामक श्वेत हाथी जो समुद्रमथनमें मिला है। ये सब ईश्वरकी विभूतियाँ हैं, क्योंकि इनमें शुभ गुणोंकी विशेषता है।

स्थावरोंमें विभूति

२३ मेरुः शिखरिणामहम्।　　(१०।२३)

२५ स्थावराणां हिमालयः।　　(१०।२५)

२६ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।　　(१०।२६)

' शिखरवाले पर्वतोंमें मेरुपर्वत स्थावरोंमें हिमालय एवं वृक्षोंमें अश्वत्थ इन ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। मेरु-पर्वत और हिमालय अपने सौंदर्य और उच्चपनमें विशेषता रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। वृक्षोंमें अश्वत्थ विशेष महत्त्व रखता है। अतः ये इन विभूतियाँ हैं।

जलस्थानोंकी विभूति

२४ सरसामस्मि सागरः।　　(१०।२४)

३१ स्रोतसामस्मि जाह्नवी।　　(१०।३१)

सरोवरोंमें समुद्र और नदियोंमें गंगाजी ईश्वरकी विभूति है। इनका महत्त्व स्पष्ट है।

इंद्रियोंमें विभूति

२२ इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।　　(१०।२२)

' इंद्रियोंमें मन ईश्वरकी विभूति है। क्योंकि मनही इतना समर्थ है कि वह मनुष्योंको सुख भी दे सकता है और दुःख भी। मनही मनुष्योंको सुख देता है और दुःखोंमें भी सुख देता है।

शस्त्रोंमें विभूति

२८ आयुधानामहं वज्रम्।　　(१०।२८)

शस्त्रोंमें वज्र ईश्वरकी विभूति है। क्योंकि वह सब आयुधोंमें श्रेष्ठ आयुध है।

जन्ममृत्युकी विभूति

३४ उद्भवश्च भविष्यताम्।　　(१०।३४)

३४ मृत्युः सर्वहरश्चाहम्　　(१०।३४)

२९ यमः संयमतामहम्।　　(१०।२९)

उत्पत्ति मृत्यु, संयमन करनेवालोंमें यम ये परमेश्वरकी तीन विभूतियाँ हैं। जन्म और मृत्यु इस जगत्में दीखते हैं और ये परमेश्वरसे होते हैं। इनमें परमेश्वरका विलक्षण चातुर्य और अद्भुत शक्ति दीखती है। इनकी अद्भुत शक्तिका यहाँ पता लगता है। यम शब्द यहाँ सब मन नियमन अर्थात् स्वाधीन रखनेका भाव बताता है। उत्पत्ति संयमन अर्थात् पालन और नाश ये तीन भाव सर्वत्र दीखते हैं। जन्म, स्थिति और लय ये ईश्वरसेही होते हैं, जिससे जगत्की स्थिति हो रही है।

कालकी विभूति

३३ अहमेवाक्षयः कालः।　　(१०।३३)

३० कालः कलयतामहम्।　　(१०।३०)

३५ मासानां मार्गशीर्षोऽहम्।　　(१०।३५)

३५ ऋतूनां कुसुमाकरः।　　(१०।३५)

अक्षय काल गिननेवालोंका काल महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसंत ये ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। आगे चलकर ग्यारहवें अध्यायमें भी कहा है कि—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः। (गी० ११।३२)

' लोकोंका क्षय करनेवाला काल मैं हूँ। यह वाक्य भी यहाँ देखनेयोग्य है।

बीज और विस्तार

३९ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
(१०।३९)

३२ सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
(१०।३२)

२२ भूतानामस्मि चेतना।　　(१०।२२)

सब भूतोंका बीज सबका आदि मध्य और अन्त और भूतमात्रकी चेतना ये सब ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। सबका आदि मध्य और अन्त इतना कहनेसे संपूर्ण विभूति इसमें आ गया है। क्योंकि आदि मध्य और अन्त जहाँ है वह ईश्वरकी विभूति है वह अनन्त प्रकार वस्तुमात्रमें लग सकता है। हमने यहाँ १४ विभाग किये हैं और उनमें विभूतियाँ निम्नलिखित प्रकारसे रखी हैं—

(६) विभूतिका लक्षण

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अन्वयः— यत् यत् सत्त्वं विभूतिमत्, श्रीमत् ऊर्जितं एव वा (अस्ति) तत् तत् मम तेजोंऽशसंभवं (अस्ति इति) त्वं अवगच्छ ॥ ४१ ॥ हे अर्जुन ! अथवा एतेन बहुना ज्ञातेन तव किं ? अहं इदं कृत्स्नं जगत् एकांशेन विष्टभ्य स्थितः (अस्मि इति त्वं विद्धि) ॥ ४२ ॥

७ ऋषियोंमें	विभूतियाँ
१ स्त्रीजातिमें	"
(इसमें ७ स्त्रियोंके नाम हैं)	
६ प्रकाशकी	"
१५ देवोंमें	
१० गुणरूप	
८ विद्याकी	"
६ पशुपक्षियोंमें	
१ स्थावरकी	
२ अक्षरस्वात्मकी	"
१ इंद्रियोंमें	"
१ शस्त्रोंमें	
१ जन्ममृत्युकी	
४ कालकी	
१ बीज और विस्तारकी	
७०	

इस प्रकार विभूतियाँ यहां गिनाई हैं । इनमें स्त्रियोंकी सात विभूतियाँ कही हैं उनकी गणना करनेसे ७८ विभूतियाँ दशमाध्यायमें कही हैं । यहां दैत्यों और पशुओंकी विभूतियाँ कही हैं । यह एक विचार करनेयोग्य बात है । इसके अतिरिक्त गीताके सातवें अध्यायमें कुछ विभूतियाँ लिखी हैं उनका भी यहां परिगणन योग्य है । क्योंकि उनका विचार होनेसे यथायोग्य मनन हो सकता है । वे हैं--

१ पुण्यो गन्धः पृथिव्याम् ।	(७।९)
२ रसोऽहमप्सु ।	(७।८)
३ तेजश्चास्मि विभावसौ ।	(७।९)
४ प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।	(७।८)
५ शब्दः खे ।	(७।८)
६ प्रणवः सर्ववेदेषु ।	(७।८)
७ पौरुषं नृषु ।	(७।८)
८ जीवनं सर्वभूतेषु ।	(७।९)
९ तपश्चास्मि तपस्विषु ।	(७।९)
१० बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि ।	(७।१०)
११ तेजस्तेजस्विनामहम् ।	(७।१०)
१२ बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।	(७।११)
१३ धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि ।	(७।११)
१४ बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।	(७।१०)
१५ ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि ।	(७।१२)

पृथ्वीतत्त्वमें गन्ध, जलतत्त्वमें रस, अग्नितत्त्वमें प्रकाश, सूर्यचन्द्रमें प्रभा, आकाशतत्त्वमें शब्द, वेदोंमें प्रणव ओंकार, मनुष्योंमें पौरुष, प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियोंमें तप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें कामरागरहित बल, धर्मके साथ अनुकूल काम, सब भूतोंका सनातन बीज और सब जगत्में दीखनेवाले सात्त्विक राजस और तामस भाव भी परमेश्वरकी विभूतियाँ हैं । प्रणव जीवन, तप, काम बीज ये विभूतियाँ दशमाध्यायमें भी कही गयी हैं शेष नवीन हैं । इन सब विभूतियोंका विचार करनेसे विभूतियोगका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है । यहां सातवें और दसवें अध्यायका साथ साथ विचार करना चाहिये ।

यहां गिनाई विभूतियाँ केवल (उद्देशमात्र) दिग्दर्शनमात्र हैं । इन विभूतियोंकी परिभाषाके विषयमें भगवान् आगे कहते हैं—

जो जो वस्तु वैभवयुक्त, शोभायुक्त और प्रभावयुक्त है वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा तू जान ॥ ४१ ॥ अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत विस्तारको जाननेसे तुझे क्या लाभ होगा ? यह समझ ले कि मैं इस सारे जगत्को अपने (केवल) एक अंशसे व्याप्तकर रहा हूं ॥ ४२ ॥

भावार्थ – जहां वैभव शोभा और प्रभाव है वहीं परमेश्वरकी विभूति है। यह विभूतिका लक्षण है। इससे विभूति जानी जा सकती है। परन्तु इस बातका इतना विस्तार करनेकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझो कि ईश्वर इस जगत्को अपने एक अंशसे व्याप्त कर रहा है। इतना ज्ञान हुआ तो पर्याप्त है ॥ ४१-४२ ।

(४१-४२) परमेश्वरकी विभूति कहां है और कहां नहीं है यह जाननेके तीन लक्षण हैं। जहां विशेष ऐश्वर्य है वहां भी अर्थात् विशेष शोभा है और जहां विशेष प्रभाव या बल है वहां परमेश्वरकी विभूति है। विभूतिका यही लक्षण ध्यानमें रखनेसे कौनसी विभूति है और कौनसी नहीं इसका निश्चित ज्ञान हो सकता है। विभूति मनुष्योंमें हो पशुपक्षियोंमें हो स्थावरोंमें हो अपने देशमें हो अथवा देशान्तरमें हो, कहां वह विभूति है और वह नहीं है इसकी परीक्षा करनेकी तीन कसौटियां यहां कही हैं। इसका विचार करके जाना जा सकता है कि यह विभूति है और यह नहीं।

जहां ऐश्वर्य नहीं जहां शोभा नहीं और जहां प्रभाव नहीं दरिद्रता निस्तेजता और दुर्बलता है वहां विभूति नहीं है।

कई विचारक यहां शंका करेंगे कि छलनेवालोंमें जहां छल करनेवालोंका द्यूत ईश्वरकी विभूति है। (गी १०।३६) ऐसा कहा है वहां द्यूतमें वैभव शोभा और प्रभाव कहां है और वह द्यूत ईश्वरकी विभूति कैसे हो सकता है ? इस विषयमें हमारा यह कथन है कि छल कपट करनेवालोंके पास छल कपटके अनेक साधन होते हैं, उनमें द्यूतही एक ऐसा साधन है कि जहां विशेष छल और कपट होता है। इसलिये यह विभूति है। जैसे घातक-शस्त्रोंमें वज्र विशेष घातक होनेसे विभूति है वैसेही इसे भी समझना चाहिये। छल-कपटमें वैभव और प्रभाव तो है किन्तु सात्विक वैभव सात्विक शोभा और सात्विक प्रभाव नहीं है। इस जगत्में जो जो सात्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं वे सब ईश्वरसे होते हैं ऐसा भ. गी ७।१२ में कहा है और जगत्का आदि मध्य ईश्वरही है ऐसा कहनेसे परमार्थविचार छलकपट भी ईश्वरकीही विभूति है ऐसा मानना ही पड़ता है। यहां छलभावभी परमावधि होनेसे विभूतिमत्व है।

यहां एक शंका उपस्थित होती है कि यदि सबका सनातन बीज (गी ७-१) परमेश्वर है और यदि सात्विक राजस तथा तामस भाव ईश्वरसे होते हैं (गी ७-१२) और यदि सबका आदि मध्य अन्त ईश्वरही है (गी १०-२०) तो प्रत्येक वस्तुही ईश्वरकी विभूति है। और यही भाव 'ईश्वर एक अंशसे सर्व जगत्को व्याप्तकर रहा है।' (गी १०-४२) इस कथनमेंसे भी स्पष्ट है। फिर पांडवोंमें अर्जुनही विभूति है ऐसा क्यों कहा ? क्या अन्य पांडव विभूति नहीं हैं ? यदि वृष्णियोंमें वासुदेवही विभूति है तो उस जातिके अन्य वीर क्यों विभूति नहीं ? इसी तरह प्रत्येक विभूतिके विषयमें प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। इस विषय में पाठक यह निश्चय समझें कि प्रत्येक वस्तु ईश्वरकी विभूति है यही बात सत्य है परंतु यह बात एकदम हरएक मनुष्य के मनमें ठीक प्रकार बैठ नहीं सकती केवल इसीलिये यहां विभूतियोंका परिगणन है। वस्तुतः जैसे अर्जुन विभूति है वैसेही धनराज भी विभूति है। परंतु प्रारंभमें विशेषताकी ओर निर्देश करके यह विभूति है ऐसा कहा है अब आगे ग्यारहवें अध्यायमें श्रीकृष्ण भगवान् कहेंगे कि सब विश्वही ईश्वरकी विभूति है और यही सत्य है।

> एकस्यानेकभावो विभूतिः।
> अनेकेष्वेकस्यानुसन्धानं योगः ॥

अर्थात् 'एकका अनेक हो जाना विभूति है।' विभूति अर्थात् ऐश्वर्य अनेक हैं, ईश्वर एक है। इस प्रकार ईश्वरकृत संसार की अनेकताही उसका ऐश्वर्य है। अतः एकका अनेक हो जाना विभूतिका अर्थ है यही सिद्ध होता है।

अनेकोंकी अनेकता की उपेक्षा करके एकत्वपर दृष्टि स्थिर कर देनाही योग है। इस विभूतिमय संसारमें एक अद्वैत तत्वकी खोज करनाही योगसाधन है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता नामक उपनिषद्में कथित ब्रह्मविद्याके विषयमें हुए, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें विभूतियोग नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायका मनन

विभूतियोग

भगवद्गीताके दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है। 'योग' का अर्थ है कौशल और 'विभूति' का अर्थ है ऐश्वर्य शोभा और प्रभाव। विभूतियोग का अर्थ ऐश्वर्य शोभा और प्रभाव प्रकट करनेका आश्चर्यमय ईश्वरीय सामर्थ्य। यह सामर्थ्य कहां दिखाई देता है इसका विचार इस अध्यायमें किया है।

साधक परमेश्वरका ध्यान करना चाहते हैं। परमेश्वर उनको प्रत्यक्ष हुआ नहीं है, ऐसी अवस्थामें वे कहां किसका ध्यान करें? परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है इतना कहने मात्रसे वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसे दिव्य दृष्टिसे देखना चाहिये। परंतु दिव्य दृष्टि प्राप्त होनेतक क्या किया जावे? इसका उत्तर इस विभूतियोगने दिया है। दिव्य दृष्टि प्राप्त होनेतक और विश्वके रूपमें ईश्वरका साक्षात्कार होनेतक इस जगत्में परमेश्वरकी विभूति देखनी और उसका ध्यान करना चाहिये यही साधना प्रथम अवस्थामें है।

जहां विशेष ऐश्वर्य प्रगट हो रहा है, जहां विशेष अधिक शोभा दिखाई देती है और जहां विशेष प्रभाव अनुभवमें आता है वह ईश्वरकी विभूति है। उस विभूतिकी पूजा करनेसे परमेश्वरकी पूजा होती है। इस साधनावस्थामें साधक किसका ध्यान करें? इसका उत्तर यह है कि साधक किसी भी विभूतिकी उपासना करे और समझे कि यहां ये ईश्वरीय गुण प्रकट हुए हैं और इन गुणोंके रूपमें यह मुझे ईश्वरका साक्षात्कार हो रहा है।

मूर्तिपूजा

यहां मूर्तिपूजाका तत्त्व प्रगट हुआ है। धनुर्धारियोंमें रामचन्द्र विभूति हैं और वृष्णि-वंशियोंमें श्रीकृष्ण विभूति हैं।

धनुर्धारियोंमें एकपत्नी एकवचनी सब प्रजाको आनंद दे-नेके गुण करनेवाला आदि अनेक गुण श्रीरामचन्द्रमें थे। भगवान् श्रीकृष्णमें भी वैसे ही अनेक गुण थे। इन गुणोंके कारण वे विभूतियाँ अपने अपने जीवन-समयमें इस जगत्में चमक गयीं। इनकी पूजा तो उनके जीवन-समयमें ही प्रचलित हुई थी। और उनकी यथायोग्य प्रतिष्ठा भी हुई थी।

इसी प्रकार अनेक वीर अनेक तत्त्वज्ञानी अनेक सत्पुरुष और अनेक विद्वान्‌रूपी विभूतियाँ हो चुकी हैं, जिनके गुणोंका स्मरण भारतीय जनसमाजने अपने अपने कर्मोंमें किया है। आज इस समय हिंदूधर्ममें जो मूर्तिपूजा प्रचलित है उसका मूल इस विभूतिपूजा और इस वीरपूजामेंही है। जहां ऐश्वर्य शोभा और प्रभाव विशेष है वह विभूति ईश्वरीय मानी गयी है। गणपती शंकर गणेश विष्णु आदि अनेक देवताओंकी पूजा हिंदु करते हैं वे कभी शरीर धरके भारतभूमि और बाहरके देशोंमें विद्यमान थे। ये सब एकसमय वीर-विभूतियां थीं। इन विभूतियोंने जनताके शत्रुओंको दूर करके उनको सुखी किया था और प्रभाव प्रकट किया था। इन सबके इतिहास पुराणोंमें लिखे हुए इस समयमें भी मिलते हैं। वह प्राचीन इतिहास ढूंढकर देखना चाहिये और समझना चाहिये कि इस विभूतिने अपने जीवनमें सर्वजन-हितकारी कौनसा कार्य किया था। ऐतिहासिक पुरुषोंमें ऐसी कोई विभूति नहीं थी जो सर्वभूतहितमें रत न रही हो। सर्वभूतोंका हित करनेके प्रशंसनीय कार्यमें जिन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया उनकीही गणना विभूतियोंमें हुई है।

गायकी पूजा पीपलकी पूजा वटकी पूजा, गंगायमुनाकी पूजा, समुद्रकी पूजा हिमगिरिकी पूजा क्यों शुरू हो गयी इसका कारण भी उनकी गणना विभूतियोंमें हो जाती है। मनुष्यके लिये गौ अत्यंत उपयोगी है वैसेही अन्यान्य स्थावर जंगम विभूतियाँ हैं। इस उपयोगिताके कारण उस वस्तुका महत्त्व सिद्ध होता है और उस वस्तुकी पूजा शुरू होती है।

पूजा कैसे करनी चाहिये यह प्रश्न स्वतंत्र है। हमें यहां इतनाही देखना चाहिये कि उस वस्तुके सम्बन्धमें आदर क्यों उत्पन्न हो जाता है। अपनी परिस्थितिके कारण हर एककी पूजाविधि अलग हो सकती है। पूजाविधिमें भेद होनेपर भी आदरमें भेद नहीं हो सकता। मौकी पूजा और विद्वानकी पूजा विभिन्न होगी, परन्तु मनमें आदर-भाव समान होगा।

विद्वान् ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ता और चाण्डालमें समानतया ब्रह्मभाव देखना चाहिये। (गी ५।१८) यह गीतामें कहा है। इसीका अर्थ उसे ब्रह्मकी विभूति अनुभव करना है। परन्तु एकदम यह अनुभव हो नहीं सकता इसलिये कहा है कि जो विशेष उच्च तत्त्वज्ञानी विद्वान् होगा जो विशेष वीरताके कर्म करेगा जो गाय उत्तम दूध देनेवाली और वशमें रहनेवाली हो जो कुत्ता विशेष गुणसंपन्न हो उसकोही ईश्वरकी विभूति मानना चाहिये। यदि एकवार ऐसे अर्थोंमें ईश्वरका सत्त्व देखने का अभ्यास हुआ तो पश्चात् वही अभ्यास बढाया जा सकता है और आगे प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरभाव देखा जा सकता है। अर्थात् विश्वरूपमें ईश्वरका साक्षात्कार होनेके पूर्वकालमें, करनेयोग्य अभ्यास विभूतियोगद्वारा बताया है।

परमेश्वर अपने एक अंशसे इस विश्वभरमें व्याप्त हो रहा है। सब सात्त्विक-राजस-तामस भाव भी उसीसे हो रहे हैं। जिसमें जो वस्तुएं दीख रही हैं, उनका आदि मध्य अन्त उसीसे हो रहा है। सब भूतोंके बीचमें ईश्वर ही आत्माके रूपसे रहता है। सुखदुःखादि सभी भाव ईश्वरसे होते हैं। इतनाही नहीं वहां ईश्वरका संबंध नहीं ऐसा एक भी स्वतंत्र भाव यहां नहीं है। अर्थात् हरएक वस्तुमें ईश्वरका सत्व है। वह यहां विशेष रूपसे है उसकी विशेषता बतानेके लिये उसकी विभूति कहां कैसी है इसका विवरण इस अध्यायमें किया गया है।

इस सम्बन्धमें यहां अधिक समझानेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसके आगेका ग्यारहवां अध्यायही विश्वरूप दर्शनका विषय है और उसके विवरणमें इस सम्बन्धकी सभी बातें विशेष रूपसे दर्शायी जायेंगी। इस कारण यहां इस अध्यायका मनन इतनाही पर्याप्त समझते हैं।

दशम अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १० ॥

दशम अध्यायके सुभाषित

ईश्वरसे सब भाव प्रकट होते हैं।

बुद्धि ज्ञान असंमोह क्षमा सत्य दम, शम सुख दुःख उत्पत्ति विनाश, भय निर्भयता अहिंसा समता संतोष तप दान यश अयश (गी १।४-५) एवं कीर्ति श्री (गी १।३४) तेज, बल व्यवसाय सत्व (बल) (१।३६), आत्मविद्या अध्यात्मविद्या (१।३२) और जीवन तप काम और अन्यान्य सब सात्त्विक राजस और तामस भाव मुझ (ईश्वर) सेही उत्पन्न होते हैं (गी ७।८-१२) ऐसा जानकर इनको स्वाधीन करना चाहिये। क्योंकि वे मेरे वशमें हैं और मैं उनके वशमें नहीं हूं (गी ७।१२)।

इस ज्ञानको सदा मनमें जाग्रत रखकर इन सब अपने भावोंको अपने आधीन रखना योग्य है (७।१२) स्वयं कभी इनके आधीन न होना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी

दशम अध्यायकी विषयसूची

विश्वरूपदर्शनयोग

(१) अध्यात्मज्ञानसे मोहका नाश

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् २
एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वय— अर्जुनः उवाच— त्वया मदनुग्रहाय अध्यात्मसंज्ञितं यत् परमं गुह्यं वचः उक्तं, तेन मम अयं मोहः विगतः ॥ १ ॥ हे कमलपत्राक्ष! भूतानां भवाप्ययौ मया त्वत्तः विस्तरशः श्रुतौ हि, अव्ययं महात्म्यं अपि च (श्रुतं) ॥ २ ॥ हे परमेश्वर! यथा एवं त्वं आत्मानं आत्थ एतत्, हे पुरुषोत्तम! ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि ॥ ३ ॥ हे योगेश्वर प्रभो! मया तत् द्रष्टुं शक्यं इति त्वं यदि मन्यसे, ततः मे अव्ययं आत्मानं दर्शय ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले— आपने मुझपर कृपा करके अध्यात्म-संज्ञक जो परम रहस्य सुनाया है उससे मेरा यह मोह दूर हुआ है ॥ १ ॥ हे कमलनयन! भूतोंकी उत्पत्ति तथा विनाशके सम्बन्धमें मैंने आपसे विस्तृत बातें तथा आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥ हे परमेश्वर! आपने अपने विषयमें जो कुछ कहा है उसी आपके ईश्वरीय रूपको देखनेकी मुझे अभिलाषा है ॥ ३ ॥ हे योगेश्वर प्रभो! यदि आप ऐसे संभव समझते हैं कि मैं आपके उस स्वरूपका दर्शन कर सकूं तो मुझे अपने अविनाशी आत्मस्वरूपका दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

भावार्थ— अध्यात्म ज्ञानको जाननेसे सब प्रकारका मोह दूर होता है। वस्तुमात्रकी उत्पत्ति स्थिति और लय कैसे होते हैं और उनमें परमेश्वरका सामर्थ्य कैसे प्रकट होता है यह जाननेसे परमेश्वरकी इस अद्भुत शक्तिका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इस महाशक्तिका प्रभाव कार्य देखनेसे मनुष्यके मनमें ईश्वरके रूपको साक्षात् करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। जहांतक इस ईश्वरके रूपको प्रत्यक्ष देखनेकी संभावना हो वहांतक मनुष्यको प्रयत्न करके उस अविनाशी आत्माके स्वरूपको देखनेका यत्न करना चाहिये। उसके रूपको देखनेसेही मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है ॥ १-४ ॥

(१-४) श्रीमद्भगवद्गीताका यह ग्यारहवाँ अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है क्योंकि वैदिक धर्म गीताधर्म और मानवधर्मका जो ध्येय या प्राप्तव्य है वह साधकको यहां प्राप्त हो गया है। साधकोंको किस रीतिसे अपना ध्येय प्राप्त करना चाहिये वह रीति भी इसमें बतायी गयी है। साधक के कृतार्थ होनेकी साधना भी इस अध्यायमें स्पष्ट की गई है। इस अध्यायके समझनेके पश्चात् ज्ञातव्य प्राप्तव्य या कर्तव्य कुछ भी शेष नहीं रहता। यह अध्याय मानो गीतागुरुने शिष्यपर परम अनुग्रह करके किया कहा है। गुरुकी यह परम दया है। यह अध्याय समझनेके पश्चात् शिष्यका मोह पूर्णरूपसे दूर हो जाता है। यह अत्यन्त अपूर्व अध्याय है, अतः इस अध्यायका भली भाँति अध्ययन करना चाहिये।

यहांतक भगवान् श्रीकृष्णने गुह्य अध्यात्मज्ञान कहा है उसे सुन अर्जुनका मोह दूर हो चुका है। इसी तरह पूर्वोक्त इन अध्यायोंको जो पढेंगे सुनेंगे और मनन करेंगे उनका भी सब मोह दूर हो जायगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

भूतमात्रका जन्म और लय कैसे होता है तथा उनकी पालना कैसे होती है यह सब इस समयतक विस्तारपूर्वक कहा है जिसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे परमेश्वरका अपूर्व माहात्म्य समझमें आ सकता है। इसम

(२) ईश्वरके अनेक रूप और दिव्य दृष्टि।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

अध्यायमें (श्लो० १ से ११ तक, नवम अध्यायमें श्लो० ४ से ६ तक दशम अध्यायमें श्लो० १४ से २२ तक सप्तम अध्यायमें श्लो० ४ से १२ तक इस प्रकार अनेक स्थानोंपर) जगत्की और भूतोंकी उत्पत्ति स्थिति और विनाशका वर्णन करके अनेक प्रकारसे परमेश्वरके माहात्म्यका वर्णन किया है।

जो यहां तक अत्यन्त वर्णन किया गया है वह अल्पही है; क्योंकि ईश्वरकी महिमा अवर्णनीय है, अनन्त है, अचिन्त्य है। फिर भी थोडेसे थोडीही यहां बताई गई है। इतनी महिमा जाननेके पश्चात् ऐसे अद्वितीय परमेश्वरका साक्षात्स्वरूप कैसा है यह जाननेकी इच्छा साधकके मनमें होनी स्वाभाविकही है। वैसीही इच्छा अर्जुनके मनमें भी हुई है। इसके अतिरिक्त अर्जुनके साथ भगवान् मित्र रहते थे उसके हितके लिये हरएक कर्म करते थे। उन्हींकी यह सब महिमा है और उन्हींका यह अद्भुत सामर्थ्य है ऐसा जाननेसे अर्जुनके मनमें विशेष आश्चर्य हुआ और वह मनमें विचार करने लगा कि अहो! यदि इसी देवाधिदेवका यह त्रिभुवन मनमोहन शरीर है तथा इन्हीका यह अद्वितीय ऐश्वर्य प्रभाव है तो इनका साक्षात्स्वरूप भी कुछ विशेष अद्भुतही होना चाहिये। मैं क्यों न उसे देख लूं? ये भगवान् मुझपर अनेक उपकार करते हैं फिर अपने ईश्वरीय रूपको वे मुझे क्यों न दिखायेंगे? ऐसा विचार करके अर्जुन नम्रताके साथ भगवान्से कहने लगा कि 'यदि आपका ईश्वरीय रूप मैं देख सकता हूं, तो उसको देखनेकी मेरी अभिलाषा है आप कृपा करके वह मुझे दिखाइये।'

भगवान् तो अर्जुनपर सब प्रकारका अनुग्रह करनेके लिये तैयार थे ही। अतः वे अर्जुनके सामने अपने रूपका वर्णन करने लगे।

यहांकी शब्दयोजना विशेष विचारणीय है।—

हे परमेश्वर! ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुम् इच्छामि ॥ (३)
यदि तत् मया द्रष्टुं शक्यं (तर्हि) त्वं मे तत् अव्ययं आत्मानं दर्शय ॥ (४)

"हे परमेश्वर! आपके ईश्वरीय रूपको देखनेकी मेरी इच्छा है, वह रूप यदि मेरे द्वारा देखा जाना सम्भव है तो आप उस अपने अव्यय आत्माको दिखाइये।" यहां दो ही प्रश्न पूछे गये हैं—

१ ईश्वरीय रूपको देखना है और
२ अव्यय आत्माको देखना है।

इन दो आकांक्षाओंमें थोडा भेद है। एकमें अव्यय आत्माका दर्शन करनेकी इच्छा है और दूसरेमें ईश्वरके रूपको देखनेकी अभिलाषा है। अव्यय आत्मा निराकार निर्विकार अरूप अशरीरी पूर्वोक्त प्रसिद्ध है, वह चक्षुका विषय नहीं है (न तत्र चक्षुर्गच्छति) यहां आंख नहीं पहुंचती ऐसा स्पष्ट कहा है। इस अदर्शनीयका दर्शन करनेकी अभिलाषा यहां प्रकट की गई है और दूसरे प्रश्नमें ईश्वरके रूपको भी देखनेकी इच्छा है। यहां रूप शब्दसे वह चक्षुका विषय होना सीधेहि सूचित है। दोनों का एकत्रित अभिप्राय यह है कि— 'निर्गुण अरूप तथा सगुण और साकार भी जहां जाननेवाला आत्मा अर्थात् जो मूर्त और अमूर्त क्या है वह सब प्रकाश हो जाय।'

यहां 'ऐश्वरं रूप' और 'अव्ययं आत्मानं' ये दो शब्द पृथक्पृथक् हैं। ईश्वरकी एक जो बहुत रूपसी कला है यहां उसेही देखनेकी इच्छा प्रकट की गई है। यहां एक शरीर रूपके महत्त्वके भावको ठीक प्रकार समझ लेना चाहिये। यहां अनेक रूपवाले— परमेश्वरके विविध रूप— देखनेकी इच्छा नहीं है। अव्यय आत्माका जो एक अखण्ड रूप है उसेही देखनेकी कामना यहां प्रकट की गई है। अतः इस भावको ध्यानमें रखकर भगवानके उत्तरका विचार करना चाहिये।

अन्वयः— हे पार्थ ! मे नानाविधानि नानावर्णाकृतीनि दिव्यानि च शतशः अथ सहस्रशः रूपाणि पश्य ॥ ५ ॥ हे भारत ! आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ तथा मरुतः पश्य अदृष्टपूर्वाणि बहूनि आश्चर्याणि च पश्य ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश ! कृत्स्नं सचराचरं जगत्, यत् अन्यत् च द्रष्टुं इच्छसि तत् (अपि) इह मम देहे एकस्थं अद्य पश्य ॥ ७ ॥ अनेन एव स्वचक्षुषा तु त्वं मां द्रष्टुं न शक्यसे (अत एव) दिव्यं चक्षुः ते ददामि मे ऐश्वरं योगं पश्य ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न रंगों और भिन्न भिन्न आकृतियोंसे युक्त सैकडों और हजारों दिव्य रूपोंको देखो ॥ ५ ॥ हे भारत ! ये आदित्य वसु रुद्र अश्विनी और मरुत् देखो, पहिले कभी न देखे हुए अनंत आश्चर्य यहांही देख लो ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश ! संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् तथा और भी जो कुछ तुम देखना चाहते हो वह सब (दृश्य) आज मेरे एकही देहमें विद्यमान् देख लो ॥ ७ ॥ इस अपने चर्मचक्षुसे तुम मुझे नहीं देख सकते । इसलिये मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूं । उससे तुम मेरा ईश्वरीय योग-सामर्थ्य देखो ॥ ८ ॥

भावार्थः— ईश्वरके अनेक भेद रंग और आकृतियोंवाले सैकडों हजारों और लाखों रूप हैं । ये आदित्य वसु, रुद्र अश्विनी मरुत् आदि सब उसीके रूप हैं । इसमें ऐसे अनंत अद्भुत आश्चर्य हैं जो कभी पहिले देखे नहीं होंगे । संपूर्ण स्थावर जंगम जगत् और इससे भिन्न भी जो कुछ है वह सब यहां इस ईश्वरके देहमें एकरूप बनकर स्थित है । सूर्यचन्द्र आदि रूपोंकी भिन्नता इस चर्मचक्षुसे मनुष्य देख सकता है परन्तु यह सब अनेकविध भेद यहां एक होकर कैसे स्थित हैं, यह इस चर्मचक्षुसे नहीं देखा जा सकता । अतः भेदोंमें अभिन्नताका दर्शन करनेके लिये दिव्यचक्षु प्राप्त करना चाहिये । यह दिव्यचक्षु जब प्राप्त होगी तभी ईश्वरका विश्वरूप दिखाई देगा और उसमें ईश्वरीय योग भी प्रतीत होगा ॥ ५—८ ॥

(५-८) अर्जुनका प्रश्न था (ऐश्वरं रूपं द्रष्टुं इच्छामि) मैं ईश्वरका रूप देखना चाहता हूं, तथा (अव्ययं आत्मानं दर्शय) अव्यय आत्माका दर्शन कराओ । ईश्वर और अव्यय आत्मा एकही है और वह अद्वितीय है । अर्जुनको इस एक आत्माके रूपको देखनेकी इच्छा हुई है । अर्जुनका पक्का निश्चय था कि ईश्वरका रूप एकही होगा और वह किसी युक्तिसे भगवान् श्रीकृष्ण बतायेंगे ।

अर्जुनका प्रश्न सुननेके पश्चात् भगवान् क्या उत्तर देते हैं यह विचारणीय विषय है । उत्तर इस प्रकार है ।

अर्जुन— हे भगवन् ! मैं आपके अव्यय आत्माका ईश्वरीय रूप देखना चाहता हूं कृपया मुझे दिखाइये ।

भगवान् श्रीकृष्ण— हे अर्जुन ! देखो ये सूर्य वसु रुद्र मरुत्, अश्विनी आदि सैकडों हजारों और लाखों अनेक वर्णों और आकृतियोंवाले अनेक अदृष्ट आश्चर्य यहां देखो । ये सब मेरे रूपही हैं ।

अर्जुन ईश्वरका (एक) रूप देखना चाहता है, उसका प्रश्न सीधा और सरल था । अर्जुनको कल्पनातक नहीं है कि ईश्वरके हजारों रूप होंगे । ईश्वर एक है इसलिये उसका रूप भी एकही होना चाहिये यह अर्जुनका आशय है । परन्तु भगवान् अर्जुनके आशयको समझकर उसका संदेह पूर्णतया मिटानेके लिये कहते हैं कि ‘ ईश्वरके सैकडों, हजारों लाखों और करोडों रूप हैं ये सब सूर्य चंद्र पवन वायु, जल तारक आदि सब ईश्वरकेही अनंत रूप हैं । यहां अनंत आदित्य हैं । अपनी महाकाशमें यह आदित्य दिनके समय हमारे सम्मुख होता है । उसी प्रकार लाखों आदित्य इस आकाशमंडलमें हैं । ये सब आदित्य ईश्वरके रूपही हैं । सब वसु अर्थात् पृथ्वी अग्नि वायु, अन्तरिक्ष द्यौ नक्षत्र चन्द्रमा और आदित्य ये आठ वसु हैं । (म भा. ११ । १२) भाष्यकारोंने वसुओंकी गणना अन्य प्रकारसे भी की है विष्णुपुराणमें कहा है—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥

(विष्णुपुराण)

'धरा (पृथ्वी) ध्रुव (ध्रुवतारा) सोम (चन्द्र) अहः (दिन) वायु, अग्नि प्रत्यूष (सूर्य) और प्रभास (प्रकाश) ये आठ वसु हैं। सबको बसानेके कारण इन्हें वसु कहा है। ये आठ वसु ईश्वरके रूप हैं।

इसी प्रकार ये सब रुद्र अर्थात् सब प्रकारके प्राण भी ईश्वरके रूप हैं। ये मेघमंडलमें दौड़नेवाले तथा शब्द करनेवाले मेघ भी ईश्वरकेही रूप हैं। ये मरुत् अर्थात् सब प्रकारकी वायु भी ईश्वरके रूप हैं, ये अश्विनी देव—ये दो तारे ईश्वरके रूप हैं। इस जगत्में जितने भी आश्चर्य हैं वे सब अन्यान्य आत्माके ईश्वरीय रूप हैं। इस विश्वमें सभी आश्चर्य भरे पड़े हैं। सूर्यका महत्त्व चांदकी [illegible] जलका प्रभाव पृथ्वीकी उत्पादक शक्ति आदि सहस्रों आश्चर्य इस विश्वमें प्रतिक्षण हो रहे हैं वे सब आश्चर्य—वे सबकी सब अद्भुत घटनाएं परमेश्वरकेही रूप हैं। यहां जो नाना रंग नाना आकृतियां नानाविध अपूर्व चमत्कार दिखाई दे रहे हैं वे सबके सब ईश्वरकेही भाव हैं। यहां कोई भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरका न हो। अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् ईश्वरकाही रूप है।

अर्जुन एक ईश्वरका एक रूप देखना चाहता है और उसके प्रश्नसे भी वही भाव व्यक्त होता है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके उत्तरमें ईश्वरके अनन्त रूप होनेका स्पष्ट वर्णन है। यह सुनकर अर्जुन चकित हुआ और उसीके मनमें आश्चर्य लगने लगा कि एक ईश्वरके ये अनंत रूप कैसे हो सकते हैं? इस जगत्में इतनी विविधता है और परस्पर विरोधी भाव भी इतना है कि ये सब भाव एककी आत्माके हैं ऐसा मानना कठिन है। अग्नि और जल एकही ईश्वरके रूप हैं दिन और रात्रि एकही आत्माके स्वरूप हैं जन्म और मरण एकही प्रभुके भाव हैं शत्रु और मित्र एकही हैं इस विश्वमें जो अनंत भाव दिखाई देते हैं वे सब एकही सच्चिदानंद अखण्ड एकरस परमेश्वरके रूप हैं यह कैसे मानें। ज्ञान और अज्ञान शूरता और भीरुता उदारता और कृपणता दया और क्रूरता ये सब एककेही भाव कैसे हैं? अर्जुनके मनमें इस प्रकारकी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अर्जुनके मनमें उत्पन्न इस शंकाको देख कर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको समझानेकी इच्छासे कहते हैं—

इह मम देहे सचराचर कृत्स्नं जगत्
एकस्थं पश्यम्। (७)

इस मेरे (ईश्वरके) देहमें स्थावर जंगमरूप यह जगत् एकरूप होकर स्थिर हुआ है, यह तू देख। जो यहां अलग अलग टुकडे नहीं हैं यहां भिन्नता नहीं, यहां सबकी एकरूपता हुई है भेदवाले सब पदार्थ यहां एकरूपताको प्राप्त हो गये हैं। इस तरह अर्जुनके प्रश्नके साथ उत्तरकी संगति है। यद्यपि प्रारंभमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अपने अनेक रूपोंको दिखाया तथापि उनको भिन्न भिन्न न देखते हुए एकरूप देखनेके लिये उन्होंने कहा। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामान्य दृष्टिसे यहां अनेकविध पदार्थ दिखाई देते हैं तथापि ये पदार्थ विभिन्न नहीं हैं, ईश्वरके स्वरूप देहमें वे एकरूप होते हैं। सामान्य दृष्टिसे पदार्थोंमें विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है परन्तु दिव्यचक्षु प्राप्त होनेपर यह भेद मिट जाता है और सबका मिलकर परमेश्वरका एक सर्वरूपही दिखाई पड़ता है।

उदाहरणके लिये हम ऐसा विचार कर सकते हैं कि भारतीयोंमें वैष्णव शैव सिक्ख आदि भेद दीखते हैं तथापि उनको हम हिन्दु किंवा भारतीय कहके एकरूपमें भी देख सकते हैं। भारतीय माननेसे सब अन्य भेद मिट जाते हैं और अन्य भेदोंको माननेसे सब भारतीयोंकी एकरूपता दूर हो जाती है। हम अपने शरीरमें आंख नाक कान हाथ पांव पेट आदि अवयव पृथक् मानके देखते हैं। यह नाना अवयवोंकी विभिन्नता रहते हुए भी यहां मैं पनकी एकरूपता अनुभव है। इस मैं पनकी एकरूपतामें सब भेदभाव दब जाते हैं। इसी प्रकार और एक उदाहरण है— एक गाडी है उसके गाडी के रूपमें देखनेसे चक्र, आरे धुरी रस्सी आदि जो अनेक पदार्थ गाडी-निर्माणमें लगे हैं उनकी भिन्नता मिट जाती है परन्तु जिस समय हम चक्रोंको अलग करते हैं आरे अलग करते हैं रस्सियां और कील अलग करते हैं तो एकही गाडीमें अनेक विभिन्न पदार्थोंकी अत्यधिक भिन्नताका अनुभव होता है। यहां पृथक् वस्तुओंका अनुभव करना यह सामान्य दृष्टि है और सब एक भाव होकर जो समभाव उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव करना और विभिन्न

(३) विश्वरूपका दर्शन

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः । दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् । अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् । सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा । अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अन्वयः— संजयः उवाच— हे राजन्! एवं उक्त्वा ततः महायोगेश्वरः हरिः पार्थाय परमं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥ ९ ॥ अनेकवक्त्रनयनं अनेकाद्भुतदर्शनं अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधं दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनं सर्वाश्चर्यमयं अनन्तं विश्वतोमुखं देवं (अर्जुनः अपश्यत्) ॥ १० -११ ॥ यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः युगपत् उत्थिता भवेत् तर्हि सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात् ॥ १२ ॥ पाण्डवः तदा अनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगत्, तत्र देवदेवस्य शरीरे एकस्थं अपश्यत् ॥ १३ ॥ ततः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा सः धनंजयः देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः अभाषत ॥ १४ ॥

संजयने कहा— हे राजा धृतराष्ट्र! इस प्रकार कह करके महायोगेश्वर कृष्णने अर्जुनको अपना परमश्रेष्ठ ईश्वरीय रूप दिखलाया ॥ ९ ॥ उसके अनेक मुख और अनेक नेत्र थे उसमें अनेक अद्भुत दृश्य थे उसपर अनेक प्रकारके दिव्य अलङ्कार थे और उसके पास अनेक दिव्य आयुध थे उसपर अनेक दिव्यपुष्प-मालायें थीं और उत्तम वस्त्र थे दिव्यगंध लगाये हुए थे और वह अनेक आश्चर्योंसे युक्त अनंत तथा सर्वतोमुख देव था (उसे अर्जुनने देखा) ॥ १०-११ ॥ यदि आकाशमें एक हजार सूर्योंकी प्रभा एक साथ प्रकट हो तो वह उस महान् आत्माकी कान्तिके समान कदाचित् दीख पड़े ॥१२॥ अर्जुन उस समय अनेक प्रकार विभक्त हुए सारे जगत्को उस देवाधिदेवके शरीरमें एकत्रितसा देखने लगा ॥ १३ ॥ उससे आश्चर्यसे युक्त होनेके कारण अर्जुनका शरीर रोमांचित हो गया और वह मस्तक नमाकर नमस्कार करके हाथ जोड़कर देवसे कहने लगा ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने दिव्यदृष्टि दी और उसको अपना ईश्वरीय विश्वरूप दिखला दिया। उसमें अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक दृश्य अनंत अलंकार अनेक आयुध अनेक पुष्प और अनेक मालाएं, अनेक वस्त्र अनेक प्रकारके गंध और उबटन तथा विविध प्रकारके अनन्त आश्चर्य थे। इतनाही नहीं परन्तु उसके मुख सब ओर दिखाई देते थे। आकाशमें सहस्र सूर्योंकी प्रभा उदित होनेके समान उसकी प्रभा थी। सारा विविध आकृतियोंसे बना हुआ जगत् उसमें एकरूप दिखाई देता था। यह देखनेसे अर्जुन आश्चर्यान्वित हो गया उसका शरीर रोमांचित हुआ उसने उस विश्वरूप प्रभुके सामने अपना सिर झुकाया। और हाथ जोड़कर उसकी स्तुति करने लगा ॥९-१४॥

पदार्थोंके होते हुए भी उनमें एक अखंड सत्ताको देखना दिव्यचक्षुका कार्य है। इसको समझनेका यत्न करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण यही दिव्यदृष्टि अर्जुनको दे रहे हैं।

यह दिव्यदृष्टि प्राप्त होतेही अनंत वस्तुओंके अन्दर एक रूप भरा है इतनाही नहीं परन्तु वस्तुओंकी अनेकता वास्तविक नहीं है किंवा एकही तत्त्व विविध वस्तुओंके रूपोंको धारण करके विश्वरूप बनकर हमारे सामने खड़ा है यह अनुभव हो जायगा। यही दिव्यदृष्टिका अनुभव है। यह दिव्यदृष्टि अर्जुनको कैसे प्राप्त हुई और अर्जुनने परमेश्वरके विश्वरूपको कैसे देखा इसका काव्य मनोज्ञ वर्णन है—

(९-१४) यदि ध्यानपूर्वक देखें तो इस बातका स्पष्ट पता लग जायगा कि यहाँ दिव्यदृष्टि दी इतनाही वर्णन है परन्तु वह कैसे दी किस रीतिसे दी वह क्या वस्तु थी इसका वर्णन नहीं है। दिव्यदृष्टिका स्वरूप अथवा लक्षण यहाँ नहीं बताया। वह दिव्यदृष्टि यहाँ गुप्त रखी गयी है। वह दिव्यदृष्टि क्या थी यह जाननेकी उत्कंठा होती है। इसलिये इसका भी थोड़ासा विचार कर लेना चाहिये।

यहाँ दिव्यदृष्टि केवल अर्जुनकोही दी गयी थी ऐसा वर्णन है। यदि केवल अर्जुनको गुप्त रीतिसे कानमें कही हो और किसीने वह न सुनी हो तो संजयको विश्वरूपका दर्शन किस प्रकार हुआ? क्योंकि वह वर्णन संजय स्वयं विश्वरूपको देखकर कर रहा है। दिव्यदृष्टि न प्राप्त होनेकी अवस्थामें विश्वरूपदर्शन होनेकी संभावना नहीं है। यह बात तो भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कही है और इसीलिये उन्होंने कृपाभावसे अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये। यदि दिव्य चक्षुके सिवा किसीको विश्वरूपदर्शन होनेकी सम्भावना होती तो अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका प्रियसखा होनेके कारण उसको यह दर्शन हो सकता था। यहाँ भगवान्‌के प्रिय सखाको भी जबतक दिव्यचक्षु प्राप्त न हुए तबतक विश्वरूपके दर्शन नहीं हुए। अतः दिव्यचक्षु प्राप्त होनेके बिना विश्वरूपदर्शन असम्भव है ऐसा सिद्ध होता है। फिर संजयने जो विश्वरूपका दर्शन किया वह कैसे किया यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होती है।

युद्धका प्रारम्भ होनेके समय श्रीव्यासदेवजीने संजयसे कहा था कि जो वृत्तान्त युद्धभूमिमें होता रहेगा वह तुम्हें ज्ञात होगा। इस आशयके अनुसार अनुमान है कि दिव्यदृष्टि जिस समय प्रदान की गई अथवा समझा दी उसी समय यह ज्ञान संजयको हुआ होगा। अथवा श्रीभगवान्‌की अर्जुनके साथ बातचीत सबको सुनने योग्य ऊँची आवाजमें होनेके कारणही भगवद्गीता सबको ज्ञात हो गई और श्रीव्यासदेवजी उस गीताको लिख सके। इसीमें दिव्यदृष्टिका प्रदान करना भी है अतः यह ज्ञान संजयको भी उसी समय मिलना स्वाभाविक है। युद्धकी अपूर्व बातें संजयको विदित होती थीं। युद्धके प्रारम्भमें प्रारम्भ होना कही थी और उसी समय उसे दिव्यदृष्टि प्रदान की गई। अतः वह सब संजयको उसी समय विदित हुआ। अर्थात् जिस रीतिसे अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी गयी उसी प्रकार संजयको भी ज्ञात हो गई।

संजयको दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेके कारणही वह परमेश्वरके विश्वरूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुआ। और जैसा उसने देखा वैसा उसने धृतराष्ट्रको बतला दिया। धृतराष्ट्रको प्रत्यक्ष विश्वरूप दिखाई दिया था नहीं यह हम कह नहीं सकते क्योंकि उसको तो चर्मचक्षु भी नहीं थे। अतः केवल कहनेसे उसको विश्वरूपका दर्शन हुआ होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि रूपका दर्शन करनेके लिये आँखें तो चाहिये। भेद इतनाही है कि इन आँखोंसे दीखनेवाली वस्तुओंकी परस्पर भिन्नता सिद्ध करना और एकरूपता दृष्टिगोचर हो। यह तो आँखवालोंकोही हो सकता है, अतः धृतराष्ट्रको संजयके समझानेपर भी प्रत्यक्ष विश्वरूपका दर्शन नहीं हुआ।

यहाँ केवल संजयकोही विश्वरूपदर्शन हो गया, ऐसा नहीं है प्रत्युत उस युद्धभूमिमें उपस्थित कई वीरोंको वह विश्वरूप दिखाई दिया और वे घबराये ऐसा भी आगे वर्णन किया है—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

जिस विश्वरूपमें अनेक नेत्र बाहु ऊरु, पाँव हैं दिखाई देते हैं उस ईश्वरके भयानक विश्वरूपको देखकर जैसा मैं डर गया हूँ वैसे ये सब लोक भी भयभीत हुए हैं। अर्जुनके इस वचनके अनुसार ऐसा मानना पड़ता है कि युद्धक्षेत्रमें अर्जुनने और वहाँ उपस्थित हुए अन्य वीरोंने भी विश्वरूपदर्शन किया और संजयने भी किया। इससे अनुमान है कि दिव्यदृष्टि साक्षात् भगवान्‌ने दी थी यह उपदेश संजयने सुन लिया और उसका भाव ज्ञात किया और उस पद्धतिके अनुसार विश्वरूपका अनुभव किया। अब यह बात रही कि वहाँके अन्य वीरोंने विश्वरूपदर्शन किया वह कैसे किया?

इस घटनाका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तर धीमे आवाजमें नहीं हुए थे। संभवतः ऊँची आवाजमें हुए इति कि जो आसपासके

समीपस्थ १०-१५ मनुष्योंको सुनाई दें। इसलिये जो प्रश्न अर्जुन पूछता था और जो उत्तर भगवान् देते थे वह अर्जुनके सिवाय वहां उपस्थित अन्य वीरोंको भी सुनाई देता होगा। इस तरह अर्जुन मुख्य श्रोता था और ऐसा श्रोता था कि जो युद्धकी सब बातें जानता था। इस रीतिसे सबने गीतोपदेश श्रवण किया। अब जो वीर अर्जुनके रथके आसपास थे उन्होंने भी भगवान्‌का उपदेश मन लगाकर कुतूहलसे सुनाही होगा। उनको भी उससे दिव्यदृष्टिका तत्त्व अर्थात् भेदोंमें अभेद दर्शन करनेका तत्त्व ज्ञान विदित हुआ होगा। अन्यथा विश्वरूप-दर्शनसे उन वीरोंकी घबराहट होनेका अन्य कारण नहीं दीखता।

दिव्यदृष्टि

यहां भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी इसमें संदेह नहीं है। यह बात संजयने सुनी थी और यह अति बुद्धिमान् होनेसे उसने उस दिव्यदृष्टिका तत्त्व जान लिया था इसमें भी संदेह नहीं। क्योंकि भगवद्गीताके अन्तमें भी यह फिर कहता है कि—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥
(गी. १८।७७)

"श्रीहरिके उस दिव्य विश्वरूपका स्मरण करके मुझे बड़ाही विस्मय हुआ है।" विश्वरूपदर्शन संजयने केवल उसी समय किया ऐसा नहीं है। उसका स्मरण उसको पीछेसे भी रहा वह रूप इतनी दृढतासे उसके मनमें जम गया था।

यह कौनसी युक्ति है जिससे मनुष्य ईश्वरके विश्वरूपको देख सकते हैं? संपूर्ण गीतामें ईश्वरीय तत्त्वज्ञानकी सब बातें कही हैं परन्तु जो दिव्यदृष्टिकी मुख्य बात है वह कहीं अन्यत्र भी श्रीव्यासदेवजीने क्यों नहीं लिखी? संपूर्ण गीताकी लिपि करनेवाले व्यासदेवजीको इतनाही दिव्यचक्षुका ज्ञान लेखबद्ध करनेमें क्यों कठिनता प्रतीत हुई? प्रतीत तो ऐसा होता है कि संपूर्ण गीता लिखनेवालेको यह ज्ञान लिखना असंभव नहीं था। तथापि 'मैं दिव्य चक्षु देता हूं?' (दिव्यं ददामि ते चक्षुः) इतना कह कर भी वहां यह युक्ति नहीं दी गई है। ऐसी महत्त्वकी बात क्यों छोड़ी गयी? इसमें कौनसा हेतु होगा यह बड़ा गंभीर प्रश्न है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात श्रीव्यासदेवजीने छोड़ी नहीं न लिखना भूल गये। परंतु यहां न लिखनेका कारण यह है कि यह बात इससे पूर्व कही गयी है इसलिये दुहराई नहीं। सचमुच जो बात यहां कहनी चाहिये थी और जो पूर्वस्थानमें कही जानेके कारण यहां फिरसे नहीं कही गयी वह हम पीछेसे पुनः उद्धृत करते हैं वह दिव्य दृष्टिका विषय ऐसा है—

वासुदेवः सर्वम् ॥ (भ. गी. ७।१९)

"परमेश्वर सब कुछ है।" जो कुछ वस्तुमात्र यहां है वह सब परमेश्वर है। यह कैसे देखा जाय? इसका कैसे अनुभव कर सकते हैं? इसका उत्तर इस रीतिसे दिया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
(गी. ७)

"परमेश्वरकी प्रकृति— अर्थात् उसका शरीर पृथ्वी जल तेज वायु, आकाश मन बुद्धि अहंकार और जीव इस तरह नवविध है। इससे सर्व भूत उत्पन्न हुए हैं अतः परमेश्वर संपूर्ण जगत्‌का उत्पत्तिकर्ता और प्रलयकर्ता है।"

यदि परमेश्वरका शरीर इन नव तत्त्वोंका बना है तो ये तत्त्व जहां होंगे वह परमेश्वरका शरीरही है इसमें संदेह नहीं। इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर देखें कि कौनसी वस्तु इन तत्त्वोंसे नहीं बनी है। प्रत्येक वस्तु इनही तत्त्वोंकी बनी है अतः प्रत्येक वस्तु ईश्वरके अखंड शरीरमें समाविष्ट है। अथवा विश्वभरके सब पदार्थ मिलकर अर्थात् अखंड भावसे *उसमें समाविष्ट* होनेसे यह सब ईश्वरकाही शरीर है।

यदि दूसरी रीतिसे विचार किया जाय तो ऐसा कह सकते हैं कि हम जो नाक जिह्वा नेत्र त्वचा कर्ण मन बुद्धि अहंकार और जीवनसे अनुभव करते हैं अथवा कुछ है ऐसा देखते हैं वह सब परमेश्वरही है। उसीको हम सूंघते चखते देखते स्पर्श करते सुनते मनन करते जानते अहंकार भावसे अनुभव करते और जीवनरूपसे

देखते हैं। अर्थात् हम अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंद्वारा परमेश्वरका ही अनुभव करते हैं।

यहाँ कई पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि हम जो इन्द्रियोंद्वारा जगत्‌का अनुभव करते हैं वह खंडों, टुकड़ों का अनुभव है अखंडताका अनुभव नहीं है। और परमेश्वर अखंड एकरस अटूट अनंत वस्तु है इसलिये नेत्रादि इन्द्रियोंसे उसका अनुभव कैसे कर सकते हैं? यह प्रश्न यद्यपि ठीक है परन्तु इन्द्रियोंका अनुभव भी खंडोंका अनुभव नहीं है उनसे भी अखंड एकरस एकही वस्तुका अनुभव होता है।

उदाहरणके लिये नेत्रका अनुभव लीजिये। बिछौनेसे आप अपनी आँखें खोलते ही सर्वत्र अखण्ड एकरस अटूट रूपका अनुभव होगा। मनुष्य भ्रमसे बीच बीचमें खण्डोंकी कल्पना करता है यह सत्य है, परन्तु वह उसका अनुभव नहीं है। पुनः अपनी आँखें विश्वमें ले जायें, और देखें दो वस्तुओंके रूपोंमें रूपके अभावका अनुभव नहीं होता। यदि दो वस्तुओंके बीचमें रूपका अभाव नहीं है तो वस्तुएं भिन्न होती हुई भी रूप अखण्डही अनुभवमें आता है। एक वस्तुका रूप जहाँ समाप्त हुआ वहाँसेही दूसरी वस्तुका रूप दीखना शुरू होता है उसके समाप्त होतेही तीसरी वस्तुका रूप दीखता है। इस तरह थोड़ासा विचार करनेपर पता लग जाता है कि इस विश्वका रूप खंडित नहीं है, टुकड़ोंवाला नहीं है। इस विश्वमें अखंड और एकरस रूप है। जिस प्रकार रूपकी अखण्ड एकरसता है वैसेही गंध रस स्पर्श शब्द मन्तव्य अहंकर्तव्य और जीवन आदिकी अखंड एकरसता है। टुकड़ों अथवा विभागोंका जो अनुभव है वह काल्पनिक अनुभव व्यावहारिक दृष्टिका है वह सत्य अनुभव नहीं है इसलिये हम कह नहीं सकते कि विश्वमें विभागोंका अनुभव है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंसे जो अनुभव होता है वह अखंडताकाही अनुभव है।

इसीको अ–द्विति कहते हैं। अ–दितिका अर्थ अ–खण्डित है। मनुष्य सदा यही अनुभव लेता है परन्तु न जानता हुआ करता है। एकरसका अनुभव न करता हुआ वह अनुभव लेता है। किंवा एकताका अनुभव करता हुआ पृथक्‌पनका अनुभव हुआ ऐसा मानता है। यही इसका अज्ञान है। इस विवरणसे सिद्ध है कि हम जो व्यवहार कर रहे हैं वह एकही परमेश्वरमें और एकही परमेश्वरके साथ कर रहे हैं। क्योंकि यहाँ वही एक अखण्ड वस्तु है। नाक उसीको सूँघती है, जिह्वा उसीका रस लेती है नेत्र उसीका रूप देखते हैं त्वचा उसीको स्पर्श करती है, कान उसीको सुनते हैं मन उसीका मनन करता है, बुद्धि उसीको जानती है वाणी मैं कहती है और उसीका जीवन सबको जीवरूपमें दीख रहा है।

यही अर्थ वासुदेवः सर्वम् (गी ७।१९) में बताया है और यही अर्थ निम्नलिखित श्लोकोंका है—

> ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्॥
> (गी ४।२४)
>
> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
> मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गी ९।१६)

क्रतु यज्ञ, अर्पण, हविद्रव्य, अग्नि, हवन, स्वधा, औषधि मंत्र, घी यह सब ब्रह्म, (आत्मा, मैं, ईश्वर) ही है। क्योंकि हमें जो अनुभव है वह अखंड, एकरस वस्तुकाही अनुभव है।

> यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
> (ई० उ० ७)

जब विशेष ज्ञानीके लिये सब भूतमात्र उसकी आत्मा हुआ तब उस एकत्वका अनुदर्शन करनेवालेको शोक और मोह कैसे होगा?

इस वेदमंत्रका भी अनुभव यही है। सर्वभूतात्मभूतात्मा (भ० गी० ५।७) यह अनुभव भी इसी ज्ञानसे होता है। सब भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा हुई, अर्थात् सबकी अखण्ड एक आत्मा है ऐसा अनुभव आया तो शोक–मोह पूर्णतया दूर जाते हैं। यही बात नित्यः सर्वगतः (आत्मा)। गी २।२४ 'एक सर्वगत सर्वव्यापक आत्मा है, ऐसा कहकर कही है। सर्वत्र व्यापक अन्तर एकही आत्मा है और यह विश्व उसका स्थूल शरीर है, जिसको हम अल्पविध इन्द्रियोंके कारण पृथिव्यादि भी तत्त्वोंमें देखते हैं वस्तुतः वह एकही वस्तु है। हमारी इन्द्रियोंकी असमर्थताके कारण हमें अभेदमें भेदका अनुभव होता है।

वस्तु। इस तरह इस विश्वके विविध भेदोंमें अभिन्न एक वस्तुका दर्शन हो जाता है। यह अभिन्न अखण्ड वस्तु परमेश्वर है यह विश्व उसकाही शरीर है अतः इस विश्वका रूप उसी परमेश्वरका रूप है, इस रूपकोही 'विश्वरूप' कहते हैं।

विविध भिन्नताओंमें इस तरह अभिन्न वस्तुका दर्शन करनेवाली शक्तिका नामही 'दिव्यदृष्टि या दिव्यचक्षु' है। इस विश्वमें अलग टुकडोंका-भेदभावका विभक्तताका जो दर्शन करता है उसके नाम संसारदृष्टि चर्मदृष्टि, चर्मचक्षु स्थूलदृष्टि आदि अनेक हैं।

संभवतः यह भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका वार्तालाप संजय और वहांके अन्यान्य वीरोंने भी सुन लिया होगा और उनको भी भेदोंमें अभेद देखनेकी पद्धति ज्ञात हुई होगी। इसी कारण संजयने विश्वरूप देखा और वहांके अन्यान्य वीरोंने भी देख लिया परन्तु कुरुक्षेत्रपर उपस्थित सभी क्षत्रियोंने नहीं देखा क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्णकी बातचीत सबोंने नहीं सुनी थी जिन्होंने सुनी और सुनकर भी जिनकी समझमें आगयी उनकोही यह विश्व परमेश्वरका एक अखण्डरूप है यह सिद्धान्त ठीक प्रकार समझमें आ गया।

विश्वरूपका वर्णन

इस प्रकार दिव्यदृष्टिकी पद्धति समझाकर महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना परम ऐश्वरीयरूप-विश्वरूप-दिखला दिया। यह जो विश्वका रूप है वह अपनाही अखण्ड रूप है ऐसा अर्जुनको समझाया। जो हरएकको इस विश्वमें दीखता है वही परमेश्वरका विश्वरूप है वह किसी दूसरेका रूप नहीं है वह रूप अनंत विविध पदार्थोंका नहीं है, प्रत्युत एक अखण्ड भिन्न वस्तु परमात्माकाही है। वहां विविध पदार्थोंमें अभिन्न तत्त्वका दर्शन करना है यह तत्त्व जाननेके पश्चात् जो विश्वरूप अर्जुनने तथा संजयने देख लिया उसका वर्णन इस तरह उन्होंने किया है—

उस देवाधिदेव परमेश्वरके अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक रूप हैं उसपर अनेक दिव्य आभूषण हैं उसने अनेक दिव्य शस्त्रास्त्र लिये हैं (१०) दिव्य पुष्प और दिव्य मालाएं उस प्रभुके शरीरपर हैं उत्तम सुवासिक चंदन और उबटन उसके शरीरपर लगे हैं, उसके मुख सब ओर हैं उसमें अनेक आश्चर्य हैं। (११) आकाशमें सहस्रों सूर्योंका प्रकाश एकसाथ प्रकाशित होनेके समान इसका तेज चमक रहा है (१२) अनेक प्रकारसे अनन्त वस्तुओंमें विभक्त हुआ संपूर्ण जगत् इस प्रभुके देहमें एक होकर स्थित है। अर्थात् प्रभुके देहमें जगत्की विभक्तता हट गयी है। सब प्रकारके भेद यहां नष्ट हो गये हैं और सबका मिलकर अखंड एकरस एकही रूप हुआ है (१३)।'

जो विश्वरूप अर्जुनने और संजयने देखा वह यह है। इसी प्रकार अर्जुनके रथके समीप उपस्थित कई वीरोंने भी इसे देखा। अर्जुन हाथ जोडकर उस देवाधिदेव प्रभुकी स्तुति करने लगा।

परमात्माके रूपमें अर्जुनने और संजयने क्या देखा? अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक अद्भुत रूप अनेक आभूषण, अनेक उठाये आयुध उत्तम पुष्पमालाएं चंदन और उबटन प्रकाश और विविध पदार्थोंकी एकरूपता, इतनाही अर्जुनने देख लिया। इसका अर्थ इतनाही है कि वहां कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिपर अनेक वीर इकट्ठे हुए थे, उन अनेक वीरोंके अनेक मुख अनेक नेत्र और अनेक प्रकारके रूप थे उन्होंने अनेक आभूषण धारण किये थे उनके हाथोंमें अनेक उठाये शस्त्रास्त्र थे उनके शरीरपर उत्तम पुष्पमालाएं थीं, उनके शरीरपर उत्तम चंदन और उबटनोंके लेप लगे थे सब ओर उनके मुख दिखाई देते थे आकाशमें सूर्य प्रकाश चमक रहा था अनेक आश्चर्य दिखते नीचे रहे थे और यह सब विविधता प्रभुके विश्वरूपमें एकरूप होकर दिखाई देती थी।

यह वहांकीही कुरुक्षेत्रकी भूमिपर दिखाई देनेवाला दृश्य था। किसी अन्य प्रकारका अथवा अन्य स्थानका दृश्य नहीं था। उन वीरोंके विविध देहोंमें व्यापनेवाला अभिन्न परमेश्वर है यह ज्ञान पूर्वोक्त दिव्यदृष्टिकी रीतिसे अर्जुनको प्राप्त हुआ। और यह ज्ञान होतेही इस विभक्त विश्वके रूपमें एकरूप परमेश्वर है और उसीका यह सब रूप है ऐसा उसका निश्चय हुआ। जिन्होंने दिव्य आयुध उठाये हैं ऐसे वीर उसी कुरुक्षेत्रमें उसी समय अर्जुनके चारों ओर

(४) विश्वरूपका वर्णन

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

उपस्थित है। उनकोही अर्जुनने देखा और जो दिव्यदृष्टिका ज्ञान उसको प्राप्त हुआ था उसके द्वारा उन्होंने देख लिया कि वे विभिन्न वीर परमात्माके शरीरमें एक प्रकार अभिन्न हैं क्योंकि वे सब परमेश्वरकी अवस्था अथवा अथवा प्रकृतिकेही रूप हैं। उस अवस्था प्रकृतिसे भिन्न कोई नहीं है। जहां अर्जुनकी दृष्टि गयी वहां उसको परमेश्वरकी अवस्था प्रकृतिही दृष्टिगोचर हुई उससे भिन्न कुछ भी अन्य पदार्थ उसे नहीं दीखा। इसलिये उसने कहा कि वह अनेक मुख अनेक नेत्रवाला, अनेक आभूषण और आयुध वाला सर्वतोमुखी देवही मेरे सम्मुख खड़ा है। इन सब वीरोंके रूपमें परमेश्वरही मेरे सम्मुख उपस्थित है।

ध्यान रहे कि इस समय तक अर्जुनकी दृष्टि सब विश्वकी ओर नहीं गयी थी। आयुध उठाये हुए पास खड़े वीरोंकोही वह देख रहा था, इसीलिये उसने कहा कि (दिव्य अनेक उद्यत-आयुध) अनेक दिव्य आयुध उठाये वह देव खड़ा है। यदि उसकी दृष्टि कुरुक्षेत्रके बाहर इस समय पहुंचती तो उसको वही ईश्वर किसी स्थानपर ब्राह्मणके रूपमें अध्यापन कर रहा है दूसरे स्थानोंपर वैश्योंके रूपमें व्यापार कर रहा है तीसरे स्थानपर शूद्रोंके रूपमें परिचर्या कर रहा है चतुर्थ स्थानपर बालकोंके रूपमें क्रीडा कर रहा है और पांचवें स्थानपर स्त्रियोंके रूपमें घरके कार्य कर रहा है ऐसा अनुभव होता। दिव्यदृष्टि प्राप्त होतेही उसने अपनी आंखें अपने सामने खड़े रहे वीरोंपर डाली और वहां देखा तो उसको सर्वेश्वरही आयुध उठाये चंदन लगाये माला पहने अद्भुत दर्शन दीख पड़ा। अलग अलग अनेक वीरोंका भाव जाता रहा और सबका मिलाकर एक विश्वरूप उसको प्रतीत हुआ। देवाधिदेवके विश्वरूपी विराट शरीरमें वे वीर उसके अंग बनकर स्थित हैं यह बात वहां उसने प्रत्यक्ष देख ली।

उसको आश्चर्य हुआ वह विस्मय चकित हो गया, उसके रोंगटे खड़े हो गये और हाथ जोड़ वह उस प्रभुकी स्तुति करने लगा। उसकी दृष्टि जैसे जैसे विश्वमें घूमने लगी, वैसे वैसे प्रभुका विश्वरूप अनंत है इसका भी पता उसको होने लगा। अर्थात् जो अर्जुन ईश्वरका स्वरूप कुरुक्षेत्रके वीरोंतकही देख रहा था, वही आगे जाकर उसी देवाधि-देवका स्वरूप संपूर्ण विश्वमें और तीनों कालोंमें व्याप्त है ऐसा देखने लगा। अब वह अपना अनुभव कैसे कह रहा है यह भी विदित कर लीजिये—

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः— हे देव ! (अहं) तव देहे सर्वान् देवान्, तथा भूतविशेषसङ्घान्, कमलासनस्थं ईशं ब्रह्माणं च सर्वान् ऋषीन् दिव्यान् उरगान् च पश्यामि ॥ १५ ॥ (अहं) त्वां अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं सर्वतः अनन्तरूपं पश्यामि । हे विश्वरूप विश्वेश्वर ! पुनः तव अन्तं मध्यं आदिं च न पश्यामि ॥ १६ ॥ त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं तेजोराशिं सर्वतः दीप्तिमन्तं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिं अप्रमेयं दुर्निरीक्ष्यं च पश्यामि ॥ १७ ॥ त्वं वेदितव्यं परमं अक्षरं त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं त्वं अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता त्वं सनातनः पुरुषः मे मतः ॥ १८ ॥ अनादिमध्यान्तं अनन्तवीर्यं अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं त्वां पश्यामि ॥ १९ ॥ हे महात्मन् ! त्वया एकेन द्यावापृथिव्योः इदं अन्तरं व्याप्तं सर्वाः दिशः च (व्याप्ताः) इदं तव अद्भुतं उग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं हि ॥ २० ॥ अमी हि सुरसंघाः त्वां विशन्ति केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ॥ २१ ॥ रुद्रादित्याः वसवः ये च साध्याः विश्वे अश्विनौ च मरुतः ऊष्मपाः च

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः च सर्वे विस्मिताः एव त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥ हे महाबाहो ! बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं बहूदरं
बहुदंष्ट्राकरालं ते महत् रूपं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम् (अपि व्यथितः अस्मि) ॥ २३ ॥ हे विष्णो ! त्वां
नभःस्पृशं दीप्तं अनेकवर्णं व्यात्ताननं, दीप्तविशालनेत्रं दृष्ट्वा हि (अहम्) प्रव्यथितान्तरात्मा (भूत्वा) धृतिं शमं च
न विन्दामि ॥ २४ ॥ हे देवेश ! हे जगन्निवास ! कालानलसंनिभानि दंष्ट्राकरालानि ते मुखानि दृष्ट्वा एव (अहं)
दिशः न जाने शर्म च न लभे (अतः त्वं) प्रसीद ॥ २५ ॥ अमी च सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः अवनिपालसंघैः सह
एव तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह त्वां (विशन्ति) ॥ २६ ॥ दंष्ट्राकरालानि
भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणाः विशन्ति केचित् दशनान्तरेषु विलग्नाः चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः (युक्ताः) दृश्यन्ते ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवः अम्बुवेगाः अभिमुखाः समुद्रं एव द्रवन्ति तथा अमी नरलोकवीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि
विशन्ति ॥ २८ ॥ यथा पतंगाः समृद्धवेगाः नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति तथा एव लोकाः समृद्धवेगाः, नाशाय तव
अपि वक्त्राणि विशन्ति ॥ २९ ॥ हे विष्णो ! समन्तात् ज्वलद्भिः वदनैः समग्रान् लोकान् ग्रसमानः त्वं लेलिह्यसे । तव
उग्राः भासः तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य प्रतपन्ति ॥ ३० ॥ हे देववर ! ते नमः अस्तु (त्वं) प्रसीद, भवान्
उग्ररूपः कः (अस्ति) ? (तत्) मे आख्याहि । (अहम्) आद्यं भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि । तव प्रवृत्तिं हि अहं न
प्रजानामि ॥ ३१ ॥

हे ईश्वर ! तुम्हारी देहमें मैं सब देवताओंको विविध प्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको वैसेही
कमलासनपर बैठे हुए सबके स्वामी ब्रह्मदेवको सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देख रहा हूं ॥ १५ ॥
मैं अनेक बाहु अनेक उदर अनेक मुख और अनेक नेत्रवाले तथा अनेक रूपोंवाले आपको चारों
ओर देखता हूं । हे विश्वरूपी विश्वेश्वर ! आपका न तो अन्त न मध्य, न आदिही मुझे दीख पड़ता है
॥ १६ ॥ मुकुट गदा तथा चक्र धारण करनेवाले तेजके पुञ्जके समान दीखनेवाले चारों ओर प्रभा
फैलाये हुए विशेष प्रदीप्त अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी अपरिमित और कठिनतासे दिखाई
देनेवाले तेरे रूपको चारों ओर देख रहा हूं ॥ १७ ॥ एकमात्र ज्ञातव्य परम अविनाशी (ब्रह्म) इस विश्वके
अन्तिम आधार, शाश्वतधर्मके संरक्षक और सनातन पुरुष मैं आपकोही मानता हूं ॥ १८ ॥ जिसका आदि
मध्य तथा अन्त नहीं है जिसका बल अनन्त है जिसके असंख्य बाहु हैं चन्द्रसूर्य जिसकी आंखें हैं प्रदीप्त अग्नि
जिसका मुख है और अपने तेजसे इस विश्वको तपानेवाले आपको मैं देख रहा हूं ॥ १९ ॥ हे महात्मन् !
अकेले आपनेही आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर व्याप्त कर रखा है । इसी प्रकार सम्पूर्ण
दिशाओंको भी आपने ही घेर लिया है । आपका यह घोर रूप देखकर तीनों लोक व्यथित हुए हैं ॥ २० ॥
ये देवताओंके समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं । कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़ प्रार्थना कर रहे हैं
महर्षियों और सिद्धोंके समूह स्वस्ति स्वस्ति कहते हुए अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे तुम्हारी स्तुति कर
रहे हैं ॥ २१ ॥ रुद्र आदित्य वसु साध्यगण विश्वदेव दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण ऊष्मप-पितर गन्धर्व
और यक्ष असुर और सिद्धोंके संघ सबही विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहे हैं ॥ २२ ॥ हे महाबाहो
अनेक मुखों और नेत्रोंवाले अनेक बाहुओं जंघाओं और पैरोंवाले अनेक उदरोंवाले अनेक दाढ़ोंके
कारण विकराल तुम्हारे इस महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो गये हैं और मैं भी व्याकुल
हो रहा हूं ॥ २३ ॥ हे व्यापक देव ! आकाशको स्पर्श करनेवाले प्रकाशमान अनेक रंगोंवाले मुख
फैलाये हुए प्रदीप्त विशाल नेत्रवाले तुमको देख कर मेरी अन्तरात्मा घबरा गई है इस कारण मैं धैर्य
और शान्ति नहीं रख सकता ॥ २४ ॥ हे देवाधिदेव ! हे जगन्निवास ! प्रलयकालकी अग्निके समान विकराल
दाढ़ोंसे युक्त तुम्हारे इन मुखोंको देख कर न तो मैं दिशाओंको जान पा रहा हूं और नहीं मुझे शान्ति
मिल रही है । अतः मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ २५ ॥ और ये धृतराष्ट्रके सब पुत्र राजाओंके समूहों

सहित भीष्म द्रोणाचार्य और यह सूतपुत्र (कर्ण) हमारी ओरके मुख्य मुख्य योद्धाओंके साथ आपके (मुखमें घुस रहे हैं)॥ २६ ॥ तुम्हारे विकराल दाढोंवाले भयंकर मुखोंमें ये वीर शीघ्रतासे घुस रहे हैं कोई कोई तो दांतोंमें भी अटक गये हैं। उनके चूरचूर हुए सिर भी दिखाई पड रहे हैं ॥ २७ ॥ जैसे नदियोंके बडे बडे जलप्रवाह समुद्रकी ओर चलते चले जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य-लोकके ये वीर आपके जलते हुए मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥ जैसे पतंग अपने नाशके लिये बडे वेगसे जलती हुई आग्निमें गिरते रहते हैं, वैसेही ये सब लोग बडे वेगके साथ मरनेके लियेही तुम्हारे जबडोंमें घुसते चले आ रहे हैं ॥ २९ ॥ हे व्यापक देव! चारों ओरसे अपने प्रज्वलित मुखोंके द्वारा सब लोगोंको निगलकर जीभ चाट रहे हो। आपकी उग्र प्रभायें अपने तेजसे सब जगत्को व्याप्त करके चारों ओर चमक रही हैं ॥ ३० ॥ हे देवाधिदेव! तुम्हें नमस्कार करता हूं। तुम प्रसन्न हो जाओ। आप उग्रस्वरूप कौन हैं? यह मुझे बतलाओ। आदिपुरुष आप कौन हैं यह मैं जानना चाहता हूं। आपकी इस प्रवृत्तिको मैं बिलकुल नहीं जानता ॥ ३१ ॥

भावार्थ— ईश्वरकी देहमें सब देवता सब प्राणियोंके समुदाय सब ऋषि और सब दिव्य सर्प समाविष्ट हुए हैं। इस कारण वह ईश्वर अनेक बाहु अनेक पेट, अनेक मुख अनेक नेत्रवाला और अनेक पैरोंवाला हुआ है। अतः उसको अनेक रूपोंवाला कहते हैं। ईश्वरका आदि मध्य अन्त कुछ भी नहीं है। वह अनंत तेजस्वी, जानने योग्य सबका अन्तिम आधार शाश्वत धर्मका रक्षक और सनातन पुरुष है। ईश्वरका बल अपरिमित है उसके बाहु अनन्त हैं और सूर्यचन्द्र उसके नेत्र हैं अग्नि उसका मुख है और उसीके तेजसे यह विश्व तेजस्वी हो रहा है। सब आकाश अन्तरिक्ष पृथ्वी तथा दिशा-उपदिशा इन सबमें परमेश्वर एकलाही व्याप्त हुआ है। इस तरह यह सब विश्वव्यापक रूप उसी परमेश्वरका है। जो इस विश्वव्यापक रूपको देखते हैं वे भयभीत हो जाते हैं क्योंकि जहां जाते हैं वहां यह पहलेसेही उपस्थित होता है। सभी प्राणि तथा इतर स्थावर पदार्थ ईश्वरमें पूर्णतया प्रविष्ट हुए हैं। ऋषिलोग उसीकी प्रार्थना कर रहे हैं सिद्धलोग भी उसीकी स्तुति करते हैं। सब रुद्रादि देव पितर गंधर्व यक्ष असुर ये सब ईश्वरकीही ओर देख रहे हैं। और जिनको ईश्वरके इस रूपका पता लग गया है, वे उसे देखकर अत्यंत विस्मित हुए हैं। अपनी अनेक भयंकर दाढोंसे यह विकराल मुखवाला संहारक ईश्वर सबको निगल रहा है। अपनी विकराल दाढोंसे यह मानो सबको चूर चूर कर डाल रहा है। यह देखकर मन अशान्त होता है और सब धीरज नष्ट हो जाता है। भीष्म द्रोण कर्ण आदि उभय पक्षोंके सब वीर इसकी विकराल दंष्ट्रामें प्रविष्ट होकर नष्ट हो रहे हैं। जैसे नदियां समुद्रमें जा मिलती हैं वैसेही ये सब वीरोंके समुदाय इसके जलते हुए मुखोंमें घुस रहे हैं। पतंगोंके अग्निमें कूदनेके समान ये सब उसी मुखमें विवश होकर प्रवेश कर रहे हैं। इससे अब इनका बचाव नहीं हो सकता। इस ईश्वरकी उग्र प्रभायें सब विश्वभरमें फैल रही हैं और सब विश्व इसीसे प्रकाशित हो रहा है। यह कौन है और यह क्या कर रहा है यही तो हरएकके लिये विचार करनेयोग्य प्रश्न है। ॥ १५-३१ ॥

(१५-३१) अर्जुनने जिस विश्वरूपका दर्शन किया उसकाही यहां वर्णन है। पहले वर्णनमें केवल युद्धभूमिमें स्थित वीरही ईश्वरीय रूपमें संमिलित होनेका भाव है परन्तु अब अर्जुनकी दृष्टि अधिक विस्तृत हुई प्रतीत होती है अतः वह ईश्वरीय रूपमें (सर्वान् भूतविशेषसंघान्) सब प्राणियोंका समावेश कर रहा है। इसी दृष्टिसे इस वर्णन का विचार करना चाहिये।

हे देव! तव देहे सर्वान् देवान् तथा सर्वान् भूतविशेषसंघान्, सर्वान् ऋषीन्, सर्वान् उरगान् च पश्यामि। (१५)

ईश्वरके देहमें सब देव और सब प्राणी अर्थात् मनुष्य ऋषि पशुपक्षी सर्प-नाग कृमि कीट पतंग आदि सब प्रकारके प्राणी दिखाई देते हैं। यहां केवल वीरही दीखते हैं यह भाव नहीं है सब भूतोंके समुदाय ईश्वरके देहमें समाये हुए हैं। यहां सब देव तो हैंही उनके साथ सब ऋषिगण मानवजातिके सब लोग सर्पजातिके

सब प्राणी सब पशु सब पक्षी सब प्रकारके जीवजन्तु सब स्त्रीपुरुष तथा नपुंसक, और जड़ जीव सभी प्राणी ईश्वरके देहमें समाविष्ट हुए हैं कोई इस ईश्वरके देहसे बाहर नहीं है।

जब सभी प्राणी उसके देहके अवयव हैं तो निःसंदेह उसके देहमें अनेक नेत्र अनेक कान, अनेक नाक अनेक मुख अनेक बाहु अनेक पेट अनेक हाथपांव अनेक जंघाएं और अनेक पैर होना स्वाभाविकही है। यही वर्णन—

अनेक बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्र (१६) अनन्त वीर्य अनन्तबाहुं (१९) बहु वक्त्र-नेत्रं बहुबाहूरु पादं बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं (२३) अनेकवक्त्र नयनं (१०)

इन शब्दोंद्वारा किया गया है। इन शब्दोंसे ऐसी मूर्तिकी कल्पना करना अनुचित होगा कि जिसके दो पांव एक पेट और अनेक मुख हों जैसी मूर्तियां पंचमुखी महादेव, चतुर्मुखी ब्रह्मा, त्रिमुखी दत्तात्रेय आदि हैं, इनके दो पांव एक पेट और अनेक मुख होते हैं। इस विश्वरूपकी ऐसी मूर्ति नहीं है। यहां तो पेट भी अनंत हैं (बहूदरं अनेकबाहूदर) पेट अनंत कैसे हैं यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर इतनाही है कि जगत् प्राणि परमेश्वरकी देहमें समाविष्ट हो रहे हैं। जितने प्राणी समाविष्ट हुए हैं उतनेही इसके पेट हुए, उनके जितने पैर होंगे उतने इसके पैर हुए, उनके जितने हाथ मुख नेत्र आदि होंगे उतनेही अवयव इसके भी मानने पड़ेंगे। इस तरह इसका अनेक उदर अनेक पांव और अनेक मुखादि अवयवोंवाला होना इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है क्योंकि सब प्राणियोंके मुखादि अवयव उसीके अवयव हैं। इस तरह यह विश्वरूपदर्शन प्रत्यक्ष है।

विश्वरूपी परमेश्वरका दर्शन करना हो तो पहिले सब प्राणियोंका समूह मिलकर उसका महान् देह होता है (इदं भूतसर्वमान्) यह कल्पना ठीक प्रकार समझमें आ जानी चाहिये। वेदमें भी ऐसाही कहा है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा० ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥ २ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
(ऋग्वेद १०।९०)

जिसके सहस्रों मस्तक सहस्रों नेत्र और सहस्रों पांव हैं ऐसा एक पुरुष है उसने पृथ्वीको व्याप्त कर रखा है। यह पुरुषही सब कुछ है जो भूतकालमें था भविष्यकालमें होगा (और जो वर्तमान कालमें है।) इस महान् पुरुषका मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय ऊरु वैश्य और शूद्र पांव हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये इसके अवयव हैं इसीलिये इसके अवयव हजारों और लाखों हैं ऐसा कहा गया है। यही वेदकी विश्वरूपकी कल्पना यहां भगवद्गीतामें भी चित्रित है। यही प्रभु—

अनंतरूपः। विश्वरूपः। (१६)

अनंतरूपोंवाला और विश्वका रूप धारण करनेवाला है। "विश्वमें जो भी रूप दिखाई दे रहा है वह सब इसीका रूप है। इस तरह सब एकमात्रांगम परमेश्वरकाही रूप है यह बात सिद्ध हो जाती है।

शशिसूर्यनेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं (१९)

सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं प्रदीप्त अग्नि जिसका मुख है ऐसा यह ईश्वर है। यहां भावियोंके सदृशके पदार्थ भी ईश्वरके अवयव हैं यह बात कही है। यही बात ऋग्वेदके वर्णनकी है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥ (ऋग्वेद १०।९०)

वेदी मंत्र सब वेदोंमें कुछ पाठभेदोंके साथ आ गये हैं। यहां पूर्व संदर्भसे विभक्ति बदल करके अर्थ करना होता है। जैसे चन्द्रमा मनके स्थानमें सूर्य नेत्रके स्थानमें अग्नि मुखके स्थानमें और वायु प्राणके स्थानमें है। नाभि अन्तरिक्ष है द्युलोक मस्तक है पांवके स्थानमें भूमि है और दिशाएं कान हैं।" ऋग्वेदमें इस प्रकार परमात्माके विश्वरूपका वर्णन है। इसी वर्णनका कुछ अंश

भगवद्गीतामें कहा गया है और कहा है कि सूर्यचन्द्र उसके नेत्र हैं, अग्नि मुख है। इत्यादि। इससे पाठकोंकी समझमें आ सकेगा कि यहकाही भाव भगवद्गीतामें विश्वरूपदर्शनके प्रसंगसे वर्णित है।

जैसे सब मनुष्य इस परमेश्वरके देहमें समाविष्ट हैं उसी प्रकार सब देव भी उसीके ब्रह्माण्ड-देहमें समाविष्ट हुए हैं। इसका वर्णन करते हुए-

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
पश्यामि देवांस्तव देव देहे। (१५)

ये सब कहे हैं। कमलासनस्थ ब्रह्मदेव तथा अनेक देव परमेश्वरके देहमें हैं। यह बात अर्जुनको किस प्रकार विदित हुई यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आगे भी कहा है-

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। (२१)

ये सब देवोंके संघ इस प्रभुके देहमें घुस रहे हैं और कुछ तो भयभीत होकर हाथ जोडकर स्तुति कर रहे हैं। तथा- रुद्र आदित्य वसु साध्य अश्विनौ मरुत् ऊष्मप-पितर गन्धर्व यक्ष असुर सिद्ध ये सब विस्मित होकर इस परमेश्वरकी ओर देख रहे हैं। यह वर्णन भी अर्जुन किस तरह कर रहा है? क्योंकि इनमेंसे कुछ तो भविष्य हैं, कुछ भूतकालके हैं अर्जुनके पूर्व हो चुके थे। फिर अर्जुनने विश्वरूपमें इन सबको कैसे देखा? इस शंकाके विषयमें उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्य
दिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकाला
तीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अय
मात्मा ब्रह्म। (मांडूक्य उ० १-२)

ओंकारसे आत्मा अथवा ब्रह्मका बोध होता है, यह ब्रह्मही तो सब कुछ है। भूत भविष्य वर्तमान कालमें जो त्रिकालके भी परे है वह सब ब्रह्मही है।' यही वर्णन यहां किया है। कमलासनस्थ ब्रह्मा तथा सिद्ध आदि जो भूतकालमें हो चुके थे इस विश्वरूपमें संमिलित किये गये हैं। अर्जुनकी स्मृतिमें वे थे इसलिये उस स्मृतिकी इस समय जागृति हुई और वह उनको इस विश्वरूपमें देखने लगा। विश्वरूप केवल वर्तमान कालकाही नहीं है वह जैसा वर्तमान कालका है वैसाही भूत और भविष्यका भी है। जो पहिले हो चुका था वह भी इस विश्वरूपमें संमिलित होना योग्य है और जो आगे होनेवाला होगा वह भी इस विश्वरूपमें संमिलित होगा। विश्वरूप तो सब कुछ है। जो था जो है और जो होगा वह सब विश्वरूप है। इसलिये भूत कालके सब देवी भाव जो अर्जुनकी स्मृतिमें थे वे यहां संमिलित हुए हैं।

इसी प्रकार मरुत्, रुद्र आदि अदृश्य देवताओंको भी यहां इस विश्वरूपमें संमिलित किया है यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। जैसे दृश्य पदार्थ विश्वरूपमें हैं वैसेही अदृश्य पदार्थ भी हैं। ईश्वरकी देहमें सब कुछ है। मरुत् वायु हैं और रुद्र प्राण हैं। दोनों अरूप पदार्थ हैं। इनका समावेश विश्वरूपमें कैसा किया है, ऐसी शंका यहां हो सकती है। इसके उत्तरमें इतनाही कहना है कि यहां जो विश्व-रूपमें रूप शब्द है वह केवल आंखकाही विषय है ऐसी बात नहीं है। वायुका ज्ञान स्पर्शेन्द्रियसे होता है रसका ज्ञान जिह्वासे होता है ये सब अरूप होते हुए भी परमेश्वरके स्वरूपमें संमिलित हैं। विश्व-रूप शब्दसे वह केवल आंखकाही विषय है ऐसी बात नहीं है। पंच ज्ञानेन्द्रियोंसे और मनबुद्धिसे जो भी ज्ञात होता है वह परमेश्वरका स्वरूप है। यहां यही आशय है। इसीलिये जैसे भूतभविष्यकालके पदार्थ इसमें संमिलित होते हैं वैसेही आंखसे न दीखनेवाले रूपविहीन पदार्थ भी उसमें संमिलित होते हैं। विश्व शब्दसे जो ज्ञात होता है वह सब परमेश्वरकी देहमें संमिलित है और वह परमेश्वरका रूप है।

इसका आदि मध्य और अन्त नहीं है। यहां ये शब्द जैसे स्थलवाचक हैं वैसेही कालवाचक भी समझे जाने चाहिये। आदि शब्द भूतकालका मध्य शब्द वर्तमानकालका और अन्त शब्द भविष्यकालका वाचक समझनेसे ईश्वरमें तीनों काल नहीं है ऐसा भाव निष्पन्न होता है। दूसरी रीतिसे ऐसा भी कह सकते हैं कि ईश्वरमें केवल वर्तमानकालही है और भूतभविष्य ईश्वरकी दृष्टिसे नहीं है।

आदि शब्दका अर्थ उत्पत्ति मध्य शब्दका अर्थ स्थिति और अन्त शब्दका अर्थ प्रलय है। ईश्वरभावसे इस विश्व-

रूपमें उत्पत्तिस्थितिलय नहीं है। क्योंकि वह जैसाका वैसा-ही है। इसके पूर्व—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

(गी १०।२०)

ईश्वर सबका आदि मध्य अन्त है ऐसा स्पष्ट कहा है वह व्यष्टिभावसे है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, कुछ समय रहती है और अन्तमें नष्ट भी हो जाती है। प्रत्येक वस्तुके ये तीनों भाव हैं परन्तु समष्टि न उत्पन्न हुआ और न नष्ट होगा। वह सनातनसे वैसा था वैसाही है और वैसा-ही रहेगा। जैसे यदि सोनेके आभूषण बनाये जावें तो वे आभूषण एक समयपर बने कुछ काल रहेंगे और बादमें नष्ट भी हो जावेंगे परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें सोना एकही रूपसे रहता है। इसलिये व्यष्टिभावमें आदि-मध्य-अन्त दीखते हैं परन्तु समष्टिभावसे वे नहीं होते। अतः दोनों प्रकारके वर्णन सत्य हैं यह बात पाठकोंकी समझमें आ जायगी।

सत्रहवें मंत्रमें मुकुटधारी गदाधारी चक्रधारी तेजस्वी ऐसा जो वर्णन किया है वह भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन स्पष्ट है साथही साथ सब वीर उनके विश्वरूपमें संमिलित हैं इसलिये उनके किरीट उनकी गदाएँ, उनके चक्र और उनका तेज इस विश्वरूपमें संमिलित होनेसे सामान्यभावसे भी यह वर्णन सत्य है ऐसा कह सकते हैं।

आगे अठारहवें मन्त्रमें भी ' अक्षर ' (वेदितव्य) ज्ञेय, विश्वका निधान अव्यय सनातन पुरुष और शाश्वतधर्म गोप्ता आदि शब्दोंद्वारा परमेश्वरकाही वर्णन है। ये शब्द इसके पूर्व भी अनेक बार आ चुके हैं अतः यहां इसकी विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है। शाश्वतधर्म गोप्ता यह एकही शब्द यहां विशेष महत्त्वका है। गीतामें शाश्वतधर्म कहा है और उसकी रक्षा परमेश्वरही करता है यह बात यहां बतायी है। यह शाश्वतधर्म जानना मनुष्यका कर्तव्य है। यही मनुष्यका सहज धर्म है। सहज धर्मका अर्थ स्वभावधर्म है। मनुष्यकी प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक होती है और सत्त्व-रज-तमोगुणोंके धर्म निश्चित हैं व बदले नहीं जाते अतः इनके कारण जो स्वभावधर्म बनता है वह प्रकृतिका धर्म होनेसे शाश्वतधर्म है और यही सनातन होना स्वाभाविक है। इस शाश्वत धर्मकी रक्षा परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई कर नहीं सकता। मनुष्य इस शाश्वतधर्मका उत्पादक नहीं है। क्योंकि प्रकृतिका धर्म मनुष्यनिर्मित नहीं है।

द्यावापृथिवीके बीचका सब अवकाश, और सब दिशाओंके अन्दरका अवकाश ईश्वरने व्याप्त कर रखा है। (श्लो २०) इसका अर्थ स्पष्टही है। अणुरेणुके अन्दर वह व्याप्त है इसलिये प्रत्येक पदार्थका रूप उसीका रूप है ' ऐसा जो पूर्व स्थलमें कहा है वही यहां भिन्न प्रकारसे बताया गया है। आकाश और पृथ्वीके अन्दरके सब पदार्थोंमें वह प्रविष्ट है अर्थात् सब पदार्थ उसके बाहरी आकार हैं, यही उसका विश्वरूप है। विश्वरूपमें खंडित रूपोंका भाव नहीं है। विश्वमें रूप खंडित दीखता नहीं है रूप जो दीखता है वह अखंडितही दीखता है। यदि कोई कहेगा कि रूप खंडित दीखता है तो हो क्योंकि बीचमें रूपरहित अवकाश दीखना चाहिये। परन्तु रूपके बिना कोई भाग दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसलिये कहना पडता है कि रूप अखंडित है। और यह सर्वत्र दीखनेवाला अखंडित रूप उसीका है जो सर्वत्र व्याप्त है क्योंकि वही सर्वत्र व्याप्त होकर सब रूपोंका हेतु होता है। इसलिये यह सब रूप उसकाही रूप है।

यदि पाठकोंको यह कल्पना हो जायगी और अखंड एक-रस रूप उनको प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जायगा तो उनका जो अखंड एकरस रूप दीखेगा वही ईश्वरका विश्वरूप होगा। इतना विश्वव्यापी विश्वरूप दीखनेपर और सब रूप एकरस अखंड रूप विश्वरूपमात्र है ऐसा जानकर और अपने आपको भी उसके अन्दर संमिलित हुआ देखकर हर एकको बड़ा डर लगेगा कि अहा! यह कैसा विकराल अद्भुत रूप है। अर्जुन इसे देखकरही घबराकर कह रहा है कि—

उग्रं अद्भुत रूप दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितम्। (२०)

उग्र भयंकर विश्वरूप (परमेश्वरका विश्वरूप) देखकर तीनों लोक अत्यंत व्यथित हुए हैं। यहां अर्जुन स्वयं भयभीत हुआ है। भयभीत होनेपर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि तीनों लोकोंके जीव भयभीत हुए हैं। वस्तुतः तीनों लोकोंमें रहनेवाले सब जीवोंको विश्वरूपी परमेश्वरका साक्षात् दर्शन हुआ ऐसा माननेको कोई प्रमाण नहीं है।

अतः यह अर्जुनका कहना केवल अपने आन्तरिक भावको व्यक्त करताही है। हरएक मनुष्यको ऐसाही प्रतीत होता है। जिस समय वह भयभीत होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विश्व भयभीत हुआ है और जिस समय वह हर्षित होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विश्व हर्षित हुआ है। इसी प्रकारका यह अर्जुनका भाव है।

आगे चलकर (श्लो २१-२२ में) कहा है कि ये देवोंके समूह इस परमेश्वरके रूपमें घुसे हैं कुछ तो भीतिसे हाथ जोडे हैं महर्षि स्तुति कर रहे हैं यद्यपि देव पितर असुर आदि सब विस्मित हुए हैं यह सब इसके अपनेही मनके भाव हैं। क्योंकि सब देवगण तो परमेश्वरके रूपमें संमिलित हैंही। कौन उससे पृथक् है? परन्तु अर्जुन इनको पृथक् भावसे देखकर उनके विषयमें अपनी कल्पनाके अनुसार बोल रहा है। ऋषिगण ईशस्तुति करते हैं असुर राक्षस विरोध कर रहे हैं, सिद्धगण सिद्धिके लिये प्रयत्नशील हो रहे हैं यह सब उसीमें हो रहा है। जैसे मनुष्य सोते समय करवट लेता है और दायां भाग नीचे भागपर रखता है अथवा किसी समय इसके विपरीत करता है *परन्तु नीचे अथवा ऊपर उसीका भाग होता है।* इसी तरह यहां समझना चाहिये। सब उसीके रूप होनेपर कौन उससे बाहर है और कौन उसमें संमिलित है? अतः युद्ध संबंधि विषयमें अर्जुनने जो कल्पना की है वह सब घटना विश्वरूपी प्रभुके विश्वरूपमेंही हो रही है और यह अर्जुन अपनी ओरसे कल्पना कर रहा है ऐसा समझना चाहिये। अर्जुन स्वयं इस विश्वव्यापी रूपको देखकर भयभीत हो चुका था और इस कारण उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि सभी त्रिलोकके प्राणी भयभीत हैं। आगेके तीनों श्लोकोंमें वह इसी अपने अन्तःकरणकी भीतिका वर्णन कर रहा है।

अनेक मुख नेत्र बाहु पांव पेट और दंष्ट्राओंका भयानक व्याप्त रूप देखकर और उसमें अनेक रंग उत्तम रीतिसे भरे रहनेके कारण उसका विलक्षण सौंदर्य बढ रहा है चारों ओर प्रकाश भरपूर हो रहा है सभी ओर अनेक मुख और नेत्र कार्य कर रहे हैं कई स्थानोंपर उसके विनाशक भाव कार्य कर रहे हैं यह सब विश्वमें चल रहा है यह एकही ईश्वरका प्रभाव है ऐसा देखकर अर्जुनका अन्तःकरण भयसे कंपित हो रहा है क्योंकि इस देवके अन्दरही वह अपने आपको अनुभव कर रहा था और इसको *त्याग कर बाहर जानेका मार्ग भी* उसको नहीं दीखता था। अर्जुन इस समय युद्धभूमिमें खडा रहनेके कारण उसको परमेश्वरका संहारक स्वरूप प्रलयकालकी अग्नि (कालानलसंनिभ) के समान दिखाई दिया इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। सचमुच उस समय भगवान्‌का विश्वरूप कुरुक्षेत्रपर प्रलयकालका रूप लेकरही खडा था।

आगेके दो श्लोकोंमें वह ऐसा वर्णन कर रहा है कि ये कौरवपांडवोंके भीष्मद्रोणादि वीर सबके सब परमेश्वरके इस विश्वरूपमें परवश होकर प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंग अग्निमें कूदते हैं उसी प्रकार प्रलयकालकी विकराल दंष्ट्राओंमें मरनेके लिये वेगसे प्रविष्ट हो रहे हैं। ऐसा एक समय आताही है जिस समय युद्ध अपरिहार्य हो जाता है। पूर्व कर्मोंका ऐसा परिणाम हो जाता है कि कोई उस युद्धको टाल नहीं सकता। जब युद्ध होता है उस समय मानो यह विश्वरूपी परमात्माकी विकराल दाढही फैली रहती है और उसमें यहांके वीर प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय कौन उनका बचाव कर सकता है? अर्जुनके मनमें इस समय यही कल्पना आयी है कि यह युद्धभूमि भी उस विश्वरूपी परमात्माकी फैलायी हुई भयानक दाढ है और उसमें दोनों ओरके वीरगण वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। अपना विनाश देखते हुए भी ये उसके अन्दर प्रविष्ट होनेसे अपने आपको बचा नहीं सकते। यह है विश्वरूपी परमेश्वरकी अद्भुत गति इसी गतिसे सब विश्व चल रहा है। जैसे नदियां अवश होकर वेगसे समुद्रमें जाकर लय होनेके लिये दौडती हैं अथवा जैसे पतंग मरनेके लियेही अग्निमें कूद पडते हैं, इसी तरह ये सब दोनों पक्षोंके वीर इस विश्वरूपी परमेश्वरकी कालदंष्ट्राओंमें कूद रहे हैं।

जैसे सिंह व्याघ्र आदि हिंस्रपशु अपना भक्ष्य खाकर जीभ चाटते बैठे रहते हैं वैसेही यह विश्वरूपी कालपुरुष इन सब वीरोंको भक्षण करके जीभ चाटता हुआ खडा है। यह भावी घोर युद्धका परिणाम देखकर अर्जुनके मनके अन्दर यह कल्पना हुई है और यह कल्पना सत्य भी है। *विश्वव्यापक दृष्टिसे देखनेपर ऐसाही दीखेगा।*

आगे (श्लो ३१) में अर्जुन इस विश्वरूपी परमेश्वरको नमन करके उसका नाम और उसका कार्य पूछ रहा है और प्रसन्न होनेकी प्रार्थना कर रहा है। अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर भगवान् उत्तर दे रहे हैं—

(५) कालका अवतार

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— (अहं) लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि इह लोकान् समाहर्तुं प्रवृत्तः (अस्मि) त्वां ऋते अपि प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः ते सर्वे न भविष्यन्ति ॥ ३२ ॥ तस्मात्, हे सव्यसाचिन्, त्वं उत्तिष्ठ यशः लभस्व शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व । मया एव एते पूर्वं एव निहताः त्वं निमित्तमात्रं भव ॥ ३३ ॥ त्वं द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा मया हतान् अन्यान् अपि योधवीरान् जहि मा व्यथिष्ठाः युध्यस्व रणे सपत्नान् जेता असि ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान् बोले— (मैं) लोकोंका नाश करनेवाला बढा हुआ काल हूं। यहां लोगोंका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं। सेनामें जो वीर खडे हैं वे सब तेरे (युद्धके प्रयत्नके) बिना भी बचने वाले नहीं हैं ॥ ३२ ॥ इसलिये हे सव्यसाची अर्जुन! तू उठ यश प्राप्त कर, शत्रुओंको जीत कर समृद्ध राज्यका उपभोग कर। मैंने इन्हें पहिलेही मार डाला है, इसलिये तू केवल निमित्तके लिये आगे आ ॥ ३३ ॥ द्रोण भीष्म जयद्रथ कर्ण तथा अन्य वीरोंको मैंने पहिलेही मार डाला है, उन्हें तू मार, घबरा मत युद्ध कर तू युद्धमें शत्रुओंको जीतेगा ॥ ३४ ॥

भावार्थ— प्रलयकर्ता परमेश्वर कालपुरुषके रूपमें युद्धभूमिपर कार्य करता है। कोई एक वीर युद्ध करे या न करे, उससे युद्ध नहीं रुक सकता। इस प्रकारका युद्ध अपरिहार्य हुआ करता है, वह जब राष्ट्रोंके कर्मोंका फल होता है। वे वीर तो अपने कर्मोंके द्वाराही मारे हुए होते हैं। युद्ध करनेवाले वीर तो अपने निमित्तमात्र बने होकर युद्ध करते हैं। अतः ऐसे युद्धोंसे वीर निवृत्त न हों, प्रत्येक वीर अपना कर्तव्य करे और विजयके लिये अपने प्रयत्नको पराकाष्ठा पहुंचा दे ॥ ३२—३४ ॥

(३२-३४) ईश्वरमें उत्पादक शक्ति साथही संहारक शक्ति भी है। युद्धके समय उसकी संहारक शक्ति कार्य करती है। जैसे देहमें फोडा होनेपर उस भागको आपरेशन करके छेद देते हैं, फोडा अपने देहका भाग है इसलिये उसकी रक्षा करनेका यत्न कोई नहीं करता उसी तरह विश्वरूपी विराट् पुरुषके विश्वदेहके ऊपर ऐसे युद्धप्रसंग फोडे फुन्सीके समान हैं। वे रुक नहीं सकते इसलिये उन्हें काट कर फेंकनाही चाहिये। वैसे युद्धभागवाले मनुष्योंकी रक्षा करनेका यत्न करनेसे मानवी समाजके क्लेश बढेंगेही। इसलिये ऐसे युद्धाभिमानी लोगोंका युद्धके द्वारा जितना शीघ्र नाश होगा उतनाही अच्छा है। उनकी मृत्युके पश्चात् जगत्में नूतन व्यवस्था प्रकट होगी और उससे जगत्‌की सामाजिक राष्ट्रीय और सार्वजनीन स्वास्थ्य होगा। ऐसे समय किसी वीरने युद्ध किया अथवा किसीने न किया उससे उस समयकी परिस्थितिमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं हो सकता। क्योंकि उस समयकी परिस्थिति तो समयके उस उसके सामुदायिक कर्मोंसे बनी होती है। उसका प्रवाह कौन रोक सकता है? इसलिये हरएक वीरको उचित है कि वह अपना समयका कर्तव्य उचित रीतिसे करे और जो परिणाम हो उसका स्वीकार करे। यह कर्मी

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

(६) स्तुति और आत्मनिवेदन ।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अन्वयः— केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा वेपमानः किरीटी कृताञ्जलिः कृष्णं नमः कृत्वा भीतभीतः प्रणम्य च भूयः एव सगद्गदं आह ॥ ३५ ॥

संजय कहने लगा— श्रीभगवान्‌के इस वाक्यको सुनकर, कांपता हुआ अर्जुन हाथ जोड़कर श्रीकृष्णको नमस्कार करता हुआ भयभीत होनेके कारण नम्र होकर बारंबार गद्गद कंठसे फिर कहने लगा ॥ ३५ ॥

भावार्थ— परमेश्वरके अद्भुत चमत्कार देखनेसे और उसकी सहायता अपने अंगीकृत कार्यमें है यह जानकर मनुष्य गद्गद हो जाता है, अपने आपको कृतार्थ मानता है और ईश्वरके सामने नम्र हो जाता है ।

विपाकका उत्तम उदाहरण है । इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने भीष्मसे (उद्योग-पर्वमें) कहा था कि—

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।
(म भा उ १२०।१९)

हे कृष्ण ! यह युद्ध कालसे परिपक्व होकर तैयार हुआ सब क्षत्रियोंका कर्मफल ही है । इसको सावधान रखिये ।

अर्जुन युद्ध करे और विजय प्राप्त करके यथायोग्य रीतिसे राज्यका शासन करे । धर्मका राज्य शुरू करनेका श्रेय प्राप्त करे । जो धर्मका राज्यशासन शुरू करनेमें सहायता करते हैं उनकी विजय होती है । उनके शत्रु परमेश्वरके हाथसे ही मारे जाते हैं, वह केवल निमित्तमात्र पुरुषार्थपर खड़ा होता है । परिस्थिति उसके लिये ऐसी अनुकूल हो जाती है कि वह जहां भी जावे वहां उसको विजयश्री मिलती है । परन्तु यह तभी होगा जब धर्मका राज्य चलानेके लिये आवश्यक कर्तव्यके समय यदि आवश्यकता हो तो अपने सर्वस्वका त्याग करनेके लिये भी कटिबद्ध हों ।

(३५) अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त भाषण श्रवण किया विशेषकर तुम्हारे शत्रु मैंने मार रखे हैं केवल निमित्तमात्र आगे हो जाओ और यश कमाओ ऐसे वाक्य श्रवण करके उसके मनमें एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ, परमेश्वरने मेरे लिये इतना किया है परन्तु मैं कैसा हीन हूं कि हाथमें लिया यश स्वीकारनेको भी तैयार नहीं हूं यह उसको अनुभव होने लगा । इस कारण वह गद्गद हो उठा साथही साथ भयसे कांपने भी लगा । नम्रतासे हाथ जोड़कर प्रणाम करने लगा और कहने लगा—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच हे हृषीकेश ! स्थाने तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च, भीतानि रक्षांसि दिशः द्रवन्ति सर्वे च सिद्धसङ्घाः नमस्यन्ति ॥ ३६ ॥ हे महात्मन् ! हे अनन्त देवेश ! ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे (तुभ्यं) ते कस्मात् च न नमेरन्, हे जगन्निवास ! सत् असत् (असि) तत्परं यत् अक्षरम् ॥ ३७ ॥ त्वं आदिदेवः पुराणः पुरुषः त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं (त्वं) वेत्ता च वेद्यं परं धाम च असि । हे अनन्तरूप ! त्वया विश्वं ततम् ॥ ३८ ॥ त्वं वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिः च प्रपितामहः (असि) ते सहस्रकृत्वः नमो नमः पुनः च भूयः अपि ते नमो नमः अस्तु ॥ ३९ ॥ हे सर्व ! ते पुरस्तात् नमः अथ ते पृष्ठतः नमः ते सर्वतः एव नमः अस्तु । हे अनन्तवीर्य ! त्वं अमितविक्रमः । सर्वं समाप्नोषि ततः सर्वः असि ॥ ४० ॥ तव इदं महिमानं अजानता मया सखा इति मत्वा हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इति प्रमादात् प्रणयेन वा अपि प्रसभं यत् उक्तं ॥ ४१ ॥ हे अच्युत ! यत् च विहारशय्यासनभोजनेषु अवहासार्थं एकः अथवा तत्समक्षं असत्कृतः असि तत् अहं अप्रमेयं त्वां क्षामये ॥ ४२ ॥ हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वं अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता गरीयान् पूज्यः गुरुः च असि लोकत्रये अपि त्वत्समः न अस्ति, कुतः अभ्यधिकः अन्यः ? ॥ ४३ ॥ हे देव ! तस्मात् कायं प्रणिधाय प्रणम्य अहं ईड्यं ईशं त्वां प्रसादये पुत्रस्य (अपराधं) पिता इव सख्युः (अपराधं) सखा इव प्रियायाः (अपराधं) प्रियः (इव मम अपराधान्) सोढुं त्वं अर्हसि ॥ ४४ ॥ हे देवेश हे जगन्निवास ! अदृष्टपूर्वं (विश्वरूपं त्वां) दृष्ट्वा (अहं) हृषितः अस्मि भयेन च मे मनः प्रव्यथितं (अस्ति अतः) हे देव ! प्रसीद च तत् एव (पूर्वं) रूपं मे दर्शय ॥ ४५ ॥ हे सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते ! अहं त्वां किरीटिनं गदिनं च तथा एव चक्रहस्तं द्रष्टुं इच्छामि (तस्मात्) तेन एव चतुर्भुजेन रूपेण (युक्त) भव ॥ ४६ ॥

अर्जुन ने कहा— हे हृषीकेश ! यह ठीक है कि आपकी (आपके गुणों की) कीर्तन करने से जगत् प्रसन्न होता है और उसमें उसकी प्रीति होती है । राक्षस डरकर (दूर) दिशाओं में भाग

जाते हैं। और सब सिद्ध पुरुषोंके संघ तुमको नमस्कार करते हैं ॥३६॥ हे महात्मन् हे अनन्त देवाधिदेव! तुम जैसे ब्रह्मदेवसे भी श्रेष्ठ आदि कारणके सामने वे कैसे नम्र नहीं होंगे? हे जगन्निवास! सत् और असत् और (उन दोनोंके) परे जो अक्षर है वह भी तुमही हो ॥ ३७ ॥ तुम आदिदेव पुराणपुरुष इस जगत्के परम आधार, ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुमही श्रेष्ठ स्थान हो। हे अनन्तरूप! तुमनेही इस जगत्का विस्तार किया है अथवा व्याप्त कर रखा है ॥ ३८ ॥ तुमही वायु यम अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति (अर्थात् सबके दादा ब्रह्मदेव) और सबके परदादा तुमही हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है। और फिर तुम्हें बारंबार नमस्कार है ॥ ३९ ॥ हे सर्व! तुम्हें सामनेसे और पीछेसे नमस्कार है सभी ओरसे भी तुम्हें नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य! तुम्हारा पराक्रम अतुलनीय है। तुम सबको सम्यक्रूपा प्राप्त होते हो इसलिये तुम्ही सर्व हो ॥ ४० ॥ तुम्हारी इस महिमाको न जाननेके कारण मैंने मित्र समझकर हे कृष्ण हे यादव हे सखा ऐसा जो भी कुछ भूलसे या प्रेमसे कहा हो ॥ ४१ ॥ हे अच्युत! आहार विहारके भी समय सोने बैठनेके समय, हास्य विनोदके समय, अकेले अथवा अनेक मनुष्योंके समक्ष मैंने जो तुम्हारा अपमान किया हो उस (अपराध) के लिये मैं अनन्तस्वरूप आपसे क्षमा माँगता हूं ॥ ४२ ॥ हे अतुल प्रभाव! तुम्हीं इस स्थिरचर जगत्के पिता हो तुम सबके पूज्य और गुरु उसके भी श्रेष्ठ गुरु हो। तीनों लोकोंमें तुम्हारे बराबर कोई नहीं है फिर तुमसे अधिक श्रेष्ठ कहांसे होगा? ॥ ४३ ॥ हे देव! इसलिये शरीर झुका कर, नमस्कार करके मैं स्तुतियोग्य ईश्वररूप आपकी प्रार्थना करता हू कि जैसे पुत्रके (अपराध) पिता मित्रके (अपराध) मित्र प्रियके (अपराध) प्रिय क्षमा करता है, वैसेही मेरे सब अपराधों की क्षमा करनेके लिये आप समर्थ हैं ॥ ४४ ॥ हे देवाधिदेव जगन्निवास! तुम्हारा पहिले कभी न देखा हुआ यह (विश्वरूप) देखकर मैं अत्यंत हर्षित हुआ हूं, और व्याकुल भी हो गया हू, इसलिये हे देव! प्रसन्न हो जाओ! और वही पहिला रूप दिखा दो ॥ ४५ ॥ हे सहस्रबाहु! और हे विश्वमूर्ति! मैं तुमको (पहिलेके समानही) किरीट और गदाधारी हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूं। (अतः) उसी चतुर्भुज रूपसे प्रकट हो जाओ ॥४६॥

भावार्थ— परमेश्वरके गुणोंका वर्णन करनेसे मनुष्यको सच्चा आनंद प्राप्त होता है और जैसा जैसा वह उन गुणोंका मनन करता जाता है वैसी उसकी प्रीति उस विषयमें बढ़ती जाती है। सज्जनही ईश्वरकी भक्ति करते हैं परन्तु दुर्जन ईश्वरसे सदा दूर रहते हैं। ईश्वर सबका मूल कारण है वह सत् असत् और अक्षर अर्थात् सब कुछ है। ऐसे सर्वशक्तिमान्के सम्मुख सब कोई नम्र होकरही रहेंगे। सबका आदिदेव अतः सबका पूर्वज सबसे बृद्ध सबका आधार, ज्ञाता और ज्ञेय सबको स्थान देनेवाला ईश्वरही इस जगत्का विस्तार करता है और सर्वत्र व्यापक होकर रहता है। अग्नि वायु आदि सब देवोंके रूपोंमें वही प्रकट होता है इसलिये उसको अनेक बार प्रणाम करते हैं। वही ईश्वर सब कुछ है इसीलिये उसको अनन्तरूपवाला कहते हैं। ईश्वरकी यह महिमा कोई नहीं जानता और कुछ तो अपने अज्ञानके कारण उसकी अवहेलना भी करते हैं परन्तु अन्तमें सबको उससे क्षमा-याचना करनी पड़ती है। क्योंकि ईश्वरही सबका रक्षक और गुरुओंका भी गुरु है। उसकी समताका कोई नहीं है फिर उससे बढ़कर कौन होगा? अतः सबको उचित है कि वे बड़े नम्रभावसे परमेश्वरको प्रणाम करें और अपने अपराधोंकी क्षमाके लिये उसकी प्रार्थना करें ॥ ३६-४६ ॥

(३६ ४६) इन ग्यारह श्लोकोंमें विश्वरूप परमेश्वरके संबंधमें निम्नलिखित शब्द अत्यंत महत्वके हैं—

(हे) सर्व (४०)

सर्वः असि (४०)

अनन्तरूप (३८)

विश्वमूर्ति (४६)

ईश्वर सब कुछ है उसका नाम सर्व है उसके रूप अनन्त हैं और विश्वही उसकी मूर्ति है। अर्थात् सब

कुछ जो यहां है, वह सब उसकी मूर्तियांही हैं। ' ये चार शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि जो इस विश्वमें वस्तुमात्र है वे सब परमेश्वरकी मूर्तियां हैं अर्थात् सब विश्व परमेश्वरका रूपही है। इन चार शब्दोंकी यथार्थ कल्पना होनेसे परमेश्वरके विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। ये शब्द बडे महत्त्वके हैं। और इस रीतिसे इन शब्दोंका महत्त्व समझना चाहिये।

यदि सर्व (सब) परमेश्वर है, यदि विश्व मूर्ति ' (विश्वकी मूर्ति) परमेश्वर है, तो निःसन्देह उसी परमेश्वरका यह सब रूप है। जो रूप यहां दिखाई देता है वह सब उसीका रूप है। अब पाठक पूछेंगे कि यहां जैसा पाण्डवों का रूप दीखाई देता है वैसाही कौरवोंका भी दीखता है। क्या दोनों रूप परमेश्वरके हैं? हां दोनों रूप परमेश्वरकेही हैं क्योंकि यहां दूसरा कोई नहीं है–

नेह नानास्ति किंचन

यहां अनेक पदार्थ नहीं हैं एकही पदार्थ है और उसीके ये सब रूप हैं जो यहां दीख रहे हैं। सब विश्वमें एकही वस्तु है जिसके ये सब रूप हैं। विश्वरूपकी कल्पना ठीक प्रकार मनमें स्थिर करनी हो तो सबसे प्रथम यहां एकही वस्तु है और उसके ये सब रूप हैं यह बात समझकर मनन करना चाहिये।

यहां दूसरा कोई नहीं है इसीलिये लोकसंग्रह जनसेवा आदि करना धर्म कहा जाता है। विश्वसेवा अपनीही सेवा है और विश्वद्रोह भी अपनाही द्रोह है। यदि शत्रुता की जाय तो भी अपनीही शत्रुता है और मित्रता भी अपनीही मित्रता है। इसी मुख्य विचारपर सब मानवधर्म-की रचना की गयी है। इस मुख्य विचारका मनन करके और इसी रीतिसे विचार करके मानवधर्मके सिद्धान्त समझकर मनन करना चाहिये।

परमेश्वरके गुणोंका (प्रकीर्त्या) वर्णन करनेसे सब जगत्को (प्रहृष्यति) हर्ष होता है और उस वर्णनमें मन (अनुरज्यते) रमता भी है। मनुष्य वस्तुतः समझते हुए अथवा न समझते हुए ईश्वरकाही वर्णन करते हैं। क्योंकि यदि किसी वस्तुके उत्तम गुणोंका वर्णन किया जायगा तो वह साक्षात् अथवा परंपरासे परमेश्वरकाही वर्णन होगा। वस्तुमात्रमें विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित् ऐसे भी जो भाव हैं वे सब (गी० १०-४१) ईश्वरके भाव हैं। मनुष्य जिस किसीका वर्णन करता है उसमें वह कुछ वर्णनीय भाव देखता है उसी उत्तम भाव की ओर आकर्षित होता है वह आकर्षित करनेवाला भाव अर्थात् विभूतिमत्व ईश्वरकाही होता है। उत्तम करनेवालेका गुण, भक्तोंका रक्षण करनेवाला धर्मात्मा ये दोनों ईश्वरकी विभूतियां हैं। इसीमें सब कुछ आ जाता है। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक वर्णनीय भाव ईश्वरकी विभूति है। मनुष्य जो आकर्षित होता है वह ईश्वरके विभूतिमत्त्वसेही आकर्षित होता है परन्तु यह अनुसंधान उसे नहीं रहता, सब एक वस्तु है यह उसे अनुभव नहीं हो पाता। यदि वह इस बात का ध्यान करके यही बातें करेगा तो उसे मुक्ति प्राप्त होगी। मनुष्यका मन (जगत् अनुरज्यते) जो जगत्में रमता है वह ईश्वरमेंही रमता है, परन्तु इस बातका उसे पता नहीं है, यहां श्लोक ३६ में जो 'जगत्' शब्द है वह सम्पूर्ण प्राणियोंका वाचक है। विषय समझानेके लिये इस यहां जगत् का अर्थ मनुष्यमात्र इतनाही लेते हैं। (जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च) मनुष्यमात्रको जो हर्ष होता है और मनुष्यमात्र जो रममाण होता है वह (तव प्रकीर्त्या) ईश्वरके गुणवर्णनसेही है। यहां शंका होती है कि संपूर्ण प्राणिमात्र अथवा मनुष्यमात्र परमेश्वरका वर्णन करतेही कहां हैं? कई तो परमेश्वरके अस्तित्वको भी नहीं मानते। जो ईश्वरके अस्तित्वको भी नहीं मानते हैं उनका वर्णन कैसे करेंगे?

इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि परमेश्वर सब कुछ (सर्व) है, अतः मनुष्य किसका भी वर्णन करने लग जावे वह वर्णन ईश्वरकाही होगा और मनुष्य जिस किसीमें अनुरक्त हो जांय वे ईश्वरमेंही उसमें अनुरक्त होंगे। क्योंकि यहां दूसरा कोई रूप है ही नहीं। यद्यपि मनुष्यमात्र जो वर्णन करते हैं और प्रेम करते हैं वह केवल ईश्वरका वर्णन करते हैं और ईश्वरसेही प्रेम करते हैं तथापि उनको इस बातका पता नहीं है। न समझते हुए वे यह करते हैं, अतः महत्त्वसे वंचित रह जाते हैं। यदि विश्वरूपका अनुभव करने लगें तो उनको पता लग जायगा कि वे ईश्वरकाही वर्णन करते और ईश्वरसेही प्रेम करते हैं। परन्तु यह बहुतही थोडे लोगोंको पता होता है।

राक्षस जिससे भयभीत होकर भाग जाते हैं और सिद्धोंके समूह जिसे नमन करते हैं वह एकही जगत्पालक प्रभु है जो विश्वके रूपमें सबके सम्मुख उपस्थित है। ईश्वर (ब्रह्माका आदिकर्ता) ब्रह्मदेवका भी आदिकर्ता है सबका आदिकारण है वह सर्वसिद्ध है, अतः उससे राक्षस क्यों न डरेंगे ! और सिद्ध पुरुष उसे क्यों नमन नहीं करेंगे ! वैसेही यहां हो रहा है। सिद्धोंके समुदाय जो ईश्वर है उसीसे राक्षस डरते हैं।

यही देव अन्तरहित (अनन्त) है सब देवोंका देव भी यही है, यही जगत्का आश्रय है अ-क्षर अविनाशी है और अक्ष-र जीवोंका एकमात्र होनेयोग्य भी यही है। क्या सत् असत् और उसके परे भी जो कुछ है, वह सब उसीका स्वरूप है। यहां असत् का अर्थ 'अभाव' नहीं है, जैसा सत् एक पदार्थ है वैसाही उसीका दूसरा भाव असत् है और सत् असत्के परे जो है वह भी उसी पदार्थका तीसरा भाव है। यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। अपने सामने मिश्रीका डेला रखिये और उसकी ओर देखिये। उसका मिठास सत् है क्योंकि उसीके कारण मिश्रीको मिश्रीका भाव प्राप्त हुआ है। उसका जो स्थूल रूप है जो मिठाससे पृथक् अनुभवमें आता है वह असत् है क्योंकि वह दृश्य है एकसा नहीं रहता। सत् जो मिठास है वह जिह्वासे ग्रहण किया जाता है और असत् जो स्थूलता है वह स्पर्शसे अथवा नेत्रसे ग्रहण होती है। भिन्न इंद्रियोंसे ग्रहण होनेके कारण इसमें पृथक्त्वकी भावना होती है। वस्तुतः मिठास और डेला भिन्न नहीं होते। दोनोंका एक स्थानपर होनाही सत्-असत्के परे रहनेवाला भाव है जिसे मिश्री खांड शक्कर आदि नामोंसे हम सब जानते हैं। सत्- (मिठास) असत् (डेला), सदसत्के परे रहनेवाला भाव (मिश्री) है। यदि मिश्रीको आप केवल सत् (मिठास) कहेंगे तो उसमें असत् (स्थूल डेला) भी मिला है यदि असत् (डेला) ही कहेंगे तो उसमें सत् (मिठास) भी है, दोनोंके संयोगसे होनेवाला दोनोंसे भिन्न तीसरा कहा जाता है। इसी तरह सत्, असत् और उनसे परे ये तीन पदार्थ एक वस्तुकेही तीन भाव हैं यह बात ध्यानमें आ सकती है।

यही प्रभु (आदिदेव) सबसे पूर्वकालमें रहनेवाला तेजस्वी ईश्वर (पुराणः पुरुषः) अतः पुराण-पुरुष सबसे पूर्वकालसे रहनेवाला और (विश्वस्य परम निधानं) इस विश्वका परम आधार अर्थात् जिसपर यह विश्व स्थित है, जिसपर यह विश्व है ऐसा दीखता है जिसके आधारके बिना विश्वका अस्तित्व रह नहीं सकता वही एक प्रभु सबका परम आधार है।

यही (वेत्ता वेद्य च) ज्ञाता और ज्ञेय है, अर्थात् जो ज्ञाता है वह अपने आपकोही यहां जाननेका यत्न करता है क्योंकि यहां दूसरा कोई पदार्थ न होनेसे वह स्वयं जाननेवाला और स्वयंही जाननेयोग्य ज्ञेय वस्तु होती है और स्वयं ज्ञानस्वरूप भी है। अर्थात् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान यहां एकही पदार्थके साथ संबंध रखते हैं।

यही परमधाम है यही सबका आश्रय है, कोई किसी ओर भाग जाय वह उसीमें आश्रय पाता है। इसीने (विश्वं ततं) यह सम्पूर्ण विश्व फैलाया है और यही उसमें व्याप्त है। इसमेंही नहीं यही इस विश्वके अनंत रूपोंको लेकर चारों ओर फैला है अतः उसको (अनंतरूप) अनेक रूपोंवाला कहते हैं। जो रूप यहां दिखाई देते हैं वे सब रूप उसीके हैं क्योंकि सब विश्वका रूप उसीका रूप है।

वायु यम, अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति (ब्रह्मदेव) (प्रपितामह) परदादा अर्थात् विष्णु, शंकर आदि सब यही प्रभु है। ये सब देव उसीके रूप हैं। ये देव भिन्न नहीं परंतु इनके कर्म विभिन्न होनेके कारण उसी एकके ये विभिन्न नाम हो गये हैं। जैसे एकही मनुष्यके पुत्र भाई पिता, चचा दादा परदादा मामा, भतीजा पति आदि कहा जाता है इतने नाम होनेपर भी वह एकही होता है, इसी तरह ये नाम उसके भिन्न गुण और भिन्न कर्म बता रहे हैं परन्तु वह एकही है। इस प्रभुके लिये हम सबका नमस्कार हो क्योंकि यही एक वन्दनीय देव है।

यही (अनन्तवीर्य) अनन्त सामर्थ्यसे युक्त है (अमितविक्रम) उसका पराक्रम अपरिमित है कोई उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। यह (सर्वं

समाप्नोषि) सबको सम्यक्तया प्राप्त होता है, क्योंकि वह सर्व वस्तुओंमें पूर्ण व्यापक है अतः उसको सर्व कहते हैं। वह सबका रूप धारण करके स्थित है इसलिये उसका नाम सर्व हुआ है। उसके नाम कहांतक कहे कौन कविकी जिह्वा कहते कहते थक गयी अतः कवियोंने उसको सर्व कहा और अपना वर्णन समाप्त किया। उसका यथार्थ वर्णन सर्व सम्बोधनसे ही हो सकता है अन्य शब्द उसका पूर्ण वर्णन करनेमें असमर्थही हैं। ऐसे सर्व नामक परमेश्वरको हमारा नमस्कार है।

अर्जुन कहता है कि हे प्रभो ! हे कृष्ण हे यादव हे सखा हे मित्र ! आदि नामोंसे मैंने आपको पुकारा था उस समय आपकी यह महिमा मुझे विदित नहीं थी न जानते हुए हास्य–विनोदमें तथा खेल कूद शयन आसन भोजन आदिके प्रसंगमें एकान्तमें अथवा सार्वजनिक प्रसंगोंमें मैंने जो आपका उपहास किया हो उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये । आपकी महिमा इतनी बडी है इस बातका मुझे पताही नहीं था। इस कारण मेरे द्वारा यह प्रमाद हो चुका है प्रभो ! क्षमा कीजिये आपके सिवाय दूसरा कौन क्षमा करनेवाला है ?

अर्जुन इस प्रकार प्रभुकी प्रार्थना कर रहा है। ध्यान रहे कि अर्जुनही इस प्रकार प्रमादी था ऐसी बात नहीं है। मनुष्यमात्र प्रतिसमय क्या कर रहा है ? हंसी खेल कूदमें और अन्यान्य व्यवहार करते समय मनुष्य परमेश्वरकी सर्वमहिमा जानता हुआ और उसको अपने सन्मुख सदा उपस्थित जानकर क्या व्यवहार करता है ? सब सामर्थ्य उससे प्राप्त करता हुआ भी मनुष्य उससे विमुख रहनेके समान व्यवहार करता है और अपने आचरणसे प्रभुका उपहासही करता है। अतः अर्जुनने उपहास किया था और दूसरे किसीने नहीं यह बात नहीं है प्रत्येक हरएक मनुष्य परमेश्वरका उपहास करनेमें अर्जुनसे बढकर है परन्तु अर्जुनको यहां पूर्ण पश्चात्ताप हुआ। अतः उसका अन्तःकरण पवित्र बन गया। अन्य लोग उपहास करते हैं परंतु उपहास करनेका भान उनको नहीं होता अतः उनके अन्तःकरण वैसेही अपवित्र रहते हैं जैसे पहिलेसे थे। पाठक यहां अपना व्यवहार देखें और इससे बोध लें।

परमेश्वर (चराचरस्य पिता) स्थिरचरका पिता है, सबका पूज्य है सबका श्रेष्ठ गुरु है, ईश्वरके समान दूसरा कोई नहीं है फिर उससे अधिक कहांसे मिलेगा ? तीनों लोकोंमें ईश्वरकाही प्रभाव अप्रतिम है। इसलिये उसीकी सबको प्रार्थना करनी चाहिये। जैसे पिता अपने पुत्रके अपराधोंको क्षमा करता है, जैसे मित्र अपने मित्रके अपराध क्षमा करता है वैसा प्रिय अपने प्रिय मित्रके अपराधोंको भुला देता है उसी तरह वह प्रभु भक्तोंके अपराध क्षमा करता है। वह परम दयालु है और अन्तःकरणसे जो क्षमा याचना करता है उसकी क्षमा कर देता है। अतः हरएक मनुष्य अपने अपराध क्षमा करनेके लिये भगवानसे उससे प्रार्थना करे।

अर्जुन कहता है कि वह कभी न देखा हुआ अद्भुत रूप मैंने देखा और मेरा हृदय भयसे कांपने लगा है। अब प्रार्थना है कि हे प्रभो मुझपर आप प्रसन्न हो जाइये और अपना वही पूर्ववत् सौम्यरूप मुझे दिखा दीजिये। यहां अर्जुनके सन्मुखही भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित थे उसीके उसके नेत्र प्रभुके विश्वरूपपर लगे हुए थे इसलिये उसे सन्मुख उपस्थित भगवान् श्रीकृष्णजीके शरीरका विस्मरण सा हो गया था। उसकी समष्टि ईश्वरके विश्वरूपपर लगी थी वहांसे उसको निवृत्त करना था। उसकी दृष्टि समष्टि शरीरपर लगी थी वहांसे जब श्रीकृष्णजीके व्यष्टि शरीरपर उसकी दृष्टि आ जायगी उस समय वह श्रीकृष्णजीके व्यष्टि शरीरको देख सकेगा। यहां इस प्रश्न को बोल रहा है वह समष्टिपर ध्यान लगाके अर्जुन बोल रहा है, पाठक यहां इसकाही अनुसंधान करें।

अर्जुन कहता है कि किरीटधारी गदाधारी, चक्रधारी ऐसा चतुर्भुज रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका रूप मैं देखना चाहता हूं। हे सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते ! वह अपना रूप मुझे दिखाइये। यहां प्रार्थना करता हुआ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप देखना चाहता है। परन्तु श्रीकृष्णजीका रूप द्विभुजी था और चतुर्भुजी रूप नहीं था। महाभारतमें द्विभुजी मानवरूप श्रीकृष्ण थे ऐसाही वर्णन है। वह अर्जुनको पता था परन्तु उसकी समाधि इस समय विश्वमूर्ति विश्वरूपी समष्टिरूप ईश्वरपर हो चुकी थी,

(७) सौम्य व्यष्टिरूप दर्शन

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अन्वय— श्रीभगवान् उवाच— हे अर्जुन ! यत् त्वदन्येन दृष्टपूर्वं न तद् इदं मे तेजोमयं विश्वं अनन्तं आद्यं परं रूपं प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् तव दर्शितम् ॥ ४७ ॥ हे कुरुप्रवीर ! अहं एवंरूपः नृलोके वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः न क्रियाभिः च, उग्रैः तपोभिः च न त्वदन्येन द्रष्टुं शक्यः ॥ ४८ ॥ मम इदं ईदृक् घोरं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा (अस्तु) विमूढभावः च मा (अस्तु)। त्वं व्यपेतभीः प्रीतमनाः (भूत्वा) पुनः तद् एव इदं मे रूपं प्रपश्य ॥ ४९ ॥ संजय उवाच— महात्मा वासुदेवः इति तथा अर्जुनं उक्त्वा भूयः स्वकं रूपं दर्शयामास । पुनः च सौम्यवपुः भूत्वा भीतं एनं आश्वासयामास ॥ ५० ॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन ! जो तेरे सिवाय और किसीने पहिले देखा नहीं था ऐसा तेजोमय विश्वस्वरूपी, अनन्त आद्य मेरा श्रेष्ठरूप प्रसन्न होकर मैंने आत्मयोगके द्वारा तुझे दिखाया है ॥ ४७ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! मुझे इस प्रकारके रूपमें इस मनुष्यलोकमें वेदाध्ययनसे यज्ञोंसे दानोंसे कर्मोंसे अथवा उग्र तपोंसे तुझे छोड़कर अन्य कोई भी नहीं देख सकता ॥ ४८ ॥ मेरे इस घोर रूपको देखकर तू व्यथित मत हो भ्रान्तिमें मत पड़ । तू डर छोड़कर सन्तुष्ट मनसे मेरे उसी पहिले रूपको देख ॥ ४९ ॥ संजय बोला— महात्मा वासुदेवने इस प्रकार अर्जुनसे कहकर फिर अपना पहिला रूप दिखाया । अर्थात् पुनः सौम्य शरीरवाला होकर इस भयभीत (हुए अर्जुन) को धीरज बधाया ॥ ५० ॥

भावार्थ— परमेश्वरके विश्वरूपको कोई विरलाही देख सकता है आत्मयोगसेही इस तेजस्वी अनन्त आद्य परमश्रेष्ठ रूपको देखना संभव है । आत्मयोग न करनेपर मनुष्य अन्य साधन अर्थात् वेदपाठ यज्ञ दान कर्म तप आदि कितना भी करे उससे इस विश्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता । परमेश्वरका विश्वरूप देखकर उसके असीम भावके कारण कोई भी न डरे और नाही विमूढ हो जावे । यहां तो इस रूपमें भयका कोई कारण नहीं है, यह तो प्रसन्नताकारी हेतु है ॥ ४७–५० ॥

उस भूमिमें वह इस समय बोल रहा है, अतः उसको द्विभुजी रूपवाला श्रीकृष्ण है अथवा चतुर्भुजी रूपवाला है इस विषयमें विस्मृति हुई प्रतीत होती है । जैसे किसीको निद्रा या मूर्च्छा आती है उस समय कुछ प्रश्न पूछा जाय, तो वह वैसा उत्तर दे देता है अर्जुनकी समाधि विश्वरूपी परमेश्वरपर लग जानेके कारण वैसीही स्थिति इस समय हो गई थी । इसलिये वह द्विभुजी श्रीकृष्णको चतुर्भुजी कह रहा है । आध्यात्मिक भूमिमें ऐसा हुआ ही करता है ।

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थना श्रवण करके परम कृपालु भगवान् प्रेमपूर्ण दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—

(४०–५) यहां विश्वरूपदर्शन किस प्रकार होता है यह बात कही गई है। यही विशेष महत्त्वकी बात है। (१) आत्मयोगसे और (२) परमेश्वर प्रसन्न होनेसे परमेश्वरका विश्वरूप साधक देख सकता है। परमेश्वरकी प्रसन्नताके साधनोंका साधनही इस साक्षात्कारकी साधना है। जो मनुष्य इस साधनाको करेंगे वे विश्वरूपका साक्षात्कार कर सकते हैं। आत्मयोगका अर्थ है आत्माका अटूट संबंध जानना और उसका अनुभव करनेका यत्न करना। परमेश्वरकी प्रसन्नता परमेश्वरके कार्यके लिये आत्मसमर्पण करनेसेही हो सकती है। वस यही साधन अर्जुनने किया था। अर्जुनने अपने आपको परमेश्वरके साधुओंका परित्राण दुष्टोंका विनाशन और धर्मराज्यका प्रस्थापन इस त्रिविध कार्यके लिये समर्पित किया था। तथा अपना संबंध अखंडतासे परमेश्वरके साथ जोड दिया था। परमेश्वरका वह सखा बनकर व्यवहार करता था। इस कारण परमेश्वर उसपर प्रसन्न हुआ और उसने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखाया। और इस प्रकार उस भक्तने अनन्त आद्य अदृष्टपूर्व तेजोमय समग्र रूप देख लिया। जो भी भक्त इस तरह आत्मसमर्पण करेगा वह इस विश्वरूपको इसी तरह देख सकेगा परन्तु यदि कोई कहेगा कि केवल ग्रंथके अध्ययनसे दान देनेसे विविध क्रियाकर्म करनेसे और अनेक कठोर तप करनेसे मैं विश्वरूपको देख सकूंगा तो यह असंभव है। बिना परमेश्वरकी प्रसन्नताके और आत्मयोग करनेके कोई इस रूपको नहीं देख सकता। यह रूप विश्व है अर्थात् संपूर्ण या समग्र है। इसमें अपूर्णता नहीं है खंड नहीं है। अखंड एकरस अटूट अनुभव सम्पूर्ण विश्वमें हो जाना चाहिये। वैसा अनुभव आत्मयोगसे हो सकता है यह यहां अत्यंत महत्त्वकी बात कही है।

यह विश्वरूप (त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्। ४७) तेरेसे भिन्न किसी अन्यने इस समयतक देखा नहीं था ऐसा जो यहां कहा है, यह पूर्ण अर्थसे लेना उचित नहीं है क्योंकि इसी युद्धभूमिमें अर्जुनने यह विश्वरूप जैसा देखा वैसाही संजयने भी देखा था और उन्होंने श्लोक ९ से १४ तक उसका वर्णन भी किया था। फिर श्लोकमें संजय कहते हैं कि—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥
(गी० १८।७७)

इस तरह 'उस ईश्वरके अद्भुत रूपका स्मरण करके संजय भी पुनः पुनः आश्चर्यचकित हो रहा था। अर्थात् संजयने उस विश्वरूपको देखा था इसमें संदेह नहीं है। अर्जुनके वर्णनके प्रसंगमें—

रूपं महत्ते दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।
(गी० ११।२३)

परमेश्वरका बड़ा विश्वरूप देखकर सब लोग भयभीत हुए हैं। इस कथनमें ईश्वरका विश्वरूप सब लोगोंने देखा था यह भाव स्पष्ट है। यहां अर्जुनके कथनमें कुछ अधिक वर्णन हुआ होगा इसमें संदेह नहीं है क्योंकि सब लोग भयभीत हुए ऐसा जो अर्जुनने कहा उसके स्थानपर यहांके कुछ लोग भयचकित हुए ऐसा कहा सकते हैं। ऐसा माननेमें कोई अत्युक्ति नहीं है और इतना तो भाव अर्जुनके वर्णनमें अवश्यही होगा। यह मान माननेपर भी अर्जुन और संजयको छोडकर कुछ अन्य पुरुषोंने कमसे कम अर्जुनके रथके चारों ओर खडे पुरुषोंने कुछ मनुष्योंने इस विश्वरूपको देखा था और वे भी व्यथित हुए थे इतनी बात निर्विवाद सिद्ध है।

इस प्रकार कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिपर अर्जुन संजय और कुछ अन्य वीर परमेश्वरके विश्वरूपको देखनेमें समर्थ हुए थे। इतना होनेपर भी (त्वदन्येन न दृष्टपूर्वं रूप) अर्जुनसे भिन्न किसीने यह रूप इस समयतक देखा नहीं था ऐसा यहां कहा है अतः इस कथनका अर्थ कुछ ढीला समझना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णने अपनी माता यशोदाको विश्वरूप दिखला दिया था। वेदमें यजु० (अ० ३१) तथा अथर्ववेदीय नारायणके विश्वरूपका वर्णन (अ० १।१९) अतिस्पष्ट है। अन्यान्य पुराणोंमें भी विश्वरूपके वर्णन हैं। और भी सिद्धोंने देखाही होगा। इसलिये अर्जुननेही केवल इस समय यह विश्वरूप देखा था और किसीने इस समयतक विश्वरूप देखा नहीं था, यह कथन अक्षरशः सत्य नहीं मानना चाहिये गौणमतसे इसकी सत्यता मानना उचित है।

(८) ज्ञानदर्शनपूर्वक ईश्वरमें प्रवेश

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन । इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच- हे जनार्दन ! तव इदं मानुषं सौम्यं रूपं दृष्ट्वा अहं इदानीं सचेताः संवृत्तः प्रकृतिं गतः अस्मि ॥ ५१ ॥ श्रीभगवानुवाच— यत् मम सुदुर्दर्शं इदं रूपं दृष्टवान् असि अस्य रूपस्य देवाः अपि नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः (सन्ति) ॥ ५२ ॥ यथा मां दृष्टवान् असि एवंविधः अहं न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया द्रष्टुं शक्यः (अस्मि) ॥ ५३ ॥ हे परंतप अर्जुन ! अहं एवंविधः तत्त्वेन ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च अनन्यया भक्त्या (एव) शक्यः (अस्मि) ॥ ५४ ॥ हे पाण्डव ! यः मत्कर्मकृत् मत्परमः संगवर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरः मद्भक्तः (अस्ति) सः मां एति ॥ ५५ ॥

अर्जुनने कहा— हे जनार्दन ! तुम्हारे इस मानुषीय सौम्य रूपको देखकर मैं अब सचेत होकर अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आगया हूं ॥ ५१ ॥ श्रीभगवान् बोले— देखनेमें अत्यन्त कठिन जिस मेरे रूपको तुमने देखा है उस रूपको देखनेकी देव भी इच्छा किया करते हैं ॥ ५२ ॥ तूने जैसा मुझे देखा है वैसा मुझे वेदोंसे तपसे दानसे अथवा यज्ञसे भी कोई नहीं देख सकता ॥ ५३ ॥ हे शत्रुको ताप देनेवाले वीर अर्जुन ! मुझे इस तरह तत्त्वसे जानना देखना और मुझमें प्रवेश करना केवल अनन्य भक्तिसेही शक्य है ॥ ५४ ॥ हे अर्जुन ! जो मेरे लिये कर्म करता है जो मुझे परम श्रेष्ठ मानता है जो (भोगोंका) संग छोड़ता है और सब भूतोंके विषयमें वैररहित होता है मेरा वही भक्त मुझे प्राप्त हो सकता है ॥ ५५ ॥

आगे भगवान् कहते हैं कि इस घोररूपको देखकर जो भयभीत हुए हो वह भय दूर कर मन प्रसन्न कर लो और अपना परिचित मेरा पहला रूप ही फिर देखो। इस तरह कहकर भगवान्‌ने अपना सौम्यरूप अर्जुनको दिखला दिया और धीरज दिया तथा सौम्यरूपसे फिर उसके सामने खड़े हो गये।

यह दर्शन भी असत्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि विश्वरूपमें सृष्टी बननेकी और मिटानेकी बातही बताई है। यह संपूर्ण विश्व बाहर, भीतर एक वस्तु है इसका अनुभव होनेपर उसमें डर लगने और भयभीत होनेकी बातही क्या है? हम सबको दिखता जो कुछ होता है वही विश्वरूप है। केवल हमें इसमें अलग अलग अनेकविध पदार्थ दीखते हैं और भिन्नभिन्न दिखनेवालोंका आधार एक वस्तु दीखती है। अनेक पदार्थ इसकी स्थितिमें डर नहीं है और यह सब पदार्थ एक वर्णके यथार्थ परिचित हुए तो डर उनसे लगता और इस आनन्दरूपको देखनेवाला भयभीत होना एवं उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिये इसका आशय भी गौण दृष्टिसेही समझना चाहिये। यह एक काव्यमय वर्णन है इसलिये भाव यही समझना चाहिये।

आगे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ फिर वार्तालाप करते हैं—

भावार्थ— ईश्वरका विश्वरूप देखना अति कठिन कार्य है। इस अद्भुत रूपको देखनेके लिये देवगण भी लालायित रहते हैं। यह विश्वरूप यज्ञ दान तप अध्ययन आदिसे नहीं दीख सकता। केवल (अनन्य भावसे) मैं दूसरा नहीं इस भावसे होनेवाली जो (भक्ति) विश्वसेवा है उसीसे यह विश्वरूप दीख सकता है। अतः जो साधक भक्त परमेश्वरके कर्म करता है परमेश्वरकोही सर्वोपरि मानता है भोगोंका संग छोडता है, और सब भूतोंके ऊपर वैररहित प्रेमभाव रखता है वही विश्वरूपी परमेश्वरका साक्षात्कार कर पाता है ॥ ५१—५५ ॥

(५१–५५) अर्जुनने श्रीभगवान्‌का मानुषी सौम्य रूप देख लिया और उसको समाधान हुआ उसका डर दूर हुआ और उसे धैर्य प्राप्त हुआ। अतः वह निर्भय होकर पूर्ववत् खडा हुआ। यह देखकर भगवान् कहने लगे— देवतागण भी इस मेरे विश्वरूपको देखनेकी इच्छा करते हैं परन्तु उनको यह रूप दीखता नहीं क्योंकि यह देखना अति कठिन है। यहां जो कठिनता वर्णन की है वह दृष्टिकोणकी कठिनता है। यह एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोण है जिससे परमेश्वरका दिव्य विश्वरूप दीखता है यह दृष्टिकोण केवल ग्रन्थोंके पढनेसे यज्ञ दान तप करनेसे अथवा गुरु बननेसे शास्त्राधिकार पास रखनेसे धन कमानेसे यश कारीगर होनेसे नहीं प्राप्त होता। यह तो गुरुके द्वारा समझानेपरही प्राप्त हो सकता है।

अनन्यभक्ति

अनन्यभक्तिसेही परमेश्वरका विश्वरूप देखा जा सकता है। यह अनन्यभक्ति क्या है ? अपने आपको अन्य न मानते और न समझते हुए जो विश्वरूपी भगवान्‌की सेवा की जाती है वही अनन्यभक्ति है। विश्वरूपी प्रभुका साक्षात्कार करनेका यही एकमात्र उपाय है। अन्य यज्ञदानादि सब उपाय गौण उपाय हैं परंपरासे अर्थात् दूरसे वे सहायता करते हैं साक्षात् काम इसी उपायसे हो सकता है। अनन्य भावसे जो विश्वरूपकी सेवा करनी है उसीका दूसरा नाम विश्वसेवा है। इस विश्वसेवाकी बुद्धि मनुष्यमें उत्पन्न करनेके लिये यज्ञदानतपादि अन्यान्य उपाय परंपरया सहायक होते हैं। अतः अनन्य होकर विश्वसेवा करनेसेही ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है।

ज्ञान–दर्शनपूर्वक प्रवेश

(ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं) परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये परमेश्वरका दर्शन करना चाहिये और परमेश्वरमें प्रवेश करना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करना यह बौद्धिक साक्षात्कार है प्रत्यक्ष दर्शन करना यह दृष्टिका साक्षात्कार है और उसमें प्रवेश करना यह अनन्य होनेका पूर्ण अनुभव है। ये परमेश्वरके तीनों साक्षात्कार मनुष्यको हो सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके लिये मनुष्यको अपने अन्दर अनन्य भाव अर्थात् मैं उससे पृथक् नहीं हूं या मत किंवा यहां अनेकविध पदार्थ नहीं हैं परन्तु एकही वस्तु है यह भाव निश्चयपूर्वक मनमें धारण करना चाहिये। तभी यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

ईश्वरके ज्ञान–दर्शनपूर्वक उसमें अपना प्रवेश हुआ है इसका साक्षात्कार करना यही वेदधर्मका अन्तिम साध्य है। उसेही यहां भगवद्गीतामें इस तरह वर्णन किया है। इसी सिद्धिके उपाय इस प्रकार भगवान् वर्णन करते हैं।

मत्कर्मकृत्

मत्कर्मकृत् यह पहिला उपाय है इसके करनेसे मनुष्य ईश्वर प्राप्तिकी अन्तिम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। यही कर्ममार्ग अथवा कर्मयोग है। मत्कर्म का अर्थ है ईश्वरके कर्म करना। मनुष्य सदा अपने कर्म करता है वह अपने कर्म करना छोड दे और परमेश्वरके कर्म करे किंवा परमेश्वरके लिये कर्म करे। परमेश्वरके कार्योंके लियेही कर्म करता रहे। परमेश्वरके कर्म भगवद्गीतामें लिखितही हैं (१) सज्जनोंका परित्राण, (२) दुर्जनोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना। ये तीन कर्म परमेश्वरके हैं। इनकी सिद्धिके लिये आवश्यक जो जो अन्यान्य अनेकविध कार्य होंगे वे सब परमेश्वरकेही कार्य होंगे। अर्थात् दुर्जनोंका वध करना यह परमेश्वरका कार्य है। वध करनेके लिये शस्त्र तैयार करना भी उसीका साधक कार्य है इस तरह दुर्जन-वध-कर्ताकी हरएक प्रकारकी सहायता करना भी परमेश्वरकाही कार्य है। इस प्रकार जो जो कार्य पूर्वोक्त तीनों परमेश्वरके कार्योंके साधक होंगे वे सब परमेश्वरकेही कार्य हैं। उनको उत्तमसे उत्तम

रीतिसे (योगस्थः कर्म कुरु) करना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्य ये कर्म करे। इनके करनेसे उसका उद्धार हो जायगा।

सज्जनोंका पालन दुर्जनोंका नाश और धर्म-संस्थापना ये तीन कार्य परमेश्वरके हैं। ये कर्म परमेश्वरके हैं ऐसा मानकर कर्म करनेसे तथा इनके सहायक सब कर्म परमेश्वरके संतोषके लिये करनेसे मनुष्यकी कृतकृत्यता होती है। मनुष्यकी आयुभरके सब सत्कर्म इन तीन कार्योंमें संमिलित हो सकते हैं। इन कर्मोंकी इतनी व्याप्ति होना संभव है। अतः मनुष्य अपना जीवनही परमेश्वरके कार्योंके लिये समर्पित करे, परमेश्वरको सन्तुष्ट करनेके लिये कर्म करे और जो कर्म करे वह परमेश्वरको समर्पण करे। कर्मयोगके एवं भावमें कहे नियमोंका अनुसंधान पाठक यहां करें और कर्म करनेकी विधि निश्चित करके तथा तदनुसार कर्म करके कृतकृत्य बनें।

मत्परमः

परमेश्वरकोही जो परम अर्थात् परतम श्रेष्ठतम मानता है, जिसके लिये परमेश्वरके सिवाय दूसरा कुछ भी वहां नहीं रह जाता जिसके लिये परमेश्वरही ध्येय प्राप्तव्य आदि हो जाता है, जो अपना सब ध्यान इसी अद्वितीय परमेश्वर पर ध्यान रखता है जिसके मनमें परमेश्वरको छोडकर दूसरा विचारही नहीं आता जिसकी सब इंद्रियाँ परमेश्वरके लिये कार्य करती हैं जिसका संपूर्ण जीवन परमेश्वरके लियेही समर्पित रहता है वह भक्त परमेश्वरके लिये कर्म करके कृतकृत्य होता है।

मद्भक्तः

परमेश्वरका जो भक्त होता है कृतकृत्य होता है। भक्त उसको कहते हैं कि जो तत्परतापूर्वक सेवा करनेवाला हो। 'भज्-सेवायां' इस धातुसे यह शब्द बनता है। सेवा करनेका अर्थ यही है कि जिसकी सेवा करनी है उसके लिये करनेयोग्य कार्य करना। स्वामीके कार्य स्वामीका मन प्रसन्न होनेयोग्य रीतिसे करना। स्वामीके न कहनेपर भी उसके कार्य यथायोग्य रीतिसे करना। स्वामी उपस्थित रहने न रहनेकी अवस्थामें उसके कार्य जैसे करने चाहिये वैसे करना और उसके बदले कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा न करना। जो अहेतुक भक्ति करता है वह उसका फल अपने लिये प्राप्त करनेकी इच्छा करता है परन्तु जो निष्काम भक्त होता है, जो स्वयंसेवक होता है वह अपने लिये कर्मका फल अपनेको मिलना चाहिये ऐसा नहीं कहता और इसीलिये ऐसे निष्काम भावसे सेवा करनेवाले स्वामीको अधिक प्रिय होते हैं। एसे भक्त कृतकृत्य होते हैं।

संगवर्जितः

संगकी इच्छा न करनेवाला। संगका अर्थ है भोगोंका संग कर्मके फलोंका उपभोग लेनेका संग, कर्मके फल मुझे उपभोगके लिये मिलने चाहिये यह कामना। इस भोगकामनाको न रखकर कर्म करनेवाला निष्काम कर्म योगी कृतकृत्य होता है।

सर्वभूतेषु निर्वैरः

सर्व भूतोंके विषयमें वैरभावका त्याग करनेवाला किसीसे वैर न करनेवाला किसी भी कारण किसीसे द्वेष न करनेवाला। जिसके मनमें द्वेषभाव वैरभाव शत्रुभाव नहीं होता ऐसा मनुष्य कृतकृत्य होता है।

यहां 'सर्वभूत' शब्द है। भूत शब्दका अर्थ प्राणी है और सब उत्पन्न हुए पदार्थ ऐसा भी इसका अर्थ है। सब प्राणियोंके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये उसी प्रकार किसी पदार्थ या किसी वस्तुके साथ भी द्वेष नहीं करना चाहिये। मनमेंसे पूर्णतया द्वेषभावको हटा देना चाहिये।

पाठक यहां यह समझें कि मनसे द्वेषभावको पूर्णतया हटाना यह भी निषेध-लक्षण है। इसका विधिलक्षण यह है कि सबपर अखंड प्रेम करना। केवल द्वेषके अभावसे कार्य नहीं होगा वहां प्रेमका सद्भाव चाहिये। सब भूतोंपर प्रेम करनेवाला मनुष्यही अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। द्वेषका अभाव घडा खाली करनेके समान है केवल घडा खाली करनेसे कार्य नहीं हो सकता उसे दूध मीठा घी शहद आदिसे भरकर रखना चाहिये।

जो साधक (१) परमेश्वरके कार्य करता है (२) जो परमेश्वरको परम श्रेष्ठ मानता है (३) जो परमेश्वरकी अखंड भक्ति (सेवा) करता है (४) जो भोगोंका संग छोड देता है और (५) जो सब भूतोंसे द्वेष नहीं करता अथवा सब भूतोंपर अखंड प्रेम करता है—

स मां पति। (११।५५)

'वही साधक (मुक्त) परमेश्वरको प्राप्त करता है।' परमेश्वरको प्राप्त होनेका अर्थ पूर्ण होना है। संक्षेपसे पूर्ण होनेके ये पांच साधन हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस समय तक जो उपदेश कहा है उसका पांच शब्दोंमें यह अति संक्षेप है। इन साधनोंके अनुष्ठानसेही साधककी सच्ची उन्नति हो सकती है।

इस तरह इस अध्यायमें परमेश्वरका अनंत विश्वरूप बड़ी युक्तिके साथ बताया है और उसका साक्षात्कार करनेका सुगम उपाय भी बताया गया है। इ मानवीय उन्नतिके लिये जो भी कहना चाहिये अध्यायमें कहा है। जो इसका अनुष्ठान करेंगे उ पार हो जायगा, और जो लोग साधन नहीं करें जायेंगे। इस अध्यायमें विश्वरूप-दर्शनका स्वरूप कहा है, इसलिये यह अध्याय भगवद्गीता उच्च शिखर समझना चाहिये। आशा है ए शिखरपर चढ़ेंगे और वहांसे विश्वरूपका दर्शन देखकर कृतकृत्य होंगे।

ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ११ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

ग्यारहवें अध्यायका मनन

श्रीमद्भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायमें परमात्माके विश्वरूपका वर्णन है। दसवें अध्यायमें परमेश्वरकी विभूतियां कही गई हैं शस्त्रधारियोंमें राम और पांडवोंमें धनंजय परमेश्वरकी विभूति है ऐसा दसवें अध्यायमें कहा गया। वहां प्रश्न उपस्थित हुई कि यदि सब शस्त्रधारियोंमें राम ही ईश्वरकी विभूति है तो अन्य शस्त्रधारी किसके रूप हैं? यदि पाण्डवोंमें अर्जुनही ईश्वरकी विभूति है तो अन्य पाण्डव किसकी मूर्तियां हैं? इस शंकाको निर्मूल करनेके लिये ग्यारहवें अध्यायमें कहा कि संपूर्ण विश्वही परमेश्वरका रूप है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जैसे राम परमेश्वरकी विभूति है वैसेही अन्य वीर भी परमेश्वरकीही भूति हैं। जैसे अर्जुन परमेश्वरकी विभूति है वैसेही अन्य पांडव भी परमेश्वरकी भूति हैं। वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं सब रूपोंमें एकही आत्मा अभिनय कर रही है। एकही आत्मा अनेक रूपोंमें हमारे सन्मुख आकर खडी है। ये अनेक रूप भिन्न नहीं हैं सब रूप मिलकर एकही अखंड रूप होता है और उसको इसी तरह अखंड एकरूपसे देखना चाहिये।

भगवान् गीताके द्वितीय अध्यायसे जो क[illegible] चाहते थे वह यहां ग्यारहवें अध्यायमें पूर्णताको [illegible] ही है। यही विश्वरूपका ज्ञान वैदिक धर्मका [illegible] है। वैदिक धर्म इसी ज्ञानके आधारमें रहकर [illegible] यदि यह विश्वरूपकी कल्पना वैदिक धर्मसे [illegible] तो उसके आधारमें कुछ भी शेष नहीं रहेगा। [illegible] कल्पनामें इस विश्वरूपके ज्ञानका इतना महत्त्व [illegible] पाठक इसका विचार इस प्रकार करें। यही [illegible] कल्पना भगवद्गीतामें प्रारंभसे कैसे कही गई है [illegible] देखिये—

१ सर्वगतः। (आत्मा) (गी

२ सर्वगत ब्रह्म। (गी

३ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुत[illegible] (गी।

४ यदि [illegible] यथा [illegible] इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं [illegible] ॥ (गी

५ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥
(गी ५।१८)

६ सर्वत्र समदर्शनः। (गी ६।२९)
७ समोऽहं सर्वभूतेषु। (गी ९।२९)
८ वासुदेवः सर्वम्। (गी ७।१९)
९ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
(गी १०।४२)

१० अनन्तरूप, विश्वरूप। (गी ११।१६)
११ सर्व सर्वः। (गी ११।४०)

(१) प्रारंभमें द्वितीय अध्यायमें कहा है कि 'सर्वगत आत्मा' है। आत्मा सर्वगत-सर्वव्यापक है— इतना कहनेमात्रसेही यह विश्व आत्माका रूप है ऐसा स्पष्ट होता है।

(२) यही बात तृतीय अध्यायमें सर्वगत-सर्वव्यापक-विश्वव्यापक ब्रह्म है ऐसा कहकर बताई गई है। दोनों वचनोंका उद्देश्य एकही है।

(३, ४) आगे चतुर्थ और नवम अध्यायोंमें 'अर्पण हवि अग्नि, हवन कर्ता यज्ञ तथा औषधि-समिधा आदि हवनीय औषधि मंत्र भी सब ब्रह्मही है ऐसा कहा है। ये सब एकही तत्त्वके रूप हैं। यही आत्माका विश्वरूप जैसा सर्वरूप है।

(५) आगे पंचम अध्यायमें ब्राह्मण चाण्डाल भी हाथी और कुत्ता इनमें एकहीको ब्रह्म समभावसे देखना चाहिये ऐसा कहा गया है। यहां भी समभावसे अवस्थित ब्रह्मके ये विविध रूप हैं ऐसीही ध्वनि निकलती है।

(६) छठे अध्यायमें सर्वत्र समदर्शन अर्थात् ब्रह्मदर्शन करनेका उपदेश स्पष्ट है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका अर्थ यहीं दूसरा कोई पदार्थ नहीं है केवल एकही ब्रह्म है, ऐसा देखना है।

(७) सब भूतोंमें समानतया भगवान्‌की अवस्थिति है।

(८) इतना कहकर 'सब वासुदेवकाही रूप है' ऐसा सातवें अध्यायमें स्पष्ट कहा गया है।

(९) दसवें अध्यायमें परमेश्वरने एक अंशसे सब विश्वको व्यापकर रखा है और ये सब उसकी विभूतियां हैं ऐसा वर्णन है।

(१०) इतना कहनेके पश्चात् इस ग्यारहवें अध्यायमें कहा है कि परमेश्वरका सब रूप है वह विश्वरूपी प्रभु है यह सब कुछ है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी रूप दीखता है वह उसीका रूप है। जो कुछ है वह सब वही है।

पाठक यहां देखें कि किस प्रकार शनैःशनैः गीताके उपदेशमें यह परमेश्वरके विश्वरूपकी कल्पना कही गई है। प्रत्येक अध्यायमें यही परमेश्वरका विश्वरूप बतानेके लिये उपदेश दिया गया है। गीताका संपूर्ण तत्त्वज्ञान इसी एक कल्पनापर केंद्रित है। इस 'विश्वरूप' का धर्म-विषयमें इतना महत्त्व है।

अब हमें देखना है कि यह विश्वरूपी ईश्वरकी कल्पना वेदमन्त्रोंमें भी है अथवा यह भगवद्गीताकीही कल्पना है? वेदके मंत्रोंमें भी परमेश्वरका विश्वरूप कहा गया है। प्रथमतः ऋग्वेदके मंत्रोंका निरीक्षण कीजिये—

ऋग्वेदमें विश्वरूपी ईश्वर

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ १॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्॥ २॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ १३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्
॥ १४॥ (ऋग्वेद १०।९०)

अथर्ववेद पाठ— सहस्रबाहुः पुरुषः।

इस पुरुषसूक्तका आशय अद्वितीय नारायण पुरुष अर्थात् परमेश्वरका विश्वरूप बतलाताही है। हजारों सिर हजारों बाहु हजारों आंख हजारों पांववाला यह नारायण पुरुष परमात्मा परमेश्वर है। यह भूमिके चारों ओर फैला है। भूत, वर्तमान और भविष्यकालका सब रूप जो

दीखता है वह उसीका रूप है यह भाव पहिले दो मंत्रोंका है। (मं १-२)

जो मनुष्यादि हजारों प्राणी हैं उनके हजारों और लाखों सिर बाहु हाथ, पेट और पांव उसी प्रभुके अवयव होनेसे उसके हजारों और लाखों अथवा करोडों अवयव हैं ऐसा उक्त मंत्रोंमें कहा है। इस विषयमें किसीको शंका उत्पन्न न हो इसलिये उसी सूक्तमें इसका विशेष स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें किया है —

इस पुरुषके वर्णनकी कल्पना किस प्रकार की गई है? उसका मुख कौनसा है? उसके बाहु कौनसे हैं? उसके ऊरू कौन हैं और उसके पांव कौन हैं? (मं ११)

इन प्रश्नोंको देखनेसे भी पता लगता है कि उत्तर क्या होना चाहिये। जो अनंत प्राणी इस नारायण पुरुषके अवयव हुए हैं उनमेंसे कौन उसके मुखके स्थानमें है कौन उसके बाहुओंके स्थानपर है और कौन अन्यान्य अवयवोंके स्थानों पर है? इसके उत्तरमें मंत्रही कहता है कि—

ब्राह्मण इसके मुख क्षत्रिय इसके बाहु वैश्य इसके ऊरू और शूद्र इसके पांव हैं। अर्थात् परमेश्वरका मानवीय समाजमें यह विश्वरूपही है। जो इस भूमिपर ज्ञानी हैं वे इस विश्वरूपी नारायणके हजारों मुख हैं जो शूर, वीर धीर पुरुष जनताकी रक्षा करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करते हैं वे लाखों क्षत्रिय उस परमेश्वरके बाहु हैं, जो खानपानके लिये कृष्यादि द्वारा अन्न उत्पन्न करते हैं और व्यापारद्वारा सर्वत्र पहुंचा देते हैं वे लाखों वैश्य उसी विराट् पुरुषके पेटके स्थलमें तथा ऊरुओंके स्थानमें समझनेयोग्य हैं और जो केवल अन्योंकी सेवा कर सकते हैं अर्थात् इससे अधिक ऊंचा कार्य कर नहीं सकते वे सहस्रों शूद्र उस परमात्माके पांव हैं। मानव समाजके ये चार भाग इस विराट् पुरुषके चार अवयव हैं। मानव समाजमें ईश्वरका यही विश्वरूप है।

यहां विश्वरूपमें गौ घोडे आदि पशु पक्षी तथा वृक्ष-वनस्पति आदि भी समाविष्ट हैं तथा सूर्य चंद्र आदि ग्रह नक्षत्र भी हैं। इस विश्वरूपका निर्देश पूर्वोक्त सूक्तमें निम्न-लिखित प्रकार आता है—

मन चन्द्र आंख सूर्य मुख इंद्र और अग्नि प्राण वायु, नाभि अन्तरिक्ष सिर द्युलोक पांव भूमि और कान दिशाएं हैं इसी तरह अन्य लोक अवयवोंके स्थानपर हैं। (मं १४)

यह बाह्य जगत्‌में परमेश्वरका विश्वरूप है। पशु, पक्षी, वृक्ष वनस्पति ग्रह, नक्षत्र इन सबमें चार वर्ण माने गये हैं उन वर्णोंके जाननेसे परमेश्वरकी विभूति सर्वत्र कैसी है इसका ज्ञान हो सकता है। यही वर्णन कुछ भेदके साथ मुण्डकोपनिषद्‌में है—

> अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ (मुण्डक० २।१।४)

' अग्नि मूर्धा सूर्यचन्द्र आंख दिशा कान वेद वाणी, वायु प्राण विश्व हृदय पृथिवी पांव है, इस रूपमें यह सर्वभूतान्तरात्मा हमारे सामने है। पाठक इस वर्णनको भगवद्गीताके वर्णनके साथ मिलावें। यही वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार आता है—

> इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः। नासत्यदस्रौ परमस्य नासे प्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥ द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च। तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
> (श्री भागवत २।१)

परमात्माके बाहु इंद्रादि देव हैं कान दिशाएं, श्रोत्रेंद्रिय शब्द है अश्विनीकुमार नासिका है, घ्राणेंद्रिय गन्ध है मुख प्रदीप्त अग्नि है, द्युलोक आंख है और चक्षुरिंद्रिय सूर्य है पलकें दिनरात हैं ब्रह्मपद उसकी भ्रू है और रसतत्त्व जिह्वा है जल उसकी भीतोंका शिखर है। ऐसा यह परमेश्वर विष्णु है।

यह ईश्वरका विश्वरूपही है जो वेदमंत्रोंके आधारपर श्रीमद्भागवतमें किया है। पाठक श्रीमद्भागवतका यह वर्णन है ऐसा न समझें क्योंकि जो ऋग्वेदके मंत्रमें था वही श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया गया है। इस तरह यह ऋग्वेदके सूक्तमें विश्वरूपी नारायणका स्वरूप बताया है। इसी तरह ऋग्वेदमें अनेक स्थानपर परमेश्वरका विश्वरूप बताया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

(ऋ० १०।८१।३)

परमेश्वरके (विश्वतः) सब ओर चक्षु हैं, सब ओर मुख हैं, सब ओर बाहु हैं और सब ओर पाँव हैं। वह अपने अनन्त बाहुओं और अनन्त पाँवोंसे सबको प्रेरणा करता है, वह द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न करनेवाला एकही देव है। यहाँ इस ईश्वरके आँख मुख बाहु और पाँव सब ओर हैं ऐसा कहा है। ये इसके अवयव कहाँ हैं? प्राणमात्रके प्राणियोंके आँख नाक कान मुख हाथ पेट, पाँव आदिही इस विश्वरूपी परमेश्वरके अनन्त अवयव हैं। यह सर्व भूतान्तरात्मा एकही देव होनेसे सर्व भूतों और सर्व प्राणियोंके इंद्रियें अवयव उसीके अवयव हैं। यदि प्राणिमात्रका मिलकर एक भूतान्तरात्मा देव है ऐसी कल्पना पाठक कर सकेंगे तो निःसंदेह उनको अनन्त मुख बाहु उदर पाँवोंसे युक्त महाकायदेही विश्वरूपी परमेश्वरकी कल्पना हो सकती है। इसमें विशेषता इतनीही है कि इनको अलग अलग न मानते हुए सबको एकरस और एकही मानना चाहिये। पूर्ण कल्पना हो सकनेतक यह केवल कल्पनाही रहेगी। परन्तु यह विश्वरूप आत्माकी वैदिक कल्पना ठीक ठीक मनमें स्थिर होनेके पश्चात् उस साधकको उसकी एकरसताका प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा और वह अपने आपको भी उसीमें अभिन्न अनुभव कर सकेगा। अस्तु। अब ऋग्वेदके विश्वरूप वर्णनके कुछ मंत्र देखिये—

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये।

(ऋ० १।१३।१०)

अमीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।

(ऋ० १।३५।४)

प्रथम (त्वष्टा) कारीगर जो विश्वरूपी परमेश्वर है उसकी हम यहां प्रार्थना करते हैं। (कृशनैः अमीवृतं) अनेक आकृतियोंसे घेरा हुआ वह विश्वरूपी देव सुवर्णके समान तेजस्वी महान् यजनीय है। इस तरह विश्वरूपी परमात्मा देवका वर्णन ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें स्पष्ट शब्दोंमें आता है। अनेक प्रकारसे वर्णन होनेके कारण इसका आशय स्पष्ट हो सकता है। अब और देखिये—

सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्। अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय ॥

(ऋ० २।११।१९)

जो (ते ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं द्वारा (विश्वाः स्पृधः तरन्तः) सब शत्रुओंके पार होते हैं और जो (आर्येण) आर्योंके द्वारा (दस्यून्) दुष्टोंका पराभव करते हैं उनके साथ (सख्याय) मित्रता करनेके लिये हमें (तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपं) इस जगत्‌के कारीगर विश्वरूपी देवका रूप दिखाओ। तथा—

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्। अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥ (ऋ० २।३३।१०)

'हे देव! तू पूजनीय शासक किये धनुष्यबाण धारण करता है तेरा यह तेजस्वी पूजनीय (विश्वरूपं) सर्वरूप है तूही इस विश्वका धारण करता है अतः तेरेसे अधिक बलवान् दूसरा कोई नहीं है।'

इतना वर्णन ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलमें है। अब तृतीय मण्डलमें विश्वरूपका वर्णन देखिये—

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः। महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

(ऋ० ३।३८।४)

(विश्वे) सब (आतिष्ठन्तं परि अभूषन्) स्थिर रहनेवाले उस देवको सुशोभित करते हैं। वह (स्व-रोचिः) स्वयंप्रकाशी देव (श्रियः वसानः चरति) विविध शोभाओंको धारण करता हुआ विचरता है। उस (वृष्णः असुरस्य महत् नाम) सामर्थ्यवाले प्राणरक्षक ईश्वरका अद्भुत यश है वह (विश्वरूपः अमृतानि तस्थौ) विश्वरूपी ईश्वर अनन्त अमृतोंको धारण करता है। यहां उस विश्वरूपी परमात्माको विश्वरूप कहा है और असुर भी कहा है यहां असुरका अर्थ (असु-र) प्राणरक्षक जीवनदाता ऐसा है। अन्य मंत्रोंमें इस प्रकारका वर्णन अधिक स्पष्ट है और यहांका विश्वरूप वर्णन ठीक ठीक गीताके विश्वरूपवर्णनकाही भाव बता रहा है। तथा—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

(ऋ० ३।५५।१९)

(त्वष्टा देवः) कारीगर ईश्वरने (पुरुधा प्रजाः जजान) अनेक प्रकारोंसे विविध प्रजाओंकी उत्पत्ति की और (सविता विश्वरूपः पुपोष) सर्वोत्पादक विश्वरूपी वही देव उन सबका पोषण भी करता है। ये सब भुवन उसीके हैं और इस देवताका यह जीवन-प्राणरूपी महा अद्भुत कर्म है। यहां सविता विश्वरूप इन शब्दोंद्वारा (सविता वै सर्वस्य प्रसविता। श० ब्रा०) सबका उत्पादनकर्ता विश्वरूपी परमेश्वरही वर्णित है। तथा—

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्॥

(ऋ० ३।५६।३)

(त्रि-पाजस्यः) तीन प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त (त्र्युधा) तीन पोषक शक्तियोंसे युक्त (त्र्यनीकः) तीन बलोंसे युक्त (वृषभः विश्वरूपः) बलवान् विश्वरूपी देव (रेतोधाः) वीर्यको धारण करनेवाला अनेक प्रजाओंसे युक्त है। वही देव सबका धारण करता है। यहां तीन तीन शक्तियोंवाला देव विश्वरूप है ऐसाही कहा है। इसकी तीन तीन शक्तियोंका यहां विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। तथा—

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्।
बृहस्पतिं वरेण्यम्॥ (ऋ० ३।६२।६)

(चर्षणीनां वृषभं) मानवोंमें बलवान्, (अ-दाभ्यं) न दबनेवाले (वरेण्यं बृहस्पतिं) श्रेष्ठ ज्ञानपति (विश्वरूपं) विश्वरूपी परमेश्वरकी हम प्रशंसा करते हैं। यहां विश्वरूपी सर्वश्रेष्ठ ईश्वरकीही पूजा बताई गई है। इतने मंत्र तृतीय मंडलमें हैं। आगे नवम मण्डलतक मन्त्र नहीं हैं अतः दशम मण्डलके मन्त्र देखिये-

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। (ऋ० १०।१०।५)

उस कारीगर सबके उत्पादक विश्वरूपी परमेश्वरने गर्भमेंही हमें दम्पती बनाया है।' यहां विश्वकी अद्भुत रचना करनेवाले ईश्वरका वर्णन विश्वरूप बताया गया है।

इतने मंत्र साक्षात् अथवा परंपरासे परमेश्वर विश्वरूप है यही भाव बता रहे हैं। विश्व है रूप जिसका वह विश्वरूपका अर्थ है। सर्वरूप परमेश्वर है यह भी इसका आशय हो सकता है। जो रूप दीखता है वह सब ईश्वरकाही रूप है। जो आशय श्रीमद्भगवद्गीताके इस अध्यायमें विश्वरूपके वर्णनके द्वारा बताया है, वही भाव इन ऋग्वेदके मंत्रोंमें है।

देवताका यही विश्वरूपी होना अन्य वर्णनके द्वारा ऋग्वेदमें भी बताया है। यह वर्णनशैलीकी विशेषता वेदोंकीही है, अतः उस वर्णनशैलीके कुछ नमूने यहां दिखाते हैं —

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

इन्द्र मित्र, वरुण अग्नि दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्, यम मातरिश्वा ये सब एकही सत् वस्तुके नाम और रूप हैं। इन विविध नामोंसे ज्ञानी लोग एककी ईश्वर-प्रशंसा करते हैं। सब जानते हैं कि इन्द्र विद्युत् है, वरुण जलदेव है मातरिश्वा वायु है और अग्नि आग है। क्या ये सब एकही हैं? नहीं एक नहीं है, परन्तु एक वस्तुके ये अनेक रूप हैं। एकही सद्वस्तुने इतने रूप धारण किये हुए हैं। इतने विविधरूपोंसे वह एकही सद्वस्तु प्रकट हुआ है, अतः ज्ञानी लोग उस एकही सद्वस्तुको ये सब नाम देते हैं। इस तरह देखनेसे सहजही सिद्ध हो जाता है कि एक सद्वस्तुका इन्द्रादि रूप जो यहां प्रकट हुआ है वही विश्वरूप है। क्योंकि इतने नामोंसे अन्य नाम भी उपलक्षित हो जाते हैं जैसा कि कहा भी है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(वा० य० ३२।१)

यह एकही सत् वस्तु अग्नि आदित्य, वायु चन्द्र, शुक्र, ब्रह्म (आपः) जल और प्रजापति बनी है। सबको यह विपरीत विदित है कि (आदित्य) सूर्य और (आपः) जल एकही पदार्थ नहीं हैं, परन्तु यहां एकही सत् पदार्थने ये रूप धारण किये हैं ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जिन रूपोंका यह जिक्र हुआ है उनमें एक सत् आत्माही इतने रूपोंमें प्रकट हुआ है। इन दो मंत्रोंमें जितने देवता गिनाये गये हैं केवल उतनेही रूपोंमें वह परमात्मा प्रकट हुआ है अन्य रूपोंमें नहीं ऐसी बात नहीं है। यहां दोनों मंत्रोंमें उप लक्षणार्थ थोडेसे नाम गिनाये हैं शेष पदार्थोंकी कल्पना स्वयं की जा सकती है। इस तरह विचार करनेपर यह सिद्ध हो जायगा कि इन मंत्रोंमें परमेश्वरका विश्वरूपही बताया गया है। इसी तरहके कुछ मंत्र और देखिये—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्व-
मश्मनस्परि। त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं
नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥
(ऋ. २।१।१)

अग्निदेव (नृपति) मनुष्योंका राजा है वह (शुचिः) पवित्र देव तेजोंसे जलोंसे पत्थरोंसे वनोंसे और औषधियोंसे प्रकट होता है। अर्थात् वह देव प्रकाश जल पत्थर वन और औषधियोंके रूपोंमें दीखता है। अग्नि इतने रूपोंमें प्रकट होता है। अग्नि जलके रूपमें है औषधिके रूपमें है और सूर्यके रूपमें है और राजाके रूपमें भी है। यथा—

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं
त्वमग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि
ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥
(ऋ. २।१।२)

अग्नि (नः दमे) हमारे घरमें (गृहपति) गृहस्वामी अर्थात् यजमान है और वही होता पोता ऋत्विज नेष्टा अग्नीध प्रशास्ता अध्वर्यु ब्रह्मा आदि याजक गणोंका कर्म करनेवाला भी है। अर्थात् यजमान और ऋत्विज ये सब अग्निही रूप हैं। इस विषयमें गीताका श्लोक देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
(भ. गी. ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
(भ. गी. ९।१६)

मैंही अर्पण, हवि अग्नि और आहुति हैं, आत्माही क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र, घी अग्नि और आहुति है। यही भाव अन्य शब्दोंद्वारा पूर्वोक्त दोनों मंत्रोंमें है। अग्निही राजा जल तेज, पत्थर वन औषधि, होता अध्वर्यु आदि सब ऋत्विज और यज्ञरूप है। यजमान भी वही है। गीता और वेदका कथन कितना समीप है। और देखिये—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः त्वं विष्णुः त्वं
ब्रह्मा त्वं विधर्ता ॥ ३ ॥ त्वमग्ने
राजा वरुणः त्वं मित्रः त्वमर्यमा
त्वमंशः ॥ ४ ॥ त्वमग्ने त्वष्टा ॥ ५ ॥
त्वमग्ने रुद्रो असुरो त्वं पूषा ॥ ६ ॥
त्वमग्ने द्रविणोदा त्वं देवः सविता
त्वं भगः त्वं वायुः ॥ ७ ॥ त्वामग्ने
विश्पतिं त्वां राजानं ॥ ८ ॥ त्वामग्ने
पितरं त्वं पुत्रः त्वं सखा ॥ ९ ॥
त्वमग्न ऋभुः ॥ १० ॥ त्वमग्ने अदितिः
त्वं भारती त्वमिळा त्वं
वृत्रहा सरस्वती ॥ ११ ॥ त्वमग्ने
वयः। त्वं वाजः त्वं रयिः ॥ १२ ॥
(ऋग्वेद २।१)

अग्नि ही इन्द्र विष्णु, ब्रह्मा, विधाता वरुण, मित्र अर्यमा अंश त्वष्टा रुद्र पूषा द्रविणोदा सविता भग वायु (विश्पतिः) प्रजापालक राजा पिता, पुत्र सखा (ऋभु) कारीगर अदिति (भारती) वाणी (इळा) भूमि वृत्रहन्ता सरस्वती अन्न बल और धन है। एकही देव इतने रूपोंमें प्रकट होता है। अतः न एकही देवके रूप हैं एकही देवका यह विश्वरूप है। जैसे यहां अग्निका वर्णन है वैसेही प्रत्येक रूपमें इन्द्र प्रतिरूप हुआ है ऐसा वेदमें कहा है। वह मंत्र है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति
चक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता
ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋ. ६।४७।१८)

'इन्द्रदेव (रूपं रूपं) प्रत्येक रूपमें (प्रतिरूपः बभूव) प्रकट हुआ है। (तत् अस्य रूपं) वह उस इन्द्रका रूप (प्रतिचक्षणाय) प्रत्येकके वर्णनके लिये है। इन्द्र (मायाभिः पुरुरूपः ईयते) अपनी कुशलतासे अनेक रूपोंको धारण करता है क्योंकि उसके हजार (हरयः) किरण उसके साथ हैं [जो अनेक रूपोंमें उसे प्रकट करते हैं।]

यह मंत्र बिलकुल स्पष्ट है इंद्रदेव अपने स्वाभाविक कौशल्यसे हरएक रूपको धारण करता है। यह बहुरूप-धर्मतारूप विश्वरूप अत्यन्त प्रकट होता है। ये इसके रूप देखकर उसके गुण जाने जाते हैं और इसके वर्णनसे उसीका वर्णन होता है। यहांका पुरुरूप 'बहु' विश्वरूप अर्थमें है। यही पुरुरूप शब्द इसी अर्थमें वेदोंमें अनेक बार आगया है उनमेंसे भी कुछ मंत्र देखिये—

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्॥ (ऋ २।३३।९)

(पुरुरूपः) अनेक रूप धारण करनेवाला अर्थात् विश्वरूपी उग्र (शुक्रेभिः स्थिरेभिः हिरण्यैः अंगैः) तेजस्वी स्थिर सुवर्णसदृश अवयवोंसे (पिपिशे) शोभित होता है। (अस्य भूरेः भुवनस्य) इस बड़े भुवनके (ईशानात् रुद्रात्) शासक रुद्रदेवसे (असुर्यं न योषत्) बल कभी दूर नहीं हो सकता अर्थात् वह सदा सामर्थ्यवालाही रहता है।

रुद्रदेव विश्वरूपी है अर्थात् सब विश्व इस रुद्र एकका ही रूप है। इसका वर्णन आगे यजुर्वेदके मंत्रोंका विचार करनेके समय बताया जायगा। रुद्रदेवकी विभूतियोंका यह वर्णन वा यजुर्वेद अ. १६ में आया है जो गीताके ग्यारहवें अध्यायके साथ तुलना करके देखनेयोग्य है। यहां इस मंत्रमें केवल अनेक रूपोंको धारण करनेवाला रुद्रदेव है इतनाही देखना है। और भी देखिये—

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥ १॥ त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत। पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे॥ ५॥ (ऋ ५।८)

हे अग्निदेव! तू (पूर्व्यं) पुरातन (अतिथिं) सतत गति देनेवाला अथवा पूज्य (शोचिष्केशं) तेज अयालवाला (गृहपतिं) गृहस्वामी (बृहत्केतुं) बड़े भारी पुण्य, (धनस्पृतं) धन देनेवाला (सुशर्माणं) उत्तम सुख देनेवाला (सु-अवसं) उत्तम संरक्षक, (पुरुरूपं) अनेक-अनन्त रूप धारण करनेवाला है। तथा हे अग्ने! तू (पुरुरूपः) अनन्त रूपोंको धारण करके (विशेविशे वयः दधासि) प्रत्येक प्राणीको प्रत्येक मनुष्यको अन्न देता है। हे अनेक प्रकारसे प्रशंसित देव! तू अनेक अन्नोंसे विराजता है तुम्हारा तेज कोई सहन नहीं कर सकता।

इन मंत्रोंमें अग्नि शब्दसे परमात्माका वर्णन करके उसमें उसे पुरुरूप अर्थात् अनन्तरूप धारण करनेवाला कहा है। अनन्तरूपोंको धारण करनेवालेकोही विश्व-रूप कहते हैं।

इस तरह ऋग्वेदमें ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन है। यहां हमने विचारार्थ इतने मंत्र दिये हैं। पाठक इनका विचार करें और इनमें जो मंत्र ईश्वरके अनंतरूप धारण करनेका उपदेश कर रहे हैं उनकी तुलना गीताके विश्वरूप वर्णनसे करें। अग्नि इंद्र आदि देवताओंके बहाने एकही परमात्मा-का वर्णन होता है। यह बात ऋग्वेद १।१६४।४६ में स्पष्टताके साथ कही है अतः अग्नि इंद्र आदि शब्दोंसे भयभीत होनेका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वे शब्द आग आदि पदार्थोंके वाचक होते हुए भी अग्नि आदि अनन्त रूप धारण करनेवाले परमेश्वरके भी वाचक हैं। यह तो वेदका सिद्धान्तही है। यह सिद्धान्त जिसके ध्यानमें ठीक प्रकार आ जायगा उसको परमेश्वरका विश्वरूप जाननेके लिये विशेष प्रयास करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। वह अनेक रूपोंद्वारा प्रकट होता है इसीलिये उस एक देवके अनेक नाम हुए हैं और वेदके अनेक नामोंद्वारा उस एक देवताका वर्णन होता है। यदि वह अनंत रूपोंको धारण न करता तो उसको अनेक नामोंकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती थी।

इस प्रकार ऋग्वेदमें विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन है। अब यजुर्वेदमें विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन आता है उसे देखते हैं।

पुरुषसूक्त यजुर्वेदमें भी है, परन्तु उसका विवेचन ऋग्वेदके पूर्वोक्त वर्णनप्रसंगमें हो चुका है। अब रुद्र देवताका विश्वरूप जो यजुर्वेदमें आया है वह देखते हैं—

यजुर्वेदमें विश्वरूपवर्णन।

रुद्रदेवताका विश्वरूप।

यजुर्वेदमें रुद्र देवताका विश्वरूप बताया गया है। यह वर्णन वा. संहिताके १६ अध्यायमें है। काण्व तथा तैत्तिरीय संहितामें भी रुद्र देवताका वर्णन है। वह भी लगभग इसी प्रकारका है। कुछ पाठभेद हैं, परन्तु उन पाठभेदोंमें कुछ विशेषता नहीं। उन पाठभेदोंमेंसे कुछ शब्द हमने आगेके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें रखे हैं। ऋग्वेदमें अध्याय नहीं है तथापि ऋग्वेदियोंका रुद्र है जो कुछ पाठभेदोंके साथ वैसाही है। तैत्तिरीयोंका रुद्री ऋग्वेदियोंने लिया है। जिस अध्यायमें रुद्र वर्णन है उसमेंसे विश्वरूप वर्णनके कुछ मंत्र यहां दिये जाते हैं। इनमेंसे 'नमः' शब्द—अलग करके शेष मंत्रभाग हमने यहां दिया है—

हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां पतये वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये हरिकेशाय उपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

बभ्लुशाय व्याधिने अन्नानां पतये भवस्य हेत्यै जगतां पतये रुद्राय आततायिने क्षेत्राणां पतये सूताय अहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये भुवन्तये वारिवस्कृताय ओषधीनां पतये मंत्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये सहमानाय निव्याधिने आव्याधिनीनां पतये निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये निचेरवे परिचराय अरण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥

वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये निषङ्गिणे इषुधिमते तस्कराणां पतये सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः मुष्णतां पतये असिमद्भ्यः नक्तंचरद्भ्यः विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये इषुमद्भ्यः धन्वाविभ्यः आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यः आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यः नमः ॥ २२ ॥

विसृजद्भ्यः विध्यद्भ्यः स्वपद्भ्यः जाग्रद्भ्यः शयानेभ्यः आसीनेभ्यः तिष्ठद्भ्यः धावद्भ्यः नमः ॥ २३ ॥

सभाभ्यः सभापतिभ्यः अश्वेभ्यः अश्वपतिभ्यः आव्याधिनीभ्यः विविध्यन्तीभ्यः उगणाभ्यः तृंहतीभ्यः नमः ॥ २४ ॥

गणेभ्यः गणपतिभ्यः व्रातेभ्यः व्रातपतिभ्यः गृत्सेभ्यः गृत्सपतिभ्यः विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यः नमः ॥ २५ ॥

सेनाभ्यः सेनानिभ्यः रथिभ्यः अरथेभ्यः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यः महद्भ्यः अर्भकेभ्यः नमः ॥ २६ ॥

तक्षभ्यः रथकारेभ्यः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यः श्वनिभ्यः मृगयुभ्यः नमः ॥ २७ ॥

श्वभ्यः श्वपतिभ्यः भवाय रुद्राय शर्वाय पशुपतये नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः ॥ २८ ॥

कपर्दिने व्युप्तकेशाय सहस्राक्षाय शतधन्वने गिरिशयाय शिपिविष्टाय मीढुष्टमाय इषुमते नमः ॥ २९ ॥

ह्रस्वाय वामनाय बृहते वर्षीयसे वृद्धाय सवृधे अग्र्याय प्रथमाय नमः ॥ ३० ॥

आशवे अजिराय शीघ्र्याय शीभ्याय ऊर्म्याय अवस्वन्याय नादेयाय द्वीप्याय नमः ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठाय कनिष्ठाय पूर्वजाय अपरजाय मध्यमाय अपगल्भाय जघन्याय बुध्न्याय नमः ॥ ३२ ॥

सोभ्याय प्रतिसर्याय याम्याय क्षेम्याय श्लोक्याय अव-सान्याय उर्वर्याय खल्याय नमः ॥ ३३ ॥

वन्याय कक्ष्याय श्रवाय प्रतिश्रवाय आशुषेणाय आशुरथाय शूराय अवभेदिने नमः ॥ ३४ ॥

बिल्मिने कवचिने वर्मिणे वरूथिने श्रुताय श्रुतसेनाय दुन्दुभ्याय आहनन्याय नमः ॥ ३५ ॥

धृष्णवे प्रमृशाय निषङ्गिणे इषुधिमते तीक्ष्णेषवे आयुधिने स्वायुधाय सुधन्वने नमः ॥ ३६ ॥

स्रुत्याय पथ्याय काट्याय नीप्याय कुल्याय सरस्याय नादेयाय वैशन्ताय नमः ॥ ३७ ॥

कूप्याय अवट्याय वीध्र्याय आतप्याय मेघ्याय विद्युत्याय वर्ष्याय अवर्ष्याय नमः ॥ ३८ ॥

वात्याय रेष्म्याय वास्तव्याय वास्तुपाय सोमाय रुद्राय ताम्राय अरुणाय नमः ॥ ३९ ॥

[illegible] पशुपतये उग्राय भीमाय अग्रेवधाय दूरेवधाय हन्त्रे हनीयसे वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः ताराय नमः ॥ ४० ॥

शम्भवाय मयोभवाय शङ्कराय मयस्कराय शिवाय शिवतराय नमः ॥ ४१ ॥

पार्याय अवार्याय प्रतरणाय उत्तरणाय तीर्थ्याय कूल्याय शष्प्याय फेन्याय नमः ॥ ४२ ॥

सिकत्याय प्रवाह्याय किंशिलाय क्षयणाय कपर्दिने पुलस्तये इरिण्याय प्रपथ्याय नमः ॥ ४३ ॥

व्रज्याय गोष्ठ्याय तल्प्याय गेह्याय हृदय्याय निवेष्प्याय काट्याय गह्वरेष्ठाय नमः ॥ ४४ ॥

शुष्क्याय हरित्याय पांसव्याय रजस्याय लोप्याय उलप्याय ऊर्म्याय नमः ॥ ४५ ॥

पर्णाय पर्णशदाय उद्गुरमाणाय अभिघ्नते आखिदते प्रखिदते इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः किरिकेभ्यः देवानां हृदयेभ्यः विचिन्वत्केभ्यः विक्षिणत्केभ्यः आनिर्हतेभ्यः नमः ॥ ४६ ॥ (वा० यजु० अ० १६)

इस अध्यायमें रुद्रदेवताका विवरण है। यहां रुद्र नामसे परमात्मा परमेश्वरका ही ग्रहण करना उचित है। उनके कितने रूप हैं उनकी गिनती यहां की गई है। इन मंत्रोंमें अनेक रूप कहे गये हैं उनके चार वर्णोंमें विभाग करके यहां बताते हैं और चार वर्णोंसे भिन्न कर्मोंकी दृष्टिसे रूपोंका अलग विचार करेंगे। प्रथमतः विद्वान्, ज्ञानी ब्राह्मण वर्णमें आनेवाले निम्न लिखित रूप हैं—

ब्राह्मणवर्गके रुद्र

श्रुत- श्रुतिशास्त्रमें विद्वान्
श्रव प्रतिश्रव- वे दो शब्द श्रवण प्रतिश्रवण वादविवाद आदि करनेमें चतुर विद्वानोंके वाचक हैं।
मंत्रिन्- मंत्रणा देनेमें कुशल राजाका मंत्री
प्रमृश- विचारशील पंडित या विमर्श करनेवाला विद्वान्
श्लोक्य सुप्रसिद्ध विद्वान्
पुरस— बुद्धिमान्
गृत्सपति- बुद्धिमानोंके रक्षक
पुलस्ति- ऋषि
सभ्य- विद्याविनयादि गुणयुक्त पण्डितोंके साथ बैठनेवाले युवा
वृद्ध- अवस्थामें अधिक
सभापति- सभाका अध्यक्ष
सभा- सभा सभासद्
याम्य- यमनियमका साधन करनेवाला
क्षेम्य- कल्याण करनेवाला कल्याण पथमें [illegible]
अहन्ति- अहिंसक अहिंसाशील
अहन्त्य- न मारनेवाले, अहिंसक
प्रतरण- तारनेवाला पार ले जानेवाला
उत्तार्य- तारण करनेवाला पार ले जानेवाला
तीर्थ्य- पवित्र स्थानमें रहनेवाला
उत्तरण- उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानसे संसारसागरसे पार करनेवाले
शंगु— कल्याण करनेवाला
आसीन- योगासनमें अभ्यास करनेवाला, बैठनेवाला
तिष्ठत्- एकासनमें स्थिर रहनेवाला
गह्वरेष्ठ- गिरिगुहामें विराजमान गुहानिवासी तपस्वी
उपवीतिन् कृत्स्नवीत- उपवीत धारण करनेवाला, यज्ञोपवीत धारण करनेवाला
कपर्दिन्- जटाजूटधारी
व्युप्तकेश- मुण्डितकेश, संन्यासी

इन नामोंमें आसीन आदि ऐसे नाम हैं जो सर्वसाधारण मनुष्यों और क्षत्रियोंके भी वाचक हो सकते हैं। विचारी पाठक इसका यथायोग्य अनुसंधान कर सकते हैं। अब क्षत्रिय वर्गके रुद्र ये हैं—

क्षत्रियवर्गके रुद्र

क्षत्रिय वर्गके रूप यहां अधिक विस्तारके साथ कहे हैं, क्योंकि इस देवताके गुण-धर्म कर्म विशेषतया क्षात्रकर्मके साथ संबद्ध हैं। इस प्रकरणमें युद्ध करनेवाले शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले शस्त्र तैयार करनेवाले सेनापति, वीर और एए युक्त हैं। पाठक यहां रुद्रदेवताका विवरण क्षत्रियोंमें देखें—

शूर- शूरवीर
धृष्णु- धैर्यशाली अपने पक्षकी रक्षा करनेवाला
सहमान- शत्रुओंको पराभव करनेवाला
भीम- शत्रुको भयभीत कर देनेवाला
उग्र- शत्रुको दबानेवाला
अवार्य- जिसका निवारण करना असम्भव है
अवठ्य- गर्तमें बैठकर लड़नेवाला
अग्रेवध- सम्मुख रहकर शत्रुका वध करनेवाला
दूरेवध- दूरसे शत्रुका वध करनेवाला
तृऽहती- युद्धमें प्रहार करनेवाला
क्षिपास्रसत्- शत्रुका हनन करनेवाला
अस्यत्- शत्रुपर अस्त्रको फेंकनेवाला
विसृजत्- शत्रुके हननार्थ अस्त्र फेंकनेवाला
आविध्यत् प्रविध्यत्- शत्रुको दुःख देनेवाला
आततायिन्, आततायिन्- उद्यत आयुधवाला धनुष खींचनेवाला
आहनन्य- आघात करनेवाला
धर्ष- नाश करनेवाला
व्याधिन्- शत्रुओंको वेधनेवाला
हन्ता- शत्रुको मारनेवाला
हनीयस्- अतिशय हनन करनेवाला
विव्याधी, विविध्यन्ती- विशेषकर वेधनेवाला
विध्यत्- शत्रुओंको कवचमें वेधनेवाला
निव्याधिन्- शत्रुओंको अधिक वेधनेवाला
आव्याधिन्- समन्तात् वेधनेवाला
विकृन्तानां पति- छेदन करके पराया धन हरनेवाला दिवाचारी दस्युगणके पालन करनेवाला
आव्याधिनीनां पति- सब प्रकारसे प्रहार करनेवाली शूर सेनाओंका पालक
आतन्वान- शत्रुओंके हननार्थ धनुषपर ज्या आरोपण करनेवाला
आक्रन्दयत्- शत्रुओंको रुलानेवाला
आयच्छत्- दूरोंके हननके निमित्त धनुषको आकर्षण करनेवाला
अभिघ्नत्- शत्रुओंका संहारक
अपमेदिन्- शत्रुका हृदय वेधनेवाले

अपभिन्दत्- शत्रुका भेदन करनेवाला
सुधन्वा- श्रेष्ठ धनुषधारी
शतधन्वा- बहुत धनुष धारण करनेवाला
धन्वायी धन्वायी- धनुष बाण लेकर चलनेवाला
तीक्ष्णेषु- तीक्ष्ण बाणधारी
निषङ्गी- उपद्रवकारियोंपर खड्ग चलानेवाला
वरूथी- रथमें गोपन स्थानपर रहनेवाला वीर
सृकायी सृकायी- वज्र लेकर चलनेवाला
स्वायुध- कोमल आयुध त्रिशूल आदि धारण करनेवाला
वर्मी- बख्तर धारण करनेवाला
रथी- प्रशंसित रथवाला
बिल्मी- शिरस्त्राण धारण करनेवाला
प्रतिदधान- शत्रुपर बाण चलानेवाला
कवची- कवच धारण करनेवाला
आयुधी- खड्गादि आयुध धारण करनेवाला
इषुधिमान्- बाणधारी
इषुमान्- बाण धारण करनेवाला
असिमान्- खड्गधारी
आशुरथ- शीघ्र चलनेवाले रथवाला वीर
अरथ- रथहीन पदाती वीर
अश्व- घोड़ा
अश्वपति- अश्वोंका अधिपति
श्वनि- कुत्तोंको साथ रखनेवाला
श्वन्- कुत्ता
श्वपति- कुक्कुरोंका अधिपति
पशुपति पशूनां पति- जीवोंके पालन करनेवाला
सेनानी- सेनानायक
सेना- सैनिकसमूह
श्रुतसेन- प्रसिद्ध सेनावाला
आशुषेण- शीघ्र चलनेवाली सेनावाला
निषाद- गिरिचारी भीलादि
पुञ्जिष्ठ- पुञ्जस्थित सेनासमूहवाला
गणपति- गणोंका अधिपति
गण- सैनिक गणगण
उग्र- शत्रुओंके मारनेके लिये आयुध उठाये हुए
उगण- उत्कृष्ट शस्त्रप्रहारवाली सेनामें स्थित सैनिक

सूत- सूतकर्मकर्ता
पुष्टानां पति- बलवाले मनुष्योंका स्वामी
अरण्यानां पति वनोंका पालक
अन्नानां पति- अन्नोंका पालक
जगतां पति- संसारका पालक प्राणियोंका रक्षक
दिशां पति- दिशाओंका अधिपति
पथीनां पति- मार्गोंका रक्षक
पत्तीनां पति- एक रथ एक हाथी तीन घोड़े पाँच पैदलका नाम पत्ति है, इस प्रकार सेना-विशेषका पालक
सत्त्वनां पति- प्राणियोंका पालक
वनानां पति- वनोंका पालक
कक्षाणां पति- सेना या कुञ्जोंका रक्षक
व्रातपति समूहोंका अधिपति
व्रात- समूह गण
वास्तव्य वास्तुप- वस्तु घरका पालनेवाला
नीप्य- पर्वतके नीचे भागमें स्थित और
क्षेत्राणां पति- भूमिका पालन करनेवाला
स्थपति- गृहादिका पालक
वृक्षाणां पति- वृक्षोंका रक्षक
वन्य- वनमें होनेवाला
ओषधीनां पति- औषधियोंका पालक वैद्य अथवा रक्षक
रथकार- रथ निर्माणकारी बढ़ई तथा
धन्वकृत् धनुष्कृत्- धनुषका बनानेवाला
इषुकृत्- बाणका बनानेवाला
तक्षा- रथका निर्माता बढ़ई
तक्षा- काष्ठकी शिल्पविद्याका जाननेवाला
कर्मार लोहेका शस्त्र बनानेवाला
कुलाल मर्दित मृत्तिकाके पात्र बनानेवाला
दुन्दुभ्य- दमाऊ बाजेवाला
सूत— सारथी
हिरण्यबाहु- भुजाओंमें सुवर्ण धारण करनेवाला
उष्णीषी- उष्णीष पगड़ी धारण करनेवाला सभ्य
सङ्ग्रहीता रश्मियोंको इकट्ठा करनेवाला
सङ्ग्रहण- रश्मियोंको पकड़नेवाला

श्लोक्य- मनुष्य-लोकमें होनेवाला
उच्चैर्घोष- बड़ा उग्र शब्द करनेवाला
उद्गुरमाण- निरन्तर उद्यमी
शीघ्रीय शीघ्र्य- वेगवाला
परिचर- फिरनेवाला
अजिर- गतिशील
धावत्- वेगवान्
आमत्- जागनेवाला
कक्ष्य- कक्षामें स्थित
कृत्स्नायतया धावते- हमारी रक्षाके निमित्त सर्व पर्यंत वस्तु छोड़कर धावमान होनेवाला वीर
आग्रिय अग्र्य- प्रथम स्थानमें स्थित
अपसाम्य- अन्तिम स्थानमें स्थित
मृगयु- मृगोंकी कामनावाला मृगया करनेवाला
तस्कराणां पति- चोरोंका स्वामी
मुष्णतां पति- धनादिका हरण करनेवालोंमें मुख्य
स्तायूनां पति- गुप्त चोरोंके प्रमुख
स्तेनानां पति- गुप्त अपहारी चोरोंका मुखिया
वञ्चत्- ठगोंका प्रमुख
परिवञ्चत्- स्वामीको अपना विश्वास दिलाकर व्यवहारमें उसको वञ्चन करनेवालोंका मुख्य
कुलुञ्चानां पति छल बल कौशलसे दूसरोंकी गृह-भूमि आदि हरण करनेवालोंका मुख्य
विक्षीणक- क्षीणता करनेवाला
विचिन्वत्क- क्षीण करनेवाला
निचेरु- अपहारकी बुद्धिसे निरन्तर फिरनेवाला
नक्तंचरत्- रात्रिमें फिरनेवाला दस्यु
प्रकृन्तानां पति- काटनेवालोंका प्रमुख
गिरिश पर्वत-विहारी
गिरिशय- पर्वतपर शयन करनेवाला
गिरिचर- गिरिवनमें फिरनेवाला
काट्य- दुर्गम मार्गमें स्थित
विरूप विकृत रूप या विविध रूपवाला

यहांतक अग्नियोंके वर्गका विश्वरूप वर्णन है। यहां कर्मार आदि अग्नियोंके शस्त्रनिर्माणके कारण सहायक और तस्कर चोर आदि अग्नियोंद्वारा विग्रह करनेके कारण इस वर्गमें रखे हैं। ये सब रुद्रकी विभूतियां हैं अथवा रुद्र इनके रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। पाठक अपने चारों ओर रुद्र देखके ये रूप देखें और उसका यह विश्वरूप अनुभव करें। जितना भगवद्गीतामें आत्मस्वरूपी परमात्माका संहारक विश्वरूप कहा है उससे अधिक विस्तारके साथ यहां रुद्रका शान्त-विश्वरूप वर्णन किया है। जो वेदमें विश्वरूप देखना चाहें वे यहां देख सकते हैं।

वैश्य-वर्गके रुद्र

वैश्य-वर्गमें भी रुद्र हैं। स्वयं वणिक् भी रुद्रकी विभूति है। यहां गौ आदि पशु पालना, उनको गोष्ठमें रखना, कृषि करके धान्य प्राप्त करना आदि काम पाठक देखेंगे। इन स्थानोंमें जो कृमि होते हैं वे भी यहांके रुद्री हैं। धान्य तैयार करनेवाला उसको पीसनेवाला, पकानेवाला ये सब रुद्रके रूप हैं। तथा इनके साथ साथ जो कृमि कीटक बढते हैं वे भी रुद्र हैं। इसी दृष्टिसे पाठक इन नामोंका विचार करें।

वाणिज- व्यापारकर्ता
व्रज्य वृज्य- गोव्रजमें विद्यमान
गोष्ठ्य- गोष्ठमें विद्यमान
इषीमत्- धान्यमें होनेवाला
गेह्य- घरमें विराजमान
उर्वर्य- उपजाऊ भूमिमें होनेवाला
ऊर्म्य- ऊर्व भूमिमें रहनेवाला
इरण्य इरिण्य- तृणरहित ऊसर भूमिमें विद्यमान
खल्य- धान्य-विवेचनके स्थानमें होनेवाला
सूप- सूपके पास रहनेवाला

कृमिकीटकरूपी रुद्र

क्षुद्र कृमि भी रुद्र हैं। ये बिलोंमेंसे होनेवाले [illegible] हों अथवा जलमें होनेवाले कृमि हों वे सब रुद्री। पाठक निम्न नामोंमें इन्हें देख सकते हैं—

तल्प्य- शय्यामें विद्यमान खटमल
प्रतिसर्य- वायुरूपमें विद्यमान
ह्रदय्य- कुछ जलप्रदेशमें विद्यमान

हरित्य- हरे पत्ते आदिमें विराजमान
हरिकेश- पर्णरूप हरे बालोंमें होनेवाला
शष्पिञ्जर- बालतृणवत् पीतवर्णवाला
उलप्य- तृणमें विद्यमान
वृक्ष- वृक्षरूप
पर्ण्य, पर्ण- पत्तमें विद्यमान
पर्णशद्य पर्णशद्- पर्णमें उत्पन्न कीटादि
निवेष्प्य- निवेशनके स्थानमें होनेवाला
किरिक- कम्पन करनेवाला
वास्य- वस्तुमध्यमें होनेवाला
शितिकण्ठ- नीलकण्ठवाला
नीलग्रीव- नीलवर्ण ग्रीवावाला
लोप्य- अगम्य देशमें विराजमान
शुष्क्य- सूखे काष्ठादिमें विराजमान
रेष्मिय रेष्म्य- रेतामें होनेवाला
प्रपथ्य- बहुसेवितमार्गोंमें विद्यमान
द्वीप्य- द्वीपमें होनेवाला
पार्य- समुद्रके पार भी विद्यमान
अवार्य- इस पार रहनेवाला
अवर्ष्य- वृष्टिरहित स्थानमें होनेवाला
आतप्य- धूप या प्रकाशमें होनेवाला
मीढुष्टम- वर्षा करनेवाला
मेघ्य- मेघमें होनेवाला
विद्युत्य- बिजलीमें होनेवाला
वर्षीमस् वर्ष्य- वर्षाकी धारामें स्थित
ध्रीम्य- जलप्रवाहमें विद्यमान
क्षयण- स्थिर जलमें विद्यमान
सरस्य- सरोवरमें होनेवाला
वैशन्त- अल्प जलमें स्थित
कुल्य कूल्य- नहरमें स्थित
नाद्य नादेय- नदीमें होनेवाला
प्रवाह्य- नदी आदिके प्रवाहमें होनेवाला
कूप्य- कूपमें होनेवाला
फेन्य- पानीका फेनमें होनेवाला
ऊर्म्य- जलतरंगमें होनेवाला
सूर्म्य- ऊर्मिमें विद्यमान
अवस्वन्य- स्थिर जलोंमें विद्यमान

संक्षिप्त रूपका विस्तार मात्र है पुरुषसूक्त और व्याख्यानके विवेचनमें यही समझना उचित है। अतः जो पुरुषसूक्तमें संक्षेपसे वर्णित है वही व्याख्यानमें विस्तारसे कहा गया है। इतना विस्तार करनेसे परमेश्वरके संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन हुआ ऐसा मानना भी सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि यह विश्वरूप अनंत है। अनन्तका वर्णन सान्त शब्द किस तरह कर सकते हैं? केवल कल्पनाके लियेही ये सब वर्णन यहां तथा अन्य ग्रंथोंमें किये गये हैं। विश्वमें स्थित संपूर्ण रूप उस ईश्वरकेही हैं सब रूप मिलकर एक अखंड एकरस परमेश्वरकाही रूप है और उसमें कोई वस्तु छूटी नहीं है इतना अवश्य समझ लेना चाहिये। तब विश्वरूपकी कल्पना ठीक ठीक हो जायगी।

यजुर्वेदमें परमेश्वरके विश्वरूपी ज्योतिके विषयमें एक उत्तम मंत्र आया है—

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्॥
(वा० य० ५।३५)

हे ईश्वर! तू विश्वरूप ज्योति है। जहां सब देव मिल जाते हैं ऐसा तेराही तेज है। सब सूर्यादि देवोंका तेज जिसमें मिला है एसा विश्वरूपी तेज परमेश्वरकाही है। इस मंत्रमें विशेष कर यह भाव बताया गया है कि सब देवोंको उस ईश्वरके तेजसेही तेज प्राप्त होता है। अतः सब देवतागण उस ईश्वरकेही रूप हैं, इसीका नाम विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। और एक मंत्र देखिये—

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसान
श्चरति स्वरोचिः। महत्तद्वृष्णो असुरस्य
नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥
(वा० य० ३३।२२)

(आतिष्ठन्त) सब ओर ठहरे हुए उस ईश्वरको (विश्वे परि अभूषन्) सब अन्य देव सब ओरसे सुभूषित करते हैं। वह (स्व रोचिः) स्वयं अपने निज तेजसे युक्त तथा (श्रियः वसानः) अनंत शोभाओंको धारण करनेवाला है। उस (वृष्णः असु-र-स्य नाम) बलवाली प्राणदाता ईश्वरका यश (महत्) महान् है क्योंकि वह (विश्वरूपः) सब रूपोंका धारण करनेवाला परमेश्वर (अमृतानि तस्थौ) अनेक अमर भावोंको धारण करता है। " सब प्रकारके अमृत उसीके पास हैं।

इसमें विश्वरूपी ईश्वरका कितना उत्तम वर्णन है। परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है सूर्यचंद्रादि देवता उसके आभूषण हैं वह सबको जीवन देनेवाला है उसका बल और सामर्थ्य विशाल है विश्वमें जितने रूप हैं वे सब इसी परमेश्वरने धारण किये हुए हैं संपूर्ण अमरपन उस ईश्वरके ही पास है क्योंकि दूसरा कोई ऐसा नहीं है जिसके पास अमरपन रह सके।

यह एकही मंत्र परमेश्वरका विश्वरूप होना सर्वांश अच्छे प्रकार सिद्ध कर रहा है। विश्वरूप शब्दमें दो पद हैं विश्व और रूप। रूप शब्दका सरल अर्थ प्रसिद्ध है विश्व 'शब्दका अर्थ सर्व' सब जिस का यह दीखनेवाला विश्व होता है। अर्थात् विश्व-रूप' शब्दका अर्थ सर्वरूप सबका रूप विश्वरूप का ऐसाही होता है। विश्वमें जो रूप दिखाई देता है वह किसका है? प्रत्येक वस्तुका जो रूप है वह किसका रूप है और सब मिलकर जो अखंड रूप इस विश्वमें दीख रहा है वह किसका है, यह बडा महत्वका प्रश्न है। वेद कहता है कि यह सब रूप परमात्माका है। सब तेज परमात्माका है, सब बल परमात्माका है। इसीलिये उसको विश्वरूप, स्वरोचि, महद्धाम कहा जाता है। यजुर्वेदके और दो मंत्र देखिये—

त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे निभूयपाय
स्वाहा॥ (वा० य० २२।२०)

त्वष्टारमिन्द्र देवं भिषजं सुयजं घृतश्रियम्।
पुरुरूपं सुरेतसं मघोनम्॥ (वा० य० २१।२०)

(त्वष्ट्रे) कारीगर (विष्णु) व्यापक (नि-भूय) सबके पीछे होकर सबका पालनकर्ता (सुयज्) उत्तम यजन करनेवाला (घृतश्रियं) घृतके समान अपनी शोभा बढानेवाला (सुरेतस्) उत्तम प्रभाववाली (मघोनं) महान्, सबसे विशाल (भिषज्) सबकी चिकित्सा करनेवाला सबके रोग दूर करनेवाला (इन्द्रं देवं) यह ईश्वर (पुरुरूप) अनंत रूपवाला है।

इस मंत्रमें प्रभु परमेश्वरके अनेक गुण कहे हैं और अन्तमें वह प्रभु (विश्वरूप—) बहुरूप है अर्थात् अनन्तरूप है ऐसा कहा गया है। इस तरह वेदोंमें परमेश्वरका विश्वरूप कहा गया है। पुरुषसूक्त वेदोंके

११ वें अध्यायमें है। इस पुरुषसूक्तके मंत्र ऋग्वेदके पुरुष सूक्तके वर्णनप्रसंगमें आये हैं इसलिये उनका पुनः यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब अथर्ववेदमें ईश्वरका जो विश्वरूप बताया गया है उसका विचार करते हैं—

अथर्ववेदमें विश्वरूप

अथर्ववेदमें कई मंत्र परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन करनेवाले हैं। वे मंत्र देखिये—

> एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥
>
> (अथर्व ९।७।२५)

इस अथर्ववेदके मंत्रमें ' विश्वरूप ' का अर्थ बताया है। यह विश्वरूप सर्व-रूप है। सब जितना भी रूप है वह सब अर्थात् विश्वरूपही है। इसीका नाम ' गोरूप ' है गो नाम इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो रूप है वह सब ' गोरूप सर्वरूप अथवा विश्वरूप ' कहा जाता है। यहां वेदनेही विश्वरूप शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो सब रूप है वही विश्वरूप है। और यह सर्वका रूप है। इस तरह विश्वरूपका भाव स्पष्टतासे सामने रखकर सर्वत्र विश्वरूप कैसा है वह निम्नलिखित मंत्रोंमें बताया गया है—

> पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥
> अन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥
> दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥
> देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥
> लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ (अथर्व ५।१।५५-५९)

पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक देव और लोक अर्थात् मानव प्राणी आदि सबमें यह विश्वरूप है। जैसा विश्वरूप पृथ्वीपर है वैसाही आकाशमें है देवताओंमें है और वैसाही लोकोंमें राजा मंत्री सभासद् आदि रूपसे है। पाठक इसी रूपको ग्यारहवें अध्यायमें तथा पुरुषसूक्तमें देखें। यद्यपि यह अकेला विश्वरूप कहा गया है और इस वर्णनके मिषसे विश्वरूपका विवेचन किया है तथापि यह सब अकेलाही है और यहां इस विश्वमें उसके सिवाय कुछ भी नहीं है। अतः अन्य देवताका विश्वरूप और अग्निदेवताका विश्वरूप इन दो वर्णनोंमें विश्वरूप दर्शनकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। पुरुषसूक्तमें पुरुष, नारायण विराट् आदि नामोंसे विश्वरूपका वर्णन है, ग्यारहवें अध्यायमें कृष्णका विश्वरूप और यहां अग्निदेवताका विश्वरूप तथा अन्य सूक्तोंमें अग्नि इन्द्र आदि देवताओंका विश्वरूप कहा गया है। ये सब देवतावाचक नाम एकही सद्वस्तुके वाचक हैं और उसी एक सद्वस्तुका यह सब विश्वरूप है ऐसा अनुसंधान करनेपर देवताओंके अनेक नामोंसे घबरा जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ और मंत्र देखिये—

> यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
> कियता स्कंभः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥ (अथर्व १०।७।८)

प्रजापतिने जो (परमं मध्यमं अवमं विश्वरूप) सबसे ऊपरका, बीचका और सबसे नीचेका विश्वरूप (ससृजे) निर्माण किया, उसके (कियता) कितने भागमें (स्कंभः) सर्वाधार परमात्मा प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्राविशत्) जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ ऐसा विश्वरूपका भाग (तत् कियत् बभूव) कितना है ? अर्थात् यह सब विश्वरूप परमेश्वरने उत्पन्न किया वह इस सबमें प्रविष्ट है अथवा कुछ थोडे भागमें है। क्योंकि यहां विश्वरूप ऊपर आकाशमें है बीचके अन्तरिक्षमें भी है और पृथ्वी और उसके नीचे भी है। इस विश्वरूपका उस परमात्माने निर्माण किया है यह सत्य है, परन्तु क्या वह इस सबमें व्याप्त है अथवा उसके कुछ हिस्सेमेंही व्याप्त है ? यह विश्वरूपकी व्याप्ति सर्वत्र है ऐसा कहा है क्योंकि परम-मध्यम-अवम में सब विश्व आ चुका है। अन्यत्र उपनिषदोंमें—

> तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (तै० उ० २।६।१)

इस विश्वको उत्पन्न करके वह परमात्मा उसीमें प्रविष्ट हुआ है, ऐसा जो कहा है वह इसी मंत्रके अनुसार कहा है। अब एक मंत्र इस विश्वरूपके वर्णनमें देखिये—

> यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राण निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥
>
> (अथर्व १०।८।११)

सूर्म्य- ऊर्मिमें विराजमान
स्रुत्य- शुभ मार्गोंमें स्थित
सिकत्य- रेतीमें विद्यमान
पांसव्य- धूलिमें विराजमान
रजस्य- पुष्परागमें विद्यमान
अपरज- रज अर्थात् धूलिरहित स्थानमें होनेवाला
किंशिल- कंकरादिमें विद्यमान
शुष्किय शुष्क्य- शुष्कमार्गमें स्थित
उद्गुरमाण- उद्यम करनेवाला
ध्वान्त्य- महाप्रकाश या घोर अन्धकारमें स्थित

छोटे बड़े रुद्र

छोटे बड़े पहिले अन्तके ज्येष्ठ कनिष्ठ सभी रुद्र हैं। इन नामोंमें जगत्के सब पदार्थ आ जाते हैं क्योंकि एक छोटा होगा तो दूसरा बड़ा होगा। ये सभी रुद्र हैं—

प्रथम- सबसे मुख्य
मध्यम- मध्यमें स्थित
जघन्य- छोटे क्षुद्र कृमि कीट
महत्- बड़े रूपवाला
ह्रस्व- अल्पशरीर
बृहत्- पीवान् बड़ा
क्षुल्लक- छोटा
वामन- संकुचित अवयववाला छोटा
ज्येष्ठ- अतिश्रेष्ठ
कनिष्ठ- अतियुवा या कनिष्ठरूप
अर्भक- छोटा बालक
अपगल्भ- जो विशेष ज्ञानी नहीं है
आशु- शीघ्रता करनेवाला व्यापक
स्वपत्- सोनेवाला
शयान- सुषुप्ति अवस्थामें स्थित
रोहित- लोहितवर्ण
बभ्लुश बभ्लुश- कपिलवर्ण
ताम्र- ताम्र रंगवाला
अरुण- अरुण वर्णवाला

ईश्वरवाचक रुद्रके नाम

ईश्वरवाचक रुद्रके नाम और उनमें प्रकट होनेवाला, परमेश्वरका रूप अब निम्नलिखित नामोंमें देखिये। यहां पहिला नाम 'विश्वरूप' है और अन्तिम नाम ... और हृदय है। यह हरएकके हृदयमें है अतः सबके होनेसे सबका स्वामी ईशका रूप है। यहां इन नामोंमें परमेश्वरके विश्वरूपका दर्शन हो सकता है—

विश्वरूप- विश्वका रूप धारण करनेवाला
पूर्वज- आदिमें विद्यमान
देवानां हृदय- देवताओंके हृदयस्वरूप
शिव शिवतर- कल्याण करनेवाला
शंभु- सुखदायी
शम्भव- कल्याणकारी
शंकर- सुख करनेवाला
मयस्कर- सुख देनेवाला
मयोभु- सुखका उत्पादक
मयोभव- सुखदाता
तार- तारनेवाला
प्रहित- हितकर्ता
शिपिविष्ट- किरणोंसे व्याप्त
सहस्राक्ष- सहस्रलोचन
सोम- चन्द्रमामें स्थित और उमासहित
विलिम्पत्क- पृथक् रूपसे रहनेवाला
भव- जगत्का उत्पत्ति-कर्ता
भुवन्ति- भूमण्डलमें रहनेवाला
भवस्य हेति- संसारका शस्त्र अर्थात् संसार निवा
आनिर्हत- जो हत नहीं होता
हृदय हृदय्य- हरएकके हृदयमें स्थित

रुद्र-देवताका विश्वरूप

इस तरह रुद्रदेवताका विश्वरूप यजुर्वेदके इस अध्यायमें बताया गया है। जिसमें जो रूप है वह सब ईश्वरका रूप है। यह विचारनेका उपदेश इस अध्यायमें किया गया है। इस अध्यायमें जो सब ही नाम हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कारीगरोंसे लेकर पशुपक्षी जीवजन्तु, कृमि कीटक सब यहां हैं। इतनाही नहीं परंतु इस, स्थावर जंगम सभी नाम यहां आये हैं, अर्थात् ये सब रूप उस ईश्वरकेही रूप हैं।

यहां गुरु, अध्यापक उपदेशक वैद्य, राजाके मंत्री, राजा क्षत्रिय शूर वीर और सैनिक सेनापति युद्धमान,

नील, ताम्र, घोर शान्त, छोटे मोटे कृमिकीट पतंग पत्थर, रेतके कण मिट्टी आदि सब रूप रुद्र देवताके हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। भगवद्गीतामें जितने रूप गिनाये गये हैं, रूपोंकी उससे अधिक संख्या इस अध्यायमें वर्णित है। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वरके 'विश्वरूप' की मूल कल्पना विस्तारके साथ वेदमेंही कही है। उसका एक अंश भगवद्गीतामें लिया है। भगवद्गीतामें संहार करनेवाले कालस्वरूप ईश्वरका विश्वरूप वर्णित है, अर्थात् वह पूर्ण ईश्वरका परिपूर्ण विश्वरूप नहीं है। क्योंकि परमेश्वर जैसे संहार करने वाला है, वैसेही उत्पत्ति और पालन-पोषण करनेवाला भी है, अतः उत्पत्ति स्थिति पोषण संहार आदिमें जो जो रूप प्रकट होते हैं वे सब उसीके रूप हैं। परमेश्वर जन्म है और मृत्यु भी है जैसे जन्मको ईश्वरभावका प्रकटीभवन माना जाता है वैसेही मृत्यु भी ईश्वरकाही एक भाव है। जन्म, मृत्यु और अमरत्व ये सभी भाव उसी ईश्वरके हैं। वेदोंमें परमेश्वरका 'मृत्यु' नाम अनेक स्थानोंमें लिया गया है। भगवद्गीतामें कालस्वरूप बताया है अतः वह ईश्वरके एक भावका वर्णन है। अध्यायमें उससे बहुतही अधिक भावोंका वर्णन है।

महान् क्षुल्लक, ज्येष्ठ कनिष्ठ, उच्च नीच पास दूर अवर पवर ये शब्द जो अध्यायमें आये हैं, बहुतही महत्वके हैं। इनमें सम्पूर्ण प्रकारके रूपोंका समावेश होता है। एक भी रूप शून्य नहीं है। कुछ रूप तो 'महान्' में आयेंगे और कई 'क्षुल्लक' में आयेंगे शेष कोई रूप रहेगाही नहीं। वेद भी परमेश्वरके विश्वरूपका नाम गिनने लग जाय तो कहांतक गिने पढनेवालेकी शक्ति भी तो परिमितही है। अतः अन्त 'सर्व' ऐसे शब्द रखकर वह विश्वरूपका वर्णन समाप्त किया जाता है। भगवद्गीतामें भी 'सर्व' ही कहा है वेदमें भी परमेश्वरको 'सर्व' कहा है। विष्णु सहस्रनाममें भी 'सर्व' ही परमेश्वरका नाम दिया है। चारों वेदोंके पुरुषसूक्तोंमें भी—

पुरुष एव इदं सर्वम्। (ऋग्वेद १०।९०।२)

पुरुषही यह सब है ऐसा कहा है। यदि पुरुषही यह सब है तो पुरुषके रूपसे शेष क्या रह जाता है? पुरुष शब्द परमात्मवाची और 'इदं सर्व' विश्ववाची है। जो दीखता है जो अनुभवमें आता है वह सब परमेश्वरका रूप है। इस भावको परमेश्वरका रूप जानकर और उस रूपमें अपना भी समावेश करके, मैं उससे भिन्न नहीं हूं ऐसा विश्वास जान अभेदभावसे अथवा अनन्य (न+अन्य) भावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। भगवद्गीता अध्याय अथवा वेदोंमें जो कहा गया है उसका ठीक ठीक यही भाव है। विश्वरूप जानकर विश्वरूपमें अपना भी समावेश होता है यह अनुभव करके अनन्यभावसे विश्वरूपी परम आत्माकी सेवा करनी चाहिये। वेदने भी इसीलिये परमात्मदेवका विश्वरूप बताया और इसी कारणके लिये भगवद्गीताने भी ईश्वरका विश्वरूप दिखाया है। तुलनासे पता लगता है कि वेदने जो रुद्रदेवताका विश्वरूप वर्णन किया है वह भगवद्गीताके वर्णनसे अधिक विस्तृत है।

यजुर्वेदके इस अध्यायका देवता 'रुद्र' है। यह रुद्र देवता भी संहारक देवता है। भगवद्गीताका देवता 'लोकक्षयकृत्काल' है अर्थात् वह देवता भी संहार करनेवालाही है। दोनों स्थानके देवता—जिनका कि विस्तारसे विश्वरूप वर्णन किया गया है— संहारक देवताही हैं यह एक अद्भुत साम्य है। यह साम्य होनेपर भी यजुर्वेदका वर्णन अधिक विस्तृत है। यह इस बातको सिद्ध करता है कि वेदकी शैली अधिक पूर्ण है। जो समझते हैं कि यह विश्वरूपवर्णनका ढंग केवल इस भगवद्गीतानेही रचा है उनको इस अध्यायपर अवश्य विचार करना चाहिये।

पुरुषसूक्तमें भी विश्वरूप बताया गया है परन्तु अति संक्षेपसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार वर्ण इस जगदीश नारायणके इस विराट्पुरुषके मुख बाहू ऊरु और पांव ये चार अवयव हैं यही संक्षेपसे पुरुषसूक्तका कथन है। पुरुषसूक्त चारों वेदोंमें है इसलिये चारों वेदोंको जगदीश नारायणका इस विश्वरूपकी कल्पना अभिमत है। अतिसंक्षेपसे पुरुषसूक्तमें कहा हुआ विश्वरूपही विस्तारसे अध्यायमें कहा गया है और वही गीतामें भी वर्णित है।

नारायण देवताका मुख ब्राह्मण है ऐसा कहनेसे सब ज्ञानी लोग उस देवताके मुखस्थानमें विराजते हैं यह सिद्ध होता है। यही बात अधिक उत्तम रीतिसे मंत्री ज्ञानी गुरु धार्मिक मार्गकी शिक्षा देनेवाले यदि कह दी जाय तो कोई नयी बात नहीं है। वह तो कथन उसी

संक्षिप्त कथनका विस्तार मात्र है पुरुषसूक्त और अध्यायके विवेचनमें यही समझना उचित है। अतः जो पुरुषसूक्तमें संक्षेपसे वर्णित है वही अध्यायमें विस्तारसे कहा गया है। इतना विस्तार करनेसे परमेश्वरके संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन हुआ ऐसा मानना भी सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि यह विश्वरूप अनंत है। अनन्तका वर्णन प्रान्त वाक्य किस तरह कर सकते हैं? केवल समझानेके लियेही ये सब वर्णन यहां तथा अन्य ग्रंथोंमें किये गये हैं। विश्वमें स्थित संपूर्ण रूप उस ईश्वरकेही हैं सब रूप मिलकर एक अखंड एकरस परमेश्वरकाही रूप है और उसमें कोई वस्तु छूटी नहीं है इतना अवश्य समझ लेना चाहिये। तब विश्वरूपकी कल्पना ठीक ठीक हो जायगी।

यजुर्वेदमें परमेश्वरके विश्वरूपी ज्योतिके विषयमें एक उत्तम मंत्र आया है—

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्॥
(वा. य. ५।३५)

हे ईश्वर! तू विश्वरूप ज्योति है। जहां सब देव मिल जाते हैं ऐसा तेरा ही तेज है। सब सूर्यादि देवोंका तेज जिसमें मिला है ऐसा विश्वरूपी तेज परमेश्वरकाही है। इस मंत्रमें विशेष कर यह भाव बताया गया है कि सब देवोंको उस ईश्वरके तेजसेही तेज प्राप्त होता है। अतः सब देवतागण उस ईश्वरकेही रूप हैं इसीका नाम विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। और एक मंत्र देखिये-

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः। महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥
(वा. य. ३३।२२)

(आतिष्ठन्तं) सब ओर भरे हुए उस ईश्वरको (विश्वे परि अभूषन्) सब अन्य देव सब ओरसे सुभूषित करते हैं। वह (स्व-रोचिः) स्वयं अपने निज तेजसे युक्त तथा (श्रियः वसानः) अनंत शोभाओंको धारण करनेवाला है। उस (वृष्णः असु-र-स्य नाम) बलवान् प्राणदाता ईश्वरका यश (महत्) महान् है क्योंकि वह (विश्वरूपः) सब रूपोंका धारण करनेवाला परमेश्वर (अमृतानि तस्थौ) अनेक अमर भावोंको धारण करता है। अनन्त प्रकारके अमृत उसीके पास हैं।

इसमें विश्वरूपी ईश्वरका कितना उत्तम वर्णन है। परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है सूर्यचंद्रादि देवता उसके आभूषण हैं वह सबको जीवन देनेवाला है उसका यश और सामर्थ्य विशाल है विश्वमें जितने रूप हैं वे सब इसी परमेश्वरने धारण किये हुए हैं संपूर्ण अमरपन उस ईश्वरके ही पास है क्योंकि दूसरा कोई ऐसा नहीं है जिसके पास अमरपन रह सके।

यह एकही मंत्र परमेश्वरका विश्वरूप होना उत्तम प्रकारसे सिद्ध कर रहा है। विश्वरूप शब्दमें दो पद हैं विश्व और रूप। रूप शब्दका सबको अर्थ प्रसिद्ध है, ' विश्व ' शब्दका अर्थ सर्व सब जिसमें प्रवेश करते हैं वह निवास करनेवाला विश्व होता है। अर्थात् ' विश्व-रूप ' शब्दका अर्थ सर्वरूप, सबका रूप विश्वका रूप ऐसाही होता है। विश्वमें जो रूप दिखाई देता है वह किसका है? प्रत्येक वस्तुका जो रूप है वह किसका रूप है और सब मिलकर जो अखंड रूप इस विश्वमें दीख रहा है वह किसका है, यह बडा महत्वका प्रश्न है। वेद कहता है कि यह सब रूप परमात्माका है। सब तेज परमात्माका है, सब यश परमात्माका है। इसीलिये उसको विश्वरूप स्वरोचि महत्नाम कहा जाता है। यजुर्वेदके और दो मंत्र देखिये—

त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा॥ (वा. य. २२।५)

त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजं सुयजं घृतश्रियम्। पुरुरूपं सुरेतसं मघोनम्॥ (वा. य. २४।१)

(त्वष्टे) कारीगर (विष्णु) व्यापक (नि-भूयप) सबके नीचे होकर सबका पालनकर्ता (सुयज) उत्तम यजन करनेवाला (घृतश्रियं) घृतके समान तेजस्वी शोभा बढानेवाला (सुरेतस्) उत्तम प्रभाववाला (मघोनं) महान्, सबसे विशाल (भिषज्) सबकी चिकित्सा करनेवाला, सबके रोग दूर करनेवाला (इन्द्रं देवं) प्रभु ईश्वर (पुरुरूप) अनंत रूपवाला है।

इस मंत्रमें प्रभु परमेश्वरके अनेक गुण कहे हैं और अन्तमें वह प्रभु (विश्वरूप—) बहुरूप है अर्थात् अनन्तरूप है ऐसा कहा गया है। इस तरह यजुर्वेदमें परमेश्वरका विश्वरूप कहा गया है। पुरुषसूक्त यजुर्वेदके

३१ वें अध्यायमें है। इस पुरुषसूक्तके मंत्र ऋग्वेदके पुरुषसूक्तके वर्णनप्रसंगमें आये हैं इसलिये उनका पुनः यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब अथर्ववेदमें ईश्वरका जो विश्वरूप बताया गया है उसका विचार करते हैं—

अथर्ववेदमें विश्वरूप

अथर्ववेदमें कई मंत्र परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन करनेवाले हैं। वे मंत्र देखिये—

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्॥
(अथर्व ९।७।२५)

इस अथर्ववेदके मंत्रमें 'विश्वरूप' का अर्थ बताया है। वह विश्वरूप सर्व-रूप है। सब जितना भी रूप है वह सब अकेला विश्वरूपही है। इसीका नाम 'गोरूप' है गो नाम इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो रूप है वह सब 'गोरूप सर्वरूप अथवा विश्वरूप' कहा जाता है। यहां वेदनेही विश्वरूप शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो सब रूप है वही विश्वरूप है। और वह सर्वका रूप है। इस तरह विश्वरूपका भाव स्पष्टताके साथ कहकर सर्वत्र विश्वरूप कैसा है यह निम्नलिखित मंत्रोंमें बताया गया है—

पृथिव्यां विश्वरूपम्॥ ७॥
अन्तरिक्षे विश्वरूपम्॥ ८॥
दिवि विश्वरूपम्॥ ९॥
देवेषु विश्वरूपम्॥ १०॥
लोकेषु विश्वरूपम्॥ ११॥ (अथर्व ९।१५-११)

पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक देव और लोक अर्थात् मानव प्राणी आदि सबमें वह विश्वरूप है। जैसा विश्वरूप पृथ्वीपर है वैसाही आकाशमें है देवताओंमें है और वैसाही लोकोंमें राजा मंत्री सभासद आदि रूपमें है। पाठक इसी रूपको ११ अध्यायमें तथा पुरुषसूक्तमें देखें। यद्यपि वह अलगका विश्वरूप कहा गया है और एक वर्णनके मिषसे विश्वरूपका विवरण किया है तथापि वह एक अकेली है और यहां इस विश्वमें उसके सिवाय कुछ भी नहीं है। अतः अन्य देवताका विश्वरूप और परदेवताका विश्वरूप इन दो वर्णनोंमें विश्वरूप दर्शनकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। पुरुषसूक्तमें पुरुष नारायण विराट् आदि नामोंसे विश्वरूपका वर्णन है ११ अध्यायमें कृष्णदेवका विश्वरूप और यहां अन्यदेवताका विश्वरूप तथा अन्य सूक्तोंमें अग्नि इन्द्र आदि देवताओंका विश्वरूप कहा गया है। ये सब देवतावाचक नाम एकही वस्तुके वाचक हैं और उसी एक सत्तत्वका यह सब विश्वरूप है ऐसा अनुसंधान करनेपर देवताओंके अनेक नामोंसे भ्रमित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ और मंत्र देखिये—

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव॥ (अथर्व० १०।७।८)

प्रजापतिने जो (परमं मध्यमं अवमं विश्वरूपं) सबसे ऊपरका बीचका और सबसे नीचेका विश्वरूप (ससृजे) निर्माण किया उसके (कियता) कितने भागमें (स्कंभः) सर्वाधार परमात्मा प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्राविशत्) जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ ऐसा विश्वरूपका भाग (तत् कियत् बभूव) कितना है? अर्थात् यह सब विश्वरूप परमेश्वरने उत्पन्न किया, वह इस सबमें प्रविष्ट है अथवा कुछ थोडे भागमें है। क्योंकि यहां विश्वरूप ऊपर आकाशमें है बीचके अन्तरिक्षमें भी है और पृथ्वी और उसके नीचे भी है। इस विश्वरूपका उस परमात्माने निर्माण किया है यह सत्य है परन्तु क्या वह इस सबमें व्याप्त है अथवा उसके कुछ हिस्सेमेंही व्याप्त है? यह विश्वरूपकी व्याप्ति सर्वत्र है ऐसा कहा है क्योंकि परम-मध्यम-अवम में सब विश्व आ चुका है। अन्यत्र उपनिषदोंमें—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (तै० उ० २।६।१)

इस विश्वको उत्पन्न करके वह परमात्मा उसीमें प्रविष्ट हुआ है ऐसा जो कहा है वह इसी मंत्रके अनुसार कहा है। अब एक मंत्र इस विश्वरूपके संबंधमें देखिये—

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्
निमिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं
विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव॥
(अथर्व १०।८।११)

(यत्) जो (एजति) हिलता है जो (पतति) नीचे गिरता है जो (तिष्ठति) ठहरा है जो (प्राणत्) प्राण धारण करता है, जो (अप्राणत्) प्राणयुक्त नहीं है, जो (निमिषत्) पलकें हिलाता है जो (भुवत्) होता है (तत् पृथिवीं विश्वरूपं दाधार) वह भूमि और विश्वरूप को धारण करता है (तत् संभूय) वह सब मिलकर (एकं एव भवति) एकही है। ' इस मन्त्रमें जो अनेक प्रकारका रूप है उसमें कुछ हिलनेवाला है कुछ भ्रमण करनेवाला है कुछ न हिलनेवाला अर्थात् स्थावर है कुछ प्राण धारण करता है और कुछ प्राणरहित है, किसीकी आंखकी पलकें हिलती हैं और कुछ हलचल न करनेवाला है, वह पृथ्वीपर तथा अन्यत्र भी विराजमान है। यद्यपि यह विविध प्रकारका अनेक रंगरूप आकारवाला है तथापि वह सब मिलकर एकही रूप होता है। उसमें वह भेदभाव नहीं रहता। भेदभाव दीखता भी है तो वहां सब मिट जाता है।

विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव।

यह मंत्रभाग बहुतही महत्त्वका है। सम्पूर्ण विश्वरूप मिलकर एकही रूप होता है यही तो विश्वरूपकी कल्पना है। इस विश्वमें विविध प्रकारके अनंतरूप हैं। सबके मिलकर परमेश्वररूपी एक अखंड अनंत अद्भुत विश्वरूप बनता है। और वही उसको धारण करता है। वेदमंत्रने यहां विश्वरूपकी कल्पना नितान्त स्पष्ट की है। उसमें कितने भेद प्रत्यक्ष दीखते हैं यह भी कहा है और वे सब भेद नष्ट होकर उन सबका एक अखंड रूप होता है ऐसा भी कहा है। प्राणधारण करनेवाला और प्राणधारण न करनेवाला इत्यादि प्रकारका भेद व्यवहारमें दीखता है, परन्तु यह सब भेद उस परमात्माके अखंड रूपमें मिट जाता है अवशिष्ट नहीं रहता। भगवद्गीतामें जो विश्वरूप वर्णित है वही इस तरह इस मन्त्रमें कहा गया है। व्यवहारमें दीखनेवाले भेद परमार्थमें नहीं रहते। क्योंकि विविधता और अनेकता होनेपर भी (तत् एकं एव भवति) वे सब एकही अखंडित अद्भुत रूपमें हो जाते हैं। यह तत्त्वकथन हरएकको स्मरण रखना चाहिये।

अथर्ववेदमें विश्वरूप शब्दद्वारा इसकेही मंत्रोंमें ईश्वर स्वरूपका कथन किया है। अब पुरुरूप शब्दद्वारा यही बात कही हुई निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। (अथर्व ९।१०।१९)

ब्रह्म पुरु अर्थात् अनंत रूपोंवाला त्रिपाद् है, उससे चारों दिशा उपदिशा जीवित रहती हैं। 'ब्रह्म पुरुरूप है' इसीका अर्थ ब्रह्म विश्वरूपी है ऐसा होता है। जितने रूप हैं वे सबके सब ब्रह्मकेही रूप हैं वे अनंतरूप होते हुए भी एकही ब्रह्मके रूप हैं और सब रूप मिलकर ब्रह्मका अखंड एकरस अद्भुत रूप हो जाता है। इस विषयमें एक विलक्षण मंत्र देखिये—

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्। आपो वाता ओषध्य-स्तान्येकस्मिन्भुवन आर्पितानि॥
(अथर्व १८।१।१७)

जिसका कवि लोग तीन प्रकारके छंदोंमें वर्णन करते हैं वह (पुरुरूपं विश्वचक्षणं दर्शतं) अनंतरूप पुरु दर्शनीय विश्वरूप है। (आपः) जल, (वाताः) वायु और (ओषधयः) औषधिवनस्पतियां (तानि) ये सभी वस्तुमात्र (एकस्मिन् भुवने) एकही भुवनमें-एकही सदस्तुमें (आर्पितानि) समर्पित हुई हैं।"

यह मंत्र अनंत स्पष्ट है। एक परमात्मा है, उस एकका वर्णन कवि लोग अनेक छंदोंसे करते हैं। उस परमात्माका यह अनंतरूप परम दर्शनीय अद्भुत रूप है, इसीका नाम विश्वरूपी परमेश्वरका दर्शन है। जो विश्वमें दीखनेवाले जल वायु ओषधि आदि अनंत पदार्थ हैं वे सबके सब इस एक सद्वस्तुमेंही समर्पित हैं। अर्थात् इन सबका रूप उस विश्वरूपमें समर्पित होता है।

इस तरह अथर्ववेदमें विश्वरूपी परब्रह्मका वर्णन है। यह वर्णन गीताके विश्वरूपी परमात्माके वर्णनके साथ मिलावें और देखें कि वेदकाही वर्णन गीतामें कैसा रूपान्तरित हुआ है। अब अथर्ववेदके कुछ मंत्र इसी विषयमें देखनेयोग्य हैं—

१ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः॥ १३॥
२ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ २७॥

३ यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ॥ १६ ॥
४ यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । अङ्गानि
यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥
५ यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं ॥ १९ ॥
६ यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ २२ ॥
७ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥
८ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
९ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥
(अथर्व १० ।७)

(१) जिस परमात्माके अंगमें तैंतीस देव आश्रय किये हुए हैं। (२) जिस परमात्माके अंगमें तैंतीस देव अवयव बनकर स्थित हैं उन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं। (३) चारों उपदिशाएं जिसके शरीरकी नाडियां हैं। (४) जिसका सिर अग्नि आंख अंगिरस हुए हैं और जिसके अवयव ये प्रतिमान् सूर्यचन्द्रादिक हुए हैं वही सर्वाधार ईश्वर है। वही स्कम्भ है। (५) जिसका मुख ब्राह्मण है और जिह्वा मधुकशा है तथा विराज जिसका दुग्धस्थान है। (६) जहां आदित्य रुद्र और वसु स्थित हैं जहांही भूत वर्तमान तथा भविष्य और सब लोक प्रतिष्ठित हुए हैं। (७) भूमि जिसके पैर हैं और अन्तरिक्ष उदर है उसने द्युलोकको सिर बना लिया है। उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है। (८) जिसकी आंख सूर्य है और चन्द्र (जिसमें) पुनः नवीन बननेवाला है, अग्नि जिसका मुख है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको हमारा नमस्कार है। प्राण और अपान जिसका वायु है आंख अंगिरस हैं दिशाएं जिसकी प्रज्ञा है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये हमारा नमस्कार है।

यह परमात्माका वर्णन है। इसे ध्यानमें रखकर परमात्माका जो स्वरूप बनता है वह निम्नलिखित है—

मूर्धा— द्युलोक (मं ३२)
सिर— अग्नि (मं १८); द्युलोक (मं ३२)
प्रज्ञा— दिशा (मं ३४)
आंख— अंगिरस् (मं १८; ३४)
सूर्य चन्द्र (मं ३३)
मुख— ब्रह्म ब्राह्मण (मं० १९); अग्नि (मं० ३३)
जिह्वा— मधुकशा (मं १९)
प्राण— वायु (मं ३४)
अपान— ,, ,,
स्तन— विराज विराट् (मं १९)
नाडियां— दिशा (मं १६)
पेट— अन्तरिक्ष (मं० ३२)
अंग— तैंतीस देवता (मं १३; २७)
शरीरावयव— ,, प्रतिमान पदार्थ (मं १८)
शरीर— आदित्य रुद्र वसु और सब लोकलोकान्तर (मं २२)
पांव— भूमि (मं ३२)

यह ब्रह्मका स्वरूप है। परब्रह्म परमात्माके पांव भूमि हैं अन्तरिक्ष उसका पेट है और द्युलोक उसका सिर है। इसके बीचमें अवयवरूप सब लोकलोकान्तर समझने चाहिये। इस वर्णनमें सम्पूर्ण विश्वके पदार्थ उस परमात्माके रूपमें समाते हैं ऐसा नहीं कहा गया है? यदि उसकी आंख सूर्य है, तो सूर्य उसीका रूप है यदि अग्नि उसका मुख है तो अग्नि उसका रूपही है यदि वायु उसका प्राण है तो वायु उसका रूपही है। यदि तैंतीस देवता उसके तैंतीस शरीरावयव हैं तो निःसंदेह उसका सम्पूर्ण रूप तैंतीस देवताओंके द्वारा विश्वमें प्रकट हो रहा है। क्या यह विश्वरूप नहीं है? परमात्मा विश्वदेही है विश्वरूप है बहुरूप है, पुरुरूप है किंवा सर्वरूप है। वेदका यही सिद्धांत यहां स्पष्ट किया है। इसी प्रकारका वर्णन अनेक प्रकारोंसे वेदमंत्रोंमें आया है। उन सब मंत्रोंको यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अपने शरीरके द्वारा भी परमात्मा परब्रह्मकी कल्पना हो सकती है ऐसा भी वेदमंत्रोंमें कहा है देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
(अथर्व १० ।७।१७)
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ॥
(अथर्व ११।८।३१)

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
(अथर्व ११।८।३२)

जो इस देहमें ब्रह्मको जानते हैं वे परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। इस देहमें सूर्य चक्षु तथा वायु प्राण बनकर स्थित है। इसी कारण इस पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि सब देवता इसमें उसी प्रकार रहते हैं जैसे गौएं गोशालामें रहती हैं। ' अर्थात् सब देवता परमात्माके समष्टि देहमें रहते हैं और उनके अंश जीवात्माके इस व्यष्टि देहमें रहते हैं। व्यष्टि समष्टिकी इस तरह समानता देखनेसे साधकको विश्वरूपी परमात्माकी उत्तम कल्पना हो सकती है। यहां समझनेकी सुविधाके लिये निम्न प्रकार कोष्टक रख सकते हैं—

परमात्माका समष्टिदेह	जीवात्माका व्यष्टिदेह
ब्रह्माण्ड	पिण्ड
परब्रह्म	ब्रह्म
परमात्मा	आत्मा
परमेष्ठी	जीव
सूर्य	नेत्र
चन्द्र	मन
जल	जिह्वा
दिशा	कान
औषधि	लोम
वायु	प्राण
अश्विनौ	[illegible]
अन्तरिक्ष	पेट
भूमि	पांव

इस प्रकार परमेष्ठी प्रजापतिका ब्रह्माण्ड देह और जीवात्माका पिण्ड देह इनकी तुलना की जा सकती है। परमात्माका ब्रह्माण्ड देहका सूक्ष्म अंश पिण्ड देहमें आकर स्थित रहा है। जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है और जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। पिण्ड देहमें आंख है ब्रह्माण्डमें सूर्य है। इसी तरह अन्यान्य विभाग जाने जा सकते हैं। ब्रह्माण्ड देहकोही विश्व कहते हैं। ब्रह्माण्ड देहका रूप है इसीलिये इसको विश्वरूप कहते हैं। साधक अपने देहमें देवताओंके निवासको प्रत्यक्ष देखकर ब्रह्माण्ड देहमें विशालरूपमें उसीकी कल्पना कर सकते हैं। जो यह जान सकते हैं वेही विश्वरूपी परमेश्वरको जानकर अर्थात् उसका अनुभव करके आनन्द पाते हैं।

विश्वरूपी परमात्माको जानना सरल सुगम है परन्तु पूर्वमत पूर्व-आग्रहका आवरण प्रबल रहनेके कारण यह सुबोध बात भी दुर्बोध हो गयी है और बहुतसे लोग इसको जाननेका यत्न करते हैं। वेदोंद्वारा इस विश्वरूपी परमात्माकी उत्तम कल्पना सबसे प्रथम लोगोंके कल्याणार्थ प्रकाशित हुई। वही उपनिषदोंमें अधिक स्पष्ट की गई और वही भगवद्गीताने इस अध्यायमें कही है।

गीताके कथनमें वेदके उपदेशकी अपेक्षा कुछ भी न्यूनाधिक नहीं है। वेदकाही आशय अन्य शब्दोंमें भगवद्गीताने इस अध्यायमें कहा गया है।

यहांतक वेदके विश्वरूप वर्णनका विचार है। अब यही विश्वरूप उपनिषदोंमें किस रीतिसे वर्णित है सो देखिये—

उपनिषदोंमें विश्वरूप वर्णन

(१) ईश उपनिषद्में विश्वरूप।

ईश उपनिषद्में निम्नलिखित मंत्र है जो परमात्माका स्वरूप बताता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईश वा य ४० । ७)

" (यस्मिन्) जिस अवस्थामें (सर्वाणि भूतानि) सब भूतमात्र (आत्मा एव अभूत्) आत्माही हो गये (तत्र) उस अवस्थामें (विजानतः) विज्ञानी और (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकता है ? "

इसके पहलेका भी वर्णन है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश ६; वा य ४० । ६)

जो सब भूतोंको (आत्मनि अनुपश्यति) परमात्मामें देखता है और सब भूतोंमें परमात्माको देखता है वह कभी निन्दित नहीं होता। यहां सब भूत और परमात्मा

पृथक् पृथक् हैं और वे एक दूसरेमें हैं ऐसा कहा है। यही पृथक्त्वका अनुभव है। इससे आगे बढनेपर जो अनुभव आता है उसमें पृथक्त्वका अनुभव नहीं होता परन्तु (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव होता है और इसमें सब भूत तथा परमात्मा एकरूप हैं ऐसा अनुभव भी होने लगता है। यही विश्वरूप परमात्माका अनुभव है।

सब भूतोंका अर्थ पंचमहाभूत सब प्राणी तथा सब वस्तुमात्र है। यह सब पदार्थमात्र परमात्मसत्तासे पृथक् है ऐसा एक अनुभव है इसमें भेदभावका अनुभव होता है। परन्तु एक अवस्था इसके पश्चात् ऐसी आती है कि जब यह भेदभाव मिट जाता है और भूतमात्रही परमात्मा है ऐसा प्रतीत होने लगता है उस अवस्थामें परमात्माका स्वरूपही यह भूतमात्र बन जाता है। यही विश्वरूप परमात्माका ज्ञान है।

पहिली अवस्थामें मिश्रीका ढेला और मिठास ये दो पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु पश्चात् मिठास ढेलेसे पृथक् नहीं है ऐसा प्रतीत होतेही मिठासका स्थूल रूपही मिश्री है ऐसा ज्ञान होता है। यही एकत्वका ज्ञान है और यही अन्तिम तथा उच्च ज्ञान है। इस अवस्थामें क्या दीखेगा? मिठासकाही विश्वरूप मिश्री है ऐसा दीखेगा। इसी तरह सब भूत परमात्मासे पृथक् हैं यह पहला ज्ञान और सब भूतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब भूत हैं यह दूसरी अवस्थाका ज्ञान पाठक विचारकी दृष्टिसे देखें। जब उस सिद्ध पुरुषको सब भूतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब भूत हैं ऐसा दिखाई देगा उस समय परमात्माही इस विश्वमें विश्वरूप धारण किये हुए हैं ऐसा प्रतीत होगा। यही परमात्माका विश्वरूप ईश उपनिषद्में कहा है और एक भाव होनेपर भी विश्वरूप बननेकी दृष्टिसे वह स्वयं परिपूर्ण है।

केन उपनिषद्में विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें नहीं मिलता।

(२) कठोपनिषद्में विश्वरूप

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति
॥ ११ ॥ (कठ उ. २।१)

'जो यहां है वही वहां है, और जो वहां है वही यहां है।' मनसेही यह जानना चाहिये कि (किंचन नाना इह नास्ति) किस प्रकार भी अनेकत्व यहां नहीं है। जो यहां (नाना पश्यति) अनेक देखता है वह एक मृत्युके पीछे दूसरे मृत्युकोही प्राप्त करता है।

इस विश्वमें अनेक भूत हैं अनेक वस्तुमात्र हैं अनेक पदार्थ हैं इनसे परमात्मा भिन्न है, अर्थात् विश्वमें दिखाई देनेवाले भूत और परमात्मा ये दो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसा हर कोई देखता है। परन्तु यह उच्च ज्ञान नहीं है जो विश्वमें– जो भूतोंमें है वह परमात्मामें है और जो परमात्मामें है वही विश्वके रूपोंमें है। मनसेही यह एकता जाननी चाहिये। क्योंकि बुद्धिसे पृथक्त्वकी कल्पना हर कोई मनुष्य करताही है। परन्तु साधक यहां इसका निश्चय रखे कि यहां (नाना नास्ति) अनेक पदार्थ नहीं हैं। जो नाना पदार्थ मानकर भेदभावको मनमें स्थान देता है वही मृत्युके वशमें हो जाता है अर्थात् वह कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीका और विचार देखिये—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
(कठ उ. २।५)

जैसे अकेली अग्नि इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसीही होकर स्थित है वैसेही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है और वही प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा होकर उसमें स्थित है और बाहर भी वैसाही है। जैसे एक वायु इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसाही स्थित है, वैसेही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥
(अथर्व ११।८।३२)

जो इस देहमें ब्रह्मको जानते हैं वे परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। इस देहमें सूर्य चक्षु तथा वायु प्राण बनकर स्थित है। इसी कारण इस पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि सब देवता इसमें उसी प्रकार रहते हैं जैसे गौएं गोशालामें रहती हैं। ' अर्थात् सब देवता परमात्माके समष्टि देहमें रहते हैं और उनके अंश जीवात्माके इस व्यष्टि देहमें रहते हैं। व्यष्टि समष्टिकी इस तरह समानता देखनेसे साधकको विश्वरूपी परमात्माकी उत्तम कल्पना हो सकती है। यहां समझनेकी सुविधाके लिये निम्न प्रकार कोष्टक रख सकते हैं—

परमात्माका समष्टिदेह	जीवात्माका व्यष्टिदेह
ब्रह्माण्ड	पिण्ड
परब्रह्म	ब्रह्म
परमात्मा	आत्मा
परमेष्ठी	जीव
सूर्य	नेत्र
चन्द्र	मन
जल	जिह्वा
दिशा	कान
औषधि	लोम
वायु	प्राण
नदियां	धमनियां
अन्तरिक्ष	पेट
भूमि	पांव

इस प्रकार परमेष्ठी प्रजापतिका ब्रह्माण्ड देह और जीवात्माका पिण्ड देह इनकी तुलना की जा सकती है। परमात्माके ब्रह्माण्ड देहका सूक्ष्म अंश पिण्ड देहमें आकर स्थित रहा है। जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है और जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। पिण्ड देहमें आंख है, ब्रह्माण्डमें सूर्य है। इसी तरह अन्यान्य विभाग जाने जा सकते हैं। ब्रह्माण्ड देहकोही विश्व कहते हैं। ब्रह्माण्ड देहका रूप है इसीलिये उसको विश्वरूप कहते हैं। साधक अपने देहमें देवताओंके निवासको प्रत्यक्ष देखकर ब्रह्माण्ड देहमें विशालरूपमें उसीकी कल्पना कर सकते हैं। जो यह कर सकते हैं वेही विश्वरूपी परमेश्वरको यथार्थ अंशतः रूपसे जान पाते हैं।

विश्वरूपी परमात्माको जानना सरल सुगम है परन्तु पूर्वग्रह एवं-अज्ञानका आवरण प्रबल रहनेके कारण यह सुबोध बात भी दुर्बोध हो गयी है और बहुतही थोडे लोग इसको जाननेका यत्न करते हैं। वेदोंद्वारा इस विश्वरूपी परमात्माकी उच्च कल्पना सबसे प्रथम जनोंके कल्याणार्थ प्रकाशित हुई। वही उपनिषदोंमें वर्णित हुई और वही भगवद्गीताने इस अध्यायमें कही है।

गीताके कथनमें वेदके उपदेशकी अपेक्षा कुछ भी न्यूनाधिक नहीं है। वेदकाही आशय अन्य शब्दोंमें अलंकारोंसे इस अध्यायमें कहा गया है।

यहांतक वेदके विश्वरूप वर्णनका विचार है। अब यही विश्वरूप उपनिषदोंमें किस रीतिसे वर्णित है सो देखिये—

उपनिषदोंमें विश्वरूप वर्णन

(१) ईश उपनिषद्में विश्वरूप।

ईश उपनिषद्में निम्नलिखित मंत्र है जो परमात्माका स्वरूप बताता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईश वा य ४०)

(यस्मिन्) जिस अवस्थामें (सर्वाणि भूतानि) सब भूतमात्र (आत्मा एव अभूत्) आत्माही हो जाते (तत्र) उस अवस्थामें (विजानतः) विज्ञानी और (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकता है ?

इसके पहलेका भी वर्णन है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश ६, वा य ४० ।६)

जो सब भूतोंको (आत्मनि अनुपश्यति) परमात्मामें देखता है और सब भूतोंमें परमात्माको देखता है वह कभी विचलित नहीं होता। यहां सब भूत और परमात्मा

पृथक् पृथक् हैं और न एक दूसरेमें हैं ऐसा कहा है। यही पृथक्त्वका अनुभव है। इससे ऊपरके दर्जेपर जो अनुभव आता है उसमें पृथक्त्वका अनुभव नहीं होता परन्तु (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्वका अनुभव होता है और इसमें सब भूत तथा परमात्मा एकरूप हैं ऐसा अनुभव भी होने लगता है। यही विश्वरूप परमात्माका अनुभव है।

सब भूतोंका अर्थ पंचमहाभूत सब प्राणी तथा सब वस्तुमात्र है। यह सब पदार्थमात्र परमात्मतत्त्वसे पृथक् है ऐसा एक अनुभव है इसमें भेदभावका अनुभव होता है। परन्तु एक अवस्था इसके पश्चात् ऐसी आती है जब यह भेदभाव मिट जाता है और भूतमात्रही परमात्मा है ऐसा प्रतीत होने लगता है इस अवस्थामें परमात्माका स्वरूपही यह भूतमात्र बन जाता है। यही विश्वरूप परमात्माका ज्ञान है।

पहिली अवस्थामें मिश्रीका ढेला और मिठास ये दो पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु पश्चात् मिठास ढेलेसे पृथक् नहीं है ऐसा प्रतीत होतेही मिठासका स्थूल रूपही मिश्री है ऐसा भान होता है। यही एकत्वका ज्ञान है और यही अन्तिम तथा सत्य ज्ञान है। इस अवस्थामें क्या दीखेगा? मिठासकाही विश्वरूप मिश्री है ऐसा दीखेगा। इसी तरह सब भूत परमात्मासे पृथक् हैं यह पहला ज्ञान और सब भूतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब भूत है यह दूसरी अवस्थाका ज्ञान पाठक विचारकी दृष्टिसे देखें। जब उस सिद्ध पुरुषको सब भूतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब भूत है ऐसा दिखाई देगा उस समय परमात्माही इस विश्वमें विश्वका रूप धारण किये हुए है ऐसा प्रतीत होगा। यही परमात्माका विश्वरूप ईश उपनिषद्में कहा है और एक मंत्र होनेपर भी विश्वरूप दर्शनकी दृष्टिसे यह सर्व परिपूर्ण है।

केन उपनिषद्में विश्वरूपी ईश्वरका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें नहीं मिलता।

(२) कठोपनिषद्में विश्वरूप

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति
॥ ११ ॥ (कठ उ २।१)

'जो यहां है वही वहां है, और जो वहां है वही यहां है। मनसेही यह जानना चाहिये कि (किंचन नाना इह नास्ति) किस प्रकार भी अनेकत्व यहां नहीं है। जो यहां (नाना पश्यति) अनेक देखता है वह एक मृत्युके पीछे दूसरे मृत्युकोही प्राप्त करता है।'

इस विश्वमें अनेक भूत हैं अनेक वस्तुमात्र हैं अनेक पदार्थ हैं इनसे परमात्मा भिन्न है, अर्थात् विश्वमें दिखाई देनेवाले भूत और परमात्मा ये दो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसा हर कोई देखता है। परन्तु यह सत्य ज्ञान नहीं है जो विश्वमें– जो भूतोंमें है वह परमात्मामें है और जो परमात्मामें है वही विश्वके रूपोंमें है। मनसेही यह एकता जाननी चाहिये। क्योंकि बुद्धिसे पृथक्त्वकी कल्पना हर कोई मनुष्य करताही है। परन्तु साधक यहां इसका निश्चय रखे कि यहां (नाना नास्ति) अनेक पदार्थ नहीं हैं। जो नाना पदार्थ मानकर भेदभावको मनमें स्थान देता है वही मृत्युके वशमें हो जाता है अर्थात् वह कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीका और विचार देखिये—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
(कठ उ २।५)

जैसे अकेली अग्नि इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसीही होकर स्थित है वैसेही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है और वही प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा होकर उसमें स्थित है और बाहर भी वैसाही है। जैसे एक वायु इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसाही स्थित है, वैसेही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक

यही प्रत्येक रूपमें उस रूप जैसा होकर स्थित है और भी है। यह एक परमात्मा सबको अपने वशमें करनेवाला सब भूतोंका अन्तरात्मा इस एक रूपको [अ]नेक प्रकारोंका बनाता है। इसको जो अपने आत्मामें [देखते] हैं, उनकोही शाश्वत सुख प्राप्त होता है दूसरोंको [नहीं] होता।

[जैसे अ]ग्नि जैसे प्रत्येक पदार्थमें है और उस पदार्थके रूपमेंही [प्रकट] होता है उसी प्रकार परमात्मा सब पदार्थोंमें रहकर [उ]न पदार्थोंके रूपोंमें प्रकट होता है। वह सम्पूर्ण विश्वमें [है,] इसको विश्वका रूप धारण करके प्रकट होनेके [कारण] विश्वरूप कहते हैं। इस तरह कठ उपनिषद्में [सं]क्षेप विश्वरूपका वर्णन किया गया है। ईश उपनिषद् [की अ]पेक्षा यहां अधिक विस्तार है, परन्तु यहां कोई नयी [बात] नहीं कही जो ईशउपनिषद्में कहा था वही यहां [विस्तार]से किया गया है।

(३) प्रश्नोपनिषद्में विश्वरूप

[प्रश्न]ोपनिषद्में विश्वरूप अग्नि देव है ऐसा प्रारंभमेंही [कहा] है—

[स] एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-
[रुद]यते ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
[प]रायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः
[श]तधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः
॥ ८ ॥ (प्रश्न उ. १)

यह वैश्वानर अग्नि विश्वरूप प्राणही है। यह विश्वरूपी [सब]के रसोंका हरण करनेवाला, सदा तपनेवाला हजारों [किरणों]वाला प्रजाओंका प्राणही सूर्यरूपसे उदयको प्राप्त [होता] है।

[इस पृ]थ्वीपर अग्नि–विद्युत् आदि अनन्त रूपोंको धारण करता [है,] इतनाही नहीं परन्तु सूर्यमण्डलमें तथा इस पृथ्वीपर [जो] भी पदार्थ हैं वे सबके सब सूर्यसेही बने हैं। सूर्यके [ये] सब ग्रह उपग्रह बने और वनस्पति पदार्थ भी उसी [से] बने हैं। मानो सूर्यही पृथ्वी वनस्पति और [प्राणी] होकर बनकर प्रकट हुआ है। अथवा यह पृथ्वी आदि [ये] सूर्यमालिका सूर्यकाही विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। इसी [प्रकार] परमात्माका यह विश्वही विश्वरूप है। प्रश्नोपनिषद्में [इसका] विश्वरूप बताया है व मंत्र इस प्रकार है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो
मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सद्
सच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ प्रजापतिश्चरसि
गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ॥ ७ ॥ इंद्रस्त्वं प्राण
तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे
चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥ यदा
त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः। आनन्द
रूपास्तिष्ठंति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥
व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः
॥ ११ ॥ (प्रश्न० उ. २)

प्राणही अग्नि है वह सूर्य बनकर द्युलोकमें तपता है वह पर्जन्य मघवा, वायु, पृथ्वी रयी, देव सद्, असद् और अमृत है। वह प्राणही प्रजापति है, वह गर्भमें प्रविष्ट होकर उत्पन्न होता है। वही तेजस्वी इन्द्र, संरक्षक रुद्र है और ज्योतियोंका स्वामी सूर्य भी वही है। जब वह प्राण पर्जन्यरूप होकर वृष्टि करता है तब सब प्रजा आनन्दित होती है। अब बहुत अन्न उत्पन्न होगा यह कल्पना या विश्वासही उनको आनन्दित कर देता है। यह प्राणही (व्रात्य) संन्यासी ऋषि (अत्ता) भोक्ता विश्वपति सबका पिता है।'

यहां प्राणका विश्वरूप कहा है। अथर्ववेदमें प्राणसूक्त है। (देखो, अथर्ववेद ११।४।१–२६) उसके आधारपर यह प्रश्न उपनिषद्का विषय रचा गया है। यहां भी प्राण-का विश्वरूप कहा है और यही यहां विस्तारके साथ कहा गया है। प्राणही इन्द्र रुद्र वायु, सूर्य, ज्योति पर्जन्य मेघ पृथ्वी रयी अग्नि आदि रूपसे प्रकट होता है। यह प्राणका विश्वरूप है।

इस तरह प्राणका विश्वरूप प्रश्नोपनिषद्में कहा है।

(४) मुण्डक उपनिषद्में विश्वरूप

अब मुण्डकोपनिषद्में जो परमात्माका विश्वरूप वर्णन किया है उसे देखिये—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः
संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽ-
क्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥ (मुंडक उ. १।१।७)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥ तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥ अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥ (मु० उ० २।१)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥ (मुण्डक उ० २।२)

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। तरति शोकं विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥ (मुण्डक उ० ३।२)

" जिस तरह मकड़ी अपनेमेंसे सूत उत्पन्न करती है, जिस तरह पृथ्वीसे औषधियां उत्पन्न होती हैं और मनुष्यसे केश लोम होते हैं उस प्रकार अक्षर परमात्मासे यह विश्व उत्पन्न होता है।

" यह सत्य है कि प्रदीप्त अग्निसे सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार अक्षर परमात्माके विविध भाव प्रकट होते हैं और वे उसीमें लीन हो जाते हैं॥ यह दिव्य अजन्मा परमात्मा बाहर भीतर सबमें भरा है यह प्राण और मनसे विरहित स्वच्छ अक्षरहित और सबसे श्रेष्ठ है॥ इसीसे प्राण मन सब इंद्रियां आकाश वायु ज्योति जल पृथिवी ये सब उत्पन्न होते हैं॥ इस परमात्माकी मूर्धा अग्नि है सूर्यचन्द्र आंख हैं दिशा कान हैं वाणी वेद है। वायु प्राण है हृदय अन्तरिक्षस्थानीय विश्व है, पांव पृथिवी है। ऐसा यह सर्वभूतान्तरात्मा है॥ इसीसे अनेक देव साध्य मनुष्य पशु पक्षी, प्राणापान चावल और जौ तप-श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्य और विधि उत्पन्न हुए हैं॥ इसीसे समुद्र पर्वत और सब नदियां हुई हैं इसीसे सब प्रकारकी ओषधियां और उनमें रस भी बना है। यह सबकी अन्तरात्मा इन भूतोंके साथ स्थित है। (पुरुषः एव इदं विश्वं) परमात्माही यह सब है। कर्म, तप, परब्रह्म और अमृत भी यही परमात्मा है। जो यह जानता है उसकी अविद्याग्रंथि दूर होती है। अमृतरूपी ब्रह्मही आगे पीछे, दायें बायें और नीचे ऊपर सब जगह है। (ब्रह्म एव इदं विश्वं) ब्रह्मही यह विश्व है। वरिष्ठ ब्रह्मही यह सब है। जो इस ब्रह्मको जान जाता है वह (ब्रह्म एव भवति) ब्रह्मही हो जाता है उसका शोक दूर हो जाता है वह मुक्त होकर अमर बनता है। "

इस तरह मुण्डकोपनिषद्का कथन है। इसमें निम्नलिखित वचन मननीय हैं—

१ मनुष्यके मन केश और लोम होनेके समान परमात्मा से यह विश्व बनता है अतः यह विश्व उसीका रूप है।

२ अग्निसे जैसे स्फुलिंग वैसे परमात्मासे यह विश्व है, अतः यह विश्व और यह परमेश्वर एकही है।

३ सब भाव उस परमात्मासे उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं अतः वे उससे पृथक् नहीं हैं।

४ प्राण मन इंद्रियां पंचभूत ये उसीके भाव हैं।

५ ये सब उस सर्वभूतान्तरात्माके अवयवही हैं—

मूर्धा-सिर	—	अग्नि
आंख	—	चन्द्र सूर्य
कान	—	दिशायें
वाणी	—	वेद
प्राण	—	वायु
हृदय	—	विश्व (अन्तरिक्ष)
पांव	—	पृथिवी

यह उस परमात्माका विश्वरूपही है। यह उसीका रूप है।

६ सब प्राणी पशु पक्षी मनुष्य ऋषिमुनि प्राणापान सब धान्य तप श्रद्धा आदि तथा पर्वत समुद्र नदियां औषधियां उसीसे बनी हैं यह उसी

के रूपमें स्थित है अर्थात् यह सब उसीका रूप है।

७ यह सब यह पुरुषही है (पुरुषः एव इदं विश्वं) उससे अतिरिक्त यहां कुछ भी नहीं है। (ब्रह्म एव इदं विश्वं)

८ वह अंदर बाहर ऊपर नीचे सर्वत्र है।

इन वाक्योंसे मनमें स्पष्ट होता है कि परब्रह्म परमात्मा-काही रूप यह विश्वरूप है। क्योंकि—

पुरुष एव इदं विश्वम्
ब्रह्म एव इदं विश्वम्।

ब्रह्मही यह विश्व है। अग्निसे भिन्न स्फुलिंग नहीं माटीसे भिन्न उसके भाजन और भाव नहीं इसी प्रकार यह विश्व उस विश्वात्मासे भिन्न नहीं उसका एक रूपही यह है। प्राण अपान जन्म मृत्यु ये अनंत भाव हैं ये सब भाव उसीके हैं, अतः उससे भिन्न नहीं है। इस तरह मुण्डको-पनिषद्में परमात्माके विश्वरूपका वर्णन आता है।

(५) माण्डूक्य उपनिषद्में विश्वरूप

मांडूक्य उपनिषद् तो केवल इसी सिद्धान्तको समझानेके लियेही निर्माण हुआ है। इसके मंत्र सहजतया विश्वरूपदर्शन करा रहे हैं। उनमेंसे कुछ मंत्र ये हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥ १ ॥
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म ॥ २ ॥
एकात्मप्रत्ययसारं शिवमद्वैतम् ॥ ७ ॥
शिवोऽद्वैत आत्मा ॥ १२ ॥ (मांडूक्य उ)

ओं इस अक्षरसे इस सब (विश्व) का बोध होता है। भूत वर्तमान भविष्य कालमें जो हुआ है और होगा वह सब ओंकारसे बोधित होता है। इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत है वह भी ओंकारही है। सब यह ब्रह्म है यह आत्मा भी ब्रह्म है। यह आत्मा सबको एकही ऐसा अनुभवमें आता है। वस्तुतः यह मंगल आत्मा एकही है।

यहां ब्रह्म आत्मा ओंकार ये शब्द समानार्थक हैं ऐसा कहा है और इन शब्दोंसे जिस तत्त्वका बोध होता है वह तत्त्वही भूत भविष्य वर्तमान और कालातीत वस्तु मात्रके रूपसे प्रकट होता है, अर्थात् भूतकालमें जो हुआ वर्तमान कालमें जो है भविष्य कालमें जो होगा और जो कालातीत है वह सब ब्रह्म आत्मा तथा ओंकारही है।

यह विश्व भूत-भविष्य-वर्तमान कालमें है और जीवात्मा कालातीत है यह सब पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मही है। यह विश्वरूप है क्योंकि सब विश्वका रूप तीनों कालोंमें दीखनेवाला है और आत्मा कालमर्यादासे बाहर है। ये दोनों मिलकर ब्रह्मही है।

(६) तैत्तिरीय उपनिषद्में विश्वरूप

तैत्तिरीय उपनिषद्में परमात्माका विश्वरूप बताते हुए कहा है कि—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। (तै उ १।८)

ओंकारही यह सब है और ओंही ब्रह्म है। सब क्या है यह भी यहांही दर्शाया है जैसा—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः।
अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि।
आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा।
इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा ॥
(तै उ १।७)

पृथ्वी अन्तरिक्ष द्यौ दिशा उपदिशा अग्नि, वायु, आदित्य चन्द्रमा नक्षत्र जल औषधि वनस्पति, आकाश और आत्मा ये विश्वके भूतोंमें तथा शरीरमें प्राण अपान, उदान, समान चक्षु श्रोत्र मन वाणी त्वचा चर्म मांस स्नायु अस्थि और मज्जा ये सब पदार्थ मिलकर ओंकारसे वाच्य होते हैं। ओंकारही ब्रह्म है। अर्थात् पृथिव्यादि रूप ओंकारकेही हैं। अर्थात् यह सब ओंकारवाच्य ब्रह्मकाही विश्वरूप है।

आगे इसी उपनिषद्में ब्रह्मका स्वरूप-कथन करता है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति ॥ (तै उ ३।१)

जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं जिससे ये जीवित रहते हैं और जिसमें ये सब जाकर मिल जाते हैं वह ब्रह्मही है। इसमें कहा है कि कोई एक पदार्थ है जिससे ये

विश्वान्तर्गत पदार्थ उत्पन्न होते हैं जीवित रहते हैं और अन्तमें जिसमें जाकर मिल जाते हैं वह पदार्थ ब्रह्म ही है। उदाहरणके लिये सुवर्णसे आभूषण बने सुवर्णके आधारसे रहे और सुवर्णमेंही अन्तमें जा मिले, अर्थात् तीनों कालोंमें सुवर्णके सुवर्णपनमें कोई भेद नहीं। इसलिये आभूषणोंकी अपेक्षा सुवर्ण ब्रह्म है, वैसेही विश्वके पदार्थोंकी अपेक्षा मूल महत्तत्त्व ब्रह्म है जिससे कि ये पदार्थ बनते रहते हैं, और जिसमें लीन होते हैं। अर्थात् जो यहां विश्वमें रूप दिखाई देता है वह उसीका है कि जिससे इसका बनना जीना और विलयना सिद्ध होता है। इस तरहके वर्णनसे यहां विश्वरूपी ब्रह्म है ऐसा कहा है। और—

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

(तै. उ. ३।१०।४)

वह जो इस पुरुषमें है और जो यह सूर्यमें है वह एकही है। मनुष्यमें और सूर्यमें एकही वस्तु है। अर्थात् मनुष्यमें और सूर्यादि विश्वभरके सब पदार्थोंमें जो तत्त्व है वह भिन्न नहीं है, प्रत्युत एकही तत्त्व इन सब पदार्थोंमें है किंवा एकही तत्त्वसे ये विभिन्न रूप बने हैं। सब विभिन्न वस्तुओंमें वही एक अभिन्न तत्त्व है किंवा उस एक अभिन्न तत्त्वकेही ये विभिन्न पदार्थ हैं। इस तरह उस अन्तर्यामी सत्यतत्त्वकाही यह विश्वरूप है। जैसे पुरुष और आदित्य ये दो रूप एकही सत्त्वके हैं वैसेही उपलक्षणसे सब पदार्थ उसी सत्त्वकेही रूप हैं।

इस तरह तैत्तिरीय उपनिषद्में विश्वरूपक विवरण बताया गया है।

(७) ऐतरेयोपनिषद्में विश्वरूप

ऐतरेयोपनिषद्में अनेक युक्तिके साथ इस विश्वरूपी पर मात्माका जो स्वरूप बताया है, उसे देखिये—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचो अग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतां अक्षीभ्यां चक्षुः चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः। त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानो अपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥

(ऐ. उ. १।१-४)

आत्मा प्रारंभमें एकही था दूसरा कुछ भी हिलने जुलनेवाला नहीं था। उस आत्माने सोचा कि मैं लोकोंको उत्पन्न करूं। उसके तप होनेपर मुख खुल गया मुखसे वाणी निकली और वाणीसे अग्नि और नासिका बनी। नासिकासे प्राण हुआ और प्राणसे वायुका निर्माण हुआ। आंखें बनीं आंखसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य हुआ। दोनों कान निर्माण हुए, कानोंसे श्रोत्र और श्रोत्रसे दिशायें प्रकट हुई। त्वचा बन गयी, त्वचासे लोम और लोमोंसे ओषधि-वनस्पतियां हो गयीं। हृदय बन गया हृदयसे मन और मनसे चन्द्रमा हो गया। नाभि हुई नाभिसे अपान और अपानसे मृत्यु हो गया। शिश्न निर्माण हुआ शिश्नसे रेत और रेतसे जलका निर्माण हो गया।

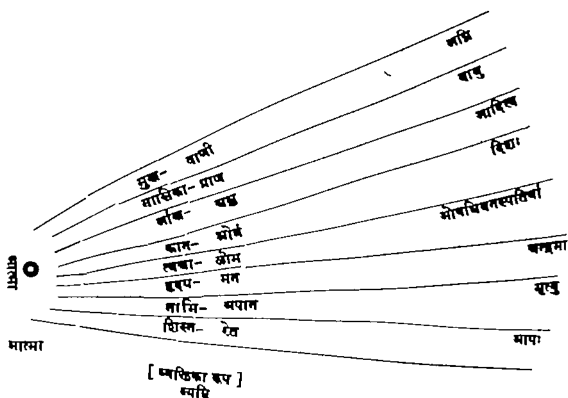
[इस वर्णनका संक्षिप्त कोष्टक ● २ वें पृष्ठपर देखिये]

इस कोष्टकको देखनेसे पाठकोंको पता लगेगा कि आत्मा का व्यक्तिगत रूप मुख-नासिका-नेत्र-कर्ण-त्वचा-हृदय-नाभि शिश्न है और विश्वगत रूप अग्नि-वायु-आदित्य-दिशा-ओषधिवनस्पति-चन्द्रमा-मृत्यु-आप है। इसी कारण आत्माको सर्व कहते हैं। क्योंकि इसमें सबका अन्तर्भाव होता है। यह विश्वरूप आत्मामें लीन होता है और आत्मासेही प्रकट होता है। अर्थात् आत्माही विश्वरूपसे प्रकट हुआ है। इसी विषयमें इस उपनिषद्में और भी कहा है—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा। । एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च भूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञानं ब्रह्म।

(ऐ. उ. ३)

वह कौनसी आत्मा है जिसकी हम उपासना करें? वह आत्माही ब्रह्म है वही इंद्र है वही प्रजापति है वही सब देवता है पृथ्वी वायु, आकाश जल तेज पंचमहाभूत



[व्यक्तिका रूप]
व्यष्टि

[विश्वरूप] समष्टि

यही है कुछ मिश्र और जो इतर बीज हैं अण्डज (पक्षी) जरायुज (मानव पशु आदि) स्वेदज (कृमि आदि) उद्भिज (वृक्षादि) घोड़े गौएँ मनुष्य हाथी और जो सजीव हिलनेवाले उड़नेवाले और स्थावर हैं वे सब प्रज्ञाके द्वारा चलाये जाते हैं यह प्रज्ञानही ब्रह्म है।

यहां आत्मा अथवा ब्रह्मही इन्द्र प्रजापति तथा संपूर्ण देवतारूप है पृथिव्यादि पंचमहाभूत भी यही है सब प्राणि सब वनस्पति और सब स्थावर यही है। इस वर्णनमें यह सब विश्वही आत्माका व्यक्तरूप है ऐसा स्पष्ट कहा गया है। यही विश्वरूप वर्णन ऐतरेय उपनिषद्में भी है।

(८) छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूप

छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूपी आत्माका वर्णन अनेक प्रकारसे आता है। उनमेंसे कुछ यहां देखिये—

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च।
(छां उ ३।१२)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छां उ ३।१४)

जो कुछ यहां है वह सब गायत्री है वह सब विश्वही ब्रह्म है। इस तरह यह सब दृश्यमान विश्व यह सब विश्वरूप ब्रह्मही है ऐसा स्पष्ट कहा है। और देखिये

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। (छां उ ६।२)

'हे प्रिय शिष्य! प्रारम्भमें एकही सत् तत्त्व था दूसरा कुछ भी नहीं था। उसने देखा और कहा कि मैं बहुत हो जाऊं। उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेजने देखा और कहा कि मैं अनेक बनूं और उसने जल निर्माण किया। उस जलने देखा और कहा कि मैं अनेकविध बनूं और उसने अन्न निर्माण किया।' इस तरह अनेकविध सृष्टि उसी एक अद्वितीय सत्तत्त्वसे निर्मित हुई। यह अनेकविध सृष्टिही विश्व है अतः यह विश्वरूप उसी एक सत्तत्त्वका रूप है। इस वचनका विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह विश्वरूप उसी एक आत्माकाही पूर्ण रूप है। और भी देखिये—

स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।
तत्सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि श्वेतकेतो।
(छां० उ० ६।८।६–७)

यह जो सूक्ष्म तत्त्व है वह इसी आत्मासे बना है। वही सत्य तत्त्व है वही आत्मा है श्वेतकेतो! वह तू है।

इसमें एक आत्मतत्त्वसे सब बना है और वही तू है। जैसे श्वेतकेतु वही तत्त्व है, वैसेही गुरु भी वही तत्त्व है। अन्य शिष्य भी वही तत्त्व हैं, अन्य मानव तथा प्राणी भी वही तत्त्व हैं और सब वस्तु भी वही तत्त्व है। इसे निम्न प्रकारसे देखना चाहिये—

तत् त्वम् असि, श्वेतकेतो।
तत् सः असि।
तत् अहं अस्मि।
तत् एव सर्वे सन्ति।
एतदात्म्य इदं सर्वम्।

वह तू है, वही वह है वह मैं हूं वही सब है वही यह सब है अर्थात् केवल श्वेतकेतुही यह आत्मा है। ऐसाही केवल नहीं है प्रत्युत प्रत्येक वस्तुमात्र यह आत्मा है। जैसे श्वेतकेतुका रूपही उस आत्माका रूप है उसी तरह इस सब वस्तुमात्रका रूप भी आत्माकाही रूप है अतः यह विश्वरूप आत्माका रूप है। आत्माही विश्वरूपी बना है। और देखिये—

(१) स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वं इति।

(२) अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमेवेदं सर्व इति।

(३) आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तात् आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।

(४) अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति॥ (छां० उ० ७।२५)

(५) आत्मत एवेदं सर्व इति॥ (छां० उ० ७।२६)

(१) वह ही ऊपर नीचे, आगे, पीछे दायें और बायें है और वही यह सब कुछ है। (२) मैंही ऊपर नीचे आगे पीछे दायें और बायें हूं और मही यह सब कुछ हूं। (३) आत्माही ऊपर नीचे आगे पीछे दायें और बायें है और आत्माही यह सब कुछ है। जो इससे भिन्न ज्ञान जानते हैं वे किसीके अधीन होते हैं अर्थात् वे परतन्त्र होते हैं अतः वे नाशको प्राप्त होते हैं। (५) आत्मासेही यह सब (विश्व) बना है।

यहां सः अहं आत्मा ये शब्द उसी एक वस्तुके वाचक हैं जिससे यह विश्व बना है।

इस रीतिसे छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूप आत्माका वर्णन है। इसका मनन करके और विश्वरूपमें उस आत्मा का दर्शन करके अपनी अखंड सत्ताका अनुभव करना चाहिये।

(९) बृहदारण्यकोपनिषद्में विश्वरूप

बृहदारण्यक उपनिषद्में अनेक प्रकारसे परमात्मा विश्वरूप है ऐसा बताया है। प्रारंभमेंही कहा है—

आत्मा एव इदमग्र आसीत्पुरुषविधः।
सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् ... ॥ १॥
सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे, यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि ॥ २॥ स द्वितीयमैच्छत् स ह एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् ॥ ३॥ (बृ० उ० १।४)

' प्रारंभमें एकही आत्मा था उसने देखा कि अपनेसे भिन्न दूसरा पदार्थ कुछ भी नहीं है। वह डर गया क्योंकि अकेला डरता है। उसने प्रियपत्नीकी इच्छा की तथाच

सोचा कि यदि मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी यहां नहीं है तो मुझे किससे भय होगा ?॥ उसने दूसरेकी इच्छा की वह ऐसा था कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं उसने अपने आपकोही दो प्रकारका बनाया जिससे स्त्री और पुरुष हो गये ।' आगे इस स्त्रीपुरुषसे सब विश्व बन गया ।

इस उपनिषद्‌के वचनमें स्पष्टताके साथ कहा है कि प्रारंभमें एकही आत्मा था दूसरा कुछ भी नहीं था दूसरा होता तो भय हो सकता था दूसरा नहीं था इसलिये उस आत्माको भय नहीं था। वह निर्भय था। उसने अपनेसेही स्त्री निर्माण की और वे प्रकृतिपुरुष–स्त्रीपुरुष–होकर रहने लगे। इस जोडेसे आगेकी सृष्टि बन गयी। जो भी कुछ आगेकी सृष्टि बनी वह उस एक अद्वितीय आत्मासे बनी ऐसाही इस वचनका तात्पर्य है। निःसंदेह सृष्टि बनी है और आत्मासे भिन्न और दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। फिर सृष्टि किससे बनी और यह विविध विश्व कैसे बना? उस एकही उपादानसे बना यह बात निश्चित है। इतनाही इस बृहदारण्यकके वचनका आशय है। इस तरह विश्वरूप एक आत्माकाही है। क्योंकि उससे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। यही बात आगे भी स्पष्ट की है—

एतस्यैव सा विसृष्टिः । एष उ ह्येव सर्वे देवाः ॥
(बृ. उ. १।४।६)

यह विविध प्रकारकी सृष्टि इसीकी है। यह भी निश्चय है कि सब देव यही है। इसका आशय स्पष्ट है यह सृष्टि यह विश्व उससे भिन्न नहीं है ये अग्न्यादि देव भी विभिन्न गुणधर्मवाले होनेपर भी उससे विभिन्न नहीं हैं परन्तु ये सब देव यही हैं अर्थात् उसीके रूप हैं। क्या यह सब आत्माका विश्वरूप नहीं है? उक्त उपनिषद्वचनका आशय स्पष्ट है। और देखिये—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् । तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति तदप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ॥ अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् ॥ (बृ. उ. १।४।१०)

प्रारंभमें ब्रह्मही था उसने अपने आपको मैं ब्र[illegible] ऐसा ज्ञान किया उस ज्ञानसे वह यह सब बना। वह ज्ञान प्राप्त कर वामदेव ऋषिने अनुभव किया मैं मनु हूं और मैं सूर्य हूं इत्यादि। इस समयमें जो जानेगा कि वह ब्रह्म मैं हूं वह यह सब हो जाता है। तथा जो उपासक उपास्य देवता मुझसे भिन्न है और उपास्य देवतासे भिन्न हूं ऐसा मानता है वह कुछ नहीं जानता। वह देवोंका भोग्य पशुही है।'

यहां एकही ब्रह्म कहा गया है और वह ब्रह्मही विश्व बनता है। जिसको यह ज्ञान हो जाता है वह भी वह बन जाता है। आज भी जिसको यह ज्ञान होगा वह बन जायगा। प्राचीन कालमें वामदेव ऋषिको यह हुआ और वह ब्रह्म बन गया जब उसे ब्रह्म हो[illegible] अनुभव हुआ उस समय उसने इस तरह कहा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य। शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥ (ऋग्वेद ४।२६।१-३)

वामदेव कहते हैं (अर्थात् ब्रह्मज्ञानी बननेके बाद ब्रह्मरूप होकर कहते हैं)— मैं मनु हुआ था मैं सूर्य हुआ था मैंही बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि था। मैंनेही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको वशमें किया था और मैंही उशना कवि हूं मुझे देखो॥ मैंनेही आर्योंको भूमि दी है मैंही दाता मनुष्यके लिये वृष्टि करता हूं मैंनेही शब्दायमान उदकको लाया है। देव मेरी इच्छाके अनुसार चलते हैं॥ मैंने आनन्दके साथ शम्बर राक्षसके निन्यानवे कीले तोड दिये और उसका सौंवा नगर रहनेके योग्य बना दिया था। मैंनेही अतिथिग्व तथा दिवोदासका युद्धमें संरक्षण किया था।

बृहदारण्यक उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मणके लेखक इन मंत्रोंका अर्थ इस प्रकार समझते थे। यदि किसी अन्य विद्वान् को दूसरा अर्थ प्रतीत हुआ तो वह करे परंतु हम इस समय शतपथब्राह्मणके लेखक याज्ञवल्क्य ऋषिकाही अर्थ देते हैं। वे इन मंत्रोंको वामदेव ऋषिके ब्रह्मरूप होनेके वाचक अनुभव समझते हैं। ब्रह्मरूप होतेही वामदेव ऋषिको निश्चय हुआ कि मैंही मनु इन्द्र सूर्य चन्द्र वायु, भूमि मनुष्य मेघ आदि हूं। भूतकालमें वीर बनकर मैंने युद्ध किये थे इस समय वे सब मेरी सहायता कर रहे हैं। शतपथ ब्राह्मणकार साक्षी देते हैं कि 'आज इस समयमें भी यदि कोई मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होगा तो वह भी ब्रह्मभावको प्राप्त करके इसी प्रकार अनुभव करेगा।' यह अनुभव भेदभावयुक्त उपासना करनेवालेको अर्थात् मैं अपने उपास्य देवतासे भिन्न हूं, ऐसा मानकर उपासना करनेवालेको नहीं हो सकता क्योंकि वह देवताओंके मरण पशु बनता है।

अस्तु। यहां हमें अन्य बातोंका विचार करनेके लिये अब अवसर नहीं है। हमें तो इतनाही देखना है कि मनुष्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् वह ब्रह्मभावसे संपन्न होता है और ब्रह्मभावसे युक्त होतेही उसको मैंही यह सब विश्व हूं ऐसा अनुभव आता है। उक्त वेद-मंत्रोंसे तथा पूर्वोक्त बृहदारण्यकोपनिषद् (शतपथ-ब्राह्मण) के वचनसे यह आशय स्पष्ट विदित होता है। जो ब्रह्मको जानता है वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है और ब्रह्म बनतेही मैं यह सब हूं यह अनुभव भी हो जाता है।

जिस समय मैं यह सब हूं ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उस समय मेराही यह विश्वरूप है ब्रह्मकाही यह विश्वरूप है आत्माकाही यह विश्वरूप है ' ऐसाही प्रत्यक्ष ज्ञान होता इसमें संदेह नहीं है। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् का आशय समझ कर मनन करना चाहिये। यह महत्त्वका विषय है इसको वैसाही नहीं छोड देना चाहिये। मतके दुराग्रह छोडकर प्राचीन ग्रन्थोंको यथावत् जाननेका यत्न करना चाहिये। अब आगे और वचन देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च
मर्त्यं चामृतं च। (बृ उ २।३।१)

ब्रह्मके दो रूप हैं। एक अमूर्त रूप है और दूसरा मूर्त रूप है एक निराकार है और दूसरा साकार है, एक रूप

स्थित है और दूसरा चलायमान् है एक अविनाशी है और दूसरा नाशवान् है। यदि ये दोनों रूप ब्रह्मकेही हैं तो संपूर्ण आकारवाले रूपवाले स्थूल स्वरूपवाले पदार्थ, जो इस विश्वमें दीख रहे हैं ब्रह्मके रूप हुए और यह विश्वका रूप ब्रह्मकाही रूप है यह बात भी सिद्ध हुई। इस तरह इतने वाक्योंसेही परमात्माका विश्वरूप यह दीखनेवाला और प्रत्यक्ष होनेवाला विश्वका रूपही है यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मका मूर्त रूप है इतना इस वचनमें पढनेके पश्चात् भी जो इस विश्वके रूपको परमेश्वरका अथवा ब्रह्मका रूप नहीं मानते उनके हठकी कोई मर्यादाही नहीं है। अतः उनका मत विचारमें भी लेना योग्य नहीं क्योंकि वचनप्रामाण्यकी दृष्टिसे बृहदारण्यकोपनिषद्की अपेक्षा उनका मत अधिक वजन नहीं रख सकता। ब्रह्मका रूप मूर्तिमान् है, इतनाही कह कर उपनिषद् रुकी नहीं है परन्तु इस बातका उसने स्वयं अधिक स्पष्टीकरण किया है। उसे देखिये—

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च।
(बृ उ २।३।२)

वायु और अन्तरिक्षको छोडकर जो इनसे भिन्न पृथ्वी आप तेज आदि हैं यह ब्रह्मका मूर्त रूप है। इस मूर्त रूपमें सूर्य चन्द्र नक्षत्र वृक्षवनस्पति पशुपक्षी मनुष्य आदि सभीका अन्तर्भाव होता है। जो आंखसे दिखाई देता है वह सब ब्रह्मका मूर्त रूप समझना चाहिये। प्राण, वायु, आदि जो अमूर्त रूप हैं वे इस मूर्त रूपसे भिन्न हैं।

पाठक इसका विचार करें कि यहां ब्रह्मका मूर्त रूप कौनसा है और अमूर्त रूप कौनसा है? मूर्त रूपमें विश्वरूप का समावेश कैसे होता है यह भी विचारपूर्वक समझें। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो अमूर्त रूप अर्थात् वायु प्राण आदिका भी विश्वरूपमें समावेश होता है परन्तु यह बात हम यहां विचारमें न लें केवल आंखका विषय होनेवाले विश्वरूपकाही हम समावेश करें और सबसे प्रथम इस विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना मनमें स्थिर करें। अस्तु। अब और देखिये—

यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरं यस्याग्निः
शरीरं यस्यान्तरिक्षं शरीरं यस्य वायुः शरीरं यस्य
द्यौः शरीरं यस्यादित्यः शरीरं यस्य दिशः शरीरं

यस्य चन्द्रतारकं शरीरं, यस्याकाशः शरीरं यस्य तमः शरीरं यस्य तेजः शरीरं यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक् शरीरं यस्य चक्षुः श्रोत्रं मनः त्वक् विज्ञानं रेतः शरीरं एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (बृ उ ३।७ ११)

शरीर (जिसमें) पृथ्वी जल तेज वायु आकाश अन्तरिक्ष द्युलोक आदित्य दिशा, चन्द्रतारका आकाश तम तेज सब भूत (व्यक्तियें) प्राण, वाक् चक्षु श्रोत्र, मन त्वचा विज्ञान, रेत आदि सब इस अन्तर्यामी आत्मा का शरीर हैं। इस तरह यह सब विश्व इस विश्वात्माका शरीर है क्योंकि यह अन्तर्यामी आत्मा होनेसे संपूर्ण विश्व के अन्दरोंमें स्थित है और संपूर्ण विश्व उसके बाहर है अर्थात् यह संपूर्ण विश्व उसका शरीर है। और रूप शरीरका ही होता है इसलिये विश्वात्माके शरीरका अर्थात् संपूर्ण विश्वका जो रूप है वह उसी विश्वात्माका रूप किंवा विश्वरूप है। इस तरह इस अन्तर्यामी ब्राह्मण में विश्वात्माका विश्वरूप बताया गया है। पाठक इसका अच्छी तरह मनन करें और विश्वरूपी परमेश्वरका साक्षात् दर्शन करें।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्में विश्वरूपी परमात्माका दर्शन कराया गया है।

(१०) श्वेताश्वतरोपनिषद्में विश्वरूप

श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा है, (ज्ञ) जाननेवाला ईश (अ-ज्ञ) न जाननेवाला जीव और (अजा) प्रकृति ऐसे तीन पदार्थ हैं। तीनों जहां एक होते हैं वह ब्रह्म है। इसी कथनके समय (आत्मा विश्वरूपः) आत्मा विश्वरूपी है ऐसा स्पष्ट कहा है। यह वचन देखिये—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ (श्वे उ १-९)

(ज्ञ-अज्ञौ) एक ज्ञाता है और दूसरा अज्ञ है, (ईश-अनीशौ) एक ईश्वर है और दूसरा असमर्थ है। परन्तु ये दोनों न जन्मनेवाले हैं। (एक अजा) तीसरी एक न जन्मनेवाली प्रकृति है वह जीवके भोगके लिये है। इस तरह ईश जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं। (अनन्तः विश्वरूपः अकर्ता आत्मा) एक अनन्त अकर्ता विश्वरूपी आत्मा है। ये तीनों मिलनेपर ब्रह्म कहलाते हैं।" यहां ब्रह्ममें परमात्मा-जीव-प्रकृति संमिलित हैं ऐसा कहा है। तीनोंकी सम्मिलित एकताही ब्रह्म है।

इस मंत्रमें अनन्त आत्मा (विश्वरूपः) विश्वरूप है ऐसा कहा है। विश्वका रूप जिसने धारण किया है, ऐसा आत्मा है। विश्वरूप धारण करनेका अर्थ क्या है? विश्वरूप-बहुरूप-पुरुरूप सर्वरूप-अनंतरूप इन शब्दोंका अर्थ एकही है। जो ये रूप दिखाई देते हैं वे सब रूप उस आत्माकेही हैं। वह परमात्मा सब रूपोंके अन्दर है। उसके कारणही सब रूप रूपयुक्त हो पाते हैं।

इस तरह सर्वत्र यह विश्वरूपका दर्शन मिलता है। श्वेताश्वतरके अन्य वचन देखिये—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥
(श्वे उ ३।११)

सर्व मुख सिर और ग्रीवाओंसे युक्त, सब भूतोंकी गुहाओंमें निवास करनेवाला सर्वव्यापी वह भगवान् सब जगह विराजमान है और वह मंगलस्वरूप है।' इस मंत्रमें संपूर्ण मुख-सिर और कंठोंसे युक्त अर्थात् सम्पूर्ण हाथों पावों पेटोंसे युक्त यह सर्वव्यापी आत्मा है यह कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि वह (सर्व भूत-गुहा शयः) सब प्राणियोंके हृदयोंमें रहनेके कारण सब प्राणियोंके जितने सिर मुख कण्ठ पेट तथा हाथ पांव होंगे वे सबके सब उसी सर्वगत सर्वव्यापक परमात्माकेही अंग समझने चाहिये। ऐसा माननेपरही वह परमात्मा (सर्व-आनन शिरो-ग्रीवः) सब मुख-सिर-ग्रीवावाला हो सकता है। यही अर्थ विश्वरूप अनन्त आत्मा इन शब्दोंसे व्यक्त होता है। यहां किसीको शंका हो सकती है कि सब प्राणियोंके अवयव उस परमात्माके किस तरह हो सकते हैं? इस शंकाके निराकरणके लिये निम्नलिखित मंत्र देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥ यो देवो अग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश । य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥ (श्वे उ २)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥ सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ॥ ११ ॥ (श्वे० उ० ३)

'वह देव सब दिशाओं उपदिशाओंमें है, वह पहिले जन्मा था और वह फिर गर्भमें आता है, वही पहिले हुआ था और आगे भी होगा, वह प्रत्येक मनुष्यमें रहता है, उसका मुख सब ओर है॥ जो देव अग्नि जल औषधि वनस्पतिमें है, जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट है उस देवताके लिये नमस्कार है॥ जिस देवके चक्षु मुख बाहु पाँव सब ओर हैं वही एक द्युलोक और भूलोकका बनानेवाला देव है॥ वह सब भूतों-प्राणियों-की बुद्धिमें है और वह सब मुख सिर और ग्रीवावाला है।'

भूतकालमें वह प्राणीके रूपसे जन्मा था, इस समय वह गर्भमें है और भविष्यकालमें भी जन्मेगा। अर्थात् वही प्राणियोंके रूप धारण करता है, इसी कारण सब प्राणियोंके मुख सिर कन्धे, उदर पाँव हाथ जितने भी होंगे वे सबके सब उस देवताके—उस आत्माकेही हैं। इसी कारण उसके मुख हाथ पाँव सब ओर हैं। क्योंकि सब ओर सब प्रकारके प्राणी रहते हैं और उनके मुखादि अवयव सब ओर हैं। इस भावको ध्यानमें करनेसेही ये मंत्र समझमें आ सकते हैं। पूर्वोक्त तीनों मंत्र वेदमें हैं और वेदसेही उपनिषद्में लिये हुए मंत्र ये भी यहां साथ साथ देखने योग्य हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ १५ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥
(श्वे० उ० ३)

सहस्रों सिरों सहस्रों आंखों सहस्रों पांवोंवाला देव भूमिके चारों ओर व्याप्त है। भूत वर्तमान और भविष्यमें रहनेवाला वह पुरुषही सब कुछ है। इस देवता के पांव हाथ आंख सिर मुख और कान (सर्वतः) सब ओर हैं, क्योंकि वह सबको घेरकर रहता है।

इस प्रकार विचार करनेसे यह वर्णन स्पष्ट हो जाता है। इस भूमंडलपर जितने प्राणिमात्रके जितने भी हस्तपादादि अवयव हैं वे सबके सब इसीके हैं। सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण सबके अवयव इसीके अवयव हैं। यदि पाठकोंके *मनमें यह कल्पना ठीक प्रकार जम जायगी तो प्रभुका* विश्वरूप ठीक समझमें आ सकता है। पाठक यह विश्वरूपी प्रभुकी कल्पना बारबार इन मन्त्रोंका मनन करके समझनेका प्रयत्न करें। क्योंकि इसी कल्पनापर सब वास्तव धर्मकी रचना हुई है। एकही ईश्वर विविध प्रकारका विश्व किस तरह बनाता है इसके स्पष्टीकरणार्थ इस उपनिषद्में एक उपमा दी है—

एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ॥ (श्वे० उ० ४।१)

एकही रंग विशेष शक्तिके कारण अनेक प्रकारके अनेक रंगोंको धारण करता है। एक रंगसे अनेक रंग प्रकट होते हैं। एक श्वेत वर्णमें त्रिकोणी शीशा रखनेसे उसमें अनेक रंग दीखते हैं। ये अनेक रंग एकही रंगके रूप हैं। अनेक रंगोंका विशेष प्रमाणसे संमिश्रण होनेसे श्वेत वर्ण दीखता है और श्वेत वर्णका पृथक्करण करनेसे विविध रंग प्रकट होते हैं। इससे पाठक आत्मासे यह सब विश्व किस तरह प्रकट होता होगा इसकी कल्पना कर सकते हैं।

एक वर्णसे मूल तीन वर्ण होते हैं और तीन वर्णोंसे अनंत रंग होते हैं इतने अनंत रंग एकही श्वेत रंगमें कैसे रहते हैं यह एक रहस्यही है। इसी उपनिषद्में आगे कहा है—

स विश्वरूपः ॥ (श्वे० उ० ५।७)
तं विश्वरूपं। (श्वे० उ० ६।५)
अनाद्यनन्तं विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ॥

वह आत्मा विश्वरूप है। वह अनादि अनन्त है। विश्वकी रचना करनेवाला और अनेक रूपवाला है। यह अनेकरूपका वर्णन बिलकुल स्पष्ट है और परमात्माके अनन्त रूप कैसे होते हैं यह भी इस विवेचनसे स्पष्ट हो सकता है। विशेष स्पष्टीकरणके लिये इस उपनिषद्में दो उपमाएं दी हैं—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति । (श्वे० उ० ६।१०)
एकं बीजं बहुधा यः करोति ॥ (श्वे० उ० ६।१२)

एक (ऊर्णनाभी) मकड़ी अपने शरीरमेंसे तन्तु निकालकर उससे जाला बनाती है। तद्वत् परमात्मा अपने शरीरमेंसे तन्तु निकालकर सृष्टि रचता है। दूसरी उपमा बीजकी है। एक बीज वृक्षरूप होकर अनेक बीजोंमें परिणत होता है।

ये दोनों उदाहरण यहां केवल इतनाही सूचित करनेके लिये दिये गये हैं कि यह विश्वरूप उसी परमात्मासे बन गया है। यह बात पाठकोंके मनमें स्थिर हो जाय। अस्तु।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस ढंगसे परमात्माके विश्वरूप होनेकी बातें वर्णित हैं। यहांतक ग्यारह उपनिषदोंमें जो विश्वरूपका वर्णन आया है वह संक्षेपसे दिया है। इसका बहुत विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इन मुख्य उपनिषदोंमें विश्वरूपी परमात्माका स्वरूप बताया गया है इतनाही यहां दिखाना था। जो वेदमन्त्रोंमें है वही उपनिषदोंमें और वही गीतामें किया गया है। इतनाही नहीं प्रत्युत हम इतना भी कह सकते हैं कि वेद और उपनिषदोंमें जो अधिक विस्तारके साथ कहा गया है वही संक्षेपके साथ भगवद्गीतामें कहा हुआ है। पाठक यहां दिये हुए वचनोंकी तुलना करेंगे तो वे इसी परिणामको पहुंचेंगे। इन ग्यारह उपनिषदोंके विश्वरूपी परमात्माके वर्णन एक बार देख लेनेके पश्चात् अन्य उपनिषदोंके इस विषयके वर्णन देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि पाठकोंकी सुबोधताके लिये यहां विश्वरूपी परमात्माके वर्णनके कुछ वाक्य मनन करनेके लिये देते हैं—

१ एष वै विश्वरूप आत्मा। (छां० उ० ५।१३।१)
२ छन्दसामृषभो विश्वरूपः। (तै० उ० १।४।१; महानारा० ७।५)
३ अनन्तश्चात्मा विश्वरूपः। (श्वे० उ० १।९)
४ तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यम्। (श्वे० उ० ६।५)
५ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसम्। (मैत्री उ० ६।८; प्रश्न उ० १।८)
६ ते विश्वरूपाय नमः। (मैत्री उ० ७)
७ विश्वरूपाय वै नमः। (महानारा० १२।१)
८ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः। (प्रश्न उ० १।७)
९ विश्वरूपोऽसि शरीरकस्य। (विरज् उ० ८)
१० वैश्वानरो विश्वरूपः। (प्राणाग्नि उ० १)
११ व्याप्तो विश्वरूपः। (नृ० उ० ५।६।३; ७।६।३)
१२ विश्वेश्वर विश्वरूप। (भ० गीता ११।१६)

(१) यह आत्मा विश्वसे विश्वरूपी है, (२) छन्दोंमें विश्वरूप आत्माका वर्णन है (३) अनन्त आत्मा विश्वरूप है (४) संसारके सब भूतोंद्वारा स्तुति करनेयोग्य यह विश्वरूपी आत्मा है, (५) सबका हरण करनेवाला विश्वरूपी आत्मा जातवेद होता है (६-७) विश्वरूपी आत्माके लिये नमस्कार हो (८) संपूर्ण विश्वमें जो व्यापक आत्मा है वह विश्वरूपीही है (९) जो मन है वह विश्वरूपी है, (१०) विश्वका नेता भी विश्वरूपी देवही है (११) जो सब रूपोंको बनानेवाला है वही विश्वरूपी देव है (१२) जो विश्वका ईश्वर है वह विश्वरूप देव है।

इस तरह उपनिषदोंमें विश्वरूप परमात्माके संबंधमें स्पष्ट निर्देश हैं। ये मंत्रभाग असंदिग्ध हैं, इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अथर्ववेदका एक उच्छिष्ट सूक्त है उसका थोडासा विचार करते हैं—

अथर्ववेदका उच्छिष्ट सूक्त

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥
ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥
राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समर्पिताः ॥ ९ ॥
एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥
चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥
प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥
सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥
शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥
ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ॥ उ २४ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ॥ उ ॥
॥ २५ ॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ॥ उ २६ ॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥
(अथर्व ११।७)

भगवद्गीताके विश्वरूपदर्शनका विचार करनेके समय इस सूक्तका विचार करना आवश्यक है। इस सूक्तमें मंत्र १ से २२ तकके बाईस मंत्रोंमें उच्छिष्ट देवतामें सब कुछ है ऐसा कहा है और अन्तके पांच मंत्रोंमें (अर्थात् २३ से २७ तकके मंत्रोंमें) उच्छिष्ट देवतासे सब कुछ बना है ऐसा कहा है। अर्थात् पहिले २२ मंत्रोंमें *मिट्टीमें घडे रहते हैं* ऐसा कहा है और अन्तके ५ मंत्रोंमें 'मिट्टीसे घडे हुए हैं' ऐसा कहा है। पाठक इस बातका विचार करें।

मिट्टीमें घडे रहते हैं और *मिट्टीसे घडे बने हैं* इसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। पहले इस उच्छिष्ट सूक्तका अर्थ और भावार्थ देखेंगे —

उच्छिष्टमें नाम रूप और सब लोक हैं। इंद्र अग्नि तथा संपूर्ण विश्व इसीमें समाया है ॥ १ ॥ द्युलोक भूलोक और सब कुछ वस्तुमात्र इसीमें रहा है। जल समुद्र चन्द्रमा वायु सभी इसीमें है ॥ २ ॥ सत्, असत्, प्रजापति मृत्यु बल लौकिक वस्तु उच्छिष्टमें हैं। (व्र) स्वीकार करने योग्य वस्तु तथा (द्र) विभागके योग्य वस्तु तथा (श्री) शोभा मुझमें हैं ॥ ३ ॥ दृढ बलिष्ठ *स्थिर समर्थ ब्रह्म है। विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव* हैं नाभिके चारों ओर आरे होते हैं, इस तरह ये सब देव इस उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ४ ॥ ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद उद्गीथ प्रस्ताव स्तुति हिंकार स्वर सामके आलाप इन्द्राग्नीसूक्त, पवमानसूक्त, महानाम्नी, महाव्रत आदि सब अंग राजसूय वाजपेय अग्निष्टोम अध्वर अर्काश्वमेध आनन्ददायक जीवनमय दर्भ अग्न्याधान दीक्षा काम छन्दोंके साथ यज्ञ सब प्रकारके सत्र अग्निहोत्र श्रद्धा वषट्कार व्रत तप दक्षिणा इष्ट, पूर्त एकरात्र, द्विरात्र सद्यःक्री: प्रक्री:, उक्थ्य आदिके सूक्ष्म विधि ये सब उच्छिष्टमें हैं ॥ ५—१० ॥ चतूरात्र पंचरात्र षड्रात्र षोडशी सप्तरात्र, ये सब यज्ञ उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए और अमृतमें रहे हैं ॥ ११ ॥ प्रतीहार निधन विश्वजित्,

माहाव्रिरात्र ह्मसाध, सुमना मभय क्षेम स्वधा शक्ति, अमृत और सामर्थ्य सब प्रकारके काम सत्येपक साथ पूर्ण होकर उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ १२ ११ ॥ नौ भूमियां समुद्र आकाश ये सब उच्छिष्टमें हैं सूर्य उच्छिष्टमें प्रकाशता है और अहोरात्र उसमें है। उपहव्य विषूवान् जो यज्ञ गुहामें रहते हैं जो जगत्का पिता विश्वका धारण करता है वही यज्ञोंका धारण करता है। विश्वके जगत्का पिता प्राणका पोता सबका पितामह ये सब विश्वके पालन करनेवालेके साथ विजयी होकर उच्छिष्ट के साथ रहते हैं ॥ १४–१६ ॥ ऋत, सत्य तप राष्ट्र श्रम धर्म कर्म भूत, भविष्य वीर्य लक्ष्मी बल समृद्धि शक्ति व्यवसाय धनयुक्त राष्ट्र प्रा भूमि संवत्सर, वाणी हाथ मह दृष्टि चार होता आदि देवता (अग्नि) चातुर्मास्य विविध सब यज्ञ होत्र पशुबन्ध सब इष्टियां अर्धमास मास ऋतु अयन ऋतुओंके साथ बल मेघ गर्जना बड़ा शब्द रेत वायु, पत्थर औषधियां वनस्पतियां, घास अन्न विजलियां वृष्टि, ऋद्धि, प्राप्ति व्याप्ति पूर्ण विस्तार उन्नति शक्ति समृद्धि यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७–२२ ॥ जो प्राणके द्वारा जीवित करता है और जो आंखसे देखता है वह सब तथा द्युलोकके आश्रयसे रहनेवाले सब देव (उच्छिष्टाद् जज्ञिरे) उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २३ ॥ ऋग्वेद सामवेद छन्द पुराण यजुर्वेद प्राण अपान चक्षु श्रोत्र अविनाश विनाश आनन्द हर्ष प्रमोद प्रसन्नता संतोष देव पितर मनुष्य गन्धर्व अप्सराएं तथा द्युलोकके आश्रयसे रहनेवाले देव ये सब उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४–२७ ॥

यह इस सूक्तका अर्थ सरल है। पहिले ये सब दिखनेवाले पदार्थ उच्छिष्टमें हैं उच्छिष्टकेही आधारसे रहते हैं। और पश्चात् ये सब पदार्थ उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए ऐसा भी कहा है। जैसा हमने पहिले कहा कि घड़ा मिट्टीमें रहता है और घड़ा मिट्टीसे उत्पन्न होता है इसी तरह यह संपूर्ण विश्वरूपी घड़ा उच्छिष्टरूपी मिट्टीमें रहता है और यह उसी उच्छिष्टरूपी मिट्टीसे उत्पन्न भी हो जाता है। घड़ा मिट्टीसे बनता है यह सब कोई जानते हैं यह बननेके पश्चात् भी मिट्टीकेही आधारसे रहता है क्योंकि घड़ा मिट्टीकाही होता है। बननेके पूर्व यह मिट्टीमेंही था और नाशके पश्चात् मिट्टीहीमें जा मिलेगा। सोनेका आभूषण सोनेसे बना और सोनेमेंही रहता है। इसी तरह यह विश्व उच्छिष्टसे बना और उच्छिष्टमेंही रहता है। इससे विश्वके रूपमें यह उच्छिष्ट विश्वरूपकी कल्पना आपकी होगी। उच्छिष्ट वैसे ही इस विश्वका रूप धारण किया है जैसे सोना विविध आभूषणोंके रूप धारण करता है अथवा मिट्टी विविध घड़ोंका रूप धारण करती है।

उच्छिष्टका अर्थ यहां अवशिष्ट (शेष) रूपांतरोंमें (भिन्न) अवशिष्ट रहा हुआ परमात्मा है।

> पादोऽस्य विश्वा भूतानि
> त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋग्वेद १० । ९० । ३)

इस परमात्माके एक अंशसे सब भूत बने हैं और शेष सब परमात्मा अपने दिव्य भावमें रहता है। अर्थात् यह विश्व उसके अल्प अंशसे बना है इसलिए सब उसका अल्प है और वह स्वयं महान् है। यह ऊर्ध्व भावमें अवशिष्ट रहा परमात्माही यहां उच्छिष्ट नामसे कहा है। परमात्माका दूसरा नाम यज्ञ है और यज्ञका अवशेष भी उच्छिष्ट कहलाता है। इस परमात्मरूप महान् यज्ञका जो अवशिष्ट भाग है उससे यह सब विश्व बना है ऐसा भी कथन यहां किया जा सकता है। यज्ञ जैसा पवित्र है वैसा उच्छिष्टरूप यज्ञावशेष भी एक पवित्र भाग है इस तरह इस विश्वका मूल कारण अत्यंत पवित्र है। इस तरह यह सब विश्व इस यज्ञरूप परमात्मासे बना है और परमात्माके आधारसे स्थित है और विनाश होनेके पश्चात् परमात्मामेंही मिल जायगा। क्योंकि बननेके पूर्व भी यह उसी परमात्माके रूपमें था। यह आशय यहां स्पष्ट हो चुका है। अब इस सूक्तके मंत्रोंके साथ गीताके वचनोंकी तुलना करनी है—

> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
> मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ (गी. ९।१६)
> यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ॥ (गी. १०।२५)

मैं (ईश्वर) क्रतु यज्ञ स्वधा औषधि मंत्र घृत अग्नि और हवन हूं, मैंही यज्ञोंमें जपयज्ञ हूं। यही भाव इस सूक्तमें निम्नलिखित मंत्रोंमें कही है—

उच्छिष्टे इन्द्रश्चाग्निश्च। (मं० १)

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ (५)

उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गानि। (६)

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ (७)

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः। (९)

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ (११)

चातुर्होत्रा आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ (१९)

तथा। (२३)

घोषवतो वीरुत्स्तनुनाः। उच्छिष्टे श्रिताः। (२१)

इस तरह उच्छिष्ट सूक्तमें उच्छिष्टमें यज्ञ मंत्र औषधि आदि रहती हैं ऐसा कहा है। जो उच्छिष्टमें है वही (मयि) मुझमें आत्मामें ईश्वरमें है, यह इन मंत्रोंका स्पष्ट आशय है। जो मंत्रोंमें विस्तारके साथ कहा गया है वही भगवद्गीतामें एक श्लोकमें संक्षेपसे कहा है। उच्छिष्ट सूक्तमें यज्ञोंके पचीस नाम गिनाये हैं परन्तु गीतामें 'क्रतु और यज्ञ' ये दोही नाम हैं। गीतामें 'मंत्र' इतनाही कहा है परन्तु उच्छिष्ट सूक्तमें चार वेद साम तथा अन्य मंत्रोंके नाम हैं। स्वधा औषधि आदि दोनों स्थानोंमें समान है। इस प्रकार यह सब परमेश्वरके व्यापक विश्वरूपमें समाया है, यही आशय दोनों स्थानोंमें स्पष्ट है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। (गी० ११।३९)

अग्नि (मं० १) चन्द्रमा वायु (मं० २) मृत्यु प्रजापति (मं० ३) इस रीतिसे जो परमात्माका विश्वरूप गीतामें है वही इन्हीं शब्दोंसे उच्छिष्ट सूक्तमें कहा है। उच्छिष्टमें ये हैं और ये सब उच्छिष्टसे हुए हैं और उच्छिष्टके आश्रयसे रहते हैं। तथा—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
(गी० ९।१९)

तप (मं० ९) वर्ष (मं० २१) मृत्युः सत्, असत् (मं० ३) इस तरह मंत्रोक्त पदार्थही भगवद्गीतामें लिये हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
(गी० १०)

सत्य यश तपः (मं० १०) समृद्धिः (मं० १८), तृप्तिः (मं० २२) आनन्दः मोद (मं० २६) क्षितिः अक्षिति (मं० २५) इन मंत्रोंमें जो कहा है कि ये सब भाव (उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वे) उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं वही गीतामें ये भाव (भवन्ति भावा भूतानां मत्तः) मुझ आत्मासे हुए हैं ऐसा कहा है। दोनों स्थानोंकी आशयरचना बिलकुल समान है और यहां शंका करनेके लिये कोई स्थान नहीं है।

इस तरह उच्छिष्ट सूक्तके विधानोंके साथ गीताके कथनका साम्य है। यहां जितना बताया है उससे अधिक भागका भी साम्य है परन्तु सम्पूर्ण रूपसे बतानेकी आवश्यकता नहीं है। इतनेहीसे पाठक स्वयं तुलना कर जान सकते हैं। भगवद्गीतामें—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गी० ७।७)

मुझ ईश्वरमें यह सब पिरोया है जैसे सूतमें मणि रहते हैं। इसी तरह 'उच्छिष्टमें सब कुछ है' ऐसा इस सूक्तमें कहा है। तथा—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
(गी० १०।८)

मैं सबकी उत्पत्ति हूं मुझसे सब होता है। ऐसा जो गीतामें कहा है उसके साथ उच्छिष्टसे सब उत्पन्न होता है ऐसे मंत्रोंकी तुलना करनी चाहिये।

गीता	उच्छिष्टसूक्त
मयि सर्वमिदं प्रोतं।	उच्छिष्टे सर्वं समाहितं
मत्तः सर्वं प्रवर्तते।	उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे।

इस तरह गीताका कथन और वेदका कथन बिलकुल एकसा है। एकही कल्पना जो वेदमंत्रोंमें है, वही

भगवद्गीतामें अनूदित है। इस तरहका साम्य देखनेसे मन्त्रोंके अर्थ और गीताके वचनोंके अर्थ निश्चित हो सकते हैं। इस तुलनाका यह लाभ है। अब शब्दब्रह्मका विश्वरूप देखिये—

शब्दब्रह्मका विश्वरूप

जैसे साक्षात् परब्रह्म है और उसका विश्वरूप स्थिरचर आदि सम्पूर्ण विश्व है वैसेही शब्दब्रह्म है और उसका विश्वरूप संपूर्ण शब्दसृष्टि है। ज्येष्ठ ब्रह्मका विश्वरूप समझनेके लिये शब्दब्रह्मका शब्दसृष्टिरूपी विश्वरूप पहिले समझ लेना चाहिये। इसके समझनेसे परब्रह्मके विश्वरूपका ज्ञान होता है।

ज्येष्ठ ब्रह्म	शब्द ब्रह्म
विश्वरूप	विश्वरूप
संपूर्ण वस्तुसृष्टि	संपूर्ण शब्दसृष्टि

इस तरह ज्येष्ठ ब्रह्मके विश्वरूपके समान शब्दब्रह्मके विश्वरूपकी समानता है। अतः शब्दब्रह्मके विश्वरूपकी अर्थात् सम्पूर्ण शब्दसृष्टिकी योग्य कल्पना हो गई तो ज्येष्ठ ब्रह्मकी विश्वरूपी सम्पूर्ण वस्तुसृष्टिकी कल्पना हो सकती है। उपनिषद्में कहा है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेका
न्निहितार्थो दधाति। विचैति चान्ते विश्व
मादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
(श्वे० उ० ४।१)

(एकः अवर्णः) एक वर्णहीन (बहुधा शक्तियोगात्) अपनी शक्तिसे (अनेकान् वर्णान्) अनेक वर्णोंको (निहितार्थः दधाति) निश्चित हेतुसे धारण करता है। (सः देवः) वही एक वही ईश्वर (विश्वं विचैति) संपूर्ण विश्वको इकट्ठा करता है। वह देव हमें शुद्ध बुद्धिसे युक्त करे।

इसमें प्रथम भागमें कहा है कि एक अवर्ण अनेक वर्णोंको उत्पन्न करता है अर्थात् एक ध्वनि किंवा एक अस्फुट शब्द अनेक स्फुट शब्दोंका निर्माण करता है। यही शब्द ब्रह्मका विश्वरूप है।

अस्फुट ध्वनि वर्णहीन होती है परंतु वह निश्चित अर्थवाले शब्दोंमें परिणत होनेपर निश्चित अर्थ प्रकट करनेमें समर्थ हो जाती है। यह शब्दकी उत्पत्तिका क्रम है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते
विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति
मारुतम् ॥६॥ मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं
जनयते स्वरम् ॥७॥ सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो
वक्त्रमापद्य मारुतः ॥८॥ वर्णान् जनयते तेषां
विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥९॥ (पाणिनीय शिक्षा)

आत्मा बुद्धिके साथ संयुक्त होकर कुछ मनकी बात प्रकट करनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है। वह मन शरीर अग्निपर आघात करता है वह अग्नि वायुको प्रेरणा करता है वह वायु छातीमें संचार करने लगता है और मन्द्र स्वर उत्पन्न करता है। वह मुखमें विभिन्न स्थानोंमें जाकर विविध वर्णोंको उत्पन्न करता है।

इस तरह एक स्वरके अनेक स्वर हो जाते हैं एक वर्णके अनेक वर्ण होते हैं। एक अवर्णसे अनेक सुवर्ण शब्द प्रकट होते हैं। यहां शब्दकी अवस्थाएं कितनी हैं सो देखिये—

१ सबसे प्रथम आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर कुछ भाव व्यक्त करना चाहता है यह पहली अवस्था है। यहां शब्द आत्मा बुद्धिरूपही है।

२ वह आत्मा बोलनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है यहां मनको कुछ संदेश मिलता है। यह दूसरी अवस्था है। यहां शब्दने मनका रूप धारण किया है।

३ मन आत्माका संदेश प्रकट करनेकी इच्छासे शरीर अग्निको ताडन करके वायुको प्रेरित करता है। इस तीसरी अवस्थामें शब्दने वायुका रूप धारण किया है। यह वायु हृदयसे संचारित होनेके समय मन्द्र शब्द करता है।

यहांतक (एकः अवर्णः) वर्णहीन रूप इस शब्दका होता है। यही अवर्ण शब्द अनेक वर्णोंसे युक्त शब्दकी उत्पत्ति करेगा। उसका क्रम देखिये—

४ यही आत्माका संदेश प्रकट करनेके लिये जो मन्द्र शब्द छातीमें हुआ, वह कण्ठ तालु, मूर्धा दन्त और ओष्ठ इन पांच स्थानोंमें आकर क स्थानादि वर्णोंमें परिणत होता है।

यही (एकः वर्णः अनेकान् वर्णान् दधाति) एक अ वर्ण अनेक वर्णोंको धारण करता है ऐसा कहा है। यहां यह शब्द प्रकट हो जाता है और अपने अन्दरसे आये हुए आत्माके आशयको प्रकट कर देता है। अस्फुट शब्द स्फुट शब्दमें परिणत हो जाता है। इस शब्दका विकास और विकास इस तरह होता है—

१ आत्मा-बुद्धिकी विवक्षा।

|

२ मनमें आत्माका प्रवेश

|

३ अग्निद्वारा प्रेरित वायुमें स्थिति

|

४ हृदयमें वायुसे मन्द्र शब्दकी उत्पत्ति

|

५ मुखमें विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अक्षरोंसे प्रकट

| शब्दकी उत्पत्ति

६ इन अक्षरोंसे शब्द और शब्दोंसे संपूर्ण भाषाओंका विस्तार।

अस्पष्ट शब्दसे स्पष्ट शब्द पूर्ण होते हैं और संपूर्ण भाषाओंका विस्तार इस तरह बना है। आत्मासे] वायु तक जो शब्द है वह अव्यक्त स्थितिमें है। कण्ठसे प्रकट होनेपर उसे व्यक्त स्थिति प्राप्त होती है। व्यक्त और अव्यक्त एकही शब्द है। अनन्त शब्दसृष्टि एकही अव्यक्त शब्दका प्रकट रूप है। यह जो जानते हैं वे शब्दब्रह्मका विश्वरूप जान सकते हैं। इसका और विवरण देखिये—

उरःस्थानमें जब वायु संचारित होता है तब कुछ अस्पष्ट शब्द होता है। वह मुखमें प्रवेश करता है तब सबसे प्रथम कण्ठमें अव्यक्त वर्ण बनते हैं। पश्चात् उसी अस्पष्ट शब्दके तालु मूर्धा दन्त ओष्ठ्य वर्ण बन जाते हैं जिनका आगे बहुत भाषाविस्तार होता है।

१ कण्ठमें सबसे प्रथम अ कार उत्पन्न होता है।

२ यही अ कार तालुस्थानमें इ कारका रूप धारण करता है।

३ यही अ कार मूर्धा स्थानमें ऋ कारका रूप लेता है।

४ यही अ कार दन्त स्थानमें लृ ' कारका रूप स्वीकारता है।

५ और यही अ ' कार ओष्ठस्थानमें ' उ बनता है।

इस तरह एकही अकार स्थानभेदसे अ इ ऋ लृ उ इन पांच वर्णोंमें परिणत होता है। अ ' कारका विश्वरूप ये पांच स्वर और उनके ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत उदात्त-अनुदात्त-स्वरित तथा सानुनासिक-निरनुनासिक आदि भेदोंसे अनन्त रूपोंमें प्रकट होता है।

मूल स्वर ' अ '

अकारसे बने पांच स्वर- अ इ ऋ लृ उ

इनसे बने पांच व्यंजन- ह य र ल व

येही वर्ण हकारके बने

श्वासके साथ- घ झ ढ ध भ

हकारका दबाव न्यून करनेसे- ग ज ड द ब

दबाव बहुत कम करनेसे- क च ट त प

हकारका कुछ दबाव डालनेसे- ख छ ठ थ फ

नाकमें उच्चारण करनेसे- ङ ञ ण न म

इनमें स्वर मिलनेसे प्रत्येक व्यंजनके कमसे कम बारह अक्षर बनते हैं। इस तरह सहस्रों अक्षर एक अकारके रूपान्तरित बन जाते हैं एकही अकार इतने सहस्रों अक्षरोंके रूप धारण कर लेता है।

इतने अक्षर बननेके पश्चात् एक या अनेक अक्षर मिलकर शब्द बनते हैं और अनेक शब्दोंकी भाषा बन जाती है। भाषामें नये नये शब्द भी बनते रहते हैं। एक अ कारका यह शब्दविस्तार देखनेसे अ कारके विश्वरूपकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है। जगत्में जितनी भाषायें हैं उनके सब शब्द इसी तरह एकही अकारके रूप हैं अतः गीतामें कहा है—

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गी १०।३३)

सब अक्षरोंका मैं अकार हूं। अर्थात् जैसा एकही अकार सहस्र अक्षरोंमें परिणत होकर भाषारूप बन गया उसी प्रकार एकही विश्वात्मा विविध वस्तुओंके रूप बनकर विश्वरूपी बन गया है।

वस्तुवाचियोंके शब्द भी इसी अकारकेही रूप हैं। जितने भी शब्द हैं वे सब इसी अकारके रूप हैं। अर्थात्

इस प्रकारका विश्वरूप माना है। इस भाषामें कई शब्द पुल्लिंग कई स्त्रीलिंग कई नपुंसकलिंग होते हैं। इसी तरह इस विश्वरूपमें कई पुरुष कई स्त्रियां और कई नपुंसक होते हैं। इस प्रकारका साम्य देखने योग्य है।

इतने विस्तृत विवरणसे पाठक अध्यात्मका विश्वरूप जान गये होंगे। जो नहीं समझे होंगे उनको विचार करके इसे जान लेना उचित है। जब अध्यात्म विश्वरूप समझमें आ जायगा तब दूसरे विश्वरूप भी इसी तरह समझमें आ जायेंगे।

भाप पानी और बर्फ (ओले) ये तीन पदार्थ हैं परन्तु ये तीनों पदार्थ एकही जलके रूप हैं। बर्फकी अनंत मूर्तियां बनायी जा सकती हैं वे सब जलके विश्वरूप हैं। भाप पानी और बर्फके गुणधर्म भी विभिन्न हैं एकही जलके इतने विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ हो सकते हैं। वस्तु एक होनेपर भी उससे विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ होते हैं और उनसे विभिन्न प्रयोजन भी सिद्ध हो सकते हैं। अर्थात् विभिन्न अनुभव होनेसे मूल वस्तुओंका भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

एकही सोनेके आभूषण अनंत होते हैं कई मस्तकमें कई छातीपर कई हाथमें और कई कमरमें धारण किये जाते हैं। मस्तकमें पहननेका आभूषण कमरमें नहीं पहना जा सकता इतना भेद होनेपर भी उन सबकी स्वर्णता दूर नहीं हो सकती। इसी तरह शब्दोंकी विविधता होनेपर भी ये सब शब्द एकही अक्षरके विविध रूप हैं यह भी पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धही है।

यहां कोई प्रश्न पूछ सकता है कि अक्षरके रूप बदलनेके लिये मुखके कण्ठादि स्थान कारण होते हैं सोनेके आभूषण बननेके लिये सुनार आदि कारण हो सकते हैं। इस तरह अकेले ब्रह्मका विश्वरूप होनेमें कोई दूसरा कारण होनेकी संभावना नहीं है। तो फिर अकेला ब्रह्म विश्वरूप कैसे हुआ? यह शंका युक्तियुक्त है। इसका उत्तर मांडूक्य उपनिषद्में चतुष्पाद आत्माके वर्णनसे दिया है—

१ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः।
२ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः।
३ सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।
४ अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा।

(माण्डूक्य ३-५, ७)

जाग्रति स्वप्न सुषुप्ति और चतुर्थी तुर्यावस्था ये चार अवस्थाएं आत्माकीही हैं। अर्थात् जाग्रतिमें दीखनेवाला अनन्त संसार स्वप्नमें दीखनेवाला भास सुषुप्तिमें होनेवाला आभास ये सब आत्माकेही रूप हैं। अर्थात् यहां दूसरी कोई वस्तु नहीं है एकही एक वस्तु है, जिसके ये विविध रूप हैं। उपनिषद् एकही इस वस्तुका वर्णन करते हैं—

१ [सर्वं ह्येतद् ब्रह्म।] अयमात्मा ब्रह्म।
[सोऽयमात्मा चतुष्पाद्।]
२ अहं ब्रह्मास्मि।
३ तत्त्वमसि।
४ सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

ये सब महावाक्य हैं और ये सब वाक्य उपनिषदोंमें आये हैं। एक वस्तुकी सत्ता सर्वत्र है यह बात इनसे सिद्ध होती है।

मिट्टीके अनंत पात्र तांबे पीतलके अनन्त बर्तन चांदी सोनेके अनेक आभूषण कपासके अनन्त वस्त्र कपासके अनंत नाम इसी तरह एक ब्रह्मका यह सब विश्वरूप है। सूक्ष्म विचार करते करते अनुभव देखते देखते, वेदादि ग्रंथोंके वचनोंका मनन करते करते यह बात समझमें आ सकती है कि ब्रह्मका अथवा आत्माका यह सब विश्वरूप कैसा है।

वैदिक-धर्मका तत्त्व यथावत् जाननेके लिये आत्माका विश्वरूप जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसके जाननेके विना वैदिक धर्मका कोई सिद्धान्त यथावत् जाना असंभव है। इसलिये गीताका विश्वरूपदर्शन वैदिक धर्मका तत्त्वज्ञान यथावत् समझनेकी कुंजी है।

अखण्ड विश्वरूप

यह विश्वरूप अखण्ड आत्माका अखण्ड रूप है इस विश्वरूपमें मेरा रूप सम्मिलित है अतः मैं भी विश्वरूपमें सम्मिलित हुआ हूं मैं विश्वरूपसे पृथक् नहीं हूं। मेरे समेत सबके रूप इस अखण्ड विश्वरूपमें एकरूप हो चुके हैं। इस विश्वरूपमें मैं और मुझसे भिन्न दूसरी सारी

वस्तुएं नहीं है। सब मिलकर एकही अखण्ड अद्वैत अनन्त विश्वरूप है।

वैदिक धर्मके सिद्धान्त।

इतना माननेपर वैदिक धर्मके सिद्धान्त कैसे स्पष्ट होते हैं यह बात अब देखिये—

प्रश्न— अहिंसा का पालन क्यों करना चाहिये?

उत्तर—जहां एकही अखण्ड वस्तु होनेसे किसीकी हिंसा करनेका प्रयत्न करनेसे वह हिंसा अपनीही हिंसा होती है। अपना घात करना सर्वथासे अयोग्य है, अतः अहिंसाका पालन करना मनुष्यका धर्म है। हिंसावृत्तिसे दूसरेका नाश होता है ऐसा दिखाई देता है, परन्तु अन्तमें अपनाही नाश होता है क्योंकि वहां दूसरा कोई है ही नहीं। एकही आत्मा है वह अपनी हिंसा करेगा तो आत्मघातकी होगा। अज्ञानी मनुष्य अज्ञानके कारण हिंसा करते हैं और पछताते हैं। अतः अहिंसा धर्म है।

प्रश्न— सत्य का पालन क्यों करना चाहिये?

उत्तर— मनुष्य इसीलिये असत्य बोलता है कि वह मानता है कि मुझसे भिन्न दूसरा मनुष्य है वह मुझसे भिन्न है मैं उसके साथ असत्य-कपट-छल आदि करूंगा तो उससे मुझे लाभ होगा। इस लाभेच्छासे वह असत्य बोलता है। यदि उसे निश्चित हो जाय कि यहां एकही आत्मा है यहां दूसरा कोई भिन्न पदार्थ नहीं है दूसरेके साथ असत्य व्यवहार करना अपने आपको ही ठगना है तो वह कदापि असत्य व्यवहार करेगा ही नहीं। क्योंकि वह समझेगा कि जो असत्य व्यवहार मैं दूसरेके साथ करूंगा वह मेरे साथही होगा। इस तरह सत्य—पालन मनुष्यका धर्म है।

प्रश्न— अस्तेय व्रतका पालन क्यों करना चाहिये?

उत्तर— दूसरेकेही वस्तुकी चोरी होती है। जब सब विश्व एकही आत्माका रूप बनेगा तब कौन किसकी चोरी करेगा? अपनीही वस्तुकी चोरी तो कोई कर नहीं सकता। इसी उद्देश्यसे यजुर्वेदमें कहा है

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥
(वा० यजु० ४०, ईश० ७)

जब सब भूत आत्माही हैं ऐसा ज्ञान हो जानेपर उस अवस्थामें (एकत्व अनुभवका) एकत्वका दर्शन करनेवाले उस ज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर हो सकता है?" जैसे शोक मोह नहीं होते वैसेही उसको स्तेय करनेका भाव भी नहीं होता। क्योंकि चोरी करना मोहकाही परिणाम है। सब एकही अखण्ड वस्तु है ऐसा ज्ञान होतेही हिंसा, असत्य, चोरी आदि करनेके भाव स्वयं दूर जाते हैं।

प्रश्न— 'ब्रह्मचर्य' का पालन क्यों करना चाहिये?

उत्तर—संपूर्ण विश्व ब्रह्मका रूप हो चुकनेपर सभी चाल चलन ब्रह्मचर्यरूपही होता है। तथापि व्यवहार अवस्थामें भी सर्वत्र एक अखण्ड वस्तुही है ऐसा ज्ञान होनेसे सभी ब्रह्मरूप होता है। इसलिये सच्चा ब्रह्मचर्य विश्वरूपके ज्ञानके पश्चात्ही होता है, तबतक उस अधिकारको प्राप्त करनेके लिये वीर्यरक्षणरूप ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यकही है। वस्तुतः सभी इन्द्रियोंका संयमही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य—भ्रष्टताका नाम व्यभिचार है। यह व्यभिचार परमेश्वरको अखण्ड एकरस रूप जाननेसे संभवही नहीं है। क्योंकि जिसके साथ व्यभिचार किया जायगा वह भी ईश्वरका रूप है ऐसा जाननेसे उसका व्यभिचारी भावही समूल नष्ट हो जायगा और उसका अखण्ड ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा, इसमें क्या संदेह है?

प्रश्न— अपरिग्रह का पालन क्यों करना चाहिये?

उत्तर— परिग्रहका अर्थ भोगसाधनोंका संग्रह है। भोग साधनोंका अपने पास अत्यधिक संग्रह करनेका नाम परिग्रह है। इस परिग्रहके भाव बढ जानेके कारणही जनसमूहमें दुःखोंकी वृद्धि होती है। क्योंकि जो मनुष्य अपने पास भोगसाधन बढाता है वह दूसरोंके उतने भोग छीनता है इसलिये परिग्रहवृत्ति सब दुःखोंका कारण है। अतः मानवसमाजको सुख पहुंचानेके लिये अपरिग्रहवृत्ति धारण करनी चाहिये। मुख्य बात यह है कि सभी विश्व एकही अखण्ड आत्मा हो तो दूसरोंके भोग छीनना और अपने पास भोगसाधन बढाना इसका आशय अपने भोग छीनना और अपनाही दुःख बढाना हो जाता है। इसलिये अपरिग्रहका पालन मानव धर्म है।

इसी तरह अन्यान्य धर्मनियमोंका पालन करना क्यों आवश्यक है इस बातका निश्चय विश्वरूपकी एक अखण्ड

आत्मा की कसौटीसे हो सकता है। पाठक इसका निर्णय करना सीखें। यह धर्म है और यह अधर्म है इसका निर्णय उपर्युक्त रीतिसे हो सकता है।

व्यक्ति-धर्मका निश्चय।

विश्वरूपका तत्त्व व्यक्तिमें भी देखने योग्य है। इससे व्यक्तिधर्मका निश्चय हो सकता है। साधक अपनेही शरीरमें देखें और विचार करें इस शरीरमें चम नाखून हड्डी मांस मज्जा रुधिर आदि विभिन्न पदार्थ हैं। ये पदार्थ भिन्न होते हुए भी शरीरकी दृष्टिसे भिन्न नहीं हैं। आंख नाक मुख हाथ पांव आदि अवयव विभिन्न हैं तथापि इनमें भेद होते हुए भी ये सब एकहीके अवयव हैं। फुंसी फोडे भी दूर करनेयोग्य विकार हैं। फोडा भी अपने शरीरकाही भाग है, जहां फोडा होता है वह भाग अपना होते हुए भी काटा जाता है नाखून अपना होता हुआ भी काटा जाता है बालेही बाल कटे जाते हैं। किसी जगह त्वचा बढ जाती है वह भी काटने योग्य समझी जाती है। वह अपना है इसलिये अपने शरीरमें रखा नहीं जाता। दांत (द्विज) अपना है परन्तु वह हिलने लगा अपने स्थानसे गिरने लगा तो उसको शीघ्र हटाया जाता है।

इस तरह अपने देहमें-अध्यात्ममें-जो घटना चल रही है वह देखनेसे अवयव अपना है इसलिये अपने पासही रखना चाहिये ऐसी बात नहीं। जो अवयव अपना होता हुआ भी सम्पूर्ण शरीरको कष्ट देने लगता है उसे काटकर दूर फेंका जाता है। यहां इस तरह काटकर दूर करना धर्म होता है।

इसी तरह योग्य अन्नका स्वीकार करके शरीरका पोषण करना धर्म है। इसी तरह मलमूत्रको त्यागना भी धर्म है और फोडे फुंसीको काटना भी धर्म है।

इस रीतिसे यह शरीर एकही जीवात्माका रूप है। अर्थात् एक होनेपर भी इसमें हाथों पावों आदि अंग भेद हैं। अनेक अंगों अवयवों इंद्रियों आदिके विभेद अनन्त हैं। ये भेद होते हुए भी मैं की सत्ता इसमें व्यापक रहती है। इसमें अनावश्यक भाग काटा और फेंका जाता है आवश्यक भाग पुष्ट किया और बढाया जाता है। इस ढंगसे विचार करनेपर व्यक्तिके अन्दरमें जो धर्म है उसका ज्ञान हो सकता है।

धर्म जाननेके लिये मनुष्यको अपने देहमें-शरीरमें-अध्यात्ममें-जो बातें हो रही हैं उनका सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करना चाहिये। अपने क्षेत्रका अर्थात् शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धिका विचार करनेका नाम अध्यात्मविचार है। यही अध्यात्मविचार उस धर्मका प्रकाश करनेवाला है।

राष्ट्रधर्मका निश्चय

पूर्वोक्त व्यक्तिके क्षेत्रका अर्थात् अध्यात्मक्षेत्रका मनन करनेसे जैसा वैयक्तिक धर्मका ज्ञान होता है उसी तरह राष्ट्रधर्मका भी ज्ञान हो सकता है। क्योंकि जैसे व्यक्तिमें सिर बाहु उदर और पांव ये चार अवयव हैं वैसेही राष्ट्रके देहमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार राष्ट्रदेहके अवयव हैं। इनके कार्य समानही हैं—

व्यक्तिमें	राष्ट्रमें	कर्म
सिर	ब्राह्मण	ज्ञान
बाहु	क्षत्रिय	संरक्षण
उदर	वैश्य	पोषण
पांव	शूद्र	गमन (प्रगति)

जैसे व्यक्तिका देह पुरुष है वैसेही राष्ट्रका देह भी राष्ट्रपुरुष है। इसी पुरुषका वर्णन वेदमें ऐसा किया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा॥ (ऋग्वेद १०।९०।१)

सहस्रों सिर सहस्रों आंख और सहस्रों पांववाला यह (राष्ट्रसमाजरूपी) पुरुष है जो पृथ्वीके चारों ओर फैला है। इसीके मुख ब्राह्मण बाहु क्षत्रिय उदर अथवा जंघा वैश्य और पांव शूद्र हैं।

जैसे शरीरमें अंग अवयव इंद्रिय हैं वैसेही इस समाज पुरुषमें भी हैं। परस्पर-संबन्ध भी समानही है। अर्थात् जैसा देहमें हाथ पांव सिर और पेटका परस्पर सहाय्य होनेसे शरीरका आरोग्य रहता है उसी तरह राष्ट्रमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंकी संघटना होनेसे राष्ट्रका बल बढता है और विघटना होनेसे बल घटता है।

राष्ट्रके देहमें फोडे फुंसियां आदि होती हैं। जैसे कौरवरूपी फोडे उस समयके राष्ट्रके देहमें हुए थे उनको काटकर दूर फेंकनेका कार्य भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके द्वारा करवाना पडा।

सम्पूर्ण मानवसमाज परमेश्वरका विश्वरूप है अथवा-म्बाईनका रूप है और वह सबका उपास्य भी है इसमें सन्देहही नहीं है। तथापि कौरव जैसे दुष्ट लोग समाजको कष्ट देने लगे और अधर्मका विस्तार करने लगे तो उनको समाजरूपी राष्ट्रपुरुषके देहके फोडे फुंसियां मानकर काटनाही धर्म होता है। अर्जुनको विश्वरूप बताकर उस विश्वरूपमें कौरव पाण्डवोंको संमिलित हुए बताकर अर्थात् कौरवपाण्डवोंको विश्वरूपका एक भाग बताकर किंवा कौरवपाण्डवोंको परमेश्वरके रूपका एक अंश बताकर पश्चात् कौरवोंको युद्धमें मारा है। कौरव विराट् पुरुषके देहके अवयवही थे इसमें कोई संदेहही नहीं है तथापि पाण्डव रक्षा करने योग्य और कौरव मारकर दूर करने योग्य समझे गये।

संपूर्ण मानवसमाजको परमेश्वरका अखण्ड विश्वरूप मान-नेके पश्चात् भी एक विभागका दूसरे विभागसे युद्ध होना संभवनीय है यही धर्म यहां बताया है। कौरवपाण्डवोंको परमेश्वरके विश्वरूपमें संमिलित हुए समझनेपर भी युद्ध रुक नहीं सका। इतनाही नहीं अपितु युद्ध करना अर्जुनका और श्रीकृष्णका धार्मिक कर्तव्य हुआ यह बात यहां देखनी चाहिये।

अन्न एकही विश्वरूप होनेपर भी मलका त्याग और पौष्टिक अन्नका स्वीकार किया जाता है। पौष्टिक अन्नका त्याग और मलको स्वीकार नहीं किया जाता। पाठकोंको यह बात ठीक ठीक समझ लेनी चाहिये। सभी ईश्वरका रूप है तथापि घास गायको और दूध मनुष्यको देना होता है। घास और दूधके ब्रह्मरूप होनेमें भेद नहीं है तथापि घास मनुष्यको नहीं दी जाती। यहां योग्यताका विचार मुख्य है।

सब मानव ब्रह्मरूप होनेपर भी चोरको दण्ड देना और सज्जनको पारितोषिक देना धर्म है। इसके विपरीत अधर्म होता है।

चोरको दण्ड देते समय भी उसे ब्रह्मरूप मानकर यथायोग्य दण्ड देना चाहिये न्यून या अधिक दण्ड देना योग्य नहीं। ईश्वरही प्रत्यक्ष (स्तेनानां पतये नमः। यजुर्वेद) अपने सामने चोरका रूप धारण करके मेरी परीक्षा करनेके लिए आया है मेरे दण्ड देनेकी निष्पक्षपातताका निर्णय यहां होगा, एसा विचार करके योग्य दण्ड देना उचित है। इस रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको स्पष्ट होगा कि परमेश्वरका यह सब विश्वरूप है एसा माननेपर मनुष्यका निर्दोष व्यवहार हो सकता है पक्षपात आदि दोष व्यवहारमें होंगेही नहीं, अथवा पूर्व समयसे दूर होंगे। इत्यादि अनेक लाभ विश्वरूप परमात्माको देखनेसे हो सकते हैं।

राज्यके सब कर्मचारी प्रजाजनोंको परमेश्वरका सगुण रूप मानेंगे तो कितना प्रेमका राज्य होगा! सब प्रजाजन भी राज्यके कर्मचारियोंको परमेश्वरकाही रूप मानेंगे तो कितना अच्छा होगा! परन्तु आजकल राजपुरुष चाहते हैं कि हम तो प्रजाके अन्तःकरणमें परमेश्वरकी मूर्तियां बनें, परन्तु हमारे लिये प्रजा उपभोग्य बने इस कारण सर्वत्र असंतोष बढ रहा है। शांति और समाधान तो तब होगा कि जब राजपुरुष और प्रजाजन सब मिलकर अपने आपको परमेश्वरके विश्वरूपमें संमिलित देखें और परस्पर अनन्य यहां कोई दूसरा नहीं एसा भाव धारण करके अपना व्यवहार एक रूपसे यथायोग्य करें और सब अपने आपको परमेश्वरके अर्पण समझने लग जांय।

परमेश्वरका विश्वरूप देखनेके पश्चात्ही सबकी अखण्ड एकता है यह ज्ञान होता है और सबकी अखण्ड एकताही मानवधर्मकी पक्की नींव है। जो मानवधर्म इसपर अधिष्ठित होगा वही सत्यधर्म है जो इसके विरुद्ध होगा वही अधर्म है इसीसे धर्माधर्मका निर्णय यथार्थ रीतिसे हो सकता है।

अध्यापकगण विद्यार्थियोंको पढाते हैं। जो वेतन लेकर पढाते हैं वे सच्चे अध्यापक हो नहीं सकते क्योंकि उनका उपास्य वेतन होता है। जब अध्यापकगण मानेंगे और समझेंगे कि मेरे सामने जो विद्यार्थी उपस्थित हैं वे प्रत्यक्ष परमेश्वरके रूप हैं प्रत्यक्ष ईश्वर मेरे सन्मुख विद्यार्थीके रूपमें उपस्थित हुआ है मेरी विद्या पढानेकी यहां परीक्षा होनी है परमेश्वरके सन्मुख मैं कैसे कार्य करके किसी तरह पढानेमें त्रुटि कर सकता हूं तो उससे शुद्ध एकरूपी होगा तब निष्कपट भावसे यथायोग्य और सर्वोत्तम रीतिसे विद्या पढाना बन पडे है। इस भावसे जब अध्यापकवर्ग कार्य करेगा तो विद्यार्थीगण सुयोग्य तैयार

होंगे इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। ऐसी पारस्परिक प्रणाली जहां होगी वहांही जगका भारतक्षम होना संभव है।

ईश्वर भावसे सब विश्वको और देखनेसे हर-एक क्षणमें अपना कौनसा कर्तव्य है यह ज्ञात होता है, और किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता।

वैद्य या डाक्टरके सम्मुख एक रोगी आता है। जबतक यह वैद्य उस रोगीको अपनेसे भिन्न दूसरा मैं नहीं अर्थात् मुझसे भिन्न कोई अन्य मानता है अर्थात् उससे अन्य भाव रखता है तभीतक उसकी चिकित्सा करनेमें कुछ कसर करता है, तभीतक उसकी चिकित्सा ठीक ठीक नहीं हो सकती। इस तरह भिन्नभाव अन्यभाव भेदभाव पृथक्भाव माननेसेही हर एक स्थानमें दोष हो जाते हैं। दुःख बढनेका यही कारण है।

जिस समय वह वैद्य या डाक्टर यह समझेगा कि यह रोगी साक्षात् परमेश्वर इस रूपसे मेरे सम्मुख मुझसे सेवा लेनेके लिये उपस्थित हुआ है। यही सर्वात्मा है और यही ईश्वरके विश्वरूपका अंश है जिसका मैं भी अंश हूं। यह रोगी और मैं अर्थात् एकही सत्ताके-एकही विश्वरूपी आत्माके अवयव भाव हैं। मैं उससे भिन्न नहीं और यह मुझसे भिन्न नहीं। उसको रोगमुक्त करना मानो अपने आपको सुखी करना ही है और उसे रुग्णस्थितिमें रखना अपने आपको दुःखी रखना है। रोगीकी सेवा करना अपने आपकी सेवा करना है रोगीकी सेवा करना प्रभुकी सेवा करना है इस तरहके पवित्र विचार जो धारण करेगा वहही सच्चा चिकित्सक होगा और वही (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य। गी १८।४६) अपने स्वभावनियत कर्मसे परमात्माकी पूजा करेगा।

इस तरह प्रत्येक मनुष्य स्वकर्म करता हुआ उसी स्वकर्मसे परमात्माकी पूजा कर सकता है। मनुष्य जो कर्म करता है वही कर्म इस तरह परमात्माकी पूजारूप हो जाता है।

उक्त वैद्यके उदाहरणमें वैद्य रोगी रोग औषधि औषधियोजना ये सब एक अखण्ड आत्माकेही रूप हैं इनमें अनन्यभाव है। आत्माही आत्मापर आत्माद्वारा इस तरह कार्य करता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। गी

इसी तरह ब्रह्मही वैद्य रोगी रोग औषधि और चिकित्सा आदि है। यहां दूसरा कोई नहीं है। इस दूसरेके भावसेही भय होता है अतः कहा है—

द्वितीयाद्वै भयं भवति॥ (बृ उ १।४।२)

दूसरेकी उपस्थितिसेही भयकी उत्पत्ति होती है। मैं उससे भिन्न हूं और यह मुझसे भिन्न है इस द्वैतभावसे ही सब दुःख होते हैं। जगत्के संपूर्ण दुःख इस द्वैतभावके कारण हुए हैं। अतः कहा है-

यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि?
तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यत्?
(बृ उ १।४।२)

जब मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है तो मुझे भय किसका है? अतः मेरा भय दूर हुआ मैं अब किससे डरूँगा जब कि मुझसे भिन्न कोई दूसरा यहां हैही नहीं।

इसीलिये एकात्मभावप्रसार करते हैं। एकही आत्मा है दूसरा कोई पदार्थ नहीं वैद्य भी नहीं है, रोगी भी नहीं है औषध भी नहीं है औषध देनेवाला और लेनेवाला नहीं है कष्ट करने करानेवाला नहीं है। इस तरह एकात्मप्रत्यय होनेपर अनन्यभाव स्थिर हो जाता है और जो कर्म होता है वह कर्म भी ब्रह्मरूपी होता है और यही ब्रह्मभाव सत्य है।

वैद्य या डाक्टर रोगीको औषध देनेके बहाने उसकी बुरा सकता है जबतक उसमें द्वैतभाव हो जब एकात्म प्रत्यय हो जायगा तब कौन किसे लूटेगा और किस हेतुसे लूटेगा? यह है विश्वरूपी परमात्माके दर्शनका महत्त्व।

इस तरह राज्यशासनादि संपूर्ण सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारोंमें पाठक देख सकते हैं कि एकात्मभावसे कितना अपूर्व लाभ होना संभव है और एकात्मप्रत्यय न होनेसे निरर्थक दुःख किस तरह बढ रहे हैं या बिना कारण बढते जा रहे हैं।

राष्ट्रीय और सामाजिक जीवनके हरएक पहलूका विस्तार पूर्वक यहां विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकात्मप्रत्यय होनेपर दैवी जीवन होगा दैवी संपत्तिके नामसे जिसका वर्णन भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें किया है वह एकात्मभावका फल है। द्वैतभावका परिणाम आसुरी

जीवनमें होता है जो द्वैतभाव मानते हैं उनके अन्दर स्वार्थ भोगभावकी वृद्धि होनेके कारण किस तरह आसुरी जीवन पैदा होता है और इससे जगत्में कितने कष्ट उत्पन्न होते हैं इसका भी वर्णन इसी गीताके १६ वें अध्यायमें आ गया है।

दैवी और आसुरी जीवन धर्माधर्म-निर्णय इस तरह होता है। एकात्मभावमयकारी नाम स्वरूपी परमेश्वरका दर्शन है। इससे दैवी जीवनका विकास होता है और इसके अभावसे आसुरी जीवन होता है। पाठकोंको इसका योग्य विचार करना चाहिये।

दैवी गृहस्थी-जीवन

पूर्वोक्त रीतिसे विश्वरूपदर्शन होनेके पश्चात् गृहस्थ-आश्रम भी आदर्श रीतिसे हो सकता है। पतिपत्नी और पुत्रके धर्म यहांही एवं रूपसे दैवी भावयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। यहां पति अपनी धर्मपत्नीको परमात्माका रूप मानता है और धर्मपत्नी भी अपने पतिको उसी तरह परमात्माका रूप समझती है। दोनों तत्वतः अभिन्न अर्थात् अनन्य होकर गृहस्थाश्रम करते हैं। जिनमें तत्वतः भेदभाव नहीं रहा वहां अधर्माचरणका दोष किस तरह उत्पन्न हो सकता है? दोषका कारण भेदभाव है। पति अपनी पत्नीसे छिपकर कुछ कुकर्म करता है और पत्नी भी अपने पतिकी अनुपस्थितिमें कुछ दुराचार करना चाहती है। परन्तु जिन पतिपत्नीमें द्वैतभावही न रहा हो और जिनको एकात्मभाव हो चुका हो, उनमें व्यभिचारादि दोषोंकी संभावना भी कैसे हो सकती है?

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(वा. य. ४०।७)

जिसमें सब भूतमात्र एकही आत्मा हो गए उस एकत्वका अनुभव दर्शन करनेवालेको शोक मोह क्यों कर हो सकता है? अर्थात् ऐसे एकत्वानुभवी गृहस्थोंको न शोक होगा और न मोह होगा क्योंकि स्वभावसेही उनका आचरण निष्कलंक होगा और किसी तरह वहां दोषोंकी संभावना नहीं रहेगी। ऐसी आदर्श गृहस्थी होगी।

जब पुत्र जन्मता है उस समय ये पतिपत्नी समझेंगे कि अपने घरमें परमात्माने अवतार किया है, गर्भ रहनेके समय वे समझेंगे कि-

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानः बहुधा विजायते। (वा. य. ३१।१९-अथर्व. १०।८।१३)
एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे. उ. २।१६)

प्रत्यक्ष प्रजापति जो सर्व दिशाओंमें भरपूर भरा है वही अब गर्भमें आगया है। अपने गर्भमें वही है। प्रसूति होनेपर वह कहेंगे कि (स एव जातः) वह अब उत्पन्न हुआ है। वही अकेला और वही सब जनोंमें है।

इस तरह वे ये भाव अपने पुत्र या पुत्रीके विषयमें धारण करेंगे। जिनको अपने पुत्रमें प्रत्यक्ष परमात्मा दिखाई देता है वे अपना अहोभाग्य समझते हैं, पुत्ररूपसे परमात्मा अपनी सेवा लेनेके लिये आया है, ऐसा समझकर उस बालककी सेवा करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करते हैं। उस सेवामें कमी नहीं रहने देते। इसी तरह पुत्र भी अपनी मातापिताके विषयमें इसी प्रकार ईश्वरभाव धारण करता है और वह बच्चा—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।

इस आज्ञाके अनुसार मातापिताको साक्षात्परमेश्वर मानता है और उनकी वैसीही अनन्य-भावसे सेवा करता है। पश्चात् वह इसी रीतिसे अध्यापकको गुरुदेव मानता हुआ विद्याकपी अमृत प्राशन करके सचमुच अमर बनता है।

माता समझती है मेरा पति साक्षात् परमेश्वर है वही मुझ पत्नीमें गर्भरूप रहकर पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुआ है।

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥
(मनु. ९।८)

इस तरह वह समझती है और परमात्मभावसे पति तथा पुत्रकी सेवा करती है। जिस गृहस्थीके घरमें इस तरह अनन्य-भावसे धर्माचरण होता है वह गृहस्थीका घर सचमुच स्वर्गधाम होता है। वहांही वास्तव सुख रहता है और ऐसीही गृहस्थी निर्माण करनेके लिये धर्मका आदि

भाव हुआ है। कोई यह न समझे कि यह स्वप्नकी बात है व्यवहारमें नहीं आ सकती। इसे व्यवहारमें लानेके लिये ही तो वेद और गीताकी प्रवृत्ति है।

ज्ञानोत्तर कर्म

ज्ञान होनेके पश्चात् कर्म होना संभव है या नहीं यह वाद बहुत दिनोंसे चल रहा है। परन्तु इसमें कुछ भी वादके योग्य नहीं है। अर्जुनको विश्वरूप दर्शन हुआ और ज्ञानोपदेश हुआ और उसके पश्चात् उसने युद्धरूपी कर्म किया है। अर्थात् विश्वरूप-दर्शन होनेके पश्चात् और एक आत्माका ज्ञान हो जानेके पश्चात् सब विश्वरूप एक-ही आत्माका रूप है यही अखण्ड एकरस विश्वरूप है मैं उसमें सम्मिलित हूं और संपूर्ण विश्वके सब रूप उसीमें सम्मिलित हैं इस तरह अखण्ड एकरस अनन्य भाव होनेके पश्चात्ही ऐसी जीवनके कर्म हो सकते हैं। तबतक सच्चे धर्मका ज्ञान होना और सच्चा अनन्य भाव उत्पन्न होना भी संभव नहीं।

भगवद्गीतामें अनन्य होकरही कर्म करनेका उपदेश किया किया है, ये वचन देखिये—

१ अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गी० ८।८)

२ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गी० ८।१४)

३ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(गी० ८।२२)

४ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गी० ९।१३)

५ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गी० ९।२२)

६ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गी० ९।३)

७ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी० ११।५४)

८ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
(गी० १२।६)

९ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
(गी० १३।१)

(१) ' अनन्यगामी चित्त अर्थात् जिस चित्तमें अन्य भाव नहीं है उस चित्तसे जब अभ्यासयोग करता है तब वह दिव्य परम पुरुषका चिन्तन करता हुआ उसी पुरुषको प्राप्त होता है॥ (२) अनन्यचित्त अर्थात् जिस चित्तमें अन्य भाव नहीं है उस चित्तसे जब ईश्वरका नित्य स्मरण होता है तब उस नित्ययुक्त योगीको परमेश्वर सुलभतासे प्राप्त होता है॥ (३) अनन्य-भक्तिसे अर्थात् जिसमें अन्य भाव नहीं है उस भक्तिसे प्रभुकी प्राप्ति होती है॥ (४) अनन्य-मन अर्थात् जिनके मनमें अन्य भाव नहीं है वेही सबके आदि ईश्वरको भजते हैं॥ (५) अनन्य भावसे सेवा करनेवालोंका योगक्षेम ईश्वर चलाता है। (६) दुराचारी भी अनन्य-भावसे युक्त हो जाय तो उसको साधुही मानना चाहिये॥ (७) अनन्य भक्तिसेही (विश्वरूप) ईश्वरको जानना देखना और उसमें प्रवेश करना शक्य है॥ (८) जो अनन्ययोग करनेवाले ईश्वरका ध्यान द्वारा-उपासना करते हैं वे सब कर्म ईश्वरार्पण करते हैं॥ (९) ईश्वरमें अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करते हैं वे सिद्धिको प्राप्त करते हैं॥

इस तरह गीतामें अनन्यभावका महत्त्व कहा है। अनन्य (न+अन्यः) होनेका अर्थ द्वैतभावका नाश दूसरा कोई नहीं है प्रभुही अकेला एक है और उसी एक अद्वितीय प्रभुका रूप इस सम्पूर्ण विश्वका रूप है मैं और सब उसीमें है। वहां मैं और सब यह द्वैतभाव भी नहीं वहां यदि कुछ है तो अन्+अन्य भावही है अर्थात् वही एकत्व-भाव है। इस भावसे मन युक्त होनेके पश्चात्ही पूर्वोक्त ९ श्लोकोंमें कहे अनुसार स्वभावतः होते हैं। इस

श्लोकोंका थोडासा अधिक मनन करनेकी आवश्यकता है; इसलिये—

१ अनन्य चित्तसे अभ्यासयोगद्वारा ईश्वरका चिंतन करना
२ अनन्य चित्तसे परमेश्वरका स्मरण करना
३ अनन्य भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्तिकी सुलभता
४ महात्मा लोग अनन्य मनसे ईश्वरकी भक्ति किया करते हैं
५ अनन्य होकर लोग ईश्वरकी उपासना करते हैं
६ अनन्य भाव होनेपर दुराचारीका साधु बनता है
७ अनन्य भक्तिसे ईश्वरका ज्ञान दर्शन और उसमें प्रवेश होता है,
८ अनन्य योग करनेवाले ध्यान उपासनादि सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करते हैं
९ अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति होती है

इन नौ श्लोकोंका यह आशय देखनेसे पता लगता है कि मनमें अनन्यभाव स्थिर होनेके पश्चात्‌ही चिंतन स्मरण भजन भक्ति उपासना साधु–आचार ज्ञान–दर्शन–प्रवेश समर्पण आदि कर्म होते हैं। इनमें सब शुभ कर्म आ चुके हैं।

अनन्ययोग अनन्यभक्ति, अनन्यचित्त अनन्यमन अनन्यभाव इन सब शब्दोंका आशय एकही है। जो सब कार्योंमें अपनेसे भिन्न दूसरे हैं और वे अन्य हैं यह जो अन्य भाव बना है वह अन्यभाव जिनके मनसे दूर होगा वे ही इस अनन्ययोगका आचरण कर सकते हैं। जिस समय अन्य–भाव मनसे हट जाता है उस समय अनन्यभाव स्थिर हो सकता है और उसकी स्थिरताके पश्चात्‌ही गीताका उपदेश जीवनमें ढालना संभव है।

उदाहरणके लिये देखिये ऊपर कहा है कि अव्यभिचारिणी भक्ति (गी. १३।१) करनी चाहिये। व्यभिचारिणी भक्ति तब तक हो सकती है कि जब तक उपासकका उपास्यसे भेद हो और अनेक उपास्य हों। अनेक उपास्य देव होनेके कारण मनुष्य एककी भक्ति छोड दूसरेकी भक्ति करनेका विचार करता है इस कारण भक्तिमें व्यभिचारी भाव उत्पन्न हो सकता है।

जब पूर्वोक्त विचारसे चित्तमें अनन्यभाव स्थिर और दृढ हो जायगा और जब सर्वत्र एकही अखंड सत्ता भरपूर है यह भाव किसीको प्रत्यक्ष हो जायगा तब उसमें अव्यभिचारिणी भक्ति होगी व्यभिचारिणी भक्ति वहां होही नहीं सकती। एक अखंड सत्ता प्रत्यक्ष देखनेवाला और उसके साथ अपना अनन्य (दूसरा नहीं यह) भाव अनुभव करनेवाला व्यभिचारिणी भक्ति कदापि नहीं कर सकता। दूसरी सत्ता है ऐसा माननेवालेकी व्यभिचारिणी भक्तिकी संभावना है यह बात स्पष्ट है।

अनन्यभाव स्थिर होनेके पश्चात्‌ मैं और सारा विश्व मिलकर एकही अखंड सत्ता है मैं अन्य यह भाव वहां मिट जाता है परमात्मा विश्व मैं आदि सब एक अखंड सत्ता है। मैं उस परमात्मासे अनन्य (अभिन्न) हूं परमात्मा व्यापी सारा विश्व यह अखंड रूप है मैं–तू–वह यह व्यावहारिक भेद वहां नहीं है सबका अनन्यभाव (अभेदभाव अभिन्नभाव) है वहां कोई किसीसे भिन्न नहीं है। सब एकही सत्ताके भाव हैं। इस तरह एक अखंड भाव होनेका नाम अनन्यभाव है। इस अनन्यभावकी स्थिरता होनेके पश्चात्‌ मनपरही सम धर्मका प्रकाश पडता है और उसे किसी भी विषयमें संदेह या शोकमोह नहीं होते।

दो भिन्न दृष्टियाँ

सब कर्मोंकी परीक्षा यह इस अनन्यभावसेही करता है। यहां ये दो भिन्न दृष्टियां हैं यह पाठक न भूलें। एक अनन्य–दृष्टि और दूसरी अन्य–दृष्टि। इन दो दृष्टियोंसे विश्वका अनुभव विभिन्न प्रकारसे आता है। इस विषयमें इस तरह विचार होता है—

अनन्य–दृष्टि	अन्य दृष्टि
अभेदका अनुभव	भेदका अनुभव
उपास्य उपासकका ऐक्य	उपास्य उपासक भेद
उपास्यसे अभेद	उपास्यसे भेद
विश्वरूपमें अभेद	विश्वरूपमें भेद
व्यवहारमें समभाव	व्यवहारमें विषमता
समदर्शन	विषमदर्शन
अव्यभिचारिणी भक्ति	व्यभिचारिणी भक्ति
समता	कलह विषमता
आनंद	दुःख

जगत्‌में जो दुःख बढ रहे हैं वे विषमभावके कारण बढ रहे हैं। यदि विषमभाव हट जाता है और सर्वत्र समभाव

सुस्थिर हो जाता है। इसलिये दु:खका कारणही न रहनेसे दु:ख किस तरह हो सकेगा ?

यह मेरा घर है ये मेरे लड़के हैं यह मेरा परिवार है यह मेरा है ये दूसरे हैं दूसरोंको लूटकर मैं अपने संबंधियों का भला करूंगा यह भाव संसारमें कार्य कर रहा है। इसे अन्यभाव (किंवा द्वैतभाव भेदभाव) कहते हैं यही सब दु:खोंका हेतु है। इस भावके कारणही इस जगत् में हाहाकार अनेक विविध रीतिसे चल रहा है। अत: इस द्वैत भावकोही शास्त्रकारोंने दु:खकी जड़ और अज्ञान कहा है।

अनन्यभाव जिसके मनमें स्थिर होता है वह चराचरमें घरदार जाति देश सब विश्वभरमें एक अभिन्न सत्ताका अनुभव करता है। वह अखण्ड-अवण्ड-अद्वय- अभिन्न आत्मसत्ता है इसमें मेरा-मैं-तू-वह-यह-भाव नहीं है। सब विश्वभरमें इस तरह अनन्यभावका अनुभव होने लगता है। फिर वह दूसरोंको कैसे लूटेगा कैसा सतायेगा कैसे दूसरोंका घात करेगा ? सब भूतमात्र जिसकी आत्मा है वह दूसरोंकी हिंसा कैसे करेगा ? मैंही सब विश्वमें फैला हूं ऐसा जिसे अनुभव होगा वह किसकी वस्तुका हरण कैसे करेगा ? अपना सुख बढ़ानेके लिये वह दूसरोंको किस प्रकार दबाये रखेगा ?

दुःख ऊपर दूसरेसे किया जाता है अपने आपसे नहीं। जबतक अन्य-भाव होता है तभीतक दु:ख ऊपरकी सीमा बना है एकबार अन्यभाव दूर हुआ और अनन्य-भाव सुस्थिर हुआ तो दु:ख ऊपरका कारणही दूर हो जाता है। संपूर्ण हीन भाव सपूर्ण आसुरीभाव इस तरह अनन्य-भावका उदय होतेही नष्ट हो जाते हैं।

अनन्य-भावसे कर्म।

यहां बहुतोंको शंका होती है कि इस तरह अनन्यभाव जिसके मनमें सुस्थिर होगा उससे इस विश्वमें कर्म होंगे या नहीं ? उसमे कर्म नहीं होंगे ऐसाही बहुतोंका निश्चय है परन्तु यह भ्रम है। अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात्ही इसी मर्यादाके योग्य सच्चे कर्म होते हैं। सच्ची विश्वसेवा का यहांसेही प्रारंभ होता है।

वह अपने गुरुओंका पालन करेगा परन्तु ऐसी युक्तिसे करेगा कि जिसके कारण वह दूसरोंको दबानेके पापसे बच जायगा। वह अपने घरका पालन उत्तम रीतिसे करेगा परन्तु दूसरोंके घरोंको उजाड़नेके पापसे बचेगा वह अपनी जातिकी रक्षा करेगा परंतु दूसरी जातियोंका नाशतक नहीं करेगा वह अपने राष्ट्रकी रक्षा करेगा परन्तु दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेकी इच्छातक नहीं करेगा। विश्वकी अखण्ड सेवा करता हुआ उस विश्वसेवाके अविरोधसे व्यक्तियोंकी सेवा करेगा।

असुरों और देवोंमें भेद इतनाही है। जो असुर होते हैं वो अन्य-भाव धारण करते हैं, वे विश्वका घात करते हुए स्वकीयोंकी रक्षा करते हैं; और जो दैवी-संपत्तिवाले अर्थात् जो अनन्य-भाव धारण करते हैं वे विश्वसेवा करते हुए विश्वहितके अविरोधसे स्वकीयोंका हित करते हैं। जो अन्य भाव (द्वैतभाव भेदभाव) धारण करते हैं वे विश्व हित कदापि नहीं सकते उनको विश्वहितकी कल्पना तक नहीं आती। वे तो अपना और अपने परिवारका हित करनेमेंही मस्त रहते हैं। अत: इनका कार्यक्षेत्र अल्प स्वल्प होता है।

परतु जिनमें अनन्यभाव जाग्रत हो जाता है (अद्वैत भावका जहां प्रकाश हुआ) वे लोग विश्वसेवा करनेके अधि कारी होते हैं। उनकी सेवाका क्षेत्र अखण्ड विस्तृत अमर्याद है। अत: जिनके कर्मक्षेत्रका इतना विस्तार हो चुका है वे अनन्य-भाव धारण करनेवाले सिद्ध पुरुष कर्म करते हैं या नहीं इस विषयमें संदेहही किस तरह हो सकता है ? वे लोग-वे अनन्य भाववाले एकत्वका दर्शन और अनुभव करनेवाले लोग जितना विस्तृत कर्म कर सकते हैं उतना कर्म द्वैतभाव अन्यभाव धारण करनेवाले कदापि नहीं सकते।

इसलिये अखण्ड आत्मसत्ताका अनुभव करनेवाले सम्पूर्ण विश्वको अपनी आत्माका साक्षात्कार मानलेनेवालेही अखण्ड विश्वसेवा कर सकते हैं। वे लोग जैसा शुद्ध और निर्दोष कर्म कर सकते हैं वैसा निर्दोष कर्म अन्योंसे नहीं हो सकता।

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥११॥
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा

पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद सर्वमिति ॥ २ ॥ (छांदोग्य उ० ७।२५)

मैं नीचे मैं ऊपर मैं पीछे, मैं आगे मैं दक्षिणकी ओर मैंही उत्तरकी ओर हूँ अर्थात् मैंही यह सब हूँ।"

आत्मा नीचे आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे आत्मा आगे आत्मा दक्षिणकी ओर आत्मा उत्तरकी ओर है अर्थात् आत्माही सब कुछ है। ' इसी तरह—

ईश्वर नीचे, ईश्वर ऊपर ईश्वर पीछे ईश्वर आगे ईश्वर दक्षिणकी ओर और ईश्वरही उत्तरकी ओर है अर्थात् ईश्वरही सब कुछ है। ऐसेही ब्रह्म परमात्मा आदि शब्द रखकर कहा जा सकता है। क्योंकि मैं आत्मा परमात्मा ब्रह्म ईश्वर आदि एकही वस्तुके विभिन्न नाम हैं। यद्यपि इनमें थोडा भेद है तथापि अनन्यभाव स्थिर होतेही यह भेद नहीं रहता।

इस तरह एकत्वाभ्यास होनेके पश्चात् अनन्यभाव होता है और अनन्यभावके स्थिर होनेके पश्चात्ही निर्दोष कर्म होते हैं। सच्ची विश्वसेवा इसके बादही होती है सच्ची अनन्यभक्ति इसके पश्चात्ही होती है और अनन्य होतेही नरका नारायण होता है जीवका शिव होता है ईश्वरभावको यह प्राप्त होता है।

विश्वसेवाका मर्म

विश्वसेवाका तत्त्व ध्यानमें आनेके लिये थोडासा अपने शरीरका विचार करना चाहिये जिससे विश्वसेवाका मर्म ध्यानमें आनेके लिये सुविधा होगी।

अपने शरीरमें देखिये। मनुष्य कह सकता है कि मैंही पांव हूँ, पेट हूँ, सिर हूँ छाती हाथ आदि मैंही हूँ। मनेही आंख नाक कान, जिह्वा, नाक मला छाती पीठ पेट, पसलियां फेफडे, मज्जा, नाभि जांघा घुटने पिंडरियां पांव अंगुलियां तथा अन्य अवयवोंके रूप धारण किये हैं, अर्थात् मैंही अपनी शक्तिसे इन विविधरूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। इसलिये इन विविध अवयवोंमें मैं अपनाही अभिव्यक्तिसे स्थित हूँ।

अब ऐसी अवस्थामें मेरे 'अखण्डस्वरूपकी सेवा कैसे हो सकती है? विचार कीजिये अखण्ड आत्माकी सेवा कैसे की जा सकती है? क्या कोई मनुष्य किसीकी सम्पूर्ण सेवा करना चाहे तो उसके सम्पूर्ण अंगों, अवयवों विभागों और इंद्रियोंतक सबकी यथायोग्य सेवा एकही समयमें कर सकता है? कभी नहीं। किसी एक मनुष्यकी सम्पूर्ण सेवा एकही समयमें कोई कर नहीं सकता। परन्तु यहां किसी भी अंगकी सेवा की तो उसकी सेवा हो जाती है और इसी रीतिसे इस विश्वमें सब कोई सेवा किया करते हैं।

किसीके पांवोंकी मालीश की किसीको पानी पिलाया, उत्तम अन्न दिया, कपडे धोये मकान स्वच्छ किया इस तरह उसके एकाङ्गकी सेवा की तो उसकी सम्पूर्ण सेवा की ऐसाही होता है। जो सेवक रखे जाते हैं, वे एक अंगकी सेवा करनेके लियेही रखे जाते हैं, क्योंकि हर कोई एकांगकीही सेवा कर सकता है। सम्पूर्णकी सेवा होना असंभव है। यही नियम सर्वत्र समझना चाहिये।

हां इसमें यह बात अवश्य है कि अन्य अवयवोंका विरोध न करते हुए एक अवयवकी सेवा हो। जैसे पांवकी मालिश करनी हो तो सिरपर लाठी मारना उचित नहीं। अन्य विभागोंकी प्रतिकूलता न करते हुए एक विभागकी सेवा की तो वह सेवा सम्पूर्णकीही होती है। गुरुके पांवकी सेवा की तो गुरुकी सेवा होती है, गुरुका भोजन तैयार किया गुरुके कपडे धोये, गुरुका स्थान स्वच्छ किया इनमेंसे एक एक कार्य किया तो भी सम्पूर्ण गुरुकी सेवा की ऐसाही होता है। अवयवकी सेवा अनन्य भावसे करनेसे अवयवी की सेवा होती है। यह नियम जैसा व्यक्तिमें है वैसाही राष्ट्रमें और विश्वमें है।

राष्ट्रके मुख बाहु पेट और पांव क्रमशः ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर हैं इनमेंसे किसी एक राष्ट्रावयवकी अनन्यभावसे सेवा की तो सम्पूर्ण राष्ट्रकी सेवा होती है। यहां अनन्य–भावसे सेवा करना विशेष ध्यानसे देखने योग्य है। राष्ट्रमें मुखस्थानमें ज्ञानी हैं और पांवके स्थानमें शूद्र हैं।

कुछ लोग शूद्रोंकी उन्नति करना चाहते हैं शूद्रोंकी सेवा करके उनका सुख बढाना चाहते हैं परन्तु वे ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी निंदा करते हुए उनसे शूद्रोंको पृथक् मानकर शूद्रोंकी सेवा करना चाहते हैं। इससे द्वेष बढता है और राष्ट्रका नाश होता है क्योंकि यह अन अ-भावसे सेवा नहीं है। ब्राह्मणक्षत्रिय अन्य हैं, शूद्र अन्य हैं ऐसा

मानकर एकपर प्रेम और दूसरेका द्वेष करनेका नाम अनन्य सेवा नहीं है। वह तो अन्य भाव (द्वैतभाव) की सेवा है। वह तो आसुरी भावकी सेवा होनेसे नाश करनेवाली है।

अनन्यभावसे यही सेवा हो सकती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र मिलकर एक अखण्ड अटूट राष्ट्र है उस अखण्ड राष्ट्रकी सेवा अविरोधसे करनी है। किसी भी अवयवकी निंदा की तो सम्पूर्ण राष्ट्रकी निंदा होती है किसी एक जातिका द्रोह किया तो वह राष्ट्रका द्रोह होता है ऐसा मानकर सब राष्ट्रकी अखण्डभावसे सेवा करनेके लिये मैं राष्ट्रके पांव जो शूद्र हैं उनके उद्धारका यत्न करनेके लिये उनकी सेवा करता हूं ऐसे अनन्यभावसे जो सेवा करेगा उससे सच्ची राष्ट्रसेवा सम्पूर्ण रीतिसे हो जायगी और कभी राष्ट्रकी हानि नहीं होगी। अनन्यभावसे सेवा अथवा कोई कार्य करनेका तात्पर्य यहां पाठकोंके ध्यानमें आ-सकता है।

एक जातिका नाश करके दूसरी जातिका लाभ करनेका यत्न करनेका नाम अन्यभावसे प्रयत्न करना और किसीका विरोध न करते हुए सबकी भलाईके विचारके साथ किसी एक जातिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना अनन्यभावसे सेवा करना है। राष्ट्रमें पक्षोपपक्ष उत्पन्न करके परस्पर विरोध बढाकर एक दूसरेको गिरानेके लिये यत्न करते हुए अपने हाथमें अधिकार प्राप्त करके दूसरेका नाश करके अपने पक्षवालोंकी उन्नति करेंगे ऐसी मनोवृत्ति धारण करके जो प्रयत्न होते हैं वे सब प्रयत्न अन्यभाव (द्वैतभाव द्वन्द्वभाव) के प्रयत्न हैं। ऐसे प्रयत्नोंसे जनतामें दु:ख बढेंगे। यही प्रयत्न मनुष्योंको असुर बनानेवाले हैं।

परंतु किसीका विरोध न करते हुए, प्रतिपक्षके साथ भी पूर्ण दैवीभावयुक्त प्रेमवृत्तिसे वर्ताव करना परस्पर सहानुभूति बढाते हुए, एक दूसरेकी अधिक उन्नति अविरोधसे करनेका यत्न करना अपने हाथमें शासनाधिकार आनेपर सबका हित करनेकाही उद्देश रखना इत्यादि प्रकारके जो प्रयत्न होंगे वे अनन्यभाव (अद्वैतभाव द्वन्द्वातीतभाव एकत्वभाव) के प्रयत्न हैं और यही अनन्यभावके प्रयत्न मनुष्योंको देवता बनानेवाले हैं।

इससे पाठकोंको स्पष्ट होगा कि अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् जो निःस्वार्थ कार्य होंगे वेही मानवोंकी पूर्ण उन्नति करनेमें समर्थ होंगे।

अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् कोई कर्म नहीं होगा ऐसा जो कहते हैं वह उनका कहना कितना निर्मूल है यह बात इतने विवरणसे सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेपरही विशेष महत्त्वपूर्ण और सार्वजनीन सबके हितके कार्य हो सकते हैं। इसीलिये अनन्यभाव मनमें स्थिर होनेयोग्य शिक्षापद्धति राष्ट्रमें प्रारंभ होनी चाहिये। सबका यत्न इसी दिशासे होना चाहिये।

अनन्यभावसे विश्वसेवा करना अंतिम ध्येय है। जो नियम राष्ट्रसेवाका विवरण करते हुए बताये हैं, वेही नियम अधिक विस्तारके साथ विश्वसेवा करनेके समय पालन करने चाहिये। अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समय अन्य राष्ट्रोंको दबा देने परतंत्र करने उनको लूट करने आदि विचार अन्यभावसे उत्पन्न होते हैं। यदि अनन्यभाव मनमें एकवार स्थिर हो जाय तो अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समय अन्योंको परतंत्र करनेका विचार भी रहेगाही नहीं। क्योंकि अनन्यभावकी दृष्टिसे अन्योंको पारतन्त्र्यमें रखनेका अर्थ परंपरासे अपने आपको परतंत्रतामें रखनाही होता है। इसलिये जो राष्ट्र दूसरोंको परतंत्र रखनेमें मग्न हैं वे राष्ट्र अन्य रीतियोंसे अपने आपको बद्ध करनेमें लगते जा रहे हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है। क्योंकि सभी विश्व एक अखण्ड अटूट सत्ता है इस कारण उसके एक विभागको कष्ट पहुंचे तो उसका अनिष्ट परिणाम अन्य सब विभागोंको भोगनाही चाहिये। इसलिये जब तक इस भूमिपर एक राष्ट्र पददलित अवस्थामें रहेगा और जब तक दूसरोंको पददलित अवस्थामें रखनेका विचार बलिष्ठ राष्ट्रोंमें रहेगा तब तक इस जगत्में सुख समाधान शांति और आनंद कभी प्राप्त नहीं होगा क्योंकि यहां सब विश्व अखण्ड एक सत्ता है। यह—

नेह नानास्ति किंचन यो इह नानेव पश्यति
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति॥

यहां नाना-विभिन्न-अनेक-द्वैत नहीं है जो यहां अनेक विभिन्न वस्तुएं हैं ऐसा मानता है वही भेदभाव

कर्म करके दुःखी होता है। " यहां सम्पूर्ण विश्वमें अखण्ड एकता है एकही अटूट वस्तु है अतः उसके एक भागको अलग मानकर अलग समझकर विरोधी भावसे जो कार्य होता है वह सबका दुःख बढानेवाला होता है।

इसलिये इस विश्वकी अटूट अखण्ड एकरस एकता देखकर अनन्य अभिन्न अद्वैत भावनासेही अपने सब कार्य करने चाहिये। तभी निर्दोष कार्य हो सकते हैं और इसी अनन्य भावसे किये कर्मोंसेही सबका भला विश्वका कल्याण और जनताका हित हो सकता है। सबके उद्धारका दूसरा कोई मार्ग नहीं सच्चा और निर्दोष यही एक मार्ग है।

समझा जाता है कि राजा प्रजा मालिक–नौकर उच्च–नीच धनी–गरीब अधिकारी–अनधिकारी आदि पक्ष परस्पर भिन्न हैं। परंतु वस्तुतः विश्वरूपमें इनकी भिन्नता नहीं है। जबतक विश्वरूपमें अपनी अखण्ड एकरूपता ये नहीं देखेंगे तबतक इनमें विभेद और अशान्ति बढतीही जायगी। राजाका और प्रजाका हित एकही है क्योंकि दोनों विश्वरूपके अवयव हैं ऐसा मानकर परस्पर अभिन्न और अनन्य हैं इसका अनुभव करते हुए जो राज्यशासन चलाया जायगा वही राजाप्रजाका सच्चा सुख बढा सकेगा। परन्तु जहांका राज्यशासन भेदनिष्ठाके न्यायके अनुसार होगा वहां दिन प्रतिदिन दुःखही बढता जायगा।

सच तो यह है कि अनन्यभावसेही सच्ची विश्वसेवा होना संभव है। राष्ट्रसेवा भी इसी अनन्यभावसे होगी। सब स्थानमें अन्य भाव ही दुःख बढानेवाला सिद्ध हुआ है। आजकल राजशासन चलाना इतना अशक्यसा हुआ है इसका प्रधान कारण है कि इसमें प्रजा राजासे और राजा प्रजासे भिन्न है। जिस समय राजा–प्रजा अनन्य भावसे युक्त होकर अखण्ड होंगे तब अधिक व्यय करनेकी कोई भी आवश्यकताही नहीं रहेगी। और वह धन प्रजाकी सुधार करनेके कार्योंमें व्यय करना संभव होगा। अतः इस राज्यशासनको (अव्यय) कम व्ययसे चलनेवाला (गी ९।२) कहा है तथा वह शासन (सुसुखं कर्तुं) चलानेके लिये सुगम है सुख बढानेवाला है। इस तरह जो भगवद्गीतोक्त राज्यशासनकी प्रशंसा पूर्वोक्त नवम अध्यायमें की है वह योग्य है, ऐसाही विचार करनेपर सबको प्रतीत होगा। सबको सुख देनेवाला यह अनन्य भावका राज्यशासन है इसमें संदेहही नहीं है। तथापि जनतामें 'अनन्यभाव' स्थिर नहीं हुआ और अन्यभाव बढाया जा रहा है इसलिये यह भगवद्गीतोक्त राज्यव्यवस्था प्रचारमें नहीं आ सकती, और जबतक इसका प्रचार नहीं होता तबतक दुःख भी दूर नहीं हो सकता यह निश्चित बात है।

इतने विवरणसे निश्चय हुआ कि अनन्यभाव, अद्वैत भाव अभिन्नभाव एकत्वानुभाव मनमें स्थिर होनेके पश्चात् वैयक्तिक कौटुंबिक जातीय ग्रामीण प्रांतीय, राष्ट्रीय और जागतिक उन्नतिके प्रशस्ततम कर्म मनुष्य उत्तम रीतिसे कर सकता है और सम्पूर्ण संसार इसी शुभ अवस्थाकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त आतुर है। सम्पूर्ण मानवीय प्रयत्न इसीके लिये हो रहे हैं परन्तु उन विचारों को योग्य मार्ग दीखताही नहीं इसीलिये वे विरुद्ध मार्गोंसे चल रहे हैं।

यदि श्रीमद्भगवद्गीतोक्त अनन्यभावकी शिक्षा सर्वत्र हो जाय और इस सुशिक्षासे सब जनता सुशिक्षित बन जाय तो निःसंदेह सब लोगोंमें अनन्यभाव सुस्थिर हो जायगा और सम्पूर्ण जनता शुद्ध आनंद प्राप्त कर सकेगी जिसकी उसको बडी चाह है।

इसलिये कोई यह न समझे कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद जो अनन्यभाव मनुष्यके मनमें स्थिर होनेवाला है वह होनेके पश्चात् मनुष्य कर्तव्यशून्य बनेगा। प्रत्युत सत्य तो यह है कि यह परिशुद्ध अनन्यभाव मनमें सुस्थिर होनेके पश्चातही मनुष्य सच्ची राष्ट्रसेवा सच्ची विश्वसेवा और सच्ची मानवसेवा कर सकता है। ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चातही मनुष्यका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। ब्रह्मज्ञानसे संकुचित क्षेत्रको छोडकर मानो वह विशाल क्षेत्रमें पहुंच जाता है।

अनन्यभाव या अनन्यभक्तिका कार्यक्षेत्र यह विस्तार है।

विश्व और जगत्

यहां पाठकोंकी सुविधाके लिये 'विश्व और जगत्' में जो भेद है उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जगत् और विश्व ये दो शब्द समान अर्थवाले नहीं हैं यद्यपि साधारण सभी लोग इनको समान अर्थमें प्रयुक्त करते हैं।

जगत् बदलनेवाला है और विश्व वैसा नहीं है। जगत् मिथ्या है परंतु विश्व शाश्वत है। इसलिये इनके अर्थोंका सूक्ष्म भेद समझ लेना आवश्यक है।

इस श्रीमद्भगवद्गीतामें परमेश्वरका विश्वरूप कहा है। जो विश्वरूप है वह जगद्रूप नहीं है। कुछ लोग दोनोंको एकही मानकर बड़ी गड़बड़ करते हैं अर्थात् भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसलिये इनका भेद विशद करना चाहिये।

परमेश्वर–निर्मित विश्व है, परन्तु वैसा जगत् नहीं है। जगत् मानवनिर्मित है। इस विषयके कई उदाहरण लेकर विचार करना चाहिये तब यह विषय स्पष्ट हो जाना संभव है। देखिये—

वृक्ष परमेश्वरने बनाये हैं, इसलिये वे विश्वके भाग हैं, परंतु वृक्षकी लकड़ियां काटकर चौरंग चौपायी पेटी संदूक द्वार खिड़की आदि जो अनेक चीजें बनाई जाती हैं उनका समावेश जगत्में होता है। यह मनुष्यनिर्मित है। इसी तरह सुवर्ण परमेश्वरकी निर्मिति है उसको लेकर सुवर्णकार अनेक आभूषण बनाता है, वह जगत् है, तथा मानवनिर्मित है। मिट्टी ईश्वरनिर्मित है अतः वह विश्वरूप है परन्तु घट। घरकी दीवारें आदि मानवनिर्मित चीजें जगत्में संमिलित हैं। इस तरह विचार करनेसे विश्व क्या है और जगत् क्या है इसका विचार हो सकता है।

जगत् मानवीय है वह मिथ्या है और वह ईश्वरके विश्वरूपमें अन्तर्भूत नहीं है। जो परमेश्वरनिर्मित हैं उनके रूपोंको धारण करके परमेश्वर विश्वरूपी बन गया है। घट मानवनिर्मित होनेसे वह जगद्रूपी है और विश्वरूपी नहीं है तथापि उसकी मिट्टी विश्वरूपमें संमिलित है इस तरह घर जगद्रूप है परंतु मिट्टी और काष्ठ विश्वरूप हैं। यहां विशेषही सूक्ष्मताके साथ विचार करके इस भेदको जानना चाहिये नहीं तो यह स्पष्टीकरण भी दुर्बोधही होता जायगा। इसलिये इसका विवरण दूसरी रीतिसे करते हैं—

स्त्री और पुरुष ईश्वरनिर्मित हैं इसलिये वे विश्वरूप हैं परंतु पति–पत्नी और इनसे बननेवाले अनेक नाते ये सब मानवकल्पित और मानवीय व्यवहारके कारण उत्पन्न हुए हैं अतः ये जागतिक व्यवहार मायिक हैं। काका–मामा काकी–मामी चचा–चची दादा–दादी आदि सभी नाते जागतिक व्यवहारके हैं इसलिये वे मिथ्या जगत्के भाग हैं। विश्व मानवको ये मिलनेवाले हैं विश्वरूपपर वे आरोपित हैं। वस्तुतः इनमें सत्यता नहीं है। किसी पुरुषको परमेश्वरने पति करके उत्पन्न नहीं किया और किसी स्त्रीको उसकी पत्नी करके भी उत्पन्न नहीं किया। मानवोंने अपने व्यवहारके कारण ये नाते उत्पन्न किये हैं। विचार करनेसे ये नाते मिथ्या हैं ऐसा हरएकको स्पष्ट हो जायगा। परमेश्वरने जो अपने विश्वरूपमें स्त्री और पुरुष उत्पन्न किये हैं वे तो स्थायी हैं परंतु पतित्व और पत्नीत्व जगद्रूप होनेसे मिथ्या है और विश्वरूप दीखनेमें बाधक भी है।

ईश्वरने मनुष्य निर्माण किये हैं और वे विश्वरूपमें संमिलित भी हैं। परंतु राजा अमात्य, मंत्री सेनापति न्यायाधीश सैनिक सेवक, मुख्य व्यापारी कारीगर किसान चोर, साधु सज्जन असज्जन आदि जो जो व्यावहारिक अथवा मायाविक भेद हैं वे सब जगद्रूपी हैं अतः मिथ्या हैं। मानव विश्वरूपमें संमिलित होनेसे सत्य हैं। परमेश्वरने किसीको अमात्य करके निर्माण नहीं किया और किसीको सेवक करके भी उत्पन्न नहीं किया। स्त्री–पुरुष भेद ईश्वरनिर्मित है, अतः वह सत्य विश्वरूपमें संमिलित है परंतु स्वामी और सेवक यह भेद जागतिक व्यवहारके कारण बना है इसीलिये वह मिथ्या है। किसी राजाकी कृपा हुई तो सेवकका सरदार अथवा महामंत्री भी बन सकता है परंतु राजाकी कृपा होनेसे पुरुषकी स्त्री बन नहीं सकती, इससे विश्वरूपकी पारमार्थिक सत्यता और जगत्के व्यावहारिक संबंधकी मिथ्यात्मकता स्पष्ट हो सकती है।

मजदूर और कारखानदार ये व्यावहारिक जगत्के भेद हैं अतः ये मिथ्या हैं। इसी कारण जो आज मजदूर है वह थोड़े दिनोंके बाद कारखानदार बनता है परंतु दोनों मानव हैं इसलिये उन दोनोंका मानवत्व विश्वरूपमें संमिलित है और मजदूरपन तथा कारखानदारी जागतिक व्यवहारके कारण उत्पन्न होनेसे मिथ्या है।

आज जो सरदार है वह कल उस कार्यसे हटाया जाता है क्योंकि उसकी सरदारी जागतिक व्यवहारसे उत्पन्न हुई होनेके कारण मिथ्या है। परंतु उसका मानवपन हटकर उसपर बैलपन नहीं आता क्योंकि मानवत्व ईश्वरनिर्मित होनेसे सत्य है।

संपूर्ण भूमि परमात्मनिर्मित होनेसे विश्वरूपी होनेके कारण एक है परन्तु उस भूमिपर ये भारतवर्ष चीन तिब्बत आदि जो देश हैं वे मानवीय प्रयत्नसे और कल्पनासे मर्यादावाले होनेके कारण जागतिक व्यवहारसे उत्पन्न हुए हैं। इन राष्ट्रोंमें जो ग्रामोंकी मर्यादाएं हैं इन ग्रामोंमें जो वैयक्तिक स्वामित्वके भूमिविभाग हैं वे सबके सब जागतिक व्यवहारसे मानवीय कृतिसे उत्पन्न होनेके कारण भ्रमरूप हैं और जगत् मिथ्या होनेसे ये सब मिथ्या हैं। विश्वरूपकी एकता इन जागतिक भागोंमें नहीं है।

विश्वरूपी भूमिमें एक मनुष्य कहता है कि इतना भूभाग मेरा है इतना दूसरेका है इतना तीसरेका है यह सब मिथ्या व्यवहार है लोग इस मिथ्याकोही सत्य मानते हैं और उसीपर कितनी मार-काट करते हैं। यह सब अज्ञान है यह सब दुःखका हेतु है। मेरा यह दुःखका हेतु है। वस्तुतः कुछ भी मेरा नहीं है। यह सब प्रभु का है। जो प्रभुका है उसे मेरा कहना अज्ञान है। इस मेरा कहने के कारण कितने दुःख उत्पन्न होते हैं इसका पाठक विचार करें और इस संकुचित भावको भ्रमरूप जानकर इसका विश्वरूपसे कैसा विरोध है यह देखें और विश्वरूपकी पहचान करना सीखें। यह मेरे पन को हटानेकी और अखंड विश्वात्मक सत्ताको जाननेकी दृष्टिही दिव्यदृष्टि है। विश्वरूप दृष्टिमें मेरा घर मेरी भूमि यह बात नहीं है। वहां सब परमात्माका अखण्ड एकरस विश्वरूप है। इस अखण्ड विश्वरूप सत्तामें खण्ड करनेका कार्य मैं मेरा तू तेरा ये भाव कर रहे हैं। यही मिथ्या जगत् है।

अर्जुन (प्रथमाध्यायमें) कहता था कि ये भीष्मद्रोण-दुर्योधनादि मेरे गुरु पितामह भाई स्वजातीय सगेसंबंधी पारिवारिक जन हैं इसलिये इनको मारना पाप है। स्वकीयोंका वध नहीं करना चाहिये। उसको भगवान् श्रीकृष्णने दिव्यदृष्टि दी और अखण्ड परमात्माका अखण्ड एकरस विश्वरूप बताया जिसमें संपूर्ण मानव समिलित हैं ऐसा अर्जुनने देखा। उसे अखण्ड एकरस एकही विश्वरूप दिखाई दिया, फिर उसमें ये मेरे आप्तसंबंधी हैं यह अर्जुनका जागतिक व्यवहारका भ्रम मिट गया और विश्वरूपमें सब समान हैं ऐसा बोध हुआ। इससे कल्पित पारिवारिकताके कारण उत्पन्न होनेवाला उसके मनका मोह दूर हुआ। इस से अर्जुनका मन जगद्भ्रमसे बिगडा हुआ था उसको विश्वरूप-दर्शनसे परिशुद्ध किया गया यह बात पाठकोंके मनमें विस्तृतरूपसे आ जायगी। यही जगद्दृष्टि और विश्वदृष्टि है जिनमें एक मिथ्या-दृष्टि है और दूसरी सत्य-दृष्टि है।

इसीको हम छोटे कार्यक्षेत्रमें और स्पष्ट कर देते हैं। एक दृष्टिसे सब बालक राष्ट्रके हैं यह विश्वरूप दृष्टि है। दूसरी दृष्टिमें हरएक बालक उसके मातापिताका है यह जगत् दृष्टि है। ये दोनों दृष्टियां परस्पर भिन्न हैं और इनका परिणाम भी बिलकुल भिन्न है। देखिये विश्वदृष्टिसे सब बालक राष्ट्रके हैं राष्ट्रही उन सबका यथायोग्य पालन करे उनको यथायोग्य सब भोगोपभोग देवे और राष्ट्रीय शुभ संस्कारोंसे संपन्न करे। इस विश्वदृष्टिसे न कोई बालक गरीब है न कोई धनवान् है, सब समान हैं सबका पालन-पोषण समानतया होनेवाला है। इस समतामें जो शक्ति है उसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

दूसरी जागतिक दृष्टि है। इसमें कई बालक निर्धन हैं कई बडे धनाढ्य हैं, कई स्वस्थ हैं कई अस्वस्थ हैं कई सरदारोंके हैं और कई पददलितोंके हैं कई स्वतंत्रोंके हैं और कई परतन्त्रोंके हैं। गरीबोंके बालक भूखे मर रहे हैं धनिकोंके बालक आराममें चैन कर रहे हैं सरदारोंके बालक जन्मसे दूसरोंपर शासन कर रहे हैं और पददलित गुलामोंके बालक जन्मसे गुलामीमें सड रहे हैं अस्पृश्योंके बालक स्पृश्योंकी पाठशालाओंमें भी नहीं जाते और राजाका पुत्र जन्मसेही राजा होनेका गर्व करता है। यह जगद्व्यवहार है विश्वरूप पारमार्थिक दृष्टिसे यह मिथ्या है भ्रमकारक है अज्ञान है, बंधनोंमें फंसानेवाला है और दुःख बढाने वाला है।

जो विश्वरूपी दिव्यदृष्टिका व्यवसाय है वहां सब बालक राष्ट्रकी दृष्टिसे समान और राष्ट्रके द्वारा पाले पोसे और स्नातक किये जाने योग्य हैं। वहां हरएकको अपने बुद्धि बलपर बडा होनेका मार्ग खुला होगा यही समदृष्टि है और अनन्त सुख बढानेवाली और सबका हित करनेवाली दिव्य दृष्टि है। ब्रह्मचर्याश्रममें यही विश्वरूपी दृष्टि थी। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यासमें यही समदृष्टि

काम करती है इसी कारण इन तीन आश्रमोंमें उच्च नीचता नहीं मानी जाती थी। दरिद्र सुदामा भी महाधनी श्रीकृष्णजीके साथ गुरुकुलमें पढ़ता था, आश्रमस्थोंमें भी समान दृष्टिका ही व्यवहार था।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

विद्वानी ब्राह्मण श्वपाक और चाण्डाल समान-दृष्टिसे देखे जाते हैं। सभी विश्वरूपमें समान होते हैं वहां विषमताकी दृष्टि रही नहीं सकती। जहां विश्वरूप दृष्टिमें सभी रूप एक अद्वितीय ईश्वरके रूप हो जायें वहां दृष्टिकी विषमता कहां रहेगी? इस तरह दृष्टिकी समानता वहां प्रधान है।

घरमें पतिपत्नी पुत्र भाई बहिन आदि सबही विश्वरूपी परमात्माके प्रत्यक्ष रूप हैं, एकही ईश्वरके रूप समझकर उनसे यथायोग्य व्यवहार होने लगा तो आजका एक दूसरेको दबानेका विषमताका दुःखदायी व्यवहार रहेगाही कहां? हरएक अपने अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये तत्पर रहे हैं क्योंकि सब व्यवहारोंमें द्वन्द्वभाव है अर्थात् जहां द्वन्द्वभाव है वहां युद्धकाही भाव है। परंतु सब लोग जहां अद्वितीय परमात्माके विश्वरूपके समान अंग हैं वहां द्वन्द्वभाव रहेगाही कहां? वहां तो सब एकही परमात्माके रूप हुए। इस तरह निर्द्वन्द्व स्थिति होनेके पश्चात् सभी आत्माके अर्थात् अपनेही रूप हैं तो झगडोंका कारणही क्या रहा? इस तरह द्वन्द्वका मूलही कट जाता है। यदि कोई द्वन्द्वभाववाला रहा तो वहां पर भाव रखनेवाला कोढीके समान दुःखता रहेगा उसको हटनाही पडेगा। परंतु यदि सब लोगोंमें इस तरह महाभावकी एकरूपता जीवित और जाग्रत रही तो उनमें आत्मवद्भाव सब व्यवहारमें रहेगा और वह गृह परम आनन्दका स्थान होगा।

राष्ट्रमें भी राजा प्रजा राजपुरुष तथा अन्यान्य लोग इस दिव्यदृष्टिसे युक्त होकर सर्वत्र विश्वरूप देखने लगे तो राजा प्रजाके झगडे रहेंगे कहां? आजकल तो सभी लोग परस्पर पर भावसे देख रहे हैं इससे चारों ओर कटुताही बढ रही है। यह पर भाव हट गया और एकत्व का भाव आ गया तो सर्वत्र आत्मभावसेही व्यवहार होगा। राजा कहेगा कि मैंही प्रजा हूं मेरे लिये प्रजाही परमात्मा है क्योंकि सभी परमात्माके विश्वरूपमें संमिलित हैं। उस विश्वरूपसे कोई बाहर नहीं है। जहां राजा और प्रजा इस तरह एक हो गये वहां एक दूसरेको सतायेगा यह कैसे हो सकता है? एक दूसरेपर अत्याचार तबतकही करते हैं जबतक पर भाव कार्य करता है,

एकत्व भावका उदय होनेपर आत्मवद्भावका व्यवहार होने लगे तो वहां सच्ची विश्वसेवाका प्रारंभ समझना चाहिये; वहां किसीको अपने अधिकार सुरक्षित रखनेके लिये युद्ध करनेकी आवश्यकताही नहीं है। जहां तो कोई दूसरा हैही नहीं वहां तो अनन्यभाव (अन्+अन्य= कोई दूसरा नहीं स्वयं मैंही सब हूं किंवा परमात्माही सब हुआ है) यह भाव सर्वत्र होगा और उस कारण जैसे अपना अधिकार हरएक सुरक्षित रखता है, उसी तरह सबके अधिकार आपही आप सुरक्षित रहेंगे। सम्पूर्ण राष्ट्र इस दिव्यदृष्टिसे स्वर्गधाम बन जायगा और आजतक मिथ्या व्यावहारिक दृष्टिके कारण जो अनंत झगडे उत्पन्न होते हैं उनमेंसे एक भी झगडा नहीं होगा क्योंकि उनके व्यवहारमें कोई ऐसी त्रुटि रहेगीही नहीं।

ऐसे दिव्यदृष्टिवाले राष्ट्रमें न चोर होगा न डाकू न व्यभिचारी, न दुराचारी न दम्भी न कपटी न धोखेबाज न कोई स्वार्थी (खुदगर्ज), न आलसी होगा सब यथायोग्य व्यवहार करनेवाले होंगे अतः न न्यायालयोंकी आवश्यकता रहेगी न संरक्षक सैन्यकी आवश्यकता क्योंकि किसीपर किसीका अत्याचार होनेकी संभावनाही वहां नहीं है। वहां तो सबही मनुष्य विश्वात्माकी सेवा करते रहेंगे और सभी निर्दोष व्यवहार करते रहनेके कारण किसी प्रकारके पाप आचरणमें होनेकी संभावनाही नहीं। यह राष्ट्र पूर्ण पुरुषोंका होगा अतः उसमें दुःख नहीं होगा।

पाठक कहेंगे कि यह स्वर्गीय साम्राज्यकी मानसिक कल्पना दीखनेके लिये अच्छी है परन्तु यह इस व्यवहारमें कैसी जमेगी? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि उपनिषत्कालका एक राजा जिसने इसी तरह अपने राज्यकी व्यवस्था की थी इसकी साक्षी देता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।

"मेरे राज्यमें चोर नहीं है, कृपण नहीं है मद्यपी नहीं है, स्वैराचारी नहीं फिर स्वैराचारिणी भी कैसे मिलेगी?"

इस तरह वह राजा अपने राज्यका वर्णन कर रहा है। इस राजाके ऐसी गवाही देनेका कोई कारण नहीं था और आज भी किसीने इसमें असत्यता होनेकी कल्पना नहीं की है इत्यादि नहीं इस देशके विषयमें अन्य देशीयोंने जो इतिहास लिखा है उसमें ग्रीस देशवालोंने ऐसाही लिखा है कि भारतवर्षमें चोरी नहीं होती इसलिये घरोंको ताले लगानेका रिवाज भारतवर्षमें नहीं है। दो सहस्र वर्ष पूर्व जब ग्रीक लोग यहां आये थे उस समयका यह वृत्तांत है। इसी तरह स्वैराचारके अभाव आदिके विषयमें भी सत्यता दिखाई दे सकती है। अर्थात् जो पूर्वोक्त राजाने अपने राज्यके विषयमें कहा था वह सत्य होनेमें संदेहही नहीं है।

यदि एक राज्य ऐसा पूर्ण पुरुषोंका हो सकता है तो निःसंदेह अन्य राष्ट्र भी वैसे परिशुद्ध हो सकते हैं। श्री भगवद्गीतामें जो पूर्ण पुरुषके लक्षण कहे हैं वे केवल श्रव्य करनेके लियेही नहीं कहे हैं वे आचरणमें लानेके लिये कहे गये हैं। और यदि आचरणमें लानेके लिये सामूहिक रूपसे प्रयत्न होंगे, तो निःसंदेह वे सद्गुण मनुष्योंमें आ सकते हैं क्योंकि सब मनुष्योंका अत्यधिक सुख यदि किसी नीतिसे होना संभव हो तो इसी आध्यात्मिक नीतिसे ही हो सकता है। अतः यह आध्यात्मिक नीति मनुष्योंके आचरणमें लानेके लियेही उपनिषदों और भगवद्गीतामें कही है। वेदमें भी सबसे प्रारंभमें यही नीति कही है। भगवान् श्रीकृष्णका अवतार इसी आध्यात्मिक नीतिको जनताके आचरणमें लानेके लिये था।

इस तरह विचार करनेसे परमात्माका विश्वरूप मनुष्योंकी दृष्टिमें आ सकता है परन्तु इसलिये राष्ट्रीय प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। जो गीतामें कहा है कि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

हजारों मनुष्योंमें कोई विरलाही इस सिद्धिके लिये यत्न करता है। यह तो सांप्रतके व्यवहारमें सत्यही है। इसमें यद्यपि यह वर्तमान कालका अनुभव है। हजारों वर्षोंके होते हुए भी हीन समाजव्यवस्था हो चुकी थी उस समय सहस्रों मनुष्योंमें एकाध मनुष्य सिद्धिके लिये यत्न करता होगा आजकल कदाचित् सहस्रों मानवोंमें एक

मिलेगा भी नहीं परन्तु लाखोंमें एकाध मिल जायगा। परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि यदि राष्ट्रीय शिक्षापद्धति नये धार्मिक ढंगसे रची जाय और सत्ययुगकी प्रथाको शुरू करनेके लिये सामूहिक रूपसे राष्ट्रीय प्रयत्न हों और सब राष्ट्र उसी ध्येयसे प्रेरित होकर यत्न करें तो वह आध्यात्मिक नीति मानवोंके व्यवहारमें अवश्य आयगी। उस सिद्धिके लिये वैसेही प्रयत्न होने चाहिये। वैसे प्रयत्न होंगे तो अवश्य वैसा पूर्ण पुरुषोंका समाज बनेगा।

आजकल प्रयत्नही विरुद्ध दिशासे होते हैं इसलिये कष्ट बढ़ते जाते हैं। इससे पूर्ण पुरुषोंका समाज कदापि नहीं बन सकता ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। अस्तु।

जो विश्वरूप देखनेकी दिव्य दृष्टि है उसका सार्वदेशिक प्रचार किया जाय तो वह दिव्य दृष्टि सब मानवोंको प्राप्त हो सकती है और जिनमें विश्वरूप देखनेकी दृष्टि जागृत हो सकती है, वे पूर्ण पुरुष बन सकते हैं इसमें कोई संदेहही नहीं। परन्तु अबतक प्रचारकोंकीही कमी है।

यदि दिव्य दृष्टि प्राप्त होकर संजय परमात्माका विश्वरूप देख सकता है और संजयके कहनेपर अंधे धृतराष्ट्रको भी उसकी कुछ कल्पना आ सकती है (गी. अ. ११) और यदि यशोदामाताको भी परमात्माका दिव्य विश्वरूप दीख सकता है (श्रीमद्भागवत) और यदि अर्जुनके रथके चारों ओर खडे रहे सैनिकोंको भी विश्वरूप दर्शन हो सकता है (गी. ११) तो अन्य मनुष्योंको यह विश्वरूप क्यों न दीखेगा? अवश्य अवश्य दीखेगा और सार्वदेशिक प्रचार करनेपर वह सत्ययुग राष्ट्रभरमें अवश्य प्रारंभ होगा। परन्तु उसके लिये योग्य दिशामें प्रयत्न करने चाहिये। अस्तु।

इस कारण यह भगवद्गीतोक्त विश्वरूप-दर्शनसे होनेवाला शुभ व्यवहार मानवी व्यवहारमें परिणत हो सकता या नहीं इस विषयमें किसीको शंका करना योग्य नहीं है। उसका तीव्र प्रयत्न करनेपर सिद्ध होनेवाली यह बात है। प्रयत्न किया तो सिद्धि होगी न किया तो नहीं होगी इत्यादि सब शंकाके विषयमें उत्तर है।

इस तरह श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रत्यक्ष परमेश्वरका विश्वरूप दर्शन करनेका उपदेश किया है जो सर्व जनहितकारी है। अब गीताके अतिरिक्त अन्यग्रंथोंमें जो विश्वरूपदर्शनका वर्णन

माया है वह प्रसंग। इससे पूर्व वेद उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंमें विश्वरूपवर्णन हमने देखा, अब अर्वाचीन ग्रंथोंमें देखेंगे—

गणेशगीतामें विश्वरूप-दर्शन

गणेशगीतामें भी इसी तरह विश्वरूपदर्शनका वर्णन है यह अब देखिये—

असंख्यवक्त्रं ललितमसंख्यांघ्रिकरं महत्।
असंख्यनयनं कोटिसूर्यरश्मिधृतायुधम्॥ ६॥
तद्वत्प्राणि यथा लोका यथास्तेन पृथग्विधाः ॥७॥
यांश्च ऽद्राक्ष तव देहेऽस्मिन्यथानुपिगणान्विभूम्।
पातालानां समुद्राणां द्वीपानां चैव भूभृताम्॥८॥
महर्षीणां सत्तम च नानार्थाः सकुल विभो।
भुवोऽन्तरिक्ष स्वर्गाश्च मनुष्योरगराक्षसान्॥९॥
अनाद्यन्तं लोकादिमनन्तभुजशीर्षकम्॥ १०॥
पातालानि दिशः स्वर्गान्भुवं व्याप्यास्थितं स्थितं ॥१५॥
यथा मनुष्या नागाद्याः खलास्त्वयुदरे तथा।
नानायोनिभुजश्चान्ये त्वय्यथ प्रविशन्ति च॥१७॥
अग्न्युत्पद्यमानास्ते यथा जीमूतबिम्बवः।
त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमश्चैव निर्ऋतिर्वरुणो मरुत्॥१८॥
गुह्यकेशस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिलं जगत्॥१९॥
(गणेशगीता अ. ८।
गणेशपुराण क्रीडा खंड अ. १४२)

ये श्लोक क्रमशः भगवद्गीताके अध्याय ११ के इन श्लोकोंका ही भाव है— ६की ११।१ ११ १६); ७(११।१२ २) ८ (११।१५); १५ (११।२१); १७(११।२); १८-१९ (११।३८ ३९) पाठक दोनों स्थानके श्लोकोंकी तुलना कर और देखें कि दोनों स्थानोंका वर्णन किस तरह समान है। अब इनका आशय देखिये—

असंख्य मुख असंख्य पांव असंख्य नयनवाला यह विश्वरूप कोटि सूर्यसमान प्रभाव युक्त है। उस परमात्माके इस विश्वरूपमें सब लोक है। इस विश्वरूपमें देव ऋषि पितर आदि हुए हैं। पाताल समुद्र द्वीप और पर्वत इसी रूपमें समाये हैं। सब ऋषि भूमि अन्तरिक्ष और स्वर्ग तथा मानव सर्प और राक्षस ये इस विश्वरूपमेंही है। इस विश्वरूपके अनन्त भुजा और अनन्त मस्तक हैं ऐसा यह अनादि और अनन्त विश्वरूप है। यह सब पाताल, दिशा स्वर्ग भूमि आदिको व्यापकर रहा है। देव मानव नाग आदि ये सब इसके पेटमें हैं। नाना योनियोंमें उत्पन्न ये सभी इसी ईश्वरमें प्रविष्ट होते हैं। समुद्रसे जैसे मेघ और जलबिन्दु उत्पन्न होते हैं वैसेही इस विश्वरूपी परमात्मासे इस सबकी उत्पत्ति होती है। यही इंद्र अग्नि यम निर्ऋति वरुण मरुत् गुह्यकेश-कुबेर ईशान सोम सूर्य और अखिल जगत् है।

यह वर्णन स्पष्ट है। परमात्मा विश्वरूप है। उसमें अनन्त मस्तक आंख मुख हाथ पांव चारों ओर हैं। प्राचीन कालके देव ऋषि पितर नाग सर्प आदि सब उसीमें हैं। नाना योनियोंमें उत्पन्न हुए सब प्राणी इस परमात्माके विश्वरूपमें हैं। सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि सब उसीमें हैं। स्वर्ग, मृत्यु पाताल आकाश भूमि और बीचका अवकाश यह सबही इस विश्वरूपमें है। तात्पर्य जो इस विश्वमें था है और होगा, वह सबका सब इस विश्वरूपमें है। इस विश्वरूपसे बाहर कुछ भी नहीं है।

यह वर्णन स्पष्टताके साथ इस विश्वको अथवा इसी परमात्माका विश्वरूप है इस भावको स्पष्टीकरण कर रहा है। यह गणेशगीता गणेश पुराणके क्रीडाखण्ड अध्याय १३८ – १४८ तक है जिसका आठवां अध्याय अर्थात् गणेशपुराण क्री ख अ १४२ वां अध्याय विश्वरूप दर्शनका है।

विनायकका विश्वरूप

गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ. ८१ में विनायकके विश्वरूप का वर्णन आया है। वह भी यहां तुलना करनेके लिये देखने योग्य है—

विनायकं विराड्रूपं गगनाव्यगमस्तकम्।
पातालव्याप्तचरणं दिक्श्रोत्रं चूर्णरामकम्॥ ११॥
अमरद्रुमशाखारोमाढ्यं पर्वतास्थिमस्थितकम्।
नक्षत्राणि यस्य नखामो भांति सिंधुरिव उदरा॥१२॥
उदरं भास्यवक्त्राक्षं भुवनानि चतुर्दश॥ १३॥
(गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ. ८१)

विनायकने विश्वरूप धारण किया। इसका मस्तक आकाशमें था और पातालमें पांव थे। संपूर्ण वृक्ष उसके

शरीरपरके लोम थे रोमावोंमें सब ब्रह्माण्ड घूमते थे समुद्र उसके शरीरपरके जलबिन्दु थे उसके मध्यभागमें ३३ कोटि देव थे उसके एक भागमें १४ भुवन स्थित थे। ' इस तरह यह विश्वरूपी विनायक है। यह वर्णन भी वेदके पुरुषसूक्तके वर्णनके समान दीखता है। पाठक इसकी तुलना गीताके वर्णनके साथ करें। गणेशपुराणमें और एक स्थानमें विश्वरूपवर्णन है वह अब देखिये—

मुखमध्ये ददर्शास्य विश्वं विश्वस्वरूपिणः।
सप्तद्वीपां वसुमतीं पुरग्रामवनाकराम्॥४२॥
ब्रह्माणं भास्करं शेषं विष्णुं पर्वतसागरान्।
गंधर्वाप्सरसांसि मुनिपक्षिगणानपि।
नदीवापीतडागानि मनूनष्टौ वसूनपि॥४३॥
शशिसूर्यानलोडूनि सचेतनमचेतनम्।
पातालान्यपि सप्तानि स्वर्गाण्येकविंशतीम्॥४४॥
एवं त्रिभुवनं दृष्ट्वा मुमूर्च्छ गिरिजा तदा॥४५॥
(गणेशपुराण क्रीडाखण्ड अ. ९२)

पार्वतीने विश्वरूपी गणेशके मुखमें संपूर्ण विश्व देखा। सप्त द्वीप, भूमि नगर ग्राम वन ब्रह्मा सूर्य शेष विष्णु, पर्वत सागर गंधर्व यक्ष राक्षस मुनि पक्षी नदी कूप, तालाब मनु, आठ वसु चन्द्र सूर्य नक्षत्र सब सचेतन और अचेतन सात पाताल इक्कीस स्वर्ग त्रिभुवन यह सब देखा।

यह वर्णन वास्तविक विश्वरूपका वर्णन नहीं है यह ब्रह्माण्ड शक्तियोंको पिण्डमें दर्शानेवाला वर्णन है। पिण्डमें भी वही शक्तियां हैं जो ब्रह्माण्डमें हैं। इन शक्तियोंका दर्शन उमादेवीने अपने पुत्र श्रीगणेशजीके शरीरमें किया। ऐसा वर्णन करनेके स्थानपर लिखनेवालेने अद्भुत कल्पनाके कारण अथवा विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना न होनेके कारण श्रीगणेशजीके मुखमें उमादेवीने विश्व देखा ऐसा कहा। वस्तुतः जो विश्वरूपदर्शन है वह किसीके मुखमें नहीं देखा जाता वह तो विश्वात्माको विश्वरूपमें देखना होता है। परन्तु लिखनेवाले साक्षात्कारी नहीं होते और कल्पनासे जो प्रतीत होता है लिख देते हैं। विश्वरूपी परमेश्वरका नामही विश्वात्मा अथवा सर्वात्मा है उस सर्वात्माको संपूर्ण रूपोंमें देखना है विश्वात्माका अनुभव विश्वके रूपमें करना है। यहां मुखमें विश्व दीखनेकी कल्पना अद्भुत है।

इसी तरह श्रीमद्भागवतमें भी कहा है, यह विषय अब देखिये—

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम्॥३५॥

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजंगमानि॥३६॥
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्संजातवेपथुः॥३७॥
(श्रीमद्भागवत १०।७)

भगवान् श्रीकृष्णने जमुहाई ली तब उसकी माताने उसके मुखमें आकाश वायु, अग्नि जल पृथ्वी दिशा सूर्य चन्द्र समुद्र द्वीप पर्वत नदियां सब स्थावर जंगम भूतोंको देखा और उसके मुखमें सब विश्व देखकर वह कृष्णकी माता कांपने लगी। "

यह विश्वरूप कृष्णके मुखमें देखनेकी कल्पना भी पिण्डमें ब्रह्माण्ड तत्त्व दिखानेके लियेही की गई है। कई लोग इसका नाम विश्वरूपदर्शन कहते हैं, परन्तु यह विश्वरूपदर्शन नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें विश्वात्माके विश्वरूपका वर्णन अनेक प्रकारसे आया है उसका संक्षेपसे यहां उल्लेख किया जाता है।

श्रीमद्भागवतमें विश्वरूप

एकही परमात्मा ब्रह्मा विष्णु–शिवके रूप धारण करता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतकार कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः।
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥२३
(श्री भा. स्कं. १।२।२३)

सत्त्व रज और तम ये तीन गुण परमात्माकी प्रकृतिके हैं इन गुणोंसे युक्त होनेके कारण एकही परात्पर पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह तीन संज्ञाएं धारण करके उत्पत्ति स्थिति और लय करता है और संपूर्ण मानवोंका कल्याण करता है।

[illegible]

[illegible] अनेक रूप

[illegible]

[illegible]

परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥
(श्रीमद्भागवत ३।१।४५)

वासुदेवादि शान्त और राक्षसादि क्रूर रूप ईश्वरकेही हैं। जब शान्त रूपोंको क्रूर रूपोंसे पीड़ा होती है तब वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी अपनी प्रकृतिके साथ उत्पन्न होता है।" यहां शान्त और क्रूर दोनों परमात्माके रूप हैं। यजुर्वेदके रुद्रसूक्तमें रुद्ररूपी परमेश्वरके घोर (क्रूर) और शिव (शान्त) ऐसे रूप हैं ऐसा कहा है वही बात यहां अनूदित हुई है। यजुर्वेदका वचन है—

नम उग्राय च भीमाय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ (य० १६।४० -४१)

उग्र और शिव ये दो प्रकारके रुद्रकेही रूप हैं। और यही न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्मता (अजोऽपि जात) है। यह बात भी यजुर्वेदमंत्रसे की है वैसा देखिये—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा
विजायते । (वा० य० ३१।१९)

"न जन्म लेनेवाला प्रजापति गर्भमें होकर अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है।" यहां अजायमानः विजायते ये यजुर्वेदके शब्द "अजोऽपि जातः" के समानही हैं।

इस तरह श्रीमद्भागवतमें विश्वरूपदर्शन है। अब विष्णुपुराणमें विश्वरूप वर्णन देखिये—

विष्णुपुराणमें विश्वरूप

पुराणोंमें विष्णु-पुराण बहुत प्राचीन है। इस पुराणमें अनेक स्थानोंमें परमात्माके विश्वरूपका वर्णन आया है। यह बहुत बोधप्रद विषय है—

यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुंधरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥ ३७ ॥
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥ ३८ ॥
ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा-
वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥ ३९ ॥
एकः सदैकः परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ४४ ॥
(विष्णुपुराण अं० २ अ० १२)

'विष्णुका जो जलरूपी शरीर है, उससे पर्वतों और समुद्रोंसहित पृथ्वी उत्पन्न हुई। ज्योतियां भुवन वन पर्वत दिशाएं, नदियां समुद्र यह सब विष्णुही है। जो कुछ है वह सब विष्णुही है। विष्णु ज्ञानस्वरूप होनेसे वह अखण्ड रूप है तथापि वह वस्तुरूप किंवा पदार्थाकार नहीं है, उसके अखण्ड रूपसे पर्वत समुद्र पृथ्वी आदि सब विज्ञानकेही विकास हैं ऐसा समझो। वही एक सत्स्वरूप वही परमेश्वर वासुदेव है जिससे पृथक् और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है।'

पृथ्वी आदि पदार्थ भगवान् विष्णुकेही रूप हैं। जल तो (वैष्णव आपः) विष्णु भगवान्का शरीर है। केवल वस्तुमात्र भगवान् नहीं है परन्तु अखण्ड-अशेष रूप भगवान्काही रूप है। सब कुछ वासुदेवही है उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ यहां नहीं है। पूर्वोक्त श्लोकोंमें ये सब बातें कही हैं। और भी देखिये—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः
सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥ ४९ ॥
(विष्णु अं० ३ अ० १)

समस्त देवता मनु सप्तर्षिगण मनुके पुत्र सब देवोंका अधिपति इन्द्र ये सब विष्णुकी अशेष अर्थात् विभूतियां हैं। यहां भी वही बात कही है। देव-मानवादि सब मूर्तियां परमेश्वरकीही हैं अर्थात् देवमानवादि समस्त जगत् विश्वका रूप परमेश्वरकाही विश्वरूप है।

पालनाय भोऽसि त्वमुपति लोकान्बिभर्ति पृथ्वीवपु
रव्ययात्मा। शक्रादिरूपी परिपाति विश्वमर्केन्दु
रूपश्च तमो हिनस्ति ॥ ८७ ॥ करोति चेष्टाः
श्वसनस्वरूपी लोकस्य तृप्तिं च जलान्नरूपी।
ददाति विश्वस्थितिसंस्थितस्तु सर्वावकाशं च
नभःस्वरूपी ॥ ८८ ॥ यः सृज्यते सर्गकृदात्मनैव
यः पाल्यते पालयिता च देवः । विश्वात्मकः
संह्रियतेऽन्तकारी पृथक् त्रयस्यास्य च यो-
ऽव्ययात्मा ॥ ८९ ॥ (विष्णु अं० ४ अ० १)

अग्निरूप भवेद्यस्य तस्मै वह्न्यात्मने नमः ॥ ४५ ॥
तिष्ठत्यन्तर्यो वायौ न वायुर्वेत्ति तं परम् ।
वायुर्यस्य भवेद्रूपं तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ४६ ॥
व्योम्नि तिष्ठति यो नित्यं व्योम वेत्ति न तं हरम् ।
व्योम यस्य भवेद्रूपं तस्मै व्योमात्मने नमः ॥ ४७ ॥
सूर्ये तिष्ठति यो देवो न सूर्यो वेत्ति शंकरम् ।
यस्य सूर्यो भवेद्रूपं तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ४८ ॥
चन्द्रे तिष्ठति विभुश्चन्द्रो वेत्ति न शाश्वतम् ।
चन्द्रो यस्य भवद्रूपं तस्मै चन्द्रात्मने नमः ॥ ४९ ॥

(सूर्य पुराण अ २)

सब विश्वका एकही प्रभु है उसके नेत्र और मुख सब ओर हैं। वह ईश्वर पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य, चन्द्रमें रहता है परन्तु पृथ्वी आप आदि उसे जानते नहीं परन्तु जिसका रूप पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य और चन्द्र हैं उस विश्वात्माको नमस्कार है।

यहां पृथ्वी आप तेज वायु आकाश, सूर्य चन्द्र ये परमात्माके रूप हैं ऐसा कहा है। यही विश्वरूप परमेश्वरका रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद्में अन्तर्यामी ब्राह्मण है वहां यही विषय अधिक विस्तारके साथ कहा है। इसी पुराणमें और देखिये—

नमस्ते विश्वरूपाय नमस्ते परमात्मने ।
त्वमीश्वरो महादेवः परं ब्रह्म महेश्वरः ।
परमेष्ठी शिवः शान्तः पुरुषो निष्कलो हरः ॥ ११ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशमहंकार एव च ।
यस्य रूपं नमस्यामि भवन्तं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ १३ ॥
यस्य द्यौरभवन्मूर्धा पादौ पृथ्वी दिशो भुजाः ।
आकाशमुदरं तस्मै विराजे प्रणमाम्यहम् ॥ १४ ॥

(सूर्यपुराण अ ११)

विश्वरूपी परमात्मा आपके लिये नमस्कार है। तूही ईश्वर महादेव परब्रह्म महेश्वर परमेष्ठी शिव शान्त पुरुष निष्कल हर है। पृथ्वी आप अग्नि वायु आकाश अहंकार यह सब आपका रूप है। उसको मेरा नमस्कार है। जिसकी मूर्धा आकाश है पृथ्वी पांव है दिशाएं भुजा हैं आकाश उदर है उस विराट् भगवान् ईश्वरके लिये मेरा प्रणाम है।

यहां पर यह विश्वरूपका वर्णन है और इनके शरीरमें कौन अवयव कौन है वह भी दर्शाया है इसकी तुलना ऋग्वेद पुरुषसूक्त वर्णन साथ (ऋ १० । ९०)करें। क्योंकि यही वचन यहां लिया है। सूर्यपुराणमें ऐसाही और एक स्थानपर वर्णन है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः किरीटवान् ।
सहस्रवदनो देवः सहस्रचरणः शिवः ॥ १२ ॥
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा त्रिशूली दीप्तलोचनः ।
दंष्ट्राकरालवदनः परमात्मतनुः शिवः ॥ १३ ॥

(सूर्यपुराण अ ११)

यह तो पुरुषसूक्तका रूपान्तरही है। सहस्र मस्तक, सहस्र आकृति सहस्र वदन सहस्र चरण सहस्र बाहुवाला यह विश्वात्मा है। यह परमात्माका शरीर है। अब शिवपुराणका विश्वरूप वर्णन देखिये—

शिवपुराणमें विश्वरूप

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता ।
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः ॥

(शिवपुराण वा स उ अ ५।१०)

हरएक पदार्थमें एक शक्ति रहती है, वह शक्ति महेश्वरी है और वह पदार्थ महेश्वर है। इस तरह एक श्लोकमें मुख्य तत्त्व कहा है। इसी अध्यायमें तथा अन्यत्र बहुत वर्णन है परन्तु वह सब यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी श्लोकसे सब पदार्थोंका महेश्वररूप होना सिद्ध होता है। यह श्लोक मननपूर्वक पाठक देखेंगे तो उनको हरएक पदार्थ किस तरह शिवस्वरूप है इसका यथार्थ ज्ञान होगा।

अन्यान्य पुराणोंमें भी विश्वरूप दर्शनके बहुतसे वर्णन हैं तथापि उन सबको यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ये सब वर्णन एक जैसेही हैं और इनमें कोई विशेषता नहीं है। अतः पुराणवचनोंमें आये विश्वरूप वर्णनका विषय यहां समाप्त करते हैं।

वेद ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् इतिहास और पुराण-ग्रंथोंमें परमात्माके विश्वरूपका विषय है। और सर्वत्र यह विषय समानही है। सब ग्रंथोंका इस विषयमें ऐकमत्य है अतः इसको ऐसाही मानना चाहिये इसमें संदेह नहीं हो सकता।

भगवद्गीताका विश्वरूप

भगवद्गीताके विश्वरूपवर्णनमें संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन नहीं है केवल विनाशक कालरूपकी परमात्माके विकराल रूपकाही वर्णन है। अतः इसका परिपूर्ण वर्णन समझना

उचित नहीं है। परमेश्वरके उत्पत्ति स्थिति संहार आदि अनेक गुण और तदनुसार कार्य हो रहे हैं उनके अनुसार विश्वमें उसके रूप प्रकट हो रहे हैं। वे सबके सब रूप परमात्माके विश्वरूपमें संमिलित हैं और जिस समय साधक उन सब रूपोंको परमात्माके रूपमें सम्मिलित देखेगा उसी *समय उसको परमात्माके विश्वरूपका ज्ञान हो सकता है।*

इससे सिद्ध हुआ कि भगवद्गीतामें जितना विश्वरूपका वर्णन है, वह विशेष कर ईश्वरके संहारभावका है। यद्यपि स्थितिका वर्णन वहां अति संक्षेपसे है अतः वह परिपूर्ण नहीं है, वह अंशमात्रकारी वर्णन है। जिस प्रकारका वर्णन यहां किया है और जो वर्णन अन्यान्य ग्रंथोंमें है उनका अनुसंधान करके पाठक और साधक परमात्माके विश्वरूपको संपूर्णतया अपनी कल्पनामें ला सकते हैं। परमेश्वर अनन्त है और उसका विश्वरूप भी अनन्त है इसलिये उसको अनन्त मानना समझना और कहनाही यथार्थ वर्णन हो सकता है। अर्थात् जितना भी मनुष्यकी कल्पनामें आ सकता है और जितना मनुष्य वर्णन कर सकता है, वह भी उसके विश्वरूपका एकही अंश होगा। भगवद्गीतामें क्या और किसी अन्य ग्रंथमें क्या इसका समग्र वर्णन होना असंभवही है। क्योंकि अनन्तका समग्र वर्णन करना है तो फिर अर्थ आदि सम्बन्धसेही होना संभव है।

धर्माधर्मनिर्णय

इस स्पष्टीकरणसे परमात्माके विश्वरूपकी कल्पना पाठकोंको हो गयी होगी। यह विश्वरूपका विषय अत्यन्त महत्त्वका है और संपूर्ण धर्माधर्मका निर्णय इसी ज्ञानसे होता है। इस कारण हरएक पाठकको उचित है कि वह प्रयत्न करके इसको यथायोग्य समझनेका यत्न करे और समझनेपर उसका पर्याप्त मनन करे तथा मनमें वह ज्ञान स्थिर करे। अपने जीवनके हरएक व्यवहारमें इस दिव्य दृष्टिसे देखकर अपने कर्तव्यको जाननेका यत्न करे और जो कर्तव्य इस रीतिसे निश्चित होगा उसको पूर्ण रीतिसे निभानेकी पराकाष्ठा करे। इसीसे जीवनकी पूर्णता हो सकती है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी० ११।५४)

अनन्य भक्तिसेही (अहं) परमेश्वर (एवंविधः) इस तरह विश्वरूपमें दीखना शक्य है और उसका तत्त्वतः ज्ञान दर्शन और उस परमेश्वरमें अपना प्रवेश है यह अनुभव होना भी संभव है। अनन्य भावका अर्थ है, मैं उससे भिन्न नहीं। यह भाव पूर्वोक्त प्रकार विश्वरूप-दर्शनसेही सिद्ध हो सकता है किसी अन्य रीतिसे नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें (१) अनन्य भाव, (२) विश्वरूप परमेश्वरका ज्ञान (३) विश्वरूप परमेश्वरका दर्शन और (४) विश्वरूप परमेश्वरमें अपने प्रवेशका साक्षात् अनुभव ये चारों बातें क्रमशः अनुभव की हैं। इस तरह साधकको परमेश्वरका साक्षात्कार हरएक स्थानमें हो सकता है और यही नरको नारायणस्वरूप बनानेवाला है। इसीसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गी० ११।५५)

साधक ईश्वरका कर्म करे ईश्वरको परम श्रेष्ठ समझे ईश्वरकी भक्ति करे लोगोंका संग छोड दे और किसी भूतके साथ वैर न करे। जो ऐसा आचरण करेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा।

यह *ईश्वरकी प्राप्ति उक्त प्रकार विश्वरूपी परमात्माका* साक्षात्कार होनेसेही हो सकती है और मनुष्यमात्रके धर्म मार्गका निर्णय इसीसे हो सकता है। मनुष्यको कृतकृत्यता होनेका यही एकमात्र सत्य साधन है।

मनुष्यको यह ज्ञान हो जानेपर अपने कर्तव्य कर्म करनेके निर्णयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता। यही दिव्य ज्ञान मनुष्यको कर्तव्यपथ संदेहरहित और शोकमोहरहित करनेवाला है।

अर्जुनको दिव्य विश्वरूपका दर्शन होनेके पश्चात् उसने कोई कर्तव्यविषयक प्रश्न नहीं किये। इसका कारण यही है कि उसको इस दिव्य ज्ञानसे अपने कर्तव्यका निश्चय हुआ और कोई संदेह नहीं रहा। इतनाही नहीं परन्तु कर्तव्या-कर्तव्यविवेचन करनेकी आवश्यकता भी उसके ध्यानमें आ गयी।

अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे पक्षपातरहित होकर इस विश्वरूपविज्ञानको पहचानें अनुभव करें और अपना जन्मको सार्थक बनावें।

॥ ग्यारहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥११॥

' जो अन्तरात्मा अन्न पकानेके लिये अग्नि हुआ है जो पृथ्वी बनकर सब विश्वको धारण कर रहा है जो इन्द्रादि रूपसे विश्वका पालन करता है और जो सूर्य-चन्द्रादि रूपसे सम्पूर्ण अन्धकारका नाश करता है। जो श्वास प्रश्वास रूप बनकर सब प्राणियोंमें चेष्टा करता है, जो जल और अन्न बनकर सबकी तृप्ति करता है तथा जो आकाशरूप धारण कर सबकी स्थिति करता है। जो सृष्टिकर्ता होकर आपही अपनी रचना करता है जो जगत्का पालन करनेवाला होकर अपनीही पालना करता है और संहारकारी होकर अपने आपकाही संहार करता है तथापि जो उत्पत्ति-स्थिति लयसे पृथक् वर्तमान है। "

इन श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे कहा है कि वह अग्नि आदिक रूप धारण करके विश्वका सब कर्म करता है। अग्नि आदि रूप धारण करनेकाही तात्पर्य विश्वरूप होना है। वह परमात्मा भूमि जल अग्नि वायु, आकाशके रूप धारण करता है यह बात पाठक ध्यानमें लायेंगे तो उनको परमेश्वरका विश्वरूप सहजही समझमें आ सकता है। यही भाव और प्रकारसे देखिये—

त्वं पयोनिधयः शैलाः सरितस्त्वं वनानि च।
मेदिनी गगनं वायुरापोऽग्निस्त्वं तथा मनः ॥१३॥
बुद्धिरव्याकृतप्राणाः प्राणेशस्त्वं तथा पुमान्।
पुंसः परतरं यच्च व्याप्यजन्मविकारवत् ॥१४॥
त्वत्तोऽमराः सपितरो यक्षगन्धर्वकिन्नराः।
सिद्धाश्चाप्सरसस्त्वत्तो मनुष्याः पशवः खगाः ॥१५॥
सरीसृपा मृगाः सर्वे त्वत्तः सर्वे महीरुहाः।
यच्च भूतं भविष्यं च किंचिदत्र चराचरम् ॥१६॥
मूर्तामूर्तं तथा चापि स्थूलं सूक्ष्मतरं तथा।
तत्सर्वं त्वं जगत्कर्ता नास्ति किंचित्त्वया विना।
॥१७॥ (विष्णु० अं० ५ अ० २१)

हे प्रभो! तूही समुद्र पर्वत नदियां वन पृथ्वी आकाश वायु जल अग्नि और मन है। बुद्धि अव्याकृत प्राण प्राणोंका अधीश पुरुष और पुरुषसे जो परे है जो विकाररहित है वह सब तूही है। हे प्रभो! तुमसेही देवता पितृगण यक्ष गंधर्व किंनर सिद्ध अप्सरागण मनुष्य पशु पक्षी सरीसृप मृग सब वृक्ष चराचर सब भूतमात्र मूर्त और अमूर्त स्थूल सूक्ष्म यह सब उत्पन्न हुआ है। यह जो कुछ है वह सबका तूही जगत्कर्ता है। तेरे भिन्न नहीं और कुछ भी नहीं है। यह सब प्रभुका रूप है जो पृथिवी आदि रूपसे दिखाई दे रहा है। यह वर्णन बिलकुल स्पष्ट है। प्रभु जगद्रूप है, यह बात निम्नलिखित श्लोकोंमें कही है। ये श्लोक भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

त्वं कर्ता च विकर्ता च संहर्ता प्रभवोऽव्ययः।
जगर्ता त्वं जगद्रूपः स्तूयते त्वं किं तथा ॥१६॥
व्याप्तिर्व्याप्यं क्रिया कर्ता कार्यं च भगवान्यथा।
सर्वभूतात्मभूतस्य स्तूयते त्वं किं तथा ॥१७॥
परमात्मा च भूतात्मा त्वमात्मा चाव्ययो भवान्।
यथा तथा स्तुतिर्नाथ किमर्थं ते प्रवर्तते ॥१८॥
(विष्णु० अं० ५ अ० १९)

हे प्रभो! तू जगत्कर्ता विकर्ता, पोषक और संहारक है। तू जगद्रूप है। व्याप्ति व्याप्य क्रियाकर्ता और कार्यरूप तूही है। तूही परमात्मा, भूतात्मा और अव्यय आत्मा है।

इन श्लोकोंमें 'त्वं जगद्रूपः' ये शब्द विशेष महत्त्वके हैं। 'तू विश्वरूपी है' इस अर्थमेंही ये शब्द यहां कहे गये हैं। यद्यपि जगत् और विश्वमें थोडा भेद है तथापि वह भेद यहां ध्यानमें नहीं रखा है और दोनों शब्द समानार्थक माने गये हैं। परमात्मा भूतात्मा और जीवात्मा भी एकही आत्मा है और यह भेद कल्पित है ऐसा भी यहां कहा है। और देखिये—

नमस्ते पुंडरीकाक्ष भक्तानामभयंकर।
सनातनात्मन् सर्वात्मन् भूतात्मन् भूतभावन ॥१॥
सन्ध्या रात्रिरहो भूमिर्गगनं वायुरम्बु च।
हुताशनो मनो बुद्धिर्भूतादिस्त्वं तथाच्युत ॥१॥
सर्गस्थितिविनाशानां कर्ता कर्तृपतिर्भवान्।
ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिरात्ममूर्तिभिरीश्वरः ॥१॥
देवा दैत्यास्तथा यक्षा राक्षसाः सिद्धपन्नगाः।
कूष्माण्डाश्च पिशाचाश्च गन्धर्वा मनुजास्तथा ॥११॥
पशवश्च मृगाश्चैव पतंगाश्च सरीसृपाः।
वृक्षगुल्मलता बह्व्यः समस्तास्तृणजातयः ॥११॥
स्थूला मध्यास्तथा सूक्ष्माः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराश्च ये।
देहभेदा भवान् सर्वे ये केचित्पुद्गलाश्रयाः ॥११॥
(विष्णु० अं० ५ अ० ५५)

'हे प्रभो ! हे सनातन स्वरूप ! हे सर्वात्मन् ! हे भूतस्वरूप ! हे भूतभावन ! तुझे नमस्कार है। सन्ध्या, रात्रि दिन भूमि, आकाश, वायु जल अग्नि मन बुद्धि अहंकार ये रूप तुम्हारेही हैं। तूही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा पालनकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिव है। ये सब रूप तुम्हारेही हैं। देव दैत्य यक्ष राक्षस सिद्ध पन्नग कूष्माण्ड, पिशाच गन्धर्व मानव पशु गुल्म तथा समस्त तृणवल्लियां स्थूल मध्यम और सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम जो भी हैं वे सब देहभेदसे आपहीके रूप हैं। यहां देहभेदसे एकही परमात्मा सब रूपोंका धारणकर्ता है यह बात कही है।

त्वया यदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया ।
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर ॥४७॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।
मत्तो नान्यदशेषं यत्तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि ॥४८॥
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः ।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर ॥४९॥
(विष्णु अं ५, अ ३३)

हे शंकर ! आपने जो अभय दिया है वह मैंनेही दिया है। आप अपनेको मुझसे सर्वथा अभिन्न देखें। जो मैं (विष्णु) हूं सोही आप हैं तथा यह संपूर्ण जगत् देव असुर मनुष्य आदि सब कोई मुझसे भिन्न नहीं हैं। जिन लोगोंका चित्त अविद्यासे मोहित है वे भेदको देखते हैं और वेही भेदका वर्णन करते हैं। वस्तुतः भगवान् विष्णुही संपूर्ण विश्वरूपी हैं अतः यहां परस्पर भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो भेददर्शी पुरुष हैं वे सबके सब अविद्याग्रस्त मनुष्य हैं और भेदका अनुभव अज्ञानका फल है।

लिंगपुराणमें विश्वरूप

लिंगपुराणमें निम्नलिखितप्रकार शिवजीका विश्वरूप कहा है—

नित्योऽनित्योऽहमनघो ब्रह्माऽहं ब्रह्मणस्पतिः ॥११
दिशश्च विदिशश्चाहं प्रकृतिश्च पुमानहम् ॥
त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्च छन्दोऽहं तन्मयः शिवः ॥१२
सत्योऽहं सर्वगः शान्तस्त्रेताग्निर्गौरहं गुरुः ।
गौरहं गह्वरश्चाहं नित्यं गहनगोचरः ॥ १३ ॥
आपोऽहं भगवानीशस्तेजोऽहं वेदिरप्यहम् ॥१४॥
ऋग्वेदोऽहं यजुर्वेदः सामवेदोऽहमात्मभूः ।
अथर्वणोऽहं मंत्रोऽहं तथा चांगिरसां वरः ॥१५
इतिहासपुराणानि कल्पोऽहं कल्पनाऽप्यहम् ।
अक्षरं च क्षरं चाहं क्षांतिः शांतिरहं क्षमा ॥१६॥
गुह्योऽहं सर्ववेदेषु वरण्योऽहमजोऽप्यहम् ।
पुष्करं च पवित्रं च मध्यं चाहं ततः परम् ॥१७॥
बहिश्चाहं तथा चान्तः पुरस्तादहमव्ययः ।
ज्योतिश्चाहं तमश्चाहं ब्रह्माविष्णुर्महेश्वरः ॥ १८ ॥
बुद्धिश्चाहमहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
एवं सर्वं च मामेव यो वेद सुरसत्तमाः ॥ १९ ॥
स एव सर्ववित्सर्वं सर्वात्मा परमेश्वरः ॥ २० ॥
लिंगपुराण अ (१८ उपरिभागः)

मैं (ईश्वर) नित्य अनित्य निष्पाप ब्रह्मा ब्रह्मणस्पति दिशा विदिशा प्रकृति पुरुष त्रिष्टुप् जगति अनुष्टुप् छन्द सत्य शान्त शिव त्रेताग्नि गुरु गौ गह्वर जल तेज वेदी ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद मन्त्र इतिहास पुराण कल्प और कल्पना क्षर अक्षर क्षांति शांति क्षमा सर्व वेदोंमें गुह्य अज पुष्कर आदि मध्य अन्त बाहि अन्तः, ज्योति तम विष्णु महेश्वर बुद्धि अहंकार तन्मात्रा इंद्रिय हूं। इस तरह जो मनुष्य मुझ ईश्वरकोही सब कुछ जानता है वह सर्वज्ञ होता है और वह सबको परमात्मा या परमेश्वर जानता है।

इस रीतिसे लिंगपुराणमें ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन है। इस पुराणमें अनेक स्थानोंपर इस तरहके वर्णन हैं परन्तु सबके सब यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस एक उद्धरणसे पाठक जान सकते हैं कि इस ग्रंथमें विश्वरूपका वर्णन किस रीतिसे किया गया है।

सूर्यपुराणमें विश्वरूप

सूर्यपुराणमें निम्न प्रकार विश्वरूपदर्शनका वर्णन है—

विश्वतश्चक्षुरीशानविद्युती विश्वतोमुखः ।
जगतः सर्वभूतानामेक एव महेश्वरः ॥ २१ ॥
पृथिव्यां तिष्ठति विभुः पृथिवी वेत्ति नच तम्।
रूपं च पृथिवी यस्य तस्मै भूम्यात्मने नमः ॥ २२ ॥
अप्सु तिष्ठति नैवापस्तं विदुः परमेश्वरम्।
आपो रूपं च यस्यैव नमस्तस्मै जलात्मने ॥ २३ ॥
योऽग्नौ तिष्ठत्यमेयात्मा न तं वेत्ति कदाचन ।

अग्निरूप भवेद्यस्य तस्मै वह्न्यात्मने नमः ॥ ४५ ॥
तिष्ठन्वायौ यो वायौ न वायुर्वेत्ति तं परम्।
वायुर्यस्य भवेद्रूपं तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ४६ ॥
व्योम्नि तिष्ठति यो नित्यं व्योम वेत्ति न तं हरम्।
व्योम यस्य भवेद्रूपं तस्मै व्योमात्मने नमः ॥ ४७ ॥
सूर्ये तिष्ठति यो देवो न सूर्यो वेत्ति शंकरम्।
यस्य सूर्यो भवेद्रूपं तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ४८ ॥
चन्द्रे तिष्ठति विभुश्चन्द्रो वेत्ति न शाश्वतम्।
चन्द्रो यस्य भवेद्रूपं तस्मै चन्द्रात्मने नमः ॥ ४९ ॥
(सूर्य पुराण अ. २)

सब विश्वका पालक प्रभु है उसके नेत्र और मुख सब ओर हैं। यह ईश्वर पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य चन्द्रमें रहता है परन्तु पृथ्वी आप आदि उसे जानते नहीं परन्तु जिसका रूप पृथ्वी आप तेज वायु आकाश सूर्य और चन्द्र हैं उस विश्वात्माको नमस्कार है।

यहां पृथ्वी आप, तेज, वायु आकाश सूर्य चन्द्र ये परमात्माके रूप हैं ऐसा कहा है। यही विश्वरूप परमेश्वर का रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद्में अन्तर्यामी ब्राह्मण है वहां यही विषय अधिक विस्तारके साथ कहा है। इसी पुराणमें और देखिये—

ब्रह्मणे विश्वरूपाय नमस्ते परमात्मने।
त्वमीश्वरो महादेवः परं ब्रह्म महेश्वरः।
परमेष्ठी शिवः शान्तः पुरुषो निष्कलो हरः ॥ ३१ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुर्व्योमाहंकार एव च।
यस्य रूपं नमस्यामि भवन्तं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ ३३ ॥
यस्य चाऽऽकाशमूर्धा पादौ पृथ्वी दिशो भुजाः।
आकाशमुदरं तस्मै विराजे प्रणमाम्यहम् ॥ ३४ ॥
(सूर्यपुराण अ. २३)

विश्वरूपी परमात्मा-ब्रह्मके लिये नमस्कार है। तूही ईश्वर महादेव परब्रह्म महेश्वर परमेष्ठी शिव शान्त पुरुष निष्कल हर है। पृथ्वी आप अग्नि वायु आकाश अहंकार यह सब ब्रह्मका रूप है। उसको मेरा नमस्कार है। जिसकी मूर्धा आकाश है पृथ्वी पांव हैं दिशाएं भुजा हैं आकाश उदर है उस विशेष तेजस्वी ईश्वरके लिये मेरा प्रणाम है।

यहां परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन है और उसके शरीरमें कानसे अवयव कौन हैं यह भी दर्शाया है। इसकी तुलना पाठक पुरुषसूक्तके वर्णन साथ (ऋ. १०।९०)करें। क्योंकि वही वर्णन यहां किया है। सूर्यपुराणमें ऐसाही और एक स्थानपर वर्णन है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सहस्रनयनो देवः सहस्रचरणः शिवः ॥ १२ ॥
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा त्रिशूली वृषकेतनः।
दंष्ट्राकरालवदनः परमात्मा तु शिवः ॥ १३ ॥
(सूर्यपुराण अ. ३१)

यह तो पुरुषसूक्तका रूपान्तरही है। सहस्र मस्तक, सहस्र आकृति सहस्र नयन सहस्र चरण सहस्र बाहुवाला यह विश्वात्मा है। यह परमात्माका शरीर है। अब शिवपुराण-का विश्वरूप वर्णन देखिये—

शिवपुराणमें विश्वरूप

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता।
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः ॥
(शिवपुराण वा. सं. उ. अ. ५।१०)

हरएक पदार्थमें एक शक्ति रहती है, वह शक्ति महेश्वरी है और वह पदार्थ महेश्वर है। इस तरह एक श्लोकमें मुख्य तत्त्व कहा है। इसी अध्यायमें तथा अन्यत्र बहुत वर्णन है परन्तु वह सब यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी श्लोकसे सब पदार्थोंका महेश्वररूप होना सिद्ध होता है। यह श्लोक मननपूर्वक पाठक देखेंगे तो उनको हरएक पदार्थ किस तरह शिवस्वरूप है इसका यथार्थ ज्ञान होगा।

अन्यान्य पुराणोंमें भी विश्वरूप दर्शनके बहुतसे वर्णन हैं तथापि उन सबको यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ये सब वर्णन एक जैसेही हैं और इनमें कोई विशेषता नहीं है। अतः पुराणवचनोंमें आये विश्वरूप वर्णनका विषय यहां समाप्त करते हैं।

वेद ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्, इतिहास और पुराण-ग्रंथोंमें परमात्माके विश्वरूपका विषय है। और सर्वत्र यह विषय समानही है। सब ग्रंथोंका इस विषयमें ऐकमत्य है, अतः इसको ऐसाही मानना चाहिये इसमें भेद नहीं हो सकता।

भगवद्गीताका विश्वरूप

भगवद्गीताके विश्वरूपवर्णनमें संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन नहीं है केवल विनाशक कालस्वरूपी परमात्माके विनाशक स्वरूपकाही वर्णन है। अतः इसको परिपूर्ण वर्णन समझना

उचित नहीं है। परमेश्वरके उत्पत्ति स्थिति संहार आदि अनेक गुण और तदनुसार कार्य हो रहे हैं, उनके अनुसार विश्वमें उसके रूप प्रकट हो रहे हैं। वे सबके सब रूप परमात्माके विश्वरूपमें संमिलित हैं और जिस समय साधक इन सब रूपोंको परमात्माके रूपमें संमिलित देखेगा उसी समय उसको परमात्माके विश्वरूपका ज्ञान हो सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवद्गीतामें जितना विश्वरूपका वर्णन है वह विशेष कर ईश्वरके संहारभावका है। यदि स्थितिका वर्णन यहां अति संक्षेपसे है अतः वह परिपूर्ण नहीं है, वह अंशभावकाही वर्णन है। जिस प्रकारका वर्णन यहां किया है और जो वर्णन अन्यान्य ग्रंथोंमें है उनका अनुसंधान करके पाठक और साधक परमात्माके विश्वरूपको संपूर्णतया अपनी कल्पनामें ला सकते हैं। परमेश्वर अनन्त है और उसका विश्वरूप भी अनन्त है इसलिये उसकी अनन्त भावना समझना और कदापि यथार्थ वर्णन हो सकता है। अर्थात् जितना भी मनुष्यकी कल्पनामें आ सकता है और जितना मनुष्य वर्णन कर सकता है वह भी उसके विश्वरूपका एकही अंश होगा। भगवद्गीतामें क्या और किसी अन्य ग्रंथमें क्या इसका समग्र वर्णन होना असंभवही है। क्योंकि अनन्तका समग्र वर्णन करना है तो सिर पर्व आदि सम्पूर्णसेही होना संभव है।

धर्माधर्मनिर्णय

इस स्पष्टीकरणसे परमात्माके विश्वरूपकी कल्पना पाठकोंको हो गयी होगी। यह विश्वरूपका विषय अत्यन्त महत्त्वका है और संपूर्ण धर्माधर्मका निर्णय इसी ज्ञानसे होता है। इस कारण हरएक पाठकको उचित है कि वह अध्ययन करके इसको यथायोग्य समझनेका यत्न करे और समझनेपर उसका पर्याप्त मनन करे तथा मनमें यह ज्ञान स्थिर करे। अपने जीवनमें हरएक पदार्थमें इस दिव्य दृष्टिसे देखकर अपने कर्तव्यको जाननेका यत्न करे और जो कर्तव्य इस रीतिसे निश्चित होगा उसको पूर्ण रीतिसे निभानेकी पराकाष्ठा करे। इसीसे जीवनकी पूर्णता हो सकती है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी. ११।५४)

अनन्य भक्तिसेही (अहं) परमेश्वर (एवंविधः) इस तरह विश्वरूपमें दीखना शक्य है और उसका तत्त्वतः ज्ञान दर्शन और उस परमेश्वरमें अपना प्रवेश है यह अनुभव होना भी संभव है। " अनन्य भावका अर्थ है, मैं उससे भिन्न नहीं। यह भाव पूर्वोक्त प्रकार विश्वरूप–दर्शनसेही सिद्ध हो सकता है किसी अन्य रीतिसे नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें (१) अनन्य भाव, (२) विश्वरूप परमेश्वरका ज्ञान (३) विश्वरूप परमेश्वरका दर्शन और (४) विश्वरूप परमेश्वरमें अपने प्रवेशका साक्षात् अनुभव ये चारों बातें प्रत्यक्ष अनुभव की हैं। इस तरह साधकको परमेश्वरका साक्षात्कार हरएक स्थानमें हो सकता है और यही नरको नारायणस्वरूप बनानेवाला है। इसीसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गी. ११।५५)

साधक ईश्वरका कर्म करे ईश्वरको परम श्रेष्ठ समझे ईश्वरकी भक्ति करे भोगोंका संग छोड दे और किसी भूतके साथ वैर न करे। जो ऐसा आचरण करेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा।

यह ईश्वरकी प्राप्ति उक्त प्रकार विश्वरूपी परमात्माका साक्षात्कार होनेसेही हो सकती है और मनुष्यमात्रके धर्म मार्गोंका निर्णय इसीसे हो सकता है। मनुष्यकी कृतकृत्यता होनेका यही एकमात्र श्रेष्ठ साधन है।

मनुष्यको यह ज्ञान हो जानेपर अपने कर्तव्य कर्म करनेके निर्णयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता। यही दिव्य ज्ञान मनुष्यको कर्तव्यदक्ष संदेहरहित और शोकमोहरहित करनेवाला है।

अर्जुनको दिव्य विश्वरूपका दर्शन होनेके पश्चात् उसने कोई कर्तव्यविषयक प्रश्न नहीं किये। इसका कारण यही है कि उसको इस दिव्य ज्ञानसे अपने कर्तव्यका निश्चय हुआ और कोई संदेह नहीं रहा। इतनाही नहीं परन्तु कर्तव्या-कर्तव्यनिर्णय करनेकी कसौटी भी उसके ध्यानमें आ गयी।

अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे निष्कपटरहित होकर इस विश्वरूपविज्ञानको पदपदमें अनुभव करें और अपने जन्मको सार्थक बनावें।

॥ ग्यारहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥११॥

ग्यारहवें अध्यायकी विषयसूची

भक्ति-योग

(१) कौन श्रेष्ठ भक्त हैं?

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— (हे भगवन्!) एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वां पर्युपासते ये च अपि अव्यक्तं अक्षरं (पर्युपासते) तेषां (मध्ये) के योगवित्तमाः (सन्ति)? ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—(हे भगवन्!) इस तरह सतत योग करनेवाले जो भक्त आप (व्यक्त) की उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अविनाशी (आत्माकी उपासना करते हैं) उनमें कौनसे योगी अधिक श्रेष्ठ हैं? ॥ १ ॥

भावार्थ— सतत योगसाधन करनेवालोंमें कई उपासक सगुण रूपकी-व्यक्तकी-उपासना करते हैं और कई उपासक अव्यक्त निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौनसे योगी अधिक श्रेष्ठ हैं? व्यक्तकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं या अव्यक्तकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं? ॥ १ ॥

उपासकोंके दो भेद

(१) ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपका दर्शन कराकर यही विश्वरूपी ईश्वर मनुष्यके लिये एकमात्र उपास्य है ऐसा कहा है। इससे पूर्व आठवें अध्याय (गी ८।२१) में कहा है कि 'अव्यक्त आत्मतत्त्वही परम गति है।' ये दो उपदेश परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं इसलिये अर्जुन प्रश्न करता है कि— हे भगवन्! आप जैसे व्यक्त ईश्वरकी सगुण उपासना करनेवाले भक्त श्रेष्ठ हैं अथवा अव्यक्त आत्मतत्त्वकी उपासना करनेवाले भक्त श्रेष्ठ हैं?

द्वितीय अध्यायसे आठवें अध्यायतक आत्मतत्त्व अव्यक्त है ऐसा अनेकवार कहा है। इससे अव्यक्तकी उपासना करनी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है—

१ अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। (गी. २।१७)

२ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य ॥ (गी २।१८)

३ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गी २।२०)

४ अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥ (गी २।२५)

५ देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥ (गी २।३०)

६ इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः
परतस्तु सः ॥ (गी ३।४२)

७ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥ (गी ६।२९)

८ अष्टधा अपरा प्रकृति ॥ (गी ७।४)
जीवभूता परा प्रकृति ॥ (गी ७।५)

९ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (गी ७।६)

१० मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गी ७।७)

११ रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ॥ (गी ७।८)

१२ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। (गी ७।२५)

१३ अक्षरं ब्रह्म परमं ॥ (गी ८।३)
अधिभूतं क्षरो भावः ॥ (गी मू. ८।४)

१४ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥ (गी ९।४)

१५ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गी ९।१०)

१६ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (गी ९।११)

(१) अविनाशी वह आत्मतत्त्व है जिसने इस विश्वका विस्तार किया है (२) नित्य आत्माके ये सब देह नाश वाले हैं आत्मा अविनाशी और अप्रमेय है (३) शरीर मारा जानेपर भी उसमें रहनेवाला आत्मा शाश्वत नित्य

*

(२) श्रेष्ठ भक्तोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अजन्मा और पुरातन है, अतः शरीरके नाश होनेपर भी वह सदा एक जैसा स्थायी रहता है (४) यह अव्यक्त अचिन्त्य और अविकारी आत्मा है, (५) देहमें आत्मा अवध्य है (६) इंद्रिय-मन-बुद्धिसे आत्मा परे और श्रेष्ठ है, (७) सर्व भूत आत्मामें और सर्व भूतोंमें आत्मा है, (८) ईश्वरकी प्रकृति परा और अपरा ऐसी दो प्रकारकी है और (९) ईश्वरही सबकी उत्पत्ति करता है (१०) सूत्रमें मणि रहनेके समान परमेश्वरमें यह सब विश्व है, (११) जलमें रस चन्द्रसूर्यकी प्रभा ईश्वरकी विभूति है (१२) अव्यक्त स्वरूपवाले ईश्वरको मूर्ख लोग व्यक्त मानते हैं और ईश्वरके श्रेष्ठ भावको जानते तक नहीं (१३) ब्रह्म अक्षर है और सब भूत क्षर हैं, (१४) यह सब अव्यक्त ईश्वरने बनाया है (१५) ईश्वर इस जगत्का अध्यक्ष है और वह सब चराचरको उत्पन्न करता है (१६) ईश्वरका श्रेष्ठ भाव न जानते हुए मानवी शरीरको प्राप्त हुए उसका अपमान करते हैं ।

इस तरह अनेकानेक वचनोंमें अव्यक्त आत्मतत्त्वकी प्रशंसा की गई है । इस तरह अव्यक्त आत्माकी उपासनाका महत्त्व दर्शाकर ग्यारहवें अध्यायमें सम्पूर्ण विश्वरूपी परमेश्वर सबका उपास्य है ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा गया है । अतः अर्जुनके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि इन दो प्रकारके भक्तोंमें अर्थात् अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले और सगुण विश्वरूपकी उपासना करनेवालोंमें कौनसा भक्त श्रेष्ठ है ?

वस्तुतः देखा जाय तो क्षर और अक्षर मिलकरही ब्रह्मात्मक पुरुषोत्तम है । यही दिव्य दृष्टि भगवद्गीतामें कही है । यही दिव्य दृष्टि भगवद्गीतामें ७ वें अध्यायसे समझायी गई है और ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपी परमात्माका दर्शन कराया गया है । जब अपरा प्रकृति परमात्माकीही प्रकृति है (गी. ७।४) तो पृथ्वी आप आदिक पंचमहाभूत भी रूप उसी ईश्वरीय प्रकृतिकेही हुए । यहां किसी अन्यका रूप नहीं है और अपरा प्रकृतिसे भिन्न अक्षर परमात्मा किसीके अनुभवमें आना भी असंभव है । जिस तरह ईखके साथ अक्षर रहता है उसी तरह अक्षरमें रस है । अलगसे रस विभिन्न नहीं किया जा सकता । कोई मनुष्य केवल रस कीही उपासना करना चाहे और ईखको स्पर्श भी न करे तो उसकी वह कामना कैसे सिद्ध हो सकेगी ? रस लेनेके समय ऊख लेनाही पड़ेगा । इसी तरह अव्यक्त आत्माको प्राप्त करनेके लिये अपरा प्रकृतिके किसी न किसी रूपको प्राप्त करनाही चाहिये । यदि ऐसा है तो अव्यक्त अक्षर के उपासक और व्यक्त के उपासक इनमें (योग-वित्-तमाः) सबसे अधिक योग जाननेवाले कौन है यह प्रश्न सुसंगत कैसे हो सकता है ?

सब रीतिसे देखा जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । सातवें अध्यायसे लेकर ग्यारहवें अध्यायतकका उपदेश ठीक प्रकार समझमें आ गया और—

वासुदेवः सर्वं (सब कुछ वासुदेव है)

यह योग्य रीतिसे ध्यानमें आ गया तो पश्चात् व्यक्तकी उपासना और अव्यक्तकी उपासना भिन्न है और उनमें एक श्रेष्ठ है और दूसरी निकृष्ट है यह प्रश्न अनावश्यक होती है । क्योंकि क्षर और अक्षर ये दो पदार्थ भिन्न हैं तथापि ऊख और रस अथवा मिश्रीका ढेला और मिठास के समान ये दोनों परस्पर भिन्न नहीं परन्तु मिलकरके ये दोनों क्षर और अक्षर की अवस्थाएं एकही पुरुषोत्तम पर आश्रित हुई हैं । इस कारण क्षर और अक्षर परस्पर भिन्न नहीं है पर एकही सद्वस्तुके दो पहलू हैं ।

पाठक इस तरह विचार करके जानें कि यह प्रश्न पूर्वस्थानमें दिया ज्ञानविज्ञान न समझनेके कारणही उत्पन्न हुआ है । परन्तु केवल अर्जुनही यह प्रश्न कर रहा है ऐसी बात नहीं है । व्यक्त-रूप की उपासना करनेवाले और अव्यक्त-अरूप- की उपासना करनेवाले ऐसे उपासकोंके दो भेद माने जाते हैं और उनमें श्रेष्ठ कनिष्ठ दर्जा समझा जाता है । इस मतभेदके कारण बड़े विवाद भी होते आये हैं इसलिये इस प्रश्नका विचार सार्वभौमिक महत्त्व रखता है । अब इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह देते हैं यह हमें मननपूर्वक देखना उचित है । इसका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है—

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच- (हे अर्जुन !) मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः (सन्तः) ये परया श्रद्धया उपेताः मां उपासते ते युक्ततमाः मे मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् कहते— (हे अर्जुन !) मुझ (मेरे व्यक्त रूप) में मन लगाकर नित्य योग करते हुए जो श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मेरी (व्यक्त रूपकी) उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ योगी हैं ऐसा मेरा मत है ॥२॥

भावार्थ— जो मन एकाग्र करके परमेश्वरके व्यक्त रूपकी बडी अचल श्रद्धासे उपासना करते हैं वे सचमुच श्रेष्ठ योगी हैं। अर्थात् साकार रूपकी उपासना बडी श्रद्धासे करते हैं, वेही श्रेष्ठ योगी हैं ॥ २ ॥

श्रेष्ठ भक्त

(१) जो परमेश्वरके सगुण रूपमें मन लगाकर नित्य परमेश्वरकी सगुण भक्तिमें तत्पर होकर परम श्रद्धासे ईश्वर की सगुण उपासना करते हैं वे (युक्ततमाः) योगियोंमें श्रेष्ठ योगी हैं। यह मेरा निज मत है (मे युक्ततमाः मताः) ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके मतसे व्यक्त रूपकी उपासना करनेवाले योगी श्रेष्ठ होते हैं यह बात निश्चित है।

श्रेष्ठ योगी होनेके लिये जो बातें आवश्यक हैं वे ये हैं—

१ मनः आवेश्य = ईश्वरमें मन लगाना

२ नित्ययुक्ताः = ईश्वरसे नित्य योग संबंध करना कुशलतासे साथ कर्म करना

३ परया श्रद्धया उपेताः = श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होना।

ईश्वरका रूप वही है जो इस विश्वमें दिखाई देता है। जो आंखसे दिखाई देता है विश्वका वही रूप परमात्माका व्यक्त रूप है। यह रूप अनन्त है उसमें जो अपनी उपासनाके लिये योग्य है वही लिया जावे और उसमें अपना मन पूर्णतासे साथ लगाया जावे मनमें उसके विषयमें भक्तिभाव नित्य और मुख्य रहे और जो कुछ किया जाय वह परम श्रद्धासे किया जावे। इस तरह जो भक्ति होती है वही श्रेष्ठ भक्ति है। यहां तीन बातें मुख्य हैं—

(१) मन लगाना। जब मन किसी विषयमें लग जाता है तब सम्पूर्ण इंद्रियाँ उसीमें लग जाती हैं तब शरीरही अर्पण हो जाता है। मन लगनेपर अपने पास और कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। मनहीसे जागृतिके संपूर्ण व्यापार होते हैं अतः मन परमेश्वरकी किसी विभूतिमें लग जानेके कारण जागृतिके सभी व्यापार उस विभूतिको समर्पित हो जाते हैं।

(२) नित्य योग करनेसे अपने समयका समर्पण हो जाता है। अपने पास जो समय है वह सब नित्य शब्दसे जाना जाता है। नित्य उपासना करनेका अर्थ यही है कि अपना संपूर्ण समय उसके लिये दे देना अपने समयमें दूसरा कुछ न करना। अपने पास जो आयु है वह सब 'नित्य' शब्दसे बोधित होती है। नित्य-योग करनेका आशय यही है कि अपनी सम्पूर्ण आयुमें ईश्वरके साथ संयुक्त रहना उससे वियुक्त न होना। यही अपनी आयुका समर्पण हुआ है। अपनी आयुमें सब कार्य सदा कुशलताके साथ करना।

(३) इस तरह मन और आयुका समर्पण होनेके पश्चात् वह समर्पण किस प्रकार करना चाहिये आगे इसका उत्तर परम श्रद्धासे ऐसा दिया है। अश्रद्धासे बनावटी अथवा दिखावटी रीतिसे नहीं। अर्थात् अत्यंत तत्परतासे वह समर्पण होना चाहिये। तर्क-वितर्क-कुतर्क छोडकर श्रद्धासे आत्मसमर्पण होना चाहिये।

जो भक्तिमार्गकी मुख्यताके लिये तीन बातें आवश्यक हैं वे ये हैं— (१) अपने मनका समर्पण (२) अपनी आयुका-जीवनका समर्पण और (३) परम श्रद्धासे उपासना करना। इसीसे मुक्तता प्राप्त होती है और मनुष्य श्रेष्ठ भक्त बन सकता है।

यहां मयि (मुझमें) ऐसा कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण यहां अपने व्यक्त रूपके विषयमें बोल रहे हैं। इससे व्यक्त रूपकी उपासना सूचित होती है। मुझमें मन लगाओ इसका अर्थ जो पांडवोंके साथ कार्य कर रहा है उस श्रीकृष्णके व्यक्त रूपमें मन लगाओ अर्थात् इसी तरहके जो परमेश्वरकी विभूतियोंके रूप हैं उन रूपोंमेंसे किसी रूपपर मन लगाओ। किसी भी विभूतिपर मन स्थिर किया उस विभूतिके लिये अपना तन मन धन अर्पण किया तो वही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

यहां हमने विभूतियोंके वर्णन करके किसी विभूतिपर मन स्थिर करनेका विधान किया है। परंतु इससे भी जो उन्नत हुए हैं और जिनको विश्वरूपी परमेश्वरका स्वरूप प्राप्त हुआ है वे किसी विश्वरूपपर भी अपना मन स्थिर कर सकते हैं। कोई रूप हो वह उसी एक अद्वितीय आत्माका रूप है और इसकी भक्ति करनेसे उस अद्वितीय आत्माकी भक्ति हो सकती है ऐसे सुदृढ विश्वाससे जो अपना मन उस विश्वरूपके ऊपर स्थिर करता है अपनी आयु उसकी भक्तिके लिये अर्पण करता है और परम श्रद्धासे उसकी सेवा करता है वह भी श्रेष्ठ पदवी प्राप्त कर सकता है।

इस तरह इस विश्वरूपमें जैसे रामकृष्णादि विभूतियां हैं उसी तरह ब्राह्मण क्षत्रिय भी हैं पीछे रहे शूद्रादि भी हैं लडनेवाले वीर हैं समाममें घायल हुए सैनिक हैं अन्य रीतिसे बीमार हुए रोगी हैं गौ आदि पशु हैं तथा वृक्ष वनस्पति भी हैं। जिसमें जो आ सकता है वह सब इसका उपास्य हो सकता है। अव्यक्त परमात्माका व्यक्त सगुण रूप यह सब विश्व है अतः सगुण व्यक्त रूपकी उपासना करनेवालोंके लिये मनकी स्थिरता करने योग्य आलंबनकी न्यूनता नहीं है। कुछ लोग देशको स्वतंत्र करनेवाले श्रीरामचन्द्रको अपना उपास्य समझेंगे उसी तरह कुछ अन्य उन युद्धमें लडनेवाले छोटे मोटे वीर वानरोंकी भी उपासना करनेके लिये उत्सुक होंगे। इसी तरह इस समय दुर्दशा करनेवाले भद्र पुरुषोंकी यथाशक्ति सेवा करना भी ईश्वरकी सगुण उपासनामें सम्मिलित है इसमें संदेह नहीं है।

दस सहस्र वर्षोंके पूर्व हुए श्रीरामचन्द्रजी परमेश्वरकी विभूति हैं और तीन सौ वर्षोंके पूर्व उत्पन्न हुए श्रीशिवाजी महाराज अथवा राणा प्रताप विभूति नहीं हैं ऐसा नहीं है। और इस समय जो राष्ट्रोद्धारका प्रयत्न कर रहे हैं वे विभूति नहीं हैं ऐसा भी नहीं है। प्राचीन कालके मध्य कालके और वर्तमान कालके सब भद्र पुरुष और महात्मा लोग विभूति हैं और भक्ति सेवा करने योग्य हैं। विशेषतः इस वर्तमान समयमें जो कार्य कर रहे हैं उनके विषयमें आदर भक्ति दर्शाना आवश्यक है।

यदि विश्व यह सभी रूप परमेश्वरका सगुण रूप है तो इसमें प्राचीन कालका एक विशेष रूप सेव्य है और अर्वाचीन कालका रूप सेव्य नहीं ऐसा मानना अयोग्य है। सभी रूप परमात्माके सगुण रूप हैं और अनन्य भावसे सेवा करने योग्य हैं। कौन किसकी कैसे सेवा करे यह विचारणीय और मननीय प्रश्न है। जो लोगोंके उपयोगी वस्तु निर्माण कर सकते हैं वे उस कार्यको कुशलतासे करके दूसरोंकी सेवा करें। जो विद्वानोंके अनुकूल रहकर उनके योग्य कार्य कर सकते हैं, वे वैसा करें। जो उनकी हीन अवस्थामें रहे लोगोंका उद्धार कर सकते हैं वे उनके उद्धारका कार्य करके विश्वसेवा करें। जो चिकित्सा कर सकते हैं वे हर प्रकारके रोगियोंकी उत्तम चिकित्सा करके विश्वसेवाका जितना भाग अपनेसे हो सकता है उतना उत्तम रीतिसे करें। यहां एकही कार्य हरएकको करना चाहिये ऐसी बात नहीं है। जो जिससे हो सकता है वह अपना तन-मन धन अर्पण करके विश्वसेवाभावसे परम श्रद्धासे करे। इससे सगुण भक्ति होगी।

(मनः आवेश्य) उसी कार्यमें अपना मन लगाकर, (नित्ययुक्ताः) नित्य कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए (परया श्रद्धया उपेताः) उत्तम श्रद्धा भक्तिसे विश्वसेवा-भावसे अपना कर्तव्य करना चाहिये। इससे हरएक प्रकारका मनुष्य अपना कर्तव्य करके परमेश्वरकी भक्ति कर सकता है। यही ईश्वरकी सेवा है। सगुण परमेश्वरकी यह प्रत्यक्ष सेवा है।

सगुण भक्तिमें प्राचीन कालकी विभूतियोंकीही सेवा आती है यह विचार इस समय बहुत लोगोंमें प्रचलित हुआ है और इस कारण उनकी मूर्तियां बना बना कर बहुत बडा भक्तिमार्ग चलाया जा रहा है। इस कारण इस समय प्रत्यक्ष रूपमें जो परमेश्वर अनेक रूपों द्वारा अपने संमुख उपस्थित हुआ है उसकी यथायोग्य सेवा कोई नहीं करते। यह कितना विचित्र है इसका विचार पाठक करें। इस समय उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वरका रूप छोडना और दस पांच हजार वर्षोंके पूर्व हुए उसी ईश्वरकी विभूतिके पीछे लगना कितना अविचारका कार्य है! यहां हम प्राचीन विभूतिकी पूजाका निषेध नहीं करते परन्तु वर्तमान समयमें उपस्थित हुए विश्वरूपमें सम्मिलित प्रत्यक्ष ईश्वरके रूपकी विशेष सेवा होनी चाहिये यही बताना चाहते हैं। इस विषयमें कई उदाहरण देखने योग्य हैं।

मातापिताके जीवित होनेके समय उनकी यथायोग्य सेवा न करना परन्तु उनके मृत्युके पश्चात् उनके नामसे दान श्राद्ध आदि करना। यहां मरणोत्तरक्रियाका निषेध नहीं है अपितु पितरोंकी जीवित दशामें उनका यथायोग्य सत्कार करनेकी आवश्यकता बतानेका उद्देश है।

शंकर विष्णु नारायण इंद्र वरुण आदि प्राचीन विभूतियों को तथा रामकृष्ण वामन आदिको परम उपास्य मानना परन्तु इतिहास-क्रममें उत्पन्न हुए श्रीशिवाजी रामदास राणा प्रताप आदिकोंको वैसा न मानना और इस समयके राष्ट्रकार्य करनेवालोंका अनुगामी न होना यह अनुचित है। परमेश्वरकी विभूति हजारों वर्षोंके पूर्वही हो चुकी थी और इस समय परमेश्वरकी विभूति कोई नहीं है ऐसा मानना एक महा भ्रम है।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र विराट् पुरुषके सिर बाहु उदर और पांव हैं यह ऋग्वेद (मं १।९।१२) का कथन इस विषयमें स्पष्ट है। इसमें कोई संदेहही नहीं है। ये सब विराट् पुरुषके रूप हैं। ये प्रत्यक्ष रूप हैं। अनेका नेक रीतियोंसे इनकी सेवा की जा सकती है। अपने राष्ट्रके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंकी सेवा करनेका अवसर छोडना और उनको भूखों मरते देखकर अन्य उपासनादि व्यवहार करना व्यर्थही हो सकता है जबतक मनुष्य ईश्वरके सच्चे और प्रत्यक्ष सगुण रूपको न जानता हो।

अपने घरमें पुरुषके लिये स्त्री और स्त्रीके लिये पुरुष ये भगवान्‌के सगुण रूपही बनने चाहिये। इसी तरह माताको पुत्र और पुत्रको माता, परमेश्वरके सगुण रूपही बनने चाहिये, ग्राममें अच्छे अध्यापक जनहितकर्ता लोग ये सब ईश्वरके रूप हैं, राष्ट्रमें राष्ट्रहितकारी कार्यमें अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले सचमुच ईश्वरके सगुण रूप हैं। इनको छोडना और सर्व काल प्राचीन विभूतिके पीछे पडना सच्ची विभूतिपूजा या सगुण उपासना नहीं है।

प्राचीन विभूतियोंकी पूजा उपयोगी है इसमें संदेह नहीं। परन्तु वह उपयोग कौनसा है इसका विचार होना चाहिये। वे प्राचीन विभूतियां आदर्श विभूति का स्वरूप बता रही हैं। जैसा श्रीरामचन्द्रने उस समयके ३३ करोड देवजातिके लोगोंको रावणकी परतंत्रतासे मुक्त किया और स्वातंत्र्य दिया। इस उदाहरणसे हम सम्यकालकी विभूतियोंकी परीक्षा कर सकते हैं और इस समयकी विभूतियोंका भी निश्चय कर सकते हैं। इस तरह निश्चय करके इस समयकी विभूतियां जानना और उनके अनुगामी बनना चाहिये। उप–आसना का अर्थ उसके पास पहुंचना उनका अनुगामी होना उनकी सहायता करना, उनका सिद्धान्त आचरणमें लाना है।

इसके अतिरिक्त भी सगुण उपासना है। संपूर्ण विश्वरूप परमात्माकाही सगुण रूप है यह माननेपर अवयव और क्लेशयुक्त स्थितिमें रहनेवाली जनता भी उस विश्वरूपमें आती है यह बात सभी जान सकते हैं। मनुष्यकी सेवा करनेमें उसके उस अवयवकी सेवा है कि जिस अवयवको क्लेश होते हों और जिसको आराम पहुंचानेकी आवश्यकता विशेष है। पांव दुखता हो तो उस पांवकी मालीश करना हाथपर व्रण हुआ हो तो हाथपर मरहमपट्टी लगाकर उस स्थानपर आरोग्य स्थापित करना। इस तरह जहां आराम पहुंचाना चाहिये वहां आराम पहुंचानेका यत्न करनेका नाम सेवा उपासना अथवा भक्ति है।

गुरुको आराम पहुंचानेकाही नाम गुरुभक्ति है। इस तरह विचार करनेपर यह बात निश्चित होगी कि परमात्माके जिस भागको विशेष क्लेश हो रहे हैं उसको आराम देनेका यत्न करनेका नामही परमेश्वरकी भक्ति है।

परमात्माका सगुण रूप यह सब विश्वरूपही है। इस विश्वरूपमें सब मानवजाति सब पशुपक्षियोंकी जाति सब कीटपतंगोंकी जाति सब वृक्षवनस्पतियोंकी जाति संमिलित है। उसकी सेवा एक मनुष्य कर नहीं सकता इसलिये जो उससे हो सकता है उतनीही सेवा उसको करनी चाहिये। परमेश्वरके किस विश्वरूपके भागको क्लेश दुःख अथवा कष्ट हो रहे हैं? अपने यहां अशिक्षित दरिद्री अस्पृश्य जातियां हैं अपने राष्ट्रमें रोगियोंकी संख्या बढ रही है। ये सब क्या लोग परमेश्वरके विश्वरूपके भाग हैं या नहीं? यदि सब विश्वरूप परमेश्वरका रूप है तो उस विश्वरूपमें ये क्लेशयुक्त लोग आते हैं या नहीं? क्या ये उस विश्वरूपी परमात्मासे पृथक् हैं? क्या इन रूपोंमें उपस्थित होकर आपसे सेवा लेनेके लिये परमेश्वर आपके पास नहीं आ रहा है? इस तरह सच्चा ईश्वर आपके सामने उपस्थित होनेपर आप उसकी सेवा कर रहे हैं अथवा उसको

(३) अव्यक्तके उपासक

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अपमानित कर रहे हैं ? और उसकी सेवा करनेके स्थानपर प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी सेवा करनेके लिये सैकडों हजारों और लाखों रुपये व्यय कर रहे हैं ? ये सब विचारणीय समस्यायें हैं।

वेदसे लेकर भगवद्गीता तकके संपूर्ण ग्रन्थभंडारमें परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन किया है और संपूर्ण जनता उस विश्वरूपमें संमिलित है ऐसा असंदिग्ध रीतिसे कहा है। इस जनताके रूपसे आपका परमेश्वर हर समय आपके सम्मुख उपस्थित है उसके जिस भागको अधिक कष्ट पहुंच रहे हैं उसकी सेवा अनन्य भावसे (मैं उससे पृथक् नहीं इस भावसे) करना आपका परम आवश्यक कर्तव्य है। क्या यह आप कर रहे हैं ? इस कर्तव्यको न करते हुए जो अन्य व्यापार आप उपासनादि नामसे कर रहे हैं उनका क्या उपयोग हो सकेगा ? यही सच्ची सगुण उपासना है। यहां आप प्रत्यक्ष परमेश्वरका सगुण रूपमें दर्शन कर सकते हैं मैं उससे भिन्न नहीं यह अनन्यभावकी सम्भवता यहां है सेवा किस तरह करनी चाहिये यह भी स्पष्ट हो सकता है। यह विश्वरूपकी उपासना न करना और उसके स्थानपर किसी प्राचीन विभूतिकी उपासना करना यह कितना अज्ञान है। यहां विभूतिकी मूर्तिकी उपासनाका निषेध नहीं है परन्तु सच्ची विश्वसेवाका स्वरूप बताया है। पाठक इस दृष्टिसे इसका विचार करें।

जो सगुण उपासना करनी चाहिये वह यह विश्वसेवाही है। उपासक लोग इस सच्ची सगुण उपासनासे अर्थात् सच्ची विश्वरूप उपासनासे सच्ची ईश्वरसेवासे कितने दूर गये हुए हैं यह पाठक देखें और सोचें और सच्ची उपासनाका मार्ग जानकर उस सच्ची उपासनाका अनुष्ठान करें।

यही सच्ची विश्वसेवारूपी सच्ची सगुण उपासना श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रतिपादित उपासना है। जो तीन बातें इस सगुण उपासनामें होनी चाहिये ऐसा इस श्लोकमें कहा है वे तीनों बातें इस सगुण उपासनामें प्रत्यक्षतया अनुभव हो सकती हैं और अपनी यथार्थ ईश्वर संतुष्ट हुआ है या नहीं इसका भी पता यहां उपासकको प्रत्यक्ष लग सकता है। जो तीन बातें विशेषतया आवश्यक हैं, वे ये हैं— (१) मय्यावेश्य मनः = मन लगाकर उपासना करना यह बात इसी विश्वसेवा-व्रतमें हो सकती है। क्योंकि उपासनासे प्रत्यक्ष ईश्वर संतुष्ट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव यहां आ सकता है और जैसे जैसे अनुभव होता जाता है वैसेही वैसे मन भी इसी उपासनामें स्थिर हो सकता है। (२) नित्ययुक्ताः = सदा इस भक्तियोगको करना यह इसी विश्वसेवामें हो सकता है क्योंकि विश्वमें जहां जहां कष्ट दुःख परवशता आदि विपत्तियां रहती हैं वहां वहां जा कर उन विपत्तोंको सुख पहुंचानेरूपी जो विश्वसेवा है यह इतनी है कि जितने उपासक इसमें आत्मसमर्पण करनेके लिये आ जांयगे उनकी सदाही आवश्यकता रहेगी अर्थात् यह भक्ति सदा हो सकनेमें कोई कठिनता नहीं है। किसी मूर्तिकी पूजा अथवा किसी संत-महंतकी सेवा थोडी देर तकही हो सकती है यह नित्य होना असंभव है। परन्तु यह विश्वसेवा सदाही हो सकती है। (३) परया श्रद्धया उपेताः = श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर भक्ति करना, यह इस विश्वसेवा व्रतमें प्रत्यक्षतया होनेवाली बात है क्योंकि अपनी जो हुई सेवा परमेश्वरको प्रत्यक्ष पहुंच रही है यह इस विश्वसेवामें प्रत्यक्ष दीखता है। अतः हर समय उपासककी श्रद्धा दृढ होती जाती है। किसी मूर्ति-विशेषकी जो पूजाभक्ति है वह ईश्वरको पहुंचती है या नहीं इसमें प्रत्यक्षता नहीं है वह तो एक विश्वासपर मानी जानेवाली बात है। परन्तु विश्व सेवा विश्वात्माको प्रत्यक्ष पहुंचती है और उससे उसकी प्रगति होती है यह उपासक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। अतः उसकी श्रद्धा अनुभवसे बढती जाती है।

इस त्रिविध सगुण उपासनाकी तीनों बातें इस विश्वसेवारूप उपासनामें प्रत्यक्ष सिद्ध हो सकती हैं। इस तरह विश्वसेवाकी उपासना करनेवालेही श्रेष्ठ योगी होते हैं। अब अव्यक्त उपासनाका मार्ग देखिये—

अन्वयः— ये तु सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धयः (सन्तः) इंद्रियग्रामं च संनियम्य अव्यक्तं अचिन्त्यं अनिर्देश्यं सर्वत्रगं कूटस्थं अचलं ध्रुवं अक्षरं च उपासते ते मां एव प्राप्नुवन्ति ॥ ३-४ ॥ अव्यक्तासक्तचेतसां तेषां अधिकतरः क्लेशः (अस्ति तैः) देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखं अवाप्यते हि ॥ ५ ॥

जो सब प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर होकर, सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए सब इंद्रियोंका संयम कर अव्यक्त अचिन्त्य अवर्णनीय सर्वव्यापक सर्वोपरि स्थित अचल स्थिर और अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं वे मुझेही प्राप्त होते हैं ॥ ३—४ ॥ अव्यक्तपर जिनका चित्त लगा है उनको बहुत कष्ट होते हैं क्योंकि देहधारियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बहुतही कष्टसे होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो सब प्राणियोंका हित करनेमें दत्तचित्त हैं और जिनकी दृष्टि सम हो चुकी है वे अव्यक्तकी उपासना करनेपर भी ईश्वरकोही प्राप्त होते हैं परंतु मनुष्योंको अव्यक्तकी उपासना करना बडा कष्टप्रद है ॥ ३-५ ॥

(३-५) अव्यक्तके उपासक ' (अक्षरं) अविनाशी (अनिर्देश्यं) निर्देश करने या वर्णन करनेके असमर्थतासे लिये कठिन (अव्यक्तं) अदृश्य (सर्वत्रगं) सर्वव्यापक, (अचिन्त्यं) मनन करनेके लिये कठिन (अचलं) न हिलनेवाले अर्थात् (ध्रुवं) स्थिर परन्तु (कूटस्थ) सबसे उच्च स्थानमें स्थित ऐसे अव्यक्त परमात्माकी उपासना करते हैं। वे लोग साकार सगुण उपासनाका उपहास भी करते हैं और साकार सगुणकी उपासना करनेवालोंको हीन भी समझते हैं, तथा अपने आपको निराकार अव्यक्तकी उपासना करनेके कारण उच्च भी समझते हैं। वे व्यवहार जगत्में चलती रहे हैं।

निराकार परमात्माके उपासकोंने इस समयतक कितनी मूर्तियां तोडी हैं मूर्तिपूजकोंको कितने कष्ट दिये हैं, कितने युद्ध किये हैं इसका कोई हिसाब नहीं है। इतिहासके पृष्ठ इन युद्धोंके वर्णनोंसे भरे पडे हैं। परन्तु हम उनसे इतनाही पूछना चाहते हैं कि जिस समय आंख बंद करके आप ध्यान लगानेका यत्न करते हैं उस समय अचिन्त्यका चिन्तन आप कैसे करते हैं? अनिर्देश्यका निर्देश किस तरह हो सकता है? आंख बंद करनेसे बाहर का दृश्य विषय हट जाता है यह सत्य है परन्तु बाहरका दृश्य विषय हट गया तो उतनेहीसे अव्यक्तका साक्षात्कार होता है यह बात सत्य नहीं है।

चार वर्ष आयुका लडका भी आंख बंद करके बैठता है और साठ वर्षोंका वृद्ध मनुष्य भी आंखें बंद करता है। परन्तु आंख बंद करके ध्यान किसका किया जाता है और ठीक ठीक ध्यान होता है या नहीं, इसका हिसाब दर्शकने कभीही देखा है। कई लोग सुखासन लगाकर ध्यानके लिये बैठते हैं कई लोग पुतलोंपर खडे रहकर ध्यान करते हैं कई लोग उलटे बैठते सिर भूमिपर टिकाते हैं और इस तरह शरीरको टिकाकर ध्यान करनेका यत्न करते हैं और कई तो अनेक प्रकारसे आंखें बंद करके ध्यानका यत्न करते हैं। परन्तु इन लोगोंमेंसे कितने लोग सफलतापूर्वक ध्यान लगा सकते हैं यह एक बडा कठिन प्रश्न है।

मूर्तिपूजा न की जाय इस तत्वके लिये कुरानने तो चित्रकारीकी भी निन्दा की और मनुष्यका चित्र बनाने उसको अपराध मान लिया है। इससे एक कला नष्ट हुई इतनाही सत्य है परन्तु उनके सम्मुख सत्य परमात्माका साक्षात्कार कितना हुआ है यह एक समस्याही है।

चित्र या मूर्ति न बनानेसे तथा आंखें बंद करनेसे स्थूल रूप सामनेसे हट सकते हैं परन्तु इतना करनेसे अव्यक्त परमात्माका साक्षात्कार होता है यह बात असंभव है। आंखोंको बंद करनेसे सामनेका स्थूल रूप हट जाता है परन्तु विषयरूपके संस्कार जो मनपर जमे हुए रहते हैं वे जाग उठते हैं और मनके सम्मुख वे मानसिक रूप खडे हो जाते हैं। आंखें बंद करके स्थूल रूपको हटाना सहज है पर मानसिक और काल्पनिक रूपको हटाना उतना सहज नहीं है। मनुष्य जितना अंधेरेमें जाय और जितनी आंख बंद करे और जितना स्थूल रूपको हटानेका यत्न करे उतनीही स्पष्टताके साथ मानसिक रूप उसके सम्मुख खडे हो जाते हैं। विविध रंग विविध सुंदर रूप उसके सम्मुख इस तरह आंख बंद करते आ जाते हैं। इन मानसिक रूपोंको हटाना असंभव हो जाता है।

जो लोग दयानन्द मिशनकी आंखें बंद करके बैठते या खडे-बैठे-सिर नमाते हैं और अव्यक्तकी उपासनाका

अभिमान करते हैं उनके विषयमें यहां कुछ भी लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दस पंद्रह मिनिटोंमें ध्यान कितना होता है और उठने बैठनेमें कितना समय जाता है इसका हिसाब देखनेसे उनकी अव्यक्त उपासनाकी कल्पना सभीको हो सकती है। वे बिचारे गुरुपर श्रद्धा रखकर बैठते हैं आसन जमाते हैं, आंखें बंद करते हैं हाथ जोडते हैं और मंत्र बोलते हैं अर्थ समझमें आ गया तो उसका मनन करते हैं और इतना करनेसे ही अचिन्त्य परमात्माका ध्यान मान लेते हैं। जो विश्वाससे उसे अचिन्त्यका चिन्तन मान बैठते हैं वे श्रद्धासे चाहे वैसा मान लें उनका विश्वास हटानेकी इच्छा हमें नहीं है परन्तु यदि वे अभिमानसे ऐसा कहेंगे कि हम जो करते हैं उससे अचिन्त्यका ध्यान हुआ है और जो वैसा नहीं करते वे नरकमें जायेंगे तो हम उनसे पूछेंगे कि उस ध्यानके समय आपका मन बिलकुल निर्विषय हुआ था अथवा उस समय आपके मनमें कोई विषय था ? यदि कोई विषय था तो फिर रूपविषय को हटानेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध हुआ ? एक रूपविषय हटानेसे— अर्थात् आंखें बंद करनेसे— रूपविषय भी पूर्णतासे हटता नहीं और अन्य विषय नहीं हटते यह तो प्रत्यक्षही है। फिर अचिन्त्यका ध्यान हम करते हैं यह अभिमान किस तरह सार्थ हो सकता है ?

वस्तुतः देखा जाय तो अव्यक्तकी मानस उपासना करनेवालोंके लिये योगसाधन है। यमनियमोंसे व्यक्तके व्यावहारिक और सामाजिक सदाचार सिद्ध करके संयम सिद्ध किया जाता है। आसनोंके अभ्याससे शरीरको स्वाधीन किया जाता है प्राणायामसे प्राणोंको अपने आधीन करते हैं प्रत्याहारसे सब इंद्रियोंको विषयोंसे खींच कर स्वाधीन करते हैं। इस तरह अपने सब शरीरस्थ अवयवों प्राणों और मनको अपने आधीन करनेका यत्न किया जाता है। (जितेन्द्रिय इंद्रियग्राम) सब इंद्रियोंका संयम करके जो चाहे सोही विषय मनमें आवे अथवा न चाहनेपर मन निर्विषय भी किया जाय यह सिद्धि प्राप्त करनेका यत्न इस समय किया जाता है।

इस समय आंखें बंद कीं तो अन्दरही अति सुंदर दृश्य न मुख उपस्थित होते हैं कानपर संयम किया तो मधुर गायन अन्दरही अन्दरसे सुनाई देता है जिह्वापर संयम करनेपर सुमधुर मीठे रस प्राप्त होनेका अनुभव होने लगता है स्पर्शेन्द्रियपर संयम करनेसे विविध सुखस्पर्श प्राप्त होने का अनुभव होता है। अर्थात् जितने विषय दूर करनेका यत्न किया जाय उतने विषय अन्दरही अन्दरसे प्राप्त होने लगते हैं। अतः मन निर्विषय करनेका यत्न केवल आंखें बंद करनेसे तो सफल होताही नहीं परन्तु अन्य इंद्रिय स्तब्ध करनेसे भी नहीं होता।

जो दस बीस मिनिट आंखें बंद करके कुछ मन्त्र पढनेको ध्यान करना मान लेते हैं वे जो मनमें आवे मानते रहें परन्तु जो ध्यानधारणापर्यंत योगसाधन करते हैं उनको प्रत्याहार तक निर्विषय होनेका अनुभव नहीं होता। इतनाही नहीं अपितु अलौकिक ध्यान और धारणा करनेवालोंको भी निर्विषय मन होनेका अनुभव नहीं आता। फिर दस मिनिट आंखें बंद करनेवालोंके हाथमें जो आता होगा वह वेही जान सकते हैं।

किसी बाह्य वस्तुपर चित्त लगानेका नाम धारणा है, चित्त एक स्थानपर स्थिर करनेका नाम धारणा है। उसकी स्थिरता बढ जाती है तो ध्यान स्थिर हो जाता है। जैसे किसी आकाशस्थ नक्षत्रपर चित्त स्थिर करनेका नाम धारणा है। यही धारणा स्थिर होनेके पश्चात् केवल यही एक नक्षत्र है अब दूसरा कोई नक्षत्र नहीं है, ऐसा जो एकतान अनुभव होता है उसका नाम ध्यान है। शेष सब विषय दूर जाने चाहिये और उसी एक ध्येयके आकारका चित्त बनना चाहिये तब ध्यान होता है।

ध्यानतक हर एक मनुष्यका पहुंचना अति कठिन कार्य है, परन्तु समझ लीजिये कि कोई मनुष्य ध्यान लगानेमें प्रवीण है तो भी अचिन्त्य परमात्माका उसे साक्षात्कार हुआ है ऐसा कहना अयोग्य है क्योंकि उसका मन उसी ध्येय विषयके आकारका उस समय बना होता है। वह परमात्माका ध्यान नहीं है। योगसाधनमें ध्यानकी सिद्धि एक उच्च सिद्धि है उसके पश्चात् समाधिही एक है। ऐसी उच्च ध्यानकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन अलौकिक एकस्वरूपध्येयपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। बीचमें अनेक विघ्न होनेकी संभावना है। और इतना प्रयत्न करके ध्यान सिद्ध होनेपर भी अव्यक्तकी उपासना हो गयी ऐसा कहना व्यर्थ है क्योंकि ध्यान तो किसी स्थूल विषयकाही है।

अव्यक्त परमात्माका साक्षात्कार तो बहुतही दूर है। जो पर्यंक हठयोग साधन करते हैं, उनको ध्यानसिद्धितक अव्यक्तकी उपासना साध्य नहीं होती फिर जो दिनमें एकबार अथवा अनेकबार दसपाँच मिनिट आँखें बंद करके बैठते हैं और उस समय कुछ मन्त्र बोलते अथवा मन्त्रोंका अर्थ मनमें विचारते हैं उनको कितनी सिद्धि मिलती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

ध्यानतक जो पहुँचते हैं उनको कमसे कम दो तीन वर्षोंका नियमपूर्वक अभ्यास आवश्यक होता है और प्रतिदिन कई घण्टोंतक अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास करनेके समय आन्तरिक सिद्धियोंके बहुत अनुभव होते हैं, जो साधकको काम पहुँचाते हैं। इस तरहका योगी अनेक चमत्कार भी करता है। परन्तु ध्यान रहे कि सिद्धितक उसके निराकार परमात्माकी उपासना कि, ऐसा कहना असंभव है क्योंकि ध्यानतक साकारकी साथ संबंध रहता है।

जब ध्यानमें एकाग्रता प्रबल आता है और वह बहुत समयतक स्थिर रहता है तब जागृतिका मन मूर्च्छितसा हो जाता है अथवा अपना कार्य करना छोड़ देता है। तब वह साधक मनोभूमिकासे उच्च भूमिकामें पहुँच जाता है। यही ध्यानके पश्चात् मिलनेवाली समाधि है। जागृतिका मन लो जानेपर और अलौकिक उन्मनी अवस्था प्राप्त होनेपर निर्विकल्प सिद्ध होती है इसमें संदेह नहीं है। परन्तु यह परमात्माका साक्षात्कार समझना अयोग्य है क्योंकि मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे (काम और कामसे परे) आत्मा है। वह तो बहुतही दूर है अतः यह समाधिका अनुभव प्राप्त होनेपर भी अचिन्त्यही रहेगा।

इससे पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अव्यक्तकी उपासना कोई सहज बात नहीं जो आठ वर्षोंका बालक भी आँखें बंद करके सहज रूपमें कर सके और बिना योगाभ्यास आठ वर्षोंका विवेकवान् साधक भी दस मिनट आँखें बंद करके कर सके। इसीलिये कहा है कि—

अव्यक्तासक्तचेतसां तेषां अधिकतरः क्लेशः।
देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखं अवाप्यते। (५)

अव्यक्तमें चित्त स्थिर करनेका यत्न करनेवालोंको अधिक क्लेश होते हैं क्योंकि देहधारी मनुष्योंको अव्यक्तमें गति अत्यंत दुःखसेही प्राप्त होती है।

जो लोग हठयोगका साधन करते हैं उनकोही पता है कि उसमें कितने कष्ट हैं कितने नियम हैं और कितने आयास हैं। बीचमें थोड़ीसी अशुद्धि रही तो अनेक प्रकारका भय होनेकी भी संभावना है। इतने आयास सहन करनेपर भी ध्यानसिद्धितक निराकार अव्यक्त परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि वहांतक साकारकाही ध्यान करना होता है। समाधि सिद्ध हुई तो भी जागृतिक मनको स्तब्ध करनेतकही साधक पहुँचता है उससे बहुत परे परमात्मा है। समाधिमें जो निर्विषयता होती है उसीको परमात्म-साक्षात्कार कोई मानना चाहे तो वह वैसा माने परन्तु जागृतिका मन स्तब्ध होनेपर एकदम सामने परमात्मदर्शन होना असंभवही है। क्योंकि—

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः।

मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे महान् आत्मा है। वह एकदम मन स्तब्ध होतेही अनुभवमें कैसे आ सकता है? और उस अवस्थामें परमात्माका अनुभव हो जाता है ऐसा माननेपर भी वैसी समाधिसिद्धि कितने साधकोंको हो सकती है यह एक प्रश्न है और आँख बंद करनेवाले अनंत अन्य उपासकोंको क्या प्राप्त होता है यह भी एक बड़ी भारी समस्या है।

अव्यक्त उपासनाके पीछे पड़नेवालोंको इतने क्लेश सहन करने पड़ते हैं और इतना आयास करनेपर भी निश्चयपूर्वक अव्यक्तका साक्षात्कार होगा ऐसा भी मानना कठिन है। अतः देहधारी प्राणियोंको अव्यक्तकी ओर जानेका मार्ग बहुत ही दुःख-साध्य होता है।

हजारों मनुष्योंमें कई थोड़ेही इस हठयोगके साधन करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं और जो साधनका प्रारंभ करते हैं उनमें थोड़ेही सिद्धितक पहुँच सकते हैं। इसलिये थोड़ी देर आँखें बंद करके बैठनेसेही सिद्धि मिल सकती है ऐसा मानना अयोग्य है फिर गुरुपरम्परा के विरोधमें तर्कवादसे काम करनेवालोंकी सिद्धिके विषयमें पूछनाही क्या है? पाठकही सोच सकते हैं कि ऐसे अव्यक्त निराकारके उपासकोंमेंसे कितने परमात्माको प्राप्त हुए होंगे।

यहां पाठक पूछ सकते हैं कि ' यदि ऐसी अवस्था है तो क्या निराकार उपासना करनेवालोंके लिये कोई शुभ गति प्राप्त होनेकी संभावना नहीं है ? ' अवश्य उनको शुभ गति मिलेगी क्योंकि वे ईश्वर है ऐसा मानतेही हैं। ईश्वरकी सत्ताको माननेवालों और उसकी प्राप्तिके लिए संयमादि साधन करनेवालोंकी कदापि अधोगति नहीं होती। ईश्वरपर विश्वास रखकर उसकी प्राप्तिके लिये ऐहिक सुखोंका त्याग करना यह कोई छोटा तप नहीं है और इस तपके करनेके कारण इन निराकारके उपासकोंको अवश्य शुभ अवस्था प्राप्त होती है परन्तु इस मार्गमें आयास और परिश्रम अधिक है।

निश्चित मार्ग

वे कर्मयोगी किस मार्गसे चलें जो इनको ईश्वरकी प्राप्ति हो सके? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि (वे साधका) सर्वत्र समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः (भवन्ति) ते मां (ईश्वरं) एव प्राप्नुवन्ति ॥ (४)

जो साधक सर्वत्र समबुद्धि रखते हैं और सर्वभूतोंका हित करनेमें तत्पर होते हैं वे साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। अर्थात् अव्यक्तकी उपासना करनेवालोंमें जितने साधक सर्वत्र समबुद्धि रख सकते हैं अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म-भावना रख सकते हैं और जो सर्वभूतोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं वेही साधक परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। अन्य साधक अर्थात् जो सर्वत्र विषमभावना रखते हैं और जो सब भूतोंका हित करनेके कार्योंमें अपने आपको समर्पित नहीं करते उनको अनेक आयासके साधन करने पर भी परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् (१) सर्वत्र समबुद्धि सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि और (२) सर्वभूतहित करनेमें तत्परता। परमात्माका साक्षात्कार करनेके ये दोही साधन हैं।

इन साधनोंका स्वरूप

ये दो साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। इन दो साधनोंसेही ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं। अन्य साधक ध्यानधारणा कितनी भी करें कितनी देर आंखें बंद करके बैठें, कितनीही मूर्तियोंका निर्माण करें अथवा कितनी अन्य साधनाएं करते रहें जबतक उनकी बुद्धिमें समता नहीं आ जाती और जबतक सब भूतों—सब प्राणियों—का हित करनेके कार्योंमें वे अपने आपको समर्पित नहीं कर देते तबतक उनको परमेश्वरप्राप्ति नहीं हो सकती। अब इन दो साधनोंसे क्या होता है यह देखना चाहिये—

सर्वत्र सम बुद्धि, सम दर्शन

सर्वत्र समबुद्धि रखना यह साधन पहिला है। समबुद्धिका पाठ पहिले दिया हुआ है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(भ. गी. ६।९)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(भ. गी. ५।१८)

हितैषी मित्र शत्रु निष्पक्षपाती दोनों पक्षोंका भला करनेवाला, द्वेषी बन्धु, साधु तथा पापी इन सबके संबंधमें जो समबुद्धि रखता है वह श्रेष्ठ है। विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मण गौ हाथी कुत्ता और कुत्ता खाने वालेके विषयमें ज्ञानी लोग समदृष्टि रखते हैं।

यही समबुद्धि रखनेवाले साधक (ते सर्वत्र समबुद्धयः मां [ईश्वरं] एव प्राप्नुवन्ति) ईश्वरको प्राप्त होते हैं ऐसा यहां कहा है। समबुद्धिका अर्थ है समान मनोवृत्ति। परन्तु यहां सर्वत्र समबुद्धिका अर्थ सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिही विवक्षित है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(भ. गी. ५।१९)

' जिनका मन समत्वमें स्थिर हो चुका है उन्होंने सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र सम है। इसलिये सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले साधक उसी ब्रह्ममें स्थिर हुए होते हैं।

ब्रह्म सर्वत्र सम है ब्रह्मके बिना कोई वस्तु नहीं है सभी वस्तुओंमें समान ब्रह्म विद्यमान है। इसलिये सर्वत्र समदृष्टि रखनेका अर्थ सर्वत्र ब्रह्मको देखनाही है। जो साधक सर्वत्र सम्पूर्ण वस्तुओंमें समान ब्रह्मभाव देखते हैं वेही साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।

सर्वत्र ब्रह्मभाव देखनेका अर्थही विश्वरूपमें परमात्माको अथवा परब्रह्मको देखना है। विश्वरूपमें ब्रह्मदर्शन करनेका

(४) सर्वकर्मसमर्पणपूर्वक भक्ति

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वयः— ये तु मत्पराः (सन्तः) सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य (मां) ध्यायन्तः अनन्येन योगेन एव मां उपासते ॥ ६ ॥ हे पार्थ ! मयि आवेशितचेतसां तेषां अहं मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि ॥ ७ ॥ मयि एव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) संशयः न ॥ ८ ॥

जो मेरे विषयमें तत्पर होकर सब कर्मोंको मुझे समर्पण करके मेरा ध्यान करते हुए, अनन्ययोगसे मेरीही उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ हे पार्थ ! और मुझमेंही जिनका चित्त लगा होता है उनका मृत्युरूपी संसारसागरसे मैं उद्धार करता हूं ॥ ७ ॥ मुझमेंही मन लगा, मुझमें बुद्धि स्थिर कर, ऐसा करनेसे तू इसके पश्चात् मुझमेंही निवास करेगा इस विषयमें कोई संदेहही नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ— अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करते हैं उनके सब दुःख परमेश्वर दूर करता है। जो ईश्वरमें अपना मन और बुद्धि स्थिर करेंगे वे परमेश्वरमेंही निवास करेंगे ॥ ६-८ ॥

यहांही साधक सगुण रूपकी उपासना करता है। विश्वरूप उपासनामें निराकार उपासनाका संबंधही नहीं आता है। तथापि यहां कहा है कि जो अव्यक्त अचिन्त्य अनिर्देश्य अक्षर आत्माकी उपासना करते हैं यदि वे सर्वत्र समबुद्धि रखते रहें तभी वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे सर्वत्र समबुद्धि रखने लग जाय तभी वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं। जो विश्वरूपमें ब्रह्मभाव देखते हैं वेही ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं। यहां अव्यक्त आत्माकी उपासनाके स्थानपर विश्वरूप आत्माकीही उपासना हो जाती है केवल अव्यक्तकी उपासना नहीं रह जाती यह बात विशेष सूक्ष्म रीतिसे देखनेयोग्य है।

दूसरा उपाय

जो सर्वत्र संपूर्ण विश्वरूपमें ब्रह्मभाव नहीं देख सकते वे साधक क्या करें ? यह एक प्रश्न यहां उपस्थित हो सकता है। इसके उत्तरमें कहा है कि—

(ये) सर्वभूतहिते रताः ते मां (ईश्वरं) एव प्राप्नुवन्ति। (५)

जो साधक सब प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर होते हैं वे ईश्वरको प्राप्त होते हैं। यदि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि न हुई तो वे सब प्राणियोंका हित करके स्वयं अपने आपका सर्वांश करें। यह भी विश्वसेवाही है। निःस्वार्थ विश्वमें इससे एक बहुत कुछ किया गया है। विश्वसेवा विश्वरूपमें ब्रह्मभाव देखनेके पश्चात्ही उत्तम रीतिसे हो सकती है परन्तु सर्वत्र ब्रह्मदर्शन न होनेकी अवस्थामें भी यदि कोई साधक सब प्राणियोंके हितके कार्य करेगा तो वह साधक भी ईश्वरको प्राप्त होगा।

सर्वत्र समबुद्धि (ब्रह्मबुद्धि) रखना और सब प्राणियों का हित करना ये दो कार्य करनेवालेही परमेश्वरको प्राप्त होते हैं अथवा श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करते हैं। यह निराकार उपासना नहीं है। सब प्राणियोंको परमात्माका रूप मान कर सब प्राणियोंमें परमात्माकी उपासना करना सगुण उपासनाही है।

अव्यक्तकी उपासना करनेवालोंको अत्यंत कष्ट होते हैं परन्तु विश्वरूपमें परमात्माको देखकर सब प्राणियोंका हित करनेवालेही ईश्वरको प्राप्त करते हैं यही यहांतकका तात्पर्य है। साकार-निराकार-उपासनाके विषयमें झगडा करनेवाले इसका उचित मनन करें और इससे उचित बोध लें।

उद्धारका निश्चित मार्ग

(६-८) अनुकूल मन संपन्न रखकर और व्यक्तकी उपासना तथा अव्यक्तकी उपासनाके संबंधमें अर्जुनके प्रश्न इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्यके उद्धारका निश्चित मार्ग उसे बताते हैं। यह मार्ग इस प्रकारका है—

(६) ईश्वरके लिये कर्म करना

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(७) कर्म-फलत्याग

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११॥

अन्वयः-- (त्वं) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (चेत्) मत्कर्मपरमः भव मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू इस अभ्यासके करनेमें भी असमर्थ हो तो (कमसे कम) मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेमें तो तत्पर रह मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेसे भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥

भावार्थ— जो साधक अभ्यासयोग करनेमें अपने आपको असमर्थ मानता है, वह परमेश्वरके लिये सब कर्म करे उसे इसीसे परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥

अन्वयः— अथ एतत् अपि कर्तुं अशक्तः असि ततः यतात्मवान् मद्योगं आश्रितः (सन्) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ॥ ११ ॥

यदि इसके करनेमें भी तू असमर्थ हो तो अपना संयम करता हुआ मेरे (ईश्वरके) योगका आश्रय करकेही सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो साधक परमेश्वरके लिये कर्म करनेमें भी अपने आपको असमर्थ समझता है वह अपना उत्तम संयम करे और परमेश्वरके साथ योग करनेकी इच्छासे सब कर्मोंके फलोंका त्याग करे ॥ ११ ॥

और सत्पुरुषोंकी अपेक्षासे स्थिर हो जाता है।

अभ्यासका अर्थ शनैःशनैः पाठकोंको सुदृढ बनाना है। इस अभ्यासयोगसे साध्य न होनेवाली कोई क्रिया नहीं है। सभी क्रियाएं इसी अभ्यासयोगसे साध्य हो सकती हैं। अतः जो पाठक पूर्वोक्त अनन्य योग न कर सकते हों वे अभ्याससे उसको साध्य करें। अभ्यासद्वारा शनैः शनैः प्रगति होकर अनन्य योग करना सुगम हो सकता है। पाठक इस रीतिसे अभ्यास करके अपनेमें जो न्यूनता हो उसकी पूर्णता करें। अभ्यास सतत करना चाहिये नहीं तो अभ्यासका कोई फल नहीं हो सकता।

(१) पूर्व श्लोकोंमें अभ्यास करनेसे असाध्य बात सुसाध्य होती है ऐसा कहा है परन्तु यह अभ्यास नियम पूर्वक और सतत प्रतिदिन करना चाहिये आज थोडा किया और दो महीने छोडकर कुछ किया तो कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती। अतः जिनसे नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता है क्या कर वे किस युक्तिसे अपना उद्धार करें यह प्रश्न अपने सन्मुख आ सकता है इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता उसमें कुछ बाधाएं आती हैं शारीरिक कौटुंबिक सामाजिक अथवा अन्य विघ्न उत्पन्न होते हैं तो—

मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थं कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं अवाप्स्यसि। (१०)

मेरे लिये कर्म करनेवाला हो मेरे लिये कर्म करता हुआ तू सिद्धिको प्राप्त होगा। जो साधक पूर्वोक्त रीतिसे नियमपूर्वक अभ्यास नहीं कर सकता वह अपने सब कर्म परमेश्वरको अर्पण करे।

मनुष्यसे कर्म तो होतेही हैं कर्म किये बिना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता। अतः जो कर्म होगा वह परमेश्वरको समर्पण करनेका क्रम रखनेसे शनैः-शनैः अच्छे कर्म होने लगेंगे और उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती जायगी।

मान लीजिये कि कोई मनुष्य अत्यंत निकृष्ट कर्म करता है यदि वह अपने कर्म राजाधिराज सर्वेश्वरके लिये समर्पण करता है तो उसी कर्मोंके समर्पणसे उसके कर्म सुधरने लगेंगे बुरे कर्म छोडनेका विचार उसके मनमें दृढ होता जायगा और कुछ समयके पश्चात् वह परिशुद्ध बनकर साधु पुरुष बन जायगा। अतः अपने सब कर्म सर्वज्ञ सर्वसमर्थ परमेश्वरको अर्पण करनेमात्रसे ही मनुष्य सुधरने लगता है और उसके उद्धारका मार्ग खुल जाता है। वास्तवमें यह मार्ग अत्यंत सुगम भी है क्योंकि जो कर्म होगा वही ईश्वरार्पण कर देना है। इसमें कोई नियम पालन करनेकी आवश्यकता नहीं।

(८) शान्तिकी प्राप्ति

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अन्वयः— अभ्यासात् ज्ञानं श्रेयः (अस्ति); ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते; ध्यानात् कर्मफलत्यागः (विशिष्यते); अनन्तरं त्यागात् शान्तिः भवति हि ॥ १२ ॥

अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ध्यानयोगसे कर्मफलत्यागकी विशेषता अधिक है, इस कर्मफलत्यागसे शीघ्रही शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भावार्थ— अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि फलत्यागसे शीघ्रही शान्ति मिलती है ॥ १२

(११) जो कर्म हो रहा है वह कर्म परमेश्वरको समर्पण करनाही सुगमसे सुगम उपाय है। तथापि जो मनुष्य इसका भी अवलम्बन नहीं कर सकते वे क्या करें? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि जो लोग अपने कर्म भी ईश्वरार्पण नहीं कर सकते वे यथाशक्ति (यतात्मवान्) आत्मसंयम करके ईश्वरके साथ योग करनेकी (मद्योगं आश्रित) इच्छा करके (मत्-कर्म-फल त्यागं कुरु) सब कर्मोंके फलोंका त्याग करें।

मनुष्य कर्म करता है और उस कर्मका फल उसे मिलता ही है। फल भला हो या बुरा, थोडा हो या अधिक जैसा फल मिले वैसाही ईश्वरको समर्पण कर दे। इससे फल-भोग की इच्छाका संयम होगा। फलभोगकी इच्छासेही मनुष्य बुरे कर्म करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। 'मैं कर्म करता हूं उसका फल मुझे अपने भोगके लिये चाहिये' ऐसा विचार जिसके मनमें हो वह अपने पास भोगोंकी समृद्धि करनेकी इच्छासेही सब भले कर्म करता है। यदि बुरे कर्म करके धन मिलनेकी संभावना हो तो वह बुरे कर्म भी कर सकता है।

परन्तु यदि वह नियम कर ले कि कर्मके फलका वह स्वयं भोग नहीं करेगा, प्रत्युत उसका परमेश्वरके लिये समर्पण कर देगा, तो इस कर्म-समर्पणसे उसकी भोगविलास की इच्छा मर्यादित और संयमित होती जायगी और उस भोगी पुरुषका रूपान्तर संयमी पुरुषमें हो जायगा। अतः कर्मफलत्याग करनेसेही मनुष्य उन्नत होने लगता है। मनुष्य कर्मफलका भोग करता है और भोगमें फंसता जाता है, अतः जो कर्मफलत्याग करेगा वह भोगमें नहीं फंसेगा और संयमद्वारा क्रमशः उन्नत होता जायगा।

कर्मफलत्याग और कर्मफलभोगका विवेचन इससे पूर्व अनेक बार हो चुका है अतः यहां इस विषयको अधिक कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(१२) अभ्यास-योगसे ज्ञानयोग श्रेयस्कर है, ज्ञान योगसे ध्यानयोगकी विशेषता अधिक है, ध्यानयोगसे कर्म-फलका त्याग अधिक उत्तम है, इस कर्मफलका त्याग करनेसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।

छठे श्लोकमें अनन्ययोग करनेका उपदेश है और उसीका विवरण ८ वें श्लोकतक किया है। जिससे यह अनन्ययोग नहीं हो सकता वे वारंवार अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त करें ऐसा नवम श्लोकमें कहा है, अर्थात् अनन्ययोगसे यह अभ्यासयोग सुगम है।

इस अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग और ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है इसमें संदेह नहीं है। द्वितीय अध्यायमें सबसे प्रारंभमें यह ज्ञानयोग कहा है, ध्यानयोगका थोडासा वर्णन छठे अध्यायमें आ चुका है और इसीका विशेष इस १२ वें अध्यायमें ८ वें श्लोकमें मन और बुद्धिको परमात्मामें लगानेका उपदेश करके किया है। जिनसे ये योग नहीं हो सकते वे सर्वकर्मफलत्याग करें ऐसा ११ वें श्लोकमें कहा है। सबसे सुगम और सबसे परिणामकारी होना इस कर्मफलत्यागकी विशेषता है। कर्मफलत्याग किये बिना कोई अन्य योग सफल और सुफल नहीं हो सकता। यह कर्मफलत्यागयोग सबसे सुगम है और सब अन्य योगोंके साथ सर्वत्र रखनेयोग्य भी है। सब अन्य योगोंकी सफलता इसीसे हो सकती है। अतः सुगमता और सर्व योगोंके लिये उप योगिता होनेके कारण कर्मफलत्यागका महत्त्व सर्वोपरि है।

कर्मफलत्यागसेही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। फलत्यागके बिना शान्ति नहीं मिल सकती। इस तरह कर्म फलत्याग, कर्मफलार्पण और कर्मफलसंन्यासका महत्त्व है। यह जानकर सब साधक कर्मफलत्याग करके शान्तिको प्राप्त करें।

१ मत्पराः (ईश्वरपराः) = ईश्वरकोही परम श्रेष्ठ मानो ईश्वरकोही अपना श्रेष्ठ प्राप्तव्य समझो ईश्वरको छोड़ कर अन्य कुछ भी मनमें न लाओ।
२ मां (ईश्वरं) ध्यायन्तः—ईश्वरकाही ध्यान करो।
३ मयि (ईश्वरे) आवेशितचेतसः ईश्वरमें अपने चित्तको स्थिर करो।
४ मयि (ईश्वरे) मनः आधत्स्व ईश्वरमें अपना मन लगाओ।
५ मयि (ईश्वरे) बुद्धिं निवेशय— ईश्वरमें अपनी बुद्धि स्थिर रखो।
६ सर्वाणि कर्माणि मयि (ईश्वरे) संन्यस्य = अपने सब कर्मोंको ईश्वरके अर्पण करो।
७ अनन्येन एव योगेन उपासते अनन्य अर्थात् मैं उससे भिन्न नहीं हूं इसी योगसे ईश्वरकी उपासना करो।

ये सात वाक्य मनुष्यके उद्धारके मार्गकी सूचना दे रहे हैं। इनको भी हम इस तरह संक्षिप्त कर सकते हैं-

१ ईश्वरकोही सर्वोपरि मानकर उसीको अपना सर्वस्व समझो।
२ ईश्वरका सतत ध्यान करो और अपने चित्त मन तथा बुद्धिको उसीमें लगाओ।
३ ईश्वरको अर्पण करनेके लियेही अपने सब कर्म करो।
४ अपने आपको ईश्वरसे भिन्न न समझो और अनन्य भावसे कर्तव्य करते रहो।

संक्षेपसे यही मनुष्यके उद्धारका मार्ग है। इसमें (१) ईश्वरतत्परता (२) ईश्वरके साथ अपना अनन्यभाव और (३) ईश्वरको अपने कर्मोंका समर्पण ये तीन बातें मुख्य हैं। यही भगवदीय उद्धारका मार्ग है। जो इस मार्गसे चलेगा उसका उद्धार निम्न प्रकार हो जायगा—

१ तेषां मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता अहं भवामि-मृत्यु और संसाररूपी सागरसे मैं उनका उद्धार कर देता हूं।
२ अत ऊर्ध्वं मयि (ईश्वरे) एव निवसिष्यसि न संशयः- इसके पश्चात् तू ईश्वरमेंही निवास करेगा इसमें संदेह नहीं है।

उसे मृत्युका भय नहीं रहेगा संसारसे वह छूटेगा यही और वह मरकर ईश्वरमेंही निवास करेगा यही उस उद्धारका स्वरूप है। अर्थात् वह निर्भय होकर ईश्वरमेंही निवास करेगा। सचमुच यह फल बहुतही प्रशंसनीय है।

परन्तु यहां जो मार्ग बताया गया है उसे अव्यक्त या अक्षरके निराकारकी उपासना नहीं कहा जा सकता यह मन ध्यान देनेयोग्य है।

ईश्वरको श्रेष्ठ मानना, ईश्वरमें परम निष्ठा रखना अपना चित्त मन बुद्धि ईश्वरमें तल्लीन करना, अपने सम्पूर्ण कर्म ईश्वरको समर्पित करना और अनन्य होकर उपासना करना इन विधियोंमें एक भी ऐसी नहीं है जो निराकार की उपासनामेंही लगनेवाली हो। परन्तु जो अनन्ययोग का विधान यहां किया है, वह तो साकार देहधारी सगुण रूपके साथही सुसंगत होनेवाला है। देखिये— ईश्वरसे अनन्य होनेवाला यह उपासक देहधारी साकार और सगुण है। यह उपासक ईश्वरसे अनन्य है अर्थात् उससे भिन्न अथवा पृथक् नहीं है उससे एकरूप है। इसका अर्थ यह हुआ जैसा वह (ईश्वर) है वैसाही यह (उपासक) है उसके अन्दर यह उसके साथ मिलजुलजानेवाला है। यदि यहांके ईश्वरको केवल अव्यक्त अचिन्त्य अक्षरही मानें तो उसमें यह सर्व्व चिन्त्य और व्यक्त उपासक एकरूप और अनन्य अर्थात् दूसरा न बने या भिन्न न हो यह कैसे हो सकता है ? उसके अभिन्न अनन्य होनेके लिये यह उपासक उसके साथ एकरूप हो सकनेवालाही होना चाहिये।

अब विश्वरूपी ईश्वरकी विश्वव्यापक सगुण रूपके साथ तुलना कीजिये; उसमें उपासकका यह सगुण रूप एकरूप हो सकता है या नहीं ? विश्वरूपमें विश्वरूपसे उपासक का रूप पृथक् नहीं है। विश्वरूपमें हरएकका रूप संमिलित ही रहता है अतः यह उपासक विश्वरूपी उपास्य देवके साथ अनन्य हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि यहां सगुण साकार विश्वरूपी ईश्वरकी भक्तिही विवक्षित है; यही विश्वसेवा है और यह विश्वसेवा विश्वको अपनेसे पृथक् न मानकर की जाय तो यह उपासक उपास्यदेवमें निरन्तर और मृत्यु तथा संसारका भय इसे नहीं रहेगा यह स्पष्ट है।

सम्पूर्ण कर्म इसी विश्वात्माको समर्पित करने चाहिये इसी विश्वसेवाको अपना परम कर्तव्य मानना चाहिये

(५) अभ्यास-योग

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अन्वयः— हे धनंजय ! अथ मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि, ततः अभ्यासयोगेन मां आप्तुं इच्छ ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! यदि तू मुझ (ईश्वर) में अपना चित्त स्थिर करनेमें असमर्थ है तो अभ्यासयोगद्वारा मुझे (ईश्वरको) पानेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो साधक अपना चित्त परमेश्वरमें स्थिर करनेमें असमर्थ हैं वे अभ्यासयोगद्वारा ईश्वरको पानेका यत्न करें ॥ ९ ॥

अपना चित्त मन बुद्धि और प्राण, इसीकी सेवामें लगाये रखना चाहिये और अपने आपको उससे भिन्न न समझकर निजसेवा करनी चाहिये। अपने आपको उससे पृथक् न समझनेका अर्थही अपने आपको उसमें संमिलित समझना है।

सब कर्म परमेश्वरको समर्पण किये जायेंगे इसलिये सब कर्म उत्तमसे उत्तम हों यह बात स्वयं समझमें आ जाती है। जैसे कोई मनुष्य किसी राजाकी तुष्टिके लिए कुछ कर्म करता है तो उससे जितना उत्तम हो सकता है उतना वह करता, वह स्वभावतःही होता है। फिर यदि उस विश्वरूपी परमेश्वरको जो सब राजाओंका राजा है कर्म समर्पण करना चाहे तो वह कितनी कुशलता कितने आदर और कितने विचारके साथ करेगा इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकताही नहीं है। परमेश्वरकी सेवामें अपने कर्म सचमुच समर्पित होने हैं यह निश्चय होनेके पश्चात् उसके कर्म सर्वोत्तम होंगे और अत्यंत कुशलताके साथ होंगे इसमें संदेहही नहीं है।

इस प्रकारका आत्मसमर्पणपूर्वक यह अनन्ययोग किया जा सकता है और यही सम्पूर्ण मानव समाजकी उन्नति करनेवाला है, इसमें कोई संदेहही नहीं है। यह अनन्ययोग सब योगोंमें श्रेष्ठ है—

(१) सातवें श्लोकमें (मयि आवेशित-चेतसां) मुझ ईश्वरमें अपना चित्त लगानेका उल्लेख है। इस तरह जो साधक ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर करते हैं उनका उद्धार परमेश्वर करता है। परन्तु जो अपना चित्त ईश्वरमें स्थिर नहीं कर सकते और ईश्वरसे अपना अनन्यभाव अनुभव नहीं कर सकते उनके उद्धारका मार्ग कौनसा है ? इस शंकाके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि ऐसे अनन्ययोग न कर सकनेवाले साधक अभ्यास-योग करें।

यह अभ्यासयोग किस चीजका नाम है ? अब इसका विचार करना है। अभ्यासका अर्थ बारंबार उस विषयके साथ परिचय करना है। जो विषय न आता हो, उसे बारंबार करनेसे उसका अभ्यास हो जाता है और वह विषय आजाता है। हरएक कलाकुशलता और विद्या धीरे-धीरे अभ्यास करनेसेही आती है। इसी तरह इससे पूर्व जो अनन्य योग कहा गया है यदि वह उसी समय साध्य नहीं भी होता तो धीरे-धीरे अभ्यास करनेसे साध्य हो सकता है।

उस अनन्य योगमें कई बातें कही गयी हैं। चित्त परमात्मामें स्थिर करना यह ध्यानयोगका विषय है अष्टांगयोगमें यह ध्यान सातवाँ अंग है। यदि यह ध्यान स्थिर न होता हो तो धीरे-धीरे आसन-प्राणायाम प्रत्याहार धारणाका अभ्यास करते रहनेसे अभ्यास होनेके पश्चात् चित्त जहां चाहे वहां स्थिर किया जा सकता है।

इसी तरह मनबुद्धिको परमात्मामें एकाग्र करना भी यदि तुम्हारी साध्य न होता हो तो क्रमेक्रमसे अभ्यास करके मननद्वारा मनको और ज्ञानयोगद्वारा बुद्धिको एकाग्र किया जा सकता है।

सब कर्मोंका ईश्वरमें समर्पण करनेका भी इसी तरह अभ्यास किया जा सकता है। विशेष महत्वके कर्म और उसके पश्चात् प्रत्येक कर्मको भी समर्पित करना चाहिये। तत्पश्चात् अपना सम्पूर्ण जीवनही ईश्वरार्पण कर देनेसे उसमें होनेवाले सब कर्म भी परमेश्वरकोही समर्पित हो जायेंगे।

इसी रीतिसे अनन्य भाव अर्थात् मैं परमेश्वरसे भिन्न नहीं हूं यह भाव भी धीरे-धीरे विचारसे समझने

(६) ईश्वरके लिये कर्म करना

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(७) कर्म-फलत्याग

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अन्वयः–(त्वं) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (चेत्) मत्कर्मपरमः भव मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि ॥ १ ॥

यदि तू इस अभ्यासके करनेमें भी असमर्थ हो तो (कमसे कम) मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेमें तो तत्पर रह मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेसे भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥

भावार्थ— जो साधक अभ्यासयोग करनेमें अपने आपको असमर्थ मानता है, वह परमेश्वरके लिये सब कर्म करे उसे इसीसे परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १ ॥

अन्वयः— अथ एतत् अपि कर्तुं अशक्तः असि ततः यतात्मवान् मद्योगं आश्रितः (सन्) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ॥११॥

यदि इसके करनेमें भी तू असमर्थ हो तो अपना संयम करता हुआ मेरे (ईश्वरके) योगका आश्रय करकही सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो साधक परमेश्वरके लिये कर्म करनेमें भी अपने आपको असमर्थ समझता है वह अपना उत्तम संयम करे और परमेश्वरके साथ योग करनेकी इच्छासे सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

और सत्पुरुषोंके उपदेशसे स्थिर हो जाता है ।

अभ्यासका अर्थ शनैःशनैः पाठकोंको सुदृढ बनाना है। इस अभ्यासयोगसे साध्य न होनेवाली कोई विद्या नहीं है । सभी विद्याएं इसी अभ्यासयोगसे साध्य हो सकती हैं । अतः जो पाठक पूर्वोक्त अनन्य योग न कर सकते हों वे अभ्याससे उसको साध्य करें । अभ्यासद्वारा शनैःशनैः प्रगति होकर अनन्य योग करना सुगम हो सकता है । पाठक इस रीतिसे अभ्यास करके अपनेमें जो न्यूनता हो उसकी पूर्णता करें । अभ्यास सतत करना चाहिये नहीं तो अभ्यासका कोई फल नहीं हो सकता ।

(१) पूर्व श्लोकोंमें अभ्यास करनेसे असाध्य बात सुसाध्य होती है ऐसा कहा है परन्तु वह अभ्यास नियम पूर्वक बार सतत प्रतिदिन करना चाहिये आज थोडा किया और दो महीने छोडकर कुछ किया तो कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती । अतः जिनसे नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता वे क्या करें व किस युक्तिसे अपना उद्धार करें यह प्रश्न अपने सन्मुख आ सकता है इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता उसमें कुछ बाधाएं आती हैं शारीरिक कौटुंबिक सामाजिक अथवा अन्य विघ्न उत्पन्न होते हैं तो—

मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थं कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं अवाप्स्यसि । (१०)

मेरे लिये कर्म करनेवाला हो मेरे लिये कर्म करता हुआ तू सिद्धिको प्राप्त होगा । जो साधक पूर्वोक्त रीतिसे नियमपूर्वक अभ्यास नहीं कर सकता वह अपने सब कर्म परमेश्वरको अर्पण करे ।

मनुष्यसे कर्म तो होतेही हैं कर्म किये बिना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता । अतः जो कर्म होगा वह परमेश्वरको समर्पण करनेका क्रम रखनेसे शनैः शनैः अच्छे कर्म होने लगेंगे और उसलिये पगपर प्रगति होती जायगी।

मान लीजिये कि कोई मनुष्य अत्यंत निकृष्ट कर्म करता है यदि वह अपने कर्म राजाधिराज परमेश्वरके लिये समर्पण करता है तो उसी कर्मके समर्पणसे उसके कर्म सुधरते जायेंगे बुरे कर्म छोडनेका विचार उसके मनमें दृढ होता जायगा और कुछ समयके पश्चात् वह परिशुद्ध बनकर साधु पुरुष बन जायगा। अतः अपने सब कर्म सर्वज्ञ सर्वसमर्थ परमेश्वरको अर्पण करनेमात्रसे ही मनुष्य सुधरने लगता है और उसके उद्धारका मार्ग खुल जाता है । वास्तवमें यह मार्ग अत्यंत सुगम भी है क्योंकि जो कर्म होगा वही ईश्वरार्पण कर देना है । इसमें कोई नियम पालन करनेकी आवश्यकता नहीं ।

(८) शान्तिकी प्राप्ति

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

अन्वयः— अभ्यासात् ज्ञानं श्रेयः (अस्ति); ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते, ध्यानात् कर्मफलत्यागः (विशिष्यते); अनन्तरं त्यागात् शान्तिः भवति हि ॥ १२ ॥

अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है, ध्यानयोगसे कर्मफलत्यागकी विशेषता अधिक है, इस कर्मफलत्यागसे शीघ्रही शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भावार्थ— अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि फलत्यागसे शीघ्रही शान्ति मिलती है ॥ १२ ॥

(११) जो कर्म हो रहा है, वह कर्म परमेश्वरको समर्पण करनाही सुगमसे सुगम उपाय है। तथापि जो मनुष्य इतना भी अवलम्बन नहीं कर सकते वे क्या करें ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि जो लोग अपने कर्म भी ईश्वरार्पण नहीं कर सकते, वे यथाशक्ति (यतात्मवान्) आत्मसंयम करके ईश्वरके साथ योग करनेकी (मद्योगं आश्रितः) इच्छा करके (सब-कर्म-फल-त्यागं कुरु) सब कर्मोंके फलोंका त्याग करें।

मनुष्य कर्म करता है और उस कर्मका फल उसे मिलता ही है। फल भला हो या बुरा, थोडा हो या अधिक, जैसा फल मिले वैसाही ईश्वरको समर्पण कर दे। इससे फल-भोग की इच्छाका संयम होगा। फलभोगकी इच्छासेही मनुष्य बुरे कर्म करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। मैं कर्म करता हूं उसका फल मुझे अपने भोगके लिये चाहिये, ऐसा विचार जिसके मनमें हो वह अपने पास भोगोंकी समृद्धि करनेकी इच्छासेही मन माने कर्म करता है। यदि बुरे कर्म करके धन मिलनेकी संभावना हो तो वह बुरे कर्म भी कर सकता है।

परंतु यदि वह नियम करे कि कर्मके फलका वह स्वयं भोग नहीं करेगा, प्रत्युत उसका परमेश्वरके लिये समर्पण कर देगा, तो इस कर्म समर्पणसे उसकी भोगविलास की इच्छा मर्यादित और संयमित होती जायगी और उस भोगी पुरुषका रूपान्तर संयमी पुरुषमें हो जायगा। कर्मफलत्याग करनेसेही मनुष्य उन्नत होने लगता है। मनुष्य कर्मफलका भोग करता है और भोगमें फंसता जाता है, अतः जो कर्मफलत्याग करेगा वह भोगमें नहीं फंसेगा और संयमद्वारा क्रमशः उन्नत होता जायगा।

कर्मफलत्याग और कर्मफलभोगका विवेचन इसके पूर्व अनेक बार हो चुका है अतः यहां इस विषयको अधिक बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(१२) अभ्यास योगसे ज्ञानयोग श्रेयस्कर है, ज्ञान योगसे ध्यानयोगकी विशेषता अधिक है, ध्यानयोगसे कर्म-फलका त्याग अधिक उत्तम है, इस कर्मफलका त्याग करनेसे शीघ्रही शान्ति मिलती है।

छठे श्लोकमें 'अनन्ययोग' करनेका उपदेश है और उसीका विवरण ८ वें श्लोकतक किया है। जिनसे वह अनन्ययोग नहीं हो सकता वे वारंवार अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त करें ऐसा नवम श्लोकमें कहा है, अर्थात् अनन्ययोगसे यह अभ्यासयोग सुगम है।

इस अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग और ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक श्रेयस्कर है, इसमें संदेह नहीं है। द्वितीय अध्यायमें सबसे प्रारंभमें यह ज्ञानयोग कहा है, ध्यानयोगका थोडासा वर्णन छठे अध्यायमें आ चुका है और इसीका विशेष इस १२ वें अध्यायमें ८ वें श्लोकमें मन और बुद्धिको परमात्मामें लगानेका उपदेश करके किया है। जिनसे ये योग नहीं हो सकते वे सर्वकर्मफलत्याग करें, ऐसा ११ वें श्लोकमें कहा है। सबसे सुगम और सबसे परिणामकारी होना इस कर्मफलत्यागकी विशेषता है। कर्मफलत्याग किये विना कोई अन्य योग सफल और सुफल नहीं हो सकता। यह कर्मफलत्यागयोग सबसे सुगम है और सब अन्य योगोंके साथ संबंध रखनेवाला भी है। सब अन्य योगोंकी सफलता इसीसे हो सकती है। अतः सुगमता और सब योगोंके लिये उपयोगिता होनेके कारण कर्मफलत्यागका महत्त्व सर्वोपरि है।

कर्मफलत्यागसेही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। फलत्यागके विना शान्ति नहीं मिल सकती। इस तरह कर्मफलत्याग, कर्मफलत्याग और कर्मफलसंन्यासका महत्त्व है। यह जानकर सब साधक कर्मफलत्याग करके शान्तिको प्राप्त करें।

(९) प्रिय भक्त

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति । शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते । श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अन्वयः— (यः) सर्वभूतानां अद्वेष्टा मैत्रः करुणः च एव निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी सततं सन्तुष्टः योगी यतात्मा दृढनिश्चयः मयि अर्पितमनोबुद्धिः सः मद्भक्तः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १३–१४ ॥ लोकः यस्मात् न उद्विजते यः च लोकात् न उद्विजते यः च हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १५ ॥ यः मद्भक्तः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भपरित्यागी सः मे प्रियः ॥ १६ ॥ यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् (अस्ति) सः मे प्रियः (भवति) ॥ १७ ॥ (यः) शत्रौ मित्रे (च) तथा मानापमानयोः समः शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः (च अस्ति), तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी (यः) येन केनचित् संतुष्टः (भवति), अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् सः नरः मे प्रियः (भवति) ॥ १८–१९ ॥ ये तु श्रद्दधानाः मत्परमाः भक्ताः इदं यथोक्तं धर्म्यामृतं पर्युपासते ते मे अतीव प्रियाः (सन्ति) ॥ २० ॥

जो सब प्राणियोंका द्वेष न करनेवाला सबका मित्र दयावान् ममतारहित घमंड न करनेवाला सुख और दुःखको समान माननेवाला क्षमाशील सदा सन्तुष्ट योगाभ्यास करनेवाला संयमी और दृढनिश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धिको मुझे (ईश्वरको) अर्पण कर दिया है वह मेरा (ईश्वरका) भक्त मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १३–१४ ॥ लोग जिससे उद्विग्न नहीं होते जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष क्रोध भय तथा उद्वेगसे मुक्त रहता है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १५ ॥ जो मेरा (ईश्वरका) भक्त इच्छारहित पवित्र दक्ष उदासीन व्यथारहित और सकाम-कर्मोंका आरम्भ न करनेवाला है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १६ ॥ जो हर्ष नहीं मानता और द्वेष भी नहीं करता जो शोक नहीं करता और न आशा करता है शुभ तथा अशुभ दोनोंका त्याग करनेवाला भक्त मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १७ ॥ जो शत्रु और मित्रके विषयमें मान और अपमानके विषयमें सम भाव रखता है शीत उष्ण सुख दुःखके विषयमें सम भाव धारण करता है जिसकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है जो निन्दा और स्तुतिके विषयमें सम भाव रखता है जो मौन धारण करता है जो मिल जाय उसीसे जो सन्तुष्ट रहता है जिसका अपना कोई स्थान नहीं है जिसकी बुद्धि स्थिर है ऐसा जो भक्तिमान् मनुष्य है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १८—१९ ॥ जो श्रद्धा रखनेवाले और मुझे (ईश्वरको) परम श्रेष्ठ माननेवाले धर्मयुक्त भक्त जैसा यहाँ कहा वैसा ही इस अमर ज्ञानका सेवन करते हैं वे मुझे (ईश्वरको) अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— जो किसीका द्वेष नहीं करता, सबके साथ मित्रके समान बर्ताव करता है, सबपर दया करता है, 'यह मेरा और यह मेरा नहीं' ऐसा भाव कभी नहीं रखता, कभी घमंड नहीं करता, सुखदुःखको समान समझता है, क्षमा करता है, सदा संतुष्ट रहता है, नियमपूर्वक योगसाधन करता है, इन्द्रियोंका निग्रह करता है, दृढ निश्चयसे अपना कर्तव्य करता है, अपने मन-बुद्धिको ईश्वरके कार्यमें अर्पण करता है, जिससे दूसरोंको उद्वेग नहीं होता और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, जिसके अन्दर हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग आदि विकार नहीं होते, जो भोगेच्छा नहीं रखता, पवित्र रहता है, कर्तव्यमें दक्ष रहता है, लाभ-हानिके विषयमें उदासीन रहता है, जिसे कष्ट नहीं होता, जो अपने भोग बढानेवाले कर्मोंका आरंभ नहीं करता, जो शोक और द्वेष नहीं करता, जो फलभोगकी आशा नहीं रखता, जो शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग करता है, जो शत्रु मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, स्तुति निन्दाके सम्बन्ध होनेपर मनकी समान वृत्ति धारण करता है, जो भोगोंपर आसक्त नहीं है, सहजसे जो प्राप्त हो उससे सन्तुष्ट होता है, जो मौन धारण करता है, जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसकी बुद्धि चंचल नहीं है, जो श्रद्धावान् ईश्वरकोही परम श्रेष्ठ मानता है और उसकी भक्ति करता है और धर्मामृत प्राप्त करके तदनुसार आचरण करता है वह भक्त परमेश्वरको बडा प्रिय होता है ॥ १३—२ ॥

(१३-२) जो भक्त ईश्वरको अत्यंत प्रिय होता है उसके लक्षण यहां बताये हैं। ये सभी लक्षण एकही भक्तमें होने चाहिये ऐसा नहीं। इनमेंसे जितने भी हो उतनेही पर्याप्त है, क्योंकि किसी एक भक्तमें कोई एक लक्षण पूर्णताके साथ आ जानेपर अन्य लक्षण उसके साथ साथ न्यूनाधिक प्रमाणमें आने लगते हैं। ये लक्षण उत्तम भक्तके हैं अर्थात् ये लक्षण पूर्ण पुरुषके भी हैं। पूर्ण पुरुषही उत्तम भक्त होता है और वह कैसा आचार विचार करता है यह इन लक्षणोंसे ज्ञात हो सकता है। अतः इन लक्षणोंसे श्रेष्ठ मनुष्यके अन्दरके उत्तम लक्षण ज्ञात हो सकते हैं वैसेही उत्तम सामाजिक व्यवहार भी समझमें आ सकते हैं। इसलिये हम इन लक्षणोंका यहां थोडासा विचार करते हैं—

१ अद्वेष्टा

किसीका द्वेष नहीं करना चाहिये। परन्तु जगत्के अन्दर जो द्वेषही दीखता है व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाजमें द्वेष बढ रहे हैं यह ठीक नहीं है। यह दुःखका मूल है। द्वेष छोड देना चाहिये। मनसे द्वेष बिलकुल दूर जानेपर मनुष्य उत्तम भक्त बन जाता है। द्वेष छोडना उत्तम भक्तका प्रथम लक्षण है। परन्तु द्वेष छोड देना यह निषेध लक्षण है अर्थात् द्वेष छोडनेमें कुछ करना नहीं होता अतः इसका विधिलक्षण देखना चाहिये जो आगेही कहा है

२ मैत्रः

सबके साथ मित्र भावसे बर्ताव करना चाहिये। सबका मित्र बनकर रहना चाहिये। द्वेष छोडनेके पश्चात् जो करना है वह इस शब्दद्वारा बताया है। सबका हित करना चाहिये। जैसे मित्र हित करता है वैसेही प्राणिमात्रका हित करना चाहिये। जिसका हित जिसमें है वह जानकर वैसाही करना चाहिये—

३ करुण

करुणा दया मनमें धारण करनी चाहिये। यह गुण भी द्वेष छोडनेके साथ धारण करनेयोग्य है। यह गुण न रहे तो न मित्रता सिद्ध होगी और न द्वेष छोडनेमेंही सफलता हो सकती है।

४ निर्मम

ममत्वको छोड देना चाहिये। यह मेरा है यह मुझे चाहिये, यह दूसरेका है यह मेरा नहीं है, इस प्रकारके विचारको ममत्व कहते हैं। इस ममत्वके कारणही सब द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह स्थान मेरा है और यह दूसरेका है। उसने मेरी भूमिमें अतिक्रमण किया है, इस प्रकारसे द्वेषका प्रारंभ हो जाता है और द्वेष बढनेसे मित्रता और करुणा नष्ट हो जाती है। अर्थात् ममत्व द्वेषका हेतु है इसलिये उसे छोड देना चाहिये।

जब हम इस ममत्वरहित अवस्थाका विचार करते हैं तब हमें सब भूमि सब पर सब स्थान सब प्रजाओंका है और किसी व्यक्तिका नहीं ऐसाही मान

व्यवस्था स्वीकारनी पड़ेगी।

५ अनिकेत

किसीका स्वामित्व (निकेतः) घरपर (न) नहीं है। यहां गृहवाचक निकेत शब्द धनवाचक सब शब्दोंका उपलक्षण है। घरोंपर किसी व्यक्तिका स्वामित्व नहीं है, वैसेही भूमि, कृषि गौ बैल घोडे धन तथा अन्य वस्तुओंपर भी किसी व्यक्तिका स्वामित्व न हो, वे सब राष्ट्रके स्वामित्वमें रहें और वे सबको राष्ट्रनियमसे व्यवहारके लिये मिलें। कोई अपने अधीन कुछ भी धन न रखे सब धन राष्ट्रका हो और वह सबकी भलाईके लिये व्यय हो। समाज व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसमें कोई अपना ममत्व किसीपर न रख सके। इस तरहके समाजमें ममत्वसे और अपना घर बनाके रहनेसे जो जो विद्रोह बढते हैं वे नहीं होंगे।

आजकल संन्यासी और वैरागीभी कि जिनको अपना घरबार नहीं होता और जिनके पास ममत्वके रूपसे रखनेके योग्य कोई वस्तु नहीं होती वे भी आपसमें लड मरते हैं। परन्तु यह अज्ञानताके कारण होता है। पूर्वोक्त समाज–व्यवस्थामें यदि पर्याप्त ज्ञान सबको दिया जावे तो वे दोष कदापि नहीं बढ सकेंगे इसलिये हम कहते हैं कि भगवद्गीता-को वैसी समाजव्यवस्था अभीष्ट है जिसमें किसीका अपना घरबार न हो और कोई मनुष्य यह वस्तु मेरी है ऐसा न कह सके, परन्तु समाजके अन्तर्गत रहनेवाले सभी लोगोंका योगक्षेम राष्ट्रव्यवहारसे उत्तम रीतिसे चले।

६ निरहंकारः

अहंकार न रहे घमंड न रहे। अहंकारसेही दूसरेकी निंदा की जाती है। द्वेष ममत्व और अहंकारका संबंध बडा घनिष्ठ है। अहंकारसे ममत्व ममत्वसे दूसरेकी निंदा और निंदासे द्वेष होता है। यह संबंध देखकर अहंकार छोडनेका प्रयत्न होना चाहिये।

७ सततं सन्तुष्टः, सन्तुष्टो येन केनचित्

सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। असन्तोषसे द्वेष और लगडे होते हैं असन्तोषसेही असमता बढती है और अन्तमें द्वेष प्रकट हो जाता है। सन्तोषसे भोगकामना मर्यादित रहती है मेरे भोगके लिये मुझे यह चाहिये ऐसा आग्रह करनेसे असन्तोष बढने लगता है। जो मिल जाय उसीमें संतोष हो जाय तो सुख मिल सकता है। संतोष तो तभी होगा जब मनमें किसी प्रकारकी अपेक्षा इच्छा और आशा न हो। इसीलिये कहा है—

८ अनपेक्षः

सुखभोगकी इच्छा–अपेक्षा–आशा नहीं करनी चाहिये। जितनी भोगेच्छा कम हो सके उतनी कम करनी चाहिये तभी सन्तोष होगा और समयपर जो मिल जाय उससे सन्तुष्टि होगी। यदि भोगकामना बढ जाय तो चाहे जो मिल जाय उससे सन्तोष नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थितिमें सदा समाधान रहना भी असम्भव है। अतः भोगोंकी इच्छाको मर्यादित करके रखना चाहिये।

९ सर्वारम्भ

इस शब्दसे अपना संयम करनेका उपदेश है समयपर जो मिले उसीसे संतोष हो जाना आत्मसंयम करनेसेही संभव हो सकता है। आत्मसंयमके अभावमें भोगेच्छा बढेगी और पूर्वोक्त सब दोष उत्पन्न होंगे तथा समाज भी कभी सुखी नहीं हो सकता। इसलिये संयमका अवलंब करना अत्यंत आवश्यक है।

१० समभाव

[१ समदुःखसुखः, २ समः शत्रौ च मित्रे च ३ मानापमानयोः समः ४ शीतोष्णसुखदुःखेषु समः ५ तुल्यनिन्दास्तुतिः ६ न हृष्यति न द्वेष्टि ७ न शोचति न कांक्षति।]

सर्वत्र सम बुद्धि सम भाव सम दृष्टि रखनी चाहिये। सुख दुःख शीत उष्ण निन्दा स्तुति हर्षद्वेष शोक (चिन्ता) और आशा मान–अपमान शत्रु–मित्र इन द्वन्द्वोंमें जिसकी मनकी सम वृत्ति रखनी चाहिये। इनमेंसे कोई भी प्राप्त हो पर अपना मन प्रभावित नहीं होना चाहिये। सुख हो अथवा दुःख अपने कर्तव्यसे कभी पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। इसी तरह कोई निन्दा करे अथवा स्तुति करे

हो या कष्ट, अथवा मान हो अथवा कोई अपना अपमान करे कोई द्वेष करे अथवा न करे अपनी विराधना हो या चाहा दीखे शत्रुके साथ अथवा मित्रके साथ सामना हो, अपना कर्तव्य कभी नहीं छोडना चाहिये। यहां सबकी सम स्थिति हुई है, अपनी समता स्थिर रखनी चाहिये एक ओर झुकाव नहीं होने देना चाहिये यही बात यहां मुख्य है। एक ओर मनुष्य झुक जाय तो निःसंदेह भय रहता है। इस भयको दूर करनेके लियेही सम स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। जिस मनुष्यकी यह सम स्थिति नहीं होती वह अत्यंत दुःख प्राप्त होनेपर उस दुःखको न सह सकनेके कारण उस दुःखाघातसे मर भी जायगा। इसी तरह अत्यंत आनंद होनेसे अथवा हर्ष अत्यधिक होनेसे भी मनुष्य मर जाता है। इस तरह जो द्वन्द्वके आघात सहे नहीं जाते उसका यही एकमात्र कारण है। उसकी बुद्धि सम नहीं हुई, अतः सम भाव रखनेका उपदेश गीतामें सर्वत्र किया है। हरएक द्वन्द्वका इस तरह विचार करके पाठक जान लें कि सम भावसे किस तरह लाभ हो सकता है और अपना सम भाव न रहे तो किस तरह पतन हो सकता है।

११ दृढनिश्चयः

दृढ निश्चयसेही यह सम वृत्ति रखी जा सकती है। निश्चयकी दृढता न रहे तो मन विचलित हो जायगा और इधर या उधर गिर जायगा। अतः सम अवस्थिति रखनेके लिये दृढ निश्चय अत्यन्त आवश्यक है। दृढ निश्चय व्यावहारिक व्यवहारमें भी उपयोगी है और हरएक स्थानमें विजय प्राप्त करनेके लिये दृढ निश्चयकी अत्यंत आवश्यकता है।

१२ स्थिरमतिः

स्थिरबुद्धि मनुष्यके लिये स्थिरमति होना अत्यंत आवश्यक है। चंचल बुद्धिवाला मनुष्य कोई विशेष कार्य पूर्ण नहीं कर सकता। जिसकी बुद्धि विषम परिस्थितिमें भी चंचल नहीं होती वही कुछ उन्नतिके मार्गपर अग्रसर हो सकता है।

१३ संगविवर्जितः

भोगकी संगति छोडनेवाला जिसने अपनी भोगलालसा संयमित की है जिसने भोग भोगनेकी इच्छा त्याग दी है उसीकी मति स्थिर हो सकती है। अतः संग छोडना उन्नतिका साधक है। अपने भोगोंके विषयमें निष्कामता अथवा अनासक्ति मनुष्यकी उन्नति करनेवाली होती है।

१४ हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः

हर्ष क्रोध भय और उद्वेग आदिको भी छोड देना चाहिये। अत्यधिक हर्ष अत्यधिक क्रोध अत्यंत भय अथवा अतिताप होनेसे तो मनुष्य पागलतक हो जाता है अथवा मर भी जाता है। अतः इनके आघातोंसे पराजित नहीं होना चाहिये।

१५ शुभाशुभपरित्यागी

शुभ और अशुभ इन दोनोंका त्याग करनेवाला अर्थात् जो अशुभ तथा शुभ कर्मोंमें न लिपटता हो उसेही श्रेष्ठ भक्त समझना चाहिये। अशुभ कर्मके विषयमें त्यागकी कल्पना सब लोगोंके समझमें आ सकती है परन्तु शुभ कर्मोंमें लिपटनेकी कल्पना सहजहीसे समझमें नहीं आ सकती। इसलिये इस विषयमें थोडे अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है।

समझ लीजिये कि योगसाधन करना एक शुभ कर्म है। उसे आतुरताके साथ एक साधक करना चाहता है। उसने कुछ साधन इकट्ठे किये किसीने उनका नाश कर दिया तो उस समय यदि वह उसमें अत्यंत लिपटा हुआ होगा, तो उसे अत्यंत क्रोध आ जायगा। वह क्रोध इसीका घात करेगा। इससे पाठक जान सकते हैं कि शुभ कर्मोंमें लिपटना भी पतनका हेतु बनता है। इसलिये कहा है कि जैसे अशुभमें नहीं लिपटना चाहिये वैसेही शुभमें भी नहीं लिपटना चाहिये। दोनोंसे मध्यस्थके समान अलग रहना चाहिये।

१६ उदासीनः

उदासीन मध्यस्थ जैसा रहना चाहिये। किसी पक्षके साथ मिलना नहीं चाहिये। दोनों विरुद्ध पक्षोंके दोष मध्यस्थ उदासीनके पास नहीं आते हैं इसलिये उदासीन जैसा रहनेसे सुखलाभ होता है।

१७ शुचिः

शुद्ध पवित्र निर्मल रहना चाहिये निष्कलंक निर्दोष होना चाहिये।

१८ दृढः

कर्तव्यको दृढताके साथ करना चाहिये। दृढता न रहनेसे असुविधा होती है और यश नहीं मिलता। अतः दृढता अत्यंत आवश्यक है।

१९ सर्वारंभपरित्यागी, गतव्यथः

सम्पूर्ण सकाम कर्मोंके आरंभका त्याग करनेवाला अर्थात् अपने भोग बढानेके जो जो कर्म हैं उनका आरंभतक न करनेवाला तथा दुःखादिरहित वृत्तिवाला जो भक्त होगा वही श्रेष्ठ भक्त हो सकता है। इससे अपने भोगोंकी लालसा बिलकुल कम हो जाती है और निष्काम कर्मयोग अना-सक्तिसे करनेकी वृत्ति अधिक होती है। यही इसकी श्रेष्ठता-का हेतु है।

२० यस्मात् लोकः न उद्विजते, यः च लोकात् न उद्विजते

जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता वही धन्य है वही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ तथा शुद्ध आचारणसेही यह परिणाम हो सकता है।

२१ ईश्वरे अर्पितमनोबुद्धिः, योगी

ईश्वरमें मन और बुद्धिको समर्पण कर देना चाहिये। जिसने मन अर्पण कर दिया उसने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। जो दुर्व्यसनमें अपना मन अर्पण करता है वह दुष्ट बनता है इसी तरह जो मनुष्य अपना मन ईश्वरार्पण करता है वह ईश्वरभावसे युक्त हो जाता है।

२२ क्षमी

क्षमीके दो अर्थ हैं एक सामाजिक अर्थात् अपराधोंकी क्षमा करनेवाला और दूसरा कष्ट सहन करनेमें समर्थ। दोनों अर्थ यहां अपेक्षित हैं। सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट सहन करनेका सामर्थ्य जिसके अन्दर होता है वही उन्नत हो सकता है, तथा जो कठोर दण्ड न करता हुआ शांतिसे कार्य करता है वह भी आदर्शका अनुभव करता है। अतः ये दोनों गुण उन्नतिशील मनुष्यमें होने चाहिये।

२३ धर्म्यामृतं यथोक्तं पर्युपासते

पूर्वोक्त धर्म्य अमृत उपदेश आचरणमें लानेवाले उत्तम सदाचारी बनते हैं और उन्नत होते जाते हैं।

२४ मत्परमा श्रद्दधाना भक्ताः

ईश्वरकोही परम श्रेष्ठ माननेवाले श्रद्धायुक्त भक्तही श्रेष्ठ और ईश्वरके प्रिय भक्त हैं।

ये भेद भक्तोंके लक्षण हैं। ये लक्षण व्यक्तिमें और समाजमें बढकर देखने चाहिये। इस तरह विचार करनेसे वैयक्तिक सदाचार किस तरह होना चाहिये और सामाजिक सदाचार कैसा होता है इसका ज्ञान हो सकता है। पाठक इन लक्षणोंका इस रीतिसे विचार करके उचित बोध ले सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्रविषयक
श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ
अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश अध्यायका मनन

भक्तियोग

ग्यारहवें अध्यायमें परमेश्वरका विश्वरूप-दर्शन किया अर्थात् परमेश्वरका सगुण साकार व्यक्त रूप दर्शाया। परमेश्वरके इस विश्वरूपमें संपूर्ण मानव जाति संपूर्ण पशु पक्षियोंकी जाति संपूर्ण वृक्षवनस्पतियोंकी जातियाँ और जो कुछ अवशिष्ट है जो इस विश्वमें संमिलित है वह सब अखण्ड रूपसे संमिलित है।

परमेश्वरका यह स्वरूप ज्ञात होनेपर उसकी सेवा किस तरह करनी चाहिये इसका विचार करना आवश्यक है। इस अध्यायमें यही विचार किया गया है। यदि परमेश्वरका स्वरूप विश्वही है तो इस विश्वरूपकी सेवा विश्वसेवाही होनी चाहिये इसमें संदेह नहीं हो सकता। तथापि इस समयतक स्थूल विश्व और उसमें व्यापक सूक्ष्म आत्मा दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं ऐसा वारंवार कहा है। अतः शंका उत्पन्न होती है कि इस स्थूल क्षर विश्वकी सेवा करना तो अज्ञानमूलकही है। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो सूक्ष्म अव्यक्त अक्षर आत्माकीही सेवा करनी चाहिये। यही प्रश्न अर्जुनने प्रथम श्लोकमें किया है—

अर्जुनने पूछा कि— इस तरह जो भक्त निरंतर ध्यान करते हुए आपकी उपासना करते हैं (त्वां पर्युपासते) और जो आपके अविनाशी (ये अक्षरं अव्यक्तं उपासते) अव्यक्त-रूपका ध्यान करते हैं उनमेंसे कौन (के योगवित्तमाः) योगी श्रेष्ठ कहलाने योग्य है ?

अर्जुन यही उत्तर चाहता था कि अव्यक्त अक्षर आत्माके उपासक श्रेष्ठ हैं ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण कहेंगे। क्योंकि पूर्व स्थलमें मनसे बुद्धि और बुद्धिसे आत्मा परे और श्रेष्ठ है ऐसा कहा गया है। अतः अक्षरकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ और विश्वरूपकी उपासना करनेवाले निकृष्ट हैं, यही अर्जुनका तर्क था।

वासुदेवका रूप

सप्तम अध्यायमें वासुदेवः सर्वम् (गी० ७।१९) वासुदेव सब कुछ है ऐसा जो कहा था वह अर्जुन भूल गया दीखता है और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌का रूप यह विश्वरूप है ऐसा जो कहा वह भी उसके ध्यानमें ठीक तरह नहीं रहा यह प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वं वासुदेवः ऐसा कहनेपर और यह सब रूप वासुदेवकाही है ऐसा कहनेपर उपास्यका विषय स्पष्टता और संदेहरहित रीतिसे हो चुका है। एक मात्र विश्वसेवा करनाही विश्वके विश्वरूपी परमात्माको उपासना करना है। इसमें शंकाही क्यों कर उपस्थित हो सकती है ?

व्यक्त रूपकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ अथवा अव्यक्तकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ ? यह प्रश्न व्यक्त और अव्यक्तमें समानता भेद होनेपर हो सकता है परन्तु जहां व्यक्ताव्यक्त सबही रूप परमेश्वरका सिद्ध हुआ वहां यह प्रश्न कैसे हो सकता है ? परन्तु व्यक्त और अव्यक्त रूप परमात्माकाही है तथापि व्यक्त रूपसे अव्यक्तकी श्रेष्ठता होनेसे अर्थात् व्यक्त रूप क्षर-नाशवान् है और अव्यक्त रूप अक्षर-अविनाशी है नाशवान्‌के उपासकोंसे अविनाशीके उपासक श्रेष्ठ होनेकी संभावना है अतः अर्जुनकी शंका इस रीतिसे देखी जाय तो ठीकही है।

यदि इस दृष्टिसे कोई विचार करे तो पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर क्षरके उपासकोंसे अक्षरके उपासक श्रेष्ठ हैं ऐसाही कहा जा सकता है परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर दूसरीही रीतिसे दे रहे हैं—

सगुण उपासना

श्रीभगवान् बोले— जो नित्य ध्यान करते हुए मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। (२) तथा— सब इंद्रियोंको वशमें रखकर सर्वत्र सम बुद्धि रखकर जो दृढ अचल धीर अचिन्त्य सर्वव्यापी अव्यक्त अवर्णनीय अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सर्व प्राणियोंके हितमें रत हुए मुझे पा लेते हैं। जिनका चित्त अव्यक्तमें लीन है उन्हें

कष्ट अधिक होते हैं। देहधारी मनुष्य अव्यक्त गतिको कष्टसेही पा सकता है। (१ ५)

इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्त सगुण साकार की उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ भक्त हैं जो सब भूतोंका हित करनेमें दत्तचित्त हैं सर्वत्र सम बुद्धि रखते हैं तथा जो अव्यक्तकी उपासना करते हैं वे भी ईश्वरको प्राप्त करते हैं, परन्तु जो केवल अव्यक्तमेंही चित्त लगाते हैं उनको बहुतही कष्ट होते हैं।

यहां व्यक्तकी उपासनाके सुखसे और अव्यक्तकी उपासनाके कष्टके साथ ईश्वर-प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है। यहां तीन प्रकारके उपासकोंका वर्णन है—

१ सतत किसी विभूतिके अनुगामी होकर उसी विभूतिके उपदेशानुसार चलकर उसकी उपासना करनेवाले भक्त,

२ इंद्रियसंयम कर सर्वत्र सम बुद्धि रखकर सर्व भूतोंका हित करते हुए सर्वव्यापक अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले भक्त,

३ सर्व भूतोंका हित न करते हुए केवल सर्वव्यापक अव्यक्त आत्माकी उपासना करनेवाले भक्त।

पहिले दो प्रकारके भक्त परमेश्वरको प्राप्त करते हैं तीसरे जो हैं वे अव्यक्तकी उपासना करनेके कारण कष्ट सहके अव्यक्त आत्माको प्राप्त करते हैं। इस उत्तरसे स्पष्ट होता है कि अव्यक्तकी उपासनाकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना करनेमें अधिक लाभ है और परमेश्वरकी प्राप्ति अधिक सुलभता के साथ हो सकती है। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता अव्यक्तकी उपासनाका पक्षपात नहीं करती है। इसी कारण किसी प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी उपासना भी भगवद्गीतामें प्रशंसाके योग्य नहीं मानी गई है। यहां जो उपासना कही है वह है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गी १२।२)

श्रीकृष्णके दो रूप

यहां मयि मां ये शब्द स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वाचक हैं। मुझमें मन लगाकर मेरी नित्य उपासना करते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्णके संबंधमेंही कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण दो रूपोंमें भगवद्गीतामें दिखाई देते हैं—

१ (वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। गी १०।३७) = वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव नामक विभूति भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इससे विभूति-पूजा सूचित होती है।

२ (वासुदेवः सर्वम्। गी ७।१९) = भगवान् श्रीकृष्ण विश्वरूपी हैं। सम्पूर्ण विश्वही भगवत्स्वरूप है। [इस विश्वरूपमें चारों वर्ण चारों आश्रम सब मनुष्य आदि सब पदार्थ एक रूपमें सम्मिलित समझने चाहिये।]

ये दोनों रूप सगुण साकार व्यक्त और प्रत्यक्ष हैं। (मयि मनः आवेश्य) मुझमें मन लगाओ ऐसा जो कहा गया है वह इन दो रूपोंमेंसे किसी एक सगुण रूपपर मन लगाओ इसी भावका द्योतक है। यहां विभूतिपूजा हो अथवा विश्वरूप-उपासना हो वह प्रत्यक्ष जीवित जाग्रत सजीव देहधारी विभूतिकी उपासना है। श्रीकृष्णके जीते जी उसका अनुगामी होना उनके उपदेशानुसार चलना उनके कार्य करना उनके आदेशमें मन स्थिर करना उनकी उपासना है। विश्वरूप उपासनामें भी विश्वके किसी रूपकी राष्ट्रकी समाजकी जन समूहोंकी अथवा किसी अन्य मानवकी अर्थात् जीवितोंकी सेवा होजाती है।

यहां जो भक्ति कही है वह इसी तरहकी सेवा कही है यह पाठक न भूलें।

जीवित विभूति-पूजा

आजकल जो भक्ति कही और समझी जाती है वह प्राचीन कालकी किसी विभूतिकी मूर्तिकी पूजा कही और समझी जाती है। प्रत्यक्ष किसी विभूतिकी भक्ति नहीं। यह अन्तर भगवद्गीताकी भक्तिमें और आजकलकी प्रचलित भक्तिमें है यह ध्यानमें रखना चाहिये। मूर्तिपूजाके लिये योग्य स्थान उपासनामें है और मूर्तियां जैसी प्राचीन कालकी विभूतियोंकी हो सकती हैं वैसीही वर्तमान कालकी विभूतियोंकी भी हो सकती हैं और वह मूर्तिपूजा अथवा मूर्तिसत्कार जनताके लिये मार्गदर्शक भी हो सकता है और यह विभूतिपूजा तथा वीरपूजा सब देशोंके इतिहास लोगोंको संमत भी है। इतना माननेपर भी भगवद्गीतामें यहां जीवित विभूतियोंको और जीवित वीरोंको उपास्य कहा माना है यह बात कभी भूलना नहीं चाहिये और

यही बात विशेष विचार करके देखने योग्य है। भगवद्गीताके विभूति-अध्यायमें जैसी प्राचीन कालकी विभूतियाँ कहीं हैं वैसी उस समयके वर्तमान कालकी भी कहीं हैं देखिये —

महर्षीणां भृगुः। (२५)
देवर्षीणां च नारदः। (२६)
गन्धर्वाणां चित्ररथः। (२६)
नराणां च नराधिपं। (२७)
वृष्णीनां वासुदेवः। (३७)
पाण्डवानां धनंजयः। (३७)
मुनीनामप्यहं व्यासः। (३७) (गी अ १)

ऋषियोंमें भृगु, देवर्षियोंमें नारद मुनियोंमें व्यास ये प्राचीनोंमें विभूतियाँ गंधर्वोंमें चित्ररथ वृष्णियोंमें वासुदेव, पांडवोंमें धनंजय मनुष्योंमें राजा ये क्षत्रियोंमें विभूतियाँ हैं। ये विभूतियाँ भगवान् श्रीकृष्णके समय जीवित और कार्यक्षेत्रमें प्रत्यक्ष कार्य करनेवाली थीं। इन प्रत्यक्ष दीखनेवाली ईश्वर-स्वरूप विभूतियोंकी उपासना करना अर्थात् उनके पास जाना उनके उपदेशमें अपना मन लगाना उनके आदेशानुसार कार्य करना, उनकेही लिये कर्म करना और उनके लिये आत्मसमर्पण करना यह उस समयकी सगुण उपासना थी।

विश्वरूप दृष्टिसे उस समयकी जनताके किसी भाग के कष्ट दूर करनेके लिये अपना जीवन व्यतीत करते हुए अपने कर्मसे ईश्वर-उपासना हो रही है ऐसा अनुभव करना भी सगुण उपासनाकाही कार्य था।

भगवान् श्रीकृष्ण जो सगुण उपासना कह रहे हैं वह सगुण उपासना उस समयके श्रेष्ठ पुरुषोंकि जीवित कालमें करनेकी थी यह बात कभी भूलनेयोग्य नहीं है। वह जीवित पुरुषोंकी उपासना करते हुए और विश्वरूप उपासना करते हुए, यह उपासना विश्वात्माकी उपासना हो रही है ऐसा मानना और अनुभव करना योग्य है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना जैसे-जी कर रहा था और श्रीकृष्ण अर्जुनकी उपासना वैसे जी कर रहे थे। दोनों एक दूसरेके उपासक और एक दूसरेके लिये विभूति थे। दोनों जो विभूतिपूजा कर रहे थे वह जीवित वीरोंकी ही उपासना थी। श्रीरामकी हनुमानद्वारा जो उपासना हुई थी वह भी इसी तरह जीवित अवस्थामेंही उपासना थी। इन सब उपासकोंने अपने उपास्यके लिये कष्टोंको सहन किया उपास्योंके कार्य किये उपास्योंके साथ वार्तालाप किये वादविवाद किये उनके लिये आत्मसमर्पण किया। तात्पर्य यह कि वह प्रत्यक्ष विभूतिकी उपासना थी।

प्रत्यक्ष सेवा

इससे स्पष्ट विदित होता है कि इस समयके आजके उपासकोंको भी आजके समय जो विभूतियाँ यहाँ उपस्थित हैं उनकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिये। जीवित विभूतियाँ इस समय भी हैं। जो जनताके उद्धारका कार्य निःस्वार्थ *भावसे कर रही हैं, वे ही इस समयकी विभूतियाँ हैं* उनके उपदेश सुनने चाहिये उनके लिये कर्तव्य कर्म करना चाहिये उनके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये उनको जो अभीष्ट कार्यक्रम हों उनको उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये। यही सगुण उपासना है और यही सगुण उपासना भगवद्गीतामें कही है।

आजकल हम क्या कर रहे हैं? प्राचीन कालमें जिन विभूतियोंने और वीरोंने कार्य किये हैं उनकी मूर्तियाँ हमने बनवायीं हैं और उनकी पूजा अर्चा आरति आदि कर रहे हैं और इसीको हम सगुण उपासना कहते हैं। आजकी जीवित विभूतियोंका विरोध करते हैं और इन प्राचीन विभूतियोंकी मूर्तियोंको पूजनेमें लाखों रुपयोंका व्यय कर रहे हैं। इस वीरमूर्तिकी पूजासे एक लाभ अवश्य है। वह है उनके पुण्य इतिहासके स्मरणसे शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होना। इस मूर्तिपूजासे यही लाभ होता है।

परंतु जो सगुण उपासना प्रत्यक्ष ईश्वरकी उपासनाके नामसे भगवद्गीतामें कही है वह जीवित विभूतियोंकी जीवित वीरोंकी और विश्वरूपके जीवित भागकी ही उपासना है। वह प्रत्यक्ष फलदायिनी भी होती है। यहाँ उपासक उपास्यसे पूछता है उसको क्या चाहिये और क्या नहीं इसका उसे पता लग सकता है जो चाहिये सो उसको वह यथा योग्य समयमें दे सकता है उससे उपदेश लेता है तदनुसार आचरण करता है उसकी सेवा करके उसे सुख पहुंचाता

है उपासकका यह जीवित, जागृत प्रत्यक्ष संबंध उपास्यके साथ होता है, जो भगवद्गीताको अभीष्ट है।

प्रत्यक्ष विभूतियाँ।

भगवद्गीतामें इस समयमें प्रत्यक्ष दीखनेवाली उपास्य विभूतियोंकी नामावली दी है उसको यहाँ पुनः देखना आवश्यक है—

१ आदित्यानां विष्णुः। (१०।२१)
२ ज्योतिषां रविः (१०।२१)
३ पवनः पवतां। (१०।३१)
४ वसूनां पावकः। (१०।२३)
५ *नक्षत्राणां शशी।* (१०।२१)
६ मेरुः शिखरिणां। (१०।२३)
७ स्थावराणां हिमालयः। (१०।२५)
८ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां। (१०।२६)
९ सरसां सागरः। (१०।२४)
१० स्रोतसां जाह्नवी। (१०।३१)

आदित्योंमें विष्णु, ज्योतियोंमें सूर्य पवित्रकोंमें वायु वसुओंमें अग्नि नक्षत्रोंमें चंद्र शिखरवालोंमें मेरुपर्वत स्थावरों में वायु वसुओंमें हिमालय वृक्षोंमें अश्वत्थ जलोंमें सागर और गंगानदी ये विभूतियाँ आज भी प्रत्यक्ष हैं। आज भी मनुष्य इनसे आरोग्यकी प्राप्ति कर सकता है इनके पास जाकर इनसे लाभ उठा सकता है। अर्थात् यह प्रत्यक्ष उपास्यकी उपासना है।

यद्यपि भरत निवासक वासुदेव अर्जुन और व्यास तथा राष्ट्रका राजा ये उपास्य विभूतिके रूपमें उस समय विद्यमान थे और इनमें राष्ट्रका राजा यह राष्ट्रके प्रजाजनोंके उपास्यके रूपमें आज भी विद्यमान है। हरएक राष्ट्रमें कोई न कोई शासक रहताही है। जो दिव्यगुणी शासक है वही प्रजाका उपास्य देव है, इसमें संदेह नहीं है और ऐसे राजाका बड़ा सत्कार सब प्रजाजन करतेही रहते हैं।

गुणरूप विभूतियोंकी प्रत्यक्षता

जो गुणरूप विभूतियाँ हैं वे जैसी उस समय थीं वैसी ही आज भी प्रत्यक्ष हैं जिनका उल्लेख इस तरह किया गया है—

१ ज्ञानवतां ज्ञानं। (१०।३८)
२ प्रवदतां वादः। (१०।३२)
३ दमयतां दण्डः। (१०।३८)
४ तेजस्विनां तेजः। (१०।३६)
५ सत्त्ववतां सत्त्वं। (१०।३६)
६ छलयतां द्यूतं। (१०।३६)
७ जिगीषतां नीतिः। (१०।३८)
८ गुह्यानां मौनं। (१०।३८)
९ जयः व्यवसायः। (१०।३६)
१० यमः संयमतां। (१०।२५)

'ज्ञान वाद-कौशल्य, दण्ड (राज्यशासन), तेजस्विता, सत्त्व-बल द्यूत नीति मौन जय-विजय व्यवसाय उद्योग संयम ये सबही गुणरूप विभूतियाँ जैसी प्राचीन कालमें थीं वैसीही आज भी गुणी लोगोंमें हैं। अर्थात् इनकी प्रत्यक्षता इस समय भी देखी जा सकती है। तथा—

१ अध्यात्मविद्या विद्यानां। (१०।३२)
२ अक्षराणां अकारः। (१०।३३)
३ गिरां एकं अक्षरं। (१०।२५)
४ वेदानां सामवेदः। (१०।२२)
५ साम्नां बृहत्साम। (१०।३५)
६ छन्दसां गायत्री। (१०।३५)
७ सामासिकस्य द्वन्द्वः। (१०।३३)
८ यज्ञानां जपयज्ञः। (१०।२५)
९ *इंद्रियाणां मनः।* (१०।२२)
१० उद्भवश्च भविष्यतां। (१०।३४)
११ मृत्युः सर्वहरः। (१०।३४)
१२ अक्षयः कालः। (१०।३३)
१३ कालः कलयतां। (१०।३०)
१४ मासानां मार्गशीर्षः। (१०।३५)
१५ ऋतूनां कुसुमाकरः। (१०।३५)
१६ सर्वभूतानां बीजं। (१०।३९)
१७ भूतानां चेतना। (१०।२२)
१८ *सर्गाणां आदिरन्तश्च मध्यं च।* (१०।३२)

विद्याओंमें अध्यात्मविद्या जिसे ब्रह्मविद्या कहते अकार वाणियोंमें एक अक्षर वेदोंमें सामवेद सामोंमें

इत्साम, छन्दोंमें गायत्री समासोंमें द्वन्द्व, यज्ञोंमें जपयज्ञ इंद्रियोंमें मन उत्पन्न होनेवालोंका जन्म और मरनेवालोंकी मृत्यु उत्तम वसन्त काल समय, महीनोंमें मार्गशीर्ष ऋतुओंमें वसन्त ऋतु सर्व भूतोंका बीज अर्थात् वीर्य आदि जिससे प्राणी उत्पन्न होते हैं भूतोंकी चेतना वस्तुमात्रक आदि मध्य और अन्त ये सबही विभूतियाँ जैसी भगवान् श्रीकृष्णजीके समय थीं वैसीही आज भी हैं और इनकी सहायतासे आज भी उपासक लाभ प्राप्त कर सकता है।

यहां इतनाही कहना है कि ये विभूतियाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाली हैं मनुष्य इनकी प्रसन्नता संपादन कर सकता है और इनसे लाभ भी प्राप्त कर सकता है।

उपासनाकी रीति

मनुष्यको ऐसे उपास्य देव चाहिये कि वह उनके पास जा सके और उनको प्रसन्न करके उनसे लाभ प्राप्त कर सके। इनमेंसे सब विभूतियाँ ऐसीही प्रत्यक्ष फल देनेवाली हैं। इरएककी प्रसन्नता करनेके मार्ग अलग हैं यह बात हरएक मनुष्य विचारसे जान सकता है। जैसी जल-वायुकी प्रसन्नता उनकी शुद्धता रखनेसे होती है वीर्यकी प्रसन्नता ब्रह्मचर्यसे हो सकती है इत्यादि प्रकार सबके विषयमें जानना योग्य है। ये विभूतियाँ मनुष्यकी सहायक हैं मनुष्यको प्राप्त होनेवाली हैं और इनसे मनुष्य अपनी प्रत्यक्ष उन्नति कर सकता है।

" वासुदेव, भृगु नारद व्यास चित्ररथ अर्जुन ये विभूतियाँ भगवान् श्रीकृष्णके समय थीं परंतु वे आज प्राचीन हो चुकी हैं। इसी तरह पांडवोंके समय भी कई विभूतियां प्राचीन हो चुकी थीं जैसे- वरुण (१ ।२२) स्कन्द (१ ।२४, अर्यमा (१ ।२९) कुबेर (१ ।२३), ये संभवत उनसे प्राचीन कालकी विभूतियाँ होंगी। शंकर या स्कंद वासव (इंद्र) ये विभूतियां अर्जुनके समकालीन मानवी होंगी क्योंकि इन्द्रसे तो अर्जुनका जन्मही हुआ और शंकरसे उन्होंने दिव्य अस्त्र प्राप्त किये थे। इनका विचार करनेकी हमें यहां आवश्यकता नहीं है परंतु इतना अवश्य ध्यान देना चाहिये कि इनकी विभूतियोंमें तो आधी ऐसी हैं जो अप्रत्यक्ष तथा प्राचीन कालकी हैं और शेष सबकी सब तो वर्तमान समयकीही हैं। हमें इससे यह बोध प्राप्त करना चाहिये कि हमारे उपास्योंमें दो चार प्राचीन कालके देवता हों और शेष सब हमारे समयमें उपस्थितही होने चाहिये।

विश्वरूपदर्शनसे भी यही दिखाई देता है। जिस समय हमें विश्वरूपमें परमेश्वर देखनेका अभ्यास होगा उस समय हमें प्रत्यक्ष वर्तमान कालमें दिखाई देनेवाला विश्वरूप रूपही हमारा उपास्य होगा। फिर अप्रत्यक्षका विचार वहाँ प्रधान नहीं होता है।

जैसे अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके लिये अर्जुन प्रत्यक्ष थे वैसेही इस समय रोगियोंके लिये वैद्य और वैद्यके लिये रोगी प्रत्यक्ष विश्वरूपमें उपस्थित हैं। इसी तरह अन्यान्य रूपोंकी कल्पना करनी चाहिये।

मूर्तिपूजाका स्थान

यहां पाठक पूछ सकते हैं कि प्राचीन कालकी विभूतियोंके लिये भी कोई स्थान है या नहीं? उत्तरमें निवेदन है कि प्राचीन कालकी विभूतियोंके लिये स्थान अवश्य है, वे आदर्श पुरुष हैं उनके चरित्र हमारे सामने हैं। उनके आदर्शसे हम इस समयके महापुरुषोंमें कौनसी विभूतियाँ हैं और कौनसी नहीं इसकी परीक्षा कर सकते हैं। इस रीतिसे इन प्राचीन विभूतियोंकी उपासना निःसंदेह लाभदायक है। परन्तु केवल प्राचीन विभूतियोंकाही पूजापाठ करना और वर्तमान समयकी विभूतियोंसे दूर रहना कदापि योग्य नहीं है। हमारी उपासनामें वर्तमान समयकी विभूतियाँ अधिक आनी चाहिये। वैसा इस समय नहीं हो रहा है। इसलिये विभूतिपूजाका अर्थात् सगुण उपासनाका यथार्थ स्वरूप कितना व्यावहारिक है और इसमें व्यवहार-साधनसे परमार्थ-साधन कैसे हो सकता है, यह दिखानेके लिये यहाँ इतना विस्तारसे लिखना पडा है।

नाम-जप

आजकल सगुण उपासनामें प्राचीन विभूतियोंकी किसी मूर्तिकी पूजा और नामजप आदि बातेंही आती हैं। मंदिर बनवाना मूर्ति स्थापन करना पूजाअर्चा करना उनके नामका जप करना, ये अनेक विधि इस समय प्रचलित हैं। भगवद्गीतामें यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (गी १ ।२५) यज्ञोंमें जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति है। इसमें जप

का प्रमुख स्थान माना है। जपका अर्थ किसी विभूतिके नामका जप भी हो सकता है किसी मंत्रका जप भी हो सकता है किसी उच्च विचारका वारंवार मनन भी हो सकता है। मनको स्वाधीन करनेके लिये इस 'जप' का विशेष उपयोग है। किसी नामका जप करनेसे मनको अलौकिक अवस्था प्राप्त हो सकती है इसमें कोई संदेहही नहीं है। यह जप किंवा नामजप अत्यंत सुगम साध्य है अतः इसमें हरकोई भाग ले सकता है और अपूर्व आनन्द प्राप्त कर सकता है।

इमर्सनका अनुभव

तत्वज्ञानी इमर्सनने भी अपने अनुभवमें लिखा है कि " मैं अपनेही नामका जप करता हूं और इस अपने नामके जपसे मैं ऐसी अलौकिक भूमिकामें पहुंचता हूं कि जो सत्य और आनन्दमय है और वह इस जागतिक अवस्थासे बहुतही उच्च अवस्था है। " यह तत्वज्ञानी कवि यूरोप अमेरिकामें बडी मान्यताके स्थानपर विराजमान है। अतः हरकोई नामजपसे अलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकता है इसमें संदेहही नहीं है। भारतवर्षमें तो नामजपकी बहुत परिपाटी है और उसमें संमिलित होनेवाले लोग भी इस अलौकिक आनन्दको प्राप्त करके सन्तुष्ट हुए दीखते हैं। इस तरह नामजपकी श्रेष्ठता निर्विवाद है।

नामजपका इतना महत्त्व भगवद्गीतामें वर्णन किया गया है तथापि प्राचीन विभूतिकी मूर्ति बनाके उसकी पूजा आदिका वर्णन गीतामें नहीं है और भगवद्गीतामें जो सगुण उपासना मानी है वह भूतकालकी विभूतियोंकी मूर्तिकी उपासना नहीं है परन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी अपूर्वमयी वाणीसे जो सगुण उपासना कही गयी है वह वर्तमान समयके महापुरुषोंकी जीवित मूर्तियोंकीही उपासना है।

त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें ईश्वरका प्रत्यक्षत्व

जो ईश्वर सत्वरजस्तमगुणात्मक अथवा प्रकृतिमें इन उपासकोंके सम्मुख प्रकट हुआ है वही उपासकी सगुण मूर्ति है और उसीकी उपासना सगुण उपासना कहलाती है। इसीलिये भगवद्गीतामें स्थान स्थानपर अहं (मैं) मयि (मुझमें) मां (मुझे) मे (मेरी) इत्यादि शब्द आते हैं। इनका वास्तविक अर्थ मेरी जैसी विभूति मेरे जैसा प्रकृतिमें प्रकट हुआ ईश्वर आदि है। राम अथवा कृष्ण रूपमें उपासकके समयमें अथवा प्रकृतिमें प्रकट हुआ ईश्वरांश यह अर्थ उसके 'मैं' आदि शब्दोंका है। श्रीरामचन्द्रने जैसे ३३ करोड देवगणोंकी विदेशी शत्रुकी परतंत्रतासे मुक्ति की, भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकार दुष्टोंका निर्दलन करके सज्जनोंकी रक्षा की उसी प्रकार जो महापुरुष इस समय महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं, वे सत्पुरुष इस समयमें लोगोंके उपास्य हैं यह आशय इन शब्दोंमें है। पाठक इसपर विशेष विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

भगवान् श्रीकृष्णके (मन्मनोभव) मेरे लिये मन कर (मद्भक्तः) मेरी भक्ति कर (मत्परमः) मुझे श्रेष्ठ मान इस कथनका यह संकुचित अर्थ नहीं है कि अर्जुन-सखा श्रीकृष्णकी शरण जानेसे ही कुछ कृतकृत्यता प्राप्त होती है परन्तु श्रीरामचन्द्रको भी वैसीही शरणागति करनेसे वैसीही परम गति हो सकती है इतना अर्थ इस कथनमें है। अर्थात् किसी ईश्वरके सगुण रूपकी सेवा करनेसे वैसीही सफलता हो सकती है इतना अर्थ इस कथनमें है। नहीं तो कुछ लोग यह अर्थ समझ लेंगे कि श्रीकृष्णकीही उपासना करनी चाहिये और श्रीरामचन्द्रकी करनेसे वह गति नहीं मिलेगी। ऐसा संकुचित भाव भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशमें नहीं है।

जहां अन्य देवताके भक्त भी मुझ (ईश्वर) कोही प्राप्त होते हैं (भ. गी. ७।२१) ऐसा कहा है वहां अन्य विभूतियोंके उपासक ईश्वरको प्राप्त नहीं होते, ऐसा अर्थ कैसे माना जा सकता है? अतः अन्य श्रीरामचन्द्रादि विभूतियोंके उपासक भी उच्च अवस्था प्राप्त कर सकते हैं, यही मानना चाहिये। अर्थात् उपासनाकी रीति और उसके लिये उपास्यका निर्णय करना आदि बातें यथायोग्य विचार करने योग्य हैं इसमें विवाद नहीं हो सकता। तात्पर्य जो भक्तिमार्ग आज प्रचलित है उससे अधिक व्यापक भक्तिमार्ग भगवद्गीतामें कहा गया है यह बात यहां पाठकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

जीवित विभूति-पूजा

श्रीमद्भगवद्गीताकी सगुण उपासना जीवित विभूतियोंकी उपासना है यह बात निर्विवाद सत्य है। विभूतिकी उपासना जीवितोंकीही उपासना है। विभूति-उपासना-

है थोडेसे विश्वरूपके प्रमाणभी अब चुने जाते हैं और विश्वरूप उपासनामें सभी अब उसी अद्वितीय आत्माके हैं, ऐसा माना जाता है। जैसा मुनीनां अपि अहं व्यास (गी १०।३७) इसके अनुसार अनेक मुनियोंमें व्यास विभूति है, ऐसा माना जाता है और विश्वरूप उपासनामें सभी मुनिगणोंमें वही एक अखंड विश्वात्मा है ऐसा मानकर मुनिजनोंकी सेवा की जाती है। दोनोंकी सेवा जीवित रूपमेंही होनी है यह बात सगुण उपासकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये। जीवित विभूतियोंकी सेवा करनाही हमारी उपासनामेंसे दूर हुआ है इस कारण सगुण उपासनासे जितना हो सकता है उतना लाभ हमें इस समय प्राप्त नहीं हो रहा है। सगुण उपासना से हमारी प्रायः मानवीय विभूतियोंकी प्रतिमाओंकीही उपासना तक सीमित हो चुकी है। अतः उसका फल भी हमें उतनाही न्यून मिलता है। जिस समय सगुण उपासनाका आशय जीवित विभूतियों और वीरोंकी उपासना होगा उस समय हमारी उपासनामें नव जीवन आजायगा और हमें प्रत्यक्ष लाभ भी मिलेगा। उपासनाका फल जो अदृष्ट माननेकी परिपाटी पड गयी है उसके स्थानपर इससे उपासकोंको दृष्ट फल भी प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

प्रत्यक्ष रूप

परमेश्वरके विश्वरूपमें वैद्य और रोगी अध्यापक और शिष्य राजा-राजपुरुष और प्रजाजन अधिकारी और नौकर धनी और धनहीन स्वामी और भृत्य सेनापति और सैनिक मातापिता और पुत्र इस तरह अनेक रूप सम्मिलित हैं। ये सब प्रत्यक्ष उपास्य हैं। जैसे पत्नीके पति उपास्य देव हैं वैसे ही पतिके पत्नी उपास्य देवी है। जैसे शिष्योंके अध्यापक आचार्य देव हैं वैसेही अध्यापकोंके लिये शिष्यगण भी ईश्वरांशही हैं। इसी तरह सबको परस्पर समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष स्वर्गधाम

यदि राजपुरुष सब प्रजाजनोंको ईश्वरांश मानकर अपना उपास्य समझेंगे तो राज्यशासन अत्यंत पवित्र बन जायगा। आजकल वैद्य और डाक्टर रोगियोंको लूटनेका व्यवसाय करते हैं उसके स्थानपर अपने रोगियोंको परमेश्वरके विश्वरूपका अंश समझकर सेवा करें तो वही मृत्युलोक स्वर्गधाम बन जाय। इसी तरह यदि अध्यापक-गण अपने विद्यार्थियोंको ईश्वरांश मानकर सचमुच उसी भावसे उनकी उपासना करेंगे तो सब विद्यालय स्वर्गकी प्रतिकृति बन जायेंगे। माता अपने पुत्रको ईश्वरांश मानकर सेवा करेगी तो घरमेंही उसे स्वर्गसुख मिलेगा। इसी तरह सब लोग इस जीवित और जाग्रत सगुण मूर्तियोंकी जीते-जी उपासना करें तो अपने जीवनमें सगुण उपासनाका प्रत्यक्ष फल पा सकते हैं। भगवद्गीतामें विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन इन अध्यायोंमें यही सगुण उपासना कही है। इसको भूलनेके कारण हमारी अत्यंत हानियाँ हुई हैं।

इसी सगुण उपासनासे ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। जिनको इसपर विश्वास न हो वे क्या करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्व भूतोंका हित करनेके कार्य करें।

सर्व भूत हितके कार्य

ते सर्वभूतहिते रताः समबुद्धयः (इ०४॥४)
प्राप्नुवन्ति ॥

जो जीवित विभूतियोंको तथा अखंड विश्वरूपको नहीं पहचान सकते वे क्या करें और वे किस मार्गसे अपना उद्धार करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्वत्र सम दृष्टि रखें और जैसा अपनेको दुःख होता है वैसाही अन्योंको होता है ऐसा समझकर अन्य सब भूतोंका हित करनेके कार्यमें तत्पर रहें।

यहाँ अन्य सब भूतोंको ईश्वरका विश्वरूप नहीं माना है परंतु प्रत्येक देहमें आत्मा भिन्न है मुझे जैसा सुखदुःख होता है वैसाही सब अन्य जीवजन्तुओंको होता है इसलिये मैं दूसरोंको कष्ट नहीं पहुंचाऊंगा प्रत्युत दूसरोंका हित ही करनेके कार्य करूंगा। अपने समान सब अन्य जीव हैं इतनीही सम दृष्टि यहाँ है और अन्योंका हित करनेके कार्य करनाही इनका कर्तव्य है। जो ऐसा करेंगे वे भी ईश्वरको प्राप्त होंगे।

जो विश्वरूपी विश्वात्माको जानकर सर्व भूतोंको अखण्ड विश्वात्माका रूप मानकर उसकी सेवा करेंगे वे तो श्रेष्ठ-आत्मा लोग होंगे। उनका विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है। जो अखण्ड विश्वात्माको नहीं पहचानते परंतु प्रत्येक जीवको पृथक् पृथक् आत्मा मानते हैं और सबको सुख-

दुःख समान होता है ऐसी सम दृष्टि रखकर सबका हित करनेके कार्य करनेके लिये आत्मसमर्पण करते रहते हैं उन सर्वभूतहितकारी साधकोंकाही यहां विचार करना है। ऐसे लोग सर्वभूतहितकारी कार्यके लिये अपने धनका दान करते हैं, अपनी शक्तिका समर्पण करते हैं, अपने ज्ञानका व्यय करते हैं तथा अपने शरीरसे आवश्यक कर्म करते हैं। सर्व प्राणियोंके हितके लिये जितनेसे जो हो सकता है करते हैं। ऐसे साधक बहुत हैं। इनमें दया और करुणाका भाव विशेष होता है और पूर्ण दयाभावसे प्रेरित होकर ये लोग सर्व प्राणियोंका भला करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। ये भी इस कार्यके करनेके कारण परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। यह जीवितोंकीही उपासना है क्योंकि जीवित प्राणियोंकाही हित किया जा सकता है।

सम दृष्टि

उपासनामें सर्व प्राणियोंके हितकी कल्पना कितनी उच्चतम है यह यहां देखा जा सकता है। सर्व प्राणियोंको अपने जैसाही सुख-दुःख होता है ऐसी सम दृष्टि धारण करना और सब प्राणियोंका हित करनेके कार्योंमें अपना समय अर्पण करना ये दो बातें आज भी अत्यंत आवश्यक हैं। इस तरह कार्य करनेवाले न होनेके कारणही आज यह विषम अवस्था हो गयी है।

जिस समाजमें इस तरहकी सम बुद्धि रखनेवाले लोग होंगे और जिस समाजमें सर्व प्राणियोंका हित करनेके शुभ कर्मको अपना कर्तव्य समझकर करनेवाले होंगे वह समाज अधिक सुखी होगा इसमें क्या संदेह है?

यदि इससे और आगे बढकर सब प्राणियोंको विश्वात्मा का अखण्ड रूप मानकर सेवा करनेवाले महात्मा जिस समाजमें अधिक होंगे उस समाजकी स्थिति तो स्वर्गीय स्थितिके समानही दिव्य होगी इसमें संदेहही क्या है?

इस तरह उपासनामें सर्व प्राणियोंका हित करनेका भाव प्रधान स्थान रखता है यह बात यहां सिद्ध है। सर्व प्राणियोंका हित करनेका नामही ईश्वरकी उपासना है यह भाव अपने समाजमें कब जाग्रत होगा? सब प्राणियोंको सुख-दुःख अपने जैसे होते हैं और उनका हित करनाही ईश्वरकी उपासना करना है यह भगवद्गीताका उपदेश शीघ्रही मनुष्योंको आचरणमें लाना चाहिये।

दो प्रकारके उपासक

यहांतक दो उपासकोंके भेद कहे हैं। पहिले उपासक विभूतियोंकी सगुण उपासना करते हैं और दूसरे प्रकारके उपासक सब प्राणियोंको अपने समान मानकर सब प्राणियोंका हित करनेमें अपना तन मन धन लगाते हैं। ये दोनों प्रकारके उपासक वस्तुतः सगुण ईश्वरकेही उपासक हैं और ईश्वरको प्राप्त करते हैं। (देखो श्लो० २ और ३-४)

इससे भिन्न न तो विभूतियोंकी उपासना करते हैं और न सर्व प्राणियोंका हित करनेके कार्यका भारही अपने ऊपर लेते हैं परन्तु केवल निराकार अव्यक्त आत्माकाही ध्यान करनेमें अपने आपको लगाते रहते हैं। उनको (क्लेशो अधिकतरस्तेषां ॥ १२।५) बहुत क्लेश होता है, क्योंकि देहधारी मनुष्योंकी निराकार आत्मातक गति होना बडा कठिन कार्य है।

इस तरह निराकार निर्गुणकी उपासना करनेवालोंको बहुत कष्ट होते हैं और सगुण साकारकी जीवित जाग्रत उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंको निश्चित परमेश्वरप्राप्ति होती है। एक तरहसे यहाँ सगुण उपासनाकाही आदेश है और केवल निर्गुण निराकारकी उपासनाकी कठिनता दिखायी है। सर्वसाधारणको सगुण उपासनाही आवश्यक है यह इस विवेचनका तात्पर्य है। योगाभ्याससे कोई भी निर्गुणका ध्यान समाधिद्वारा नहीं कर सकता यह निषेध यहां नहीं किया गया है। केवल सर्वसाधारण लोग दोनों मार्गोंका अवलंब करते हैं—

(१) एक जीवित विभूतियोंकी सेवा

(२) दूसरी अपने समान सब भूतोंको मान कर जीवित प्राणियोंका हित करनेके कार्योंमें अपने आपको लगा कर सब भूतोंकी सेवा करना।

यहाँ सगुण उपासनाके ये दोही प्रकार कहे हैं। (३) निजरूपमें निजात्माकी उपासना करनेका एक तीसरा उच्च प्रकार है परन्तु वह निष्णातशिष्योंकोही साध्य है, इसलिये उक्त दोही प्रकार योग्य हैं।

अनन्ययोग

श्लोक ६ और ७ में इस अनन्ययोगका उपदेश किया है। यहाँ कहा है कि— मुझे श्रेष्ठ मानकर सब कर्मोंको

मुझे समर्पण करके अनन्यभावसे मेरा ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं मुझमें जिनका चित्त लगा रहता है उन्हें मृत्युसंसारसागरसे मैं शीघ्रही पार कर देता हूं। अर्थात् मैं उनको आनन्द और मुक्ति देता हूं।

यहाँ उपासनामें अनन्यभाव स्थिर होनेका विशेष महत्त्व है। अनन्यभाव क्या है? उपासक और उपास्य पृथक् हैं एवं जीव परस्पर पृथक् हैं ईश्वर जगत्से पृथक् है इस तरह पृथक् भाव धारण करनेका नाम 'अन्यभाव' है। इस अन्यभावको धारण करनेवाले साधक सर्व प्राणियोंका हित करनेका कार्य करें ऐसा (श्लो ४ में) पहले कहा गया है। जिनके अन्दरका यह अन्यभाव पृथग्भाव भिन्न भाव दूर हो चुका है और जिनको अभिन्न भावसे सर्व विश्वरूप देखनेकी दिव्य-दृष्टि मिल चुकी है और जिनको अनन्य अपृथक् अभिन्न भावसे अखण्ड विश्वरूपमें अखण्ड विश्वात्माको देखनेकी दृष्टि प्राप्त हुई है वे अपने सब कर्मों-को ईश्वरार्पण करें वे अखंड विश्वेश्वरका ध्यान करें परमेश्वर निःसंदेह उनका उद्धार करेगा। (श्लो ६–७)

ईश्वरमें मन लगाओ ईश्वरमें अपनी बुद्धि समर्पण करो ऐसा करनेसे साधक ईश्वरमेंही निवास करेगा, (श्लो ८) इसमें संदेह नहीं है। क्योंकि मन जहां स्थिर किया जाता है वैसाही बन जाता है। साधकका मन ईश्वरमें लग जाय तो उसमें ईश्वरभाव आ सकता है अतः वह ईश्वरमेंही बसता है ऐसा यहां कहा है। इस श्लोकमें मन ईश्वरमें स्थिर करने को जो कहा है वह (मयि = मुझमें अर्थात्) किसी विभूतिमें अथवा विश्वरूपके किसी विशेष प्रभावी अंशमें स्थिर करनेको कहा है। अर्थात् यह अव्यक्तकी उपासना नहीं है, यह व्यक्त सगुण ईश्वरकीही उपासना है।

यदि इस तरह किसी विभूतिमें अपना मन स्थिर करना किसीको असंभवनीय प्रतीत नहीं होता तो वह साधक अपना मन स्थिर करनेका शनैः–शनैः अभ्यास करे। अभ्याससे कठिन बात भी सुगम प्रतीत होती है। अभ्यासका अर्थ बारंबार करना है। इस प्रकार बारंबार करनेसे विशेष अभ्यास होता है और असंभवनीय प्रतीत होनेवाली बात भी संभवनीय प्रतीत होने लगती है। (श्लो ९)

यदि इस तरह सतत अभ्यास करना संभव न हो तो अपने सब कर्म ईश्वरको समर्पण करो। कर्म परमेश्वरको समर्पण करनेसेही वे कर्म परिशुद्ध हो जाते हैं। कोई कर्म साधारण व्यक्तिके लिये करना हो तो वह अपालपन किया जाता है परन्तु यदि वही कर्म किसी महान् व्यक्तिके लिये करना हो तो करनेवाला उसे विशेष परिश्रमसे किया करता है। फिर यदि वह अपने सब कर्म सर्वश्रेष्ठ परमेश्वरके लिये करने लगे तो कितनी उत्तमताके साथ करेगा यह कहनेकी आवश्यकताही नहीं है। इस तरह परमेश्वरको अपने कर्म समर्पण करनेसे कर्म परिशुद्ध होने लगते हैं करनेकी पद्धति अधिक कौशल्ययुक्त होने लगती है। इससे साधक सब ओर से उन्नत होने लगता है। अतः ईश्वरार्पण कर्म करना मानवीय उन्नतिके लिये एक बडाही उत्तम साधन है। (श्लो १०)

यदि कोई साधक अपने कर्म ईश्वरार्पण करनेमें असमर्थ है, तो वह अपने कर्मोंके फल अपने भोगके लिये अपने पास संगृहीत करके न रखे। अपने कर्मोंके फलोंको सर्व प्राणियोंके हितके लिये अर्पण करे। इस तरह कर्मफलत्याग करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है। इसका हेतु यह है कि अपने व्यक्तिगत भोग बढानेकी वृत्तिसे मनुष्य की गिरावट होती है। उससे बचनेके लिएही कर्मफलका त्याग करनेके लिये कहा है अर्थात् इससे भोगलालसा कम होगी और दोष न्यून होते जायँगे। (श्लो ११)

साधक ईश्वरका ध्यान करे ध्यान नहीं होता है तो उसका अभ्यास करे अभ्यास नहीं हो सकता तो अपने सब कर्म ईश्वरको अर्पण करे यह भी नहीं हो सकता तो अपने कर्मफलको त्याग दे त्याग करनेका अभ्यास करे। यही सुगमसे सुगम साधन है।

ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग सुगम है ध्यानसे अभ्यास करना सुगम है, ध्यानाभ्याससे कर्मयोग सुगम है उससे कर्म फलत्याग सुगम है। कर्मफलत्यागसे उसी समय शांति मिल जाती है। अपना फल सर्व प्राणियोंके हितार्थ दान करनेसे सहजही आत्माकी प्रसन्नता होती है। यही शांतिसुख है। (श्लो १२) यदि कर्मफलत्याग न हो सके तो समझ लो कि ज्ञान, ध्यान अभ्यास अथवा कर्मयोग कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस त्यागभावसेही सिद्धि मिलती है इस लिये कर्म-फल-त्याग सब साधनोंमें सुगम और मुख्य साधन है।

प्रश्न हो सकता है कि यह कर्मफलत्याग सुगम कैसे है ? उत्तरमें निवेदन है कि किसीने कुछ कर्म किया उस कर्मका वेतनरूप फल उसे मिल गया वह मिलतेही वह फल धन का धन अथवा उसका कुछ अंश सर्व भूतोंके हितार्थ अर्पण करनेका निश्चय करना और वैसा अर्पण करना कोई असम्भव बात नहीं है। इस तरह सर्वभूतहित होता जाता है। अर्थात् यह सुगमसे सुगम साधन है।

अब आगे आठ (श्लोक १३ से २० तक) श्लोकोंमें भक्त भक्त- के लक्षण कहे हैं। इनको क्रमशः यहाँ देते हैं और साथ साथ दैवी संपत्तिके लक्षण जो १६ वें अध्यायमें आनेवाले हैं वे भी देते हैं। इससे पाठकोंको स्पष्ट हो जायगा कि उत्तम भक्तके लक्षणोंमें दैवी संपत्ति किस तरह विकसित होती है—

भक्तके लक्षण (अध्याय १२)	दैवी संपत्तिके लक्षण (अध्याय १६ श्लोक १)
१ अद्वेष्टा सर्वभूतानां (१३)	अभयं (१) [न द्वेष्टि १२।१७]
२ मैत्रः (१३)	अहिंसा (२) अद्रोहः (३)
३ करुणः (१३)	दया भूतेषु (२) मार्दवं (२)
४ निर्ममः (१३)	अलोलुप्त्वं (२) [निर्ममः २।७१]
५ अनिकेतः (१९)	
६ निरहंकारः (१३)	[निरहंकारः २।७१]
७ सततं सन्तुष्टः (१४)	[आत्मन्येवात्मना तुष्टः २।५५]
सन्तुष्टो येन केनचित् (१९)	शान्तिः (२)
८ अनपेक्षः (१६)	[विहाय कामान् निःस्पृहः २।७१]
९ यतात्मा (१४)	दमः (१) [इंद्रियाणि सर्वेभ्यः तत्रस्ते । २।५८]
	[यस्य इंद्रियाणि वशे २।६१] वैराग्यं १३।८
१० समदुःखसुखः (१३)	[दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः २।५६]
समः शत्रौ च मित्रे च (१८)	
तथा मानापमानयोः (१८)	नातिमानिता (३)
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः (१८)	
तुल्यनिन्दास्तुतिः (१९)	
न हृष्यति न द्वेष्टि (१७)	[नाभिनन्दति न द्वेष्टि । २।५७]
न शोचति न कांक्षति (१७)	
११ दृढनिश्चयः (१४)	[स्थितप्रज्ञः २।५५] [स्थितधीः २।५६]
१२ स्थिरमतिः (१९)	[सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति २।५५]
१३ संगवर्जितः (१८)	[विषयाः विनिवर्तन्ते २।५९]
१४ हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः (१५)	अक्रोधः (२) [वीतरागभयक्रोधः । २।५६]
१५ शुभाशुभपरित्यागी (१७)	क्षमा (३) [शुभाशुभं नाभिनन्दति २।५७]
१६ उदासीनः (१६)	[सर्वत्र अनभिस्नेहः २।५७]
१७ शुचिः (१६)	सत्त्वसंशुद्धिः (१) शौचं (३)
१८ दक्षः (१६)	
१९ गतव्यथः (१६)	
२० सर्वारम्भपरित्यागी (१६)	त्यागः (२)

११ यस्मात् लोकः न उद्विजते। यः च लोकात् न उद्विजते। (१५)	
१२ (ईश्वरे) अर्पितमनोबुद्धिः (१४)	
१३ क्षमी (१३)	क्षमा (१)
१४ योगी (१४)	योगव्यवस्थितिः (१) [युक्तः २।६१]
१५ मौनी (१९)	[मुनिः २।५६]
१६ धर्म्यामृतं यथोक्तं पर्युपासते (२०)	ज्ञानव्यवस्थितिः (१) स्वाध्यायः (१)
१७ श्रद्दधानाः मत्परमाः (२०) भक्तिमान् (१७), भक्ताः (२०)	[मत्परः २।६१]

इस तरह १६ वें अध्यायमें वर्णन किये दैवी संपत्तिके गुणोंके साथ इस १२ वें अध्यायके श्रेष्ठ भक्तके गुणोंका मेल है। यहां १२ वें अध्यायमें कुछ अधिक गुण कहे हैं जिनका नामनिर्देश १६ वें अध्यायमें नहीं है, तथापि वे गुण ऐसे नहीं हैं जो दैवी संपत्तिके साथ विरोधी हों। जैसे भक्तिमान्, श्रद्धावान् ये गुण दैवी संपत्तिके वर्णनके समय १६ वें अध्यायमें नहीं कहे तथापि श्रद्धा और भक्ति ये गुण दैवी संपत्तिके साथ विपरीत नहीं हैं प्रत्युत दैवी संपत्तिके साथ मिलनेवाले ही हैं। इसी रीतिसे एक वशायीन, ईश्वरार्पितमनोबुद्धि स्थिरमति इत्यादि आदि गुण भी दैवी संपत्तिके साथ रहनेवाले ही हैं। यहां भक्तके और सोलहवें अध्यायमें दैवी संपत्तिके सभी संपन्न गुणोंके नामोंका उल्लेख परिपूर्ण रीतिसे किया गया है ऐसा नहीं समझना चाहिये। तत्सदृश अन्य गुण भी उसी समानतामें लिये जाने चाहिये। ऐसा विचार करनेपर यह बात स्पष्ट होगी कि ये भक्तके लक्षण और सोलहवें अध्यायमें कहे दैवी संपत्तिके लक्षण परस्पर एक समान हैं और एकदूसरेके साथ रहनेवाले हैं।

स्थितप्रज्ञके लक्षण

इस स्थानमें [ ] ऐसे कोष्ठमें भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायके स्थितप्रज्ञके लक्षण दिये गये हैं। उनके साथ इस द्वादशाध्यायके भक्तके लक्षण और सोलहवें अध्यायके दैवी संपत्तिके लक्षण पाठक तुलनाकी दृष्टिसे देखें। गीता अ. २।५५–७२ में स्थितप्रज्ञ देखो अ. १२।१३–२ में भक्तके और गी. अ. १६।१–२ ११ (दि. गी.)

में दैवी संपत्तिके ये सब लक्षण परस्पर मिलते हैं। ऊपरके कोष्ठकमें ये तीनों स्थानके सब लक्षण प्रस्तुत हैं। पाठक इनकी तुलना करके परस्पर मिलाकर देखें और ठीक प्रकार समझें कि (अ. २) ज्ञानमार्गी (अ. १२) भक्तिमार्गी और (अ. १६) देवमार्गी उन्नत होनेपर एक जैसेही होते हैं और उनमें कोई भेद नहीं रहता।

देवासुरमार्ग

यहां देवमार्गी कहनेसे पाठक चकित न हों। भगवद्गीता में जैसे ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग कर्ममार्ग कहा है वैसेही देव मार्ग असुरमार्ग राक्षसमार्ग पिशाचमार्ग भूतमार्ग भी कहा है। देवमार्ग ' दैवी संपत्तिके लक्षणोंको धारण करने से स्वीकृत होता है वैसेही असुरमार्ग आसुरी संपत्तिके कुलक्षणोंको धारण करनेसे अंगीकृत होता है। इसी तरह राक्षस पिशाच और भूत–मार्ग भी मनुष्य स्वीकार करते हैं। इनका भी कुछ उल्लेख भगवद्गीतामें आया है। असुर राक्षसादि मार्ग छोडने चाहिये और दैवी मार्ग स्वीकार करना चाहिये। यहां इसलियेही ये लक्षण कहे गये हैं। मैं किस मार्गपर चल रहा हूं इन लक्षणोंके विवेकसे इसका निश्चय हरकोई कर सकता है और अपने असुर मार्ग को दूर कर सकता है। इन लक्षणोंके विचारसे यही बात सिद्ध होती है।

विग्रहाराधना

आजकल भक्तिमार्गके लक्षण विग्रहाराधना प्रतिमापूजा नामजप आदि प्रसिद्ध है, परंतु विग्रहाराधना प्रतिमा-

पूजा आदिका उल्लेख भी संपूर्ण भगवद्गीतामें नहीं किया गया है। साधक जीवित विभूतियोंकी भक्ति करें यही भी भगवद्गीताका उद्देश दीखता है। पितृआराधना प्रतिमापूजा और मूर्तिपूजा धर्मभाव जागृत रखनेके कार्यमें साधक हैं इसमें संदेह नहीं परंतु उनका स्थान जीवित विभूतियोंकी पूजाके पीछे है। मातापिता समझ जीवित रहनेतक उन विभूतियोंकी सेवा करनी चाहिये उनकी मृत्युके पश्चात् उनके चित्रोंसे उनका स्मरण करके उनका आदर प्रकट कर सकते हैं। परंतु प्रत्यक्ष मातापिताकी सेवा और मृत माता-पिताका आदर इन दो प्रकारोंमें प्रत्यक्ष जीतेजी होनेवाली उपासना विशेष महत्त्वकी है इसमें संदेह नहीं है।

इसी तरह जीवित वीर, जीवित उपदेशक जीवित संत आदिकी प्रत्यक्ष भक्ति करना यह भगवद्गीताका विशेष प्रतीत होता है। विभूति अध्यायमें इसी दृष्टिसे जीवित विभूतियोंका उल्लेख अधिक है और प्राचीन भूतकालकी विभूतियोंका उल्लेख अत्यंत अल्प है। प्राचीन कालकी विभूतियोंके चित्रोंकी आराधनाका निर्देशतक भी स्पष्ट रूपसे भगवद्गीतामें नहीं है। सोलहवें अध्यायमें यहां आसुरी संपत्तिके लक्षण कहे हैं वहां—

नामयज्ञ अथवा यज्ञ

धनमानमदान्विताः यजन्ते नामयज्ञैस्ते
दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ (गी० १६।१७)

धन मान और मदसे युक्त होकर वे आसुरी लोग दंभसे और अविधिसे नामयज्ञोंद्वारा यजन करते हैं। यहां नामयज्ञका उल्लेख है। इससे कुछ लोग मानते हैं कि नामजप करनेके विरुद्ध गीताकी यह ध्वनि है। परंतु यह सत्य नहीं है नामजपकी प्रथा वेदसे प्रचलित हुई है। ऋग्वेद और अथर्ववेदमें नामजपका विधान किया हुआ है, मंत्रजप तो वेदसंमत ही है। विभूतियोंमेंसे १० वें अध्यायमें जपयज्ञ ईश्वरकी विभूति है ऐसा कहा है अतः वही जप १६ वें अध्यायमें आसुरी संपत्तिका लक्षण नहीं हो सकता।

यहां (दंभेन अविधिपूर्वकं) दंभसे और विधिको छोडकर जो नामयज्ञ है, उसका निषेध है। दंभ और गर्व छोडकर यथाविधि धर्मभावनाके साथ किये जानेवाले नामजपका यहां निषेध (१६ वें अध्यायमें) नहीं किया गया है।

इसका 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते' ऐसा भी पदच्छेद हो सकता है जिससे नामजपका कोई संबंध ही नहीं रहता और यज्ञोंसे यजन करते हैं इतनाही अर्थ होता है। धनमानकी घमंडसे और दंभसे अविधिपूर्वक बडे आडंबरसे नाम बडे बडे यज्ञोंकी रचना करके यजन करते हैं। ' ऐसा इस पदच्छेदसे आशय निकलता है। अतः 'नामयज्ञ' शब्दसे यहां नामजपका निषेध है, यह मानना असंगत है। इसके अतिरिक्त जैसे बडे आडंबरसे विविध यज्ञ रचे जाते हैं, वैसे नामजप नहीं किये जा सकते इसलिये भी 'नाम' और 'यज्ञैः' ये पद पृथक् माननाही इस श्लोकका अर्थ करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

व्यवहारकी सिद्धि

यहां जो भक्तके लक्षण कहे हैं वे इसी उद्देश्यसे कहे हैं कि हरएक मनुष्यके आचरणमें आजायँ और समाजमें प्रयुक्त हों। ये लक्षण केवल व्याख्यानपद्धतिसे लिखे नहीं गये हैं। उत्तम समाज जिन लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये वे लक्षण ये हैं—

अद्वेष

पहिला लक्षण अद्वेष है। परस्पर द्वेष करनेवाले लोगोंके समाजमें अधिक सुख होगा अथवा परस्पर द्वेष न करनेवालोंके समाजमें अधिक सुख होगा इसका निर्णय पाठक स्वयंही कर सकते हैं। जिस समाजमें कोई व्यक्ति द्वेष नहीं करता वही समाज अधिक सुखी हो सकता है। यहां 'सर्वभूतानां अद्वेष्टा' ऐसे पद हैं जिनसे संपूर्ण प्राणियोंसे द्वेष न करनेवाला अद्वेष' है। किसीका कोई द्वेष न करे। न करनेमेंसे किसीका और न किसी अन्य समाजका किसी व्यक्तिका द्वेष करे। जिसके मनमें द्वेषभावही नहीं है, वह पूर्ण पुरुष या 'आदर्श पुरुष' है।

मित्रभाव और दया।

मैत्र और करुण ये दो लक्षण आगे कहे हैं। इनमें अपने बालबच्चोंपर दया करनाही है और मित्रता भी रखना है। केवल अपने बालबच्चोंपर ही करनेकी इतनी यहां वर्णन नहीं है। यहां कही हुई दया और मित्रता

दृष्टि सार्वभौम है। सब प्राणिमात्रके साथ दया और मित्र दृष्टिका बर्ताव होना चाहिये। स्वधर्मियों, स्वजनों स्वजातियों से एकात्मभाव और मित्रभावका व्यवहार करनेवाले इस जगत् में बहुत हैं। परन्तु ये लोग अन्यधर्मियों विदेशियों और विजातियोंसे ऐसी क्रूरताका व्यवहार करते हैं कि उसकी कोई सीमाही नहीं रहती! स्वधर्मियोंपर प्रेम करनेवालेही विधर्मियोंके गले काटते हैं स्वदेशियोंपर मित्रदृष्टि रखनेवालेही विदेशियोंपर शत्रुभाव रखते हैं! अतः यह मित्र दृष्टि और करुणा भगवद्गीताको अभीष्ट नहीं है। यहां जिस मित्रदृष्टि और जिस करुणाका उल्लेख है वह सब प्राणिमात्रके साथ होनेवाली है। हरएक प्राणीको मित्रदृष्टिसे देखना चाहिये और हरएक प्राणीपर करुणा करनी चाहिये। जिसमें स्वभावसे ऐसा मित्रभाव और करुणाभाव होता है वही पूर्ण पुरुष है। पूर्ण-पुरुषोंके मित्रभाव और करुणा-भाव देश-काल-जाति-धर्म आदिमें सीमित नहीं हैं। सब मनुष्योंको सुशिक्षा देकर इसी प्रकारकी मित्रदृष्टि और करुणा उत्पन्न उनके अन्तःकरणोंमें हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

ममत्व-त्याग

निर्मम निरहंकारके भाव भी ऐसेही वैयक्तिक और सामूहिक व्यवहारमें करनेयोग्य हैं। 'यह मेरा है यह मेरा नहीं है,' इस भावका नाम ममत्व है और इस भावके न होनेका नाम निर्मम होना है। इसीका दूसरा नाम अ-निकेत है। इसका तात्पर्य है 'अपना कोई घर न होना'। यहां घर का अर्थ 'घर दौलत माल देह घोडा जमीन गाडी रथ मंदिर आदि जिसपर अपना ममत्व रह सकता है वह वस्तु' ऐसा है। अपनी ऐसी कोई वस्तु न हो इसका नाम है अ-निकेत वृत्ति। इस तरह अपनी कोई वस्तु न रहे तभी नि-र्ममत्व सिद्ध हो सकती है।

अ-निकेत

जबतक अपनी वस्तुएं होंगी उनके साथ ममत्व रहेगा ही और जबतक ममत्व रहेगा तबतक निर्मम होना असंभव है। इसलिये अ-निकेत समाजव्यवस्था हो जानेपर उस समाजमें निर्मम वृत्तिवाले लोग स्वभावतः हो सकते हैं। उपनिषत्कालके यति संन्यासी बुद्धकालके भिक्षु प्राचीन कालके वैरागी जैसे साधु निरहंकारी आदि सब लोग इसी 'अ-निकेत' जीवन संस्थाके आदर्शके अवशेष हैं। एक समय था जब इन लोगोंने 'अनिकेत' पद्धतिका जीवन सामूहिक रूपसे व्यतीत करना प्रारंभ किया था। आजकल ये सब अवनत हुए हैं परंतु एक समय ऐसा था जिस समय ये संस्थाएं आदर्श पुरुष दर्शक समझी जाती थीं। अनेक कारणोंसे संपूर्ण समाजरचना अवनत होनेके कारण ये भी गिर गये।

इस समय रशियामें 'कम्युनिस्ट' करके जो समाज-रचनावादसे प्रसिद्ध एक पंथ शुरू हुआ है वह भी 'अ-निकेत' पद्धतिवाला पंथ है। किसी व्यक्तिका कोई घरबार, खेतबाडी, भूमि, धन या कारखाना नहीं है परंतु सब कुछ सरकारका है और सबका योगक्षेम सरकारही चलाती है। सब धनवस्तु राष्ट्रके अर्थात् राष्ट्रशासक संस्थाके हैं किसी व्यक्तिका कोई धन नहीं। इस पद्धतिमें यह मेरा है (ममत्व) ऐसा कहनेके लिये कोई वस्तुही नहीं होती, अतः इसमें स्वभावसे 'ममत्व' की भावना नहीं रहती। अर्थात् इसमें निर्मम और अ-निकेत वृत्ति स्वभावसेही होती है।

बौद्ध भिक्षुओंने प्राचीन संन्यासियोंने तथा वैरागियोंने यही धार्मिक परंतु निरहंकारी निर्मम जीवन व्यवहारमें लाया था। बौद्ध भिक्षुओंने इसका जितना प्रचार किया उतना किसीने नहीं किया था। परंतु इसमें 'अपना ऐसा कोई पदार्थ नहीं रहता, इसलिये पुरुषोत्तम उत्कर्ष करनेकी प्रेरणा मनुष्योंको नहीं होती और अन्तमें इनकी गिरावट हो जाती है। बौद्धोंकी गिरावट इसी पुरुषोत्कर्षकी प्रेरणाके अभावके कारण हुई। रशियामें भी अ-निकेत अवस्थामें पुरुषोत्कर्षकी प्रेरणा नहीं होती यह अनुभव आनेके कारण वहां उन्होंने वैयक्तिक धनदौलत करनेकी आज्ञा किसी अंशमें शुरू की है। जो कुछ हो धार्मिक अ-निकेत जीवन-परकालीन जीवन-पुरुषोत्कर्षके लिये प्रेरक नहीं होता। इसलिये दो उपाय अपने वैदिक धर्ममें कहे हैं—

गुणपोषणमें बाधा

१ कर्म करना प्रत्येकका अधिकार है अर्थात् हरएकको कर्म करनाही चाहिये और (योगस्थः कुरु कर्माणि। गी. २।४८) अत्यंत कौशलके साथ कर्म करना हरएकका कर्तव्य है।

यह भगवद्गीतामें कहा है। हरएक मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म समझकर (योगस्थ कर्म) कौशलयुक्त कर्म करे, जितनी कौशलकी वृद्धि हो सके उतनी करे।

गीतामें कर्मकौशल बताया हरएकका आवश्यक कर्तव्य माना है। उसका कारणही यह है कि अ-निकेत अर्थात् घरबार धनदौलत कोई अपना नहीं है ऐसी भावना होनेपर कौशल्यवृद्धि करनेका कोई हेतुही नहीं रहता क्योंकि—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते
> मा फलेषु कदाचन॥ (गी २।४७)

मनुष्य कर्म करे परंतु उस कर्मका वेतनरूप फल वह न लेवे। योग्य वेतनरूप कर्मफल न मिलनेपर उस कर्मको उत्तम कुशलतासे करनेकी ओर कर्ताकी उदासीनता होती है। यदि वेतनयुक्त कर्म करनेपर वतनमें वृद्धि होनेकी संभावना हो तभी मनुष्य अपना कौशल बढानेका यत्न करता है। परंतु भगवद्गीताको ऐसी फलासक्ति पसंद नहीं है। कर्मफलका त्याग ही भगवद्गीताने पुरस्कृत किया है। जो लोग कर्तव्य समझकर अपने कर्ममें कुशलताकी वृद्धि करेंगे वही इस कर्मफलत्यागके मार्गमें सफल हो सकते हैं। अन्य लोग कर्मफलत्याग कर नहीं सकते। अतः वे सकाम कर्मके अधिकारी हैं ऐसा भगवद्गीताने माना है।

अर्थात् कर्मफलत्यागके मार्गमें असंगवृत्तिवाले उच्च कोटिके पुरुषही प्रगति कर सकते हैं। अन्य साधारण मनुष्योंसे वहां का कर्तव्यपालन नहीं हो सकता इसलिये उन्हें सकाम कर्म का मार्ग स्वीकार करना चाहिये। इसी उद्देश्यसे वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था निर्माण हुई है। ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और सन्यासमें निर्मम निरहंकार सामूहिक जीवनका विधान है। वहां कुछ भी अपना नहीं रखा है। समाजके द्वारा ब्रह्मचारी वानप्रस्थी और संन्यासी भिक्षुओंका योगक्षेम चलनेवाला है। गृहस्थाश्रममें वैयक्तिक घरबार खेतवाडी व्यापारधंदा करके धन कमाने और कौशलकी वृद्धि करनेके लिये पर्याप्त क्षेत्र है। इस तरह वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका योग्य समन्वय इस आश्रमव्यवस्थामें किया गया है। अतः यही व्यवस्था मानवोंका हित करनेमें समर्थ है इसमें संदेह नहीं।

आजकलका समाजसत्तावाद व्यक्तिसत्ताका नाश करता है वैसा नाश आश्रमव्यवस्थासे नहीं होता। इस वर्णाश्रम व्यवस्थामें मर्यादित समाजसत्तावाद है और पुनः मर्यादित व्यक्तिसत्तावाद भी है। दोनोंका विकास होनेके कारण यही वर्णाश्रमव्यवस्था सब लोगोंका हित करनेवाली है।

गृही और अ-निकेतनी

निर्मम निरहंकार और अनिकेत होनेका जो उपदेश भगवद्गीताने किया है, उसको व्यवहारमें लानेके लियेही यह वर्णाश्रमव्यवस्था निर्मित हुई है और इस व्यवस्थाने ऐसे सुयोग्य ढंगसे उक्त बातें समाजमें लायी हैं कि उनको देखकर चित्त प्रसन्न होता है। यदि अ-निकेत वृत्तिके साथ आश्रमव्यवस्थाका विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि चार आश्रमोंमें अ-निकेत भावको आचरणमें लानेवाले तीन आश्रम हैं और एकही गृहस्थाश्रम है जिसको गृही कहते हैं, इसमेंही अपने स्वामित्वकी घरबार खेतवाडी की जाती है। यह दोनोंका मेल बडाही सुयोग्य है।

संग-वर्जन

अ-निकेतन जीवनका नाम संगविवर्जित है। भोगोंके साथ आत्यधिक संग नहीं होना चाहिये। भोग उतनेही भोगने चाहिये कि जिनसे शरीर नीरोग पुष्ट और दीर्घायुष्यका होवे। अधिक भोग भोगनेसे रोग होंगे व्यसन बढेंगे और हानि होगी। अतः कहा है कि संतुष्टः येनकेनचित् संतुष्ट अर्थात् वह साधक सदा संतुष्ट रहे जो समयपर मिले उसीसे संतुष्ट रहे अधिक लोभेच्छा न करे। यदि वह इस तरह संतुष्ट न रहेगा तो लोभी बनकर विविध कष्टोंमें पडेगा और वह पूर्ण नहीं बन सकेगा। असंतोष अपूर्णताकाही लक्षण है। अतः संतोषवृत्ति रहनेसे अपनी पूर्णता सिद्ध होती है। यही बात अनिकेत शब्दसे बतायी है। आवश्यकताएं कम करनी चाहिये। अपेक्षाओंकी वृद्धि नहीं करनी चाहिये। आवश्यकताएं कम किये बिना संतोषकी स्थिरता नहीं हो सकती।

आत्मसंयमका अर्थात् इंद्रियोंका संयम करके जीवन की स्वाधीनता तथा अपने सब इंद्रियोंको अपने वशमें रखना चाहिये। जिसकी इंद्रियाँ वशमें न होंगी उसकी आवश्यकताएं बढेंगी आवश्यकताएं बढनेपर व्यय अधिक करना पडेगा व्यय बढनेपर और उतनी आय न रही तो असन्तोष होगा और असन्तोषसे चित्तवृत्ति अशान्त हो जायगी। इसलिये आत्मसंयम आवश्यक है। अन्य संयमोंकी अपेक्षा रसनेंद्रिय अथवा रसनेंद्रियका संयम अत्यंत आवश्यक है। स्वादजय होनेसे अन्य संयम हो सकते हैं।

सम वृत्ति

आगे सम दृष्टि अथवा सम बुद्धि धारण करनेका उपदेश दिया है। सुख–दुःख शत्रु–मित्र मान–अपमान शीत–उष्ण निन्दा–स्तुति हर्ष–शोक, इष्ट–द्वेष शुभ–अशुभ भय–अभय इत्यादि द्वन्द्वोंको समान समझकर अपनी मनोवृत्ति विचलित नहीं होने देनी चाहिये।

शीत–उष्ण समान समझनेका अर्थ क्या है? वस्तुतः शीत और उष्ण ये दो पदार्थ विभिन्न हैं या अभिन्न हैं? पाठक कहेंगे कि भिन्न हैं। यहां पाठक देखें कि अर्क अथवा जल उष्ण जल अग्नि ये पदार्थ शीत हैं या उष्ण हैं? क्योंकि जल उष्ण पदार्थ है अतः जल उष्ण कहा जा सकता है, और अग्नी आगसे भी अधिक उष्णता निर्माण हो सकती है उससे पूर्व की भाप शीत है। अतः शीत उष्ण कोई निश्चित वस्तु नहीं है। यह एक तुलनात्मक अनुभव है। जो हम शीत कहते हैं वह किसी अन्य अधिक शीतसे उष्ण है और जो हम आज उष्ण करके कहते हैं उससे दूसरा उष्ण पदार्थ होनेसे उसे शीत कहना पड़ता है। इस कारण शीत–उष्ण निश्चित वस्तुएं नहीं हैं। समयके अनुकूल हम किसीको शीत और किसीको उष्ण कहते हैं अतः शीत–उष्णकी स्वतंत्र कुछ भी सत्ता नहीं है। जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं उसका विचारही क्या करना? अथवा यह कह सकते हैं कि जिसको हम शीत और उष्ण कहते हैं वे पदार्थ न्यूनाधिक शीत हैं अथवा न्यूनाधिक उष्ण हैं। अर्थात् शीत उष्ण यह एकही पदार्थ है परंतु न्यूनाधिक अंशोंका भेद है। हम अपने शरीरका अभ्यास बढावें तो शीतोष्ण हमें कैसे कष्ट भी नहीं दे सकते। इस लिये इनका आघात सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये जिससे अपने कर्तव्य कर्म करनेमें इनसे बाधा उत्पन्न न हो।

इसी तरह मान–अपमान होनेपर भी अपना कर्तव्य कर्म करनेका व्रत छूटना नहीं चाहिये। मान होनेपर घमंडसे और अपमान होनेपर दुःखसे अपने कर्तव्य करनेमें क्षति नहीं होनी चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मसंमान अपनी जातिके संमान अथवा अपने देशके संमानका भाव भी छोड देना चाहिये और कोई अपमान भी करे तो उसे चुप चाप सह लेना चाहिये। आत्मसमानका भाव सदा जागृत रखनाही चाहिये। जो अपमान करे उसका योग्य प्रतिकार भी करना चाहिये परंतु यह सब करते हुए अपने मनकी समता विचलित नहीं होनी चाहिये। मान अपमान, समान समझनेका अर्थ यह नहीं है कि अपमानको भी निर्लिप्तताके साथ सह लें परंतु अपने अच्छे कर्म करनेपर यदि कोप किया भी करें तो उस समय उससे अपने शुभ कर्मोंमें बाधा नहीं होने देनी चाहिये।

शत्रुमित्रको समान समझनेका भी यही अर्थ है। वस्तुतः शत्रु और मित्र समान कैसे हो सकते हैं? परंतु जो मित्र होता है उसके दोषोंको भी मनुष्य भूल जाता है और जो शत्रु होता है उसके गुणोंका भी ध्यान नहीं रखता। इससे उन्नतिकी हानि होती है। इस हानिसे बचनेके लिये शत्रु और मित्रको सम भावसे देखना चाहिये जिससे दोनोंके गुण और दोष हमारे सामने यथायोग्य रीतिसे, स्पष्ट रूपसे आ जायें और हम उनका किसी तरह पक्षपात न करें। पक्षपातसे यथार्थ गुणदोषनिर्णय नहीं हो सकता।

इसी तरह अन्य द्वन्द्वोंका विचार करके उनको किस तरह समान मानना चाहिये इसका विचार कर लेना चाहिये। यह सम भाव मनमें स्थिर हो जाय तो मनुष्य आपत्तिके समय भी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता। इसी स्थिर वृत्तिमें मनुष्यकी उन्नति है इसलिये द्वन्द्वोंके विषयमें यह सम मानना मनुष्यके उद्धारकी साधक कही जाती है।

आत्मविश्वास और स्थिरमति ये नामके गुण भी इसी समान भावके साथ रहनेवाले गुण हैं। द्वन्द्वसे मन विचलित न हो तभी मति स्थिर हो सकती है और मनका विश्वास सुदृढ रह सकता है।

सम्यक् निर्णय होनेका विचार पूर्व भागमें किया है। हर्ष, क्रोध भय और उद्वेगसे मुक्त रहना भी मानवीय उन्नतिका साधक है। अधिक हर्ष हो बहुत क्रोध आजाय अत्यधिक भय लगे तो मनुष्य तत्काल मर भी जाता है कभी कभी पागल हो जाता है। इसलिये इनसे परास्त नहीं होना चाहिये।

हर्ष क्रोध भय और उद्वेगके वेगोंको सहन करके अपने धार्मिक कर्तव्यके पथपर स्थिर रहना चाहिये। मनुष्य क्रोध और भयको जीत सकता है। जिस समय क्रोध आने लगता है उस समय उसे बुद्धिसे रोकनेका अभ्यास करनेसे अथवा

विपरीत भावनाका अभ्यास करनेसे अर्थात् क्रोधके समय शान्तताका, भयके समय निर्भयताका और उद्वेगके समय प्रसन्नताका विचार मनमें करनेका अभ्यास करना चाहिये। इससे क्रोध, भय, उद्वेग आदि सब निःसन्देह दूर हो जायँगे और मनकी सब वृत्ति सदा स्थिर रहेगी। यही समता इनके समयमें भी रखनी योग्य है। इस तरह इन सब इन्द्रियोंके विषयमें पूर्ण उदासीन परंतु सर्वदा अपने कर्तव्य कर्म करनेमें तत्पर रहना चाहिये। ऐसाही मनुष्य स्वयं उन्नत हो सकता है और अपने समाजको भी उन्नतिके शिखरपर पहुँचा सकता है।

शुचिता रखना आदि गुणोंकी महत्ताके विषयमें बारबार कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिके आचरणमें खानपान-आचारादि [illegible] यथाम नगर देश आदि सब जगह शुचिता रहेगी तभी आरोग्य रह सकता। इसलिये शुचिता जैसी वैयक्तिक आचरणमें उपयोगी है वैसीही सामाजिक आचारमें भी आवश्यक है। शुचिता जैसी आचारमें वैसीही विचारमें भी चाहिये। इसप्रकार इन्द्रिय विषयमें शुचिता रखनी चाहिये। [illegible] तथा [illegible] शुचिता होनी चाहिये।

केवलमें धननिष्पत्तिकी इच्छासे जो लोग कामुकताको बढ़ा रहे हैं वे समाजमें अशुचिता फैलाते हैं। यह अशुचिता समाजका सार [illegible] मनोंको मलिन बना देती है। इस तरह यह प्रकारकी शुचिता मानवीय [illegible] करनेवाली है। समाजकी [illegible] हो सकती है।

[illegible] पूर्ण और निपुणता [illegible] भक्तिभाव मनमें धारण करना [illegible] उसके अनुसार आचरण करना [illegible] [illegible] है। यह उपदेश इसका लाभ है कि [illegible] करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।

मनुष्यका आचरण ऐसा होना चाहिये कि जिससे दूसरों को उद्वेग न हो [illegible] [illegible] भी उद्वेग न हो। यही आदर्श [illegible] है। ऐसे [illegible] आचरण करनेवाला [illegible] चाहिये। इसलिये मनुष्यको विचार कर।

चाहिये कि मैं जो आचरण कर रहा हूँ वह दूसरोंको दुःख देगा अथवा सुख, उन्नति करेगा अथवा विनाश? इस तरह सोच विचार कर व्यवहार करनेका यत्न किया जाय तो उद्वेगरहित आचरण हो सकता है। उससे अन्यको उद्वेग नहीं होगा और जो अपने आचरणसे रहित नहीं होगा, वही भक्त और पूर्ण पुरुष है।

क्योंकि ये सब लक्षण भावोंके आदर्श सामाजिक जीवनकी उत्तम अवस्था प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक इनका विचार करके इनमें अपने जीवनको ढालनेका यत्न करें।

इनमें सभी लक्षण जीवनमें ढालने कठिन हैं, परंतु यत्न करते रहनेसे और यह आदर्श सम्मुख रखनेसे मनुष्य पूर्ण हो सकता है।

भक्तिका स्वरूप

भक्तिका अर्थ साधारण किसी देवताकी मूर्तिकी पूजाअर्चा करना, उसके नामका जप करना आदि समझा जाता है। यह पूजाअर्चा और नामजप आदि वैयक्तिक और [illegible] उपासनाकी दृष्टिसे सबकी [illegible] करनेका उत्तम साधन होनेकी दृष्टिसे और चित्तकी एकाग्रताकी दृष्टिसे भी उपयोगी है इसमें संदेह नहीं है। तथापि हमने इससे पूर्व बताया है कि भगवद्गीताके उपदेशानुसार भक्ति जीवित विभूतियोंकी करनी चाहिये। इस अवस्थामें मातापिताकी भक्ति करनेवाले पुत्र, सेवा करनेवाले अनुयायी, किसी महात्मा वा सत्पुरुषकी भक्ति करनेवाले भक्त मनुष्य यदि उस जीवित उपास्यके सामने दूर होकर उसके नामका बारबार उच्चार करते जायँगे और उसके उपदेशानुसार न चलेंगे तो उस जीवित विभूतिको संतोष होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता है। [illegible] जिसकी उपासना है ऐसा मानकर उसकी सेवा उसके उपदेशानुसार आचरण और उसके उद्देशकी पूर्णताही जीवित विभूतिकी भक्ति है।

इस भक्तिमार्गमें मनुष्य केवल नाम जपते रहेंगे तो भक्तिमार्गको पूर्ण नहीं हो सकता। [illegible] जो अपेक्षा करते हैं उस कार्यमें उनकी सहायता करना उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना उनका उपदेश सुनकर तदनुसार आचरण करना। केवल नाम ही ऐसा [illegible] करना नहीं उनकी भक्ति है।

इसी रीतिसे यदि कोई [illegible]

कर रहा हो, केवल उसके नामका जप करनेसे क्या होगा ? उससे उसका संतोष नहीं होगा। जो कार्य वह करना चाहता है उसको उत्तम कुशलतासे समाप्त करना उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना, उसके उपदेशानुसार चलना, उसका यश बढानेका यत्न करना यही उसकी सन्तोषकारी भक्ति है। जो लोग महात्माओंके नामोंका 'जयजयकार करते हैं, परन्तु उनके उपदेशानुसार आचरण नहीं करते उनके जयजयकारसे महात्माओंको सुख नहीं हो सकता। यदि वे उनके नामोंका जयजयकार न करते हुए उनके उपदेशानुसार आचरण करें तो उनको अधिक आनंद होगा। यही बात सब विभूतियोंके विषयमें भी है। इससे भक्ति किस तरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है।

भक्तिका अर्थ सेवा है। महात्मा जो कार्य करना चाहते हैं उसको करना उनकी सहायता करनाही सेवाका अर्थ है। विभूति क्या चाहती है ? सज्जनोंकी रक्षा दुष्टोंका विनाश और धर्मकी संस्थापना ये तीनही कार्य करनेके लिये विभूति या महात्मा लोग इस जगत्में आते हैं। इस तरहके जो कार्य वे करना चाहते हैं उन कार्योंमें जितना भाग करनेसे हो सकता है उतना करनेका नामही उनकी सेवा अथवा भक्ति है।

जीवित वीरोंकी भक्ति करनी चाहिये इसकी याद ध्यानमें रखनेसेही भक्ति किस तरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है। जबसे प्राचीन कालकी विभूतियोंकी मूर्तियोंकीही भक्ति करनेकी भावना दृढ हुई तबसे प्रत्यक्ष आचरणका महत्त्व कम हो गया है। विग्रहाराधनाका अर्थ चित्तकी स्थिरता है और जीवित-सगुण-विभूतियोंकी भक्तिसे *आचरणकी उज्ज्वलता होती है। यह प्राचीन सत्यकी* जब जागृति होगी तभी सब प्रकारकी भक्ति योग्य मार्गसे चलेगी। आजकल एक भाग रहा है और दूसरा बंद हुआ है।

अर्जुनने प्रत्यक्ष विभूति—श्रीकृष्ण भगवान्—के साथ कंधेसे कंधा लगाकर, सज्जनरक्षा, दुर्जन-विनाश और धर्मस्थापनाका कार्य किया। इस समयके अग्रिमपुरुषोंमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके साथ अपना कर्तव्य किया। विभूति-पूजा किस तरह करनी चाहिये इसका यह उदाहरण है। हनुमान् भी भक्त था। उसने श्रीरामचन्द्रकी सेवा उनके समक्ष की अर्थात् प्रभुकार्य करनेके कार्यका प्रमुख भाग उसने अपने ऊपर लिया और उसे निभाया। भक्तिके ये उदाहरण सभी जानते हैं, परंतु वैसा करते नहीं। इतनाही नहीं परंतु विपरीतही करते हैं। इस समय जो बडे पुरुष राष्ट्रोद्धार, धर्मोद्धारका कार्य सर्व प्राणियोंके हित करनेके कार्य, मानवी उन्नतिके प्रयत्न कर रहे हैं उनमें अपने आपको समर्पित करनाही सत्य भक्ति है। सेवारूप यही भक्ति मुख्य है।

विभूतिपूजाका तथा वीरपूजाका विचार छोडकर जब विश्वरूपी विश्वात्माकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है, तब तो (सर्वभूतहिते रताः) सब प्राणियोंके हितमें आनन्द माननेका अर्थ स्पष्ट हो जाता है और सब प्राणियोंके हितके कार्य करनाही एकमात्र भक्तिका मार्ग है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। विद्वान् लोग विद्यार्थियोंको विद्या पढाकर वैद्य और डाक्टर लोग रोगियोंकी चिकित्सा करके धनी लोग निर्धनकी सहायता करके, तथा अन्यान्य लोग अपने हरएक कार्यसे सर्व भूतोंका हित करके कर्मोंसे सभी सर्व भूतोंका हित हो सकता है। सर्व प्राणियोंके हितके कार्य करना ही सच्ची भक्ति है। आजकलकी भक्तिसे यह मुख्य भाग हट गया है, इसलिये सर्वभूतहितकी भावना इस भक्तिसे नहीं हो रही है।

पाठक भगवद्गीताकी इस भक्तिपर पर्याप्त विचार करें *मनन करें और सब प्राणियोंका हित करनेके जो जो कार्य* करनेसे हो सकते हैं उन्हें आचरण करें। इसी भक्तिसे परमात्माकी संतुष्टि हो सकती है और सबका कल्याण भी इसीसे हो सकता है।

॥ यहाँ द्वादश अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

बारहवें अध्यायके सुभाषित

(१)

सर्व भूतोंका हित करनेसे उन्नति

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गी० १२।४)

अपने इन्द्रियोंका संयम करके सर्वत्र सम बुद्धि रखकर जो साधक सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं वेही ईश्वरको प्राप्त होते हैं।

(१) इंद्रियसंयम करनेसे (२) सर्वत्र सम दृष्टि रखने से और (३) सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्परता धारण करनेसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। ईश्वरको प्राप्त करनेके ये साधन हैं।

(२)

अव्यक्तासक्तिसे अधिक क्लेश

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (१२।५)

जो अव्यक्तकी उपासनामें चित्त लगाते हैं उनको अधिक क्लेश हो सकते हैं। देहधारी लोगोंको अव्यक्तमें गति अत्यन्त कष्टसेही हो सकती है। इसलिये व्यक्त सगुण रूपकी उपासना करना योग्य है। क्योंकि देहधारी मनुष्योंसे दूसरी उपासना होना अत्यंत कठिन है।'

(३)

त्यागसे शान्ति

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् । (गी० १२।१२)

'त्यागसे त्वरित शान्ति मिलती है। जहां त्याग अर्थात् दानका भाव नहीं है वहां शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकता।



बारहवें अध्यायकी विषयसूची



अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग ।

(१) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच— हे कौन्तेय ! इदं शरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते । यः एतत् वेत्ति तं क्षेत्रज्ञः इति तद्विदः प्राहुः ॥ १ ॥ हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु मां अपि च क्षेत्रज्ञं विद्धि । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं यत् (एव) मम ज्ञानं मतं (अस्ति) ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं । जो इसे जानता है, तत्त्वज्ञानी लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ १ ॥ हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें रहनेवाले मुझे (ईश्वरको) भी क्षेत्रज्ञ समझ । जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही मेरा ज्ञान है ॥ २ ॥

भावार्थ— इस शरीरका नाम खेत है और जो इस खेतको जानता है, उसका नाम खेती जाननेवाला है । ईश्वर सब खेतोंमें रहता है और सब खेतोंको यथावत् जानता भी है । जो इस खेत और खेतीवालेकी विद्या है उसीको सत्य ज्ञान कहना योग्य है ॥ १–२ ।

खेत और खेती करनेवाला

(१-२) इस अध्यायमें खेत और खेती करनेवाला इन दोनोंका विचार किया है । इसलिये इस अध्यायका नाम क्षेत्र+क्षेत्र+ज्ञ+योग है । खेत और खेती करनेवाला कृषीवल इन दोनोंका योग उत्तम रीतिसे किस तरह हो सकता है इसका विचार इस अध्यायमें है । खेत कैसा है इस खेतको उत्तम उपजाऊ कैसे बनाया जा सकता है और खेतको उत्तम खाद आदि न देनेसे कैसे उसकी अवनति हो जाती है किसान अपने खेतको अत्यंत उत्तम उपजाऊ कैसे बना सकता है ? कृषीवल अपने खेतको किस तरह जाने और पहचाने वह उस खेतमें किस प्रकारका बीज बोवे कौनसा धान्य किस तरह उसमें बोनेसे वह किस तरह उगावे और उसकी वृद्धि किस रीतिसे करे ? अपने खेतमें किसकी उत्पत्ति होने न दे अपने खेतके उत्पन्न हुए धान्य फल फूल आदिकी रक्षा कैसे करे और उनसे किस प्रकार अपना काम साधन करे ? ये सब विचारार्थ यहां उपस्थित हैं ।

खेत

यहां खेत कौनसा है ? हमारा (इदं शरीरं क्षेत्रं) यह शरीरही खेत है, यह शरीर छोटासा दीखता है परन्तु इसमें बहुत प्रकारके फलफूल और धान्य उत्पन्न होते हैं । इसमें जो वस्तु बोई जावे उसीकी उत्पत्ति होती है । पाठक इस अपने खेतकी महिमा समझें और उसकी योग्यतापर ध्यान दें । यह खेत अमृत फल देनेवाला है । जिसे जाननेसे नर नारायण बन सकता है । अतः इस खेतको अच्छी तरह समझना अत्यंत आवश्यक है ।

कृषीवल

(एतद् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः) जो इस खेतको जानता है अथवा जिसके पास यह खेत है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं । अपने खेतको यथावत् जाननेवाला किसान होना चाहिये । अपना खेत कितना है उसमें क्या पैदा होता है और क्या पैदा नहीं होता, इसके शत्रु और मित्र कौन हैं इससे क्या काम हो सकता है, इत्यादि बातोंका जिसको पता नहीं है वह उस खेतसे पूर्ण काम नहीं ले सकता ।

अतः खेतके स्वामीको अपने खेतका ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

यहां यह देह खेत है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है। आत्माही यहांका किसान है। अतः देहधारीको अपने देहका ठीक पता अवश्य होना चाहिये। देहरूपी क्षेत्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक देहधारीका मुख्य कर्तव्य है।

(सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं मां विद्धि) सब क्षेत्रोंमें मैंही क्षेत्रज्ञ हूं। यहांका मैं शब्द ईश्वरवाचक है। सब शरीरोंमें व्याप्त होकर यहांका ठीक ठीक ज्ञान रखनेवाला एकमात्र ईश्वरही है। पाठक यहां विश्वरूपी ईश्वर का ध्यान करें। विश्वरूपी ईश्वर विश्वरूपी अनंत पिण्डोंको यथावत् जानता है उससे कुछ भी अज्ञात नहीं है।

जब नरका नारायण अथवा पुरुषका पुरुषोत्तम होता है उस समय वह भी अपने आपको महाक्षेत्रज्ञ मान सकता है। इस अवस्थामें यहांका मैं शब्द हरएक साधकके लिये भी माना जा सकता है। जिस समय साधक अनन्य भावसे युक्त हो जाता है और उसे ऐसा अनुभव होता है कि मैं विश्वरूपसे पृथक् नहीं हूं तब वही (सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः) सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ बन सकता है और उस समय अनन्यभावयुक्त वह भक्त सर्व क्षेत्रोंमें मैंही क्षेत्रज्ञ हूं ऐसा कह सकता है। क्योंकि अनन्य भाव होनेपर वहां दूसरा कोई भाव अवशिष्ट रहताही नहीं।

इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। यही ज्ञान हरएक मनुष्यको जाननेयोग्य है। यही सच्चा ज्ञान है। इससे भिन्न सब अज्ञानही है। अज्ञान और मिथ्या ज्ञान मनुष्यका नाश करनेवाला है। मानवोंकी सच्ची उन्नति करनेवाला तो यही एकमात्र ज्ञान है। यही उच्च तथा आवश्यक ज्ञान भगवान् श्रीकृष्ण यहां कह रहे हैं।

मैं ज्ञान कहता हूं ऐसा कहकर श्रीमद्भगवद्गीतामें चार स्थानोंपर कुछ विशेष ज्ञानोपदेश किया है। वे चारों स्थान पाठक यहां देखें—

(१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥
(गीता अ. ७)

मैं विज्ञानसहित यह ज्ञान पूर्ण रीतिसे तुझसे कहता हूं जिसको जाननेके पश्चात् कुछ भी जाननेयोग्य अवशिष्ट नहीं रहता। पंच महाभूत मन बुद्धि, अहंकार यह अष्टविध स्थूल प्रकृति और जीवरूप सूक्ष्म प्रकृति मिलकर दो प्रकारकी ईश्वरीय प्रकृति है। ईश्वरकी इसी द्विविध प्रकृतिसे सब भूत उत्पन्न होते हैं। ईश्वरही जगत्का उत्पत्ति स्थिति-लय करनेवाला है। जैसे सूत्रमें मणि होते हैं उसी प्रकार विश्वात्मामें यह सब विश्व है।

जिस प्रकार शरीर और आत्मा है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष हैं। इन्हींसे सबकी उत्पत्ति स्थिति और लय होता है। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व इन्हींसे बना है। इसी तत्त्वको आगे (गी. अ. ७।१९ में) वासुदेवः सर्वम् सब कुछ वासुदेवही है इस रूपसे दिखाया गया है।

(२)

दूसरा ज्ञानोपदेश नवम अध्यायमें हुआ है। वह भी देखिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
(गीता अ. ९)

"मैं यह विज्ञानसहित गुह्य ज्ञान तुझे कहता हूं। इसके जाननेसे अशुभकी प्राप्ति नहीं होती है। अपनी (अव्यक्त) प्रकृतिका आश्रय करके ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति करता है। वे सब भूत उसमें हैं परन्तु वह इनके आधार-से नहीं है।

(२) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभाव

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वयः— तत् क्षेत्रं यत् च, यादृक् च यद्विकारि (च), यतः च यत्, सः च यः, यत् प्रभावः च (अस्ति) तत्, (त्वं) समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥ (इदं ज्ञानं) ऋषिभिः बहुधा, तथा विविधैः छन्दोभिः पृथक् हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च गीतं एव ॥ ४ ॥

यहां भी यही बात दुहराई गई है। एक प्रकृति है, दूसरा पुरुष। पुरुष प्रकृतिमें प्रेरणा करके सब विश्वकी रचना करता है। इस तरह ईश्वरकी प्रकृतिसे भिन्न इस विश्वमें और कुछ भी नहीं है। ईश्वरीय प्रकृतिकी ये विविध रूप हैं। जहां प्रकृति है वहां पुरुष है और जहां पुरुष है वहां प्रकृति है। जलमें रस (गी० ७।८) रहनेके समानही प्रकृतिमें पुरुष है। इसीलिये 'वासुदेवही सब कुछ है' यही तत्त्व यहां दुहराया गया है।

(३)

तीसरी बार इसी (१३ वें) अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नामोंसे यही ज्ञान कहा जा रहा है। यहां 'क्षेत्र' प्रकृतिका और 'क्षेत्रज्ञ' आत्माका नाम है। प्रकृति-पुरुषके समानही यह वर्णन है, परन्तु शब्दोंका भेद है इसमें इतनीही विशेषता है। इसका विशेष वर्णन इसी अध्याय (१३ में) श्लोक ५ से ११ तक आनेवाला है। अतः इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

(४)

चौदहवें अध्यायमें भी यही उत्तम ज्ञान जिससे कहा गया है वह भी संक्षेपसे यहां ग्राह्य है—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
(गीता अ० १४)

उत्तमसे उत्तम ज्ञान मैं अब कहता हूं इस ज्ञानसेही सब मुनियोंने परम सिद्धि प्राप्त की थी। ईश्वरकी प्रकृति है जिसमें ईश्वर गर्भाधान करता है और उससे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है। सब योनियोंमें जो प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं उन सबकी उत्पत्ति यह प्रकृतिही है। इसमें बीज रखनेवाला परम पिता परमेश्वरही है।

प्रकृति और पुरुषसे मिलकर विश्व उत्पन्न होता है यह भावही यहांपर कहा हुआ उत्तम ज्ञान है। अर्थात् चारों स्थानोंमें एकही ज्ञान कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि एक सर्वव्यापक ईश्वर है उसकी प्रकृति दो प्रकारकी है ईश्वरकी शक्तिसे प्रकृतिमें बीजधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इस सृष्टिमें जीवसृष्टि और जडसृष्टि दोनों आ गई। दोनोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसेही है और सबमें यही विश्वात्मा सूत्ररूपमें स्थित है। विश्वात्माके आधारसेही यह सब सृष्टि है जैसे धागेके मणि सूत्रके आधारसे गुंथे रहते हैं, वैसेही सूत्रात्माके आधारसे यह सब सृष्टि है।

इस अध्यायमें यही ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संवादसे कहा गया है। यहां क्षेत्र नाम प्रकृतिका है और क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है। आत्माही इस प्रकृतिरूपी क्षेत्रको जाननेवाला है। वह इस प्रकृतिको जानता है उसमें जो चाहे वह निर्माण करता है, अनेक प्रकारके पुरुषार्थ करता है और श्रेष्ठ पुरुष बनता है।

इस अध्यायके प्रारंभमें कई लोग इस श्लोकका पाठ करते हैं—

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

अर्थ— अर्जुनने पूछा कि– 'मुझे प्रकृति पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेयके जाननेकी इच्छा है सो बतलाओ।' परन्तु सब भाष्यकार इस श्लोकको प्रक्षिप्त मानते हैं अतः हम भी इसको छोड देते हैं। अस्तु।

इस क्षेत्रका स्वरूप क्या है और क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है यह देखिये—

यह क्षेत्र क्या है, यह किस प्रकारका है, इसमें कौनसे विकार हो जाते हैं, इसमें कहांसे क्या हो है, वह क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है, यह सब तू संक्षेपसे मुझसे सुन ॥ ३ ॥ यह ऋषियोंने अनेक प्रकारसे, तथा विविध छंदोंमें पृथक् पृथक् और हेतु दिखाकर निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्र के पदोंसे भी गाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस क्षेत्रका स्वरूप क्या है, यह क्षेत्र किस प्रकारका है, इसमें कौनसी विकृतियां होती हैं, इसमें किस कारणसे क्या गुणदोष होते हैं, यहां इस क्षेत्रको जाननेवाला कौन है और उसकी शक्ति क्या है यह सब जानना चाहिये। यही ज्ञान है और इसेही ऋषिमुनियोंने विविध छन्दोंद्वारा दर्शाया है तथा कार्यकारण दर्शाकर निश्चित सिद्धान्त बताकर ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेवाले वाक्योंमें भी यही वर्णित हुआ है ॥ ३-४ ॥

(३-४) यह क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है, लक्षण कौनसे हैं, यह किस प्रकारका है, इसमें अन्तर्गत भेद कितने हैं और इस क्षेत्रमें विकार क्या होते हैं? इसमें कौनसे परिवर्तन हो जाते हैं और वे परिवर्तन किस तरह होते हैं? उसमें किससे क्या होता है? इतने प्रश्न क्षेत्रके सम्बन्धमें यहां पूछे गये हैं। इन्हीं सब प्रश्नोंका विचार यहां करना है।

इसी तरह यहां क्षेत्रज्ञ कौन है और उस क्षेत्रज्ञका प्रभाव क्या है? उसका प्रभाव यहां कैसे अनुभवमें आ सकता है? यह संक्षेपसे इस अध्यायमें देखना है। जो ज्ञान और विज्ञान करके कहा जाता है वह यही है। मनुष्यको यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस ज्ञानका उपयोग अपने जीवनमें करना चाहिये। इसलिये मनुष्यकी प्रारंभिक आयुमें यह ज्ञान उसको प्राप्त करादेना चाहिये। प्रारंभिक आयु ब्रह्मचर्याश्रमकी होती है इसमें विद्याध्ययनका काल २५ वर्षकी आयुतक माना है अर्थात् आठवें वर्ष उपनयन होकर गुरुगृहमें ब्रह्मचारी जाता है और वहां १६ वर्ष रहकर २५ वें वर्ष विद्या प्राप्त करके वापस आता है। इस कालमें जो ज्ञान उस ब्रह्मचारीको मिलता है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ही ज्ञान होता है। प्रकृति पुरुष स्थूल सूक्ष्म देव देही अपरा और परा प्रकृति इस तरह अनेक शब्दोंद्वारा इनकी भाव बताया जाता है। प्रकृतिकी विद्या और पुरुषकी विद्या येही अध्ययन करनेयोग्य विद्याएं हैं और जो भी कुछ पढाया जाता है वह इसीके अन्तर्गत होता है।

आजकल अनेक शास्त्र बहुतही उन्नत हो गये हैं परन्तु वे सब प्रकृतिविद्याकेही अन्तर्गत हैं। प्रकृतिके अंशको लेकर जानते हैं और उसका एक शास्त्र बना देते हैं। सब विद्याएं कितनी भी हों उनका समावेश प्रकृति-पुरुष-विद्याके अन्दरही हो जाता है। क्षेत्रक्षेत्रज्ञके ज्ञानमें सब प्रकारका ज्ञान समाया हुआ है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्

अनेक ऋषियोंने विविध छंदोंद्वारा पृथक् पृथक्, अनेक प्रकारसे इस ज्ञानका वर्णन किया है। अनेक प्रकारके ग्रंथ और विविध ग्रंथ रचे गये हैं और पढानेकी सुविधाके लिये विषयके अनेक ग्रंथ प्रसंग निर्माण किये गये हैं।

ब्रह्मसूत्रमें भी हेतुपूर्वक निश्चित आशय प्रकट करनेके लिये बादरायणने कई प्रकरण रचे हैं। इस प्रकार अनेक ऋषियोंने विविध शास्त्रोंद्वारा इसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञज्ञानका विस्तार किया है।

वेद-शास्त्र-पुराण-दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्र जो हैं, जिनका पठन करते हैं वह इसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञकाही प्रतिपादन है और जो ग्रंथ विविध शास्त्रप्रतिपादनके लिये बनाये गये हैं और बनाये जायेंगे उनमें भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकाही विचार होगा।

परन्तु यहां इतनाही समझना चाहिये कि प्रकृतिविद्याके शास्त्र इस समय बहुत बढ रहे हैं प्रकृतिविद्यामें बहुत प्रगति हो रही है और आत्मविद्याकी ओर प्रगति कम है तथापि उसे भी कुछ जागरणा हो रही है यह प्रगति पुरुष अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञके सम्बन्धमेंही हो रही है। इसीलिये विचार करिये—

(२) क्षेत्रका स्वरूप

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— महाभूतानि अहंकारः बुद्धिः अव्यक्तं एव च दश इन्द्रियाणि च एकं (मनः) इन्द्रियगोचराः पञ्च च इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः एतत् सविकारं क्षेत्रं (मया) समासेन उदाहृतम् ॥ ५-६ ॥

पञ्च महाभूत अहंकार बुद्धि (महत्) अव्यक्त (प्रकृति) दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ एक मन, तथा पाँच विषय इच्छा द्वेष, सुख दुःख संघात, चेतना और धारणा शक्ति (यह इकत्तीस प्रकारका) यह संक्षेपसे सविकार क्षेत्रका वर्णन है ॥ ५—६ ॥

भावार्थ— पृथिवी जल, तेज वायु आकाश ये पाँच महाभूत, अहंकार बुद्धि अव्यक्त प्रकृति, दस सूक्ष्म इन्द्रिय-शक्तियाँ (पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेंद्रियाँ मिलकर) एक मन शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पाँच विषय इच्छा द्वेष सुख दुःख संघात अर्थात् अवयव समूह चैतन्यशक्ति और धृति अर्थात् धारणाशक्ति यह इकतीस प्रकारका क्षेत्र है। इसमें और भी विविध विकार होते हैं। इसका बहुत वर्णन हो सकता है परन्तु यहाँ नाममात्र उल्लेख किया गया है। पाठक हरएक विभागका विशेष विचार करके विशेष ज्ञान प्राप्त करें ॥ ५-६ ॥

क्षेत्रका वर्णन

(५-६) पृथ्वी जल तेज वायु आकाश ये पाँच महाभूत; अहंकार बुद्धि अव्यक्त प्रकृति; नासिका रसना, नेत्र त्वचा और कर्ण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय; हाथ पाँव मुख, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय; मन; गंध रस रूप स्पर्श शब्द ये पाँच विषय, इच्छा, द्वेष सुख दुःख संघात चेतना और धृति (धारणाशक्ति) ये सात भाव मिलकर इकतीस प्रकारका क्षेत्र है—

पंच महाभूत	५
अव्यक्त बुद्धि अहंकार	३
ज्ञानेन्द्रिय	५
कर्मेन्द्रिय	५
मन	१
विषय	५
इच्छाद्वेषादि भाव	७

मिलकर ३१ प्रकारकी प्रकृति है।

इसी प्रकृतिको क्षेत्र प्रकृति क्षर आदि अनेक नाम दिये हैं। यह (सविकारं क्षेत्रं) विकृतियुक्त क्षेत्र है। विकृति विकारका अर्थ परिवर्तन बदल होते है। इसका एक दूसरेपर परिणाम होता है और परिवर्तन होता है। जैसे सूखी मिट्टीमें जल मिलनेसे गीली हो जाती है और वह वहाँ स्थिर रहनेसे उसका भी प्रारंभ हो जाता है। इसी तरह सूखे घासफूसको अग्नि लगानेसे वह जल जाता है। गीला वस्त्र वायुमें रखनेसे सूख जाता है। किसी स्थानमें जल हो तो कुछ दिनोंके बाद वह सूख जाता है। वृक्ष बढ़ते हैं और सूख भी जाते हैं। इस रीतिसे अनेकानेक परिवर्तन यहाँ हो रहे हैं। येही विकार हैं।

सम्पूर्ण क्षेत्रभरमें ये विकार हो रहे हैं। (जायते) उत्पन्न होता है (अस्ति) है (वर्धते) बढ़ता है, (विपरिणमते) परिणामको प्राप्त होता है (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नष्ट हो जाता है। ये छः विकार इस सृष्टिमें हो रहे हैं। इनमें अनंत भेद हैं और इन विकार भेदोंका निरीक्षण करनेसे अनेक शास्त्र बने हैं।

जैसे भूस्तरशास्त्र, भूगर्भशास्त्र वास्तुविद्या खनिजशास्त्र आदि शास्त्र पृथ्वीके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। जल-विद्या जलप्रवाहविद्या नौकानयनशास्त्र जलचिकित्सा रस-विद्या, औषधिविद्या। इत्यादि शास्त्र जलतत्त्वके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। अग्नि-विद्या विद्युच्छास्त्र, सूर्यकिरणचिकित्सा वर्णचिकित्सा इत्यादि शास्त्र आग्नेय तत्त्वके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। वायुतत्त्वविद्या विमानशास्त्र प्राणायामशास्त्र, वायुसंशमनविद्या वायुयंत्रनिर्माण आदिका सम्बन्ध वायुतत्त्व के साथ है। शब्दशास्त्र ध्वनिविद्या शब्दवेध व्याकरण-विद्या गानविद्या वक्तृत्वशास्त्र आदि अनेक विद्यायें शब्द के साथ सम्बन्ध रखनेवाले आकाशतत्त्वके साथ सम्बन्ध

ज्ञानके लक्षण	अज्ञानके लक्षण
१ अहिंसा अक्रूरता	१ हिंसा, क्रूरता
२ अमानित्व	२ मानित्व घमंड
३ अदम्भित्व	३ दम्भित्व दम्भ
४ क्षान्ति क्षमा	४ अक्षान्ति असमाधान क्षमा न करना
५ आर्जव सरलता	५ कुटिलता, टेढ़ापन
६ आचार्योपासन गुरुसेवा	६ गुरुके साथ विरोध
७ शौच, शुद्धता, पवित्रता	७ अपवित्रता मलिनता
८ स्थैर्य स्थिरता	८ चञ्चलता अस्थिरता
९ आत्मविनिग्रह आत्मसंयम, मनोनिग्रह इन्द्रियदमन	९ असंयम स्वेच्छाचार इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलता
१ इन्द्रियार्थोंमें वैराग्य भोगोंके विषयमें उदासीनता	१ इन्द्रियोंके भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति
११ अनहंकार।	११ अहङ्कार
१२ जन्म मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःखों और दोषोंको देखना	१२ दुःख और दोषका विचार न करना
१३ असक्ति, अनासक्ति	१३ मायोंपर आसक्ति
१४ पुत्र-दार-गृहादिमें (अनभिष्वङ्गः) मोह और ममता न रखना	१४ पुत्र स्त्री गृहादिकोंपर मोहित होना इनमें ममत्व रखना
१५ इष्ट-अनिष्टमें सदा समचित्त होना	१५ इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें विषमचित्त होना, इष्टका प्रेम और अनिष्टका द्वेष करना
१६ ईश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति	१६ ईश्वरको न मानना उससे अन्यभाव रखना सबको परस्परभिन्न समझना या तो भक्तिही न करना अथवा व्यभिचारिणी भक्ति करना
१७ एकान्त-सेवन करना	१७ एकान्त-सेवन न करना
१८ जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि	१८ जनसंमर्दमें जानेकी रुचि
१९ नित्य अध्यात्मविचारमें मग्न होना	१९ अध्यात्मका विचार न करना
२ तत्त्वज्ञानके मोक्षरूप उद्देश्यका दर्शन करना	२० तत्त्वज्ञान न जानना और उसके उद्देश्यका भी विचार न करना
२१ इसका नाम ज्ञान है।	२१ इसीका नाम अज्ञान है।

सब रूप उसीके हैं और उसीके विश्व-रूपमें समाये हुए हैं। विश्वरूपसे भिन्न किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख-नासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थानोंपर किया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै
द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (ऋग्वेद १०।८१।३)

सब ओर चक्षु मुख बाहु और पांव हैं ऐसा एकही परमात्मदेव इस सब विश्वका उत्पादक है।' यहां भी यही बात कही है। जहां ऋग्वेदमें 'विश्वतः' पद है वहां गीतामें 'सर्वतः' है और दोनोंका अर्थ एकही है।

(२) सर्वमावृत्य तिष्ठति। (१३)

यह परब्रह्म जिसके हाथ पांव मुख सब ओर हैं वह सब विश्वको घेरे हुए है। कोई वस्तु इससे पृथक् नहीं है। इस विश्वकी सब वस्तुओंको उसने घेर रखा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इससे कुछ भी पृथक् नहीं है इसीलिये सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं
सर्वेन्द्रियविवर्जितं। (१४)

सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है तथापि वह सर्व इन्द्रियोंसे रहितही है। इससे पूर्व कहा है कि सब ओर उसके हाथ पांव मुख कान नाक आदि अवयव हैं। इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखनेसेही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता जगत्में किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता तो आत्माका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है यह बात सत्य है तथापि ये इन्द्रिय प्रकृतिकी हैं। आज हैं और कल नहीं रहेंगी अतः उस आत्मामें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसके पर इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका भान भी होता है यह सत्य है। तथापि वह अक्षर तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहितही है। गुडका मिठास गुडके आकारका नहीं होता तथापि गुडके रूपमें स्थूल आकारमें वह दिखाई देता है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इंद्रियोंका आभास प्रतीत होता है, किन्तु उसके शुद्ध स्वरूपमें ये इन्द्रिय नहीं हैं। उस निर्गुणमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसे मानी जा सकती है?

जैसे आकाश घडेमें घटाकार और घरमें गृहाकार दीखता है, परन्तु आकाशका कोई अपना आकार नहीं है। जैसे जलमें रस जलरूप हुआ दीखता है परंतु उसका भी कोई आकार नहीं होता, जैसे तेज दीपमें दीपकके आकारका दीखता है तथापि तेजका स्वयं कोई आकार नहीं होता, अथवा वायु देही कहने लगी तो भी जैसे वह देह नहीं होता तथा वह मन आदि इंद्रियोंमें कार्य करता हुआ दीखनेके कारण इंद्रियोंके गुणधर्मोंसे युक्त होनेके समान दीखता है परन्तु वस्तुतः वह इन्द्रियधर्मोंसे रहितही है। उपनिषदोंमें कहा है–

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोका
वनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव॥
(बृ० उ० ४।३।७)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स
शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वे० उ० ३।१९)

'जो प्राणोंमें विज्ञानमय है वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है तथा ध्यान करता हुआसा चेष्टा करता हुआसा दीखता है। उसके हाथ पांव न होते हुए भी वह वेगवान् और सबको पकडनेवाला है आंख न होते हुए भी वह सबको देखता है कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुनता है वह सब जानता है परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ऐसे पुरुषको अग्रगण्य महान् पुरुष कहते हैं।'

यहां इंद्रियरहित होनेका उसका वर्णन है परंतु उसी आत्माके कारण सब इंद्रियों कार्य करनेमें समर्थ होती हैं और इंद्रियोंके कार्य देखकर उस इंद्रका अर्थात् आत्माका अनुमान होता है। इसलिए कहा जाता है कि सब इन्द्रियोंके गुण-धर्मोंका आभास उस आत्मामें है। सब इन्द्रियोंके कार्य उसीसे हो रहे हैं तथापि उसमें कोई इंद्रिय नहीं है यह बात इस तरह स्पष्ट हो जाती है।

(४) असक्त (१४)

वह ब्रह्म सर्वत्र है, तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसे सुवर्णका आभूषण बनाया जाय तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आकारके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार दूर हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो भी उसे उसमें कोई रागद्वेष नहीं होता। इसी तरह यह ब्रह्म सब आकारोंमें समान अवस्थित होनेपर भी किसी आकारके साथ चिपटा हुआ नहीं है वह किसीमें आसक्त नहीं होता।

(५) सर्वभृत् (१४) भूतभर्तृ (१६)

वह ब्रह्म सब भूतोंका भरण-पोषण-धारण करता है उसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है यही बात अन्यत्र भी कही गई है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन
जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति॥ (तै० उ०)

जिससे ये सब भूत बनते हैं जिससे बननेपर जीवित रहते हैं और विमुक्त होकर जिसमें लीन होते हैं वह ब्रह्म है। यहां मिट्टीसे घड़ा बनता है मिट्टीके आधारसे रहता है और टूटनेपर उसकी मिट्टीही बन जाती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है सुवर्णके आधारसेही वह रहता है और टूटनेपर सुवर्णकेही रूपमें परिणत हो जाता है। इसी तरह ये सब भूत ब्रह्मसे बने हैं ब्रह्मसेही इनका धारण-पोषण हो रहा है और अन्तमें ये ब्रह्ममेंही जा मिलेंगे। इसलिये ब्रह्मको सर्वभृत् अर्थात् सबका धारण-पोषण-भरण करनेवाला कहा गया है।

(६) निर्गुण गुणभोक्तृ च। (१४)

यह ब्रह्म निर्गुण है परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है। यह ब्रह्म स्वयं सत्त्व-रज-तम आदि गुणोंवाला नहीं है तथापि इन गुणोंका भान उसमें होता है। जैसे आभूषणका भान सुवर्णमें होता है, सुवर्ण उस आभूषणको धारण भी करता है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषणके साथ कुछ भी संबंध नहीं है। ज्ञान भोग और मोह ये सत्त्व-रज-तमके गुण हैं, ये निजरूपमें ब्रह्मपर दीखते हैं, ब्रह्म कारण उसीके आधारसे रहते हैं परन्तु वस्तुतः वे उसके वा उसमें नहीं हैं।

(७) भूतानां बहिः अन्तः च। (१५)

यह ब्रह्म सब भूतोंके अन्दर और बाहर है।' अर्थात् वह सबमें व्याप्त हुआ है, सबके अन्दर बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है। एक अणुरेणु भी ऐसी नहीं है जहां वह न हो। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल उसीसे व्याप्त है, उसके अन्दर बाहर वही व्याप्त हुआ है।

(८) तत् दूरस्थं चान्तिके च। (१५)

वह ब्रह्म दूर भी है और पास भी। सर्वव्यापक होनेका ही यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं वह उनके बिलकुल निकटही है। अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है।

(९) तत अचरं चरं एव। (१५)

यह ब्रह्म अचल अर्थात् स्थिर भी है और चल भी है।

वह स्वयं अचल अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआभी सबको चलाता है इसलिये चल भी है। वह अचल चल अचर-सा स्थिर-सा दोनों प्रकारका भासता है। वह गतिमान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीखता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीखता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्में इस तरह किया गया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मि
न्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥
तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५
(ईश उ०)

वह स्वयं न हिलनेवाला एक है तथापि मनसे भी वेगवान् अन्य दौड़नेवालोंसे आगे जाता है तथापि वह स्थिर है। वह चलाता है तथापि स्वयं हिलता नहीं वह दूर भी है और समीप भी है वह सबके अन्दर भी है और सबके बाहर भी है।

यह ईशोपनिषद्का और गीताका वर्णन एक जैसाही है। यही वर्णन मुण्डकोपनिषद्में इस तरह है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्
सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डक उ० ३।१।७)

(५) ज्ञेय क्या है ?

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

यहां ज्ञान और अज्ञानकी व्याख्या की गई है। ज्ञान और अज्ञानके केवल इतनेही लक्षण हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। ये उपलक्षण मात्र हैं। जैसे यहां 'अहिंसा' यह एक सत्यज्ञानका लक्षण कहा गया है, अक्रोध अवैर आदिका समावेश इसमेंही मानना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य लक्षणोंके विषयमें विचार करके जानना चाहिये।

वस्तुतः ज्ञानके लक्षण ये नहीं हैं और इनके विपरीत लक्षण अज्ञानके भी नहीं हैं। परंतु ये ज्ञानके परिणाम हैं। मनुष्यमें ज्ञानका विकास परिपूर्ण रीतिसे होनेपर वह इन लक्षणोंसे युक्त होता है। जो पूर्ण ज्ञानी है वह अहिंसक, अमानी अदम्भी निरहंकारी अनन्यभक्त, भोगोंके विषयमें विरक्त सरल सीधा शुद्धाचरत शान्त, इंद्रियदमन करनेवाला अनासक्त समचित्त होगा और जो अज्ञानी होगा वह हिंसक क्रूर मानी घमंडी, दम्भी, निरोधक भोगोंमें फिसा हुआ कुटिल अशुचि चंचल स्वैराचारी भोगासक्त, विषमभावयुक्त होगा। इनके साथ साथ जो अन्यान्य सहचारी लक्षण संभव हो सकते हैं उनका भी पाठक विचार करें उनका भी इसमेंही समावेश समझें।

सर्व विश्वरूपी वासुदेवका है, अकेला वही ईश्वर है ऐसा अनुभव करनेसेही ज्ञानके ये लक्षण इस भावमें स्थिर हो सकते हैं और जिसमें स्वभावसेही ये लक्षण स्थिर हो जाते हैं उसीको स्थिर पुरुष कहा जाता है।

इन लक्षणोंको पाठक स्थिर पुरुषके लक्षण समझें और इन लक्षणोंको अपने अन्दर स्थिर करनेका यत्न करें। निज मनमें अपने अन्दर ये लक्षण हैं इसका परीक्षण करनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और शेष कितनी उन्नति होनी चाहिये इसका भी निश्चय हो सकता है। इसी रीतिसे आत्म-परीक्षण करना चाहिये।

ये जो ज्ञानके लक्षण यहां कहे हैं, सामाजिक और राष्ट्रीय सुख-शान्तिके लिये उनकी कितनी आवश्यकता है और इनके विपरीत जो अज्ञानके लक्षण अनुमान किये जाते हैं, उनसे समाजमें और राष्ट्रमें कैसी अशान्ति बढेगी इसका भी विचार करना चाहिये और भगवद्गीताके इस तत्त्वज्ञानकी समाजोपयोगिताको समझें। यदि समाज सुख और शान्तिसे युक्त बनाना है तो उसमें ये ज्ञानलक्षण सुस्थिर होने चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता आदर्श सामाजिक जीवनका उपदेश कर रही है। समाजके मनुष्य यह आदर्श अपने अन्दर सुस्थिर करनेका प्रयत्न करते रहें। यह आदर्श ऐसा है कि बिना परिश्रम आचरणमें लाना कठिन है। पर्याप्त परिश्रम किया जाय तबही यह आचरणमें आ सकता है। सामाजिक जातीय तथा राजकीय प्रबंध भी ऐसा होना चाहिये कि जिसमें रहते हुए यह आदर्श जीवन मनुष्योंके आचरणमें आ सके और मनुष्य पूर्ण मानव अथवा पुरुषोत्तम बन सके। आज-कलकी समाजव्यवस्था और राज्यव्यवस्था ऐसी है कि इसमें मनुष्यके अन्दर इन दैवी गुणोंके स्थानमें आसुरी भावही बढ जाते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका नाश कर रहा है, एक दूसरेको लूट रहा है। जो हिंसा करना नहीं चाहते वे शस्त्र लिये जाते हैं और उनको दबानेका यत्न होता है। सब जन आसुरी भाव बढनेके कारणही हो रहा है। अतः भारतीयोंको ऐसा प्रबन्ध यत्न करना चाहिये कि जिससे सब भारतीय जनता अपने अन्दर तो इन दैवी गुणोंका उत्कर्ष करती है साथही संपूर्ण जगत्में दैवी गुणोंका विकास करनेका भी प्रयत्न करे।

इस तरह ज्ञानका विचार हुआ। अब ज्ञानसे ज्ञेय वस्तुओंका बोध भगवान् कराते हैं, उसे देखिये-

अन्वयः— यत् ज्ञेयं यत् ज्ञात्वा (जीवः) अमृतं अश्नुते, तत् प्रवक्ष्यामि । तत् अनादिमत् परं ब्रह्म सत् न असत् च न इति उच्यते ॥ १२ ॥ लोके तत् सर्वतः पाणिपादं सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (अस्ति) सर्वं च आवृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥ (तत्) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं, असक्तं, सर्वभृत् च एव, निर्गुणं, गुणभोक्तृ च (अस्ति) ॥ १४ ॥ तत् भूतानां बहिः अन्तः च (अस्ति) अचरं चरं च एव (अस्ति), तत्, सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं (अस्ति) दूरस्थं च अन्तिके च (अस्ति) ॥ १५ ॥ तत् ज्ञेयं अविभक्तं भूतेषु विभक्तं इव स्थितं भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च अस्ति ॥ १६ ॥ तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः (अस्ति), तमसः परं उच्यते (तत्) ज्ञानं ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं (अस्ति), (तत्) सर्वस्य हृदि धिष्ठितं (अस्ति) ॥ १७ ॥

वह ज्ञेय जिसके जाननेसे जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, मैं तुमसे कहता हूं । वह अनादि पर ब्रह्म है, उसे न सत् कहते हैं और न असत् ॥ १२ ॥ इस लोकमें उसके सर्वत्र हाथ पांव सब ओर आंख सिर और मुख और सब ओर कान हैं । वह सर्वत्र व्याप कर रहा है ॥ १३ ॥ उसमें सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास है तो भी वह सब इन्द्रियरहित है । वह सर्वत्र आसक्तिरहित सबका भरणपोषण करनेवाला गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है ॥ १४ ॥ वह सब भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी वह स्थिर भी है और चर भी वह सूक्ष्म होनेके कारण जाननेमें कठिन है । वह दूर भी है और पास भी ॥ १५ ॥ वह ज्ञेय आत्मा अविभक्त होता हुआ भी सब भूतोंमें विभक्त जैसा रहता है । वह सब भूतोंका पोषण करनेवाला, नाश करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥ १६ ॥ वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है उसे अन्धकारसे परे कहा जाता है वही ज्ञान है, वही जाननेयोग्य है और वही ज्ञानसे जाननेयोग्य है । वह सबके हृदयोंमें रहता है ॥ १७ ॥

भावार्थ— परमेश्वरही जाननेयोग्य है उसके जाननेसे जीव अमर भावको प्राप्त होता है । वह परब्रह्म अनादि है, उसको सत् या असत् कहना अयोग्य है । उसके हस्तपाद आदि अवयव सर्वत्र हैं वह सर्वत्र व्याप्त है, यद्यपि सर्व इंद्रियोंके गुण उसमें हैं, तथापि वह सर्व इंद्रियोंसे रहित है । वह सर्वत्र आसक्ति न रखनेवाला तथापि सबका पालनपोषण करनेवाला निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है । वह अन्दर बाहर सर्वत्र है । वह हिलनेवाला होनेपर भी स्थिर है अति सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है और वह जैसा दूर है वैसाही पास भी है । वह अखंडित है, परन्तु प्रत्येक भूतमें खण्डित-सा दीखता है । वही सबकी उत्पत्ति स्थिति और नाश भी करता है । सब तेजस्वी पदार्थोंको उसीसे तेज मिलता है, उसके पास अन्धकार नहीं है क्योंकि वह उससे परे है । वही ज्ञान जाननेयोग्य और ज्ञानसे प्राप्तव्य है । ऐसा वह परमात्मा सबके हृदयोंमें सदा रहता है ॥ १२-१७ ॥

किसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ?

(१२-१७) मनुष्यको किसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये ? इस जीवनमें मनुष्यका ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य क्या है ? इसका विचार अब करते हैं । जिसका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य मात्रके लिये अत्यंत आवश्यक है, वह अनादि परब्रह्म है । यहां इस तरह उसका वर्णन किया गया है—

(१) सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (१३)

इस परब्रह्मके हाथ, पांव आंख सिर मुख और कान सब ओर हैं । पाठक यह विश्वरूपी परमात्माका वर्णन है ऐसा समझें । ये सब ओर जो हाथ पांव और मुखादि अवयव हैं, वे केवल कल्पनाके नहीं हैं वे सत्य अवयव हैं । क्योंकि परमात्माके विश्वरूपमें सब मानव सब पशु पक्षी और सब अन्य स्थूल सूक्ष्म जीवजन्तु समाये हुए हैं । इन सब प्राणियोंके जो हाथ पांव, मुख आदि अवयव हैं वेही इस विश्वात्माके अवयव हैं अतः कहा है कि इसके हाथ पांव आंख मुख सिर कान आदि अवयव सब ओर हैं । पाठक अपने चारों ओर देखें— उनके सन्मुख अनेक प्राणी दीखेंगे और उनके अनेक अवयव होंगे वे सब अवयव इस विश्वात्मा अथवा भूतात्माकेही हैं, क्योंकि सब प्राणियोंके हृदयमें यही विश्वात्मा अनुस्यूत है, इससे कोई पृथक् नहीं है

सब रूप उसीके हैं और उसीके विश्व-रूपमें समाये हुए हैं। विश्वरूपसे भिन्न किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख-नासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थानोंपर किया गया है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै
र्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (ऋग्वेद १०।८१।३)

सब ओर चक्षु मुख बाहु और पांव हैं ऐसा एकही परमात्मदेव इस सब विश्वका उत्पादक है।' यहां भी वही भाव कही है। जहां ऋग्वेदमें 'विश्वतः' पद है वहां गीतामें 'सर्वतः' है और दोनोंका अर्थ एकही है।

(२) सर्वं आवृत्य तिष्ठति। (१३)

वह परब्रह्म जिसके हाथ पांव मुख सब ओर हैं वह सब विश्वको घेरे हुए है। कोई वस्तु इससे पृथक् नहीं है। इस विश्वकी सब वस्तुओंको उसने घेर रखा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इससे कुछ भी पृथक् नहीं है इसीलिये सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं
सर्वेन्द्रियविवर्जितं। (१४)

सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है तथापि वह सर्व इन्द्रियोंसे रहितही है। इससे पूर्व कहा है कि सब ओर उसके हाथ पांव मुख कान नाक आदि अवयव हैं। इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखनेसेही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता उसमें किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता तो आत्माका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है यह बात सत्य है तथापि ये इंद्रिय क्षर प्रकृतिकी हैं। नाश हैं और सदा नहीं रहेंगी अतः उस अक्षरमें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसके द्वारा इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका ज्ञान भी होता है यह सत्य है। तथापि वह अक्षर तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहितही है। गुड़का मिठास मुखके आकारका नहीं होता तथापि मुखके रूपमें स्थूल आकारमें वह दिखाई देता है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इंद्रियोंका आभास प्रतीत होता है, किन्तु उसके शुद्ध स्वरूपमें वे इन्द्रिय नहीं हैं। उस निर्गुणमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसे मानी जा सकती है?

जैसे आकाश घड़ेमें घटाकार और घरमें गृहाकार दीखता है, परन्तु आकाशका कोई अपना आकार नहीं है। जैसे जलमें रस व्यक्त हुआ दीखता है परंतु उसका भी कोई आकार नहीं होता, जैसे तेल दीपमें दीपकके आकारका दीखता है तथापि तेलका स्वयं कोई आकार नहीं होता, उसकी धारा देखी जाने लगी तो भी वैसे कुछ देखा नहीं होता तथा नाक मन आदि इंद्रियोंसे कार्य करता हुआ दीखनेके कारण इंद्रियोंके गुणधर्मोंसे युक्त होनेके समान दीखता है परन्तु वस्तुतः वह इन्द्रियधर्मोंसे रहितही है। उपनिषदोंमें कहा है—

कतमः स आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोका
वनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव॥
(बृ उ ४।३।७)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स
शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वे उ ३।१९)

'जो प्राणोंमें विज्ञानमय है वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है तथा ध्यान करता हुआसा चेष्टा करता हुआसा दीखता है। उसके हाथ पांव न होते हुए भी वह वेगवान् और सबको पकड़नेवाला है आंख न होते हुए भी वह सबको देखता है कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुनता है वह सब जानता है परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ऐसे पुरुषको आद्य महान् पुरुष कहते हैं।'

यहां इंद्रियरहित होनेका उसका वर्णन है, परंतु उसी आत्माके कारण सब इंद्रियां कार्य करनेमें समर्थ होती हैं और इंद्रियोंके कार्य देखकर उस ईशका अर्थात् आत्माका अनुमान होता है। इसलिए कहा जाता है कि सब इन्द्रियोंके गुणधर्मोंका आभास उस आत्मामें है। सब इन्द्रियोंके कार्य उसीसे हो रहे हैं तथापि उसमें कोई इंद्रिय नहीं है यह बात इस तरह स्पष्ट हो जाती है।

(४) असक्तं (१४)

यह ब्रह्म सर्वत्र है तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसे सुवर्णका आभूषण बनाया जाय तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आकारके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार दूर हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो भी उसे उसमें कोई रागद्वेष नहीं होता। इसी तरह वह ज्ञेय ब्रह्म सब आकारोंमें समान अवस्थित होनेपर भी किसी आकारके साथ चिपटा हुआ नहीं है वह किसीमें आसक्त नहीं होता।

(५) सर्वभृत् (१४) भूतभर्तृ (१६)

यह ब्रह्म सब भूतोंका भरण-पोषण-धारण करता है इसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है यही बात अन्यत्र भी कही गई है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन
जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविश-
न्तीति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति॥ (तै० उ०)

जिससे ये सब भूत बनते हैं जिससे बननेपर जीवित रहते हैं और विभक्त होकर जिसमें लीन होते हैं वह ब्रह्म है। जहाँ मिट्टीसे घड़ा बनता है मिट्टीके आधारसे रहता है और टूटनेपर उसकी मिट्टीही बन जाती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है सुवर्णके आधारसेही वह रहता है और टूटनेपर सुवर्णमेंही रूपमें परिणत हो जाता है। इसी तरह ये सब भूत ब्रह्मसे बने हैं ब्रह्मसेही इनका धारण-पोषण हो रहा है और अन्तमें ये ब्रह्ममेंही जा मिलेंगे। इसलिये ब्रह्मको सर्वभृत अर्थात् सबका धारण-पोषण-भरण करनेवाला कहा गया है।

(६) निर्गुणं गुणभोक्तृ च। (१४)

यह ब्रह्म निर्गुण है परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है। यह ब्रह्म स्वयं सत्त्व-रज-तम आदि गुणोंवाला नहीं है तथापि इन गुणोंका भास उसमें होता है। जैसे आभूषणका भास सुवर्णमें होता है सुवर्ण उस आभूषणको धारण भी करता है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषणके साथ कुछ भी संबंध नहीं है। ज्ञान भोग और मोह ये सत्त्व-रज-तमके गुण हैं ये विषयरूपमें ब्रह्मपर दीखते हैं, ब्रह्मके कारण उसीके आधारसे रहते हैं परन्तु वस्तुतः ये उसके या उसमें नहीं हैं।

(७) भूतानां बहिरन्तश्च। (१५)

यह ब्रह्म सब भूतोंके अन्दर और बाहर है।' अर्थात् वह सबमें व्याप्त हुआ है, सबके अन्दर बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है। एक अणुरेणु भी ऐसी नहीं है जहाँ वह न हो। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल उसीसे व्याप्त है उसके अन्दर बाहर वही व्याप्त हुआ है।

(८) दूरस्थं चान्तिके च। (१५)

यह ब्रह्म दूर भी है और पास भी। सर्वव्यापक होनेका ही यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं वह उनके बिलकुल निकटही है। अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है।

(९) चरमचरमेव च। (१५)

यह ब्रह्म अचल अर्थात् स्थिर भी है और चल भी है।

यह स्वयं अचल अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआभी सबको चलाता है, इसलिये चल भी है। यह अचल-चल अचर-चर स्थिर चर दोनों प्रकारका भासता है। यह गतिमान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीखता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीखता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्में इस तरह किया गया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मि-
न्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥
तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥
(ईश० उ०)

यह स्वयं न हिलनेवाला एक है तथापि मनसे भी वेगवान् अन्य दौड़नेवालोंसे आगे जाता है तथापि वह स्थिर है। वह चलाता है तथापि स्वयं हिलता नहीं वह दूर भी है और समीप भी है वह सबके अन्दर भी है और सबके बाहर भी है।

यह ईशोपनिषद्का और गीताका वर्णन एक जैसाही है। यही वर्णन मुण्डकोपनिषद्में इस तरह है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्
सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डक० ३।१।७)

' वह ब्रह्म बडेसे बडा और सूक्ष्मसे सूक्ष्म है। वह दूर भी है और समीप भी है देखनेवालोंके लिये वह उनके अन्तःकरणोंमेंही है।' वह सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र उपस्थित है।

(१०) सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्। (१५)

अति सूक्ष्म होनेसे वह जाननेके लिये कठिन है। सर्वत्र है, इसीलिये वह सबसे सूक्ष्म है और अतिसूक्ष्म सबसे सूक्ष्म होनेसेही जाननेके लिये सबसे कठिन है।

(११) (तत्) अविभक्तं (परन्तु) भूतेषु विभक्तं इव स्थितम्। (१६)

वह ब्रह्म वस्तुतः अविभक्त अर्थात् अखण्ड है, उसमें टुकडे नहीं है वह सर्वत्र एकरस है, तथापि सब भूतोंमें विभक्त जैसा होकर स्थिर है। सर्वत्र एकरस होनेपर भी अनेक विभिन्न रस जैसा दीखता है। एक होनेपर भी अनेक जैसा प्रतीत होता है।

जैसे सुवर्णके अनेक प्रकारके आभूषण बनाये जाते हैं कुछ कानमें धारण करनेके, कुछ नाकमें कुछ गलेमें कुछ छातीपर कुछ हाथोंमें कुछ कमरमें धारण करनेके होते हैं। सुवर्णकी दृष्टिसे सबमें एकरसता है तथापि धारणकी रीतिसे उसमें विविधता और भेद है।

जैसे एकही काल निमेष मुहूर्त दिन पक्ष मास अयन आदि भेदोंसे युक्त प्रतीत होता है, एकही जीवन बाल्य तारुण्य वार्धक्यादि भेदोंसे विभक्तसा प्रतीत होता है, इसी तरह वह एक तत्त्व विभक्त सब रूपोंमें दिखाई देता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद ६।४७।१८)

इन्द्र अर्थात् आत्मा एक होता हुआ भी अनेक रूपों-वालासा दिखाई देता है। और भी देखिये—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति
शृणोति अभिवदति मनुते विजानाति
यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्
तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात्
तत्केन कमभिवदेत् तत्केन कं मन्वीत
तत्केन कं विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति
तं केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन
विजानीयात्॥ (बृ. उ. २।४।१४)

जहां द्वैत होता है वहांही एक दूसरेको देखता सुनता कहता विचारता और जानता है। परन्तु जहां सब आत्माही हो जावे तब कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको जाने? जिससे जाना जाता है उसे कौन जाने! और विज्ञाताको कौन कैसा जाने? यहां दोनों अवस्थाओंका वर्णन है एक एकत्वकी अवस्थाका और दूसरा द्वैतकी अवस्थाका। एकही वस्तु एकही होती हुई अनेक जैसी प्रतीत होती है इस कारण ऐसा अनुभव होता है। इसी प्रकार—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति
॥ १९ ॥
एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः
॥ २० ॥ (बृ. ४।४।१९-२)

मनसेही यह अनुभव करना चाहिये कि यहां अनेक वस्तुएं नहीं है। जो यहां नाना वस्तुएं देखता है वह मृत्युको बारंबार भोगता है। यह अप्रमेय ध्रुव आत्मा एकही है ऐसा देखना चाहिये। यह आत्मा आकाशसे भी महान् है।

इस तरह यह आत्मा अनेक नहीं है। वह एकरस एक और सर्वत्र है। परन्तु एक होता हुआ अनेक-सा दिखाई देता है अखण्ड होता हुआ खण्डित-सा दीखता है एक-रस होता हुआ विविध रसवाला-सा प्रतीत होता है।

(१२) तत् प्रभविष्णु ग्रसिष्णु च। (१६)

वह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबको ग्रास कर जानेवाला अर्थात् नाश करनेवाला है। और (भूतभर्तृ सर्वभृत्) सबका पालन करनेवाला भी है। इस रीतिसे वही सबकी उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला है। वह एकही इन तीनों कार्योंको करता है इसलिये उसी एकको उत्पत्तिकर्ता स्थितिकर्ता और लयकर्ता कहा है। इसी कार्यके कारण उसी एकके नाम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हुए हैं। ये तीन नाम होते हुए भी वह एकही है। तीन विभिन्न नाम होनेके कारण वह तीन प्रकारका नहीं है। वह एक होता हुआ भी ये तीनों कार्य करता है।

(१३) तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः।
तत् तमसः परं उच्यते। (१७)

' वह ब्रह्म तेजका भी तेज है और अतः वह अन्धकारसे परे है। बृहदारण्यकमें कहा है—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः। (बृ ४।४।१६)
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वे उ० ३।८)
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (कठ० उ० ५।१५)
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।
(गीता १५।१२)

वह ब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति है। वह सूर्यके समान तेजस्वी और अंधकारसे परे है। उसी ब्रह्मके तेजसे यह सब विश्व प्रकाशित होता है। सूर्य चन्द्र अग्नि आदिमें जो तेज है जिस तेजसे यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, वह ईश्वरकाही तेज है।' इस प्रकार अन्यत्र भी वैसाही इस ब्रह्मका वर्णन है।

(१४) सर्वस्य हृदि धिष्ठितम्। (१७)

यह ब्रह्म सबके हृदयमें स्थित है। सबके अन्तःकरणमें सबकी बुद्धिमें विद्यमान है। गीतामें आगे कहा है कि— ' सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः। (गी १५।१५) परमेश्वर सबके हृदयमें अवस्थित है। तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें स्थित है और सबको घुमाता है।'

इस तरह सर्वत्र ईश्वरके सबके हृदयमें होनेका वर्णन है। वह केवल हृदयमें रहता है और बाहर नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वस्थानमें अन्दर बाहर उसके होनेका स्पष्ट उल्लेख है। अतः हृदेशमें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसके सब कार्य अन्दरहीसे होते हैं।

(१५) तत् ज्ञेयं ज्ञानगम्यं ज्ञानं (अस्ति)
(१७)

यह ब्रह्म सबको जाननेयोग्य है ज्ञानसे समझमें आनेवाला है क्योंकि वही ज्ञानरूप है। यहां ज्ञेय और ज्ञान एकही है और ज्ञाता भी उसीमें संमिलित होता है। ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान यहां एक होनेके कारण इस त्रिपुटी-का भेद यहां नहीं होता है अतः यह विषय समझनेके लिये कठिन है। परन्तु यहां ऐसा समझना चाहिये कि वह स्वयं ज्ञाता है अपनाही ज्ञान प्राप्त करता है इसलिये ज्ञान विषय भी स्वयही है और स्वयं चित्स्वरूप होनेसे ज्ञान भी अपनाही स्वरूप है। इस तरह विचार करनेसे यहां भी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान स्पष्ट होता है, जैसा यहां है वैसाही उक्त स्थानमें वह ज्ञेय, ज्ञानगम्य और ज्ञान है ऐसा जो कहा है, उस विषयमें समझना चाहिये।

(१६) तत् न सत्, न असत् उच्यते। (१२)

वह ब्रह्म सत् किंवा असत् है ऐसा नहीं कहा जाता,' वह सदसत् कल्पनासे परे है। सत् असत् यह वाणीसे कहा जाता है, परंतु ब्रह्म तो वाणीका विषय नहीं है- यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तै उ २।४।९) उस ब्रह्मसे वाणी निवृत्त होती है, क्योंकि वाणीसे वर्णन करनेका विषय ब्रह्म नहीं है, तथा—

अन्यत् एव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि।
(केन उ १।३)

वह ब्रह्म ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न है अर्थात् वह ज्ञात भी नहीं और अज्ञात भी नहीं है। क्योंकि वह—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्। (श्वेत उ ६।१९)

कलारहित और क्रियारहित है। इसलिये उसका वर्णन करना असंभव है। जो वाणीसे कहा जा सकता है वह सत् है या असत् है ऐसा कहा जायगा, परन्तु जो वाणी का विषयही नहीं है उस विषयमें क्या कहा जा सकता है ? अतः यहां कहा है कि वह न सत् है और न असत् है। गीतामें—

सदसच्चाहम्॥ (गीता ९।१९)

इस श्लोकमें बताया है कि ' मैं ईश्वर सत् और असत् हूं ' और यहां बताया है कि—

तत् न सत् न असत्। (गी १३।१२)

' वह ईश्वर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है। क्या यह विरोध नहीं है ? इसका विचार करनेके लिये हमें सत् और असत् शब्दोंके अर्थोंका मनन करना चाहिये—

सत् = भला, शुभ अविनाशी अमृत अस्ति अव्यक्त सूक्ष्म नाम अक्षर।

(६) ज्ञानका फल

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

(७) पुरुष और प्रकृति

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

अन्वयः— इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं च समासतः उक्तं एतत् विज्ञाय मद्भक्तः मद्भावाय उपपद्यते ॥ १८ ॥

इस तरह क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें संक्षेपसे कहा गया है। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे (ईश्वरके) भावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— यहां अतिसंक्षेपसे क्षेत्र क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रीका ज्ञान और जाननेयोग्य ज्ञेय वस्तुका वर्णन किया गया है। इस ज्ञानकी सहायतासे ईश्वरका भक्त ईश्वरपदको प्राप्त करता है। ॥ १८ ॥

असत् = बुरा अशुभ नश्वर मृत्यु नास्ति, एवं स्थूल-सृष्टि क्षर।

ये शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगता है कि सत् और असत् के अर्थ अनेक हैं, अतः उक्त कथनमें परस्पर असंगति नहीं है।

जहां नवम अध्यायमें कहा है वहां सत् असत् का अर्थ क्रमसे शुभ और अशुभ अमृत और मृत्यु इस प्रकारका है। वही श्लोकमें—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (९।१९)

ईश्वर अमृत और मृत्यु दोनों है। इसी द्वन्द्वके साथ संगत होनेवाला शुभाशुभ सब कुछ परमेश्वरकाही है विश्वरूपमें शुभ भी है और अशुभ भी है दोनों रूप ईश्वरके हैं यहां यही आशय है। और यहां व ११।१२ में क्षर और अक्षरके परे परमात्मा है ऐसा कहनेका भी यही तात्पर्य है। अतः दोनों स्थानोंमें यद्यपि 'सत्' और 'असत्' येही शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथापि उनका आशय दोनों स्थानोंमें एक दूसरेसे पृथक् है। अतः यह विरोध नहीं है।

इस प्रकार ऊपर ज्ञेय वस्तुका वर्णन किया है। इसी ज्ञेय वस्तुके पर ब्रह्म ब्रह्म, परमात्मा आत्मा आदि अन्य नाम हैं। इसका वर्णन प्रारंभसे इस समयतक अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंपर किया गया है। पाठक सबका विचार करके इस ब्रह्मतत्त्वको जानें और उसके साथ अपना अनन्य भाव देखकर उसी अनन्य भावसे उसकी सेवा भक्ति अथवा उपासना करें।

अब ज्ञेय और ज्ञेयके ज्ञानका फल कहते हैं सो देखिये—

(१८) यहां क्षेत्र क्या है, ज्ञान किसे कहते हैं और ज्ञेय नामका जो मनुष्योंको जाननेयोग्य वस्तु है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया गया है। इसका मनन करके साधक अपने पासके क्षेत्रके गुणधर्म जानें ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञेयके जाननेका यत्न करें। ज्ञेय जाननेके पश्चात् उसके साथ अपना अनन्य भाव कैसा है यह देखें और मैं उससे अनन्य हूं, यह जानकर उस परब्रह्मके अपने नित्य संबंधपर विचार करें।

यहां शरीररूपी अपना क्षेत्र अर्थात् खेत है। इस खेतमें अपनेको क्या बोना चाहिये कौनसा धान्य बोना चाहिये, कौनसा फल प्राप्त करना चाहिये कौनसा नहीं बोना है इसका विचार प्रत्येक साधकको कर लेना चाहिये। अपनी उन्नतिके लिये साधकको धान्य या फलही उसमें लगाना चाहिये। धान्यका नाश करनेवाला खराब घास उखाड देना चाहिये। सर्वदा शुभजीवनरूप फल देना चाहिये कुविचारोंका खेत उग जावे ऐसे काम करने चाहिये।

इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे साधक ईश्वरकी भक्ति करके ईश्वरभावको प्राप्त हो सकता है। परंतु जो मनुष्य इस ज्ञानको जानता नहीं वह राक्षसभाव असुरभाव अथवा पशुभावसे युक्त बनता है। अतः सत्वभाव रखकर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्दर ब्रह्मभावको देखकर, अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य जानकर अनन्य भावसे उपासना करके कृतकृत्य होना चाहिये।

इसके विषयमें यथार्थ ज्ञानका उपदेश करनेके लिये प्रकृति और पुरुषका ज्ञान भगवान् देते हैं उसे अब देखिये

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

अन्वयः — (त्वं) प्रकृतिं पुरुषं च उभौ अपि अनादि विद्धि। विकारान् च गुणान् च प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ॥१९॥ प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २० ॥ पुरुषः प्रकृतिस्थः (सन्) प्रकृतिजान् गुणान् भुंक्ते हि । गुणसङ्गः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं (अस्ति) ॥ २१ ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको तू अनादि समझ। तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं यह भी ध्यान रख ॥ १९ ॥ प्रकृतिही कार्य तथा कारणका हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोगका हेतु माना जाता है ॥ २० ॥ पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। यही गुणोंका संग इसके उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म होनेका कारण है ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दोनों न उत्पन्न हुए ऐसे पदार्थ हैं और प्रकृतिसे गुण तथा विकार होते हैं। सब कार्योंका तथा सब कारणोंका मूल हेतु यही प्रकृति है। पुरुषही सुखदुःखका भोग करता है। पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध करके प्राकृतिक गुणोंका भोग करता है। इसी गुणोंके भोगोंके संगसे पुरुषको उत्तम अथवा अधम योनिमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १९-२१ ॥

(१९-२१) प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन। प्रकृतिमें पुरुष व्याप्त होकर स्थित है और यह प्रकृति पुरुषकी महा शक्ति है। जैसा जलमें रस, सूर्यमें तेज वैसाही प्रकृतिमें पुरुष है।

इस प्रकृतिमें सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। इस प्रकृतिमें अनेक विकार भी हो जाते हैं। मूल प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार तन्मात्रा पंच-महाभूत सम्पूर्ण सृष्टि ये सब प्रकृतिकेही विकार हैं। मूल सूक्ष्म प्रकृति घनीभूत होकर क्रमसे स्थूल होती है और सब विविध पदार्थ बनाती है।

इस कार्यकारणपरंपरासे यह रचना चल रही है। प्रकृति कारण है उसका कार्य महत्तत्त्व है महत्तत्त्व कारण है उसका कार्य है अहंकार अहंकार कारण है उसका कार्य तन्मात्रा, तन्मात्रा कारण है उसका कार्य पंचमहाभूत पंचमहाभूत कारण है उसका कार्य है यह सृष्टि। इस प्रकार यह कार्य-कारण-परंपरा चल रही है। जो एकका कार्य है वही दूसरेका कारण होता है। इस तरह कार्य और कारणका विचार करना चाहिये। इस कार्य-कारण-परंपराका मूल हेतु मूल प्रकृति है।

इस तरह यह सृष्टि मूल प्रकृतिसे बनी है। मूल सूक्ष्म क्रम क्रम होते होते मूल प्रकृतिही स्थूल सृष्टिके रूपको प्राप्त हुई है। इस ढंगसे सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार पाठक करें।

दूसरा पुरुष है, जो जलमें रस रहनेके समान सब प्रकृतिमें रहता है। इसी तरह प्रकृति भी पुरुषके साथ पुरुषकी शक्ति बनके रहती है। यह सम्बन्ध ठीक प्रकार समझ लेना चाहिये।

यह पुरुष सुखदुःखका भोग करता है। सुख या दुःखका अनुभव पुरुषकोही हो सकता है। शरीरसे यह देही- पुरुष न हुआ तो शरीर निर्जीव हो जाता है और फिर वह सुखदुःखका अनुभव कर नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि यह पुरुषही प्रकृतिमें रहकर सुखका अथवा दुःखका अनुभव कर सकता है।

यह पुरुष आत्मा-प्रकृतिमें रहता है देहमें रहता है, क्षेत्रमें कार्य करता है, इस कारण प्रकृतिके सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणोंके साथ उसका सम्बन्ध होता है और इस प्रकार सत्त्व-रज तमके साथ सम्बन्ध होनेके कारण इसकी उच्च मध्यम और निकृष्ट गति होकर इसका शुभ अथवा अशुभ योनिमें जन्म होता है।

क्षेत्रमें कार्य करनेका यह फल है। इस तरह शुभाशुभ फल इसीके कर्मोंसे इस पुरुषको प्राप्त होता है यह जान कर मनुष्य सावधानीके साथ अपने आपको अशुभ फलसे बचावे और शुभ गति प्राप्त करे। इस तरह पुरुषको उसका ध्येय बताकर अब परमात्माका ज्ञान देते हैं—

(८) परमात्मा

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

(९) आत्मदर्शन और उपासना

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्वयः— उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वरः अपि च परमात्मा इति उक्तः परः पुरुषः अस्मिन् देहे (अस्ति) ॥ २२ ॥ यः एवं पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च वेत्ति सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ॥ २३ ॥

देखनेवाला अनुमोदन करनेवाला पोषण करनेवाला भोक्ता महेश्वर और परमात्मा इस देहमें है ॥ २२ ॥ जो इस तरह पुरुषको और गुणोंके साथ रहनेवाली प्रकृतिको यथावत् जानता है वह सब तरह रहनेपर भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

भावार्थ— इस देहमें जो परम पुरुष है उसीको सर्वसाक्षी अनुमोदक, पोषक भोक्ता महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। जो साधक इस परम पुरुषको और गुणमयी प्रकृतिको ठीक ठीक जानता है वह किसी भी प्रकारका कर्म करे उसे पुनर्जन्ममें नहीं आना होता ॥ २२-२३ ॥

(२२-२३) जो इस देहमें द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला है, यहां रहकर अनुमोदन करता है, इसका भरण-पोषण-पालन करता है यहां रहकर भोग करता है यहां सबका महान् ईश्वर है जो परमात्मा कहा जाता है वही इस देहरूपी प्रकृतिमें परम पुरुष करके स्थित है। इसका आशय यह है—

(देहमें)	(ब्रह्माण्डमें)
द्रष्टा (देखनेवाला)	द्रष्टा
अनुमोदन करनेवाला	अनुमोदनकर्ता
शरीरका भरणकर्ता	ब्रह्माण्डका भरणकर्ता
शरीरमें भोक्ता	ब्रह्माण्डमें भोक्ता
शरीरका स्वामी	ब्रह्माण्डका महेश्वर
शरीरमें आत्मा	ब्रह्माण्डमें परमात्मा
देहमें पुरुष	ब्रह्माण्डमें परम पुरुष

जो परमात्मा ब्रह्माण्डमें है वही देहमें भी है कोई दूसरा नहीं। जैसे एकही आकाश घड़ेमें घरमें ग्राममें और विश्वमें है उसी तरह परमात्मा देहमें है और वही विश्वमें भी है। वह देहमें देहरूप धारण किये रहता है और विश्वमें विश्वरूप। देहमें उसे देही कहते हैं और विश्वमें उसेही विश्वात्मा कहते हैं। विश्वात्माका अंशही देहात्मा है।

(गी० १५।७)

जो इस तरह पुरुषको और तीनों गुणोंके साथ प्रकृतिको जानता है वह कैसा भी बर्ताव करे तो भी उसे बारंबार जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। यहां जो कैसा भी बर्ताव करनेपर मुक्त हो जाता है ऐसा कहा है, यह प्रशंसात्मक वाक्य है। इसका सच्चा भाव यह है कि वह इतना परिशुद्ध होता है कि उससे कभी अयोग्य व्यवहार होताही नहीं। स्वभावसेही यथोचित व्यवहार होना आरंभ हो जाता है।

प्रकृति-पुरुषका ज्ञान होनेसे पुरुषकी अद्भुत शक्तिका ज्ञान हो जाता है और वह अद्भुत शक्तिवाला पुरुष वही मैंही हूं ऐसा निश्चय हो जाता है। और यहां कुछ करना जो कुछ होता है वह अपनेही सामर्थ्यसे होता है ऐसा जानकर वह अपने सामर्थ्यको बुरे कर्मोंमें नहीं लगाता। जो कर्म हो रहा है वह प्रकृतिसे हो रहा है ऐसा देखकर अपने आत्माको प्रकृतिसे भिन्न अकर्ता अनुभव करके, वह अपनी परिशुद्ध अवस्थाका अनुभव करता है। इसीसे वह निष्कलंक होकर मोक्षका भागी हो जाता है।

अब इस आत्मदर्शन करनेका वर्णन करते हैं—

(१०) सम-दर्शनका फल

यावत्सञ्जायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

अन्वयः— केचित् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मानं पश्यन्ति) अपरे कर्मयोगेन (आत्मानं पश्यन्ति) ॥२४॥ अन्ये तु एवं अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते ते श्रुतिपरायणाः च अपि मृत्युं अतितरन्ति एव ॥२५॥

कोई ध्यान योगसे अपने आत्माद्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं, दूसरे साधक ज्ञानयोगसे आत्माको देखते हैं और अन्य साधक कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥२४॥ दूसरे कुछ इन मार्गोंको न जानते हुए, अन्य (विद्वानोंसे) सुनकर उपासना करते हैं। वे सुने हुए उपदेशमें तल्लीन होनेवाले साधक भी मृत्युसे पार हो जाते हैं ॥२५॥

भावार्थ— कुछ साधक ध्यान-मार्गसे कुछ ज्ञानमार्गसे और कुछ कर्ममार्गसे अपने अन्दर इस आत्माको देखनेका यत्न करते हैं। जो इन मार्गोंको जानतेही नहीं वे विद्वानोंसे जो कुछ सुनते हैं, उसीमें तल्लीन होकर यथाशक्ति उपासना करते हैं, वे साधक भी मृत्युसे परे हो जाते हैं ॥२४-२५॥

(२४-२५) कुछ साधक ध्यान करते हैं और अपने अन्दर स्वयं अपनी आत्माको देख लेते हैं। वे साधक यम नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान करते हैं। प्रत्याहारसे बाह्य विषय छूट जाते हैं और अपनी आत्मामें अपनीही आत्माका ध्यान करके आत्मानुभव प्राप्त करते हैं।

अन्य साधक सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगसे आत्माका अनुभव करते हैं। प्रकृति किन गुणोंसे युक्त है आत्माके धर्म क्या हैं, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुभवसे प्रकृति और पुरुषको पृथक् रूपसे जान लेते हैं। ज्ञान-मार्गके द्वारा ज्ञानमार्गी आत्माका अनुभव करते हैं।

तीसरे प्रकारके साधक कर्मयोगद्वारा उन्नति करते हैं। अपना स्वधर्म-कर्म जानकर तदनुसार कर्म करते हुए और अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करके, तथा कर्मफलत्याग करके अथवा अनासक्तिसे कर्म करते हुए उन्नतिको प्राप्त होते हैं।

चौथे साधक ऐसे होते हैं जो स्वयं आत्मानात्मको जानते नहीं, स्वयं बहुत विद्वान् नहीं होते वे दूसरे विद्वानोंके व्याख्यान और प्रवचन सुनते हैं, उनसे उपासनाकी विधि सीखते हैं और जैसा सुनते हैं वैसीही उपासना करते हैं। उसमें इतनी श्रद्धा-भक्ति रखते हैं कि मनमें तर्क-वितर्क-कुतर्क कुछ भी न करते हुए, अपने गुरुपर अतुल श्रद्धा रखते हैं उसके उपदेशमें तत्पर रहकर उपासना करते हैं। यदि कोई उनकी श्रद्धा हटानेका प्रयत्न करे तो भी वे उस मार्गको नहीं छोडते और उपासना करतेही जाते हैं। केवल ऐसी श्रद्धा रखनेवाले भी अपने श्रद्धाबलके सहारे मृत्युके पार हो जाते हैं। क्योंकि इनकी दृढ श्रद्धासे इनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणकी निर्मलतासेही वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

कुछ लोग इनको अन्ध श्रद्धालु कहके इनका उपहास करते हैं। परन्तु उपहास करनेवाले अश्रद्धाके कारण पीछे रह जाते हैं और ये अपनी असीम श्रद्धाके कारण उन्नत होते रहते हैं।

इस प्रकार साधकोंके उन्नत होनेके ये विविध मार्ग हैं। इन सब मार्गोंमें प्रयत्नही सबका आधार है। जो प्रयत्न करेगा वही उन्नतिको प्राप्त होगा। जो कुछ भी नहीं करेगा वह कैसे उन्नत होगा ? ये सब योग हैं। योगका अर्थ है कुशलताके साथ प्रयत्न करना ।

आगे सम दर्शनका महत्त्व बताते हैं—

अन्वयः— हे भरतर्षभ ! यावत् किंचित् स्थावरजंगमं सत्त्वं संजायते तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (संजायते इति त्वं) विद्धि ॥२६॥ यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं अविनश्यन्तं परमेश्वरं पश्यति सः पश्यति ॥२७॥ (यः) सर्वत्र समवस्थितं ईश्वरं समं पश्यन् हि आत्मना आत्मानं न हिनस्ति, (सः) ततः परां गतिं याति ॥२८॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो भी कुछ स्थावर जंगम वस्तु निर्मित होती है, वह इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही बनती है ऐसा तू समझ ॥ २६ ॥ नाश होनेवाले सब भूतोंमें सम भावसे रहनेवाले अविनाशी परमेश्वरको जो देखता है वही सत्यको देखता है ॥ २७ ॥ जो सर्वत्र सम भावसे रहनेवाले ईश्वरको देखता है वह स्वयं अपने आत्माद्वारा आत्माका घात नहीं करता अतः वह परम गतिको प्राप्त करता है ॥२८॥

भावार्थ— प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे सब कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तु बनती है। सब नाश होनेवाले पदार्थोंमें कभी नाशको प्राप्त न होनेवाला परमेश्वर विद्यमान है और वह सर्वत्र सम भावसे रहता है, ' यह जो देखता है, वही परमेश्वरको देखता है। जो इस तरह आत्माको देखता है, उसके आत्माकी कभी हानि नहीं होती और उसीको परम गति प्राप्त होती है ॥ २६–२८ ॥

(२६-२८) इस सृष्टिमें जो कुछ स्थावर अथवा जंगम वस्तुमात्र है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसेही बना है। यहां कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें प्रकृति और पुरुष न मिले हों अर्थात् सब विश्व प्रकृतिपुरुषके संयोगसेही उत्पन्न हुआ है। इसीलिये इस विश्वके रूपको पुरुषका रूप कहते हैं। जैसे देखा जाय तो रूप प्रकृतिका है तथापि अधिष्ठाता पुरुष होनेसे और उससे पृथक प्रकृति न होनेसे अथवा प्रकृति उसीकी शक्ति होनेसे यह विश्वरूप उसी पुरुषका—उसी आत्माका है ऐसा कहते हैं। प्रकृति क्षेत्र कहलाती है और पुरुषको क्षेत्रज्ञ कहते हैं इन्हींसे सम्पूर्ण वस्तुमात्रकी उत्पत्ति हुई है। यहां प्रकृतिके साथ पुरुष सर्वत्र सम्पूर्ण वस्तुओंमें और सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहता है यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसी पुरुषको आत्मा और ईश्वर कहते हैं।

यह आत्मा परमात्मा अथवा ईश्वर (सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्त) सब भूतोंमें सम भावसे रहता है यह किसीमें भी विषम भावसे नहीं रहता सर्वत्र सम भावसे अवस्थित और विनष्ट होनेवाली वस्तुओंमें भी कभी नाशको प्राप्त नहीं होता अर्थात् वस्तु टूट जाय तो यह ईश्वर टूटता नहीं वस्तु छिन्न हुई तो उसमें यह छिन्न नहीं होता और वस्तुका आकार बदल गया तो भी उस कारण इस ईश्वरमें परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार वस्तुका नाश होनेपर भी ईश्वरका नाश नहीं होता। प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक अवस्थामें यह सम भावसे रहता है।

जैसे आकाश किसी स्थानपर कम और किसी स्थानपर अधिक नहीं रहता सर्वत्र सम भावसे रहता है। जलमें रस सम भावसेही रहता है वह चाहे छोटे पात्रमें रखा हो अथवा बड़े बर्तनोंमें रखा हो उसमें उसका प्रमाण एकसाही होता है; वैसेही सर्वत्र ईश्वर सम भावसे रहता है। सोनेके अनेक भूषणोंमें जैसे सुवर्ण समान रहता है मिट्टीके घड़ोंमें मिट्टी जैसे सम भावसे रहती है उसी प्रकार सब वस्तुओंमें परमेश्वर सम भावसेही रहता है। प्रकृतिके साथ पुरुष सम भावसे स्थित है और प्रकृति–पुरुषसेही सब वस्तुमात्र बना है इस कथनमें भी यही भाव है।

यह ईश्वरके विश्वरूपकी स्पष्टीकरण है। प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर सम भावसे स्थित है, अतः ईश्वरनेही प्रत्येक वस्तुका रूप ले लिया है अथवा ईश्वरही वस्तुका आकार लिये हुए है अर्थात् वस्तुका रूप ईश्वरकाही रूप है और इस विश्वरूपसेही ईश्वरका विश्वरूप है। प्रकृति–पुरुषकी सर्वत्र सम *अवस्थिति ईश्वरका सर्वत्र सम अवस्थान और विश्वरूपमें* परमात्माकी उपलब्धि इनका अर्थ एकही है। एकही भावके ये तीन वाक्य हैं। पाठक यह आशय इन वाक्योंमें देखें।

वस्तुमात्रके नाश होनेपर ईश्वर सर्वत्र होता हुआ भी नष्ट नहीं होता यह बात जो देखता है वही यथार्थ देखता है। अन्य लोग आंखें होते हुए भी अंधेही हैं। ईश्वर विषम पदार्थोंमें सम है भिन्न पदार्थोंमें अभिन्न है क्षणिक वस्तुजातमें शाश्वत है नश्वर पदार्थोंमें अविनाशी है और बदलनेवाली सृष्टिमें कभी न बदलनेवाला है। जिसको यह

(११) अकर्ता आत्मा

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥

अन्वयः— यः च प्रकृत्या एव कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति इति पश्यति) तथा आत्मानं अकर्तारं पश्यति, सः पश्यति ॥ २९ ॥

प्रकृतिद्वाराही सब कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है ऐसा जो देखता है वही सत्यको देखता है ॥२९॥

भावार्थ— आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता परंतु प्रकृतिही सब कुछ कर्म करती है ऐसा जो जानता है, वही ठीक ठीक जानता है ॥२९॥

यह समता दीखती है वही सत्य देखता है और जिसको यह बात नहीं दीखती वह आंखें होनेपर भी अन्धाही है। प्रायः सभी मनुष्य इसी प्रकारके अन्धे हैं सबको तो क्वचित् कोई देखता है।

इस तरह सर्वत्र सम भावसे अवस्थित ईश्वरको देखना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। योग्य गुरुके समीप जाकर दिव्य दृष्टि प्राप्त करके जो मनुष्य देखेगा उसको उस प्रकार ईश्वरका दर्शन हो सकता है। परन्तु मनुष्य इस प्रकार दर्शन करना चाहताही नहीं और अन्यान्य उपासना-ओंमें व्यस्त रहता है सरल मार्गपर न चलकर टेढे मार्गपर जाना पसंद करता है।

यह कोई अकथनीय दोष नहीं है। जो ज्ञाता हैं उनको चाहिये कि वे उपदेश, प्रवचन अथवा व्याख्यान-सभापन-द्वारा इस दिव्य दृष्टिका प्रचार करें और सम ईश्वरका सत्य स्वरूप लोगोंको समझा दें। यदि प्रचारसे विपरीत ज्ञान बढता है तो प्रचारसेही सत्य ज्ञान भी बढेगा इसमें कोई सन्देहही नहीं है।

जिस साधकको इस तरह दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई और जिसने उस दिव्य दृष्टिके द्वारा सम्पूर्ण विविध पदार्थोंमें एक अविभक्त परमेश्वरका दर्शन किया उसका जन्म सफल हुआ समझिये। परमात्माका सर्वत्र ऐसा साक्षात्कार करनेवाला साधक अपने आपको भी उससे अन्य नहीं समझता और उसके साथ अपने आपको अनन्य अनुभव करता हुआ अपनी आत्माको उसीमें उसीका अंश-देखकर अपनी आत्माको भी वैसाही अजर और अमर अनुभव करता हुआ (आत्मना आत्मानं न हिनस्ति) आत्माके अपनी आत्माका नाश नहीं करता, अर्थात् परमात्माके साथ अपनी आत्माको भी अमरही देख लेता है।

जो ऐसा नहीं देखता वही आत्मघाती है वही आत्माका नाश करता है क्योंकि वह देहके साथ आत्माके नाशको मानता है। यह उसके अज्ञानका फल है। अतः जिसने ज्ञानाग्निसे अपने अज्ञानका नाश किया है उसका आत्मा परमात्माके साथ सदा अनन्य भावसे संलग्न होनेके कारण अमर होता है। इसीका नाम आत्माके द्वारा आत्माकी हिंसा न करना है। यह अहिंसा सिद्ध होनेपर उसे परम गति प्राप्त होती है ऐसा कहते हैं। आत्मा अमर बनकर वह श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है इसमें क्या संदेह है?

आत्मा सर्वत्र सम भावसे है ऐसा कहनेसे शंका उत्पन्न होती है कि सबके शरीरके कर्मोंके कारण आत्माको भी कलंक लगता होगा। इसका निवारण करनेके लिये आत्मा निष्कलंक किस तरह रहता है इसका विवेचन अब करते हैं। सबके लिये आवश्यक होनेके कारण पाठक इस विषयको ध्यानसे देखें—

(२९) प्रकृतिही सब कर्म करती है आत्मा केवल देखता है कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है यह जिसको यथा-वत् अनुभव होता है, उसीको सत्य ज्ञान हुआ है ऐसा समझना चाहिये। आंख देखती है और कान सुनता है क्यों-कि आंख और कानका यह प्रकृतिस्वभावही है। उनकी रचनाही ऐसी है कि वे उक्त कर्म करें। आत्मा तो समत्र है आत्माकी शक्ति या उपस्थितिसे कान सुनता हो और आंख देखती हो परंतु आत्माकी शक्ति होनेपर भी कान दृष्

(१२) एकमें पृथग्भाव

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वय— यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं च ततः एव च विस्तारं अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ॥१॥

जब (कोई साधक) प्राणियोंके भेदभावको एकही आधारमें स्थित (देखता है) और उसीसे उसका विस्तार हो रहा है यह देख लेता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥१०॥

भावार्थ—सब प्राणी भिन्न भिन्न हैं यह प्रत्यक्ष है । इस भिन्न भावका आधार एक अभिन्न सत्त्वमें है और उसी अभिन्न सत्त्वसे सब भेदोंकी उत्पत्ति है । यह जो ठीक ठीक जानता है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥१॥

नहीं सकता और आत्म मुक्त नहीं सकती क्योंकि उसकी प्रकृतिही वैसी है । इस तरह विचार करनेपर निश्चित होगा कि सब कर्म प्रकृतिद्वाराही होते हैं अतः आत्मा अकर्ता है । इस कारण आत्मा निर्लेप निष्कलंक और निर्दोष है ।

इस तरह आत्मा अकर्ता होनेके कारण निष्कलंक होनेपर उसको ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कैसे होती है ? आगे इसका विचार करते हैं । वह इस प्रकार है—

(१) इस विश्वमें अनन्त पदार्थ हैं । ये विभिन्न पदार्थ परस्पर पृथक् हैं ऐसा सामान्य मनुष्य देखते हैं । परंतु यह भ्रम है । यह विभेद सत्य नहीं है यह एकही आत्मासे उत्पन्न हुआ है उसी एक आत्मासे ये सब अनन्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । अतः यह सब भूतोंका पृथक् भाव एक आत्मामें है और उसी आत्मासे इस पृथक् भावका विस्तार होता है । जैसा—

जल एक है उसी एक जलसे अनन्त लहरियां उत्पन्न होती हैं वे जलके आधारसे रहती हैं और जलमेंही फैलती हैं । सूर्य एक है परंतु उसकी किरणें अनंत हैं उन किरणोंका आधार एकमात्र सूर्य है सूर्यसे वे किरणें निकलती हैं । और उसीसे चारों ओर फैलती हैं । शरीरके अवयव विभिन्न हैं परंतु उनको शरीरकाही आधार है और वे शरीरसेही विकसित होते हैं । मनके शुभाशुभ भाव कितने विभिन्न हैं परन्तु वे मनके सब मनमें एकरूप होते हैं मनसे उत्पन्न होते मनके साथ रहते और मनसेही फैलते हैं । अग्निसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं परन्तु उन सबका आधार अग्निही है ।

इसी प्रकार सब प्राणिमात्र विभिन्न दीखते हैं परन्तु वे सब एकही आत्मासे प्रकट हुए हैं सबमें एकही आत्मतत्त्व है और एकही आत्माका यह विस्तार है । जिसके मनमें यह सिद्धान्त स्थिर होता है, वह स्वयं ब्रह्मही बन जाता है । क्योंकि जैसे अन्य प्राणी और अन्य पदार्थ ब्रह्मका विस्तार है वैसेही यह देखनेवाला भी ब्रह्मसेही फैला हुआ है । वह जो जानता है वह स्वयं अपने आपको ब्रह्ममें देखता है ब्रह्मके साथ वह मग्न करता है ब्रह्मसे एकत्वका साक्षात्कार करता है और अपने आपको ब्रह्मही जानता है । इस तरहका ज्ञानी अपने आपको ब्रह्मसे भिन्न किस तरह मान सकता है ? जब ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई पदार्थही नहीं रहा तो वह अपने आपको उससे भिन्न दूसरा किस तरह मान सकता है ? जिसको सबही ब्रह्मरूप दीखने लगा उसे अपना कल्याण स्पष्ट कैसे दीखेगा ?

> यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
> (वा० य० ४० । ७ ; ईश उ० ७)

' जिस अवस्थामें सब भूत आत्माही हो गये उस एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानीको शोक और मोह कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् वह शोकमोहरहित हो जाता है ।

ग्यारहवें अध्यायमें जो विश्वरूपका वर्णन किया है उससे भी यही ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है । कोई उससे पृथक् नहीं है और सबही ब्रह्मरूपमें संमिलित हुए हैं यह बात पूर्व अध्यायोंके प्रमाणही यहां भी कही है । यहां क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ किंवा प्रकृति पुरुषका भिन्नरूपमें वर्णन होनेपर भी उनका एकरूपतामें किस तरह समावेश है यह यहां दर्शाया है । प्रथम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और पुरुषका अलगअलग वर्णन किया जाता है, और यह जो इसीका अनुभव देती । परन्तु जैसे जलमें रस आदियें मिलकर वैसेही जल

(१३) आत्माकी निर्लेपता

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३२
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३

अन्वयः— हे कौन्तेय ! अयं परमात्मा अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, अव्ययः (अस्ति अतः सः) शरीरस्थः (सन्) अपि न करोति, न (च) लिप्यते ॥ ३१ ॥ यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते ॥ ३२ ॥ हे भारत ! यथा एकः रविः इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीके पुत्र ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविनाशी है अतः यह शरीरमें होता हुआ भी कुछ नहीं करता और किसीसे लिप्त भी नहीं होता ॥ ३१ ॥ जैसा सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण किसी तरह कलंकित नहीं होता वैसेही सब देहोंमें रहनेवाली आत्मा भी किसी प्रकार कलंकित नहीं होती है ॥ ३२ ॥ हे भारतीय ! जैसे सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश देता है, वैसेही क्षेत्री सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— परमात्मा अनादि अविनाशी और निर्गुण है। वह सब शरीरोंमें है तथापि स्वयं कुछ भी नहीं करता अतः किसीके कारण कलंकित भी नहीं होता। जैसे आकाश अतिसूक्ष्म और सब वस्तुओंमें व्याप्त होनेपर किसी कारण मलिन नहीं होता, वैसेही सब देहोंमें आत्मा है तथापि वह मलिन नहीं होती। जैसे सूर्य सब जगत्की वस्तुओंको प्रकाशित करता है वैसेही यह पुरुष सब प्राकृतिक विश्वको प्रकाशित करता है परन्तु वह किसीके संसर्गसे मलिन नहीं होता ॥ ३१-३३ ॥

भेद केवल व्यवहारकाही भेद है। जैसे जलके साथ रसकी एकरूपता है जलसे भिन्न पृथक् नहीं है, वैसेही क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञ, प्रकृतिसे पुरुषकी अभिन्नता है। ऐसा अभेद माननेसेही ईशोपनिषद्में (अथवा वा यजुर्वेद अ० ४० में) कही सब सूत्रोंकी एकरसमयता सिद्ध हो सकती है। एकही ब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उसीमें सबकी स्थिति होती है यह देखनेपर देखनेवाला स्वयं ब्रह्मही बनता है। अपनेमें ब्रह्म भाव अनुभव करनेका यही साधन है। ब्रह्म स्वयं निर्लेप है, यह निर्लेपता स्वयंसिद्ध है, अब इसीकी विवेचना करते हैं—

(३१-३३) यह परमात्मा अनादि है यह किसी समय उत्पन्न हुआ और उससे पहिले नहीं था ऐसी बात नहीं है यह सदासे है। यह अव्यय है, अर्थात् यह अनंत है इस का नाश नहीं होता। इसका आदि नहीं और अन्त भी नहीं है। अतः यह सदासे एकरस है। अव्यय शब्दसे यह अर्थ है कि इसका व्यय नहीं होता इसमेंसे कुछ भाग व्यय नहीं होता इसमें कुछ न्यून नहीं होता है कम नहीं होता इसमें क्षीणता नहीं होती। इस तरह यह परमात्मा सदासे एक जैसा रहता है।

इसमें सत्त्व-रज-तम ये गुण नहीं है। इसमें ये गुण नहीं हैं, अतः इसको निर्गुण कहते हैं। निर्गुणका अर्थ इसमें कोई भी गुण नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि कोई गुण न होना यह भी एक गुणही है। इसलिये निर्गुण शब्दका आशय है कि सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंमेंसे एक भी गुण इसमें नहीं है।

इस परमात्माका आदि नहीं, इसकी उत्पत्ति नहीं इसका व्यय नहीं-इसका नाश नहीं इसमें क्षीणता नहीं होती अतः यह सदा एक जैसा अखण्ड एकरस है। इसी तरह इसमें प्राकृतिक सत्त्व-रज-तमात्मक गुण नहीं हैं। इसमें कुछ उत्तम (सत्त्व) कुछ मध्यम (रज), कुछ कनिष्ठ (तम) भाग है ऐसा भी नहीं अर्थात् यह सब अखण्ड एकरस सदा सम है।

यह जैसा शरीरमें है वैसाही बाहर भी है यह सर्वत्र व्यापक है सर्वत्र ओतप्रोत है। कोई वस्तु इसके बिना नहीं है।

यह परमात्मा भूतमात्रके शरीरमें है इस कारण उस शरीरके दोषोंसे यह दोषयुक्त नहीं होता। शरीरमें रहनेपर भी यह न रहनेके समान अलिप्त और अकर्ता है। शरीरसे

सब कार्य होते हैं परन्तु उन कार्योंका कर्तृत्वसंबन्ध इस आत्माके साथ नहीं है अतः वह निर्लेप है।

यही बात समझानेके लिये (श्लोक ३२ और ३३ में) उदाहरण देते हैं। जैसे आकाश सबसे सूक्ष्म है और सर्वव्यापक भी है वैसेही परमात्मा सबसे सूक्ष्म है और सब विश्वमें व्यापक है। ये दोनोंके समान धर्म हैं। आकाश भी घडेमें रहनेके कारण 'घटाकाश' घरमें रहनेवाला आकाश 'मठाकाश' कहा जाता है। किसी घडेमें दूध रखा किसीमें मद्य रखा और किसीमें मिट्टी रखी तो इस कारण उसमें रहनेवाला आकाश बुरा-भला नहीं हो जाता। आकाश एक वैसाही निर्लेप और अखण्ड रहता है। घडेकी उत्पत्ति, स्थिति अथवा नाश हो जाय उसमें कुछ रखा जाय या न रखा जाय किन्तु आकाशकी निर्लेपताके साथ कोई सम्बन्ध नहीं आता। घडेमें दूध रखनेपर वह संतुष्ट और गोबर रखनेसे वह असंतुष्ट नहीं होता। घडेके बनने बिगडनेपर आकाशकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। इसी तरह एकही परमात्मा चींटीके देहमें मनुष्यके देहमें और हाथीके देहमें रहता है। ये देह बनने बिगडनेसे आत्माकी एकरूपतामें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। इन देहोंसे जो चाहे बलवान अच्छे कर्म हों या बुरे हों आत्मा बिलकुल अकर्ता और निर्लेप रहता है। देह बाल्यावस्थामें हो तो वह आत्मा बालक नहीं हो जाता और देहकी तारुण्य-वार्धक्य अवस्थाओंसे भी उसकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। देहोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें वह एक वैसाही रहता है।

दूसरा उदाहरण और भी अधिक मननपूर्वक देखने-योग्य है। सूर्यसेही पृथिवी आदि ग्रह बने हैं पृथ्वीसे चन्द्र बना है अर्थात् सूर्यकेही ये छोटे छोटे टुकडे हैं। पृथ्वी बननेके पश्चात् उसपरके पर्वत नदियां समुद्र वृक्ष वनस्पतियां पशुपक्षी और मनुष्य आदि सब बने हैं। अर्थात् परंपरासे इन सबकी उत्पत्ति सूर्यसेही हुई है। तथापि इस समय जो तेज सूर्यमें है वैसा किसी अन्यमें नहीं है।

यही सूर्य सब वस्तुमात्रको प्रकाशित करता है। सूर्य तो सूर्यही है परन्तु अन्य पृथिव्यादि पदार्थ भी सूर्यकेही अंश हैं अतः कोई यह भी कह सकता है कि सूर्यही अपने आपको प्रकाशित कर रहा है तो यह कथन भी सत्यही है। क्योंकि सब लोकलोकान्तर सूर्यकेही अंश हैं, पूर्ण सूर्य अंशरूप सूर्यको प्रकाशित करता है।

इस लोकमें- इस भूलोकमें कुछ पदार्थ अच्छे, उत्तम ग्रहणयोग्य हैं कुछ मध्यम हैं और कुछ निकृष्ट हैं। यह उत्तमता मध्यमता और निकृष्टता हमने अपनी अपेक्षासे निश्चित की है। सूर्यके अंश होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिसे उनमें न कोई उत्तम है न मध्यम और न कोई अधम है। क्योंकि मूलतः ये सूर्यकेही अंश हैं।

जब सूर्यकी किरण कहीं और कुछ किरण उत्तम पदार्थों पर गिरीं कुछ मध्यम पदार्थोंपर गिरीं और कुछ निकृष्ट पदार्थोंपर गिरीं तो भी मूलतः यह उत्तमता-मध्यमता-कनिष्ठता किसी पदार्थमें न होनेके कारण और यह हमारी कल्पित होनेके कारण तथा सूर्यकी दृष्टिसे ये सभी पदार्थ सूर्यके अपने निज अंशही होनेके कारण सूर्यकी किरणें किसी पदार्थपर गिरनेसे सूर्यको आनन्द होगा और किसी पदार्थपर गिरनेके कारण सूर्यको दुःख होगा ऐसी बात नहीं रह जाती क्योंकि वह तो अपने आपसही स्वयं प्रकाश कर रहा है। उसमें हीनता और उच्चताकी कल्पनातक नहीं है।

अतः कहा है कि सूर्य जैसे सब विश्वको प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री-आत्मा- क्षेत्रका स्वामी- सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है। वस्तुतः आत्माही क्षेत्र है परन्तु व्यवहारकी सुगमताके लिये हमने उसमें यह कल्पना की है। इसी तरह प्रकृति-अर्थात् प्राकृतिक शक्तिसे— यह पुरुष प्रकाशित करता है परन्तु प्रकृति तो पुरुषकी शक्तिही है। क्या शक्ति कभी शक्तिवालेसे पृथक् हो सकती है? पुरुषकी शक्तिही प्रकृति है।

जैसे बलवानोंका बल बुद्धिमानोंकी बुद्धि होती है वैसेही पुरुषकी यह प्रकृति है। अतः पुरुष सर्वत्र है तथा उसकी प्रकृति-उसकी शक्ति उसीके साथ सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृतिसे यह कुछ सृष्टि बन रही है इसका कारण यही है कि उसीकी शक्तिसे सब कुछ सृष्टि बनी हुई है। अतः इनके सबको प्रकाशित करनेसे इसका न कुछ बनता है और न बिगडता है। जैसे इतनी सृष्टि बननेसे सूर्यका कुछ भी बिगडा नहीं है वैसेही यहां भी कल्पना कर लेनी चाहिये।

(१४) परम-पद-प्राप्ति

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अन्वयः— ये एवं ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (भेदं) भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः ते परं यान्ति ॥ ३४ ॥

इस तरह अपने ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको और प्रकृतिबंधनसे प्राणियोंके मुक्ति होनके उपायको जो जानते हैं वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ— अपनी ज्ञान-चक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रके जाननेवालेके भेदको जानना चाहिये और प्राकृतिक बंधनसे प्राणियोंकी मुक्ति कैसे होती है इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । जो इसको जानते हैं वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे विभिन्न हुए,
योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

इस रीतिसे विचार करके आत्माकी निर्लेपता जाननी चाहिये और अपनी आत्मा भी निर्लेपही है यह जानकर अपने आपको भी निष्कलंक अनुभव करना चाहिये और कमलमें कमल-पत्रके समान इस संसारमें निष्कलंक होकर रहना चाहिये । इसके पश्चात् परम पदकी प्राप्तिके विषयका वर्णन है—

(३४) ज्ञानचक्षुके द्वारा, दिव्य दृष्टिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीचमें जो अन्तर है, जो भेद है उसको यथावत् जानकर और भूतमात्रकी जो प्रकृति है, जो उसका भिन्न स्वभाव है उससे मुक्त होनेकी युक्ति भी जानकर जो मुक्त होनेका यत्न करते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं ।

ज्ञान-चक्षु

पहिले ज्ञान-चक्षु प्राप्त करने चाहिये । इसी अध्यायमें श्लोक ७से ११ तक ज्ञानकी परिभाषा की गई है । यह ज्ञान ही एक प्रकारकी सूक्ष्म दृष्टि देता है । उस सूक्ष्म और दिव्य दृष्टिको प्राप्त करना चाहिये ।

“ इस ज्ञानदृष्टिसे गर्व दम्भ और हिंसा दूर हो जाते हैं।
शांति और सरलता आती है ।
पवित्रता स्थिरता और संयमकी सिद्धि हो जाती है।
गुरुकी कृपा प्राप्त होती है।
भोगोंके विषयमें विरक्ति होती है।
अहंकार दूर हो जाता है ।
जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखोंमें दोष दीखने लगते हैं।
भोगोंमें आसक्ति नहीं रहती।
पुत्रस्त्रीगृह इत्यादिके विषयमें असक्तवृत्ति स्थिर हो जाती है
इष्ट-अनिष्ट सभीमें चित्त सम रहता है ।
ईश्वरमें अव्यभिचारिणी अनन्यभक्ति होती है ।
एकान्तस्थान पसंद होता है, जनसंमर्दमें जानेकी अरुचि होती है ।
एकान्तमें रहकर अध्यात्म-विचार करनेसे आनन्द प्राप्त होने लगता है ।
तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले परम पदका दर्शन होता है। ”

ये ज्ञानके लक्षण हैं । इस ज्ञानसे एक प्रकारकी निश्चयात्मक और दिव्य दृष्टि मिलती है । इस ज्ञानदृष्टिको प्राप्त करना साधकका पहिला काम है ।

ज्ञानके इन चक्षुओंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ प्रकृति और पुरुष-का जो अन्तर है वह जानना चाहिये । इसमें पूर्वोक्त प्रकार कल्पनागत भेद है वस्तुगत भेद नहीं । इसका यथावत् ज्ञान मननसे प्राप्त होता है । खांड और मिठासमें कल्पनागत भेद है जल और रसमें भी कल्पनागत भेद है अग्नि और उष्णतामें भी वैसाही भेद है । आत्मा और प्रकृतिमें भी प्रकृति आत्माकी शक्तिही होनेके कारण वैसाही कल्पनागत अन्तर है वस्तुगत भेद नहीं है। तथापि इस भेदको देखनेसे व्यवहारका साधन अच्छा होता है इस कारण क्षेत्र क्षेत्रज्ञके भेदज्ञानसे उत्तम अनुष्ठान साधन करके, भूत-प्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे साधकको परम पद प्राप्त हो सकता है ।

यह शरीर मेरा क्षेत्र है इसमें शुभाशुभ कर्मफलोंका बीजारोपण किया जाता है इस क्षेत्रका यथायोग्य उपयोग करनेसे यहां अशुभ फलकी उत्पत्तिही नहीं होगी यह बात जानकर जो अनुष्ठान करेगा उसके लिये यह क्षेत्र तारक बन जायगा। यह ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योग्य विचारसे प्राप्त होता है। ज्ञानदृष्टिसे यह ज्ञान प्राप्त करना और तदनुसार अनुष्ठान करते हुए आगे बढना यह साधकोंके योग्य है। साधन करनेके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी कल्पना अत्यन्त उत्तम है।

इसी साधनसे भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्ष हो सकता है। भूतप्रकृतिका अर्थ पंचमहाभूत और पञ्च सूक्ष्म भूतोंका स्वभाव है। यही स्वभाव मनुष्यको भोगोंकी ओर खींचता है। इन भूतोंके शब्द स्पर्श, रूप रस, और गंध ये जो स्वभाव हैं, येही भोग बनकर जीवको अपने पाश बांध देते हैं। इन भूतप्रकृतियोंसे अर्थात् पंचमहाभूतोंके सूक्ष्म भोगोंसे मुक्त होनेका साधन जो जानते हैं वेही उच्च ज्ञानद्वारा परम गतिको प्राप्त होते हैं।

किस तरह इनसे मुक्ति होगी? ज्ञान-दृष्टिसेही मुक्ति हो सकती है। यह जानकर अनासक्तिसे सब व्यवहार करके साधक परम श्रेष्ठ गति अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

तेरहवें अध्यायका मनन

इस तेरहवें अध्यायमें प्रारंभसे अन्ततक श्री भगवान्का ही उपदेश अखण्ड धारा-प्रवाहसे चल रहा है। अतः उपदेशकी एकरसताकी दृष्टिसे इस अध्यायका विशेष महत्त्व है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

इस अध्यायमें "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ"का विचार और साधकको अपनी उन्नतिके लिये आवश्यक साधनाका उपदेश है। पहिलेही श्लोकमें कहा है कि (इदं शरीरं क्षेत्रम्) यह शरीर क्षेत्र है और (एतद् यः वेत्ति स क्षेत्रज्ञः।) इस क्षेत्रको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रका स्वामी इन्हींका इस अध्यायमें विचार है। इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विचारको यथावत् जाननेके लिये सबसे पहिले इनका अर्थ समझ लेना चाहिये। इस समयतक इस भावको प्रकट करनेवाले जो शब्द आगये हैं वे ये हैं—

१ सगुण	निर्गुण (गी १३।३१)
२ तम	ज्योतिः (गी १३।१०)
३ जड	चेतन
४ क्षर	अक्षर (गी ८।३-४)
५ स्थूल	सूक्ष्म (गी १३।१५)
६ व्यक्त	अव्यक्त (गी १२।१)
७ प्रकृति	पुरुष (१३।१९-२१)
८ भूत	आत्मा (गी० ६।२९)
अधिभूत	पुरुष (गी ८।४)
सर्वभूत	अहं (गी ९।५ ३१)
भूतपृथग्भाव	एकत्व (गी १३।३०)
९ देह	देही (गी २।२२)
देह	अधियज्ञ (गी ८।४)
१० क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ (गी १३।१-२)
,	क्षेत्री (गी १३।३३)

इस ढंगसे अनेक शब्दोंद्वारा गीतामें प्रकृतिपुरुषवाची भाव व्यक्त किया गया है। यद्यपि इन शब्दोंमें कुछ एकही भाव व्यक्त होता है तथापि प्रत्येक शब्दमें कुछ न कुछ भेद अवश्य है। इस भेदको देखना बडा अत्यन्त आवश्यक है। अतः हम पहिले प्राकृतिक क्षेत्रका विचार करते हैं—

प्राकृतिक क्षेत्र

प्राकृतिक क्षेत्रमें 'प्रकृति मूल देह क्षेत्र' ये शब्द मुख्य हैं और 'सगुण तमः जड चर, स्थूल, व्यक्त,' ये शब्द गौण हैं। इनका अर्थ यह है—

१ सगुण– सत्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे युक्त
२ तमः– अज्ञान अन्धकार ज्ञानग्रहणमें असमर्थ
३ जड– चैतन्यरहित, स्थिर,
४ चर– चलनवान्, घूमनेवाला,
५ स्थूल– मोटा बडे आकारवाला,
६ व्यक्त– प्रकट दीखनेवाला।

ये प्राकृतिक वस्तुओंके गुण हैं। अपने शरीरमें ये शब्द सार्थकही होते हैं। प्रत्येक पाठक इनको अपने देहमें घटा कर देखें। अब क्षेत्र चार शब्दोंका अर्थ देखिये—

७ प्रकृति– मूल प्रकृति पुरुषकी सनातन शक्ति, जिससे विशेष कृति होती है।
८ मूल– प्रकृतिसे बना पदार्थ बनी वस्तु।
९ देह– प्राणीका शरीर संचयसे बना।
१० क्षेत्र– खेत जिसमें फल प्राप्त होता है।

ये शब्द विशेष अर्थके सूचक हैं। इनमें भी 'मूल' शब्दका अर्थ बना हुआ और देह शब्दका अर्थ संचयसे निर्माण हुआ है। ये शब्द कोई विशेष महत्वकी सूचना नहीं देते। क्षेत्र ये दो ही शब्द रहे हैं जो विशेष विचार करने योग्य हैं। प्र-कृति शब्दसे विशेष कृति करनेका साधन, जिससे विशेष कर्म हो सकते हैं, यह भाव सूचित होता है और क्षेत्र शब्दसे खेत उसमें जो बीज चाहे बोया जा सकता है खेतका स्वामी जो चाहे वह इसमें लगा सकता है और उसके फल प्राप्त कर सकता है। यह भाव व्यक्त होता है।

प्रकृति और क्षेत्र

इस विवरणसे पाठकोंको पता लग सकता है कि प्रकृति और क्षेत्र ये दो शब्द विशेष महत्वका उपदेश दे रहे हैं। ये दो ही शब्द (गी० १३।१-३। १९-२१) मुख्य रूप यहां इस तेरहवें अध्यायमें प्रयुक्त किये गये हैं। इसका स्पष्ट उद्देश्य यही है कि, साधक अपने देहरूप साधनसे विशेष कृति करे और क्षेत्र बने तथा देहरूप क्षेत्रमें ऐसे बीज बोये कि उससे उत्तम फल तैयार होकर उसे मिले।

इस क्षेत्रमें जो बीज बोया जाय, वैसेही फल इस साधकको मिलेंगे यह निश्चय है। यदि इसको दुःख हो रहा है तो निश्चय जानिये कि इसने बुरा बीज बोया था। आगे सावधान रहे और प्रयत्न करके अच्छा बीज बो दे जिससे इसको अच्छे फल मिलेंगे और आनन्द प्राप्त होगा। सुख दुःखका हेतु कोई दूसरा नहीं है। अपने खेतमें बाजरा उगानेपर आम नहीं मिलेंगे यह ध्यानमें रखना चाहिये।

क्षेत्रका महत्त्व

केवल एक 'क्षेत्र' शब्दसे उन्नति करनेके लिये कितना सीधा मार्ग सामने आ जाता है यह देखिये। साधक समझे कि 'यह मेरा खेत है इसमें जो चाहे बीज मैं डाल सकता हूं और इस क्षेत्रको अधिक उपजाऊ बनाकर बहुत अच्छा फल प्राप्त कर सकता हूं।' प्रत्येक साधकको यही आशा देनेके लिये यहां इस अध्यायमें क्षेत्र (खेत) शब्दका प्रयोग किया गया है।

अपना एक खेत है ऐसी कल्पना करनेसे आगेकी कल्पना आपही आप हो जाती है और अपना कर्तव्य स्पष्ट रूपमें सामने आ जाता है। खेतमें भी उत्तम मध्यम कनिष्ठ प्रकारकी भूमि रहती है वैसेही यहां देहप्रकृतिसे सात्त्विक राजस और तामस तीन प्रकारका क्षेत्र होता है। निकृष्ट खेतको भी उत्तम प्रयत्न और उत्तम खाद आदिद्वारा उत्तम बनाया जा सकता है इसी तरह यहां तामस प्रकृतिको तपस्या यम नियमपालन, योगसाधन उपासना आदिद्वारा सात्त्विक प्रकृतिमें रूपान्तरित किया जा सकता है। जैसे उत्तम खेतसे उत्तम कृषि होती है उसी प्रकार यहां उत्तम जीवनसे उत्तम फल प्राप्त हो सकते हैं। जैसे उत्तम कृषिसे धनधान्य संपन्नता हो सकती है उसी प्रकार यहां भी इस कुरुक्षेत्रमें किये शुभ सजीव-धर्मकर्मसे शुभ फल अवश्य प्राप्त हो सकते हैं।

यहांका क्षेत्र शब्द इतना उत्तम उपदेश दे रहा है और अपनी अपनी उन्नतिका साधन अपने हाथमें है यह बात स्पष्ट कर रहा है। पाठक इसका विचार करें और अपना भविष्य स्वयं अपने हाथसे जैसा चाहते वैसा बनानेका प्रयत्न करें।

पुरुषका सामर्थ्य

क्षेत्रका विचार किया अब पुरुषका विचार करना

चाहिये। यह पुरुष कैसा है ? इसका उत्तर इसके वाचक शब्द दे रहे हैं। यह पुरुष 'निर्गुण' है अर्थात् गुणोंसे मुक्त है गुणोंके-रस्सियोंसे बंधा नहीं है स्वतंत्र है बंधनरहित है। यह पुरुष ज्योतिः स्वरूप है प्रकाशयुक्त है अतः यह अपनी उन्नतिका मार्ग स्वयं देख सकता है और दूसरोंको दिखा भी सकता है। चेतन होनेसे प्रेरणा कर सकता है और स्वामी हो सकता है। अक्षर होनेसे यह अविनाशी है। सूक्ष्म और अव्यक्त है अतः सर्वत्र निष्प्रतिबंध गमन कर सकता है। यह पुरुष है (पुरि+वस = पुरुषः) अतः अपनी पुरीमें बसता है अपने क्षेत्रमें रह सकता है। आत्मा (अतति) होनेसे यह सर्वत्र गमन करके अपने क्षेत्रका यथायोग्य निरीक्षण कर सकता है। अहं (अ-हीन) इसका नाम होनेसे यह हीन नहीं है यह पूर्ण उच्च है। एक होनेसे इसका कोई वैरी नहीं है तथा दूसरा कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है जो इसको हटावे। एक होनेसे यही क्षेत्रका पूर्ण स्वामी है। देही और क्षेत्री ये दो शब्द यह अपने क्षेत्रका पूर्ण स्वामी है यह भाव बताते हैं। अधि-यज्ञ शब्द इसके सर्वपूज्य होनेका कारण बता रहा है और क्षेत्र-ज्ञ शब्द अपने खेतको सब प्रकारसे यह जान सकता है यह भाव व्यक्त कर रहा है।

ये सभी शब्द महत्त्वके हैं और साधकके कर्तव्य बताते हैं। परन्तु इन सबमें क्षेत्र-ज्ञ शब्द सबसे अधिक उच्च भाव व्यक्त कर रहा है। यह अपने खेतको जाननेवाला है। अन्य शब्द अन्यान्य उपदेश दे रहे हैं इसमें सन्देह नहीं प्रत्युत यह शब्द इसकी योग्यता निःसन्देह सिद्ध कर रहा है कि यह स्वयं अपने खेतको उत्तम रीतिसे जानता है इसमें कौनसा बीज कैसे बोना चाहिये किस समय कैसे जल देना चाहिये घास आदि कैसे हटाना चाहिये किस समय धान्य और फल तैयार होता है वह किस समय काट लाना चाहिये और उस प्राप्त फलका उपयोग कैसे करना चाहिये इत्यादि खेती करनेवालोंके सब कर्तव्य इसे उत्तम प्रकारसे ज्ञात हैं। यह आशय क्षेत्रज्ञ शब्दमें है। यदि किसीको अपने खेतका यथावत् पता नहीं है तो उसे यह प्राप्त करना चाहिये। यदि यह प्राप्त करना चाहे तो उसे यह ज्ञान हो सकता है। यह विश्वास इस शब्दने यहां साधकको दिया है। इस कारण इन सब शब्दोंमें 'क्षेत्र+ज्ञ' शब्द अत्यंत महत्त्वका है।

प्रकृति पुरुष' वाचक सब शब्दोंमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' येही दो शब्द निश्चित पुरुषार्थ-सिद्धिके सूचक होनेसे मुख्य हैं। साधक अपनेही प्रयत्नसे सिद्धिको प्राप्त कर सकता है यह स्पष्ट भाव इन शब्दोंसे व्यक्त है। खेतका यह स्वामी है खेत इसके अधिकारमें है यह स्वयं करे बीज बोवे और फल प्राप्त करे।

मैं स्वतंत्र हूं अपना क्षेत्र मेरे पास है, मैं खेती करूंगा तो धान्य प्राप्त होगा नहीं करूंगा तो भूखा रहना पडेगा' यह व्यवहारका सरल तत्त्वज्ञान यहां बताया है। पाठक इसका अधिक विचार करें और अपना कर्तव्य करें।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही सत्य ज्ञान है' (श्लो २) क्योंकि साधककी सिद्धि और असिद्धि इसीपर निर्भर है।

खेतकी परीक्षा

खेत अपने अधीन होनेपर (यत् च यादृक् च) इस क्षेत्रकी मर्यादा कौनसी है खेतकी जाति कौनसी है, भूमि उपजाऊ है या निकृष्ट भूमि है उत्तम भूमि है या पथरीली है (यद्विकारी) इस खेतमें विकार (रोग) कौनसे होते हैं, इसमें हानि कैसे हो सकती है और पुनः सुधार कैसे किया जा सकता है (यतः च यत्) किस कालमें कौनसा कार्य यहां हो सकता है क्या करनेसे शुभ होगा और किस तरह करनेसे अशुभ अथवा अनिष्ट होगा ये सब बातें खेतके स्वामीको जाननी चाहिये। अपने खेतकी इस तरह परीक्षा करना प्रत्येक स्वामीका कर्तव्य है। (श्लो ३)

इस देहरूपी क्षेत्रकी परीक्षा करनेकी कसौटियाँ गीता अध्याय १४ से १८ तक सत्त्व-रज-तम-विवेकसे दी हैं। साधक इन कसौटियोंसे अपनी परीक्षा करे और अपना खेत किस योग्यताका है इसका निश्चय करे और इस आत्मपरीक्षासे यदि हीन योग्यताका क्षेत्र है ऐसा निश्चय हुआ तो साधक हताश न हो परन्तु योग्य उपायादि साधनसे अपने खेतको अधिक उपजाऊ बनावें। प्रयत्न करनेपर निकृष्ट खेतको भी उत्तमसे उत्तम बनाया जा सकता है अथवा उस भूमिके योग्य बीज बोकर अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अतः साधकको अपने

क्षेत्रकी परीक्षा करनी चाहिये।

अनेक ऋषि-मुनियोंने इस क्षेत्रका बहुतही वर्णन किया है। विविध ऋषि अनेक ग्रन्थोंमें कुशल थे। इसी तरह ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थोंसे चिकित्सा करनेवाले अनेक मुनि हो गये हैं। उन्होंने अनेक हेतु दर्शाकर इस क्षेत्रकी महत्ता विविध प्रकारसे वर्णन की है। इस तरह प्राचीन ज्ञानी इस क्षेत्रका वर्णन करते रहे हैं उसको देखनेसे भी इस क्षेत्रकी योग्यता सहजमेंही ज्ञात हो सकती है। (श्लो० ४)

क्षेत्रका स्वरूप

यहांतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विचार किया और उससे जो बोध मिलता है उसको देखा। अब क्षेत्रमें किसका समावेश होता है उसका विचार करना है। इसका विचार इस अध्यायके श्लोक ४ और ५ में किया है। यहां जो क्षेत्रका स्वरूप बताया है, वह यह है—

१ पंचमहाभूत— पृथ्वी आप तेज वायु, आकाश ये पांच महाभूत पांच तत्त्व (५)

२ अहंकार— ' अहं ' (मैं) ऐसा जो कहना है, यह वैयक्तिक सत्ता स्थिर रखता है। इससे एक वस्तुकी दूसरी वस्तुसे पृथक् सत्ता स्थापित हो रही है। (१)

३ बुद्धि— ज्ञानग्रहणशक्ति ज्ञानशक्ति (१)

४ अव्यक्त प्रकृति मूल प्रकृति (१)

५ ग्यारह इंद्रियगण— पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेंद्रिय। नाक जिह्वा नेत्र त्वचा और कान ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं और हाथ पांव मुख उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। मन ग्यारहवीं इंद्रिय है। (११)

६ पांच विषय— शब्द स्पर्श रूप, रस और गंध ये पांच भोगविषय हैं। पांच ज्ञानेंद्रियोंसे इन पांच विषयोंका ग्रहण होता है।

कान से शब्दका ग्रहण होता है।
त्वचा ,, स्पर्शका ,,
नेत्र रूपका
जिह्वा ,, रसका ,, ,,
नाक गंधका ,

यही भोग हैं और इनके भोगसेही मनुष्य भोगी होकर बद्ध होता है। (५)

७ इच्छा— वासना, आकांक्षा, भोग प्राप्त करनेकी मनीषा (१)

८ द्वेष— अरुचि, दूर करनेकी मनीषा (१)

९ सुख— (सु+ख) जिससे इंद्रियोंको समाधान मिलता है। (१)

१० दुःख— (दुः+ख) जिससे इंद्रियोंको समाधान नहीं होता (१)

११ संघात— समूह बनाकर रहनेकी चाह जैसे शरीर और इंद्रियोंका संयोग एक संघात है। (१)

१२ चेतना— चैतन्य, हलचल प्रयत्न, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न (१)

१३ धृति— धारणाशक्ति, सबको आधार देकर संभालनेकी सामर्थ्य (१)

यह ३१ प्रकारका विकारयुक्त होनेवाला क्षेत्र है। इसमें विकार इस प्रकार होते हैं। विकारका अर्थ बिगाड है। इन क्षेत्रविभागोंमें जो विकार होते हैं वे इस तरह होते हैं—

क्षेत्रके विकार

पंच-महाभूतोंमें पार्थिव भाग और जल भाग एक दूसरेके साथ मिलनेसे अथवा जल-वायुके संयोगसे सडन शुरू होती है, सूर्यकिरणोंसे पृथ्वीपर शुष्कता होती है, वायु भी सबको सुखा देता है। इस तरह इनमें अनेक प्रकारके विकार हो जाते हैं। वृक्षवनस्पति तथा पशुपक्षियों के शरीर बनते हैं बढते हैं और बिगडते भी हैं। ये भी पांच-भौतिक विकारही हैं। एक दूसरेके साथ मिलनेसे अनंत विकार होते हैं, इन विकारोंका शास्त्रही रसायनशास्त्र है।

बुद्धिमें विकार होते हैं। कुछ लोग दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं। बुद्धिकी दुष्टता एक बडा भारी विकार है। (बुद्धिर्ज्ञानेन *शुध्यति । मनु) बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है। अर्थात् इसके* विकार ज्ञानसे दूर होते हैं।

अव्यक्त-मूल प्रकृति महत्तत्व-अहंकार इनमें विकार होकर सब सृष्टि होती है, सृष्टिमें भी अनंत विकार हो रहे हैं। यह बात यहां दुहरा कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ग्यारह इंद्रियोंमें विविध विकार रोग आघात आदि होते हैं, यह बात मनुष्यके अनुभवकी है। इन रोगोंके निवारणके लिये आयुर्वेदकी रचना हो गयी है। इससे इनमें विकार होनेकी बात सिद्ध होती है।

शब्द-स्पर्शमें विविध विकार होनेका भी अनुभव मनुष्यको है। विकृत शब्द विकृत गंध विकृत रूप मनुष्यके सामने आते हैं। इसी प्रकार इच्छा-द्वेषादिमें भी अनंत विकार हैं, यह बात थोडासा विचार करनेसे प्रत्येक पाठक जान सकते हैं।

अतः यह सब क्षेत्र स-विकार अर्थात् विकार होनेवाला विकृत बननेवाला बिगडनेवाला परिवर्तन होनेवाला है, ऐसा यहां कहा है। साधक इस अपने क्षेत्रको विकारवान् जानें और उसमें विकार कम होनेयोग्य अपनी खेतीका कार्य करें।

खेतमें धान्यके साथ घास उगता है अतिवृष्टि अनावृष्टिसे हानि होती है अनेक धान्यके रोग होकर बिगाड होता है इस तरह खेती करनेवालोंको अनेक विकारोंका अनुभव है। उसी प्रकार इस अध्यात्म-क्षेत्रमें भी अनेक विकार होते हैं और यहांकी अध्यात्मकी कृषिका बिगाड होता है यह साधकको जानना और यह बिगाड अपने क्षेत्रमें न होनेके लिये सावधान रहना चाहिये।

मेरे इस अध्यात्म-क्षेत्रके पंचमहाभूत उनकी तन्मात्रा ग्यारह इंद्रिय इंद्रियोंके भोगविषय ये विकाररहित हों। मेरा मन मेरी इच्छा और मेरे प्रयत्न दोषरहित हों मैं यहां ऐसा आचरण करूं कि, मेरे आचरणसे यहां किसी प्रकार भी बिगाड उत्पन्न न हो। मैं सावधान रहकर यहांकी आध्यात्मिक खेती करूं और मोक्षरूप फल यहांसेही प्राप्त करूं।" इस प्रकारकी आकांक्षा साधक मनमें धारण करे। जो साधक इस तरह सावध रहेगा उसके क्षेत्रमें विकार नहीं होंगे। विकार न होनेसे उसका खेत उत्तम रीतिसे फूलेगा और फलेगा। ऐसी उत्तम खेती करना इसीके अधीन है।

इतने विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें बात आगई होगी कि, इस क्षेत्रका इतना विवरण करनेका प्रयोजन क्या है। जो साधक इस क्षेत्रको यथावत् जानेंगे और अपने आपको क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रके स्वामी तथा क्षेत्र ज्ञ — इस क्षेत्रका जानकार समझेंगे क्षेत्रका उपयोग करनेकी विद्या जो यथावत् प्राप्त करेंगे उनके लिये यह क्षेत्र सुफल-दायक होगा उनको असीम आनन्द मिलेगा और परम ब्रह्मस्थान प्राप्त होगा।

साधकोंकी सिद्धि उनके पुरुषार्थपर अवलंबित है, वे साधक पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतंत्र हैं, यह बात यहां सिद्ध हो गई है। और यही बात बतानेके लिये उनका शरीर क्षेत्र है और साधक स्वयं उस क्षेत्रके स्वामी हैं यह उपदेश यहां किया गया है।

ज्ञानका परिणाम

साधक और उसका कार्यक्षेत्र इनका इतना विचार करनेके पश्चात् अब साधकको जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये वह कहते हैं। यह ज्ञान साधकको प्राप्त होनेसे इस ज्ञानसे साधकको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसका निश्चय हो सकता है। अतः यहां इसका विशेष विचार करना चाहिये।

यहां श्लोक ७ से ११ तक जो कहा है उसको (एतत् ज्ञानं) 'ज्ञान' कहा है परन्तु विचार करनेसे पता लगेगा कि इस ज्ञानसे साधकके मनमें यहां कहे भाव स्थिर होते हैं और इस ज्ञान न होनेसे इसके विपरीत भाव होते हैं।

सब कुछ वासुदेव है (गी ७।१९)। अपरा प्रकृति ईश्वरकी प्रकृति है जिससे सब कुछ बन गया है। (गी ७।४-६) जिसका सब रूप ईश्वरमयही है और उस विश्वरूपमें मेरा रूप संमिलित है, इसलिये मैं उससे अभिन्न हूं मैं उससे अनन्य हूं। (गी ८ ११) इसका नाम ज्ञान है। इस ज्ञानका उपदेश द्वितीय अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक किया है। इस ज्ञानकी मनमें स्थिरता होनेसे जिसका मन अनन्य भावसे परिशुद्ध हुआ है उसके मनमें 'अमानित्व' आदि भाव स्थिर होते हैं। इस ज्ञानी पुरुषका अनन्यभावयुक्त मन इन निम्नलिखित भावोंसे युक्त होता है—

१ अहिंसा

ज्ञानी पुरुष अहिंसा-वृत्तिवाला होता है। वह समझता है कि यह विश्व अखण्ड एकरस है उसमें मैं शामिल हूं, मैं उससे अनन्य हूं, अतः इसमेंसे किसीकी हिंसा की, तो वह मेरीही हिंसा होगी। हिंसाभावसे समाज स्थिर नहीं रह सकता। सब प्राणियोंको अभय होना चाहिये। जिस समाजमें निर्भयता रहती है वही समाज कुछ उन्नति कर सकता है। यही विचार करके ज्ञानी पुरुष (मत्तः सर्वेभ्यः अभयं) 'मुझसे सबको मैंने अभय कर दिया है'

ऐसा करकर पूर्ण अहिंसाशील होता है ।

परन्तु जो अज्ञानी है वह कहता है कि मैंही भोक्ता हूं, दूसरोंका घातपात करके मैं भोग भोगूंगा। दूसरोंका नाश करूंगा दूसरोंको लूटूंगा और मैं अपने भोग बढाऊंगा। इस तरह अज्ञानसे हिंसा करनेकी वृत्ति बढनेसे विश्वमें अशांति बढती है। जिसमें खुद ऐसे हिंसक पुरुष घातपात करते हैं और किसीको भी जीवितकी सुरक्षितता नहीं रहती। अज्ञानसे ऐसे अनर्थ होने लगते हैं।

इसलिये सत्य ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये और अहिंसाशील मनोवृत्ति बनानी चाहिये ।

२ अमानित्व

मानी न होना अपना बडप्पन दिखलानेकी जिसे इच्छा नहीं होती लोगोंमें अपना महत्व स्थापित हो जाय ऐसी महत्वाकांक्षा जिसे नहीं होती, लोग मेराही सत्कार करें, और किसीका न करें ऐसी जिसमें इच्छा नहीं होती उसको 'अमानी' कहते हैं। अपने अन्दर विद्या ज्ञान चातुर्य आदि श्रेष्ठ गुण रहनेपर भी तथा अपनी योग्यता विशेष रहनेपर भी जो अपना दिखावा बढानेका यत्न नहीं करता उसमें अमानित्व गुण है, ऐसा कह सकते हैं। जो ज्ञानी होते हैं वे अमानी होते हैं।

परन्तु जो अज्ञानी होते हैं, जिनमें सत्य ज्ञान नहीं होता, वे अपना बडप्पन अत्यधिक दिखानेके लिये यत्न करते हैं प्रत्येक स्थानमें आगे आगे बढते हैं अपनेको मुख्य स्थान मिले इसके लिये प्रयत्नकी पराकाष्ठा करते हैं और अपनी योग्यता न होनेपर भी बडे स्थानपर जाकर बैठनेका यत्न करते हैं। इससे यह कार्य बिगडता है और इनकी भी अप्रतिष्ठा होती है।

३ अदम्भित्व

दम्भ न होना दम्भ न करना ज्ञानीका लक्षण है। दम्भका अर्थ है मिथ्याचार अपने अन्दर जो धर्मभाव नहीं है, वह है ऐसा जो बताता है उसका नाम दम्भ है। स्वयं योगाभ्यास न करते हुए 'मैं योगी हूं' ऐसा बताना और योगका उपदेश करना दंभ है। स्वयं साक्षात्कारी न होते हुए अपने आपको साक्षात्कारी बताना दम्भ है। अज्ञानीही दम्भ करते हैं। दम्भसे हानि होती है, यह देखकर ज्ञानी कभी दंभ नहीं करते। दम्भसे जनता फसती है मोहित होती है और दुष्टके पीछे पडकर फंस जाती है। दम्भसे ऐसा अनर्थ होता है यह देखकर ज्ञानी सदा दम्भसे दूर रहते हैं और जो अन्दर होता है वही बाहर बताते हैं। दम्भी लोग बाहर बडा आडम्बर रखते हैं और जनताको ठगते हैं। अतः दम्भी अज्ञानी होता है और ज्ञानी कभी दम्भ नहीं करता।

४ आर्जव = सरलता

ज्ञानी सरल-स्वभाव होता है। उसमें कुटिलता नहीं होती। वह जो कहता है वही करता है। सरलता और नम्रता ज्ञानीमें सहज स्वभावसे रहती है। इसके विरुद्ध ज्ञानहीन मनुष्य कुटिल होता है कपट करता है, दूसरोंको फसाता है। कुछ कहता है कुछ और करता है।

जैसा खिले हुए फूलकी सुगंध, स्वभावसेही फैलती है वैसेही ज्ञानीका सरल स्वभाव आपही आप लोगोंके अनुभवमें आता है। वह अपना सरल मत सहज रूपमेंही निःसंकोच प्रकट करता है। उसमें लोभ कपट और दिखावा नहीं होता अत्यंत विनय और नम्रता होती है वह छलरहित भाषण करता है। अन्तःकरणमें कुछ और बाहर कुछ ऐसा भाव जिसमें नहीं होता वह सरल-स्वभाव होता है। ज्ञानकी पूर्णतासेही मनुष्य ऐसा हो सकता है।

परन्तु जिसमें सत्य शुद्ध ज्ञान नहीं है वह कपटी कुटिल लोभी दंभी अभिमानी घमंडी होता है। उसका यह स्वभाव उसके आचरणसेही दीख जाता है। यह सब अज्ञानका प्रभाव है।

५. क्षांति, क्षमा

क्षांति का अर्थ क्षमा है क्षमाका आशय भी सहन करनेका सामर्थ्य है। दूसरोंके किये अपराधोंका प्रतिकार न करना क्षमाका एक आशय है। और धर्मकार्यमें होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका सामर्थ्य भी क्षमाके अर्थोंमेंही आता है। ज्ञान होनेके पश्चात् मनमें अनन्य भाव स्थिर होता है, इस कारण जिसे दूसरा कहा जाय वैसा कोई रहताही नहीं इसलिये जो अपराध दूसरेके द्वारा होते हैं, उनमें भी अपना भाग है, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी अपूर्णताके कारण उसमें अपूर्णता रही अतः उसके

दोष मेरी अपूर्णताके कारण हुए ऐसा उसे अनुभव होने लगता है। ऐसा माननेवाला मनुष्य दूसरेको दण्ड कैसे दे सकता है ? वह दण्ड करेगा तो अपनेकोही करेगा और दूसरोंको तो क्षमाही करेगा। इसलिये ज्ञानी आत्मदमन करता है और दूसरोंके विषयमें शांति धारण करता है।

इसके विपरीत ज्ञानहीन मनुष्य दूसरोंका दोष देखतेही क्रुद्ध हो जाता है चिढता है आक्रोश करता है, दूसरोंको पीडा देता है और इस तरह जगत्में अशान्ति उत्पन्न करता है। वह स्वयं अशांत होकर दूसरोंको भी अशान्त करता है। सहनशीलता तो इसमें रहतीही नहीं। अशान्ति और परपीडन ये भाव अज्ञानके कारण बढते हैं और जगत्में अशान्तिको बढाते हैं।

६ आचार्योपासना

ज्ञानी साधक सद्गुरुकी सेवा करता है सद्गुरुसे ज्ञान प्राप्त होता है इसलिये वह उसकी भक्ति करता है सेवा करता है और इससे उसको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे भक्ति बढती है और भक्तिसे ज्ञान बढता है। इस तरह एक दूसरेकी वृद्धि होकर वह साधक पूर्ण ज्ञानी होता है।

यहां आचार्यकी उपासना कही है। आचार्य उसका नाम है कि जो (आचारं ग्राहयति आचिनोति अर्थात्। शिक्षा) सदाचारका ग्रहण कराता है, सब अर्थों का संग्रह करके शिष्यको देता है। यह सदाचार है यह दुराचार है सदाचारसे ग्रहणसे ये लाभ हैं, दुराचारसे ये हानियां हैं ऐसा समझाकर जो अपने शिष्योंको सदाचारी बनाता है उस आचार्यकी योग्यता बहुत बडी है। गुरु और अध्यापक विद्या पढाते हैं परन्तु आचार्य विद्या पढानेके साथ साथ सदाचारकी शिक्षा भी देता है। ऐसे आचार्यकी सेवा–शुश्रूषा करना अथवा उसकी सत्संगतिमें रहना जो शिष्य करते हैं उनको सब सद्ज्ञान मिलता है और उनके जन्मकी सफलता होती है। इस तरह ज्ञानीका व्यवहार है।

ज्ञानहीन लोग गुरुसे डरते हैं उनसे अपहकार करते हैं उनकी निन्दा करते हैं। गुरुभक्ति उनमें नहीं होती अतः वे सद्ज्ञानसे वंचित रह जाते हैं।

७ शौच–पवित्रता

इस पवित्रताका संबंध केवल शारीरिक स्वच्छताके साथही नहीं है। बुद्धि, मन इंद्रियां शरीर घर ग्राम आदि सबकी स्वच्छता और निर्मलता यहां अभीष्ट है। वाणीकी पवित्रता विचारोंकी शुद्धता भावनाओंकी निर्मलता व्यवहारकी पवित्रता आचारकी निष्कलंकता, रहनसहनकी स्वच्छता व्यापारधंदोंकी शुद्धता इन सबका इसमें समावेश होता है। जिस समय मानवी आचार–व्यवहारमें यह पवित्रता पूर्ण रूपसे सिद्ध होगी उस समय मनुष्यसमाज उच्च स्थितिमें अथवा आदर्श अवस्थामें होगा। यही आदर्श समाज–स्थिति आधिभौतिक व्यवहारमें लानेके लिये प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानसेही यह समाज–स्थिति सिद्ध हो सकती है।

जिस समाजमें सम्यक् ज्ञान नहीं है, उस समाजके लोगोंमें अपवित्र विचार होते हैं, उनकी भाषा अमंगल होती है, व्यवहार अशुद्ध होते हैं भावनाएं मलिन होती हैं, आचारविचार कलंकित होते हैं, रहनसहन अपवित्र होता है, व्यापारधंदोंमें कुटिलता और दूसरोंको लगनेकी अपवित्र बुद्धि होती है। ऐसे समाजमें किसीको भी सुख प्राप्त होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। दूसरोंको लगाकर कोई एकाध मनुष्य अकस्मात् या क्षणमात्र सुखी हुआ है ऐसा दीखेगा, तथापि अशुचि व्यवहारसे मानवोंको चिरस्थायी सुख प्राप्त होना असंभव है। इसीलिये शुचिताका अन्तर्भाव ज्ञानमें किया गया है।

८ स्थैर्य–स्थिरता

चंचलताका अभाव स्थिरता, एक कार्यमें स्थिर रहना, एक छोडना और दूसरा करना दूसरा छोडकर तीसरा शुरू करना ऐसा न करना परन्तु एकही शुभ कार्य शुरू करना और उसीको अन्ततक पहुंचाना यह ज्ञानसेही हो सकता है। ज्ञान–हीन मनुष्य चंचल असमस्त अस्थिर बुद्धिवाला होता है। अस्थिरतासे हानि और स्थिरतासे लाभ होता है।

कोई मनुष्य कुछ व्यापार करता है। यदि उसका वचन विश्वास रखनेयोग्य स्थिर न रहा तो व्यवहारमें उसपर कोई विश्वास नहीं रखेगा और इसी कारण उसकी व्यवहारमें असफलता रहेगी। जो अपने वचनपर स्थिर रहेगा वही व्यवहारमें सफल होगा।

स्थैर्यका अर्थ है शरीरकी स्थिरता, जो आसनसे प्राप्त होती है। आसनसे मनुष्य अपने स्थानमें स्थिर रहता है,

निर्बलही उससे चंचल हो जाता है शिथिल हो जाता है और अपना कार्य नहीं करता। अपने स्थानमें ठहर भी नहीं सकता। अस्थिरता निर्बलताकी सूचक है और स्थिरता सबलताकी होनेकी सूचक है। इसीलिए यहां कहा है कि ज्ञानसे बल प्राप्त करके अपने स्थानपर स्थिर रहना चाहिये। युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहना चाहिये युधि-ष्ठिर की ही विजय होगी। स्थिरत्वका ज्ञानके साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है क्योंकि ज्ञानसे जीवन-युद्धमें विजय प्राप्त होती है।

९. आत्म-वि-नि-ग्रह

ज्ञानसे आत्म-विनिग्रह किया जा सकता है। आत्म-विनिग्रहका अर्थ अपना विशेष निग्रह अर्थात् संयम। अपना विशेष प्रकारसे संयम करना ज्ञानसेही सिद्ध हो सकता है। आत्मसंयम मनोनिग्रह इंद्रियदमन यह मानवीय उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इस संयमके बिना मनुष्यकी उन्नति असंभव है।

आत्मरहित मनुष्य स्वैराचार करता है अपनी इंद्रियोंको खुला छोडकर दुष्ट व्यसनोंमें फंसाता है इससे न केवल शरीर क्षति होता है प्रत्युत उसके बच्चोंको भी रोगी होना पडता है। व्यभिचारी मनुष्य उपदंशादि रोगोंसे पीडित होता है इससे उसको पीडा तो होतीही है परन्तु उसके वंशिष्ट रोग उसकी सन्तानोंको भी पीडा देते हैं। स्वैराचारका हानिकारक परिणाम इसी लोकमें प्रत्यक्ष दीखता है। भोजनके स्वैराचारसे अजीर्ण होता है इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके स्वैराचारसे-असंयमसे भयानक परिणाम भोगने पडते हैं। अज्ञानी लोग स्वैराचारकोही सुखका साधन मानकर अपना नाश करते हैं और अन्तमें पछताते हैं।

अतः यहां कहा है ज्ञानसे आत्मनिग्रह अर्थात् अपना संयम करना अपने आपको अपने स्वाधीन रखना भटकने न देना, आत्माके वशमें रखना चाहिये। विशेष रीतिसे अपना संयम करनेसेही शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है वो स्वैराचारीको कभी नहीं मिल सकता। आत्मसंयमके बिना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती।

१० इंद्रिय-भोगोंके संबंधमें वैराग्य

प्रत्येक इंद्रियका भोग निश्चित हुआ है, जैसा पेट कम कभी भोग कर सकता है कान शब्दका भोग कर सकता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंके भोग निश्चित हैं। येही भोग इंद्रियोंके अर्थ हैं। जिसको सत्य ज्ञान नहीं है वह समझता है कि अपना जन्म इंद्रिय भोग भोगनेके लियेही है। वह भोग भोगनेके पंथ पडता है भोगोंका विचार करता है और बारंबार विचार करनेसे अपने शरीरकी शक्ति क्षीण करता है। स्त्रीभोगकी कथाएं सुननेसे और बारंबार उनके स्मरण चिंतन करनेसे मनुष्यका वीर्य क्षीण होता है और उसकी आयुही इस मानसिक भोगतृष्णासे क्षीण होती है इसका अनुभव बहुतोंको है। क्या अपनाही नाश करना मनुष्यके लिये योग्य है? कदापि नहीं।

मनुष्यकी भोगशक्ति मर्यादित है। अन्नभोगकेही विषयमें देखिये। मनुष्यने अपने पास कितने भी अन्नका संग्रह किया तो भी वह प्रतिदिन सेर दो सेरही खा सकता है। मान लीजिये ५ सेर खा सकेगा तो भी वह भोग मर्यादितही है। जितना मनमें आ जाय उतना भोग करना उसके लिये असंभव है। इस कारण मनुष्यकी भोगशक्ति मर्यादित है। जैसे यह मनुष्य जितना चाहे उतना अन्नका भोग नहीं कर सकता उसी प्रकार स्त्रीभोग करनेकी शक्ति तो उसकी उससे भी अधिक मर्यादित है। अन्य भोग भी वह असमर्याद प्रमाणमें करनेमें असमर्थ है। कपडे शरीरपर धारण करने हैं परन्तु वह भी वह एक समय एकही कोट पहन सकता है और एकही साफा सिरपर धारण कर सकता है। घरमें हजारों कपडे रखें परन्तु इसकी उपभोगशक्ति मर्यादित होनेसे वह अधिक उपभोग ले नहीं सकता।

परन्तु मनुष्य जब अपने पास अत्यधिक भोग वस्तुओंका संग्रह करता है तब उसके भोगके पदार्थ दूसरोंको मिलते नहीं और उससे मनुष्य आवश्यक भोगोंसे दूर होते हैं। यह अनर्थ अपरिमित भोगतृष्णासे होता है। इसकी कितनी भी अपरिमित भोगतृष्णा हो तो भी वह अपरिमित भोग भोगही नहीं सकता। फिर अपरिमित भोगसाधन अपने पास संगृहीत करके रखनेसे इसे क्या लाभ होगा? तथापि मनुष्य अपनी भोगशक्ति मर्यादित है यह न जानकर अपने पास अत्यधिक भोगवस्तुओंका संग्रह करनेके लिये अतीव परिश्रम करता है। इस कारण अन्य लोग भोगोंसे वंचित रहते हैं और इस कारण इस जगतमें सदा अशान्ति रहती

है, एक दूसरेसे द्वेष करता है। परस्पर घातपातका भाव बढ रहा है यही इसका कारण है।

यद्यपि भोगशक्ति मर्यादित है तथापि मनुष्य अधिक भोग भोगनेकी पराकाष्ठा करता है अर्थात् अपनी मर्यादासे अधिक भोग करता है भोजन भी अधिक खाता है परंतु गामी न होता हुआ अधिक स्त्रीसहवास करता है। इस अधिक भोगसे भी यह रोगी होता है और दुःखभोगी बनता है। अतः भोगोंका जितना संयम किया जाय उतना ही लाभदायक है। इसीलिये कहा है कि इंद्रियोंके भोगोंके संबंधमें वैराग्य धारण करना चाहिये। इंद्रियोंको स्वैराचारी और भोगी बनाना हानिकारक है।

ज्ञानहीन लोग भोगोंमें फसते हैं और अपनी आयुष्यही नाश कर लेते हैं। अत इंद्रियोंके अर्थोंके विषयमें विरक्त रहना योग्य है। इंद्रियभोगोंके विषयमें देखनेसे मनुष्य उन भोगोंसे दूर रह सकता है। जैसे मिठाई देखनेसे खानेकी इच्छा प्रबल होती है परन्तु उसमें विष मिला है ऐसा ज्ञान होनेसे वह इच्छा निवृत्त होती है। इसी तरह सब भोगोंके विषयमें दोष-दृष्टि होनेसे वैराग्य मनमें स्थिर रह सकता है।

समाजमें सुख और समाधान सुस्थिर होना चाहिये ऐसी इच्छा होगी तो भोगोंकी प्रबल वासना मर्यादित करनी चाहिये। भोगवासना मर्यादित करनेके लिये भोगोंमें जो दोष हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इससे भोगोंकी वासना मर्यादित होगी मर्यादित प्रमाणमें भोग सबको प्राप्त हो सकेंगे और भोगवासनाही मर्यादित होनेके कारण जितने भोग मिलेंगे उन्हीसे तृप्ति होगी और समाजमें सुख तथा समाधान सदा सुस्थिर रहेगा।

इस तरह भोगोंके विषयमें वैराग्य समाजके स्वास्थ्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। जिस समाजमें भोगोंकी वासना अमर्याद बढाती जाती है, आज यह भोग मुझे मिला कल यह प्राप्त करूंगा ऐसी प्रबल वासना जिस समाजमें बढती जायगी वह समाज अन्दरसे और बाहरसे कलहमें डूब जायगा और सदा अशान्तिमेंही फसता जायगा। इस कारण ज्ञानके द्वारा आत्मसंयमन इंद्रियदमन मनोनिग्रह करके इंद्रियार्थोंके विषयमें वैराग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

११ निरभिमानिता

अहंकारका अर्थ गर्व घमंड अभिमान है। इससे ज्ञानका नाश होता है। अहंकार जहां है वहां ज्ञान नहीं रह सकता। जैसे वायु बहता है सूर्य चमकता है अंतरिक्षमें नदी बह रही है वृक्ष छाया देता है, यह सब स्वभावसे होता है, उसमें इनका कोई अभिमान नहीं होता। वैसेही स्वभावसे निरभिमान होकर शुभ कर्म करना चाहिये। मनुष्यके मनमें विचारमें उच्चारमें और आचारमें सदा निराभिमानी वृत्ति रहनी चाहिये।

अहंकारसे मनुष्य अपने आपको अन्य जिवोंसे पृथक् मानता है। मैं जिवोंसे भिन्न हूं, मैं भोक्ता हूं और अन्य मेरे उपभोग्य हैं, इस विपरीत कल्पनाके कारण मनुष्य अपने आपको जिवोंसे पृथक् समझता है और अनन्य भावसे दूर होता है। *सब सर्वैक्यत्व* मनुष्य अन्य जिवोंसे अलग अपृथक् है उसीका नाम है इस सिद्धान्तपर अवलंबित है। अहंकारसे मनुष्य अपने आपको जिवोंसे पृथक् जिवोंसे भिन्न, जिवोंसे अन्य मानता है इस कारण इसके मनका अनन्यभाव नष्ट होनेसेही इसमें अज्ञानकी वृद्धि होती है और यही इसका सब दुःखोंका कारण है। इससे स्पष्ट होगा कि अहंकार क्यों त्याग करना चाहिये।

जबतक अहंकार मनुष्यके मनमें डेरा डाले है तबतक मनुष्यके मनमें अनन्यभाव उत्पन्नही नहीं होता। ईश्वरसे तथा सब जिवोंसे अनन्य हूं, यह मानही सब ज्ञानोंका मूल है। यही भाव दूर जानेसे अभिमानी और अहंकारी मनुष्य ज्ञानके अधिकारी होही नहीं सकते। इस कारण निरभिमान वृत्ति धारण करनी चाहिये स्वभावही निरभिमानी बना लेना चाहिये।

१२ जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन

जन्मसे लेकर मृत्युतक जरा व्याधि, दुःख और दोष होते हैं उनको दृष्टिसेही देखना और उनके हटानेका उपाय ज्ञानसे करना चाहिये। ज्ञान- सत्य ज्ञान होनेसेही (जरा) इस अवस्था दूर की जा सकती है, तारुण्य संवर्धन योगसाधनसे किया जा सकता है योगसाधनसे शीघ्र जरा नहीं आती और वृद्धपनेमें भी शक्तिक्षय नहीं होता।

योगसाधनके धौति बस्ति नेति आदिसे तथा आसन-प्राणायामके अभ्याससे व्याधि आतीही नहीं और आनी भी

क्षीण हटायी जा सकती है। योगसाधन व्याधिशमनका उत्तम साधन है। इससे तो मृत्युतकको दूर किया जा सकता है फिर जराका दूर होना सहजही होनेवाली बात है।

शारीरिक और मानसिक दुःख कैसे होते हैं विविध प्रकारके कायिक वाचिक और मानसिक दोष किस कारण होते हैं, इसके मूल कारणकी खोज ज्ञानसेही हो सकती है। इसका मूल कारण देखकर उसका नाश करनेसे दुःख और दोषोंका उपशम हो सकता है।

अज्ञानी मनुष्य जरा व्याधि और दुःख आनेके पश्चात् उपाय करनेके लिये दौडता है अतः वह अपने आपको इन दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकता। परन्तु ज्ञानी मनुष्य जरा आनेवाली है व्याधि शरीरमें फैलनी संभव है यह दुःख भविष्यमें होना संभव है यह सब पहिलेही जानकर उसके दूर करनेके लिये जो जो उपाय किये जाने चाहिये वे पहिलेही कर लेता है। इस कारण अन्य लोग दुःखोंसे पीडित होनेपर भी यह ज्ञानी दुःखोंसे दूर रहता है। योगदर्शनमें कहा है—

हेयं दुःखमनागतम्। (योगदर्शन)

जो दुःख आया नहीं है उसका प्रतिबंध आनेसे पूर्वही करना चाहिये।' दुःख आनेपर उसको भोगनाही पडता है। अतः जो ज्ञानी दुःख-दोष होनेके पूर्वही प्रतिबंधक उपाय करते हैं वेही दुःखोंसे अपने आपको बचा सकते हैं।

जन्मसे लेकर मृत्युतक क्या होता है? शरीर क्षीण होता है, व्याधियोंसे पीडित होता है अनेक दुःखोंसे पीडित होता है, अनेक दोषोंसे विविध कष्ट होते हैं। मनुष्य विचार करेगा तो उसे जन्मसे लेकर मृत्युतक बार बारही सब चक्र रहा है ऐसा अनुभव हो जायगा। अज्ञानी मनुष्य जानताही नहीं कि आगामी आपत्तिको किस तरह हटाया जावे अतः वह आपत्ति आनेतक कुछ भी नहीं करता आपत्ति आनेपर दुःखसे पीडित होकर छाती पीटता है दुःखसे विह्वल होता है कष्टोंसे व्याकुल बनता है और सब सह लेता है। परन्तु ज्ञानी पहिलेसेही सोचता है कि अब यह दुःख आनेवाला है, इसके प्रतिबंधके लिये यह उपाय करना चाहिये। वह उपाय करता है और उपाय ठीक होनेपर दुःखसे बच जाता है। ज्ञानसेही यह हो सकता है अतः कहा है कि जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंको पहिलेसे देखना चाहिये और उनकी निवृत्तिका उपाय सोचना चाहिये।

१३ अनासक्ति

आसक्ति न करना, भोगोंपर आसक्त न होना इस जगत्के अन्दर अनासक्तिसे सब व्यवहार करना लंपटता धारण न करना आवश्यक है। भोगासक्तिसेही सब कष्ट होते हैं। अतः कष्टोंसे बचनेके लिये अनासक्तिसेही सब व्यवहार करना चाहिये। सब दुःख दूर करनेके लिये अनासक्तिही एकमात्र उपाय है।

अज्ञानी मनुष्य प्रत्येक कर्म आसक्तिसे करता है, कर्मफलपर आसक्त होता है और दुःख भोगता है। आसक्तिके होनेपर दुःखोंसे बचनेका उपाय नहीं है। अतः यहां कहा है कि आसक्ति छोड देनी चाहिये।

इस आसक्तिके साथ 'इंद्रियार्थेषु वैराग्यं' यह श्लोक ८ का विधान तथा श्लोक ७ का 'आत्मविनिग्रह' ये दोनों उपदेश अवश्य देखने चाहिये, क्योंकि इन दोनोंका अनासक्तिके साथ बडा सम्बन्ध है। वैराग्य और आत्मसंयमके विना अनासक्ति सिद्ध होना अशक्य है।

अनासक्त मनुष्य सुखदुःख, हानिलाभ आदि द्वन्द्व प्राप्त होनेपर समचित्त रहता है क्योंकि वह सुखपर आसक्त नहीं होता, अतः दुःखसे उदास भी नहीं होता। समाजमें भोगी मनुष्य बढ जानेपर भोगोंके कारण कलह भी बढ जाते हैं परन्तु समाजमें अनासक्त-वृत्तिवाले मनुष्य संख्यामें अधिक हो जांय तो उस समाजमें उस प्रमाणसे शांतिकी अधिक वृद्धि होगी। क्योंकि भोगासक्तिही अशांतिकी जड है और वह अनासक्त वृत्तिवाले समाजमें नहीं होती। अतः अनासक्ति समाजहित-वर्धक है।

१४ पुत्र-स्त्री-गृहादिमें असंग

पुत्र स्त्री घर आदिमें आसक्त या प्रेमान्ध न होना चाहिये। क्योंकि प्रायः सब अज्ञानी लोग पुत्र स्त्री और घरकी प्रेमान्धताके कारणही अनेक अपराध करते हैं। स्त्री-पुत्रादिक भरण-पोषण भूषणादिके लिये बुरेभले व्यवहारसे धनादिकी कमाई करते हैं और विविध प्रकारके अपराधी होकर अनेक दुःख भोगते हैं। यह पुत्र मेरा है और यह

दूसरेका है इसलिए उसके प्रति पक्षपात किया जाता है और पक्षपातसे अन्याय होना स्वाभाविक है। यह मनुष्य मेरी जातिका है और यह अन्य जातिका है इस कारण कितना दूषित व्यवहार इस जगत्‌में हो रहा है, यह पाठक देखेंगे तो पता लग जायगा कि स्त्री-पुत्र-गृहादिकी ममत्वभावनाके कारण जगत्‌में कितना अनर्थ हो रहा है। यह सब अज्ञान है।

ज्ञानी मनुष्य इनके विषयमें प्रेमान्ध नहीं होता। वह समझता है कि ये भी परमात्माके विश्वरूपके अंश हैं इनमें कोई भेद नहीं है। ऐसा मानकर सबपर सम दृष्टि रखता है और इस सर्वत्र सम दर्शनसे वह मोहित नहीं होता और इस कारण उससे कोई अपराध, अन्याय अथवा दोष भी नहीं होते। वह निर्दोष होता है और सर्वत्र सम भाव रखनेके कारण विषमाचरणसे होनेवाले दोषोंसे दूर रहता है। ज्ञानसे यह बड़ा लाभ होता है।

१५ इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर नित्य समचित्त होना

मनुष्य इष्ट वस्तु चाहता है और अनिष्टसे दूर रहनेकी इच्छा करता है। इष्टसे प्रेम और अनिष्टका द्वेष करता है। इसलिए इष्टकी प्राप्ति होनेके समय उसके मनकी प्रवृत्ति जैसी होती है उसके विपरीत स्थिति अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर होती है। यही मनका विक्षेप दुःखका हेतु है। इस विक्षेपके कारण मनकी शक्ति क्षीण होती है और मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है।

इसी हेतुके लिये यहां कहा है कि ऐसा अभ्यास करो कि जिससे इष्ट अथवा अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर चित्त समस्थितिमें रहे। चित्तपर दोनों अवस्थाओंमें कोई परिणाम न हो। बाहरकी परिस्थिति कैसी भी हो विपरीत हो अथवा अनुकूल अन्दरका मन सम अवस्थामें रहना चाहिये।

चित्तके विक्षेपसे न केवल मानसीक अन्तःकरणका बिगाड होता है परन्तु मनुष्यका शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड जाता है। अतः मनको सम अवस्थामें रखना स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त आवश्यक है। जिन सामाजिक परिस्थितिमें मानसीक मन बड़ा विक्षिप्त रहता है वह परिस्थिति तो मनुष्योंमें अनर्थ कर देती। अतः यहां उपदेश दिया है कि अनुकूल अथवा विपरीत परिस्थितिमें अपना चित्त सम रखो। चित्तमें कभी चंचलता न हो।

१६ अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति

मैं पृथक् नहीं हूं ऐसा समझकर अपना (योगः कर्मसु कौशलम्) कर्तव्य करना अनन्य-योग (अन्-अन्य-योग) है। परमेश्वर विश्वरूप है और मैं उसका एक अंश हूं अर्थात् उससे भिन्न नहीं हूं, उससे पृथक् नहीं हूं, उससे अन्य नहीं हूं, उससे विभक्त नहीं हूं, ऐसा अनुभव करके, उसके साथ अपना अखंड संबंध देखकर उसके साथ अपना अनन्यभाव जानकर अपना कर्तव्य करना चाहिये। इसीका नाम अनन्य-योग है। इस अनन्य-योगके करनेसे मानव अपनी उन्नतिके मार्गपर चल सकता है।

इस अनन्ययोगमें संपूर्ण मानवप्राणी परस्पर अटूट संबंधसे अबाधित जीवनमें संयमित हुए हैं, सब अन्य जीवजन्तु भी मानवोंके साथ और परस्पर अटूट संबंधसे संबद्ध हैं कोई किसीसे पृथक् अन्य या भिन्न नहीं सबोंका नित्यसंबंध एक दूसरेके साथ जुडा है। कोई अन्योंसे पृथक् होकर अपने आपको अन्य मानकर भिन्न-भावका व्यवहार करेगा तो दुःख बढ़े बिना रह नहीं सकता। अतः अन्यभाव दुःख बढानेवाला और अनन्यभाव सुखशान्ति देनेवाला है। सब विश्व इस तरह परस्पर जुडा हुआ है यह जाननेका नामही अनन्ययोग है। इसमें कहीं भी ' अन्य ' का भाव नहीं होता सर्वत्र एकत्वकाही भाव है। एक बार इस अनन्य-योगकी ठीक ठीक कल्पना ध्यानमें आ जाय तो फिर भेदभावके लिये कोई स्थान रहताही नहीं।

अनन्ययोग जो कर सकते हैं परमेश्वरके विश्वरूपसे जो अपने आपको अभिन्न अनुभव करते हैं वे जो भक्ति करेंगे वही अनन्यभक्ति होगी वही अव्यभिचारिणी भक्ति होगी। व्यभिचारका अर्थ है दूसरेका संबंध अन्यसंबंध विजातीय सहवास। अनन्यभक्ति करनेवालोंमें कोई अन्य न होनेके कारण विजातीय कोई वस्तु रहती नहीं। सब एक अखंड अभिन्न अनन्य वस्तु है ऐसा निश्चय जाननेपर उसकी अव्यभिचारिणी भक्तिही होगी। व्यभिचार तो भिन्न भावसे हुआ करता है।

ज्ञानका साध्य यही अनन्यभाव और परमेश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्ति है। पाठक इस अनन्यभावको ठीक तरह जान रखें क्योंकि भगवद्गीताके मुख्य सिद्धान्तोंमें यह सबसे प्रमुख सिद्धान्त है। यह भावना मुक्तता तक सिद्धि देनेवाली होती है।

भक्तिका अर्थ सेवा है। विश्वरूप परमात्माकी विश्वसेवाही भक्ति है। मैं विश्वसेवा मैं विश्वसे पृथक् नहीं हूं विश्वमें ही हूं, ऐसा जानकर करनी चाहिये। मनुष्यकी जो अव्यभिचारिणी भक्ति होती है वह अखण्ड विश्वसेवासेही होती है और वह अखण्ड विश्वसेवा अनन्य भावसे होनी चाहिये।

सेवा अनेक प्रकारसे की जाती है। दुःखितको धन देनेसे रोगीकी चिकित्सा करके उसे आरोग्य पहुंचानेसे अशिक्षित को विद्यादान देनेसे, भयभीतको निर्भय करनेसे भूखेको अन्न देनेसे, इस तरह विविध विश्वरूपकी विविध प्रकारकी सेवा की जा सकती है। ईश्वरके अनन्त रूप हैं उनमें जिसको जो देकर हम सेवा कर सकते हैं उसको वैसी सेवा करना विश्वसेवा है। यही मनुष्यको कृतकृत्य कर सकती है।

स्वकर्मसे उसकी सेवा करनी चाहिये। (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। गी १८।४६) हम स्वभावतः जो शुभ कर्म कर सकते हैं उसीके द्वारा अनन्य भावसे विश्वसेवा करनी चाहिये। इस विश्वसेवामें प्रत्येकका कर्तव्य वर्णित हो सकता है। यही प्रत्येकका कर्तव्य आवश्यकही है। यह कर्तव्य लोग नहीं करते विश्व सेवासे पराङ्मुख होते हैं मैं अलग और पृथक् हूं मैं इस रोगी परवा नहीं करता, ऐसा मानकर अपनाही हित करनेका यत्न करते और विश्वसेवासे दूर होते हैं इस कारण इस विश्वमें या जगत्में अशांति दुःख और असमाधान है।

यदि लोग इस अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति करते हुए विश्वसेवा करेंगे तो संपूर्ण विश्व शांतिसुखसे अपूर्व समाधान प्राप्त करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। इस तरह इस अनन्य योगसे होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति सामाजिक स्वास्थ्यके लिये अत्यंत उपयोगी है। यह सामाजिक अनुभव है और समाजको सुखी करनेके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

१७ एकान्तसेवन

आत्मपरीक्षण अपने दोषोंका विचार करना और उनको दूर करनेका यत्न करना किसी गूढ विचार करनेके लिये एकान्तमें जाकर सोचना ऐसे अनेक कार्योंके लिये एकान्त-सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। जो ज्ञानहीन होते हैं वे एकान्तसेवनका महत्त्व जानतेही नहीं। किसी प्रकारका अभ्यास करना हो तो एकान्तस्थानमें जाकर रहनेसे अच्छा अभ्यास होता है। यह सभीको अनुभव हो सकता है। इस तरह एकान्तवास लाभदायक है, यह जानकर पाठक इससे अपना लाभ साधन करें।

१८ जनसंमर्दमें आनेकी अरुचि

यह जनसंमर्दमें आनेकी अरुचि एकान्तवासकी रुचिकीही दूसरी बाजू है। जो एकान्तवासमें रहना चाहता है वही जन संमर्दमें-मेलोंमें जाना नहीं चाहता। मेलोंमें जानेसे अनेक प्रकारके लोगोंके साथ संबंध आता है जिनसे संबंध करना योग्य नहीं है उनसे संबंध करना पडता है ऐसे अनेक अप गुण होते हैं, इसलिये योगाभ्यासी लोग एकान्तवास पसंद करते हैं और अभ्यासके समयमें तो मेलोंमें जातेही नहीं। जनसंमर्दमें जानेसे मनका विक्षेप भी होता है।

परन्तु जो लोग साधनसंपन्न होते हैं अथवा सिद्ध बनते हैं वे किसी आवश्यक कार्यके लिये परिषदोंमें नहीं जाते ऐसा नहीं है। जनक राजाकी परिषद्में याज्ञवल्क्य जातेही थे। यज्ञ करनेके समय बडी बडी विराट् सभाएं होतीही थीं। अर्थात् यम एकाग्र करके योगसाधन करनेके समय जनसंमर्दमें वारंवार जाना योग्य नहीं है।

१९ अध्यात्मज्ञानमें नित्य रुचि

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व अर्थात् अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये। अध्यात्मका अर्थ (अधि+आत्मा) आत्माके ऊपर आत्माके आश्रयसे जो कुछ रहता है आत्मासे जो प्रकट होता है वह अध्यात्म है। आत्माके आश्रयसे क्या रहता है? अपनेही अन्दर देखिये। आत्माके आश्रयसे बुद्धि मन चित्त अहंकार इंद्रियां (कर्मेंद्रियां और ज्ञानेन्द्रियां) शरीर शरीरावयव शरीरसे बाहर जानेवाली शक्ति ये सब अपने आत्माके आधारसेही रहते हैं। अतः इसका नाम अध्यात्म है। आत्माके आधारके बिना इनका होना कार्य करना और शक्ति प्रकट करना असंभव है। आत्माकीही यह प्रकृति है आत्माकीही यह शक्ति है इसी कारण इनको इंद्रिय कहते हैं।

इन्द्र आत्मा है और इन्द्रशक्ति (इन्द्र+य) इंद्रिय कहलाती है। इन्द्रके आधारसे इन्द्रशक्तिका रहना स्वाभाविकही है। यही भाव आत्मा और उसकी शक्ति आत्माके साथ रहती है इस कथनमें है।

इससे स्पष्ट हुआ कि अध्यात्म क्या है। सब ज्ञानोंमें

अध्यात्मज्ञान मुख्य है इसका कारण यह है कि इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष मनुष्यके स्वास्थ्य-सुख-समाधानके साथ है। मनुष्यको स्वास्थ्यादि सुख चाहिये इसलिये उसको अध्यात्मज्ञान भी अवश्य चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें (१) आत्माका ज्ञान (२) बुद्धिकी शक्तिका ज्ञान (३) मनोविज्ञान मनोविश्लेषण, मानस शक्तिका ज्ञान (४) चित्तसंकल्प-अहंकार आदि शक्तियोंका ज्ञान (५) प्रत्येक इंद्रियका ज्ञान अर्थात् वह क्या है कैसा कार्य करता है स्वस्थ आरोग्यसंपन्न कैसे रह सकता है रोगी और क्षीण कैसे हो जाता है, अधिक कार्यक्षम कैसे हो सकता है इत्यादि संबंधका ज्ञान, (६) शारीर शास्त्र शरीरसंबंधी आरोग्य कैसे प्राप्त होगा रोग क्यों होते हैं रोगनिवृत्ति कैसे होती है आरोग्य किस तरह सुरक्षित रह सकता है इत्यादि विषयका जो शास्त्र है उसका नाम शरीरविज्ञान है। (७) शरीरके बाहर जो अपनी शक्ति जा रही है और कार्य कर रही है अपनी मानसशक्ति बाहर जाकर जो कार्य करती है उसको भी जानना चाहिये। इस सभी ज्ञान और विज्ञानका अन्तर्भाव अध्यात्मज्ञानमें है।

इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि अध्यात्मज्ञान क्या है और मानवीय स्वास्थ्य-सुख-समाधानके लिये इस अध्यात्मज्ञानका संबंध क्या है। प्रत्येक मनुष्यके पास जितना यह ज्ञान होगा उतनाही उसको स्वास्थ्यका साधन करना संभव हो सकता है। सर्वसाधारण जनताको इस अध्यात्मज्ञानका थोडासा भी अंश ज्ञात नहीं होता इसी कारण वे सदा दुःखमें डूबे रहते हैं।

उदाहरणके लिये देखिये शारीरशास्त्रका ज्ञान मनुष्यको हुआ तो शरीरको स्वस्थ दृढ पुष्ट नीरोग रखनेमें वह समर्थ हो सकता है। मनुष्यको दूसरा कुछ भी आवश्यक न हो तो शरीरकी स्वस्थता तो अवश्यही रखनी चाहिये। शारीरशास्त्रका कुछ भी ज्ञान जिसे नहीं है वह अपना स्वास्थ्य सुरक्षित किस तरह रख सकता है? रोगोंके संचार होनेके समय क्या करना चाहिये ऋतुपरिवर्तनके समय क्या करना चाहिये अन्दर बाहरसे शरीरकी पवित्रता कैसे करनी चाहिये यह सब ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येकको यह सब ज्ञान संपूर्णतासे प्राप्त होना कठिन है तथापि मुख्य आवश्यक ज्ञान तो प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करना चाहिये ऐसा जो यहां कहा है, उसका अपने आरोग्यके साथ कैसा संबंध है, इसका पाठक यहां विचार करें। और इस अध्यात्मज्ञानके साथ अपने सुख-समाधानका कितना संबंध है यह देखें।

शारीरशास्त्रकी अपेक्षा मानसशक्तिके ज्ञानका मानवीय सुखसमाधानके साथ अधिक सम्बन्ध है। शरीरमें बीमारी होनेके पूर्व मन रोगी होता है और मन रोगी होनेके कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीरस्वास्थ्यके लिये मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसीलिये सन्ध्यासेवन करना, मनमें शिवसंकल्प रखना सज्जनोंकी संगति करना दुष्ट विचारोंको दूर रखना आदि धर्मनियम बनाये गये हैं। मन सत्यसे शुद्ध होता है बुद्धि ज्ञानसे पवित्र होती है, इत्यादि जो नियम धर्मशास्त्रमें कहे हैं वे इसीलिये हैं। ये सब मनुष्यका सुख बढानेवाले हैं। अध्यात्मज्ञानका नित्य विचार करनेका अर्थ अपनी शक्तियोंका नित्य विचार करना है। अपनी शक्तिका विचार करनेसे वह शक्ति कैसे उन्नत की जाती है, इसका भी विचार होजाता है।

कई लोग अध्यात्मज्ञानका अर्थ ' केवल आत्माका ज्ञान केवल ईश्वरका ज्ञान मानते हैं यह विचार अशुद्ध है। अध्यात्मज्ञानमें आत्माका तथा परमात्माका ज्ञान आता है, परन्तु पूर्वोक्त सब अन्य शक्तियोंका ज्ञान भी इसमें अन्तर्भूत होता है। क्योंकि आत्माकी सबही शक्तियोंका ज्ञान यहां संमिलित होता है।

आत्मज्ञान का अर्थ केवल आत्माका ज्ञान है और अध्यात्मज्ञान का अर्थ पूर्वोक्त सब ज्ञान है। क्योंकि जो जो शक्तियां आत्माके आधारसे हैं उन सबका ज्ञान अध्यात्मज्ञान कहलाता है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस अध्यात्मज्ञानके साथ मानवीय सुखसमाधानका कितना सम्बन्ध है। कोई मनुष्य इस ज्ञानके बिना पूर्ण सुखी नहीं हो सकता है। अध्यात्मज्ञानसे मनुष्य दुःखसे पूर्ण मुक्त हो सकता है, ऐसा जो कहते हैं उनकी सत्यता यहां इस प्रकार सिद्ध होती है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

नित्य अध्यात्मज्ञानका मनन करना चाहिये, इसका तात्पर्य यह है कि अपनी शक्तियोंका विचार सदा करना चाहिये। इससे आत्मविश्वास बढता है अपनी शक्तियें अमोघ सिद्ध किये जा सकते हैं, अपनी शक्तियोंमें किसी कारण न्यूनता हो रही हो तो उसकी पूर्णता करनेका योग किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अध्यात्मज्ञानके मननसे अनंत लाभ हैं अथवा जो कुछ उदय होना संभव है वह इस अध्यात्मज्ञानसेही हो सकता है।

पेटमें दर्द हो रहा है कान दुख रहा है स्वप्नमें वीर्यनाश होता है, शरीरकी कमजोरी है, मनकी दुर्बलता है, स्मरणशक्ति कम हो रही है इन सबके लिये अपनी पूर्वोक्त शक्तियोंका मनन करनेसे और उनको नीरोग और स्वस्थ रखनेका विचार करनेसेही उपाय हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अपना सब प्रकारका कल्याण अध्यात्मज्ञानसेही हो सकता है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये और उसका मनन करना चाहिये।

२० तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन

पृथ्वी आप तेज आदि अनेक तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंकी विद्याका नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानका जो अर्थ दुःखमोक्षरूप पुरुषार्थ है, उसको तत्त्वज्ञानार्थ कहते हैं। इस मुख्य ध्येयकोही सदा अपने सामने रखना चाहिये। अर्थात् यह अपना साध्य है और यह साध्य तत्त्वज्ञानसेही प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय करना और इसकी सिद्धिके लिये तत्त्वोंका यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

हमें मोक्ष अर्थात् त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप जो पुरुषार्थ प्राप्त करना है, यह कदापि नहीं भूलना। जो कुछ करना हो वह इसके लियेही करना चाहिये।

त्रिविध दुःख-एक आध्यात्मिक दुःख दूसरा आधिभौतिक दुःख और तीसरा आधिदैविक दुःख। अध्यात्म शक्तियोंका वर्णन अध्यात्मज्ञान (१९) के प्रसंगमें किया है अर्थात् आध्यात्मिक दुःख बुद्धि मन-इंद्रिय-शरीर आदिमें उत्पन्न होनेवाले दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख प्राणिमात्रसे उत्पन्न होते हैं जैसे मनुष्योंके आपसके झगडे अथवा हिंस्रप्राणियोंके उपद्रव आदि। आधिदैविक उपद्रव भूकम्प अति वृष्टि अनावृष्टि, अग्निप्रकोप आदि हैं। इन सब तीनों प्रकारके दुःखोंको दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथिवी आप तेज आदि तत्त्वोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे उनका उपयोग करके इन दुःखोंको दूर करनेका उपाय समझमें आसकता है। संपूर्ण दुःख इसी तरह दूर किये जा सकते हैं। यह लाभ बडा भारी है।

मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले मोक्षरूप अर्थका लक्ष्य सदा अपनी दृष्टिमें रखना चाहिये अर्थात् अपना ध्यान उससे दूर नहीं करना चाहिये।

यह सब ज्ञान किंवा ज्ञानका साधन है इससे जो विपरीत भाव है उसको अज्ञान कहते हैं (श्लो० ११)। इस ज्ञानके वर्णनके साथ साथ अज्ञानका भी वर्णन किया है। ये ज्ञानसे साध्य होनेवाली बातें हैं। अज्ञानी लोग जो किया करते हैं, उसका अनुमान इसके विरोधके अनुमानसे पाठकों को हो सकता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि यह ज्ञान मनुष्यमात्रके हितके लिये अत्यंत आवश्यक है। जो इस ज्ञानका विरोध करते हैं अथवा जो इस ज्ञानसे दूर रहते हैं वे अनेक प्रकारसे दुःखकेही भागी हो सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

जाननेयोग्य वस्तु

अब श्लोक १२ से १७ तक सबको जाननेयोग्य वस्तुका वर्णन है। यही आत्मा अथवा परमात्मा है। यही एक मनुष्यमात्रके लिये जाननेयोग्य वस्तु है। इसको जाननेसे मनुष्यको (अमृतं अश्नुते) अमरत्व प्राप्त होता है। यह अमरत्व कैसे मिलता है, इसका थोडासा विचार करना चाहिये।

विभक्तोंमें अविभक्त

भूतेषु अविभक्तं (ब्रह्म) विभक्तमिव स्थितम्।
(गी० १३।१५)

ब्रह्म सब भूतोंमें अविभक्त होनेपर भी विभक्तके समान स्थित है। अर्थात् यह वस्तुतः अविभक्त, अखण्ड और एकरस है तथापि यह विभिन्न व्यक्तित्व और अनेकरस जैसा है। यह भिन्नोंमें अभिन्न व्यक्तियोंमें अखंड अनेक रसोंमें एकरस है। व्यवहारदशामें भिन्नता होनेपरभी वास्तविक दशामें अभेदही है यह बात इसप्रकार समझ लेनी चाहिये।

यद्यपि खेलके लिये अनेक पशुपक्षी जानवर आदि लकड़ीकी वस्तुएं बनायी जाती हैं किंतु खेलमेंके व्यवहारमें प्रत्येक वस्तु भिन्न मानकरही खेला जाता है। इस व्यवहार दशामें प्रत्येक वस्तु भिन्नही है, परन्तु जिस समय लकड़ीके भावसे उनकी बिक्री करनेका समय आजाय उस समय उन सब खिलौनोंकी भिन्नता एक लकड़ीकीही एकतामें एकरूप हो जाती है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि व्यवहारदशामें विभेद रहनेपर भी परमार्थदशामें अभेद किस तरह हो जाता है। यह बात जाननेपर परमात्मा विभक्तोंमें अविभक्त किस तरह रह सकता है इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

विश्वमें वस्तुभेद कितना भी हो परन्तु सबमें एकरस परमात्मा है यह बात जाननेपर विश्वकी वस्तुओंमें मैं भी एक हूं और मैं पृथक् नहीं हूं यह ज्ञान हो जाता है। यदि सबमें एकरस परमात्मा है, तो वह मुझमें भी है और यदि सब विश्वरूप उसी परमात्माका है तो मेरा रूप भी उसीमें संमिलित है। किसी तरह मैं पृथक् नहीं हूं। यह अनन्यभाव जब मनमें स्थिर हो जायगा तब परमात्माके अजर अमर होनेके कारण यह भी अजर और अमर हो जायगा। इसीलिये कहा है कि (यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते) जिस ब्रह्मको जाननेसे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है और जिसको न जाननेसे मनुष्य मरणधर्माही रह जाता है।

परमात्माके ज्ञानका यह महत्व है। परमात्मा सर्वत्र एक-रस है। मैं उससे अनन्य हूं इसलिये मैं उसीका अंश हूं (मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गी० १५।७) क्योंकि परमात्माका एक अंश जीव है अतः यह जीव पृथक् नहीं है। जब यह एकरूपताका पता लग जाता है और यह सत्य ज्ञान अपरिवर्त्य रूपमें ध्यानमें बैठ जाता है तब यह साधक भी अमर भावसे युक्त होता है, क्योंकि यह अपने आपको अमर परमात्माके साथ अनन्य अपृथक् अथवा अभिन्न समझता है।

मनुष्यके लिये परमात्माही एक ज्ञेय वस्तु है उसको जाननेसे साधकका इस तरह लाभ होता है। यह ज्ञान न होनेकी अवस्थामें जो साधक अपने आपको मरणधर्मा मानता है वही साधक यह ज्ञान प्राप्त हो जानेपर अपने आपको अमर मानने लगता है।

यह ब्रह्म (अनादिमत्) अनादि अनंत (परं) सबसे श्रेष्ठ (ब्रह्म) सबसे बड़ा सबमें व्याप्त रहनेवाला, (असक्तं) अनासक्त (सर्वभृत् भूतभर्तृ) सबका भरण-पोषण करनेवाला सबका पालक (गुणभोक्तृ) गुणोंका भोग करनेवाला, परन्तु स्वयं (निर्गुण) गुणातीत है। यह ब्रह्म (भूतानां बहिः अन्तः च) भूतोंके अन्दर और बाहर है यह (अचरं चर) अचल है और चल भी है, स्थावर जंगम भी वही है। (दूरस्थं अन्तिके च) यह जैसा दूर है, वैसाही समीप भी है। यह अति (सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयं) सूक्ष्म होनेसे जाननेके लिये कठिन है (भूतेषु अविभक्तं अपि विभक्तं इव स्थितं) सब विभिन्न प्राणियोंमें अथवा सब विभिन्न वस्तुओंमें यह अखण्ड अविभक्त रहनेपर भी विभक्तके समानही स्थित है अविभक्त होनेपर विभक्त जैसा दीखता है (प्रभविष्णु भूतभर्तृ ग्रसिष्णु च) यह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करनेवाला पालनपोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है। यह (ज्योतिषां ज्योतिः) तेजस्वी पदार्थोंको तेज देनेवाला और (तमसः परस्तात्) अन्धकारसे परे अर्थात् स्वयंज्योति है, यही स्वयं ज्ञान ज्ञेय और ज्ञानसे जाना जानेयोग्य है। यह सबके हृदयोंमें स्थित है।

यह ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है क्योंकि सत् और असत् ये उसीसे प्रकट होनेवाले भाव हैं। यह (सर्व-इंद्रिय-विवर्जित) सर्व इन्द्रियोंसे रहित है अर्थात् उसमें एक भी इंद्रिय नहीं है तथापि सब इन्द्रियोंके गुणोंका भास उसमें दिखाई देता है। अर्थात् यह सब ओर हाथ पांव मुख सिर आंख कान नाक आदि अवयवोंसे युक्त है क्योंकि विश्वरूपी परमात्मा सब प्राणियोंमें है इसलिये सब प्राणियोंके अवयव उसी परमात्माके अंगभूत अवयव होते हैं। अतः यह ब्रह्म हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त है।

यहां सब प्राणियोंके सब अवयव उसी परमात्माके अवयव हैं ऐसा कहा है इससे पाठक अपने आपको भी संमिलित समझें। जिससे वे अपने आपको उससे अनन्य-अपृथक् अनुभव करने लग जायेंगे और वस्तुतः अपनी इंद्रियां उसीकी इंद्रियां हैं ऐसा ज्ञान होकर उनपरसे अपना अहंभाव

दूर हो जायगा। साधक अपने आपको इस तरह परमात्मासे एकरूप अनुभव कर सकता है जिससे वह परमात्माके रूपमें अपने आपको अमर अनुभव करेगा। फिर उसे मरणकी भीति किस तरह सता सकती है? इस रीतिसे वह इस महाज्ञानसे अमर होता है। यह अतिमानुष अवस्था है जो ज्ञानसेही प्राप्त हो सकती है। यही ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला सर्वात्मभाव है। एकात्मभावमें मरण और सर्वात्मभावमें अमरत्व है। पाठक इसको ठीक रीतिसे समझनेका यत्न करें क्योंकि इसी ज्ञानसे नर नारायण बन सकता है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥
(गी १३।१८)

परमेश्वरका भक्त इस ज्ञानको प्राप्त करके ईश्वरभावको प्राप्त करता है स्वयंही ईश्वर हो जाता है ईश्वरस्वरूपमें अपने आपको संमिलित अनुभव करता है। ईंटोंका बना मंदिर बनाया है, उसमेंसे प्रत्येक ईंट अपने आपको अलग मानकर अलग होने लगी तो उसपर वह मन्दिर खडाही नहीं रहेगा। इस प्रकार ईंटोंके अन्यभावयुक्त होनेसे मन्दिर नष्ट हो जाता है। परन्तु वही ईंटें अपने आपको पृथक् न मानती हुईं, अपने आपको मन्दिरभावसे युक्त मानने लगीं अपने आपको मन्दिरमें अनन्य समझने लगीं और मन्दिरमें मन्दिररूप होनेमें अपने आपको कृतार्थ मानने लगीं तभी उनको मन्दिरभाव प्राप्त हो सकता है। इसी तरह नर अपने आपको नारायणसे अपृथक् अनुभव करके अपने आपको अनन्य समझकर अपना जीवन उसीमें संमिलित देखे तो वह निःसन्देह नर नारायणभावको प्राप्त होगा।

यहांतक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेयका विचार किया। अब यही ज्ञान प्रकृति-पुरुषके रूपमें देते हैं।

प्रकृति और पुरुष

दृश्यमान क्षेत्र ही प्रकृति है और दृश्यमान क्षेत्रज्ञ ही पुरुष है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वर्णनसे प्रकृति-पुरुषकाही विचार पूर्व स्थानमें किया है। अब वही विचार पाठकोंके मनमें स्थिर करनेके उद्देश्यसे इसलिये पुनः प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं। पाठक इन दोनों वर्णनोंकी तुलना करें और इन दोनोंका एकही तात्पर्य है यह बात समझनेका यत्न करें।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
(गी १३।१९)

प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं। यहां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों अनादि हैं यही आशय है। एक पहिले था और दूसरा पीछेसे उत्पन्न हुआ ऐसी बात नहीं है। दोनों अनादि और सनातन हैं। ये एक दूसरेसे पृथक् हैं या एकरूप हैं इसका विचार यहां कर लेना चाहिये।

मिश्रीका ढेला और मिठास ये दोनों अनादि हैं ये दोनों एक साथ रहते हैं इनमेंसे एक पहिले था और दूसरा पीछेसे हुआ, ऐसी बात नहीं है। यहां मीठास और ढेला ये पुरुष और प्रकृतिके वाचक समझिये जिससे प्रकृतिपुरुषके कल्पनागत भेद और वस्तुगत अभेदकी ठीक कल्पना हो जायगी। प्रकृतिमें पुरुष उसी प्रकार है जैसे जलमें रस होता है। अर्थात् रस और जल ये दोनोंही अनादि हैं ऐसा कहनेसे कल्पनामें दो वस्तुएं अवश्य हैं परन्तु यह द्वैत केवल कल्पनामेंही है, वास्तविक जल और रसका वस्तुगत अभेदही है। इससे पुरुषकी शक्ति प्रकृति है अतः यहां कल्पनागत भेद होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान्‌का वस्तुगत अभेदही है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
(गी १३।१९)

विकार और गुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। गुणका अर्थ सत्व-रज-तम ये तीन गुण हैं और विकारका अर्थ है पंच भूत, मन बुद्धि इंद्रिय इच्छा कामना वासना आदिमें होनेवाला बिगाड। ये गुण और ये विकार प्रकृतिमें होते हैं, ऐसा समझना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। ये विकार आत्माके नहीं हैं। इसके लिये एक उदाहरण देते हैं—

मिश्रीका ढेला लिया उसमें मिठास है। उस ढेलेके चार पांच टुकडे कीजिये। टुकडे हो जानेपर भी मिठासमें कोई न्यूनाधिकत्व नहीं हुआ। केवल ढेलेके रूपमें भेद हुआ है। उस ढेलेको पिघलाकर किसी पशुपक्षीकी आकृतिमें ढाल दिया तो उस ढेलेको पशुपक्षीका आकार प्राप्त हुआ परन्तु मिठासमें कोई न्यूनाधिकता नहीं हुई। फिर उस ढेलेको पिघलाकर पतला कर दिया तो भी मिश्री पतली बनी तथापि मिठास वैसाही रहा। यहां ढेला प्रकृति है और

निराला पुरुष है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये भी नाम यहां समझ सकते हैं। प्रकृतिमें या क्षेत्रमें विकार होनेपर पुरुष अथवा आत्मामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है अर्थात् प्रकृति विकारी है और पुरुष अविकारी है यह बात यहां स्पष्ट सिद्ध है।

इस प्रकृतिमें विकार होते हैं इसीलिये (कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः। गी० १३।२०) कार्य और कारण परंपरा इस प्रकृतिमें होती है। जैसा ऊपरकी उदाहरणमें कहा कि मिश्रीको पिघलाकर उसका रस बनाया, तो उस रसका कारण मिश्री है और इस मिश्रीका कार्य वह मीठा रस है। यह कार्यकारणभाव इसीलिये सिद्ध होते हैं कि वह विकारी है। इसी तरह पंचमहाभूतोंसे सृष्टि बनी है अतः पंचभूत कारण और सृष्टि कार्य है। यह कार्यकारणभाव इसीलिये सिद्ध होते हैं कि, ये पंचभूत विकारी हैं। इसी तरह सब प्रकृति और उससे बने पदार्थ विकारी हैं। इसलिये कार्यकारणपरंपरा उसमें चल रही है। इस प्रकृतिके विकारी होनेके साथ पुरुषका कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि पुरुष आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ विकारी नहीं है बदलनेवाला नहीं है।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वस्य हेतुः।
(गी० १३।२०)

पुरुष सुखदुःखोंके भोगका हेतु है। क्योंकि वह स्वयं ज्ञानवान् है चेतन है जान सकता है। इसलिये इस समय यह सुखदायक है और यह दुःखदायक है ऐसा वह जान सकता है। प्रकृति जड है स्थूल है चेतन नहीं है इसलिये वह सुखदुःखको जान नहीं सकती और पुरुष ज्ञानमय है इसलिये सुखदुःखका ज्ञान कर सकता है। पुरुष प्रकृतिके साथ रहकर (पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्। गी० १३।२१) प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। वास्तवमें यह पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंसे मोहित नहीं होता इन गुणोंका संग करनेसे बद्ध नहीं होता तथापि यह पुरुष इन गुणोंके संसर्गसे बांधा नहीं जाता। परन्तु जिस समय यह इन भोगोंमें आसक्त हो जाता है उसी समय यह इन गुणोंके बन्धनमें बांध दिया जाता है और इस कारण इस पुरुषको न जाने कितनी दुःख भोगना हो जाती है।

अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसंगः।
(गी० १३।२१)

इस पुरुषका सत् या असत् योनियोंमें जन्म होनेका कारण यही गुणोंके साथ होनेवाला इसका संग है। इसकी आसक्ति जिन गुणोंपर होती है उन गुणोंके अनुसार इसकी अवस्था होती है। सात्त्विक गुणोंपर आसक्त होनेसे सात्त्विक राजस गुणोंमें बद्ध होनेपर राजस और तामस गुणोंपर लुब्ध होनेपर यह पुरुष तामस योनियोंमें जन्म लेता है अथवा पहुंचता है। अतः इस पुरुषको उचित है कि यह किसी प्रकृतिके गुणोंपर मोहित न हो आसक्त न हो गुणोंका संग करनेकी अभिलाषा न करे अपने आपको अधीन रखे अथवा संयम करे इन्द्रियदमन करे अपनी वासनाओंको स्वैराचारमें जाने न दे। ऐसा करनेसे असत् योनियोंमें जन्म होनेका कष्ट दूर होगा।

देहमें परमात्मा

इस देहमें जो पुरुष है वह जिस समय अहंकाररहित हो जाता है तब उसी पुरुषको परम पुरुष कहते हैं।

नर	नारायण
आत्मा	परमात्मा
पुरुष	परम पुरुष या उत्तम पुरुष
	परात्पर पुरुष
ईश	ईश्वर महेश
समर्याद	अमर्याद

इस तरह आत्माही अमर्याद होनेपर परमात्मा कहा जाता है और मर्यादित क्षेत्रमें रहनेसे आत्मा कहते हैं। जैसे घटाकाश मठाकाश और आकाश उपाधिभेदसे होता है। वैसे सब आकाशही है परन्तु घटमें सीमित आकाश होता है उसका घटाकाश हुआ करता है। इसी तरह देहाभिमानसे आत्मा और विशाल परमात्मा कहा जाता है।

यही (उपद्रष्टा) साक्षी देखनेवाला (अनुमन्ता) अनुमोदन देनेवाला (भर्ता) पालन करनेवाला (भोक्ता) भोग करनेवाला (महेश्वर) बडा ईश्वर परमात्मा है। यही पुरुष है और यही बडा आत्मा है। (श्लोक २२)

इस रीतिसे जो साधक इस पुरुषको जानता है और गुणोंसहित प्रकृतिको भी यथावत् जानता है वह कैसा भी व्यवहार करे तो भी बारबार जन्म नहीं लेता । अर्थात् वह ऐसा असंगभावसे व्यवहार करता है कि उसको कभी कलंक नहीं लगता वह सदा निर्दोष रहता है, वह दोषोंमें लिपटता नहीं । (श्लोक २३)

आत्मदर्शन

कुछ लोग इस आत्माको इस पुरुषको ध्यानसे अपनी आत्मामें देखते हैं, कुछ सांख्ययोग-ज्ञानयोगद्वारा और कुछ कर्मयोगद्वारा देखते हैं। कुछ स्वयं ज्ञानविज्ञानको न जानते हुए भी दूसरोंसे अच्छे उपदेश सुनते हैं और उसपर विश्वास करते हुए वैसाही आचरण करते हैं वे भी मृत्युके पार होते हैं अर्थात् अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं परमात्माको प्राप्त होते हैं। (श्लो २४-२५)

सबकी उत्पत्ति

जो कुछ वस्तुमात्र यहां है वह स्थावर हो या जंगम यह सब प्रकृति और पुरुषके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्) संयोगसे बना है। सब स्थावरजंगम वस्तु (स्थावरजंगम सर्व) प्रकृतिपुरुषके संयोगसे बनी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें जैसी प्रकृति है वैसाही पुरुष भी है। कई लोग समझते हैं कि, *जंगम प्राणियोंमेंही पुरुष* आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ तथा चेतन जीव है, वैसा स्थावर पदार्थोंमें नहीं है परन्तु यह भूल है। क्योंकि (स्थावरजंगम सर्व क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् संजायते । गी १३।२६) सम्पूर्ण स्थिरचर पदार्थमात्र प्रकृतिपुरुषके संयोगसेही बनते हैं। इस विषयमें कोई संदेह न करो। चर पदार्थोंमें पुरुष है ऐसा सब मानतेही हैं अब यहां कहा है कि, स्थिर जड पदार्थोंमें भी आत्मा है पुरुष है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जो प्रकृतिपुरुषके संयोगके बिना बनी हो। यह असंदिग्ध कथन है और इसको ठीक प्रकार समझना चाहिये।

इस तरह इस कथनसे सभी वस्तु चेतन हो गई हैं और सभीमें प्राकृतिक शरीर भी है। सभी चेतन और सभी जड हैं। जो समझते हैं कि कुछ पदार्थ चेतन हैं और कुछ जड हैं भूल करते हैं। पाठक यहां पूछेंगे कि यदि सभी पदार्थ प्रकृति पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जड चेतनके संयोगसे हुए हैं तो कुछमें चेतना दीखती है और कुछमें नहीं यह कैसे ?

मनुष्यप्राणी — पूर्ण चेतन
पशुपक्षी — चेतन
वृक्षवनस्पति — सुप्त चेतन
पत्थर आदि — अप्रकट चेतन

चैतन्य या पुरुष इन चार स्थानोंमें चार प्रकारसे प्रकट हो रहा है। मनुष्य प्राणियोंमें वह पुरुष पूर्ण जागृत हुआ है और अपना ज्ञान यथावत् जाननेमें समर्थ है। पशुपक्षियोंमें किंचित् जागृत है केवल मैं हूं, मुझे यह चाहिये इतनाही जान सकता है इन योनियोंमें यह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है। वृक्षवनस्पतियोंमें यह सुप्त अवस्थामें है और पत्थर आदिकोंमें अप्रकट अवस्थामें है और निद्रामें पडा है। इन चार अवस्थाओंमें आत्मा पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ इसी तरह प्रकट हुआ है।

वही विश्वात्माका विभक्त है वही विश्वात्मा मानवोंमें स्वयंप्रज्ञ होकर प्रकट हुआ है पशुपक्षियोंमें कुछ चेतनता प्रकट कर रहा है। वृक्षवनस्पतियोंमें सुप्त स्थितिमें है और पत्थरादि पदार्थोंमें गुप्त रूपमें स्थित है। वही विश्वात्मा मानवोंमें पूर्ण रूपसे प्रकट होकर अपने आपको जानता है अपनी महिमाका अनुभव करता है और अन्य प्राणियोंमें केवल सत्तामात्र है। विश्वात्माकी स्थिति यहां चार प्रकारकी वर्णन की गयी है। इसीका अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु प्रकृति-पुरुषके संयोगसे बनी है। जहां पुरुष-आत्मा नहीं ऐसी एक भी वस्तु नहीं है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गी १३।२७)

सब भूत नाश होनेवाले हैं सब वस्तुएं नाशको प्राप्त होती हैं इन नश्वर वस्तुओंमें अविनाशी परमेश्वर रहता है यह जो यथावत् जानता है वही सत्य देखता है " अन्य लोग आंखें रहकर भी अन्ध हैं। नाशको प्राप्त होनेवाली वस्तुओंमें विश्वात्मा अविनाशी है। नाशको प्राप्त होना विकारको प्राप्त होना अथवा बनना या बिगडना यह सब प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकृतिके साथ पुरुष रहा है और न दोनों मिलकर सब सृष्टिके पदार्थ बनाते हैं।

जैसा जलमें रस है वैसाही प्रकृतिमें पुरुष है। एक वर्तन का जल दस वर्तनोंमें रखा तो अलग विभाग हुए पर ।

रस सबमें एक जैसाही है अथवा विभाग होनेपर भी उसके विभाग नहीं हुए। वैसेही प्रकृतिपुरुषके संयोगसे सब विकार अनन्त पदार्थ बने हैं, प्रकृति विभक्त होकर नाना रूपोंको धारण करनेपर भी आत्मा या पुरुष उन सबमें अविभक्तही रहा है। पाठक इस बातको समझनेका यत्न करें। इसके समझनेसेही परमात्मा विभक्त होनेवालोंमें अविभक्त कैसा है और विनष्ट होनेवालोंमें अविनाशी कैसा है यह बात समझमें आ जायगी यही बात सबको जानने योग्य है और इसीके जाननेसे अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है।

सब विकार नानाविध विषम पदार्थोंमें परमेश्वर सम है यह जो जानता है वह विषमतामें भी समता धारण कर सकता है विषम परिस्थितिमें उसका मन सम रह सकता है सुख दुःखमें तथा हानि लाभमें वह समबुद्धि रख सकता है। इस तरह समत्वको प्राप्त हुआ मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है सबसे उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है। (श्लो २८)

सब कर्म प्रकृतिसे हो रहे हैं सब किये जानेवाले उद्योग प्रकृति कर रही है, उन सब कर्मोंके होनेपर भी आत्मा अकर्ता है निर्लेप है निर्दोष है ऐसा जो देखता है वही सम्यक् देखता है। जिनको यह ज्ञान नहीं है वे आँखें होनेपर भी अन्धे हैं। सूतके अनेक वस्त्र बनाये गये तो भी कपासको उसका स्वरूप बाधित नहीं कर सकता वैसाही प्रकृतिसे विविध पदार्थ बननेपर आत्मा निर्दोष रहता है। (श्लो २९)

भूतोंका पृथग्भाव एकही आत्माके आश्रयसे है (एकस्थं पृथग्भावं अनुपश्यति) ऐसा जब अनुभव होता है और सबका विस्तार उसी एकसे होता है (ततः एव विस्तारं) ऐसा समझमें आ जाता है उस समय अपना भी विस्तार उसी एक अद्वितीय अखण्ड आत्मासे हुआ है ऐसा उसको स्पष्ट दीखने लगता है और इससे उसको अपना मूल ब्रह्ममें है और मैं ब्रह्मही हूँ ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। यही जीवका ब्रह्म होना है।

जब सभी वस्तुएं ब्रह्मसे विस्तारित हुई हैं ऐसा ज्ञान हो जाता है तब सब वस्तुओंमें मैं हूँ यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है और जो सब वस्तुओंका बीज है वह ब्रह्म मेरा बीज है यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह अपने आपको ब्रह्मसे अनन्य समझने लगता है। इसीका नाम है (ब्रह्म संपद्यते) ब्रह्मको प्राप्त होना। यही ज्ञान मुक्तिका[illegible] जब मुक्त हो जाता है उस समय उसे सब पृथक् वस्तुओंमें अखंड एकरस ब्रह्मसत्ता दीखती है अपने आपको उससे अपृथक् देखता है और सब वस्तुओंमें ब्रह्मका विस्तार अनुभव करता है। उस समय—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(वा. य. ४०।७)

‘ जिस समय सब भूत आत्माही हुए यह अवस्था जो प्राप्त हो जाती है तो फिर सबमें एकत्वका दर्शन करनेवाले उस विज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर सतायेंगे ?’ शोक-मोह तो भेदभावसेही उत्पन्न होते हैं, जिसे सब भेद एकत्वमें लीन हो चुके उसे शुद्ध आनंदही प्राप्त होगा, इसमें क्या संदेह है ! एकही ब्रह्मसे अनेकविध भिन्न विस्तृत होता है और यह अनेकविध भिन्न उस एकही ब्रह्ममें फिर लीन होता है। जैसे सोनेके अलंकार और फिर अलंकारोंका सोना होता है। दोनों अवस्थाओंमें सोनेका सोनेपन जैसे का तैसा अखण्ड रहता है वैसेही पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मका ब्रह्मत्व अखण्ड रहता है। जिसका विस्तार होने न होनेसे ब्रह्मके ब्रह्मत्वमें कोई भेद नहीं होता।

यही ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सनातन सत्ता है। इसमें आप अपना अस्तित्व भी मिलाइये तो अपने आपको उससे अनन्य अनुभव करनेमें आप समर्थ होंगे। (श्लो ३०)

अनादि अव्यय निर्गुण परमात्मा यही है। यह शरीरमें होनेपर भी न कुछ करता है (शरीरस्थोऽपि न करोति) और न लिप्त होता है (न लिप्यते)। आभूषण होनेपर सोनेमें किसी तरह दोष नहीं होता, वह सोना जैसेका वैसाही है। इसी तरह निर्गुण परमात्मा शरीरमें रहनेपर भी अगुण वैसाही होता है। यह मनुष्यका शरीरकी प्रकृतिकी है, आत्मा वैसाही शुद्ध अव्यय और निर्गुण है। मिश्रीके अनेक बननेसे मिश्रीका मिश्रीपन हटता नहीं और न मिठासही कम होती है। इसी तरह अनंत शरीरोंके भेद होनेपर भी उनमें परमात्मा एकरस अखण्ड अनादि अनंत है और वैसाही अपने अन्दर भी है। (श्लो ३१)

जैसे आकाश सूक्ष्म है और सर्वत्र एक जैसा है सब घटोंमें घटोंके बाहर-भीतर और सब घटोंमें घटोंके बाहर-भीतर है तथापि किसी घटके या मठके टूटने न टूटनेसे उस आकाश में कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता वैसेही सब विभिन्न वस्तुओंमें एकरस आत्मा होनेपर भी वस्तुगत दोषसे वह दोषयुक्त नहीं होता। वस्तु सदोष हो या निर्दोष पर वह आत्मा सदा निष्कलंक है। (श्लो ३१)

जैसे एकही सूर्य सब विश्वको प्रकाशित करता है वैसेही यह पुरुष प्रकृतिको प्रकाशित करता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ क्षेत्रको प्रकाशित करता है आत्मा शरीरको चैतन्य देता है। अर्थात् जैसे अनेक बुरेभले पदार्थोंपर प्रकाश डालनेके कारण सूर्यको कोई दोष नहीं लगता वैसेही भलेबुरे पदार्थोंको चैतन्यसे प्रकाश करनेके कारण आत्माको कोई दोष नहीं लगता। (श्लो ३३)

ज्ञान-चक्षु

देह और क्षेत्रज्ञ प्रकृति और पुरुष देह और आत्मा जड और चेतन, रयी और प्राणका यह अन्तर अर्थात् यह भेद (ज्ञानचक्षुसे) ज्ञानकी आंखसेही मनुष्य देखें क्योंकि यह कल्पनामात्र भेद है वस्तुगत भेद नहीं है। जैसे खांड और मिठासका भेद ज्ञानचक्षुसे देखा जानेवाला है खांड और मिठास अलग अलग कभी हो नहीं सकती वे एकही वस्तुके दो पहलू हैं वैसेही प्रकृति यह पुरुषकी शक्ति होनेके कारण एक दूसरेकेही अंश है अतः उनमें कल्पनाका अन्तर है वस्तुका अन्तर नहीं। यहां जो यह अन्तर ज्ञानचक्षुसेही देखनेको कहा है उसकी ओर पाठक विशेष ध्यान दें क्योंकि यह अन्तर सत्य नहीं है केवल कल्पनासेही भासमान होनेवाला है। जो यह जानते हैं कि यह केवल कल्पनाका भेद ज्ञानचक्षुसेही दीखनेवाला है प्रकृति और पुरुष अलग रहनेवाली पृथक् दो वस्तुएं नहीं हैं वेही मूलप्रकृतिसे मुक्त होनेका उपाय जानते हैं और वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। (श्लो ३४)

प्रकृति-मोक्ष

यहां मूलप्रकृति-मोक्ष को जानना और परब्रह्मको प्राप्त होना इसका आशय देखना चाहिये। मूलप्रकृति-मोक्ष का ठीक ठीक विचार समझनेके लिये दो कल्पनाओं का मनन करना चाहिये।

१ मूलप्रकृति-बन्धन।

२ मूलप्रकृति-मोक्ष।

शब्दोंद्वारा व्यक्त होनेवाली ये कल्पनाएं ठीक तरह समझनेसे मूलप्रकृतिमोक्ष क्या है यह समझमें आ सकता है। मूल शब्दका अर्थ ' प्राणिमात्र ' है। वस्तुमात्र अर्थात् जो कुछ बना हुआ पदार्थ है यह अर्थ भी हम ले सकते हैं परन्तु अपने विचारका निर्णय करनेके लिये प्राणिमात्र अर्थही पर्याप्त है। इन भूतोंकी विविध प्रकारकी प्रकृति होती है। उदाहरणार्थ सिंहव्याघ्रोंकी क्रूर प्रकृति गाय-घोडे की सौम्य प्रकृति। मनुष्योंमें भी देखिये कि कुछ मनुष्य सात्विक, कुछ राजस और कुछ तामस प्रकृतिवाले होते हैं। यह प्रकृतिस्वभाव भूतोंके पीछे लगा हुआ है यह त्रिगुणात्मक स्वभाव सबके साथ लगा हुआ है मनुष्योंके साथ तो हैही। कौन इस प्रकृतिस्वभावसे बच सकता है ? जो गुणातीत होगा वही इससे बच सकता है। प्रकृतिके गुणोंसे जो बंधन होता है, उससे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय गुणातीत होनाही है। यहां इस विचारसे मूलप्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय पाठकोंकी समझमें आ गया होगा।

संपूर्ण पदार्थ संपूर्ण प्राणी अथवा मनुष्यमात्र प्रकृतिके तीनों गुणोंसे बंधे हुए हैं। जो गुणातीत होगा वही मूल प्रकृतिसे मुक्त हो सकता है। भगवद्गीतामें आये १४ वें अध्यायमें गुणत्रयविभागका विचार किया है और वहां गुणातीत होनेका उपाय भी कहा है। वहांही विस्तारपूर्वक पाठकोंको गुणातीत होनेके महत्वका पता लग जायगा। गुणातीत होनेसे यह फल मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
(गी १४)

सुख-दुःख मिट्टी-सोना प्रिय-अप्रिय निन्दा-स्तुति मान-अपमान मित्र शत्रु इत्यादि द्वन्द्वोंके विषयमें सम वृत्ति रखनेसे परमेश्वरकी अनन्यभक्तिपूर्वक सेवा करनेसे तथा सकाम स्वार्थभोगोंके लिये कर्म न करनेसे साधक

गुणातीत होता है और ब्रह्मके श्रेष्ठत्वको प्राप्त करता है।

गुणातीत होना और ब्रह्मका श्रेष्ठत्व प्राप्त करना एकही बात है क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है इसीलिये श्रेष्ठ है। अतः जो गुणातीत होगा वह श्रेष्ठ बनेगा।

गुणोंके अधीन न रहना चाहिये, गुणोंके बाहर रहकर गुणोंका खेल देखना चाहिये गुणोंको अपने अधीन कर रखना चाहिये। गुणोंके बन्धमें मनुष्य फंसे हैं, वे जब गुणों के स्वामी बनेंगे तभी अपनी शक्तिका अनुभव कर सकते हैं। जबतक वे गुणोंके बन्धमें फंसे रहेंगे तबतक उनकी परतंत्रताके कारण अपनी शक्तिका उपयोग वह कर नहीं सकता। परतंत्रता अपनी शक्तिका नाश करनेवाली है। इसीलिये भूतोंकी प्रकृतिसे स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश (भूत-प्रकृति-मोक्षं विदुः) किया गया है। जो इसका साधन करते हैं वे (परं यान्ति) श्रेष्ठ महत्त्वको प्राप्त करते हैं।

अब आगे १४ वें अध्यायमें प्रकृतिके गुण कैसे हैं वे मनुष्यको कैसे बांधते हैं और किस युक्तिसे मनुष्य उनके बंधनसे मुक्त हो सकता है, इसका विचार है।

यहां तेरहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥१३॥

तेरहवें अध्यायके सुभाषित

(१) आत्माकी खेती।

इदं शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। यह आत्माका खेत है इसमें आत्मा जिस प्रकारकी चाहे खेती करके काम उठा सकता है। खेतका स्वामी आत्माही है।

(२) खेतका स्वामी।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इस खेतको जो यथावत् जानता है उसेही इस खेतका स्वामी समझदार है ऐसा कहते हैं।" प्रत्येक खेतका एक स्वामी होताही है। परन्तु खेतीका कार्य उत्तम करनेवाले स्वामी बहुतही थोडे होते हैं।

(३) खेतमें बिगाडकी संभावना।

क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इस खेतमें बिगाड होनेकी संभावना है यह बात सबेरसे जाननी चाहिये। खेतका स्वामी सावधान न रहे तो इस खेतमें अनेक प्रकारके विकार होकर खेतीका नाश होगा अतः खेती करनेवाला सदा दक्ष रहे और अपने खेतमें बिगाड न होने दें।

(४) ज्ञान।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला जो मोक्षरूप अर्थ है उसको प्रत्यक्ष करनेका नामही ज्ञान है।" अध्यात्मज्ञानसे भिन्न और मोक्षके विरोधी जो भी कुछ है, वह सब अज्ञान है।

(५) समचित्त।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

" इष्ट अथवा अनिष्ट इनमेंसे कोई भी अवस्था प्राप्त होनेपर चित्तकी समता स्थिर रखना। चित्तकी समाधान-वृत्ति प्रत्येक अवस्थामें स्थिर रखनी चाहिये।

(६) सबका पोषण करना।

असक्तं सर्वभृच्चैव ॥ १४ ॥

सर्व भोगोंमें आसक्त न होना परन्तु सबका रक्षण-पोषण-धारण यथायोग्य करना चाहिये। सर्व भोगोंसे निवृत्त होना चाहिये परन्तु सब लोगोंको आजीविकाके लिये भोग मिलेंगे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।

(७) अविभक्त होनेपर विभक्तसा व्यवहार।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥१६॥

अन्तर्यामी अविभक्त रहनेपर भी बाहरके व्यवहारमें विभक्त जैसा आचरण करता। बाहर विभक्तके समान व्यवहार करनेपर भी अन्दरसे वस्तुतः अविभक्तही रहना चाहिये।

(८) सम भाव।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

" सब भूतोंमें परमेश्वर सम भावसे रहता है।" ऐसेही साधक सब प्राणियोंके विषयमें सम भावना धारण करे।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् २८

परमेश्वर समभावसे सर्वत्र है यह जाननेवाला स्वयं आत्मघात नहीं करता और श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है। जो मनुष्य सबको समभावसे देखता है, वही श्रेष्ठ होता है।

(९) पृथग्भावमें एकता।

भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥३०॥

भूतोंके पृथग्भावको भी एकत्वमें आश्रित देखना चाहिये। प्राणियोंमें कितना भी भेदभाव हो परन्तु उनमें जो एकात्म केन्द्र है उसकोही ध्यानमें रखना चाहिये।

(१०) निर्लेपता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

" जैसे आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापक होनेपर भी निर्लेप है, वैसेही आत्मा सब देहोंमें रहनेपर भी अलिप्त है।" इसी प्रकार साधक सर्वत्र संचार करके भी अपने आपको निर्दोष निष्कलंक और निर्लेप रखे। सबके साथ संबंध होनेपर भी किसीके दोषसे दोषी न होवे।

(११) प्रकाश दो।

प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति ॥३३॥

सूर्य सब लोकोंको प्रकाशित करता है, क्षेत्री सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।" इसी प्रकार मनुष्य अपने अन्दर प्रकाश बढाकर उसे दूसरोंको देवे।

(१२) श्रेष्ठ गति प्राप्त करो।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञानदृष्टि प्राप्त करके क्षेत्र और क्षेत्रीका भेद जानेंगे और सब भूतोंके प्रकृतिस्वभावसे अपनी मुक्ति करेंगे, वे श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होंगे।" ज्ञान प्राप्त करो क्षेत्र और उसका स्वामी इनका परस्पर संबंध ध्यानमें रखो और भोगोंके बंधनसे अपने आपको छुडाओ इतना करनेसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी।

तेरहवें अध्यायकी विषयसूची

गुण-त्रय-विभाग-योग ।

(१) उत्तम ज्ञान

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् । यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

(२) पिता और माता

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच- यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः (तत्) ज्ञानानां उत्तमं परं ज्ञानं भूयः (अहं ते) प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ (ये) इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यं आगताः (ते) सर्गे अपि न उपजायन्ते प्रलये च न व्यथन्ति ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले— जिसको जानकर सब मुनियोंने यहांसेही परम सिद्धि प्राप्त की सब ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ उसी ज्ञानको फिरसे (मैं तुझे) कहता हूं ॥१॥ (जो) इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे (ईश्वरके) समान धर्मको प्राप्त हुए (वे) न तो उत्पत्तिके समय जन्म लेते हैं और न प्रलयकालमें कष्टही भोगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— श्रेष्ठ ज्ञान वही है जिससे परम श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है वही ज्ञान बार बार सुनना सुनाना चाहिये । जिस ज्ञानसे नरका नारायण बनता है और जन्ममरणके कष्ट दूर होते हैं वही ज्ञान श्रेष्ठ है और उसेही प्राप्त करना चाहिये ॥ १-२ ॥

अन्वयः— हे भारत ! महद् ब्रह्म मम योनिः (अस्ति), तस्मिन् अहं गर्भं दधामि, ततः सर्वभूतानां संभवः भवति ॥३॥ हे कौन्तेय ! सर्वयोनिषु याः मूर्तयः संभवन्ति तासां योनिः महद् ब्रह्म [अस्ति] अहं बीजप्रदः पिता [च अस्मि] ॥४॥

ईश्वरसे साधर्म्य

(१-२) इस अध्यायमें उत्तमसे उत्तम ज्ञान कहा जा रहा है । इस ज्ञानको प्राप्त करके प्राचीन कालके अनेक ऋषियों मुनियों सिद्धों और योगियोंने उत्तमसे उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। इस तरह यह ज्ञान केवल तर्कमें अथवा विचारमें ही रहनेवाला नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्ष व्यवहारमें उत्तमसे उत्तम सिद्धि देनेवाला है । इसी कारण इसकी योग्यता प्रत्यक्ष फलदायी होनेके कारण विशेष है ।

जो ज्ञान अब कहा जायगा उस ज्ञानसे बारबार जन्ममरणके दुःख नहीं भोगने पडते । यह एक लाभ तो हैही इससे भी अधिक महत्त्वका एक लाभ और है वह है—

(ईश्वरस्य) साधर्म्यं आगताः । (२)

ईश्वरके जो धर्म हैं उन धर्मोंके समान इसके धर्म होते हैं। जैसे तपा हुआ लोहा अग्निके गुणधर्मोंसे युक्त होता है उसी तरह ईश्वरकी पवित्र अग्निमें तपा हुआ यह साधक ईश्वरके पवित्र और शुभ गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है अर्थात् ईश्वरही बन जाता है। क्योंकि जो ईश्वरके साथ समानधर्मा हो चुका है उसके ईश्वर बननेमें कमी ही क्या है? अर्थात् यह ज्ञान नरको नारायण कर देनेवाला है। अतः यह ज्ञान प्रत्येक साधकको अवश्यही प्राप्त करना चाहिये इसलिये आगे जो ज्ञान कहा जानेवाला है उसका अत्यन्त एकाग्र चित्त होकर ग्रहण करना चाहिये ।

हे भरतकुलमें उत्पन्न वीर ! महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिही मेरे लिये गर्भ-स्थापनाका स्थान है, उसमें मैं गर्भ स्थापना करता हूं, उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥३॥ हे कुन्तीपुत्र ! सब योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन सबका उत्पत्तिस्थान महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिही है और मैंही उसमें बीज डालनेवाला पिता हूं ॥४॥

भावार्थ—एक तो ईश्वर है दूसरी उसकी महती शक्ति प्रकृति है। ईश्वर अपना बीज इस प्रकृतिमें डालता है। उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् ईश्वरके बीजसे प्रकृतिमातामें गर्भधारणा होकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। अतः सब साधक अपने आपको परमात्माके बीजसे उत्पन्न जानकर इस बातको न भूलें कि उन्हें भी अपने जनकके समानही समर्थ बनना है। ३-४

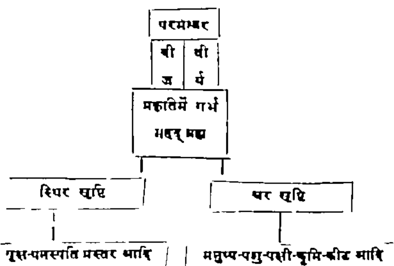
सबका उत्पत्ति-स्थान

(३-४) सब विश्वका पालक एक ईश्वर है उस ईश्वरकी एक प्रकृति है उसको महद्ब्रह्म कहते हैं। वह शक्ति अनन्त है। अपरंपार अर्थात् शक्ति होनेसे तथा इसका पार कोई भी नहीं पा सकता इस कारण इसको 'महत् ब्रह्म' कहते हैं। 'महत्' का अर्थ बडा है और 'ब्रह्म' का अर्थ भी विशाल विस्तृत है। अतः महत्-ब्रह्मका अर्थ है बडी विशाल विस्तृत शक्ति। वह ईश्वरकीही शक्ति है। ईश्वर जैसा महान् है वैसीही उसकी शक्ति भी महती है।

यही ईश्वरकी महती प्रकृतिही सब स्थिरचरका [योनि] उत्पत्तिस्थान है। इसीसे सब पैदा होते हैं और अन्तमें इसीमें जा मिलते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इस प्रकृतिसे उत्पन्न न हुई हो। अर्थात् स्थिर चर मूर्त अमूर्त तथा सृष्टिके अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृतिसे पैदा हुए हैं।

मानो ईश्वर (बीजप्रदः पिता) गर्भाधान करनेवाला पिता है और यह प्रकृति गर्भका धारणपोषण करके प्रसव करनेवाली (ब्रह्म महत् योनिः) माता है। इस प्रकृतिकी योनिमें ईश्वरका वीर्य जाता है। वहां उससे गर्भधारणा होती है और सृष्टिके सब चर और अचर, सजीव और निर्जीव (भूर्तेया संभवन्ति) पदार्थ बन जाते हैं। (संभवः सर्वभूतानां ततो भवति। गी० १४।३) संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति इसी तरह होती है।

इस सृष्टिमें मनुष्य पशु पक्षी, कीट पतंग अथवा स्थावर जंगम वृक्ष वनस्पति आदि अनंत योनियां हैं। प्रत्येक जातिमें अनंत उपजातियाँ हैं। इनकी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका स्वभावधर्म भिन्न भिन्न होता है। प्रत्येक उपजातिमें उत्पन्न होनेवालोंका स्वभावधर्म भी विभिन्न होता है। ऐसे सर्वों अनंत योनियोंमें उत्पन्न होनेवाली अनंत मूर्तियोंकी महायोनि यह परमात्माकी प्रकृतिही है और परमेश्वरही इस प्रकृतिमें इन सबका बीज डालता है। जिससे सब सृष्टिमें दीखनेवाली मूर्तियां उत्पन्न होती हैं।



(३) तीन गुणोंका बंधन

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः (सन्ति ते) देहे अव्ययं देहिनं निबध्नन्ति ॥५॥ हे अनघ ! तत्र अनामयं प्रकाशकं सत्त्वं निर्मलत्वात् (आत्मानं) सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च बध्नाति ॥६॥ हे कौन्तेय ! रागात्मकं रजः तृष्णासंगसमुद्भवं विद्धि । तत् देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति ॥७॥ हे भारत ! तमः तु सर्वदेहिनां मोहनं अज्ञानजं विद्धि । तत् (देहिनं) प्रमाद आलस्य-निद्राभिः निबध्नाति ॥ ८ ॥ हे भारत ! सत्त्वं (देहिनं) सुखे संजयति रजः कर्मणि उत तमः तु ज्ञानं आवृत्य प्रमादे संजयति ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं ये देहमें अविनाशी देहधारीको- (जीवको)-बांध लेते हैं ॥ ५ ॥ हे निष्पाप ! इनमें नीरोगता देनेवाला और प्रकाश करनेवाला सत्त्वगुण अपनी निर्मलताके कारण आत्माको सुखसे और ज्ञानसे बांधता है ॥ ६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रजोगुण प्रेम करनेवाला होनेसे तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करता है ऐसा तू समझ। यह देहधारीको कर्मपाशमें बांध देता है ॥ ७ ॥ हे भरतकुलोत्पन्न ! तमोगुण तो सब देहियोंका मोहमें डालनेवाला है और यह अज्ञानसे उत्पन्न होता है। यह देहीको प्रमाद आलस्य और निद्रामें बांध देता है ॥ ८ ॥ हे भारत ! देहधारीको सत्त्वगुण सुखमें रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगा देता है ॥ ९ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ स्थिर हो या चल हो उसमें प्रकृतिका अंश है और साथ साथ परमात्माके चैतन्यरूप वीर्यका भी अंश है। परमात्माका वीर्य केवल सजीव सृष्टिमें है और निर्जीव सृष्टिमें नहीं ऐसा नहीं है दोनोंमें उसका वीर्य है। जैसे सजीव सृष्टि विविध प्रकारकी है वैसेही निर्जीव सृष्टि भी। दोनोंका बीजदाता परम पिता परमात्माही है। साधक यहां समझें कि अपने अन्दर परमात्माका बीज है साथही साथ यह भी समझें कि उसके अन्दर परमात्माका बीज होनेसे वह विकसित होकर उसको अमरत्व प्रदान करनेवाला है। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूं अतः मैं परम पिताके साधर्म्यको अवश्य प्राप्त करूंगा। यह निश्चय रखें। जैसे प्रत्येक पुत्र पिताके साधर्म्यसे युक्त होताही है वैसे ही मैं उसका अमृत पुत्र उसके अमरत्वको अवश्यही प्राप्त होऊंगा। उसके अमरत्वको प्राप्त करनाही मेरा जीवन-उद्देश्य है। उस परम पिता परमात्माके वीर्यका स्वभावही ऐसा है कि वह क्रमशः परमात्माके साधर्म्यसे युक्त होताही (साधर्म्यं आगताः। १४।२) कितने भी विघ्न बीचमें आ जायें तो भी उन संपूर्ण विघ्नोंको परास्त करके परम पिताके साधर्म्यको यह अवश्य प्राप्त होगा। संपूर्ण विघ्नोंको पराजित होकर और परमात्माके बीजकी विजय होकर यह पूर्णताके साथ रहेगा।

अपने अन्दर यही अतुल सामर्थ्ययुक्त परमात्मबीज है यह समझकर और जैसे वटबीजसे वटवृक्षही होता है उसी प्रकार मैं भी नरका नारायण पुत्रका पुरुषोत्तम जीवात्माका परमात्मा शीघ्रही अवश्य बनूंगा।

इस ज्ञानसे साधकके मनमें यह निश्चय हो जायगा और उसका आत्मविश्वास निःसन्देह बढ जायगा। यहांतक बीजका विचार करके अब इसकी प्रकृतिका विचार करते हैं—

भावार्थ— प्रकृतिमें सत्त्व रज और तम ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण देहकी उत्पत्तिके साथही देहमें आते हैं और इन गुणोंके मेलसे देहधारी जीवका स्वभाव बनता है। सत्त्वगुणसे निर्मलता नीरोगता प्रकाश सुख और ज्ञान प्राप्त होता है। रजोगुणसे विषयोंपर प्रेम तृष्णा भोगोंपर आसक्ति और कर्मोंके साथ संग होते हैं, तथा तमो गुणसे मोह प्रमाद अबुद्धियां आलस्य निद्रा अज्ञान आदि होता है। इन गुणोंको अपनेमें देखकर मनुष्य अपनेमें किस गुणकी प्रधानता है इसकी परीक्षा करे ॥ ५-९ ॥

प्रकृतिका स्वभाव

(५-९) परमात्माकी एक प्रकृति है जिसमें परमात्मा के बीजद्वारा सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं। उनके नाम सत्त्व रज और तम हैं। ये तीन गुण जब सम मात्रामें रहते हैं तभी इस प्रकृतिको मूल प्रकृति गुणसाम्या प्रकृति कहते हैं। इस गुणसाम्यावस्थामें इससे या इसमें कोई कार्य नहीं होता कार्य होनेके लिये इसमें कुछ न कुछ विषमता उत्पन्न होनीही चाहिये और इस प्रकृतिकी गुण साम्यता हटकर गुण-विषमता उत्पन्न होनी भी आवश्यक है।

सत्त्व रज-तम इन तीनों गुणोंके कुछ विशेष धर्म होते हैं—

सत्त्वगुण

यह निर्मल निर्दोष प्रकाशक मार्गदर्शक अनामय नीरोगता स्थापन करनेवाला व्याधियोंको हटानेवाला सुख देनेवाला इंद्रियोंकी सुस्थिति रखनेवाला ज्ञान देनेवाला (सत्त्व)बल बढानेवाला है।

रजोगुण

यह राग अर्थात् विषयोंपर प्रीति उत्पन्न करता है तृष्णा प्यास अथवा चाह उत्पन्न करता है मुझे यह चाहिये और वह चाहिये ऐसी जो मनमें वृत्ति उठती है वह इसी रजोगुणसे उठती है। भोगोंके साथ संग करनेकी अभिलाषा होती है। यह रजोगुणी मनुष्य भोगोंका संग छोडना नहीं चाहता भोगोंको अपने पास इकट्ठा करता जाता है भोगोंकी प्राप्तिके लिये विविध प्रकारके छोटे मोटे कर्म करना शुरू कर देता है। एक कर्म समाप्त होनेपर दूसरा दूसरेके बाद तीसरा ऐसेही विविध कर्मोंको प्रारम्भ कर देता है। यही रजोगुणका स्वरूप है।

तमोगुण

तमोगुणसे अज्ञान होता है; ज्ञानग्रहणशक्ति ढक जाती है घेरी जाती है वह अपना कार्य नहीं कर सकती। ज्ञान न होनेसे मोह होता है, मोह होनेसे कार्य और अकार्यका निर्णय नहीं हो पाता क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये यह पह जान नहीं सकता। इसी कारण वह प्रमाद और अबुद्धियां करता है उसे आलस्य निरुत्साह और सुस्ती आने लगती है। वह रातदिन सोता रहता है कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता पडा रहता है। शरीर वाणी और मनसे कर्म करनेमें अरुचि होती है। यह तमोगुणका स्वरूप है।

संक्षेपसे कहना चाहें तो सत्त्वगुणसे सुख रजोगुणसे विविध कर्म और तमोगुणसे ज्ञान आवृत हो जानेसे अनेक प्रमाद होते हैं।

संपूर्ण विश्वमें इन तीन गुणोंका खेल चल रहा है इस विश्वमें त्रिगुणोंके इस विलासको पाठक देख सकते हैं। प्रत्येक प्राणी प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणोंसे बनी है। किसीमें किसी गुणका विकास है और दूसरेमें न्यूनता। न्यून हो या अधिक किन्तु इन तीनों गुणोंका निवास सब सृष्टि पदार्थोंमें है। मूल प्रकृतिमेंही ये तीनों गुण हैं अतः प्रकृतिसे उत्पन्न विविध पदार्थोंमें भी ये उपस्थित हैं।

सत्त्वगुणसे युक्त होनेपर मनुष्य सुख चाहता है रजो गुणसेयुक्त होनेपर उसे कर्म करनेकी इच्छा होती है और तमोगुणसे वेष्टित होनेपर वह सुस्त पडा रहता है। किसीएक गुणका प्रभाव होनेपर अन्य गुण नहीं होते ऐसी बात नहीं है परन्तु दबे होते हैं और प्रधानता उसी गुणकी हो जाती है।

यदि कोई मनुष्य निर्मल निर्दोष नीरोग प्रसन्न और च्छुर है तो समझो कि उसमें सत्त्वगुण प्रभावशाली है। यदि कोई मनुष्य यह चाहिये वह चाहिये, ऐसा करता है और भोग वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये दिनरात प्रयत्न करता है तो उस सदा अशान्त मनुष्यमें रजोगुणका प्रभाव बहुत बढ गया है ऐसा समझना उचित है। जिसमें कुछ भी बुद्धि नहीं है जो सुस्त है दिनरात सोता रहता है, बिलकुल प्रयत्न नहीं करता यदि कुछ करने लगता है, तो उसमें अनेक प्रमाद कर बैठता है तो उसमें तमोगुण बढ गया है ऐसा समझना चाहिये।

इस रीतिसे किस मनुष्यमें कौनसा गुण बढ गया है इसकी परीक्षा हो सकती है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे। किसीएक गुणकी वृद्धि होनेका अर्थ अन्य गुण दबे हुए हैं यही समझना चाहिये।

(४) तीनों गुणोंके लक्षण

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वयः— हे भारत ! सत्त्वं रजः तमः अभिभूय (स्वयं) भवति, रजः सत्त्वं तमः च (अभिभूय स्वयं भवति) तथा तमः, सत्त्वं रजः च (अभिभूय स्वयं भवति) ॥ १० ॥ तत् यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानं च उपजायते तदा सत्त्वं विवृद्धं इति विद्यात् ॥ ११ ॥ हे भरतर्षभ ! लोभः प्रवृत्तिः कर्मणां आरम्भः अशमः स्पृहा एतानि (चिह्नानि) रजसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥ १२ ॥ हे कुरुनन्दन ! अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च प्रमादः च मोहः एव एतानि (चिह्नानि) तमसि विवृद्धे (सति) जायन्ते ॥ १३ ॥

सत्त्वगुण रज और तमोगुणको पराजित करके (स्वयं प्रभावित) होता है वैसे ही रजोगुण सत्त्व और तमको (पराजित करके स्वयं प्रभावी होता है) तमोगुण सत्त्व और रजोगुणको (परास्त करके स्वयं प्रभावी) होता है ॥ १० ॥ जब इस देहमें सब इन्द्रियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुणको बढ़ा हुआ समझना चाहिये ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ प्रवृत्ति कर्मोंका आरम्भ इन्द्रियोंकी अशान्ति और इच्छा ये चिह्न रजोगुणके बढ़नेपर होते हैं ॥ १२ ॥ हे कुरुपुत्र अर्जुन ! प्रकाशका अभाव, कर्म करनेकी प्रवृत्ति न होना प्रमाद और मोह ये चिह्न तमोगुण बढ़नेपर होते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— यद्यपि मनुष्योंमें तीनों गुण सदा रहते हैं तथापि समय समयपर अन्य गुण दब जाते हैं और किसी एक गुणका विशेष प्रभाव हो जाता है । किसी समय रजोगुण तथा तमोगुण दब जाते हैं और सत्त्वगुण प्रभावशाली होकर कार्य करता है । दूसरे समय सत्त्वगुण और तमोगुण दब जाते हैं और रजोगुण बढ़कर प्रभावी हो जाता है । इसी प्रकार कभी सत्त्वगुण और रजोगुण दब जाते हैं और तमोगुण बढ़कर प्रभावी हो जाता है । इस तरह इन प्राकृतिक गुणोंका खेल चलता रहता है । जब देहमें प्रकाश और ज्ञान होता है तब सत्त्वगुणका प्रभाव है; जब लोभ प्रवृत्ति भोगकामना कर्मोंकी प्रवृत्ति असंयम आदि चिह्न होते हैं तब रजोगुणका प्रभाव है; तथा जब अज्ञान अप्रकाश अप्रवृत्ति प्रमाद मोह आदि होते हैं उस समय तमोगुणका प्रभाव है ऐसा समझना चाहिये । इससे साधक अपने अन्दर किस समय किस गुणका प्रभाव है यह जान सकता है ॥ १०—१३ ॥

(१०-१३) एक गुण प्रभावशाली हो तो दूसरे दब जाते हैं। अर्थात् दूसरे गुणोंको दबाकर ही कोई एक गुण प्रभावी होता है।

सत्त्वप्रभाव	रजःप्रभाव	तमःप्रभाव
रज-तम	सत्त्व तम	सत्त्व-रज

जो गुण प्रभावी होता है वह दूसरोंको दबाए रखता है और उनको उठने नहीं देता। इसलिये उन दब हुए गुणोंमें उठनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और वे यत्न करते हैं और जो अधिक जोर पकड़ता है वही अधिक प्रभावशाली बनता है और दूसरोंको दबाये रखता है। इस प्रकार तीनों गुणोंका खेल चलता रहता है। (श्लो १०)

इस देहकी सम्पूर्ण इन्द्रियद्वारोंमें जब प्रकाश होता है सर्वत्र प्रसन्नता अनुभव होती है असाधारण आनन्द होने लगता है स्वाभाविक नीरोगता रहती है सन्देहरहित ज्ञान ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा होता है उस समय सत्त्वगुण इस देहमें बढ़ गया है और प्रभावशाली हुआ है ऐसा समझना चाहिये। (श्लो ११)

जिस समय इस देहमें लोभ उत्पन्न होता है यह मुझे मिलना चाहिए ऐसी इच्छा प्रबल हो जाती है किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेको प्रवृत्ति होती है उस

(५) तीनों गुणोंका फल

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् । तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् । रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः १८

अन्वयः— यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे (सति) देहभृत् प्रलयं याति तदा उत्तमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ (देहभृत्) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा [सः] तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥ सुकृतस्य कर्मणः सात्त्विकं निर्मलं फलं रजसः फलं तु दुःखं तमसः च फलं अज्ञानं [इति] आहुः ॥ १६ ॥ सत्त्वात् ज्ञानं संजायते रजसः लोभः एव च [संजायते] तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानं च एव भवति ॥ १७ ॥ सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ॥ १८ ॥

जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर देहधारी देहको छोड़ता है तब वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ रजोगुणकी वृद्धि होनेके समय जब मृत्यु हो जाती है, तब वह कर्मसंगी लोगोंमें जन्म लेता है। वैसेही तमोगुणके बढ़नेपर मृत्यु हो जाय तो मूढ योनियोंमें उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥ सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्दोष होता है रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है। ॥ १६ ॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद मोह और अज्ञान होता है ॥ १७ ॥ सात्त्विक उन्नत होते हैं राजस बीचमें रहते हैं और तमोगुणी लोग अधोगतिको जानेवाले और नीचे होते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ— सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेपर मृत्यु हो तो उसका जन्म ज्ञानियोंमें होता है रजोगुणके प्रभावके समय मृत्यु हुआ तो कर्म करनेवालोंमें जन्म होता है और तमोगुणोंके प्रभावके समय मृत्यु हुई तो मूढ जातियोंमें उत्पत्ति होती है। अतः सत्त्वगुण अपनेमें बढ़ाना लाभदायक है। सत्त्व रज और तमोगुणोंका फल क्रमशः सुख अशान्ति और अज्ञान है। सत्त्वगुणसे ज्ञान रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे असावधानी मोह और अज्ञान होता है। सत्त्वगुणी लोग उन्नत होते हैं रजोगुणी बीचकी अवस्थामें प्रयत्न करनेमें दत्तचित्त होते हैं और तमोगुणी लोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये साधकको अपनेमें सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेका यत्न करना चाहिये ॥ १४-१८ ॥

भोगलालसाकी तृप्तिके लिये विविध कर्मोंका प्रारंभ किया जाता है। एक कर्मसे भोगकी प्राप्ति न होनेपर उसके पीछे दूसरे अनेक कर्म आरंभ किये जाते हैं। इन्द्रियोंका संयम करनेका यत्न नहीं होता। परन्तु इस अशान्तिको ही उन्नतिका साधन समझा जाता है। मुझे यह चाहिये आज मेरे पास यह है कल उसको प्राप्त करूंगा परसों वह मिलेगा और उस समय मैं बहुतही सुखी हो जाऊंगा इस तरहकी वासना कामना तथा भोगस्पृहा जब बढ़तीही जाती है उस समय उस देहमें रजोगुणको बढ़ा हुआ समझना योग्य है। (श्लो० १२)

जब देहसे कुछ कर्म न किये जावें चुपचाप पड़े रहें कुछ भी हलचल न करें तो आप आलसमें पड़े रहनेकी तमोवृत्ति ही जाय। क्या करना चाहिये और क्या नहीं इस विषयमें कुछ भी निश्चय न हो पावे भविष्यके विषयमें अपनी आंखोंके सामने बिलकुल अन्धेराही दीखता हो उजालेकी एक भी किरण सामने न हो जो कुछ किया जाय उसमें प्रमाद और अशुद्धियोंकी भरी हों कभी एक भी कर्म निर्दोष न हो पावे मोह अज्ञान अविद्याही मनको घेरे रहती हो, उस समय वहां तमोगुण प्रबल हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

इस वर्णनसे अपने अन्दर किस समय कौनसा गुण प्रबल है और किस समय अपना जीवन किस गुणके प्रभावमें आ गया है यह निश्चित हो सकता है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे और जाने कि अपने जीवनको आवृत करनेवाला गुण कौनसा है।

(५) द्रष्टाका गुणातीत होना

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

(१४ १८) सत्त्व रज और तम ये गुण प्रभावशाली रहनेपर मृत्यु हो जाय तो अगला जन्म किस प्रकारकी परिस्थितिमें होता है इसीका विचार आगे है।

सत्त्वगुण प्रबल रहनेके समय मृत्यु होनेसे वह जीवात्मा उत्तम निर्मल निर्दोष ज्ञानी लोगोंके घरमें उत्पन्न होता है वहां उसको सब प्रकारकी सात्त्विक परिस्थिति मिलती है और वह उत्तम उन्नतिको प्राप्त होता है।

जिस समय रजोगुणकी प्रबलता होती है उस समय मृत्यु होनेपर वह जीवात्मा विविध कर्म करनेवालोंके घरमें जन्म लेता है और वहां विविध भेद पुरुषार्थ करता हुआ अनेकानेक भोग प्राप्त करता है।

इसी तरह तमोगुणकी वृद्धि होनेके समय जिसकी मृत्यु होती है वह मूढ जातियोंमें जन्म लेता है और वहां अज्ञानसे युक्त होकर प्रमाद और आलस्यमें सड़ता हुआ अवनत दुर्गतिको प्राप्त होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु होनेके पश्चात् भी पूर्व जन्मके गुणका परिणाम कैसे भोगना पड़ता है? इसका उत्तर इतना ही है कि स्थूल सूक्ष्म और कारण ऐसे देहधारीके तीन देह होते हैं। जो गुण प्रभावशाली होता है वह इन तीनों देहोंमें प्रभावशाली होता है। स्थूल शरीर अन्नमय देह है। सूक्ष्म देह वासनामय मनोमय और ज्ञानमय है। ये देह एक दूसरेके अन्दर होते हैं। सबसे बाहर स्थूल देह यह अन्नमय रहता है। इसके अन्दर सूक्ष्म वासना-देह और मनोमय देह है और उसके भी अन्दर कारण देह अथवा इच्छारूप-ज्ञानरूप देह है। जिस समय सत्त्वगुण प्रधान होता है उस समय शरीरही सात्त्विक गुणयुक्त होता है और मन आदि रज या तम गुणसे युक्त होते हैं ऐसा नहीं होता। स्थूल सूक्ष्म और कारण इन देहोंमें एकही गुण प्रभावशाली होता है। इस कारण स्थूल शरीर छूटनेपर अन्य दो शरीर जीवचैतन्यके साथ रहते हैं और उनमें वही गुण प्रभावशाली रहता है जो मृत्युके समयपर प्रभावी था। वस्तुतः देखा जाय तो स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म और कारणदेहके गुणोंका प्रभाव अत्यधिक हुआ करता है। अतः मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म देहोंके अन्दरके गुण इसको अपने साथ आकर्षित करके जहां पहुंचाना हो वहां पहुंचा देते हैं। इससे स्पष्ट है कि मृत्युके समय प्रभावशाली हुआ गुण मृत्युके पश्चात् दूसरा देह मिलनेतक और दूसरा देह धारण होनेके पश्चात् भी प्रभावशाली रहता है। इसीलिये मरणके समय जो गुण प्रभावशाली रहेगा, उसका महत्त्व अधिक है।

जैसे निद्रा आनेके समय जो गुण प्रभावी रहेगा उसका परिणाम पुनः जाग्रत होनेतक रहता है और सत्त्वगुणके समय निद्रा आ जाय तो स्वस्थ और गाढ निद्रा आती है उत्तम स्वास्थ्य रहता है और आनन्दका अनुभव होता है। रजोगुणके समय निद्रा आ जाय तो अनेक स्वप्न आते हैं भयभीत करनेवाले दृश्य दीखते हैं भोग स्वप्न आते हैं और नींदमें अशान्ति रहती है। इसी तरह तमोगुणके समय निद्रा आ जाती तो बेहोशी छायी रहती है। इस तरह जितनी देरतक निद्रा आयेगी उतनी देरतक उसी गुणका प्रभाव रहता है, जो गुण निद्रा आनेके समय प्रभावी था। यही महानिद्रा मृत्युके समय समझना उचित है। (श्लो १४-१५)

सात्त्विक कर्मका निर्दोष सुखदायी फल रजोगुणयुक्त कर्मका फल दुःख और तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान और मूढता है। सत्त्वगुणसे ज्ञान रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञानजन्य प्रमाद और मोह होते हैं। इस कारण सत्त्वगुणसे उन्नति रजोगुणसे मध्यम स्थिति और तमोगुणसे अधोगति होती है। (श्लो १६-१८)

इस तरह इन तीनों गुणोंका प्रभाव और परिणाम जानकर मनुष्य अपने आपको अवनति करनेवाले गुणोंसे बचावे और अपने अन्दर उन्नति करनेवाले गुणोंकी वृद्धि करनेका यत्न करे। इस तरह यत्न करनेपर निश्चयही उसकी उन्नति हो सकती है।

आगे इन गुणोंके बंधनोंसे मुक्त होनेके उपायका उपदेश करते हैं।

अन्वयः— यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं (आत्मानं) वेत्ति तदा सः मद्भावं अधिगच्छति ॥१९॥ देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः विमुक्तः (सन्) अमृतं अश्नुते ॥२०॥

जब द्रष्टा इन गुणोंके अतिरिक्त दूसरा कोई (कुछ) करनेवाला नहीं है यह प्रत्यक्ष देख लेता है और गुणोंके परे रहनेवाले (आत्मा) को भी देख लेता है तब वह मेरे (ईश्वरके) स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ (वह) देह-धारी देहसे उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंसे पार होकर जन्म मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त हो जाता है, तभी यह अमरत्वको भी प्राप्त कर सकता है॥२०॥

भावार्थ— जब साधक देखता है कि यहां ये तीन गुणही सब कुछ कर रहे हैं इनके अतिरिक्त यहां दूसरा कोई कर्ता नहीं है तब वह जान जाता है कि इन गुणोंसे सदा पृथक् रहनेवाला आत्मा अकर्ता है और वही ईश्वर है तो वह स्वयं अपने आत्मामें अकर्तृत्वको अनुभव करके ईश्वरीय भावसे युक्त हो जाता है। जब साधक इन तीनों गुणोंसे पार होता है तब वह जन्म मृत्यु जरा आदि दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वरीय अमर भावसे युक्त हो जाता है ॥ १९-२० ॥

(१९-२०) साधक ऐसा विचार करे कि मेरे शरीरके अन्दर अर्थात् मेरे स्थूल सूक्ष्म और कारण देहमें किंवा मेरी इंद्रियोंमें मनमें वासना और कामनाओंमें तथा बुद्धिमें जो गुण प्रबल रहते हैं वैसेही उसमें कर्मविचार और वासना कामना आदि होते रहते हैं। यह तो इन गुणोंका खेल है। तमोगुणी देह और तमोगुणी मनसे सत्वगुणी कर्म और विचार होना असंभव है। इस कारण यही सत्य है कि ये गुण यहांके सब व्यवहारोंके सच्चे कर्ता हैं। आत्मा इन गुणोंके परे है इन गुणोंसे ऊपर है अतः वह अकर्ताही है।

ये प्रकृतिके गुण हैं। प्रकृतिका यह सत्वरजस्तमात्मक स्वभावगुणधर्म है। वेही एक दूसरेको दबाते और स्वयं प्रभावशाली बनकर कार्य करते हैं। परन्तु जो कार्य होता है उसका फल जीवको भोगना पड़ता है। जैसे तमोगुणके प्रभावी रहनेपर मृत्यु हो जाय तो उसका जन्म अज्ञानी लोगोंमें होगा। इस कारण जो हीन परिस्थिति होगी उसके कष्टोंका अनुभव देहधारी जीवकोही करना पड़ेगा। अतः कहा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
(भ. गी. १३)

प्रकृतिसे कर्मकारणपरंपरा प्रारम्भ होती है और पुरुष सुखदुःख का भोगता है। पुरुष इस प्राकृतिक शरीरमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है। उसके इस गुणसंगके कारण पुरुषको उत्तम और नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है।

पुरुष जीव और द्रष्टा एकही है। प्रकृतिके गुणही सब कर्म करते हैं और द्रष्टा केवल देखनेवाला है। जब वह द्रष्टा अपने आपको केवल द्रष्टा मानता है, क्योंकि उसका अपना कोई संबंध नहीं है, कर्म तो उन तीनों गुणोंसे होते हैं यह बात प्रत्यक्ष रीतिसे अनुभव करता है तो उस द्रष्टाको परमात्मभाव प्राप्त हो जाता है। उस समय वह मरके मारनेवाला बन जाता है।

साधक जब देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको नीचे छोड़ कर ऊपर उठता है, तब वह जन्म-मृत्यु-जरा और मृत्युसे मुक्त होकर अमृतत्वको प्राप्त होता है अर्थात् ईश्वरभावको अपनाता है। ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं इनका खेल देहमें होता रहेगा मैं इनसे पृथक् हूं, ऐसा जब वह स्पष्ट देखेगा, तब वह इन गुणोंका बंधन तोड़कर स्वतंत्र हो जायगा और यही अमृतत्व है न यहां मृत्यु है और न दुःख। यही सबसे उच्च प्राप्तव्य अवस्था है।

यहांतक सब उपदेश प्रकृति पुरुषको परस्पर भिन्न मानकर साधकको सुबोधतया ज्ञान देनेकी इच्छासे किया है। वस्तुतः सत्व-रज-तम ये गुण भर प्रकृतिके हैं। यह प्रकृति पुरुषकी शक्ति है शक्ति शक्तिमानसे पृथक् कदापि नहीं होती। इसी कारण पुरुष और प्रकृति एकही पुरुषोत्तमके दो पहलू हैं। ऐसा होनेके कारण ये तीनों गुण पुरुषसे पृथक् नहीं हैं, तथापि साधकको सहज बोध करानेके लिये द्रष्टा जीव और प्राकृतिक गुणोंका यहां भेद रूपसे वर्णन किया गया है। यह भेद बुद्धिगम्य है वस्तुतः नहीं।

(७) गुणातीत कैसा होता है ?

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो । किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे प्रभो ! एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (जीवः) कैः लिङ्गैः (ज्ञातः) भवति ? (स च) किमाचारः ? (सः) एतान् त्रीन् गुणान् कथम् अतिवर्तते ॥ २१ ॥ श्रीभगवान् उवाच— हे पाण्डव ! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहम् एव च संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि निवृत्तानि च न काङ्क्षति ॥ २२ ॥ यः उदासीनवत् आसीनः गुणैः न विचाल्यते यः च गुणाः वर्तन्ते इति (मत्वा) एव अवतिष्ठति (च) न इङ्गते ॥ २३ ॥ (यः) समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः तुल्यप्रियाप्रियः धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥ (यः) मानापमानयोः तुल्यः मित्रारिपक्षयोः तुल्यः सर्वारम्भपरित्यागी (च अस्ति) सः गुणातीतः उच्यते ॥ २५ ॥

अर्जुनने पूछा— हे प्रभो ! इन तीन गुणोंसे परे रहनेवाले की पहचान किन लक्षणोंसे होती है ? वह कैसा आचार करता है ? और वह किस तरह इन तीनों गुणोंसे परे पहुंच सकता है ? ॥ २१ ॥ श्रीभगवान्ने कहा कि—हे पाण्डुके पुत्र ! प्रकाश (सत्व), प्रवृत्ति (रजः) और मोह (तमः) ये तीनों गुण प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता और इन तीनोंके निवृत्त होनेपर जो इनको चाहता नहीं जो उदासीनके समान रहनेके कारण इन गुणोंसे हिलाया नहीं जाता गुणही अपना कार्य करते हैं ऐसा मानकर जो स्वस्थ रहता है और कंपायमान नहीं हो जाता। जो सुखदुःखको सम मानता है जो अपनेमेंही आनंदित रहता है जो मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान मानता है जो प्रिय अथवा अप्रियकी प्राप्ति होनेपर सम अवस्थामें रहता है जो धैर्यवान् होता है, जिसको अपनी निन्दा और स्तुति समान प्रतीत होती है जिसको अपने मान और अपमान समान होते हैं जो मित्र और शत्रुके साथ समभावसे बर्ताव करता है, जो सब कार्यारंभोंको त्याग देता है वही इन तीनों गुणोंसे पार होता है ॥ २२–२५ ॥

भावार्थ— जिसको सुख-दुःख हानि-लाभ धनी-निर्धन स्तुति-निंदा जय-पराजय प्रिय अप्रिय मान-अपमान शत्रु-मित्र समान होते हैं जो इन द्वन्द्वोंसे विचलित नहीं होता जो इनको उदासीनके समान देखता है वही गुणातीत है। इन्हीं लक्षणों और आचारोंसे साधक गुणातीत हो सकता है ॥ २१—२५ ॥

मैं गुणोंके आधीन नहीं हूं परंतु गुण मेरे आधीन हैं मैं हाथोंके आधीन नहीं, परंतु हाथ मेरे आधीन हैं, ऐसा माननेसे जैसे अपना प्रभुत्व सिद्ध होता है और अपना प्रभुत्व सिद्ध होनेपर जैसे अपनी शक्ति बढती है, वैसेही गुणातीत होनेसे साधककी शक्ति बढती है। उसे अखंड शक्तिका अनुभव मिलता है। यही अमृतत्वकी या ईश्वरभावकी प्राप्ति है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि गुणातीत कैसे हो सकते हैं और गुणोंका खेल कैसे देखा जा सकता है और अपने आपको उनसे पृथक् द्रष्टाके स्वरूपमें किस रीतिसे अनुभव किया जा सकता है ? यही प्रश्न अर्जुन करना चाहता है और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनका समाधान करते हैं।—

(८) शाश्वत धर्मका आधार

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥ शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-
विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अन्वयः— यः मां च अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते सः एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥ अमृतस्य अव्ययस्य च ब्रह्मणः, शाश्वतस्य च धर्मस्य ऐकान्तिकस्य सुखस्य च हि अहं प्रतिष्ठा (अस्मि) ॥ २७ ॥

जो एकनिष्ठ भक्तिभावसे मेरी (ईश्वरकी) सेवा करता है वह इन गुणोंको लांघकर ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त करनेयोग्य बन जाता है ॥ २६ ॥ अमर और अव्यय ब्रह्मका शाश्वत धर्मका और उत्तम सुखका स्थान मैं (ईश्वर) ही हूं ॥ २७ ॥

(२१-२५) अर्जुन प्रश्न करता है कि गुणातीतकी पहचान किन लक्षणोंसे होती है ? वह कैसा आचार करता है ? और कैसे इन गुणोंसे ऊंचा उठता है ? (श्लो० २१)

यह प्रश्न सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भक्तका कल्याण करनेकी इच्छासे इस गुह्य ज्ञानको सुबोध शब्दोंके द्वारा बताते हैं।

सत्त्वगुणसे प्रकाश रजोगुणसे कर्मप्रवृत्ति और तमोगुणसे मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इन गुणोंसे ये परिणाम होतेही रहते हैं। (सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि) ये हों तो जो उनका द्वेष नहीं करता और (निवृत्तानि न कांक्षति) नहीं हुए तो जो इनकी आकांक्षा भी नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है। स्वभावसे जो चल रहा है उसमें न्यून करने की या अधिक करनेकी जो अभिलाषा नहीं करता, परंतु जो गुणोंका खेल चल रहा है उसे केवल द्रष्टा होकर देखता है जो (उदासीनवत् आसीनः) उदासीनके समान देखता रहता है सत्त्वगुणका खेल मेरे सम्मुख हो और तमोगुणका न हो जिसे ऐसा आग्रह नहीं होता सत्त्वगुणके भाव आनेसे जो प्रसन्न नहीं होता और तमोगुणके भावोंसे जो क्रुद्ध नहीं होता जो भी भाव आवे उसे इन गुणोंका स्वाभाविक खेल मानकर उदासीनके समान देखता है और (गुणैः न विचाल्यते) गुणोंके कारण जिसमें हलचल या घबराहट नहीं होती (गुणाः वर्तन्ते) ये गुण हैं और वे ऐसेही खेल करते रहेंगे ऐसा जो मानता है और जो इन गुणोंके खेलोंमें आसक्त नहीं होता वह गुणातीत कहलाने योग्य है। (श्लो० २३)

सुख देनेवाले सत्त्वगुण और दुःख देनेवाले रजोगुणके भाव जिसका रागद्वेष नहीं है जो इनके सम्मुख आने न आनेपर भी एक जैसा रहता है जो (स्व-स्थः) अपनी स्थितिमें रहता है जिसको ये गुण डांवाडोल नहीं करते जो इन गुणोंके कारण अपने स्वभावसे भ्रष्ट नहीं होता, जो सुख प्राप्त होनेपर गर्व नहीं करता दुःख प्राप्त होनेपर विषाद नहीं करता कर्म करनेके समय त्रस्त नहीं होता प्रिय वस्तु मिले तो हर्षित नहीं होता और अप्रिय स्थितिमें रहनेका अवसर आवे तो भी दुःखी नहीं होता, प्रशंसा होने लगे तो जो प्रसन्न नहीं होता और निन्दा हो तो जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता जो पत्थर मिट्टी और सोनेको समभावसे देखता है, अर्थात् सुवर्ण मिल जाय तो हर्षसे उन्मत्त नहीं होता और अपने पासका सुवर्ण चला जाय और हाथमें मिट्टी आ जाय तो जिसका हृदय नहीं जलता, वह गुणातीत कहलाता है।

मान हो अथवा अपमान मित्र साथ रहें अथवा शत्रुका सामना करना पडे दोनों अवस्थाओंमें जो मनकी स्थिति समान रख सकता है वह गुणातीत है। जो मैं कर्ता हूं, ऐसा अहंकार करके कर्म नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है।

यहांतक गुणातीतके लक्षण बताकर गुणातीत कैसा आचरण करता है कैसे बोलता चालता है कैसा व्यवहार करता है इसका वर्णन हुआ है। इससे गुणातीत पहचाना जा सकता है। इन लक्षणोंसे साधक अपनी परीक्षा करे और उन्नतिमें कहांतक पहुंचा हूं इसका निश्चय करे आगे ईश्वरसेवाका वर्णन है।

भावार्थ— जो एकनिष्ठ भक्तिसे ईश्वरकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको पीछे छोड़कर आगे बढ़ता है और ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है। अमर ब्रह्म शाश्वत धर्म और उत्तम सुखका धाम ईश्वरही है ॥ २६—२७ ॥

(२६-२७) जो अनन्य भक्तिसे परमेश्वरकी सेवा करता है वह इन गुणोंको पीछे छोड़ देता है और आगे बढ़कर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है। ब्रह्म, अमृत उत्तम सुख और शाश्वत धर्मका आधार यही एकमात्र परमेश्वर है। इस परमेश्वरके साथ जो अनन्य हो चुका है वह उससे अन्य न रहनेके कारण उससे पृथक् न रहनेके कारण उसी ईश्वरीय भावसे युक्त हो जाता है। क्योंकि सब एकही अखण्ड सत्ता है उसमें अन्य नहीं है। उसमें यह मैं वह दूसरा, ऐसा भेदही नहीं है। इस तरह जिसके अन्दर यह अनन्यभाव स्थिर हुआ वह ईश्वरके साथ अनन्य अभिन्न होनेके कारण ईश्वरभावसेही युक्त होता है।

वह भगवान्‌की सेवा नहीं कर पाता है, जो अपने आपको उससे अनन्य अथवा अभिन्न समझता हो। जो अपने आपको भिन्न तथा अन्य मानता है वह सच्ची अनन्यसेवा अथवा अनन्य भक्ति कर ही नहीं सकता। अतः यह सच्ची अनन्यभक्तिही ब्रह्मभावको प्राप्त करनेवाली है। यही अनन्य भावसे की जानेवाली विश्वसेवा सबको शाश्वत सुख देनेवाली है। क्योंकि ब्रह्म, अमृत शाश्वत धर्म अखण्ड सुखका एकही आधार है। विश्वरूपी विश्वात्माके साथ अनन्य अभिन्न और अखण्डित होनेसेही साधक ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। यही जीवका अन्तिम साध्य है, जो गुणातीत होनेसे सिद्ध हो सकता है। सब जीव इसी सिद्धिके लिये यत्न कर रहे हैं। जो अनन्यभावसे प्रयत्न करेंगे वे अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे।

चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

चौदहवें अध्यायका मनन।

सत्व रज-तम ये तीनों गुण विश्वके संपूर्ण पदार्थोंमें किस तरह विद्यमान हैं इसका वर्णन इस अध्यायमें उत्तम प्रकार किया गया है। प्रत्येक गुणका क्या लक्षण है और परिणाम क्या है यह भी यहां दिखाया गया है। ये गुण मनुष्यमें हैं और मनुष्यका स्वभाव इनसेही बनता है। मनुष्यकी उच्चगति अथवा अधोगति होना सर्वथा इन्हीं गुणोंपर निर्भर है। इस कारण इस त्रिगुणविषयक ज्ञानकी साधकको बडी आवश्यकता है।

इस ज्ञानसे साधकको परम-सिद्धि मिलती है और साधक परमेश्वरके गुणधर्मोंको अपने अन्दर धारण करके परम उच्च अर्थात् 'नरका नारायण' बन सकता है।

शुद्ध बीज।

संपूर्ण विश्वका एकही स्वामी परमपिता परमात्मा है और उसकी महाशक्ति अथवा आदि शक्तिका नाम मूल प्रकृति है। इसका नाम आदिमाता और परमेश्वरका नाम आदिपिता है। ये दोनों मिलकर संपूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं। परमेश्वरका शुद्ध बीज प्रकृतिमें आकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यह बीजही वीर्य है। वीर्यमें पिताके सब गुणधर्म अंशरूपसे आते हैं और पुत्रके विकासके साथ उन गुणोंका भी विकास होता जाता है।

बहुधा पिताके अवयवोंके सदृश पुत्रके होते हैं इसका कारण यही है। पिताके वीर्यमें पिताके अवयवोंका अंशरूप धार रहता है और वह विकसित होकर पुत्रके अवयव पिताके समान हो जाते हैं। पिताके वीर्यका प्रभाव यहां पाठक देखें और अपने अन्दर परमपिता परमात्माका वीर्य है इसलिये मेरा विकास होकर मैं भी परमपिता परमात्माके सदृश होनेवाला हूं, मैं इस समय नर हूं परन्तु भविष्यमें नारायण बनूंगा क्योंकि मेरे अन्दर नारायणका वीर्य काम कर रहा है मैं पुरुष हूं अतः मैं पूर्ण उन्नत होकर पुरुषोत्तम बनूंगा मैं जीव हूं और शिव बनूंगा।' इस तरह विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता कि जगदीश परमात्माका वीर्य प्रकृतिमें आकर यह सब प्रसार बना है।

जिसका वीर्य होता है उसीके समान पुत्र होता है। यह नियम संपूर्ण विश्वमें सदा अनुभवमें आता है। मनुष्यके वीर्यसे मनुष्यका पुत्र होता है इसी तरह परमात्माके वीर्यसे जो पुत्र होगा वह परमेश्वर स्वरूपही बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। जिस कारण मेरे अन्दर परमात्माका वीर्य है उसी कारण मेरी पूर्णता परमेश्वर बननेमें होगी। हरएक मनुष्यके अन्दर परमात्माका वीर्य है यह उपदेश यहां देकर भगवद्गीताने हरएक मनुष्यको यह विश्वास दिया है कि वह अवश्यही नरका नारायण बनेगा अथवा वह नररूपमें नारायणही अवतीर्ण हुआ है।

इस उपदेशका ग्रहण करके, इस समयतकके ऋषि, मुनि, साधुसंत सब परमसिद्धिको प्राप्त हुए और परमेश्वरके साधर्म्यसे युक्त हुए देखे जो यहां कहा है उसका तात्पर्य यह है कि पिताके वीर्यसे उत्पन्न हुआ बालक अंशरूपसे पिताही होता है, पिताही बालकरूपसे अवतीर्ण होता है वह दूसरा कोई नहीं होता। परन्तु वह स्वयं पुत्ररूपसे आया होता है। इसी तरह परमपिता संपूर्ण विश्वरूपसे अवतीर्ण हुआ है उसीमें यह मानवरूपसे भी अवतीर्ण हुआ है। और साधक भी वही है।

पाठक यह शुद्ध ज्ञान अन्तःकरणमें धारण करें और विचारें मनन करें पुनः पुनः मनमें स्थिर करें और देखें कि इस ज्ञानसे, आत्मशक्तिका विकास कितना बढता है! पहिले जो प्रतीत होता था कि मैं [illegible] क्षुद्र अल्प-हीन हूं तुच्छ हूं यह विचार दूर होता है और मैं परमात्माके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्मशक्तिसे

सिद्ध हूं और परिपूर्ण होकर परमेश्वरके आश्रयसे मुक्त होऊंगा इस समय भी यद्यपि मैं परमेश्वरका पुत्र हूं, तथापि यहां इस रूपसे अवतीर्ण हुआ हूं इत्यादि विचार स्पष्ट होनेके कारण अपनी सच्ची शक्तिका पता लगता है। और यही आत्मविश्वास मानवोंकी सच्ची उन्नतिका हेतु है।

रज-सामर्थ्य।

जैसे बीज उत्तम चाहिये वैसेही रज भी उत्तम चाहिये। पूर्वोक्त स्थानमें बीजके प्रभावका वर्णन किया, अब रजके प्रभावका विचार करते हैं। परमात्माकी आदिप्रकृतिही यहां रजःशक्ति है परमात्माके बीजको यह रज अपने अन्दर लेता है और इनके मेलसे पुत्र उत्पन्न होता है। यह रजः परमात्माकी आदिप्रकृतिमही होनेसे यहांका रजःसामर्थ्य भी बड़ा विलक्षण है। परमात्माके बीज वीर्य और परमात्म शक्तिकी रजका यहां संयोग हुआ है। अर्थात् बीजरूपसे परमात्मा हमारे अन्दर है और रजःस्वरूपसे परमात्मशक्ति हमारे अन्दर है। अतः पिता और माताकी ओर देखा जाय तो हमारा सामर्थ्य कम नहीं है।

जो आदिशक्ति मूल प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं, जो कि सत्त्व-रज-तम नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वगुण सुख देनेके कारण सुखसंगसे देहधारीको बांध देता है, रजोगुण विविध कर्मोंमें प्रेरित करनेके कारण विविध पुरुषार्थोंमें देहधारीको बांध देता है, और तमोगुण प्रमाद, आलस्यादि दोषोंसे बांध देता है। इस तरह ये तीनों गुण देहधारीको बांध देते हैं। और इनके पाशोंके बंधनसे छूटनाही इसका पुरुषार्थ है यही मुक्ति इसे प्राप्त करनी है।

सब प्रकारके बंधन इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे होते हैं, सब प्रकारके दुःख इन गुणोंके संगसे उत्पन्न होते हैं और सब प्रकारकी भावनाएं इन गुणोंसे होती हैं इस कारण इनका बंधन दूर किस तरह हो सकता है और साधकको इन गुणोंकी सहायता किस रीतिसे मिल सकती है इसका विचार करना अत्यंत आवश्यक है। अतः इन तीनों गुणोंका कैसा स्वभाव है यह देखेंगे—

तीन गुणोंका स्वभाव

सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
निर्मल (६, १६)	मलिनता	मलीन
निर्दोष	दोषयुक्त	दोषयुक्त
निष्कलंक	कलंकित	कलंकित
प्रकाश (६ ११)	धूपछाया	अन्धकार
दिन	संधिसमय	रात्री, अप्रकाश (१३)
अनामय (६)	रोग होकर निवृत्त होना	आमय, रोगी होना।
नीरोगिता	,, ,,	रोगमय
सुख (९)	दुःख (१६)	दुःख
ज्ञान (११ १७)	कर्मप्रवृत्ति (९)	अज्ञान (८, १६)
वैराग्य	राग (प्रीति) (७)	—
तृष्णा न होना	तृष्णा	—
निष्काम कर्म	कर्मसंगसे बंधन	कर्महीनता
उत्साह	सदा प्रयत्न	आलस्य निद्रा (८)
मोह न होना	किंचित् मोह	मोह (१७)
अप्रमाद	,, प्रमाद	प्रमाद (९, १७)
निर्लोभता	लोभ (१२, १७)	—

शान्ति	प्रवृत्तिः	अप्रवृत्ति (११)
निष्काम भाव	कर्मोंका प्रारंभ	प्रमाद, मोह,
शम, दम	अशमः	—
उत्तम लोगोंमें जन्म (१४)	कर्मसंगियोंमें जन्म	मूढयोनिमें जन्म
ऊर्ध्वगति (१८)	मध्यम स्थिति (१८)	अधोगति (१८)

गुणोंका इस प्रकार प्रभाव है। सत्त्वगुणके विरुद्ध तमोगुण है और रजोगुण दोनोंके मेलसे होता है। तमोगुण-में आलस्य होनेसे उससे रजोगुण, उसकी कर्मप्रवृत्तिके कारण अच्छा है परन्तु इस रजोगुणमें अशान्तिके दुःख हैं। अतः उससे भी सत्त्वगुण नित्यसुखदायी होनेके कारण अच्छा है। परन्तु ये तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे प्रत्येक मनुष्यमें रहतेही हैं।

प्रत्येक मनुष्य तमोगुणका आश्रय करके विश्रान्ति लेता है, रजोगुणके आश्रयसे प्रयत्न करता है और सत्त्वगुणके आश्रयसे आनन्दका अनुभव करता है। ये तीनों इस तरह मनुष्यके सहायक भी हैं। परन्तु जब इनका प्रमाण बिगड जाता है तब इनहीसे बंधन होता है जैसा मनुष्यको विश्राम-निद्रा चाहिये परन्तु यदि कोई मनुष्य दिनरात निद्राही करता रहेगा तो वही बंधन होगा। इसी तरह मनुष्यको प्रयत्न करनाही चाहिये परन्तु अविश्रांत रहकर रातदिन प्रयत्न करता रहेगा, तो विश्रामके अभावके कारण वह प्रयत्नशीलता उसकी हानि करेगी और बंधनरूप हो जायगी। इसी प्रकार मनुष्यको सुख और आनन्द चाहिये परन्तु जब वह सुखलालसा बढ जाती है तब स्वार्थमें परिणत होनेके कारण वह अपने सुखके लिये समाजकी हानि करता है तब इसका वह सुख उसकी हानि करने लगता है और बंधनका हेतु होता है। इस रीतिसे येही सत्त्व रज तम मनुष्यके सहायक भी होते हैं और विनाशक भी।

मनुष्योंके सब कार्य इन गुणोंसेही होते रहते हैं। परन्तु मनुष्यको इनके आधीन नहीं हो जाना चाहिये अपितु इनका मनुष्यके आधीन रहना योग्य है। साधक इस जगत्में इन तीनों गुणोंके काम कैसे चल रहे हैं यह देखे और अपने आपको उनका द्रष्टा उनसे स्वतंत्र उनका निरीक्षक अनुभव करे। तभी वह गुणोंके परे रह सकेगा और संपूर्ण दुःखोंको दूर करके परमात्मभावको अपनेमें धारण करेगा। जबतक वह साधक इन गुणोंद्वारा खींचा जा रहा है उनके पीछे उनका अनुगामी होकर उनसे बांधा जाकर पराधीनसा हो रहा है तबतक इसके स्वतंत्र होनेके कारण इसको आनंद प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है। अतः इसको अपना स्वातंत्र्य स्थापन करना आवश्यक है। इस स्वातंत्र्यको प्राप्त करनेकी युक्ति निम्न है—

स्वातंत्र्यकी स्थिति।

साधक जब पूर्ण उन्नत होता है तब उसको स्थिर अवस्था प्राप्त होती है इस स्थिर स्थितिमें वह इन तीनों गुणोंका कार्य देखता रहता है सत्त्वसे होनेवाले प्रकाश और ज्ञान रजोगुणसे होनेवाले लोभ और कर्म तथा तमो-गुणसे होनेवाले प्रमाद और मोहको वह देखता है। इनमेंसे किसीको वह चाहता हो ऐसा भी नहीं है और न चाहता हो ऐसा भी नहीं है। इनमेंसे कोई इसके पास आवे तो वह उससे द्वेष नहीं करता और न उसके प्यार करता है। जैसे उदासीन मनुष्य स्वस्थ रहता है वैसेही वह भी स्वस्थ रहता है।

अपना अपना कार्य करते हुए गुणोंको वह देखता है और उनसे अपना कोई संबंध स्थिर करना नहीं चाहता। इनमेंसे गुण आ जाय तो भी ठीक है और न आवे तो भी ठीक है ऐसी उदास वृत्ति धारण करता है। वह अपनी प्रकृतिका देख है किसी दूसरेकी प्रकृतिका नहीं अतः वह जैसी है वैसी रहे ऐसा मानकर अपने अन्दर ईर्ष्या द्वेष नहीं होने देता। उनके देखनेसे वह चंचल नहीं होता। इनका कार्य कितनाही क्यों न बढे पर वह वायुवेगसे पर्वतके न हिलनेके समान स्थिर रहता है।

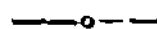
सुख दुःख प्रियाप्रिय निन्दास्तुति मानापमान मित्र शत्रु सुवर्णमिट्टी आदिकी प्राप्ति होनेपर वह सम स्थितिमें रहता है। किसी भी परिस्थितिमें इसमें कोई हर्षेर नहीं

होता। इसकी मनोवृत्ति विपरीत परिस्थितिमें भी सम रहती है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानमें स्थिर रहनेवाले मेरुपर्वतके समान सुस्थिर व्यक्तिको गुणातीत कहते हैं। यही इन गुणोंका स्वामी है यही गुणोंके परे है और यही ईश्वरभावसे युक्त है।

अनन्यभावसे ईश्वरभक्ति करनेवाला भी इसी तरह ईश्वरभावसे युक्त होता है क्योंकि अमृत सुख और ब्रह्मका यही एक आधार है यही आधार इसे प्राप्त होता है। अतः यह ईश्वरभावयुक्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

आगे अठारहवें अध्यायतक इन तीनों गुणोंका विचार विविध प्रकारसे होनेवाला है। इसलिये इसका मनन हम आगे विशेषरूपसे करेंगे, यहां इतनाही पर्याप्त है।

चौदहवें अध्यायका मनन समाप्त ॥ १४ ॥



चौदहवें अध्यायके सुभाषित

(१) सात्त्विक भावसे उन्नति।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था
मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था
अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सात्त्विक लोगोंका उत्कर्ष होता है राजस लोग मध्य स्थितिमें रहते हैं, और तामस लोगोंकी अधोगति होती है। अतः मनुष्य अपने अन्दर सात्त्विकभाव बढावें।

(२) त्रिगुणोंमें न फसो।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्
देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै—
र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

देहमें उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंको उलांघ कर जन्ममृत्यु जरादुःखोंसे मुक्त होकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है। अतः इन गुणोंमें न फंसना साधकको योग्य है।

(३) अव्यभिचारिणी भक्ति।

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

अव्यभिचारिणी भक्तिसे जो ईश्वरकी सेवा करता है वह भी तीनों गुणोंके बंधनोंको तोडकर ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। 'ईश्वरभक्तिकी यह महिमा है

श्रीमद्भगवद्गीताके

चौदहवें अध्यायकी विषयसूची

पञ्चदशोऽध्यायः ।

पुरुषोत्तम-योगः ।

(१) अश्वत्थ-वृक्ष ।

श्रीभगवानुवाच– ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वयः— श्रीभगवान् उवाच– छन्दांसि यस्य पर्णानि (सन्ति तं) अश्वत्थं ऊर्ध्वमूलं अधःशाखं अव्ययं प्राहुः। यः तं वेद सः वेदवित् (इति उच्यते) ॥ १ ॥ तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः (सन्ति) अधः च मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि मूलानि अनुसंततानि (सन्ति) ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले— सब छन्द जिसके पत्ते हैं उस अश्वत्थकी जड़ ऊपर है और शाखा नीचे फैली हैं इसे अविनाशी कहते हैं। जो इसे जानता है, वही वेदवित् कहा जाता है ॥ १ ॥ उसकी (सत्त्वादि) गुणोंसे बढ़ी हुई और (शब्दादि-) विषयोंके कोमल पल्लवोंसे युक्त शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, और नीचे मनुष्यलोकमें कर्मोंके साथ संबंध रखनेवाली जड़ें बहुत फैली हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—संसारका वृक्ष अनादि अनंत चारों ओर फैला है, इसके ज्ञानरूपी पत्ते सबको शीतल छाया देनेवाले हैं शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं इसमें सत्त्व रज–तम गुणोंका रस भरपूर भरा है शब्द–स्पर्श–रूप रस–गंधरूप विषयोंकि सुखदायी कोमल अंकुर लगे हैं और इसकी कर्मोंसे संबंध जोड़नेवाली जड़ें चारों ओर फैली हुई हैं ॥ १–२ ॥

संसारका वृक्ष।

(१–२) यहां इस पंद्रहवें अध्यायमें इस संसारको अश्वत्थ वृक्ष मानकर बड़ा सुंदर वर्णन किया है। " इसकी मूल ऊपर है शाखाएं नीचे हैं इसके पत्ते सब प्रकारके छन्द हैं ऊपर नीचे इसकी शाखाएं फैली हैं। सत्त्व–रज–तम इन तीन गुणोंसे इन सब शाखाओंका पालन होता है, शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध ये विषय इन शाखाओंके कोमल अंकुर बन रहे हैं इसकी जड़ें बहुत गहरी गयी हैं और आगे उनका कर्मोंके साथ संबंध हुआ है। मनुष्यलोकमें यही अश्वत्थ वृक्ष है सब मानव इसीके आश्रयमें हैं।

यह वर्णन बड़ा अर्थपूर्ण है। इसका विचार हम आगे करेंगे। इससे पूर्व इस तरह संसारको वृक्ष कहकर कहां कहां वर्णन किया है वे वर्णन देखेंगे। पहिले कठोपनिषद्का वर्णन देखिये—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन
एतद्वै तत् ॥ (कठ उ ६।१)

" जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएं नीचेकी ओर हैं वह सनातन अश्वत्थ वृक्ष यह है। वही शुक्र वही ब्रह्म और वही अमृत है ऐसा कहते हैं। इसीमें सब लोक आश्रय किये हुए हैं। इसको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता यह निश्चयसे यही है।

भगवद्गीताके श्लोकका अर्थ समझनेके लिये इस वचनका अनुसंधान अवश्य करना चाहिये। इस इसको यहां सनातन कहा है और गीतामें अव्यय कहा है दोनोंका अर्थ एकही है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह वृक्ष क्षणभंगुर नहीं है। यह सनातन है और अव्यय अर्थात्

अविनाशी है। बहुत लोग इसको क्षणभंगुर कहते हैं परन्तु यह क्षणभंगुर संसारको कहना वेद उपनिषद् और गीता को नहीं है। भगवद्गीता तो परमात्माको विश्वरूप मानती है अतः परमात्मा अनादि अनंत है और अविनाशी है वैसेही परमात्माका विश्वरूप-संसार भी अनादि अनंत और अविनाशी है। यही भाव इस वृक्षको सनातन और अव्यय कहनेसे व्यक्त हो रहे हैं। पाठक ये शब्द अवश्य देखें।

इसी उद्देश्यसे यहां इस उपनिषद्के वचनमें इसी अश्वत्थ वृक्षको शुक्र ब्रह्म और अमृत कहा है। यह वृक्ष ब्रह्मकाही रूप है यही शुद्ध तथा तेजस्वी है और अमृत अर्थात् मरणधर्मरहित है। इसको जो बंधनकारक समझते हैं वे भूल करते हैं इसका विचार आगे किया जायगा। यहां प्रथम अन्यान्य स्थानोंपर इस वृक्षके विषयमें क्या कहा है यह देखेंगे। मुण्डक उपनिषद्में वृक्षका वर्णन इस तरह है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥
(ऋग्वेद १।१६४।२ ; मुण्डक ३।१)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥
(मुण्डक उ० ३।२)

उत्तम पंखवाले साथ साथ रहनेवाले दो पक्षी एक वृक्षपर साथ साथ रहते हैं उनमेंसे एक पक्षी उस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा कुछ भी न खाता हुआ प्रकाशित होता रहता है। इस वृक्षपर रहनेवाला पुरुष इस वृक्षके फलमें निमग्न होकर मोहित हो जाता है और अपने स्वामी न होनेसे- अपने सामर्थ्यहीन होनेसे- अपने निर्बल होनेसे विषयमें शोक करता रहता है। जब यह दूसरे सबके स्वामीका दर्शन करता है और उसकीही यह महिमा है ऐसा जान लेता है तब इसका शोक दूर हो जाता है।

यहां भी एक वृक्ष है और उसपर एक जीव और दूसरा शिव ऐसे दो पक्षी रहते हैं जीव नामक पक्षी इसका फलभोग करता है इसलिये इसमें फलभोगकी आसक्ति रहती है, और आसक्तिके कारण मोहशोक होते हैं और अपने पराधीन होनेका विचार बारंबार उसे कष्ट देता है। पश्चात् जब अपने साथी दूसरे शिवसंज्ञक पक्षीकी यह सब महिमा है ऐसा यह जीवपक्षी जान जाता है तब फलभोगके बंधमें नहीं फंसता और शोकरहित होकर जीवनकी सफलता प्राप्त करता है।

इन मंत्रोंकी तुलना गीताके श्लोकोंके साथ करनेसे अर्थकी पूर्णता होती है और मुक्तिके मार्गका भी पता लगता है। असंगशस्त्र (श्लो० १५।३) से वृक्षका छेदन करनेका जो उपाय गीतामें बताया है उसका संबंध इसके फलभोगके साथ है, यह बात (पिप्पलं स्वादु अत्ति) मीठा फल खाता है इस मंत्रभागके वचनसे स्पष्ट हो जाती है।

महाभारतके आश्वमेधिक पर्वमें ब्रह्मारण्यका वर्णन इस तरह किया है—

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १६ ॥
येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तस्तेषां नास्ति पुनर्भवः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥
॥ १७ ॥
महाभा० आश्व० अ० २८ (अनुगीता)

इस विचारारण्य अथवा ब्रह्मारण्यमें प्रज्ञा नामक वृक्ष है उसपर मोक्षरूपी फल लगे हैं शान्तिरूप उसकी छाया है वे ज्ञानका आश्रय करनेयोग्य स्थान हैं तृप्ति देनेवाला जीवन-जल भी यहां उपस्थित है। और क्षेत्रज्ञ आत्माका प्रकाश भी यहां पड रहा है। जो लोग इस वनमें जाते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता इस वनका ऊपर नीचे तिरछा तथा किसी भी ओर अन्त नहीं प्रतीत होता।" यह इस प्रकारका बडा भारी अरण्य है। यहां एक अश्वत्थ वृक्षके स्थानपर अनन्त वृक्षोंके महावनका वर्णन है। जो मुक्तिके अधिकारी होते हैं वे इस वृक्षपर जाते हैं उन्हींको मोक्ष-रूपी फल प्राप्त होता है। भगवद्गीतामें जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है उसको असंगशस्त्रसे काटना है वह वृक्ष इस

वनमें नहीं है इस वनमें पहुंचनेवालोंको मोक्षरूपी अमृत-फल मिलता है और किसी वृक्षकी किसी टहनीको काटनेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् य वृक्ष मानवी प्रगतिमें रुकावट डालनेवाले नहीं है और भगवद्गीतामें वर्णित अश्वत्थ-वृक्षका विस्तार साधककी उन्नतिमें रुकावट करने-वाला है। अतः उसे असंगशस्त्रसे काटना पडता है। यहां इन दोनों वृक्षोंके स्वरूपमें भेद है जिसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। अब वेदके कतिपय मंत्रोंका विचार करते हैं—

(ऋषिः-कुमारो यामायनः। देवता-यमः)

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१॥
पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयाऽमुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥
(ऋग्वेद १०।१३५)

'जिस उत्तम पत्तेसे युक्त वृक्षपर बैठकर सब प्रजाओंका पालनकर्ता पिता यम अन्य देवोंके साथ रसपान करता है और अपने साथ प्राचीन पितरोंको चाहता है। प्राचीन पितरोंको चाहनेवाले और पापी बुद्धिके साथ विचरनेवालोंको न चाहनेवाले यमका मैंने एकवार दर्शन किया और उसका फिर दर्शन करना चाहता हूं। इस मंत्रमें एक वृक्ष है उसपर प्रजाका पालक देव बैठा है और उसके साथ अन्य देव भी हैं वे सब वहां रसपान कर रहे हैं और वह पालन कर्ता देव पुराने लोगोंको वहां चाहता है संभवतः उनको भी रस पिलाना चाहता हो। साथही वह पापी बुद्धिके पास रहनेवालोंको नहीं चाहता अर्थात् निष्पाप बुद्धिवालोंको-ही चाहता है यहांका वह वृक्ष असंगशस्त्रसे काटने योग्य नहीं है, क्योंकि वहां शुद्धबुद्धिवाले सत्पुरुष जाते हैं और परमपिताके साथ जो देवसभा बैठी है उसमें प्रवेश पाते हैं तथा वे सब मिलकर अमृत रसका पान करते हैं। इस कारण वह वृक्ष पूर्वोक्त महाभारतमें कहे ब्रह्मवृक्षके सदृशही दीखता है इसको यहां पलाश' कहा है गीतोक्त वृक्ष अश्वत्थ है परन्तु वह के समान उसका वर्णन है।

यत्रासिप्पलं मरुतो वि धूनुथ ॥ (ऋ ५।५४।१२)

पीपल वृक्षको मरुत् देव हिलाते रहते हैं। ऐसा एक स्थानपर कहा है। संभवतः ऊपरसे नीचे फल गिरानेके लियेही ये इस वृक्षको हिलाते होंगे ? यह स्वर्गीय पीपल है इसमें संदेह नहीं है। और देखिये—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥
(अथर्ववेद ५।४।३; १९।३९।६)

'अश्वत्थ वृक्ष देवोंके रहनेका स्थान है वह तीसरे द्युलोकमें रहता है, उस अमृत्व देनेवाले कुष्ठको देवोंने प्राप्त किया। इस मंत्रमें अश्वत्थको देवोंका घर बताया है और इसका मूल स्थान तृतीय द्युलोक है। चूंकि इसके आश्रयसे देवता रहते हैं इसलिये इस वृक्षकी शाखाएं छेदन करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जैसा कि गीतामें असंगशस्त्रसे अश्वत्थ वृक्षको काटनेको कहा है। अस्तु।

इस तरह वैदिक साहित्यमें वृक्षके आश्रयसे देवताओंके निवास आदिके विषयमें भी वर्णन है। यहां 'वृक्ष' आदि शब्द आलंकारिक भाव दर्शाते हैं और यहांके 'पक्षी' भी आकाशमें उडनेवाले पंखयुक्त प्राणी नहीं है यह बात स्पष्टही है। अतः इनको आलंकारिक भावसे युक्त यहांतक जो वचन हमने देखे उनका संक्षेपमें आशय देकर उसका थोडा मनन भी करना उचित है।

अलंकारका स्वरूप।

१ जिसकी जडें ऊपर हैं और नीचे शाखाएं हैं ऐसा एक अश्वत्थ वृक्ष है, इसके पत्ते छन्द-वेद- हैं।
(गीता १५।१; कठ ६।१)

२ इस वृक्षकी शाखाएं नीचे और ऊपर फैली हैं इसमें सत्त्व-रज-तमका भाव रसरूपमें भरपूर है। मानो इस रसहीसे इस शाखाविस्तारका पोषण हो रहा है।
(गी० १५।२)

३ इन शाखाओंपर विषयरूपी सुंदर पल्लव इसकी शोभा बढाते हैं और मोक्षधामके याश्रियोंको दुःख देते हैं। इनके कारणही इस वृक्षकी सुंदरता बढ गयी है। (गी० १५।२)

४ इस वृक्षकी जडें मनुष्योंके कर्मोंके साथ संबंध रखती हैं अर्थात् कर्मरूपी भूमिमें जडें जाती हैं और वहांसे इस

*

वृक्षका पोषण और संवर्धन होता है। (गी० १५।२)

५ जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे हैं वह अश्वत्थ–वृक्षकी सामर्थ्ययुक्त 'अमृत ब्रह्म' है। इसीके आश्रयसे सब लोक सुरक्षित हैं और कोई इसका उल्लंघन नहीं कर सकता। (कठ० ३।१)

६ एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं उनमें एक फल खाता है और दूसरा कुछ भी न खाता हुआ चमकता रहता है, अर्थात् भोग न करनेवाला तेजस्वी है और भोग करनेवाला भूखा है। (ऋ० १।१६४।२० मुण्ड० ३।१)

७ इस वृक्षके फलका भोग करनेमें जो तत्पर होता है वह मोहसे शोक करता है अपनी निर्बलतासे दुःखी होता है, जब दूसरे तेजस्वी पक्षीका दर्शन करता है और जानता है कि वह फलभोग न करनेके कारण तेजस्वी और समर्थ है तब उसकी यह सब महिमा है ऐसा जानकर शोकरहित अर्थात् सुखी होता है। (मुण्ड० ३।२)

८ इस हरेभरे वृक्षके नीचे बैठकर सब देवोंके साथ यम रसपान करता है वहां हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने देवत्व को प्राप्त किया वे भी उस सभामें उपस्थित रहते हैं। (ऋ० १०।१३५।१)

९ यह सब जिसका देव पापमयी बुद्धिको पसंद नहीं करता वह पुण्यमयी बुद्धिको पसंद करता है। इस देवता का जो एकबार दर्शन कर लिया है उसको बारंबार उसीका दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा होती है क्योंकि उसका दर्शन ही ऐसा सुंदर है। (ऋ० १०।१३५।२)

१ अश्वत्थ वृक्षपर देव रहते हैं और यह अश्वत्थ तृतीय द्युलोकमें है। यहांही अमृतका कोश है। (अथर्व० ५।४।३)

संक्षेपमें यहांतक दिये वचनोंका यही आशय है। यह वृक्षही संसार है। इस संसार–वृक्षपर कई जीवरूपी पक्षी बैठे हैं उनमें कई निष्काम आप्तकाम और असंग–वृत्तिसे रहनेवाले हैं वे सामर्थ्यवान और तेजस्वी होते हैं। अन्य जीव भोगी हैं वे चिन्तामें मग्न मोहसे ग्रस्त दुःखसे संतप्त और आधिव्याधियोंसे पीडित हैं। यहां पता लगता है कि भोगलालसासे दुःख और अनासक्तिसे सुख प्राप्त होता है।

जो आत्मा सुखी है वह (अनश्नन्) भोगमें अनासक्त है और (यमः) संयमी है। इसीमें उसके सुखका बीज है। अनासक्तिही सुखका हेतु है। एकही वृक्षपर बैठनेवाले दो पक्षियोंमें जब अनासक्तको सुख और आसक्तको दुःख होता है तब दुःखी जीवोंको उचित है कि वे अनासक्तिसे रहें और सुखी हो जांय। जो अनासक्त और संयमी है, वही ईश है। भोगी ईश होही नहीं सकता क्योंकि भोगी होनेका अर्थ यह अपने आपको हीन दीन और अपूर्ण समझता है। जो अपूर्ण है और बाहरसे वस्तु लानेसे तृप्ति होनेकी कल्पना या आशा करता है वह समर्थ और पूर्ण किस तरह हो सकता है? और जो समर्थ न होगा, वह ईश भी किस तरह हो सकता है?

यहां कर्मफलत्याग के गीताके सिद्धान्तका वैदिक मूल हमें प्राप्त हुआ है। इस संसारमें जीवोंको सुख दे-नेवाली छाया पत्तोंसेही प्राप्त होती है। छन्दही इसके (पर्णानि) पत्ते हैं ज्ञानविस्तार सब यही वेदविस्तार है। आनन्दसे और सुखसे इस छायामें जीव रहते हैं और वेदमार्गके अनुसार चलते चलते आगे मार्ग मिलता जाता है।

शाखाएं पत्ते जड़ें और इसकी टहनियां ऐसी एक दूसरेके साथ मिली हैं कि उसके अन्दर अटका हुआ जीव बाहर खुली वायुमें आ नहीं सकता क्योंकि उसको मार्गही नहीं मिलता। कर्म करो उसका सुख भोगो, आगे भी कर्म करो बार फिर सुख भोगो फलसंग्रह करो उसका रक्षण करो उसको भोगो इस तरह अनेक कर्मों और वासनाओंमें फंसा हुआ यह जीव बाहर कैसे निकल सके? इसके पाश इतने हैं कि उनसे बाहर निकलना उसे नितांत कठिन होता है।

फेरेपनमें अज्ञानमें रहता है। वासनामें जीवोंकी लिपट जाता है। आगे वासनाएं होती हैं पीछे उनके विचारके मनकल्पनाएं हैं भिन्न हैं, अपने हैं सबकी हैं दुःख और शोक हैं वैयक्तिक और सामूहिक कर्म हैं, एक कर्म समाप्त होता है तो दूसरा प्रारंभ हो जाता है इस तरह इसे इससे छूटनेकाही मार्ग नहीं दीख पाता। एकही मार्ग है कि वह (यम) संयमी बने और (अनश्नन्) भोग भोगनेका इच्छुक न रहे। इस असंगवृत्तिसे रहनेसेही इसका मार्ग खुल सकता है।

(२) असगशस्त्रसे वृक्षका छेदन ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वयः — (यथा अयं वर्णितः) तथा अस्य रूपं इह न उपलभ्यते । (अस्य) अन्तः न आदिः च न संप्रतिष्ठा च न (उपलभ्यते,) सुविरूढमूलं एनं अश्वत्थं दृढेन असंगशस्त्रेण छित्त्वा ततः ' यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तं एव आद्यं पुरुषं अहं प्रपद्ये (इति) तत् पदं परिमार्गितव्यं यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति ॥ ३-४ ॥

(इस अश्वत्थ वृक्षका यहाँ जिस तरह वर्णन किया है) उस तरह इसका स्वरूप यहाँ प्रत्यक्ष रूपसे नहीं दीखता, अर्थात् इसका अन्त आदि और आधार दीखताही नहीं अत्यंत गहरी जड़ोंसे युक्त इस अश्वत्थ नामक वृक्षको सुदृढ असगरूप शस्त्रसे काटकर, ' जिससे पुरातन कालसे प्रवृत्ति चली आ रही है मैं उसी आद्य पुरुषकी शरण आता हूं । (ऐसी भावना करके) पश्चात् उस पदको ढूंढना चाहिये कि जिसमें गये हुए फिर वारंवार वापिस नहीं आते ।

भावार्थ— इस संसारवृक्षका आदि अन्त और आधार कहां है इसका पता नहीं लगता और इसका ठीक ठीक स्वरूप भी सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता । इसलिये वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसको काटना चाहिये और जिस बीजसे यह वृक्ष अनादि कालसे इतना फैल रहा है मैं उसी आद्य अनादि ईश्वरकी शरण जाता हूं ऐसी दृढ भावनासे उसकी शरण जाकर इस स्थानको ढूंढना चाहिये कि जहां पहुंचनेपर वारंवार वापस आकर दुःख भोगना नहीं पड़ता अर्थात् जहां जाकर अखण्ड आनंद मिलता रहता है ॥ ३—४ ॥

उपनिषद्में जो कहा है कि यह अश्वत्थ वृक्षही (ऊर्ध्व अमृत ब्रह्म) सामर्थ्ययुक्त अमृतमय ब्रह्म है वह सत्य है क्योंकि (वासुदेवः सर्वम् गी० ७।१९) वासुदेवही सब कुछ है और (पुरुष एवेदं सर्वम् । ऋ० १।९।२) पुरुष परमेश्वरही सब कुछ है तब तो यही वृक्ष है और दूसरा कुछ भी नहीं है यही सब कुछ है । इस प्रकार होकर भोग भोगना चाहते हैं । इस भोगी वृत्तिमें दुःख है । सुखप इससे भिन्न है और मैं उसको दबाकर भोग भोगूंगा इस वृत्तिमें सब दुःख है । यदि इसके मनमें अनन्यभाव स्थिर होगा और यहां अन्य कोई नहीं है सब एकही ब्रह्मवस्तु है, मैं और अन्य सब उसीमें अन्तर्गत हैं यहां कोई पृथक् नहीं है " इस तरहके अनन्यभावसे यदि वह रहने लगे तो असंगवृत्ति होनेके कारण सतत आनंद और एकरस सुखही युक्त प्राप्त हो सकता है । अतः अनन्यभाव और असंगवृत्ति धारण करनाही उचित है ।

जो पाश हमारे पीछे लगे हैं वे और किसीके बनाये नहीं हैं वे तो सब भोगासक्तवृत्तिसे संगभावसे अर्थात् हमारेही कारण बनाये गये हैं । भोगी लोग अपने पाशोंको स्वयं बनाते हैं और अपने आपको उसीमें बांध देते हैं, बांधा जानेपर स्वयं रोते हैं, चिल्लाते हैं और पीटते हैं और कहते हैं कि हे देव ! हमें छोड दो परन्तु विचार नहीं करते कि किसने बांधा है ? पाश किसने निर्माण किये हैं ? यहां तो बांधनेवाला और छोडनेवाला दूसरा कोई नहीं है । स्वयंही संगवृत्तिसे बांधा जाता है और असंगवृत्तिसे स्वयं बंधन दूर जाते हैं । अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मनही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका हेतु है । फिर भाई ! बंधन बनानेवाला और बंधनोंमें डालनेवाला कौन है ! अपने मनकी वृत्ति है जो यह सब करती है उद्धार करनेवाला भी स्वयं आप बन्धनमें डालनेवाला भी स्वयंही है ।

असंगभावना सब प्रकारकी उन्नतिका मार्ग खुला करता है और संगवृत्तिसे सब प्रकारके कष्ट होते हैं । यही भाव भगवान् श्रीकृष्ण आगे बताते हैं—

(३ ४) यहां जिस अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है, उसका रूप साधारण मानव जानते नहीं। वे तो चारों ओर देखते हैं और उनको सर्वत्र सुंदर रमणीय भोगही भोग दीखते हैं सब ओर सुंदर जगत् है उसमें भोग-विलास भरे हैं, प्रयत्न करो, भोग भोगो आनंद करो, इस दौडमें मारो काटो, जो मर्जी हो वह करो खाओ पीओ आनंद लूटो, मरनेके पीछे किसने देखा है? ऋण करो और पी जाओ इस तरहके विचारोंसे चलनेवाले लोग मोहवश अनेक अनर्थ करतेही रहते हैं, उनको तो इस वृक्षका (न रूपं उपलभ्यते) दर्शन भी नहीं हो पाता। यहां दर्शन न होनेका तात्पर्य यही है कि उनको इसकी कल्पनातक नहीं है। वे तो दुःखको सुख माननेवाले व्यक्तिको भिन्न मान कर विचार न करते हुए चलते हैं।

परन्तु जो जीवनका विचार करते हैं, उनको अपने बंधनकी कल्पना हो जाती है और वे सोच विचार करने लगते हैं। विचार करते करते उनको पता लगता है कि (न अन्तः न आदिः न संप्रतिष्ठा) जिसका आदि अन्त नहीं है और जिसका आधार भी नहीं है ऐसे घने जंगलमें हम भटक गये हैं। चारों ओर वृक्षवल्लियां हैं मार्ग तो किसी जगह नहीं दीखता कहां जाय क्या करें इस बंधनसे किस तरह मुक्त हो सकते हैं? ऐसा सोचते सोचते उसको पता लगता है कि (दृढेन असंगशस्त्रेण छित्वा) असंगरूप सुदृढ शस्त्रसे इस वनको काटा जा सकता है। जब इसका पता उनको लग जाता है और आगे चलकर कई पुरुषार्थी जीवोंने इसी असंगशस्त्रसे इस वनको काटा और मार्ग खोल दिया है ऐसा वे देखते हैं, तो वे बोधरूप जीव भी अपने लिये मार्ग तैयार करते हैं। इस रीतिसे मार्ग बनता है और बहोंको स्वतंत्रता इसी असंगवृत्तिसे प्राप्त हो सकती है। कितना भी घना जंगल क्यों न हो वह सुदृढ शस्त्रसे काटा जाता है। और उसमेंसे सीधा मार्ग बनाया जा सकता है। इसीका नाम पुरुषार्थ है और यह हरएक मनुष्यको करनाही चाहिये।

यह प्रपंच अथवा संसाररूपी वृक्ष है और यह (ऊर्ध्व मूल-अधः शाख) बडा सुंदर मूलोंवाला है अर्थात् इसकी जड बडी गहरी गई हुई है। तथापि किसीको डरना उचित नहीं है क्योंकि यह कितनाही सुदृढ क्यों न हो असंगशस्त्र चलानेपर यह प्रतिबंधक नहीं होता। असंगशस्त्र चलानेसे पथिकका मार्ग सीधा हो जाता है। इसलिये भोगी वृत्ति रहनेतकही इसका बंधन कर देता है भोगवृत्ति दूर हो गई और अभोग अथवा अनासक्त वृत्ति बन गयी तो वह इस ऐसाही रहनेपर भी कोई कष्ट नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें यहां एक वृक्षपर दो पक्षी बैठनेका वर्णन है, वहां जो फल-भोग करनेवाला पक्षी है वही शोकग्रस्त है परन्तु जो फलभोग नहीं करता वह आनंदसे चमकता रहता है। एक-ही वृक्षपर एक सुखी और दूसरा दुःखी है। इसका कारण है कि एक भोगी है और दूसरा त्यागी। यह भाव इस अध्यायमें श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिक स्पष्ट कर दिया है। यहां स्पष्ट है कि वृक्ष जैसेका वैसा रहनेपर भी संगवृत्ति और असंगवृत्तिसे बंध और मोक्ष होते हैं और यही असंगशस्त्रसे वृक्षको काटनेका सच्चा तात्पर्य है।

असंग नामक कोई शस्त्र नहीं है जिससे वृक्षके काटनेकी संभावना है। वृक्षके फलके भोगका त्याग करनेकाही नाम असंगशस्त्रसे वृक्षको काटना है। अतः पाठक यह न समझें कि यह अश्वत्थ वृक्ष किसी समय काटा जायगा और कभी यह वृक्ष बिलकुल न रहेगा। वास्तवमें ऐसा कभी नहीं होगा। यह अश्वत्थ वृक्ष यह संसारवृक्ष सदा रहेगा, परन्तु जो यहां फलभोग करनेकी वासना त्याग देगा उसके लिये वह न रहनेके समान उपद्रवरहित अथवा सहायक बनकर रहेगा और इससे उसको कोई बंधन नहीं होगा। इतनाही आशय असंगशस्त्रसे इस वृक्षके काटनेमें है। पाठक विचार करके इसका ठीक ठीक आशय जानें।

ईश्वर उपासना।

फलभोगकी वासना दूर गयी और निस्पृह रहनेकी स्थिति प्राप्त हो गयी, तो यह स्थिति चिरकाल रहनेके लिये ईश्वर-उपासनाका अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा मनका स्वभाव चंचल होनेके कारण यह असंगवृत्ति कदाचित् स्थिर रूपसे नहीं रहेगी और फिर भोगवृत्ति बढ जायगी। ऐसा न हो इसलिये कहा है—

यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता
तं आद्य पुरुषं एव प्रपद्ये।

जिससे पुरातन कालसे इस संसारकी प्रवृत्ति चली आयी है मैं उसी आद्य पुरुष परमात्मा-परमेश्वरकी शरण

(३) शाश्वत पदके अधिकारी।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वय — निर्मानमोहाः जितसङ्गदोषाः अध्यात्मनित्याः, विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः, तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥ न सूर्यः न शशाङ्कः, न पावकः (च) तत् (पदं) भासयते। यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम ॥ ६ ॥

जिनका अभिमान और मोह नष्ट हो चुका है जिन्होंने विषयासक्तिके दोषोंको जीत लिया है जो नित्य आत्मामें रमते हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो चुके हैं और जो ज्ञानी हैं, वेही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं। जहां जानेपर वापिस आना नहीं पडता वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो अभिमानरहित मोहरहित अनासक्त आत्मनिष्ठ भोगवासना-रहित द्वन्द्वभावसे दूर और ज्ञानी हैं वे उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं। जहां सूर्य चन्द्र अथवा अग्निका प्रकाश नहीं पहुंचता वहां ईश्वरका परम धाम चमक रहा है क्योंकि इसके प्रकाशसेही सूर्य चन्द्र और अग्नि प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

चाहता हूं और वह मुझे उस अमृत स्थानमें चिरकाल रखे। उस साधकको ऐसी मनोभावनासे ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए चलना चाहिये। शरण जानेमें अपनी सब अहंकारकी वृत्तिका त्याग होता है। अपने आपको परमात्माके लिये समर्पित करना अनन्यशरणागतिसेही होता है।

जिस स्थानपर पहुंच जानेपर फिर वापिस नहीं आना होता उस पदको प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है और वह इस तरह प्राप्त किया जाता है, ढूंढा जाता है खोज किया जाता है और अनन्यशरणागतिसे वह निश्चयसे प्राप्त भी होता है। अपने अहंकारका इस तरह नाश किया जाता है और एवं अनन्यभाव मनमें स्थिर होता है। जिसको यह स्थिति प्राप्त होती है वही शाश्वत पदके अधिकारी है। इसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया है वह वर्णन भी मननीय है—

अव्यय पदके अधिकारी।

(५ १) अव्यय परमात्माके स्थानको कौन प्राप्त करते हैं यहां इसका वर्णन किया हुआ है—

अमूढाः अव्ययं पदं गच्छन्ति।

' जिनकी मूढता दूर हुई है वेही परमात्माके अव्यय पदको प्राप्त होते हैं। मूढता रहनेतक, अर्थात् अज्ञान रहनेतक परमात्माका अव्यय पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिनका अज्ञान दूर हो चुका है उनके लक्षण पाठक इसी श्लोकमें देखें—

(१) निः-मान+मोहाः।

जिनसे अभिमान दूर हुआ है और मोह भी दूर हुआ है वे परम पदके अधिकारी हैं। अज्ञानसेही अभिमान और मोह होते हैं अभिमान अर्थात् अहंकार ज्ञान प्राप्त होनेतकही रहते हैं। अभिमानका अर्थ ' मैं हूं मैं दूसरोंसे पृथक् हूं, मैं भोग भोगूंगा इससे दूसरोंकी हानि हो तो भी मुझे उसकी पर्वाह नहीं है। इत्यादि भाव अहंकारसे होते हैं। यह सब अज्ञानसेही है, मोह भी इसी कारण होता है, मैं और दूसरा इस द्वैतभावसेही एक मोह है यह मेरा है और यह दूसरेका है, इस कारणसेही मनुष्य मोहित होते और पाप करते हैं। यह सब अज्ञान है। ज्ञान वही है जिससे सर्वत्र अनन्यभाव प्रतीत होता है सर्वत्र एकही आत्म तत्त्व है उसे छोडकर उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है ऐसी एकात्मदृष्टि स्थिर हो गई, तो उसमें अहंकार और मोहके लिये कोई स्थान नहीं मिलेगा जहां सर्वत्र एकात्मभाव का

गया वह किसको पास करेगा और किससे दूर होगा ? अतः ममेद शोक मोह उसके पास नहीं रहेंगे।

(२) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः ।

' सुख और दुःख नामक द्वन्द्वोंसे जो मुक्त होते हैं ' सुखदुःख हानिलाभ जयपराजय आप–पर आदि अनेक द्वन्द्व हैं, वे मनुष्योंकोही कष्ट देते हैं । जिसमें सभी प्रकारके रूप हैं विश्वात्माके विश्वरूपमें जिसने सबकी एकता देखी, उसको द्वन्द्वके सब प्रकार एकही अभिन्न आत्माके अनेक रूप होनेके कारण उस अनन्यभाव धारण करनेवालेके सामने कोई द्वन्द्व भेदरूपसे रहतेही नहीं अतः द्वन्द्वोंसे वह मुक्त होता है । जब सब द्वन्द्व आत्मरूप होंगे, तब उनका द्वन्द्व होनेका दोष दूर हो जाता है और वे द्वन्द्वभावसे मुक्त हो जाते हैं।

(३) वि–निवृत्त–कामाः ।

जिनके अन्तःकरणसे भोगोंकी कामनाएं जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं जो निष्काम हैं जिनमें तृष्णा नहीं रही वे परम पदके अधिकारी हैं ।

(४) जित–संग–दोषाः ।

भोगासक्तिके दोषोंको जिन्होंने जीत लिया है अर्थात् जिनमें कामभोगतृष्णा नहीं रही है जो निस्पृह हैं, आप्त-काम हैं, असंग हो चुके हैं वे परम पदके अधिकारी हैं ।

(५) अध्यात्मनित्याः ।

(अधि+आत्मा) आत्माकी जो शक्तियां प्रकट होती हैं उनका जो नित्य मनन करते हैं उनको आत्माकी अद्भुत शक्तिका पता लगता है और इस कारण आत्मामें उनकी श्रद्धा दिनोंदिन बढती जाती है । आत्माकाही यह सब आविष्कार है ऐसा इन लोगोंको निश्चय हो जाता है और वे इस आत्मतत्त्वका सर्वत्र दर्शन करते हैं अतः इस तरह आत्माका सर्वत्र साक्षात्कार करनेवाले आत्माके अनन्य भक्त होते हैं, अर्थात् मैं उस आत्मासे पृथक् नहीं हूं यह भाव उनमें दृढ होनेके कारण वे आत्मारूप बनते हैं।

> यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
> आत्मा एव अभूद् विजानतः ।
> तत्र को मोहः कः शोक
> एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश उ० ७)

जिस समय प्रत्येक भूत आत्मा हो चुके सब समय सब एकत्वका दर्शन करनेवाले विज्ञानी पुरुषको शोक और मोह किस तरह हो सकते हैं ? ' ऐसी अवस्था जिनकी होती है वे परम अव्यय पदके अधिकारी होते हैं ।

निरभिमानी मोहरहित द्वन्द्वोंको समभावसे देखनेवाले, निष्काम, भोगोंके विषयमें अनासक्त और आत्माकी शक्तिका सतत मनन करनेवाले आत्माको यथायोग्य रीतिसे जानते हैं और आत्मज्ञान होनेसे वे स्वयं आत्मरूप बनते हैं, स्वयं आत्मा बननेसे वे आत्मासे अनन्य होते हैं और इस रूपसे अनन्य होनाही परमात्माका अव्यय पद प्राप्त करना है । ऐसेही शब्द इस समयतक भगवद्गीतामें अनेक बार आ चुके हैं, अतः इनका अधिक स्पष्टीकरण जो वहां किया है, वह भी पाठक वहां देखें और इन निरभिमानिता आदि गुणोंका महत्त्व जानें । ये गुण प्राप्त होनाही श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होनेका लक्षण है ।

परम पदका लक्षण ।

अब परम पदका लक्षण बताते हैं । जहां सूर्यका प्रकाश नहीं पहुंचता और न जहां चन्द्रमा और अग्निकी ज्योति प्रकाश कर सकती है । जहां पहुंचनेपर वापिस नहीं आना होता वही परमात्माका श्रेष्ठ धाम है । यह परमपदका लक्षण है ।

सूर्य चन्द्र और अग्निका प्रकाश वहां नहीं पहुंचता अथवा वहांके तेजके सामने इनका प्रकाश पहुंचही नहीं सकता है क्योंकि उसीके तेजसे सूर्यादि पदार्थ तेजस्वी हैं, अतः सूर्यादि पदार्थ वहां प्रकाश नहीं डाल सकते ।

जहांसे वापिस आना नहीं होता वह परमपद है । वापिस आनेका तात्पर्य दुःखमें गिरना है । दुःख भी द्वैतका ही परिणाम है जहां द्वैत न रहा एकत्वानुभवका अनन्य भाव जहां स्थिर हो गया वहां वापिस आकर दुःखका अनुभव करना कैसे संभव हो सकता है ? एकवार जिसे अद्वैतका अनुभव हुआ हो वह द्वैतमें आनेवालाही नहीं क्योंकि उसकी कल्पनामें द्वैत रहेगाही नहीं। जैसे अनेक वस्तु किसीके पास हों किन्तु जिसके मनमें उन सबका मिथ्यात्व सिद्ध है, वह उनमें विविधता कैसे अनुभव कर सकता है ? अतः एकवार एकत्वका, अनन्य होनेका अनुभव हो जाय तो फिर

(४) ईश्वरीय अंश जीव।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः १०
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ११

अन्वयः—(अस्मिन्) जीवलोके मम एव सनातनः अंशः जीवभूतः (अस्ति सः) प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इंद्रियाणि कर्षति ॥ ७ ॥ यत् (एषः) ईश्वरः शरीरं अवाप्नोति अपि च यत् उत्क्रामति (तत्) वायुः आशयात् गंधान् इव एतानि गृहीत्वा संयाति ॥ ८ ॥ अयं (जीवः) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणं मनः च एव अधिष्ठाय विषयान् उपसेवते ॥ ९ ॥ उत्क्रामन्तं स्थितं वा भुञ्जानं गुणान्वितं वा अपि विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥ यतन्तः योगिनः आत्मनि अवस्थितं एनं पश्यन्ति, अचेतसः अकृतात्मानः च यतन्तः अपि एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

इस मनुष्यलोकमें मेरा (ईश्वरका) ही सनातन अंश जीव बनकर स्थित है यह प्रकृतिमें स्थित रहनेवाली पांच इन्द्रियों और छठे मनको अपनी ओर आकर्षित करता है ॥ ७ ॥ जब यह शरीरका स्वामी शरीरको प्राप्त करता है अथवा जब उसे छोडता है तब यह वायु पुष्पोंसे सुगंध ले जानेके समान, इन इन्द्रियोंको अपने साथ ले जाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कान त्वचा नेत्र, जिह्वा, नाक और मनका आश्रय करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोडनेवाले शरीरमें रहनेवाले विषयोंको भोगनेवाले अथवा गुणोंसे युक्त होनेवाले इस जीवको मूढ जन देखते नहीं परन्तु ज्ञानी लोगही इसे देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगी अपने अन्दर रहनेवाले इस आत्माको देखते हैं परंतु जो विचारहीन और संस्कारहीन होते हैं वे प्रयत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं देख सकते ॥ ११ ॥

भावार्थ—जीव ईश्वरका ही एक अंश है वही नाना शरीरोंमें जीवभावसे रहता है, वह अपने पास इंद्रियोंको पकड कर रखता है। जैसे वायु अपने साथ सुगंध लाता है, वैसे यह जीव शरीरधारणके समय अपने साथ इंद्रियोंको लाता है और शरीर छोडनेके समय इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीव इन इंद्रियोंका आश्रय करके ही सब प्रकारके विषय भोगता है। यह किसी समय शरीरको छोडता है, किसी समय शरीरमें रहता है, रहकर भोग भोगता है गुणोंको अपने पास लाता है। इतना करने पर भी मूढ मनुष्य इसे नहीं पहचान पाते परन्तु जो ज्ञानचक्षुसे देख सकते हैं, वे ही इसे देख पाते हैं। योगी लोग प्रयत्न करनेपर इसे देख सकते हैं परन्तु अज्ञानी और संस्कारहीन मनुष्य प्रयत्न करनेपर भी इसे जान नहीं सकते ॥ ७–११ ॥

इसका नाश होना असंभव है। अतः यह परम पद ऐसा है कि जिसे एकबार पहचाननेसे फिर शोक मोह होतेही नहीं। यहां पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा एक तत्त्व है, तो जीवका जीवभाव क्यों सिद्ध हो सकता है, इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जीव भी परमात्माकाही अंश है देखिये—

ईश्वरका सनातन अंश।

(७–११) ईश्वरका सनातन अंश इस मानव लोकमें जीवभावको प्राप्त हुआ है। अर्थात् जीवात्मा पृथक् नहीं है वह ईश्वर का ही अंश है। यह श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। जैसे महासागरमें एक जलबिन्दु, जैसे सूर्यप्रभामें एक किरण जैसे बडी प्रज्वलित अग्निमें एक चिनगारी

वैसेही परमात्मामें जीवात्मा है। सम्पूर्ण सचेतन अचेतनका अन्तर्यामी आत्माही ईश्वर है उसीका व्यक्तिगत अंश जीवात्मा है, जैसे आकाशमें मठाकाश और मठाकाशमें घटाकाश होता है, वैसेही विश्वात्मामें राष्ट्रात्मा और राष्ट्रात्मामें वैयक्तिक आत्मा है। वेदमें कहा है-

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

यह एकही प्रभु सब दिशा-उपदिशाओंमें है, वही पूर्व समयमें और इस समयमें गर्भमें आता है। वही पहिले जन्मा था वही इस समय जन्मता है और आगे भी वही जन्मेगा। उसीका मुख सब ओर है और वही प्रत्येक मनुष्यके अन्दर रहता है। तथा—(वा. यजु. ३२।४)

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-
जायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(वा. य. ३१।१९)

प्रजापति परमपिता परमेश्वर गर्भके अन्दर संचार करता है वह स्वयं अजन्मा होता हुआ भी अनेक प्रकार से और विशेष रीतिसे जन्मता है। इसका मूल स्थान ज्ञानी लोग देखते हैं और इसीमें सब भुवन स्थित हैं।

परमात्माका जन्म कहते हुए ही वह न जन्मनेवाला होनेपर भी जन्म लेता है ऐसा कहा है। आत्मा तो अज अर्थात् अजन्मा है फिर भी घटमें आये आकाशके समान शरीरमें आया आत्माका अंश ही शरीरके साथ जन्मता है। यह एक रूपक है इससे दर्शाया जाता है कि विभु प्रकाश आत्माके अंश ही जीव रूप बनकर (मम एव अंशः जीवभूतः) इस विश्वमें नानारूप धारण करते हैं, इसी कारण उसको सर्वतो मुखः विश्वतो-मुखः विश्वतश्चक्षुः विश्वतस्पात्, विश्वतोबाहुः कहा है-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी
जनयन्देव एकः। (वा. य. १७।१९)

यदि वह प्रभु सब शरीरोंमें न हो तो उसके सब ओर मुख सब ओर हाथ, सब ओर चक्षु और सब ओर पांव कैसे हो सकते हैं? जो इसी परमात्माका अंश जीवात्मा है ऐसा नहीं मानते और जीवात्माको परमात्मासे सर्वथा पृथक् मानते हैं उनका परमात्मा विश्वतोमुख विश्वतोबाहु विश्वतस्पात् किस तरह हो सकता है? क्योंकि जो मुख बाहु पांव चक्षु आदि अवयव दीखते हैं वे देहियोंके पक्षमें जीवात्माओंके हैं न कि परमात्माके। अतः हाथपांवचक्षुमुख ये अवयव जीवात्माके होनेके कारण किसी तरह परमात्माके हो नहीं सकते। परन्तु वेदोंमें परमात्माका ही वर्णन विश्वतोमुख आदि शब्दोंद्वारा किया है अतः मानना पड़ेगा कि न जन्मनेवाला परमात्मा विशेष रीतिसे जन्म लेता है, (अजायमानो बहुधा विजायते) और विश्वतोमुखी बनता है। यही भगवद्गीताकी भाषामें परमात्माका विश्वरूपदर्शन है, उस रूप उसीने धारण किया है। अस्तु।

परमात्माका अंश जीवात्माके रूपमें जीवसृष्टिमें आता है, यह गीताका कहना इस तरह वेदसे भी प्रमाणित होता है। 'परमात्माका अंश' ऐसा कहनेसे खण्डित अंश नहीं समझा जाता परन्तु जैसे आकाशका अंश मठाकाश या घटाकाशमें खण्डित न होनेपर भी अंश कहा जाता है, वैसे यहां भी समझ लेना चाहिये क्योंकि परमात्मा अखंड एक-रस है उसके टुकडे हो नहीं सकते। परन्तु शरीरमें व्यवहार करनेके कारण उसका अंश यह समझानेके लिये कहा गया है, वेदमें भी ऐसाही कहा है-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्यामृतं दिवि॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः
पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥४॥ (वा. य. ३१)

पुरुष अर्थात् परमात्माका एक पाद अर्थात् अंश इस विश्वमें विश्वरूप बना है और बारबार विश्वरूप बनता है और तीन पाद अर्थात् तीन अंश द्युलोकमें अपने स्वरूपमें रहते हैं' यहां भी पाद शब्द अंशवाचकही है और यह अंश या पाद शब्द टुकडेका वाचक नहीं है, परन्तु एकरस पदार्थके कुछ अंशका वाचक है।

यह परमात्माका सनातन अंश मन, कान, त्वचा चक्षु

जिह्वा और नासिका इन छः इन्द्रियोंको अपने पास आकर्षण करके इन छहों इन्द्रियोंको अपने पास रखता है और इन, इन्द्रियोंसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध विषयोंका भोग करता है। जीव इन इन्द्रियोंको अपने पास आकर्षण करके विविध भोग भोगता है। मनके साथ छः इन्द्रियाँ मिलकर जीवात्माका लिंगदेह होता है। वायु जैसे फूलोंका सुगंध अपने साथ ले जाता है इसी तरह जीव एक शरीरको छोड़ता और दूसरे शरीरको प्राप्त करता है उस समय इस लिंगदेहके साथ अर्थात् मन आदि छहों इन्द्रियोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको जाता है। जब यह एक शरीर छोड़ता है तब उस देहकी मन आदि छः इन्द्रियोंको अपने साथ आकर्षण करके लेता है और जब यह दूसरे देहमें प्रवेश करता है तब उस देहमें इन छः इन्द्रियोंको सुरक्षित रखता है। अर्थात् अकेला जीवात्मा किसी देहको छोड़ता नहीं और किसी देहको पकड़ता भी नहीं। जब देहको छोड़ता है उस समय मनके साथ छः इन्द्रियोंको छोड़ता है और जब किसी देहमें प्रवेश करता है तब भी इन छः इन्द्रियोंके साथ ही प्रविष्ट होता है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि जो आत्मा है वह सर्वगत (गी. २।२४) अर्थात् सर्वव्यापक है तथा उसका अंश या टुकड़ा होता नहीं क्योंकि वह अखण्ड एकरस है। तथापि घटाकाशोंसे अनेक घटोंमें आकाश रहनेके समान सर्वव्यापक आत्माका अंश अनेक देहोंमें विराजता है। यदि केवल आत्माका अंश शरीरकी उपाधिमें रहता तो भी उसको जीवभाव कदापि प्राप्त न होता क्योंकि अखण्ड एकरस आत्माके एक या अनेक शरीर आये अथवा न आये तो उसमें कोई परिवर्तन होना संभवही नहीं है।

परंतु जब यह आत्मा अपने साथ मन आदि छः इन्द्रियोंको आकर्षित करता है और उन छः इन्द्रियोंसे नाना भोग भोगनेका कार्य करता है तब 'मैं भोक्ता हूं' ऐसा उसे अनुभव होता है और वही जीवभाव है। अर्थात् मन आदि छः इन्द्रियोंके साथ रहनेसेही अपने भोक्ता होनेका अनुभव उसे हुआ और इसी कारण जीवभाव उसमें प्रतीत होने लगा। अतः यह मनके कारण प्रतीति है। मनके बिना इन्द्रियाँ कुछ भी कार्य कर नहीं सकतीं; अतः मनके साथ रहने से आत्माको अपनेमें 'मैं भोक्ता हूं और अन्य भोग्य हैं' ऐसा भाव हुआ और जीवभावका प्रारंभ हुआ। यह मनका खेल है अतः मनकोही बंधन और मोचनका हेतु कहा जाता है।

कान, त्वचा आंख, रसना नासिका और मनके ऊपर अधिष्ठाता होकर इनके द्वारा यह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध आदि विषयोंका उपभोग करता है और मैं उपभोग करनेवाला हूं तथा ये उपभोगके विषय हैं, ऐसा अनुभव करता है। यही जीवभाव है। भोगकामना जीवभावका महत्वका लक्षण है। इसी कारण कामनाक्षयसे मोक्षकी प्राप्ति संभवनीय होती है।

शरीरको छोड़ते समय शरीरमें रहते समय भोग करते समय तथा सत्वादि गुणोंसे युक्त होते समय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेही देखते हैं परंतु जो ज्ञानदृष्टिसे रहित मूढ हैं उनको आत्माका पता तक नहीं होता।

शरीरमें जो कर्म होते हैं उनके देखनेसे आत्माका पता लगता है यदि शरीरसे होनेवाले कर्मोंका अनुसंधान न किया जाय तो आत्माका ज्ञान होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इस सृष्टिमें स्थिर और चर स्थावर- जंगम निर्जीव सजीव ऐसे दो भाव दीखते हैं। पत्थर पर्वत आदि स्थिर-स्थावर अथवा निर्जीव कहलाते हैं और जीव कृमि कीट पतंग पक्षी, पशु मानव आदिकोंको सजीव- जिनमें जीवन है- ऐसा कहते हैं। यह सजीव-निर्जीव-भेद स्पष्ट है और हरएक मानव इसका अनुभव स्पष्टतासे प्राप्त कर सकता है। यदि सजीव सृष्टिमें दिखाई देनेवाले 'इच्छा द्वेष सुख दुःख और प्रयत्न' न दीखे जांय तो इनसे भिन्न जीवका अथवा आत्माके जाननेका और कोई उपायही नहीं है।

ये लक्षण देखनेसेही सजीवोंमें जीवात्मा-आत्मा है और स्थावरोंमें आत्मा नहीं है ऐसा मनुष्य कहते हैं। यहां इतना सत्य है कि जीवोंकी हलचलसे आत्माका बोध होता है परंतु इससे जो अनुमान किया जाता है कि जीवोंसे भिन्न स्थानोंमें आत्मा नहीं यह अनुमान अशुद्ध है। यथा उदाहरणके लिये आप देखिये कि वृक्ष हिलते हुए देखनेसे वायु-के अस्तित्वका पता लगता है इतना सत्य है परंतु यदि वृक्ष न हिले किंवा किसी स्थानपर धूलही न उड़े तो वहां वायुही नहीं है ऐसा अनुमान करना अनुचित है। इसी तरह प्राणियोंकी हलचल देखनेसे आत्माका ज्ञान होता है यह सत्य है, परंतु जहां प्राणी न रहे अथवा प्राणीकी हलचल

(५) सबके हृदयोंमें ईश्वरका निवास।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५॥

न हो वहां आत्मा नहीं है ऐसा अनुमान करना अयोग्य है।

अतः मरनेके साथ साथ शरीरसे आत्मा चला गया, जन्म लेनेपर उसमें आत्मा आया अमुक शरीरमें आत्मा भोग करता है और अमुक शरीरमें आत्मा अमुक गुणोंसे युक्त है यह सब भाषा अशुद्ध है। आत्मा सर्वगत (गी. २।२४) है इसलिये आत्मा तो सबमें और सर्वत्र है न वह किसी में पहिले न होता हुआ फिर आता है और न किसी स्थान पर पहिले होता हुआ फिर चला जाता है। वह सदा सर्वत्र एक जैसा एकरसही है। आना जाना होकर न होना और न होकर होना यह उसके लिये असंभव है।

जैसा देखिये एक स्थानपर अनेक घडे रखे हैं। तो क्या उनमें पहिले आकाश नहीं था? और क्या आकाशने उनमें पश्चात् प्रवेश किया? तथा उनमेंसे कई घडे टूट गये तो क्या वहांसे आकाश भाग गया? ये सब भाषाके बोलनेके प्रकार तत्त्वदृष्टिसे अशुद्ध हैं। आकाश पहिलेसेही सर्वत्र एक जैसा है। घडे उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य आकाशके विषयमें अपनी कल्पनासे जैसा चाहे वैसा बोलते हैं। वैसे आकाशमें घडे वैसेही परमात्मामें जीवोंके ये शरीर हैं। ये शरीर बने अथवा नष्ट हो जांय पर परमात्मामें कोई न्यूनता या अधिकता नहीं होती। अतः आत्मा आये अथवा चला जाये यह भाषा केवल व्यवहारकीही भाषा है उसमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है। तीनों कालोंमें आत्मा सर्वगत है यही बात सत्य है। सबका एक आत्मा है न वह जाता है और न आता है।

ऐसा होनेपर भी आत्माका अस्तित्व जाननेके लिये सजीव प्राणियोंका निरीक्षण करना आवश्यक है और इस कारण जीवन मरण भोग और गुणका विचार करना भी आवश्यकही है। क्योंकि इसके बिना आत्माके अस्तित्वका भी पता नहीं लग सकता। अतः कहा है कि ज्ञानदृष्टिवाले लोग प्राणियोंके उत्क्रमण भोग अवस्थान आदिका विचार करके आत्माको पहचानते हैं, परंतु जिनके पास ज्ञानचक्षु नहीं है वे प्राणियोंकी हलचल देखनेपर भी आत्माको नहीं जान पाते अतः मनुष्योंको उचित है कि वे विद्या प्राप्त करके अपने अन्दर ज्ञानदृष्टिका विकास कराकर इस आत्माका साक्षात्कार करें।

जो कृतात्मा योगी होते हैं वे जब आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करते हैं तब वे अपने अन्दर ही आत्माको देखते हैं। परंतु जो अकृतात्मा और अयोगी होते हैं उनके प्रयत्न करनेपर भी उनको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। यहां कृतात्मा और अकृतात्मा कौन हैं इसका थोडासा विचार कर लेना चाहिये। विद्या प्राप्त करके शास्त्रानुकूल अनुष्ठान यमनियमादि पालन, सत्संगसेवन तथा अध्यात्म-विद्याभ्यास जो करते हैं वे अपने आपको यथायोग्य सुशिक्षित बनानेके कारण कृतात्मा कहे जाते हैं। तथा जो लोग अपने उद्धारके लिये योग्य अनुष्ठान नहीं करते अथवा आत्मघातके मार्गसे ही चलते हैं वे अकृतात्मा कहे जाते हैं। इनको आत्माका विचार भी नहीं सूझता।

आत्माके ज्ञानका योग करनेवाले योगी और जो आत्माका विचारतक नहीं करते वे अयोगी होते हैं।

इस तरह एक सर्वगत आत्माही विविध शरीरोंमें मन आदि इंद्रियोंका अधिष्ठाता होकर प्रत्येक शरीरके आत्माके रूपमें प्रकट होता है। इसप्रकार इस आत्माने कई विश्वान्तर्गत सब शरीर धारण किये हैं और यही एक आत्मा विश्वरूपी विश्वात्मा बना है। आत्मज्ञानी दिव्य दृष्टिवाले प्रयत्नशील योगी इसको अपने अन्दर भी देख सकते हैं, वैसेही सर्वत्र इसका साक्षात्कार कर सकते हैं परंतु जिनको दिव्यदृष्टि नहीं है उनको इसका ज्ञान नहीं होता। यही विषय अन्य रीतिसे स्पष्ट करते हैं—

अन्वयः—यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते यत् च चन्द्रमसि, यत् च अग्नौ (स्थितं अस्ति) तत् मामकं तेजः (अस्ति इति त्वं) विद्धि ॥ १२ ॥ अहं च गां आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि । रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥ अहं प्राणिनां देहं आश्रितः प्राणापानसमायुक्तः वैश्वानरः भूत्वा चतुर्विधं अन्नं पचामि ॥ १४ ॥ अहं सर्वस्य च हृदि संनिविष्टः (अस्मि) मत्तः (सर्वस्य) स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (भवति), अहं च एव सर्वैः वेदैः वेद्यः (अस्मि), अहं एव वेदान्तकृत् वेदवित् च (अस्मि) ॥ १५ ॥

जो सूर्यमें रहनेवाला तेज सब जगत्को प्रकाशित करता है जो चन्द्रमामें और जो अग्निमें है, वह तेज मेरा (ईश्वरका) है ऐसा तू समझ ॥ १२ ॥ और मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके अपने बल सबके भूतोंको धारण करता हूं। तथा रसरूप सोम बनकर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥ मैं (ईश्वर) प्राणियोंके देहोंमें आकर, प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्नि बनकर चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं ॥ १४ ॥ मैं (ईश्वर) सबके हृदयोंमें रहता हूं, मुझसेही सबको स्मरण, ज्ञान और इनका अभाव (विस्मरण और अज्ञान) होता है, मैं ही (ईश्वर) सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य हूं, और मैं (ईश्वर) ही वेदान्त शास्त्र निर्माण करनेवाला और वेदका ज्ञाता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ—सूर्यचन्द्र और अग्निमें जो तेज है वह ईश्वरका है। पृथ्वी जिस बलसे सब भूतोंका धारण करती है वह बल ईश्वरका है। जिस रस से सब औषधियां पुष्ट होती हैं वह रस परमेश्वर का है। जो जाठराग्नि प्राणियोंके देहोंमें अन्नका पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि परमेश्वरका ही रूप है। जिससे मनुष्योंको ज्ञान और स्मरण, तथा अज्ञान और विस्मरण होता है वह ईश्वरकीही सामर्थ्य है। यही ईश्वर वेद और वेदान्तका निर्माता और ज्ञाता है और वेदमें इसीका वर्णन है ॥ १२—१५ ॥

(१२—१५) परमात्मा हरएक रूपमें है अतः वह विश्वात्मा विश्वरूप है, इतना कहने मात्रसे हरएक आकृतिमें मूर्तिमें रूपमें शरीरमें वह विद्यमान है यह बात सिद्ध होती है। और यदि वह हरएक वस्तुमें है, तो वही सर्वत्र विश्वमें सर्व चमकता है इसमें क्या संदेह हो सकता है ?

इतनी बात माननेपर आदित्यमें चन्द्रमामें और अग्निमें जो तेज है वह ईश्वरकाही तेज है इस विषयमें शंकाही नहीं हो सकती इतनाही नहीं परन्तु सब तारकाओंमें तथा दीपकोंमें जो तेज है वह सब तेज परमेश्वरसेही उनमें आया है। जहां जहां तेज, प्रकाश उजाला होकरभी दीखती है वह सब परमेश्वरसे वहां आई है। यह तेजके विषयमें कहा है तेजके समान ही पृथ्वीकी गंध जलतत्त्वका रस वायुतत्त्वका स्पर्श और आकाशतत्त्वका शब्द ये भी परमात्माके कारणही वहां स्थित हैं यह बात इससे पूर्व ही कही जा चुकी है—

गुण और गुणी

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
(भ. गी. ७)

'जलोंमें रस सूर्यचन्द्र और अग्निकी प्रभा आकाशमें शब्द पृथिवीमें गंध वेदोंमें प्रणव मनुष्योंमें पौरुष सब प्राणियोंमें जीवन तपस्वियोंमें तप यह सब परमेश्वरका ही रूप है।'

—इसीको सर्वत्र देखना चाहिये और यहां जो केवल प्रकाशके विषयमें कहा है वह जैसा तेजस्तत्त्वके प्रकाशगुणके विषयमें सत्य है, वैसाही अन्यतत्त्वकी शक्तिके विषयमें और अन्यान्य तत्त्वोंके अन्यान्य गुणोंके विषयमें भी सत्य है ऐसा विचार पूर्वक जानना चाहिये। यह भाव आगे स्पष्ट करते हैं—

(गां आविश्य) पृथ्वीमें परमेश्वर प्रविष्ट होकर सब प्राणियोंको धारण करता है, (ओषधीः पुष्णामि) पृथ्वीपर उत्पन्न होनेवाली सब औषधियोंका पोषण करता है और रसात्मक सोम (रसात्मकः सोमः) बनकर औषधि वनस्पतियोंमें संचार करता है। वैश्वानर बनकर अर्थात् परमेश्वर

(९) क्षर+अक्षर = पुरुषोत्तम।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

अन्वयः—(अस्मिन्) लोके क्षरः अक्षरः च एव इमौ द्वौ पुरुषौ (स्तः) सर्वाणि भूतानि क्षरः, कूटस्थः च अक्षरः उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति), सः परमात्मा इति उदाहृतः यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयं आविश्य (तत्) बिभर्ति ॥ १७ ॥ यस्मात् अहं क्षरं अतीतः अक्षरात् अपि च उत्तमः (अस्मि) अतः अहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः अस्मि ॥ १८ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ये दोही पुरुष हैं। सब भूतोंको क्षर कहते हैं और कूटस्थ (जीव) को अक्षर कहते हैं ॥१६॥ उत्तम पुरुष तो (इन दोनोंसे) भिन्न ही है उसे ही परमात्मा कहते हैं, वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥ मैं (ईश्वर) क्षरसे परे और अक्षरसे भी उत्तम हूं इसी कारण (ईश्वर) लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ—इस विश्वमें एक क्षर पुरुष और दूसरा अक्षर पुरुष है। सब भूतोंका नाम क्षर पुरुष है और जीवचैतन्यका नाम अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर ये जिसमें एक होते हैं वह पुरुषोत्तम है, और उसीको परमात्मा कहते हैं। वह परमात्मा संपूर्ण विश्वमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है वह परमात्मा केवल क्षरसे श्रेष्ठ और केवल अक्षरसे भी उत्तम है क्योंकि इसमें क्षर और अक्षर एकरूपता को प्राप्त हुए हैं अतः इसको सब वेद और सब लोक 'पुरुषोत्तम' कहते हैं १६-१८ ॥

यह विश्वका नेता बनकर संपूर्ण प्राणियोंके देहोंमें (मामिकां देहं आश्रितः) आश्रय कर रहा है और वही प्राण-अपान आदिसे युक्त होकर (अन्नं पचामि) सब प्रकारके अन्नका पचन करता है।

परमेश्वरका कार्य।

इस रीतिसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर यह परमात्मा सब भूत-मात्रमें जो कार्य हो रहा है उसको चलाता है परंतु अज्ञ मनुष्य समझते हैं कि सूर्य प्रकाशित होता है, चन्द्रप्रकाशित होता है, पृथ्वी सबका धारण करती है वायु सुखाता है इत्यादि। परंतु वस्तुतः देखा जाय तो इन सबमें परमेश्वर है और वही यह सब कार्य करता है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं—

वेद-वेद्य।

(सर्वस्य हृदि संनिविष्टः) परमेश्वर सबके हृदयमें—मध्यमें बीचमें प्रविष्ट हुआ है, उसीसे सबकी स्मृति ज्ञान और विस्मृति हो रही है। सब वेदोंके द्वारा (वेदैः वेद्यः) जानने योग्य वही परमेश्वर है अर्थात् सब वेद उसीका वर्णन कर रहे हैं। वही वेदान्तकर्ता वेदवेत्ता और ज्ञानी है।—

सबके हृदयोंमें रहकर सबको ज्ञान पूर्वस्मरण और स्मरण होकर पुनः विस्मरण आदि होना परमेश्वरद्वारा ही होता है। वेदवेत्ता वेदान्तप्रवर्तक ज्ञानी वही है अर्थात् यहां दूसरा कोई है ही नहीं। स्मरण भी वही कराता है और विस्मरण भी उसी कारण होता है। पाठकोंको इसपर आश्चर्य होगा अतः एक उदाहरण देते हैं। सबके स्मरण विस्मरण होते हैं यह सब जानते हैं। सूर्यके प्रकाशसे दिन बनाना स्वाभाविक है परंतु दिन बननेमेंही कारण रात्रि बनती है यह भी उसकाही स्पष्ट है। इसी तरह स्मरण और विस्मरण एकसाथ ही हुआ करता है। अस्तु। इसी पुरुषोत्तम-परमेश्वर-परमात्मासे यह सब होता है। अब इस पुरुषोत्तम का स्वरूप देखिये—

(१६-१८) इस विषयमें ' क्षर ' और ' अक्षर ' ये दो पुरुष हैं एक नाशवान् है और दूसरा अविनाशी है इसके वाचक नाम अनेक स्थानमें आये हैं, उनमेंसे कुछ यहां देते हैं—

क्षर	अक्षर
व्यक्त	अव्यक्त
प्रकृति	पुरुष
जड	चेतन
प्रकृति	आत्मा
स्थूल	सूक्ष्म
रयी	प्राण
जीव	शिव
मूर्त	अमूर्त
दिति	अदिति
चन्द्रमा	सूर्य
जीवात्मा	आत्मा
अनीश	ईश

इस प्रकारके अनेक नाम अनेक ग्रंथोंमें लिखे हैं इन सब संकेतोंका आशय एकही है। इसे इस विषयमें अनेक वस्तुएं क्षय होनेवाली दीखती हैं और अनेक अविनाशी। इन्हींका नाम ' क्षर पुरुष ' और ' अक्षर पुरुष ' है। इनका स्वरूप इस तरह बताते हैं—

(क्षरः सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको क्षर कहते हैं और जो (कूटस्थ) सब भूतोंके मध्यमें चेतना करनेवाला है, उसका नाम अक्षर है। मानवी देहमें देहको ' क्षर—पुरुष ' इसलिये क्योंकि देह क्षीण होता जाता है और आत्माको ' अक्षर—पुरुष ' इसलिये क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। इसी तरह सर्वत्र देखकर क्षराक्षर विवेक करना उचित है।

(उत्तमः पुरुषः अन्यः) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम इन क्षर और अक्षर पुरुषोंसे अन्य है, वही ईश्वर कहलाता है और वही तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका धारण तथा पोषण करता है। यहां शंका होती है कि यहां जो ' अन्य पुरुष—पुरुषोत्तम—कहा है, वह पहिले कहे दोनों पुरुषोंसे पृथक् है या उनमें ही संमिलित है ? यदि उनमें संमिलित होता तो—

उत्तम पुरुषः अन्य ।

उत्तम पुरुष ' अन्य ' है ऐसा न कहा जाता तथा यदि यह तीसरा पुरुष होता तो पहिलेसेही श्लोकमें (द्वौ पुरुषौ) यहां दोही पुरुष हैं, ऐसा जो कहा है उसके स्थानपर (त्रयः पुरुषाः) तीन पुरुष हैं ऐसा कहा जाता। अतः पुरुष तीन नहीं हैं केवल दोही हैं यह सिद्ध है। यद्यपि (अन्यः) ऐसा तीसरे पुरुषका निर्देश यहां किया प्रतीत होता है तथापि यहां तीसरा पुरुष जो कहा है वह इन पूर्वोक्त दोनोंसे भिन्न होनेपर भी उनमें ही है। यह कैसे हो सकता है ऐसी शंका यहां हो सकती है इसके उत्तरमें थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं।

यहां एक पुरुष है और दूसरी स्त्री है दोनोंका विवाह होनेपर उनको दम्पती कहते हैं इसका वर्णन हम इस तरह कर सकते हैं—

(१) यहां दोही मनुष्य हैं एक पुरुष और दूसरी स्त्री।

(२) सन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्री है और गर्भका आधान करनेवाला पुरुष होता है।

(३) दम्पती तो इनसे भिन्न है। जो गृहस्थाश्रम चलाते हैं।

स्त्री और पुरुष ये दो ही मनुष्य हैं, इनके विवाहसंबंधसे दम्पती होते हैं अविवाहित अवस्थामें स्त्री और पुरुष अलग अलग रहते हैं। विवाहित होनेपर दम्पती कहलाते हैं। यद्यपि स्त्रीपुरुष मिलकरही दम्पती होते हैं तथापि केवल स्त्री और केवल पुरुष दम्पती नहीं होते। यहां पाठकोंको पता लगा कि दोनोंके अस्तित्वसे ही उनसे भिन्न तीसरेका संभव कैसे हो सकता है ? यही संबंध आगेके श्लोकमें कहा है—

जिस कारण उत्तम पुरुष केवल ' क्षर पुरुष ' से श्रेष्ठ है और ' अक्षर पुरुष ' से भी अधिक उत्तम है अतः उस उत्तम पुरुषको लोकोंमें तथा वेदोंमें ' पुरुषोत्तम ' कहा जाता है।

क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम ।

पुरुषोत्तममें क्षर भी है और अक्षर भी है, अतः वह केवल क्षरसे तथा केवल अक्षरसे उत्तम है इसमें संदेह नहीं है। क्षर और अक्षर ये वस्तुतः भेद नहीं है

(७) सर्वभावसे भजन।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ। एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः। १५

अन्वयः— हे भारत! यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं एवं जानाति, सः सर्ववित् (भूत्वा) मां सर्वभावेन भजति ॥ १९ ॥ हे अनघ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तं, हे भारत! एतद् बुद्ध्वा (जीवः) बुद्धिमान् कृतकृत्यः च स्यात् ॥ २० ॥

हे भारतीय वीर! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णभावसे सेवा करता है ॥ १९ ॥ हे निष्पाप वीर! इस प्रकार यह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है। हे भारतीय वीर! इसे जानकर जीव बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जो पुरुषोत्तमको इस तरह समझता है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णभावसे ईश्वरकी सेवा करता है यही गुह्य ज्ञान है इसे जाननेसे मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य हो जाता है। इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन सार्थक हो जाता है। ॥ १९-२० ॥

परन्तु कल्पनामात्र भेद है यह बात यहां ध्यानमें धारण करनी चाहिये। कोई ज्ञानी या विज्ञानी केवल क्षर को एक कोठरीमें और केवल अक्षर को दूसरी कोठरीमें भर कर अलग अलग नहीं रख सकता। क्योंकि वे इस तरह पृथक् करनेयोग्य विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं।

जैसे मिठास और मिश्रीका डेला ये दो पदार्थ कल्पनासे पृथक् माने जा सकते हैं परन्तु वस्तुतः पृथक् नहीं हैं मिश्रीका डेला और मिठास सदा एकसाथ रहेंगे इसी तरह क्षर और अक्षर जड़-चेतन ये पुरुषोत्तमके विश्वरूपमें सदा एकसाथ ही हैं। पुरुषोत्तमही एक सत्यवस्तु है और क्षर अक्षर ये समझानेके लिये कल्पनासे अलग अलग माने गये हैं। जैसे चक्र और रथ भिन्न कल्पना होनेपर भी वस्तु एकही है वैसेही यहां भी समझना चाहिये।

इस रीतिसे क्षर और अक्षर ये दो भिन्न कल्पनायें हैं दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दोनों मिलकर सत्यवस्तु एकही होती है जो दोनोंसे पृथक् पुरुषोत्तम कही जाती है। यही सत्यवस्तु है और जो पहिले दो वस्तुएं कही थीं वे काल्पनिक केवल जिज्ञासुओंके लिये-समझानेके लिये कही गयी थीं।

हरएक वस्तुके दो पहलू होते हैं। एक इस ओरका पहलू और दूसरा दूसरी ओरका। वे एक दूसरेसे स्वतन्त्र भी हैं। तथापि वे दोनों पहलू मिलकर जो वस्तु बनती है वह दोनों पहलुओंसे पृथक् ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पहलूसे वह वस्तु अधिक मूल्य की होती है।

इसी तरह क्षर+अक्षर=पुरुषोत्तम होनेसे पुरुषोत्तम का मूल्य केवल क्षरके मूल्यसे और केवल अक्षरके मूल्यसे निःसंदेह अधिक है। परन्तु क्षर और अक्षर एक दूसरेसे पृथक् करना असंभव है, वे केवल समझानेके लिये माने हैं। इसलिये एकही पुरुषोत्तम सत्य है और दूसरे दोनों काल्पनिक हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे पृथक् सत्ता इनमेंसे किसी की भी नहीं है।

यह पुरुषोत्तमही सत्य है। इसी पुरुषोत्तमका भजन सर्वभावसे सबको करना उचित है। वह कैसे करना चाहिये यह देखिये

सर्वभावका महत्त्व

(१९१) यहां सर्वभाव से ईश्वरको जानना और सर्वभावसे ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया गया है।

मनुष्य अपने आपको पृथक् मानता है और अन्य जिसको अपनेसे पृथक् मानता है। मैं पृथक् हूं और मुझसे भिन्न ये भिन्न हैं वह मुझसे पृथक है यह असर्वभाव अथवा खंडभाव मनुष्यके मनमें सदासर्वदा रहता है और यही खंडभाव—असर्वभाव—अपूर्णभाव अधर्म बढानेवाला है। इसीसे सब दुःख हो रहे हैं और सब आपत्तियां बढ रही हैं।

इसी लिये यहां कहा है, कि परमेश्वरको (एवं सर्वभावेन पुरुषोत्तम जानाति) इस तरह सर्वभावसे जानता है वह (सर्ववित्) सबको जाननेवाला होता है और सबको जाननेके पश्चात् (सर्वभावेन पुरुषोत्तम भजति) वह सर्वभावसे परमेश्वरकी सेवा करता है। परमेश्वरको सर्वभावसे जानना और उसकी सर्वभावसे सेवा करना यहां मुख्य है।

यही (गुह्यतमं शास्त्रं) अत्यंत गुह्यशास्त्र है जो इस शास्त्रको यथावत् जानता है वह बुद्धिमान और कृतकृत्य होता है। अर्थात् बुद्धिमान और कृतकृत्य होनेका एकमात्र साधन सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे उसकी सेवा करना ही है। कृतकृत्य होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्वभावसे ईश्वरको जाननेसे ही साधक (सर्व-वित्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी जाननेयोग्य अवशिष्ट नहीं रहता।

अब यहां विचार करना है कि सर्वभावसे जानना और सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है? और इसके विपरीत समझनेका आशय क्या है? इसका तात्पर्य समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं—

एक गुरु था और उसके दो शिष्य थे। सेवा करनेकी उत्सुकतासे वे बारंबार झगडा किया करते थे। उनका झगडा मिटानेके लिये गुरुने कहा कि शरीरका एक भाग एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है। प्रत्येक शिष्य अपने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न लडे। इस तरह समझौता होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने गुरुके शरीरके भाग की सेवा करने लगे। एक समय गुरु दायें पांवको बायें पांवपर रखकर आराम कर रहे थे। बायें पांव की सेवा करनेवाले शिष्यने देखा और क्रोधमें आकर गुरुके दायें पांवको पीटना आरंभ किया। और कहने लगा कि तुम मेरे उपास्य अवयवपर बैठनेवाले कौन हो! यह मूढ भक्तिभाव देखकर त्रस्त हुआ गुरु शिष्यसे कहने लगा कि 'हे शिष्य! तुम मेरी सेवा खंडितभावसे कर रहे हो जो कि मुझे अखंडभावसे अर्थात् सर्वभावसे करनी चाहिए। जैसे दायां पांव मेरा है वैसेही बायां पांव भी मेरा ही है। यद्यपि यह पांव दूसरेको सेवाके लिये दिया है तथापि वह भी मैं ही हूं। जब तुमने दूसरे पांवका ताडन किया इससे मुझे ही कष्ट भोगने पडे। अतः यह तुम्हारा मूढभाव है। सर्वभावसे सेवा करोगे तभी तुम्हारी सेवा सफल होगी और जब तुम खंडभावसे सेवा करोगे तो वह गुरुद्रोह ही होगा।

इस जगत्में असर्वभाव अथवा खंडभावसे सब लोग ईश्वरसेवा कर रहे हैं। शैववैष्णवोंके उपासनाविषयक झगडे सबको पता हैं मुसलमानोंके झगडे भी इसी कारण होते हैं। यदि इन उपासकोंको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप समझाया जायेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी रीति ज्ञात होगी तो कोई झगडेका कारण ही नहीं रहेगा।

सर्वभाव क्या है? यह एकही सद्वस्तु है जिसको पुरुषोत्तम ईश्वर परमब्रह्म आदि नाम हैं। उस एक वस्तुका स्वरूपही यह विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। जो रूप दीखता है वह उसी सद्वस्तुका है। उस सद्वस्तुको छोडकर यहां दूसरी वस्तुही नहीं है। जो भी कुछ यहां है वह उसकाही प्रकटीकरण है। यही ईश्वर है और यही सब कुछ है। इसीका नाम सर्वभाव है। यही सर्वभावसे उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको जानना है। सर्वभावसे उसकी उपासना करना भी इसी तरह है। सबकी उपासना एक समय तो हो ही नहीं सकती। उपासककी शक्ति अल्प होनेसे वह विश्वरूपके किसी छोटेसे अंशकी ही सेवा कर सकता है। परन्तु जिस अंशकी सेवा करनी है वह अंश उस पूर्णका अंश है ऐसा जानकर और यह अंश उससे पृथक् नहीं है ऐसा मानकर इस अंशकी सेवा ही उसकी सेवा है इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिए। जैसी मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो सकती है इसी तरह विश्वात्माके किसी अंशकी अपक्षभावसे

सेवा करनेसे ही विश्वात्माकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

खंडभावसे असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानतेही हैं मैं पृथक् हूं मेरा उपास्य अन्य जिससे पृथक् है अन्य चाहे मर जाय तो भी पर्वाह नहीं केवल मेरी, मेरी जातिकी और मेरे उपास्यकी प्रतिष्ठा हो इस तरह जो किया जाता है वह खंडभावसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब दुःखोंका मूल है अतः सब दुःख इसीसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहां कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तम को जानता है वह (अ—संमूढ) ज्ञानविज्ञानसंपन्न होता है और वही (सर्ववित् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उत्तम ज्ञान है इसीके जाननेसे मनुष्य कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका आशय यह है कि जिस रीतिसे कर्म करना चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अशुद्ध भावसे वह कुछ भी नहीं करता क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका अज्ञान रहता नहीं।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वरूपको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आपको विश्वरूपमें संमिलित देखता है और विश्वरूपको भी अपनाही रूप जानता है। जीव अखंड एकरस है ऐसा जाननेपर अशुद्धि होनेकी संभावना नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करना भी जिसको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी जिसको अपनीही सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, वही सर्वभावसे व्यवहार करता है और वही कृतकृत्य होता है।

॥ यहाँ पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥



पन्द्रहवें अध्यायका मनन।

पुरुषोत्तमयोग।

इस पन्द्रहवें अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है। पुरुषोत्तमके साथ अपना योग करना अथवा पुरुषोत्तमसे मैं भिन्न नहीं हूं इसका अनुभव करनाही इस अध्यायका ध्येय है। इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तमका स्वरूप जान लेना चाहिये। उसका निम्न प्रकार है।

पुरुषोत्तमका स्वरूप।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गी. १५।१८)

क्षर-पुरुष और अक्षर-पुरुष ऐसे दो पुरुष हैं, इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो है उसका नाम पुरुषोत्तम है। क्षरपुरुष अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुष हैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह तीनोंमें उत्तमोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। यह भेद दोनोंसे पृथक् नहीं है परंतु क्षर और अक्षर ये पुरुषोत्तममें एकरूप हुए हैं। इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण देते हैं—

पात्रमें जल है और मिश्री है। यहां जल+मिश्री=शरबत ये तीन पदार्थ हुए। जल एक वस्तु है मिश्री दूसरी वस्तु है, इनसे जल और मिश्रीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम शरबत है। इसमें जल और मिश्री एकरूप हो गयी है। इसी लिये शरबत कह सकता है कि 'मैं केवल जलसे और मिश्रीसे भी उत्तम हूं।' यह बात स्पष्ट है कि केवल जलसे और केवल मिश्रीसे अर्थात् इन दोनोंसे शरबत उत्तम होता है तथा ये दोनों पदार्थ शरबतमें एकरूप होकर रहते हैं।

इसी तरह क्षर पुरुष (पंचभूत मन, बुद्धि और अहंकार) तथा अक्षर-पुरुष (जीवात्मा) ये दोनों पुरुष हैं। परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो पृथक् पृथक् लोकोंमें जाकर रह सकते हैं। ये सर्वत्र एक दूसरेके साथ एकत्र मिले रहते हैं, हमारे अज्ञानसे इनका भेद विदित होता है। जैसे रेखा और विस्तार ये कभी पृथक् न होनेवाले पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसाही काल्पनिक बुद्धिसे दीखता है। इनका जो एकरूपमें मेल है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है।

क्षर + अक्षर = पुरुषोत्तम।

{ पंचभूत मन-बुद्धि-अहंकार } + जीवात्मा = उत्तम पुरुष।

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया अक्षर जीवात्मा भी आगया और दोनोंका मेल होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसीमें आगया है। इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीवात्मा इन नव तत्त्वोंका एकरस योग है।

ये एकरस पहिले नहीं थे और पश्चात् मिले ऐसी बात भी नहीं है। सदासर्वदा ये सब आत्मभाव तत्त्व एकरस ही हैं। अविवेकके कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतनाही समझना चाहिये।

जैसे जलका बर्फ बनाया जाय अथवा जलकी भाफ बनाई जाय तो बर्फ-जल-भाफमें भिन्न भिन्न रूप अनुभव होते हैं तथापि आखरतकही ये रूप हैं अथवा मिश्रीके विभिन्न पदार्थ बनाये जायें तो भी, विभिन्न पदार्थोंका भान होते हुए भी उन सबका मिश्रीपन कदापि नहीं हट सकता। इसी तरह एक सद्वस्तु - एकही पुरुषोत्तम - अनेक रूपोंमें प्रकट हो भी जाय तो उसमें भिन्नता किसी भी रीतिसे नहीं आ सकती।

विद्युत्कण

आजकलकी विज्ञान पद्धति कहती है कि विद्युत्कणों (इलेक्ट्रॉन) से ही विश्वकी सब वस्तुएं बनी हैं। यही विद्युत्कण सर्वत्र वस्तुओंके रूपोंमें हमारे अनुभव उपस्थित

है। बिजली, बिजलीके तार बिजलीके स्तंभ बिजलीके दीप आदि सब विद्युत्कणोंसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनंत हैं विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि ये एकही सत्तत्वसे बने हैं। यही बात—

इन्द्र = विद्युत्

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद)

इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे अनंतरूपोंमें प्रकट होता है

यहां इन्द्र नाम विद्युत्‌काही है। विज्ञानने जो आज कहा वही वेदने हजारों वर्षोंके पूर्व कहा था। अस्तु। इस तरह एकही पुरुषोत्तम विश्वरूपमें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है? अवश्य है तो फिर हमारा रूप किसका रूप है? उत्तरमें कह सकते हैं कि विश्वका यह अवयव—विश्वरूप है वह रूप भी उसीका है। यहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता है? अर्थात् मैं, तू, वह, यह सब व्यवहार पुरुषोत्तमकेही रूपमें हो रहा है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं अनेक स्थूल रूपोंमें प्रकट हो रहा है। जिस तरह एकही 'अ' कार सर्व वर्णमालाका रूप धारण करके पश्चात् वाङ्मयके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह यहां समझना चाहिये। एकही 'अ' कारकी यह वर्णमाला बनी है तो भी शब्दोंके विभिन्न अर्थ होते ही हैं, इसी तरह एकही सत्तत्वका सब विश्व बना होनेपर भी उसमें द्वन्द्वभाव प्रकट हुआ है किन्तु उसमें कोई आश्चर्य नहीं है कारण यह है कि—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
(भ. गी. ७।१२)

जो सात्त्विक राजस और तामस भाव इस विश्वमें प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब आत्मासे ही हो रहे हैं।" केवल सात्त्विक भाव आत्मासे हुए और तामस भाव किसी दूसरे शैतानसे हुए हैं ऐसी बात नहीं है। सब कुछ यह एक आत्माही है शैतान नामकी दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। अतः एकही सद्वस्तुसे ये सब विविध भाव उत्पन्न होते हैं यह सिद्ध है।

इस आत्माकाही यह विश्वरूप है और उसीमें हम सब संमिलित हैं। अतः हम सब उससे भिन्न नहीं हैं। यह विश्व उसीका शरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अथवा प्राणीका एक शरीर होता है। उस प्राणीके आत्माका दर्शन तो किसीको होता ही नहीं दर्शन तो उस प्राणीके शरीरका होता है, इससे स्पष्ट है कि आत्माका साक्षात्कार उसकी प्रकृतिमेंही होना चाहिये। अतः इस विश्वात्माकी प्रकृति कैसी है इसको पहले जान लेना चाहिये। गीतामें इस प्रकृतिका वर्णन इस तरह किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
(भ. गी. ७)

यहां कहा गया है कि परमेश्वरकी प्रकृति अष्टविध है। पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मन बुद्धि, अहंकार और जीव

अब इस तरह पुरुषोत्तमका यह नवविध शरीर है। शरीरमें सूक्ष्म भूतमात्र हैं संपूर्ण विश्व है, इससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रकृतिका तो दूसरा नाम शरीर है।

हमारे शरीरमें पंचभूत- मन, बुद्धि, अहंकार और जीव भाव है, जो पुरुषोत्तमके शरीरके घटक हैं वेही घटक हमारे शरीरमें भी हैं। पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है उसीका थोडासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है। अतः कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

(भ गी १५)

ईश्वरका ही अंश- अर्थात् यहां जीव पुरुषोत्तमका ही अंश हुआ। वह यहां शरीरमें प्रकट होकर पांच ज्ञानेंद्रियोंके सहित मनको अपने साथ आकर्षित करता है। जिस शरीरके अन्दर जाता है अथवा जिस शरीरसे बाहर जाता है वायु गंधको अपने साथ ले जानेके समान यह इंद्रियोंको अपने साथ ले जाता है। श्रवण दर्शन स्पर्शन रसन घ्राण और मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठाता होकर सब विषयोंका सेवन करता है। इस वर्णनसे स्पष्ट होता है कि विश्वात्माका एक अंश इस शरीरमें जीव होकर स्थित है। वही विश्वात्मा है और अंश जीव। अंश अंशीसे भिन्न नहीं हो सकता।

अपने शरीरमें जो स्थूल पार्थिव भाग है वह विश्वात्माके पार्थिव शरीरका अंश है अपने शरीरमें जो प्रवाहरूपसे आप् तत्त्व है वह विश्वात्माके आपोमय शरीरका अंश है। अपने शरीरमें जो तेजस्वी भाग है वह सर्वात्माके तेज शरीरका अंश है। इसी तरह अपने अंदर वायुरूपी प्राण है और अवकाश रूप आकाश है मनन करनेवाला मन है ज्ञान प्राप्त करनेवाली बुद्धि है और अहंकार भी सर्वोपरि मैं रूपमें स्थित है। ये सब क्रम विश्वात्माके विश्वव्यापक प्राण आकाश मन महत्तत्त्व और अहंकारके अंश हैं। हमारे पास जो कुछ है वह विश्वात्माके विशाल शरीरसे ही लिया हुआ है। जो पूर्णतः विश्वशरीरमें है वही अंशतः हमारे शरीरमें भी उपस्थित है और जो अंशतः हमारे शरीरमें है वही पूर्णतः विश्वात्माके विश्वशरीरमें विद्यमान है। यह पंचभूतात्मक विश्वशरीर परमात्माका है इस विषयमें जैसा यहां भगवद्गीतामें कहा है, वैसाही बृहदारण्यकोपनिषद्में विस्तारसे कहा है—

यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरं ...
यस्याग्निः शरीरं यस्यान्तरिक्षं शरीरं
यस्य वायुः शरीरं यस्य द्यौः शरीरं
यस्यादित्यः शरीरं यस्य दिशः शरीरं
यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यस्याकाशः
शरीरं यस्य तमः शरीरं यस्य तेजः
शरीरं यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं
यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक्शरीरं
यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्रं शरीरं
यस्य मनः शरीरं यस्य त्वक्शरीरं ...
यस्य विज्ञानं शरीरं यस्य रेतः शरीरं
यः ... अन्तरो यमयति एष त आत्मा
अन्तर्याम्यमृतः (एष) द्रष्टा श्रोता
मन्ता विज्ञाता एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

(बृ उ ३।७।३—२३)

परमात्माका शरीर " पृथिवी – आप– अग्नि– अन्तरिक्ष – वायु द्यौ – आदित्य – दिशा – चन्द्रतारका– आकाश –तम – तेज – सर्वभूत – प्राण – वाणी – चक्षु – श्रोत्र – मन– त्वचा – विज्ञान – रेत है। यह परमात्मा इनके अन्दर रहता हुआ इनका नियमन करता है, वही मनुष्यका अमर आत्मा है, वह द्रष्टा, श्रोता मननकर्ता, ज्ञाता है ऐसा आत्मा भी यही है।

भगवद्गीता (अ ७।४—६) में नवविध शरीर कहा है और यहां इक्कीस पदार्थोंकी गिनती की है परंतु अधिक वस्तुएं गिननेसे विशेष स्पष्टीकरण ही हुआ है नवविध पदार्थोंसेही ये अनेक पदार्थ बने हैं। अस्तु। यहां पाठकोंको परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना हो सकती है। इस पुरुषोत्तमके विश्वशरीरमें ही सब प्राणियोंके शरीर समाये हुए हैं और हमारे शरीर भी उसी विश्वशरीरके अंश हैं। उस से पृथक् कोई नहीं है।

सम्पूर्ण विश्व एकही अखंड जीवन है, ऐसा यहां कहा है और यही विश्वात्मा पुरुषोत्तम है। जन्मने और मरनेवाले भी इसीमें हैं। जनन और मरण सतत होनेपर भी विश्वात्म स्थितिमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। यह जैसा था, वैसा है और सदा वैसाही रहेगा।

इस विश्वात्माकाही यह सब विश्वरूप है। क्या यह विश्वरूप साधकके अनुभवमें आ सकता है? यह मेराही रूप है, क्या साधक कभी ऐसा अनुभव कर सकता है? यह शंका यहां उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह अनुभव साधक भी कर सकता है। पहिले विश्वात्म स्वरूपका ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका अच्छी तरह मनन करना चाहिये और उसे व्यवहारमें भी आजमाया करना चाहिये।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस ज्ञानको व्यवहारमें कैसे लाया जा सकता है? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि यह ज्ञान व्यवहारमें प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह ज्ञान इसी लिये कहा गया है कि व्यवहारमें प्रयोग किया जावे और इस ज्ञानसे निर्दोष व्यवहार होता रहे। यह श्रेष्ठ ज्ञान है और इस ज्ञानसे जो व्यवहार होगा वह भी श्रेष्ठ ही होगा। जो इस ज्ञानको ठीक ठीक आत्मसात् करेंगे उनसे सदोष व्यवहार हो ही नहीं सकता।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि
आत्मा एव अभूद्विजानतः। (वा य ४०।७)

जिसके लिये सब भूत आत्मा ही हो गये हैं उसकोही (विजानतः) सच्चा ज्ञान हुआ है। इस समय उसको सब भूत—सब पदार्थ आत्माके ही रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष होगा अथवा आत्माही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष होगा अथवा ईश्वर ही सब कुछ रूप धारण किये है ऐसा दिखाई देगा अथवा यह सब भगवान् ही रूप है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा। ये सब वाक्य एकही आशयको दिखा रहे हैं यह बात भूलना उचित नहीं है। पुनःपुनः आवृत्ति होनेपर यह अनुभव हो जावेगा तबतक यह ज्ञान केवल परोक्ष ही रूपमें रहेगा।

परोक्षकृत मन्त्र।

(पहिला अनुभव)

गुरुके वाक्यसे ज्ञान प्राप्त होता है अथवा श्रुतिके द्वारा बुद्धिद्वारा इस ज्ञानके समझमें आतेही जो अनुभव होता, वह यह है—

पुरुष एवेदं सर्वम्। (ऋ. १०।९०।२)
आत्मा वा इदं सर्वम्। (छां उ ७।२५।२)
नारायण इदं सर्वम्। (नारा उ २)
ब्रह्म खल्विदं सर्वम्। (मैत्री उ ४।६)
वासुदेवः सर्वम्॥ (गी० ७।१९)

पुरुष, आत्मा, नारायण, ब्रह्म, वासुदेव ये जिसके नाम हैं वह सद्वस्तु इस विश्वके रूपमें प्रकट हुई है। यह सब तृतीय पुरुषका प्रयोग है। वह ईश्वर इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है। ईश्वर करके कोई है यह अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ परन्तु शब्दप्रमाणसे वह है ऐसा मैं मानता हूं और यही विश्वरूप बना है यह भी शब्दप्रमाणसे मैं स्वीकार करता हूं। इस तरहके तृतीय पुरुषके (वह करके कहे हुए) जो वेदवचन होते हैं उनका नाम श्रुति है। गुरुके उपदेशको श्रवण करके यहां ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह विषय प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यह केवल श्रुति है केवल ऐसा सुनकर माना है। ईश्वर करके कोई है उसको आत्मा ब्रह्म नारायण वैश्वानर आदि कहते हैं वही सब कुछ भूत भविष्य वर्तमानकालका विश्व बना है वही सबका आत्मा है। यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है इसे श्रौत ज्ञान कहते हैं।

इसको सबसे प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इसीका मनन करना और इसीको प्रत्यक्ष करना है। इन्हीं मन्त्रोंको 'परोक्षकृत मंत्र' कहते हैं। श्रुति ही परोक्षकृत मन्त्र है।

प्रत्यक्षीकृत मन्त्र।

(दूसरा अनुभव)

साधक जब गुरुमुखसे सुनता है कि सब भूत आत्माही है तब वह इसका मनन करने लगता है तब अनेकवार उसे संदेह होता है कि (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव) सब भूत आत्मा कैसे हो सकते हैं? भूतमात्र नष्ट होनेवाले हैं और आत्मा अजर एकरस है वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ऐसी अनन्त शंकाएं साधकके मनमें उठती हैं, वह अपने गुरुसे शंका करता है गुरु उसका समाधान करता है और शंका शनैः शनैः दूर होती जाती है और एकात्म अनुभव होता जाता है।

जलके पार्थिव तत्वकी एकता देखी जाती है, पश्चात् वायु विश्वभरमें है ऐसी प्रतीति होती है, तदनन्तर तेज तत्त्व सर्वत्र है इसका अनुभव सर्वत्र रूपदर्शनसे स्पष्ट होता है। रूप तेजस्तत्त्वका ही गुण है और यह रूप सर्वत्र है, कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जहां रूप नहीं है अतः सर्वत्र तैजस तत्त्वके होनेका निश्चय होता है। इसी तरह वायु आकाश मन बुद्धि अहंकारका होना प्रथम अनुभवमें आता है। सर्वत्र अवकाश की उपस्थिति है यह तो तेज तत्त्वके समानही प्रत्यक्ष होनेवाली बात है। इसी तरह अहंकार भी सर्वत्र है। प्रत्येक कृमि कीट 'मैं हूं' ऐसा कहता ही है, इससे भी वनस्पतिसृष्टिमें प्रत्येक वनस्पति 'मैं हूं और मैं सर्वत्र बहुत होकर फैलूंगा। (एकोऽहं बहु स्याम्) ऐसा कहता है। 'मैं हूं' यह अहंकार कोई छोडना नहीं चाहता यहां कोई मरना नहीं चाहता सब कोई बढना चाहते हैं। इस तरह अहंकारको सर्वत्र देखनेसे शनैः शनैः सर्वत्र अहंकारके अनुसंधानसे एकात्मप्रत्यय होने लगता है।

जब साधकको इतना प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है तब वह साधक कहता है कि हे ईश्वर! तुमही सब कुछ हो, जैसा—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥ (गी. ११)
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः ॥ (गी. ११।३८)

हे ईश्वर! तू ही अविनाशी ज्ञेय वस्तु है तू ही इस विश्वका परम आश्रय है तूही सनातन है और शाश्वत धर्मका रक्षक है। तूही आदिदेव और पुराण पुरुष है। इस तरह भक्त इस समय परमेश्वरको प्रत्यक्ष पुकारनेवाली भाषा बोलता है।

यह सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थिति देखता है और 'मेरे चारों ओर वह है' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है। अपने चारों तरफ अपनी सहायता करनेके लिये वह उपस्थित है और अपनी सहायताके लिये उसने सब कुछ कर रखा है, इस बातको साधक इस समय प्रत्यक्ष देखता है। किसी स्थानपर वह साधक देखे तो वहां वह ईश्वर साक्षात् है ऐसा वह देखता है। इसलिये साधक इस समय ईश्वरको 'तू' करके पुकारता है प्रत्यक्ष स्पर्श करनेका अनुभव लेता है प्रभुके प्रेमका अनुभव करता है गद्गद हो जाता है। यह साक्षात्कार की अवस्था है। इस समय उसकी भावना इस तरह होती है—

वि न इन्द्र मृधो जहि
नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्य
धरं गमया तमः ॥ (ऋ. १०।१५२।४)

हे प्रभो! हमारे शत्रुओंका नाश करो सेनाद्वारा हमारे ऊपर हमला करनेवालोंको पराजित करो और जो हमको दास बनाना चाहता है उसको अन्धेरेमें भेज दो अर्थात् उसकी दुर्गति करो।' तथा—

त्वमेव सर्वं मम देवदेव।

हे प्रभो! तू ही मेरा सब कुछ है। इत्यादि रीतिसे प्रत्यक्ष देवताको संमुख रखकर बोलनेके समान भक्त देवताके साथ बातचीत करता है मांगता है, प्रार्थना करता है।

इस समय देवता इसको प्रत्यक्ष होता है परंतु इस समय देवता देनेवाला और मैं लेनेवाला यह भावना रहती है। इसके पश्चात् भी भक्तकी उन्नति होती रहती है और आगे जाकर वह देवतासे अपना तादात्म्य अनुभव करता है यह उससे उच्च भूमिका है।

अहंकारावेशके मंत्र।

(आध्यात्मिक ऐक्यका अनुभव)

इस समय साधक देवतासे तादात्म्य प्राप्त करता है। देवतासे अपना अभेद—संबंध अनुभव करता है। इस अनुभवके मंत्र ये हैं—

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। (ऋग्वेद)

मैं इन्द्र हूं मेरी पराजय नहीं होगी। इस तरहके मंत्र आध्यात्मिक होते हैं। अर्थात् इनमें देवताके साथ अभेदका अनुभव होता है। इन मंत्रोंका नाम वेद होता है क्योंकि इनमें देवताका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ होता है। श्रुति और वेदमें यह भेद है। स्वयं देवतामय होनेका अनुभव साधकको इस तरह होता है। भगवद्गीतामें भी यही दर्शाया है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥ (भ गी १५)

' जो तेज सूर्य चन्द्र और अग्नि में है, वह मेरा तेज है। भूमिमें प्रविष्ट होकर मैं अपनी शक्तिसे रसात्मक सोम बन कर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूं । मैं सब प्राणियोंका वैश्वानर होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहकर प्राण और अपानसे युक्त होता हुआ चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूं। मैंही सबके हृदयोंमें हूं, मुझसे ही स्मरण ज्ञान और विस्मरण होता है। सब वेदोंके द्वारा मैंही जानने योग्य हूं और मैंही वेदान्तका कर्ता और वेदका ज्ञाता हूं। '

यह साधक इस समय विश्वात्माके स्वरूपमें मिला होता है, विश्वात्मासे अभिन्न होता है मैं ही देवतारूप हूं यह सत्यानुभव इस समय इसको आता है। ये तीनों अनुभव उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे कहे हैं। विषयकी सुबोधताके लिये पाठक इन वचनोंको यहां अवश्य देखें—

१ स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ॥

२ अथातोऽहंकारादेशः—
अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥

३ अथात आत्मादेशः—
आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति ॥

४ स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

५ अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्व कामचारो भवति ॥

(छां उ ७।२५।१—२)

(१) अब वह सबसे यह ज्ञान कहते हैं ' वह (ईश्वर) नीचे वही ऊपर, वही पीछे वही आगे वह दायें और बाईं ओर अर्थात् वही सब कुछ है।

(२) अब अहं शब्दसे यही कहते हैं—
मैं नीचे मैं ऊपर मैं पीछे मैं आगे मैं दाईं ओर और मैं बाईं ओर अर्थात् मैं ही सब कुछ हूं।

(३) अब आत्मा शब्दसे यही ज्ञान कहते हैं—
आत्मा नीचे आत्मा ऊपर आत्मा पीछे आत्मा आगे आत्मा दाईं ओर और आत्माही बाईं ओर अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है।

(४) जो इस तरह देखता है इस तरह मानता है, इस तरह जानता है वह आत्मामें रमता है आत्मामें क्रीडा करता है, आत्मासे मिलता है और आत्मासे आनंदित होता है। इस समय वह स्वराट्- [स्वयं राजा-स्वयं प्रकाश स्वतंत्र] होता है। इसकी गति सब लोकोंमें स्वेच्छासे होती है।

(५) परंतु जिनको यह ज्ञान नहीं है वे दूसरेको राजा माननेवाले अर्थात् दूसरेको अपना स्वामी माननेवाले पराधीन होते हैं उनको अक्षय लोक कभी नहीं मिलता उनकी पराधीनताके कारण उनकी गति सब लोकोंमें नहीं हो सकती।

इस छांदोग्य उपनिषद्में स्पष्ट कहा है कि जबतक मैं ही विश्वरूप आत्मा हूं ऐसा सत्यानुभव नहीं होता, तब तक साधक दूसरेको अपना अधिपति माननेवाला पराधीन ही रहता है। वह जिस समय जानता है कि मैंही आत्मा हूं तब वह स्वतंत्र और मुक्त होता है। इस वचनमें (स) वह (अहं) मैं और आत्माके निर्देशसे एकही आशय बताया है। इसमें (अहं) मैं के निर्देशसे जो कहा है वैसा ज्ञान जिस समय साधकको होता उसी समय वह अपने आपकोही सर्वव्यापक समझेगा और अपनेसे भिन्न कोई

दूसरी वस्तु नहीं है ऐसा अनुभव करता हुआ एक स्वसंवेद्य अनुभव करेगा।

पहिला अनुभव– यह ईश्वर सब कुछ है,
दूसरा अनुभव– तू ईश्वर सब कुछ है,
अन्तिम अनुभव– मैं सब कुछ हूं।

पहिले दो अनुभव अपनी अपूर्णताके हैं तीसरा अनुभव अपनी पूर्णताका है। इस पूर्णताके अनुभवमें ही 'जो अस्तित्वमें तत्त्व है वह मेरा है' ऐसा कह सकता है। इस रीतिसे साधकको विश्वात्माका अनुभव प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक साधक इस अनुभवकी कसौटीसे अपनी परीक्षा कर सकता है और अपनी कितनी उन्नति हो चुकी है, इसका निश्चय कर सकता है।

व्यक्ति कुटुंब जाति, देश राष्ट्र यहांतक अपना संबंध जोडने तक साधारणतः मनुष्यकी उन्नति बताता हुई है। 'वसुधैव कुटुंब' माननेकी वृत्ति संन्यासाश्रममें करनेकी प्रथा सर्वोत्तम धर्मसेही भारतीयोंको समझायी है। इसके पश्चात् पूर्णब्रह्मका देश भी मेरा ही है, इत्यादि चोटी है। पाठक स्वयं विचार करें और अपनी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करें।

सर्वत्र आत्मस्वरूप देखनेवाला व्यवहार कैसे कर सकता है? यह भी एक प्रश्न लोग किया करते हैं।

मान लीजिये कि किसी साधकको पुरुषोत्तम–योग की अवस्थासे मैं ही सब कुछ (अहं एव इदं सर्वं) हूं ऐसा ज्ञान निश्चित हुआ। वह मानो पुरुषोत्तमरूपही है। वह सबको पुरुषोत्तमरूप अथवा अपना ही रूप मानेगा। उसके सामने मित्र उपस्थित हुआ तो समझेगा कि पुरुषोत्तमही मित्रभावसे सन्मुख आगया है अथवा मैं ही मित्ररूपसे सन्मुख आगया हूं। दोनों अवस्थाओंमें वह निष्कपट भावसे व्यवहार करेगा। क्योंकि अपनेहीसे तो कपट हो नहीं सकता।

इसी तरह गुरुके सामने भी आगयी वैद्य या डाक्टरके सामने रोगी आया अधिकारीके सामने प्रजाजन आगया मालिकके सामने नौकर उपस्थित हुआ अथवा राजाके सामने कोई मनुष्य आगया तो इन सब आत्मज्ञानियोंका व्यवहार एक निष्कपट भावसे होगा। जितना निष्कपट व्यवहार करने वाला विनीत हो सकता है उतना निष्कपट और सीधा व्यवहार अन्योंके साथ हो नहीं सकता। सर्वात्मभावसे जब व्यवहार होगा तभी ऐसा सीधा व्यवहार हो सकता है।

जो ज्ञानी होगा वह सर्वात्मभावको जानकर सहज भाव से ही सरल और निष्कपट व्यवहार कर सकता है, अथवा उससे सरल व्यवहार स्वयं हो सकता है। परन्तु जब अन्य लोग भी सबका आत्मा एकही है यह अचल एकत्व मन स्वभाव बुद्धिद्वारा जानकर ज्ञानीको अपना आदर्श मान कर सरल व्यवहार करें। इस तरह लोकव्यवहारसे छल कपट पूर्णतया दूर हो सकता है। इस तरह इस पुरुषोत्तम –विद्याको व्यवहारमें लाया जा सकता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्ममें प्रारंभसे यह पाठ मिलता है। पूर्ण ज्ञान न होते हुए भी वर्णाश्रमधर्मके पालनसे मनुष्य ज्ञान होनेके समान ही उत्तम व्यवहार करनेमें समर्थ होता है। वर्णाश्रमधर्ममें रहनेवाला साधक अपने धर्मपालनके निमित्त अहिंसा, संयम इन्द्रियनिग्रह आदि करता है। और पुरुषोत्तम-स्वरूपको यथार्थ रीतिसे माननेवाला सिद्ध पुरुष अपनी सहज वृत्तिसे अहिंसाशील संयमी और इन्द्रियनिग्रही होता है। हिंसा स्वैराचार आदि वृत्ति उसके मनमें उठती ही नहीं। सिद्ध पुरुष होनेपर जो आचार सहज वृत्तिसे होता है वही आचार वर्णाश्रमधर्ममें प्रत्येक मनुष्यको प्रयत्नसे लाना पडता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हुआ होगा कि पुरुषोत्तमयोग सिद्ध होनेपर क्या होगा और उससे पूर्व कैसा आचरण करना होगा।

जो विश्वरूप भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें बताया गया है, वह सब विश्व अनेक प्रकारसे अनन्य वस्तु है यह स्पष्ट करनेके लिये ही बताया है। यही एकही वस्तु है जिसपर इन विभक्त पदार्थोंका रूप दीख रहा है। विश्व मिथ्या नहीं है परंतु पुरुषोत्तमरूप ही है। अर्थात् सबही पुरुषोत्तमके रूप हैं ऐसा मानकर जो साधक व्यवहार करेंगे उनके व्यवहारमें अशुद्धि होही नहीं सकती। क्योंकि उन का सब व्यवहार पुरुषोत्तमके साथही होता है। जो अपना सब व्यवहार परमेश्वरके साथ हो रहा है ऐसा जानकर अथवा मानकर व्यवहार करेंगे उनका अत्यन्त शुद्ध व्यवहार होगा इसमें क्या संदेह हो सकता है?

अपने कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा करने (गी. १८।४६) का जो आदेश है वह भी परमेश्वरको सब भूतोंमें देखकर

अथवा सब कर्मोंको परमेश्वरके रूप माननेका ही आदेश है। मनुष्य जो कुछ करता है वह परमेश्वरकी पूजा करनेकी अभिलाषासे ही करे। तृषित मनुष्यको जल दिया तो वह परमेश्वरको ही दिया है भूखे मनुष्यको अन्न दिया, तो वह परमेश्वरकोही दिया है। ऐसे कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा होती है। प्रत्यक्ष परमेश्वरके ये रूप हमारे सामने आते हैं। इनसे हम जो व्यवहार करते हैं वह प्रत्यक्ष परमेश्वरसे ही व्यवहार हो रहा है। जो मनुष्य अथवा पशुपक्षी हमारे सामने आता है वह परमेश्वरका प्रत्यक्ष रूप है। उससे हम कैसा व्यवहार करते हैं ? स्वकर्मसे उसकी पूजा करते हैं या उसको कष्ट पहुंचा देते हैं ? प्रत्येकको इसका विचार करना चाहिये।

परमेश्वरसे व्यवहार।

दूसरोंपर अत्याचार किया जाता है दुराचार किया जाता है छलमार की जाती है धोखेबाजी की जाती है यह सब व्यवहार परमेश्वरसेही होता है। फिर इसके कौन और कहां भग सकेगा ? प्रत्यक्ष प्रभुके साथ कुव्यवहार करनेसे उस अपराधसे बचनेका कोई साधन नहीं है। पुरुषोत्तमयोग तो हो रहा है परंतु वह योग तो कैसे रहा है ? जो चल रहा है यह सब पुरुषोत्तमसे ही योग हो रहा है परन्तु जो जानेंगे व निर्दोष आचरण करनेद्वारा पुरुषोत्तमकी पूजा करेंगे और दूसरे पुरुषोत्तमको कष्ट देनेके कारण स्वयं कष्टमें पडेंगे। व्यवहारमें यही हो रहा है। आज दूसरेको लूटनेवाला कल स्वयं लूटा जाता है और उस समय कष्ट पाता है। परन्तु वह तो अपना ही कर्म था।

पुरुषोत्तमका विश्वरूप जानकर और अपने कर्मोंसे उसकी पूजा करनेका व्रत करके पुरुषोत्तमकी सेवा करनी चाहिये। हरएक आचरण इस कसौटीसे परखा जायगा तभी निर्दोष आचरण होगा। ब्राह्मण ज्ञानदानसे क्षत्रिय रक्षाकर्मसे वैश्य धनदानसे और शूद्र अपने सेवाकर्मसे परमेश्वरकीही उपासना करता है। मूर्तिपर चन्दनपुष्प चढानेका काम पूजा समझते हैं। वह पूजा साक्षात् नहीं है। जो मानवादि प्राणियोंसे व्यवहार हो रहा है वही साक्षात् पूजा करनेकी विधि है। इस विधिसे हरएकको साक्षात् भगवान्‌की सेवा करनेका अवसर मात्र होता है। उस अवसरमें वह क्या कर रहा है, यही विचारणीय विषय है। इसका विचार प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। यह एक नियम मनुष्यका आचरण पवित्र करनेवाला है।

जैसे संपूर्ण विश्वरूप पुरुषोत्तम है वैसाही पूर्वोक्त वर्णनानुसार यह सब विश्वरूप (मैं) मेराही रूप है। जैसे पुरुषोत्तम इस विश्वरूपमें प्रकट हुआ है वैसेही व्यक्तिरूपसे इस सब विश्वरूपमें मैं ही प्रकट हुआ हूं जो कुछ विश्वमें हो रहा है वह आत्मस्वरूपी मुझसे ही हो रहा है यह जानकर विश्वसेवाका अद्भुत मार्ग जाना जाता है। विश्वमें जो कुछ कल्याणरूप है यह तो ठीक है ही उस विषयमें तो विशेष बोलनेकी आवश्यकता है ही नहीं परंतु जो कुछ हानिकारक अहितकारक अमङ्गकारक है वह सब मेरे पूर्वरूपके दोषके कारण हुआ है इसलिये उसको ठीक करनेके लिये आत्मसमर्पण आत्मशुद्धि अथवा विश्वसेवा करना मेरा कर्तव्य होता है। विश्वमें मेरे व्यतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है अतः जो भला-बुरा भला हो रहा है वह मुझसेही हो रहा है इसमें कोई संदेहही नहीं है। पर साथही यहां जो कुछ भला है वह तो होनाही चाहिये था इसलिये उसके विषयमें कुछ कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु जो अहित हुआ हो वह मुझे छोडकर कोई अन्य यहां न होनेसे मेरे कारण ही हुआ है अतः उसके निराकरणके लिये अर्थात् इस अपने कर्तव्यसे विश्वसेवा करनेके लिये कटिबद्ध होना अपना कर्तव्य हो जाता है। इस कर्तव्य करनेके द्वारा विश्वात्माकी भक्ति—सेवा—पूजा करना साधकका कर्तव्य हो जाता है। इसी कारण साधक विश्वसेवा करता रहता है। विश्वरूपी आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके पश्चात् कर्तव्य क्षेत्रका बडा विस्तार हो जाता है। साधक अपना जीवन विश्वरूपकी सेवाके लिये अर्पण करता है और जो करता है वह निष्कामभावसे ही करता है।

विश्वमें दुःख कष्ट और न्यूनता देखकर वह दूसरोंको दोष नहीं देता क्योंकि उसके लिये इस विश्वमें दूसरा कोई होताही नहीं। सब विश्वरूपही उसका अपना रूप है। अत जहां कहीं वह न्यूनताका अनुभव करता है उसे अपनेमें ही देखता है। जब इसको अपनेमें दोष दीखता तब वह दूसरोंको दोष कैसे दे सकता है ? इसलिये वह

अपना दोष जानकर अपनाही दोष दूर करता है, वह कदापि दूसरोंकी निंदा नहीं करता क्योंकि कोई दूसरा तो है ही नहीं। जिस समय (सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्) सब भूत आत्माही हुए उस समय अपने कर्तव्यके संबंधमें कोई शोक मोह नहीं होते। उसको उसका सीधा कर्तव्य स्पष्ट दीखता है। (वा. य. ४०।७)

सर्वात्मभाव जाननेसे परनिंदा करनेका कोई प्रयोजनही नहीं रहता और स्वकर्तव्य करनेमें दोष भी नहीं रहते। पाठक सबका आत्मा एक है अथवा सब रूप परमेश्वरके हैं ऐसा मानकर व्यवहार करके देखें। इससे उनके व्यवहार पूर्ण निर्दोष हो सकेंगे।

सर्वभाव।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गी. १५।१९)

जो इस तरह ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको जानता है वह सर्वज्ञ होता है और सर्वभावसे परमेश्वरकी पूजा करता है। यहां पूजाकी दो विधियां निश्चित की हुई दीखती हैं। एक सर्वभावसे पूजा करना और दूसरा असर्वभावसे किंवा अल्पभावसे पूजा करना। इन दोनोंका परिणाम कैसा होता है वह हम अब देखेंगे।

जो अल्पभावसे पूजा करता है वह किसी मूर्तिकी पूजा करता है। जिस ग्राममें वह मंदिर हो वहां जाना, अन्य स्थानपर ईश्वर नहीं है ऐसा मानना, वह मूर्ति मुझसे भिन्न है मैं भिन्न हूं ऐसा मानकर तथा अन्य जनता उससे भिन्न है ऐसा मानकर और एक स्थानपरही उसका निवास मानकर मूर्तिकी उपासना होती है। यह सब उपासना असर्व-भावसे है। इसलिये मूर्तिमें ईश्वर है अन्य जनतामें नहीं ऐसी बुद्धि होती है और धनिक व्यवहारमें लूटमार करके मंदिरमें स्थित मूर्तिपर हजारों रुपयोंके चढावे—समर्पण किये जाते हैं। असर्वभावसे ये दोष हो जाते हैं। जो साहूकार अपने कर्जदारोंको लूटता है वही मंदिरमें जाकर दरवाजेपर धन अर्पण करता है क्योंकि वह समझता है कि मंदिरमेंही ईश्वर है मंदिरसे बाहर ईश्वर नहीं है। जो अपने कर्जी हैं उनको लूटकर धन कमाना और मंदिरकी मूर्तिपर चढाना यह तबही होना जब मंदिरसे बाहर देवताका अस्तित्व न माना जाय। जगत्के संपूर्ण पातक असर्वभावके माननेके कारण हो रहे हैं।

अब सर्वभावके माननेसे कैसे परिवर्तन होता है वह भी देखिये। संपूर्ण विश्व एक अखण्ड वस्तुका प्रकटीकरण है मैं भी उसीमें हूं। संपूर्ण विश्व और मैं मिलकर एक अखण्ड भाव है जिसका नाम 'सर्व' है। यह सर्वभाव मेरा है। उपासक उपास्य सब इसी सर्वभावमें सम्मिलित हैं। यहां पृथक् कोई नहीं। सब मेरे अथवा ईश्वरकेही रूप हैं। ऐसा निश्चय होनेपर कौन किसे लूटे, कौन किससे कपट करे? यहां दूसरा होही नहीं, यहां सर्वत्र एकही सत्ता हुई, वहां कौन किसका द्रोह करे? इस प्रकार सर्वभावसे निर्दोष आचरण होता है। इसलिये सर्वभावसे भक्ति करनेवाले निर्दोषी होते हैं। सर्वभावसे व्यवहार करनेपर निर्दोष व्यवहार होता है। वैयक्तिक कौटुंबिक, सामाजिक तथा राजकीय सब प्रकारके व्यवहार सर्वभावसे करनेसेही झगडे नहीं होंगे। जो आजकल झगडे बढ रहे हैं उसका कारण असर्वभावसे अर्थात् मैं व्यक्ति अलग हूं और सब विश्व अलग है ऐसा मानकर सब व्यवहार हो रहे हैं यही सच्चा पता है। संपूर्ण धर्म मूलमें इस सर्व भावपर अधिष्ठित हैं, तथापि आगे जाकर धर्मप्रचारक असर्वभावही मानने लगते हैं इसलिये धर्मके नामसे झगडे खडे होते हैं।

उदाहरणके लिये इसामसीहने अपने ईसाई धर्मकी पुस्तकमें कहा है कि जिस समय सामने कोई भिखारी दुःखी कष्टी आदमी आजाय तो उसको परमेश्वरका रूप मानकर उसकी सेवा करना चाहिये। ऐसा कई धर्मसेवक ईसाई करते भी हैं परंतु सर्वसाधारण प्रचारक इस विश्वात्मभाव विश्वरूपको जानते तक नहीं। और न जानते हुए किस धर्मका प्रचार करते हैं पता नहीं।

भारतवासी आर्यधर्मके अथवा सनातन धर्मके वैदिकधर्मी अनुयायी वेदको उपनिषदोंको और भगवद्गीताको प्राणसे भी अधिक मूल्यवान् मानते हैं परन्तु विश्वरूपकी उपासना नहीं करते। इतनाही नहीं परन्तु अपनेही धर्मके भाइयोंका इतना दूर रखते हैं कि जितना दूर रखना विश्वरूपी परमेश्वरको माननेपर योग्य है ऐसा सिद्ध करनेका यत्न करते हैं जोकि असत्य है—

प्रचारकोंने ऐसेही अयोग्य रीतिसे अनेक धर्मोंका प्रचार किया है अतः सच्चे धर्मभावसे लोग बहुत दूर हो गये हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तोंको उचित है कि वे परमेश्वरके विश्वरूपको जानें उसको यथायोग्य समझें और वह विश्वरूप अखण्ड एकरस तथा अनन्य है और सर्वभावसे विश्वरूपकी उपासना करनी चाहिये, यह ठीक ठीक समझ कर वैसा धर्माचरण करें। स्वकर्मोंसे विश्वसेवा करें और कृतकृत्य बनें।

ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ ।

इस अध्यायमें ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ वृक्षका वर्णन प्रारंभके तीन श्लोकोंमें किया है। यह अश्वत्थ-वृक्ष कौन है? इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हैं जड़ें ऊपर हैं शाखाविस्तार नीचे फैला है। यह विचित्र वृक्ष है कहां? ऐसा प्रश्न विचक्षण पाठक अवश्य करेंगे।

यह वृक्ष हरएक मनुष्यके शरीरमें है। (Nervous system) नाडी संस्थान इसका नाम है। ऊपर मस्तकमें-मस्तिष्क इसकी जड़ें हैं और संपूर्ण शरीरभरमें अनंत छोटी मोटी शाखाएं फैली हैं। इसका जाल ऐसा फैला है कि एक सूईकी नोक जितना स्थान भी इससे खाली नहीं है। ऊपर नीचे शाखाविस्तार यहां स्पष्ट है। इसका (ऊर्ध्वमूलं) मूल ऊपर है यह भी स्पष्ट है। ये तीन गुणोंसे पुष्ट हैं (गुणप्रवृद्धाः) ऐसा जो इसका वर्णन है वह यहां प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। (विषयप्रवालाः) विषयरूप अंकुरोंसे युक्त होना भी इसका सिद्धही है क्योंकि इसका संबंधमें किसी न किसी विषयसे अवश्य आता है। संपूर्ण कर्मोंके साथ इसका संबंध आताही है क्योंकि यदि इस नाडीमें बिगाड़ हुआ तो उससे होनेवाले कर्म हो नहीं पाते और उस मज्जातंतु द्वारा ग्रहण किये जानेवाला विषयोंका ग्रहण भी नहीं होता। मानो मनुष्यका मनुष्यत्व इन सब नाडीकेन्द्रों परही निर्भर है।

इस वृक्षके पर्ण (छंदांसि यस्य पर्णानि) छंद हैं। छंद का अर्थ वेद और वेदका अर्थ ज्ञान है। उक्त नाडीतन्तुओं का भी प्रयोजन ज्ञान प्राप्त करानाही है। शरीरके किसी भी भागपर किसी पदार्थका स्पर्श हुआ तो फट उसका ज्ञान इनही नाडीतन्तुओंसे होता है। यदि इनमें बधिरता आगयी तो ज्ञान होना बंद हो जाता है। अर्थात् सब प्रकारका ज्ञान प्राप्त करना इन नाडीकेन्द्रोंके कारणही होता है। वेद ज्ञानमें इनका कितना कार्य है यह यहां पाठक देखें और इन नाडीतन्तुओंका महत्त्व जानें।

ये नाडीतन्तु सब शरीरभरमें फैले हैं। येही ज्ञान केन्द्रोंतक ज्ञान पहुंचाते और कर्मकी प्रेरणा करते हैं। (कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके) मानवलोकमें जो कर्म हो रहे हैं उनका मुख्य संबंध इनसेही है।

यह नाडी-संस्थान मनुष्यकी जितनी सहायता करता है उतनी सहायता और किसीसे नहीं हो सकती। यह सहायता करता है परंतु साथ साथ विषयोंसे बांध भी देता है भोगलालसा बढाता है यही सूक्ष्मसे सूक्ष्म तर्क अनेक कार्य करता है। सूक्ष्म विचार करना इन्हीं नाडीकेन्द्रोंके आधीन है। इसके जितने सूक्ष्म तन्तु होंगे उतनी विचारशक्ति बढती है और विचारशक्ति बढनेसे श्रद्धा कम होती जाती है। नाडीकेन्द्रोंका कार्य विचार तथा तर्कना बढाना है। इनके बहुत बढ जानेसे उसी प्रमाणमें श्रद्धा और भक्ति दूर जाती है।

इसका परिणाम शुष्क विचार बढ जानेमें होता है और अन्तमें मनुष्य नास्तिकता की हदतक पहुंच जाता है। अर्थात् तर्क बढे जाल फैलाता रहता है और श्रद्धा तो होतीही नहीं। जिसका (नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा) आदि अन्त नहीं और जिसकी प्रतिष्ठा भी कोई नहीं ऐसी तर्क विकर्क, कुतर्ककी श्रेणियां चलती हैं और भ्रमही भ्रम बढ जाता है। भोगप्रधान और कुतर्कप्रधान जीवन बढता जाता है और सर्वत्र अप्रमाणताकी वृद्धि होती है। क्या करें कहां और शान्ति किस तरह मिल सकती है इसकी विवेचना शुरू हो जाती है और इस समय विवेकवाले भक्त हुआ मनुष्य गुरुकी शरण जाता है और अपनी अवस्था उसे निवेदन करता है।

असंगशस्त्रसे इस अश्वत्थ-वृक्षके शाखाविस्तारको काटें यह उपदेश गुरुसे प्राप्त होता है और वह उसका प्रयोग भी करता है। तर्कनाका शाखाविस्तार कटनेसे ही भक्तिका हार्दिक भाव उदित होता है। मज्जातंतु जालोंकी सूक्ष्मता कम होकर हृदयकी गंभीरता बढाई जाती है। इस तरह श्रद्धाका उदय होनेपर परमेश्वरकी खोज प्रारंभ होती है। अन्तमें उसी स्थान- परम पद' को प्राप्त करता है।

यहां पाठकोंके ध्यानमें यह बात आगयी होगी कि यह वृक्ष अपनेही शरीरमें है जिसके तन्तुजाल बढनेसे अपनी

गति बढ जाती है और थाक कम होनेसे प्रगति होती है। तर्कका भी शक्ति बढनेसे भक्तिकी न्यूनता और भक्तिके बढ जानेसे तर्ककी न्यूनता होती है। पूर्ण पुरुष होनेके लिये दोनोंका सम विकास होना चाहिये। अतः कहा है कि धर्मशस्त्रसे उत्सारी इसका शाखाविस्तार काटना चाहिये (सुविरूढमूल छित्वा) कि जिससे (तत्पद परिमार्गितव्यं) उस स्थानका अपना मार्ग दीखने लग जाय। उक्त वृक्ष समूचा नष्ट नहीं कर देना चाहिये। परंतु उसकी काटछाट उतनी ही करनी चाहिये कि जिससे अपना मार्ग खुल जावे और अपना गन्तव्य स्थान दीखने लगे और हम आसानीसे जाने लग सकें।

आवश्यक तर्क तो चाहिये और गन्तव्य स्थानके मार्गपर स्थिर रहनेयोग्य भक्ति भी चाहिये। तर्कसे कुछ मार्ग की ओर जाकर श्रद्धासे श्रेय मार्गपरसे चलना चाहिये। इस तरह तर्क और श्रद्धाकी सहायता लेता हुआ साधक जाने लगता है।

व्यक्तिके अन्दर यह अश्वत्थ वृक्ष नाडीतन्तुओंका संस्थान ही है। इसका नाम 'अश्व-त्थ' अर्थात् जिसमें घोडे रुके हुए रहते हैं। घोडे इन्द्रियोंको कहते हैं। हमारे सब इन्द्रियरूपी घोडे इसी नाडीतन्तुओंसे बंधे हुए हैं। यह वृक्ष अ-श्व-त्थ भी है अर्थात् यह कलतक रहेगा ऐसा नियम नहीं है। संपूर्ण शरीरकी नाश होनेकी अवस्थातक सर्वत्र अ-श्व-त्थ भ्रमण कर रहा है। इस रीतिसे इस वृक्षका वर्णन पाठक अपने ही अन्दर देख सकते हैं।

जो व्यवस्था शरीरमें है वैसी ही और उससे भी विशेष गुण व्यवस्था विश्वमें है। इस शरीरमें रहनेवाले नाडीतन्तुओंकी व्यवस्थासे संपूर्ण शरीरके अवयवोंकी एकता सिद्ध हुई है। शरीरके किसी स्थानमें कुछ भी हो उसका पता झट लग जाता है वह इसी नाडीतन्तुओंसे ही है। पैर तलवेमें कांटे हाथमें लगे या सिरमें लगे उसका ज्ञान झट होता है। भिन्नभिन्न अवयवोंमें भी यह जो इतनी एकता है, इसका कारण येही ज्ञानवाहक नाडीतन्तु हैं।

जैसे यह मनुष्य पुरुष कहलाता है, वैसे ही विश्व-पुरुषका नाम विराट् पुरुष है। अतः विराट् पुरुषमें हमारे नाडीतन्तु-प्रवाह-व्यवस्थाके समान कुछ न कुछ व्यवस्था होनी चाहिये। जिसको हम जड कहते हैं उसमें भी सजीवता दिखाई देती है। भूमिपर गोबर या विष्ठा पडनेसे स्वयं उसपर मिट्टी आ जाती है, धातुओंका मारण अर्थात् विशेष विषप्रयोगसे मरण होता है अतः यहां इस विश्वमें कोई जड या निर्जीव वस्तु नहीं है। संपूर्ण विश्वमें विश्वात्मा अपनी जीवनशक्तिके साथ रहनेसे संपूर्ण विश्व ही सजीव है अतः उस विश्वमें किंवा विराट् पुरुषमें कुछ न कुछ सूक्ष्म नाडीके ज्ञानवाहक केन्द्र होंगे ही। इस विश्व-व्यापक सूक्ष्म नाडीका सिर सूर्यलोकमें है मन चन्द्रलोकमें है। ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है वहांसे सूक्ष्म नाडी-प्रवाह उसकी किरणोंके साथ संपूर्ण ब्रह्माण्डमें जाता है।

'द्यौष्पिता यस्मैः पृथिवीमरम्भात्। (ऋग्वेद)

ऐसा वेदमें कहा है। यहांका मंत्र भाग स्पष्ट रूपसे विश्वमय शक्तिका वाचक है। तथा—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।
(प्रश्न उ. १।७)

ऐसा उपनिषद्में सूर्यके विषयमें कहा है। सूर्यकिरण द्वारा संपूर्ण महोपग्रहोंका नियमन होता है। भूमिपर जो स्थिरचर जीवजन्तु तथा वस्तुजात है, उनका संपूर्ण जीवन सूर्यसे ही होता है। सबके जीवनके साथ सूर्यके प्राणोंका संबंध है। जैसे नाडीरस प्राणीके शरीरमें है वैसेही सूर्यका तत्त्वांश इस सूर्यमालामें सबके जीवनका आधार है।

इस विवरणसे पाठकोंको समस्त विराट् पुरुषके सजीव होनेकी कल्पना आ सकती है। इसके अतिरिक्त यदि विराट् पुरुष जड और मृतवत् है तो उसके जीवनसे जीवित रहनेवाले हम उसके जीवनके बिना जीवित किस तरह रह सकते हैं? इससे भी संपूर्ण विश्व अखण्ड जीवनसे सजीव है, यह बात ध्यानमें आ सकती है।

यही विश्वव्यापी अखण्ड नाडीजाल है जिसके वेद (छन्दांसि पर्णानि) पत्ते हैं त्रिगुणमयी शाखायें (गुणप्रवृद्धाः) चारों ओर फैली हैं जिसका मानवीय (मनुष्यलोके कर्मानुबंधीनि) कर्मोंके साथ सुदृढ संबंध है। असंगशस्त्रसे ही इसके ये बंधन दूर हो सकते हैं, इत्यादि वर्णन वास्तविक दृष्टिसे देखना योग्य है।

परमात्माका एक अंश (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः) यहां जीव बनकर कार्य कर रहा है। यह अंश अपने साथ

विश्वकी संपूर्ण शक्तियोंके अंश आया है उनमें शरीरके अंश भी वहांसे ही आया है। अतः इसका संबंध परमात्माके विश्वव्यापक शरीरसे स्पष्ट है। जीवका प्राण विश्वव्यापक प्राणका अंश है। जीवका पांचभौतिक शरीर विश्वव्यापक पांचभौतिक विराट् शरीरका अंश है। इसी तरह जीव शरीरकी सब शक्तियां विराट् पुरुषकी शक्तियोंसे संबंधित हैं। इस विचारसे भी जीवका विश्वसे अखंड और अनन्य संबंध ज्ञात हो सकता है। इसी अनन्य संबंधका ध्यान करना चाहिये।

जीव परमात्माका अंश है इसी कारण अंशको अंशी परमात्माके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये। अंशकी इति कर्तव्यता अंशीकी सेवा-तत्परतासे और अनन्यभावसे कर लेनेसे ही हो सकती है। दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय ही नहीं है। अंश जीव है और विश्वात्मा पुरुषोत्तम है पुरुषोत्तमका अंश जीवपुरुष है। इस जीवका पुरुषोत्तमसे अखंड और अनन्य योग है। इसका ज्ञान प्राप्त करना उस योगका अनुभव करना मनुष्यकी पूर्णताके लिये अत्यंत आवश्यक है। जीवात्माका परमात्माके साथ अखण्ड और अनन्य संबंध कैसा है यही वर्णन इस अध्यायमें किया गया है। इस संबंधको अपने अंदर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुरुषोत्तम विद्याकी शिक्षा देना इस अध्यायका उद्देश है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(गी १५।२)

यह पुरुषोत्तम-विद्या अत्यंत गुह्य विद्या है। तथा यह (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेयोग्य ज्ञान है। यह विद्या जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व अखण्ड और अनन्य है। यही यहां स्पष्ट दिखाया गया है।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुरुषोत्तमयोगका आश्रय करें और अनन्य-भावसे विश्वसेवा करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें।

॥ यहाँ पंद्रहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १५ ॥



श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायके सुभाषित

---

[१]

शाश्वत पदकी खोज ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ॥ (गी० १५।४)

' उस पदको प्राप्त करना चाहिये जहांसे वापिस नहीं आना होता । '

ऐसे स्थानपर बैठना चाहिये जहांसे उठना न पडे । ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहिये जहांसे दूसरा कोई अपनेको न हटा सके ।

[२]

आदिपुरुषकी उपासना ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये ॥ (गी० १५।४)

' उस आदिपुरुषकी शरण जाना चाहिये । ' आदि पुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ।

उपासना करनेके समय वह उपास्य आदि पुरुष है या नहीं इसका निश्चय करना चाहिये और वह आदिपुरुष हो तभी उसकी उपासना करनी चाहिये ।

[३]

ज्ञानसे शाश्वत पदकी प्राप्ति ।

पदमव्ययं तत् ॥ (गी० १५।५)

" जो मूढभावसे मुक्त होते हैं वे अव्यय शाश्वत पदको प्राप्त करते हैं । " अर्थात् ज्ञानसेही शाश्वत पद मिलता है ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम ॥ (गी० १५।६)

" जहां पहुंचनेपर वापिस नहीं आना पडता वह श्रेष्ठ धाम है । " अर्थात् जहां स्थानाभावके कारण रहनेका स्थान नहीं होता वह श्रेष्ठ धाम नहीं कहलाता ।

[४]

अहंकी खोज ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (गी० १५।१५)

' सब वेदोंसे मैं ही खोज की गयी है । " मैं कौन हूं इसकी खोजमें ही सब ज्ञान संलग्न है ।

[५]

उत्तम होनेका उपाय ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गी० १५।१८)

क्षरभावसे परे और अक्षर-भावसे उत्तम होनेसे वेदमें और लोकमें मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं ।

विनाशी होनेका कारण क्षर भाव दूर करने और अवि नाशियोंमें (अक्षर भावमें) उत्तमता प्राप्त करनेसे सर्वो त्तमता (पुरुषोत्तम-भाव) की प्राप्ति होती है ।

[६]

सर्वभावसे भक्ति ।

सर्वविद्भजति सर्वभावेन । (गी० १५।१९)

जो वस्तुको पूर्ण रूपसे जानता है, वही सर्वभावसे उसका सेवन कर सकता है । "

जो जिस वस्तुको जितना जानता है उतनाही उस वस्तु का वह उपयोग कर सकता है । अतः पूर्णरूप पूर्ण उपयोग करके पूर्ण लाभ प्राप्त करनेके लिये वस्तुका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

[७]

कृतकृत्य होना ।

गुह्यतमं शास्त्रं बुद्ध्वा
बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च ॥
(गी० १५।२०)

" गुह्योंमें गुह्य (अध्यात्म) शास्त्र जानकर मनुष्य बुद्धि मान् और कृतकृत्य होता है । " अध्यात्मशास्त्र जाननेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न और कर्तृत्ववान् हो सकता है ।

×—०—×

विश्वकी संपूर्ण शक्तियोंके अंश आता है उसमें मालीके अंश भी वहांसे ही आता है। अतः इसका संबंध परमात्माके विश्वव्यापक शरीरसे स्पष्ट है। जीवका प्राण विश्वव्यापक प्राणका अंश है। जीवका पांचभौतिक शरीर विश्वव्यापक पांचभौतिक विराट् शरीरका अंश है। इसी तरह जीव शरीरकी सब शक्तियां विराट् पुरुषकी शक्तियोंसे संबंधित हैं। इस विचारसे भी जीवका विश्वसे अखंड और अनन्य संबंध ज्ञात हो सकता है। इसी अनन्य संबंधका ध्यान करना चाहिये।

जीव परमात्माका अंश है इसी कारण अंशको अंशी परमात्माके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये। अंशकी इति कर्तव्यता अंशीकी सेवा-उपासनासे और अनन्यभावसे कर देनेसे ही हो सकती है। दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय ही नहीं है। अंश जीव है और विश्वात्मा पुरुषोत्तम है पुरुषोत्तमका अंश जीवपुरुष है। इस जीवका पुरुषोत्तमसे अखंड और अनन्य योग है। इसका ज्ञान प्राप्त करना उस योगका अनुभव करना मनुष्यकी पूर्णताके लिये अत्यंत आवश्यक है। जीवात्माका परमात्माके साथ अखंड और अनन्य संबंध कैसा है यही वर्णन इस अध्यायमें किया गया है। इस संबंधको अपने अंदर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुरुषोत्तम विद्याकी शिक्षा देना इस अध्यायका उद्देश है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(गी १५।२)

यह पुरुषोत्तम-विद्या अत्यंत गुह्य विद्या है। तथा यह (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेयोग्य ज्ञान है। यह विद्या जाननेसे मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि संपूर्ण विश्व अखंड और अनन्य है। यही यहां प्रत्यक्ष दिखाया गया है।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुरुषोत्तमयोगका महत्त्व जानें और अनन्य-भावसे विश्वसेवा करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें।

॥ यहाँ पंद्रहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः।

दैवासुरसंपद्विभागयोगः।

(१) दैवी संपत्तिका स्वरूप।

श्री भगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच—अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः दानं, दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवम् ॥ १ ॥ अहिंसा सत्यं अक्रोधः, त्यागः शान्तिः अपैशुनं भूतेषु दया अलोलुप्त्वं मार्दवं, ह्रीः अचापलम् ॥ २ ॥ हे भारत! तेजः क्षमा धृतिः शौचं, अद्रोहः नातिमानिता (इति एतानि लक्षणानि) दैवीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य) भवन्ति ॥ ३ ॥

श्री भगवान् बोले—अभय, अन्तःकरणकी शुद्धता ज्ञानमार्ग और योगमार्गमें विशेष स्थिति दान दम, यज्ञ स्वाध्याय अर्थात् आत्मविद्याका अध्ययन, तप सरलता ॥ १ ॥ अहिंसा सत्य अक्रोध (कर्मफल) त्याग शान्ति, चुगली न करना भूतोंपर दया, अलोलुपता, मृदुता (बुरे कर्म करनेकी) लज्जा चंचल ता न होना ॥२॥ हे भारतीय! तेजस्विता क्षमा धृति पवित्रता द्रोहका अभाव निरभिमानता ये लक्षण दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दैवी भावसे युक्त होता है वह निर्भय होगा उसका अन्तःकरण पवित्र होगा वह सदा ज्ञानयुक्त योगमार्गमें रहेगा उदार बुद्धिसे दान देगा, इन्द्रियदमन करेगा यज्ञार्थ कर्म करेगा आत्मा—परमात्माकी विद्याका अध्ययन करेगा धर्ममार्गमें होनेवाले कष्ट वह सहेगा सरलतासे बर्तेगा किसीकी हिंसा नहीं करेगा सत्यका पालन करेगा कभी क्रोध नहीं करेगा कर्मफलका त्याग करेगा शान्तिसे रहेगा चुगली नहीं करेगा सब भूतोंपर दया करेगा लोभ नहीं करेगा उसका हृदय मृदु होगा कुकर्म करनेमें लज्जित होगा चंचलताके कारण उसके कर्ममें बिगाड नहीं होगा वह तेजस्वी होगा, उसमें सहनशक्ति होगी अथवा वह क्षमाशील होगा धैर्यवान् होगा पवित्र आचार करेगा द्रोह कदापि नहीं करेगा अभिमान उसमें नहीं होगा। किसमें कितनी दैवी संपत्ति है इसका निश्चय इन गुणोंके प्रमाणका विचार करनेसे हो सकता है ॥ १–३ ॥

(१–३) मनुष्य राक्षस न बनकर देवतास्वरूप बने इसलिये धर्मके नियम बनाये गये हैं। मनुष्यमें दो प्रकारके मानवीय स्वभाव हैं। एक दैवी वृत्ति और दूसरी राक्षसी वृत्ति सत्त्वगुणसे दैवी वृत्ति और रजोगुणसे राक्षसी वृत्ति बनती है। यह वृत्तियां शरीर और मनकी अवस्थामें ही उत्पन्न हुई होती हैं और सहज बदलती भी नहीं। इस लिये आसुरी प्रकृतिवाला मनुष्य सहजही दैवी प्रकृतिवाला नहीं बन सकता तथापि गुणोंका ह्रास और उत्कर्ष होना संभव है। यही काम धर्म करता है। दैवी प्रवृत्तिका उत्कर्ष करना और राक्षसी अथवा आसुरी प्रवृत्तिका निर्बंधन करके उसको मर्यादित और धार्मिकतासे प्रभावित करना, यह धर्मका कार्य है। सब धर्मग्रंथोंमें इसी उद्देश्यसे सब आचारधर्म वर्णित होते हैं।

यहां पाठक पूछ सकते हैं कि दैवी प्रभाव और आसुरी

श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायकी विषयसूची

×—०—×

———•———

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
(भ गी १७)

शारीरिक तप।

देवोंकी पूजा करना द्विजोंका सत्कार करना गुरुजनोंका आदर करना विशेष ज्ञानी लोगोंका सन्मान करना पवित्रता करना सरलता धारण करना ब्रह्मचर्य और अहिंसाका पालन करना ये शारीरिक तप हैं।

वाचिक तप।

दूसरोंको उद्वेग न पहुंचानेवाला भाषण करना जो सत्य हो प्रिय हो और हितकारक भी हो ऐसा भाषण करना नित्य स्वाध्याय करना यह वाङ्मय तप है।

मानसिक तप।

मनकी प्रसन्नता मनकी सौम्यता अर्थात् कोमलता, मौन धारण करना आत्मनिग्रह मनके भावोंकी परिशुद्धता यह मानसिक तप है।

सात्त्विक तप।

जो तप परम श्रद्धासे किया जाता है उसके भी तीन भेद होते हैं। जो तप फलभोगकी इच्छा मनमें न धारण करते हुए किया जाता है उसको सात्त्विक तप कहते हैं।

राजस तप।

जो बडे दंभसे किया जाता है अपना सत्कार होवे अपना मान बढे और अपनी पूजा चारों ओर हो इस हेतुसे किया जाता है उस अस्थिर और चंचल तपको राजस कहते हैं।

तामस तप।

मूढतासे अपने आपको पीडा देकर जो तप किया जाता है तथा जिसमें दूसरेका नाश करनेका उद्देश होता है, उसे तामस तप कहते हैं।

यहां इस तपके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं कि जो यह तामस तप कहा गया है उसमें दैवी भाग अत्यल्प है, आसुरी भावही इसमें बहुत है- इस तरहका तप दैवी संपत्तिमें नहीं आवेगा। निःसंदेह यह तप है परंतु यह आसुरी भावसे युक्त है।

इस तरह विचार करके कौनसा तप इस दैवी संपत्तिमें लेनेयोग्य है इसका निश्चय करना चाहिये। जो सात्त्विक तप है वही पूर्णतया दैवी संपत्तिमें अन्तर्भूत हो सकता है। इसके साथ साथ अहिंसा, शौच (पवित्रता) आर्जव (सरलता), सत्य मार्दव (सौम्यता) अतिमानिता अचापल्य (अक्षुब्ध) इत्यादि दैवी संपत्तिमें गिनाये लक्षण तपके विवरणमें भी आये हैं। यह देखकर ये लक्षण केवल साधारण अवबोध होनेके लिये गिनाये हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है। जैसे तपमें ये दैवी संपत्तिके भाव आगये हैं उसी तरह अन्यान्य दैवी लक्षणोंमें भी अन्य दैवी भावोंकी संकीर्णता दिखाई देगी। इसका कारण यह है कि ये लक्षण एक दूसरेसे अत्यंत पृथक् नहीं रह सकते। एक लक्षण होनेके साथ साथ अन्यान्य लक्षण भी साथ साथ होते ही हैं। जैसे ' अहिंसा ' के साथ साथ मार्दव दया क्षमा आदिका होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह पाठक अन्यान्य लक्षणोंके विवरणमें भी विचार करके जान सकते हैं।

(२) दम।

इन्द्रियदमन मनःशमन आत्मसंयम इत्यादि भाव इसमें हैं। मनके वेगोंका शमन करना मनके वेगोंको अपने आधीन रखना अपनी योग्यताको प्राप्त और नियमित करना यह सब इस दममें आता है।

इस दमपर ही मनुष्यकी सभ्यता अवलंबित है। इस दम अर्थात् संयममें बडी शक्ति होती है। इसमें मानवी समाजकी उत्तम धारणा करनेका सामर्थ्य है। यदि किसी समाजमें दम कम होगा तो उस समाजमें स्वैर भोगवृत्ति की वृद्धि होगी और वह समाज कभी स्थिर नहीं होगा।

प्रवृत्तिके लक्षण क्या हैं ? इस मनुष्यमें दैवी भाव है या आसुरी भाव है इसका निश्चय हम किस तरह कर सकते हैं ? हरएक पाठकके मनमें ये प्रश्न आ सकते हैं, इस कारण इस अध्यायमें दैवी और आसुरी वृत्तियोंके लक्षणों-का विस्तृत विचार किया है । पाठक इस अध्यायका विशेष मनन करेंगे तो उनको अपने अन्दर कौनसी वृत्ति है तथा अपने परिचितोंमें कौनसी वृत्ति है इसका निश्चय हो सकता है । अन्योंकी परीक्षा करनेकी अपेक्षा अपनी परीक्षा करना अधिक योग्य है और यह आत्मपरीक्षा हरएक मनुष्य कर सकता है । अब यहां दैवी वृत्तिका विचार किया जाता है—

दैवी वृत्तिके लक्षण ।

इन तीन (श्लोक १ से ३ तक) श्लोकोंमें दैवी वृत्तिके छब्बीस लक्षण कहे हैं । केवल दैवी संपत्तिके छब्बीस ही लक्षण हैं और अधिक नहीं ऐसा नहीं है । इन छब्बीस लक्षणोंका विचार करनेसे अन्य लक्षणोंका बोध हो सकता है, अतः ये लक्षण मुख्य हैं ऐसा मान सकते हैं । इन छब्बीस दैवी लक्षणोंमें कई लक्षण व्यक्तिके अन्दर दीखनेवाले हैं कई लक्षण सामाजिक व्यवहारमें अर्थात् एक मनुष्यके दूसरेके साथ होनेवाले व्यवहारमें दीखनेवाले हैं और कई ऐसे हैं कि जो व्यक्तिके तथा समाजके दोनों व्यवहारोंमें दीखनेवाले हैं । जैसे-

(१) स्वाध्याय ।

स्व+अध्याय अपनी यथार्थ अध्ययन आत्माका ज्ञान प्राप्त करना, षड्रिपुअध्ययन अध्यात्मविद्याका अभ्यास आत्मा परमात्मा प्रकृति परमाणु इनका सत्यस्वरूप जाननेके लिये अध्ययन करनेका नाम स्वाध्याय है । अपने शरीर इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्माका ज्ञान प्राप्त करना आत्म-निरीक्षण करना और अपने अन्दर जो दोष हों उनको दूर करना और सद्गुणोंका संवर्धन करना इत्यादि—

वस्तुतः स्व अथवा आत्मा ' का स्वरूप विश्व ही है । भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें जो विश्वरूप बताया है वह आत्माकाही रूप है वही अपना स्व है । इस विश्वरूपका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेका नाम स्वाध्याय है । अतः इसमें सब भौतिक और अभौतिक विद्याओंका समा-वेश होता है । कोई सत्यविद्या इससे बाहर नहीं रहती । जो भी कुछ मानवीय हितके लिये श्रेय है, वह सबका सब स्वाध्यायमें अन्तर्भाव होता है ।

स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाला यह ज्ञान व्यक्तिमें रहता है अतः यह वैयक्तिक गुण है । राष्ट्रमें अनेक व्यक्ति ज्ञान-संपन्न हों तो वह राष्ट्र अथवा वह समाज या जाति ज्ञानसंपन्न है ऐसा कहा जाता है । तथापि ज्ञान एक एक व्यक्तिमें रहता है इसमें संदेह नहीं है ।

स्वाध्याय करना भी व्यक्तिके कर्तोंपरही अवलंबित है, तथापि जिस राष्ट्रमें ज्ञानप्रसारके केन्द्र अधिक होंगे वहांका वायुमंडल ज्ञानप्राप्तिके लिये अनुकूल होगा और जहां ज्ञानियोंकी संख्या कम और ज्ञानप्रसारके केन्द्रोंकी न्यूनता होगी, वहांका वायुमंडल ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रतिकूल होगा। इसी कारण मनुष्यमें पर्याप्त बुद्धि रहनेपर भी कई व्यक्ति-योंको ज्ञान प्राप्त नहीं होता जैसे भारतीय अन्त्यज, अशिक्षितों जिनमें यदि बुद्धिमान् भी हों तो भी उनको ज्ञान प्राप्त होनेकी सम्भावना कम होनेसे वे लोग पीछे पड़ गये हैं ।

इस तरह स्वाध्याय सर्वथा वैयक्तिक होनेपर भी ज्ञान-प्रसारमुक्तप्रसारकी दृष्टिसे सार्वजनिक भी है यह पाठक अवश्य देखें । इसका विचार करनेसे पाठकोंको निश्चित होगा कि हरएक व्यक्तिका कर्तव्य स्वाध्याय करना होनेपर भी अपनी जातिमें ज्ञानप्रसारमुक्तताके केन्द्र अधिकसे अधिक बनानेका यत्न भी ज्ञानियोंको कर लेना उचित है।

(२) तप ।

स्वाध्याय अथवा धार्मिक कर्तव्य करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको आनन्दके साथ सहनेका नाम तप है । स्वाध्याय कष्ट उठानेके बिना हो नहीं सकता। धार्मिक कर्तव्य पालन कष्ट सहन करनेसेही हो सकता है । कोई पुरुषार्थ क्लेशके सहन करनेके बिना नहीं हो सकता । इस तरहके कष्ट सहन करनेका नाम तप है । शरीरका शीतोष्ण सहन करनेका सामर्थ्य बढाना तप है मनको शान्त रखना तप है इस अन्य न बोलना तप है । इस तरह अनेकविध तप मनुष्योंको करना होता है । इस विषयमें गीताके आदेश देखनेयोग्य हैं ।

अर्थात् दूसरा है ही नहीं। एककी आत्मसत्ता सर्वत्र है, एककी यहां सब है, अतः न कोई दूसरोंसे दान लेता है और न कोई दूसरोंको दान दे सकता है। दूसरोंको दान देना यह भावही अशुद्ध और अज्ञानमूलक है। जिसदेनेवालेके लिये आत्म समर्पण करनेका आशय स्वयं अपने लियेही देना है। यहां यह अनुभव होनेसे दान न देना आत्मघात करना है, इस कारण आत्मघातसे बचनेके लिये दान देना अत्यंत आवश्यक है। परंतु यह सत्पात्रमें देना चाहिये अन्यथा कुपात्रमें दिया दान निःसन्देह व्यक्तिकी और समाजकी हानि करेगा।

जिसमें दैवी संपत्ति विकसित हुई है, वह जानता है कि सत्पात्रमें दान देना किसका नाम है और कुपात्रमें दान क्यों नहीं देना चाहिये। सत्पात्रमें दान देना दैवी संपत्तिवालेका स्वभाव ही है। वह योग्य समय योग्य दान दिये बिना नहीं रहेगा।

(७) यज्ञ।

यज्ञ एक ऐसी प्रक्रिया है कि जो सबके उद्धारका हेतु हो सकती है। यज्ञमें दान, कर्म, तप, स्वाध्याय, अहिंसा आदि उत्तम विकास उत्तम रीतिसे होता है। यज्ञका नाम 'अध्वर' है इसका अर्थ अहिंसा किंवा अकुटिलता है। यही यज्ञका मुख्य लक्षण है। हिंसा किसीकी न हो किसीके साथ कुटिलताका व्यवहार न हो यज्ञमें यही वृत्ति होती है। यज्ञके लिये इसकी आवश्यकता होती है अहिंसा तो इस यज्ञका स्वरूपही है। अकुटिलता भी आर्जव (सरलता) काही दूसरा नाम है। यज्ञसे तो अनेक अज्ञात व्यक्तियोंका लाभ होता रहता है। यहां हवन किया तो दूर दूरतक वायुशुद्धि होती है और उससे अनेक लाभ मिलते रहते हैं। योग्य स्थानपर सबकी भलाईके लिये कुआं खोदना यज्ञ है, उससे पानी निकालना कर्म है उस पानीका दूसरोंको देना दान है वहांकी पवित्रता-मार्जन-सफाई करना (शौच) तप है। इससे यज्ञ-दान-तपकी कल्पना स्पष्ट हो सकती है। यज्ञ-दान-तप-ये कर्म कभी त्यागना नहीं चाहिये ये सब अवस्थामें करनेयोग्य हैं, क्योंकि ये मानवोंको पवित्र करनेवाले हैं (गी. १८।५) यह गीताका कथन है। अपना जीवनही यज्ञमय बनाना चाहिये। अपनी सहज वृत्तिसे यज्ञही होता रहे ऐसी शिक्षा मनुष्यको मिलनी चाहिये। इससे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनकी पवित्रता सिद्ध होती है।

(८) आर्जव।

आर्जवका अर्थ ऋजुता सरलता अकुटिलता, टेढेपनका न होना है। यह भाव यज्ञके अर्थमें बताही दिया गया है। इस तरह सरलता यज्ञका एक अंग है। अर्थात् अहिंसा और सरलताके बिना यज्ञ होही नहीं सकता। अतः अहिंसा का भी यज्ञके साथ साथही विचार करना चाहिये।

(९) अहिंसा।

अहिंसा यज्ञका एक मुख्य अंग है। अहिंसाका अर्थ है अपने द्वारा दूसरोंको किसी प्रकार कष्ट न पहुंचाना यदि कष्ट पहुंचाना अपरिहार्यही हो तो न्यूनसे न्यून कष्ट पहुंचानेका यत्न करना। अहिंसा सभ्यताकी परमावधिकी सीमा है। कौनसा समाज अधिक सभ्य है? ऐसा प्रश्न पूछनेपर उत्तर यही दिया जायगा कि जो अधिक अहिंसाका पालन कर सकता है वही अधिक सभ्य है। आश्रमोंमें सन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण अधिक अहिंसा आचरणमें लाते हैं। अतः अन्यों की अपेक्षा वे अधिक सभ्य समझे जाते हैं। हिंसाके अधिक होनेसे सभ्यता घटती है क्योंकि हिंसा आसुरी वृत्तिका दुर्गुण है।

(१०) अक्रोध।

क्रोधका न होना अहिंसाके लिये अत्यंत आवश्यक है, क्रोधसेही हिंसा होती है क्रोध मनका भाव है वही हिंसाके रूपसे बाहर परिणत होता है। मनकी अशान्ततासे क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोधसे हिंसा होती है दूसरेका सकारण अथवा निष्कारण घातपात किया जाता है। इस लिये हिंसाको दूर करनेके लिये क्रोधको शान्त करना चाहिये, अतः अक्रोधकी गणना दैवी संपत्तिमें की गई है क्योंकि अक्रोधसेही अहिंसाकी सिद्धि होती है और अहिंसासे परम उच्च सभ्यता सिद्ध होती है। अतः मानवीय परम-उच्च सभ्यताको प्राप्त करनेका परम साधन अक्रोध है।

(११) अद्रोह।

अहिंसाकी सिद्धिके लिये द्रोहका न होना भी अत्यंत आवश्यक है। द्रोह करनेसे द्वेषबुद्धि बढ़ती है जिससे

हरएक स्वैरभोगी व्यक्ति अलग अलग रहेगी और अन्तमें उद्यमशील समाज नष्ट हो जायेगा। अतः मानवीय सभ्यता इसपर निर्भर है ऐसा जानकर हरएक मनुष्य इन्द्रियदमन करनेका प्रयत्न करे।

(४) सत्त्व संशुद्धि।

अपने सत्त्वकी शुद्धता। अपने अन्दर जो शरीर मन बुद्धि आदिमें मल होते हैं, उनको दूर करनेका नाम सत्त्व की पवित्रता है। पूर्ण पुरुष बननेके लिये सत्त्वकी पवित्रता चाहिये। जिसके सत्त्वकी पवित्रता हो गई है, वह ठीक सोचेगा और कर्म भी ठीकही करेगा। उसके अन्दर अशुद्ध विचार आयेंगे ही नहीं। मलिनताके कारण अशुद्ध विचार मनमें आते हैं और अशुद्ध कर्म होते हैं ये गिरावटके कारण हैं। अतः सत्त्वसंशुद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिये। संपूर्ण धर्मकर्मोंका उद्देश मनुष्यका अन्तर परिशुद्ध करनाही है। सत्त्वसंशुद्धि करनेका साधन मुख्यतया ज्ञानयोगका आचरण है—

(५) ज्ञानयोगव्यवस्थिति।

ज्ञानयोग और कर्मयोगमें विशेष दक्षतासे स्थिर रहना अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगका मिलकर वृत्तिसे आचरण करना यह एकमात्र सत्त्वकी शुद्धताके लिये मुख्य साधन है।

तेहरवें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक ज्ञानकी व्याख्या की गई है पाठक उसको वहां देखें। वही ज्ञानमार्ग है। भगवद्गीतामें अनेक स्थानोंपर कर्ममार्गका वर्णन है। उसको कर्ममार्ग कहते हैं। इस ज्ञानमार्ग और इस कर्ममार्गमें साधकोंकी सुस्थिति रहनाही उनके सिद्ध बननेका एकमात्र साधन है। ज्ञानियोंके लक्षण जो १३ वें अध्यायमें कहे हैं वे ये हैं—

ज्ञानके लक्षण।

१ अमानित्व २ अदम्भ ३ अहिंसा ४ क्षमा ५ सरलता ६ गुरुसेवा ७ पवित्रता—शुद्धता ८ स्थिरता ९ आत्म-संयम १० इन्द्रियविषयोंके संबंधमें वैराग्य ११ अहंकार—घमंड न होना १२ जन्म—मृत्यु—जरा व्याधि—दुःख—दोषोंका अनुभव करना १३ पुत्र—स्त्री—घर आदिमें आसक्ति और ममत्व न होना १४ इष्टानिष्टके विषयमें समभाव रखना, १५ ईश्वरमें अनन्य भक्ति १६ एकान्त—सेवन १७ जनसंघमें जानेके विषयमें अरुचि १८ अध्यात्मज्ञानमें नित्य मनको स्थिर करना १९ तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले तत्त्वका दर्शन करना इस सबको ज्ञान कहते हैं इससे जो विपरीत होता है उसको अज्ञान कहते हैं।

(भ. गी. १३।७-११)

यहां ज्ञानके १९ गुण कहे गये हैं। दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए (अ. १६।१-३ में) २६ गुणोंका वर्णन किया है। ये दोनों लक्षण परस्पर मिलते हैं। अमानित्व, अहिंसा, क्षमा, (आर्जव) सरलता, (शौच) शुद्धता स्थैर्य (स्थिरता—प्रशान्तता) दम (संयम) आदि तो दोनों स्थानोंमें एक जैसेही हैं अन्य गुण भी परस्पर मिलनेवालेही हैं। इस तरह जो ज्ञान है वही दैवी संपत्ति है और जो दैवी संपत्ति है वही ज्ञान है। अर्थात् आसुरी संपत्ति और अज्ञान ये समानार्थक शब्द बहुत अंशोंमें माने जा सकते हैं। अस्तु। यह ज्ञानयोगमें व्यवस्थितिका अर्थ है। जिस साधकमें दैवी संपत्तिका विकास होता है उसकी स्थिरता जैसी ज्ञानमें होती है वैसीही योगमें होती है।

(६) दान।

दानका अर्थ देना। जो अपने पास होगा उसका सबकी भलाईके लिये समर्पण करना दान है। हमारी स्थिति इस दानपर निर्भर है। गुरु विद्याका दान देता है मातापिता अपना जीवनही समर्पण करते हैं इस तरह सैकडों और हजारों ज्ञात अज्ञात मानवों और प्राणियोंपर हमारा अस्तित्व निर्भर है। यदि वे हमारे लिये दान न दें तो हमारा जीवनही समाप्त हो जाय। अकेला सूर्यही उष्णता और जीवन न दे तो क्षणार्धमें हम मर जायेंगे। दूसरोंसे कुछ लेकरही हम जीवित रहते हैं। इसी लिये मनुष्यमात्रको हमें उचित है कि हम अपनी शक्तिसे जितनी हो सकती है उतनी सबकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करें। जो मनुष्य अपने अल्प शक्तिवाला है वह भी कुछ न कुछ विशेषता कर सकता है। फिर जिसके पास ज्ञानधनादि विविध प्रकारका सामर्थ्य है वह उपकार करनेमें उसका व्यय करे, अल्प शक्तिका दान करे, यह कहनेकी क्या आवश्यकता है! अन्योंके दानसेही जीवित रहनेवालेको उचित है कि वह भी अन्योंके लिये आत्मसमर्पण करे। परंतु यहां कोई अन्य

असत्यसेही यह अन्तरात्माको सताने लगता है। सत्य कहते ही वे क्लेश दूर हो जाते हैं। सत्यसेही सब सिद्धियाँ मिलती हैं अतः सत्यपालनका महत्त्व जानकर और आत्मोन्नतिके लिये उसकी आवश्यकता और उपयोगिता देख कर प्रत्येक साधकको सत्यपालनमें तत्पर होना चाहिये।

(१८) शौच [पवित्रता]

शुचिताका अर्थ पवित्रता है। यह अनेक प्रकारकी है। शारीरिक पवित्रता शुद्ध जलसे की जाती है इन्द्रियोंकी पवित्रता संयमसे होती है, मनकी शुद्धता सत्यसे होती है, बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है तथा विद्या और तपसे आत्मशुद्धि होती है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
(मनु ५।१०९)

शुचिके अनेक साधन हैं शुद्धता शरीरमें हो तो शरीर नीरोग रहता है। शरीरमें मलसञ्चय हो जाय तो विविध रोग होने लगते हैं इसी तरह शुद्धतासेही आसुरी वृत्ति दूर होकर दैवी भाव बढ़ने लगते हैं।

(१९) ह्री।

बुरे कर्म करनेके लिये लज्जा होनी चाहिये। ह्रीका अर्थ यही है। इससे मनुष्य बुरे कर्मोंसे दूर रह सकता है जिससे इसकी उन्नति होती है। जिस समय कुकर्म करनेमें इसको लज्जा नहीं होगी, उस समय यह असुर बना होगा। अर्थात् यह (ह्री) लज्जा कुप्रवृत्तिसे बचानेवाली है।

(२०) धृति।

धृतिका अर्थ है धैर्य। धर्म करनेके लिये किसीसे न डरनेका नाम धृति है। इस वृत्तिसे ही साधक अपने धार्मिक कर्तव्य स्थिर होकर करता रहता है। दैवी संपत्तिकी वृद्धि होनेके लिये इस वृत्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। यदि वह धार्मिक कर्म करनेमें डरा करेगा और अधार्मिक कुकर्म करनेमें न डरेगा तो इसमें आसुरी वृत्ति बढ़ती जायगी। अतः यदि धैर्यको केवल निडरता न समझते हुए शुद्ध धार्मिक कर्तव्य करनेमें जो स्थिरता आवश्यक है वही यह धृति है ऐसा मानना उचित है।

(२१) क्षमा।

क्षमा शब्दके दो अर्थ हैं। एक दूसरोंके अपराधोंको शान्तिसे क्षमा करना और धर्मकर्म करनेके समय जो कष्ट हों उनको सहन करनेकी शक्ति अपनेमें उत्पन्न करना। ये दोनों गुण मनुष्यको अपनेमें बढ़ाने चाहिये। दूसरे अर्थसे अपनी धर्मकर्म करनेकी शक्ति बढ़ती है और पहिले अर्थको स्वीकार करनेसे निर्वैरता सिद्ध होती है। दोनों अर्थ सहायक हैं।

(२२) तेज।

तेजस्विता तेजस्वी वृत्ति मनुष्यमें रहनी चाहिये कभी भी अपमान सहन नहीं करना चाहिये। कुछ लोग अहिंसा अक्रोध क्षमा आदि शब्दोंसे तथा विशेषतया '*नातिमानिता*' और '*मानापमानयोः तुल्यः*' इस अर्थसे अपमान सहन करना और दुःख कष्ट आदि भी सहतेही जाना ऐसा अर्थ मानते हैं और अपमान होनेपर भी वे सहते हैं परन्तु भगवद्गीताको यह अभीष्ट नहीं है। तेजस्विताके साथ नातिमानिताका संबंध देखना चाहिये। इसी स्थितिमें तेजस्विता रहती है आत्मसंमानके बिना तेजस्विता कैसे रहेगी? अर्थात् तेजस्वीपन दैवी संपत्तिका प्रधान अंग है, *मान-अपमानको तुल्य माननेका अर्थ इतनाही है कि सन्मान* होने अथवा अपमान होनेपर अपना कर्तव्य नहीं छोड़ देना चाहिये दोनोंको समान मानकर अपना मन इधरउधर न होने देना चाहिये। जितने भी दैवी गुण हैं वे कभी भी तेजस्विताके विरोधी नहीं हैं।

(२३) अचापल।

चपलताका अर्थ चंचलता है अर्थात् इस क्षणमें एक और दूसरे क्षणमें दूसराही कुछ करने लगना। किसी एक अनुष्ठानमें स्थिर न होनेसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः चपलताका त्याग करके अनुष्ठानका स्थैर्य प्राप्त करना चाहिये। सिद्धिके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

(२४) मार्दव।

हृदयकी कोमलता। दूसरोंकी हिंसा करनेके समय मनकी कठोरता कार्य करती है कोमलता—मार्दव-रहे तो हिंसा-क्रौर्यमें प्रवृत्ति होही नहीं सकती। मृदुतासे सभी आसुरी

क्रोध बढ़ता और हिंसा भी होती है। इसी कारण क्रोध भावकी गिनती आसुरी वृत्तिमें होती है। अतः उन्नत होनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अक्रोधवृत्ति अपने अंदर बढावें और अपने अंदर दैवी संपत्तिकी परिपुष्टता करें।

(१२) अपैशुन।

चुगली करनेकी वृत्तिका नाम पिशुनता है। एककी गुप्त बात बुरे भावसे दूसरे तक पहुंचाना और उससे अपने काम साधन करना चुगली का स्वरूप है। चुगलखोरोंसे समाजमें अशांति फैलती है एक दूसरेका घातपात करनेकी प्रवृत्ति बढती है और क्रोध बढकर हिंसक वृत्तिही फैलती है जो मानवताकी हानि करती है। इस कारण पिशुनताको दूर करना आवश्यक है। यह लोभको दूर करनेसेही होना संभव है, अतः अलोभका अंगीकार करना चाहिये।

(१३) अलोलुप्त्व।

निर्लोभवृत्तिका नाम अलोलुप्त्व है। अलोलुपता लोलुप न होना लोभका त्याग ये इसके साधन हैं। जो लोभी होता है, वही चुगली करके अपने लोभकी पूर्तिका साधन ढूंढता है। जिसे लोभही न होगा वह चुगली करेगा ही क्यों? मनुष्योंका स्वभावही चुगली करनेका होता है परंतु इसकी जडमें देखा जाय तो स्वार्थ लोभ अवश्य दीखेगा। अतः निर्लोभवृत्ति रही तो चुगली करनेका दुर्गुण दूर हो जायेगा और इससे आनेवाले दुष्परिणाम भी नहीं होंगे।

(१४) त्याग।

त्यागभावका अर्थ भोगत्याग है। स्वार्थी भोगोंका त्यागही सच्चा त्याग है। इसीका नाम कर्मफलत्याग है। फलभोगकी जो लालवृत्ति है उसका त्याग करनाही बडा भारी साधन है। इस त्यागभावसे निर्लोभवृत्ति अर्थात् अलोलुप्त्व-सिद्ध होता है और इसके पश्चात् क्रमसे अपैशुन अक्रोध और अहिंसा सिद्ध होती है। अतः त्यागभावका महत्त्व उन्नतिकी साधनामें अधिक है। त्यागभावसेही दैवी संपत्ति सिद्ध हो सकती है। जहां त्याग नहीं वहां आसुरी वृत्ति प्रबल है यह समझना चाहिये।

(१५) नातिमानिता।

अतिमानी होना योग्य नहीं है। अहंकार घमंड गर्व मानीपन ये सब इसी भावके वाचक शब्द हैं। मनुष्यको आत्मसम्मानकी रक्षा करनाही चाहिये। आगे 'तेजस्विता आवश्यक है', ऐसा बतायेंगे। तेजस्वीपनके साथ आत्मसंमान जितना रह सकता है उतना तो मनुष्यको चाहिये। उससे जो अधिक अतिमानीपन है अति घमंडी स्वभाव है, अत्यधिक अहंकार है, वह दूर कर देना चाहिये। अतिमानी मनुष्य अति क्रोधी भी होता है, अतिक्रोधी मनुष्य अपने क्रूरताके कारण अति-हिंसक होता है। हिंसाका अर्थ केवल जीवहिंसा करनाही नहीं है परंतु दूसरेको चुभनेवाले शब्द बोलना भी हिंसा है। अतिमानी मनुष्य अपनी घमंडी वृत्तिके कारण दूसरोंसे ऐसे शब्द बोलता है कि वे उसके हृदयमें चुभ जाते हैं। अर्थात् अतिमानी मनुष्य सर्वथा हिंसक होता है। अतः साधकको उचित है कि वह अपने अन्दरसे अतिमानी वृत्ति कम करे। यहां तेजस्विता रहनेका आत्मसंमानका भाव धारण करनेका विरोध नहीं हुआ है, इसका पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिये।

(१६) भूतेषु दया।

अहिंसा शब्द हिंसाका न होना इतनाही निषेधका भाव बताता है। हिंसा न करनेकी अवस्थामें क्या करना चाहिये, यह 'अहिंसा' शब्दने नहीं बताया। इसकी पूर्णता 'भूत-दया' शब्दने की है। भूतोंपर दया करनी चाहिये। यह अहिंसाके निषेधक भावकी विधायक पूर्णता है। अहिंसा तो पालन करनीही चाहिये परंतु साथ साथ सबपर दयादृष्टि भी रखनी चाहिये। अहिंसामें हिंसाका निषेध किया परंतु कर्तव्य वस्तुका दर्शन नहीं कराया परंतु भूतदया शब्दने अहिंसाकी स्थितिमें क्या करना चाहिये यह बतलाया है। भूतदया विश्वसेवाका सच्चा स्वरूप है।

(१७) सत्य।

सत्य धर्मिताका नाम है सत्यही सब दैवी संपत्तिका आधार है। सत्यही विश्वका आधार है। सत्य नहीं तो कुछ भी नहीं है। अतः सत्यका ऐसा पालन करना चाहिये कि जिसमें कोई न्यूनता न रहे। जितनी अपनी शक्ति है उतनी लगाकर सत्यका पालन होना चाहिये। सत्य रहेगा तो सब अन्य दैवी संपत्तिके गुण रह सकेंगे। सत्यका पालन न हुआ तो कोई उन्नति नहीं होगी। सत्यका पालनही धर्मका पालन है। सत्यपालन न होनेपर आत्मघात होता है। असत्य

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

तपसैव ससर्जाग्र्य फलमूलानि यानि च।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥

औषधान्यगदादीनि तिस्रो विद्याश्च संस्कृताः।
तपसैव हि सिध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम्। ॥ ४ ॥

यद्दुरापं दुराराध्यं दुराधर्षं दुरुत्सहम्।
तत्सर्वं तपसा शक्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ५ ॥

ऐश्वर्यमव्ययं प्राप्तास्तपसैव न संशयः।
अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम् ॥ ८ ॥

ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ११ ॥

तपःपरायणाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते।
तथैव तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे ॥ १२ ॥

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसा सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयः ॥ १३ ॥
(म० भा० शा० अ० १५९)

"सबका मूल तप है। तप किये बिना किसीको भी कुछ फल प्राप्त नहीं होता। प्रजापतिने भी तपसेही इस सबको उत्पन्न किया। ऋषियोंको तपसेही वेद प्राप्त हुए। फल मूल अन्न सब कुछ तपसेही प्राप्त किया जाता है। तपसेही सिद्ध हुए महात्मा तीनों लोकोंका साक्षात्कार करते हैं। औषधियाँ तथा तीनों विद्याएँ तपसेही सिद्ध होती हैं। तपही सबका साधन है। जो दुष्प्राप्य है जो दुराराध्य है, जो सिद्ध होना कठिन है और जिसके विषयमें उत्साहभंग होता है वह सब तपसे सिद्ध होता है। ऋषियोंने तपसेही ऐश्वर्य प्राप्त किया था। अहिंसा, सत्यभाषण, दान, इंद्रियनिग्रह इनसे भी तप श्रेष्ठ है। अनशन अर्थात् भोगसे दूर रहनाही श्रेष्ठ तप है। ऋषि पितर देव, मनुष्य पशु पक्षी और जो भूत हैं वे सब तपसेही सिद्धिको प्राप्त करते हैं। देवोंका जो महत्त्व है वह सबको तपके कारणही प्राप्त हुआ है। संपूर्ण इष्ट फल तपसेही प्राप्त हो सकते हैं। तपसे तो मनुष्य देवत्वतक प्राप्त कर सकता है।

इन्हीं लिखित वचनोंसे तपका महत्त्व पाठकोंको विदित हो सकता है। तपकी गणना दैवी संपत्तिमें क्यों हुई है इसका यही कारण है। सब उन्नतियाँ तपसेही सिद्ध होनेवाली हैं। अब सत्यका वर्णन देखिये—

सत्य।

धर्मः साधारणः सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥ ३ ॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥ ४ ॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत ॥ ७ ॥

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥ ८ ॥

त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥ ९ ॥

आत्मनीष्टे तथाऽनिष्टे रिपौ च समता तथा।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥ ११ ॥
दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च।
अभयं क्रोधशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ १२ ॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ १३ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च।
क्षमते सर्वतः साधुस्ततः प्राप्नोति सत्यताम् ॥ १४ ॥

त्यक्तस्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥ १८ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ १९ ॥

कठोर वृत्तियाँ दूर होती हैं इसलिये यह कोमलता सहायक होती है।

(२५) अभय।

निर्भयता तो पूर्वोक्त गुणोंके साथ प्राप्त होती ही है। जो सत्यका पालन करता है जो द्रोह नहीं करता जो पवित्र होता है वह निर्भय भी होताही है। यह तो भीतरसे प्राप्त होनेवाली अभयता है। परंतु यहां जो अभय कहा है वह दूसरोंको प्राप्त होनेवाला अभय है। यह साधक सबको अभय दे तभी यह सबकी ओरसे भी अभय प्राप्त कर सकता है। धर्माचरण करनेके समय मनुष्य निर्भय रहे किसीसे न डरे। सत्यपालनके लिये किसीसे न डरे किसीसे भयभीत न हो और इससे भी किसीको भय न हो। इस तरहकी निर्भय वृत्ति दैवी संपत्तिका परमविकास होनेके पश्चात् ही सिद्ध होगी।

(२६) शान्ति।

पूर्णतासे शान्ति प्राप्त होगी। यही सच्ची अन्तर्बाह्य शान्ति है। न कोई इससे वैर करेगा और न वह किसीसे वैर करेगा। जगत्‌में कितनी भी अशान्ति हो पर वह साधक परम शान्तिसे युक्त होगा। क्योंकि इसकी शान्ति नाश करनेका कोई कारण इसके पास आनेवाला नहीं। यही पूर्णताका लक्षण है।

इस तरह ये दैवी संपत्तिके लक्षण हैं। ये लक्षण केवल सूचना मात्र हैं। और भी बहुतसे लक्षण हैं जो यहां नहीं दिये हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमें जो दैवी गुणोंका वर्णन है वह यहां देखनेयोग्य है—

दमका वर्णन।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥ ७ ॥
नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥९॥

दम—लिंगानि।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१५॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥१६॥
गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम्।
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ॥ १७ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥ १८ ॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कथं चन पूर्यते ॥ १९ ॥
एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं दमसंयुक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ १४ ॥
(म० भा० शान्ति० अ० १५८)

दमका वर्णन करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं— दम निःसंदेह मोक्ष देनेवाला है। जो दम धारण नहीं करेगा उसको कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। दान यज्ञ और अध्ययनसे दमका महत्त्व अत्यन्त अधिक है। दमसे तेजकी वृद्धि होती है पवित्रता रहती है इससे मनुष्य निष्पाप होकर महत्त्वको प्राप्त होता है। दम सिद्ध होनेसे जो लक्षण प्रकट होते हैं वे ये हैं— 'क्षमा धृति, अहिंसा समता सत्य सरलता, इंद्रियजय दक्षता मृदुता (कोमलता) ह्री (कुकर्ममें लज्जा) अचापल्य (धैर्य) कृपणताका न होना, क्रोधका न होना संतोष प्रिय भाषण, असूयाका न होना गुरुका सत्कार करनेकी बुद्धि, भूतदया चुगली न करना वृथा वादविवाद न करना व्यर्थ निंदा स्तुति करते न रहना ये सब लक्षण दमके होनेसे दीखते हैं, इससे पता लग सकता है कि इस मनुष्यमें दम है या नहीं।

जो दमयुक्त है वह काम क्रोध लोभ गर्व, निंदा ईर्ष्या तथा दूसरोंका अपमान कभी नहीं करता। दमयुक्त मनुष्य समुद्रके समान गंभीर रहता है। इस दममें यही दोष है वह यह कि दमयुक्त मनुष्यको सामान्य जन असमर्थ समझते हैं। इसको छोडकर दममें कोई दोष नहीं है। अब तपके विषयमें देखिये—

तप।

सर्वमेतत्तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥ १ ॥

दैवी भाव	आसुरी भाव
अभय	भय
सत्त्वसंशुद्धि	सत्त्वकी मलीनता
ज्ञानव्यवस्थिति	अज्ञानी स्थिति
योगव्यवस्थिति	योगहीनत्व
दान	अदातृत्व
दम, संयम	स्वैरवृत्ति
यज्ञ	यज्ञ न करना
स्वाध्याय	आत्मपरीक्षा न करना
तप	तप न करना
आर्जव (सरलता)	कुटिलता टेढापन
अहिंसा	हिंसा घातपातवृत्ति
सत्य	असत्य
अक्रोध	क्रोध क्षोभ
त्याग	भोग
शान्ति	अशान्ति
अपैशुन	पिशुनता (चुगलीखोरी)
भूतदया	निर्दयता
निर्लोभ	लोभ
मार्दव	कठोरता
ह्री	निर्लज्जता
अचापल्य	चापल्य
स्थैर्य	चांचल्य
तेजस्विता	निस्तेजता
क्षमा	क्षमा न करना
धैर्य	भीरुता
शुचिता	अपवित्रता
अद्रोह	द्रोह
अनभिमानिता	अतिमानिता
ज्ञान	अज्ञान
बोध	मूढता
निष्कामता	पापाचारप्रवृत्ति
समता	विषमता
इंद्रियजय	इंद्रियस्वैरता
दाक्षिण्य	अदाक्षिण्य
अकार्पण्य	कृपणता
अदम्भ	दम्भ
संतोष	असंतोष
प्रियवादिता	अप्रिय भाषण
अनसूया	असूया
गुरुपूजा	गुरुद्रोह
वाद न करना	पक्षपात
निष्कामता	कामीपन
निर्लोभता	लोभीपन
निगर्वता	दर्प
ईर्ष्या न करना	ईर्ष्या
अपमान न करना	अपमान करना
अनिन्दा	निंदा करना
गंभीरता	क्षुद्रता
भोगविषयमें संयम	भोगीपन
तितिक्षा	तितिक्षाका न होना
ध्यानसिद्धि	ध्यानसिद्धि न होना
आर्जव	अनार्जव
दया	निर्दयता
प्रेमभाव	निष्ठुरता
इच्छाद्वेषक्षय	इच्छाद्वेषवृद्धि
कामक्रोधक्षय	कामक्रोधवृद्धि
अकापट्य	कपट
संयम	असंयम
समत्वस्नेह (ममतारहित)	पुत्रस्नेह (ममतायुक्त)
विषयत्याग	विषय भोग
रागद्वेषहीन	रागद्वेषयुक्त

पूर्वोक्त दैवी संपत्तिके विवेचनमें जो दैवी संपत्तिके गुण बताये गये हैं उनसे अनुमान करके जाने जानेवाले ये आसुरी दुर्गुण हैं। इनका विचार करनेसे पाठकोंको दैवी संपत्ति कौनसी है और आसुरी विपत्ति कौनसी है इसका ज्ञान हो सकता है। यद्यपि यहां बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण बताये गये हैं तथापि इनका विचार करनेपर अन्यान्य बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण ध्यानमें आ सकते हैं। पाठक इस तरह अधिक विचार करके दैवी संपत्ति और आसुरी विपत्तिका स्वरूप विस्तारसे जाननेका यत्न करें।

यहां प्रारंभमें दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए २६ दैवी

(२) आसुरी संपत्तिका रूप।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! दम्भः दर्पः अभिमानः च क्रोधः पारुष्यं, एव च अज्ञानं च (एतानि लक्षणानि) आसुरीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य भवन्ति) ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! आसुरी संपत्तिके साथ उत्पन्न हुए मनुष्यमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये दुर्गुण होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— आसुरी भाववाले मनुष्यमें ढोंग, बड़ाई, अभिमान, क्रोध, क्रूरता तथा अज्ञान होता है। इन गुणोंके प्रमाणसे किस पुरुषमें कितना आसुरी भाव है इसका ज्ञान हो सकता है ॥ ४ ॥

एते त्रयोदशाकाराः पृथक्सत्यैकलक्षणाः।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत ॥ १२ ॥
नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥ १४ ॥
(म० भा० शांति १६)

सत्यपालन सर्वसाधारण मानवोंका धर्म है। सत्यही सनातन धर्म है। सत्यही परम गति है। सत्यही धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म, तथा यज्ञ है क्योंकि सत्यमेंही सब कुछ प्रतिष्ठित हुआ है। यह सत्य तेरह प्रकारका है— समता, दम, मत्सर न करना, क्षमा, ह्री (कुकर्ममें लज्जा) तितिक्षा (सहनशक्ति) अनसूयता (दूसरेका उत्कर्ष देख कर संतोष होना) त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति (सत्कर्ममें धैर्य) दया, अहिंसा ये तेरह सत्यके रूप हैं। अपना पराया इष्ट-अनिष्टके विषयमें समता अर्थात् निर्विकार होना, इच्छा-द्वेषका और कामक्रोधका दमन करके इंद्रियोंका दमन करना, गंभीरता, धैर्य, सहना, न करना आदि ज्ञान से सिद्ध होते हैं। मत्सर न करना, दमन करना, दानधर्ममें रुचि ये सब सत्यके पालनसे हो सकते हैं। क्षमा, अक्षमा, प्रिय अप्रिय इनके विषयमें निर्विकार समता स्थिर होनेसे सत्यका पालन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। भोगा सक्ति छोड़कर, रागद्वेषोंको दूर करके जो विषयोंका त्याग होता है वही सच्चा त्याग है। आर्यता उसका नाम है कि जिससे सब भूतोंका भला करनेके लिए सतत निरलस प्रयत्न होता है और भोगेच्छाका त्याग होता है। अहिंसा वह है जिससे सब प्राणियोंपर मन वाणी और कर्म द्वारा अनुग्रह किया जाता है दान दिया जाता है, यही सज्ज नोंका सनातन धर्म भी है। ये तेरह सत्यके लक्षण हैं। इनसे सत्यका पालन और सत्य धर्मकी वृद्धि होती है। अतः सत्यसे बड़ा कोई धर्म नहीं है, और अनृतसे घोर दूसरा कोई नहीं है। धर्मका आधार सत्यही है, इस कारण किसीको भी सत्यका त्याग उचित नहीं है।'

यहां पाठकोंके ध्यानमें यह बात आगयी होगी कि दम, दम, तप आदिके वर्णनोंमें अहिंसा, अनसूया, क्षमा, त्याग, संयम आदि आचुके हैं। इसका कारण यह है कि इन दैवी गुणोंका परस्पर संबंध इतना घनिष्ठ है कि किसीको लेनेसे उसके साथ अन्यान्य गुण स्वयं ही आते हैं इनमेंसे केवल किसी एकको लेना असंभव है। अतः दुर्गुणोंके जो अवगुण आते हैं वे समूहसे आते हैं अकेला कोई नहीं आता। इसी तरह पवित्र होनेपर सब सद्गुण आने लगते हैं वह भी अकेला अकेला नहीं आता प्रत्युत समूहसेही आते हैं। अतः साधकको सावधान रहना चाहिये और ऐसा अनुष्ठान करना चाहिये कि जिससे दैवी संपत्तिके शुभगुण अपनेमें बढ़ते जांय। अब आसुरी भावका स्वरूप देखिये—

(४) दैवी संपत्तिवाले मनुष्यमें दंभ नहीं होता, गर्व नहीं होता, घमंड नहीं होता, क्रोध नहीं होता, निष्ठुरता नहीं होती, इसका कारण उसमें सत्यज्ञान होता है। आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यमें सत्यज्ञान नहीं होता, इस कारण इसमें दंभ, गर्व, अहंकार, क्रोध, क्रौर्य आदि राक्षसी दुर्गुण होते हैं। इनको देखनेसे किस मनुष्यमें कितनी असुरता है इसका निश्चय किया जा सकता है। यहां दैवी और आसुरी वृत्तियोंका परस्पर निरीक्षण करना चाहिये तथा दर्शाये दैवी गुणोंके विरोधी आसुरी भाव कौनसे हैं यह देखेंगे—

(३) दैवी और आसुरी प्रकृतिके फल ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता । मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

(४) आसुरी विपत्ति ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः । न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

अन्वयः— दैवी संपद् विमोक्षाय, आसुरी (संपत् च) निबन्धाय मता । हे पाण्डव ! (त्वं) दैवीं संपदं अभिजातः असि मा शुचः ॥ ५ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! अस्मिन् लोके दैवः आसुरः च एव द्वौ भूतसर्गौ (स्तः, तत्र) दैवः विस्तरशः प्रोक्तः आसुरं मे शृणु ॥ ६ ॥ आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः तेषु च न शौचं न आचारः न अपि सत्यं विद्यते ॥ ७ ॥ ते जगत् असत्यं अप्रतिष्ठं अनीश्वरं अपरस्परसंभूतं कामहैतुकं (च अस्ति) अन्यत् किं (इति ते) आहुः ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिं अवष्टभ्य नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः उग्रकर्माणः, अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

दैवी वृत्ति बंधनसे छुडानेवाली और आसुरी वृत्ति बंधनमें डालनेवाली है ऐसा माना जाता है । हे पाण्डुके पुत्र ! तू दैवी संपत्तिके गुणको लेकर पैदा हुआ है अतः शोक मत कर ॥ ५ ॥ हे अर्जुन ! इस लोकमें दैवी और आसुरी यह दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई है इसमें दैवी सृष्टिका वर्णन विस्तारसे किया गया है अब आसुरी सृष्टिका वर्णन मुझसे सुन ॥ ६ ॥ आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते उनमें पवित्रता नहीं होती सदाचार नहीं होता और नाही सत्य होता है ॥ ७ ॥ यह जगत् असत्य है निराधार है और यहां कोई परमेश्वर नहीं है तथा परस्परसंबंधके बिना ही यहां सब उत्पत्ति होती है इसलिये विषयभोगको छोडकर इसका कोई हेतु नहीं है ऐसा भी ये कहते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकारके दृष्टिकोणको स्वीकार करनेवाले नष्टात्मा अल्पमति भयानक कर्म करनेवाले और सबका अहित करनेवाले जगत्का विनाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— दैवी भाव बंधनका नाश करता है और आसुरी भाव बंधनको बढाता है । जो दैवी भावसे युक्त है वह कर्म करनेके समय विषाद न करे क्योंकि उसका कर्म उसे बंधनसे मुक्त करनेवाला होगा ॥ ५ ॥

गुणोंको अधिक करनेका प्रयत्न करें । इस तरह क्रमशः करते रहनेसे मनुष्यकी आसुरी तथा राक्षसी भावसे मुक्ति होकर उसके अन्दर दैवी भावकी स्थिरता हो सकती है । इसीका नाम आत्मा का नारायण होना है तथा—

नरो यतते मार्गं देवत्वमपि विन्दति ।

(म भा शां १५१)

यत्नसे देवत्वतक प्राप्त हो सकता है ऐसा जो कहा है उसका आशय इस पद्धतिसे हो सकता है । अब दैवी तथा आसुरी वृत्तिके फल देखिये—

(५) दैवी वृत्तिसे बंधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिसे बंधन बढते जाते हैं । इसलिये साधकको उचित है कि वह आसुरी वृत्तिसे दूर रहनेका और दैवी वृत्तिको अपने अन्दर बढानेका यत्न करे ।

जो साधक दैवी वृत्तिसे युक्त हों व अपने आपको आसुरी वृत्तिके प्रलोभनमें न फसावें । क्योंकि आसुरी वृत्तिसे मनुष्य गिरता ही है । साधकको इस आसुरी वृत्तिको एक बार जान कर इससे सावधान रहना चाहिये । अतः इसका वर्णन देखिये—

गुणोंकी गणना की है और आसुरी वृत्तिका वर्णन करनेके प्रसंगमें केवल ६ ही अवगुणोंका दिग्दर्शन किया है। वास्तवमें आसुरी भाव थोड़े नहीं हैं तथापि आसुरी अवगुणोंका वर्णन जानबूझ कर थोड़ा किया है। इसका हेतु यह है कि दुष्ट गुणोंका अधिक चिन्तन भी नहीं करना चाहिये।

मनुष्यका मन ऐसा है कि वह जिसका चिन्तन करता है उसीके गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार भगवद्गीताको उचित ही था कि वह सद्गुणोंका वर्णन विस्तारसे करे और दुर्गुणोंका वर्णन केवल दिग्दर्शनमात्र करके ही छोड़ दे। यही यहां किया गया है। तथापि आगे आसुरी वृत्तिके भयानक परिणाम इसी अध्यायमें श्लोक १से २० तक बताये हैं इसका कारण यह है कि पाठक इस भयानक परिणामको देखकर अपने आपको आसुरी प्रवृत्तिसे बचावें।

भगवद्गीतामें दैवी और आसुरी इन दो ही भावोंका वर्णन किया गया है परन्तु गणेशगीतामें दैवी-आसुरी राक्षसी इन तीन वृत्तियोंका वर्णन है। यहां उसका संबंध होनेसे वह वर्णन देखिये—

देव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिविधा नृणाम्।
तासां फलानि चिह्नानि संक्षेपातेऽधुना शृणु ॥१॥
अपैशुन्यं दयाऽक्रोधोऽचापल्यं धृतिरार्जवम्।
तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता ॥२॥
इत्यादि चिह्नमाद्याया आसुर्याः शृणु सांप्रतम्।
अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता ॥३॥
आसुर्या एवमाद्यानि चिह्नानि प्रकृतेर्नृप।
निष्ठुरत्वं मदो मोहोऽहंकारो गर्व एव च ॥४॥
द्वेषो हिंसाऽदया क्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता।
आभिचारिककर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा ॥५॥
अविश्वासः सतां वाक्येऽशौचं कर्महीनता।
निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानाममुरद्विषाम् ॥६॥
श्रुतिस्मृतिविनिन्दा च तथा स्मार्तपुराणयोः।
पाखण्डवाक्ये विश्वासः संगतिर्मलिनात्मनाम् ॥७॥
असत्कर्मकर्तृत्वं दम्भः पररवस्पृहा।
अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम् ॥८॥
परोन्नत्यसहिष्णुत्वं परकृत्यपराहतिः।
इत्याद्या चिह्नमालास्तु राक्षस्याः प्रकृतेर्नृप ॥९॥
(गणेशगीता अ० ९)

मनुष्योंकी दैवी, आसुरी और राक्षसी ऐसी तीन प्रकारकी प्रकृति होती है संक्षेपसे उनके चिह्न ये हैं—

दैवी प्रकृतिके लक्षण।

चुगली न करना दया अक्रोध अचापल्य (स्थैर्य) धैर्य, सरलस्वभाव तेजस्वीपन निर्भयता अहिंसा, क्षमा, शुद्धता अमानिता ये दैवी वृत्तिके लक्षण हैं।

आसुरी प्रकृतिके लक्षण।

अतिवाद (बहुत वाद करना) अभिमान दर्प (घमंड), अज्ञान क्रोध ये आसुरी वृत्तिके लक्षण हैं।

राक्षसी प्रकृतिके लक्षण।

निष्ठुरता मद मोह अहंकार, गर्व द्वेष, हिंसा, निर्दयता क्रोध औद्धत्य नम्रताका न होना जादूटोना करना क्रूर कर्ममें प्रीति सत्पुरुषोंके वाक्यमें अविश्वास अपवित्रता कर्महीनता (हीनकर्म करना) वेदोंकी निन्दा करना देवोंके भक्तोंकी निन्दा करना श्रुतिस्मृतिकी निंदा तथा स्मृतिपुराणोंकी निंदा करना पाखण्डवाक्यपर विश्वास मलिनात्माओंकी संगति दम्भके साथ कर्म करना परद्रव्यका अपहार करना अनेक कामनाओंका धारण करना सदा असत्य भाषण करना दूसरेकी उन्नतिको देखकर बुरा मानना, दूसरेके प्रारंभ किये कर्मोंमें विघ्न करना इत्यादि राक्षसी वृत्तिके लक्षण हैं।

इस तरह गणेशगीताने मानवीय स्वभावके तीन विभाग किये हैं। तथापि आसुरी और राक्षसी वृत्तियोंको एकही कोष्ठकमें लिख कर मानवीय स्वभावके दोही विभाग योग्य हैं क्योंकि आसुरी और राक्षसीमें अधिक तारतम्य देखने की कोई आवश्यकताही नहीं दीखती।

इस तरह आसुरी तथा राक्षसी वृत्तियोंका वर्णन पाठक देखें और ये दुर्गुण अपने अन्दर यदि हों तो उनको दूर करनेका यत्न करें तथा दैवी गुणोंकी अपनेमें वृद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहें। प्रयत्न करनेपर उन्नति हो सकती है। मनुष्योंके दैवी भाव ये हैं और आसुरी तथा राक्षसी भाव ये हैं ऐसा यहां इसलिये कहा है कि मनुष्य स्वयं अपनी परीक्षा करें अपने अन्दरके गुणदोष देखें और अपना स्थान कहां है इसका निश्चय करें। तथा अपने अन्दरके आसुरी गुणोंको कम करके दैवी

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् २०

अन्वयः—तान् द्विषतः क्रूरान्, अशुभान्, नराधमान् संसारेषु आसुरीषु एव योनिषु अजस्रं अहं क्षिपामि ॥ १९ ॥ हे कौन्तेय! आसुरीं योनिं आपन्नाः जन्मनि जन्मनि मूढाः (सन्तः) मां अप्राप्य एव ततः अधमां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

उन नीच द्वेषी क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं (ईश्वर) इस संसारमें आसुरी योनिमें बार बार डालता रहता हूं ॥१९॥ हे अर्जुन! इस तरह हरएक जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होनेवाले ये आसुरी लोग मूढ होते हुए मुझे (ईश्वरको) न पाते हुए, अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— इस लोकमें दैवी वृत्ति और आसुरी वृत्ति ऐसी दो वृत्तिवाले मनुष्य उत्पन्न हैं। दैवी वृत्तिवालोंका वर्णन इससे पूर्व किया गया है, अब आसुरी वृत्तिवालोंका वर्णन करते हैं। आसुरी वृत्तिवालोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है, इसका ज्ञान भी नहीं होता है। वे सदा अपवित्र और दुराचारी होते हैं। उनमें सत्य नहीं होता। इस जगत्के अधिष्ठानमें सत्य है ऐसा वे मानतेही नहीं। यह जगत् योंही हुआ और यह आधारके बिनाही स्थित है। परमेश्वर कुछ भी नहीं है और यह कार्यकारणभावके बिनाही बनता है ऐसा वे आसुरी वृत्तिवाले लोग मानते हैं। इस जगत्का कोई नियंता नहीं है यह केवल हमारे विषयोपभोगके लिये ही बना है। ऐसा माननेवाले ये दुष्टबुद्धिवाले आसुरी लोग जगत् अहित होनेवाले कार्य करते हैं और सदा जगत्का नाश करनेके उद्यममेंही लगे रहते हैं। इनकी भोगवासना सदा बढ़ रहती है। ये दुष्टभाव धारण करते हैं, सदा अपवित्र कर्मोंमें लगे रहते हैं और घमंडसे सदा मदान्ध रहते हैं। कामोपभोगमें सदा मस्त रहते हैं। सदा विविध आशाओंसे बंधे हुए अन्यायसे भी अपने भोगोंके लिये धनसंचय करते रहते हैं। आज यह कमाया, कल यह कमाऊंगा परसों इसको भोगूंगा और ऐसा सुखी होऊंगा मेरे जैसा इस जगत्में कौन है ? मैं कर्म करूंगा और उपभोग करूंगा उनके मनमें सदा यही विचार रहते हैं। जो करते हैं दंभसे करते हैं। अभिमानमें रहनेके कारण इनकी श्रद्धा कर्मोंमें होतीही नहीं। परंतु अपने नामके लिये ही ये कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं। सर्वव्यापक परमात्माको ये मानते नहीं धर्मकी निंदा करते हैं ये अमंगल क्रूर धर्मद्वेषी आसुरी लोग अधम होते हुए नरकमें ही जाते हैं ॥ १—२ ॥

(१-२) संपूर्ण सृष्टिमें तथा विशेषतः मानवजातिमें देव और असुर ऐसे दो प्रकारके मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। देवोंके लक्षण इससे पूर्व कहे गये हैं। असुरोंके संक्षेपसे ही कहे हैं अतः अब असुरोंके लक्षण विस्तारसे कहे जाते हैं। पाठक इन लक्षणोंको देखकर अपने पासकी जनतामें कौन असुर है इसका निर्णय करें तथा अपने अन्दर जो असुर भाव हों उनका अनुभव करके उनको दूर कर देनेका यत्न करें। देखिये आसुरी मानवोंके लक्षण ये हैं—

(१) आसुराः जनाः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च न विदुः

आसुरी वृत्तिवाले लोगोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति क्या है इसका ज्ञान नहीं होता है। किस कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये किस कर्मसे निवृत्त होना चाहिये, यह ठीक ठीक प्रकार आसुरी लोग जानते नहीं इस लिये वे अयोग्य कर्मोंमें बिना सोचते हुए प्रवृत्त होते हैं। इस कारण गिरते हैं। प्रायः इनकी शुभ प्रवृत्ति रहतीही नहीं लोभी वृत्ति होती है इसलिये अपने भोग बढानेके लिये चाहे जैसा नीच कर्म करने लगते हैं संकोच तो इनको किसी प्रकार नहीं होता है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे किस कर्ममें प्रवृत्त होना हितकारी है और किस कर्मसे निवृत्त होना हितकारी है इसका विचार इन आसुरी वृत्तिवाले मानवोंको नहीं होता है।

(२) न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।

इन आसुरी वृत्तिवालोंमें न पवित्रता, न आचारशुद्धता और न सत्यप्रियता होती है। मलिन आचार मलिन रहना और असत्य व्यवहार उनका चिह्न है। ये असुर लोग कैसे देखनेके लिये बाह्य दिखावेसे पवित्र और स्वच्छ दीखेंगे, परंतु सच्ची

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः । मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः । कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि । ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अन्वयः—दुष्पूरं कामम् आश्रित्य मोहाद् असद्ग्राहान् गृहीत्वा अशुचिव्रताः दंभमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥ (ते) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः, एतावत् इति निश्चिताः ॥ ११ ॥ (ते) आशापाशशतैः बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसञ्चयान् ईहन्ते ॥ १२ ॥ अद्य इदं मया लब्धं इमं मनोरथं (च) प्राप्स्ये इदं (धनं अधुना) अस्ति, (इदं) अपि धनं च मे पुनः भविष्यति ॥ १३ ॥ असौ शत्रुः मया हतः अपरान् अपि च हनिष्ये अहं ईश्वरः अहं भोगी अहं सिद्धः बलवान् सुखी (च अहं अस्मि) ॥ १४ ॥ आढ्यः अभिजनवान् अस्मि मया सदृशः कः अन्यः अस्ति ? (अहं) यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः ते (सन्ति) ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः ते अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥ आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ते दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ॥ १७ ॥ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः आत्मपरदेहेषु (स्थितं) मां प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः च (ते भवन्ति) ॥ १८ ॥

कभी तृप्त न होनेवाली कामनाओंको धारण करनेवाले मोहसे अनेक बुरे इच्छाओंको धारण करके अशुद्ध आचरण करनेवाले दम्भी मानी और मदान्ध लोग कर्म करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥ ये प्रलय होनेतक समाप्त न होनेवाली अपरिमित चिन्ताओंसे ग्रसे हुए कामभोगोंकोही परम और सर्वस्व माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥ सैकडों आशाओंके जालोंसे बधे हुए, कामी और क्रोधी अपने उपभोगके लिये अन्यायसे ही बहुतसा धनसञ्चय करते हैं ॥ १२ ॥ आज मैंने यह प्राप्त किया उस मनोरथको कल प्राप्त करूंगा यह धन इस समय मेरे पास है और कल मेरे पास यह धन हो जायगा ॥ १३ ॥ इस शत्रुको मैंने मारा है इसी तरह अन्य शत्रुओंको भी मैं मारूंगा मैंही ईश्वर हूं मैं ही भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं और मैं ही बलवान् तथा मैं ही सुखी हूं ॥ १४ ॥ मैं धनवान् और कुलीन हूं, मेरे जैसा दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा मैं दान दूंगा और मैंही मौज करूंगा इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए ये आसुरी लोग होते हैं ॥ १५ ॥ अनेक चित्तविभ्रमोंमें पडे हुए मोहजालोंसे घिरे हुए, कामोपभोगोंमें आसक्त होकर वे लोग अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥ अपनेको बडा माननेवाले अकडबाज धन और मानके मदसे मस्त ये आसुरी लोग दम्भसे विधिहीन रूपसे केवल नामके लिये ही यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥ अहंकार बल घमंड काम क्रोधका आश्रय करके अपने तथा पराये देहोंमें रहनेवाले मेरा (ईश्वरका) द्वेष करनेवाले ये लोग सदा निंदा ही किया करते हैं ॥ १८ ॥

चिन्ताको ये आसुरी लोग प्राप्त होते हैं। चिन्ताके सिवाय इनके पास कुछ भी सुख नहीं होता, क्योंकि इनके सिद्धान्त ही चिन्ताको बढानेवाले और शान्तिका नाश करनेवाले होते हैं। भोगवासना न्यून करनेसे ही शान्ति मिलती है अखण्ड भोगोंकी वासनाएं बढाते रहनेसे शान्ति कैसे मिलेगी? भोगवासनाओंकी वृद्धि करनेसे चिन्ता कष्ट सतत परिश्रम अशान्ति बेचैनी, परस्पर-संघर्ष परस्पर युद्ध मार-काट रक्तपात आदि बढता जायगा। असुरोंमें सदा यही बढता है चिन्ता और अशान्ति बढती है।

(८) कामोपभोगपरमाः एतावद् इति निश्चिताः।

ये मानते हैं कि कामोपभोग ही मानवोंका एकमात्र ध्येय है। और कामोपभोग बढानेका भरपूर प्रयत्न भी करते हैं। परंतु अन्तमें बनता क्या है? कामोपभोगही इनका भोग करके इन्हींको खा जाते हैं और हाय हाय करते हुए ये आसुरी लोग आपसके संघर्षसे मर जाते हैं। कामोपभोग ही अपने जीवनोद्देश्यका ध्येय माननेसे ऐसा अनर्थ होना संभव है। अतः कामोपभोगोंका संयम करना चाहिये।

(९) कामक्रोधपरायणाः आशापाशशतैः बद्धाः
कामभोगार्थं अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते।

अपने कामोपभोग बढानेवाले काम शान्त न हो तो क्रोध करनेवाले भोगासक्त पापोंसे सदा बद्ध होने वाले अपने कामोपभोगोंके लिये यदि न्यायसे धन न मिले तो हरएक प्रकारके अन्यायसे धनोपार्जन करनेवाले ये आसुरी वृत्तिके लोग होते हैं। जगत्‌में ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत है। हरएक प्रकारके अन्यायकी जडमें यही कामोपभोगकी प्रबल इच्छा रहती है। इसलिए बडेसे बडा लाभ प्राप्त करनेके कारणही कितने अन्याय हो रहे हैं। राज्य-प्रजाके संघर्ष मालिक-मजदूरोंके संघर्ष इसी वृत्तिके परिणाम हैं। इनकी आशाएं अनंत होती हैं और सफलता न हो तो ये क्रूर कर्म करने लगते हैं और अपने भोग बढानेके लिये अनंत अन्याय करते हैं।

(१०) मया इदं अद्य लब्धं
इमं मनोरथं प्राप्स्ये
मे इदानीं इदं धनं अस्ति
पुनः मे इदं धनं भविष्यति।

मैंने यह भोग आज प्राप्त किया है अब इस मनोरथको प्राप्त करूंगा मेरे पास आज यह धन है फिर थोडेही समयमें मेरा इतना धन हो जायेगा। ऐसे भोगसाधनोंकी वृद्धि करनेके लिये इनके विचार चलते रहते हैं। आज यह धन कमाया, आज इसको ऐसा लूटा इसके विरुद्ध ऐसी मुकद्दमेबाजी की उनको ऐसा फँसाया इसे ऐसे ठगा, इस ढंगसे मैं इस वर्ष इतना धन कमाऊंगा और आगे मेरा इतना धन हो सकेगा तथा—

(११) असौ शत्रुः मया हतः
अपरान् अपि हनिष्यामि।

इस शत्रुको मैंने मारा है इसी तरह दूसरे शत्रुओंको भी मारूंगा। मेरे सामने कोई शत्रु ठहर नहीं सकता। मेरी शक्ति इतनी बडी है कि मैं शत्रुओंको जैसा कहूंगा वैसाही वे मान लेंगे। मेरे सामर्थ्यके सामने कौन ठहरेगा? शत्रुओंका मैं निःपात करूंगा भोगोंको प्राप्त करूंगा तब असंख्य भोगोंको मैं ही अकेला भोगूंगा। मेरे सिवाय दूसरा इन भोगोंको भोगनेवाला कौन है? मेरी कृपासे दूसरे लोग भोग भोगें तो भोगें। मेरी कृपा न हो तो उनको भोग प्राप्त हो ही नहीं सकते। ऐसे विचार आसुरी लोगोंके मनमें आते रहते हैं।

(१२) अहं ईश्वरः अहं भोगी अहं सिद्धः
अहं बलवान्, अहं सुखी, अहं आढ्यः
अहं अभिजनवान् अस्मि।

मैं इन सबका स्वामी हूं मैं ही भाग भोगनेका अधिकारी हूं मैं ही सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाला हूं, मेरे पास जितना बल है उतना अन्योंके पास नहीं है। मैं सुखी हूं सुख मुझही मिलना चाहिये, मैं श्रेष्ठ हूं मैं संपन्न हूं और मैं ही कुलीन हूं। इसलिये मेरा योग्यता अन्योंको कैसे प्राप्त हो सकती है? मैंही समर्थ और श्रेष्ठ हूं। मेरे पासही सब लोगोंको आना चाहिये और मेरी सहायताके लिये मेरी प्रार्थना करनी चाहिये। इस तरह मेरी प्रार्थना करनेके लिये अनेक लोग आवेंगे मेरी कृपाके भागी बननेमें वे अपने आपको सफल समझेंगे फिर मेरे समान कौन सामर्थ्यवाला होगा? मेरी पूरी प्रभुता है मेरा यश है और मेराही प्रभाव है। मेरे जैसा मैं अकेला ही हूं। यह मेरा अमर है मैं ही कर्ता धर्ता और हर्ता हूं। इस ढंगके आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यके विचार चलते रहते हैं।

पवित्रता वहां नहीं होती। उनमें व्यभिचारादि दोष बहुत रहते हैं उनमें आचारकी मलिनता बहुत रहती है।

(३) ते जगत् असत्यं अप्रतिष्ठं अनीश्वरं आहुः।

'यह जगत् असत्य आधाररहित और ईश्वरके विनाही स्वयं हुआ है' ऐसा मानते हैं। यह जो दीख रहा है यह जगत् सत्य नहीं है उसका कोई सत्य और शाश्वत आधार नहीं है यह निराधार है और जगन्नियन्ता ईश्वर कोई नहीं है। नियामकके विनाही यह जगत् है ऐसा इनका मत है अर्थात् ये लोग निरीश्वरवादी होते हैं। ये असुर ईश्वरको नहीं मानते। दूसरा कोई नियंता नहीं ऐसा मानकर अपने आपकोही सबका भोक्ता मानते हैं।

(४) अपरस्परसम्भूतं कामहैतुकं जगत्।

यह जगत् परस्पर मिलापसे—क्रमपूर्वक परस्पर मलसे बना है ऐसा नहीं मानते। जगत् बननेमें कोई क्रम कोई नियम कोई पूर्वापर कारणपरंपरा है ऐसा नहीं मानते। योंही विना नियमके विना कारणके बन गया है ऐसा मानते हैं। इसका कोई हेतु नहीं और कोई नियामक या नियंता नहीं ऐसा माननेपर इस जगत्को केवल अपना भोग्यही मानते हैं। यह जगत् कामहेतुक ही है, अर्थात् मैं अपनी शक्ति बढाऊंगा और इस जगत्का यथेच्छ उपभोग लूंगा ऐसा इनका मत होता है।

जो बलवान् बनेगा वही इसका भोग करेगा यह मत प्रचलित होनेपर इन असुरोंकी वृत्ति अपना बल बढानेकी ओर होती है। वे कहते हैं कि मैं अन्योंसे अधिक बलवान् बनूंगा। परंतु यह बने कैसे? यदि हरएक असुर अन्योंसे अधिक बलवान् बननेका यत्न करेगा तो सब ही व्याकुल होते हुए एक दूसरको कष्ट मारनेके लिये प्रवृत्त होंगे इसमें कोई संदेह नहीं।

(५) नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः उग्रकर्माणः अहिताः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति।

ये दुष्ट आत्मा अल्पबुद्धि क्रूर कर्म करनेवाले जगत्के शत्रु जगत्के विनाशके लिये कारण बनते हैं। आसुरी वृत्तिका यही रूप है। अपना बल बढाना अपना यश बढाना अपना प्रभाव बढाना और परस्पर मार काट करके मर जाना और सब कुछ अपने भोग बढानेके लियेही करना! कितना आश्चर्य है! परंतु वे वैसाही करते हैं।

अपनी सैन्य बढायेंगे अपने शस्त्रास्त्र बढायेंगे, युद्धमें विजय प्राप्त कर दिखायेंगे। शारीरिक शक्ति बढायेंगे विद्या तथा शिक्षा बढायेंगे और यह सब करते हुए सब भोग मुझे चाहिये दूसरोंसे व सुख छीनेंगे और मैं सब भोगोंको प्राप्त करके सुखी होऊंगा। इनका यह एकही विचार रहता है। इस कारण इनको सदा युद्धकी ही तैयारी करनी पडती है इनके सब ऐश्वर्य युद्धकी तैयारीमें व्यय करना आवश्यक हो जाता है। अपनी शक्ति बढाते हैं और एक दूसरोंको क्षत्रता कर मर जाते हैं। इनकी उत्पत्ति और इनके प्रयत्न इस तरहकी मार काटके लियेही होते हैं। जगत्में सब युद्ध इनको इस विचार परिपाटीके कारणही होते हैं।

(६) दुष्पूरं कामं आश्रित्य दम्भमानमदान्विताः अशुचिव्रताः मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते।

कभी पूर्ण न होनेवाली कामोपभोगकी वासनाओंको हृदयमें धारण करके दंभ मान और मदसे युक्त होकर अशुद्धाचारमें प्रवृत्त होकर मोहसे असद्विचार-परिपाटीके पीछे पडकर महाभयंकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। कामोपभोगकी अत्यंत इच्छा करते हैं मुझेही सब उपभोग चाहिये ऐसा मानते हैं, इस कारण उन लोगोंसे दूसरोंको निःसत्व करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। इस तरह सर्वत्र संघर्ष उत्पन्न होता है और उसका शमन किसी प्रकार नहीं होता।

ये आसुरी लोग जो कर्म करते हैं दम्भसे करते हैं, अपना नाम और मान बढे ऐसे दिखावेसे करते हैं। यह कर्म मैंने किया है ऐसा इनको घमंड होता है इस कारण ये दूसरोंको तुच्छ समझते हैं। इस तरह जिनको ये तुच्छ मानते हैं वे लोग इनका द्वेष करने लग जाते हैं। इस हेतुसे भी द्वेष मत्सर और कलह उत्पन्न होते हैं।

मनमें अशुचि और असत्य भ्रान्त कल्पनाओंको धारण करते हैं और उन कल्पनाओंको सिद्ध करनेके लिये यत्न करते हैं। उनकी सिद्धि तो कभी होनेवाली नहीं होती परंतु उनके पीछे पडते हुए ये नाना कष्टोंको करते रहते हैं। अपवित्र और असत्य व्यवहार पीछे जानेवालोंका अन्तमें नाश ही होगा इसमें संदेह नहीं है।

(७) अपरिमेयां प्रलयान्तां चिन्तां उपाश्रिताः।

अपरिमित और प्रलयकालतक समाप्त न होनेवाली

(६) शास्त्रप्रामाण्य ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर—सम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अन्वयः— यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य कामकारतः वर्तते सः न सिद्धिं न सुखं न च परां गतिं अवाप्नोति ॥ २३ ॥ तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं (अस्ति) शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा (त्वं) इह कर्तुं अर्हसि ॥ २४ ॥

काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके आत्मशक्तिका नाश करनेवाले नरकके द्वार हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष रीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपनी आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाना आचरण करता है उसे न सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न परम श्रेष्ठ गतिही प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्र प्रमाणही मानना योग्य है । तुझे शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, इस लोकमें वही कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

भावार्थ– काम क्रोध और लोभ ये तीन मनोविकार मनुष्यकी शक्ति क्षीण करनेवाले हैं इस कारण मनुष्य इनका दूर करे । इनको दूर करनेसेही आत्माकी उन्नति हो सकती है ॥ २१-२२ ॥

भावार्थ शास्त्रविधि छोड़कर कर्म करनेवालेकी अधोगति होती है इसलिये प्रत्येक मनुष्य शास्त्रको प्रमाण माने और जैसा शास्त्रमें कहा है, वैसा कर्म करके उन्नतिको प्राप्त हो ॥ २३—२४ ॥

(२१-२२) काम क्रोध और लोभ ये तीन नरकमें पहुंचानेवाले तीन द्वार हैं । इनसे दूर रहकर जो अपने मोक्षका साधन करता है, वही परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ।

इस श्रेष्ठ साधनके लिये शास्त्र वचन प्रमाण मानना चाहिये यह सूचित करनेके लिये शास्त्र-प्रामाण्यका महत्त्व दिखाते हैं ।

(२३ २४) आसुरी वृत्तिवाले लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने सब कर्म करते हैं इसलिये उनको योग्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, न सुख प्राप्त होता है और न श्रेष्ठ गतिही मिलती है । उनको सदा बेचैनी चिन्ता और अशान्ति ही भोगनी पड़ती है । यदि वे आसुरी लोग अपना हठ छोड़ें और शास्त्रवाक्यके अनुसार कार्य करें तो, तो निःसंदेह उनको सुख शान्ति और सिद्धिके साथ परम गति भी अवश्य प्राप्त हो जाय ।

शास्त्र क्या है ? शास्त्र प्राचीन आप्त पुरुषोंका अनुभव बताता है । इसलिये शास्त्रवचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक आप्त पुरुषोंके अनुभवोंका लाभ मिल सकता है और शास्त्र वचनोंको न माननेसे इतने अनुभवसे वंचित रहनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियां भोगनी पड़ती हैं ।

शास्त्र–प्रमाण माननेसे अनेक लाभ हैं और शास्त्रवचनोंकी ओर दुर्लक्ष करनेसे अनेक हानियां हैं । इसलिये ज्ञानी लोगोंने प्रमाणोंमें शास्त्र–प्रमाणको महत्त्वका स्थान दिया है । इससे अति प्राचीन कालसे इस समयतक अनेक आप्त पुरुषोंकी संमति इकट्ठी मिलती है और उसका विचार करनेसे बहुतही संकटोंसे बचाव होनेकी संभावना होती है ।

(५) नरकके तीन द्वार ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

अन्वयः– कामः क्रोधः तथा लोभः इदं त्रिविधं आत्मनः नाशनं नरकस्य द्वारं (अस्ति); तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥ हे कौन्तेय ! एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः, आत्मनः श्रेयः आचरति ततः परां गतिं याति ॥ २२ ॥

(१२) यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये ।

मैं यज्ञ करूंगा मैं दान दूंगा और मैंही आनंदभोग लूंगा यह सब करनेका सामर्थ्य मुझमेंही है। मेरे सदृश कौन दान देनेवाला है ? मेरे समान यज्ञ करनेवाला भी कौन है ? मेरे सदृश भोग भोगनेवाला भी कौन है ! आसुरी लोग ऐसाही घमंड करते रहते हैं।

(१३) इति अज्ञानविमोहिताः मोहजालसमावृताः
अनेकचित्तविभ्रान्ताः कामभोगेषु
प्रसक्ताः अशुचौ नरके पतन्ति ।

इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए विविध मोहजालोंसे युक्त अनेक चित्तोंके विभ्रमोंसे भ्रान्त हुए कामोपभोगोंमें विशेष आसक्त होकर नीचे गिरते जाते हैं और अन्तमें अपवित्र नरकमें गिरते हैं। ये आसुरी लोग जो करते हैं वह उनकी गिरावटके लियेही होता है। इनकी ऐसी भयानक अवस्था हो जाती है।

(१४) आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः
दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ।

अपने आपको सर्वश्रेष्ठ माननेवाले अकडबाज धन और मानके घमंडसे भरे हुए, दम्भसे विधिको छोडकर केवल नाममात्र यज्ञोंका यजन करते हैं। अर्थात् इनमें घमंड अत्यधिक होनेसे तथा विधिविधान की पर्वाह न करनेके कारण दम्भसे जो ये करते हैं वह केवल नाममात्रकेही यज्ञ होते हैं। सच्चे यज्ञकर्मोंमें अहिंसा सत्य निर्मानिता विधि का पालन चाहिये। इन सद्गुणोंसे तो ये दूर रहते हैं, अतः दम्भसे होनेवाले यज्ञ सत्य होते ही नहीं और न वे सच्चे यज्ञ करनेमें समर्थ होते हैं। क्योंकि यज्ञके लिये आत्मसमर्पणका भाव चाहिये और इसके विरुद्ध इनमें तो आत्मभोगका भाव बढा हुआ रहता है। इसलिये इनसे सच्चा यज्ञ होना असम्भवही है।

(१५) अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

'अहंकार बल गर्व काम क्रोध आदिका आश्रय करके' ये आसुरी लोग बडे घमंडमें आकर अनर्थका सब कर्तव्य कारण होते हैं। इनके अन्दर आत्मवत् सर्वभूतोंको माननेका भाव थोडा भी नहीं रहता। ये लोग सदा दूसरोंको कष्ट देकर अपने भोग बढानेका यत्न करते रहते हैं।

(१६) आत्मपरदेहेषु मां (ईशं) प्रद्विषन्तः ।

ये निंदा करनेवाले आसुरी वृत्तिवाले लोग अपने तथा दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी निर्भर्त्सना करते हैं। अपमान करते हैं और द्वेष करते हैं। क्योंकि विश्वरूपी परमात्मा है अतः हरएक रूप उसकाही रूप है। किसीके साथ छल करना परमेश्वरके साथ ही छल कपट करना है। सर्वभूतोंमें ईश्वरको समान भावसे देखना और वहां उसका अनुभव करके उसका आदर करना हरएकको उचित है। परंतु ये आसुरी लोग ऐसा क्यों करेंगे ! क्योंकि घमंडसे भरे हुए ये आसुरी लोग दूसरोंको समानतासे देखते तक नहीं और उनका छल करनेमें आनंद मानते हैं !

ये हैं आसुरी वृत्तिवालोंके लक्षण। ये असुर लोग आजूबाजू चारों ओर भरे पडे हैं। पाठक इनको अपने चारों ओर देख सकते हैं।

ऐसे आसुरी स्वभाववालोंको क्रूर और भयानक होनेके कारण ईश्वर सिराजाके लिये अशुभ योनियोंमें फेंक देता है। आसुरी अधम अशुभ योनियोंमें पडे हुए ये नीच लोग भोगते हुए दुःख पाते हुए, ईश्वरका विचारतक न करते हुए अधम गतिको प्राप्त होते हैं। अर्थात् हरएक प्रकारकी अधोगतिको प्राप्त होते जाते हैं। ऐसी भयानक अवस्था आसुरी प्रवृत्तिवालोंकी होती है। इस कारण पाठकोंको उचित है कि वे इस आपत्तिसे अपने आपको बचावें और दैवी संपत्तिके पथपर अपने आपको स्थिर करें।

आगे नरकके तीन द्वारोंका स्वरूप देखिये—

(६) शास्त्रप्रामाण्य ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुर—संपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अन्वयः— यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य कामकारतः वर्तते सः न सिद्धिं न सुखं न च परां गतिं अवाप्नोति ॥ २३ ॥ तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं (अस्ति) शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा (तत् एव) इह कर्तुं अर्हसि ॥ २४ ॥

काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके आत्मशक्तिका नाश करनेवाले नरकके द्वार हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष रीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपनी आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाना आचरण करता है उसे न सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न परम श्रेष्ठ गतिही प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्र प्रमाणही मानना योग्य है। तुझे शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, इस लोकमें वही कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

भावार्थ— काम क्रोध और लोभ ये तीन मनोविकार मनुष्यकी शक्ति क्षीण करनेवाले हैं, इस कारण मनुष्य इनको दूर करे। इनको दूर करनेसेही साधककी उन्नति हो सकती है ॥ २१-२२ ॥

भावार्थ— शास्त्रविधि छोडकर कर्म करनेवालेकी अधोगति होती है इसलिये हरएक मनुष्य शास्त्रको प्रमाण माने और जैसा शास्त्रमें कहा है, वैसा कर्म करके उन्नतिको प्राप्त हो ॥ २३—२४ ॥

(२१-२२) काम क्रोध और लोभ ये तीन नरकमें पहुंचानेवाले तीन द्वार हैं। इनसे दूर रहकर जो अपने श्रेयका साधन करता है, वही परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है।

इस प्रकार साधकके लिये शास्त्र वचन प्रमाण मानना चाहिये यह सूचित करनेके लिये शास्त्र-प्रामाण्यका प्रकरण दिखाते हैं।

(२३-२४) आसुरी वृत्तिवाले लोग शास्त्रविधिको छोडकर स्वच्छंद मन कर्म करते हैं इसलिये उनको योग्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, न सुख प्राप्त होता है और न श्रेष्ठ गतिही मिलती है। उनको सदा बेचैनी चिन्ता और अशान्ति ही भोगनी पडती है। यदि वे आसुरी लोग अपना हठ छोड दें और शास्त्राज्ञाके अनुसार कार्य करते जांय तो निःसंदेह उनको सुख शान्ति और सिद्धिके साथ परम गति भी अवश्य प्राप्त हो जाय।

शास्त्र क्या है? शास्त्र प्राचीन आप्त पुरुषोंका अनुभव बताता है। इसलिये शास्त्रवचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक आप्त पुरुषोंके अनुभवोंका लाभ मिल सकता है और शास्त्र वचनोंको न माननेसे इनके अनुभवसे वंचित रहनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियां भोगनी पडती हैं।

शास्त्र-प्रमाण माननेसे अनेक लाभ हैं और शास्त्रवचनोंकी ओर दुर्लक्ष करनेसे अनेक हानियां हैं। इसलिये ज्ञानी लोगोंने प्रमाणोंमें शब्द-प्रमाणको महत्त्वका स्थान दिया है। इससे अति प्राचीन कालसे इस समयतक अनेक आप्त पुरुषोंकी संमति इकट्ठी मिलती है और उसका विचार करनेसे बहुतही संकटोंसे बचाव होनेकी संभावना होती है।

इसीलिये सबको कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करने में शास्त्रवचनका प्रमाण मानना योग्य है —

कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं।

शास्त्र कहता है कि यह कार्य करनेयोग्य है और यह करनेयोग्य नहीं है। इस शास्त्रविधिको देखकर शास्त्रविधिने क्या कहा है इसका विचार करके जो निश्चय होगा वह करना हरएकके लिये लाभकारी है।

यहां कुछ पूछेंगे कि हम शास्त्रवचनोंकी परतन्त्रता क्यों मानें? क्यों हम स्वतन्त्र विचारसे अपने कर्तव्याकर्तव्य निश्चय न करें? इस विषयमें उत्तर यह है कि शास्त्रवचन न माननेसे अपरंपार संकट आयेंगे। संकटोंसे अपने आपको बचानेकी इच्छा है तो आपको आप्त वचनोंका प्रमाण मानना ही चाहिये। इसमें गुलामी या पारतंत्र्य नहीं है प्रत्युत अनन्त कालके अनुभवसे लाभ उठाना है।

हरएक मनुष्य स्वतन्त्रतासे विचार करके अपना कर्तव्य कर्म करे ऐसा कहना बड़ा सुगम है परंतु आचरणमें ऐसा बड़ा हानि करनेवाला है। देखिये—एक बालक अक्षरोंको न जानता था उसको गुरुजीने 'अ' अक्षर बताया। अब प्रश्न होता है कि वह उस 'अ' अक्षर को ऐसाही है ऐसा विश्वास करे या न करे और न विश्वास करे तो अक्षरविज्ञान किस ढंगसे प्राप्त करे? आप कहेंगे कि बालकोंको गुरुओंके वचनोंपर विश्वास रखनाही चाहिये। यदि बालकोंको अक्षरविज्ञानके सीखनेके समय आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये अन्यथा उनको ज्ञान नहीं होगा ऐसा कहें तो आध्यात्मिक ज्ञानक्षेत्रमें जो बालक जैसे अज्ञान हैं उनको भी अध्यात्मिक ज्ञानी गुरुजनोंपर पूरा विश्वास पाठ लेनेके समय वैसा ही विश्वास रखना चाहिये। यही सिद्धान्त मानना शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखना है।

जगत्‌का व्यवहार भी आप्त वाक्यपर विश्वास रखनेके बिना नहीं चलता। जैसे—किसीको किसी एक ग्रामको जाना है मार्ग विदित नहीं इसी अवस्थामें वह पूछते पूछते उस ग्रामतक पहुँचता है। यदि वह किसीसे मार्ग पूछनेपर और उसके मार्ग बतानेपर वह अविश्वास करे और स्वयं अनुभव किये बिना किसीपर विश्वास न रखनेका निश्चय करे तो वह अविश्वासी अपने इष्ट ग्रामको कैसे पहुंचेगा?

किसीके घरमें एक मनुष्य बड़ा बीमार है, उसका मित्र कहता है कि अमुक वैद्य इस रोगकी चिकित्सा जानता है उसकी चिकित्सासे इसको आरोग्य होगा। बहुतसे लोग ऐसे वचनोंपर विश्वास करके आरोग्य पाते भी हैं, परंतु यदि हरएक मनुष्य कहे कि अनुभव किये बिना विश्वास नहीं करूंगा तो वह किस चिकित्सकको बुलावेगा? इसका तो किसीपर विश्वासही नहीं है। विश्वास न होनेके कारण वह अनुभव करनेतक किसीको भी बुला नहीं सकता और अविश्वासीके घरका रोगी चिकित्साके बिना वैसे ही मर जायेगा।

विश्वास रखनेवाले भी फंसते हैं परंतु अविश्वासियोंको अधिक दुःख भोगना पड़ता है क्योंकि उनको किसीकी भी तो सहायता नहीं मिल सकती। अतः विश्वासियोंकी अपेक्षा अविश्वासियोंको अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसी कारण कहा है कि आप्त वचनोंपर विश्वास रखना चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो उनको विदित होगा कि जो किसीपर भी विश्वास नहीं करते उनको तो पग पगपर कष्ट होना संभव है। इसलिये आप्त पुरुषोंके वचनोंपर अर्थात् शास्त्रवचनोंपर विश्वास रखकर अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना और जैसा निर्णय हो तदनुसार वैसाही करना सब साधकोंको योग्य होगा।

हां प्रथम प्रवृत्त करनेके समय यह अच्छा है या नहीं इसका बहुत विचार करके निश्चय करना योग्य है। शास्त्रवचनप्रमाणमें कौनसा शास्त्रवचन आदरणीय है, इसका भी निर्णय जागरूक होकर करना चाहिये। अन्यथा अन्ध श्रद्धा बढ़ जायगी और वह अन्तमें हानिकारक सिद्ध होगी। तथापि इतना करनेपर अन्तमें शास्त्रप्रमाण माननाही मनुष्योंके लिये हितकारक सिद्ध होगा।

शास्त्रवचन न मानते हुए अपने ही अहंकारके वशमें होकर चलनेवाले आसुर प्रकृतिके लोग आप्त पुरुषोंके अनुभवका लाभ न मिलनेके कारण इधर उधर भटकते हुए अनेक स्थानोंमें ठोकरें खाते हुए दुःख भोगते चले आते हैं। इन दुःखोंको दूर करनेका एकही मार्ग है और वह है आप्त

वचनोंसे, आप्त वाक्योंको मानना और उनपर विश्वास करके उनकी ज्योतिमें अपना मार्ग तय करना ।

आप्त पुरुषोंके वचनोंपर विश्वास रखनेवालोंको भी लोपनेका अवसर नहीं होता है ऐसा नहीं । प्रत्येक कदम स्वयमें कुछ न कुछ अनुभव होताही है और उसको अनुभव करके आगे बढ़ना सुगम होता है । बीच बीचमें एकसे गुरुवचनोंके सहारा लेते हुए आगे बढ़नेसे मार्ग सावधानीसे तय किया जा सकता है ।

आप्तवचनोंपर विश्वास रखकर अनुष्ठान करनेवालोंको जो विश्वासका बल और भविष्यकालके लिये पवित्र.सर्वथा चिन्तारहित शान्ति मिलती है, वह अविश्वासियोंको कदापि नहीं मिल सकती ।”

सारांश यह कि आप्तवचनोंपर विश्वास रखनाही सदा सर्वदा कामदायक है । अतः साधक वैसा ही करे और इस लोकमें सुख शान्ति और सिद्धिको प्राप्त करके परलोकमें परम उच्च गति अर्थात् कैवल्य अवस्था प्राप्त करे ।

यहां सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

सोलहवें अध्यायका मनन ।

दैवी वृत्ति ।

श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें मनुष्योंकि दो विभागोंका वर्णन है । एक दैवी वृत्तिवाले लोग होते हैं और दूसरे राक्षसी अथवा आसुरी वृत्तिवाले होते हैं । दैवी वृत्तिवाले लोगोंमें निर्भयता पवित्रता ज्ञानमें रुचि, योगाभ्यासमें तत्परता दान देनेकी इच्छा इन्द्रियदमन कर देनेकी इच्छा आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करनेकी अभिलाषा स्वाध्याय तप करनेकी इच्छा श्रेष्ठ कर्म करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे सहनेकी वृत्ति, सरल स्वभाव अहिंसा सत्यपालन क्रोध न करना, कर्मफलका संग न करनेका स्वभाव शान्त स्वभाव चुगली न करना भूतदया निर्लोभी भाव मनकी कोमलता कुकर्म करनेमें लज्जा चंचलताका न होना तेजस्विता क्षमा धैर्य शुद्धता किसीका द्रोह न करना घमंड न करना, आदि शुभ गुण होते हैं ।

ये सबके सब शुभ गुण हरएकमें होते हैं ऐसा भाव यहां नहीं है । कुछ गुण न्यूनाधिक प्रमाणमें होंगे कुछ नहीं भी होंगे कुछ अधिक प्रमाणमें होंगे तो कुछ न्यून प्रमाणमें होंगे । तब भी बहुतसे गुण होंगेही ।

ये गुण अकेले नहीं रहते एकके होनेसे दूसरेका होना स्वाभाविकसा होता है इस कारण एक गुण बढ़नेसे दूसरे गुण स्वयंही आकर बसने लगते हैं ।

इस तरह यह दैवी संपत्ति मानवताकी उच्चसे उच्च कोटिका लक्षण है । उच्चसे उच्च अथवा उन्नत मनुष्य कौनसा है इसका उत्तर यही है कि जिसमें ये दैवी शुभ गुण उत्कर्षसे रहते हैं वह मनुष्य उच्च है वही श्रेष्ठ है और उसीमें मानवताका पूर्ण विकास हुआ है । वही मोक्षका अधिकारी है और उसीके पास बंधन नहीं रह सकते । अस्तु । यही दैवी संपत्ति है ।

आसुरी वृत्ति ।

अब आसुरी वृत्तिका वर्णन देखिये । आसुरी वृत्तिवालोंमें कर्तव्याकर्तव्यका विचार न होना अपवित्र व्यवहार सदाचारका अभाव सत्यका पालन न करना ईश्वरको न मानना यह जगत् नियन्ताके बिना चल रहा है ऐसा मानना यह अपने उपभोगके लिये ही है ऐसा मानना अपने भोग बढ़ानेके लिये बड़े बड़े क्रूर कर्म कर बैठना, जगत्का संहार करके भी अपने भोग बढ़ाना दंभ मान मदसे युक्त होकर भोग बढ़ानेवाले कर्मोंमें रत रहना । मोहसे असत्को सत् मानना,

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायकी विषयसूची

अथ सप्तदशोऽध्यायः।

श्रद्धात्रयविभागयोगः।

(१) त्रिविध श्रद्धाका स्वरूप।

अर्जुन उवाच—

यच्छास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे कृष्ण! ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य, श्रद्धयान्विताः (सन्तः) यजन्ते तेषां तु का निष्ठा? सत्त्वं रजः आहो तमः? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— देहिनां या स्वभावजा श्रद्धा सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी च एव इति त्रिविधा भवति तां शृणु ॥ २ ॥ हे भारत! सर्वस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा भवति अयं पुरुषः श्रद्धामयः (अस्ति) यः यच्छ्रद्धः भवति सः एव सः (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवान् यजन्ते राजसाः यक्षरक्षांसि यजन्ते अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर (परंतु) श्रद्धासे युक्त होकर, यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है— सात्त्विक राजस या तामस? ॥ १ ॥

भगवान् बोले— स्वभावतः प्राणिमात्रकी जो श्रद्धा होती है वह सात्त्विक राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकारकी होती है उसका वर्णन सुन ॥ २ ॥ हे भारत! सब लोगोंकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुरूप अर्थात् प्रकृति-स्वभावके अनुसार होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह (जीव) वैसाही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं राजस लोग यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे लोग प्रेतों और भूतगणोंका यजन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— कुछ लोग शास्त्रविधिके अनुसार तो कर्म नहीं करते परंतु जो कर्म करते हैं वह बड़ी श्रद्धासे करते हैं उनकी निष्ठा कैसी समझनी चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरमें विवेचन है मनुष्योंके प्रकृतिके अनुसार तीन भेद होते हैं उनको सात्त्विक राजस और तामस कहते हैं। जिसकी प्रकृति सात्त्विक होती है वे देवोंकी उपासना करते हैं जो राजस प्रकृतिसे युक्त होते हैं वे यक्षराक्षसोंकी पूजा करते हैं और जिनकी प्रकृति तमोगुणी होती है वे भूत प्रेत पिशाचोंकी भक्ति करते हैं। जिसकी जैसी प्रकृति होगी उसकी वैसीही कृति अथवा उपासना होगी। अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई कुछ नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥

अशुद्ध व्रतोंका पालन करना, चिन्ताको बढानेवाले बहुतसे कर्म करनेका प्रयत्न करना, कामभोग बढानेका उपक्रम करना, कामी क्रोधी आशापाशोंसे बद्ध हुए, कुकर्मी क्रूरकर्मी आसुरी लोग अपने भोग बढानेके लिये अन्यायसे धन न मिले तो अन्यायसे धन प्राप्त करनेका यत्न करते रहते हैं इस प्रयत्नमें कितना भी पापपात हो हुआ तो भी इनको उसकी चिन्ता नहीं होती।

यह आज कमाया है इस धनसे मैं कल प्राप्त करूंगा परसों उसका पराभव करके लूट कर धन ले आऊंगा आज मेरी यह इच्छा सफल हुई है कल मैं उस मनोरथको सुफल करूंगा। मैं अपना सामर्थ्य बढा रहा हूं। मेरा सेना बल बडा है शारीरिक तथा मानसिक बल मैंने बढाया है मेरी सम्पत्ति अतुल है उसके सामने कोई ठहरनेवाला नहीं है जो मेरा सामना करेगा उसको मार कर दूर कर दूंगा। सब जगत् मर जाय तो भी मुझे पर्वाह नहीं, मुझे भोग प्राप्त होते हैं या नहीं यही देखना है।

मैं सब शत्रुओंका वध करूंगा वध प्राप्त करके सबको लूट मार कर यथेच्छ उपभोग लेता रहूंगा। मेरा सामर्थ्य बढा हुआ है, मेरे सामने ठहरनेवाला अब कोई नहीं है, मेरे शस्त्रास्त्र प्रभावशाली हैं मेरे सैनिक युद्धविशारद हैं मेरे पास विद्याका बल और मानवोंका बहुत बल है फिर मुझे किसकी पर्वाह है? कमजोरोंपर मैं आक्रमण करूंगा उनका राज्य छीन लूंगा उनको पादाक्रान्त करूंगा उनको दबाकर रखूंगा उनको उठने नहीं दूंगा, उनके देशोंमें हमारे देशके विजयी वीर लूट संचार करेंगे उनको जो रोकेंगे उनको समाप्त कर दिया जायगा। जिन लोगोंको हमारा है उनको जीवित रखना अथवा उनको मारना हमारी इच्छापर निर्भर है। हमें रोकनेवाला कौन है? यदि कोई खडा होगा तो उसका नामनिशानतक नहीं रहने देंगे। जिन राष्ट्रके व्यापारका नाश करेंगे उनके धन छीननेके उपाय सोचेंगे उनको धनसंग्रह करने नहीं देंगे हरएक मार्गसे उनको आगे नहीं बढने देंगे।

जिन लोगोंको दबाके रखेंगे। अब तो सब जगत्के राज्यशासनकी बागडोर हमारे हाथमें है जिसे हम बचावेंगे वही उपर रहेगा, जिसको हम मारना चाहेंगे वही मर जायगा, सब कुछ तो हमारे ही मतानुकूल होगा। जो हमारा राज्य नहीं रखेंगे मारे जायगे। हमारे लोगही भोग भोगेंगे। अन्योंको कौन पूछता है? वे चाहे मरें चाहे रोगी हों, जो कुछ हो उनके उपभोग छीनकर हमही सुख भोगेंगे।

दान देना हो तो हमही देंगे यज्ञ करना हो तो हम जैसे कहेंगे वैसेही करना होगा हम जितना चाहेंगे उतनी विद्या पढाई जायगी, हम जितना चाहेंगे उतनाही वे शिक्षा लोग प्राप्त करेंगे उतनाही लेख लिखेंगे उतनाही भोग भोगेंगे हमारी इच्छापर उनका जीवित रहेगा। अब हमारी इच्छाही सर्वतोपरी है।

इस तरह घमंड करते हुए ये लोग मोहजालमें फंसे हुए अनेक दुराचार, अनाचार और अत्याचार करते हैं और शास्त्रविधि की पर्वाह नहीं करते।

ये क्रूर अधम और हीनाचारी लोग प्रतिदिन अपने ही कर्मोंके बंधनमें फंसते जाते हैं। जो अपनी उन्नतिके लिये वे करते हैं वही इनको प्रतिदिन बन्धनमें डालता है और इस तरह ये अनेक नाना चिन्ता आदिमें फंसते हुए अतिदीन हीनतर अवस्थाको पहुंचते हैं और अन्तमें ऐसे नरकमें गिरते हैं कि वहांसे कभी उठ नहीं सकते।

सब आपत्तियोंका मूल।

इन असुरवृत्तिवालोंका आचार-व्यवहार देखनेसे इनमें काम क्रोध और लोभ ये तीनही भाव प्रबल हैं ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और दैवी वृत्तिवालोंमें येही तीन भाव कम मित और धर्मानुकूल रहते हैं। देव और असुरोंमें यही भेद है। पाठक इस भेदको विचारकी दृष्टिसे ठीक समझ देखें। और अपने चारों ओर इसका अनुभव करें। इसके पश्चात् इस जगत्में अपने चारों ओर काम-क्रोध-लोभोंके प्रवृत्त होनेसे कितना अनर्थ किया है यह भी अवश्य देखें और अपने अन्दर तथा अपने समाजमें काम-क्रोध लोभोंको स्थिर होने न दें। इनका संयम करनाही कल्याणका चिह्न है। और इनका असंयम अधःपातका कारण होनेवाला है।

यही शास्त्रमर्यादा है। अतः शास्त्रमर्यादाका अवलोकन करके अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना, अपना आचार व्यवहार धर्मशास्त्रानुसार करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायके सुभाषित

---

(१) बंध और मोक्ष ।

दैवी संपद्विमोक्षाय
निबंधायासुरी मता ॥ (गी १६।५)

" दैवी गुणोंसे बंधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी वृत्तिसे बंधनोंकी वृद्धि होती है ।

(२) मूढोंका अधःपात ।

मूढा जन्मनि जन्मनि
यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गी १६।२०)

" मूढ लोग जन्म जन्ममें अपनी मूढताके कारण अधःपतनको प्राप्त होते हैं । "

(३) नरकद्वार ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(गी १६।२१)

" काम क्रोध और लोभ ये नरकके तीन द्वार हैं इनमें प्रविष्ट होनेसे आत्माका अधःपात होता है। अतः इनसे बचके आत्मा बचाव करना चाहिये ।

(४) परम गतिकी प्राप्ति ।

आचरत्यात्मनः श्रेयः
ततो याति परां गतिम् ॥ (गी १६।२२)

जो अपने श्रेयका आचरण करता है, वही परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होगा । '

(५) शास्त्रवचन न माननेसे हानि ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गी १६।२३)

जो शास्त्रोंके आदेश छोडकर स्वैर वर्तन करते हैं, उनको सिद्धि, सुख तथा उन्नति प्राप्त नहीं होती ।

(६) शास्त्रप्रमाण मानो ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गी १६।२४)

" कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय शास्त्रवचनोंसे हो सकता है अतः शास्त्रोक्त कर्म करो । '

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायकी विषयसूची

अथ सप्तदशोऽध्यायः।

श्रद्धात्रयविभागयोगः।

(१) त्रिविध श्रद्धाका स्वरूप।

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे कृष्ण! ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य, श्रद्धयान्विताः (सन्तः) यजन्ते, तेषां तु का निष्ठा? सत्त्वं रजः आहो तमः? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— देहिनां या स्वभावजा श्रद्धा सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी च एव इति त्रिविधा भवति तां शृणु ॥ २ ॥ हे भारत! सर्वस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा भवति अयं पुरुषः श्रद्धामयः (अस्ति) यः यच्छ्रद्धः भवति सः एव सः (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवान् यजन्ते राजसाः यक्षरक्षांसि यजन्ते अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने पूछा— हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर (परन्तु) श्रद्धासे युक्त होकर यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है— सात्त्विक राजस या तामस? ॥ १ ॥

भगवान् बोले— स्वभावतः प्राणिमात्रकी जो श्रद्धा होती है वह सात्त्विक राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकारकी होती है उसका वर्णन सुन ॥ २ ॥ हे भारत! सब लोगोंकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुरूप अर्थात् प्रकृति-स्वभावके अनुसार होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह (जीव) वैसाही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे लोग प्रेतों और भूतगणोंका यजन करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— कुछ लोग शास्त्रविधिके अनुसार तो कर्म नहीं करते परन्तु जो कर्म करते हैं वह बड़ी श्रद्धासे करते हैं उनकी निष्ठा कैसी समझनी चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरमें विवेचन है मनुष्योंके प्रकृतिके अनुसार तीन भेद होते हैं उनको सात्त्विक, राजस और तामस कहते हैं। जिनकी प्रकृति सात्त्विक होती है वे देवोंकी उपासना करते हैं जो राजस प्रकृतिसे युक्त होते हैं वे यक्षराक्षसोंकी पूजा करते हैं और जिनकी प्रकृति तमोगुणी होती है वे भूत प्रेत पिशाचोंकी भक्ति करते हैं। जिसकी जैसी प्रकृति होगी उसकी वैसीही वृत्ति अथवा उपासना होगी। अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई कुछ नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥

(२) अशास्त्रीय रीतिसे तप करनेवाले आसुरी लोग।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः । दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अन्वयः— दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरं तपः तप्यन्ते ॥ ५ ॥ अचेतसः च ये शरीरस्थं भूतग्रामम् अन्तःशरीरस्थं मां च कर्शयन्तः तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि ॥ ६ ॥

जो लोग दम्भ और अहंकारसे युक्त हो कामभोगकी आसक्तिके बलसे प्रभावित होकर शास्त्रविरुद्ध महाघोर तप किया करते हैं ॥ ५ ॥ तथा जो अविवेकी पुरुष शरीरस्थ पञ्चमहाभूतोंके समुदायको तथा शरीरान्तर्गत जो मैं अर्थात् आत्मा हूं उसको भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी निश्चयवाले समझो ॥६॥

भावार्थ— आसुरी स्वभाववाले लोग दम्भ और घमंडसे युक्त होकर काममोग भोगनेकी आसक्तिसे शास्त्र विरुद्ध महाघोर तप करते हैं। ये लोग शरीरमें विद्यमान पञ्चभूतोंको तो ताप देतेही हैं परन्तु उनके अन्तर्यामी जो ईश्वरांश आत्मा है उसको भी बड़ा ताप देते हैं। इनका निश्चय निःसन्देह प्रबल होता है परंतु वह आसुरी निश्चय है ॥ ५—६ ॥

(१-४) शास्त्रोक्त कर्म करनेवालोंके सात्विक-राजस तामस भेद किस तरह पहचाने जाते हैं इसका वर्णन पूर्व अध्यायमें किया। साथ साथ शास्त्रविधिके अनुसार हरएक कर्म करनेकी प्रशंसा और शास्त्रविधिको छोड़कर मनमानी रीतिसे कर्म करनेवालोंकी निंदा भी की गई। तथापि एक शंका ऐसी रह गई कि कई लोग शास्त्रविधिकी बात तो जानतेही नहीं परन्तु जो करते हैं वह बड़ी धर्मश्रद्धासे करते हैं। उनके मनमें बड़ी धर्मश्रद्धा होती है। ऐसे श्रद्धालु लोग जो यज्ञ दान तप करते हैं उनको सात्विक राजस अथवा तामस किस विभागमें रखोगे? अर्जुनकी इस शंकाका निवारण करनेके लिये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

हरएक मनुष्यमें जो श्रद्धा होती है वह सात्विक राजस और तामस ऐसी तीन प्रकारकी होती है। श्रद्धाका अर्थ मनका शुद्ध विश्वास है तथा मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम श्रद्धा होता है। कितना भी प्रयत्न किया जाय तथापि जो मनःप्रवृत्ति बदलती नहीं उसका नाम श्रद्धा है।

शरीर इन्द्रियां मन आदिकी जैसी सत्वशुद्धि होती है उस प्रकार वह प्रवृत्ति शुद्ध अथवा अशुद्ध रहती है और उसके अनुसार सात्विक राजस और तामस श्रद्धा प्रकट होती है। यह सत्वशुद्धिके ऊपर अवलम्बित होनेके कारण जैसी आत्माकी शुद्धि या अशुद्धि होगी वैसीही वह श्रद्धा होती है। इसमें न्यून या अधिक नहीं हो सकती।

मनुष्य एकांश श्रद्धाके आधीन होता है। जैसी जिसकी श्रद्धा अर्थात् मनःप्रवृत्ति होती है वह वैसाही होता है। अपनी मनःप्रवृत्तिके प्रतिकूल कोई विषय किसीके सामने आये तो वह उसकी समझमेंही नहीं आता। मनुष्य अपनी प्रकृतिके इतना आधीन रहता है। क्रूर प्रकृतिका मनुष्य क्रूर कर्म करनेमें कोई दोष देखताही नहीं तथा शान्त प्रकृतिका मनुष्य कभी युद्ध जैसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त नहीं होगा। यह श्रद्धासे होनेवाली स्वभावप्रवृत्तिसे होता है।

साधारणतया सात्विक लोग देवताओंका भजनपूजन करते हैं राजस लोग यक्षराक्षसोंके अनुयायी होकर बड़ी शक्ति प्राप्त करते हैं और उनके द्वारा भोग भोगनेका यत्न करते हैं। तामसी पुरुष भूत प्रेत पिशाच कब्रस्थान आदिकी पूजा करते हैं। कौन कैसी उपासना करता है यह देखकर वह मनुष्य किस प्रकृतिका है इसका ज्ञान हो जाता है।

सात्विक वृत्तिवालोंको भेतपूजन पसंद नहीं होता और तामसी श्रद्धावालोंको सात्विक देवपूजा पसंद नहीं होती। इसी कारण अनेकविध उपासना प्रकारमें आती हैं वह मनुष्योंकी निसर्ग-प्रवृत्तिकी द्योतक है।

अब अशास्त्रविहित घोर कर्म करनेवालोंकी अवस्था देखिये—

(५-६) कई लोग अशास्त्रविहित दम्भ अहंकारसे युक्त होकर घमंडके आधीन होकर कामोपभोग भोगनेकी शक्ति बढ़ानेके लिये बड़ा कठोर तप किया करते हैं। इनमेंसे कई लोग हाथ ऊपरही धरते हुए उसे सुखाते हैं कई

(३) त्रिविध भोजन।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः । यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अन्वयः— सर्वस्य प्रियः आहारः अपि तु त्रिविधः भवति तथा यज्ञः तपः दानं च (सर्वस्य त्रिविधं भवति) (त्वं) तेषां इमं भेदं शृणु ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः (सन्ति) ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः दुःखशोकामयप्रदाः आहाराः राजसस्य इष्टाः (भवन्ति) ॥ ९ ॥ यत् यातयामं गतरसं, पूति, पर्युषितं च उच्छिष्टं अपि च अमेध्यं भोजनं तत् तामसप्रियं (अस्ति) ॥ १० ॥

सबको प्रिय लगनेवाला भोजन भी तीन प्रकारका होता है तथा इसी तरह सबके यज्ञ तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं उनका भेद बतलाता हूँ सुनो ॥ ७ ॥ आयु सत्त्व बल आरोग्य सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त स्निग्ध शरीरमें स्थिर रूपसे रहनेवाले और मनको प्रसन्न करनेवाले आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे नमकीन उष्ण तीखे दाहकारक तथा दुःख शोक और रोग बढ़ानेवाले भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ जो कुछ कालका रखा हुआ नीरस दुर्गन्धयुक्त बासी जूठा तथा अपवित्र भोजन होता है वह तामस लोगोंको अत्यन्त प्रिय होता है ॥ १० ॥

भावार्थ— जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसको वैसाही अन्न प्रिय होता है। यज्ञ दान तप भी प्रकृतिके अनुरूपही हुआ करते हैं। सात्त्विक लोग आयु, सत्त्व बल आरोग्य सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले स्निग्ध रसदार अन्न सेवन करते हैं। कड़ुवे तीखे खट्टे उष्ण दाहकारक अन्न राजस लोग पसंद करते हैं और बासी अपवित्र नीरस जूठे दुर्गन्धयुक्त अन्न तामस लोग पसंद करते हैं ॥ ७-१० ॥

कई लोग एक पैरसे खड़े रहकर जप जाप करते हैं कई तो दोपहरके समय धूपमें चारों ओर अग्नि जलाकर बीचमें बैठकर तप करते हैं कई कांटोंके बिछौनेपरही बैठते हैं कई जलमें खड़े खड़े होकर मंत्र जपते हैं कई गुफामें बैठकर अनुष्ठान करते हैं कई कठोर उपवास करते हैं कई अनेक प्रकारके क्लेश सहकर कुछ साधन करते हैं, कई लोग पानीमें खड़े रहकर जप करते हैं कई धूएँमें रहकर धूम्रपान करते हैं कई बहुत दिन निराहार रहते हैं इस तरह अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हुए साधन करते हैं।

इनकी इच्छा विशेष फल प्राप्त करनेकी होती है। वह यह मान बैठते हैं कि अनेक सुख वह भोग प्राप्त होंगे ऐसा इनका मन मोहवश विचार रहता है और इस विचारकी पूर्ति करनेके लिये अपने शरीरको व आत्माको कष्ट देते हैं। इनके इस अज्ञानभरे तपके कारण शरीरस्थ सब भूतोंको अनेक कष्ट उत्पन्न होते हैं। आपही अन्तर्यामी परमात्माको जो सब

है उसको भी इस अज्ञानयोग और तपस्याके कारण बड़े कष्ट होते हैं जब इस तरह आत्माको ही असह्य कष्ट होता है तब उसको प्रसन्नता किस तरह प्राप्त होगी? अत ये सदा अप्रसन्न चित्त क्रोधित और व्याकुल रहते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। उनको जो अनुष्ठान करते हुए भी कष्ट होते हैं और अनुष्ठानके पश्चात् भी बड़े होते हैं।

ये आसुरी वृत्तिवाले रजोगुणी वा तमोगुणी लोग सदा दुष्कर्मही करते रहते हैं। इसलिये साधकोंको उचित है कि वे इस शास्त्रविहित दुःख बढ़ानेवाले मार्गमें अपने आपको न फँसावें और यथाशक्य हो सके सात्त्विक भोजन की ओर झुकनेका यत्न करें। अपनी मानसिक प्रवृत्तिके अनुकूल और योग्य सात्त्विक उपासनाका साधन किया करें। इस तरह थोड़ी भी सत्त्व-प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय तो वह धीरे धीरे बढ़ती जायगी और कभी न कभी इस वृत्तिका उत्तम सात्त्विक गुणमें विकास होगा।

(७-१) मनुष्यका विविध भाव भोजनसे भी विदित होता है। जिसको जो भोजन मनसे प्रिय प्रतीत होता है, उस भोजनसे उस मनुष्यका वर्ग कौनसा है, यह निश्चय हो सकता है।

कई मनुष्योंको स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय लगता है कई मनुष्य तीक्ष्ण रूक्ष और विदाही भोजनमें रुचि रखते हैं और कई मनुष्य बासी सडा हुआ जूठा और अपवित्र भोजन प्रेमसे खाते हैं। यह उनका प्रकृति स्वभाव है। यत्न करनेपर भी यह नहीं बदल सकता। जो मनुष्य मनसे कटु तीक्ष्ण रूक्ष विदाही चरपरे पदार्थोंका सेवन करना चाहते हैं उनको स्निग्ध रसदार मीठे मधुर पदार्थ दिये जावें तो वे उनको पसंद नहीं कर सकते। इस समय भी ऐसे मनुष्य अपने समाजमें हैं जो दैवगतीय घृत (ताजा घी) छोडकर बाजारका बदबूदार घी ही प्रेमसे खाते हैं। ताजा तैयार हुई रोटी न खाकर बासी खाना अधिक रोचक मानकर आनंदसे खाते हैं।

दरिद्रताके कारण जो जूठा अन्न खा लेते हैं, अथवा बासी रोटी खाते हैं उनका प्रश्न ही स्वतंत्र है वह उनका व्यवहार असहायताके कारण होता है। परंतु घरमें विपुल संपत्ति होने पर और घरमें सात्त्विक भोजन लेनेके लिये पर्याप्त धन रहनेपर भी जो चरपरा तथा बासी अन्न स्वादसे सेवन करते हैं, उनकी प्रकृति ही वह अन्न चाहती है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस तरह अन्नकी अभिरुचि मनुष्यकी परीक्षा करनेमें सहायक हो सकती है। मनुष्य सात्त्विक है वा राजस अथवा तामस इसकी परीक्षा इस स्वाभाविक अभिरुचिसे हो सकती है।

प्रत्येक प्राणीको कोई न कोई आहार स्वभावसे प्रिय होता है। मनुष्य भी कोई इस नियममें अपवाद नहीं है। स्वभावसेही मनुष्यकी परीक्षा होती है। इस तरह होने वाली परीक्षामें अशुद्धि नहीं होती क्योंकि यह परीक्षा स्वभावके अनुरूप होती है।

भोजनप्रियताके होनेवाली परीक्षा यथार्थ हो सकने वाली है इसमें सदाके लिये भ्रम होनेकी संभावना नहीं है। एक दो दिन कोई मनुष्य दिखानेके लिये एक पदार्थका सेवन न करते हुए दूसरे पदार्थका सेवन कर सकता है परंतु सदाके लिये कोई भी मनुष्य आनन्दसे विरुद्ध अन्न सेवन नहीं कर सकता। इसलिये यह परीक्षा सच्ची हो जानेवाली है।

यह दान तपके द्वारा भी परीक्षा हो सकती है परंतु लोगोंको दिखानेके लिये कोई मनुष्य मनमें कुछ और लेते हुए अवस्थाको दिखानेके लिये दूसरा यत्न कर सकता है। और इस कपटका किसीको भी पता नहीं लग सकता। दान और तप भी मनःप्रवृत्तिके विरुद्ध किसी भी समय किये जा सकते हैं। किन्तु भोजनके विषयमें वैसा नहीं है। स्वभावविरुद्ध भोजन करना पडे तो वमनतक भी हो जाता है, क्योंकि शरीर ही उसको बाहर फेंकनेका यत्न करता है। सात्त्विक पुरुषको तामस अपवित्र जूठा बासी अन्न खाना पडे तो वमन होनेमें कोई संदेह ही नहीं। इस कारण इससे मनुष्यके सहज स्वभावकी परीक्षा हो सकती है।

किसी मनुष्यकी परीक्षा कोई दूसरा कर सके या न कर सके, परंतु हरकोई अपनी परीक्षा स्वयं कर सकता है, इसमें संदेह ही नहीं है। आत्मपरीक्षा करनेमें निःसंदेह यह कसौटी सहायक होती है। मनुष्य दूसरोंको ठग सकता है परंतु कोई अपने आपको नहीं ठगा सकता। स्वयं अपने आपको पता रहता है कि मुझे स्वभावसे सात्त्विक अन्न प्रिय है अथवा राजस या तामस; इस आत्मपरीक्षाकी दृष्टिसे यह आहारपरीक्षा महत्त्वकी है।

सात्त्विक भोजन

रसदार होता है स्निग्ध अर्थात् घृतकी मात्रा उसमें अधिक होती है, हृदयका आनन्द बढानेवाला होता है शरीरमें स्थिरता- वीर्यकी स्थिरता-करनेवाला होता है। सात्त्विक अन्नसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, सत्त्व अर्थात् जीवनका बल बढता है शरीरकी शक्ति बढती है आरोग्य प्राप्त होता है सुखकी वृद्धि होती है और मानसिक प्रसन्नता होती है। स्वभावतः सात्त्विक लोगोंको यह भोजन अधिक प्रिय होता है।

जिस अन्नमें अत्यधिक मिर्च न हो बहुत खटाई न हो, बहुत नमक न हो जो अति उष्ण अतिशीत और अति तीक्ष्ण न हो जो रूखा सूखा न हो जलाते हुए भूख मारनेवाला न हो पदार्थोंका ऐसा मिश्रण हो कि जिससे जलनेका भय या ताप बहुत देरसे पका हुआ न हो नीरस तथा

शुष्क रूक्ष न हो ताजा बना हुआ हो, दुर्गन्धियुक्त न हो जिसमें पसीना हो, जो उच्छिष्ट न हो अपवित्र न हो जो स्वच्छ निर्मल, पवित्र हो देखनेसे मन प्रसन्न करनेवाला हो जिसका दर्शन पवित्र हो जो रसदार होते हुए स्निग्ध और हृदयंगम हो ऐसे अन्नको सात्त्विक अन्न कहते हैं और सात्त्विक मनुष्योंको वह स्वभावसे प्रिय होता है। इसके सेवन करनेवालोंको दीर्घायुष्य, सत्त्वप्रवृत्ति बल आरोग्य सुख और प्यार प्राप्त होता है। शरीरकी स्वस्थता इन्द्रियोंका सुख और मनकी प्रसन्नता इसीसेही सिद्ध होती है।

राजस भोजन।

राजस अन्नमें अत्यंत मिर्चे, खट्टा खटाई आदि नमक अर्थात् हरएक तीक्ष्ण रसकी मात्रा अधिक होती है। अति रूक्ष यह अथवा अति शीत अति तीक्ष्ण और अति रूक्ष अर्थात् रुखी उत्पन्न करनेवाला अन्न राजस होता है। यह अन्न मुखमें रखतेही जलन उत्पन्न करता है इससे ऐसी जलन उत्पन्न होती है कि मुखसे नाकसे और आंखसे पानी निकलने लगता है। पेटमें पहुंचनेपर वहां भी जलनेका अनुभव होने लगता है। इस जलनसे ही राजसिक लोगोंको आनन्द मिलता है। यह जलन न हो तो वे कहते हैं कि यह अन्न बिलकुल फीका है न इसमें मिर्चे हैं न नमक। ऐसा फीका अन्न वे खाही नहीं सकते।

इस राजस अन्नमें रूक्षताकी प्रधानता होती है अर्थात् पदार्थ सूखे रूखे जले हुए रसहीन अन्न होते हैं स्नेह नहीं होता स्निग्धपन नहीं होता जिससे प्यास बढ़ती है बहुत पानी पीनेपर भी प्यास नहीं बुझती, ऐसे जो दाह करनेवाले पदार्थ होते हैं वे राजस अन्न होते हैं। इनसे रोगोंकी वृद्धि होती है रोगोंसे दुःख और शोकोंकी वृद्धि होती है और सबको कष्टोंकी प्राप्ति होती है।

राजस अन्नसे शरीरकी समता हटती है शरीरके धातुओंमें विषमता बढ़ जाती है। जिससे रोग और अशक्ति होनेमें कोई देरी नहीं लगती। ऐसे अन्न राजस लोग सेवन करते हैं और अनेक प्रकारका दुःख भोगते हैं।

राजस अन्नसे आयुष्य क्षीण होता है अल्पायु होता है। रोगोंके आक्रमणके कारण बल घटता है, आरोग्य नहीं रह पाता, इस कारण सुख और मनकी प्रसन्नता उसको कभी प्राप्त नहीं होती। इस तरह राजस अन्नसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रयत्न करके राजस अन्नका जितने न्यून प्रमाणमें सेवन किया जा सके उतने न्यून प्रमाणमें करना उचित है। स्वभाव राजस होनेपर भी और मिश्रस्वभावके कारण राजस अन्नही प्रिय होनेपर भी मनुष्यको उचित है कि वह नमक मिर्च खटाईकी मात्रा कम करके अपने भोजनमें स्निग्धता मधुरता रसमयताका प्रमाण बढावे। प्रयत्न करनेपर थोड़ा थोड़ा सुधार होनेकी संभावना रहतीही है। इसका विचार करके मनुष्यको उचित है कि वह यत्न करके सात्त्विक अन्नका सेवन करनेका यत्न करे और जहांतक हो सके वहांतक राजस अन्नसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करे।

शरीरकी प्रवृत्ति बड़ी बलवत्तर होती है, तथापि मनुष्य दृढता के साथ प्रयत्न करेगा तो उसको कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हो सकती है इसमें संदेह नहीं है।

तामस भोजन।

सड़ा हुआ बड़ी देरका पड़ा हुआ, कृमिकीटादि अपवित्र हुआ, बाल मक्खियोंके स्पर्शसे दोषयुक्त, अपवित्र दुर्गन्धि युक्त उच्छिष्ट अन्न तामस होता है। यह हरएक प्रकारके रोगों और अस्वास्थ्यका कारण होता है बुद्धिको मलिन करता है आयुको क्षीणता करता है और हरएक प्रकारसे कष्ट उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य सुस्त मलिन और प्रमादी होता है और इस कारण वह अवनत हो जाता है।

तामसी लोग भी अन्नके इस भयानक परिणामको जानें और जहांतक संभव हो इससे दूर रहनेका यत्न करें। इससे थोड़ासा भी बचाव हो सके तो बड़ा अभ्युदय होता है।

व्रतनियम।

राजसी और तामसी लोगोंकी देहशुद्धि करनेके लिए ही व्रत और नियम रचे गये हैं। उपवासके दिन और उपासकी तिथियां सात्त्विक देवताओंकी सात्त्विक पूजा-अर्चा आदि धर्मनियम मनुष्योंकी राजसिक और तामसिक वृत्तियां शान्त होवें और सात्त्विक वृत्ति बढानेके लिए हैं।

उपवाससे शरीरके अणु जलाये जाते हैं और उनके स्थान पर सात्त्विक अन्नके अणु भर दिये जाते हैं। उपवासके दिन दूधही पीना चाहिये पेटमें तले पदार्थ नहीं खाने चाहिये आदि नियम शरीरके राजस और तामस अणुओंको उखाड़कर

(४) त्रिविध यज्ञ।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अन्वयः—अफलाकांक्षिभिः (पुरुषैः) यष्टव्यं एव इति मनः समाधाय विधिदृष्टः यः यज्ञः इज्यते सः सात्त्विकः (कथ्यते) ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ! फलं तु अभिसंधाय अपि च दम्भार्थं एव यत् इज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥ विधिहीनं असृष्टान्नं मन्त्रहीनं अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं च यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

फलकी आशा छोड़कर अपना कर्तव्य समझकर मन शान्त रखकर शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ! फलाशा मनमें धारण करके तथा दम्भसे जो यज्ञ किया जाता है उसको राजस यज्ञ समझो ॥ १२ ॥ शास्त्रविधिके विरुद्ध अन्नदान न करते हुए मन्त्रविहीन तथा दक्षिणारहित श्रद्धा न होते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— फलाशा न रखते हुए कर्तव्य करनेके उद्देश्यसे शान्तचित्तद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार होनेवाला यज्ञ सात्त्विक है। फलप्राप्तिकी इच्छासे दम्भसे अपना ऐश्वर्य प्रकट करनेके लिये जो यज्ञ होता है वह राजस यज्ञ है। शास्त्रविरुद्ध अन्नदानरहित मन्त्रविहीन दक्षिणा न देते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ ११-१३ ॥

उनके स्थानमें सात्त्विक अणुओंकी संख्या बढ़ानेके लिये हैं।

कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त पञ्चगव्यभक्षण एवं पान दुग्धपान, फलभोजन आदि व्रतोपवासनियम इसी उद्देश्यकी पूर्णताके लिये किये गये हैं। अपने शरीरकी अनुकूलताके अनुसार इनका प्रयोग करनेसे निःसन्देह लाभ होता है। इससे शरीरकी तामस और राजस प्रवृत्ति कम होकर सात्त्विक प्रवृत्ति बढ़ती है। यह परिवर्तन अति शीघ्र नहीं होता धीरे धीरे वर्षोंके परिश्रमसे कुछ परिवर्तन होता है। क्योंकि शरीरकी प्रकृति बड़ी बलवती होती है बदली नहीं जा सकती। सात वर्षोंमें शरीरके सब परमाणु बदलकर दूसरे नये आजाते हैं। यदि राजस और तामस परमाणुओंको उपवासादि द्वारा हटाकर सात्त्विक अन्नसेवन द्वारा सात्त्विक परमाणुओंको शरीरमें भर दिया जाय तो सम्भव है कि कुछ वर्षोंके पश्चात् अवश्य सफलता हो सके।

शरीरकी प्रकृति अत्यन्त बलवान् होनेके कारण इस परिवर्तनमें बहुत परिवर्तन नहीं होता क्योंकि शरीर ही नहीं चाहता और जबरदस्तीसे परिवर्तन करना चाहें तो शरीर साथ नहीं देता और किसी न किसी तरह रोगी भी बन जाता है और इष्ट सफलता नहीं मिलती।

इस कारण युक्तिसे और मनकी अनुकूलताके साथ यह व्रतनियमादिका प्रयोग करना उचित है। हठ किया जाय तो दम्भ और मिथ्याचार होकर हानि ही होगी। इसलिये बहुत परिवर्तन करनेकी इच्छा न करते हुए जितना मनकी अनुकूलतासे हो उतनेहीपर सन्तुष्ट रहना चाहिये।

बहुत परिवर्तन न भी हो तो भी अपनी नियतप्रकृतिके अनुरूप अपने वर्णके अनुसार कर्म करनेका निश्चय करके और उस कर्मको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करनेसे हरएक मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। अतः बहुत परिवर्तन न होनेपर भी दुःख करनेका कोई कारण नहीं है। अस्तु। अब यज्ञके विषयमें देखें।

(११-१३) यज्ञ भी करनेवालेकी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारके होते हैं। उनके नाम सात्त्विक यज्ञ राजस यज्ञ और तामस यज्ञ है। स्वयं यज्ञ सात्त्विक या राजस है ऐसा नहीं परन्तु वह करनेवालेकी मनःप्रवृत्तिके कारण वैसा कहलाता है।

सात्त्विक यज्ञ।

फलका अपने भोगके लिये उपयोग करनेकी अभिलाषा न रखते हुए शास्त्रमें जो विधि लिखी है उसके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है और इस समय यह यज्ञ करनाही

(५) त्रिविध तप ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

अन्वयः— देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचं आर्जवं ब्रह्मचर्यं अहिंसा च इति शारीरं तपः उच्यते ॥ १४ ॥ यत् अनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं वाक्यं च (यत्) स्वाध्यायाभ्यसनं च (तत्) एव वाङ्मयं तपः इति उच्यते ॥ १५ ॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनं, आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसं तपः उच्यते ॥ १६ ॥

देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानियोंकी पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसाको कायिक तप कहते हैं ॥ १४ ॥ जो मनको उद्वेग न करनेवाला सत्य प्रिय तथा हितकारक भाषण है और जो स्वाध्यायका अभ्यास करना है उसको वाचिक तप कहते हैं ॥ १५ ॥ मनकी प्रसन्नता रखना, सौम्यता धारण करना, मौन अवलंबन करना, आत्मनिग्रह और भावकी सम्यक् शुद्धता करना, यह सब मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

चाहिये नहीं, मेरा इस कालमें कर्तव्य है ऐसा मानकर मनकी समाधानवृत्ति रखते हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।

इसमें स्वार्थी फल भोगकी कामना नहीं है, दम्भ नहीं, दिखाना नहीं, अथवा ऐश्वर्य दिखानेकी इच्छा नहीं, कोई भी मनके असमाधानके प्रकार नहीं हैं, ये सात्त्विकताके लक्षण हैं।

राजस यज्ञ ।

यज्ञका फल मेरे भोगके लिये मिलना चाहिये ऐसी फलतृष्णा मनमें रखकर तथा दम्भसे और अपने ऐश्वर्यका प्रदर्शन करनेके लिये जो यज्ञ किया जाता है या अथवा भाव न होते हुए भी केवल दिखावेके लिये जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम राजस यज्ञ है। इस यज्ञके करनेवाले कर्ताका मन शान्त नहीं होता, फलकी प्राप्ति होनेके कारण उद्विग्न हुआ रहता है। मानापमानके कारण क्रोधादि भी उत्पन्न होता है, अपमान कर्ताका नाश करनेकी भावना मनमें जाग्रत होती है, इत्यादि अनेक कारणोंसे मन अशान्त रहता है। इस कारण ये राजस यज्ञ दुःखदायी हुआ करते हैं।

तामस यज्ञ ।

जो यज्ञ अश्रद्धासे किया जाता है, शास्त्रविधिको छोड कर स्वेच्छासे किया जाता है, अन्नदान तथा दक्षिणादान जिसमें नहीं होता और योग्य रीतिसे मन्त्रोंका उच्चारण भी जिसमें नहीं किया जाता उस यज्ञका नाम तामस यज्ञ है। इससे न करनेवालेको यश मिलता है और न दूसरोंका हित होता है। इसमें तो दोनोंका अहितही होनेकी सम्भावनाही रहती है।

इसलिये तामस यज्ञको अत्यंत हीन माना गया है, क्योंकि इससे सब प्रकारकी हानि ही होती है। ये तीन प्रकारके यज्ञ हैं, इनका पाठक विचार करें। हरएक कर्म भी इसी तीन प्रकारका हो सकता है।

सात्त्विक कर्मके लक्षण— फलासक्तिका न होना, कर्म शास्त्रविधिके अनुकूल और कर्तव्य समझकर करना।

राजसिक कर्मके लक्षण— फलपर आसक्त होना, अपने भोग बढानेके लिये कर्म करना, दम्भसे कर्म करना, दिखावेके लिये करना।

तामसिक कर्मके लक्षण— कर्तव्याकर्तव्यका विचार छोडना, शास्त्रविधिका विचारही न करना, विधिको छोड कर्म करना। अन्नदान और कर्मकर्ताओंको योग्य दक्षिणा न देना, श्रद्धा न होना और मन्त्रयुक्त कर्म न करना ये तामस कर्मके लक्षण हैं।

हरएक मनुष्य इनका विचार करके अपने द्वारा जो कर्म होते हैं वे किस प्रकारके होते हैं इसका निश्चय कर सकता है। अस्तु। अब त्रिविध तपका विचार करिये—

मौन धारण करनेसे एक तो अपनी वाणीके दोषोंके कारण जो अनर्थ होने संभव होंगे वे नहीं होते और दूसरी बात यह है कि अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय नहीं होता वह शक्ति संग्रहीत होती है। हम जो भाषण करते हैं उस कारण हमारी बहुतसी शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः यदि अपनी शक्तिका व्यय होताही है तो उस भाषणका संयम करनेसे अथवा नियमित प्रयोग करनेसे अपनाही लाभ है। मौन धारणसे अपनी आत्मिक शक्तिका लाभ होता है। मौन धारण एक प्रबल योगसाधन है। सात वर्ष मात्र मौन धारण करनेसे बडे काम होते हैं परंतु सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करनेसे भी बडा काम होना संभव है। मनस्तापके शमनार्थ मौनावलंबन करना योग्य है।

आत्मविनिग्रहमें मनःसंयम इंद्रियसंयम मनोनिग्रह आदि का समावेश होता है। अपनी संपूर्ण शक्तियोंकी स्वाधीनता करनेसे अपनी शक्तिकी वृद्धि होती है। अनिग्रहसे जो स्वैराचार होता है वह शक्तिकी क्षीणता करनेवाला है अतः आत्मनिग्रह करनेसे शक्तिकी क्षीणता नहीं होती।

भावसंशुद्धि का अर्थ अपने अन्तःकरणकी पवित्रता है। मनके अन्दर जो भाव होते हैं वे पवित्रही हों मनमें कभी बुरे भाव न उठें मनमें कभी अशुद्ध कल्पना न उत्पन्न हो ऐसा करनेका नामही भावसंशुद्धि है। जिसकी भावशुद्धि हो गई हो उससे कुत्सितताका प्रचार कभी नहीं हो सकता। भावशुद्धि होनेपर मनुष्यकी आत्मिक उन्नति हो गई है ऐसा समझही लेना चाहिये।

मनका सौम्यपन अहिंसाका प्रतीक है। हिंसा क्रूरतासे होती है। इसके विरुद्ध मन शान्त-सौम्य भावसे युक्त हो जाय तो उससे हिंसा नहीं होती। सौम्य स्वभाव मानवीय पूर्णत्वका द्योतक है।

इस तरह यह मानसिक तप है। मनुष्य परम उच्च साधनावालेही इस मानसिक तपको कर सकता है। यह शारीरिक वाचिक और मानसिक तप सात्त्विक–राजस–तामस भेदसे त्रिविध हुआ करता है इसका वर्णन अब देखिये—

सात्त्विक तप।

जो तप परम श्रद्धासे किया जाता है जिसमें फलका स्वयं उपभोग करनेकी आकांक्षा नहीं होती जो कर्तव्य समझकरही किया जाता है जिसमें अपना ऐश्वर्य दिखानेकी अभिलाषा नहीं होती जिसमें दम्भका लेश भी नहीं होता, अपना मानसंमान बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं होती जिसके लिये तथा दूसरोंको पीडा होनेकी संभावनाही जिसमें नहीं परन्तु जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, सब जनताकी सुस्थिरता जिससे सिद्ध हो सकती है ऐसा जो परम उच्च तप है उसको सात्त्विक तप कहा जाता है।

राजस तप।

अपना मान बढे इसने इतना दान दिया है इसकी घोषणा चारों ओर होती रहे ऐसी प्रबल इच्छा जिसके अन्दर है, इससे अपना सत्कार चारों ओर होना चाहिये ऐसी आकांक्षा जिस तपके करनेके पहिले मनमें उत्पन्न हुई थी और जिसकी प्रेरणासे वह तप करनेकी स्फूर्ति हुई, उस तपसे जो उपभोग प्राप्त हों उनका भोग लेकर मैं खूब सुख प्राप्त करूंगा ऐसा भोग बढानेका भाव जिस तपके करनेमें सदा जाग्रत रहता है जो दम्भसे और दिखानेके लिये किया जाता है उस तपको राजस तप कहते हैं।

तामस तप।

जो मूढताके दुराग्रहसे किया जाता है जिसमें करनेवाले के लिये पीडा होती है, और देखनेवालोंको भी कष्ट होते हैं, जिसमें सबके हितकी भावना तो होतीही नहीं परंतु इसके विरुद्ध दूसरोंको जडसे उखाड देनेकी प्रबल इच्छा रहती है उसको तामस तप कहते हैं। तामस तपसे करने वालेकी जैसी अधोगति होती है वैसीही उसको देखने देनेवालोंकी भी अधोगति होती है।

फलभोगकी इच्छा न होनेसे सात्त्विक, प्रबल फलभोगकी आकांक्षासे राजस और मूढतासे तामस कर्म होता है। इन कर्मोंको विचारदृष्टिसे देखकर अपने द्वारा किस प्रकारके कर्म होते हैं इसका निश्चय हरएकको करना चाहिये। और यदि विचार सात्त्विक हों तब तो ठीकही है, परंतु यदि राजस अथवा तामस हों तो अपनी आत्मशुद्धि करनेका यत्न हरएकको करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर कुछ न कुछ आत्मसंशुद्धि अवश्यही हो जायगी इसमें संदेह नहीं है।

(६) त्रिविध दान ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः—दातव्यम् इति यत् दानं देशे च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्लिष्टं च दीयते तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ यत् दानं असत्कृतं अवज्ञातं, अदेशकाले अपात्रेभ्यः च दीयते तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें प्रत्युपकार न करनेवालेको भी दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी आशासे फल-प्राप्तिकी इच्छासे तथा बड़े कष्टसे जो दान दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान तिरस्कार करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—कर्तव्य मानकर देश काल और सत्पात्र देखकर प्रत्युपकारकी आशा छोड़कर दिया जानेवाला दान सात्त्विक है, प्रत्युपकारकी आकांक्षासे फलभोगकी आसक्तिसे तथा दान देनेकी इच्छा मनमें न होते हुए बड़े कष्टसे दिया जाने वाला दान राजस है और दूसरोंका अपमान करके क्रोध और आक्षेप करते हुए, निंदा करते हुए पात्रापात्रादि विचार न करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है ॥ २०—२२ ॥

तपका प्रभाव ।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपो मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥
औषध्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात् ॥
(मनु अ० ११ श्लो० २३५–२३९)

"तपसे सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं सब सुख तपसे ही मिलते हैं। ब्राह्मणका तप ज्ञान ही है, क्षत्रियका तप प्रजाका रक्षण करना है वैश्यका तप व्यापारव्यवहार है और शूद्रका तप परिचर्या करना है। सब प्रकारकी विद्या चिकित्सा आदि सब तपसे ही साध्य है। जो दुःसाध्य है वह सब तपसे प्राप्त हो सकता है महापातकी और अत्याचारी भी तप करनेसेही सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। ऐसा तपका प्रभाव है अतः मनुष्योंको उत्तम सात्त्विक तप करना उचित है। अब दानका विचार करिये—

(२०–२२) दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा देखकर देश-काल-परिस्थितिका विचार करके जो दान सत्पात्रमें दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं। नाम हो फल प्राप्त हो इससे प्रत्युपकार होता रहे इस मनोभावसे परन्तु कष्टसे जो दान किया जाता है उसको राजस दान कहते हैं। देश-काल-परिस्थितिके विपरीत निंदा करते हुए दूसरेका अपमान करके कुपात्रमें जो दान दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है राजस दानसे दाताका अहंकार बढ़ता है और तामस दानसे देनेवाले और लेनेवालेकी हानि होती है। यह जानकर जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके दानमें तामस भाव कम हो और सात्त्विक भाव अधिक हो ऐसा यत्न करना चाहिये।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः । अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वय — अफलाकाङ्क्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तं तत् त्रिविधं तपः तत् सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥ सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन च एव यत् तपः क्रियते तत् इह राजसं चलम् अध्रुवं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥ मूढग्राहेण आत्मनः पीडया, परस्य उत्सादनार्थं वा यत् तपः क्रियते तत् तामसम् उदाहृतम् ॥ १९ ॥

फलभावकी आसक्ति न रखनेवाले योगाभ्यासी साधकोंसे जो उत्तम श्रद्धासे तीनों प्रकारोंका तप किया जाता है उसको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥ जो तप अपने सत्कार मान और पूजाके लिये अथवा दम्भसे किया जाता है उस अस्थिर और चपल तपको राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥ मूढतासे दुराग्रहसे स्वयं कष्ट करके तथा दूसरोंको उखाड़नेके लिये जो तप किया जाता है उसे तामस तप कहते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—श्रद्धासे देवताओंकी पूजा करना शुद्धता रखना सरल स्वभाव ब्रह्मचर्य और अहिंसाका पालन करना यह शारीरिक तप है । प्रिय हित मित और सौम्य भाषण करना और सद्ग्रंथाध्ययन करना वाचिक तप है । मनको प्रसन्न रखना, शान्तिका अवलम्बन करना मौन धारण करना संयम करना और आत्मशुद्धि करना मानसिक तप है । फलभोगकी आसक्ति न रखनेवाले योगसाधन करनेवाले उत्तम श्रद्धासे युक्त होकर जो ये तीनों प्रकारके तप करते हैं उसे सात्त्विक तप कहते हैं । इससे सबको सुख होता है । जो अपनी प्रतिष्ठा मान और ऐश्वर्यके दिखानेके लिये दम्भसे किया जाता है वह राजस तप चपल और अस्थिर होता है, उसका फल कभी शाश्वत नहीं होता । जो तप मूढता और दुराग्रहसे किया जाता है जिसमें स्वयं भी कष्ट सहे जाते हैं और दूसरोंको भी दुःख दिया जाता है वह तामस तप होता है । इससे सबको दुःख ही होता है ॥ १७–१९ ॥

त्रिविध तप ।

(१४-१९) तपके शारीरिक वाचिक और मानसिक, तीन भेद होते हैं । शरीरसे किया जानेवाला तप शारीरिक वाणीसे होनेवाला तप वाचिक और मनसे होनेवाला तप मानसिक है । शारीरिक तपमें भी मनका प्रयोग बिलकुल नहीं होता ऐसी बात नहीं है परंतु यहां मुख्य साधनकी अपेक्षासे ये नाम दिये हैं ।

शारीरिक तप ।

द्विजोंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करना ज्ञानी शूर और व्यापारियोंका सन्मान करना देवताओंकी पूजा करना गुरु अध्यापक शिक्षक ज्ञानदान करनेवालोंका आदर करना जो विशेष ज्ञानीजन हैं ऐसी विद्यामें प्रवीणता रखते हैं उन सबकी पूजा करना उनका आदर सत्कार करना उनकी हरएक प्रकारकी सहायता करना यह शारीरिक तप कहलाता है क्योंकि इसमें शारीरिक परिश्रमद्वाराही यह सेवा की जा सकती है । ब्रह्मचर्य शारीरिक तप इसलिये है कि इससे शरीरके वीर्यरूप वीर्यका संरक्षण होता है और ब्रह्मचर्यपालनसे वीर्यका नाश होनेसे शरीरका भी नाश हो जाता है ।

शुचिता पवित्रता शुद्धता यहां शरीरकी अपेक्षित है जो शारीरिक प्रयत्नोंसे ही बननेवाली है । सरलता (आर्जव) यहां शारीरिक है परन्तु (शौच) शुद्धता और (आर्जव) सरलता जैसी शारीरिक होती है वैसीही वाचिक और मानसिक भी होती है ।

हिंसा दूसरेके शरीरका नाश करनेसे होती है वो शारीरिक है परंतु हिंसा और अहिंसा यह वाचिक और मानसिक भी होती है । इसलिये यहां जो शारीरिक तप कहा है वह दिग्दर्शनमात्र समझना चाहिये । ऐसा न समझनेसे किसीके मनमें वाचिक हिंसा नहीं होती है ऐसा भ्रम हो सकता है यह अशुद्ध भ्रम है । हिंसा वाचिक भी है, इसी तरह शौच और आर्जव आदिके विषयमें समझना योग्य है ।

वाचिक तप ।

दूसरेको कष्ट देनेवाला भाषण न करना सत्य प्रिय और हितकारक भाषण करना स्वाध्याय करना यह वाङ्मय तप है । दूसरेके हृदयको पीडा होने योग्य भाषण

करने नहीं करना चाहिये। यह वाणीका संयम है। इससे हेतुयुक्त भाषणका उच्चारण नहीं होगा। इसके पश्चात् क्या बोलना चाहिये और कैसा बोलना चाहिये यह प्रश्न उपस्थित होता है उसका उत्तर है कि सत्य प्रिय हित भाषण करना चाहिये। जो बोला जाय वह सत्य हो, सुननेवालेको प्रिय लगे और बोलने तथा सुननेवालेका जिससे हित हो परम हित हो और किसीका अत्यन्त अहित न हो। ऐसा भाषण करना हो तो बडी सावधानी करनी चाहिये।

पहिली सावधानी सत्यासत्यके निर्णयमें करनी चाहिये। पर निर्णय नहीं हो सकता। बडे चातुर्यके साथ सत्यनिर्णय होना संभव है। सत्यनिर्णय होनेपर भी वह कटु नहीं बोलना चाहिये प्रिय लगनेवाला उत्तम रीतिसे बोलना चाहिये। भाव सत्यही रहे परंतु बोलनेकी पद्धति मधुर हो।

कई लोग मधुर भाषण करनेकी इच्छासे असत्य तथा सत्यासत्ययुक्त बोलते हैं वह बहुतही बुरा होता है। वह सत्य नहीं होता। अस्तु। इस तरह सत्य और प्रिय बोलना चाहिये यह इसका आशय है।

सत्य और प्रिय बोलनेके साथ और एक शर्त है वह हित कारक भाषण करनेकी है। सत्य भी हो प्रिय भी लगता हो परंतु हितकारक न हो तो वह बोलना उचित नहीं है। जो जो सत्य हो वह सब बोलही देना चाहिये ऐसी बात नहीं है वैसाही जो प्रिय हो वह भी अवश्य बोलना चाहिये ऐसी भी बात नहीं है। परंतु जो हितकर हो वह सत्य तथा प्रिय लगने योग्य मधुर पद्धतिसे बोलना योग्य है। इस प्रकार सत्य प्रिय-हित भाषण करना चाहिये। जो भाषक इन तीन परीक्षाओंसे परीक्षित हुआ भाषण करेगा उसका इस भाषणरूप तपसे ही उसकी उन्नति होगी। बोलनेके समय जो मैं बोलना चाहता हूं क्या वह सत्य है? क्या वह प्रिय है? और क्या वह हितकर है? ये तीन प्रश्न पूछकर यदि इन तीनों प्रश्नोंका अनुकूल उत्तर आगया तो वह भाषण करना चाहिये। इन तीन प्रमाणोंसे सुपरीक्षित भाषण करनेसे बहुतसा भाषण करनेकी आवश्यकताही नहीं रहेगी और मनुष्यकी बडी शक्ति बच जायगी। शक्तिके बचनेसे इस शक्तिका किसी अन्य कर्ममें उपयोग किया जा सकता है। जो मनुष्य बहुत बोलते हैं वे अपनी शक्तिका व्यय करते हैं और अपनी ही अद्भुत शक्ति बिना योग्य कारणके नष्ट करते हैं। इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि यह वाङ्मय तप अवश्य मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है।

स्वाध्यायका मूल अर्थ 'स्व' नामक एक अखंड तत्त्व है उसका अध्याय अर्थात् अध्ययन। इस स्वाध्यायका अभ्यास करना वाङ्मय तप है। इस स्वाध्यायमें किन किन विद्याओंका समावेश होता है इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है।

'स्व' शब्द 'आत्मा' का वाचक है और आत्माका प्रभाव संपूर्ण विश्वान्तर्गत सब वस्तुओंपर पडा है। कोई वस्तु इस प्रभावसे दूर नहीं, इस कारण स्वाध्यायमें संपूर्ण विश्वान्तर्गत जितनी विद्याएं हैं उन सबका अन्तर्भाव होता है। कोई साहित्य ऐसी नहीं कि जो स्वाध्यायमें नहीं आती है। अतः संपूर्ण साहित्योंका अन्तर्भाव स्वाध्यायमें होता है। और संपूर्ण साहित्योंका अध्ययन-अभ्यास करना स्वाध्यायाभ्यासमें समाविष्ट होता है। इसका विचार कर ऐसे पाठकोंको ज्ञात हो सकता है कि स्वाध्यायाभ्याससे सब उन्नतिसाधक विद्याओंका अभ्यास होता है जो मनुष्य मात्रको अवश्यही करना चाहिये।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनु ४।१३८)

असत्य भाषण न किया जाय अहितकर भाषण न किया जाय अप्रिय कठोर रीतिसे भाषण न हो, जिससे मनको दुःख हो वैसा न बोला जाय यह सब न बोलनेयोग्य है और किया क्या जाय? तो सब सत्य विद्याओंका स्वयं अध्ययन करके उस स्वाध्यायका खूब प्रचार करनेका कार्य किया जावे। यही वाङ्मय तप है जो हरएकको करना चाहिये।

मानसिक तप।

प्रसन्नचित्त रहना, किसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त हुई तो भी मनको अप्रसन्न न होने देना मनकी सौम्यवृत्ति सदा स्थिर रखना मनमें क्रूर वृत्ति उठने न देना अरना मनोनिग्रह इंद्रियनिग्रह आत्मसंयम करना अपनी सब शक्तियोंको स्वाधीन रखना (भाव-सं-शुद्धि) अपना अन्तःकरणको उत्तम पवित्रता रखना आर मौन धारण करना मानसिक तप कहलाता है।

मौन धारण करनेसे एक तो अपनी वाणीके दोषोंके कारण जो अनर्थ होने संभव होंगे वे नहीं होते और दूसरी बात यह है कि अपनी शक्तिका व्यर्थ व्यय नहीं होता वह शक्ति सञ्चित होती है। हम जो भाषण करते हैं उस कारण हमारी बहुतसी शक्ति नष्ट हो जाती है । अतः यदि अपनी शक्तिका व्यय होनाही है तो उस भाषणका संयम करनेसे अथवा नियमित प्रयोग करनेसे अपनाही लाभ है। मौना-वलंबनसे अपनी आत्मिक शक्तिका लाभ होता है । मौन-धारण एक महान योगसाधन है। साल छः मास मौन धारण करनेसे बडे लाभ होते हैं परंतु सप्ताहमें एक दिन मौन धारण करनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। मनस्तापके शमनार्थ मौनावलंबन करना योग्य है।

आत्मनिग्रहमें मनःसंयम इंद्रियसंयम मनोनिग्रह आदि का समावेश होता है। अपनी संपूर्ण शक्तियोंकी स्वाधीनता करनेसे अपनी शक्तिकी वृद्धि होती है । अनिग्रहसे जो स्वैराचार होता है वह शक्तिकी क्षीणता करनेवाला है अतः आत्मनिग्रह करनेसे शक्तिकी क्षीणता नहीं होती।

भावसंशुद्धि का अर्थ अपने अन्तःकरणकी पवित्रता है। मनके अन्दर जो भाव होते हैं वे परिशुद्धही हों मनमें कभी बुरे भाव न उठें मनमें कभी अशुद्ध कल्पना न उत्पन्न हो ऐसा करनेका नामही भावसंशुद्धि है। जिसकी भावसंशुद्धि हो गई हो उससे कुकल्पनाका प्रचार कभी नहीं हो सकता। भावशुद्धि होनेपर मनुष्यकी आत्मिक उन्नति हो गई है ऐसा समझही लेना चाहिये।

मनका सौम्यपन अहिंसाका प्रतीक है। हिंसा क्रूरतासे होती है। इसके विरुद्ध मन सौम्य-शान्त भावसे युक्त हो जाय तो उससे हिंसा नहीं होती। सौम्य स्वभाव मानवीय पूर्णत्वका द्योतक है।

इस तरह यह मानसिक तप है। मनुष्य परम श्रद्धा साधनासेही इस मानसिक तपको कर सकता है। यह शारी-रिक वाचिक और मानसिक तप सात्विक-राजस-तामस भेदसे त्रिविध हुआ करता है इसका वर्णन अब देखिये—

सात्विक तप ।

जो तप परम श्रद्धासे किया जाता है जिसमें फलका स्वयं उपभोग करनेकी आकांक्षा नहीं होती जो कर्तव्य समझ करही किया जाता है जिसमें अपना ऐश्वर्य दिखानेकी अभिलाषा नहीं होती जिसमें दम्भका लेश भी नहीं होता, अपना मानसंमान बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं होती अपने लिये तथा दूसरोंको पीडा होनेकी संभावनाही जिसमें नहीं प्रत्युत जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, जन-ताकी सुस्थिरता जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, तप करनेवालेकी सुस्थिरता जिससे सिद्ध हो सकती है ऐसा जो परम उच्च तप है उसको सात्विक तप कहा जाता है।

राजस तप ।

अपना मान बढे इसने इतना दान दिया है इसकी [illegible] चारों ओर होती रहे ऐसी प्रबल इच्छा जिसके अन्दर है, इससे अपना सत्कार चारों ओर होना चाहिये ऐसी आकांक्षा जिस तपके करनेके पहिले मनमें उत्पन्न हुई थी और जिसकी प्रेरणासे वह तप करनेकी स्फूर्ति हुई उस तपसे जो उपभोग प्राप्त हों उनका भोग लेकर मैं बहुत सुख प्राप्त करूंगा ऐसा लोभ बढानेका भाव जिस तपके करनेमें सदा जाग्रत रहता है जो दंभसे और दिखानेके लिये किया जाता है उस तपको राजस तप कहते हैं।

तामस तप ।

जो मूढतासे दुराग्रहसे किया जाता है जिसमें करनेवाले के लिये पीडा होती है, और देखनेवालोंको भी कष्ट होते हैं, जिसमें सबके हितकी भावना तो होतीही नहीं परंतु इसके विरुद्ध दूसरोंको बलसे उच्चाटन देनेकी सदा इच्छा रहती है उसको तामस तप कहते हैं। तामस तपसे करने वालेकी जैसी अधोगति होती है वैसीही उसको उत्तेजन देनेवालोंकी भी अधोगति होती है।

फलभोगकी इच्छा न होनेसे सात्विक, फल भोगोंकी आकांक्षासे राजस और मूढतासे तामस कर्म होता है। इन लक्षणोंको विचारदृष्टिसे देखकर अपने द्वारा किस तरहके कर्म होते हैं इसका विचार हरएकको करना चाहिये। और यदि विचार सात्विक हों तब तो ठीकही है, परंतु यदि राजस अथवा तामस हों तो अपनी सत्त्वशुद्धि करनेका यत्न हरएकको करना चाहिये। प्रयत्न करनेपर क्रम क्रम सत्त्वसंशुद्धि अवश्यही हो जायगी इसमें संदेह नहीं है।

(६) त्रिविध दान ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः—दातव्यं इति यत् दानं देशे च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्लिष्टं च दीयते, तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ यत् दानं असत्कृतं अवज्ञातं, अदेशकाले अपात्रेभ्यः च दीयते तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें प्रत्युपकार न करनेवालेको भी दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी आशासे फल-भोगकी इच्छासे तथा बड़े कष्टसे जो दान दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान निंदा करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—कर्तव्य जानकर देश काल और सत्पात्र देखकर प्रत्युपकारकी आशा छोड़कर दिया जानेवाला दान सात्त्विक है, प्रत्युपकारकी आकांक्षासे फलभोगकी आसक्तिसे तथा दान देनेकी इच्छा मनमें न होते हुए बड़े कष्टपूर्वक दिया जाने वाला दान राजस है, और दूसरोंका अपमान करके क्रोध और आक्रोश करते हुए, निंदा करते हुए पात्रापात्रादि विचार न करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है ॥ २०—२२ ॥

तपका प्रभाव ।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥
औषधान्यगदो विद्या दैवा च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात् ॥

(मनु० अ० ११ श्लो० २३५–२३९)

तपसे सब सत्कर्म प्राप्त होता है, सब सुख तपसे ही मिलता है। ब्राह्मणका तप ज्ञान ही है, क्षत्रियका तप प्रजाका रक्षण करना है वैश्यका तप व्यापारव्यवहार है और शूद्रका तप परिचर्या करना है। सब प्रकारकी विद्या सिद्धि-यां तथा आदि सब तपसे ही साध्य है। जो दुष्प्राप्य है वह सब तपसे प्राप्त हो सकता है महापातकी और अन्य पापी भी तप करनेसेही सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। ऐसा तपका प्रभाव है अतः मनुष्योंको उत्तम सात्त्विक तप करना उचित है। अब दानका विचार करिये—

(२०–२२) दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा देखकर देश-काल-परिस्थितिका विचार करके जो दान सत्पात्रमें दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं। मान या फल प्राप्त हो इससे प्रत्युपकार होता रहे इस मनोभावसे बड़े कष्टसे जो दान किया जाता है उसको राजस दान कहते हैं। देश-काल-परिस्थितिके विपरीत निंदा करते हुए दूसरोंका अपमान करके कुपात्रमें जो दान दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है राजस दानसे दाताका अहंकार बढ़ता है और तामस दानसे देनेवाले और लेनेवालेकी हानि होती है। यह जानकर आस्तिक हो सके वहांतक प्रयत्न करके दानमें तामस भाव कम हो और सात्त्विक भाव अधिक हो ऐसा यत्न करना चाहिये।

(७) ओं तत्सत् ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः । दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७॥

अन्वयः— ओं तत् सत् इति ब्रह्मणः त्रिविधः निर्देशः स्मृतः तेन ब्राह्मणाः वेदाः यज्ञाः च पुरा विहिताः ॥ २३ ॥ तस्मात् ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपःक्रियाः ॐ इति उदाहृत्य सततं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥ मोक्षकांक्षिभिः तत् इति (उदाहृत्य) फलं अनभिसंधाय विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च क्रियन्ते ॥ २५ ॥ (ज्ञानिभिः) सत् इति एतत् सद्भावे च साधुभावे च प्रयुज्यते, तथा हे पार्थ ! प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते ॥ २६ ॥ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते । तदर्थीयं च कर्म सत् इति अभिधीयते ॥ २७ ॥

'ओं तत् सत्' ऐसा ब्रह्मका तीन प्रकारसे निर्देश किया जाता है। इसीसे पूर्व समयमें ब्राह्मण वेद और यज्ञ निर्मित हुए ॥ २३ ॥ इस कारण ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ दान, तप और कर्म सतत_ओंकारका उच्चारण करके किये जाते हैं ॥ २४ ॥ मोक्षप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले लोग तत् शब्दका उच्चारण करके, फलकी भोगतृष्णा छोडकर विविध यज्ञ तप और क्रियायें किया करते हैं ॥ २५ ॥ ज्ञानी लोग सत् शब्दका प्रयोग सद्भाव और साधुभावके अर्थमें करते हैं इसी प्रकार हे पार्थ ! प्रशस्त कर्मोंके लिये भी सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥२६॥ यज्ञ तप और दानमें जो स्थिर भावना रखनी होती है उसको भी सत् कहते हैं। तथा उसके निमित्त जो कर्म होता है उसको भी 'सत्' ही कहते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ— ब्रह्मका निर्देश ॐ तत् सत्, इन तीन शब्दोंसे किया करते हैं। इस कारण यज्ञ दान तप कर्म तथा वेदोच्चारण करनेके समय 'ॐ' कहा जाता है। 'तत्' कहकर निष्काम भावसे कर्म करते हैं जिससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अस्तित्व साधुता और प्रशस्त कर्मके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है यज्ञ तप दानमें स्थिर होनेको भी सत् कहते हैं और इसमें जो शुभ कर्म करते हैं उसका नाम भी सत् ही है। इस तरह ॐ तत्सत् का निर्देश ब्रह्म-वेद-कर्मका वाचक है और यह परम पवित्र निर्देश है ॥ २३—२७ ॥

(२३-२७) ब्रह्मका निर्देश ओं-तत् सत् इन तीन पदोंसे करते हैं। तत् का अर्थ वह। वह जो सत्य है वही सत् है अर्थात् त्रिकालाबाधित है तीनों कालोंमें एक जैसा रहनेवाला है किसी भी कालमें उसमें परिवर्तन नहीं होता। वही एक सत्य वस्तु है और उसीका ओं नाम है। ओंकार उसी सद्वस्तुका वाचक है। ओंकार ओं ही है। यह शब्द ॐ ओं ओ३म् ऐसा लिखा जाता है। इसके अनेक अर्थ हैं जो सबके सब मनन करनेयोग्य हैं इनमेंसे कुछ यहां दिये जाते हैं—

ओंकारके अर्थ।

माण्डूक्य उपनिषद् में अ+उ+म् इन ओंकारके शब्दके तीनों अक्षरोंका अर्थ क्रमसे जागृति स्वप्नस्थिति—सुषुप्ति ऐसा कहा है कि आत्माकी यह तीन अवस्थायें हैं अर्थात् इन तीन स्थितियोंमें आत्माकी शक्ति प्रकट होती है और अर्धमात्राकी जो चतुर्थी तुर्या अवस्था है वह उसकी स्वरूप-स्थिति है। अर्थात् जागृति स्वप्न सुषुप्ति और तुर्यामें प्रकट होनेवाली सब शक्ति आत्माकीही है। ओं शब्दके यही अर्थ माण्डूक्योपनिषद्में लिखा है। इन अक्षरोंके अन्य अर्थ ये हैं—

अ— (अवति रक्षति अतति सातत्येन तिष्ठति इति अः) आदिम प्रथम सबसे पहिला (आद्य व्याप्त) सब व्यापक सर्वत्र प्राप्त होनेवाला। ब्रह्मा विष

वायु वैश्वानर, मूल तत्त्व। जागृति। जागृतिमें होनेवाला अनुभव।

उ— उत्कर्ष, उत्तम स्थिति आदि अन्तको जोडनेवाली मध्य स्थिति उभय अवस्थाओंका संग्रह (मध्यावस्था) तेजस्। शिव ब्रह्मा, अन्तरिक्ष। स्वप्नस्थिति, स्वप्नमें होनेवाला अनुभव।

म्— परिमाण, लय अन्तिम अवस्था। समय। शिव, रुद्र ब्रह्मा विष्णु, शिव यम। प्राज्ञ सुख आनंद। सुषुप्ति-स्थिति सुषुप्ति स्थितिमें आनेवाला अनुभव। महत्तत्त्व स्थिति।

(अर्धमात्रा) अद्वैत अनिर्वचनीय आत्माकी शुद्ध अवस्था।

ये ओंकारके तीन पाद और चतुर्थ अर्धमात्राके अर्थ हैं। मनुष्यको इस विश्वमें जो ज्ञान मिलता है वह जागृति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंमें ही प्राप्त होता है मनुष्य इनसे भिन्न और किसी अवस्थाका अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये इन तीन अवस्थाओंका निदर्शक ओंकारही संपूर्णताका प्रदर्शक माना जाता है। और—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव ॥
(मां उ १)

यह सब 'ओं' इस एक अक्षरका अर्थ है। भूत वर्तमान और भविष्यकालमें होनेवाला सब कुछ ओंकारही है। अर्थात् ऐसी कोई वस्तु हमारे ज्ञानमें नहीं आ सकती कि जो ओंकारमें समाविष्ट नहीं होती। अर्थात् जो कुछ है वह इस ओंकारसेही व्यक्त हो सकता है वह ओंकारही है। ओंकारसे भिन्न यहां कुछ भी नहीं है।

इसीलिये यहां कहा है कि ओं (तत् सत्) यह सत्य है क्योंकि सब कुछ जो है उसका नाम ओं ही है। इस 'ओं' शब्दका मूल अर्थ भी देखनेयोग्य है—

अवति इति ओम्।

जो सबका अवन-रक्षण करे उसको ओं कहते हैं। अव-के अर्थ ये हैं— अव = रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्ति—अवगम—प्रवेश—श्रवण—स्वाम्यर्थ—याचना—क्रिया—इच्छा—दीप्ति—अवाप्ति—आलिंगन—हिंसा—आदान—भाग—वृद्धि।

१ रक्षण— संरक्षण करना,
२ गति— हलचल करना,
३ कान्ति—प्रीति करना प्रिय होना
४ प्रीति—संतोष करना संतोष देना
५ तृप्ति—समाधान करना,
६ अवगम—जानना ज्ञान प्राप्त करना
७ प्रवेश—घुसना व्याप्त करना,
८ श्रवण—सुनना
९ स्वाम्यर्थ, सामर्थ्य— अधिकार जमाना, स्वामी होना समर्थ होना
१० याचना—मांगना
११ क्रिया—कर्म करना
१२ इच्छा—इच्छा करना
१३ दीप्ति—प्रकाशित होना
१४ अवाप्ति—प्राप्त होना
१५ आलिंगन—आलिंगन करना
१६ हिंसा— (विरोधीका) नाश करना
१७ आदान— (ग्रहण)— स्वीकार करना
१८ भाव-होना अस्तित्व रखना
१९ वृद्धि-बढना
२० भाग (भजनीय)- भाग होना सेवन करना
२१ दहन- जलाना।

ये सब अर्थ अव् धातुके हैं और इस अव् धातुसे ओं होनेके कारण ओं के अंदर भी ये सब भाव हैं। जागृति-स्वप्न सुषुप्ति तथा उत्पत्ति-स्थिति-लयके अन्दर समाविष्ट होनेवाले ये सब भाव हैं। इसी लिये ओंकारके अर्थोंमें इन सब भावोंका समावेश किया जाता है। अर्थात् ओं शब्दसे (तत्) वह तत्त्व बतलाया जाता है कि जो सत् है उससे भिन्न और कोई सद्वस्तु नहीं है। इतना 'ओं तत् सत्' का आशय है। यह परमेश्वरका श्रेष्ठ नाम है जो हरएक कर्मके आदि अन्तमें बोला जाता है, ताकि उस कर्मकी उत्तम सफलता हो और उस कर्मके द्वारा कर्ता को शुभ फल प्राप्त होकर कर्ता कृतकृत्य होवे।

ओं तत्सत् इति ब्रह्मणो निर्देशः।

ओं तत्सत् यह ब्रह्मका—परब्रह्मका—परमात्माका—परमेश्वरका निर्देश अथवा संकेत है। इस निर्देशसे ब्रह्मको

(८) असत् ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

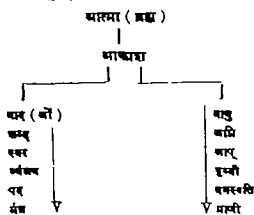
अन्वयः— हे पार्थ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपः तप्तं, यत् च कृतं तत् असत् इति उच्यते, तत् प्रेत्य इह (अपि) च (फलप्रदं) नो (भवति) ॥२८॥

हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हवन, दान, तप या अन्य जो कुछ भी कर्म हो, उसका निर्देश 'असत्' शब्दसे किया जाता है, वह मरनेके पश्चात् और इहलोकमें सुफलता देनेवाला नहीं हो सकता ॥२८॥

भावार्थ— अश्रद्धासे जो किया जाता है वह असत् होनेके कारण किसी प्रकार भी हितकर नहीं होता है ॥२८॥

वेदों और यज्ञोंका विधान होता आ रहा है, क्योंकि ब्रह्मको जाननेवाला ब्राह्मण है। ब्रह्मका वर्णन वेदोंमें है और कर्म रूप यज्ञ भी ब्रह्मरूपी है। ब्रह्मसेही उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मण वेद और यज्ञोंका यह 'ओं तत्सत्' संकेत हुआ है। इसी कारण ओंकारका उच्चारण करकेही ब्रह्मवादी लोग यज्ञ दान तप आदि क्रियाएं करते हैं। ओंकारकी इसी कारण अत्यंत पवित्रता मानी गई है। संपूर्ण शब्द-ब्रह्मका मूल ओंकारमें है जिससे सब शब्दमय वेदादिकी उत्पत्ति हुई है।

अव्यक्त आत्मतत्त्वसे सब सूर्य चंद्र पृथ्वी वायु आदि तत्त्व बने हैं और आकाश आत्मासे बना है। इस तरह वस्तु और नाम एकही तत्त्वके आविष्कार हैं। (आत्मनः आकाशः संभूतः)



इस तरह आत्मतत्त्वसे एक ओर नामपंक्ति हुई है और दूसरी ओर उसी आकाश-तत्त्वसे पंचभूत उत्पन्न होकर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। नामरूपात्मक विश्व इस तरह परस्पर संबंधित है।

फलप्राप्तिकी कामना छोड़कर यज्ञ तप और विविध प्रकारके दान 'तत्' (यह परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है) इस शब्दका उच्चारण करके अर्थात् उस परमात्माकी प्रीतिके लियेही यह सब किया जाता है ऐसा संकल्प करके, किये जाते हैं। इस सबका समर्पण उस परमात्माके लिये होनेके कारण फलभोगके कारण होनेवाले दोष कर्ताको नहीं लगते।

'सत्' शब्दके अर्थ अस्तित्व होना शुभ प्रशस्त कर्म ये होते हैं। तथा यज्ञ, तप दान और ईश्वरार्पण बुद्धिसे किया हुआ कर्म यह भी 'सत्' शब्दका अर्थ है।

'ओं तत् सत्' के ये सब अर्थ ध्यानमें करनेसे इनमें सब कुछ धर्मसंबंध शास्त्रों और वाक्योंका समावेश होता है। इस वाक्यको जाननेसे प्रत्येक कर्मका प्रारंभ करनेके समय 'ओं तत्सत्' क्यों कहते हैं यह पाठकोंकी समझमें आ सकता है। ओंकारवाचक वही एक वस्तु अथवा तत्त्व है। उसके साथ तन्मयभाव प्राप्त करनेके लिये मैं यह दान तप आदि कर रहा हूं। इसका फल उस ब्रह्मके लिये समर्पित हो और इस समर्पणसे मुझे यह ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त हो। हरएक साधक यही उद्देश्य रखे और 'ओं तत्सत्' के उच्चारणपूर्वक सब शुभ कर्म करके अपने आत्माको कृतकृत्य करे। इस तरह 'सत्' का विचार हुआ। अब असत्का विचार देखिये।

(२८) जो श्रद्धासे किया जाता है वह तो 'सत्' है, परंतु जो अश्रद्धासे किया जाता है- फिर वह यज्ञ हो दान हो, तप हो अथवा अन्य कुछ भी कर्म हो-उसको श्रद्धाहीनताके कारण 'असत्' कहते हैं। इस तरह जो असत् होता है उसका फल न इस लोकमें मिलता है न परलोकमें मिलता है। क्योंकि वह व्यर्थही चला जाता है। इस कारण जो कुछ किया जावे वह श्रद्धासे किया जावे, सद्भावनासे किया जावे। इससे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है। यदि कुछ कर्म करना है तो श्रद्धा भक्ति और शास्त्रविधिके अनुसारही करना चाहिये। अश्रद्धासे करनेसे धनादिका व्यय तो होगाही साथही इहलोक और परलोकमें भी कुछ फल नहीं मिलेगा। पाठक इस तरह श्रद्धाका महत्व जानकर श्रद्धासेही अपनी कृतकृत्यता करें और पूर्णता प्राप्त करें।

सतरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

सूचना

अब इस समग्र विचार आगे १८ वें अध्यायमें होनेवाला है, वह विचार इस अध्यायके कथनके साथ आपस संबंधित है। इसलिये इस अध्यायके इस कथनका विशेष विचार १८ वें अध्यायके विचारके साथ किया जायगा।

श्रीमद्भगवद्गीताके

सतरहवें अध्यायके सुभाषित

(१) सत्त्वानुरूप श्रद्धा।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति ॥

(भ. गी. १७।३)

"सत्त्वके अनुकूल ही सबकी मनोवृत्ति होती है। अन्तःकरणकी पवित्रता अथवा अपवित्रताके समानही उसकी मनोवृत्ति हो जाया करती है। जैसा मन वैसी वृत्ति।

(२) श्रद्धामय मनुष्य।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(भ. गी. १७।३)

"यह मनुष्य श्रद्धारूपही है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है मनुष्य वैसाही होता है।

(३) सत्में स्थिति।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(भ. गी. १७।२७)

"यज्ञ तप दान आदि कर्मोंमें जो स्थिति होती है उस को सत् कहते हैं। अर्थात् यज्ञ तप, दान और कर्म करनेमें जो अपना समय जाता है, वह सत्कार्यमेंही जाता है। तथा इसके विपरीत कृत्यमें जो आयुका व्यय होता है वह असत् कहलाता है।

(४) असत्का रूप।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

(भ. गी. १७।२८)

अश्रद्धासे जो हवन तप दान और कर्म किया जाता है उसका नाम असत् है वह यहां और परलोकमें फल दायक नहीं होता।"

अश्रद्धासे किया हुआ कर्म अवश्य हानिकारक सिद्ध होता।

इस कारण सबको श्रद्धासे धर्मयुक्त कर्म करना उचित है।

श्रीमद्भगवद्गीताके

सतरहवें अध्यायकी विषयसूची

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।

संन्यासयोगः ।

(१) संन्यास और त्यागके लक्षण ।

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अन्वय:— अर्जुनः उवाच— हे महाबाहो केशिनिषूदन हृषीकेश ! अहं संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— कवयः काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः विचक्षणाः च सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः ॥ २ ॥

अर्जुन बोले कि—हे महा भुजावाले, केशि दैत्यका नाश करनेवाले और इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं संन्यास और त्याग का रहस्य पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि— ज्ञानी लोग काम्य कर्मोंका त्याग करनेको 'संन्यास' कहते हैं और विद्वान् लोग सब कर्मोंके फलके त्याग करनेको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संन्यास और त्यागके लक्षण ये हैं । अपने भोग बढानेके लिये जो कर्म किये जाते हैं उनका त्याग करनेका नाम 'संन्यास' है और संपूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेका नाम त्याग है । संन्यासमें कर्म त्यागे जाते हैं और त्यागमें फल त्यागे जाते हैं ॥ १–२ ॥

संन्यास ।

(१-२) संन्यास किसे कहते हैं और 'त्याग' का स्वरूप क्या है इसका विवेचन यहां किया है । कर्मोंमें काम्य कर्म और निष्काम कर्म ऐसे दो मुख्य भेद हैं । अपने भोग बढानेकी इच्छासे जो जो कर्म किये जाते हैं, उनको काम्य कर्म कहा जाता है । निष्काम कर्म केवल दूसरे लोगोंकी निरपेक्षतासेही किये जाते हैं, इसलिये वे कर्मोंसे बाधक नहीं होते । बाधक होनेवाले सकाम अथवा काम्य कर्मही हैं । अतः इन सकाम कर्मोंका त्याग करने का उपदेश धर्मग्रन्थोंमें किया गया है । सकाम कर्मोंका नियम ऐसे यह उनका त्याग करना चाहिये । अर्थात् अपने भोग बढानेके लिये जो जो कर्म करने होंगे उनको मर्यादित करना चाहिये इस इच्छाका संयम करना चाहिये ।

दूसरोंकी हानि न हो दूसरोंको उपद्रव न पहुंचे इस लिये मनुष्य अपने कर्मोंकी परीक्षा जब करने लगेगा तब उसके ध्यानमें यह बात आ जायगी कि काम्य कर्मोंसे ही दूसरोंको कष्ट पहुंचते हैं और जगत्में दुःख बढते हैं । स्वार्थसे प्रेरित होकर जब मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह करनेकी इच्छा करता है तब वह अपना बाह्य पारमार्थिक भोग बढाता है । इस कारण उससे दूसरोंके भोग कम होते हैं, इस कारण जगत्में दुःख बढता है । यदि वह मनुष्य अपने पास भोगसंग्रह न करेगा अर्थात् वह अपरिग्रह-

वृत्तिसे रहेगा, वो इसको संन्यासव्रतका आचरण करना पड़ेगा और वह भोगसंग्रह करनेके पापसे अपने आपको बचा सकेगा।

परिग्रहवृत्तिही सब पापोंका कारण है। परिग्रहवृत्ति जिस व्यक्तिमें अथवा जिस राष्ट्रमें बढती है, वही पाप करता है और वही पापसे नहीं हट सकता। मेरे भोगके लिये मेरे पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह होना चाहिये यह इच्छा काम्य अथवा सकाम कर्मोंके लिये कारण होती है और यही भोगेच्छा पापप्रवृत्तिकी जननी है। इसी लिये कहा है कि–

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः॥

काम्य कर्मोंके छोडनेको ज्ञानी लोग संन्यास कहते हैं। अर्थात् संन्यासमें स्वकीय भोगेच्छा बढानेवाले सकाम कर्मोंका संयमपूर्वक सम्यक् न्यास करना होता है। अतः इस संन्यासमें अपनी भोगेच्छापर मर्यादा रखनी पडती है भोग भोगनेकी इच्छाका त्याग करना पडता है। इस तरह सन्यास–धर्म विश्वमें सुख बढानेका हेतु होता है। सच्चा संन्यासी संपूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं करता परंतु अपने भोग बढानेके लिये जो सकाम कर्म करने होते हैं उनकाही न्यास करता है अर्थात् उनको छोडता है।

जिससे जगत्का उपकार हो जिससे जगत्में शान्ति फैले ऐसे निष्काम कर्मोंका त्याग करनेकी संन्यासीको आव श्यकता नहीं है। अपनी भोगकामनाके हेतुसे जो जो कर्म (काम्यानां कर्मणां न्यासं) होते हैं उनकाही न्यास करना चाहिये। इस तरह विचार करनेपर प्रतीत होगा कि सन्यास में काम्य कर्मोंकाही निषेध है। काम्य कर्म जहांतक हो सकें वहांतक कम किये जाय यही यहां मुख्य उद्देश है।

काम्य कर्ममें भोगेच्छा होती है और यह भोगेच्छा अप ने लिये भोग भोगनेकी इच्छा है। इसका एक उदाहरण देखिये कि मनुष्य मात्र यद्यपि भोगोंपरही जीवित रह सकता है यद्यपि भोग न मिलनेपर वह मर जायगा। अतः जीवनके लिये आवश्यक भोग स्वीकारनेमें दोष नहीं है क्योंकि वह तो जीवनके लिये आवश्यकही है। परंतु मनुष्य इतनेमेंही संतुष्ट नहीं होता और वह अपने पास भोगसंग्रह करता जाता है। धनी लोग अपने धनसे धान्य खरीदते हैं और धान्य महंगा बेचना चाहते हैं। इससे गरी-

बोंको धान्य न्यून मिलता है और उनको भूखा रहना पड़ता है इससे जगत्में दुःख बढता है। इसी तरह अन्य भोगोंके संग्रह करनेमें जो दोष हो सकते हैं उनका विचार पाठक कर सकते हैं और जान सकते हैं कि, भोगसंग्रह करनेकी मनोवृत्तिसे कैसे दोष हो सकते हैं और अपरिग्रह वृत्तिसेही किस तरह सुखकी वृद्धि हो सकती है। यह अपरिग्रह–वृत्ति सन्न्यासमें होती है, जिससे काम्य कर्म न किये जाते हैं। यही काम्य कर्मोंका संन्यास है अर्थात् संन्यास में काम्य कर्मोंका सन्न्यास करना है न कि संपूर्ण कर्मोंका। पाठक संन्यासका यह लक्षण ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें।

त्याग।

अब त्यागका विचार करना है। त्यागमें कर्मोंका त्याग अभीष्ट नहीं है। कर्म काम्य हों अथवा निष्काम हों, किसी का भी त्याग करना नहीं चाहिये। परंतु उन कर्मोंसे जो फल मिल जाय उस फलका त्याग करना चाहिये अर्थात् उस फलका उपभोग स्वयं कर्मकर्ताको लेना उचित नहीं है। उस कर्मफलको सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना चाहिये। त्यागका यह अर्थ सबको विशेषही मनन करनेयोग्य है।

संन्यास' में काम्य कर्मोंको छोडना होता है, परंतु त्याग में सब कर्मोंको करके उनके फलोंका जनताकी भलाई के लिये समर्पण करना होता है। इससे संन्यासमें कुछ कर्म नहीं होते परन्तु त्यागमें सब कर्म होते हैं और उनके फलोंका दान अथवा समर्पण किया जाता है। त्यागमें कर्मोंका विस्तृत होता है और सन्न्यासमें काम्य कर्मोंका संकोच होता है इसलिये सन्न्यासकी अपेक्षा त्याग इच्छा है। तथापि संन्यासकी अपेक्षा त्याग कठिन है, क्योंकि उसमें फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसको न भोगते हुए जनताकी भलाईके लिये समर्पण करना होता है।

फलभोगकी इच्छासे भोगोंका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है। यह भोगेच्छाही इस त्यागमें संयमित की जाती है, इस कारण कर्म करनेपर भी फलत्याग करके बाधक निर्दोष रह सकता है। यह त्यागकी विशेषता है। संन्यासमें काम्य कर्म छोडे जाते हैं इस कारण उन कर्मोंसे होनेवाले सुखसाधनों से जनता वंचित रहती है। परंतु त्यागमें काम्य कर्म करने के पश्चात उसका फल समर्पित किया जाता है इससे जनता

(२) यज्ञ-दान-तपका त्याग न करो।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— एके मनीषिणः कर्म दोषवत् (अस्ति तस्मात्) त्याज्यं इति प्राहुः अपरे च यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं इति (प्राहुः) ॥ ३ ॥ हे भरतसत्तम ! तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु । हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागः हि त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः (अस्ति) ॥ ४ ॥ यज्ञः दानं तपः कर्म न त्याज्यं, तत् कार्यं एव । यज्ञः दानं तपः च एतानि मनीषिणां पावनानि (एव सन्ति) ॥ ५ ॥ अपि तु एतानि कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति, हे पार्थ ! मम निश्चितं उत्तमं मतं (अस्ति) ॥ ६ ॥

कई विद्वान् कहते हैं कि सब प्रकारके कर्म दोषयुक्त हैं अतः उनको त्यागना योग्य है। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागनयोग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ हे भारतीयोंमें श्रेष्ठ वीर ! इस त्यागके सबंधमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥ यज्ञ दान और तपरूपी कर्म त्यागने नहीं चाहिये, ये कर्म करनेही चाहिये। कारण यह है कि यज्ञ दान और तपरूपी कर्म मनको स्वाधीन रखनेवालोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ ये सब कर्म आसक्ति और फलभोगेच्छाको छोड कर करने चाहिये ऐसी हे पार्थ ! मेरी निश्चित और उत्तम सम्मति है ॥ ६ ॥

भावार्थ— कर्मोंके विषयमें विद्वानोंके अनेक मत हैं। कई विद्वान् कहते हैं कि प्रत्येक शुभाशुभ कर्म दोषपूर्ण है अतः सब कर्मोंको त्यागना चाहिये। दूसरे विवेकी तत्त्वज्ञानी कहते हैं, कि यज्ञ दान और तप इन कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। इस विषयमें निर्णय यह है कि यज्ञदानतपरूपी कर्म हरएक मनुष्यको करनेही चाहिये। क्योंकि इन कर्मोंसे मनुष्य पवित्र होता जाता है। अतः ये कर्म त्यागनेसे मनुष्यका अधःपात और इन कर्मोंके करनेसे मनुष्यकी पवित्रता होनेसे उसकी उन्नति होती है। अतः इन कर्मोंको भोगासक्तिका तथा अपने पास फलसंग्रह करनेकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये, यही निश्चित रहस्य है ॥ ३—६ ॥

जैसे जनताका लाभ होता है और फल भी उसकी भलाईके लिये बांटा जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि संन्यासकी अपेक्षा त्याग अधिक लाभकारी है।

संन्यासी साधक कुछ कर्म (काम्य कर्म) करताही नहीं परंतु त्यागी काम्य कर्म भी करेगा और अपने कर्मोंका फल जनताकी भलाईके लिये दे देगा।

संन्यास और त्याग एक नहीं है। संन्यासी काम्य कर्मोंसे दूर है, काम्य कर्मोंसे दोष होते, इस भयसे वह उनको करता नहीं। परंतु त्यागी साधक आवश्यक सब कर्म करता है और जब दोष फलभोगकी प्रवृत्तिसे होते हैं वह जानकर उन कर्मोंके फलोंको अपने पास न रखता हुआ सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण करता है।

उदाहरणार्थ देखिये— एक व्यापार-व्यवहार करनेवाला है। वह व्यापारको काम्य कर्म समझकर लाभ होनेकी इच्छासे किया करता है ऐसा देखकर व्यापार करनाही छोड देता है; परंतु त्यागी मनुष्य उत्तम व्यापार करेगा व्यापार सत्यव्यवहारपूर्वक करेगा उसमें धोखा नहीं करेगा और उसमें जो लाभ होगा वह सब जनताकी भलाईके लिये अर्पण कर देगा। जिससे इसका समय भी सद्व्यवहारमें जायगा और फल सब जनताके हितके लिये बांटा जानेके कारण जनताका इससे अधिक हित होगा।

यहां संन्यासीका व्यापाररूप कर्मको छोडना और त्यागीका उस कर्म सुयोग्य रीतिसे करके उसके लाभका समर्पण करना इन दोनोंकी तुलना पाठक अवश्य करें। इस तुलनासे पाठक संन्यास और त्यागका स्वरूप ठमझ जान सकते हैं।

कर्मत्यागसे दोष ।

(३—६) कर्मोंका त्याग करनेसे दोष होते हैं । काम्य कर्मोंसे दोष होते हैं इस कारण संन्यासधर्मी लोग इन कर्मोंको नहीं करते । परंतु यह विचारपद्धतिही दोषयुक्त है । भोग कामनाको हटाकर इन कर्मोंको करनेसे कोई दोष नहीं हो सकता । यह तत्त्व जानकर कर्मफलका दान कर देनेसे कोई दोष नहीं लग सकता । त्यागी इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानता है और संपूर्ण कर्म करके भी दोषोंका भागी नहीं होता । अतः त्यागकारी तत्त्वज्ञानके अनुसार कर्मका त्याग करनाही दोष बढानेवाला है ।

यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये । हर एकको ये कर्म करनेही चाहिये, ऐसा कई तत्त्वज्ञानियोंका निश्चित मत है । यहां यज्ञ दान और तपका तत्त्व जानना आवश्यक है । 'तप' का अर्थ कष्ट है । परिश्रम, श्रम कर्मोंके करनेमें जो आवश्यक कष्ट होते हैं उनको तप कहते हैं । तपके बिना कुछ भी कर्म हो नहीं सकता । 'दान' शब्दका अर्थ देना है अपनी वस्तुको दूसरेके हितके लिये अर्पण करनेका नाम दान है । और 'यज्ञ' वह है कि जिसमें 'सत्कार-संगति और उपकार' होता है । इन तीनों शब्दोंके ये मूल अर्थ हैं ।

इनमें तपके कष्ट स्वयं भोगने पडते हैं । एकके लिये दूसरा तप करे यह नहीं हो सकता । दान अपनी वस्तुका दान करनेसे सिद्ध हो सकता है । दाता देय वस्तु और याचक इन तीनोंका संबंध दानसे होता है और दाताकी वस्तु याचकके पास जाती है अर्थात् वस्तुपरका एकका स्वामित्व जाकर उसपर दूसरेका स्वामित्व उत्पन्न होता है । यहां याचक शब्दसे याचना करनेवाला भिक्षुक ही चाहिये ऐसा नहीं । किसीने अपनी गौ किसी गुरुकुल संस्थाको दान दी तो भी वह दानही होता है । यहां गुरुकुल संस्था कोई याचक या भिक्षुक नहीं है । तथापि गुरुकुलमें अनेक ब्रह्मचारी रहते हैं इसलिये उस संस्थाको गौओंकी अपेक्षा रहती है अतः उस संस्थाको गौओंका दान करना योग्य है । गौका स्वामी गौपरका अपना स्वामित्व छोडता है और गुरुकुलका स्वामित्व उसपर कर देता है । यह दान है ।

यज्ञ इससे विलक्षण है । ब्राह्मणग्रंथोंमें—

ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते ।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते । (गोपथ ब्राह्मण)

ऋतुसंधिमें व्याधियां होती हैं और उनके निवारणके लिये ऋतुपरिवर्तनके समय यज्ञ किये जाते हैं ।' ये यज्ञ जो लोग करते हैं उन यज्ञोंसे वायुकी प्रसन्नता होती है, उससे संपूर्ण जनताका लाभ होता है । यहांकी एक विचित्र बात विवेककी दृष्टिसे देखनी योग्य है । एकने यज्ञ किया, उस यज्ञसे वायुकी शुद्धता और प्रसन्नता हो गयी इस वायुशुद्धिसे जनताको आरोग्य प्राप्त हुआ, परंतु यज्ञकर्ताको पता नहीं कि किसको किस तरह आरोग्यलाभ हुआ है और आरोग्यलाभ करनेवालोंको भी पता नहीं कि किसके कर्मसे मुझे आरोग्यलाभ हुआ है । यज्ञसे जो जनताका लाभ होता है उसमें यह गुप्तता रहती है ।

जैसा दान देनेवाला और लेनेवाला ये परस्पर पास आते और देखलेते हैं वैसा यज्ञका कर्ता और यज्ञसे लाभ लेनेवालोंका संबंध नहीं होता । उपकारकर्ता और उपकार लेनेवाला परस्परको पहचानते भी नहीं परंतु अमूर्त संबंध से जुडे होते हैं । यह यज्ञसेही चमत्कार होता है ।

और एक उदाहरण देखिये । एकने मार्गपर धर्मशाला बनवाई और कुआँ खुदवाया । कई वर्षोंके पश्चात् वहां एक प्रवासी आया और उस धर्मशालामें रहा और उस कुएका जल पीकर आनंदित हुआ । कुआँ बनानेवाला और पानी पीनेवाला कालसे और स्थानसे भी दूर रहते हुए इस यज्ञ कर्मके द्वारा एकत्रित हुए होते हैं । अतः यह कूप और धर्मशालाको निर्माण करना एक प्रकारका यज्ञही है ।

अब एक मनुष्य इसी स्थानपर आता है और कुएका पानी निकालकर कई लोगोंको देता है इसमें पानी निकालनेमें उसे कष्ट हुए यह उसका तप है और पानीका देना यह उसका दान है । यहां पाठक तप दान और यज्ञका तत्त्व जान सकते हैं । शास्त्रोंमें इनकी मिश्रता की है और कहा है कि यह तप है यह दान है और ये यज्ञ हैं । परंतु इसमें इनकी मिश्रती करके हरएकका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । यहां केवल मूल तत्त्वही देखना है वह ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा । अस्तु । इस तरह पाठक यज्ञ दान और तपको जानें और उनका सेवन करें ।

...ये यज्ञ दान और तप कभी भी त्यागने नहीं चाहिये क्योंकि इनपर सब जनताकी स्थिति अवलंबित है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्। (गी. १८।५)

यज्ञ, दान और तप न हुआ तो जनतामें दुःख बढेगा। ...ोंमें ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ स्वाध्याय-यज्ञ प्राण-...यज्ञ ऐसे अनेक यज्ञ हैं इनका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता (अ. ४) ...किया है यहां पाठक देखें और उसपर संपूर्ण ... ...भी दी है वह जानें। अब किस यज्ञ दान और तप ...र रहा है, इनका विचार हो जानेसेही उनको छोडना ...योग्य है, यह निश्चित ज्ञान हो जायगा। अब यज्ञदानतपके विषयमें उपनिषदादि ग्रंथोंकी संमति देखिये—

तप।

अथ यत्तपो दानं। (छां. उ. ३।१७।४)
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। (तै. उ. १।९।१)
तपो ब्रह्मेति। (तै. उ. ३।२।१)
तपसाऽपहतपाप्मा। (मैत्री उ. ४।३)
ज्ञानमयं तपः। (मुण्ड उ. १।९)
ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो
दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपः
भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः॥
(महाना. २।१)
तपो नानशनात्परं। (महाना. २१।२)
तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपस
ऋषयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः।
(महाना. २२।१)
तेषां तपो ब्रह्मचर्यं। (प्रश्न उ. १।१५)
तपो वैराग्यं। (महा. २)
शारीरं तपः वाङ्मयं तपः मानसं तपः।
(भ. गी. १७।१४-१६)

"दान देना अध्ययन करना व्याख्यान देना ज्ञान प्राप्त करना धर्म पालन करना सत्यव्रतका आचरण करना शान्त रहना इंद्रियदमन करना विकारोंका शमन करना, यजन करना, भजन करना ब्रह्मचर्य पालन करना वैराग्य धारण करना यह सब तप है। तपमें शारीरिक मानसिक और वाचिक ऐसे तीन भेद हैं और प्रत्येकमें सात्त्विक राजस और तामस ऐसे तीन तीन भेद होते हैं। तपसे पाप दूर होता है, तपसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, तपसे मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है तपसे ऋषियोंने स्वर्ग प्राप्त किया और तपसेही शत्रुओंको भगाया जाता है।' यह तपका वर्णन देखने योग्य है। यहां यज्ञ और दान यह तप है ऐसा जो कहा है यह विचार करने योग्य है। यज्ञ करने और दान देनेमें जो परिश्रम होते हैं वह उनमें तप है, ऐसा यहां समझना योग्य है।

दान।

अब दानके विषयमें उपनिषद्वचन देखिये—

एतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयाम्। (बृ. उ. ५।२।३)
दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति दाना-
न्नातिदुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते॥ दानं
दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा
भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं
परमं वदन्ति। (महानारायण २१।२,२२।१)

इंद्रियदमन दान देना और दया करना इन तीनोंका शिक्षण लेना हरएकको योग्य है। दानकी प्रशंसा सब कोई करते हैं दानसे अधिक दुष्कर कोई नहीं है दानमेंही सबकी स्थिति है यही दानकी महत्ता है। यह दानका महत्त्व विचार करनेयोग्य है। अब यज्ञके विषयमें देखिये-

यज्ञ।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
(छां. उ. २।२३।१)
पुरुषो वाव यज्ञः। (छां. ३।१६।१)
एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। एष यन्निदं
सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः। (छां. उ. ४।१६।१)
भेषजकृतो ह वा एष यज्ञः। (छां. उ. ४।१७।८)
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। (छां. उ. ८।५।१)
असुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम। (बृ. उ. १।३।१)
अहं ब्रह्माहं यज्ञः। (बृ. १।५।१७)
वाग्वै यज्ञस्य होता चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।
(बृ. ३।१।३-६)
यज्ञः प्रजापतिः। (बृ. ३।९।६)
विज्ञानं यज्ञं तनुते। (तै. उ. २।५।१)

(३) तीन प्रकारका त्याग ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वयः—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ यः दुःखं इति (मत्वा) एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं न एव लभेत् ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! कार्यं इति (मत्वा) एव यत् नियतं कर्म संगं फलं च एव त्यक्त्वा क्रियते सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है । यदि कोई अज्ञानवश नियत कर्मका त्याग करेगा तो उस त्यागको तामस त्याग कहते हैं ॥७॥ दुःख समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, वह राजस त्याग है इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥८॥ हे अर्जुन ! अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर जो नियत कर्म आसक्ति और फलभोगेच्छा छोड़कर किया जाता है उस त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—कर्तव्य कर्मका त्याग अज्ञानसे किया जाय तो वह तामस है, दुःखके भयसे किया जाय तो वह राजस है और नियत कर्म करके जो फलासक्तिका त्याग करना है वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ७–९ ॥

यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः । (मैत्री उ ६।१६)
यज्ञस्तपः । (म भारत ८।१)
शरीरं यज्ञः । (म भारत २।१२)
यज्ञेन हि देवा दिवं गताः यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति । (म ना २५।१)
यज्ञः कर्म ब्रह्म च । (प्रश्न उ १।६)
स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि ॥ (प्राणाग्नि १)

यज्ञ अध्ययन और दान ये धर्मके तीन आधार हैं। मनुष्यका जीवन ही यज्ञ है। जो उसकी पवित्रता करता है वह यज्ञ है। यज्ञ औषधियोंके हवनसे किये जाते हैं। यज्ञ धर्म ही एक यज्ञ है। यज्ञमें उपायसे असुरोंको दूर भगाया जाता है। मैंहि यज्ञ हूँ (मेरा जीवन यज्ञरूप हो)। वाणी नेत्र प्राण और मन ये उसका आत्मभावके होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है। यज्ञ ही प्रजाका पालन करता है। विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है। यज्ञ ही परमेश्वरस्वरूपी प्रजापालन करनेवाला है। यज्ञ तप है। शरीर ही यज्ञ है। यज्ञसे देवोंने स्वर्ग प्राप्त किया यज्ञसे असुरोंको दूर भगाया यज्ञसे शत्रु मित्र बनते हैं यज्ञमें सब कुछ रहा है इसलिये यज्ञकी सबसे अधिक मानी है। अध्ययन और ब्राह्मणोंका काम वह पढ़ाई ही है। अपने शरीरमें यज्ञ परिवर्तित करना चाहिये।

इस तरह यज्ञ दान और उसका वर्णन उपनिषदोंमें किया है। इसका इतना महत्त्व होनेसे ही इसके आधारसे सब कुछ है ऐसा कहा है और इसी लिये सब आत्माके आधारभूत यज्ञ-दान-तप कभी छोड़ने नहीं चाहिये और इनका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(गी १८।५)

क्योंकि यज्ञ दान और तपसे मनुष्योंकी पवित्रता होती है। इसलिये हरएक मनुष्यको अपनी पवित्रताके लिये इनका पालन अवश्यमेव करना आवश्यक है।

इन कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु फलभोगका हेतु रखनेका विचार छोड़ना चाहिये अपने भोग बढ़ानेके हेतुसे इनका आचरण कोई न करे प्रत्युत कर्तव्य समझकर इनको करे और करनेके पश्चात् जो फल मिले वह जनताकी भलाईके लिये अर्पण करे। ऐसा करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

अब त्यागका त्रिविध रूप देखिये—

(७-९) यहां कर्मका त्याग करनेके तीन भेद बताये हैं। कर्मका त्याग ' सात्त्विक, राजस और तामस ' ऐसा तीन प्रकारका है। राजस और तामस त्याग बडा हानि करनेवाला है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है।

तामस त्याग।

नियत कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करना नहीं चाहिये परंतु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका भी त्याग करते हैं, अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते और कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको संन्यासी बताते हैं यह उनका त्याग तामस अर्थात् अज्ञानजन्य है (गी० १८।७)। तामस त्याग हानिकारक है क्योंकि (अधो गच्छन्ति तामसाः। गी० १४।१८) तामस लोग अवनत होते हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। जो अपना कर्तव्यकर्म छोड देते हैं उनकी निःसंदेह अधोगति होगी इसमें क्या संदेह है?

यह कर्तव्यकर्मका त्याग होनेसे दुःखदायक है। जो त्याग न भी ये करनेका आदेश दिया है वह त्याग यह नहीं है। यह कर्मके फलका त्याग है। उसके करनेसे जन साधा दुःख न्यून होना सम्भव है परंतु कर्मकाही त्याग करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे अपने जीवनके लिये अत्यंत आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरोंपर पडता है, इस कारण कर्तव्यत्याग करनेवाले संन्यासी स्वयंभी दुःख बढाते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये-

कर्तव्यत्यागसे दुःख।

प्रत्येक मनुष्यको जीवित रहनेके लिये अन्न और जलकी आवश्यकता है, इस कारण संन्यासीको भी अन्न और जलकी आवश्यकता निःसन्देह है। खानपानकी प्राप्तिके लिये जो कुछ यत्न करना आवश्यक है वह तो करनाही चाहिये। यदि यह संन्यासी कुछ भी नहीं करेगा तो इसके जीवननिर्वाहके लिये दूसरोंको कष्ट उठानाही पडेगा। इससे दूसरोंको अपने जीवनके लिये तथा इसके जीवनके लिये श्रम करनेका भार पडना पडेगा। इस तरह जनताके कष्ट इसके कर्तव्यत्यागसे बढेंगे।

एक मनुष्यके कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि अन्योंके कष्ट बढते हैं, तो ऐसे कर्मत्याग करनेवाले बहुत हुए तो वह समाज दुःखी होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना अन्न पकावे और अपने लिये पानी भर लावे। इसके लिये कोई दूसरा ये कर्म करे परंतु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जनता सत्यज्ञानसे युक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ बने। ऐसा सत्यज्ञानका प्रदान करनेवाला जो होगा वह अपने खानपानके लिये दूसरोंकी सेवा ले सकता है। अस्तु। इस तरह विचार करनेपर कर्तव्यका त्याग करनेसे जगत्में दुःख किस तरह बढ सकता है इसका पता पाठकोंको हो जायगा। यह तामस त्याग अज्ञानसेही होता है।

राजस त्याग।

राजस त्याग दुःखके भयसे होता है। कर्म करनेमें जो दुःख होगा और जो शरीरको कष्ट होंगे उनके डरसे जो कर्म छोड जाते हैं वह राजस त्याग है। शरीरकी सुंदरतामें बिगाड होगा करोंकी स्वच्छता और बालोंकी सुंदरता बिगडेगी इसलिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड देते हैं उसको राजस त्याग कहते हैं। कई युवक व्यायाम शालामें जाते नहीं और वहां इसलिये मल्लयुद्ध (कुस्ती) खेलते नहीं कि शरीरको और कपडोंको मिट्टी लग जाय और बालमें न्यूनता आजाय। शरीरकी सुंदरता और कोमलताकी रक्षा करनेके लिये शरीरका स्वास्थ्य और बलका त्याग ये लोग करते हैं। शारीरस्वास्थ्य और बल लाभ दायक है वैसी कोमलता लाभकारी नहीं। परंतु वे राजस प्रवृत्तिके लोग क्षणिक सुखकी आशासे शाश्वत सुखको त्यागते हैं। और परिणाम यह होता है कि शाश्वत सुख तो मिलताही नहीं, परंतु जिस सुखकी आशा वे करते हैं, वह क्षणिक सुख भी उनको नहीं मिलता। इस तरह दोनों सुखोंसे वंचित होते हुए वे अत्यंत दुःखमें गिरते हैं।

राजस त्याग यह इस प्रकार दुःखका हेतु बनता है। यह राजस त्याग करनेपर भी उनको त्यागका सुख मिलता नहीं क्योंकि वह कर्तव्यकाही त्याग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे लाभ कैसा होगा? इस तरह तामस और राजस त्याग हानिकारक है। अब सात्त्विक त्यागका विचार करते हैं—

सात्त्विक त्याग।

सात्त्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उत्तम रीतिसे किया जाता है परंतु उस कर्मके फलका स्वयं भोग करनेकी इच्छा भी

(३) तीन प्रकारका त्याग ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वयः—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ यत् दुःखम् इति (मत्वा) एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं न एव लभेत् ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! कार्यं इति (मत्वा) एव यत् नियतं कर्म संगं फलं च एव त्यक्त्वा क्रियते सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है । यदि कोई अज्ञानवश नियत कर्मका त्याग करेगा तो उस त्यागको तामस त्याग कहते हैं ॥७॥ दुःख समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, वह राजस त्याग है, इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥८॥ हे अर्जुन! अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर, जो नियत कर्म आसक्ति और फलभोगेच्छा छोड़कर किया जाता है उस त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—नियत कर्मका त्याग अज्ञानसे किया जाय तो वह तामस है, दुःखके भयसे किया जाय तो वह राजस है, और नियत कर्म करके जो फलाशाका त्याग करना है वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ७-९ ॥

यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः । (मैत्री उ ६।१६)
यज्ञरूपः । (म भारत ८।१)
शरीरं यज्ञः । (म भारत २।१२)
यज्ञेन हि देवा दिवं गताः यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति । (म ना २१।१)
यज्ञः कर्म प्रजा च । (मप उ १।६)
स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि ॥ (मान्मानि ९)

'यज्ञ अध्ययन और दान ये धर्मके तीन आधार हैं । मनुष्यका जीवन ही यज्ञ है । जो सबकी पवित्रता करता है वह यज्ञ है । यज्ञ औषधियोंके हवनसे किये जाते हैं । वर्ष ही एक यज्ञ है । यज्ञमें ज्योतिसे असुरोंको दूर भगाया जाता है । ‘अहं यज्ञ हूं (मेरा जीवन यज्ञरूप हो) । वाणी नेत्र प्राण और मन ये क्रमशः आत्मयज्ञके होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा हैं । यज्ञ ही प्रजाका पालन करता है । विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है । यज्ञ ही परमेश्वरस्वरूपी प्रकाशक करनेवाला है । यज्ञ तप है । शरीर ही यज्ञ है । यज्ञसे देवोंने स्वर्ग प्राप्त किया यज्ञसे असुरोंको दूर भगाया यज्ञसे शत्रु मित्र बनते हैं यज्ञमें सब कुछ रहा है इसलिये यज्ञकी सबसे श्रेष्ठता मानी है । आत्मज्ञ और ज्ञानियोंका ध्यान यह यज्ञ ही है । अपने शरीरमें यज्ञ परिवर्तित करना चाहिये ।

इस तरह यज्ञ दान और तपका वर्णन उपनिषदोंमें किया है । इनका इतना महत्त्व होनेसे ही इनसे मानवको सब कुछ है ऐसा कहा है और इसी लिये इन मानवके आधारभूत यज्ञ-दान-तप कभी छोड़ने नहीं चाहिये, और इनका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(गी १८।५)

क्योंकि यज्ञ दान और तपसे मनुष्योंकी पवित्रता होती है । इसलिये हरएक मनुष्यको अपनी पवित्रताके लिये इनका पालन अवश्यमेव करना आवश्यक है ।

इन कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु फलभोगका संग करनेका विचार छोड़ना चाहिये अपने भोग बढ़ानेके हेतुसे इनका आचरण कोई न करे प्रत्युत कर्तव्य समझकर इनको करे और करनेके पश्चात् जो फल मिले वह जनताकी भलाईके लिये अर्पण करे । ऐसा करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है ।

अब त्यागका त्रिविध रूप देखिये—

(७–९) यहां कर्मका त्याग करनेके तीन भेद बताये हैं। कर्मत्याग ' सात्त्विक राजस और तामस ' ऐसा तीन प्रकारका है। राजस और तामस त्याग बडा हानि करनेवाला है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है।

तामस त्याग।

नियत कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करना नहीं चाहिये परन्तु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका भी त्याग करते हैं अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते और कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको संन्यासी बताते हैं वह उनका त्याग तामस अर्थात् अज्ञानजन्य है (गी १४।७)। तामस त्याग हानिकारक है क्योंकि (अधो गच्छन्ति तामसाः। गी. १४।१८) तामस लोग अवनत होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो अपना कर्तव्यकर्म छोड देते हैं उनकी निःसंदेह अधोगति होगी इसमें क्या संदेह है?

यह कर्तव्यकर्मका त्याग होनेसे दुःखदायक है। जो त्याग भ. गी. मे करनेका आदेश दिया है वह त्याग यह नहीं है। वह कर्मके फलका त्याग है। उसके करनेसे अन्य लोगोंका दुःख न्यून होना संभव है परंतु कर्मकाही त्याग करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे अपने जीवनके लिये स्वयं आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरोंपर पडता है इस कारण कर्तव्यत्याग करनेवाले संन्यासी समाजमें दुःख बढाते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये-

कर्तव्यत्यागसे दुःख।

प्रत्येक मनुष्यको जीवित रहनेके लिये अन्न और जलकी आवश्यकता है इस कारण संन्यासीको भी अन्न और जलकी आवश्यकता निःसंदेह है। आत्मपालनकी प्राथमिक लिये जो कुछ यत्न करना आवश्यक है वह तो करनाही चाहिये। यदि यह संन्यासी कुछ भी नहीं करेगा तो इसके जीवननिर्वाहके लिये दूसरोंको कष्ट उठानाही पडेगा। इससे दूसरोंको अपने जीवनके लिये तथा इसके जीवनके लिये श्रम करनेका भार सहना पडेगा। इस तरह अन्योंको कष्ट इनके कर्तव्यत्यागसे होंगे।

एक मनुष्यके कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि अन्योंको कष्ट पहुंचते हैं तो ऐसे कर्मत्याग करनेवाले बहुत हुए तो वह समाज दुःखी होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना अन्न पकावे और अपने लिये पानी भर लावे। इसके लिये कोई दूसरा ये कर्म करे परंतु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जनता सत्यज्ञानसे युक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ बने। ऐसा सत्यज्ञानका प्रदान करनेवाला जो होगा वह अपने आत्मपालनके लिये दूसरोंकी सेवा ले सकता है। अस्तु। इस तरह विचार करनेपर कर्तव्यका त्याग करनेसे जगत्‌में दुःख किस तरह बढ सकता है इसका पता पाठकोंको हो जायगा। यह तामस त्याग अज्ञानसेही होता है।

राजस त्याग।

राजस त्याग दुःखके भयसे होता है। कर्म करनेमें जो दुःख होगा और जो शरीरको कष्ट होंगे उनके डरसे जो कर्म छोड जाते हैं वह राजस त्याग है। शरीरकी सुंदरतामें बिगाड होगा, कपडोंकी स्वच्छता और बालोंकी सुंदरता बिगडेगी इसलिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड देते हैं उसको राजस त्याग कहते हैं। कई युवक व्यायामशालामें जाते नहीं और वहां इसलिये मल्लयुद्ध (कुस्ती) खेलते नहीं कि शरीरको और कपडोंको मिट्टी लग जाय और शानमें न्यूनता आजाय। शरीरकी सुंदरता और कोमलताकी रक्षा करनेके लिये शरीरका स्वास्थ्य और बलका नाश ये लोग करते हैं। शरीरस्वास्थ्य और बल लाभदायक है वैसी कोमलता लाभकारी नहीं। परंतु ये राजस प्रवृत्तिके लोग क्षणिक सुखकी आशासे शाश्वत सुखको त्यागते हैं। और पश्चात् यह होता है कि शाश्वत सुख तो मिलताही नहीं, परंतु जिस सुखकी आशा वे करते हैं, वह क्षणिक सुख भी उनको नहीं मिलता। इस तरह दोनों सुखोंसे वंचित होते हुए वे अत्यंत दुःखमें गिरते हैं।

राजस त्याग यह इस प्रकार दुःखका हेतु बनता है। यह राजस त्याग करनेपर भी उनको त्यागका सुफल मिलता नहीं क्योंकि यह कर्मत्यागही त्याग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे लाभ कैसा होगा? इस तरह तामस और राजस त्याग हानिकारक है। अब सात्त्विक त्यागका विचार करते हैं—

सात्त्विक त्याग।

सात्त्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उत्तम रीतिसे किया जाता है परंतु उस कर्मके फलका स्वयं भोग करनेकी इच्छा भी

(४) सच्चा त्यागी।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अन्वयः— (यः) त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः (च भवति सः) अकुशलं कर्म न द्वेष्टि कुशले च न अनुषज्जते ॥१०॥ देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं यः तु हि कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ॥११॥

जो त्यागी सत्त्वयुक्त बुद्धिमान् और संदेहरहित होता है, वह कुशलतारहित कर्मका द्वेष नहीं करता और कुशलतायुक्त कर्ममें रममाण भी नहीं होता ॥ १० ॥ देहधारण करनेवाले मनुष्यके लिये कर्मोंका संपूर्ण त्याग संभव नहीं है अतः जो कर्मफलका त्याग करता है वही त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी और जो निःसंदेह होकर कर्मका रहस्य जानता है वह सात्त्विक त्यागी किसी कर्मका विशेष आदर और दूसरेका निरादर नहीं करता क्योंकि हरएक नियत कर्मका कुछ न कुछ उपयोग होताही है, वह उसे जानता है। वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्य संपूर्ण कर्मोंका त्याग कभी कर नहीं सकता, क्योंकि जीवन भी एक कर्मही है अतः कर्मफलका त्याग करनाही सच्चा और श्रेष्ठ त्याग है ॥ १ —११ ॥

नहीं की जाती और कर्मका सब फल जनताकी भलाईके लिये समर्पण किया जाता है। इस कारण वह कर्म निर्दोष होता है और उससे सबका भला होता है।

इस सात्त्विक त्यागसे कर्मका त्याग नहीं होता, प्रत्युत कर्मफलका सबके हित करनेके लिये पूर्णतया समर्पण होता है। जैसा कोई फलोंका उद्यान लगावे और फलोंकी प्राप्ति होनेपर उन फलोंको गुरुकुलके विद्यार्थियोंको अर्पण करे। यहां कर्म तो हुआ परंतु फलका त्याग हुआ और फलभोग का दोष भी नहीं रहा। जिस राष्ट्रमें ऐसे सात्त्विक त्यागी बहुत होंगे उस राष्ट्रमें जनता अधिक सुखी होगी। इस लिये यह सात्त्विक त्याग सबकी उन्नति करनेवाला है इसी कारण (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। गी० १४।१८) सात्त्विक लोगोंकी उन्नति होती है ऐसा कहा है वह सत्यही है। यहां सबके उपकारके लिये स्वयं कष्ट करना होता है स्वयं दुःख भोगकर दूसरोंको सुखी करनेका यत्न होता है। राजस प्रवृत्तिमें शारीरिक कष्टोंके भयसेही कर्म छोडे जाते हैं और तामस प्रवृत्तिमें अज्ञानके कारण कर्म छोडे जाते हैं। पाठक यहां तामस राजस और सात्त्विक कर्मत्यागका स्वरूप जानें। सात्त्विक त्यागही सच्चा त्याग है। पाठक इसका स्वरूप विशेष सूक्ष्म रीतिसे देखें—

सच्चा त्यागी।

(१ –११) सच्चा त्यागी कैसा होता है। यह यहां उत्तम और स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। वह सच्चा त्यागी (मेधावी) बुद्धिमान् होता है धारणावती बुद्धिका नाम मेधा है। जो अध्ययन किया है उसको मस्तिष्कमें जो धारण कर सकता है और जो अपना ज्ञान सदा तेजस्वी रखता है, सदा उपस्थित रख सकता है मूर्ख नहीं, वह मेधावी है। ऐसा मेधावीही सच्चा त्यागी हो सकता है। इसके उत्तम ज्ञानके कारण वह (छिन्न-संशय) संदेहरहित होता है वह अपनी प्रबल बुद्धिसे कर्तव्याकर्तव्य ठीक तरह जान लेता है, कर्म करनेकी रीतिके विषयमें उसे कोई संदेह नहीं होता। जो करता है आत्मविश्वाससे करता है। जो करता है कर्तव्यबुद्धिसे करता है। जो करता है ठीक तरह करता है अर्थात् निडर होकर करता है। बुद्धिमत्ता और संदेहरहितता ये दो गुण यहां सच्चे त्यागीके हैं।

इसके पश्चात् वह (सत्त्व-समाविष्ट) सत्त्वगुणी बलसे युक्त होता है। सत्त्व नाम उस बलका है जिससे शरीर मन और बुद्धिकी धारणा होती है। यही सच्चा बल है जिससे जीवन धारण होता है।

ये तीन गुण (मेधावी छिन्नसंशय सत्त्वसमाविष्ट) सच्चे त्यागीमें अवश्य रहने चाहिये जिससे फलत्याग कर-नेका सामर्थ्य उस सात्त्विक मनुष्यमें स्थिर रह सकता है। जिस मनुष्यमें ये गुणगुण रहेंगे उसमें असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न होगा इसमें संदेहही नहीं है, क्योंकि ज्ञान और

(५) कर्मका त्रिविध फल ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ॥१२

अन्वय — अनिष्टं इष्टं मिश्रं च इति त्रिविधं कर्मणः फलं प्रेत्य अत्यागिनां भवति, सन्यासिनां तु क्वचित् न (भवति) ॥ १२ ॥

अनिष्ट, इष्ट और सम्मिश्रित (इष्टानिष्ट) ऐसा कर्मका तीन प्रकारका फल, कर्मफलका त्याग न करने वालोंको होता है । परन्तु कर्मफलका त्याग करनेवाले सन्यासियोंको उन तीनों फलोंकी प्राप्ति किसी समयमें भी नहीं होती ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य जो कोई कर्म भोगवासनासे करता है उस कर्मका उसको कभी शुभ फल मिलता है, कभी अशुभ मिलता है और कभी सम्मिश्रितसा मिलता है । परन्तु जो मनुष्य निष्कामभावनासे फलभोगकी कामना त्याग करके अपना नित्य कर्म करता है उसकी उस कर्मके साथ भोगवासना न रहनेके कारण उसको वैसा कोई फल नहीं मिल सकता, क्योंकि फल तो उसने त्यागही दिया होता है, फिर वह फल शुभ हो या अशुभ, उसका उसके साथ कोई संबन्धही नहीं होता ॥ १२ ॥

और परस्रीनता ये दुष्ट गुण मनुष्यकी शक्ति घटाते हैं इसलिये एक एक मनुष्यको निर्बल करनेवाला है फिर जहां ये तीनों अनिष्ट गुण रहेंगे, वहांकी शोचनीय निर्बलताका ठिकानाही क्या होगा ? अतः ज्ञान बुद्धिमत्ता, संदेहरहितता और निर्भयता ये गुण मनुष्यका सामर्थ्य बढाते हैं इस कारण ऐसे सामर्थ्यके बिना त्यागका होना असम्भव है इसलिये प्रथम त्यागके लिये इन शुभ गुणोंकी अत्यंत आवश्यकता है ।

कर्मत्याग—असम्भव ।

देहभृता न शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । (११)

देहधारी मनुष्य अशेष कर्मोंका त्याग करनेमें असमर्थ ही है । कर्मत्याग करनेसे उसका मृत्युही होगा । इस लिये जीवित रहनेके लिये कुछ न कुछ कर्म करनाही चाहिये । जीवनके लिये कर्म अत्यंत आवश्यक सिद्ध होनेपर वह कर्म किस प्रकार किया जाए और उस कर्मके दोषोंसे किस तरह अपने आपको बचाया जाय यही देखना चाहिये । मनुष्य कर्म करे परन्तु उसका फल जगदाधारी जनार्दनके लिये समर्पण करे, जिससे उस कर्मफलत्यागके साथ उस कर्मके सब दोष दूर होंगे और वह निर्दोष होकर विराजेगा । अतः—

यः कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ (११)

जो कर्मके फलका त्याग करता है वही सच्चा त्यागी कहलाता है । मनुष्य फल प्राप्त होनेपर उसका दान समर्पण अथवा त्याग कर सकता है । जैसा किसी गृहस्थने खेत लिया और उस खेतमें कृषीरूप कर्म करनेसे उसको धान्यरूपी फल प्राप्त हुआ । इस समय उसका इस धान्यपर अधिकार हुआ । यह अधिकार होनेके पश्चात्ही वह उसका भाग करे दान करे, समर्पण करे अथवा त्याग करे । इसमेंसे जो चाहिये सो किया जा सकता है । सब लोग भोग करनेवालेही होते हैं इसलिये भोगेच्छाके कारण वे सब फलको अपने समर्थ इकट्ठा करनेमें लगते हैं और पापी हो जाते हैं । यदि वे फलका त्याग करेंगे तो निःसंदेह निर्दोष होंगे । इसका संक्षपसे सार यह है कि कर्मके फलको अपने पास संग्रह करके रखना नहीं चाहिये उसका त्याग ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्तव्यबुद्धिसे करना चाहिये ।

अब कर्मफलका स्वरूप बताते हैं । कर्मका फल त्रिविध प्रकारका होता है उसका अब विचार करेंगे—

त्रिविध फल ।

(१२) प्रत्येक कर्मका अनिष्ट फल इष्ट फल तथा मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट फल होता है । किसी कर्मका इष्ट फल होता किसीसे अनिष्ट होता और किसीका इष्टानिष्ट होता । यह त्रिविध फल किसको प्राप्त होता है और किसको नहीं यह भी निश्चित हुआ हुआ है ।

अत्यागिनां कर्मणः फलं भवति
सन्यासिनां तु न । (१२)

जो कर्मके फलका त्याग नहीं करते उनको ऐसेही इष्ट-

(६) पांच कारण।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे। सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अन्वयः- हे महाबाहो ! सर्वकर्मणां सिद्धये कृतान्ते (कृत+अन्ते) सांख्ये प्रोक्तानि इमानि पञ्च कारणानि मे निबोध॥१३॥ अधिष्ठानं तथा कर्ता, पृथग्विधं करणं च, विविधाः पृथक् चेष्टाः अत्र दैवं पंचमं एव (भवति)॥ १४ ॥ नरः शरीर-वाङ्मनोभिः न्याय्यं वा विपरीतं वा यत् कर्म प्रारभते, तस्य (एते) पञ्च हेतवः (सन्ति)॥ १५ ॥

हे महाबाहुवाले अर्जुन ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये, कर्मके दोषका अन्त करनेवाले सांख्य शास्त्रमें, ये पांच कारण बताये हैं उनको तू जान॥ १३॥ आधारस्थान कर्ता अनेक प्रकारके साधन अनेक प्रकारकी क्रियाएं, ये चार और यहां पांचवां दैव होता है॥ १४॥ मनुष्य शरीर वाणी और मनके द्वारा योग्य अथवा अयोग्य जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पांच हेतु होते हैं॥ १५॥

मिश्र फलभोग भोगने पडते हैं अतः इष्टफलसे सुख और अनिष्ट फलसे दुःख भोगना उसके लिये आवश्यकही होता है। उदाहरणके लिये देखिये किसीने ईखकी खेती की उससे बहुत गुड तैयार हुआ वह सब उसने अपने उपभोगके लिये किसी स्थानपर संग्रहीत किया, पश्चात् वृष्टि हुई और उस स्थानपर पानी भर गया और सब गुड खराब हुआ। वह गुडके नाशका दुःख उसको इसलिये भोगना पडा कि उसने अपने कर्मके फलका संग्रह अपने पास कर रखा था। यदि उस गुडकी बिक्रीसे उसे बहुत धन प्राप्त हुआ तो उसे बडा आनन्द होगा। इस तरह इष्ट तथा अनिष्ट अवस्थाओंमें वह फिरता और सुखदुःख भोगता रहता है। इसमें मुक्तिका मार्ग पृच्छी है और वह यह है कि वह कर्मफलका त्याग करे। देखिये इसका उदाहरण यह है—

किसी किसानने एक वर्ष सब अपना सब गुड सब जनताकी सेवा करनेके हेतु मानव राजाके पास दान किया। राजाकी अपनी शासन-व्यवस्थासे इस गुडका उपयोग प्रजापालनमें किया जायगा तथा इस कर्मकर्ताका भी पालन राजप्रबंधसेही होता रहेगा। इस गुडके दान करनेसे उसकी रक्षाकी चिन्ता उसको नहीं रही इस कारण अकस्मातसे गुडके नाश होनेका दुःख भी उसको नहीं रहा। गुडबिक्रीसे प्राप्त होनेवाला धन रक्षण करनेका कष्ट भी नहीं रहा अपने योगक्षेमकी भी चिन्ता नहीं रही क्योंकि सब प्रकारसे राजप्रबंधद्वाराही उसका योगक्षेम होताही रहेगा यह उसका निश्चयही है।

इस तरह कर्मका फल प्रजापतिको समर्पण करनेमें और प्रजापतिद्वारा सबका योगक्षेम चलानेमें सबका लाभ है और फलसंगके दोषसे सब लोग इसी एक उपायसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मफलका विनियोग तो कई रीतियोंसे हो सकता है—

१ कर्मफल-दान कर्मका फल किसीको विशेष गोरवसे देना
२ कर्मफल-त्याग- कर्मके फलका त्याग करना और उसपरका अपना अधिकार छोडना,
३ कर्मफल-समर्पण- कर्मके फलको पूर्ण रीतिसे किसीके आधीन करना
४ कर्मफल-संन्यास- कर्मके फलका संपूर्ण रीतिसे न्यास करना अर्थात् किसी स्थानपर उसको सुरक्षित रखना, अपने पास नहीं, परंतु वहां वह सुरक्षित रह कर सबकी भलाईके कार्यमें काम आवे ऐसे स्थानपर रखना।

ऐसी अनेक रीतियें कर्मफलत्यागकी हैं। किसी भी पद्धतिसे त्याग किया जाय तो वह कर्ताके लिये शान्ति देनेवालाही होता है। इसलिये यहां कहा है कि कर्मफलका त्याग न करनेवालोंको ही कष्ट होता है कर्मफलके संन्यास या त्याग करनेवालोंको कोई कष्ट नहीं होते। पाठक इसका विशेष मनन करें और यह उपाय किस तरह व्यवहारमें लाया जा सकता है इसका विचार निश्चित करें। अब और कर्मका विचार देखिये—

भावार्थ- सांख्यशास्त्र कर्मोंके दोषोंका समूल नाश करनेवाला शास्त्र है। उस शास्त्रमें कर्मके पांच कारण कहे हैं। अधि... र्ता साधन क्रिया और दैव। शरीर वाणी और मनसे मनुष्य जो कर्म करता है, उसमें ये पांच हेतु होते हैं। फिर ... कर्म धर्मानुकूल हो अथवा प्रतिकूल ॥ १३-१५ ॥

कृतान्त सांख्य ।

(१३-१५) सांख्यशास्त्रको कृतान्त कहते हैं, इसका ...मन यह है कि उस सांख्यशास्त्रके अनुसार समबुद्धियुक्त ...म कर्म करनेसे वह कर्म निर्विघ्नतासे अन्ततक पहुंचता ... बीचमें किसी प्रकार विघ्नोंकी बाधा नहीं होती और ...यके विघ्नोंसे कार्यकी क्षति भी नहीं होती। सांख्यशास्त्रका ...र महत्त्व है।

इस कृतान्त सांख्यशास्त्रमें सब कर्मोंकी सिद्धताके लिये जो ...रण कहे गये हैं वे ये हैं—(१) अधिष्ठान, आधारक्षेत्र ...२) कर्ता, (३) करण अनेक प्रकारके साधन, (४) ...नेक प्रकारकी क्रियाएं, और (५) पांचवां दैव। ये पांच ...धन हैं जिनसे हरएक प्रकारके कर्मकी सिद्धता होती है।

अधिष्ठान ।

इन पांच साधनोंमें गौण कौनसे हैं और मुख्य साधन कौनसे हैं इसका विचार यहां करना चाहिये। सबसे प्रथम अधिष्ठान है। अधिष्ठानका अर्थ आधारक्षेत्र। कर्ताको ...रहनेके लिये कुछ स्थान चाहिये। उसीका नाम अधिष्ठान है। इसी तरह कर्मके साधन रखनेके लिये और क्रिया करनेके लिये भी स्थान चाहिये। ठहरनेके लियेही स्थान न रहा तो कर्ता अपना कर्म कहां करेगा? इसलिये उक्त पांचों साधनोंमें अधिष्ठान मुख्य है इसी लिये इसको सबसे प्रथम लिखा है।

कर्ता ।

इसके पश्चात् 'कर्ता' मुख्य है। क्योंकि कर्ताही कर्म करता है कर्ताही सब प्रकारकी क्रियाएं कर सकता है साधनोंका इकट्ठा करनेवाला कर्ताही होता है। साधन न रहे तो कर्ताही उनको निर्माण करके उनका उपयोग कर सकता है। इसलिये कर्ता का महत्त्व अत्यधिक है। विविध चेष्टा और दैव इन तीनों की अपेक्षा कर्ताकी प्रधानता विशेष है। क्योंकि इनके दोष दूर करनेवाला कर्ता है और अपनी कुशलतासे इनकी हीनताको दूर करता उत्तम कर्ताही कर सकता है। इस तरह कर्ताका महत्त्व पाठक जानें।

करण ।

कर्ताके पश्चात् (धृष्टिकर्म करणं) विविध प्रकारके साधनों का विचार होता है। कर्ताके ये सहायक होते हैं, जैसे सुतार तखांमके सहायक विविध प्रकारके अवजार होते हैं, कुम्हार के साधन चक मिट्टी आदि होते हैं, चित्रकारके साधन वर्ण फलक आदि होते हैं ये सब करण अथवा उपकरण हैं। ये साधन जितने अच्छे होंगे उतना कार्य अच्छा होगा और इनमें यदि दोष रहे, तो कार्यमें भी दोष होंगे। साधनों० कई दोष कर्ता दूर कर सकता है, इसमें संदेह नहीं है परन्तु उसके लिये कर्ताको अपनी शक्ति लगानी पडती है और निर्दोष साधनोंकी उपस्थितिमें उतनी कर्ताकी शक्ति बच जाती है। इसलिये करणोंकी निर्दोषता अवश्यही रहनी चाहिये।

विविध चेष्टा ।

कार्यके करनेके लिये कर्ता इन साधनोंको अपने पास लेता है और उनसे विविध चेष्टा करता है। इन चेष्टाओंसे कार्यकी सिद्धि होती है। अधिष्ठान, कर्ता और सब साधन तथा दैव इन सबकी अनुकूलता रहनेपर कर्ताने विविध आवश्यक चेष्टाएं न कीं तो कार्यसिद्धि कभी नहीं होगी। जो लोग दैव कोही प्रधान मानते हैं उनको आवश्यक है कि वे इस कर्ताकी चेष्टाओंका महत्त्व जानें जिसके बिना कोई कार्य बननेकी संभावनाही नहीं है।

दैव ।

दैव यह अन्तिम कारण है। दैवका अर्थ परिस्थिति-की अनुकूलता। उत्तम साधनसंपन्न कुलमें जन्म होना उत्तम कुशल लोगोंके घरमें जन्म होना उत्तम कृपालु पुरुषोंके देशमें जन्म होना यह दैवयोगसेही होता है। कर्ता का प्रयत्न और दैवकी अनुकूलता इनपर कर्मकी सिद्धि अवलंबित है।

पुरुषार्थ श्रेष्ठ अथवा दैव श्रेष्ठ यह बात बहुतही प्रचण्ड है कई लोग पुरुषार्थको प्रधान मानते हैं और कई लोग दैवको प्रधान मानते हैं। परंतु गीतामें दैव का पांचवां कारण माना है पहिला नहीं माना। सच्चे अध्यात्म

(७) कर्ता और अकर्ता ।

तत्रैव सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वयः- तत्र एवं सति यः तु केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति सः दुर्मतिः अकृतबुद्धित्वात् न पश्यति ॥ १६ ॥ यस्य अहंकृतः भावः न यस्य बुद्धिः न लिप्यते, सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यह सत्य होते हुए जो केवल अपने आत्माको ही कर्ता मानता है वह हीन मतिवाला संस्कारहीन बुद्धिके कारण कुछ भी नहीं जानता ॥ १६ ॥ जिसको अहंकारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है वह, इन सब लोगोंका वध करनेपर भी वध न करनेके समानही (निर्दोष) है अतः वह बंधनमें नहीं पडता ॥ १७ ॥

भावार्थ— प्रत्येक कर्मके उक्त पांच कारण हैं यह सर्वकालिक सत्य है, इसको न जानना और अपनेको कर्ता समझना यह बुद्धिहीनता और संस्कारहीनताका लक्षण है। इसलिये जिनको यह कर्तृत्वाभिमान नहीं है जिसकी बुद्धिमें दोष नहीं है उसने सबका वध किया तो भी उस वधके दोषसे वह दोषी नहीं होता अतः उसे बंधनमें भी पडनेका कारण नहीं है। अर्थात् अहंकारके त्यागनेसे सब दोष दूर होते हैं ॥ १६, १७ ॥

शास्त्रोंमें पुरुषार्थको प्रधान और दैवको गौण माना है। परंतु जो मानते हैं कि दैव कुछ भी नहीं है वे ठीक नहीं मानते। कलका कर्म आज दैव होकर पीछे लगता है यह ठीक है परन्तु वह दैव बननेपर उसका प्रभाव होताही है।

जैसा एक भोजनमें अत्यधिक अन्न खाया जिस पुरुषार्थ का परिणाम आज दैवरूपसे होकर आज अजीर्ण हुआ और पेट दुखने लगा। यह इस कलके अपनेही पुरुषार्थका परिणाम है इसमें संदेह नहीं है परंतु एक बार पुरुषार्थका दैवमें रूपान्तर हुआ तो वह दैव पीछे लगताही है। अत्यन्न करनेसे पेट दर्द करने लगा तो उसे भोगनाही चाहिये। इसी तरह सब प्रकारके दुःखके विषयमें जानना योग्य है। यह दैव प्रारब्ध संचित क्रियमाण आदि प्रकारसे अनेकविध होता है। इसी तरह उपादान कारण निमित्त कारण समवाय कारण आदि कारणोंमें भी अनेक प्रकार हैं । परंतु इन भेदोंका विचार करनेकी यहां हमें आवश्यकता नहीं है। ये पांच कारण हैं इतनाही यहां देखना और समझना चाहिये और इनका परस्पर संबंध जानना चाहिये।

मनुष्य अपने शरीरसे वाणीसे मनसे जो कुछ कर्म करता है वह कर्म न्याय्य हो या अन्याय्य हो वह धर्म्य हो या अधार्मिक हो वह धर्म्य हो या अधार्मिक हो उसके ये पांच हेतु होते हैं। इन पांचों हेतुओंके निर्दोष होनेसेही वह कर्म उत्तम बनता है। इसका विचार हरएक साधकको अवश्य करना चाहिये।

अपना अधिष्ठान कैसा है अपना कर्तृत्व कैसा है, अपने साधन कैसे हैं अपनी विविध चेष्टाएं कैसी होती हैं और दैवकी अनुकूलता है या प्रतिकूलता है इन सबका विचार हरएक साधकको करना चाहिये। क्योंकि इनमें जहां जितना दोष होगा, वहां उतनी सिद्धिमें न्यूनता अवश्य होगी।

कर्ता और उसके साधनोंका यह विचार हुआ। कर्ता अपना कर्म निर्दोष रीतिसे कैसा कर सकता है वह इस विचारसे ध्यानमें आ सकता है। अब निर्दोष कर्ता कैसा हो सकता है इसका विचार करते हैं। कर्म करके भी न करनेके समान कर्ता निर्दोष किस तरह रह सकता है, इसका विचार अब होगा—

कर्मके साधन ।

(१६-१७) अधिष्ठान कर्ता, साधन चेष्टा और दैव ये पांच साधन प्रत्येक कर्मके लिये रहते हैं। इन पांचोंके होनेसेही हरएक कर्म होता है इसलिये किसी कर्मके शुभाशुभ होनेका कारण इन पांचोंमें होना संभव है। ऐसा होते हुए कोईभी अपने आपको अहंकारसे किसी कर्मका पूर्ण कर्ता किस तरह मान सकता है? मनुष्य अहंकारवश

अपने आपको कर्ता मानता ही है और जिस समय कोई कर्म विशेष प्रशंसनीय होता है, उस समय तो 'यह कर्म मैंने किया' मैं ही इसका कर्ता हूं ऐसी घमंड मारता है परंतु ऐसे समय यह सोचना चाहिये कि इस कर्मके बननेमें अधिष्ठान कर्ता विविध साधन विविध चेष्टाएं और दैवका भाग कितना है। चारोंका भाग कितना और कर्ताका भाग कितना है इसका विचार करना चाहिये।

इन सब पांचों हेतुओंमें 'कर्ता' को प्रधान मानने और अन्य चारोंको गौण माननेपर भी अन्य चारोंके प्रतिकूल होनेपर अकेला कर्ता कुछ भी कर नहीं सकता, इसमें संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म पांचोंकी अनुकूलतासे हुआ है उसके बननेके विषयमें अकेले कर्ताको अभिमान धारण करना अयोग्य है।

इसमें भी दैवके अनुकूल होनेमें मेरा कोई हाथ नहीं है अधिष्ठान तो परिस्थिति ही है चेष्टा करनेकी शक्ति अन्य किसीकी निर्माण की है, सब साधनोंका भाग भी कर्मके होनेमें विशेषही है, इस तरह जो कर्म मैंने किया वह कर्म करनेके लिये मेरे पूर्वसेही कैसी अनुकूलता बनती आयी है, इसका विचार कर्ताको करना चाहिये।

उदाहरणके लिये देखिये। आज मैंने रोटी खायी है। जिस गेहूंकी यह रोटी बनाई गयी उसके निर्माण करनेके लिये सैकडों और सहस्रों मानवोंके परिश्रम लगे हैं। खेत तैयार करनेमें, हलनिर्माणमें खेती करनेमें गेहूं पीसनेमें जल लाने आदि कर्मोंमें सैकडों मानवोंके परिश्रम सहायक हुए हैं। अतः रोटीका निर्माण करना मेरे अकेलेके परिश्रमका काम निःसंदेह नहीं है। अतः रोटीके निर्माण करनेका अहंकार जो धारण करता है वह व्यर्थ धारण करता है इसमें संदेह नहीं। इसी तरह अन्य सब कार्योंके विषयमें जानना चाहिये।

इसलिये (केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः) केवल अपनेको कर्ता मानना अथवा आत्माको कर्ता समझना यह अहंकारमय दोषयुक्त बुद्धिका द्योतक है। जहां जो दुर्मति है वह निराधार अहंकारके कारण हुआ है व्यर्थ अहंकार धारण मति दुष्ट हुई है। जैसा मैं नहीं हूं वैसा अपने आपको मानना यह दुष्ट मतिसेही होता है। प्रत्येक कर्मका श्रेय अपने पास कितना है और कितना नहीं इसका विचार करनेसे मनुष्यको स्पष्ट ज्ञात होगा कि मनुष्यके पास अहंकार करनेयोग्य कर्तृत्व नहीं है जो कुछ कर्तृत्व मनुष्यके पास आ सकता है वह अधिकसे अधिक पांचवां हिस्सा है और वह भी अन्योंकी अनुकूलतासेही प्रभावित होनेवाला है। इस लिये जो अपने कर्तृत्वकी घमंड करता है, उसकी घमंड अयोग्य है, अस्थानमें है असत्य है। अतः सबसे पहिले यह अहंकारका भाव मनुष्यको अपने अन्तःकरणसे दूर करना चाहिये। इस अहंकारसे अपनी मतिको दोषयुक्त बनाना किसीको भी उचित नहीं है।

जो इस तरह शुद्ध विचार करके (नाहंकृतः) अहंकारसे दूर रहता है घमंड नहीं करता अपने आपको कर्ता मान लेनेका अविचार नहीं करता घमंडसे जिसकी (बुद्धिः न लिप्यते) मति कलंकित नहीं होती जिसकी बुद्धि अहंकार रहित होनेसे शुद्ध रहती है निर्दोष होती है ऐसा मनुष्य इन सब सैनिकोंका (हत्वा अपि न हन्ति) वध कर लेनेपर भी वध न करनेके समान निर्दोष रह सकता है और (न निबध्यते) वधदोषके कारण उसे बंधन भी नहीं हो सकता।

कर्ता होनेपर भी अकर्ता होनेके समान वह निर्दोष रहता है। सेनापतिके शासनके नीचे रहनेवाले सैनिक युद्धमें अनेक शत्रुवीरोंका वध करते हैं परंतु वह सब सेनापतिकी आज्ञासे होता है। इसलिये किसी सैनिकको किसी शत्रुवीरका वध करनेका दोष नहीं लगाया जाता और नहीं लग सकता। वह सैनिक भी अपने आपको उसका वधकर्ता नहीं कहता क्योंकि वह अपनी स्वतंत्रतासे वह वधकर्म नहीं करता है परंतु सेनापतिकी आज्ञासे वह बंदूक गोली चलाता है जिससे शत्रुके वीर मरते हैं।

शत्रुके फलाने वीरको मारनेका अहंकार इसको नहीं था। इसलिये उसके बंधनमें वह कर्ता नहीं है। अहंकारसेही कर्तृत्वका दोष होता है इसलिये जिसने अहंकार छोड दिया वह कर्ता होनेपर भी अकर्ता जैसाही निर्दोष रहता है। कर्मोंके दोषोंसे बचनेका यह एकमात्र साधन है जिसके अवलंबनसे साधक निरहंकार वृत्ति धारण करके अपने आपको संपूर्ण कर्मोंको करते हुए भी निर्दोष रख सकता है। अब कुछ त्रिपुटियोंका विचार होता है—

(८) त्रिपुटीकी त्रिविधता।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

(९) त्रिविध ज्ञान।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः— ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता इति त्रिविधा कर्मचोदना (अस्ति) करणं कर्म कर्ता इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (अस्ति) ॥ १८ ॥ ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधा एव गुणभेदतः गुणसंख्याने प्रोच्यते तान् अपि यथावत् शृणु ॥ १९ ॥

अन्वयः— येन (जीवः) विभक्तेषु सर्वभूतेषु अविभक्तं, एकं अव्ययं भावं ईक्षते तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥ यत् ज्ञानं पृथक्त्वेन सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥ यत् तु एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तं अहैतुकं अतत्त्वार्थवत् अल्पं च, तत् ज्ञानं तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता यह तत्त्व कर्मकी प्रेरणामें हैं तथा साधन क्रिया और कर्ता ये तीन प्रकारके कर्मके अंग हैं ॥ १८ ॥ ज्ञान कर्म और कर्ता गुणके त्रिविध भेदके कारण तीन प्रकारके होते हैं, उनका वर्णन जैसा है वैसा तू श्रवण कर ॥१९॥

जिससे जीव परस्पर विभक्त सब भूतोंमें अविभक्त और अविनाशी भावको देखता है वह ज्ञान सात्विक है ऐसा तू समझ ॥ २० ॥ जिस ज्ञानसे पृथक्त्वका अनुभव होनेके कारण सब भूतोंमें विविध प्रकारके नाना भाव देखे जाते हैं वह ज्ञान राजस है ऐसा तू जान ॥ २१ ॥ जो तो एकही कार्यमें यही सब कुछ है ऐसा मानकर आसक्त होता है जो हेतुरहित रहस्यहीन और अल्प होता है वह ज्ञान तामस कहलाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ-ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह कर्मप्रेरक त्रिपुटी है; करण (साधन) कर्म और कर्ता यह त्रिपुटी कर्मसाधक है। सत्त्व रज तम इन गुणभेदके कारण इनके तीन भेद होते हैं उनका विचार अवश्य करना योग्य है ॥ १८-१९ ॥

भावार्थ—विभक्तोंमें अविभक्त अखण्ड एकरस अविनाशी भाव देखना सात्विक ज्ञानही होता है। पृथग्भावका अनुभव होनेका कारण राजस ज्ञान है और जो सत्त्वहीन मिथ्या ज्ञान होता है वह तमोगुणी समझना योग्य है ॥ २०-२२ ॥

(१८-१९) ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान कर्ता कर्म और करण इस तरहकी त्रिपुटियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्त्व-रज तम भेदसे इनके त्रिविध भेद होते हैं। उनका वर्णन अब करते हैं—

(२०-२२) यहाँ सत्त्व-रज-तम भेदसे ज्ञानके तीन भेद होते हैं उनका वर्णन है। सात्विक ज्ञान राजस ज्ञान और तामस ज्ञानके लक्षण ये हैं—

सात्विक ज्ञान।

इस विश्वमें अनेक विविध भूत हैं। प्रत्येक भूत अन्योंसे पृथक् है वस्तुओंकी विविधताही विश्वका स्वभाव है। इस विविधतामें इस पृथक्त्वमें इन विभक्त वस्तुओंमें एकत्वके भावका अपृथक्त्वका अविभक्त सत्ताका जिससे अनुभव होता है वह सात्विक ज्ञान है। अर्थात् सात्विक ज्ञानसे अनेक विभक्त वस्तुओंमें एक अविभक्त सत्य तत्त्वका दर्शन

होता है। अनेक पृथक् एक दूसरेसे भिन्न वस्तुओंमें एक अखण्ड भावका दर्शन होता है अर्थात् अनेक भेदोंमें अभिन्न सत्ताका अनुभव होता है।

उदाहरणके लिये देखिये कि समुद्रके अनेक और परस्पर भिन्न लहरियोंमें एकही जल भरपूर भर रहा है अतः एक लहरि दूसरी लहरिसे भिन्न होती हुई भी जल रूपकी एकही सत्ता उन सबमें है। सब विभिन्न लहरियोंमें जलरूपसे अभेद देखनेका नाम सात्त्विक ज्ञान है।

सुवर्णके विविध अलंकार बनाये वे परस्पर भिन्न हैं और उनका उपयोग भी भिन्न भिन्नही है। परंतु उन सबमें एक जैसीही सुवर्णकी सत्ता है, वह एक सत्ता विविध पृथक् भावोंमें देखनेका नाम सात्त्विक भाव है।

एक मिट्टीके अनेक घडे बनाये हरएक घडेका अस्तित्व भिन्न है, तथापि सब घडोंमें मिट्टीकी सत्ता एक जैसी है। इस तरह अनेकोंमें एकत्व देखना यह सात्त्विक ज्ञानसेही होता है।

कपासके अनेकविध सूत्र बनाये और उनके बुननेकी विविध भांतिभांतिसे विविध कपडे बनाये। इन कपडों की विविधता निःसंदेह है इस विविधतामें सर्वत्र कपासरूपी वस्तुकी एकरूप सत्ताका दर्शन करनेका नाम सात्त्विक भावका दर्शन है।

एक राष्ट्रमें हिंदु, बौद्ध, जैन मुसलमान किस्ती यहुदी आदि विविध धर्म माननेवाले तथा संस्कृत, हिंदी मराठी पंजाबी बंगाली कनडी आदि विविध भाषा बोलनेवाले अनेक लोग हैं। यह मानवोंकी विविधता निःसंदेह है। इस विविधताके होते हुए इन सबमें भारतीय होनेका अद्वैत भाव देखकर ये सब भारतीय रूपमें समान हैं ऐसा मानकर इन सबसे समान व्यवहार करना यह सात्त्विक ज्ञानसेही होता है।

सब मानव प्राणी पशुपक्षी कीट, पतंग ये परस्परभिन्न हैं। परंतु इनमें एक और अखण्ड जीवतत्त्व है यह देखकर उस जीव भावसे इन सबको समान मानना और सबको जीवनधारणके साधन अन्नभोगादि यथायोग्य रीतिसे पहुंचाने चाहिये सबका जीव सबको प्रिय है सबको सुख दुःख समान है परंतु सबको समान अवसर प्रतीत होता है इन विविध प्राणियोंमें जीवनकी यह समानता देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

इसी तरह संपूर्ण विश्वकी विविध वस्तुओंकी पृथक् सत्तामें आत्माका अथवा ब्रह्मका अखण्ड अविभक्त भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

सात्त्विक ज्ञानका स्वरूप इन उदाहरणोंके विवेकसे पाठकोंमें सुस्थिर हो सकता है। सात्त्विक ज्ञानका एक बहुत भेद और सच्ची उन्नतिका साधक होता है, इसका विचार आगे किया जायगा। अब राजस ज्ञानका लक्षण देखिये—

राजस ज्ञान ।

भेदका ज्ञान पृथग्भावका ज्ञान प्रत्येकके नाना भावोंका अनुभव राजस ज्ञानसे होता है। राजस ज्ञानसे हरएक मूलमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेद दिखाई देते हैं। एकही वस्तुमें राजस ज्ञानसे विविध भेद दिखने लगते हैं और उनके पृथक् होनेका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

एकही मानव जातिमें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद ब्रह्मचर्य-गृहस्थादि आश्रमभेद, हिंदुमुसलमानादि धर्मभेद हिंदू उर्दू आदि भाषाभेद दाढी बढाना या शिखा रखना आदि चिह्नभेद इस तरहके भेदोंपरही दृष्टि रखकर और उन भेदोंको बढाकर तथा उन भेदोंकी भिन्नताको फैलाकर जो भेदोंकी वृद्धि करना होता है यह राजस ज्ञानके कारण होता है।

राजस दृष्टि सर्वत्र इस तरह भेद बढाती जाती है। इस कारण एक दूसरेके साथ मेल होना असंभव हो जाता है। जहां मेल होना वहां राजस दृष्टिका उदय होनेसे भेद निर्माण होंगे और वे बढते जायगे।

सात्त्विक दृष्टिवालेने कहा कि यह मुख सुंदर है तो राजस दृष्टिवाला उसी समय कह उठेगा कि यहां तो नाक है कान हैं आंख हैं जिह्वा है, होंठ हैं गाल हैं, चोटी है सिर है ये भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। यहां आपके कथनानुसार मुख कहां है? इस तरह राजस दृष्टिवाला झगडा करनेके लिये खडा होता। किसीने कहा कि यह रथ है तो राजस बुद्धिवाला कहेगा कि यहां चक्र, अक्ष धुरा आसन आदि ही भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। गाडी करके कोई एक वस्तु नहीं है। इस तरह प्रतिपादन करता हुआ वह झगडनेके लिये भी तैयार होगा।

यह भारतीय मानवसमाज है, ऐसा किसीने कहा तो यह राजस दृष्टिवाला कहेगा कि यहां तो हिंदु मुसलमान क्रिस्ती आदि विभिन्न जातियां हैं इनका मेल नहीं होगा, यहां भारतीय मानवसमाज नामक एक समाज नहीं है।

इस तरहकी जो मनोवृत्ति होती है जिससे भेदही भेद नजर आते हैं, यह राजस ज्ञानकी वृत्ति है। इससे भेदही भेद दीखते हैं भेद ही बढानेकी रुचि होती है एकता कर देनेके लिये प्रयत्न नहीं होते भेदोंमें अभेद देखनेकी रुचि भी नहीं होती।

राष्ट्रमें भेद बढ रहे हैं यह देखकर समझ सकते हैं कि उस राष्ट्रमें राजस वृत्ति बढ रही है। यदि किसी राष्ट्रमें सात्त्विक मनोवृत्ति बढेगी तो भेद होते हुए भी एकताकी मनोवृत्ति बढती जायगी और संघटनाका फैलाव होगा। राजस मनोवृत्तिसे विघटना होती है और मेलमिलाप नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

अब तामस ज्ञानका लक्षण देखिये—

तामस ज्ञान।

(अ-हैतुकं) जिसमें कार्यकारणका यथायोग्य बोध नहीं होता तथा (अ तत्त्वार्थवत्) जिसमें सत्य तत्त्वका भी ठीक ठीक बोध नहीं होता है और जिसमें संपूर्णके समान ही एक अंशमें आसक्तियुक्त भाव रखा जाता है उसको तामस ज्ञान कहा जाता है।

कार्यकारण-भावकी गोलमाल होना यह अज्ञानका लक्षण है। इसी अज्ञानका नाम तामस ज्ञान है। तामस ज्ञान वस्तुतः शुद्ध अज्ञान है किंवा उसे मिथ्या ज्ञान भी कह सकते हैं। मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञानको कहते हैं। तामस ज्ञानमें विपरीत भावना और अशुद्ध भावना दोनों रहते हैं। कार्यकारण-भावका यथायोग्य ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। वह इसमें नहीं रहता यह तामस ज्ञानका पहिला दोष है।

तामस ज्ञानका दूसरा दोष इसमें (अतत्त्वार्थवत्) सत्य तत्त्वका बोध नहीं होता। या तो विपरीत बोध होगा अथवा अबोध ही होगा परंतु यथायोग्य तत्त्वका ज्ञान कभी नहीं होगा। तामसी मनुष्य प्रत्येक वस्तुके विषयमें विपरीत कल्पना करता हुआ झगडता रहेगा और अपनाही मत सच्चा है ऐसा कहेगा।

तीसरा दोष तामस ज्ञानमें यह है कि (एकस्मिन् एकस्मिन् कार्ये सक्तं) अंशमें पूर्णकी भावनाका अनुभव तामसी मनुष्य करता है। यह समझता है कि अपनी उदरपूर्ति हुई तो अपने कुटुंबियोंकी तृप्ति हो चुकी। अपने कुटुंबमें सुख हुआ तो अपना ग्राम सुखी हो चुका। अपनी जातिका सुख बढानेके लिये तामसी लोग सब राष्ट्रका नाश करनेके लिये भी तैयार होते हैं। इस तरह ये तामसी लोग संपूर्णके स्थानपर अंशको मानकर अंशकी संतुष्टिके लिये संपूर्णका नाश करनेको भी प्रवृत्त होते हैं। अतः इस कारण यह तामस ज्ञान नाशके लिये कारण होता है। अंशमें (सक्तं) अत्यंत आसक्त होना और उस आसक्तिके कारण संपूर्णका हित हो चुका ऐसा मानकर संपूर्णके हितके विषयमें उदासीन रहना यह घोर परिणाम इस तामस ज्ञानसे होता है।

सत्य और तम।

इस तरह ये तीन ज्ञान हैं। सात्त्विक ज्ञान अनेकोंमें-परस्परविभिन्नोंमें एकत्व देखता है और उसके अत्यंत विपरीत यह तामस ज्ञान एकमें भी अभाव देखकर संपूर्णके स्थानपर उसके अल्प अंशको मानकर अंशके लिये ही आसक्ति धारण करके संपूर्णका त्याग करता है। सत्त्व और तम इनमें यह भेद है इसका पाठक विचार करें।

यह ज्ञान ठीक तरह समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। आर्य धर्म मानता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण मानवी सुसंस्कृत समाजमें उनके गुण कर्मोंके कारण होते हैं। सुसंस्कृतोंके ये चार वर्ण होनेसे इनसे भिन्न असंस्कृत लोगोंका एक पांचवा वर्ग मानना पडता है। इस तरह इन पांच वर्गोंमें अखिल मानवी जनता बंटी है। इसकी ओर सात्त्विक मनुष्य देखता है और इन पांच वर्गोंमें बंटी हुई विभिन्न मानवजातिमें मानवसमाजकी एकता है यह सात्त्विक ज्ञानसे वह देखता है और इस एकताके बढ सबकी उन्नतिके लिये यत्न करता है। इसके विपरीत तामस मनुष्य ब्राह्मणब्राह्मणतर शूद्रशूद्रेतर ऐसे अस्वाभाविक भेद बढाता हुआ अपनी जाति उपजातिमें ही संपूर्ण मानवसमाज समाप्त हुआ है, ऐसा मानकर जो कार्य संपूर्ण जनताके लिये करने चाहिये वे अपनी उपजातिके लिये करता है और अपनी उपजातिके हितके लिये संपूर्ण जनताके

(१०) त्रिविध कर्म।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः— अफलप्रेप्सुना यत् नियतं कर्म संगरहितं अरागद्वेषतः कृतं तत् सात्त्विकं उच्यते ॥ २३ ॥ पुनः यत् तु कामेप्सुना साहंकारेण वा बहुलायासं कर्म क्रियते तत् राजसं उदाहृतम् ॥ २४ ॥ अनुबन्धं क्षयं हिंसां पौरुषं च अनपेक्ष्य यत् कर्म मोहात् आरभ्यते तत् तामसं उच्यते ॥ २५ ॥

फलकी इच्छा न करते हुए जो नियत कर्म आसक्तिरहित और रागद्वेषरहित होकर किया जाता है उसको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥ परन्तु जो कर्मफलकी इच्छासे अहंकारसे और बड़े आयाससे किया जाता है, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥ परिणाम हानि हिंसा और अपना सामर्थ्य इनका विचार किये बिनाही मोहसे जो कर्म किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ— जो कर्म निष्काम भावसे रागद्वेषरहित होकर होता है, वह सात्त्विक कर्म है। जो भोगवृद्धिके लिये बड़े श्रमसे होता है वह राजस कर्म है। परिणामका विचार न करते हुए अज्ञानसे किंवा मोहसे होता है वह तामस कर्म है ॥ २३—२५ ॥

अहित होनेकी कोई चिंता नहीं करता; इतनाही नहीं अपनी व्यक्तिगत हितके लिये संपूर्ण मानवजातिको दुःख देना अपना कर्तव्यही समझता है। इस कारण इस तामस ज्ञानसे मानवी कष्ट बढते जाते हैं।

इस उदाहरणसे सात्त्विक और तामस ज्ञानका ठीक ठीक पता पाठकोंको लग सकता है। पाठक देखेंगे कि सात्त्विक-राजस-तामस इन तीन प्रवृत्तियोंसे समाज त्रिविध हुआ है और उनके ज्ञानविज्ञान और आचारविचारमें भी यही भेद दीखता है। यह देखकर साधक अपनी प्रवृत्ति जानें और तदनुसार अपने कर्मका तथा गुण धर्मका निश्चय करें।

यद्यपि सात्त्विक ज्ञानसे उन्नति राजस ज्ञानसे मध्यम स्थिति और तामस ज्ञानसे अवनति होनेका वर्णन (गीता-अ० १४। १८) में कहा है तथापि सात्त्विक ज्ञानके विपरीत रहनेवाले राजस और तामस ज्ञानका कोई उपयोग नहीं ऐसी बात नहीं है। देखा देखिये-सात्त्विक ज्ञानसे संगठना हो सकती है राजस ज्ञानसे हरएक विभेदका पृथक् पृथक् पता लगता है इसका ठीक ठीक ज्ञान होता है सब विज्ञानकी उन्नति विभेदोंकी विशेषताओंके पहचाननेसेही हो सकती है। विज्ञानके लिये पृथक्करण नाना भावोंके पृथक् पृथक् जानकी भी अत्यंत आवश्यकता है और तामस ज्ञानसे हरएक अपने अपने कामका ही विचार कर सकता है। इस तरह त्रिविधोंसे सब जग उन्नत होनेसे मनकी उन्नति होना संभव है। अर्थात् इन तीनों ज्ञानोंका मानवी उन्नतिमें स्थान है परंतु उनके मर्यादाके अधिक बढनेसे हानिकी संभावना हो सकती है।

ज्ञानकी त्रिविधताका यह विचार है। अब त्रिविध कर्मका विचार देखिये—

(२३-२५) सात्त्विक कर्म राजस कर्म और तामस कर्मका स्वरूप यहां बताते हैं। जो नियत कर्म आसक्ति रहित होकर तथा रागद्वेष छोडकर और उसका फल मिलने भोगके लिये लेनेकी इच्छा न करते हुए किया जाय वह सात्त्विक कहा जाता है। अर्थात् सात्त्विक कर्मके लिये प्रथम भोगकी इच्छाका त्याग करना चाहिये राग और द्वेष छोडना चाहिये यह मुख्य बात है। राग अर्थात् भोगकी प्रीति द्वेष अर्थात् दूसरेकी कायिक वाचिक मानसिक हिंसा करनेकी वृत्ति यह सब मानवके अधोगतिके साधन हैं। इनके होते हुए सात्त्विक कर्म होना असंभव है। रागद्वेषसे मन चंचल होता है उससे मनुष्य भोगकी ओर जाता है और इससे वैरके प्रभावमें फंसता है। इसलिये रागद्वेषोंके कारण अशान्तिमें फंसता है। अब रागद्वेषको दूर करके

(११) त्रिविध कर्ता।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

मनको साम्य करना चाहिये। इस मनकी समान्य स्थिति से जो कर्म होता है, वही सात्त्विक कहलाता है।

इसके विपरीत जो कर्म फलभोग करनेकी प्रबल अभिलाषासे किये जाते हैं जिनके फल इसलिये अपने पास संग्रहित करनेका यत्न किया जाता है कि उसका भोग अपनेको ही सदा मिलता रहे कितने भी परिश्रम हों और सायास पड़ें तो भी उसकी पर्वाह न करते हुए बड़े आयासोंको सहते हुए भी जो कर्म किया जाता है और जिसमें अपने कर्तृत्वकी घमंड बहुत ही रहती है वह राजस कर्म है।

अब सात्त्विक और राजस कर्मके लक्षण देखिये—

(सात्त्विक कर्म)	(राजस कर्म)
अहंकाररहित होकर	अहंकारसे किया
फलभोगका विचार छोड़कर।	फलभोगकी इच्छासे
आसक्ति छोड़कर	आसक्तिसे
रागद्वेष छोड़कर	रागद्वेषसे

राजस और सात्त्विक कर्मोंके ये लक्षण देखने योग्य हैं। इनका विचार करनेसे इन कर्मोंके परिणामोंकी भी कल्पना हो सकती है। जिसमें अहंकार आसक्ति, रागद्वेष और भोगवासना होगी वे राजस कर्म दुःख बढ़ानेवाले होंगे इसमें कोई संदेह नहीं है। अतः जो कर्म फलभोगकी कामना छोड़कर अहंकार न धारण करते हुए आसक्ति रहित होकर और रागद्वेषरहित होकर किये जायगे वेही मनुष्यका सुख बढ़ावेंगे इसमें संदेह नहीं है।

अब तामस कर्मका लक्षण सुनिये जो कर्म अपना सामर्थ्य है या नहीं है इसका बिलकुल विचार न करते हुए हानि और हिंसाका विचार भी छोड़कर परिणाम क्या होगा इसका अनुसंधान न करते हुए मोहसे किये जाते हैं व तामस कर्म अधोगतिको ले जानेवाले होते हैं। क्योंकि अपनेमें इन कर्मोंको करनेका सामर्थ्य न होनेपर जो कर्म किये जाते वे अपूर्ण ही रहेंगे और उससे व्यर्थ दुःख आदि हर्ष ही आयगी इसमें संदेह नहीं है। इसमें अब हानि और हिंसा कितनी होगी इसका विचार न करते हुए जो कर्म किये जायगे, वे भी किसी समय विशेष हानि करेंगे तथा इसका परिणाम क्या होगा इसका यदि पहिले विचार न किया जायगा तो सम्भवतः वे कर्म भयानक परिणाम करनेवाले सिद्ध होंगे। इसलिये तामस कर्म अपने हाथसे न होंगे ऐसा यत्न हरएकको करना चाहिये।

मनुष्यकी प्रवृत्तिके अनुसार उससे कर्म होते हैं। सात्त्विक प्रवृत्तिके मनुष्यसे सात्त्विक कर्म होगा राजस मनुष्य राजस कर्म करेगा और तामस प्रवृत्तिके मनुष्यसे तामस कर्मही स्वभावतः होंगे। यह तो स्वभावसेही होगा। परंतु राजस और तामस कर्मोंसे हानि होनेवाली है यह जानकर यदि थोड़ी सावधानीके साथ वेही कर्म किये जायंगे तो हानि कम होगी। धर्म यही करता है। तामस कर्मोंसे जितनी हानि होना संभव है उतनी हानि होने न देना धर्मका कार्य है।

उदाहरणके लिये देखिये- एक तामसी मनुष्य है वह मोहयुक्त होनेसे अज्ञानी है। उसे ज्ञान न होनेके कारण उससे अनेक अशुद्धियां होना संभव है। इस मोहको छोड़कर जो इसमें अन्य दुर्गुण अर्थात् अपनी शक्तिका अविचार हिंसा और हानिकी उपेक्षा परिणामकी ओर दुर्लक्ष आदि होते हैं, उनका भयानक परिणाम दूर करनेके लिये धर्मविधिकी योजना हुआ करती है। इसलिये तामसी लोग भी धर्मविधिके अनुसार अपने कर्म करते जायेंगे तो उनको उतनी हानि भोगनी नहीं पड़ेगी, जितनी कि वे धर्मको छोड़कर बर्ताव करनेपर उनको भोगनी पड़ती। एक तामसी मनुष्य तामस-उपासना करता है और एक तामसी मनुष्य मनमाना आचार करता है। इनमें उपासनामें प्रवृत्त होनेके कारण उस उपासकको तमोगुणी उतनी हानि नहीं होगी कि जितनी हानि दूसरेको भोगनी पड़ती। इससे धर्मके द्वारा राजस और तामस कर्म भी किस प्रकार कम हानि करनेवाले हो सकते हैं इसका विचार हो सकता है। अस्तु। अब त्रिविध कर्ताका विचार देखिये—

अन्वय—मुक्तसङ्गः अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते ॥ २६ ॥ रागी, कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः, हिंसात्मकः, अशुचिः हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥ अयुक्तः प्राकृतः, स्तब्धः शठः, नैष्कृतिकः अलसः विषादी, दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते ॥ २८ ॥

जो आसक्ति और अहंकारसे रहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें हर्ष शोक न माननेवाला है वह सात्त्विक कर्ता है ॥ २६ ॥ जो भोगी कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी हिंसाशील अशुद्ध हर्षशोक करनेवाला है, वह राजस कर्ता है ॥ २७ ॥ जो अव्यवस्थित-अकुशल, संस्कार-रहित, सुस्त शठ नीच-परोत्कर्ष सहन न करनेवाला आलसी, विषादी दीर्घसूत्री कर्ता है उसे तामस कर्ता कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—ममत्व और भोगासक्तिरहित उत्साहयुक्त द्वन्द्वोंके विषयमें सम भाव रखनेवाला कर्ता सात्त्विक है, भोगी लोभी हिंसक, अशुद्ध और शोक तथा हर्षयुक्त कर्ता राजस होता है और प्रमादी आलसी सुस्त कर्ता तामस समझना चाहिये ॥ २६—२८ ॥

सात्त्विक कर्ता ।

(२६—२८) जिसमें भोगकी आसक्ति (मुक्तसङ्गः) नहीं है, जिसमें (अन् अहंवादी) अहंकार नहीं है, जो धैर्य और उत्साहसे (धृत्युत्साहसमन्वितः) युक्त है तथा जो सिद्धि और असिद्धिके (सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः) विषयमें निर्विकार रहता है अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेपर जिसे घमण्ड नहीं होता और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साह नहीं होता वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है। जो कर्मके फलको अपने भोगके लिये अपने पास संग्रहित करके रखना नहीं चाहता इतनाही नहीं परंतु जो कर्मफलका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समर्पण करता है अपने कर्मके फलको अपना न समझकर परमेश्वरका मानता है और उसे परमेश्वरका मान समझकर व्यवहार करता है वह आसक्तिरहित समझना चाहिये।

कर्मका अभिमान जिसमें नहीं कर्म करनेके कारण जो अपने आपको परमोच्च नहीं समझता, मैंही ऐसा कर्म कर सकता हूं दूसरे मेरे मुकाबलेमें हीन हैं वे क्या कर सकेंगे? ऐसा जो कभी नहीं मानता वही अभिमानरहित कहलाता है। अभिमानसे दूसरोंके साथ द्वेष उत्पन्न होता है। इसलिये जो निरभिमानी होता है, वह अपने आपको द्वेषसे बचा लेता है।

सात्त्विक मनुष्य धैर्य और उत्साहसे सदा युक्त होता है क्योंकि धैर्य और उत्साहका नाश करनेवाले शोकमोहादि विकार उसमें उत्पन्न नहीं होते। सिद्धि असिद्धिकी चिन्ता उसको सताती नहीं इसलिये सिद्धि होनेसे उसको घमण्ड नहीं चढ़ती और असिद्धि होनेसे उसको निरुत्साह भी नहीं होता। ऐसा सात्त्विक कर्ता सब कर्ताओंमें श्रेष्ठ है।

राजस कर्ता ।

अब राजस कर्ताका विचार करेंगे। राजस कर्ताका सबसे पहिला लक्षण उसका भोगी होना है। भोग भोगनेकी लालसा उसके मनमें तीव्र रहती है। भोग भोगनेके लिये ही वह कर्म करता है। उसके कर्म करनेके अन्दर भाग भोगनेकी महत्त्वाकांक्षा रहती है। भोगोंपर आसक्ति होनेसे ही वह अपने कर्मके फलोंको अपने उपभोगके लिये अधिकाधिक मनमें धारण करता है। लोभ उसके मनमें रहता है यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि भोगी और फलासक्त मनुष्य लोभी होंगे ही। (हर्षशोकान्वितः) फल प्राप्त होनेसे वह हर्षसे नाचने लगेगा और भोग दूर होनेसे वह ऐसा शोकमें मग्न होगा कि उसका वर्णन होना कठिन है। हर्षसे एक ओर उसका मन झुकेगा तो शोकसे दूसरी ओर चला जायगा। इस तरह वह सदा अशान्त ही रहेगा।

जिस समय ऐसे अशान्त मनवाले मनुष्यके प्रयत्न कर लेनेपर भी उसको भोग मिलनेमें बाधा होती है तब वह बड़ा क्रोध करता है और उस क्रोधके वशमें (हिंसात्मकः) हिंसा करनेमें भी वह प्रवृत्त हो जाता है। जो उसकी भोग प्राप्तिमें विघ्न करता है उसका नाश करनेका वह यत्न करता है। इससे द्वेष बढ़ता है और हिंसा भी बढ़ती है। भोगी राजस वृत्तिका यही परिणाम है।

हिंसा जहां होती वहां अशुद्धता होतीही। इस कारण राजस कर्ता (अशुचिः) अशुद्ध होता है ऐसा कहा है।

(१२) त्रिविध बुद्धि ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु । प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

वहां भोग लोभ और हिंसा होगी वहां कायम वाचा मन शुद्ध रखना कठिन है । इस तरहका राजस कर्ता भोगी वृत्तिके कारण रोगी होता है कर्मफलप्रेमके कारण उस फलके संरक्षणकी चिन्तासे दुःखी होता है, लोभी होनेसे वह हीन-वृत्तिवाला होता है हिंसक होनेसे क्रूर बनता है अशुचिता के कारण अपवित्र होता है, हर्षशोकग्रस्त होनेके कारण चंचल होता है । अर्थात् इन सब कारणोंसे वह दुःखी होता है । वह कदापि शान्त नहीं रह सकता । अशान्ति बेचैनीका ही नाम है ।

तामस कर्ता ।

अब तामस कर्ताके लक्षण देखिये । तामस कर्ताका प्रधान लक्षण अज्ञान और मोह है । इस कारण उसमें योग अर्थात् कर्मका कौशल्य नहीं हो सकता । अतः उसको (अ-युक्तः) कर्मकी कुशलता जिसमें नहीं ऐसा अकुशल कर्माकौशल्य हीन पुरुष कहते हैं । कर्मकौशल्य जिसमें नहीं होगा उससे कोई भी कर्म यथायोग्य रीतिसे नहीं हो सकता और योग्य रीतिसे कर्म न होनेके कारण सफलता भी उसको नहीं प्राप्त हो सकती ।

तामस कर्ता अपने अज्ञानके ही कारण (प्राकृतः) संस्कारहीन होता है । मनुष्य सुसंस्कारसंपन्न रहनेसे ही वह उत्तम नागरिक हो सकता है । संस्कारहीन पुरुष प्राकृत किंवा पराकृत अर्थात् समाजसे दूर रखने योग्य समझा जाता है । समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये मनुष्य शुभ संस्कारोंसे संपन्न होना चाहिये । ये शुभ संस्कार ज्ञानसे ही हो सकते हैं । परंतु तामस मानवके पास तो ज्ञान रहता ही नहीं परंतु मोह भरपूर रहता है । इसलिये शुभ संस्कारोंका न होना ही तामस कर्ताकी स्वाभाविक स्थिति है ।

जिसके पास कर्मकौशल्य नहीं और ज्ञानजन्य शुभ संस्कार भी नहीं वह क्या करेगा ? वह तो स्वभावतः आलस्यमें पड़ा रहेगा और सुस्ती ही उसका प्रधान लक्षण बना रहेगा । अब इस तामस कर्ताको यहां (स्तब्धः) स्तब्ध कहा है । न वह ज्ञानकी बातें बोल सकता है न वह कुछ करनेके कर्म कर सकता है न वह शुभ विचार देख सकता है, इस तरह जिस क्षेत्रमें हो उस क्षेत्रमें वह सुस्त और स्तब्ध रहता है । स्तब्धताके कारण उससे कोई अच्छे कर्म नहीं होते और वह हीन स्थितिमें पड़ा जाता है । सुस्त होनेके कारण (अलसः) वह आलसी होता है । कोई कर्म करनेमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती फिर उन्नति कैसे होगी ?

जब अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति कर लेनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं होता तब उसकी बुद्धि टेढी चलने लगती है और वह अन्तमें शठ बनता है, धन कमानेका यत्न करके धन कमानेका यत्न करता है परंतु वह भी साध्य करनेके लिये कौशल्य तो अवश्य चाहिये । वह उसके पास नहीं होता है । इस कारण वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । अपनी असफलताका विषाद मानता है और दूसरे लोग सफल बने हुए देखकर वह उनका भी द्वेष करने लगता है । इस तरह वह नीच बनता है, दूसरोंके उत्कर्षसे आनंद माननेकी उदारता उसमें नहीं होती इसलिये नैष्कृतिक कहते हैं । इस कारण यह मनुष्य सदा विषाद माननेवाला सदा दुःख करनेवाला और उत्कर्षको पहुंचनेवाले दूसरोंका द्वेष करनेवाला होता है ।

जिसके पास किसी प्रकारका ज्ञान नहीं, कौशल्य नहीं, कर्म करनेका उत्साह नहीं विषादसे जिसका मन खिन्न हुआ है, आलस्यके कारण जिससे कुछ कार्य बनता नहीं वह हर-एक काम करनेमें दीर्घसूत्री होना स्वाभाविक है । दीर्घसूत्री का भाव यह है कि जिस कामको एक घण्टा लगनेवाला है, वही कार्य करनेके लिये आठ दस घण्टे लगाकर भी वह अपूर्ण ही रखता । इससे सफलताकी कोई आशा नहीं होती ।

तामसी कर्ताकी यह अवस्था है इसकी उन्नति असंभवनीय ही नहीं है । हरएक कार्यमें असफल होनेके कारण उसकी सदा अवनति ही होती रहेगी ।

इस तरह कर्ताके तीनों भेदोंका यह विचार है । अब त्रिविध बुद्धिका विचार देखिये —

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

(१३) त्रिविध धृति ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अन्वयः— हे धनंजय ! बुद्धेः धृतेः च एव गुणतः त्रिविधं भेदं अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं शृणु ॥२९॥ हे पार्थ ! या बुद्धिः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बन्धं मोक्षं च वेत्ति सा सात्त्विकी (मता) ॥३०॥ हे पार्थ ! यया च (बुद्ध्या जीवः) धर्मं अधर्मं च कार्यं अकार्यं च अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी (मता) ॥३१॥ हे पार्थ ! या तमसा आवृता (बुद्धिः) अधर्मं धर्मं इति सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते सा बुद्धिः तामसी (स्मृता) ॥३२॥

अन्वय — हे पार्थ ! (नरः) यया अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन धारयते सा धृतिः सात्त्विकी (अस्ति) ॥३३॥ हे अर्जुन ! यया धृत्या प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी (सन्) धर्मकामार्थान् (नरः) धारयते, सा धृतिः राजसी (अस्ति) ॥३४॥ हे पार्थ ! दुर्मेधा (नरः) यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदं एव च न विमुञ्चति सा धृतिः तामसी (मता) ॥३५॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृतिके गुणोंके अनुसार तीन प्रकारके भेद होते हैं उनका पूर्ण और पृथक् वर्णन करता हूँ, यह तू सुन ॥२९॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य अकार्य भय-अभय बन्ध-मोक्षको यथावत् जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है ॥३०॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे जीव धर्म-अधर्म कार्य अकार्यका भेद यथार्थ रीतिसे नहीं जानता वह राजसी बुद्धि है ॥३१॥ हे पार्थ ! जो अज्ञानसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सब अर्थोंको विपरीत समझाती है वह तामस बुद्धि है ॥३२॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस एकनिष्ठ धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियक्रियाओंका साम्य धृतिसे धारण करता है वह सात्त्विक धृति है ॥३३॥ हे अर्जुन ! जिस धृतिसे आसक्त बुद्धिसे फलभोगकी आकांक्षा करता हुआ धर्म अर्थ और कामको मनुष्य धारण करता है वह राजस धृति है ॥३४॥ हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धि-वाला मनुष्य जिस धृतिसे निद्रा भय शोक, खेद और मदको नहीं छोड़ता वह तामस धृति है ॥३५॥

भावार्थ— बुद्धि और धृति भी सात्त्विकराजसादि भेदोंसे तीन प्रकारकी है । कर्तव्याकर्तव्यका विचार ठीक वाह अपेक्षाकी बुद्धि सात्त्विक जिससे कर्तव्याकर्तव्यका विचार ठीक नहीं होता, परन्तु जिससे त्यागकी अपेक्षा भोग पसंद किया जाता है, वह बुद्धि राजस और मोह अज्ञानके कारण जो अज्ञानको ही ज्ञान मानती है और सब बातोंको विपरीत समझती है वह तामस बुद्धि है ॥ २९—३२ ॥

(२९-३२) बुद्धिके सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद होते हैं। जिसमें प्रवृत्ति कहाँ होना है जिसमें निवृत्त होना चाहिये अथवा कार्य करना चाहिये अथवा कर्म करना नहीं चाहिये जिससे बन्ध होता है और जिससे बन्धन नष्ट होकर साधक मुक्त होता है इसका ठीक ठीक ज्ञान जिस बुद्धिको ठीक समझमें होता है उस उपदेश करने वाली सात्त्विक बुद्धि है। जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म अधर्मको धर्म कर्तव्यको अकर्तव्य और अकर्तव्यको कर्तव्य बन्धको मोक्ष और मोक्षको बन्ध स्वातन्त्र्यको पारतन्त्र्य और पारतन्त्र्यको स्वतंत्रता अर्थात् जिस बुद्धिसे सत्य ज्ञान न होकर मिथ्या ज्ञान ही होता है जिसके जो जैसा नहीं है वैसाही प्रतीत होता है वह राजस बुद्धि है। तमसे आवृत हुई अज्ञानसे मूढ़ हुई बुद्धिसे सम्पूर्ण बातें विपरीतही प्रतीत होती हैं और कुछ भी यथार्थ ज्ञान उसे नहीं होता है। इस कारण तामस बुद्धिवाला धर्माधर्मका निर्णय नहीं कर सकता। ये त्रिविध बुद्धिके भेद हैं। अब धृतिके तीन भेद देखिये—

(१४) त्रिविध सुख।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अन्वय —हे भरतर्षभ! इदानीं तु त्रिविधं सुखं मे शृणु, यत्र (सुखे जीवः) अभ्यासात् रमते दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥ यत् अग्रे विषं इव परिणामे अमृतोपमं आत्मबुद्धिप्रसादजं (अस्ति) तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥३७॥ यत् विषयेन्द्रियसंयोगात् अग्रे अमृतोपमं परिणामे च विषं इव (अस्ति) तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥ यत् अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनं निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत् सुखं तामसं उदाहृतम् ॥३९॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखके भेद मुझसे तू सुन। इस सुखमें जीव अभ्याससे रमता है और दुःखका नाश होता है ॥३६॥ जो आरंभमें विषके समान लगता है परन्तु परिणाममें अमृतके समान होता है और जो आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है उसको सात्त्विक सुख कहते हैं ॥३७॥ जो विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोग होनेसे उत्पन्न होकर आरंभमें अमृतके समान लगता है, परन्तु अन्तमें जो विषके समान होता है वह सुख राजस है ॥३८॥ जो आरंभमें और अन्तमें आत्माको मोहमें डालते हैं और जो निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है उसे तामस सुख कहते हैं ॥३९॥

भावार्थ— सम-बुद्धिसे इंद्रिय- शक्तिका धारण करनेका नाम सात्त्विक धृति है। फलभोगकी इच्छासे धर्मादिकर्मोंके धारण करनेका नाम राजस धृति है और निद्राभयशोकादिको न छोडनेका तामस धृति है ॥३३-३५॥

भावार्थ— जिस सुखमें जीव सदा रमता है और जिसके प्राप्त होनेसे दुःखका नाश होता है वह सुख भी तीन प्रकारका है। जो आत्मज्ञानकी प्रसन्न वृत्तिमें उत्पन्न होता है वह सात्त्विक, जो भोगोंसे उत्पन्न होता है वह राजस और जो मोह निद्रा आलस्यसे होता है वह तामस सुख है ॥३६-३९॥

(३३-३५) धृतिका अर्थ धारण करनेकी शक्ति। शरीरमें मन-प्राण इंद्रियोंकी क्रियाओंका धारण जिस शक्तिसे हो रहा है उस शक्तिका नाम धृति है। जिस शक्तिसे योगीके शरीरमें मन प्राण और इंद्रियोंकी शक्तियोंका सम वृत्तिसे अर्थात् समस्थितिसे धारण होता है अर्थात् मन प्राण और इंद्रियां परस्पर सहायक पोषक और संवर्धक होती हैं उस धारणशक्तिको सात्त्विक कहते हैं। आसक्त वृत्तिसे कर्मोंका भोग मैं करूंगा कर्मोंका समय मैं अपने उपभोगके लिये अपने पास बढाऊंगा इस तरह की आसक्तिसे धर्मादि कर्म करने अथवा द्रव्यार्जन भी भोग के लियेही करना और कामवृत्तिकी वृद्धि हो वैसेही कार्य करना यह जिस शक्तिसे होता है वह राजस धृति है। तामस धृतिसे अर्थात् तमोगुणी धारणशक्तिसे मनुष्यमें बहुत निद्रा, अतिस्वप्न भीति, भयादर, डर शोक, रोनेकी प्रवृत्ति अपने कारणसे रो पडना देह विषाद दुःख अका-रण दुःख करते रहनेकी वृत्ति और मद गर्व अर्थात् उत्पन्न होती है। इन दुर्गुणोंको मनुष्यके अन्दर देखनेसे समझ सकते हैं कि इसमें तमोगुणी धृति रहती है। सात्त्विक, राजस और तामस धृतिके ये लक्षण हैं। अब त्रिविध सुखका विचार किया जाता है—

(३६-३९) सुख भी तीन प्रकारका है एक सात्त्विक सुख दूसरा राजस सुख और तीसरा तामस सुख। तामस सुखको दुःखही समझना उचित है नि:सन्देह वह दुःखही उत्पन्न करता है। इन सुखोंके अन्दर अपनी प्रकृतिके अनु-सार जीव रमता है और दुःख दूर हुआ ऐसा समझता है।

(१५) सत्त्वकी त्रिविधता ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

(१६) स्वभावज कर्म ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अन्वयः—यत् सत्त्वं एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात्, तत् पृथिव्यां वा दिवि वा पुनः देवेषु (वा) न अस्ति ॥ ४० ॥

अन्वयः— हे परंतप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि (सन्ति) ॥ ४१ ॥ शमः, दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवं ज्ञानं विज्ञानं, आस्तिक्यं एव च (इति) स्वभावजं ब्रह्मकर्म (अस्ति) ॥ ४२ ॥ शौर्यं, तेजः धृतिः दाक्ष्यं युद्धे अपि च अपलायनं दानं ईश्वरभावः च इति स्वभावजं क्षात्रं कर्म (अस्ति) ॥ ४३ ॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजं वैश्यकर्म (अस्ति) अपि (च) शूद्रस्य परिचर्यात्मकं कर्म स्वभावजं (अस्ति) ॥ ४४ ॥

जो वस्तु इन प्राकृतिक तीनों गुणोंसे अलिप्त हो वह पृथ्वीमें द्युलोकमें या देवोंमें भी नहीं है ॥४०॥

हे शत्रु तप करनेवाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रके भी कर्म स्वभावजन्य गुणोंसे विविध हुए हैं ॥ ४१ ॥ शम दम तप शुद्धता सहनशक्ति सरलता ज्ञान विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥ ४२ ॥ शौर्य तेजस्विता धैर्य दक्षता युद्धसे पीछे न हटना दान और शासकता प्रभुत्व क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं ॥ ४३ ॥ खेती गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्यके स्वभावजन्य गुण हैं और परिचर्या यह शूद्रोंका स्वभावजन्य गुण है ॥ ४४ ॥

सात्त्विक सुखका लक्षण यह है कि वह सात्त्विक सुख आरम्भमें विष जैसा दुःखदायी प्रतीत होता है परंतु इसका परिणाम अमृत जैसा अत्यन्त हितकर होता है जिसमें आत्मा और बुद्धिकी प्रसन्नता मनुष्यको अति सुखमय देती है चारों ओर आनन्दही आनन्द प्रतीत होता है स्वाभाविक अकृत्रिम आनन्दका अनुभव आता है । यह है सात्त्विक सुख । यह सुख मिलनेके समय दुःख होगा परंतु इसका स्थायी परिणाम आनन्द होगा । यह सात्त्विक सुखका लक्षण है । दूसरा सुख राजस सुख है । यह प्राप्त होनेके समय अत्यन्त सुख प्रतीत होता है परंतु इसका परिणाम विषकी तरह भयानक होता है । परिणाममें दुःख बढता और ... यह सुख तो इन्द्रियोंके विषयोंके साथ संयुक्त करनेसेही होता है विषय न मिले तो वह राजस सुख मिलता नहीं । मनमें इच्छा उत्पन्न हुई हो फिर अधीन हो और इन्द्रिया विषयोंमें संयुक्त हों तब यह सुख मिलता है । इस तरहका यह राजस सुख होता है । यह दुःखपरिणामी होनेके कारण इसको सुख कहा जाय या नहीं इस विषयमें सन्देह है । तथापि सब जीवजन्तु इस सुखके लिये यत्न कर रहे हैं और इसमें प्रथम सुख मिलता ही है और जैसा सात्त्विक सुखके प्रारंभमें प्रथम दुःखके अनुभव होते हैं वैसा यहां नहीं है ।

जो प्रारंभमें अन्ततक और बीचमें भी आत्माको मोहमें फंसा देता है जिसमें निद्रा आलस्य और अकर्मण्यता भाव बढते हैं और जिसमें प्रमाद हो जाते हैं वह तामस सुख है । तामसी मनुष्य सोना चाहता है एवं निद्रा लेता है आलस्यमें सुस्तीसे पडा रहता है कुछ भी करनेको दिल नहीं चाहता या सब प्रमाद होते जाते हैं । सुस्तीमें जो सुखका अनुभव करता है वह तमोगुणका भाव है । प्रवृत्तिमें जो सुखका अनुभव है वह रजोगुणका भाव है । ब्रह्मवृत्तिमें सुखका अनुभव करता है वह सत्त्वगुणका भाव है ।

इस तरह त्रिविध भाव बतानेके पश्चात् अब त्रिविध विभाग है ऐसा भगवान् कहते हैं—

भावार्थ — ऐसी एक भी वस्तु नहीं है कि जिसमें सात्त्विक राजस अथवा तामस भाव न हो अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें किसी न किसी गुणका भाव होताही है ॥ ४० ॥

भावार्थ — चार वर्णोंके गुण भी सत्वरजतमरूप प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक ही हैं। शमदम आदि ब्राह्मणोंके, शौर्यतेज आदि क्षत्रियोंके, खेती व्यापार आदि वैश्यके और सेवा करके आजीविका करना शूद्रके स्वभावसिद्ध कर्म हैं ॥ ४१-४४ ॥

(४०) इस पृथ्वीपर अन्तरिक्षमें तथा आकाशमें जो भी वस्तुएं हैं वे सबकी सब सत्त्व रज और तम इन तीनों प्राकृतिक भावोंसे युक्त हैं। एक भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसमें इनमेंसे एक भी भाव न हो। मनुष्य संपूर्ण विश्वमें इन तीनों गुणोंका खेल और मेल देखें और मानव जातिमें भी ये तीनों प्राकृतिक गुण हैं इसका अनुभव करें। कई मनुष्य सत्त्वगुणविशिष्ट कई रजोगुण विशिष्ट और कई तमो गुणविशिष्ट होते हैं। अपनी प्रकृतिके अनुकूल हरएकके गुण कर्म हुआ करते हैं इसलिये मानवजातिके चार भेद होना स्वाभाविक है। इन चार विभेदोंका वर्णन इस तरह है

(४१-४४) मानव जातिमें सत्त्व-रज-तमो-गुणोंसे कुछ भेद होना स्वाभाविकही है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है वैसे उसके गुण और गुणोंके अनुसार कर्म होना स्वाभाविकही है। पीछे कहाही है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(गी ३।३३)

ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुकूल कार्य करता है प्रकृतिस्वभावके अनुकूल भूतोंका वर्ताव होता है, अतः निग्रह क्या करेगा?" इस तरह प्रकृति-स्वभावकी प्रबलता बताती है। जिसकी प्रकृति सात्त्विक है वह राजस तामस कर्म करनेमें असमर्थ होगा तथा जिसकी प्रकृति राजस होगी वह सात्त्विक अथवा तामस कर्म नहीं कर सकेगा इसी तरह जिसकी तामस प्रकृति होगी वह सात्त्विक और राजस कर्म करनेमें पूर्ण असमर्थ होगा। यही अर्थ ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहेगा फिर जो ज्ञानी नहीं है, ऐसी जनता अपनी प्रकृतिके अनुकूलही चलती रहेगी इसमें संदेह ही क्या है?

मनुष्योंके अन्दर प्रकृतिके गुण-वृत्तिके अनुकूल अनेक भेद होते हैं, इसी लिये एक मनुष्यका स्वभाव दूसरेके साथ मिलता नहीं। ये भेद शरीर-इंद्रिय-मन-बुद्धिकी स्वभाव प्रवृत्तिके अनुसार विभिन्न हुआ करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें जो त्रिगुणोंका विचार अ. १७ में तथा अ. १८ में किया है वह मनुष्योंकी स्वभावप्रवृत्ति कैसी है, इसकी परीक्षा करनेके लियेही कहा है। भ. गी. अ. १८ में ज्ञान-कर्म कर्ता-बुद्धि-धृति-सुख-के भेदोंका वर्णन किया है। इस वर्णनके साथ अ. १७ का त्रिगुणोंका वर्णन भी देखने योग्य है। वहां यजन-उपासना-आहार-यज्ञ-तप-दानके वर्णनसे इसी त्रिगुणमयी मानवी प्रवृत्तिका वर्णन है। मनुष्यकी परीक्षा इन कसौटियोंसे हो सकती है। यह परीक्षा दूसरा भी कर सकता है और पक्षपातरहित होकर स्वयं अपनी परीक्षा भी की जा सकती है। अपनी प्रवृत्ति सात्त्विक है, राजस है या तामस है यह स्वयं अपने आपको भी इस परीक्षाद्वारा ज्ञात हो सकता है। यह परीक्षा दूसरोंको बतानेके लिये नहीं की जाती परंतु धार्मिक क्षेत्रमें अपनी स्थिति किस सीढीपर- किस भूमिकापर-है यह जाना जा सकता है। और यह जानना सत्य धर्मप्रेमियोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। यह परीक्षा किस तरहकी है यह अब देखना है। यह निम्नलिखित कोष्टकसे ज्ञात हो सकता है-

अ० १७	सात्त्विक	राजस	तामस
उपासना	देवतोपासना	यक्षराक्षसोपासना	भूतप्रेतोपासना
भोजन	रस्य स्निग्ध-हृद्य	तीक्ष्ण-रूक्ष	गलित बासा-दुर्गंधयुक्त
यज्ञ	निष्काम भावसे	भोग बढानेके लिये	श्रद्धारहित
तप		दंभसे	दूसरेके नाशके लिये
दान	देशकालोचित	प्रतिफलभोगके लिये	कुपात्रमें दिया

अ० १८	सात्त्विक	राजस	तामस
कर्मत्याग	फलत्यागयुक्त	दुःखके भयसे	मोहसे
ज्ञान	विभक्तोंमें अविभक्त भावका ज्ञान	पृथक्त्व रूपका ज्ञान	मिथ्या ज्ञान
कर्म	निष्काम भावसे क्रिया	सकाम कर्म	हिंसादि दोषयुक्त
कर्ता	निष्काम कर्ता	भोगी कर्ता	विषादी दीर्घसूत्री
बुद्धि	कार्याकार्यज्ञ	अयथा ज्ञानयुक्त	विपरीत भावयुक्त
धृति	समता युक्त	फलाकांक्षी	शोकमोहयुक्त
सुख	आत्मबुद्धि प्रसादज	विषयजन्य	निद्रालस्योत्थ

संक्षेपसे मनुष्यकी परीक्षा करनेकी कसौटियां ये हैं। विस्तारसे देखना हो तो गीता अ० १७ और १८ में देख सकते हैं। किस मनुष्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति कैसी है, यह देखकर उसमें सत्त्व रज या तम इन गुणोंमेंसे किस गुणका प्रभाव है, इसका निर्णय इस परीक्षासे हो सकता है। इसीसे स्वयं अपनी भी परीक्षा की जा सकती है। मनुष्य क्या खाता पीता है क्या करता है, क्या चाहता है इसका निरीक्षण करनेसे उसका प्रवृत्ति निश्चित की जा सकती है।

इस तरह मनुष्यके तीन वर्ग होते हैं। कई मनुष्य सात्त्विक कई राजस या कई तामस होते हैं। ये मनुष्य तीनही पहचाने जा सकते हैं। परन्तु कई लोग ढोंगसे भी अपनी ऐसी स्वभाववृत्ति है ऐसा दिखाया करते हैं इस कारण यह परीक्षा समाजमें कठिन हो रही है।

सात्त्विक गुणवालेकी योग्यता समाजमें अधिक समझी जाती है इसलिये अपने आपको सात्त्विक न होते हुए भी सात्त्विक बतानेकी इच्छा बहुतोंमें होनेके कारण समाजमें यह सच्ची परीक्षा करके पहचानना कठिन हो रहा है जो मनुष्य स्वयं भावयुक्त करके अपनी निजवृत्तिका रोकता और दूसरी वृत्ति अपनेमें होनेका ढोंग रचता है वह अपना ही घात करता है। उदाहरणके लिये देखिये कि किसीकी अपनी निजवृत्ति तमोगुणी होनेपर भी उसने राजस या सात्त्विक होनेका ढोंग किया तो अन्तमें उसीकी हानि होगी। तमोगुणी दुःख होगा उसमें राजस वृत्तिके गुण कर्म होंगे भी नहीं। और वह न इधरका रहा न उधरका रहेगा। इसलिये अपनी प्रवृत्तिका ढोंगसे भिन्न दर्शाना अपनी घात करना है और समाजका भी घात करना है।

यद्यपि सत्त्व-रज तम ये तीनही गुण हैं तथापि इन तीन गुणोंके कारण मानवोंमें चार भेद होते हैं। सत्त्वगुण स्थिर है और तमोगुण मुख्य है इसलिये एक सत्त्वगुणी और दूसरे तमोगुणी ऐसे दो भेद स्पष्ट होते हैं। मानवोंके ये दो भेद पहिले जानना चाहिये। तीसरा गुण रजोगुण है यह स्वभाव चञ्चल है इसलिये यह रजोगुण अपनी चंचल वृत्तिके कारण एक समय सत्त्वगुणकी ओर झुका होता है और दूसरी ओर तमोगुणकी ओर झुका होता है। इस झुकावके कारण दो प्रकारका रजोगुण समाजमें दिखाई देता है। इसलिये रजोगुणके दो भेद और सत्त्वगुण तथा तमोगुणके दो भेद मिलकर मानवोंके मुख्यतः चार भेद हुआ करते हैं। इसका भाव चार्ट यह है।

सत्त्वगुण	सत्त्वमिश्रित रजोगुण	तमोमिश्रित रजोगुण	तमोगुण
ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र

इस प्रकार गुण भेदसे अर्थात् मिश्रणोंसे वर्ण चार बनते हैं। इन चार वर्णोंमें इन तीनों गुणोंका सर्वसामान्य प्रमाण इस तरह होता है—

धर्म	निजस्वभाव-गुण		
१ ब्राह्मण	सत्त्व	रज	तम
	[illegible]	[illegible]	[illegible]
२ क्षत्रिय	रज	सत्त्व	तम
	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३ वैश्य	रज	तम	सत्त्व
	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४ शूद्र	तम	सत्त्व	रज
	[illegible]	[illegible]	[illegible]

१ ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म — शम दम तप शौच क्षान्ति आर्जव ज्ञान विज्ञान आस्तिक्य।

२ क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म- शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमें स्थिर रहना, न भागना, दान, स्वाभिमान, स्वामित्व।

३ वैश्यके स्वाभाविक कर्म- कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य।

४ शूद्रके स्वाभाविक कर्म- सेवा अथवा दूसरा कर्म।

भिन्न स्वभावगुणोंके अनुसार स्वभावसिद्ध कर्म ये हैं। अर्थात् जिसके अन्दर सत्त्वगुण होगा उसमें शमदमादि गुणही होंगे, जिसमें सात्त्विक रजोगुण होगा उससे शौर्यादि कर्मही होंगे, जिसमें तामस रजोगुण होगा वह वाणिज्य व्यापार पसन्द करेगा अर्थात् जितना देगा उससे अधिक लेना चाहेगा। इसी तरह तमोगुणी किसी न किसीका दास ही बनेगा। उनमें जो स्वाधीनताका होगा वह दूसरेके कार्य करना चाहेगा। इस विचारसे पाठक जान सकते हैं कि भिन्न गुणोंके अनुकूल कर्म करना मनुष्यके लिये स्वाभाविक है और ऐसे कर्म उनसे उत्तम हो सकेंगे। भिन्न गुणके विपरीत कर्म करनेका कोई यत्न करेगा तो उससे वे कर्म होंगे नहीं और यदि बलात् करनेका यत्न किया जायगा, तो उस प्रयत्नमें असफलताही प्राप्त होगी।

इस चातुर्वर्ण्य संबंधमें विवरण भी अ० ४, श्लो० १३ के प्रकरणमें पाठक देखें।

प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे सत्त्व+ रज+ तम रूप होते हैं। इस कारण प्रत्येक मनुष्यमें चातुर्वर्ण्य न्यूनाधिक रूपमें ही रहता है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य थोडा शम दममें रुचि रखनेवाला थोडा शूर और थोडा व्यापारमें तथा दूसरा व्यापारमें रुचि रखनेवाला और थोडा परस्पर सेवा करनेवाला होताही है। ब्राह्मणमें भी रज तम ये गुण होतेही हैं, परंतु उसमें सत्त्वगुण अधिक होता है। प्रत्येक मनुष्यमें प्रायः चारों वर्णोंके कर्मका भाव रहता है परंतु जो गुण उसमें विशेष होता है, उसकी प्रबलता रहती है।

इस कारण शमदमादि गुण ब्राह्मणमें पूर्ण विकसित और अन्य वर्णोंमें कुछ न्यून, इसी तरह अन्य वर्णोंके कर्मोंके संबंधमें जानना उचित है। अतः शमदम शूद्रमें नहीं हो सकते ऐसा कोई न समझे। होते तो हैं परंतु कम होते हैं। इसी लिये राष्ट्रपर आपत्ति आ जाय तो सब लोग शस्त्र धारण कर सकते हैं और हो सकते हैं उस समय चारों वर्णके लोग आपत्ति जानेके पश्चात् अपना अपना कर्म प्रत्येक वर्ण करता जायगा।

इससे राष्ट्रीय शिक्षा किस तरह देनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है। हरएकमें चारों वर्ण सामान्यतः हैं, इसलिये सामान्यतः प्रत्येकको चारों वर्णोंके कर्तव्योंका ज्ञान कम ज्यादा ऐसी सामान्य शिक्षा सब राष्ट्रको देनी चाहिये। इस सर्वसामान्य शिक्षाके पश्चात् जिसमें जो विशेष गुण है, उसके विकासके योग्य उसको विशेष शिक्षा मिलनी चाहिये। सर्वसामान्य और विशेष शिक्षा राष्ट्रमें शुरू करनेकी रीति इससे ज्ञात हो सकती है।

सामान्य शिक्षा।

प्रत्येक मनुष्यमें तीनों गुणोंका मिश्रण १६ आने है, ऐसा माननेपर सत्त्व रज तम प्रत्येकमें चार चार आने मिलकर बारह आने और १ उस वर्णका गुण चार आने मिलकर १६ आने मनुष्य होता है। इसलिये सर्वसामान्य शिक्षा तीनों गुणोंके कर्मोंकी हरएक विद्यार्थीको सबसे प्रथम मिलनी चाहिये। यथा—

इंद्रियोंका शम मनका दमन पवित्रताका पालन कष्टोंका सहन करनेकी शक्ति सरलतासे व्यवहार करना, ज्ञान विज्ञान आस्तिक्य और उपासनाकी रीति, शूर-वीरताके काम करनेका अभ्यास देशभक्तिकी वृद्धि आत्मसंरक्षण संगोपन दक्षता, युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करना, युद्धसे न भागना दान देना, स्वामीभाव कृषिकर्म गोरक्षा, व्यापार व्यवहार कारीगरी और सेवाशुश्रूषा आदि चारों वर्णोंके सामान्य कर्तव्योंकी शिक्षा राष्ट्रके सब बालक बालिकाओंको देनी चाहिये।

इसका विचार करके सुविचारी पाठक इसका कार्यक्रम विस्तारपूर्वक बना सकते हैं। प्राथमिक पाठ सर्वसाधारण बालकोंको इस तरहकी देनेपर जो बालक अपने भिन्न स्वभाव गुण विशेष प्रकारसे बतायेंगे उनको स्वकर्मोचित विशेष शिक्षा देना उचित है।

इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शौर्यवीर्यादि गुण ब्राह्मणमें न रहें और शमदमादि शूद्रमें न हों। सब गुण सबमें न्यूनाधिक रहते ही हैं, उनको विकसित करना आवश्यक भी है। परंतु आगे जाकर कई बालक ऐसे होंगे कि जो ज्ञान विज्ञानकी चर्चामें प्रवीण हो सकेंगे और युद्ध जिनसे नहीं हो सकेंगे कई ऐसे होंगे कि जो युद्धकार्यमें निपुण

(१७) स्वकर्मसे सिद्धि।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अन्वयः- स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिं लभते। स्वकर्मनिरतः (नरः) यथा सिद्धिं विन्दति तत् शृणु ॥४५॥ यतः भूतानां प्रवृत्तिः (अस्ति) येन इदं सर्वं ततं (अस्ति), तं (ईश्वरं) स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिं विन्दति ॥४६॥

अपने अपने कर्ममें जो तत्पर रहता है वह नर उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है। स्वकर्ममें तत्पर रहनेवालेको जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है वह श्रवण कर ॥४५॥ जिससे सब भूतोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त हुआ है उस (ईश्वरको) स्वकर्मद्वारा पूजनसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है ॥४६॥

होंगे और उनकी बुद्धि वाणिज्यमें नहीं चलेगी तीसरे कोई ऐसे होंगे जिनको कृषि अथवा वाणिज्यही प्रिय होकर उसीके पीछे लगनेमें उनको आनन्द होगा, शेष कई ऐसे होंगे, कि जो कारीगरीमें प्रवीण होंगे और कई सेवाशुश्रूषा के कार्य प्रेमसे करेंगे। ऐसे प्रवृत्तिवाले छात्रोंको इन विषयोंकी शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। इस विशेष शिक्षासे उनमें विशेष गुण होगा, उसका संवर्धन करना चाहिये। इस विचारसे राष्ट्रीय शिक्षा किस ढंगसे राष्ट्रमें देनी चाहिये इसका निर्णय हो सकेगा।

यों सबको छात्रोंको सर्वसाधारण सामान्य शिक्षा देनेसे उनकी समानता प्रथम सिद्ध होगी और तत्पश्चात् उनमें जो विशेष शिक्षासे स्ववर्णभावकी उन्नति होती है उससे उनमें वर्णधर्मका विकास होगा। हरएक वर्णके कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा होती है, इसलिये राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे संपूर्ण वर्णोंकी आवश्यकता निःसंदेह है। सापेक्षतासे युद्धके समय क्षात्रधर्मका विशेष महत्त्व, व्यापारव्यवहारके समय वैश्योंका महत्त्व, ज्ञान विज्ञानकी खोज और उन्नतिसे राष्ट्रके भविष्यका विचार करनेमें ब्राह्मणोंका महत्त्व होता है। इस तरह देखनेसे सापेक्षतया किसी एक वर्णका महत्त्व है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

जैसा शरीरमें भी विचार करनेके कार्यके समय मस्तकका महत्त्व, देखनेके कार्यके समय नेत्रोंका महत्त्व, करनेके समय बाहुओंका महत्त्व, चलनेके समय पावोंका महत्त्व होता है। पर साधारण मस्तक और सिरमें रहनेवाले नेत्र-कर्णादिकका महत्त्व तो सबसेही विशेष होता है।

इसी तरह यद्यपि समयविशेषमें हरएक वर्ण विशेष महत्त्वका होता है और सर्वसामान्यतया सब वर्णधर्मोंकी राष्ट्रके लिये आवश्यकता समानतया है तथापि ज्ञानी और शूरोंकी आवश्यकता कईगुना अधिक है इसमें संदेह ही नहीं है इनमें भी शूरोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका महत्त्व विशेष है। क्योंकि चाहे क्षात्र रहें या ब्राह्मणाधीन क्षात्र रहें, इसका निर्णय ब्राह्मणोंके आधीन क्षात्र रहें यही शास्त्रकारोंने किया है। यही बात सही मानने योग्य है।

राष्ट्रमें जिस विशेष समयमें सैनिकोंका शासन (मार्शल ला) शुरू होता है उस समय राष्ट्रके लोगोंको बडे कष्ट होते हैं। इसका कारण यही है कि जनता क्षात्रशासन पसंद नहीं करती, परंतु ब्राह्मशासनही पसंद करती है। जिन देशोंमें सेनाशासनका अधिक महत्त्व समझा जाता है उन देशोंमें उच्च विचारोंका परिपोष नहीं होता उच्च स्वतंत्र विचारोंका पोषण होनेके लिये ब्राह्मशासनही रहना चाहिये। क्षात्र शासन तो क्षत्रियही करेंगे परंतु वे ब्राह्मणोंको अपने ऊपर मानते हुए करेंगे।

अपने अपने स्वभावधर्मके अनुसार हरएक अपना नियत कर्तव्य देखे और उसको करता रहे इसीसे राष्ट्रकी जनता सुखी होगी। अपने नियत कर्तव्यसे ही हरएक व्यक्ति राष्ट्रपुरुषकी सेवा करे इस विषयमें आगेके श्लोकोंमें उत्तम उपदेश दिया है—

भावार्थ— अपना अपना कर्म तत्परतासे करनेसे प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ सिद्धि-परमपदकी प्राप्ति-अथवा मोक्षपदको प्राप्त हो सकता है। जिसकी शक्ति प्राप्त होनेसे सब प्राणी अपने कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, और जो सबमें व्याप्त है वही ईश्वर है स्वकर्मसे इस ईश्वरकी जो मनुष्य पूजा करता है अर्थात् अपना आचरण ही जो ईश्वरार्पण करता है वही परमेश्वरार्पण होनेके कारण (परमोच्च) प्राप्त करता है ॥ ४५ ४६ ॥

(४५- ६) मनुष्य अपने अपने कर्ममें दत्तचित्त होनेसे अर्थात् अपना कर्तव्य ठीक तरह करनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। स्वकर्ममें निःसंदेह रत होनेसे सिद्धिको प्राप्त होता है। अपना कर्तव्य करनेसे मनुष्य संपूर्ण उन्नति सिद्ध कर सकता है अपना कर्म छोडकर जो अपना कर्तव्य नहीं उसे करनेसे मनुष्य उन्नत नहीं हो सकता।

यहां प्रश्न हो सकता है कि अपना कर्तव्य कौनसा है ? अपना कर्तव्यकर्म वही है जो अपने अन्दरके निज गुणोंके अनुसार निश्चित होता है। समझ लीजिए कि किसीमें सत्वगुण विशेष है, तो वह मनुष्य शम दम ज्ञान विज्ञान आदि कर्म करे वही उसका निजकर्तव्य है। यदि किसीमें शत्रुकी ओर युद्धवाला रजोगुण है तो वह कोई तेज धर्म आदि प्रकट करनेवाले युद्ध आदि कार्य करे। यही उसका निजधर्म है। इसी तरह अपने निज गुणोंद्वारा निजकर्म निश्चित होते हैं वही उससे अच्छी तरह हो सकते हैं क्योंकि वे उसकी प्रकृतिके अनुकूल होते हैं। इन निजधर्मोंको छोडकर यदि उसने दूसरेका कर्म करना आरंभ किया तो उसको सफलता नहीं हो सकती क्योंकि वे उसकी प्रकृतिके विरुद्ध होंगे।

स्वधर्म वही है जो अपनी प्रकृतिके अनुकूल होता है। और पूर्वोक्त परीक्षा द्वारा अपना प्रकृतिगुण निश्चित किया जा सकता है और तदनुसार अपना स्वकर्तव्यकर्म भी ज्ञात हो सकता है। यह कर्तव्यकर्म अर्थात् यह स्वधर्मनिष्ठ कर्म-पथ पर चलनेसे ही मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

स्वकर्मसे ईश्वरपूजा।

जिससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं और जिसने यह सब फैलाया है जो सर्वत्र व्याप्त है उस ईश्वरकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करनेसे मनुष्य सम्यक् सिद्धिको प्राप्त होता है। अपने अन्दर यह पूजा कैसी हो रही है इसका विचार अपने अन्दरही देखिए—

शरीरमें आत्मा है जिसके प्रभावसे यह शरीर बना और जीवित रहा है। जो अपने प्रभाव शक्तिसे इस शरीरमें व्याप्त है और जिसने अपनी शक्ति नेत्रकर्णादि इंद्रियोंमें फैलाई है वही इस शरीरमें इंद्रियोंद्वारा उपास्य है। सब इंद्रियां इसीकी उपासना स्वकर्मद्वारा कर रही हैं। और अपने अपनेस्वकर्मरूप कर्मसे वायु अपने बलसे, रक्त कर्म-द्वारा, पेट अपनी पचनशक्तिद्वारा। गुदा अपने मलको बाहर फेंकनेके कर्मसे मूत्रेंद्रिय मूत्रद्वारा विषको बाहर फेंकनेसे हृदय सब शरीरमें रुधिरका दौरा करानेसे मुख वक्तृत्वद्वारा तथा चर्वणकर्मद्वारा नेत्र रूपको देखने द्वारा, कर्ण शब्दका श्रवण करनेद्वारा नासिका श्वासोच्छ्वास करनेद्वारा, मस्तक विचार करनेद्वारा बुद्धि ज्ञानप्रसारद्वारा, चित्त चिंतन करनेरूपकर्मसे इसी तरह अन्य इंद्रिय और अवयव अपने अपने कर्मद्वारा सदा इसकी पूजा कर रहे हैं। यह आत्मा-की पूजा अपने अन्दर स्वकर्मद्वाराही हो रही है। जिस समय यहांका कोई इंद्रिय अपना कर्म छोडता है उस समय उसकी पूजा न्यून होती है। यहां कोई देव अपना स्वकर्म छोडकर दूसरेका कर्म नहीं करता। अपना निज कर्म उत्तम करनेद्वाराही हरएककी सफलता होती है। सब को उचित है कि वह उत्तम स्वधर्मरूप कर्म करे इसीलिए कर्म इससे अच्छे हों या बुरे हों इसका विचार न करता हुआ अपने कर्मोंद्वारा वह आत्माकी पूजा करे वह स्वकर्मसे आत्माकी पूजा है। सब इंद्रियरूपी देवोंद्वारा यही पूजा हो रही है किसी समय न हुई तो उसीका नाश होता अवश्य है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वकर्मद्वारा ईश्वरपूजा कैसा होती है।

बाह्य जगत्के अन्दर सूर्यादि सब देवता इसी तरह स्व-कर्मद्वाराही परमात्माकी उपासना कर रहे हैं। सूर्य प्रकाशके द्वारा अग्नि जलनेद्वारा वायु बहनेद्वारा जल शीतगुणद्वारा, पृथ्वी अपनी धारणाशक्तिद्वारा इसी तरह अन्यान्य देवतागण अपने निज स्वकर्मद्वारा परमात्माकी सेवा कर रहे हैं। यहां भी हरएक देव अपना निज स्वभावजन्य कर्म करतेही रहा है दूसरोंका कर्म सुन्दर हो या सुन्दर, उसका विचार

न करता हुआ प्रत्येक अपना कर्म करनेमें दक्ष रहता है। अपना कर्म योग्य रीतिसे करनेसेही परमात्मपूजा हो जाती है। पूजा करनेके लिये दूसरे साधनोंकी इच्छा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जनता भी परमात्मरूपही है। जनतारूपी नारायणसेही ये चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥१०॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥११॥
(ऋग्वेद १०।९०)

"हजारों सिर हजारों आंखें हजारों पांव जिसके हैं ऐसा एक पुरुष है वह पृथ्वीके चारों ओर फैला है। इसके मुख बाहु ऊरू और पांव कौनसे हैं? ब्राह्मण इसका मुख है क्षत्रिय इसके बाहु हैं वैश्य इसकी जंघाएं हैं और शूद्र इसके पांव हैं।" अर्थात् यह मानवसमाजरूपी प्रत्यक्ष दीखनेवाला ही पुरुष है। पशु पक्षी वृक्ष आदि भी इसीके अवयव हैं तथापि अपने विषयके प्रतिपादनके लिये हमें मानवसमाजका ही यहां विचार करना योग्य है। इसीका वर्णन उपनिषदोंमें इस तरह किया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ।
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः॥
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य।
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च।
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥
(मुण्डक २।१।४-७)

'अग्नि उस परमात्माकी मूर्धा है आंख सूर्य और चन्द्र हैं, दिशाएं कान हैं वेद उसकी वाणी है वायु उसका प्राण है मन उसका हृदय है और पांव ही यह पृथ्वी है। यही सर्वभूत-

रात्मा है। इससे देव साध्य मनुष्य पशु, पक्षी हुए हैं, और प्राण अपान चावल जौ तप श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्य और यज्ञ विधि भी इसीसे प्रकट हुए हैं वेदमें जो पुरुष सूक्तमें कहा है वही मुण्डकोपनिषद्में इसी तरह कहा है। अर्थात्—

पुरुष एवेदं विश्वम्। (मुण्डक २।१।१०)
पुरुष एवेदं सर्वम्। (ऋ. १०।९०।२)

यह नारायण पुरुषही यह सब है यही आशय वेदोंमें अन्यत्र इस तरह कहा है—

एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। (ऋ. ८।५८।२)
सा विश्वा भुवना बभूव॥ (ऋ. ३।६१।५)
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥ (ऋ. ६।४७।१८)

एकही सत्तत्व यह सब विश्व विविध रीतिसे हुआ है। जो परमात्मा सब भुवन बना है। इन्द्र अपनी अनन्त शक्तियोंसे अनेक रूपोंवाला हुआ है। यही भी एकताकी वर्णन है जिसके ये सब रूप हैं। अतः उसका नाम 'विश्वरूप' है। ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य शूद्र ये मानव इस नारायणके मुख बाहु-ऊरू पांव हैं इसी कारण इसके हजारों सिर हजारों बाहु हजारों जंघाएं और हजारों पांव हैं ऐसा कहा है। अस्तु। यही जनतारूपी नारायण मानवों द्वारा उपासना करने योग्य है।

पृथ्वीके चारों ओर यही जनतारूपी देव है पृथ्वीके चारों ओर यही रूप फैला है। हम सब उसीके विराट् देहके अंग हैं अतः हमें उसीकी सेवा स्वकर्मके द्वारा करनी चाहिये। जिस तरह शरीरमेंआदि इन्द्रिय शरीरकी सेवा स्वकर्मसे करते हैं वैसी ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंको इस विराट् पुरुषकी सेवा करना चाहिये। ब्राह्मण अपने ज्ञानप्रसारके द्वारा क्षत्रिय अपने बाहुबलसे रक्षा करने द्वारा वैश्य धनधान्यकी उत्पत्ति करने द्वारा और शूद्र कारीगरी तथा पशुभृत्यद्वारा सेवा करे। प्रत्येक मनुष्य उसकी स्वभावजन्य प्रकृतिके अनुकूल जो कर्म कर सकता है उस कर्मके द्वारा वह इस विराट्रूपकी सेवा करे। इसी सेवाद्वारा प्रत्येक मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
(गी. १८।४५-४६)

(१८) स्वधर्मकी श्रेष्ठता ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति

अन्वयः—विगुणः स्वधर्मः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान् (अस्ति), स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् (नरः) किल्बिषं न आप्नोति ॥ ४७ ॥ हे कौन्तेय ! सहजं कर्म सदोषं अपि न त्यजेत्, धूमेन अग्निः इव हि सर्वारम्भाः दोषेण आवृताः (सन्ति) ॥ ४८ ॥ सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः (नरः) परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेन अधिगच्छति ॥ ४९ ॥

गुणहीन सा प्रतीत होनेवाला स्वधर्म, आचरण करनेमें सुगमसे प्रतीत होनेवाले परधर्मसे श्रेयस्कर है। स्वभावसे नियत हुआ कर्म करनेसे ही मनुष्यको पाप नहीं लगता ॥ ४७ ॥ हे कुन्तीपुत्र! सहज कर्म सदोष होनेपर भी छोडना नहीं चाहिये। जैसा धुँवेसे अग्नि उसी तरह सब कर्मोंका प्रारंभ करना दोषोंसे व्याप्त रहता है ॥ ४८ ॥ जिसकी बुद्धि कहीं भी आसक्त नहीं है, जो जितेंद्रिय है, जो निःस्पृह हुआ है वह मनुष्य नैष्कर्म्यका परम सिद्धिको संन्यास द्वारा प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

भावार्थ— सुगम परधर्मसे गुणहीन स्वधर्म श्रेष्ठ है और लाभकारक भी है। स्वकर्म करनेसे किसीको पाप नहीं लगता। अपना सदोष कर्म भी छोडना नहीं चाहिये क्योंकि दोष तो सब कर्मोंमें रहते ही हैं। जो आसक्तिरहित संयमी और निर्लोभ है वही संन्यासद्वारा निष्कर्मसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४७-४९ ॥

इन श्लोकभागोंमें जो कहा है उसका अर्थ यही है प्रत्येक मनुष्य चार वर्णोंके अन्दर किसी न किसी वर्णमें होता है और वर्णाश्रमविभागके अनुकूल उसका कुछ न कुछ कर्म नियत ही होता है। वही उसका सहज कर्म है, वही कर्म इसके जन्मके साथ इसके साथ आया होता है। जो जिसका नियत कर्म है वही उत्तम रीतिसे करनेसे उसको उत्तमोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। अपना कर्म सुयोग्य रीतिसे करनेसेही परमात्मसेवा हो जाती है। ईश्वरपूजा दूसरी नहीं है। स्वाधीन कर्म करना ही सच्ची ईश्वरसेवा है।

किसीका स्वकर्म सुगम होता है और किसीका दुष्कर होता है, इसलिये दुष्कर कर्मका त्याग करके सुगम कर्म करनेकी ओर मनुष्यप्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। परन्तु ऐसा करना योग्य है या नहीं इसका विचार अब भगवान् करते हैं—

(४७–४९) अपना निजधर्मानुकूल कर्तव्य कितना भी दुष्कर, सदोष अथवा गुणहीन हो और दूसरेका कर्तव्य कितना भी सुगम निर्दोष अथवा बहुगुणी हो किसी अवस्थामें अपना निजधर्म त्यागकर परधर्मका अवलंबन करना योग्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक कर्ममें कुछ न कुछ दोष होतेही हैं। इसलिये एक सदोष कर्मका त्याग करनेसे कौनसा लाभ हो सकता है?

मान लीजिये कि एक मैदानमें युद्ध चल रहा है और सेनापतिने अपने सैनिकोंको अपनी इच्छानुसार भिन्न भिन्न स्थानपर रखा है। अब प्रत्येक सैनिकका कर्तव्य है कि वह अपने स्थानपर रहे और वहांका अपना कर्तव्य करे। शत्रुका हमला होनेपर अपने ऊपर गोलियां चल रही हैं ऐसा देखकर अपना स्थान छोडकर भागना और युद्धसे निवृत्त होना योग्य नहीं है। प्रत्युत अपने स्थानपर युद्ध करते हुए मरनाही धर्मकी सेवा करना है। वह सैनिक जिस स्थानपर रखा गया है वहांसे भागना उसका कर्तव्य नहीं है प्रत्युत वहां रहकर युद्ध करना और समय आनेपर तो मरनाही कर्तव्य है। अपना कर्तव्य दुष्कर सदोष और गुणहीन होनेपर भी वही करना चाहिये और दूसरेका कर्म निर्दोष सुगम और लाभदायक होनेपर भी अपना छोडकर दूसरेका कर्म करना नहीं चाहिये। क्योंकि अपना कर्तव्य करनेमें ही सच्चा लाभ है अपना कर्तव्य छोडनेसे किसीका लाभ नहीं है। सैनिक अपना स्थान छोडने लगे तो पराजय होनेमें देरही नहीं है। इस तरह इसका भावना सबके

(१९) परम सिद्धिकी प्राप्ति।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ५१
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६॥

अन्वयः— हे कौन्तेय ! सिद्धिं प्राप्तः (मानवः) यथा ब्रह्म आप्नोति, तथा मे समासेन एव निबोध, या च (इयं ब्रह्मप्राप्तिः) सा ज्ञानस्य परा निष्ठा कथ्यते ॥ ५० ॥ विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः धृत्या आत्मानं नियम्य च शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः, नित्यं ध्यानयोगपरः वैराग्यं समुपाश्रितः च अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य, निर्ममः शान्तः (नरः) ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५१—५३ ॥ (सः) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा (सन्) न शोचति न कांक्षति च सर्वेषु भूतेषु समः भूत्वा परां मद्भक्तिं लभते ॥५४॥ (किं च) यावान् यः च अस्मि तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति ततः तत्त्वतः मां ज्ञात्वा तदनन्तरं (मां) विशते ॥५५॥ मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वकर्माणि अपि कुर्वाणः मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति ॥ ५६ ॥

पानेके लिये कारण होता है। अपने स्थानसे भागनेसे उसका जीवनतः बचाव हो जायगा, परन्तु सेनामें भाग जानेकी ...ति फैलेगी और सब राष्ट्रका पराभव हो जायगा। अपना स्थान सुरक्षित और बचाव करनेके लिये कठिन होनेपर भी वहीं रहकर लड़नाही सैनिकका कर्तव्य है। इसमें सेनापतिकी आज्ञाही सैनिकके लिये प्रमाण है। सेनापतिकी आज्ञासे सैनिकका कर्तव्य निश्चित हो चुका। वह कर्तव्य कठिन हो या सुगम हो करनाही उसका धर्म है।

इसी तरह अपने शरीरकी सत्त्व-रज-तमात्मक प्रकृतिके अनुसार हरएकका सहज निजकर्तव्य निश्चित होता है वैसा वही उसको करना चाहिये। निज प्रकृतिधर्म निश्चित होनेपर कर्मकी सुगमता अथवा दुष्करताके कारण उसे छोड़ना नहीं चाहिये। इस तरह हरएक मनुष्य अपना कर्तव्य छोड़ देगा तो समाजमें इतनी असुविधा होगी कि उसका ठिकानाही नहीं।

मनुष्य दुष्कर कर्म करना नहीं चाहता सदा सुगम कर्मही करना चाहता है इसलिये कर्म करना मनुष्यकी इच्छापर छोड़ दिया जाय तो सुगम कर्मोंमें करनेवालोंकी बहुत भीड़ होगी और दुष्कर कर्मकी ओर कोई जायगाही नहीं। इस कारण कई कर्म नहीं होंगे और कर्म न होनेके कारण समाजमें कष्ट बढ जायगे। अतः कर्म करना न करना मनुष्यकी इच्छापर छोड़ना अयोग्य है। इसलिये यहां कहा है कि मनुष्य स्वकर्म अवश्य करे और कभी उसका त्याग न करे स्वकर्म करनेसेही मनुष्यकी परम उन्नति होती है।

स्वभावनियत कर्म करनेमें हिंसा हो अथवा जो कुछ होनेवाला है वह होवे (किल्बिषं न आप्नोति) उसको करनेसे मनुष्यको पाप या दोष नहीं लगते। जैसा क्षत्रिय वीरका निज सहजधर्म युद्ध है युद्धमें हिंसा होतीही है यद्यपि हिंसासे पाप लगता है तथापि क्षत्रियके धर्म युद्धमें की हुई हिंसासे उसको पाप नहीं लगता। अतः कहा है कि सदोष कर्म होनेपर भी उसको त्यागना किसीको भी उचित नहीं। जिसका वह निजधर्म होगा उसको वह करनाही चाहिये। क्योंकि संपूर्ण कर्मोंके अन्दर कुछ न कुछ दोष होताही है। अतः दोषोंके भयसे कर्म छोड़ना हो तो सभी कर्म छोड़ने पड़ेंगे परंतु सब कर्म छोड़ना मनुष्यके लिये असंभवही है।

हे कुन्तीपुत्र ! सिद्धिको प्राप्त होनेवाला मनुष्य जिस तरह ब्रह्मको प्राप्त होता है ... सुन । यह जो ब्रह्मकी प्राप्ति है वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है ॥ ५० ॥ विशुद्ध बुद्धिसे युक्त धैर्यसे आत्माका नियमन करके शब्दादि विषयोंका त्याग करके रागद्वेषका त्याग कर, एकान्तसेवी मिताहारी होकर, मन वचन और शरीरका संयम रखकर सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहकर, वैराग्यका आश्रय करनेवाला अहंकार बल दर्प काम क्रोध और तथा संग्रह इन सबका त्याग करके ममता-रहित होकर जो शान्तिसे युक्त होता है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ५१–५३ ॥ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर किसीका शोक नहीं करता और किसीकी इच्छा भी नहीं करता और सब भूत-मात्रके विषयमें समभाव धारण करके मेरी (ईश्वरकी) श्रेष्ठ भक्तिको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ और जितना बड़ा और जैसा मैं (ईश्वर) हूं उतना और वैसा तत्त्वतः मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे जानता है और पश्चात् मुझमें (ईश्वरमें) प्रविष्ट होता है ॥ ५५ ॥ मेरा [ईश्वरका] आश्रय करनेवाला सदा सब कर्मोंको करता हुआ भी मेरी [ईश्वरकी] कृपासे शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ— ज्ञानकी पराकाष्ठाका नाम ब्रह्मकी प्राप्ति है। वह इस तरह प्राप्त होती है। बुद्धिकी पवित्रता करना, आत्मसंयम करना, विषयभोगोंका त्याग करना, प्रीति और द्वेषके परे होना, एकान्तसेवन करना, मिताहारी होना, काया वाचा मनको स्वाधीन रखना, ध्यानयोग करनेमें तत्पर होना, वैराग्ययुक्त होना, अहंकार आदिका त्याग करना, ममतारहित होना, इससे शान्ति प्राप्त होती है और यही ब्रह्मभावकी योग्यता है। इस समय वह शोकसे दूर हो जाता है, आशाओंसे भी दूर होता है, सबको समभावसे देखता है और ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है। तत्त्वतः जैसा ईश्वर है वैसाही उसको जानता है और उसकी अनन्यभक्ति करके उसमें प्रविष्ट होता है। परमेश्वरका आश्रय करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी ईश्वरकी कृपाके कारण वह शाश्वत और अव्यय पदको प्राप्त होता है। यही अन्तिम सिद्धि है ॥ ५०–५६ ॥

सबपर आसक्ति न रखकर सर्वत्र निर्लोभ वृत्तिका धारण करके और अपने इन्द्रियोंका संयम करके कर्म करनेसे जो कर्मभोगकी कामना का अभ्यास होता है कर्मभोग-कामनाका त्याग होता है। उससे परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है यही उत्तम अवस्था है। परमसिद्धिकी प्राप्तिके विषयमें आगे बड़ा सुन्दर वचन है वह अब देखिये—

(५०–५६) इसके पूर्व अनेक बार कहा है कि सिद्धि प्राप्त होगी, सिद्धि प्राप्त होती है, इसका अर्थ ब्रह्म प्राप्त होता है ऐसा है। ब्रह्म प्राप्त होनेका अर्थ भी ब्रह्म ज्ञान की पराकाष्ठा होना है। परम ब्रह्म ज्ञान पूर्णतया प्राप्त होना ही ब्रह्म प्राप्त होना है। ब्रह्मरूप होना और ज्ञानी होना और सिद्ध होना अथवा सिद्धि प्राप्त होनेका आशय एकही है। इस प्रकारका ज्ञानी मनुष्य क्या करता है कैसा बर्तता है व्यवहार कैसा करता है यह बात अब कही जाती है—

ब्रह्मज्ञानीके लक्षण ।

(१) विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः ।

ज्ञानी शुद्ध बुद्धिसे युक्त होता है। इसकी बुद्धिमें कामादि दोष होते नहीं निर्दोष सत्य ज्ञान उसकी बुद्धिमें होता है।

(२) धृत्या आत्मानं नियम्य

ज्ञानी बड़े धैर्यसे आत्माका नियमन करता है। मनःसंयम इन्द्रियदमन आत्मसंयम करके अपने मन आत्मादिको अपने अधीन रखता है। आत्मसंयम करनेके लिये बड़े धैर्यकी आवश्यकता रहती है क्योंकि प्रलोभन सम्मुख आनेपर उनमें न फंसनेके लिये बड़ा ही धैर्य लगता है। इस धैर्यसे वह प्रलोभनोंको दूर करता है और अपना संयम करके स्वाधीन रहता है।

(३) शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा

शब्दादि विषयोंका त्याग करता है अर्थात् अत्यंत आवश्यक जितना भोग है उतनाही करता है अधिक भोग करता नहीं और अपने पास भोग्य पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता।

(४) रागद्वेषौ व्युदस्य

भोगोंके विषयमें प्रीति नहीं धारण करता और अप्रिय वस्तुका द्वेष भी नहीं करता रागद्वेषोंका त्याग करता है

इसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर भी उसकी घबराहट नहीं होती और उसकी मनःस्थिति सदा सम रहती है। इस कारण उसकी चञ्चलता दूर होती है और इन्द्रियोंके आघातसे उसकी शक्ति भी क्षीण नहीं होती।

(५) विविक्तसेवी।

ज्ञानी एकान्त सेवन करता है, एकान्तमें उसे आनन्द मिलता है, जनसंगमें वह रहना नहीं चाहता परंतु आवश्यक होनेपर वह जनसमाजमें भी चला जाता है। क्योंकि वह इतना दृढ़ होता है कि वह जनसमाजमें रहा तो भी उसकी वृत्तियाँ चञ्चल नहीं होतीं अतः उसपर जनसमाजमें न जानेका बन्धन नहीं है तथापि वह स्वभावसे आगे आगे करना नहीं चाहता।

(६) लघ्वाशी।

लघु भोजन करता है, मिताहारी होता है, जो भोजन करता हो वह अपनी क्षुधा और पाचनशक्तिके अनुकूल परिमितही करता है। अजीर्णका दोष उससे नहीं होता।

(७) यतवाक्कायमानसः।

वाणी, शरीर और मनको स्वाधीन रखता है बहुत बोलता नहीं मनसे अनावश्यक बातोंको सोचता नहीं और शरीरको कर्मोंके संगमें फँसाता भी नहीं संयमित वृत्तिसे सदा बर्ताव रखता है।

(८) नित्यं ध्यानयोगपरः।

सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहता है समय मिलनेपर ध्यान योगही करता है, उसका सदा ध्यानयोग चलता है।

(९) वैराग्यं समुपाश्रितः।

वैराग्यका आश्रय करता है भोगोंपर उसकी आसक्ति नहीं होती भोगोंमें दोषदृष्टि वह रखता है और उनसे सदा दूर रहता है।

(१०) अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य।

अहंकार घमण्ड बल बलका दुरुपयोग कामी वृत्ति क्रोध और भोगसाधनोंके संग्रहका त्याग करता है। ज्ञानी कभी घमण्ड नहीं करता अपने बलका दुरुपयोग नहीं करता कामके अधीन नहीं होता क्रोध आने नहीं देता अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह करके दूसरोंको आवश्यक भोगोंसे वंचित नहीं रखता।

(११) निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

ममत्वबुद्धि किसीपर नहीं रखता मैं और मेरा यह भाव छोड़ देता है जिससे वह सबके साथ समभावसे वर्तता है। वह इस कारण शान्त होता है। इस तरहका ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त होता है। मानो वह ब्रह्मही होता है।

(१२ ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

जो ब्रह्मरूप बनता है वह सदा आनन्दयुक्त होता है और इसी कारण न कभी शोक करता है और न कभी किसी भोगकी प्राप्तिकी आकांक्षा धारण करता है। वह नित्य तृप्त और सदा आनन्दप्रसन्न रहता है।

(१३) सर्वेषु भूतेषु समः।

सब भूतमात्रोंके साथ समवृत्तिसे व्यवहार करता है न उसको कोई स्वकीय है और न कोई परकीय है न उसका किसीके साथ द्वेष है और न मित्रता है। अतः वह सबके साथ समान व्यवहार करता है और इस कारण उसका आचरण निर्दोष होता है।

(१४) परां मद्भक्तिं लभते।

ज्ञानी पुरुष ही ईश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति करता है क्योंकि वही जानता है कि ईश्वरका सत्य स्वरूप क्या है और उसका अपना संबन्ध कैसा है और उसके संबंधमें अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये।

(१५) यावान् यः च (अहं ईश्वरः) अस्मि तं मां तत्त्वतः भक्त्या अभिजानाति।

ईश्वर कितना बड़ा है और उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है यह उसको सत्य दृष्टिसे मालूम है और उसकी भक्ति करनेद्वारा वह उसका यथार्थ अनुभव लेता है और भक्तिसे ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है उसे परमेश्वरका निःसन्देह ज्ञान होता है।

(१६) तत्त्वतः मां (ईश्वरं) ज्ञात्वा तदनंतरं (मां) विशते।

सत्य दृष्टिसे ईश्वरको जानकर वह ज्ञानी परमेश्वरमेंही प्रवेश करता है ईश्वरमें प्रविष्ट होता है वह अपने आपको ईश्वरसे भिन्न नहीं देखता। अपने आपका ईश्वरमेंही अनुभव करता है। अपने चारों ओर परमेश्वरको अनुभव करता है और अपने आपको अभिन्न भी मानता है। क्योंकि एकही सत्य आत्मस्वरूप सर्वत्र है यह उसे प्रत्यक्ष दीखता है और यही उसका अनुभव भी है।

(२०) सब संकटोंको दूर करनेका उपाय।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

(२१) प्रकृतिका वेग।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्

अन्वयः— (त्वं) सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य मत्परः (सन्) बुद्धियोगं उपाश्रित्य सततं मच्चित्तः भव। (त्वं) मच्चित्तः (सन्) सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि। अथ त्वं अहंकारात् न श्रोष्यसि चेत्, विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वयः — यत् अहंकारं आश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे (तत्) एषः ते व्यवसायः मिथ्या (एव अस्ति, यतः) त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥ हे कौन्तेय ! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः (त्वं) यत् मोहात् कर्तुं न इच्छसि अवशः (सन्) अपि करिष्यसि ॥ ६० ॥

तू सब कर्मोंको अपने मनसे ही मुझ (ईश्वर) में समर्पण करके मुझ (ईश्वर) में स्थिर रहकर, बुद्धि-योगका आश्रय करके सतत मुझ ईश्वर में चित्त लगा ॥ ५७ ॥ तू मुझ (ईश्वर) में
सब संकटोंको मेरी कृपासेही पार करेगा। और यदि तू अभिमानसे न सुनेगा तो नाशका भागी होगा ॥

यदि अहंकारका आश्रय करके मैं नहीं लड़ूंगा ऐसा समझोगे तो यह भावना मिथ्याही है क्योंकि तेरी प्रकृतिही तुझे (इस युद्धमें) नियुक्त करेगी ॥ २९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! अपने स्वभावज कर्मसे बंधा हुआ तू मोहवश जो करनेकी इच्छा नहीं करता उसीको परतंत्रता होकर कर करेगा ॥ ६० ॥

भावार्थ — अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये कर ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर कर और बुद्धियोगका आश्रय करके ईश्वर-परायण हो जिससे सब संकट दूर होंगे। यदि कोई अहंकारसे ऐसा नहीं करेगा तो उसका नाश होगा ॥ ५७–५८ ॥

---

(१७) मद्व्यपाश्रयः सदा सर्वाणि कर्माणि कुर्वाणः।

ईश्वरका आश्रय करता हुआ सदा सब कर्मोंको करता है ज्ञान होनेके कारण वह अपने कर्तव्य कभी भी त्यागता नहीं। उचित प्रक्रियासे वह सब कर्मोंको यथायोग्य करता है और कर्मोंको करता हुआ भी ईश्वरके आश्रयको सदा स्मरता है अर्थात् ईश्वरका आधार है उसके बिना कुछ भी नहीं है यह सुस्पष्ट रीतिसे जानता है।

(१८) मत्प्रसादात् शाश्वतं अव्ययं पदं अवाप्नोति।

इस तरहके ज्ञानीको ईश्वरकी प्रसन्नताके कारण शाश्वत और अव्यय स्थान मिलता है जहांसे वह कभी च्युत नहीं होता है।

बुद्धिकी पवित्रता आत्मसंयम इंद्रियदमन मनकी स्थि-रता शब्दादि विषयोंका त्याग करना रागद्वेष छोड़ एकान्त सेवन करना हितमित पथ्यभोजन करना ध्यान योगमें मनकी स्थिरता रखना वैराग्यकी वृत्ति अहंकार त्याग कामक्रोधका त्याग भोगसाधनोंका संग्रह न करना ममत्व छोड़ना शान्त प्रसन्नचित्त रहना सब भूतोंमें समदृष्टि ईश्वरको जानकर उसमें अपने आपको देखना ईश्वरार्पण बुद्धिसे सब कर्म करना ये महाज्ञानीके लक्षण हैं इनसे महाज्ञानी पहचाना जाता है। इसीको सिद्ध कहते और यही मनुष्य होता है।

(५७–५८) सब संकटोंको दूर करनेके उपायका वर्णन करते हैं। ईश्वरका प्रसाद होनेसे सब संकट दूर होते हैं (मत्प्रसादात् सर्व दुर्गाणि तरिष्यसि) परमेश्वरकी प्रसन्नता कैसी हो सकती है इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि–

(२२) ईश्वर-शरणागतिसे शाश्वत सुख ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे अर्जुन ! यंत्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ ६१ ॥ हे भारत ! (त्वं) तं एव सर्वभावेन शरणं गच्छ । तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं (च) प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥ इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं मया ते आख्यातम्, एतत् अशेषेण विमृश्य, यथा इच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन ! यंत्रपर आरूढ हुएके समान सब भूतोंको अपनी शक्तिसे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है ॥ ६१ ॥ हे भरतपुत्र ! तू उसी (ईश्वर) को सर्वभावसे शरण जा । उसके प्रसादसे परम शान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ यह गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैंने तुझे कहा इस सबका अच्छी तरह विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा कर ॥ ६३ ॥

भावार्थ—प्रकृतिस्वभाव ऐसा प्रबल है कि जो न करनेका निश्चय मनुष्य करता है उसीको ओर प्रकृतिस्वभाव उसे खींच ले जाता है । मनुष्य अपने स्वभावसे बंधा हुआ है, अतः प्रकृतिस्वभावके अधीन रहकर जो कुछ होगा वह करना पड़ता है ॥ ५९-६० ॥

भावार्थ— यंत्रपर रखी वस्तुएं यंत्रके साथ जैसी घुमायी जाती हैं उसी तरह सब विश्वकी वस्तुएं विश्वचक्रपर रखी हैं और उनको परमेश्वर अपनी मायासे घुमाता है । उस ईश्वरको सर्वभावसे शरण जाना चाहिये जिससे शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त होगा । यह गुह्य ज्ञान जानकर मनुष्य जैसी इच्छा हो वैसा करे ॥ ६१-६३ ॥

---

(१) चेतसा सर्वकर्माणि मयि (ईश्वरे) संन्यस्य
(२) मत्परः मच्चित्तः (ईश्वरपरः ईश्वरचित्तः) भूत्वा
(३) बुद्धियोगं उपाश्रित्य सततं भव ।

(१) मनसे अपने संपूर्ण कर्मोंको और उनके फलोंको ईश्वरार्पण करो (२) अपना मन परमेश्वरपर लगाओ (३) सदा बुद्धियोग करो अर्थात् सतत समचित्त होकर कर्म करो ।

ऐसा करनेसे परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी और उसकी कृपासे सब संकट दूर होंगे । संपूर्ण संकटोंको दूर कर देनेका यही एक उपाय है । पाठक इसका मनन करें ।

(५९ ६) यदि घमंड करता हुआ कोई मनुष्य ऐसे कहेगा कि मैं युद्ध नहीं करूंगा अर्थात् इस विश्वमें जीवित रहनेके लिये जो आवश्यक युद्ध है वह भी नहीं करूंगा अर्थात् मैं सब कर्मोंका त्याग करूंगा तो समझो कि यह उसका निश्चय मिथ्या है क्योंकि समयपर प्रकृतिही उसे युद्धमें लगा देगी । प्रकृतिके गुणोंसे बंधा हुआ मनुष्य आवश्यकही कर्म करेगा । कर्मत्याग असंभव है ।

अपने स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मोंसे मनुष्य बंधा हुआ है । इस परवशताके कारण मनुष्य प्रकृतिके आधीन रहकर कर्म करताही रहता है । कर्मत्यागकी बातें होना असंभव है ।

अर्जुन अभिमान और गुरुकरुणासे आविष्ट था । युद्ध प्रारंभ होनेपर वह युद्धका रंग देखनेके पश्चात् उसका युद्धत्याग का निश्चय स्थिर रहना असंभव था । इसलिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! युद्ध न करनेका मनमें संकल्प निश्चय कायम रखना युद्ध शुरू होनेपर कठिन है । युद्धका रंग देखनेके पश्चात् अपना क्षात्र भाव स्फुरण होतेही युद्धके लिये स्वयं तैयार होकर उठेगाही । इसलिये कर्मत्यागकी बातें व्यर्थ हैं ।

हरएकका प्रकृति-स्वभाव ऐसा प्रबल होता है कि वह उससे कर्म कराताही है । इतना प्रकृतिका वेग है जिसका नियमन बड़ा कठिन और करीब करीब असंभवही है । इसलिये अपना स्वभावजन्य कर्म छोड़ना किसीको उचित नहीं है ।

(६१ ६२) सब विश्वका नियंता ईश्वर एक है । और वह सबके हृदयोंमें निवास कर रहा है । उसके यंत्रारूढवत्

*

(२३) गुह्य उपदेश ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६

अन्वयः— सर्वगुह्यतमं परमं वचः मे भूयः शृणु । मे दृढं इष्टः असि इति ततः ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥ मन्मनाः मद्भक्तः मद्याजी (च) भव मां नमस्कुरु (एवं कृत्वा त्वं) मां एव एष्यसि । (इति) ते सत्यं प्रतिजाने (यतः त्वं) मे प्रियः असि ॥६५॥ (त्वं) सर्वधर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि (त्वं) मा शुचः ॥ ६६ ॥

सबसे अधिक गुह्य ऐसा मेरा श्रेष्ठ वचन तू फिरसे सुन। तू मेरा अत्यंत प्रिय है इसलिये यह तेरे हितको बात कहता हूं ॥ ६४ ॥ मुझ (ईश्वर) में मन लगा। मेरा (ईश्वरका) भक्त बन मुझे (ईश्वर को नमस्कार कर ऐसा करनेसे तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है (इसलिये यह कहता हूं) ॥ ६५ ॥ तू सब धर्मोंको छोडकर मुझ अकेले (ईश्वर) को शरण जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू मत शोक कर ॥६६॥

सब विश्व एक नियमसे चल रहा है जैसा कठ-पुतलियां यन्त्रके घुमानेसे घूमती हैं और विविध आविर्भाव करती हुई दीखती हैं। परंतु सच तो यह है कि कठपुतलियां स्वयं अपनी गतिसे घूमती नहीं परंतु यंत्रकी गति उनको घुमाती है और यंत्र-घुमानेवालाही वास्तुतः यंत्रद्वारा उनको घुमाता है। इसी तरह परमेश्वरकी शक्तिसे यह विश्वका यंत्र घूम रहा है और उसमें रहनेवाले सब भूत उसकी गतिसे घुमाये जा रहे हैं।

सर्वभावसे शरण।

इस सबके नियामक ईश्वरको अनन्य भावसे सर्वभावसे शरण जाना योग्य है। यहां उसको केवल शरण जानेको नहीं कहा है प्रत्युत सर्वभावसे शरण जानेको कहा है। यह जितना विश्व है उतना इस परमात्माका रूप है और यह सम्पूर्ण पुरुष है। इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। यह सब मिलकर एकही जीवन है ऐसा समझना मानना और जानना सर्वभाव मनमें स्थिर होनेसे हो सकता है। इसका नाम सर्वभाव है। इस सर्वभावसे ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। यहां भेदभावके लिये स्थानही नहीं है। यदि मनुष्य सर्वभावसे ईश्वरको शरण जावना तोही ईश्वर प्रसन्न होगा और उसकी प्रसन्नता होनेसे इसको शान्ति प्राप्त होकर शाश्वत परम स्थान इस भक्तको प्राप्त होगा।

यही गुह्य ज्ञान है। जो इसको यथावत् जानता है वह अपने मनकी प्रवृत्तिसेही जैसा स्फुरण हो वैसा करता है और उसकी प्रवृत्ति अशुद्ध नहीं होती।

(यथा इच्छसि तथा कुरु) जैसी इच्छा होगी वैसाही कर यह उसी समय कहा जायगा जिस समय उसका मन शुद्ध होगा, और उसको सत्यज्ञान यथावत् होगा और सर्वभाव उसके मनमें स्थिर होगा और उस सर्वभावसे वह ईश्वरभक्ति करेगा।

जब यह पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तबतक मनुष्य शास्त्रकी आज्ञाको प्रमाण मानकर (शास्त्रं प्रमाणं ते) शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करता रहे। ज्ञानी मनुष्यके लिये शास्त्रकी मर्यादा पालन करनेका बंधन नहीं है, ज्ञानी अपने अन्तःकरणके स्फुरणके अनुसार चले। क्योंकि उसके अंतःकरणमें जो प्रवृत्ति होती है वही अन्योंके लिये धर्म-शास्त्रवचन जैसा प्रमाण होता है। इसलिये अपने अंदर स्फुरणके अनुकूल चलनेमें कोई दोष नहीं। अन्य मानवोंका मन अशुद्ध होता है अज्ञानके कारण उसमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये उनकी मनःप्रवृत्ति सदोष होती है, यह कारण है कि जिसके कारण उनको शास्त्र अनुकूल चलना पडता है और इन्द्रियदमन मनःसंयम करना पडता है।

(२४) इस तत्त्वज्ञानका प्रचार।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम । भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वयः- इदं ते न अतपस्काय (च) न अभक्ताय, न च अशुश्रूषवे न च यः अभ्यसूयति (तस्मै) कदाचन वाच्यम् ॥६७॥ यः इमं परमं गुह्यं (ज्ञानं) मद्भक्तेषु अभिधास्यति (सः) मयि परां भक्तिं कृत्वा असंशयः (सन्) मां एव एष्यति ॥६८॥ मनुष्येषु च कश्चित् तस्मात् प्रियकृत्तमः मे न (अस्ति); तस्मात् अन्यः भुवि प्रियतरः मे न भविता ॥६९॥

यह ज्ञान तूने जो तपस्वी नहीं है जो भक्त नहीं है जो सुनना नहीं चाहता अथवा जो मेरा (ईश्वरका) द्वेष करता है उसे कभी नहीं कहना ॥६७॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको कहेगा, वह मुझ (ईश्वर) में दृढ भक्ति करके संदेहरहित होकर मुझ (ईश्वर) को ही प्राप्त होगा ॥६८॥ मनुष्योंमें कोई भी उससे मेरा अधिक प्रिय करनेवाला नहीं है और उससे अधिक प्रिय करनेवाला इस पृथ्वीपर कोई भी नहीं होगा ॥६९॥

भावार्थ— सबसे गुह्य परम कल्याणकी और मनुष्यमात्रके हितकी बात यह है कि साधक ईश्वरपरायण होवे ईश्वरका भक्त बने ईश्वरकोही शरण जावे ईश्वरकोही आत्मार्पण करे जिससे वह ईश्वररूप होगा। यही सत्य तत्त्वज्ञान है। अन्य सब मतवादोंका त्याग करके यही एक मार्गका अवलंबन करनेसे मानवोंका परम कल्याण हो सकता है। पापोंसे छूटनेका यह धर्म जानकर मनुष्य शोक न करता हुआ इसीका आचरण करे ॥ ६७-६९ ॥

भावार्थ— गुह्य ज्ञान सुयोग्य शिष्यकोही देना योग्य है, ऐसे सच्छिष्यको जो यह गुह्य ज्ञान देगा वह ईश्वरका सच्चा भक्त परमेश्वरको प्राप्त करेगा और वहां इस ज्ञानप्रचार करनेवाले भक्तके समान और ईश्वरका प्यारा कोई नहीं होगा ॥ ६७-६९ ॥

क्या एकेआधी मनुष्यही अपनी अन्तःकरणकी प्रवृत्ति और स्फूर्तिके अनुकूल जैसा चाहे वैसा व्यवहार करके भी निर्दोष रह सकता है क्योंकि उसके अन्तःकरणमें अशुद्ध स्फूर्ति उत्पन्नही नहीं होती।

(६४ ६६) अब और भी गुह्य ज्ञान कहते हैं। अन्य सबमेंसे सबसे महत्त्वका उपदेश देते हैं—

(१) ईश्वरमें अपना मन सदा सर्वदा लगा
(२) ईश्वरकी भक्ति सदा कर
(३) ईश्वरकोही नमस्कार कर,
(४) ऐसा करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होगी यह सत्य है।
(५) परमेश्वरने प्रतिज्ञापूर्वक यह कहा है
(६) सब अन्य कर्मोंका त्याग कर और एक ईश्वरको शरण जा।
(७) वह भक्तोंको सब पापोंसे मुक्त करेगा इसमें संदेह नहीं है।
(८) ईश्वरपर ऐसा दृढविश्वास रखो और शोक करना छोड दो।

ये सारगर्भित वाक्य हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करना अनावश्यक है। पाठक वारंवार इनका मनन करें और इन गुह्य उपदेशोंको अपनावें। इस तत्त्वज्ञानका सब जनतामें प्रचार करनेको भी कहा है—

(६७-६९) इस गुह्य ज्ञानका अर्थात् भगवद्गीताके इस परम उच्च तत्त्वज्ञानका फैलाव और प्रचार करना चाहिये। यह ज्ञान सच्ची सुखशान्ति देनेवाला है और सब संकटोंको दूर करनेवाला है इसलिये मनुष्यमात्रतक पहुंचाना योग्य है। मनुष्य इस ज्ञानका अध्ययन करे मनन करे निदिध्यास करे इस ज्ञानको अपनावे और इसका हरएक प्रकार से प्रचार करे। उपदेश द्वारा लेखनद्वारा तथा अन्यान्य साधनोंके द्वारा प्रचारकोंको प्रचार करना चाहिये। भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानके अनुसार सब मानवोंके वैयक्तिक, कौटु

(२५) अध्ययन और प्रवचनश्रवण ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः । सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

(२६) मोह दूर हुआ ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥
अर्जुन उवाच—
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अन्वयः—यः च आवयोः इमं धर्म्यं संवादं अध्येष्यते तेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टः स्यां इति मे मतिः ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् अनसूयः च यः नरः (इदं) शृणुयात् अपि सः मुक्तः (सन्) पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! त्वया एतत् एकाग्रेण चेतसा श्रुतं कच्चित् ? हे धनंजय ! ते अज्ञानसंमोहः प्रनष्टः कच्चित् ? ॥ ७२ ॥ अर्जुनः उवाच- हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् मे मोहः नष्टः मया स्मृतिः लब्धा (अहं) गतसंदेहः स्थितः अस्मि (इदानीं) तव वचनं करिष्ये ॥ ७३ ॥

और जो हमारे इस धर्मयुक्त संवादका अध्ययन करेगा उसने इस ज्ञानयज्ञसे मेरी (ईश्वरकी) पूजा की है ऐसी मेरी संमति है ॥ ७० ॥ श्रद्धावान् द्वेष न करनेवाला जो मनुष्य इसको श्रवण करेगा, वह मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त करेगा ॥ ७१ ॥

हे पृथाके पुत्र ! क्या तूने यह एकाग्रचित्तसे श्रवण किया है ? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥ अर्जुनने कहा हे अच्युत ! तेरी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ मुझे स्वकर्मोंकी स्मृति प्राप्त हुई मैं संदेहरहित हुआ हूं, अब आपके वचनके अनुसार करूंगा ॥ ७३ ॥

भावार्थ— जो इस गीताका अध्ययन करेगा और प्रचार करेगा वह ज्ञानयज्ञसे ईश्वरका भजन ही करेगा । इस गीताके श्रवण मनन करनेसे साधक शुभ स्थानको प्राप्त करेगा इसमें संदेह नहीं है ॥ ७०—७१ ॥

भावार्थ— इस ग्रंथको एकाग्र चित्तसे श्रवण करनेसे सब प्रकारका मोह नष्ट होगा संदेह दूर होगा और धर्मानुकूल अपना कर्तव्य पालन करनेमें मनुष्य तत्पर रहेगा ॥ ७२ ७३ ॥

लिक, सामाजिक राजकीय और जागतिक व्यवहार करनेमें तबही मनुष्योंको सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा तबतक सुखकी आशा करना व्यर्थ है । जागतिक शान्तिकी स्थापना करना सर्वथा प्रचारकोंके परिश्रमपरही निर्भर है ।

इसलिये यहां कहा है कि इस तरह भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला भगवान्को अत्यंत प्रिय होता है और इसके प्रचारसे भी प्रचारकर्ता परमेश्वरको प्राप्त हो सकता है ।

अर्थात् भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानका प्रचार करनेवाला ज्ञानी होकर मुक्त हो सकता है ।

(७०-७१) जो मनुष्य इस भगवद्गीताका अध्ययन करेगा वह भी ज्ञानयज्ञसे परमात्माकी पूजाही करेगा और जो सुनेगा वह भी मुक्त होगा अथवा पुण्यगतिको प्राप्त होगा।

(७२-७३) इसका अपूर्व ज्ञान देनेके पश्चात् भगवान्ने अर्जुनसे पूछा कि " क्या इस तत्त्वज्ञानके निरूपणको सुननेसे तेरा मोह नष्ट हुआ या नहीं अथवा अभी और कुछ पूछना है ?

इस प्रश्नको सुनतेही अर्जुन एकदम बोल उठा कि भगवन् ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ अज्ञान दूर हुआ स्वकर्म करनेका भाव मेरे मनमें बैठ गया है, मुझे अब स्वकर्मके विषयमें कोई संदेह नहीं रहा । अब मैं जैसा आपने कहा उसी प्रकार अपना युद्धरूपी स्वकर्मोचित कर्तव्य करूंगा ।

यहां भगवान् और अर्जुनका संवाद समाप्त होता है ।

(२७) रोमाञ्चकारी संवाद।

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः । विस्मयो मे महान्राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अन्वयः- सञ्जयः उवाच- इति अहं वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च इमं अद्भुतं रोमहर्षणं संवादं अश्रौषम् ॥ ७४ ॥ व्यासप्रसादात् स्वयं योगं कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् एतत् परं गुह्यं अहं साक्षात् श्रुतवान् ॥ ७५ ॥ हे राजन्! (अहं) केशवार्जुनयोः इमं पुण्यं अद्भुतं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि ॥ ७६ ॥ हे राजन्! हरेः तत् च अत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः (भवति) अहं पुनः पुनः हृष्यामि च ॥ ७७ ॥ यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः, तत्र श्रीः विजयः, भूतिः, ध्रुवा नीतिः च इति मम मतिः (अस्ति) ॥ ७८ ॥

संजयने कहा— यह मैंने वासुदेवका महात्मा पार्थके साथ हुआ अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥ व्यासजीकी कृपासे स्वयं कहनेवाले योगेश्वर कृष्णसे यह श्रेष्ठ गुह्य ज्ञान मैंने साक्षात् श्रवण किया ॥ ७५ ॥ हे राजन्! मैं केशव और अर्जुनके इस पुण्यकारक अद्भुत संवादको वारंवार स्मरण कर करके वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७६ ॥ हे राजन्! श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका वारंवार स्मरण कर करके मुझे बड़ा विस्मय हुआ है और पुनः पुनः आनंद भी होता है ॥ ७७ ॥ जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और धनुर्धारी पार्थ हैं वहां श्री है, वहां विजय है, वहां ऐश्वर्य है वहां ही स्थिर नीति भी है, यह मेरा निश्चित मत है ॥ ७८ ॥

भावार्थ— यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सबका आनंद बढानेवाला है। जहां ईश्वर सहायक है और जहां धर्मयुद्धके लिए धनुष धारण करनेवाला क्षत्रिय है वहां निःसंदेह विजय श्री ऐश्वर्य और स्थिर धर्म नीति है, ऐसा समझकर हरएक मनुष्य परमेश्वरकी सहायता करे और विजयी बने ॥ ७४-७८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

(७४-७८) अब राजा धृतराष्ट्रको संजय कहते हैं कि हे राजा धृतराष्ट्र! यह रोमांचकारी संवाद अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णके बीचमें हुआ, वह मैंने जैसा सुना वैसाही आपको निवेदन किया। इस अद्भुत तत्त्वज्ञानके उपदेशका स्मरण करनेसे अब भी मेरे शरीरपर रोएँ खडे हो रहे हैं। भगवान् का वह आश्चर्यमय विश्वरूप जो मैंने देखा उसका स्मरण करनेसे भी मुझे बडा आनन्द हो रहा है।

मैं तो निश्चयसे यही कहता हूं कि जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण सहायक हैं और जिस पक्षमें धनुर्धारि पार्थ जैसा वीर है उसी पक्षको श्री, ऐश्वर्य, न्याय नीति और विजय होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। अतः विजय प्राप्त करनेकी इच्छा धारण करनेवाले पक्षको उचित है कि वह सबसे प्रथम अपने पक्षको परमेश्वरका साहाय्य प्राप्त करनेका यत्न करे पश्चात् धर्मके लिये लडनेवाले उत्तम वीर अपने पक्षमें निर्माण करे जब ये दोनों अपने पक्षमें होंगे तब यश, विजय और ऐश्वर्य मिलनेमें संदेहही नहीं है।

इस तरह विजयी होनेका तत्त्वज्ञान इस ग्रंथमें कहा है जो यहां समाप्त होता है और सबको विजयका मार्ग बताता है। मनुष्य जाने तदनुसार आचरण करे और विजयी बने।

अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

अठारहवें अध्यायका मनन।

यह अठारहवाँ अध्याय भगवद्गीताका अन्तिम अध्याय है। इसमें विशेषतः 'संन्यासयोग' का विचार किया है और अन्तिम महत्त्वपूर्ण उपदेश भी कहा है। सबसे प्रथम संन्यास और त्यागका विवेचन इसमें किया है। भगवद्गीताके पूर्व कालमें त्याग शब्दका अर्थ कर्मत्याग करके कई साधक सब कर्म छोडकर अपने आपको त्यागी समझते थे और त्यागी भी समझते थे। श्रीमद्भगवद्गीताने कहा कि यह सच्चा त्याग नहीं है। सच्चा त्याग वह है जिसमें—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

(गी० १८।२)

सब कर्मोंके फलोंका पूर्ण त्याग होता है वही त्याग और संन्यासका भेद दर्शाया है। यह भेद महत्त्वका है इसलिये इस स्थानपर इसका थोडासा अधिक विवरण करना योग्य है।

संन्यास और त्याग।

१ संन्यास —

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः।

२ त्याग —

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागम्।

(गी० १८।२)

काम्य अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये अपने कामके लिये किये जानेवाले सब कर्मोंको छोड देना संन्यासका लक्षण है। इसमें संपूर्ण काम्य कर्मोंका त्याग किया जाता है। केवल निष्काम कर्मही इस अवस्थामें हो सकते हैं। यह काम्य कर्मोंके त्यागका संन्यासका लक्षण है।

त्यागी लोग संन्यासियोंसे भिन्न हैं। त्यागी लोग काम्य अथवा निष्काम दोनों प्रकारके कर्म करते रहते हैं परंतु किसी भी कर्मका फल अपने लिये अपने पास संग्रहीत करके नहीं रखते। त्यागमार्गमें कोई कर्म छूटता नहीं। संन्यासमार्गमें काम्य कर्म छूटता है और केवल निष्काम कर्मही किया जाता है। त्यागमें सब प्रकारके कर्म किये जाते हैं, परंतु किसी कर्मके फलकी आकांक्षा कर्ताको नहीं रहा करती। फल प्राप्त होनेपर भी कर्ता उसे अपने उपभोगके लिये नहीं स्वीकारता।

संन्यासमार्गमें सब सकाम कर्म छोडने पडते हैं परंतु त्यागमार्गमें सकाम कर्म छोडनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हरएक प्रकारके कर्म साधक करे परंतु उसके फल अपने लिये न लेवे। अपने पास भोगसाधनोंका संग्रह न रहे, यह मुख्य बात यहां है।

फलभोगकी इच्छाके कारणही सब दुःख होते हैं। मनुष्यके दुःख जो बढ रहे हैं, उसका विचार किया जाय, तो उन सब दुःखोंका मूल कारण भोगसाधनोंका— अर्थात् कर्मफलोंका अपने पास संग्रह करनाही है। इस दुःखोंकी जड काटनेके लिये इस त्यागमार्गमें कर्मोंके फलका पूर्ण त्याग किया जाता है।

संन्यास – मार्गमें काम्य कर्म छोडने होते हैं। और 'त्याग – मार्गमें कर्मोंके फल छोडने होते हैं। दोनों मार्गोंकी यह विशेषता पाठक स्मरण रखें। त्यागमार्गमें फलत्याग करनेके कारण काम्य कर्मोंसे भी निष्काम कर्मका लाभ प्राप्त होता है। इसलिये संन्यासकी अपेक्षा त्यागमार्ग अधिक उत्तम है क्योंकि उसमें सभी कर्म किये जाते हैं और उनके कर्मोंका भी बंधन नहीं होता। संन्यासमें काम्य कर्मोंका डर रहता है अपने द्वारा काम्य कर्म न हों, यह भीतिका भाव इसमें रहता है। परंतु त्यागमार्गी ऐसे निडर होते हैं कि वे सब प्रकारके कर्म करते हुए भी फलभोग न करनेके कारण उन कर्मोंके बंधनोंसे सदा अलिप्त रहते हैं। अतः संन्यासकी अपेक्षा त्यागमार्ग श्रेष्ठ है। (गी० १८।१)

कर्मका त्याग उचित नहीं।

संन्यास और त्याग इन दो मार्गोंका मतभेद इतना बड़ा होनेका कारण विषय महत्त्वका है। संन्यासमार्गी कहते थे, कि हम यज्ञ-दान-तप ये कर्म काम्य होनेके कारण करेंगे नहीं। इससे यज्ञ बंद हुए दान भी बंद हो गये और तप भी करना लोगोंने छोड़ दिया। यज्ञ-दान-तप बंद होनेके कारण सब समाज शक्तिहीन हो गया। देखिये— तप न होनेके कारण शीत-उष्ण सहन करनेका सामर्थ्य कम हुआ, इस कारण जनता अत्यधिक कोमल और सुकुमार बन गयी। थोड़ीसी सर्दी-गर्मी होनेपर भी लोग बीमार होने लगे, महान् कार्य करनेकी शक्ति दूर गयी। दान न देनेका भाव बढ़नेके कारण गरीबोंके कष्ट बढ़ने लगे; जिनका गुजारा दानपरही होता था, वे भूखे मरने लगे। और यज्ञ न होनेके कारण सज्जनोंका सत्कार होना बंद हुआ, संगठन न होनेके कारण विद्वेष शुरू हुआ और आपसमें विभिन्नता बढ़ने लगी। इस तरह यज्ञके न होनेसे बड़ा अनर्थ होने लगा।

यह समाज यज्ञ-दान तप पर अवस्थित रहता है। ये कर्म बंद होनेसेही सब समाज शिथिल हुआ। उस समय संन्यासमार्गियोंने यज्ञ-दान-तप ये तीनों कर्म करना छोड़ दिया, इसलिये यह अनर्थ हुआ। यह बात उस समयके धर्मधुरीणोंने देखी और वे सोचने लगे कि क्या किया जाय। सोचते सोचते उनके ध्यानमें आ गया कि यह अवस्था संन्यासियोंके कर्मत्यागके कारण समाजपर आ पड़ी है। समाजकी सुरक्षाके लिये ये कर्म अवश्यही होने चाहिये।

कर्म तो करनेही चाहिये परंतु उनकी बाधकता दूर होनी चाहिये। यह किस तरह होगा इस विषयमें सोचते सोचते वे विचार करने लगे तब उनको पता लगा कि कर्मोंकी बाधकता उनका फल स्वयं भोगनेके कारण है। यदि फलभोगके विचारसे दूर रहा जाय, तो स्वयं कर्म किसी प्रकार बाधक हो नहीं सकते। कर्मोंमें बाधकता नहीं है परंतु कर्मफलभोगकी इच्छामें बाधकता है। यह इच्छा संयमित हो जाय तो कर्मोंकी बाधकता दूर हो जायगी।

जब इस बातका प्रकाश उस समयके सुविज्ञ पुरुषोंके अन्तःकरणोंमें पड़ा तब उन्होंने इस कर्मफलत्यागके मार्गकी योजना की। इसीका संक्षिप्त नाम त्यागमार्ग है। इस कारण त्यागमार्ग संन्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इस तरह त्यागकी सर्वश्रेष्ठता निश्चित होनेके पश्चात् संन्यासियोंने भी अपने अन्दर कर्मत्यागकी बात स्वीकृत की और वे त्यागियोंकी बराबरी करने लगे। इसी कारण आगे ये दोनों शब्द समानार्थमें प्रयुक्त हुए दीखते हैं। परन्तु प्रारंभमें इनमें यह भेद था और इस भेदको ध्यानमें धारण करके इन दोनों मार्गोंका विचार पाठकोंको करना चाहिये।

संपूर्ण समाजकी सुस्थिति यज्ञ-दान-तप पर कैसी है यह सबसे प्रथम देखना चाहिये। इसका ज्ञान होते ही संन्यासियोंकी निर्बलता और त्यागियोंकी श्रेष्ठता किस बातमें कैसी है इसका पता लग सकता है। यज्ञ-दान-तप न होनेपर कोई समाज सुरक्षित रह ही नहीं सकता। संन्यासियोंके कर्मत्यागके कारण सब समाज निर्बल हुआ था। उसमें बलकी पुनः स्थापना करनेका पवित्र कार्य त्यागियोंने किया। इसीमें त्यागियोंकी श्रेष्ठता है।

कर्मत्यागके तीन भेद।

कर्मत्यागके तीन भेद हैं। एक सात्त्विक कर्मत्याग दूसरा राजस कर्मत्याग और तीसरा तामस कर्मत्याग। यहां सात्त्विक राजस और तामस कर्मसंन्यास ऐसा भाव न लेना चाहिये। यज्ञ दान और तप ये त्यागने योग्य कर्म नहीं हैं, ये मनुष्यकी पवित्रता करते हैं परंतु फलसंगका त्याग करके ये कर्म करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। (गी १८। ५)

ये यज्ञ, दान और तप सर्वसाधारण व्यवहारमें भी होते हैं। उदाहरणके लिये किसी एक नगरमें एक सार्वजनिक कूप है सब लोग उसीसे पानी भरते हैं। यदि लोग ऐसा होंगे कि कूपकी साफसफाईकी ओर ध्यान न देते हुए पानी ही अपना लेते रहेंगे तो वे कमजोर होनेपर वह ही पानी समाप्त जायगे। क्योंकि वे दूसरेके किये श्रमका फल उपभोगते रहते हैं। कूप किसी दूसरेने बनवाया व यह भोग करते हैं। उस कूपके लिये कुछ भी न करते हुए उसका भोग भोगना अयोग्य है और यही बड़ा पाप है।

यदि कोई इसे मानके इस कूपका मार्ग स्वच्छ होना तथा कूपके आसपासका स्थान स्वच्छ करना यहांका पानी

य का पानी दूर जाय ऐसी सुयोग्य व्यवस्था करेगा तो उस सार्वजनिक भलाईके लिये जो उसका कष्ट उठाना है वह उसका तप है । ऐसा तप करनेसे उस कुवेसे पानी लेनेका अधिकार उसे प्राप्त हो सकता है ।

यदि वहां कोई वृद्ध मनुष्य पानीके लिये आ जाय तो उसको पानी निकाल कर वह देवे तो उसका वह दान होगा। और उस कुवेके पास उत्तम उद्यान या गृह सबके उपयोगके लिये बनवाया जाय तो वह उसका यज्ञ है ।

इस तरह यज्ञ दान-तप करनेसे ग्रामका वह स्थान सबके उपभोगके लिये चिरकाल तक सुंदर बन सकता है । यदि ग्रामके सब लोग इस तरह स्वयं प्रेरणासे यज्ञ-दान-तप करते रहेंगे तो प्रत्येकका अन्तःकरण प्रतिदिन पवित्र होनेसे सब ग्रामके लोग अधिक सुखी और अधिक सन्तुष्ट हो सकते हैं। और यदि उनमें फलसंगत्याग करनेवालोंकी संख्या अधिक हो तो उस ग्रामका सुख अधिक बढेगा और जब ग्राममें यज्ञ-दान-तप न करके दूसरोंके किये हुए कर्मका फल स्वयं भोगनेवाले होंगे तो उस ग्राममें प्रतिदिन दुःखही अधिक बढता जायगा ।

यज्ञ दान और तप मनुष्यका सुख किस तरह बढाते हैं और अयज्ञ अदाता और अतपस्क लोग क्यों दुःखी होते हैं इसका मूल कारण यह है । पाठक हरएक दिनके व्यवहारमें यज्ञदानतपका स्वरूप किस तरह हो सकता है, इसका विचार करें । स्वयं दूसरोंको दान देना, परंतु जहांतक हो वहांतक प्रयत्न करके दूसरोंसे दान स्वयं न लेना स्वयं तप करना अर्थात् दूसरोंके हित करनेके लिये स्वयं कष्ट उठाना परंतु जहांतक हो सके वहांतक अपने लिये दूसरोंको कष्ट न देना स्वयं अपने कर्मका फल सब जनताको मिले ऐसी व्यवस्था करना परंतु जहांतक हो वहांतक यत्न करके दूसरोंके कर्मोंके फलोंका स्वयं उपभोग न करना इतना भाव यहां है यज्ञदानतप करनेका यही तात्पर्य है कि स्वयं दूसरोंके कष्टमें न जाना परंतु दूसरोंकी सहायता हर समय करना । यही उत्कृष्ट मानवधर्म है । (गी १८।५)

कर्तव्य करो ।

जो अपना कर्तव्य है वह तो प्रत्येक मनुष्यको करनाही चाहिये । अपना कर्तव्यकर्म न करना और आलसमें समय व्यतीत करना तामस प्रवृत्तिका लक्षण है इससे निःसन्देह उसकी अधोगति होती है । अतः इसमें कोई न जावे । (गी १८। ७)

कर्म करनेके समय बडा दुःख होता है, इसलिये पीडासे बचनेके उद्देश्यसे जो कर्म छोडता है, वह राजस त्याग है क्योंकि इसमें दुःखके भयसे कर्म छोड जाता है। अपना जो कर्तव्यकर्म है, वह दुःखों और कष्टोंकी पर्वा न करते हुए करना और उसका फल अपनेकोही प्राप्त हो ऐसा भाव न धारण करना इतना ही नहीं प्रत्युत उसका फल दूसरोंको समर्पित करना सात्विक प्रवृत्तिका लक्षण है । (गी १८। ८ ९)

अपना जो कर्तव्य है उसकी कदापि निन्दा नहीं करनी चाहिये । अपना कर्म उत्तम मध्यम, अधिक कैसा भी हो वह अपने लिये उत्तमही है ऐसा मानकर मनको शान्त रखकरही करना योग्य है । क्योंकि मनुष्य जबतक जीवित है, तबतक वह कर्मोंका त्याग कदापि नहीं सकता उसके द्वारा कर्म होते ही रहेंगे । मनुष्य यदि कुछ त्याग कर सकता है, तो वह कर्मका त्याग नहीं, अपितु उस कर्मके फलका त्याग कर सकता है । मनुष्यका जो निज कर्तव्य है, वह करनेकी उत्तम कुशलता प्राप्त करे और उत्तम कुशलतासे वह अपना कर्तव्य करे और उस कर्मका जो फल मिलनेवाला है वह संपूर्णतया त्याग दे सबकी भलाईके लिये छोड दे । (गी १८। १०–११)

एक डाक्टर है वह चिकित्सा तथा शस्त्रक्रिया उत्तम रीतिसे कर सकता है वह अपनी विद्यामें उत्तमोत्तम कुशलता प्राप्त करे और जो गरीब निर्धन असहाय रोगी आ जाय उसकी अपनी चिकित्साद्वारा सेवा करे और उस सेवाका फल न लेवे । यह है कर्मफलत्यागका अर्थ । सब मनुष्य परमेश्वरकी मूर्तियां हैं । उनमें जो धनवान हैं, उनके धनके बलसे उत्तमसे उत्तम चिकित्सकोंकी सहायता उन धनवानोंको प्राप्त हो सकती है इसलिये उनकी सेवा करनेके लिये वैद्योंको त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है परन्तु जो परमेश्वरका रूप आपसे सेवा लेनेके लिये और आपकी सेवा लेकर आपका जीवित अपने आशीर्वादसे सफल और सुफल करनेके लिये आपके पास उपस्थित हुआ है वह गरीब निर्धन और असहाय स्थितिमें जो आता है वही है । आपको कृतकृत्य करनेके लिये वह आपके पास आता

है, उसके लिये आप अपना कर्तव्य करें, वह कर्म परमेश्वरको अर्पण करनेकी बुद्धिसे करें। उस कर्मसे जो फल आपको मिल सकता है, उस फलका आपको त्याग करना उचित है। उस फलको भी आप ईश्वरके ही लिये समर्पण करेंगे तो बहुत अच्छा होगा।

कर्मका त्याग करना अयोग्य है फलका त्याग हो सकता है। जो पूर्वोक्त प्रकार करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य इस तरह कर्म करके और फलका त्याग करके अपना जीवन सफल और सुखरूप कर सकता है।

कर्मके पांच कारण।

कर्म करनेके लिये पांच कारण होते हैं। (१) कार्यका क्षेत्र, (२) कर्मका कर्ता (३) कर्म करनेके विविध साधन (४) कर्म करनेकी क्रियाएं और (५) दैव अर्थात् कर्मके लिये अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति। प्रत्येक कर्म करनेके समय इन पांच कारणोंका उसके साथ संबंध आता है और इनमेंसे प्रत्येकके उत्तम मध्यम कनिष्ठ होनेसे कर्मके परिणाम भी वैसेही होते हैं। इतने पांच कारण प्रत्येक कर्मके लिये होते हैं यह देखकर प्रत्येकको विदित हो सकता है कि कर्मका कर्ता केवल अकेला मैं ही नहीं हूं। क्योंकि उक्त पांच हेतुओंका संबंध उस कर्मके साथ सदा है। जो अन्य चार कारणोंका विचार छोडकर अपने आपको ही सिर्फ कर्मका कर्ता मानने लगता है, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धिमें कुछ न कुछ दोष उत्पन्न हुआ है। क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष जो कार्य पांचोंसे हुआ है, उसको एकका बनाया नहीं मान सकता।

(गी १८।१२-१६)

पांचोंकी उत्तम सहायतासेही प्रत्येक कार्यकी सफलता और सुफलता हो सकती है। उन पांचोंमें अकेला कर्ता किस तरह उस कर्म करनेकी घमंड मार सकता है? और यही कर्तृत्व अपनाही है, ऐसा किस तरह मान सकता है? इसलिये अपने कर्तृत्वकी घमण्ड करना सर्वथा अयोग्य है।

सात्त्विक ज्ञान।

जिस ज्ञानसे सब विविध भूतोंमें विविध वस्तुमात्रोंमें अविभक्त भावका ज्ञान होता है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य दूसरोंसे भिन्न है प्रत्येक पशुपक्षी अन्य प्राणियोंसे भिन्न है, प्रत्येक वृक्ष प्राणियोंसे भिन्न है। प्रत्येक जड पदार्थ वृक्षादिकोंसे भिन्न है। यह तो विश्वमें भेदभावका अनुभवही है। वास्तविमें हम यही देखते हैं सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देता है। इस भेदके अन्दर, अनेक विभिन्न पदार्थोंके अन्दर एक अखण्ड अभिन्न जीवन-का सूत्र कार्य कर रहा है। वस्तुओंका भेद होनेपर भी उस सर्वव्यापक जीवनमें कोई भेद नहीं होता। इस तरह विभक्तोंमें अविभक्त सत्ताका दर्शन करना सात्त्विक ज्ञान होता है। जिसमें यह सात्त्विक ज्ञान भरा है वह विभक्तोंमें व्यापनेवाली अविभक्त सत्ताको जान सकता है।

(गी १८।२०)

राजस ज्ञान।

प्रत्येक वस्तु दूसरे वस्तुओंसे भिन्न है ब्राह्मण क्षत्रियोंसे भिन्न वैश्य शूद्रोंसे भिन्न हिंदु यवनों और म्लेच्छोंसे भिन्न मनुष्य पशुओंसे भिन्न पशु पक्षियोंसे पक्षी वृक्षोंसे, वृक्षप्रस्तरादि जड वस्तुओंसे भिन्न हैं। इस प्रत्येक जातिमें भी मुख्य भेदमें उपभेद बहुत हैं जैसा देखा वृक्षोंमें आम इमली पनस वड पिप्पल आदि वृक्ष परस्पर भिन्न हैं। पक्षिजातिमें कौवा मोर गीध कोकिल, तोता गरुड आदि अनेक उपजातियां हैं। पशुमें भी सिंह व्याघ्र घोडा गाय भेड बकरी आदि अनेक जातियां हैं। इन प्रत्येक उपजातिमें भी गौओंमें गीर जातिकी गाय पंजाबी गौ महाराष्ट्रीय गौ भिन्न हैं। घोडेमें भी अरब काठियावाडी राजपूतानी भीमथडी आस्ट्रेलियन ऐसे अनेक भेद हैं। प्रत्येक जाति उपजाति उपजातिमें उपभेद, उपभेदोंमें गुणकर्मभेद ऐसे सर्वत्र भेद दृष्टिगोचर होते हैं। इनका कारण राजस मनोभाव है। राजस वृत्ति भेदवर्धी है। यह राजस वृत्ति भेदोंको बढानेवाली है और आप झगड करनेवाली है। यहां पाठक सात्त्विक ज्ञान भेद मिटाता करता है और राजस ज्ञान भेदोंको बढाता है यह विचारपूर्वक देखें।

(गी १८।२१)

तामस ज्ञान।

तामस ज्ञानको वस्तुतः अज्ञानही कहना चाहिये परंतु उसमें अल्प ज्ञान रहता है इसलिये ज्ञान नाम यहां कहा गया है। तामस ज्ञानवाला मनुष्य कर्ममें बडाही आग्रह रखता है विघ्नकर्ताओंके साथ शत्रुता करता है। शुद्ध गि

एक सारहीन कर्ममें सदा रमता है और उसीको बड़ा भारी कर्म मानता है। तात्पर्यसे जिसमें कोई सार नहीं है अथवा जो स्वरूपतः हीन है, सबकी भलाईका जिसमें कोई संबंध नहीं है किसी एक विभागके हितकारी जिसमें संबन्ध होगा, ऐसा संकुचित विचार जिसमें प्रमुख है, उस कर्ममें प्रवृत्ति तामस ज्ञानसे होती है। इसलिये तामस प्रवृत्तिसे सबकी हानि और व्यक्तिका नुकसान होता है।
(गी० १८।२२)

सात्त्विक कर्म।

जो जिसके लिये नियत अर्थात् आवश्यक कर्तव्य हो, धर्मसे और सहज स्वभावसे जो प्राप्त हो वह उसके लिये सात्त्विक कर्म कहलाता है। सात्त्विक मनुष्य उस नियत कर्मको रागद्वेष छोड़कर करता है। फलकी आसक्ति नहीं और हानिका द्वेष नहीं, इस समवृत्तिसे वह अपना नियत कर्म करता है। कर्मफलका भोग करनेकी वह इच्छा नहीं करता इतना ही नहीं प्रत्युत जो फल प्राप्त होगा उसका सबकी भलाईके लिये त्याग भी करता है जिससे फलके मोहमें वह कदापि फँस कर नहीं रहता। फल मुझे ही प्राप्त हो, ऐसी वह इच्छा भी नहीं धारण करता अथवा फलके विषयमें वह पूर्ण उदासीन रहता है। परंतु फलके विषयमें उदासीन होनेपर भी जो कर्तव्यकर्म करना है वह उत्तम कुशलताके साथ और निर्दोष पद्धतिसे करता है इस प्रकारका जो कर्म होता है वह सात्त्विक कर्म है। (गी० १८।२३)

राजस कर्म।

अहंकारके साथ कर्मफलका भोग करनेकी इच्छासे बहुत आयाससे जो कर्म किया जाता है, उसको राजस कर्म कहते हैं। इसमें कर्ता अपने कौशलकी घमण्ड करता है मेरे जैसा कर्मकर्ता कोई दूसरा नहीं है ऐसा वह मानता है। अपने कर्मोंके सब फल अपने पास संग्रहीत करके रखता है और कुशलता न होनेके कारण कर्मकी सिद्धता करनेमें उसे बड़े आयास पड़ते हैं।

अन्य लोगोंके कर्मोंके फलोंसे अपनी जीवनयात्रा हो रही है इसलिये अपने कर्मोंके फल दूसरोंकी भलाईके लिये अर्पण करने चाहिये यह विचार उस राजस वृत्तिवाले मनुष्यके मनमें नहीं आता इसलिये वह अपने भोग बढ़ानेके लिये विविध कर्म करता है उनके फलोंका अपने पास जमा करके रखता है उनकी रक्षाकी चिन्ता करता है हानि होनेसे दुःखी होता है, उनको देखनेसे आनन्द, इसके भोगसंग्रहको देखकर दूसरे लोग इसका द्वेष करते हैं। इस तरह यह दुःखोंको बढ़ाता है और फँसता जाता है। राजस कर्मका यही परिणाम
(गी० १८।२४)

तामस कर्म।

परिणामका विचार न करते हुए इसके करनेसे पाप और हिंसा कितनी होगी, इसका विचार छोड़कर, कितनी होगी इसका विचार न करके अपना और दूसरोंका पौरुष कितना है अपनेसे यह बन सकता है या नहीं इसका कुछ भी विवेक न करके, मोहसे जो कर्म किया जाता है वह तामस कर्म कर्ताकी भी हानि करता है और जिसके साथ उसका संबंध आता है, उसकी भी हानि करता है। (गी० १८।२५)

सात्त्विक कर्ता।

जो कर्ता कर्मके फलोंका स्वयं भोग करनेकी इच्छा नहीं धारण करता परंतु फलसंबंधको छोड़कर युक्त रहता है जो कर्म करनेका फलप्राप्तिका अथवा सिद्धिका अहंकार नहीं धारण करता अहंकारका पूर्ण त्याग करता है, सिद्धि और असिद्धिके विषयमें पूर्ण निर्विकार रहता है, सिद्धि होनेपर भी समवृत्तिमें रहता है और असिद्धि हुई तो भी समवृत्तिमें ही रहता है, इन्द्रियोंका परिणाम अपने मनपर कभी होने नहीं देता तथा सदा धैर्य और उत्साहसे युक्त रहता है। बड़ा भय प्राप्त हुआ तो भी जो डरता नहीं और कैसी भी विपरीत परिस्थितिमें जिसके मनमें उदासीनताका विचार तक नहीं आता जो सदा उत्साहके विचारोंका प्रचार करता है उसको सात्त्विक कर्ता कहते हैं। (गी० १८।२६)

राजस कर्ता।

अपने भोगोंको बढ़ानेवाला अपने कर्मोंके फलोंको अपने भोगके लिये अपने पास अत्यधिक प्रमाणमें संग्रह करनेके लिये सदा आतुर भोगोंके पीछे पड़नेवाला लोभी व्यापार और हिंसा करनेवाला अपवित्र आचरण करनेवाला, लाभ होनेपर हर्ष धारण करनेवाला और हानि होनेपर दुःखसे हताश होनेवाला, लाभ होनेपर अति घमंड करके आनन्दसे मूर्छित

होनेवाला, तथा हानि होनेपर प्राण देनेके लिये भी तैयार होनेवाला, जिसके मनमें समभावना बिल्कुल नहीं है, ऐसा जो कर्ता होता है, उसे राजस कर्ता कहते हैं (गी १८। २७)

तामस कर्ता।

जिसमें कर्म करनेकी कुशलता नहीं है, जिसपर कोई शुभ संस्कार नहीं हुए जो मूर्ख और सदा आलस्यमें समय बिताता है बकवाद करनेवाला, कृपण नीच, कर्म करनेकी इच्छा न करनेवाला मूर्ख जिद्दी और उदास तथा थोडेसे कर्मके लिये जो बहुत समय लगाता है ऐसे अव्यवस्थित कर्ताको तामस कर्ता कहते हैं। इसके कर्मसे जैसी इसकी हानि होगी वैसीही इसके साथ जिसका संबंध आवेगा उसकी भी हानि होगी। (गी १८।२८)

सात्त्विक बुद्धि।

जिस बुद्धिसे किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कर्तव्य करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये, किससे भय होनेवाला है और किससे निर्भयता होगी किससे अपना बंधन होगा और किससे बन्धसे निवृत्ति होगी किससे अपनी सच्ची उन्नति होगी और किससे अवनति होगी इसका यथार्थ ज्ञान होता है, वह बुद्धि सात्त्विक कहलाती है। यही बुद्धि मानवी उन्नतिका ठीक मार्ग साधकको बताती है, जिससे आगेसे मनुष्य अपनी परम उन्नति कर सकता है। (गी १८।३)

राजस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझा जाता है तथा कर्तव्यको अकर्तव्य और अकर्तव्यको कर्तव्य मान पडता है जिस बुद्धिसे विपरीतही ज्ञान होता है उसका नाम राजस बुद्धि है। यह बुद्धि दुःख उत्पन्न करनेवाली है क्योंकि वह विपरीत कर्म करनेमें प्रवृत्त होती है जिसका परिणाम सदा दुःखही दुःख निःसंदेह है।

(गी १८।३१)

तामस बुद्धि।

जिस बुद्धिसे धर्माधर्मके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता ऐसेही क्योंकि विषयमें विपरीतही भावना सदा होती है उसकी मन ज्ञान होता ही नहीं सत्यज्ञान जिसीने समझाया तो भी जिसे वह विपरीतही प्रतीत होता है उसका नाम तामस बुद्धि है। यह निरी बुद्धिहीनता व निर्बुद्धता भी इसे कह सकते हैं। सब प्रकारकी अधोगति इससे होना संभव है। (गी १८।३२)

सात्त्विक धृति।

सतत योगसाधन करनेकी रुचि, धार्मिक व्रतनियम करके उनका पालन नियमपूर्वक करनेकी वृत्ति मन प्राण-इन्द्रियक्रियाओंकी उत्तम धारणा जिससे होती है, जिससे मन प्राण और इन्द्रियोंका परस्पर सहाय्यक आचरण होता है उस समधारणाका नाम सात्त्विक धृति है।

(गी १८।३३)

राजस धृति।

धर्म काम और अर्थकी धारणा विशेष कर फलभोगकी इच्छासे होती है। अर्थात् अमुक धर्म करनेसे अमुक फल भोगनेको मुझे मिलेगा ऐसी इच्छा धारण करके, उस फलभोगकी कामनासे ध्यान करते हुए वह उस कर्मको करता है। इसमें फलभोगकी कामना बडीही प्रबल रहती है। इसलिये इसको राजस धृति कहते है।

(गी १८।३४)

तामस धृति।

जिसमें तामस धृति होती है, वह निद्रा, भय, शोक, खिन्नता मद (बेहोषी) को छोडता नहीं अर्थात् उसकी दोषयुक्त बुद्धि इन दुष्ट गुणोंसे व्याप्त रहती है। अर्थात् जो आलसी सुस्त शोकग्रस्त खिन्न रहता है उसकी तामस धृति है ऐसा मानना योग्य है। (गी १८।३५)

सात्त्विक सुख।

जो सुख प्राप्त होनेके समय विषसा प्रतीत होता है परंतु जिसका परिणाम अमृतसा होता है और जिससे आत्मा, बुद्धि मनकी प्रसन्नता रहती है वह सात्त्विक सुख होता है। उदाहरणके लिये विद्याका सुख। विद्याप्राप्ति करनेके समय बडे कष्ट प्रतीत होते हैं परंतु प्राप्त होनेपर उससे जो आनन्द होता है, वह अपूर्वही होता है तथा इससे आत्मा बुद्धिकी प्रसन्नता भी होती है। अतः यह सुख सात्त्विक है। इसी तरहके जो अन्य सुख हैं वे सब सात्त्विक कहलाते हैं। (गी १८।३७)

राजस सुख।

जो सुख विषयोंसे इंद्रियोंका संबंध होनेसे मिलता है, सुख प्राप्त होनेके समय अमृत जैसा प्रतीत होता है परंतु परिणाम विष जैसा होता है, उस सुखका नाम राजस सुख है। उदाहरणके लिये देखिये–कोई मनुष्य भोजन कर रहा है, खानेके समय तो उसे जिह्वाका आनंद मिलता है, परंतु जिह्वाके वश हो जानेसे वह मर्यादाको उल्लंघन कर खा जाता है और अजीर्ण होनेपर रोता रहता है। खानेके समय अमृत–सा खाया, परंतु भोगनेके समय विष जैसा हुआ। इसी कारण इसका नाम राजस सुख हुआ। (गी १८।३८)

तामस सुख।

प्रारंभसे अन्ततक तामस सुख मनको मूर्छित करनेवाला है निद्रा उत्पन्न करता है प्रमाद और दोष निर्माण करता है सुस्तीसे कुछ बनता नहीं, इस तरह अकर्मण्यतामें सदा वह फंसा रहता है। इस तरहका आलस्यसे उत्पन्न हुआ यदि सुख कहा जाय तो वह तामस सुख है। (गी १८।३९)

त्रिगुणोंकी व्याप्ति।

यहां जो इन तीनों गुणोंका वर्णन किया है उसका विचार पाठक करें और विश्वमें देखें कि इन गुणोंका खेल इस विश्वमें सर्वत्र कैसा चल रहा है। कोई वस्तु इन गुणोंके बिना नहीं है। जो वस्तु सन्मुख आ जाय उसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है, यह पाठक अवश्य देखें। प्रत्येक वस्तुमें कोई न कोई गुण अवश्य दिखाई देगा। (गी १८।४)

पाठक अपने अन्दर भी देखें अन्यान्य मनुष्योंमें भी देखें और पहचाननेका यत्न करें कि किसमें कौनसा गुण कार्य कर रहा है। मनुष्यका सहज कर्म कौनसा है इसका निर्णय इस गुणकर्मविभागके सुनिश्चयसे हो सकता है। जिसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है उससे जो स्वभावतः उचित कर्म होंगे वे कर्म राजस गुणकी प्रधानतावाले मनुष्यके स्वाभाविक कर्मोंसे भिन्न होंगे और तमोगुणवाले मनुष्यके कर्म तो उन दोनोंसे सर्वथा भिन्न ही होंगे।

सत्त्वगुणवाले की प्रवृत्ति उत्साहमयी और समाधानमयी होगी रजोगुणवालेकी प्रवृत्ति हिंसक और क्रूर होती है और तमोगुणवालेकी प्रवृत्ति सुस्त होती है। अतः इनसे होनेवाले सहज कर्म एक जैसे नहीं हो सकते इसलिये मनुष्योंके चार भेद माने गये हैं। (गी १८।४१)

चार वर्णोंकी व्यवस्था।

सत्त्वगुणका आधिक्य जिसमें होगा, वह ब्राह्मण कहलायेगा, सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें अधिक होगा वह क्षत्रिय होगा, तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें होगा वह वैश्य होगा, और जिसमें तमोगुणकी अधिकता रहेगी वह शूद्र कहलायेगा। पूर्वोक्त त्रिगुणोंके जो गुणोंके न्यूनाधिक्यसे होनेवाले लक्षण कहे हैं उनका विचार करनेसे किसमें कौनसा वर्ण है इसका निर्णय किया जा सकता है।

ब्राह्मणमें सत्त्वगुण परम उन्नत होगा और अन्य दोनों गुण दबे हुए होंगे। अथवा जिसमें सत्त्वगुण प्रस्फुरित है और अन्य गुण दबे हैं, वह ब्राह्मण है। (गी १८।४२)

क्षत्रियमें रजोगुणकी प्रधानता होगी परंतु उस रजो गुणका झुकाव सत्त्वगुणकी ओर अधिक होगा। जिसमें सत्त्व गुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा उसका वर्ण क्षत्रिय होगा। (गी १८।४३)

वैश्यमें भी रजोगुणकी होगा परंतु उसका झुकाव तमो-गुणकी ओर होगा। इस तरह जिसमें तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा उसकी वैश्य–वर्णमें गिनती होगी।
(गी १८।४४)

जिसमें तमोगुणकी प्रधानता होगी उसका शूद्र वर्णमें भरती होगी। क्योंकि उसको किसी अन्य वर्णमें स्थान ही नहीं है।

चातुर्वर्ण्य स्व–भाव–ज है अथवा 'गुण–कर्म स्व-भाव–ज' ऐसा जो कहते हैं, उसका यह आशय है। सत्त्व रज, तम ये गुण हैं। जिसमें जो गुण होगा उसके अनुसार उससे कर्म होंगे। यहां गुणोंके कारण कर्म करनेका स्वभाव प्रत्येक मनुष्यमें स्थिर रहता है। यह शीघ्र बदलनेवाला नहीं होता। सवेरे सत्त्वगुण रहा तो शामको रजोगुण हो नहीं सकता। प्रायः यह एक एक जन्मतक स्थिर रहता है बदलनेका प्रयत्न किया जाय तो जन्म भर यत्न करनेपर भी बदलता है ऐसी बात नहीं है। इसलिये जो जिसका गुणोंसे बना हुआ स्वभाव है वैसे उसके लिये कर्म शास्त्रकारोंने नियत किये हैं। क्योंकि स्वभाव बदलनेका यत्न करनेपर भी बदलेगा नहीं इसलिये स्थिर न होनेवाली बातका किये

अनुकूल भाव करना कोई बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। अतः इस कारण जन्मस्वभाव बदलनेका यत्न न करना और जो स्वभाव होगा उसीके अनुसार शास्त्रसे निश्चित हुआ कर्म स्वीकारना और वही करते जाना। दूसरोंही नहीं परंतु दूसरेके कर्मकी ओर देखना भी नहीं। (गी १८।४७)

ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्र ये गुणकर्म स्वभावसे माने गये वर्ण हैं। किसी मनुष्यका वर्ण निश्चित करना हो, तो उसके प्रथम उसमें कौनसा गुण प्रबल है, उस गुणका झुकाव किस ओर है कौनसे गुण दबे हुए हैं और कौनसे बिलकुल नष्ट हुए हैं, इनका परीक्षण पूर्ण करके परीक्षाओंसे करना चाहिये। और इस परीक्षासे जो वर्ण निश्चित हो जाय उसके अनुसार जो कर्म नियत हुए हैं उनको ही करते जाना चाहिये। अपना कर्म कितना भी निःसार हो और दूसरोंका कर्म कितना भी सारगर्भित हो अपना कर्म छोडना नहीं और दूसरोंका लेना नहीं। इससे मनुष्य निश्चिंत होता है और अपने कर्म करने लगता है। यह कर्म करूं या वह ऐसी चिन्ता उसे लगती नहीं।

मनुष्यका स्वभाव निश्चित है, स्वभावके अनुकूल कर्म निश्चित हैं, और उन कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये यह भी निश्चित है। अपने सहज स्वभावसे प्राप्त कर्मसे ही अपनी उन्नति होगी यह नियम भी निश्चित है, स्वकर्म त्यागनेसे अवनति और स्वकर्म करते हुए मृत्यु आनेसे शुभ गति होगी भी निश्चित है, स्वकर्म करनेसे उसी कर्मद्वारा परमेश्वरकी पूजा और उपासना होती है यह भी निश्चित ही है। और यही ईश्वरपूजा मनुष्यका उद्धार करनेवाली है। मनुष्य अपने अन्दर गुण कैसे हैं यह देखे कौनसा गुण विकसित हुआ है इसका निश्चय करे उस गुणके अनुसार कौनसा अपना कर्म है तथा अपने द्वारा कौनसा कर्म हो सकता है इसका भी निर्णय करे और समझे कि यही अपना स्वाभाविक कर्म है यही अपनेको करना चाहिये। यह मनुष्य उस कर्मको करे और अपना जीवन कृतार्थ बनावे। (गी १८।४६-४८)

वर्णसंकर ।

यहां वर्णसंकर कैसा होता है, यह भी देखना उचित है। मान लीजिये कि किसी मनुष्यके अन्दर सत्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण है तो उसका वर्ण क्षत्रिय हुआ। राष्ट्र-रक्षा सेनाविभागमें प्रवेश कर युद्ध करना आदि उसका कर्म वर्णानुकूल हुआ। यदि वह मनुष्य अपने गुणकर्मानुसार प्राप्त यह कर्म नहीं करता और किसी कारण दूसराही कर्म करता है, तो उसके अन्दर वर्णसंकर होता है। उसके गुणकर्मानुसार उसका जो वर्ण निश्चित हुआ है, उसके अनुकूल कर्म न करता हुआ, वह दूसरे वर्णके कर्म करता है। इसलिये स्वाभाविक वर्णके संस्कारोंमें कर्मजन्य वर्णके संस्कार मिलते हैं, और वहां दो वर्णोंका संकर हो जाता है। यह वर्णसंकर मनुष्यत्वकी हानि करनेवाला है।

अतः अपना जो गुणकर्मानुसार वर्ण निश्चित हुआ है, उसीके अनुकूल जो कर्म है वही करना चाहिये उसीसे उस मनुष्यकी उन्नति हो सकती है क्योंकि ये कर्म उसके गुणोंके अनुकूल होनेसे वे उससे उत्तम रीतिसे हो सकेंगे और उस कारण उसमें शुभ संस्कार होते रहेंगे। यही उन्नतिका बडा अच्छा साधन है। वर्णसंकर न करते हुए अपने नियत कर्म करनाही मनुष्यको उचित है।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य ।

इंद्रियोंका दमन मनका शमन, धर्मकर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहन करनेका तप, पवित्रता-मनके पवित्र शुद्ध विचार वाणीकी शुद्धता और शरीरकी निर्दोषता शरीरकी अंतःशुद्धि और बहिःशुद्धि, सहनशीलता, सरल आचरण, सम्यग्ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि ये ब्रह्मकर्म स्वाभाविक हैं। जिसके अन्दर सत्वगुण प्रभावशाली होता है उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन कर्मोंके करनेकी ओर होती है। (गी १८।४२)

क्षत्रियके कर्तव्य ।

शौर्य तेजस्विता धैर्य दक्षता युद्धमें स्थिर रहकर शत्रुसे लडना दान देना स्वामी होनेका भाव ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रियमें रजोगुण होता है, परन्तु वह सत्वगुणकी ओर झुका हुआ होता है अतः उसका विचार आत्मसमर्पणकी ओर अधिक होता है। जनताकी रक्षाके लिये जोखिमके कर्म करना शत्रुके साथ मरणतक युद्ध करना धर्मयुद्धमें अपना भाग लेना धैर्यसे शत्रुपर हमला करना अपने पास जो संपत्ति होगी वह दीनोंको उदारताके साथ देना हरएक कर्म दक्षताके साथ करना और मैं इस देशका स्वामी हूं ऐसा मानकर उसकी सुरक्षाके लिए तत्परतासे कार्य करना।

ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं। ये सब कर्म रजोगुणके हैं, परंतु उनके साथ सात्त्विकताका बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

(गी० १८।४३)

वैश्यके कर्म ।

कृषिकर्म खेतीका काम, गौ आदि पशुओंका पालन और वाणिज्य स्वदेशवासियोंमें आकर व्यापार करना या अपने देशमें व्यापार करना ये कर्म वैश्यवर्णके स्वाभाविक हैं। निःसन्देह जिन कर्मोंसे धनकी प्राप्ति होती है वैसी कर्म वैश्य करता है क्योंकि उसके अन्दर जो रजोगुण है, वह तमोगुणकी ओर झुका हुआ है इसलिये वह प्रयत्न ऐसे करता है कि जिससे व्ययकी अपेक्षा आय अधिक हो।

(गी० १८।४४)

शूद्रके कर्म ।

परिचर्या अथवा सेवा-कर्मसे आजीविका करना ही एकमात्र शूद्रका कार्य है। इसमें अत्यधिक तमोगुण होनेसे वह तुच्छ होता है और उत्साह आदि शुभ गुण इसमें नहीं होते। इसलिये प्रशस्तकर्म इससे नहीं होते, अतः अन्य वर्णोंकी सेवा करके वह अपनी आजीविका करता है।

(गी० १८।४४)

शूद्र-वर्णमें एक सच्छूद्र और दूसरा असच्छूद्र ऐसे दो भेद माने गये हैं। उत्तम शूद्र और अधम शूद्र ऐसा इनका आशय माना जा सकता है। जो उत्तम शूद्र हैं वे विविध कारीगरीके कर्म करके अपनी आजीविका चलाते हैं वे व्यवहारमें वैसेही स्वतंत्र और सम्मान्य हैं कि जैसे पूर्वोक्त तीनों वर्णोंके हैं। अतः कई शास्त्रकार इस सच्छूद्रको त्रैवर्णिकोंके समान मौंजीबन्धनपूर्वक यज्ञोपवीत धारणका अधिकार देते हैं। अथवा बिना उपनयनके भी इनका अध्ययन होता है जैसा कि विदुरका हुआ था। विदुर शूद्र होनेपर भी बहुत पढ़ा हुआ ज्ञानसंपन्न था। यह विदुर सच्छूद्रका उत्तम उदाहरण है। इसका अध्ययन उस समयके द्विजों जितना हुआ था, भगवान् सनत्कुमारके समान यह निपुण था ऐसा कई कहते हैं। उतना न भी हो तथापि वेदान्त और व्यवहारका अच्छा ज्ञाता यह था और उस समयकी राजसभाका यह सदस्य भी था। आर्य राज्यमें शूद्रकी कितनी उन्नति हो सकती थी इसका आदर्श हमें विदुरके उदाहरणसे ज्ञात होता है। विदुरकी उन्नति किसी भी रीतिसे उस समयके अन्य द्विजोंसे बहुत कम न थी।

स्त्रियोंके कर्तव्य ।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य अध्ययन अध्यापन नियत होनेपर भी पितामह भीष्म धर्मराज भगवान् श्रीकृष्ण ये क्षत्रिय अच्छे धर्मोपदेश करनेके कारण प्रसिद्ध रहे। उनके साथ विदुरकी भी तुलना करना योग्य है। द्रोणाचार्य कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाचार्य ये ब्राह्मण होनेपर भी क्षत्रियोंसे बढ़कर धनुर्विद्यामें निपुण थे, और युद्ध विद्यामें भी प्रवीण थे। इससे सिद्ध होता है कि परस्परके कर्म परस्पर वर्णवाले करते नहीं थे, ऐसा नहीं है।

इससे भी प्राचीन कालमें परशुरामजैसे ऋषि पर्णकुटी-में तपस्या करते थे। उनके आश्रमपर उन्मत्त क्षत्रियोंने हमला किया, तब उन्होंने शस्त्रास्त्र प्रयोग करके उन सैनिकोंके नाक कान आंखोंमें पीनक जिनके शरीर शरीर दुकडे करने-योग्य कुछ अस्त्र चलाया, जिससे वह क्षत्रिय सैन्य परास्त होकर भाग गया और ऋषियोंका आश्रम सुरक्षित रहा। इससे पता चलता है, कि अति प्राचीन कालके ब्राह्मण भी शस्त्रास्त्र चलाना जानते थे, इसकी पुष्टि द्रोणाचार्य गुरुकुलमें युद्धविद्या सिखानेवाले आचार्य भी ब्राह्मणही होते थे। जो क्षत्रियोंको शस्त्रास्त्र-विद्या और युद्धविद्या पढ़ाते थे।

अतः ऊपर जो ब्राह्मणोंका शमदमादि कर्म क्षत्रियोंका शौर्य तेज आदि कर्म कहा है वह तो उनकी विशेषताही बताता है। ब्राह्मण इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करें और क्षत्रिय इन कर्मोंमें विशेषता प्राप्त करें। एक दूसरेके कर्मोंमें स्पर्धा न हो। ब्राह्मण क्षत्रियका धंदा (पेशा) न करे और क्षत्रिय ब्राह्मणका (पेशा) धंदा न करे। इसी तरह अन्य धंदोंमें स्पर्धा न हो। यह मुख्य तात्पर्य वर्णव्यवस्थाका है। कोई अध्ययन न करे, यह इसका तात्पर्य नहीं है। समयपर चारों वर्णोंको और स्त्रियोंको भी शस्त्रधारण करना उचित है और राष्ट्रपर कठिन प्रसंग आनेपर चारों वर्णोंको शस्त्रधारण करना आवश्यक होगा तब तो राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शस्त्रास्त्र विद्याका प्राथमिक शिक्षण तो अवश्यही मिलना चाहिये। ऐसा सबको शस्त्रविद्याका शिक्षण मिले, परंतु क्षत्रिय उसमें विशेषता प्राप्त करे और वह बल वीर्य बढ़ानेके कारण राष्ट्रकी रक्षा करे। इसी तरह अन्यान्य वर्णोंके विषयमें जानना योग्य है।

स्तियोंके रूपसे नदीनदोंके रूपसे तथा अन्यान्य विश्वस्थित वस्तुमात्रके रूपसे ईश्वर मनुष्य मात्रको प्रत्यक्ष है। जो जिस शुभ कर्ममें प्रवीण है वह उस कर्मके द्वारा इस ईश्वरकी संतुष्टी होने योग्य उसकी सेवा करे इसीसे उसकी कृतकृत्यता होगी। अपने जीवन समर्पणसे मनुष्योंका पशुपक्षियोंका सुख और आरोग्य बढावे। वृक्षोंकी प्रसन्नता रखे नदीनदोंको प्रसन्न रखे। जल वायु तथा भूप्रदेशोंको प्रसन्न रखे जहां मनुष्य जाकर आनन्द प्राप्त कर सकें। जनसेवा ही ईश्वरसेवा है, ऐसा जो कहते हैं वह यथार्थिक सत्य है। मनुष्य विचार करेगा तो उसको अपने जीवनद्वारा विश्वसेवा करनेके अनेक मार्ग ज्ञात होंगे। अपने जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, उनसे विश्वकी प्रसन्नता किस प्रमाणमें हो रही है, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिये। और तदनुसार अपने कर्तव्यकर्म करनेसे परमेश्वरसेवा होती है। इसी ईश्वरको अपने कर्मोंके फल समर्पण करने चाहिये ऐसा करनेसे वही इसका योग क्षेम चलावेगा।

मनुष्यस्वभावोचित कर्ममें उत्तम प्रवीणता संपादन करे प्रवीणतासे व प्रयत्नसे कर्मका अनुष्ठान करे अपने कर्मोंके फलोंका जनतारूपी जनार्दनकी संतुष्टीके लिये समर्पण कर जिससे संतुष्ट और प्रसन्न हो कर वही इसका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चलावेगा।

विशिष्ट समाजपद्धति।

इस रीतिसे विचार करनेपर एक विशेष प्रकारकी समाजपद्धति इसमें व्यक्त हुई है ऐसा प्रतीत होगा। प्रत्येक मनुष्य अपने कम उत्तम प्रवीणताके साथ जितने उत्तमसे उत्तम हो सकते हैं उतने उत्तम करे वह ये सब कर्म जनतारूपी ईश्वरकी संतुष्टीके लिये समर्पण करे और उन कर्मोंके फलोंको भी अपने उपभोगके लिये अपने पास संग्रहित करके न रखे प्रत्युत उन कर्मफलोंको भी इसी ईश्वरके लिये समर्पण करे। जनसमाजरूपी परमेश्वर प्रत्येक इस तरहके विश्वसेवकका योगक्षेम चलावे। इसके इस तरहके विशिष्ट समाजका स्वरूप कैसा होगा।

विश्वही परमेश्वर है (विश्वं विष्णुः) यह विचारकी सुविधाके लिये हम मानवसमाजको ही रूप मान कर यहां विचार करेंगे।

इस मानवसमाजरूपी ईश्वरका मुख ज्ञानी जन है, ईश्वरके बाहु शूर पुरुष हैं, उसी ईश्वरके पेट व्यापारी और उसी ईश्वरके पांव कारीगर हैं। ये सबके सब और ईश्वर अवयवी है। कोई मनुष्य ईश्वरके इस व्यापक शरीरसे पृथक् नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अंश है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्तव्यकर्ममें प्रवीण बने प्रवीणतासे अपना कर्तव्यकर्म करे अपना कर्तव्य करके उस कर्मद्वारा जनतारूपी परमेश्वरकी प्रसन्नता करे उसीकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य करे दूसरा कोई अपना जीवनोद्देश न रखे कर्तव्यकर्म करे परंतु उसके लिये कोई बदला न लेवे अवैतनिक सेवा करे।

ज्ञानी सत्पुरुष अपना ज्ञान जनताकी भलाईके लिये देते रहे बिना वेतन लिये अध्यापन करे पढावे उपदेशक सेवा भावसे उपदेश करे ज्ञानका फैलाव करनेके लिये उत्तम होने उनके उपायोंका अवलम्बन करके ज्ञानका प्रसार यत्नसे करते रहें। परंतु वेतन न लेवें केवल ईश्वरसेवाके भावसे यह कार्य करें।

शूर पुरुष अपने शौर्यसे जनताकी सुरक्षा करें कोई मानवोंकी रक्षा करें कोई गौओं और उपवनोंकी रक्षा करें कई स्थानोंको सुरक्षित रखें कई सैनिक बनें और शत्रुओंको भगा कर जनताको सुरक्षित रखें। जहांजहां दुर्बलोंका नाश हो और उनकी रक्षा करनेका कार्य उपस्थित हो वहां शूर वीर स्वयंसेवक बनकर जांय और दुर्बलोंको एवं सज्जनोंकी रक्षा करें। इस कार्यको ईश्वरसेवाके भावसे करें और इस कामके बदले कोई वेतन न लेवे।

कृषीवल खेती उत्तम कुशलतासे करें नाना प्रकारके उत्तमोत्तम धान्य तथा फल फूल कंदमूल–शाक तैयार करें और जनताको अर्पण करें। व्यापारव्यवहार करनेवाले देशदेशान्तरोंमें और ग्रामग्रामान्तरोंमें जहां जो न हों, वहां ले जावें और वहांकी जनताको पहुंचावें। कारीगर लोग कुशलतासे विविध कारीगरीकी वस्तुएं बनावें।

ही रहती है, उसकी सब क्रिया ईश्वरके लिये होती है क्योंकि वह उससे पृथक् नहीं रहता। जो वह करता है ईश्वरके प्रिय करता है। (गी १८।५७)

परंतु जो अहंकार करनेवाला मानव ममत्व करके अपना कर्तव्यकर्म करता नहीं, और मैं यह कर्म नहीं करूंगा ऐसा कहता है वह कर्म हीनताके कारणही नष्ट भ्रष्ट होता है। क्योंकि वह विश्वरूपी ईश्वरका विरोध करता है। जो विश्व शक्तिसे विरोध करेगा वह जीवित रह नहीं सकता। कर्म न कर्तव्य ऐसा उसने अपने आपको स्वतंत्र मानकर कहा, परंतु उसकी प्रकृति स्वतंत्र है वह उसको घसीट कर अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्म करावेगी। इस कारण उस समय वह पराधीन होकर कर्म करेगाही। फिर प्रथमसे ही अपना स्वभावनियत कर्म करनेमें क्या दोष था? इसलिये इस प्रकारका कर्म त्यागका हठ करना किसको योग्य नहीं है।

(गी १८।५८-९)

हृदयनिवासी ईश्वर।

सबके हृदयोंमें ईश्वर निवास करता है और वह वहांसे सबको चलाता है। जैसे किसी यंत्र पर कठपुतलियां लगाई होती हैं और यंत्रके घुमानेसे वे सब पुतलियां अपनी अपनी गतिसे घूमती हैं उसी तरह इस विश्वके यंत्रपर सब भूत चढाये हैं और ईश्वर उस यंत्रको घुमाकर सब भूतोंको घुमाता है। यह सब विश्वही एक बडा यंत्र है और उस महायंत्रका एक पुर्जा मैं हूं। मै स्वतंत्र नहीं हूं, विश्वरूपी महायंत्रके साथ मुझे भी घूमना चाहिये और उसकी मुख्यता और सफलताही एक पुर्जेकी सुफलता तथा सफलता है। यह जानकर अपना अहंकार छोडना चाहिये और विश्वनियामककी इच्छाकी सफलताके लिये अपने समर्पित करना चाहिये। विश्वरूपी परमेश्वरको आत्मसमर्पण करके उसको शरण जाकर, मैं उसका हूं और उसकी इच्छाकी पूर्तिके लिये हूं, यह जानकर, उसकी संतुष्टीके लिये अपने जीवनका यज्ञ करना चाहिये। इसी तरहके आत्मयज्ञसे मानवी जीवनकी सफलता होती है।

(गी १८।६१-६२)

यह सत्य ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् जिसने अपना जीवन इस सत्यसे शुद्ध बनाया है, वही अपनी इच्छाके अनुकूल कार्य कर सकता है क्योंकि उसकी इच्छा परमेश्वर की ही इच्छा होती है वह परमेश्वर रूप ही उस समय बना होता है।

उस समय उसका मन परमेश्वरमें लगा होता है वह उसी ईश्वरकी सेवा करता है, ईश्वरके लिये ही वह आत्मयज्ञ करता है, ईश्वरकोही वह नमन करता है और अन्तमें वह ईश्वरमेंही एकरूप हो जाता है। उस समय वह किसी अन्य धर्मका विचार करता नहीं, एक ईश्वरको शरण जाता है और उसी शरणागतिसे वह सब पापोंसे छुटकारा पाकर ईश्वरस्वरूपमें मिल जाता है।

(१८।६५-६६)

ज्ञानप्रसार।

इसी सत्य-ज्ञानका प्रसार जिस उत्तम रीतिसे हो उस रीतिसे करना चाहिये। अध्ययन अध्यापन कीर्तन व्याख्यान लेखन तथा प्रवचन द्वारा इस सत्य ज्ञानको मनुष्य मात्रतक पहुंचाना चाहिये। क्योंकि इसीसे मनुष्यमात्रका परम कल्याण होनेवाला है। (गी १८।६७-७१)

यहां अठारहवें अध्यायका मनन समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

अठारहवें अध्यायके सुभाषित।

(१) कर्मत्याग न करना।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम्। कार्यमेव तत्।

(गी १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये प्रत्युत ये कर्म करनेही चाहिये।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गी १८।५)

यज्ञ दान तप ये कर्म मनुष्योंको पवित्र बनाने वाले होते हैं। इनके करनेसे मनुष्य शुद्ध होता है।

(२) कर्म करो।

कर्माणि सङ्गं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि।

(गी १८।६)

कर्मोंको भोगोंकी आसक्ति छोड कर और फलोंका त्याग करके करना चाहिये।

नियतस्य कर्मणः संन्यासो नोपपद्यते॥

(गी १८।७)

अपने कर्तव्यका त्याग करना अयोग्य है।

(३) कर्मत्याग अशक्य है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

(गी १८।११)

मनुष्यके लिये कर्मोंका पूर्ण त्याग करना अशक्य है।

(४) संन्यासी कौन है?

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गी १८।११)

जो कर्मफलका त्याग करता है वही सच्चा संन्यासी अथवा वही सच्चा त्यागी है ऐसा कहा जाता है।

(५) स्वकर्मसे सिद्धि।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गी १८।४५)

'स्वकर्ममें जो मनुष्य तत्पर रहता है वह उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है।

(६) स्वकर्मसे ईश्वरपूजा।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गी १८।४६)

जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे ये सब प्राणी हुए हैं उस परमात्माकी पूजा अपने कर्मद्वारा करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।

(७) स्वधर्मकी श्रेष्ठता।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

(गी १८।४७)

सुकर और गुणवान् परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म गुणहीन होनेपर भी श्रेष्ठ है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

(गी १८।४८)

सहज स्वकर्म सदोष होनेपर भी उसका त्याग करना अयोग्य है।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

(गी १८।४७)

स्वभावसे नियत हुआ कर्म कैसा भी हो वह करनेसे पाप नहीं लगता।

(८) ब्रह्मप्राप्ति।

निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

(गी १८।५३)

ममता छोडकर जो शान्त रहता है वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।

(९) श्रेष्ठ भक्त।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।

(गी १८।५४)

' सर्व भूतोंके विषयमें जो समभाव धारण करता है वही ईश्वरका श्रेष्ठ भक्त होता है।

(१०) ईश्वरपर विश्वास।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गी १८।५८)

ईश्वरपर अपना मन रखोगे तो उसीकी कृपासे सब संकटोंसे तरोगे।

(११) स्वभाव बलवान् है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्
(गी १८।६०)

' स्वभावसे बंधा हुआ मनुष्य जो कर्म नहीं करना चाहता वही परवश होकर करता है।

(१२) ईश्वर सबको चलाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गी १८।६१)

' ईश्वर सबके हृदयमें है वही सबपर चलाकी कठपुतलियों की तरह सब को चलाता है।

(१३) ईश्वरको शरण जा।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
(गी १८।६२)

' ईश्वरको सर्वभावसे शरण जा '

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्
(गी १८।६२)

उसी ईश्वरके प्रसादसे श्रेष्ठ शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी १८।६६)

' सब धर्मोंका त्याग करके एक ईश्वरको शरण जा। वही तुझे सब पापोंसे मुक्त करेगा शोक मत कर।

(१४) विजयी कौन होगा।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(गी १८।७८)

जहां योगेश्वर परमेश्वर मार्गदर्शक है और जिस पक्षमें लडनेवाला धनुर्धर है वहीं सब श्री विजय निश्चय होगा।'

श्रीमद्भगवद्गीताके

अठारहवें अध्यायकी विषयसूची

श्रीमद्भगवद्गीता।

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]